

प्रस्तावना.

—३६—

यह सदान् ग्रंथ मूलाराधना अथवा भगवती आराधना इस नाम से प्रसिद्ध है. जैसे मुनिजोंके प्रथम आचार विनियोग को मूलश्रुण कहते हैं. वैसे मोक्षप्राप्ति के लिये रत्नत्रय प्रधान कारण होनेसे उसको मूल कहते हैं. इत्येवमूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति जिससे होती है ऐसे उपायों को आराधना कहते हैं. इस ग्रंथमें मूलभूत रत्नत्रय की प्राप्ति होने के उपायोंका सविस्तर वर्णन किया है अतः इसको मूलाराधना यह अन्वय नाम दिया गया है. अत एव पं. आशा धरजीने इस ग्रंथ का मूलाराधना इस नाम से उल्लेख कर के उसके ऊपर मूलाराधनादर्पण नाम की पञ्चिका लिखी है.

प्रस्तुत ग्रंथके निर्माता ऋषिपुंगव शिवकोट्याचार्यजीने 'भगवती आराधना' ऐसा भी इस महान् ग्रंथ का नाम करण किया है 'आराधना भगवती एवं भलीय वणिजदा संती' इस गायत्रीके द्वारा उपर्युक्त नामकरणका पुजाला होजाता है.

जैसे पुरुष, पूजक, पूजा और पूजा फल ऐसे चार विभाग जिनपूजन प्रविपादक ग्रंथोंमें किये गये हैं वैसे इस ग्रंथमें भी आराध्य, आराधक, आराधना और आराधनाफल इत प्रकारणोंका वर्णन आचार्यने किया है.

रत्नत्रयामाराध्यं मन्व्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा
आराधाना उपायस्तरुल्लभम्युदयभोक्षी स्तः ॥

रत्न अमूल्य वीज है और उससे इष्टपदार्थ की प्राप्ति होती है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सन्त्यक्चारित्र्य रत्न के समान अमूल्य हैं. उनसे जीवों की स्वर्गादि मोक्षान्त फल प्राप्त होते हैं अतः आचार्य इनको रत्नत्रय यह सार्थक नाम देते हैं. यह रत्नत्रय आराध्य है. निर्मल परिणामवाले मन्व्य जीवको आराधक कहते हैं. गृहस्थ व मुनि-वर्ग जिनके परिणाम निर्मल हैं वे इस रत्नत्रय को प्राप्त कर लेते हैं अतः उनको आराधक कहते हैं. जिन उपायोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है वेसे उपायोंको आराधना कहते हैं. वैसे धार्मिकों में वाससत्यभाव रखना, उनके अवर्णधादको हटाना धार्मिकों को कोई तकलीफ देना होगा तो—उसका निराकरण करना वगैरे उपाय करतेसे सम्यग्दर्शनादि रत्नोंकी

प्राप्ति होनी है. इस रत्नत्रय की आराधना करनेसे वाञ्छुदय और मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है. इन सब बातोंका इस ग्रंथमें वर्णन किया है.

रत्नत्रय आराध्य है वैसे तपभी आराध्य माना है परंतु उसका चारित्र्यमें अन्तर्भाव होनेसे रत्नत्रय ही आराध्य है ऐसा सिद्ध होता है. जिस ने सुखिया स्वभावको छोड़ दिया है वही चारित्र्यको धारण करता है अर्थात् अन्तर्गतादि बाल सपञ्चरण करने की प्रवृत्ति करनेवाला साधु चारित्र्यमें ब्रह्माद्युक्त होता है जिससे उसके पापोंका नाश होता है. चारित्र्यके परिणामोंको अर्थात् चित्तयादि तपोंको चारित्र्यकी वृद्धि करनेवाले होनेसे आचार्य चारित्र्यमें ही अन्तर्भूत करते हैं. यदि तपको अलग गिनया जाय तो आराध्य पदार्थ चार होते हैं.

इन चार आराध्य पदार्थोंकी आराधना उद्योगत, संयवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण इन उपायोंसे होती है. सम्यग्दर्शनादिकोंको अतिचारोंसे अलग रखना अर्थात् उनमें दोष उत्पन्न न होने देना उद्योगत है. अतःसा में बारबार सम्यग्दर्शनादिकोंकी परिणति होने जाना उद्यवन कहते हैं. परीपद्धादिक प्राप्त होनेपर भी स्थिरचित्त होकर सम्यग्दर्शनादिकोंसे व्युत्पन्न न होना इसको निर्वहण कहते हैं. अन्य कार्योंमें चित्त लगनेसे यदि सम्यग्दर्शनादिकोंको विदोष धारण करनेपर पुनः उपायोंसे उनको पूर्ण करना इसको साधन कहते हैं. आमरण सम्यग्दर्शनादिकोंको विदोष धारण कर अन्यजन्ममें उनको पोहोचाना निस्तरण है. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और तप इन चारोंकी वज्रवि होनेके लिये उपयुक्त पापोंकी आशयकता है ही. प्रत्येक में उद्योगादिक पांच उपाय मान लेनेसे २० वीस भेद होते हैं. जतः यह आराधना उद्योगता-यिक वीस मुजानोंको धारण करनेवाली अभिरुकादेवी है ऐसा श्री अमिताभगति आचार्यने आराधनास्तवनमें वर्णन किया है यह योग्य ही है ऐसा हम समझते हैं.

इस भगवती आराधनाग्रंथमें आराधकके मरणोंका निश्चित विवेचन किया है. ऐसा वर्णन अन्यत्र इतना विस्तारयुक्त नहीं है. प्रसुप्त ग्रंथमें मरणके १७ सत्रह प्रकारोंका विवेचन है उसमें भी पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालमरण और बालबालमरण इन मरणोंमें आद्यके तीन मरण ही श्रेष्ठ गिने हैं क्योंकि इनमें समाधि मरण अर्थात् सत्त्वमरण सिद्ध होता है. यह सत्त्वमरण रत्नत्रयकी आराधनासे युक्त होनेसे मध्यजीव इसक आश्रय लेकर संसारपंजर को तोड़कर मुक्त होते हैं.

मुनिजोंके सत्त्वमरण अर्थात् सत्त्वमरणमरणका आचार्य शिवकोटीजीने ९० चालिस अधिचारोंमें

इतना योग्य वर्णन किया है कि जिसका विवेचन सुनतेसे और वाचनेसे उनकी विशालबुद्धिके विषयमें मन साध्यार्थान्वित होता है. इस सब बातोंका अनुक्रमणिकासे खुलासा होगा.

अब हम श्रीशिवकोटि आचार्यके विषयमें थोड़ासा कथन करते हैं. प्रस्तुत ग्रंथकी २१६५ वीं गाथामें श्री शिवकोटि आचार्यने आर्य लिननंदिगणों, आर्य सर्वगुप्तगणी तथा आर्य भिन्ननंदिगणी इन आचार्योंके पास मैने श्रुत और उसके अर्थका अध्ययन किया है ऐसा उल्लेख किया है. अनंतर २१६६ वीं गाथामें पूर्वाचार्योंके बनाये हुए शालोंसे थोड़ा थोड़ा अर्थ संशुद्ध करके इस्तरूयी पात्रमें भोजन करनेवाले अर्थान् दिगंबर मुनि ऐसे भेने-निवार्यने चद्र आराधना नामक महाशाला रचा है. ' इस नाम से ग्रंथकार अपना परिचय देते हैं. श्री पं. आशाधरजी ' सिवजेण शिवकोट्याचार्येण मतेति लक्षयति ' शिवज इस शब्दका शिवकोटि आचार्य ऐसा अर्थ निकालते हैं. शिवज यह शब्द नामका एक देश बतलाता है. नामैकदेशो-नाम्यपि प्रवर्तते इस नियम के अनुसार शिवकोटि आचार्य इतना पूर्ण नाम शिवज शब्दसे सूचित करते हैं ऐसा अवगत होता है. इस आराधना शालकी रचना शिवकोटि आचार्यने ही की है ऐसा ग्रंथांतरसे भी सिद्ध होता है. महापुराण के कर्ता श्री, लिनसेन आचार्य शिवकोटिके विषय में ऐसा विधान करते हैं:—

श्रीतीभूतं जगत्स्य वाचाराध्य चतुष्टयम् ॥

मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः ॥ ४९ ॥ महापुराण पर्व १ छा.

सम्पददर्शन, सन्त्यज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप जो चार प्रकार का मोक्षमार्ग है उसकी आराधना जिसके ध्वनियोंसे भव्यजीव करके कर्मसंतापसे रहित होवे हैं अर्थात् अपने निराकुल शीत आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर लेते हैं वे शिवकोटि आचार्य महाराज हम लोगोंका रक्षण करें, इस श्लोकमें चार प्रकारके आराधनाओंका स्वरूप विस्तृत शिवकोटि आचार्यने मगवती आराधनामें कहा है ऐसा खुलासा होता है. अतः ' शिवज ' यह नामैकदेश शिवकोट्याचार्य का ही वाचक है ऐसा व्यक्त होता है.

शिवकोटि आचार्यने ' रत्नयात्रा ' नामक शावकाचार का वर्णन करनेवाला छोटसा ग्रंथ लिखा है. श्रीभुव-सागरजीने पट्टपाट्ट की टीका के एक स्थलमें इस रत्नयात्रा का श्लोक उद्धृत किया है वह इस प्रकार—तथा चोक्तं शिवकोटिनाचार्येण—

चर्मपात्रगतं तोयं घृतं तैलं श्रवजयेत् ॥
नवनीतप्रसूनादिशार्कं नाद्यात्कदाचन ॥

यह रत्नमालाग्रंथ किसी गट्टारकका बनाया होगा, शिवकोट्याचार्यका नहीं है ऐसा पं. नाथुराम प्रेमजीजी लिखते हैं तथा उसकी सिद्धिके लिये वे इस प्रकार कहते हैं. रत्नमाला ग्रंथमें मुनिराज इस पंचम कांडमें मत्त में न रहकर गांव झरर वगैरेह स्थानोंमें जो स्निग्धमंथिर हैं उनमें रहे ऐसा विवेचन है. और यह शिथिलाचारका विवेचन है. परंतु देसा लिखनेसे क्या शिथिलाचार हो गया यह हमें मालूम नहीं होता है. श्रीसंमतभद्राचार्य भी आवकों को मुनिओंके लिये यत्सविकादान देना चाहिये ऐसा उपदेश करते हैं. तथा वसविका ग्रामसे दूर नहीं होनी चाहिये इत्यादि बिस्तीर्ण वर्णन छुद भगवती आराधनामें भी आया है. अतः इसमें शिथिलाचारका पोषण कैसे हो गया ?

इस कलिकालके मुनिओंको समाधिभरण सध ज्ञाय इस हेतुसे शिवकोट्याचार्यजीने भक्तप्रत्याख्यान मरणका ही मुख्यतासे मागवती आराधनामें निरूपण किया है. ईगिनीभरण और पादोपगमनमरणका इस कलिकालमें निवेद्य किया है. अतः वसविकामें रहनेकी जो आज्ञा शिथिलोदि आचार्योंने दी है वह संमतभद्रादि प्राचीन आचार्योंके मंत्रों में भी पायी जाती है. इसमें शिथिलाचार नहीं है.

रत्नमाला ग्रंथमें नीचे लिखे दो श्लोक गृहस्थके स्नानप्रकरणमें आये हैं—

पापाणीत्स्फुटितं तोयं घटीपत्रेण ताडितम् ॥ सद्यः सन्तप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥
देवर्षीणां प्रह्लादाय स्नानाय च गृहाधीनाम् । अत्रासुकं परं वारि महातीर्थजम्पदः ॥

पापाणके ऊपर जोरसे गिरनेवाला जलप्रपातका पानी, घटीपत्रसे ताडित जल, गरम वावडियोंका जल ये प्रासुक हैं. मुनि इत जलसे शौचक्रिया कर सकते हैं. तथा इस जलमें गृहस्थ स्नान कर सकते हैं.

परंतु नाथुरामजी प्रेमी कहते हैं कि यह वर्णन किसी भट्टारक महाराजने ही किया होगा शिवकोट्याचार्यका नहीं हो सकता है. परंतु हम ऐसा कहते हैं कि यह कथन शिवकोट्याचार्योंने ही किया है और इसमें शिथिलार नहीं है. जैसा उपर्युक्त वर्णन शिवकोटी आचार्यने किया है इसी प्रकारका वर्णन अमितागति आचार्यने भी सुभाषित-रत्नसंदोह ग्रंथमें चारित्रके प्रकरणमें किया है. शिवकोटिआचार्य के समान अमितागति आचार्य भी भट्टारक नहीं थे. एकाद समय कमंडलुमें गरम जल नहीं हो तो उपरि स्नोक्वार्थित जलसे मुनि शौचक्रिया कर सकते हैं.

शिवकोटि आचार्यने रत्नामालामें समन्तभद्राचार्यका थोड़े गौरवसे नामोल्लेख किया है इससे ये समन्तभद्राचार्य-
लोको अपना गुरु मानते होंगे ऐसा सिद्ध होता है, जैसे—

स्वामी समंतभद्रो येऽहर्निशं मानसेऽभवः । तिष्ठताब्जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचंद्रमाः ॥

स्वामि समंतभद्र मेरे मनमें हमेशा निवास करते. आचार्य समन्तभद्र जैन शासनरूप समुद्रको चंद्रके
समान घुड़िगत करनेवाले थे.

पाणितलभोजिणा सिषब्जेण ऐसा भगवतों आराधनामें अपना नामोल्लेख किया है अर्थात् हस्तपात्रमें
भोजन करनेवाले शिषकोट्याचार्यने यह भगवती आराधना रखी है. अर्थात् पाणितलभोजि शब्दसे उन्होंने
अपना दिगंबर जैनयत्नित्व सूचित किया है. परंतु पं. नाथुराम श्रेष्ठीजी इस शब्दसे यह अभिप्राय निकालते हैं कि
वस समयके कोई मुनि पात्रमें भी भोजन करते होंगे.

परन्तु यह शंका विलकुल निरर्थक है. जबतक मैं सदा होकर हस्तरूपी पात्र से आहार लेने में समर्थ रहूंगा
तबतक ही भोजन फर्कना. जब खड़ा रहनेका सामर्थ्य मेरा नष्ट होगा तब मैं आहारका त्याग करूंगा ऐसी वीक्षाले समयमें
दि० जैन मुनि प्रतीक्षा ग्रहण करते हैं. चाहे वे स्थविरकल्पी मुनि हो चाहे जिनकल्पी मुनि हो. दोनोंके मूल्युण समान
ही रहते हैं. दि० जैन मुनि कभी बैठकर और पात्र में आहार लेते नहीं हैं. उर्वेतांबरत्व की किसीको शंका होती वह न
हो इसी हेतुसे शिवकोटि आचार्यमें अपने नामके पीछे पाणितलभोजी यह विशेषण जोड़ दिया है. चतुर्थकालमें भी
स्थविरकल्पी मुनि होते थे. परन्तु पंचमकाल में स्थविरकल्पी मुनि ही उत्पन्न होते हैं. थळवृषभसंहननादि तीन उत्तम
संहननोंके पारम्भ ही जिनकल्पी मुनि होते हैं. इन उत्तम संहननोंका सद्भाव चतुर्थकालमें ही रहता है. अन्यत्र नहीं.
उर्वेताम्बुचंद्रके यहाँ अपेक्षक्य, वगैरह दशविध स्थविरकल्पीका उल्लेख होगा परंतु वह नाममात्र ही हैं. उसका
आचरण दि. जैन मुनियोंमें ही समीचीनरूपसे पाया जाता है.

• शीशिषकोटी आचार्य दि. जैनवातिही थे उन्होंने अपने प्रबंधमें नम्रता, लोच, शरीरसमत्वका त्याग तथा ययूर
विच्छ घारण करना ये जैन यतीका उत्तम लिंग है. ऐसा श्लिगाधिकारमें वर्णन किया है इससे दिगंबर और उर्वेतांबरत्व
का भेद उस समय भी था ऐसा शक्यता है.

शिवकोटि आचार्य गृहस्थावस्थामें शिवकोटि नामके राजा थे. इनके भाईका नाम शिवायन

देता था. वे दोनों वैभवधर्मके परमोपासक थे. स्वामी समंतमद्राचार्यके उपदेशसे वे दोन भाई दैत सुनि हो गये ऐसा कामता-प्रसादजीने वीरपाठावलीमें लिखा है. आराधना कया कोणमें भी-इनकी कथा मिलती है तथा श्री नेमिदत्त फविने शिवकोटि आचार्यने भगवती आराधनाकी रचना की है ऐसा चेहेल भी किया है.

* शिवकोटी आचार्यके प्रस्तुत ग्रंथपर श्रीअपराजित सूरिकी विजयोद्या टीका, श्री. पं. आशाधरजीकी मूला-राधना दर्पण टीका, शिवजीलालकी भावार्थ दीपिका टीका, है. इनमेंसे अपराजित सूरिकृत विजयोद्या टीका, और पं. आशाधरजी की मूळाराधना दर्पण पंजिका ये दोन टीकायें तथा श्री अमिताभ जी आचार्यके भगवती आराधनाके प्रलेख गद्यांका जिसमें अभिप्राय आया है ऐसे श्लोक इतने ग्रंथ इस भगवती आराधनाके साथ ओढ दिये हैं.

विजयोद्या टीका श्रीअपराजित सूरिने रची है यह टीका बहुत विस्तृत है. इसकी श्लोक संख्या लगभग सोलह हजार होगी. इनने आचार्य अपराजित सूरिकी प्रसस्ति ग्रंथ में जोढ दी है. उस से पाठरूपणको आचार्य का परिचय होगा. श्री अपराजित सूरिका ही दूसरा नाम विजयाचार्य अथवा श्रीविजय ऐसा है. पं. आशाधरजीने मूला-राधना दर्पण नामकी टीका लिखी है. उसमें अनेक शब्दोंमें 'इमां गाथां श्रीविजयो नेच्छति' अर्थात् यह गाथा श्री विजयाचार्य श्रेयक समझते हैं. 'श्रीविजयाचार्यन्तु मिथ्यात्वसेवामतिभारं नेच्छति । तथा च सर्वेषां ' मिथ्यात्वम-शब्दान् तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ इति नाविचरता. ' अर्थात् श्रीविजयाचार्य मिथ्यात्वकी सेवा करना यह सम्पद-दानका अविचार नहीं है अर्थात् उससे तो श्रदान अर्थात् सम्पददर्शन नष्ट ही होता है ऐसा कहते हैं. ऐसा लिखकर अने पं. आशाधरजीने कुछ विजयोद्या टीकाका उस अभिप्रायका इनका वाक्य भी दिया है. यह वाक्य इसी गैवके १५४ प्रश्नपर पाठरूपण देख सकते हैं. इसही प्रकार सभी श्रीविजयके बड़े केवल ' टीकाकार ' इस शब्दका भी पं. आशाधरजी प्रयोग करते हैं. जैसे " टीकाकारस्तु ' सामान्यसूत्रे: विशेषमृति: कर्मतया निर्दिष्टा तथा मोपेवं पुष्टमि-त्याचष्टे " यह र्वंकि १८ प्रश्न पर छपी है. इन प्रमाणों से यह बात सिद्ध होती है कि. श्री विजयाचार्य अन्य कोई नहीं है. श्री अपराजितसूरि ही है.

अपराजित सूरिने भगवती आराधनाकी स्वकृत टीकाका विजयोद्या ऐसा नाम विधान किया है उसी प्रकार दशवैकालिक ग्रंथपर भी इन्होंने टीका रची है. और उसका नाम भी यही श्रीविजयोद्या टीका ऐसा ही दिया है. इसी ग्रंथमें प्रष्ट ११९५ में खुद आचार्यजीने ' दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोद्यायां प्रयंचिता वदमादिदोया इति नेष्ट

प्रपंच्यते ' ऐसा चहेल किया है. इस तरहके प्रमाणोंसे अपराजित सूरि और श्रीविजयाचार्य एकद्वी है ऐसी हमारी धारणा है.

पं. नाथुराम प्रेसीजी इस टीकाका विनयोदया यह नाम अधिक अन्वर्थक है ऐसा समझते हैं. वे कहते हैं कि, मुनिओंके आचम्यमें विनयाचार प्रधान है अत एव इसका नाम विनयोदया होना चाहिये. परंतु यह युक्ति जोरदार नहीं है. ग्रंथकार जिस समय जिस विषयका वर्णन करते हैं उस समय उस विषयको मुख्य कर अन्य विषयको गौण कर देते हैं. अर्थात् विनयको ऐसी उन्होंने मुख्यता दी है वैसी स्वाभ्यास, वैयादृत्य वगैरह विषयोंके वर्णनमें भी मुख्यता दी है अतः जैसा विनयोदया नाम होता चाहिये वैसे इतर विषयोंकी भी प्रधानता होनेसे अन्यनामकी भी क्यों मुख्यता नहीं मानी जायगी. फिर वे कहते हैं कि यदि आचार्यका नाम श्रीविजय या तो टीकाका भी श्रीविजया ऐसा होता परंतु उसके साथ उदय शब्द जोड़ना उपयुक्त नहीं है. ऐसा कहना भी हमें युक्तियुक्त मालूम नहीं होता.

हरिचंद्र ध्वनिने धर्मनाथ सीर्यकरका चरित्र लिखा है और उसका नाम उन्होंने ' धर्मशर्माभ्युदय ' देसा रक्खा है. इस नामसे तो अतभिज्ञ लोगों को यह काव्य है और इसमें धर्मनाथ जितेश्वरका चरित्र वर्णन किया है ऐसा बोध होता कटिन दि पड़ेगा. परंतु इस चरितके पठनसे पाठकोंको धर्म, शर्म-सुल, और अभ्युदय-स्वर्गादि संपत्ति प्राप्त होगी ऐसे विचारसे कथित उसको उद्युक्त लंघाचौड़ा नाम दिया है और धर्मनाथ के चरितका भी बोध हो जाता है. वसी प्रकार विनयोदया इस शब्दसे टीकाकार के नामके साथ पाठकोंको कर्म के ऊपर विजय और आत्मोन्नतिकी प्राप्ति होगी ऐसा अभिप्राय सूचित होता है. अतः विनयोदया यह नाम अन्वर्थक ही है. निरर्थक नहीं है. ऐसी हमारी धारणा है.

अपराजितसूरीने विस्तृत टीका लिखकर भक्त्यों को आराधना का वास्तविक स्वरूप समझा दिया है इस टीकाका मनन करनेसे वास्तविक आत्मशान्ति प्राप्त होगी.

आराधना ग्रंथपर जो टीका लिखते हैं उनको समाधिमरण की प्राप्ति होती है ऐसा श्रीवैद्यतेन आचार्यजीने सावयधम्मसंगह नामक ग्रन्थमें विधान किया है. यह इस प्रकार—

जिणभवनहं कारावियहं लब्धइ समि विमाणु ॥

अह टिकह आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु ॥ १९३ ॥ पृष्ठ ५९ ॥

अर्थात् जो जिनमेंद्विर बतवावे हैं उनको स्वयंसे विमानकी प्राप्ति होती है, तथा जो आराधना ग्रन्थपर दीकार्ये रचते हैं उनको समाधिमरणकी प्राप्ति होती है।

श्री अपराधितसूरिका कालनिर्णय करनेमें हम असमर्थ हैं, क्योंकि अभी इनके अखित्यकालका निर्णय इतिहासज्ञोंको भी टीका मादम नहीं हुआ है।

श्री. पं. आशाधरजी जैनधर्मग्रन्थावक महाकवि हो गये हैं, इनका काल विक्रमका १३ वा शतक निर्णीत है, इन्होंने अनेक जैन साहित्यके ग्रन्थ बनाये हैं, इनका साहित्य बहुत प्रौढ व गंभीर है, इनके समान उद्भट विद्वान् गुह्यार्थोंमें बहुत विरला हुए हैं, इनका यहाँ वर्णन करनेका कारण यह है कि इन्होंने भगवती आराधना ग्रन्थपर मूला-राधनावर्णन नामकी पछिका टीका रची है, यह टीका संक्षिप्त है, इसलिये प्रत्येक अध्यायके अन्तमें वे 'पदप्रमेयार्थप्रकाशिकरणप्रवणे मूलाराधनावर्णने' ऐसा उल्लेख करते हैं, अर्थात् इन्होंने कठिन पदोंका खुलासा करके इनके प्रतिपाद्य विषयका निर्णय किया है, जो टीका श्लोकके अथवा गायके संपूर्ण पदोंका खुलासा न कर कुछ पदोंका-कठिन पदों का स्पष्टीकरण करती है उस टीकाको पछिका या पंजिका टीका कहते हैं, सुलभ गायकोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता न होनेसे 'स्पष्टम्' इतना ही लिखकर वे आगे चले गये हैं यह टीका किस समय बनाई गई है इसका खुलासा इन्होंने प्रबंधके अन्तमें स्वप्रशस्तिमें जरूर किया होगा परंतु इस टीकाकी जो प्रति हमको मिली है उसमें प्रशस्ति पूर्ण नहीं है इससे हम खुलासा करनेमें असमर्थ हैं, पंडितजीकी टीका बहुत विद्वत्पूर्ण है, इन्होंने इस टीकामें अनेक श्लोक अन्य जैन ग्रन्थोंके विषयका खुलासा करनेके लिये दिये हैं।

भगवती आराधनापर अनेक आचार्योंने टीकायें और निबंध लिखे हैं, पंडितजीने तीन चार टीकायें तथा तीन चार निबंधोंका आशय लेकर अपनी टीका रची है, आचार्य जयवर्द्धि, प्राकृत टीकाके कर्ता [नाम ज्ञात नहीं है] श्रीचंद्राचार्यकृत भगवती आराधनाका टिप्पणक, विद्याधरप्रतिवर्धनी नामक ग्रन्थ, विजयाचार्यकृत विजयोदया टीका, श्री अमितगत्याचार्यकृत श्लोकरूप भगवती आराधना, ऐसे अनेक ग्रंथोंका आशय लेकर प्रस्तुत टीका पंडितजीने लिखी है, इससे पंडितजीकी अन्वेषण करनेवाली बुद्धिका परिचय पाठकगण को मात्तुग पड़ेगा, पंडितजीने इस महाग्रन्थके विषयोंका खूब मनन करके अपनी टीका आठ आध्यासोंमें विभक्त की है, यह टीका आठ हजार श्लोक प्रमाण होगी ऐसी हमारी धारणा है।

यह टीका विजयोदया टीकाके नीचे दी है. अर्थात् इस ग्रन्थ में प्रथमतः शिवकोट्याचार्य की गाथा अनंतर अस्मितामिति आचार्यका समानार्थक श्लोक, उदन्तर विजयोदया टीका और गुलाबगनादर्पण टीका, इन के अनंतर विजयोदया टीकाका हिंदी अनुवाद ऐसा क्रम है.

भगवती आराधनाका हिंदी अनुवाद श्री. पं. सदाशुखजी का भी प्रसिद्ध हुआ है. उसमें श्री विजयोदया टीकाका उन्होंने कितनेक स्थलोंमें आशय लिया है. कितनेक स्थलोंमें इस टीका के विषयमें वे संक्षेपशुक्त हैं. उनको यह टीका श्रेयान्तराचार्य कुत है ऐसा भ्रम हुआ है. परंतु वह कौरा भ्रम ही है. उलटा इस टीकामें श्रेयान्तराचार्यके आचार्य-रागादि ग्रंथों के वक्ष्याश्रादि प्रदूषण वगैरह विषयों का जोरवार खंडन है. पाठक टीका तथा उसका अनुवाद पढ़कर संतुष्टनिवृत्त अवश्य होंगे.

आजतक किसी भी जिनवाणीभण्ड ने भगवती आराधना की संस्कृत टीकायें प्रकाशित नहीं की थी. यह न्यूनता जानकर जिनवाणीभूषण श्रीमान् धर्मवीर रावजी सखाराम दोहीने विपुल धनव्यय कर यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित किया है, इसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं. श्री. धर्मवीर रावसाहेब का जैन मंत्रका प्रकाशनकार्य आजकलका नहीं है. करीब तीस वर्षसे उन्होंने यह प्रकाशन कार्य सतत चालु रक्खा है. स्वाहादभूषण स्व. पं. फलान्या भरनाथा निटवेने प्रथमतः सालिवाहन तक १८३० में मङ्गपुराणका अनुवाद महाराष्ट्र भाषामें प्रसिद्ध किया, उन्होंने अस्तावनामें श्री रावजी सखाराम दोही इन्होंने इससे इस प्रकाशनके कार्यमें दो तीन वर्षसे साहाय्य दिया है इस लिये वे धन्यवादके पात्र हैं ऐसा उल्लेख किया है.

परमपूज्य श्री शालिसागर आचार्यजीने इस महान् ग्रंथको प्रकाशित करने के लिये श्री. धर्मवीर रावसाहेबको प्रेरणा की थी. महाराजकी आज्ञा गुरुभक्तशिरोमणि रावसाहेबने मस्तकपर धारण कर तथा दो वर्षके पूर्व श्री० छुल्लक बिमलसागरजी के लग्नविधेयमें शोलपुरमें विजयोदया टीकाका हमने यहांकी संपूर्ण हि. जैन जनता के साथ स्वाध्याय किया था. श्री. सु. विमलसागर महाराजकी भी प्रेरणासे तथा सुद उनकी अभिरुचीसे भी यह ग्रंथ उन्होंने प्रकाशित किया है.

जैनधर्मकी प्रभावना तथा उसका सत्परस्वरूप जैन ग्रंथके प्रकाशनसे प्रगट होता है ऐसा प्रशंसनीय विचार इनके हृदयमें सदैव विराजमान है. इस विचार की प्रेरणा सतत होनेसे आजतक सैकड़ों ग्रंथोंका सेठ साहेबने प्रकाशन किया है.

सेठजीके इस प्रशंसनीय उद्योगकी ओर सहृदय मनुष्य प्रशंसा न करेगा, तथा उनको हर्षसे धन्यवाद न देगा ? प्रस्तुत महात्म्य मंग सेठजीके सुवर्णजयंती अर्थात् वर्षवृद्धि महोत्सवके लिये जो श्री महावीर जिनविभूतिप्रतिष्ठा इस सालमें हुई उस समय थड़े समारोहके साथ प्रकाशित करनेका सेठजीका विचार था परंतु उस समय मुद्रणकार्य पूर्ण न हो सका इस लिये कार्त्तिक शुद्ध पंचमीके दिन इसका प्राणप्रतिष्ठापूर्वक प्रकाशन किया गया है।

इस महात्म्य ग्रन्थके प्रकाशनके लिये पूजा भांडारकर प्राच्य विद्यासंशोधक संस्थाने अपराजितसुरिकृत विजयोदया टीकाकी दो प्रति भेज दी थी उन प्रतियोंसे हमने प्रेसकोंपी उधार की, ये दो प्रति प्रायः शुद्ध और सुकाव्य थी, इस संस्थाने ये पुस्तकें भेजकर हमको अत्यंत उपकृत किया है अतः हम उसको अन्तःकरणसे धन्यवाद देते हैं।

श्री. पे. ७. सरस्वती भवन मुंबई से हमको श्रीमान् पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने मूलाराधनदर्पण पूर्वार्ध पांच आध्यास पूर्ण यह मंग और श्री अमितगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोकावुवावरूप भगवती आरावना ग्रन्थ देते दो मंग भेजे थे, इन दो मंगोंका हमको अतिशय साहाय्य मिला, अमितगति भगवती आराधनके प्रथमके १९ श्लोक मूल मंगमें नहीं थे परंतु बीसवें श्लोकसे आगे मंग पूर्ण है, हमने अन्यत्र इसके प्रारंभके १९ श्लोक प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न किया था परंतु प्राप्त नहीं हुए, इन दो मंगोंको भेज कर हमको पं. रामप्रसादजी शास्त्रीने बहुत उपकृत किया है, ये हमेशा ऐसा साहाय्यदान हमको करते हैं अतः आपके हम अत्यंत आभार पूर्वक धन्यवाद मानते हैं।

कारंजसे मूलाराधना दर्पण पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध श्रीमंत रतनलाल नरसिंगसा राज्ज इन्होंने भेजा था परंतु पूर्वार्ध में प्रारंभका प्रथमपत्र नहीं है, चौदहवें पत्रसे १९ वें पत्रतक ६ पत्र नहीं हैं, तथा ३१ वा पत्र नहीं है, अतः हमको इस पूर्वार्धका विशेष उपयोग नहीं हुआ, बर्रई सरस्वती भवनसे प्राप्त हुये प्रतीसे हमको पूर्ण साहाय्य हुआ, उत्तरार्धमें भी प्रारंभके दो पत्रे हैं तदन्तर तीसरे पत्रसे १९ वें पत्रतक १२ पत्र नहीं हैं, अतः उरनी टीका हम नहीं छपा सके, अनितम प्रकाशित भी पूर्ण नहीं है, अतः प्रकाशित हम पूर्ण प्रगट न कर सके।

यह पुस्तक श्रीमंत रतनलाल नरसिंगसा राज्जने भेज दी थी, मूलाराधनदर्पण की हस्तलिखित प्रति भेजकर हमपर जो उपकार उन्हीने किये हैं उनके लिये आभार मानना हम आवश्यक कर्तव्य समझते हैं और मानते हैं।

इस भगवती आरावना मंगका संशोधन मैंने मेरी कुछ बुद्धिके अनुसार किया है, तथा विनयोप्या टीकाक हिंदी भाषामें अनुवाद किया है, सराठी याया मेरी मातृभाषा है, अतः इस हिंदी अनुवादमें लिंग, विभक्ति वगैरहोंक

उपाकरण शुद्ध प्रयोग न होने से बहोतसी झूठे होवाना निवारा संभवनीय है. तथा मार्यातर में भी अक्षानवश प्रभाव रहे होंगे.

विज्ञयोदया टीकामें दशस्थितिकल्पके विषयका विवेचन करते समय अपराजित सूरीने आचारांगदि श्रुतां-वर प्रदीपोंके जो प्राकृत भाषाके श्लोक दिये हैं उनका मराठी अनुवाद करके श्री. प्रो. ए. एन. उपाध्यायजीने मेरी प्रार्थना-से भेज दिया । उसका मैंने हिंदी अनुवाद किया है अतः श्री. प्रोफेसरसाहेबका मैं अतिशय आभारी हूं.

सज्जन पाठकधर्म तथा विद्वद्गणोंको मेरी सविनय यह प्रार्थना है कि इस संशोधन, अनुवाददि कार्य में रहे हुए दोषोंका संशोधन करके मेरेको उपकृत बनावे.

जैन साहित्यकी सेवा मेरे द्वारा आजन्म होती रहे ऐसी श्रीजिनेंद्रदेवसे प्रार्थना करके मैं यह प्रस्तावना पूर्ण करता हूं.

जिनवाणीका कुछ सेवक--

जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले.

ता. १-११-३५

वीर सं० २४६२ क्रांतिक शुद्ध ५ मी.

हिंदी अनुवादके अनुसार भगवती आराधनाके मुख्य विषयोंकी सूची-

विषयनाम	पृष्ठसंख्या	विषयनाम	पृष्ठसंख्या
१ मंगलपूर्वक आराधना वर्णनकी प्रविष्टि।	७	१५ मरणसमयमेंही रत्नत्रयाराधना करनी चाहिये ऐसी	६८
२ आराधनाका स्वरूप और यह किसको होती है।	१५	विषयकी शंकाका उत्तर।	
३ आराधनाके दो भेद।	२०	१६ सर्वत्र रत्नत्रयाराधना करना चाहिये इसका	७०
४ विध्याष्टि सम्पन्नानका आराधक नहीं है।	३०	सहस्रान्व सुलासा।	
५ चारित्राराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव।	३३	१७ अन्तर्मुखमें रत्नत्रयकी आराधना करनेसे भी मुक्ति	
६ अतिश्लेषकी अपेक्षासे चारित्राराधनामें ही इतर		मिलेगी अतः सर्वत्र रत्नत्रयाराधन क्यों करना	
आराधनाओंका अन्तर्भाव।	४२	इसका उत्तर।	८४
७ ज्ञानाराधना और दर्शनाराधनाका चारित्राराधनामें		१८ मरणके खत्रह भेद।	९१
अन्तर्भाव	४६	१९ पांच प्रकारके मरणोंका वर्णन।	१०६
८ चारित्राराधनामें तप आराधनाका अन्तर्भाव	५०	२० दर्शनाराधनाका वर्णन।	११९
९ यथाव्यक्त चारित्रका स्वरूप और फलका वर्णन	५४	२१ सम्बन्धित जीवका वर्णन।	१२२
१० दुःख दूर करना यह ज्ञानफल फल है इसका द्वावर्ण-		२२ किनके सुप्त प्रमाणभूत माने जाते हैं।	१२६
युक्त वर्णन	५७	२३ अविचरित अर्थका निरूपण करनेवालेका लक्षण	१२८
११ कर्मका नाश होनेसे मुक्तिफल मिलता है।	५८	२४ आज्ञासम्यक्त्वीभी आराधक है।	१३०
१२ मरणसमयमें आराधनाकी विशयना करनेसे अन्त		२५ जीवद्रव्यके ऊपर अज्ञान करना चाहिये।	१३२
संसारकी प्राप्ति।	६१	२६ आज्ञावाचिकोंकाभी अज्ञान करना चाहिये।	१३५
१३ रत्नत्रयमें स्थिर होकरभी संकलेश परिणाम बलज		२७ श्रेष्ठतासा अज्ञान और बहुबलसा अज्ञान करने-	
होनेसे होनेवाली हानि।	६३	नाला मिथ्यादृष्टि है।	१३८
१४ आराधनाओंका विविष्ट फल।	६६	२८ विध्याष्टिका स्वरूप।	१३९

२९ सत्यप्रधान न करनेसे होनेवाली हानि.	१४१	४३ उत्तम लिंगका विशेष वर्णन	२११
३० संसारसे दूरनेवाला मध्य जीव कैसा विचार रतता है.	१४२	४४ अपवाद लिंगीकी शुरुवा कैसी होती है.	२२२
३१ सत्यदर्शनके पांच अधिकारोंका वर्णन.	१४६	४५ केशलोच न करने में दोष और लोचमें गुण	२२३
३२ सम्यग्दर्शनको निर्मल मननेवाले गुणोंका वर्णन	१५०	४६ सरीरसमस्तत्यागका वर्णन	२२९
३३ दर्शनविनयका वर्णन.	१५५-१६५	४७ पिच्छकासे क्या क्या कार्य करते चाहिये तथा पिच्छकाका लक्षण	२३४
३४ अग्र्य, मध्यम व उत्कृष्ट सम्यक्स्वाराधनाके स्वामी.	१७६	४८ स्निग्धचक्रका अध्ययन करनेसे प्राप्त होनेवाले सद्गुणोंका विस्तृत वर्णन	२४१
३५ जपन्य सम्यक्स्वाराधनाका प्रभाव तथा सम्यक्स्व लाभमाहात्म्य.	१७८	४९ विनयका २३ गाथाओंमें विस्तीर्ण वर्णन अर्थात् विनयके सर्व भेदोंका वर्णन	२६०
३६ मिथ्यात्वके प्रकार और उनसे होनेवाली हानि	१८१	५० समाधि अधिकारका विस्तारसे कथन	३१२
३७ मिथ्यात्वके आश्रयसे अधिसादिक गुण भी दोष होते हैं.	१८५	५१ अनियत विहारके दर्शनविशुद्ध्यादि गुणोंका वर्णन	३२५
३८ प्रतशीलपुक्त मिथ्यात्वकी भी संसारश्रमण होता है.	१८८	५२ परिणाम अधिकारका आठ गाथाओंमें वर्णन	३५२
३९ भक्तप्रत्याभ्यास मरण व वसुके भेद.	१९२	५३ उपाधित्यागका ९ गाथाओंमें वर्णन	३७६
४० अर्थाधिकारता वर्णन (भक्त प्रत्याभ्यास मरणके योग्य व्यक्ति)	२००	५४ भावप्रति और प्रत्यभितिका सविस्तर कथन	३८८
४१ भक्तप्रत्याभ्यासके लिये जो अयोग्य हैं उसका वर्णन	२०४	५५ संकल्पभावनाके कंदर्पोदि भेदोंका वर्णन	३९७
४२ लिंगाधिकारका वर्णन और अपवादलिंगका वर्णन	२०७	५६ संकल्पेश्वरहित भावनाओंका वर्णन	४०५
		५७ शाश्वत व अभ्यंतर संकल्पनाका वर्णन	४२३
		५८ अनन्यतादि बालतपोका सविस्तर वर्णन	४२५
		५९ वसतिकारके उत्पादनादिदोषोंका वर्णन	४४७
		६० निजैरेच्छु यतीके तपका वर्णन	४५६
		६१ संकल्पनाके उपायोंका वर्णन	४६८

६२	दण्डयसंलेखनाका वर्णन	४७९	८१	श्रीच्छाधिकार	७३९
६३	एलाचार्यकी स्थापना	४९२	८२	आलोचना शुद्धयधिकार	७४३
६४	क्षमाणाधिकार	४९४	८३	सामान्यविशेषालोचनका स्वरूप	७५२
६५	गण और एलाचार्यको आपसके सम्बन्ध	४९६	८४	संश्लेषणमें दोष और शल्योद्धारमें गुण	७५८
६६	वैद्याश्रमके १५ गुणोंका वर्णन	५२४	८५	आलोचना का और किस स्थानमें करना योग्य है	७६८
६७	अर्थिकासंगति त्याग	५४३	८६	आलोचनाके गुण और दोषोंका स्वरूपवर्णन	७७६
६८	दुर्जनसंगति त्याग	५५३	८७	वृत्तविकचीस अतिचार कारणके प्रकारोंका वर्णन	८१५
६९	सुजनसंगतीका माहात्म्य	५५७	८८	आलोचना करने के अनंतर शुरूके कर्तव्यका वर्णन	८२१
७०	परगणचार्यधिकार	५७०	८९	योगयोग्यवस्तुतिका विचार	८३४
७१	सर्गनिरूपणाधिकार	५९०	९०	संस्तरोंका वर्णन	८४०
७२	निर्यापककाचार्यका अभ्येष्टन करनेके लिये निकले हुए साधारण कार्यक्रम	५९३	९१	परिचारकोंका स्वरूप	८४७
७३	निर्यापकाचार्यके आचारत्वादि आठगुणोंका वर्णन	६०७	९२	आशेषपद्यादि कथाओंका स्वरूप	८५१
७४	वृद्धाधिकारवर्णन	६१८	९३	परिचारकोंके भिन्न भिन्न कर्तव्य	८५७
७५	अस्पृश आचार्यका आश्रय करनेसे उत्पन्न होने वाले दोषोंका वर्णन	६५९	९४	संश्लेषणा करनेवाले मुनिका वर्णन सबको लेना चाहिये	८७०
७६	अवपीठक आचार्य क्षपकके दोष बाहर निकालते हैं	६९९	९५	आहार प्रकाशन प्रकरणका विवेचन	८७५
७७	उपसंपद अधिकारका वर्णन	७२५	९६	हानिप्रकरण का स्वरूपकथन	८७९
७८	श्रीश्राधिकाका वर्णन	७३४	९७	पानकोंके प्रकारका वर्णन	८८२
७९	प्रतिलेपाधिकार	७३६	९८	तीन प्रकारके आहारोंका त्याग क्षपक करता है	८८६
८०	पुरुषाधिकार	७३८	९९	चार प्रकारके संप्रदाय का प्रमाण विधि	८८९
			१००	क्षपणाधिकार वर्णन	८९१

१०१	आचार्य का क्षपकको उपदेश	८९५	१२२	मानकपाय के त्यागका विस्तीर्ण उपदेश	१२२२
१०२	मिथ्यात्व त्यागनेका उपदेश	८९८	१२३	भोगनिपटनेके त्यागका उपदेश	१२३४
१०३	मम्यक्त्यभावनाका उपदेश	९०६	१२४	अवसत्रादि मुनिओंका वर्णन	१२४०
१०४	जितभक्ति माहात्म्य वर्णन	९१३	१२५	इंद्रियकषायों की दुष्टताका उपदेश	१२८५
१०५	नगरकार वर्णन	९१६	१२६	पांचों इंद्रियोंसे मनुष्यको दुःखदत्त होना है	१३११
१०६	ज्ञानोपयोगका वर्णन	९२३	१२७	क्षोषोपत्याग वर्णन	१३१४
१०७	अहिंसा महाप्रत पालनका विस्तीर्ण उपदेश	९३२	१२८	मानदोषत्याग वर्णन	१३२३
१०८	सत्यमहाप्रतका सविस्तर विवेचन	९३२	१२९	मायावोपत्याग वर्णन	१३२७
१०९	अर्चार्थ महाप्रतके उपदेशका सविस्तर कथन	९६३	१३०	लोभदोष वर्णन	१३३०
११०	प्रसर्पण महाप्रतका वर्णन	९७९	१३१	क्रोधविजय वर्णन	१३४८
१११	श्रीकथायागका उपदेश	१०२५	१३२	मानविजय वर्णन	१३५४
११२	अनुविनिर्गण, देहकी अपवित्रताका वर्णन	१०५७	१३३	मायाजय वर्णन	१३५७
११३	पुद्गलेशका उपदेश	१०९७	१३४	लोभ विजयवर्णन	१३६०
११४	स्त्रीसंतर्गणोंका वर्णन	११०७	१३५	निद्राजयवर्णन	१३६४
११५	परिमहत्याग महाप्रत वर्णन	११२३	१३६	निर्जरातिमित तपमें क्षपक को प्रेरणा	१३६९
११६	महाप्रतकी निरुक्ति, रात्रिमुक्ति त्यागादिक महाप्रतके संरक्षक हैं.	११२३	१३७	उपदेश सुननेपर क्षपकका वक्तव्य	१३८६
११७	मनोगुति पागुतिओंका वर्णन	११८५	१३८	सारणनामक अध्यायका वर्णन	१३९०
११८	कायगुति का स्वरूप	११७९	१३९	क्षपकको पुनः उपदेश	१४०१
११९	इगोमनित्यादि पांचसमितिओंका वर्णन	११८३	१४०	परीपहसहन करनेवालोंके वधाहरण	१४१८
१२०	प्रत्येकपणोंके पांच पांच भावनाओंका वर्णन	११८३	१४१	नरकगतिके दुःखका विचार करने के लिये क्षपकको प्रेरणा	१४२९
१२१	मायाभिभवाय निदान इन शक्तियोंके त्यागका उपदेश	११८७	१४२	तिथेयगविदुःखवर्णन	१४४६
		१२०५	१४३	मनुष्यगतिदुःख वर्णन	१४५३
		१२१४	१४४	देवगतिदुःख वर्णन	१४५९

१४५	दर्शनार्थ से औपचारिकोंका वैकल्प	१४६६	१५९	अविचारसक्त त्यागवर्णन	१७६२
१४६	प्रतिष्ठाभंग करना मरणसे भी अनिष्ट है-	१४८०	१६०	इगिनीमरणका विस्तारसे वर्णन	१७७४
१४७	आहारलेपटता पांच पापोंका कारण है	१४८६	१६१	प्रायोपगमनमरणका वर्णन	१७९१
१४८	समताका वर्णन	१५०९	१६२	बालपंडितमरणका वर्णन	१७९८
१४९	कार्त्तव्यान् और रौद्रध्यानका वर्णन	१५३१	१६३	ध्यानके बाह्य परिकरोंका वर्णन	१८०४
१५०	ध्यातका परिकर और धर्मव्यापनका वर्णन	१५३४	१६४	सर्वस्वव्यापति प्रकृतिओंके क्षयका वर्णन	१८०५
१५१	अधुनादि चारह अलुप्तेक्षाओंका वर्णन	१५४८	१६५	अनिष्टव्यावर गुणस्थान से प्रकृतिओंका क्षयण	
१५२	शुद्धध्यानका वर्णन	१६८१		वर्णन	१८०७
१५३	लेख्याविशुद्धिका वर्णन	१७००	१६६	केवलज्ञानका वर्णन	१८१७
१५४	आराधना और विराचनाओंके फलोंका वर्णन	१७१०	१६७	सिद्धोंके परमस्वास्थ्यका वर्णन	१८४१
१५५	अपसम्रादि पंच मुन्याभासोंका वर्णन	१७२९	१६८	ग्रंथकार शिवकोटयाचार्यका अन्तिम वक्तव्य	१८५०
१५६	निपद्याका वर्णन	१७३८	१६९	श्रीमदपरानित सुरिकृत प्रसस्ति	१८५४
१५७	अयोग्य संयममें क्षयकमरण होनेमें जागरणादिक		१७०	श्रीनवाशाधरसुरिकृत आराधनास्त्वधादि	१८५५
	करना चाहिये	१७४०	१७१	श्रीमदमितगति प्रसस्ति	१८६३
१५८	आराधकोंगत्याग वर्णन	१७५३	१७२	आराधनास्त्वधनम्	१८६५

इति विषयसूची समाप्ता-

श्री शिवकोटि आचार्यकृत भक्तवती आराधना. इसमें अपराजितसुरिकृत संस्कृत टीका और पं. आशाधरजीकृत संस्कृत टीका और श्री अमितगति आचार्यकृत संस्कृत श्लोक और पं. श्री. जिनदास पार्थनाथ फडकुले सोलापूरवालोंकी हिंदी टीका सहित यह ग्रन्थ छपाया गया इसके लिये जिन्होंने सहायता दी उन महाशयोंकी शुभ नामावलि:—

सहायता दी उन महाशयोंकी शुभ नामावलि:—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

७०१ श्री पूज्य आचार्य शक्तिनाथ दिगम्बर जैन ग्रंथमाला. सागावावा.

७०१ श्री पूज्य आचार्य शक्तिनाथ ग्रंथमाला.

५० श्री. जिनसेन भट्टारक कोल्हापुर.

५० स्व. लक्ष्मीसेन भट्टारक "

५० मंथभक्त शिरोमणि शेट पुनमचंद चासीलाल मुंघई.

५० मेधा कसुरचंद मलुकरचंद अकलकोट.

५० सहा देवचंद रामचंद सोलापूर.

५० श्री. रत्नबाई देवचंद हरजीकर.

५० मी. फेदरबाई भ. हिराचंद रामचंद वळसंगकर.

५० श्री. प्र. कंकुबाई फारजा.

५० सहा माणिकचंद अभीचंद B. A सोलापूर.

५० प्र. रत्नमाबाई सोलापूर.

५० गंगुबाई पदमती करकंगकर.

५० माणिकबाई कसुरचंद निमगोंकर.

५० सौ० चतुरबाई मोठीचंद सहा.

५० सहा गुलाबचंद सतराम सोलापूर.

५० सौ० राजुबाई रावजी दोशी.

५० सौ० नवलबाई गुलाबचंद दोशी.

५० सौ० कसुरबाई वालचंद हिराचंद दोशी

५० शेट मोठी शिवालाल मल्लुकरचंद पंढरपूर.

५० रा. मेधा माणिकचंद पानाचंद निमगांव

५० रा. शेट रामचंद घनजी दावडा नातेपुले.

५० प्र. राजुबाई भ. गोतमचंद बरामती.

५० रा. काळप्पा आण्णाक्षी लेंगडे साहापुर वेळगांव

५० शा. माणिकचंद मोतीचंद आळंद

५० रा. वळवंत ग्यानोबा दोळे आळंद.

५० रा. विवराव हिराचंद सहा आळंद.

५० चोतीराम दलुचंद पंढरपूर.

५० नरसिंग घोडी चिंचवाडे शवलकरजी व श्री. जिन-गोडा आपगोखा पाटील.

५० श्री. माणिकबाई हिराचंद जयचंद निमगांव.

- ५० श्री. कंठ्याई अ. रामचंद दोधी निमगांव.
 ५० श्री. चतुरायाई अ. मोतीचंद गांधी चिकोलीकर.
 ५० श्री. जिवराज माणिकचंद मेधा निमगांव.
 ५० शेठ नयुराम तलकचंद दोधी.
 ५० श्री. पेणीचंद रामचंद मधा निमगांव.
 ५० श्री. हिराचंद दाजी सदा. ”
 ५० श्री. मेनामाई फुलचंद दोधी फलटणकर व मोतमचंद मोतीचंद करमाळेकर.
 ५० रा. शहा गुलाबचंद तुरचंद आळंद.
 ५० शहा नानपद तुरचंद अ. लंद.
 ५१ शेठ लीलाचंद हेमचंद दिगेळी.
 ५० मोतीचंद हरीचंद शहा नळदुर्गे.
 ५१ स्व. सौ. चंद्रभागायाई दत्तात्रय मोदीकर.
 ५० मोनीपद उरगचंद फलटणकर पुता.
 ५० भाऊ नेमणा दुभगे कुर्दवाड.
 ५० श्री. बाळुशाई अ. दलचंद दिवरेकर.
 ५० छंदनकाळ जयशंदलाळ मदारीपूर.
 ५० दुळीचंद रतनकाळ ”
 ५० श्री. अभीचंद दळुचंद शहा मुंबई.
 ५० श्री. रोडमल गेपराज सुसारी.

- ५० स्व. सौ. कंठ्याई वीरचंद कोदरजी गांधी फलटण.
 ५० श्री. शंकरलाल गांधी मुंबई.
 ५० शेठ लुणकरण मदनमोहन मुंबई.
 ५० शेठ फतेचंद दीपचंद नागपुर
 ५० सौ० चतुरायाई अ. हिराचंद अभीचंद गांधी वरमानावाड
 ५० शेठ हरीचंद खुशालचंद मोडनिय
 १०० शेठ भूपाल आप्पा जिरगे.
 ५० लक्ष्मण भरमत्वा आरवाळे सांगली
 ५० रतनबाई अ. माणिकचंद.
 १०० शिकवाई अ. मोतीचंद करजगीकर.
 ५० आथलवाई कळसकर.
 ५० मोतीचंद रावजी पराडेकर.
 ५० शेठ वनशीलाल तंसाराम मांवगांव.
 ५० शेठ धनराज गोकुळचंद कोपरगांव.
 ५० शेठ शहा परमचंद मोतीचंद करकंव.
 ५० अ. शिकवाई अ. जिवनचंद बिजापुर.
 ५० मोतीलाल ल्हीला मुंबई.
 १० श्री. अ. जिवराज गौतमचंद दोधी सोलापूर.
 ५० श्री. विहारीलाल कठनेरा जैन मुंबई.
 २५ श्री. गांधी नानचंद अभीचंद पंढरपूर.
 २५ श्री. छिळचंद रावजी कोळारी आळंद



मूलाराधना (अपरनाम-भगवती आराधना)

दीकाद्वयोपेता हिन्दीभाषानुवादसहिता च ।



अथ अपराजितसूरिकृता विजयोदया टीका । १ ।

पूर्वोक्तानामचारिजतपसामाराधनायाः स्वरूपं, विकल्पं, तदुपायं, साधकान्, सहायान्, फलं च प्रतिपादयितुमुद्यतस्यास्य शास्त्रस्यातो मन्त्रलं सस्य ओङ्कार्णां च प्रारब्धकार्यप्रत्युहानिराकृतौ क्षमं शुभपरिणामं विद्मता तदुपायभूतेयमपेक्षि गाय—

सिद्धे जयप्पसिद्धे चतुर्विहाराहणाफलं पते॥

वोदिता अरहते वोच्छं आराहणं कमसो ॥ १ ॥

सिद्धाञ्जगत्प्रसिद्धांश्चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तान् ॥

वंदित्वार्हतो वक्ष्याम्याराधनां क्रमशः ॥ १ ॥

१ सिद्धे—सिद्धे जयप्पसिद्धे इत्यादिता । अत्रान्ये कथयन्ति । “ निवृत्तविषयरामस्य निराकृतसकलपरिग्रहस्य क्षीणायुगन्तसाधकस्यापराधनापिधानायोचनाधीमिदं शास्त्रं ” तस्याविघ्नप्रसिद्धयर्थमियं मङ्गलस्य कारिका गम्येति । असंयत-

सम्पन्नादिष्वयतासेयत्तमसंयताममत्तसंयतादयोऽप्याराधका एव । तस्मिन्नुच्यते निवृत्तचिप्यपरागस्य विप्राकृतसकलपरि-
ग्रहस्येति । न ह्यसंयतसम्यग्द्वेः संयतासंयतस्य ना निवृत्तचिप्यपरागता, सकलग्रन्थपरित्यागो वास्ति । क्षीणायुष इति
चातुषपदं । अक्षीणायुषोऽप्याराधकतां दक्षीप्यति यत्नं । 'अणुलेभा वा सात् चारित्तविणासया इवे जस्से' ति ।

शास्त्रान्तरं पञ्चानां पुरुषानां नमस्कारिकया प्रारभ्यते । तत्र चार्द्धतामेवोपस्थानमादौ । इह तु पुनर्द्वयेरेव नमस्कारो-
विपर्यवयव । तस्मिन्कृतं वैयर्थ्यमिति ? अत्रोच्यते अन्यथाप्रजुत्तावस्ति कारणं । इह द्विप्रकारः सिद्धसाधक-
भेदेन जीयाः । अर्द्धतां सिद्धानां चास्तराधनाकलत्वात्, आचार्यदीनां भयानां साधकानामनुमोहायेदं शालं प्रस्तूयत
इति सिद्धानां मङ्गलयेनोपगतानां युक्तं, नेतरागमोधिक्रियमाणन्यायोक्त्यामिति भाव्यपरिहारी केर्णाचिन् । सावसन्नताविष
सङ्घेयेते । तत्र चापस्य निवेद्यतेऽयुक्ता । किमर्थं नमस्कारा क्रियते शालाविषु ? अबिग्रमसिद्धये । कथं निहन्ति
विग्रमसी ? स हि यस्तुः श्रोतुं भयेत् ? उभयस्यापि निवन्धनमन्तरागः, 'विग्रमकरणमन्तरागस्य' [त. सू.] इति वक्ष्यमात् ।
पञ्चनकारोऽसी दानस्ताभमौगोपभोग्यीर्याणां विप्रकारभेदेन, तत्र यस्तुर्नान्तरागस्तस्याप्यति प्रस्तूतं, किञ्चिदस्य हि
दानस्य प्रतिपादको दानान्तरागः । दानलभार्थं सिद्धान्ति धोतुल्लोभान्तरागस्तदास्यो विग्रमः कथं तस्मिन्सति न भवेत् सत्यपि
नमस्कारे, यथा वीजसलिलवधुधराधराश्मिकरसंशयाधीनजम्मा म्रिद्धाङ्गुलः स्वहेतुसामान्यां भयस्यभूनायां सानिदि-
हेऽपि साहसतमालादौ तथेहापि । अथैवं प्रये अन्तरागोऽगुमप्रकृतिः । स य शुभपरिणामोन्मूलितरसप्रकर्षः स्वकार्यं
निष्पन्नार्थितं जालमिति । यथेष्टं शुभपरिणाममोभयस्योनापयोगस्तथा सति सिद्धादिगुणादुरागः सर्वं प्लोपयोगी विष्ण-
निराचिकीर्षतस्तत्र कस्मात् प्रेक्षापूर्वकारिणः क्रमाभयणमन्यन्वाप्यं ? उपेयात्मलाभहेतुत्वमाभिव्यक्त्यमुपायानामुपायस्यै, तद्यज-
यन्नास्ति तस्य तस्योपायता तेन सर्वं पथाईदादिगोचरा गुणानुरागतास्तपुर, सारवाङ्मावक्रिया अनाहतकमा भवन्ति ।
पाशितफलप्रसाधना एकैककपा बहुशोऽपि । इमानामनुपूर्वीमन्तरैर्ज्ञेया सिद्धिः सारभ्यस्याव्यथा न विद्यत इति यत्र
तत्राधीयते उपपन्नः । यथा घटं सितसाधयिष्यतो मृन्मन्तर्निषिद्धकरणवक्रारोपणादयः । युगपदेनेकवचनमवृद्धिर
संभाविन्येकस्य वस्तुदिति नान्तरियकतया कमाभयणं तत्र च कामचारः । तथाहि, सिद्धं सिद्धद्वानं
डाणनगोचमनुद्वयाणामिति । शासनगुणानुरागमेव केवलं । कश्चित्तीयैष्ठस्ववि चौरस्वामिनः एव प्रथमं नमस्कारिका ।
एतस्य सुरासुरमनुसिद्धयैर्दिदं चोदगादिकमममर्लं । पणमाणि घट्टमाणं सित्यं धम्मस्स कत्तारं ॥

संसे पुण सित्तयवरे ससब्बसिद्धे विदुस्सध्मावे । समणे य णाणंदसणचरित्तवयीरियास्यारे । इति

प्राचिदेकमघट्टेन,

रंदसदंयदिव्वाणं तिसुलणदिदमधुरविसद्वक्काणमिति ।

कचिज्जीपुणं प्वानाधिताईददित्साभियेयो विरूपितः "धम्मो मङ्गलमुक्तिट्" मिति ।

एवं सति यच्चिन्त्ये ज्ञा विपर्ययाशङ्का ? यद्योक्तं साधकानुश्रद्धाधिकारे सिद्धतत्त्वनामवे मङ्गलत्वनाधिकारो युक्त
इति । रदं पर्यनुयोन्योऽयं श्रुतसाधकार्यमुत यथेवं सकलस्य श्रुतस्य सामाधिकारिणोऽपि विदुस्सारापान्तस्यादौ मङ्गलं

कुर्यात्त्रिगणधरेः 'गमो अरहताणमित्यादिना कथं पञ्चानां मतस्कारः कृतः ? तेन सूत्रविरोधिनी व्याख्या अनेनापि च सूत्रेण विरुध्यते । 'वेदित्वा अरहंते' इति अहंतामुपाधानात् । तेऽपि सिद्धा इति चेत् पृथगुपाधानार्थक्यं । अथैकदेशसिद्धि-
ज्ञात्वा इति पृथगुपात्ताः । आचार्यद्वयोऽपि हि गोपात्तातोषामयोक्तेः सिद्धतास्ति । एकदेशसिद्धतायां अहंतामप्यादायकत्वे
सारगुपदानं संख्याभ्यामविरोधमाधत्त इति ॥ 'सिद्धे' सिद्धान् 'जगत्प्राप्तये' जगति प्रसिद्धान् 'चतुर्विधाराधनाफलं'
चतुर्विधाराधनाफलं 'पक्षे' प्राप्तान्, वेदित्वा 'अरहंते' अहंताः 'यद्यपि' अहंताः 'आराधनं' आराधनं 'अपराधनां'
'कमलो' क्रमदाः ॥

सिद्धतायस्य अस्मादोऽर्थाः नामस्थापनाद्व्यवर्था इति । तत्र नामसिद्धः क्षाधिकं सम्यक्त्वं, ज्ञानं
रुतं, वीर्यं, सुखमतां, अतिनाययतीमवगाहनां, सकलयाधारहिततां धानयेदस्य सिद्धतायप्रवृत्तेर्निमित्तं कस्मिंश्चित्त्वयुक्तः
सिद्धतायः । ननु स्वल्पनिष्पत्तिः सिद्धतायस्य प्रवृत्तेर्निमित्तं न सम्यक्त्वादस्य इति चेत् स्वल्पं व्यापनितया किञ्चिन्मूनात्मरूपः,
निष्पत्तिर्निमित्तत एवैतत् पक्षः । पूर्वमाद्यप्रवृत्तिनायपक्षया चरमशरीरादनुपपिष्टो य आत्मा क्षीरानुप्रविष्टोदकमिव 'संस्थान-
साधुपगतः', शरीरापायेऽपि तमात्मानं चरमशरीरात् किञ्चिन्मूनात्मप्रदेशसम्बन्धानं शुद्धावातोऽयं तद्वैद-
मिति स्थापिता मूर्तिः स्थापनासिद्धः । सिद्धस्वरूपकाशानपि ज्ञानपरिणतिसामर्थ्याच्चासित आत्मा
आगमद्रव्यासिद्धः । नो ज्ञानमद्रव्यसिद्धलोधा ज्ञायकशरीरभावेतद्व्यतिरिक्तभेदात् । ज्ञायकशरीरसिद्धः
सिद्धमाधुतस्य शरीरं भूतं भवत् भवति वा । भवित्व्यतिव्यत्यपर्यायो जीवो भाविसिद्धः । तद्व्यतिरि-
कमर्लभति, कमर्लकर्मनो । सिद्धास्य कारणस्याभावात् सिद्धमाधुतवदितस्य रूपसिद्धात्ममागमभावासिद्धः । क्षाधिकज्ञानवश-
नोपगुक्तः परिप्राप्तावशाथस्य रूपसिद्धाविषयसिद्धिपरस्यो नो ज्ञानमभावासिद्धः । स इह गृह्यते । ननु सामान्यज्ञस्य स्यान्तरेण
प्रकरणं विदोषणं याऽभिनितायैवृत्तिता दुरथगमा ! अत एव विशेषणमुपासते चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्नोति । सम्यक्त्वं
कैवल्यज्ञानवशीं सकलकर्मविनिर्मुक्ततेति चतुर्विधं, चतुर्विधाया आराधनायाः फले सत्यं तत्प्राप्तिरात्मनः सम्यक्वर्दीभावि-
रूपेण सम्पत्त्यर्थः । ततोऽपर्यायः- 'फलं पक्षे' इत्यस्य क्षाधिकसम्यक्त्वेकैवल्यज्ञानदर्शनविरच्यशेषकर्मविनिर्मुक्ततारूपेणाव-
स्थितमिति । जगति आसन्नसम्यक्सीयलोके क्षमीचीनश्रुतज्ञानलोचने प्रसिद्धात् प्रतीतात् विदितम् । 'अरहंते' इत्यत्र च
शब्दमन्तरेणापि समुच्चयार्था गतिः । पृथिव्यसेजोचायुराकाशं फालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणीत्येवं यथा । निदलमोहनीया
तथाऽऽतत्रानन्दशब्दोऽङ्गीकृतशब्दायैव संज्ञामाद्यमुपयाति । अथवा 'जगत्प्राप्तये' इत्यनेनोक्तः । अनुगताथैवादर्शमिति संज्ञाया-
पया सर्वनामशब्दोऽङ्गीकृतशब्दायैव संज्ञामाद्यमुपयाति । अथवा 'जगत्प्राप्तये' इति अहंतां विशेषणं, यतः पञ्चकल्याणस्थापनेषु
विष्टप्रत्येयाधिगता महाभाग, नैवमितरे सिद्धाः । सर्वस्यैव हि चक्षुः कर्णचित्तमतीत्ये सति अमतीत्यस्य कस्यचिद्भवान्
प्रसिद्धमद्रगमुपासन्नकर्ममिति गम्यते । यथाऽऽधिकृत्य कस्या देवेति । तेनासम्भयो जगति प्रसिद्धतामिति । अहंतामेव
मतीततरस्यमुक्तेन क्रमेण । अनधिगतप्रयोजनः श्रोता न यतते धर्मोऽप्ययने वा । परोपकाररसंपादनाय चेदं प्रस्तूपते मया,
ततः प्रयोजनं प्रकटयामीष्याह 'बोचछं ज्ञातव्यं' मिति । एतेनाराधनास्वरूपाय भग्नं प्रयोजनं ज्ञातव्यमप्यत्राद्वयतीत्यावेदितम् ।

नन्वाचारानास्वरूपावगमनं पुरुरगर्थः । पुरुरगर्थो हि प्रयोजनं, पुरुरगर्थश्च सुखं दुःखनिवृत्तिर्वा, न चानर्थोऽन्यतरताऽस्य । अयमस्याभिप्रायः, यो येनाद्यनार्थो स तदत्रात्ये तदीयमुपायमधिगन्तुमुपादेयं वा यतेत । येन प्रयुक्तः क्रियायां प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, सोऽनेन प्रयुज्यते अचणादिक्लिमायामुपयोगिवस्तुपरिज्ञानं प्रयोजनं भवतु, आराधना तु कथमुपयोगिनी? सकलसुखरूपकैवल्यज्ञानपरमाव्यावाधतां जनयतीत्युपयोगिनी । तथा चोक्तं चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्नोति । ततोऽयमर्थः, अतस्तद्वानादिफलनिमित्ताराधनाऽवबोधनाधर्मिदे शास्त्रमारभ्यत इति साध्यमाराधनास्वरूपज्ञानं साधनमिवं शास्त्रमिति साध्यसाधनरूपत्वं चोऽपि शास्त्रप्रयोजनयोरत एव यापयाद्भ्यस्यते । अभियेयभूतास्तु चतस्र आराधनाः । आहामिदं शास्त्रं प्रयोजनादिप्रयस्यमानित्वान्त् स्यात्करणोदितमिति । एवमनया भक्कलं प्रयोजनादिगुणं च सूचितं । 'कमसो' क्रमेण पूर्वदाव्यनिवदितेन, एतेन स्वमनोपिकाचचित्तिमिदं न भवति । आसत्त्वबन्धनुसारितया प्रमाणमिवमाश्रयत्वं भवति । 'पुन्यसुसार्ज' इति वाक्यशेषोपादिरर्थं लभ्यते ॥

अथ श्रीमदवाधारकृतं मूलाराधनादर्पणम् । २ ।

नत्वाहंताः प्रबोधाय मुग्धानां विपुणोन्यहम् ॥

श्रीमूलाराधनागद्वपदान्यासापरोऽर्थतः ॥ १ ॥

वज्रावी येदंयुगीनशमणोपमुद्वमानप्रवचननिष्यंदाभूतमाहुयेस्तत्र भवाद् शिषकोट्याचार्यवर्यः शिष्टाचारं प्रमाणाविर्तुं भंगलघुः सारमुपदेयं वस्तु निर्दिष्टात् श्रोतृप्रवृत्त्यंगतया च प्रयोजनादिप्रयमवबोधनम् 'सिद्धे' इत्यादि सूत्रं चतुर्विंशतिगाथानवषोडशप्रथमावयवमूत्रमासूत्रमास ॥

एतदर्थः कथ्यते यथा-योषष्ठं वक्ष्यामि । प्रतिपादयिष्याम्यहं ग्रंथकारः । कां आराधनां ? आराध्यते सेव्यन्ते स्वार्थप्रसाधकानि त्रिवृत्ते सम्यग्दर्शनादीनि मौखसुखादिभिरनयेत्पाराधना आराध्यन्तिषु आराधककल्याणारः । उपजातसम्यग्दर्शनादिपरिणामस्यशमनस्तद्वतावेकगवृत्तिरित्यर्थः ॥ तथा चोक्तम्—

रत्नप्रथमारार्थं भव्यस्तवारण्यको विभुस्त्वाम् ॥

आराधना क्षुपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्तः ॥

तां । केन ? कमसो क्रमशः । पुन्यसुचानमित्यव्याधारात्पूर्वसूत्रक्रमेणेत्यर्थः ॥ एतेन मुख्यवर्त्तमानावातारापनामहं वदयामि, न स्वमनोपिकाचार्यतामित्युक्तं स्यात् ॥ किं कृत्वा ? वेदिचा वेदित्वा प्रणम्य स्तुत्वा वा । कान् ? सिद्धे

सिद्धान् । किंविशिष्टान् ? पते प्राप्तान् । किं तत् ? चन्द्रविहाररुणाफलं-सम्बद्धं नार्थाप्यचातुर्विध्याया आराधनायाः फलं साध्यं धार्मिकसम्बन्धस्त्वकेवलखानदर्शनाति सर्वकर्मनिर्माध्वञ्चेति चतुष्टयं चद्रूपेण सम्प्रवर्तितामित्यर्थः ॥ एतेन तन्मादिशिखाष्टकव्यवच्छेदोद्देशोऽगममभावसिद्धाः संपृहन्ते ॥ नामादिनिक्षेपोपेक्षया हि नवधा सिद्धाः संभवन्ति । फर्मनोक्तर्मणोः सिद्धत्वस्य अकारणत्वेन तद्व्यतिरिक्तस्यासंभवात् । तथाहि-नामसिद्धाः, रथापनासिद्धाः, आगमद्रव्यसिद्धाः, भायिनोऽरीरतोऽगमद्रव्यसिद्धाः, । भवव्यायकसरीरतोऽगमद्रव्यसिद्धाः, भविष्यव्यायकसरीरतोऽगमद्रव्यसिद्धाः, भायिनोऽगमद्रव्यसिद्धाः, आगममभावसिद्धाश्चेति ॥ अत एव सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरेवामतिशयेनादारीरत्ववशेनानस्तीति 'अग्ने आदेर' इत्यनेन अप्रत्ययेऽन्यथेतया सिद्धशब्दोऽपि न्युत्पाद्याः ॥ एवं तद्धेतुं भूर्तोपदिष्टयिपरादिगतानुगतभाष्यसोके केत्ताप्यनुपलब्धत्वाद्धीयतामभेदेवा भविष्यन्ति इति अनाथासनिरासार्थमाह-युनः किंविशिष्टान् ? 'जयप्पसिद्धे' जगत्तापसप्रभ्यलोकं समीचीनज्ञानलोपयते प्रतीवान् । कतिपयजनसंयोगानित्यर्थः । एतेन लोकोत्तरत्वादिति-दुर्लभमेव कत्वमतस्तदधिगममाय ह्युतरां यत्नो शुमुक्छुभिः फलव्य इत्यावेद्यते । न केवलं तान्मर्दित्वा किं तर्हि 'अरुहन्ते' अर्हन्तश्च भवित्वा । अरिहन्ताप्रजोरहत्सहन्ताश्च परिप्राप्तान्तचतुष्टयस्वरूपाः संतः शुक्लादिशुक्लामसिद्धयवर्ती पूजामर्हन्तीत्यर्थेन इति निरुक्तसिद्धमपि तद्वशं स्फुटीकर्तुं जयप्पसिद्धे इत्यप्यापि योग्यः । जगल्लोकः प्रकृतेर्णालोक्युक्तत्वेन साक्षात्प्रोपेय न सिद्धं निर्णीतं वैयर्थ्यश्च संदिग्धादिव्यवच्छेदेन भव्यैर्ममति न तेषु महाकल्याणक्षयनेषु प्रसिद्धाः प्रतीताः ये तान् लोकालोकासाक्षात्कारेणस्वदुपदेशकानुबन्धप्रतीतिर्ज्ञेत्यर्थः ॥ अत्र सर्वे एव अर्हदाविगुणादुरागाः शुभपरिणामत्वादुभयमर्मप्रकृतीनां रसप्रकर्षमुत्प्लव्य वंछितार्थप्रसाधनाय प्रभवन्तीति, प्रेक्षापूर्वकारिणः पूर्वोच्यार्थाः स्वस्य ज्ञानवर्तावराय, ओष्ठुणां च ज्ञानलभांवराय निराकर्तुं कामा निजमिच्छासाक्षरैर्दर्शदीनां समस्तानां व्यस्तानां वा कामचारेण भंगलं उपाचयन्तः प्रतीकन्ते । इत्यस्य शास्त्रस्यादौ स्वपरविमर्शविपाताय प्राक् सिद्धाः पञ्चाधार्मन्तो भव्यकृता नमस्कृताः । भवति यात्र श्लोकः—

नेष्टं विदन्तुं शुभमावभमरसप्रकर्षः प्रयुन्वन्तरायः ॥

तत्कामचारेण गुणानुगुणजत्यादिरिष्टार्थकृद्देहोदेः ॥

किंच, यो यद्गुणार्थो भव्यकृत् सिद्धान्प्रथमं नमस्त्रकार, तत्प्राप्त्युपायोपेक्षव्येष्टतया च पञ्चाधार्मन्तोऽपि । तथा चोक्तं—

अभिप्रायकस्य भित्तिरेगमणयः सर्वोपः । प्रभवति स च ज्ञानात्तस्य चोत्पत्तिराभात् ॥

इति भवति स पश्यन्त्यस्य सादप्रवर्त्तनीदि कृतस्य फारं साधवो विस्मयन्ति ॥

इत्युपनेतुं प्राहृ सिद्धसुतिः कृण ॥ यथा चोक्तं—
अतश्च सामर्प्यलक्ष्यत्वात् पुण्यमुत्तणमिति नोक्तं ॥ यथा शिप्रं मोक्षार्थिनां मुक्तात्मान एव परगार्थतो भक्त्या

सुखयत्यं तित्थयत्तं अपिगद्वुद्धिस्त सुखयेदस्स ॥

दूरतरं विध्वानं संजमवर्षपञ्चसप्त ॥

सगङ्गा शिख्यविक्रमो शिखरंगो शिखमो य मयि य पुणो ॥

सिद्धेऽस्य पुण्यदि भस्मी गिह्याणं तेन पश्येदिति ॥

सर्वस्यैष हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कथञ्चित् ॥

आपत्त्ययोगं नोपं तावत्स्तेन गद्यनाम ॥

इत्यस्य शास्त्रस्य प्राकृत्यप्रसिद्धये प्रयोजनमाकर्ण्यते । येन क्रियायां प्रयुज्यते तत्प्रयोजनमिति शास्त्रज्ञवर्णादि-
क्रियायां ज्ञानेन प्रयुज्यते इति तदेव शास्त्रस्य प्रयोजनं । शास्त्रअवगादेशोर्न भे जनिष्यत इति हि तत्र प्रवर्तते । तद्वत्स्य
शास्त्रस्य मुख्यमाराधनास्वरूपं ज्ञानं प्रयोजनं, आनुषंगिकं तु तद्विकल्पाविज्ञानमपि । ज्ञानावाराधनायाः स्वरूपविकल्पतनु-
पायसाधकसहायककठानां यज्जानमव्यनेन शास्त्रेणाभिधास्यमानत्वात् ॥ भवति चात्र श्लोकः—

दाखं छद्मयिकत्वास्तदुपायः साधकस्तथा ॥

सहायाः फलमिस्थाह् शुनाद्यारायनाविधेः ॥

तरपरिज्ञानाद्युनः सम्यक्त्वाधाराधनायां श्रवणमात्रं केवलज्ञानं, परमावबोधत्वं च प्राप्नोतीति
परंपरया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य श्रयोजनं । वस्तुतः मुख्यं दुःखनिवृत्तेर्वा पुरुषेणार्थमानत्वात् तत्त्वरूपादिषट्कस्य शास्त्रस्य
चाभिधानाभिधेयभावलक्षणः संवयः । आराधनाया अनंतज्ञानादेव साध्यसाधनभावत्वभावः । तत्रयं च 'योच्छं व्याप-
द्मण' इति ब्रुवाणेन सूरिणा सूचितं लक्ष्यते । ततो ग्राह्यमिदं शास्त्रं श्रयोजनान्विषयसमन्वितत्वात् ॥

अथ हिंदी सापानुवादः ।

सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनके आराधनाका स्वरूप, इस आराधनाके विकल्प अर्थात् भेद, और उपाय, साधक, सहायक तथा आराधनाका फल इतनी बातोंका यह भगवती आराधनाशास्त्र विवेचन करेगा। अर्थात् श्रुते विषयोंका इस शास्त्रमें सुलभा किया है।

इस शास्त्रके प्रारंभमें स्वतःके तथा श्रोताओंके प्राप्त्य कार्यमें उत्पन्न होनेवाले विमोचके परिहारमें समर्थ ऐसा मंगल और शुभ परिणाम करनेवाले श्री शिवकोटि आचार्यजीने उसके उपायभूत यह ऊपरकी गाथा रची है।

यहाँ पर कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—पंचेंद्रियोंके विषयोंसे जिसका प्रेम बूट गया है, संपूर्ण परिग्रहोंका जिसने त्याग किया है, जिसकी आयु क्षीण हुई है, ऐसे साधकों आराधनाका विधान समझानेके लिए यह शास्त्र आचार्य महाशयने लिखा है। साधकने आराधनासाधनमें निर्विघ्ना हो यह हेतु मनमें धारणकर आचार्यने उपर्युक्त मंगलसूक्त रचा है। इस विचारसरणीका संकन आचार्य इसप्रकार करते हैं—असंयतसम्पदछटि, संयतासंयत, प्रसन्नसंयत, अप्रसन्नसंयत वगैरह गुणस्थानोंके धारक पुरुष आराधक हैं ही अतः पंचेंद्रिय विषयोंसे जो पराङ्मुख है, जिसने सर्व परिग्रह तजे हैं, तथा जिसकी आयु क्षीण हुई है ऐसे साधकके लिए यह शास्त्र रचा है यह कहना अनुचित है। क्योंकि असंयत सम्पदछटि तथा संयतासंयत जब संपूर्ण विषयोंसे विरक्त नहीं है, तथा वे सर्व परिग्रह त्यागी भी नहीं हैं, तो भी वे आराधक माने गये हैं। क्षीणायु न्याक्ति ही आराधक हो ऐसा कहना भी योग्य नहीं है। क्यों कि 'अशुलोमा या सतू चारित्तविणासया ह्ये जस' इस श्रुतिसे अधीणायु न्याक्ति भी आराधक होता है यह निश्च होता है, अर्थात् कुटुंबादिक वांछ्य जिसके चारित्र धर्मका नाश करनेके लिये उद्यमी हुए हों अथवा कोई शत्रु चारित्रसे ग्रह करनेके लिए उतारू होगया हो तो उस समय अधीणायु भी आराधक होता है। इसका आचार्य आगे सुलभा करेगे ही ।

प्रश्न—अनेक शास्त्रोंमें पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है। तथा अर्हत्परमेश्वरको प्रथम नमस्कार लिखा है परंतु इस आराधना शास्त्रमें अर्हत् और सिद्ध ऐसे दोही परमेष्ठियोंको नमस्कार किया है और वह भी विपरीत प्रकारसे किया है। अर्थात् प्रथम सिद्ध परमेष्ठिको नमस्कार करनेके अनंतर अर्हत्परम देवको नमस्कार किया है, ऐसे विपरीत क्रमका क्यों आशय किया है ?

उपर—निर्परीत क्रमका आशय करनेमें यह कारण है—इस शास्त्रमें सिद्ध और साधक ऐसे दो प्रकारके जीव कहे हैं. अद्वैत और सिद्ध परमेश्वि आराधनाका फल पात्रुके हैं अतः वे सिद्ध जीव हैं. आचार्य, उपाध्याय व नाथ परमेश्वि ये तीनों भी साधक माने गये हैं. इन साधकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना की है. अतः मित्रोंको मंगलरूपसे स्वीकार कर उनको आचार्यने प्रथम नमस्कार किया है, यह योग्यही हुआ. आचार्य यदि तीन परमेश्विओंको बंदन नहीं किया है क्योंकि वे आराधनाके अधिकारी हैं. उन्होंने आराधना फलकी प्राप्ति नहीं की है. ऐसा किसी विद्वानोंका भाष्य च परिहार है. परंतु ये दोनों भी अंतर्गत सरीखे मालूम पड़ते हैं. प्रथमतः यहाँ भाष्यकी अयुक्तता आचार्य दिखाने हैं—

शास्त्रादिकोंमें नमस्कार क्यों करते हैं ? यदि निर्विघ्न रीतीसे शास्त्रकी सिद्धि होवे इस हेतुसे नमस्कार करते हैं ऐसा कहोने तो हम आपसे ऐसा पूछते हैं कि वह कैसा विघ्नपरिहार करता है ? विघ्न श्रोताको अथवा वक्ताको होता है क्या ? विघ्न दोनोंको भी होता है तथा अन्तराय कर्म उसका कारण है. 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' ऐसा आचार्य उमास्वामीका वचन भी है. इस अन्तराय कर्मके दान, लाभ, भोग, उपभोग, व वीर्य इन पांच कार्यों में विघ्नकारण होनेसे पांच प्रकार है. जन्म वक्तमें दानांतराय कर्म उपस्थित होता है उससमय वह उसको विघ्न करता है. अर्थात् वक्ता उससमय शास्त्ररचना करनेमें असमर्थ होता है. दानान्तराय कर्म आहारदान, वसतिदादान और शास्त्रदान ऐसे तीन दानोंमें विघ्न करता है, अतः दानान्तराय कर्म ज्ञानलाभका घात करता है. श्रोताको लाभान्तराय कर्म हो तो वह शास्त्रलाभ-शास्त्रश्रवणलाभ होने नहीं देता. नमस्कार करनेपर भी यदि अन्तराय कर्म उदयमें आया हो तो शास्त्र रचना तथा श्रवणलाभ क्यों नहीं होने ? इस प्रश्नका उत्तर यह है—शाल्यंकुर उत्पन्न होनेमें शालिवृज, जल, लमीन, धूरिक किरण इवने कारण होते हैं. यह सर्व समग्री पूर्ण रहनेपर भी, यदि साल तनालादि दूध गोनूद हो तो शाल्यंकुर उत्पन्न नहीं होता. प्रकृत प्रकरणमें भी ऐसा ही समझना चाहिए. अर्थात् वक्ता और श्रोताओंने नमस्कार किया हो तो भी अन्तराय कर्म होनेसे प्रस्तुत कार्य करनेमें वे समर्थ नहीं होते हैं.

यहाँपर यदि आप ऐसा कहोने—“यद्यपि अन्तराय अशुभ कर्मप्रकृति है, परंतु शुभ परिणाम उत्पन्न होनेने उमका विघ्न करनेका उत्कट रम नष्ट हो जानेसे वह विघ्नरूपी लकार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है” तो

शुभ परिणाम मात्र ही प्रस्तुत प्रसंगमें उपयोगी होते हैं ऐसा सिद्ध हुआ. अतः सिध्दादि परमेश्वरोंके गुणोंमें अद्वारा करना यह सर्व विघ्न दूर करनेके लिए आवश्यक है ऐसा सिद्ध हुआ. विद्वान् पुरुष शस्त्रप्रारंभमें अर्हदादिकोंको क्रमपूर्वक नमस्कार करते हैं. ” ऐसा आपने जो भाव्य किया था वह अयोग्यता ज्ञात होता है.

वस्तु प्राप्त होनेमें अथवा प्राप्य वस्तुका जन्म होनेमें जो कारण लगते हैं वे उपाय हैं. जहां जिस कारणसे प्राप्य वस्तु प्राप्त हो वह यहां उपाय समझना चाहिए. अतः सर्व ही अर्हदादिविषयक गुणानुराग तथा तत्पुरुषर वचन और शरीरकी चेष्टाचै क्रमयुक्त ही होती हैं ऐसा नियम नहीं है. एकेक उपाय भी इष्टफल प्राप्तिके लिये सहायक हो सकता है. ऐसे बहुतसे उपाय हैं जो एकेक भी इष्टफल प्राप्तिमें सहायक होते हैं. अतः ऐसे स्थानोंपर क्रमता आश्रय करनेकी आवश्यकता नहीं होती है.

जहाँ क्रमसे उपायोंका आश्रय करनेसे कार्यसिद्धि होती है वहाँ उपायक्रमका शरण लेना चाहिए. जैसे घट बनानेकी इच्छा हो तो मट्टीका मर्दन करना, पिंड करना, चाकपर उसको आरुढ करना वगैरे उपाय क्रमसे ही करने पड़ेंगे. अन्यथा घटोत्पत्ति न होगी. वक्ताके मुखसे एक समयमें एक ही शब्द निकलेगा. अनेक वचनोंकी प्रवृत्ति होना असंभव है. इस वास्ते शब्द क्रमसे ही मुखसे निकलेंगे. अतः नमस्कार वचनमें वक्ताकी स्वेच्छाही मुख्य रहेगी. नमस्कार विषयमें स्वेच्छाप्रवृत्ति शास्त्रोंमें प्रायः देखी गई है. यहां आचार्य उसके थोड़ेसे उदाहरण देते हैं. यथा—’ तद्भिः सिद्धार्णं टाणमणोवसुहृमयार्णं ’ अर्थात् जो अद्युपम सुखको प्राप्त हुए, छतकृत्य, ऐसे अर्हत्परमेश्वरोंका शासन अनादि है, तथा वह सिद्धीका कारण है. इस श्लोकांशमें जिनशासनके गुणोंका हि केवल स्मरण किया है. क्वचित् शास्त्रमें बोधित तर्धिकरोंमेंसे प्रथमतः यीर तर्धिकर को ही नमस्कार किया है. यथा—एस सुरासुर मणमिंद इति । यहां श्री कुंदकुट्टाचार्यजीने क्रमसारणका उल्लेखन किया है. पंचास्तिकाय समयसात्तमें सामान्यतः संपूर्ण विनिर्धरोंका स्मरण किया है । क्वचित् शास्त्रमें अर्हदादिकोंको नमस्कार न करके केवल जीवयुगका ही स्मरण किया है. जैसे—’ धम्मो मंगलसुकिन्नमिति ’. इस तरहसे देखा गया तो नमस्कारके विषयमें अनेक प्रकार होनेसे विपरीत पना की शंका लेना व्यर्थ है ।

”साधकोंके उपर अनुग्रह करनेके लिये यह शास्त्र है अतः इसमें सिद्धपरमेश्वरोंको ही मंगलरूपता है.” ऐसा कहना भी अयुक्त है । हम यहां ऐसा पूछ सकते हैं कि—सिद्धिको चाहनेवाले साधकोंपर अनुग्रह करनेका अधिक

कार होनेसे यहां सिद्धोंको नमस्कार किया है अथवा श्रुतसाधकों पर अनुग्रह करनेका अधिकार होनेसे सिद्धोंकी वंदन किया है ? दूसरा पक्ष मानते तो भी आपका मत सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि, सामाधिकसे लेकर लोक विदुत्तार पर्यंत जितना द्वादशांग है उसकी रचना गणधरोने की है, उसके प्रारंभमें गणधरोने ' नमो अरहंताणं ' इत्यादि पावयोज्यचार करके पंचपरमेष्ठिओंको नमस्कार किया है। यह भी आपके मतव्यक्त है। यतः पंचणमोकार रूप मंगलमें प्रथम अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है, अनंतर सिद्ध परमेष्ठीको किया है। परन्तु " सिद्धे जयप्पसिद्धे " इस मंगल गाथामें प्रथमतः सिद्ध परमेष्ठीको अनंतर अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार किया है। यदि अर्हत्परमेष्ठी भी सिद्ध ही है ऐसा कहोगे, तो सिद्धपरमेष्ठिओंका ' सिद्धे जयप्पसिद्धे ' इस वाक्यसे स्मरण किया ही है फिर अर्हत्परमेष्ठीका सिद्धस्वरूपसे स्मरण करना व्यर्थ होता है।

यदि अर्हत्परमेष्ठी एकदेशसिद्ध है इस वास्ते उनको प्रथम नमस्कार किया है ऐसा कहोगे, तो आचार्यदि भी एकदेशसिद्ध हैं, उनका ग्रहण क्यों नहीं किया यह प्रश्न उपस्थित होगा। एकदेश सिद्ध होने पर अर्हंत भी आराधक हैं ही तो मी, उनका मंगलरूप समझ करके ग्रहण किया है ऐसा कहोगे तो तुम्हारा यह विवेचन विरुद्ध होगा। अतः इतने विवेचनका यहाँ यह आश्रयाय है कि, यह ग्रंथ रचनेवाले आचार्य भी शिवकोटिकी यहाँ ज्ञात विवक्षा नहीं है। अतएव उन्होंने प्रथम सिद्ध परमेष्ठीको, अनंतर अर्हत्परमेष्ठीको नमस्कार किया है। यहाँ संक्षिप्त गाथार्थ इस प्रकार है—

जिन्होंने चार आराधनाओंका फल प्राप्त किया है, जो जगतमें प्रसिद्ध हुए हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी-ओंको, तथा सिद्धके समान जिनको चार आराधनाओंका फल मिला है ऐसे जगत्प्रसिद्ध अर्हत्परमदेवको भी धंदन कर मैं (श्री शिवकोट्याचार्य) क्रमशः—पूर्वीचार्य प्रणीत शास्त्रोंके अनुसार इस आराधना ग्रंथको कहता हूँ अर्थात् भगवती आराधना नामक ग्रंथकी रचना करता हूँ,

' सिद्धे जयप्पसिद्धे ' इस गाथामें जो सिद्ध शब्द आया है उसके नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव ऐसे चार अर्थ हैं, इन अर्थोंका विशेष विवेचन इस प्रकार है—

१ नाम सिद्ध—धार्मिक सम्प्रदर्शन, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सत्पत्ता, संसारावस्थामें प्राप्त न होनेवाली अवगाहन शक्ति तथा सर्व चाधाओंसे रहितपना ऐसे गुणोंकी अपेक्षा न करके सिद्धशब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त किसी

व्याक्तिमें सिद्ध शब्दकी प्रवृत्ति होना वह नाम सिद्ध है।

श्रृंखला-स्वरूपकी उत्पत्ति सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त होता है। सम्यक्त्वादिगुण सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त नहीं होते हैं। फिर यहाँपर सम्यक्त्वादिगुणोंको सिद्ध शब्दकी प्रवृत्तीका निमित्त क्यों बताया इस चीज का उत्तर आचार्यने ऐसा दिया है—

२ ठीक है। सम्यक्त्वादि गुणोंके स्वरूपकी निष्पत्ति निमित्तसे हो जाती है, ऐसा हम मानते ही हैं। पूर्वभाव प्रकृति नबकी अपेक्षासे अर्थात् सिद्धत्व प्राप्त होनेके कालमें अन्तिम शरीरमें प्रविष्ट जो आत्मा वह दृष्टमें मिले हुये पानीके समान शरीराकार था। वही आत्मा शरीरका नाश होनेपर भी अन्तिम शरीरसे किंचित् न्यून आत्म-प्रदेशोंकी आकृतिसे युक्त है, ऐसा पुष्टीमें आरोपण कर 'वही यह है' ऐसा समझकर स्थापन की गई जो मूर्ति उसको स्थापना सिद्ध कहते हैं।

३ आगम द्रव्यसिद्ध-सिद्धोंका स्वरूप प्रकट करनेवाले ज्ञानकी परिणतीके साधनसे युक्त जो आत्मा उसको आगम द्रव्य सिद्ध कहते हैं। अर्थात् जिस आत्माके ज्ञानमें सिद्धोंका स्वरूप ज्ञाननेका सामर्थ्य प्राप्त हुआ है परंतु वर्तमान अवस्थामें वह सिद्धोंको नहीं जानता है, ऐसे ज्ञानसे युक्त आत्माको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं।

४ नो आगम द्रव्य सिद्ध-इनके ज्ञायक शरीर, भावि तथा तद्व्यतिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं।
५ ज्ञायक शरीर सिद्ध-सिद्धोंके स्वरूपका प्रतिपादक ऐसे सिद्ध प्राभूत ज्ञानको ज्ञाननेवाले जीवका भूतकालीन, भाविप्राकालीन व वर्तमान कालीन जो शरीर वह सिद्ध स्वरूप ज्ञाननेमें जीवको मदत करता है अतः ऐसे त्रिकाल गोचर शरीरको ज्ञायक शरीर सिद्ध कहते हैं।

६ जिस आत्माको भविष्यकालमें सिद्धत्वपर्याय प्राप्त होगा वह आत्मा भाविसिद्ध है।

७ तद्व्यतिरिक्तसिद्ध यह भेद होता नहीं। क्योंकि, कर्म और नोकर्म ये सिद्धत्वके कारण नहीं हैं। कर्म, नोकर्म जबतक जीवके साथ रहेंगे तबतक सिद्धत्व प्राप्त नहीं होता।

८ आगम भाविसिद्ध-सिद्धप्राभूतमें जो सिद्धोंका स्वरूप लिखा है उसको वर्तमान कालमें ज्ञाननेमें उपयुक्त हुए ज्ञानको आगमभाविसिद्ध कहते हैं।

९ नो आगमभाविसिद्ध-स्वाधिक ज्ञान दर्शनसे युक्त, अव्याबाध स्वरूपको प्राप्त हुआ, लोक शिखरमें

विराजमान जो शुद्धात्मा यह तो आगमभावसिद्धि है, यहां तो आगमभावसिद्धि को ही सिद्ध समझना चाहिए, श्रुंका-प्रकरण अथवा विशेषणके बिना सामान्य शब्दकी अभीष्टार्थमें प्रवृत्ति है यह समझना कठिन बात है, अतः सामान्य सिद्ध शब्दसे तो आगम भावसिद्धका ग्रहण यहां कैसा हो सकेगा ?

उत्तर-अतएव आचार्य महाराजने 'वृत्तिधाराधनाफलं प्राप्तान्' यह विशेषण देकर यहां तो आगमभाव सिद्धका ही ग्रहण करना योग्य है ऐसा प्रकट किया है, सम्प्रदर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, व संपूर्णकर्मरहितता यह चार आराधनाओंका फल है, अर्थात् सम्प्रदर्शनादिशुणोसे परिपूर्ण होना-तद्रूप होना यह आराधनाका फल है, फलं पने-क्षायिक सम्प्रदर्शन, केवलज्ञान, दर्शन व सर्व कर्मोसे मुक्तता ऐसे स्वरूपसे सिद्ध परमात्मा युक्त होगये है, यह आराधनाका फल उनको मिल गया-

अरहंत भी जगत्प्रसिद्ध-जगत्प्रसिद्ध है, निर्दोष स्वज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले आसन्न भव्य जीवरूप जगतमें अरहंत प्रतिदि पाजुके हैं अतः वे जगत्प्रसिद्ध हैं, अरहंते इस शब्दके आगे 'च' शब्दकी योजना नहीं की है तो भी यहां समुच्चयार्थ समझ लेना, च शब्दके बिना भी समुच्चयार्थका बोध होता है, उसका उदाहरण यह है- 'पृथिव्येजो वायुराकाशं कालो दिवात्मा मन' इति इस वाक्यमें च शब्दके बिना सर्व द्रव्योंका वैज्ञानिक मतवालोंने संग्रह किया है,

मौहीनीय कर्म नष्ट करनेसे, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म दग्ध करनेसे जो इंद्रादिकोंके द्वारा विशिष्ट पूजाको प्राप्त हुए हैं ऐसे जिनेश्वरोंको अरहंत यह अन्यर्थ नाम प्राप्त हुआ है, जैसे सर्वनाम शब्द समस्त शब्दार्थोंकी संज्ञा हो जानेंसे अन्यर्थ है,

अथवा 'जगत्प्रसिद्धे' यह अर्हत्परमेष्ठीका विशेषण समझना चाहिए, क्योंकि गर्भ जन्मादि इतर भवकल्याण स्थानोंमें त्रैलोक्यके द्वारा वे महात्मा सेवित होते हैं, ऐसे इतर सिद्धपरमेष्ठी सेवित नहीं हैं, कोई भी वस्तु किसी प्रकारसे प्रसिद्ध होती ही है, अप्रसिद्ध ऐसी कोई वस्तु नहीं है अतः जगत्प्रसिद्धे यह अर्हन्तका विशेषण न्यय दीर्घगा, परंतु न्यय नहीं है, जैसे 'अभिरूपाय कन्या देया' रूपवाक्को कन्या देनी चाहिये ऐसा इस वाक्यका अर्थ है, परंतु रूप रहित कोई पुल्लिंग रूपमें रहता ही नहीं, सभी पुरुषोंमें रूपगुण रहताही है अतः यह वाक्य न्यय होता है ऐसा नहीं, अभिरूप इसका अर्थ विशिष्टरूपवान् अर्थात् सुंदर पुल्लिंग ऐसा करनेसे

व्यर्थता नष्ट होती है। उभी तरह 'जगत्प्रसिद्ध' इस अर्थनिरूपके विशेषणका प्रसिद्धतम ऐसा अर्थ समझना चाहिए इस विशेषणसे अद्वैतपरम्पराकी ही अधिकतर प्रसिद्धि संचित की गई है।

जन्तक श्रोताको प्रयोजनका ज्ञान होता नहीं तबतक यह शास्त्र श्रवण करनेमें अथवा उसका अध्ययन करनेमें प्रयत्न नहीं करेगा इस वास्ते परोपकार करनेके लिए उक्त हुवा मैं यह शास्त्र रच रहा हूँ। अतः 'मै' शब्द रचनेका प्रयोजन प्रगट करवा हूँ ऐसा आशय मनमें धारण करनेवाले आचार्य 'बोच्छं आराहणमिति' इस वाक्यसे प्रयोजन कहते हैं। आराधनाके स्वरूपका ज्ञान होना यह प्रयोजन है तथा यह प्रयोजन श्रोताको इस शास्त्रके सुननेसे प्राप्त होना ऐसा अभिप्राय 'बोच्छं आराहणं' इस वाक्यसे शलकता है।

मुँका—आराधनाका स्वरूपपरिज्ञान होना यह पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थको प्रयोजन कहते हैं। सुख अथवा दुःख निवृत्तिको पुरुषार्थ कहते हैं। आराधनाका स्वरूप ज्ञान होना यह सुखरूप अथवा दुःखकी निवृत्ति एतद्वय नहीं है अतः स्वरूपावगमन प्रयोजन नहीं है। इसका सुझाव हम इस तरह करते हैं—

जो जिस प्रयोजनको चाहता है वह उसको प्राप्ता करनेके लिए उसके उपाय जाननेका प्रयत्न करता है। अथवा प्राप्य वस्तु मिलनेका प्रयत्न करता है। जिसके द्वारा मनुष्य को कर कार्यमें मनुष्य मनुचं होता है उसको प्रयोजन कहते हैं। आत्मा शान्तके द्वारा शांतिश्रृंगारि क्रियामें मनुचं होता है अतः उपयोगिनस्तुका ज्ञान होना यह प्रयोजन कह सकते हैं।

मुँका—परन्तु आराधना तो कुछ उपयोगिनी नहीं है अतः वस्तु ज्ञान कर लेना आवश्यक नहीं है।

उत्तर—यह आराधना अनंत सुखरूप केवलमान च परम अव्याप्यता इन गुणोंको उत्पन्न करती है अतः यह आराधना अवश्य उपयोगी है। अतएव सिद्ध और अरहत वे महापुरुष चार प्रकारके आराधनाओंका फल प्राप्त कर चुके हैं ऐसा आचार्य कहते हैं। अनंत मानादिकल देनेवाली आराधनाका स्वरूप मन्व्योंको प्राप्त हो जाय इस हेतुमें प्रेरित होकर आचार्य इस शास्त्रकी रचना करते हैं। यह शास्त्र आराधना स्वरूपका ज्ञान उत्पन्न करता है अतः यह साधन है तथा आराधनाजन साध्य है। शास्त्र और प्रयोजन इन दोनोंमें साध्यसाधन संबंध है यद् यद् 'चतुर्विधाराधनाफलं प्राप्तम्' इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है, यह शास्त्र चार आराधनाओंका वर्णन करता है अतः इसको अभिधायक-प्रतिपादक कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि आराधना इस शास्त्रमें वर्ण्य-अभिधेय है अतः इन

दोनों प्रतिपाद्य अभिधेयमिधायक संबंध है, अतः इस सास्त्रमें प्रयोजन, संबंध व फलनिर्देश होनेसे व्याकरणादि शास्त्ररत्न यह असाधना सास्त्र श्रोतृवर्गसे ग्राह्य ही है. ग्रंथकी प्रथम भाषासे मंगल व प्रयोजनादि तीन बातोंकी भी आचरण महोदयने द्वाचित किया है. यह शास्त्र पूर्वाचार्योक्तं वचनानुसार रचा गया है इस लिये यह प्रमाण है. प्रथम भाषामें 'कर्मतो' ऐसा शब्द आया है, उसका योग्य संबंध मिलानेके लिए 'पुण्यसुत्तार्ण' यह वाक्य शेष अध्याहृत लेना चाहिये.

- विमयोदया-का भाषाधना कष्ट पार ! न ह्याप्यव्यतिष्ठानेनात्मभूताधना शक्या प्रतिपत्तु इत्यरेकायामाह-

उज्जोषणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।

दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिवा ॥ २ ॥

२ उज्जोषण- उज्जोषणमुज्जवणमित्यादिकं । 'उज्जोषणं' उद्योतनं शङ्काविविरसनं सम्पत्स्वाराधना अन्त-
निकल्पिते वस्तुभिः किमिदं भवेत्तु भवेदिति समुपजातायाः शङ्कायाः संशयप्रतिसंहिताया अपाकृतिः । कथं ? हेतुयत्न
आत्मवचनेन वा समुपजाताया इत्यमेवेदमिति निश्चिन्ता । यद्यपि यस्य विरोधि यत्रोपजातं तत्र नेतरदारूपं यज्जाति, यथा
शीतस्पर्शान्नाग्ने शिदिशकरे उज्जाता । विरोधि च निश्चयज्ञानं संशीतिविरोधता च नियोगतस्तद्भावे तमेतरस्य तदा अवबन्नात्
यस्यायः कांक्षादीनां स्वरूपं तद्विरासकर्म व प्रस्तावे । अनिश्चयो वैपरीत्यं वा ज्ञानस्य मलं, निश्चयेनानिश्चयव्युदासः । यथाय-
तया वैपरीत्यस्य निरासो ज्ञानस्योद्योतनं । भाषणाधिरहो मलं चारिष्यस्य, तासु भावनासु वृत्तिरुद्योतनं चारिष्यस्य । तत्पत्तोऽ-
संयमपरिणामः कलङ्कतया स्थितस्तस्यापाकृतिः संयमभावनया तपस उद्योतनं । उत्कण्ठं यत्नं तद्यथनं । ननु मिथ्यार्थं सुप्रकृते-
रर्थः, मिथ्यार्थं न संयोगता । तथा हि-सुदुर्भिक्षा धाना इति कथिते शुद्धेन संयुक्ता इति प्रतीयते । संयोगश्च विधिप्रयोरर्थयो-
प्राप्तयोः प्राप्तौ न च दर्शनादयोऽर्थान्तरभूता आत्मनस्तद्रूपविकल्परूपाभावात् । तत्कथं दर्शनादिभिरात्मनो मिथ्यणमिति ? उच्यते-
विरोधवाच्योऽपि सामान्योपलक्षणतया वर्तते, यथा कांकेय्यो रक्ष्यतां सर्पिरित्यव्योपयातकसामान्यमेवार्थः । कांकाशब्दस्य
'प्रतीतस्तद्वत्संबन्धसामान्यमत्र यवनशब्दादिमिथेयं । असकृदर्शनादिपरिणतिरुचयनं । निराकुले यद्वनं धारणं निर्वहणं, परी-
पह्यद्युपनिपातेऽप्याकुलतामन्तरेण दर्शनादिपरिणतौ वृत्तिः । उपयोगान्तरेष्वन्तर्हितात्वं दर्शनादिपरिणामानां भिष्यादं
साधनं । भवान्तरप्रापणं दर्शनादीनां निस्तरणम् । एवमाराधनाशब्दस्यानेकार्थबुद्धितायां यथावसरं तत्र तत्र व्याख्या
काया । अत्रान्ये व्यत्यक्षते-निस्तरणशब्दः सामर्थ्यवाची स प्रत्येकं संबध्यते उद्योतनादियिरुद्योतनादीनां तद्दर्शनादिभि-
श्रुतिर्मित्यपि यथासंख्येन संबन्धः । उद्योतनं मरणकाले प्रागवस्थाया उत्कर्षेण निर्मलीकरणं अन्तिमेन दर्शनाराधनेत्यादिना

प्रमेण । त एव पर्यनुयोज्याः । किमत्र शान्तदीनां निर्मलीकरणमिति चेत् । एवं चेदसंनिविदं किमिति संवच्यते निर्मलीकरणे ? उत्कर्णेण यवनमपि सर्वपात्रिप्यते । अनाकुलं यहनमपि साधारणं । भिद्यते यतः श्रुतिविमतीनां निश्चयेनानाकुलं वहनमिति ? न च निस्तृणशान्दात्सामर्थ्यं प्रतीयते । उद्योतनं सामर्थ्यं, उद्योतनं सामर्थ्यं, अविमेनेति कथमयमर्थो लभ्यते उज्ज्वलविद्युद्वैद्युतायो, मरणकालश्च कः ? मनुष्यमवपयत्यविनाशसमयो मरणकालश्च नोच्यते सोऽनुपात्तः । न तत्र भायनोक्तिः, मारणान्तिकसमुद्रति शरिणामभान्वात् । अत्र भावनकालो मरणकालश्च नोच्यते सोऽनुपात्तः । प्रकृतश्च कथमिदं लभ्यते । भावनकालगतव्यापारकथनेनैव शास्त्रं प्रस्तुतिमिति लभ्यत इति चेत्, न तथाऽस्त्विति त्वात् । 'दं सण-
जानचरित्ततयाणमुज्ज्वलमाराधना भजिया' 'दं सणणणचरित्ततवाणुज्जवणमाराधणा' इति, इति प्रत्येकमभिसंयन्यो-
ऽत्र कार्यं । अन्यथा समासेन निर्देशो कुर्यात् ।

का आराधना करय वेत्यनुयोगो सत्याह—

मूलारा = दर्पणम्— उज्ज्वलवित्तादि । दर्शनदीनां प्रत्येकमुद्योतनादिर्षयकमाराधना चतुर्विधा भणित ।

निर्नेति संक्षेपः ॥ तत्र उद्योतनं दर्शनदीनां निर्मलीकरणं ॥ तन्मला यथा—
दीकादयो मला दृष्टेर्यथासाक्षानिश्चयो मतेः ।

दृष्टारय भाषनात्यागस्तपसः स्वायत्तयसः ॥

उज्ज्वलं उत्कृष्टं यवनं किमणं असकृत्परिणतिः । विषयार्णं परीक्षादुपनिपतेऽपि निराकुलं लाभानि निरपेक्षं वा यहनं पारणं । साहणं साधनं उपयोगान्तरेणान्वर्धितानां निष्पादनं । नित्यं नैमित्तिकं वा किंवित्कुर्वता व्यवहितस्य सत्यदर्शनाराम्यवतस्य पुनरुपप्रयोगात्सम्पूर्णकारणमित्यर्थः । गिर्यारणं भवान्तरप्रारणं । निस्तारो मरणान्वापणमि-
त्यर्थः । दं सणेत्यादि । दर्शनं तत्पार्थक्यनं, ज्ञानं स्वार्थविज्ञेयः, चारित्रं पापपादननिमित्तकियोरजः, तपः इन्द्रियमन-
तोर्निष्पन्नानुष्ठानम् ॥

अथ हिंदी भाषानुवादः ।

१ आराध्या का ज्ञान होनेमें आराधनाका स्वरूप क्या होता है. मतः आराधना सा चीज है तथा वह किसको होता है ? ॥ प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

उद्योतन—शंकाकांक्षादि दोषोंकी दूर करना यह उद्योतन है इसको सम्प्रस्वाराधना कहते हैं. द्वादशगोमं जीवादितत्वोंका जो स्वरूप कहा हुआ है वह यही है अथवा अन्य है ऐसी जो शंका मनमें उत्पन्न होती है—विसङ्गो संशय भी कहते हैं उसको अपने हृदयसे दूर करना इसको उद्योतन कहते हैं. जैनसिद्धांतकी अविलम्ब युक्तियों द्वारा और आगमवचनसे जीवादिक यन्तुओंका यही स्वरूप है ऐसा ही है ऐसा निश्चय करके संशयादिक दोषोंको दूर करना चाहिए. जो जिसकी विरुद्ध चीज जहां उत्पन्न होती है उससे उलटी वस्तु कहां नहीं ॥ सक्तो जैसं शीतस्पर्शसे युक्त चंद्रमें उसकी विरुद्ध तीरोची उष्णता आने पैर नहीं जया सक्तो. संशयके विरुद्ध निश्चय है. यह जहां उत्पन्न होता है वहां संशय कैसा रहेगा ? निश्चयसे विरोध करता हुआ वह संशय विलङ्घन टिक नहीं सक्तो. शंकाकांक्षादिक दोषोंका स्वरूप और उनकी निरसन आगे दर्शनाराधनाके प्रकरणमें आचार्य स्वयं लिखेंगे ही.

निश्चय न होना अथवा उज्झा क्षान होना यह ज्ञानका ॥१॥ है. ज्ञान निश्चय होता है तब अनिश्चय नहीं रहता है. यथार्थ यन्तुज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है. यह ज्ञानका उद्योतन है. अर्थात् ज्ञानके अनिश्चय विपर्यासादि दोष दूर करना ज्ञानका उद्योतन है.

भावनाओंका त्याग होना चारित्रिका मूल है. अर्थात् भावनाओंमें तत्पर होना ही चारित्रिका उद्योतन होता है. अंतस्वयम परिणाम होना यह तपका कलंक है. संवय भावनामें तत्पर रहकर ॥२॥ कलंको हटाकर तपश्चरण निर्मल बनाना यह तपका उद्योतन है.

उपवन—उत्कृष्ट यवनं उद्यवनं अर्थात् उत्कृष्ट मिश्रण होना उपवन है. आत्माकी सम्प्रदर्शनादरूप परिणति होना उद्यवन शुद्धका अर्थ है.

शंका—उदपूर्वकं यु धातुसे उद्यवन शब्द बना है. उद्यका मिश्रण ऐसा अर्थ है. मिश्रण और संयुक्तपन दोनो समनार्थक हैं. जैसे गुडसे मिश्रित घाना है. अर्थात् गुडसंयुक्त घाना है ऐसा अभिप्राय होता है. विभिन्न पदार्थ आपसमें मिल जाना उपको संयोग कहते हैं पन्तु सम्प्रदर्शनादिक गुण आत्मासे भिन्न नहीं है. आत्मा तद्गूर है. वह उससे चिन्न नहीं है अर्थात् सम्प्रदर्शनादिसे भिन्न उद्यका और ज्ञा नहीं है. अर्थात् सम्प्रदर्शनादिकमें उपका संयोग होना यह उद्यवनका अर्थ यहां योग्य नहीं दीसता.

उत्तर—विशेष शब्दसे जो विशिष्ट अर्थ कहा गया है वह भी उत्पन्नसे सामान्य अर्थ रूप से माना जाता

हे, जैने 'काकम्बो रस्यतां सर्पिः' अर्थात् कौवासे घृतका रक्षण करो। यहाँ कौवा शब्द विशिष्टार्थवानक होने पर भी उसका उपपातक सामान्य ही अर्थ अनुभवमें आता है। अर्थात् घृतको विगाडनेवाले सब प्राणियोंका काक शब्द वाचक हो जाता है। वैया यहाँपर उदवन शब्दका सामान्य संबंध ऐसा अर्थ समझना अर्थात् चारोंपार सम्यग्दर्शन गुणोंसे आत्मा परिणत होजाना यह उदवन शब्दका अर्थ है।

निर्वहण—सम्यग्दर्शनादिगुणोंको निराकुलतासे धारण करना। अर्थात् परीपहादिक प्राप्त हो जानेपर भी व्याकुलचित्त न होकर दर्शनादि परिणतीमें तत्पर रहना, उससे च्युत न होना यह निर्वहण शब्दका अर्थ है।

साधन—अन्य कार्यके तरफ ध्यानोपयोग लगनेसे विरोहित हुए दर्शनादिपरिणामोंको उत्पन्न करना। अर्थात् निरय कार्य तथा नैमित्तिक कार्य करनेमें चित्त लगनेसे विरोहित हुए सम्यग्दर्शनादिकोमेंसे किसी एकको पुनः उपायोंके प्रयोगसे संपूर्ण करना उसको साधन कहते हैं।

निस्तरण—अन्यभवमें सम्यग्दर्शनादिकोंको पोहोचाना, अर्थात् आमरण निर्दोष पालन करना जिससे ये अपने साथ अन्य जन्ममें भी आसकेंगे।

आराधना शब्द अनेकार्थमें रूढ होनेसे प्रकरणानुसार अविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिये।

अब यहाँ दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं—निस्तरण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है। तथा इस शब्दका उद्योतन, उदयन इत्यादि शब्दोंके साथ संबंध करना चाहिये। तथा उद्योतनादिकोंका दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इनके साथ यथाक्रम संबंध करना चाहिये। अर्थात् दर्शनका उद्योतके साथ, ज्ञानका उदवनके साथ, चारित्रका निर्वहणके साथ तथा तपका साधनके साथ संबंध करे। दर्शनोद्योत—पूर्वावस्थापेक्षासे भी मरणकालमें निर्विमित्तया सम्यग्दर्शन अधिक निर्मल करना यह दर्शनाराधना समझनी चाहिये। इत्यादिरूपसे अन्यविद्वान् व्याख्यान करते हैं, इस विवेचनपर आचार्य निम्न प्रकारसे विचार करते हैं।

यहाँ आपको ज्ञानादिकोंको निर्मल करना इष्ट है या अनिष्ट है ? यदि इष्ट है तो दर्शनके साथ ही उद्योतनका क्यो संबंध जोड़ने है ? अर्थात् ज्ञानादिकोंके साथ भी उद्योतका संबंध जोड़ देना चाहिये। उदवनका भी सर्वत्र साथ संबंध करना चाहिये। निर्वादि अर्थात् निराकुल धारण करना इसका भी दर्शनादिक चारोंके साथ संबंध जोड़ना

चाहिये, व्रत, गुति, सामितिओंको निश्चयसे निर्विघ्न धारण करना अर्थात् चारित्रिके साथ ही निर्वाहिका संबंध करना चाहिये ऐसा कहना अनुचित है. निस्तारण शब्दका सामर्थ्य ऐसा अर्थ है ऐसा आप कहते हैं परंतु उसको उद्योतन, उद्यवन, निर्विघ्न इत्यादिकोंके साथ जोड़नेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता नहीं. मरणकालमें निर्विघ्नतया सम्यग्दर्शन निर्मल करना उसको उद्योतन कहते हैं ऐसा आप कहते हैं परंतु उज्जोवेण वगैरह शब्दोंका 'निर्विघ्नतया' ऐसा अर्थ नहीं है. आप मरण काल कोनसा समझते हैं? मनुष्यभव पर्यायका नाश होनेका जो समय उसको यदि मरणकाल समझते हो तो अयुक्त है. कारण मरणकालमें भावनाका उत्कर्ष होता नहीं. मारणान्तिक समुदातमें परिणाम मंद होते हैं. यदि मरणकाल शब्दसे भावना कालका अर्थ समझना चाहिए ऐसा कहोगे तो उसका यहां ग्रहण किया नहीं है. तथा यह अमंजुत होनेसे उसका यहां कुछ प्रयोजन नहीं है.

भावनाकालकी प्रशुचि कैसी होती है इसका विवेचन करनेके लिए इस शास्त्रकी रचना हुई है अतः भावनाकालका यहां ग्रहण हो जाता है ऐसा कहोगे तो योग्य नहीं है. 'दंसणणाचरित्तवथापुज्जवणमारुहणा मणिा' इस वाक्यमें उज्जवण शब्दका प्रत्येकसे संबंध करना चाहिये 'उज्जोयणपुज्जवण' इस वाक्यमें उज्जवणादिक शब्द समाप्त रहित लिखे हैं अतः दर्शनादिकोंके साथ उद्योतनादिकका प्रत्येकका संबंध होता है ऐसा समझना अर्थात् सम्यग्दर्शनका उद्योत, ज्ञानका उद्योत, चारित्रिका उद्योत ना। तयका उद्योत. इसी तरह उद्यवनदि शब्दोंका भी सबके साथ संबंध समझना चाहिये. अन्यथा आचार्य उद्योतादिकोंका समासपूर्वक उल्लेख कर सकते थे.

किं चतुर्विधैयाराधनेत्येवास्माक्यामाह—

दुविहा पुण जिणवयणे भणिा आराहणा समासेण ॥
सम्मत्तम्मि य पढसा विदिा य हवे चरित्तम्मि ॥ ३ ॥

विजयोद्या- उविहा समासेण दुविहा आराधणा भणिा इति पदसंबन्धः । आवरणमोक्षजयजिज्ञासा । ज्ञानदर्शनारणजयत्सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः । मोक्षपराजयाद्धीतरणवेणाः । सर्वज्ञानं सर्वदर्शिनं चीतरणवेणां यन्त्रे विनियन्त्रे । एतेन अस्त्यपचयनकारणमाधात् ग्रामाण्यमाख्यातमागमस्य । यस्मुरक्षानाद्रागद्वेषाभ्यां वा प्रवृत्ते यत्नः

[illegible]

मूलारा० दर्पणम्—एवं आराधनाया भेदस्वरूपणद्वारेण स्वरूपं दर्शनाद्विषयभेदाभातुर्विध्यं पञ्चशिष्यकान्तौ संक्षेपात्तद्वैविध्यमनुशास्ति—

निगवणे जिनानो वीतरागसर्वेयानां वचने अयणभूत आगमे । अयमं विस्तररुचिविनियादायवशाच्चतुर्वि-
धाराभनाभिदिता । पञ्चास्त्येषपरचिन्धिष्येषेक्षया सा द्विप्रकारा कथिता । ज्ञानेन दर्शनस्य, तपसा च चारित्रस्य जविना-

भावात्तत्र तयोन्तर्भावनात् । तत्र एव चारित्र्यस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तार्थमुक्तिवल्गुशब्दग्रहणाय । स्वल्पस्यो
पन्यासो वचनार्थोभयभेदाच्चेष्टा । श्लोक-

वत्रात्म्योक्त्यानुयोगादिद्वारैरर्थः प्रपञ्चयेते ॥

संक्षेप उक्तेः सौर्वत्य दिक्मानोऽभिद्वधुर्द्वयोः ॥

सम्पत्समि तत्त्वअद्वानविषये इत्यर्थः । पठया सम्पत्स्वाराधनाया सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारि-
त्राराधनायाः संबन्धः ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं । एक सम्पत्त्वमें आराधना अर्थात् सम्पत्स्वाराधना तथा दूसरी चारित्र्यमें आराधना अर्थात् चारित्र्याराधना.

विशेष—आवरण व मोहको जीतनेसे अर्हत्परमेश्वरको जिन कहते हैं, ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मको जीतनेसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं, मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके हैं, अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेष रहित ऐसे अर्हत्परमेश्वरके वचनको जिनवचन कहते हैं, जिनेश्वरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है । वक्ता यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला हुआ वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है, प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं, श्रद्धान्तको विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्र्यको विषय करती है ।

दर्शनाराधना और चारित्र्याराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए हैं, आत्मा प्रथम सम्पत्त्वदर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर उत्तरकालमें उसमें चारित्र्य परिणाम उत्पन्न होता है, अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है, असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं ।

श्रद्धान तथा विरति परिणामोंकी युगपत्कालमें-प्रकृतसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्पत्त्वदर्शन और चारित्र्य परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं, अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं ।

अतः उत्पत्तिकी अपेक्षासे प्रथमता द्वितीयता क्यों कही जाती है ? जो असंयत सम्यग्दृष्ट्यादिव है उनका अपेक्षासे क्रमघटना कैसी होगी ? जिससे उसमें प्रथम द्वितीयता आजायें, उत्पत्तिकी अपेक्षासे यदि कहोगे तो हमने उस नियममें नियम कहा ही है ।

अब आगममें जो प्रथम वचन कहे हैं और जो नंतर कहे हैं उनकी अपेक्षा लेकर हम प्रथम तथा द्वितीयकी कल्पना करते हैं क्योंकि आगममें 'असंजदसम्पादिद्वीसंयदासंयदाप्रमत्तसंयदा' ऐसा क्रमपूर्वक उल्लेख है, यह भी फइना योग्य नहीं है, हम इस विषयमें आपको ऐसा पूछते हैं कि, यह आगमका वचन क्रमका आशय लेकर क्यों प्रवृत्त हुआ है ? क्या क्रमके साथ आगम वचनका अविनाभाव है ? परिणाम क्रमसे ही होने चाहिये ऐसा नियम नहीं है, अन्यथा सम्यग्दर्शनरूप तथा विरतिरूप परिणाम एक समयमें किसी कालमें भी नहीं होंगे, परंतु एक कालमें सम्यग्दृष्टि और संयतासंयतरूप परिणाम अनुभवमें आजाते हैं, यदि एक वक्ता एक समयमें एकही शब्द बोल सफता है, अनेक शब्दोंका उच्चारण नहीं करता है अतः वक्ताके इच्छानुकूल वचन-क्रम है तो परिणामोंमें वचनकृत ही क्रमता सिद्ध हो गई गुणस्थानपेक्षया वहां क्रम नहीं रहा । यदि सम्यग्दर्शनादि परिणाम जिसमें उत्पन्न हुए हैं ऐसे आत्माकी सम्यग्दर्शनादिकोमें अतिशय एकरूपता होनाही आराधना है, और ऐसी आराधनाही प्रस्तुत प्रकरणमें समझनी चाहिये और उसमें प्रथमता या द्वितीयता है ऐसा यदि कहोगे तो, उत्पत्तिकी अपेक्षासे और गुणस्थानकी अपेक्षासे प्रथमता और द्वितीयताका प्रतिपादन क्यों किया ?

दूसरे आचार्य इस सूत्रका उपोद्घात इस प्रकार लिखते हैं--इस आराधनाशब्दमें आराधनाके चार प्रकारही हैं ऐसा निश्चय है ? अथवा अन्य भी विकल्प यहां माना गया है ? हां दूसरा भी विकल्प है ऐसा कहोगे तो यह आपका कहना अयोग्य है, 'दंसंज्ञानचरित्तत्वाणमाराधना भणिया' अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप इन्होंकी आराधना कही है यहां भूतकालकी किया कही गई है अतः सिद्ध होता है कि यह इस शास्त्रका व्यापार नहीं है । यदि यह इस शास्त्रका व्यापार होता तो वह 'मणिया' इस शब्द प्रयोगके स्थानपर 'भण्यदित्ति' अर्थात् कहते हैं ऐसा प्रयोग करता, परंतु 'जिणववणे मणिया दुविहा आराहणा' विनागममें आराधना दो प्रकारकी कही है ऐसा वचन है अतः संक्षेपसे आराधना कहनेके लिए भी इस शास्त्रका व्यापार नहीं है, संक्षेपसे विवेचन करनेका भी व्यापार आगममेंही है,

भावात् तयोस्त्वर्थावनात् । तत एव चारित्र्यस्य संक्षेपः । स हि संक्षिप्तार्थमिव लिख्यमानग्रहाय । स्वल्पतोऽप्यसौ वचनार्थमपेक्षायाः । श्लोकः

यत्रात्पोक्त्यानुयोगादिद्वारैरर्थः प्रपञ्च्यते ॥

संक्षेप उक्तेः सार्धस्य दिङ्मात्रोच्छिन्नबुद्धेशोः ॥

सम्प्रति तत्त्वश्रद्धानविषये इत्यर्थः । पठमा सम्यक्त्वाराधनायां सत्यामेव ज्ञानाराधनापूर्वकत्वेन चारित्र्याराधनायाः संभवात् ॥

क्या आराधनाके चार ही भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी—जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं । एक सम्यक्त्वमें आराधना अर्थात् सम्यक्चाराधना तथा दूसरी चारित्र्यमें आराधना अर्थात् चारित्र्याराधना।

विशेष—आचरण व मोहकी जीतनेसे अहंस्वरूपेष्टिको जिन कहते हैं, ज्ञानाचरण व दर्शनाचरण कर्मकी जीतनेसे वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुये हैं, मोहनीय कर्मको परास्त करनेसे वे रागद्वेष रहित हो चुके हैं, अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, रागद्वेष रहित ऐसे अहंस्वरूपदेवके वचनको जिनवचन कहते हैं, जिन्हें शरके वचनमें असत्य वचनके कारण नहीं पाये जाते हैं अतः उनका वचन अर्थात् जिनागम प्रमाण है । वक्ता यदि अज्ञानी अथवा रागद्वेषयुक्त हो तो उससे निकला हुआ वचन असत्यवस्तुका वर्णन करनेवाला होनेसे प्रमाण नहीं है, प्रमाणरूप जिनागममें संक्षेपसे आराधनाके दो भेद कहे हैं, श्रद्धानकी विषय करनेवाली पहिली आराधना है तथा दूसरी आराधना चारित्र्यको विषय करती है ।

दर्शनाराधना और चारित्र्याराधना को क्रमसे प्रथम तथा दूसरी आराधना ऐसे नाम उत्पत्ति की अपेक्षासे तथा गुणस्थानों की अपेक्षासे प्राप्त हुए हैं, आत्मा प्रथम सम्यग्दर्शन परिणामसे परिणत होता है तदनंतर उत्तरकालमें उसमें चारित्र्य परिणाम उत्पन्न होता है, अतः दर्शनाराधना प्रथम कही है, असंयतसम्यग्दर्शित गुणस्थान प्रथम हो जाता है, नंतर प्रमत्तसंयतादिक गुणस्थान आत्माको प्राप्त होते हैं ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं ।

श्रद्धान तथा चारित्र्य परिणामोंकी श्रुतपत्तकालमें—एकसमयमें भी उत्पत्ति होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन और चारित्र्य परिणाम एककालमें भी उत्पन्न होते हैं, अथवा श्रद्धानवान् जीवको पश्चात् भी विरतिपरिणाम हो जाते हैं ।

धारायितं ' ह्ये ' नियमा ' निख्येन । यस्य हि यश्चिरया शब्दा तस्य कर्ण्यनिद्वयज्ञाने ॥ सा भवति ॥ न हि निर्दि-
यया रुचिः प्रवर्तते । बुद्धिपरिरुद्धीतयस्तुषिण्या श्रद्धेत्यविनाभावः श्रद्धाया ज्ञानेन । अत्र परा व्याख्या—आत्मनो विप-
याकारपरिणामबुद्धिर्ज्ञानं तद्वधरणल्लयोपशमजन्तम् । भूय्यावरणापममे लोयजन्मवत् । तद्वत्तविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः
शब्दा भुतिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना दर्शनं । न च दर्शनमोहोपशमल्लयोपशमनिमित्तं तोयाश्रयणकाभाये अलप्रसादयत् ।
तस्मिन्पाराध्यमाने शान्तिसिद्धिरत्यन्तयोगिनी निराश्रयधर्मस्य केवलसिद्धयभावादिति । तत्रेदं परीक्ष्यते, विषयाकारपरिण-
तिरात्मनो यदि स्पष्टपूरस्तगन्धस्पर्शोष्णत्वकृता स्यात्तया च—

' अस्तमकृत्तमरांघ्रं ध्वजसं खेवणागुणमसदं '

इत्यनेन विरोधः । चिरद्वय नीलघोतादिपरिणामो नैकज्ञ युज्यते । एकदा वाकारश्चतुर्वर्त्यसंलग्नः । बाह्यैक-
नीलादिष्विदानीतमपरं गितानागतविशुद्धिः प्रसन्नता अभिरुचिः अर्च्येति वा समीचीनं गदितम् धैतयस्य धर्मः श्रद्धा-
मम् । तदु धामस्य शान्तधर्मत्वे श्रयोपशमयिकत्वाविनाशो कथमवस्थितिर्दर्शनस्य । न हि धर्मिणि यिनये धर्मस्यावस्थितिः ।
धैतन्यमयिनाशि तदाश्रये तादृशेति चेत् शान्तस्य धर्मता नश्यति । किं च यो यस्य धर्मः स तस्य स्वरूपम् । न चान्यस्य
धर्मिणो कर्तुं धर्मान्तरस्य प्रभवति । न हि बलकावाः युक्तता कुन्द्कुमुमस्य कदाचन । एवं मतेः प्रसन्नता भुतिर्वेन
स्यात् । भुतिर्वेषां प्रसन्नता मतेरिष्यते । एवं शान्तमेव तद्वो ब्रह्मया अथि प्रसवेर्मेद इति श्वाधिरुक्तां का वार्ता ॥ तदया ।
प्रत्यभाषाः प्रादुर्भूतिः प्रलयो वा ।

न हि दर्शनमोहोदयं विना दर्शनस्याभावो युज्यते । यदि स्यादर्शनमोहनीयकल्पना अचटमाना भवेत् । अथ
याथात्म्यविषया शब्दा आत्मनि प्रसिद्धकलसद्भावोर्द्धेति, तदप्राये उद्गच्छति, यदि प्रतिषेधकारि किंचिन्न स्यात् । आत्मनि
परिणामिनि सति किमिति । लक्ष न भवेत् ? अतपरिणामयत्वे नात्मनि कदाचिद्विषयि भवेत् । तत्तु अदुभयसिद्ध्यासौ सह-
कारिकारणानामसाधियथाभावा अद्वान्तरूपेण न परिणमते । न तु किंचिद्विषयिर्बन्धकमस्येति अत्र किं तत्तद्वत्कारि
यत्त्वानामादुत्पत्तिः श्रद्धायाः । अन्यपच्यन्तिरेकसमधिगम्यो हि हेतुफलभावः सर्वे एव तत्पन्तरेण हेतुता प्रतिशान्तावत
एव कस्यचित्ता यस्तुचित्तायामनुपयोगिनीति प्रतिषेधकसद्भावानुमानमामेऽभिमतं तावदसति न गच्छते । किंचित् भुतम-
रूपितार्थविषया सत्यभावेनेति वा सर्वदम् । अवस्थादिनिरूपितार्थविषया सत्यभावना किं न दर्शनं ? अप्रत्ययविकल्पि
यस्तुपापात्म्यसंस्पर्शं । अथ भुतग्रहणं समीचीनज्ञानोपयोगोपलक्षणमिति मन्यसे भवतु । अलमतिप्रसंगेन—

" समस्तगणदंसुखवीरियसुहृदं तद्वैव अवगहणं ॥

अनुपलब्धमन्वावादमदृगुणा ह्येति सिद्धान्तं ॥ "

इत्यनेन च व्याख्या विहायते । गुणान्तरत्वेन उपन्यासादुपपत्तेः । स्वायिकक्षाद्योपशमिकयोर्भेदोऽस्ति वा न
या ? यदि नास्ति भावपञ्चनिरूपणाकारिणा आगमेन विरोधः । अथ अस्ति भेदपरिणामः ? परिणामान्तरस्य स्वरूपं न
भवति । परिणामरूपस्य परिणामिलरूपता न्याय्या ॥ यौ भिन्नप्रतिषेधकापावज्जम्बी, न तावन्त्योऽस्यस्य धर्मधर्मिणो

यथा अवाधिकेचले मिश्रमतिर्यङ्प्रकाशयन्त्ये, तथा न ज्ञानदर्शने ॥ ज्ञानाराधना चारित्र्यराधनेति द्वैविध्यं कस्मात्प्रोप्यस्तं इत्यत्र चोद्ये प्रतिपिधानायाह—

‘जाणमारारधेतेण दंसणं होह भयणिज्जं’ ज्ञानराद्धः सामान्यवाची संशये, विपर्ययो, समीचीने च वृत्तः । संशयशानं, विपर्ययशानं, सम्यग्दर्शनमिति प्रयोगदर्शनात् । ते न ज्ञाने परिणत आत्मा नियोगतस्त्वत्त्वभ्रष्टाने विपरिणमत एवेति न नियोगोऽस्ति । मिथ्याज्ञानपरिणतस्य तत्त्वध्रुवस्या अमावात् । ततो ज्ञानस्य दर्शनायिनाभावित्वस्याभावात् न ज्ञानाराधनोक्त्या दर्शनाराधनवर्गं शक्येति न तथा संक्षेपाभिधानमागमे प्रसृतमिति भावार्थः । ‘जाण’ ज्ञानं ॥ ‘आराधेतेण’ आराधयता । ‘दंसणं’ दर्शनं । ‘होहि’ भवति । ‘भयणिज्जं’ भयनीयं विकल्प्य । अथ दंसणराधनेन दर्शनविषयमाराधनमुच्यते । सतोऽयमर्थः दर्शनमाराधना भवत्येति भयनीयतया अविनाभावित्वाभावः सूचितः । सम्यग्दर्शने आराधिते भवत्पराधिता, मिथ्याज्ञानाराधनायां नेति भयनीयता ॥ अथवा ज्ञानाराधना चारित्र्यराधनेति च उपपद्यते संक्षेपेन ।

ननु यस्य येनाविनाभावस्तदुक्तौ तस्य प्रतिपत्तिरुक्ता अन्यथानयनोक्तौ ज्ञानाराधन्यवस्थात्रमात्रमतिप्रसिधत् । इह पुनः सकृदभित्याहः—

मूलारा. दंसणमित्यादि—दर्शनं हि श्रद्धानं तत्तु अज्ञाने वस्तुनि न स्यादित्यविनासायः श्रद्धाया ज्ञानेन । सतः साबूचं सूत्रे तत्त्वश्रद्धानाराधनायां सम्यग्ज्ञानमाराधितव्यमर्थं स्यादिति । आराद्धेण आराधयता उद्योतनाद्यविवक्षेपु वर्तयता । अयं ज्ञानाराधना चारित्र्याराधना चेति द्वैविध्यं कस्मात्प्रोप्यस्तं सूत्रे इत्यत्राह—जाणमित्यादि । ज्ञानमत्र सामान्यं । दंसणं दर्शनविषयाराधना, भयणिज्जं विकल्प्य । इवमत्र । तात्पर्यं—सम्यग्दर्शने आराधिते सति सम्यक्स्वमाराधितं भवति न मिथ्याज्ञाने इत्यविनाभावमाभावात् ज्ञानाराधनायां दर्शनमाराधना भव्या । ननु तर्हि सम्यग्ज्ञानाराधनोक्तौ सम्यक्स्वमाराधना बोधविदुं शक्यते इति सा कस्मात्प्रोच्यते इति चेत् ज्ञानस्य सम्यगिति व्यपदेशे सम्यक्त्वमुखप्रेक्षितया ग्राधान्याभावात् ॥

हिंदी—सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वाले निबमसे ज्ञानाराधना करते हैं. परंतु ज्ञानाराधना करने वालेको दर्शनकी आराधना होती है अथवा नहीं.

विशेष—आचार्यने दर्शनाराधनाका वर्णन किया है इससे ही ज्ञानाराधनका भी ग्रहण हो जाता है । जैसे

किमी मनुष्यको अभि लानेके लिये आज्ञा की तो वह सरासरीमें बिना कहे भी अभि लाता है. सरासरीमें अभि लावो ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. आधारके बिना अभि नहीं लासकते अतः पात्र लेकर अभि लावो ऐसा नहीं कहने पर भी पात्रका बोध हो ही जाता है। परंतु सम्यग्दर्शनकी आराधना करने वालेको ज्ञानकी भी आराधना कैसे होगी यह समझमें नहीं आता है. इस शंकाका उत्तर यह है कि, सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दोनोंमें अविनाभाव संबंध है अर्थात् सम्यग्दर्शनकी जो व्यक्ति आराधना करेगी वह जरूर ज्ञानाराधक होती ही है.

यहां कोई आचार्य इस गाथाका संबंध ऐसा जुड़ानेका प्रयत्न करते हैं. यदि दो प्रकारकी आराधना कहने हो तो 'चतुर्विंशाराधनाफलं प्राप्ताः सिद्धाः' 'चार प्रकारकी आराधनाओंका फल निम्नोक्तो प्राप्त हुआ है' यह प्रतीक्षा नष्ट होती है. क्योंकि आपने दर्शनाराधना और चारित्राराधना ऐसी दोही आराधनायें कही हैं, और प्रथम गाथामें सिद्ध परमेश्वरको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ ऐसी आपने प्रतीक्षा की है. वह चरितार्थ नहीं होती यह दोष अर्थात् प्रतीक्षाहानि नामका दोष यहां आता है. इसका उत्तर-आराधनाके दो भेद माननेसे भी दोष नहीं है. क्योंकि हमने दर्शनाराधना तथा चारित्राराधनामें क्रमसे जानाराधना और तप आराधनाका संग्रह किया है. अतः हमारी प्रतीक्षा नष्ट नहीं होती है. प्रतीक्षा शब्दमें आपका क्या अभिमत है ? यदि साध्यका वर्णन करना यह प्रतीक्षा है ऐसा कहोगे तो यह योग्य नहीं है. चार प्रकारके आराधनाओंका फल निम्न परमेश्वरको प्राप्त हुआ है यह बात यहां साध्यरूप नहीं है. क्योंकि, जो अनिष्ट है वह वस्तु साध्य मानी जाती है. सिद्धोंको चार आराधनाओंका फल प्राप्त हुआ है यही बात फिरसे आचार्योंने यहां कही है. यदि चार आराधनाओंका फल सिद्धोंको प्राप्त हो गया है ऐसा मानना यह प्रतीक्षा है ऐसा कहोगे तो यह क्या युक्ति संगत नहीं है ? चार आराधनाओंका फल उनको प्राप्त हुआ है यह मान्य करने योग्य है इसको नकारना कैसा योग्य होगा ?

पूरे गाथामें आराधनाके चार भेद कहे हैं अब यहां उसके दो भेद आप कहते हैं यह पूर्वापर विरुद्ध नामका दोष हुआ. इसका उत्तर यह है कि, मंत्रोपये आराधनाके दो भेद हैं व विस्तृत वर्णनकी अपेक्षासे चार भेद होते हैं अतः इनमें फौज्ज्या विशेष है ? अतः यह गाथा विरोधपरिहार करनेके लिये आचार्योंने रखी है ऐसा समझो.

सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेमें सम्यग्मानका आराधन अवश्य होता है. जिस पुरुषको जिस विषयकी

श्रद्धा होती है उसको यदि उस विषयमें किसी प्रकारसे अज्ञान होगा तो श्रद्धा नहीं होगी। श्रद्धा रुचि अविषयमें नहीं होती। अर्थात् पदार्थका स्वरूप समझ लेनेपर उसमें मनुष्यको श्रद्धा उत्पन्न होती है। बुद्धिके द्वारा जिस वस्तुको ज्ञान लिया वह वस्तु श्रद्धाका विषय होती है। अतः श्रद्धाका ज्ञानसे अविनाभाव है ऐसा समझना चाहिए।

इस गाथापर दूसरी व्याख्या है वह इस प्रकार है—आत्माका पदार्थाकार परिणामन होना यह ज्ञान है। जैसे भूमीका आवरण हट जानेसे पानी उत्पन्न होता है। वैसा ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जानेसे ज्ञान उपलब्ध है। ज्ञानमें जो विशुद्धि, प्रसन्नपना, अभिरुचि रहती है उसको श्रद्धा—सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह आगममें कहे हुए पदार्थोंको विषय करता है। अर्थात् आगम कथित पदार्थ सत्य है ऐसी भावनाको सम्यग्दर्शन कहते हैं। जैसे तलाब में कीचड़ तल्ल होनेसे पानीमें स्वच्छता दीखती है। वैसे दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम, क्षय, वा क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें निर्मलता उत्पन्न होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेसे अवश्य ज्ञान प्राप्ति हो जायगी। जिसका आधार नहीं होगा उसकी सिद्धि नहीं होती है। दर्शन ज्ञानका धर्म है। ज्ञान उसका आश्रय है।

उपर्युक्त विवेचनका आचार्य संकेत करते हैं—

पदि ज्ञान विषयके आकारसे परिणमेगा तो वह स्वर्ग, रस गंध वर्णात्मक होगा। ऐसी अयस्या हो जानेपर “ज्ञान रस, रूप, गंध रहित है। वह दृष्टि गोचर नहीं होता अर्थात् अमूर्तिक है। शब्द रहित तथा आत्माका गुण है” ऐसा आगममें ज्ञानका वर्णन किया है, वह विरुद्ध होगा। तथा एक पदार्थमें विरुद्ध ऐसे नील व पीत परिणाम नहीं रह सकते हैं। एक समयमें दो आकारोंका अनुभव आवेगा। एक वाद्य पदार्थका आकार य दूसरा ज्ञानाकार ऐसे दो आकारोंका संवेदन होगा।

ज्ञानमें जो निर्मलता, प्रसन्नता अभिरुचि है उसको श्रद्धा कहना यह भी अपुक्त है। क्योंकि, श्रद्धा चैतन्यका धर्म है, वह ज्ञानका धर्म नहीं है। यदि ज्ञानका धर्म कहेगे तो क्षायोपशमिक ज्ञानका नाश हो जाने पर श्रद्धाका—सम्यग्दर्शनका भी नाश मानना पड़ेगा। धर्मीका नाश हो जानेसे धर्मका नाश होना अनिवार्य है। चैतन्य विनाश रहित है और सम्यग्दर्शन उसके आश्रयसे रहता है ऐसा यदि मानोगे तो वह ज्ञानका धर्म है ऐसा आपका कहना व्यर्थ है।

जो जिसका धर्म होता है वह उसी वस्तुका स्वरूप है ऐसा समझना चाहिये. एक वस्तुका धर्म उस वस्तुसे भिन्न पड़े अन्य वस्तुका धर्म नहीं हो सकता. बसुलाका सफेदपना कुंद पुष्पका नहीं होता है. इसी तरहसे मति-ज्ञानभी प्रयत्नता उमरही होती है यह श्रुतादि ज्ञानकी नहीं होती है. श्रुतादि ज्ञानकी प्रसन्नता सतिज्ञानकी नहीं होती है. अतः ज्ञानमें भिन्नता होनेमें उनमें रहनेवाली प्रसन्नतामें भी भिन्न भिन्नही माननी पड़ेगी. सम्यग्दर्शन ध्यायोगप्रमत्ता धर्म मानोगे तो धार्मिक सम्यग्दर्शनकी सिद्धि नहीं होगी वह नया न उत्पन्न होगा न विनाश पावेगा.

दर्शनमोहनीय कर्मके उदय विना सम्यग्दर्शनका अभाव नहीं होता है, यदि होगा तो दर्शनमोहनीय कर्मकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है.

पदार्थके पदार्थ विपक्ष जो श्रद्धा होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं. वह प्रतिबंधक कारण उपस्थित होने पर उत्पन्न नहीं होता है. यदि उसका विनाश हो तो यह उत्पन्न होता है. यदि प्रतिबंधक कारण कोई न होगा और आत्मा सदा परिणमनयुक्त है ऐसा कहेगे तो सम्यग्दर्शन हमेशा क्यों न उत्पन्न होता है ? यदि आत्मा परिणमनशील नाहीं है तो कभी भी आत्मामें सम्यग्दर्शन न होगा. अतः सहकारि-कारणोंका गान्धिर्य न होनेमें आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणत नहीं होता है. उसको जगतमें कोई भी प्रतिबंधक कारण नहीं है ऐसा यदि कहेगे तो यह युक्ति संगत नहीं है. ऐसा कोनसा सहकारिकारण है कि जिसके न होनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति नहीं होती है ? अर्थात् जिस सहकारिकारणके सञ्जावसे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिसके न होनेसे उत्पन्न नहीं होती ऐसा कोनसा सहकारिकारण है ? जगतमें पदार्थका संपूर्ण कार्यकारणभाव अन्य व्यतिरेकसे जाना जाता है. अन्यपदार्थोंके बिना कोई पदार्थ किसीका कारण भानना केवल प्रतिज्ञामात्र ही है. ऐसी प्रतिज्ञा वस्तुके विचार मनमें कुछ भी उपयोगी नहीं है.

आगममें प्रतिबंधक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा सुलासा है. जैसे सहकारिकारण नहीं होनेमें कार्यमिद्धि नहीं होती वैसे प्रतिबंधकका सञ्जाव होनेसे भी कार्य होता नहीं. सहकारिकारण होते हुए प्रतिबंधककारणोंका अभाव होगा तो कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं होगा. अतः प्रतिबंधकके सञ्जावमें कार्य नहीं होता है यह मानना पड़ेगा.

श्रुतमानमें जाने गये पदार्थोंपर ये पदार्थ सत्य है ऐसी श्रद्धा होना उसको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा

समझना भी अशोभ्य है, क्योंकि अब व्यादिज्ञानसे जाने गए पदार्थोंपर सत्यभावना होती है उसको भी सम्यग्दर्शन मानना चाहिये, अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान भी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ही जानते हैं अतः वहां जो सत्यभावना होती है वह भी सम्यग्दर्शन है ऐसा मानना चाहिये, यदि 'अब शुब्दसे' सर्व प्रकारके सम्यग्ज्ञानका ग्रहण होता है क्योंकि यहां श्रुत शुब्द, उपलक्षण वाची है, ऐसा कहोगे तो योग्य ही है, अतः अब इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है.

सम्बन्धपूर्ण देखण इस भाषामें सिद्धांतके आठ गुणोंके नाम बताये हैं, उसमें सम्यक्त्व गुण प्रथम लिखा है परंतु आप तो सम्यग्ज्ञानका धर्म बता रहे हैं, अतः सम्यग्दर्शन आपके मतसे गुण नहीं है यह सिद्ध होता नहीं, अतः आपका कहना इस भाषाके विरुद्ध है.

क्षाधिक सम्यग्दर्शन तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इसमें आप भिन्नता मानते हैं या नहीं? यदि भेद नहीं है तो पांच भाषाओंकी वर्णन करने वाले आगमसे आपका कहना विरुद्ध होता है, यदि भेद मानोगे तो एक परिणाम दुसरे परिणामका स्वरूप नहीं होता यह कथूल करना पड़ेगा, अर्थात् क्षायिक परिणाम और क्षायोपशमिक परिणाम परस्पर एक दुसरेके स्वरूप ही नहीं सकते, जितने परिणाम हैं वे परिणामीका स्वरूप होते हैं यह मानना न्यायसंगत है, अर्थात् जीव परिणामी है तथा उसके ज्ञानादिक गुण परिणाम है, परंतु ज्ञानको परिणामी मानकर सम्यग्दर्शनको उसका परिणाम स्वरूप मानना अन्याय्य है.

जो परिणाम भिन्न भिन्न प्रतिबंधक कारण नष्ट होनेसे उत्पन्न होते हैं वे अम्योन्य धर्म धर्मताको नहीं प्राप्त होते हैं, जैसे अचधि ज्ञान व केवल ज्ञान ये दोन ज्ञान अपने अपने प्रतिबंधक कारणोंका अभाव होनेसे उत्पन्न होते हैं अतः उनका अम्योन्य धर्म धर्मिभाव नहीं है वैसे ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें धर्म धर्मिभाव नहीं है.

ज्ञानाराधना और चारित्राराधना ऐसी दो आराधना क्यों नहीं मानी है, ऐसे प्रश्नपर आचार्यका यह उत्तर है—
“ज्ञानकी आराधना करने वालेको सम्यग्दर्शन आराधना होती है नहीं, भी होती है.”

यद्योपर ज्ञानशुब्द सामान्यवाचक भी है और संशय, विपर्यय तथा सम्यग्ज्ञानवाचक भी है, अर्थात् संशय ज्ञान, विपर्यय ज्ञान, सम्पज्ञान ऐसे ज्ञानके भेद देसे जाते हैं, अतः ज्ञानमें परिणत हुआ आत्मा निश्चयसे तत्त्व श्रद्धानमें परिणत होता ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि वह भित्त्याज्ञानपरिणत हो तो उसमें तत्त्वश्रद्धाका अभाव

रहंगा. इनाने ग्रन दर्शनका अविनाशनी है ऐया विद नहीं होता. जानाराधनमे दर्शनाराधनाका स्वरूप नहीं जाना जाता है. इन्तिह जानाराधनामे सम्बन्धनाराधना अन्तर्भूत नहीं होती है ऐया आगममे कहा है.

सम्बन्धानही आराधनाके माथ सम्बन्धनाराधनाका अविनाशाय है. परंतु भिष्याज्ञानकी आराधनाके साथ सम्बन्धनाराधना नहीं रहती है. अतः वह भजनविष है ऐमा आन्तरिके युक्तिपुक्त कहा है. सम्बन्धानके साथ अवश्य सम्बन्धन रहता है अतः सम्बन्धानमे सम्बन्धनाराधना क्यों अन्तर्भूत नहीं की गई है इसका उत्तर ऐसा है—
ज्ञानको गभीरनिपना प्राप्त होनेमे सम्बन्धन ही कारण है अतः उसकी मुख्यता होनेसे सम्बन्धनाराधना तथा पारिवाराधना ऐसे आराधनाके संक्षेपमे दो भेद किंब है.

ननु च ज्ञानमन्तरेणपि दर्शनं यत्ते, यतो मिथ्यादृष्टिपि ज्ञानस्यत्पक्षो भवति । यतो ऽ विनाशायभाष्य
इत्यत्र भाट्ट—

सुबुधया पुण गाणं मिच्छादिद्विस्स येति अण्णाणं ।

तस्मा मिच्छादिद्वी जाणस्साराहवो जेत्त ॥ ५ ॥

विज्ञानोदया-सुबुधयाः पुनः । अनेतपमंगमकस्य वस्तुनोऽन्यतमधर्मपरित्येउरस्यविनाशविषयमलमस्तनो नयः । तथा
शोकप्रसङ्गः । “उपनिषदादर्थपरित्येउरो नय” इति ॥ सुबुधो नयो येषां ते सुबुधनयाः । निरपेक्षनवविरास्तस्य सुबुधियेदोदणम् ।
निरपेक्षपदं यस्या धर्मात्मनोयति ये परित्येउरास्ते विषयान्तरास्त्रयविषयस्य प्रतिषेधवर्त्मनोपेक्षस्य वस्तुनि रूपस्याभावात् ।
यान्तरे रूपं विज्ञानोपेक्षाकरणे दर्शनतः प्रत्यक्षस्य अतर्हिमन्त्रद्विति ज्ञाने आन्तरयिति ओक्तता । तद्दोदरहितता सुबुधता ।
तथा दि-दृशकत्वेन अनित्यतामेष वस्तुनः प्रत्येति ज्ञानं न तत्संशया यदच्यमिश्रं, निर्यातिरयत्तमकस्यत्तलकलस्य । यद्वि द्वि
निरपेक्षपदं यस्या निरमाणानांरूपपेदेउरस्यैवमेनापुनतस्य स्यात्ततो नित्यं भवेत्येव च न भवतीति दृश्यप्रतिपक्षः ॥ सुबुध
तया दर्शनां प्रतिपक्षपूर्णां ते सुबुधनयाः । पुन पुनः । पाणं ज्ञानमित्यभिमतं परस्य । मिच्छादिद्विस्स मिथ्यादृष्टेः । येति प्रयत्ने ।
अन्तर्भावे भजनं इति । न ज्ञानतान्त्रः सामान्यपात्री किंतु कर्णार्थजिनिषितरेव ज्ञानशब्दाभिधेयति । ज्ञाप्यते मन्त्रते अर्थः परि-
स्तिगृह्यते येन तज्ज्ञानं । यन्मन्यमभूतं च रूपमादरायता नार्थः परित्येउयते तस्मान्न मिथ्यात्वं ज्ञानशब्दस्यार्थः, ज्ञान-
मिथ्यं प्राणम् ॥ ननु य—

“ गदि र्दिव्ये च कोय लोमे येदे फमाय प्पणे य ॥
मंजुधरंरपल्लेस्समा मविषया सम्मत्तसण्णि आदारे ॥ ”

इत्यत्र ज्ञानशब्दः सामान्यपक्षी, स्वत्यं, जातिर्बानमिति व्युत्पत्तौ च निरूपणा सामान्यशब्द इति ॥ तथा तस्मात् । मिच्छादिर्हीनं तत्त्वशब्दान्तरहितः । गणस्वरापक्षको न होदिति पदघटना । ज्ञानं नापराधयतीत्यर्थः ॥

अत्रापरा व्याख्या—यदुक्तं अज्ञाने दर्शनाभाव इति किं, तदज्ञानं कस्य भवतीति ? तत्र इदं सूत्रं इति । तद्विषयं । किं तद्विज्ञानमित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं न सूत्रेऽस्ति । मिथ्याज्ञानलक्षणप्रतिपादनपरमिथ्यादाष्टिसंवीधिशानत्वमेव अज्ञानलक्षणमित्युभयोरपि प्रतिवचनमिति विकल्प्यते । एवमपि 'तस्मात् न मिच्छादिद्वि' इति सूत्रे मिथ्यादष्टेर्ज्ञानस्याराधकत्वाभावायैव सूत्रकार उपसंहरति । तत्परित्यज्यास्मृतिमुपलेश्यमिति केयं सतंयता ।

ननु च ज्ञानमन्तरेणापि दर्शनं पतते यतो मिथ्यादष्टिरपि ज्ञानस्वरापक्षको भवति । गतामुगतिकत्वेन लोकानां ब्रह्माभावेनैव प्रवृत्तिप्रतीतेरतो ज्ञानेन दर्शनस्वराधिनाभावाभावः इत्यत्राह—

मूलारा०—दुष्टदण्डा । अनंतधर्मात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतनपरमपरिच्छेदस्वदविनाभावमिधर्मपरिच्छेदवत्प्रसूतो नयः । शुद्धाः प्रतिपक्षतापेक्षतया निर्दोषा नया केषां प्रमाणां ते शुद्धन्यास्तोर्थकरदेवादयाः । पुण यस्यात् । पाणं परस्वराध्यतया इदं ज्ञानं । वेति ध्रुवते । आपणाणं ज्ञाकते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्त्वानां न ज्ञानमज्ञानं अयथार्थपरिच्छेदकं मिच्छेत्यर्थः ।

ज्ञानके धिना मी सम्यग्दर्शन होता है क्यों कि मिथ्यादष्टि श्री ज्ञानके आराधक देखे गये है. अतः ज्ञान के साथ दर्शनका अविनाभाव नहीं है. इस आशेषका उत्तर आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थः—वस्तु अनंत धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यपना, अनित्यपना, अस्तित्व नास्तित्व, प्रमेयत्व वगैरह अनंत धर्म हैं. पाणः वस्तुको अनंत धर्मात्मक कहते हैं. ऐसे वस्तुमेंसे किसी एक धर्मको जो मुख्यतासे जानता है तथा उससे भिन्न अविनाभावी धर्मको जो शीघ्र समझता है ऐसा जो ज्ञान उसको नय कहते हैं. 'उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय इति' अर्थात् युक्तिके आश्रयसे पदार्थको जान लेना उसको नय कहते हैं ऐसा पूर्वचार्योंने कहा है. वस्तुके एक धर्मकोही वस्तु समझनेवाला तथा वस्तुके अन्य धर्मकी जो अपेक्षा रखता नहीं ऐसे ज्ञानको मिथ्यानय कहते हैं. जैसे वस्तु सर्वथा शून्यकही है. सर्वथा नित्यही है, एकही है इत्यादि रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला ज्ञान मिथ्यानयरूप है. इस मिथ्या नयका निस्सन करनेके लिए आचार्योंने गाथामें 'सुद्ध गया' ऐसा शब्द रख दिया है. मिथ्यानय प्रतिपक्षरूप धर्मकी अपेक्षा नहीं करते हैं. अर्थात् वस्तुका सर्वथा

एकान्त रूपसे विवेचन करते हैं। परंतु प्रतिपक्ष धर्मकी अपेक्षा न करनेवाला ऐसा वस्तुका स्वरूपही नहीं बन सकता। अर्थात् परस्पर प्रतिपक्षी धर्मोंसे वस्तु सदाही युक्त रहती है। जैसे वस्तुमें एकत्व धर्म रहता है उसी तरह अनेकत्व भी धर्म रहता है। जैसे अस्तित्व धर्म वस्तुमें विद्यमान है वैसे नास्तित्व धर्मभी विद्यमान है। अतएव वस्तु इन दोनों विरुद्ध धर्मोंको अपनेमें स्थान देती हुई अपनी अनंत धर्मात्मकता जाहीर करती है। इस तरह वस्तुमें सापेक्षता है। परंतु जो ज्ञान मापेस वस्तुको निरपेक्षरूप बताता है वह ज्ञान स्रोत है। जैसे देवदत्तको जो कि जिनदत्तरूप नहीं है जिनदत्त समझना। ऐसी स्रोतता मिथ्याज्ञानमें रहती है। सत्ये सापेक्षनयमें नहीं रहती है। अतः उसको ह्युद्ध नय कहते हैं। मिथ्याज्ञानय वस्तुमें कृतकता धर्म दीखने पर उसको सर्वथा अनित्य ही मानने लगता है परंतु वस्तु सर्वथा अनित्य नहीं है किंतु नित्यानित्यात्मक है। यदि सर्वथा वस्तु नित्यही होती तो उसमें जो कार्य करना हो उसको अनुकूल कारण प्राप्त करनेका प्रयत्न स्पर्ध होगा। क्योंकि, कारणोंकी शक्ति होनेपर भी वस्तु पूर्वरूप छोड़कर कार्यरूपता धारण नहीं करेगी अतः वस्तु सर्वथा नित्य भी नहीं है। वस्तु नित्यानित्य है ऐसा अनुभवही योग्य है।

इस विवेचनका अभिप्राय यह है कि, साक्षात् वस्तुका अनुभव करा देनेवाले शुद्धनय जिनके है ऐसे तीर्थंकरादिक महापुरुष मिथ्यादृष्टि लोगोंके ज्ञानको अज्ञान कहते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं दिखाता है। इस वास्ते वह 'ज्ञान' इस नामको अज्ञान है, उसको अज्ञान ही कहना चाहिये। यद्यपि ज्ञान शब्द सामान्यवाची होनेसे यथार्थ अर्थार्थ रूप दोनों ज्ञानोंको ज्ञान कह सकते हैं तथापि मिथ्या-दृष्टीका जो ज्ञान है वह अर्थार्थ स्वरूपको दिखातेवाला होनेसे उसके लिए प्रयुक्त ज्ञान शब्दका अर्थ अज्ञान ऐसा ही करना चाहिये।

यहां शंकाकार ऐसा कहता है—'यह ईदिये च काये' इस गायामें जो ज्ञान शब्द है उसका क्या अभिप्राय है ? क्या उसको सामान्य शब्द कहते हैं ?

उत्तर—वहां ज्ञान शब्द की 'आविर्बन्धन्य' ऐसी निश्चिन्ता है। वहां पदार्थको जानना ऐसा सामान्य अर्थ अभिमत है। मिथ्या या सच्चे ज्ञान की विपक्षा वहां नहीं है।

जो मिथ्यादृष्टि है वह तत्त्व श्रद्धानरहित होनेसे सम्यग्ज्ञानका आराधक नहीं है। ऐसा इस गायिका अभिप्राय है।

इस गाथापर कौड़ विद्वान् ऐसी व्याख्या लिखते हैं. पिछलेकें गाथाओं 'अज्ञान होनेसे दर्शनाराधनाका अभाव होता है, ऐसा जो कहा है वह अज्ञान क्या चीज है तथा वह किमको होता है? ऐसे प्रश्नका उत्तर देनेकेलिये 'सुध्दणया पुण पाणे' यह गाथा आचार्यने रची है ऐसा कोई विद्वान् कहते हैं. परंतु यह ठनका कहना युक्तिशून्य है. 'वह अज्ञान क्या चीज है, इस प्रश्नका मिथ्याज्ञानका लक्षण कहनेवाला उत्तर उपर्युक्त सूत्रमें आचार्यने नहीं दिया है. मिथ्यादृष्टिका जो ज्ञान है वही अज्ञान लक्षण है ऐसा दोनों प्रश्नोका उत्तर आचार्यने दिया है ऐसी आपने कल्पना की है. 'तम्हाण भिच्छदिद्वी' इस सूत्रमें मिथ्यादृष्टिजन ज्ञानके आराधक नहीं होते हैं इस अभिप्रायका ही उपसंहार किया है ऐसा समझना चाहिए, परंतु वह अभिप्राय छोड़ करके सूत्रमें न दिखाना हुआ अभिप्राय समझ लेना अवैतन्य है.

चारित्र्याराधना कथ्यते । चतुर्थ्यां आराधनतयाः प्रतिपत्तिक्रमं दर्शयचाह—

संयममाराहतेण तवो आराहिओ हवे नियमा ॥

आराहतेण तवं चारित्तं होइ भयणिज्जं ॥ ६ ॥

विजयोदया—संयममाराहतेण संयम इत्यनेन दायेन इह चारिनिमित्युच्यते । कर्मदाननिमित्तक्रियाम्य उपरम संयमः । स च चारित्तं । तथा चाप्यथायि—'कर्मदाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवत्तच्चारित्तमिति' । संयमं चारित्रं आराधतेण आराधयता । तवो तपः । आराधितो आराधितं । इये भवेत् । नियमा अवश्यमेव । कथं ? इह अन्नदानं नाम अशन-त्यागः । स च त्रिपकाटः । मनसा जुजे, मौजयामि, मौजने व्यापृतस्याजुमति करोमि । भुंजे, भुंस्व, पचने कुर्विति घबस्ता । तथा चतुर्विधस्याहारस्याभिस्तर्धिपूर्वकं कायेनादानं, हस्तसंतायाः प्रवर्तने अनुमतिस्वीचनं कायेन । एतात्तो मनोवाक्काय-क्रियणां कर्मोपादानकारणानां त्यागोऽन्नदानम् चारिन्मेव । योगनयेण वृत्तिकारिणां भुजिक्रियायां दर्पवाहिन्यां निराकृतिः अवगम्येयम् । तथा आशुत्तलंशतया जयो वृत्तिपरिवर्णानं । रसगोचरमाद्वर्यत्यजनं त्रिया रसपरित्यागः । कायसुखा-भिहापत्यजनं कायकेशः । चित्तव्याकुलतापराजयो विविकशयनासनं । स्फुटापराधग्रहणत्यजनं आलोचना । स्वकृता-दनुभयोपात्तितिवृत्तिः प्रतिकमणं । तदुभयोन्मनं उभार्यं । येन यत्र वा अद्युभयोयोगोऽभ्युत्तन्निराक्रिया, ततो परासनं चिक्कः । देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः । तपोऽन्नशानादिकं यथा भवति चारित्तं तथोक्तमेव । असंयमजुशुष्पताद्यमेव ममत्वादायन छेदः । मूढं पुनश्चापिदादानं । श्रुतदर्शनचार्चित्तपयसामतीचारा अद्युमनित्याः । तात्सामपोहने विनयः, चारित्र्यस्य फलरत्नानुमनने धैर्याबुद्ध ॥

एवं स्वाध्यायो ध्यानं च अविरतिप्रमादकपायत्वजनरूपतया । इत्थं चारित्र्याराधनयोक्तव्या प्रत्येतुं शक्या तपस आराधना । अदनादिकं यदि नाम स्वर्कं न निगोघतोऽविरतिः प्रत्याव्यक्ता भवति । कृताशनत्यागा अपि हृदयेते असंयता इत्येत्येतसि कृत्याह—आराधनेति—आराधनेण आराधयता । तव तपः । चारितं चारित्रं सकलविरतियोगः । हेतुद्विप्रवति । भयणिजं भजनीयं । तपस्तुतनः करोति वा न वा असंयममपरिहारं इति यागत् । अन्नाभ्येनं व्याख्या—चारित्र्याराधनां तपस आराधनायाः सिद्धिरयदंभावीनीत्युक्तं तत्कथं ? तदिदं संयममापद्यतेनेत्यादि एवं सूत्रोपोदातः कृतः न तोषपद्यते । चारित्र्याराधनायां तपस आराधनायाः सिद्धिर्भवतीति नोक्तं क्वचित्सूत्रकारेण तत्किमुच्येत उक्तमिति ? 'विदियाय इवे चरितस्मि' ति वयनोक्तमिति चेन्न अशब्दार्थत्वात् । शब्देन हि यत्प्रतीयते तदुक्तमिति युक्तं वक्तुं । अपि च भवतु तेनेकं एह तदयोक्तं किमिति पुनरुपन्यस्यते ? तत्कथमिति वा युक्तं । सूत्रे चारित्र्यसिद्धावितरसिद्धिक्रमस्यानुप-
व्यासात् ॥ मन्त्रिकमायाद्विप्रतिपक्षे न प्रतिपद्यते इति युक्तिप्रसङ्गं स कथं कुन्यते व्याख्यांतरसूत्रिते प्रतिविधाने । यच्च व्याख्यानं “ प्रयोदशात्मके चारित्र्ये सर्वथा प्रयतनं संयमः स च याज्ञतपःसंस्कारिताभ्यंतरतपसा विना न संभवति । तदुपकृतात्मकतासंयमसंरूपस्येति ” तदुपदृष्टानं । न हि प्रयतनं संयमराज्यस्वार्थः । क्वचिदपि संयमराज्यस्य तत्राप्रयुक्तत्वात् । प्रयोगातृचित्तमधिगम्यो हि शब्दार्थः । ' विदिया य इवे चरितस्मि ' इति सूत्रे चारित्र्यशब्देन सामान्यवाचिना सकल-
चारित्र्यमिति किमर्थं विधेयोपेक्ष्यते ? सर्वस्य हि सामाधिक्यदेवचारित्र्यस्याराधना चारित्र्याराधना भवति । तथाहि—' मंडि-
तुर्द्विप्रमरणं मीणकसाया मरति केवलिनो, इत्यन्ये यथाक्यातचारित्र्याराधनमपि वक्ष्यति । संस्कारिताभ्यंतरतपसा इति वा असंबद्धं । अतरेणापि याज्ञतपोऽनुष्ठानं अंतर्मुहूर्तमात्रेणाधिगततत्तनमयाणां मद्भणराजप्रभृतीनां पुण्येयस्य भगवत्परा-
दिप्यनां निर्योगमनमगमे प्रतीतिमेव ॥

इदानीं चारित्र्याराधनोक्तौ तप आराधनायाः प्रतिपक्षिकमे गाथाद्वयेन दर्शयति ॥

मूलारा—संजर्म । संयमान्मनोयोगाद्यैः पाणदाननिमित्तक्रियाभ्यो यमनमुपरमः संयमस्तं चारित्र्यमित्यर्थः । तयो-
रत्नप्रपाविर्भावमिच्छानिरोधस्तपोऽनदनादिकं, वदारायना चाविरतिप्रमादकपायत्वजनरूपतया चारित्र्याराधनाभिधाने सति प्रतीयत एव । चारितं चारित्रं सकलविरतित्यागाः । भवणिजं तपस्तुतनः करोति वा न वा असंयमत्वात् । कृताशनानादि
त्यागानामपि कथितत्वादयिदसंयमत्वदर्शनात् ॥

अत्र चारित्र्याराधना कथ्यते है—इस आराधनामे चतुर्थे आराधनाक्रम—तप आराधनाकाम ग्रहण कैसा हो जाता है उसका क्रम दिखाते है.

हिंदी अर्थ—जिन्होंने द्वारा कर्मका ग्रहण होता है ऐसे मन, वचन व शरीरके द्वारा होनेवाली क्रियाओं का त्याग-परिहार करना उनको चारित्र्य कहते हैं। प्रस्तुत गाथा में जो संयम शब्द है वह चारित्र्यका वाचक है। अन्य आचार्यों भी चारित्र्यका लक्षण 'कर्मदाननिमित्तक्रियोपरमो ज्ञानवत्चारित्रिं, इति' ऐसा कहा है, इसका भी अभिप्राय ऊपरके समानही है। जो चारित्र्यकी आराधना करते हैं उनको नियमसे-अवश्य तपकी भी आरधना हो जाती है। इस आराधनाका स्वरूप निम्नप्रकारसे समझना चाहिये।—

अनशन-चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसको अनशन कहते हैं। यह अनशन तीन प्रकारका है। मैं भोजन करूं, भोजन कराऊ, भोजन करनेवालेको अनुमति देऊ इस तरह मनमें संकल्प करना, मैं आहार लेता हूं, मैं भोजन कर, तुम पकाओ ऐसा बोलना, चार प्रकारके आहारको संकल्पपूर्वक शरीरसे ग्रहण करना, हाथसे अपना फरके दूसरोंको ग्रहण करनेमें प्रवृत्त करना, आहार ग्रहण करनेके कार्यमें शरीरसे सम्मति देना ऐसी जो मन, वचन, कायकी कर्मप्रवृत्तियाँ निमित्त होनेवाली क्रियायें उनका त्याग करना उसको अनशन कहते हैं। यह चारित्र्य ही है। वृत्ति करनेवाला, दर्प उत्पन्न करनेवाला ऐसा जो आहार उसका मन, वचन, कायके तीन योगोंमें त्याग करना असमोदर्य है। अर्थात् स्वयं पेट पूर्ण भरेगा इतना आहार मैं ग्रहण करूँगा, कराऊँगा, करनेवालेको सम्मति प्रदान करूँगा ऐसे मन वचन शरीरके संकल्पका त्याग करना इसको अवमोदर्य कहते हैं। आहारकी अभिलाषाको जीतना-इतने घरोंमें, गछीमें आहार मिलेगा तो लेऊँगा इत्यादि प्रसिद्धा करके आहारा भिलाषाको जीतना इसको शृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। रसविषयकी लंपटताको मन वचन शरीरके संकल्पसे त्यागना रमपरित्याग नामका तप है। शरीरको सुख मिले ऐसी भावनाको त्यागना कायक्लेश तप है। चित्तमें उत्पन्न हुई व्यग्रताको भगा देना अर्थात् चित्त व्याकुल न हो इसलिये स्त्री, पशु, पण्ड विचर्चित एकान्त स्थानमें नौना बैठना इसको विविक्तश्रयामसन कहते हैं।

अपने द्वारा हुये अपराधोंको छिपानेकी कोशिस न करना, अपराध हो गया तो शीघ्र उसका निवेदन करना यह आलोचना तप है। स्वतःके द्वारा किये गये अशुभ योगसे परावृत्त होना अर्थात् भरे अपराध मिथ्या होवे ऐसा कह कर पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है। अपराधोंको न छिपाना तथा अशुभ योगोंसे परावृत्त होना वह तदुभय तप है। विम विम पदार्थके अनलंभने अशुभ परिणाम होते हैं उनको त्यागना अथवा उनसे स्वयं दूर होना यह विवेक

तप है, देहमेंसे ममत्व-स्नेह दूर करना कार्योत्सर्ग तप है, अनशादिकोंको तप कहते हैं, यह तप दोषोंका नाश करनेके लिए गुरुने दिया हुआ प्रायश्चित्त स्वरूप है, असंयमसे तिरस्कार उत्पन्न होवे इस छिपे दीक्षाके दिन कम करना छेद तप है, पुनः दीक्षा देना उत्तमो मूल तप कहते हैं, ये सब प्रायश्चित्त तपके भेद हैं, अशुभ क्रियायें ज्ञान दर्शन चारित्र्य तप इनके अतीत हैं, इनको हटाना विनय तप है, चारित्र्यके कारणोंकी सम्मति देना इसको वैयावृत्य कहते हैं, अर्थात् जिन कारणोंसे चारित्र्यकी वृद्धि होगी ऐसे कारणोंसे सुनीचरोंकी सेवा करना, अर्थात् संयमोपकरण विष्टी, कमंडलु, ज्ञानोपकरण शास्त्र, आहार, औषध वगैरह वस्तुओंसे उपकार करना यह सब वैयावृत्य है, स्वाध्याय और ध्यान भी चारित्र्यकी वृद्धि करनेवाले तप हैं, जंग पूर्वादि शास्त्रोंको पढ़ना स्वाध्याय तप है, शुभ विषयमें एकाग्र चित्त करना ध्यान है, अविरति, प्रमाद, कणायोंका त्याग स्वाध्याय करनेसे तथा ध्यान करनेसे होता है इस वास्ते वे भी चारित्र्यरूप हैं, अतः सब तपोंका चारित्र्याराधनामें अन्तर्भाव होता है अतः दर्शनाराधना व चारित्र्याराधना ऐसे आराधनाके दो भेद माने हैं.

अज्ञानादिकोंका—आहारादिकोंका यद्यपि त्याग किया तो भी अविरतिका त्याग नहीं होता है क्योंकि, आहारादिकोंका त्याग करनेवाले भी असंयत दीर्घ पड़ते हैं, ऐसा आश्रय मनमें धारण कर आचार्य ऐसा कहते हैं—जो तपकी आराधना करते हैं वे चारित्र्याराधना करते हैं अथवा नहीं, अर्थात् तप करनेवाला परमेश्वर विरक्त होकर चारित्र्य धारण करनेवाला होता है अथवा नहीं भी, परंतु चारित्र्य धारण करनेवाला नियमसे विरतिपूर्वक तप करता है अतः चारित्र्यमें तपका अन्तर्भाव होता है, परंतु तपमें उद्युक्त हुवा पुरुष असंयमका परिहार करेगा वा न करेगा.

इस गाथापर दूसरे विद्वान् आपना आगे दिखाया हुआ अभिप्राय प्रगट करते हैं—

“चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि अवश्य होती है ऐसा कहा गया है, यह कैसा ? ऐसा प्रश्न होनेपर ‘संयममाराधनेण’ ऐसा यदोपोद्धात किया है” ऐसा जो अन्य विद्वान् कहते हैं, यह युक्ति संगत नहीं दीखता है, क्योंकि आचार्यने ‘चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है’ ऐसा वाक्य सूत्रमें कहा नहीं है, तो आप उन्होंने कहा है ऐसा क्यों कहते हैं ? यदि ‘विद्विद्या य ह्ये चरित्तमि’ इस वचनके द्वारा उन्होंने कहा है ऐसा कहोगे तो यह कहना अशब्दार्थ है, अर्थात् ‘चारित्र्याराधनामें तप आराधनाकी सिद्धि होती है’ ऐसे शब्द गाथामें नहीं हैं, शब्दोंके द्वारा जो अनुभव आवेगा उसकोही ‘कहा गया है’ ऐसा कहना चाहिये.

यदि वे कह चुके हैं तो फिर वे पुनः कैसे कहेंगे ? अतः वह कैसा ? ऐसा प्रश्न करना भी अयुक्त है । क्योंकि यज्ञमें चारित्र्य सिद्धिमें इतर आराधनासिद्धिके क्रमका उपनास-विवेचन नहीं किया है । और केवल प्रतिज्ञासे अहं तो अथवा सशय श्रुतको धस्तुका स्वरूप ज्ञान नहीं होता है । इस वास्ते वह कैसा ? ऐसा युक्तिग्रन्थ भी यहां पृथ्ना योग्य नहीं है ।

यहां संयमके विषयमें और जो विवेचन अन्य विद्वानोंने किया है वह भी योग्य नहीं दीखता—“ तेरा प्रकारके चारित्र्यमें सर्वथा प्रयत्न करना वह संयम है, यह संयम बाल्य तपसे अर्थात्तर तप जब सुसंस्कृत होता है तब प्राप्त होता है, उसके बिना होता नहीं, अतएव संयम बाल्य व अभ्यंतर तपसे सुसंस्कृत होता है ऐसा मानना होगा, ” यह संयमका स्वरूप विवेचन योग्य नहीं है, तेरा प्रकारके चारित्र्यमें प्रयत्न करना उसको संयम कहते हैं ऐसा संयम शब्दका अर्थ नहीं है, अपने जो अभिप्राय कहा है उसमें संयम शब्दका प्रयोग किया है ऐसा कहा भी हमारे देखने सुननेमें नहीं आया है, शब्दका अर्थ बार बार प्रयोग आनेसे निश्चित होता है परंतु तेरा प्रकारके चारित्र्यमें प्रयत्न करना यह संयम है ऐसा शब्दप्रयोग कहा भी आया नहीं है,

‘ विदिया य हवे चरित्तमि ’ इस सूत्रमें चारित्र्य शब्द सामान्यवाची है, परंतु आप ‘ सकलचारित्र्य ’ ऐसा चारित्र्य शब्दका विशिष्टार्थ क्यों कहते हैं ? सामायिक, छेदोपस्थापनादि समस्त चारित्र्यभेदोंको चारित्र्याराधना कहते हैं ‘ पंडितपंडितमरणं लीनकसाया मरति केवल्लिणो ’ इस सूत्रमें यथा ख्यातचारित्र्य समझना इसका आगे वर्णन करेंगे, बाल्य तपके संस्कारसे युक्त ऐसे अभ्यतर तपके बिना संयम नहीं होता है यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि बाल्य तपके आचरणविना भी आदि भगवतके शिष्य भट्टनराज वगैरे भारत चक्रवर्तीके पुत्र अन्त-सुहृत्वमें रत्नत्रयको पाकर मोक्षको गये हैं ऐसा आगममें ग्रसिद्ध उल्लेख है,

ननु तपस्याद्यनिर्जैरादुक्रमेण निर्जैराभुगच्छन्ति संति कर्मणि यदा निःशेषाण्यपगतानि भवन्ति तदा स्वात्मस्वरूपं निर्वाणमुपजायते ततो निर्वाणस्य कारणं निर्जैरिव, तस्याश्च संपादकं तपस्ततो युक्तं दर्शनाराधना तप आराधना चेति विविधा आराधनेति गतिरित्यनेकायां, तपो निर्जयं मुक्तेरुपगुणं करोति सति चारित्र्ये सत्वरकारिणि नान्यथेति नन्दगोवि—

सम्माद्विद्विस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि ॥
होदि तु हत्थिण्हाणं चुंदचुदंगं व तं तस्स ॥ ७ ॥

वियजोदया—सम्मादिद्वस्स वि इत्यदिना । सम्मादिद्वस्स वि तत्पार्थक्यज्ञानवतोऽपि । अविरदस्स असंयतस्य । न तपो तपः । महागुणो गुणशब्दोऽनेकार्थवृत्तिः । रूपवद्वो गुणशब्देनोच्यन्ते ऋषियथा—रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमानानि, पृथक्त्वं, संयोगविभागी, परत्यापारम्भबुद्धयः, सुखदुःखोच्छादितप्रयत्नादयः क्रियाधर्मुणस्तमवाधिकारणं ब्रह्मं, इत्यभिप्राये गृहीताः ॥ गुणधूना वयमत्र नमरे इति अत्र प्रधानवाचीयस्य गुणस्य भावादिति विशेषेण वर्तते । गुणोऽनेन एत इत्यत्र उपकारार्थे वृत्तिः । इद उपकारे यतमानो गृह्यते । महागुणः उपकारोऽस्येति महागुणं । होदि भवति । क्रिया कैप दि भावने निरेच्छते या इति यज्जनात् । न तु भवनक्रिया संभवते । तपो ॥ भवति महोपकारमिति । एतदुक्तं भवति कर्तृनिर्मुक्तं कर्तृमग्नमर्थे तपः सम्यग्दर्शनेत्येतत्तस्य पुनरितरस्य असति संबदे प्रतिबन्धमुपवीचयमानकर्मसंहतेः का मुक्तिः । तसु मत्स्यि संयत्ने यिका निर्जरा न विवृत्तिरिति । तत्त्वमेवमेतत् चारिममाद्यन्यविषयपरा इव चोदना । अस्ति मापणाधिपतस्स न चास्ति महागुणं होद्विस्सि । तत्त्वमेवमेतत् चारिममाद्यन्यविषयपरा इव चोदना । अस्ति दिव्यनभीरयत्र देवतारमंतेण भविमैष संयत्ते छिद्रा, तथा तदीयैरुपगौरव्यकाडिभ्यतिशयनिरूपणवांछायां तस्यैव स्वांगं विभाजते । एवमिहापीति न दोषः । कुतः ? यस्मात् होदि तु हत्थिण्हाणं होदि भवति । खुशब्द एवकारार्थः न हत्थिण्हाणमित्यनेन संयत्नीयः । हत्थिण्हाणमेवेति । यथा हस्ती ज्ञातोऽपि न नैर्मर्षं यद्वति पुनरपि करायसित पांगुपदन्तमन्विनया तद्वत्सगन्ता निर्गमिऽपि कर्मादौ पातुतदनेन असंयममुनेनेति मन्यते । दृष्टान्तान्तस्माच्चष्टे—खुद्वदुत्तरेण संयमनंभवात्तिकेय तद्वत्सगन्ता तपः । दृष्टतद्वयोवम्यासः किमर्थे इति चेत् । अपमानाद्दुष्टतपोपधानं कर्मणाऽसंयममिच्छत्येति प्रदर्शनाय दृष्टिस्तानोपन्यासः । अर्द्धितनुतया बहुतरमुपादत्ते रजः । यंधरदित्वा निर्भरा स्वास्वये प्रापयति नेनरा पंपतद्वभात्रिनीति । क्रिस्तिप संयमवर्धमादिकेय । सा हि वंपसदित्ता मुक्तिं वर्तयति । अत्राम्ये द्यवाचक्षते—कालभेदमनोदृष्ट्य दृष्टिमनुदि न दर्शयता प्रथम उपपत्तः । तदयुक्तं सकलकर्मणयो हि शुद्धिः, अनुद्विष्ट कर्मणा सहद्विष्टः, तत्रागती शुद्धिः कथमावर्तते कर्मादापगममात्रतः शुद्धिर्वा या मुक्तिः सा कश्च न विद्यते ? फले दत्त्वा प्रपांत्यारमनः कर्ममुत्तरेकंधाः । यन्त्रोक्तं यदा तु फालभेदेन यथार्थमादांश्यते यंचनशतनयोरेकसमयत्वात् इति ततो द्वितीयो द्योतः । एतुपेष्टनिर्गमनयोरेकालत्वादिति तदप्यसां । न हि चंद्रमुषी कन्या इत्यत्र एवमाशंका संभवति, सदा स्पृ-पमानं यामलोचनायाः निरागम्यस्य कशाविदेय पूर्णता ततोऽनुमानमिति साधारणधर्ममात्रावलंबनं प्लोपमानोपमेय मयः, पंधर्गं रूपमनोपमेययोरेभ्योऽन्यथा उपमानमिदं उपमेयमिति भेदो निरास्पदः । अपि च उपमेयस्यातिशयं प्रदर्शितुमेवमानं प्रवृत्तं ॥ न त्वेकस्योपमानव्यापुक्त्वादेष्येति एतदुपावीयते इति युक्तम् ।

ननु मुक्ते : कारणं निर्द्धेयं वत्कारणं च तपः इति सम्यक्स्वाराधना तप आराधना चेति संक्षिप्य वक्तुं युक्तं । तत्र संस्कारिणि चारित्र्ये सत्त्वेव निर्वाणानुगुणाया निर्जरायास्तपसा कर्तुं शक्यत्वात् । तदेवाह—

मूलारा—सम्मादिद्विस्स वि । तत्तअखनवतोऽपि किं पुनर्भिध्याद्वेरित्यदितायोऽपिशब्दार्थः । अविट्ठस्स हिंसादिपु
थियेयु च प्रयत्तमत्तस्य । महागुणो अनलोपकारं कर्मनिमूलममयमित्यर्थः । संयमहीनस्य संवराभावे प्रतिशुणमपरापर-
कर्मसंघातोपादानान्मुक्तिर्न स्यादिति भावः । एतच्चारित्रस्य आधान्याधिवक्ष्याम्येतोऽन्येन । यथा “मुक्तिस्तपसेव तत्तपः कार्यमि ॥”
इति तपसः प्राधान्यविवक्षारथः । तु भेदविवक्षारथो इत्यर्थे अमेदनिवक्षारथं वा एवार्थे । हस्तिस्नानमिव असंयतस्य तपो भवतीति
योग्यं ॥ यथा हस्ती स्नातः सन्नार्द्रतनुतया स्वकरापरितं रजो यदुत्तरमावृत्ते तथा तपसा निर्लोभकर्मशोऽसंयमापितं कर्म
पुनर्मुक्त्याविलोपतया यदुत्तरमावृत्ते इत्यर्थः ॥ पुंरुद्धुगंव मंथनवर्मपात्रिकेव । तं तत्तपः । तस्स सन्त्यग्द्वेष्टेऽप्यविरतस्य ।
यथा येष्वनसहभाग्युद्घटनं कुर्वीणा आकर्षणचर्मनद्वित्रिका अभिव्यक्तस्य स्वैर्यं न करोति तथा वंघसहभाविनीं निर्जरां कुर्वन्मोऽ
संयतस्य मोक्षं न करोतीत्यर्थः । अत्र हस्तिस्नानेनापगताद्दुत्तरस्यापादनं चर्मवद्भिक्षया च वंघसहभाविन्या निर्जराया
स्वार्थ्यामावो वृत्तते । उपमेयगताविशयफलत्वादष्टान्तान्तरोपन्यासस्य । ये तु पुंरुद्धिकमेति पठन्ति तेषामियं व्याख्या
पुंरुं मानकसेतिकादियौव्यं काष्ठं छिदन्ति चिकीर्षितयस्त्वदुगुणभावेन कुंततीति पुंरुदरिच्छदाकारास्तेषां कर्म व्यापारजर्म-
वद्भिक्षया प्रसिपरिभ्रमणं । तद्यथा सुशब्देन यथार्थेनोभयत्र संवेद्यते । शेषं पूर्ववत् ॥

निर्जरा तपके आधीन है. तथा विद्यमानकर्म इस तपके प्रभावसे क्रमसे निर्जीर्ण होता है, जब संपूर्ण कर्म
निःशेष हो जाता है तब स्वास्थ्य रूप मोक्ष प्राप्त होता है. अतः मोक्षका कारण निर्जरा ही है. वह निर्जरा तपसे
होती है. अतः दर्शनाराधना व तपआराधना ऐसी दो आराधनाओंका वर्णन करना योग्य है ऐसी श्रंका होनेपर
संवरको उपन्य करनेवाला चारित्र्य सहायक होनेसे हि तप मुक्तीकी साधक ऐसी निर्जरा उत्पन्न कर सकता है अन्यथा
नहीं ऐसा उत्तर निम्न लिखित गायार्थमें देते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवादि तत्त्वोंपर जिसकी श्रद्धा है ऐसे अविरत अर्थोत् अर्थोत् असंयमी पुरुषका तप महान् उपकार
करनेवाला नहीं होता है. वह उसका तप शारीरिक स्नान समान होता है. जैसे हाथी नदीमें स्नान करता है परंतु
फिर तटपर आकर अपने संदसे सर्वांगपर धुलि फेंकता है वैसे असंयत सम्यग्दृष्टि कर्म निर्जीर्ण करता हुआ भी

असंयमने द्वारा बहुत कर्मका ग्रहण करता है. अथवा लफड़ाको छिद्र पाढनेवाला वर्मी जैसा छेद पाढते समय दोरी बांधकर घुमाते हैं उस समय उसकी दोरी एक तरफसे ढिली होती हुई भी दूसरी तरफसे उसको दृढ़ बद्ध करती है वैसे सम्यग्दृष्टीका पूर्ववद् कर्म निर्जान होता हुआ उसी समय असंयम द्वारा नवीन कर्म बंध जाता है. अतः असंयत सम्यग्दृष्टीको तप आराधना नहीं होती है. इसलिये तप आराधनासे चारित्र्याधना अंतर्भूत नहीं होती है ऐसा समझना चाहिये.

विशेष—गाथाओं 'महागुणो' ऐसा शब्द है. यहाँ गुणशब्दके अनेक अर्थ होते हैं. जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श इनको भी शब्दोंमें गुणसंज्ञा है. गुणोंकी संख्या दिखानेवाला सूत्र इसप्रकार है. 'रूपसंगंधस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागो परत्वापरत्वबुद्धयः' सुखदुःखेच्छादिप्रयत्नादयः' कचिद् गुणका ऊर्ध्वं मूल्यं ऐसा भी होता है. जैसे—'गुणीभूता वयमत्र नगरे' अर्थात् इस नगरमें हम प्रधान-मुख्य हैं. यहाँ गुण शब्दकी प्रधान अर्थमें वाचकता है. कथित् गुण शब्दका अर्थ उपकार ऐसा होता है. जैसे 'गुणोज्जेन कुतः' अर्थात् इसने उपकार किया. प्रकृत गाथाओं गुणशब्दका अर्थ उपकार ऐसा समझना चाहिये. अविरत सम्यग्दृष्टिका भी तप महागुण नहीं होता है अर्थात् वह कर्म निर्मूलन करनेके लिये समर्थ नहीं होता है. पुनः जो मिथ्यादृष्टि है उसका तप मुक्तिकेलिये कैसा कारण होगा? उसको संवर न होनेसे प्रतिसमय नया कर्म आता ही रहेगा अतः उसको मुक्ति नहीं होगी.

शका—संयम प्राप्त भी हो गया तो भी कर्मनिर्वारा न होनेसे मुक्ति नहीं प्राप्त होगी. अथवा ऐसा भी कह सकते हैं—जिसने तपका अभ्यास किया नहीं है ऐसे सम्यग्दृष्टीको भी केवल चारित्र्य महोपकारक नहीं होता है. अर्थात् संवरसहित निर्जराको उत्पन्न नहीं करता है.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. परंतु यहाँ चारित्र्यकी मुख्यता है अतः चारित्र्य न होनेसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी ऐसा कि, छेदनेवाले पुरुषके बिना केवल तरवार ही स्वयं छेदनकार्य नहीं करेगी परंतु तरवारकी तीक्ष्णता, काठिन्य वगैरे गुणाविशेषों देखकर उसमें छेदनकार्य करनेका कर्तव्य आरोपित करके नरवार तोड़ती है ऐसा कहते हैं. वैसे चारित्र्यका वर्णन करनेकी मुख्यता होनेमें चारित्र्यके बिना तप महोपकारक संवर निर्जराका उत्पादक

नहा हात है ऐसा कह सकते हैं।
असंयत सम्यग्दृष्टिका तप हस्तिस्नानके समान है, जैसे हाथी गालावमें स्नान कर निर्मल होता है परंतु आपनी मुंडाके द्वारा धूलको शरीरपर फेककर अपनेको मलिन करता है, वद्वत् तपके द्वारा कर्मांश निर्जोण हो गया तो भी असंयमसे सम्यग्दृष्टि बहुत कर्मसमुदायको ग्रहण करता है।

आचार्य दुसरा दृष्टान्त मंथन चर्मपालिकाका देते हैं, उसका विवेचन किया है, आचार्यने दो दृष्टान्त क्यों दिये हैं ? इसका खुलासा इस प्रकार है, सम्यग्दृष्टिने पूर्वमें जितनी कर्म निर्जरा की है उससे भी अधिक कर्म उसको असंयमसे बंध जाता है, यह खुलासा करनेके लिये हस्तिस्नानका दृष्टांत दिया है, हाथी स्नानसे गीला होता है अतः बहुत धूलीका संग्रह उसके अंगपर हो जाता है, उसही प्रकारसे सम्यग्दृष्टिको बहुत कर्मबंधन होता है, जो निर्जरा बंध रहित होती है वही स्पास्थ्य अर्थात् मोक्षप्रदान करती है, परंतु बंधके साथ होनेवाली कर्म निर्जरा मुक्तिका कारण नहीं होती है इसका स्पष्टीकरण करनेके लिये आचार्यने मंथन चर्मपालिकाका दृष्टान्त दिया है यह बंध सहित मुक्तिको दिखानी है,

यहां दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं—“कालभेदकी अपेक्षा न करके शुद्धि और अशुद्धिको दिखानेकी इच्छासे आचार्यने प्रथम उदाहरण—हस्तिस्नानका गाथामें लिखा है, ” परंतु यह उनका अभिप्राय युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि, संपूर्ण कर्मोंका नाश होना यह शुद्धि है व कर्म संहितावस्थाधी अशुद्धि है जब शुद्धि है भी नहीं तो आचार्य उसको हस्तिस्नानका उदाहरण देकर भी कैसे दिखा सकेंगे, यदि कुछ कर्म नष्ट होना उसको शुद्धि या मुक्ति कहेंगे तो ऐसी शुद्धि किस प्राणीमें न मिलेगी ? अर्थात् ऐसी शुद्धि प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान है, कारण प्रत्येक प्राणीके कर्मस्कंध उसको फल दे देकर खिंचेही है, अतः ऐसी शुद्धि मिलना असंभव नहीं है, वह तो सुलभ ही है,

और भी जो उन विद्वानोंने कहा है ‘वहां कालभेदका आश्रय लेकर दो धर्म रहते हैं वहां उन धर्मोंमें भिन्नता—विरुद्धता दीखती है, परंतु कर्मबंध होना व उसकी निर्जरा होना ये दो धर्म एक समयमें होते हैं अतः ये विरुद्ध नहीं हैं, इस वास्ते यहां दुसरा दृष्टांत मंथन चर्मपालिकाका दिया है, यहां रज्जुसे मंथनदंड धेधित भी हो जाता है और मुक्त भी हो जाता है, ये दोन क्रियायें एक समयमें होती हैं

अतः इसमें वैधर्म्य नहीं है. यह कहना भी असार है. 'चंद्रसुखी कन्या' इस उदाहरणमें ऐसी वैधर्म्यकी झंका उपस्थित नहीं होती. कन्याका सुख हमेशा पूर्ण ही रहता है. परंतु चंद्रकी पूर्णता कदाचित् होती है. सदा नहीं होती अतः अनुमानसे सुख और चंद्रमें साधारण धर्म-आन्वहिकत्व, सुंदरता इत्यादिका आश्रय लेकर उपमानोपमेय भाग्य रहता है. सुख और चंद्रमें वैधर्म्य है ही अन्यथा चंद्र उपमान है व सुख उपमेय है यह भेदही उत्पन्न नहीं होता. उपमेयमें विशेषता दिखानेके लिये ही उपमान प्रयुक्त होता है. उपमानको छोड़कर दूसरका ग्रहण कोई नहीं करते है. तात्पर्य—मंथनचर्मणालिका का उदाहरण देनेका कारण इतनाही यहाँ समझना चाहिये कि, अविगतसम्यग्दर्शिका तप असंयमपूर्वक होनेसे कर्मबंध और निजराका कारण है. वैधर्म्य दिखानेके लिये आचार्यने यह उदाहरण नहीं दिया है.

संक्षेपेण प्रकारान्तराख्यानमाह—

अहंवा चारिताराहणाए असाहियं हुलइ सव्वं ॥

आराहणाए सेसस्स चारिचाराहणा भज्जा ॥ ८ ॥

विजयोपेया—अहंचेति । एषाहंवादिस्त्वेयातस्त्वेयानंतरूपेण हि जैमी निरूपणा ॥ चरंति यांति तेन हितमाप्तिं अहितनिवारणं चेति चारित्रं, चर्यते सेच्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकं, तस्माराधनायां सत्परिणती सत्यां भाराधितं निष्पादितं । इयद भवति । सव्वं सर्वं ज्ञानं दर्शनं तपसा, प्रकारान्तरस्यै सर्वज्ञानोऽयं प्रयुक्तः । यथा सर्वभोगेनं मुक्ते इति श्रीशाल्योद्वनप्रकारकात्मस्य मुक्तिफियायाः कर्मत्वेन प्रतीयते । एवमिदं हि मुख्योपायप्रकाराणां शानादीनां सामरूप्यमाख्यायते । चारिगराधनैकैवेत्यनेन गाथाद्वेन कथितम् । अथैयमांशका—कस्मादेकानिरूपणापराधनायाश्चारित्र-मुखेनैव निर्यते आत्ममुपेनेत्यत आह—आराधणाए अराधनायां । सेसस्स शेषस्य । अनिर्देशान्तपसां अन्त्यतमस्य । चारि-साराधणा । भज्जा भाज्या विकल्प्या । कथं ? भंसयतसम्यग्दर्शिनं ध्यानदर्शनयोरापन्नको नेतरयोः । मिथ्यादृष्टिसयनश-नवाधुतोऽपि न चारिणमात्ताधयति । कश्चित्तुनः शानादीनि चारिणमपि संपादयतीति नाविबभूवयिहा इतरास-नायां चारिणाराधनया इति न तन्मुखेनैकानिरूपणेति भावः ॥ ननु इमायि कवीतरामसम्यक्त्वापराधनायां, धायिकिजानारा-धनायां च इतरासाराधनाराधना नियोगतः संगमति तत्किमुच्यते योगाराधनायां चारिजाराधना मान्येति ? क्षयोपश-मिन्तानदर्शनोपशयवदुक्तं इति श्रेयम् । अत्रान्येषां व्याख्या “चारिताराधणाए इत्यत्र चारित्र्यदाधेन सत्चारित्र्यमुपात्तं । तच्च सर्वसामान्यमात्रनिरूपितकमाप्रव्यवनेन प्रयत्नवृत्तिकरुणं तस्मिन्पराधनाने शेषवित्तिर्भवेत्येव । कथं ? सन्धानफायि चारित्रं सन्धानं च दर्शनाद्वितं कायं हि कारणाधिनाभावित्वं प्रयुक्तं इति साधुपपत्ता ” । प्रतिशामगेनेन हि सूत्रमिदमव-

स्थितं, एतत्साधनाय सुन्दरमुत्तरं यत्र हि सूत्रकारो तन्निबंधनं वदति । आत्मनः प्रतिज्ञातस्य तत्र व्याख्यातुरवसरो निबंधनाख्योने यत्र तु स एव वदति तत्र तद्वै व्याख्यातुमशक्यमिति व्याख्याकम शास्त्रेषु । न चेदमनेन प्रतिविधानमसूचितम् स्वयमेवोद्देशेन । ' कादृश्वभिन्नप्रकादव्यति पादूणा द्वेदि परिहारो, इत्यत्र निरूपयिष्यति यतः सूत्रकारः । किं च उत्तरसूत्राद्युपनयनस्य व्याख्यायां चारित्राधनामुखेनैवाराधनेति प्रतिपिपादयितुं । तच्च सं-
प्रति विधान प्रतिपादयितुं कोऽयस्य उत्तर माथायाः । इतरेषाधनान्तर्भवकारिण्याश्चारित्राधनाया निरूपणार्थां चारित्र्यस्वरूपाख्यानाय उत्तरगाथायादेति कथमनवसर इति चेत् यद्येवं दर्शनाधनायां ज्ञानाराधनामन्तर्भाव्य भवत-
गामार्थः उद्वांन्यरूपं किं नोऽयस्य सूत्रकारेण ? खेच्छेति खेच्छ न्यायादुगमिना शास्त्रकारणां न्यायवदेच्छा अयुक्ता ।

पुद्गली परमसंक्षेपावेकधैयाराधना स्यादिति दर्शयति—

मूलाङ्ग-चारिन्ताराद्वय-परन्धि यन्ति तेन हितप्राप्तिश्चिद्विनिवारणं चेति, पर्यते सेव्यते सङ्कितवित्ति या चारित्र्य सामायिकदिक् । तत्परिणतौ तस्यां आरहिर्दं निष्पादितं । सत्त्वं ज्ञानं दुर्लभं तपश्च । सेवस्त ज्ञानादिन्यस्य भज्या भाव्या विकल्पाः । तथा-असंयतसम्यग्दृष्टिर्ज्ञानवर्तनशोरावको भवति नेतरयोः । मित्रादृष्टिरनशनादितपस्युद्यतोऽपि न चारिन्माराधयति । कश्चित्सुनः ज्ञानादीनि चारित्र्यमपि संपादयति । एतौ न ज्ञानाविमुक्तैकत्वमुक्तमाराधानया इति भाषः । एतच्च अधिकवीतरासम्यक्त्वत्कथं यत्तज्ज्ञानाच्चाभ्यन्तर बोध्यम् ॥

हिंदी अर्थ-चारित्र्यकी आराधना करनेसे सर्व आराधनाओंकी आराधना होती है, परंतु दर्शनादि आराधनासे चारित्र्यकी आराधना होगी या नहीं भी होगी.

विशेषार्थ—एक, दोन, तीन, संख्यात, असंख्यात अनंत रूपसे श्री जिनेश्वरके मतमें वस्तुका वर्णन होता है। अतः वस्तुका अतिशय संक्षेप व विस्तार पूर्वक निवेदन जैन ग्रंथमें पाया जाता है। जिससे जीव हितको प्राप्त होते हैं अथवा अहितका निवारण करते हैं उसको आचार्य चारित्र कहते हैं। अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं, सेवन करते हैं उसको चारित्र कहते हैं। इस चारित्रके सामायिक वगैरे भेद हैं। ऐसे चारित्रकी आराधनामें जब आत्मा तत्पर होता है तब इसमें तन्मयता होनेसे ज्ञान, दर्शन, तप एसी सर्व अर्थात् तीनों आराधनायें आराधी जाती हैं। अर्थात् इन तीनोंकी भी प्राप्ति होती है। यहाँ प्रकार व संपूर्णता ऐसे दो अर्थोंमें सर्व शब्दका प्रयोग किया है। जैसे 'सर्व्व मोदन धुंके' अर्थात् "ग्रीही वगैरे जितने शालीके भेद हे उतने सर्व भेदसहित शालीका भाग खावा है।" इस

वाक्यमें सर्व शब्दका प्रकार ऐसा अर्थ है. इसी तरह यहां भी शोधोपायके प्रकार जो ज्ञान, दर्शन तप हैं वे यहां 'सर्व' इस शब्दसे संगृहीत होते हैं. एक चारित्राराधनामें सब आराधनाओंका अन्तर्भाव हो जाता है.

शंका—चारित्रको मुख्यता देकर ही क्यों आराधनाका एकत्व आप दर्शति हैं ? अन्य आराधनाको मुख्यता देकर आराधनाकी एकता आपने क्यों नहीं दिखायी है ?

इस प्रश्नका उत्तर—इतर आराधना-ज्ञान, दर्शन तप इनमेंसे किसी एक आराधनाकी मुख्यता होने पर भी चारित्राराधना भाज्य ही है अर्थात् इतराराधना प्राप्त होगी परंतु चारित्राराधना प्राप्त होगी अथवा नहीं होगी, इसका सुलासा-असंयत सम्बन्ध ही है अर्थात् सम्बन्ध ही है दर्शन ऐसी दोन आराधनाओंका आराधक है. जब आराधकको सम्बन्धदर्शन प्राप्त होता है तब उसके ज्ञानमें भी सम्बन्धदर्शनके साथ सम्बन्धपना प्राप्त होता है. अतएव यह सम्बन्ध ही दर्शन ज्ञानका आराधक है. मिथ्यादृष्टि जीव अनशनादि तपोमें लुप्त होकर भी चारित्राराधक नहीं होता. कोई सम्बन्ध ही जीव प्रतसहित होनेसे ज्ञानादि तीन आराधनाओंका आराधक होता है चारित्रका भी. अतः चारित्राराधनाका इतर आराधनाओंमें अधिनाभाव नहीं है. जहां चारित्राराधना है वहां चारोहि आराधनायें हैं ही परंतु जहां अन्य आराधनायें हैं वहां यह चारित्राराधना रहे या न रहे. अतः चारित्रकी मुख्यतासे आचार्यने सबका अन्तर्भावके एक चारित्राराधनाही कही है.

शंका—धार्मिकजीवितराग सम्पत्काराधना और धार्मिकज्ञानाराधना ऐसे दो आराधनाओंमें धार्मिकी तप और चारित्राराधनायें निधयसे अन्तर्भाव होती हैं अतः शेष आराधनाकी प्राप्ति हुई तो भी चारित्राराधना भाज्य है ऐसा क्यों कहा है.

उत्तर—शोधोपशमिक ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे हमारा उपर्युक्त कथन समझना चाहिये. अर्थात् जहां जहां धार्मिकशमिक ज्ञान व दर्शन है वहां चारित्र होता ही है ऐसा नियम नहीं है. क्योंकि धार्मिकशमिक ज्ञान व दर्शन चतुर्थ गुणस्थानसे शुरू होते हैं. इस गुणस्थानमें अविरतिपरिणाम होनेसे चारित्राराधना नहीं है अतः आचार्यका कथन किन्तु अपेक्षासे है यह ध्यानमें आना होगा.

प्रकृत गाथापर अन्य विद्वानोंका आगे लिखा हुआ व्याख्यान है—चारित्राराधनाएँ “ इस गाथामें चारित्र शब्दका अर्थ संचारित्र ऐसा समझना चाहिये. सम्बन्धदर्शन युक्त व सम्बन्धज्ञान निरूपित ऐसा जो आचरण

क्रम उससे च्युत न होकर दृढ़ रहनेका जो प्रयत्न उसको चारित्र्य कहते हैं अर्थात् आगममें जो धर्माचरणके क्रमका उल्लेख किया है उसके उपर अत्रा सबकर उसका स्वरूप समझ लेनेके अनंतर उस आचरणक्रमसे च्युत न होकर उसमें दृढ़ रहना यह सचरित्रताका लक्षण है. ऐसे चारित्र्यकी आराधना करनेसे ज्ञान, दर्शन, तप इनकी आराधना अवश्य होती है. चारित्र्य सम्पन्नानका कार्य है. आर ज्ञान भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे हितकारक होता है. कार्य हमेशा कारणसे अधिनामायी होता है जो जो कार्य उत्पन्न होता है वह २ कारणपूर्वक ही होता है. कारणके बिना होता ही नहीं है. चारित्र्य ज्ञान व दर्शनका कार्य है व सम्यग्दर्शन ज्ञानके साथ अधिनामायी है, उनके बिना चारित्र्यकी उत्पत्ति होती ही नहीं. अतः चारित्र्याराधनमें सब आराधनाओंका प्रवेक्ष हो जाता है. ” यहाँ आचार्य उनके व्याख्यानकी अद्युक्तता दिखाते हैं.

आपने जो सचरित्रके कारण और लक्षण बताये हैं उनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है. इस गाथामें तो फलतः चारित्र्य की प्रतिज्ञा ही अर्थात् नामोल्लेख ही किया है इस प्रतिज्ञाका स्पष्टीकरण और उसके कारणोंका उल्लेख ग्रंथकारने आगेकी दोन गाथाओंमें स्वयं किया है अतः उन स्थलोंमें व्याख्याकारको कारणोंका विवेचन करनेका अवसर है ऐसा ही व्याख्याक्रम आत्ममें शुद्धा जाता है ‘कादम्बिणिमक्रादप्ययि णादूण होदि परिहारो’ इस गाथामें चारित्र्यका लक्षण आचार्य कहेंगे. परंतु आपने उत्तर सत्रानुष्ठान इस व्याख्यानमें किया है. इस गाथाद्वयमें चारित्र्य-आराधनाकी मुख्यतासे एक ही आराधना है यह प्रतिपाद्य विषय है. इसलिये उत्तरगाथा का विषय यहा प्रतिपादन करनेका अनसर कैसा है ? इतर आराधनाका अन्तर्भाव अपनेमें करनेवाली चारित्र्याराधनाका निरूपण करते समय चारित्र्यके स्वरूपका वर्णन करनेके लिये उत्तर गाथा है अतः यह हमारा विवेचन ठीक है ऐसा भी आप नहीं कह सकते. अन्यथा ज्ञानाराधनाको अपनेमें प्रविष्ट करनेवाली दर्शनाराधना है अतः सम्यग्दर्शन का स्वरूप वर्णन सत्रकारने क्यों नहीं किया ? यदि कहेंगे जैसा उन्होंने चाहा जैसा वर्णन किया है तो यह उत्तर योग्य नहीं है क्योंकि न्यायका अनुसरण करनेवाले शास्त्रकारको न्यायविरुद्ध इच्छा रहना ठीक नहीं है. अतः इतने विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि आचार्य का उद्देश इतर आराधनाओंका चारित्र्याराधनामें अन्तर्भाव करना यही है. चारित्र्यका व सम्यग्दर्शनका लक्षण लिखनेका उनका उद्देश नहीं था.

कथं चारिष्यताधनार्थां कथितायां इतत्तत्सां प्रतिषत्तिरयिनाभावात् तत्त्वज्ञानवर्गानाद्यनयोस्त्वभावं इत्यु-
त्तराभावात् पूर्वादेन कथयति—

कायव्यभिगमकायव्ययसि णाऊण होइ परिहारो ॥

तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं ॥ ९ ॥

कायत्वं कर्तव्यं । एवं इवे । आकायव्ययसि अकर्तव्यमिति । णाऊण झत्वा । हवइ भवति । परिहारो परिवर्जनं
चारिष्यमिति दोषः । कर्तव्याकर्तव्यपरिधानं पूर्वं तदुत्तरफाले अकर्तव्यपरिहरणं यत्तत्त्व चारित्रिमिति सूत्रार्थः ॥ ननु परि-
हार इत्यत्र परिहारो वर्जनार्थः । तथा हि—परिहरति संप्रमित्यत्र संप्र चर्जयतीति गम्यते । ततश्च यद्वर्जनीयं तत्परिधानमेव
वर्जनमुपयुज्यते तत्त एव यत्कर्तव्यं—अकायव्ययसि णाऊण हवइ परिहारो इति, कायव्यमित्येतत्कर्मधर्ममुपगम्यस्ते । कर्तव्यपरिधानं
करणे यथोपयुज्यते इति ॥ अथ प्रतिषिधीयते—कायव्यभिगमिणि णाऊण हवइ परिहारो इति पदवटमेकां, अकायव्यभिगमिणि
णाऊण हवइ परिहारो इत्यापत्तात्तत्राचार्या पदअट्ठचार्यां परिशब्दः समेताद्भाषयन्ति । यथा परिधायातीत्यत्र हि समेताच्चाप्यतीति
गम्यते । हतित्तरादानवचनम् । तथाहि प्रयोगः—कविदिकां हरति—कविदिकां कमुपपद्यते इति यावत् । भ्रमसा, यच्चसा, कायेन
कर्तव्यस्य च भ्रमरहेतोऽप्यादानं मुसिलमिति धर्मज्ञेक्षापरीयद्वज्यानां उपादानं चारित्रिमिति याव्यार्थः । आश्रययंभूतयो
ये परिष्णामास्तो न कर्तव्याः, न त्रिकर्त्तव्यस्तेषां परिहरणं परिपुर्जनं चारित्रिमिति संबंधनीयम् । परिहार्यं एव परिष्णानमेत-
देनापि तत्परिहारो दृश्यते । यथा शतरजनाप्यासितं देशं परिहरति कश्चित्तत्र तेषां अथस्यानं आपत्तिरुद्यमानोऽपि मार्गा-
भरणामी, एवमप्राप्त्यापि परिहार्यं परिहरेदिति विनाभावितेति चेदप्यमभिप्रायः सूत्रैः—सामान्यशब्दा अपि विशेषग्रन्थस्यो
दृष्टमे । तथा हि—गोशब्दो गोयत्त्वामात्र्यांगीकरणेन प्रयुक्तो गौर्नहंतव्या, गौस्तथा न स्मरुष्या इत्यादौ विशेषमेवोभियेयी
करोति ॥

महति गोमंढले गोपालकपासीनमेत्य कश्चित्पृच्छति गौर्बुद्धा भव्येति । अत्र यास्ये गोशब्दस्तदभिज्ञेताकांक्षी
इत्यस्तिमर्तो वा प्रत्याख्ययति । एवमत्र परिहारशब्दः परिवर्जनं सामान्यगोचरोऽपि निर्यतामेकपरिहार्यमित्ये परिहरणे
प्रयुक्तः । न च निवोगमाद्येकपरिहार्यमित्यप्यं परिहरणं अस्मद्वद्वृत्तिपरिष्णानं विना युज्यते । इति मिथ्यादर्शनं, अस्म-
यमाः, कथायां, अमुमाश्च योगाः प्रत्येकमेकविकल्पाः सततं परिहरणीयाः । तत्कथं परिहरेत्तदा—तं चेव हवइ इत्यादि । तं चे
नाभाविता पोत्या । ' नाऊण होइ परिहारो ' इत्यनेन धर्मान्नाविनाभावितेत्याशङ्क्यामाह—तं चेव हवइ इत्यादि । तं चे
य तत्रेव धितन्यं । हवइ भवति, णाणं ज्ञानं । तं चेव य तत्रेव च हवइ भवति, सम्मतं सत्त्वध्यानं चेति सैतन्यप्रवच्यार्थो-
पनिर्दिष्टात् ज्ञानदर्शनयोरिकृता स्यात्ता । ततो ज्ञानाविनाभाविता कथनेन अज्ञानस्यापि
कथितेय भवति । चारित्र्यमेव ज्ञानवर्शने इति कल्पनायां ' नाऊण हवइ परिहारो ' इति पूर्वं ज्ञानं
पश्चात्परिहार इति । अथ भेदोपन्यासः सूत्रकारस्य अघटमानः स्यात् । तं चेवेति ननुसकल्लिगनिर्देशश्च न स्यात् ।

सो चेयं ह्यत्र जाणं इति घकटयं मयति पण्डितस्थानस्य पुण्डितत्वात् । अथवा कर्तव्याकर्तव्यपरिच्छेते सत्यकर्तव्यानां मिथ्यादर्शनं, ज्ञानं, असत्यमः, कथाया, योग इत्यमीनां परिहारश्चास्ति मिथ्येतद्विचित्र्यं परिहृयते 'तं चेव परिहरणं सामान्यं चारित्र्यं, ज्ञानं दर्शनं इत्येकमेवेति । चारित्र्यापचनयामेव भेदादिनोऽभिमतस्याराधनाप्रकारस्यान्तर्लनितया चारित्र्यप्रापयनैकेवेति सूत्रार्थः ॥

चारित्र्यप्रापनायो ज्ञानदर्शनयोरेवभावो सावदर्शयति—

कायव्यमित्यादि । अत्र द्वे पदपठने । तत्रैका । इणं गुण्यादिकं । कायव्यं कर्तव्यं संवरकारणत्वात् इति गावृण ज्ञात्वा मिश्रित्य ब्रह्मचर्यस्य । परि संमन्त्रान्मनोवाक्कायेर्दोरो हरणमुपादानं कर्तव्यस्य गुप्तिसमितिषमांशुमेक्षा परीपहृज्यरूपस्य भवति ॥ कंबलिङ्गा हरतीत्यादिवात् अत्र हरतिरुपादानार्थः । द्वितीया स्त्रियं । इदं मिथ्यादर्शनादिकं अकर्तव्यं आत्मपर्यवर्धनधनत्वात् । इति मिश्रित्य रोपमानस्य परिहारः परिवर्जनं अकर्तव्यस्य मिथ्यादर्शनेन मिथ्याज्ञानान्धमप्रमादकथायास्तुभयोगलक्षणस्य भवति । अत्र इणमिति उभयत्र काकाक्षिगोलकन्यायेन संबंधनीयं । अकारण्यव गतीत्यत्र कुलसायां पादपूरणे वा फः । गावृणेत्यत्र परकाष्ठिककर्तृकादिति क्त्वात्तन्नासाप्यल्लघुं ब्रह्मचर्यस्येति ॥ वंघ नीयं । एव कर्तव्योपादानमकर्तव्यपरिवर्जनं बोधयमेव चारित्र्यं । तदेव ज्ञानदर्शनोपहितद्विधादित प्राप्तिपरिहारपरिणतं दैत्यन्यमेव द्रव्यार्थव्यतिरेकान्न ज्ञानं दर्शनं च भवतीत्यग्निनाभावश्चास्ति तस्य ज्ञानदर्शनाभ्यामिति चारित्र्येऽन्वयान्वित्तयोः ॥

चारित्र्यप्रापनाके कथनमे इतर आराधनाओंका ज्ञान कैसा हो जाता है इसका उत्तर अविनाभाव ही देना, अर्थात् अविनाभाव होनेसे श्रेय आराधनाओंका चारित्र्यमें अन्तर्भाव हो जाता है, अब ज्ञान और दर्शनाका अन्तर्भाव आगेकी गाथा के पूर्णहिंसे दिलाते हैं,

हिंदी अर्थ—यह करने योग्य कार्य है ऐसा ज्ञान होनेके अनन्तर अकर्तव्य का त्याग करना यह चारित्र्य है ऐसा इस सूत्रका अर्थ है,

शंका—गाथामें परिहार शब्द है उसका त्याग करना, छोड़ना ऐसा अर्थ होता है, जैसे 'परिहरति सर्वं' इस वाक्यमें सर्वका परिहार करता है, उनसे दूर होता है, ऐसा परिहरति धनका अर्थ है, अतः जो पदार्थ वर्जन

करते योग्य है उसका ज्ञान होना ही बर्त्तनके लिये उपयुक्त है. अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो अकार्य है उसको समझकर छोट देना यह ही चारित्र्य है. करने योग्य क्या है उसको जाननेकी कुछ जरूरत नहीं है. अतः 'कादम्बमिदि गाढा हृदि परिहारो' ऐसा आचार्यका लिलना व्यर्थ है.

उत्तर—इस गाथाका पदसंघ ऐसा समझना 'काव्यविमर्शसि गाढा हृदि परिहारो' ऐसा प्रथमतः पद संघ समझना चाहिये. 'अकादम्बमिदि गाढा हृदि परिहारो, ऐसा दूसरी चार पदसंघ करना चाहिये.

पहिले पदसंघका विवेचन—परिहार इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना. परि-चारों तरफ. जैसे 'परि धारति' यहाँ समंतात् चारों तरफ, धारति दौड़ता है. ऐसा अर्थ होता है. उसी तरह परिहार शब्दमें परि इस उपसर्गका चारों तरफ ऐसा अर्थ होता है. हृद्यतुका अर्थ इस प्रकरणमें ग्रहण करना ऐसा है. अर्थात् सर्व तरफसे ग्रहण करना ऐसा परिहार शब्दका अर्थ यहाँ समझना. जैसे 'परिहरति कंचलिकां' अर्थात् कंचलको ग्रहण करता है. उसी तरह संचरको उत्पन्न करनेवाले सुति, समिति, धर्म, अनुप्रेषा, परिपहज्य ऐसे कर्तव्यको—करने योग्य कार्यको परिहरति सर्व तरफसे अर्थात् मन, वचन, क्रायसे ग्रहण करना यह चारित्र्य है. ऐसा प्रथम पदसंघका अर्थ है. आत्मन और गंधके कारण ऐसे कार्य अर्थात् आत्मके परिणाम कर्तव्य नहीं है उनका परिहार—त्याग करना चाहिये. अर्थात् यहाँ ऐसे अयोग्य कर्तव्यका त्याग करना चारित्र्य कहलाता है. जो पदार्थ त्याज्य है उसका ज्ञान न होने पर भी त्याग हो जाता है. जैसे कोई मनुष्य शत्रुजन जहाँ रहते हैं ऐसे देशका त्याग करता है. अर्थात् शत्रुका बड़ा अस्तित्व न जानता हुआ भी शत्रुपक्षका त्याग कर अन्य मार्गसे बला जाता है. वैसे यहाँ भी त्याज्य पदार्थका ज्ञान नहीं हो तो भी उसका त्याग करना चाहिये.

शुका—त्याज्य पदार्थको त्याज्य समझकर त्याग होता है ऐसा अभिप्राय यहाँ नहीं रहा. क्योंकि उसका स्वरूप समझे बिना भी त्याग होता है.

उत्तर—आचार्यका यह अभिप्राय है—सामान्य शब्द की भी विशेषमें प्रवृत्ति होती है—जैसे 'गौर्नन्त्या' 'गौर्न स्पष्ट्या, इस वाक्यमें मोक्ष नहीं करना चाहिये. गावको सर्वो नहीं करना चाहिये इन वाक्योंमें मोक्षब्द सामान्य है. परंतु विशेष अर्थमें भी इसकी प्रवृत्ति होती है. यथा—गार्दयिके समूहमें ग्वाला बैठा था उसके पास जाकर कोई मनुष्य 'मेरी गो सेने देखी है क्या? ऐसा पूछने लगा. इस वाक्यमें मोक्षब्द विशिष्ट गावका वाचक

है ऐसा मानना पड़ेगा। इन्हीं तरह प्रकृत प्रकरणमें परिहार शब्द त्यागसामान्य को विषय करता हुआ भी नियत-निश्चित ऐसे त्याज्य विषयके त्यागमें प्रयुक्त समझना चाहिये। नियत ऐसे अनेक त्याज्य विषयोंका त्याग उनका चारोंबार ज्ञान हुए बिना अशक्य है। अतः त्याज्य पदार्थके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कपाय, अशुभयोग ऐसे अनेक भेद हैं। तथा इनके भी अनेक विकल्प हैं। उनका सतत त्याग करना चाहिये। परंतु अनुको इसके भेद प्रभेद ज्ञात न होनेसे वह उनका कैसा त्याग करेगा ?

ईश-ज्ञानचारित्रिका अविनाभाव है यह 'गादृण होदि परिहारो' इस वाक्यसे अनुभवमें आता है अर्थात् पदार्थका ज्ञान होनेके अनन्तर चारित्र होता है। परंतु अद्वानका चारित्रके साथ अविनाभाव नहीं है।

उत्तर—जो ज्ञान अथवा जो दर्शन है वे दोनों भी चैतन्यरूप होनेसे अविनाभाव युक्त ही हैं। अर्थात् चैतन्यही ज्ञान है और चैतन्यही दर्शन है। द्रव्याधिक नयसे ज्ञान और दर्शनेमें चैतन्यरूप ता होनेसे एकरूपता-अभिसम्यपना है। अतः जैसा चारित्रिका ज्ञानसे अविनाभाव है वैसा तन्मयदर्शनके साथ भी है। क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञानसे अभिन्न है। चारित्र ही ज्ञान और दर्शन है ऐसी कल्पना करनेसे पूर्वमें ज्ञान नंतर चारित्र होता है अर्थात् प्रथम वस्तुका स्वरूप वह हैय है या ब्राह्म है इसका निर्णय होता है तदनंतर ब्राह्मका स्वीकार व त्याज्यका त्याग एतत्स्वरूपी चारित्र होता है। ऐसी जो सूत्रकारकी भेद कल्पना उपर प्रदर्शित की है वह, चारित्र ही ज्ञान दर्शनमय है ऐसी कल्पनाके आगे कैसी टिकेगी। यहा विरुद्धता दोष उत्पन्न होगा तथा 'तं चेव' ऐसा जो तर्पुसकालिग शब्द है वह योग्य न होगा। कारण परिहार शब्दके साथ उसका संबंध आनेसे 'सो चेव ह्यद जाण' ऐसा कहना पड़ेगा। क्योंकि परिहार शब्द पुष्टिगी है। अथवा कर्तव्य क्या चीज है, अकर्तव्य कौनसी वस्तु है इसका जब ज्ञान हो जाता है तब अकर्तव्य-मिथ्यादर्शन, ज्ञान, असंयम, कपाय, और योग इनका परित्याग होना उसको चारित्र कहते हैं ऐसा माननेसे जो परिहरण सामान्य चारित्र है वही ज्ञान, चारित्र एक ही है अतः चारित्र-राधानमें ही भेद वादीको अभिसम-मान्य ऐसा जो आराधनाका प्रकार है वह अन्तर्लान हो जाता है। इस वास्ते चारित्राराधना एक ही है ऐसा ध्यार्थ समझना चाहिये।

चारित्र्याधन्यमन्तर्भावो ज्ञानदर्शनाराधनमोरेव निगदितो न तस्य आराधनाया इत्यत आह—
 चरणमि तमि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होई ॥
 सो चेव जिणोंहिं तवो मणिदो असढं चरंतस्स ॥ १० ॥

विजयोद्यया-चरणमि चारित्र्ये । तमि मन्तस्मिन् । अर्कतव्यपरिहरणे । जो य उज्जमो उद्योमः । आउंजणा य उपयोगश्च । जिणेहिं तवो होदिति मणिदो इति पदघटना । चरणोद्योगोपयोगावेव तयो भवतीति जिनैः कृतकर्मादिपराजयैरस्मिमिति यावत् । कृतमुखपरिहारो हि चारित्र्ये प्रयत्नो य सुत्पासकचित्तस्ततश्च वाक्पानि तर्कांसि चारित्र्यप्रारंभं प्रति परिकरता उपयान्तीति । तथा ॥ यद्व्यति 'आदित्येण होदि शु सव्या सुहसीलदा परिचया' इति । तथा स्वाध्यायदशतभावना पञ्चविधा तत्र कर्तव्यमन्त्रादिरे परिणतो भवति । तथा च यद्व्यति 'सुदभयणए णाणं ईसणतयसंजमं च परिणमदि' इति परिणतम एव उपयोगः । 'कृतातिचार्युज्जुप्पकापुरःसरं पचनमालोचनेति' अर्कतव्यपरिहरणोपयोगः कथं न चारित्र्यं ? कृतातिचारस्य यत्नेस्तद्विचारपरराबुद्धतो योग-उपेयं वा बुद्धं कृतं चिंतितमनुभवं चेति परिणतम प्रतिक्रमणम् । उभयं चरणोपयोगः । एवमतिचारिणिमित्रप्रदेशेचाविकाममनसा अपगतिस्तत्र भगवतिविशेषः । इति उपयोगता विवेकश्च । दुस्त्यजशरीरमयावनिषुत्तिमेवेदं शरीरं न भवति नाहमस्येति भावना ॥ च परिग्रहपरित्यगोपयोग एवेति चारित्र्यं । तपसोऽनशनपेक्षापरिकरत्वात् । सातिचारं चारित्र्यमचारित्र्यमेवेति बुद्ध्या निश्चित्यायसो न्यूनतापदानं, क्रियास्व-भुत्पानाविकानु अल्पमपरिहारेण वृत्तेष्वारित्र्यपरिकरः । पुनः प्रवज्यादानमपि चारित्र्योपयोग एवेति । विनयस्तु पंच प्रकारः ज्ञानदर्शनविनयो ज्ञानदर्शनपरिकरतया तनुपयोगरूपतया च भगवद्दर्शनाभ्यामेवादातद्वदेव चारित्र्याभानंतर्भावः ।

इदिविषयस्य रागद्वेषयोः कथमाणां ॥ परित्यागः, अयोग्ययाकायक्रियास्वामा, ईर्ष्याविषु निरुद्धया च वृत्तिष्वारित्र्योपयोग एवेति चारित्र्यविनयस्यान्तर्भावः । तपोऽधिके तपसि च भक्तिः, अन्तःसाधना च परेषां तपो-विनयः, तं विना सुतपसोऽभ्यासात् तपसः परिकरता । अस्य परिकरं हि तपश्चारित्र्यस्य परिकर । उपयोगो वा नान्यथास्तिता मन्वते । असदं धरतः स्याच्छास्त्रभंतेरेण वर्तमानस्य भवेत्तथा चतुर्विधा, द्विविधा, एकविधा वा आराधना स्यात् कस्मात् निरूप्यते ॥ पुरुषो हि प्रेक्षापूर्वकारि प्रयोजनमच्येष्टः सति प्रयोजने तत्साधनाय प्रयत्नते मान्यथा, तत्कथमियमाराधना व्याख्या प्रयोजिता ध्रुवणस्येत्यादांकायां, निर्वाणसुप्रस्थाव्याध्यात्मकस्य पुरुषार्थ-स्वोपायत्वप्रदर्शनेन आराधनाव्याख्या तदर्थानुसुपयोगिनी इत्येतद्व्यतिपादनयोस्तत्प्रबंधः । अथवा व्यावर्णितविकल्पा या आराधना तस्यां चेष्टा कर्तव्येत्येतावत्यानायोपरसुश्रानि, तथा चोपसंहारः 'कादृश्यां सु तदस्य आवद्विदग वेत्तिना चेष्टा' इति ॥

चारित्र्ये तपसोऽन्वर्थावो भाव्यते ।

मूलार्थ—उज्जमो उद्यमः । आर्तव्रजणा उपयोगः अनुष्ठानमित्यर्थः । सो चेव आर्षे प्राकृते यवनानिद्वयत्य-
यस्य बहुलं दर्शनात् । सो इत्यनेन उद्यमायोजने परमदयेते । तेन वे एव वरणयोगोपयोगावेत्यर्थः । असदं अशाठ्यं ।
चरतरस प्रवर्तमानस्य मायादीन्मनुष्ठानं कुर्वतः इत्यर्थः । त्यक्तमुख एव हि चारित्र्ये प्रयत्ने इति । तदुद्यमस्तावाद्वाह्यं
तपो भवति तदरंभे परिकरत्वात् । चारित्र्यपरिणामोऽन्तरंगं तपो भवति । प्रायश्चित्तादीनां दुष्कृतिनिराकृतिपरत्वेन
तदुद्यमतिरिक्तात् । आर्या—

रथस्तुलोऽनसुनारिभिरुत्सहते ब्रुष इत्ययं क्षिपति ॥

प्रायश्चित्तादीनामपि वरणेन्वर्तभवति तप उभयम् ॥

दुष्टं वा—

कृतमुदयपरिहारो बाहले यन्ब्रुषे

न सुखनिरतचित्तस्तो न चासं तपः स्यात् ॥

परिकर इह दृष्टोपक्रमेणात्र पापं

क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥

चारित्र्याराधनां ज्ञान और दर्शनका ही अन्तर्भाव आपने दिखाया है तपका नहीं दिखाया इस शंकाका
उत्तर आचार्य आगे की गाथा में देते हैं—

अर्थ—चारित्र्य में जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेंद्र भगवान् उसकोही तप कहते हैं, यह
तप आराधना जिसने मायाका त्याग किया है उसको होती है, अर्थात् माया-कपटाचरणका त्याग कर चारित्र्य में
उद्योग करना तथा उसमें उपयोग लगाना यही तप है, ऐसा इस गाथाका भावार्थ है,

विशेषार्थ—अर्कतन्त्र्य अर्थात् मिथ्यात्यादिकका त्याग करने में जो प्रयत्न करना उसको यहाँ उद्योग कहते
हैं, जिसने सुखासात्तिको छोड़ा है वह ही चारित्र्य में प्रयत्न करता है, ऐसे प्रयत्नशील मुनिराजको वाह्य तप चारित्र्य-
प्रारंभ करनेके लिये सहायप्रदान करता है, अर्थात् अनशनादि वाह्य तप चारित्र्यका सहकारी परिकर है, इस वाक्य
तपके पालनेसे मुनिवर्गकी सब प्रकारकी सुसासक्ति नष्ट होती है, यही अभिप्राय “चाहिरतवेण होदि खु सव्या

सुहृत्सीलदा परिचिता ” इस गाथाके प्ररूपणमें आचार्य महाशय और श्रुतभावनाके जो पांच भेद हैं उसमें जो हमेशा परिणति करता है वह चारित्र्यमें परिणत हो जाता है, श्रुतभावनाके प्रभावसे आत्माका ज्ञान, दर्शन, तप और संयम ये पञ्चावस्थाओंको प्राप्त कर लेते हैं। “सुदभाववाए गाणं देसण तव संजमं च परिणमदि” इस नाथामें श्रुतभावनाकी महती आचार्य आगे कहेंगे, ज्ञान, दर्शन, तप आदिमें परिणति होनाही उपयोग है, चारित्र्याचरण करते समय जो अतिचार होते हैं उसकी पञ्चापापूर्वक निंदा करना यह आलोचना है, आलोचनामें अकर्तव्योंका परिहार करनेमें आत्माका उपयोग लगता है अतएव ऐसे उपयोगको चारित्र्य कहना अयोग्य नहीं है, जब सुनिको चारित्र्य पालते समय दोष लगते हैं तब मन्त्र वचन योगसे मैने हा ! दुष्ट कार्य किया कराया व करने वालोंको अनुमोदन दिया, यह अयोग्य किया ऐसा उनके आत्माका परिणाम हो जाता है, और उस समय वे अविचारसे पराङ्मुख होते हैं अतः ऐसे आत्मपरिणामोंको प्रतिक्रमण कहते हैं, आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंके मेलको उभय कहते हैं, अतिचारको कारणभूत ऐसे द्रव्य, क्षेत्र और कालादिकसे मनसे पृथक् रहना अर्थात् दीपोत्पादक द्रव्यादिकोंका मनसे अनादर करना यह विषेक है, यह भी आत्माका परिणामही है, जिसका त्याग करना कठिन है ऐसे शरीरसे ममत्व दूर करना अर्थात् यह शरीर मेरा नहीं है और न मैं शरीरका स्वामी हूँ ऐसी जो भाषना उसको श्रुत्सर्ग कहते हैं, अर्थात् परिग्रहत्यागके प्रति जो उपयोग है उसको श्रुत्सर्ग कहते हैं, यह मतिक्रमणादिरूप परिणाम चारित्र्यरूप है, अनवनादिक तप चारित्र्यके परिकर हैं ऐसा उपर कहा है, अतिचारसहित चारित्र्य अचारित्र्य है ऐसा युद्धसे निश्चित कर आत्मामें चारित्र्यकी वृद्धि करना, वंदना करना, खड़े होना इत्यादि क्रियाओंमें असंयमका परिहार करके प्रवृत्त होना यह सव चारित्र्यका परिकर है, सुनिवृत्त लेना अर्थात् दीक्षा धारण करना यह भी चारित्र्योपयोग है, विनयके पांच प्रकार हैं, ज्ञान विनय और दर्शन विनय ये ज्ञान व दर्शनके सहायक हैं, और उनके प्रति उपयोगरूप होनेसे ज्ञान और दर्शनसे ये अभिन्न हैं, पांचो इंद्रियोंके स्पर्श रसादिक विषयोंका त्याग तथा रागद्वेषका और कषायोंका त्याग इनका चारित्र्याधानमें अंतर्भाव होता है, अयोग्य वचन और शरीरकी अयोग्य चेष्टाओंका त्याग करना, जाना, चोलना, आहार लेना पदार्थोंका ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें वापसित श्रुति करना ये सब चारित्र्योपयोग हैं, अतः इस चारित्र्य विनयका चारित्र्यमें अंतर्भाव होता है, जो तपसे श्रेष्ठ है ऐसे सुनिध्योंमें तथा तपश्चर्यामें आदर रखना, किसीकी

अवहेलना न करना यह सब तपोविनय है, इसके बिना तपश्चरणमें श्रेष्ठता नहीं आती है, अतः यह तप आराधनाका परिकर है, तथा यह तप आराधना चारित्र्याराधनाका परिकर है, कपटका त्याग करके जो तप किया जाता है वही तप आराधना है।

इस प्रकार चार प्रकारकी, दोन प्रकारकी, एक प्रकारकी आराधना कही है, ये आराधनाके भेद अथवा समग्र आराधना कारण के बिना कहना योग्य नहीं है, क्योंकि पुरुष बुद्धिसे विचार कर कार्य करता है तथा उसका प्रयोजन किसी कार्य करनेमें सिद्ध होता दीखेगा तो वह उसको करनेके लिये प्रयत्न करता है, अथवा प्रयोजन सिद्धीके लिये उसके साधनोंका संग्रह प्रयत्नसे करता है, प्रयोजन सिद्ध होनेकी संभावना नहीं दीखनेपर वह कार्य करनेसे हट जाता है, अतः यह आराधना पुरुषको श्रवण कार्यमें कैसी उद्युक्त करेगी ? ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

किसी प्रकारकी वाधा जिसमें नहीं है ऐसा मोक्षका सुल प्राप्त कर लेना यह आत्माका इष्ट प्रयोजन है, उसके सिद्धिका उपाय यह आराधना ही है, अतः इस आराधनाका विवेचन निर्वर्णमुखेच्छु भव्योंका अवश्य उपयोगी होगा, ऐसा उद्देश मनमें धारण कर आचार्य आगेका प्रबंध कहते हैं, अथवा चार, दोन, एक ऐसे भेद जिसके ग्रंथकारने बताये हैं ऐसे इस आराधनामें मोक्षमुखेच्छु भव्योंको प्रवृत्ति करना योग्य है, इसके निरूपणके लिये यह उत्तर प्रबंध है, इसवास्ते आत्महितका अन्येषण-शोध करनेवाले भव्यात्माका मुक्तिमुखके लिये इसमें प्रवृत्ति करना अवश्य कार्य है इसलिये ग्रंथकारने “कादव्या सु तदर्थं आदिदिग्गवे-सिणा चेद्वा” ऐसा उपसंहार किया है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य इन तीनोंमें कौन मुख्य है ऐसा प्रश्न किया जाने पर आचार्य चारित्र्य की मुख्यता दिखानेके लिये उत्तर गाथा कहते हैं ऐसा कितनेक विद्वान कहते हैं परंतु यह उनका कहना अयोग्य है,

अन्येऽन ध्याचक्षते ज्ञानदर्शनचारित्र्येषु किं प्रधानमिति नोद्ये चारित्र्याधान्यरथापनायोत्तरसूत्रमिति तदयुक्तम् ।
 पाण्डस्तस दंसणस्तस य सारो चरणं हवे जहास्तादं ॥
 चरणस्तस तस्तस सारो जिब्वाणमणुत्तरं भगियं ॥ ११ ॥

विजयोदया—‘जाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं जहायवादे’ इत्युक्ते ज्ञानदर्शनाभ्यां प्रधानं चारित्रं इति प्रतिरूपपक्षेः । प्रयाणमपि कर्म(पापनिमित्ततास्ति वा न वा ? यदि नालीत्युच्यते स्रविरोधः ‘सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः’ इति सूत्रमयस्थितम् । अयोपायतास्ति ? परार्थतया युगलं ज्ञयणमिति का प्रधानता चारित्रस्य ? ज्ञानदर्शने चारित्र्यञ्च चारित्रं तु न तदर्थमिति वक्तुं अयुक्तम् । ज्ञानदर्शनयोः साधारवाचसुपायतया चारित्रस्य चारित्रं तदर्थमिति तस्य किमित्यप्रधानता न भवति ? न हि चारित्र्यमन्तरेण क्षायिकं ज्ञानं, क्षायिकं नीत-राजसम्यक्त्वं चोपजायते । तस्मात्पूर्वोक्त एव उत्तरप्रत्ययक्रमः । इदं सूत्रं यथाव्याख्याचारित्र्यस्वरूपं तत्फलं च गदितुं आयातम् । ‘जाणस्स दंसणस्स य सारो’ सारशब्दोऽज्ञातिशयितयुगलवचनः । तथा प्रयोगः—

पढमं च य विगलियमच्छेरेण युयेण गदियसारमिम् ।

दोसं मोत्तूण यदो गेक्कुज कल्लमिम् किं अण्णं ॥

प्रथममेव साधुजनेन विगलितमात्सर्वेण पृथीतेऽतिशयितयुगे काव्ये दोषं मुनत्वा यत्कः किमन्यदयुक्ताति इति गाथार्थः ॥

ज्ञानसूत्रोपयोगोऽतिशयितरूपं किं तन्मोहनीयजन्यकलंकपरहितं, चरणं चारित्रं । इये भवेत् । जहायवादे यथा-कृपाते । तथा चोक्तं—

“चारित्तं सत्तु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोसि निदिट्ठो ॥

मोहक्खोदयिदुणो परिणामो अपण्णो य समो ॥”

इति ॥ “मोहो द्विषिषो पूर्वोन्मोहश्चारित्र्यमोहश्च । तत्र दर्शनमोहजन्यं अश्रयानं शंकाकांक्षाविचित्रिस्तान्यद्वयि प्रशंसात्सत्त्वकल्पं । चारित्र्यमोहजन्यौ रागद्वेषौ तदनुनिमग्नं ज्ञानं दर्शने च यथाव्याख्याचारित्र्यमित्युच्यते” इति सूत्रार्थः । चरणस्स चारित्र्यस्य, तस्स तस्य, यथाव्याख्यास्य । सारो अतिशयितं फलं साधवसाधनलक्षणसंयचनिमिषा इये पृथी तेन साधफलं लब्धं, साधशब्दस्तु तस्यतिशयप्राप्ये । ततोऽयमर्थो जातः यथाकथयत्चारित्र्यस्य फलमतिशयितमिति किं तत् निर्वाणं निर्वाणं विनाशः, तथा प्रयोगः—निर्वाणः प्रद्वेषो नष्ट इति यावत् । विनाशसामान्यमुपादाय यस्मान्नो-द्वयि निर्वाणशब्दः चरणशब्दस्य निर्जातकर्मशातनसामर्थ्याभिधानिजः प्रयोगात्कर्मविनाशोचरो भवति । स च कर्मणां विनाशो द्विप्रकारः, कसिपयः प्रत्येयः सकलप्रलयश्च । तत्र द्वितीयपरिग्रहमात्रे—अणुत्तरमिति न विद्यतेऽन्य-दुत्तरमधिकं असमादित्यनुत्तरं । भगिदं उक्तं पक्वयण इति शेषः । अथवा ज्ञानप्रज्ञानयोः फलं दुःखहेतुक्रियापरित्याग-यस्तत्र फलं तत्र सविहितो हेतुस्तत्तत्सारित्र्याराधनायां इत्येतदन्तर्भाव इत्यायातम् । इदं सूत्रं ‘जाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं इवे जयावादे’ इति ॥ पाणिनिः ‘गदु-ल्लहेतु तस्यपरित्याग्य असति ज्ञाने यद्व्यति वा न संभवति, कचिन्मनसो रजने अनीक्रियां पापक्रियाभिनवकर्मसंस्वरणं चिन्तननिरासं च विदधाति चरणमदो युक्तमुच्यते’ चरणस्स तस्स सारो विज्याणमनुत्तरं’ इति ।

१ तपुस्तके यद्वय च फलमिति पाठः । २ सपुस्तके इतरान्वयार्थे इति ।

उक्तविकल्पाया आरापनायाः परमपुरुषार्थः फलमिति दर्शयितुं तत्फलत्वात्तत्र स्वहितैषिणा भेदितव्यमिति च वक्तुं गाथात्रयं सूत्रयैस्तदाहौ तत्सापक्षमत्वाद्यथाख्यातचारित्रस्य स्वरूपं फलं न वक्तुमिवमाह—

मूलाग्र-सारोदनिशयितं रूपं । रागद्वेपरहिते ज्ञानदर्शने एव यथाख्यातं नाम यथोक्तमागमे वा चारित्र्यं भवति इत्यर्थः । सारो अतिक्रवितं फलं तस्येत्यत्र साध्यसाधनसंबन्धे पट्टीविधानात् । निष्ठायां विनाशोदर्यात्कर्मणा मेव । अप्रतारं न विद्यते अन्यदुत्तरमधिक्यमास्मादित्यनुत्तरं । यथाख्यातंचारित्रस्य परमशुक्तिः फलमित्यर्थः ।

अर्थ—रागद्वेष रहित ऐसे ज्ञान व दर्शन ही यथाख्यात चारित्र्य है, ऐसा आगममें कहा है, अर्थात् यथाख्यात चारित्र्य यह रागद्वेष रहित ऐसे ज्ञान दर्शनका उत्कृष्ट सार है, इस यथाख्यात चारित्र्यका फल निर्वर्ण-मोक्ष है, सर्व कर्म आत्मासे हट जानाही मोक्ष है, यह चारित्र्यका सर्वोत्कृष्ट फल है, ऐसा इस गाथाका संक्षिपार्थ है.

“जिसने भस्मरूपका त्याग किया है ऐसे सुज्जने काव्यका सार भाग अर्थात् उत्कृष्ट गुण ग्रहण

करनेपर दुर्जनको दोषोंके सिवाय कान्यमें और कौनसी वस्तु प्राप्त होगी ? यहां सार शब्दका उत्कृष्ट गुण ऐसा अर्थ किया है, प्रकृत विषयमें भी वही अर्थ करना योग्य है।

मोहनीय कर्मसे उत्पन्न हुए दोष जिसमें तिलमात्र भी नहीं है ऐसा यथाख्यात चारित्र ही ज्ञान और दर्शनका उत्कृष्ट स्वरूप है।

रागद्वेषरहित जो आत्माकी समावस्था उसको चारित्र कहते हैं, मोहका उदय न होनेसे परिणामोंमें जो निर्मलता पायी जाती है उसीको समावस्था कहते हैं, इस समावस्था को धर्म कहते हैं, इसीको ही चारित्र कहते हैं, इस विषयमें 'चारित्र तस्य धर्मो' यह गाथा प्रसिद्ध है—

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय ऐसे मोहकर्मके दो भेद हैं, उसमें दर्शनमोहके उदयसे जीवादि तत्त्वों पर अभिधान उत्पन्न होता है, इसके अंका, क्रांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टिस्तव ऐसे उत्तर भेद हैं, चारित्र मोहसे रागद्वेष होते हैं, इस दो प्रकारके मोहकर्मोंसे अलस ऐसा भ्रदान और ज्ञान ही यथाख्यात चारित्र है, ऐसा 'जाणस्स दंसणस्स य' इस गाथाका अभिप्राय है।

यथाख्यात चारित्रका अतिशय फल निर्वाण है, निर्वाण शब्दका विनाश ऐसा अर्थ है, जैसे—“निर्वाणः प्रदीपो नष्ट इति यावत्” दीप निर्वाण हुआ, नष्ट हुआ, यहां निर्वाण शब्दका सामान्य अर्थ नाश ऐसा है, तो भी प्रकृत विषयमें चारित्रमें जो कर्मनाश करनेका सामर्थ्य है उसका प्रयोग यहां निर्वाण शब्दसे किया है, अर्थात् कर्मका नाश करना यह चारित्रका फल है, कर्मका नाश दो प्रकारका है, १ थोड़े कर्मोंका नाश २ सर्व कर्मोंका नाश, 'णिब्ब्याणमणुषरं भणियं' अर्थात् अनुत्तर शब्दका निर्वाण शब्दसे संबंध होनेसे सर्व कर्मोंका नाश ही यहां अभिप्रेत—इष्ट है, यही यथाख्यातका सर्वोत्कृष्ट फल है ऐसा आगममें प्रतिपादन किया है

अथवा दुःखकी कारण ऐसी क्रियाओंका परिहार होना यह ज्ञान और श्रद्धाका फल है, जहां फल रहता है, यहां उपका कारण भी रहता है जैसे घट कार्य है तो उसके साथही मट्टी रूप कारण भी रहता है, उसी तरह जहां चारित्ररूपी फल अर्थात् दुःखोंके कारणोंका परिहार एतत्स्वरूपी फल है उस आत्मामें चारित्रके हेतुरूप अर्थात् फलको उत्पन्न करनेवाले ज्ञान और भ्रदान भी रहतेही है, अतः चारित्राराधनामें ज्ञान और दर्शनाराधनाका अंतर्भाव होना है ऐसा सिद्ध हुआ।

जितनी पापयुक्त क्रियायें हैं वे सब दुःख उत्पन्न करती हैं इसका जब आत्माको ज्ञान हो जाता है व श्रद्धान हो जाता है तब आत्मा ऐसी दुःख कारक क्रियाओंका त्याग करता है. परंतु ज्ञान व श्रद्धान न हो तो ऐसी क्रियाओंसे आत्मा विरक्त नहीं होता. ऐसी क्रियाओंमें उसको आनंद होता है व कल्याणकारक क्रियाओंमें वद अप्रीति स्वता है. जब ज्ञान दर्शन युक्त चारित्रकी आत्माको प्राप्ति होती है तब वह चारित्र नवीन कर्म आत्मामें नहीं आने देता व पूर्व बद्ध कर्मकी निर्जरा करता है. अतः इस चारित्रका उत्कृष्ट फल कर्मका पूर्ण विनाश करना ऐसा आचार्यका कहना योग्य ही है.

“ यद्वशानं दुःखहेतुभिराकरणफलमित्यस्यान्वयप्रसाधनाय दृष्टन्तमाह—

चक्षुस्तु दंसणस्तस्य य सारो सप्यादिदोसपरिहरणं ॥

चक्षुस्तु होइं निरत्यं दददृण बिले पंडतस्त ॥ १२ ॥

विजयोवयो—चक्षुस्तु दंसणस्तस्य य सारो इति । चक्षुस्तु चक्षुः । दृश्येन्द्रियमिह चक्षुरिति गृहीते भिद्व-
निरपकरणं च तज्जनयत्वात्कूपगोचरं विद्याने दर्शने तस्य संशोधितयाच्यते । ततोऽयमर्थो जायते—चक्षुर्जन्यायाः प्रतीतिः
सारो फले किं सप्यादिवोसपरिहरण सर्पकंदजरीनां स्पशंशान्दिकयायाः दुःखदयित्याः परिहारः सर्पादिभिः संपादा-
दनाद् स्पशंभक्षणविकः क्रियाविदोपः सर्पादिवोपः इत्युच्यते, तस्य परिहरणं परिवर्जनं, ततोयं वाक्यार्थः—यज्जानं
तदुज्जितराकरफलं यथा चक्षुर्जन्यसर्पादिमोचरज्ञानं सर्पादिस्पशंभक्षणविपरिहरणफलमिति । चक्षुर्जनमिह
चक्षुटच्यते चक्षुःमसूले ज्ञानं । होदि भयति । विरहं निरर्थकं । ददृण इत्या आत्मा शिखदिकमप्रतः स्थितं,
विरहप्रदणमुपलक्षणं उपधातनारिणाम् । पंडतस्त पठतः पुरपस्य । अत्रापरा व्याख्या—ज्ञानदर्शनमाधातमोपकारिचि-
शिप्रफलदायिचारित्रं इत्युक्तं । ननु आगमिष्टानिष्टमार्गोपदानौ तदुक्तं ज्ञानस्योपकारित्वमभिधातुं इति चेत् ज्ञानमार्गेण
प्रार्थयिद्धिः, यतो ज्ञानं नवोचिहीनं असत्समं । अत्र वस्तुनि दृष्टान्तदर्शनेन निगमयति—क्षुस्तु दंसणस्तस्य इति ।
ज्ञानदर्शनाभ्यामपि चारित्रस्यात्मोपकारिता कस्मिन्नेव निगदिता येनोक्तमित्युच्यते । अर्जुनस्तु इति चैतन्मिथ्या
पापस्त दंसणस्तस्य य सारो चरणं इवे अहावाद् । इत्यतो वाक्यार्थिक ज्ञानदर्शनाभ्यां चारित्र्योपकारीत्ययं प्रत्ययो
जायते ? एवमिति तदनुभवोविरहदमाचरतीत्युपेक्ष्यते, न चैतच्छुक्तमित्युच्यते । किंच तस्य सूत्रस्य यत् प्रातनिका कृता
ज्ञानदर्शनचारित्र्येण किं प्रधानमित्यत्र प्रश्ने, प्रधानस्य निरूपणार्थं सूत्रमित्यत्रा च विदध्यते । चरणस्त तस्स सारो
णिज्याणामनुसरं भणियं । इत्युक्तं चारित्र्यस्य समतारूपस्य फलमोपकर्मापाय इत्युक्तं ॥

यज्ज्ञानं तदुःखनिराकरणफलं यथा बहुज्ञानमित्यन्वयदृष्टान्तं प्रकृते वसन्त्राट-
मूलार-चक्रदुस्त दैवणस-चक्रज्ञानस्य सारो फलं । सप्पादिदोसपरिहरणं । सर्पादीनां भुजंगकीटकादीनां
दोनो दुःखहेतु, स्पर्शनभक्षणविक्रिया सरस परिवर्जनं । चक्रबू चक्रज्ञानं, गिरत्यं निष्फलं । बिले गर्वादबुधुपातहेती ॥

दुःखोंके कारणोंको दूर करना यह ज्ञानका फल है इसका अन्वय सिद्ध करनेके लिये आचार्य दृष्टांत
कहते हैं—

हिंदी अर्थ—नेत्र और उससे होनेवाला जो ज्ञान उसका फल सर्पदंष्ट्र, कंटकव्यथा इत्यादि दुःखोंका परिहार
करता यह है, परंतु जो विलादिक देखकर भी उसमें गिरता है उसका नेत्रज्ञान व्यर्थ है.

विशेषार्थ—यहाँ बहुत शब्दका अर्थ द्रव्यबहु ऐसा है, इस चक्रके निर्वृत्ति और उपकरण ऐसे दो भेद हैं,
उत्सर्पणुलके अंतर्लप्यभागप्रमाण नेत्रेद्रियाकरणशोपक्षमविशिष्ट ऐसे आत्मप्रदेशोंकी जो नेत्राकार रचना होती है
वह चक्रकी अत्यंतर निर्वृत्ति समझना चाहिये, नेत्राकार आत्मप्रदेशोंके उपर जो पुद्गलकी रचना होती है उसको
यात्रा निर्वृत्ति कहते हैं, निर्वृत्तिरूप चक्रोंके संरक्षणके लिये जो कृष्ण शुक्र मंडल तथा पापनी वगैरे रचना है वह
उपकरण है, अर्थात् उपयुक्त निर्वृत्ति और उपकरणरूप नेत्रको द्रव्यबहु कहते हैं, इस चक्रसे उत्पन्न होनेवाले
ज्ञानको यहाँदर्शन कहते हैं, दुःखनिराकरण करना यह ज्ञानका फल है, जैसे सर्पकंटक इत्यादि दुःखकारणोंका चक्रुसे
उत्पन्न हुआ ज्ञान, सर्पादिदंष्ट्र, कंटकादिव्यथाका परिहार करता है, अर्थात् ऐसे दोषोंसे मनुष्यको अलग रखना
यह नेत्रज्ञानका फल है, उसी तरह दुःखोत्पादक संसारकारणोंका परिहार करना यह सम्यग्ज्ञानका फल है.

यहाँ दूसरी व्याख्या ऐसी है, “ज्ञान और दर्शनसे भी आत्माका अधिक हित करनेवाला विशिष्टफलदायी
चारित्र्य है” ऐसा मत गायामें कहा है, परंतु यहाँ ऐसी शंका उत्पन्न होती है—

“ज्ञान इष्ट मार्ग कोनसा और अनिष्ट मार्ग कोनसा है यह दिखाता है, अतः वह उपकार करता है ऐसा
कईना योग्य है, ” यह कहना योग्य नहीं है, ज्ञानमात्रसे इष्ट सिद्धि नहीं होती, कारण प्रवृत्तिहीन ज्ञान नहींकि
समान है, जैसे नेत्रसे ज्ञान होकर भी वह यदि कुवेमें गिरते हुवे पुरुषको नहीं बचाता है तो वह व्यर्थ है,

यहां आचार्य उपर्युक्त व्याख्याकारको प्रश्न करते हैं—

“ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रिका आत्माके ऊपर अधिक उपकार है” ऐसा किस गायामें कहाँ है ?

‘गाणस्स देसणस्स य सारो चरणं हवे जहावादि’ इस वाक्यसे ज्ञान और दर्शनसे भी चारित्रिही उपकारी है ऐसा अनुभव आता है क्या ? हाँ आता है ऐसा कहेमो तो वह अनुभवसे विरुद्ध होनेसे उसकी उपेक्षा करनी चाहिये. यदि वह अनुभव विरुद्ध नहीं है ऐसा कहोगे तो ‘कहा है’ ऐसा क्यों कहा ? और भी श्रुतिके कारण ऐसे ज्ञान, दर्शन और चारित्रि इन तीनोंमें कौन प्रधान है ? ऐसा प्रश्न होनेपर प्रधानका निरूपण करनेके लिये यह दृढ़ है ऐसा जो धीरेक आपने लिखा है वह भी आपके उपर्युक्त निरूपणसे विरुद्ध है.

कर्मापायो हि कथं पुरुषार्थः दुःखनिवृत्तिः सुखं चाभिमतं फलमित्यारेकायां प्रधानपुरुषार्थस्य भविलयाधायव्यवहाररूपस्य शुद्धस्य निर्व्ययनतयोपयोगितामाचष्टे कर्मापायस्य—

गिव्याणस्स य सारो अब्बावाहं सुहं अणोवमियं ॥

कायव्वा हु तदुहं आदाहिदगवेसिणा चेह्वा ॥ १३ ॥

विजयोदया—गिव्याणस्स य सारो इति । निरयशेषकर्मापायस्य सारः फलं । अब्बावाहं कर्मजन्यसकल-
दुःखापायः कारणभावे कार्यस्य अनुपपत्तेः । अणोवमियं उपमातीतं । कादव्वा कर्तव्या । चेह्वा श्रेया । तदुहं
अध्यावाधसुखार्थम् । आदाहिदगवेसिणा आत्महितं धृगयता । क चेष्टा कार्या ? आराधनायां मृतावनतिचारश्चानन्दान
चारित्र्यपरिवृत्तिरूपाया । कस्मात् ?

निर्वाणफलमाह—

मूलाय--अब्बावाहं निर्दुःखं दुःखदेवूनामश्रेयकर्षणं प्रश्रयात् । तत् एव अणोवमियं अणोपम्यं । त्वगौदि
सुराणां कर्माधीनतया सव्यावाधत्वात् । तदुहं अव्यावाधसुखार्थं । आदाहिदगवेसिणा आत्महितवान्वेषिणा । चेह्वा
अनुष्ठानं । प्रकृतत्वान्मरणे ज्ञानदर्शनचारित्र्यपरिवृत्तिरूपाया आराधनायामिति योऽयं ।

‘नरपत्न्यस्तस्मात्सारी निव्याणमनुत्तरं भणियं’ इस सूत्रसे समस्तारूप चारित्र्यका संपूर्ण कर्मका नाश होना यह फल है ऐसा पूर्व भाष्यमें कहा है। परंतु कर्मका नाश होना यह पुरुषार्थ कैसा ? दुःखका नाश होना तथा इष्ट सुखकी प्राप्ति होना यही फल मानना योग्य है, ऐसी शंकाका आचार्य इस प्रकार उच्चर देते हैं—जिसमें तिलमात्र भी चाया नहीं है ऐसे पुरुषार्थ रूपी सुखकी प्राप्ति होनेमें सर्व कर्मका नाश होना यह कारण है अतः वह उपयोगी है ऐसा विवेचन ग्रंथकार करते हैं—

हिंदी अर्थ—कर्मसे उत्पन्न हुए समस्त दुःखोंका अभाव होना यह संपूर्ण कर्मके नाशका फल है, कर्मही सर्व दुःखोंका जनक है अतः जब कर्मका पूर्ण क्षय होगा है तब दुःखका लेख भी नहीं रहता है, कारणके नाशसे फर्पका नाश होना यह योग्य ही है, अतः यह दुःखाभाव अर्थात् सुख अनुपम है उपमाराहित है, आत्महितका श्रेष्ठ करनेवाले सुखी जनको मरण मम्यमें ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें निरातिचार परिणति करना चाहिये, क्योंकि,

जह्मा चरित्तसारो भणिया आराहणा पवयणम्मि ॥

संज्वत्स पवयणत्स य सारो आराहणा तस्मा ॥ १४ ॥

विजयोदत्ता—जह्मा परमात् चरित्तसारो चारित्र्यस्य सारे क्वचिन् पापक्रियानिरुक्तो च प्रयत्नस्य चरणं प्रवृत्तिः परिणतिरिति चारित्र्यशब्देन गृहीता, ततोऽयमर्थो लघुः सारः फलमिति । भणिया कथिता । आराहणा आराधना । मृती भनतिधारतव्यता । पवयणम्मि श्रोत्र्यंते एष्टेष्टप्रमाणगिर्येन जीवाश्चः पदार्थां मनेनास्तिन्येति प्रयत्नं सिनागम-स्मिन् । अतिशययत्नां प्रशंसाया आराधनाया उपसंहारद्वारादेन संज्वत्स इत्यविना । संज्वत्स समस्तस्य । पवयणस्तल-जिनागमम् । नारो अतिशयः । आराहणा आराधना व्याप्यर्णितरुपा । तस्मा तस्मात् । य शब्द एषकारार्थः स चाराध-नाशब्दापरतो द्रष्टव्यः । आराधनैव सार इति ।

अन्यत्र व्याख्या—यदिदुर्गकं फलं एतच्चारित्र्यमात्रादुक्तं विविक्षन्त्ययत्ने इत्याह—जह्मा चरित्तसारो इति । किं पापनिश्रयां मायायां संवादमुपपत्तिं न चेतीत्यत्र श्रोतारः प्रमाणं । कस्मात् ? अतिशययत्नयापराधनागमेऽभिहितता यन्माय—

कस्तात् ?

मूलार-चरित्तसारो चरित्रस्य जीवद्वस्थाभाविनिरतिचाररत्नत्रयप्रवर्तनस्य सारः फलं । आराहणा मरणे निरतिचाररत्नत्रयपरिणतिः । पवणगमि प्रकरणेण दृष्टप्रमाणविरोधेन वक्ष्यते प्रतिपाद्यन्ते जीवादयो माया अनेन अस्मिन्नेति प्रवचनं जिनागमस्तास्मिन् । सारोऽविद्वयः । आराहणा आराधनैव च शब्दस्य एवकारार्थस्यात्र संबंधनाम् ॥

हिंदी अर्थ-अत्यंत य परोक्ष प्रमाणोंके अनुसार जीवादिक पयाथोंका जिसने अथवा जिसमें विवेचन किया है ऐसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और पापोंका परिहार रूपी चारित्र इव तीनोंमें जो पूर्ण उद्यमशील हुया है उसको आराधना रूप फल प्राप्त होता है. अब: संपूर्ण जिनागमनका आराधनाही सार है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट फल है.

यहां दूसरी व्याख्या ऐसी है-उपरकी गाथामें जो फल कहा है वह चारित्रमायसे मिलता है या विशिष्ट चारित्रसे ? उत्तर विशिष्ट चारित्रसे मिलता है---

अम्हा चरित्रसारो इत धक्के उपर जो क्षीर्पक आपने लिखा है उसका अभिप्राय गाथाके अभिप्रायसे मिलता जुलता है या नहीं इसमें हम श्रोताओंको ही प्रमाण समझते हैं. क्योंकि आयममें आराधना सर्वोत्कृष्ट फलरूप है ऐसा कहा है.

सुचिरमवि गिरदिचारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते ॥

मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ विहो ॥ १५ ॥

विजयोदया-सुचिरं अतिचिरकालमपि । गिरदिचारं अतिचारमंतरेण । विहरित्ता विहृत्य । क ? णाणदंसण-चरित्ते याने शब्दाने समतायां च । मरणे भवपर्यायविनाशफले । विराधयित्ता एतन्नयपरिणामाविवनाश्य मिथ्यावशेन ज्ञाने ऽसंयमे परिणतो भूत्वा । अणतसंसारिओ अन्तमवगर्णायपरिवर्तने उच्यतः । विहो दृष्टः । देशेन पूर्वोक्तोक्तिफलं अतिचाररत्नत्रयप्रदानमपि मरणफले ततः प्रच्युतानां मुक्त्यमात्रं संसारे चिरपरिच्छिन्नमणकधनव्याजन दर्शयति सूचकारः ।

कश्मादतिदयवचन्या मरणे आराधनगमेऽभिहितेति चेत् यस्मात्—

मूढारा-दुधिरमवि अष्टवर्षाङ्गपूर्वकोटिकात्मपि । विहरिता परिणतो भूत्वा मरणे भवपर्यायनिनाशे वर्तमान इति शेषः । विरहद्विषा-रत्नतयपरिणतिं विनाश्य मिथ्याज्ञानासंशयेषु परिणतो भूत्वेत्यर्थः । अनन्तसंसारिणो अनन्तभव पर्यायपरिवर्तने उद्यतः ॥

हिंदी अर्थ-चिरकालपर्यंत भी ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें निरतिचार प्रवृत्ति कर मनुष्यभव छोड़नेके समयमें यदि रत्नत्रय परिणामसे यह जीव अष्ट वर्षा होगा अर्थात् रत्नत्रयपरिणामोंका नाश प्राप्त मिथ्यादर्शन, ज्ञान और असंयममें परिणत होगा तो अनन्तसंसार युक्त हो जाता है अर्थात् अनन्तभवके पर्याय धारण करनेवाला होता है, जिन्होंने देशीन पूर्व कोटिकाल पर्यंत निरतिचार रत्नत्रयका पालन किया परंतु मरणसमयमें वे उससे अष्ट होगये तो उनको मुक्तिका अभाव होता है यह संसारमें चिरकाल परिभ्रमणके कथनके निमित्तसे आचार्यने दिखाया है.

भट्टपणतमिष्यात्स्य अविच्छिन्नचित्चारित्रस्यापि परीपहरन्निस्वादुपगतसंक्षेपस्य महती संवृत्तिरिति भयोप-
दर्शनेन संक्षेपः परित्याज्यः इति निगदति सूत्रकारः ।

समिदीष्टु य गुचीसु य दंसणणणे य णिरदिचारणं ॥

आसादणबहुलाणं उक्खसं अंतरं होई ॥ १६ ॥

अभितगदिआरा- समितिगुत्तिसंज्ञानदर्शनादित्रयेयिनाम् ॥

प्रवर्तितापवादानां जायते महदंतरम् ॥ १९ ॥

विजयोदया—समिदीष्टु य इत्यदिना अन्ये व्याचक्षते—“ उक्तस्यानन्तसंसारस्य प्रमाणप्रतिपादनाय आयाता गथा, अमंतस्यानन्तविकल्पवत्त्वात् अनन्तविशेषः प्रतिपादनीयः ” अस्यां व्याख्याया उक्तस्य अंतरं होई त्वेतावदुपयुज्यते । इतरस्य पचनसंदर्भस्य अमर्थकायं प्रसज्यते इति । समिदीष्टु य सव्यगमनादिषु अयं समितिः, सम्यक्श्रुतज्ञाननिरूपितक्रमेण गमनानिषु दृष्टिः समितिः । साधययोगेभ्य आगतो गोपनं गुप्तिः । वस्तुवाचात्स्यधदान दर्शनं । अपेतमिथ्या-

त्यकलंकृतात्मनो चरुतुल्यवपुश्चान्नं मत्पुत्रिक्षायोपयामिकं ज्ञानं । सायिके सति ज्ञाने आसादनाया असंभवः । मोहजन्यात्वात्संक्षेदात्, मोहस्य च केवलज्ञानोपपत्तेः प्रागेव विनष्टत्वात् । तथा चोक्तं—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनवर्णा-
न्तरायक्षयाच्च केवलम्' इति । वीतरागसम्पत्तये च नेह श्रुतिम् । मोहप्रलयमन्तरेण वीतरागता नास्तीति । ईदृशमितरेतिवारः मंदोलोक्तमन्तं, पदविन्यासवैशाल्यं सम्यगनालोचनम्, अन्यतचित्तादिकम् । इदं वचनं मम गदितुं युक्तं न चेति अनालोच्य भाषणं, अज्ञात्वा वा । अत एवोक्तं 'अपुष्टो दुष्ट आलेख्य भासमानस्त अंतरे' इति अपुष्ट ध्रुवधर्मतया मुनिः अपुष्ट इत्युच्यते । आणसमिर्विक्रमान्मिश्रो मौन श्रुतीयात् रूपधेः । पयमादिको आणस-
मित्यतिवारः । उद्गमदिदेषे श्रुतिं भोजनमनुभवत यवसा, कलेम वा प्रश्लेषा, तैः सहवासः, क्रियास्तु प्रवर्तनं वा यपणासमितरेतीवारः । अतएवस्य वा अनालोचनं, किमत्र अंतवः सन्ति न सति धेति दुःप्रमाणं वा भावान्निक्षेपणसमित्यतिवारः । क्षापयुज्यशोधनं, मलसंपातदेधानिरूपणादि, पवनसंमिश्रशब्दितनमरादिदूकमेण श्रुतिश्च प्रतिष्ठापनामित्यतिवारः ॥ असमाहितचित्ततया कार्त्तिकशनिश्रुतिः सायुजेतिवारः । एतत्पद्विज्ञानं वा जन-
संचरणवैशे, अशुभप्रधानाभिनिविष्टस्य वा निश्चलता । आसामात्मप्रतिर्गियाभिमुखतया वा श्वराघनाव्यापृत श्वाय-
ज्ज्ञानं । सविपश्मौ संपतस्तु समंततः अशेषेषु महति वा यते इतिषु, रोमाद्रा इषत्पूर्णा भयस्थानं निश्चला स्थितिः कायोत्सर्गः । कायश्रुतिरित्यसिन्धवे हारीरममताया अपरित्यागः कायोत्सर्गदीप्तो वा कायश्रुतेरतिवारः । रागादिसंहिता साध्याये श्रुतिर्मनोगुणेरतिवारः । शंजाकांक्षाधिकिः सात्पदष्टिमंशसांसत्तवाः सम्पददर्शनातीवाराः । प्रपञ्चकालभाषश्रुतिर्मन्तरेण ध्रुतस्य पठनं प्रुताविचारः । अलपददीनां न्यूनताकरणं, अतिशुद्धिरूपं, विपरीत-
पौर्वापर्यरचनाविपरीतार्थनिरूपणा ग्रंथार्थदोषैरपीत्यं अमी ज्ञानातिवाराः । उक्तातिचारियेगमो निरतिवारता चादि-
वादीनाम् । मरणकाले रक्षात्रयपरिणामाभावे दोष उक्तः ॥

रत्नत्रयसुखस्यपि मरणे परीपदभाषादुपगतसंक्षेदात् महती संश्रुतिरिति भवोपदेशेन संक्षेपस्य परित्याज्यतो
वक्तुमात्रं—

मूढारि-नन्वेनन्तशान्तविकल्पत्वादुक्तत्वात्तत्संसारस्य प्रमाणप्रतिपातनार्थं साधेयमित्यन्ये व्यावक्षते । तत्र हस्तसं अंतर्दं होदि इत्येवाप-यात्रस्वय्योपयोगित्वात् इतरस्य भवनसंदर्भस्य अन्तर्धेकत्वप्रसंगात् । पूर्व-
गाथायाः संवादगाथेयमिति तयसंविषादाः । समिदीशु-सम्पत्कृतनिरूपितक्रमेण गमनादिप्रयत्नमिति प्रवृत्तिः समितिः ।

१ एष पुस्तके अपुष्टध्रुवधर्मतया मुनिरपुष्ट इति पाठः

गात्र समितिषु ईर्ष्यामित्यादिषु पंचमु । शुचीषु साधययोगेभ्य व्याख्यनो गोपनं रक्षणं निवारणं युधिः तासु कायगुल्या-
दिषु विपुषु । इंतण्णोपे वरानमत्र सरागसम्पत्त्वं ज्ञानं च क्षायोपशमिकं ज्ञातं तयोरेव असावनायाः संभवान् । वीतराग
गम्यरत्नश्रायिष्ठज्ञानयोगोद्धारणायप्रभवत्वेन तदभावात् । संकुशस्य मोहजन्यत्वेन तदभावस्तत्रावर्तनात् । पिरदिचारणं
मादात्त्यापकंरहितुः परिणामसमस्याधिष्णतानां । तत्र ईयसिधितेतिचारो भंडालोके गमनं पदविन्यासदेशस्य सम्यग-
नालोचनं, अन्यत्र गतचित्तत्वादिकं च । भाषासमितिरेदिं यत्रो वक्तुं मम युक्तं न वेत्यनालोच्यज्ञात्वा या भाषण-
मित्यादिकः ॥ एरणसमितेष्टद्रमादिदोषोपद्वतभोजनस्य मनोवाक्कायैः करणकारणानुसोदनानि, तरकादिभिः सह
संयासो वा । आदाननिक्षेपणसमितेरादेयस्य स्वाप्यस्य वा किमत्र लम्बयः सन्ति न सन्ति वरयनालोचनं । बुध्नमाज्जन
मन्नमाज्जनं च । प्रतिष्ठापनासमितेः कायभूयस्यसोचनं, यत्संपादयेयानिरूपणमित्यादिकः ॥ कायगुतेरसमाहितचित्ततया
कायक्रियानियुक्तिर्जनसंयरणदेशे एकपादादिना अवस्थानमनुभयानाभितिविष्टस्य निश्चलत्वमाप्तभासश्रद्धिद्विधाभिमुख
तया तद्वाराधनाख्यातृत्येवावस्थानं ॥ सपित्तभूय्यादौ दोषाद्वैद्याद्वानिश्चला स्थितिः । कायोत्सर्गे तदोषाः कायममत्वा
रथागो येत्यादिकः । मनोगुते एगादिसहिता स्वाध्याये युधिः । यर्शनस्य शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिश्रंसासंस्त
यादिकः । ज्ञानस्य प्रख्यादिदृष्टिं विनाप्ययनं, पर्यवदादीनां न्यूनाधिकत्वद्वरणं, विपरीतयोर्वोपर्येचना, विपरीतार्थनिरूपणं,
मंथार्थयोर्वैपरीत्यं, संवेदविपर्योसान्ध्यावसाया वा । समीचीषु य च शब्दाद्वयेषु च । शुचीषु य च शब्दास्तपसि च ।
आसादाजणगुहणं भरणकाले परिपहपरान्धात्समित्यदिषु पुनः पुनः संक्लेषा कुर्वतां । एकसं अंतरं अर्द्धगुहलपरिवर्तन
कालमात्रमंतरालं । मरणे रत्नत्रयाच्छयुगाः पुनस्तावति काले अविकान्ये तद्वर्तते इति भावः ॥

जो निष्पत्यको प्राप्त नहीं हुआ है, जिसका चारित्र्य दृढ़ है ऐसा भी मुनि परीपहके मयसे यदि संक्लेष
परिणामी होगा तो उसको दीर्घकाल तक संसारमय रहेगा अतः संक्लेष परिणामोंका त्याग करना चाहिये
ऐसा प्रयत्न करेते हैं।

हिंदी अर्थ-ईर्ष्यामितादि पांच समिति, मनोगुल्यादि पांच युधि, सम्पददर्शन और ज्ञान ऐसे
आत्महितकारक आचरणोंमें जो संक्लेष परिणाम रखते हैं, इनमें जो अविचार लगाते हैं वे मुनि दीर्घकालतक
संसारभ्रमण करते हैं।

विद्येय—यहां कोई आचार्य उपर्युक्त गायार्थों, 'अनंतसंसारिओ होदि' ऐसा शब्द आया है उसका खुलासा करनेके लिये यह गाया है ऐसा कहते हैं. अनंतसंस्थाके अनंत विकल्प होते हैं अतः उपर्युक्त अनंत संसारका प्रमाण दिखानेके लिये यह गाया है ऐसा कोई आचार्योंका कथन है परन्तु यह अयुक्त है. यदि इतना ही अभिप्राय होता तो 'उक्कस्सं अंतरं होदि' इतना ही वाक्य उपयुक्त है ऐसा समझकर गायार्थके तीन चरण व्यर्थ है ऐसा मानना पड़ेगा. अतः पूर्व गायार्थका स्पष्टीकरण और सत्यताका समर्थन करनेके लिये यह गाया है अर्थात् संक्षेप परिणाम रखनेका फल दिखानेका उद्देश इस गायार्थे ग्रंथकर्ताने लिखा है ऐसा समझना चाहिये.

गमन, भाषण, आहार, वस्तु रखना, उठा लेना, मतभूषादिक क्षेपण करना ऐसे कार्यमें श्रुतज्ञानमें—आगममें ऐसी प्रवृत्ति करनेका वर्णन किया है वंसीहि मनुचि रखना उसको समिति कहते हैं. अर्थात् प्राणि हिंसा न हो, उनका संरक्षण हो इस तरहसे प्रवृत्ति करना वह समिति है.

मनवचनकायकी अश्रुम प्रवृत्तीसे आत्माको दूर रखना अर्थात् अश्रुम प्रवृत्तीको छोड़ देना यह गुति है. जीवादितत्वोंपर वयार्थ भ्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है. जिससे विध्यात्वदोष दृष्ट गया है ऐसे जीवको वस्तुके स्वरूपका जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है. उसके यहां मति, धृत, अवधि, मनः पर्यय ऐसे चार भेद मानने चाहिये. ये ज्ञानभेद क्षायोपशमिक हैं. धाविकज्ञानमें आसादना नहीं रहती है. क्योंकि, मोहजल्य संक्षेपपरिणाम और मोहफल फेवलज्ञान उत्पन्न होनेके पूर्व ही वष्ट होते हैं. 'मोहध्वज्याज्ञानदर्शनावरणान्तरायश्चायं केवलं' ऐसा सूत्रफार उमास्थामीका भी वचन है. इसवास्ते यहां केवलज्ञानका ग्रहण नहीं किया है. वीतराग सम्यग्दत्वका भी यहां ग्रहण नहीं किया है क्योंकि वह भी मोहका नाश हुये बिना होता नहीं.

ईयांसमितीके अतिचार—सूर्यके मंदप्रकाशमें गमन करना, जहां पांव रखना हो वह जगह नेत्रसे अच्छी तरहसे न देखना, इतर कार्यमें मन लगना इत्यादि.

मायासमितीके अतिचार—यह भाषण बोलना योग्य है अथवा नहीं इसका विचार न कर बोलना. वस्तुका स्वरूपज्ञान न होनेपर भी बोलना. ग्रंथांतरमें भी 'अपुहो दु ण मासेज्ज मासमाणस्स अनेरे' कोई मनुष्य बोल रहा है और अपनेको प्रकटण, विषय मादृश नहीं है तो बीचमें बोलना अयोग्य है. जिसने धर्मका स्वरूप सुना

नहीं अथवा धर्मस्वरूपका जिसको पूर्णतया ज्ञान नहीं है ऐसे सुनिको अपुष्ट कहते हैं। भाषासमितिका क्रम जो जानता नहीं वह मीन धारण करे ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना। इस तरह भाषासमितिके अतिचार है।

एषणासमिति के अविचार, ऐसे आधारस्त्री प्रयत्नासा करनेवालोंके साथ रहना, प्रयत्नासादि कार्यमें दूसरोंको प्रवृत्त करना, उनकी प्रयत्नासा करना, ऐसे आधारस्त्री प्रयत्नासा करनेवालोंके साथ रहना, प्रयत्नासादि कार्यमें दूसरोंको प्रवृत्त करना।

आदाननिक्षेपणसमिति के अविचार—जो चीज लेनी है अथवा रखनी है वह लेते समय अथवा रखते समय इसमें जीव है या नहीं इसका सवाल-ध्यान नहीं रखना। तथा अच्छी तरहसे जमीन व वस्तु स्वच्छ न करना।

प्रतिष्ठापन समिति के अविचार—शरीर व जमीन पिच्छिकासे न पोछना, मलमूत्रादिक जहाँ क्षेपण करना है वह स्थान न देखना।

मनकी एकाग्रता बिना शरीरकी चेष्टायें बंद करना काण शुभिका अतिचार है। जहाँ लोक भ्रमण करते हैं ऐसे स्थानमें एक पाव उपर कर खड़े रहना, एक हाथ उपर कर खड़े रहना। मनमें अशुभ संकल्प करते हुए अनिश्चल रहना। आत्माभास-शरीरादिक की शक्तिका सामने मानो उसकी आराधना ही कर रहे हैं इस दंगसे खड़े रहना या बैठना। सचित्त जमीनपर जहाँ कि वीज अंडुरादिक पड़े है ऐसे स्थलपर रोपते, वा दर्पसे निश्चल बैठना अथवा खड़े रहना। ये कायगुती के अतीचार हैं। कायोत्सर्गकी भी गुप्ति झूठे हैं अतः शरीरसमताका त्याग न करना, किंवा कायोत्सर्गके दोषको न त्यागना ये भी कायगुती के अतिचार हैं। रागादिविकार सहित स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना, मनोगुप्तिके अतिचार हैं।

दंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि मर्दसा, संस्तव ये पांच सम्यग्दर्शनके अविचार हैं। इसका सुलसा आगे आचार्य करेंगे।

द्रव्य शुद्धि, काल शुद्धि, मात्र शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि इन शुद्धिजोंके बिना शास्त्रका पठन करता यह भुतातिचार है। अक्षर, शब्द, वाक्य, चरण इत्यादिकोंको कम करना, बदना, पीछेका संदर्भ आगे लेना, आगेका पीछे करना, निपरीत अर्थका निरूपण करना, ग्रंथ व अर्थमें विपरीतता करना ये सब ज्ञानातिचार हैं। संदेह, विपर्यय, अनध्ययसाय ये भी ज्ञानके अविचार हैं। उपर्युक्त अतिचारोंसे समितिगुण्यादिक रहित होनेसे चारित्रादिकोंमें निर्मलता आती है।

इदानीन्माराधनाफलतितिशयक्यापनाथाह—

दिष्टा अणादिभिच्छादिष्टी जह्या खणेण सिद्धा य ॥

आराह्या चरितस्स तेण आराहणा सारो ॥ १७ ॥

चारित्राराधने सिद्धाच्चिराभित्यात्वभाविताः ॥

क्षणादृष्टा यतः सूत्रे चारित्राराधना ततः ॥ २० ॥

विक्रयोत्रया—विष्ठा दद्यादिकं । विष्ठा दद्या उपलब्धाः । अणादिभिच्छादिष्टी अनादिमिथ्यारूपः । भक्षणादयो राजपुत्रास्तास्मिन्नेव ग्रये प्रसतामापन्नाः अत एवानादिमिथ्यारूपः प्रथमजिनपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः । जह्या यस्मात्क्षणेन क्षणप्रभूणे फालक्ष्याशयाद्योपलक्षणार्थम् अन्यथा खणस्यात्यकालतया कर्मशातनस्य कर्तुमशक्यत्वात् सकलकर्मशातनपुरस्सरं सिद्धावमेव न द्यात् । सिद्धा य सिद्धाश्च परिग्रामाशेषजानादिसमाधाः, अशब्देन निरस्तद्रूप भावकर्मसंहृतयश्च, दद्या आराधनासंयावकाः । चरितसरस चारित्रस्य । चारित्रग्रहणं रत्नत्रयोपलक्षणं । एतेन चारित्राराधनां स्तौति इत्येतद्व्याख्यानं निरस्तं । चारित्रादाधनारतयस्य नायं प्रस्तावः । आयुरंते रत्नत्रयपरिणतिरिह प्रकांतं स्तौतुं, किमुच्यते चारित्राराधनां स्तौतीति ।

एवं मरणसमये रत्नत्रयविराधनाया दोषे प्रकाश्येदानीं तद्वाराधनायाः फलतिसत्यं प्रकाशयति—

मूलारा—अणादिभिच्छादिष्टी अनादिकालं मिथ्याद्योदयोद्वेफान्नित्यनिमोषयोयमनुभूय भरतस्यार्कणः पुत्रा भूत्वा भद्रवि-
बद्धेनादयक्योर्विश्रव्यविक्रमप्रशस्तं तयाः पुत्रैश्चपादमूले श्रुतधर्मसाराः समारोपितरत्नत्रयाः खणेण अल्पकालेनैव सिद्धा य
सिद्धाः संश्रान्तं ज्ञानादिरासमाकाशान्दाग्निररतद्रव्यभावकर्मसंहृतयश्च । चरितस्स रत्नत्रयस्य । तेण तेन कारणेन
आराहणा आयुरन्ध्रे रतनत्रयपरिणतिः । सारो सर्वोपरणानां परमावरणम् ।

मरणकालमे रत्नत्रयपरिणति न होनेसे दीर्घकालपर्यंत संसारअमण करना पड़ता है इस दोषका वर्णन किया. अब आराधनाके फलका माहात्म्य कहनेके लिये ग्रंथकार कहते हैं—

।हिंदी अर्थ—चारित्र्यकी आराधना करनेवाले अनादि मिथ्यादृष्टी जीव भी अल्पकालमें संपूर्ण कर्मोंका नाश करके मुक्त हो गये ऐसा देखा गया है, अतः जीवोंको आराधनाका अपूर्व फल मिलता है, ऐसा समझना चाहिये.

माधारी—अनादिकालसे मिथ्यात्वका तीव्र उदय होनेसे अनादिकाल पर्यंत चिन्होंने नित्य निगोदपर्यायका अनुभव लिया था ऐसे नउछे तेवीस जीव निगोदपर्याय छोड़कर मरत चक्रवर्तिके मद्रविवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे. उनको आदिपुनवानके समवसरणमें द्वादशांग वाणीका सार सुननेसे वैराग्य होगया. ये राजपुत्र इसही सबसे व्रतपर्यायको प्राप्त हुये थे. इन्होंने जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधनासे अल्पकालमें ही मोक्ष लाभ किया. अर्थात् मरणसमयमें इन्होंने रत्नत्रयकी विराधना नहीं की इसलिये उनको आराधनाका उत्कृष्ट फल-मोक्ष प्राप्त हुआ. ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टिओंका भी रत्नत्रयसे सर्व कर्म नष्ट होता है व अनेक ज्ञानादिगुणरूप सिद्धत्व प्राप्त होता है.

माधामें 'चारित्र्यस य आराहया' यह शब्द है. चारित्र्यका अर्थ यहाँ रत्नत्रय ऐसा समझना चाहिये. अतः 'चारित्र्याराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा कोई व्याख्यान करते हैं उनका खंडन हो गया. क्योंकि यहाँ चारित्र्याराधनाका महत्त्व वतानेका प्रसंग नहीं है. आयुके अंतमें रत्नत्रय परिणामकी विराधना नहीं करना चाहिये यह अभिप्राय इस ग्रंथमें कहा है. अतः 'चारित्र्याराधनाकी स्तुति करते हैं' ऐसा व्याख्यान करना योग्य नहीं है.

'साधरस पवणरस य सारो आराहणा उक्षा' इति बहुच्यते, वस्तिश्रेय काले मरणं तस्मिन्नेव काले रजश्चपरिणतेन भास्यं दितायिना अन्यदा किमिति चारित्रे तपसि च प्रयासः क्रियते इति शिष्यशेकमुपपन्नस्यति सूत्रकारः—

जदि पवणरस सारो मरणे आराहणा हवदि विष्टा ॥
किं दाइं सेसकाले जदि जददि तवे चरित्ते य ॥ १८ ॥

मृतावाराधनासारो यदि प्रवचने मनः ॥
किमिदानीं सदा यत्नश्चतुरंगे विधीयते ॥

विज्ञयोदया—अदि एतयणस्स इत्यादिना । पवणयस्स प्रवचनस्य । सारो अतिशय इति । मरणे आयुरते । आराहणा आराधना रत्नत्रयपरिणतिः । अदि दिष्टा इति पदसंबन्धः ययुल्लभ्या । इवदि भवेत् । किंदाई निमिदानीं । सेसफाले मरणकालादन्यः कालः शेषकालस्तत्र अवदि प्रयत्नं क्रियते । न तवे तपसि । चरित्से सामायिमादिने सत्त्वयन्त्रियापरिहारात्मके । चत्तान्द्यात् क्षानदर्शनयोश्च । एतदुक्तं भवति—ग्रहणकालादिषु भावित-रत्नत्रयस्यापि मरणे तदभावे यदि न सिद्धिः, अरुतभावनस्यापि मृतौ रत्नत्रयसांनिध्यादस्या सिद्धिर्यदि भवति मरण-कालपर्यन्तरत्नत्रयमेव नियोजित्विरित्यापन्नं ततश्च शेषकाले प्रयासो विफल इति । अस्योत्तरं—मरणे या विरा-धना सा महर्त्ता संवृतिभाववदिति । अन्यदा जातायामपि विराधनायां मृतिकाले एतत्रयोपगतौ संसारोच्छिन्नमयत्वेव ततो मरणकाले प्रयत्नः कार्य इत्यस्माभिरुपन्यस्तं । इतरकालवृत्तं तु रत्न-त्रये संस्वरनिर्जरोद्योत्तिकर्मणां च क्षयकारणनिमित्तं इतीष्यत एव । तथा चोक्तं—‘सम्यन्ददिध्यावकविरतान्तधियोज-कदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिताः क्रमशो ऽसंख्येयगुणनिर्जराः’ इति एतेषामसंख्यावयुगुणनिर्जरा सम्यक्दर्शनविरिगुणनिमित्तान्तरकथनफलता ।

अत्राह विष्णुः—

मूलारा—किं दाई किमिदानीं । सेसकोल मरणकालादन्यत्र ग्रहणशिक्षाप्रवित्सिनाभावनासेहसनाफालेखि-त्यर्थः । अविक्रदि यत्नः क्रियते । चरित्से य च रुच्यवृत्ताने दर्शने च । इदमत्र तात्पर्यं ग्रहणादिषु भावितेऽपि रत्नत्रये मुनावभाविता इदि सिद्धिर्न स्यादन्यदा तदभावेऽपि मरणे तत्परिणतौ सा स्वात्तदा सान्यदा मयैव भवेत् । मरणकालव-र्तिन एव रत्नत्रयस्य निर्वाणहेतुत्वापत्तेः । अत्रोच्यते—मृतौ विराधनां महर्त्ता संसृतिभावहृत्यन्वदा पुनर्जातायामपि तस्यां मृतावाराधनायां भयोच्छेदो भवत्येव । ततो मरणे तत्र प्रयतितव्यमित्यस्माभिरुपन्यस्तम् । ग्रहणादिकालभावितां ॥ रत्नत्रय-मन्त्रमन्त्रदेहस्य अष्टुपकर्मणां संस्वरनिर्जरयोश्चरमन्त्रदेहस्य च याविकर्मक्षयेऽपि निमित्तमित्येतेऽपि एव । तथा चोक्तं—सम्यग्द-दिभावकविरतान्तधियोजनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिताः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ इति । तदुचोचमचोदि त्वया ।

सर्वं द्वादशांगका सार आराधना है, ऐसा आपने कहा है, अतः मरण कालमेंही हितायीं पुरुषको रत्नत्रयकी आराधना करना योग्य है, अन्य कालमें चारित्र और तपमें क्यों प्रयास किया जाता है, ऐसी शिष्यकी शंका आनेके, माथामें आचार्य प्रगट करते हैं—

हिंदी अर्थ—आगमका सार ऐसी रत्नत्रयपरिणति मरण कालमें यदि होती हुई देखी जाती है तो मरणकालसे भिन्न कालमें अर्थात् दीक्षा ग्रहण, शिक्षा ग्रहण, गण पोषण, आत्म संस्कार इत्यादि कालमें चारित्र और तपश्चरणमें मयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् अनशनदिक तप, सामायिकादिक चारित्र और सम्पद्दान, सम्पद्दर्शन इन्हीं प्रवृत्ति करता व्यर्थ है. दीक्षा, शिक्षा वगैरे कालमें रत्नत्रयकी आराधना करने पर भी मरणकालमें यदि रत्नत्रयकी आराधना न हो तो सिद्धिप्राप्ति नहीं होती है. और यदि अन्यकालमें रत्नत्रयभावना नहीं की और मरणकालमें रत्नत्रयाराधनासे मोक्ष प्राप्त हो गया तो मरणकालीन रत्नत्रयही मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध होता है. अतः द्वैपकालमें रत्नत्रयाराधना करना निष्फलही है, प्रथम भावही है.

इस शंकाका उत्तर—मरणसमयमें रत्नत्रयकी विराधना करनेसे विराधकको दीर्घ कालवक संसारमें भ्रमण करना पड़ता है. परंतु दीक्षादि कालमें विराधना होगई हो तो भी मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जानेसे संसारका नाश हो जाता है अतः मरणकालमें रत्नत्रयमें परिणति करनी चाहिये ऐसा हमारा अभिप्राय है. इतर कालमें रत्नत्रयाराधना की तो यह विफल नहीं होती है. उससे कर्मका संवर और निर्जरा होती है. तथा याति कर्मका क्षय करनेमें यह निमित्त होती ऐसा हम समझते हैं. “सम्पद्दिशालकविरतानंतवियोजकदर्शनमोह क्षपरोपशान्तमोहक्षपकशीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः” सम्पद्दष्टि, श्रावक, विरत इत्यादिक व्यक्तियोंको सम्पद्दर्शनादि गुणोंसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुण रूपसे निर्जरा होती है ऐसा यत्नकार उभास्याम्याचार्य कहते हैं. अतः दीक्षा शिक्षादि कालमें रत्नत्रयाराधना ध्वर्य नहीं है. श्राविक सम्पद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यत्न तब साध्य इतर कालीनभावनासे भी प्राप्त होते हैं अतः व्यर्थ नहीं है. अतः तुम्हारे प्रश्नके अनुसार भी शंकाका परिहार करना शक्य है. यही वाच आगेके गायामें दिखते हैं—

श्राविक सभ्यपत्यं सानं चारित्रं च यत्साध्यं तदपि लभ्यताव्यत एव इतरकालवृत्त्यापि भावनया । तदेव बोधं वोपते इति चेत्तसि इत्या क्षुरिचोपातुक्षोणेपि परिहर्तुं नुम्यते इत्याचष्टे ॥

आराहणापु कञ्चे परियम्मं सब्बदा वि कायब्बं ॥

परियम्ममाविदुस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ ॥ १९ ॥

परिकर्म विधातव्यं सर्वदाराधनार्थना ॥
मुसाध्याराधना तेन भावितस्य प्रजायते ॥ २२ ॥

विष्णवेत्या—आराधनाए कळजे इति । आराधनाशब्दः सम्यग्दर्शनादिपरिणामसंसिद्धिमनाश्रितकालभेदां प्रतिपादयितुं उच्यतेऽपि मरणे विराजयित्वा इत्यत्र मरणकालविशेषस्य प्रस्तुतत्वाद् प्ररुणानुत्तेजेन तद्विरयायमेवाराधनार्थां प्रयुक्तो गृह्यते । ततोऽयमर्थः—सृष्टिकालोत्तररत्नत्रयसिद्धयर्थं परियमं परिकर्म । सन्ध्या सर्वसिद्धिप्राप्ते—प्रदूषणकालः, शिक्षाकालः, प्रतिस्वनाकालः संक्षेपनाकालश्च । सर्वशब्देन गृह्यते । करणिज्जे अवश्यकरणीयं । कुतोऽयं नियोग इत्याशङ्क्याद्—परिकर्ममाविदस्स खु परिकरेण भावितस्यैव खु शब्दोऽवधारणार्थः । सुखसल्ला होवि सुखेन क्लेशान्तरेण साध्या भवति । का आराधना आराधना सृष्टिगोचरा ॥

तथापि तदनुसारेणापि परिकर्तुं शक्यते इतीवमुच्यते ।

मूळारा—आराधनाए कळजे—सृष्टिकालोत्तररत्नत्रयसंसिद्धयर्थं । परियमं—परिकरः सम्पत्कलाद्यनुष्ठानं । सन्ध्या वि—दीक्षाशिक्षागणपौषणात्मसंस्कारसंक्षेपनाकालेषु । करणिज्जं अवश्यमेव कर्तव्यम् । खु एवार्थे परिकर्मभावितायैवेत्यर्थः । येन हि यत्साध्यं तेन तत्पूर्वं परिकरो नियेज्यः ।

हिंदी अर्थ—मरणसमयमें रत्नत्रयकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शनादि साधनकलापकी अवश्य प्राप्ति कर लेना चाहिये. अर्थात् दीक्षा, शिक्षा, गणपौषण, आत्मसंस्कार, संक्षेपना इत्यादिकालमें सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति कर लेना कर्तव्य है. जिसने दीक्षादिकालोंमें सम्यग्दर्शनादिको भी अच्छी भावना-अभ्यास की है उसको मरणसमयमें बिना क्लेशके रत्नत्रयाधना सिद्ध होगी.

येन हि यत्साध्यं तेन पूर्वं तस्य परिकरोऽनुष्ठेय इत्यमुं अर्थं दृष्टांत्यलेन साधयितुमुत्तरसल्लम् । तथा च यदंति 'दृष्टांतसिद्धाद्युभयोर्विधादे साध्यं प्रसिद्ध्येव' इति ।

जह् रायकुलपसूओ जोगां पिचमवि कुणइ परिकम्मं ॥

तो जिवकरणो जुद्धे कम्मसमत्यो भविस्सदि हि ॥ २०

विजयोदया—जह यथा राजकुलपक्षो राजपुत्रः । जोनां योग्यं । प्रहरणक्रियायाः परित्यग्नं परिक्रमं परिकरं । विजयमपि समरकालात्प्रत्यतिदिवसमपि । कुण्दि करोति । तो ततः पश्चात् । निदकरणे कियंते रूपादिगोचरा विद्वत्सदृशमिति करणानि इन्द्रियाण्युच्यंते कचित्करणशब्देन । अन्यत्र क्रियानिष्पत्तौ यवतिशयितं साधकं तत्करणमिति साधकतममाश्रय्यते । क्वचित्तु किंशसायान्यवयवः यथा पुरुषं करणे इति । अत्र क्रियायाची गृहीतः । जितराजद्वय स्ववशीकरणशुक्तिस्तथा जितनायः स्ववशीकृतसर्वः इति गम्यते । तेनावयवः स्ववशीकृतक्रियः सन् बुद्धे युद्धे समरे । कम्मसमर्थो कर्मसमर्थः । कर्मदात्रो उक्तेः । मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाथैर्ब्रह्मतिवंधाविसामर्थ्यासितानि कियंते इति कर्माणि ज्ञानपरणादीनि । कर्तुः क्रियाया व्यापकत्वेन विनाशितमपि कर्म, यथा कर्मणि क्षितीयेति । तथा क्रियायवन्नोऽपि मस्ति, तौ कर्म करोति ? कौ क्रियामित्यर्थः । इह क्रियायाची गृहीतः । सा यात्र क्रियाऽव्यवचनप्रहरणताडनादिका सस्यां, समर्थो भविस्त्विति समर्थो भविष्यामीति ॥ यो यत्तापयितुं बांछति स तत्परिकर्मणि प्राक् प्रयत्ने, यथा रिपुनिहन्तुनामो हननकर्मोपायं भज्यदिशं करोति इत्येतायामर्थोऽन्यथा ग्राह्या दर्शितः ।

कोऽत्र दृष्टान्त इति चेदुच्यते—

मूलारा—जोनां युद्धयोग्यं । गिच्छन्मयि युद्धकालात्मात् प्रतियवसयि । परित्यग्न श्लाघन्यासं । तो पश्चात् । निदकरणे स्ववशीकृतक्रियाः सन् । कम्मसमर्थो व्यपनादिकार्यक्षमः । भविस्त्विति अहं भविष्यामीति मत्वा ।

जित पुरुषको जो कार्यं मिद्व करना है वह उसके कारण फलापका संग्रह करे इस अर्थको दृष्टांत यलसे मिद्व करनेके लिये आगेका सूत्र है, यादी प्रतिगदीके निवादसमयमें दृष्टांतके द्वारा साध्यकी सिद्धि होती है, इस न्यायसे प्रस्तुत आराधनाकी सिद्धिके लिये आचार्य दृष्टांतप्रदर्शन करते हैं—

हिंदी अर्थ—जैसा राजपुत्र शस्त्रविद्याके साधनभूत कारणसामग्रीका नित्य अभ्यास करता है अर्थात् युद्धके पूर्वकालमें दस्तेज शस्त्रोंका अभ्यास करता है, उसके मग्रासे वह शस्त्रविद्यामें पूर्ण स्वाधीनक्रिय होता है, अर्थात्-निपुण होता है जिससे युद्धमें लक्ष्यभेद, शब्दभेदादिकार्य करनेमें वह समर्थ होता है, उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका हमेशा अभ्यास करनेसे मरणकालमें रत्नवय मिद्व करेंगे,

विशेष—गाथामें जितकरणो यह शब्द है, यहाँ करण शब्दके अनेक अर्थ हैं, रूपादिविषयको ग्रहण करनेवाले ज्ञान जिनसे उत्पन्न होते हैं वे करण हैं, अर्थात् करण शब्दका इन्द्रिय ऐसा अर्थ होता है, इन्द्रियोसे रूपादिक पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न होता है, कार्य उत्पन्न करनेमें फलोंको जो अतिश्रम सहायक होता है उसको भी करण अर्थात् साधकत्वम कहते हैं, जैसे देवदत्त कुल्हाड़ीसे लकड़ी काटता है, कुल्हाड़ीके बिना लकड़ीका काटना देवदत्तसे असंभव है अर्थात् लकड़ी काटनेमें देवदत्तको कुल्हाड़ी अतिश्रम मदत करती है अतः यह करण साधकत्वम कहलावेगी, करण शब्दका फलों कहां कहां सामान्यक्रिया ऐसा भी अर्थ माना है, यथा डुकुञ्च करणे, प्रस्तुत प्रकरणमें करण शब्दका क्रिया ऐसा अर्थ है, 'जित' शब्दका जर्ज अपने ताथेमें रखना, पूर्णहस्तगत करना ऐसा है, जैसे—जितभार्यः स्ववशीकृतभार्यः अर्थात् जिसने पत्नीको अपने स्तरीयन रक्खा है ऐसा मनुष्य, प्रस्तुत प्रकरणमें 'जितकरणो स्ववशीकृतक्रियः' अर्थात् कुल्हाड़ीको घुमाना, लक्ष्यमद करना इत्यादि क्रियाओंमें निपुण उसमें न चुकनेवाला ऐसा समझना चाहिये, 'कम्मसमत्थो' इस समस्त शब्दमें कम्म शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषायोंके द्वारा जो ज्ञानादिक गुणोंको प्रतिबद्ध करनेके सामर्थ्यसे युक्त किये जाते हैं उनको कर्म कहते हैं, अर्थात् ज्ञानावरणादिकोको कर्म कहते हैं, कर्ताकी होनेवाली क्रियाके द्वारा जो व्याप्त होता है उसको कर्मकारक कहते हैं, कर्मकी व्याकरण शास्त्रमें द्वितीया होती है, जैसे सूत्र—'कर्मणि द्वितीया', 'घटं करोति देवदत्तः' इस वाक्यमें देवदत्त कर्तृत्व क्रियासे घटको व्यापता है, अर्थात् घट कर्तृत्वक्रियासे व्याप्य होता है, कर्म शब्दका 'क्रिया' ऐसा भी अर्थ है, यहाँ कर्म शब्द क्रियावाची समझना, जैसे 'किं कर्म करोषि' 'तू जोनसा कार्य करता है?' 'कम्मसमत्थो' इसका अर्थ—हुट जाना, प्रहार करना, ठोकना इत्यादि कर्म शब्दका अभिप्राय यहाँ समझना चाहिये.

जो जिस कार्यको साधनेकी इच्छा रखता है वह उसके साधनभूत सामग्रीमें प्रथम प्रयत्न करता है, जैसे शत्रुको मारनेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य मारनेकी साधन भूत शस्त्र विद्या पढ़ता है उसी तरह मुनि भी आराधनाओंका अभ्यास करके मरण कालमें रत्नत्रयकी प्राप्ति कर लेते हैं.

त्रिचिधधर्माणसहायमाचष्टे । कश्चित्संप्रथमावचनः 'अस्यानेन योग' इति । काचिद्व्यानवचनः यथा 'योगस्थित' इति । दृष्टार्यं परिगृहीतः । ततो ध्यानपरिकरं करोतीति यावत् । रागद्वेषभिर्यासांशैर्यष्टं अर्थयाथास्यस्पर्शं प्रतिनिवृत्त विपर्यंतरसंचारं ज्ञानं ध्यानमियुज्यते । अभावितसमानभावोऽनभिधगतवस्तुसद्भावश्च ध्यातुं न क्षमते इति भावः । ते ततः पञ्चाङ्गितकरणो इत्यत्र करणशब्दः अंतःकरणे भवासि वर्तते ततोऽयमर्थः । स्ववशीकृतचित्तोऽहं मरणे प्रथपर्यायनाशनेत्यायां । ज्ञानसमर्थो ध्यानस्वैकाग्रचित्तानिरोधस्य । ध्यानशब्दोऽत्र प्रशस्ताध्यानविषये प्राप्नोना शुभ-
योर्नारकतियोगतिनिवर्तनप्रयणयोः । योगे परिकर्मणि सदात्मनः प्रवृत्तत्वात् अयत्नसाध्यता । धर्मशुक्रयोर्निवर्तने समर्थो शक्रः भविस्संति भविष्यामीति ॥

यो यच्चिधर्मावति स तत्परिकर्माणि प्राक् प्रवर्तते । यथा रिपुजिघांस्तुल्लङ्घनक्रिययोग्यायामरुशिक्षावामिति दर्शयित्वा इदानीं हेतोः पक्षधर्मत्वयोजनायाह—

मूढारा—इय एवं । साम्णं अवितमरणाविषु समानस्य भावस्तात् समचरितत्वं, आमण्यं वा चारित्रमित्यर्थः । जोगपरिदम्भं सद्वानपरिकरं तथा चोक्तं—

सैतत्वागः कपावाणां निमटो व्रतधारणं ॥

मनोऽक्षाणां अयश्चेति सामग्री ध्यानजन्यमनः ॥

लिट्करणो स्ववशीकृतमनाः । करणं ह्यध्यान्तःकरणम् । स्ववशीकृतचित्तेन्द्रिय इति वा ग्राह्यम् । ज्ञानात्मनस्तथो प्रमंशुक्लज्यनिसमर्थः ॥

यही आशय आगेकी गाथामें आचार्य स्पष्ट करते हैं—

हिंदी अर्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ, शत्रु, मित्र, दुःख इन चीजेंमें रागद्वेष रहित होना इसको समता कहते हैं, यह समता ध्यानाभ्यास करनेमें सहायक होती है, जो ऐसी समता हमेशा धारण करते हैं, जिन्होंने मन और इंद्रियोंको अपने आधीन रखवा है अर्थात् जो वितेंद्रिय और जितचित्त हैं वे साधु मरणसमयमें दुर्गति अर्थात् तरफ तिर्यग्गतिको दूर करनेवाले ऐसे धर्म व शुक्ल ध्यान करनेमें समर्थ होंगे।

विशेषार्थ—जीवित, मरण, लाभ, अलाभ इत्यादिको जो आत्मा रागद्वेष रहित है उसको समान कहते

है, ऐसे ममान आत्माका जो स्वभाव उमको सामान्य अर्थात् समता कहते हैं, 'ममान' इस शब्दकी प्रवृत्ति जीवमें होनेका कारण समता है, अर्थात् जिवमें समता है उसको समान कहते हैं, जीवित मरण, लाभ अलाभ, सुख दुःख, वंपु व गुनु इनमें अर्थात् जीवित, लाभ, सुख, वंपु इनमें समभाव करना और मरण, अलाभ, दुःख और गुनु इनमें द्वेष-अप्रीति रखना यह असमानता है, इस असमानताका त्याग करना ही समता है, जीवित मरण इत्यादिको यथार्थ स्वरूप समझनाही समता है, परंतु उममें प्रीति व अप्रीति करना यह समानता नहीं है, इतिहादि प्राणोंको मारण करना यह जीवित शब्दका अर्थ है, परंतु इतिहादिप्राणोंका अस्तित्व आयुक्रमके आधीन है, यह आयु जन तक रहेंगी तब तक जीवित टिक सकता है, यह जीवित मेरे आधीन नहीं है, क्योंकि जीवितच्छा होकर भी प्राण चले जाते हैं, नर्व जगतके प्राणी हमेशा प्राण रहे ऐसी इच्छा करते हैं परंतु आयुका वियोग होनेसे प्राणोंका निर्गमन होता ही है उमको वे रोकनेमें असमर्थ हैं.

२. मरण— इतिहादि प्राणोंमें आत्माका अलग हो जाना मरण है, अर्थात् प्राणोंका त्याग होना मरण है, 'मृद्' प्राणरसमे 'पेसा' मृद् धातुका अर्थ है, प्राणोंका त्याग अर्थात् आत्मासे प्राणोंका वियोग होना, आत्मासे उनका अलग होना, आयुक्रम संपूर्ण चल जानेमें प्राणोंका वियोग होता है, विप, स्रव, बाण इत्यादि प्राणहारक पदार्थोंका नयोग होनेसे द्रव्यत्रियोषा नाश होता है, ज्ञानोपयोग दशमोपयोग ये भाव प्राण हैं, विप मृत्तादिकोंका नयोग होनेमें ज्ञानदर्शनादि आभरण कर्मका उदय होता है, जब इन कर्मोंका उदय होता है तब लब्धिका विनाश हो जाता है, वीर्यांतराय कर्मका उदय होनेसे पायबल, बचनबल, और मनोबल इनका नाश होता है, मुख बंद करनेमें, नाक बंद करनेमें तथा श्लेष्मादिकोंमें उच्छ्वासनिग्राम प्राण नष्ट होते हैं.

लाभान्तराय कर्मका ध्येयप्राप्त होनेसे इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होती है, तथा लाभान्तरायका उदय होनेसे अलाभ होता है, प्रीतिरूप परिणामको सुख कहते हैं यह प्रीति परिणाम जीवमें साता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है, इष्ट पदार्थ पाय होनेमें मनुष्यको आनंद होता है, अन्तरंग कारण साता वेदनीयका उदय और चहिरंग कारण इष्ट रश्तुकी प्राप्ति इन दोनोंमें जीवमें प्रीति उत्पन्न होती है.

पीडा रूप परिणामको दुःख कहते हैं, वह अमाता वेदनीय कर्मके उदयमें जीवमें प्रगट होता है, संसारमें मरण करनेमाले जीवके कोई नियत बांधन नहीं है, जिसके तपर यह जीव उपकार करता है वह

जीव उपकारकर्ता पंशु होता है यदि जीव अपकार करे तो वही चंशु शत्रु हो जानेमें देर नहीं लगती, शत्रुओंके
 उपर भी यदि हम अशुभ-उपकार करेंगे तो ये भी हमारे शत्रु होते हैं, स्नेह सर्व असंयमका मूल कारण है, इस
 स्नेहके भी-यु कारण होते हैं अर्थात् चंशु असंयमके कारण हैं, ये वाधवगण सन्मार्गमें प्रवृत्त हुये जीवके विरोधी
 नन जाते हैं अतः ये चाधव महाशत्रु हैं ऐसा समझना, पुण्यके उदयसेही जीवकी सर्व प्रकारके सुख मिलते हैं,
 सुखदायक-वस्तुओंका उसको समग्रपण होता है परंतु पुण्यरहित जीवकी सुखदायक पदार्थोंका संयोग होने पर भी
 सुख नहीं होता है, असाता वेदनीय कर्मका उदय हो तो पुत्र माताका त्याग करता है, अथवा माता भी पुत्रको
 त्यागती है, यदि असाता वेदनीय कर्मका उदय न हो तो बाह्य-शत्रु जीवकी कुछ भी पीडा नहीं दे सकेगा, इस तरह विचार
 अंतस्ममें असाता वेदनीय कर्मका उदय न हो तो बाह्य-शत्रु जीवकी कुछ भी पीडा नहीं दे सकेगा, इस तरह विचार
 करना; यह समता है, यह सयता योगप्रतिकर्म है अर्थात् शुभध्यान और शुक्रध्यान उत्पन्न होनेमें कारण
 है, योगपरिकर्मी इस समस्त शब्दमें जो योग शब्द है उसके अनेक अर्थ हैं, जैसे-‘योगनिमित्तं ग्रहणं’ यहाँ
 मनीषर्गणा, वचनवर्गणा व कायवर्गणा इनके आश्रयसे जो आत्मप्रदेशमें वंचलता उत्पन्न होती है वह योग
 शब्दसे वाच्य होती है; योग शब्दका संबंध ऐसा भी अर्थ होता है; जैसे-इसका इसके साथ योग है, अर्थात् संबंध
 है, योग शब्द काही कभी ध्यानप्राप्तक भी है, जैसे ‘योगस्थितः’ अर्थात् मुनि ध्यानमें स्थिर है, प्रस्तुत प्रकरणमें
 योगका अर्थ ध्यान ऐसा मानना चाहिये राग द्वेष, और मिथ्यात्वसे रहित, पदार्थके यथार्थ स्वरूपको स्पर्श करने-
 वाला अर्थात् जाननेवाला तथा विषयात्तरसे रहित, एक विषयमें ही स्थिर होनेवाला ऐसे ज्ञानको ध्यान कहते हैं,
 जिसने समताका अन्याय नहीं किया है, और जिसको वस्तुका सत्यस्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा पुरुष ध्यान
 करनेमें असमर्थ है ऐसा समझना चाहिये, जिसने अंत करण बद्ध किया है, वह मुनि मनुष्यपर्यायका नाश
 होनेके समयमें अर्थात् मरणकालमें धर्मशुक्रध्यानमें मैं समर्थ होऊंगा ऐसा समझकर दमैशा समताका अभ्यास
 करता है, यद्यपि गार्थामे ‘उद्गाथसमस्तो’ इस समस्त शब्दमें ध्यान शब्द सामान्य ध्यानका वाचक है तथापि
 यहाँ प्रशस्त ध्यानका वाचक समझना चाहिये, अर्थात् धर्म व शुक्र ये दोन ध्यान प्रशस्त है तथा आर्त और राद
 के दो ध्यान अशुभ है,

रत्नपरिकरो राजपुत्रो व्यवधानदिकामु नित्यामु उपगतकौशलः क्रियां प्रहरणादिकां संषाद्य यथाफलं प्राप्नोति प्रति प्लवत्तरमाथवाचये—

जौगाभाविदकरणौ सच्च जेदृणं जुद्धरंगम्मि ॥

जह सो कमरंगछो रखवढायं बला हरदि ॥ २२ ॥

कृत्वा योग्यक्रियां युद्धे जगतीपतिर्वहजः ॥

आदत्ते विद्विषो जित्वा यलाद्राज्यध्वजं यथा ॥ २५ ॥

विजयोदया—जोनाभाषिदि दसनया । ओयमाविदरणो पठिकर्मणा असकृत्प्रवर्तितपथगतलडनमहुरणादि-
कियः । नाभाषिग इत्यभाष्ट धुराद्यै न्युक्तः । तथा च प्रयोगः—आधुमितं भृशं धूमेन परिपूर्णमित्यर्थः । सप्त
राक्षसं । जनेन जित्वा । सुहृत्तन्मि युद्धाय संस्तुतो देवो युद्धरंगमित्युच्यते तत्र । अहं यथा । सो त्वं
भाषितायां । कुमात्मनो प्राणिनां कादरुतोऽप्यस्याविशेषो द्वितीयः कुमात्स्वं नाम । तथोगाद्राजपुत्रः कुमारः स
एव महः । रक्षपडागो रोम्यध्वजः । धेला यत्नोत्करेण । हरदि हरति । युद्धार्ति । युद्धार्ति ॥

प्राक् परिहर्तव्यमाधनायाः फलं दृष्टान्ते प्रवृत्त्यै 'राष्ट्र'नितके योजयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलारा-जोगान्माधिदकरफो ओगयथा परिकर्मणा भाविबमंसकृत्रयवित्तं कर्णं न्यघनादिक्रिया येत् । जुद्धरंगमिम
पुत्रार्थी मन्त्रेण वेदे । रजंपदांयं रागयधत्तं । यंला बर्लाकर्णेण । इरदि गुहावि प्रत्यानयतीत्यर्थः ।

जिम्ने शैलविद्याकी सामग्रीका खूब अभ्यास किया है ऐसा राजपुत्र लक्ष्मणचंद्रिका किया करनेमें बहुत हो जाता है और शत्रुको मारकर अववा पकड़कर राज्यादिका फल प्राप्त कर लेता है यह आर्जुनकी भाधामें आचार्य कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—लक्ष्यबंध, ताडन, ग्रहार करना इत्यादि क्रिया करनेमें अतिशय चतुर, तरुण, समान शक्तियुक्त ऐसा राजपुत्र युद्ध करनेके भेदानमें शत्रुको जीतकर जैसे बलात्कारसे राज्यव्यवस्था हरण करता है, उमी तरह मुनि भी मोहरिषको जीतकर बलात्कारसे आराधनार्पणाका हर लेता है, ऐसा आगेकी माथामें आचार्य कहते हैं, उपपुक्त गाथा स्पष्टान्व रूप है—दृष्टान्तिक गाथा यहां आचार्य कहते हैं.

तह भाविदसामणो मिच्छत्तादी रिवु विजेदूण ॥

आराहणापढायं हरइ सुसंथारंगमि ॥ २३ ॥

साधुभविनचारिओ गृहीते संस्तराहवे ॥

आराधनाचजं जित्वा मिथ्यात्वादिद्विपस्तथा ॥ २६ ॥

विजयोक्ता—तह भाविदसामणो इति । तह तथैव राजपुत्रकेव । भाविदसामणो भावितसमानभावः । पुनरिति नेपः । मिच्छत्तादी मिथ्यात्वात्संयमकपायाद्युभयोः इत्येताम् । रिवु रिवम् । विजेदूण वृशं जित्वा । विजान्ते वृशार्थे प्रयुक्तः । यथा विपूजो मनुः वृशं वृद्ध इति यावद् । अथवा विजेदूण दानाप्रकारं जित्वा यथा विजयमिति नानाचिन्तमिति यावत् । एतावन्मिथ्यात्वं, संशयमिथ्यात्वं, विपर्ययमिथ्यात्वं इत्यनेकधा मिथ्यात्वरूपिणामाः ख्यताः । तथैकान्तमिथ्यात्वं नाम घट्पुनो जीवनेनित्यत्वमेव समत्वो न चानित्यत्वादिकं । असदुत्पत्त्या सतो निर्दोषे वा अनित्यता भवति । न वास्तव उत्पत्तिर्धोदं दशाहगनकुटुमादिकं किं नोपजायते ? असत्त्वाविशेषे चकुटुमावेर्धवादेष घटादिकं उपजायते न विपरकुटुमादिकं इत्यन न नित्यामकं हेतुं पश्यामः । न च सद्दिनवपति, धिनाशो ह्यलसत्वं, भावाभावी हि परस्परपरिहारात्सतिलक्षणौ वैकर्ता यतः । न भावोऽभावो भवति, इयमसत्ये उत्पत्तिनिरोधयोरेतावन्निवृत्तौ इदमेकं मिथ्यात्वं एतस्य जग उच्यते—न नित्यतैव घट्पुनो रूपं, अनित्यताया अपि प्रमाणसमधिगम्ययावद् । रागद्वेषमिथ्यात्वंसंशयविपर्ययादीनां आत्मनि सतां पञ्चादधुमयप्रतिष्ठापितमसत्यम-दुमयोपनीतं च सत्त्वं प्रागननुभूतानामित्यनित्यता पुद्गलद्वयस्यापि भेदावेर्वाण्यथाभावः । आत्मकलादीनां रूपर-त्वांथाद्यन्यथाभावश्च प्रत्यक्षप्राज्ञोऽपश्यन्पश्यन्, तथाजुमानवशश्च—यस्तत्तत्सर्वं नित्यमनित्यात्मकं यथा घट-स्तथा च जीवादिकं सदिति । कारणानां प्रतिनिपतजननसम्भारुपरिखात्वात् । घटादेर्जनकानि सन्ति इत्युपरिचिः न खराविषणादेः । न च भेषाभावाद्योर्विरोधः एकस्मिन्पुन्येकदा प्रवृत्तेः रूपरसादीनामिव । अपूर्वरूपेणासत्त्वं सति विद्यते न वा । यगलिन न विरोधः, न वेत्सर्वत्वमकृता । न ह्यभावो नाम भवत्वाद्यः । अपि ॥ भवन्तस्तस्यैव रूपान्तरम् । ततोऽप्युक्तो नित्यत्वैकान्यथावः इति । एवंभूतया तत्त्वश्रद्धया परमृथेति नित्यमेवेति मिथ्यात्वम् । तथा क्षणिकमेव सर्वं कथं कार्यकारि, यदस्तु सर्वथा सामर्थ्यविरहो भावशङ्कने । कार्यकारिता च न नित्यस्य । कथं तद्धि नित्यं सप्तसे पापं श्रेतेण वा कुर्म्यदुगपपदेव वा ? न तावद्वेगेण कार्यत्वमलमस्य कारणसमावसाञ्चिभ्यामप्यपराधीनत्वात् । सर्वं कार्यप्रादुर्भूतिद्विदूनां सामर्थ्यत्वां सदा सन्निध्यत्वात् कुतः कार्याणां क्रमः । समर्थहेतुमतेऽप्यमते न तत्सस्य कार्यं स्यात् । यथा सन्तिद्विद्विप यववीजेऽनुपजायमानस्य शाल्यंङ्कुरस्य न यववीजकार्यता । शुनप्लकरोति चेन् द्वितीयादी

शेषेऽर्तिविरुद्धता स्यात् न तथा दृश्यते । इत्थं नित्यवस्तुलक्षणस्य कार्यकारित्वस्याभावात्, अनिरय सद्भावात् क्षणिकमेवेत्यप्ययमयो मिथ्यात्वमेव तस्य अत्र उच्यते—सत्त्वं सर्वथा नित्ये वस्तुलक्षणे वास्तुतया नीत्या निरयाऽ-नित्यात्मके ॥ नमस्विनी कार्यकारिता । एकान्तेन क्षणिकमेव वस्तुनो यदि रूपं कार्यकारिता नास्ति । एकस्य वस्तुन एकमेव रूपं तापरमिति प्रतिष्ठानात् । एवमन्यत्रापि चोद्यः पञ्चमिथ्यात्वजयः । संज्ञाप्रमिथ्यात्वं वस्तुसङ्ख्यानवधा-रणात्मकं तस्य जयः कथंचिदित्यनित्यात्मकाः सर्वे भावा इति भावनया । विपर्ययमिथ्यात्वं हिंसाया दुर्गतिव-र्तिन्याः स्वर्गाविवेकुतावसितिलानम् । अहिंसायाश्च प्रत्यपयहेतुविति एतस्य जयः । परोक्षसोपायोपेयभावस्य अम-न्यस्यात् । अनुमानस्य च प्रत्यक्षपृष्ठभावनस्तत्रावृत्तेः । आत्मनः सर्वज्ञेन निरुत्तरागच्छेयेण प्रणीतः उपेयोपायतत्पदय-रूपरकः आधयमीयः । फलिवादीनामसर्वप्रतया न तत्प्रणीत आगमोऽदृष्टप्रतिपत्तावुपायः । तदसर्वज्ञता दृष्टेप्रमाण-विरुद्धवन्तया रथ्यापुल्लयत् । नित्यस्तु सर्वदो न विद्यते । यदि स्वात्सर्वस्य नित्यतया पुरुषद्वयोपानुपक्रियतास्वीति-मामाण्यं भवेत्ततो जिनागमेन हिंसाया दुःखहेतुत्वप्रतीतेर्विपर्ययमिथ्यात्वमसिद्धिः तस्य जयः भविषीतशनेन । आरा-धनापङ्कजं आराधनापताकां । हरिदि शुद्धाति । सुखधारंरंमि । शोभनसंस्कारेण उद्भवादिद्वोपानुपहतता शोभनता ॥

नूतार—भाषित्वामनो प्रागन्त्यतस्तमभायः । मिच्छादी मिथ्यात्वासंयमकपथादुभयोगात् । विवेकूण भृशो-विचित्रं वा प्रतिहत्य । आराहणापङ्कजं आराधनैव पताका विजगत्परमैश्वर्यवित् तो मिथ्यात्वादिविशुद्धतां । यत्र वा आराधनायाः पताका इन्द्रादिभिर्नृपूतचैश्वर्यविशेषसंज्ञम् । सुसंयारंरंमि वद्भवादिद्वोपानुपहते संस्वरति ।

हिन्दी अर्थ—तल्ल राजपुत्रके सुमान मुनि भी समताकी बारवार भावना करके मिथ्यात्व, असंयम, कपाय, अशुभ मन पचन, फायकी प्रशुनियां इन शत्रुओंको अच्छी तरह जीतकर—नाना प्रकारसे इनका परामव कर उद्भवादि दोपोंसे रहित ऐसे संस्तरका आश्रय कर आराधना पताकाका हरण बलात्कारसे करते हैं,

विशेष स्पष्टीकरण—नाना प्रकारसे मिथ्यात्वादिवज्रुओंको मुनि कैसे जीतते हैं, इसका वर्णन यहाँ लिखते हैं—मिथ्यात्व परिणामके एकांत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व ऐसे अनेक भेद हैं, एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप—जीवादिक वस्तु सर्वथा नित्य ही है, उसमें अनित्यत्वादिक धर्म नहीं हैं, यदि असत् पदार्थ उत्पन्न हो जाय और तत्पदार्थका नाश हो जावे तो अनित्यता वस्तुका स्वरूप है ऐसा मानना योग्य होगा, परंतु असत् कभी उत्पन्न नहीं होता है, यदि वह भी उत्पन्न होगा तो आकाशपुण्य, और स्वर्गोदका सींग भी क्यों न उत्पन्न होगा? क्योंकि

चे भी तो असत् ही है. आकाशगुण्य अमत् है तथा घटादि भी उसके समान असत् ही हैं तो आकाश गुण्यसे घटा-
 'दिक' अथवा 'घटादिक'से आकाश 'पुण्य' बनते हैं ऐसा मानना पड़ेगा. घटादिकसे घटादिक ही उत्पन्न होते हैं. और
 आकाशगुणादिसे आकाशगुणादिक ही बन जाते हैं ऐसा माननेमें कुछ न्यायमक कारण हमको नहीं दीखता है.
 'सत्त्व'सत्त्वार्थका नाश होता है यह मानना भी अयोग्य है. निर्नाश असद्रूप है. अर्थात् अभाव रूप है. सत्त्व-
 'दार्थ' विनाशके उलटा है अर्थात् भीमरूप है. जहां मायात्मक 'पदार्थ' रहता है वहां आभासत्मक 'पदार्थ' नहीं रह
 सकता. अतः मात्रपदार्थ और अभावपदार्थ एकस्वरूपताको प्राप्त नहीं होते हैं. अर्थात् वे भिन्न भिन्न स्वरूपके धारक
 हैं. मात्रपदार्थ कभी अभावरूप नहीं होता है. असत् पदार्थसे उत्पन्न और नश्वर दोनों भी 'सिद्ध' नहीं होते हैं.
 अतः नित्यता ही 'पदार्थ'का स्वरूप समझना चाहिये. 'पदार्थ' अनित्य ही मानना यह एक मिथ्यात्व है. ऐसे
 मिथ्यात्वका संभारका अभ्यास करनेमाले मुंनिराज पराजय करते हैं.

अतः नित्यता ही वस्तुस्वरूप है ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है यह दिखाते हैं-नित्यता ही वस्तुस्वरूप है यह
 कहना भी युक्तियुक्त नहीं है. आत्मामें प्रथमतः रागद्वेष, मिथ्यात्व, संशयविपर्यय वगैरे अशुद्धस्वरूपके द्योतक विकार
 दीखते हैं परंतु नंतर इसका अभाव होता है. यह सबके अनुभवमें आनेवाली बात है. यदि आत्मा सत्यथा नित्य ही मानोगे तो
 उससे रागद्वेषादिक कभी भी नष्ट होगी ही नहीं. तथा जो विकार पूर्वमें अनुभवमें आये नहीं थे वे कभी भी उत्पन्न न
 हो सकेंगे. परन्तु पूर्वपर्यायका नाश और नवीन पर्यायकी उत्पत्ति प्रत्येक पदार्थमें होती हुई अनुभवमें आती है.
 अतः वस्तु नित्य माननेसे ये बातें नहीं चनेगी. मेधादिक पुद्गलद्रव्यमें जो पूर्वक्षणमें वर्ण था वह अनंतर समयमें
 नहीं रहता दूसरा ही वर्ण नजरमें आता है. आंम्रफलादिकोंमें कंबी अक्षर्योंमें हरा रंग, अर्धपक अवस्थामें लाल
 'पीला' रंग और 'पकावस्थामें पीलापना आता है यह सब प्रत्यक्ष ग्राह्य बातें हैं. इन बातोंको मानना ही पड़ेगा.
 अनुमानसे भी वस्तु कथंचित नित्यानित्यात्मक है यह सिद्ध होता है. जो जो सत्त्वार्थ है वे सब नित्यानित्या-
 त्मक हैं जसा घट. अर्थात् घटके समान सभी जीवादिक पदार्थ सत्त्व हैं अतएव वे नित्यानित्यात्मक हैं.
 कारणोंमें प्रतिनियुक्त कार्य ही उत्पन्न करनेका स्वभाव है अतः उनसे विशिष्ट ही कार्य उत्पन्न होते
 हैं. जैसे मृत्पिंडसे घट ही होता है पटोत्पत्ति नहीं होती है. अतएव सब विपण्णादिकोंसे घटादिक सत्त्वार्थोंकी
 उत्पत्ति नहीं होती है. अन्यमतमें मान और अभावमें परस्पर विरोध है नहीं. अर्थात् वस्तुमें एक ही समयमें

अस्तित्व और नास्तित्व दोनों भी धर्म पाये जाते हैं. जैसे वस्तुमें रूपरसादिक धर्म रहते हैं उसीतरह अपर पदार्थमें स्वरूपरसा अमान भी उसमें रहता है या नहीं ? यदि दूसरे पदार्थके स्वरूपका अभाव है ऐसा कहोगे तो भावाभावत्व एक पदार्थमें अधिकद्व रूपते रहता है ऐसा सिद्ध हो चुका. यदि दुगरे पदार्थ का भी स्वरूप पदार्थमें मानोगे तो अत्येक वस्तु सर्वात्मक है ऐसा मानना पड़ेगा. घट पदार्थ स्वस्वरूपमे युक्त तो है ही परंतु घटादिस्वरूपता भी उसको आवेगी और ऐसा होनेसे यह घट ही है ऐसा कहते समयमें घट ही है ऐसा भी कहनेका प्रसंग आवेगा अतः वस्तुके निश्चित स्वरूपका लोप होगा.

यस्तुमें जो अभाव माना गया है वह भावसे भिन्न है नहीं. अर्थात् भावान्तरको ही अभाव कहते हैं. वस्तु स्वस्वरूपसे जैसी भावात्मक मानी है वैसी परस्वरूपसे अभावात्मक भी मानी है अतः प्रत्येक वस्तु भावान्तरात्मक है, अतः निरूपयैकान्त्याद् अयुक्त है, ऐसी तत्त्वश्रद्धा करनेसे वस्तु नित्य ही है यह मिथ्यात्व पराजित होता है.

सर्वथा क्षणिक वस्तुमें कार्य करनेका सामर्थ्य ही नहीं रहता है. यह पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर नष्ट होती है अतः कार्य कर करेगी, क्षणिक वस्तुकी उत्पत्ति भी पूर्ण क्षणिक वस्तुसे यदि होती तो कार्यकारिता उनमें है ऐसा मान सकते थे. परंतु सर्व पूर्ण क्षणिक वस्तुओंमें कार्यकरण भाव नहीं है, तथा प्रत्येक क्षणिक वस्तु एक समयके बाद निश्चयसे यदि नष्ट होती ही है तो उसको कार्य करनेके लिये अवसर ही नहीं रहा. अतः वस्तु क्षणिक है यह मानना अयुक्तियुक्त है.

नित्य भी पदार्थ कार्य नहीं कर सकता है. वह यदि कार्य करेगा तो क्या क्रमसे करेगा अथवा एकदम करेगा ? ऐसे दो प्रश्न यहां उपस्थित होते हैं. क्रमसे कार्य उत्पन्न करेगा यह आपका कथन योग्य नहीं है, क्यों कि कार्य का जन्म होना कारण में विद्यमान जो सम्याव है उसके आधीन है और नित्य पदार्थमें कार्य उत्पन्न करनेका समाप्त सदा ही विद्यमान होनेसे सुदाही कार्य होते रहेंगे अतः कबमें क्रम कैसा रहेगा ? एकदम तब कार्य होंगे. यदि हेतुमें सामर्थ्य होवा हुआ भी कार्य न होगा तो कभी भी न होगा. अथवा वह उसका कार्य है ऐसा मानना योग्य नहीं है. जैसे वचन समीप होते हुए भी उत्पन्न न होनेवाले आलस्यकुरको यव चीज कारणरूप नहीं मानते हैं वैसे नित्यपदार्थ कार्यके प्रति कारण नहीं होगा. यदि सर्व कार्य युगपत् नित्य

पदार्थसे हो जाते हैं तो प्रथम समयमें ही उससे सब कार्य हो जानेसे द्वितीयादि समयमें वह अकिंचित्कर होगा. परंतु पदार्थ द्वितीयादि क्षणमें भी कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता है अतः वह सर्वथा नित्य है ऐसा मानना अनुचित है. नित्यवस्तुमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं दीसता है वह अनित्यमें है अतः वस्तु क्षणिक ही है यह श्रद्धान करना भी मिथ्यात्व ही है. ऐसे मिथ्यात्वका समताधारक मुनि पराजय करते हैं. सर्वथा नित्य व अनित्य पदार्थमें कार्य करनेका स्वभाव नहीं है परंतु कश्चित् नित्यानित्य पदार्थमें कार्य करनेका स्वभाव अवश्य होनेसे वह कार्य करता हुआ दीखता है. यदि क्षणिकता ही वस्तुका स्वरूप है तो वह कार्य नहीं करेगी क्योंकि उसका एक ही रूप रहेगा. उसमें पूर्वस्वरूप नष्ट होकर दुसरा स्वरूप नहीं आता है. इसी तरह नित्यमें भी समझना चाहिये.

संशय मिथ्यात्वका स्वरूप— वस्तुस्वरूपका जिसमें निश्चयही नहीं होता है उसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं अर्थात् वस्तु नित्य है ? अथवा अनित्य है ? वा नित्यानित्यात्मक है ? ऐसा अनिश्चय रहता है. ऐसे मिथ्यात्वका परामब मुनिराज वस्तु नित्यानित्यात्मक है ऐसा निश्चय करके करते हैं. जगत्के समस्त पदार्थ कश्चिन्मित्यानित्यात्मक हैं. द्रव्यार्थिक नपकी अपेक्षासे वस्तु अपने स्वरूपको नहीं छोड़ती है. जीविका चेतन्य जीवको कभी छोड़ता नहीं है. वह हमेशा उसमें रहताही है अतः जीवको नित्य कह सकते हैं. मनुष्यत्व देवत्वादि पर्याय सदा स्थिर रहते नहीं, मनुष्यत्व नष्ट होकर जीव देव, नारकी, तिर्थंच ऐसी पर्याय धारण करता है. अतः पर्यायकी अपेक्षासे वह अनित्य भी है. अतः उसको नित्यानित्य समझना योग्य है. जीवके समान अजीव— पुद्गल, घर्म, अधर्म आकाश, काल ये पदार्थ भी नित्यानित्यात्मक हैं.

विपर्यय मिथ्यात्वका स्वरूप—हिंसा दुर्गतिमें प्रमण कराती है. तथापि वह स्वर्गादि सुखके लिये कारण होती है ऐसा निश्चय ज्ञान होना यह विपर्यय मिथ्यात्व है. अहिंसा दुःख देनेमें कारण है ऐसा समझना विपरीत मिथ्यात्व है. ऐसे मिथ्यात्वका पराजय मुनि करते हैं. हिंसा स्वर्गप्राप्तिमें कारण होती है अतः हिंसा कारण है और स्वर्गप्राप्ति होना उसका कार्य है ऐसा कहना योग्य नहीं है. जिसको लोक घर्म हेतुसे मारते है उसको अत्यंत दुःख होता है. तिलमात्र भी उस प्राणीमें आंतता उस समय रहती नहीं है. अतः उस प्राणीको तथा मारनेवालेको स्वर्ग लाभ होना नितांत असंभव है. दयाधुमादि गुणही स्वर्गादि सुखके लिये कारण होते हैं. हिंसाही यदि स्वर्गके लिये

कारण ही तो व्याघ्रादि हिंस्र प्राणीही मरणोत्तर स्वर्गादि सुखको प्राप्त होगे. अतः हिंसा स्वर्गदायिनी है यह मानना अयोग्य है.

सर्ग व मोक्षकी प्राप्तिके उपाय व स्वर्गादिक उपाय इन दोनोंका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है. अनुमानसे भी इनका स्वरूप नहीं जाना जाता है क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके बिना उत्पन्न होता नहीं. आगमसे उपाय और उपायका ज्ञान होता है अतः आगमका आश्रय लेना ही योग्य है. वह आगम जिसने स्वर्गद्वयका नाश किया है ऐसे सर्वज्ञ निनेयरने रचा है. अतः वह ही स्वर्गादिके उपाय और उपाय सुखादिकका प्रतिपादन करता है.

कपिलादिक अन्यमत प्रणेताऋषि असंयम थे अतः उनका आगम अदृष्ट पदार्थोंका ज्ञान करानेमें उपाय ही नहीं सकता. कपिलादिकके वचन प्रत्यक्ष और अनुमादिक प्रमाणोंसे विरुद्ध है अतः वे रथ्यापुरुषके समान अप्रमाण हैं.

शब्द नित्य है यह कहना भी योग्य नहीं है यदि वे नित्य हैं तो सर्व शब्द नित्य होनेसे पुरुषोंके राग-द्वेषादि दोषोंने नै अलित होनेसे प्रमाण मानने पड़ेंगे. जिनगमसे हिंसा दुःखोत्पत्तिके लिये कारण है ऐसा अनुभव आता है अतः हिंसानो मुरका कारण समझना विपरीत मिथ्यात्व है. इस विपरीत मिथ्यात्वका सत्यज्ञानसे मुक्ति-राज परामर करते हैं. मिथ्यात्व, असंयम, फणय ऐसे शत्रुओंको जीतकर वे बलात्कारसे आराधनापताका हरण करते हैं.

चिरममायितरत्नमणयामंतंमुक्तकालमावगतां सिद्धिरिष्यते तत्किं चिरआकयेत्बसोत्तरमाचष्टे—

पुष्पमभाविदजोगो आराधेज्ज मरणे जदि वि कोई ॥

राण्णुगदिद्धंतो सो तं सु पमाणं ण सब्बत्थ ॥ २४ ॥

यद्यभावितयोगोऽपि कोऽप्याराधयते मुक्तिं ॥

तत्प्रमाणं न सर्वत्र स्थाणुमूलनिधानवत् ॥ २७ ॥

पुष्प पूर्ण मरणकालत् । अभाविदजोगो अभावितगरिक्कः । आराधेज्ज आराधयेत् । किं मरणं रत्नमणयानुगत-मयपर्यायमलयं । जदि वि यद्यपि । कोई कश्चित् । राण्णुगदिद्धंतो स्थाणुदृष्टान्तः । सो सः । तं सु तदेव । अद्वत-

परिकरस्य कस्यचिद्रत्नत्रयसमापद्यं । सत्त्वस्थ सर्वत्र । यः परमाणं न प्रमाणं । अर्थस्थानमव वाच्यम् ।
एवं धीविका समाप्ता ॥

मूलारा—आराहेन्व मरणं रत्नत्रयाद्युगतं यवपर्यायप्रलयं कुर्यादित्यर्थः । खण्डगुह्यस्तो सो स्थाणुदृष्टान्तः सः । तं तु । तदेव अकृतपरिकर्मणः कस्यचिन्मरणे रत्नत्रयपरिणमनं । सत्त्वस्थ सर्वत्र सर्वत्र । न परमाणं न प्रमाणं । यो यो जीवः स स सर्वोऽपि अकृतपरिकर एव मरणसमाधिमुपेयात् । यया कश्चित् प्रसिद्धो जीव इति ज्योतिरभावात् ।

पूर्ववभादित्येत्यो यथव्याराधयन्मृतौ कश्चित् ॥

स्थानौ निधानलामो निवर्त्तनं नैव सर्वत्र ॥

पीठमस्तनमिव समस्तार्थसंग्रहस्यावारयूतत्वात् । स्तेकः

त्यक्त्वा संगं क्षुधीः सान्धयसमग्यासयमाज्जबं ।

समार्धं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम् ॥

इति मूलाराधनादर्पणे पीठिकाप्रतिष्ठा ।

निन्होंने बहुतकालपर्यन्त रत्नत्रयाराधन नहीं किया है अर्थात् अन्तर्दुर्लभकालपर्यन्त ही आराधन किया है उनको भी मोक्षलाभ होगया है, जतः चिरकालरत्नत्रय भावनाकी आवश्यकता नहीं है ऐसे प्रभक्षा उच्चर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मरणकालके पूर्व अर्थात् दीक्षा, शिक्षा वगैरे समयमें रत्नत्रयके साधनभूत कारणोंका किसी जीवने आराधन नहीं किया हो परंतु मरणसमयमें उसने रत्नत्रयकी आराधना की हो तो भी यह स्थाणुदृष्टांतके समान हो गया. रत्नत्रयके माधन बिना यदि किसी निरले क्षुनिको मरण समयमें रत्नत्रयाराधना होनेसे यह सार्वत्रिक नियम नहीं हो सकता. जैसे किसी निरले अंधको स्तंभसे टकरानेमें नेत्रलाग हुआ और स्तंभ पिरनेपर उसके नीचे खम्भा टूटा निधि उसको दीख पडा परंतु तमाम अंध वनाको इसी उपायसे निषिद्धाभ होगा यह समझना नितांत

भूलभरा समझना चाहिये, जब इस दृष्टांतके अनुसार स्वप्नयाशाधना मरणसमयमें किसी एकादे मनुष्यको हो गई हो तो सर्वत्र यह नियम ग्रहणभूत नहीं है.

पीठिका समाप्त.

मरणाणि सत्तरस दोसिदाणि तित्थक्खरोहिं जिणवयणे ॥

तत्थ वि य पच इह संगहेण मरणाणि वोच्छामि ॥ २५ ॥

विस्तरेंणागमोक्तेषु मत्थे सप्तवशास्वहम् ॥

मरणान्यत्र पंचैव कथयामि समासतः ॥ २६ ॥

विज्ञानोपपा—मरणान्यनैकप्रकाराणि इति शास्त्रान्तरे निर्विद्यमि । तेष्विह निरूप्याणीमानीति निरूपयितुं सत्तर सप्त मरणाणीति । मरण विद्यमो विनाश विपरिणाम इत्येकोऽयं । तच्च मरण जीवितपूर्व । जीवित विपतिरविनाशोऽयस्त्विति सिति पाठः । स्थितिपूर्वको विनाश । यदस्थितिकं तत्र विवक्ष्यति यथा यथासुत । तथा च स्थितिरेवितं यत्तु क्षणिकयावित्कृत्य । जीवितं अग्रपुरोग । अनुत्तरस्य स्थित्यभावात् । तत उत्पत्तिविगमो प्रीत्य च सर्वेषां रूपानि । प्रत्या च प्रविश्याया मरण नामोत्पन्नपर्यायविनाश । देवस्य, तिर्यक्त्य, मारुक्त्य, मनुष्यस्य, इत्यमीनां पर्यायाणां प्रत्यस्त एव मरणशब्दोपाध्य । अथवा प्राणपरित्यागो मरण । तथा चाश्वधादि-हृद् प्राणत्यागे इति । एवमेव प्राणप्रद्वेग अग्न, प्राणानां धारण, जीवित । प्राणा द्विविधा द्रव्यप्राणा भवप्राणाश्च । तत्र द्रव्यप्राणा इन्द्रियाणि, गल, उ-एवास, आयुरित्येतेषां पुनर्द्रव्यप्राणि । भवप्राणा ज्ञानवर्धनचार्तराणि एतत्प्राणपेक्षया सिद्धानां जीवित । तथायुद्धिभेद अक्षानुभववायुरिति च । भवधारण भवायुर्भव शरीर तच्च ध्रियते आत्मन आयुष्कोदयेन । ततो मरणधारणमायुष्काल्य कर्म तत्रैव भवायुर्लघुचते । तथा चोक्तम्—

वेदो भयोसि उद्यदि धारित्तरं लाउगेण य भवो सो ।

तो उद्यदि भवधारणमाउगकम्म भवाउत्ति ॥

इति आयुर्वर्धनैव जीवो जायते जीवति च आयुष एवोदयेन । अन्यस्यायुष उदये सति मृतिर्गुयेति पूर्वस्य आयुष्कस्य विनाशे ।

१ मृच् प्राणत्यागे इति स मुक्तके पाठ । २ स-आत्मनेति ।

प्रयोज्य मरेष्य आहुण उद्यो नान्यथा ततो नायुःकदयोऽद्यः । एवमेकस्यायुःकर्मणः एकैव प्रकृतिदेदेयेकस्यामनस्त-
स्मादेकैकायुःकर्मणोत्तमालनरूपामेव युतिमुपैति । तदेतच्छ्रुतिमरणं ।

भरणपरणकारणपरिणतानां पुद्गलानां सद्भावात्मनोऽप्यवस्थितिरित्युच्यते । आत्मनः कथापरिणामः
मद्वहारी पुद्गलानां स्तिग्धतायाः । परिणामिमरणं तु तदेव पुद्गलद्रव्यं । सा तेषां स्थितिरैकादिकोत्तरा देशोननय-
न्वितासाधारणानां वाच्यतः समवास्तवद्वेषा उत्कर्षस्थितिः । अंतर्मुहूर्तभया परा । तस्या चीचय इव क्रमेणावस्थि-
तायाः विनाशदात्मनो भवति स्थित्यावीधिकामरणं ।

भगंतप्राप्तिरंतरोपपद्युर्गुणभवविमर्शनं तद्भवमरणं । तत्तत्तत्तथाः प्राप्तं जीवेनेति सात्वत्यं तेन तद्भवमरणं
न दुर्लभम् ।

अनुभववीधिकामरणमुच्यते—कर्मपुद्गलानां रसः अनुभव इत्युच्यते, स च परमाणुषु पौडा दृक्स्थितिनि-
क्षेणेन धावीचय एव क्रमेणावस्थितस्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरणं ।

आयुःसंभितानां पुद्गलानां प्रवेशा अद्यभयनिवेकादरभ्य परादिदृष्टिक्रमेणवास्यितयोयय इव तेषां गलनं
प्रवेशावीचिकामरणं ।

भयधिमरणं नाम कथ्येत—यो यादशं मरणं सांप्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तद्वचिमरणं ।
तद्विषयिधे देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं इति ।

तत्र सर्वावधि मरणं नाम यद्ययुर्गयाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थितयनुभवप्रवेशौस्त्वयानुभूतमेयायुः प्रकृत्या-
दिनिमित्तं पुनर्वज्जाति उदेत्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणं ।

यत्सांप्रतमुदेत्यायुर्गयाभूतं तथाभूतमेव यत्राति देवतो यदि तदेतावधिमरणं । एतदुक्तं भवति देशतः सर्वतो
या सादरयेन विरोधितं मरणमपधिमरणमिति । सांप्रतेन मरणेनासादयभावि यदि मरणमापंतमरणं उच्यते, आदि-
रादेन सांप्रतं प्रायमिकं मरणमुच्यते तस्य अंतो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदापंतमरणं अभिधीयते । प्रकृति
स्थित्यनुभवप्रवेशाभूतः सांप्रतमुपैति मूर्ति तत्राभूतं यदि सर्वतो देवतो या नोपैति तदापंतमरणं ।

यात्ममरणमुच्यते—यात्स्य मरणं यात्ममरणं, स च चालः पंचप्रकारः अक्षयकालः, स्थवहास्यालः, जालबालः,
दर्शनबालः, चारिणबाल इति । अत्यक्तः शिशुः धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेति न च; तदाचरणसमर्थदारीः सोऽ-
क्षयकालः । लोकवेदसमयव्यवहाराग्यो न वेति शिशुर्वास्तो व्यवहावालाः । मिथ्यादण्डयः सर्वथा तत्त्वप्रज्ञानरहिताः
दर्शनबालाः । पशुयागाद्यभ्यमादिज्ञाननूनां ज्ञानबालाः । अचारियाः प्राणभृत्यारित्रबालाः । पक्षपां बालानां मरणं
यात्ममरणं । एतानि च अतीते काले अनंतानि । अनंताद्य युतिमिमां प्रपद्यते । इदं दर्शनबालो गृहीतः नेतरबालाः
कथं ! यस्मात्तदप्यग्रेतिरवाल्न्ये सत्यपि दर्शनव्यंङ्किततायाः सद्भावाव्यंङ्कितमरणमेवेत्यते ।

दर्शनबालस्य पुनः संक्षेपतो द्विविधं मरणमिष्यते । इन्द्रया प्रवृत्तमनिच्छेति च । तथोदात्तमश्रिता धूमेन,

शरणेन, विरेण, उदकेन, मरुत्प्रयातेन उच्छ्वाससमिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, द्युधा, द्युधा, जिहोत्पात्नेन, चित्वादारसेयनया याला श्रुतिं दौरन्ते, कुतश्चिन्मिच्छाजीवितपरित्यागीणिणः काले काले वा अच्यवसानादिना यन्मरणं निजीमियोः तद्वितीयं । एतेर्बालमरणैर्दुर्गतिगमिनो भ्रियन्ते । विषयव्याप्तकमुद्रयः अज्ञानपटलावगुण्डिताः । अङ्घ्रिरससातगुल्फकाः । बहुतीमयापरमाग्रवह्नाराभ्येतानि बालमरणानि ज्ञातिजमरणव्यसनापादनक्षमाणि ॥

पंडितमरणमुच्यते—व्यवहारपंडितः, सम्यक्त्वपंडितः, अत्यवधारपंडितः, अथवाऽनेकशास्त्रज्ञः द्रुथूपदिविद्विगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः, क्षयिकेण लोच्येदसमयव्यवहारनिपुणो व्यवहारपंडितः, अथवाऽनेकशास्त्रज्ञः द्रुथूपदिविद्विगुणसमन्वितः व्यवहारपंडितः, क्षयिकेण क्षयोपशमितोपशमिकेन वा सम्यक्दर्शनेन परिणतः दर्शनपंडितः । मत्वादिपंचमकारसम्यग्ज्ञानेन पुरिणतः ज्ञान पंडितः । सामादिकच्छदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूत्रसर्गापरयथाख्यातचारित्र्येषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तधारित्रपंडितः । इह पुनर्न ज्ञानदर्शनचाटिपंडितानां अधिकाः । व्यवहारपंडितस्य विध्याद्येः बालमरणं यथा भवति सम्यग्दृष्टे स्तत्रैव दर्शनपंडितमरणं भवति । मर्त्ये, भवनेषु, विमानेषु, ज्योतिर्भेषु, बानध्वतरेषु, द्वीपसमुद्रेषु च ज्ञातपंडितमरणानि च तेभ्येव । मनुष्यलोके एव कैवल्यमन परम्यज्ञानपंडितमरणं भवति ।

भोसणमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितारसेयतत्कार्थोपे हीनः प्रश्रुतः सोऽमिधीयेत भोसण इति । तथा मरणं भोसणमरणमिति । भोसणमरणेन पांथेस्था, ह्यरुंदा, कुशीलाः संसृज्जस्य गृह्णन्ते । तथा चोक्तम् ॥

पासरोथो सच्छदो कुसील संसृज्ज होति भोसण्णा ॥

ने सिद्धिपच्छदो ओहीणा साधु सत्थादो ॥

के पुनस्ते ? अक्षिप्रिया, रसेध्यासक्ताः, दुःखमीरयाः तदा दुःखराताः, कयाणेषु परिणताः, संज्ञावशगाः, पाप-धृताभ्यासकारिणः, भयोदशविधासु क्रियासत्त्वसाः, सदा संकल्पितसः, भक्ते उपकरणे च प्रतिपन्नाः, निमित्तमनौषध-वोगोपजीविनः गृहस्थपर्यायवृत्त्यवराः, गुणहीना गुप्तिषु समिगिषु चानुयताः मंदसेवेया दशप्रकोरे धर्मे अकृतबुद्धयः शत्रुचरित्राः आसना इत्युच्यन्ते । एवंभूताः संतो हत्वा वराका भवसङ्घेषु भ्रमन्ति । दुःखानि भुक्त्वा मुक्त्वा पार्श्वस्थ-रूपेण सुखिन् विद्वान्स्त आत्मनः शुद्धिं कृत्वा यदि श्रुतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति ।

सम्यग्दृष्टेः संयतासंपत्तस्य गलपंडितमरणं यतोऽसुप्रयत्नो बालः पंडितश्च । स्थूलकृतात्प्राणातिपातावेर्दिट-मणलक्षणं चारिमस्ति दर्शनं च तत्प्रचारिर्पंडितो दर्शनपंडितश्च कुतश्चित्प्रह्लादसंयमादनिवृत्त इति चारिप्रवालः । तच्च बालपंडितमरणं गर्भेषु गर्वाप्तेषु तिर्यक्षु मनुजेषु भवति । दर्शनपंडितमरणं तु तेषु देवनारकेषु ।

सदास्यमरणं द्विपिधं यतो द्विपिधं तत्त्वं द्रव्यशब्दं भावशब्दमिति । मिथ्यादर्शनभायानिदानशब्दानां कारणं कर्म अन्यशब्दं । द्रव्यशब्देन सह मरणं पंचानां स्थावरानां भवति असेक्षिनां ज्ञानां च । ननु द्रव्यशब्दं संवेज्जसि तत्किमुच्यते स्थावरप्राणमिति । भागशब्दमिनिर्मुक्तं द्रव्यशब्दमपेक्ष्यते । एतदुक्तं—सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशब्दत्वात्त्यवधानेन च स्थानेषु अमात्रात् त्रसेषु च चिकर्षद्विप्रेषु । इदमेव म्यादनमते काले इति मनसतः प्रणिधानं भिद्वानं ।

न च तद्वर्गिण्यलि । मार्गस्य दृष्टेः, मार्गनाशने, उन्मार्गप्ररूपेण, मार्गप्ररूपेण, मार्गस्थानां प्रेरकत्वेन विख्यातश-
नशान्तिः ।

तत्र निदानं त्रिविधं प्रशास्तमप्रशास्तं भोगकृतं चेति । परिपूर्णं संयममाराधयितुकामस्य
जन्मांतरे पुनराविमर्शना प्रशास्तं निदानं, मानकपायप्रोक्तस्य कुलरूपादिप्रार्थनमनागतमयविययं अप्रशास्तं निदानं ।
अथवा क्रोधादिष्वन्य सदायुषप्रार्थना यशस्वोपसेवोन्मूलने । एव परत्र च भोगा अपि इत्थंभूता आस्माकृत-
दीर्घादितादृशान्यस्यि ॥ ७ ॥ अत्रियानं भोगनिदानं । असेयतसम्यग्दृष्टेः संयतांसयतस्य वा निदानशास्त्रं भवति । पार्थ-
व्यारूपेण चिदं पिबत्य पश्चादपि आलोचनार्थतरेण यो मरणमुपैति तन्मायादास्यं मरणं तस्य भवति । एतच्च संयते,
संयतामंयते, अयितमम्यदृष्टायपि भवति ।

यलायमरणमुच्यते—यिनवैययापूर्ययायकृतावरः, प्रशास्तयोगोद्वहनालसः, प्रमादवागम्यतेषु, समितिषु, शुक्तिषु
च स्वर्धीर्निर्गहनपरः, पर्यंयितायां निद्रया घूर्णित इय ध्यानमस्कारादेः पलापते अनुपयुक्तया, पतस्य मरणं
पलायमरणं । सत्यस्वयंदिते, ज्ञानयंदिते, चरणयंदिते वा यलायमरणमपि संभवति । ओसणमरणं ससह-
मरणं च पवमिहितं तत्र नियमेन यलायमरणम् । तद्वयतिरिक्तमपि यलायमरणं भवति । निःशस्त्रः संविज्ञो भूत्या
चिदं रत्नमयप्रकृत्य तैलसुगुणतस्य गुणोपयोगतयलायमानस्य गुमस्य भावस्यानवस्थानत् ।

यतदमरणं नाम—आर्तं रीद्रे च प्रयतमानस्य मरणं । तत्पुनश्चतुर्विधं—इंद्रियसदृमरणं, वेदनायसदृमरणं,
कमापायसदृमरणं, नोकमायसदृमरण इति । इंद्रियसदृमरणं यत् तत्संचमिधं इंद्रियविययापेक्षया । कुदेनैस्तिव-
मिभटजीमैषा वृत्तेषु तत्पित्तपचनगुणितेषु मनोपेषु रक्तोऽमनोसेषु द्विषो वृत्तिसेति । तया वृत्तुःप्रकारे आहारे रक्तस्य
चिरस्य वा मरणं, पृथोक्तानां घुरनरापीनां गंधे विष्टस्य रक्तस्य वा मरणं, तेषामेव रूपे संस्थाने वा रक्तस्य
विष्टस्य वा मरणं, तेषामेव स्थाने रागयतो व्रेयपतो वा मरणं । इति इंद्रियानिद्रियात्तयमरणविकल्पाः ।

वेदनायसदृमरणं द्विमेवं समासतः । सातवेदनायशार्तमरणं असातवेदनायशार्तमरणं । शारीरे मानस्ये
वा गुणे उपयुक्तस्य मरणं दुःखयशार्तमरणमुच्यते । यो दुःखेन मोदसुपागतस्तस्य मरणमिति यावत् । तथा शारीरे
मानस्ये वा गुणे उपयुक्तस्य मरणं सातयशार्तमरणं ।

कपापेक्षात्कपाययशार्तमरणं चतुर्विधं भवति । अनुबंधरोपो वा अस्मति परत्र उभयत्र वा मारणयशोऽपि
मारणयशः भवति । तस्य क्रोधयशार्तमरणं भवति । मानवशार्तमरणमद्विधं भवति । कुलेन, रूपेण, चलेन धुतेन
देधयेन, न्नाभेन, प्रजया, तपसा वा अजमानमुकर्णयतो मरणमपेक्ष्य, विख्याते विशाले उज्जते पुले समुद्रनोत्तमिति मन्य-
मानस्य मुनिः पुन्यमानपदार्तमरणम् । निरुपहतपंचेन्द्रियसमप्रगात्रस्तेजस्वी मत्पय्योयनः सकलजनताचेतःसम्पद-
वररूप इति भायपतो वृत्तिः रूपयशार्तमरणं । पुन्यपयताधृत्पाटनक्षमोऽहं योयवानहं, मिथ्याभां च बले ममान्ति इति पला-
यिमानोद्वहनाःमानपशार्तमरणं । यदुपरिधारो यदुशासनोऽहं इति वेद्यमनोऽन्यस्तस्य मरणं मानवशार्तमरणं । लोकवेद-
समधमिन्नान्ताख्याति विशिक्तानि इति धृतमानोऽन्यस्तस्य मरणं धृतमानवशार्तमरणमुच्यते । तीक्ष्णा गम युद्धिः सर्वमात्र-

विहृता इति प्रज्ञावशात्तमरणमुच्यते । व्यापारे क्रियमाणे मम सर्वत्र लागो जायते इति लाभ मानं भावयतो मरणं लाभवशात्तमरणम् । तपो मयदुष्प्रीयते अन्यो मत्सदृशधरणे नास्ति इति संकल्पयतस्तपोमानवशात्तमरणं भवति । माया पंचविकल्पा निरुक्तिः, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रविधिः प्रतिबुध्यमिति । अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वचना निरुक्तिः उच्यते । सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्वैत्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिर्लक्षिता माया । अर्थेषु विसंवादः स्रष्टस्तनिसिद्धद्रव्यापहरणं, दूषणं, प्रशंसा वा सातिप्रयोगः । प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, उन्नातिरिक्तमानं, संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया । आलोचनं कुर्वतो दोषनिनिगूढं प्रतिबुचनमाया । एवंविधमायावशात्तमरणं । उपकरणेषु, भक्षणक्षेत्रेषु, शरीरे, निवासस्थानेषु च इच्छां मूच्छां च ग्रहंतो मरणं लोभप्रशतमरणं । हास्यरस्यरतिशोकभयशुभुष्यास्त्रीपुंस्वसकवेदे मूढमतेर्मरणं नोकणयधशतमरणं । नोकणयधशतमरणमुपगतो जायते मज्जतिर्यग्योनिषु, अमृतरेषु, कर्पूरेषु, क्षितिर्विकेषु च मिथ्यादृष्टेरेतदेवं बालमरणं भवति । वशीकृतशत्रुगर्दभिः संयतसंयतोऽपि वशात्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपंडितं भवति वशीकृतं वा ।

अमतिविषये अननुभाते च द्वे मरणे । विष्याणसं गिबुदुमिति संश्रिते कृते प्रवर्तते । दुर्भिक्षे, कान्तारे, दुर्गच्छे, पूर्वशत्रुभये, दुष्टदूषणभये, स्तेनभये, तिचंगुपत्वमं एकाकिनः सोऽनुमदाक्ये गृहमतनाशादिद्यादिरूपणे च ज्ञाते क्षयिणः पापभीरुः कर्मणस्तुद्वयमुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोऽनुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्पुण्ये साधयकरणमीदः विराधानमरणभीरुश्च एतस्मिन् कारणे ज्ञाते कालेऽमुष्मिन् किं भवेत्कुशलमिति गणयतो यदुपसर्गभयनाहितः संयमाकृत्यामि ततः संयमधरो वशीनादपि न वैवनामसंक्षिप्तः सोऽनु उत्सहेत ततो रत्नप्रपाराधनान्युतिर्नमेति निश्चितमतिनिर्माप्यधरणदर्शनविमुक्तः, धृतिमादः, ज्ञानसहायोऽनिदानः, अर्हन्तिके, आलोचनमासाय कृतमुक्तिः, सुलेष्टः, प्राणपाननिरोधं करोति पञ्चद्विषण्यतः मरणमुच्यते । शस्त्रप्रहणेन यद्धवति तद्विदुःशुभिमनुच्यते । मरणविकल्पसंभनप्रशाननिर्देशं सर्वत्र कर्तव्यतपोपदिश्यते । प्रायोपगमनमिगिणीमरणं भक्तप्रसाक्यातं इत्येतान्येवोच्यमिति पूर्वपुरुषैः प्रयतितानि । एवं विदमथेन पूर्वगमादुसादि सप्तदशमरणव्याख्यामनत्रोपेकास्तं ।

अथाह शिष्यः । आयुःसंज्ञकदुद्रुल्लगलनं मरणमिष्यते तत्किञ्च सप्तदशप्रकारं । तदिह कतिधा भवद्विरिति धार्यते ? आराधनानुगतमरणस्यैवेह शास्त्रे विधेयत्वेनेष्टत्वात् । तद्वाक्ययदुसारितया सूचिरिदमाह—

मूलाया—सत्तरस सप्तदश । विषयवशे जिना इह गणधरास्तेषां वचनं तद्वचिदं सूत्रं वसिन् । अयमर्थः— न केवलं तीर्थकरैर्मरणानि सप्तपञ्च वैशितानि यावता गणधरैरपि ससूत्रं यानि तावन्त्येवोपनिबद्धानि । उत्तरवाक्ये च शाब्दोऽत्र योग्यः । तत्त्ववि तेजसि तीर्थकरोपदिष्टगणधरोपनिबद्धेषु सप्तपञ्चमरणेषु मध्ये पंचविधसंगहेन—पंचानां प्रकाराणां संक्षेपेन । एतेनैवंयुगीनविनियजनानुसारेण प्रशस्तेतररूपतया कृतेतररूपतां यतानि पंच मरणान्वदं वक्ष्यामीति

महिमा गुरोरेभ्यते । मरणं पात्राद्यभूयमानादुःपुद्गलमलनं मरणभेदस्मरणार्थमिदमात्रोक्तमयमर्थः—

आधीचिवद्रूपान्ध्यापवससत्पशुभृष्टमृतीः ॥

निग्रामसन्धुस्तुष्टनल्लाकात्तुडिश्यमरणानि ॥ १ ॥

शिशुशिशुशिशुशिशुपदिवमृतीः सभक्तोज्झनीगिनीमरणं ॥

प्रापोपगमनपंडितपंडितमरणे च सप्तदश विधात् ॥ २ ॥

१ तत्र प्रतिक्रियमाणः क्षेय आधोचि मरणं । समुद्रान्धुषु चीनीनामिय आधुःपुद्गलाणुषु रसानां प्रतिस्मय सुहृदेवदूष निष्ठयनाम् । २ भुञ्जयमानादुपभ्रमसमये मरणं सद्भयमरणं ३ चादौ मरणेन पूर्वं मृतत्वाद्येनैव मरण-
मपि मरणं । ४ दैतवः मर्त्यतो या प्रकृतिविधियनुमागमेदसत्तादृश्येन अवधीकृतेन विरोधित्वात् । प्रकृतिस्थित्यनुभव
मर्त्येर्निर्दलतः मर्त्यतो वाग्यादसर्पेरणमार्गमरणं । आधेः प्रथममरणस्यान्तो विनाशो यस्मिन्नुत्तरमरण इति व्युत्पत्तेः ।
५ भार्यानिदानमिष्यात्पल्लभाणसंक्षेपमेतस्य मरणं सशतं मरणं । ६ हस्तिकलेषयादिषु प्रविश्य मरणं शूङ्गपट्टमरणं
७ प्राणनिरोध कृत्वा मरणं क्षिप्रासमरणं । ८ दर्शनज्ञानचरित्राणि त्यक्त्वा मरणं व्युत्पद्यमरणं ९ पार्थिव्यलपेण
मरणं पछाकामरणम् । १० दर्शनज्ञानपारित्रेण संकलनं कृत्वा मरणं संकीड्यमरणं । शेषसप्तकस्य लक्षणानि
अप्यनेषाण्योऽप्ये पश्यति ।

हिन्दी अर्थ—धीजितेश्वराने निनागभ्रमें मरणोंके सतरह प्रकार कहे हैं. उसमेंसे संग्रह करके मैं (शिवको व्याचार्य) पांच मरणोंका स्वरूप कहता हूँ ।

निष्पार्थ-मरण, निगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थ वाचक अर्थात् मरणके वाचक शब्द हैं. मरणके पूर्व ये प्राणीका जीवन पर्यंत होता है अनंतर मरण पर्यंत होता है ऐसे दो पर्याय जीवमें होते हुए देखे जाते हैं. अचिन पर्यायरेखी स्थिति, अविनाश, अमस्थिति ऐसे नाम हैं. जिस पदार्थकी स्थिति होती है वही पदार्थ नष्ट भी होता है. जिमसी स्थिति ही नहीं उगका नाश भी नहीं होता है. जैसे बंध्यासुतकी स्थिति नहीं है अतः उसका नाश भी नहीं है. स्थितिपहित पस्तु धनिकतादि बोद्धोंने मानी है. वे सर्वथा वस्तु धनिक मानते हैं. जीवन जन्म पूर्वक ही रहता है. जो चीज उत्पन्न हुई नहीं उमकी स्थिति भी नहीं रहती है. अतः नाश, उत्पत्ति और धौन्य ये तीन

अवस्थायें संपूर्ण पदार्थोंकी होती हैं, ऐसी यदि प्रक्रिया मानें तो उत्पन्न हुए पर्यायका जो नाश उसकोही मरण कहना चाहिये, देवपत्नी, मनुष्यपत्नी, तिर्यक्षपत्नी, और नारकपत्नी इन पर्यायोंका नाश होना यह यहाँ मरण शब्दका वाच्यार्थ है, अथवा प्राणोंका त्याग वह मरण शब्दका अर्थ है, अथवा 'मृत' प्राणत्वासे, 'ऐसा मृ धातुका अर्थ घातुपाठमें है, उसी तरह प्राणोंको ग्रहण करना यह जन्म शब्दका अर्थ है, अर्थात् प्राण धारण करना यह जीवित है, प्राणोंके द्रव्यप्राण व भावप्राण ऐसे दो भेद हैं, स्वर्गनादिक पाँच इंद्रिया, मनोबल, वचनबल और कायबल आसोच्छ्वास और आयु ऐसे दस भेद द्रव्य प्राणोंके हैं, ये द्रव्यप्राण पुद्गलात्मक हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य ये भावप्राण हैं, भावप्राणोंकी अपेक्षासे सिद्धोंमें जीवित माना गया है।

आयुष्यके दो भेद हैं पहिला भेद अद्वायु और दूसरा भेद भवायु, भवधारण करना वह भवायु है, शरीरको भव कहते हैं, इस शरीरको आत्मा आयु कर्मके उदयका साहाय्य प्राप्त करके धारण करता है, अतः शरीर धारण करनेमें असमर्थ ऐसे आयुर्कर्मको भवायु कहते हैं, इस विषयमें अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं,

देहको भव कहते हैं, यह भव आयु कर्मसे धारण किया जाता है, अतः भवधारण करनेवाले आयु कर्मको भवायु ऐसा कहते हैं, आयु कर्मके उदयसे ही उसका जीवन स्थिर है, और जब प्रसृत आयु कर्मसे भिन्न अन्य आयु कर्मका उदय होता है तब यह जीव मरणावस्थाको प्राप्त होता है, मरण समयमें पूर्वायुका विनाश होता है,

इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अद्वायुके विषयमें विवेचन—अद्वा शब्दका काल ऐसा अर्थ है, और आयु शब्दसे द्रव्यकी स्थिति ऐसा अर्थ समझना चाहिये, द्रव्योंका जो स्थितिकाल उसको अद्वायु कहते हैं, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे द्रव्योंका अद्वायु अनाद्यनिधन है अर्थात् द्रव्य अनादि कालसे चला आया है और वह अनंत कालतक अपने स्वरूपसे व्युत्पन्न न होगा इसलिये उसको अनादि अनिधन मी कहते हैं, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे जब विचार करते हैं तो अद्वायुके चार भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१ अनाद्यनिधन २ साद्यनिधन ३ सनिधन अनादि ४ सादि सनिधनता,

चित्तन्यादिकगुण, रूपादिकगुण, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व इत्यादि सामान्य घटमिषय्या द्रव्योंकी अनाद्य-

निधन स्थिति है अर्थात् उपर्युक्त धर्म द्रव्योंमें अनादिकालसे विद्यमान हैं और इनका कभी भी नाश होता नहीं। अतः इनकी अनाद्यनिधन स्थिति विद्वानोंने मानी है। जीवमें भव्यत्वगुण, अनादिकालसे है परंतु सुक्तीके समयमें उनका नाश होता है अतः यह अनादि और सनिधन है। अर्थात् वे चार बार उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं।

वैप, हर्षादिभिरार सादि और सनिधन हैं, अतएव वे सादि और अनिधन हैं, अद्यायुके आश्रयसे त्रैलोक्यादिक गुण सादि हैं परंतु वे कभी नष्ट नहीं होते, अतएव वे सादि और अनिधन हैं, अद्यायुके आश्रयसे अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका आश्रय लेकर अद्यायुके चार भेद होते हैं, अद्यायुके आश्रयसे भवधारणरूप आयुका निरूपण होता है, आयुसंज्ञक जो कर्म हैं वे पुद्गलद्रव्यस्वरूप ही हैं, अतः आयुःस्थिति द्रव्यस्थितिसे भिन्न नहीं है।

अथवा जीव जिसका अनुभव ले रहा है ऐसे आयुसंज्ञक पुद्गल आत्मसे नष्ट होता नहीं मरण है, अतः आयुःस्थितिसे द्रव्यस्थिति अत्यंत भिन्न नहीं है, आयुःकर्म भी पुद्गल द्रव्य है अतः आयुकी स्थितीको अद्या काल-द्रव्यस्थिति ऐसा भी कह सकते हैं, आयुःकर्म नष्ट होना यह मरण है ऐसा उपर कह चुके हैं, इस मरणके तीर्थकरणों जिनवचनमें सतरह प्रकार कहे हैं।

शंका—तीर्थकरणों मरणोंके १७ प्रकार कहे हैं इतना कहनेसे भी अभिप्राय ध्यानमें आता है 'जिनवचनमें' ऐसे अधिक शब्दकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—आपकी शंका ठीक है, जिन शब्दका यहां गणघर ऐसा अर्थ समझना चाहिये, गाथामें च शब्द नहीं है तो भी उनके बिना भी समुग्यार्थ माना जाता है, यहां ऐसा संन्य करना चाहिये, तीर्थकरणों मरणोंके सतरह प्रकार कहे हैं, और गणघरोंके वचनमें अर्थात् उनके रचित सूत्रोंमें भी मरणोंके सतरह प्रकार कहे हैं, अतः दोनोंके वचन प्रमाण अर्थात् शंकाके स्थान नहीं है। सतरह मरणोंके नाम इस प्रकार हैं—१ आसीचिमरण २ वज्रमरण ३ अवधिमरण ४ आदि अंतियमरण ५ बालमरण ६ पंडितमरण ७ ओमणमरण ८ गालपंडित मरण ९ मज्जल्यमरण १० कलाकामरण ११ वीसदुमरण १२ विष्णुमरण १३ गिद्धपुडुमरण १४ भक्तप्रत्याख्यान मरण १५ केवलमरण ।

आगमोंके अनुसार इनका संक्षेपसे यहां वर्णन करते हैं,

१ आभीचिमरण—भीचि शब्दका अर्थ 'तर्ंग' ऐसा होता है। तर्ंगके समान जो आयु कर्मका प्रतिसमय उदय आता है उसका भी यहां भीचि शब्दसे आचार्य उल्लेख करते हैं। जैसे नदी समुद्र इत्यादिको निरंतर लहरें उछलती हैं वैसे आयु कर्म प्रतिसमय उदयमें आता है। अतएव उसके उदयको आभीचि कहते हैं। आयुका अनुभव लेना वह जीवित है, वह जीवित प्रति समयमें रहता है, प्रत्येक समयका जीवित नष्ट होना वह मरण है, अतः प्रति समयके मरणको भी यहां भीचि कहते हैं। आयुके अनंतर मरण भी प्रतिसमय होता रहता है अतः वह मरण 'आभीचि मरण' ऐसे नामसे प्रसिद्ध है। यह आभीचि मरण मन्व जीवोंके प्रति अनादि और सन्निधन है, मन्वको जब मोक्षमाप्ति होती है तब वह मरण नष्ट हो जाता है अतः इसको सन्निधन कहते हैं। मोक्षके पूर्वमें मन्वकी हत्या मरण या इसकी अपेक्षासे उसे अनादि भी कहते हैं, अतः वह मरण मन्वोंकी अपेक्षासे अनादि सन्निधन है।

टिप्पणी—सिद्धोंकी ही मरण नहीं है उनके जन्म मरणका नाश हो चुका है परंतु सिद्धसे व्यतिरिक्त जीवोंको हमेशा मरण है ही, सिद्ध जीवोंको मन्व भी नहीं कहना चाहिये। जिनको भविष्य कालमें सिद्धत्व पर्याय प्राप्त होगा उनकोही मन्व कहते हैं, सिद्धोंकी तो सिद्धत्व पर्याय मिल चुका है अतः उनको मन्व कहना योग्य नहीं है। सिद्धोंकी अपेक्षासे ही आभीचि मरण अनादि सन्निधन है, मन्वोंकी अपेक्षासे वह अनादि और सन्निधन ही समझना चाहिये।

उत्तर—'भविष्यजन्मनादिवं मरणं आभीचिगं सगिघणं च' अर्थात् मन्वोंका आभीचि मरण अनादि और सन्निधन है ऐसा आगममें कहा है, जिसने मन्वत्वपर्याय प्राप्त किया था वही यह द्रव्य है ऐसी अपेक्षासे मन्वोंका मरण अनादि सन्निधन है ऐसा कह सकते हैं, अर्थात् सिद्धोंकी भी भूतपूर्व मन्वकी अपेक्षासे मन्व कहते हैं।

अमन्वोंकी अपेक्षासे यह आभीचि मरण अनादि अनिधन है, अर्थात् प्रतिसमय उनको आयुका उदय रहता ही है, मन्वकी अपेक्षासे अथवा क्षेत्रकी अपेक्षासे यह मरण सादि कहते हैं।

आयु कर्म के चार भेद हैं, उसमें यद्यपि प्रत्येक भविष्यमें दो आयुकी सत्ता रहती है तो भी एकही आयुका उदय रहता है अर्थात् जिस भविष्यमें वह प्राणी उत्पन्न होता है उस भविके अनुकूल आयुकाही उदय होता है।

परंतु दो आयु कर्म एक साथ रह सकते हैं.

तिर्यंचाद्यु और मनुष्यायुके साथ सर्व आयुष्यकी सचा रहती है. अर्थात् तिर्यंच जीवकी देवायु, नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यंचाद्यु ऐसे आयुमेंसे कोई भी आयुका नेच हो सकता है इस लिये सर्व आयुकी सचा रहती है ऐसा आचार्य कहते हैं. इसी तरह मनुष्यायुके साथ भी—सब आयुकी सचा रहती है. देव आयु और नरकायुके साथ तिर्यंचाद्यु और मनुष्यायु की ही सचा रह सकती है. अतएव देव नारकी नहीं होता और नारकी भरकर देव नहीं होता. देव मरकर तिर्यंच अथवा मनुष्य ही होगा. नारकी भी भरकर तिर्यंच अथवा मनुष्यगतीमें ही उत्पन्न होगा.

शंका—दो आयुष्यों की एक मयमें सचा रहती है यह हम मानते हैं परंतु एकदम दो आयुओंका उदय होता है क्या ?

उत्तर—जिस आयुकी प्रकृति और स्थिति अनुभवमें आ रही है उसके उपर इतर आयुके नियंत्रण रहते हैं. अर्थात् पूर्वायुकी प्रकृति और स्थिती पूर्ण अनुभवमें आकर समाप्त होनेपर नंतर दूसरे आयुका उदय होता है. अतः एकदम दो आयुष्योंका उदय होता नहीं. आपके प्रश्नका उत्तर अन्य प्रकारसे भी दे सकते हैं—

एक जीवकी युगपत् दो भव अथवा दो गतिओंका संभव नहीं है. भव और गति की अपेक्षासे आयुका उदय होता रहता है. इनकी अपेक्षाका लक्षण कर आयुका कभी उदय होता नहीं ऐसा नियम है. एक आत्मामें एक ही आयु कर्म की प्रकृती का उदय एक भग्नमें अता है. इसलिये एक एक आयु की प्रकृति गलित होनेसे आत्मा भग्नानस्थानको प्राप्त होता है. इसको प्रकृतिभरण कहते हैं.

भग्नको धारण करनेमें कारण ऐसे पुद्गलोंमें स्निग्धता रहती है अतः वे पुद्गल आत्माके प्रदेशोंमें संनद्ध होकर रहते हैं. उनको स्थिति कहते हैं. आत्मामें कषाय परिणाम है. यह पुद्गलोंमें स्निग्धता लानेमें सहकारि कारण है. स्निग्धताका उपादान कारण तो वे पुद्गल ही हैं परंतु कषाय न हो तो पुद्गलकी स्निग्धता व्यक्त होती नहीं अतः उसकी व्यक्ततामें अभाव सहस्रांसी कारण माने गये हैं. यह पुद्गल द्रव्यकी स्थिति एक समयसे लेकर चढती है. देवोत्पन्न नैतीम मागोंके जितने मय्य होते हैं उतने भेदवाली जो स्थिति है उसको उत्कृष्ट स्थिति कहते हैं. अंतर्मुहूर्त परिमाणवाली स्थिति तृषण्य स्थिति है. इन स्थितियोंकी तरंगोंके समाव रुमरचना है. इनका

क्रममें नाश होनेसे आत्मको स्थित्यावीचिक मरण की प्राप्ति होती है.

अनुभवावीचिमरणका स्वरूप—कर्म पुद्गलोंका जो रस अनुभवमें आता है उसको अनुभव कहते हैं. यह अनुभव कर्मपुद्गलोंके परमाणुओंमें छह प्रकारकी दानि रूपतासे तथा छह प्रकारकी वृद्धिरूपतासे हीन होता और बढ़ता है. क्रमसे रहे हुए इस अनुभवका तरंगोंके समान क्रमसे नाश होता है. इसको अनुभवावीचिक मरण कहते हैं.

प्रदेशावीचि मरणका स्वरूप—आयुसंज्ञक पुद्गलोंके प्रदेश जपन्य निषेकसे प्रारंभ करके एक दो तीन इत्यादि वृद्धिक्रमसे तरंगके समान नष्ट हो जाते हैं उसको प्रदेशावीचिक मरण कहते हैं. इस तरह आवीचिकामरण का विवेचन हुआ ।

२ तद्भवमरणका स्वरूप—पूर्वमवका नाश होकर उत्तर भवकी प्राप्ति होना वह तद्भवमरण है यह मरण हम जीवने अनन्त बार प्राप्त किया है. यह मरण इस जीवको दुर्लभ नहीं है.

३ अयाधिमरणका स्वरूप—जो प्राणी जिस तरहका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता है. वैसा ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त हीगा तो ऐसे मरणको अयाधिमरण कहते हैं । इस मरणके देशावाधिमरण और सर्वाधिमरण ऐसे दो भेद हैं. सर्वाधिमरणका स्वरूप—प्रकृति, स्थिति, आयु और प्रदेशों सहित जो आयु वर्तमानमयमें जैसी उदयमें आती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसको सर्वाधिमरण कहते हैं ।

देशाधिमरणका स्वरूप—जो आयु वर्तमानकालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदयमें आती है. वैसी ही आयु यदि किसी अंशमें सदृश होकर वंशेगी और आगेके कालमें—मविष्यकालमें उदयमें आवेगी तो उसको देशाधिमरण कहते हैं. अभिप्राय यह है कि कुछ अंशमें अथवा पूर्णरूपसे सादृश्य जिसमें पाया जाता है ऐसा अवधिसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य मर्यादित हुआ है अथवा जिसमें कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मर्यादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं ऐसे मरण को अवधिमरण कहते हैं ।

आद्यंतमरण—वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसा अर्थात् सद्यमरण आगे प्राप्त न होना उमको आद्यन्तमरण कहते हैं. यहां आदि शब्दसे वर्तमानकालीन प्रथम मरण ऐसा अर्थ समझना चाहिये ।

ऐसे मरणका उत्तर मरणमें नाश होना उसको आद्यतमरण कहते हैं। प्रकृति, स्थिति, अस्तित्व और प्रदेशोंसे युक्त ऐसे आपुना नाश होनेमें वर्तमानकालमें विसा मरण प्राप्त हुआ है ऐसा ही सदृश मरण आगे जीवको यदि प्राप्त न होगा तो उसको आद्यतमरण कहते हैं।

५. मालमरणका स्वरूप—मालका—अर्थात् अज्ञानी जीवका जो मरण उसको मालमरण कहते हैं। मालजीवके पांच भेद हैं। उनके नाम यथा—अव्यक्तमाल, व्यवहारमाल, ज्ञानमाल, दर्शनमाल और चारित्रमाल।

अव्यक्तमाल—अव्यक्त शब्दका अर्थ छोटा लडका ऐसा होता है। अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका स्वरूप जानता नहीं और इन चार पुरुषार्थोंका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है ऐसे मालको अव्यक्तमाल कहते हैं।

व्यवहार माल—लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहार माल है। दर्शन माल—वैश्वार्थ श्रद्धान जिनको विलकुल नहीं है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव दर्शन माल हैं।

ज्ञान माल—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञान माल हैं।

चारित्र माल—चारित्रहीन प्राणीको चारित्र माल कहते हैं। ऐसे पांच मालोंका जो मरण उसको माल मरण कहते हैं। ऐसे माल मरण अनन्तवार भूतकालमें इस जीवने प्राप्त किये हैं। अनन्त जीव इस मरणको प्राप्त होते हैं। यहाँ दर्शनमालका प्रकरण ही प्रस्तुत है। इतर मालोंका विवेचन करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। सम्यग्दर्शमें इतर मालफलका सङ्ग्रह है तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे वह दर्शनपंडित कहा जाता है। अतः सम्यग्दर्शन सहित उसका मरण होनेसे उसके मरणको पंडित मरण ही कहते हैं।

दर्शनमालके मरणके संक्षेपसे दो भेद हैं। इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त।

इच्छाप्रवृत्त मरण—अग्नीसे, धूममें, शस्त्रके द्वारा, विपत्ते, पानीसे, पर्वतपरसे कूदनेसे, शालोच्छ्वास रोकनेमें, अति शीतोष्णके पड़नेसे शूक और प्याससे, बिज्जाको उखाड़नेसे, प्रकृतिके विरुद्ध ऐसे आहारका सेवन करनेमें, इत्यादि कारणोंमें जीवनका त्याग करनेकी इच्छासे जो प्राण त्याग करते हैं वे इच्छाप्रवृत्त मरण करनेवाले दर्शन माल हैं। योग्य कालमें अथवा अकालमें ही मरणका अभिप्राय धारण न करते हुए भी दर्शन मालोंको जो मरण आता है वह अनिच्छाप्रवृत्त मरण है। जीवनेकी इच्छा होते हुए भी जो मरण आता है वह

जो दुर्गतिको जानेवाले हैं, जिनका चित्त विषयोंमें आसक्त हुवा है, जिनके हृदयमें अज्ञानांधकार छाया हुआ है. जो क्वादिमें आसक्त हुवे हैं, रसोंमें आसक्त हुवे हैं, और सुखका अभिमान रखते हैं अर्थात् मैं बड़ा सुखी हूं. मेरेको ही अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलते हैं, और मैं बड़ा श्रीमंत णा इत्यादिक रूप तीन गारवोंसे जो युक्त हैं ऐसे जीव ऊपर करे हुए घाल मरणसे मरते हैं. इन बालमरणोंसे बहुत तीव्र पाप कर्मके आसन्न जीवमें आते हैं. ये बालमरण जरा, मरण वगैरह संकटोंमें जीवोंको फेकते हैं.

पंडित मरणका कथन करते हैं—

१ व्यवहार पंडित २ सम्पत्त्व पंडित ३ सम्यग्ज्ञान पंडित ४ चारित्र पंडित ऐसे पंडितके चार भेद हैं. लोक, वैद, समय इनके व्यवहारोंमें जो निपुण हैं वे व्यवहार पंडित हैं. अथवा जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञानकार हैं, दुःश्रुषा, श्रवण, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे जो युक्त हैं उनको व्यवहार पंडित कहते हैं.

दर्शन पंडित—जिनको श्रायिक सम्यग्दर्शन, अथवा औपद्र्यमिक सम्यग्दर्शन वा क्षायोपद्र्यमिक सम्पद्दर्शन हैं वे जीव दर्शन पंडित हैं ।

ज्ञानपंडित—मर्यादि पांच प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जो परिणत हैं उनको ज्ञानपंडित कहते हैं ।

चारित्र पंडित—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, दूरभ्रमसांपराय, यथास्वात ऐसे चारित्रिके पांच भेद हैं. उनमेंसे किसी एक चारित्रिके धारक जो हैं उनको चारित्रपंडित कहते हैं. यहाँ ज्ञानपंडित और चारित्र पंडितोंका ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि व्यवहारपंडित मिथ्यादृष्टि होता है इसलिये उसका मरण बालमरणमें समाविष्ट होता है. और ज्ञानादिपंडितोंका मरण पंडितमरणमें अन्तर्भूत होता है ऐसा समझना चाहिये. नरकमें, भवनवासिदेवोंके स्थानोंमें, स्वर्गवासिदेवोंके तथा ज्योतिर्वासिदेवोंके विषयानोंमें व्यंतरोके निवास स्थानोंमें, द्वीप और समुद्रोंमें दर्शनपंडितका मरण होता है.

ज्ञानपंडितोंका मरण भी उपर्युक्त स्थानोंमें होता है परंतु जिनको मनःपर्यय प्राप्त हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित और जिनको केवलज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानपंडित इनका मनुष्य लोकमें ही मरण होता है ।

अवसन्नमरणका वर्णन—रत्नत्रयभागमें विहार करतेवाले श्रुतिवाँका संघ जिसने छोट दिया है ऐसे श्रुतिको

अनुमन कहते हैं और उसके मरणको अवसन्नमरण कहते हैं. अवसन्न शब्दसे पार्थस्य, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त ऐसे ग्रन्थ मुनिओंका भी ग्रहण होता है. इनका धर्म्म—

पार्थस्य, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न ये पाँच प्रकारके मुनि रत्नत्रयमार्गमें विहार करनेवाले मुनिओंका त्याग करते हैं. अर्थात् स्वच्छन्दसे चलते हैं. ये मुनि क्रद्धीमें आसक्त होते हैं, रसोंमें आसक्ति रखते हैं. दुःखमें डरते हैं, हर्षशा सुखको चाहते हैं, कषायोंमें परिणत होकर आहारदि संज्ञाके आधीन रहते हैं. जिनमें पाप उत्पन्न होता है ऐसे कुशास्त्रोंका अभ्यास करते हैं. ३ गुणित ५ समिति और ५ महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी रहते हैं. इनके परिणामोंमें हर्षशा संक्षेप रहा करता है. आहारके पदार्थ और पिच्छी, कर्मइत्यादिक उपकरणोंमें इनका बिच आसक्त होता है. निमित्त शास्त्र, मंत्र शास्त्र, औषध इनका कथन कर ये उपजीविका करते हैं. गृहस्थोंका वैशाख्य करते हैं. उत्तरगुणोंसे रहित होते हैं. गुप्ति और समितिमें ये प्रेम नहीं करते हैं. नहीं रहती हैं. इनका मन संसारदुःखोंसे भययुक्त होता नहीं है. उचम क्षमादिक दृष्टधर्मोंमें ये प्रेम नहीं करते हैं. इनके चारित्र्यमें दोष लगते हैं. ऐसे मुनिओंको अवसन्न कहते हैं. ये मुनि मरकर हजारों भवमें भ्रमण करते हुये दुःखोंको पारंवार भोगते हैं. यदि पार्थस्यरूपसे विरक्तल विहार कर अंतमें उन्होंने अपनी बुद्धि की होगी तो वे प्रवृत्तमरणको प्राप्त होते हैं.

जो सम्मगदष्टि होकर संयमासंयम अर्थात् अनुव्रत धारण करता है वह श्रावक बाल पंडित कहा जाता है. उपके मरण का नाम बाल पंडित मरण ऐसा है. वह श्रावक बाल और पंडितत्व ऐसे दोनों भावोंसे युक्त होनेसे इनको बाल पंडित कहते हैं. स्थूल हिसादिक पंच पापोंका त्याग इसने किया है, तथा सम्मगदर्शन का धारक भी है. अतः यह चारित्र्य पंडित और दर्शन पंडित है. परंतु यक्ष्य असंयमसे निवृत्त नहीं है, यक्ष्य हिसादि पापोंका त्यागी न होनेसे इसमें बालत्व भी है अतः इसको बालपंडित कहना अनर्थ है. यह बाल पंडित मरण गर्भिज्जपर्याप्त ऐसे लियंच और मनुष्योंमें होता है. देव और नारकी जिनमें नहीं होता. क्योंकि वे केवल दर्शन पंडित ही हैं. दण्डनपंडितमरण उपयुक्त तिर्यंच, मनुष्य, देव और नारकी जीव इनमें होता है.

सद्व्यमरणके दो भेद हैं क्योंकि शून्यके द्रव्यशून्य और भावशून्य ऐसे दो भेद माने हैं. मिथ्यादर्शन भाषा, निदान ऐसे तीन द्रव्योंकी जिनसे उत्पत्ति होती है ऐसे कारणभूत कर्मको द्रव्यशून्य कहते हैं. इनके

उदयसे जविमें जो मायारूप, निदानरूप और मिथ्यास्वरूप परिणाम होते हैं वे भावशून्य हैं. पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पाँच स्थावरोंके मरणको द्रव्यशून्यमरण कहते हैं. असंज्ञि ऐसे त्रस जाँव भी इसी मरणसे मरते हैं.

शंका—द्रव्यशून्य सर्व त्रस स्थावर प्राणिओंमें है ही ? तो स्थावरोंमें ही यह है ऐसा आप कहते हैं यह योग्य नहीं है.

उत्तर—भावशून्यसे रहित केवल द्रव्यशून्यकी अपेक्षासे हमने ऐसा कहा है. सम्यक्समर्थ दर्शनशून्यसे अतिचार उत्पन्न होते हैं. सम्यग्दर्शन स्थावर जवियों और विकलेन्द्रियोंमें नहीं उत्पन्न होता है.

मेरेको भविष्यत्कालमें ऐसी ऐसी वस्तु मिलनी चाहिये ऐसा मनका संकल्प होना उसको निदान कहते हैं. यह असंज्ञिजीवोंमें मन न होनेसे नहीं होता है.

रत्नत्रयमार्गकी दृष्टि लगाना, मार्गका नाश करना, मिथ्यामार्गका निरूपण करना, रत्नत्रयमार्गमें चलने-वाले लोगोंका बुद्धिसेद करना ये सब मिथ्यादर्शनशून्यके प्रकार हैं.

निदानके प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत ऐसे तीन भेद हैं. परिपूर्ण संयमकी आराधना करनेकी इच्छासे जन्मांतरमें मेरेको पुरुषत्व प्राप्त हो, उत्तम कुल, उत्तम दृढ शरीर इत्यादि सामग्री प्राप्त हो ऐसी प्रार्थना करना प्रशस्तनिदान है. कपायसे प्रेरित होकर आगेके जन्ममें कुलरूपादिकोंकी प्रार्थना करना अप्रशस्तनिदान है. अथवा मोर्धांध होकर अपने शत्रुओं में उत्तर भवमें मार सकूँ ऐसी इच्छा रखना जैसे वशिष्ठमुनीने उग्रसेन राजाका नाश करनेकी इच्छा की थी. यह वशिष्ठमुनि शरकर कंस हुवा था. उसने अपने पिताका राज्य छीन लिया था और उसको कारागृहमें कैद किया था. यह अप्रशस्तनिदानका उदाहरण है.

भोग निदान—इस लोकमें तथा परलोकमें—स्वर्गादिकमें मेरेको अच्छे २ भोग इस त्रताचरणसे मिलने चाहिये ऐसा मनमें संकल्प करना वह भोगनिदान है. यह भोगनिदान असंयतसम्यग्दृष्टि व संयतासंयत अर्थात् श्रावकको होता है. ये जीव भोगनिदानसे मरते हैं. इसको भोगनिदान मरण कहते हैं.

मायाशून्यमरण—पाँधस्थ, कुशील, संसक्त वगैरे अष्ट युनीके रूपसे विहरकाल तक विहार करके जो मुनि मरणसमयमें भी दोषोंकी आलोचना किये बिना ही मरते हैं उनका वह मरण मायाशून्यमरण समझना

शारीरिक और मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर अर्थात् उनमें एकाग्रचित्त होकर, दुःस्वप्ने मूर्छित होकर जो मरण होता है वह अस्मात्वेदनावशार्त मरण है. शारीरिक और मानसिक सुखोंमें अनुरक्त होकर जो आर्त ध्यानासे मरण होता है वह सातवेदनावशार्त मरण है.

कपायवशार्त मरण—कपायके चार भेद होनेसे इस मरणके भी चार भेद होते हैं. स्वतःमें, दुसरेमें अथवा उभयत्र उत्पन्न हुआ जो क्रोध मरणको कारण हो जाता है वह क्रोधकपायवशार्त मरण है. मानवशार्त मरण—इसके आठ भेद हैं. कुल, रूप, बल, शास्त्रज्ञान, ऐश्वर्य, लाभ, प्रज्ञा-बुद्धि व तप इनमें उत्पन्न हुए अभिमानके नज्में मरण होना मानवशार्त मरण है. ? विख्यात, विशाल और उत्कर्षको प्राप्त हुए कुलमें उत्पन्न हुआ है ऐसे अभिमानसे जो मरण होता है वह कुलमानवशार्त मरण है.

२ मेरी पाँचों इंद्रियां निर्व्यय हैं, मेरा शरीर संपूर्ण अवयवोंसे युक्त है, मैं तेजस्वी हूँ, नवीन यौवनसे मेरा शरीर युक्त है, मेरा सौंदर्य समस्त लोकोंके अंतःकरणको हर लेता है ऐसी भावनामें जो मरण होता है वह रूप-मानवशार्त मरण है.

३ मैं वृद्ध और पर्यंतोको भी उत्साहनेमें समर्थ हूँ, बड़े बड़े योद्धा मेरे आश्रयमें रहते हैं, बहुतसे मित्र भी मेरेको सहाय प्रदान करते हैं. ऐसा सखीय बलका अभिमान करते करते मरण होना वह बलभिमान-वशार्त मरण है.

मैं बड़े परिवारका मालिक हूँ, बहुत लोगोंपर मेरी हुकमत चलती है ऐसे ऐश्वर्यके मानसे उन्मत्त होकर जो मरण होता है वह ऐश्वर्यमानवशार्त मरण है.

५ मैंने लोक व्यवहार, वेद, अनेक मत इनके सिद्धान्त शास्त्रोंका अध्ययन किया है ऐसे शास्त्रज्ञानके अभिमानमें चर होकर मरण करना यह शुतमानवशार्त मरण है.

६ मेरी बुद्धि तीक्ष्ण है, सर्व विषयोंमें विना स्वभावटके प्रवेश करती है ऐसे बुद्धिभिमानके वशमें आकर मरण होना वह प्रज्ञामानवशार्त मरण है.

७ व्यापारमें मेरेको हमेशा लाभही होता है ऐसा लाभके अभिमानमें मच होकर जो मरण होता है वह लाभमानवशार्त मरण है. ८ मैं तप करता हूँ, मेरे समान तप करनेवाला कोई नहीं है ऐसे अभिमानमें आकर

जो मरण होता है वह तपोमानवदाते मरण है.

सायने पांच प्रकार है. निष्कृति, उपधि, साति प्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकृचन. १ धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है ऐसे मनुष्यका जो फसानेका चातुर्य उसको निष्कृति कहते हैं २ अच्छे परिणामको दृक्कर धर्मके निमित्तसे चोरी चोरे दोषोंमें प्रवृत्ति करना वह उपधिसंज्ञक माया है. ३ धनके विषयमें असत्य बोलना, अपने हाथमें किसीने रखनेकेलिये द्रव्य दिया हो तो उसका कुछ हिस्सा हरण करना, दूण लगाना, अथवा प्रशंसा करना यह सातिप्रयोग साया है. ४ हीनाधिक कीमतकी सद्य वस्तुयें आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर पत्तेरी वगैरह साधन पदार्थ कम जादा रखकर लेन देन करना, सच्चे और झूठे पदार्थ आपसमें मिलाना. यह सब प्रणिधि माया कहते हैं. ५ आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना यह प्रतिकृचन माया है. ऐसे मायाके प्रकार करते हुए जो मरण होता है उसको मायावशात् मरण कहते हैं.

उपकरण पिछी, कर्मदुल आदिक, भक्षण-आहारके और पीनेके पदार्थ, शरीर, निवासस्थान इत्यादि-कोमैं इच्छा-ममत्व रखते हुए जो मरण होता है वह लोभवशात् मरण कहते हैं.

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, लीनेद, पुल्लवेद, नपुंसकवेद इनसे जिसकी बुद्धि मूढ़ हो गई है ऐसे मनुष्यका जो मरण वह नैकप्रपञ्चार्त मरण है.

जो प्राणी वशात् मरण को प्राप्त होते हैं वे मनुष्य और तिर्यचोंमें जन्म धारण करते हैं. तथा असुर, फंदर्पजातिके देव, किन्तिप देव इनमें वशात् मरणसे मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं. इनके इस मरणको चालमरणमें अन्तर्भूत कर सकते हैं. दर्शन पंडित भी, अविरत सम्यग्दृष्टि, और संप्रतांसंयत जीव भी वशात् मरणको प्राप्त होते हैं. उनका यह मरण बालपंडित मरण अथवा दर्शन पंडित मरण समझना चाहिये.

विप्राणममरण और गृधृष्ट ऐसे नाम जिनके हैं ऐसे दो मरणोंका शास्त्रोंमें निषेध नहीं है और इनकी अनुज्ञा भी नहीं है.

दुष्कालमें, अथवा दुर्लभ्य ऐसे जंगलमें, पूर्वकालके शत्रुका भय उपस्थित हुआ हो ऐसे समयमें, दुष्ट राजाने भीति उत्पन्न हुई हो, चोरसे भय उत्पन्न हुआ हो, तिर्यचका उपसर्ग हो रहा हो, एकाकी स्वयं सहन करनेमें अमर्ष होनेमें, प्रमदवतका नाश वगैरके द्वारा चास्त्रिये दोष लगनेका प्रसंग आया हो तो संसारभील,

पापोंमें दृढताला, ऊर्मिका उदय इस समय उपस्थित हुआ है ऐसा जानकर उसको सहन करनेमें असमर्थ होता है, ऐसे मंत्रोंसे पार पड़ने का उपाय उसको नहीं दीखता है तो भी पापकार्योंसे बह दृढ़ता है, आत्माका घात करनेवाले मरणोंमें भयपुक्त होता है, उपर्युक्त खारण उपस्थित हो जानेपर अथ वेप कुछल होगा क्या ऐसा वह मनमें निचार करता है—यदि मैं इस उपसर्गके भयसे पीडित हो जाऊँ तो मेरा संयम नष्ट होगा और मेरा सम्यग्दर्शन भी नष्ट होगा, इस उपसर्गसे जो वेदना हो रही है वह सहन करते समय परिणामोंमें संकेल्य होगा ही, अथ मेरी रत्ननयाराधना नष्ट होनी—न टिकेगी ऐसा जब उसको निश्चय होता है उस समय निश्चय होकर चारित्र और दर्शनमें निशुद्धता धारण कर धैर्यपुक्त होता है, ज्ञानका सहाय लेकर निदानरहित होता है, अर्हन्तके समीप आलोचना करके निशुद्ध होता है, निर्मल लेश्याधारी वह पुरुष अपने आसोझुसका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है, ऐसे मरणको विप्राणस मरण कहते हैं,

उपर्युक्त फारण उपस्थित होनेपर शस्त्रग्रहण करके जो प्राणत्याग किया जाता है वह शुद्धपृष्ठ मरण है,

इस तरह मरणके जितने निकल्प संभवीय थे वे कहे हैं, ऐसे मरणोंसे प्राणी प्राणत्याग करते हैं, प्रायोपगमन मरण, हंगिनी मरण, और भक्तमत्याख्यान मरण ऐसे तीन मरणही उच्यते हैं, पूर्व कालीन महापुरुषोंने इनकी ही प्रशंसा चलायी है, हमने संक्षेपसे आगमका अनुमरण कृत्के सतरा प्रकारके मरणका विवेचन किया है,

पलेषु सप्तदशसु पंच मरणानि इह संक्षेपतो निरूपयिष्यामीति प्रतिज्ञातेन कृता । कानि तानि पच मरणानि इत्याशङ्कार्या नामनिर्दितायै गाथाभाह—

पंडिपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चैव ॥

बालमरणं चतुर्थं पंचमयं बालबालं च ॥ २६ ॥

पंडितं पंडितादिस्थं पंडितं बालपंडितम् ॥

चतुर्थं मरणं बालं बालबालं ॥ पंचमम् ॥ २९ ॥

विजयोद्यम—पंडितपंडितमरणमित्यादि । ननु भयपर्यायप्रलयो मरणं यदि श्रुते तस्य को भेदो भव-
 पर्यायस्य अनेकत्वात् मरणं तद्विनाशः कथं न भिद्यते इति । मनुष्ये पंचप्रकारताडुपपन्ना अनंतत्वात् । एक-
 जीवगतस्यापि भयपर्यायस्य नानाजीवोपपत्त्यां कोऽयत्नः पंचत्वस्य । प्राणिनः प्राणेश्वो भियोगो मरणं इति
 चेन्नदेकविधमेव सामान्यतः । आणभेदोपेत्येति चेदप्रकारतापद्यते । उद्यमगतकर्मापुल्लगलनं मरणं इति यदि
 मृगते प्रतिसमयं गलनाय पंचता । गुणभेदोपेक्षया जीवानपंचथा व्यवस्थाप्य तत्संबन्धेन पंचविधं मरणमुच्यते ।
 अत्रान्या व्याख्या—अशास्त्रात्मं, अशास्त्रात्मं, ईश्वरशास्त्रं, अविशिष्टं, अविशिष्टतरं इति पंडितपंडितमरणा-
 नीनि केचिदाचक्षते । पंडितसंघः प्रशास्त्रमित्यसिद्धार्थे क प्रयुक्तो दृष्टो येनैवं व्याख्यायते ? किं च आश्रमांतरा-
 ननुगतं चेत् व्याख्या ।

प्रवहारे सम्प्रते पाणे खरणे य पंडितस्त तदा ।

पंडिवमरणं भणितं चतुर्विधं सम्प्रते हि ति ॥

इति यदा चतुःप्रकाराः पंडिता उपदिष्टाः । तेषां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनादिषु स
 पंडितपंडित इत्युच्यते । एतत्पांडित्यप्रकर्षणं हि पांडित्यं यस्य स पंडित उच्यते । व्याख्यातं पास्वं पांडित्यं च यस्य
 स भवति पाण्डपंडितः तस्य मरणं पाण्डपंडितमरणं । यस्मिन् संभवति पांडित्यं चतुर्णामप्येकं आसीत् यालः । सर्वतो न्यूनो
 पाण्डपण्डः तस्य मरणं पाण्डपण्डमरणं ।

कानि तानि पंचमरणातीत्यनुयोगे गुणभेदोपेक्षया जीवानपंचथा व्यवस्थाप्य तत्संबन्धेन मरणपंचकनिर्देशार्थमाह-
 मूला—पंडिवपंडिवमरणं—भयपर्यायविनाशः । निरुक्तिगम्यत्वात्पंचां लक्षणस्यावबन्धम् । तथा हि—

सुतये सम्प्रते या पाणे खरणे य पंडितं जम्हा ॥

पंडिवमरणं भणितं चतुर्विधं तद्विदूहि जप ॥

एवंविपचतुर्विधपंडितानां मध्ये अतिशयितं पांडित्यं यस्य ज्ञानदर्शनचारित्र्यपस्तु स पंडितः संपूर्णं क्षायिकज्ञा-
 नातिरित्यर्थः । ततोऽन्यः पंडितः प्रमत्तसंयत्तादिः । पंडा हि रत्नत्रयपरिणता बुद्धिः संज्ञाता अत्येति पंडितः । अत एव
 संप्रवर्तयतो पाण्डपंडित इत्युच्यते । कुतश्चिदसुखादसंयमादनिवृत्तत्वाद्वास्ततोऽन्यत्र रत्नत्रये परिणतबुद्धि-
 त्वाच्च पंडितः, बालश्राप्सो पंडितश्च पाण्डपंडितः । यतश्च सर्वत्रासंयतोऽसंयतसम्बन्धद्विस्तवो यथोक्तपांडित्यवियुक्तत्वाद्वा
 इत्युच्यते । दर्शनमानद्वये सत्यपि सर्वथा चारित्र्यद्विस्तवान् । अत एव मिथ्यादृष्टिर्बालाञ्च इत्युच्यते सम्यक्त्वस्याप्यभावेन
 प्राप्त्यान्यातीत्येतान् । पंडितं पंडितमरणं संज्ञेकदेशेनापि तद्व्यवहारदर्शनात् भीमादिवत् एवमुत्तरव्यापि चोच्यं ।

तत्राद्यानि त्रीणि मरणानि सुगतिगमननियतविभित्त्वाञ्चिना खुवन्ति नेतरद्वयं तद्विषयीतत्वाच्च ॥ तथा चान्यसादानीय दूत्रे पठन्ति—

पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चैव ॥

एवाणि विणिग मरणाणि विणा पिबं पसंसंति ॥

सतर प्रकारके मरणोंसे पांच प्रकारके मरणोंका संक्षेपसे मैं वर्णन करूंगा ऐसी ग्रंथकारने प्रतिज्ञा की है वे पांच मरण कौनसे हैं ? ऐसी शंका होनेपर मरणका नाम निर्देश करनेके लिये आचार्य गाथा कहते हैं—
हिन्दी अर्थ—पंडितपंडितमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण, बालपंडितमरण, बालमरण और बालबालमरण ऐसे पांच मरण हैं.

निर्देशार्थ—‘ भवपर्यायश्रव्यो मरणं , मनुष्यादिभक्तके पर्यायका नाश होना वह मरण है ऐसा यदि मरणका लक्षण करोगे तो भवपर्याय अनेक प्रकारके हैं उनका नाश होना यह भी मरण है ऐसा मानना पड़ेगा. पर्यायोंका नाश और मरण इसमें कुछ विशेषता अनुभवमें न आवेगी. यदि भवपर्याय अनेक है और उन सबका ही नाश होना मरण माना जाता है अतः पर्यायका नाश और मरण इनमें अंतर है ऐसा कहोगे तो मनुष्यमें मरणके पांच प्रकारोंकी संभावना न होगी. क्योंकि एक जीवका भी भवपर्याय अनंतरूपका होता है. नावा जीवोंकी अपेक्षा वे तो मरणके पांच प्रकार नितरां सिद्ध न होंगे.

‘ प्राणिन. प्राणेश्वरों वियोगो मरणं ’ प्राणोंसे प्राणीका अलग होना मरण है ऐसा यदि लक्षण करोगे तो सामान्यकी अपेक्षासे एकही मरण सिद्ध होगा. मरणके पांच प्रकार सिद्ध न होंगे. ग्रामभेदकी अपेक्षासे मरणभेद मानोगे तो मरणके दश भेद होंगे. ‘उदययासकर्मपुद्गलगलनं मरणं’ उदयमें आये हुए कर्मपुद्गलका खिरना वह मरण है ऐसा यदि कहोगे तो कर्मपुद्गल प्रतिमभयमें खिरते हैं अतः मरणके पांच प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं. गुणभेदकी अपेक्षामें जीवोंके पांच प्रकार होते हैं अतः गुणोंके संबंधसे मरणके पांच भेद हम मानते हैं ऐसा यदि कहोगे तो यह कहना संशुक्तिरुद्ध है.

यहां दूसरे विद्वान् अन्य तरहमें व्याख्या लिखते हैं—

“ पंडितपंडित मरण प्रशस्तव्य है, पंडितमरण प्रशस्ततर, बालपंडित मरण श्रेष्ठतम-योढासा प्रशस्त है. बालमरण और बालबालमरण क्रमसे अविशिष्ट और अविशिष्ट तर है ” ऐसी व्याख्या करते हैं. परंतु पंडित शब्द प्रशस्त इन अर्थमें किम प्रकरणमें प्रयुक्त किया हुआ उन्होंने देखा है ? जिससे वे ऐसा व्याख्यान करते हैं. दूसरे आगमका आशय न लेकर यह व्याख्यान किया गया है.

आगमान्तरमें व्यवहार, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनमें जो पंडित हैं ऐसे जीवोंका जो मरण वह पंडितमरण है ऐसा कहा है. उसके चार प्रकार हैं. जैसे-व्यवहारपंडित मरण, सम्यक्त्वपंडितमरण, ज्ञानपंडित मरण, और चारित्रपंडित मरण. व्यवहारादिक अर्थोंमें आगमान्तरमें पंडित शब्दका प्रयोग किया हुआ है. परंतु प्रशस्ततम, प्रशस्ततर वर्गरे अर्थमें प्रयोग नहीं देखा गया है.

ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें जिनका अत्यंत पांडित्य है वे पंडितपंडित हैं. इस तरहका पांडित्यका मर्कप गानादिकोंमें जिनका नहीं है अर्थात् जिनमें ज्ञानादि विषयक पांडित्य अल्प है वे पंडित हैं. जिसका विषयन पूर्वमें तर चुके हैं. वास्तव और पांडित्य जिनमें हैं वे बालपंडित है. जिनमें चार प्रकारके पांडित्योंमेंसे एक भी पांडित्य नहीं है वे बाल हैं. तथा समस्त जयन्त्य जो वह बालबाल हैं. इन सबके मरणोंको क्रमसे पंडितपंडित मरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालबाल मरण ऐसे नाम हैं.

पंडिदपंडिदमरणे स्त्रीणकसाया मरंति केवलिणो ॥

विरदाविरदा जीवा मरंति तदिदयेण मरणेण ॥ २७ ॥

विज्ञातव्यमयोगानां तत्र पंडितपंडितम् ॥

वेदांसंयतजीवानां मरणं बालपंडितम् ॥ ३० ॥

वित्तयोगेभ्यः—पंडिदपंडिदमरणं स्त्रीणकसाया मरंति केवलिणो । सामान्यमृतेर्विशेषमृतिः कर्मतया निर्दुष्टं पंडितपंडितमरणमिति । यया गोपेयं पुष्टः । स्त्रीणकसाया कथन्ति हिंसन्ति आत्मानामिति कथायाः । कथाय-
साधनेन पनसतीनां त्वक्षरममूलफलक्षरस उच्यते । स यया पखादीनां वर्णमन्यथा संपादयति एवं जीवस्य क्षमा-

मार्गचाञ्चलतोपायगुणान्विनान्ध्यान्यथा व्यवस्थापयंतीति क्रोधमममागलोभाः कपाया इति भण्यन्ते । क्षीणाः कपाया येनां ते क्षीणकपायाः । द्रव्यकर्मणां कपायेवेदीयानां विनाशान्तन्मूला अपि भावकपायाः प्रलयमुपगता इति क्षीणकपाया इति भण्यन्ते । केवलमवसाद्यं ज्ञानं इन्द्रियाणि मनःप्रकाशादिकं च नापेक्ष्य युगपदशेषद्रव्यपर्याय भानतत्समर्थं सद्यः प्रवर्तते तथेयमास्ति ते केवलिनः । यद्यपि केवलज्ञानवस्तुसामान्येन प्रवर्तते केवलेशब्दस्तथापि स्वयोनोकेवलिनो मरणस्यासंभवाद्ययोगकेवलिनो ग्रहणं । अत्रान्ये क्षीणकपायाः श्रुतेकेवलिनश्चेति व्याचक्षते । तेषां तत्त्वान्यनमतमन्तसं । श्रुतशब्दमन्तरेण केवलेशब्दस्य कचिदप्यगमे समस्तश्रुतजनयस्यपि प्रयोगदर्शनात् । प्रसिद्ध-
राज्यार्थासंभयो यदि स्यात् कचिदप्यन्योऽर्थो व्याख्येयः स्यात् । संभवति प्रतीत्यै कथं तत्परित्यागः । अपि च पादित्यप्रकर्षः द्वायैकज्ञानवर्दान्यादिरापेक्षस्य सन्निहितो न श्रुतकेवलिनः । विरदाधिराज जीवाः स्थूलकृत्ता-
भ्याणतियतोऽव्यपृताः इति विरताः सूक्ष्माध्यात्मधुषेरविरताः । विरता यदि कथमविरता अविरताश्चेत्कथं विरताः इति विरोधाशङ्का न कार्या । विरतत्वाविरतत्वयोः अर्थभेदोऽस्ति विरोधो नास्पदं यस्मात् । यथा द्रव्यपर्यायापेक्षे निरूपितस्यैककद्रव्याधिकरणे एकस्मिन्नपि समये न विरोधमुपपातः । अथवाऽप्रत्याख्यानावरणानां स्वयोपशमे तस्मिन् स्थूलाग्रानातिपातवैरितोऽस्मि न सूक्ष्मादित्येक एव परिणाम उपजायते । विरोधश्च नाम अनेकाधिकरणः यथा क्षीतोष्णस्पर्शादीनां । द्रव्यमात्रमात्राधारणाजीया इति निरूप्यते । तद्विषयं तृतीयेन । मरणेण मरणेन । क्षियन्ते । यस्तुपरिणामदृष्टिकर्मो यदि स्यात्तथा गणने द्वित्वं त्रित्वं वा प्रतिपत्तेरन्व । गुणक्षानापेक्षायां सम्यक्क्षि-
ध्यादधरेव तृतीयता न संयतासंयतापस्य त्रिकमुच्यते तृतीयेनेति ? मरणस्य तु सामान्यापेक्षायां एकत्वमेवेति न एतरीयता । विरोधापेक्षायां च अतीतानां च भवन्तत्वावनागतानां चातिशयबुलसंभवात् । अबोध्यते सूत्रनिर्दि-
ष्टक्रमापेक्षया तृतीयता प्राप्ता ।

मरणानां स्वामिविशेषनिर्णयार्थं गाथात्रयं विष्णुशरादौ प्रसृतस्वतन्ममत्त्वमरणद्वयनिर्देशार्थमाह—

मूलादा—पंडित्वं विदमरण—पंडित् पंडितपंडितमरणेत्यर्थः । आपर्त्वाद्भिभक्तिविपर्ययः । आपर्त्वाकृते सर्वे निषयो विकल्पे इत्यभिधानात् । X टीकाकारस्तु सामान्यकृतेः विज्ञेयपशुतिः कर्मतया निर्दिष्टा तथा गोपोषं पुष्टमिदयाचष्टे ।

अथवा मरंति प्राप्नुवन्ति इति व्याख्येयं प्रातृतामेवकार्यत्वात् । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र व्याख्यातव्यम् । क्षीण-
कृताया—कपन्ति दिसन्ति इत्यादिनिर्वर्तकप्रमाणैर्विजोयंत्यात्मानमिति कपाया द्रव्यकोषादयः अथवा घनस्पर्शानां स्वगमूलफलप्राप्तौ रस्तविशेषः कथायः । कपाय इव कपायः श्रोमादिः वस्त्रादीनां वर्णदेव जीवस्य क्षमादिगुणानां अन्य-
धात्वत्तेषादकृताम् । कपायशब्देन चान्न कपायोदयजनितविभक्तिकारकः कर्माश्रयकारणमात्मप्रदेशपरिस्पर्धो

+ टीकाकार अपराजितमुरि.

प्राप्तः । केवलज्ञानस्य मोहादिकर्मनिर्मूलव्यूलत्वेन केवलिनः क्षीणकृपायत्वविशेषणस्य निष्कलत्वात् । किं मरण-
करणात् क्षीणकृपाया इत्यनेन अयोगा निश्चीयते सयोगकेवलिनां मरणसंभवात् । क्षीणा विवेक्ष्यं गताः कृपाया येभ्यस्ते
क्षीणकृपायपेदनीयाः ततोदेव च विनाष्टतन्मूलमावकृपायाः मरंति द्रव्यप्राणांस्त्यजन्ति । सिद्धानामपि सत्तावैतन्य
त्रोपादित्यमावमरणपरणटनलक्षणजीवस्यभावविशेषात् । तथा चोक्तम्—

असि जीवसहस्रो जल्य अभावो मि सन्वहा तस्स ॥

ये होन्ति मिण्णदेहा सिद्धा बन्दिगोबरमरीया ॥

केवलिनो करणादित्यहावनिरपेक्षतया युगपजिज्ञेस्यद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणसमर्थं ज्ञानं येषां नित्यमस्ति
वे केवलिनः । विरदादिरवा एकास्मिन्नेव समये स्थूलस्थानातिपातादेव्यादृष्टाः सूक्ष्माब्जाव्यावृत्ताः भावकाः इत्यर्थः ।
जीवाः पुरुषाः न प्रधानं । सांख्या हि प्रधानस्य मरणमिच्छन्ति । तद्वियेण बालपंडितेन ।

जिनके मरणको पंडितपंडित मरण ऐसी संज्ञा है वे पंडितपंडित कौन है ? अर्थात् पंडितपंडित किनको
कहते हैं ऐसे प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—पंडितपंडित मरण, पंडितमरण और बालपंडित मरण इन तीन मरणोंकी जिनेद्र देव
नित्य प्रशंसा करते हैं, क्षीणकृपाय केमली भगवान् पंडितपंडित मरणसे मरते हैं, अर्थात् केवलिके मरणकी पंडित
पंडित ऐसी मंज्ञा है, विरतानिरत जीनके मरणको बालपंडित मरण ऐसा नाम है.

गार्थार्थ—‘पंडितपंडितमरणं स्वीणकृपाया मरंति केवलिनो’ इस वाक्यमें ‘मरंति’ इस सामान्य
मरणरूप क्रियाका ‘पंडितपंडितमरणं’ यह विशेष मरण कमरूपसे प्रतिपादन किया है. जैसा ‘गोपोपं पुष्टः’ अर्थात्
नेल जैसा पुष्ट रहता है वैसा यह आदमी पुष्ट है. जैसा यहां पुष्टिसामान्यका गोपोपं यह कर्ममरीखा विशेषण है उसी
तरह नामान्य मरणका ही पंडितपंडितमरण यह एक विशेष प्रकार समझना चाहिये.

जो आत्माका घात करते हैं वे कृपाय हैं. अतएव कृपायशब्द की निरुक्ति आचार्य ‘कपन्ति हिंसन्ति
आत्मानमिति कृपायाः’ ऐसी कहते हैं. अथवा पृथ्वीकी छाल, मूल, पत्ते और फलोंका जो रस निकलता है

उपको भी कपाय कहते हैं। वह रम जैसा वस्त्रादिकोंका वर्ण अन्यथा करता है। उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ ये कपाय जीवके उत्तम धामा, विनय, सरलपना, और निस्पृहताकी अन्यथा करते हैं, उनका नाश करते हैं। अतः इन क्रोधादिकोंका 'कपाय' यह नाम अन्वर्थक है।

कपायके द्रव्यकपाय और भाव कपाय ऐसे दो भेद हैं। क्रोध, मान, माया लोभ इन कपायवेदनीय कर्मको द्रव्यकपाय कहते हैं। और इनके उदयसे आत्माकी क्रोध मान माया लोभरूप परिणति हो जाती है वह भावकपाय है। केवली भगवान्‌के द्रव्यकपाय और भावकपाय दोनों की नष्ट हो चुके हैं अतः वे क्षीणकपाय इन अन्वर्थ नामसे युक्त हुए हैं। इंद्रियां, मन और प्रकाशादिक वस्तुओंकी अपेक्षाके बिना युगपत्-एकदम संपूर्ण द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती पर्याप्त ज्ञाननेमें जो ज्ञान समर्थ होकर समस्त पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है वह केवल ज्ञान है। यह ज्ञान केवल अर्थात् असहाय है। इन्द्रियादिकोंकी मदद न लेकर स्वयं अपने सामर्थ्यसे पदार्थोंको जानता है अतः इसको केवल-असहाय ऐसा कहते हैं। ऐसा माहात्म्यशाली ज्ञान जिनको हैं वे मुनि केवली अर्थात् केवल जानी कहे जाते हैं। केवली यह शब्द सयोग केवली और अयोग केवली दोनोंमें रूढ है तो भी यहां केवली शब्दमें अयोगकेवलीका ही ग्रहण करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि-सयोगकेवली गुणस्थानमें मरण नहीं होता है अतः अयोग केवलीका ही केवली शब्दसे ग्रहण होता है।

कोई २ विद्वान् केवली शब्दका अर्थ क्षीणकपाय गुणस्थानवर्ती मुनि और श्रुतकेवली ऐसा करते हैं। परंतु ऐसा अर्थ करना अयोग्य है। श्रुत शब्द केवली शब्दके पूर्वमें जोड़ देनेसे ही श्रुतकेवली ऐसा अर्थ होगा। श्रुतशब्द रक्षित केवली शब्दका किसी भी आशयमें समस्तश्रुतरूपी रत्न धारण करनेवाले श्रुतकेवलीके नियममें प्रयोग किया है ऐसा देखनेमें आया नहीं। प्रसिद्ध शब्दका अर्थ प्रकरणमें यदि असंभवरूप मात्सर्य पड़ेगा तो अन्याय की कल्पना की जा सकती है। यहां तो प्रसिद्ध अर्थ ही योग्य जंचता है। अतः श्रुतकेवली ऐसा अर्थ निकालने की अपेक्षा नहीं है, दूसरा कारण यह भी है कि, पांडित्यका प्रकर्ष केवलज्ञानियोंमें ही होता है अन्यत्र श्रुतकेवल्यादिकमें नहीं है। अतः पंडितपंडित केवली भगवान्‌को ही कहते हैं। केवली भगवान्‌में क्षाधिकज्ञान, धामिरु दर्शन और चारित्र रहते हैं यह पांडित्यप्रकर्ष केवलीमें है। परंतु यह श्रुतकेवलीमें नहीं है। अतः केवली शब्दका अर्थ श्रुतकेवली ऐसा समझना योग्य नहीं है।

विरतानिरत जीयोंसे मरणको बालपंडित मरण कहते हैं. श्रावक स्थूल हिसादि पांच पापोंसे विरक्त रहते हैं अतः उनको निरत कहते हैं. ब्रह्मपापोंका वे त्याग नहीं कर सकते हैं इसलिये उनको अविरत भी कह मरते हैं.

शंका—यदि ध्यानकोंको आप 'निरत' ऐसा कहना चाहते हो तो उनको अविरत मत कहो, यदि अविरत रहनेो तो विरत कहना अनुचित है ?

उत्तर—विरतत्व और अविरतत्वमें निगूढाभेदसे विरोध नहीं. जैसे एकही पदार्थको द्रव्यापेक्षासे और पर्यावापेक्षासे एकनमयमें नित्यानित्य समझते हैं. अर्थात् द्रव्यरूप आधारमें एक समयमें नित्य और अनित्य ऐसे दो धर्म रहते हैं. वैसे अद्रव्यारथानाश्रणीय कर्मका क्षयोपशम होनेसे मैं स्थूलपातकोंसे विरक्त हुवा हूं सूक्ष्मपातकोंसे नहीं ऐसा एकही परिणाम युगपत् उत्पन्न होता है. इसलिये विरताविरतत्वमें निरोध नहीं है. जहां एक पदार्थमें दो धर्म यदि अनुनय में आते हैं तो वहां निरोध कैसा ? विरोध अनेक आधारमें रहता है. जैसे क्षीतस्पर्श और उष्णस्पर्श एक आधार में नहीं रहता.

निरतानिरत जीय द्रव्य प्राण और भावप्राणोंके धारक है अतः वे जीव हैं. वे विरताविरत तृतीय मरणसे बालपंडित मरणमें मरते हैं. यहां तृतीय शब्द वस्तुके परिणामगणनामें यदि उपयुक्त है ऐसा कहोगे तो गणनाके समय विरतानिरतजीयको क्षिर का नित्य भी प्राप्त होगा. तृतीय शब्दसे तिसरा गुणत्वात्न ऐसा अर्थ मानोगे तो मन्मदुमिच्छाद्विजो तृतीयपत्ता प्राप्त होगा. मंयतामंयतको तीसरेपत्ता प्राप्त न होगा. अतः 'तृतीय' ऐसा कहना योग्य नहीं है. यदि मरणकी अपेक्षासे तृतीयता मानते हो तो मरण सामान्यापेक्षासे एक ही है उसको तृतीयता नहीं है. विशेषमरणापेक्षासे तृतीयता मानोगे तो भूतकालमें अनंतमरण हो चुके हैं और भविष्यत्कालमें भी बहुत होंगे अतः विशेषमरणापेक्षाने भी तृतीयता सिद्ध नहीं होती.

उत्तर—युनमें कहे हुए क्रमकी अपेक्षासे मरणकी तृतीयता ग्रहण करनी चाहिये. अर्थात् पहिला मरण पंडितपंडितमरण, दुमरे मरणको पंडितमरण कहते हैं. और तिसरा मरण बालपंडित इम नामका है.

अथ के पंडितपंडिता येयां मरणं पंडितपंडितमरणं इति भण्यते ह्यल्लोकायामाह—
पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ॥

एदाणि तिणिण मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥ २८ ॥

निःअ्रेयससुत्तादीनां आसञ्जीकरणक्षमं ॥

आदिमं जायते तत्र प्रशस्तं मरणत्रयम् ॥ ३१ ॥

विजयोदया—पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव इति । विरताविरतपरिणामविशेषनिर्देशादेव जीव
ब्रह्म गते जीवा इति सूत्रे रचनमपार्यकमिति चेन्नानर्थकं । मतान्तरनिवृत्तिपरत्वात् । सांख्या हि प्रकृतिधर्मतां मरण-
स्याधुपयन्ति पुरुषस्य सर्वथा नित्यत्वात् । तत्तथा न, उरपाद्व्ययधौव्यात्मकत्वादात्मनः । अत्रोच्यते—पंडितपंडितमर-
णादनन्तरं पंडितमरणे तदुल्लेख्य तृतीयस्य स्वागित्वं कस्यत्वदर्शयते कमोल्लेखने प्रयोजनं याच्यम् ? इति चेदुच्यते—उत्कृष्टजघन्य
पंडितत्वमध्यवृत्तिर्यजितपरमिरेतदाख्यातुं उभयापयधिप्रदर्शनं क्रियते । अथवा पंडितमरणे पशुवक्तव्यमस्तीति तत्तत्तान्या-
सितं व्ययस्याप्य भव्यवक्तव्यतया बालपंडितनेत्र प्राप्य व्याचष्टे ।

शंका—विरताविरतपरिणामविशेषसे ही श्रावक जीव है ऐसा समझमें आता है तो भी 'विरदाविरदा
जीवा' इसमें जीवशब्दका ग्रहण व्यर्थ है, उत्तर—जीव शब्द गार्थमें दिया है उसका उद्देश मतान्तर निराकरण
करनेके लिये है, सांख्य मरण प्रकृतिका धर्म है ऐसा समझते हैं, वे पुरुषको—आत्माको सर्वथा नित्य समझते
हैं, परंतु वह समझना योग्य नहीं है, आत्मा उत्साद, व्यय और धौव्य इन तीन स्वरूपोंसे युक्त है अतः वह सर्वथा
नित्य नहीं है.

शंका—पंडितपंडित मरणके अनन्तर पंडितमरणका वर्णन करना योग्य था परंतु वह उल्लेखन कर तिसरे
मरणके सामी आपने क्यों बताया ? क्रमका उल्लेखन करनेमें आपका क्या हेतु है ?

उत्तर—उत्कृष्ट पंडितत्व और जघन्य पंडितत्व इनके बीचमें जो है सो भव्यम पंडितत्व है ऐसा
दिखानेके अभिप्रायसे उपर्युक्त कथन है, अर्थात् उत्तम पंडितत्व और जघन्य पंडितत्वके विवेचनसे मध्यम
पंडितत्व बिना कहे सिद्ध होगा है, अथवा पंडितमरणके विषयमें ग्रंथकार बहुत विस्तारयुक्त लिखनेवाले हैं, इस
प्राप्ते उपरको आचार्य अलग रखते हैं और थोडासा विवेचन करनेकी इच्छासे बालपंडितत्वका अथम आचार्यने
उल्लेख किया है.

केचिन् । यत्पुनः स्वयैवावृत्तिसाधयेक्षमेव । बहुचचारिस्व । तेन प्रकारेण उक्तं श्रुते तेन चरिषुं शीलं यस्य तस्य यथोक्त-
चारिणः संबन्धेत्यर्थः ।

पंडितमरणके कितने भेद है और उसके स्वामी कितने हैं ऐसी शंकाका उत्तर आगेकी गाथा

देती है—

‘हिंदी अर्थ—आगममें जिस प्रकारसे चारित्रिका वर्णन है वैसा स्वयं आचरण करना यह जिनका शील है अर्थात् आगमसे अधिकृत चारित्र जो धारण करते हैं ऐसे मुनिराजका पंडितमरण पादोपगमनमरण, भक्त प्रतिष्ठा मरण और इंगिनी मरण ऐसे तीन भेदयुक्त है, अर्थात् निरतिचार मुनिराजके मरणके भेद उपर्युक्त गाथामें तीन कहे हैं,

विशेषार्थ—पादोपगमन मरण इसका शब्दार्थ—‘पादाम्बासुपगमनं’ होकरनें मरण पादोपगमन’ अपने पावोंके द्वारा संघसे निकलकर और योग्य प्रदेशमें जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन मरण है, इस मरणको चाहनेवाले मुनिराज अपने शरीरका वेद्यवृत्त्युत्पत्ति स्वयं भी नहीं करते हैं, ऐसे मरणको पादोपगमन मरण कहते हैं,

शंका—इतर मरणमें भी पावोंके द्वारा संघसे मुनिराज अन्यत्र चलाकर मरण करते हैं अतः इतर मरणोंको भी यही नाम प्राप्त होनेसे पंडितमरणके तीन भेद नहीं ठहराये ऐसी शंकाका उत्तर इस तरह है—पादोपगमन मरण यह नाम रूडिका आश्रय लेकर (विशिष्ट मरणमें ही आचार्यने प्रयुक्त किया है, इस पादोपगमन मरणका स्वरूप आगे ग्रंथकार स्वयं कहेंगे, रूडिमें जो शब्दकी निरुक्ति-व्युत्पत्ति करते हैं उसका मतलब वह शब्द किस धातुको कोनसा प्रत्यय जोड़नेसे बन गया यह दिखानेका होता है, जैसे ‘गच्छतीति गोः’ ऐसी गो शब्दकी व्युत्पत्ति है, इसमें गमनक्रियाका कर्तृत्व इसमें व्यक्त होता है, एतन्वता गो शब्दसे माहिषी, अथ वर्गसह प्राणी गो शब्दका अर्थ नहीं माना जाता है, वैसे प्रकृत विषयमें पादोपगमन यह शब्द विशिष्ट मरणका वाचक माना जाता है, तथा वह मरण भक्तप्रतिष्ठा और हांगिनीमरणसे भिन्न ही है ऐसे समझना चाहिये,

अथवा गाथा में 'प्रायोग्यमरण' ऐसा भी पाठ है. उसका ऐसा अभिप्राय है—भयका अंत करने ऐसे संस्थान और मंथनको प्रायोग्य कहते हैं. ऐसे संहनन और संस्थान की प्राप्ति होना यह प्रायोग्य ममन है. अर्थात् निश्चित मंथन और निश्चित संस्थानवाला ही प्रायोग्यममन मरणका अंगिकार करता है.

भक्तप्रतिज्ञामरण—भक्त शुद्धका अर्थ आहार है और प्रतिज्ञा शुद्धका अर्थ त्याग होता है अर्थात् आहारना त्याग कर मरण करना वह भक्तप्रतिज्ञामरण है. यह मरण स्वर्गप्राप्त्यर्थ की अपेक्षामें होता है. अर्थात् इन मरणमें सहेतुनाशक की परिचारक मुनि शुश्रूषा करते हैं तथा वह भी अपनी शुश्रूषा करता है. यद्यपि आहारना त्याग शीघ्रिनीमरण और प्रायोग्यममन मरणमें भी होता है तो भी इसको ही रुढ़ीसे भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं. अर्थात् स्वर्गप्राप्त्यर्थकी अपेक्षा करके जो मरण किया जाता है वह भक्तप्रतिज्ञामरण है. ऐसे विशिष्ट मरण को ही भक्तप्रतिज्ञा कहते हैं.

हंगिनी मरण—स्वामिप्रायको इंगित कहते हैं. अपने अभिप्रायसे युक्त होकर स्वयं ही स्वतः की शुश्रूषा कर जो मरण किया जाता है. वह हंगिनी मरण है. परिचारक मुनिकी शुश्रूषा इसमें क्षणक मुनि चाहते नहीं है. — यथोक्त चारित्रिका पालन करनेवाले मुनिके ऐसे तीन मरण कहे हैं इन मरणोंको सामान्य रीतीसे पंडित मरण कहते हैं.

इतरवर्णालमरणवालगालयोरित्यमयो स्वामित्यस्यनार्थमाया—

अविरदसम्मदिद्वी मरंति बाल्मरणे चउत्थमि ॥

मिच्छादिद्वी य पुणो पंचमए बाल्मरालमि ॥ ३० ॥

— तदुच्यते सर्वतन्त्रेण सर्व संयत अथवा अक्षयत जगतमें साधु कहे जाते हैं. परंतु यहां मुनिओंका ही महत्त्व होते इस हेतुसे 'उपुत्तचारिस्त' यह साधुका विशेषण करके यथोक्त चारित्र पालनेवाले मुनिका ही ग्रहण किया है.

भजते मरणं बालं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥
मिथ्यात्वाकुलितस्वान्तो बालबालमपास्तधीः ॥ ३३ ॥

विजयोदया—अविरदसमादिष्टी इति प्रसिद्धार्थत्वाच्च व्याख्येयं । अत्रावसरे इदं चोद्यमांशस्यते । वोच्छं आराधनं कमसो इति प्रतिज्ञातं । सा च द्विप्रकारा दर्शनाराधना चारित्राराधना चेति । तद्व्याख्यानमकृत्वा मरण-
विकल्पास्तस्यामिलन्ध कस्माद्विर्विद्यते । प्रस्तुतपरित्यागमयस्तुताभिधानं च न क्षमते विद्वांसः । अत्रोच्यते—न अप्रस्तुत
अंतरनिर्दिष्ट मरण । आराधनानुगतमरणस्येवेह शास्त्रेऽभिधेयत्वेनदृष्ट्वाच्च । आराधनायाच्च आराधकमंतराणां संभवात् ।
स्वामी वा निर्विघ्न्य पथेति सूत्रमिमांशः ॥

अमशास्याप्रशस्यतमरणद्वयस्याभितौ निर्विघ्नति —

मूलारा—अविरदसमादिष्टी इति ।

नो इद्विष्यसु विरदो णो जीवे यावरे वसे वापि ॥

लो सवद्वि जिणुचं सम्मादिष्टी जयिरवो सो ॥ १ ॥

मिच्छाविही य ।

मिच्छन्तं वदेत्तो जीवो विचरीवदंसणो होवि ॥

ण य धम्मं रोपेदि इ मदुर सु रसं वहा जरिदो ॥ २ ॥

बालमरण और बालबालमरणके स्वामी कौन होते हैं यह विषय आचार्य विशद करते हैं।
हिंदी अर्थ—अचिरत सम्यग्दृष्टि जीव चौथे बालमरणसे मरते हैं अर्थात् अचिरतिसम्यग्दृष्टीके मरणको
कहते हैं, और मिथ्यादृष्टी जीव जिस मरणसे मरते हैं वह बालबाल नामका पांचवा मरणभेद है,—यहां
शंकाकार ऐसी शंका करता है—‘वोच्छं आराधना कमसो’ ग्रंथकारने ‘मैं कमसे आराधनाओंका विवेचन
करूंगा’ ऐसी प्रतिज्ञा की है, वह दर्शन आराधना और ध्यानाराधना ऐसी दो प्रकारकी है, इनका विवेचन तो
ग्रंथकारने किया ही नहीं परंतु मरणके विकल्प और उसके स्वामीओंका ही विवेचन किया है ऐसा करना अयोग्य
है, प्रस्तुत नियमका त्याग करके अग्रस्तुत विवेचन करना बुद्धिमानोंको सहन नहीं होता है, इस शंकाका परिहार
आचार्य करते हैं—

ग्रंथकारने अप्रस्तुत विषयका विवेचन किया है, नीचे जो मरणके निकलका विवेचन किया है वह अप्रस्तुत नहीं है. आराधनाके साथ मरणका संबंध है. अतएव इस शास्त्रमें उनका उल्लेख आचार्यकी कलना पडा है. आराधना आराधकके बिना होती नहीं, आराधक आराधनाका साथी है. अतः उसका उल्लेख करना न्यायप्राप्त ही है. इस तरह आचार्यने शंकापरिहार किया है.

अत एव प्रस्तुतं प्राथमिकीं दर्शनाराधनां आवेष्टे—

तत्प्रेषवसमियसमसखड्यं खवोवसमियं वा ॥

आराहंतस्स भवे सम्मचाराहणा पढमा ॥ ३१ ॥

सामिकीं क्षापिकीं दृष्टिं चैदिकीमपि च त्रिधा ॥

समाराधयतः पूर्वां सम्यक्त्वाराराधनेत्यते ॥ ३४ ॥

विजयोदया—तत्प्रेषवसमियसम्ममियादिना । अथवा अंतरम्कनिर्दिष्टं चालमरणव्याख्यातं प्रस्तुतां प्राथमिकीं सम्यक्त्वाराराधनां पुरस्कृत्य प्रवर्तते इत्यत आह—तत्प्रेषवसमियसम्मसं । अथवा सत्यदर्शननियंदास्य कृत्यवित्तेय आराधना उत सर्वसोत्साशंका । कुतः सर्वदेहः ? आचार्यमतमेवेन पदानामपेक्षेविषयासमान्यं पदानामभिधेयं । पदानुनार्थानामान्य-भिर्भूतमतीत्युरत्तेभं हि गमित्यतः पदाच्छुन्यां कृणां दादृष्टमिति या प्रतीतिः, सेटां मुंटां इति वा ज्ञायते । यद्यप्येवमल-विधकार्यभूतायां बुद्धौ न प्रतिभाति तत्कथं दण्डस्याभिधेयत्वं गंतुमुग्नहते । अमतीयमानस्याल्यर्थत्वे अयमेवास्यार्थो नान्य इतीयं व्यथस्या न स्यात् । तेन सामान्यमेवार्थ इति । अन्ये तु मयंते त्यागोपपन्नोपेक्षारूपा हि लोकव्ययहस्तित्वा पुनर्सं प्रवर्तयितुं शक्याः प्रयुज्यते । दुष्टसाधनं वस्तुसंयते । सुप्रसाधनं ननुपदीयते । तदुभयस्यासंपादकमुपेक्ष्यते । विशिष्टमेव च वस्तु सुखादीनां संपादकं । तथाहि—स्वीयवर्गधमाल्यादिकं अतिशयितमेवाशक्तं उत्सहन्ते । दुःप्रसाधनं चात्मनिःकटयत्वेन कंटादिकं परिजिहोषन्ति । तेन वाधेनपि तदर्थिनां तथाभूतमेव वस्तु प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्यं अतो विशेषः पदानामर्थः । इति साकृद्धानामनेकाभिधेयवर्तिनं पदानामेकपदप्रयोगादि नाम विशेषो न प्रतीयते नैतावता विशेषस्याभिधेयताहातिनः पदंतरसमवयवोऽपि विशेषप्रतीतेरनुपवसितत्वात् इति ।

उक्तानामुभयं पदार्थः । पदानामुभयत्र प्रतीत्युत्पत्तेः तथाहि—न हिस्थाः प्राणिनः प्राणित्वसामान्यं परिहायेत्येन प्रतीयते । देवदत्तमानेयत्युक्ते पुरुषविशेषमावगच्छन्ति । ततो न प्रावते 'समन्तंमि य' इत्यत्र सामान्यं सम्यक्त्वं गृहीतं उत तद्विशेष इति तेन तत्संदेहनिवृत्तिः क्रियते । तस्य तेषु सम्यक्त्वेषु । उवसमियसम्मत्तं अनेतानुपेक्षिकोचनानामया लोभानां सम्यक्समिध्यावसम्बन्धमिध्यात्वानां च सप्तानामुपशमादुपजातं तत्त्वथद्वानं अपिशमिकं सम्यक्त्वं ।

तासमेव सप्तप्रकृतीनां श्रयादुपजातवस्तुयाथात्म्यगोचरा ग्रहदा क्षयिकं दर्शनं । तासमेव कासां चिदुपगमात् अन्यथासां च श्रयादुपजात ध्रुवानं क्षयोपशमिकं । वा शब्द- प्रत्येकं संवध्यते । औपशमिकं चेत्यादिना क्रमेण । आराधयतस्स आराधयतः । हने भवेत् । सम्प्रसारणादृणा सम्यक्स्वाराधना । पदमा प्रथमा । “अधिरदसम्मादिही मरति वालमरेणे” इत्युक्तं । तनाधिरतग्रहणं सम्यग्दर्शयित्वोपदेवोपात्तं । प्रतीतेन हि विशेष्येण भाव्यम् । तथाभाविप्रतीतपदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः इति ।

द्वन्द्वाराधनायाः स्वरूपलाभफलविशेषसिद्धयर्थं स्वाभिसरणविशेषावधियायेवार्त्तां प्रबुद्धां प्राथमिणीं दर्शयित्वा धनानामभिधत्ते —

मूला०-उच्छ्रुतं तज । तेषु आगमप्रसिद्धेषु त्रिषु सम्यक्त्वेषु सन्धेयत्किंचिदेकमाराधयतः सम्यक्स्वाराधना भवेत् इति पश्यतना । एवमभिसरणप्रवृत्तिर्यादि अनंतानुबंधिचतुष्टयमिष्यात्वसम्यग्दिग्भ्यात्वसम्यक्त्वानां उपशमजातं विपरीताभिनिर्गमविष्कृतामभ्यस्तपलक्षणं तत्त्वार्थध्यान औपशमिकं । तेषामेव ह्यथात् भाविकं । तेषामेव च पण्णासु वृथानामपलक्षणे क्षयेऽनुवृथामासना सम्भानायाद्विषयतिलक्षणे चोपसत्वे तथा सम्यक्स्वदेशातिस्पन्देकोवये सत्युत्पन्नं सम्यक्स्वरं आयोपशमिकं । श्लोकाः—

पाकादेशप्रसम्यक्त्यप्रवृत्तेरुदयक्षये ॥

शुभे च देदकं पण्णामगाढं मलिनं बल ॥ १ ॥

पृथगष्टिरिवात्पश्यतस्थाना करतले स्थिता ॥

स्थान एव स्थितं कंभ्रनगाढं मेदकं तथा ॥ २ ॥

स्वकारितेऽर्द्धमेत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारितं ॥

अन्यस्यासाविति आत्मन्योद्वाच्यत्वात्तदोऽपि चेष्टते ॥ ३ ॥

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः ॥

मलिनं मलसंशोभं शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ ४ ॥

लघुलक्ष्मणालासु लघुमेकमिव स्थितम् ॥

मानात्तदीपविशेषेषु चळतीति चळं तथा ॥ ५ ॥

जीवके विना आराधना होती ही नहीं अतएव प्रथम सम्मगर्दशनाराधनाका आचार्य वर्णन करते हैं—
 द्विन्दी अर्थ—वीचके घृत्रमें चालमरणका वर्णन किया है, उस मरणका स्वामी सम्मगर्दशन आराधनाका आराधन करनेवाला जीव है, अतः चालमरणका सम्मगर्दशनके साथ संबंध सिद्ध है, उपश्रमसम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशायिक सम्यक्त्व इन तीन आराधनाओंमें किसी भी सम्मगर्दशनकी आराधना करनेवाला सम्यक्त्वसाधक कहा जाता है,

विशेषार्थ—यहाँ शंकाकारकी शंका यह है—सम्मगर्दशनके सर्व भेदोंकी आराधना करनेवाला सम्मगर्दशनाराधक है ? अथवा कोई एक सम्मगर्दशनकी भी आराधना करनेवाला आराधक होता है ? वहाँ ऐसी शंका क्यों होती है ऐसा कोई पूछेगा जो उसका उत्तर शंकाकारने इस तरह दिया है—आचार्योंके मतभेदसे शब्दके दो अर्थ माने गये हैं, अर्थात् कोई आचार्य शब्द सामान्य अर्थके वाचक है ऐसा कहते हैं, और दूसरे कोई आचार्य उसका विशेष अर्थ वाच्य होता है ऐसा मानते हैं, अर्थात् सम्मगर्दशन इस शब्दका सामान्य अर्थ सम्मगर्दशन सामान्य ऐसा है ऐसा किसीका मत है और विशिष्ट सम्मगर्दशन ही सम्मगर्दशन शब्दका वाच्य है ऐसे अन्य आचार्योंका मत है, अतएव हमने उपर्युक्त शंकाकी है ऐसा शंकाकारने अपनी शंकाका समर्थन किया है,

आचार्य क्रमशः दोनोंके मतोंका दिग्दर्शन करके अनंतर शब्दका अर्थ जैनमतसे क्या होता है इसका निरूपण करेंगे, प्रथमतः शब्दका सामान्य ही अर्थ है इस मतका निरूपण करते हैं—

शब्द सुनने पर अर्थसामान्यका ही अनुभव आता है, जैसे किसीने गौ लावो ऐसा वाक्य कहा इस वाक्यके सुननेसे सुननेवालेको काली गाय, चित्तकवरी गाय, वा सफेद रंगकी गाय ऐसा ज्ञान नहीं होता है, किंतु गोसामान्यका ही उसको बोध होता है, शब्दका श्रवण करनेके अनंतर जो अर्थ बुद्धीमें झलकता नहीं वह शब्दका अर्थ कैसे माना जायगा ? बुद्धीमें न झलकनेवाला भी अर्थ यदि माना जायगा तो अमुक शब्दका अमुक ही अर्थ होता है ऐसी अव्यवस्था नहीं होगी, अर्थात् शब्दशब्दका अर्थ जैसा गाय होता है वैसा घेंस, घोडा चंगरे भी

उनके अर्थ होंगे, अतः सामान्य पदार्थ ही शब्दका वाच्य होता है यह मत मानना चाहिये.

विशेष पदार्थ ही शब्दका अर्थ है ऐसे मतका विवेचन इस प्रकार है—जगतमें लोक किसी पदार्थका ग्रहण करते हैं, किसीका त्याग करते हैं और किसीकी उपेक्षा करते हैं ऐसा व्यवहार देखनेमें आता है. इस व्यवहारमें प्रवृत्ति करनेके लिये शब्दोंका प्रयोग किया जाता है. जो दुःखका कारण है वह वस्तु छोड़ते हैं, जो सुखकर होती है वह चीज लोक लेते हैं. जिससे सुख और दुःख दोनों भी उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसी चीजसे लोक उपेक्षा करते हैं अतः विशिष्ट वस्तु ही सुख या दुःखकी उत्पादक मानी जाती है. जैसे स्त्री, वस्त्र, गंध पुष्पमाला वगैरे पदार्थ विशेषपरीतीसे सुख साधक हैं ऐसा समझकर लोक इनका ग्रहण करते हैं. जो दुःखके कारण हैं ऐसे समीपस्थ फलक शत्रु वगैरह पदार्थोंका त्याग करनेकी इच्छा करते हैं. शब्दके द्वारा भी ऐसे ही पदार्थोंका विवेचन होता है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् शब्दका अर्थ सामान्यपदार्थ नहीं है किन्तु विशेष ही समझना चाहिये. अनेक पदार्थोंमें रहनेवाला साधक एक शब्दके द्वारा उल्लेखित होता है अतः शब्दका विशेष पदार्थ अर्थ नहीं है ऐसा मानना अयोग्य है. जैसे गो शब्द समस्त सद्य गायोंमें प्रयुक्त होता है अतः गो शब्दका विशेष पदार्थ अर्थ नहीं है ऐसा कहना अयोग्य है. उस गो शब्दका दूसरे शब्दसे जब संबंध होता है तब विशेष पदार्थका उससे अनुभव अवश्य होता है. शब्दका विशेष पदार्थ ही वाच्य है ऐसा विशेष वादियोंका मत है.

सामान्य पदार्थ और विशेष पदार्थ दोनों शब्दके द्वारा प्रतीत होते हैं ऐसा जैनियोंका मत है—उसकी सिद्धि आचार्य करते हैं—'न हिंस्याः प्राणिनः' अर्थात् 'प्राणिओंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये' इस वाक्यमें प्राणि शब्द संपूर्ण प्राणिओंका वाचक है. दूसरा वाक्य 'देवदत्तमानय' देवदत्तको लाओ यहाँ देवदत्त शब्द पुरुष विशेषका वाचक है. अर्थात् शब्द सामान्य और विशेष दोनों पदार्थोंके वाचक हैं ऐसा जैनियोंका मत है.

अतः प्रस्तुत विषयमें—सम्यक्त्वाराधनामें क्या सामान्य सम्यक्त्वका ग्रहण करना चाहिये ? अथवा उसके विशेषोंका ग्रहण करना चाहिये ? ऐसी शंका उपस्थित होती है. उसका आचार्यने इस प्रकार निरसन किया है—

सम्यग्दर्शनके उपशम सम्यग्दर्शन, क्षाधिक सम्यग्दर्शन और श्रव्योपशमिक सम्यग्दर्शन ऐसे तीन भेद हैं. इनमेंसे किसी भी सम्यग्दर्शन की जो आराधना करता है उसको पहिली सम्यक्त्वाराधना होती है.

ओपशमिक सम्यग्दर्शन—अनंतानुबन्धि क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और

मग्नदग्निश्चाल्य ऐगे सात कर्म प्रकृतियोंका उपद्रव होनेसे जो तत्वोंके ऊपर श्रद्धान होता है उसको ओपद्रविक मग्नदग्नि कहते हैं।

धार्मिक मग्नत्व है।
है यह धार्मिक मग्नत्व है।

धार्मोपद्रविक मग्नत्व—इन सात प्रकृतियोंमेंसे किसी प्रकृतियोंका उपद्रव और अन्य प्रकृतियोंका ध्वय होनेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है यह धार्मोपद्रविक मग्नत्व दर्शन है।

‘अपिरदसम्मादिही भरति चालमरणे’ ऐसा पूर्वमें कहा है, अर्थात् उनके मरणको चालमरण कहते हैं, अर्थात् मग्नदग्नि इस सामायिक शब्दमें अविरल शब्द-विशेषणरूप है और मग्नदग्नि यह शब्द विशेष्य है, यह विशेष्य प्रसिद्ध है, अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान करनेवालेको मग्नदग्नि कहते हैं यह बात सुप्रसिद्ध है, प्रसिद्ध पदार्थोंमें विशेषण विशेष्यभाव होता है।

तस्मात्कीदृशीऽभिधेयः सम्यग्दृष्टिश्चाप्येत्यति प्रशस्योत्तरमाह—

सम्मादिष्टी जीवो उवइहं पवयणं तु सदहह ॥

सदहह असब्बायं अयाणमाणो गुरुणियोगा ॥ ३२ ॥

मग्नये वक्षितं तत्त्वं जन्तुना शुभवष्टिना ॥

पूर्वं ततोऽन्यथापीदमजानानेन रोच्यते ॥ ३५ ॥

पिजयोदया—सम्मादिष्टी जीवो सत्यता । अत्रैवं पदघटना ‘उवइहं पवयणं तु सदहह’ यो जीवो सो सम्मादिष्टी’ इति । उवइहं उपदिष्टं कथितं । ननु उगपूर्वो निगिरुबारणक्रियः । तथा हि-प्रयोगः—उपदिष्टा चर्णा उच्चारिताः इति । सत्यम्, समुच्चारणमिपस्तत्रैव पतते नाप्य इत्यर्थ न निवर्धनं किञ्चित् । यथा गां चोन्निह इत्यादिषु सास्मादिमिति दृष्टप्रयोगोऽपि भोगाद्वो यागादिषु अपि वर्तते एवमिदानीति किं न गृह्यते ? उपदिष्टमपि किं न वेत्ति इत्यादौ कथितमिति प्रतीतिरपजायते सा कथमपास्त्यते । प्रायोग्यस्यैतिसमधिगम्यो हि शब्दार्थः । प्रोच्यन्ते जीवास्तथा पदार्थो अनेनास्मिन्निति वा मय्यनं जितानामः । प्रकर्णयोगः दृष्टेष्टप्रमाणाविरोधिता यस्तुवायातम्यानुसारिता च । प्रवचनवाच्योऽर्थः साहचर्यात्प्रपञ्चनमिति संश्लेषते । तु शब्दः पवकापार्थः । स च क्रियापदवाच्यस्तो द्रष्टव्यः । व्याख्यातं जेनागमार्थं यः श्रद्धात्थेय न

तु श्रद्धाति ह्ययोगव्यवच्छेदः । स जीवः सम्मादिद्वी सम्मगदृष्टिगन्धवाज्य इति प्रतीतफ़ार्थकत्वमादर्शितं । सद्वहदि श्रद्धानं करोति । अस्तभावमपि अस्तत्वमप्यर्थं । अयाणभाणो अनवगच्छन् । किं ? विपरीतमनेनोपदिष्टमिति । गुरोर्व्याख्यातुरस्यागमार्थं इति कथनागियुज्यते प्रतिपत्त्यं श्रोता अनेन वचनेन इति नियोगः कथनं । सर्वश्रमणी-तस्यागमस्यार्थः आचार्यपरंपरया अविपरीतः श्रुतोऽथपृतधानेन सूरिणा उपदिष्टो गमेति सर्वशास्त्राया रुचिरस्या-लीति । आद्यारुचिरया सम्मगदृष्टिर्मधत्सेवेति भावः ।

ननु अविद्वत्सम्माद्वी ह्युक्तं तत्र कीदृग्जीवः सम्मगदृष्टिः स्यात् इति पृष्टः सत्त्वाच्चे-
मूला०-पक्षयणं तित्तागमः तद्वाच्योऽर्थः साहचर्योदित आहः । तु यकार्ये । स जीवः सम्मगदृष्टिर्भवति यः उपदिष्टं प्रवचनं श्रद्धालोकेषु लब्धः । यो ज्ञानावरणोद्भवसात्त्वयं दस्वनभानन्गुरुमियोगादसम्भारं श्रद्धाले सोऽपि तदैव सम्मगदृष्टिः स्यादित्युपदर्शितं दर्शयते ॥ असम्भारं असत्यमप्यर्थं प्रकृतत्वादागमपक्ष्ये । अयाणभाणो मिथ्या अनेन उपदिष्टमिति अज्ञानम् । गुरुमियोगा गुरोर्व्याख्यातुर्मियोगादस्यागमपक्ष्यस्य अवमर्थं इति कथनात् । नियुज्यते नियतं संनयते श्रोता ज्ञानेनेति नियोगः कथनं । इदमत्र तात्पर्यं—सर्वशोकस्तानमस्वार्थो गुरुपर्वकमेण सम्मगदृष्टोऽथपृतधानेनाचार्य-नोपदिष्टो वनेति सर्वज्ञाह्वया रुचिरस्यालीति आह्वारुचितया सम्मगदृष्टित्वाद्येव भवत्येव ॥

कोनसा जीव सम्मगदृष्टि शब्दका वाच्य होता है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—
हिंदी अर्थ—गुरुने कहे हुए आगमका अर्थात् जीवादि पदार्थोंके स्वरूप का जो भ्रंशान करता है वह गुरु सम्मगदृष्टि है, गुरुके वचनोंकी प्रमाण मानकर जीवादिके असत्य स्वरूप में विश्वास रखता हुआ भी वह गुरु सम्मगदृष्टि ही है, क्योंकि सर्वज्ञप्रणीत आगमका अर्थ आचार्यपरंपरासे अविपरीत ऐसा गुरुने सुना है और हृदयमें धारण कर उसका ही उपदेख उसने मेरेको किया है ऐसा भ्रमशकर वह जीवादि पदार्थोंपर विश्वास रखता है अतः असत्यस्वरूप सत्य मानता हुआ भी वह जीव सम्मगदृष्टि ही है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है, विशेषार्थ—गाथामें 'उपदिष्ट-उपदिष्ट' ऐसा शब्द है, वह शब्द उप पूर्वक दिष्ट धातुसे बना हुआ उच्चारण करना इस अर्थमें प्रसिद्ध है और आप इसका अर्थ 'कहा हुआ' ऐसा करते हैं परतु इस अर्थमें प्रयोगवाक्य दीखते नहीं है, 'उपदिष्टा वर्णा उच्चारिता इति' यहां उपदिष्टका अर्थ वर्ण उच्चारते गये हैं ऐसा किया है, यह

हूँ धंका अर इस का उषार सुन लीजिये—उच्चारण करना इस अर्थमें ही उपदिष्ट शब्दका प्रयोग है अन्य अर्थमें नहीं है ऐसा मित्र करनेके लिये आपके पास कुछ भी प्रमाण नहीं है।

उत्तम 'मां दोनिघ' इस वाक्यमें गोशब्दका अर्थ गाय ऐसा होता है अर्थात् गाय इस अर्थमें गोशब्द का प्रयोग जैसा होता है उसी तरह वाणी, स्वर्ग, पृथ्वी इत्यादि अर्थोंमें भी गोशब्दका प्रयोग देखा जाता है। उसी तरह उपदिष्टशब्द का प्रयोग अन्यायों में भी होता है। जैसे 'उपदिष्टमपि किं न वेत्ति' इस वाक्यमें उपदिष्ट शब्द 'कथित' कहा हुआ इस अर्थमें है ऐसा अनुभव आता है। इसको मानना पड़ेगा ही। जिस शब्दका जो अर्थ प्रकरणादि से योग्य मान्य होता है वही उस शब्दका अर्थ समझना चाहिये।

गाथामें जो प्रत्यय शब्द है उसका सुलासा इस प्रकार है—जिसके द्वारा जीवादिक पदार्थ कहे जाते हैं अथवा जिसमें जीवादिक पदार्थ कहे हैं उसको प्रवचन कहते हैं अर्थात् जिनेश्वरके आगमको प्रवचन कहते हैं। प्रवचन शब्दकी निरुक्ति आचार्य इस प्रकार कहते हैं—'प्रोच्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेन अस्मिन्निति वा प्रवचनं विनागमः' जिनेश्वरके वचनमें प्रकर्षता अर्थात् उत्कृष्टता आनेका कारण यह है कि उनके वचन स्पष्टप्रमाणोंसे अर्थात् प्रत्यक्षा-तुलानादि प्रमाणोंसे अखिरुद्ध सिद्ध होते हैं। और वे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अनुसरण करनेवाले हैं, ऐसे प्रवचनके द्वारा जो जीवादि पदार्थ कहे गये हैं उनको भी साहचर्यसे अथवा अभिधेयविधायकसंयोज्य होनेसे 'प्रवचन' कह सकते हैं।

गाथामें जो तु शब्द है उसकी 'सदृह' इस क्रियापदके आगे योजना करनी चाहिये, अर्थात् विशेषित विनागमके जीवादि अर्थोंमें जो श्रद्धान करता ही है वह सम्बन्धित है ऐसा अभिप्राय उससे व्यक्त होता है। यह सम्बन्धित जीव असत्य पदार्थका भी श्रद्धान करता है परंतु वह तब तक असत्य पदार्थके उपर श्रद्धान करता है जब तक यह गुरुने गुरुके असत्य पदार्थका स्वरूप कहा है यह नहीं जानता है। जब तक वह असत्य पदार्थका श्रद्धान करता है तबतक उस गुरुने आचार्यपरंपराके अनुसार विनागमके जीवादितत्त्वका स्वरूप कहा है और जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञा प्रमाणभूत माननी चाहिये ऐसा भाव हृदयमें रखता है अतः उमके सम्बन्धदर्शनमें हानि नहीं है। वह मिथ्यादृष्टि नहीं गिना जाता है।

सर्वश्रेष्ठ की आज्ञाके उपर उसका प्रेम रहता है, वह आज्ञास्वी होनेसे सम्बन्धित ही है। ऐसा इस गाथाका भाव है।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव ? नेत्याह—

सुत्तादो तं सम्मं द्रसिज्जंतं जदा ण सदहदि ॥

सो चेव हवइ मिच्छादिट्ठी जीवो तदो पहुदि ॥ ३३ ॥

ददर्यमानं यदा सम्यक् अदधाति न सूत्रतः ॥

तमर्थं स तदा जीवो मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते ॥ ३६ ॥

विलयोपपत्त्या—सुत्तादो इति । सुत्तादो सुत्रात् । तं आत्मना विपरीतं गृहीतमर्थं । सम्मं सम्यक् अधिपरीतरूपेण । द्रसिज्जंतं दृश्यमानं प्रकृत्यमानं अन्येन आचार्येण । जदा यदा यस्मिन्काले । न सदहदि न अदधाति । सो जेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तः । मिच्छादिट्ठी हवइ मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताश्चाश्रयजानैविकल्पाद् अर्थेयाधारम्या अदधानाश्च । तदो ततः । पहुदि प्रवृत्ति आरब्ध । असंदिग्धसूत्रांतरवर्तिवार्थाश्रयानादारब्ध ।

किमेव विपरीतं प्रतिपद्यमानोऽपि सर्वदा सम्यग्दृष्टिरेव नेत्याह—

भूत्तादो—सुत्तादो सूत्राग्रणपरान्वयव्यतिथितमागमनाभित्येत्यर्थः । तं प्रथमगुरुरूपदेशेन मिथ्याप्रतिपन्नमर्थं सम्मं द्रसिज्जंतं अन्येन गुरुणाऽविपरीतं प्रकृत्यमाणं । सो जेव स एव सम्यग्दृष्टितयोक्तो मिथ्यादृष्टिर्भवति । आप्ताश्चाश्रयजानैविकल्पाद् अर्थेयाधारम्या अदधानाश्च । तदो ततः । पहुदि । असंदिग्धसूत्रांतरवर्तिवार्थाश्रयानादारब्ध ।

क्या जीयादि पदार्थोंका विपरीत स्वरूप मानता हुआ भी यह हमेशा सम्यग्दृष्टि ही रहता है अथवा नहीं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

हिंदी अर्थ—‘हमने पदार्थोंका विपरीत अर्थ जाना है उसका श्रद्धान छोट दो और हमने जो पदार्थका तत्त्वा स्वरूप कहा है उसके ऊपर श्रद्धा करो ।’ ऐसा आचार्यके कहने पर भी जब वह आपना आग्रह नहीं छोड़ेगा तो तबसे वह मिथ्यादृष्टि समझा जायगा, आचार्यने प्रमाणभूत ऐसे गणधरादिकोंके रचे हुए आगमसे जीवादिकोंका स्वरूप बताया था तो भी उसका उस आप्तज्ञाके उपर श्रद्धान नहीं रहनेसे और अर्थके यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धान न होनेसे वह मिथ्यादृष्टि ही समझा जाता है.

गुणादो तं समं दक्षि-जतं इत्युक्तं केन रचितानि स्यान्नि प्रमाणभूतानीत्यत आह—
सुभं गणधरगायिदं तदेव पत्तेयबुद्धकहियं च ॥

सुदकेवल्लिणा कहियं अभिणदसपुव्विगाधिदं च ॥ ३४ ॥
जेयं प्रत्येकबुद्धेन गणेत्थेन निवेदितं ॥

भुतकेवल्लिना सूत्रमभिन्नदशपूर्विणा ॥ ३७ ॥

विजयोद्या—सुभं गणधरगायिदं इति । सुतं सूतं । गणशब्देन द्वादशगणा उच्यन्ते । सान्धारयति इति
गणधरा । भुगतिप्रस्थिता हि तेन रत्नप्रयोपदेशेन धार्यन्ते ते सत्त्वविधिसुपमताः । उक्तं च—

भुतिवयिगुल्लगोसधिरसथलं च अक्खीणं ॥

मक्खविध इद्विपत्ता गणधरेद्या जमो तेसि ॥

इति । तैः गायिदं प्रथितं संरक्ष्य । केयलिमिरगविदं अर्थे ते हि प्रकान्ति । तथाभवायि—‘अर्थे कदन्ति अथवा
गंधं गंधंति गणधरा तेसि’ इति । तदेव तथैव । पत्तेयबुद्धगायिदं च प्रत्येकबुद्धप्रथितं च । युत्तशानाधरणक्षयोपशमान्
परोपदेशान्तरेणाधिगतशानातिरायाः प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवल्लिणा समस्तभुतधारिणा कथितं चेति । अभिन्नदसपुव्विकथिदं
च । दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विषयानुप्रवादस्थाः श्रुतकविषया मद्वयिषाश्च अंगुष्ठप्रसेनायाः प्रक्षय्यादयश्च तैरागाय रूपे
प्रवर्यं, सामर्थ्यं स्वकर्माभावात् पुरः स्थिता आसत्पत्तां किमस्माभिः कर्तव्यमिति तिष्ठति । तद्वचः श्रुत्वा न भवतीभिरसा-
क्तं मरणमस्तीति ये वदन्ति अचलितचित्तास्ते अभिन्नदशपूर्विणः । एतेषामन्यतेन प्रथितं सूत्रं प्रमाणं । प्रमाणेन केवलेन
भुतेन वा श्रुतीतमर्थं अरक्तदिष्टाः संतो यदुपदिशंति ततस्तद्वचसां प्रमाणं इति भावः । प्रमाणपरिदृष्टार्थगोचरं अरक्त-
दिष्टयन्तुमर्थं यथाः प्रमाणं । यथा पितुररक्तदिष्टस्य स्वप्रत्यक्षगोचरं वचः पटोये रक्ष्य इति । तथा च गणधरादीनां वचः
प्रमाणं परिदृष्टार्थगोचरं । अरक्तदिष्टयन्तुमर्थं ।

केन रचितं सूत्रं प्रमाणं स्वादित्यनाह—

गणहरकथिदं—गणा द्वादश यत्वादयो जिनेद्रसभ्याः । गणधरात्वंति दुर्गतिमार्गीन्यव्याश्रद्धानादेर्विनि
युत्तय शिवमार्गे सम्पददर्शनादौ स्थापयन्तीति इति गणधराः सप्तविधिद्विभाता भर्माचार्याः । पत्तेयबुद्धा—यत्कं केवलं परोप-
देशान्तिरेभं भुत्तशानाधरणक्षयोपशमविदोचं प्रतीत्य बुद्धाः संभ्रातृजानाविस्मयाः प्रत्येकबुद्धाः । सुदकेवल्लिणा समस्तभुत-
धारिणा । अभिन्नदसपुव्वि—इय पूर्वाणि उत्सादपूर्वादिविषयानुवादात्वात्येषां सन्तीति दशपूर्विणः । अभिज्ञा विद्याभिरप्रख्या

‘सुचदो ते सप्तमं द्रसिज्जंतं’ ऐसा उपरकी गायामें चाक्य आया है परंतु प्रमाणभूत श्रौतोंकी रचना किन्हीं की है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

हिंदी अर्थ—गणधररचित आगमको सूत्र कहते हैं, प्रत्येकषुद्ध ऋषिओंके द्वारा रचे गये आगमको भी सूत्र कहते हैं, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वधारक आचार्योंके रचे हुए आगम ग्रंथको भी सूत्र कहते हैं,

विशेषार्थ—गणके द्वारा प्रकाश हैं, चौदापूर्वके ज्ञाता मुनि, विविधाऋद्धिके धारक मुनि, अविशिष्टानी मुनि, मनःपर्ययज्ञानी मुनि, वाद करनेवाले मुनि चमेरे द्वारा गण उनको रत्नत्रयधर्मका उपदेश देकर दुर्गतीसे बचाते हैं उनको गणधर कहते हैं, गणधरोंको सात ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, उनके नाम इसप्रकार हैं—
मुद्दि, तप, विक्रिया, औपधि, रस, बल और अक्षीण ऐसे सात ऋद्धिको प्राप्त हुए गणधरोंको भेरा नमस्कार हो गणधरोंने रचे हुए आगमको सूत्र कहते हैं, केवलियोंने कहा हुआ अर्थ गणधर प्रेषित करते हैं, इस विषयमें ‘अर्थे कर्दति अरुहा गंयं गंयन्ति गणधरा तैसि’ अर्थात् केवल भगवान् जो अर्थ कहते हैं उसका गणधर देव आगममें प्रयत्न करते हैं, प्रत्येकषुद्ध ऋषियोंने रचे हुए श्रौतोंको भी सूत्र कहते हैं, श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे गुरुपदेशके बिना जिनको सातविध ज्ञान होता है ऐसे महर्षियोंको प्रत्येकषुद्ध कहते हैं, द्वादशान्गश्रुत ज्ञानको धारण करनेवाले महर्षियोंको श्रुतकेवल कहते हैं, उनका कदा हुआ जो आगम वह भी सूत्र है,

अभिन्नदशपूर्वके ज्ञानेवाले आचार्योंके रचे हुए श्रौतोंको भी सूत्र कहते हैं, दशपूर्वोंका अध्ययन करते समय विद्यानुवादमें जिनका वर्णन है ऐसी अंगुष्ठप्रसेनादि शुद्धिक विद्या व प्रज्ञप्त्यादि महाविद्या इन आचार्योंके पास आ जाती है तथा वे आपना रूप दिखाकर सामर्थ्य और अपने कार्यका स्वरूप कहती हैं, आगे खड़े होकर हे प्रभो ! हमें कोई कार्य करनेकी आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थना करती हैं, उनका मापण मुनिकर आपसे हमारा कुछ कार्य नहीं है ऐसा जो ऋषि निश्चलचित्त होकर बोलते हैं, उनको अभिन्नदशपूर्वधर महर्षि कहते हैं, उपर्युक्त कहे हुए ऋषियोंके आगमोंको सूत्र कहते हैं,

प्रत्यक्षश्रुतिक प्रमाणोंके द्वारा, केवलज्ञानके द्वारा और श्रुतज्ञानके द्वारा जाना हुआ वस्तुका स्वरूप शरीरेय

रहित होकर उपर्युक्त महर्षि प्रतिपादन करते हैं इसलिये इनके वचनोंमें प्रमाणता रहती है.

जैसे राग द्वेप छोड़कर पिता अपने लड़केको इस घटका रक्षण करो ऐसे वचन कहता है. उसका वह कहना जैसा प्रत्यक्ष गोचर है और प्रमाण है उसी तरह रागद्वेपरहित होकर प्रमाणोंके द्वारा देखा हुआ जीवादपदार्थ का स्वरूप महर्षिओंने कहा है अतः वह प्रमाण मानना चाहिये. गणधरादिक महर्षि रागद्वेपरहित और महाज्ञानी थे. उन्होंने सब पदार्थोंका प्रमाणोंके द्वारा निर्णय किया था अतः उनके आगम प्रमाण माननेमें हर्ज नहीं है.

अथतु नमैतान् अन्यत्तेयेन प्रणीतं सूत्रं प्रमाणं तदर्थक्यजं तु को विपरीतं करोति को वाऽविपरीतमित्येरेकाणां अविपरीतार्थक्यवकारिणो लक्षणमाहोचरया गाथया—

गिहिदृत्यो संविगो, अच्युवदेसेण संकणिज्जो हु ॥

सो चेव मंदघम्मो अच्युवदेसम्मि भजणिज्जो ॥ ३५ ॥

प्राप्तार्थव्यावहारिणः संशयते न महामनाः ॥

शंसयते मंवधर्माऽसौ कुर्वाणस्तत्त्वदेशानाम् ॥ ३६ ॥

विजयोदया—गिहिदृत्यो संविगो गृहीतं भातमात्कृतो ऽवधारितोऽर्थः सूत्रस्य येन सः गृहीतार्थः मन्थतस्तु प्राप्तं इति यापत् । संविगो संसारादृश्यभावरूपात् परितोभात् भयमुपगतः । विपरीतोपदेशे रागादोपाद्या अनंतकालं संसारपरिध्रमणं मन निव्याहरे. ततो भविष्यतीति यः समयः । अच्युवदेसे अर्थस्याभिधेयस्य सूत्राणामुपदेशे । न संकणिज्जो नैवारोक्ष्यः । तु गान् एवकारार्थः । सो केव स एव न गृहीतार्थः । मंदघम्मो धर्ममाच्यव्यादिप्रयाची चारितं यल्लु धम्मो धम्मो जो सो समोस्सि निदिदो ' इति वचनात् । ततो मंदचारिण इत्यर्थः । अच्युवदेसमिद् सूत्रा-
धन्याख्याने ? भयणिज्जो भान्य. । यदि सूत्रानुसारि युक्त्यनुगतं वा तद्व्याख्यां ग्राह्यमन्यथा नेति यावत् ।

प्रमाणपरिवृष्टार्थोचरत्वेन रागद्वेपानुपद्वलकप्रभवत्वेन च वित्रादिवत्स्वव्यमाणभूतस्यापि सूत्रस्यार्थं यो यथावत्तययदि तं लक्षयति—

गीदृत्यो—सम्यग्गुरुपदेशादवधारितसूत्रार्थः । संविगो रागाद्वा द्वेपाद्वा सूत्रार्थमन्ययोषदिसतो मम मिथ्यादृष्टेः सतोऽनंतकालं संसारे परिध्रमणं भविष्यतीति भयनापन्नः । अच्युवदेसे सूत्रार्थव्याख्यानविषये । न संकणिज्जो लु ।

नैव शङ्कनीय । ये यथायं व्याचष्टे सूत्रार्थं स तथैवेति मन्तव्यः । सो चेव शीतार्थ एव । मंदपम्नो सतिचारचारित्रः ।
भयणिउजः भाव्यः । यदि सूत्रनुसारी युक्तिपुक्त वा तद्व्याख्यानं कृतो ग्राह्यं नान्यथेत्यर्थः ।

इन महर्षियोंमें किसीके भी बनाये हुए सूत्र हम प्रमाण मानते हैं, परंतु इनका अर्थका कथन करनेवालोंमें
हम किसी सत्यार्थ प्रतिपादन करनेवाला समझे और किसीको न समझे ? ऐसी शंकाका निरसन करते हैं,
प्रथमतः अविपरीत पदार्थका विवेचन करनेवालेका लक्षण आगेकी भाषासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसने सूत्रका अर्थ समीचीनरूपसे जान लिया है, तथा जिसके अंतःकरणमें कर्मबंधरूप,
द्रव्यसंसार और भावरूप फणाय, मिथ्यात्वादिरूप-भावसंसारसे मय उत्पन्न हुआ है ऐसे व्यक्तिद्वारा कहा हुआ
सूत्रार्थ निःसंशयचित्त होकर प्रमाण मानना चाहिये, यदि रागभावसे अथवा क्रोधसे मैं विपरीत उपदेश करूंगा
तो अनंतकालपर्यंत मिथ्यादृष्टियुक्त ऐसे भेरेको संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा ऐसा जिसके मनमें भय है उसको
संविम कहते हैं, उसको सूत्रार्थके कहनेमें प्रमाणता है, परंतु जिसका चारित्र मंद है उसको सूत्रार्थनिरूपणमें प्रमाण
मानना विफलनीय है, अर्थात् यदि उसका व्याख्यान सूत्रानुसार और युक्तिपुक्त हो तो ग्रहण करना चाहिये, वैया
न हो तो ग्रहण करना नहीं चाहिये,

किमधिगतस्तमप्यवचनावो मूला श्रद्धाया स एव स सम्यग्दृष्टि, स एव सम्यक्त्वाप्राधकः इत्यारिकाया-
माह अव्योक्त्यति—

धम्मा धम्मागासाणि पोगल्ला कालद्वय जीवे य ॥

आणाए सदहन्तो समत्ताराहो भणिदो ॥ ३६ ॥

सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥

आज्ञया जिननाथानां अद्वेयाः शुद्धदृष्टिना ॥ ३७ ॥

विजयोदया—धम्माधम्मागासाणिचि-ओएणुद्वयो. स्वावस्थिताकाशदेशेवान्तर प्रतिगतिः परित्येवपायाय
परप्रयोगत स्वभावतो वा विचले । अन्येषा निश्चिन्त्येति न गतिरस्ति । अनयोर्गतिपर्यायस्य याज्ञं गतिरित्युल-

संशितं गुणं धारयतीति धर्मः । तं न धारयतीत्यर्थः । यद्यपि जीवादिष्वपि अस्ति गतिहेतुतायाः साधारण्यं तथापि न तत्र धर्मशब्दस्य दृष्टिः । प्रतिविपलविषया रूढयः इत्युक्तमेव । अथवा स्थितेरवासीनेहेतुत्वादधर्मः । न च जीवगदीनां स्थितेरवासीनेहेतुत्वमस्ति । तथैताद्युमानि असंख्यातप्रवेदौ एकतामेयोद्गदन्तौ सुखीनि निःक्रियौ रूपादिरद्विती । आकाशं अन्तर्गदेषाण्यासितं सर्वेण अवकाशदानसामान्यमितं । पुद्गलस्तु रूपरसगंधस्पर्शवतः अणु-रूपरूपभेदाद्विधियाः । कालो निश्चयेतरविकल्पः । जीवा उपयोगालकाः । पतनार्थीन् । आणाप् आशया । आसनां सावधानं चेदं । आशयेय पदं प्रख्याति सन्तीति अद्यातव्यं भवतीति आसत्त्वबलमेव अद्वानं करोति । निक्षेपनयादि-मुयेन प्रवृत्तयाभिगत्या सोऽपि सम्यक्त्यस्त्याराधकः ।

+ धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाञ्जननक्षेपितान् ॥

आज्ञया अध्वानोऽपि दर्शनाराधको मतः ॥ ३९ ॥

किं प्रमाणाविदुतेन सप्रपञ्चं प्रवचनार्थेनधिगम्य अध्वानः सम्यक्त्वस्याराधकः स्यादुक्तान्योऽप्यस्ति इति

अत्राह—

मूलात्ता — धम्मा इत्यादि — जीवपुद्गलयोः साधारणेन गतिनिमित्तं धर्मः । तयोरेव साधारणेन स्थितिहेतु-रपदैः । सर्वेषामवकाशवाचकं आकाशम् । रुषिणः पुद्गलाः । गतेनालक्षणः कालः । चेतनालक्षणो जीवः । एतान्येव गुणपूर्वावस्थादूररूपाणि । आज्ञयापि पञ्चद्रव्याणि संधि इत्यात्मवचनपलेनापि अध्वानः सम्यक्त्वभारापयतीत्युक्तः ।

दृष्टं—

सर्वेषां युगपद्वृत्तिरितिपरीणामावगाहान्यथा—

योगाद्धर्मतदन्यलाभगगानान्यात्मा त्वत्प्रत्ययाव्

सिद्धयेत्यस्य परस्य वास्त्यमुद्रतो मूर्तत्वतः पुद्गल-

तो द्रव्याणि पदेय पूर्वयगुणात्मानः कथंविदुषुषाः ॥

+ ऊपरके पेज १२८ की गाथा नं. ३६ के नीचे जो श्लोक आया है वहां यह श्लोक आना चाहिये था और आगेकी गाथा नं. ३७ के आगे गाथा नं. ३६ के नीचे वाला श्लोक आना चाहिये । गलतीसे ये उल्टे लगा गये हैं । इसलिये यह श्लोक बहावर लगा दिया गया है । पाठक सुधार कर पढ़ेंगे ऐसी आशा है ।

सविस्तर आगमवचन और उसके अर्थको जानता हुआ जो उसके ऊपर श्रद्धा रखता है क्या वही सम्यग्-
गृहि है ? वही सम्पत्त्याराधक है ? ऐसी रांका होनेपर आचार्य अन्य भी सम्यग्गृहि होता है ऐसा आगेकी
माथामें उचर कहते हैं—

हिन्दी अर्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल, व जीव इन छह द्रव्योंको जिनेश्वरकी आज्ञासे
श्रद्धान करनेवाला आत्मा सम्पत्त्यका आराधक होता है.

नियेपार्थ—जीव और पुद्गल ये दो पदार्थ जहाँ रहे हैं ऐसे आकाशप्रदेशसे प्रदेशांतरमें दूसरेके निमित्तसे
अथवा स्वभावतः गमन करते हैं. इन दो ही द्रव्योंमें क्रियावत्त्व धर्म है. परंतु धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन
द्रव्योंमें क्रिया नहीं है. जिनेंद्र भगवान् इनको निष्क्रिय कहते हैं. जीव और पुद्गलद्रव्यमें एक स्थानसे दूसरे
स्थानमें गमन क्रिया होनेमें धर्मद्रव्य कारण माना गया है. अर्थात् धर्मद्रव्यमें गतिहेतुत्व यह धर्म है. अधर्म
द्रव्यमें स्थितिहेतुत्व धर्म है. इसके निमित्तसे जीव और पुद्गलमें स्थिरता आती है. यद्यपि जीव पुद्गलादि भी गतिके
लिये कारण होते हैं तो भी धर्मद्रव्यकाही यह असाधारण स्वभाव है अतः जीव पुद्गलको 'धर्म' ऐसी संज्ञा प्राप्त
नहीं होती है. रुदि नियतविषयमेंही प्रवृत्त होती है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं. धर्मद्रव्य जैसा जीवपुद्गलके गतिमें
उदासीन कारण है वैसा जीव गतिमें उदासीन नहीं है. वह दूसरेको गतिकार्यमें श्रेक होता है. इस लिये उदासीन
रूपसे गतिहेतुत्व धर्मद्रव्यमेंही है अन्यत्र नहीं है.

अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलके स्थिरतामें उदासीन कारण है. उदासीनरूपसे स्थितिको हेतु हो जाना यह
स्वभाव अधर्मद्रव्यके सिवाय अन्यद्रव्यमें नहीं पाया जाता है. धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यके असंख्यत प्रदेश हैं.
परंतु इनके ये प्रदेश आपसमें मिलकर एकताको प्राप्त हुये हैं. ये द्रव्य सत्त्व, निःक्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श
इन गुणोंसे रहित अर्थात् अमूर्त हैं.

आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है. संपूर्ण द्रव्योंको अवकाश देनेका सामर्थ्य इसमें है. पुद्गल रूप, रस, गंध,
स्पर्श इन गुणोंसे युक्त रहता है. उसके अणु व संक्षेप ऐसे दो भेद हैं. कालके व्यवहारकाल व निश्चयकाल ऐसे
दो भेद हैं. जीव ज्ञान व दर्शनोपयोगमय है. ऐसे छह द्रव्योंका जिनेश्वरकी आज्ञासे जो श्रद्धान करता है वह
सम्पत्त्याराधक है. तथा जो निश्चय नय वीरदका आशय करके जीवादि पदार्थोंका स्वरूप समझकर श्रद्धान करता
है वह भी सम्पत्त्यका आराधक है.

जीवद्रव्यविवरणं नियोगतः यदात्र फलं तस्य इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरमाथा—

संसारसमावृण्णा य छन्विह्रा सिद्धिमस्सिदा जीवा ॥

जीवणिकाया एदे सहहिदब्बा हु आणाए ॥ ३७ ॥

③ सिद्धाः संसारिणो जीवाः प्रयाताः सिद्धिमेकधा ॥

आजाया जिननाथानां अद्वेयाः शुद्धस्थिना ॥ ४० ॥

विजयोपया—संसारं चतुर्गुणपरिधमणं । समावृण्णा संसारताः शोभनाशोभनशरीरमहणमोक्षमाभ्युपजाताः स्वयोगत्रयानीनपुण्यपापेभ्यः जनितादुर्गुणैः साधुभयनिरताः । असंस्थावर्कमैर्दवापादितत्रसंस्थावर्भावाः, विगिनमति-
मानापरजोदेयेन तदागोपनामविशेषेण च एकैद्रिया, विक्रमैर्द्रिया, समेन्द्रियाः पर्यायपर्यासिकमौदयनिर्दिताश्चि-
धपर्यायत्वमन्त्रिणे च, गृह्यिष्यादिशरीरमारोहणचतुराः, आयुष्यप्रवृत्तियनंगुलयागद्वयधनपराधीमवृत्तयः । नवदि-
कलनोक्तिममाधयोगजाततनुष्यामकमुखाः, । अरुजामिनीगीतकपरकाः, मृत्युदुर्गारम्भराशानिसंपाताचक्रितचेतसः
तंमारिणः छुरिपथा गदमयराः गृह्यिष्यादिशरीरमयं धतः । निरिद्धि सत्यवत्य केवलज्ञानद्वेयवीर्षाध्यापाधत्यपरनसूक्ष्म-
त्यापगाढादित्यस्य निष्पत्तिम् । अस्मिन्ना अविद्वद्वा अविद्वत्ताः । अया जीवाः । ननु जीव प्राणधारणे इति वचनात् । जीवति
प्रजाःधारयति इति जीवः । प्राणाश्चन्द्रियाश्च कर्मनिर्णयोः पुद्गलरूपधारणभूतेषु कर्मस्यस्तदु न विद्यन्ते ततः कथं
भित्तानां जीवेति ? किं योग, द्विविधाः प्राणाः इत्यप्राणा भावप्राणावेति । प्रत्यप्राणा चन्द्रियाश्च कर्महेतुकाः । भाव-
प्राणास्तु प्राणद्वयोनयकाः । न ते कर्मनिमित्तकाः । कर्मोभाये प्रवृत्तेः । तेन भावप्राणधारणात् जीवता न्याय्या सिद्धानां ।
अथवा एवैव कलनाप्राणार्णो यस्तु त्वेयमिति प्रात्यक्षियोगदर्शितमेकत्वनाधिरय जीवत्वपेक्षाः सिद्धानाम् । अथवा जीव-
तान्येतावन्ति न्युद्भावः । कदाचिद्विद्या म्रियत्यर्थं तदर्थमथेऽपि तदुपलक्षणमुदीरितं सामान्यमाधिरय पर्वत एव ।
यथा गच्छतीति गीरिति म्रियतादितोऽपि गोदाजोऽसत्यामपि गती स्थिता गीर्णवर्णवत्प्र पर्वते । गमनेनाध्वेनोपलक्षि-
तस्य गीरवस्थ मद्रायात् । एवं प्राणधारणोपलक्षितवैतम्याध्याजीवप्राणस्य त्वेकेषु कृतिः । जीवतिकाया जीवसमूहाः ।
गच्छिद्वत्या नु यन्तावत्याः एव । आणाए आत्मानामागलान् ।

जीवाधदाने मुक्तिस्तत्तद्विषयपरिप्राप्तिव्यापारायामानुषत्वेति भावः । यदि नाम धर्मोविश्वव्यापारिता-
नात् गतिनामकव्याधिधानं नोत्पन्नं तथापि नास्ती मिथ्यादर्शिनमोहोदयस्य अशब्दानगरिणामस्यानान्विरवस्या-
भावात् । न हि धन्यतत्त्वाद्युल्लिखितरक्षणं इति युदीर्तं । अज्ञानादन्वयव्यखनं इवमित्यमिति धृतनिरूपितेऽन्वयिः ।

④ यद् भोक्त पत १२८ की ३६ र्थी गथा के नीचे गहरीसे लग गया है वस्तुतः यहाँ ही चाहिये ।

जीवद्रव्यं नियमेन अद्वयं तदश्रद्धाने मुक्तिरसृष्टिप्राप्तिर्यागार्थप्रथासानुपपत्तेरित्यनुशासितुमाह—

समायण्णा-श्राप्ताः ओभन्नासोभनसरीरग्रहणसोचनाप्युद्यताः । छन्विह्य प्रविज्यसेवोवायुवनस्पतित्रसका-
यिकभेदेदात् । अतिसिद्धा आश्रिताः । शिकाया निकायाः समूहाः । आण्णा आतानामाश्रयलात् । यद्यपि च ज्ञानावरणोदया
द्वन्द्वेदश्राने सति वच्छ्रद्धानं नोत्पद्यते तथापि नासौ मिथ्यादृष्टिदर्शनमोहोदयजन्यस्य अश्रद्धानस्य क्षातज्यग्रदेयविषय
स्वाभावात् । न हि श्रद्धानस्यानुत्पत्तिरश्रद्धानं किं तर्हि ? श्रद्धानाद्व्यदिदमित्यमिति श्रुतिरूपिवेदार्थेऽवधिः ।

जीवद्रव्यके उपर नियमसे अश्रद्धान करना चाहिये इसके विवेचनके लिये उत्तर गाथा आचार्य कहते हैं—
हिंदी अर्थ—इस जगतमें चार गतिमें भ्रमण करनेवाले जीवोंके छह प्रकार हैं, पृथिवी, हवा, पानी, अग्नि, अणु, अमि, यनस्पति ये पांच स्थावर काय जीव हैं, इन्द्रियादि जीवोंको असंकाय जीव कहते हैं, ऐसे छह भेद संसारी जीवके हैं, जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका नाश करके मुक्ति प्राप्त की है वे जीव सिद्ध हैं, जिन्हेंशरीर की आशासे इस जीवनिर्वाणपर श्रद्धा करनी चाहिये.

विशेषार्थ—पटकायके जीव संसारमें चार गतियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, उनको शुभाशुभ कर्मके उदयसे
छुमाशुभ शरीर मिलते हैं तथा नष्ट होते हैं, कभी कभी स्वतःके मनोयोग, वचनयोग और क्त्ययोगसे पुण्य
कर्मबंध हो गया तो उनको सुख मिलता है, और यदि पापबंध हुआ तो दुःखानुभवमें उनको प्राप्तपर्याय स्वतन
भरनी पड़ती है, त्रसकर्मके उदयसे इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतकके प्राणियोंमें उनका जन्म होता है, और
स्वावरकर्मके उदयसे वे पृथिवी, हवा वगैरह प्राणियोंमें जन्म धारण करते हैं, विचित्र सविज्ञानावरणके उदयसे
और उसके क्षयोपशमविशेषसे उनको एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियावस्था प्राप्त होती है, पर्याप्ति नाम
कर्मके उदयसे यथायोग्य चार, पांच और छह पर्याप्ति प्राप्त होती हैं, यदि अपर्याप्ति नाम कर्मका उदय आवे तो
अपर्याप्ति बनते हैं, पृथिव्यादि शरीरोंको धारण करनेमें ये षण् संसारी जीव चतुर हैं, आयुनाम कर्मरूप चेडीसे
जखड़ जानेसे परापीन हो गये हैं, सचित्तयोनिरित्यादि भूत योनियोंसे उत्पन्न हुए शरीरमें इनकी मति आसक्त हो
गई है, जरा-श्रद्धानस्यावरूप टाकिनी इनका रूप और रक्त पीनेमें चतुर रहती है, मृत्युरूपी अतिवारणीय वज्रपातसे

इनका चित्त मययुक्त हो जाता है। ऐसे ये संसारी जीव पृथिवी, हवा, इत्यादि रूपसे छह प्रकारके हैं।
 निनको सम्पददर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतशक्ति, अव्याघातता, सहस्रता, अवगाहन, अगुरु-
 लघुता ऐसे आठगुणोंकी प्राप्तिलयी युक्ति प्राप्त हो गई है वे सिद्ध जीव हैं।

शुद्धा—जीव धातुका अर्थ प्राणधारण करना है। 'जीवति प्राणान्धायाति इति जीवः' अर्थात् जो इंद्रि-
 यादि प्राणोंको धारण करता है वह जीव है ऐसी जीव शब्दकी निश्चिति है। इंद्रियादिक प्राणोंकी उत्पत्ति कर्मसे
 होती है। परंतु सिद्धोंको कर्म नहीं है अतः सिद्धोंमें जीवत्व कैसा मानोगे ?

उत्तर—द्रव्य प्राण और भाव प्राण ऐसे प्राणोंके दो भेद हैं। इंद्रियां, आशु स्वासोच्छ्वास और काय बल,
 मनोबल और वचनबल ये द्रव्यप्राण हैं। ज्ञानदर्शन वगैरह भावप्राण हैं। द्रव्यप्राण कर्मसे उत्पन्न होते हैं, जैसे
 भावप्राण कर्मसे उत्पन्न नहीं होते हैं। कर्मोंका अभाव होनेपर उनका जन्म होता है। सिद्धोंको भावप्राण हैं अतः
 वे जीव हैं यह सिद्ध हो चुका, अथवा जिन्होंने संसारपथामें द्रव्यप्राण धारण किये थे वेही अब सिद्ध बने हैं ऐसे
 प्रत्यभिज्ञानसे उनमें एकत्वसिद्धि होती है इस लिये एकत्वके आशयसे हम सिद्धोंको भी जीव कह सकते हैं।
 अथवा जीव शब्दकी चेतनावान प्राणीमें स्वी है। अर्थात् जीव यह शब्द रूढि शब्द है। रूढ शब्दमें किया
 व्युत्पत्तीके लिये ही होती है। इस लिये यह किया वहां नहीं भी हो तो भी उपलक्षणसे ग्रहण किये हुए सामान्यके
 आशयमें उग शब्दकी प्रवृत्ति होती है, जैसे 'गच्छतीति गौः' इस निरुक्तिसे बनाया हुआ भी गोशब्द गमन
 किया न होनेपर भी अर्थात् पैरी हुई या खरी हुई गोमें भी प्रवृत्त होता है। क्योंकि अनित्यगमनक्रियासे युक्त
 गोत्वका गोमें सद्भाव है और गोशब्द उपलक्षणसे गोत्वका वाचक होता है, उसी तरह प्रकृत विषयमें प्राण
 धारणामें उपलक्षित चैतन्यके आशयसे जीव शब्दकी सिद्धिमें प्रवृत्ति होती है। संसारी और मुक्त ऐसे जीवतमूहोंपर
 जिनामासे श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा इसका अगिप्राय है, जीवके विषयमें यदि श्रद्धा नहीं हो तो श्रुतिके साधनभूत
 रत्नत्रयकी प्राप्ति करना और संसारवर्षक मिथ्यात्वदि कारणोंका त्याग करना यह सब प्रयासमग्नही होगा।

यद्यपि घर्मादि द्रव्योंका ज्ञान न होनेसे ज्ञानके साथ होनेवाली श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तो भी वह
 सम्पदधिही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान जो कि
 अज्ञानको विषय करता है वह यहां नहीं है। मिथ्यादर्शनसे उत्पन्न हुआ जो अश्रद्धान वह अलवि रूप है अर्थात्

यह वस्तुस्वरूप इस तरहसे है ऐसा जो आगममें कहा गया है. उस विषयमें अलंघि होना यह मिथ्यादर्शनरूप अधदान है. और प्रकृत विषयमें ऐसी अधदा नहीं है. यहाँ जीवादिका ज्ञान नहीं है परंतु जिनेश्वरके प्रतिपादित जीवादि तत्त्व सन्धे हैं ऐसी मनमें प्रीति-रुचि उत्पन्न होती है यह विशेषता समझनी चाहिये.

अद्धातव्यं प्रकारांतरेणापि निर्दिष्टं उत्तराणां—पूर्वं सर्वद्वयविषयशब्दानुक्तं, एवमादित्ययमतिपादनायं जीवद्रव्यविषया अज्ञा निकृतिता अनंतरमाधया । इह तु आत्मवादोऽपि श्रद्धालव्या इति सूच्यते—

आत्मवत्सवरणिजजरवंधो मुक्त्वो यं पुण्णपावं च ॥

तद् एव जिणाणां सद्दहिद्वन्वा अपरिसेसा ॥ ३८ ॥

आत्मवं संवरं बंधं निर्जरां मोक्षमंजसा ॥

पुण्यं पापं च सद्दुष्टिः अदधाति जिनाशया ॥ ४१ ॥

येन कारणभूतेन तमपरिणामेन स परिणाम आत्मवत् । आत्मवत्प्रागच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गलानां भासा तथैवावस्थिताः पुद्गलाः अनंतप्रदेशिभिः कर्मपर्यायं भजन्ते । 'एवमिह तोवगाढ' मिति ब्रह्मण तत् किमुपपत्ते विवक्षितं । तेन तत्त्वभूतनिर्गुणमात्सर्ग्यतया सादृश्यादयः जीवपरिणामाः कर्मत्वपरिणतेः पुद्गलानां साधकतमया विवक्षिताः आत्मवत्प्रागच्छन्ते । अथवा आत्मवत् कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आत्मवत् इत्युच्यते । संश्रियते संरुध्यते मिथ्या ईशनादिः परिणामो येन परिणामांतरेण सस्यदर्शनादिना, शुद्ध्यादिना वा स संवरः । निर्जीयते निरस्थते यथा, निर्जरेण वा निर्जरा । आत्मप्रदेशस्थं कर्म निरस्थते यथा परिणत्या या निर्जरा । निर्जरं पृथग्भवनं विस्लेषणं वा कर्मणो निर्जरा । मोक्षयेत् उच्यते येन मोक्षमाणं वा मोक्षः । निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकलानदर्शनयथाज्यातचारित्र्यसंभितेन अस्वत्ते स मोक्षः । विस्लेषो वा समस्तानां कर्मणां । वध्यते अस्वत्तं प्रीतिर्यन्ते कर्मणोऽप्ययानि येन परिणामेन आत्मनः स वंधः । अथवा वध्यते परवशतामापाद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बंधः । पुण्यं नाम अभिमतस्य प्रापकं । पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं । इह बंधशब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतः न कर्म एव, पृथक् पुण्य-पापप्रदणाम् । ननु केन परिणामेन जीवपुद्गलयोर्यातर्भाव आत्मवादीनां जीवपुद्गलत्वअदानस्य पूर्वमुपपन्नत्वान्न किमर्थं मिदं सूत्रमिति श्रेयः श्रेयः । विन्यासवैधिर्यादेशनामेदं ध्यागमवाक्येषु । ततः यदा तत्र सर्वत्र कार्येति चोदितं भवति । अधदानं न मनतापि कार्यम् ।

आश्रयदादितत्त्वं जीयदुःखयोः पर्यायविशेषत्वात्तच्छ्रद्धेत्यन्तरिक्तगत्यां श्रद्धेत्यतया निरूपितमपि विनयेयाशयैव-
विप्रीवसाध् पृथक् श्रद्धेत्यतया निर्देष्टुमाह—
मूलात्—आसय—आश्रयन्त्यागच्छन्ति ज्ञानावरणादिकर्मसाधं तद्योग्याः अनंतप्रदेशिनः सभानदेशस्थाः पुद्गला येन
सिद्धगद्गनादिना तत्प्रयोजननिहवादिना वा विघ्नकारणं तेन जीवपरिणामेन स आस्रवः । अथवा आस्रवणमास्रवः ।
पुद्गलानां कर्मत्वपरिणतिः । तथा चोक्तं—

असा कुणदि सत्त्वावं सत्यवदा पुगला स्रववेहि ॥
गच्छन्ति कर्मभावं शरणोण्यागाहमवगाढा ॥

शंकर—संप्रियते निरुच्यते आस्रवो येन सन्त्यक्त्वासादिना, गुल्यादिना वा जीवपरिणामेन स संहरः । संहरणं
संहरः । ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यानां पुद्गलानां तद्भाव—परिणतिनिराणं । जिल्लर—निर्जीविते आत्मप्रदेशादेकदेशेन
पृथक् क्रियते कर्म यथा जीवपरिणत्या सा । अथवा निर्जरणं निर्जरा । कर्मणामेकदेशेन संहरयः । यथो—वर्ण्यतेऽत्यंतजी-
क्रियते कर्मद्रव्याणि येन स्थितिपरिणामेन आत्मनः स संघः । अथवा कच्यते परवशतामाश्रयते आत्मा येन स्थिति
परिणामेन कर्मणा तत्कर्म वैयः । यदि वा संघनं संघः, जीवकमणोरन्योऽन्यप्रदेशादुपवेशः । मोक्षलो मोक्षयतेऽत्यंत
आत्मनः पृथक् क्रियते समस्तानि कर्माणि येन संपूर्णरत्नप्रवलक्षणेनात्मपरिणामेन स मोक्षः । अथवा मोक्षयते
विरुज्यते जीवो येन नीरसीभूतेन कर्मणा । तच्छादितकलदानसामर्थ्य कर्म मोक्षः । यदि वा मोक्षणं मोक्षः जीव
कर्मणोरत्यंतविको विरुज्यः । पुण्यशब्द—पुण्यं सद्देष्टुभाषुनामगोत्राणि अतोऽन्यत्कर्म पापं । पुण्यगतयोर्महेश्वरिह संघ
शब्देन जीवपरिणाम एव गृहीतो लक्षयते । न कर्म नापि संघनक्रिया । अपरितेसा सत्तापि ।

श्रद्धाकं विपयका विवेचन प्रकारांतरसे आचार्य करते हैं—अथमतः सर्व द्रव्य श्रद्धानक्रे विपय कहे हैं,
अनंतर मद्भर दिखानेके लिये जीव द्रव्यकी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा कहा. अब प्रस्तुत याथोमे आस्रवादि
तत्त्वोंपर भी श्रद्धा करनी चाहिये ऐसा आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—आस्रव, संहर, निर्जरा, संघ, मोक्ष, पुण्य और पाप ऐसे शब्दोंके पदाथोंपर भी जिनमग्यानकी
आश्रामे श्रद्धान करना चाहिये.

विशेषार्थ—आत्माके जिस परिणामसे पुद्गलद्रव्य कर्मरूप बनकर आता है उस परिणामको आस्रव कहते हैं, अर्थात् आत्मपरिणाम पुद्गलमें कर्मोवस्था उत्पन्न होनेमें निमित्त हुआ अतः आत्मपरिणामको आस्रव-भावसाक्ष्य कहते हैं। और पुद्गलकी कर्मरूप परिणतिको द्रव्यास्रव कहते हैं।

शंका - कर्मपुद्गलोंका अन्य स्थानसे आगमन नहीं होता है, जिस आकाशप्रदेशमें आत्मा है उसी आकाशप्रदेशमें अनंतप्रदेशी पुद्गल द्रव्य भी है, और वह कर्मस्वरूप बन जाता है, 'एयस्मिन्नतोवगाढ' ऐसा कर्मपुद्गलके विषयमें आचार्य चचन करते हैं अर्थात् कर्म और आत्मा एक प्रदेष्टावगाही है ऐसा शास्त्र वचन है, इस लिये आप पुद्गलद्रव्य आत्मामें आकर कर्मरूपता धारण करता है ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर - आपको शंका ठीक है यहां पुद्गलद्रव्य आता है इसका अभिप्राय ऐसा समझना चाहिये 'आगच्छति हौकन्ते ज्ञानाधारणादिपपायमित्येवं ग्रहितव्यम्' अर्थात् जीवमें पुद्गल आते हैं—ज्ञानाधारणादि पर्यायिको प्राप्त होते हैं, ऐसा अभिप्राय यहां समझना चाहिये, देशान्तरसे आकर पुद्गल कर्मवस्था धारण करते हैं ऐसा कहनेका हमारा आशय नहीं है।

अतः प्रदेष्टा, निन्दव मात्सर्पादिक जीवके परिणाम पुद्गलकीकर्मरूप परिणति होनेमें साधकतम है, अर्थात् जीवके मात्सर्पादिक परिणाम होनेसेही पुद्गल कर्मरूप होता है अन्यथा होताही नहीं, जीवपरिणाम करण रूप है, करणरूपपरिणामकी मुख्यता जब मानी जाती है तब उस परिणामकोही आस्रव कहते हैं, अथवा 'आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गलानां आस्रवद्वेनोच्यते' पुद्गलोंकी कर्मरूप परिणतिमें भी आस्रव शब्दका व्यवहार किया जाता है, इसको द्रव्यास्रव कहना चाहिये।

संवर—जिस सम्यग्दर्शनादि परिणामोंसे अववा गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिपह ज्ञय इत्यादि परिणामोंसे मिथ्यादर्शनादि परिणाम रोक जाते हैं वे रोकनेवाले परिणाम संवर शब्दसे कहे जाते हैं, अर्थात् सम्यग्दर्शनादि परिणाम वा गुप्त्यादिपरिणामोंको आचार्य संवर कहते हैं, उसको ही भाव संवर कहना चाहिये।

निर्जरा—आत्माके विन्न परिणामोंसे आत्मासे कर्म झट जाता है उसको निर्जरा कहो, अर्थात् आत्माके प्रदेशोंमें जो कर्मवद्द हो चुका है वह विन्न परिणामोंके द्वारा वहांसे अलग किया जाता है ऐसे परिणामोंका नाम निर्जरा है, अथवा कर्मका आत्मासे अलग हो जाना वह भी निर्जरा है।

मोक्ष—जिसने कर्म दूर किया जाता है वह मोक्ष है अर्थात् श्वागिबन्धन, श्वागिदर्थन, यथाग्यात चारित्र्य लिनपरिणामोंसे आत्मके संपूर्ण कर्म आत्मामे दूर किये जाते हैं उनको मोक्ष-भावमोक्ष कहते अथवा संपूर्ण कर्मोंका आत्मामे अलग हो जाना वह भी मोक्ष अर्थात् द्रव्यमोक्ष है.

बंध - जिस मिथ्यादृष्टिनादि परिणामोंसे कामर्षण द्रव्य परतंत्र किया जाता है अर्थात् जब तक उसकी स्थिति पूर्ण नहीं होती तत्तक आत्मामे उसको परतंत्र होकर रहना पड़ता है ऐसे कर्मोंको परतंत्र करनेवाले मिथ्यादृष्टिनादि आत्मपरिणामोंका बंध—भावबंध कहते हैं. अथवा स्थितिवंधयुक्त कर्मकेद्वारा आत्मा परतंत्र किया जाता है इस लिये कर्मोंको भी बंध कहते हैं. वह कर्म द्रव्यबंधरूप समझना चाहिये.

पुण्य—इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मोंको पुण्य कहते हैं.

पाप—अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मोंको पाप कहते हैं.

यहां बंध शब्दसे लीबके परिणामोंकाही ग्रहण किया है. कर्मका ग्रहण किया नहीं है. पाप और पुण्यका अलग ग्रहण किया है अतः उससे कर्मका ग्रहण किया है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—आपने परिणामोंका वर्णन किया है इससे आसब, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष इनका जीब व पुद्गलमें अंतर्भाज होता है. जीन और पुद्गलका पूर्ण गाथामें आपने वर्णन किया है. अतः आसवादिकोंका वर्णन करनेवाली यह वृत्तगाथा व्यर्थही मान्य पड़ती है.

उत्तर—आपकी शंका ठीक है. शिष्योंके अभिप्राय भिन्न भिन्न हुवा करते हैं अर्थात् कोई संक्षिपलचि रहते हैं, मितीको विलार भ्रिम रहता है और कोई शिष्य मध्यमकारग्रिच होते हैं. अतः वे समझ सके ऐसे मागीरों-तत्त्व फयनकी प्रणालीका आगममें कथन है. इस लिये आचार्योंने दो तीन प्रकारोंसे जीवादि पदार्थोंका स्वरूप कहा है. यह योग्यही हुवा है. इसलिये मन्त्रोंने तत्त्व विवेचनके सर्व प्रकारोंमें श्रद्धा करनी चाहिये. थोड़ीसी भी श्रद्धा नहीं करना चाहिये.

मिथ्यादृष्टिना किमल्पस्य अग्रजनेन भगति ? बहुतरं अजीयते इत्याशंका न कार्येत्येवदाचष्टे—

पदमन्त्रं च एकं पि जो न रोचेदि सुचणिहिष्ठं ॥

सेसं रोचंतो यि हु मिच्छादिही मुणेयव्यो ॥ ३५॥

नैकमव्यक्षरं येन रोच्यते तत्त्वदर्शितम् ॥

स स्वेवं रोचमानोऽपि मिथ्यादृष्टिरसंशयम् ॥ ४२ ॥

विजयोदयः—पदमक्षरं इति । पदशब्देन पदव्यवस्थ सहकारी पदस्यार्थ उच्यते । अक्षरं च इति स्वल्पशब्दो-
पलक्षणं स्वल्पमर्थं शब्दयुते वा । जो यः । न रोचदि न रोचते । सुचनिदिह पूर्वोक्तप्रमाणनिर्देशम् । सेसं इतरश्रुताय
धुतांश । रोचतोऽपि । मिच्छादिद्वी मिथ्यादृष्टिरिति । मुनेद्वयो ज्ञातव्यः । महति कुंडे स्थितं बह्वि पयो यथा विपकणि-
का दूषयति । एवमर्थज्ञानकणिका मलिनयत्यात्मनिमिति भावः ।

बहुतरं ब्रह्मतोऽस्यस्याश्रदाने किं मे मिथ्यादृष्टित्वं स्वादित्वाशा न कार्यो, बृहत्कुण्डसंभृतक्षीरस्य विप
कणिकाप्रमेयेणैव तत्त्वाश्रदानकणिकाव्यात्मनो दूषयत्वादिति सिक्तां प्रयच्छन्नहं—

मूलाः—परं, पदस्यार्थं साहचर्योन् । अक्षरं स्वल्पमप्यर्थं शब्दश्रुतं वा ।

तत्र बहुतांशं भ्रदा करते हैं और थोड़ेकी अभ्रदा करते हैं तो हम मिथ्यादृष्टि कैसे होंगे ऐसी संका नहीं
करना चाहिये. इसका मुलासा आचार्य करते हैं—

हिंदी अर्थ—छत्रमें कदा हुआ एक पदका अर्थ और एक अक्षरका भी अर्थ जो प्रमाण भूत मान कर
भ्रदा नहीं करता है वह घाकीके श्रुतार्थको या श्रुतांशको प्रमाण मानता हुआ भी मिथ्यादृष्टिही है
ऐसा समझना चाहिये. पड़े पात्रमें रखे हुए बहुत दूधको भी छोटीसी विपकणिका बिगाड़ती है. इसी तरह
अभ्रदाका छोटासा अंश भी आत्माको मलिन करता है ऐसा समझना चाहिये.

मिथ्यादृष्टिरिति शाक्तव्यमित्युक्तं स एव न क्षयते एवंलक्षण इत्याशंकायां मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थं
गद्या—

मोहोदयेण जीवो उवदृष्टं पवयणं ण सदहदि ॥

सदहदि असम्भावं उवदृष्टं अणुवदृष्टं वा ॥ ४० ॥

१ जंतुमुक्तमनुक्तं वा विपरीतं तु रोचते ॥ ३३ ॥

विजयोदया—मोहोदयेणेति । मोहोदयेण न सदहदि सो मिच्छादिक्षति । मोहयति मुह्यतेऽनेनेति वा मोहो द्वांनमोहनीयान्त्वं कर्म मयेन तुल्यधीर्त्यम् । मया मयमासेत्यमानं अपाटवं प्रक्षया वेपरीत्वं च संपादयति ।

मिथ्यादृष्टेः किं लक्षणमित्याह—

मूलारः—मोहोदयेण—मयमिष महां मोहयति, अपाटवं वेपरीत्वं वा सो भवति, मोहते येन वा स मोहो मिथ्यात्वकर्म तस्योदयः सङ्कारिसामिथ्यादप्रविषद्या स्वकार्ये प्रवृत्तिः । पववर्णं वस्तुवायारन्वं । असङ्कार्यं अतत्त्वं । अत्र साध्याहारत्यासूत्राणामित्थं पदपटना । जो जीवो मोहोदयेन कारणेन सच्यगुरुरूपदिष्टं न अकृते सङ्कार्यं पुनः उपदिष्टमनुनविष्टं वा भवति स मिथ्यादष्टिरेष्टव्यः । तथा च मूले सूक्ष्मम्बाधवायते—

मिच्छसं वेदन्तो जीवो विपरीधरसणो होति ॥

न च धम्मं रोषेदि इ मङ्कुरं सु रत्नं जहा जरिवो ॥

‘मिच्छादिष्टी मुण्यन्वा’ अर्थात् अल्पभी अथवा करनेवाला मिथ्यादष्टि समझना चाहिये ऐसा आपने कहा है परंतु उसका स्वरूप हमको मात्स्य नहीं है ऐसी आर्कका होनेपर आचार्य मिथ्यादष्टिका स्वरूपनिरूपण करनेके लिये गाथा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—दर्शन मोहनीयकर्मका उदय होनेसे यह जीव कहे हुए जीवादि पदार्थोंके सचे स्वरूपपर श्रद्धान करता नहीं है, परंतु जिसका स्वरूप कहा है अथवा कहा नहीं ऐसे असत्य पदार्थोंके ऊपर वह श्रद्धान करता है, जैसे मदिराका पान करनेसे मनुष्यके बुद्धीमें मंदता आती है और वह पदार्थका स्वरूप उलटा जान लेता है वैसे यह दर्शनमोहनीयकर्म भी मदिराके समान शक्तिको धारण करता है, यह कर्म आत्माको मोहयुक्त करता है, इसलिये असत्य पदार्थोंको वह सत्य समझकर उसमें श्रद्धान करता है, अथवा पदार्थका स्वरूप जानता नहीं है।

१ सपुस्तके—मोहोदयेणेति—साध्याहारस्वात्मंश्रूणां अध्याहारेणैवं पदपटना । जो जीवो इति ।

मिच्छन् वंदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ॥

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ ४१ ॥

मिथ्यात्वं वेदयन्गं न तत्त्वं कुरुते रुचिम् ॥

कस्मै पित्तज्वरात्तंय रोचते मधुरो रसः ? ॥ ४४ ॥

विजयोदया—एवं मिथ्यात्वस्य कर्मत्वकल्पितस्य उदयः सन्निहितसहकारिजागणस्य स्वकार्यजनने प्रति-
पद्युत्तिस्तेनोदयेन कारणेन निरूपितं वस्तुवाधार्यं न धरते अतत्त्वं तु कथितं अकथितं ॥ धरते । यस्तु-
वाधारस्याश्रयाने को दोषो येन कारणेन निरूपितं वस्तुवाधार्यं न धरते । अतत्त्वं तु कथितं अकथितं वा धरते ।

हिंदी अर्थ—मिथ्यात्व कर्मका अशुभच लेनेवाला यह जीव विपरीत श्रद्धावाला बन जाता है, उसको जैन-
धर्मका स्वरूप अच्छा मालूम नहीं होता है, जैसे ज्वरपीडित मनुष्यको मधुर भी स्वादका रस कड़ु श्रात होता है,
जब सहकारिकाणोंकी मदद मिथ्यात्व कर्मकी मिलती है तब यह अपना कार्य करनेमें कटिबद्ध होता है, अ-
र्थात् वस्तुका यथार्थ स्वरूप वतानेपर भी जीव इस कर्मके उदयसे उसपर श्रद्धान नहीं करता है, और अतत्त्वके
ऊपर उसका स्वरूप कहो अथवा न कहो श्रद्धा हो जाती है, वस्तुके यथार्थ स्वरूप पर अश्रद्धा होनेसे अतत्त्वमें
श्रद्धा हो जाती है यह दोष उत्पन्न होगा है.

वस्तुवाधारस्याश्रयाने को दोषो येन तत्प्रतिपक्षश्रद्धानभावनाया तदपास्त्यते इत्याशंकायां अश्रद्धानकृतवोपमा-
हारव्यव्यापनार्थं गथा—

सुविहियमिमं पवयणं असदहन्तेनिमेण जीवेण ॥

वालमरणाणि तीदं मदाणि काले अणंताणि ॥ ४२ ॥

अनेनाश्रद्धानेन सिनचाकयमनेकयाः ॥

चालवालमृतिः प्राप्ताः कालेऽस्तीते (यत्तोऽङ्गिना) ॥ ४५ ॥

विजयोदया—सुविहिवमिति । सुष्ठु विहितं कृतं पूर्वोपरविरोधवोपहितवस्तुवाधार्यप्रतिपक्षिजनकारणं ।
रसं रसं । पवयणं प्रतप्तनं । असदहन्तेण अश्रद्धानेन । इमेण अनेन । जीवेण जीवेन । एवमत्र पदसंबन्धः । वालमरणाणि

अनन्तानि मद्भाति सीधे काहे इति । बालमरणान्यन्तानि अतीतकोष्ठे मृतानि । ननु मिथ्यादोषमरणं बालमरणं तद्वि-
मुच्यते बालमरणानीति । बालत्वं नाम सामान्यं बालगोष्ठेऽपि विद्यते इति बालमरणाधीत्युक्तं ।

तस्याश्रद्धाने को दोषो येन तत्सम्बन्धस्तन्मायनया निरस्यते इत्यत्राह—
मूलारा-सुविहिदं—दृष्टेऽधिकरुद्धं पूर्वोपरिविरोधरहितं वा । केचित्तु सुविहिद इति पठन्ति । हे सुबखिब इति
इत्याख्यानयन्ति च । इमं इदं गुणसंबन्धमायातं । इगिणा अनेन स्वसंवेदनासिद्धेन । बालमरणाणि बालबालमरणाणि
बालसामान्यस्य पाठगोष्ठेऽपि विद्यमानत्वात् । घोरे अतीते । मदाणि युक्तानि प्रास्तानि वाक्यान्मनेकार्थत्वात् ।

यस्तुके यथार्थ स्वरूपमं श्रद्धा न करनेसे कोनसा दोष उत्पन्न होता है. कि जिसको यथार्थ श्रद्धान की
भावनाके द्वारा दूर करना पड़ता है. ? ऐसी शंका होनेपर अश्रद्धानसे उत्पन्न हुए दोषका माहात्म्य वर्णन करनेके
लिये उत्तर भाषा कहते हैं—

हिंदी अर्थ—यह जितनाम पूर्वोपरिविरोधादिदोषपरहित है. और वस्तुके यथार्थस्वरूपका ग्रहण करनेवाले
ज्ञानको उत्पन्न करता है. परंतु ऐसे आगमके ऊपर अश्रद्धान करनेसे इस जीवने अतीत कालमें-भूतकालमें अनंत
बालबालमरण किये हैं. शंका-मिथ्यादृष्टीके मरणको बालबालमरण कहते हैं और आप उसके मरणको बालमरण
कहते हैं.

उत्तर—बालत्वं नामका सामान्य धर्म बालबालमरणमें भी विद्यमान है इसलिये उसको बालमरण कहते हैं.

कीर्तनी तर्हि मतिः कार्यं संसारमीक्षणा—

विगमंयं पञ्चयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं ॥

इणमेव मोक्षमगोत्ति मदी कायन्विया तम्हा ॥ ४३ ॥

इदमेव वचो जैनमनुत्तममकल्मषम् ॥

निग्रंथं मोक्षवर्त्मनेति विधेया धिपणा ततः ॥ ४४ ॥

विजयोदया—विगमंयं पञ्चयणं । श्रद्धंति स्वयन्ति दीर्घाकुर्यान्ति संसारमिति ग्रंथाः । मिथ्यादृष्टेन, मिथ्या-

ज्ञानं, असंयमः, कृपायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः । मिथ्यादर्शनाधिष्ठातृं किं सम्पददर्शनं । मिथ्याप्रानाधिष्ठातृं सम्पत्प्रदानम् । असंयमात्कृपायैभ्योऽशुभयोगप्रपाचा निष्क्रान्तं सुचारित्रं तेन तत्प्रयत्नमिह निर्ग्रन्थशब्देन भण्यते । पञ्चयणं प्रवचनस्यैवं अभिधेयं । शृणुमेव इदमेव अशुभं न विद्यते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादिति अनुसरम् । सुखसिद्धिदं सुखं परिशुद्धं । शृणुमेव इदमेव । मोक्षसम्पन्नोऽस्ति कर्मणां निरवशेषापायस्योपाय इति । मदी बुद्धिः । क्वापि विषया कर्तव्या । तन्मा तस्मात् । यस्यादेवंभूतायामस्तयां मत्वा दुःखमरूपप्रतिरतीतकाळ इव भविष्यत्यपि काले भविष्यतीति ।

भगवद्व्यदोर्ध्वं तर्हि संसारभीरणानेन कीदृशी मतिः कर्तव्येत्पन्नाह —

मूढारा-पिंगंधवित्यादि-मञ्जंति रचयंति वीर्यकुर्वन्ति संसारमिति भ्रंशा मिथ्यादर्शनादयः । सत्र मिथ्यादर्शना निष्क्रान्तं सन्ध्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानात्सन्ध्यादर्शनं, असंयमकृपायाशुभयोगेभ्यश्च सन्ध्याचारित्रं इति । रत्नप्रदमत्र निर्ग्रन्थ शब्देनोच्यते ॥ पापयणं—पापकर्म प्रवचनस्य विनागमस्य अभिधेयं केवलप्रवचनमित्यर्थः । अन्ये तु निःसंगं प्रवचनमिति आशान्येन व्याचक्षते । इणमेव सुखसिद्धिदं इदमेव सुखं समन्ताभिर्दोषं सत् । अशुभं लोकोत्तमं । ' केवलपिण्णत्तो धम्मो लोकोत्तनो, इति वचनात् । मदी मणिरभ्युपगमः । फादल्लिया कर्तव्या । तन्मा तस्मात् । यत् एवंविधां नति कुर्वता जनेन लीयेत दुःखैकमये भवार्णवे धनादिकांलं भान्तमिति भावः ।

संसारसे इनेचाले मनुष्यको अपने मनमें कैसे विचार करने चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—
हिंदी अर्थ—जो संसारको गृथते हैं अर्थात् जो संसारकी रचना करते हैं, जो, जो संसारको दीर्घकाल तक रनेचाला करते हैं उनको ग्रंथ कहना चाहिये, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कृपाय, अशुभ योगत्रय अर्थात् अशुभ मनोयोग, वचनयोग और काययोग इन परिणामोंको आचार्य ग्रंथ ऐसा नाम देते हैं, मिथ्याश्रद्धा जब बढ जाती है तब सम्पददर्शन उत्पन्न होता है, मिथ्याज्ञान नष्ट हो जानेसे सम्पत्ज्ञान पैदा होता है, असंयम, कृपाय और अशुभ तीन योग इनसे रहित जो चारित्र उसको सम्पत्चारित्र कहते हैं, सम्पददर्शन, सम्पत्ज्ञान और सम्पत्चारित्रको अर्थात् रत्नत्रयको आचार्य निर्ग्रन्थ ग्रंथ संज्ञा देते हैं, यह निर्ग्रन्थ ही अर्थात् रत्नत्रय ही जगतमें सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, इससे भी उत्कृष्ट पदार्थ दूसरा कोई भी नहीं है, यह पदार्थ पूर्ण निर्दोष है, यही मोक्ष है, अर्थात् इससे ही संपूर्ण कर्मोंका नाश होगा, ऐसा मनमें यदा विचार करना चाहिये, इस तरहका नि

यदि न हो तो जैसे भूतकालमें जन्ममरणके दुःख इस जीवको भोगने पड़े थे ऐसे ही दुःख भविष्यकालमें भी अवश्य भोगने पड़ेंगे.

तथा सम्यक्चरं निवर्तितारं शुभोज्ज्वलितं भावनीयं ह्येतदाचरे उत्तरप्रबंधेन तत्रातिचारनियोजनाधोत्तरगाथा—
सम्मत्तादीचारा संका कंखा तद्देव विदिर्गिच्छा ॥

परविद्वतीण पसंसा अणायदणसेवणा चेव ॥ ४४ ॥

कांकाकांक्षाचिक्कित्तसान्यद्विट्ठिवांसनसंस्नवाः ॥

सदाचारैरतीचाराः सम्यक्चरस्य निवेदिताः ॥ ४७ ॥

विजयोपया—सम्मत्तादीचारा शब्दानस्य दोषाः । संका शंका, संदायप्रलयः किं स्विदित्यनवधारणा-
सम्भा । त च निश्चयमात्यथाययं दर्शने मलिनयति । ननु सति सम्यक्त्वे तद्विचाराय युज्यते । संदायश्च मिथ्या-
रत्नायहति । तथाहि मिथ्यात्पन्नेषु संशयोऽपि गणितः ।

‘संशयमभिगाहिदं भणमिगाहिदं च तं त्रिविधं’ इति । सत्यपि संशये सम्यक्चरानमस्त्येवेति
अतिचारता युक्ता । कथं ? श्रुतकानावरणक्षयोपशमविशेषाभावात्, उपेक्षुर्भावात्, तस्य वा यदननिपुणता नास्ति,
तन्निर्णयकारिभूतपचनानुपलब्धेः, अभावात्, काष्ठलघेरभावाद्वा यदि नाम निर्णयो नोपजायते । तथापि तु एवं यथा
सर्वथा उपलब्धं तथेति शब्दार्थमिति मायतः कथं सम्यक्त्वहायिः ? एवंभूतअक्षारहितस्य को वेति किमत्र तत्त्व-
मिति अदृष्टेषु कपिलविषु सर्वज्ञतेय दुर्यधारा, अयमेव सर्वविषय इति आगममरणतायां को वस्तुयापात्तयानुसारी को
वा नेति संशय एवेति यत्तथायथाज्ञानं संशयस्योपपत्तीत्युक्तं तस्मात्तत्त्वमिथ्यात्वमित्युच्यते । तद्वद्वानरूपतय लक्षणं
मिथ्यात्वस्य यथा यस्म्यति ‘तं मिच्छन् जमसदृशं तच्चाण द्वेदि भत्याण’ इति । अन्यथा मिथ्याज्ञानस्य
मिथ्यादर्शनस्य च भेदो न भवेद्, भेदश्च स्फुटो याग्यंतरे ‘मिच्छाणागमिच्छाईक्षण मिच्छाचारित्वाद्वा पद्धिचि-
दमीति’ । किं च उच्यमानां रज्जूरालाणुपुण्यादिषु किमिदं रज्जूराला, स्थानुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशय-
प्रलयो जायते इति ते सम्यग्दृष्टयः स्युः ।

कांक्षा मान्दर्व आसक्तिः, सा च दर्शनस्य मलं । यथेवं आहारे कांक्षा, स्त्रीवलांगमात्यालंकारादिषु
याऽसंयतसम्पदार्थैर्यत्तापिरतस्य वा भवति । यथा ग्रमत्तसंपत्तस्य परीणक्कुलस्य भक्षयानादिषु कांक्षा
संभवति । तातिचारदर्शनता स्यात् । तथा मन्वानां सुखकांक्षा अस्त्येवमेवोच्यते न कांक्षामात्रमतीचाराः किं तु
दर्शनाद्वृत्तादात्मरूपपूजायास्तपसाश्च जातेन पुण्येन भवेत् कुलं, रूपं, धितं, स्त्री-पुत्रादिकं, शत्रुमर्दनं, स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं
वा भातिशयं स्यादिति कांक्षा इह गृहीता एषा अतिचारो दर्शनस्य ।

विचिकित्सा बुगुप्त्वा मिथ्यात्वासांशमादिषु बुगुप्त्वाणां प्रवृत्तिरतिचारः स्यादिति चेत् इहापि नियतविषया बुगुप्त्सेति मतानिचारत्वेन । रत्नत्रयणसम्पत्तौ तद्वति ॥ कोपादिनिमित्ता बुगुप्त्वा इह गृहीता । ततस्तस्य दर्शनं, ज्ञानं, चरणं याऽशोभनमिति । यस्य हि इदं भद्रं इति अज्ञानं स तस्य बुगुप्त्वां करोति । ततो रत्नत्रयमाहात्म्या-रविर्बुजपतेऽतिचारः ।

परदिहीण पसंसा परशब्दोऽनेकार्थवाची । नापरो ग्रामः पात्रलिप्यादित्वादौ । तथा क्वचिदन्यार्थे, परे आचार्या अन्ये इत्यर्थः । तथा इद्यर्थे, परं धाम गतः इष्टमिति यावत् । इह तु अन्यवाची । इष्टिः धृष्टा दक्षिः परा अन्या इष्टिः धृष्टा येषां ते परदृश्यः । तत्त्वदृष्ट्येषाया अतस्त्वदृष्टिरन्या तेषां प्रशंसा स्तुतिः ।

अणायदणसेवणां चैव-अभायतने पडविधे मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्ट्यं, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारिण मिथ्याचारिप्रभृत इति तत्र मिथ्याप्रथमअज्ञानं तत्सेवायां मिथ्यादृष्टिरेवासौ नातिचारता । मिथ्यादृष्टीनां तु सेवा यद् नानं तेषां । मिथ्याज्ञानसेवा नाम निरपेक्षनयदर्शनोपदेश इमेव तत्त्वमिति अज्ञानमुत्पादयामि धोनुगमिति क्रियमाणो मिथ्याज्ञानिभिः सह संघातः । तत्र अनुरागो वा तत्पुनरुक्तिर्यां तत्सेवा । मिथ्याचारित्रं नाम मिथ्या-ज्ञानिनाचारणं तनानुष्ठानैर्द्रव्यलाभापेक्षया द्रव्यलाभोच्येतु या सांगत्यादिनं एतेषां सम्यक्स्यतिचारणां दर्शनं ।

एवं उत्पन्नं सम्यक्स्यमतिचारपरिहारेण भाव्यमानं महत्त्वं लभते इति सम्यक्स्वातिचारान्निदिशति —

मूला- शंका — संशयप्रत्ययः किं त्विदित्यनपधारणात्मकः । स चेद् ज्ञानावरणकर्मोदयमात्रप्रयुक्तो विवक्षितो, न मिथ्यात्मकर्मोदयानिमित्तत्वस्यैव मिश्रयप्रत्ययाभयं दर्शनं प्रति महत्वोपपत्तेरंतरस्य । तस्य सहसंनोपमर्दानात्मक मिथ्यादर्शानविरूपालात्मकत्वेनात्रैव प्रत्ययमाणात्वाद् । तथाहि-इदं दस्तुजातं संवेदनं यथाष्टं तथैवेति प्रतिपाद्यमानस्यैव यदा स्वस्य श्रुतज्ञानावरणक्षयोपज्ञमविशेषाभावात्, उपदेशकविरहात्तस्य वा सर्वोऽपि वचनचातुर्यवैधुष्योक्तिर्नयकारि श्रुतवचनानुपलब्धेषां, कालच्छेदरभावाद्वा किमिदानीदृशं वा अन्यदन्यार्थं वा तत्त्वमिति संशयः स्यात्तदा दर्शनस्यातिचारः शक्येति व्यपदिश्यते । यदा पुनरष्टेषु सर्वज्ञैव दुरवधारा अवमेव सर्वज्ञो नेतर इति आगमशरणतायामपि आगमेषु को वस्तुयात्वात्मानुसारी को वा नेति मिथ्यात्वक्रमपाकारांत्यास्तसंशयमभिविज्ञमानस्य तत्त्वाअद्वानमुयेति । तदा संशयप्रत्ययोपनीतत्वात्तसंशयमिथ्यात्वमित्युच्यते । न च संशयोऽस्तीत्येतावतैव दर्शनस्यातीचरो धाव्यः ? किं तर्हि प्रवचन गोचरायां चलन्त्यां प्रतीतीं सत्यामन्यथा लक्ष्यस्थानां समदृष्टीनां रज्ज्वरास्वर्णपुरुषादिषु किमयं रज्जुरूपं तर्पेः, स्थाणुः पुरुषो वा किमित्यनेकः संशयप्रत्ययो जायते । इति निःशंकत्वं सुदुष्करं स्यात् । एषा अत्राणभयमपि श्रंकां केचिन्निदाहुः ।

मया चोष्य—अहमेको न मे कश्चिदस्ति गता जगत्रये ॥

इति व्यापिज्जोक्तमिति शङ्का विदुः पराम् ॥ ६ ॥

कंटा आकाशा । सा चेद् ग्रथितिविविधैव माहा । न तु सार्वत्रिकी, अन्यथा असंयतसम्यग्दृष्ट्यादेरपि हीनशालकारमरुपानादिकमभिलषत सम्यक्त्वमालिन्यमनुपल्येव । ततो दर्शनव्रतदानदेवार्चनतपोजनितपुण्यमाहात्म्यात्तुलं, रूपं, चित्तं, स्त्रीपुत्रादिकं, द्रष्टृपरमार्दनं, शीलं, पुंस्त्वं वा सातिशयं मे भूयादित्याशंसनं दर्शनस्य मलः स्यात् इति संतव्यम् ।

विदिदिग्धा—विचिकित्सा श्रुत्वा । सावि चेद् सम्यक्त्वादीनामन्यतमे दृष्टति वा कोपादिनिमित्ता न सार्वत्रिकी, इतरथा भिज्यात्वासंयमाविज्जुन्माथा प्रवृत्तानां सम्यग्दृष्टीना सकलं कुर्वन्तस्त्वं स्यात्ततो न तस्य दर्शनं, ज्ञानं, वरणं वा शोभनं, तद्वान्नमद्रकः इति च द्वेषपूर्विका मनोयुतिर्विचिकित्साकरो दर्शनतोष एवितल्यः ॥

परविद्विष्य परा तत्परीक्षया दृष्टेरन्या अतन्मोषरा दृष्टि श्रद्धानं येषा ते परदृष्टयः मीमांसकतापससाधय-
लौगतादयः । अथवा परा अनेकमण्डलेरन्या दृष्टयः एकान्तदृष्टय परसमया वेदन्यायशास्त्रादयः । पक्षेसा खुविर्मनो-
यमायैः सत्कारः ।

अणायदणसेवणा—आयतनं सम्यक्दर्शनादिगुणोत्तनाचार्यं सत्यति पृथक् कुर्वन्ति इति आयतनानि सम्य-
दर्शनाशेषेति ग्रीणि । तद्वन्मन्त्र त्रयसोऽभ्योऽन्यानि अमायतनानि षट्—भिध्यात्वं, भिज्यात्मानं, भिज्याचारित्यं, भिज्यादृष्टि
भिज्यागन्ती, भिज्यागारित्री येति । तस्सेषा तत्र भिज्यात्वस्य सेवा तदपरिणामयोग्यद्रव्याभ्युपयोगः, सा च कुर्वन् सम्य-
फलं निर्दूल्यिपत्तीति द्रव्यतो भिज्यादृष्टिरेयासौ इति कथं न सम्यक्त्वातिचारयान् । अतोऽप्य चरणं क्षतिचारी माहात्म्या
पक्षयोऽस्मत्तो विनाशो वा । धीविलयायामनु भिध्यात्वसेयामतिचारं नेच्छति । तथा च तद्वन्मन्त्रो “ भिज्यात्वमश्रद्धानं
तस्सेषाया भिज्यादृष्टिरेयासौ इति भिज्यादृष्टिसेवा नाम एकान्तप्रहरणाया बहुगमनं । भिज्याज्ञातसेवने
पुनरिदमेव वन्दनमिति श्रद्धाननुत्पादयामि भोक्तामिति क्रियमाणो निरपेक्षनयदर्शनोपदेशः । भिज्याज्ञातसेवने
शातिभिः नह संवातस्तानुतरागस्वानुश्रित्य । भिज्याचारिण्येवा द्रव्यलभास्यपेक्षया भिज्याज्ञानिगमाचरणस्यानुवर्तन
भिज्याचारिण्येवा पंचामिवायकपिपु संगत्यादिकं, एताः पंच सम्यक्त्वातिचाराः शंकादयः पंच त्याज्याः । सम्यक्त्वाग्रा-
यकैरिति सन्नेपः सामर्थ्यात्सिद्धो योऽल्यः ।

सम्बन्धन निरतिचार और गुणोंसे उज्ज्वल करनेका अभ्यास करना चाहिये. इसका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं. प्रथमतः सम्बन्धनके अतिचारोंका वर्णन करते हैं.—

हिंदी अर्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्ता, परदृष्टिप्रशंसा व अनायतनसेवन ऐसे सम्बन्धनके पांच अतिचार हैं.

विशेषार्थ—वस्तुका स्वरूप यह है अथवा यह है ऐसा अनिश्चयात्मक जो ज्ञान उसको शंका कहते हैं. यह शंका निश्चयज्ञानका आश्रय करनेवाले सम्बन्धनको मलिन करती है.

शंका—यदि सम्बन्धदर्शन हो तो उसका शंका अतिचार मानना योग्य है. परंतु संशय मिथ्यापनाको धारण करता है अर्थात् संशय स्वयं मिथ्यात्व ही है. मिथ्यात्वोंके भेदोंमें आचार्योंने संशयकी भी गणना की है. 'संशयित, अभिग्राहित और अनभिग्राहित ऐसे मिथ्यात्वके तीन भेद हैं,' ऐसे आगममें उल्लेख पाये जाते हैं.

उत्तर—आपका कहना ठीक है. संशयके सद्भावमें भी सम्पत्त्व रहताही है. अतएव संशयको अतिचार-पना मानना युक्तियुक्त है. इसका स्पष्टीकरण ऐसा है—अपनेमें शुतशानावर्णीय कर्मका विशिष्टद्वयोपशम न होना, विद्वान् उपदेशकका अभाव रहना, अथवा उपदेशक होकर भी उसमें रचनचतुर्पका अभाव रहना, संशय दूर करनेवाले आगमके बचन न मिलना, अथवा उसका अभाव रहना, फललब्धिभी प्राप्ति न होना इत्यादि कारणोंसे वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं होता है. तो भी जैसा सर्वज्ञ विनेश्वरने वस्तुस्वरूप जाना है वह वैसाही है ऐसी में श्रद्धा रखता हूं ऐसी भावना करनेवाले भव्यके सम्बन्धनकी हानि कैसी होगी अर्थात् शंका नामके अतिचारसे उसका सम्बन्धन समल होगा परंतु तब न होगा.

उपर्युक्त श्रद्धाओं जो रहित हैं वह हमेशा संशयाकुली रहता है. वास्तविक तत्त्वस्वरूप क्या है ? उसको कौन जानता है कुछ निर्णय कर नहीं सकते ऐसी उसकी मति रहती है. कपिल, बुद्ध वगैरे सर्वज्ञ थे इसका निर्णय नहीं होता है. यदि अहम् सर्वज्ञ होता है कपिलादि सर्वज्ञ नहीं होते हैं ऐसा मानकर आमपके द्वारा निर्णय मानना भी वह संशयोपमिथ्यात्वी कबूल नहीं करता है. कोनसा आगम वस्तुके वचार्थस्वरूपका प्रतिपादन करता है और कोनसा नहीं यह भी निर्णय नहीं है अर्थात् आगमके विषयमें भी संशय है ऐसा संशयोपमिथ्यात्वों केहंगा. इसलिये उसकी तत्त्वके ऊपर अथवा संशयज्ञानसे सहित होनेसे यह संशय मिथ्यात्वही है. तत्त्वोंके ऊपर अथवाज्ञान होना यह

मिथ्यात्वका लक्षण है इनका आगे आचरण विवेचन करेंगे। ॥१॥ संशयमिथ्यात्वमें सच्चे तत्त्वके प्रति अरुचि भाव रहता है। यह मिथ्यात्व मिथ्याज्ञानसे भिन्न वस्तु है। 'मिच्छाणाण मिच्छादसंण मिच्छाचारिणादो पविचिदो मीति' अर्थात् मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र इनसे मैं विरक्त हुआ हूं, इस वाक्यसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन ये भिन्न चीजें हैं ऐसा सिद्ध होता है।

छप्रत्ययोंको भी दोरी, सर्प, सुंदर, मनुष्य इत्यादि पदार्थोंमें यह रज्जू है ? या सर्प है ? यह खूट है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकारका संशय उत्पन्न होता है। तो भी वे सम्बन्धित ही हैं। इतने विवेचनका सारांश यहाँ ऐसा ममज्ञाना चाहिये—

मिथ्यात्व कर्मके उदयसे सर्वत्र संशयरूपही तत्त्वोंमें अरुचि पैदा होती है; इस अरुचिको संशयज्ञानका महाय मिलता है इसलिये इसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। आगमकथित जीवादिक पदार्थोंमें ज्ञानावरणकर्मके उदयमें और मम्यवत्प्रकृतिके उदयसे जो यह वस्तु स्वरूप है या यह है ऐसी जो बंचल मति होती है उसको शंका अतिचार कहते हैं यह अतिचार सम्बन्धदर्शनको मलिन बनाता है इस लिये यह अतिचार है। दोरी, साप, पुरुष, मृत इत्यादिकोंमें जो संशय होता है वह यदि अतिचाररूप माना जावेगा तो सम्बन्धदर्शनका निःशक्तिगंभी दुर्लभ हो जायगा।

कांक्षा—इष्ट पदार्थोंपर जो आसक्ति अथवा लंपटता होती है उसको कांक्षा कहते हैं। यह कांक्षा सम्बन्धदर्शनका अतिचार है।

शंका—यदि कांक्षाको अतिचार कहते हो तो आहारमें अभिलाषा उत्पन्न होती है, स्त्री, वस्त्र, अत्तर, पुष्पहार, अलंकारादिकोंमें असंयत सम्बन्धितिको और विरक्ताविरत अर्थात् अहिंसाद्यनुव्रत पालनेवालोंको अभिलाषा उत्पन्न होती है। छोटे गुणस्थानवर्ती सुनीकोभी जब वे क्षुधादि परीपक्षोंसे व्याकुल होते हैं तब आहारमें, पेयपदार्थोंमें अभिलाषा उत्पन्न होती है। इसलिये उनके सम्बन्धदर्शनमें भी यह अतिचार उत्पन्न होगा। सभी भव्योंको सुलोकोंमें इच्छा रहेगी ही अतः इच्छाको अतिचार मानना युक्तियुक्त है नहीं।

उत्तर—केवल इच्छाको अतीचार हम भी मानते नहीं। किन्तु इस सम्बन्धदर्शनके प्रभावसे, दानके सामर्थ्यमें, देवपूजा और तपश्चरणके शक्तीसे भरेको जो पुण्य उत्पन्न हुआ है उससे कुल, रूप, ऐश्वर्य, स्त्री पुत्रादिक,

शत्रुका नाश, ऐसे सर्वोत्कृष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो. साविश्रय स्त्रीपना, माहात्म्ययुक्त पुरुषपना मरेको प्राप्त हो ऐसी अभिलाषा रखना सम्यग्दर्शनका अतिचार है ऐसा यहां समझना.

विचिकित्सा - जुगुप्सा, तिरस्कार इनको यदि अतिचार कहोगे तो मिथ्यात्व, असंशय इत्यादिकोंमें जुगुप्सा-तिरस्कार होता है वह भी अतिचार है ऐसा मानना पड़ेगा.

उत्तर—यहां भी कांक्षाके समान जुगुप्साका विषय निवर्त समझना चाहिये. अर्थात् नियत विषयसंबंधी जुगुप्साही अतिचार है ऐसा समझना चाहिये.

रत्नत्रयमेंसे किसी एकमें अथवा रत्नत्रयधारकोंमें कोपादिकसे जुगुप्सा होना यहां सम्यग्दर्शनका अतिचार है. इस जुगुप्साके बल होकर सम्पददृष्टि जीव अम्य भव्यके ज्ञान, दर्शन वा आचरणका तिरस्कार करता है. जिसमें ये सम्यग्दर्शनादिक निरतिचार हैं ऐसे पुरुषका वह तिरस्कार करता है. अतः ऐसी जुगुप्सासे रत्नत्रयके माहात्म्यमें अरुचि होनेसे इसको अतिचार समझना योग्य है.

परदृष्टिप्रशंसा अतिचार - यहां पर शब्दके अनेक अर्थ हैं. जैसे ' नापरोः ग्रामः पाटलिपुत्रात् पाटलिपुत्रसे और दुसरा गांव नहीं है. यहां अगर शब्द अन्य वाची है. ' परे आचार्या ' अन्ये आचार्या ' अर्थात् दूसरे आचार्य यहां ' पर ' शब्दका अर्थ ' अन्य ' ऐसा समझना. इष्टार्थमें भी पर शब्दका प्रयोग होता है जैसे परं धाम गतः अर्थात् इष्ट स्थानको वह चला गया. प्रस्तुत प्रकरणमें पर शब्द अन्यायवाची है. तत्त्वदृष्टीसे-पारमार्थिक दृष्टीसे विपरीत दृष्टि जिनकी है ऐसे सांख्य, बौद्ध, जैमिन्यादि मतके विद्वानोंको परदृष्टि कहते हैं. उनकी प्रशंसा करना यह सम्पददर्शनका मल है.

अनायतनसेवना - अनायतनके छह भेद हैं. अर्थात् मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि ज्ञान, मिथ्याज्ञान, मिथ्या ज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रवान्. इन छहोंमेंसे मिथ्यात्व अनायतनका अर्थ अतत्त्वश्रद्धान ऐसा होता है. यदि भव्य जीव मिथ्यात्वकी सेवा करेगा तो वह मिथ्यात्वही होगा, सम्यग्दर्शनही उसका नष्ट हो गया ऐसा समझना चाहिये. इसलिये ' मिथ्यात्व ' यह सम्यग्दर्शनका अतिचार नहीं है. वह अनाचार है. मिथ्यादृष्टिसेवा—मिथ्यादृष्टियोंको अच्छा समझकर उनका आदर करना. मिथ्याज्ञानसेवा—मिथ्यामतके सत्व अच्छे हैं ऐसी भावना श्रोतृवर्गके मनमें मैं उत्पन्न करूंगा ऐसा विचार करके नयाँकी अपेक्षा छोटकर मिथ्यात्वका उपदेश करना.

मिथ्याज्ञानात्संवा—मिथ्याज्ञानान्योके साथ सहवास रखना, उनमें प्रेम रखना, उनका अनुसरण करना।
मिथ्याचारित्र्य—मिथ्याज्ञानिओंका आचरण देखकर वैसा स्वयं आचरण रखना, उसका अनुसरण करना। उनसे द्रव्य लाभ होगा इस अपेक्षासे उनका सहवास करना ऐसे सम्भवत्वेक अतिचारोंका त्याग करना चाहिये।

गुणगन्धर्वशेनविशुद्धिकारिणो निरूपयति—

उवगूहण्डितिकरणं वच्छछपभावणा गुणा भणिदा ॥

सम्मत्तविसोधीण् उवगूहणकारया चडरो ॥ ४५ ॥

उपवृंहः स्थितीकारो वत्सलत्वं प्रभावना ॥

वत्वारोऽग्नी गुणाः प्रोक्ताः सम्यग्दर्शनचर्तुकाः ॥ ४६ ॥

विजयोदया—उवगूहणमित्यनया । उपवृंहणं नाम वृद्धेन । वृद्ध वृद्धि वृद्धाविति वचनात् । भात्यर्थानुयायी योपसर्गः इय इति । स्पष्टेनाप्राप्त्येव भोगमनाग्नीतिदायिना यस्तुयापापार्थप्रकाशानप्रणेत धर्मोपदेशेन परस्य तत्सम्प्रदान-वर्द्धनं उपवृंहणं । सर्वजनविस्मयकारिणीं शतमजममुद्यमीयोजनसमिधिविरचितोपचितिसहस्रं पूजां संपाद्य पुष्पैरतपो योमाचुष्टनेन वा आत्मनि अग्नादिधरीकरणम् ।

जीवादीनि इत्येवमिति कर्त्तव्यानि विशेषरूपाध्यासितामि उत्पादव्ययप्रोक्तव्यारम्भमिति प्रतिसमयमिति जिनः सम्यग्भाणि एवमेव तन्मयथा भद्रये विनाशं गते । न हि विना वीतरागा विदितारितलेयसत्ता याधातव्याः कृपाप-रिगताः विपरीतमुपदिशतीति भाषकया स्थिरीकरणं अस्थिरस्य रत्नत्रये स्थिरतापादने । मिथ्यात्वानभिमुपास्य सम्यग्-द्वेषस्थिरस्य मिथ्यात्वं मूलमेव तदनुमयतः कर्मोद्दानं, मिथ्यादर्शनाविरतिमादृक्भाया हि वंशदेतवः । तद्वृद्धेनैव चाने-तत्प्रेषास्परिग्रहणं चतुस्तीतियोमिदातसहस्रेषु । सहस्रं ॥ विचित्रायातनासंकटप्रयप्रदायिन्योर्नैकतियगमतिवर्ति-न्योर्षेज्जगतीभूतं । शतमजममुद्यमीयोजनसमिधिविरचितोपचितिसहस्रं ॥ विचित्रायातनासंकटप्रयप्रदायिन्योर्नैकतियगमतिवर्ति-दुःपञ्चलवादिनीं मिथ्यादिप्रिकुलरयामुल्लेख्य, प्रतिपक्षस्य जैनीं दृष्टिमिति तत्र स्थिरताकरणम् । तथा सम्यग्ज्ञानभायना-यां च प्रमादिलमळत्वं दृष्ट्वा पदमर्हौ वक्तव्यः । ज्ञानं हित्वाहितमकाशवपुः, तदन्तरेण हितमजानतः कथं नान् वृत्तिरहि-तपरितारो वा । हित्वाहितमासिपरिद्वारौ विना न सुराधिपमदुःखविम्लेयौ । तदर्थमेव ज्ञानं प्राप्तो जनः किंयति । ततः पंचविधसाध्यायन्यागं मा कृथाः इति ज्ञाने स्थिरीकरणं । यथावा जगन्निगतसूत्रार्थनिष्पन्नस्य तत्र निष्पन्नसंपादनं । अस्-कृदाचिनात्मनः स्थिरीकरणं । चास्तिवात् प्रत्ययमानं दृष्ट्वा हित्वा हित्वासाध्यायक्रियायां प्रवर्तमाना इहैव दुःखभाजो दृश्यन्ते,

तथा परं हन्तुमुद्यतः स्वयं तेभ्य च हन्यते भ्रान्तमित्रैर्देवदुर्मित्रादीर्णवैरे । परत्राशुभां गतिमुपैति । दुःपदाय्यसद्वयं च यश्नाति । अलीकं लुब्धसिंहैव चंजुजनस्थितिं विद्वेष्योऽविश्वास्यश्च भवति किं पुनरन्यस्य । जिह्वां चोत्पादयेति मरुचा बलिनः । परत्र च मूर्कतां यास्यति इत्येवमायसंयमगतदोषं प्रत्याप्य नीरोगतां, वीर्यजीवनं, सौख्यं, प्रियवचनार्दिकं गुण-मुपदिश्य आहंसाविम्वतानरणकलं चारित्र्ये स्थिरीकरणम् । असंयमदोषं संयमगुणं वा पुनः पुनः स्मृत्यात्मनः स्थिरीकरणे ।

धर्मस्थेषु मातरि पितरि श्वतरि चातुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयावरो वात्सल्यः । प्रभावना माहात्म्यप्रकाशानं रत्न-त्रयस्य तद्वतां वा ।

एवमविचारनिरासेन विमुक्तस्य सम्बन्धसैनस्य वृद्धिकारिणो गुणानुपविक्षातिः—

मूढारा-उपगूढण — स्वयमफलं कस्य मार्गस्य शालाशकजनाश्रयवाच्यतानिरासः । टीकाकारास्तु उपगूढणेत्वस्य 'उपगूढणं-वर्द्धनं' मित्यर्थमफक्षयम् । तथा परस्य स्पष्टाग्राम्यभवनमनःभौतिकरत्नप्रकाशनपरवर्भोपदेशेन तत्त्वश्रद्धानस्कारो-करणं । स्वस्य च क्षमनिर्मितसपवासोपैवेयंपूजाविश्लेषेण, दुर्द्धरत्वयोगानुष्ठानेन, जितेंद्रोपश्रुतज्ञानाविस्मयभावनया वा श्रद्धानवर्द्धने ॥

विविकरणं स्वस्य परस्य वा सम्बन्धस्याद्यन्वतमाश्रय्यवमानस्य पुनस्तत्रैव दुःखितलावृट्टमवस्थापनम् । तथाहि—सैवात्म्यमावाह्य निष्ठात्वमभिपतंतमात्मानं स्वसंविस्था परं ॥ तद्वदुरुपाक्वेष्टाभ्यां निश्चित्येयं ब्रूयात् । 'मा स्म भोः दुस्तद्वदु लोयिदिनकरव्यविर्णिर्णतं चारणपपरिवर्तनकार्यैकनमिर्माणसूत्रधारे सुदुर्निवारोऽस्मिन्मिथ्यात्वमहावैरिणि पुनर्ब्यतिपन्नः । परिष्वजस्व सरभसमर्मानंदसंदोहमुद्रयन्ती निःक्षीमसुरासर्वत्वपर्यवसानयिज्ञातां सम्यग्दृष्टिं मेयसीमिव । आ त्म विस्तरस्तात्कारचतुर्गंधियातवायाकुभानी । एवं दूषणगुणगणाविच्छरेण श्रुतज्ञानभायनाथो द्रमाद्यंतं चारित्राद्वश्यन्तं त्वं परं वा पुनस्तत्रैव स्थिरिष्ठिर्यात् ।

वच्छेदः—धर्मस्येपु धेनोः स्ववत्स इव स्नेहः, स्वस्य च रत्नत्रयेऽतुरागः ॥ पहावणा-रत्नत्रयस्य तद्वतां च माहात्म्यप्रकाशनं ॥ उपगूढणकारया वृद्धिकराः अत एव सेव्या इति प्रतिपत्तव्यम् ॥

अत्र आचार्ये सम्यग्दर्शनको बुद्धिगत करनेवाले गुणोंका वर्णन करते हैं—

हिंदी अर्थ—उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यक्त्वको निर्मल करनेवाले और उसको बढ़ानेवाले हैं.

विशेषार्थ—उपगृहण-उपगृहण अथवा उपग्रहण ऐसे इस गुणके दो नाम हैं. उपग्रहण इसका अर्थ बढ़ाना ऐसा होता है. 'बृह दृदि दृद्धो' इस धातुसे ग्रहण शब्दकी उत्पत्ति होती है. उप इस उपसर्गके योगसे बृह धातुका अर्थ बढ़ला नहीं है. स्पष्ट, अग्राम्य, क्लान और मनकी प्रसन्न करनेवाला, वस्तुकी यथार्थता भन्व्योके आगे दर्पणके समान दिखानेवाला, ऐसे धर्मोपदेशके द्वारा तत्त्वश्रद्धान् बढ़ाना यह उपग्रहण गुण है.

उपग्रहण—इंद्र प्रमुख देवोंके द्वारा ऐसी महत्त्वयुक्त पूजा की जाती है वैसे जिनपूजा करके अपनेको जिनधर्ममें, जिनभक्तिमें स्थिर करना, अथवा दुर्धर तपश्चरण या आतापनादि योग धारण करके अपने आत्मामें अद्वा गुण उत्पन्न करना इसको भी उपग्रहण कहते हैं.

स्थितिकरण—जीवादिक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मोंसे युक्त हैं अर्थात् चेतनत्व, स्पर्शोदिमन्त्र, गतिमें हेतु होना इत्यादि विशेष धर्म और अस्तित्व, वस्तुत्व, धर्मयत्न, इत्यादि सामान्य धर्मोंसे युक्त हैं. जीवादि छोटे द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, और श्रोत्र्य यह स्वरूप सदाही प्रतिसमय रहता है ऐसा जिनोपदेश है और यह निलज्जल सत्ता है ऐसी मेरी श्रद्धा है. मैं इससे उल्टी श्रद्धा धारण नहीं करूँगा. जिनेश्वर वीतराग है अर्थात् रागद्वेष, क्षुधा तथादि अठारह दोषोंसे ये पूर्ण अलिप्त हैं. उनमें संपूर्ण पदार्थ जाननेवाला ज्ञान है. अतः ये कभी भी विपरित उपदेश नहीं देते हैं. मन्व्यजीवोंका संसारसे उद्धार करनेका प्रयत्न करनेवाले जिनमगवान् क्या वस्तुका विपरित स्वरूप कहेंगे ? ऐसी भावनाओंसे अपनेको जैन धर्ममें स्थिर करना यह स्थिती करण है.

जो भव्य रत्नत्रयसे चालित हुवा हो तो उसको फिर रत्नत्रयमें स्थिर करना चाहिये, जो सम्पग्गृष्टि भव्य सम्पग्गर्शनसे त्रष्ट होकर मिथ्यात्वी वननेके स्थितीमें आरहा हो तो फिर उसको सम्पग्दर्शनमें स्थिर करना चाहिये.

"मिथ्यात्वही कर्मग्रहण करनेका मूल कारण है. मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग ये कर्मवंचन के कारण हैं. इन कारणोंसे जीवको अनंत संसारमें अग्रमण करना पड़ता है. चौतरासी लक्ष योनियोंमें इन ही कारणोंसे जीव अग्रमण करता है. परंतु जब जीवको सम्पग्दर्शनकी प्राप्ति होती है तब नानाप्रकारकी यातनाओंकी उत्पत्ति करनेवाली विरगति और नरकगति टल जाती है. अर्थात् सम्पग्दर्शन धारण करनेवाला मनुष्य तिर्यचोंमें और नरकोंमें उत्पन्न नहीं होता है. स्वर्गलोकके और मनुष्यलोकके अनुपम भोग, मान्यता, सौख्य चंगरह उत्कृष्ट पदार्थ

यह सम्यग्दर्शन जीवोंको अर्पण करता है, और अन्तमें यह जीवोंको मोक्ष भी प्रदान करता है, अतः दुःस्वरूपी जल जिसमें वहता है ऐसी मिथ्यादर्शनरूपी नदीको तू लांघकर जैनधर्मको धारण कर "ऐसे उपदेशसे मिथ्यादर्शनसे हटा कर लोगोंको जैनधर्ममें स्थिर करना चाहिये, यह भी स्थितीकरण है,

जो भव्य सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेमें ग्रामादी और अलसी वन गया है उसको सम्यग्ज्ञानमें आगे लिले हुए वचनोंसे स्थिर करना चाहिये—ज्ञान ही हित और अहितका स्वरूप दिखावेमें प्रवीण है, विना ज्ञानके मनुष्योंको हित आर उसके उपायोंका स्वरूप अवगत नहीं होता है, इसलिये वह अहितसे हटकर हितमें प्रवृत्ति नहीं कर सकेगा, जबयक जीव हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार न करेगा तबतक उसको सुख न मिलेगा और वह दुःखोंसे मुक्त न होगा, सर्व विद्वान लोक सुखकी प्राप्ति के लिये और दुःख दूर करनेके लिये ही प्रयत्न करते हैं, सुख प्राप्ति के लिये वे भव्य ! तू पांच प्रकारका स्वाध्याय कर, उसका त्याग करनेसे तेरी आत्मोन्नति नहीं होगी, ऐसे उपदेशसे उसको सम्यग्ज्ञानमें स्थिर करना चाहिये, अथवा जिसको आगमके सूत्रार्थका निश्चय नहीं हुआ हो तो उसको उसका परिज्ञान कर देना चाहिये,

सम्यग्ज्ञानका बारंबार अभ्यास करके स्वतः भी उसमें स्थिर होना चाहिये,

वारिजसे ब्रष्ट होते हुए मत्स्यको देखकर उसमें उसको स्थिर करनेके लिये यह उपदेश उपयुक्त है—

हिंसा, चोरी, असत्य बोलना इत्यादि पापोंमें जो मनुष्य प्रवृत्त होते हैं उनको इस लोकमेंही बहुत दुःख भोगने पड़ते हैं, दूसरोंको मारनेका प्रयत्न करनेवाला मनुष्य स्वयं दूसरोंसे मारा जाता है, जो पूर्वकालमें उसके मित्र अथवा संबंधी थे वे भी उनके वैरी बनते हैं, पाप करनेवाले मनुष्य मरकर अशुभ गतिको अपनाते हैं, पापोंसे असत्ता वेदनीय कर्म गंधता है,

जो अदमी शूद्र बोलते हैं उनके वंशुगण भी शूद्र बनते हैं, वे भी उसके ऊपर विश्वास नहीं रखते हैं, फिर दूसरे शूद्र अविश्वास रखनेवाले होंगे इसमें आश्चर्यही क्या है, असत्य बोलनेवालेकी जिह्वा कुट्ट चलिष्ठ लोक उस्ताइ देते हैं, शूद्र बोलनेका फल यह है कि वे परलोकमें गंए हो जाते हैं, इस तरहसे असंगमके दोष चतलाकर हिंसादिक पाप न करनेवाले मत्स्यगण नीरोम, दीर्घजीवी, सुंदर, प्रिय और मधुरभाषी होते हैं, प्रिय वचनादिक गुण उनको प्राप्त होते हैं, ऐसा उपदेश करना चाहिये,

अथवा असंयमके दोष और संयमके गुणोंका चार गाथा स्मरण कर चारविमें स्वतःको स्थिर करना चाहिये.
यह सब स्थितिकरण गुणका विवेचन हुआ।

वात्सल्य—धार्मिक लोगोंपर और माता, पिता, भ्राता इन्के ऊपर प्रेम रखना यह वात्सल्य गुण है.
अथवा रत्नत्रयमें आदर करना यह भी वात्सल्य है.

प्रभावता—रत्नत्रयका और उसके धारक आचक और मुनिगणका महत्त्व बतलाना यह प्रभावना गुण है.
येते गुणोंसे सम्पन्न सब पुद्गल होता है.

दर्शनविनम्रप्रतिपत्तनार्थं गाथाद्वयमुत्तरम्—

अरहंतसिद्धचेष्टय सुदे य धम्मे य साधुवगे य ॥

आयिरिय उवज्झापु सुपवयणे दंसणे चावि ॥ ४६ ॥

सिनिशसिद्धचैत्येयु धर्मदर्शनसाधु ॥

आचार्येऽध्यापके संये श्रुते श्रुतनपोधिके ॥ ४९ ॥

विजयोषया—अरहंत इत्यादिकम् । अरिहन्ताजोइहन्ताइहस्यभावादतिशयपूजाहर्षावकाशमिगताहर्षव-
पेक्षा नोभागमभावादेहन्त इह श्रुतीताः । न नामाहन् । निमित्ताभावेऽपि पुरुषाकप्राप्तिपूजाहर्षवपेक्षाः । अहंता प्रति-
विधाति सोऽप्यमिस्त्विसंबंधावर्द्धवदेष्टमांभि पूजातिशयार्हस्तेषु अरिहन्तादिगुणसंभवादेष्ट गृह्यन्ते । आगमद्वय-
देष्टवर्द्धस्वरूपगणनपरप्राप्तवर्द्धोऽनुपपुत्तास्तर्द्धेऽन्यत्र व्यापृतः । आपकशरीरार्हंभ्रम सन्नास्तवस्य त्रिकालगोचरं शरीरं ।
यस्मिन्नात्मनि अरिहन्ननावयो भविष्यति गुणाः स भव्यहन् । तीर्थकरत्तामकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्याहन् । अहंत्वावर्णेन
परप्राप्तवत्त्वयोऽर्द्धिर्मांस्तो योय आगमभावाहन् । एतेषु अरिहन्तादिगुणानामभावात् वेदाहंच्छब्देन प्रदणम् ।

एवं नामसिद्धः अलक्षकलामस्वरूपे सिनशब्दः । यस्य वा निमित्तनिरपेक्षा सिद्धसत्ता । स्वापनासिद्धा
इति तत्प्रतिविधानि उच्यन्ते । ननु सशरीरस्यात्मनः प्रतिविंबं मुच्यते, अशरीराणां तु शुद्धात्मनां सिद्धाणां कथं प्रतिविंब
संभवः ? पूर्वभावप्रधाननयापेक्षया शरीरमनुगतो य आत्मा सयोगकेवलीतरो वा न शरीराभिर्मां कुं शक्यते । विभागे हि
शरीरात्संसात्ता न त्याग । अशरीरः संसारी चेति विवक्षेततत् । ततः शरीरसंस्थामवचिदाहमापि संस्थानवोनव
संस्थानवतोऽप्यतिरिक्तत्वाच्छरीरस्यात्मवत् । स एव चायं प्रतिपन्नसम्बन्धनाद्याद्युण इति स्वापनासंभवः । आगम
द्रव्यसिद्धः सिद्धप्राप्तवत्तः सिद्धशब्देनोच्यते अनुपपुत्तः । सिद्धप्राप्तवत्तस्य शरीरं आपकशरीरं । भविष्यत्सिद्धत्वपर्यायो

भाविषिदः । व्यतिरिक्तः सिद्धो न संभवति । सिद्धत्वं न कर्मकारणम् इति सकलकर्मोपायेषुका सिद्धता । पुद्गलद्रव्य-
स्य तदुपकारिणोऽसंभवाद्योक्तिसिद्धाभावः । सिद्धप्राप्त्यनुसारिष्विद्वद्भानपरिषत् आगमभाषसिद्धः । निरस्तभाव
द्रव्यकर्ममलकलङ्कः परिप्राप्तसकलक्षयिकभावः नोवागमभावसिद्धः स इदं गृहीतो न इतरे सकलमस्वरूपमादित्यभावात् ।
चेदिय सैवं प्रतिविधि इति यावत् । कस्य ? प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवाहिसिद्धयोः प्रतिवियग्रहणं । अथवा मध्य
प्रक्षेपः पूर्वोत्तरनोचरस्थानपरिग्रहार्थस्तेन साध्यादित्यपनापि गृह्यते ।

श्रुतज्ञानावरणसंशयोपशमाज्जाते यस्तुपाधात्म्यमाहि अक्षाननुगतं युतं अंगपूर्वप्रकीर्णकमेवमिदं, तीर्थकर
श्रुतकेवल्यादिभिरारन्तितो वचनसदमौ वा, लिप्यशरद्धुतं वा ।

धर्मदन्वेन चरित्रं समीचीनमुच्यते । ज्ञानदर्शनाभ्यामनुगतं सामार्यिकादि पञ्चविकल्पम् । दुर्गतिप्रस्थित
जीवधारणाव, शुभे स्थाने वा वधाति इति धर्मशब्देनोच्यते । अथवा

‘ त्वंही महव अज्जव छाग्रव तव संजमो अकिञ्चणदा ॥

तद् द्वौवि धम्मचेरं सण्णं चागो य इत्त धम्मा ॥

इति सूत्रांतरनिर्वाणमपरिग्रहः । ज्ञोपनिमित्तसन्निधौऽपि कालुष्याभावः क्षमा स्नेहकार्याद्यनपेक्षः ।
जात्यापयिमानाभासो मानवोपातपेक्षश्च दृष्टकार्यान्पाथयो माद्वेषम् । आकृत्यन्तद्वयचूत्रयद्वकताभावः मार्जयमित्युच्यते ।
द्रव्येषु मनेर्द भावमूलो व्यस्तनोपनिपातः सकल इति ततः परित्यागो लाघवं । अक्षानादिपरित्यागात्मिका क्रिया अन्वेषकित
दृष्टफला द्वादशविधा तपः । इन्द्रियविपरमयेपाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः । पदजीचनिकायाभाऽकारणादपरः प्राणि
संयमः । अकिञ्चन्ता सकलप्रयत्न्यागः । ब्रह्मचर्यं नवीयधर्मसुपालनं । सतां साधूनां हितभाषणं सत्यम् । संयतप्रययोग्याह्वा-
राविधानं त्यागः । एते दशधर्माः ।

साधयामि रत्नत्रयमिति साधवस्तेषां वर्गः समूहः । तस्मिन्वस्तुयाथात्म्यप्राद्विज्ञाने परिणतिर्ज्ञानाधारः ।
तत्त्वग्रन्थानपरिणामो दर्शनाधारः । पापक्रियानिबृत्तिपरिणतिश्चरित्राधारः । अगशनादिक्रियाश्रु दृष्टित्प आचारः ।
स्वराफत्यनिगूढनरुपा वृत्तिज्ञानादौ वीर्योच्चार' एतेषु पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च चतयंति ते आचार्याः । रत्नत्रयेषु
उच्यता ज्ञानागमार्थं सम्यगुपदिशति ये ते उपाध्यायाः । उपेत्य वित्तयेन दौकित्या अधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः ।

पवर्णेन प्रवचते । ननु श्रुतशब्दः प्रवचनवाची ततः पुनरुक्तता ? रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते । तथा चोक्तम्—
' गाणदं सणचरित्तमेगं पवणणमिति ' अथवा श्रुतज्ञान श्रुतमित्युक्तं पूर्वमिह तु प्रोच्यंते जीवादन्यः पदार्थो इति शब्दश्रुत-
मुच्यते । दंसणे सम्यग्दर्शने च ॥ ४६ ॥

दर्शानविशुद्धिविदुत्पर्यं तद्धिनयं गाभाद्वयेनाह—

मूलार— वेदिपप्रतिविमानि भव्ये पाठादईदादीनां पंचानामपि । सुदे मावश्रुते ज्ञानात्मके । धम्मं चारित्रे,
उत्तमाधमादौ वा । यवण्ये रत्नत्रयेऽप्यता द्रव्यश्रुते शब्दात्मके लिप्यखरे वा ॥

दर्शनविनयका विवेकत आचार्य दो गाथाओंसे करते हैं—

हिंदी अर्थ—अरहंत, सिद्ध, अर्हत् और सिद्धोंकी प्रतिमायें, श्रुतज्ञान, जिनपर्यं, आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेश्वरी, रत्नत्रय, आगम और सम्मग्यदर्शन इनमें प्रकृति, पूजा, कलना. इनमें अन्यमयीयोंने आरोपित किये दोषोंको हटाना, इनका महत्त्व बताना, इत्यादि बातोंसे दर्शनविनय होता है.

नियोगार्थ—खिन्हेने अरिहन्तन किया अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश किया, रजोहन्तन अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरणको नष्ट किया, रहस्यहन्तन अर्थात् अन्तराय कर्मका नाश किया तथा इन्द्रादिकोंके द्वारा जो सातिशय पूजाको प्राप्त हुए इस लिये जो नो आगमभाव निक्षेपसे अर्हन्त इस नामको प्राप्त हुए हैं उनकोही प्रकृत विषयमें अर्हत् समझना चाहिये. चार पातिकाओंका नाश होनेसे जिनको अर्हत्की अवस्था साक्षात् प्राप्त हो गई वेही यहाँ अर्हन्त माने हैं. केवल जो नामसे ही अर्हन्त हैं वे यहाँ अर्हन्त नहीं समझे जायेंगे. निमित्त न होनेपरभी मनुष्यके प्रयत्नसे जिसमें अर्हत् ऐसा नामकरण विधि होता है उसको नामर्हत् कहते हैं. अर्हन्त की प्रतिमामें वही यह अर्हत् है ऐसे संकल्पसे जो स्थापना की जाती है वह ' स्थापनार्हत् है. स्थापनास्व अर्हत् में पूजातिशय होनेपर भी अरिहन्तादि गुण अर्थात् मोहनीयादि चार पातिकाओंका नाश करनेका गुण नहीं है. अतः स्थापनार्हत् भी प्रकृत विषयमें उपयुक्त नहीं है. अर्हन्तके स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रका जिसको अच्छा ज्ञान है परंतु उस तरफ जिसका सांप्रत उपयोग नहीं लगा है, दूसरे तरफ जिसका चित्त लगा है ऐसे पुरुषको त्रय्यनिक्षेपसे अर्हत् कहते हैं. अर्हत्के स्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रको जाननेवाले विद्वानका जो त्रिकालवर्ती शरीर वह शायकशरीर अर्हत् है. जिस आराममें भाविकालमें अरिहन्तादिक अर्हन्तके गुण उत्पन्न होंगे ऐसे आत्माको सांप्रतमें अर्हत् कहना यह भावि अर्हत् है. तीर्थक्षत्रनामकर्मको तद्व्यतिरिक्त अर्हत् कहते हैं. अर्हन्तके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान जिसको है और वर्तमान कालमें वह ज्ञान अर्हत्स्वरूपका विचार कर रहा हो तो उसको आगममार्गार्हन्त कहते हैं. नो आगममार्गार्हन्तके शिवाय नामादि अर्हन्तोंमें अरिहन्तादि गुणोंका अभाव है अत एव नामादि अर्हन्तोंका यहाँ ग्रहण नहीं किया है.

सिद्धोंके भी नामसिद्ध, स्थापनासिद्ध वगैरे भेद हैं. जिसको सिद्धस्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है ऐसे मनुष्यको नामसिद्ध कहते हैं. उसका सिद्ध यह नाम गुणादिनिमित्तोंके बिना केवल व्यवहारार्थ रक्खा गया है.

सिद्धोंके प्रतिविंबोंकी स्थापनासिद्ध कहते हैं.

यहां शंका—शरीरसहित आत्माका प्रतिविंब अर्थात् प्रतिमा मानना योग्य है. परंतु जिनके शरीरका अभाव है, जो शुद्धात्मस्वरूपको प्राप्त हो गये हैं ऐसे सिद्धोंकी प्रतिमा मानना अर्थात् प्रतिमामें सिद्धोंका आरोप करना यह कैसा न्यायसंगत है ?

उत्तर—पूर्वभावप्राप्तपनयकी अपेक्षासे सिद्धोंको प्रतिमामें स्थापन कर सकते हैं. अर्थात् जो वर्तमान कालमें सिद्ध हैं वही पूर्वकालमें शरीरसहित सयोगकेवली ये अतः उनकी अपेक्षासे सिद्धोंमें भेद न मानकर प्रतिमामें सिद्धोंकी स्थापना हो सकती है. सयोगकेवली अथवा इतर आत्मा शरीरसे विभिन्न नहीं होता है. यदि सयोग केवलीको देहसे विभिन्न मानोगे तो सयोगकेवलीको संसारिता नहीं हैं ऐसा मानना पड़ेगा. अशरीर माननेसे संसारी व अशरीरता यह परस्पर विरुद्ध है. अतः शरीरकी आकृतिके समान चिदात्मा भी आकृतिमान् समझना चाहिये. जैसी शरीरकी आकृति रहती है उसी तरह चिदात्मा सिद्धकी भी आकृति रहती है. इस लिये शरीरके समान चिदात्मा सिद्ध भी संस्थानवाद-आकृतिवान् है. शरीरस्य आत्मा जैसा अपने संस्थानसे अभिन्न है वैसे श्रुतारमा भी अपने संस्थानसे अभिन्न हैं. अतः प्रतिमामें सम्यक्त्वादि अष्ट गुणोंसे विराजमान वही सिद्ध ये हैं ऐसा संकल्प कर सकते हैं. अतः सिद्धोंमें स्थापनाका संभव होता है.

आगमद्रव्यसिद्ध—सिद्धप्राप्तके ज्ञाता परंतु संप्रति अनुपयुक्त ऐसे विद्वानको आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं. सिद्धप्राप्तके ज्ञाताका जो शरीर वह ज्ञायकशरीर है. जिसको भविष्यत्कालमें सिद्धावस्था प्राप्त होनेवाली है ऐसा आत्मा भाविसिद्ध है.

व्यतिरिक्त सिद्धकी संभावना नहीं है. क्योंकि जैसे तीर्थकरनामकर्मसे अर्हत्पर्याय प्राप्त होता है वैसे सिद्धपर्याय किसी कर्मके उदयसे होता नहीं है. वह संपूर्ण कर्मिके नाशसे होता है. इसलिये व्यतिरिक्तसिद्ध यह भेद नहीं है. कोइ पुनरुद्भव भी सिद्धत्वर्यायिका उत्पादक है नहीं इसलिये नोकर्मसिद्ध यह भी भेद नहीं है.

सिद्धप्राप्तके अनुसार सिद्धोंका स्वरूप ज्ञानेवाले ज्ञानसे परिणत आत्माको आगमभावसिद्ध कहते हैं.

संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्ममल ध्विनका नष्ट हो चुका है. अनंतज्ञानादि सर्व ज्ञायिकभाव जिनको

प्राप्त हो गये हैं। उनको नो आत्मभाव सिद्ध कहते हैं। इसी सिद्धका प्रकृतविषयमें ग्रहण किया है। इतर सिद्धोंका ग्रहण नहीं किया है क्योंकि इतर सिद्धोंमें संपूर्णतया आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हुई है।

३ चेदिय-चैत्य अर्थात् प्रतिमा चैत्य शब्दसे प्रस्तुत प्रसंगमें अर्हत और सिद्धोंके प्रतिमाओंका ग्रहण समझना चाहिये, अथवा यह मध्यप्रश्नेप है। इसलिये पूर्वविषय और उच्च विषयक स्थापनाका यहां ग्रहण होता है, अर्थात् पूर्वविषय तो अरहत और सिद्ध हैं ही। उच्च विषय भुत, द्वास्त्र, धर्म, साधुपरमेष्ठी, आचार्य, साधु वगैरह हैं। इनका भी यहां संग्रह होता है। इनकी भी स्थापनाप्रतिमा होती है।

४ धुतज्ञान—धुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपक्षय होनेसे वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण करनेवाला सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान वह धुतज्ञान है। इस ज्ञानके आचारोंगादि चारा अंग, उत्पाद पूर्वोदि चोदा पूर्व, और सामान्यिकादि बोधिस प्रकीर्णक अर्थात् अंगबाह्य ऐसे इसके भेद हैं। इसकी रचना तीर्थकर, भुतकेवली, मणपर और आरातीय आचार्य इन्होंने की है।

५ धर्म-सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुसरण करने वाला सम्यक् चारित्र यहां धर्म शब्दका अर्थ है। इस धर्मके सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, और यथास्वात ऐसे पांच भेद हैं। बुद्धिबोको जानेवाले जीवको जो धारण करता है अर्थात् उसका उद्धार करता है और शुभ शंद्वादियद्वीपर जो स्थापन करता है वह धर्म है ऐसी धर्मशब्दकी व्याख्या है, अथवा—

धर्मा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आर्किचन्य, महाचर्य, सत्य और त्याग ऐसे दश धर्म अन्य ग्रंथमें कहे हैं उनका भी यहां धर्म शब्दसे संग्रह करना चाहिये।

१ क्षमा—क्रोधके निमित्त-कटुवचन, निंदा वगैरे उपस्थित होनेपर भी मनमें कटुपता उत्पन्न न होने देना। किसीके साथ अपनी मित्रता होती है तब क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी मन कटुपित न होने देना यह कुछ क्षमा नहीं समझी जाती है। अथवा अपना कार्य सिद्ध होने तक मनुष्य क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी शान्ति धारण करता है यह भी सच्ची क्षमा नहीं है। परंतु स्नेहादिकी अपेक्षाविना जो शान्तिभाव मनमें धारण करना वही क्षमा है।

२ मार्दव--जाति, कुल, तप इत्यादिका अभिमान न होना वह मार्दव है। मैं अभिमान करूंगा तो लोक

मेरे ऊपर रुष्ट होंगे अथवा मेरे ऐहिक कार्योंमें बाधा उपस्थित होगी ऐसी भीतीसे मान न करना यह सच्चा मार्ग नहीं है, किंतु मान करनेसे आत्मा पतित होता है, मानसे नीचगतिमें प्रमण करना पड़ेगा ऐसी भावना हृदयमें धारण कर मार्गधर्मका पालन करना चाहिये।

३ आर्जव—दोरीके दो छोर एकड़कर खींचनेसे वह सरल होती है उसी तरह मनमेंसे कष्ट दूर करनेपर वह सरल होता है अर्थात् मनकी सरलताको आर्जव कहते हैं,

४ लायव—धनादि वस्तुओंमें ये मेरे हैं ऐसी अभिलाषबुद्धिही सर्व संकटोंमें मनुष्यको गिराती है इस समत्वको हृदयसे दूर करनाही लायव अर्थात् शौच धर्म है,

५ तप—अन्न, पान, लेख इनका त्याग करना, रसोंका त्याग करना, दाता पात्र इत्यादिकोंका नियम करना यह तप तप है, इस लोकमें अपनी कीर्ति हो, अपनेको लोक पूजे इत्यादि अभिलाषा छोड़कर वारह प्रकारका तप करना चाहिये,

६ संयम—इंद्रियोंके स्पर्शोंदि इष्ट व अनिष्ट विषयोंसे अपने मनको हटाना, इष्ट वस्तुमें रागभाव रखना, अनिष्ट वस्तुसे द्वेष करना यह इंद्रिय असंयम है, इनसे निवृत्त होना यह इंद्रियसंयम है, पंच स्थावर और असंजीव इनको बाधा देनेसे विरक्त होना यह ग्राणिसंयम है,

७ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह आर्किचत्य धर्म है,

८ नष्ट प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना यह ब्रह्मचर्य है,

९ मुनि और उनके भक्त अर्थात् श्रावक इनके साथ आत्महितकर माषण बोलनायह सत्य धर्म है,

१० मुनियोंके लिये योग्य ऐसे आहार, अथवा—वसतिका और श्राव ये चीजें देना यह त्याग धर्म है, ऐसे धर्मके दश भेद कहे,

जो रत्नत्रयको साधते हैं ऐसे धुनिराजको साधु कहते हैं,

१ वस्तुके यथार्थ स्वरूप जाननेवाले ज्ञानमें परिणति होना यह ज्ञानाचार है,

२ तत्त्वश्रद्धानमें परिणति होना यह दर्शनाचार है,

३ हिंसादि पांच पापकियाओंसे निरक्त होना चारित्राचार है,

४ अनशुनादि क्रियाजर्मि प्रवृत्ति रहना सप्त आचार हैं.

५ अपनी शक्तीके अनुसार ज्ञान दर्शन चारित्र्यादिकमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है.

ऊपर फरे गये पांच आचारोंमें जो स्वयं उद्युक्त होते हैं और शिष्योंको उद्युक्त करते हैं वे मुनि आचार्य कहलाते हैं.

जो रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करते हैं और जिनेन्द्र भगवानका कहा हुआ अर्थ शिष्योंकी अविस्मृतासे कहते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठि हैं. ' उपेत्य विनयेन दौकित्या अधीयते श्रुतमस्मादिति उपाध्याय ' अर्थात् विनयसे आकर विनसे शिष्यमुनि आगमार्थका पठन करते हैं ऐसे मुनिराजको उपाध्याय परमेष्ठि कहते हैं.

प्रवचन—शंका—श्रुत शब्द प्रवचनवाची है उसका तुलना किया गया है. प्रवचनका अर्थ श्रुत होता पुनरपि यहाँ श्रुतका ग्रहण करनेसे पुनरुक्तता दोष आया. उचर—प्रवचन शब्दका अर्थ यहाँ रत्नत्रय है. ' गाण दंसणचरित्तमेग पवयणं ' ऐसे आगम ग्रन्थसे रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं यह सिद्ध होता है. अथवा श्रुतज्ञानको श्रुत कहना चाहिये ऐसा पूर्वमें कहा है. यहाँ ' प्रोच्यंते जीवादयो येनेति ' जिनके द्वारा जीवादि पदार्थोंका विवेचन किया जाता है वह प्रवचन है अर्थात् शब्दात्मक श्रुतको यहाँ प्रवचन कहते हैं.

अर्हत्, सिद्ध, इनके और आचार्यादिकोंके प्रतिर्विब, श्रुतज्ञान, धर्म, साधुवर्ष, आचार्य, उपाध्याय, शब्द श्रुत और सम्पददर्शन इनमें भक्ति, पूजा प्रवर्त्तना वगैरे करना यह मंशेषसे दर्शन विनय है. ऐसा इस माथाका अभिप्राय है. ॥ ४६ ॥

भक्ती पूया वणजणं च गासणमवणवाटस्स ॥

आसावणपरिहसो दंसणविणजो समासेण ॥ ४७ ॥

भक्तिः पूजायशोवादी दोषावज्ञा तिरस्त्रिया ॥

समासेनैष निर्दिष्टो विनयो दर्शनाश्रयः ॥ ५० ॥

विजयोदया—का मन्त्री पूजा ? अर्हदादिगुणानुरागो भक्ति । पूजा हिमकाय द्रव्यपूजा भावपूजा चेति । गन्धपुष्पपूपाक्षतादिदान अर्हदादिगुण द्रव्यपूजा । वास्तुत्यागप्रदक्षिणीकरणप्रणमनादिका कार्यक्रिया च । बाल्या गुणसत्त्वयन च भावपूजा मनसा तद्गुणानुरागः ।

यणाञ्जणं पर्णशङ्खः क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानयः शुक्लरूपमिति । अक्षरवाची क्वचिदाद्या भिन्नो वर्णसमाज्ञायः इति । क्वचित् ब्राह्मणद्वी यथात्रैव वर्णानामधिकार इति । क्वचिदशस्त्रि वर्णार्थो वृद्धति । तथा द्वाप्यनेतरार्थो गृहीतः । तेन अर्धवादीनां यशोजननं विदुषां परिषदि । अन्येषामपि स्ववेदिनां दृष्टेयिद्वचनताग्रदर्शनेन निवेद्य तत्संवाधिवचनतया महत्तत्प्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम् ।

चैतन्यमानसमवस्थानरूपे निर्वाणे नापूर्वातिशयमाप्तिरस्ति । यत्नमेतरेण सर्वोपपत्तु चैतन्यस्य सदा म्रितः । विशेषरूपपरदितत्वावसथेतन्यं स्वरूपयत् । महत्तेरत्वनया युक्तिः लुपयोगिनी । किं तथा वृद्धया मुक्त्या वा फलमाश्नतः ? अन्यथा विद्या फालिमते सिद्धता बुरुणपादा । बुद्ध्यादिविशेषगुणरहितता सिद्धताऽप्येतां । आत्मनोऽचेतनतां फलसंचेतनोऽभिलषति । विशेषरूपद्वयं वा रूपमात्मनः सत्ता ? नैव चासाग्रहया परगुणगतः बुद्ध्यादियुगलरहितस्याद्रस्यत् । एगादिस्वेवास्वनारहितं चित्तमेव मुक्तिशब्देनोच्यते इत्यत्र चित्तमर्त्यतामाधारणरूपं । यथेकं विद्वद् यं नेतरविति तन्य स्वभावोऽनिरूप्यः । असाधारणस्वरूपत्वं यच्चद्वयथा—नयस्तामरतं । असाधारणरूपगूढ्यं च विपरिमितापिचावन्वविति । एवं म्रतान्ते निरूपितानां सिद्धतामवधमानत्वाद्वाधाकारित्वात् कर्मलेपनिर्वहनसमुपजाता बलस्याप्यसमवस्थिताः । अनेतमानात्मकेन सुखेन संतुष्टाः सिद्धा इति तस्माद्धारव्यकयनं सिद्धानां वर्णजननं ।

यथा धीतरागद्वेषाखिखोक्चूलाभण्योऽद्वाद्वयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति । तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिविद्यानि । याश्चद्वयान्यनयो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते । यथात्मनि मनोऽनामनोऽपि यत्सात्रिप्याद्वा गद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदानं पुनस्त्वैतदालयनं । एवमर्हददियुगलुस्मरणनिर्वापनं प्रतिविद्ये । तत्पादुस्मरणं अभिनवां शुभमहतेः संवर्णे, प्रत्यप्रशुभकर्मदाने, गृहीतशुभमहत्त्वमुभयकारि करणे, पूर्वोपासाशुभमहत्तिपदलत्सायन्दासे च क्षममिति सकलाभिममतपुत्रवार्थसिद्धेयुतमा उपसानीयानीति चैत्यमहत्ताप्रकाशानं चैत्यवर्णजननमिति ।

केयलशमवधोपजीयादिव्रव्ययाथाम्यप्रकाशानपटुः कर्मधर्मनिर्मूलनोऽथतशुभप्यानवेदनमलयायमानं । सपरसमुच्चरणनिरताविनेयजनताविचारार्थीयं, प्रतियक्षाशुभाज्ञयं, अग्रमरुतायाः संपादकं । सकलविकलप्रत्यक्षमानरीजं, वर्शनचरणयोः समीचीनयोः प्रवर्तकं इति निरूपणा श्रुतवर्णजननम् ।

दुःखाप्राप्तं, सुखं प्राप्तं, निनीनां चाधिपत्ये स्वापयितुं, स्वचक्रविक्रम्यामिति सकलपुषालेस्वचरणरत्नमद्वयक्रांशकलांलनान्यावयोः पातयितुं, सुखित्वासिनीचेतः सुमोदावर्धं, तदीयविदुःप्यादीनलोचनरागमभिवर्धयती, हर्षमरपरवशोद्विभ्रसंन्द्रोमांचक्रुकमचार्गितुं, उचतां रूपरोभांनदिरां संपादयितुं, अतिरायितागिमादियुगप्रसाधनां, सामानिकादिदुःखसद्वाशुगानोपनीतमहत्तां, सततयत्यप्रयुषवादिगितां सुभगताल्लारोहयिष्युः, अनेकसमुद्रविदुगणनामणितयुःस्थिति, मेघकुण्डलुरसादि कुलचलादिमोचरस्वेच्छविद्वारचतुरां, सुखंनपुत्रुलनितेन विषाधरफठिनियिदुसमुद्यतकुचतटकीदालोकनस्पर्शनदिक्रियोपयोगिमिमीभिपिस्वित्तां, श्रवमरुतामपरोक्षे, अदिति घटयितुं, विरूपतानन्तीतपडाकिनीनामनोचरं शोकशुकातुङ्गेचित्तां, पिपदापानलशिगधियुगपटुतां, सेनोरीस्वपुत्रं, यममद्विपणु

रात्रिदितां, भौतिवराहसमितिमिरुद्धिप्रियां, संक्षेपरातशरमैरनल्लसितां, म्रियमियोगचङ्कुंदरीकैरसेवितां, अमर्यसु-
रातरमगमभूमिं निर्वृतिं प्रापयितुं समर्थो जिनप्रणीतो धर्म इति धर्मस्वरूपकथने धर्मवर्णनजननम् ॥

उचोदितम्रिययचनमुखरुर्भेदबुधसमितिशुक्ला, हुस्ततरत्संसारस्वतचिरपरिभ्रमणवकितसेधयधुदया, जिनप्रणीता
अनित्यप्राप्तवचितेचतस्तया निरस्तशरयोदविष्णादिगोचरा, दुःखसंदितां पातयशास्त्रमस्यापस्त्य जिनप्रणीता
वर्मावभायात् तमेव शरणमिष्टपगताः । ज्ञानरत्नप्रवीपमप्रकरनिर्धूलितयुवनमवनान्तर्लानाशानध्यानसंततवयः,
कर्मणामादौने, तत्कलादुभवेने, तन्निर्भूतने च धर्ममेकका पदेति कृतिविनिश्चितयाः, असाधारणचैतन्यादिलक्षणोपनीतेभे-
द्योरेषयाऽन्ये ययमितरद्वयकलापादित्यन्यताभायनायामासकाः, सुयदुःखयोरकृतादरेषाः, सदसुद्रेचोदयकर्मनिमित्तत्वेन
ममादत्तमनमिमले चापेक्षते इति उपकारपकारयोरेभेव प्रणेता, आलनः शुभाशुभकर्मरोगेणे समैव स्वांतव्यात्त-
नुचरितत्वात् । अतुमहनिमहयोः परे वराकाः किं कुर्वन्तीति मत्वा स्वजनपरजनयिकेनिरासुकाः, समंतादुपसर्ग-
महोत्सवेत्येवदीर्घैरवस्था मध्यविषयलवृत्तयः, सुतिपातादिपरीहमहाप्रातिसत्यसंसापतेऽप्यदीनासंक्षिप्तवेतोबुत्तयः,
मिगुमिगुमिगुमाप्रिताः, भगवानावितगोराल्यपल्लनोपुष्कमतयः, धृतानूनप्रतकयथा, गृहीतदीर्घाष्टेष्टाः, उद्गीर्णयाना-
तिनिश्चितमहलाभाः, कर्मादिपुतनासाधनोपताः साधय इति नाशुमाहात्म्यप्रकाशनं साधुवर्गवर्णजननं ।

मुकाहारपयोधरनिद्याकरवासरार्थीभरकल्पनदीकहादय इव प्रत्युपकारानेपेक्षानुग्रहव्यापृताः, निर्वाणपुराप्रि-
पणसमे साने निर्वेले स्थिताः, परावपि विनताम्विनेयानप्रयतयन्तः, भायतातिथयलजानपृथुल्यदशनपदमलेखणाः, कुलीना,
विनता, विमया, विमाना, विरागा, विराग्या, विमोहा, यथासि तपसि महसि याऽद्वितीया इव भूयं सूर्य इति सूरिवर्ण-
जननम् ।

अधिलतधुतर्पेयापातलव्यज्वाप्यमचक्राङ्गुरूपव्याख्यानाः, भिरस्तनिर्वातदीर्घप्रमादाः, सुचरिताः, सुशीलाः, सुमे-
धताः, इक्ष्वाभापकवर्णजननं ।

रत्नप्रयालाभार्दनतकाळं अयमतादिमिषमोऽपि भव्यजीवरशिनिर्वाणपुरमुपैति तल्लभे च सकलाः क्षण-
दुलभा इति मार्गवर्णजननं ।

मिथ्यात्यपटलपिपटनपटीवसी, हस्तमैर्मल्यकारिणी, अशुभगतिनममतिबंधविषयिनी, मिथ्यावशानविरो-
धिनीति निगदं समीचीनद्वेषवर्णजननम् ।

सर्वकृतावीतरामते माहंति विद्येते रागादिभिरपिद्यया च अनुभवाः क्षमस्ता एव प्राणधृताः इत्यादिर्द-
तामयवर्णवदः ।

लौवल्लगंधमाह्यालंकारादिविरहितानं सिद्धानां धुलं न किंचिदतीन्द्रियाणां । तेषां समधिगतौ न नि-
बंधनमस्ति किंचिदिति सिद्धावर्णवदः ।

सकलपद्माभिर्यमर्दसेव सिद्धः इत्येतेनस्य व्यवस्थापनामपि दारिकाणां लुप्रिमपुत्रकल्यवहतिरिव न
मुष्टपटलपुसेवनेद्वचं फले लभ्यते । न. प्रतिविंबावित्सा अर्द्धादयः तदुत्पुनवैकल्यान्न प्रतिविंबानामर्द्धादिविबमिति

चेत्तावर्णवाद् ।

पुरुषकृतत्वाद्गदादिमादिवान्यवयवार्थता गार्तीद्वयं वस्तु पुंसो ज्ञानगोचरं, अज्ञातं चोपविशते वचः कथं तस्यै ? तदुक्तं च ज्ञानं कथं समीचीनमिति सुतावर्णवाद् ।

दुर्गतिप्रतिषेधं स्वर्गादिकं च फले विचिन्ते धर्म इति कथमदृष्टं धर्मीयते ? न हि सन्निहितकारणस्य कार्यस्यानुक्रमोऽस्ति यथाङ्कुरस्य । सुखप्रदायी चेद्धर्मः स्तनित्यत्यन्तरं सुखमात्मनः किं न करोति इति धर्मोऽवर्णवावः । अहिंसादिव्रतपालनोद्यताः साधवः, सूर्योऽध्यापकाश्चेत्यन्ते । अहिंसाव्रतमेवैषां न जुग्यते पट्टजीयनिकायाकुले लोके धर्तमानाः कथमहिंसकाः स्युः ? केनोर्होचनाविभिः पीडयतां च कथं नारमयश्चः ? अदृष्टमात्मनो विपर्ययं, धर्मं, पापं, तत्फलं च तद्वतां कथं सत्यमस्मै ? इति सत्यवर्णवाद् । एवमितरयोरेपि ।

विरुद्धानां एकत्र धर्मोपानसंभवात् विरुद्धमिमतधर्माधिकरणैकवस्तुज्ञापनं न सम्यक् । तदमित्येवं समीचीनता विपर्ययज्ञानानुगतत्वात्प्राप्त्युक्तवैषम्ये, मिथ्याज्ञानानुगतत्वाच्चरणमपि न सम्यक् । उदरगतत्वययसाद्रज्जुपरिद्वार इवेति प्रथक्तावर्णवाद् ।

पतेपामवर्णवादानामसंभवप्रदर्शनं । पुरुषत्वाद्द्रव्यापुरुषत्वं सर्वज्ञो दीतरागो या न भवत्यर्हन् इति साधनानुपपन्नं । असर्वज्ञतामदीतरगतां चान्तरेण पुरुषता नोपपद्यते इत्यन्यथापुनरेतन्भाषात् । अस्मिन्वाद्यो न सकलवैषय्यज्ञा पुरुषत्वात्पिपालयत् इति शक्यं वक्तुम् । सर्वज्ञतादीतरगतासिद्धिश्चाप्यत्र निरूपितेति नेह प्रतन्यते । दुःखप्रतीकाराद्यपु वस्तुपु नृद्वानां सुखसाधनव्यवहारः । शरीरायासमात्रप्राप्त्य, कामिनीसमागममुल्लेखं । वैकृत्यनाशनवैल्लादिभिर्न कृत्यं सिद्धानां । अशरीराणां सकलदुःखापायकं सुखं अयिकलमभेनज्ञानात्मकं तेष्ववस्थितं । धृतं निवर्धनं सद्यधिगमे । शुभोपयोगनिमित्ताहंसादीनामिव प्रतिविधानमिति न सुखयोयेक्षिता ॥

मूलार—अची—भाषयिष्ठुद्विद्युक्तोऽनुपपन्नः । पूषा पूषा सा न द्वेषा द्रव्यभावेदेतात् । तत्र द्रव्यपूषा अर्हदादीन्निदिश्य गंथाक्षणादिवानं । भावपूषा कायेन अभ्युत्थानप्रदाक्षिणीकरणप्रणामादिका । वाथा गुणस्तयनं । मनसा गुणानुस्मरणं ॥ वणत्तर्ण—विदुषां परिपदि यशोजननं गुणकीर्तनमिति यावत् । तत्र सुगतादीनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनता-प्रकाशेन तत्सर्वज्ञत्वं प्रहाप्य तत्समादिवचनतया महत्त्वप्रख्यापनमर्हतां वर्णजननं ।

एवं परमवप्रसिद्धान् सिद्धान्तोक्तान् विनमयेन वत्स्वरूपनिरूपणं सिद्धानां वर्णजननं । तथा हि—न तावत्संश्लेषोऽस्ति सिद्धता पट्टे । चैतन्यमात्रावस्थानस्त्वे निर्वर्णे पुष्टोऽपुष्टाविश्वप्रामोखावात् न संसारिभ्यः क्वचिद्विशेषस्तद्रूपमुक्तः सर्वेषामयत्नविद्धतया सत्ता सत्त्वात् । चैतन्यमात्रस्य ज्ञेयाकारपरिच्छेदे परादमुत्पत्त्य विशेषरूपरहितत्वात्तत्वं रूपमुपवत् । न च प्रकृत्यैवैकत्वव्युत्पत्तेरपि किञ्चित्कलमात्मनः । नापि वैशेषिकोक्तानां

ज्ञानादिगुणानां अत्यन्तोन्यूनानिर्गुणकिञ्चुका । न खलु कश्चित् स्वगुणस्य सतो विनाशाय सचेताः प्रयतन्ते, किं त्वर्हतिशयाधावाय । किं पुनर्देवैरन्यस्य विशेषलक्षणसूत्रस्य चाल्पनः कथं सथा सगुणवत्, कथं चात्मतत्त्वं ? तथाहि-नास्तौ धेओपिकाभ्युपगत आत्मा आत्मदुःखादियुग्णरहितत्वादभवत् । नापि बौद्धमतो निरास्यवचित्तोत्पत्तिक्षणो मोक्षः क्षोभं क्षमते । चित्तक्षणो हि रागादिवेत्तश्रयासगरादितो यदि प्राक्यात्साक्षयचिच्छयणादुत्पद्येत तर्हि कुतस्तस्य निरासवत्त्वं ? निरासवाच-
स्मात्तत्त्वोत्पत्तौ तु तस्यापि कुतो निरावसवत्वमित्यनवगम्या । न च पूर्वेषा सर्वथा नष्टेन परो जन्येत मृतेन पित्रा पुत्रवत् । नापि प्रजाद्वैतवादिकल्पिवनिर्वाणे प्रमाणं । ते हि यथा घटवियदने घटाकाशमाकाशीमवति तथा देहोच्छेदात्सर्वेः प्राणी
नेरे ब्रह्मणि लीयन्ते इति वक्ष्यमाणमभये । वदसत् । निस्तरीकरूपपरमब्रह्मणः कुवश्चित्प्रमाणावसिद्धत्वात्, भेदस्यैव सक-
लप्राणिना निराबाधयोचे प्रकाशमानत्वात् । अभेदस्य तन्निरोधस्य इदमेवमतीतेः । एवं मत्तान्वरोक्तानां सिद्धानां अप-
दन्नाङ्गारिसेसारकारणकर्मनिर्मूलनोन्मीलितनिर्मलनिश्चलबिम्बवर्त्तिचिद्रूपसमवस्थानलक्षणं स्वारज्यमास्थिताः अनंत-
ज्ञानात्मकेन मुलेन संतुष्टाः सिद्धा इत्यादि वदगुणकीर्तनं सिद्धवर्णजननं ।

वैत्यवर्णजननं यथा—आर्हपापीनां शांतिरूपत्ववीतरागाभ्यादियुगानुसरणादपूर्वपापनिरोधोऽभिनवगुणरूपवर्णः, पुण्योदयस्फारीमाधः, नापोदयापकपेभ्यः स्यात् । तत्र तत्त्वविधिदयसेनादुत्पत्ते । पुत्रसदृशदर्शनात्तद्वगुणस्मरणवत् । बाह्य-
द्रव्यालंको हि शुभोऽशुभो वा परिणतः स्यात् इष्टानिष्टार्थेसांक्रिययात्रागद्वेषवत् । अथवा अर्हदाभिरतिरूपदर्शनात्तद्वृत्ति-
स्मर्यते, तत्तत्र वदगुणाः ॥ तथा चोक्तं—भूपायेपायुपत्यागी धियादमदयावरं ॥ रूपमेव तवाचष्टे धीरवोपविनिद्रम् ॥
वैषम्यार्हदादियत्तवैत्यान्यपि शुभोपयोगेहेतुवथा सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वादुपासनीयानि इति वैत्यमवधारणाशानं
तद्वर्णजननं ।

श्रुतज्ञानं हि केवलज्ञानवद्विषयस्वरवावभाति, कर्मनिर्मूलनोद्यतशुभाभ्यानिनिदानं, स्वपरसमुद्धरणनिरवविनयजनता
प्रार्थनीयं, प्रतिबद्धशुभासर्थं, अन्नमपवायाः संपादकं, सकलाविमलप्रत्यक्षाज्ञानवीजं, समीचीनदर्शनचरणप्रवर्तकमिति
निरूपणं श्रुतवर्णजननं ॥

चतुर्गतिदुःखात्तातुं, निरावकाशविश्वविकीर्षकालोपलब्धं सुतं दातुं, सकलसाध्याज्यं स्वर्गोपिराज्यं पाधिकतुं,
सुर्वेदानां दान्पादयोः पातयितुं, समवसरणादिवाहिरंगानं वज्ञानावतरगंलक्ष्मीलक्षणां जीवन्मुक्तिं, सम्यक्त्वापष्टगुणलक्षणा-
मात्यंतिकीं परमशुक्तिं च संपादयितुं सभ्यस्यो जितप्रणीत एव धर्मो नान्य इति धर्ममहिमस्यापनं धर्मवर्णजननम् ॥

रत्नत्रयं साधयतीति साधवस्त्वष्टकर्मवंधनाः, संसारमीरबोऽनित्यभावनानिरस्तवेद्यादराः, विनयकर्मकारणा, ज्ञानार्कजोनिरस्तान्तस्तमसः, कर्मणामादाने फलादुपवने च वयमेकाकिन इति कृतानिद्वयाः, स्वचैतन्यादिगुणाविधिभेदा-
पेक्षया कायादिपरद्रव्येभ्योऽन्ये पयमिति ध्वन्यत्वभावनावर्हिताः, सुखासुखयोरश्रुतादरेष्टाः, सदसद्वेदोदयार्धमिष्टमनिष्टं
वापेक्ष्य स्वस्योपकारापकारयोरहमेव प्रणेता, शुभाशुभकर्मनिर्माणे ममेव स्वातंत्र्यात्तदुपरतशक्तिकत्वादनुग्रहनिग्रहयोः परे
वराका किं कुर्वन्ति इति मत्वा स्वजनपरत्वनविषयकनिरस्तसुकाः, सर्वतादुपसर्गोपनिषातेऽप्यचलधृतय, परीपहोद्रेकेऽप्यदीना-
भंछिष्टमनस्तस्मिन्निगुत्सारतपस्युद्यताः, क्षीलतत्पराः, शुभध्यानरताः, कर्मनिर्मूलनकर्मठा इति साधुमाहात्म्यप्रकाशने
साधुवर्णजनने ॥

पंचदाचारं स्वयमाचरन्ति सिध्याभाचारयन्ति इति आचार्योः । प्रत्युपकारनिरपेक्षरोपकाराः, सुरमूधरवद्धीराः,
सर्वेशालपारदस्वर्गाः, स्वयं भयःपथे स्थिताः, विनीतयिनेयोस्तत्र स्वापर्वतः. शुद्रदेवशुक्रजतयो, विनयसिद्धा, मानमनीविधो,
विगतरागाद्वैपमोक्षाः, शल्यव्यपेतास्तपसि, तेजसि, यदासि, तरसि, वचसि च निरौपन्या इति गुणग्रहणं सूरिणां वर्णजननम् ॥
उपेत्य विनयेन हौकित्वाऽधीयते श्रुतमेवेष्ट्य इति उपाध्यायाः, प्रयुद्धजिनागर्गवयथातज्याः, सुपरितचूडामणयः
पद्मकीसुरजोतस्विनीनदीप्यनतयो, निरस्तान्निद्राद्राप्रभादाः, सुमेधसः, शिष्यमेधाशुस्वरूप्याख्याना इत्यध्यापकवर्णजननम् ॥
रत्नत्रयस्यालाभादन्तकालमनावृत्तोऽपि भव्यराक्षिर्न निर्वाति तस्मात्ते न सुलभाः सर्वसंपदो दूरधारिण्यश्च
सनस्तविष्व इत्यादिप्रवचनवर्णजननम् ॥

सिध्यात्त्वकर्मनिर्मूलनं, ज्ञाननिर्मल्यमूलं, दुर्गतिगमनप्रतिबंधनं, सुगतिद्वारोद्घाटनं इत्यादि दर्शनवर्णजननम् ॥
अवणबादस्त-असद्भूतदोषोद्भावनस्य नाशार्थं प्रकृतत्वादर्थदादीनामेव । तद्यथा-वीतरागत्वसर्वेशत्वेऽर्हति न
विद्येते सर्वश्रानिनां रागादिभिरविषया च नित्यमनुस्यूतत्वादित्यादिरर्हतामवर्णयादः ॥ सिद्धानां सुरां न किञ्चिदस्ति
सत्कारशक्तिमिन्दादीनामाभावात् । सतोऽपि वा सूरस्य तेषां नाशुभखनिमित्तानामिदियाणामतीन्द्रियतया तत्रासत्त्वा
दित्यादिः सिद्धानाम् ॥ सोऽयमर्हश्चित्यादिसिद्धकल्पनया पाषाणादावचेतने तत्रावस्थापनायामपि कन्यकाना कृतिमपुनकथय-
न्ताविध न सुखवस्सूपसेवनोद्भवं फलमुपलभ्यते इति न प्रतिमाविषु संश्रान्ता अर्हदादयो, नापि प्रतिमदीनामर्हदादित्यमस्ति,
तद्गुणध्वन्यत्वात्तोऽन्यपपाषाणदिवक्त्र तेषामाराधने किंचित्फलमस्ति इत्यादिश्रैत्वानां ॥

इदमर्हितं श्रुतं पुरुषकृतत्वादसदादिमार्गव्यवयवधार्म्यं । न संसारजननादितत्कालानुत्पत्त्यर्थवृत्तस्य चित्तस्य सुत

विद्विमुद्धिरिति सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिदोषदूषिताः अत एवातीन्द्रियं वस्तु न कश्चित्त्वानाति । अस्मात् च उपविशतो षचः रात्यं, तद्भूतं च ज्ञानं सिध्यैवेत्यादिः श्रुत्यम् ॥

मीढोष्णसर्पत्वरूपपरिविरद्यानामस्तित्तादिपणोपेकत्र वस्तुन्यसंभक्त्वात् विरुद्धाभिमतयर्माधिकर्णैकवस्तुत्वापनं न सम्भक्तुम् । नापि तच्छूद्रानं सुगन्धोदकषट्पान्थिव्याज्ञानानुगन्तानां चरणं रज्जो सर्पप्रत्ययात्तत्परिहारवत् असंस्पृशानप्येक इत्यादिः प्रयत्नस्य ॥ यदा तु प्रवचनदब्देन द्रव्यश्रुतमुच्यते । तदेवं जैनानां शास्त्रं शब्दशालाविरोधिं न्छेच्छभाषानिवर्द्धं, लोकशालाप्रसिद्धत्वाद्विचक्षितार्थप्रतिपादनासम्भवेभित्यादि । ॥ दर्शनावर्णवादस्तु रत्नत्रयावर्णवादान्तर्गत एव । दृश्यवर्णनस्योपादानं तु चिञ्चित्तकृत्याविगोचरत्वसूचनार्थं । अर्हदाद्यवर्णवादपरिहारस्तु यथाशालं प्रति पशब्दः ॥ आसावना अयक्षा ॥ अर्हदादिषु इसत्यपि भक्त्यादयः र्वचापि सन्त्यस्य विनयो साहाय्याभावकत्वात् । इति गाथाद्वयसंमदाधर्मः ॥

हिंदी अर्थ—अर्हदादिगुणोंमें प्रेम करना भक्ति है. पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं. अर्हदादिकोंके उद्देशसे गंध, गुण, धूप, अथतादिक समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है. तथा ऊठ करके खड़े होलाना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरे शरीरक्रिया करना, वचनसे अर्हदादिकोंके गुणोंका स्तवन करना यह भी द्रव्यपूजा है. मनसे उनके गुणोंको चिंतन करना यह भावपूजा है.

वर्णजनन—वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं. वर्ण-शुद्धादिक वर्ण, जैसे 'शुक्लवर्णमानय' अर्थात् सफेद रंगको लाओ. वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है 'सिद्धो वर्णसमान्नायः' वर्णोंका समुदाय अनादि कालसे है. वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मणादिक ऐसा भी है. यथा 'अत्रैव वर्णानामधिकारः' इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक वर्णोंका अधिकार है. यहाँपर वर्ण शब्दका 'यष्ट' ऐसा अर्थ माना जाता है. जैसे 'वर्णार्थी ददाति' यष्टकी कामनासे देता है. प्रस्तुत 'वर्णजनन' इस शब्दमें वर्ण शब्दका अर्थ यष्ट ऐसा समझना चाहिये.

अर्हदादि परमेश्वरोंका विद्वानोंकी समागम यथोगान करना, उनका महत्त्व बताना इसको 'वर्णजनन' कहते हैं.

कपिल, बुद्ध, ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं थे, उनके वचन प्रत्यक्ष अनुमानादिकोंसे विरुद्ध-वाधित होते हैं ऐसा सिद्ध करके अर्हदादिकोंके वचन श्रुति और आगमसे अविरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करना, इस रीतीसे उनकी महत्त्वा

प्रकट करना यह अर्हदादिकोंके वर्णजनन है. आत्मको जब मोक्ष प्राप्त होता है तब वह अपने चैतन्यमें स्थिर होता है ऐसा सांख्य कहते हैं. मुक्तात्माका चैतन्य फक्त स्वस्वरूपको जानता है. बाह्य पदार्थको वह जानता ही नहीं- ऐसा उनका मत है. परंतु यह मत सुकीसे बाधित होता है. प्रयत्नके बिना ही सर्व आत्मामें चैतन्य सदा विराज मान है ही. वैसा ही यदि मुक्तमें भी होगा तो उसका विशेषरूप संसारी आत्म्याके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा. अर्थात् मुक्तात्म्याके चैतन्यमें कुछ अपूर्वता है नहीं ऐसा सिद्ध हो गया. जिसमें कुछ अपूर्वता नहीं रहती है वह बीज इतर वस्तुसे अपना भिन्नपना सिद्ध नहीं कर सकनेसे स्वपुण्यके समान असत् ही समझनी चाहिये ।

प्रकृतितत्त्व अचेतन होनेसे उसमें बुक्तिकी कल्पना करना फिजूल है. वह मैं वद हूं अथवा मुक्त हुई हूं ऐसा जानती ही नहीं. अतः कापिलके-सांख्यके मतमें मुक्तावस्था आत्म्याकी सिद्ध हो नहीं पावी.

शुद्ध्यादि विशेष गुणोंसे रहित मोक्ष है ऐसा वैशेषिकोंका मत है परंतु वह भी समुचित नहीं है. आत्मामें अचेतनताकी कल्पना फोन सचेतन प्राणी करेगा ? अर्थात् आत्मामें ज्ञान है यह बात बाल गोपालतक स्वीकारते हैं. यदि मुक्तावस्थामें आत्म्याका ज्ञान नष्ट हो गया तो वह अपनी सिद्धिके लिये किसका आश्रय करेगा ? अर्थात् ज्ञान यह आत्म्याका विशेष लक्षण है. उसके बिना उसकी सचा ही नष्ट हो जाती है. जैसे मस्ममें ज्ञान न होनेसे उसको कोई आत्मा नहीं कहते हैं वैसे ही मुक्तात्मा ज्ञानशून्य हो जानेसे अपना आत्मत्व खो चुके हैं ऐसा मानना पड़ेगा.

रागद्वेषादि छेदोंको उत्पन्न करनेवाला वासनाओंसे रहित जब ज्ञान हो जाता है तब वह मुक्त माना जाता है ऐसा बौद्धोंका मत है. यहाँ हम उनको पूछते हैं कि, यदि वह ज्ञान अत्यंत असाधारण रूप और एक ही है, दूसरे पदार्थ ज्ञानके समान असाधारणरूपके धारक नहीं है ऐसा कहोगे तो दूसरे पदार्थोंका स्वरूप वर्णन करने लायक नहीं है ऐसा निश्चित हो गया. जो जो वस्तु असाधारण स्वरूपसे रहित है वह वह आकाशपुण्यके तुल्य अभावरूप माननी पड़ेगी.

इस रीतीसे अन्यमतमें सिद्धोंका स्वरूप सिद्ध होता नहीं. अतः बाधक सकलकर्मका नाश हो जानेसे अविनाशी आत्मस्वरूपको लो प्राप्त होगये हैं वे सिद्ध परमेश्वरी हैं. वे अनंत ज्ञानरूपमुखसे नृप हुये हैं. ऐसा उनका भावितमकथन करना यह सिद्धसाध्यात्म्यजनन है.

जैसे जिनके रागद्वेष नष्ट हुये हैं जो त्रैलोक्यचूडामणि हैं ऐसे अर्हदादिक भक्त्योंको शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण हो जाते हैं, जैसे उनके प्रतिविम्बभी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं, चाहा पदार्थके आश्रयसे शुभ वा अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं, आत्मामें इष्टानिष्ट पदार्थका साविध्य होनेसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, अपने पुत्रके समानही दुसरेका सुंदर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है, इसीतरह अर्हदादिकोंके प्रतिविम्ब देखनेसे अर्हदादि परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण हो जाता है, इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवर होता है, नवीन शुभ कर्मोंका आगमन होता है, जो शुभप्रकृति ग्रहण की गई है उसमें वृद्धि होती है, पूर्वमें ग्रहण की हुई अशुभ प्रकृतियोंका इस क्रम करनेमें समर्थ होता है, इसलिये समस्त इष्टपुण्यार्थकी सिद्धि करनेमें प्रतिविम्ब हेतु होते हैं, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिये, इस तरहसे चैत्यकी महत्ता प्रकाशित करना यह चैत्यवर्णन है,

श्रुतज्ञानवर्णजनन—श्रुतज्ञान केवलज्ञानके समान संपूर्ण जीवादि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपका प्रकाशन करनेमें समर्थ है, कर्मरूपी उष्णताको नष्ट करनेके लिये उद्युक्त हुवा जो शुभ ध्यानरूपी चंदनदृक् उसको यह श्रुतज्ञान मलयपर्वतके समान है, स्वतःका और मय्यजीवांश्च उद्धार करनेमें तत्पर ऐसे विद्वान लोगोंके द्वारा यह ज्ञान जाराधने योग्य है, यह अशुभ कर्मके आस्रवोंकी उत्पत्ति होने नहीं देता है, इस श्रुतज्ञानसे आत्माका प्रमाद नष्ट होता है, सकल और विकल ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें यही कारणभूत है, सम्पन्नदर्शन और सम्पत्त्वारिज्जर्ण इससेही प्रशुचि दिक सकती है, इस तरहसे श्रुतज्ञानके महत्त्वका कथन है,

धर्मवर्णजनन—यह जैनधर्म दुःखोंसे जीवको बचाता है, सुख देनेमें समर्थ है, नवनिधी और चौदह रत्नोंका अधिपति करता है, जिन्होंने अपने चक्ररत्नसे संपूर्ण भूगोचरी राजे, विद्याधर नृप और गणबद्ध देव वज्र किये हैं ऐसे चक्रवर्ती भी इस धर्मके प्रभावसे नष्ट होकर चरणोंपर नमस्कार करते हैं, इसके प्रभावसे इंद्र पदवी प्राप्त होती है, यह पदवी देवगणाके चित्तको लुभानेवाली है, उसके चंचलमत्स्यके तुल्य नेत्रोंमें प्रेम उत्पन्न करती है, इससे शरीरमें रोमांच उत्पन्न करती है, इस पदवीके धारक देवमें धर्मके प्रसादसे सर्व देवोंसे भी अधिक महत्त्वशाली अणिमामहिमादिक ऋद्धि प्राप्त होती है, इमेधा इंद्र तारुण्यसे युक्तही रहता है, उसका शरीर सौंदर्यरूपी लताके आरोहणके लिये यष्टीके समान होता है, इंद्रका आयुष्य अनेक, साशरोंके जलविंदुओंकी गणना

तुल्य रहा रहता है, अर्थात् अनेक समुद्रोंमें जलविंदु जैसे अगणित रहते हैं वैसा इंद्रका आयुष्य अनेक सागरोपम रहता है, वह इंद्र मेरुपर्वत, कुरुधूमि [देवकुल और उत्तरकुल भोगधूमि] गंगादि महानदियां, हिमवदादि कुल पर्वत, इत्यादि स्थानोंमें सेच्छसे विहार करता है, देवानाओंके विशाल नितंब, अधरोष्ठ, कठिन, ऊंचे और विशाल ऐसे स्तनवट इन्के साथ वह क्रीडा करता है, उनको अवलोकन और स्पर्श करके बहुत आनंद लट्टता है, ऐसी महत्त्वशालिनी इंद्रपदवी इस जिनधर्मके प्रसादसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है.

इस जिनधर्मके प्रसादसे मोक्षकी भी प्राप्ति होती है, कुरूपता उत्पन्न करनेवाली दृढावस्था रूप डाकिनी इस अविनश्वर ज्ञानमय मोक्षके स्पृश नहीं करती है, शोकरूपी दृक् मोक्षधूमिमें प्रवेश नहीं करते हैं, यह धूमी विपत्तिरूप दवाग्रीकी ज्वालाओंसे अलिस रहती है, रोगरूपी दुष्ट सर्प इन्के शरीरको दंश नहीं करते हैं, यह मोक्षधूमि घममहिषके शृंगसे अलंघित रहती है, भीतिरूपी शराबाँसे उकड़ी जाती नहीं है, संमलेश परिणामरूपी शरभ इसमें घास नहीं करते हैं, प्रियावियोगरूपी क्रूर व्याघ्रोंसे यह रहित है, यह अचुपम मुरुरूप रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली खनी धूमि है, ऐसी मोक्षधूमि जिनधर्मके प्रसादसे भव्य जीव पा सकते हैं, इस तरह धर्मका साहाय्यकथन करना यह धर्मवर्णनजनन है.

साधुवर्ग वर्णजनन-प्रियवचन चोलनेमें चतुर ऐसे बंधुगण दुर्मेघ दुःखलाके समान है, परंतु साधुगण इस बंधुबंधुलाको भटसे तोड़ते हैं, दुस्तर संसाररूपी भोंवरोमें चिरकालतक भ्रमण करनेसे उनका हृदय भययुक्त रहता है, हमेशा अनित्य भावनामें उनका चित्त आसक्त रहनेसे शरीर, धन, वंगरे पदार्थोंमें वे आसक्ति नहीं रखते हैं, यह जिनधर्म ही संफुडो दुःखोंसे हमारा रक्षण करता है, इसको छोड़कर दुसरा कोई भी हमको दुःखोंसे छुड़ानेवाला नहीं है ऐसा मनमें विचार कर उसके ही ग्ररणमें जाते हैं, श्रीसाधुपरमेश्वरी ज्ञानरूपी रत्नदीपककी प्रभासे जगद्गुपी ग्रहमें छिपकर बैठे हुए अज्ञानांधकारको मगाते हैं, कर्मोंको प्रहण करना, उनके फलोंको चखना और उनको निपटून करना इन कार्योंमें हमको कोई सहाय्य नहीं कर सकता है, हमको ही ये कार्य करने पड़ते हैं, ऐसा अपने मनमें निश्चित करते हैं, असाधारणचैतन्य हमारा लक्षण है इससे हम इतर अजीवादि पदार्थोंसे भिन्न हैं ऐसी भावना कर इतर द्रव्योंसे वे अपनेको सर्वथा भिन्न भाते हैं, वे सुखमें आदर तथा दुःखमें द्वेष करते नहीं हैं, यदि मेरेमें मातावेदनीय कर्म होभा तो होभा तो अन्वजन मेरा आदर करेंगे यदि नहीं होभा तो मेरा वे द्वेष करेंगे अतः मैं

ही अपने ऊपर उपकार या अनुपकार करता है. दुःख या अशुभ कर्म उत्पन्न करनेमें मैं स्वतंत्र हूं. अनुग्रह और निग्रह अन्य लोक करते हैं. यह मानना औपचारिक है. ये लोक दीन हैं. ये कुछ करने धरनेमें समर्थ नहीं हैं. ऐसा विचार कर ये मेरे चेष्टागण हैं, ये मेरे शत्रु हैं. ऐसी भावनाको वे हृदयसे दूर करते हैं. बिनका सामर्थ्य अनिवार्य है ऐसे उपमर्गस्त्री सगोत्र पिरे हुए मी के विलमात्र भी घबड़ाते नहीं हैं. सुषा, वृषादिपरीपहरूपी शत्रु बड़े जोरसे आक्रमण करते हैं, तथापि वे दीन होकर मनमें संकुशयुक्त नहीं होते हैं. वे तीन गुप्तिरूपी गुप्ती-का आश्रय लेते हैं. अनशुनादितयोराज्यका पालन करनेमें उद्युक्त होते हैं. संपूर्ण महावतरूप कवचको धारणकर हाथमें शीलरूपी बाल लेते हैं. ग्गानसे याहर निकाली हुई प्यानरूपी तरवार के अपने हाथमें लेकर कर्मशत्रुकी घेना जीतते हैं. इस तरहमें साधुपरमेश्वरीका महात्म्य प्रगट करना यह साधुवर्णजनन है.

आचार्यवर्णजनन—मोतिओंका हार, मेघ, चंद्र, सूर्य, कल्पवृक्ष यंगे पदार्थ प्रत्युपकारकी अपेक्षा न करके ही उपकार करते हैं. आचार्यपरमेश्वरी मी उनके समान परानुग्रह करनेमें सदा उद्युक्त रहते हैं. ये निर्वाणनगरी के प्रति ले जानेवाले निरतिचार चारित्ररूपी मार्गका स्वयं अवलंबन करके नग्न हुए ऐसे शिष्यादिक भव्य जीवों को मी उन मार्गमें प्रयुक्त करते हैं. आपार्य निर्मल ज्ञान और विशालदर्शनरूपी पक्ष्मल नेत्रोंसे सब पदार्थोंको जानते हैं और देखते हैं. ये कुलीन, नग्न, निर्भय, अभिमानरहित, रागद्वेष रहित, माया, मिथ्यात्व, निदानरहित और मोहद्विहित होने हैं. कवचोंमें, तेलमें, तपमें वे अद्वितीय होते हैं. वे जगतके अद्वितीय अलंकार हैं. इस तरह आचार्यवर्णजनन समझना.

उपाध्यायवर्णजनन—उपाध्याय परमेश्वरी अच्छी तरहसे आपसके ज्ञाता होते हैं. वे जीवादि पदार्थोंका यथार्थ वर्णन करते हैं. शब्द और अर्थके वाच्यवाचक संबंधका निर्दोष विवेचन करते हैं. वे निद्रा, आलस्य और प्रमादका त्याग किये हुये हैं. निरातिचार चारित्रके धारक, शील संपन्न और सम्यग्ज्ञान संपन्न होते हैं. यह उपाध्याय वर्णजनन है.

मार्गवर्णजनन—रत्नवर्षही मोक्षका मार्ग है. इसका लाभ जीवको यदि न हो जायगा तो अनादि च अविनश्य ऐसी यह भग्यजीवराशि मोक्षपुरकी प्राप्ति नहीं कर सकेगी. जब उसका लाभ होता है तब जगतकी सर्व संपत्ति इस जीवको प्राप्त होती है. यह मार्गवर्ण जनन है.

सम्यग्दर्शन वर्णजनन—सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वपटलको नष्ट करके सम्यग्ज्ञानमें निर्मलपना लाता है, नरक, तिर्यचादि अशुभ गतिमें जानेसे रोकता है, यह मिथ्यादर्शनका शत्रु है ऐसा वर्णन करना यह सम्यग्दर्शन वर्णजनन है.

गुणवान ऐसे पंच परमोष्ठीओंमें जो दोष नहीं है वे दोष निष्कलना उसको अवर्णवाद कहते हैं. ऐसे अवर्णवादका निराकरण करनेसे दर्शनविनय होता है. अब अवर्णवादका वर्णन करते हैं—

भीतरागता और सर्वज्ञपना अहन्तमें नहीं है, जगत्में संपूर्ण प्राणी रागद्वेष और अज्ञानसे घिरे हुए ही देखे जाते हैं ऐसा कहना यह अहन्तका अवर्णवाद है.

स्त्री, वस्त्र, इत्र वगैरे सुगंधी पदार्थ, पुष्पमाला और वस्त्रालंकार येही सुखके कारण हैं. इन पदार्थोंका अभाव होनेसे सिद्धोंको सुख नहीं है. सुख इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है. परंतु सिद्धोंको स्पर्शादि इन्द्रियां नहीं हैं अतः वे सुखी नहीं हैं, ऐसा कहना यह सिद्धावर्णवाद है.

जैसे छोटी छोटी कन्यायें गुड़ी यह मेरा बालक है ऐसा व्यवहार करती हैं, परंतु जैसे साक्षात् बालक गोदमें लेनेसे उनकी सुख मिलेगा वैसे गुड़ीसे नहीं मिलता है वैसेहि वे अहन्त है वे सिद्ध परमेष्ठि हैं ऐसी अचेतन पदार्थमें स्थापना करके उपासना की तो मी समवसरणमें साक्षात् विराजमान अहन्तकी पूजा करनेसे जो फल मिलता है वह नहीं मिलेगा. मूर्तिमें अर्हत् सिद्ध वगैरे पूज्य पुरुष वास नहीं करते हैं, क्योंकि उनके गुण मूर्तिमें दीखते नहीं हैं, ऐसा कहना धैत्यावर्णवाद है.

श्रुतावर्णवाद—जैसे नदीके तीरपर दस दांडिम गिरे हैं हे लडको ! भागो ऐसा कहनेवाले पुरुषका व्राम्य जैसा असत्य है वैसे जागम मी पुरुषकृत होनेसे असत्य है अग्रमाण है. पुरुषको अतींद्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता नहीं है. और अज्ञात वस्तुका यदि वह उपदेश करेगा तो उसके उपदेशमें प्रमाणता कैसी आवेगी ? उसके उपदेशसे लोगोंको जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह मी प्रमाण कैसा माना जायगा ? अतः आयमज्ञान प्रमाण नहीं है ऐसा कहना यह श्रुतावर्णवाद है.

धर्मावर्णवाद—धर्म दुर्गतिसे प्राणीको बचाता है, और स्वर्गादिफल देता है यह कहना ही है. ये सब बातें परोक्ष हैं, प्रत्यक्ष नहीं हैं. अतः इनके ऊपर विश्वास रखना कैसा योग्य होगा ? जिसके कारण मौजबद रहते हैं वह

वस्तु उत्पन्न होती है उसी शीज होनेसे अंशुरोरपत्ति होती है; यदि धर्म सुखदायक है तो यह उत्पन्न होनेके अनंतर ही सुख क्यों उत्पन्न नहीं करता है, ऐसा कहना यह धर्मावर्णवाद है।

साधु, आचार्य और उपाध्याय ये सर्व मुनिराज आर्हिसाव्रतका पालन करते हैं ऐसा जैनलोक कहते हैं परंतु इन मुनियोंका आर्हिसाव्रत युक्तीसे सिद्ध होता नहीं। ये सर्वमुनि पांच स्थावरजीव व और त्रस जीवके समुदायमें विहार करते हैं, इसलिये ये आर्हिसक कैसे होंगे ? ये साधु केवललोक, उपवासादिके द्वारा आपने आत्माको दुःख देते हैं, इसलिये इनको आत्मवधका दोष क्यों न लगेगा। पाप और पुण्य दृष्टिगोचर होते नहीं है तो भी ये मुनि उनका और उनके नरक, स्वर्गादिलोकोंका वर्णन करते हैं, उनका यह विवेचन झूठा होनेसे कसस्य मोलनेका दोष उनसे होता है, इत्यादि कहना यह माधु अवर्णवाद है, इसी तरह आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीका भी अवर्णवाद समझना चाहिये।

प्रवचनावर्णवाद—एक वस्तुमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव नहीं रहते हैं, तो भी एक वस्तुमें उनकी कल्पना करना पद शक्ति संगत नहीं है, जो मनुष्य एकवस्तुमें विरुद्ध स्वभाव रहते हैं ऐसी श्रद्धा करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि उनसे श्रद्धाने विपरीत ज्ञानका अनुसरण किया है, जैसे मृगतृष्णामें की गई श्रद्धा मिथ्याज्ञानका अनुसरण करनेवाली होनेसे मिथ्या मानी जाती है, जैनलोगोंका चारित्र भी मिथ्याज्ञानका अनुसरण करता है अतः वह भी सत्ता नहीं है, दोरीमें सर्पकर्म श्रान्ति होनेसे जैसे तन्दुका त्याग हो जाता है, इस त्यागके समान ही मिथ्या-ज्ञानसे होनेवाला चारित्र भी श्रान्त है, इत्यादि कहना प्रवचनावर्णवाद है।

अन उपयुक्त अर्णवादोंका असत्यपना संक्षेपमें दिखाने हैं, अर्हन् पुल्ल होनेसे रास्तेसे जानेवाले प्रवासीके समान भवनी और वीतराग नहीं है यह कहना असत्य है, क्योंकि असर्वक्षणना व रागद्वेषीपना इनसे पुरुषत्वका अविनाभाव नहीं है, जैनलोक भी जोगिनी, बुद्ध योगरह पुल्ल भी भेदियोंको पालनेवाले मनुष्यके समान हैं ऐसा कह सकेंगे, अर्हन् सर्वज्ञ और वीतराग है इस बातका विवेचन अन्य न्यायग्रंथोंमें होनेसे हम यहां करते नहीं, जो पदार्थ केवल दुस्व प्रतीकारार्थ ही है उनमें मूढ लोक सुखसाधनता मानते हैं, स्त्रीके साथ संभोग करना यह वास्तविक सुख नहीं है, क्योंकि स्त्रीको भोगते समय शरीरको बहुत आघातसंयुक्त करना पड़ता है अतः उसको सुख कहना

यह सोलह आना झट है, कुरूपताको मिटानेवाले ब्रह्मादिकोंकी सिद्धपरमेश्वरीको बिलकुल आवश्यक्ता नहीं है, वे सिद्ध भगवान् शरीररहित हैं, अशरीर आत्मामें सकल दुःखोंका नाश होना यही सुख है, यह पूर्ण, अनंत और अनंतज्ञानात्मक है, आत्मामें रहा हुआ युतज्ञान जीवादि पदार्थोंको जाननेमें निमित्त होता है, जैसे अरुहण और आचार्योदिक शुभोपयोगके लिये कारण हैं वैसे उनके प्रतिबिंब भी शुभोपयोगके लिये कारण हैं, यह संक्षेपसे अर्वाणवादका निरसन हुआ.

एवं दंसणमाराहतो मरणे असंजदो जदि वि कोत्रि ॥

सुविमुद्धतिव्वलेस्सो परिचंससारिओ होइ ॥ ४८ ॥

मृताबाराधयजेवं निद्वरिओउपि दर्शनं ॥

मकुटशुद्धलेइयाको जायते स्वल्पसंसृतिः ॥ ५१ ॥

विजयोदया—एवमित्यनया माधवा असंयतसम्यग्दृष्टेः स्वयम्भवमाराधयतः फलमाचष्टे एवमिति पूर्वोक्तपरामर्शः । मैत्रेय्यमेव मोक्षमार्गः प्रकृतः इति । अइयानाः शंकादिकमपाकुर्वन्ति उपप्रेक्षणादिभिः । सम्यक्त्वस्य शुद्धिर्वाच्यन्तमीचीनं वर्धनविनायं संपादयन् । दंसणं श्रद्धाम् । आराधन्तो निष्पादयन्मरणे भावपर्ययमच्युत्तिकांते । असंजदो जदि वि यद्यप्यसंयतः । सुविमुद्धतिव्वलेस्सो कपायादुरंजिता योगचूचित्तेइया, सार पोढा मयिमक्ता कृष्णनीलकायो-तत्तेजःपद्मशुक्लेइयाभवेन । तत्राश्रमलेइयानिरासार्थं सुविमुद्धदग्रहणं । तीर्थग्रहणं परिणामप्रकर्षोपादानाय । सुविमुद्धा तीर्था लेइया यस्य सुविमुद्धतीव्वलेइया । परिचंससारिओ अल्पबहुगतिपरिवर्तः । होइ भवति । अल्पसंसारता सम्यग्प्रकाराधनायाः फलसेन दर्शिता ॥

एवंविपसम्यसत्त्वापधनायाः फलमाचष्टे—

मूला—आराहतो निष्पादयन् । सुविमुद्धतिव्वलेस्सो सुविमुद्धतीव्वलेइयः विशुद्धा शुभा तीर्था परिणामप्रकर्षवती लेइया कपायादुरंजिता योगप्रवृत्तिर्यस्य सः । परित्ति परिमितः । सम्यक्त्वापधनायाः स्वल्पसंसारत्वमित्यर्थः ।

अर्थ—सम्पददर्शनीकी आराधना करनेवाले असंयत सम्यग्दृष्टीको कोनसा फल मिलता है इसका इस मायामें आचार्यने उल्लेख किया है, उपगहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभाषना ये सम्पदग्रन्थने के चार गुण हैं इनमें सम्पदार्जन शंकादिदोषोंमें रहित हो जाता है, सम्पददर्शनमें विमुक्ति

नट जाती है. और दर्शनविनयही प्राप्ति होती है. सम्यक्स्वकी आराधना करनेवाला कोई जीव यद्यपि असंयतु सम्यग्दृष्टि होगा तथापि यह निश्चुद्ध और तीव्र लेख्याका धारक होनेसे अल्पसंसारी होता है. क्रोधादि कथायोंसे अनुगन्तिव योग्यी प्रवृत्तिसे लेख्या करते हैं. उसके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल रंगोंसे छह भेद हैं. कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेख्यायें अशुभ हैं. यहाँ उत्तर तीन लेख्याओंका ग्रहण समझना चाहिये. जिनके तीन शुभ लेख्याके तीव्र निर्मल परिणाम हैं वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शनकी आराधनासे बहुगुणिते भोदा ग्रन्थ करने युक्त होता है. अल्प संसार रह जाना यह सम्यग्दर्शनाराधनाका फल है ऐसा यहाँ समझना चाहिये.

सर्वहया पतियया रोचय फासंतया पवयणस्स ॥

सयलस्स जेण पदे समत्तात्तहया होति ॥

रोचका जंतवो भक्षत्या स्पर्शकाः प्रतिपादकाः ॥

आगमस्य समस्तस्य सम्यग्दृष्ट्याराधना मततः ॥ ५२ ॥

तंवाशार्थं व्याख्यातुमिः सूत्रे पठिता गाथा यथा—

सर्वहया पतियया रोचय फासंतया पवयणस्स ॥

सयलस्स जे णरा वे सम्मत्तात्तहया होति ॥

मूळारा—सर्वहया लक्षणकारकाः भवन्ताः पतियया ग्रीक्षिमेताः इत्येवोक्तमिति वचनेन । रोचय दक्षियुक्ताः सारगुणोदिकया । फासंतया अनुज्ञानात् :

अर्थ—जो जीव जीवादितत्त्वोंके प्रतिपादक आगमपर मनसे श्रद्धान करते हैं, जो जिनप्रथित तत्त्व ही गमोत्कृष्ट है ऐसा वचनके द्वारा उच्चार करके श्रद्धान करते हैं. अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पन्न हुवा श्रद्धानपरिणाम वचनके द्वारा व्यक्त करते हैं. जो चुटकीके द्वारा अर्थात् करतलघ्निके द्वारा अपना तत्त्वश्रद्धान प्रगट करते हैं. तथा जो अपना तत्त्वश्रद्धान कार्य करके—धर्मप्रभामना-जिनपूजा, दान इत्यादिके द्वारा प्रगट करते हैं. वे तत्र जीव सम्यग्दर्शनके आराधक हैं ऐसा मानना चाहिये.

तत्त्वप्रदानपरिणामः कतिभेदः किं फलं इत्यस्य प्रतिवचने— उत्तरप्रबंधः । तत्र भेदप्रतिपादनायाह—
तिविहा समत्ताराहणा य उक्कस्समज्झिमजहणणा ॥

उक्कस्साए सिञ्झादि उक्कस्ससुसुवकलेस्साए ॥ ४९ ॥

उत्कृष्टा मध्यमा हीना सम्यक्त्वाराराधना त्रिधा ॥

उत्कृष्टलेदयया तत्र सिद्धचत्पुत्कृष्टया तथा ॥ ५३ ॥

विजयोदया—तिविहा त्रिविधा । समत्ताराहणा सम्यक्त्वााराधना । उक्कस्समज्झिमजहणणा उत्कृष्टमध्यम-
जयन्या चेति । तत्र उक्कस्साए उत्कृष्टया सम्यक्त्वाराराधनया । सिञ्झादि सिञ्चति निर्दृतिमुपेति । उत्कृष्टपुल्लेदययासहितया ।

सम्यक्त्वाराराधनाया भेदेनैवेदसंपूर्णं उत्कृष्टभेदत्वं फलमाचष्टे—

मूलारा—सपटम् ।

तत्त्वप्रदानरूप परिणाम कितने तरहके हैं ? उनसे क्या फल मिलता है ? इसका उत्तररूप आरोक्ता
विषय लिखते हैं. प्रथमतः सम्यक्त्वाराराधनाके भेद दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शनाराधनाके उत्कृष्टाराधना, मध्यमाराधना व जयन्याराधना ऐसे तीन भेद हैं. उत्कृष्ट
शुक्कलेदययासहित जीवको उत्कृष्ट सम्यक्त्वाराराधनाके प्रभावसे मुक्तिसुल प्राप्त होता है.

तेसा य हुंति भवत्सत्त मज्झिमाए य सुक्कलेस्साए ॥

संखेज्जा ऽसंखेज्जा वा सेसा भवजहणणाए ॥ ५० ॥

भवन्त्यन्ये भवाः सप्त मध्ययां मध्यलेदयया ॥

संख्याता चाप्यसंख्याता हीनया हीनलेदयया ॥ ५४ ॥

विजयोदया—सेसा अवशिष्टाः । हुंति भवन्ति । किं भवा मनुष्यत्वादियर्थाः । कति सप्त सप्त । मज्झिमाए
य सम्यक्त्वाराराधनया । सुक्कलेस्साए शुक्कलेदयया मध्यमया वर्तमानस्येत्युभाभ्यां मध्यमत्वादयस्य संवधो व्याख्येयः ।
संखेज्जा संख्याताः असंख्याता धा सेसा देया भवन्ति भवाः । जहणणा जयन्यारूपकत्वापचयनया मुक्तिमुपेतस्य ।

मूलात्—मङ्गिमास—मध्यमया इदमुपपन्नं योज्यं । तेन मध्यमशुक्लेऽश्यायी वर्तमानस्य मध्यमया सम्यक्त्वा राधनया मृत्पुनगतस्यायीष्टाः सातमयाः स्फुरित्यर्थः । संसेज्या इत्यादि संख्याता अवस्थिता या भवन्ति शेषा भवा अपन्यया मृत्पलेत्यर्थः । अन्ये तु संसेज्या संखेज्या भवा य इति पठित्वा भवाश्चेत्यत्र च शब्देन ज्ञतं इति समुचित्व-
नि । यये तु या शब्दात् ।

अर्थ—मत्स्यं शुक्र लेझाका आश्रय करके जो जीव मध्यम सम्यक्त्वा राधना करते हैं वे सात भव धारण करके मोक्षको प्राप्त करते हैं, जिनमें सम्यक्त्वकी आराधनासे जो मरण करते हैं वे जीव संख्यात अथवा अज्ञं यत् जन्म धारण करके मोक्ष हस्तगत करते हैं,

उत्तास्त्रिभ्यं आराधनाः कस्य भवन्ति इत्यस्योत्तरमाह मायया—

उक्तंसा केवलिणो भजिदमया सेससम्मदिणीणम् ।

अत्रिरवसम्मादिष्टिस्स संकिल्लिहस्स हु जहण्णा ॥ ५१ ॥

तत्र केवलिनो वर्या मध्या मा शेषसद्वशाम् ॥

असंयतस्य सद्वृष्टेर्हीनं संक्लिष्टचेतसः ॥ ५५ ॥

विज्ञापेद्या—उक्त्या सम्यक्त्वा राधना भवति । कस्य केवलिणो केवलिनः । केवलमसहायं ग्रन् । इन्द्रियाणि, मनः, प्रकाशोपदेष्टादिकं यानेनेष्व वृत्तेः । मत्स्यशस्यायध्यादेः आत्मकारणत्वात्सहायत्वास्तीति केवलतत्त्वप्रसंगः इत्यादिषु चेष अदेमिराष्टजाशेषमानायराशोपजायमानस्यैव योधस्य केवलशब्दवृत्तेः । केवलिकाश्चो यद्यपि सामान्येन केवलद्वये प्रभुत्वं स्थापनीह भवौमिकेन विग्रहणं इत्यन्यत्र मरणमाभात् ॥

उक्तृष्टता कथं सम्यक्त्वा राधना भवति इति चेत् इदं द्विविधं सम्यक्त्वं सरागलम्यत्वं धीतरागलम्यत्वं चेति । रागो द्विविधः यदन्तरागः अग्रशस्तराग इति । तत्र प्रशस्तरागो नाम पंचगुणस्य, प्रवचने च यत्तेमानस्त्वदुणानु रगतमक । अमरान्तो रागो द्विविधः इन्द्रियगुणेषु मनोनेषु जायमानः । आकांक्षास्ये, वत्सर्णीति सिद्धांते, तद्विरूपिते मोहे, तत्तथेषु वा प्रयत्नमत्तः दृष्टिरागः इति । तत्र यदास्तरागसहितानो अर्वां सरागलम्यदर्शनं । रागद्वयसहितानां क्षीणमोक्षपरणानां धीतरागलम्यदर्शनं । तस्या राधना उत्कृष्टा रागमलाभावात् । अशेषविकालोचरस्युयाथात्म्यप्रादिसकलज्ञान सहायित्वाच्च ।

मन्त्रिमया मध्यमिका सम्यक्त्वा राधना भवति । सेससम्मदिणीं उपयुजेतरवचनाः शेषशब्दः इति केवल-

भ्यो येऽयेऽस्यतसम्यग्दृष्ट्यादयस्ते परिगृह्यन्ते शेषराष्ट्रेन ।

तत्रापरादयः—अचिरदत्तसम्मादिद्विस्त अंत्यतसम्यग्दोः । जहण्णा अयन्या सम्यक्त्वा राधना भवति । किं मनस्य ! नेत्याह—संनिलिद्रस्त संनिलस्य परीपहव्याकुलचेतसः इति यावत् ।

का सम्यक्त्वा राधना करस्य स्वादित्याह—

मृनारा—इत्यतस्त उत्कृष्टा प्रशस्तेतरागात्कर्म्ममलविलयाभिरित्यवस्तुयाथात्म्यग्राहिसकलज्ञानसह धरितत्वाय ।
अर्थादयोगकेयहितसस्यैव मरणसंभयापरमोत्कृष्टशुद्धेयसंस्कारव्यवहरणानुसरत्याह । पूर्वप्रयोगादविकृष्टा छत्रकव-
निति सूदकारवचनात् । सेसा असंखितसम्यग्दृष्ट्यादिः । संनिलिद्रस्त परीपहव्याकुलमनसः ।

फहरी हुई ये तीन आराधनायें किस जीवको प्राप्त होती हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं.

अर्थ—उत्कृष्ट सम्यक्त्वकी आराधना अयोगकेवलीको होती है. मध्यम सम्यग्दर्शनाराधना चाकीकै सम्यग्दृष्टी जीवोंको होती है. परंतु परीपहोसे जिसका मन उद्धिप्त हुआ है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टीको जघन्य सम्यक्त्वा राधना प्राप्त होती है.

विशेषार्थ—असहाय ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं. शंका-ईदृश्या, मन, प्रकाश और उपदेशादिकोंका सहारा न लेकर फक्त आत्माके आश्रयसे अर्थात् य मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं. इस लिये उनको भी केवलज्ञान फ्यों नहीं कहते हो ? उत्तर—अध्यादिक ज्ञानको केवलज्ञान नहीं कहते हैं. जिसने सर्व ज्ञानावरणकर्मका नाश किया है ऐसे ज्ञानको ही केवलज्ञान यह शब्द रूढ़ है अन्य ज्ञानोंमें केवल शब्दकी रूढी नहीं है.

केवल शब्द सामान्यसे सयोगकेवली और अयोगकेवली इन दोनोंमें प्रयुक्त है तो भी यहां केवली शब्दमें अयोग केवलीकाही ग्रहण होता है. सयोगकेवलीकी अवस्थामें मरण होताही नहीं.

केवलीका सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट कैसा ? उत्तर—सम्यग्दर्शनके सारा सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद हैं. रागके भी प्रयत्न राग और अग्रशस्त्र राग ऐसे दो भेद हैं. पंच परमेष्टी, और जिनारागमें जो गुणानुराग उत्पन्न होता है उसको प्रयत्नराग कहते हैं. अग्रशस्त्ररागसे मनोहरविषयोंमें जो मग्न उत्पन्न होता है वह पहिला अग्रशस्त्र राग है. और युद्ध, फणित्वादिक आत्माभास और उनके विद्वान्, उनके द्वारा प्ररूपे हुए कुमार्गी नया इमारोस्य लोक इनके निषयमें हुआ जो अनुराग वह दुमरा अग्रशस्त्र राग है. प्रशस्त्ररागसहित जीवोंका जो

सम्यग्दर्शन वह सराग सम्यग्दर्शन है। जिनके प्रशस्त और अशस्त दोनो ही राग नष्ट हो गये हैं अर्थात् मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म जिनका नाश हो गया है उनके सम्यग्दर्शनको वीतराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। केवली भगवानको उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनाराधना होती है। क्योंकि संपूर्ण रागरूपी मल उनका नाश हुआ है। तथा त्रिकालवर्ती संपूर्ण पदार्थोंका अर्थस्वरूप ज्ञाननेवाला ज्ञान सम्यग्दर्शनका साधनी है। इसलिये भी केवली भगवानकी सम्यग्दर्शनाराधना सर्वोत्कृष्ट है। अविरतसम्यग्दर्शनादिका सम्यग्दर्शित जीवोंकी सम्यग्दर्शनाराधना मध्यम दर्जेकी है। जो परीपहोति व्याकुलचित्त हो गये हैं ऐसे अविरत सम्यग्दर्शी जीव अवन्याराधक हैं ऐसा समझना चाहिये।

अवन्यसम्यक्त्वापराधनामाहास्यं कथयति—

संस्केज्जमसंस्वेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं ।

दुक्खसखयं करंते जे सम्मत्तेणणुमरंति ॥ ५१ ॥

संख्यातामप्यसंख्यातामनुसृत्यापि संसृतिम् ॥

मरुत्तुफालेज्जुगच्छन्तो जीवाः सिध्यन्ति दर्शनम् ॥ ५२ ॥

विजयोद्या-संस्केज्जमसंस्वेज्जगुणं वा संसारमणुसरित्तूणं परिश्रम्य। दुष्परिपश्यं दुःखस्यं। करंति कुर्यन्ति। के जे। सम्मत्तेणणुमरंति सम्मत्तेण सह दुतिमुपयासि। नत्तिप्रयं अयस्या सम्यक्त्वापराधना तस्यां वा प्रभुसस्य संसारफलो निरूपित एव। 'संस्वेज्जं वा असंस्वेज्जं वा सेत्ता अहण्णाए' इति तणुमरुक्ता स्यादिति। न, उक्तस्याधस्यविशेषेण मृत्योऽभिधातं पुनरुक्तमिति, इह तु विदोषाभिधानमस्ति 'दुष्परिपश्यं करंति'।

अवन्यसम्यक्त्वापराधनामाहास्यमाह—

मूढारा—गुणं वा। वा शक्यादन्तं वेत्त्यर्थः। अणुसरित्तूणं। परिश्रम्य। अणुसरित्ता मरणे प्रतिपद्य। करंति इत्यादि ॥ एतद्विशेषरथापनार्थत्वाद्भ्रमोक्तार्थत्वेऽपि न शेषः३

अवन्य सम्यक्त्वापराधनाकी विशेषता आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जिनका सम्यक्दर्शक साथ मरण होता है वे जीव संख्यात वा असंख्यातभवतक संसारदुःखोंका क्षय करके मोक्षकी प्राप्ति कर लेते हैं।

शुंका—इस उच्यसम्यक्त्वाधनाका काल पूर्वमे 'सखिज्वा संखेज्वा वा सेसा जहणाण' इस गाथा-धर्मे कहा है, वही अभिप्राय प्रस्तुत गायामें पुनः आप कहते हैं इस लिये यहां पुनरुक्ति दोष आता है, समाधान-आपका कहना ठीक है, कहे गये अथकीही चार बार कहना वह पुनरुक्तिदोष है, परंतु यहां सम्यक्त्वाधनाकी विशेषता कही है इस लिये पुनरुक्ति दोष नहीं है, सम्यक्त्वाराधक दुःखोंका ध्यय करके मुक्त हो जाता है यह विशेषता इस गाथामें आचार्यने दितामी है अतः यहां पुनरुक्ति नहीं है.

सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यनियेदगाय गाथा—

लब्धूण य सम्मत्तं मुहुत्तकालमवि जे परिवडंति ॥

तेसिमणंताणंता ण भवदि संसारवासड्ढा ॥ ५३ ॥

मुहुर्तमपि ये लब्ध्वा जीवा सुंचान्ति दर्शनम् ॥

नामंतानंतसंख्याता नेपामद्धा भवस्थितिः ॥ ५७ ॥

इति बालमरणं समाप्तम् ॥

विशेषोद्घा—लब्धूण लब्ध्वा । सम्मत्तं तत्त्वध्यानं । कियत्कालं ? मुहुत्तकालमवि अंतर्मुहुर्तमात्रमपि ॥
जे ये परिपठन्ति सम्यक्त्वलाभमाहात्म्यं । अन्तानुबंधिनामुद्ययन्ति । तैसि तेषां सम्यक्त्वलाभप्लुत्य मिथ्यात्वं गतानां । संसारयातद्धा संसारयसूनकालोऽनंतो भवत्येवेति, तु शब्द एवकारार्थोऽत्र संबधनं नेय । अनंतानंत-
ग्रहणं कुर्वता अनंतकालपरिधमणसद्रूपस्त्वनं छत्तम् ॥ इति बालमरणम् ॥

मूळारा—हु एवार्थे । मुहुत्तकालं अन्तर्मुहुर्तमानं । परिवडंति । सम्यक्त्वलाभप्लुत्यन्ते अन्तानुबंधिवामन्यतमो-
दयान् । अनंतानंतो । अन्ततस्तु स्यादिति भावः । अद्धा काल । इति बालमरणं प्रकरणम् ।

सम्यक्त्वने लाभका माहात्म्य कहते हैं,

अर्थ—जो जीव सम्यग्दर्शनको मुहुर्तकालपर्यंतभी प्राप्त करके अनंतर छोड़ देते हैं वे भी इस संसारमें अनंतानंत कालपर्यंत नहीं रहते हैं, अर्थात् उनको अर्द्धशुद्धलपरिवर्तन कालतकही फिरना पड़ता है, इससे जादा कालतक वे भ्रमभ्रमण करते नहीं.

बालमरण प्रकरण समाप्त हुआ. अब बालमाल प्रकरणका वर्णन करते हैं.

जे पुण सम्मत्ताओ पम्भट्ठा ते पमाददोषेण ॥
भामन्ति दुब्भवा वि हु संसारमहणवे भीमे ॥ ५३ ॥ क्षेपकगाथा ।
जो पुण मिच्छादिष्टो ददचरिचो अददचरिचो वा ॥
कालं करेज्ज ण हु सो कस्सहु आराहओ होदि ॥ ५५ ॥
संपत्तोऽसंपत्तो वा यो मिथ्याहवकलुपीकृतम् ॥
विदधात्ययमः कालं कस्याप्याराधको न ततः ॥ ५८ ॥

विजयोदया—जो पुण मिच्छादिष्टो । यः पुनर्मिथ्याहवस्तत्तद्व्यवहारदितो । यः पुनर्ददचरितो अददचरितो वा ददचरितो वा अददचरितो वा । कालं करेज्ज नृतिमुपेयात् । सो सः । ण खु नेव । कस्सह कस्सचिवपि । आराधनो आराधको भवति । सम्पत्तमतेरेण सम्पत्तानसम्पत्तवृत्तारित्ये न स्तः । इति रत्नत्रये कस्यचिवपि नाराधक इति ग्राह्यम् । अस्यपि मिथ्यादर्शनादीनामाराधक यथासौ इति कृत्वा न कस्यचिदपि इत्युक्तं स्यात् ॥

अथ मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वाभावात्तदनाधकोऽपि ज्ञानचारित्रपरिषत्त्या त्रियमाणस्तदाराधकः स्यादित्याशङ्का-
पनोदार्थं आह—

मुञ्जारा—कस्सचि रत्नत्रयमप्ये कस्यचिदपि सम्यक्त्वं विनान्ययोरपि अभावात् ।

मिथ्यादृष्टि सम्यग्दर्शनं न होनेसे सम्यग्दर्शनका आराधक नहीं है, तो भी ज्ञान और चारित्रमें वह परिणत होनेसे उनका आराधक होगा इस शङ्काको दूर करते हैं—

अर्थ—अनंतानुबन्धीके उदयसे प्रभाद दोष उत्पन्न होकर जो जीव सम्यक्त्वसे ग्रस्त हो जाते हैं, अर्थात् जो मिथ्यात्वी होते हैं वे इस भयंकर संसारसमुद्रमें पडकर अनंत कालतक कुत्सितभव धारण करते हुये प्रमण करते हैं.

अर्थ—तत्त्वार्थश्रद्धानरहित जो मनुष्य अर्थात् मिथ्यादृष्टी ददचारित्रका धारक हो अथवा मिथिलचारित्रि

हो वह यदि मरेगा तो किसी भी आराधनाका धारक नहीं है, अभिप्राय यह है कि उसको सम्यग्दर्शन नहीं है, सो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य उसके बिना उसको कैसे प्राप्त होगा ? अतः रत्नत्रयमेंसे वह किसीका भी आराधक नहीं है, यदि वह मिथ्यादर्शनादिकोका आराधक है ऐसा मानोगे तो 'ण हु सो कस्स हु आराहणे होदि' 'वह किसी भी आराधनाका आराधक नहीं है' यह वचन मिथ्या कहना पड़ेगा.

अथ हो मिथ्यादर्शियों मिथ्यात्ववान् । अथ तत्रैव मिथ्यात्वं नाम किं कतिविधं इत्यत आह—
तं मिच्छन्तं जमसद्वहणं तच्चाण होइ अरथाणं ॥

संसङ्गमभिगृह्यं अणभिगृह्यं च तं तिविहं ॥ ५६ ॥

जिनैरभाणि मिथ्यात्वं तत्त्वार्योनामरोचनम् ॥

इदं सांशधिकं जंतोर्गृहीतमगृहीतकम् ॥ ५९ ॥

तत्र जीवादितत्त्वानां कथितानां जिनेश्वरैः ॥

विनिश्चयपराचीना इष्टिः सांशयिकी मत्ता ॥ ६० ॥

परोपदेशसंपन्नं गृहीतमभिधीयते ॥

निसर्गसंभवं प्राज्ञमिथ्यात्वमगृहीतकम् ॥ ६१ ॥

विज्ञयोव्या—तं तत् । मिच्छन्तं मिथ्यात्वं । होदि भवति । अं यत् असद्वहणं अशब्दानं । कस्य तत्प्राप्तं अर्थानं तत्त्वार्योनामर्गोचरकानां जीवादीनां । अर्थस्य तत्त्वविशेषणमनर्थकम् । अतत्त्वरूपस्याभावात् इति चेष्ट । मिथ्याज्ञानोपदेशितस्य नित्यत्वक्षणेकत्वाद्यन्तमधर्ममात्मकस्यातत्त्वरूपसंभवात् । तस्य भावस्तत्त्वं तत्पराच्यो माववचनः । भाववचनमर्थोवाच्यो वधीति । ततोऽन्योर्मिमांशचिह्नकरणभूतोः कथं समानाधिकरणेति न दोषः । माववद्व्यतिरेकाद्रावस्य तत्पराच्योऽर्थ एव वर्तते इति । तथा च प्रयोगः—

तत्पराच्येयत्वात् सम्यग्दर्शनमिति । अथवाव्यधिकरणेतैव । अर्थानां जीवादीनां यानि तत्त्वानि अविपरीतानि रूपाणि तेयमथत्वात् यत्तन्मिथ्यात्वं इति संवेद्य कियते । संसर्गं संसर्गितं किंचित्त्वमिति । तत्त्वानवधारणात्मक मंदायज्ञानमहचारि अध्वानं संसर्गितं । न हि संसिद्धावस्य तत्त्वविषयं शब्दानमलि रदमित्येवेति । निश्चयमव्यय-सदमपिपत्तात् शब्दानस्य । अभिमतिर्दे यदेशमिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतं अशब्दानं अभिप्रेक्षितमुच्यते । एतदुक्तं भवति । न संति जीवादीनि द्रव्याणि इति गृहाण संति जीवादीनि नित्यान्वेवेति यदा परस्य यवनं श्रुत्वा

जीवादीनां सत्ये अनेकांतात्मकत्वे चोपजातं अथद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति । परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोद्घाटनप्रजायते यदथद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वं ॥

यद्वाग्निमध्यादृष्टिः स्यात्तन्मिथ्यात्वं किं कतिविधं चेत्यत्राह—

मूढारा—तच्छाया अर्थानां अनंतद्रव्यपर्यायात्मकानां जीवादीनां, अथवा अर्थानां यानि सत्त्वानि अपिपरीतानि रूपानि तेषां । संसद्दं किं संप्रथमायां शुक्तिर्निर्मिततायां चेत्यादि सत्त्वानवधारणात्मको दर्शनमोहोदयनिमित्तः प्रत्ययः संशयः । तेन सहचरितं सत्त्वाशद्धानं संशयितं, संशयः संजातोऽस्येति व्युत्पत्तेः । न हि संदिहानस्य तत्त्वश्रद्धानमस्ति । इदमित्येवेति निश्चयसहस्यमित्वाच्चरत् । अभिग्राहिदं । परोपपेशादाभिसुल्येन स्वीकृतं परोपदेशजं इत्यर्थः । तथा हि—न सति जीवादीनि इति गृहण । संति वा तानि, नित्यान्वयेत्येवादि परस्परः श्रुतवतो यदा तेषां सत्त्वे अनेकांतात्मकत्वे वा अथद्धानं स्यात्तदाभिगृहीतमित्युच्यते । तत्त्वसुखं—क्रियवाद्यादिमतेर्भेदात् । ते यथा—

असिधिसर्पं किरियाणं अक्षिरियाणं च होति शुल्लसीदि ॥

सचट्टी अण्णाणी वेणइयाणं च होदि वसीत्तं ॥

अणभिमग्राहिदं परोपपेशं विनापि मिथ्यात्वोद्घाटनार्थं ।

जिसको आप मिथ्यापट्टि कहते हैं उसका क्या स्वरूप है ? तथा मिथ्यात्वके कितने भेद हैं ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—अनंत द्रव्यपर्यायोंसहित जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है, इस मिथ्यादर्शनेके संशयमिथ्यात्व, अभिग्राह मिथ्यात्व और अनभिग्राह मिथ्यात्व ऐसे तीन भेद हैं.

विशेषार्थ—गामों ' तच्चाणं होइ अत्याणं ' ऐसा वाक्य है उसमें अर्थ शब्दका ' तच्च ' यह विशेषण व्यर्थ मालूम होता है, क्योंकि जीवादिक अर्थ तत्त्वरूपही रहते हैं, अतत्त्वरूप-मिथ्यारूप नहीं होते हैं, इस शंकाका उत्तर आचार्य देते हैं.

मिथ्याज्ञानीमोने जीवादि पदार्थ सर्वथा नित्यही हैं अथवा अनित्यही हैं, एकही हैं, अनेकही हैं ऐसा उपदेश किया है, परंतु वस्तु सर्वथा नित्यादि एक एक धर्ममय है ऐसा सिद्ध नहीं होता है, अतः एकैक धर्मात्मकही वस्तुस्वरूप समझना मिथ्यात्व है, एक एक धर्मात्मक वस्तु अतत्त्व है, उससे व्यावृत्ति करनेके लिये ' तच्च ' यह विशेषण ग्रंथकारने जोड़ दिया है.

यहां तत्त्व शब्द भाववाचक है, जो पदार्थ जिस स्वरूपमें विराजमान है वह उस रूपसे रहनाही तत्त्व कहलाता है, जैसे चेतना आत्माका स्वरूप है, इसलिये हमेशा आत्मा चैतन्यस्वरूपमें रहता है, अर्थशब्द भाववाचका वाचक है, अर्थात् स्वभावको धारण करनेवाले पदार्थको भाववान् कहते हैं, तत्त्व शब्द और अर्थ शब्द ये दोनों शब्द भिन्नाधिकरणवृत्ति हैं अतः इसकी समानाधिकरणता कैसी जुड़ेगी ?

आचार्य इस शंकाका उत्तर देते हैं—भाववानसे भाव अभिन्न होता है, जीवसे चैतन्य अभिन्न है, जीव भाववान् है और चैतन्य भाव है, चैतन्य जीवसे अपृथक् है अतः दोनोंकी समानाधिकरणता जुड़ सकती है, अतः पुरल, धर्मादिक पदार्थोंमें भी अपने अपने स्वरूपसे अभिन्नता होनेसे समानाधिकरणता सिद्ध होती है.

अथवा भिन्नाधिकरणता माननेसेभी कुछ हानि नहीं है, इसलिये जीवादि पदार्थोंके जो तत्त्व अर्थात् सत्त्वा स्वरूप ऐसा अभिप्राय भिन्नाधिकरणता माननेसे सिद्ध होता है.

संशयितमिध्यात्व—जिसमें तत्त्वोंका निश्चय नहीं है ऐसे संशयज्ञानसे संयथ रत्ननेवाले श्रद्धानको संशयमिध्यात्व कहते हैं, जिसको पदार्थके स्वरूपका निश्चय नहीं है अर्थात् जो व्यक्ति संशययुक्त बनी है उसको जीवादिओंका स्वरूप देसा ही है अन्य नहीं है ऐसी तत्त्वविषयक सत्त्वी श्रद्धा नहीं रहती है, जीवादितत्त्वोंपर जब सत्त्वी श्रद्धा होती है तब उनका निश्चयज्ञान अवश्य रहता ही है.

अभिगृहीतमिध्यात्व—कुरुरुके उपदेशसे जीवादितत्त्वोंपर जो अथवा पैदा होती है वह अभिगृहीतमिध्यात्व है, जीवादितत्त्व नहीं है, अथवा वे अनित्य ही है, वा नित्य ही है ऐसा दूसरोंका उपदेश हुनकर जीवादिकोंके अस्तित्वमें अथवा उनके अनेक धर्मोंमें अथवा होती है, यह अभिगृहीतमिध्यात्व है.

अनभिगृहीतमिध्यात्व—दूसरेके उपदेश विना ही जो अथद्धान मिध्यात्व कर्मके उदयसे हो जाता है, वह अनभिगृहीतमिध्यात्व है.

मिध्यात्वतपोपमादभ्यव्ययतायाद—

जे वि अहिंसादिगुणा भरणे मिच्छतत्तङ्गुनिदा होंति ॥

ते सत्ता कङ्गुगदेत्थिगदं च दुत्तं हवे अपल्ला ॥ ५७ ॥

अहिंसादिगुणाः सर्वे व्यर्थं मिथ्यात्वभाबिते ॥
कटुकैऽलाचुनि क्षीरं सफलं जायते कुतः ॥ ६२ ॥

विजयोदया—अथ हिंसा नाम प्रगल्भतः श्रानेभ्यो वियोगकरणं प्राणिनस्वतो निवृत्तिर्प्राप्ता । अस-
न्निधानाद्विरतिः कृत्यम् । अथसाधनाद्विरतिरस्तेष्वं । म्रैशुनद्विरतिर्लक्ष । ममेदं भावो मोहोदयः परिग्रहः । ततो
निवृत्तिरपरिग्रहता । एते अहिंसादयो गुणाः परिणामा धर्म इत्यर्थः ।

ननु सहस्रयो गुणा इति वचनात् चैतन्यायुर्हिंसादीनोभेदात्मनः सहस्रयां गुणता । हिंसादिभ्यो विरतिरि-
णामः पुनः प्रावृत्तिरिति चेत् मनुष्यान्वादिभ्यो धारितव्याया इति चेन्न गुणपर्यवश्यमिति त्वानुपादाने अर्थात्
जेदोपदानेनेतदथा ' गोपदीवर्धम् ' इत्युभयोक्त्यापेक्षे पुनरुक्त्यापरिहृतये स्त्रीगोशब्दाव्या इति कथनेनेकस्यैव गुण
शब्दस्य ग्रहणे धर्मेनाशयवन्तता ॥

अहिंसाप्रपञ्च ते गुणाः अहिंसादिगुणाः । मिच्छन्कटुकमिवा मिथ्यात्वेन तत्त्वाश्रयनेन । कटुगिदा कटुकताः
कटुकतां गताः । ह्येति भवति । कदा मरणे मरणकाले इति । अफला भवति । कस्य मिथ्यात्वकटुकताहिंसादिगुणस्यात्मनः ।
किमिव ! दुर्देव क्षीरमिव । क्षीरमूलं ? कटुकदुर्द्विषमदं कटुफालावृण्मताम् यथा अफलं फलरहितं । पिच्छाद्युपशान्त
प्रीतिरित्यादिकं यत्फलं क्षीरस्य प्रतीतं तेन फलेन अफलं जातम् । यथा क्षीरं भाजनयोगेदेयं मिथ्यात्वस्यात्मनि स्थिता
अहिंसादिगुणा स्वसायेन फलेन अफलतः पंचानुचरविमानयासित्यं सौकरिकत्वमित्याद्यभ्युदयफलमिव दृष्टीते ।
अहिंसादयो न स्वीचितफलातिशयदायिनः दुष्टभाजनस्थितयात् कटुकाष्ठानुपगतपयोवदिति सूत्रार्थः ॥

मिथ्यात्वमाहात्म्यं कथयति—

मूलादा—गुणा धर्मोः । मनु च सहस्रयो गुणा इति वचनात्तन्मातृत्वादीनामेवात्मता सह सदा लब्धवृत्तीनां
गुणत्वं न्याय्यं, न त्वहिंसादीनां काश्चित्कत्वेन मनुष्यादिष्वश्रौधादिवद्वा तेषां धर्मोयत्तादिति चेन्न ' गुणपर्यवश्यमृत्तव्यभि-
त्वादाधुमयोपायनेऽशान्तरेदोपदेशेनेतदथा गोकलीयदेमित्युभयोपादाने स्त्री गोशब्दाभ्येति कथनं । एकस्यैव तु गुणश-
ब्दस्य ग्रहणे धर्ममात्रवचनता । कटुगिदा कटुकिवा दूषिताः । स्वीचितफलातिशयदानेऽन्यथाकृतसामर्थ्यो इत्यर्थः । तस्म
मिथ्यात्वकटुकताहिंसादिगुणस्यात्मनः । कटुदोद्विषमदं कटुकुण्डकस्थितं । कदमिति पाठे कुण्डं प्रक्षिप्तमित्यर्थः । इवे
भवति । अहलं—पंचानुचरविमानवासेलं सौकरिकत्वाद्यभ्युदयलक्षणफलरहिताः । श्रीवित्त्वपिच्छाद्युपसमनादिकलरहितं च ॥

परोपदेशाभिप्रायेण इति सप्तमके पाठः ।

मिथ्यात्वके दोषोंका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग ये आत्माके गुण हैं परंतु मरणसमयमें यदि ये गुण मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो कड़वी तुंवीमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ होते हैं, फलरहित होते हैं.

विशेषार्थ—रूपाययुक्त होकर प्राणीके श्राणोंका नाश करना हिंसा है. इस हिंसासे विरक्त हो जाना अहिंसा मानी जाती है. प्राणीको दुःख देनेवाले मापणसे विरक्त होना सत्य है. अन्यजनोंके द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण करना अचौर्यव्रत है. मेथुनके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य है. तथा यह घनादिक भेरा है ऐसा संकल्प मोहकमेक उदयसे होता है उसको परिग्रह कहते हैं. उससे निवृत्त होना अपरिग्रह-परिग्रहत्याग कहलाता है. ये अहिंसादिगुण आत्माके परिणाम हैं अर्थात् धर्म हैं.

शंका—गुण द्रव्यके साथ हमेशा रहते हैं. 'सहस्रवो गुणाः' ऐसा गुणके विषयमें आत्मका वचन है. चैतन्य, असृजित ये ही आत्माके गुण हैं. ये गुण कभी आत्मासे अलग नहीं होते हैं. इनको ही गुण कहना चाहिये. परंतु हिंसादिकोंसे जो विरक्तिरूप परिणाम हैं वे कदाचित्क है-अर्थात् वे परिणाम मनुष्यपना, क्रोधादिकोंके समान सदाही आत्मामें रहते नहीं हैं. अतः उनको गुण कहना योग्य नहीं.

इस शंकाका उत्तर—'गुणपर्यववद्रव्यम्' इस सूत्रमें दोनोंका ग्रहण किया है अर्थात् गुण और पर्यायिको ग्रहण किया है. यहाँ गुणशब्द उपलक्षणवाचक समझना चाहिये. अर्थात् वह क्षानादिगुणोंके समान अहिंसादिधर्मोंका भी वाचक है. जैसे 'गोपलीवर्दय' इस शब्दसे एक ही गोका दो शब्दोंसे ग्रहण करनेसे एकको व्यर्थता अर्थात् पुनरुक्तता आती है वह दूर करनेके लिये गोशब्दका अर्थ गाय करना पड़ता है. उसी तरह 'अहिंसादि गुणा' इस वाक्याके शब्दसे यहाँ धर्ममात्रको गुण कहा है ऐसा समझना चाहिये.

कड़ु तुंवीमें रक्सा हुआ दुग्ध पिचोपश्रमन करना, माधुर्य इत्यादि गुणोंसे हाथ धो बैठना है. अर्थात् पात्र के दोपसे दूधमें जैसे अफलता आती है वैसे ही मरणकालमें अहिंसादिगुण यदि मिथ्यात्वसे युक्त हो जायेंगे तो उनसे आत्माको विजय वैनजपादि पंचाजुरोंमें जन्म होना, लौकांतिकदेवत्व प्राप्त होना ऐसे २ सातिशय फल प्राप्त नहीं होते हैं. मिथ्यात्व दूषित अहिंसादिकोंसे फल फलातिशय मिलता नहीं है ऐसा भी नहीं है प्रत्युत वे आत्मामें रहकर महादोषोंको भी उत्पन्न करते हैं.

जह भेसजं पि दोसं आवहद् विसेण संजुदं संतं ॥

तह भिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होति ॥ ५८ ॥

सर्वे दोषाय जायन्ते गुणा मिथ्यात्वदूषिताः ॥

किमौपधानि निर्घ्नन्ति सविषाणि न जीवितम् ॥ ६६ ॥

विजयोदया—यथा भेसजं पि इति स्पष्टतया न व्याख्यायते । भिच्छत्तविसजुदा मिथ्यात्वेन विषेण संबद्धाः गुणा पि गुणा अपि नाहंसादयो गुणा अपि । दोसावहा दोषावहा संसारे विरगदिभ्रमणदोषमावहन्तीत्यर्थः । अथवा मिथ्याद्वैगुणाः पापानुबन्धि स्वस्वार्थमिन्द्रियसुखं कृत्वा यद्भारंभरिमहाविषु भासकं नरके पातयन्ति इति दोषावहाः । दृष्टान्तमवदशनेन इष्टमिच्छति । प्रामिष्य मिथ्यापयमादात्प्राप्त्यश्च भवतीति प्रमाणन दर्शयितुं गथाद्वयमायातम् ।

न केवलं मरत्ये मिथ्यात्वदूषिता आहंसादयः फलाविशयाभ्यस्यन्ति किं तर्हि दोषमपि कुर्वन्ति इत्याह—

मूलाया—आवहदि करोति । दोसावहा संसारे विरगभ्रमणकारिणः । अथवा मिथ्याद्वैगुणाः पापानुबन्धि स्वस्वमिन्द्रियसुखं कृत्वा यद्भारंभरिमहाविषासकं कृत्वा नरके पातयन्ति इति दोषावहाः ॥

एतन् दोषोका आचार्य एवं प्रकारसे वर्णन करते हैं—

अर्थ—औपध यद्यपि गुण करनेवाला होता है तथापि वह यदि विषमिश्रित होगया हो तो वह दोषयुक्त होता है, अर्थात् उसके सेवनसे मनुष्यकी हानि होती है, उसी तरह अहिंसादिगुण जब मिथ्यात्वसे युक्त होते हैं तब वे गुण होते हुए भी संसारमें दीर्घकालतक परिभ्रमण करनेवाले दोषोंको धारण करते हैं, अथवा मिथ्यादृष्टिके ये बहिःसादिगुण पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुखकी जीवको प्राप्ति कर देते हैं, परंतु उसको बहुत आरंभ और परिग्रहमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं अतः ये मिथ्यात्वदूषित अहिंसादिगुण दोषोंको उत्पन्न करते हैं ऐसी समझना चाहिये, विषमिश्रित औपधसे आरोग्यका लाभ होता नहीं वेसे मिथ्यात्वयुक्त अहिंसादिगुणोंसे जीवको मोक्ष प्राप्त होता नहीं ऐसा समझना चाहिये,

दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं ॥
अण्णंतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणदि ॥ ५९ ॥
निर्येतिं संयमस्सोऽपि न सिज्झ्याद्वट्ठिरञ्चुते ॥

जवनोऽप्यन्यतो यायी किं स्वेष्टं स्थानमुच्छति ॥ ६४ ॥

पिजयोदया—इत्यनेन प्रकृतगमनसामर्थ्योद्गमणमाख्यातम् । अण्णंतो गच्छंतो इत्यनेन तन्मार्गप्रयुक्तत्वात्
इत्ययं देसययौ दर्शितः । तेन इष्टे देशे न प्राप्नोतीति साध्यधर्मो दृष्टान्तेनोपदर्शितः । सगिच्छिदं देसं जह पुरिसो
णेव पाउणदि । इत्यनेन दृष्टान्त उपदर्शितः ।

सिज्झ्याद्विर्नयेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गादुत्तिस्वाद्यः स्वप्राप्यस्य मार्गे न वर्तते नासी तत्प्राप्नोति । यथा दक्षिणमधुरातः
पाटलिपुत्रं प्राप्नुमिच्छुर्नैक्षिणां विप्रां गच्छति प्रमाणेनाभिमननिर्द्युतिप्राप्तिप्रतिबंधकत्वमपि सिज्झ्यात्यस्य दक्षविप्रां
गायाद्वयमाह—

युल्लारा—सगिच्छिदं स्वेष्टं । अण्णंतो अन्यत्र । पाउणदि प्राप्नोति ।

अर्थ—एक दिनमें लो योजन भी गमन करनेवाला आदमी यदि वह अपने इष्ट स्थानसे पिलकुल
उलटी दिशाको गमन करने लग जाय तो जैसे वह कभी भी अपने स्थानको प्राप्त न होगा उस तरह सिज्झ्यात्यसे
युक्त अहिंसादिगुण जिसके हो वह पुरुष कभी भी युक्तिपदको प्राप्त होनेवाला नहीं है, यह निश्चित समझना
पादिये.

घणिदं पि संजमंतो मिच्छाविट्ठी तद्वा ण पावेई ॥

इदं णिव्वुइमगं उमगेण तवेण जुत्तो वि ॥ ६० ॥

पिजयोदया—घणिदं पि नितरमपि । संजमन्तो चरित्वे वर्तमानोऽपि । उमगेण तवेण जुत्तोचि उधेण तपसा
युक्तोपिऽपि, नैव निर्येति प्राप्नोति इत्यनेन साध्यधर्मोऽभ्युत्थानम् । मिच्छाविट्ठी इत्यनेन साध्यधर्मिं दर्शितम् । एवं प्रमाणरचना
पाया—

मिज्झ्याद्विर्नयेष्टं प्राप्नोति तन्मार्गादुत्तिस्वाद्यः । यः स्वप्राप्यस्य मार्गे न प्रवर्तते न स तमभिमतं प्राप्नोति । यथा

१ पाउमात्त्यातं इति समुत्तरे ।

रहितममुरात्ता गटलिपुत्रं गान्धुमिच्छुः दक्षिणो दिशे गच्छति । गिन्नुदि निर्दुति । बन्नां अर्थात् अथवा निर्दुतिस्तुष्टि
पञ्चा मन्यो निर्दुतिर्मेवस्तुष्टित्वयोः । निर्दुतिर्मानुषत्वं क्षतिकक्षानचारित्यत्यम् । स्पष्टतया न प्रतिपद्यता-
वता कृता ॥

मूलार्थः—पक्षिर्न अत्यर्थं । विभज्यते संयमं कुर्वन्ति । इष्टुं निष्ठुदिसमं क्षाधिकरत्नत्रयाख्यं युक्तिमार्गं ।
अथवा इष्टो रीतिर्न निर्दुतिं मुष्टि । अन्त्यां प्रयानभूतां । अन्ववस्तुष्टिभित्तयैः ।

अर्थः—मिथ्यादृष्टि मनुष्य चातुर्यस्य पालने अच्छी तरहसे करेगा और उग्रतप भी तपेगा तो भी उसकी
इच्छित्त वीक्ष्यार्गाकी प्राप्ति कभी भी नहीं होगी.

जैसे कोई आदमी वादलिपुत्र नगरको जानेकी इच्छा रखता हुआ दक्षिणमथुरासे दक्षिणदिशाके तरफ
भी चलने लगा अन सोचो यह कमी वादलिपुत्र अहरको पोहोच सकता है ? उसी तरह यह मिथ्यादृष्टिजीव भी
बोधयार्गमें न होनेसे स्पष्टस्थान-बोधकी ॥॥ नहीं कर सकता. मोक्षका मार्ग क्षतिकक्षान, यथावत्तत्त चारित्र्य ये
है. मिथ्यादृष्टिको इनकी प्राप्ति नहीं होती है ऐसा इस मायाका अभिप्राय है.

ब्रह्मेन गीष्टेन तपसा वा शुक्लोऽपि मिथ्यातपोगणितं संसारे परिभ्रमति इतरक्षिग्यताविहीने किं
यावन्मिति वृत्तयति—

अस्स पुणं मिथ्यविट्ठिस्स जल्लि सत्थिं ववुं गुणो चावि ॥

सो मरणे अप्पाणं कहं ण कुणह् दीहसेसारं ॥ ६१ ॥

न विच्यते व्रणं शीलं यस्य मिथ्यादृष्टाः पुनः ॥

न कथं दीर्यसंसारमात्मानं विदधानि सः ॥ ६५ ॥

मित्रगोद्वार—स्वरूपपि मिथ्यात्वाविषकणिका कुस्मितासु योनिषु उत्पन्नवति कमलि यत्नं सर्वस्य लिङ्गस-
म्य भवति । इति भाषाया अर्थः ॥

भगवन्मरणेन महाद्विगुणोऽपि मिथ्यादृष्टिर्न संसारे प्रभवति यदि मरणे लक्षणं भवति—

प्राक्तनं पुनर्निरुपपन्नं—

सौलं व्रतपरिरक्षणं । धर्माद्विज्ञानादिभ्योऽभिप्रायकृता विरतिः । गुणो ज्ञानादिः । कहेत्यादि । कह कथं । अनन्तान्तसंसारमप्यात्मानं करोतीति भावः ।

व्रत, शील और तपश्चरण धारण करता हुआ भी यह जीव धर्मादिभिप्रायदोषसे चिरकाल तक संसारमें भ्रमण करता है। यदि वह व्रतादिकोसे भी रहित हो तो अवश्य संसारमें भ्रमण करेगा ही यही अभिप्राय धृष्टकार गाथामें कहते हैं।

अर्थ--जो मिथ्यादृष्टि शील, व्रत और गुणसे रहित है वह भ्रमणके अनन्तर दीर्घ संसारी क्यों न होगा ? अवश्य होगा।

एषं पि अस्वरं जो अरोचमाणो मरेज्ज जिणविट्ठं ॥

सो वि कुजोणिबुद्धो किं पुण सत्वं अरोचन्तो ॥ ६२ ॥

अरोचित्वाजिनाख्यातं एकमप्यक्षरं मृतः ॥

निमज्जाति भवान्नोधौ सर्वस्यारोचको न किम् ॥ ६६ ॥

विजयोवया--पञ्चमपीत्यस्य बालशालभरणप्रवृत्तस्य मन्यस्य संख्याता, अस्व्याता, अन्तत वा भवन्ति भवाः । अभयस्य तु भन्तानन्ताः । मिथ्यादर्शनदोषमादाभ्यस्यन्तं संसारज्जलताख्यापकेन क्षिप्यतेऽनया गाथा ॥

जिनदृष्ट्यैकस्याप्यक्षरस्याश्रयाने कुयोनिपूत्यतिः स्यात्किं पुनः समस्तस्यापि श्रुतस्येत्याह--
मूलाया-कुजोणिबुद्धो कुस्तितयोनिनिमज्जो भवति ।

अर्थ--जिनेश्वरने उपदेशा हुआ एक अक्षरपर भी जो मनुष्य भ्रद्धान नहीं करेगा वह भी कुयोनिभ्रमण चिरकाल भ्रमण करेगा। तो जो संपूर्ण जिनवचनोंको अगान्य समझता है उसको तो संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करना पड़ेगा ही वह अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अल्प भी मिथ्यात्वरूप विषयकावका सेवन करनेसे जीवको कुयोनीमें भ्रमण करना पड़ता है। जिनसंगवानने कहा हुआ समस्त जीवादिक पदार्थोंका उपदेश जो जीव अप्रमाण समझकर अश्रद्धान करता है उसके लिये तो कहना ही क्या रहा ? ऐसा इस गाथाका भाव है।

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होति बालबालमि ॥
 सेसा भव्वस्स भवा णंताणंता अभव्वस्स ॥ ६३ ॥
 संखेयेयाः संख्यसंख्येया बालबालमुत्तौ भवाः ॥
 भव्वज्जंनोरनंता वा परस्य गणनातिगाः ॥ ६७ ॥
 अनंतेनापि कालेन प्रभज्य भवपंजरं ॥
 सिद्धयन्ति भविनो भव्या नाभव्यास्तु कदाचन ॥ ६८ ॥

इति बालबालमरणम् ।

विमर्शोदया—बालबालं गदं संखेज्जा संखेज्जा या इत्यनया ।

इशानीं भव्याभव्ययोर्मैत्रेयत्वावधारणेन मिथ्यात्वमरणमाहात्म्यं कथयतिः—

मूलारा—सष्टे । बालबालमरणम् ।

वास्येनापि यदि त्यजन्नप्यमसुसंसारयोराण्वे ॥

दीर्घं आप्नयति केतनरयजति कलदास्यपास्त्येन तान् ॥

इत्यभ्यस्तमनुमरश्चिन्नवचःपीयूषमस्त्रामिमै ॥

भक्तत्वात्ममुपैतु कीर्षितभमावादापदैकुलमम् ॥

इत्याशाधरानुस्मृतमयंसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे एवप्रवेयार्यप्रकाशीकरणप्रकणे बालमरणद्वयप्रपंचप्ररूपणो
 तान प्रदत्त आश्वासः ॥

अर्थ—जो भव्यजीव बालबाल मरणसे देहत्याग करता है उसको संख्यात, असंख्यात अथवा अनंत जन्म
 मरण करने पड़ते हैं, और अभव्य अनंतानंत अनन्ममरण धारण करता हुआ सुदाही संसारमें भ्रमण करता है, इस
 ग्राथासे मिथ्यात्वदोषका माहात्म्य प्रकृत होता है.

सप्तदशमरणचिह्नकेषु वंचमरणाभ्याम्योज्येते इति प्रतिपादिते । तत्र यत्पंडितमरणं तत्राणोपासनमरणमिति नो-
 मरणं भक्त्याल्लापानमिति निश्चितं सुचिंत । तत्र भक्तप्रत्याख्यानं प्रावर्णनीयमिति दर्शयति सूत्रकारः स्वयमेव संबंध-
 उत्तरप्रबंधस्य—

तयोः कस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य अनेन शालेण निरूपणेत्याशङ्कायां आह—

सविचारभक्तपञ्चवत्त्वाणरिसणमो उवक्कमो होइ ॥

तत्थ य सुत्तापदाइं चत्तालं होति पेयाइं ॥ ६६ ॥

भक्तत्यागं सवीचारं मृत्युं तत्र चिन्तयिष्यामि ॥

चत्वारिंशद्विबोध्यानि सूत्राणीमानि धीमता ॥ ७१ ॥

विजयोक्त्या—सविचारभक्तपञ्चवत्त्वाणरस इति सविचारभक्तप्रत्याख्यानम् । इणमो अये । उयक्कमो उवा-
ख्यानमारंभः । होदि भवति । तत्थ य तत्र य भक्तप्रत्याख्यानम् । सुत्तापदाइं सूत्रपदम् । सुत्तेऽर्थे, सूचयतीति वा
सूत्रं । सूत्राणि य तानि पदानि च सूत्रपदानि । अत्तालं चत्वारिंशत् । होति भवन्ति । पेयाइं कृतव्यानि ।

इदानीं सविचारस्य भक्तप्रत्याख्यानस्य व्याख्यानारंभसूचनपूर्वकं अर्हदादिभेदसूत्रेणां निर्दिशति ।

मूलांशः—इणमो अये । उयक्कमो व्याख्यानप्रारंभः । तत्थ य तत्र सविचारभक्तप्रत्याख्याने । सुत्तापदाइं सूत्राणि
य तानि पदानि य न वाक्यानि । चत्तालं चत्वारिंशत् ।

हिंदी अर्थ—अस यहाँसे आचार्य सविचारभक्तप्रत्याख्यानमरणका स्पष्टीकरण करनेके लिये प्रारंभ
करते हैं. इस मरणके वर्णन करनेमें चालिस सूत्र अनेने लायक हैं. जो अयकी उत्पन्न करते हैं अर्थात् प्रकृत
विषयकी सूचना करते हैं ऐसे शायकोंको सूत्र कहते हैं. ऐसे सूत्र इस मरणका विवेचन करनेवाले चालीस हैं.

तानि सूत्रपदानि माथाचतुष्टयनिबद्धानि—

अरिहे लिंगे सिक्खा विणय समाधी य अणियदविहारे ॥

परिणामोवधिजह्णा सिंदी य तह भावणाओ य ॥ ६७ ॥

प्रस्तावना, अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उपविलान,
त्रिभि, भावना, सहोचना, दिक्, क्षमण, अनुशिष्टि, परगणचर्यो, मार्गेणा, सुस्थित, उपसर्पण,
निरूपण, प्रतिहेल, पृच्छा, एकसमह, बालोचना, गुणदोष, शय्या, संस्तर, निर्यापक, प्रकाशन,
हानि, मत्वाख्यान, क्षामण, अपणा, अनुशिष्टि, सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेइया, फल,
आराधकत्यागलक्षणानि चत्वारिंशत्सूत्राणि ॥ ७२ ॥

विज्ञयोव्या—अरिहै अर्थः योग्यः । सविचारमत्तत्वाख्यानस्यायं योग्यो नेति प्रथमोऽधिकारः । कर्तव्यपापार
लिंगादयः कर्तुमुःसरा भवतीति प्रागेव लिंगादिक्रियाविध्यो योग्यकर्तृनिर्देशः सूत्रे कृतः अरिह इति । शिक्षादिक्रियाया
भक्तप्रत्याख्यानक्रियागम्यताया योग्यपरिकल्पनादर्शयितुं लिंगोपादानं कृतम् । कृतपरिकरे हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योगं
करोति लोके । तथा हि घटादिकरणे प्रवर्तमाना ददवक्षकक्षाः कुलात्ता दस्यते । ज्ञानमंतरेण न विनयादयः कर्तुं
शक्यन्ते इति तेभ्यः प्राद्व निर्वैशम्यमिति शिक्षा । यथावसरमितरक्रममादर्शयिष्यामः । लिंगशब्दविग्रहवाची । तथाहि
पश्यन्ति । 'चिह्नं करणं' इति । सिक्कया शिक्षा ध्युतस्य अध्ययनमिह शिक्षाशब्देनोच्यते । तथा च वक्ष्यति । 'जिण-
पयणं कत्तुसहरं अहो य रत्तो य पडिद्वचमिति' । विनयः मर्यादा तथा हि-ज्ञानादिभावनाख्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया
वक्ष्यते । समेकीभावो यतंते तथा च प्रयोगः—

संगतं घृतमित्यर्थे पक्षीभूतं तैलं पक्षीभूतं घृतमित्यर्थः । समाधानं मनसः एकाम्रताकरणं शुभोपयोगे शुद्धे वा ।
अनियतक्षेत्रावासः अनियतविहारः । तद्व्यायः परिणामः इति पञ्चानस्य जीवादेर्द्रव्यस्य कोघाविना दर्शनादिना वा
भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यत्नेः स्येन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम् ।
उपाधि परिग्रहः तत्त्व जहणा त्यागः । सिद्धौ य अतिः निश्चिन्नेः सोपानमिति यावत् । भावनाभ्यासः तत्र असंछिन्नमवृत्तिः ॥

तत्सूत्रोद्देशार्थं गाथाचतुष्टयमाचष्टे—

मृगारा—अरिहै अर्थः । सविचारमत्तमत्तत्वाख्यानस्य योग्यः । लिंगादिव्यापाराणां योग्यं कर्तारं विना असंभ-
वात्स्य तत्सर्वेषुपुन्यासः । लिंगे लिंगं चिह्नं । शिक्षादिक्रियादोषाणां कर्तुः परिकरभूतत्वात्स्य तेभ्यः प्राप्तिर्वैशः । शिक्षा
धुताध्ययनं । ज्ञानं विना विनयादीनां कर्तुमशक्यत्वात् । ततः पूर्वमुपन्यासः शिक्षायाः । यथावसरं चान्येषां कर्म दर्शयि-
ष्यामः । विणय विनयः मर्यादा, ज्ञानादिभावनाख्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया वक्ष्यते । उपास्तिर्वा विनयः । समाहो
समाधानं मनस एकाम्रताकरणं गुह उपयोगे शुद्धे वा । अणियदविहारो अनियतक्षेत्रावासः । परिणामो त्वकार्यपर्यो
लोचनं । चनविजहणा परित्यक्त्यागः । सिद्धि भितिः शुभपरिणामश्रेण्यारोहणं । भावणा अभ्यासः । प्रक्रमवादसंक्लेश
परिणामानां ।

इत सूत्रोक्ता आचार्य चार गाथाओंसे वर्णन करते हैं.

हिंदी अर्थ—अरिह-अर्थ, लिंग, शिक्षा, निनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उपाधिजहणा—उपधि-
त्याग, श्रिति और भावना ऐसे दस सूत्रोंके नाम इस गाथामें कहे हैं. इन सूत्रोंका संक्षेपसे विवरण इस
प्रकार है.

अहि—अहं सर्वोत्तरेणैव जगत्प्राप्तवान्—लिये कोन योग्य होता है इसका वर्णन अहं यत्रसे किया जाता है यह प्रथमाधिकार है लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि वर्गहको धारण करने लायक जो व्यक्ति है उसको अहं कहते हैं योग्यता हो तो लिंग, शिक्षा, विनयादि गुण रह सकते हैं अन्यथा नहीं।

लिंग—शिक्षा, विनय, समाधि वर्गह क्रिया यत्कृत्याख्यान की साधनसामग्री है उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिवर है यह सूचित करनेके लिये अहंके अन्तर लिंगका निवेदन किया है सर्व परिकरसामग्री कुटनेपर जेमे कुंभकार घटनिर्माण करता है वैसे अहं-योग्य व्यक्ति भी साधनसामग्रीसे युक्त होकर संछेखनादि कार्य करनेके लिये सन्नद्ध होता है। लिंग शब्द बिन्दुका वाचक है,

शिक्षा—ज्ञानोपार्जन करता। विना ज्ञानके विनयादिक कार्य करना भ्रम्य नहीं है, अतः विनयादिकका वर्णन करनेके पूर्व शिक्षाधिकारका वर्णन करते हैं,

शास्त्राध्ययन करना यह शिक्षा शब्दका अर्थ है, विनेश्वरका शास्त्र पाप हरण करनेमें निपुण है अतः उसको दिनरात पढ़ना चाहिये ऐसा ग्रंथकार आगे स्वयं कहेंगे,

विनय—मर्यादा, ज्ञानादिभावनाकी व्यवस्था ज्ञानादिका विनय करनेसे होती है ऐसा आगे कहेंगे, समाधि मनको एकाग्र करना, सग्न शब्दका अर्थ एकरूप करना ऐसा है, जैसे घृत संगत हुवा है, तेल संगत हुआ है अर्थात् एकरूप हुवा है, मनको शुभोपयोगमें अधवा शुद्धोपयोगमें एकाग्र करना यह समाधि शब्दका अर्थ समझना,

अणिपदविहार—अनियत ग्राम, पुरादिक स्थानोंमें रहना,

परिणाम—‘सद्ग्राम परिणाम’ ऐसा पूर्वाचार्यका वचन है अर्थात् जीवादिकपदार्थ क्रोधादिक विकारोंसे अथवा सम्मरदर्शनादिक पर्व्यायोंसे परिणत होना यह परिणाम शब्दका सामान्यार्थ है तथापि यहाँ यतिजी अपने कर्तव्यका हमेशा ख्याल रहना परिणाम शब्दका प्रकरण संगत अर्थ समझना चाहिये,

उपधिजहणा—परिश्रमका त्याग करना,

तिदी—श्रुति अर्थात् शुभपरिणामसे उत्तरोत्तर परिणामोंकी उन्नति होना, उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भावनाओंको अभ्यास करना इनको भावना कहते हैं,

संछेदना दिसा सामना य अणुसिद्धि परगणे चरिया ॥

ममणा सुदिय उवसंपया य पडिछा य पडिलेहा ॥ ६८ ॥

विजयोदया—संछेदना सम्पत्कृतवृत्तं । दिसा परलोकविपुलवर्जनपरः सूरिणा स्थापितः भवतां दिशं मोक्ष-
वर्तन्याधायमुपदिशति यः सूरिः स दिसा इत्युच्यते । स्वभावना क्षमावदानं । अणुसिद्धिं सूत्रादुसारेण शासनम् । परगणे
अभ्यसिद्धान्ते चरिया चर्यो प्रवृत्तिः । ममण्यमात्मनो रत्नत्रयविमुक्तिं समाधिमरण वा संपादयितुं क्षमस्य सूररत्नोपेणं ।
पडितो सुस्थितः परोपकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सूरिभ्यः आचार्यः । उपसंपया आचार्यस्य ढोकनं । पडिछा
परीक्षा । गणस्य, परिचारकस्य, आराधकस्य, उत्साहशक्तेश्च आहारायकामिलायं स्वस्तुभयं शस्यते नेति । पडिलेहा आराधनाया
व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्नचति न वा राज्यस्य देशस्य प्राप्तत्वादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम् ॥

मूढारा—संछेदना सम्पत्कृतवृत्तं अर्थात्सायकपायानाम् । दिसा एलाचार्यः संपाधिपतिना चाबलीवसा-
चार्यकलागेन स्वपदे प्रतिष्ठितं त्वसमानमुणमामः स्वशिष्य इत्यर्थः । सामना परस्परक्षमापणा । अणुसिद्धिं सूत्रादुसारेण
दिक्षादानं । परगणे चरिया अन्यस्मिन्संघे गमनं । ममणा आत्मनो रत्नत्रयमुद्धि, समाधिमरणं च संपादयितुं क्षमस्य
सूररत्नोपेणं । मुद्धिदं परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक् स्थितः सूरिभ्यः आचार्यः । उवसंपया आचार्यस्य आत्मसमर्पणं ।
पडिछा परीक्षा क्षपकस्य मनोब्रह्माहारलौत्यगोचरा । पडिलेहा आराधनानिर्निमित्तसिद्धयर्थं देवतोपदेशाद्युपनिषादिगोपेणं ।

हिंदी अर्थ—संछेदना, दिशा, क्षामना, अणुसिद्धि, परमण्वर्यो, मार्गणा, सुस्थित, उपसंपदा, परीक्षा,
प्रतिलेखन ऐसे दस धर्मोंका निवरण इस तरह समझना चाहिये.

संछेदना—शरीर और कर्मायोंको कुल करना. दिशा—आचार्योंने अपने स्थानपर स्थापित किया हुआ
शिष्य जो परलोकका उपदेश करके मोक्षमार्गमें भव्यायुक्तो स्थिर करता है. संपाधिपति आचार्योंने यावलीव आचार्य
पदवीका त्याग करके अपने पदपर स्थापना हुआ और आचार्यके समान जिसका गुणसमुदाय है ऐसा जो उनका
शिष्य उनकी दिशा अर्थात् बालाचार्य कहते हैं. सामना—अन्योन्य क्षमाकी याचना करना. अणुसिद्धि—आगमके
अविच्छेद उपदेश करना.

परगणचर्या—अपना संघ छोड़करके अन्यसंघमें गमन करना. ममणा—रत्नत्रयकी विशुद्धि करनेमें
समर्थ अथवा समाधिमरण करनेमें समर्थ ऐसे आचार्यका शोध करना. यह मार्गणा सूत्र है. सुद्धिद—परोपकार
करनेमें तथा सक्तीय आचार्य पदवीके लायक कार्य करनेमें प्रवीण गुरुको सुस्थित कहते हैं.

उपसंग्रह—आचार्यके चरणमूलमें गमन करना। पड़िच्छा—गण, श्रुश्रुषा करनेवाले श्रुति, समाधिभरणाराधक, उन्मादग्रस्त, आहारहीन अशिलाषा, इत्यादिकारी परीक्षा करना। पड़िलेहा—आराधनामें यदि विघ्न उपस्थित हो तो आराधनाही सिद्धि होती है। उतः उमकी निमिषत्वाके लिये राज्य देऊ, गाँव, नगर वगैरहका शुभ होगा या अशुभ होगा इसका प्रलोचना करना।

आपुच्छा य पड़िच्छणमेगस्तसालोयणा य गुणदोसा ॥

सेव्वा संथारो त्रि य गिज्जवग पयासणा हाणी॥ ६९

विमगोदया—आपुच्छा प्रतिफल । किमयमस्माभिर्युगुदीतव्यो न वेति संयमश्रः । पड़िच्छणमेगस्तस प्रति पारकैरग्यगुमातन्धैकस्य सग्रह आराधकस्य । आलोयणा य रागपराधनिवेदनं गुरुणमालोचना । गुणदोसा तस्य गुणा दोषा । भेज्जा शय्या वसतिरित्यर्थः । आराधकत्वालस्युद्धमिति यावत् । संथारो त्रि य संस्तरश्च । गिज्जावगा निर्वाणम् । आराधकस्य समस्तितद्वयः । पयासणा चरमाहारप्रकाशनम् । हाणी क्रमेणाहारत्यागः । हानिः ।

गूढारा—आपुच्छा किमयमस्माभिर्युगुदीतव्यो न वेति संप्रति प्रश्नः । पड़िच्छणमिहस्य संधातुमेतैकस्य भवकस्य स्वीकारः । आलोयणा श्रुतैः स्वदोषनिवेदनं । गुणदोसा गुणा दोषाश्च प्रत्यासेचराष्टोचनाया एवम् । सेव्वा शय्या यस्तनिरित्यर्थः । संथारो संस्तरः । गिरजवग निर्वाणकाः आराधकस्य समाधिसहाया । पयासणाचरणं आहारप्रकाशनं । हाणी क्रमेणाहारत्यागः ।

हिंदी अर्थ—आपुच्छा, पड़िच्छण, आलोयणा, गुणदोस, सेव्वा, संथार गिज्जवग, पयासणा च हानि में इन दस मन्त्रप्रत्याग्यानके उपयोगी है।

आपुच्छा—यह आराधक मन्त्रप्रत्याग्यान करनेके लिये आया है इसके ऊपर अनुग्रह करना योग्य है या नहीं है ऐसा मंत्रसे प्रश्न करना अर्थात् उनकी अनुज्ञा प्राप्त करना। पड़िच्छण—प्रतिचारक मुनिओंकी स्वीकारता मिलनेपर एक आराधकका श्रद्धा करना। आलोयण—गुरुके आगे अपने पूर्वापराध कहना।

गुण दोषा—आलोचनार्थके गुण और दोषोंका वर्णन करना।
भेज्जा—नमाधिभरण माधनेके लिये आराधककी योग्य वस्तुतिका—निवास स्थान, संधार—संस्तर—अर्थात् आराधकके लिये आगमोक्त द्रव्या, गिज्जवग—आराधकको समाधिभरण साधनेमें सहायता करनेवाले आचार्यादिक।

पयासणा-अन्तिम आहारको दिखाना. हाणी-क्रमसे आहारका त्याग करना.

पञ्चवक्त्राणं स्वाभण खमणं अणुसट्टिसारणाकवचि ॥

समवाज्याणे लेस्सा फलं विजहणा य पेयाइं ॥ ७०

विज्ञयोदया—पञ्चकषाणैः प्रायःप्यानं त्रिविधाहारस्य । घामणं आचार्यदीनां श्रमाग्रहणं । घामणं सस्त्यान्य
भूतानपराधसमा । अणुसिद्धिं अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकस्याचार्यस्य । सारणा दुःपामिगवान्मोहमुपगतस्य निखेतनस्य
चेतनमवर्तना सारणा । कवचे यथा कवचस्य शरसतनिपातपुं स्तनिवारणक्षमता एवमाचार्येण निर्यापकेन धर्मेणपदशब्द-
तुर्गात्परिभ्रमेण दुःसहानि दुःपानि स्तु कर्मपरपाठया सुश्रुतिं विष्कलानि । इदं पुनर्दुःखसहनं निर्जरायं प्रवर्त्यमा
नं सकलदुःपानां तुल्यमवतीक्ष्णमबलमनुपममध्यायाधारमकं संपादयिष्यतीति क्रियमाणो दुःखनिवारणसामान्यात् कवच
ग्रादेवोपपत्ते । यथा शौर्यमविषयापरिषया श्राणवके स्तिहशब्दः प्रयुज्यमानः शौर्याविमुणाध्यासितं देववत्तमवगमयति ।
समया समभयः जीवितमरणलाभालाभखेदोन्निविमयोऽगुबुद्धिं पादेषु रामदेवयोरकरणं । त्क्षणे ध्यानं एनाप्रतिता
निरोध । हेरता कैस्या कथायादुरंलिता योगमवृत्तिलैस्या । फलं साध्यं परिप्राण्यं मरणावनायाः । विमहणा आराधकस्य
शरीरल्याणः ।

मूढारा — पञ्चकक्षाणं त्रिविधाद्दरयागः । दामाणा आचार्यादीनां क्षपकेन श्रमायज्ञं । खड्गं क्षपणं पाप-
कर्मेर्निर्णयनित्यर्थः । अमुस्मिद्धिं निर्वाणफक्खवैयं आराधकस्य सिद्धिः । साराणा दुःसाश्चिन्वान्मोहं गतस्य भेतान्नापणा ।
फक्खे धर्मागुपेसेन दुःखनिवारणं । समदा अक्षितमरणादिषु रागद्वेषयोत्तरकरणं । क्षाणे घनाप्रस्थितानिरोधः । लेस्सा
कथायादुरजिता योगप्रवृत्तिः । फलं आराधनसाध्यं । विनहणा आराधकसरील्लयागः ।

हिंदी अर्थ-पंचमबाण, सिंचाय जलके तीन प्रकारके आहारोंका त्याग करना.

स्वामिन् स्वर्ण-आचार्यादिको धर्माकी वाचना करना. तथा दूसरे किं हुए अपराधकी क्षमा करना. अनुधिष्टि:- आचार्यना समाधिरणके लिये उद्युक्त हुए मुनिराजको उपदेश देना.

सारणा-दुःखोसे पीडित होनेपर मोहको प्राप्त हुये, बसुच हुए आराधको सेवित करना.

काच—यैस काच-चिलखत श्रद्धाओं वाण पडनेपर उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे नीर पुरुषको बचाता है। धर्मोपदेश आराधकको दुःखोंसे बचाता है। चतुर्गतिमें पूर्वभवमें आराधकके आत्माने वैस आचार्यने किया हुआ

इ मद् इ मोरा अनुभार रिता है. परंतु यह मम व्यर्थ हुआ. यह दुःख का महान् दुःख आत्मकल्याणकारी नहीं हुआ. परंतु है नागराह ! हम ममरा ओ दुःख तेरे दाग महा आ रहा है वह तेरे कर्मकी निजरा करेगा, वर्तमान दुःखोंका नाश करेगी नीति, निश्चय, उपसाहित, साधारण सुख देगा इस रीतिमें कहा हुआ आचार्योका उपदेश प्राप्यरक्त है मोरा नाश रमेनाला होनेमें कर्मरक्त तुल्य है. अतः इसको कर्मच यह नाम देना योग्य ही है. जैसे हिमी नेत्रमी गालरमा गोप्युष्य युचित करनेके लिये उनमें जैसे सिंह शब्दका आरोपण करते हैं वैसे यहां भी रराके गुणोक्ता अल्पारोपण उपदेशमें करते उसको कर्मचन्दमे गौरवित किया है.

ममरा - जीवित, मरण, लाभ, हानि, संयोग, वियोग, सुख और दुःख इनमें समक्षोंका त्याग करके उपभोग ही प्राप्त करना.

उत्पन्न - अन्य पदार्थोंमें निश्चयवृत्ति हटाकर एक निषयमें उनको निवृत्त करना. लेश्या-मन एवम और भूरीके व्यापार कलापयुक्त होना. फल - आराधनामें प्राप्त हुआ भाव्य उसको फल कहते हैं.

रिजहना - आराधकरा शरीर त्याग. इस तरह भक्त प्रत्याख्यानके चालीस अधिकारोंकी संक्षेपसे निरुक्तिनाम रही गई है. अब एकैक अधिकारका भवित्त्वर वर्णन आचार्य यहांमें करेंगे.

प्रथमतः अर्धाधिकारका वर्णन करते हैं.

मकाराधिकारयोगना भाषा -

वाहिव्य दुप्यस-सा जरा य समणजोगहणिकरी ॥

उत्तसग्गा वा देवियमाणुसतेरिच्छया जस्स ॥ ७१ ॥

रोंगो वुक्तारो यस्य जरा आमण्यद्वारिणी ॥

निर्गग्गिभमानयेदैरुपसर्गाः प्रवर्तिताः ॥ ७३ ॥

वित्तयोगस्या - वाहिव्य । अत्र चैष पद-उत्तर । वाहिव्य दुप्यस-सा । वाहिव्यो तोह भक्तपद्विष्णुत्प स्तुति । उत्तसग्गा : उत्तेज सदा प्रत्यमत्रपणहेतु चिन्तित्यः यस्य चित्तने मोहो भक्तप्रत्याख्यानं कर्तु । जीयति विरयति कर्मयोगवन्धनं मुखा मन्त्रागमग्रन्थायां प्राणिनः सा जरा । सामण्यजोगहणिकरी आश्रयति तपस्वतीति

अमणः, तस्य भावः धामण्यं धामणशब्दस्य दुसि प्रवृत्तिनिमित्तं उपपत्तिर्या धामण्यं, तेन योगः संबंधः साध्यसाधनलक्षण-
स्तस्य हानिं विनाशं करोति या सा जरा यस्य सोऽस्ति भक्तप्रत्याख्यानं विधातुं ।

जरापस्यारितशरीरवृद्धः शरीरवृद्धसाधयेषु कार्यक्षेत्रेषु न वर्तितुमुत्सहते । अथवा समयो समानमणो सम-
पस्त भावो सामण्यं कचिदप्यननुगतरागद्वेषात् समता सामण्यशब्देनोच्यते । वस्तुयाथात्म्यावहितवेतताया योगः
संबंधो ध्यानयोग इति यावत् । वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो यः स ध्यानमिष्यते । जरापरिणुत्तयोऽस्य ध्यानं
चिन्तयति । ततो ध्यानयोगनिनाशकारिणी जरा यस्य सोऽस्ति भक्तं त्यक्तुम् । अथवा समण्यं समता, युज्ये-
तेऽनेन निर्जरायित इति योगः, तपसः योगादयस्तपसि कार्यक्षेत्रास्थे रुढः सोऽत्र गृहीतः । 'आदानादिजो-
गपारिणो अणायारा' इत्युक्तेः धातापनादितपोधारिणः इति प्रतीयते ॥

इदं भस्मलत्वाद्योपादायस्य पूर्वनिपातप्रसंग इति चेत् न अभ्यर्हितत्वात्समायाः सामण्य इत्यस्य
पूर्वनिपात इति मन्यते, पूर्वजोऽभ्यर्हितमिति वचनात् । न हि समताश्रयात्तपसो विपुला निर्भरा भवति ।
तत्तत्तपसो निर्जरायुता परदरोति प्रसक्तं समता ।

उपसंगा या उपग्रया या 'देवियमायुसतेरिन्दिमगा' 'देवैर्नरैस्तिर्यग्भिश्च प्रवर्तिता यस्य सोऽस्ति भक्तप्रत्याख्यानं
इति संयथः । वस्तुर्विधावादुपसर्गस्य निधिधोपदेशः कथमिति ? अभ्योच्यते-उपसर्गा वा इति वा शब्दः समुच्चयार्थोऽसौ
'देवियमायुसतेरिन्दिमगा' या इति संयथनीयलोनावेतनोपसर्गसमुच्चयः कथ्यते ॥

अधुना गाथापदकेनार्हलक्षणमाह-

मूढारा-भाक्षीय वयाधिर्वा । दुष्पस्तत्त्वा महता ह्येकेन संयमप्रवयापदेन चिकित्स्यः । औपधाविना सिराकुम
प्रक्यो वा । सामण्यजीन भान्यसि तपस्यतीति धमणस्तस्य भावः आमण्यं तपश्चरणं तेन योगः साध्यसाधनभावलक्षणः
संयथः । अथवा तानन्त्येन कचिदस्यदुग्धरागद्वेषतया योगो ध्यतं । अथवा सामण्यं समता जोग आतापनादि सौ ।
उपसंगा वा पर वा शब्दोऽनुक्तसमुच्चये तेन अचेतनकृताश्रेति लभ्यते ॥

हिंदी अर्थ—जिसको संयमसमुदायका नाम करनेवाला और महाप्रथलसे चिकित्सा करने योग्य रोग
हवा है वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानभरणके योग्य है, अर्थात् जिस रोगको दूर करनेके लिये संयमसे ओटना पड़ेगा और
महाहृदयसे भी जिसके नाशकी संभावना नहीं है ऐसे रोगसे पीडित होनेपर अनिवार्य भक्तप्रत्याख्यानके लिये
योग्य माने जाते हैं, प्राणिवर्गके रूप, वल, वय वर्गरे गुणोंका नाम वृद्धावस्था आनेसे होता है, यह वृद्धावस्था जब
अतिशय गहरी है तब मुनि तपःक्रिया करनेमें असमर्थ हो जाते हैं- ऐसी परिस्थितीमें वे भक्तप्रतिज्ञाभरणके
लिये योग्य समझे गये हैं, वृद्धावस्था प्राप्त होनेसे शरीरकी ताकत नष्ट होती है, कार्यक्षम तप शरीरमें बल

होनेसेही हो सकता है, अन्यथा नहीं है, अतः शुद्धावस्था श्रामण्ययोगकी हानि करनेवाली है, किसी भी इष्टानिष्ट नियमों रागद्वेषरहित मनोवृत्ति होना ही समता है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें चित्तकी एकाग्रता होनाही योग अथवा ध्यान कहते हैं, जब वस्तुके यथार्थ ज्ञानको निश्चलता प्राप्त होती है तब उसको ध्यानसंज्ञा प्राप्त होती है, शुद्धावस्था ध्यानमें अस्थिरता आती है तब ध्यानका विनाश होता है, अर्थात् ध्यानका नाश करनेवाली शुद्धावस्था शरीरको जब उत्तरीर करती है तब युनिराज भक्तप्रतिष्ठाकरणसे देहोत्सर्ग करते हैं, सामान्ययोग इस शब्दका अर्थ इस तरहसे भी आचार्य करते हैं—समता शब्दका अर्थ उपर लिखा है, निर्जराधीं भूति जिससे संयुक्त होते हैं वह योग है अर्थात् यहां कार्यकुक्षको योग कहना रुढ़ है, आतापनादिकायंकुशतपको योग कहते हैं पर वात प्रसिद्ध ही है, 'आदावणादिजोगपरिणो अणगारा' आतापनादि योगोंको धारण करनेवाले युनियोंको अतंगार कहते हैं ऐसा आगममें कहा है, जराजर्जरित होनेसे उपर्युक्तयोग धारण करनेमें क्षीर समर्थ नहीं रहता है,

'सामण्य जोग ! इस शब्दसमूहमें योग शब्द अल्पस्वरयुक्त होनेसे द्वंद्व समासमें उसको प्रथम नियुक्त करना चाहिये, इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, समता अर्थात् सामण्य प्रधानरूप है, गहनयुक्त है, जिसमें गहन रहता है उसको द्वंद्व समासमें प्रथम नियुक्त करते हैं, समतारहित केवल तब विपुल निर्जराका कारण नहीं होता है, अतः तपधरणमें निर्जराविरुद्धा स्वयं नहीं है किंतु वह समताका साहाय्य पाकर होती है,

देवोंका उपद्रव, मनुष्यकुल उपद्रव तथा तिर्यचकुल उपद्रव इन उपद्रवोंमेंसे किसी भी उपद्रवसे निष्पत्तीकार पीटा हो जानेंसे भूति भक्तप्रत्याख्यान मरणके योग्य माने जाते हैं,

उपसर्गोंका चार भेद हैं, परंतु तीन उपसर्गकाही यहां उल्लेख क्यों किया है ?

उत्तर—'उपसर्ग वा' इस भाषीक शब्दोंमें 'वा' शब्द समुच्चयार्थक समझना चाहिये, अतः अचेतन उपसर्गका भी यहां समुच्चय होता है,

अणुलोभा वा सत्तु चारिच्छादिणासया हवे जत्स ॥

दुस्त्रिभक्त्वे वा गाढे अहवीण्य विष्यण्डो वा ॥ ७२ ॥

अनुकूलैर्युहति वा चैरिभिर्वृत्तहारिभिः ॥
योऽष्टरूपां पतितो घोरे दुर्मिक्षे च दुरुत्तरे ॥ ७४ ॥

वित्तयोदया—अणुलोमा वा अनुकूला वा शत्रव । चारित्रविषासगा चारित्रं पापकियानिबृष्टिः तस्य विनाशकाः । यद्यतो हि स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात् स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुं उद्यताः अनुलोमते शत्रुत्वविरोधिभातिरूपेण समवसिता हि भवन्ति शत्रुपयस्तद्विषय्यते अणुलोमा वा सच्च इति ? प्रियवचनप्रापणवदनुलोमता भविते प्रसंगे प्रपतनादितस्य सयमधनस्य विनाशनात् शत्रवो भवन्ति । अथवा अनुलोमा यद्यत् सच्च वा शत्रवश्चेति ससुख्यः यः शत्रुसमुच्चयपारंपर्यायः । देविगमयानुलोमतेरिष्यता उवसग्या अस्य इति वचनात् अनुकूलशत्रुकृतोऽप्युपसर्गः संयुहीता एव किमर्थं पुनरुच्यते 'अणुलोमा वा' इति पुनरुक्तता । तत्र हि सूत्रे मनुव्योपसर्गो नाम वंथनतादनशितं यन्नादिकं शरीरोपद्रव्यः परदृष्टो गृहीतः । इह तु जिह्वोरेपाडनादिकं कुर्मो यदि आमरणं न त्यजतीति खलीकरणे यस्तुनिहम् ।

दुग्धिक्षले वा दुर्मिक्षे वा । आगादे दुरुत्तरे महति अदानिपातमिष सर्वधनगोचरे । अहति प्रत्याख्यातुं । नदधीप अदव्या महत्या व्याहृत्प्राकुलायां मामोपदेशितनरद्वितायां दिवसूद- पापणकंदकबहुलतया दुःप्रचारानां । सिप्यजहो वा पिप्यजहो वा अहतीति सर्वेयः ॥

मुठारा—अणुलोमा वांथवावयः । स्नेहान्मिथ्यात्वदोषात्स्वपोषणलोभाद्वा यस्य चारित्रं विनाशयितुमुद्यताः स्युः । अनुलोमत्वं वैषा मिपभाषणमात्राच्छुतुलं च संयमधनविनाशनादसंयमवियप्रवर्तनाच्च ॥ अथवा सत्रबोऽयं जिह्वोत्पादनादिकं त्वय कुर्मो यदि न वतित्वं त्यजती इति प्रलीकारिणो वैरिणः । तेऽपि यस्य चारित्रपातका इति ब्रह्मां । पूर्वचरे मनुज्योपसर्गस्तु वंथनत्ववतादनादिरुपात्तः । आगादे दुरुत्तरे । विपण्यजहो मार्गेविमूढमना ।

हिंदी अर्थ—अनुकूल शत्रु जिसके चारित्रिका नाश करनेके लिये उद्युक्त हुए हो वह गुनि अपने पाप क्रियाओंका त्यागरूपी चारित्रिके रक्षणार्थ भक्तप्रत्याख्यानभरण करनेके लिये योग्य माना गया है, अभिप्राय यह है कि, वंथगण स्नेहवश होकर अथवा मिथ्यात्व दोषसे किंवा यह स्वपोषण करेया इत्यादि लोभसे प्रेरित होकर जिसके चारित्रिका नाश करनेके लिये उद्यमी हो जाते हैं वह गुनि समाधिभरण धारणाकेलिष् योग्य है, उपद्रव करनेवाले वंथ शत्रु क्यों माने जाते हैं यह ऊपर दिखाया है, वे प्रिय भाषण करते हैं अतः उनको वंथु अर्थात् अनुलोम कह सकते हैं परंतु अकल्याणकारक असंयममें वे जीवको प्रवृत्त करते हैं और हितकारक संयमधन का नाश करते हैं अतः वे शत्रु हैं.

शुंका—'देविगणानुसतेरिबलगा उवसग्गा जस्स' अर्थात् देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यचकृत उपसर्गों मेंसे मनुष्यकृत उपसर्ग एक उपसर्ग है ऐसा पिछली गाथामें लिखा है। शत्रुकृत उपद्रव अथवा बंधुकृत उपसर्ग भी मनुष्यकृत उपसर्गमें अन्तर्भूत होता है अतः पुनः इस गाथामें शत्रु व बंधुकृत उपसर्गका वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर—पूर्व गाथामें मनुष्योपसर्गका सुलासा इस प्रकार सम्झना चाहिये—बन्धन, ताडन, दशशाखासे सटकाना इत्यादि शरीरोपद्रव जो परकेद्वारा किये जाते हैं उनको मनुष्योपद्रव कहना चाहिये। इस सूत्रमें बंधु वा शत्रुकृत उपद्रवका अभिप्राय यह है—यदि तुम अपना शुनिपना न छोड़ोगे तो तुझारी जिह्वा हम निकालेगी, इत्यादि शब्दोंके द्वारा उपद्रव करना ऐसे उपद्रव उपस्थित होने पर शुनि समाधिभरणका स्वीकार करते हैं।

विपत्तुपल्लके समाल मरंकर और जिसमें जीनेकी संभावना नहीं है ऐसा दुष्काल आपदनेपर भी शुनि मत्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य है, काण एसे दुष्कालमें अब मिलवाही नहीं, अतः चारित्रिनाश न हो इस हेतुसे उनको सख्खना करना योग्य है, जिससे उनके धर्मका रक्षण होगा।

जिसमें शूर प्राणी हैं और जिसमेंसे पार पादनेवाला मार्गोपदेशक भी नहीं है ऐसे जंगलमें शुनि विस्मृद् हो जाते हैं, तथा वह जंगल पाषाण फटकादिकोंसे व्याप्त होनेसे शुनिओंको उसमें बिचरना अशुभ्य सा माख्म हो ती वे ऐसी अवस्थामें प्रयासवान करनेके लिये योग्य है।

चक्खुं व दुव्वलं जस्स होज्ज सोदं व दुव्वलं जस्स ॥

जंघायलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरिदुं वा ॥ ७३ ॥

तुर्यलौ यस्य जायेते श्रवणौ चक्षुषी तथा ॥

विहरुं न सम्मर्थो यो जङ्घायलविवर्जितः ॥ ७५ ॥

दिनचोदया—चक्षुं व जम्भुयां । अपेऽप्यन्वयान्वीति चक्षु । दुव्वलं दुर्वलं अल्पशक्तिकं सूक्ष्मपसुदशो नाशन । जस्स यस्य । होज्ज भवेत् । सोदं व श्रोत्र या श्रुते शब्द उपलभ्यते येन तत् श्रोत्रम् । दुव्वलं शब्दोपलब्धि जननसामर्थ्यविकल । सोव्वहंति । जंघायलपरिहीणो जंघायलपरिहीणो । जो वः । ण समत्थो न शक्नो । विहरिदु वा मंनु या सोव्वहंति ॥

मूढारा—दुःखलं सूक्ष्मनिरीक्षणश्रमं । दुःखलं शब्दभ्रमणशक्तिर्विकलं ॥ विहरिदुर्गुणमार्गं वा ॥
हिंदी अर्थ—जिसकी आंखें कमशक्तिकी हो जानेसे सूक्ष्म वस्तु देखनेमें असमर्थ हो गयी हैं, जिसके कानोंका शब्द सुननेका सामर्थ्य नष्ट हो गया है, तथा जिसके गवाँकी चालनेकी शक्ति नष्ट होगई हो वह मुनि भी भक्तप्रत्याख्यानके लिये योग्य है.

अण्णम्मि चावि एदारिसंमि आगाढकारणे जादे ॥

अरिहो भत्तपट्टणाए होवि विरदो अविरदो वा ॥ ७४ ॥

दुर्वारं कारणं यस्य जायतेऽन्यवर्षादृशम् ॥

भक्तस्यानसृतेयोंग्यः संपन्नोऽसंपन्नोऽपि सः ॥ ७५ ॥

विजयोदया—अण्णमि चापि मन्यसिअपि उक्तादस्तात् । आगाढकारणे आगाढे कारणे जाये जाते । एव-
रिसम्मि उक्काएणसद्वदो । भत्तपट्टिणाए अरिहो होवि विरदो अविरदो वा इति एवचटना । प्रत्याख्यानस्यादो
भवति धिरत अविरतो वा ॥

मूढारा—विरदो यतिः । अविरदो भावकः ।

हिंदी अर्थ—उपर कहे हुए कारणोंसे अन्य भी तत्सदृश कारण यदि चीन्तया उपस्थित हुए हो ऐसे
प्रमथमें मुनि अथवा गृहस्थ प्रत्याख्यानके योग्य समझे जाते हैं.

अनर्द्धचमनायोरुपगमा—

उत्तरइ जस्त चिरमवि सुहेण सामणभणदिचारं वा ॥

णिज्जावया य सुलहा दुब्भिवलभयं च जदि णत्थि ॥ ७५ ॥

प्रवर्तते सुलं यस्य आमण्यमपदृषणम् ॥

दुर्भिक्षासभयं योग्या दुराणा न च सूरय. ॥ ७७ ॥

विजयोदया—उत्तरदि नितरा प्रवर्तते । जस्त यस्य । चिरमवि विरकालमपि । किं सामणं चारिजं । सुहेण
अण्णदिचार वा । निरतिचार । चारित्रविनाशमयावय अतीतेषु कारणेषु सत्तु प्रत्याख्यानयोग्य करोति ।

तद्यन्त्रवर्तते निरतिचारमहोत्तमं नैव भक्तप्रत्याख्यानमर्हति । इदानीमहं यदि न त्यागं कुर्यां निर्वाणकाः पुनर्न लब्धयन्ते मृतपुत्रान्नाये नाहं पंडितमरणमारार्ययितुं तन्मनोमि इति यदि भयमस्ति भक्तप्रत्याख्यानार्हं एव ।

अहंप्रसंगदश्यावमर्हं वन्मरेत वा पुनर्देहेव लक्षयितुं गार्थाद्वयमाह—

यूजरा—उत्तरदि निवर्णं प्रवर्तते । विज्जावया पंडितमरणराजनासदकारिणः सूरयः । सुलक्ष्म तत्कालेप्युत्तर काष्ठेऽपि सुप्राथाः । दुग्धितसदयं कथं घान्यक्षयाद्विद्धां विना चारित्रहानिर्भे भविष्यतीति भीतिः ।

प्रत्याख्यानमरणके लिये अयोग्य कोन है इसका सुलसा—

अर्थ—जिस दुर्नीयरका चारित्रपालन निरतिचार होता है और आयासके विना होता है वह भक्त प्रत्याख्यानके लिए अयोग्य है, अथवा सोखेवनके साधक निर्यापक आचार्य सुलभ हो तथा दुर्भिक्षका भय यदि न हो तो ऐसे समयमें मुनि समाधिसरण धारण न करे, अभिप्राय यह है कि, उपर्युक्त गायार्थोंमें कहे हुए कारण आपढने पर मेरे चारित्रका नाश होगा ऐसा समझकर मुनि भक्तप्रत्याख्यान करते हैं और यदि वे कारण नहीं हो तो मुनि भक्तप्रत्याख्यानमें प्रयत्न नहीं करते हैं, इस समय यदि मैं भक्तप्रत्याख्यान न करूँगा और आगे यदि निर्यापक आचार्य मेरेको न मिलेंगे तो उनके अभावसे मैं पंडितमरण न प्राप्त करूँगा ऐसा यदि भय हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके योग्यही है ऐसा समझना चाहिए; यदि निर्वाणकाचार्य सुलभ हो और भविष्यकालमें दुर्भिक्षकी भीति न हो तो वह मुनि भक्तप्रत्याख्यानके लिये अयोग्य समझना चाहिये,

यदि च सुलसा निर्वाणका भगवत्तुर्भिसमर्थं च यदि न त्याग भवत्यहं इति कथयति ।—

तत्स न कण्पदि भक्तपद्विणं अणुवद्विदे मये पुरवो ॥

सो मरणं पच्छित्तो होदि हु सामण्णविण्णो ॥ ७६ ॥

नासावर्हति संन्यासमदृष्टे पुरतो मये ॥

मरणं याचमानोऽसौ निर्विण्णो वृत्ततः परम् ॥ ७८ ॥

इति अहोर्भियेयं सूत्रम् ॥

विजयोदय—दस्त तद्व । न कल्पति मत्तपरणं न योव्यं प्रयास्यानं मत्तस्य । मये पुरतो यजुर्विद्धि मये पुरस्ताद्युपस्थिते । सो सः । निरतिचारआमण्यः सुलभनिर्वापकः यजुर्विद्वदुत्तिष्ठमगः । मरणं मृति । ऐच्छन्तो प्रार्थयमानः । सुशब्द एवकारार्थः । एवमासौ संभावनीयः सामण्यनिवृत्ति एव होदिषि । धामण्यातिविण्ण एव संभवतीति । ननु च अस्तिद्वेति अहं एव सुचितो जानाहं, तत्किमर्थमयुञ्जितव्याख्या कियते सूत्रकारेण ? अहंप्रसंगादायात्तमिति केचित् । अनहंमपि लक्षणतया अनहंत्वं सूचितं इति वा न दोषः । स्वपरभाग्यव्यो नपाधीना-स्मलभत्वात्सर्ववस्तूनां इति मन्यते ॥ अस्तिद्वेति गदम् ॥

मूकार—न कल्पति शोच्यो न भवति । यजुर्विद्धि अवीकिते ॥ सु इत्यादि सामण्यानिर्विण्ण एव । अहं । सूत्रता ॥ १ ॥ अकता ॥ ६ ॥

यही आभ्याय आगेकी भाषामें आचार्य कहते हैं—

हिंदी अर्थ—जिसके चारित्र्यमें निरतिचारा है, निर्वापकाचार्य जिसको सुलभतासे मिलते हैं, दुर्मिक्षकी भीति जिसको उपस्थित नहीं हुई है ऐसा भी मुनि यदि मरणकी इच्छा करेगा तो वह मुनि चारित्र्यसे विरक्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये.

शंका—'अस्तिद्वेति' इस ध्रुवसे अहंकाही वर्णन करना चाहिये सूत्रकारने क्यों सूत्रके विरुद्ध अनहंका भी निरूपण किया है ? इसका समाधान—अहंके प्रसंगसे अनहंका भी वर्णन सूत्रकारने किया है ऐसा कोई समाधान करते हैं.

स्वस्वरूपकी अपेक्षासे जो वस्तु है वही परस्वरूपकी अपेक्षासे अवस्तु होती है. ऐसी सर्व वस्तुओंकी व्यवस्था है. अतः अहं जैसे अपने लक्षणसे अहं है उसी तरह अनहं भी अहंके उलट्टा होनेसे अनहं माना जाता है अनहं सर्वथा अभावरूप नहीं है. जितने पदार्थ हैं वे सभी नयसे सिद्ध होते हैं. अतः अनहंका भी लक्षण आचार्यने लिखा है वह अपोमय नहीं है.

भक्तप्रत्याख्यानके लिये जो अहं-योग्य है उस मुनिको भक्तप्रत्याख्यानके लिये उचित सामग्री रूप लिंगका वर्णन आचार्य आगेकी भाषाओंसे करते हैं.

मन्त्रमस्याख्यानाईस्य तत्रत्याख्यानपरिकरभूतलिंगविरूपणं उत्तराभिर्ग्याभिः क्रियते—
उत्सर्गियलिंगकन्दस्त लिङ्गामुत्सर्गियं तयं चैव ॥

अववादियलिंगस्त वि पस्त्यमुवसर्गियं लिङ्गं ॥ ७७
तद्यौत्सर्गिकलिङ्गानां लिङ्गमौत्सर्गिकं परं ॥
अनौत्सर्गिकलिङ्गानामपीदं धर्षयते जिज्ञैः ॥ ७९ ॥

विजयोदया—उत्सर्गियलिंगकन्दस्त उत्कर्षेण सर्वेन त्याग सकलपरिग्रहस्य उत्सर्गः । उत्सर्गे त्योग सकल
ग्रंथपरित्यागे यदे लिङ्ग औत्सर्गिकं । किं करोति क्रियासामान्यत्वान्नोऽयं मुख्ययोः प्राणः । तेनायमर्थः औत्सर्गिकलिङ्ग-
दिद्यतस्तु प्रज्ञात्याख्यानाभिलाषतः । तं चैव उत्सर्गियं लिङ्गं तदेव प्राह दृष्टीतं लिङ्गं औत्सर्गिकम् । अववादियलिंगस्त
वि यतीनामववादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः, अपवादो यस्य विद्यते इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिङ्गं अवैयर्थपवादिक
लिङ्गं भवति । वाक्ययोरेकत्वा एवे परसंबन्धः कार्यः । अत्र पस्त्यलिंगं जह यदि प्रशस्तं शोभनं लिङ्गं मेहनं भवति ।
चर्मरहितत्वं, भतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असक्तुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत् । पुंस्त्वलिङ्गका इह दृष्टीतेति
पीनयोऽपि लिङ्गवाच्येन ग्रहणं । कतिबंधमानतादिवोपरहितता । प्रशस्ततापि तयोर्दृष्टीता ॥

अथ गाथाद्विदया भक्तप्रत्याख्यानाईस्य सत्परिकरभूतं लिङ्गं न्याचष्टे ।

मूढारा—उत्सर्गियलिंगकन्दस्त उत्कर्षेण सर्वेनमुत्सर्गः सकलपरिग्रहत्यागः । तत्र सबसौत्सर्गिकं तच्च सल्लिङ्गं
च तत्र कृतः रित्तः तस्य पतेर्मूलं त्वक्तुमिच्छोः । तयं चैव यदेव प्राग्दृष्टीतयेव भवेत् । अववादियलिंगस्त । यतीनां
अपवादरेखुत्वादपवादः परिग्रहः कोऽप्यस्तीत्यपवादिकं लिङ्गं यस्य सोऽपवादिकलिङ्गः समंवाविह आद्योदिस्तरयापि
भक्तं त्वक्तुमिच्छोरोत्सर्गिकमेव लिङ्गं वर्णितम् । यदि निबन्धमातिदीर्घत्वस्थूलत्वासक्तुत्थानशीलत्वादिवोपरहितं, दृष्टयौ
प्रातिबंधमानतादिवोषवर्जितौ स्थावाम् ॥

हिंदी अर्थ—उत्सर्ग-संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना यह उत्सर्ग है, अर्थात् संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग जब
होता है उस समय जो बिन्दु मुनि धारण करते हैं उसको औत्सर्गिक लिङ्ग कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, जिस
मुनीने संपूर्ण परिग्रह छोड़कर पूर्ण नश्रता धारण की है उसके लिङ्गको-नश्रताको औत्सर्गिक लिङ्ग कहते हैं. जब
यह भक्तमत्याख्यान धारण करता है तब भी उसका नश्रता ही लिङ्ग रहेगा.

यतीको परिग्रह अपवादका कारण होता है अतः परिग्रहसहित लिङ्गको अपवादिकलिङ्ग कहते हैं.

अर्थात् अपवादाङ्गिवाचक गृहस्थ जब भक्तगत्यान्वानके लिये उतुक्त होता है तब उसके पुरुषलिंगमें यदि दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग-नम्रता धारण कर सकता है। गृहस्थके पुरुषलिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, धारंवार चेतना होकर ऊपर उठना ऐसे दोष यदि हो तो वह दीक्षा लेनेके लायक नहीं है। उसी तरह उसके अंड भी यदि अतिशय लंबे हो, घड़े हो तो भी गृहस्थ सयत्ताके लिये अयोग्य है। परंतु एवं दोषविशिष्ट भी गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यानके समय एकान्तादिकमें सर्व परिग्रहका त्याग करके नम्र रह सकता है।

जिसको उपर्युक्त दोष है वह औत्सर्गिक लिंगका वास्तक नहीं होता है इस नियमका अपवाद कहते हैं—

औत्सर्गिकं लिंगं न भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

जस्स वि अब्बाभिचारी दोसो तिष्ठानिगो विहारस्मि ॥

सो वि हु संथारगदो मेण्हंजोत्सुगियं लिंगं ॥ ७८ ॥

यस्य निस्थानगो दोषो धुनिवारो विरागिणः ॥

लिंगमौत्सर्गिकं तस्मै संस्तरस्थाय दीयते ॥ ८० ॥

धिरुपोदया-अस्स वि यत्तपि । अब्बाभिचारी अनिराकायो । दोसो दोषः । तिष्ठानिगो स्थानत्रयभयः नेहने घुटणयोच्च भयः भौचधादिनानपसार्यः । सोऽपि शु शब्द एवकाराद्यः स च मेण्हंज इत्यनेन संवेचनीयः । पुण्दीयदिदं किं ? उत्सर्गियं लिंगं औत्सर्गिकं भवेत्सत्ताल्लसं । क विहारस्मि विहारे भक्तौ, संथारगदो संस्तरगच्छः संस्तरारोहणकाळो । एवं संस्तरगच्छस्यैव औत्सर्गिकं नाम्यमेत्याख्यातं भवति ।

आप्रशस्ताङ्गिस्थौत्सर्गिकं लिंगं ॥ भवत्येवेत्यस्यापवादमाह—

मूळारा—अब्बाभिचारी औपधादिना निराधुमन्नकम् । तिष्ठानिगो त्रिषु स्थानेषु भेदघुषणचोच्च भयः । स च फुरदो लिंगे दुस्सर्गत्वं स्वर्णत्वं च । विहारस्मि भक्तौ । सु एवाये । संस्तरगत एव पुण्दीयावेत्यर्थः । उत्सर्गियं अचेष्टता लक्षणं ॥

हिंदी अर्थ— जिसके उपर्युक्त तीन दोष औपधादिकसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामे जब संस्तरारोह होता है तब पूर्ण नष्ट रह सकता है। संस्तरारोहणके समयमेंही वह नष्ट रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है।

अपवादलिङ्गस्थानां प्रास्ताविकानां सर्वेषामेव किमौत्सर्गलिङ्गतेत्यस्यामोकाणां आह—

आवसधे वा अप्पाउगो जो वा महङ्गिओ हिरिं ॥

मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादिंयं लिङ्गं ॥ ७९ ॥

ससृद्धस्य सलज्जस्य योग्यं स्थानमर्चिदतः ॥

मिथ्यावक्त्रचुरज्ञानेनौत्सर्गिकमिच्यते ॥ ८१ ॥

विजयोदया—आवसधे वा निवासरथाने । अप्पाउगो अभ्यागये बधिविक्ते । अप्पादिकलिङ्गं हवदिति शेषः । जो वा महङ्गिओ महङ्गिकः । हिरिं च्छीमान् लज्जावान् । तस्यापि होज्ज अववादिङ्गं लिङ्गं । मिच्छे वा मिथ्यावद्भौ । सजणे स्वजन्तो बंधुयुगो । होज्ज भवेत् । अप्पादिकलिङ्गं सधेसलिङ्गं ॥

इदानीमपवादलिङ्गस्थानां प्रास्ताविकानामपि येषामौत्सर्गिकं लिङ्गं न स्थापनाह—

भूळारा—आवसधे निवासरथाने । अप्पाउगो जनसङ्कुलत्वापयोग्ये । महङ्गिओ महङ्गिकः । हिरिं च्छीमान् लज्जावान् । मिच्छे मिथ्यावद्भौ ॥

जिनके पुरुषलिङ्गमें दीप नहीं है ऐसे अप्पादलिङ्गस्थित सभी लोक औत्सर्गिकलिङ्गधारी हो सकते हैं क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—जो श्रीमान्, लज्जावान् है तथा जिसके बंधुगण मिथ्यात्वयुक्त हैं ऐसे व्यक्तिने एकान्त रहित वसतिधामें सबसहरी रहना चाहिये।

पूर्वनिर्दिष्टौत्सर्गलिङ्गस्वरूपनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

अचेलङ्कं लोचो वोसट्टसरीरावा य पडिलिहणं ॥

एसो हु लिङ्गकण्णो चटुन्विहो होदि उत्सग्गे ॥ ८० ॥

औत्सर्गिकमचेलत्वं लोचो व्युत्सृष्टदेहता ॥

प्रतिलेखनमित्येवं लिङ्गमुक्तं चतुर्विधम् ॥ ८२ ॥

विजयोदया—अचेलकमिति । अचेलकं अचेलता । लोचो कसोत्पाटनं हस्तेन । वोसट्टसरीरावा य व्युत्सृष्टधारी रता च । पडिलहणं प्रतिलेपनं । एसो तु परः । लिङ्गकण्णो लिङ्गविकल्पः । चटुन्विहो चतुर्विधः भवति । उत्सग्गे औत्सर्गिकसंज्ञिते लिङ्गे ।

औत्सर्गिकलिंगस्वरूपं निरूपयति—

मूढारा—अचेलकं वस्त्रायमानः । नैर्ध्वमित्यर्थः । लोचो हस्तेन केओत्पाटनं ॥ वोसट् व्युत्पट्टं ज्ञातं अंस्कारं इत्यर्थः । लिंगकल्पो लिंगशिविः ॥

पूर्वमे नाममात्रते कहे इए उत्सर्गलिंगका स्वरूप कहते हैं—

हिंदी अर्थ—संपूर्ण वस्त्राका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच- हाथसे केस उखाटना, शरीरपरसे भमत्व दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना, तथा पदलिङ्गन-श्रुतिलेखन प्राणिदयाका निह-मयूरापिच्छका हाथमें धारण करना इस तरह ॥ १॥ अकारका औत्सर्गिक लिंगा है.

मतीत्यभिर्गोपाभिः पुरुषाणां भुक्तप्रत्याख्यानाभिष्ठापिणां किमधिकत्वोऽभिव्यक्तिमायः । अयुना स्त्रीणां तद्वर्तिनीनां लिंगमुत्पद्य माधवा निरुप्यते—

इत्मीवि य जं लिंगं विट्टं उत्सर्गियं व इदं वा ॥

तं तद् ह्येदि हु लिंगं परित्तमुवधि करंतीए ॥ ८१ ॥

विजयोदया—इयीवि य स्त्रियोऽपि । जं लिंगं यल्लिंगं । विट्टं दृढं आगमेऽभिहितं । उत्सर्गियं य भोत्सर्गिकं तपस्विनीनां । इदं वा आधिक्येण । तं तदेव । तद्य मत्तप्रत्याख्याने । होदि भवति । लिंगं तपस्विनीनां प्राक्तनम् । इतरासां पुंतामिव योज्यम् । यदि मद्रदिका लज्जावती मिथ्याददित्सजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विपिके आपसये, उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिमहत्यागरूपं । उत्सर्गलिंगं कथं निरुप्यते स्त्रीणामित्यत आह—तं तद् उत्सर्ग-लिंगं । तस्य स्त्रीणां होदि भवति । परित्तं अल्पं । उवाधि परिग्रहं । करंतीए कुर्यात्वा ।

अयुना भक्तप्रत्याख्यानाभिर्तीनां स्त्रीणां लिंगं निर्दिशति ॥

मूढारा—इच्छीए वि किया अपि । उत्सर्गियं विट्टं आगमेऽभिहितं ॥ परित्तमुवधि करंतीए परिग्रहमत्तं कु-र्वत्या इति योत्स्यं । औत्सर्गिकं तपस्विनीनां सादृश्याग्रप्रविष्टेऽपि तत्र भमत्वपरित्यागादुपचारात् नैर्ध्वज्यवद्वारतवत्तारात् ॥ उत्सर्गाद् । इदं अपवादिकं आधिक्येण । तथापि भमत्वपरित्यागादुपचारात् नैर्ध्वज्यवद्वारतवत्तारात् ॥ तच्छ तत्र भक्तप्रत्याख्याने सन्न्यासकाले इत्यर्थः । लिंगं तपस्विनीनामयोग्यस्थाने प्राक्तनं । इतरासां पुंतामिवेति योज्यम् । इदमत्र तात्पर्यं—तपस्विनी यस्तुकाळे योग्ये स्थाने वस्त्रमात्मपि त्यजति । अन्या ॥ यदि योग्यं स्थानं लभते । यदि च

महर्षिका संख्या मिथ्यात्वप्रचुरताविश्र न तदा पुंवद्वयमपि भुञ्चति ॥ तो बेलागिलेनैव श्रियते । तथा चोक्तं—
यदात्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गं दृष्टं श्रियाः कुते ॥

पुंवत्तद्विप्लवे स्युकाळे स्वस्वीकृतोपधेः ॥

यहां तक भक्तप्रत्याख्यानकी अभिलाषा रत्ननेवाले पुरखोंका दो प्रकारका लिङ्गभेद—उत्सर्ग लिङ्ग और अपवादलिङ्ग आचार्यने कहा है, अब भक्तप्रत्याख्यानेच्छु स्त्रियोंका लिङ्ग आगेकी गाथासे कहते हैं—

हिंदी अर्थ—परमात्ममें स्त्रियोंका अर्थात् आर्थिकाओंका और आर्थिकाओंका जो उत्सर्गलिङ्ग और अपवादलिङ्ग कहा है वही लिङ्ग भक्तप्रत्यारूपानके समय समझना चाहिये, अर्थात् आर्थिकाओंका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्गलिङ्ग विविक्तस्थानमें होना चाहिये अर्थात् वह भी मुनिवत् उस समय मन्त्ररूपता धारण करे ऐसी आगमाज्ञा है, परन्तु भ्रायिकाका उत्सर्ग लिङ्ग भी है और अपवादलिङ्ग भी है, यदि वह आविका संपत्तिवाली अथवा लज्जावती होगी अथवा उसके बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवादलिङ्ग धारण करे अर्थात् पूर्ववपमैरी रहकर भक्तप्रत्याख्यानसे मरण करे, तथा जिस आधिकारने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिका—स्थानमें उत्सर्गलिङ्ग—नभता धारण कर सकती है,

नक्तद्वयस्य रत्नप्रथमाधनाप्रकरणेन दृष्टिरुपयुज्यते किममुना हिङ्गविक्रसोपाधेनेत्यस्योत्तरमाह—

अत्रासाधणाचिह्नकरणं सु जगपञ्चयादठिदिकरणं ॥

निहृभावविवेगो वि य लिङ्गागहणे गुणा होति ॥ ८२ ॥

यात्रासाधनगाईस्थविचेकात्मस्थितिक्रिया ॥

परमो लोकविश्वासो गुणा लिङ्गमुपेयुपः ॥ ८३ ॥

विजयोदयः—जटासाधणचिह्नकरणं यात्रा शरीरस्थितिविहृतभूता मुजिक्रिया । तस्याः साधने यंहिङ्गजाते चिन्दजाते तस्य करणं । न हि श्वासस्येपेन स्थितो गुणीति सर्वजनताविमर्शो भवति । अस्वास्त्युपविशेत्पञ्च दानं न प्रपच्छति । ततो न स्माच्छरीरस्थितिः । असत्यां तस्यां रत्नवयमवतनाप्रकरणे कमणोषचीयमानो न स्यात् । विना तं न मुक्तिरित्यभिलाषितकार्यसिद्धिरिव न स्यात् । गुणवत्तायाः स्वचनं लिङ्गं भवति । ततो दानादिपरंपरया कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः । अथवा दानादानो गतिर्वचनः यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽप्यम् । नतिसमान्यवचनान्पश्ये शिष्यतादेव वतले,

दारकं पश्यसीति यथा । यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्नकरणं ध्वजकरणं ।

अगणयथाद्विद्विकरणं । जगच्छब्दोऽन्यत्र चेतनाश्रितनव्व्यसंहतिवचनो 'जगन्नेकावस्थं युगपदक्षिणान्तं विपयम्' इत्येवमादौ । ॥ प्राणिविशेषवृत्तिः । यथा—'अहंतजिजगद्धैवान्' इति । प्रत्ययवाच्योऽनेकार्थः । क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा 'घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञाने इति यावत् । तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनेतः संसार' इति गदिते मिथ्या त्वेदमुक्त इति प्रतीयते । तथा धर्मावचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' अत्रेति गम्यते । इहापि अद्वानृत्तिः । जगतः धर्मेति । ननु अद्धा प्राणिधर्मः अचेतनाविकं शरीरधर्मो हिनं सत्किमुच्यते 'हिनं जगत्प्रत्यय' इति । सकलसंगपरिहारो मार्गो मुक्तिः इत्यत्र अध्यानां अर्द्धां उच्यति । हिनमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं । न चेत्सकलपरिहरत्यागो मुक्तिर्हिनं किमिति नियोमतोऽनुमीयते इति ।

आवृत्तिदिकरणं आत्मनः स्वस्य अक्षिपस्व स्थिरतायाप्त्यं । क ? मुक्तिवर्त्मनि यजने । किं मम परित्यक्तवस्तु तस्य रोगण, रोयेण, मानेन, मापया, लोभेन वा । वसनाश्रित्याः सर्वा लोकेऽलंक्रियाः तत्र निरस्तं । को मम रागस्या-पसार इति । तथा परिमहो निबन्धनं कोपस्य । तथा हि-पित्रा सुतो युज्यते धनार्थितया ममेदं भवति तत्रैवमिति । तत्रिक मानेन स्वजनधेरिणा रिक्थेन, लोभे, आयासे, पापे, दुर्गाति च बद्धता इति सकलः परित्यक्तो वस्तुमयुरः सारः परित्यक्तो रोप-विजितये । हस्तति च मां एते साधयो रोपमुपधाते । कैवलयसतता मुमुक्षोः कायमस्य कोपबुलाशमः ज्ञानजलसेकपरि पूजतपोषनीयतावनवविभ्रमः इति । तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते सा च तिर्यग्यति प्रापयतीति भीत्या मापोन्मू-लतादैवेवमनुष्ठितं ।

निदिश्याविवेचोपि य श्रुतिश्रुतपृथग्यायो दर्शितो भवति ॥

तन्वद्वैतं रत्नत्रयभावनाप्रकर्षणं श्रुतिरूपमुच्यते किममुना हिंगिविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—

मूलांशः—अचेत्यादि—जगता सादृणविण्दकरणं । यात्रा—मुक्त्येगत्तलत्रयप्रकर्षार्थं देहसिपतिहेतुराहारः क्षियगतिर्वा यात्रा तस्याः साधनं गुणातिशयः । तस्य चिह्नकरणं प्रापकं, संयमध्वजीभूतं च हिंगमाचेष्टक्यादि स्वात् । तथा अगण-क्यादिविदिकरणं जगतो भव्यलोकरय प्रत्ययो नैर्द्रव्यादेव मुक्तिरिति प्रतीयति । अत्रेति यावत् । तथा आत्मनो यत्यात्मनः कयापोदयपशान्मुक्तिमार्गाश्चलतः श्रियतिः सूत्रशिरसा जगत्प्रत्ययात्मस्थितिश्च तयोः कर्षणं संपादनं तद्धितं भवति । तथा गिरिभाविबेगो गार्हस्थ्यपृथग्भावस्तदुपदोक्तत्वाहिंगमपि । तथा चोक्तं । आचेष्टक्यादिहिंगेन हि शूद्रस्वत्वं लर्कं, जनेन मंगं चेति ज्ञाप्यते । हिंगेत्यादि मुमुक्षुणा शुद्धभागे आचेष्टक्याहिंगे ययोक्तावतारो गुणाः स्वरोपकारिणो धर्मा भवन्ति इत्यर्थः ।

जो भवतप्रातिज्ञायोग्य है उसको रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष करके मरण करना योग्य है-उत्सर्गहिंग अथवा अपवादहिंग धारण करके भवतप्रत्याख्यान मरण करना चाहिये ऐसा हठ क्यों ? इस प्रश्नका उत्तर—

हिंदी अर्थ—उत्तमर्गलिंग अर्थात् नम्रता यह यात्राका साधन है अर्थात्-शरीर स्थिर रहनेके लिये कार्णीभूत जो आहार उनकी प्राप्ति होनेके लिये कारणरूप चिन्ह है। गृहस्थवेपसे ही यदि भिक्षु भी रहने लगे तो ये गुणी है ऐसा नहीं समझे जायेंगे तथा उनका आदर न होगा। गृहस्थवेपसे उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होनेसे गृहस्थ उनको दान नहीं देगे। दान न मिलनेसे उनके शरीरकी स्थिरता न होगी। शरीर-स्थिरताके बिना रत्नत्रयभावनाका प्रकर्ष कैसे होगा ? रत्नत्रयके प्रकृति ही मुक्ति प्राप्ति होती है, उसके बिना यह न मिलेगी। अतः अभिलषितकार्य अर्थात् मुक्तिप्राप्ति गृहस्थवेपसे होती नहीं। अतः यह नम्रता गुणीपनाका सूचक चिन्ह है। इस नम्रतागुणसे दानादिकार्यपरम्पराकी सिद्धि होती है।

अथवा यात्रा शब्द सामान्य गतिवाचक है जैसे 'देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्' अर्थात् यह देवदत्तका गमनकाल है, यहाँ यद्यपि यात्राशब्द सामान्य गतिवाचक है तो भी प्रस्तुत प्रकरणमें यह शिव-गति-मोक्षगमन इस अर्थमें लब्ध समझना चाहिये, 'दारकं पश्यसि' इस वाक्यमें दारकशब्दका सामान्य अर्थ लड़का ऐसा होनेपर भी जो लड़केको देख रहा था उसका ही वह लड़का है ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है उन्नी तरह 'जनासाधणचिन्हकरणं' इस शब्दसमुच्चयका अर्थ यात्राका अर्थात् मोक्षगतिका साधन जो रत्नत्रय उपका नम्रता यह लिंग ध्वजके समान है।

इस लिंगमें जगत्प्रत्ययता यह गुण है, 'जगत्प्रत्ययः' अर्थात् सर्व जगत्की इसके ऊपर श्रद्धा होती है, जगत् शब्दका चेतनचेतनरूप संपूर्ण ब्रह्मसमूहको जगत् कहते हैं ऐसा अन्य प्रकरणमें अर्थ होगा, 'जगन्नाकाशस्य पुणपदविलानंतविषयम्' अर्थात् चेतवाचेतनरूपी इस जगत्की एक अवस्था नहीं है, यह संपूर्ण और अनंतपर्यायोंको धारण करने वाला है, परंतु प्रस्तुतप्रकरणमें जगत् शब्दका अर्थ प्राणिविशेष ही लेना चाहिये, जैसे 'अर्हत्तत्त्वगंद्रयान्' अर्थात् इंद्र, देव, मनुष्य व सिद्धादिविषय ऐसे विशिष्टप्राणियोंसे चंदनीय जिनेश्वरको हम नमस्कार करते हैं, यहाँ जगत् शब्दका विशिष्टप्राणी ऐसा अर्थ होता है, प्रत्ययशब्दके भी अनेक अर्थ हैं, जैसे 'घटस्य प्रत्ययः' घटका ज्ञान यहाँ प्रत्यय शब्दका ज्ञान ऐसा अर्थ होता है, तथा प्रत्यय शब्द कारणवाचक भी है जैसे 'मिथ्यात्वप्रत्ययः अनंतः संसारः' अर्थात् इस अनंतसंसारको मिथ्यात्व कारण है, प्रस्तुत प्रकरणमें प्रत्यय शब्दका श्रद्धा यह अभीष्ट अर्थ है,

साधुको नग्नता देखकर उनमें सब जगतीका श्रद्धा न होता है ऐसा जगत्प्रत्यय इस शब्दका अभिप्राय समझ लेना चाहिये.

शंका—श्रद्धा प्राणिओंका धर्म-स्वभाव है और अवैलतादिकं शरीरका धर्म है अतः लिंगका जगत्प्रत्यय यह विधेयण कैसा उपयुक्त है ?

उत्तर—संपूर्ण परिग्रहका त्याग ही युक्तिका मार्ग है ऐसी नग्नता देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है अतः लिंगका यह विधेयण सार्थक है संपूर्ण परिग्रहत्यागही युक्तिका लिंग यदि नहीं होता तो नियोगसे क्यों उसकी अपराधना की जाती है ?

नग्नतामें 'आदिदिकरण' इस नामका एक गुण है स्वतःमें अस्थिरपनाको निकालकर स्थिरपना उत्पन्न करना यह आदिदिकरण इस शब्दका अर्थ है. युक्तिमार्गमें प्रयोग करनेमें स्थिर होना ऐसा इसका अभिप्राय है. इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—युनि विचार करते हैं—मैं धनको त्याग किया है अतः अब राग, द्वेष, अभिमान, माया और लोभ इनसे मेरा क्या प्रयोजन है ? बलकी इच्छा ही अलंकारदिकी इच्छाको उत्पन्न करती है. अर्थात् बल यदि पास होवे तो अलंकारादिक भी मेरेको मिलेंगे तो अच्छा ही होगा ऐसी इच्छा होती है. मैंने बल ही फेंक दिया है अब रागभावनासे मेरा क्या प्रयोजन है ऐसा विचार करते हैं. तथा परिग्रह को तो त्यक्तिका कारण है. धनकी आवश्यकता पड़ने पर पुत्र भी अपने पितासे लड़ता है. यह धन मेरा है यह धन मेरा है इस रीतिसे झगडा करता है. अतः स्वजनमें वैर उत्पन्न करने वाले धनको लेकर मैं क्या करूँ ? यह परिग्रह लोभ, आयास, पाप व दुर्गतिको उत्पन्न करते हैं. इसी वास्ते मेने बलमयुक्त समस्त परिग्रहको कोपको जीतेनेके लिये छोड़ दिया है. मैं यदि रोपवश होऊँ तो मेरेको इतर साधु हसेंगे. वे कहेंगे देखो इनकी नग्नता और देखो इनका कोपनि ! यह कोपानि ज्ञानबलसे सँचा और श्रद्धिगत हुआ ऐसे तपस्वी जनका नाश करनेके लिये तयार हुआ है. धनवान लोक हमेशा कपट व्यवहार करते हैं, वह उनको तिरियंगतीमें पटकता है. अतः ऐसे चोर कपटसे डरकर इसका नाश करनेके लिये ही मेने यह युनिपना धारण किया है. ऐसा विचार युनि मनमें करते हैं. अतः नग्नता आत्मस्थितिकारण गुणको उत्पन्न करती है ऐसा कहना योग्य है. इस नग्नता से युनि गृहस्थोंसे मित्त है ऐसा भी व्यक्त होता है.

गंथच्चाओ लघवमण्डिलिहणं च गदभयत्तं च ॥
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविज्जणा चेव ॥ ८३ ॥

परिकर्मभयग्रन्थसंसात्तिप्रतिलेखनाः ॥

लोभमोहमदमकोपाः समस्ताः सन्ति वर्जिताः ॥ ८४ ॥

विजयेयव्या—गयत्तागो परिग्रहत्यागः । लाभं हृदयसमारोपितशैल इव भवति परिग्रहत्यागः । कस्यभिक्षाम्ने
इत्यस्मीत्यादिभ्यः । पाल्पामि इति दुर्धरचित्तयेदधिममाहुपुता भवति ।
अण्डित्तिहणे घसतसदित्तिलगधारिणो हि यत्संबन्धद्विकं शोधनीयं ग्रहत् । इतरत्त एव रिक्खादिमात्रं ।
परिकम्मविज्जणा चेव । याचनसीयनक्षोपणप्रक्षालनाविरेजो हि व्यापारः स्यादायध्यातनविप्रकारी अचेत
तस्य तत्र तथेति परिकर्मविवर्जनं ।

गदभयत्तं भयरहितता । भयव्याकुलचित्तस्य न हि रत्नत्रयदनायासुयोगो भवति । स्ववसनो यतियंछेयु
कालिक्षाविलसम्पुञ्जजीवपरिहारं विधातुं नार्हति । अचेतस्तु ते परिहरतीत्याह—संसज्जणं परिहारो इति ।
परिग्रहमाधियासणा चेव । शीतोष्णवृत्तमदाकादिपरीषद्वर्ज्यो युज्यते मत्स्यः । संसृताच्छादनवतो न
शीतादिमाधा येन तत्सहनपरीषद्वर्ज्यः स्यात् । पूर्वापापकर्मनिर्जरायै परिपोदव्याः परीषदाः इति वचनानिर्जरायैभिः
परिपोदव्याः परीषदाः ॥

एवं सामान्यतो हिमगुणानभिधायैर्यानीं लिङ्गविशेषैर्यस्यैर्लक्ष्यस्य गुणान्गोपात्रवेणोर्पदैसति ।

मूलाय—संग्रहाओ परिग्रहत्यागः करीरेदधि निर्ममत्वाभित्यर्थः । तापवं कषमिदं बौरादिभ्यो रक्षेयमिति
दुर्जरओपायवितायेदाविगमाक्युतां, कर्मलघुत्वं वा । अप्पहिंछिहणं कच्छुर्हिपच्छादिनां वेत्तावेत्तिरीक्षेणकोधेनापभाबः ।
गदभयत्तं बौरादिभ्यश्चासत्यभाबः । संसरज्जण यूकादिसंयुद्धेवं । परिकर्मं प्रक्षालनाविरेजकारः ।

अर्थ—ग्रथस्याग, लापय, अग्रतिस्तेवन, गंतमयत्तं, संसर्गपरिहारं, परिकर्मविवर्जनं येसं गुणं गुणिलिंगमे
समाविष्टं हुये है ।

ग्रंथत्याग—गुणिलिंगधारण करनेसे परिग्रहत्याग होता है, लायव—परिग्रहवानं मञ्जुष्यको परिग्रह
छानीपर रस्से हुये पर्वतके समान चहुत कष्टप्रद होता है, परंतु जो परिग्रहरहित है उसको अपने ऊपरसे घटा गारी
परिग्रहका बोझा उतर गयासा भाव्य होता है, जबः गुणिलिंगमे लापयगुण है यह सिद्ध होता है, इस परिग्रहका मैं

चोरादिसे कैसा रक्षण कहे ऐसी चिन्ता निष्प्रग्रहीको होती नहीं. अतः तद्विषयक खेदका नाश होनेसे लघुता गुण प्राप्त हो जाता है.

अग्रतिलेखन— जो सवस्त्रलिख धारण करते हैं उनको वस्त्रसंदादिकको बहुत शोधना पड़ता है. परंतु मयूरपिच्छादिमात्र परिग्रह जिनके पास है उनको बहुत शोधनेकी आवश्यकता नहीं रहती है. अतः अग्रतिलेखन गुण उनको प्राप्त होता है.

परिकर्मजना—वस्त्रके रिपयमें शचना करना, उसको सीना, धूपमें सुलाना, जलमें धोना, बगैरे. अनेक क्रियायें करनी पड़ती है. तब ध्यान, स्नाय्यादि कार्यमें विघ्न उपस्थित होता है. परंतु जो मुनि अंचल है वस्त्रका त्यागी है उसको वाचनादिकार्य करना नहीं पड़ता है अतः उसके ध्यानस्नाय्यादि क्रियायें निर्विघ्न पार पड़ती हैं.

शतभयन - निर्विघ्नमुनीश्वरको परिग्रहाभाव होनेसे भय रहता नहीं भयसे जिसका चित्त व्याकुल हो उठा है उसकी रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होती नहीं. सवस्त्र मुनि वस्त्रमें यूकादिसम्पर्जन जीर्णोका परिहार करनेमें असमर्थ होता है. परंतु पत्तरहित मुनि उन जीर्णोका परिहार कर सकता है.

परिपहाधिवातना—तन्म मुनि श्रुति, उष्ण, दंशसंस्पर्शदि परिपह सहन करते हैं. परंतु बल्लवेहित यति को शर्तादि बाधा होती नहीं. अतएव वे शर्तादिपरिपह विजयी नहीं हैं. पूर्वोपाजित कर्मकी निर्जरा करनेके लिये परिपह सहन करने चाहिये ऐमा आगममन्त्रन है इसलिये निर्जराश्रम मुनिजनों परिपह सहन करने चाहिये.

विस्सासकरं रूपं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु ॥

सन्ध्यस्थ अभ्यसत्वा परितह अधिवासणा चेव ॥ ८४॥

अङ्गाक्षार्यसुखत्यागो रूपं विश्वासकारणम् ॥

परीषदसहिष्णुत्वमर्हदाकृतिभारणम् ॥ ८५ ॥

विजयोदया—विस्सासकरं रूपं विश्वासकारि जगज्जं रूपं अचेलतारमकं । एवं असंगा धैतेऽन्यद्वहन्ति नापि परोपपातकारि शस्त्रग्रहणं प्रच्छेद्यमात्रं संयाच्यते । विरूपेण चामीषु नासदीयाः स्त्रियो यममनुवर्त्तन्तीति विश्वासः ॥

अणादरो विस्तयेदसुखेष्टु । विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम धामलोचनाविलोकितेन । तासां कलगीतधययौन । तन्मिदुगुप्तनीचशरीरस्य का वा रतिकीडेति भावना चैवाभावरः । अथवा शरीरसुखे विषयसुखे चानादरः । विषयसुखद्वयतिरेकेण न शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेत्—शरीरसु चाभावः शरीरसुखं । ईदृश्याविषयसन्निध्या नञ्जिता प्रतिर्विषयसुखमिति यद्वाजनयोर्भेदः ॥

सत्यस्य सर्वसिन्धेरो । अप्यवसदा आत्मप्रज्ञाता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति, श्रुते वा । श्वात्सनादिकरणे इदं मम चिन्मयं वस्त्विति तत्त्वतरोचरता परतत्रता नास्ति सत्यस्य । परिग्रहविनाशमीश्वरात्मनोऽयोगेऽपि उद्गमादिदोषोप- हृते प्राणिसंयमयिनाशकारिणि या आसनस्थानशयनादिकं संपश्यति । न सत्त्वावरयाधामावहता धर्मता व्रजति । एतद्गो- पपरिहारेऽसंगस्य भवति ॥

परितप्त साधियासना ज्ञेय पूर्वोपपत्तकर्मनिर्जटायेना यतिना सोढव्या. परीपट्टाः निर्योयेन शुबादयो याधा- विद्येयाः ज्ञाविशतिमजाराः । तत्राये सामान्यपचनोऽपि परीपट्टशब्दः. प्रकरणत्वेच्छास्यासददुरूपपरिपट्टसिर्माह्यः । तेन नाग्यशीतोष्णवंशमशकपरीपट्टसहस्रभिह कथितं भवति । सखेलस्य हि समावरणस्य न सादृशी शीतोष्णवंशमज्ञा- ककामिता पीडा यथा अखेलस्येति मायते ॥

मूलारः—विरसासकरं धयमसंगा श्रुते कथमन्यस्य किमपि ग्रहीष्यन्ति । न च परोपपत्तकारि शकाधिकनर प्रच्छन्नं संभाव्यते । प्रेताकारेषु नाग्यत्काभिन्वो एगमभनुष्यन्ति इति अनाता विश्वासकरणशीलं । विसयदेहसोक्तेषु विषयेभ्यः स्त्रीकटाक्षन्तिरोक्षणादिभ्यो जातेषु वेदस्यात्सद्वाचनेषु । किं मे प्रेताकारस्य आसां कटाक्षनिरीक्षणेन, कलगीतध- जेन, शत्रुद्वन्द्वस्य वा तद्वागिमभयया, तद्वत्या वत्यादिभयमया अनादरोऽनासक्तिः । यदि वा सौख्येवात्सवनाकारेषु, वेद- सौख्ये च दुःखानिर्वृत्तिकृते चानादरः प्राप्यनाकाक्षा । सत्यस्य अप्यवसदा सर्वमिन्द्रदेसे स्वेच्छया आत्माविरोधेनासनज्ञा- यनगमनाविप्रवृत्तिः । परितप्तसाधियासना परीपट्टाणामाचेष्टक्योचिताना नाग्यशीतोष्णवंशमशकपरीपट्टानामधियासना अध्यासना या साहजं तद्दुःखेनापि नाभिममनमित्यर्थः ।

अर्थः—निर्वसताही विश्वास उत्पन्न करनेवाली है इसको कोई हरण करते नहीं. निर्वस्र सुनोके पास यत्नादिक छिपे हुए नहीं रह सकते हैं. अर्थोत् शस्त्रादि परोपधातक वस्तु उनके पास रहती भी नहीं हैं अतः उनके ऊपर लोगोंका विश्वास उत्पन्न होता है, वस्त्ररहित होनेसे विरूप दीखनेवाले सुनिर्वापर हमारी स्त्रिया मोहित नहीं होती हैं. अतः उनपर वे लोग विश्वास करते हैं.

अनादरः—परिग्रहका त्याग करनेसे विषयजनित सुखसे आदर नष्ट होता है. मैं प्रेतके समान हूं अतः

हियोंकी तर्फ देखना भरेको योग्य नहीं है, उनका मधुर गीत सुनना योग्य नहीं है, मेरा शरीर ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है अतः उससे उनके साथ रतिक्रीडा करना क्या योग्य है? इस तरह भावनाओंसे अनादरगुण उत्पन्न होता है, अथवा इस निर्वृत्तासे शरीरसुखमें व विषयसुखमें अनादर उत्पन्न होता है.

विषयसुखको छोड़कर शरीरसुख भिन्न पदार्थ नहीं है इस प्रश्नका उत्तर इस तरह समझना । शरीरके दुःखोंका अभाव होना शरीरसुख कहलाता है व इंद्रियोंके विषयोंसे जो मनमें प्रेम आल्हाद उत्पन्न होता है वह विषयसुख है । इस प्रकार इन दोनोंमें महान्कद है.

सर्वत्र आत्मवशता—यह गुण भी प्राप्त होता है, मुनीके पास कोई परिग्रह न होनेसे वे स्वेच्छासे बैठते हैं, जाते हैं तथा सोते हैं, बैठने उठनेमें मेरी असुख वस्तु नष्ट हुई, असुख वस्तु भरेको चाहिये इस प्रकारकी चिन्ता उनको होती नहीं. अतः परिग्रहविषयक परतंत्रतासे वे छूट गये हैं. भरे परिग्रहका विनाश हो जायगा। ऐसी भीति यदि मुनिकी उत्पन्न हो जावेगी तो वे अपनेको अयोग्य तथा उद्गमादिदोषोंसे सहित, प्राणितंत्रयका नाश करनेवाले ऐसे आसन शयनादिकोंका संपादन करेंगे. परिग्रहको चौरादिक हरण करेंगे इस भीतीसे ब्रह्म स्थावर जीवोंको जिसमें दुःख पौर्वाच्यता ऐसे मार्गसे वे जावेगे. परंतु जो परिग्रहरहित हैं ऐसे मुनिराज उपर्युक्त दोषसे अलिप्त रहते हैं.

परिसह अधिआत्मा—पूर्वकर्मकी निर्वरा करनेकी इच्छा चित्तको है ऐसे मुनीको परिग्रह सहन करनेही चाहिये. क्षुधादिक बापीस परिग्रह हैं. वयपि परिग्रह शब्द सामान्यतया ग्रथुक्त किया है तो भी यहां अचेतनका प्रकरण होनेसे उनके शस्त्ररूप परिग्रहोंका ग्रहण हो जाता है. इस लिये नयता, शीत, उष्ण, दंशमशक, इतने परिग्रहोंकी सहन करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सिद्ध हुआ. जैसी निर्बलमुनीकी शीत, उष्ण, दंशमशकोंसे पीटा होती है वैसे चक्ष ओडे हुए मनुष्यकी होती नहीं है.

सचेतताया गुणान्तरस्वभावय गाथा—

जिणपडिरुत्वं विरियाथारो रागादिदोसपरिहरणं ॥

इच्चेवमादिचहुगा अच्चेल्के गुणा होति ॥ ८५ ॥

स्ववशात्त्वमदोषत्वं धैर्यवीर्यप्रकाशनम् ॥

नानाकारा भवन्त्येवमचेतत्वे महागुणाः ॥ ८६ ॥

विजयोदया—विजयखरुचं विमानां प्रतिविम्बे चेदं अचेलखिणं । ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्व्युद्गीतवन्तो
खिन्नं तदेव तदधिनां योगमित्यभिप्रायः । यो हि यदर्थो विवेकयाम् नास्ती तदनुपायमादत्ते यथा घटायां तंतुरित्येवमादी-
न्मुक्तरथो च यतिनं चेदं ॥ इति मुक्तेरनुपायत्वात् । यथात्मनोऽपि मयस्योपायस्तोयोगत उपादत्ते यथा चकादिकं तथा
यतिरपि अचेतनां तदुपायतां या अचेलताया विनाचरणदेव ज्ञानवर्णनानारथोत्ति ।

विरियावारो वीर्याततायशयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदवियुद्घनेन रत्नत्रयवृत्तिर्योग्यत्वारः ।
स च पंचविधोप्याचारलेखः स च प्रयातितो भवति । अचेलतामुदहताऽसम्पत्तेरपरित्यागस्य कृतत्वात् । परिग्रहत्वागो
हि पंचमं प्रते तदाचारितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत् ।

रागाद्विरोधपरिहरणं । क्षामे रागोऽलम्बे कोपः । लम्बे ममेवंमाखलक्षणो मोहः । अथवा मृदुत्वं दाढ्यमित्येव-
माविषु वसनाखलवगुणेषु रागो मृदुस्पर्शनाविषु मेघ इत्येषां परिहृतः । इत्येवमादि इत्येवमक्षयः पशुभा महान्तः महा-
फलतया अचेलके अचेलतायां कस्यां गुणा होती । यांचावीनतास्तेऽद्यादिपरिहृताः कारिषायेन घृहीताः ।

मूढारा—विजयवैरूपं विनसदशरत्वं विना हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्व्युद्गीतवन्तो खिन्नं तदेव तदधिनां
योग्यमित्यभिप्रायः । विरियावारो स्वसामर्थ्यानिगूढनेन निर्मलरत्नत्रये प्रवृत्तिः । रागादि-लम्बे वले रागोऽलम्बे रोपो, लम्बे-
ऽपि च ममेवमिति मूच्छा । अथवा वसगतेषु मृदुत्वदाढ्योदिगुणेषु रागः प्रीतिः । कर्कशत्ववर्जित्वाविरोधेषु द्वेषः ।
इत्येवमादि इत्येवमादयः । आदिशब्देन यांचाईन्परक्षासंस्तेऽद्यादिपरिहृताग्रहणं । पशुभा महाफलत्वान्माहान्तः । आचेलके
पक्षत्वागो सति पते ।

अचेलत्वमें और भी गुण हैं यह आमेकी गाथासे द्धचित होता है—

अर्थ—जिनप्रतिरूप-यह अचेलत्व गुण है, मुक्तिप्राप्तिके अभिलाषी तीर्थकारोंको मुक्तिका उपाय मालूम
था अतः उन्होंने जो लिंगधारण किया था वही मुमुक्षु मुनिओंको धारण करना चाहिये, जो जिस वस्तुको चाहता
है वह विवेकयान् उसके प्राप्तिके लिये जो उपाय हैं उनकाही आलंबन लेता है, उसके उपाय न होनेवाले वस्तुको
यह ग्रहण नहीं करेगा, जैसे जिसको घटकी चाह है तो वह मृत्पिण्ड, चक्र इत्यादि कारकोंको ही ग्रहण करेगा वह
कदाचिदपि वस्तुतत्त्विके कारणोंका-तंतु इत्यादिकोंका स्वीकार न करेगा, उसी तरह वह मोक्षप्राप्तिका उपाय
नहीं है अतः मुमुक्षुजन उसका ग्रहण नहीं करते हैं, जो जो अपनी अभीष्ट वस्तु है लोक उसके कारकोंको ही ग्रहण

करते हैं जैसे घटार्थी चक्रादिक कारणोंको ग्रहण करते हैं, उसी तरह मुनिगण भी मुक्तिका उपाय जो अचेलता उसका अंगीकार करते हैं, इस अचेलताको जिनेश्वरोंने मुक्तिका उपाय है ऐसा समझकर धारण किया था. जैसे जिनेश्वरोंने ज्ञानाचार और दर्शनाचार धारण किये थे वैसे उन्होंने अचेलता भी धारण कीथी.

वीर्याचार—अचेलतासे वीर्याचार गुणकी प्राप्ति होती है. वीर्यान्तरायकर्मका खोपद्वार होनेसे जो आत्मा में सामर्थ्यपरिणाम उत्पन्न होता है उसको वीर्य कहते हैं. इस वीर्यको न छिपाकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करना वीर्याचार है. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्र्याचार, तप आचार व वीर्याचार ऐसे आचारोंके पांच भेद आगे ग्रंथकार कहेंगे ही. जिसने अचेलता धारण की है उसने अशुच्य वस्त्रत्यागको श्रुत्य करके दिखाया है. यदि वस्त्रत्याग मुनियोंने नहीं किया तो परिग्रहत्याग नामका पांचवा महाव्रत उन्होंने शाला नहीं है ऐसा समझना चाहिये. सामर्थ्य होकर भी वस्त्रका त्याग न करनेसे परिग्रहत्याग महाव्रत कैसे पाला जायगा.

रागादिदोष परिहरण—यह भी गुण अचेलतासे ही मिलता है. वस्त्रका लाभ होनेसे उसमें आसक्ति हो जाती है. उसकी प्राप्ति न होनेसे मनमें कोप घर करता है. वस्त्र मिलनेसे बह बख मेरा है ऐसी मोहभावना उत्पन्न होती है. अथवा जोषनेके पहरनेके बखोंमें मृदुपना, दृढता वगैरे गुण देखकर प्रेम उत्पन्न होता है तथा उसके कठोरस्पर्श, जल्दी फट जाना इत्यादिक दोष अनुभवमें आनेसे उससे द्वेष उत्पन्न होता है. वस्त्रका त्याग करनेसे ये सर्व रागादि दोष नहीं रहते हैं. अर्थात् अचेलताके धारण करनेसे पूर्व गाथाओंमें कहे हुए सब महागुण मुनिराज को मिलते हैं. वस्त्रका त्याग करनेसे याचना दोष नष्ट होता है. दीनता और संक्लेशपरिणाम विलीन हो जाते हैं.

पुनरप्यचेलतामाहात्म्यं सूचयत्युत्तरगाथा—

इयं सच्चसमिदकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु ॥

णिगिणं गुत्तिमुक्खगदो पग्गहिददं परक्कमादि ॥ ८६ ॥

सम्यक्कप्पवृत्तानिःशेषज्यापारः समित्तेन्द्रियः ॥

इत्थमुत्तिष्ठते सिद्धौ नाग्न्यगुप्तिमाचिष्ठितः ॥ ८७ ॥

विजयोक्त्या—इयं एवं । सख्यसमिद्धकरणो सत्यनित्यानि प्रवृत्तानि समितानि, क्रियते रूपाधुषणं पृथिवित् करणानि इन्द्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समितकरणानि, सर्वानि च तानि समितकरणानि च सत्यसमित करणानि, सर्वसमितकरणान्यस्येति सर्वसमितकरणः । रागद्वेषरहिता मायेन्द्रियाणां प्रवृत्तिः समीचीना तस्याश्च अचेष्टता निर्देष्टव्यं । रागादिनिवृत्तया गृहीतासंन्यात्कथमिव रागादीं प्रेक्षावान्यतेत ।

दण्डासणसत्यणमरणकिरियासु एकपादसमपादादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायत-शयनादिका शयनक्रिया । सूर्याभिमुखगमनादिका गमनक्रिया यत्वासु । पद्मादिवदं प्रगृहीतवर्तं । परक्रमदि चेष्टते । कः ? निगिणं नम्रतां । युतिं युतिं । उत्तमोत्तमः उपगतः प्रतिपन्नः । कृतवसनत्यागस्य रासीरे किःस्पृहस्य मम किं शरीररक्षणं तपसा विजरागेष कर्तुं उत्सहेते इति । तपसि यतते इति भावः ॥

आचेष्टस्यप्रतिपन्नो यतिः समितिपरत्वेनैकपादादिस्यानाविदुःकरानुष्ठानेष्ववित्तपानुत्सहेते इति पुनराचेष्टकथ-माहात्म्यं प्रकाशयति ॥

मूढारा—सख्यसमिद्धकरणो सर्वेष्विष्टानिष्टविषयेषु समितानि रागद्वेषोद्वेगरहितानि कृतानि करणानि इन्द्रिया-णि येन । अथवा सर्वत्र समितानि धुतानित्पितृक्रमेण प्रवृत्तानि करणानि ईर्ष्यादिकाः क्रिया वस्य । ठाणेस्यवि स्थान-क्रियाः एकपादसमपादादिका । शयनक्रिया दंडायतसमपादादिका । गमनक्रिया सूर्याभिमुखगमनादिका वास्तु निगिणं नम्रतां । युतिं युतिं रक्षां रक्षणयस्य । पद्मादिवदं प्रगृहीतवर्तं सुदृढं इत्यर्थः । परक्रमदि पराक्रमते चेष्टते । त्यक्तवज्रस्य चेष्टेऽपि निर्मस्य मे किं शरीररक्षणेन तपसा निर्देष्टमेव कर्तुमुत्सहेष्टमिति समोक्तस्यानाविदुःकरकायच्छेष्टलक्षणे तपसि यतत इति भावः ॥

पुनः अचेष्टकमे महचाको आगेकी गथा दिसाती है—

अर्थ—इस अचेष्टकमे प्रभावसेही धनिराजकी स्वर्धनादि पांचों इन्द्रियों रूपादिक विषयोंमें समितियुक्त प्रवृत्ति करती हैं. अर्थात् उनके इन्द्रियोंकी स्वर्धादि विषयोंमें रागद्वेषरहित प्रवृत्ति होती है. अचेष्टता रागादिकोंको जीतनेके लिये हि मुनियोंमें ग्रहण की है अतः वे रागादि विकारोंमें कैसे प्रवृत्त होंगे ? अचेष्टता धारण करनेसे ही वे एक पात्रसे खडे होना, समपाद रसकर कायोत्सर्ग करना, इत्यादिरूप स्थानक्रिया, उत्कटासनादिकोंको आसन-क्रिया कहते हैं. दंडके समान शयन करना, एक पार्श्वसे शयन करना इत्यादिक अयनक्रिया, सूर्याभिमुख गमन करना इत्यादिक गमनक्रिया इत्यादिकार्योंमें खूब प्रवृत्ति करते हैं. वस्तुतया करनेवाले व शुद्धि को पालनेवाले मुनि

शरीरमें प्रेम दूर करते हैं, वे निःस्पृह होकर शरीरको सुन्न करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, मैं तपस्वरणके द्वारा कर्मको निर्दोषी करूँगा ऐसा विचार करके तपस्वरणमें यत्न करते हैं,

अपवादलिङ्गमुपगतः किमु न शुद्धत्वेवेत्यादांकावां तस्यापि शुद्धिरेन क्रमेण भवतीत्यावहे-

अववादिद्यलिङ्गकदो त्रिसयासत्तिं अगूहभाणो य ॥

निर्वृणगरहणजुत्तो सुश्रद्धिं उवाधिं परिहरंतो ॥ ८७ ॥

आपवाविकलिङ्गोऽपि निन्वागर्हापराधनाः ॥

जन्तुरच्छादकः शक्तेः संगत्यागी विशुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

इत्यप्येकम् ॥

विजयोक्ता—अबेकहं गर्ह । अववादिद्यलिङ्गकदो वि अपवावलिङ्गकदोऽपि । करोति स्याताप्येवृत्तिरिह परिगृहीतः । एतां च प्रयोगः—

पर्वे च कृत्वा परे च स्थितोऽर्थः । सुश्रद्धिं शुध्यति च । कर्ममलापयेन शुद्ध्यति । कीदृक् सन् यः स्वां सति शक्तिं । अगूहभाणो अगूहमानः सन् । उवाधिं परिग्रहं । परिहर्तुं परित्यजन् योगप्रयेण । निर्वृणगरहणजुत्तो सकलपरिग्रहस्थानो मुक्तोर्मां मया तु पातकेन दत्तपात्रादिकः परिग्रहः परीपदमीरुणा गृहीत इत्यंतःसंतापो निदा । गर्हो परे-ना पर्ये कथनं । ताभ्यां युक्तः निन्वागर्हाभिप्रायपरिणतः इति यावत् । एवमेषलता श्यावर्णितगुणा मूलतया गृहीता ॥

यद्येवमावेकमुपगतस्य शुद्धितर्कपवादादिगतः शुद्ध्यति न वा यदि शुद्धयति वर्ततेन क्रमेणेति पृच्छन्तं च प्रत्याह—

मूलाह—अववादिद्यलिङ्गगदो अपवाविकलिङ्गस्यो आयोदित्यर्थः । अवि य अति च । क्षीपीनादिप्रथवानपि शुद्ध्यति किं पुनर्निर्ग्रहपर इत्यपि कृत्यार्थः । सगद्यति निवसामर्थ्यं । निदक् सर्वसंगत्यागो जिनोपज्ञं मुक्तिमार्गः मया पुनः पापेन परीपदमीरुणा वसुपात्रादिभ्यो गृहीत इत्यंतःसंतापरूपा निदा । गरहण निदिव गुर्वोदिसाश्रिकेत्यर्थः । उपधिं परिहर्तुं त्वक्तुमशक्यतया परिगृहीतेऽपि वस्त्रादौ निर्मये भवन्नित्यर्थः ।

अपवादलिङ्ग धारण करनेवाले अर्थोदिक अर्थात् ऐलकादिक शुद्ध नहीं होते हैं क्या ? ऐसा प्रश्न होनेपर उनकी भी शुद्धि आगे कहे गये क्रमसे होती है ऐसा आचार्य कहते हैं,

अर्थ—अपवादालिगधारी ऐलकादिक मी अपनी चारित्रचारणशक्तीको न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है, क्योंकि वह अपनी निंदा व गर्हा करता है और मन, वचन व शरीर ऐसे तीन योगपूर्वक परिश्रमक त्याग करता है, संपूर्ण परिश्रमका त्याग करना ही मुक्तिका मार्ग है, परंतु मेरेको परीपहोका डर होनेसे पापोंद्वारे मैंने बह पात्रादिक परिश्रमका ग्रहण किया है ऐसी मनमें पश्चात्तापपूर्वक वह निंदा करता है, तथा गुर्वीदिकोंके समीप अपनी निंदा करता है, वह निंदा और गर्हा ऐसे दो परिणामसि युक्त होकर परिश्रम स्वल्प करता जाता है अतः उसके पूर्वकर्मस्त्री निर्बरा होकर आत्मशुद्धि होती है, इस तरह अचेलताके गुणोंका वर्णन किया, यह अचेलता मुनियोंके अहारित मूलगुणोंमेंसे एक मूलगुण है.

केसाक्षोभारुत्ते के दोषा यन्परिहृं लोचोऽनुद्योयेत इत्यारेकावां दोषप्रतिपादनायोचरं गायत्रयम्—

केसा संसर्जन्ति तु गिष्पडिकारस्तु दुपरिहारा य ॥

सयणादिसु ते जीवा विद्धा आगतुया य तथा ॥ ८८ ॥

संस्काराभायतः केशाः संमृच्छन्ति निरन्तरम् ॥

विशन्त्यागन्तवो जीवा दूरक्षाः शयनादिषु ॥ ८९ ॥

विजयोदयम्—केसा केशाः । संसर्जन्ति सु सुशब्द एवकारार्थः । यूकालिशोत्पत्तेराधारभावमुपप्रजन्त्येव । कस्तु केशाः ? गिष्पडियारस्तु निष्कास्तः प्रतीकारात् निष्पत्तीकारः । प्रतीकारात्तः सागम्यवचनोऽपि संसर्जन्त्य प्रवृत्तत्वात् संसर्जनप्रतिकार एव वृत्तो गृह्यते । तैलाम्यंगंधादिमिश्रजलप्रक्षालनादिक्रियामं कुर्वत इत्यर्थः । ते सम्मृच्छन्त्यागन्तवो यूकवयः । दुपरिहारा य दुःखेन परित्यज्येते । क सयणादिसु शयनं शयनोपयमनं, शिरसा कस्तुत्रिवर्धनं । निद्रामुद्रितलोचनस्य पतनं परचयस्य सतः आदिरादेस्त गृह्यते । वाचा जीवेभ्यः कथंचिद्व्यवशेनालस्वभावभेदात् । ततः वाचायां दुष्परिहारायां जीवा एव दुष्परिहारा एव भवन्तीति मन्यते । वाचा जीवेभ्यः कथंचिद्व्यवशेनालस्वभावदुष्परिहाराः स्तुः । न केवलं तत्रोपक्रा एव दुष्परिहारास्तथा तैरेव प्रकारेण जीवाः आगेतुका य अन्यत आगताश्च कीडादयश्च । एतेन विज्ञादीय आह्वयतः ॥

मूढारा—केसा संसर्जन्ति सु यूकालिशोत्पत्तेराधारभावमुपप्रजन्त्येव । गिष्पडियारस्तु स्नानादिशरीकारसमर्पितः । दुपरित्यादि—स्याप्यायादिसिद्धस्य शिलावत्पदो संवर्धनं, आसिद्धेन शिरसा कस्तुत्रिवर्धनं, निद्रामुद्रितलोचनस्य

परवरात्य सतः पतनं या, तेषु यतमानेन यतिनां त्रे केशसम्पूच्छिनो जीया बायां मच्छतो दुष्परीक्षाय रक्षितुमशक्याः ।
निद्रा प्रलिपन्नाः । न केवलं त एव अपि त्वांगुकाञ्च कीटकादयस्तथा दुष्परीक्षारा दृष्टाः । एतेन हिंसादोष उक्तः ।

केशलोच नहीं करेसे कोनसे दोष उत्पन्न होते है ? बिनाका परिहार करनेके लिये पुनिगण लोच करते है ? ऐसी शंका होनेपर लोच न करनेसे जो दोष हो जाते हैं उनका दो गायबोसे आचार्य वर्णन करते हैं.

अर्थ—तेल लगाना, अम्यगंस्नान करना, सुगंधित पदार्थसे केशोंका संस्कार करना, जलसे घोना इत्यादि क्रियायें न करनेसे केशोंमें यूका और लिखा ये अन्तु उत्पन्न होते हैं. जब इनकी उत्पत्ति केशोंमें होती है तब इनकी वहाँसे निकालना बड़ा कठिन काम है.

ये लिखादिक जंतु चढाई बैरइमें घुस जाते हैं. मस्तकसे यदि किसी पदार्थका आश्रय लिया हो तो उसमें उनका प्रवेश होता है. जब निद्रा आती है तब मस्तकसे वे नीचे गिरते हैं. अन्य देशकालस्वभावसे उत्पन्न हुए प्राणियोंसे इन लिखादि जंतुओंको वाया भी फोहेंचती है । अन्य देश, काल, स्वभावसे यह बाधा भी मिटाना बड़ा कठिन काम है. पाधाका दुष्परिहार होनेसे जीव भी दुष्परिहार होते है ऐसा कह सकते हैं. अन्य स्थलसे कीटादिक जीव आकर भी वे वहाँ ठहरते हैं उनको निकालते समय ये मर जानेसे हिंसादोष उत्पन्न होगा.

जुगाहिं य लिक्त्वाहिं य गाधिज्जंतस्स संकिलेसो य ॥

संघट्टिज्जंति य ते कंडुयणे तेण सो लोचो ॥ ८९ ॥

संश्लेशः पीड्यमानस्य यूकालिक्षेण दुःसहः ॥

पीड्यते तत्र कंहृतौ यतो लोचस्ततो मतः ॥ ९० ॥

विजयोदया—जुवाहिं य यूकाभिन्न । लिक्त्वाहिं य लिक्ष्मिन्न । गाधिज्जंतस्स वाच्यमानस्य यतोः । संकि-
लेसो य संश्लेश । जायते इति शेषः । स च श्लेशोऽधुमपरिणामः पापस्त्वः । पूर्वोपातकमपुत्रलरसामिबद्धतन्निपुणः ।
अथवा गाधिज्जंतस्स मरुतमानस्य संकिलेसो य दुःखं वा । तथा चोक्तं—मिलश्च विषाद्यने इति । मतेनात्मविराधनादोषः
संचितः । अथ मदक्षणे असहमानः कंहृत्यति तत्र दोषमाह—संघट्टिज्जंति य संघट्टंते ते यूकादयः । आगंतुकाञ्च कंडुयणे
फंडुकरणे । तेन वीषेण हेतुनासो आगमदृष्टा लोचः क्लियते इति शेषः । प्रवक्षिणावतोः केशमधुविषयः इत्यांगुलीभिरेव
संपाद्यः द्विभित्तुर्मांसगोचरः ॥

मूढारा—संकीर्तनेसे दुष्परिणामः संततदुःखं वा । एतेभ्योऽपि विद्याधनयोः सूचितः । संप्रतिजांति संप्रत्यये पीड्यते यूकायाः कीटायाश्च । सो ज्ञानमद्वयः केसरसमुद्भिषयो द्विर्जितुमासंगोचरः प्रदक्षिणावर्तो हस्तांगुलीभिरल संयाग इत्यर्थः ।

अर्थ—जुं और लिखाओंसे पीडित होने पर मनमें नवीन पापकर्मका आगमन कराने वाला अशुभ परिणाम—संछेद्य परिणाम होजाता है, तथा इस परिणामसे पूर्ववद्धपापकर्ममें अधिक अनुभव—रस बढ़ जाता है, इन जीवोंके द्वारा भक्षण क्रिये जानेपर शरीरमें दुःख होता है, अतः इससे आत्मविश्रान्ता होती है, जब इनके दंश करनेसे असह्य वेदना होती है तब मनुष्य मस्तक खुजाता है, मस्तक खुजानेसे जुं लीख आदिक अंतुओंका परस्पर मर्दन होकर नाश होता है, ऐसे दोषोंसे बचनेके लिये सुनिगण आगमके अनुसार केशलोच करते हैं, मस्तक, दाढ़ी और मूछके फेणोंका लोच दाढ़ोंकी अंगुलियोंसे करते हैं, दाहिने पाखसे आरंभकर बाये तरफ आवर्त रूप करते हैं, इस लोचकी उत्कृष्ट मध्यम और जवन्य मर्यादा दो मास, तीन मास और चार मासकी है, ऊपर लोच नहीं करनेसे होनेवाले दोष दिखाने हैं,

एवं लोचकरणे दोषदुःखाख्य लोचो गुणव्यपनस्य मायानयमुत्तरम्-
लोचकदे मुंडत्वं मुंडत्वं होइ निविवियारत्वं ॥

तो निविवियारकरणो पगहिद्वरं परच्छन्नादि ॥ ९० ॥

मुंडत्वं कुर्वतो लोचमस्त्यतो निविविकारिता ॥

प्रकृष्टां कुरुते वेष्टां वीतरागभनास्ततः ॥ ९१ ॥

विजयोद्या—लोचकदे लोचो हतः स्थितः लोचकृताः सप्तमीति योगविभागात्समासः । तस्मिन् लोचो हतो लोचस्थिते इति केचित्सु । अन्ये तु वदन्ति लोचगदे इति पठन्तः लोचं मतः प्रातः लोचमतः तस्मादिति । अथवा कुतश्चाद्यो मायसाधनः ततः सहस्रणा सप्तमी लोच एवं कृतं तस्मात् । लोचक्रियायां सत्यां । मुंडत्वं मुंडशिरस्करता नाम भवति । न मुंडशिरस्करता मुष्प्युपायो गुणोऽस्त्यत्यन्तवदस्त्याभिधानवत् तस्मिन्कुनेनानुपयोगिना गुणेनत्यागकायां आह—मुंडत्वे होदि निविवियारत्वं इति । मुंडत्वे मुंडनायां सत्यां । होदि भवति । निविवियारत्वं निविविकारता । विकारो विक्रिया सलीलता, मनश्चंगारकयाऽप्यसहस्रणादिकः । तस्मादियं कान्तुः तत्राममुचुः निविविकारता निविविकारो भवति इति ।

यावत् । सो ततः निविद्यारकर णो विकाररहितक्रियः । पणविषदरे प्रगुहीततरं । परक्रमवि चेष्टते कारणवये इति शेषः । रत्नत्रयोयोगः परंपरया लोचनोपयोगः समाख्यातोऽन्या गाथया । नमस्य मुदस्य सविभ्रमं गमनादिकं जनो सुप्रदु हसति, शोभते तरानियमस्य धिलासिता पंडकस्य चामलोचनाविलास इवेति मन्यमानो निरस्तविफारो मुक्तये केवलं प्रदेते इत्यभिप्रायः ॥

एवं लोचनकरणे दोषानुक्त्या तत्करणे गुणान्वक्तुं गाथात्रयमाह—

मुञ्जारा—लोचनके लोचन्य करणे सीत । निविद्यारखं सलीलगमनदसमंभृगारअथाकटाधनिरीक्षणादिलक्षणविकार-
रहितत्वं । निविद्यारकरणे कीतरलगमननादीक्रिय. सत् । परक्रमदि कुभनमोषाकायव्यापारे प्रवर्तत इत्यर्थः । एतेन लोचः
परंपरया रत्नत्रयोक्वोणी भवतीत्युक्तं प्रतिपन्नवचम् ॥

अब लोचके गुणोंका वर्णन आचार्य तीन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ—लोच करनेपर ही शिरोमुंडन हुआ ऐसा माना जाता है. शंका शिरोमुंडन करना अर्थात् लोच करना मुक्तिका उपाय नहीं है क्योंकि यह रत्नत्रय नहीं है. अतः लोच करना व्यर्थ है. इससे कोई गुणविशेष उत्पन्न नहीं होता है. इस शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—शिरोमुंडन होनेपर निर्विकार प्रवृत्ति होती है. अर्थात् केशलोच किया हुआ साधु लीलासे गमन करना, भृंगारिक कथार्य कहना, कटाक्षसे अवलोचना— तिरछी नजरसे देखना, इत्यादिक विकारभावसे प्रवृत्ति नहीं करता है. इस निर्विकारप्रवृत्तिसे यह मुक्तिके उपायभूत रत्नत्रयमें खूब उपयोगशील बनता है. अतः लोच परंपरया रत्नत्रयमें प्रवृत्ति होनेके लिये क्लरण होता है ऐसा इस गाथासे सिद्ध हुआ. नम्र और मुदितमस्तक में यदि हावभावसे गमन करूंगा और इधर उधर फटाक्षपात करते चंछंगा तो मेरेको देखकर लोग हसेंगे और तबिके विलासके समान इस हिजड़ेका यह विलास शोभा पाता है ऐसा कहेंगे ऐसा मनमें विचार करके साधु संपूर्ण विकारभावोंको त्याग करके केवल मुक्तिके लिये प्रयत्न करते हैं. ऐसा अभिप्राय समझना.

अप्या दमिदो लोएण होइ ण सुहे य संगमुवयादि ॥
साधीणदा य णिहोसदा य देहे य णिम्ममदा ॥ ११ ॥

दम्प्रमानस्य लोचनं हृषीकार्थेऽस्य नाग्रहः ॥

स्वाधीनत्वमदोपत्वं निर्ममत्वं च विग्रहे ॥ ९२ ॥

विजयोदया—अथ्या दशिये होदि वशीछतो भवति । कस्य ई आसन गण । केन कारणेन । लोपण कथोत्पाटनेन ।
दुःखभावनाया निगृहीतदर्पः सर्व एव श्रान्तो भवति यथा वलीवर्षादिरिति मन्यते ।

सुखं य सुखे च । तंगं आलोकता । नोपयाति । सुखमेव सुखलपटं जनं करोति । दुःखेऽन्तर्भाव्यमाने सुखासक्तिर्ह-
न्यते सुखोपयोगमूलोत्तदाभावात् । यथाभावेऽङ्कुर इव । इन्द्रियसुखवान्मुख्यव्येन्यते तथासक्तो हिंसादिषु भवर्तते ।
तेन परिच्छिन्नमूलसुखासंगादसंपृचः संयत एवेति मुक्तमेवत्युपायः । अमिनाश्रयनिरोधमन्तरेण का नाम निर्लेता । तस्यां
वा सत्त्वा का मुक्तिरिति भावः ॥

सादीप्यन्ता य दशवशता च केनासक्तो हि जनोऽथद्वयं शिरोभक्षणे, सम्मर्दने, प्रक्षालने, तच्छोपणे च प्रवर्तते । स
वार्त्तं यथापते विप्रमावदति स्वाध्यायार्थैः ।

निरोदसा य निर्दोषता च । या सधोगक्रिया सा न कार्या यथा स्तेवाविका । निर्दोषतयशुद्धीयते यथानश्रयतादिका ।
तथा खेयमदोया लोकाक्रियाः ।

देहे य देहे च । विमममा मनेर्दुश्चिरदितता अनेन सौचार्यो धर्मो भावितो भवतीत्युक्तं भवति । प्रकृष्टा
लोभनिष्ठाधिः शीघ्रं, शरीरलोभनिष्ठाधिः शीघ्रं । शरीरलोभनिष्ठाधिः सकललोभनिष्ठाधिः सकललोभनिष्ठाधिः शरीरलोभनिष्ठाधिः शरीरलोभनिष्ठाधिः
धर्माधिप्यस्य लोभः । धर्मश्च संयतश्चेत्, शुक्तिसमिधमसिधुमेक्षापरिपदजैरिति यचनात् ॥

मूलाया—दानो देव जिह्वा वलीवर्षादिकृतो भवत्यात्मन एव । सुखे विषयोपे सुखे । सर्व आसक्ति
दुःखभावनाया सुखासक्तिद्वानुपलब्धेः । साधीनता । क्रियोपश्रयविपरलब्ध्याभावात् स्वाध्यायादौ स्वावर्धं । निरोदसा
अनकृतादिक्रियावलोचक्रियानिर्दोषत्वं रजनयोपयोगित्यात् ।

अर्थ—जैसे देह दगाई पशु उनकी दुःख देनेसे उन्मत्तताहीन होकर शांत होते हैं वैसे केशलोच करनेसे
और दुःख सहन करनेकी भावनासे आत्माका दमन होता है, यह शांत होता है इसीलिये मुनि लोच करके अपने
आत्माको स्वयं करते हैं, सुखोमे वे आसक्ति नहीं रखते हैं, क्योंकि सुख मनुष्य प्राणीको सुखलंपट बनाता है-
दुःखका विचार करनेसे उसकी भावना करनेसे सुखासक्ति नष्ट होती है, सुखकी भावना करनेसे ही सुखासक्ति पैदा
होती है, परंतु यह भावना नष्ट होनेसे सबके अभावसे अंकुर जैसे अपने अस्तित्वको नहीं रखता वैसे सुख भी
अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है, इन्द्रियसुखोंके पछि दोढनेवाला मनुष्य उनमें आसक्त होकर हिंसादिक पापकार्य
करता है, इन्द्रियसुखकी प्राप्तिके लिये आरंभ परिग्रह मूल कारण है, अतः ऐसे सुखसे परावृत्त होनेसे संवर होता

है, यह संवर ही मुक्तिका उपाय है, जबतक नवीन कर्मोंका निरोध न होगा तबतक निर्बरा होकर भी कुछ आत्मीका कल्याण न करेगी, अर्थात् संवर पूर्वक निर्बरा ही मुक्तिका उपाय है.

लोचसे स्वाधीनता गुण प्राप्त होता है, केशोंपर जो प्रेम करता है वह मस्तक घोनेमें, केशप्रक्षालन करनेमें, उनको सुखनेमें, प्रयत्न करता है, इसके इन कृत्योंसे स्वाध्याय ध्यानादिकोंमें विग्रह उपस्थित होता है, अतः यह इन कृत्योंमें लगनेसे परार्थीन हुआ है ऐसा समझना चाहिये, लोच करनेमें उपर्युक्त कृत्य नहीं करने पड़ते हैं तथा स्वाध्यायादिक स्वकृत्योंमें लगनेसे वह स्वार्थीन कहा जाता है.

लोच करनेसे निर्दोषता गुण मिलता है, चोरी करना, झूठ बोलना यह सद्गोप क्रिया है, मुनिराज अनशनादिक निर्दोष क्रिया जैसी करते हैं ऐसा लोच भी निर्दोष क्रिया होनेसे वे इस क्रियाको भी करते हैं.

लोचसे देहममता नष्ट होती है, यह देह मेरा है ऐसी भावना नष्ट होती है, तथा लोचसे शौचधर्मकी प्राप्ति होती है, प्रकट लोभकी निवृत्ति होना शौच है, शरीरपरसे लोभ नष्ट होगया तो समस्त लोभोंके प्रकारोंका नाश होता है, शरीरके उपकारके लिये ही शंभु घनादिकोंके ऊपर लोभ उत्पन्न होता है.

इन लोभोंका नाश होनेसे शौचधर्म संवरका कारण होता है, क्योंकि गुप्ति, समिति, धर्म अदुग्ध, और परीपह जय संवरके कारण हैं ऐसा पूर्वोक्तार्थ कहते हैं.

आणविस्रदा य लोचेण अप्पणो होदि धम्मसट्ठा च ॥

उगो तवो य लोचो तहेव दुक्खस्स सहणं च ॥ १२ ॥

आत्मीया दर्शिता अद्धा धर्मे लोचं वितन्वता ॥

भावितं सकलं दुःखं दुद्वरं चरितं तपः ॥ १३ ॥

इति लोचः ॥

विजयोदया—आणविस्रदा य होदि आदित्ता भवति । लोचेण लोचेन । का ? धम्मसट्ठा धर्मे चरित्ते अद्धा । कस्य ? अप्पणो आत्मनः । महती धर्मेण अद्धाऽन्यथा कयमिदं दुःखं केशमारभते इति । आत्मनो धर्मप्रदाप्रकाशाने परस्मादि धर्मप्रदाप्रकाशाने लोचं वितन्वति । लोचः केशप्रदाप्रकाशाने

कायफलेदाल्यं दुःप्रांतराणि च सहते ॥ लोचनं तथैव व्यापार्यतिगुणवत् ॥ दुःसप्तस्य दुःप्राप्तस्य सहणं च सहनं च दुःखं
भावयन् दुःप्रान्तराणि च सहते । दुःसप्तसहनाच्चि जरो भवत्यशुभकर्मणां ॥ लोचोचि मंदं ॥
मूत्रारा-श्रणादिखरा अनखिता । णक् दशेन इत्यस्य प्रयोगः । आदर्शितेत्यस्य प्रयोगः । उगो तवो उग्र-
तपः कायैश्वर्यम् ॥

अर्थः--युनि लोच करते है उससे उनकी धर्मके-चारित्रके ऊपर बड़ी भारी श्रद्धा व्यक्त होती है. यदि
उनमें-चारित्रमें श्रद्धा न होती तो वे इतना दुःसह छेद क्यों करते ? वे अपनेमें धर्मश्रद्धा प्रगट करते हैं अतः
अन्य जनोंमें भी उनकी धर्मश्रद्धा देखकर धर्मके प्रति श्रद्धा बढ़ जाती है. अतः लोचके द्वारा उपबृंहण नामका
गुण भी प्राप्त होता है. लोच करनेवाले युनि उग्रतप अर्थात् कायश्रेष्ठ नामका तप करके होनेवाला दुःख सहते
है. जो लोच करते हैं उनको दुःख सहनेका अभ्यास हो जाता है अतः वे अन्य दुःखके प्रसंग आने पर झरते नहीं
जांतताले सहन करते हैं. दुःख सहन करनेसे अशुभ कर्मों की निवृत्ति होती है.

च्युत्स्वच्छादीरताभिधानयोचः अर्थः--

सिंहगणनम्बुव्यवृणाणि णहकेसमंसु संठप्यं ॥

दंतौट्टकणमुहुणासियच्छिभमुहाइं संठप्यं ॥ ९३ ॥

न भ्रूदन्तौट्टकर्णश्चिनखकेशाविसंस्कृतिम् ॥

मजन्त्युद्धर्षनं स्नानं नाभ्यङ्गं ब्रह्मचारिणः ॥ ९४ ॥

विजयोवया—विण्हाणम्बुव्यवृणाणि धजेविति वदधटना स्नानम्बुजमोक्षैर्यनानि ॥ णहकेसमंसु संठप्यं मत-
केसमभुसंस्कारं च वर्धयति । अन्तरेणपि चशब्दं समुच्चयार्थमेकीतिः ॥ गृध्रिव्यापसेजो धासुराकारो फालो दिगाम्ना
मनः इति द्रव्याणि इत्यत्र यथा ॥ दंतौट्टकणमुहुणासियच्छिभमुहाइं संठप्यं कलेजोदिति पदरचना ॥ दंतानामोष्ठयोः, कर्णयो
र्मुपस्य, नासिकाया, अण्योर्ध्वोरादिमहणत्पणिणद्वीनां च संस्कृतिं परिहरति ॥

आमनेकमकारं शिरोमात्रमशालनं, शिरो मुक्त्वा अन्यस्य वा यात्रस्य, समस्तस्य वा । तत्र शीतोदकेन कियते
स्नायत्तणां व्रतानां च दाप्यामस्यदिति । कर्हमवलुकादिमर्दनान्जलकोषणाच्चउदीराणां च वनस्पतीनां पीडितः मत्स्यदंडैर
सुदमव्रतानां च स्नानं निवार्यते । उष्णोदकेन स्नायदिति चेन्न, तत्र व्रतस्याप्यवभावस्थितैव । भूमिद्वीधिचरीस्थतानां
विपीडिकादीनां मृतेः, तरुणपणपुत्राणां चोष्णांबुभिसंस्नानं दुःधासिका महती जायते । तथा क्षारतया धान्यरसदीनां ।

न चास्ति प्रयोजनं ज्ञानेन सप्तषादुभयस्य वेदस्य न शुचिता शक्या कर्तुं । ततो न शौचप्रयोजनं । न रोगापादये रोग-
परीपदसहनाभावप्रसंगतः । न हि भूपाथे विपगन्वात् ।

धृतैलादिभिरभ्यञ्जनमपि न करोति प्रयोजनाभावादुक्तेन प्रकारेण घृतादिना क्षारेण स्पृष्टा भूम्यादिर्जतवो
शास्यते । असाध्य तत्रावबलप्राः ।

उद्धर्त्तने इतस्ततः पततां व्याघाताः । मूलत्वक्फलपत्रादेः पेपणे, दलेन च माहानसंयमः । निर्वर्तनविलेखनपर्यण-
रञ्जनाविकी नृत्यसंस्कारः । ओष्ठमलापकर्षणं तद्रागकरणं वा ओष्ठसंस्कारः । केशसंस्कारो हस्तपर्यणेन मत्तुणतासंभावनं,
तथा इमभूणामपि । दंतमलापकर्षणं तद्रंजनं वा दंतसंस्कारः । नृद्वयबोलेवतापदवं । दीर्घयोर्बो नृद्वयकरणं । तन्मलनिरा-
सोऽलंकारप्रह्वं कर्णसंस्कारः । मुखस्य तेजःसंग्रहं लेपेन मंत्रेण वा मुखसंस्कारः । अक्ष्णोः प्रक्षालनं अक्षि-
संस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्भां उत्प्राटनं आधुलोभ्यापदवं । लंबयोक्वभ्रतीकरणं, भ्रूसंस्कारः । शोभायं हस्तपादादि-
प्रक्षालनं, शीघ्रचलितेपादिसंस्कार आदिशब्देन गृहीतः ।

अधुना द्युत्सृष्टशरीरताकमलितविकल्पव्याख्यानाय गाथाप्रथमाह—

मूला—सिन्धुणा स्नानं । अर्धंगं चैलादिना लिङ्गपत्त्यापदनं । उज्ज्वट्टण जलाविप्लुतमसूरादिपिष्टादिना वेदस्ये-
तस्ततो मर्दनं । नैसु दमद्गु दूढं इत्यर्थः । संतप्यं संस्कारं । मसुहादि आदिशब्देन हस्तपादादि । तत्र लेखनकर्तव्यपर्यणरंज-
नादिको नखसंस्कारः । हस्तपर्यणेन मत्तुणताकरणं केशवधभुसंस्कारः । मलापनयनरंजनादिको दन्तौष्ठसंस्कारः । नृद्वय-
लंघीकरणमलापकर्षणमरणादिकः कर्णसंस्कारः । लेपेन मंत्रेण वा तेजःसंग्रहं मुखसंस्कारः । अंतर्मलरोमापनोवादि-
नासासंस्कारः । प्रक्षालनांजनादिको नेत्रसंस्कारः । विकटोत्थितानां रोम्भां केशानामुत्प्राटनं आधुलोभ्यापदनं च । कुबोरेव
वा लंबयोक्वभ्रतीकरणं भूसंस्कारः । शोभायं प्रक्षालनमौषधलेपनादिकं च हस्तपादादिसंस्कारः ।

व्युत्सृष्ट शरीरता शरीर परसे भ्रमत्वभाव दूर करना अर्थात् कायोत्सर्ग करना यह भी लिखा एक
प्रकार है इसका वर्णन करनेके लिये उत्तर प्रबंध आचार्य कहते हैं—

अर्थ—मुनिगण जलस्नान, अग्न्यग्नस्नान और शरीरको उबटन लगाना इनका त्याग करते हैं, वे
नलौका संस्कार, फेंडोंका संस्कार और दाही भूछोंका संस्कार इनका त्याग करते हैं, दांत, जोठ, कान, नाक,
मुँह, आँखें और मोँहें आदिका भी वे कभी संस्कार नहीं करते हैं, आदि शब्दसे दाथ और पावोंका संस्कार भी वे
नहीं करते हैं ऐसा समझना,

विशेष—स्नानके अनेक प्रकार हैं, जलसे केवल भस्तक धोना, अथवा भस्तक छोड़कर अन्य अवयवको

घोना अथवा समस्त अयवोंको घोना. परंतु त्रस और स्थावर जीवोंको बाधा न होवे इसलिये मुनि शीतलजलसे स्नान नहीं करते हैं. स्नानके जलसे कीचड़ होता है, वादुकादिकोंके मर्दानसे जलकायिक जीवोंका घात होता है. वनस्पति जीवोंको बाधा पोहोचती है. मत्स्य, मेंढक, और सृष्टम त्रसोंको बाधा पोहोचती है अतः मुनिगण शीत जलसे स्नान नहीं करते हैं. यदि वे थंडे पानीसे स्नान नहीं करते हैं तो गरम पानीसे क्यों नहीं करते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर यह है—गरम जलसे स्नान करनेसे भी त्रसस्थावर जीवोंको बाधा होती ही है. जमीनके छिद्रोंमें, बड़े बड़े बिलोंमें यह पानी प्रवेश करेगा तो वहांके चिट्टी वगैरह प्राणियोंको बाधा अवश्य होगी ही. गरम पानीसे घास, कोमल अंशुर संतप्त होकर महान्कष्टी होते हैं. गरम पानीसे धान्योंका रस नष्ट हो जाता है.

मुनिओंको जलस्नानकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि, जलस्नानसे सब धातुमय देह पवित्र नहीं होता है. इस वास्ते शुचितोफलिये स्नान करना भी योग्य नहीं है. रोगपरिहार करनेके लिये भी स्नानकी आवश्यकता नहीं है. यदि वे स्नान करेंगे तो रोगपरीषद सहन करना व्यर्थ होगा. शरीर सौंदर्य युक्त होनेकेलिये भी वे स्नान नहीं करते हैं क्यों कि वे वीतराग हैं.

मुनि भी, तैल इत्यादिकोसे अभ्यंगस्नान भी कुछ प्रयोजन न होनेसे करते नहीं हैं. घृतादि क्षारपदार्थों का स्पर्श होनेसे भूमि वगैरहमें रहनेवाले जन्तुओंको पीडा होती है. भूमिपर बिपके हुए त्रस जीव इधर उधर होते हैं. गिरते हैं तब उनको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जाते समय बाधा पोहोचती है.

बूधोंके मूलभाग, छाती, फल, पंच इत्यादिकोंका चूर्ण करनेमें, पीसनेमें महान् असंयम होता है. नल निफालना, घिसना, रंगाना इत्यादि कार्यको नखसंस्कार कहते हैं. ओठोंका मल निफालना, उनको रंगाना अधि-क लाल दीखने सायक बनाना यह ओष्ठसंस्कार है. दाबोंके द्वारा घर्षण करके स्निग्धता उत्पन्न करना यह केश संस्कार है. दाढी लीर मुँहोपर भी हात धार बार फेरकर स्निग्धता उत्पन्न करना यह स्मश्रुसंस्कार है. कान नहस्य हो तो उनको दीर्घ करना, दीर्घ हो तो उनको छोटे बनाना, उसमें से मल दूर करना, उनको अलंकारोंसे भूषित करना यह कर्णसंस्कार है. कुछ उबटन वगैरे पदार्थ लगाकर मुहको तेजस्वी बनाना. अथवा मंत्रके द्वारा मुहको तेजस्वी करना यह मुखसंस्कार है. आंखें स्वच्छ घोना, वे अंजनेसे आंजना यह नेत्रसंस्कार है. जो केश इधर उधर तिरछे ऊगे हैं उनको निकाल देना, दीर्घ केशोंको नहस्य करना, उन्नत बनाना यह मोहोंका संस्कार है.

सुंदरता बड़े इसलिये हाथ और पाय, जगरे घौना, औषधादि विलपन करना यह हस्तपादादिसंस्कार हैं. ऐसे सन देहसंस्कारोंका मुनि त्याग करते हैं. इससे वे अरीरके ऊपर स्निह रहित हैं यह सिद्ध होता है. अरीर स्नेह छोड़ना यह भी मुनिलक्षणका एक भेद है.

यज्जेदि बंभचारी गंधं मल्लं च ध्रुववासं वा ॥

संवाहणपरिमहणपिण्डणादीणि य विमुत्ती ॥ १४ ॥

न स्फन्धकुट्टनं वासं माल्यं धूपविलेपनम् ॥

कराभ्यां मलनं चूर्ण चरणाभ्यां च भर्जनम् ॥ १५ ॥

विजयोषया—गंधं फस्तूरिकादिकं । मल्लं मास्यं शतुष्यकारं । ध्रुववासं च । धूपं फालागुयादिकं । वासं सुपचासं च सातिफलादिकं । भनैन्नुपभिक्षचमिष्ये वा । संवाहणं हस्ताभ्यां मलनं । चरणाभ्यां मलनं । परितः परिमर्दनं । अंलकुट्टनं उभर्तुं दाढ्यं च कर्तुं यत्पिपिदिनिसुष्यते । पतारत्तयं यज्यति प्रयोजनभवादिस्साप्रदुत्तेच । कः ? ब्रह्मचारी अग्रहा निषुचिपरो यतिः ।

मूलाय—मल्लं माल्यं पुष्पमाला । गंधं जातिफलादिना मुलयास्तनं । संवाहण हस्ताभ्यां भर्जनं । परिसवण पादाभ्यां भर्जनं । पाणीयगादिणि अस्योरुभ्रति दाढ्यं च कर्तुं कुट्टनं पणिषणमित्युच्यते । पुटपुटीत्यन्ये । आदिसन्वेत कासुपालिका बुद्धचदिकादिभर्जनम् । विमुत्ता विमुक्ताः निर्भया इत्यर्थः । न हि ब्रह्मचारिणां स्नात्वादिना प्रयोजनमस्ति स्वभावतोऽप्युचैः क्षावस्य शोषयितुमशक्यत्वात् नामन्यजोचान्या च बीभत्सत्वासं पाशराभणीयकत्वात् । तेन भूष्यदिस्थप्रसत्थापरप्राणि हिंसारागादिप्रसंगाच्च ।

अर्थ—ब्रह्मचर्य धारकने कस्तूरी वगैरे सुगंध वस्तुओंका त्याग करना चाहिये. पुष्पमाला, रत्नमाला, सुवर्णमाला इनका त्याग करना चाहिये. फालागल, तगर वगैरहका धूप भी त्यागना चाहिये. मुखको सुगंधित करनेवाले जायफल, इलायची, लवंगादि पदार्थ छोड़ने चाहिये. हाथोंसे अंग चूरना, पायोंसे अंग रगड़ना, शुष्ट दूद करनेके लिये वाहुभर्जन करना हत्यादि कर्म मेथुनसेवाके त्यागी मुनिवर्य छोड़ देते हैं.

किं ब्रह्म/व्रतस्य भुवन्ति स्नानादिपरित्यागाः येन तद्भूताचरणप्रियस्तदनुष्ठाने यतते इत्यारोकायामाह—
अह्निविलिप्तो देहो लुप्तस्यो लोककदवियद्वीभक्त्यो ॥

जो रुद्रणवसलोभो सा गुप्ती बंभचेरत्स ॥ १५ ॥

या रूक्षा लोचनीयत्सा सर्वाणमत्या तडुः ॥

सा रक्षा ब्रह्मचर्यस्य प्ररुदनस्वलोलम्बिका ॥ १६ ॥

इति व्युत्सृष्टवेदता ॥

वित्तयोदया—जह्निविलिप्तो देह इति । देहो गुप्ती बंभचेरत्स इति परगटना । देहो शरीरं । गुप्ती गुप्तिः रक्षा । अह्निविलिप्तो यनीभूतमुपपुंरि प्रचितं शरीरमलं जह्नुवायेनोच्यते । तेन विलिप्तो विलिप्तः देहः । स्नानादित्यागात् । कस्म्यो कस्म्यस्यै । स्नानादिविराडादेव लोचकदवियद्वीभक्त्यो लोककरणविकृतवीभक्तः । जो यो देहः रुद्रणवसलोभो वीर्षीभूतनयप्रच्छादयेशालोम्बिकतः । सेति गुप्तिः ॥ सामानाधिकरण्यात् स्त्रीलिङ्गात्वात् ॥ कस्य ? बंभचेरत्स ब्रह्मचर्यस्य ॥

स्नानादित्यागस्य फलमाह—

मूलारा—जह्नु यनीभूतमुपपुंरि प्रचितं शरीरमलं जह्नु इत्युच्यते । सर्वाणिमलो वा जह्नुः । लोचकदवियद्वीभक्त्यो लोचकत्वं लोचकत्वं तेन वियद्वो विकृतो वैरुत्वं नीतोऽत एव वीभक्तो जुगुप्साविषयः । रुद्रणवसलोभो वीर्षीभूतनयप्रच्छादयेशालोम्बिकः । गुप्ती गुप्तिः रक्षा । आरूढा रुद्रैराग्यकरत्वात् ।

प्रक्षयतधारक मुनि स्नानादिकोका त्याग करते हैं, यह सत्य है, परन्तु स्नानादिकोका त्याग करनेसे ब्रह्मव्रतमें क्या विशेषता होती है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—स्नानादिकोका त्याग करनेसे यथाकिं देहपर वार वार मल जम कर दृढ होता है, अर्थात् इस तरहमें मल संचित होनेपर उनके ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है, स्नानत्यागसे और मलसंचय होनेसे देहकी स्निग्धकांक्षि नष्ट होकर वह रूखी बनती है, लोच करनेसे देह वीभक्त दीखता है, नखसंस्कार न करनेसे नख बढ़ कर लंबे होते हैं और गुप्तभेदा केशसे ढक जाता है, अतः स्नानादिकार्य न करनेसे ब्रह्मचर्यका रक्षण होता है, यह सिद्ध होता है, 'व्युत्सृष्ट शरीर' यह प्रकटण सम्यक्त हुआ,

इरियादाणनिखेवे विवेगताणे णिसीयणे सयणे ॥

उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उंटणामरसे ॥ ९६ ॥

आसने शयने स्थाने गमने मोक्षणे ग्रहे ॥

आमर्दानपरामर्शप्रसारकुञ्जनादिषु ॥ ९७ ॥

विजयोदया—इरियादाणे पडिल्लेहेवेण पडिल्लिह्लिजवित्ति एवं सर्षच्च । ईषायां गमने प्रजतः स्वपादमिक्षेपेवो यदि पुष्परिदाराः स्युः सिपीलिकादयोऽथवा प्राक् पादावलम्बजसो चिरदयोनिर्वाभ्रमिस्तत्त उहं प्रवेष्टव्यं यदि पडिल्लेहेणेन प्रतिषेधेन पडिल्लेहिउज्जति निराक्रियते व्रसादिकं । आदाने प्रहणे ज्ञानचारित्रसाधनार्थं । णिल्लेवे विवेकं । ज्ञानसंयमोपकरणार्थं निक्षेपे स्थापनायां । पत्तिस्त्रियत्ते यत्र च तदुभयप्रमार्जनं कार्यं । शरीरप्रलानां उच्चारादीनां विवेके उत्तरजे वा कर्तरि प्रवेष्टाः । सा च भूयस्ययोग्या प्रमार्जनीया । ताणे निस्सीयणे सयणे स्थाने आसने च शयने च शयनक्रियायां । उव्वत्तणपरिवत्तणपसारणा उंटणामरसे । उव्वत्तण उत्तानशयनं । परिवत्तणं पार्श्वोत्तरसंचारं, पसारणं प्रसारणं हस्तपादादीनां । माउंटणं संकोचनं । स्पर्शक्रिया आमरसशब्दोच्यते ॥

अधुना प्रतिषेधनाख्यालिंगभेदस्य साध्यमभिधातुं गथाद्वयमाह—

मूळारा—इरिया ईयां गमनमित्यर्थः । तदादौ प्रतिषेधनेन विष्ठाविता व्रसादिकमपसार्यते । तथाहि— मां गच्छतः संयतस्य श्वापदनिक्षेपदेसो विभीषिकादयो दुष्परिदारा यदि सूर्यदि वा प्राक्पदावलम्बनजसो चिरदयोनिरुक्तराशूभिर्वा गंतव्या, जहं वा प्रवेष्टव्यं तदा तत्पिपीलिकाद्वयप्रभृति ढेलनेन निराक्रियते । एवमादाने ज्ञानसंयमापुष्करणप्रहणे, निक्षेपे तत्स्थापनायां, विवेके विष्णुब्राह्मसर्गे, स्थाने उद्धीभावो, विसयणे निपीदने उपवेदाने, सयणे स्वप्ने, उपवृत्ते उत्तानशयने, परिवर्तणे पार्श्वोत्तरसंचारे, पसारणे हस्तपादादिप्रसारणे, आवर्तणे वेपथोव संकोचने, आमासे आमर्शे स्पर्शनक्रियायां, अन्यत्राख्येवविधे कर्मणि अवश्यकार्ये यत्तिरज्रमणससादिकं प्रतिषिद्येत् ।

प्रतिषेधनसे मुनि कोनसा प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसका वर्णन आगेकी दोन गथायाँसे आचार्य करते हैंः—

जिसका जिसके साथ संबंध है वह चीज दूर भी हो तोभी वह उसकी ही मानी जाती है, इस न्यायसे 'प्रतिषेधन' यह लिंगका अन्तिम भेद है अर्थात् पहिले तीन भेदोंके अनंतर होनेसे इसको दूर कह सकते हैं

तथापि लिंगनेही इसका संबंध है अतः यह उसका ही संबंधी है ऐसा कह सकते हैं.

अर्थ—देववंदनाके लिये जब मुनि जाते हैं तब बहुत सावधान होकर सूर्यके प्रकाशमें गमन करते हैं. जाते समय जहाँ वे पांव रखना चाहते हैं उस जमीनपर यदि चींटी चगेरे जन्तु दुष्परिहार्य होंगे तो उनकी पूंछ पिच्छित्ताते दूर करके आगे पांव रखकर गमन करते हैं. अथवा पूर्व भूमीसे आगेकी जमीन यदि भिन्न स्वभाव-रंग गौरहमे युक्त होगी तो मुनि प्रथम पिच्छिकासे पागेकी धूल हटाकर उसमें प्रवेश करते हैं. यदि पानीमें प्रवेश करना हो तो प्रथम पिच्छिका अपने शरीरपर फेरकर वहाँके त्रसजीव हटाते हैं और तदनंतर जलमें प्रवेश करते हैं. क्षाल और पारिव्रजे साधन प्राप्त परसहस्रों ग्रहण करते समय वे पिच्छिकासे साफ करके ग्रहण करने चाहिये. जब शानचारित्र्यके शास्त्रादिक साधन जलात् अलग रखते समयमें भी पिच्छिकासे उनकी स्वच्छ करना चाहिये.

शरीरके मलमूत्रादिक जहाँ फेरना हो उस स्थानको पिच्छिकासे साफ करनेसे वहाँके त्रस जीव बिना पायाके दूर हो सकते हैं. जब मुनि बैठते हैं. खड़े हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पांव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जब वे उत्पानशयन करते हैं, एक बाजूसे दूसरी बाजूपर मुड़कर सोते हैं तब अर्थात् इतने कार्य करते समय वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्वच्छ करते हैं ऐसा करनेसे शरीरपर त्रसजीव हो तो वे बिना तकलीफके दूर होते हैं. और मुनिआँका आचारक्रम भी इस कृत्यसे पाला जाता है.

पडिटेहणेण पडिलेहिज्झइ विण्हं च होइ सगपक्खे ॥

विस्मासियं च लिंगं संजदपडिरूबदा चेव ॥ १७ ॥

स्वपक्षे चिहुमालम्ब्यं साधुना प्रतिलेखनम् ॥

विश्वसंसयमाधारं साधुलिङ्गसमर्पणम् ॥ १८ ॥

विजयोद्या—विण्हं च होदि विहतां मज्जेते । समपक्खे स्वप्रतिप्रायां । सवजीवदया हि यतेः पक्खः । विस्मासियं च विश्वासक्रांति य जतानां । लिंगं प्रतिटेलनाख्यं कथमयमविद्युत्पङ्कुर्यादीनापि परिक्रुचुं शुद्धीकृतप्रतिटेलनोऽस्यासियं य विश्वाससंयमाधारं साधुलिङ्गसमर्पणम् ॥

नमहतो जीवाकथमिय याधितुं उत्सहते इति । संजडपडिरूवदा जेय । संयतानं प्रधानानां प्रतिविंबता च प्रतिलेखना प्रहणेन भवति ॥

मूला—सयषकमे स्वरूपले सर्वेवीचदयाप्रतिबुलंधणे । विस्सासिगं वैश्वासिकं लिंगं प्रतिलेखनाख्यं जनानां । अयमेवं सूक्ष्मतरकुञ्ज्यादिजीवानपि रक्षितुं शुद्दीनप्रतिलेखनः कथमस्मान्स्थूलतरान्हन्मुमुत्सेदतेति विश्वास-पातीत्यर्थः । अयदपडिरूवदा ग्राक्तनयतिविंबवता च यतेः प्रतिलेखनग्रहणे स्यादित्यर्थः ।

अर्थ— मुनि पिच्छकोसे उपर्युक्त सन कार्य करते हैं। सर्वे जीवोंपर दया करूंगा यह यतिओंकी प्रतिका-विच्छिकाके ग्रहणमे पाली जाती है। पिच्छिका लोगोमें यतिविषयक विश्वास उत्पन्न करनेका चिन्ह है। इन मुनि-राजोंने अति दूरसे कुञ्ज्यादि जंतुओंका भी रक्षण करनेके लिये हाथमें पिच्छिका धारण की है वे हम सरिखें बड़े जीवोंको कैसे सतायेंगे ? यह कभी संभवनीय होगा क्या ? इस तरह लोगोके मनमें विश्वास पैदा होजाता है। पिच्छिका धारण करनेसे वे मुनिराज प्राचीन मुनिओंके प्रतिनिधिरूपकी हैं ऐसा सिद्ध होता है।

मतिलेखनालक्षणाख्यानायाह—

रयसेयाणमगहणं महव सुकुमालदा लघुत्तां च ॥

जत्येदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसति ॥ ९८ ॥

लघयसेवरजोआहि सुकुमारसूदित्तम् ॥

इति पंचगुणं योग्यं ग्रहीतुं प्रतिलेखनम् ॥ ९९ ॥

इति प्रतिलेखनम् ॥ इति लिंगसूत्रम् ।

विजयोदया—रजसेदानमगहणं रजसः सचित्तस्य अचित्तस्य वा स्वेदस्य अग्राहकं । अचित्तजोआहिणा प्रतिलेखनेन मन्त्रितरजो विराण्यते तच्चित्तजोआहिणा चेतस्स विरायना । स्वेदग्राहिणा च रजसागुपदतिः । मद्यधु-कुमारदा मद्युपनता मार्दव्यं, नुकुमालदा सीकुमार्यं । लघुत्ते लघुत्वं च एते पंच गुणाः यदैते पंच प्रकारगुणाः सन्ति ते तत्त्व-पडिलिहणं प्रतिलेखनं पश्यन्ति स्मृति दयापिधितः । अष्टगुण, अष्टकुमारण, अष्टगुणः सन्ति ते तत्त्व-एव एतो न इयेति मायः । एवं चतुर्गुणयुक्तं लिंगं व्याख्यातं शुद्दीतल्लिख्य यतेः ॥

मूढारा — रजस्तद्वान्मगह्वं रजःस्वेवगोरग्राहकं अनिचारजोऽप्राप्रितलेननेन विराज्यते तद्वशादिना वा अचिन्ते रजः । स्वेवग्राहिना तु रजस्तमुपदतिः स्यात् । मरुत मारुतं मृदुस्पर्शता । सुकुमालदा नमन नी दत्ता । लघुत्वं लघुत्वमभारिक्तत्वं । मारुतवादिपथ्यवला प्रतिलेखनेन जीवानामुपचात एव कुतो दयेति भावः । अत्रेयं चतुर्विधदिगंतग्रहकारिका सुउल्लुषा भावनीया ।

ततो मुंहो उत्तसंस्तारः प्रागिरथाप्यञ्जं दधत् ।

सरगं यदि चेष्टेय हास्येवाहं समञ्जुभिः ॥

लिङ्गं ॥ सूत्रतः ॥ २ ॥ अन्तः २२ ॥

प्रतिलेखनार्थे—पिच्छिकाके लक्षणोंका वर्णन करते हैं,

अर्थ—सचित और अपिच ऐसे धूलीके दो प्रकार हैं, जो पिच्छिका इन दोनों प्रकारके धूलियोंका ग्रहण नहीं करती हैं यह खोआहक नामक गुणसे युक्त है ऐसा समझना चाहिये, पिच्छिका यदि सचित धूलीको ग्रहण करने वाली होती तो उससे अचित धूलीकी विराधना होगी, और अचित धूलीको यदि ग्रहण करेगी तो सचित धूलीका विराधन होगा, अतः धूलिमात्रका ग्रहण न करना यह पहिला गुण है, स्वेदको ग्रहण न करना यह उसका दूसरा गुण है, स्वेदके ग्रहण करनेसे रजकी-धूलिकी विराधना होगी, इसलिये स्वेदको धामके-जलको ग्रहण न करना यह उनका दूसरा गुण है, मारुत नामक तीसरा गुण है, अर्थात् पिच्छिकाका स्पर्श मृदु होना चाहिये, मृदु स्पर्श न होगा तो उनसे त्रसादि सन्तु जग हटायें जावेंगे तो उनको कष्ट होगा कदाचित् मर भी जावेंगे, सुकुमालता यह चौथा गुण है, अर्थात् वह नमनशील होनी चाहिये, यदि न नमसी कड़ी होगी तो उससे भी जीव विराधना होगी, तथा वह लघुतागुणयुक्त होनी चाहिये, अर्थात् वह दलकी होनी चाहिये, भारयुक्त न हो ऐसे बांच गुण जिस पिच्छिकामें हो वह दयाके प्रकारके जाननेवालोंसे प्रशंसी जाती है, जिसने लिग धारण किया है ऐसे मुनीके लिगके चार गुणोंका वर्णन किया.

शिक्षान्तरेति तन्निरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः । जिणवयणं विमवचनं । अहो य रची य नक्तं दिव्यं । पटिद्वयं अध्ये-
तव्यं । कीदृग्भूतं विमवचनमत आह—

णिउणं विउलं सुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च सब्बहिदं ॥
 निणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य पडिदब्बं ॥ १९ ॥
 निणुणं विणुलं शुद्धं निकाचितमनुत्तरं ॥
 पापच्छेदि सवा ध्येयं सार्वीयं वाक्यमार्हतम् ॥ १०० ॥

नित्योदया—निरुणं जीवादीनर्थान्प्रमाणनयानुगतं निरूपयतीति निणुणं । सुद्धं पूर्वोपरविरोधमुत्तरकादि-
 श्चाप्रियादोषयजितत्वात् शुद्धं । विणुलं निरुणं, पदार्थं, निरुक्तिः अतुयोगहारं, नयेत्येति अनेकाविकल्पेन जीवादीनर्थान्स्व-
 प्रपदं निरूपयतीति विणुलं । अयथादत्ताधिकारितं अर्थनिश्चितं । अणुत्तरं च न वियते उत्तरं उत्कृष्टमस्मादित्यनुत्तरं ।
 परेषां वचनानि पुनरुक्तानि, अनर्थकानि, श्याहवादि, प्रमाणविरुद्धानि च वेभ्य इत्यनुत्तरं तदसंभविगुणत्वात् । सब्बहिदं सर्वं
 प्राणिहितं । अन्येषां मत्तानि केपांश्चिदेव रत्तां स्वयंपति 'जिघांसन्ते जिघांसीयात् न तेन ग्रहाहा भवेत्' इत्युपवेशात् ।

“यथायं पशवः खट्वाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यतो हि भूतैः सर्वेषां तस्मापन्ने बधोऽप्यधः ॥ १ ॥

“अस्मिन्ने गरुदक्षौ च शरूपाणिर्धनापहः ॥

क्षेत्रवारहरोत्येति पठेते आततायिनः ॥”

“आततायिनमायांतमपि येदांतविद् क्षिणम् ॥

जिघांसंतं जिघांसीयाञ्च तेन ग्रहाहा भवेत् ॥”

कलुसहरं द्रव्यकर्मणं ज्ञानावरणादीनां क्षणमादेर्भावमलस्य च विनाशनात् कलुपहरं । अहो य रत्तीयं पडिय-
 त्वमित्यनेन भगवतः अभ्ययनं सूचितं ।

अथैवं चतुर्द्धा छिगं व्याख्याय सांभतं क्रमभ्रातां सिद्धां ध्यादयानुं त्रयोदशभिर्गोत्राभिरुपक्रमते । तत्र तावज्जि-
 तवचननित्याप्यथनाय गृहीतछिगं मुमुक्षुं प्रेरयितुमाह —

मूढाराः — निवणं निणुणं भूदमार्थनिरूपकं प्रमाणनयानुगतजीवावर्गनिरूपकत्वात् । सुद्धं पूर्वोपरविरोध-
 पुनरुक्तवादिद्वाराग्रिशोषविरुद्धितत्वात् । विउलं विणुलं निक्षेपकार्थीनरुक्त्यनुयोगद्वारास्वैर्जीवावर्गयोनां प्रपञ्चकत्वात् ।
 णिकाचिदं निकाचितत्वादर्थवगाहं । अणुत्तरं नास्त्युत्तरमुत्कृष्टमन्यदस्मादित्यनुत्तरं । परवचसां प्रमाणाविरुद्धत्वादि-
 दोषपटुप्रतया तदसंभविगुणत्वात् । सब्बहिदं सर्वेषामणिहितं सतांवरणां केपांश्चिदेव रक्षातुचकत्वात् । तथा च तदुपमंयः—

यथायं पशवः खट्वाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥

यमो हि मृत्युं सर्वस्य महमायाने यथोऽप्यः ॥
 अग्निदो मरुदैवेषु श्रुतपाणिर्धनारुहः ॥
 क्षेत्रदारुह्योति यदेते जावतायिनः ॥
 आढवाधिनमायानाणि वेदांगविद् द्विजम् ।
 त्रियांसेन त्रिपांसीयान्न तेन प्रज्जहा भवेत् ॥

कटुसहृदं प्रज्यभाषकमैकसापहम् ।

अपि शिक्षाधिकारका आचार्ये विस्तृत वर्णन करते हैं ।

अर्थ—धी जितेधरका वचन जीवादि नव पदार्थोंका प्रमाण और नयके आश्रयसे वर्णन करता है, अतः उसको निपुण विशेषण है, जिनवचन शुद्ध है क्योंकि उसमें पूर्वापरविरोधादि अनुमानके अंग, शब्दका व्याकरण द्वारा घातु विपुल है अर्थात् नाम स्थापनादि निक्षेप, प्रतिष्ठा हेतु उदाहरणादि अनुयोग और नैमग संग्रहादिक नय ऐसे अनेक विकल्पोसे प्रत्यय विभक्ति इत्यादि रूपसे स्पष्टीकरण, सत्संख्यादिक अनुयोग और नैमग संग्रहादिक नय ऐसे अनेक विकल्पोसे जीवादिक अर्थोंका सविस्तर विवेचन करता है, अतः उसको विपुल कहते हैं, जिनवचनका प्रत्येक शब्द अर्थसे गाढ मरा हुआ है अतः उसको निकामित कहते हैं, जिनवचनको छोड़कर अर्थात् इससे बढकर उत्कृष्ट किंसीका भी पचन नहीं है इसलिये यह अनुचर है, अन्यमतोंके वचन पुनरुक्त हैं, अनर्थक-अर्थहीन और पूर्वापरविरोधयुक्त हैं, प्रमाणाविरुद्ध हैं परंतु जिनवचनमें ये दोष नहीं हैं इसलिये यह वचन अनुचर है, इस वचनमें सर्व जीवोंका कल्याण करना यह गुण है, इतारोंके मत सर्व जीवोंका रक्षण नहीं करते हैं थोड़े जीवोंका ही वे रक्षण करते हैं ' त्रिपासन्तं त्रिपांसीयान्न तेन प्रज्जहा भवेत् ' ' अपनेको मारनेके लिये आवेगा उसको मारना चाहिये इस कृत्यके करनेसे यह मारनेवाला वसधाती नहीं होता है, ' यन्मार्थं पशुवः सुष्टा इत्यादि-अश्वदेवने यज्ञ करनेके लिये पशु उत्पन्न किये हैं, यज्ञ सर्वको ऐश्वर्य देता है अतः यज्ञमें प्रणियय करना हिंसा नहीं है बह जहिंसा ही है,

अग्निदो मरुदैवित्यादि-जो मनुष्य अधिकेदारा दूसरोंके धर जलाता है, जो वनमें विप देकर मारता है, जो शखेसे मारता है, जो पन हरण करता है और जो खेत और दूसरोंकी स्त्री हरण करता है ऐसे छे प्रकारके

लोकोंको आततायी कहते हैं, ये आततायी लोक यद्यपि वेद जानने वाले ब्राह्मण जातीके भी हो तो भी वे मारनेकी इन्ठा रखते हैं अतः उनको मारना चाहिये उनको मारनेसे ब्रह्महत्याका दोष लगता नहीं है, इत्यादिरूप अन्यमतोंके वचन है, ये मध्व वचन सर्व प्राणिओंकी रक्षाके उत्तम नहीं है.

जिनेश्वरका वचन कलुषहर है अर्थात् ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, अज्ञानादिक, भावकर्मरूपी मलका नाश करता है, इसलिये इसका हमें आश्रयन करना चाहिये.

जिनवचनशिक्षायां गुणान्संहरत्य कथयति--

आदर्हिदपद्मणा भावसंबरो णवणवो य संवेगो ॥

णिहंमपदा तवो भावणा य परदेसिगतं च ॥ १०० ॥

गद्यम्—सर्व आबद्धितादितान्वयोधपरिणामसंबन्धप्रत्यक्षसंवेगरत्नत्रयस्थिरत्वतपोआधना-
परदेशकत्वलक्षणा गुणाः सप्त संषणन्ते जिमवचनशिक्षया ॥१०१॥

विज्ञापोदया—अबद्धिदपरणा आसहितप्रतिज्ञानं । इन्द्रियसुखं अहितं हितमिति युक्तित जनः । दुःखमती-
कारमात्रं तत् । भावकालिकं, पदवीनं, रानादुपेक्षारि, दुर्लभं, भयावहं, शरीरायासमार्जनं, अशुचिपरीरस्वस्पर्शनजं ।
तनास्य बालस्य सुखधुधिः । निःशेषद्रुजापयजनिं स्वास्थं अजलं सुखमिति न येति । तिनबवोऽभ्यासात्तन्धिगच्छति ।
भावसंबरो भावः परिणामः सस्य संबरो निरोधः । मनु परिणाममतेरेण न द्रव्यास्यास्ति क्षणमाश्रयवस्थानं सन्निकमुच्यते
भावसंबद इति । परिणामविशेषवृत्तिरिदं भावशब्द इति ग्रन्थे । तथा वक्तव्यं—

‘सज्जस्यं कुजंतो पंखेदीसुडो इति’ अनुभक्तमोदाननिमित्तपरिणामग्रहणमिह सरणपेक्षया । वीतरागाणां
तु केपाकिचुडोपयोगनिमित्ततया पुण्याश्रयपरिणामसंबरोऽपि आश्रयः प्रत्यक्षः । णवणवो य प्रत्यक्षः प्रत्यक्षः । संवेगो धर्मो अज्ज्ञा
जिनवचनाभ्यासादुपजायते । निहंमपदा निश्चलता । क रत्नत्रये । तवो स्वाध्यायाख्यं तपश्च । भावणात् भावना च गुप्तीनां ।
परदेसिगतं च परेपसुपेदाकता च ॥

कलुषहरं द्रव्यभावकर्ममलपद्मम् ।

मूढारा—आदर्हिदपरिणान आसहितपरिज्ञानं अनात्मशब्देनोपलक्षणाज्जीवावाधिपदार्थो गृह्यन्ते ।
तया हितशब्देन हितमहितं च तथैवेत्तारगाधार्थस्योपपत्तेः । भावसंबरो भावोऽत्र सरागोपेक्षया पाप

कर्मादानंदुः परिणामस्तस्मै संबरो निरोधः । वीतरागाणां केयपिच्छुद्धोपयोगनिमित्ततया पुण्यालवपरिणामंयरोपि
प्रापः । संरोगे पमं भ्रष्टा । अत्र संसारमीकतल्लग्नसंवेगकारणको यमोऽपि संवेगसन्देहं गृह्यते । कारणे कर्मोपा-
रात् । निकृष्टपदा रत्नत्रये निग्नतल्लं । तयो स्वाध्यायाख्यं वषः । भावणा शुभितत्परत्वा । परदेसगतं परेयमुपदेशकतुल्यं ।
एते सप्त गुणा विनवचनाभ्यासाद्व्याख्ये इति संबन्धः ।

विनवचनके अध्ययनेस कोनसे गुण प्राप्त होते हैं इसका वर्णन आचार्य संक्षेपसे करते हैं—

अर्थ—आत्मके हितका ज्ञान विनवचनसे होता है—लोक अहितकर इंद्रियसुखको हितकर समझते हैं, यह सुख दुःखका फेरल प्रतीकार ही है, अल्पकालतक ही रहता है, तदनंतर उसका नाश होता है, इंद्रियां और पदार्थोंके यह आधीन है, रागभावको उत्पन्न करके आत्मको कष्टसे नष्ट करता है, दुर्लभ है, दुर्गतीका भय उत्पन्न करता है, शरीरके आमाससे वह उत्पन्न होता है, अपवित्र शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होता है, ऐसे इंद्रियसुख में अत जीनोको मुख्यदुखि हो रही है, संपूर्ण दुःखोंका नाश होनेसे उत्पन्न होनेवाला, आत्मामें हमेशा रहने वाला, निश्चल ऐसे आत्मसुखको अत्रलन सुख समझते नहीं हैं, परंतु विनवचनके अभ्याससे मध्यजीवोंको आत्मिक सुखका ज्ञान होता है, इसलिये विनवचनमें आरमाहितप्रतिज्ञा नामका गुण है यह सिद्ध हुआ,

भाषासंवर—यह दूसरा गुण है, श्रुका-भाव-पदार्थका परिणयन-संवर-निरोध अर्थात् पदार्थोंका परिणमन होना प्रद पटना ऐसा भावमंवरका अर्थ होगा, परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि पदार्थमें यदि परिणमन होना नष्ट होगा तो वह एक क्षणवक भी अपना अस्तित्व न रख सकेगा, अतः भावसंवर विनवचनका गुण मानना योग्य नहीं है, उक्त—पहा भावशब्दका अर्थ अपने जो किया है वह नहीं है, अशुभ कर्मका आसव जिनसे होता है ऐसे पापपरिणामोंका-विचारोका त्याग करना यह मानसंवरका अर्थ यहाँ प्रस्तुत है, सरागी जीव अशुभ परिणामोंको विनवचनके अध्ययनमें त्यागते हैं, अतः विनवचनमें भावसंवर नामका गुण है ऐसा आचार्य कहते हैं, वीतराग अस्थायी प्राप्त हुए मुनियोंको विनवचन शुद्धोपयोगके लिये कारण होता है, अतः वीतराग मुनीकी अपेक्षसे पुण्याभक्तके लिये कारण जो परिणाम उनका मंवर होना भावसंवर शब्दसे कहा जाता है,

विनवचनका प्रतिदिन अभ्यास करनेसे नवनव संवेग नामका गुणका रूप होता है, अर्थात् विनवचनमें गाढ श्रद्धा

यानेन तिष्ठति यथांति लोके । दनेन वैराग्यमि यान्ति नागम् ॥
परोऽपि बहुव्युपैति दानात्तस्मात्तुदनेन सतत प्रवेगम् ॥

रंद्रवक्रपराह्योऽपि प्रणतिमाप्नोति तपोद्रविणानाम् । परलोके अहितं मवान्तव्याविदुः परं नरकगतीं वि,
स्तिवक्तव्यं च, परलोके हिते निर्बृत्तिपुत्रं, तदेतत्सकलं अयमोचयति जेनी भगवती मातली ॥

आत्महितपरिसं व्याचष्टे—

मूलारा—तथिया यथाभूताः—

आरमाहितप्रतिज्ञा नामके गुणका वर्णन—

अर्थ—ज्ञानके प्रभावसे जीव, अजीव, आसृष, वंश, संवर, निर्बरा और मोक्ष ऐसे सात पदार्थोंका सत्य स्वरूप जाना जाता है, तथा इसके सामर्थ्यसे इहलोकमें और परलोकमें हिताहितका भी परिज्ञान होता है,

शंका—आदिदिपक्षणा इस शब्दमें हितकाही परिज्ञान करनेका व्युचित किया गया है, जीवादिकोंका परिज्ञान उपर्युक्त शब्दसे व्युचित नहीं होता है, अतः पूर्वमें कहे हुए हितका स्वरूप प्रथम कहकर ही इतरोंका स्वरूप कहना चाहिये था, यह तो आपका अव्युचित कथन हुआ ?

उत्तर—आत्माहितप्रतिज्ञा इस शब्दका अर्थ ऐसा समझना—यहां इंद्रसमाप्त है अर्थात् 'आत्मा च हितं च आरमाहिते' ऐसा आत्माहित शब्दका विग्रह होता है, अर्थात् आत्मा और हित इन दोनोंका जो ज्ञान उत्तको आत्म-हितप्रतिज्ञा कहते हैं, 'आत्मनो हिते' आरमात्मा हित ऐसा पृथित्युरूप समाप्त यहां समझना भूल है,

शंका—आरमाहितप्रतिज्ञासे जीवके हितका ज्ञान होना ही अभीष्ट रहा, अजीवादिकोंके ज्ञानकी आवश्यकता न रही ?

उत्तर—आत्मा शब्द उपलक्षणार्थक है अतः उसके साथ अजीवादिकोंका भी ग्रहण कर सकते हैं, 'जीवाजीमाक्षपयंशतरनिर्जराभोक्षस्तत्त्वं' इस सूत्रमें प्रथम जीवका निर्देश किया है, इसलिये यह प्रसिद्ध है, प्रसिद्धके साथ अप्रसिद्धकाभी उपलक्षणसे ग्रहण होता है अतः अजीवादिकका भी आत्महितप्रतिज्ञा इस शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं,

अथवा तेजलज्ञान अनंत पदार्थों को जानता है, यह स्वयं कर्मका नाम करके उत्पन्न हुआ है, पूर्णताको प्राप्त हुआ है, विस्तीर्ण है और कर्मफलसे रहित होनेसे निर्मल है, अवग्रह, ईशा वगैरे विकल्पोंसे

मोहयुक्त जीव हिताहित न समझकर अशुभ कर्मसे बद्ध होता है, और वह कर्म जीवकी अनंत संसारमें घुमावा है, अतः संसारसे छुटकारा पानेकेलिए आत्मा और हितका परिज्ञान कर लेना आवश्यक है—

आत्महितपरस्योपयोगमादर्शयति—

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियसी य हिदपवत्ती य ।

होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदब्बं ॥ १०३ ॥

हितादानाहितत्यागौ हिताहितविबोधने ॥

यतस्ततः अदा कार्यं हिताहितविबोधनम् ॥ १०४ ॥

विजयोदया—जाणंतस्स जाणताः । आदहितं आत्महितं । अहिदणियसी य अहितनिवृत्तिश्च । हिदपवत्ती य हिते प्रवृत्तिश्च । होदि य भवति च । तो तत्त. हितादानात्पश्चात् । तस्मा तस्मान् आदहिदं आत्महितं । आगमेदब्बं अहितलब्धम् । अत्र बोधते—अनु आत्महितलक्ष्य हिते प्रवृत्तिर्भवति, अहिताविवृत्तिः कथं ? अहितकोऽहिताविवृत्तेः, हितमहितं च भिन्नमेव । परमार्थे भिन्नं न तत्किञ्चनगते तत्पन्थव्यगतं भवति । यथा—यानोऽपगतौ न मकरः, भिन्नं च हितादहितं तस्मादहितकोऽहितं अजानन् कथमहिताविवृत्तौ निवर्तते ? अनोच्यते तस्यैव घट्टु स्वपरभावभावोभयाधीनात्मखानं यथा घट्टः घृणु-छोरपाचानात्पक्वम् । यदादिरूपतयाऽप्राक्, अन्यथा निषेधस्य तज्ज्ञानं भवेत् । एवमिदमपि हितविलक्षणमहितं अजानता तादिलक्षणता हितस्य न ज्ञाता भवेत् । अतो हितकोऽहितमपि वेकीति युक्ता निवृत्तिस्ततः शिक्षया अशुभभावसंवरहेतुत्वं प्रतिपद्यामहे ।

आत्महितपरिदानस्योपयोगमादिशति—

मूलाया-अहिदणियसी अहितानिवृत्तिः । न केवं श्लेष्मं अपरहितकृत्स्न कथमहिताविवृत्तिस्तत्स्वरूपापरिज्ञानाम् । हितं हि अहितविलक्षणं अतस्तज्ज्ञानमहितमपि जानात्येवान्यथा हितज्ञानस्याप्यसंभवात्पदाद्यपरिज्ञाने तद्विलक्षणपदापरि-ज्ञानम् । तो ततो दिवादिगृहानात्पश्चात् । से तस्य हिताहितमपि जानात्येव । अन्यथा प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थितः कर्तुः आगमेदब्बं आत्महितवृत्तं शिक्षितव्यमित्यर्थः ।

आत्महित-साधनेमें उद्युक्त हुए प्राणीका उपयोग बताते हैं—

अर्थ—जो जीव आत्माके हितको पहिचानता है वह अहितसे परावृत्त होकर हितमें प्रवृत्ति करता है, इस वारसे हे सम्बन्धन हो । आत्महितक आत्म परिज्ञान काहे।

यहाँ दुष्का-जो आत्महित जानता है उसकी हितमें प्रवृत्ति होती है यह कहना योग्य है परंतु जो अहित के स्वरूपको जानता ही नहीं है तो वह उससे कैसे परावृत्त हो सकेगा. जो अहितवृत्त है वही उससे परावृत्त होगा. हित और अहित ये दोनों चीजें भिन्न हैं. जो जिससे भिन्न है वह यदि जाना जायगा तो उसमें भिन्न अन्य भी कैसा जाना जायगा ? जैसे यन्त्रका ज्ञान होनेसे मगरका ज्ञान नहीं होता है. वैसे हितसे अहित भिन्न है. अतः हितको जाननेवाला अहितको न जाननेसे अहितमें कैसे परावृत्त होगा ?

उत्तर-यहाँ ही वस्तु स्वभावात् उत्पन्न होती है और परभावसे अनुत्पन्न मानी जाती है. अर्थात् स्वस्वरूप की अपेक्षामें प्रत्येक वस्तु भावात्मक है. यही वस्तु परस्त्री अपेक्षासे अभावार्थक भी है. जैसे बड़ा पैर, शंखारुति गला इत्यादि स्वस्वरूपमें पद पदार्थ जाना जाता है. यदि वह घट परस्वरूपसे भी जाना जायगा तो वह जानना 'विपरीतज्ञान' है. अतः घटको जाननेके समयमें ही घट पद नहीं है ऐसा भी ज्ञान होता है. हितको जानने समयमें ही अहित भी हितमें उलटा है यह जाना जाता है. यदि हितके विलक्षणरूप अहितको न जाना जायगा तो हितका ज्ञान नहीं होगा. इसलिये हितका जीव अहितको भी जानता है ऐसा समझना चाहिये अतः वह अहितसे परावृत्त होता है.

सञ्ज्ञायं कुर्वन्तो पंचद्रियसुबुद्धौ तिगुचो य ॥

हृद्वि य एयमगमणो विण्णुण समाहिदो भिक्खू ॥ १०४ ॥

स्वाध्यायं पञ्चशः कुर्वन्निगुप्तः पंचसंवृतः ॥

एकाग्रो जायते योगी विनयेन समाहितः ॥ १०५ ॥

विजयोदया-संन्यायं स्वाध्यायं पंचद्रियं चावनाप्रभानुयेधाल्मालयमोषवेधमेदेन । तत्र निरवयवस्य प्रत्यक्षं प्यायनं तदर्थमिजानपुरोगं धावता । संदेहनिवृत्तये निश्चितवलाघाताय वा स्वाध्यायविषयः प्रश्नः । अवगतायां बुद्धेक्षणे धनुयेधः । भावनायो गुणः । अक्षेयणी, त्रैलोक्यी, संवेदनी, चतुष्टयः कथास्तोत्रं कथनं, धर्मोद्वेगः । तं स्वाध्यायं कुर्वन् । पंचद्रियसुबुद्धौ हौदि पंचद्रियसंयुतौ भवति । ननु निर्घातस्य पूर्वनिगतात्संबुद्धपंचैन्द्रियः, इति मचित-पश्य ? सत्यं । 'जातिरालसुरादिभ्यः परत्यजनम्' इत्यनेन पंचैन्द्रियजातिवृत्तिरिति जातिवचनः । ततो निर्घातः परतः प्रमुच्यते इति भाव्यते । इन्द्रियमूर्तेरुपकारं कुर्वन्निन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । इदं तु रूपाद्युपयोगा इति यथावेनोच्यते । तेनायमर्थः स्वाध्यायः-

रहित और सर्वथा सुलभ है, ऐसा केवलज्ञानका आचार्य स्वरूप कहते हैं, सुखपदार्थ स्वरूप ही है, वह आत्मा का वास्तविक हित है, अतः वह यहाँ हितशब्दमे संयुहीत होता है, तथापि चेतना यह जीवका स्वरूप है व चैतन्य रूप अवस्था है, उसको जाननेके लिये आत्माको जानना आवश्यक है, कर्मोंका संपूर्ण नाश होना ही मोक्ष है, उसका स्वरूप अतीव पदार्थको जाने बिना समझमें आ नहीं सकेगा, यक्ष्य पुद्गल ही द्रव्यकर्मरूप चेतना है, उसका नाश होनाही मोक्ष है, मोक्ष वंशपूर्वक होता है, यदि कर्मबंध न होगा तो मोक्ष किसको होगा, अर्थात् जो आत्मा कर्म बद्ध है वही कर्मोंका नाश कर स्वतः युक्त हो जाता है, वह बंधभी कर्मोंसर्वक बिना होता नहीं, संवर और निर्जरा मोक्षके उपाय है.

अहित शब्दका अर्थ यदि दुःख ऐसा है तो वह इहलोकसंबंधी दुःख अनुभवसिद्ध है ही उसको जतला-नेकेलिये लिनयचमनी क्या आवश्यकता है ? अहितका जो कारण है वह यदि अहित शब्दका वाच्य है तो कर्म ही अहितका कारण है ऐसा मानना पड़ेगा, उस कर्मका इस ही गाथासे अजीब शब्दसे ग्रहण किया है, यदि हिंसादिक दुःखके परंपरा कारण हैं और वे अहित शब्दसे संयुहीत होते हैं ऐसा कहते हो तो वह भी कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि हिंसादिक कारणोंका आसवमें अन्वर्माण होता ही है, इस शंकाका उत्तर आचार्यने इस प्रकार दिया है—

अनुभवमें आया हुआ भी दुःख अज्ञान भूल जाते हैं इसीलिये सन्मार्गिके प्रति गमन नहीं करते हैं, ऐसे लोगोंको विनयचन दुःखोंकी स्मृति दिलाता है, अर्थात् वह मनुजभवमें क्या क्या आपदायें आती हैं उनको दिखलाता है, जैसे—युगुप्सितकुलम्—हीन कुलमें उत्पत्ति होती है, और वहाँ नानाविध रोगरूपी सर्वके दंशसे अनेक अप-त्तियाँ उपस्थित होती हैं, दारिद्र्य, कुरूपता, वंशुरहितपता, अनाथपना, ये अवस्थायें प्राप्त होती हैं, इच्छित धनकी प्राप्ति होना, परांगनाका लाभ न होनेसे मनमें झुरना, श्रीमान लोगोंके द्वारा कुत्सित कार्य करनेकी आज्ञा होना, उनकी गालियाँ सुनना, उनके द्वारा किंपा गया अपमान, पीटे जाना, परवशता इत्यादि दुःखोंको सहन करना पड़ता है, इत्यादि दुःखोंका स्वरूप विनयचन अज्ञ जीवोंको बतलाता है.

जैसे अरण्यकी वनस्पतिजन्य औषधि हित करती है वैसे इस लोकमें दान, तप वगैरह कार्य हितके कारण हैं अतः उसको हित कहते हैं, दानादिक पुण्यकार्यमें जो उत्तर रहते हैं, उनकी लोक स्तुति और वंदना करते हैं, आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

दान देनेंग जगतमें दावाको कीर्ति निरस्थायी होती है. दानमें धरका नाश होता है. शत्रु भी मित्रताको प्राप्त होता है. अतः मज्जनमें हमेशा दान देना चाहिये.
तपस्वी धन जिनके पास है उनको इंद्र चक्रवर्ती चगेरह महापुरुष बंदन करते हैं. हिंसादिक पाप करनेसे परमेश्वर दुःख भोगना पड़ता है. अर्थात् नरकजालमें नरकायस्थामें दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है. तिर्यगतिमें पशु होकर दुःख महना पड़ता है. दानादिकसे परलोकमें हित होता है. अन्तमें मोक्षमुख मिलता है. इन सब हिताहितोंका जिनपरस्की पूज्य पाणी वर्णन करती है.

आत्मश्रितान्तरिमात्रे शेषमाचष्टे—

आदहिदमयाणंतो मुञ्चन्ति मूढो सन्नादियदि कर्मम् ॥

कम्मणिमिच्चं जीवो परीदि भवसायरमणंतं ॥ १०२ ॥

हितहितमज्जानान्ते जीवो मुञ्चति सर्वथा ॥

मूढो गृह्णाति कर्माणि ततो भ्राम्यति संसृतौ ॥ १०३ ॥

विजयोदया—आदहिदमयाणंतो आत्मश्रितमनुष्यमानः । मुञ्चति मुञ्चति । संहितं हितमिति प्रतिपद्यते मोहं । को शेष एषात्मा—मूढो मोहयान् सन्नादियदि समावृत्त । कर्म कर्मसागम्यतादौपर्यं अनुमकमवृत्तिप्राप्तः । कर्म प्राप्ते को शेष इत्यत आह—कम्मणिमिच्चं कर्महेतुकं, जीवः परीदि परित्यजति । किं ? भवसायरम् भवसमुद्रं लप्यते ॥

अतमहितापरिजाने शेषमाचष्टे—

मूढाया —सन्नादियदि समावृत्ते यमन्ताज्यतोबासकायैरावृत्ते गृह्णाति । कर्म कर्म मोहहेतु इत्यादिश्रुति । परीदि पर्येति परिश्रमतीत्यर्थः ।

आत्मा और हितरूप यदि ज्ञान न हो तो क्या दोष उत्पन्न होगा इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जिगरुओ आत्मरूप और हितरूप स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वद जीव मोहित होता है अर्थात् जगिहो हिन मानता है. मोहमें वद अनंत संगारमें अमण करनेमेंजो अनुम कर्मका बंध कर होता है. तात्पर्य—

यत्किद्वदरूपाद्युपयोगो भवति इति । रूपाद्युपयोगनिरोधे किं फलं ? रागाद्यप्रवृत्तिः । मनोशमनोऽरूपाद्युपयोगालंभ्यनौ रागदेहेति । न एतदुपुध्यमानो विषयः स्वसत्तामात्रेण तौ करोति । सुप्तेऽन्यमनस्के वा रागादीनां विषयसन्निधावप्य-
दर्शनम् ।

“ गादिमाविगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ॥
तत्तो विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ ”

इति वचनञ्च । कथं स्थाप्याये प्रवर्तमानः । विषयेण समाहित्वो ज्ञानविनयेन समन्वितो भूत्वा यः स्थाप्यायं करोति । तितुत्तो य होदि । तितुभियुंमिभियुंसहं भवति । मनसोऽप्यज्ञासत्तामाचनवलेपात्, अनूतरूढपद-
यकफडात्मस्तदनपरवृणणादावप्यपूतः, द्विस्वादी शरीरेणामवृत्तञ्च, पयम्ममणो य होदि सिक्खू इति पदघटना—एकमुक्तांतः
करणञ्च भवति भिदुः साध्याये रतः । एतदुक्तं भवति—ध्याने प्रवृत्तिमप्यसादयतीति । न ह्युक्ततुलपरिचयस्य धर्मेशु-
फलभावेन भवितुमर्हतः । अपायोपायभयदिपाकलोफविषयदयो धर्मध्यानभेदाः । अपायादिस्वरूपज्ञानं जिनचक्षनवलावेय
, शुभलं चाये पूर्वपिदः ' हत्यभिहित्त्याञ्च ॥

शिक्षाया अशुभमायत्तपरदेतुलं विपुण्यभाह—

मूलाए—सज्जायं वाचनादिपंदायिधं स्वाध्यायं । धंषिदियत्तुडो पंचापि इंदियाणि संवुत्तानि यथास्सभिष्टा-
निष्टविषयेज्जो ह्यावर्तितानि वेन । तितुत्तो निष्टहीताशुभमनोवाक्कायन्यापाटः । पयग्गमणो एकाग्रमनाः ध्यानप्रवृत्तिमानपि
त्वादिवि भापः । विपण्ण समाहित्वो अष्टाविधज्ञानविनयेन संयुक्तः तन्त्वाध्यायं कुर्वन्निति संबंधः ।

जिनवचनका अप्ययन करनेसे अशुभभावोंका संवर होता है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—यानना, ग्रन्थ, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेष्टा ऐसे स्वाध्यायके पांच भेद हैं. जिसके पड़नेसे और पढ़नेसे पापासत्र न होंगे ऐसे ग्रंथकी और उसके अर्थकी पढ़ा देना वाचना स्वाध्याय है. ग्रन्थ—जो आगमका विषय मनमें निहित किया है उसमें विशेष दृढताके लिये अथवा संशय दूर करनेके लिये स्वार्थविषयक ग्रन्थ आगमग्रन्थों पढ़ना. अनुप्रेक्षा—जो विषय जान लिया है उसका मनमें चिंतन करना. आम्नाय—पढ़ा हुआ विषय चार बार धोकरना. धर्मोपदेष्टा—आशेषणी, निश्चेषणी, संवन्नी, और निर्वेजनी ऐसी चार धर्मकथायें हैं. उनका भव्योंको उपदेष्टा देना, यह पांच तरहका स्वाध्याय करनेसे पांचो इन्द्रियां संयम युक्त होती हैं. अर्थात् रूपादि विषयों प्रति ये दौडती नहीं. इन्द्रियसंयममें नये रागद्वेष आराममें उत्पन्न नहीं होते हैं. इस रूपादि वस्तुओंके तरफ जड़ इन्द्रियों प्रवृत्त

होती है तब रागनिराकरण होता है, अनिरूप्यादि विषयोंसे द्वेष उत्पन्न होता है, इष्टाविष्ट पदार्थ समीप होनेपर भी यदि उनके तरफ इन्द्रियोंका उपयोग न लगेगा तो वे पदार्थ केवल अपने अस्तित्वसाक्षसे जीनमें रागद्वेष उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, जिस समय आत्माका दूसरे तरफ मन चल जाता है अथवा वह सोता है उस समय इन्द्रिय विषय समीप होनेपर भी रागद्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं।

मुद्रा—निष्ठाप्रत्ययोंत शब्दोंके साथ जन समाप्त होता है तब वह शब्द समाप्तमें प्रथम प्रयुक्त होता है अतः 'संयुतपंचेन्द्रिय' ऐसा समाप्त शब्द उनेगा, 'पंचेन्द्रियसंवृतः' यह समाप्त योग्य नहीं है।

उत्तर—'जातिफालमुत्सादिरूपः परवचनम्' इस श्रुतिसे पंचेन्द्रिय शब्द जातिवाचक होनेसे समाप्त करते समय प्रारंभमें पंचेन्द्रिय शब्दका प्रयोग किया है, अनंतर निष्ठाप्रत्ययोंत संयुत शब्द जोड़ देनेसे 'पंचेन्द्रिय संयुतः' ऐसा समाप्त शब्द हुआ है, इन्द्रियशब्द जातिवाचक है, इन्द्रियोंके द्वेन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे दो भेद हैं, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द ये इन्द्रियोंके विषय हैं, अपने अपने विषयोंके तरफ उपयोग लगाना यह भावेन्द्रिय है, स्वाध्याय करनेमें इन्द्रियनिरोध होता है और इन्द्रियनिरोधसे रागादिक विकार उत्पन्न नहीं होते हैं, चतुर्गतिमें त्रमण करनेवाले इस जीवको देह प्राप्त होता है और इन्द्रियनिरोधसे इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, वे अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं, अतः विषयग्रहणमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं।

जो मुनि ज्ञानविनयपूर्वक स्वाध्याय करता है वह निगुप्तिधारक होता है अर्थात् उसका मन अप्रशस्त रागद्वेषादिकोसे अलिप्त रहता है उसके मुखसे असत्य, रूच, क्रोध, कर्षण, स्वस्तुतिपर और परदूषणात्मक वाणी बाहर आती नहीं, हिंसादि भावोंमें उसका देह प्रयुग्नि करता नहीं, इस रीतिसे त्रिगुप्ति धारक वह मुनि एक विषयके तरफ अपने मनको स्थिर करके ध्यानमें तत्पर हो जाता है, स्वाध्याय करनेसे श्रुतज्ञानमें परिचय होता है, जब श्रुतज्ञानके साथ यतीका परिचय होता है तब धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है, अपायविषय, उपायविषय, भयविषय, लोकविषय, विषाक्तविषय योगदेह धर्मध्यानके भेदोंका ज्ञान जिनमनके सामर्थ्यसे होता है, आत्ममें 'शुद्ध चापे पूर्वविदः' अर्थात् चौदह पूर्वोक्त श्रुतज्ञान विस्तारों है ऐसे मुनिराजको धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है ऐसा कहा है।

प्रत्यप्रसंगेयप्रभयक्रममाचरे—

जह जह सुदमोगाहदि अदिसयरसपसरसमुदपुब्बं तु ॥

तह तह पव्वादिज्जदि नवनवसंगेसङ्गाए ॥ १०५ ॥

अहएउपूर्वसुचार्यमभ्यस्यति जिनानगमम् ॥

यथा यथा यतिधर्मं प्रहृष्यति तथा तथा ॥ १०६ ॥

विक्रयोदया—जह जह यथा यथा । सुदं भुतं भोगाहदि अवगाहते । शब्दश्रुताभिधेयमधिगच्छतीति यावत् । अदिसयरसपसरं अतिशयरसपसरं समयांतरेषु अनुपलब्धोऽर्थोऽतिशयितो रसः । शब्दस्य हि रसोऽर्थः तस्य सारत्वात् आनन्दफलादिरस इव । मसरसाश्चैव प्रायुर्यमतिशयितार्थस्य सूचयति । ततोऽयमर्थोऽस्य—अतिशयाभिधेयबहुलं भुतमिति । ननु मयादिनोऽप्येतेऽपि स्वस्मयेनेव प्रशंसन्ति । मत्त्वेषणानुमानेन च चिकित्सेयस्वरूपं केवलं नित्यत्वमनित्यतां वा निरूपय-
त्तानामगमनो नतिशयार्थप्रसरता । प्रमाणान्तरस्वाध्यायमागर्थोऽतिशयितो भवति नापरः । असुवपुण्यं तु अश्रुतपूर्वमेव । ननु मय्यानामगमनानां च कर्मणोचरत्तामात्येयं भुतं किमुच्यतेऽश्रुतपूर्वमिति ? अर्थश्रुताभिधेयापरिज्ञानाच्छब्दमात्रं श्रुतम-
प्यश्रुतं इति श्रुते । तदप्ययुक्तं अर्थोपयोगस्यपि असकृत् ज्ञातत्वात् । अयमभिप्रायः शब्दानसहचारिवोचामावाच्युतम-
प्यश्रुतमिति । तह तह पव्वादिज्जह तथा तथा मव्हादमुपैति । नवनवसंगेसङ्गाए प्रत्यप्रसरत्परमश्रद्धया । ननु संसार-
श्रीयता संयोगः ततोऽयमर्थः स्यादसंबंधः । न दोषः । संसारमर्क्ताहेतुको धर्मपरिणामः । आयुधनिपातमर्क्ताहेतुक-
कथचप्रदहनयद् । तेन संयोगाभ्यः कार्यं धर्मं वर्तते ॥

श्रुतावगाहनस्य नवनवसंगेयनिमित्तत्वं प्रतनोति—

मूलारा—उगगाहदि अयगाहते शब्दसमगार्थसमयमधिगच्छति ॥ १०३ ॥

नवीन संबेग भी स्वाध्यायसे प्राप्त होता है इसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—जिनेश्वर के शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें अन्य मतोंमें अप्राप्य ऐसा अर्थ भरा हुआ है, जैसा आश्र फलमें रस भरा हुआ रहता है वैसा ही शब्दात्मक श्रुतज्ञानमें सर्वोत्कृष्ट अर्थ भरा हुआ है, यह अर्थरस अन्यमत के शब्दात्मक श्रुतमें भरे हुए अर्थकी अपेक्षासे अधिक उत्कृष्ट है,

शंका—जैसे आप अपने मतकी प्रशंसा करते हो वैसे अन्यमती भी आपने ही मतकी प्रशंसा करते हैं, अतः आपके मतकी विशेषता कैसी सिद्ध होगी ?

उत्तर-अन्वमतमें कहा हुआ जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप प्रत्यक्ष और अनुमानसे नाशित है, जीवादि पदार्थ मर्यादा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है ऐसा उनके अगममें कहा हुआ है, पदार्थ सर्वथा नित्य वा अनित्य सिद्ध नहीं होते हैं, उनका नित्यानिरूपणा सिद्ध होता है, जो वस्तुस्वरूप एक प्रमाणसे सिद्ध होता है वही अन्य प्रमाणसे भी सिद्ध हो तो वह वस्तु साविशय यानी जाती है, और यदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध हुआ वस्तु स्वरूप अनुमानादिकमें नाशित होता है तो वह वस्तु साविशय नहीं है, अस्तु, यह विनप्रतिपादित शब्दश्रुतज्ञान पूर्व कालमें इस जीवने कभी सुना नहीं है,

शंका—मन्य अथवा अभन्य जीवोंके कर्मपथ पर यह शब्द श्रुत आयाही होगा अतः आप इसको अश्रुतपूर्व नहीं कह सकते हैं, इस शंकाका कोई ऐसा समाधान करते हैं,

"जो शब्द तुने उनके अर्थके तरफ ध्यान नहीं दिया अथवा उनका अर्थ ज्ञात नहीं हुआ तो वह अश्रुतपूर्व ही है" यह समाधान भी योग्य नहीं है, शब्दात्पथ श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी अनेकवार जान लेते हैं तथापि वह अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये, उपर्युक्त शंकाका परिहार इस प्रकार समझना चाहिये—शब्दात्पथ श्रुत सुनकर उसके अर्थ को भी समझ लिया परंतु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुनकर और जान लेने पर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिये, इस शब्दश्रुतके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है, और उत्तरोत्तर संबन्ध-धर्मश्रद्धा बढ़नेसे मनमें बड़ा आनंद उत्पन्न होता है, संबन्ध शब्दका अर्थ संसारभीरुता ऐसा होता है परंतु उपर्युक्त अर्थ अमरपद दिसता है ऐसी शंका भी ठीक नहीं है, जैसे भरे अंगपर शस्त्रप्रहार होगा इस भयसे वीरपुरुष कपन धारण करता है अर्थात् शस्त्रप्रहारमय यह कबच धारण करनेका हेतु है जैसे संसारभीरुता यह कारण है और उसने उत्पन्न हुई धर्मश्रद्धा कार्य है, यहां आचार्यने संबन्ध शब्द कार्यरूप धर्मश्रद्धामें रूढ किया है ऐसा समझना चाहिये,

नित्यपतात्पर्यमायाह—

आयापायविदग्धं वंसणणाणतवसंजमे तिञ्चा ॥

विहरदि विसुज्जमाणो नावज्जिविं दु णिळ्ळपो ॥ १०६ ॥

शुद्धया निःकंपनो भूत्वा हेयादेयविवक्षणाः ॥
रत्नत्रयात्मके मार्गे यावज्जीवं प्रवर्तते ॥ १०७ ॥

विद्वयोदया—आद्यापयविदण्डं वृद्धिदानिकमङ्गः । प्रवचनाभ्यासादेवं रत्नत्रयमिववृद्धिः एवं तथा हानिरिति यो ज्ञानति अस्ती, संसर्गाणतत्संज्ञे धृदने, हानि, तपसि, संयमे वा । द्विज्वा स्थित्वा । विद्वरवि मयतेते । विसुज्जमानो मुदिसुपयान् । जवज्जीवं जीवितकालाचवि । तु शब्दोऽन्तं जेयः । निःकंपो तु विनिष्कंपो निश्चल एवेति यावत् । निःशंकितत्वादिमा दर्शनस्य वृद्धिः, संक्रादिना हानिः । अर्थव्यंजनतदुभयपुद्गला स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानवृद्धिः । अनुपयोगादपूर्वार्थोपहृणाच्च ज्ञानहानिः । तथा शोकम्—“पुण्यमहिर्दं पि पाणं संकुडं विधुतजोगिस्स” इति । तपसो ह्यादशा विधस्य वृद्धिः संयमभावतया वीर्योविभिगुण्डनात् ज्ञानोपयोगात् । हानिः पुनस्तद्विपर्ययदैहिककार्योसंगाद्वा । सम्यग् पापक्रियाभ्य उपरजः संयमः । पापक्रियाश्चाशुभमनोबाधापयोगाः तेन शरितत्र संयमः । ‘पापक्रियानिपुत्तिआदिभं इति वचनात् । तस्य संयमस्य वृद्धिः पंचविंशतिभावनाभिर्हानिः तासां सायनानां अभोवेन । श्रुतादिना ज्ञानादीनां गुणदोषं वा न वेष्टि । प्रकृतगुणः कथं गुणानुग्रहेत् । अचित्तवृत्तेषां वा न तांस्त्यजेत् । तेन शिक्षायामावृतः कार्यः ।

श्रुताभ्यासादर्शनादिषु निष्कंपतां प्रकाशयति—

मूळार—आद्यापयविदण्डं वृद्धिदानिकमङ्गः । विद्वरवि प्रवर्तते प्रकृतत्वादर्शनादावेव । विसुज्जमानो विद्वद्धि गच्छन् । तु निःकंपो । हुरेयार्थे भिन्नक्रमः । निश्चल एवेत्यर्थः । तथाहि—निःशंकितत्वादित्या दर्शनस्य वृद्धिः संक्रादिना हानिः । अर्थव्यंजनतदुभयपुद्गला स्वाध्याये चोपयोगात् ज्ञानस्य वृद्धिरनुपयोगादपूर्वार्थोपहृणाच्च हानिः । तपसो वृद्धिः संयमभावतया वीर्योविभिगुण्डनात् ज्ञानोपयोगात् । हानिः पुनस्तद्विपर्ययदैहिककार्योसंगाच्च । संयमस्य वृद्धिर्बोद्धमनोगुणीयोऽनेत्यादिनवसूया निर्दिष्टाभिः प्रतिनिधयेतरभावनाभिस्तदभावे च हानिः ।

स्वाध्यायसे निष्कंपता गुणकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे मुनिराजको हानि और वृद्धिका ज्ञान होता है, अर्थात् आचमका अभ्यास करने रत्नत्रयमें वृद्धि कैसी होती है और उसके अभावमें कैसी हानि होती है ऐसा ज्ञाननेवाले मुनीश्वर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, चारित्र और तपमें स्थिर होकर आपरण विशुद्ध परिणामको धारण करनेवाले होकर विश्वलरूपसे रत्नत्रयमें विहार करते हैं, मम्यग्दर्शनके निःशंकितत्वादि गुण आगमाभ्यास करनेसे बढ़ते हैं, आगमाभ्यामके अभावमें शंक्रादिक दोष उत्पन्न होनेसे मम्यग्दर्शनकी हानि होती है, अर्थशुद्धि, व्यंजनशुद्धि, उभयशुद्धि करनेमें ज्ञान

श्रुतब्रह्मणो एकाग्रता न होनेसे और अपूर्व जीवादिपदार्थका स्वरूप न जाननेसे सम्बन्धानकी हानि होती है। 'पुञ्जगहिंदं वि गणं संकुटहं त्रिजुतयोगिस्स' 'सम्बन्धानकी प्राप्ति पूर्वकालमें हो चुकी हो तो भी अभ्यास छोड़ देनेसे तथा अपूर्व पदार्थोंका ज्ञान करनेसे वह पूर्व ज्ञान संकुचित होता है' ऐसा आगमवचन है। संयमकी भावनामें तपकी दृष्टि होगी है, अपनी शक्ति न छिपाना, ज्ञानाभ्यासमें तत्पर रहना, ऐहिक कार्योंमें अनासक्त रहना यह भी तपोवृद्धिके लिये कारण है, और इसके विरुद्ध प्रवृत्ति करनेसे तपमें हानि होती है। पापक्रियाओंसे निरक्त होना यह संयम है, मन, वचन और शरीर इन तीन योगोंकी अशुभ प्रवृत्तिका त्याग करना चाहिए है 'पाप क्रियानिबृत्तिधारित्रं' ऐसा आगमका वचन है। प्रत्येक अहिंसादिब्रह्मोंकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं, ऐसी पञ्चीस भावनाओंके अभ्याससे चारित्रिकी उन्नति होती है, भावनाओंका अभ्यास न करनेसे चारित्र्य हानिके मार्गका आश्रय करता है, शुलका अभ्यास न करनेसे ज्ञानादिकोंके गुण दोषोंका परिज्ञान होता नहीं, गुणोंका ज्ञान न होनेसे ह्यनि उनमें उन्नति शिखर पर नहीं ले जा सकते, दोषोंका ज्ञान न होना तो उनका वे कैसा त्याग कर सकेंगे, अत एव ज्ञानाभ्यासमें आदर करना चाहिए।

जिनवचनशिक्षा तपः इत्येतदुच्यते—

वारसविहग्मि य तवे सम्भंतरच्चाहिरे कुसलदिष्टे ॥

ण वि अत्थि ण वि य होहिद्वि सञ्जायसमं तवो कम्मं ॥ १०७ ॥

तपस्यभ्यन्तरे चाखे स्थिते द्वादशाधा तपः ॥

स्याप्ययेन समं नास्ति न भूतं न भविष्यति ॥ १०८ ॥

विज्ञेयोद्या—वारसविहग्मि य इति तपसि । सम्भंतरच्चाहिरे सहाम्भंतरच्चाद्याभ्यां घटते इति साध्यंतराहो । वारसभ्यन्तरं वा तपो मुक्त्वा किमन्यत्तपो नाम यत्ताभ्यां सह वर्तते इत्युच्यते ? तपः सामान्यं विशेषैः सह वर्तते इत्युच्यते । अजापदंतत्वात् अभ्यर्हितत्वाच्च अभ्यंतरस्यानस्य पूर्वनिगतोऽन्तरपदद्वि यद्वाशब्दत्वात् । कुसलदिष्टे संसार, संसार-कारणं, यथो, यथकारणं, मोक्षस्तदुपायः इत्यत्र वस्तुनि ये कुशलः सर्वविद्वत्सुपदिष्टे । सञ्जायसमं स्वाध्यायेन सहशं । तवो कम्मं तपः किरा । ण वि अत्थि नेवास्ति । ष वि य वैव । होहिद्वि भविष्यति । नाज्यासीदिति फालग्वयेऽपि स्वाध्याय-साध्यायस्य तपसोऽभावः कथ्यते । अत्र चोद्यते—स्वाध्यायोऽपि तपो वनशानाद्यपि तपो बुद्धेरेविशेषात् कर्मतत्पनसा-

मय्यस्याविशेषात् । किमुच्यते स्वाध्यायसदृशं तपो नेति ? कर्मनिर्जपपदेदुत्पातिशयपेक्षया संश्रामयसपो नैवास्तीत्यभिप्रायः । तपो नाम किमात्मपरिणामो भवेत् वा न ? आत्मपरिणामत्वे कथं कस्यचिद्विज्ञाता? अनात्मपरिणामत्वे न निर्जपो कुपोत् पटादिवदित्यत्रोच्यते—आत्मपरिणाम एव तपः कथं तर्हि वाञ्छता ? याज्ञाः सदर्ममार्गणि जनाः तैरप्यवगम्यत्वात् चाक्षमित्युच्यतेऽनशनादि । याज्ञैर्वत्परिणाम । सन्मार्गज्ञा अभ्यन्तरतः । तदवगम्यत्वात् यटादिवत्तराचरित्त्याद्या याज्ञाभ्यन्तरमिति सूत्ररभिप्रायः ॥

शीर्षोपाचक्षुतस्यैव स्वाध्यायाख्यं तपः स्यादतस्तन्माहात्म्यमभिधीति—

भूलाया—सर्वमतस्वाहिरे अभ्यन्तराः सन्मार्गज्ञास्तदधिगम्यत्वात्तैरेवाचरितत्वाद्वा प्राधान्येनान्तर्द्व्याभितत्वाद्वा तपोऽभ्यन्तरमुच्यते । याज्ञाः सन्मार्गवर्धिभूताः तदवगम्यत्वात्तैरेवाचरितत्वाद्वा प्राधान्येन वाह्यद्रव्याभितत्वाद्वा चार्हा तपः । अभ्यन्तरं च वाह्यं च अभ्यन्तरयाज्ञे सह वाच्यां धर्तमानं तपः सामान्योपेक्षया तयोऽन्तम् । कुसलविष्टे सर्वज्ञोपविष्टे । ण वि च । अत्र च शब्दशान्दाव्याप्तीत् इति ग्राह्यम् । सन्मार्गसमं कर्मनिर्जपोहेदुत्पातिशयपेक्षया फाळजयेऽपि स्वाध्यायेन तुल्यं नान्यतपोऽस्तीत्यभिप्रायः ॥ ध्यानस्य तस्मादुत्कृष्टत्वेऽपि सर्वपूर्वकत्वादप्राधान्यमत्र विवक्षितं ॥

जिनवचनका शिक्षण लेना यह तप है ऐसा आचार्य कहते हैं,

अर्थ—संसार और उनके कारण, पंच और उसके कारण, मोक्ष और उसके उपाय इतको जाननेवाले गणधरादिक आचार्य चारा प्रकारके वाह्य और अभ्यन्तर तपश्चरणोंमें स्वाध्याय नामका तप ही ऐसा है कि जिसके द्वारा करी करनेवाला दूसरा तप पूर्व कालमें हुआ नहीं और अगे न होगा व संगति—वर्तमानकालमें नहीं है ऐसा निरूपण करते हैं. अर्थात् तीनो कालमें भी स्वाध्यायके समान दूसरा तप जगतमें है ही नहीं.

माधामें 'सन्मन्तरयाहिरग्नि' ऐसा समस्त श्रुद्ध है. इसका अर्थ अभ्यन्तर व वाह्य तपसे युक्त तप ऐसा होता है. यहाँ अभ्यन्तर तप और वाह्य तप इन दोनोंको छोड़कर तिसरा तप है ही; नहीं तो अभ्यन्तर और वाह्य तपसे युक्त तप ऐसा अर्थ करना अनुचित है ? इस शंकाका उत्तर—तपस्स सामान्य वाह्य और अभ्यन्तर तप ऐसे विशेषोंसे युक्त होनेसे 'सम्भन्तरयाहिरग्नि' यह तपका विशेषण योग्य है.

शंका—स्वाध्याय भी तप है और अनशनादिक भी तप ही है दोनोंमें भी कर्मको संतप्त करनेका सामर्थ्य है अतः स्वाध्यायके समान अन्य तप नहीं है यह कहना क्या उचित है ? उत्तर—स्वाध्याय तप ! कर्मनेम

जितनी कर्म निर्जरा होती है उतनी अन्य तप करनेसे होती नहीं है अतः अन्य तप इसके समान नहीं है ऐसा कहना क्या अयोग्य है ?

शुक्रा—तप यह आत्माका परिणाम है या नहीं ? यदि तप आत्मपरिणाम रूप है तो कुछ तप अर्थात्तर है और कुछ तप वास है ऐसे भेद मानना अयोग्य है, यदि उनको आत्मपरिणामात्मकता नहीं है तो वे घटादिकके समान बाह्यही मानने चाहिये फिर अन्तरंग तप रहाही नहीं ?

उत्तर—तप यह आत्माका परिणाम है तो तपको वासपना किस रीतसे समझे ? सद्धर्म मार्गसि जो जन अलग हुए हैं अर्थात् जैनधर्म धारण न करनेवाले ऐसे भिख्यात्वी लोकोंकी 'वास' कहते हैं, वे भी जो तपधरण करते हैं वह वास तप है, अर्थात् अनलन अवमोदर्य वगैरह तपको वास तप कहते हैं, अथवा वास-गृहस्य उनके द्वारा जिनका आचरण किया जाता है ऐसे अनन्यनादि तपको वास कहते हैं, सन्मार्ग सुक्तियार्ग-रत्नत्रय इसको जाननेवाले ज्ञानि जिसका आचरण करते हैं ऐसे तप 'अर्थात्तर तप' इस शब्दसे फदे जाते हैं, ऐसा आचार्यका अभिप्राय है.

प्रतिप्रामात्रेण स्वाध्यायस्यान्यतयोभ्योऽतिशयिकता न सिद्धवतीति मन्यमानं प्रति भवितव्यसाधनामाह—

जं अण्णणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहि ॥

तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोसुहुत्तेण ॥ १०८ ॥

छट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णणियस्स जा सोही ॥

तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥ १०९ ॥

यहीभिर्भवकोटोभिर्यदज्ञानेन हन्यते ।

एति ज्ञानी त्रिभिर्गुहस्तत्कर्मोन्नमुहृततः ॥ १०९ ॥

पष्ठाष्टमादिभिः शुद्धिरज्ञानस्यास्ति योगिनः ॥

ज्ञानिनो बल्यमानस्य प्रोक्ता बहुगुणा ततः ॥ ११० ॥

विजयोदय—जं यत् । अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः । कम्मं कर्मा । खवेदि क्षण्यति । भवसदसहस्सकोडीहिं भव-
वातसहस्सकोटिभिः । तं तत् कर्म । णाणी सम्यग्ज्ञानवान् । त्तिहिं शुचो त्रिगुमित्युक्तं । खवेदि क्षण्यति । अतोमुदुत्सेण
अन्तमुद्धर्तमानेन । झटिति कर्मशततन्तामप्यं तपसोऽन्यस्व न विच्यते इत्ययमतिशयः स्वाध्यायस्य ॥

अर्थवादमात्रमेतद्व्यभिच्यतीति परो मा नंस्तेति झटिति कर्मशततन्ताच्छेषणतद्विशयसमर्थनार्थमिदमाह—

मूलान्ता—अण्णाणी सम्यग्ज्ञानरहितः ।

अनशतनात्रतोबद्धामहस्व प्रवोपनाय ततोऽप्रतिहायिवां शक्तिं स्वाध्यायस्य प्रख्यापयन्नाह—

मूलान्ता—छट्टेत्यादि—यष्टं श्रावुपवासो, अष्टमं श्रयो, दशमं चत्वारो, द्वावष्टं पंच, उपलक्षणतस्तत्क्षोपवासावयोऽपि ।
चतुर्गुणदरिया बहुगुणतरा । होज भवेत् । जिवितस्त भोजनं कुर्वन् । णाणित्स स्वाध्यायपरिणतस्य । इमां गाथां टीकाकारो
न मन्यते । पूर्वगाथोक्तानि त्रिकल्पार्थस्य अनयानभिधानान् ॥

केवल प्रतिज्ञासे स्वाध्यायकी अन्य तपसे विनिष्ठता सिद्ध नहीं होती है ऐसे समझनेवालोंके लिये आचार्य
स्वाध्याय तपकी महत्ता दिखाते हैं—

अर्थ—सम्यग्ज्ञानसे रहित जीव लक्षान्वधि कोटि भवोंमें जितने कर्मोंका क्षय करने में समर्थ होता है
शानी जीव तीन गुप्तिशोसे युक्त होकर अन्तर्मुहूर्त मात्र कालमें शीघ्र उतने कर्मोंका क्षय करता है. अभिप्राय यह है
कि, स्वाध्याय तपको छोड़कर अन्य तपमें शीघ्र कर्मका नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है. यह स्वाध्याय तपका
अतिशय है. दो, तीन, चार, पांच उपवाससे पक्षोपवास, मासोपवास वगैरह उपवास करनेवाले सम्मज्ञानरहित
मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा भोजन करनेवाला, स्वाध्याय तपमें तत्पर ऐसा सम्यग्दृष्टि परिणामोंकी जादा विशुद्धि
कर लेता है. तात्पर्य यह है कि, सम्यग्दृष्टि जीवको सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका भी साहाय्य मिलनेसे वह
यद्यपि घोडासा तपश्चरण करता है जो भी विषयवासनासे रहित होनेसे अपने आत्माको उचरोत्तर अधिकाधिक
निर्मल परिणामोंसे विशुद्ध करता है. उसका कर्म उचरोत्तर असंख्य गुणित पद्मतीसे निर्वीर्य होता है. और
उसको वंच कम २ होता जाता है. परंतु मिथ्यादृष्टिजीव विषयवासनाके वश होकर तप करता है. श्रद्धा व सम्य-
ज्ञानके आधारपर उसका तप अधिष्ठित नहीं है अतः उसका आत्मा सम्यग्दृष्टीके समान विशुद्ध नहीं होता है.

कथयति—

स्वाध्याये उच्यते गुप्तिमायनायां प्रवृत्ते भवति तत्र च वृषस्व रत्नत्रयाराधनं सुखेन भवति इत्युत्तरगाथया

सज्जामावणाए य भाविदा ह्येति सव्यगुत्तीओ ॥

गुत्तीहिं भाविदाहिं मरणे आराधओ होदि ॥ ११० ॥

स्वाध्यायेन यतः सर्वा भाविताः सन्ति गुप्तयः ॥

भवत्याराधना सुत्तौ गुप्तीनां भावने सति ॥ १११ ॥

विजयोदया—मनोयाकायज्यापाराः कर्मोदयदेवः सर्व एव व्यावर्तते स्वाध्याये सति, ततो भाविता भवन्ति गुप्तयः । कृताभिमतादियोगप्रयत्निरोद्ध्व रत्नत्रय एव घटते इति सुलसाध्यता । जननकालाभ्यस्तामुभयोनत्रयस्य कर्मोदयसहाय्ययत्नेनमतिदुष्करं स्वाध्यायमार्गैव क्षमा कर्तुमिति भावः । सलसायभाक्काए य स्वाध्यायभावनया या । भाविदा भाविताः । होति भवन्ति । सव्यगुत्तीओ सर्वगुप्तयः । गुप्तीहिं गुप्तिभिः । भाविदाहिं भाविताभिः । मरणे मरणकाले । आराधओ रत्नत्रयपरिणामाराधनपरः । होदि भवति ॥

स्वाध्यायभावनार्त्तं विना जन्मदिकालभ्यस्तममुभयोनत्रयं कर्मोदयसहायसन्त्येन केनापि व्यावर्तयितुं न शक्यते

इत्युपेन्दुमाषटे—

मूलात्—आराधओ रत्नत्रयाराधनापरः ।

स्वाध्यायमै तत्परं मुनि गुप्ति भावनामै प्रवृत्ति करता है. जब गुप्तिमें यह वत्पर होता है तब उसको रत्नत्रयकी आराधना सुलसे होती है. यही अभिप्राय आगे की गाथा कहती है—

अर्थ—स्वाध्याय करनेसे कर्मको ग्रहण करने वाली मन बचन और शरीरकी सर्व प्रवृत्तियां बंद होजाती हैं. इनके बंद होनेसे गुप्तिपोंका अम्यास मुनि कर सकते हैं. शरीरादिकके द्वारा स्वयं कार्य करना, दूसरोंके द्वारा कराना और स्वयं करने वालेको सम्मतिप्रदान करना इन तीन योगोंका विरोध रत्नत्रयकी प्राप्तिसे होजाता है. यह रत्नत्रय स्वाध्यायसे मुनि स्वतन्त्रमें प्राप्त करते हैं. मन बचन शरीरकी प्रवृत्तियां अर्थात् तीन प्रकारके अम्यय योग और उनको मिलेनवाला कर्मका सहाय्य ये सब स्वाध्यायके बलसे नष्ट होते हैं. अभिप्राय यह है कि, स्वाध्याय से सर्व गुप्तियां मिल जाती हैं. गुप्तियां प्राप्त होनेसे मरणकालमें आत्मा रत्नत्रयका आराधक होता है.

स्वाध्यायभावनास्त परस्वोपदेशो भवन् इतरोऽन्यः कमुपकार परस्व संपादयेद्व्यत्य परस्वोपदेशकत्वे विमस्यातमित्यत्राइ—

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छुद्धावणा भक्ती ।

होदि परदेसगत्ते अब्बोच्छिन्ती य तित्थस्स ॥ १११ ॥

जिनाज्ञा स्वपरोत्तारा भक्तिर्चातसत्यवर्द्धनी ॥

त्तीर्थप्रवर्तिता साधोर्ज्ञानतः परदेसना ॥ ११२ ॥

इति शिक्षासूत्रम् ॥

विजयोद्वा—आदपरसमुद्धारो आत्मनः परस्व वा उद्धरणमुद्दिष्ट्य व्यापृतः स्वाध्याये स्वकर्माप्यपि साधयति परेषामप्युपयुक्तानां । आणा “श्रेयोधिना हि जिनज्ञासत्यवस्थलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेश” इत्याशा सर्वविद्यां सा परिपाक्षिता भवतीति शेषः । वच्छुद्धावणा यातसत्यमभावना परेषामुपदेशकत्वे कृता भवति । भक्ती भक्तिश्च कृता भवति जिनवचने तद्व्याख्यात् । होदि भवति । परदेसगत्ते परेषामुपदेष्टृ-रूपे सति । अब्बोच्छिन्ती य अब्बुच्छिच्छिष्य । तित्थस्स तिसु चिद्विक्ति तिरये मोक्षमार्गः श्रुते वा । श्रुतमपि एतन्नयनिरूपणे व्यापृतत्वात् तत्रस्थं भवति । ततोऽयं अर्थः—श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा अब्बुच्छिच्छिक्तिरिति ॥ सिक्खा मग्ग ॥

एवं स्वाध्यायभावनाप्रवृत्त्या त्रिगुप्तिभावनया मरणकाले सुप्तआध्यामापराधनां प्रवर्धयदानीं परोपकारोऽपि स्वोपकारकरूपितः स्वाध्यायपरस्य परोपदेशकत्वे सति भवतीत्युपदिशति—

मूलाप—आदपरसमुद्धारो आत्मनः परस्य च संसारदुःखादुद्धरणमयेद्व्य स्वाध्याये प्रयुक्तः स्वस्यैव परेषामप्युपयुक्तानां कर्माणि शातयतीति तात्पर्यं । आणा श्रेयोधिना जिनज्ञासनवस्तलेन कर्तव्य एव हितोपदेश इति सर्वविद्याभाज्ञा सा परिपाक्षिता भवतीति शेषः । भक्ती जिनवचनविषयति शेषः । परदेसगत्ते परेषामुपदेशकत्वे सति । तित्थस्स श्रुतस्य मोक्षमार्गस्य वा ॥ शिक्षा । सूततः ३ । अंकतः १३ ॥

स्वाध्याय भावनामे आसक्त मुनि इतरोको कोनसा उपदेअ देता हे तथा दूसरोको उपदेश देनेसे इसको क्या लाभ होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—स्वाध्याय करनेवाले मुनि परोपदेश देकर आगे लिसे हुए गुणगणोंको प्राप्त कर लेते हैं. परोपदेशक मुनि सामायिकादिक आवश्यक कर्मके द्वारा सुदकी संसारसे मुक्ति कर लेता है और आवश्यककर्ममें तत्पर इतर

मुनिओंको उपदेशदानमें संभारसे छुड़ाता है, अतः आत्मपरसमुद्धार यह गुण परोपदेशकपनसे मुनिको मिलता है। आज्ञागुण—“विनम्रतपर ग्रीवि रखनेवाले मोक्षेच्छु मुनिओने नियमसे हितोपदेश करना चाहिये” ऐसी श्रीजिनेश्वरजी आज्ञा है उसका पालन धर्मोपदेश देनेसे होता है।

वात्सल्य प्रभावना—परोपदेशसे वात्सल्य और प्रभावना इन गुणोंका लाभ होता है, अर्थात् साधर्मिक वांछापूर्व प्रेम व्यक्त होता है तथा उनका अज्ञानांधकार दूर करनेसे प्रभावना गुण भी प्राप्त होता है।

भक्ति—विनम्रपनका अभ्यास करके परोपदेश करनेवाले मुनिका जिनपचनमें अतुराग प्रगट होता है, अन्युच्छिन्नि—‘तिसु चिह्नदिशि तिरय’ सम्मगर्धान, सम्मग्नान और सम्मवचारी इत तीनोंमें रहने वाला जो मोक्षमार्ग उसको त्रिस्थ किया तीर्य कहते हैं, अथवा जिनायम भी तीर्थ है क्योंकि वह भी रत्नत्रयका दर्पण करनेमें तत्पर रहता है, उस को त्रिस्थ अथवा तीर्थ कहते हैं, धर्मोपदेशदानसे धृत और मीश्वमार्गकी परंपरा टिक सकती है, शिक्षाका प्रकरण समाप्त हुआ।

लिंगप्रवृत्तान्तरं लानसंपत्तिः कर्णो, लानसंपत्तिं यंतमानेन विनयोऽनुष्ठातव्यः । ॥ ३ ॥ पंचप्रकार इत्याह—

त्रिणओ पुण पंचविहो णिदिहो णाणंदंसणचरित्ते ।।

तवविणवो य चउत्थो चरिमो उवयारिओ विणओ ॥ ११२ ॥

विनयो दर्शने ज्ञाने धारिजे तपसि स्थितः ॥

उपचारो च कर्तव्यः पंचथापि मनीषिभिः ॥ ११३ ॥

विजयोदया—विनयव्यपनयति यत्कामादुपं सट्टिनयः । सया चोक्ते—“जह्वा विणेदि कम्मं भट्टविहं छाउरंण मोयतो य” इति । पुण पचत्त जिनपचनाम्यासोत्तरफाले । पंचविहो पंचप्रकारः । णिदिहो तिदिहः । णाणंदंसणचरित्ते विपयदर्शक्यं समी । ज्ञानदर्शनाधारिधर्मियः ॥ तवविणवो य तपसि विनयश्च ॥ चउत्थो चतुर्थः । चरिमो अन्त्यः ॥ उवयारिओ विणयो उपचारविनयश्चेति ॥

अहं लिंगमावाय समभ्यस्तध्रुतेन वत्कलभूतो मोक्षांगतया विनयोऽनुमेयः इति तत्तपंचार्थं गाथाब्रह्मयोगविशति-भाविशति ॥ तत्र तापप्रित्तिगम्यं विनयस्य सामान्यलक्षणं विषयभेदाच्छेदं निरुद्धमाह—

मूलारा-विणओ—अनुभक्तमोनि विनयव्यपनयतीति विनयः । इति विशयिगम्यमपि तद्वृत्तानं श्लोकोन्यते—

हिवाहिलासिष्ठुत्यर्थं वर्दमानां सर्वोन्नता ॥

यो माहात्म्योद्भवे यत्नः ॥ मतो विनयः सवाम् ॥

पुण निश्चान्ततरम् ।

लिंगधारण करनेपर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये. ज्ञानसंपत्ति धारण करनेवालोंने विनय अवश्य करना चाहिये. वह विनय पांच प्रकारका है—

अर्थ—'विनयस्यपनयति यत्कर्म अशुभं तद्विनयः' जो अशुभ कर्मको विनयति अर्थात् दूर करता है, नष्ट करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं. आगममें विनयके विषयमें ऐसा कहा है, 'जस्मा विणेदि कम्मं अट्ठ-विहं चाउरंग मोपलो यं' अर्थात् जो आठ प्रकारके ज्ञानावरणदि कर्मोंका नाश करता है और मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और योग विसर्गके कारण है ऐसे संसारसे जो आत्माको छुड़ता है वह विनय है.

विनयकी निलकि आचार्योंने इस तरहसे कही है. इस विनयके पांच प्रकार हैं ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय.

ज्ञानमेदानाद्ये—काले स्वाध्यायधाचमकास्नाविह कालशब्देन युज्यते । अन्यथा कालमस्तरेण कस्यचिदपि द्रुत्य-भावात् कालप्रद्वयमनर्थकं स्यात् । अयत्तु नाम कालविशेषः कालशब्दवाच्यः तथापि नास्ते वितयो ॥ कर्म व्यपनयतीति, यदि व्यपनयेत्स्वयं स्वाकर्मवत्ता प्राप्नुयात्—

काले विणये उवघाणे बहुमाणे तद्दे व णिण्हवणे ॥

वंजण आत्थ तदुभये विणलो पाणस्मि अट्ठविहो ॥ ११३ ॥

ज्ञानीयो विनयः काले विनयेऽवग्रहे मतः ॥

बहुमानेऽनपहुत्थां न्यंजेनेऽर्थे द्वयेऽष्टधा ॥ ११४ ॥

विजयोव्या—काले इति सप्तम्यंतं पदं । तेन वाक्यनेपथुरस्तोऽयं सूत्रायो जायते । साध्यादारत्वात् सत्यं सूत्राणां । काले अध्ययनमिति । परित्यजनीयत्वेन निर्दिष्टं कालं संन्यायवैद्विष्याहोत्सकापत्तादिं परिहृत्याध्ययनं कर्म विनयति इति । विणप इति प्रथमान्तः विनयः ध्रुलधुतचरगाद्यात्म्यस्तवन ध्रुलधुतधरमकिरिति यावत् ।

उपहासे भवग्रहः । कावदिवमनुयोगद्वारं विष्णुसुरेति तावदिदं सत्त्वा न भोक्तव्यं, इदं जनसमं चतुर्थपञ्चाङ्गिकं करित्यस्मीति संकल्पः । स च कर्म स्वपन्नयतीति चिन्तयः ।

शुभमाणे सन्धानं । शुभेः कृताञ्जलिपुटस्य अनाक्षितमनसः खादरमध्यनं । तह्म तथा ।

अणिपूवणे अनिहवद्य निह्वयोऽपत्यापः । कस्यचित्सकाशे शुतमधीत्यान्यो गुस्तरित्यभिधानमपलापः ।
वंजण अथ तदुभये स्वजनं नादयुक्तानं । अर्थः शब्दवाच्यः, तदुभयसाधेन व्यञ्जनमर्थेष्व निर्दिश्यते । वंजण अतथतदुभये
व्यञ्जनं च अर्थश्च तदुभयं चेति द्वौ छते सर्वौ द्वौो विभाषणा एकवद्भवतीति एकवद्भवावापस्य एकवचनं कृतं । अर्थ-
वाधस्य अजापददेत्वात्पदान्तरत्वाच्च पूर्वनियतमसंग इति चेष्ट, सर्वतोऽभ्यर्द्धितं पूर्वं निपतति इति व्यञ्जनसाधः पूर्वं
प्रयुज्यते । कथमभ्यर्द्धितं ? स्वयं परमत्पदेदुत्वात्स्वयं च शब्दश्रुतादेवार्थयाथात्म्यमवैति परं भाववोधयति ।
अथ च वंजणभर्यतदुभये शुद्धी इति शेषः ।

तत्र स्वजनशुद्धिर्नाम यथा गणाधरादिभिर्गोविंशोपयोगितानि सूत्राणि उक्तानि तेषां सथैव पाठः । शब्दश्रुतस्यापि
व्यत्यये आपते भवेनेति प्रश्ने शानशाधेन शुद्धित्वात् तन्मूलं हि श्रुतज्ञानं ।

अथ मधेशाधेन किमुच्यते ? स्वजनसाधस्य सांनिपादार्थशब्दः शब्दमिच्छेयं यद्वैते, तेन सूत्रार्थोऽयं इति गृह्यते ।
तस्य का शुद्धिः ? विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणायां अर्थाधात्त्याभिरूपणा । अथैवरीत्यस्य अर्थशुद्धिरित्युच्यते ।
सूत्रार्थनिरूपणायाः शब्दश्रुतत्वादिविपरीतनिरूपणापि स्वजनशुद्धिरेव भवतीति नार्थशुद्धिः कदाचिदिति चेत्, न परकृत
शब्दश्रुताविपरीतपाठे स्वजनशुद्धिसमर्थनिरूपणाया अवैपरीत्यं अपेक्ष्यते । प्रत्यययुते तु अर्थवाधात्म्यमिति भासोऽप्ये-
शुद्धिः ॥

तदुभयशुद्धिर्नाम तस्य व्यञ्जनस्य अर्थस्य च शुद्धिः ।

तनु स्वजनार्थग्राह्योः प्रतिपादितयोः तदुभयशुद्धिर्यदीता न तद्व्यतिरेकेण तदुभयशुद्धिर्नामास्ति ततः कथम-
द्विषयता ? अत्रोच्यते पुरुषभेदवैकल्येयं निरूपणा—

कदाचद्विपरीतं सूत्रार्थं व्याचष्टे सार्धं तु विपरीतं । तत्तथा न कार्यमिति व्यञ्जनशुद्धिरुक्ता । अन्यश्च सूत्रमवि-
परीतं पठ्यपि निरूपयत्यन्यथा सूत्रार्थं इति तद्विराक्तयेऽर्थशुद्धिरुक्ताहता । अपरस्तु सूत्रं विपरीतमधीते सूत्रार्थं च
कथयितुं कुक्तो विपरीतं व्याचष्टे तदुभयग्राह्यतेयं उभयशुद्धिरुच्यते । अयमप्युक्तयोः शानाभ्यासपरिकरोऽष्टविधे
कर्म विनयति व्यत्ययति विनयशब्दाभ्यासो भवतीति सुरेतिश्रयः ।

यदि शानादिनेदात्म्यथा विनयस्तर्हि ज्ञानविनयः कतिधेति प्रश्ने सत्याह—

मूलारा — काळे संध्याभवेदिन्द्रादोल्कापातादेः सुवेतिनिपिच्छादन्वत्र ययौके काळे अप्यवनं कालवितथ इति
व्याख्येयं सोपस्कात्त्वत्सूत्राणां ।

विणए मयमांशोऽपरेऽपि च श्रुतश्रुतधरमक्तिरित्यर्थः ।

उच्यते अथग्रहविशेषः यावदिदमनुयोगद्वारं समाप्यते तावदिदं मया न भोक्तव्यमिदं दानश्रनादिकं करिष्यामीति संकल्पः । यद्गुणो गुणेः कुतोऽबलिपुटस्यान्वाक्षितचित्तस्य सादरमध्ययनं । अणिणहनेने अन्यतः श्रुतमधीत्यान्यस्य गुरोः कथनं नित्यत्वं गुरोरपलापस्तद्विपर्ययः । पंचमो विनयः । वंजणअत्यवदुमये सुद्धी इत्यध्याहार्य । तेन लंजन-शुद्धिरर्थशुद्धिः शब्दाद्योभयशुद्धिरित्यधी त्रयो ज्ञानभेदाः । तत्र ज्वंजनशुद्धिर्यथोक्तमुपपठनं । अर्थाशुद्धिः सम्यक्सुद्धानर्थ-निरूपणा । बहुभयशुद्धिर्यथोक्तं सूत्रं पठतः सम्यक्त्वदर्थप्रतिपादनं । कश्चादि सूत्रं विपर्यस्यति तदर्थं तु सम्यगन्वयापेष्टे । अन्यस्तु सूत्रं सम्यगधीयानोऽपि तदर्थमन्यथा कथयति । अपरः पुनः सूत्रमर्थं च विपर्यस्यतीति पुरुषमेवापेक्षया तदय-परिहासे ज्ञानविनयमेव त्रयमुपपद्यते । अट्टविहो, अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरो ' अस्मा विणेदि कम्मं अट्टविहं तेण विणक्षो सो ' इति वचनावष्टविधं कर्म विनयतीति विनयो ज्ञानविषय इति सुरेन्द्रविभ्रायः ।

ज्ञानविनयके भेद कहते हैं—

अर्थ—काल, विनय, उपधान, यदुमान, अनिहव, व्यंजन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञानविनयके आठ भेद हैं। कालविनय—यहां कालशब्दसे स्वाध्यायकाल यह अर्थ समझना चाहिये। अन्यथा कालके बिना कोई भी पदार्थ अपना अस्तित्व रखनेमें असमर्थ है अतः काल शब्दके ग्रहणको वैयर्थ्य आवेगा। कारण काल तो हमेशा ही रहता है उसका उल्लेख करनेकी कुछ भी जरूरत नहीं थी अतः काल शब्दसे स्वाध्यायकालका अर्थात् कालविशेषका यहां ग्रहण किया है।

शंका—कालशब्दसे विशिष्ट कालका ग्रहण करे तो भी कुछ हर्ज नहीं है। परंतु उसको विनय क्यों कहना चाहिये ? क्योंकि वह अनुभ कर्मको दूर नहीं करता है। यदि वह अनुभ कर्मको दूर करेगा तो सर्व माणि मात्र कर्मरहित हो जावेंगे।

उत्तर—यहां काल शब्द सप्तमंत समझना चाहिये तथा उसके अगे ' अध्ययन ' यह शब्द जोड़ देना चाहिये। सर्व स्रय संक्षिप्तमें रचे जाते हैं अतः ऊपरसे भी कुछ शब्द जोड़ने पड़ते हैं। ' काले ' इसका मतलब ' काले अध्ययनं ' ऐसा समझना चाहिये। संध्याकाल, पूर्वकाल, दिशादाह, उत्कापात इत्यादि वर्तनीय कालका परिहार करके अन्य कालमें यदि स्वाध्याय, व्याख्यान, पठन, मलनादिक करनेसे अनुभ कर्म नष्ट होता है।

विनय—धृतज्ञान और श्रुतधर अर्थात् श्रुतकेवली इनके माहात्म्यका स्तवन करना. अर्थात् श्रुतभक्ति पढना चाहिये.

उपधान—विशेष नियम धारण करना. जगतक यह अनुयोगका प्रकरण समाप्त होगा तबतक मैं उपवास करूँगा अथवा दो उपवास करूँगा इस तरहसे संकल्प करना यह विनय अशुभ कर्मको दूर करता है.

बहुमानविनय—परिश्रमासे, हाथ जोड़कर, मनको एकत्र करके वडे आदरसे अध्ययन करना. ऐतद्बलानि नित्यं—अपराध करना निश्चय है. एक आचार्यके पास अध्ययन करके अन्य आचार्यका नाम लेना यह निन्दन है ऐसे दोष का त्याग करना अनिष्टविनय है.

व्यंजन, अर्थ, तदुभय विनय—शब्दको व्यंजन कहते हैं, शब्दका जो वाच्य वह अर्थ है. जैसे मनुष्य शब्दका वाच्य आदमी ऐसा होता है. शब्द और उसके अर्थको तदुभय कहते हैं. गायामें वंजन, अन्ध, तदुभय इन शब्दोंमें द्वंद्वमात्र किया है. सर्व द्वंद्वमात्र विभाषासे एकवचनयुक्त होता है इस व्याकरणके नियमानुसार 'वंजन आद्य तदुभये' इस समासमें एकवचन किया है.

शंका—यहां अर्थ शब्द स्वरादि व अल्पस्वर युक्त होनेसे वंजन इस शब्दके पूर्व उसका निवेद्य होना चाहिये. इस शंकाका उत्तर ऐसा है—'सर्तोऽप्यहितं पूर्णं निपतति' इस परिभाषासे वंजन-शब्द अस्मिहित अर्थात् महत्प्रयुक्त होनेमें वही अर्थशब्दके पूर्वमें प्रयुक्त किया है. व्यंजनको अर्थात् शब्दको महत्त्व-प्राधान्य क्यों है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि शब्दके द्वारा हम दूसरोंको ममज्ञा सुकते हैं और सब शब्दश्रुतादिके सहारेसे पदार्थका यथार्थ स्वरूप जान लेते हैं.

व्यंजनशुद्धि—गणधरादि आचार्योंने वृत्तिस दीर्घोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है उनको दीर्घ रहित पढना व्यंजन शुद्धि है. शब्दोंको कोई भी जान नहीं कहते है अतः शब्दोंकी शुद्धि ज्ञानविनयमें कैसी अन्तर्भूत कर नमोने ऐसी शंका यहां उपस्थित होती है. इसका उत्तर इस मुख है—शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं. ज्ञानोत्पत्तिके लिये शब्द कारण हैं. समस्त श्रुतज्ञान शब्दके भिन्नीपर ही खड़ा हुआ है अतः शब्दोंको 'मायतंनेन' इस विग्रहमें जान कह सकते हैं.

अंशशुद्धि—अर्थशब्दमें हम क्या समझे ? अर्थशब्द व्यंजनशब्दके मधीन होनेमें शब्दोंका उच्चार

होनेपर मनमें जो अभिप्राय उत्पन्न होता है वह अर्थशब्दका भाव है, अर्थात् गणघरादिरचित सूत्रोंके अर्थको यहाँ अर्थ समझना चाहिये, अर्थशुद्धिका अर्थ इस सूत्रब समझना—विपरीतरूपसे सूत्रार्थके निरूपणमें अर्थ ही आधार भूत है अतः ऐसी निरूपणा अर्थशुद्धि नहीं है, किंतु यथार्थरूपसे जो सूत्रार्थका विवेचन होता है वही अर्थ शुद्धि है संशय, विपर्यय अन्वयवसायादि दोषोंसे रहित सूत्रार्थनिरूपणको अर्थशुद्धि कहते हैं।

शंका—सूत्रार्थनिरूपण भी शब्द श्रुत है इसलिये अविपरीतनिरूपण भी व्यंजनशुद्धि ही है, उसको अर्थशुद्धि समझना भूल है, इस शंकाका उत्तर—

शब्द श्रुतके वाक्योंका जो अविपरीत उच्चार किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है, और उन वाक्योंका जो अविपरीत रूपसे अर्थ समझाया जाता है वह अर्थशुद्धि है अर्थात् वाक्योंके शब्दोंका स्पष्ट उच्चार, दीर्घ-ह्रस्वादि-कको ध्यानमें लाकर जो उच्चारण किया जाता है वह व्यंजनशुद्धि है, और उनका अभिप्राय वचनोंके लिये जो अविपरीत शब्दोच्चार किया जाता है वह अर्थशुद्धि है,

ज्ञानश्रुतमें जो अर्थकी सत्यताका अनुभव आता है वही अर्थशुद्धि है,

तदुभयशुद्धि—व्यंजनकी शुद्धि और उसके वाच्य अभिप्रायकी जो शुद्धि है वह उभयशुद्धि है, शंका—उपर व्यंजनशुद्धि और अर्थशुद्धि इन दोनोंका स्वरूप आप कह चुके हैं उनमें ही इसका भी अन्तर्भाव हो सकता है, इन दोनोंको छोड़कर तदुभय शुद्धि नामकी तीसरी शुद्धि है नहीं, अतः ज्ञानविनयके आठ प्रकार सिद्ध नहीं होते हैं,

उत्तर—पहली पुरुषभेदोंकी अपेक्षासे निरूपण किया है

खुलासा—जैसे कोई पुरुष सूत्रका अर्थ तो ठीक कहता है परंतु सूत्रको विपरीत पढ़ता है ठीक पढ़ता नहीं, दीर्घोच्चारके स्थानमें ह्रस्वोच्चार इत्यादि दोषयुक्त बोलता है ऐसा दोषयुक्त पढ़ना नहीं चाहिये इस वास्ते व्यंजन-शुद्धि कही है, दूसरा कोई पुरुष सूत्रको ठीक पढ़लेता है, परंतु सूत्रार्थ का विपरीत निरूपण करता है यह भी योग्य नहीं है इसका निराकरण करनेके लिये अर्थशुद्धि कही है, तीसरा अदमी सूत्रभी विपरीत पढ़ता है और उसका अर्थ भी अंष्टसंत कहता है, इन दोनों दोषोंको दूर करनेके लिये तदुभयशुद्धिको भिन्न मानना चाहिये, ज्ञानाभ्यासके ये आठ प्रकार आठ प्रकारके फलोंको आत्मासे दूर करते हैं इसलिये इनको विनयशब्दसे संबोधन करना सार्थक है ऐसा आचार्योंका अभिप्राय है,

उपगूहणादिया पुबुचा तह भाचियादिया य गुणा ॥

संकादिवज्जणं पि य जेओ सम्मसाविणओ सो ॥ ११४ ॥

उपवृद्धादितात्पर्यं भक्त्यादिकरणोद्यमः ॥

सम्यक्त्वविनयो ज्ञेयः शङ्कादीनां च वर्जनम् ॥ ११५ ॥

विजयोदया—उपगूहणादिगा उपवृद्धणादिकाः । उपवृद्धणं, स्थितिकरणं, वात्सल्यं, प्रभावना सेत्येते । पुबुचा पुर्याचरिक्काः पूर्वोक्ताः । अस्मात् सूत्रापूर्वेण च सूत्रेण “उपगूहणादिकरणं वच्छल्लपमावणा भणिदा” इत्यनेनोक्ताः पूर्वमुक्ताः । पूर्वोक्तो वा सम्मसाविणओ सम्यक्त्वविनय इति संवेधनीयं । तत्र भक्तियादिया य गुणा तथा भक्त्यादिकाश्च गुणाः विनयसंस्कारेण अवस्थिताः इति । अहंदादिविषया भक्त्यादिगुणा इति यावत् । संकादिवज्जणं पि य शंकाविषर्जनं च । असाध्यः पापपूरणः जेओ ज्ञेयः ॥ सम्मसाविणओ सम्यक्त्वविनय इति ॥ उपवृद्धणादीनां भक्त्यादीनां च गुणानां बहुधात्वेनापि य विनयत्वात् समसाविणया इति वाक्यमिति चेत्, विनयसामान्योपेक्षया तस्यैकत्यावैक्यवचनेन पवर्तस्कारः कृतो न निवर्तते । न च पदांतरवाक्योपेक्षया बहुत्वमस्तीत्येवावता अग्रतिपदिका सुबुत्पद्यते । तथा न प्रयोगा बहु पय वनमिति ॥

सम्यक्त्वविनयं निर्विद्वति—

मूलराधना—स्पष्टम् ।

दर्शनविनयकी सूचना करनेवाली गाथा—

अर्थ—उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ऐसे सम्यग्दर्शनके चार गुण पूर्वाचार्योंने कहे हैं तथा इस ग्रंथके कर्ताने भी पीछे ‘उपगूहणादिकरणं वच्छल्लपमावणा गुणा भणिदा’ इस गाथामें इनका वर्णन किया है। अहंदादिकी भक्ति, पूजा, वर्णजनन वगैरह गुणोंका भी वर्णन पीछे विशदतया किया है। इन सर्वोक्तो दर्शनविनय कहते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टिप्रभृति व अनागतनसेवन ऐसे सम्यग्दर्शनके पांच दोष हैं इनका त्याग करना वह भी दर्शनविनय है।

शंका—उपगूहणादिगुण, भक्त्यादिगुण इनकी संख्या बहुत है और वे ही दर्शनविनयके स्वरूप हैं अतः गाथामें ‘सम्मसाविणओ’ ऐसा एकवचनका प्रयोग अयोग्य है। ‘सम्मसाविणया’ ऐसा बहुवचनमें प्रयोग होना चाहिये।

उत्तर—विनयसामान्यकी उपेक्षाले सम्यक्त्वविनयको एक समझकर 'समचविणओ' यह एकवचनमें प्रयोग किया है, अतः एकवचनरूप किया हुआ पदसंस्कार अब बदलता नहीं है,

चरित्रचिन्तनिकरणाय गाथा—

इंदियकसायपणिधानं पि य गुचीओ चेव समिदीओ ॥

एसो चरित्रविणओ समासदो होइ णायवो ॥ ११५ ॥

कुर्वतः समितीगुप्तीः प्रणिधानस्य वर्जनम् ॥

चारित्र्यविनयः साधोर्जायते सिद्धिसाधकः ॥ ११६ ॥

विलयोव्या—इंदियकसायपणिधानं पि य । इन्द्र आत्मा तस्य लिंगमिन्द्रियं । यत्करणं तत्कर्तृमव्या—परशुः । कर्तृणं च बहुतरादिर्क । सेनास्य कर्ता केनचिद्व्याप्यमिति । तच्च क्षिप्रियं द्रव्येन्द्रियं भावैन्द्रियमिति । तत्र द्रव्येन्द्रियं नाम निर्भरयुपकरणो मस्तिष्कादिवर्त्तमानो यः शरीरावयवः कर्मणा निर्वर्त्यते इति निर्दुतिः । उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनाभि-
विषयमनेत्युपकरणं अक्षिपञ्चुफलरूपतात्कारादिकं । भावैन्द्रियं नाम ज्ञानावरणसंयोगानामविशेषोपलब्धिः, द्रव्येन्द्रियनि-
मित्तरूपाधुपलब्धिश्च । इह इन्द्रियशब्देन मनोहररूपाविसाधिर्येन रागकोपादुगकरुणादिविभांसाः प्रतीतयो गृहीताः । कर्त-
रिति हिंसति आत्मक्षेत्रमिति कथायाः । अथवा तत्कर्तृणां चात्फलरसः कथायः, कथाय इव कथाय इत्युपमाद्वारेण क्रोधादौ
यतते कथायशब्द उपमार्थः । यथा कथायो बलादेः शौक्ल्यशुक्तिपनयति, निराकर्तुं चाशक्यस्तद्वादात्मनो ज्ञानदर्शन-
शुद्धिं विनाशयति, आत्मायत्नस्य दुःखेनागृह्यते इति । यथा वा पटादेः स्पर्शं करोति कथायस्तद्वदेव कर्मणां स्थितिमक-
पमात्मनि निवधाति क्रोधादिः । इन्द्रियमिति च कथायाश्च इन्द्रियकथायाः । इन्द्रियकथाययोः अप्रणिधानं अनाश्रयः
आत्मनो व्यापयित्वेन्द्रियकथायापरिणतिः । गुप्ती चेव शुभश्च संसारकारणावात्मनो भोपनं युक्तिः ।

संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालमायमवयवविवर्तनस्य कारणं कर्म ज्ञानावरणादि तत्सात्संसारकारणादात्मनो भोपनं रक्षा
शुप्तिरित्याज्यायते । भावे किं, अपादानसाधनो वा, यतो भोपनं सा युक्तिः । भोग्यतीति कर्तेसाधनो वा किन् । शब्दाध-
व्यवस्थेयम् । किं स्वरूपं तस्या इति चेत् । सम्यग्भोगनिग्रहो युक्तिः । कायवादमन-कर्मणां प्राफाम्यायावो निग्रहः, यथेष्ट-
चारिताभायो युक्तिः । सम्यगिति विशेषणतूपजापुरस्सरं क्रियां संयतो मदानयमिति यथाधानयेव्य पारलौकिकमिन्द्रिय
शुभं वा न्द्रियमणा शुप्तिरिति कथ्यते । इति सरूपो व्यवस्थितः । रागकोपाभ्यां अनुपलुता नोरेन्द्रियमतिः मनोगुप्तिरिति
यमग्रे । एवं चायं धन्यमिति सूत्रकारो 'जा रागादिष्विण्वती भजस्व जाणहि तं मनोशुचि' मिति । अनुपलप्यकर्मजा-
मिध्यात्वासंयमनिमित्तपचनानां जयकृता पाग्युक्तिः । अप्रमत्ततया यदप्रत्यवेक्षिताममार्जितमृशेषेऽचंक्रमणं, द्रव्यांतरा
दाननिक्षेपसाधनसन्किशानां अकरणं कायशुक्तिः कायोत्तर्गो वा ।

समिदीओ समितयः । प्राणिपीडापरिहारद्वयतः स्वयमगमनं प्रवृत्तिः समितिः । सम्बन्धियशोपाणाञ्जीविनिका-
यस्वरूपज्ञानअदानुपुस्सरा प्रवृत्तिर्हता । ईयमावैपणादानानिस्सोत्तमोः पंचसमितयः । " ईयादिसमितीनां याकाय-
गुत्तिम्यां अविशेषास्तो भेदेनोपादानमवयवं, प्राणिपीडाकारित्याः कायक्रियाया निवृत्तिः कायगुत्तिः, ईयादिसमितयश्च
तथाभूतकायक्रियानिवृत्तिकृपाः " अत्रोच्यते—निवृत्तिकृपा गुप्तयः प्रवृत्तिकृपाः समितयः इति भेदः विशिष्टा गमनभाषणा-
न्यवद्वरणप्रद्वयनिक्षेपणोत्सर्गक्रियाः समितय इति उच्यन्ते । यस्तो ययः । चरित्रविणजो चारित्रविनयः । समासदो
संक्षेपतः । जलद्वयो जलतयः । होदि भयति ।

इंद्रियकृपायाप्रणिधानं मनोगुत्तिरेव किमर्थं पृथगुच्यते ? सत्यम् । धक्कायगुत्त्वोरेव गुत्तीओ इत्यनेन परिग्रहः ।
अथवा रागद्वेषमिथायाप्रपुष्टपरिणामसिद्धो मनोगुत्तिः सामान्यभूता । इंद्रियकृपायाप्रणिधानं तद्विशेषः । सामान्यविशेष-
पयोश्च कथंचिद्वेदाय योनवसत्यं । मनोगुत्तावन्तभूतस्यापि इंद्रियकृपायाप्रणिधानस्य भेदेनोपादानं चारित्र्याधिनीडवद्वयं
परिहृत्यैवत्वकायपनायं वा ।

मनु अत्रोपशयिषिं चारित्रं पंच महायत्तानि, पंच समितया, तिस्रो गुप्तयः इति । तदा समितीनां गुत्तीनां
चारित्रत्ये चारित्रविनय इति कथं भेदेनाभिधानं ? यत्ताम्येषाम्यत्र चारित्रशब्देनोच्यते । तेषां परिकल्पेनापस्थिताः शुण्तयः
समितयश्चेति सूचकारस्याभिप्रायः । तथा चोक्तमन्यैः ' कर्मानानिभिचक्रियाम्यश्च विरतिः बहिस्तादिभेदेन पंचप्रकार
गुत्तिसमितिद्विस्तारसंक्षेपो भवति । कश्चारित्रादिनयन्यास इति चेत् पंचविंशतियोगतः । ' सत्यैर्मायै भाषनाः पंच
पंचेति ' निरूपिताः ॥

चारित्रविनयं निरूपयति—

मूळाराधना—इंद्रियकृपायपणिधानं इह इंद्रियशब्देन मनोव्यामनोस्वरूपद्विस्तारिज्ये रागद्वेषानुगतस्वरूपादि-
निर्भासाः प्रतीतयो गृह्यताः । कृपायाश्च भानओपावयः तेवप्रणिधानमपरिणतिरात्मन इंद्रियकृपायाप्रणिधानं । कसा-
यपणिधानमित्यत्र शर्कश्चादित्वात्परत्वं । अन्ये तु प्रणिधानशब्देनात्र निरोधं व्याचक्षते । इंद्रियकृपायानिरोध इत्यर्थः ।
तस्य ॥ मनोगुत्तावन्तभूतस्यापि भेदेनोपादानं चारित्र्याधिनीडवद्वयकथंत्वस्यापनार्थं । चारित्रशब्देन चात्र व्रतान्येवैश्वःनि
तेषां च परिकल्पेनावस्थिता गुप्तयःप्रमितयश्चेति सर्वं सूत्रम् । अन्यैस्तु पंचविंशतिसाधनचचारित्रविनय शक्तः ॥

चारित्रविनयनिरूपण करनेके लिये आचार्य आगेकी याथा कहते हैं—

अर्थ - आत्माको इंद्र कहते हैं- इस इंद्रका जो चिह्न अर्थात् आत्माका स्वरूप पहचाननेका जो साधन
यह इंद्रिय है, यह इंद्रिय करण है, जो जो करण होता है वह कर्तासे युक्त रहता है, क्योंकि कर्ताको क्रिया करने
में जिससे साहाय्य मिलता है वह करण है, इस करणके बिना कर्ता क्रिया नहीं कर सकता है, जैसे देवदत्त जब

लकड़ी तोड़ता है तब वह कुन्हाड़ीका सहाय्य लेता है, बिना कुन्हाड़िके वह लकड़ी नहीं काट सकता है, इसलिये जैसे देवदत्त कर्ता और कुन्हाड़ी करण है वैसे आत्मा कर्ता है क्योंकि वह पदार्थोंको जाननेकी क्रिया करता है और इंद्रियां पदार्थ जाननेमें आत्माको साहाय्य करती हैं इसलिये वे करण हैं, यहाँ इंद्रियोंके द्रव्यइंद्रिय और भाव इंद्रिय ऐसे दो भेद कहे हैं,

द्रव्येन्द्रिय—मष्टर, यवनाल, खुरपा इत्यादि पदार्थोंके आकारके समान नेत्र, कर्ण, जीभ वगैरे द्रव्येन्द्रियोंका आकार है, ये निर्वृत्ति और उपकरणसे युक्त रहती हैं, और वे शरीरके अवयवरूप मानी गयी हैं, तात्पर्य यह है कि, आत्माके प्रदेश इन्द्रियाकार हो जाना यह अर्थांतरनिश्चय है, और उसके ऊपर पुद्गलोंकी जो इन्द्रियाकार रचना होती है वह बाह्यनिवृत्ति है, निवृत्तियोंका जिससे रक्षण होता है वह उपकरण है, उसके भी दो भेद हैं, बाह्य उपकरण व अर्थांतर उपकरण, जैसे नेत्रमें सारका, काला और सफेद जो भाग है वह अर्थांतर उपकरण है, अधिपत्र-पापनी, मोहि वगैरह बाह्योपकरण है, ज्ञानके साधनभूत इंद्रियोंको जो सहाय्यप्रदान करते हैं उसको उपकरण कहते हैं, यह द्रव्येन्द्रियका स्वरूप है,

भावेन्द्रिय—आत्मामें ज्ञानावरण कर्मका जो विशिष्ट क्षयोपशम भ्रगत हुआ है वह तथा द्रव्येन्द्रियके सहारेसे रूपादिकोंका जो ज्ञान होता है वह भावेन्द्रिय है,

यहाँ मनबाहे रूपादि पदार्थोंका सानिध्य होनेसे जो रागद्वेषसहित ज्ञान होता है वह इंद्रियशब्दका अर्थ है,

कपाय—'कपन्ति हिंसति आत्मश्रेयं इति कपायाः' जो आत्माका घात करते हैं वे कपाय हैं, क्रीडादिक विकार आत्माका अहित करते हैं अतः उनको कपाय कहते हैं, अथवा बुद्धोंकी छातीसे जो रस निकलता है उसको कपाय कहते हैं, वह चिक्कण होनेसे वस्त्रमें लगनेपर निकलवा नहीं है, उपर्युक्त उपमाके द्वारा क्रीडादिकोंको भी कपाय कहते हैं,

जैसे कपायरस वस्त्रको लगनेपर उसका संस्पर्शपना, स्वच्छता नष्ट होते हैं और वह रस भी बहते निकलना अशक्य है, वैसे क्रीडादिकपाय भी आत्माके ज्ञान और दर्शनगुणकी निर्मलताको नष्ट करते हैं, और इन कपायोंका आत्माके साथ संबंध होनेपर वहाँसे बड़े कष्टसे दूर होसकते हैं, जैसे कपायरससे वस्त्रादिकोंमें सूदता

आती है, वेने ये क्रोधादि कषाय आत्मामें ज्ञानावरणादि कर्मको स्थिर करते हैं, अर्थात् कषायसे ही कर्मकी काल-स्थिति बदती है, ऐसे कषाय और इंद्रियोंमें मनकी एकाग्रता न होने देना चाहिये अर्थात् इंद्रियोंके विषयमें प्रवृत्ति होनेमें आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होजाते हैं, वे न होने देवे, रागद्वेषरूप परिणति आत्मामें न होना यह इंद्रिया प्राणिधान है, और कषायवश न होकर आत्माकी ज्ञानशुद्धि और दर्शन शुद्धि कथम रसना यह कषायाप्राणिधान है.

गुप्ति—संसारके फलणोंसे आत्माका रक्षण करना यह गुप्ति है, द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, माचपरिवर्तन और भगपरिवर्तन ऐसे संसारके पांच भेद हैं (इसका आगे ग्रंथकार वर्णन करेंगे,) ज्ञानावरणादि कर्म समूह संसारका कारण है, इससे आत्माका रक्षण करना यह गुप्ति है, 'संसारकारणवादरसनो गोपनं गुप्तिः' यह गुप्तिका लक्षण है, 'मावे क्तिः' इग करने मात्र अर्थमें क्ति प्रत्यय जोड़ देनेसे गुप्ति यह शब्द सिद्ध हुआ है, अथवा अपादानकारकमें भी इस गुप्तिशब्दकी सिद्धि होती है, 'यतो गोपनं सा गुप्तिः' अर्थात् संसारकारणोंसे आत्माका रक्षा घटान फरना यह गुप्ति है, किना कर्ता फारकमें भी यह शब्द सिद्ध होता है, 'गोपयसीति गुप्तिः' आत्मा ही भंगारकारणोंसे अपनेको बचाता है अतः आत्मा ही गुप्ति है, यदां कर्तृकारकमें गुण धातुके अलो क्तिन् प्रत्यय जोड़ देनेसे गुप्ति शब्द सिद्ध होता है, इस रीतीसे गुप्तिशब्दके अर्थका विवेचन किया है.

गुप्तिका स्वरूप क्या है? उत्तर—'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' क्षीर, वसन और मनकी यथेष्ट प्रवृत्तिको रोकना यह गुप्ति है, सम्यग् यह विशेषण योगनिग्रहका है, यह महात्मा स्वस्वी है ऐसा समझकर लोक भेरी पूजा करेगा, भेरी सर्वत्र कीर्ति फैलेगी, ऐसी अपेक्षा मनमें धारण करके जो योगनिग्रह किया जाता है अथवा पारलौकिक सुखकी इच्छासे जो योगनिग्रह किया जाता है उसका निषेध करनेकेलिय सम्यग् यह विशेषण योगनिग्रह शब्दके पीछे जोड़ा है, उपर्युक्त इच्छाओंका त्याग करके जो गुप्ति पाली जाती है वह संवरका कारण होती है अन्यथा नहीं, ऐसा आचार्योंका उपदेश है.

मनोगुप्ति—राग और कोपसे अलिप्त ऐसे मानसिकज्ञानको मनोगुप्ति कहते हैं, ग्रंथकार भी आगे 'जा रागादिगिण्वी मणस्त जाणाहि ते मणोगुची' इस सूत्रमें मनोगुप्तीका लक्षण कहेंगे, मनमें जो रागादि विकार उत्पन्न होते हैं उनका नियमन करना मनोगुप्ति है ऐसा रामान्ना चाहिये.

वचनगुप्ति—असत्य, मनकी दुर्गति करनेवाली और कठोर वाणोंको झुंहेसे न निकालना, तथा मिथ्यात्व और असंयम उत्पन्न करनेवाली वाणी झुंहेसे न निकालना वचनगुप्ति है.

कायगुप्ति—सावधान होकर देखबाल न की हुई जमीनपर तथा न झाड़ी हुई अग्रमुख जमीनपर गमन करना, उससे वस्तु उड़ा लेना, रखना, सोना बैठना इत्यादि क्रियाओं का त्याग करना यह कायगुप्ति है अथवा शरीरपरसे ममत्व छोड़ना—अर्थात् कागोत्सर्ग करना यह भी कायगुप्ति है. ये तीनों गुप्तियां भी चारित्रविनय हैं.

समिति—प्राणिओंको पीडा न होवे ऐसा विचार करके दयाभावसे अपनी सर्व प्रवृत्ति जो करता है यह साधु समित्विचारक माना जाता है. 'प्राणिपीडापरिहारादरक्षतः सम्पगमनं प्रवृत्तिः समितिः' यह समितीका लक्षण है. इस लक्षणमें जो समितिका सम्पक् यह विशेषण है उसका भाव ऐसा है—जीवोंके भेद और उनके स्वरूप के ज्ञानके साथ श्रद्धान् शुण सहित जो पदार्थ उठाना, रखना, गमन करना, बोलना इत्यादिक प्रवृत्ति की जाती है वही सम्पक् है. ईर्ष्यासमिति, भाषासमिति, प्रणामसमिति, आदाननिक्षेपसमिति और एषणासमिति ऐसी पाँच समितियां हैं.

शंका—ईर्ष्यादिसमितिओंकी वाग्युप्ति और कायगुप्ति इन दोनोंसे कुछ विशेषता नहीं है. अतः दोनोंको अलग अलग दिखाना व्यर्थ है. प्राणिओंको पीडा करनेवाली प्रवृत्तिओंका त्याग करना यह कायगुप्ति है. और ईर्ष्यादि समितिओंमें भी प्राणिपीडा करनेवाली देह प्रवृत्तियां त्यागी जाती हैं. अतः दोनोंमें अविशेषता ही मात्तम होता है.

उत्तर—शुद्धियां निवृत्तिरूप होती हैं और प्रवृत्तिरूप क्रियाओंको समिति कहते हैं ऐसा दोनोंमें विशेष है. प्राणिपीडापरिहारपूर्वक गमन करना, बोलना, आहार लेना, कोई चीज उठाना, रखना मलमूत्र त्यागना इन सब क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना समिति है. इस प्रकार चारित्र विनय संक्षेपसे समझलेना चाहिये.

शंका—इंद्रिया और कर्मायोंका अग्रणिधान मनोगुप्तिरूप ही है इसलिये उनका पृथक् कथन क्यों किया है ?

उत्तर—वचनगुप्ति और कायगुप्ति इनका ही गुप्तिरूपसे ग्रहण किया है ऐसा समझो. अथवा रागद्वेष, मिथ्यात्व पराह अश्रम परिणामोंका त्याग करना यह मनोगुप्ति है. यह सामान्य है और इंद्रिय कर्मायोंकी तरफ आत्माका झुकाव न होना अर्थात् इंद्रियकर्मायरूपपरिणति आत्माकी न होना यह उसका विशेष है. सामान्यने विशेष सर्वेया भिन्न नहीं है. कर्मचिद्धिज्ञ है. अतः यहां शुनरुचिदोष नहीं है. अर्थात् मनोगुप्ति

यदि इंद्रियकषयापरिणति संबंधा समानरूप होती तो यहां एक ही विषय दुहराया जानेसे पुनरुक्ति दोष आता परंतु सामान्य और विशेषतासे यहां वह दोष नहीं है. मनोगुणति यहां सामान्यरूप है और इंद्रियकषयापरिणति विशेषरूप है अतः पुनरुक्ति दोष यहां नहीं है.

इंद्रियकषयापरिणति विशेषात्मक होनेसे मनोगुणविषय अन्तर्भूत होती है तथापि उसको भिन्नरूपतया दिखानेका प्रयोजन यह है कि, चारित्रिका निर्दोष पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले इंद्रियविषय और कषयापरिणति इतका स्थापन करें.

शंका—चारित्रिके तेरा प्रकार है—पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुण. समिति और गुण भी चारित्रात्मक ही है अतः उनको चारित्राधिकार कहते हैं. परंतु समिति और गुणिको आप यहां चारित्रिके भिन्न दिखाने हैं. क्या यह युक्ति संगत है ?

उत्तर—आचार्याने अन्य ग्रंथोंमें पांच महाव्रतोंको ही चारित्र कह है. गुण और समिति ये महाव्रतरूप चारित्रिके परिकर है ऐसा इस ग्रंथकारका अभिप्राय है. अन्य आचार्योंने इस विषयमें ऐसा कहा है “ कर्मदान निमित्तक्रियाम्यथ विरतिरिहसदिभेदेन पंचाप्रकारा गुणिसमितिर्विस्तारसंक्षेपो भवति ” मत, वचन और शरीर की क्रिया ही कर्मप्राण करनेमें निमित्त है. इस क्रियासे विरक्त होना चारित्र है. चारित्रिके अहिंसा, सत्य, अर्चोय, इत्यादिरूपसे पांच भेद हैं. यह संक्षेपरूप चारित्र है. और गुण समिति इस भेदसे वह विस्ताररूप है.

इस चारित्रविनयकी स्थिरता पचीस भावनाओंसे होती है. ‘ तत्स्येयोधं भावनाः पंच पंच ’ अर्थात् प्रत्येक व्रतकी स्थिरता होने परदर्थ पांच पांच भावनाएं आचार्याने कही है.

पणिघाणं पि य दुविहं इंद्रिय णोइंद्रियं च जोषव्वं ॥

सहदि इंद्रियं पुण कोवाइयं भवे इदरं ॥ ११६ ॥

प्रणिधानं हि वा प्रोक्तमिन्द्रियाभिन्द्रियाश्रयम् ॥

शब्दादिविषयं पूर्वं परं भानाविगोचरम् ॥ ११७ ॥

सदस्वरूपगन्धि फासे य मणोहरे य इयरे य ॥
जं रागदोसगमणं पंचविहं ह्योदि पणिधानं ॥ ११७ ॥

उक्तं शब्दे रसे रूपे स्पर्शे गंधे शुभेऽशुभे ॥
रागद्वेषविधानं यत्तदायं प्रणिधानकम् ॥ ११८ ॥

णोऽद्विषयपणिधानं कोद्यो माणो सधेव माया य ॥
लोभो य णोक्तसाया मणपणिधानं तु तं वज्जे ॥ ११८ ॥

मानमायामदक्रोधलोभमोहादिकल्पनम् ॥
अर्निद्रियाश्रयं ज्ञेयं प्रणिधानमनेकधा ॥ ११९ ॥

इंद्रियमनःप्रणिधानपरिहारद्वारेण चारित्रविनयं त्रपंचविधं भाषात्रयमाह—
मूळार—प्रणिधानं आत्मनः परिणामोऽत्र मंद्रियादिनिरोधः । सददि—मनोहासमनोऽशब्दाद्विषयरागद्वेष-
परिणतिः ।

मूळार—पंचविधं—ओत्रादीनामिष्टाशब्दाद्विषयभेदेनात् ।

मूळार—णोक्तसाया हास्यत्यरतिशोकभयजुगुप्साकीर्णवदुद्वेदनमुत्सुक्येयाः । तं तद्वद्विषयमैत्रियिकमानसं क
प्रणिधानं । वज्जे वर्जयेत् । चारित्रविनयार्थंति ज्ञेयः । एतदपि भाषात्रयं दीकाकारो नेच्छति ॥

इंद्रिय और मन वश करनेसे चारित्रविनय होता है. इस चारित्रविनयका तीन भाषाओंमें आचार्य
वर्णन करते हैं—

अर्थ— प्रणिधानकें इंद्रियप्रणिधान और मोक्षेन्द्रियप्रणिधान ऐसे दो भेद हैं. आठ स्पर्श, पांच रस,
दो गंध, पांच वर्ण और शब्द ये दृष्ट और अनिष्ट ऐसे दो प्रकारके हैं. इनसे आत्मा में रागद्वेषकी उत्पत्ति होती
है. इसको इंद्रियप्रणिधान कहते हैं. स्पर्शेन्द्रियप्रणिधान, रसनेन्द्रियप्रणिधान, घ्राणेन्द्रियप्रणिधान, चक्षुर्निद्रिय-
प्रणिधान, और श्रोत्रेन्द्रियप्रणिधान ऐसे पांच भेद हैं.

क्रोध मान, माया-कषट, लोभ, हास्य, रति-उत्सुकता, अरति-तिरस्कार, शोक, मय, जुगुप्सा—अन्यके

दीप प्रकट करना व अपने दीप छिपाना, स्त्रीवेद-पुलगाभिलाषा, पुरुषवेद-स्त्रीक्री अभिलाषा होना, नपुंसकवेद-दोनो-के साथ रमण करनेकी इच्छा होना, इन सर्व मनके परिणामको नोईद्विष्य ग्रणिधान कहते हैं. चारित्रविनयेच्छु मुनिराल इन दो ग्रणिधानों का त्याग करते हैं. इन दो ग्रणिधानोंको बिन्द्वेति जीता है उनको चारित्रविनयका ग्रिप्र लाभ होता है. टीकाकार अपराधित्युरि उपर्युक्त तीन गायार्थों को दोषक समझते हैं.

तयोन्निरूपथार्थं गावाद्यवमुत्तरम्—

उत्तरगुणउज्जमणे सम्मं अधिआसणं च सङ्घाए ॥

आवासयाणमुक्खिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ ॥ ११६ ॥

परिपहसहिण्णुत्वं अट्ठोत्तरगुणोयमः ॥

योग्यावदयकसंयधे हान्युत्सेधनिराकृतिः ॥ ११७ ॥

विजयोक्था—सम्बन्धशेनशानाभ्यामुत्तरकात्मनाधियासंयमः उत्तरगुणसाधनोच्यते । न हि धृष्टानं शनं चांतरेण संयमः प्रयत्नते । अजानता अज्ञानरहितस्य याऽसंयमपरिहारो न संभाव्यते । तेनायमर्थः—संयमोद्योततपसो निर्जरोहेतुता सति संयमे, नान्यथेति तपसः संयमः परिकटः । तथा चारुः 'संजमदीयं च तवं जो कुणइ गिरत्थयं कुणइ' इति । सम्मं सम्यक् । संक्करों शैम्यं चांतरेण । अधियासणं सहनं सुपादेः ।

अशानाभ्यामोष्यैवृत्तिपरिसंख्योभेषु क्षुत्पृथग्जनितयेदन्वा धय्याकुल्ला, कथमिदमुद्धाम्नीति वा अदीनता । भक्षणमन्योर्नतसोऽप्रणिधानं, अस्मि पित्रामीति वा मकरकथापरित्यागः, वत्कथननादरः इतस्तत्तथापरित्यर्जनं । धुत्था दृष्या वा वाचितोऽस्मिन्नेति एव वक्तुं सहनं, अथवा भोजननिषेधे गोवाधा अकरणं । अतोऽस्त्युपायेन रुसं मोषट्ठं न शक्नो-मि । क्षीरधृतशर्करापिक्वाततत्त्वमिति वकनेन यांचाया अकरणं । मनसा वा वदीदं लभ्येत भद्रं स्यात् इति वाऽप्रायेणा । कायसंशय वा क्षीरसद्विषनेऽद्विज्ञानमनमुत्पत्ता । शीतकृसायाहारदानं वा अकुपितानमता । अलामेऽपि लामादलामो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीपहसहनं वा । अथवा लौकिकार्थं धर्मस्थानां वा स्तकारपुरस्कारकरणे तपसि मद्धति वर्तमानोऽप्यहमेतर्था न पूजितः इति कोपसंकलशाकरणं । सत्कारपुरस्कारपरीपहसहनं वा ।

रसपरित्यागं इत्यतः रसनदाहारकथावर्धेनोपवायमानतदादुरनिवारणं रसपरित्यागजातान्दरीरसंतापधृमा वा सहनं । आतापयोगचारिणो धर्मावुपनिपाते धर्सेनिलग्रसिचत्ता तदातीभारवस्तुषु अवादर्थ सहनं । जनपिधिकेदेशे विनातः पिशाचव्यालभ्याद्यवलोक्ताविलम्बभीतिव्युदासोऽपनिविजयश्च सहनं । ४. प्रायश्चित्तयान्तरतोऽपि मद्धिदं दत्तं गुरुणा दद्यात्तलं ममानिरुयेति कोपकरणं, प्रायश्चित्तकरणजनितभमेण वा असेंकिलपुतासहनं । ध्यानविनये वर्तमानस्य

अ अर्थं पाठः कपुल्लके नास्ति । सधुत्तककुदुल्लय धंयोविजोऽज ।

क्षेत्रकालशुद्धिकरणे नमैव नियोजयति इति कोपनिरासो या, तद्वत्प्रत्यये वा असंश्लेषादस्य सुद्धनं । दर्शनीयिनये अभ्युपगतस्य-
सन्मार्गात्मव्ययानादस्य स्थिरीकरणे माहानयासः, स्वचेतसोपि क्लृप्तापादनमतिदुष्करं किमंग पुनः परस्ये
त्यसंकरः सहनं । पुरस्कृतचारित्रयिनयस्य ईयादिशमितयो दुष्करः । जीवनिक्कयाकुले जगति क्रियतः परितुल्यं शक्यते ? नयको-
निपुणतरे प्रतिपद्व्यासं जीवायलोफने तत्परिहृतौ च क्रियद्वन्तुं शक्यते ? तथा प्रवर्तमानं वाधन्ते वरामातपादयः । नयको-
दिपुणिशुद्धा मिश्रा क लक्ष्यते परेषु कृतवृत्ता येति मनसोऽप्यप्रणिधानं चारित्रविनयः । तपोविनयमुपगतस्यानशनादितपो
ऽनुष्ठानातिशयस्य मय स्वल्पमसंयमे अमासुकोदकपानेन, अशुद्धभिक्षाग्रहणेन वा जातं तप एवोन्मूलयतीति असंकरणं
सहनं । असह्यद्व्युत्थानं, अनुगमनं, प्रेषणकरणं, उपकरणशोधनादिकं वा कः कर्तुं शक्नोति प्रतिविनमित्यनभिर्संभिरुप-
चारविनयसहनं ।

सदु य अद्वा च । क तपसि । तपसा संपाद्यमुपकारमात्मनोऽवलोक्य बुद्धया । तपो हि प्रत्यग्रं कर्म संवृणोति,
चिरार्जितानां कर्मणां निरंतरमाणावयति, ईश्वरकलांछनादिसंपदोऽप्यनयति । समीचीनस्य तपसोऽस्त्राभेदेव जननमरणा-
वर्तसहनं, अशुष्काकुले भवांभोचो पर्यटनं ममासीद्विभयिष्यति इति तपस्यजुरागः कार्यः ।

आवासागणं भावस्वकानां । न यतो नयतो नयतस्तस्य कम्ममावासागं इति व्युत्पत्तावपि सामायिकाविष्वेवानं
शायो यतीते । श्याधिवीर्यव्याधिना श्याकुलो भण्यते अयथाः परवश इति यावत् । तेनापि कर्तव्यं कर्मेति । यथा आशु
गच्छतीत्यय इति स्फुरत्पत्तावपि न व्याप्तावौ यतीते अश्वशान्दोऽपि तु यत्सिद्धियशात् सुरंग एव । एयमिहापि अवश्यं यत्किंचन
कर्म इतस्ततः परावृत्तिरामेद्वनं, पूतकरणं वा न तदभण्यते ॥ अथवा आवासकानां इत्ययमर्थः आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति
कृत्वा सामायिकं, यतुर्विदातिस्तयो, यदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, व्युत्सर्गं, इत्यमीषा ।

तत्र सामायिकं नाम यतुर्विद्यं नामस्थापनाद्वयमायमेवेन । निमित्तनिरेशा कस्यचिज्जीवदेरप्यवहिता संज्ञा
सामायिकमिति नामसामायिकम् । सर्वसावधानिबुत्तिपरिणामवता आत्मना एकीभूतं शरीरं यस्यदाकारसादस्यास्यैवेदमिति
स्याप्यते यच्चिप्रुत्तादिकं तत्स्थापनासामायिकम् । आगमद्वयसामायिकं नाम धृतस्यायं सामायिकं नाम ग्रंथः, सध्वंशो य
सामायिकाव्यात्मपरिणामप्रत्ययभासः प्रत्ययरूपेण सांग्रहमपरिणतः आत्मा । नो आगमद्वयसामायिकं नाम यच्चिचिक्लपं
भायकरीरभाषितद्वयातिरिक्तमेवेन । सामायिकस्य यच्छरीरं तदपि सामायिकज्ञानकरणं, अत्येव शरीरमंतरेण तस्या-
भावात् । यस्य हि भावाभावी निवोगतौ यदुक्तरोति तत्तस्य कारणमिति हेतुफलव्यवस्था वस्तुषु । ततः प्रत्ययसामायि-
कस्य कारणत्वाच्छरीरं त्रिभालोचनं सामायिकशब्दव्याख्यं भवति । चारित्रमोहनीयवयोपशमविशेषसहायो य आत्मा
भविष्यत्संसायचयोगनिबुत्तिपरिणामः सोऽभिधीयते मायिसामायिकशब्देन । चारित्रमोहनीयाख्यं कर्म परिप्राप्तक्षयोप-
नामायकं नो आगमद्वयं तद्व्यतिरिक्तकर्म । सामायिकं नाम प्रत्ययसामायिकं । नो आगमभाषितसामायिकं नाम सर्वसावच-
योगनिबुत्तिपरिणामः । अयमिह युहीतः ।

यतुर्विदातिसंस्थानां तीर्थप्रतामन भारते प्रयुक्तानां पृथभादीनां दिनवर्त्यविशुषज्ञानयन्दागमपुरस्सरा यतुर्विदा-
तिरूपनपश्यनीयया नो आगमभाववत्तद्विज्ञानित्व इह भाष्यते ।

चवंता नाम रत्नप्रवसन्नचित्तानां गतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां मुणतिशायं विहाय ध्रुवपुरास्त्रेण अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन क्षिप्रिच विनये प्रवृत्तिः । प्रत्येकं तयोऽनेकमेवता । कर्तव्यं केन, कस्य, कदा, कसिन्कतिविरागिति । अग्युत्थानं केनोपदिष्टं, किंवा फलदुष्टिरस्य कर्तव्यं । पूर्वमेव विनया कर्तव्यतयोपदिष्टः सर्वेजिते कर्मभूमिषु सदा मानकयाय-संगः ॥ गुरुजने वधुमानं, तीर्थकराणां आवासासंपन्नं, युतधर्मोत्तममित्राया मावमुद्विराजं, गुणै च फलमयेस्य तेन सकिचते । अयानिता, संयिजेत, धनलतेनायेनलुगदकारिणायेना, पर्युणमकाशानोचतेन संपातसलेन । असंयतासंयतस्य या नाभ्युत्थानं कुपय, पावस्ययंजकस्य या । त्वज्ये तपसि च नित्यमभ्युत्थानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात् । सुखशील-जनेऽभ्युत्थानं कर्मयंचनिमित्तं भगवदस्यापनोपद्वृष्टकारणात् । संविप्रजानं प्रति क्रियमाणमभ्युत्थानं निर्जरातिमितं विरति-स्थायनोपद्वृष्टकारणात् । वाचनमद्वयोचं या सिक्षयतः अवमरलक्ष्यस्याभ्युत्थानं तन्मूलेऽप्ययनं कुर्वेद्भिः सर्वैरेव । पक्षेतेः, कायश्चित्तः, भिद्यतः, चैत्याल, गुल्लकागात्, ग्रामांतरादा आगमनकालेऽभ्युत्थानं । गुरुजनसद्व यदा भिक्षाम-ति भिक्षास्य प्रविशति या तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यं । अनया विद्या ययाममभितरद्व्यदुर्गतव्यम् ।

गुरुजने जहाजादे यारसावसमेय य ।

अदुस्तिरं लिखुचं क लिदिकमं परज्वर ॥

रत्नादिकाः प्रयोगविनयः ।

प्रातिक्रमणं प्रतिनिवृत्तिः षोडा भिपते-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभाषयिकस्येन । अयौग्वनानामनु-कारणे नामप्रतिक्रमणं । तदि वेतरिण सामेणी इत्यादिक्रमयोग्यं नाम । आद्याभासानामर्चार्त्ता, प्रसस्यावरणार्त्ता रूपानि, क्षिप्रिणाम्युत्कीर्णार्त्ता वा स्थापनाशब्देनैह गृह्यते । तत्रान्ताभासमितिभाषां पुरःस्थितायां यदभिमुजतया कृतांजलिमुद्रता, विरोधमिति, गंयाविमिरिभ्यर्चनं च न कर्तव्यम् । एवं सा स्थापना परिहृता भवति । प्रसस्यावरस्थापनानामिनाशनं, धर्मज्ञे, अतावने या परिहारः प्रतिक्रमणं । यास्तुक्षेत्रादीनां इशमकारणार्त्तां यदभ्युत्थानार्त्तां वसतीनां, उपक-पानार्त्ता, भिक्षाणां च परिहारः, अयोध्यानां काहारादीनां, शूखदंष्ट्रा च कारणानां संक्षेपेष्टेष्टां या निरसने प्रव्यप्रतिक्रमणं । उदककर्मप्रस्थापयतीनिचितेषु क्षेत्रेषु धमनाविगृह्णं क्षेत्रप्रतिजगणं । यस्मिन्वा क्षेत्रे पक्षतो रत्नत्रयहातिर्भवति तस्य या परिहारः, तद्व किं । हानतयोपद्वृष्टरजध्यासितं । राशिस्तथायतनस्यावस्थापद्वकालेषु धमनागमनादिव्यापाप-कारणात् कालप्रतिक्रमणं । कालस्य पुष्परिहायेत्यात्कालाधिकरणव्यापारविशेषाः कालसहचर्योत्कालशब्देन गृह्यताः । मिथ्यात्वमसंयमः, क्षयायः, रताः, द्वेषाः, संघाः, निदानं, धर्मरैद्विमित्याहयोऽभुमपरिणामाः, पुण्यास्रयभूतास्व शुभपरिणामाः इह भावशब्देन गृह्यन्ते, तेभ्यो निवृत्तिर्भावप्रतिक्रमणं इति केर्णाविहचारणं । चतुर्विधमित्यपरे । निमित्तनिर्णयं कस्य-चिन्नामत्वेन निपुज्यमानं भवितुं भवितुमिच्छान नामप्रतिक्रमणं ॥ अशुभपरिणामानां विसिष्टजीवद्वयानुगतादीराकार-

१ अदि दारिण सामिणी इति उपप्लके ।

सादृश्योपेक्षया विचारित्वं स्थापनाप्रतिक्रमणं ॥ प्रमाणनयानिक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकत्वरूपज्ञानुपयुक्तः प्रत्ययप्रातिनमणकारणत्वात् आगमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । नो आगमद्रव्यप्रतिक्रमणं त्रिविधं । सादृशरीरत्मावित् द्वयप्रतिरोधः । यथाश्मा कारणं प्रतिक्रमणपर्यायस्य, तथा उदीयमपि शरीरं त्रिकालगोचरमिति प्रतिक्रमणशब्दव्याख्यं भवति । चारित्र्यमोहः नो आगमद्रव्यस्योपशमसंनिधौ भविष्यत्प्रतिक्रमणपर्याय आत्मा भाविप्रतिक्रमणं । क्षयोपशमायस्यामुपगतः चारित्र्यमोहः नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्तकर्म प्रतिक्रमणं । प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमणं । मिच्छाणाण-
मिच्छावसंश्लेषमिच्छाचारित्वावो यद्विचित्रोत्पत्तिर्यत् स्वस्वरूपज्ञानं । अगुमपरिणामदोषमवबुध्य शब्दाय तत्प्रतिपक्षपरि-
णामवृत्तिर्नो आगमभावप्रतिक्रमणं ॥

सामाधिक्यस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेदः ? साधययोगनिवृत्तिः सामाधिक्यं । प्रतिक्रमणमपि अगुममनोधाकापनि-
वृत्तिरेव तत्कथं पञ्चावयवकल्पस्य ?

अप्रोच्यते—तस्यै सावज्जोर्णं पञ्चपरामीति यच्चर्नाल्लिखादिभेदमनुपादाय सामान्येन सत्यसाधययोगनिवृत्तिः
सामाधिक्यं । लिखाविभेदेन साधययोगनिवृत्त्यै ह्यतथा सतो निवृत्तिः प्रतिक्रमणं । तथा च सूत्रं—

“ मिच्छास्यदिक्कमणं, तद्धेय असंज्ञमपदिक्कमणं, कसाण्हु पदिक्कमणं, जोगेसु य अपसस्येणु ” इति यचनादि-
ति केचित्परिहरास्ते ।

इदं त्वन्याय्यं प्रतिविधानं । योगशब्देन पर्यपरिणाम उच्यते । स च शीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितत्वात्
क्षयोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरदुष्कर्मनिदाननिमित्तव्योयरूपेण अपरिणतिरात्मनः सामाधिक्यं । मिथ्यात्वात्संयमकथा-
पाक्ष इतिनचारिजमोहोद्वेज्जा औद्वेजिकाः । मिथ्यात्वं वरयाध्वजान्तरूपं, असंयमो हि हिंसाविरूपः । क्रोधादयस्तु परस्परतो
मिथ्यात्वात्संयमकथामुपसिद्धवैलक्षण्यरूपाः । ये मिश्रहेतुस्वरूपास्ते कैम्यमाण्यन्ते यथा शास्त्रियगोपूमादिधान्यं ।
मिश्रहेतुस्वरूपाश्च मिथ्यात्वात्संयमकथायाः । तैभ्यो विरतिव्यावृत्तिः प्रतिक्रमणं । साधययोगमात्रनिवृत्तिः सामाधिक्यमिति
भेदो भट्टाननयोः । भेदमेवाध्यात्मिण्यामीनां परिणामानां चतुष्टयवयवणं येषो इति सूत्रमवस्थितं । अन्यथा योगविरुद्धत्वे
मिथ्यात्वादीनां सत्तुःसंख्या न न्याय्या योगेन सद् ।

प्रत्याख्यानं नाम अनागतकालविरपयां क्रियां न करिष्यामि इति संकल्पः । तच्च ज्ञानस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल
भावविभक्तयेत यद्विधे । अयोग्यं नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानं । आत्माभासानां प्रतिष्ठा न पूजयिष्या-
मीति, योगत्रयेण वसस्यापरस्थापनापीड्यां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं । अथवा अर्हद्वीनां
स्थापनां न चिन्तयिष्यामि, भैवानादरे तत्र करिष्यामि इति वा । अयोग्याहारोपकरणद्रव्य्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ता-
प्रबोधो द्रव्यप्रत्याख्यानं । अयोग्यामि यस्मिन्प्रबोक्तवानि, संयमद्वर्तिनं संक्षेपे वा संषणद्वयंति यादि क्षेत्राणि तानि त्यस्यामि
इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं । कालस्य दुःपरिहर्त्यत्वात् कालसाध्यायां क्रियायां परिहृतयां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति
प्राज्ञः । तेन संख्याकालादिष्वप्यन्यत्रमनधिकं न संषणद्विष्यामीति चेत्तः कालप्रत्याख्यानं । भावोऽगुमपरिणामः तं न

नियतदित्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं । तद्विधिवं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति । ननु न मूलगुणा भवन्ति तेषां प्रत्याख्यावि विरतसो भविष्यत्कालविषयक्येन स संवत्सरार्थेना कार्यं, संवत्सरार्थमवश्यमनुशीयते इति उत्तरगुणानां कारणत्वात् मूलगुणव्यवस्थेनो प्रयेतुं यतीति । मूलगुणशब्दः मूलगुणश्च सः प्रत्याख्यानं न तत् इति । प्रतीचर-
कालभावितायाद्वदशनादिकं उत्तरगुण इति दृष्यते । उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं न तद्विति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं । तत्र संवत्सराणां जीवितायाधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं । संवत्सराणां अनुप्रदानि मूलगुणवत्तद्व्यवस्थेनास्ति भवेति तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकारिणं, जीवितायाधिकं चेति । पक्षमासपञ्चमासादिविरोधेन भविष्यत्कालं सावधिकं कृत्या तत्र स्थूल-
हिंसावृत्तसेवाव्यवस्थेन विद्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालम् ।

आमरणमवधिं कृत्वा न करित्यामि स्थूलार्द्रसाक्षीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितायाधिकं च । उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संवत्सराणां जीवितायाधिकं अल्पकारिणं । अल्पकारिणं जीवितायाधिकं वा । परिशुद्धीतसंयमस्य सामायिकादिकं अमशानादिकं च यतंते इति उत्तरगुणस्य सामायिकादेस्तत्पक्षः । भविष्यत्कालावगोचराशानादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानं । सति साम्यस्यै चेतुःसुभ्यं प्रत्याख्यानं जीयनिकार्यं हिंसादिस्वरूपं च कृत्या भवत्येव सर्वतो देशतो वा हिंसादिशिरतिर्यतेते प्रते । तथा चोक्तं— 'निःशब्दो प्रती' इति ।

मिथ्यादर्शनद्वन्द्वं, भावाशब्दं, विद्वान्मातृयं चेति त्रिविधं शब्दं तेभ्यो निःशब्दं निःशब्दं । सावधारणं केवं निःशब्दं एव प्रतीति । तेन सशब्दमतिता निरस्ता भवति । न च असति शब्दो मिथ्यात्वस्य निवृत्तिः । न च जीवापार्थपरिद्वान् मन्तेन धर्मात्मन्यास्ति संभव इति ज्ञानदर्शनवत् एव प्रतीति सूत्रमारेण सूच्यते । तथाचस्वकेऽप्युक्तम्—
“पंचवदामि जदीनं अनुभवदां च देशचिरात्पञ्च”
“न दुसम्मसेण विणा तो सम्मसे पढमदण्ण”

एति हिंसादिप्रवर्धनपरं भावितमिति क्रियाः पञ्चावि सराजिभोजनाः प्रत्याख्ये यतिस्त्रिधा मनोवाङ्माययिकत्वेन कृतकारितानुमतेर्यावज्जीवं ।

सम्यग्दर्शिरूपमारी मूलगुणं उत्तरगुणं वा स्वराधत्वा गृणहति परिमितकालं पारम्यजीवं वा । आत्मना प्रा-
कृतं हिंसादिकं वा दुष्टं कृतं, वा दुष्टं संकल्पितं । अथो वा हिंसादिप्रवर्धनपरं भावितं इति निदागद्वाभ्यां हृष्यन्वते-
मानं चाध्वयं कृतं क्रियमाणसंयमसदृशं न करित्यामि इति मनसि कुर्वन्प्रत्याख्याता भवति ॥

लगापरिणां विरतिपरिणामाधिकरणे निरूप्यते । स्थूलरूपप्राणाविषयादिकं कृतकारितानुमत्तविकल्पात्रिविक-
ल्पकं मनोवाङ्माययिकत्वेन सज्जते । मनसा स्थूलरूपप्राणाविषयादिकं न करोमि, तथा वचसा कल्पेनेति त्रिविधं कृतम् ।
मनसा स्थूलरूपं प्राणाविषयादिकं न कारयामि, तथा मनसा स्थूलरूपप्राणाविषयादिकं शानुजानामि, तथा वचसा कायेन
चेति त्रिविधं कारितानुमननं च ॥ एवं त्रिविधं स्थूलरूपप्राणाविषयादिकं स्वस्मृमगशकोऽपारी ।

१ पाठोऽयं कपुत्सके नास्ति सपुस्तकसंस्मृतिविरोडयम् ।

तथा मनोवाग्व्यां स्थूलकृतमाणातिपातादिकं कृतकारितानुमतिविकल्पतिविधिं कर्तुमशक्नो मनसा न करोमि, न कारयामि, नानुजानामि । यत्तस्मा करोमि, न कारयामि नानुजानामि इति ॥ कायेन कृतकारितानुमतिविकल्पान् हिंसादीन् न समर्थो विद्वान् तथा च सूत्रे—

न ह्यु तिविधं तिविधेण य दुविधेकविधेण यापि विरमेज्ज इति ॥

कथं तर्ह्यगदी विरतिमुपैति ॥ अत्रोच्यते ॥ कृतकारितविकल्पवृद्धिप्रकारं हिंसादिकं मनोवाकायैरूपजति ॥ याथा कायेन वा हिंसादियग्यं कृतकारितं त्यजति ॥ कायेन एकेन वा कृतं कारितं त्यजति ॥ अत एवेकं 'दुविधं पुन तिविधेण य दुविधेकविधेण वा विरमेज्ज' इति । अथवा हिंसायाः स्वयं करणं एकं मनोवाकायैरूपजति ॥ तादं मनसा याथा कायेन स्थूलकृतमाणातिपातादिकं पंचकं करोमीति ॥ अतिसंधिवर्कं विरमणं करोति । याथायाग्व्यां वा स्वयं करणं त्यजति कायेनैकेन वा ॥ तथा चोक्तम्—'एकविधं तिविधेण यापि विरमेज्ज' ॥ एवमेतं प्रतयिरूपाः आविष्कृताक्षरिपयत्रयानुसूयमानाः प्रत्याख्यानविकल्पाः भवन्तीत्ययोरप्युक्त्यासः ॥

कायोत्सर्गो निरूप्यते—कायः शरीरं तस्य उत्सर्गस्यागः उपलब्धपथिद्युर्नैत्रियावययकः कर्मनिर्पतितः पुत्रल-प्रथयविशेष औदारिकारव्य इह कायशब्देन युहीतः । इतरत्र उत्सर्गस्यासंभवात् यस्यमाणस्य ।

ननु च आधुनो निरूप्यमाणेन आत्मा शरीरमुत्पूजति मान्वा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति ।

आत्मशरीरयोरेक्योऽभ्यस्य प्रवेशानुमयेतिनोरापुर्गदास्येन अनपायित्येऽपि शरीरे अशुचित्वं ससधातुरूपतया संसारपरिजमणं इत्यादिकान्तांशार्थं दोषप्रभेदं मम नाहमस्येति संकल्पयतस्तदादराभावात्कायस्य त्यागो घटत एव । यथा प्राणेभ्योऽपि श्रियतना कृतापराधावस्थिता हेतुस्मिन्मद्विरे तस्यामुत्पूज्यते तस्यामुत्पूज्यमाणायाम्भेदं भाष्ययाधुपिमयेष्ट्य एव मिश्रायि । किं च कायाणयसन्निपातेऽपि अथायनिराकरणाभिलाषास्याभावात् । यो यत्प्रायनिराकरणादुत्सकस्तेन तत्परित्यक्तं यथा यस्तनादिकं परिहृतं । शरीरापयनिराकरणाजुत्सुकत्वं यतिस्रापुन्यते कायत्यागः ।

तत्र शरीरनिःसृष्टः, स्यात्परिचोर्ध्वकायः, मलंयितभुजः, प्रश्लाष्यनपराणतोऽदुधमितातताकायः, परीयद्यानुप सर्गाच्च सहमानः, विष्ठाधिर्जन्तुके कर्मापायमिगलायी विधिके वेद्ये ।

अन्तर्मुहूर्तः कायोत्सर्गस्य ज्ञयनः कालः, यमंमुल्लष्टः । अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गो यदुप्रकाश भवन्ति । रात्रिदिनपक्षमासवर्षसंवत्सरतया पटुप्रकाश भवन्ति । रात्रिदिनपक्षमासवर्षसंवत्सरादिकालोच्यरात्रिचामेदये-क्षया । सायमेदच्छ्वास शतकं, प्रत्युपसि पंचाशत्, पक्षे त्रिशतानि, चतुर्षु मासिषु चतुःशतानि, पंचशतानि संवत्सरे उ-च्छ्वासानां । प्रत्युपसि प्राणिपथादिषु पंचसतीचारिषु अष्टशतोच्छ्वासासनाः कालः कायोत्सर्गः । कायोत्सर्गं कृते यदि शक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमाधिकं स्थातव्यं ।

उत्तिथीतिर्यतं, उदितनिशिष्टम्, उपविष्टीरिषतं, उपविष्टीरिषतं इति चत्वारो विकल्पाः । घर्मं शुक्लं वा पटि-जतो यद्विस्तृति तस्य कायोत्सर्गः उत्तियतोस्थितो नाम । द्रव्यमायोत्थानसमन्विततयाधुपानमकंयः उत्तियतोस्थितो नाम ।

नोच्यते । तत्र द्रव्योत्पत्त्यं शरीरं स्थाणुवद्भूयैः अनिचलमवस्थानं । ध्यैक्यं च स्तुतिप्रदता ज्ञानमप्यस्य भावस्य भावोत्थानं । अतैरेन्द्रियोः परिणतेः यस्मिन्नास्ति तस्य इत्थिदनिपण्णो नाम कायोत्सर्गः । शरीरोद्यतानुत्थितत्वं शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावादिपण्ण इत्युच्यते । अतः षड्विरोधाभावो भिन्ननिनिस्तत्त्वाद्युत्थानासनयोः एकत्र एव । यस्यासीन एव धर्ममुद्गृह्यान्परिणतिमुपैति तस्य उचितविरण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च । यस्तु निरपण्णोऽभावात्तत्परस्तस्य निरपण्णनिरपण्णकः । कायाद्युभयविरण्णान्यां अनुत्थानत् ।

देवसिंहास्यतीक्ष्णं रत्नत्रयमग्नं विभूष्य ददं मया तुष्टं कृतं प्रमादितेति संविभ्य पञ्चाहमे शुक्ले पा
 ष्यामे प्रयतितथ्यम् ।

कायोत्तमं प्रपञ्चः स्थानयोगान्वयिकरेव । के ते इति चेदुच्यते । १ तुरग इव कुट्टिकृतपादेन भयस्यानम् २ लोभोपास्तधत्तोऽप्यस्थानं ३ संभयराहाध्वयारीरं कृत्वा स्थानं । ४ संभोपाधयोगेन वा कुड्याधयोगेन वा मालावल्लभ-
शिरसा वायस्थानम् । ५ लैयिताधराबा, सातगातट्या वायस इव द्वास्ततो नयमोदत्तं कृत्याप्यस्थानम् । ६ पत्नीना-
वपीदितमुपराह्व इव मुप्रचालनं संयदयतोऽवस्थानं । ७ युगायष्टध्वलीयई इव शिरोऽधः पातायता । ८ कपिरिय-
कलधारीव विनाशिकरत्नं, संकुचितागुण्डिपकं वा कृत्वा ॥ ९ विराभालनं कुर्वन् १० भूक इव हुंकारं संपापावस्थानं
११ मूक इव नासिकया धस्तद्वययता वा ॥ १२ संगुलिस्रोतनं १३ भ्रूतनं वा कृत्वा १४ दधयधूरि-
व्यक्षिपेनदेशाण्डधनपुटोऽं १५ भ्रंजलावस्त्पाद एवावस्थानं ॥ १६ पीतमङ्गिर इव परवयगन्तुसरीगे वा
मृत्वावस्थानं इत्यमी दीपाः ॥

व्याघ्रप्रेतानिमायस्यकाज्ञा अपरिहृष्टिहानिर्न कार्या ॥ अनुस्मर्यो अधिकोनाकट्यं च ।
 तपोविनयकरुणाय गत्यादयमाह—

मूढार-उचरगुणकभासो मद्भानमानोपरकाळभाषित्वाहुचरगुणः संयमः, तत्र उचरः। तपसो हि सति संयमे निर्गरोदुल्लं नान्यथेति वपरिकरः संयमः। तथा बाहुः-“संयमहीयं तपो लो कुपद् पिरत्स्वद् कुपद्” इति। सयमं तन्यकू संश्लेदैव्याभ्यां विना। अधियासर्णं सहर्णं क्षुपादेशिति शेषः। सद्वा तपस्थपुरता इत्यर्थः। आवासयार्णे जीवदयकानां सामायिकचतुर्विंशतिस्तत्तत्तदप्रतिकमणमत्याख्यानकोत्सर्गलक्षणानां अवसरकार्येणाम् । उचियाण डपिवार्णां, दोयानां, पयोज्मनामित्यर्थः। वपरिहाणि अन्भूतता। अणुसंगो अनुसेकः, आधिक्येन करणं।

तपका निरूपण करनेके लिये आगेकी दो गाथायें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अन्तरालमें चारित्रिकी उत्पत्ति होती है इसलिये चारित्रिको-संयम को उष्णगुण कहते हैं, श्रद्धान और ज्ञानके बिना संयम होता नहीं, जिसको ज्ञान नहीं है और जो श्रद्धानरहित है

वह असंयमका त्याग नहीं करता है। यहाँ इस विवेचनका यह अभिप्राय है कि, संयमका उद्योग करनेवाला तपश्चरण निर्जराका कारण होता है, अर्थात् संयमपूर्वक तप हो तो कर्मकी निर्जरा होती है अन्यथा नहीं होती है। इसलिये संयम तपका परिकार है। इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं “संयमहीर्णं च तपो वो कुण्डं निरत्ययं कुण्ड” संयमरहित तप जो व्यर्था करता है वह व्यर्थ ही फेलश करता है।

संयमका उद्योग करनेके लिये मनमें संकेंद्रण परिणामोंको उत्पन्न न करते हुए शुधादि वाष्पाओंको सहना चाहिये। उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान इन तपोंको करते समय भूख प्यामकी वेदनासे मनमें व्याकुलता न होनी चाहिये। अथवा यह तपश्चरण में कैसा धारण करने ऐसी कायरता छोड़ देनी चाहिये। आहारके और पानके पदार्थोंमें मनको चलित न करना चाहिये। मैं यह पदार्थ भक्षण करूँगा यह पदार्थ पी लूँगा ऐसे मुहमें कथा न करें तथा उस कथाले अनादर करें। उपवाससे थका हुआ श्वर उधर लोटना छोड़दे। मैं शुधाम्ने पीडित हुआ हूँ, प्याससे मेरेको छाड़ ही रहा है ऐसा वचन न बोलें अथवा आहारके दिन याचना न करें।

मैं उपवाससे थक गया हूँ इसलिये यह रूखा भोजन मैं नहीं खा सकता हूँ। मेरेको दूध, घी, खाँड वगैरह पदार्थ आप देवें ऐसी वचनसे याचना नहीं करनी चाहिये। अथवा यदि यह पदार्थ भिल तो बहुत अच्छा होगा ऐसा मनमें भी विचार न लाना चाहिये। शरीरपर भी इस विचारका कुछ चिन्ह व्यक्त न होना चाहिये। जैसे दाता कीरादि पदार्थ देने लूँगा तो मुल हास्यसे मफुलित होना, थंडा और रूख आहार देता हो तो मुलपर कोप प्रगट होना। इस तरह शुधादिक परीपह सहन करने चाहिये।

आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लायकी अपेक्षा अलामसे ही मेरे तपकी वृद्धि होती है ऐसा मनमें विचार करता हुआ अलाम परीपह सहन करना चाहिये। लोकव्यवहारज्ञ और धार्मिक जन तप और तपस्विओंका बड़ा आदर करते हैं, मैं बड़ा फठिन तप करता हूँ तो भी ये लोक मेरा आदर करते नहीं हैं। वह विचार मनमें लाकर कोपसे संकेंद्रणपरिणामके वज्र न हो जाना चाहिये। अथवा सत्कारपुरस्कार परीपह सहन करना चाहिये।

रसका यदि परित्याग किया है तो रसयुक्त आहारकी कथाके तरफ़ अपने मनको न लगावे, रसयुक्त पदार्थका अपलोकन होनेसे उस विषयके आदरभावको दूर हटाना चाहिये। रसोंका त्याग करनेसे यदि देहमें दाह उत्पन्न हो तो सहन करना चाहिये।

आतापनयोग भाएण करते ममय ग्र्यक्रियण्यो, स्वेदसे बहुत कष्ट होनेपर भी मन संछिद्य न होने देना चाहिये. और उनका प्रतीकार करनेवाले वस्तुओंमें आदर भी नहीं करे.

उदा लोगोका आना जाना नहीं है ऐसे एकान्तस्थानमें प्रवेष्ट किया हो और वहां पित्राच अथवा दुष्ट प्यामादि पशुओंका उपद्रव होनेपर भी मनमें भयभीत न होना चाहिये और अस्तिपरीषद् सहन करना चाहिये. प्रायश्चित्त आचरण करते ममयमें भी गुरुने मेरे बलाचलका विचार न करके बड़ा प्रायश्चित्त दिया है ऐसा विचार कर मनमें क्रोध न उपजावे. प्रायश्चित्त करते समयमें होनेवाले छेदको सहकर संछिद्य परिणाम न होने दें.

प्राप्तविनयके कार्य में प्रवृत्त हुये भेरे को ही क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि करनेके लिये गुरु नियुक्त करते हैं. दूरगो को इस कार्यमें नहीं लगाते ऐसा विचार कर क्रोध नहीं करना चाहिये और ज्ञानविनयके कार्यमें अथ दुआ तो भी सहन करना चाहिये.

दर्शनविनयमें तत्पर रहनेवाले मुनिवर्यने सन्मार्गमें अष्ट हुए व्यक्तीको सन्मार्गमें पुनः स्थिर करना चाहिये. ऐसे कार्यमें महान् परिश्रम करने पड़ने पर भी वेद न मानना चाहिये. स्वतःका चित्त वक्रविचारयुक्त हुआ हो तो उसके भी मीधे मार्गपर लाना बड़ा दुष्कर कार्य है तो अन्य व्यक्तिको सन्मार्गमें स्थिर रखना क्या सुलभ है ? ऐसा मनमें विचार न करना चाहिये. अथाद् स्थिरीकरणकार्यमें होनेवाले परिश्रमको सहन करना अपना कर्तव्य ममसना चाहिये.

पारिविनयमें मदा ही तत्पर रहकर ईर्ष्यादिसमिवियां पालनी चाहिये. ये समितियां बड़ी दुष्कर हैं. जगमें सर्वत्र जीन मरे हैं अतः जीमदिसाका कैसे परिहार हो संकेता ? प्रत्येक पाँव रखते समय अच्छी तरहसे देख माल करने पर भी जीवोंका दर्शन और उनका परिहार होना अशक्य है. इससे तो इष्टस्थान पर जाना ही न होगा. ईर्ष्यामितीने चलते ममय धर्षव्री उष्णता, कंटादिकेय बाधाएँ होती हैं. ऐसे विचार मनमें लाकर संतुल्यपरिणाम नहीं पनाना चाहिये.

झेगे दुष्टगुणोंमें कृतग्रवा गुण पाना दुर्लभ है ऐसे ही नउ प्रकारसे विशुद्ध आहार पाना कठिन है. ऐसा मनमें कभी भी विचार न करे. यह मय चातिविनय है.

भेने तपोविनय धारण किया है, जनशनादिकं तप करनेमें मैं दुयेया तत्पर रहता हूँ, अप्राप्तिक्र पाणी

पीनेसे तथा अशुद्ध भिक्षा ग्रहण करनेसे जो पाप उत्पन्न होता है उसको भेरा तप भस्म कर डालेगा ऐसा मनमें संकल्प नहीं करना चाहिये.

धारदार उठना, गुरुओंके पीछे गमन करना, उनकी आज्ञा शिरोधारण करना, उपकरणोंको सीधना पोछना यौरे उपचारविनय है. ये कार्य दररोज करनेकी यह आपत् व्यर्थ ही पीछे लगी है. ऐसा मनमें विचार न करें. बड़े आनन्दसे उपचारविनयका पालन करें.

तपश्चरणमें श्रद्धा रखना यह भी तपोविनय है. तपश्चरणके द्वारा आत्मापर उपकार होता है यह अपने बुद्धिसे जानकर तपके उपर श्रद्धा करनी चाहिये. तपश्चरणसे नवीन कर्मका संवर होता है. और पूर्वकालमें बंधा हुआ कर्म निर्जीर्ण होकर आत्मासे छूट जाता है. तप जीवोंको इंद्रपदवी, चक्रवर्तिपद वगैरे लोकपूज्य पद अर्पण करता है. उत्कृष्ट तपके अलाभसे ही जीवोंको संसारसमुद्रमें जन्मभरण के आवर्तमें घूमना पड़ता है. दुःखोंसे भरे हुए इस भवसमुद्रमें तपके अभावसे ही मैंने अस्रण किया है और फंकाया. ऐसा विचार करके तपमें प्रेम करना चाहिये.

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और स्रयोत्सर्ग ऐसी छह आवश्यक क्रियायें हैं. ये क्रियायें शास्त्रमें जैसी कही हैं वैसा उनका आचरण करना चाहिये. उसमें न्यूनता न होवे. यदि होगी तो तपोविनयमें न्यूनता आवेगी.

‘ण वसो अवसो अवसस्स कम्मणवासयंति वोधव्वा’ ऐसी आवश्यक शब्दकी निरुक्ति है. व्याधि-रोग अशक्तपणा इत्यादि विकार जिसमें है ऐसे व्यक्तिको अवश कहते हैं. ऐसे व्यक्तीको जो क्रियायें करना योग्य हैं उनको आवश्यक कहते हैं. जैसे ‘आशु गच्छतीत्यथः’ अर्थात् जो शीघ्र दौड़ता है उसको अवश कहते हैं. अर्थात् व्याघ्रादिक कोई भी प्राणी जो शीघ्र दौड़ सकते हैं वे सभी अथशब्दसे संगृहीत होते हैं. परंतु अथशब्द प्रसिद्धिके बंधा होकर योद्धा इस अर्थमें ही रूढ़ है. वैसे अवश्य करने योग्य जो कोई भी कार्य है वह आवश्यक शब्दसे कहा जाना चाहिये जैसे-लौटना, करवट बदलना, किसीको बुलाना वगैरह कर्तव्य अवश्य करने पड़ते हैं परंतु आवश्यक शब्द यहां सामायिकादि क्रियाओंमें ही प्रसिद्ध है.

अथवा आवासक ऐसा शब्द मानकर ‘आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनि इति आवासकाः’ ऐसी भी निरुक्ति करते हैं. अर्थात् जो आत्मामें रत्नत्रयका निवास कराते हैं उनको आवासक कहते हैं. सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव,

चंदना, शतिकाभरण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रिया हैं—उसमेंसे सामायिक क्रियाका वर्णन आचार्य कहते हैं—

सामायिकके चार भेद हैं—नामसायायिक, स्थापनासामायिक, द्रव्यसामायिक और भावसामायिक.

नामसामायिक—जाति, गुण, क्रिया वगैरह निमित्तोंके बिना किसी भी जीवादि पदार्थका सामायिक ऐगमा नाम रखना.

स्थापनासामायिक—सर्व पापोंका त्याग करनेवाले परिणामोंसे परिणत ऐसे आत्मासे एकरूप हुए शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है वैसा ही आकारसादृश्य जिनमें है ऐसे चित्र, फोटो वगैरह पदार्थमें यह सामायिक है ऐसी स्थापना करना यह स्थापनासामायिक है.

आगमद्रव्यसामायिक—अंगवास श्रुतज्ञान का सामायिक नामका आद्य ग्रंथ है. उस ग्रंथका अर्थ जो जानता है अर्थात् सामायिक रूप आत्मपरिणामका अनुभव जिसको ॥ जुका था परंतु सांप्रत जो सामायिकरूपज्ञानसे परिणत नहीं हुआ है वह व्यक्ति आगमद्रव्यसामायिक है.

नो आगमद्रव्यसामायिकके ज्ञापकशरीर, माधि और तथ्यातिरिक्त ऐसे तीन भेद हैं. सामायिकको जाननेवाले आत्माका जो शरीर है वह भी आत्माके समान सामायिकका ज्ञान होनेमें कारण है. क्यों कि शरीरके बिना आत्माको ज्ञान होता नहीं है. जो पदार्थ जिसके सद्भावमें रहता है या उत्पन्न होता है और जिसके अभावमें उत्पन्न नहीं होता है वह उत्पन्न होनेवाला पदार्थ उसका कार्य समझना चाहिये. शरीरके बिना सामायिकका ज्ञान आत्मा स्वयं अपनेमें धारण नहीं कर सकता है. अतः वह ज्ञान शरीरका कार्य माना जाता है. अर्थात् ज्ञान और शरीरमें हेतुफलव्यवस्था है ऐसा पक्ष समझना चाहिये. ज्ञानरूप सामायिकका शरीर कारण होनेसे त्रिकालस्थित वह शरीर सामायिक शब्दसे वाच्य होता है.

भाविसामायिक—चारित्र्यमोहनीय कर्मके विद्येय क्षयोपशमसे आत्मामें भविष्यत्कालमें जो सर्व सावध योगसे निवृत्त करनेवाला परिणाम होगा उसको माधि सामायिक कहते हैं.

तथ्यातिरिक्त नो आगमद्रव्यसामायिक—क्षयोपशमरूप अवस्थाको प्राप्त हुए चारित्र्य मोहनीय कर्मको जो कि सामायिकके प्रति कारण है वह नो आगमद्रव्य तथ्यातिरिक्त सामायिक है.

नो आगमभावसामायिक—संपूर्ण सावद्योग्यसे विरक्त ऐसे आत्माके परिणामको नो आगमभाव सामायिक कहते हैं। यही सामायिक प्रकृत विषयमें ग्राह्य है।

आगमभावसामायिक—सामायिक शब्दका ज्ञान जिसका सांप्रतमें उपयोग हो रहा है, चतुर्विधतिस्तव—इस भरतदेशमें वर्तमानकालमें चतुर्विधतिस्तव हो रहा है, उनमें अईत्यपना घोंगे अनंतगुण हैं। उनको जानकर तथा उनके ऊपर श्रद्धान रखते हुये उनकी स्तुति करना यह चतुर्विधतिस्तव है।

वंदना—रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु, इनके उत्कृष्ट गुणोंको जानकर श्रद्धा सहित होता हुआ अभ्युत्थान और प्रयोग ऐसे भेदसे दो प्रकारके विनयोंमें प्रवृत्ति करना यह वंदना आवश्यक है। इस अभ्युत्थान और प्रयोगके और भी अनेक भेद हैं।

यह वंदना कार्य किसको करना चाहिये, किसके प्रति करना चाहिये, किस समयमें और कितने बार करना चाहिये ? अभ्युत्थान—उठकर आदरसे खड़े होना यह कर्तव्य किसने बताया है ? तथा किस फलकी अपेक्षा करके यह करना चाहिये ? पूर्वकालमें कर्मभूमीमें विनयको कर्तव्य कर्म समझकर सर्व विनयोंमें उसका उपदेश दिया है यह कर्तव्य करनेसे मानकपायका नाश होता है। बहुमान करनेका श्रेय मिलता है। अथवा गुरुजन विनय करनेवालोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। तीर्थक्षेत्रोंकी आज्ञा हमने शिरोधार्य की है ऐसा सिद्ध होता है। इस विनयसे ज्ञान और धर्मकी आराधना होती है। परिणाममें निर्मलता, निष्कपटता और संतोष ये फल प्राप्त होते हैं। इन फलोंकी प्राप्ति के लिये यह कर्तव्य वंदना करनेवालोंकी करना चाहिये। विनय करनेवाला गर्वरहित, संसारभीरु, आलस्यरहित स्वभावधुक्त, अनुग्रहकी इच्छा रखनेवाला, अन्य व्यक्तिओंके गुण प्रकाशित करनेवाला, संवत्सल, एवंविधगुणविशिष्ट होना चाहिये। सुनिष्ठाओंको श्रावकके आनेपर सठकरके खड़े होना योग्य नहीं है। अथवा पार्श्वस्थादि त्रय सुनिष्ठाओंका आगमन होनेपर भी उठना योग्य नहीं है, जो सुनि रत्नत्रयमें, और तपश्चरणमें तत्पर हैं वे आनेपर अभ्युत्थान करना योग्य है, जो सुलके वक्ष होकर अपने आचारमें शिथिल हो गये हैं उनके आनेपर उठ करके खड़े हो जानेसे कर्मबंध जाता प्रमादी वृत्तानेका सम्भव हो जाता है। सुलक्ष्मीलोक विनय करनेसे प्रसाद उत्पन्न होता है, और

भीलता सिद्ध और शुद्धिगत होती है, जो ग्रंथ बार अथवा षडता है अथवा सदादि अनुयोगोंका शिक्षण देता है यह व्यक्ति यदि अपने रत्नप्रयत्नमें हीन है तोभी उसके आगेपर उठकर खड़े होना चाहिये, जो जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन उठकर खड़े हों, वस्तुविकास्थानसे, कायधूषीसे (?) शिक्षा लेकर लौटते समय, जिनमेंदिग्गज आते समय, गुरुके पासमें आते वस्तु अथवा ज्ञानोत्तरसे आते समय उठना चाहिये, गुरुजन जब बाहर जाते हैं अथवा बाहरसे आते हैं, तबतब अभ्युत्थान करना चाहिये, इसी प्रकारसे इतर गते भी जाननी चाहिये.

पंचनमस्कारोच्चारण करते समय प्रथमतः भूमिपर हाथ जोड़कर एक नमस्कार करना चाहिये, तथा चतुर्विधविस्त्रजनके प्रारंभमें ही नम्र होकर एक नमस्कार करना चाहिये, प्रत्येक दिशामें तीन आर्षवें कर एक नमस्कार करना चाहिये, ऐसा करनेसे चार दिशाओंमें चार नमस्कार और यज्ञ आर्षवें होते हैं, (हमने इसका अर्थ संक्षेपमें लिखा है, इसका गुलामा मूलाचार ग्रंथमें षडान्वयकाधिकार की १०४ भाषामें बसुनंदि आचार्योंने किया है पाठरूपण यहाँ देल लेंगे.)

अप प्रतिक्रमणका विवरण करते हैं—

अधुम प्रवृत्तीमें निगूत होना प्रतिक्रमण है, उसके छह भेद हैं, जैसे नामप्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण, और भावप्रतिक्रमण, अयोग्य नायोंका उच्चारण न करना यह नाम प्रतिक्रमण है, भर्षदारिद्र्य, स्वाभिनी इत्यादिक अयोग्य नायोंका उच्चार न करना यह नामप्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण—आत्माभास-हरिद्विषादिकोंकी प्रतिभायें, प्रस और स्थावरोंके चित्र, जो कि रंगके द्वारा लिखे गये हैं अथवा पाषाण, लकड़ी इत्यादिकोंमें उकेरे गये हैं इन सबको स्थापना कहते हैं, आत्माभासकी प्रतिभाके आगे खड़े होकर हात जोड़ना, मस्तक नम्र करना, उनकी गंधादिद्रव्योंके द्वारा पूजा करना यह कार्य नहीं करना चाहिये, इस प्रकारके स्थापनाका त्याग होनेसे स्थापना प्रतिक्रमण होता है, अथवा प्रसजीयोंकी वा स्थावरजीयोंकी जो स्थापनायें होती हैं उनका नाश न करना, भर्दन न करना, ताड़न न करना, यह भी स्थापना प्रतिक्रमण है.

द्रव्यप्रतिक्रमण—वास्तु, क्षेत्र, घनधान्यादि द्रव्यप्रकारके परिवर्तनोंका त्याग करना, उद्गम, उत्पादनादि

दोषयुक्त प्रसक्तिक, उपकरण व आहार इनका त्याग करना, जो आहारादिक पदार्थ अयोग्य हैं, अभिलाषाओं अधिकतासे उत्पन्न करते हैं, जिनसे उन्मत्तता और संवेक्षणपरिणाम बढ़ते हैं ऐसे आहारादिकोंका त्याग करना यह सग द्रव्यप्रतिक्रमण है.

क्षेत्रप्रतिक्रमण—पानी, कीचड़, ब्रसजीव, स्थावर जीव इनसे व्याप्त हुए प्रदेशोंमें जाने अनेका त्याग करना. अथवा जिसमें अपने रहनेमें रत्नत्रयधर्मकी हानि होगी ऐसे प्रदेशोंका त्याग करना यह भी क्षेत्रप्रतिक्रमण है. जहाँ ज्ञानबुद्ध व तपोबुद्ध मृत्ति रहते नहीं हैं ऐसे स्थानोंको त्यागना यह क्षेत्रप्रतिक्रमण है.

कालप्रतिक्रमण—रात्रौ, दीनो संध्यासमयोंमें, रात्र्यास्य काल, और सामायिकदि आवश्यक क्रियाओंके कालोंमें जाना आना यैरे क्रियाओंका त्याग करना यह कालप्रतिक्रमण है.

काल तो सदा ही रहता है उसका त्याग हो नहीं सकता परंतु उस कालमें होनेवाली क्रियाओंका यह काल आधार है उसके साहचर्यसे उन क्रियाओंको भी काल कहते हैं.

भावप्रतिक्रमण—मिथ्यात्व, असंयम, फषाय, रागद्वेष, संज्ञा, आहार, मय, परिग्रह और मैथुनकी अभिलाषा, निंदल और आर्तव्यान, रौद्रध्यान इत्यादिक अशुभपरिणाम व पुण्यात्मिक कारणभूत अशुभपरिणाम इन सबोंको यहाँ भाव कहते हैं. उनसे निवृत्त होना भावप्रतिक्रमण है ऐसा किसी आचार्योंका मत है. कोई आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं.

नामप्रतिक्रमण—द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति इत्यादि निमित्तोंके बिना ही किसीका प्रतिक्रमण ऐसा नाम रखना वह नाम प्रतिक्रमण है.

स्थापना प्रतिक्रमण—मिश्रित जीव द्रव्यके शरीराकारकी सदृशताकी अपेक्षासे चित्रादिकोंमें अशुभ परिणामोंकी स्थापना करना वह स्थापना प्रतिक्रमण है.

आगमद्रव्यप्रतिक्रमण—ग्रमाण, नय, निषेध वगैरहके द्वारा प्रतिक्रमणावश्यक ग्रंथका स्वरूप जो जानता है परंतु वर्तमानकालमें प्रतिक्रमणके खर्चमें उसका उपयोग लगा नहीं है. परंतु आगामिकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरूप प्रतिक्रमणका जो कारण है ऐसे जीवको आगमद्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं.

नौ—आगमद्रव्यप्रतिक्रमणके तीन भेद हैं. बायकशरीर, भावि और तदव्यतिरिक्त, जैसे प्रतिक्रमण-

होता है। इसलिये यह धार्योपग्रामिक भाव है। ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है अर्थात् अनुभक्तिकर्मका ग्रहण करनेवाले योगरूप आत्मा की परिणति न होना यह सामायिक शब्दका अर्थ है।

मिथ्यात्व, असंयम और कषाय वे दर्शनयोगहीन कर्मके उदयसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं, अतः ये भाव औदयिक हैं। मिथ्यात्व-तत्त्वोंमें श्रद्धान न करना, असंयम-हिंसादि पंच पापोंको असंयम कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये परिणाम परस्परसे और मिथ्यात्व असंयमसे त्रिकुल भिन्नस्वरूप है ऐसा अनुभवमें आता है। त्रिकुल कारण भिन्न रहते हैं वे पदार्थ एकस्वरूपके नहीं होते हैं। जैसे खाली और गेडुओंके कारण भिन्न होनेसे वे एक नहीं है। वैसे ही मिथ्यात्व, असंयम और कषाय इनके हेतुओंमें भी भिन्नता होनेसे वे परस्पर तो भिन्न हैं। ऐसे परिणामोंसे विरक्ति होना यह प्रतिकल्पन कहा गया है। सावधयोगमात्रसे निवृत्त होना सामायिक है। ऐसा दोनोंमें बड़ा भेद-विशेष है।

इन परिणामोंके भेदोंका आग्रह कर 'सुदुपलब्धपाण वंचो' यह श्रुत प्रवृत्त हुआ है। यदि योगके ही चार भेद माने जाते तो योगके साथ मिथ्यात्वादिकोंकी चार संख्या मानना न्याय्य नहीं होता।

प्रत्याख्यान आवश्यक—अविष्यकालीन क्रिया में नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना यह प्रत्याख्यान आवश्यक है यह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे विकल्पसे छह प्रकारका है। अयोग्य नामका मैं उच्चार नहीं करूंगा ऐसे संकल्पको नामप्रत्याख्यान कहते हैं। आत्माभासके-हरिहरादिकोंकी प्रतिमाओंकी मैं पूजा नहीं करूंगा, मनसे, वचनसे और कायसे इस और स्थावर जीवोंकी स्थापना मैं पीडित नहीं करूंगा ऐसा जो मानसिक प्रकार रूप संकल्प यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा अहंदादि परमेष्ठियोंकी स्थापनाका-उनकी प्रतिमाओंका मैं नाश न करूंगा, अनादर नहीं करूंगा। यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है।

द्रव्यप्रत्याख्यान—अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोंको मैं ग्रहण न करूंगा ऐसा संकल्प करना। क्षेत्रप्रत्याख्यान—अयोग्य व जिनसे अविष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होगी, जो संयमकी हानि करेंगे अथवा संसृष्टपरिणामोंको उत्पन्न करेंगे ऐसे क्षेत्रोंको मैं त्यागूंगा ऐसा संकल्प करना यह क्षेत्रप्रत्याख्यान है।

कालप्रत्याख्यान—कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है। इसलिये उस कालमें होनेवाली क्रियाओंको त्यागनेमें कालका ही त्याग होता है ऐसा यहां समझना चाहिये। अर्थात् संख्याकाल, रात्रिकाल वगैरह समयमें

अध्ययन करना, आना जाना इत्यादिकार्य में नहीं करूंगा ऐसा संकल्प करना कालप्रत्याख्यान है, मानप्रत्याख्यान—भाव-अनुभवापरिणाम उनका मैं त्याग करूंगा ऐसा संकल्प करना, इसके दो भेद हैं. मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुणप्रत्याख्यान.

शुंका—मूलगुण इस शब्दका अर्थ त्रुट ऐसा होता है. उनका त्याग भविष्यत्कालमें मैं करूंगा ऐसा संकल्प संवरको चाहतपाते यदि करें वो कर्मसंवर होगा ही नहीं. संवरको चाहनेवालाको त्रुटका अवश्य पालन करना चाहिये अतः मूलगुणप्रत्याख्यान होता नहीं है.

उत्तर—उत्तरगुणोंको कारण होनेसे त्रुटोंमें मूलगुण यह नाम प्रसिद्ध है. मूलगुणरूप जो प्रत्याख्यान वह मूलगुणप्रत्याख्यान है. अर्थात् यहाँ शरीररूपरूप समाप्त नहीं है. कर्मधारय समाप्त है. अतः उपर्युक्त शुंकाका परिहार हुआ. त्रुटोंके अनंतर जो पाते जाते हैं ऐसे अनश्वनादि त्रुटोंको उत्तरगुण कहते हैं. उत्तरगुणप्रत्याख्यान इस शब्दमें भी कर्मधारय समाप्त ही है. 'उत्तरगुणश्च सः प्रत्याख्यानं च तदिति उत्तरगुणप्रत्याख्यानं' उत्तरगुण-प्रत्याख्यानका ऊपर कहा हुआ विग्रह समस्तना चाहिये. युनियोंको मूलगुणप्रत्याख्यान आमरण रहता है. संयता-संपद अपात पंचमगुणस्थानवर्ती भावक उसके अनुभवोंको मूलगुण कहते हैं. शुद्ध मूलगुणप्रत्याख्यान अल्प-कालिक और जीविताधिक ऐसा दोन प्रकारका कर सकते हैं. पक्ष, छद् महिने इत्यादिरूपसे भविष्यत्कालकी मर्यादा फरके उसमें स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुनसेवन, और परिग्रह ऐसे पंचपातक में नहीं करूंगा ऐसा संकल्प फरता यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है. मैं आमरण स्थूल हिंसादिपापोंको नहीं करूंगा ऐसा संकल्प कर उनका त्याग करना यह जीविताधिकप्रत्याख्यान है.

उत्तरगुणप्रत्याख्यान तो युनि और शुद्ध जीवितावधि और अल्पावधि भी कर सकते हैं, जिसने संयम धारण किया है. उसको सामागिकादिक, और अनश्वनादिक भी रहते हैं अतः सामागिकादिकोंको और तपको उत्तरगुणपना है. भविष्यत्कालको विषय करके अश्वनादिकोंका त्याग किया जाता है. अतः उत्तरगुणरूप यह प्रत्याख्यान है ऐसा माना जाता है. सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका प्रत्याख्यान युनि और शुद्धस्थोंको माना जाता है. यदि सम्यग्दर्शनके साथ यह प्रत्याख्यान न होगा अकेला ही होगा तो यह प्रत्याख्यान इस नामको नहीं पाता है.

जीवनिक्रम और हिंसादिकोंका स्वरूप जानकर और उनके ऊपर श्रद्धा कर यदि सर्व प्रकारसे अथवा एकदेशसे हिंसादिकोंका त्याग करनेपर उस त्यागको व्रतसंज्ञा प्राप्त होती है, यही अभिप्राय 'निःशूल्यो व्रती' इस सूत्रमें है, निःशूल्यत्व, मायाशून्य और निदानशून्य ऐसे तीनशून्य हैं, ऐसे तीनशून्योंसे जो रहित है वही निःशून्य है; निःशूल्यको ही व्रती कहना चाहिये, जो शून्यसहित है वह व्रती नहीं है, यदि जीवादि पदार्थोंपर श्रद्धा न हो तो मिथ्यात्वशून्यका त्याग नहीं हो सकता, जीवादियदार्थोंका ज्ञान यदि न होगा तो सम्पददर्शन नहीं होगा इसलिये सम्पददर्शन और सम्पदज्ञान युक्त प्राणीको ही व्रतिपना प्राप्त होता है ऐसा सूत्रकारने कहा है, यही अभिप्राय आवश्यक नामके ग्रंथमें सी कहा है—

“मुनिज्योतिरहिंसादि पंचमहाव्रत और श्रावकोंके पांच अष्टव्रत ये सम्पददर्शनके बिना नहीं होते हैं, इसलिये ग्रंथमतः आचार्योंसे सम्पदत्वका वर्णन किया है, ”

‘मुनिराज मनसे, वचनसे और शरीरसे हिंसादिक पाप कार्य स्वयं नहीं करते, न करते और न अनुमोदन देते हैं, यावज्जीव नउ प्रकारसे पापोंका त्याग करते हैं, परंतु सम्पददृष्टि गृह्य मूलश्रुण अथवा उभरश्रुण अपनी शक्त्यनुसार ग्रहण करता है और यावज्जीव किंवा अल्पकालपर्यंत पाठता है, मैंने पूर्वकालमें हिंसादिक कार्य किये, हाथ मैंने यह दुष्ट कार्य किया, मैंने दुष्ट संकल्प किये और मैंने हिंसादि मधुचिकर प्राण किया, यह मैंने अयोग्य किया है इस प्रकार निंदा और गहाँके द्वारा वर्तमान कालीन असंयम द्वारा समझता है, पूर्वमें जैसा असंयम मैंने किया था अथवा अब जो असंयम मधुचि हुई, ऐसी असंयम प्रवृत्ति मैं आगामिकालमें नहीं करूँगा, इस रीतीसे वह श्रावक पापोंका प्रत्याख्यान करता है,

अब गृहस्थोंके हिंसादि त्यागरूप परिणामोंके विकल्पोंका विवरण करते हैं—

‘स्थूल हिंसादिक पांच पापोंको कृत; कारित, अनुमत ऐसे तीन विकल्पोंसे तथा मन, वचन और शरीरके विकल्पोंसे त्याग नहीं करते हैं, उनका क्रम—मैं मनसे स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं करूँगा, तथा वचनसे और शरीरसे भी नहीं करूँगा, यह कृतके तीन भेद हैं, मनके द्वारा मैं स्थूल हिंसादिक पांच पाप नहीं करारूँगा, तथा वचन और शरीरके द्वारा भी नहीं करारूँगा, वे कारितके तीन भेद हैं, मनके द्वारा स्थूल हिंसादि पापोंको सम्पत्ति मैं नहीं देखूँगा, वचन और शरीरके द्वारा भी मैं सम्पत्ति नहीं देखूँगा इस तरहसे तीन प्रकारकी सम्पत्ति

है: परंतु गृहस्थ स्थूलहिंसादि पापोंका नष्ट प्रयत्नसे त्याग करनेमें असमर्थ रहते हैं, क्यों कि वे गृहकायासे विरक्त नहीं रहते हैं।

मन और वचनके द्वारा स्थूल हिंसादिक पापोंको कुत, क्षरित, अनुमतीके विस्मरणसे नहीं करता है, परंतु शरीरके द्वारा हिंसादिक पापोंका कृतकारितानुमति विस्मरणपूर्वक त्याग करनेमें असमर्थ होता है, अर्थात् मनके द्वारा में स्थूल पातक नहीं करूंगा, नहीं करारुंगा और अनुमति नहीं देऊंगा, तथा वचनके द्वारा भी स्थूल-पातक नहीं करूंगा, नहीं करारुंगा और अनुमति नहीं देऊंगा इस प्रकार हिंसादिकका त्याग कर सकता है। इस विषयमें देगा सूत्र है—'न तु त्रिविधं त्रिविधेण यः दुर्विधेकविधेण चापि विरमेज्ज' इति।

गृहस्थ किस प्रकारसे विरक्त होता है? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य लिखते हैं—'कुत और कारितविकल्पसे मन वचनकायके द्वारा वे हिंसादिक त्यागते हैं, अथवा शरीरके द्वारा और वाणीके द्वारा हिंसादिविषयक कृतकारितका त्याग करते हैं, इसीलिये इस विषयमें पूर्वोक्तार्थानि आगेका सूत्र कहा है—'दुर्विधं पुन्य त्रिविधेण यः दुर्विधेकविधेण चापि विरमेज्ज'।

अथवा मनवचन और शरीरके द्वारा स्थूलहिंसादिक पाप फल स्वयं में नहीं करूंगा ऐसा संकल्पपूर्वक प्रयत्न करता है, किंवा वचन और शरीरके द्वारा ही पांच पापोंको स्वयं नहीं करता है अथवा केवल शरीरसे ही स्वयं हिंसादिकोंका कृतरूपसे त्याग करता है, अर्थात् मैं शरीरके द्वारा ही पांच पातक नहीं करूंगा, ऐसा व्रत लेता है, इस विषयका सूत्र ऐसा है—'एकविधं त्रिविधेणापि विरमेज्ज'।

इस रीतीसे जो व्रतोंके विकल्प होते हैं इनको भविष्यकालका विषय करनेसे प्रत्याख्यानके विकल्प उपजते हैं, जैसे—मन, वचन और शरीरके द्वारा कुत, क्षरित और अनुमोदनसे आगेके फलमें हिंसादिकोंका त्याग करूंगा इत्यादि।

कायोरत्सर्गका निरूपण करते हैं—

कायोत्सर्ग—काय शुद्धका अर्थ शरीर होता है, और उत्सर्ग शुद्धका अर्थ त्याग होता है, अर्थात् शरीरका त्याग करना यह कायोत्सर्ग शब्दका समग्र अर्थ हुआ, पदार्थको जाननेवाले ज्ञानको आधारभूत इंद्रिय-रूपी अवयवोंसे जिसकी खना हुई है ऐसा कर्माणिभूत औदारिक नामका जो विशिष्ट शुद्धलसमुदाय वह यहाँ

काय शब्दसे गृहीत होता है. अर्थात् औदारिकशरीरको यहा 'काय' कहते हैं. क्योंकि इतर वैक्रियिकादि शरीरोंमें उत्सर्ग-त्यागका संभव सिद्ध नहीं होता है. औदारिक शरीरसे ही चारित्र पाला जाता है. इससे ही मनुष्य मोक्षको हस्तगत करते हैं अतएव इसमें ही उत्सर्गकी संभावना है. अन्यत्र नहीं है. इस उत्सर्गका आगे खुलासा मिलेगा.

शुंका—जब आयुर्कर्म पूर्ण निकल जाता है तभी आत्मा शरीरको छोड़ती है. अन्यसमयमें नहीं. इसलिये अन्यसमय कायोत्सर्ग नामकी आवश्यक क्रिया कंसी होगी ?

उत्तर—आत्माके और शरीरके प्रदेश परस्परमें मिलजानसे जबतक आयुर्कर्म है तबतक आत्मासे शरीरका बिछोह नहीं होगा तोभी शरीर सप्तधातुओंसे बना हुआ है, अत्यंत अपवित्र शुक्र और शोणितोंसे इसकी उत्पत्ति हुई है अतः यह अशुचि है. तथा यह अनिरय, विनाशशील, असार, दुःस्वका हेतु है. इस शरीरपर ममता करनेसे जीवको अनंत कालतक संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा. इत्यादिक शरीरदोषोंका विचार कर यह शरीर भेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूं ऐसा संकल्प मनमें पैदा हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है. उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है. जैसे प्राणसे भी प्रियपत्नीने यदि कुछ अपराध किया हो तो वह पतिके साथ एक ही घरमें रहती है तो भी पत्नीका प्रेम उसपरसे हट जानेसे वह त्यागी गई है ऐसा कह सकते हैं. क्यों कि यह मेरी है यह ममत्वभावना पुरुषके हृदयसे नष्ट हुई है. वैसे यहां शरीरपरसे ममत्व भाव हटनेसे कायोत्सर्ग-शरीरका त्याग सिद्ध होता है.

शरीरका नाश होनेका कारण उपस्थित होनेपर भी नाशको हटानेकी अभिलाषा कायोत्सर्ग नामक आवश्यक क्रिया करते समय मुनिवर्गमें नहीं होती है. जो जिसके नाशके कारण हटानेमें उत्सुक नहीं हैं उसने वह त्यागा है ऐसा समझना चाहिये जैसे यक्षादिकोंका त्याग. शरीरके अपायकारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं इस लिये उनका कायत्याग योग्य ही है. कायोत्सर्ग करनेवाले मुनि शरीरपर निस्पृह होकर संभके समान खड़े हो जाते हैं. अपने दो बाहु जाड़ तक लंबे रखते हैं. और प्रशस्तध्यानमें निमग्न होते हैं. अपने ऊपरके शरीरको वे उन्नत और नम्र भी नहीं रखते हैं अर्थात् वे छातीको आगे जादा उठाते नहीं हैं अथवा नीचे उनका शरीर जादा झुकता भी नहीं है. कर्मका नाश करनेकी इच्छा रखते हुए वे निर्जन्तुक एकान्त स्थानमें उपसर्ग सहज करते हैं.

कायोत्सर्गका उपपन्नकाल अन्तर्गृह्यते है और उत्कृष्ट काल एक वर्षका है. रात्रिकाम्योत्सर्ग, दिनकायोत्सर्ग, पक्ष, मास, चारमास, संवत्सर ऐसे कायोत्सर्गिक बहुत भेद हैं. अतिचार नष्ट होनेके लिये ये कायोत्सर्ग किंच जाते हैं. रात्रि, दिवस, पंचादिन, महिना, चारमाहिनि, वर्ष इत्यादि समयमें जो व्रतमें अविचार लगते हैं उनको दूर करनेके लिये ये कायोत्सर्ग किये जाते हैं. सायंकालमें सो उच्छ्वास और प्रातःकालमें पचास उच्छ्वास किये जाते हैं. एक पक्षमें तीनसो श्वासोच्छ्वास, चारमाहिनेमें चारसो और वर्षमें ५०० पंचसो कायोत्सर्गका काल कहा है. प्राणि-हिमादि पांच प्रकारके अतिचारोंमेंसे जो कोई अविचार होगा तब एकसो आठ उच्छ्वास करने चाहिये. कायोत्सर्ग करनेपर यदि श्वासोच्छ्वास करते समय उनकी यदि संख्या ध्यानमें न रही है अथवा परिणामोंमें सबलन हुआ हो तो आठ उच्छ्वास काल तक अधिक कायोत्सर्ग करना चाहिये.

कायोत्सर्गिके १ उत्थितोत्थित, २ उत्थितनिविष्ट, ३ उपविष्टोत्थित ४ और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद करते हैं.

१ धर्मस्थान अथवा शुक्लस्थानमें परिणत होकर जो खड़े होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनका वह उत्थितोत्थित-स्थित कायोत्सर्ग है. शरीर और आत्माके परिणाम दोनों भी उत्थित है यहां उनका उद्यतिप्रकर्ष दिखानेके लिये 'उत्थितोत्थित' शब्दका प्रयोग किया है. उसमें शरीर खड़ेके समान स्थिर खड़ा हुआ है यह द्रव्योत्थान कहा जाता है. तथा ह्यान स्थिर होकर ध्येय वस्तुमें एकाग्र होता है उसको भावोत्थान कहते हैं.

आर्तस्थान और रौद्रस्थानमें परिणत होकर जो खड़ा होता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितनिपण कायोत्सर्ग कहते हैं. शरीरमें वह खड़ा है जबः उसको उत्थित कहते हैं. परंतु शुभपरिणामरूप उत्थानका अभाव होनेसे निपण कहते हैं. उत्थितवस्थाका और आसनवस्थाका भिन्न कारण होनेमें यहां उत्थित और उपविष्टमें विरोध नहीं है.

जो मुनि चैतकर ही वर्ग और शुक्लस्थानमें लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है. परिणाम उसके उन्नतशील है परंतु शरीरमें वह उठकर खड़ा नहीं हुआ है. जो मुनि वैद्य जुग है और अशुभस्थान कर रहा है वह निपणनिपण कायोत्सर्गशुक्त समझना चाहिये. वह शरीरमें बैठा हुआ है और परिणामोंसे भी उत्थानशील नहीं है.

दिवस, रात्रि, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक रत्नवय संवधी जो अतिचार होगये हो उनका मनसे स्मरण करना चाहिये. अनंतर मैने प्रमादवश होकर यह दृष्ट कार्य किया है ऐसा चिन्तन कर धर्म अथवा सुबलघ्यानमें प्रयत्न करना चाहिये. कायोत्सर्ग धारण करनेवाले धुनियोनि उत्थित कायोत्सर्ग दोषोंका त्याग करना चाहिये. उन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार है—

१ जैसे घोड़ा आपना एक पाँच थोडासा अकूढ लंगडा करके खड़ा हो जाता है वैसे खड़ा होना २ धेली लैसी इधर उधर घंचल होकर हिलती है वैसे खड़ा कायोत्सर्ग करते समय हिलना. ३ खंबेके समान शरीर ताठ करके खड़े होना ४ खंबेके आश्रयसे, भिचीके आधारसे अथवा मस्तकको ऊपरके पदार्थका आश्रय देकर खड़े होना. ५ अचोष्ट लंबा करके और स्तनके तरफ दृष्टि देकर कौयेके समान हठीको इतस्ततः फेकना. ६ लगामसे पीडित होकर घोड़ा जैसे झुलको हिलाटा है वैसे झुलको हिलाटा हुआ खड़े होना ७ बेलके मानपर खूँ रखनेसे वह अपनी मान नीचे करता है वैसे मान नीचे करता हुआ खड़े होना. ८ कैथका फल एकडेनचाला मनुष्य हाथका तलभाग जैसे पसरता है वैसे फरतल पसारकर खड़े होना. ९ हाथके पाँचो अंगुलिया संकुचित करके खड़े हो जाना. १० गूंगामनुष्य जैसे हुंकार करता है वैसे खड़े होकर हुंकार करना. अथवा गूंगा आदमी जैसे नाकके तरफ हाथ उठाकर वस्तुको दिखाता है वैसे खड़े होकर वस्तुको हाथसे दिखाता, जुटकी बजाना, भौंहे देबी करना, भौंहे नचाना. अर्थात् खड़े होकर उपर्युक्त दोषसहित कायोत्सर्ग करना. १४ भीलकी स्त्री जैसी अपने गुह्यदेशको हाथसे बकती है वैसे कायोत्सर्गिक समर्थन करना. १५ जिसके पाव वेडीसे जकड़े द्रुये हैं ऐसे मनुष्यके समान खड़े रहना. १६ मद्यपान किये हुए मनुष्यके समान शरीरको इधर उधर झुकाता हुआ खड़े होना ऐसे कायोत्सर्गिके दोष हैं. इन छह आवश्यक कर्मोंमें दानि नहीं करनी चाहिये तथा इनमें घटबढ़ भी नहीं करनी चाहिये.

मत्ती तवोधिगंभि य तवमि न अहीलणा य सेसाणं ॥

पुत्तो तवमि विणओ जुहुत्तचारिस्स साधुस्स ॥ ११७ ॥

तपस्सपोद्धिके भस्तिर्यब्धेषाणामहेट्ठनं ॥

स उपोषिणयोच्चाधि घंघोक्तं वस्सो योतः ॥ ११८ ॥

नित्योदया—अर्थात् अक्षि । यदनार्तिदीक्षणदिपसादेन अभिव्यज्यमानोऽप्यर्णवोऽनुत्पन्नः । तयोऽप्यभि । तपो
 इति च तर्पमि य मयस्तपसि, वदति च, भक्तिरिति वायव । तच्च सम्प्रदानदर्शनसंप्रमाणगतं । अहीलणा य अपरि-
 मया । तैत्तार्यं श्रेयसां । तपसा न्यूनानामात्मनः क्लृप्त्यदानवराज्यतां परित्यजे ज्ञानादीन्वैव परित्युक्तानि भवन्ति । ततो बहु-
 मानमाधो ज्ञानातिचारः, पातस्त्यागाधो दर्शनातिचारः । सातिचारज्ञानदर्शनस्य चारित्र्यमशुद्ध इति, महात्मनश्च इति भावः ।
 एते एव त्पार्यन्तिगणितमसमूह उच्चगुणोद्योगादिकं । तवमि तपसि तपोधिपयः । विणओ विनयः अशुचचारिस्स
 धुनिक्रान्तमेजावरतः । साधुस्स साधोः ।

मूलार्थः—तपोहि वमि आत्मनः सकाशात्तपसाधिकं भावो । अहीलणा अपरिमयः । तैत्तार्यं आत्मनः
 सकाशात्तपसा न्यूनानां । एतो यथोक्तः परिणामसमूहः ।

अर्थः—तपसे अपि क अर्थात् गुण श्रकट होना यह भक्ति है, यह भक्ति तपोधिक मुनि और तपमें करनी चाहिये,
 उत्पन्न होकर मनका अनुत्पन्न गुण श्रकट होना यह भक्ति है, यह भक्ति तपोधिक मुनि और तपमें करनी चाहिये,
 सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संप्रमाणक जो तप किया जाता है वही सम्यक् तप है, इससे उल्टा तप संवर और
 निर्जराका साधन न होकर संसारश्रमका साधन होता है, जो मुनि अपनेसे तपसे हीन है, न्यून है परंतु जो
 ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र्यमय है उनकी अवहेलना कदापि नहीं करनी चाहिये, उनकी अवहेलना करनेसे
 मानादिक मनुष्योंका निरस्कार होता है, ज्ञानादिकका बहुमान न होनेसे ज्ञानमें अविचार दोष उत्पन्न होता है,
 अवहेलनामें वात्सल्यगुणका नाश होकर दर्शनमें सद्गोपता पैदा होती है, ज्ञान और सम्यग्दर्शन अशुद्ध होनेपर
 चारित्र्य भी अशुद्ध हो जाता है, यह तो महा अतर्क हुआ ऐसा समझना चाहिये, पूर्व यागोंमें और इस गायामे कहे
 हुए गुणोंका पालन करनेमें आत्मे अनुसार आचरण करनेवाले साधुको तपोविनयकी प्राप्ति होती है,

उपचारनिरूपणार्थोत्तराध्या-

काश्यवाइयमाणसिओत्ति तिविओ हु पंचमो विणओ ॥
 सो पुण सब्बो दुविहो पच्चक्खो केव पारोक्खो ॥ ११८ ॥

कायिको वाचिकश्चैतः पंचमो विनयस्त्रिधा ॥
 सर्वोप्यसौ पुनर्द्वेधा प्रत्यक्षेतरभेदतः ॥ ११९ ॥

वित्तयोदया—कातगयादगमणसिगोति पदसंदर्भः । पंचमो विनयस्त्रिषकात् । कायेन, मनसा, वचसा च निर्वर्तते इति । सो पुन सद्यो स पुनस्त्रिषकात् ऽपि विनयः । इद्विधो द्विविधः । पञ्चमो चेद प्रत्यक्षः । पारोक्ष्यो परोक्षश्चेति ।

उपचारविनयं गायदशकेनोपदिशति—

मूढारा—पञ्चकस्यो प्रत्यक्षः संनिदिगुर्वाधिविषयत्वात् । पारोक्ष्यो परोक्षः ।

उपचार विनयका निरूपण फरनेवाली गायी—

अर्थ—उपचारविनयके कायिक विनय, वाचनिक विनय, और मानसिक विनय ऐसे तीन भेद हैं। शरीरसे, वचनसे, और मनसे ये तीनो विनय किये जाते हैं इसलिये इनको कायिक विनय इत्यादि नाम प्राप्त हुए हैं। ये कायिकविनयादि तीनो विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकारके हैं,

वच प्रत्यक्षकायिकविनयप्रवर्तनाय गायानुष्टयमुच्यते—

अचमुद्गाणं किदियम्मं पवंसणं अंजली य मुंढाणं ॥

पञ्चुगच्छणेमतो पच्छिद् अणुसाधणं चेव ॥ ११९ ॥

संभ्रमो नमनं सूरः कृतिकर्वाजलिक्क्रिया ॥

सम्मुखं यानमायाति पात्पनुब्रजनं पुनः ॥ १२० ॥

वित्तयोदया—अमुद्गाणं अमुत्पानं गुर्वादीनां प्रवेशनिष्क्रमणयोः । किदियम्मं पवंसणं बंदना, शरीरावनातिष्ठ । अंजली य छतांजलिपुटता च । मुंढाणं शिरोवनसिः । पञ्चुगच्छणं प्रत्युद्गमनं । आसीने स्थिते चागुरो । पच्छिद् अणुसाधणं चेव संपदं शच्छताः दूरात्परिद्वत्य निवृत्तकरचरत्सत्त्वावनताप्रस्य गमनं, सहगमे वा घृष्टः सशरीरमाग्रमाग्रधुसागेन ते परिद्वित्य गमनं ।

प्रत्यक्षकायिकविनयनिवेदनाय गायानुष्टयमाह—

मूढारा—अचमुद्गाणं गुर्वादीनां प्रवेशनिष्क्रमणयोः सम्मुखमुत्पानं । किदियम्मं बंदना । यमणं शरीरावनसिः । अंजली करमुखलीकरणम् । मुंढाणं शिरोवनसिः । वयवा मुंढाणां भस्वकारीनां सम्बंधी अंबलिः यस्तके छतांजलिपुटस्येत्यर्थः । पञ्चुगच्छणं प्रत्युद्गमनमभिमुखगमनमित्यर्थः । एते आगच्छति सति गुरो, मान्यगुरो वा । पत्तिदस्त च छित्तस्य

गुरोदेः । अनुसाहणा अनुव्रतनं । टीकाकारस्तु पच्छिदसंसाहणा इति पठति, व्याख्याति च, जाचार्योपाध्यायादिभिः प्रार्थितस्य मतसामिच्छाविरस्य तन्मरुमसाधनं अनासप्तस्यापीगितेनैवावगम्येति ।

प्रत्ययकारयिक्तमनयका आचार्य चार गाथाओंमें वर्णन करते हैं—

अपे—गुरुजन, तपोधिक महर्षि चमरह पूज्यपुनि आनेपर अथवा प्रमाण करते समय स्वयं वडे आदरसे उठना चाहिये, पंदना करना चाहिये और झरीरमें नम्रता रखनी चाहिये, हाथ जोड़ने चाहिये, और मस्तकसे नमन करना चाहिये, तथा चे चैठ गये अथवा खड़े हुए हैं तो उनके पास जाना चाहिये, स्वागत करना चाहिये, जप गुरु आदिक पूज्यपुनि प्रमाण करते हैं तब उनके पीछे थोड़े अन्तरसे हाथ और पावोंका चलते समय श्रद्धा न होये इस प्रकार शरीर नम्र करके शांतिसे गमन करना चाहिये, यदि साथ जानेका प्रसंग आवे तो स्वशरीरमान-प्रमाण भूमीका अन्तर छोड़कर उनके अंगका अपने अंगको स्पर्श न होगा इस रीतीसे गमन करना चाहिये.

गणं ताणं गणं गणं गणं जीचं च आसणं सयणं ॥

आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च ॥ १२० ॥

नीचं पानमवस्थानं नीचं ज्ञायनमरसनं ॥

प्रदानमयकाशास्य विष्टरस्योपकारिणः ॥ १२१ ॥

विजयोत्पत्त्या—भीषं च आसनं भीषेदरसनं । पृष्ठतः स्थूलपादश्चासाविभिरुदुहो यथा न भवति गुणादि-
स्तपासनं । भ्रष्टतोऽभिदुतं मनागपदस्य यामपायेऽनुदतस्येयवनतोऽतमोगस्य चासनं । आसते गुणुपविष्टे स्वयं भूमा-
यासनं च । सयणं च गणयिमिति पदघटना । नीचैः ज्ञायनमिति यावत् । बहुचरे देशे सयनं, गुरुनामिप्रमाणमात्रधूमामो वा
स्वशरीरो भवति यथा तथा शयनं । इस्तपादविनिर्गो यथा न घटयते गुर्वदिः । आसणदाणं आसितुमिच्छति इत्यवगम्य
निरूप्य अनुगु प्रमाणनयोप्यं न वेति, पद्यप्रतिवेष्टेयनेन लाववमाद्विपुष्याचितेनातिशयैः प्रमाणं भूमात् पीठदिकं
या आसनदानं । उपकरणदानं सामसंयमौ उपविषेते अनुगृह्यते येन वदुपकरणे पुस्तकादि प्रतीतिमिमिते तस्य दानं ।
अथवा चमनोत्तरावनेपणविदोपदुपस्य सुप्रतिष्ठेकस्तत्तमना लब्धस्य उपकरणस्य दानं । ओगासदाणं च अवकारादानं च
शीतोत्पत्त्याविरयतिनिवातावकाशदानं, उष्णादितस्य शीतलस्यानदानं, ग्रामनगरादिस्वावासास्थानदानं वा ।

१ अनुव्रते देशे इति पाठः उपलक्ष्ये ।

मूला—जीवं ठाणं नीचैः स्थानं गुर्वादी मान्यस्थाने वक्रीमूले निविष्टे वा उतोऽन्यत्र तस्य वामपार्श्वे पृष्ठद्वये वा शिख्येणावस्थानं कर्तव्यमित्यर्थः । जीवं गमणं आसीत् स्थिते वा गुर्वे स्वयं गच्छतः शिष्यस्य तं दूरात्परिहृत्य निभृतकरचरणस्य अवतलगात्रस्य गमनं । हाहगमने वा पृष्ठतः स्वशरीरमात्रमभ्युपगम्य तं परिहृत्य गमनं । जीवं च आसणं च-शब्दोऽयमुत्तरत्र योज्यः । नीचैरुपवेशनं, पृष्ठतः स्वहस्तपादधात्साहुपद्वयवर्जनमप्युपवेशनम् । अग्रतोऽभिमुखं गमनापष्ट-स्य वामपार्श्वे अनुद्धतस्य मनागयनतोत्तमांगस्य चोपवेशनम् ।

आसने गुरावगुपयिषु स्वयं भूमायासनं वा । गयनं च नीचमिति पदघटना । अनुजग्रे देसे क्षयनं गुरुनाभि-मात्रममाणभूमौ वा स्वशिरो यथा भ्रयति तथा क्षयनं वा हस्तपादादिवदृणवर्जं । आसणदणं आसिष्टुमिच्छन्तं गुर्वादिर्कं ज्ञात्वा भूमौ गमनं पीठादिर्कं च प्रमाजनेयोग्यं न चेति चक्षुषा निरूप्य प्रतिलेखनेन च त्रिभिः यमैः प्रवृत्त्य तत्र भूमौ प्रवृष्टपीठादेः स्थापनं । अवसरणदानं योग्यस्य पुस्तकादेर्गुर्वोदिना विप्रुक्षितस्य स्वयं वा संपावनं । ओगासदणं अवकाश्वर्तं क्षीतार्तस्य स्वाधिक्षितनिवासास्थानदानं, उष्णार्तस्य स्वसौतळस्थानं, ग्रामनगरादौ स्तनिवासस्थानदानं वा ।

अर्थ—अपने हाथ, पाँव, धातोच्यवासादिकोसे गुरु आदि मुनिजनोंको उपद्रव न होगा इस पद्धतीसे उनके पीछे बैठना चाहिये. गुरुजनोंके सम्मुख बैठना हो तो उनके वामपार्श्व बैठना चाहिये. उद्धतवारहित, अपना मस्तक किञ्चित नम्र कर बैठना चाहिये. गुरु आसनपर विराजमान होनेके अनंतर स्वयं जमीनपर बैठना चाहिये. गुरु जहाँ सोये हैं उसके ऊपरकी जमीनपर शिष्यका शयन करना अनुचित है. गुरुके नाभितक जो जमीनका परिमाण होगा उतनी जमीन छोडकर नाचि सोना चाहिये अर्थात् दीड, यौन दो हाथका अंतर छोडकर तीचले भूमीपर उनके चरण तरफ अपना मस्तक करके शिष्य क्षयन करे, अथवा अपने हाथ, पाँव इत्यादिकोसे गुरुको धक्का न लगोगा इस रीतीसे शयन करना योग्य है. जब गुरुकी बैठनेकी इच्छा दाखेगी तब जमीन और आसन वगैरह प्रमाजने कारनेके योग्य हैं वा नहीं यह आसनेसे देखकर नंतर हलकी और कोमल पीछीके द्वारा जमीन अथवा घटाई वगैरह स्वच्छ करके गुरुको देना चाहिये. ज्ञान और संयमका जिससे उपकार—वृद्धि होगी ऐसे शास्त्र, पीछी वगैरह इनको उपकरण कहते हैं. आसने जो उपकरण मुनियोंको ग्रहण करनेमें दोष नहीं है वह गुरुओंको यदि उनकी इच्छा हो तो प्रदान करना चाहिये. उद्गम उत्पादनादिदोषोंसे रहित जो अच्छीतत्त्व प्रमाजित हो सकते हैं ऐसे चाहिये. यदि गुरु यीतसे पीडित हुए हो तो अपना निर्वात स्थान उनको देंगे. यदि गुरुको उष्णतासे

चाया इदं होमीं तो उनओ नीतल स्थान रहनेके लिये देना चाहिये. अथवा ग्राममें वा नगरादिकोमें जहाँ अपना रहनेका स्थान होगा वह गुरुओंको देना चाहिये.

पठिरुवकायसंभ्रासणदा पठिरुवकालकिरिया य ॥

पेसणकरणं संभारकरणमुवकरणपडिलिहणं ॥ १२१ ॥

वेवाकालचयोभायचर्मयोग्यक्रियाकृतिः ॥

करणं प्रेपणादीनामुपघेः प्रतिलेखनं ॥ १२२ ॥

वित्तोदया—पठिरुवकायसंभ्रासणदा कायस्य संस्पर्शानं कायस्य संस्पर्शानं प्रतिलेखनं तस्य भागः प्रतिकरकायसंस्पर्शानं । गुवांविगरीराडुकुलं संस्पर्शानमिति यावत् ।

अर्थ आग्न क्रम—मन्त्रागुपस्य विधाया तदीयेन विच्छेदने कर्तव्यं किं प्रभुस्य आग्नोत्तरीयवाधारिहारोपयुक्तः सादरः स्वरानुसृत्ये वायवाधारमार्गसहस्राक्षेय मर्दनं कुर्यात् । उष्णभित्तस्य यथा शीतं भवति तथा सूर्योच्छीतासह्य वधीष्ये तथा ।

पठिरुवकालकिरिया य कालछतोऽप्रस्थाविशेषो धालव्यादीह कालछान्नेयोज्यते कालप्रमथनवात् । तेन वाज्रवायपुनरुपवैवायुस्यमिदंति यावत् । पेलणकरणं गुवांविमिराजसहन । संभारकरणं कृष्णकलराविकसंस्तरणक्रिया । उन्नकरणपडिलिहणं गुवादीना इत्यसंयमोपकरणप्रतिलेखनं धस्ताननेपलापां आदित्योद्गमने ध ।

मूलादा—पठिरुवकायसंभ्रासणदा गुवादिः शरीरस्यानुकूलं स्पर्शनम् । अयं वात क्रमः—मन्त्रागुपस्य स्थित्वा तदीयेन विच्छेदने तत्कार्यं त्रिः प्रभुस्य आग्नोत्तरीयवाधारिहारोपयुक्तः सादरः स्वरानुसृत्ये वायवाधुलं मर्दयेत् । उष्णभित्तस्य यथा शीतं स्याच्छीतासह्ये य ययोगं स्याच्चथा रक्षेत । पठिरुवकालकिरिया कालछान्नेनात्र कालछातो धालव्याधारस्थाविशेषो धिवक्षित । दतो धालव्याधुसूरुसं वैवायुस्यं कुर्यादित्यतिष्ठते । पेसणकरणं आज्ञास्य कार्यस्य निष्पादनं । मंभारकरणां कृष्णकलराविकसंस्तरणक्रिया । उवगरणपडिलिहणं । गुवांविनां पुल्लकारेतरस्तमनेपलापाभा-दित्योद्गमने च प्रमार्जनम् ।

पठिरुवकायसंभ्रासणदा इति—

अर्थ—गुरु यंगरह मुनियोंके शरीरासुहृत् मर्दन करना यह भी काविक विनय है. इस विषयमें ऐसी

पद्धति है—थोड़ा गुरुके नजदीक खड़े होकर उनके पीछीसे उनका शरीर तीव्रवार गोलना चाहिये. आंगंतुक जीवोंको बाधा न होगी इस रीतीसे उन जीवोंको हटाना चाहिये. और बड़े आदरसे गुरु जितना मर्दन सह सकेंगे उतना ही शरीरका मर्दन करना चाहिये. यदि उष्णतासे गुरु पीड़ित हो तो उनकी उष्णतापीडा दूर होकर जैसे उनको शीतिलास होगा वैसे अंगमर्दन करना चाहिये. शीतपीडित गुरुके अवयवोंमें उष्णता उत्पन्न होनेतक उनका शरीरमर्दन करना चाहिये. बालपना, बृद्धपना वगैरह अवस्था देहमें फालके द्वारा होती है. उस उस अवस्था के योग्य वैयाधृत्य करके दुःखपरिहार करना चाहिये. गुरुओंने जो आज्ञा की होगी वह सफल करना चाहिये. गुरुओंको सोनेके लिये वृणका विछाना करना, लकड़ोंका फलक सानेके लिये रखना, चढाई पिछाना यह कर्तव्यभी कायिक विनयमें अन्तर्भूत है. गुर्वादिकोंके ज्ञानके उपकरण शास्त्र, संयमके उपकरण पिछी, फर्मादन्वादिककी स्यास्त समय और सर्वोदय के समय स्वच्छता करनी चाहिये.

इच्छेवमादिविणओ उवयारो कीरदे सररीण ।

एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवगम्मि ॥ १२२ ॥

व्यापारः क्रियते नित्यं यः कायेनैवमादिकः ॥

कायिकी विनयोऽवाचि साधूनां स यथोचितः ॥ १२३ ॥

विनयोदया—उपकारिकविनयः । शेषं सुयमं ।

मूळारा—अहारिहो यथोचितः ।

अर्थ—गुरुजनोभि योग्यताके अनुसार इत्यादि प्रकारका विनय शरीरके द्वारा करना चाहिये. यह सब कायिक उपचारविनयका विस्तार दिसाया है. १२३

वाचिकविनयविरूपणार्थं गायामयम्—

पूयावयणं हिदमासणं च भिदमासणं च महुरं च ॥

सुत्ताणुवीचिवयणं अणितुस्मककसं वयणं ॥ १२३ ॥

पूजासंपादकं चाक्यमग्निष्टुरमकंकशम् ॥

अक्रियावर्णकं अय्यं सत्यं सूत्रानुवीचिकं ॥ १२४ ॥

श्रित्योदया—पूयावयणं पूजापुरस्सरं वचनं भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुमिच्छामि शुभमद्वन्द्वे-
न्यादिकं । तिस्रमासलो च गुर्वेदीर्नं यद्वितं लोकद्वयस्य तस्य भाषणं । मितभाषणं यायता विशिदिगिताधर्ममतिपोत्ते-
भयति तापदेव यन्मयं न प्रसक्तानुप्रसक्तं । मधुरं च शोधयित्वं । सुखानुयीचिवयणं सूत्रानुवीचिवचनं । भाषासामे-
न्याधिकारे यानि गान्यानि निर्दिष्टानि पचांसि तेषां कथनं । अग्निरुद्धं कनिष्ठुरं परचित्तपीडलतायनुपतं । अकण्ठसे वयणं
भगवन्मयं यन्मयं अकण्ठयमिति यावत् ।

यापिकृपित्वं गथाहवेनाह—

सूत्रा—पूयावयणं पूजासत्त्वं । भट्टारक इदं शृणोमि, भगवन्निदं कर्तुं इच्छामि भवदाक्षयेत्यादि । मितभाषणं
यायता विपक्षिवार्थस्य प्रतीतिः स्वाभाव्यन्मात्रयैव जल्पनं । मधुरं कर्णप्रियं । सुखानुवीचिवयणं भाषासमित्यधिकारोक्त-
वयणमागमम् । अग्निरुद्धं कन्मनाःकदधनं न । अकण्ठसे अणुरूपं चित्तुसुखं वा ।

यापिकृपित्वं यापिनाम दो गथाजोति आचार्य करते हैं,

अर्थ—आदरपूर्वक भाषण करना वह पूजावचन कहा जाता है, जैसे हे पूज्य भट्टारक मैं सुन रहा हूँ,

हे भगवन् मैं आपकी आज्ञाओं यह कार्य करना चाहता हूँ, हित भाषण-गुर्वादिकोंका इहपरलोकमें हित होगा
ऐसा भाषण करना चाहिये, मित भाषण-वितना बोलनेसे अपने मनका अभिप्राय गुर्वादिकजन जान सके उतना ही
बोलना इतने जादा और अश्रांसगिक न बोलना, जो भाषण बोलना हो वह कर्णमधुर श्रावके अविरुद्ध होना चाहिये,
भाषा समितिके अधिकारमें तिन भाषणोंका उल्लेख किया है वेहि बोलने चाहिये, अनिष्टुरभाषण दूतरोंके मनको
दुःखित न कर देना, अकण्ठ-कठोरता विसर्ग नहीं है ऐसा भाषण उपयुक्त भाषण बोलना वचनविनय है, १२४

उत्तस्तवयणमग्निहृत्यवयणमक्रियमह्लिणं वयणं ॥

एतो वाइयाविणओ जहारिहो होदि काद्वज्जो ॥ १२४ ॥

उपशान्तमगार्हस्थ्यं हितं मितमहेडनम् ॥

योगिनो भाषमाणस्य विनयोऽयं चि वाचिकः ॥ १२५ ॥

पिजयोदया—उदयस्तवयणं प्रशांतरागकोपः उपशान्तः । तस्य वचनं उपशान्तवचनं । विरागस्य विरोपस्य च यद्वचस्तदेव भाष्यं । अगिहृद्यवयणं गृहस्था मिथ्याहृद्योऽसंयता अयोग्यवचनविकल्परूपानभिज्ञास्तेषां यद्वचनं न भवति । तस्य अभिधानं । अकिरियं पदकर्मव्यापनपरं यत् भवति । अहीलणं परानवज्ञाकारि । एसो व्यावर्णितवचनव्यापारः । आचिगविणजो वाचिनयो । अभारिदं यथाहं । होदि कदम्बो कर्तव्यो भवति ।

मूलारा — उदयस्तवयणं विरागविरोपवचन । अगिहृत्यवयणं गृहस्था मिथ्याहृद्योऽसंयताः योग्यवचनविकल्परूपानभिज्ञानभिधानं । अकिरियं कृष्याद्यारम्भवर्जनान्यं । अहीलणं अवज्ञाविशेषार्थीनं ।

अर्थ—उपशान्तवचन—जिसके राग और कोप क्षान्त हुब है ऐसे व्यक्तीको 'उपशान्त' कहते हैं, उपशान्त का जो भाषण उसके उपशान्त वचन कहते हैं, अर्थात् रागद्वेषहित लोक जो भाषण करते हैं वही भाषण बोलना चाहिये, अगृहस्थ वचन—गृहस्थ अर्थात् मिथ्याहृदि और असंयमी लोक वे कोनसा भाषण बोलने योग्य हैं कोनसा योग्य नहीं है कुछ जानते नहीं हैं ऐसे लोगोंके सरीखा भाषण न बोलना चाहिये, अर्थात् योग्य भाषणको अगृहस्थ वचन कहते हैं, अक्रियवचन—असि, मरि, कृष्यादि पदकार्योंमें प्रवृत्त करनेवाला भाषण जीवचाचाके लिये हेतु है, ऐसे भाषणका त्यागकर जीवोंका रक्षण करनेवाला भाषण बोलना चाहिये,

अहीलणवचन—दुसरोंकी अवज्ञा करनेवाला वचन नहीं बोलना चाहिये इस प्रकारके यथायोग्य वचन बोलना यह वाचनिक विनय है,

मात्स्यिकपिनयं निरूपयति—

पापविसोत्तियं परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो ॥

णायव्वो पुंवेवेण एसो माणस्सिओ विणओ ॥ १२५ ॥

हितप्रियपरीणामं विवधानस्य मानसः ॥

पापास्त्रपरीणामं मुंचतो विनयो मतः ॥ १२६

पिजयोदया—पापविसोत्तियं परिणामवज्जणं पापशब्देन अनुपकर्मण्युच्यते । सोक्तः प्रब्रह्मः स्मृत इव अविच्छेदेन प्रवृत्तेः । फर्मणि अस्मि पापविद्योदयाशब्देन उच्यते । पापविसोत्तियोज्जनाः परिणामा पतेषां वर्जनं । इह गुरुविनयस्य प्रस्तुतत्वात्, गुरुविनयोऽनुमः परिणामः । आत्मनो यथेष्टव्यक्तिवित्तारणजनितकोचाः । अविनीततादर्शनावसु-मदाभाषमपेक्षया तावदात्मयति । पूर्ववचनं यथा शब्द संभरणं करोति इति वा कोचाः । गुरुविनये आलस्यं, गुरुं प्रहयज्ञा,

निद्रा, संभ्रमः, तन्मतिपुलकचिरित्येवमादयः । विषादिदे य परिणामः । गुरोर्येष्टियं तस्यै यद्विदितं आत्ममेव वा तत्र परिणामः । जातव्येन ज्ञातव्यः । संतरेषु समासेन । एतौ एतः । भाष्यसिगो मानसिकः । विषलो विनयः ।

मानसविनयमाह—

मूढारा—मायविभेदित्य परिणामवञ्जणं । पाषाण्यशुभकर्मणि सान्येव विशिष्टं स्त्रोत्रः प्रवाहः अत्रिच्छेदेन प्रवृत्तः । पापविरोधः प्रयोजनं येन ते पापविशोक्तिकाः ते च ते परिणामारच । ते चेह गुरुविषयास्तद्दिनयस्य प्रसुत्वात् । आत्मनो यथेष्टचारित्यनिर्वाण्यनितः क्रोलो अविनीतवार्द्धमाद्युमुद्गाधामोक्ष्य मां नाध्यापयति पूर्ववत् । मया सह संभाषणे न करोतीति वा ज्ञेयो । गुरुविनये आलस्यं, गुरुं प्रत्यवका, निन्दनसंयमस्तत्कालिकूलवृत्तित्येवमादयः । विषादिदे गुरोर्येष्टियं इत्येव यद्विदितं तस्मिन् ।

अर्थ—सिक्तने पापसमुदास्यका जलहप्रवाहकं समान अद्यङ्गरूपसे आगमन होगा ऐसे परिणामोंको अपने हृदयमें मानसिक विनय धालन करनेवाले युनिऑने उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये, यहा गुरुविनयका प्रकरण है इसलिये गुरुनिषयका अशुभ परिणाम मनमें उत्पन्न न होने देवे

गुरु जन शिष्यका स्वराचार देखते हैं तब वे उसका निवारण करते हैं, ऐसे समयमें शिष्य अपना मन यदि क्रोधमग्नता करेगा तो अशुभ कर्मका आस्रव होने लगेगा. शिष्यकी उद्वेकृति देखकर गुरु उनपर अनुग्रह नहीं करते हैं, तब मेरेको गुरु पडाते नहीं हैं, प्रकृति समान मेरेसे संभाषण नहीं करते हैं ऐसे विचार कर गुरुविषयक क्रोध शिष्यके मनमें उत्पन्न होता है, यह पापागमनका कारण होता है ऐसा समझकर छोड देना चाहिये. गुरु-विनयमें आलस्य करना, गुरुकी आज्ञा करना, निंदा करना, उसका आदर न करना, उनके विरुद्ध चलना ये सब कुचेष्टायें छोड देनी चाहिये. गुरुको जो प्रिय लगे जाँर किसी उसका हित होगा, स्वपंका भी जो हित करेगा ऐसा परिणाम-संकल्प मनमें उत्पन्न करना चाहिये, इस तर्कसे मानसिक विनयका संश्लेषसे वर्णन किया है.

इय एतौ पञ्चमलो विणओ पारोक्खिओ धि जं गुरुणो ॥
विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाण्हिसच्चारियाए ॥ १२६ ॥

इत्थयं चिनयोऽध्यक्षः परोक्षः स मतो गुरोः ॥

अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशाचर्ययोः ॥ १२७

विजयोदया—इय एवं । एसो एयः । पञ्चक्वो प्रत्यक्षो विनयः । साक्षितगुरुविषयत्वात् । पारोक्षिको वि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽसाविति चेदाह—गुरुणो विरुद्धमि विवद्विज्ञा गुरोर्विरेहऽपि, यक्रियते । आणाणिदेसचरियाए । आक्षायम्—इत्येव भयता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्यमिति यमिदिदपते तवाजानिर्देशाः । 'बहुतगो विहारो दसगणचरणेसु काबलो' । इत्येवमादिसद्व्याः ।

एवं त्रिया प्रत्यक्षविनयं निरुच्य परोक्षविनयं क्वाचष्टे—

मूळार—गुरोर्क्रिगो गुरो परोक्षे क्रियमाणः । अणाणिदेसचरियाए । आज्ञायामित्येव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं, न कदाचनेत्यर्थं इति साक्षिर्देशाख्यार्थां गुरोः सामान्यविक्षेपोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः ।

इय एसो पचक्वो इति—

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया. अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं—गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं. जैसे तुम मुमुक्षु हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी यथार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है. 'बहुतगो विहारो दसगणचरणेसु कादक्वो' सम्मदर्शन, ज्ञान और सम्पर्कचारित्र रूपरत्न-त्रयमें उच्चरोत्तर अधिकरूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन कराया यह परोक्ष विनय है.

न गुरुत्वेन विमयः कार्ये इति ब्रह्मतत्त्वं, पतेच्यपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ॥

विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्यिकाणां यथायथम् ॥

विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्तं गियासुना ॥ १२८ ॥

विजयोदया—राइणिय अराइणीएसु यथा ख्वावि दुर्लेभावि अभिलाषितवानक्षमाणि तथैव सम्पन्नदर्शनज्ञान-चारियाणि रजसाञ्चव्याधानि श्रद्धानादिपरिणामेनोत्पद्येन वर्तमानः । रायणिय इत्युच्यते । आत्मनो न्यूनरक्षधया चरणपणिया । अथ वा राइणिग ऊभर्यादिविनेसु ज्येष्ठकनिष्ठयत्सेसु च शेषं सुगमं ।

नदेष्वपि च विनयोऽभिप्रेय इत्यधुनाभिप्रेते—

मूढारो—रादिभिर्गङ्गारादिभिर्निगेषु । रादिभिर्मा आत्मनः सकाशाद्वल्लज्येणाधिकः सगा वा साचवः । ऊमरादि-
भिर्गा अपनरात्रिनाः आत्मनः सकाशाद्वल्लज्येणाधिकः । रादिकाश्च अवगमरात्रिकाश्च तेषु अप्रसैकरात्रादिना ज्येष्ठकनि-
ष्टेदित्यन्वये ।

‘कृत् गुरुका ही विनय करना चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु मुनि, आर्यिका, धावकर्मका भी विनय
प्रथायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे रत्न दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी शक्ति होने पर उनसे अभिलषित पदार्थ मिलते हैं, वैसे
साम्प्रदर्शन, मान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको रत्नवत् कहते हैं, यह रत्नवत् जीवोंका अभिलषित पदार्थ
जो मोक्ष पद देता है, रत्नवत् रूप परिणाम जिसके उत्कृष्ट हे ऐसे मुनिको ‘रायणिय’ ऐसा नाम है, अपने
मे जिस मुनिता रत्नवत् न्यून है वह मुनि ‘अरायणीय’ इस नामका धारक है, अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठवत्
है और जिनके अपनेसे न्यून तत्त है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका क्रमसे प्रयोग कर सकते हैं, अर्थात् उपर्युक्त
मुनिओंका उनके योग्यवाजुसार आदर करना चाहिये, आर्यिकार्ये और गृहस्थवर्ग इनका भी प्रथायोग्य विनय
करना चाहिये.

विनयसभाषे शेषमापठे—शेषमरुत्तेन भयमुत्पाद्य विनये दृढतां कर्तुम्—

विण्णुण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ॥

विण्णओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकट्ठाणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यतेः ॥

विनयो हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विजयोदया—विण्णुण विप्पहूणस्स विनयरहितस्य यते । हवदि सिक्खा णिरत्थिया सर्वशिक्षा निष्फला । किं
शिक्षायाः फल इत्यारोक्ष्य आह—विण्णओ सिक्खाए फलं व्यापर्णितः पक्वमङ्गरो विनयः शिक्षायाः फल । तस्य विनयस्य
किं फलं ? पुराणायो हि फलमित्याद्याप्याह—विणयफलं सव्वकट्ठाणं सर्वपक्वमुदयति-श्रेयसफलं कल्याणस्यानमा-
नैश्वर्थादिकं इद्वियमुपे च ।

इत्थयं विनयोऽध्यक्षः परोक्षः स भूतो गुरोः ॥

अमृत्यक्षेऽपि या वृत्तिराज्ञानिर्देशाचर्ययोः ॥ १२७

चिज्योदया—इय एव । पञ्चमस्तो प्रत्यक्षो विनयः । सञ्चितितुमुक्तवियवत्वात् । पारोक्षिकगो धि गुरोः परोक्षे क्रियमाणोऽपि विनयः । कोऽसाविति चेत्वाह—गुरुणो विरुद्धमि विरुद्धिच्चर गुरोर्विरोधेऽपि, यत्क्रियते । आणागिदेसचरियाए । आश्रयाम्—इत्यत्रैव भगता कार्यं मुमुक्षुणा न कदाचनेत्यमिति यत्निर्दिश्यते तदाज्ञानिर्देशः । 'यदुतगो विद्वातो दंसणपाणचरणेषु कादब्बो' । इत्येवमादिसदृशः ।

पर्वं त्रिधा प्रत्यक्षविनयं निरूप्य परोक्षविनयं न्याषष्टे—

मूळारा—पारोक्षिकगो गुरो परोक्षे क्लिबमाणः । आणागिदेसचरियाए । आश्रयाभितथमेव त्वया मुमुक्षुणा कार्यं न कदाचनेत्यर्थ इति यत्निर्देशात्कार्यार्थानां गुरोः सामान्यविशेषोपदेशानुष्ठाने इत्यर्थः ।

इय एसो पचमस्तो इति—

अर्थ—इस प्रकार प्रत्यक्षविनयका वर्णन किया। अब परोक्षविनयका वर्णन करते हैं—गुरुके परोक्षमें किया जानेवाला जो विनय उसको परोक्षविनय कहते हैं, जैसे तुम मुझसे हो इसलिये तुम आगमके अनुसार आचरण करो, विरुद्धाचरण कभी भी मत करो ऐसी गुरुकी आज्ञा गुरुके परोक्ष भी परार्थ रीतीसे पालन करना परोक्ष विनय है, 'बहुतगो विद्वातो दंसणपाणचरणेषु कादब्बो' सम्मन्दर्शन, ज्ञान और सम्भारूचारित्र रूपरत्न-त्रयमें उपरोक्त अधिकाररूपसे प्रवृत्ति करो ऐसा गुरुका उपदेश उनके परोक्षमें भी पालन करना यह परोक्ष विनय है।

न गुरुयेव विनयः कार्य इति प्रहीतव्यं, पतेच्चपि विनयः कर्तव्य इत्याह—

राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे ॥

विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ १२७ ॥

संयतानां गृहस्थानां आर्थिकाणां यथायथम् ॥

विनयः सर्वदा कार्यः संसारान्ते यियासुना ॥ १२८ ॥

विज्योदया—राइणिय अराइणीएसु यथा एवमिति गुरुकेयानि श्रमिन्नापितदानक्षमणि तथैव सम्पन्नदर्शनज्ञान-वाटिथायि रत्तादाय्यत्तायानि श्रमन्नापितत्तायानेनेच्छेन वर्तमानः । राइणिय इत्युच्यते । आत्मनो भ्यूतरत्तायया सरायणिया । भय वा ऐरिणिण ऊमत्तायिणियेषु अनेककनिष्ठवत्तेषु च शेषे सुखम् ।

गतेत्यपि च विनयोऽभिप्रेय इत्यधुनाभिप्रेतो—

मूलतः—रात्रिणिगज्जरादिनिमित्तम् । रात्रिणिमा आत्मनः सकाशाद्व्यवयवोपाधिकाः समा वा साधवः । ऊमरादि-
णिमा ऊमरादिका आत्मनः सकाशादन्यूनस्त्वन्वयाः । रात्रिकाश्च अवमराविकाश्च वेदु तपसैकरात्रादिव ज्येष्ठकति-
प्रेक्षित्वन्त्ये ।

फलं सुदृक्ता ही विनय करता चाहिये ऐसा नहीं समझना परंतु शुनि, आर्यिका, श्रावकर्यका भी विनय
वधायोग्य करना चाहिये ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—ऐसे स्तन दुर्लभ होते हैं परंतु उनकी प्राप्ति होने पर उनसे अप्रतिपत्त यदार्थ मिलते हैं, ऐसे
सम्बन्धपूर्ण, ज्ञान और चारित्र दुर्लभ हैं इसलिये इनको स्तनत्रय कहते हैं, यह स्तनत्रय जीवोंका अभिलषित पदार्थ
तो मोक्ष वह देता है, स्तनत्रयरूप परिणाम वित्तके उत्कृष्ट हैं ऐसे शुनिको 'रात्रिणि' ऐसा नाम है, अपने
से जिस शुनिरा स्तनत्रय न्यून है वह शुनि 'आर्यणीय' इस नामका धारक है, अथवा जिसके अपनेसे श्रेष्ठत्रत
है और जिसके अपनेसे न्यून त्रत है उनको भी उपर्युक्त शब्दोंका क्रमसे प्रयोग कर सकते हैं, अर्थात् उपर्युक्त
शुनिओंका उनके योग्यतानुसार आदर करना चाहिये, आर्यिकायें और गृहस्थवर्ग इनका भी वधायोग्य विनय
करना चाहिये,

विनयानां धे दोगमावष्टे-दोगमकृतेन मय्यनुत्वाय वित्तये ददतां कर्तुम्—

विणष्टण विष्णुष्टणस्त हवदि सिक्खा पिरत्थिया सव्वा ॥

विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लणं ॥ १२८ ॥

विनयेन विना शिक्षा निष्फला सकला यतैः ॥

विनयो हि फलं तस्याः कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥ १२९ ॥

विनयोद्या—विणष्टण विष्णुष्टणस्त वित्तयराहित्य येते । हवद सिक्खा पिरत्थिया सर्वशिक्षा निष्फला । किं
दिशताया फल इत्यारेभ्य आह—विणओ सिक्खाए फलं व्यावर्जित वचनप्रकारो विनय शिक्षाया फल । तस्य वित्तयस्य
किं फल ? पुण्यार्थो हि फलमित्याशङ्क्याह—विणयफलं सव्वकल्लणं सर्वमभ्युद्युनि धेयसत्तुय कल्याणस्यानामा
नैश्वर्यादिकं ईन्द्रियसुखं च ।

विनयफलं गायाननुष्ठयेन व्याचिख्यासुर्विनयागावे दोषप्रकटनेन भयमुत्पाद्य विनये दृढतां कर्तुमाह—
मूलारा—सर्वमप्युदयनिःश्रेयसरूपं कल्याणं स्थानमानैश्वर्यादिकर्मिन्द्रियार्निद्रियसुखं च ।
विनयके अभावसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं, अर्थात् दोषप्रकटनसे भय उत्पन्न करके विनयमें दृढता उत्पन्न करते हैं.

अर्थ—जो श्रुति विनय नहीं करता है, उसकी सब शिक्षा व्यर्थ होती है. क्योंकि उक्त पांच प्रकारका विनय शिक्षाका फल है. यदि शिक्षासे विनयकी प्राप्ति न हुई तो शिक्षाकी प्राप्ति करना व्यर्थ ही है. जैसे शिक्षाका फल विनय है वैसे विनयका फल क्या है ? पुरुषार्थ उसका फल है ऐसा किसीने उत्तर दिया. तब आचार्य कहते हैं कि नहीं यह उत्तर नहीं है. किंतु पंचकल्याणिकोंकी प्राप्ति होना, ऐश्वर्य प्राप्त होना, इंद्रियसुखकी प्राप्ति होना ये सब विनयके फल हैं.

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं ॥

विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंचो य ॥ १२९ ॥

विमुक्तिः साध्यते येन आमरणं येन बध्यते ॥

त्वराराराध्यते येन येन संघः प्रसाध्यते ॥ १३० ॥

विनयेन विना तेन निर्धृतिं यो यियासति ॥

तरहेन विना मन्ये स नितीर्यति वारिधिं ॥ १३१ ॥

विनयोदय—विणओ मोक्खद्दारं यथा दारमभिमतदेशप्राप्तकृपायस्तद्वत् मोक्षस्य निरयदेशक्रमोपायस्य भाव्यामुपायो विनय इति मोक्षद्वारमित्युच्यते । निरूपितेषु पंचप्रकारेषु विनयेषु अनवरतं प्रवर्तमानो ह्यसंयमं परित्यज्य शक्नोति तापः । इंद्रियकषाययोरप्युपनिषानं यदि न स्यात् कर्माग्निन्द्रियसंयमः प्राप्तिंसंयमो वा भवति ? तवो तयः ज्ञाना-
दिविनयशून्यं अनद्यानादिकं न कर्म तपतीति विनयेहेतुकं तात्त्विकमिति मत्स्योच्यते विनयात्तप इति । णाणं ज्ञानं च विनयहेतुकं । अविनीतो हि ज्ञानं न लभते । विणएण विनयेन । आराधित्वजिदि आराध्यते स्ववशे स्थाप्यते । आयरिओ आचार्यः । सव्वसंचो य सर्वसंघः य सर्वसंघः ॥

मूलारा—मोक्खद्दारं यथा दारमभिमतदेशप्राप्तकृपायस्तद्वन्मोक्षप्राप्तोर्विनवो बधोके विनये सत्येव कर्मोपायसंभवात्

अर्थ—अने दरवाना इच्छित दण्डकी प्राप्तिका उपाय ह वस सायण कर्मका चातुर्वर्ण्य आचार्य उक्तमा प्राप्तिका नियम उपाय है. अतः विनय मोक्षका द्वार है ऐसा आचार्य कहते हैं. उक्त पांच प्रकारके विनयोंमें जो हमेशा श्रुति करता है वह असंयमता त्याग करनेमें समर्थ होता है. विनय न करनेवाला मनुष्य उद्धत होकर अंग्रेजी बनता है. इसलिये विनयमें संयमकी प्राप्ति होती है. इंद्रियोंके विषयसे और कषायपरिणीतीसे यदि आत्मा नहीं हटेगा तो इंद्रियसंगम और प्राणिसंयमकी रक्षा केंती होगी. ज्ञानविनय, दर्शनविनय वगैरह विनयोंसे मनुष्य अनयनादि तप कर्मको पीडित नहीं कर सकता है. इसलिये विनय तपका कारण है ऐसा आचार्य कहते हैं. निनयमें ध्यानकी प्राप्ति होती है. अविनयी मनुष्यको ज्ञानका लाभ होता नहीं विनय करनेवालेपर आचार्य प्रभाव होते हैं. सर्व संघ भी उनके सब होता है.

आचार्यजीदकप्यगुणवीवणा अक्षसोधि गिज्जंसा ॥

अज्जव महव लायव भत्ती पल्हादकरणं च ॥ १३० ॥

कल्याणारपरिज्ञानं दीपनं मानमंजनम् ॥

आत्मशुद्धिरयैचित्त्यं मैत्री सार्दमयार्जवम् ॥ १३१ ॥

विशेषवृत्ता—आचार्यजीदकप्यगुणवीवणा-रसनयावरणनिरूपणपरतया प्रथममेवमाख्योरसम्यक्नोच्यते । आचार्यशास्त्रार्थोक्तः ग्रामः आचार्यजीदशेन उच्यते । कल्प्यते अभिधीयते येन यपरथातुक्रो वृद्धः स कल्पस्तस्य गुणः उपकारस्तेन निरपेक्षतया । ममयोः प्रकाशनं आचार्यजीदकप्यगुणवीवणा । प्लतुर्कं मयति-कायिको याचिकश्च विनयः प्रयत्नमात्रः अप्यारशास्त्रनिर्दिष्टं कर्म प्रकाशयति । कस्योऽपि विनयं विनाशयतो वृद्धयते विनयं निरूपयति । तद्व्याप्यं प्रयत्येते इति कल्पसंपाद उपकारः प्रकटितो भवति इति केवलं चिन्तास्वप्नं । अन्ये तु प्लव्ति । कल्प्यते इति कल्प्यं योग्यं कल्प्या गुणाः कल्प्यगुणाः । आचार्यग्रामश्च कल्प्यानां च गुणानां प्रकाशनं । आचार्यजीदकप्यगुणवीवणादभ्येनोच्यते । श्रुतसंपादना पारितोषणा च कृता भवतीत्येतद्व्याप्तं अनेनेति ।

भस्मसोधिगिज्जंसा विनयपरिणतिरात्मशुद्धेर्ज्ञानवर्धनवीतरागात्मिकाया त्रिभिर्चामिति आत्मशुद्धिरुच्यते । मयया ज्ञानादिविनयपरिणतिः कर्ममत्तापायलभ्यत्वात् शुद्धिरुच्यते आत्मनः पञ्चापयच्छया उल्लासिदुक्षितिः । धैर्यस्याभायो गिज्जंसा । विमनस्को भवति विनयहीनो गुर्वोर्ध्वमिदं तदुल्लसमाणा ।

अज्ञाद्यं आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः, शास्त्रनिर्दिष्टं वा चरणं ऋजु । गृह्य अभिमानत्यागो भादवं परगुणातिशयो
श्रद्धात्वेन, तन्माहृत्यप्रकाशनेन च विनयेन च अभिमानविरागः कृतो भवति ।

लाघवं विनीतो हि आचार्यादिषु न्यस्तभरो भवतीति । लाघवं विनयमूलं । भस्मी विनीतस्य हि सर्वज्ञो
विनीतो भवति । इति विनयहेतुका भक्तिः । पञ्चदशकरणं च प्रकृष्टं सुष्ठु प्रकृष्टसुष्ठु प्रवृत्तादस्तस्य करणं क्रिया
प्रवृत्तादकरणमित्युच्यते । योगं विनयः क्रियते तेषां सुष्ठु संपादितं भवति इति परानुग्रहो गुणः वात्पनो वा प्रवृत्तादकरणं ।
कथमविनीतो हि निर्भर्त्सनादिभिरन्वहतं दुःखितो भवति । विनीतो हि निर्भर्त्सनाभावानुसृष्टी भवति । याधामये एव
सुखव्ययद्वारो लोके ।

मूलार्थ — आचारेत्यदि आचारशास्त्रनिर्दिष्टः क्रमः आचारजीवः । कल्पगुणः प्रायश्चित्तशास्त्रे कृत उपकार-
स्तयोर्वीपना प्रकाशना । अन्ये तु कल्पा योग्या गुणा इत्याहुः । अत्रसोऽपि आत्मशुद्धिर्विनियमपरिणतेर्ज्ञानदर्शनयोस्तरागता-
लक्षणतन्माहृत्यनिमित्तत्वात् । किञ्चक्ष्मा वैमनस्याभावः । विनयहीनो हि गुर्वोदितावनुष्ठमणो विमनस्कः स्यात् । अज्ञवं
आर्जवं नाम ऋजुमार्गवृत्तिः शास्त्रनिर्दिष्टं वाचरणं ऋजुः । सत्यं निरभिमानता । परगुणाविश्वयथद्वानेन तन्माहृत्यप्र-
काशनेन च विनयो ह्यभिमानं निरस्यति । लाघवं विनीतस्याचार्यादिषु न्यस्तभारत्वात्सुष्ठु न्यात् । भस्मी विनीतस्य सर्व-
जनभाषिण्यत्वात् । पञ्चदशकरणं परेषां स्वस्य वा प्रकृष्टसुष्ठुलोत्पादनम् ।

अर्थ—रत्नत्रयके आचारका निरूपण करनेवाले पहिले अंगका 'आचार' यह नाम है, आचारशास्त्रमें
कहें हुए क्रमको आचारजीव कहते हैं, जिसमें अपराधानुरूप दंडका विधान कहा है उस शास्त्रको कल्पशास्त्र कहते
हैं, इससे जो उपकार उत्पन्न होता है उसको कल्पगुण कहते हैं, इस कथनका यह अभिप्राय है—किया जानेवाला
काधिक और याचिक विनय आचारशास्त्रके क्रमको प्रकाशित करता है, कल्पशास्त्र भी विनयका माश करनेवालेको
दंड करता हुआ विनयको प्रगट करता है, अर्थात् कल्पशास्त्रके भयसे साधु विनय करने लगते हैं, विनयसे कल्प-
संपादित उपकार प्रगट हो जाता है, ऐसा कोई आचार्य व्याख्यान करते हैं, दूसरे आचार्यका व्याख्यान इस प्रकार
है—योग्य गुणोंको कल्पगुण कहते हैं, आचारका क्रम और कल्पगुण अर्थात् योग्य गुण इनका जो प्रकाशन करना
उसको 'आचारजीवकल्पगुणदीवना' ऐसा कहते हैं, अर्थात् विनय करनेसे श्रुतकी आराधना और चारित्र्यकी
आराधना सिद्ध होती है ऐसा प्राय समझना चाहिये,

विनयसे आत्मशुद्धि और निर्दोषता पैसे दो गुणोंकी प्राप्ति होती है, विनयसे ज्ञानदर्शनरूप आत्मशुद्धि

होती है, ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणति फर्मपलका नाश होनेसे प्राप्त होती है, अतः ज्ञानविनयपरिणति और दर्शनविनयपरिणतिको ही आत्माकी शुद्धि कहते हैं, कीचटका नाश होनेसे जलादिकोकी जैसी शुद्धि-निर्मलता होती है वैसी फर्मपलका नाश होनेसे आत्मामें ज्ञानविनयादि शुद्धि उत्पन्न होती है, विनयमें वेमनस्य नष्ट होता है, जो विनय नहीं करता है उसके ऊपर गुरुका अनुग्रह नहीं होता है जिससे उसमें वेमनस्य उत्पन्न होता है, विनयसे मनुगुण-सारलता प्रगट होती है, अथवा जो विनय करता है वह शास्त्रनिर्दिष्ट आचरण करता है यह सिद्ध होता है, विनय करनेसे अभिमानका नाश होता है, अर्थात् मार्दवगुण प्रगट होता है, दूसरोंके उत्कृष्ट गुणोंमें श्रद्धा उत्पन्न होनेसे, और गुणोंका महत्त्व प्रगट करनेसे तथा विनयसे अभिमानका नाश होता है, विनयसे लाघवगुण प्राप्त होता है, निर्नीतगुणि आचार्योंदिकोपर अपना भार सौंपता है, अर्थम् जो कुछ कार्य करता है वह आचार्योंकी छुपायेही मैं यह कार्य कर सका हूँ ऐसा समझता है, अतः विनय लाघवगुणका मूल है, विनयी मनुष्यके ऊपर सर्व ही भक्ति करते हैं, विनयसे दूसरे पुरुषों को उत्कृष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है और खुद को भी आनन्द होता है, जो विनय नहीं करता है, लोक उत्तर्क निर्वर्त्तना करते हैं अतः अविनयी मनुष्य हमेशा दुःखी रहता है, विनयी की कोईभी निंदा-निर्वर्त्तना नहीं करता है अतः वह सुखी है उनको कोई याथा नहीं देता है, वाचाके अभावमें ही सुखकी लोक कल्पना करते हैं,

किञ्ची मेत्ती भाणस भंजं गुरुजणे य बहुमाणो ।

तिथ्यराणं आणा गुणानुभोदो य विपथगुणा ॥ १३१ ॥

भक्तिः प्रत्यादानं कीर्तितार्थिचवं गुरुगौरवं ॥

जिनेन्द्राज्ञा गुणश्रद्धा गुणा चैनयिका मन्ताः ॥ १३२ ॥

विनयं न विना ज्ञानं दर्शनं चरितं तपः ॥

कारणेन विना कार्यं ज्ञायते कुत्र कथ्यताम् ॥ १३३ ॥

समस्ताः संपदः सद्यो विधाय वक्ष्यतिर्नीमः ॥

चिन्तामणिरिवाभीष्टं विनयः कुरुते न किम् ॥ १३४

इति विनयः ॥

-विजयोद्या—किन्ती विनीतोऽयमिति संशब्दनं कीर्तिः । मेरी परेपां दुःखादुत्पत्त्यसिद्धापो मैत्री । परस्व दुःखं मैत्रेच्छति विनीत इति । माणस्स भंजणं मानस्य भंगः ।

मनु माद्वयान्नेनामिहित एव मानभंगः पूर्वेष्वे ततः यौमरुक्कस्यं इत्युच्यते माणस्स भंजणं परस्व इति शेषः । एफस्व विनयदशांभाय परोऽपि स्वं मानं जहाति । गतादुगतिको हि प्रायेण लोकः । नूनमभिमानत्यागो गुणो अल्पया किमित्ययं विनयं करोतीति । गुरवो हि बहुमन्यः कृता भवन्ति विनयेनेत्याह—गुरुजणे य बहुमाणो इति ।

तिरथपरणं आणा संपादिता होदिस्ति शेषः । विनयमुपदिशतां तीर्थकतां आशा संपादिता भवति, अनुष्ठितेन विनयेन । शुणिविनयं प्रयत्नयता तवीयगुणानुमनं कृतं भवति इति केचित् । गुणेषु अद्यानादिषु हर्षः कृतो भवतीत्येवं ब्रवन्ति । एते विनयगुणाः गुणशब्द उपकारकबोधऽत्र विनयजन्यत्वादिनयस्य गुणा इत्युच्यन्ते ।

मूलारा—किन्ती विनीतोऽयमिति संशब्दनं । मिथी परस्व हि दुःखं मैत्रेच्छति विनीतः । माणस्स भंजणं परस्व हि मानभंग एकस्य विनयदर्शनात्परोऽपि स्वमानं त्यजति । गतादुगतिकत्वाज्ञोक्तस्य । शुर्वित्वादि । विनीतेन हि गुरवो बहुमान्याः कृताः स्युः । आणा संपादिता होदीति शेषः । गुणानुमोदा गुणेषु विनयं वितन्वता बहुणादुमननं कृतं स्यात् । गुणेषु बानुगतो मोदो हर्षो गुणानुमोदः । विनयगुणा विनयकृता उपकाराः । विनयः । सूत्रतः । ४ । अंकतः २३ ॥

अर्थ—जो मुनि गुरुजनोका विनय करते हैं उनकी 'ये मुनि नम्र है' ऐसी कीर्ति जगमें फैलती है, जो विनयी है उसकी भैत्रगुणका लाभ होता है अर्थात् वह किसी को भी दुःख होवे ऐसी अभिलाषा रखता नहीं है, विनयगुणसे मानका नाश होता है, शंका—भारवगुणका वर्णन पिछली भाषामें किया है उससे ही मानभंगका वर्णन हो चुका पुनः इस भाषामें वर्णन करनेसे पुनर्लक्षित दोष रहा हुआ है, उत्तर—'माणस्स भंजणं' इन शब्दोंके आगे 'परस्व' यह शब्द जोड़ देना चाहिये, अर्थात् एक अनुन्य विनय करता हुआ नत्तर ओनेस दूसरा भी अपना मान त्याग कर विनय करता है क्योंकि लोक प्रायः गतादुगतिक होते हैं, लोक भी ऐसा मनमें समझते हैं कि अभिमानका त्याग करना यह सद्गुण है यदि यह सद्गुण न होता तो यह पुरुष विनयगुणका क्यों आश्रय लेता ? विनयमें गुरुजनोका आदर होता है, विनय करनेसे तीर्थकरोंकी आज्ञा जातीपत्ती है नीचकोने मानकोने मान लीजता है—

चाहिए ऐसी मन्त्रोंको आज्ञा की है. गुणी लोगोंका विनय करनेसे उनके गुणोंको अपनी सम्मति है ऐसा सिद्ध होता है अर्थात् दूसरोंके सम्बन्धनादि गुण दीसनेपर विनयवान जन हर्षयुक्त होते हैं. यह हर्षित होना गुणानुमोदनको सूचित करता है. ये सब ऊपर कहे हुये विनयके गुण हैं.

विनयव्याख्यानानन्तरं समाधिनिरूपणार्थं उत्तरप्रबंधः । योगस्य, श्रुतीतल्लिख्यस्य, ज्ञानभावमोक्षस्य, कृति-
निलोपेते विनये पतंगानस्य, रत्नप्रयमनसः, सम्यगराचनं ग्याम्यमित्यधिकारसंयचोऽनुगतव्याः । चेत्तः समाहितं कीदृशं
सत्यं वा समाहितस्य किं फलमिति चोचक्रयमतिविबोधनार्थं गायत्र्या विनयसिद्धिदं ॥

चित्तं समाहिदं जस्त होज्ज बज्जिद्विसेत्तिं वसियं ।

सो वह्दि गिरदिचारं सामण्युरं अपरिसतो ॥ १३२ ॥

समाहितं मनो यस्य पश्यं त्यक्ताशुभाश्रयम् ॥

उच्यते तेन वारिजमभ्रातेनापटूपणम् ॥ १३६ ॥

विजयोदयाः—चित्तं समाहिदं अस्त जस्त चित्तं वरिजमविसोत्तिं वसियं समाहिदं इति पदघटना । यस्य
चेत्तः वारिजकाशुमपरातिप्रसरं पश्यति च यत्र निरुक्ते तथैव तिष्ठति, तद्विषयं समाहितमिति ग्राह्यम् । अन्येरेवं
पिचार्यते । किमिदं चित्तं नाम । ॥ ॥ इति चेदद्वयमनो भावमनश्चेति तद्विषयकारं, फलस्वरूपं प्राणं । न तावत् द्वयमनः पुनरु-
त्पादसंभविनी कर्मदाननिमित्ततया फलपरिणतिरिति । वरिजमविसोत्तिमिति । विशेषणमनंमयीति । न च तद्वशाथव्यो-
त्तमः तेन भावमनो गृह्यते । नोर्द्वियमितिः सा रगान्दिसहभागिनी । तद्वद्विद्या वास्तीति युज्यते वल्लभि । विसोत्तिगं इति
विशेषणं । वसियमिति न तस्यां पटते । नोर्द्वियमितिः सा रगान्दिसहभागिनी । तद्वद्विद्या वास्तीति युज्यते वल्लभि । विसोत्तिगं इति
तथा हि रागकोपमधुःसादयो नटादीनां घटोत्तरपरिणामा वर्तन्ते तद्वशाथपुनरुत्पादयोरपसम्भवं अतमनो घटोत्तर नोर्द्वियमितिर्गते ।
मतिरसि भावेच्छया फलविद्यायश्चादुभयते इति । सो सः समाहिदचित्तो वह्दि धारयति । तथा च प्रयोगः—विनयं
वदति धारयति इति गम्यते । निरदिचारं निरदिचारं निर्वाणं । सामण्युरं रागकोपलुप-लुपयिक्तः समण इत्युच्यते । तथा
च मैरुक्ता पदन्ति 'समणो' समणो इति समणस्स भावो सामणं उच्य किं सामन्ता चारियं । तस्य भारं कीदृशो
निरदिचारं निर्मले । अपरिसतो यथान्वधारिजमारोहन् फले समाहितचित्तस्येत्याख्यातं भवति । अनियतमनस्ताया
दोषाख्यानद्वयाजेन निर्मूलं मनः कार्यमिति द्रव्यपुत्ररगपथा । फलित्वंचिदुज्जयिनीसं दक्षिणपथमिमुत्तथाह अस्यधान्यः
धुदजनपदुलो दमिल्लेयाः इति । स एवमुक्तं प्रलेखितं अयं जगपदः सुमिहः सुजनाधिवासः इति ।

अथ योगस्य, गृहीतयुक्त्युपायलिङ्गास्य, ज्ञानभावचोचतत्त्व, वित्तये वर्तमानस्य, रत्नत्रये मनसः सम्यग्वाचनं न्याय्य-
मित्युपदेष्टुं गार्गादक्षक्यादिसति तत्र तावन्त्येव समाहितं कीदृक् तस्य वा समाहितस्य किं फलमिति प्रश्ने सतीदमाह ।

मूळारा—चित्ते भावमनः । तद्वर्धनं यथा—गुणदोषविचारस्मरणविश्रान्तमात्मनो भावमनः । तदभिमुख-
स्यास्यैवाहुनाहो पुद्गलोचयो द्रव्यमनः ॥ १ ॥ यन्वित्यवितोषिर्गं वजितविसोक्तं वजितानि निरुपाणि खोलासि पापाक्ष-
यकारणाहुभपरिणामप्रवाहा येन तत्पविरित्यक्ताहुभपरिणविप्रसरमित्यर्थः । वसग वक्षवति । यत्र नियुक्ते वजेव लिङ्गीत्यर्थे
एतद्विशेषनोपेतं समाहितमित्युच्यते । साम्पण्यद्वारं चारित्र्यमाह । अपरितोक्तो अक्रान्तः ।

वित्तयके निरूपणके अनंतर आचार्य समाधिभरणकेलिय योग्य है, जिसने
सुनिर्लिङ्ग धारण कर ज्ञानाभ्याससे विनयगुण धारण किया है, जिसका मन रत्नत्रयमें लीन हुआ है उसको
आराधना करना योग्य है, ऐसा अंगोके अधिकारके लिये पूर्व संबंध ध्यानमें रखना योग्य है, इसके अनंतर एकाग्र
अन्त करणका क्या स्वरूप है ? उसका फल क्या है ऐसे दो प्रश्नोंका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिसके चित्तने अद्भुत विचारपरिणविक्रो छोड़ा है, जो बड़ा हुआ अर्थान् जिस पदार्थमें उसको
नियुक्त करते हैं वहा ही वह स्थिर होता है तो वह चित्त समाहित हुआ है ऐसा समझना चाहिये, अन्य आचार्य
मनका एवं विचार करते हैं—चित्त किसको कहते हैं ? यदि मनको जिस कहते हो तो उसके द्रव्यमन और भावमन
ऐसे दो भेद हैं, यहाँ कौनसा मन समाहित होता है ऐसा हम समझे ? द्रव्यमन तो समाहित होना नहीं क्योंकि
यह पुद्गलस्वरूपी है, वह फर्मका ग्रहण करनेमें यद्यपि निमित्त कारण है तथापि स्वयं वह रागद्वेषादि फर्मरूप
परिणतीको प्राप्त होता नहीं है, इसलिये द्रव्यमनका 'वज्रिद्विसोचिर्ग' वह विशेषण नहीं है, क्योंकि पुद्गल मन
अर्थात् द्रव्यमन आत्मके यक्षमें रहनेवाला नहीं है अतः यहाँ चित्त शब्दसे भावमन ही समझना चाहिये, भावमन
माने मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान वह रागद्वेषादि विकारके साथ रहनेवाला और न रहनेवाला ऐसे दो भेदोंसे युक्त
है, अतः भावमनका ही 'वज्रिद्विसोचिर्ग' यह विशेषण समझना युक्तियुक्त है, वासिर्गं यह भी विशेषण उसमें
ही जुड़ता है,

नोर्हद्विप्रमतिज्ञानावरण कर्मज्ञ क्षयोपक्रम होनेसे नोर्हद्विप्रमतिज्ञान आत्माके वश होकर रहता है, इसका
रुलाया हम प्रकार ममज्ञाना—जट, वैश्वा, नर्तकी चर्चोके हावभाव, नृत्यादि कार्य देखनेपर प्रेम, कोप, मय,

दुःखादिक परिणाम आत्मा में उत्पन्न होते हैं और इनका अनुमानमान शरीरों रोमांच, सुख में विकास, म्लानि इत्यादि कार्य के वीर्यनेपर होता है। वैसे नोइंद्रियमात्रिका न आत्मेच्छासे किसी एक यदायमें एकाग्र होता हुआ अनुभवमें आता है।

जिसका मन एकाग्र और बड़ा है ऐसा मूनि रामकोपादि विचारोंसे रहित, निरतिचार चारित्रको न थका हुआ यावज्जीव धारण करता है। चारित्रधार धारण करना यह एकाग्रचित्तका फल है। विना एकाग्र चित्तके चारित्र धारण नहीं होता है।

आगेकी गाथायें चंचल मनसे होनेवाले दोषोंका वर्णन करती हैं। उस वर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये यह अभिप्राय उत्तर गाथाओंका व्यक्त होता है। उदाहरणके द्वारा यही अभिप्राय आचार्योंने पुष्ट किया है जैसे-उज्जयिनीका कोई आदमी-दक्षिणादिशाके तरफ जानेको उद्यत हुआ। उसको देखकर कोई पुरुष कहता है, उमिल देशमें धान्य बोया है, और धुल्लोक वहां अधिक है तो उस पुरुषके बचनका अभिप्राय यह निकला कि उज्जयिनीदेशमें सुमिथला है और यहाँके लोक सज्जन हैं। वैसे चंचल मनके दोषवर्णनसे मनको निश्चल करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सम्प्रदाना चाहिये।

चालणिरायं च उदयं सामण्यं गलद् अणिहुदमणस्स ॥

कायेण य वायाए जदि-वि-जधुत्तं चरदि भिक्खू ॥ १३३ ॥

तितवाविय पानीयं चारिञ्चं चलचेत्तसः ॥

बचसा वपुषा सम्यक् कुर्वतोऽपि पलायते ॥ १३६ ॥

यिजसोदया—चालणिरायं च उदयं उदकमिव चालनीयं । सामण्यं सामान्यं समानभाग्यो । गलद् गलति । कस्स अणिहुदमणस्स अनिश्रुतं चेतो यस्य । कायेण य वायाए कायेन च बचसा च । जदि वि चरदि यद्यपि चरति तत्सायेतः समाधानं कार्यमित्युपसंहारः ।

पलपित्तसवदोषपणन्योक्तेन मनःसौख्यं कार्यतया-ज्ञापयति—

मूलाप—अणिहुदं चहं ।

अर्थ—जिस युनिका चित्त चंचल है उसका चारित्र चालिनीमें डाला हुआ पानी उसमेंसे जैसे निकल जाता है रहता नहीं, वैसे तब होता है, यद्यपि वह साधु श्रीरसे और वचनसे शास्त्रोक्त चारित्र पालन करता है, शरीर और वचनसे चारित्र पाले तो भी यदि साधुका चित्त स्थिर नहीं हो तो वह नष्ट होता ही है, अतः चित्त-भी चंचलता नष्ट कर उसमें स्थायी लोकेका साधुओंको प्रयत्न करना चाहिये.

मनसो दुष्टतां प्रपञ्चेनोपदिश्य तदेवंभूतं मनो यो निवृत्तवति तस्य भ्रामण्यं भवति समानभावो नेतरस्येत्येतत्तुल्यप्रपञ्चेनोच्यते तदौदारम्यप्रकाशनायै गाथापञ्चकम्—

बाहुभ्रामो व मणो परिधावइ आहुिदं तह समंता ॥
सिग्यं च जाइ दूरपि मणो परमाणुदब्जं वा ॥ १३४ ॥
परितो अत्थपत्ते [पावते] चेतधरण्युरिष चंचलम् ॥
परमाणुरिष क्षिप्तं दूरं यात्पनिवारितम् ॥ १३५ ॥

विजयोपपा—बाहुभ्रामो रूप्यदिक् । बाहुभ्रामो व यात्वेय । मणो मनः । परिधावइ । धावति परिरुप्यकः । मलेनित इति यथा । अहुिदं इति क्रियाविशेषणं अस्थितं धावति । कचिद्विषयेऽनवस्थितिराख्याता मनसाः । तह समंता तथा समंतात् । दूरं पि दूरमपि । सिग्यं च जाइ दूरमपि याति । मणो मनः । परमाणुदब्जं वा परमः प्रकृष्टो मणुः चक्षुः परमाणुः त एव द्रव्यं गुणपर्योपगमनात् तद्विष । एतेन स्मृतिरिदं विषयग्रहणं तस्य दौरस्त्यमावेदितं ।

क्रमतोऽनवस्थितत्वाद्वातिदूरस्थितविषयमाहित्वात्मसाधिविचिर्भिताप्रवर्तनादुनादित्वस्तुसदसद्रूपनिराकरण-प्रमाणप्रत्यक्षनिवर्तनीयत्वमार्गप्रकृतत्वातिदुर्बलदुर्लभतुः सप्रवक्ष्येष्टत्वं नाराकारणदोषकारिणीविवक्ष्यत्वलक्षणं नवधा मनसो दीप्यं गाथापञ्चकेन व्याचष्टे—

मूलार—बाहुभ्रामोश्च वातावलीव वातावलीखुल्यं । अहुिदं कचिद्वति विषये अनवस्थितं यथा भवति । परमाणुबुजं च मनसो स्मृतिरिदं विषयग्रहणलक्षणदौरालयोपलक्षणार्थमिदं भवति ।

आगे पांच गाथाओंसे मनकी दुष्टता आचार्य दिखाते हैं, दुष्ट मनका जो निग्रह करते हैं, उनका चारित्र निर्दोष पला जाता है, अन्य साधुका चारित्र निर्दोष नहीं पल सकता यह विषय विस्तारसे आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—चंदे जोसे बहने वाली वायु किसी भी स्थानमें स्थिर नहीं रहती है, चारों तरफ दौड़ती है, मन भी किसी भी विषयमें स्थिर नहीं होता है, गुणपर्यायसे युक्त परमाणुद्रव्य जैसा एक समयमें बहुत दूर जाता है

वैसा मन भी एक विषयको छोडकर जतीव दूसरे विषयको भी ग्रहण करता है. मन्की दूसरे विषयको भी तत्काल ग्रहण करतारूप दुष्टता इस गाथासे आचार्यने प्रदर्शित की है.

अंधलयवहिरमूवो ज्व मणो लहुमेव विष्यणासेइ ॥

दुक्खो थ पडिणियत्तेदुं जो गिरिसिदुसोदं वा ॥ १३५ ॥

वांछिताभिमुखं स्वान्तं निपेदुं केन शक्यते ॥

नयापगापयो निम्ने प्रासं (तद्द्रव्येते) कथम् ॥ १३६ ॥

न यूको यधिरोग्यो वा इत्ते शृणोति पश्यति ॥

यस्तु हेपसुपावेयं विषयाकुलित मनः ॥ १३७ ॥

विकल्पैर्विविधैर्लोकं प्रापित्वा मलीमसैः ॥

मेयधृन्दमिव स्वान्तं क्षणेनैव विनश्यति ॥ १४० ॥

विजयोदया—अंधलयवहिरमूवो एव मणो इत्यत्र एते दोषः । अंधपदविरत्यमूकत्वञ्च भवति मत्ता । कदाचित्कथंचित्कथंचिदप्ये सक्तं मनः, तन्निहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति, इति । ननु चाश्रयोः कर्तृता यदातावी न मतस्तत्सर्वथापि न किञ्चित्पश्यति, न शृणोति यत्किं वा ? उच्यते—मनसः करणस्य कर्तृता परशुविच्छन्तीति यथा । एतदुक्तं भवति—द्रष्टव्ये जीवादिके, श्रोतव्ये जिनवाक्ये, स्वपरहितवाक्ये च कदाचिदप्रवृत्तिर्मानसो भवेति । यथा भूत्वो दुष्ट द्रव्येणैव स्थायिनो त्रियुक्ते कर्मण्यप्रयत्नमात्रः । एवं मनोऽप्यात्मना त्रियुक्तेऽप्यापृतेदुष्टमिति प्रापः । लघुमेव विष्यणासेदि य आशु विनश्यति च । अनित्यतादोषतस्तु याथाव्यप्रादिणो मनसः नो संश्रियमतेः दुःखं भवत्यं । पडिणियत्तेदुं जं प्रतिनिवर्तयितुं यदयमनस्वरूपग्रहणे भूतरूपविरासे च प्रवृत्तं ताभ्यां निवर्तयितुं न शक्ये दत्तादिष्वच्चारित्यात् प्रतिनिवर्तयितुं । किमपि गिरिसिदुसोदं नदीप्रवाह इव ।

मूलाय—अंधलयवहिरमूवोयं धापयधिरमूकत्वद्रवति कदाचित्कथंचिदप्ये सक्तं मनः संनिहितमपि विषयं न पश्यति, न शृणोति, न ब्रवीति इत्यर्थः । अत्र सर्वत्र चक्षुरादिकुर्तेऽपि दंतानादौ मनसः करणस्य कर्तृत्वमुक्तं ब्रह्मच्छिदायां परतोतिव आत्मना च जीवादिके द्रष्टुमिष्टे जिनवाक्ये, श्रोतुमिष्टे स्वपरहिते च, वक्तुमिष्टे त्रियुग्यमानस्य मनसः कदाचिदप्रवृत्तिरेव दुष्टता स्थायिना भूत्वस्य यथा निर्दिष्टे कर्मणि । लघुमेव विष्यणासेदि य जात्येव विनश्यति च । एतेन वस्तु-याथाव्यप्रादिणश्चित्तस्थानित्ववदोषः । दुःखो य दुःखं च अक्षय्यमित्यर्थः । पडिणियत्तेदुं जं प्रतिनिवर्तयितुं यस्तवत्य-

भूतरूपग्रहणे भूतरूपनिराकरणे च प्रवृत्तं मनस्ताभ्या व्यावर्तयितुं न शक्यते यगादिसहायित्वाचिति मावः । निरि-
सदिसोर्ध्व पर्वतनदीप्रवाह इव ।

अर्थ—अंधा, रहिरा और शृंगेके समान दुष्ट मनका स्वभाव है, किसी समयमें किसी प्रकारसे च किसी
नियममें आनक्त हुआ मन समीपस्थित भी दूसरे विषयको देखता नहीं है, सुनता नहीं और बोलता भी नहीं है.

शुंका—देखना, सुनना और बोलना इस क्रियाका कर्तृत्व नेत्र, कर्ण और जिह्वाके तरफ है, मन तो इन
क्रियाओंका कर्ता नहीं है, वह सर्वदा भी किसी विषयको देखता नहीं है, सुनता नहीं है, और बोलता भी नहीं है.

उत्तर—मन यद्यपि कर्ण है तो भी उसमें कर्तृताका आरोप किया है जैसे 'परब्रह्मिष्ठनसि' कुन्दाह
तरुनी फाटती है, यहाँ कुन्दाह छेदन क्रिया करनेमें देवदण्डको सहाय करती है अतः कर्ण है, तोभी उसके तीक्ष्ण
तादि शुण्णकी प्रशंसामें उसको कर्तृपद भिला है. जैसे मनमें पदार्थोंको जाननेकी उत्कटता होनेसे इतर इंद्रियोंको
उनके विषयमें वह सहायता देता है तो भी उसमें कर्तृत्वका अप्यारोपण किया जाता है. अभिप्राय यह है—
कि जीवादि पदार्थ अयलोकनके योग्य हैं, जिनवचनादि सननेके योग्य हैं, स्वरहित करनेवाले वाक्प भी
सुनने योग्य हैं परंतु इस मनकी उनमें पदार्थान् प्रवृत्ति नहीं होती है. यह इसकी दुष्टता है, जैसे मालिकने
किसी कार्यमें त्रैरा हुआ नोकर यदि उस कार्यको न करेगा तो उसको दुष्ट कहते हैं वैसे मनभी आत्माने नियुक्त
कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है अतः वह दुष्ट कहा जाता है. किसी कार्यमें संलग्न हुआ तो भी वह वहाँ स्थिर न होकर
पक्षोंमें झीझ हटता है अर्थात् वस्तुका पथार्थ स्वरूप ग्रहण करता हुआ भी उससे जल्दी हटता है. वह मन वस्तुका
जो सत्य स्वरूप है उसको ग्रहण न कर असद्रूपको ग्रहण करता है. उसमेंसे उसको हटाना अतीव कष्टकर कार्य है
अर्थात् मनको सद्रूपके ग्रहण करनेमें असद्रूपसे हटानेमें कोई श्रयत्न करेगा तो उसको बड़ा कष्ट होगा. जैसे
पर्वतपरसे बहनेवाली नदीका प्रवाह हटाना अतीव दुष्कर है वैसे मन भी रागद्वेषादि विकारोंसे युक्त होनेपर उसको
अमत् में हटाकर सत् में प्रवृत्त करना बड़ा कठिन कार्य है.

तत्तो दुक्खे पये पाहेदुं दुघ्दओ जहा अस्सो ।

वीलणमच्छेज्ज मणो णिमेषेत्तुं दुक्खो धणिदं ॥ १३६ ॥

न प्रवर्तयितुं मार्गे दुष्टो वाजीव शङ्कयते ॥

ग्रहीतुं शक्यते चेतो न मत्स्य इव चीलनः ॥ १३९ ॥

विजयोद्या—तजो तस्याव्यतिनिवर्तनात् । दुष्करो दुष्करो षंये । षोडशुं मार्गे पातयितुं किमिव । दुष्टलो लडा बरसो दुष्टोऽतिव्यालो यथेवाश्व । पतेन दुष्करोऽर्थावपातित्वदोषः प्रकटितः । चीलजम्बूलोऽव्य मरुणतरवेऽनारस्य रूप । धनिदं दुष्करो विषयं नितरां दुष्करं ग्रहीतुं मनः । पतेन दुरत्यग्रहता ख्याता ।

मूलाया—तजो अक्षय्यमिति निवर्तनत्वात् । दुष्कलं दुःशर्कं । षोडशुं नेतुं । चीलजम्बूलोऽव्य मरुणतरवेऽनारस्य रूप । विन्नेषु ग्रहीतुं । धनिदं अत्यर्थम् ।

अर्थ—यदि मनसो अयोग्य विषयसे हटाया जावे तो जैसा दुष्ट अश्व दुःस्वदायक मार्गमें मनुष्यको गिराता है वैसे दुःस्वदायक कुमार्गमें यह जीवको गिराता है. इस माथारसे दुष्करमार्गावपातित्व नामका मनका दोष प्रगट होता है. जितना देह अतिअव स्मिन्ध है ऐसा चीलज मत्स्य हाथसे नहीं पकट सकता है वैसे यह मन भी ग्रहण करना दुष्कर कार्य है. इससे दुरत्यग्रहता नामका दोष मनमें रहता है यह आचार्यने दिखाया है.

जरस य कदेण जीवा संसारमणतयं परिभसंति ॥

भीमासुहगदिवहुलं दुक्खसहस्साणि पावंता ॥ १४० ॥

यस्य दुःखसहसाणि भजंते वडावर्तिनः ॥

संसारसागरे घोरे वंअभ्यन्ते शरीरिणः ॥ १४० ॥

विजयोद्या—जरस य वयस्य च । कदेण कपोते किंवासाभान्यवाको यह चेषायुत्तिर्युहोतस्तेनायमर्थः. यस्य मनस्तथोदितेन जीवाः संसारं पंचाक्षरं परवर्तं परित्यजन्ति । अणतयं अनंतप्रमाणवच्छिद्यं । भीमासुहगदिवहुलं । भया-पदाद्युभनरतादिगतिप्रचुरं । दुक्खसहस्साणि शरीराण्युक्तामानसस्तामाविश्यावन्ति प्रत्येकमेकैकविभज्यानि । पावंता मानुवंतो जीवाः । पतेन चतुर्गतिपण्यतममूलतादोषः प्रकटितः ।

अर्थ—इस यन्त्रों कुछ प्रवृत्तियों जीवको पाच प्रकारके परिवर्तनसहित इस अनादि अनंत संसारमें शारीरिक, मानसिक और स्वभाविक हज़ारों दुःख सहन करने पड़ते हैं. यह संसार अशुभ नरकादिगतिजोसे भरा है. इसमें शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखोंके अनेक प्रकार इस जीवको प्राप्त होते हैं. अभिप्राय यह है कि, यह मनुष्य चतुर्गतिमें भ्रमण करनेका मूल कारण है.

जसि य वारिदमेते सत्त्वे संसारकारया दोसा ॥

णासंति रागदोसादिया तु सज्जो मणुस्सत्स ॥ १३८ ॥

संसारकारिणो दोषा रागद्वेषमदादयः ॥

जीवानां यस्य रोधेन नश्यंति क्षणमावतः ॥ १४१ ॥

विजयोदया—जसि यत्सिद्ध मतसि । वारिदमेते वारित एव । माध्वग्रहण कारणद्वयं निराकर्तुमुपात्तं । मनो नियारणोदय । रागदोसादिया रागद्वेषादयः । नासंति नु मयमेव । सज्जो सद्यः स्वामीमेव । संसारकारया पटावर्त-पंचकस्य संसारमोचताः ।

मूलादा—वारिदमेते वारित एव ।

अर्थ—इन मनको रोकने मात्रसेही पंच परावर्तनात्मक संसारकी उत्पत्ति करनेवाले राग, द्वेष, मोह वर्गरह दोष तत्काल नष्ट होते हैं.

इय दुद्धयं मणं जो वारेदि पडिटुवेदि य अकंपं ॥

सुहसंकपपयारं च कुणदि सव्धायसणिहिदं ॥ १३९ ॥

तदुधं मानसं येन निवार्याशु भवृत्तिः ॥

प्रयुस्तशुभसंकल्पं स्वाध्याये क्रियते स्थिरम् ॥ १४२ ॥

विजयोदया—इय । एवं व्यावर्जितरूपेण । दुद्धयं दुष्टकं दुष्टं । मणं । मनो जो वारेदि यो निवारयति रागादिभ्यः । परिद्वेदि य प्रतिष्ठापयति च ध्यानपरिणामादौ । अकंपं निश्चलं । क्रियाविशेषणमेतत्

तस्स सामणं होदि । वध्यमाणेन संबंघः । सुभसंकप्पणवारं जो कुणदि तस्स सामणं होदिचि संबंधनीयं । सुभः संकल्पः तस्मिन्नुपपन्नो गमनं प्रवृत्तिर्यस्य मनसत्तन्मुमसंकल्पप्रचारं मनो क्क करोति । सज्झायसण्णिहिदं वज्जे कुणदि तस्स सामणं इति संबंघः । समयपथयनं साध्यायः द्रुतविलंबितादिदोषरहितत्वं अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च समयस्य । स पुनः पंचप्रकाशः वाचनमभ्यासुज्झासाध्यायधर्मोपदेशमेवेन ।

प्रश्नस्य कथं साध्यायता ? प्रश्नो हि अर्थोऽर्थे वा संशयच्छेदस्य इत्येवमेवेतिदिति निमित्तायैयलाभानाय वा प्रच्छन्नं । तर्हि यदच्छाद्यधर्म्यं वा सोऽधीते अध्ययनप्रवृत्त्यर्थेवात् । प्रसेऽध्ययनव्यपदेशः इदं प्रतिगम्ये वारुणि द्रव्यव्यपदेश इव । धयता किमिमेव पठितव्यमिति । अधीत एव प्रये संदिदानः । अर्थसंबन्धेऽपि किमस्य वाक्यस्य पदस्य वायमर्थः इति । यदाप्यते एवं निश्चितवलाधानेऽर्थे प्रश्ने योज्यम् ।

अनुमेयस्य कथं साध्यायः ? अधिगतार्थस्य अनसाम्यात्सोऽनुमेया अन्तर्जस्यरूपमध्ययनमस्सयेयं तच्चापीति मन्यते ।

मोपपरिशुद्धं युतं परावर्त्यमानं आध्यायः साध्यायो मन्त्रलेख ।

आलोपणी, विलेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी चेति कयाश्चतस्रस्तत्साध्यायुपदेशो धर्मोपेयाः स च स्वाध्यायः यतस्मिन्साध्याये सम्यक् निहितं निश्चितं मनो यः करोति इत्यर्थः ।

अथैवं पदपठना अध्याहृतं कृत्वा । इयं दुष्टकं मनो सो योरेदि अक्षरं पठितुमेदि य जो मणं सुभसंकप्पणया रमेयं कुपदि सज्झापसण्णिहिदं कारुण्यं इति । एवं दुष्टं मकः स वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति वा । यो मनः सुभसंकल्प प्रचारमेव करोति । साध्याये लक्ष्यदिष्टं कृतेति सूतार्थः । वरपरयमूलस्य धामचयं समानता वा भवति । एवं प्रथमेन मनसो दुष्टतां प्रकाश्य तदवीष्टवकारिणः कष्टं साध्यायवेण्याह—

मूलाया-परिटुवेदि अद्वान्तर्गमनादौ प्रतिष्ठापयति । सुहसंकप्पणवारं । सुभपरिणामप्रचारं । सुभसंकल्पेण ईद्वदिमच्छिणीयदयदियु प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्य । अत्रायं सूतार्थः । साध्याये सम्यक् निश्चितं कृत्वा यो मनः शुभप्रवृत्ति-कमेव करोति स तथा दुष्टं वारयति निश्चलं प्रतिष्ठापयति चैतत्तत्त्वैव य समादितादियुण आमण्यं भवतीति सम्बन्धः ।

अर्थः—उपपुक्तं द्रुतं प्रयुज्जि करनेवाले मनको जो रागादि विकारोंसे हटावा हुवा समयदर्शनादिपरिणामोंमें दृढ स्थिर करता है उस मुनिको समता भाव प्राप्त होता है- जो मुनि अपने मनको शुभचिन्तारोंमें प्रवृत्त करता है और साध्यायमें तत्पर करता है उसको समताभावकी प्राप्ति होती है ।

विद्येपार्थ-साध्याय करते समय शास्त्रकी पंक्तियां बल्दीसे अथवा अतिमंदरीतीसे नहीं पढ़ना चाहिये. अर्थ-शुद्धि और ब्यञ्जन शुद्धि के तरफ ध्यान देना चाहिये. तब वह जो-शास्त्र पढ़ना वह स्वाध्याय है. स्वाध्यायके वाचना

प्रश्न, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पाँच भेद हैं.

प्रश्नको स्वाध्याय क्यों मानना चाहिये ? प्रश्न और अर्थमें संशयका नाश करनेकेलिये अथवा इस पदार्थका ऐमाही स्वरूप है अन्य नहीं है इत्यादि रूपसे जो सत्य निश्चय किया होगा उसको पुष्टि करनेकेलिये जो विद्वानोंको पूछना वह प्रश्न है. प्रथम स्वाध्याय करनेमाला यहल्लासे जान लेता है अथवा अर्थका पठन करता है. प्रश्न करना भी स्वाध्याय ही है क्योंकि प्रश्न अव्ययनमें प्रवृत्ति करनेके लिये कारण है. जैसे जिस काष्ठसे इंद्रकी मतिमा बनाना है उसको हम द्रव्यनिक्षेपसे इंद्रप्रतिमा कहते हैं. वैसे प्रश्न भी स्वाध्याय करनेमें जीवको प्रेरणा करेगा अतः उसको स्वाध्याय कहना कुछ अनुचित नहीं है. अथवा पदे हुए प्रश्नमें भी क्या यह शास्त्र इस रीतीसे पढ़ना चाहिये ! अथवा अन्य प्रकारसे पढ़ना चाहिये ऐसा यदि प्रश्नमें संशय उत्पन्न हुआ हो किंवा अर्थमें यदि संशय हो तो इस पदका अथवा इस वाक्यका क्या यह अर्थ है ? इस तरहसे पूछना यह प्रश्न स्वाध्यायको कारण होनेसे स्वाध्याय कहा जाता है. अथवा जो निश्चित किया है ऐसे अर्थमें और दृढ़ता उत्पन्न करनेकेलिये जो प्रश्न किया जाता वह भी स्वाध्याय को कारण होनेसे स्वाध्याय ही है.

अनुप्रेक्षाको स्वाध्यायपना किया ? जाने हुये पदार्थका मनके द्वारा बार बार चिंतना करना अनुप्रेक्षा है. यह अन्तर्नल्परूप होनेसे इसमें भी स्वाध्यायपना है ही. उच्चारणसे शुद्ध जो शास्त्रको बार बार चोखना उसको आम्नाय कहते हैं. यह भी स्वाध्याय है. ओषधपणी, विध्वपणी, संवेत्तनी. निवेत्तनी, ऐसी चार कथाओंका भव्यापे सामने कथन करना धर्मोपदेश है यह भी स्वाध्याय है, ऐसे पाँचों प्रकारके स्वाध्यायोंमें जिसने अपने मनको संलग्न किया है उसको आम्नायप्राप्ति होती है. अर्थात् अपने मनकी जो साधु स्वाध्यायमें स्थिर करके रागद्वेषादिते उसको हटाता है. शुभसंकल्पोंमें स्थिर करता है उसकोही आम्नाय प्राप्ति है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय जानना चाहिये.

जो विद्य विणिष्पडंतं मणं णियत्तेदि सह विचारेण ॥

णिग्गहदी य मणं जो करेदि आदिलब्धियं च मणं ॥ १४० ॥

अभितो घावमानं तद्विचारेण निवर्त्यते ॥

निगृह्य क्रियते चित्तं दुर्वृच इव लज्जितम् ॥ १४३ ॥

विषयोदया—जो वि य यथापि । विणिष्यन्तं वि शब्दो नानार्थः निर इत्युपसर्गो यद्विभक्तिं पठिगमनार्थः । ततोऽयमर्थोऽस्य पदस्य विचित्रं चर्हिर्निर्गच्छतिवर्त्येवेदिति । ननु ॥ स्वल्प्यन्तरे कस्मिंश्चित्तदपेक्षो भवति वद्विर्भावस्ततः किम् ? अभ्यन्तरे रानवयं, कथमस्याभ्यन्तरता ? आत्मनो निजस्वरूपमिति । रागकोपादयस्तु चारित्र्यमोहोदयनाभावाः परिणामा धात्वा मिथ्यात्वकथयामिमेवेन विचित्रास्तदभिमुखतया प्रवृत्तेः । विचरेदि सद् विचारेण जो इति शेषः ।

कोऽसौ विचारः ? उच्यते— इदं तत्त्वाद्यज्ज्ञानं, इयं च हिंसादिपरिणतिरयं वा कोवादिषो भावो भया परिणामि-कारणभूतेन निर्वर्त्यमानो जातिउत्तराभरणपरिणामरूपानन्तसंसारकारणानां कर्मणां भूलो व्यपक्रान्तिभेदेन संख्यातासंख्या-तविकरणात्, दिशतिविशेषमात्ममवेशोप्यस्यामरूपे, सीमामध्यमन्दरूपाश्रदानासंयमकथावपरिणामानिर्वर्तनसामर्थ्यस-म्बन्धमात्रं च निर्जितंयति । तानि ध्यात्ममवेशोप्यस्याभ्यन्तरमवेशोप्युत्तररूपाश्रय्याणि चर्हिर्हितादप्यशेषकालंमयमायसदाया-पेक्षया पुनरपि मिथ्यात्वविपरिणामनायादयन्ति । न हि चर्हिर्हितायिकलभारजसमूलस्य भद्रावृत्तिर्नाम संप्राप्यते । तेन चभ्रज्ज्ञानाविपरिणामेन तथैव कर्मणादात्मनः आचानां स्थितिः, सामर्थ्यातिशयाः इत्यादिका परंपरता । तयानन्तराकृपि-अमणमिति गृहानपमनर्थो मम भविष्यतीति, एवंभूतेन विचारेण मनो निवर्त्यति यस्तस्य आत्मपरमिति सर्वथाः । विगाढादि स मणं जो यो मनो निगृह्णाति हा दुष्टं चिन्तितमिदमिति निगृह्णादभ्यां तस्य आत्मपरमिति सर्वथाः । करोदि भवितुमिच्छेत् च मणं, करोत्यतीव लक्षापरं यो ममः । कथं संसारमहितं वारकारणभूतोभ्यपरिणामान्मुक्तिं बहुपायांश्च भाषा-नविगच्छताः श्रदानस्य तापरिणाममध्यपोहणार्थमेवं गृहीतनिर्ग्रन्थलिमस्य विवेकपरमुक्तेति, निरूपयति, अतिनीचां मनसो जनयति ।

एवं पद्विर्गमयोगेन समाधिसिद्धिमनुशिक्ष्योत्तरंयोगेन वामनुज्ञास्ति—

मूलरा—विणिष्यन्तं विनिष्यन्तत् विनाशार्थं, नि चर्हिर्भावे प्रविर्गमने । यत्तत्रयात्पचयुत्वं विचित्रेणु शुद्धादिदू-पाद्विद्विष्टेणु रागादिषु गच्छदित्यर्थः । सद् विचारेण, वर्तमान इति श्लेषः । अयं मिथ्यात्ववद्विद्विषयककर्मणां कारणं, योनिः च दुर्लससारदुःखफलानि, कतोऽस्माद्विवृत्तिर्निर्ग्रन्थलिमेवं भावो विमर्शोवाच विचारः । विनिगृह्णादि हा दुष्टं चिन्तितं इति निगृह्णादभ्यां निगृह्णाति । जगन्नादिदुःखतपोऽनुष्ठानद्वारेण क्षुपितदुर्विकल्पशक्तिकं करोति वा । जदिलज्जिदं एवं गृहीतनिर्ग्रन्थलिमेवं करोतीति निरूपणेनातिमात्रं दर्जानं नीतम् ।

अर्थ—जो मुनि अनेक प्रकारसे बाहर घुमनेवाले मनको विचारोंके द्वारा आत्मामें लगाता है, जो साधु अपनी

निंदा और मर्दा करके मनका निग्रह करता है और उसको लज्जित करता है उसको ही श्रामण्यकी सिद्धि होती है।
 विद्येयार्थ—विणिप्पटंत इस शब्दका अर्थ इसप्रकार है। वि शब्दका नाना, अनेक ऐसा अर्थ है, निस् यह उपसर्ग है, 'चाहर' वाद्य यह निस् उपसर्गका अर्थ है, 'पटि' धातु गमन करना इस अर्थका वाचक है, विणिप्पटंत इस पदका सञ्चल्यार्थ 'नाना प्रकारसे बाहर जानेवाले मनको वापिस आत्मामें लौटाना चाहिये' यह है, शंका—यदि अग्यंतर कोई चीज हो तो उसकी अपेक्षासे बाह्य पदार्थकी सिद्धि होगी, यहां अग्यंतर चीज कीनती है ? उत्तर—यहां स्तनयको अग्यंतर वस्तु कहते हैं, इसको अग्यंतर वस्तु क्यों कर कहना चाहिये ?

उत्तर—यह स्तनय आत्माका स्वरूप है अतः इसको अग्यंतर कहना चाहिये, रागद्वेषादिक विचार चारित्र्य मोहके उदयसे होते हैं अतः वे बाह्य वस्तु है, मिथ्यात्व कृपाय वगैरह भेदोंसे राग द्वेषादिकोंमें विचित्रता आती है इन विचारोंके तरफ मनकी प्रवृत्ति हुई हो तो उसको वहसि हटाकर आत्मामें प्रवृत्त करना चाहिये,

जिनके साहाय्यसे मनको आत्माभिमुख कर सकते हैं ऐसे विचार कोनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—
 मैं यदि तत्त्वोंपर अध्यान करूं, यदि हिंसा करना, शठ धोलना, चोरी करना इत्यादि पापरूप परिणति मेरेमें हो जावेगी, यदि क्रोध, मान, मायादिक मेरेमें उत्पन्न होंगे तो चार प्रकारके कर्मबंध उत्पन्न होंगे, जन्मजरामरणरूप अनंतसंसारके फारणभूत कर्मोंका प्रकृतिबंध मेरे आत्मप्रदेशोंमें होगा, इस कर्मके मूल प्रकृतिभेद आठ हैं, उत्तर प्रकृतिभेद संख्यात असंख्याती होते हैं, कर्म आत्मामें आकर स्थिर होना स्थिति बंध है, अध्यान, असंयम, कृपाय इत्यादि परिणामोंमें तीव्रता, मध्यमता, मंदता, उत्पन्न करनेवाला जो कर्मका सामर्थ्य उसको अनुभवबंध कहते हैं, अध्यानादि परिणामोंसे चार प्रकारके कर्मबंध जीवमें होंगे, आत्माके समस्त प्रदेशोंमें अनंतानंत प्रदेशयुक्त पुद्गल स्वरूप यह कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावोंका साहाय्य प्राप्तकर नवीन मिथ्यात्व, असंयम, कृपायादि परिणामोंको उत्पन्न करते हैं, जिसके समस्त कारण इकट्ठे होते हैं वह कार्य अवश्य होता है, इस न्यायसे कर्मको द्रव्य, क्षेत्र, कालादि सामग्री मिलनेपर वह मिथ्यात्वादि परिणामोंका अवश्य उत्पन्न करेगा ही, अध्यानादि परिणामोंसे जीव कर्मका स्वीकार करता है, स्वीकृत कर्म आत्मामें स्थिर होता है, और अपना प्रभाव दिखता है, फिर नवीन कर्मबंध होनेसे जीवको अनंतकालतक संसारमें प्रमण करना पड़ेगा यह बड़ा भारी अनर्थ होगा, इस विचारसे जो मनको बाह्य मिथ्यात्वादि परिणामोंसे हटाकर आत्मामें स्थिर करेगा उसको ही धुनिपनाकी सच्ची प्राप्ति होती है,

ण्यसिद्धि होती है, जो मनको लज्जित करता है उसको भी श्रमपथलाभ होता है " हे मन अकल्याण करनेवाले संसारको, उस हो बढ़नेमें कारणभूत रागद्वेषादि परिणामोंको, मुक्ति और उसके उपायोंको तु जानता है. अज्ञान करता है. अथद्वानादि परिणामोंका नाश करनेके लिये ही तुने निश्चय लिंग धारण किया है इसलिये उलटे विचार रखना क्या तेरेको योग्य दीसता है ' इस विधिसे जो मनको लज्जित करता है उसको समताकी प्राप्ति होती है.

दासं व मणं अवसं सवसं जो कुण्दि तस्स सामण्यं ॥

होदि समाहिदमविसोचियं च जिणसासणणुगदं ॥ १४१ ॥

अवसं क्रियते वडपं येन दास इव व्रतम् ॥

श्रमण्यं निश्चलं तस्य सर्वदाप्यवतिष्ठते ॥ १४४ ॥

इति समाधित्तञ्जम् ।

विजयोवपा—अबलं दासं य मणं सवसं जो कुण्दि इति पदसंबंधः । दासे य खेटीपुत्रं अवशयतिनं यथा कश्चिद्वृत्तात्स्वपरा करोत्येवमधीतश्चिन्त्यजन भार्यामो मनो निरवग्रहस्तथा प्रवृत्तं कष्टमपरिणाममत्तरे यवि नाम तथापि बलात्तन्निर्मल्योन्मिमतकुम्भभाषपरंपराबुद्धतया यः स्थापयति जैनमतान्मुतात्कारितस्तत्सामर्थ्यातिशयस्तस्य सामण्यं समानता होदि भवति । समाहिदं एकमुक्तं । अविसोचिंतं इष्टपरिहारेष्वव्यवसायानुमपरिणामप्रवाहं । जिणसासणणुगदं सपादितदृश्यभावकर्मफलपरमदानां यच्छासनं-स्थित्यंते जीयादयः पदार्था अनेनास्मिन्वेति दासनं आत्ममत्ते गलुगतम् ।

मूलाय—समाहिदं एकमुक्तं शुद्धस्वादिद्रूपनाशछम्भनमित्यर्थः । अविसोचिंतं निवृत्तपापकवदरिणाम् । समाधिः । सूत्रतः ५ । अंकतः । १० ॥

अर्थ—जैसे कोई सगर्य मनुष्य उन्मत्त नोकरको बलात्कारसे अपने आधीन रखता है वैसे विनागमका जिसने अम्पास किया है ऐसा यदि भी स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणामोंके प्रवाहमें पड़े हुए मनकी निंदा, निर्भर्त्सना कर बलात्कारसे अपने पर रखता है. इष्ट ऐसे शुभ परिणामोंमें उसको स्थिर करता है. यत्किंको जैनमतामृतका आस्था-दन करनेसे ही मनको बद्ध करनेका निश्चित साधर्थ्य प्राप्त होता है. इसकी प्राप्ति होनेसे समानताका लाभ मुनिको

होता है, जिनागमके अभ्याससे मनकी इष्ट विषयमें एकप्रता होकर अशुभ परिणामसे व्यावृत्ति होती है, अर्थात् अशुभपरिणामोंकी उत्पत्ति मनमें नहीं होती है, जिन्होंने द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म—रागद्वेषादिकोंका परामर्श किया है ऐसे जिनेश्वरके आगमका ही यह मन हमेशा अनुगामी बनता है, जीवादिक पदार्थोंका जिसमें अथवा जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है उसको शासन कहते हैं, जिनेश्वरने जीवादि पदार्थोंका उपदेश काने वाला शासन—आगम भव्य जीवोंके हितार्थ कहा है, इस आगमका अभ्यास कर सुनिवर्त्य अपने अवश मनको वशकर समताकी—रागद्वेषके अभावकी प्राप्ति कर लेते हैं,

धोम्यस्य दृढीतमुपपुपायल्लयस्य धृतशिक्षापरस्य पंचविधयिजयवृत्तेः स्वपरीकृतमनसः अनियतयासो युक्तः ।
कलात्र गुणः ? इसारैकायां समाधिगतस्य अनियतविहारगुणप्रकटनार्थं उत्तरत्वं—

वंसणसोधी ठिदिकरणभावणा अदिसयत्तकुसलत्वं ॥
खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होति ॥ १४२ ॥

दृष्टिदृष्टिस्थिरीकारौ भावना शास्त्रकौशलम् ॥
क्षेत्रस्य मार्गणा साधोगुणा नित्यविहारिणः ॥ १४५ ॥

विजयोवधा—वंसणसोधी दर्शनशुद्धिः । दक्षिर प्रेक्षणे इति पठितोऽपि धातुः अस्मान्मार्थवृत्तिरिह गृहीतः । धातुनामनैकावचनात् । तथा च सूत्रं— 'तत्तार्थवृत्तान् सम्यग्दर्शनम्' इति जिनागमनिरूपितार्थविषयवृत्तानमिह दर्शनशब्देन भण्यते । तस्य शुद्धिर्नैर्मस्यं । ठिदिकरणे स्थितिकरणं रत्नत्रयपरिणामव्याप्त्यनोऽनपयपरिणामः । तस्य कर्त्तव्यं स्थितिकरणं । भावणा भावना अभ्यासः पुनर्बुद्धिः । अदिसयत्तकुसलत्वं अतिशयितेऽर्थेयु निपुणता । खेत्तपरि-
मग्गणा यि य दयंति निवसंति तस्मिन्निति क्षेत्रं ग्रामनगरादिकं क्षेत्रं । तस्य अन्येपणा च । अनियतस्थानवसने गुणा
होति भवति ।

अर्थं स्वपरीकृतमनसो मुनेरनियतविहारो दर्शनविशुद्धि इत्यादि गुणपंचनकारकत्वेन युक्त इति द्वादशमार्गा-
धाभिः प्रकाशयति—

मूलाय—मायणा परिपहसद्वनं । अप्रियदवासे अनियतस्थानवसने ।

जो समाधिभरणकोलिये योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत ऐसे लिंगको धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करनेमें तरफ़ है; पांचों प्रकारका विनय करनेवाले, अपने मनको वश रखनेवाले ऐसे मुनियोंके लिये ग्राम नगरादिक अनियत क्षेत्रमें निवास करना योग्य है,

अनियत क्षेत्रमें निवास करनेसे कौनसे गुणोंकी प्राप्ति होती है, ऐसी शंका होनेपर समाधिदो प्राप्त अर्थात् मनकी एकाग्रताको धारण किये हुए मुनीश्वरके अनियत विहारके गुण अनेकही ग्राथमें आचार्य दिखाते हैं,

अर्थ—अनियत स्थानमें निवास करनेसे मुनियोंको विन गुणोंकी प्राप्ति होती है उसका खुलासा—मुनियों के सम्यग्दर्शनमें निर्वलता प्राप्त होती है, अर्थात् जिनागममें कहे हुए जीवादि सप्त तत्त्वोंपर निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है, स्थितिकरण—मुनियोंके रत्नत्रय परिणाममें स्थिरता आती है, वह किसीसे बाधित नहीं होता है, अनियत वाससे पुनः पुनः रत्नत्रयमें अभ्यास होता है—ब्रह्मचि होती है, जीवादिक पदार्थोंके ब्रह्म अर्थका प्रतिपादन करनेमें चतुरता आती है, अनियत वास करनेसे कौनसा क्षेत्र अर्थात् ग्रामनगरादि समाधिभरण करनेके लिये योग्य है इसका भी ज्ञान होता है, कर्मण् दूरैनादि, स्थितिकरण, भावना, अतिशयार्थ बुद्धलता और क्षेत्रपरिभारणा इतने गुणोंकी प्राप्ति अनियत वाससे होती है ॥ १४३ ॥

दंष्टगस्तुद्धी इत्येतावदध्यात्मनकारिणी गम्यते—

जन्मणअभिणिकस्ववणं णाणुप्पत्ती य तित्थणिसहीओ ॥

पांसंतस्स जिणाणं सुविमुच्चं दंसणं होदि ॥ १४३ ॥

विशुद्धं दर्शनें साधोजोगते पद्यतोर्द्धताम् ॥

जन्मनिष्क्रमणज्ञानतीर्थचिह्ननिपिद्धिकाः ॥ १४६ ॥

विनयोदया—अग्रमया जन्मायिनवशरीरवह्मणं तत्त्वस्थित्येव जातं तदिह साहचर्योज्ज्वलशब्देनोच्यते । शूहीतराशरीरस्य चात्मनो जन्म, जन्मपुनरायन निष्क्रमणं जातं तद्धा । अभिणिकस्ववणे रत्नत्रयामिमुक्त्येन युतादृष्टिगमने यस्मिन्क्षेत्रे तस्मिन् निष्क्रमणं । णाणुप्पत्ती य केवलज्ञानावरणक्षयात् सर्वार्थेयायस्वरूपब्रह्ममं यत्केवलं तदिह ज्ञानमिति गृहीत । सामान्यवादानुसंगि विज्ञापवृत्तिः प्रतीतेव । तस्य ज्ञानस्योत्पत्तिर्यस्यैव क्षेत्रं तदिह साहचर्योद् णाणुप्पत्ती य शब्देनोच्यते । तित्थं चिह्नं । तीर्थमिदं समवसरणं गृह्यते । तस्मिन् तस्मिन्गच्छाः पापवि-

विदोर्कनैकजग्राः, मनुजभोग्योत्तरं सुखमपेदेनानुमनन्ति । अपरेऽपि मंडलीकमहामंडलीकपथमुपगता । पुनर्लीयंकरुणमननमोदयात् चारित्र्यमोदक्षयोपदामप्रकर्षोदुम्भतादनादिकालावलप्रत्यपरकरमरजोविधुतनाव-
चक्षुःश्रवण इत्यमन्तः प्रतिव्यति । कथं मोक्षस्य बलवत्ता येनास्मानव्यपक्षीक्रियमाणदुरंतंसारसारिदाधिपतिभयदुःखा-
वर्तान् प्रपेतवार्यारंप्रतिग्रहयोः । अणिमापद्युणसंपत्कं, अपदमापदां, अभिलाषस्याप्यविषयम्, अपरामरणं कुशाभी-
यदुदीनामपि शलभितामगोचरं, चवत्सताम्ययूढं, अपराधीनं, जवाल्वावितान्युत्तरत्वं, अक्षमिक्षुजं चिरस्तम्भुनृत्य
तामसाकं केयमुलंका मनुजभोग्यसंपदि, शलजन्ममैत्रीव विचित्रश्रुःसाधुबंधनिधानोपतामां चलायां च पुण्यसमितिरेव
परापचवृत्तौ, कुकुरिहृतिरेवसारथ्यसंप्रदायां, दूरभग्नस्य मुक्तिपथीनतिरेव अनेकप्रवृत्तद्विहवायां भ्रमंतकाल-
परिभुक्तायां रति ।

तर्पणं च प्रसन्नोऽंतावासादधिगतलौकान्तिरुत्पदेयाः, शंखावदततमवः, स्वाध्यायिषानलोबेननायलोक्ष्य
स्वपरोक्षारण्यरक्षरिक्ततां जिनानां, महादिवं फलं अनेकमन्युमहकरं भगवता प्रारब्धं, अस्माभिरपि पतवमुमेतत्वं ।
पुरुषपूजास्यत्तिन्मध्य साधंघेततापिति पुरुषपदपक्षीयं स्थानिकः पुरस्तात्सयदुमानमयस्थिता एवं विद्यापयंति—

भद्रारका । उच्चित एवायमुद्योगो भवतां कस्यामदीयदा इव प्रत्युपकारनिरपेक्षा, जयदुग्धप्रकारिणो महास्तः,
मिथ्यावतिमिराममुक्तिद्वानलोचनतया विनेवजयतश्चदसमोवीर्यगद्विजयावकृष्टः युध्यदुपदर्शिततिप्रयुषयिषालमुक्तिमार्गदौकनव-
असमर्थः क्षिरयति । स च मदस्यायतददसमोवीर्यगद्विजयावकृष्टः युध्यदुपदर्शिततिप्रयुषयिषालमुक्तिमार्गदौकनव-
मंतशानाभाभकेन सुखेन सुखी भवत्यित्यभिप्राय मतेषु सारस्वतायिषु ।

जिननिर्घटसमीरणंशैलितद्वरिविष्टो हृदि प्रणिधानमप्यर्पितावधिलोचनधिगतनुदप्रदटभ्यमणकार्यः, सिंहास-
नता सत्संभ्रममुत्थाय, स्वामित्समयोक्षितदिगभिमुखं गत्वा सप्तपदमार्चं, ललाटद्वयिग्यस्तेन मनुजनास्त्रिदलच्छायापद्मासेना,
अंकुशकुलिशादिलक्षणोद्भासिता, वक्षिमेन क्खेजालंजनीलितप्रभासंदुर्गाभनमय शिरः सलीलं नमः सत्समैतीर्थप्रयत्नोद्य-
तेभ्यः शरणगतविनेयनाणकारिभ्योऽलौकिकनयनेभ्यो जिनैभ्य इत्यभिप्राय, पुरो धावद्देदीर्घमनादिभिर्भट्टितिः धिदितका-
येण, समुदिताननेन, स्वनायकपुरोयायिना, विविजगतपञ्चशलवलविभूषणवाहनोत्पलेन मीर्वाणचकेणातुगन्धमानः
सौधमैः सह नगरमेन्द्रा, चमत्कट्टरिद्विरष्टयेतातपत्रादिपरमेष्ठरंजनामिष्टमपद्माय प्रवीक्षतनिबेदितामननललाटयुग्मांशु
धर्मचक्रदंजनातिक्रमणाद स्रवमुमानप्रणाममारभते स्म ।

ततो जिनात्सदरापलोकनप्रसाजनामोचितमुपलभ्य विषाणं करोति । समालोकायमायातोऽनुत्ताधिपगुरुःसरः
शकलोको भद्रारकाणां परिनिष्क्रमपरित्यक्तमुपपादयितुमना अवगतमुक्तिमार्गोपवयं स्वाधीतद्वानास्त्रकांततसुशातुभवलेप
दोऽपि, जवधीरित्तिद्विमुत्पदेदोऽपि, अपरिग्रहात्संभवयालिकर्णैरुपोपक्रमः, न चारित्र्ये प्रयत्ने, न पराव्ययर्तयितुमीदृते ।

१ मोक्षस्य मदना इति पाठः स पुलके ।

पुनरिन्द्रजानमनोऽनि पिता मयीवीर्यं चारिरेयं तपस्य, कर्मणि निरत्ययेयं क्षयवितुं घटते । अनेकसमुद्रगणनायु-
ल्लिखिता दीपममानी पराकोऽत्यगृहिः स्फिर्यति । उग्रालुमभिलष्यचि क्षारको यथा पतत्येवमपि जनधारिचा
भिन्नायधि गडोद्गमनमर्थस्तिष्ठति । शूयं पुनर्विहितोदितव्याः क्षयोपशमपरिप्राप्तिनिगृहि परिणामाः, पूज्यतमाः ।
जन्मरेऽस्माभ्यर्षदधी रीनपतता मकरादभ्यारिहपरित्यागायोग्याविनेय-जोषकार शक्तिश्च भवत्प्रसादादत्ययमुननाय
प्रगु । मञ्जीरतमिदं विमानं आनीतमलं करोतु देवः इत्युपरतवचस्ति सुराधिपे हर्षविषादपरध्वजं क्षातिवर्गं अंतःपुराणि
परिषारं नापन्नोऽस्य कुर्या जिता यद्वन्ति ।

चिरगंयागादग्रकोपकारोपेतया जनव्ययुपगमो भवति । तत्त्वसारी कोपसाध्यं दुर्लभकर्मदानं ततो भवति
मेनेर्दानः नवैदुःगातां मृगमलेननुमर्दति विद्वान् । न हि कस्यचिर्दिकचिमित्रं, धनं, शरीरं वानप्राप्यस्ति । पाथिसमिता-
दि वेपथः, परिपत्ता, पत्ने च पुनरजते दिनशो च मद्गतीमानयति दुःप्रासिकां । तदार्थभिरन्यैश्च सह विरोधं कारयति ।
रुष्यां प्रकर्णयतीनादधाति लज्जजलशोथिमिष । यामसोचनः पुनः सुख इव चित्तं मोहयति । व्यलीकरोदनहस्तेन
शार्दुभिर पुंस्वामरगन्तानां शेतः सपयशीकुचैति । चर्ममथुषिकादु, चपलादु, सभ्यामुद्रायालीकासिररत्नादु, माया-
जननीयु, शृणगोरीनारिकानु, पुगलिपररगंल्ययिषु कोऽनुत्पः प्रशायताम् । शरीरं पुनरिदमेनकागृयिभिधानं, कचार्-
पुंजनमाधुतामनवायी भातः । मारिरोगजागनां पत्नीकीचुतं, सरग्यामीनिवासविलं, मेनं दंडचर्मयोद्धितलोदयद्वन्तिः
गारं पतिर्मेगोदं, गुणः पुनरय एक एव धनंसादायता । निरिनदीलोतांदीयानपास्थिताति यौवनानि । दृणाश्लिखाला
एव मंनवः शणमानं दृष्टगण । हयममगभ्य मा कृया एधा प्रमावुं जननरत्नाकरपारयमनाथ कुबरोचोयं । नरे-
पीयोऽस्माभिः प्रमावराट्जोपराच इति ।

भगवद्भारतीनमनंतं पुरकुमारकल्पद्वताः संमंततो दुंदुभयो ध्वनंति । सफलं च सर्वादिद्रममुद्रं जयश्व-
निमुनरं जगते । तमेवापुरतकण्डः स्वितालं वृत्तमारभते । अगन्नाथाश्च चिलोकभूषणा भयलदुक्कलपरिधानाः पट-
मनुकनदेवपथा निर्वृतिर्नरत्वेय मुक्ताकीटिकाव्याजोपयतवाल्लुतश्रीयः विगमागमपि सुतरामफरणे पाटयं नः
पदयनेन पदयद्रयमिव कुंडलाभ्यां विराजमानमूर्णमयूषगंदस्फलाः । वृत्ते स्त्रियं येषां सेओवसर इतीयोपलेन
कटुकद्वेनाक्षिष्टकोशः । यथागीयमतिशयपत्तनाभिमानाः तत्पदस्यामः स्थित्योच्चैरितीवोत्तमांगस्थेन मुकुदरस्तक-
भागेन शोभमानः निर्धत्तपुल्लोपुतामिव विमानं प्रविशन्ति ।

ततः जलनुगुल्युगमवाहस्कंधोदिसमेन मध्वैकचतुर्लंभायामरसमानीकपरिवृत्तेन गत्या अपतीर्य रम्यतमे देशे
उत्तराभिमुगाः, हलनिलमरदत्तपः मुकुटादिकं क्लेब जलकापादिकं अपनयन्ति । परित्यक्तोभयसकलप्रंथाः परिपुण्ड्रन्ति
योग्ययेव रत्नत्रयानिधुमूं च परिनिष्क्रमणं पश्यतः ।

मागुयन्ति गानोत्पत्तिर्मावेतऽगुयुयते सकलमर्थवायाल्यमनेनेति श्रानं इति केवलमुच्यते । तस्योत्पत्तिर-
यतामिमेदनीयमापानां, योग्यामरप्रीथरमिर्मुलितसलदगगयत्तमवां, उत्पातान्तरायविशेषिदविनां, चीतकमम-

नपेक्षितकरणेचेमत्पत्तासंदीप्तिरीकं, दुरीकृतविपथांतं केवलमुत्पद्यते । तस्य फलस्य दर्शनात्तिजमप्यतीति मार्गे अपयी—
तदोकादिकलंका अक्षोरपद्यते । फलाधी तद्वत्स रोचते इष्टसामर्थ्यं इति किं चित्रम् ?

देशांतरातिथेः साधोः कथं दर्शनशुद्धिः स्यादित्यार्षाणां निराकरोति—

मूलात्—जम्बज, जन्म अग्निवक्षसीरग्रहणं, जन्मदुदरनिष्क्रमणं वा यत्र क्षेत्रे जातं तदत्र जन्मशब्देनोच्यते
साहचर्यात् । उत्तरजान्ममेव न्यायो योग्यः । अतिनिक्त्समणे रत्नत्रयाभिसुख्येन गृहाह्महिगमनं वा यस्मिन् क्षेत्रे तत् ।
द्वितीयं तरन्ति तस्मिन्मध्याः पाषाणाशार्दिन इति तीर्थमिह समवसरणं । जम्बजनिक्त्समणेणोपपत्ती तित्यस्मिन्ने ति क च-
त्ताः । तत्र तीर्थस्य समवसरणस्य चिन्हानि मावस्तंभा गृह्यन्ते । विसिंधी योगपुत्तिवस्थां भूमौ सा विसिंधीत्युच्यते ॥

दर्शनेशुद्धिं गुणका वर्णनं करनेवाली गथा—

अर्थ—अनियत स्थानमें बिहार करनेवाले मुनिजोंके सम्पगदर्शनमें तीर्थकरोंके जन्मादि स्थानोंका दर्शन
हीनेसे निर्मलता प्राप्त होती है.

जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना. जिस क्षेत्रमें जन्म होता है उसको भी साहचर्यसे जन्म कहते हैं.
अथवा जिसने नवीन शरीर धारण किया है ऐसा आत्माभी जन्म शब्दसे चर्चित होता है. अथवा माताके उदरसे बाहर
आनेकी क्रिया जिस स्थानपर हो वह स्थान भी जन्म शब्दसे गृहीत करना चाहिये. अर्थात् जिस क्षेत्रपर जिने-
श्रका जन्म हुआ है वैसे क्षेत्रोंको जन्मक्षेत्र कहते हैं. अभिनिष्क्रमण—रत्नत्रयके अभिसुल होकर गृहका स्थान कर
जिस स्थानपर तीर्थकर गमन करते हैं उस स्थानको अभिनिष्क्रमण कहते हैं.

ज्ञान—केवलज्ञानावरण कर्मके क्षयसे संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जाननेवाला केवलज्ञान यहाँ
ज्ञान शब्दका वाच्य है. सामान्य शब्दभी प्रकरणके अनुसार विशेषार्थको जतलाते हैं. अतः यहाँ ज्ञानशब्दसे केवल
ज्ञान समझना चाहिये. केवलज्ञानावर्णीय कर्मके क्षयसे संपूर्ण पदार्थोंका यथार्थस्वरूप ग्रहण करनेवाला जो ज्ञान
उत्पन्न होता है वही ज्ञान इस प्रकरणमें संगृहीत किया है. क्योंकि ज्ञान यह शब्द यद्यपि सामान्य है तो भी
विशेषमें समझना चाहिये. यह केवलज्ञान जिस क्षेत्रमें होता है उसको भी ज्ञानके साहचर्यसे 'ज्ञानोत्पत्ति' यह नाम है.

तीर्थ—चिन्ह. तीर्थ इस शब्दका अर्थ इस प्रकरणमें समवसरण ऐसा होता है. पापका नाश करनेकी इच्छा
रखनेवाले मध्य जीव समवसरण में जाकर संसारीचीर्ण होते हैं अतः समवसरणको तीर्थ कहना योग्य ही है. आयुक्त

स्थानमें मगानका समयसरण आया था यह समयज्ञानकेलिये चिह्नरूप जो मानस्तंभ स्थापन करते हैं वह यहाँ तीर्थ स्थानका अभिप्राय समझना चाहिये, अर्हदादिकोंके व युनिराजके समाधि स्थानको निषिद्धिका कहते हैं, जन्मादि स्थानोंको युनिराज प्रथम शास्त्रोंसे जानते हैं और अनंतर उनकी चंदना करनेके लिय जाते हैं, तब उनका समयदर्शन अतिशय निर्भल हो जाता है, अर्थात् युनिराज हमेशा अनेक देशोंमें भ्रमण करते हैं तब वहाँ के जन्मादिस्थानोंका दर्शन कर अतिशय श्रद्धालु होते हैं, जैसे कोई आदमी किसी सुंदर स्त्रीका स्वरूप वर्णन करता है तब कोई श्रोता यह वर्णन सुनकर परोक्षरूपसे उसका परिज्ञान कर लेता है और उसको देखने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, यदि वह स्त्री उसको दृष्टिगोचर होती है तो उसके विषयमें उसको महती श्रद्धा उत्पन्न होती है, वैसे आगमसे जन्मादि स्थानोंको जानकर जब सुनि उनको साक्षात् देख लेते हैं तब उनको महाश्रदान उत्पन्न होता है, अथवा जब तीर्थ-कर उत्पन्न होते हैं तब अनियत विहार करने वाले घाते घाते उनके जन्मादिक कल्याणोंको साक्षात् जानकर अपने समयदर्शनमें निर्भलता उत्पन्न करते हैं।

अब यहाँ तीर्थकरोंके जन्मादि कल्याणकोंका विस्तारसे टीकाकार अपराजित घुरिने वर्णन किया है, का भागार्थ हम यहाँ लिख देते हैं—

तीर्थकर तीनज्ञानके धारक रहते हैं, जब स्वर्गमें उनका आयुष्य समाप्त होता है तब वे माताके उदरमें आते हैं इंद्रादिदेव आकर उनका गर्भमहोत्सव करते हैं, तीर्थकरका जन्माभियेक महोत्सव भुवनरूपगृहमें जमा हुआ अज्ञानरूप अंधकारको नष्ट कर देता है, अमृतके पानसे प्राणियोंको आरोग्यलाभ होता है वैसे जन्म महोत्सवसे संपूर्ण प्राणी रोगमुक्त होजाते हैं ।

देवांगनाओंका नृत्य देखनेसे जैसा आनंद होता है वैसा इसके अवलोकनसे भी सर्व जगत् आनंदमय होता है, प्रियप्रयत्नके समान यह महोत्सव मन में प्रसन्नता उत्पन्न करता है, प्रत्यस्त पुण्यके समान यह अगणित पुण्यको समर्पण करता है, लक्ष्मी अपने परिचारिकाओंके साथ इस उत्सवको आश्रयसे देखती है, शुद्धक जातीके देव आभाप्रभसे पुष्पघटि करते हैं, तब चारो तरफ़में भौरों आकर गुंजारव करते हैं, इस उत्सवके समय नगारे और शेरोंकी चमि मचल हुना करती है, इनके ध्वनीमें जगतका अवकाश भर जाता है, देवांगनायें नृत्य करती हैं, मानो उनको जीतनेके लिये ही मीथोकें शिरवरोकी पंचरंगयुक्त पताकायें भी नृत्य करती हैं, जन्माभियेकोत्सवके

मन्य आत्मन कल्पित होनेमें देवांगनायें मर्तिनीये इंद्रोंको आलिंगन देती हैं तब उनका मुख हृषसे कमल-
लप्य मण्डुलिता होता है।

इंद्र जब जन्माभिषेक करने का कार्यक्रम देवोंको सुनाता है तब वे आदरसे अपने हाथ जोड़कर उसकी आज्ञा मानते हैं, नगराक्षी प्पनि सुनकर सर्व इंद्र और सामानिकादिक देव भी एकत्र होकर सौधमंदिरके पास जाते हैं, परस्पर की ईर्ष्यामें देव पैकविक्रिय कर आकाशमार्गसे प्रयाण करने लगते हैं, जिनबालकका जन्माभिषेकोत्सव करनेके लिये जब इंद्राणी राजमयमें आती है तब उसके नूपुरोंका ध्वनि सुनकर राजहंसी राजभवन के अंगणमें सविलाल गमन करती है।

ऐरावतसे उतरकर जब इंद्र जिनबालकको प्रदक्षण करनेके लिये अपने हाथ पसारता है तब दुंदुभि मेरी ध्वनीके सिंहानादमें सब दिशामें शब्दमय होती है, प्रणाम करते समय अनेक पटहोंका गंभीर और धीर शब्द होता है।

इंद्र अपने हाथमें अष्टमी पंखके समान शुभ्र चामर लेकर प्रभुके ऊपर होराते हैं, तब जिनबालकको देखनेके लिये इंद्रोंकी देवियाँ उत्कण्ठित होती हैं, सफेद छत्ररूप मेघोंसे आकाश व्याप्त होता है, विजली के समान क्षेप्तनेवाली पताकाओंमें आकाश व्याप्त होता है, इंद्रनीलमणिओंसे रचे हुये सोपानोंपर पांच रखकर देवोंका नैऋत्य आगे गमन करता है, ऐरावत हाथी के दंतपंक्तिओंके सरोवरमें कमलोंपर देवांगनायें लीलाते पदनिक्षेप कर नृत्य करती हैं, हजारों देवी अष्टमंगल धारण कर आगे गमन करती हैं।

उम ममय द्वारापाल देव धुध्र देवोंको हटाते हैं, आत्मरथ जातीके हजारों देव अपने अपने ऊपर पदा हुआ रथा का कार्य पराग्रवा में करते हैं, इस रीतीसे देव मेरु पर्वतके समीप जाकर उसको प्रदक्षिणा देते हैं, तदनन्तर मेरुपर्वतके ऊपर शिखरके गमान ऊंचे सिंदूरमनपर इंद्र प्रभुको प्रसिद्धमान करता है, अनेक देव समूह क्षीर समुद्र का नल लाते हैं तब इंद्र प्रभुका अभिषेक करता है इसके अनंतर इंद्राणी प्रभुको बालक योग्य अलंकारों से भूषित करती है, हजारों इंद्रोंके मातृदेव प्रभुकी स्तुति करते हैं, उस समय इंद्र भी आनंदसे नृत्य करते हैं, इस तरहका जन्माभिषेक सन्ध्याण देवनेत्रं यवियाँका गन्मदूर्जन रूढ होता है।

अब दीक्षकल्पयाणिकोत्सवका वर्णन करते हैं—

संपूर्ण विनेश्वरोंका अन्त्याभिषेकोत्सव होता ही है, इंद्रकी आज्ञासे कुबेर बड़े आदरसे दिव्य और योग्य ऐसे उपदन, वस्त्र भोजन, यान, वाहन, अलंकार वगैरह वस्तु ग्रन्थको समर्पण करता है, मनके अशुक्ल क्रीडा करनेवाले देवकुमारसमुदाय भक्तियों ग्रन्थकी सेवा करते है, कितनेक तीर्थक्षरोंका पूर्वपुण्य उदयमें जप आता है तब उनको चक्ररत्नकी प्राप्ति होती है, यह चक्ररत्न हजारी स्वयंके समान चमकीले आरोंसे युक्त होता है, इसके साक्ष्यसे और अपने वायुपराक्रमसे तीर्थक्षर समस्त प्रभास, मागधादि देशोंको, विद्याराजाओंको और धृगो-वरी भूपतिओंको यज्ञ करते हैं, देवांगनाओंके समान, रूप, तारुण्य और विलासयुक्त, उपहास करनेमें चतुर ऐसी वृत्तीस हजार पट्टरानिओंके सुलक्ष्मणोंको चक्रवर्तित्वको प्राप्त हुए वे तीर्थक्षर निकसित करते हैं, इंद्रसे भेजी गयी अप्सराओंका नृत्य अबलोकन करके अपने मनका विनोदन करते हैं, बड़े आनंदसे किन्नर गंधर्वादि देवोंका गायन सुनते हैं, काल महाकालाधिक नवनिदिओंकी उनको प्राप्ति होती है, चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंका हजार हजार देव रक्षण करते हैं, वृत्तीस हजार मुकुटबद्ध भूपाल अपने सुवर्णरचित किरीटके अग्रभागपर सकरिफामें बैठायें हुए रत्नरूपी दीर्घपत्तीसे चक्रवर्तीका चरणधुगल पूजते हैं, देव कुमारके दायां लाए हुए उपहारोंको देखनेमें वे एकाग्रचित्त हो जाते हैं ऐसे वे चक्रवर्ती, मनुष्योंको जो भीम प्राप्य होते हैं उनसे भी सर्वोत्कृष्ट भोगोंको पुण्यो-दयसे प्राप्त कर लेते है, ये भोगोंके पदार्थ उनकी बिना प्रयत्नसे ही प्राप्त होते हैं, कितनेक तीर्थक्षर मंडलीक, महामंडलीक पदकी प्राप्त होकर उत्कृष्ट भोगोंका अनायास भोग लेते हैं ।

जब तीर्थक्षर नामकर्मका उदय होता है और चारित्र्यमोह कर्मका अपकर्ष होता है तब अनाविकालसे आत्मार्थके साथ बंधे हुए स्वतन्त्रके और इतर जीवोंके । कर्मोंका नाश करनेकेलिए कटिबद्ध हो जाते हैं और मनमें इस प्रकार विचार करते हैं—

बड़े कष्टसे जिसका अंत जाता है ऐसे, संसाररूपी समुद्रमें दुःस्वरूपी मोचरोंका हमको खूब ज्ञान है, अनुभव है, तो भी हमसरीले भी लोग इस मोह के फंदेमें पड़े हुए है अतः यह मोहकर्म महापलवान है, हमको भी इसने आरंभ और परिग्रहमें खूब फसाया है, हमने अणिमामहिमादिक आठ गुणोंकी संपत्तिसे परिपूर्ण, आपत्तीका अविषय, अभिलाषाओंसे दूर, विनकी बुद्धि कुशाग्रके समान तीक्ष्ण है ऐसे इत्यादिक भी

निसको अपने ज्ञानसे ज्ञानमें असमर्थ हैं, जो वचनके अविषय है, अपराधीन है, जिसमें कर्म न्यूनताका अनुभव आता ही नहीं है, ऐसा अहंभिद्रोका सुख भी हमने बहुतकालतक भोगा है, अब; मनुष्योंके उत्तुच्छ संपत्ति सुखमें क्यों उत्कण्ठित हो रहे हैं यह मनुजभोगसंपदा दुष्ट जनकी भेत्रीके समान विचित्र दुःखोंका संबंध उत्पन्न करती है, चंचल है, पुण्यका समूह जैसा पूर्व कर्मके अधीन होता है वैसे यह भोग संपदा भी पराधीनही है, उरुमीकी हृत्तिमें अल्प ही अर्थ भरा रहता है वने इस मनुजसुखमें अल्प प्रयोजनही सिद्ध होता है, दूर भव्य जीवका भुक्तिमार्ग जैसे अनेक विधियोंसे रुका रहताही वैसा यह मनुजसुख भी अनेक विपत्तिओंसे बिरा हुआ है, यह मनुजवैभव अन्तकालतक मैने भोगा है,

हममकार प्रभु वैराग्यभावनामें लीन हुये हैं ऐसे समयमें ब्रह्मस्वर्गसे शंखके समान सुभ्रदेह जिनका है ऐसे लौकिक देव जिनेश्वर भगवान अपनेको और भव्य जनोंको सत्सारसमुद्रसे निकलनेके लिये उद्युक्त हुए हैं ऐसा प्रजविज्ञानरूप नेत्रसे ज्ञानकर प्रभुके पास आते हैं, और अनेक भव्य जीवोंपर जिससे अनुग्रह होगा ऐसा यह महाकार्य ग्रहने अपने अपने हाथमें लिया है, आपके इस कार्यमें हम लोगोंकी भी सम्मति है, पूज्य पुरुषोंकी पूजा का उल्लंघन करनेसे स्वार्थहानि होती है अर्थात् इष्ट स्वर्गादि संपदाकी प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा मनमें विचार कर वे लौकिक देव आकाशसे नीचे उतरकर प्रभुके प्राण महा-आदरसे बैठकर प्रभुकी इसप्रकार प्रार्थना करते हैं—

हे महारक्ष ! आपका यह उपयोग प्रशंसनीय है, कल्पवृक्ष प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखकर जगतपर अनुग्रह करते हैं, हे प्रभो आप महापुरुष हैं अतः आपभी कल्पवृक्षके समान जगत पर अनुग्रह करो,

विनेय अर्थात् भव्य जीवोंके ज्ञानरूपी लोचन मिथ्यास्वरूपी तिमिररोगसे व्याप्त हो गये हैं, अतः वे खोटे रास्तेपर जा रहे हैं और कुमतिरूप खड्गमें गिर रहे हैं, कुमतिरूप गड्ढेसे निकलनेकी इच्छा मनमें होते हुये भी असमर्थ होनेसे वंश्या पाने लगे हैं दीर्घ और दृढ़ ऐसे निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी ढोरेसे आप उनको कुगतिमेंसे निकालकर आपके दिखाये हुये विशाल मोक्षमार्गपर स्थिर करो जिससे वे अन्तर्बानात्मक सुखकी प्राप्ति होनेसे सुखी होंगे, इस प्रकार स्तुति करते सारस्वतादिक लौकांतिकदेव अपने स्थानको चले जाते हैं,

भगवानके वैराग्यरूपी वायुसे इंद्रका सिंहासन कंपित होता है, तब प्रभु महाकार्यका प्रारंभ करनेका निवारण कर रहे हैं ऐसा इंद्र वायिज्ञानसे ज्ञानकर सिंहासनसे चढ़े आदरसे नीचे उतरकर प्रभु जिस दिशामें मुह कर

घंटे हैं उस दिशोक तरफ सात पाद परिमित भूमौ तक चला जाता है. अपने मस्तकपर विकसित कमलदलकी क्रांतिको हंसनेवाला, अंकुश, द्वादिदिक् शुभ लक्षणोंसे मनोहर दीखनेवाला, ऐसे अपने दक्षिण हाथसे किरिटेके रत्नों से भूषित अपना मस्तक नीचे झुकाकर सद्वर्तनीयको चलानेमें उद्युक्त, शरणागत भग्नलोकोका रक्षण करनेवाले और अपूर्व ज्ञानरूपी नेत्रके धारक ऐसे जिनकरको भेरा नमस्कार हो ऐसा वचनोच्चार इंद्र करता है तब नगरेके ध्वनिसे सब देवोंको ग्रन्थके कार्यमा ज्ञान होता है. सब एकत्र होते हैं. अपने अपने स्वामीके आगे वे देव प्रयाण करते हैं. नाना प्रकारके छत्र, शङ्ख, दण्ड, अलंकारोंसे सज्ज होकर श्रेष्ठ देव सौधमेंद्रके सन्निध जाते हैं. सर्व इंद्र और इतर राजा लोकोंके साथ इंद्र राजबाड़ेके पास जाता है. तब चामर, सिंहासन, शतच्छत्रादि राजचिन्होंको छोड़कर दरवाजेके पास खड़ा होता है. द्वारपालकी अंदर प्रवेश करनेकेलिये अनुज्ञा मिलनेपर धर्मचक्रसे सुशोभित ऐसे भगवानके पास जाकर उनको बहुमानसे प्रणाम करता है. जिनेश्वर प्रभु वंदी प्रसन्नतासे देखते हैं तब इंद्र इस प्रकार प्रभुको विज्ञापन करता है—

हे महारक ! आपका दीक्षा कल्याणविधि करनेकेलिये अच्युतेन्द्रके साथ सब इंद्र आये हैं. हमको सुक्तिमार्ग का स्वरूप माख्य हैं इंद्रिय सुख सेवस्वरूप होनेसे उससे ज्ञान उदासीन है, ज्ञानात्मक अनंत सुखानुभव प्राप्त करनेके लिये हम उद्यत भी है परंतु संयमधाति कर्मका क्षयोपशम न होनेसे चारित्र्य धारण करनेमें स्वयं चारित्र्यमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं और अन्य भगवत्की भी प्रवृत्त नहीं करते हैं. यद्यपि हमको विद्वद् ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होगयी है तो भी निर्दोष चारित्र्य और तपके बिना ज्ञान संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें असमर्थ है. हमारा आशुष्य अनेक सागरोंका होनेसे हम दीर्घमिसारी हैं. अतः हम को वहीत सेव होना है. ऊठकर खड़े होनेकी अभिलाषा रखता हुआ भी बालक जैसे गिर पड़ता है वैसे चारित्र्य की अभिलाषा रखते हुये भी उसको हम धारण करनेमें असमर्थ हैं.

हे भावत ! आप ज्ञातव्य वस्तुमें सब जानबुके हैं. मोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे आपमें त्यागरूप परिणाम उत्पन्न हुये है. आप हमारे लिये सर्वोत्कृष्ट पूज्य है पूर्व जन्ममें संपूर्ण आरंभ और परिग्रहोंका त्याग करने से जैसी आपको अपूर्व वीतरागता और सर्व भग्न जीवोंपर उपकार करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है वैसी वीतरागता और उपकार शक्ति हमको भी अन्य जन्मोंमें मिले ऐसी अभिलाषा रखते हैं. आपके दीक्षाकल्याणके

प्रायः हम नदानुश्रुति रखते हैं अतः हमको इस सदानुश्रुति का उपयुक्त फल मिले ऐसी हम इच्छा रखते हैं।
दे भगवान् ! हम यह विमान सज्ज करके लाय हैं। इसके उपर आप आरोहण करो। ऐसा बोलकर जब गोपेण्ड मोन धारण करता है तब संपूर्ण श्रातिर्ग, अंतःपुर और परिवारके समस्त लोक हर्ष और विषादयुक्त हुये। उन गन लोगोंको हर्ष विषादयुक्त देखकर चिन्तित इस प्रकारसे बोलते हैं—

हे जनहो ! चिरमहीन सदानामने जो अल्प उपकार लोक अन्योन्यमें करते हैं उससे अन्योन्यमें अनु-
त्पन्न होता है, तथा जहाँ अनुराग-प्रेम उत्पन्न होता है वहाँ द्वेष भी उत्पन्न होता है। इस प्रेम और कोपसे अर्थात् रागद्वेषोंमें द्रुत नर्पयन होता है। इन सब आपसियोंका मूलकारण यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ ऐसा मस्तरमाद है, यह मैं दुःखोत्तरा आपकारण है, निदान् पुरुषने इस मस्तरमावको फेर देना चाहिये। किसीका मित्र अथवा, यन ना शरीर ये पदार्थ कायमेके टिकनेवाले नहीं हैं। सर्व वंधुगण, परिवार जन लड़्डु उदनिमें खूब महायना करते हैं धन नमानमें बड़ा दुःख होता है, यह धन धनेच्छु लोगोंके साथ बसेबा उत्पन्न कराता है, तीन लोभने पडाता है। जैसे तारा धानी पीने चालेको अधिक प्यास लगती है वैसे धन तुष्णा—
—लोभने उत्तरोत्तर अधिक रूपमें बढ़ता है।

विद्या मंदिराके समान अन्तःकरणको मोहित करती है। असत्य रोना, इसना और असत्य प्रार्थनाओंके द्वारा धैर्यरहित लोगोंके मनको शीघ्र हरलती है। सिया चर्मसे बनी हुई पुतलियां हैं। वे स्वभावसे चंचल होती है मंष्याकालकी मेरुपत्ति जैसी अस्थिर रागभावसे युक्त है। संध्याकालके अनंतर विलीन होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम अन्यकालमें नष्ट होता है। वे दूसरेपर प्रेम करने लगती है। वे कपटकी भातार्ये है। असत्यभाषणरूप धृतीकी वे व्यामिनी है। और युगविकी प्राप्तिवको बन्धारीला के समान प्रतिबंध करनेवाली है। ऐसी स्त्रियोंमें बुद्धमान पुरुषोंको प्रेम करना क्या उचित है ?

यह शरीर अनेक अपवित्र पदार्थोंका स्थान है। जैसे कूटे कचरेमें एक भी पवित्र पदार्थ नहीं रहता है वेमे शरीरमें गन रक्त, मांस, मलमूत्रादिक अपवित्र ही पदार्थ भरे हुये हैं। प्राणिओंको यह शरीर कभी नष्ट होनेवाले भास्के ममान है। अर्थात् जबतक इस जीवको मोक्ष प्राप्त न होगा तबतक इस शरीरका मोक्षा इसके हमेशा धारण करना परेगा ही। यह शरीर महारोगरूपी सर्पके लिए घामीके समान है। जरास्तु व्याध्रीका रहनेका यह स्थान

है, चर्मके सुकड़ोंसे घेदित भट्टीके ढेलके समान नेत्र अंदर तो निस्तार और ऊपरसे मनोहर दीखते हैं, ऐसे शरीरमें एक ही गुण है, वह यह है कि, वह धर्मसाधनकेलिए सहज करता है।

पर्वतपरसे बहनेवाली नदीके प्रवाहके तुल्य गौवन आस्थिर है, तिनकेकी अविज्वाला उत्पन्न होकर जल्दी नष्ट होती है वैसे यंपत्ती भी प्राप्त होकर झीघ नष्ट होती है, शरीर संपदा और ताल्प्यका स्वरूप जानकर हे जन्महो आप प्रमादको छोड़ दो, जन्मसमुद्रके दूसरे किनारे की प्राप्ति करने के लिए उद्योग करो, प्रमादसे हमने जो अपराध हुये होंगे उनकी आप क्षमा करो।

ऐसा तीर्थंकर का भाषण होनेके अनंतर सुरकुमारों द्वारा देव दुंदुभि अश्रु करने लगते हैं, ईद्रप्रमुख सकल जगत् उससनय जय जय कर रहा है, चारों तरफ देवांगनायें सुंदर नृत्य करती हैं उससमय त्रिलोक्य को अलंकार सदृश ग्रन्थ शुक्लेश्याके समान खेतवस्त्र पहनते हैं, मानों मुक्तिकी वृत्तीही है ऐसी रत्नमालाको धारण कर ये अपना गला मुशोभित करते हैं, विराक्त गुरुओंके भी मुखपर हम रागभाव उत्पन्न करनेमें इस चतुर हैं, हमारा चतुरपना देखो ऐसा कहकर अपनी मानों चतुरता दिखानेवाले ऐसे कुंदल्लोंके द्वारा ग्रन्थके दो लिख और सुंदर कपोल अपूर्व घोभाको धारण करने लगे, यदि ग्रन्थको वृत्त-चारित्र्य मिल है तो इस समय ग्रन्थको हमसे प्रयोजन है क्यों कि हम भी वृत्त है अर्थात् वृत्त-गोल हैं ऐसा अभिप्राय मानो धारण कर प्राप्त हुए कटकोंसे-कर फंफणीसे ग्रन्थके हाथ आकृष्ट होंगये, खिनमें प्रभूकी महारत्नी कल्पना है वे कितने सुंदर हैं हम भी उच्च स्थानमें रहकर देखेंगे मानों ऐसे अभिप्रायसे ही मस्तकपरके मुकुटके रत्नसमुदायसे ग्रन्थ खोभने लगे, इस तरह भूषणालंकृत होकर मगवानने निर्वाणपवनका मानों गोपुर ही है ऐसे विमानमें प्रवेश किया।

तदनंतर ईद्रोंने वह विमान अपने कंधोंपर धारण किया, देवांगना, चतुर्णिकायके देव और सातप्रकार का देवसैन्य इनसे घेदित होकर प्रभू रम्यतम देशमें जाकर विमानसे उतरे, उच्च दिशाको मुखकर सिद्धको नमस्कार कर मुहुटादिक अलंकार क्रमसे अंगपरसे उतरते हैं।

बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग कर मनवचन कथ्यसे रत्नत्रयका स्वीकार करते हैं, इस तरहका दीक्षा पल्प्याणिक देखनेसे मुनिओंका सम्पददर्शन निर्मल होता है,

संपूर्ण पदार्थोंका स्वरूप जिससे जाना जाता है उसको ज्ञान कहते हैं, यहाँ केवल ज्ञानको ज्ञान कहते हैं

हैं उसको उत्पत्ति इस प्रकारसे होती है.

जिन्होंने मोहनीय कर्मका भार फेंक दिया है, शुक्लध्यानरूपी धर्मके सहाय्यसे जिन्होंने ज्ञानावरण और दर्शनत्रणरूप अंधकार नष्ट किया है, अन्तर्गम्य कर्मरूप विषयको जिन्होंने निर्दलित किया है ऐसे भगवानको केवलज्ञान उत्पन्न होता है. यह ज्ञान क्रमरहित, इंद्रियोन्मी प्रवृत्तिसे रहित, और संशय विषययज्ञानसे रहित होता है. इस केवलज्ञानसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है. केवलज्ञानकल्याण देखनेसे जिनप्रणीत मोक्षमार्गमें शंकादि दोषरहित भट्टा उत्पन्न होती है. जिनको मोक्षफलेच्छा है वे तत्रययुक्त अथवा जन्मकल्याणादिकोंसे युक्त तीर्थकरादिकोंपर उनके सामर्थ्य देखनेमें अद्भुत करते हैं.

एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिरगधंमुपदर्श्यं परोपकारं स्थिरीकरणं प्रकटयति—

संविग्नं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो सुविहिद्वानं ॥

जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं ॥ १४४ ॥

संविग्नो वृत्तसंपन्नः शुद्धलेद्वपस्तपोधनः ॥

देशान्तरागतिभिः साधुः संवेजयति तद्व्रतः (तद्व्रतान्) ॥ १४७ ॥

रिजयोष्य-संविग्नं संविग्नं संसारभीरतां । जणयदि जनयति । कः ? सुविहिदो सुचरितानां । संविग्गाणं संविग्गाणं । जुत्तो भवतामादिके तपति युक्तः । आउत्ताणं योगवराणां । विसुद्धलेस्सो विसुद्धलेस्सो । सुलेस्साणं सुलेस्साणानां च । सभ्यं चारियतपसोः शुद्धलेद्वपसां न प्रवर्तमानं वृद्धा सर्वेऽपि सुचारिणाः सुतपसाः, शुद्धलेस्सा यतयः अतिशयवर्ती संसारभीरतां प्रपच्छे । न परमतीव संसारभीरयः, यथायं भगवान् अत एव नधारिधं तपस्य सातिचारं इति प्रमथमानाः । एवमनियतविहारे दर्शनशुद्धिं स्वार्थमुपदर्शयन्ती स्थितिकरणं परार्थमुपदर्शयति—

मूलाय—संवेगं संसारभीरतां । जणयदि वर्द्धयति । जनिदिह स्वरूपपितृशोयत्पादनाथो न स्वरूपविभो-

बनायः । संवेगस्य प्रागपि सद्भावत् । सुविहिदो सुचरितः । अवशनादिके तपति समाहितः । आउत्ताणं योगधरिणां ।

अनियतविहारे दर्शनशुद्धि होती है. अत्र सामागिक स्थिरीकरण मी इससे होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—अनियतविहारी मुनि उत्तमचारित्र धारक होनेसे उनको देखकर सर्व मुनि उच्चम चारित्रधारक

होते हैं. इनकी संसारभीरुता देखकर वे भी संसारभीरुताको प्राप्त होते हैं. इनकी अनशनादि तपश्चरणोंमें निमग्नता देखकर अन्य मुनि भी वैसे बनते हैं. विष्णु लेख्याके धारक ऐसे इन मुनियोंको देखकर वे भी अपने परिणाम विष्णु करते हैं. यह फायदा अनिवार्य विहारसे होता है. इस लिये मुनियोंको अनिवार्यविहारी बनना अवश्य योग्य है. अभिप्राय यह है कि, अनियतविहारी मुनियोगी सम्यक्चारित्र और तपमें प्रवृत्ति देखकर सर्व उत्तम चारित्र युक्त, महातपस्वी और विष्णुदेव्या धारक यति भी संसारभयकी उत्कृष्ट सीमाकी प्राप्त होते हैं. जैसा वे महापुनि अतिशय संसारभीरु हैं वैसे संसारभीरु हम नहीं हैं. इसलिये हमारा तप और चारित्र अतिचार्यसहित है ऐसा मनमें विचार कर अन्य साधु भी संसारभीरु, महा तपस्वी, सत्चारित्रधारक और विष्णुदेव्याधान् बनते हैं. अतः अनियत विहारसे साधुओंपर उपर्युक्त उपकार होता है यह सिद्ध होता है.

उत्तरमाधया एतद्वचने न केषलं अतिशयितचारित्रतणोगुण एव परं संविमं करोति किंतु एवंभूतोऽपि इत्याचष्टे—

पियधम्मवज्जभीरू सुचत्थविसारदो असढभावो ॥

संवेग्गाविदि य परं साधू णियदं विहरमाणो ॥ १४५ ॥

मियधर्माशयः साधुरागमार्थविबक्षणाः ॥

अमम्रवयवित्रस्तः संविमं कुरुते परम् ॥ १४८ ॥

विजयोपया—पियधम्मवज्जभीरू मिय उत्तमक्षमादिधर्मो यस्य, यत्थावयस्य पापस्य भीरुः । सुचत्थयित्सारदो सदायथोर्मेयुणः । असढभावो दाढ्यराहितः । संवेग्गाविदि य परं संविमं करोति । साधू साधुः । णियदं सर्वकालं निहरमाणो देशान्तरातिथिः ।

न केषलं सम्यक्चारित्रवणेविष्णुदेव्यावृत्तिसामानानन्यान्साधून्गतिंसंविमान्करोत्यपि त्वेवंभूतोऽपि—

मूढारा—वज्जभीरू पापभीरुः । संविग्गावेदि संविमं करोति । णियदं सर्वदा ।

लिसक्का तप व चारित्र गुण उत्कृष्ट है वही मुनि अन्य मुनियोंमें संसारभीरुत्व उत्पन्न कर सकता है ऐसा नहीं है किंतु अन्य गुणवालाभी संसारभीरुता उत्पन्न कर सकता है इसी बातका वर्णन आगेकी माथा करती है.

अर्थ — जिसका उचम श्रमादि दशधर्मोंपर अतिशय प्रेम है, पापसे जो मयभीत है, जो सूत्र और अर्थमें निपुण है, जिसमें कपट तिलमात्र भी नहीं है वह अनिवार्य विहारी साधु हमेंशा देशांतरका अतिथि चनता है अतः उसके उपर्युक्त गुणोंको देखकर अन्य साधुभी ससारसे मयभीत होते हैं.

पूर्वगाथाया परस्मिरीकरण प्रतिपाद्य चरत्तत्तागतमपि दिग्दर्शयति इत्यभिप्रेते—

सविमगद्वरे पासिय' पियधुम्मवरे अवज्जमीरुदरे ॥ १०० ॥

तुयमवि' पियधिरधम्मो साधू विहरतओ होवि ॥ १०१ ॥

अवधभीरुं संधिन्न' मियधर्मतरक्षणे ॥

अवधभीरुः सविन्न मियधर्मनरोऽस्ति स ॥ १०२ ॥

१०० ॥ दिग्दर्शयति—विदियणे । सविमगद्वरे—विधिवत्तर इत्यादिकम् । अवज्जमीरुदरे—असकृत्पच विधिवत्तरत्वेनिरूपणादित्वेतत्त्वयोपगमनत्वा नामोभयान्तिशया 'सविमगद्वरे' । अभिनयधर्मनिरौघं चित्तलंगलनं करोति, अग्युवयमि धनससुदानि च प्रयच्छति । सुबन्धिओ धर्म इति । धर्मस्य फलमाहात्म्ये अनौरत्ने—जेत संमार्थभाविप्रयत्नमेतरा, स्वल्पमव्ययुभयौर्गोभानवलरादानाह । यत्परीकृतम् । स्वप्नमात्मनः प्रियस्मिरधर्मतरः । अतरेणाप्यतिशयाधिकप्रत्ययमक्षिपार्थयतिरत्र 'ममिकुप्पटु कम्म्या देवेति' । यथा प्रियस्मिरधर्मतर इति । अपिशब्देन सविमगद्वरे, अवधभीरुतरमेति ग्राह्यम् । ॥ १०० ॥ ॥

एवं नावादेशविशदित्वा परस्मिरीकरण धर्मोऽभिप्राय इति स्मिरीकृतमाह—
नूलाए—पातिय दण्डू, पियधिरधम्मो अतरेणाप्यतिशयाधिक । प्रत्ययमक्षिपार्थयतिरत्र । अभिरूपाय कम्म्या । देवेति यथा । तेन प्रियधिरधर्मतर इति बोध्यम् । अथवा, पियदरयम्मो इति पाठः । श्रियतरधर्मेत्यर्थः । अपिशब्देन सविमगद्वरे अवधभीरुतरमेति ग्राह्यम् । तथाप्येव लूखु । ॥ १०१ ॥ ॥

अवधभीरु संविग्न प्रियधर्मतरक्षणे ।

अवधभीरु सविग्न प्रियधर्मनरोऽस्ति स ॥ १०२ ॥

पूर्व गाथां परस्मिरीकरण दिश्याया है अब आगेकी गाथाओं आनयत विहारी साधु स्वयंको भी गुणोंमें स्थिर करता है यह दिखाने हैं.

अर्थ—अन्य देशमें रहनेवाले साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी उनके समानही हो जाता है. बार बार पांच प्रकारके संसारका निरूपण श्रवण करनेसे नाम व्यथित होकर जिनको संसारसे अत्यंत भय उत्पन्न हुआ है ऐसे साधुओंका दर्शन होनेसे अनियतविहारी साधु भी संसारसे अधिक भययुक्त होता है. धर्मका आचरण करनेसे नवीन कर्मोंका निरोध अर्थात् संवर होता है, पूर्ववद्ध कर्म निर्जोर्ण होकर आत्मासे अलग होते हैं. यह जिनधर्म अर्थात् मुनिधर्म स्वर्गादिमुख और मोक्षमुख जीवोंको देता है ऐसा धर्मका फल और उसका माहात्म्य सुनकर उसमें जिनका मन हमेशा अधिक रुचि रखता है, जो योद्धेसे अशुभयोगोंको अपने आत्मामें हैं. उनको देखनेसे विहारी यति भी धर्ममें प्रगाढ़ रुचि रखता है. ऐसे साधुओंको देखकर अनियत विहार करनेवाला साधु उत्पन्न होने नहीं देते ऐसे मुनिओंको अथवा मीरुतर कहते हैं. ऐसे साधुओंको देखकर अनियत विहार करनेवाला साधु धर्म पर अतिशय प्रेम करता है और उसमें अधिक स्थिर होता है. जैसे 'अभिरूपाय कन्या देवा' रूपवानको कन्या देनी चाहिये. यहाँ सर्व मनुष्य रूपयुक्तही होते हैं. कोईभी मनुष्य रूपरहित नहीं होता है. अतः 'अभिरूपाय कन्या देवा' इस वाक्यका 'अधिक सुंदर पुरुषको कन्या देनी चाहिये' ऐसा अभिप्राय है. वैसे 'प्रियस्थिरधर्मी, इसका 'प्रियस्थिरधर्मतर' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये. अर्थात् अनियत विहार करनेवाला साधु अधिक प्रिय और अधिक स्थिर धर्मको धारण करनेवाला होता है.

भाषणा ध्यातृ—परीपदसहस्रमिह भावनेत्युच्यते—

चारिया छुहा य तण्हा सीदं उण्हं च भाविदं होदि ॥

सेवा वि अपडिवद्धा विहरणेणाधिआसिया होदि ॥ १४७ ॥

श्रितातपधुषातृष्णानिपयायाः परीपहाः ॥

यातिनाटाव्यभानेन समस्ताः सन्ति भाविताः ॥ १५० ॥

विजयोदया—चरिया धर्पोन्नयं दुःखमिह चर्येति गृहीतं । उपानहान्येन वा अरुतपाहरक्षस्य, गच्छतो निशितमकरापागणकंदकादिभिस्तुष्टुमानचरणस्य, उण्णरज-संतसपादस्य, वा बहु-सं तस्मात्तुमवमसंक्षेपेन चर्धोभावना । पुरा य अपविचिते देवे संयतेः पूर्वमतस्यासिते अस्पचन्यसंग्रहे प्रयोगाया अस्माभात् मिद्यायाः समुपजाता धुद्धेदना

खोटा भवति । गिरमेतच्च यस्ततो जनः परिव्रज्यादाशिक्षयादा मित्रां प्रयच्छतीति ॥ मदान्परिहरमः । सीपं उण्हं च शीतोष्णस्पर्शजं दुःखं इह गृह्यते । तदनुभवजं संक्षेयारहितभावितानां सोढं भवति । सेज्जा च शय्या च वसतिः । अपडिपदा ममेदं भावरहिता ४ अविद्यासिवा सोढा भवति । विहरणेण विविधदेशगमनेन ।

भावनां भावयति—

मूलार—चरिया गमनजन्यं दुःखमित्यर्थः । कुथा अपरिचिते देशे संयतैः पूर्वमनध्यासिते अल्पधान्यसंग्रहे च योग्यमिक्षाया अलाभादुपजाता ध्रुवेदना । सीदं शीतस्पर्शनजं दुःखं । अधियासिवा असंक्लेशेन सोढा । मेज्जा वसतिः । अपडिपदा मेनेदंभावरहिता ।

भावना—परीयह सहन करना यह भावना शुब्दका अर्थ है.

इसका विवेचन इस प्रकार है—

अर्थ—चर्या—चर्यासे उत्पन्न हुए दुःखको चर्या कहते हैं. कृता अथवा अन्य पदार्थसे जिसने अपने पापोंका रक्षण नहीं किया है, तथा गमन करते समय सीरुण दूरकरा, परधर, कांटे इत्यादिकोंके द्वारा जिसके चरण व्यथित हो रहे हैं. उष्णधूलीसे जिसके पैर संतप्त हुए हैं, ऐसे स्थानों जो दुःख उत्पन्न होता है वह मुनि निना संश्लेष परिणामसे सहन करते हैं. यह चर्या भावना है.

कुथा भावना—जहाँ मुनिजने निवास नहीं किया था वैसे अपरिचित तथा अल्प धान्य के संग्रहसे युक्त देशमें योग्य मिक्षा न मिलनेसे जो भूखसे वेदना होती है वह सहन करना धुवाचर्या कहलाती है. बहुत दिन-पर्यंत एकस्थानमें ही निवास करनेसे सब श्रावकोंके साथ परिचय होता है इस लिये वहाँ मिक्षा मिलनेमें महान् परिश्रम नहीं होता है. संश्लेष परिणाम न करके शीतसे और उष्णसे होनेवाले दुःखोंको सहन करना यह शीतोष्ण चर्या है. वसतिजाने ऊपर भी यह मेरी है ऐसा समस्तमात्र उत्पन्न नहीं होता है. अनियत विहार करनेसे ये उपयुक्त फायदे होते हैं.

गाणादेसे कुसलो गाणादेसे गदाण सत्याणं ॥
अमिलाव अरथकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥ १४८ ॥

आरातीय आचार्य—श्रुतकेन्द्रीके अनंतर जो आचार्य उत्पन्न हुए हैं उनको आरातीय आचार्य कहते हैं। अर्थात् आरातीय और ग्राचीन आचार्योंने रचे हुये द्वाहोंका भी ज्ञान होता है।

प्रकारान्तरेण अतिमाधुर्यकुशलत्वमाख्यातुमीदृते—

शिकलव्रणपवेसादिसु आयरियाणं बहुप्यपाराणं ॥

सामाचारिकुललो य होदि गणसंपवेसेण ॥ १५० ॥

विज्ञयोपवा—शिकलव्रणपवेसादिसु इत्यनया गायया । आयरियाणं आचार्याणां । बहुप्यपाराणं बहुविधानं । केचिदाचार्याः धरणाक्रममगच्छन्ति । परेः सहाचरणत्वं । अपरे पुनः शास्त्रनिगदितमेव । अन्ये तुकुभयका । इति बहुमकारता । एवं अनेकप्रकाराणां गणसंपवेसेण गणप्रवेसेन निःक्रमणप्रवेशादिकास्तु क्रियास्तु । कुललो य होदि । कुललव्य मयति । कः ? समाचारी ते यथा आचर्यति तथा प्रवर्तमानः । स्वासासदेशाभिर्गन्तुविक्रमता श्रीतकादुष्णाद्वा देशा-च्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विद्वत्तापि । किमर्थं ? नीतीणां ज्ञानमावाधापरिहाराय अथवा श्वेतस्वर्णगुणास्तु भूमिस्तु मग्न्या नि क्रमेण धन्यस्याद्य प्रवेदने प्रमार्जनं कृतिप्रदशादयः कार्यं । अग्न्या विरुद्धबोनिस्तक्रमेण पृथिवीकालिकानां तद्रूपिभागोत्पत्तानां प्रसार्तानां चाग्राया स्यात् । तथा कुलं प्रविशता सत्त्वित्वाच्चिरजसोः पदविपु लक्षणयोभिरासः । यत्पञ्च पादौ शुष्यतस्तापत्र गच्छेज्जलौकिक एव तिष्ठेत् । मद्गतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्रागे कृतविषयैश्च नः धावरपरकुल-प्रतिस्तापत्रमया सर्वे शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यज्यमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समुद्रादितत्त्वित्वो द्रोणयविक्रमारीहृत्, परद्रुते य कापोत्पन्नं तिष्ठेत् । तदतिवारल्यपोद्धार्य । एवमेव महतः कर्तारस्य प्रवेशविःक्रमणयोः ।

तथा शिक्षानिमित्तं शुद्धं प्रवेष्टुकामः पूर्वं अपलोकेयैरिक्मिन यलीवर्द्धं, महिषः, प्रवृत्ता वा गायः, दुष्टा वा सार-मेया, मिश्राचराः धमणाः सन्ति न सन्तीति । संग्रित चेन्न प्रविशेत् । यदि न विभ्रयति ते बलेन प्रवेष्टुं कुर्यात् । ते हि भीता यति पापे स्वं या पलायमानाः रसस्थापरपीडां कुर्युः । क्लिश्यन्ति, महति वा गतर्द्धौ पतिता मृत्तिमुपेयुः ।

यद्वतिप्रसाराणां या तेषां निर्गमने शुद्धस्यैः प्रत्याख्यानं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं । अन्यथा बह्वच आयाता इति दानुमराकाः कम्पौचिदपि न द्रव्युः । तथा च भोगांतरायाः कृतः स्यात् । कुडा. परे शिक्षाचराः निर्धर्तसनादिकं कुर्यु-रस्मान्भिरादया ग्रिहं शुद्धं किमर्थं प्रविशतीति । अन्ये शिक्षाचरा यत्र द्दिहत्वा लभन्ते भिक्षां, यत्र वा स्थितानां शृङ्खिः नवच्छन्ति तापन्मात्रमेव भूमायं यतिः प्रविशेन्न शृद्धाभ्यर्तत् । शृद्धिर्भिक्षा प्रविशेत्यभिहितोऽपि मां च हारं प्रविशेन्नव-

स्यावरीडापरिहृतये । तद्वद्वारकासुहृत्पत्रे कुप्यन्ति च गृहिणः । [बलकं वेत्तं वा नातिक्रम्य ग्रविशेत् । भीताः पलायनं कुर्वन्त्यानां वा पतयेयुः] ।

द्वारमप्यायामधिकं भवति प्रविशतः गात्रपीडासंकुचिवांगस्य विवृतायोभागस्य वा ग्रवेशं दृष्ट्वा कुप्यन्ति हसन्ति वा । आत्मविराटना मिथ्याविराटपत्न्यं च । द्वापराभ्यं कर्तुमीडा स्यात्प्रसङ्गे शिष्यात्सर्वविराट्प्रवृत्तानि वा अनिरुपिहत-प्रवेत्तनी वा अभिज्ञेति । तस्माद्द्वयं तिर्यक्चाग्लोपय प्रवेष्टव्यं ।

तदानीमेव सितां, जलसेकाद्रौ, प्रकीर्णद्विरिक्कुसुमफलपलाशादिभिर्निर्जलं, सचिन्मृत्तिकावती, छिद्रवहु-कां, चिचलसजीवतं, गृहिणां प्रोक्तानां क्लृप्तमंडलपरिहृत्यां, देवताप्युपितां निरुद्धीभूतनाजनामंशिकस्थानशरायनामा-सीमदाशिरापुराणां, मूत्राजपुटीनादिपिकपहतां भूमिं न प्रविशेत् ।

सर्वमविराटपत्न्यं मिथ्याविराटपत्न्यां च परिहृत्य युक्त्या निरंशुद्वारिणं दानैरतीवानयनतो घंवमानं मतिं वृत्त-योग्याशीर्षोर्गे निरंशेत् । तथा भिक्षाकालं, कुसुमकालं च आत्मा गृहीतवाग्रहः, ग्रामनगरादिकं प्रविशेदीयस्मिति-संपन्नः । भोजनकालपरिमाणं श्रद्धा प्राप्तादिभ्यो निःसरेत् । विनायकं, यतिनिवासं वा प्रविशप्रप्रक्षिणीकुर्वन्नि-सीधिकादान्प्रयोगं च । निगृह्यैकम भस्मीयिष्येति । आदिशब्देन परिगृहीतस्थानभोजनशयनमनादिति या । तत्रापि यत्नो यतीनां । तं सकलं वेष्टि मुकुटव्याली त्वर्थाशोहं, न यथाचारक्रमः सूनायो वात्यसकाशे क्लृप्तस्य इत्यभि-मानं न घरेत् ।

प्रकारान्तरेणातिशयवृत्तार्थत्वं इत्याख्यातुमाह--

मूलानां--गिरकवणपवेसादिषु यस्य सिद्धिगृहादेर्निष्क्रमणे प्रवेशो जादिशब्देन ध्यानभोजनक्षयतस्तत्तद्विनिव्याप्तु । षट्पदयाराणं वे निश्चि मूरयभारपणममशाकृत एवावगच्छति, परे सतावरणात् । अपरे पुन शास्त्रोक्तमेव । अन्ये व ह्युभयक्षाः इति षट्पदप्रकाराः । सामाचारिणुसृतो निष्क्रमणादिषु वत्तेषां सन्ध्यापरणं समाप्त्याने वा तत्र प्रवीणः । एतत्संपन्नसु दीकायां द्रष्टव्यं ।

अर्थः--अनिपत्य विहार करनेवाला साधु अनेकगणोंमें प्रवेश कर अनेक आचार्योंसे वसतिकामे और दाताके घर आदिकोंमें प्रवेश करता और वहाँसे गमन करता, स्थान, भोजन, शयन, वगैरे विचार्योंका स्वरूप जानकर कुशल होता है. अतः साधुओंको विहार करना चाहिये. किंतुनेक आचार्य अन्यधुनिओंके आचरणसे आच-रका क्रम जानते हैं. कोई आचार्योंको शास्त्रोक्त आचार और अन्य धुनिओंका आचार दोनोंका स्वरूप मालूम

१ अर्थ पाठः फणुलके नास्ति सप्तसुक्कादुदृत्य संशोजितः ।

रहता है. इस लिये आचार्योंके अनेक प्रकार होते हैं. आचार्य जिस तरहसे आचारमें प्रवृत्ति करते हैं वह सब स्मरणमें रखकर नैसा आचरण करना हुआ देशांतरविहारी साधु आचारमें कुछ हो जाता है. उस आचारक्रमका टीकाकार अपराजितद्वरि वर्णन करते हैं—

वसतिकासे बाहर जानकी साधुको जब इच्छा होती है तब वह शीतलस्थानसे अथवा उष्णस्थानसे बाहर जानेके पूर्वमें अपने सर्व अंग पिच्छिकासे साफ करे जब वह साधु वसतिका में प्रवेश करेगा उस समयमें भी अपना अंग पिच्छिकासे साफ कर ही वसतिकामें प्रवेश करे. यह अंग पोछनेकी क्रिया करनी चाहिये. क्यों ? इसका सत्तर यह है—

शीत और उष्ण अंतुओंको बाधा न हो इसलिये शरीर प्रमार्जन पिच्छिकासे करना पड़ता है. अथवा सफेद भूमि या लालरंगकी भूमिमें प्रवेश करना हो अथवा एक भूमिसे निकलकर दूसरे भूमिमें प्रवेश करना हो तो फाटिप्रदेशसे नीचेतक सर्व अवयव पिच्छिकासे प्रमार्जित करना चाहिये. ऐसी क्रिया नहीं करनेसे विरुद्ध योनि संक्रमसे पृथ्वीकायिक जीव और व्रतकायिक जीवोंको बाधा होगी. जलमें प्रवेश करने के पूर्वसमय साधु पाँव हाथ, वगैरह अवयवों में लगे हुए साचेत और अचेत धूली को अपनी पिच्छिकासे दूर करे. अनंतर जलमें प्रवेश करे. जलसे बाहर आनेपर जब तक पाँव न धुल जावेंगे उतने कालतक वह जलके समीप ही सदा हो जावे. पाँव धुलने पर आगे विहार करे. पड़ी नदियोंकी उलंघन कर यदि जानेका प्रसंग आवे तो नदीके प्रथम तटपर सिद्धचंदन! कर जपतक दूसरे तटकी प्राप्ति न होगी तबतक मने छरीर, भोजन और उपकरणका त्याग किया है ऐसा मत्स्याख्यान स्वीकारना चाहिये. मनमें एकाग्रता धारण कर नौका वगैरह पर आरुढ़ होवे. दूसरे तटपर पोहोचनेके अनंतर उसके अतिचार नाशार्थ कायोत्सर्गसे खदे होना चाहिये. प्रवेश करनेपर अथवा चढ़ासे बाहर निकलनेपर भी यही आचार करना चाहिये.

मिक्षाके लिये श्रावणके घरेमें प्रवेश करते समय प्रथमतः इस घरेमें वैल, भैंस, प्रखल गाय, दूध कुत्ता, मिखा मांगनेवाले साधु हैं या नहीं यह अवलोकन करे यदि न होंगे तो प्रवेश करे. अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भयपुक्त न होवे तो यहाँसे सावध रहकर प्रवेश करे. यदि वे प्राणी भयपुक्त होंगे तो उनसे यतीकी बाधा होगी. दूर उपर वे प्राणी दौढ़ेंगे तो व्रतजीवोंका, स्थावरीका नाश होगा. अथवा साधुके प्रवेशसे उनको कुछ

होगा. किंवा भागते समय गड्डमें गिरकर मृत्युवश हागे. जिनहन में तथा ला है एस अन्यसाधु घरस पाकर निजसाधु हुये देखकर अथवा गृहस्थोंके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देसकर वा सुनकर तदनंतर प्रवेश करना चाहिये. यदि मुनिवर्य इसका विचार न कर श्रावकगृहमें प्रवेश करें तो बहुत लोक आये हैं ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ होकर किसी को भी दान न देंगे. अतः विचार के बिना प्रवेश करना लभ्यतरायका कारण होता है. दूसरे भिक्षा मांगनेवाले पाखंडी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ भिलनेकी आज्ञासे यहां प्रवेश किया है यह मुनि क्यों यहां आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेंगे. इतर भिक्षा मांगनेवाले साधु जहां खड़े होकर भिक्षा माग्न करते हैं. अथवा जिस स्थानमें उठे हुये साधुको गृहस्थ दान देते हैं उतने ही भूप्रदेशतक साधु प्रवेश करें. गृहके अभ्यंतर भागमें प्रवेश न करें. गृहस्थोंने तिष्ठो, प्रवेश करो ऐसा कहने पर भी अंधकारमें साधुको प्रवेश करना उचित नहीं. अन्यथा व्रत स्वावर जीयोंका नाश होगा. द्वारादिकोंका उच्छेदन कर जानेसे गृहस्थ कुपित होंगे. घरमें घफरा जयवा साधुका पछडा हो तो उसको लपकर प्रवेश न करें. अन्यथा वे दरके मारे पलायन करेंगे वा साधुको गिरा देंगे. दीर्घता व चौडाइसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको स्थथा होगी, अंगोंको संकुचित करके जाना पड़ेगा. नीचे के अवयवोंको पसारकर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथ हास्य करेंगे. इससे साधुको आत्मवि-राधता व मिथ्यात्वाराधना होगी. संकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंको पीडा होगी, अपने अवयवोंका मर्दन होगा. यदि ऊपर साधु न देखे तो सीके में रखे हुये पात्रोंको धक्का लगेगा अतः साधु ऊपर और चारों तरफ देखकर प्रवेश करे.

तत्काल लेपी गई, पानी के छिड़कावसे भीली, हरा वृष, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके ऊपर फैले हुए हैं ऐसी, सचित महीसे युक्त, बहुत छिद्रोंसे युक्त, जहां व्रत जीव फिर रहे हैं, जहां गृहस्थों के भोजनके लिये रंगावली रची है, देवताओंकी स्थापनाय युक्त, अनेक लोक जहा बैठे हैं, जहां आसन और शय्या रखे हैं, जहां लोक बैठे हैं और सोये हैं, जो मृदा, रक्त, विघ्रादिस अपवित्र बनी है ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करे. अन्यथा उस के संयममें निराधना होगी व मिथ्यात्वाराधनाका दोष लगेगा.

साधु भोजन कर जब निकलेगा तब घीरे घीरे गमन करे. नम्र होकर चले, नमस्कार करनेवालोंको योग्य आशीर्वाद देवे. इस तरह स्वस्थानगमन करे.

शिक्षाका समय, और शुष्कका समय जानकर कुछ वृत्तिपरितोष्यानादि नियम ग्रहण कर ग्राम या नगरमें ईयांसिगितीसे प्रवेश करे. भोजनकालका प्रमाण जानकर ग्रामादिकसे निकले. जिनमंदिर अथवा यतिका निवास अर्थात् वसतिशाला - मठ इनमें प्रवेश कर प्रदक्षिणा करे. उस समय निसीधिका शब्दका उच्चारण करे और जब वहाँसे छोटते समय असीधिका शब्दोच्चारण करे. इसी तरह स्थान, भोजन, शयन, गमनादि क्रिया करते समय भी मुनिओंको प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये. सब आचारक्रम में जानता हूँ, मैं शुरुकुलवासी हूँ, सूत्रका अर्थ मैं जानता हूँ. आचारक्रम अथवा सूर्यार्थ अन्यसे जाननेकी मेरेको जरूरत नहीं है. ऐसा अभिमान न धारण करे.

शिक्षाप्रामुख्योपरो मचेदित्याह—

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कावब्बो ॥

सुतस्स य अत्थस्स य सामाचारी जघ तहेव ॥ १५१ ॥

कर्तव्या यत्ततः शिक्षा प्राणैः कंठगतैरपि ॥

आगमार्थसमाचाप्यमृत्नीनां तपस्विना ॥ १५२ ॥

विजयोद्या—कंठगदेहिं नीत्यादिना । कंठतै प्राणैः सह वर्तमानेनापि साधुना आगमशिक्षा कर्तव्यैव सूत्रस्यायं स्तानाचारस्य ।

कंठगदेहिं वि पाणेहिं साहुणा आगमो हु कावब्बो ।

सुतस्स य अत्थस्स य सामाचारी जघ तहेव ॥ २ ॥

मूलारा—इत्येतापि गाथा धर्मैव ।

अनियतपास करनेवाले मुनीने आगमाभ्यास करना चाहिये—

अर्थ—प्राणकंठमें आगम हो तो भी मुनिका आगमका अध्ययन करना अवश्य कार्य है. जैसे वह सज्जन अर्थ व आचारोंका अध्ययन करता है वैसे आगमका भी अध्ययन करे.

संजदजनसा य जाहिं फासुविहारो य सुलभबुची य ॥

तं खेचं बिहरंतो णाहिदि सछेहणजोगं ॥ १५२ ॥

प्रासुफं सुलभाहारं संयतगौचरीकृतम् ॥

संखलनोचितं क्षेत्रं पश्यत्यनियतस्थितिः ॥ १५४ ॥

त्रिजयोपया—संजदजन इत्यदिना । संयतगामिद्विस्तारीकृत्या अदाय च सैन्य उपरतो व्याघ्रसः सम्यग्यतः संयतः प्रासुच्यते तस्य संयतजनस्य । अणि यस्मिन्क्षेत्रे । फासुविहारो य प्रासुकं विहरणं जीवयाधारहितं गमनं तेषां साधनम् । णाहिदि आरपत्यामनः परस्य वा । सछेहणजोगं सम्यक्कायकायतनूकरणं सहेयना तस्या योग्यं । तं का? विहरंतो देशांतराणि भ्रमन् ।

क्षेत्रपरिमार्गणमाह—

मूढारा—फासुविहारो जीवयाधारहितं गमनं । तसदृशितोदककर्दमाद्यवृत्त्यात् । णाहिदि सास्यति ।
आनियतविहारी साधने क्षेत्रका अवलोकन कारना चाहिये- इस विषयका विवेचन करते हैं—

अपनेको अहिंसादिकोंमें प्रयत्नशील करते हैं उनको संयत—संयमी सुनि कहते हैं, ऐसे संयमी सुनिको प्रासुक जीव और वनस्पतियोंसे रहित है, जहां बहुत पानी और कीचड़ नहीं है ऐसा क्षेत्र प्रासुक है, सुनियोंकेलिए विहार योग्य है, निम्न क्षेत्रमें सुनिजोंको सुलभतासे आहार मिलना वह क्षेत्र अपनेको और अन्य सुनिजोंको संखलना योग्य है, गरीर और कपायोंको संखलन परिणामोंका त्याग कर शालोक्त विधीके अनुसार कुछ करना संखलना है, देशांतरमें विहार करनेवाले सुनिने इस प्रकार क्षेत्रमार्गणा करनी चाहिये.

न देशांतरधमणमात्रद्विपतविहारी भवति कित्तेवंविध इत्याचष्टे—

वसधीसु य उवधीसु य गामे णये गणे य सण्णिजणे ॥

सव्यत्य अपडिबद्धो समासदो अणियदविहारो ॥ १५३ ॥

आवके भगरे ग्रामे वसतावुपधौ गणे ॥

सर्वधामप्रतिबद्धोऽस्ति योगी देशांतरातिथिः ॥ १५५ ॥

इति अनियतविहारसूत्रम् ।

विजयोव्या—यस्यैतु अ इत्यादिना—यत्तु उपकरणेषु । ग्रामे भगरे गणे आश्रयजने च । सर्वत्र अग्रति पन्धः । ममेवं यस्यार्थिकं ग्रहमस्य ह्यमीति संकल्परहितः अनियविहारी भवति इति संक्षेपतः प्रतिपत्तव्यः ॥ विहारो गद्दो ।

न देशांतरधमणमात्राद्विपतविहारी कित्तेवंविधो भवन्नित्याह—

मूळरा—सण्णिजणे आश्रयजने । अपविन्द्यो मनेद्वयस्य स्वामीति संकल्परहितः । अनियतविहारः । सूततः ॥ ६ ॥ अंकतः ॥ १२ ॥

जैर्नी सीक्षामाश्रितोऽन्वस्तथाह ।

धेयोमार्गे सार्यवादायते यः ॥

कीर्त्तिन्यासाधारः सौऽगमेवेऽ ।

भ्युपलब्धीतिः सद्गतेः श्रवणीष्टे ॥

इत्यादिगणराजसुखप्रसंगदर्भे मूळराधनादर्पणे पवप्रयेयार्थप्रकाशीकरणप्रवणे भट्टणशिक्षणप्रतिसेवनाविधि-प्रकाशनो नाम द्वितीय आश्वासः ॥ २ ॥

देशांतरमें अमण करनेमागसेही साणु अनियत विहारी कहा जाता है ऐसा नहीं किन्तु अन्य प्रकारसे भी वह अनियत विहारी कहा जाता है. उसीका सुतासा करते हैं—

अर्थ—यसविषय, उपकरण, गांव, नगर, स्वसंग, आश्रयलोक इन सबमें जो समत्तरहित है अर्थात् ये

मेरे हूँ और मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा मनमें कभी संकल्प जो साधु नहीं करता है वह भी अनियतविहारी है ऐसा भेषमें कदा वाता है.

विहार अधिकारका वर्णन समाप्त हुआ.

अनियतवासाकृतंतरं परिणामं प्रतिपादयितुं उत्तरणाया—

अणुपालिद्वो य दीहो परियाडो वायणा य मे दिष्णा ॥

णिष्णादिवा य सिस्सा सेयं खलु अप्पणो काढुं ॥ १५३ ॥

पर्यायो रक्षितो दीपं वितीर्णो वाचना मया ॥

शिष्या निष्पादिताः श्रेयो विधातुमधुनोचितम् ॥ १५३ ॥

विभवोद्वा—अणुपालिद्वो य अणुपालितश्च ययानुसारेण रक्षितः । दीहो दीपं विरकाळमयुक्तिः । परियाडो पर्यायः प्रानदर्शनव्याप्तिप्रयोरुपाः । वायणा वि यत्नवति । मे मया । दिष्णा दत्ता । निष्पादिवा य सिस्सा निष्पादिताश्च शिष्याः । सेयं श्रेयः, हितं । अप्पणो काउं आत्मनः कर्तुं कुतं प्रति श्रेयः । एवमुक्तं भवति । ज्ञान-
वर्तनव्याप्तियु चिरकालं परिचतोऽस्मि । मृदानुसारेण गतेष्वपि निरुपपन्नयार्थदत्तं च कृतं । शिष्याश्च श्रुत्यपि
तैरुक्ताः । एवं स्वपरोपकारक्षियया भवतः कालः । इतः प्रमुत्सन्नमन एव हितं कर्तुं न्याय्यमिति चेतःप्रणिधानं इह
परिणामशब्देनोच्यते । तथा बोद्धव्यम्—

अणदिपं कामजं जह सकरं परदिपं च कामजं ॥

अण्णदिपपरिदिपानो अण्णदिपं सुट्ठु कामजं ॥

तृतीय आश्वासः ।

कर्तुं केषटमात्मने हितमपोहादेपवाहमदम् ।

भेयः संताविविधीचिचिरिणविपुत्तसपस्यन् कुते ॥

सत्त्वेकरपुत्तिमं पविमुत्तवासान्धसंमोर्म्मिकम् ।

कार्यं प्रापदुताशितेत्तुमुपवीमयेत्तु सहेसनाम् ॥

अथ मायाह्वेन परिणामं श्रेष्ठ्यन् तथाभावितआमप्यस्य आत्मसंस्कारप्रेक्षेन्नोद्यतस्य मुमुक्षोः समीक्षापूर्वकं स्वहितैकरणीयताप्रणिधानमाह—

मूलम्—परियाओ व्यवहारलत्रयरूपः पर्यायः । मे मया । सेजो हितं । खलु अप्पणो स्वत्येव परोपकारस्य पूर्वं कृतत्वात् । काडं कर्तुम् । युत्तमिति श्रेयः ।

उक्तं च — अप्पहिदं कायल्वं जइ सक्कइ परिहिदं च कायल्वं ।

अप्पहिचपरहियादो अप्पहिदं मुहु कादल्वं ॥

अनियतवातके अनंतर परिणामका प्रतिपादन करनेके लिये उत्तरमाया कहते हैं—

अर्थ—मैंने गहनकालपर्यंत ज्ञान, दर्शन, चार्ित्र और तत्पर्य्य स्तुतिपर्यायका पालन किया है, मैंने शिष्यों को वाचना भी दी है अर्थात् ग्रंथ और अर्थ दोनोंका भी स्वरूप अच्छी तरहसे समझा दिया है, शिष्य पढ़ाये हैं, बहुत शिष्य तयार किये हैं, अथ इस समय अपना कल्याण करना योग्य है, अभिप्राय यह है कि, ज्ञान, दर्शन और चार्ित्रका मैंने चिरकालतक पालन किया है, निर्दोष ग्रंथ और अर्थ समझाकर शिष्य व्युत्पन्न किये हैं, इस रीतीसे स्वपरोपकार करनेमें मैंने दीर्घ काल विताया है, अब यहाँसे मैं अपना ही हित करनेके लिये प्रयत्न करूँगा, इसरीतीसे मनकी एकाग्रता करना इसको परिणाम कहते हैं,

अपना हित करना ही श्रेयस्कर है इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

अपना हित करना चाहिये, दुष्प्र हो तो परका भी हित करना कर्तव्य है परंतु आत्महित और परहित इन दोनोंमेंसे कौनसा मुख्यतया करना चाहिये ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर अवश्य ही उत्तम प्रकारसे आत्महित करना चाहिये,

किण्णु अघातंदविधी मत्तपइण्णंगिणी य परिहारो ॥

पादोवगमणजिणकप्पियं च विहरामि पडिदण्णो ॥ १५५ ॥

किमालंबं परीक्षारं भक्त्यागमुतेगिर्नां ॥
पादोपगमनं किं किं तिनिरूपं अयाम्यहम् ॥ ३५७ ॥

त्रिज्योदया—किं तु अथालंबविधौ भक्तपक्षणं । कोसावथालंबविधिः उच्यते—परिणामः सामर्थ्यं, गुरुयुक्तजनं, प्रमाणं, व्यापना, आचारमार्गणा, अथालंबमासकल्पञ्च । गृहीतार्थोः कृतकरणाः, परीपक्षोपसर्गजये समर्थाः, अनिगूढित गतरीयो, आत्मानं मनसा तुलयन्ति । किमथालंबविधिराध्यायीयोऽथवा प्रायोपगमनविधिरिति । परिक्षारस्यासामर्थ्यो अथालंबविधिरुपगमनामाश्रयः, ऐव, सप्त, अथ वा सप्तदशोपसर्गजलोपसर्गजमापथाः, स्वाविरमूलनिवासिनः, अथभूता-हमनासप्यार्थं विदितानु-स्थितयः स्वधिरं विनापयन्ति—गमयन् । किमिच्छामोऽथालंबकसंयमं प्रतिपत्तुमिति । सच्चतुर्वा व्यधितोऽप्राप्यन्ति पूरुषा शरीरेण च तुंगलाव्यपरिणामानिशावधिरिदित्वा काश्चिदनुमानाति । समप्रमुणाले निवृष्टाः स्वचिदेन मरासोऽपकादो ज्यिताः कृतलोभाः, गुरुप्रममलोचनं कृत्वा कृतवसादोपणा अधिरोहते आदित्ये कस्यस्थितमेकं गणस्या-लोचनं भोक्तुं शुद्धिं येष कर्तुं समुपयतं स्थापयन्ति । स एव प्रमाणं गणस्य । आत्मनः सहाया वाचन्तो गणाधिर्गतास्ता-वन्त एव तस्मान्ने व्यापयितव्या गणे ।

आचारो निरूप्यते—अथालंबकयत्नानां द्विगं धीरुत्तमैकं, वेदस्योपकारार्थं आहारं यत्नति च गृह्णन्ति, शेषं सुकलं एवजन्ति । दृग्परीदकदण्डकालकादिकं उपरि च न गृह्णन्ति । प्रातिस्वयगपरिणालनार्थं विनयस्तिरुपतासंयत्नार्थं च गृहीत-प्रतिदेगता प्रमांतरमन्ने विहारभूमिमन्ने, शिक्षावर्षाणां, निपण्यां च अमतिरुपता एव द्युत्पष्टादीरसस्तापाः परीप-क्षस्तदन्ते नो पा दृतिरगहीनाः । शक्ति च प्रकोपकं संयममाचारितुं इति मत्या इयः पंच वा सह प्रयत्नते । रोगेणा-भियानेन पा जाताया वेदनायाः मतिरित्यया यत्नो यदा तपससि अग्रदास्तदा सहायदस्तायलंयने कुर्वन्ति । वाचनादिको च न कुर्वन्ति । यामाष्टकेऽप्यनिद्रा एकत्रिचा ध्याने यतते । यदि यसादयसा निद्रा तदाकृतमतिद्राः । साध्यायकाल-प्रतिक्षिपिकाद्य निर्यासोर्ना न समित् । समदानमध्योऽपि तेषां ध्यानमप्रतिपिदं आवश्यकेषु च प्रयत्नते । उपकरणप्रति-देगनां कालव्योऽपि कुर्वन्ति । सप्तामिकेषु देवगुटादिषु तदनुधया यत्नन्ति । अनायमगनस्वाभिकेषु यत्नेदं सोऽनुज्ञां करोतु इत्यभिप्राय यत्नन्ति । सहायतिवारे जाते अनुमपारिणामे वा मिथ्या भे दृष्टतामिति नियतते । दशविधेय समा-चारे यतन्ते । दानं, प्रदणं, अनुपादनं, वित्त्यः, सहजस्वपनं च नास्ति संखेन तेषां । कारणमपेक्ष्य केषांचिदेक एव सहस्रः वर्षः । यत्र श्रेष्ठे सधर्मा तत्तरेनं न प्रयिदन्ति । मोनायग्रहनिरताः पंगानं पृच्छन्ति, संकितल्यं वा द्रव्यं शय्याचरगृहं वा । एवं तिस्र एव भावाः । आमादित्यपंगुलगाते कस्यस्थितेनानुज्ञाते यत्नन्ति । एषुपक्षिमभ्रतिभिर्यत्र प्यते विमो भयति ततः व्यानत्पयति । को भवान् , कुत आयातः, क प्रस्थितः, कियत्कालं अथ भयतो यत्नं, यदि गृयमिति पृष्टाः धमणोऽदमित्येवं प्रतिक्रियामेकं प्रयच्छन्ति, इतरे कृततूर्णीभावाः । अपसरतः स्थानादयकादं भे भयच्छ, परिणालय गृहं, रस्यादिको वाग्यापारो यथमर्थेषां भवति, चदिरपि वसतः यदि भवति, ततोऽपयन्ति । स्वायास-

युद्धे प्रयत्निते न चलन्ति चलन्ति वा । गोचर्योर्मग्रातयां तृतीयपौरुष्यां द्विगव्यूतमन्त्राणां गच्छन्ति । यदि गमन-
व्यापारो मद्राघतेन वर्षादिना जातः समतीतगमनकाल एव तिष्ठति । व्याघ्रादिका, व्यालसृगाद्या यद्यापवन्ति ततोऽप-
सर्पन्ति न वा । पादे कंटफालग्रे, चक्षुषि रजःप्रवेगे वा, अपत्यन्ति न वा । दृढयुतिकाः मिथ्यात्वचर्योराधनामात्मनि-
राधनामपस्यां दोषाभ्या तस्मात्परिहरन्ति न वा । तृतीयपौरुष्यां शिक्षार्यमयतरन्ति । कृष्णयनीपकपशुपक्षिगणे अपगते
पंचमो पिङ्गुणां कुर्वन्ति मोमे च । परा, द्वे तिरस्कृतस्यः पंच वा गोचर्यो यत्र क्षेत्रे तत्रालेदिकयोगं प्रवर्तयन्ति । यस्मा-
त्प्राणिगणयजोवी मिथ्याराधानां न वर्जयति तस्मात्पुण्यलेपे वा युक्तत्वा तत्प्रक्षालयन्ति । धर्मोपदेशं कुर्वन्तः तादृशव्यामि
च्छामि भगवतां पादमूले हस्तुक्ता अपि न मनसापि वाञ्छन्ति । किं पुनर्वचसा कायेन । इतरे तत्सहाच्य धर्मोपदेशं
कृत्वा सदिग्गे मुदितं वा गणाधिपतयेऽर्पयन्ति ।

क्षेत्रतः सप्ततिशतधर्मक्षेत्रेषु गवंति । कालतः सर्वेषा । चारित्रतः क्षामायिकच्छेदोपस्थापनयोः । तीर्थतः
सर्पतीर्थकृतां तीर्थेषु । अम्भनि त्रिदाद्वर्षजीवितः । धामण्येन एकोनविंशतिवर्षाः । युतेन नवदशपूर्वधरा । वेदतः
पुमांसो नृपुंसकाश्च । क्षेत्रतः पञ्चगुणलक्ष्याः । एतेन धर्मध्यानाः । सख्यतः पक्ष्यविषयभ्यतरसंख्यानाः देशोन-
सप्तहस्तादि धातव्यंचधनुःशतौ स्तेषाः । कालतो मित्रमुकृतोपूनपूर्वकोटिकालस्थितयः । विभित्याचाररूपताक्षीरास्त्रावि-
त्यापयश्च तेन जायते । विरागतया न सेव्यते । गच्छादिनिर्गतालंदविधिरेव ग्राह्ययतः ।

गच्छप्रतिपदालंदकविधिरुच्यते—गच्छादिगच्छन्तो यद्धिः सकोशयोद्धे विहरन्ति । सपरकमो गणधरो
इदति क्षेत्राद् पहिर्गीर्यार्थदं । तेष्वपि समर्था भगव्य शिक्षां गृह्णन्ति । एको द्वौ त्रयो वा परिष्ठानधारणागुणसमग्रा
गुरुनकाशमापयन्ति । कृतप्रतिमन्नकार्यः स्वक्षेत्रे शिक्षाग्रहणं कुर्वन्ति । अपराकामस्तु गणधरो गच्छे सुधार्यवीर्यी
कृत्वा भ्रमोद्यानं गत्वा यत्नेन द्वात्सर्पदं । यथाया स्योपाश्रय एव गणधरो अभ्यापसरणं कृत्वा एकस्मै उपविशति ।
यदि गच्छेदोद्यानतरं गणः अथालंदिता अपि गुरुवृशया यांति क्षेत्रं । गच्छमियासितः क्षेत्रमतिरेखनार्थं प्रयतंते तदा
तत्र मार्गेण द्वौ धयालंदिकौ यातः । व्याप्यतोऽयमथालंदविधिः ।

परिहार उच्यते—निमकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयममरं दोषु समर्थाः आत्मनो शले कीर्यमाणुः प्रत्यवा-
योद्य मात्या ततो निमसफादं उपगत्य कृतदिनयाः श्रांजलयः पृच्छन्ति “ परिहारसंपगं प्रतिपत्तुमिच्छामो युष्माकमा-
मया ” इति तद्वक्षुया येनां भ्रानमनुचरं उपजायते किमो या तादिवारयति । निपुणस्तु यतीन्द्रेण संयतनां कृतनिःशल्याः
प्ररास्तमयकामुपगतः, लोचं कृत्वा सुनिविता गुल्फां कृतालोचना मतानि विमुद्यन्ति कुर्वन्ति । परिहारसंयमा-
भिमुगनां मये एकं सूर्योदये स्थापयन्ति फलस्थितं गुरुत्वेन । सच प्रमाणं तस्य गणस्य । स चालोचनां श्रुत्वा शुद्धिं
करोति । कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा देवगणमदो अग्रे परिकारसंयमं गृह्णति इति परिहारिका भण्यन्ते । देवास्ते-
गामनुपरिहारिकाः । पञ्चासंयमग्रादिणः गानुपरिहारिका भण्यन्ते । एवं कल्पस्थिते स्मृति ये यथात्परिहारसंयमार्थमात्मा-
नुपगमृतास्तानपि स्वगणे प्रक्षिपति गणी । यावद्विरुक्तो गणः तावद्यमाणं गणं कृत्वा परिहारिकाननुपरिहारिकांश्च व्य-

पन्थापयति । तेन परिहारसंग्रहं विविधायाना अनुपरिहारिकाया एको द्वौ बहवो वा भवन्ति । उदि तिणि, राती विदिभौ परिहारसंग्रहं पट्टिपणो, तदिओ अनुपरिहारयो द्वे । जवि पंच एतो कण्वट्टिदो, दो परिहारसंग्रहं पट्टिपण्ण । तेसिमणुपरिहारया पत्तेन । इतरे जदि एवो कण्वट्टिदो, तिणि परिहारया, इदरे तिणि अनुपरिहारया । अदि-
मय एतो कण्वट्टिदो, चचारि परिहारया, चचारि अनुपरिहारया । छदि मासेहि परिहारीविद्विहा हयंति । ततो पन्था
अनुपरिहारी परिहारं पट्टिपदि । तेसं विविधपरिहारी हवन्तेणुपरिहारले ते पुण छदि मासेहि विविधारं भवन्ति । तु
कण्वट्टिदो पन्था परिहारं पट्टिपण्णजदि । तस्सेमो अनुपरिहारी एवो कण्वट्टिदो वि । असोविज छदि मासेहि विविधप-
ट्टिहारलो अहारसमासा ते एवं ह्यंति यमाणंदा ।

विधादिकस्तेयामाचरो निरूप्यते—एकोपचिकं अयसानं छिनं परिहारसंवतानां । यससिमाहारं च सुफया
नायव् पृथ्विस्तुणपल्लःकपीडरुडफादिकं । सेयमार्ये यतिलेखनं शुद्धति । त्यक्देद्वाथा चतुर्विधापुपसगोन्सहस्ते । इडधृतयो
निरंतरं प्यानापदितयिचाः । अस्ति ओ वलवीर्यं सधेयुणसमग्रता च । एवंभूता अगि यदि गणे यसामो पीर्योचारो न
प्रयार्तिः स्यादिति मस्या भवा, पंच, सप्त, नव धैयणां विर्यंति । सेणेण चदनयोपकुताय तत्ततिकारं च न कुर्वन्ति ।
प्रायोपवमाहारं सुफया, पाथनां मभं परिवर्तनां सुफया सूनाचंपौदगीचरि सूत्रायभेवाभुपेधस्ते । एवं यामाएकेऽपि
निरस्तनिका र्थायस्ति । स्याथायकालप्रतिलेखनादिकाथ क्रिया न सति तेषां । यस्माच्च्युशानमयेऽपि तेषां न
यानं प्रतिपिदं । आपदयकानि यथाकारं कुर्वंति । फालदये एतोपकरणशोधना अनुसाय देवकुलादिषु यसन्ति ।
यानिनायमालम्बाभिकेपु यस्तेदं सौऽनुज्ञानं नः करोतु भति विर्यंति । आसीधिकां च निपीधिकां च निक्रमणे प्रवेसो च
संयावयंति । निदंतां सुफया इदरे दशयिधे समचारं यतंते । उपकरणविदानं, भक्षणं, अनुपालनं, धिनयो, धंशना
पुतापश्य न तेषामस्ति संशय सह । शुद्धस्वरन्यालिभिर्दय बीयमानं योग्यं, शुद्धंति । तैरपि न दोषोऽस्ति संयोगः ।
तेषां प्रयाणां पंथानां, सप्तामां, नगनां वरस्परैरणास्ति संयोगः ।

कण्वट्टिदो शुक्रप्पी मुंजणसंवाहदाणगहणे वि ॥

संवासंवदणालायणादि मुंजन्ति अण्णोणं ॥

सेयासवदंणोपादण्ण अनुपाण्णादि परिहारि ॥

अनुपरिहारी मुंजदि विवसमाणो वंदणसंवासात्तवणादि ॥

कण्वट्टिदं मुंजदि अनुपरिहारि वि गहणासंवादाणादि ॥

तु गिरियसमाणो विविसमाणं संयासदो न अण्णेण ॥

कण्वट्टिदो मुंजदि संयासणुपसवणिपादि । कण्वट्टिदोणुक्रप्पी पंदिता वेति धम्मलादोत्ति । गारत्थि
अण्णतित्थी यण्णातिग्गीहि निदिसंतो पत्तमुणी को सत्थे वि गिरिय अण्णोणं वणं पंदंति दहण य सौदण व जत्थ ॥
सायमिणो यसादि तेसो तं न पसंथांते । रोचं कुवो इ णो पंदणादीयं ॥ एवं कल्योक्तः क्रमः सर्वसुखंलब्ध्या ।

मौनानिग्रहतास्तिष्ठो भाषाः मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमुद्भाकरणीं प्रश्ने च प्रवृत्तां च मार्गस्य शंकितस्य वा योग्ययोग्यत्वेन शय्याभरणमृदस्य, वसतिलामिनो वा शय्यः । आमाहृदिः श्मशानं, शय्यशृङ्खलं देवकुलं, गुहां वा आगतुं कर्तुं, तच्छोटरे वा वज्रमुपापत्येकवारं । कस्तूरं, कुतो वागच्छसि, गमिष्यसि वा कं देशं, कियश्चिरमत्र वसतिर्युयं कतिजना इति प्रश्ने श्रवणोऽहृदमित्येकमेव प्रतिवचनं प्रयच्छन्ति । इतरन सूर्यामावः । इतोऽवकाशावसर्पणं कुरु, स्यान्मिदं प्रयच्छ, परिणालय गृहमित्येवमादिषो वाग्व्यापारो यत्र तत्र न वसन्ति । गोचर्या यद्यप्यस्मात् तृतीययामे गम्यन्तिद्वयं स्यान्ति । चर्मगृहावातादिभिर्मिथैश्चि व्यापारो गमनस्य अतीतगमनकालास्तत्रैव तिष्ठन्ति । व्याघ्रादिव्यालागमनैरे यदि ते यद्वा युगमात्रं अरसयन्ति । तुल्यस्येत्पदमानमपि न चलन्ति । नेत्रयोर्धूलिप्रवेगे कंठकादिष्विदं वा स्रयं न निराकुर्यन्ति । परे यदि निराकुर्युस्तूर्णोन्मत्तिष्ठते । तृतीययाम एव नियोगतो शिक्षार्थं गच्छन्ति । यत्र क्षेत्रे पदगोचर्या श्रुतवका भवन्ति तत्क्षेत्रमावाप्तप्रयोज्यं शेषप्रयोग्यमिति वज्रयन्ति ।

क्षेत्रं, तीर्थं, कालाभ्युदितं, पर्यायं, श्रुतं, वैदं, लेख्या, स्थानं, संस्नानं, आयामो गानस्य, आयुः, लब्धयः, अतिशयशमीपयति, सिद्धिरित्येते नियोगा इत्युक्तं ध्याः । सेवतः भरतेरावस्योः, प्रथमपरावस्योः तीर्थं, उत्सर्पिणी-अवसर्पिण्याः कालतः, क्षेत्रोपस्थापनाप्रभयाचारिजतः, प्रथमतीर्थेकरकाले देशोन्मत्तिर्कोटीकरकालः । विंशतिवर्षाप्रशत-पर्यं कालः पाप्मास्वतीर्थं । जन्मतस्त्रिंशद्वर्षाः पर्यायतः एकोनविंशतिवर्षाः । श्रुतेन दशपुर्विकः, वैदेन पुत्रपुत्रेयाः, लेख्या-तस्तेत्र-पञ्चशुक्लैरवाः, धर्मध्यानपरा ध्यानतः, आद्यत्रिकसंहननाः पदकान्यतरसंस्थानाः । समहस्तादिपंचपञ्चशतायताः । अष्टादशमासाः पूर्वकोटी वा आयुः । चारणताहारसिद्धिः, विक्रियाहारार्द्धस्र लब्धयः । अर्वाधिमनःपर्ययं केवलं वा योग-समाप्त्यो भाण्डुवन्ति । सिद्धयन्ति वा परेषां । संक्षेपतः परिहारविधिर्गोणा ।

जिनकवयो निकष्यते—जितरागद्वेषमोहा, उपसर्गपरिपदास्त्विमसंहाः, जिना इव विहरन्ति इति जिनकवियका एक एवेत्यतिशयो जिनकवियकान्तं । इतरो छिगादिराचारः प्रायेण ध्यावर्णितरूप एव ।

क्षेत्रादिभिर्निरूप्यते—सर्वधर्मक्षेत्रेषु भवन्ति जिनकवियकाः । कालः सर्वदा । सामाधिकच्छेदोपस्थापने वा चारिजतः । सर्वतीर्थेषु तीर्थतः । जन्मतः त्रिंशद्वर्षाः । आमण्यतः एकान्नविंशतिवर्षाः । त्वदशपूर्वचारिणः । तेतः-पञ्चशुक्लैरवाः । धर्मशुक्लस्यानाः । यथमसंहननाः, पदस्वन्यतरसंस्थानाः । सप्तहस्तादिपंचपञ्चशतायमाः । भिज-मुहूर्तीदिभ्युना पूर्वकोटिः कालः । विक्रियाहारकचारणतादीरास्मावित्यादिमाद्वन तपसा लब्धयो जायन्ते । विरागास्तु न सेपन्ते । अवधिमनःपर्ययं क्षेत्रं वा प्राणुवन्ति केचित् । केयटिनस्ते नियमेन सिध्यन्ति ।

स्वदिवैकपरो सुसुखीर्याचारानुरोधेन नानाविधान्तरमार्गयोग्यानापरणविधीन्विमृश्य स्वायुरूपे यत्र मतिं विपत्ते बहुपेष्टं मायाद्वयमाह—

मूलरा—अपाहंदिभिर्न, अथाहंदिभिर्नियधीणामुच्छापरणं । तद्वत्परिहारं जिनकस्मं च । एषां च स्वरूप-

निर्भयाभिर्नन्दं पूर्वनिर्गमनुसारेण किञ्चिन्निरूप्यते । अथाहं निविधिं विद्या, गच्छ विनिर्गतगच्छप्रतिबद्धमेवम् । तत्र तावद्-
 च्छविनिर्गतामाहं द्विविधिरभिधीयते । परिहारात्सर्वममाचरितुमसमर्था अथाहं द्विविधमुपगुह्य कामाभ्यस्यः, पंच सप्त, नव, बा-
 सानदर्शनसंप्रपञ्चस्तीम्रसंवेगमापन्ना, धर्मोच्चार्यपादमूढनिवासिनोऽवधृतात्मसान्ध्यौ, विदितयुःस्थितयो, धर्मोच्चार्य विज्ञा-
 पयन्ति । भगवन्निन्दामोऽथाहं रक्षसंयमं प्रतिपत्तुमिति । तच्छ्रुत्वा सूरिः समग्रगुणाननुजानामिति । ततस्तु शुभे देवे
 स्थित्वा कृतकौषा गुरुणामाहोचनो कृत्वा कृतकत्वारोपणा अविरोद्धते सर्वे कल्पस्थितमेकं गणस्थालोचनं श्रोतुं, प्रवविशुद्धिं
 च विधातुमुपात्तं स्यादयन्ति स एव प्रमाणं गणस्य । आसना सह यावन्तो गणानिर्गतास्तावन्त एव तत्स्थाने स्थाप-
 यितव्या गते । ददाचारो नित्यव्यते । अथाहं संयत्तानां छिन्नमौर्त्तरिकमेव । कायस्थित्यर्थमाहारं वसति कर्मकलुं
 प्रविलेपनं च ते गृह्णति । तेषं परित्याहं त्यजति । धृष्टिकायमल्लिख्योत्परीपदावीर्यसहन्ते । अन्यथा वेषवः पूर्वनेषापसरंति ।
 रोगेणाभिधातेन वा जनिता वेदना न प्रतिकुर्वति । यथा ह्यपसादिमान्तात्स्वया सहयदृशावर्जकं कुर्वति । अहोरात्रं
 न हसन्ति । यद्यपि का निद्रा तदा रात्रौ स्वपति च । स्वाभ्यायकाले प्रविलेपनाविक्रियास्तेषां न सन्ति । इमशान-
 मप्येवैषां ध्यानमप्रतिपिबेभ । आषडयकेषु ते प्रयतन्ते । ह्यकरणप्रविलेपनं कालव्येऽपि कुर्वति । सस्वामिकेषु
 देवशुद्धादिषु शस्त्राभ्यासद्वया वसति । अनिर्ज्ञातस्यामिकेषु यत्सर्वं सोऽदुसां करोत्वित्यभिधाय वसति । सहसातिचारे
 शार्पेऽनुभवरिणो वा निरुद्धा मे दुष्कृतमिति निवर्तते ।

इच्छामिच्छाकारो य तपाकारो य आसियाणिसिद्धी ॥

आपुच्छा पक्षिपुच्छा छंदनसर्गिमंतणा य उवसेवा ॥

इत्येवं दशविधे समाचारे प्रवर्तते । संपन्न सह तेषां दानं, ग्रहणं, अनुपाकनं, विनयः, सहभोजनं च नास्ति ।
 कारणमपेक्ष्य केचिद्विधेः एव संछापः कार्यः । यत्र सचमो वत्सेनं न प्रथिमन्ति । मौनावग्रहतिरवा अपि पंधानं, संकि-
 ल्यद्वयं, शल्याधरपृष्ठं वा वृच्छन्ति । ग्रामाद्महिरान्तुकागारे कल्पस्थितेनानुसृते वसति । पशुपक्षिप्रमुखैरेव
 ध्यानाविपातततोऽपयान्ति । को भवान् शुभ आयातः, कुत्र प्रसिधयः, कियन्तं कालं अत्र मयता स्येवं, कति यूयमिति दृष्ट्वा
 भगवोऽहमित्येव प्रतिपन्नमेकमेव प्रबळंति । अपसरतः स्यान्मादवकाशं मे प्रयच्छ, परिपालय गृहमित्यादिको जनबल्यो
 'यत्र यत्र न वसति ।' बहिरागि वसतां, यदि मयति ततोऽपयान्ति । स्वाभाव्यगृहे प्रबळिते नः चलन्ति । चलन्ति

या । यदि कंदकारिकं छग्नं, पशुपि वा घृत्याविकं प्रविष्टं स्पेष्टयन्ति न स्पेष्टयन्ति वा । न्यायादिका, न्यायसूत्राणां वा यथापन्नानि ततोऽन्यत्संपन्ति न वा । एका द्वे, त्रिप्रदचतस्रः पंच वा गोचर्यो यत् क्षेत्र तत्राथाखंडकयोगं प्रवर्तयन्ति । गृहीतयाये प्रविष्टगोत्र्या काललाभालाभेऽपि गन्धूतिद्वयं गच्छन्ति । यदि गमनव्याघातो महाबाहेन वर्पादिना वा जातस्त्वं तत्रैव तिष्ठन्ति । यदि कोपि सेपां पाञ्च वीक्षां याचते तदा मनसामि नेच्छन्ति । श्वरे उत्सहाया धर्मोपदेशं कृत्वा महिंरं मुंदिनं शान्तेयानाचार्योणां तं नीत्वा समर्पयति । सर्वेषु धर्मक्षेत्रेषु सर्ववीर्येषु सर्वदा भवन्ति । सामायिकं चेद्देवस्थानत्वं याचरन्ति । सम्मलक्षितद्वयाणि भोगान्युज्ज्वा श्रमण्येनैकोनविंशतिष्वभिवक्ष्यपूर्वणः पुंवेदा, गुरुसक्येदा वा पशुशुक्लेदया वा धर्मप्यानिनः, धृत्संहनेषु संस्थानेषु चैकवरसंहननसंस्थाना देभोनसप्तदस्तापि यावत् पंचशतोत्सेपा अथाखंडककालतो जपन्त्येन भिन्नमुद्रावैश्वः स्थितयः, उत्कर्षेण गतवर्षोनपूर्वकोटिरिथविकाः । क्षीरत्वादावितनो-लन्मीरपि सरागमसेपमानाश्च भवन्ति । एवं गच्छविभिर्गताथाखंडकविधिविन्याख्यातः ।

गच्छप्रतिपद्याखंडकविधिकथ्यते । गच्छाभिर्गच्छतो वहिः सकोशयोजने विहरन्ति । सपरक्रान्ते गणपरः क्षेत्राद्गृहीतया चेत्त्यो द्वादस्यर्धपदम् । तेऽपि समर्था आगत्य मिक्षां गृह्णन्ति । एको, द्वौ, त्रयो वा परिज्ञानधारणागुणसमभा गुरुसफाशमायान्वि । कुवमतिप्रभकार्याः स्वक्षेत्रे गत्वा भिक्षां गृह्णन्ति । अपराज्मस्तु गणधरो गच्छे सूत्रा-र्धचौर्यो कृत्वा अप्रोषानं गत्वा बल्लेन द्वादस्यर्धपदं । अथवा स्वोपाश्रय एव गणधरोऽन्यापसारणं कृत्वा एकस्मै उपवि-शति । यदि गच्छेत्क्षेत्रांतरं गणस्तराथाखंडिका अपि गुरुवृक्षया गच्छन्ति । यदा गच्छनिवासिनः क्षेत्रप्रतिष्ठेखनार्थं प्रवर्तते तदा तत्र मरणेण द्वापद्याखंडिकी यावद् इति ।

परिहार उच्यते । जिनकल्पस्यासमर्थाः परिहारसंयमभारं बोद्धुं समर्था आत्मनो वीर्यमायुः प्रत्यवधार्याश्च ज्ञात्वा वचस्वीर्धरपादमूलदुष्पग्न्य पृच्छन्ति भगवन्परिहारसंयमभाववितुमिच्छामो वयमिति । ततो वेपां ज्ञानमनुष्ठायुपजायते विप्रो वा देभ्योऽन्ये तीर्थक्षेत्रादुभता लोचं कृत्वा गुरुणामालोच्य प्रवृत्तिं कुर्वन्ति । परिहारसंयमाभिमुक्तानां मध्ये पृष्ठमाचार्य कल्पस्थितं स्यापयन्तीति परिहारका भण्यन्ते । तेषां देपाः पञ्चात्परिहारसंयमं गृह्णीत्यनुपरिहारका उच्यन्ते । यापन्तो गणान्निर्गतास्तापन्नो जना न कर्तव्याः । तेऽपि यत्र पंच सप्त नव वा भवन्ति । यदि पुनः केचि-त्परिहारसंयमार्थिन आयान्ति तदा तेऽपि गणमप्ये प्रक्षेप्तव्या यावज्जव । यदि त्रयः एको गणी, द्वितीयः परिहारसंयमं प्रातिपन्नः, तृतीयोऽनुपरिहारको भवति । एवं पण्यसैः परिहारसंयमः परिहारसंयमे निश्चितो भवति । ततोऽनुपरिहारी

परिहारं गृह्णाति । सोऽपि पण्यसे परिहारे निविष्टो भवति । ततः कल्पयित्वा आचार्योऽनुपरिहारकनामा परिहारं प्रतिपद्यते । सोऽपि पण्यसे परिहारे निविष्टो भवति । अथमाद्यशमासाः परिहारप्रवेशने प्रयाणां मुनीनां भवन्ति । एवं पञ्चानां, सप्तानां, अष्टानां अपि यच्छब्दम् ।

इदानीं परिहारसंयतानामाचार उच्यते । वसवियह्वारं प्रतिष्ठेयं च शूक्ष्मं । शेषं परिग्रहं च त्यजेति । गृहार्थैरन्यार्थैर्मिश्रितं द्रव्यार्थं योऽयं प्रतिगृह्णाति । उत्पन्नचतुर्धोपसर्गान्सहन्ते । रोगाभिपूणा अपि प्रतीकारं न कुर्वन्ति । वाचनादिषु पौरुषीयैः सूर्याभेदादुपेक्षन्ते । आपश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति । अहोरात्रेऽपि निरस्तनिद्राः । स्वाध्यायकाले प्रतिवेष्टनानादिक्रियास्तेषां न सन्ति । ध्यायन्ति च निरन्तरं यतः समसातेऽपि ध्यानं न प्रतिषिद्धं । कालहेतुदुष्पकरणानि क्षोध्यन्ति । संयेन सह वंदना, भोजनं, संभाषणं नास्ति । तेषां परस्परमस्ति । भाषात्र-यादन्वय मौनव्रतिनः । तृतीयमाने गोचर्यां प्रविश्य लाभालाभेऽपि गच्छन्ति । परमसह्यासाद्विना यदि गमनव्यापारो जायते तदा ते विष्कम्भगमनकाळास्तत्रैव वसन्ति । व्यावश्यादुपेक्षादयो यदि मन्त्रास्तथा युगमानम-पसरन्ति । अथ दुष्टास्ते पशुमपि न संयन्ते । अक्षिणि भूतिप्रवेशे पादे च कंटकवेधे जाते क्षयं न शक्नुयन्ति । परस्फटेने तु दृष्णीकाः । क्षेत्रतः सर्वपक्षेषु भ्रमन्ति । शीघ्रतः सर्वतोर्गेषु । फालतः सर्वदा । चारित्रतः सामादिकचछत्रोपस्थाप-मिह्य । अन्तर्निष्ठशुद्धिणि भोगमोक्षितः । अस्मैकोऽपि सतिर्पकाः । इत्येतत्पदद्वयवर्षिणः । देहेन युज्यवेदाः । शेरवातः शुभनिर्देशा । ध्यानतो धर्मव्यापिनः । संहननतश्चादित्त्रिकसंहननाः । संस्थानतः पत्रकतरसंस्थानाः । उत्सेधतः सप्तद-शादिपंचयशुश्रूषायाः । परिहारकालो जपन्येनाष्टादशमासायुगाः । उत्कर्षेण गतवर्षिणः पूर्वकोट्यायुगकाः । क्षीरस्ना-यादितोमादात्मनोऽनर्द्धविरागतया न सेवन्ते । शीतोष्णच्छादिसहस्रभूम्या यमनाभावादुच्छिष्टैकपादेन एवमासं ति-ष्ठन्ति । न विद्युताद्यधिशान्तिः योगसमाप्तौ केवलं प्राप्नुवन्ति । एवं परिहारसंयमविधिर्भणितः ॥

चित्रकल्पो निरूपयते चित्ररागद्वेषमोहाः परिपशोपसर्गोरिवेगसह जिना इव विहरन्ति इति चित्रकल्पिताः । से च एकविंशतिः । पूर्वोक्तपरिहारसंयतानाचारलक्षणसमगाः । अयं ॥ विशेषो धर्म्यशुक्लध्यानिसत्त्वो जपन्येनाभि-समुद्भूतामुष्काः अवपि मनःपूर्वकं, केवलं वा प्राप्नुवन्ति ।

अयं — अथाहं विधि, मन्त्रप्रतिष्ठा, इति निर्माण, परिहारविशुद्धिचारित्र्य, पादोपसर्गसमरण और चित्रकल्पावस्था इत्येते कोनसी अवस्थाका आश्रय कर मैं स्तत्रयमें विहार करूँ ऐसा विचार करके साधुको धारण

करने योग्य अरस्या धारण करके समाधि गण करना चाहिये. अब आलंदविधि का स्वरूप टीकाकार कहते हैं—
परिणाम, सामर्थ्य गुरुके द्वारा अनुमति मिलना, प्रमाण, स्थापना, आचार मार्गणा और अथालंद मास कल्प इनका वर्णन इस प्रकारणमें आवेगा.

जिनको आगमार्थका स्वरूप ज्ञात हुआ है, अपना मुनिवस्थाका कर्तव्य जिनहोंने किया है, परिपक्व और उपसर्गको जीतनेमें जो समर्थ है, अपना बल और वीर्य जिन्दगीने व्यक्त किया है, ऐसे मुनि क्या हम आलंद निधि धारण कर सकते हैं या प्रायोगमनविधि धारण कर सकते हैं ऐसा विचार मनमें करते हैं. परिहार विधि धारण करनेमें असमर्थता मात्तम करनेपर अथालंदविधीको धारण करते हैं. अथालंदविधीका स्वीकार करनेकी इच्छा रखनेवाले तीन, पांच, सात अथवा नव मुनि जो कि ज्ञान और दर्शन संपन्न हैं, तीव्र संसारभीरुताको धारण करते हैं, धर्माचार्यके चरण कमलका आश्रय करते हैं, जिनको अपने सामर्थ्यका ज्ञान है, अपनी आयुष्य स्थिति जिनकी मालुम हो चुकी है, धर्माचार्यको प्रार्थना करते हैं. हे भगवन् ! हम अथालंदविधीका आश्रय लेना चाहते हैं. धर्माचार्य उनकी मित्रासि सुनकर जो वैरहीन, शरीरसामर्थ्यहीन है, जिनके परिणामोंमें अविवक्ष्यपना नहीं है उनको त्यागकर, पैर्पादिगुणविशिष्ट मुनियोंको अनुज्ञा देते हैं. गुरुसे परवानगी मिलनेपर गुरुके साथ वे प्रशस्त स्थानमें टहरकर सोच करते हैं. गुरुके सामने दोषोंकी आलोचना करते हैं. आलंदविधीके प्रतीका अपनेमें आरोपण करते हैं. स्वपदपत्रे अनंतर योडे ममयमेंही फरपस्थित मुनिओमेंसे एकको जो कि गणकी आलोचना सुननेके लिये और प्रत्यूद्धि करनेके लिये उद्यत है, स्थापना करते हैं. यह ही गणके लिये प्रमाणभूत माना जाता है. अपनेको साहाय्य करनेवाले जिवने मुनि गणसे निकले हैं उतने मुनि संघमें उनके स्थानमें स्थापन करने चाहिये. अब इन मुनिओंका आचारक्रम कहते हैं—

अथालंद विधीको पालनेवाले मुनि औत्सर्गिक लिंग धारण करते हैं. अर्थात् नम्रही रहते हैं. देहोपकारार्थ आहार, वसति, कर्मबल और पिच्छिकाका आश्रय लेते हैं. बाकी सब परिग्रहका त्याग करते हैं. तृण, चटार्ड, फलक वगैरह उपाधिका त्याग करते हैं. प्राणिसंघमका रक्षण करनेके लिये और विनिरूपताका संपादन करनेके लिये पिच्छिका धारण करते हैं. यदि धर्म और बलमें रहित न होंगे तो अन्य ज्ञानको ज्ञाने समय, यथादि यमीके तरफ गमन करते समय, आहार लेते समय, चैठते समय, प्रति लेखन नहीं करते हैं अर्थात् पिच्छिकासे शरीरस्पर्शन नहीं

करते हैं, गुरीसंस्कारको छोड़ देते हैं, और परिणाम को सहते हैं, हमारे संगम्याचरण करनेके लिये योग्य मनोबल है ऐसा विचार कर तीन या पांच मुनि मिलकर प्रवृत्ति करते हैं, रोमसे अथवा आधातसे वेदना उत्पन्न हो तो उसका इलाज नहीं करते हैं, तपसे जब अतिसूक्ष्म शक जाते हैं, तब अपने सहायकोंका हस्त-हाथका आश्रय लेते हैं, वाचना पृच्छानादिकोंका वे त्याग करते हैं, अहोरात्रमें कदाचित् भी नहीं सोते हैं, एकचिन्ता होकर ध्यानमें प्रयत्न करते हैं, यदि बलात् निद्रा आ जावे तो वे प्रतिज्ञा नहीं करते हैं अर्थात् मे सोउंगाही नहीं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते हैं, अर्थात् रात्रमें सोते भी हैं, स्वाध्यायकालमें अतिलेखनादि क्रिया उनको नहीं है, श्मशानमें भी उनके लिये स्थानका निषेध नहीं है, सामायिकादिक उपश्रयकोंमें वे प्रयत्न करते हैं, प्रातःकाल और सायंकालमें भिच्छिका कर्मबद्ध इनका वे संश्लेषन करते हैं, जिनमंदिर, वसतिका वगैरह सस्वामिक हो अर्थात् उनके कोई मालिक हो तो उनकी अनुज्ञासे वे उभयें रहते हैं, यदि इनके स्वामीका पता याक्स न हो तो जिसके ये जिनमंदिरादिक हैं वे हमको ठहरनेकी अनुज्ञा देवे, ऐसा कहकर उनमें ठहरते हैं, सहसा अतिचार वा अशुभ परिणाम हो गया तो 'मिथ्या' से दुष्कृत' ऐसा बोलकर अतिचार या अशुभपरिणामसे निवृत्त होते हैं, दश प्रकारके समाचारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं, उनकी संपर्क साथ दान, ग्रहण, विनय, आपसमें बोलना ये क्रियायें नहीं होती हैं, किसी कार्यकी अपेक्षासे उनमेंसे एक मुनि भाषण करते हैं, जिस क्षेत्रमें सधर्मा मुनि होंगे उस क्षेत्रमें वे प्रवेश करते नहीं हैं, मोनका नियम होते हुए भी वे रास्ता पछुते हैं, किसी पदार्थमें संका उत्पन्न हुई हो तो उसके निराकरणार्थ प्रसन्न करते हैं, वसतिकाका जो स्वामी है उसके घरका पता पूछते हैं, इस तरह तीन विषयोंमें ही वे बोलते हैं, गाँवके बाहर जहाँ प्रवासी लोक ठहरते हैं ऐसे स्थानमें कल्पस्थित मुनि यदि अनुज्ञा दे तो ठहरते हैं, पशु, पक्षी वगैरह प्राणियोंसे जहाँ ध्यानमें विग्रह होता है वह स्थान वे छोड़ते हैं, आप कौन हैं? आप कहाँसे आये हैं? आप कहाँ जा रहे हैं, आप यहाँ कितने समयतक ठहरेंगे, आप कितने मुनि हैं ऐसा पूछने पर मैं श्रमण, अर्थात् मुनि हूँ, इतना एक ही प्रत्युत्तर देते हैं, अथवा इतर मुनि यौन धारण करते हैं, इस स्थानसे हटो, मेरेको यहाँ रहनेके लिये स्थान दो, मेरे घरका रक्षण करो, इस तरहसे यदि कोई गृहस्थादिक उनकी बाधा ठहरते हुये भी बोलें तो वहाँसे भी वे चले जाते हैं, जिसमें वे ठहरें हैं उस घरको यदि आग लगी तो वे वहाँसे गमन नहीं करते हैं, अथवा गमन करते हैं, आहार यदि नहीं मिल तो तीसरे प्रहरमें दो गन्धर्वि प्रमाण मार्ग चले जाते हैं, यदि बड़े वायुसे, महावृष्टिसे

गमनमें रुकावट उपस्थित हो तो वहाँ ही ठहरते हैं. आगे जाते नहीं. व्याघ्र चमरह प्राणी अथवा वृष्ट पशु यदि रास्तेमें आये तो उस रास्तेसे हट जाते हैं अथवा हटते नहीं हैं. पावमें यदि कांटा चुभ गया, आत्ममें यदि धूलीके कण गये तो वे निरालंते हैं अथवा नहीं भी. दृढ धैर्ययुक्त ऐसे वे मुनि मिथ्यात्वचर्याराधना व आत्मविराधना और अन्य दोषोंका परिहार करते हैं अथवा नहीं हैं. तृतीययाममें भिक्षाके लिये वे उतरते हैं-आते हैं. ठण्ण, याचक, पशु पक्षी, ये सब चले जानेपर आहार लेनेकी इच्छा करते हैं और मौन धारण करते हैं. एक, दोन तीन, चार अथवा पांच गोचर्या जिस क्षेत्रमें होती हैं उस क्षेत्रमें आलंदिका योग करते हैं. [जिससे पाणिपात्रमें मौजन करनेवाला मिथ्यात्वका रोग नहीं करता है. उससे लेपाहार अथवा अलेपाहार का भक्षण कर उसका वे प्रचालन करते हैं] इसका अभिप्राय ध्यानमें आता नहीं है.]

धर्मोपदेश करनेसे यदि कोई पुरुष आपके चरणमूलमें मैं दीक्षा लेनेकी इच्छा करता हूं ऐसा कहे तो भी उसको दीक्षा देनेका विचार वे मनसे भी करते नहीं फिर बवन और शरीर के द्वारा वे उसको क्यों दीक्षा देंगे ? उनको सहाय करनेवाले अन्य मुनि धर्मोपदेश देकर छिलासाहित अथवा मुंदन जिसने किया है ऐसे इस पुरुषोंको आचार्यके मन्त्रिष ले जाते हैं.

क्षेत्री अपेक्षासे ये अथालंद विधि करनेवाले मुनि एकसौ सत्तर कर्मभूमिमें होते हैं. कालकी अपेक्षासे देखा जाय तो हमेशा होते हैं. चारित्रकी अपेक्षासे इनको सामायिक और छेदोपस्थान ऐसे दो चारित्र होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्ग तीर्थचरोंके तीर्थमें ये उत्पन्न होते हैं. वनसे तीस वर्ष तक भोगों को भोगकर मुनि अनस्था में उन्नीस वर्ष तक रहते हैं. अनंतर अथालंदक विधिको धारण करते हैं. ज्ञानकी अपेक्षासे इनको नो पा दस पूर्वोक्ता ज्ञान रहता है. वेदकी अपेक्षासे ये पुरुषवेदी वा नपुंसकवेदी रहते हैं. लेइयाकी अपेक्षासे ये पद्म व शुक्ल लेइयाके धारक होते हैं. ध्यानकी अपेक्षासे ये धर्मध्यानी होते हैं, संस्थानकी अपेक्षासे छहो संस्थानोंमेंसे किसी एक संस्थानके धारक होते हैं. इनके शरीरका प्रमाण कुछ कम सात हाथसे पांचसे घुनुष्यतक रहता है. कालकी अपेक्षासे जपन्य आयुष्य भिन्नमूर्त और उत्कृष्ट आयु. स्थिति आलंदक विधि धारण करनेके पूर्व जितना आयुष्य व्यतीत हुआ है वह पूर्ण फोटिम कम करना यह उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिये. उनको विक्रियाकाद, चारणकृदि धीरास्मान्त्यकृदि इत्यादि कृदियां प्राप्त होती हैं. परंतु विराग होनेसे उनका सेवन नहीं करते हैं. मच्छसे निकल

कर आलंदविधि करनेवाले मुनिओंका यह स्वरूप दिखाना है।

अब गच्छप्रतिवद्दालंदकविधिका विवेचन करते हैं—

गच्छोंसे निकलकर बाहर एक योजन और एक कोसपर ये मुनि विहार करते हैं। शक्तिमान आचार्य क्षेत्रके बाहर जाकर उनको अर्थपदका अध्ययन कराते हैं। अथवा आलंदविधि करनेवालोंसे समर्थ मुनि आकर उनके पास अध्ययन करते हैं। एक, दो या तीन मुनि जो कि परिश्रान, घारणा वगैरह गुणोंसे परिपूर्ण हैं वे गुरुके पास आते हैं। ग्रन्थका कार्य करनेपर अपने क्षेत्रमें जाकर आहार ग्रहण करते हैं। शक्तिरहित आचार्य गच्छमें द्वात्रार्थ पौरोही करके गांवके निकट वनमें जाकर यत्नसे अर्थपदका अध्यापन करते हैं। अथवा अपने आश्रय स्थानमें ही वे इतर शिष्योंको दूर करके एककी पढ़ाते हैं। यदि गच्छ क्षेत्रांतरको बला जायगा तो आलंदविधि करनेवाले मुनि भी आचार्यकी अनुज्ञा लेकर क्षेत्रांतरको जाते हैं। अब गच्छनिवासी क्षेत्रकी शुद्धि करनेका प्रयत्न करते हैं अर्थात् कोनसा क्षेत्र योग्य है इसका यदि अन्येषण करते हैं तो आलंदविधि करनेवाले दो मुनि भी उस क्षेत्रमें मार्गसे जाते हैं। इस प्रकार यह आलंदविधिका विवेचन पूर्ण हुआ।

अथ परिहारविधिका विवेचन करते हैं—

जिनकरूपको धारण करनेमें असमर्थ ऐसे मुनिराज परिहारसंयमका भार धारण करते हैं। अपनी शक्ति, वीर्य, आयुष्य, उपसर्गादिक विघ्न जानकर ये जिनद्र मगवान्के पास जाते हैं। विनय कर और हात जोड़ कर हे भगवन् ! हम आपकी आज्ञासे परिहारसंयम धारण करनेकी इच्छा करते हैं। उनका यह भाषण सुन कर जिनको उत्कृष्ट ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होमा अथवा जिनको विप्र उपस्थित होमा उनको जिनभगवान् रोकते हैं। जिनको जिनभगवानने आज्ञा दी है वे मुनि निःश्रुत्य होकर प्रशस्त स्थानमें जाकर लोच कर, उत्तम निधयसे गुरुके पास आलोचना करते हैं और प्रतीको विशुद्ध करते हैं। परिहार संयमके अभिमुख हुए मुनिओंमेंसे एकको स्वयंदय में कल्पस्थित आचार्य पदोंपर स्थापन करते हैं। वह उस गणमें प्रमाण माना जाता है। वह गणकी आलोचना सुनकर शुद्धि करता है।

कल्पस्थित आचार्यको छोटकर दोष मुनिओंमें अर्धमुनि ग्रथम परिहारसंयम ग्रहण करते हैं। और बाकी के मुनि नंतर परिहारसंयमको ग्रहण करते हैं अतः उनको अनुपरिहारक कहते हैं। इस रीतिसे जो पीछेसे संयम

प्रवृत्त करनेकेलिये आचार्यके पास आते हैं उनको भी अपने गणमें स्वीकारते हैं। जितने मुनिओंसे गण कम उतने प्रमाणका गण करके उसमें परिहारक और अनुपरिहारककी व्यवस्था करते हैं। इसलिये परिहारसंयममें प्रवेश करनेवाले अनुपरिहारक मुनि एक दो और तीन होते हैं।

यदि तीन मुनि गणमें होंगे तो एक गणी है, दुसरा मुनि परिहार संयमको स्वीकार करनेवाला होता है और तिसरा अनुपरिहारी होता है। यदि गणमें पांच मुनि होंगे तो एक कल्पस्थित आचार्य, दो मुनि परिहार संयमके धारक और दो मुनि अनुपरिहारक सम्मलेन चादिये। यदि सात मुनि होंगे तो उसमें एक गणी, तीन परिहारसंयमी और तीन अनुपरिहारक मुनि होते हैं। यदि नौ मुनि हों तो एक गणी चार परिहारक मुनि और चार अनुपरिहारी मुनि सम्मलेन चादिये। छहभास होनेके बाद अनुपरिहारी मुनि परिहारसंयम में पूर्ण प्रविष्ट होता है। नंतर अनुपरिहारी परिहार संयमको ग्रहण करता है। वह भी छह भाससे परिहारमें निविष्ट होता है। तदनंतर कल्पस्थित आचार्य जो कि अनुपरिहार तथा परिहारक होता है। वह भी छहभासके अनंतर परिहारमें निविष्ट होता है। इस रीतसे तीन मुनिओंको परिहारके प्रवेष्टमें प्रमाणसे अठारहभास परिहार चरित्रमें लगते हैं।

अब परिहार संपत्त मुनिओंका लिगादिक आचार कम कहते हैं—

परिहार संयममुनि वसति और आहारको छोड़कर अन्यका स्वीकार नहीं करते हैं। वृण, फलक, आसन, चटाई आदिक संयमके लिये ग्रहण करते हैं। पिच्छिका भी संयमके लिये पास रखते हैं। स्त्रीरसे प्रेम हटाकर चार प्रकारके उपसर्ग सहन करते हैं। उनमें दृढ धैर्य होनेसे वे ध्यानमें निरंतर निमग्न रहते हैं। हमारेमें बलवीर्य और सर्व गुण हैं तथापि यदि हम गणमें निवास करेंगे तो हम वीर्याचार आचरणमें कैसा ला सकेंगे ऐसा समझकर वे हीन, पांच, सात अथवा नौ एणकाके लिये-आहारके लिये जाते हैं। (१) रोगसे और घेदनासे पीडित होनेपर भी उसका इलाज नहीं करते हैं। अयोग्य आहारको छोड़ देते हैं। वाचना, प्रच्छन्ना, और परिवर्तन रूप स्वाध्यायको छोड़ दूसरार्थ फौरनमें भी (१) सत्रार्थकाही चारचार अनुमनन करते हैं। इस रीतसे आठों प्रहरोंमें भी निद्राका त्याग कर ध्यान करते हैं। चिंतन करते हैं। स्वाध्याय कालमें प्रविलेखनादि किया अर्थात् पिच्छिकासे अंग पोछना वगैरह क्रियायें इनको नहीं होती है। क्योंकि स्मृदानमें भी उनको ध्यानका निषेध नहीं है। यथाकालमें आपश्मन्न क्रियायें वे करते हैं। सायंकाल-दुर्ध्यास्त समय और दशोदयके समयमें उपकरणोंको शुद्ध

करते हैं। जिनमेंदिवादिकोंमें अनुना संस्कार वे रहते हैं, जिनके सार्भात्मिका परिश्रम नहीं है ऐसे मंदिरोंमें जिनके ये म्यान हैं वे यथादिक हमको आज्ञा देवें ऐसा बोलकर वहां निवास करने हैं, असीधिका व निषेधिका ये दोन विधि बाहर निकलने के और अंदर प्रवेश करनेके समय करते हैं। निर्देशको छोडकर बाकीके दश प्रकारके ममानारोंमें वे प्रवृत्ति करते हैं, उपकरणवादिकोंको देना, और ग्रहण करना, अनुपालन करना, विनय करना, वंदना करना, अन्योन्य मंभाषण करना इन बातोंका मंथके साथ वे त्याग करते हैं, गृहस्थ अथवा अन्य विभिन्नोने गाथुओंने योग्य यस्तु दी तो ये लेते हैं, परंतु उनके साथ भी विनय, वंदना वगैरे बातें वे नहीं करते हैं, तीन, पांच, सात और नौ ऐसे उन मुनिओंका दानादि विधि परस्पर होता है.

कल्पद्विदशुक्पीदति—कल्पस्थित आचार्य और परिहार संयम पालनेवाले दुसरे मुनि इनका परस्पर व्यवहार होता है अर्थात् महायत्ना देना, ग्रहण करना, एक स्थानमें निवास करना, वंदना करना और परस्पर बोलना ये विधि होते हैं, जो पीछेने परिहार संयम धारण करते हैं वे अनुपरिहारी हैं, वे परिहारीके साथ मंवाग, वंदना, विनय, अनुपालना ये विधि करते हैं, अनुपरिहारी परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनिओंके साथ वंदना, मंवाग मंभाषण ये विधि करते हैं, कल्पस्थित आचार्य मुनि अनुपरिहारीके साथ ग्रहण, संवास स्थान ये निधि करते हैं.

परिहारसंयममें पूर्ण प्रवेश करनेवाले मुनि अपने माधर्मीके साथ अर्थात् परिहारसंयम पूर्ण धारण करनेवालोंके साथ संवाग ही निधि करते हैं दूसरा विधि नहीं करते हैं, कल्पस्थित आचार्य इतर मुनिके साथ रहते हैं व प्रमथतामें भाषण करते हैं, कल्पस्थितको अब अनुकल्पी वंदन करते हैं तब कल्पस्थित धर्मलाभ ऐसा कहते हैं, गुरुस्य अन्य धर्मी माधुओंको मार्गम मंश्रय हो तो पूछते हैं व गणके साथ बोलते हैं, जहां माधर्मीक मुनि रहते हैं उनको देगस्तर अथवा मुनकर उनके क्षेत्रकी प्रशंसा नहीं करते हैं, तो वंदनादिक क्यों करेंगे ? [इन गाथाओंका अर्थ मंपूर्ण गया स्थानमें नहीं आता है, भूल हुई होगी, पाठक सुधार लेवें.] इस रीतीमें कल्पोक्त मंवं कार्य जानना चाहिये.

ये परिहार मंयमी तीन भाषाओंको छोडकर मोगवतको धारण करते हैं, किमीने प्रश्न पूछा तो उमका संदेह दूर करना, धर्मकार्यमें अनुना देना और स्वयं प्रश्न करना ऐसी तीन भाषाओं में बोलते हैं, विहार करते समय मार्गके

विषयमें श्रुता हो जैसे यह मार्ग कहाँ चला जाता है इसका यदि निर्णय न हो तो, उपकरणादिक योग्य है या अयोग्य है इसका निर्णय होनेके लिये, और श्रव्याधरका घर और वसतिकाके स्वामी इस विषयमें वे प्रश्न करते हैं। (वसतिकारको घननेवाला, उसकी सम्मत करानेवाला और यहाँ आप ठहरो ऐसा कहकर वसतिका देनेवाला इन तीनोंको श्रव्याधर कहते हैं।) ग्रामके चाहर, मशानमें, शून्य घरमें, देवगृहमें, गृहामें, प्रवासी रहनेके घरमें अर्थात् धर्मशालामें और झाड़के पोलमें एकबार अनुज्ञा लेकर रहते हैं-आप कोन हैं, आप कहाँसे आये हैं, आप किस देशको आनेवाले हैं, यहाँ आप कितने दिन रुहेंगे, आप कितने जत हैं, ऐसे प्रश्न करनेपर मैं मुनि हूँ ऐसा एक ही उत्तर दे देते हैं। अन्यसमयमें वे मौन धारण करते हैं। इस स्थानसे तुम चले जाओ, हमको यह जगह दो, हम परको नभालो ऐसा यदि कोई भाषण करे तो उस स्थानमें वे रहते नहीं हैं, तीसरे प्रहरमें आहारको जाते हैं उस समय भिक्षा मिले अथवा न मिले हमेशा दो गव्यतितक विहार करते हैं। वृष्टि, जोरसे चेहनेवाली हवा रत्यादि-कोसे यदि धाधा हो जहाँ तक समन किया है वहाँ ही ये स्थिर रहते हैं। व्याघ्रादि प्राणी, दुष्ट बेल वगैरह पशु आनेपर यदि वे भद्र हो तो चार हात अभीन ये पीछे हटते हैं। यदि दुष्ट हो तो एक पैर भी ये हटते नहीं, यहाँ ही स्थिर खड़े होते हैं। नेत्रोंमें धूल यदि गई हो अथवा पावमें यदि कांटा चुभ गया हो तो स्वयं वे मुनि निकालते नहीं हैं। यदि दूसरे कोई पुरुष निकाले तो मौनसे रहते हैं। तीसरे प्रहरमें ही निचमसे भिक्षाको जाते हैं, जिस क्षेत्रमें छद्म भिक्षा अनुकूल होती है वह क्षेत्र रहनेके लिये योग्य समझते हैं। पार्कीका क्षेत्र अयोग्य समझते हैं।

क्षेत्र, तीर्थ, काल, चारित्र, पर्याय, श्रुत, वेद, लेख्या, ध्यान संदहन, संस्थान शरीरकी दीर्घता, आयुष्य, लब्धि, अतिशय ज्ञानोत्पत्ति और सिद्धि इतने नियोग यहाँ वर्णन करने योग्य हैं ऐसा समझना चाहिये।

ये मुनि क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें होते हैं। तीर्थकी अपेक्षासे पहिले तीर्थकर व अन्तिम तीर्थकरके समय होते हैं। कालकी अपेक्षासे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें होते हैं। चारित्रकी अपेक्षासे उनको छेदोपस्थापना चारित्र होता है। प्रथम तीर्थकरके समयमें इनके शरीरकी अवस्था देशोनपूर्व कोटरी रहती है, और अन्तिम तीर्थकरके समयमें एकस्रो वीस वर्षकी अवस्था होती है, जन्मतः तीस वर्षतक भोगोपभोगका सुख-अनुभव लेकर मुनिपर्यायमें उन्नीस वर्ष व्यतीत होते हैं। इनको दशपूर्वका ज्ञान होता है। वेदसे ये गुरुवेदी होते हैं। लेख्याकी अपेक्षासे इनको तेजो लेख्या, पञ्चलेख्या और शुक्ल लेख्या होती है। ध्यानकी अपेक्षासे उनको धर्मध्यान

होता है. इनको पहिले तीन संस्थान होते हैं. और छहों संहननोंमेंसे कोई एक संहनन होता है. इनके देहकी अवगाहना सात द्वायसे लेकर पांचसौ धनुष्यपर्यंत होती है. इनका आयु अठारह मास अथवा पूर्व कीट्री होता है. उनको चारण श्रद्धि, आहारक श्रद्धि अथवा विक्रिया श्रद्धि और आहारक श्रद्धि होती है. योगसमाप्तिके अनंतर अवधि-ज्ञान, मनःपर्यय अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होता है. इस तरह परिहार संयमका निधि कहा है.

जिनकल्पका निरूपण—

जिन्होंने राम द्वेय और मोहको जीत लिया है, उपसर्ग और परीपहल्पी शत्रुके योगको जो सहते हैं और जो जिनेन्द्र भगवानके समान विहार करते हैं ऐसे मुनिश्रौंको जिनकल्पी मुनि कहते हैं. इतनी ही विशेषता इन मुनिश्रौंमें रहती है. प्राक्की मय श्लिगादिक आचार प्रायः जैसा पूर्वमें वर्णन किया है वैसा ही इनका भी समझना चाहिये.

धेयश्रौंको द्वारा इनका वर्णन करते हैं—

सर्वधर्म क्षेत्रोंमें ये जिनकल्पी मुनि होते हैं. कालकी अपेक्षासे ये मुनि सर्व कालमें होते हैं. ये सामायिक और छेवोपस्थापना चरित्रके धारक होते हैं. तीर्थकी अपेक्षासे सर्व तीर्थकोकि तीर्थमें इनकी उत्पत्ति होती है. जन्ममें तीस वर्षतक भोगोंको भोगते हैं. तदनंतर उन्नीस वर्ष तक मुनिपर्यायमें रहकर अनंतर जिनकल्पी मुनि होते हैं. इनको नौ या दश पूर्वोक्ता ज्ञान होता है. इनको तेजोलेश्या, पीतलेश्या, और वचलेश्या ये लेशयाएँ होती हैं. धर्म-ध्यान और शुक्लध्यानमें लीन रहते हैं. इनका श्रयन संहनन वक्षर्षभनाराच नामका होता है. छहसंस्थानोंमेंसे कोई एक संस्थान होता है. इनके देहका आयाम सात द्वायको आदिलेकर पांचसौ धनुष्य पर्यंत होता है. इनका जघन्य आयुष्य भिन्नशुद्धोदिक रहता है. और उत्कृष्ट आयुष्य कुछ कम पूर्व कीटि वर्षका होता है. इनको विक्रिया, आहारक, चारण और हीरास्रपितादिक श्रद्धि होती है परंतु ये वीतराग होनेसे उनका उपयोग करते नहीं. इनको अवधिज्ञान और मनः पर्यज्ञान होता है. कितनोंहीको केवलज्ञान भी होता है. जो कमली होते हैं वे नियमसे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथमचालंद्वैतं प्रतिपद्य चारित्र्यविधिं मयोत्साहः कर्तव्यः इति विचारयति—

एवं विचारयिष्या सदि माह्वये य आउगे असदि ॥

अणिगृहिद्वलविरिओ कुणदि मदि भन्चोसरणे ॥ १५६ ॥

सत्येव स्मृतिमाहात्म्ये विचार्य सति जीविते ॥

भक्तत्प्राप्ते नति धत्ते बलवीर्यनिगूहकः ॥ १५८ ॥

विनयोत्पा—एवं विचारयिष्या—यद्यमुकेन प्रकारेण । विचारयिष्या विचार्य । सदिमाह्वये य स्मृतिमाहात्म्ये न । असदि भाउगे भाग्युपसति दीर्घे । अणिगृहिद्वलविरिओ असंयुतयलसहाय्यं दीर्घे आहारव्यापामाग्यां कृतं शले । कुणर करोति । मर मति । भक्तयोसरणे । भक्त्येते सेवते इति भक्तः आहारः । तस्य त्वार्ग आहारेण समयसाधनेन शरीरस्थिति स्थिर कृत्वा स्वपरोपकारः कृतः । आयुष्यत्वे न शरीरमयस्यातुलमाहारग्रहणेऽपि । तेन स्वाउयो नपाहारः इति भावोऽस्त्य । अत एव सूत्रकारेणेदमुकं दीहो परियावो इति । अयसिपृकालव्यवहारव्यापनाय न फलमायुयोऽस्त्यता एव भक्त्यागमतेः कारणं, अपि तु अव्यवर्पति ।

मूढारा—सदि माह्वये स्मृतिमाहात्म्ये । जमा चरित्तसारो इत्यादिजिनागमरहस्योपवेशब्रह्मणाहितसंस्कारो-
होथयमाग्नरणाभ्तेऽयदयमहं विधिना सहेतनां करिष्यामि इत्यभूतायाः स्मृतेर्माहात्म्ये स्फादीभावे सति । न परमत्रैव । असदि आयुष्यसति य । ईषम् सत् अस्त तन्मिन् असति । अल्पे सतीत्यर्थः ।

इस रीतीसे अथार्लदादिक विधीको जानकर चारित्र धारण करनेमें मेरेको उत्साह करना योग्य है इसका विचार मुनि करते हैं—

अर्थ—उपर कहे हुए अथार्लदादि चारित्रिविधि का विचार कर चारित्र धारण करना ही आगम पदेनका मार है. मैं मरणमभयमें अवश्य सहेतना धारण करूंगा इस तरहका स्मृतिमाहात्म्य यदि आत्मामें स्फुरायमान होगा तो मुनि आहारका त्याग करनेमें खुदि लगाते हैं. अपना आयुष्य अब दीर्घ नहीं है यह भी

जब उनको मातुम पड़ता है तो वह आहारका त्याग करनेमें मतिको उद्युक्त करता है. उस समय आहार और व्यायामसे श्राप क्रिया हुआ बल कह छिपता नहीं है. घर्म साधनको सहायता प्रदान करनेवाले आहारसे मने शरीर घारण कर चिरकाल तक स्वपरोपकार किया है. परंतु जब आयुष्य थोड़ा रहता है तब शरीर, आहार ग्रहण करनेपर भी ठिक नहीं सकता है. इस लिये घरेको अब आहारका त्याग करनाही योग्य है. ऐसा वह सुनि विचार करता है. दीर्घकाल तक मने यह शुनिर्णाय घारण किया है अब आयुष्य थलप रहा है. यह आहार त्यागका कारण है ।

पुरुषुत्पाण्णवरे सल्लेहणकारणे समुपण्णे ॥

तह चैव करिज्ज मदि भत्तपइण्णाए णिच्छयदो ॥ १५७ ॥

सैन्यासकारणे जाते पूर्वोक्तान्यतमे सति ॥

करोति निश्चितं बुद्धिं भक्तत्यागे तथैव सः ॥ १५९ ॥

त्रिलोकेषु—पुरुषुत्पाण्णवरे पूर्वमुक्तानां 'वार्द्ध्या दुष्पस्यता' इत्यादीनां मध्ये अन्यतरस्मिन् । सल्लेहण-कारणे समुप-कापकृपापतनूकरण सल्लेहना तथा-कारणे वा । समुपपन्ने समुपस्थिते । तह चैव तथैव च । यथास्य भावुरि करोति भक्तत्यागे मतिं । तथैव णिच्छयदो भक्तपइण्णाए मदि करेज्ज । निश्चयतो भक्तप्रत्याप्यने मतिं कुर्यात् । यत्प्रधातव्यं मूढनाटनवन्म् ।

न केवलमायुगेऽल्पवैष भक्तत्यागमतेः कारणमपि तु वदत्यदपि इति वर्मव्याह-
मूलात्—अथ आयुष्यस्य तथैवात्रापीत्यर्थः ।

आयुष्यश्री अत्यल्पता ही आहार त्यागके प्रति कारण है ऐसा नहीं है किंतु और भी कारण है—

अर्थ—इसी ग्रंथमें आहारत्यागके दूसरे भी कारण पूर्वमें बताये हैं 'वार्द्धी व दुष्पस्यता' इत्यादि गायामें कारणोंका उल्लेख किया है. जैसे असाध्य व्याधि होनेपर आहारका त्याग करना चाहिये वगैरह इन कारणोंमें कोई कारण उपस्थित होनेपर सल्लेहना करनी चाहिये, आसौक्त निधि की अनुसार शरीर और कर्मायोगोंको हटा करना सल्लेहना है. जैसे अल्पायुष्य रहनेपर आहार त्याग करनेमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिये उसी तरह

पूर्वोक्त कारण उपस्थित होने पर भी निश्चयतो मुक्त-मत्ताख्यानमें—आहारके त्यागमें अपनी मतिको मृनि रुग्रावे, उपर्युक्त दो गाथाओंमें सूत्रकारने अपना अभिप्राय व्यक्त किया है.

भाटाधकस्य मनः प्रणिधानं प्रवर्धयति—

जाव य सुदी न णसदि जाव य जोगा न मे प्याहीणा ॥

जाव य सद्वा ज्ञायदि इन्दियजोगा अपरिहीणा ॥ १५८ ॥

योगा यावल हीयंतं यावन्नश्यति न स्मृतिः ॥

अ॒न्दा प्र॒वर्तते॑ या॒वया॒धिर्दि॒यपा॒टवम्॑ ॥ १६० ॥

विज्ञापोषया—जाव य सुई ण णत्सन्दि यावत्स्सुत्तिने नव्यति । रत्तत्रयाराधनामोचरा अनुभूतविषयप्रक्षिप्ति
तद्विपर्ययमिति प्रयत्नमाना स्मृतिरियुंयते भक्तिमानविकरणा । वस्तुनाधारम्यध्वानं, दर्शनं वयाथाहम्यावगमो ज्ञानं,
समता धारिभिमिति । भूतेनावगते परिणामत्रये बहुपञ्चायते स्मांतज्ञानं तद्विद् स्मृतिरियुच्यते । स्मृतिमूळो व्यवहारः,
स्मृतौ नष्टार्थं न स्वाविति, स्मृत्तिसद्वायकाल एव प्रारम्भा मया संज्ञेनेति विव्यम् । जाव य यावच्च । ओगा
योगा भातापमधया । ज मे परादीणा न मे परापञ्चा. शक्तिवैकल्यात् । विचित्रेण तपसा निर्जरां विपुलां फलुकामस्य
मम तपोऽतिघटे सा न भवतीति यावन्निरतिचारं एवं तपस्वतायासंज्ञेचनां करोमीति कायो विता । जाव य सहा जायन्दि
यावच्च । जायते रत्तत्रयमात्रावयितुं । ताव एतं मे कावमिति वक्ष्यमाणेन संवध. । उपशंसकाहकरणलक्षणेयो हि कुलं प्राः
प्राणिना सुखेनैवांस ज्ञा । मूल ता. अदाया, न च विनष्टा सा पुनर्लभ्यते । न च तामतेनातिशयवतामाहात्यायाः
सुरेण संपद्यते । इदियजोगां इदियाणां यक्षुरादीनां रूपादिभिर्विषयेः संवदा अपरिदीणा हीना न भवति । इच्छोत्रै
दिवाणामपाठ्ये दर्शनधनवर्णायां परिहायोऽसंयम. कथं परिन्ध्यते । इच्छया श्रुत्या स इवमयोव्ययमिति चेति नाम्यथा ।

आराधकस्य प्रणयानं प्रदर्शयन् गायत्रितुष्टयमाह—

मूलांशः—सदी स्युतिः । सा चेद् रत्नन्यायपनागोचरा । स्मृतिसद्भावकाल एव प्रारब्धा मया ससेकनेति भावः । जोगा आतापनादयः । परादीणा पशयन्ताः स्युः शक्तिबैकल्यात् । यावन्निरतिचार्दं तप इति भावः । सद्वा रत्न-प्रयातापने रुचिः । जायदि तदितोभेदिता भवति । उपशमकालकरणलब्धयो हि दुर्द्धमा इति भावः । इन्द्रियजोगा चक्षुरा-दीनां इन्द्रियादिभिः साद संस्था । दर्शनप्रवणमूले ह्यसंयमस्यागः ।

आराधक के चित्तकी एकाग्रताका वर्णन करते हैं.

अर्थ—रत्नत्रयायुधनाको विषय करनेवाला, अनुभूत विषय जो रत्नत्रय उसकी जाननेवाला, और जिसमें 'वह' इस शब्दसे ज्ञानाकार प्रदर्शित किया जाता है ऐसे ज्ञानको सृति कहते हैं. यह सृति भविष्यका एक भेद है. वस्तु के यथार्थ स्वरूपपर श्रद्धा न होना उसको सम्प्रदर्शन कहते हैं. वस्तु के यथार्थ स्वरूपको जानलेना सम्प्रदान है. और रागद्वेषाभावरूप समताको चार्त्रि बोलते हैं. इस रत्नत्रयका आद्योत्पत्ति स्वरूप जाननेपर सम्प्रदानरूप, सम्प्रज्ञानरूप और चार्त्रि रूप तीन प्रकारके परिणाम आत्म्यामें उत्पन्न होते हैं. इस परिणामत्रय संबन्धी जो स्मरणारम्भ ज्ञान उत्पन्न होता है उसको इस प्रकारमें सृति कहना चाहिये. जितना जगत्का व्यवहार चल रहा है उसको सृतिही कारण है. सृति का नाश होनेपर सगद्व्यवहार नष्ट होगा. यह बात ध्यानमें रलकर सृतिज्ञान है तबतक ही मेरेको सहेखना धारण करना योग्य है ऐसा विचार करना चाहिये. जबतक मेरेमें आत्मा-पतादि योग धारण करनेका सामर्थ्य मौजूद है तबतक मैं सहेखना करूंगा. शक्ति कम हो जानेसे आत्मापनादि योग में फर नहीं सकूंगा तब सहेखना मेरेद्वारा विभाना कठिन हो जावेगा. शक्तिरहित होनेपर नाना प्रकारके तपसि में कर्मकी निर्जीर्ण करूंगा ऐसी इच्छा करना व्यर्थ ही है. क्यों कि उस समय मेरे द्वारा जो तप किया जावेगा उसमें अतिचार उत्पन्न होंगे. तपमें अतिचार रुग्नेपर सहेखना कैसे सिद्ध होगी? अतः जबतक निरतिचार तप करनेमें मेरा सामर्थ्य है तबतक मैं सहेखना धारण करनेके लिये 'उद्युक्त होऊँ' ऐसा मनमें विचार करना चाहिये. जबतक रत्नत्रयायुधन करनेमें मन श्रद्धायुक्त-उत्साहयुक्त है तबतक मैं सहेखना धारण करनेमें समर्थ होऊँगा ऐसा विचार साधु करे. प्राणिकान्ति उपशमलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि इनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. विद्वान् भिन्न जैसे प्राप्त होना दुर्लभ है. ये तीन लब्धियाँ श्रद्धाके मूलधारण हैं. श्रद्धा विनष्ट हो गई तो फिर उनकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है. श्रद्धाके बिना अतिशययुक्त मनुष्य भी आहारका त्याग सुखसे नहीं कर सकता है. जबतक इंद्रियाँ अपने विषयको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं तबतक सहेखना धारण करना योग्य है. नेत्र और रूप अपने विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ होनेपर देखनेसे और श्रवण करनेसे जो असंयमका परिहार होता है वह कैसा होगा? देखकर और सुनकर यह जयोग्य है ऐसा मुनि जानेंगे अन्यथा नहीं.

जाव य खेमसुमिक्खं आयरिया जाव णिज्जवणजोग्गा ॥

अत्थि तिगारवराहिदा णाणचरणदंसणाविसुद्धा ॥ १५९ ॥

क्षेमं यावत्सुमिक्खं च संति नष्टास्त्रिगारवाः ॥

यावन्निर्यापका योग्या रत्नत्रितयसुस्थिताः ॥ १६१ ॥

विजयोपेक्षा—आद्य य रोमसुमिक्खं यावच्च खेमसुमिक्खं, स्वचक्रोपद्रवस्य व्याधेर्मोर्गोष्ठाभावः क्षेम इत्युच्यते । प्रचुररधान्वता सुमिश्रित्यम् । एतदुभयवतरेषु दुर्लभा निर्यापकाः, तानन्तरेण चतुष्काराधना । आयरिया जाव आचार्यो वाचस्पति । फीरम्भुता णिज्जवणजोग्गा निर्यापकत्वयोग्याः । तिगारवराहिदा मारुधत्रयपद्धिताः त्रिदिरल नानशुक्रकाः दे न भयन्ति । अस्त्रिगारो हस्तवतमपि जने निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं च नासंयममीयमवति । भस्त्रयमकारणं धनुमननं च न परिहृत्यतीति । रत्नास्त्रासुरको क्लेशासह्य शरीरपरिकर्म कथं कुरुतः । किं स्वयं सरागो वैराग्यं परस्य संपादयत्येवेति न नियोनोऽस्ति । णाणचरणदंसणविसुद्धा ज्ञानचारिज्वरक्षेत्रेषु विशुद्धाः निर्मलाः । जीवादिप्रायात्मगोचरता ज्ञानस्य विनाशिकः । दर्शनस्यापि समीचीनज्ञानसम्प्राप्तिता, अरक्तविरता च चारिप्रशुद्धिः । शुद्धज्ञानचरणदंसनशुद्धा ज्ञानवैभवंचारिविशुद्धा मण्यन्ते । यथा प्रष्टुं शक्नुम्युणयोर्गावक्षुप्लुतम इत्युच्यते पट्यादिः ॥

नूजारा—क्षेमं स्वचक्रपरचक्रोपद्रवत्वादिगदायमावः । सुमिक्खं प्रचुररधान्वता । सद्बुद्धं हि विना निर्यापका दुर्लभाः स्युः । निर्यापणजोग्गा णिज्जवणं संसारार्णवाभिर्योतः प्रयोजकत्वं । तत्र योग्याः समर्थोः । तिगारवराहिया त्रिदिरल रत्नास्त्रावशुक्रका दे न स्युः । त्रिदिरवियो हस्तवतमपि जने निर्यापकत्वेन स्थापयति । स्वयं वा नासंयममादिवेति । नात्य-संयमफारिणीमनुनाति त्यजति । रत्नास्त्रावशुक्रको तु क्लेशासह्य कथमाराधकत्वं कावपरिकर्म कुरुतः ।

अर्थ—जन्तवकं देशमें खेम और सुमिक्ख है तयतक शरीरका त्याग करना मेरे लिए योग्य अवसर है. अपने देशमें सैन्यसे उपद्रव न होना, और किसी रोगसे और मारी रोगसे देश पीडित न होना ऐसी अवस्थाको खेम कहते हैं. और देशमें धान्यकी समृद्धि होना सुमिक्खता है. देशमें ये दोनो परिस्थितियां जन्तवक है तयतक सहेलना घारण करना श्रेयस्कर है. खेम और सुमिक्खताके अभावमें निर्यापकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ होता है इसलिए सहेल-

१ 'रत्न वारम्भ' ताव रामं ? ' एवं सदि परिणामो ' ' संतम साधनमेतत् ' इति गाथात्रयं सख्याल्लं नशुद्धके नष्टमिति ।

खनाके लिए इन तीनोंकी आवश्यकता है. इन तीनोंका अभाव होनेपर स्वतन्त्राराधना और तप-आराधनाकी निधि होना दुर्लभ है. नियामकत्वके योग्य आचार्य ज्वरक देखमें विद्यमान हैं तबतक सहेखना करना चाहिये. आदिपारय, समपारय, और सामगारय इनसे रहित आचार्य हो तो उनसे सहेखना की सिद्धि भुनि कर सकते हैं. जिनको आदि प्रिय है ऐसे आचार्य असंयत पुल्लको भी नियामक पदमें स्थाप्ये. स्वयं भी असंयमसे भयपुक्त न होंगे. असंयमके कारणभूत अनुमोदनका उनसे परिहार होना असंभवनीय होता है. जो आचार्य रसत्रिय और मुखमिय हैं वे स्वयं संशय सहन करना नहीं चाहते हैं. अतः वे आराधकके देहकी शुश्रूषा कभी करेंगे ? स्वयं सरागी आचार्य आराधकसे वैराग्यके भाव उत्पन्न करेंगे यह निश्चय नहीं है. जो आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य को निरतिचारतया पालते हैं उनसे ही आराधककी सहेखना सचेरी जो जीवादि पदार्थोंके यथार्थस्वरूप को पहिचानता है वही ज्ञान विबुद्ध समझना चाहिये. दर्शन भी सम्यग्ज्ञान का साथी होता है. रामदेवका अभाव होनेसे चारित्र्यमें निर्मलता आती है. अर्थात् निर्मल रत्नश्रवणरक आचार्य से ही आराधक सहेखना धारण कर सकती है अन्यथा नहीं.

तात्र स्वयं मे काण्डं सरिणिक्खेवणं विदुपसत्तयं ॥

समयपडायाहरणं भत्तपइणाणियमज्जणं ॥ १६० ॥

तायन्मे देहनिक्षेपः कर्तुं युक्तो युचेहितः ॥

भक्त्यागो मतः त्वत्ते व्रतयज्ञो ध्वजग्रहः ॥ १६१ ॥

विजयोदया—ताय रामं मे काण्डं । तावयुक्तं कर्तुं मम । किं ? सरिणिक्खेवणं शरीरनिक्षेपणं शरीरस्य ज्ञानं । विदुपसत्तयं विद्वत्जनसंस्तुतं आत्महितत्वात् । समयपडायाहरणं समयः सिद्धांतः तस्मिन् सीतिता पताका आराधना पताकेय पताका उपमार्थः । यथा पताका वस्त्रादिरचिता जवाहिरके प्रकटयति । एवमियं आराधनापि भवनिर्मुक्त प्रकटयति । तस्या हरणं प्रद्वलं । भत्तपइणं सकप्रत्याख्यानं नियमज्जणं व्रतयज्ञः । ननु शरीरव्ययोगोऽप्ययः, अन्यव्याजः, अज्ञानं, तपः, तपः, परिणतिरन्त्याप्यद्वैतव्यञ्जनं, अन्यमपि च मतानि उत्तरं सामानाधिकरण्यादिर्देहाः ? अत्रोच्यते—प्रत्येकमभिरूपेण कार्यः । ताय रामं मे काण्डं इत्यनेन शरीरनिक्षेपणं इत्यादीनां । ततोऽप्यर्थः—शरीरव्यञ्जनं, सम्यग्दर्शनाविशिष्टमनं, भक्तप्रत्यापसानं, व्रतयज्ञश्च तावदकर्तुं अयुक्तमिति ।

मूला—एवं शर्म युक्तं । निम्नस्वेवर्णं त्यजानं । विदुषस्य विद्वज्जनसंस्तुतं व्यवहृतत्वात् । समयपट्टाया-
हरणं पताकेय पताका आराधनोच्छेदे । भाविन्या मुण्डेयशिव-प्रकटनात् । समये सिद्धान्ते कीर्तिता पताका तस्या
हरणं प्रदूषणं । विद्यमानं नवतन्त्रं शरीरत्यजन । सम्यग्दर्शनादिपरिणामनं भक्तप्रत्याख्यानं । प्रत्ययज्ञानं तावत्कर्तुं युक्ता ।
निमित्तिदासो ? शरीरनिन्देयणं देहमगस्त्यागहेतुकत्वात् । पुनः किमितिश्च समयपट्टायाहरणं । मरणे आराधना
परिणतेस्तत्ताप्यत्यात् । अत एव सा व्रतयज्ञः समीहितार्थसाधकं व्रतम् ।

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंका संझाव होनेपर शरीरका त्याग करना मेरेको योग्य है और यह आत्महितका
करनेवाला होनेसे विद्वज्जन इसकी प्रशंसा करते हैं, यह शरीरका त्याग अर्थात् सख्खनागधना आगममें जयपता-
काके समान माना है, जैसे पताका वस्त्रादिसे रबी आवी है और वह जयादिको व्यक्त करती है वैसे यह आरा-
धना भी संसारसे मुक्तता की प्रकट होती है, उपर्युक्त कारण के संझावमें शरीरका त्याग करना मानो हाथमें आ-
राधना पताका धारण करना है, यह भक्तप्रत्याख्यान अर्थात् आहारत्याग व्रतयज्ञ है, शंका—शरीरत्याग भिन्न
है, ज्ञानगुण भिन्न है थदा, चारित्र्य और तपमें परिणति ये बातें भी भिन्न ही हैं और आहार का त्याग करना
उनसे भिन्न है और नत भी भिन्न है अतः भक्तप्रत्याख्यानके साथ इनकी समानाधिकरण्या कैसी सिद्ध होगी ?
'ताव शर्म से काउं' इस वाक्यसे शरीरनिन्देयणं इत्यादिकोंका संबन्ध करना चाहिये ऐसा करनेसे समानाधिकर-
ण्या सिद्ध होगी, इसका अभिप्राय यह है—व्रतक उपर्युक्त कारणोंका संझाव न होगा तबतक शरीरत्याग,
सम्यग्दर्शनादिरूपसे परिणामन, आहारोंका त्याग और व्रतयज्ञ करना अयोग्य होगा.

ध्यामर्चितस्य परिणामस्य गुणमाहात्म्यं कथनागोचरगाथा—

एवं सदिधारिणामो जस्स दढो होदि निच्छिद्वधंदिस्स ॥

तिव्वाए मेदणाए वोच्छिज्जंदि जीविदासां से ॥ १६१ ॥

एवं स्मृतिपरिणामो निश्चितो यस्य विच्यते ॥

तीत्रायासपि बांधायां जीविताशास्य नश्यति ॥ १६३ ॥

इति षण्णयसत्रम् ॥

विजयोदया—यद्यं सदपरिणामो व्याप्यतिष्ठत्युतिपरिणामो यस्मात्तज्ज्ञानमेव परिणामः । अस्स ददो होल्ल
पस्य स्सुतेहंदो भवेत् । निच्छियमदिस्स निच्छित्तमते । करिव्यासेव शरीरनिक्षेपणं इति कृतनिश्चयस्य । जीविदासा
वोविच्छन्नर जीविते आशा व्युच्छिद्यते । विद्याय वेदनाय तीमायामपि वेदनाय सुदीर्घायां पतत्तनीकारं कृत्वा जीवामीति
चित्ता न भवति । से तस्येति जीविताशायाव्युच्छेदो गुणः सूचितः । परिणामं गच्छे ।

मूढारा—सदिपरिणामो सृतिपरिणामः । निच्छिद्यमदिस्स करिव्यास्येव फायत्तामादिकमिति कृतनिश्चयस्य ।
जीविदासा एतत्प्रतिकारं कृत्वा जीवामीति चित्ता । से तस्य । परिणामः । सूत्रवः । ७ । अंकवः ८ ॥

लिसका वर्णन पूर्व याथायै किया है ऐसे परिणामके गुणमहात्म्यका वर्णन इस गायसे आचार्य करते
हैं—

अर्थ—मैं शरीरका त्याग करूंगा ही ऐसा जिसने निश्चय किया है उस मुक्तिका स्मृति परिणाम उपर्युक्त
विचारसे दृढ हो जाता है, तब तीव्र वेदना उत्पन्न होनेपर भी इसका इलाज कर मैं पुनः जीर्णगा ऐसी चित्ता उसके
मनमें उत्पन्न नहीं होती है, उसकी जीनेकी इच्छा नष्ट होती है, अतः इस स्मृति परिणाममें जीविताशाका नाश
करदेवाला गुण है ऐसा समझना चाहिए, परिणाम गुणका वर्णन हुआ।

उपाधि अहं इति एवं स्वस्वये प्रपंचेन—

संज्ञमसाधनेन उर्वधि मोक्षं मेसय उर्वधि ॥

पञ्चद्वि विमुक्तेस्ते साधू मुक्तिं गवेतन्तो ॥ १६२ ॥

उपधि मुचतेऽद्योपं मुक्त्वा संयमसाधकम् ॥

मुमुक्षुर्गुणमुक्तिं मुद्वलेद्यो महात्मनाः ॥ १६४ ॥

विजयोदया—संज्ञमसाधनेन संयमः साधते येनोपकरणेन तत्त्वन्मार्गं कर्मदुलुपिच्छमात्रं । उर्वधि परिग्रहं
मोक्षं मुक्ता । सेसयं अयशिष्टं । उर्वधि अयशिष्टं । उपधिनोम विच्छान्तरं कर्मण्डलान्तरं वा तदानीं संयमसिद्धी न
करणमिति संयमसाधनं न भवति । येन साधते संयमः साधते तदैव संयमसाधनं अथवा ज्ञानोपकरणं अयशिष्टोपधि-
कृत्यते । पञ्चद्वि प्रकरणेन योगत्रयेण त्यजति । विमुद्वलेस्ते विमुद्वलेष्यः । साधू साधुः । मुक्तिं मुक्तिं कर्मणामायं ।
गवेतन्तो दृग्गण्य लोभकषायेनानुवृजिता योगवृत्तिवि विमुद्वलेष्य गृहीता । सा परिग्रहत्वायै प्रयत्नयत्यात्मन-
मिति ॥

अभ्योपधित्यागारापकस्य पियेतया गायानवकेनोपदिशति यत्र चादौ द्रव्योपधित्यायं गायान्वेनाह—

मूलार—संजयसाक्षिणमेवं कर्मण्डुपिच्छमात्रं । सेसयं पिच्छान्तरकमण्डलवन्तरूपं । तदानीमन्यस्य संयमसाधनत्वाभावात् । अथवा पुस्तकवर्तिकं श्लेषद्वन्द्वेनानोच्यते । पञ्चद्वि भोगत्रयेण त्वजति । विसुद्धलेस्सो लोभकपायाननुसंजितयोगप्रवृत्तिकः ॥

उपधिं च जहण इन दो पदोंका आयेके प्रबंधसे ग्रंथकार वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिस उपकरणमे संयम साध्य होता है उसना ही परिग्रह छोड़कर बाकीका परिग्रह विस्तृत लेख्यावान् और कर्मके अपायाका अन्वेषण करनेवाला साधु योगव्रतसे छोड़ता है, तात्पर्य—सल्लेखनाके समय साधुकी योगप्रवृत्ति लोभकपायसे अनुरंजित नहीं होती है, अतः वह एकही पिच्छका और एकही कर्मण्डलु रखता है, क्योंकि उससे हि उनका मंयमसाधन होता है, दूसरा कर्मण्डलु और दूसरी पिच्छिका उसको संयमसाधनमें कारण नहीं है, जिससे सल्लेखना के समयमें संयम सिद्ध होगा है वही संयमसाधक है, अवशिष्ट ज्ञानोपकरण शाला भी उस समय परिग्रह माना गया है, उनका भी वह साधु त्याग करता है, उसकी निलोभवृत्ति उस समय सर्व परिग्रहोंका त्याग कराती है-

यत्सत्यादिकं तर्हि त्याज्यतया नोपविष्टमिति आशङ्किते तत्प्रागमुपविष्टति—

अप्यपरिग्रहम उपधिं बहुपरिग्रहम् च दोवि वज्जेइ
सेज्जा संथारादी उत्सग्गपदं गवेसंतो ॥ १६२ ॥

साधुर्गोपयन्मुक्तिं शुद्धलेख्यो महामनाः ॥
चिहुंवात्पुपधिं सर्वमत्पानत्पपरिक्रियम् ॥ १७४ ॥

विजकोत्तरा—अप्यपरिग्रहम् उपधिं आत्यपरिकर्तुं निरीक्ष्यप्रमाज्जनविधित्वादिकं यद्विप्रलं परित्यजं । यद्

मदत् परिकर्म यद् न च । सो हि दागति वत्सेहि बर्द्धयति यमोचाकार्यः । सेव्यासंयमारवी पतसि संस्तुतार्द्रिकं । उस्तस्यगर्दं
उत्तर्जनं त्यागः तदेव गदं । परिग्रहत्यागपदान्वेषणकारिणी यावत् । गायाम्बेयनातिमोदेन इत्योपधित्यागो व्याख्यातः ।
इयता परित्यगातः परिग्रहत्यागः ।

मूलारा—परियम्—विशेषणप्रभाजितविद्युन्नादिकम् । उत्सस्यगर्दं परिग्रहपरित्यागप्रधानं ।

संस्तर वगैरह त्याज्य है वेसा नहीं कहा होगा ऐसी शंका की जाने पर आचार्य उनके त्यागका उपदेश
करते हैं—

अर्थ—जिसमें अल्प परिकर्म है अर्थात् निरीक्षण करना, स्वच्छ करना, झटकना इत्यादि क्रिया जिसमें
थोड़ी करानी पड़ती है और जिसमें उपर्युक्त क्रिया अधिक करनी पड़ती है ऐसे दो प्रकारके भी परिग्रह मन, वचन
और रूपसे माधु त्यागते हैं, क्योंकि परिग्रहत्यागका वे अन्येषण करनेमें उत्तर रहते हैं, इस लिये वस्तुतिका
और श्रवणा भी त्याग वे करते हैं.

पंचविहं जे सुद्धि अपाविदूण भरणमुवणमन्ति ॥

पंचविहं च विवेगं ते खु समाधि ण पावेन्ति ॥ १६४ ॥

औत्सर्गिकपदान्वेषी शय्यासंस्तरकादिकम् ॥

पंचधा शुद्धिमप्राप्य ये विवेकं च पंचधा ॥ १६५ ॥

विषयते समाधि ते लभते न विमोदिनः ।

विजयोदया—पंचविहं जे सुद्धि इत्यादिना हि प्रतिपाद्यते पूर्वमसूचितमिति । शनोच्यते—योग्योपादनमेधा-
पोषयत्पानमालादिभार इत्युपहित्याग पर्याय्यायते उत्तरप्रेयनापि ॥ पंचविहं पंचप्रकारं । सुद्धि शुद्धि । अपाविदूण
अप्राप्त । जे ये । मरणं मृति । लवणमंति प्राप्नुवन्ति । पंचविहं च विवेकं परिहरणं पृथग्भावं अप्राप्य
मृतिमुपपन्ति । एतु शब्द व्यवसायः स च क्रियापदात्परतो योज्यः । समाधि ण प्राप्नुवन्त्येवेति । उपधिपरित्यागाभावे
समाप्यभाषो दोष आख्यातः ।

मूलारा—सुद्धि नैमंश्यं । लवणमंति प्राप्नुवन्ति । विवेकं पृथग्भावं । अन्यथेनाह—

मर्थ—पांच तरहकी शुद्धिको प्राप्त न करके जो साधु मरण करते हैं, तथा पांच प्रकारके विवेकप्राप्ती

आश्रय न लेकरही जो साधु मरते हैं वे समाधिको प्राप्त होते नहीं हैं, 'पंचविहं जे सुद्धि' इत्यादि सूत्रसे कोनसा विषय आचार्य कहते हैं ? पूर्वमें न कहा हुआ विषय दिखाते हैं क्या ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं. योग्यका ग्रहण करना ही अयोग्यका त्याग है. अतः आगेके सूत्रोंसे भी परिग्रह त्यागका ही वर्णन किया है ऐसा समझना.

पंचविहं जे सुद्धि पचा णिसिलेण णिच्छिदमदीया ॥

पंचविहं च विवेकं ते तु समाधिं परमुवेति ॥ १६५ ॥

शुद्धिं ये पंचषा प्राप्ता ये विवेकं च पंचषा ॥

सर्वत्र निश्चितस्त्वन्ताः समाधिसुपयान्ति ते ॥ १६७ ॥

विलगोद्देश—के समाधिं प्राप्नुयधेतियत्र आह—पंचविहं पंचविहं जे सुद्धि पचा ये सुद्धि प्राप्ताः । णिसिलेण साकश्येन । णिच्छिदमदीया निश्चितमतयः । पंचविहं पंचविहं च विवेकं ते तु समाधिं परमुवेति । ते सुद्धं समाधिं परमुपयान्ति ।

मूलाः—णिसिलेण साकश्येन ।

अर्थ—समाधि किनको प्राप्त होती है इसका उत्तर आचार्य महाराजने इस गायमें दिया है—जो साधु पूर्णतया निश्चित मतिको प्राप्त हो गये हैं अर्थात् शरीरत्याग करनेका निश्चय किया है. बिन्दुनि पांच प्रकारकी शुद्धिका और पांच प्रकारके विवेकका आश्रय किया है वे समाधिको प्राप्त होते हैं. उपाधिका यदि त्याग न किया हो तो समाधिकी-मनकी एकाग्रताभी प्राप्ति नहीं होती है.

॥ एषा पंचविषा शुद्धिरित्याह—

आलोयणाए सेज्जासंथारुवहीण भत्तपाणस्स ॥

वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खल्लु पंचहा होइ ॥ १६६ ॥

शुद्धिरालोचना शय्या संस्तरोपधिगामिनी ॥

वेयाधृत्यकराहारपानजाता च पंचषा ॥ १६८ ॥

विजयोदया—आलोचनाए आलोचनायाः शुद्धिः । शय्यासंस्कारयोः या शुद्धिः, उपकरणशुद्धिः, वेद्यावृत्त्यकरणशुद्धिरिति पंचविधा । मायासुषारहितता आलोचनाशुद्धिः । मनोमतवृत्ता माया । व्यतीकता वासो मृणा । मायाकषायः स च परिग्रहः 'उत्तरादि तद् कसमा' इति वचनात् । मृणा कथं परिग्रहः इति चेत् उपधीयते अनेन-तुपधिचिरिति शब्दव्युत्पत्तौ उपधीयते उपधीयते कर्म अनेन व्यतीकेनेत्युपधिरित्युच्यते । यत्र यस्यादरः कर्महेतौ तत्तत्तुपधिरेवेति भावः । उद्गमोत्पादवैषम्यादोषपरिहृता मोदं इत्यपरिग्रहात्ता च वसतिसंस्कारयोः शुद्धिस्तामुपगतेन उद्गमादिदोषोपहतयोर्वसतिसंस्कारयोस्तथाः कृत इति यवत्युपरिग्रहाः । उपकरणावीनामपि उद्गमादिपरिहृता शुद्धिस्तास्यां सत्यां उद्गमादिदोषदुष्टानां अन्ययमसाधनानां मोदं भावमूलानां परिग्रहार्ण त्यागोऽस्त्येव । संयतयेयावृत्त्य-प्रममता येनावृत्त्यकारिशुद्धिः सत्यां तस्यां भवतता आत्ममता न मम वेद्यावृत्त्यकरा इति लीकियमाणारूपका भवति । कथं पंचाशुद्धिरित्याह—

मूला—मायामुषारहितता आलोचनायाः शुद्धिः । उद्गमादिपरिहृता मोदमित्यपरिग्रहात्ता च वसति संस्कारोपकमनादीनां । संयतत्वं कथमहा च वेद्यावृत्त्यकराणां । मायादिप्रमाणान्तरांगसंपत्त्या एव ।

अर्थ—आलोचनाधी शुद्धि, शय्या और संस्कारकी शुद्धि, उपकरणोंकी शुद्धि, मक्तपानशुद्धि, वेद्या-वृत्त्यकरण शुद्धि ऐसी शुद्धि पांच प्रकारकी है.

आलोचना शुद्धि, माया और असत्यमाणका त्याग करना यह आलोचनाशुद्धि है. मनमें कष्ट निवार रहना यह माया है. असत्य माणको मृणा कहते हैं. माया यह एक कषाय है और वह परिग्रह है. 'चत्वारि तद् कसमा' इस वचनसे मायामें कषायपना सिद्ध है. असत्य माणको परिग्रह कैसे समझना ? उत्तर—असत्य भाण भी उपधि-परिग्रह है क्योंकि 'उपधीयते उपादीयते फलं अनेन व्यतीकेनेत्युपधिरित्युच्यते' इस असत्य माणसे कर्मग्रहण होता है अतः इसको भी उपधि परिग्रह—ऐसा नाम अन्यर्थाक है. कर्मग्रहणको कारणभूत जिस पदार्थमें जिसका आदर है वह सर्व उसके लिये उपधि ही है. वसतिसंस्कार शुद्धि—उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषसे रहित होकर यह भेदा है ऐसा मात्र वसतिका में और संस्कारमें होना यह वसतिसंस्कार शुद्धि है. इस शुद्धिमें जिसने धारण किया है उसने उद्गम उत्पादनादिदोष युक्त वसतिका और संस्कारका त्याग किया है ऐसा समझना चाहिये. इसलिये इसमें भी उपधित्याग सिद्ध हुआ है. पिंहीकर्मद्वय वगैरे उपकरण भी उद्गमादिदोषरहित हो तो वे शुद्ध हैं. उद्गमादि दोषसे अशुद्ध उपकरण असंयमके

विजयोक्त्या-रंद्रियकसाग इति । इंद्रियविवेकः, कषायविवेकः, भक्तपानविवेकः, उपधिविवेकः, वेहविवेकः इति विवेकः पंचमकारो निरूपितः पूर्वगणेषु । स पुनः पंचमकारोऽपि द्विविधः । द्रव्यकृतो भावकृत इति । रूपादिविषये चक्षुरादीनामदरेण कोपेन वा अद्वर्तनं । इदं पदयामि शृणोमीति वा । तथा तस्या निविडकुचवटं पश्यामि, नितिवरोम-राज्ञे वा विलो रूपाणि, प्रयुतं जयतं स्पृशामि, कलं गीतं सावधानं शृणोमि, मुलकमलपरिमलं जिघ्रामि । विवाधरं समा-हृष्टाश्रयामि इति वचनानुगारं वा द्रव्यतं इंद्रियविवेकः । भावत इंद्रियविवेको नाम आतेऽपि विषयविषयसंबन्धे रूपादि-गोचरस्य विज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य रामभोगाभ्यां विवेचनं, रमकोपसहचारिरूपादिविषयमानसङ्गानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः । मूलतासंकोचनं, पाटलेक्षणता, अधरावमर्दनं, शस्त्रानिकटीकर-णं, हस्तादिकावस्थापात्रकरणं । हन्मि, तालश्यामि, शूलमारोपयामि इत्यादिवचनाप्रयोगश्च । परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलं-काभाभौ भावतः शोधविवेकः । तथा मानकषायविवेकोऽपि पाक्वाभ्यां द्विविधः । गन्धणां स्तब्धताकरणं, शिरस उन्नमनं, उज्ज्यास्तनोर्दृष्टादिकं च यन्मानसूचनपरं तस्य कावच्यापात्रस्वाकरणं । मसः कौ वा युतपात्राः सुचरितः सुत-पोधनश्चेति वचनाप्रयोगश्च । एवमेवैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति मनसाहंकारयज्जनं भावतो मानकषायविवेकः । पाक्वाभ्यां नाम्युपगच्छामि इति वा कथनं वाचा मायाविवेकः । अन्यत्कुर्वत इवाभ्यस्य कायेनाकरणं कायतो मायोपदेशस्य वा, मायां न करोमि न कारयामि, कषायविषेकोऽपि द्विविधः । यनास्य लोभसादुर्दिष्टय कप्रसारणं, द्रव्येशानपायिता, तदुपादशुक्रामस्य कायेन निदेयनं इत्तासंभया निवारणं, शिरश्चालनया वा एतस्य कावच्यापात्रस्य अकरणं कायेन लोभविवेकः । शरीरेण वा द्रव्यानुपादानं पतन्मदीयं यस्तुप्रामादिकं वा बहुमस्य स्वाभीति वचनानुपाकरणं वा लोभविवेकः । गाहं कस्यचिदीशो न च मम किञ्चि-विवेकं विषेचयतिः—

मूळारा—रूपादिषु यष्टुपादीनां रागेण द्वेयेण वा अश्ववर्त्ममिदं पश्यामीत्यादिरूपेणान्ताविकरेणेन वाग्व्यापा-रेण वा द्रव्यत इंद्रियाविवेकः । भावतस्तु आतेप्यज्ञाभेदोत्ते रूपादिज्ञानस्य भावेन्द्रियाभिधानस्य रागद्वेयाभ्यां विषेचनं वत्सादृश्यादिरूपादिविषयमानसङ्गानापरिणतिर्वा । द्रव्यतः कषायविवेको द्वेया कायेन वाचा च । तत्र शुद्धायाकरणं कषिको, हन्मीत्याषानुच्चारणं च वाचिको द्रव्यतः कोपाविवेकः । भावतस्तु परपरिभवादिनिमित्त चित्तकलंकाभातः । वन गात्रस्तब्धताप्रकरणं काशिकः । मसः कोऽन्यः श्रुतपात्रगामीत्याद्यमापणं च वाचिको द्रव्यतो मानविवेकः । भावतस्त्वैतेभ्योऽहं प्रकृष्ट इति भासाहंकारवर्जनं । मायाविवेको वाक्कायाभ्यां द्विविधः । स चान्यं ज्ञप्तव इत्यान्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो, भायोपदेशस्य वा मायां न करोमि न कारयामि, नाम्युपगच्छामि इति वा कथनं

नायिकः । अन्यत् कुर्यात् इत्यान्वयः कार्यवाकरणं अधिकः । द्रव्यतो लोयविवेको यत्रास्य लोयवस्तदुचितश्च कुर्यात्सार-
णाधिकः कायेन । मयेदमित्याशयवचनं वाचा । यावत्सु मयेदंभावस्वरूपमोदअपरिणामापरिणतिः । वैयावत्स्यकैः सद्या-
संवासाः, कायेन वा कुर्यात् वैयावत्स्यं मया लब्धा मयमिति वचनं वाचा तद्विवेकः ।

पांच प्रकारके विवेकोंका वर्णन करनेवाली माथा—

अर्थ—इंद्रियविवेक, रूपायविवेक, भक्तपानविवेक, उपधिविवेक, देहविवेक ऐसे विवेकोंके पांच प्रकार
पूर्वागममें कहे हैं.

यह विवेक द्रव्यविवेक और भावविवेक ऐसा दो प्रकारका है.

इंद्रियविवेक—रूपादि विषयोंमें नेत्रादिक इंद्रियोंकी आदरसे अथवा कोपसे प्रवृत्ति न होना. अर्थात्
यह रूप मैं देखता हूं. शब्द मैं सुन रहा हूं. इस रीतीसे प्रवृत्ति न होना. मैं उसके कठिन कुषट-स्तन देखता
हूं. मैं उस स्त्रीके नितंबको तथा वल्लभके उपरकी रोमपंक्ति देखता हूं. उसके विस्तृत जवनका स्पर्श करता
हूं. उसका मधुर गायन सावधान होकर सुनता हूं. उसके मुखरुमलका सुगंध नाकसे ग्रहण करता हूं. उसके अघ-
रोष्ठका रस पीता हूं. ऐसे वचनोंका उच्चारण न करना यह द्रव्यतः इंद्रियविवेक है.

भावइंद्रिय निवेक—स्पर्शादि विषय और स्पर्शनादि इंद्रिय इनका संबंध होने पर भी जो रूपादिका ज्ञान
होता है उसको उपयोगात्मक भावेन्द्रिय कहते हैं. यह ज्ञान होकर भी रागद्वेषसे भिन्न रहना इसको भावेन्द्रिय
विवेक कहते हैं. रागद्वेषसे युक्त ऐसी रूपादि विषयमें मानसिक ज्ञानकी परिणति न होना अर्थात् रूपादिकोंका
ज्ञान होकर भी मन रूपादि विषयोंमें रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणत न होना यह भी भावेन्द्रिय विवेक है.
द्रव्यतः कयाय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद होते हैं. भौतिक संकुचित करना, नेत्र लाल होना, ओष्ठदंश
करना, दास हाथमें लेना, इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कायविवेक होता है.

मैं मारूंगा, ठोकरूंगा, झूलपर चढ़ऊंगा इत्यादि वचनोंका प्रयोग न करना यह वचन विवेक है.

दूसरोंका पराभन करना, योगद के द्वेषपूर्ण विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है.

मानकरागविवेक भी वचन और शरीरके निमित्तसे दो प्रकारका है. शरीरके अवयव ताठ करना,
मस्तकतो ऊंचा करना, उचासन ५८ चढ़ना वगैरह कृत्य मानसूचक है. शरीरके द्वारा ऐसी क्रिया न करना. मेरेसे

साधन हो जाते हैं. उममें ये मेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होता है अतः वे परिग्रह हैं. उनका त्याग करना यह उपकरण शुद्धि है.

वैद्यावृष्यकरणशुद्धि—साधुजनकी वैद्यावृष्यकी पद्धति जान लेना यह वैद्यावृत्त्य करनेवालोंकी शुद्धि है. यह शुद्धि होनेसे असंयत लोक अकमज लोक ये मेरा वैद्यावृत्त्य करनेवाले नहीं हैं ऐसा समझकर त्यागो जाते हैं.

अहंवा वंसणणायचरित्तसुद्धी य विणयसुद्धी य ॥

आवासयसुद्धी वि य पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥ १६७ ॥

दर्शनज्ञानचारिन्निविनयावश्यकाश्रया ॥

अथवा पंचधा शुद्धिविधेया शुद्धयुद्धिना ॥ १६९ ॥

विजयोदया—अहंवा अथवा वंसणणायचरित्तसुद्धी य, विनयसुद्धी य, आवासयसुद्धी वि य आधश्यक-शुद्धिहेति पंचयिज्जया इय सुद्धी शुद्धिर्भवति । नि.शंकित्वादिगुणपरिणतिर्विशंगशुद्धिः सत्यां सत्यां शंकाकांक्षाविचि-किस्तादीनां अशुभपरिणामानां परिरुद्धानां त्यागो भवति । कोले पठननिर्यादिका ज्ञानशुद्धिः, अस्यां सत्यां अकालपठनाद्याः क्रिया ज्ञागवर्णमूलाः परित्यक्ता भवति । पंचविंशतिभयनाश्वरित्तशुद्धिः सत्यां तस्यां अतिशुद्धीतमताप्रचारादिशुभपरि-जानोऽन्त्यतस्परित्यक्त्यक्तो भवति । दृष्टफलान्वयेक्षिता विमलशुद्धिः । सत्यां सत्यामुपारुणादिलोभो निरस्तो भवति । मनसावधारयोगनिवृत्तिः विमगुणानुरागः वंचमानश्रुतादिगुणावृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरी-रास्तरादुपकारित्यनयना, चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यां वशुभयोगो जिनगुणानुरागः श्रुताविमाहास्येऽनावरण, अपरा-धावृत्ता, अप्रत्याख्यानं, शरीरममता बल्यभी दोषाः परिग्रहनिराकृता भवन्ति ।

तामेव प्रकारं परिणाम—

मूलाराः— वंसण इत्यादि निःशंकित्वादिगुणपरिणतिर्विशंगशुद्धिरस्यां सत्यां शंकाद्यक्षुभपरिणामानां परिग्रहणां त्यागः स्यात् । एवं ज्ञानचारिण्योरपि । दृष्टफलान्वयेक्षता विनयशुद्धिरस्यां सत्यां वपकरणदिलभा-लानो निरस्तः स्यात् । सावययोगनिवृत्तिर्विमगुणानुरागो, वंचमानश्रुतादिगुणावृत्तिः, कृतापराधविषया निंदा, मनसा प्रत्याख्यानं, शरीरास्तरादुपकारित्वभावनं चेत्यावश्यकशुद्धिरस्यां सत्यामशुभयोगावयो आवदोषाः परिग्रहा निरस्ता भवन्ति ।

अर्थ—अथवा दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि और आवश्यकशुद्धि ऐसी पांच प्रकारकी शुद्धि है.

दर्शनशुद्धि—निःशुद्धित पनोरह गुणोंकी आत्मामें परिणति होना यह दर्शनशुद्धि है- यह शुद्धि होनेसे शंका, कांछा, विचिकित्ता वगैरह अशुभ परिणामरूपी परिग्रहोंका त्याग होता है।

ज्ञानशुद्धि—योग्य कालमें अध्ययन करना, जिससे अध्ययन किया है ऐसे शुद्धका और शास्त्रका नाम न छिपाता ह्यादिरूप ज्ञानशुद्धि है- यह शुद्धि आत्मामें होनेसे अकालपठनादिक क्रिया जो कि ज्ञानावरण कर्मो-स्रपक्षो कारण है त्यागी जाती है।

चारित्र्यशुद्धि—प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनायें हैं, पाँच व्रतोंकी एसीस भावनायें होती हैं इनका पालन करना यह चरित्रशुद्धि है- इन भावनाओंका त्याग होनेसे मन स्वच्छंदी होकर अशुभपरिणाम होते हैं- ये परिणाम अम्यंत्तर परिग्रहरूप हैं, व्रतोंकी भावनाओंसे अभ्यंतर परिग्रहोंका त्याग होता है।

वित्तशुद्धि—कीर्ति, आदर इत्यादि लौकिक फलोंकी इच्छा छोड़कर साधयिकजन, गुरुजन इत्यादिकोंका नित्य करना यह वित्तशुद्धि है, इसके होनेसे उपकरणदि लोभका अभाव होता है।

आनन्दशुद्धि—साधनयोगोंका त्याग, जिनगुणोंपर प्रेम, वंदन आचार्यादि गुणोंका अनुसरण करना, क्रिये हुए अपराधोंकी निंदा करना, मनसे अपराधोंका त्याग करना, खरीरकी असारता और अपकारीपनाका निवार करना यह सप आपश्यक श्रद्धि है- यह श्रद्धि होनेपर अशुभ योग, जिन गुणोंपर अमेम, आगम, आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके गुणोंपर अभीति, अपराध करने परभी मन में पश्चात्ताप न होना, अपराध का त्याग न करना, और शरीरपर ममता करना ये दोष परिग्रहका त्याग करनेसे नष्ट होते हैं।

पंचविधविभक्तप्रस्थापनाद्योपता गथा-

इन्द्रियकसायउवर्धीण मत्तपाणरस चावि देहत्स ॥

एस विवेगो भणितो पंचविधो दब्धभाजगदो ॥ १६८ ॥

विचैको भक्तपानांगकपायाक्षोपधिश्रितः ॥

पंचधा साधुना कार्यो द्रव्यभावगतो द्विधा ॥ १७० ॥

अधिक आत्त प्रीण कौन है ? मेरेसे अधिक चारित्र्यका पालन किमसे होता है ? मैं ही अच्छा तपस्वी हूँ ऐसा मुझमें वचनप्रयोग न करना मैं इन सुनिश्चित उत्कृष्ट हूँ ऐसा मनके द्वारा अभिमानको छोड़ना यह भाव मान कषाय विनैक है।

वचन और शरीरके निमित्तसे मायाविवेक दो प्रकारका है- एक विशिष्ट व्यक्तिके विषयमें बोलता हुआ भी मानते अन्यमें ही बोल रहा हूँ ऐसा दिखाना यह वचनसे माया है ऐसी मायाका त्याग करना अथवा कष्टका उपदेश न करना, किन्ता मैं माया न करूँगा न कटाउंगा, करनेवालोंको अनुमतिदान नहीं करूँगा इत्यादि वचनको मायामायाविवेक कहते हैं।

शरीरमें एक कार्य करता हुआ भी मैं अन्यही कर रहा हूँ ऐसा दिखाना यह शरीरकी माया है, इस मायाका त्याग करना कायमायाविवेक है।

लोभ कषाय विवेक— जिस पदार्थ में लोभ है उसके तरफ अपना हाथ पसारना, जहाँ यह पदार्थ है वह स्थान सुरक्षित रखना, यदि कोई मनुष्य उस वस्तु को लेनकी इच्छा करता हुआ दीखे तो शरीरसे निषेध करना, हाथ ही सहनानी से मना करना अथवा मस्तक को हिलाकर निषेध करना इत्यादिक शरीरक्रिया न करना यह क्षायलोभ विवेक है। शरीरसे द्रव्य को न उठाना यह भी कायलोभ विवेक है, यह मेरी वस्तु है, ये ग्राम घर गोरह पदार्थ मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ ऐसा वचनोच्चार न करना यह भी वाचालोभविवेक है, मैं रिजनीका स्वामी नहीं हूँ, मेरी कुछ भी वस्तु नहीं ऐसा वचनोच्चार करना यह भी वाचा लोभ विवेक है, यह मेरा है ऐसी जो मोहसे उत्पन्न होनेवाली परिणति वह भावलोभ है परंतु इस परिणति को न होने देना यह भाव लोभविवेक है।

अहंवा सरीसेज्जा संथास्वहीण भत्तपाणस्स ॥

वेज्जावच्चकरण य होइ विवेगो तहा चेव ॥ १६९ ॥

सोअथा पंचधा शय्यांसत्तरोपधिगोचरः ॥

वैयाधुलकराहारपानविग्रहसंश्रयः ॥ १७१ ॥

विजयोदया—अदरा अथवेति । विवेकः प्रकाशतेरणायेत्ये । शरीरसेखासंभारुहणीमत्तपणस्य शरीर-
विवेकः । वसतिसंस्तरविवेकाधुपकरणविवेकः, मच्छयानविवेकः । वेडावकाकरणं यं वेपावृत्तराणां च विवेको
भवति । तदा चैव तथैव द्रव्यभाषायां इति यावत् । तत्र शरीरविवेकः शरीरेण निरूप्यते । संसारिणः शरीरादि-
वेकः कथमिति चेत् । शरीरेण स्वशरीरोपद्रवपरिहरणं । शरीरं उपद्रवन्तं नरं तिर्येवं वेपं वा न हस्तेन
प्रिवारयति । मां कृपा ममोपद्रवमिति दंभमशक्यद्विक्कुमुजंमसारमेयादीय हस्तेन, पिच्छाधुपकरणेन, दंडादिप्रियां माप-
सारयति । उग्रपिच्छकटकप्रारणवित्ता या न शरीरस्यां करोति । शरीरपीडां मा कृपा हस्तावचनं । मां
पालयेति या, शरीरमिदमन्यदेवतं चैतन्येन सुपुष्टु, एतदेवेन याविशिष्टमिति यचनं यावा विवेकः । वसति-
संस्तरवेपिवेको नाम फायेन वसतावनासने प्राग्युपितायां । संस्तरे या प्राक्तेन अशयनं भवासनं । यावा लज्जामि
वसतिसंस्तरमिति यचनं । फायेनोपकरणानामनावागेन, अस्यापमं कविदरक्षा च उपधिविवेकः । परित्यक्तानीमानि
क्रानोपकरणदीनि इति यचनं यावा उपधिविवेकः । भक्तपानयोरतशानं या कोपेभ भक्तपानयिवेकः । पश्यन्तं भक्तं
पानं या न सुखमि इति यचनं यावा भक्तपानविवेकः । वेपावृत्तराः साधिव्यादयो ये ये वेपां फायेन विवेकः
तेः सहसंयासः । मा कृपा वेपावृत्त्यं इति यचनं, मया लज्जा यूयमिति यचनं । सर्वत्र शरीरादीं अनुगतस्य भवेदे
मानस्य या मनसा भकरणं भाषविवेकः ॥

तमेव पुनर्भाषतेरणाह—

मूढारा—द्रव्यभाषाभ्यामित्यर्थः । वन द्रव्यतस्तावत् । स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवपरिहरणं शरीरविवेकः ।
शरीरपीडां मम ना कृपा इति मां पालयेति वा अयचनं । शरीरमिदमन्यदेवतमिति यावि यचनं या वाविवेकः । एवं फायेन
प्राग्युपितायां वसतावनासने संस्तरे या प्राक्तेन अशयनमनासनं वा । यावा त्यजामि संस्तरमिति यचनं च शय्यादिसंस्तर
विवेकः । फायेनोपकरणानामनादानमरयापनं कविदरक्षा च । यावा परित्यक्तानीमानि भवेति, यचनं योपाधिकविवेकः ।
भक्तपानयोरतशनमपानं य फायेन भक्तपानविवेकः । एवंभूतं भक्तं पानं च न गृहामि इति यचनं वावा तद्विवेकः ।
सर्वत्र शरीरादीं अनुगतस्य भवेदे भाषस्य या मनसा भकरणं भाषविवेकः ।

अर्थ—विवेकने दूसरे प्रकारसे भी पांच भेद हैं वे इस प्रकार—शरीरविवेक, वसतिसंस्तरविवेक, उपकरण
विवेक, भक्तपानविवेक और वेपावृत्त्यकर विवेक इन पांच भेदोंमें प्रत्येकके द्रव्य और भाव ऐसे दो दो भेद होते
हैं.

शरीरविनिर्ग—अपने शरीरको कुछ उपद्रव होने लगा तो वह अपने शरीरसे दूर न करना, शरीरको
उपद्रव देनेवाले मनुष्य, तिर्येव अथवा देवको अपने हाथसे दूर न करना, भरेको उपद्रव मत करो ऐसा कह कर हास

मन्त्र, विच्छेद, नर्प, कुत्ते वगैरह प्राणिओंको वह हस्तसे दूर करता नहीं है। पिच्छिकादि उपकरणसे अथवा दंडादि-
 त्तोस हटाता नहीं है, छत्र, पिच्छिका, चटार्द, श्रावरण वगैरहसे वह अपने शरीरकी रक्षा नहीं करता है-शरीरको तुम
 पीटा मत करो इत्यादिबचन वह कहता नहीं है, अथवा मेरा रक्षण करो ऐसा वचन वह कहता नहीं है, यह
 शरीर आत्मासे भिन्न है, अचेतन है, यह चैतन्यसे अथवा सुखदुःखानुभवसे अविशिष्ट है अर्थात् रहित है यह
 वाचा पियेक है।

यस्यसिंस्तारविषेक—जिस यस्यसिंसे पूर्व कालमें निवास किया था उसमें निवास न करना, पूर्व
 मंस्तरमें—शुश्रूषामें न सोना, अथवा न घेंटना, मैं यस्यसिंका और संस्तरका त्याग करूंगा ऐसा बोलना।

उपकरण निषेक—शरीरके द्वारा उपकरणोंकी ग्रहण न करना, उनको स्थापन न करना, और उनका
 रक्षण न करना, यह उपधिनिषेक है, मैंने ज्ञानोपकरणादिक उपकरणोंका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना।
 यह वाचा उपधिनिषेक है।

भक्तपान विषेक—आहार और पीनेके पदार्थ भक्षण नहीं करना यह शरीरके द्वारा भक्तपानविषेक है,
 इस तरहका आहार और पानी मैं ग्रहण न करूंगा, ऐसा वचन बोलना यह वाचा भक्तपानविषेक है।

पैयावृत्त्यक्त विषेक—पैयावृत्त्य करनेवाले जो अपने शिष्यादिक हैं उनका शरीरसे त्याग करना अर्थात्
 उनमें साथ रहना छोड़ देना, तुम मेरी पैयावृत्त्य मत करो, मैंने तुम्हारा त्याग किया है ऐसा वचनके
 द्वारा बोलना।

सर्ग शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे हैं ऐसा भाव छोड़ देना यह भावविषेक है।

परिग्रहपरित्यागम्भं उपदिशति—

सञ्चत्य द्रव्यपञ्चयममत्तिसंगविजडो पणिहिदप्पा ॥

पिपणयपेमरागो उवेच्च सञ्चत्य समभावं ॥ १७० ॥

पदायोंमें उनके रूप, रस, गंध, स्पर्शादि पर्यायोंमें भी जिसने भ्रम, स्नेह और आसक्ति करना छोड़ दिया है ऐसा सत्पुरुष द्रव्योंमें और उनके पर्यायोंमें शम्यद्वेषमा त्याग कर सभताभावका स्वीकार करता है.

पदायोंको जाननेके समय शमरूप और द्वेषरूप परिणति छोड़कर केवल पदायोंको जानना ही समता है. उपाधि नामक प्रकरण समाप्त हुआ.

परिषद्परिषदागदन्तरोऽपि कार विनिर्माण, प्लवङ्गवाक्यशुक्लामः चित्तिषण्णस्याप्येवमेव स्वाचष्टे भावधिति-
द्रव्यधितिरिति, अग्रकृतं धितिशब्दार्थे निराकृतुमिदं दर्शयितुम्—

जा उवरि उवरि गुणपडिवची सा भावदो सिदी होवि ॥
वज्जसिदी गित्सेणी सोबाणं आरुहंतस्स ॥ १७१ ॥

उपर्युपरि छुट्ठेयु गुणेच्चारुहन्ते यया ॥

भावधितिरभागेया विशुद्धा जीववासना ॥ १७३ ॥
भंदिराविपु तुंगेषु सुखेनारुहन्ते यया ॥

द्रव्यधितिमेता प्राज्ञैः सा सोपानाविलक्षणा ॥ १७४ ॥

विजयोक्ता—जा या । उवरि उवरि उपर्युपरि गुणपडिवची गुणप्रतिपत्तिः । ज्ञानध्यानसमानभावानां गुणानां प्रवृत्तानां उपर्युपरि गुणनासयार्थानामेव प्रतिपत्त्यां सा भावदो भावेव । सिदी होवि धितिरभवति । परिणाम सेवेति यावत् । मय का द्रव्यधिति ? जसोत्तरमाह—द्रव्यसिदी श्रीयते इति धितिः द्रव्यं च सत् धितिश्च सा द्रव्यधिति । पदाधीयते द्रव्यं मिश्रणीसोपानादिकं तदपि धितिशब्देनोच्यते । आरुहंतस्स आरोहन्ते ॥

अपेयं सत्त्वचिदिरंगान्तरंगसंगेभ्र मुमुक्षुणोप्युपरि विशुद्धपरिणामसेवा विपातव्येवि गात्रापटकेनोपदेन्दुकामो भावधिविद्रव्यधितिरष्टान्वसुन्दीहृतस्वरूपा निरुपयधिरमाह—

मूढारप—उवरीत्यादि—ज्ञानब्रह्मानसमभावानां गुणानां प्रवृत्तानामुपर्युपरिगुणानां तथामुत्तानामेव प्रतिपत्तिः परिणति । भावदो सिदी मानेन परिणामेन धितिः परिणामसेवेति यावत् । वज्जसिदी श्रीयव इति धितिः द्रव्यं च तच्छिद्र-
विभ्र सा द्रव्यधितिः । आरुहन्त्वस्म ग्रामावबिब बोधमारोहन्त्यवयव ।

‘परिग्रहोक्ता त्याग करना’ इस अधिकारके अन्तर्गत अथि नाभक अधिकार है इसका वर्णन करनेके प्रथम अथि शुद्धके भावअथि और द्रव्य अथि ऐसे दो अर्थ करते हैं। अथि शुद्धके अमकृत अर्थका निराकरण मात्र इष्टार्थ दित्तानेके लिये भावअथि और द्रव्यअथि ऐसे दो प्रकार आचार्यने दित्तार्ये हैं।

अर्थ—सम्पददर्शन, सम्पददान और समानभाव अर्थात् चारित्र्य इन गुणोंकी गुणितरूप उत्तरोत्तर उन्नतवस्थाकी प्राप्त करलेना यह भावरूप अथि है अर्थात् अपनेमें स्थाय्यका दिन श्रुतिदिन उत्तरोत्तर विकाशही करते जाना उसको भावअथि कहना चाहिये। और कोई उच्चस्थानमें स्थित प्रदार्थ लेना चाहें तो निश्चयी का अवलम्बन लेकर एक एक सोपानांशिक क्रमसे जो चढना वह द्रव्यअथि है।

अभयो. ॥१॥ या शुद्धित्यज्ज्ञाह—

संछेद्गुणं करोती सत्त्वं सुहृसील्यं पयसिदूण ॥

भावसिदिभारुहिता विहरेज्ज सरिणिज्जिण्णो ॥ १७२ ॥

द्रव्यअथिं परित्यज्य भावअथितिमथिअत्तः ॥

चारित्र्ये वेष्टतां शुद्धे त्पयतुकासः कलेवरम् ॥ १७५ ॥

विजयोपया—संछेद्गुणं सहेयना करोती कुर्वन् । सत्त्वं सुहृसील्यं सर्वो सुखभायनां आसनवापमभोजनविधिपया । पयसिदूणं प्रकर्षेण तपस्या योगज्जयेणेति यावत् । भावसिदिभारुहिता श्रद्धाभादिपरिणामसेवां प्रतिपद्य विहरेज्ज प्रयत्नेन । सरिणिज्जिण्णो क्षापीयनि स्पृहाः । किमनेन शरीरेण, सुखेभवासायेण, अशुचिभा, कृतमेन, भारेण योगभावाकरेण, ज्ञानमरणप्रतिद्वेतेन नु शविधायेनेति ॥

प्रथमसुखपक्षेन निर्वेदसुखजयितुं भावअथिवाश्रित्य प्रवर्तितव्यमित्यनुशास्ति ॥

मूलात्—सुहृसील्यं मोक्षनासनशयनगदिविषयां सुखभावनां । पयसिदूणं प्रकर्षेण योगज्जयेण त्यक्त्वा भावसिदिभारुहिता श्रद्धाभादिपरिणामसेवां प्रतिपद्य । विहरेज्ज प्रयत्नेन । सरिणिज्जिण्णो किमनेन शरीरेण सुखमेन, निःसारेण, अशुचिभा, कृतमेन, भारेण, योगभावाकरेण, ज्ञानमरणप्रतिद्वेतेन, नुःस्वविधायिनेति देहस्पृहादिजिह्वात्वाः ।

दो अथिजोमैसे प्रकृत विषयमें जोनसी अथि ग्रहण की है इस प्रशंसा उत्तर आचार्य कहते हैं।

मूलार—अणिओमवियाणया ह्यनुयोगज्ञाः । वियाणंता विक्षेपेण हेयोपादेयतालक्षणेन लक्षयन्तः । सिद्धिदुषर्वा
अयोधःपाशनिक्षेपं जपन्यन्तापरिणामप्रवादपठनं च । मंदायमानशुभपरिणामो ह्यनुभपरिणामनियतनाटकर्मणा शिथल्यनुभावो
प्रकर्षयति ।

अर्थ—द्रव्यश्रिति और भावश्रितिको जानने वाले अनुयोगज्ञ आचार्य ऊपर ज्ञानके लिये नीचे नीचेके
स्थानमें पदनिक्षेप करना प्रशंसनीय समझते नहीं है.

भावार्थ—‘अणुयोगवियाणया’ इस पदसे अनुयोग शब्द सामान्यवाचक है तो भी धरणाद्युयोगका
वाचक समझना चाहिये. अतः ‘अणुयोगवियाणया’ इस पदका अर्थ आचार्यगके जाननेवाले विद्वान् ऐसा समझना
चाहिये. अथवा प्रथमानुयोग, धरणाद्युयोग, चरणाद्युयोग और द्रव्याद्युयोग इन चार अनुयोगके ज्ञाता ऐसा भी अर्थ
होता है. चार अनुयोगके ज्ञाता भूतके माहात्म्य को जाननेवाले आचार्य ऊपर ज्ञानके लिये नीचे नीचे पदनिक्षेप
करते जाना प्रशंसनीय नहीं समझते हैं. अभिप्राय यह है कि, शुभ परिणाम युक्त साधुओंको उस परिणामोंकी शुद्धि
करनेकाही प्रयत्न करना चाहिये. उत्तरोत्तर अष्टम अथवा जघन्य परिणामों के प्रवाहमें नहीं वह जाना चाहिये.
उत्कृष्ट श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करने वाले आचार्य जघन्य परिणामोंकी निंदा करते हैं.

जिसके शुभ परिणाम उत्तरोत्तर मंद हो रहे हैं वह यदि क्रमसे विपुल और बड़ा कर्मरूपी अंधकार कैसा
नष्ट करनेमें समर्थ होगा ? प्रत्युत वह नाशके समुत्पन्न हुए दीपके समान कर्मरूप अंधकारको बदानमें सहायकही
होगा. मंद होनेवाले शुभपरिणाम अष्टम परिणामोंकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं. ऐसे परिणामोंसे कर्मका स्थितिबंध
और अनुभागवर्षय पुष्ट होता है. और दीर्घ संसार में भ्रमण करना पड़ता है. सम्यग्ज्ञानरूपी धातुसे प्रेरित गया शुभ-
परिणामरूप अग्नि जब बढता जाता है तब वह कर्मरूपी वृक्षको सखीन बनाकर उसको धराशायी कर देता है.
अर्थात् कर्मोंका नाश करता है.

श्रितरेणस्थानपरितारक्यनानयोत्तरगया—

गणिणा सह संख्याडो कज्जं पइ सेसण्हिं साह्हिं ॥

गोणं से भिच्छजणे भज्जं सण्णीसु सज्जणे य ॥ १७४ ॥

गणितैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ॥

कुदाष्टिभिः समं मौनं शान्तैस्त्वैव विकल्प्यते ॥ १७७ ॥

विज्ञयोदया—गणिता सह सावधारणभिर्दं गणितेव सह । संलावो प्रश्नप्रतिवचनप्रबंधः, नान्यैः सह चिरभाषणं कार्यः । आचार्येण सह संलापः शुभपरिणामस्य हेतुत्वित्युपपद्यते । इतरे तु प्रमादितो यत्किंचिद्ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विवक्षुः । फलं परं कार्यं सं प्रति । सेसनेति साधुद्वि श्रेयैः साधुभिः संभाषणं कार्यं, न प्रबंधरूपा कथा कार्यः । मौनं मीमंसेव । ते तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारुहस्य । मिच्छज्जणे मिथ्यादृष्टिज्जने । स्वायं वदपरिकरस्य किं तेनानुपकारिणा हितोपदेशाविना । मज्जं मान्यं विकल्प्यं मौने । सखीभिस्तु मिथ्यादृष्टिवाच्युपसंगतेषु । सज्जणे य स्वजने च । मिथ्यादृष्टौ अस्यामवस्थायां मदीयं यजने भुत्वा सम्यग्दर्शनविक्रमिमे यद्वेतीति यथासि संभावना श्रूयार्थं न चेन्मौलेमेव ॥

इवानौ शुभभावश्लेष्टरूपपञ्चापचयनिमित्तप्रवृत्तिवृत्तिप्रतिपत्त्यर्थं आह—

मूढाद्या—गणिता आचार्यैरेव । संलावो प्रश्नोत्तरप्रबंधरूपा संकथा कर्तव्या । शुभपरिणामैकनिमित्तत्वात् । फलनं पक्षि कार्यं स्वमुद्दिश्य । दोषसाधुभिः सह संभाषणमात्रं कार्यं न प्रबंधरूपा कथा । ते हि प्रमादितया यत्किंचिद्ब्रुवन्तोऽशुभपरिणामं विदधुः । ते तस्य शुभपरिणामश्रेणीमारुहस्य । मिच्छज्जणे मिथ्यादृष्टिलोके अर्थात् झूरे । सखीभिस्तु संक्षिप्तु शिक्षादायोपदेशानां प्रादुर्गेषु मिथ्यादृष्टिष्वपि उपशान्तेषु इत्यर्थः । सज्जणे स्वजने ज्ञातिलोके मिथ्यादृष्टौ । अस्यामवस्था-यां मन पाण्यमाकर्ण्य सम्यक्त्वाविक्रमिमे गृहान्वीति संभावना यथासि तदा धर्मं श्रूयामो चेन्मौलेमेव कुर्वीदिति सात्पर्यं । तथा वान्ये पठन्ति—

गणितैव समं जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ।

कुदाष्टिभिः समं मौनं शान्तैः स्वैश्च विकल्प्यते ॥

भावधितिके अपाय स्थानोंका त्याग करना चाहिये ऐसा आचार्य उत्तर गाथामें कहते हैं, अर्थ—संछेवना धारण करनेवाले मुनियोंको आचार्यके साथही भाषण करना चाहिये अर्थात् प्रश्नोत्तर रूप भाषण करना चाहिये, अन्य मुनियोंके साथ बहुत कालतक भाषण करना अवकल्याण करनेवाला है, आचार्यके साथ किया हुआ भाषण शुभपरिणामका हेतु होता है, इतर प्रमादी मुनि कुछभी बोलकर संछेवसना धारकके मनमें अनुभ परिणामोंकी उत्पत्ति कर देंगे, कुछ कार्यके लिये इतर साधुओंके साथ अल्प भाषण करना चाहिये, जो मिथ्या दृष्टि है उसके साथ बोलना ही निषिद्ध है, मौन धारण करना ही श्रेयस्कर है, संछेवनाधारक आत्महित करना ही मुख्य

कार्य समझता है, मिथ्यादाष्टि मनुष्योंको द्वितीपदेशादिक यदि वह करेगा तो उससे उसका कुछ फायदा नहीं है, वह शुभपारिणामोंपर चढ़ा हुआ है, मिथ्यास्वियोंको उपदेश देनेसे उसके स्वार्थमें शक्ति पोहोचिगी, अतः उसको मिथ्यास्वियोंके साथ बोलना निषिद्ध है, जो मिथ्यादाष्टि तो है परंतु मंदकपायी है ऐसे पुरुषके साथ वह बोले अथवा न भी बोले और जो स्वजन है उनके साथ भी वह बोले अथवा न बोले, मिथ्यादाष्टि जत जब मंदकपायी होते हैं, तब भेदा वचन सुनकर सम्यग्दर्शन अग्रुत्तादिक धारण करेंगे ऐसी यदि संभावना होगी तो उनके साथ बोलना चाहिए अन्यथा न बोलना ही श्रेयस्कर होगा.

उपगतशुभप्रतिणामस्य प्रवृत्तिक्रममाचष्टे--

सिद्धिमाहृतिः कारणपरिभुत्त उवधिमणुवार्धं सेज्जं ॥

परिकम्मादिउवहृदं वज्जित्त। बिहरदि विदण्हू ॥ ३७५ ॥

शार्याय स्वीकृतां शय्यां विमुच्यारण्डितः ॥

परिकर्मवर्षां घृत्तं यत्तले देहनिस्पृहः ॥ १७८ ॥

विजयोत्सवाः—विदिमाचक्षितुं शुभपरिणामप्रणिगारकः । कारणमुखं किं वित्कारणमुपदिद्वं शुभप्रवृत्तौ, परंपरा
या शुभोपदेशा, आचार्यविदियारुखादिकः, या परिमुक्तं व्यवहृतं । उवाच परिमहामौषधं अतिरिक्तज्ञानसंयमोपकरणंति वा ।
मण्डनं ईश्वरप्रियाद । अन्यत्रैव यं वृत्तिं नमुदरा कथंति यथा । कौस्तुभमुपधिरतं थाह—'स्वज्ञं सेविस्वदि जदिना ।
वृत्तिं सुगुणती वसतिरुच्यते, तेन सैत्तं वसति । परिभ्रमगदिद्वयहृदं यतभोऽयं वसतीति प्रमार्जोन्मलेव नापिपरिकर्मण
उपपन्नं भवोच्य । पठित्ता वसतिरुच्य । विहारयि आचरति । विवण्डुं क्रमम् ॥

उदगतगुभपरिणामस्य प्रवृत्तिप्रमाणोपेष्टः—

गूढारा --- सिद्धिनाशद्विचु शुभपरिणामश्रेयिमारुह्य । कारणपरिसुतं कारणेन श्रुतमहंणश्चित्तोपदेशाच्चाधिकेयान्
शूरयादिभयोत्पन्नेन व्यवहर्तुं । उपदि परिग्रहमौषधं, अनिरिस्तपुसकादिकं वा । जगुषधि सेख्यं वसुचिदुष्कणमौपत्यरिमहं ।
परिकम्माविवददं यतय उपवस्तुरीति क्रियमाणेन सम्माननलेपनादिसंस्कारमेण अयोग्यं । विहरदि तपश्चरति । विदग्धू
रुमसः ।

शुभपरिणामयुक्त सत्पुरुषका आचरण ॥ दिखते हैं—

अर्थ—शुभ परिणामरूप नसैनीपर चढकर आचरण का क्रम जाननेवाले साधु शास्त्र पढना, दूसरोंको शास्त्रोपदेष्टा देना, आचार्योंका वैवाच्य करना इत्यादि कारणाके उद्देश्यसे जो परिग्रह संपृहीत किया था अथवा औपघ व तदतिरिक्त क्षानोपकरण और संयमोपकरण संगृहीत किया था उसका त्यागकर विहार करे तथा जो ईश्वरपरिग्रह अर्थात् वसतिकामभी त्याग करे. इसमें यति निवास करेगा इस हेतुसे झाडकर स्वच्छ करना लेपना वगैरह क्रियाओंसे जो दूषित है उस प्रसक्तिकाको भी वह मुनि त्याग कर विहार करता है अर्थात् तपश्चरण करता है.

परित्यक्तं किं करोतीत्यत्राह—

तो पच्छिमंमि काले वीरपुरिस्तसौविं परमघोरं ॥

भक्तं परिजाणतो उवेदि अबमुज्जदविहारं ॥ १७६ ॥

दुस्वरं पश्चिमे काले भक्तत्यागं सिपेविपुः ॥

धीरनिपेविनं वाटं चतुरंगे प्रवर्तते ॥ १७९ ॥

इति श्रितिसूत्रम् ॥

विजयोदया—तो तस्या श्रिते. पच्छिमंमि काले पश्चिमे काले । वीरपुरस्तसौविं घोरः पुरुषेराचरितं । परमघोरं भक्तिदुष्कारं । भक्त परिजाणतो आहारं परित्यक्तुकामः । उवेदि उपेति । किं गन्धुज्जदविहारं सम्पदशानादिपरिणामादि मुल्ये उपत ॥ सीदी ॥

पर्यपिपक्षित्यनंतरं किं करोतीत्यत्राह—

मूलागः—तो तस्याः । परिजाणतो परित्यक्तुकामः । आहारं त्यक्तित्यर्थः । उवेदि आग्रयति । अबमुज्जद-

विहारं रत्नत्रयभिमुख्येनोष्णमापरणं ॥ श्रितिः । सूत्रः ९ । अंकः ६ ॥

श्रितिके अनंतर साधु कोनसी किया करते हैं इसका वर्णन करते हैं.

अर्थ—उस श्रितिके अनंतर अंतकालमें वीरपुरुषोंके द्वारा आचरण किया गया, अतिशय दुष्कर ऐसे आहार का त्याग करने की इच्छा करनेवाला मुनि सम्पदशानादिपरिणामोंमें उद्युक्त होता है.

कीलगासावभ्युद्यतो विहार इत्यत्राचष्टे—

इत्तिरियं सन्वमणं विधिणा वित्तिरिय अणुदिसाए ढु ॥

जहिदुण सङ्किलेसं भावेइ असङ्किलेसेण ॥ १७७ ॥

समप्य्यानुदिदां सर्वं गणं संक्लेसवर्जितः ॥

क्रियंतं कालमात्मानं गणो भावयते तराम् ॥ १८० ॥

पितृयोद्धया—इत्तिरियं क्रियतः कालस्य । सव्यगणं संयतानां, आर्थिकाणां, धातुकाणां, इतरासां च समितिः । वित्तिरिय दत्त्वा । कथे विधिणा विधितः । कथे सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य सार्धं बहिः स्थित्वा 'एष निरति-
चाररत्नत्रयः आत्मानं गुणानि सप्रथः संसारसागरादुद्धरति' अनुज्ञातव्य मया सूरिरयमिति तत एतदुपदेशानुसारेण
अर्थाः प्रयत्नितव्य इति । अणुदिसाए ढु भद्रपञ्चादये विंशिविधेन गुरोः पञ्चादिकति विधये चरणप्रभं वः लोभिधीयते
अणुदिसायायेन । जहिदुण लब्धया । संक्लेसं संक्लेसं परोपकारसंपन्नभाषासं । भावेइ भावयति । असङ्किलेसेण न
विपत्ते संशयोऽस्ति क्लिप्तसंश्लेशः शुभपरिणामसो न भावयति घासयति आत्मानं ॥

अथ कीलगासानुद्यतो विहार इत्यत्र प्रभे पंचविधत्या गाथाभिरुत्तरयति ।

मूलारा—इत्तिरियं स्तोफफळं । वित्तिरिय पत्न्या । अणुदिसाए ढु । जहिदुण संक्लेसं भावेदि असङ्किलेसेण ।
अनुगुरोः पञ्चादिसाति विधये चरणप्रभमिति द्रष्टुं पलापार्पितस्मै विधिना । सर्वस्य गणस्य मध्ये तं व्यवस्थाप्य स्वयं
यदि दिधत्वा एष निरतिचाररत्नत्रयसाधारमाणं गुणार्थांश्च संसारसागरादुद्धरति समर्थोऽनुज्ञातव्य मया ततः सूरिरयं इति
मन्यमानैरेतदुपदेशानुसारेण भवद्भिः प्रवर्तितव्यमिति समवर्णक्रमेण सर्वगणं दत्तेति संबंधः । तथा चोचं—

आहूय गणं विजिता दत्त्वा प्रतिसूरये नियतकालम् ॥

संदिग्धं त्यक्त्वासाधकृष्टां भावनां मज्जेते ॥

संक्लेसं परोपकारणमासं । भावेदि वासयत्यर्थानां सहेस्वनीयत इति शेषः । असङ्किलेसेण नास्ति
संक्लेसो वक्ष्यमाणज्ञानादिविषयभाषावित्वादियदुक्तिनिमित्तात्परिणामो यस्मिन्नेन शुभपरिणामेन ।

जिसमं सहेस्वनाकी इच्छा करनेवाला उद्युक्त होता है वह विहार कैसा है इसका आचार्य वर्णन करते हैं—
अर्थ-गुरुके पञ्चात् जो सुनि चरित्रका क्रम सुनि और आर्थिकादिकोको कहता है उसको अनुदिश अर्थात्
पलाचार्य कहते हैं. कुछ कालके अनंतर सुनि, आर्थिका, श्रावक और श्राविका ऐसे चतुर्विध संघको बुलाकर

मंथके मध्यमें उसफो बिठाकर स्वयं संधके बाहर खड़े होकर यह एलाचार्य निरतिचारत्नत्रय पालते हैं. निजका और तुम्हारा भी संसारसमुद्रमें उद्धार करनेमें समर्थ हैं. ये अब तुम्हारे आचार्य गुरु हैं ऐसी मेरी सम्मति है. इस लिये इनकी आज्ञाके अनुसार ही आपकी प्रवृत्ति होनी चाहिये इबना बोलकर चतुर्विध संघका भार एलाचार्यके मस्तकपर अर्पण करना चाहिये. तदनंतर दूसरोंके ऊपर उपकार करनेका आयास छोटना चाहिये और शुभपरिणामोंसे अपने आत्माको संस्कृत करना चाहिये.

त्रयकव्यसंक्षेपाभावनाचिह्नस्यारथानुवाक्ये—

जावंतु केइ संगं उर्दीरया होति रागदोसाणं ।
ते वडिजतौ जिणवि हु रागं दोसं च निस्संगो ॥ १७८ ॥
कंदप्पदेवखिम्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहो ॥
एव्वा हु संकिलिद्धा पंचविहा भावणा भणिदा ॥ १७९ ॥
कांदर्पी कैल्यपी प्राज्ञैराभियोग्यासुरी सवा ॥
साम्मोही पंचमी हेया संकिलद्धा भावना धुबम् ॥ १८१ ॥

विजयोदया—कंदप्प इत्यादिना गतिकर्म चतुर्विधं नरकगतित्तिर्पमं गतिर्मुच्यमतिर्द्विगतिरित्यत्र देवगतिर्निर्क-
मत्कारा असुरदेवगतिनागदेवगत्यादिप्रपञ्चेन । कंदर्पदेवगतेः, किलिप्पदेवगतेः, असुरदेवगतेः, सम्मोहदेवगतेश्च कारणभूताः आत्मपरिणामाः । कारणेन कारणपरिचारेऽप्यभाष्यत् । यथाज्ञं वै प्राणाः इति ।
प्राणकारणेऽपि प्राणोपनारः । कार्यगतेन व्यपदेशेन कंदर्पदादेवोच्यते कंदर्पभावना । किलिप्पभावना, अभियोच्यभावना,
असुरभावना, साम्मोहभावनाश्चेति पंचप्रकारा भावना निरूपिताः सर्वविक्रिः ।
अत्रेयं गद्या मूले भूयते ।

मूलात्—एतां टीकाकारो नेच्छति ।

इत्युक्तयसंभवेऽभावनाचिह्नस्यानुदेष्टुमाह—

मूलात्—कंदर्पेत्यादि । अत्र कंदर्पीदिबगनीनां कारणभूता आत्मपरिणामविशेषाः कंबर्णोदिशब्दोर्निधिप्राः ।

कायें कारणोपचारात् । तेन कंदर्पभावना, किल्बिषभावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना सम्प्राप्तमावना चेति ग्राह्यं । अन्ये तु तद्विनाशियुतेन व्युत्पाद्य ताः पठन्ति यथा—

कादर्थी कैस्त्रिणी येन भावना चामियोग्या ।

दानदी चामिस्त्रयोदा त्याज्या पंचवयी च ग्रा ॥

इत्थं वा—अदर्थी कैस्त्रिणी प्राक्षेयभियोग्यासुरी तथा ।

सप्तोदरी पंचवयी रेवा संविलिष्टा भावना ध्रुवम् ॥

संश्लेषको उत्पन्न करनेवाली भावनाओंके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—जगत्में परिग्रही रागद्वेषादिकोंको उत्पन्न करते हैं इस लिये परिग्रहोंका त्यागकर निःस्पृह होकर रागद्वेषोंको जीतना चाहिये.

गतिकर्मके नरगति, तिर्यग्गति देवगति और मनुष्यगति ऐसे चार भेद हैं. देवगतिके असुरदेवगति, नागदेव गति वगैरह अनेक प्रकार हैं. कंदर्पदेवगति, किल्बिषदेवगति, अभियोग्यदेवगति, असुरदेवगति और सम्मोह देवगति इनके प्रति कारणरूप जो संश्लेष परिणाम उनको भी कंदर्पभावना किल्बिषभावना ऐसे नाम हैं. जब कारण है और प्राण कार्य है इसलिये प्राणके कारण भूत अन्नमें कार्योपचारेसे प्राण व्यवहार होता है वैसे कि त्रिपादि देवगतिकी प्राप्ति कर देनेमें जो संश्लेष परिणाम है, उनमें भी कार्योपचार करके कंदर्पभावना, किल्बिष-भावना इत्यादि नागोंका व्यवहार सज्जन करते हैं.

तत्र कंदर्पभावनाभिरुपभाषोचरगाथा—

कंदर्पकुम्भकुम्भादय चलसीला निच्वहासणकहो य ॥

विष्मावित्तो य परं कंदर्पं भावणं कुणइ ॥ १८० ॥

हास्यकांदर्पकौत्सुक्यपरविसमयकोविदः ॥

कांदर्पी भावनां दीनो भजते लोलमानसः ॥ १८२ ॥

विजयोद्या—कंदर्पकुण्डमुखाद्यचलसीलो रागोद्रेकान्द्रहासस्यमिथोऽशिष्टवाक्ययोगः कंदर्पः । रागातिशय-
यतो हस्तः परमुद्रिराशिष्टकायप्रयोदः कोटकुर्व्व । एवं भवतो मातरं करोमीति कंदर्पे कौकुब्धाभ्यां बालसीलः णिच-
वान्णकहो य सदा हास्यकथाकथनोद्यतः । विन्मावितो य परं परं विस्मापयन् कुतुकं किञ्चिदुपदर्श । कंदर्पं भावणं कुणादि
रूपं भावनां करोति । रागोद्रेकान्द्रहासमयवितो वाम्योगः काययोगः पराविसयकारी वा कंदर्पभावेनेत्युच्यते ।
अस्तुतन्मयवर्तमानः ।

तत्र कंदर्पी निर्दिशति—

मूलारा—कंदर्पकुण्डमुखाद्यवयसीलो कंदर्पकुलुषावितह्वयशीलः । रागोद्रेकान्द्रहासमिथोऽशिष्टवाक्ययोगः
कंदर्पः । रागातिशययतो हस्तः परमुद्रिर्यैव तव मातरं करोमि इति अशिष्टकार्यं प्रकुण्डवाचितं । कौकुब्धमिति पावन
अव्यक्तकंदर्पस्वरकरणसवधिष्टांगकथयन्नालनं वेति केचित् । तद्दृढं सीलयति पुनः पुनः प्रवर्तयति । णिचवास्तणकहो सदा
हास्यकथाकथनोद्यतः । विभावितो मंडद्वजालादिकुहकप्रदर्शनेन विस्मयं नयन् ।

कंदर्पं भावनानिरूपण—

अर्थ—मीतिकी उत्कटतासे हास्यसहित असम्य वचन बोलना, भंडवचन बोलना वह कंदर्पवचन है.
रागमी आधिपत्यासे—अतिशयरागमय होकर हसकर दुसरोको उद्देश कर शरीरके असम्य अभिनयके साथ
असम्य वचनोच्चार करना यह कौकुब्ध है, जैसे तेरी माताके साथ मैं बुरा कार्य करूंगा ऐसा वचन बोलना. इन
दो प्रकारके वचनका जो धारधार प्रयोग करते हैं वे चलशील समझना चाहिए. जो भोज, इंद्रजालादि कौतुक
दिलाने लोकोको आश्चर्य उत्पन्न करते हैं. जो हमेशा हास्य उत्पन्न हो ऐसी कथायें कहनेमें उद्युक्त रहते हैं. वे
मुनि कंदर्पभावनना करते हैं ऐसा समझना चाहिए.

किरियभावनारूपान्तराक्षे—

णाणस्स केवलीणं धम्मस्साइरिय सव्वसाहूणं ॥

माइय आवण्णवादी खिन्मिसियं भावणं कुणइ ॥ १८१ ॥

सर्वज्ञशासनज्ञानधर्माचार्यतपस्विनाम् ॥

निंदापरायणो मापी कैल्विपी अयत्तेऽधम्मः ॥ १८३ ॥

विजयोदया—भाणस्स इत्यादिकं । भाई अचण्णवादी इत्येताभ्यां प्रत्येकं संबन्धीयम् । द्वात्मिदं धृतं परि-
ग्रहीत धृतज्ञानविषया नाया यस्य शिष्यते स ज्ञानसंबन्धी मायावान् । ज्ञानभक्तिरहितो बाह्यविनयवृत्तिः । केवलिण केवलि-
व्यावरयनिद यो पतते । तदर्थनयां तु मनसा तु न रोचते । स केवलिना मायावान् । धर्मधारिणं तत्र मायया
प्रभुच । आचार्याणां साधूनां च पंचकः । तस्मिन्समाचरण किलिपभावनम् । कुण्ड करोति ।

मूलारा—भाणस्स धृतज्ञानस्व, यम्मस्स पारित्य । भाई ज्ञानादिसंबन्धित्वेन मायायाव । तत्र धृतज्ञानम्-
निष्ठरहितं सूत्रबाह्यविनयवृत्तिश्च ज्ञानमायी । यया केवलिध्वारवृत्तिव यो पतते तत्पूजायां मनसा तु न तां रोचते अस्मौ
केवलिमायी । चारिनामुद्वानेषु धास्यवृत्त्या सुवरा पतते मनसा तु एणायापि न मन्यते योऽसौ धर्ममायी । आचार्यादीनां
पंचकत्वं तन्मायी । अचण्णवादी धृतज्ञानादिरपि असद्व्यवहारोपेन्द्रावकः ।

किलिप भावनाका वर्णन —

अर्थ—धृतज्ञानमें कपट करनेवाला अर्थात् ज्ञानमें जिसको श्रेय नहीं है परन्तु ऊपरसे विनय करनेवाला
यह ज्ञानविषयक मायावी है, केवलीओंके ऊपर मानो आदर दिखानेवाला परन्तु मनमें उनकी पूजा करना जिस-
को पसंद नहीं है, इसलिये उसको केवलिविषयक मायावी कहते हैं, चारित्र को घमं कहते हैं इस धर्मकी में
अतिशय भक्ति कर रहा है, उसका आचरण मनसे करता है ऐसा लोगोंको दिखता है परंतु अन्तरंगमें यह चरित्रको
विनयके बराबरीका भी मानने को तैयार रहता नहीं वह धर्ममायावी है, आचार्य, उपस्थाय और साधुपरमेष्ठी
को कसानेवाला उनमें दोष न होते हुये भी उनका आरोपण करनेवाला उसको आचार्यदिभायावी और अर्घ
वादी कहते हैं, ऐसे अशुभविचारों से मुनि किलिप जातिके देवोंमें जन्म लेते हैं, ये देव इंद्रकी सभामें जा नहीं
सकते हैं, इनको पाहर ही रहना पड़ता है,

अभियोग्यभावना निरूपयत्युक्तमग्या—

मंताभिधोगकोदुग्धभृदीयम् पंडजदे जो हु ॥

इद्विरससावहेदुं अभिजोगं भावणं कुण्ड ॥ १८२ ॥

मंत्रकौतुकतात्पर्यधृतिकमौषधादिकम् ॥

कुर्वाणो गौरवाचार्थमाभियोगीमुपैति ताम् ॥ १८४ ॥

विजयोदया—मंत्राभियोगको दुःखपूर्वकम्—मंत्राभियोगकिया, कुण्डलोपदर्शनकिया, याहादीनां रक्षार्थं भूते कर्म च । पुण्ड्रदे करोति यः । अभियोग्यं भावणं कुण्ड । अभियोग्यां भावणं करोति । किं सर्व एव मंत्राभियोगादी प्रवृत्तौ नैस्त्वाह । इष्टिरस्सत्सवदेष्टुं मंताभियोगको दुःखपूर्वकम् जो पंड्रदे सो अभियोगभावणं कुण्ड ॥ इन्द्रजालभस्या, मृदाग्रतस्त्य, सुखस्य वा हेतुं मंत्राभियोगकर्म प्रयुक्तं यः स एव अभियोग्यभावनां करोति । नूनं यः स्वस्य परस्य वा आधारविपरितानार्थं मंत्राभियोगं कुर्वन्, धर्मप्रभावनायं कौतुकं उपदर्शयन्, वैयावृत्तं वा प्रवर्तयामीति उच्यते, ज्ञानदर्शनं चारित्र्यपरिणामादस्त्वर्तनात् बुध्यतीति भावः ।

आभियोगं लक्षयति—

मूलार्थ — मंत्राभियोगं कुमार्योदिपात्रे मूलवेलेकरणं । कोदुग अकालवृष्ट्यादिकौदुहलोपदर्शनं, यक्षीकरणविकं या । भूरीकर्मं घालादीनां रक्षार्थं भूतिकर्मं भूतिक्रीदनकर्म वा । इदुरस्सत्सवदेष्टुं इन्द्रजालभस्याहारसुखनिमित्तं । न पुनरपुरादिपरिज्ञानधर्मप्रभावनावैयावृत्त्यर्थं मंत्राभियोगं कुर्वन् रत्नचन्द्रवच्चया बुध्यतीति भावः ॥

आभियोग्य भावना का वर्णन—

अर्थ—कुमारी वर्गारहमं भूतका आवेश उपश्र करना, अकालमें जलवृष्टि करके दिखाना ऐसे ही आध्वर्य फारफ प्रयोग करना जैसे अमावास्याके दिन आकाश में लोगों को चंद्र दिखाना इत्यादि, किसी स्त्री या पुरुषको पशु करना, उच्चाटन करना इत्यादि, घालकादिकोंका रक्षण करने के लिये भूतिकर्म मंत्रप्रयोग करना अथवा भूतों की क्रीड़ा दिखाना ये सब क्रियायें यदि अपना ऐश्वर्य दिखानेके लिये, अथवा संपदा विखानेके लिये, मिष्टाहारके लिये, किंवा इष्टिय वनित सुखके लिये यदि भुनि करेगा तो उसकी यह अभि योग्य भावना कही जायगी. इस भावना के प्रभाव से जीवका जन्मवाहन जाती के देवोंमें हो जाता है. यदि कोई भुनि निजकी अथवा दूसरों की आयु वर्गेरे जाननेके लिये मंत्रप्रयोग करेगा, धर्मप्रभावनाके लिये यदि वह कौतुककारक अकाल वृष्ट्यादिक दिखानेगा अथवा इन मंत्रादिकोंसे मैं धुनिका वेयावृत्त्य करूंगा ऐसा अभिप्राय मनमें धारण कर यदि वह कौतुकादि करेगा तो दर्शन, ज्ञान चारित्र्य परिणामोंमें आदरसे प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे दुष्कर्णीय नहीं है.

अणुबन्धरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी ॥

निष्क्रियणिरणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि ॥ १८३ ॥

निष्कृपो निरनुक्रोशः प्रवृत्तकोषविग्रहः ॥

निमित्तसेवको धत्ते भावनामासुरीं यतिः ॥ १८५ ॥

विजयोव्या-अनुबन्धरोसविग्रहसंसत्तवो निमित्तपडिसेवी । रोपय विग्रहरोपविग्रहो अनुबन्धेन रोपविग्रहो अनुबन्ध-
रोपविग्रहो अनुबन्धरोपविग्रहाभ्यां संसक्तं संबद्धं अनुबन्धरोपविग्रहसंसक्तं तपो यस्य स तपोक्तः । निमित्ताजीवी अ यः स
आसुरीभाषणां करोति इति कोटिरकथयति । अनुबन्धो भवोत्तराणुतावी रोपो यस्य सोऽनुबन्धरोपः । विग्रहेण कलहेन संसक्तं
तपो यस्य सः यिमहसंसक्ततपःशब्देन भण्यते । अनुबन्धो रोपविग्रहो अस्तेत्यनुबन्धरोपविग्रहः । सम्यगतीवसंसक्तं संबद्धं
परिग्रहेण तपो यस्य स संसक्ततपोऽभिलाषयाक्यः । निष्क्रियणिरणुतावी यः निर्देयः प्राणिषु, कृत्यायि परपीडां अनुताप-
दहितकामसुरीं भाषनां करोति ।

आसुरी व्याहरति—

मूलरा — अणुबन्धरोसविग्रहसंसक्तवो निमित्तपडिसेवी निष्क्रियणिरणुतावी आसुरिअं । अनुबन्धरोपविग्रहान्यां
नित्यप्रवृत्तकोषकलदाभ्यां संसक्तं संयुक्तं तपो यस्य स तपामूलतयाः । अथवा अनुबन्धरोपो भवोत्तराणुतावी क्रोशः ।
विग्रहसंयुक्ततयाः कलहसंयुक्ततयाः । यदि वा अनुबन्धरोपविग्रहस्यासौ संसक्ततयाश्चेति ग्राह्यं । संसक्तं सम्यगतीव
सत्तं परिग्रहेण संबद्धं तपो यत्नेति विग्रहः । निमित्तपडिसेवी । ज्योतिषायाजीवी । निष्क्रिय निर्देयः । निराणुतावी कृत्यायि
परपीडां पश्चात्तापमकुर्वन् ।

चतुर्थी भावना—आसुरी भावनाका वर्णन—

अर्थ—जिसका कोप अन्य प्रबल भी ममन करनेवाला है और कलह करना जिसका स्वभाव भन
गया है वह मुनि रोप और कलहके साथ ही तप करता है ऐसे तपसे उसको असुरगतिकी प्राप्ति होती है, जिसका
तप परिग्रहके साथ रहता है अर्थात् तप करता हुआ भी परिग्रहोपर जिसका मोह रहता है, जो निर्देय स्वभावी है,
प्राणीओंको दुःख देकर भी जिसके अन्तःकरणमें पश्चात्ताप उत्पन्न होता नहीं है ऐसा साधु असुरगतिमें उत्पन्न
होता है, ज्योतिष, सायुदिक वगैरे कहकर जो मुनि आहारादिककी प्राप्ति कर लेता है वह असुरगतीको जाता है,

संमोहभावना निकृष्यते—

उन्मगदेसणो मग्गदूसणो मग्गविप्पडिवणी य ॥

मोहेण य मोहितो समोहं भावणं कुणइ ॥ १८४ ॥

उन्मार्गवेशको मार्गदूपको मार्गनाशकः ॥

मोहेन मोहपक्षोक्तं साम्मोही तां प्रपद्यते ॥ १८६ ॥

विप्रयोदया—उन्मगदेसणं मिथ्यादर्शनं, अविरतिं, वा य उपदिशति, ज्ञाताभासानामगम्यंस्तद्वर्णीतांश्च हितत्वे-
नाच्छेद । यो या तत्त्वयो द्विमादिकं कुर्वन्नपि न पापेन लिप्यते । ज्ञानं हि सर्वं पापं दहति इति प्रतिपाद्यता हिंसादिभ्यो
भ्रष्टं निराकुर्यन्ता हिंसादिषु जीवाः प्रयातिता भवन्ति । स एकः उन्मार्गस्योपदेष्टा । यस्मै श्रान्तिवधो न पापाय शालव्योदि-
तरयादानादिपन् । किं च पशोचो हि यागार्थमेवास्वी स्यात् याजका यजमनोः पशवस्य भद्रमाह्वारव्याख्येनं लभते इति ।
अयमेकः उन्मार्गोपदेष्टा । मग्गदूसणो संपरस्य निर्जेतयाश्च निर्वेशोष्कप्रतिपत्त्यस्य वा हेतुभूताः समीचीनज्ञानवर्धनपरिणामा
मार्ग इति उच्यते । अत्रयाथाचक्षुरास्य परंपराकारणत्याघ । तस्य मार्गस्य रूपं नोम ज्ञानादेव मोक्षः किं दर्शनवार्ति-
शाम्भ्यां ? चारित्र्येणोपायः किं ज्ञानेनेति कथयन्मार्गस्य रूपको भवति । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं धृतं मार्गस्तस्य रूपको
यो अपराधव्यवहारः । मग्गविप्पडिवणी य मार्गे राजप्रवात्मके विप्रतिपन्नः एव न मुक्तेमार्गे इति यस्तद्विरुद्धाचरणः ।
मोहेण य भ्रष्टानेन च संशयविपर्ययासक्येण । मुञ्चन्तो मुञ्चन् । सम्मोहेषु तीव्रकामरागेषु क्रुस्तिष्वेषु देवेषु उपपद्यते ।

संमोहीनाह—

मूळारा—उन्मगदेसणा मिथ्यात्वसंयमोपदेशः । मग्गणदूसणा मार्गस्य रत्नत्रयस्य दूषणा । ज्ञानादेव मोक्षः किं
वर्शनपरिग्राम्या ? चारित्र्येव मोक्षः किं ज्ञानेनेत्यादि विरुद्धमापणं । अथवा मार्गप्रत्यायनपरं धृतं मार्गस्तस्य दूषणमप
व्याख्यानमिति दाह्यम् । णाणदूसणेति पाठेऽपि इयं व्याख्या, उन्मार्गे देशवायोनायतिरपि यथोक्त एवं मार्गदूषणयोगोच्च
अथवा उन्मगदेसणो मग्गदूसणो इति पाठः । मग्गविप्पडिवधो रत्नत्रयविप्रतिपन्नः । एव न मुक्तेमार्गे इति तद्विरुद्धचरणः ॥
मोहेण संशयविपर्ययरूपेणाज्ञानेन ।

सम्मोह भावनाका निरूपण—

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन और अविरतिका उपदेश करता है, हरिहरादिक और उनसे बनाये हुए कुदास
ये प्राणिओंको हितमार्ग दिखाते हैं ऐसा जो कहता है, तत्तत्तत्त पुरुष हिंसादिक कार्य करनेसे भी पापसे लिप्त

नहीं होता है. उसको पापसे दुर्गति की प्राप्ति होती नहीं है. क्योंकि उसका ज्ञान समस्त पापको नष्ट करता है. इस रीतीका विवेचन करके जो हिंसादि पापोंसे निर्भीक बना कर उसमें प्रवृत्त करता है वह सम्मोहभावना भाता है ऐसा समझना चाहिये. यह एक उन्मार्गका उपदेशक है. और भी उन्मार्ग उपदेशका विवेचन करते हैं— शास्त्रमें आधारादिक दान पात्रको देना चाहिये ऐसा उपदेश है, वह दान जैसे पापका कारण नहीं है वैसे यज्ञमें प्राणिजोंकी हिंसा करनेपर भी वह पापके लिये नहीं है. क्यों कि शास्त्रमें प्राणिजोंका यज्ञ करनेका विधान है. यज्ञके लियेहि पशु ब्रह्मदेवने उत्पन्न किये हैं. यज्ञ करनेवाला, यज्ञ करानेवाला और पशु ये सब मंत्रोंके माहात्म्यसे स्वर्ग को जाते हैं यह भी उन्मार्गोपदेश है. ऐसे उपदेशसे सम्मोही देवोंमें जन्म मिलता है. संवर, निर्जरा व संपूर्ण फलोंका नाश करनेके लिये आरम्भके सम्पन्नज्ञान, सम्यग्दर्शन और चारित्र्य श्रम है. इनको आचार्य मार्ग कहते हैं. इन मार्गमें परंपरामे अव्याबाध-अर्थोक्त दुःख रहित अनंत सुख मिलता है. परंतु ऐसे सच्चे मार्गको जो दूषण लगता है वह मार्गदूषक है. रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग जो मनुष्योंको दिखाता है वह श्रुतज्ञान मार्ग है. उस मार्गरूप श्रुतज्ञानमें जो दूषण लगाता है अर्थात् उसकी विरुद्ध व्याख्या करता है. वह जीव सम्मोही देवोंमें उत्पन्न होता है. रत्नत्रयही शुक्तिका मार्ग है परंतु उसके विरुद्ध जो व्याख्यान करता है तथा संशय, विपर्यय व अन्यव्यवसायारम्भक ज्ञानसे जो पदार्थके सच्चे स्वरूपको पहचानता नहीं है. वह मोहित होकर जिनमें कामविकार और रागभावकी वीमला है ऐसे कुत्सित देवोंमें उत्पन्न होता है.

भाष्यकर्ता फलं दर्शयति भयोपजनाय—

एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गादिं लहइ ॥

तचो चुद्रो समाणो भमिहिदि भवसागरमृणंतं ॥ १८५ ॥

रत्नत्रयं विराध्याभिर्भावनाभिर्दिवं शतः ॥

भीषणे भवकांतारे चिरं चंद्रमयते च्युतः ॥ १८७ ॥

दिनयोदया—एदाहिं भावणाहिं य यताभिः भावनाभिः । देवदुग्गादे लहति देवेषु दुष्ण या गतिस्तां गच्छति । विराधो रत्नत्रयाच्युतः । तचो चुद्रो समाणो तस्या देवदुग्गादेच्युतः सत्त्व । भमिहिदि अभिष्यति भयसागरमृततीतं ।

कंदर्पोद्दिवायनाना स्वरूपं निरूप्य संवेगोत्पादनाय तत्फलं दर्शयति—

मूलारा—रिराभगो रत्नजच्च्युतः । सभाणो समानः सन् ।

भय उत्पन्न होवे इस वास्ते इन भावनाओंका फल दिखाते हैं—

अर्थ—इन भावनाओंसे मुनि रत्नजयसे भ्रष्ट होकर देवोंमें जो कुपति हैं उनको प्राप्त होते हैं, उन देवदुर्गतिसे भी च्युत होकर अनंत भवसागरमें वे भ्रमण करेंगे, तात्पर्य—कांदर्पी वगैरह भावनाओंसे कुदेवपना और अनंत मंमारमें भ्रमण प्राप्त होता है।

एदाओ पंच वज्रजय इणमो छट्ठीए बिहरदे धीरो ॥

पंचसमिदो त्रिगुत्तो णिस्संगो सत्त्वसंगेसु ॥ १८६ ॥

पंचेति भावनास्वरूपा संकिलष्टः समितो यतिः ॥

पट्ठ्यां प्रवर्तते गुप्तः संविभ्राः संगवर्जितः ॥ १८८ ॥

चित्तयोद्धया—एदाओ पंच वज्रजय पताः पंच भावनाः परित्यज्य । इणमो अयं यतिः धीरः । छट्ठीए परत्तया भावनया । बिहरदे प्रवर्तते । पट्ठ्यां भावनायां प्रवर्तितुं पंचभूतो योग्यः इत्याचष्टे—पंचसमिदो समितिपंचरुत्तिः । त्रिगुत्तो गुप्तिप्रयालंकृतः । णिस्संगो संगरहितः । सत्त्वसंगेसु सर्वपरिग्रहेषु ॥

ताः पंच स्वरूपा पट्ठ्या यादृक् प्रवर्तते तामाचष्टे—

मूलारा—इणमो अयं यतिः । छट्ठीए, पट्ठ्या असंछिद्रभावनया । बिहरदे प्रवर्तते । णिस्संगो आसक्किदुक्कः ।

अर्थ—इन पांच भावनाओंका त्यागकर जो धीर गुनि पांच समिति और तीन गुप्तिओंका पालन-रूप संपूर्ण परियहोने निःस्पृह रहते हैं वेही छट्ठी भावनाके आश्रयसे रत्नजयमें प्रवृत्त होते हैं,

ता सा गट्ठीमायत्ता ? अत्राचष्टे—

तवभावणा य सुदुसत्ताभावणेगत्तभावणे चैव ॥

भित्तिवलविभावणविय असंक्किल्लिहावि पंचविहा ॥ १८७ ॥

विजयोदया—तपसापणा तपसोऽभ्यसः । सुदृढभावाणां ज्ञानस्य भावना । सत्त्वभावणा अभीरुत्यभावना । एगन्तभावणा एकत्वभावना । भिदिबलविनाशिता य धृतिबलभावना चेति । असंक्लिष्टाणि पंचविधा असंक्लिष्टा भावनाः पंचमकारः । ननु च ताम् पंचभावनासात्र किमुच्यते 'छद्मी य सावना चेति' असंक्लिष्टभावनात्यसामान्योपेक्षया एकतामारोप्य पश्यामुच्यते । विशेषरूपेक्षया तपोभावनादिविवेकः । अत एव सूत्रकारोऽपि एकतां दर्शयति 'भ्रमस्त्रिलिङ्गा वि पंचविदा' इति ।

असंक्लिष्टभावनाविकल्पानुदिरिति—

मूलारा—सत्त्व अभीरुत्यं । भिदिबलविनाशिता । धृतिः परमप्रसन्नचित्तस्था भावनाभ्यसः ।

छद्मी भावनाका दर्पणं करोते—

अर्थ—तपसा अभ्यास करना, ज्ञानका अभ्यास करना, निर्मयपनाका अभ्यास करना. मैं अकेलाही हूँ ऐसा एकपतेना अभ्यास करना और धृतिबल भावना ऐसी पांच असंक्लिष्ट भावनाये हैं. इस माथामें पांच भावनाओंका उल्लेख किया है तथापि छद्मी भावनासे वीर मुनि रत्नत्रयमें विद्वार करते हैं ऐसा ऊपरकी माथामें कहा है ॥ निरुद्ध दीवता है. उत्तर—इन पांचों भावनाओंमें असंक्लिष्टपना है इस असंक्लिष्टत्व सामान्यकी अपेक्षासे इन पांचों भावनाओंमें एकपताको आरोपित कर संक्लिष्ट पांच भावनाओं की अपेक्षासे यह भिन्न होनेसे इसको सामान्यतया छद्मी भावना ऐसा माथामें कहा है. विशेषताकी अपेक्षासे तपोभावना, धृतभावना वगैरे पांच भावनाये आचार्यने कही है. अतःविरोध नहीं है.

तपोभावनासमाधेः कथमुपाय इत्यत्राक्षेपे—

तवभावणाए पंचेदियाणि दंतानि तस्स वसमेति ॥

इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणह ॥ १८८ ॥

दंतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपोभावनया नशं ॥

विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधौने प्रवर्तते ॥ १९० ॥

विज्ञयोदया—तत्प्रभावण तपोभावनया । असंछदशनत्यागेन प्रत्यभारूपेण । पंचदियाणि पंचाणि रंद्रियाणि । तस्स तपोभावनारतस्य । यस्मैति यद्यमुपयाति । यतोऽस्यात् इतानि निशुद्धीतवर्षाणि । इन्द्रिययोगापरिजो इन्द्रियाणां शिक्षाविधाव्याचारायोऽसौ समाधिकरणाणि रत्नत्रयसमाधानक्रियाः । सो सः कुणद करोति । पल्लुकं भवति । इतानि इन्द्रियाणि तपस्त न कामपयस्यस्यानयति । क्षुधादिभिरपदुतात्मा न यामलोचनासुरतकीडादो करोत्यावृमिति प्रतीतमेव । ननु चानशनदो प्रदुस्तसाहारदशेने तदालोचयणे तदासेवायां चावरो जितांतं प्रयतते ततोऽपुनमुच्यते तपोभावनया दांतर्नांद्रियाणीति । इन्द्रियविषयप्राप्त्यर्थपरिणामानां कर्मस्त्रिवहेतुतया अद्वित्यप्रकारानपरिज्ञानपुर वरतपोभावनया विषयसुखरित्तिनागतमेव अनशनदिना दान्वाभि भवति इन्द्रियाणि । पुनः पुनः सेव्यमानं विषयसुखे सांगे जनयति । न भावनांतरात्माईवमिति मन्यते ।

तपोभावनां कार्यं समान्वागमित्याह—

मूढारो — तर्बभोगणाय असंछदशनत्यागेन । इतानि निशुद्धीतवर्षाणि । तस्स तपोभावनारतस्य यत्नः । वसमैवि वजं यन्ति । इन्द्रियजोनांदरिजो इन्द्रियसिद्धाविभायी आचार्यः । संपाधिकरणाणि रत्नत्रयसमाधानार्थः क्रियाः ।

आसनम्राणाशामप्रत्याहारपारणाय्यात्मलक्षणाः । सो तपोभावनादांतवशीभूतेंद्रियः । अथवा तपोभावनया साधोः पंचदियाणि वांवानि सैति यदनायागन्ति । स त्रसिद्ध इन्द्रिययोग्याचार्यो मनश्च समाधिकरणाति करोति ॥

तपोभावना समधीका उपाय कैसी होती है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—वारंवार आहारका त्याग करनेसे तपोभावनामें तत्पर रहनेवाले साधुकी पांचो इन्द्रियां बग हो जाती हैं, चार प्रकारका आहार छोडना यह द्रव्यतपभावना, है और चह आहार छोडनेका जो मनःसंकल्प चह भावतपोभावना है, इस दो प्रकारकी तपोभावनासे इन्द्रियोंका भद नष्ट होता है, तदनंतर वे आराध, रुके बग होती हैं, इन्द्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य अर्थात् साधु रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती है, ऐसी क्रिया करता है, मायार्थ यह है कि, जब तपश्चरन्ते इन्द्रियोंका दमन होता है तब मनमें काम विकार उत्पन्न नहीं होता है, धुमा, प्यास इत्यादिते पीडित पुरुषके मनमें खीके साथ सुखज्जीटा करना, आलिंगन देना वगैरह क्रियाओंमें आदर नहीं रहता है, चह वात सुप्रसिद्ध ही है.

उंका—उपभासादि तपोमें प्रवृत्त हुए पुरुषको आहारके दर्शनसे दूर होती और उसकी कथा सुननेसे, उसको

उत्तर--इंद्रियोंके इष्टानिष्ट स्पर्शादि विषयोंपर आत्मा रागी और द्वेषी बन होता है तब उसके रागद्वेष परिणाम कर्मागमनके लिये हेतु बनते हैं, ये राग जीवका अहित करते हैं ऐसा सम्यग्ज्ञान ज्ञेयको बतलाता है, मग्नराजानयुक्त तपोभावनता जो कि विषयसुखोंका परित्यागरूप और अनशानादिरूप है इंद्रियोंका दमन करती है, पुनः विषयसुखका भेदन करनेसे रागभाव उत्पन्न होता है परंतु तपोभावनासे ज्ञान आत्मा संस्कृत होता है तब इंद्रियां निषयमुखले तरफ दीदती नहीं है,

तपोभावनारहितस्य दोषभाष्ये उच्छ्रयश्चेन्न सत्प्रदान्तोपन्यासेन—

इंद्रियसुहृत्साउल्लओ घोरपरीसहपराजिनियपरस्सो ॥

अकवपरियस्म कीबो मुग्गवि आराहणाकाले ॥ १८९ ॥

इंद्रियार्थसुग्रासक्तं परीसहपराजित्तः ॥

जीवोऽकृतक्रियः कलीयो मुणत्पाराधनाविधौ ॥ १९१ ॥

विजयोपपत्त्या—इन्द्रियसुहृत्साउल्लओ इंद्रियसुहृत्साउल्लपदो । घोरपरीसहपराजिनिय परस्सो घोरैः तु सह, भुक्तादिभि परानितोऽभिपूतः सत् य. परादमुपता गतो रत्नत्रयस्य । अकवपरियस्म कीबो अदृते परिकर्मे तपभाराधनाया देवाती धनत्रपरिकर्मा । कीयो कीन । मुग्गवि मुगति विचिक्ताममोति । आराहणाकाले आराधनाया काले ।

तपोभावनारहितस्य गार्वाक्यकेन सत्प्रदान्तोपन्यासेन दोषभाष्ये—

मूढारा—साट्टओ स्वादत्तं पटः । पराद्वय पराजित्त । परस्सो पराद्वयुक्तो रत्नत्रयस्य । अकवपरियस्म न कृतं परिकर्म आराधनागोचर्यं नपो येन । कीयो कीवो कीन इत्यर्थः । मुक्तादि निमित्ततां यामि ।

तपोभावनता विमर्शो नहीं है उस पुरुषमें दोष उत्पन्न होते हैं, इस निषयका सुलासा दृष्टान्त देकर आगाय करते हैं,

अर्थ—जो पुरुष अर्थात् युनि इंद्रियसुखोंका आस्वादन करनेमें लंपट हुआ है, दुःसह भूल तद्धान वगेरह परिपहंति जो पीडित हुआ है, अतः जो रत्नत्रयमे पराद्वयुक्त हुआ है जो आराधनाका रक्षण करनेमें ऐसे तपको छोड़ चला है वह युनि कीन आराधनाके कालमें भीद्वयुक्त होता है, समाविमरण यह आराधनाका अन्तिम

लक्ष है. परंतु जिसने तपश्चरण किया नहीं, जो इंद्रियसुखमें निगमन हुआ वह तत्त्वज्ञसे अट हो कर समाधिमरणसे च्युत होता है.

अथ इष्टान्तमाह—

जोगमकारिञ्चतो अस्सो सुहलालिओ चिरं कालं ॥

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ जह ण कज्जयरो ॥ १९० ॥

लालितः सर्वदा सौख्यैरकारितपरिक्लियः ॥

कार्यकारी यथा नाभ्यो बाह्यमानो रणांगणो ॥ १९२ ॥

विजयोदया—जोगमकारिञ्चतो वाष्पचालनध्वनिलंप्रनाविषां शिक्षां अकार्यमाणः । अस्सो अम्भः । सुहलालिओ सुगलालितः । चिरं काले रणभूमीए युद्धभूमी । वाहिज्जमाणो बाह्यमानः । जह ण कज्जयरो यथा कार्यं न करोति तथा पतिरपि ॥

गूढारा—जोगं धावनध्वनिलंप्रनाविषां शिक्षां । केवं माधालवं सुगमम् ।

इमं विषयमे दृष्टान्तं कहेते हैं—

अर्थ—जैसे शब्दोंका अभिप्राय ध्यानमें रखना, चलती, वेगसे घुमाना, रुदना वगैरह कृत्योंका अभ्यास जिनमें कराया गया नहीं है, जिसको सुखसे घुट किया है, ऐसे अभक्तों बहुत फाल व्यतीत होनेपर युद्धभूमीमें ले जानेपर यह कार्य नहीं करता है. शत्रुको जीवनेमें अपने स्वामीको सहायता देना दूर ही रही परंतु भयसे भाग जा कर मालिकका काम बिगाड देता है कैसे यति भी—

सुगमत्पत्तं व्याख्यासते भाकः प्रथमं—सर्वभावेषा ।

पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ॥

ण भवदि परीसहसहो विसयसुहपरम्भुहो जीवो ॥ १९१ ॥

जोगमकारिञ्चतो अस्सो दुहभाविवो चिरं कालं ॥

रणभूमीए वाहिज्जमाणओ कुणदि जह कज्जं ॥ १९२ ॥

श्रुतशास्त्रो वर्तते इति न दोषो वा । गच्छतीति गोरिति व्युत्पत्तावपि प्राग्भावे गोशब्दो वर्तते । किंतु रूढिवशात्साक्षादित्येव । एवमिदानीं श्रूयते इति व्युत्पादितोऽपि न सक्तले शोचोपलब्ध्ये कचमसंवेभं प्रवर्तते, अपि तु स्वसमाय रूढिवशाद्वाच्योपरचिते एव । तथैव श्रुतप्रामाण्यरक्षणद्वयोपशमनिमित्तक्षणे एव वर्तते । तस्यास्य श्रुतज्ञानस्य भावनया । प्रागेदं सङ्गतवत्संज्ञं च परिणामात् समीचीनज्ञानदर्शनतप संयमपरिणतिः प्रतिपद्यते । ज्ञानभावनापरो ज्ञानपरिणतो भवतु कथमसौ शब्दमादौ परिणामांतरे प्रवृत्तो भवति ? न हि क्रोधपरिणतो भावायां प्रवृत्तो भवति । यद्यत्रांतराधिकं तस्मिन्सति तद्व्यत्येय तदधिकरणे यथा कृतकत्वेऽनित्यत्वं । ज्ञानं चातरेण न भवति सम्यक्दर्शनवदयः । जनेदं चोचं अस्मत्तत्त्वम्यगदृष्टिं ज्ञानं तस्य तपःसंयमो किमुत स्तः ? संयमस्तद्व्यतिथि कथमसंयतता ? तस्मात् तौ स्तः । कथमिदं सूत्रं ? नायमस्य सूत्रस्यार्थो ज्ञानभावनायां सत्यां भवत्येव सर्वं यत् इति, किंतु ज्ञानभावनायां सत्यामेव भवति नासत्याम् । तपः संयमो भावत्येव स्थितौ चारित्र्यमोहद्वयोपशमोपेक्षित्वा ज्ञानेन प्रवर्तते, न चावश्यं कारणानि कार्यवन्ति । धूमजनयतोऽप्यग्नेर्वैशनात् काष्ठादप्येहस्य । तौ ततः ज्ञानथापयन्तः । उच्यतेऽतएव तपःसंयमपरिणामप्रबंधे प्रवर्तया ज्ञानात्मानं इति वा उपयोगमतिज्ञा तां । सुखं अक्षेणेन । समाणेति समापयति । अत्रविदो अवलितः ॥

श्रुतभावनामाहात्म्यं गाथाद्वयेनाह—

मूलारा—उच्यतेऽतएव तपःसंयमपरिणामं ज्ञानात्प्रवर्तयाम्यात्मानं इत्यर्थोऽत्रविदो अवलितः । समाणेति समापयति ।

श्रुतज्ञानभावनायां साहाय्यं प्रकट करते हैं—

अर्थ—‘श्रूयते इति कुतः’ जो सुना जाता है उसको श्रुत कहते हैं, यदि यह श्रुत शब्दका अर्थ मानो तो शब्दोंकी श्रुत मानना चाहिये, इस श्रुतकी भावना करना अर्थात् शब्दका जो अर्थ तद्विषयक ज्ञानम प्राप्त कर फलना श्रुतभावना है, अर्थात् शब्द सुनकर उसके अर्थका जो वाच्य ज्ञान होना वह श्रुतभावना है, शंका-शब्दश्रुतको बार बार पढ़ना वह श्रुतभावना है, ज्ञान तो इससे भिन्न है ? उच्यते—श्रुत जो शब्द उसका कार्यरूप जो ज्ञान उसमें भी श्रुतशब्दकी प्रवृत्ति है, शब्दको भी श्रुत कहते हैं और उससे होनेवाले सार्वरूप ज्ञान को भी श्रुत कहते हैं, अतः इसमें कुछ विरोध नहीं है, “गच्छतीति गौः” इस व्युत्पत्तीसे बना हुआ भी गो शब्द अर्थात् रूपा वाचक होता नहीं, परंतु रूढीसे साक्षाद्विद्वान् जो वाच्य उसका ही वाचक होता है, वैसे यहां भी “श्रूयते इति श्रुत” इस प्रकारसे व्युत्पन्न किया गया शब्द कानसे सुनेगये समस्त शब्दोंमें प्रवृत्त होता नहीं है, परंतु स्वस्ति-ज्ञान की रूढीकी अपेक्षासे यथोपरचित - शब्दश्रुतमें ही श्रुतशब्द की प्रवृत्ति समझनी चाहिये, श्रुतज्ञानावरण

कर्मका ध्योपपन्न पारत जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें भी यहाँ थुत शब्द समझना चाहिये. इस बुद्धिज्ञानकी भा-
पनामें सम्पन्न-ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है.

शंका—जो मनुष्य ज्ञानभावनामें उत्तर है वह ज्ञानमें परिणत होगा वह दर्शनादि परिणामोंमें कैसा
परिणत होगा. कोपकरूपसे परिणत हुआ अदमी भागमें परिणत नहीं होता है. उत्तर-आपका यह कहना योग्य
नहीं है. जो जिनके साथ अविनाशकी रहता है वह उसके सद्भावमें उसके आधारमें रहेगा ही. यथा जहाँ जहाँ कृत
कृत रहता है वहाँ यहाँ अनित्यत्व रहेगा ही. ज्ञानके बिना सम्यग्दर्शनादिक होते नहीं हैं.

शंका—अनेकपक्ष सम्पन्नरूपों में ज्ञान है परंतु उसमें तप और संयम भी है क्या? यदि होंगे तो उसको
असंयमी क्यों कहते हैं. अतः ज्ञानके साथ तप और संयम नहीं रहते हैं. अर्थात् ज्ञानके साथ उनका संबंध नहीं है.
उत्तर—ज्ञानभावना होनेपर तप संयमादिक होते ही हैं ऐसा इस छंदका अभिप्राय नहीं है. परंतु तपः संय-
मादिक यदि उत्पन्न होंगे तो ज्ञानभावना के रहते ही उत्पन्न होंगे. अन्यथा नहीं. तप और संयम ये कार्यरूप
हैं और ये चारित्र्य मोहनीय कर्मके ध्योपपन्नकी अपेक्षा रखनेवाले ज्ञानके द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं.

कारण अदभ्य कार्यवान् होते ही हैं ऐसा नियम नहीं है. इमलिये ज्ञानभावनासे में ज्ञान, दर्शन, तप संयम परिणामोंमें आत्माको प्रयुक्त
उत्पन्न करेगाही ऐसा नियम नहीं है. इमलिये ज्ञानभावनासे में ज्ञान, दर्शन, तप संयम परिणामोंमें आत्माको प्रयुक्त
कराया प्येगी जो उपयोग प्रतिष्ठा उसको वह मुनि एकत्र होकर अचलित होकर अनायाससे संपूर्ण करता है.

अदणाप जोगपरिभाविदस्स जिणवयणमणुगदमणस्स ॥

सदिलोत्रं काहुंजे ण चर्यति परीसहा ताहे ॥ १९५ ॥

स्वयन्स्वजिनवाक्यस्य रचितोचितकर्मणः ॥

परिपद्मापदः शस्त्रा न कर्तुं स्मृतिलोपनम् ॥ १९७ ॥

इति द्रव्यम् ॥

विजयोदय—अजणपरिभावेन । जोगपरिभाविदस्स युज्यते अनेन अनशनादिना निर्जयार्थं यत्तिरिति पाद्ये
तायः योगनाशेनाभ्युत्थते । तेषामर्थः । तपसा भावितस्येति । जिणवयणमणुगदमणस्स जिनवचनामुपगतचेतसः ।

सद्विद्योपै स्युतिलोपं । रत्नत्रयपरिणामप्रयत्नसंघोषस्य स्युत्तिथिं तस्या विनीशं । काउंजे कर्तुं । न चयेति न शक्नुयंति । के ? परिस्सदा शुद्धादिपेदनाः । तावै तदा । एतदुक्तमनया गायया अय्यस्थमानं शुतक्षानं निर्मलं पटीयो भवति । पादवाय्यासयथेन च स्युतिरयेदेन प्रवर्तते । स्युतिमूखो हि योगो वाकायव्यापार इति । सुदं मदं ।

मूढारा—अदणाए यत्नेन प्रमादपरिहारेणैवार्थः । जोग युज्यते जेमानशनादिना निर्जरायै यतिरिति जोगो यासं तपः । यद्विद्योपै स्युतिलोपं । काउंजे कर्तुं । न शक्नुवन्ति । तावै तदा मरणकाउंजे ॥

अर्थ—अनयन अवमोदय इत्यादि तप धुतिरावके कर्मकी निर्जरा करते हैं अर्थात् कर्मकी निर्जरा करनेके लिए धुनि अनयनादि तपसे जुड़ जाते हैं, इसलिए अनयनादि बाध तप को आचार्य योग कहते हैं, प्रमाद छोड़ कर प्रयत्नसे जो तपसे अपने आत्माको सुसंस्कृत पनाता है, जिसका मन जिनेश्वरके वचनोंमें एकाग्र हुआ है, ऐसा धुनि रत्नत्रय परिणामोंमें स्थिरता रखनेमें सतत उत्पन्न होता है अतः यदि शुद्धादि परिपक्वते वह पीडित होगया तो भी उसकी स्मृतिका नाश होता नहीं है, अभिप्राय यह है कि, शुतक्षानका अभ्यास करनेसे वह निर्मल और ऊदापोहके सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है, ऊदापोहका अभ्यास वह जानेसे जिनगममें स्मृति बिना खेदके प्रयत्न होती है, वचनकी प्रश्रुति, शरीरकी सन प्रश्रुतिथि स्युतिपर ही निर्भर रहती है, इस तरह ज्ञानके सामर्थ्य का वर्णन किया,

सत्यभाषनाया गुणं स्वीति उत्तरगायथा—

देवेहिं भेसिवो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं ॥
तो सत्तभावाणए वहइ भरं णिक्कमओ संयलं ॥ १९६ ॥
वहुसो वि जुच्च भावणाए ण भडो हु मुज्झदि रणम्मि ॥
तह सत्ता भावणाए ण मुज्झदि मुणी वि वोसग्गे ॥ १९७ ॥
भीरुपमाणोऽप्यदोराञ्चं भीमरूवैः सुरासुरैः ॥
सत्त्वभावनया साधुं धुरि धारयतेऽखिलम् ॥ १९८ ॥

विमुक्त्युपसर्गो नो सत्त्वभावनया यतिः ॥
युद्धभावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा ॥ १९७ ॥

वित्तयोदया—देवेहि देवैश्चास्तितोऽपि । छु स्फुटं । छटापरबोधोऽतिभीमरूपैः । वा जयवा । तो सतः । सत्वभावनया सोऽनुज्ञात् । यद्ध भटो गिज्जको सयले यवति भटं संयमस्य निर्भयः सकलं । सेतेभीमरूपदर्शनाच्च भीतिरप- जायते भीतस्य प्रज्युतस्त्वत्रयस्य तदतिदुरयापं । तदन्वयात्वा न कर्म निमूर्छनं राक्षसं कर्तुं । अनासादितमलयाणि च कर्मणि विचित्रं यातयंत्वात्मानं । ततो भीतिरयत्नेकानयमूलमिति निश्चित्य सा प्रयेव निरसनीया । तथाहि—

मुञ्जारा—भीतिवो मयं नीतः । दिवा दिवा । रात्रौ रात्रौ । तो क्या प्रसिद्धया शूर्वीकायिकदिग्भवमहण- श्चारायावविचित्रदुःखपरामशैकृन्नयापसारण्या । घुरं चारित्रमारं ।

दृढा—स्पष्टम् ।

सत्वभावनामै लो गुण है उनकी स्तुति आचार्य करते हैं—

अर्थ—यह मुनि देवोंसे प्रस्त किया गया, भयंकर व्यापारिरूप धारण कर पीठित किया गया तो भी सत्वभावनाको हृदयमें रखकर दुर्गोंको सहन कर और निर्भय होकर संयमका संपूर्ण भार धारण करता है, मरण होना इस विचारसे और भीमरूप दर्शनसे मनमें भीति उत्पन्न होने पर रत्नत्रयका यदि त्याग किया तो पुनः उसकी प्राप्ति होना अवश्य दुर्लभ है, रत्नत्रयकी प्राप्ति न होनेसे कर्मका नाश करता अशक्य है, कर्मोंका नाश न होनेसे वे आत्माको नाना प्रकारसे पीटा देते हैं, अतः भीति ही अनेक अनर्थोंका मूल है ऐसा विश्रय करके ज्ञा सत्वभावनासे प्रथम बर करनी चाहिये,

खण्णुत्तावणवालणवीयणविच्छेत्तणवरोदत्तं ॥

चित्ति य दुहं अदीहं मुज्झदि णो सत्त्वमाविदो दुक्खे ॥ १९८ ॥

वालमरणाणि साहू सुर्वित्तिदूणप्पणो अणंताणि ॥

मरणे समुट्ठिपुविहि मुज्झइ णो सत्त्वभावणाणिरदो ॥ १९९ ॥

विजयोद्या—युधिषीनायिकं सन् खननद्वान्चिलेखनकुट्टनभञ्जनलोठनेयपणचूर्णनादिभिर्वाधां परिमार्तोऽस्मि ।
अथ शरीरत्वेनोपायाय अमरं विमरुत्तिकरापातेन, दहनशवालाकषफलिततनुतया पर्वतवरीसमुपलक्ष्यो-
भ्योऽतिथेनेन शिलाघनगुंभरासु पतनेन, आम्ललघणक्षारादिरेससमवेतद्रव्यसन्निभयेन, वगधारायामतेऽष्टौ प्रक्षेपयेन,
तन्तद्विशलापातेन, पादकरतलाभियातेन, तरणोद्यतानां विशालघनोऽखलवपीडनेन, अवलो कमानमहाननतरणभञ्जन-
हस्तक्षोभपादिना च मर्हती चेदनां अधिगतोऽस्मि ।

तथा समीरणे तनुतया परिच्छा दुग्धगुमाशिलोच्चपादीनां प्राणमृतां नितान्तकटिनकायानां चाभिघातेन समीरणा-
तरायमर्दनेन, ज्वलनस्पर्शनेन च दुःखाधिकाननुभूतोऽस्मि ।

तथा परितृहीतान्निदारीतो निःश्वसनेन पांसुभसाक्षिकतद्विदक्षेपणेन, भुशरुमानजलधारापातेन, वंङकाष्टादि-
भित्ताडनेन, लोष्ठपापाणादिभिर्द्यूर्लनेन अमंजनेन विण्दमाश्रितोऽस्मि ।

फलपलारापलस्यकुडुमादिकार्यं स्वीकृत्य मोठनभक्षणमर्दनेपणवहनादिभिस्ताया गुग्मलतापादषादिकं तनूकृत्य
छेदनेन, भेदनेनोत्पादनेन, रोहणेन, दहनेन च क्लेशाज्जनतामुपयातोऽस्मि ।

तथा कुण्डुपिरील्लिदित्तो भूत्वा येनप्रयाधिरथचकाक्रमणेन, खरुत्स्मादिपक्षुषु रलंताडनेन, जलमवावृत्तक-
र्षणेन, हायातलेन, दुग्धपापाणादिपतनेन, मनुजचरणाघमर्दनेन, बलवतां प्रक्षेपेन च चिरं क्षिप्तोऽस्मि ।

तथा खरकरभयलीषदीदिभाचमापद् शुक्तरुमारोपणेनारोहणेन, वंघनेन, कर्कशतरकशार्वंडमुद्यत्वादिताडनेना-
द्यानिरोधनेन, शीदोष्णपाताविसर्पतेन, कर्णच्छेदनेन, दहनेन, नासिकाव्यथनेन, विदारणेन, परम्यादिभिर्निशितासिघारा
महारेण चिरमुपवृत्तोऽस्मि ।

तथा भग्नराजं, क्लृप्ततया व्याथ्यभिमेवेन वा पतितं इतस्ततः परापत्येमानं, कर्करुतमवगम्यश्रुगलखारमेयदि-
भिर्भक्ष्यमानं, काकपृथ्वीकविभिः कबलीकियमाणं, तरलतरारकाक्षिगुलं, कल्लुमासीत् । ततो यतो शुक्तरुमारो-
द्वहनजातवधितप्रणमसुद्रक्लमिक्लुतेन, कामादिभिश्चानारतमुपद्रुतोऽस्मि ।

तथा मनुजभवेऽपि करणवैकल्यादतिरियावसाव्यव्याधुयनिपातात्, श्रियालनादभियोगात्परमेयकरणावपर-
पराभनात्, द्रवितान्नाराया दुष्करक्रमान्नमूलपट्टक्रमोद्योगात्, विनिचविण्दमुपगतोऽस्मि ।

तथैवामरभवेऽपि दूरमपसर लघु प्रयाहि, प्रभोः प्रस्थानवेला वर्तते । प्रयाणपट्टं श्राव्य, ध्वजं धारय, हताश
देयीजन्तं पालय, तिष्ठ सामितोऽभित्यतिष्ठेन यादनरूपेण, किं विस्मृतोऽस्यनस्पृश्यपण्यशतमन्त्रस्य द्रुत्संस्तो यन्पूज्यो तिष्ठति ।
पुरो न धावसीति देवमहत्तरपरतत्मास्त्रीशालनामां ताडनेन शतमुपान्त-पुरपदभ्रविप्रयिलोकनोद्भूतामिळापदहन-
जनितसंतोषेन गणमासाक्षितेरासुगुः परिपानेन च महद्रुदपादि दुःखं । एवं नरकभयेपि इत्थमनंतकालमनुभूतस्य मम
को विपादो, दुःखोपनिपाते इति न च भिषणं त्यजेति दुःखानि, सकारणायचसंनिधायानि तानीति सत्यमायता ॥ यथाशुभ-
नारीरुद्रानन्दमितिः साति नो मुखा । तानि शरीराणि भस्करभया युदीतानि दद्यानि च । का वज्र परिचितेभ्यो श्रीतिरिति
विचक्षिष्यरीभित्ता सत्यमायना ।

इम सत्यभाननाका महारम्य दो माथाओंसे आचार्य कहते हैं ।—

अर्थ—सत्यभाननाका धारक मुनि मनमें इस प्रकारसे विचार करता है— जब पृथ्वी ही मेरा शरीर थी उस समय मेरेको खोदना, बलना, हलके द्वारा विदीर्ण करना, फूटना, पीटना, चूर्ण करना इत्यादि माथा देकर लोग मुझे सवाते थे. अर्थात् पृथ्वीकाविक्रयस्थामे मैंने दीर्घकालतक वचनके द्वारा अवर्णनीय ऐसे दुःख सहे हैं. जब मैंने जलको अपना शरीर बनाया तब सर्वके प्रचंडकिरणोंसे, अग्नि की ज्वालाओंसे मेरा शरीर अतिशय उष्ण होकर मैं बहुत वेदनायें सहती. पर्वत की दरी बंगरे ऊंचे स्थानोंसे अतिवेगसे मेरा पतन नीचे फटित शिलाओंपर होनेसे मैंने दुःख सहन किया है. लट्टा, लठ्ठ, खारादि रसयुक्त पदार्थों का मेरे साथ मिश्रण करके इन धराधगायमान अग्निके उपर मेरेको संतप्त करते थे तब मेरेको असह्य दुःख होता था. वृक्षोंपरसे नीचे शिखरोंपर गिरनेसे, पांव और हाथोंके आघातोंसे, तीरनेके लिये उडुक्त हुए मनुष्यादि प्राणिओंके विशाल वज्रः स्थली ताडनासे, प्रथम देखकर अनंतर पानीमें जिसने प्रवेश किया है ऐसे बड़े हाथीका तीरना, मज्जन करना और शंढासे जलधोम करना इत्यादि कारणोंसे मेरेको महान् दुःख हुआ था.

जब जलावस्थाका त्यागकर मैंने वायुरूप शरीर धारण किया तब वृक्ष, वृक्ष, इत्यादिकसे घबका पनेपर मैंने दुःखोंका अनुभव किया है. जिनका शरीर अतिशय कठिन है ऐसे प्राणिओंके आघातसे और [मेरेसे निम्न वायुसे दस्तानेपर, मेरा शरीर चूर्ण-विचूर्ण होकर मैं बहुत दुःखोंका स्थान हो गया था. अग्निज्वालाओंका जब मेरे शरीर से स्पर्श हुआ तब तो मेरे प्राणक्षी निकल गये.

जब वायुशरीरको छोड़कर अग्निको शरीररूपसे ग्रहण किया, तो बहुत चार धूल, मल, मल, चालू वगैरह मेरे ऊपर डालकर लोगोंने मेरेको दुसाया, सुशलके समान जल घारायें पड़नेपर, दंड काष्ठदिकोंसे ठोककर चूर्ण करनेसे मेरेको बहुत ही कष्टोंसे सामना करना पडा. मार्तिके डेले और पत्थरोंके आघातसे तथा वायुके जोरदार धक्केसे मैं दुःखविह्वल हुआ था ।

जब अग्निका शरीर छोड़कर मैं फल, पुष्प, पत्र, कोमल अंकुर इनको शरीररूपसे धारण किया तब तोडना, राना, मर्दन करना, दांतोंसे चमना, अग्निपर सुंभना इत्यादि प्रकारोंसे मेरेको जलवाने दुःख दिया है. जब मैं झाड, लता, छोटे पेड इत्यादिक रूपसे जन्मा वृक्ष छेदन करना, भेदन करना, उखाडना, तोडना एक जग-

हते उठाकर दूसरे स्थानमें बौना, जलाना इत्यादिकोसे जो दुःख भोगने पड़े उनका वर्णन करना मेरी शक्तीके बाहर है।

जब मैंने कुंगु, चींटी वगैरे प्राणिजोंमें इंद्रिद्रिय, त्रिद्रिय घास्क होकर जन्मग्रहण किया तब वेगसे ज्ञान-वाले स्वयंके पहियोंके नीचे दबकर प्राणविसर्जन किये है।

गधा, घोड़ा वगैरे प्राणिजोंके कठिण खुरोंके ताड़नसे. पानीके प्रवाहके वेगसे, जंगलके अभीसे, वृक्ष पराणादिक पदार्थ अंगपर गिरनेसे, मनुष्योंके पैरोंसे कुचल जानेसे, पलवान् प्राणिजोंका भस्म होनेसे मेरेको दीर्घकाल तक दुःख भोगने पड़े है।

तथा गधा, ऊँट, बैल, वगैरे पंचद्रिय, प्राणिजोंका जन्म जब धारण किया था तब मनुष्योंने मेरे ऊपर अधिक घीसा लादकर और स्वयं चढकर बहुत लेदित किया था. दोरीसे बांधना, अधिक कर्कश चाकूक, लाठी, मुगल, इत्यादिकोसे आघात करना, आहार पानी न देना, धीठ, उष्ण, वायु, इत्यादिककी बाधा होना इत्यादि कोंके द्वारा मेरेको बहुत फलेद्य हुआथा. फान छेदना, जलाना, नाकमें नथनी डालना, विदारण करना, कुल्हाड़ी पगैरह शस्त्रोंसे तीक्ष्ण तरवारसे प्रहार करना इत्यादिकोंसे मनुष्योंने मेरेको अत्यंत दुःख दियाथा. जिससे पाप दृढगये है, कृश होनेसे अथवा रोगपीडित होनेसे जो गिरपड़ा है, इतस्तवः पीडा सहन न होनेसे जो तदनुमाने लगा है. अत्यंत क्रूर व्याघ्र, कुत्ते, स्वाल वगैरह प्राणिजोंका जो भस्म हो रहा है. कोंवे, गीध, बगुला इत्यादि शुष्ट पक्षी जिसकी नाँच नोचकर ला रहे है. जिसको आँले भयके मोरे चंचल हो रही है, ऐसे समयमें कोई भी मेरा रक्षण करनेवाला न था.

अधिक घीसा लादनेसे मेरे पीठपर जखम हो कर वह किमिजोंसे भर गईथी उस समय कोंवे वगैरे पक्षी आफर जलमका मांस नोचकर खातेथे वह बड़ाही भीषण, दुःखदायक प्रसंग था. कुछ पापोंका उपशम होनेसे मनुष्य होकर मैं जन्मा पंतु इंद्रियोंकी न्यूनता, दारिद्र्य, असाध्य रोग इत्यादिकोसे मैं बहुत दुःखी था. भ्रिय पदार्थ न मिलना, अग्रिय शुद्ध, विप, कंटकादिकोंका संयोग होना, दूसरोंकी नोकरी करना, बहुतसे परामभव होना, इत्यादि-क दुःखोंसे मैं बहुत ही व्याकुल हो उठता था. घन कमानेकी इच्छासे दुःखदायक कर्मोसवके कारण ऐसे अति मणि वगैरह परकुर्मोंने दिन रात प्रपन्न करता था तो भी नानाप्रकारकी विपत्ति आती ही थी.

सुख शुभोदयसे देवगतीमें मेरा जन्म हुआ। परंतु वहाँ भी, “यहाँसे दूर हटो, शीघ्र चले जाव, प्रसुका आनेरा समय है, उनके प्रस्थानकी सूचना देनेवाला नगरा बजाओ। अरे यह बज हाथमें पकड़कर खड़ा हो ।” ।

“अरे दीन इन देवांगनाओंका रक्षण कर, स्वामी की अभिलाषा के अनुसार वाहनका रूप धारण कर, विपुल पुण्य रूपी धन वित्तके प्राप्त है ऐसे इंद्रका तू दास है क्या तू यह भूल गया है? क्यों व्यर्थ खड़ा हुआ है? इंद्रकी इच्छा अंगे क्यों मागता नहीं ” ऐसे अधिकांशी देवोंके कठोर वचन सुनकर वह बहुत खेदयुक्त होता है- इंद्रकी अप्पराओंका हाथमान देतकर ऐसी देवांगनायें मेरेको कन मिलेंगी यह अभिलाषा मनमें होकर मैंने देवपर्यायमें भी बहुत तू रसोंका अनुभवन किया है, इसी तरह अनंत काल दुःखानुभवन करने में मेरा चला गया है अतः इस समय परीपक्ष उपसर्गादि दुःख आपवने पर विषाद करनेसे कुछ भी फायदा नहीं है, स्निग्ध हुये पुरुषको क्या दुःख छोड़ देता है? -इस तो अपने कारणसे उत्पन्न होगा है ऐसा विचार कर सत्यभावनासे दुःखोंका हमला सहन करना चाहिये, यदि अशुभ, दुःखुष्मा उत्पन्न करनेवाले शरीरको देतकर भय उत्पन्न होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्यों कि तुम मैंने अशुभ शरीर असंख्यात बार ग्रहण किये हैं, और देखे हैं, वे सब शरीर मेरे परिचयके हैं, परिनिर्वाणों मे वही फैला उत्पन्न होगा ऐसा विचार कर मनको स्थिर करना चाहिये, मनको स्थिर करना यही मत्स्यभागना है,

जितने बहुत बार दुःखका अभ्यास किया है, ऐसा वीरपुरुष युद्धमें मोहयुक्त नहीं होता है अर्थात् धैर्य धारण करता है वैसे सत्यभावनाका आश्रय लेकर मृति भी उपसर्ग आनेपर मोहयुक्त होते नहीं मत्स्युत ये धैर्य धारण का उपसर्ग सहन करते हैं,

एवमसमावृणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा ॥

सज्जइ वेरगमणो फासेदि अणुत्तरं घमं ॥ २०० ॥

कामे भोगे गणे देहे विवृदैकत्वभावनः ॥

करोति निःस्पृहीभूय साधुर्वैममनुत्तरम् ॥ १९८ ॥

विजयोदया—एकत्वभावना नाम जन्मजरामरणवृत्तिजनितदुःखालुप्तवने न दुःखे मदीयं संविमज्जति कश्चित् । दुःखसंविमज्जनेन स्वजन इत्युत्तराजः संवकरणेन च परस्वजन इति च द्वेपो युज्यते । न चेदस्ति सुखं मय्याधातुमक्षमः इति न तन्मदुरेतापि स्वजनपरजनाविषेकः । तस्मादेक पक्षाहं न मे कश्चित् । नाप्यहं कस्यचिदिति चिन्ता कार्यो । तस्मा गुणमावच्छेदयत्तत्माव्याप एकत्वभावनाया हेतुभूतया । न सज्जति नासक्तिं करोति । क कामभोगे, गणे शिष्यादिवर्गे, शरीरे वा सुखे वा । कामं खेच्छया युज्यते अधुभूयते इति कामभोगाः । सुखसाधनतया संकलितमत्तपनादयो वामलोचनादिवर्गश्च तत्र न संगे करोति । यास्तद्व्यसंसर्गजनिता । भोतिविशेषाः सुखसाधनान्वाह्येण गुणभोगेयातिशयवती धामयति चेतोव्याकुलकारिणी, न चेतःसारथ्यं संपादयितुमीया इति । न तु उपयोग्याः कामभोगाः, राजव्यसंयचिरेव जनस्योपयोगिनी, न तया भोगसंपदास्माकं किञ्चिदस्ति दुःखं । मदीयपरिणामावलंबिनो हि वंशभोक्षी गमा । ततः किं तेन गणेन । शरीरप्रप्यकिंचित्करं । न चैकममिति किंचित्कुर्वुः । शार्वा जीवाधीनतमकं द्रव्यं रामकोषविभक्तं, इदमुपकारकरमनुपकारकमिति या संकल्प्यमानं नान्यथा । ततः संकल्पनीयभूतं विहाय सुखमस्वरूपज्ञानपरिणामप्रबंधः असहाय्यत्त्वकपक्षिपय इति एकत्वभावनोच्यते । सत्यामस्यां न कश्चित्संगे करोति । वैरग्यमयो वैराग्यमुपगतः । फासेद स्पृशति । अनुष्ठारं धम्मं अविशयितं चारित्र्यं । एतेन संसारधीजस्य संगस्य भिद्युत्तरिशेषकमोधावहेतोश्चारित्रस्य च लामो गुण एकत्वभावनाजन्यः इत्याख्यातं भवति । एकत्वभावना मोहमहानरूपं अप्यपन्नवति । यथा जिनकल्पिको निरस्तमोहः संयुक्तः ।

मूलारा—दयसभावनाय । अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य हस्यविपरिवर्तव्यचित्ताभ्यासेन । कामभोगे ईद्रियसुखादुभयने । सज्जति आसक्तिं करोति । फासेवि करोति । एवेन संसारजीवस्य संगस्य निद्युत्तरिशेषकमं क्षयहेतोश्चारित्रस्य च लामो गुणः एकत्वभावनाजन्य इत्युक्तं भवति ।

अर्थ—एकत्वभावनाका आश्रय लेकर विरक्त हृदयसे मुनिराज कामभोगमें, वस्तुविश्व संघमें, और शरीरमें आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्ररूप धारण करता है.

जन्म, जरा मरण वगैरें दुःखोंका मैं अनंत कालसे उपयोग लेकर हूं. परंतु मेरे दुःखका कोई भी विभाग करता नहीं. मैं अकेला ही जन्मादि दुःखोंका अनुभव लेकर हूं. जो अपने दुःखोंका विभाग करता है वह स्वजन है ऐसा समझकर मनुष्य उसको स्वजन मानने लगता है. जो दुःखोंको हलके नहीं करता है. वह परजन है ऐसा समझता है, परंतु मेरेमें सुख उत्पन्न करनेवाले साता वेदनीय कर्मका उदय यदि नहीं है तो दुखेर भरेको कदापि सुखो नहीं कर सकते हैं. यदि साता वेदनीय कर्मका उदय हो तो शत्रु दुःखदायक न होकर सुखदायकही होगा अतः ये स्वजन हैं और ये परजन हैं

ऐसा विभाग करना न्याय है। इस लिये मैं एकही हं मेरा कोईभी संबंधी नहीं हूँ ऐसा निवार करना चाहिये। इस एकत्व भावनाका यह गुण है—

एकत्वभावनका अभ्यास करनेसे मुनि कामभोगमें, शिष्यादिवर्गस्वरूप भरणमें, और सुखमें आसक्ति नहीं करता है। स्वच्छासे विन पदार्थोंका उपभोग ले सकते हैं ऐसे पदार्थोंको कामभोग कहते हैं। जैसे आहारके और पनिर्गते पदार्थ, स्त्री वगैरह इनमें ये सुखदायक हैं ऐसा संकल्प लोग करते हैं परंतु मुनि एकत्वभावनाका अभ्यास करता है अतः वह राग नहीं करता है। चाख द्रव्योंका संबंध होनेसे जो मनमें आल्हाद होता है उसकी सुख कहते हैं। परंतु ये बात पदार्थ लोभको ही उत्तरोत्तर शुद्धिगत करते हैं। लोभसे मन बहुत व्याकुल होता है। ये भोगके पदार्थ मनमें स्वास्थ्य उत्पन्न करने में अभ्यर्थ हैं, इसलिये ये पदार्थ-कामभोग भोगने योग्य नहीं है। रानत्रय संपत्ति ही लोकके लिये उपयोगी है। इस भोगसंपत्तीसे हमारा कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होता नहीं है।

मेरे परिणामोंसेही मेरेको बुभुक्षुभ कर्मबंध होता है। गण उसमें कारण नहीं है अतः उससे मेरा न कुछ विपदता है न सुखता है।

घरीर भी अधिकितकर है यह सुद कुछ भी कर नहीं सकता। कर्मके आश्रयसे वह कार्यकारी दीखता है। पाप जीव और अजीव पदार्थ ये उपकार करते हैं, तथा अनुपकार करते हैं ऐसा उनमें संकल्प होनेसे रागद्वेषके क्रमसे निमित्त पनते हैं। अन्यथा नहीं। अतः यह संकल्पही हृदयमेंसे निकालना चाहिये। शुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेमें नतत प्रयत्न करना चाहिये, मेरा आत्मस्वरूप असह्य है ऐसा विचार करना चाहिये इसको एकत्व भावना कहते हैं। इस भावनाके माहात्म्यसे मुनि किसीमें भी आसक्त नहीं होते हैं। वैराग्य बढ़नेसे ये उत्कृष्ट चारित्रिका आश्रय करते हैं। इस वैराग्यसे गंसारको वीजभूत जो परिग्रह उसका संपूर्ण त्याग होता है। व संपूर्ण कर्मोंका नाश करनेमें हेतुभूत चारित्रिकी प्राप्ति होती है। यह सब एकत्वभावनाका ही गुण है। यह एकत्वभावना अशूनस्वरूप मोहको दूर करती है। इसके प्रभावसे जिनकल्पी मुनि मोहरहित हुये हैं,

भयणीए विघर्षिभजंतीए एयत्तभावणाए जहा ।

जिणकप्पिदो ण मूढो खवओ वि ण मुज्झइ तधेव ॥ २०१ ॥

स्वमुर्विधर्मां दृष्ट्वा जिनकल्पीव संयतः ॥

एकत्वभावनाभ्यासो न मुह्यति कदाचन ॥ १९९ ॥

इति एकत्वं ।

विजयोदया—यथा जिनकल्पको जिनकल्पकं प्रपद्यो नागदत्तो नाम मुनिर्मनित्यामयोऽयं कारयंत्यामपि एकत्व-
भाषन्त्या । न मूढो मोहं न गतः । तथैव क्षपकोऽपि न मुह्यतीति गाथार्थः । एकत्वभावना ॥

मूढारा—विधर्मिजंतीए विहंयमानायां । जिणकल्पिको जिनकल्पमावरणविशेषं । प्रतिपक्षो नागदत्तो
नाम मुनिः ॥

अर्थ—जिनकल्प अवस्थाको प्राप्त हुने नागदत्त नामक मुनि अयोग्य कार्य करानेवली अपनी वहिनपर
मोहयुक्त नहीं हुये. क्षपक मुनि भी एकत्वभाषनाके चलसे मोहयुक्त नहीं होवे हे ऐसा गाथार्थ है. एकत्वभावना
समाप्त हुई.

पंचमी धृतियलभायना दुःखोपनिपात अनंतरया धृतिः कैच बलं धृतिवलं तस्य भावनाभ्यासः क्षसकृद-
कातत्तया धृतिः । तथा धृतियलभायनया दुःखदपरीपदचम्या ॥ बुध्यतीति निगदति ।—

कसिणा परिसहचमू अबुमुहुइ जइ वि सोवसग्गावि ॥

दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं ॥ २०२ ॥

उपसर्गमहायोधा परीपहचमूं परां ॥

कुर्वाणामत्पसत्त्वानां हुनिवारया भयम् ॥ २०० ॥

विजयोदया—रुसिणा छुत्ता । परिसहचमू परीपहसेना शुक्तादिद्रव्यविशतिदुःखपूतेभेति यावत् । अबुमुहुइ
अभिमुख्येनोचिष्टति । जयपि ययपि सोवसग्गा वि चतुर्विधे तोपसग्गेण सह वर्तमानापि । दुद्धरपदकरवेगा दुधिरसंकटेवेगा
जयसत्ताणं भयजणणी अवरसत्ताणं भयजननी ।

मूढारा—रुसिणा सर्वा । एतेन विंशतिभयव्यहूरूपाणि (पीष्टेः) अबुमुहुवि अभिमुख्युचिष्टते । दुद्धरपदकरवेगा
अजत्यममयेभजकद्रव्यनिभया । अथवा दुर्गये दुःखदः स पातो पंचाक्ष दुष्करो वेगो यस्याः । पचकर मंक्रट इति
टीकायां । अपसत्ताणं अत्यमस्थानो भीरूणां ॥

पान्चमी धृतिबलभायना है. दुःख आनेपर भी निर्भय रहना ही धैर्यका लक्षण है. इस धैर्यबलकी भावना करना अर्थात् अभ्यास करना यह धृतिबलभावनाका स्वरूप है. इस भावनाके बलसे मुनीश्वर दुःखद परीपद् रूप मेंनामें युद्ध करते हैं ऐसा वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूक, तहान, शीत उत्पन्न बगैरह चावीस प्रकारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली परीपद् रूपी मेना, दुर्धर संकटरूपी वेणुसे युक्त होकर जब मुनिजीपर आक्रमण करती है तब अत्यशक्तिके धारक जीवोंको बहुत भय उत्पन्न होता है.

धिविधनिद्वन्द्वकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई ॥

धिविभावणाए सूरु संपुणमणोरहो होई ॥ २०३ ॥

धीरतासेनया धीरो धियकशरजालया ॥

जायते योषयलाशु साधुः पूर्णमनोरथः ॥ २०१ ॥

इति धृतिस्तत्रम् ।

वित्तयोदया—तं तां पृतनं । जोधेर योषयति । क्या सब ? धिविभावणाए धृतिभावतया । का ? धिविधनिद्वन्द्वकच्छो धृया वित्तरा यद्वक्त्रा । खुरे दूरः । अणाइलो अनाकुलो विक्रमवाद् । कलमाचसे तस्य । संपुणमणोरहो होइ । संपूर्णमनोरथो भवति ॥

नूळारा—धिविधनिद्वन्द्वकच्छो धृतिः परमप्रसक्तिः सेवावर्धे बढा कक्षा परिवष्टनं येन । जोधेवि योषयति । अणाइलो अनाकुलः । न तां पटीपहचम् । अव्वधिदो अवाधितः निर्मरोड्धोमो वा । धिदिभावणाए धृतिभावतया सब अरवा धृतिभावतया कर्तुमुत्तया तां पावयति योषयतीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—धैर्यरूपी उत्तरका परिधान करनेका यह जिसने दृढ बांधा है ऐसा पराक्रमी और मुनि धृतिभावनाको हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है.

एषाणु भावणाए चिरकालं हि विहरेब्ज सुखाए ॥

काऊण अत्तसुद्धिं दंसणाणणे चरित्ते य ॥ २०४ ॥

विधाय विधिना दृष्टिज्ञानचारित्रशोधनम् ॥

चिरं विहरतां पठ्या यतिभावनयानया ॥ २०२ ॥

इति भावनासूत्रम् ।

विजयोपपा-एषाणु पतया पंचप्रकाराया भावनया सह । चिरकालं विहरेब्ज चिरं प्रयत्नेन । सुखाए नुय्या । काऊण कृत्या । अत्तसुद्धिं आत्मशुद्धि । दंसणाणणे करित्ते य रत्नश्रेय निरतिचारे भूत्वा ।

एतस्यां पंचविधायां अक्षेष्टभावनायां सपकाः प्रवर्तवामिति शिक्षां प्रयच्छतिः—

मूलारा—विहरेब्ज प्रवर्तते । अत्तसुद्धिं आत्मशुद्धि । भावना । सूत्रः १०१ अंकः २५ ॥

अर्थ—इन पांच प्रकारकी शुद्ध भावनायें चिरकाल तक मनमें धारण कर मुनिराज अपने आत्माकी शुद्धि करते हैं और सम्पददर्शन, ज्ञान और चरित्रमें निरतिचार प्रवृत्ति करते हैं.

व्याप्यन्तभावनामंतरं सहेखमेत्यपि कारसंबंधमाचष्टे—

एवं भावेमाणो भिक्खू सहेहणं उवक्कमइ ॥

णाणाविहेण तवसा वड्ढेणब्भंतरेण तह्हा ॥ २०५ ॥

साधुः सहेखनां कर्तुमित्यं भावितमानसः ॥

तपसा यन्ते सम्पक् चालोनाभ्यंतरेण च ॥ २०३ ॥

विजयोपपा—एवं भवेमाणो इति एवं उक्तेन प्रकारेण भावनापटः । भिक्खू सहेहणं सहेखनां तनूकरण । उवक्कमइ भारभते । केन णाणाविहेण नानाप्रकारेण । तवसा वड्ढेणब्भंतरेण तदा वाक्साभ्यंतरेण तपसा च ।

अभेयं विचाराभावनापरस्य प्रमुक्तोः सहेदनां गायपटपठ्या न्यास्यालुकायः पूर्वं तदुपक्रमोपायमभिदत्ति—

मूलारा—भार्यमाणो माययधानः । अखण्डितप्रमाणं पुनः पुनः प्रवर्तयन्नित्यर्थः । खण्डमग्नौ प्रारभ्यते ।

माननाश्रौक्षा वर्णन करनेपर सहेसनाभितारका संबंध दिखाते हैं.

अर्थ—इस प्रकार शीघ्र प्रकारकी असीद्धि भावनाओंका अन्वयास करनेवाले मृनि वाला अन्त्यतर वारा प्रकारके तथके द्वारा सहेसना को प्रारंभ करते हैं.

भेषमटत्वा ध्यायर्णविकृतुं भसस्या सहेसनेति भेदमाचष्टे—

सहेहणा य दुविहा अम्भंतरिया य वाहिरा चेव ॥

अम्भंतरा कसायेसु वाहिरा होवि हु सरीरे ॥ २०६ ॥

सहेसना द्विया साधोंतरानंतरेष्यते ॥

तत्रानरा कपायस्या द्वितीया कायगोचरा ॥ २०४ ॥

विजयोदया—सहेसना य पुषिता सहेसना च द्विप्रकाराः सम्भतरिया य वाहिरा केय अन्त्यतरा याहाः चेति । सम्भतरा कसायेसु भव्यतरा सहेसना कोधादिकपायविषया । वाहिरा होवि हु सरीरे । याहा भवति सहेसना क्षरीर-विषया ॥

सहेसना द्वेविष्येनाभिपत्तेः—

याहासहेसना माधर्षयसता प्रपंचविष्यन्सामान्यतस्त्वदुपायं निर्दिशति—

मूलारा—रूपदम् ।

भेदके विना सहेसनाका वर्णन करना शक्य नहीं है इसलिये भेद बताते हैं.—

अर्थ—सहेसनाके अन्त्यतर सहेसना य वाला सहेसना ऐसे दो भेद हैं. जोपादि कपायोंको हरा, हरा

तर, ठुशतम कतना यह कपायसहेलना है. इसको अम्यंतर सहेलना भी कहते हैं. और शरीर उचरोचर कृया करते जाना उसको शरीरसहेलना कहते हैं इसीको नाह सहेलना यह भी नाम है.

याहासहेलनाविकरणार्थः उत्तरप्रबंधः—

सव्ये रसे पणीदे पिञ्जुहिच्चा दु पत्तलुक्सेण ॥

अणवरेणुवधानेण सखिहइ य अप्पयं कमसो ॥ २०७ ॥

पिजयोदया—सव्ये रसे सवोन्रसान् । प्रकपं नीताः प्रणीताः तान् अतिशयवत इत्यर्थः । पिञ्जुहिच्चा त्यक्त्वा । अणवरेणुवधानेण । अणवरेणुवाग्रग्रहेण । अप्पयं आत्मानं शरीरं । कमसो क्रमशः । सखिहइ तनूकरोति । मूलतः—पणीदे प्रकपं नीताः प्रणीताः तानतिशयवत इतिशयवद्वेनानित्यर्थः । पिञ्जुहिच्चाण त्यक्त्वा । पत्तलुक्सेण प्राप्तलुकादरेण । वरधानेण अवग्रहविशेषेण । सखिहइ कुशिकरोति । अप्पयं स्वशरीरम् ।

॥१॥ याह महेलनाका यहांसि विस्तृत वर्णन करते हैं—

अर्थ—शुश्रूषा बल बढ़ानेवाले संपूर्ण रसोंका त्याग करके और विशिष्ट नियम ग्रहण करके प्राप्त हुए लक्ष्मोजन के द्वारा अपना शरीर क्षुपक क्रमशः क्षीण करता है.

याहा तपो व्याचष्टे—

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वुत्तिपरिसंत्ता ॥

कायकिंलेसो सेज्जा य विविच्चा वाहिरतवो सो ॥ २०८ ॥

अमुत्तिरयमोदयं वृत्तिसंख्या रसोज्जनम् ॥

कायमलेसो विविच्चा य शय्या पोढा बहिस्तपः ॥ २०९ ॥

विजयोदया—अणसण अनशनं । अमुत्तिरयमोदयं अग्रमोदयं च । चाओ य रसाणं त्यागो रसानां । वुत्तिपरिसंत्ता वृत्तिपरिसंख्या । कायकिंलेसो कायहेतुः । सेज्जा विविच्चा विविकयाया । वाहिरतवो सो बाह्यं तपस्तत्त्वं ।

यामस्तडेरनोपायमूर्त्तं पोता काक्षतपो व्याहृत्यतुमाह—
मूढारा—इयोरियं अवमोदयै । बुचिपरिसत्ता वृधेयहारस्य परिसंस्थानं । विचिषा श्रुद्धा । श्रायुकविजान-
देर्मात्रेयेत्यर्थः । सो वत् प्रसिद्धं सन्त्येनोपायभूतम् ।

अर्थ—अनशन, अययोदय, सपरित्याग, वृचिपरिसंस्था, कायशुद्ध और विविकशय्या ऐसे वास्तवके
उद्देश्य हैं,

तत्र अनशनतपोभेदभिरुपणार्थं याद्या—

अद्याजसणं सव्याजसणं दुविहं तु अणसणं भणियं ॥

विहरंतस्स य अद्याजसणं इदरं च चरिंते ॥ २०९ ॥

सार्वकालिकमन्यव द्वेधानशनमीरितम् ॥

प्रथमं श्रुत्युक्तालेऽन्यद्वर्त्तमानस्य भाष्यते ॥ २०९ ॥

विजयोक्ता—अद्याजसणं अद्याजान्दः काकतामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थविपणमासपर्यंतो गृह्यते । तत्र यवन-
राजं तत्त्व निदानं स्यान्नदानं चेति । दुविधमणसणं तु शब्दोऽन्यथापार्थे द्विप्रकारमेवानशनं । सर्वशब्दः प्रकारकारण्ये
पतति । यथा सर्वमर्थं भुंक्तं । परित्यागोत्तरकालो जीवितस्य यः सर्वकालः तस्मिन्नशनं भक्षणस्यागः सर्वानशनं । कदा
तदुभयमित्यत्र कालवियेकमाह—विहृतस्स य ग्रहणमतिसेयनकालयोर्वर्त्तमानस्य अद्यानशनं । इतरं च इतरत् सर्वानशनं ।
चरिंते परिणामकालस्यान्ते ।

अनशनास्यतर्षभेदभिरुपणार्थं याद्याद्वयमाह—

मूढारा—अद्याजसणं अद्याजान्दः काकतामान्यवचनोऽन्यत्रेह चतुर्थविपणमासपर्यंतो गृह्यते । तत्राहारत्यागो-

ऽद्याजसणं काकमंध्ययोपपात इत्यर्थः । सव्याजसणं । सर्वसिगंस्न्यासोत्तरकाले अवधनं अशनत्यागः । विहरंतस्स ग्रहण-
प्रतिसेपनकालयोर्वर्त्तमानस्य । चरिंते परिणामकालस्यान्ते भरणसमये इत्यर्थः ।

अर्थ—अद्यानशन और सर्वानशन ऐसे अनशन तपके दो भेद हैं- अद्याजशब्द अन्यत्र कालवाचक है परंतु
यहां चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम ऐसे भेदोंको लेकर यणमास पर्यंत वितने अनशन तपके भेद होते हैं उन सबको अद्यानशन
रहते हैं- धारणा पारणामदित उपपन्नको चतुर्थ कहते हैं अथवा उपवास यह भी संज्ञा है- दो उपपन्नको षष्ठ रहते

हैं, तीन उपवासोंको अष्टम कहते हैं, चार उपवासोंको दशम कहते हैं, ऐसे ही आगे भी समाख्या. संन्यास लेनेपर या-
नजीब चारो आहारोंका त्याग करना यह सर्वानशन है. ग्रहण और प्रतिसेवना कालमें अद्यानशन तप मुनि करते
हैं और मरणसमयमें-संन्यास कालमें सर्वानशन तप करते हैं. दीक्षाग्रहण कर जबतक संन्यास ग्रहण किया नहीं
तबतक ग्रहणकाल माना जाता है. तथा व्रतादिफलोंमें अतिचार लगनेपर जो श्रायश्चित्तसे श्रुति करनेके लिये
कुछ दिन अनशनदि तप करना पड़ता है उसको प्रतिसेवना काल कहते हैं.

अद्यानशनविकल्पं प्रतिपादयति—

होइ चउत्थं छट्टुमाइ छम्मासखवणपरियंतो ॥

अद्याणसणविभागो एसो इच्छाणुपुब्बीए ॥ २१० ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचषट्सप्ताष्टनवाद्यः ॥

उपवासा जिनैस्तत्र षण्मासावधयो मत्ताः ॥ २०७ ॥

बहुदोषाकरे भ्रामे प्रयेसो विनिवारितः ॥

संपभो बद्धितः पूतः क्षुर्धतानशनं तपः ॥ २०८ ॥

विजयोदया—अद्याणसणविभागो होइ इति पदपठना । अद्यानशनविभागो भवति । छट्ठमं छट्टुमाइ छम्मास-
खणपरियंतो चतुर्थपक्षाष्टमाविषण्मासखणपर्यन्तः । इच्छाणुपुब्बीए आत्मेच्छामतेने ।

अद्यानशनविकल्पं बक्षिः—

मूढारा—छम्मासखमण षण्मासोपवासाः । इच्छाणुपुब्बीए आत्मेच्छाक्रमेण ।

अर्थ—चतुर्थ, पष्ठ, अष्टम वर्षोत्तर उपवासों से छह माहिनो पक्ष के उपवासों को अद्यानशनतपके भेदोंमें
परिगणित करना चाहिये. वे उपवास मूनेराब अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं.

१ आत्मेच्छाक्रमेण इति सप्तश्लोके पाठः ।

मनमोदरिखं तिरुगणितुकामः आहारपरिग्रहं प्रायोदृत्या प्रवृत्तं दर्शयति—

वर्त्तसिं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ ॥

पुरिसस मलिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥ २११ ॥

आहारस्तृप्तये पुंसां द्वाविंशत्कवला जिनैः ॥

अष्टाविंशतिरादिष्टा योपितः प्रकृतिस्थितः ॥ २०९ ॥

पिजयोदया—वर्त्तसिं किर कवला पुरुषस्य कुक्खिपूरणो भवलाहारः । द्वाविंशत्कवलमात्रः । इच्छिआए कियाः
कुक्खिपूरणो भवत्याहारः अष्टाविंशतिकवलजातानि । तत्तो तस्मादाहारम् । तत्तो ।

अयमोदरं गाथाद्वयेन विवक्षुराहारप्रमाणं प्रायोदृत्या प्रवृत्तं प्रदर्शयति

गूळारा—किर किळ । उक्तं च—

प्राप्तोऽश्रपि सहस्रतुल्यपितो द्वात्रिंशदेऽननम् ।

पुंसो वैश्वसिकं खिया विपतुतास्तद्वानिरीचिस्ततः ।

मासं यावद्वैकसिक्खमवमोदरं तपस्तच्छरे—

स्वर्मायद्वयबोधोपगतुल्यमभानिद्राकषायाघातये ॥

अरमोदरं तपसा निरुपण करनेके पूर्व आहारका प्रमाण बहुशुः किस प्रकार रहता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—पुरुषके आहारका प्रमाण वर्त्तसि प्राप्त है. इतने प्राप्तसि पुरुषका पेट पूर्ण भरता है. खियोंके आहा-

रता प्रमाण अष्टाविंश घास है.

एगुत्तरसेटीए जावय कवलो बि होदि परिहीणो ॥

उमोदरियतवो सो अट्ठकवलमेव सिच्छं च ॥ २१२ ॥

तस्मादेकोत्तरश्रेण्या कवलः क्षिप्यते परः ॥

मुच्यते यत्र तदिदमवमोदर्यमुच्यते ॥ २१० ॥

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥

हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥ २११ ॥

विजयोदया—पशुत्तरसेहीए एककयलोचरत्रेष्वा फट्छीको फट्छीक ! ऊमोदरितवो अवमोदर्याख्यं तपः—
क्रिया यावत्वेकसिक्थकं या भवशिथं । आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रमोजोनोयतो भवेत् । ननु
आहारतो न्यूनः कथं न इत्युच्यते इति । केचित्कथयंति आयून्तापरिहारस्य तपसो हेतुत्वात्तप इत्युच्यते । अवमोदर्यं ॥
मूढारा — वचो इत्यादि—परमात्पुंजीमोवनार्वेकद्वयाविशानिकमेण यावदेकयासपरिहीन आहारोऽवमोदर्यं
तपः स्यात् । एवसिच्छ आहारस्याल्पतोपलक्षणमिदं अन्यथा कथमेकसिक्थकमात्रमोजोनोयतो भवेत् । आयून्तापरिहारस्य
तपोहेतुत्वात् एतत्तप इत्युच्यते । एतदुणा यथा—

निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः ॥

हृषीकनिर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥

अर्थ—ह्री और पुरुषोंका जो ग्रासका परिमाण अट्ठाइस और बत्तीस ग्रास कहा है उसमें एक ग्रास अव-
शिष्ट रहने तक जो कम करते जाना वह तप अवमोदर्यं तपही है, एक ग्रासमेंसे भी समान विभक्त किये हुये अर्द्ध
ग्रासतक भी इस तपके भेद होते हैं, और अर्द्धग्राससे कम करते करते एक सिक्थयतक भेद होते हैं, एक कवलसे
लेकर एक सिक्थतक जो भेद बतावे हैं वे अल्पाहारका केवल उपलक्षण है, क्योंकि केवल एक सिक्थ खानेके लिये
कोन उद्युक्त होगा, शंका—नून आहार करना यह तप कैसा समझा जायेगा, इसका उत्तर यह है कि अभिलाषसे
बहुत अब खानेका त्याग इस तपमें होता है अतः इसको तप कहते हैं,

रत्नपरिखानो निरुच्यते—

चत्वारि महाविष्यडीओ ह्येति णवणीदंमंज्जमंसमूहं ॥

कंत्वापसंगदप्पाऽंसजमकारीओ पुदाओ ॥ २१२ ॥

चत्तसो गृध्नुतासक्तिदर्पांसयमकारिणीः ॥

नचनीतसुरामांसमंघ्वाक्यां विह्वंतीविहुः ॥ २१२ ॥

त्रिजयोदया—चत्वारि महापियडोमो चतुर्धा महामण्डलकः । महत्याभरतसा विहृतः कश्चात्प्राप्तः । महामण्डलकः ।
 रयुज्यते । इति भवति । पाणीदमजमेसमम् भवतीति, मधे, मांसे, मण्डले च । कीदृशकाः । कंथापसंगद्व्यासंजमकारीमो
 यमो । कांशा गाढ्ये, प्रसंगः पुन पुनस्तत्र सूचिः, दूषः दूषेन्द्रियता, असंयमः रसविषयानुपगमात्माकः इन्द्रियासंयमः,
 रसजजंतुरीडा प्राणासंयमः, पक्षान्दोषानिमाः कुर्वन्ति ।

रसपरित्यागं नाथार्पचकेनाचिरात्पुनर्वनीतादित्यागोऽपि रसपरित्यागाख्यं तप इति गाथाद्वयेन तमेव तावद-
 न्वाचष्टे—

मूढात्—महाविषयीओ महत्याभेतसो विहृतेः कारणत्वात्तद्विहृतव्यवस्थितविकारफारिरता इत्यर्थः । अत्र
 लयनीतं कांशाकारि गाढ्यर्जकं, मधे प्रसंगं पुनः पुनः अगम्यमनादिकं वा करोतीति प्रसंगकारि । मांसमिन्द्रियदर्शकं ।
 मधुरसविषयानुपगतमक्रिमिन्द्रियासंयमरसजजंतुरीडाभक्तप्राण्यसंयमं च करोतीत्यसंयमकं, चत्वार्येपि वा प्राणिपीडा
 कारिणी । पुणम् ।

कांशाठमयनीपमक्षमवसृण्मांसं प्रसंगमदं ।

मयं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं वयम् चत्वार्येपि ॥

समूच्छांतस्तवर्जंतुनिधितान्युभेभ्योविक्रिया— ।

हेतुत्वाद्येि वन्महाविकृतव्यस्यग्यान्वतो धार्मिकेः ॥

रसपरित्याग उपका निरूपण करते हैं—

अर्थ—ममस्वन, मदिरा, मांस और शहव ये चार पदार्थ महाविकृति अर्थात् अंतःकरणमें विकार उत्पन्न होने
 के लिये कारण हैं, ये चार पदार्थ मांशा-चार वार अभिलाष उत्पन्न करते हैं, इन्द्रियोंको उन्मत्त करते हैं, असंयमको
 उत्पन्न करते हैं, इतने दोष इनके सेवनेसे होते हैं, असंयमके दो भेद हैं, इन्द्रियासंयम और प्राणासंयम, स्वादमें अनु-
 राग उत्पन्न होना यह इन्द्रियासंयम है, और मदादिकोंके रसमें उत्पन्न हुये माणिओंका भक्षण करते समय घात होना
 यह प्राणासंयम है.

आणामिकं खिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ॥
तावो आवज्जावं पिञ्जुद्धावो पुरा चेव ॥ २१४ ॥
महाविकारकारिण्यो भव्येन भवभीरुणा ॥

खिनाज्ञाकांक्षिणा त्वाज्या यावजीवं पुरैव ताः ॥ २१३ ॥

विजयोदया—आणामिकं खिणा अत्रैवं पदसदना-या-नो सा. महाविकृतयः । आवज्जीवं जीवितार्थधिकं । पिञ्जुद्धावो परित्यक्ताः । पुरा चेव सहेषनाकालात्पूर्वमेव । केन परित्यक्ताः ? आणामिकं खिणा—इदमित्यं त्वया कर्तव्यमिति कथं आसा । सर्वविधा भयिता भय्याः परित्याज्या भवनीतादयः । तदासेया असंयमः कर्मयंघदेतुरिति । अस्वामाद्यायां कोशचता आदर्यता संयशाऽन्तेपरमोदेव दुर्लभसंसारमध्यपतनं ममासीद्विचिन्त्यति च तेन तदाज्ञादरः कार्य इत्यभ्युचतेन । अवज्जभीरुणा अवर्धं पाप तेन । अवमर्थे. पापभीरुणा । तवन्ममाधिकामेण तपस्वैकाग्रतामभिलषता । अतो नयनीतस्यागोऽपि रसत्याग एव ।

मूढारा—आणामिकं खिणा नयनीतागुपयोगो ब्रह्मभाववर्द्धिताभयत्वात् कर्मबन्धेदुतिरिति नासौ कर्तव्य इति संयंशवत्त्वादर्शता । तवसमाधिकामेण तपस्वैकाग्रतामिच्छता । पिञ्जुद्धावो परित्यक्ताः । पुरा येव सहेषनाकालात्पूर्वमेव । इसलिये—

अर्थ—भीजिनेश्वरने नयनीत, भय, मांस और मधु त्यागो ऐसी भव्योंको आज्ञा दी है. अतः आज्ञा पालनकी इच्छा रखतेवाले भव्य जीव सहेषना कालके पूर्व कालमेंही इनका त्याग करते हैं. इनका सेवन करनेसे संयम नष्ट होकर कर्मबंध करनेवाला असंयम उत्पन्न होता है. यदि मैं जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर न करूं तो जैसा आजतक संसारमें मैंने अग्रण किया है ऐसा आगेभी मेरेको अग्रण करना पड़ेगा. ऐसा विचार कर जिनेश्वरकी आज्ञाका आदर करना चाहिये. जिसको पापसे भय लगता है, जो तपमें एकग्रताकी इच्छा करता है ऐसा मुनि इन पदार्थोंको त्यागे. नयनीतका त्याग करना भी रसत्याग नामक तप है.

इदं तु सहेषनाकाले ममेण त्यागो रसत्यागो गृहीत इत्याचष्टे—

खीरदधिसापितेष्ठं गुहाण पसेगदो व सब्जेसिं ॥

पिञ्जुद्धणमोगाहिम पणकुसणलेणमादीणं ॥ २१५ ॥

शुटतैलवधिश्रीरसर्पिणां धर्जने सति ॥
देवताः सर्वतो ज्ञेयं तपः साधो रसोज्ज्वलम् ॥ २१४ ॥

विजयोद्या—धीरदधिसन्धिगुह्यगुह्यं श्रीरस्य, वृजः, घृतस्य, तैलस्य, शुद्धस्य, च जिज्जुह्वेन त्यागः । कथं
प्रेमदो य मयेकं परैकस्य या द्यामः । सद्योस्ति सर्वेषां वा क्षीरार्दीनां त्यागः । रसपरित्यागः । ओगादिम पणकुसुण
लोचमार्दिनं व्यूयानां, पत्रनाकानां, मृगस्य, लवणादीनां वा त्यागो रसपरित्यागः ।

इह ससेलनाकाले क्षीरादीनामेव त्यागो रसत्यागो गृहीतस्तमेवाचष्टे—

मूलादा—रोगदो परैकस्येव । वात्रलुक्तसमुच्चये । तेन यथायोग्यं द्वयोक्त्यानां चतुर्णां वेति आहं । गिज्जू
ह्वं त्यागः । ओगादिमा मूतपूरादि । कण पूर्णं पत्रनाकादि । कुसुम सूयः ।

सहेखना कालमे क्षीरादिरूपा त्याग करना रसत्याग है. आचार्य उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ—दूध, दही, घी, तैल, शुद्ध इन सब रसोंका त्याग करना अथवा एक एक रसका त्याग करना यह
रसपरित्याग नामका तप है. जयवा पूष, पत्रशाक, दाल, नमक, योगेष्ट पदार्थोंका त्याग करना यह भी रसपरि-
त्याग नामका तप है.

अरसं च अण्वेलाकदं च सुद्धोदणं च लुक्खं च ॥

आर्यविलमायमोदणं च विगढोदणं चैव ॥ २१६ ॥

अशनं नरिसं शुद्धं शुक्कमस्वादु शतिलम् ॥

सुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ॥ २१६ ॥

विजयोद्या—अरसं च स्वादुरहितं । अण्वेलाकदं च वेल्डतरुतं च द्रीविलमिति यावत् । सुद्धोदणं च
लुक्खं च नुज्जितं च केतचिक्खमिच्छं । लुक्खं च रुक्षं च अग्निघटाप्रतिपक्षमूत्रेन स्थौनं विशिष्टमिति यावत् । आर्यविटं
धम्मरुत्तरीणीरमिच्छं । आयामोदणं मय्युत्तलं विषयाज्जमिति केचिद्वदन्ति । यवसाधनसहितमित्यन्ये । विगढोदणं
अतीत तीक्ष्णं । उप्पोदकसमिच्छं इत्यपरे ।

गूढारा—अरसं स्वादुरहितं । अण्वेलाकदं मोहनवेलाया अन्यस्यां वेलायां साधितं द्रीविलमिति यावत् ।

मुढोदण केवलभक्तं । आगबिहल अस्संस्तुतकालिकमिन्नमक्त । आयाभोदणं मंडोदणं स्तोकरजलतिक्कथात्वं वा । निगढोदणं अवपक्क उण्णोवक्ककूरं वा ।

अर्थ—अस अर्थात् स्वादरहित पदार्थ, भोजन समयको छोड़कर अत्यसमयमें पकताया हुआ अर्थात् भोजन नके समयमें जो ठंडा हुआ है ऐसा पदार्थ, जिसमें घी वगैरह नहीं मिलाये हैं ऐसा भात, जिसका रस स्पर्श है ऐसा अन्न, जैसे रोटी वगैरे रुखा पदार्थ. असंस्तुत क्रावीसे मिश्र ऐसा भात, आयाभोदण—जिसमें थोड़ा पानी है और सिक्क्य जोड़े हैं ऐसा भात, बहुत पका हुआ भात अथवा गरम जल जिसमें भिड़ा हुआ है ऐसा भात खाना चाहिये

इच्चैवमादि विविहो णायच्चो हवदि रसपरिच्चाओ ॥

एस तवो भजिदब्बो विसेसदो सद्धिहंतेण ॥ २१७ ॥

येऽन्येऽपि केचनाहारा घृण्या विकृतिकारिणः ॥

ते सर्वे शक्तितस्याज्या योगिना रसवर्जिता ॥ २१६ ॥

संतोषो भगवित् सम्मग्न द्रव्यचर्यं प्रपातितम् ॥

दर्शितं त्वस्य वैराग्यं कुर्वणेन रसोज्झनम् ॥ २१७ ॥

विजयोदया—इथमादिविविहो फलमादिविविधो नानप्रकारे । णादब्बो इत्थं रसपरिच्चाओ ज्ञातव्य सर्वेण रसपरित्याग । एस तवो भजिदब्बो एतद्वत्सपरित्यागाख्य तप । भजिदब्बो सेव्य । विसेसदो विशेषेण । सद्धिहंतेण फापसहेत्तवना कुर्वता । आओ रत्ताम् ।

मूलार—इच्चैवमादि धीरादित्यागादिप्रकाशुरस्तरा । विनेसदो अनक्षनादिभ्योऽविशयेन । सद्धिहंतेज कायसहेत्तवना कुर्वता ।

अर्थ—इत्यादि नानाप्रकारका रसपरित्याग जानना चाहिये यह रसपरित्याग नामका तप धीररसहेत्तवना करनेवाले मुनिको विशेषरीतीसे करना चाहिये. अर्थात् अनक्षनादि तपोंकी अपेक्षा यह तप अधिकतोसे करना चाहिये रसपरित्याग तपका स्वरूपवर्णन समाप्त हुआ

गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुचियं च पेलवियं ॥
संवूकावट्टं पि य पदंगवीधी य गोयरिया ॥ २१८ ॥
युह्वाति प्रासुकां भिक्षां गत्वा प्रत्यगतो यतः ॥
शब्बूकावर्तगोमूत्रपुटेषु शलभायनः ॥ २१७ ॥

विजयोदया—गत्तापच्चागदं । यथा वीथ्या गतः पूर्वं तथैव प्रत्यागत्य कुर्वन्त्यदि लभते भिक्षां युह्वाति नाभ्यथा । उज्जुवीहि अन्ध्या वीथ्या गतो यदि लभते युह्वाति नेतरथा । गोमूत्रिकाकारं भ्रमणं वा संपादयन् । पेलविगं यंशदलादि-
विभक्तिर्यादितं यत्तुसुवर्णादिकेपलायं विधानसहितं यत्तद्वस्तुस्वाकारं भ्रमणं । संवूकावट्टं पि यंशवूकावर्तं इव । पदंगवी-
धी य पदंगमान्ता पदंगवीधीतुच्यते । सा यथा भ्रमति तथा भ्रमणं । गोयरिया । गोचर्या भिक्षायां भ्रमणं । एवंयूतेन
भ्रमणेन लब्धां भिक्षां युह्वाति नान्ययेति कृतसंकरत्वा वृत्तिपरिसंस्थानं ।

मूढारा—गत्तापच्चागदं । यथा वीथ्यागतस्तथैव प्रत्यागच्छन्त्यदि भिक्षां लभते तत्रा गृह्णाति इति । उज्जुविही
शालया शालया वीथ्या मार्गेण यदि गतो लभते तत्रा गृह्णाति । गोमुचियं । गोमूत्रिकाकारं भिक्षार्थं भ्रमणं । पेलवियं
पेटान्तर्यद्वारं भ्रमणं । संवूकावट्टं शंखकवचवन्तरमायत्वं यदि भ्रमणं भिक्षाग्रहणं । पदंगवीधी पदंगमालावहित-
रतनो भ्रमणं, एकरिमन्त्रेन कटाक्षितगूदे गमनं वा । गोयरिया वीथ्यं यथागत्तापच्चागदप्रद्वर्णभित्त्यर्थः ।

शुचिपरिसंस्थान तपका निरूपण आचार्य चार माथाओमि करते हैं—

अर्थ—लिंग मार्गसे आहारके लिये गमन कर उसी मार्गसे लौटते समय यदि आहार मिलेगा तो मैं
ग्रहण करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करना बह गतप्रत्यागत है. सरल रास्तेसे जाते समय यदि आहार मिलेगा तो आहारग्रहण
करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. वह मनुष्यीही है. बेल घूटते जाता है उस समय जो आकार रस्तेपर उत्पन्न होता
है ऐसा मोठा खाते हुये भ्रमण करनेवाले भेरेको यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको
गोभूचिक कहते हैं. नासके दुकड़े, लकड़ी इत्यादिते बनाना हुआ और जिसमें दकन लगा हुआ है ऐसा बख सुव-
र्णादि रखनेका जो चार कोनोंका पदार्थ अर्थात् संदूक-पेटीके समान चतुष्कोण भ्रमण करते हुए भेरेको यदि आहार
मिलेगा तो ग्रहण करूँ ऐसी प्रतिज्ञा करना इसको पेलविय कहते हैं. शंखके आवतोंके समान ग्रामके अंदर भ्रमण

करके जब बाहर अमण करूंगा ऐसे समयमें यदि मिखा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह शंभू कावर्त है.

पक्षिओंकी पंक्ति जैसे अमण करती है वैसा अमण करते हुए मेरेको यदि मिखा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं. अबका विस आनकके घरमें आहार लेनेका मतमें विचार किया है वहाँ जाना इसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ अमण करनेसे यदि मिखा मिलेगी तो स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृत्तिपरिसंख्यान सय है.

पाडयणियंसणभिक्षा परिमाणं वत्तिवासपरिमाणं ॥

पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथद्धारपाटुवेपादिगोचरम् ॥

संकल्पं विविधं कृत्वा वृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥

तद्वत्ता वृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चरं तपः ॥ २१९ ॥

कुर्वता वृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चरं तपः ॥ २१९ ॥

विजयोक्त्याः—पाडयणियंसणभिक्षापरिमाणं इमं एव पाटकं प्रविश्य लक्षां भिक्षां गृह्णामि मान्यं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेवेति । अथ गृह्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न शुद्धमित्यमभिग्रहः शिवेक्षणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति । अपरे पाटकाभूमिमेव प्रविशामि न पाटगृह्णाणि इति संकल्पः पाडयणियंसणमित्युच्यते इति कथयन्ति । भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकास्मिति । वत्तिवासपरिमाणं एकमेव दीयमानं ज्ञाप्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं । आनीतायामपि भिक्षायां इत्यत एव आसन्नगृह्णामि इति वा परिमाणं । पिंडेसणा पिंडभूतमेवाशनं गृह्णामि । पाणेसणाभो द्रव्यगुह्यतया पत्नीयते अन्नार्थं । जागूय यत्तागूः । पोम्गलिया वा धान्यान्त्येव निष्पावचनक्रमसूत्रकादीनि भक्ष्यामि इति ।

मुलारा—पाडयणियंसणपरिमाणं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेव वा प्रविश्य भिक्षाग्रहण । निवसनपरिमाणं यदि वा अथ गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंशब्देन भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणं । अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृह्णाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः । भिक्षापरिमाणं एकद्विचारपरिवेष्टित

मित्राभरणं । इच्छिपासपरिमलं एकैव दायकेन द्वाभ्यां वा दीयमानस्य ग्रहणं दक्षिपरिमाणं । आनीतायामपि मिश्रायां द्रवत एव प्रासान् ग्रहीष्यामि इति प्रासपरिमाणं । पिबेत्तपाजो पिबभूतमेव अशनं युद्धामि न पानमिति । पाणेषणाजो-द्रवमेवाशनं युहामि न पिबमिति । चागूय यवागूः । पोगलिया धान्यान्त्येव निष्पावचणकादीनि मिश्रायामिति । त्रिषमित्यन्त्यः ।

अर्थ—इसही पाटकमें प्रवेश कर मिली हुई शिक्षा में ग्रहण करने का दूसरे पाटकमें मैं आहारार्थ जाउंगा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. अथवा मैं एक पाटकमें अथवा दोन पाटकोंमें शिक्षा मिलनेपर ग्रहण करने का अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. इस घरके परिकरकी भूमीमें यदि आहार मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँ घरमें प्रवेश न करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. इसको नियंनण कहते हैं. पाटककी भूमिपर ही आहार मिलेगा तो मैं आहार स्वीकारूँगा परंतु पाटकके घरोंमें प्रवेश नहीं करूँगा ऐसा संकल्प करना इसको पाटकनिबसन परिमाण कहते हैं. एकदफे अथवा दो दफे जो अन्न परोसा है उसनाही मैं ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं यह शिक्षापरिमाण है. एक दाता अथवा दोन दाताओंने दिया हुआ अन्न ग्रहण करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना यह दातृपरिमाण संकल्प है. दाताने देनेके लिये शिक्षा लाने पर भी इतने ही श्रास मैं स्वीकारूँगा इस तरह का संकल्प करना यह दासपरिमाण संकल्प है. पितरूप जो अन्न है वही मैं ग्रहण करूँगा द्रवरूप पदारथ ग्रहण न करूँगा ऐसा संकल्प करना यह विदेपणासंकल्प है. द्रवरूप अन्नही मैं ग्रहण करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना, आप्रदेपणासंकल्प कहते हैं. रचही इत्यादि जो पतली भी नहीं और पितरूप भी नहीं है वह भक्षण करूँ ऐसा संकल्प करना. पावटे, घना, मधुर इत्यादि धान्यरूप अन्न ही मैं ग्रहण करूँगा ऐसा संकल्प करना ये सब दृष्टिपरिसंख्यान तपके धेद हैं.

संसिद्ध फलिह परिखा पुष्कोवहिदं व सुहृगोवहिदं ॥

लेवडमलेवडं पाणयं च णिसिस्तथगमसित्यं ॥ २२० ॥

पिजयोदपा—संसिद्ध शाककुट्टमाणादिसंखटमेव । फलिह संमत्तदवस्थितशाकं मध्यावस्थितौदपं । परिखा व्यंजनमध्यावस्थितान्नं । पुष्कोवहिदं च व्यंजनमध्ये पुष्पशालिरिव अवस्थितसिक्त्यं । सुहृगोवहिदं । शुद्धेन निष्पावादिमि-रमिधेपानेन उवहिदं सरदृष्टं शाकच्यंजनमादिकं । लेवडं हस्तलेपकारि । अलेवडं यच्च हस्तो न सञ्चति । पाणयं पानं च कीदृक् ? णिसिस्तथगमसित्यं सिक्त्यपरिहितं पानं तत्सहितं च ।

करके जब चाहर भ्रमण करूंगा ऐसे समयमें यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना. यह शब्द कावर्त है.

पक्षिओंकी पंक्ति जैते भ्रमण करती है वैसा भ्रमण करते हुए मेरेको यदि भिक्षा मिलेगी तो आहार ग्रहण करूंगा इस प्रतिज्ञाको पतंगवीथी कहते हैं. जयवा जिस आवाकके घरमें आहार लेनेका मनसे विचार किया है वहाँ जाना इसको भी पतंगवीथी कहते हैं. इस प्रकारसे आहारार्थ भ्रमण करनेसे यदि भिक्षा मिलेगी तो स्वीकारूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना यह वृत्तिपरिसंख्यान तप है.

पाटवर्णियंसणभिक्षत्वा परिमाणं वृत्तियासपरिमाणं ।।

पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुगलया ॥ २१९ ॥

पाटकावसथदारदाणुदेयाविगोचरम् ॥

संकरूपं विविधं कृत्या दृत्तिसंख्यापरो यतिः ॥ २१८ ॥

द्वेना तुष्णालना रुढा विन्नसंकल्पपल्लवा ॥

कुर्वता दृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चारं तपः ॥ २१९ ॥

विशयेवया!—पाटवर्णियंसणभिक्षापरिमाणं इत्थं एव पाटकं प्रविश्य लूणां भिक्षां गृह्णामि नाभ्यं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेति । अथ गृहस्य परिकरतया अवस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहमित्यभिमिश्रः पिंडेसणमित्युच्यते इति केचिद्वदन्ति । अपरं पाटकं भूमिमेव प्रविशामि न पाटगृहाणि इति संकल्पः पाटगणितांसणमित्युच्यते इति कथयन्ति । भिक्षापरिमाणं एकां भिक्षां दे एष वा गृह्णामि नाधिकमिति । वृत्तियासपरिमाणं एकेनैव दीपमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणं । आनीतायामपि भिक्षायां इत्यत एव ग्रासान्गृह्णामि इति वा परिमाणं । पिंडेसणा पिंडभूतमेवाशनं गृह्णामि । पाणे सणाञ्चो प्रवयद्गुह्यतया यत्पीयते अशनं । जागूय यवाङ्गः । पोम्बलिया वा धान्यावयवणतमसूतसदीनि भक्षयामि इति ।

मूलारा—पाटवर्णियंसणपरिमाणं । एकमेव पाटकं पाटकद्वयेव वा प्रविश्य सिद्धावहण । निवसनपरिमाणं यदि वा धारय गृहस्य परिकरतयावस्थितां भूमिं प्रविशामि न गृहं इत्येवंप्रवेण भिक्षाग्रहणं निवसनपरिमाणं । अन्ये पाटकभूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति भिक्षासंकल्पं पाटकनिवसनपरिमाणमाहुः । भिक्षापरिमाण एकद्विद्वारपरिवेष्टित

मूलारा—अभिग्याहो अवग्रहः । स च पात्रस्य यथा । एवभूतेनैव सौमर्गान्वयवमेन भाजनेनानीतं गृह्णाभीति । दायकस्य यथा—स्वियंयानीतं गृह्णाभि तत्रापि चालया, युवत्या, वृद्ध्या, सांकेतारया, आक्षिप्या, राजपुत्र्या वेत्येवमादिः ।

अर्थ—यदि मुरर्णपात्र, कासेका पात्र, रूपेका पात्र अथवा मड़ीकापात्र इससे दाता आहार दे तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना दायक—यदि स्त्री अर्थात् चालिका, तृणी, वृद्धा इनमेंसे किसी एक निवृद्धित स्त्रीने आहार दिया तो ग्रहण करूंगा. अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना. यदि कोई स्त्री भूषणरहित होगी अथवा ब्राह्मणी या राजकन्या होगी तो यदि वह आहार देगी तो मैं ग्रहण करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करना इत्यादि नाना प्रकारके नियम करना उसको वृत्तिपरिसेख्यान नायका तब कहते हैं.

दायकेश्वरानिरूपणयोगोत्तरप्रबंधः—

अणुसूरी पडिसूरी य उडुसूरी य तिरियसूरी य ॥

उब्भागोण य गमणं पडिआगमणं च गंतुणं ॥ २२२ ॥

तिर्यगर्गसुपर्यकमन्यकं प्रतिभास्करम् ॥

यति ग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागच्छति ॥ यतिः ॥ २२० ॥

विजयोक्ता—अणुसूरी पूर्वस्या दिवा पश्चिमाशागमनं पुरुषतये दिने । पडिसूरी अपरस्या दिवा. आदित्याभि-
मुख गमन । उडुसूरी य उर्गं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरी य तिर्यगवस्थितं विषकटे कृत्वा गमनं । उब्भागमेण गमणं स्ना-
पयित्वा आमावस्यामांतरं प्रति मिश्रार्थं गमन । पडिआगमणं च गतूणं प्रत्यागमनं च गत्वा स्थाने ।

चायकेश्वरयो गमनस्थानासनशयननिष्ठीकनादिशरीरेषु संकमाभिधाननिष्ठेन साध्यापदेकैवाचष्टेः—

मूलारा—अणुसूरिं अनुसूर्यं, सूर्यं पश्चात्कृत्वा गतं । पडिसूरिं सूर्यं अभिमुखं गमनं । उडुसूरिं चर्चुं गते सूर्ये गमनं । तिरियसूरिं सूर्यं पार्श्वे कृत्वा गमनं । उब्भागमेण गमणं उब्भागमेन गमनं उब्भागमेण ग्रामाद्रागमनं च उब्गेन अपि अन्य गमनं । पडित्यादि आगतं गत्वा पुनस्तत्रैवागमनम् ।

चायकेश्वरानिरूपणार्थं आमेका प्रबंध लिखते हैं—

अर्थ—जिस दिन कड़ी धूप पड़ती है उस दिन पूर्व दिशामें पश्चिमदिशाके तरफ जाना, अनुसूरिगमन है पडिसूरी-

मूला—संविष्टं व्यञ्जनसंमिश्रं, फलित्वा व्यञ्जनैकपात्रसंस्थितौदनं । परिष्ठा व्यञ्जनमप्यसिधत्तकूरं । पुष्पोपहितं पुष्पप्रकरवत्प्रधानमध्यमीर्णसिक्क्यकं । सुदुग्धोपहितं शुद्धेन निम्बपाद्यसंयुक्तोन्नतेनोपहितं संसृष्टं शाककर्म जनादिकं वा । यदि वा शुद्धेन केन जलेनोपहितं कूरं । लेवडं हस्तेलेपकारि घोलादिकं । जलेवटं हस्तोलेपकारि माषिनादिकं । पाण्यं द्राक्षादिसोषितं पानकं । तत्र निगसिक्क्यं ससिक्क्यं वा । भोज्यतया कल्पयति ।

अर्थ—आक और शुल्माप अर्थात् कुलरथादिक धान्यसे मिश्रित अन्नको संसृष्ट कहते हैं। इस प्रकारका अन्न यदि मिले तो आहार करुंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना। फलित्वा—शालीके मध्यमें भात रखकर उसके चारों तरफ माजी रतना ऐसी रचनाको फलित्वा कहते हैं। इस तरहकी आकृतीका आहार यदि मिले तो ग्रहण करुंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना। परिष्ठा—मध्यमें अन्न रखकर आसमंतात् व्यञ्जन रखना उसको परितः कहते हैं। इस प्रकार का अन्न यदि मिले तो आहार करुंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करना।

पुष्पोपहितं—व्यञ्जनोके बीचमें पुष्पोंके समान अन्नकी रचना करना उसको पुष्पोपहित कहते हैं। ऐसी रचना किया हुआ आहार यदि मिले तो लेनेकी प्रतिज्ञा करना, जिसमें मट इत्यादि धान्यका मिश्रण नहीं है परंतु जिसमें भाजी और व्यञ्जन—चटनी वगैरे पदार्थ मिले हुये हैं उसको शुद्ध गोपहित कहते हैं उसकी प्रतिज्ञा करना। लेवट—द्राघको विपकने वाला अन्न लेनेकी प्रतिज्ञा करना—अलेवट—ओ हाथको नहीं विपकता है ऐसा आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना। पान—सिक्क्यरहित अथवा सिक्क्यसहित आहार लेनेकी प्रतिज्ञा करना।

पचस्त दायमास्त य अवगमहो बहुविहो ससत्तीए ॥

इचेवमादिविधिणा णादब्बा वुत्तिपरिसंखा ॥ २२१ ॥

विजयोदया—पचस्त एवंगलेन माज्जेनैकस्मीतं सुद्धाणि सौवर्णेन, कंसपात्र्या, राजतेन सृपमेवेन वा । दाय-मास्त य स्मिदैव तत्रापि यादया, शुक्ला, स्वधिरया, निरलेकारया, ब्राह्मण्या, राजपुत्र्या हलेवमादि अग्निग्रहोऽयग्रहः । बहु-विहो बहुविधः । ससत्तीए लघाफला । इचेवमादि एवंगकात विविधा विधिषा । भावज्जा मातव्या- । वुत्तिपरिसंख्या वृत्ति-परिसंख्या ॥

समपलियंक गिसेज्जा समपदगोदोहिया य उज्झडिया ॥
मगरसुह हत्थिसुंढी गोणगिसेज्जकूपलियंका ॥ २२४ ॥
पर्यकमद्धपर्यकं वीरपच्चागवासानम् ॥

आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदय—समपलियंकगिसेज्जा सम्यक्पर्यकनिपद्या । समपदं स्तिर्कपिडसमकरणेनासनं । गोदोहिया गो-
दोहने आसतगिवासनं । उज्झडिगा ऊर्ध्वं संकुचितमासनं । मगरसुह मकरस्य मुखाविव कृत्वा पादवयस्थानं । हत्थिसुंढी
हस्तिहस्तप्रसारणमिय एकं पादं प्रसार्योत्तरे । हस्तं प्रसार्योत्तरे । गोणगिसेज्ज अक्षपलियंक गोनिपद्या गवागमसनमित्य
अर्द्धपर्यकं ।

एवं श्यामयोगीं निरुज्जासनयोगीं निरूपयति —

मूलाय — संपलियंकगिसेज्जा सम्यक्पर्यकासनं । समपुवं स्तिर्कपिडसमकरणेनासनं । गोदोहिया गोदोहे वा-
सतमिय पल्लिगद्वयसुस्थित्याग्नपादाभ्यामासनम् । उज्झडिगा युताभ्यां भूमिस्थदन्तः समपादाभ्यामासनं । मगरसुह मकरस्य
मुखमिव कृत्वा पादावासनं । हत्थिसुंढी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य यक्षुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्योत्तरे ।
एकं हस्तं प्रसार्योत्तरे । गोणगिसेज्जा जंघाद्वयं संकोच्य गोदोहवासनं । अक्षपलियंक अर्द्धपर्यकासनं गोनिपद्येय गवासान-
मिवार्द्धपर्यकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगिका वर्णन—

अथ—उत्तम पर्यकासनत्वे बैठना उसको पर्यकनिपद्या कहते हैं. समपद—जंघा और कटिभागको समान
करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं उस पद्धतीसे बैठना उत्कुटिकासन—जमीनको स्पर्श
न हो इस रीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उत्कुटिकासन है.

मगरसुह—मगरके मुखसमान पावोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंढी—हाथी जैसे अपनी सुंडको पसार-
ता है तद्वत् एक पांच पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको गी यही नाम है. गोणगिसेज्ज—गवासान और
अर्द्धपर्यकासन ये सब बैठकर कमजोरता तप करनेके प्रकार हैं.

पश्चिमदिशामे पूर्व दिशामे जाना. अर्थात् सूर्यके सम्मुख गमन करना. उद्धृष्टि-यर्थे जत्र गस्तकपर चढता है ऐसे गमनमें गमन करना. तिरियद्धरि-युर्मने विर्यक् करके गमन करना, उन्मथामेण गमन-स्वयं ठहरे हुए ग्रामसे दूसरे गांवको निर्थांति न लेकर आहारके लिये गमन करना. और जाकर स्वस्थानको जाना यह सब गमनरूप आश्वमेध उप है.

स्थानयोगनिरूपणा—

साधारणं सवीचारं सणिखंडं तदेव योसट्टं ॥

समपादमेगपादं मिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥ २२३ ॥

सावष्टयं तनूत्सगं ससंकममसंक्रमम् ॥

शृद्धोर्निमचस्थानं समपादैकपादकम् ॥ २२१ ॥

चित्रयोव्या—साधारणं प्रष्टुस्तंभाधिकमुपाधित्य स्थानं । सवीचारं ससंकमं पूर्वोक्तस्थितोद्गाहृत्यापि स्थानितस्थानं । सणिखंडं मिद्धलमयस्थानं । तदेव तथैव । योसट्टं कायोत्सगः । समपादौ समी पादौ कृत्वा स्थानं । एगपादं एकैव पादैव भवस्थानं । मिद्धोलीणं गृहस्थोद्वेगमनमिव पादू प्रसाययंस्थानं ।

बुलारा—साधारणं प्रष्टुं शतंभादिकमवष्टय स्थानं उद्धृत्यावस्थानं । सविचारं ससंकमं । पूर्वस्थानात् स्थानांतरे गत्वा गृहदिवसादिपरिच्छेदेन तस्थानमित्यर्थः । सणिखंडं मिद्धलं वनैवावस्थानं । योसट्टं कायोत्सगं । समपादं समौ पादौ तत्त्वा स्थानं । एगपादं एकैव पादैव भवनावस्थानं । मिद्धोलीणं गृहस्थोद्वेगमनमिव पादू प्रसाययंस्थानम् ।

स्थानयोगता निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्वच्छ स्तंभ वा भीति इत्यादिकोसा आश्रय लेकर खड़े होना यह साधारण कार्यकुशल है. सविचार-पूर्वस्थानमें स्थानान्तरको जाकर यहाँ एक पहर, एकदिवस वगैरह प्रमाणसे खड़े होना. स्वस्थानमें ही निश्चल खड़े रहना. यह मंत्रिकद्व है. योसट्टं-कायोत्सगं करना. समपाद-पांव भूमिपर समान रखकर खड़े होना. एकपाद-एक पांवमेही खड़े रहना. मिद्धोलीणं-गीघपक्षी जैसा आकाशमें उड़ते समय अपने पंख फैलाता है वैसा चाहू फैलाना मंटे होना.

समपलियंक गिसेज्जा समपदगोदोहिया य उज्झडिया ॥
मगरमुह हत्थिसुंदी गोणसिसेज्जपलियंका ॥ २२४ ॥
पर्यंकमद्धपर्यंक वीरपद्मगवासानम् ॥

आसनं हस्तिशुंडं च गोदोहमकराननम् ॥ २२२ ॥

विजयोदया—समपलियंकगिसेज्जा सम्यक्पर्यंकनियथा । समपदं स्तिरूपिण्डसमकरणेनासनं । गोदोहिया गो-
दोहमे आसनमिथासनं । उज्झडिया ऊर्ध्वं संकुचितमसनं । मगरमुह मकरस्य मुखमिव कृत्या पादावस्थानं । हत्थिसुंदी
हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं प्रसार्योसनं । हस्ते प्रसार्येष्टपरं । गोणसिसेज्ज अद्धपलियंकं गोनिपया गवामासनमिव
अर्द्धपर्यंकं ।

एवं स्थानयोगं निरूप्यासनयोगं निरूपयति —

मूलाए—संपलियंकणिसरग्जा सव्यकपर्यंकासनं । समपुदं स्तिरूपिण्डसमकरणेनासनं । गोदोहिया गोदोहे आ-
सनमिव पालिण्डयमुखिपद्माग्रावादाभ्यामासनम् । उज्झडिया युताभ्यां भूमिमस्पृशतः समपत्वाभ्यामासनं । मगरमुह मकरस्य
मुखमिव कृत्या पादायासनं । हत्थिसुंदी हस्तिहस्तप्रसारणमिव एकं पादं संकोच्य तदुपरि द्वितीयं पादं प्रसार्योसनं ।
एकं हस्त्वं प्रसार्येष्टपरं । गोबिसेज्जा जंपाद्वयं संकोच्य गोरिवासनं । अद्धपलियंकं अर्द्धपर्यंकासनं गोविपयेव गवासान-
मिवाद्धपर्यंकमिति व्याचष्टे ।

आसनयोगका वर्णन—

अथ—उत्तम पर्यंकासनसे बैठना उत्तमो पर्यंकनियथा कहते हैं. समपद—जंपा और कटिभागको समान
करके बैठना. गोदोहिया—गायको दोहनेके समय जैसा बैठते हैं व्जा पद्वतीसे बैठना उत्कृष्टिकासन—जमीनको स्पर्श
न हो इस रीतीसे समान पावोंपर बैठना वह उत्कृष्टिकासन है.

मगरमुह—मगरके मुखसमान पांवोंकी आकृति कर बैठना. हत्थिसुंदी—हाथी जैसे अपनी शुंडको पसार-
ता है वद्वत् एक पांव पसारकर बैठना. एक हाथ पसारकर बैठनेको यी यही नाम है. गोबिसेज्ज—मवसन और
अर्द्धपर्यंकासन ये सब बैठकर कायछेद्य तप करनेके प्रकार हैं.

वीरासनं च दंडा य उद्धुसाई य लगडसाई य ॥
 उत्ताणो मच्छिय एगपाससाई य मडयसाई य ॥ २२५ ॥
 समस्फिगं समस्फिगं कृत्यं कुक्कुटकासनम् ॥
 बहुधेत्यासनं साधोः कायकेशविवायिनः ॥ २२६ ॥
 फोदंडलगडादंडशवशय्यापुरस्सरम् ॥
 फातंन्या बहुधा शय्या शरीरकेशकारिणा ॥ २२७ ॥

विजयोदया—वीरासनं जेथे विमकुटदेशे कृत्वासनं । दंडवदायनं शरीरं कृत्वा शयनं । स्थित्या शयनं च
 अद्वयंशायीत्युच्यते । लगडसाई संकुचितगान्ध्या शयनं । उत्ताणो उत्तानं शयनं । अयनस्तकशयनं एकपाश्वशयनं च ।
 मूढारा—वीरासनं कट्टयोरपरि पादद्वयविन्यासः । जेथे विमकुटदेशे कृत्वासनमिति टीकाकृत । इतःशयन-
 भेदानाह—दंडापचोद्धुसाई दंडवदायनं शरीरं कृत्वा शेते इत्येवं मतं यस्य स दंडापवशापी साधुस्तत्साहचर्यास्तच्छ्रय
 नमपि तथोक्तं दंडापवदायनमित्यर्थः । एवमुद्धुसाय्यादीनामपि श्रुत्यदिः कार्यो, चक्रीभूयशयनमूर्द्धुसायी । लगडसाई
 संकुचितरराग्न्य शयनं । कर्तामेत्यादि—उत्तानस्य शयनं दणानशयनं । अवमस्तकशयनमधोमुखदानं । एकपाश्वशयनं
 च । मडयसाई दृढकस्थेन निश्चिष्टं शयनम् ।

अर्थ—वीरासन-दो जग्ये दूर अन्तर पर स्थापन कर बैठना. दंडापत शयन-दंडके समान शरीर दीर्घ
 कर मोना. खंडे होकर शयन करना. लगडसायी-अवयवोंका संकोच कर शयन करना. मुंह ऊपर कर सोना वह
 उत्तानशयन है. मस्तक नीचे करके सोना अग्रमस्तकशयन है और एक बाजुसे सोना वह एक पाश्वशयन है.

अवभावागाससयणं अणिद्रुवणा अकंडुगं चेवं ॥
 तणफलयसित्ताभूमी सेज्जा तह केसलोचै य ॥ २२६ ॥
 काष्टादमत्तुणभूशय्या दिवानिद्राविपर्ययः ॥
 दुर्परात्रावकाशादियोगवित्तयचारणम् ॥ २२७ ॥

विजयोद्या—अन्नाद्यगासस्येणं वक्षिर्निरावरणदेशे शयनं । अपिष्टिवर्णं निष्टीवर्णकरणं । अर्कद्वयणं च अर्कद्वयनं । तपफलगविलासमीसेज्जा तृणादिषु शय्या । तदा तथा । कैसत्तोयो य केष्ठलोचक्य ।

मूलात्—अन्नाद्यगासस्येणं वक्षिर्निरावरणदेशे शयनं । इतः केष्ठलोचक्य—अपिष्टिवर्णं निष्टीवर्णकरणं । अर्कद्वयणं । अर्कद्वयनं ।

अर्थ—बाह्य आवरणरहित जमीनपर शयन करना वह अन्नाद्यगास शयन है. अनिष्टीवर्णक—नहीं धूकना. अर्कद्वयन—अंगमें खुजली उत्पन्न होनेपर भी नहीं खुजलना. तृण, काठका फलक, शिला इत्यादिकोपर शयन करना तथा केष्ठलोच करना.

अम्बुगुणं च रादो अण्हाणमदंतघोषणं चैव ॥

कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादी य ॥ २२७ ॥

दंतघावनकं कृमिस्नाननिष्टीवर्णासनम् ॥

यामिनीजामरो लोचः कायक्लेशोऽयमीरितः ॥ २२६ ॥

सूत्रातुसारतः साधोः कायक्लेशं वितन्वतः ॥

चित्तिताः संपदः सर्वाः संप्रयंते करस्थिताः ॥ २२७ ॥

विजयोद्या—अम्बुगुणं च रादो रात्रायशयनं अगारणमित्यर्थः । अण्हाणं अन्नम् । अर्कद्वयणं चैव दंतानाम-घोषणं । कायकिलेसो कायक्लेशः । एसो एषः । सीदुण्हादावणादी य । शीततपनमुष्ण-तपनमित्येवमादिकं ।

मूलात्—अम्बुगुणं रादो रात्रायशयनं । बोत्राप्यर्थे शिब्रम्भो योज ४ः । सीदुण्हादावणादीष्वि क्षीतेनतापेन च समंतात्कायस्य क्लेशार्थम् । आदिरात्र्येन घृष्टिकेच्छादि ॥

अर्थ—रातमें जागरण करना, स्नान नहीं करना, दांत घों-छा त्याग करना. ये सब कायक्लेशके प्रकार हैं. शीतकालमें कायक्लेश करना और घूममें घरीरको क्लेश करना. इत्यादिरूपसे कायक्लेश तप अनेक प्रकार का है.

विचिक्तशयनासननिरूपणा—

जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सदरसरूवगंगफासेहिं ॥

सज्झायज्झाणवाधादो वा वसधी विधिंवा सां ॥ २१८ ॥

यिविचिक्तवसतिः सास्ति यस्यां रूपरसादिभिः ॥

संपयते न संक्षेपो न द्यानाध्ययने क्षतिः ॥ २१९ ॥

विमलोदया—जत्थ ण सोत्तिग यस्यां यस्ततो न विद्यतेऽशुभपरिणामः । सदरसरूवगंगफासेहिं शब्दरसरूपगंध-
स्पर्शैः कारणभूतैः मनोद्वैरमनोद्वैर्यो । सा विधिंवा यस्तथी विचिक्ता वसतिः । सज्झायज्झाणवाधादो स्वाध्यायध्यानयोग्यो-
पातो वा नास्ति सा चिपिका भवति ।

विचिक्तशयनार्थं तयो गाथार्पचक्रेन न्याचक्ष्ण प्रथमं विविचिक्तवसतिं सांभान्कलेक्ष्णमाह—

मूढार—विमोत्तिगा अशुभपरिणामो रागद्वेषमोहात्मकसंक्लेक्षरूपः । आधादो विनाशः ।

यिविक्तशयनासनतपका वर्ज्यम करोते हि—

अर्थ—जिस वसतिफलमें मनोहर और अमनोहर ऐसे स्वर्ग, रस, गंध, रूप और शब्दोंसे अशुभ परिणाम
नहीं होते हैं वह वसतिफला रहनेके लिये योग्य है, तथा जिसमें स्वाध्याय और ध्यानमें विघ्न नहीं होता है वह वस-
तिका सुनिर्जोको रहनेके लिये योग्य होती है, ऐसी वसतिफलाको विविचिक्तवसतिका कहना चाहिये.

वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा ॥

इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उत्तिणाए ॥ २२० ॥

अंतर्बहिर्भवां शय्यां विकटां चिपमां समाम् ॥

वांछन्नविकटां सेब्बां रामापंदपञ्चुल्लिताम् ॥ २२१ ॥

पिजयोदया—पियडाए उच्छादितद्वारायां । अवियडाए अनुच्छादितद्वारायां वा । समविसमाए समभूमितमन्वि-
तायां चिपमभूमिसमन्वितायां । बहिं च यदिभूमि वा । अंतो वा अभ्यंतरे वा । इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए स्त्रीभिर्नपुंसकैः
पनुमिअ यजित्तायां वसतो । सीदए शीतायां । उत्तिणाए उष्णयां ।

वा । यद्विद्यं बहिर्यो । प्रामनगरावेरिति शेषः ।

अर्थ—जिनके द्वार खुले हैं अपना जिसके दरवाजे बंदे झुके हैं— जो समभूमिसहित हैं, जो विषमभूमि
 नादित हैं जो पाल भागमें है अपना अन्तभागमें है, जो स्त्री, पुरुष और नापुंसकवर्जित है, जो शीत और
 उष्ण है यह यत्तुतिना विभिन्न बलविम्ब है.

उरगमउप्यादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु ॥

वसन्दि अंससत्ताणु णिप्पाहडियाणु सेज्जाणु ॥ २३० ॥

उद्गमोत्पादनायलभाषोपमुक्तमपक्रियां ॥

अविचिरुजनागम्यां गृहशद्यायिर्जितां ॥ ३३० ॥

विजयोर्व्या—उत्तमोऽप्यादृशसत्त्वणाविशुद्धात् उत्तमोऽप्यादृशसत्त्वणादोपसंहितायां । तत्रोद्गमो दोषो निरुच्यते । शुद्धोद्गमोद्गमस्य, शुद्धापाका, भूमितान्त्रिक, पाण्डित्यकतादिभिः पूरणं, परायाः कुट्टनं, कर्मकरणां, कीलानां कारणं, अस्मिन्माया-
स्मात्तमं शुद्धा प्रताप्य कृत्यैः काष्ठपादजं, वासीभिस्तारजं, पराभिस्तारजं इत्येवमादिवापारेण वण्णां जीवनिफापानां
वार्था दृग्ग लेन या उत्पादिता, अन्येन वा कादिता वसतिराधाकर्मदानेनोच्यते । यावत्तो दीनानाथलपणा आगच्छन्ति
तिमिगेनो या तेनामियमित्युद्दिश्य कृत्वा, पाण्डित्यमेवेति वा धमणानामेवेति, निषेधानामेवेति सा उदेसिना वसतिविधि
मन्वते । आमार्ये गृहं कृत्वा अपरकं संयतानां भवयिष्यति कृतं मन्मथोपभोगमित्युच्यते । आत्मनो गृह्णार्थमाननीतिः काष्ठादि-
नि। एव यदुभिः धमणाभगमनीयात्वेन मिथिता यत्र गृहे तत्प्राप्तमित्युच्यते । पाण्डित्यां गृहस्थानां वा भिन्नमागे गृहे
प्राप्तार्थत्वादिदृश्य काष्ठादिभिर्मन्त्रेण निष्पादितं येदम मिथम् । राधाभेन कृतं संयतार्थमिति स्थापिते ऋषिदं इत्युच्यते
मन्वते। एव यथाप्राप्तिनैवमिष्यति तत्राभेनादिवे गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेत्तसि कृत्वा यत्संस्कारितं येदम
तत्प्राप्तमित्युच्यते । तदगमादुत्पेन गृहसंस्कारकाम्यान्दासं कृत्वा या संस्कारिता यसतिः प्रदीपकं वा तन्मादुत्कृत
मित्युच्यते । यदुत्तं भंगरागदुत्तं तत्र शुद्धतन्मादासंसादनाय यतीनां छिन्नीकृतकुञ्जं, अणुकृतकुञ्जं, सुविष्यसंसादनीपकं
या तन्मादुत्तनादयेन मन्वते । द्रव्यकीर्तं भागकीर्तं इति द्वित्रिधं कीर्तं येदम, सत्त्वितं मोदलीधर्मादिकं इत्या संयतार्थकीर्तं,
सन्निधं या गुणगुण्डादिकं दृग्ग कीर्तं द्रव्यकीर्तं । त्रिपाम्यादिदुत्तेन या कीर्तं भग्यकीर्तं । अल्पघृणं कृत्वा बुधिसादितं
भयुक्तिकं वा गृहीतं मन्वतेऽयः यामिच्छं उच्यते । मदीये येदमनि तिष्ठतु भवान युष्मदीये तावद्गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति
गृहीतं परित्यजमित्युच्यते । कृत्वाययं गृहीरककटादिकं स्थाप्य निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमाननीतं तन्मन्त्रित्युच्यते । तददि-

विषमचारितमनश्चितमिति । दूरदेशादग्रामान्त्यप्राद्वनीतमनश्चितं इत्यन्वयः । इष्टादिभिः, मृत्पिष्टेन, वृत्ता, कथा-
ट्टेनोपलेन वा स्मृतं अग्रनीय दीयते यद्यदुद्दिष्टं । निधेयविधिभिराख्या इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते
द्वितीया तृतीया वा अग्निः ॥ मा मातारोदमित्युच्यते । राजा मात्यादिभिर्मयमुपदर्शं परकीयं यदीयते तदुच्यते अल्लेखं
एति । अनिष्टं पुनर्द्विष्यं । गृहस्थमग्निना अनियुक्तेन वा दीयते वसतिः यत्स्याग्निनापि पात्रेन परशशर्वातेना दीयते सो-
म्यव्यभिचारेति उच्यते । उग्रमद्वेया निरूपिताः ।

उपयजनद्वेया निरूपयन्ते—यैवतिथानां धात्रीकर्मणां यन्मतेनोत्पादिता वसतिः । काचिद्धारकं जपयति, भूय-
यति, श्रीदयति, आराधयति, व्यापयति वा । यसत्यर्थेभ्योत्पादिता वसतिर्चात्रीद्वेषुषु । ग्रामाभ्यरात्रागन्तव्य देशादन्व-
येदानीं वा संवत्सिनां यातोमभिधास्योत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता । अग्निं, सरो, व्यंजनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्ष-
मिति एवंभूतानिमित्तोपदेशेन कथं वसतिर्निश्चितशेषेषुषु । आत्मनो जातिं, कुलं, वैश्वर्यं वाभिधाव स्यमाहारस्यप्रकटनेनो-
त्पादिता वसतिरादीवराद्येनोच्यते । भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पुणो न भवती-
त्युक्ते गृहजनः प्रतिफलपचनघ्नो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा पणिगवा राज्येनोच्यते ।
अग्रिष्यया चिकित्साया लब्धा चिकित्सोत्पादिता । कोषोत्पादिता । गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवद्वीपमेव गृहमाधाय ।
इतीयं पात्रा दूरतोपास्माभिः ध्रुतेति पूर्वं स्तुत्या या लब्धा । यसमोत्तरकालं च गच्छः प्रशां करोति पुनरपि वसतिं लब्धे
इति । एवं उत्पादिता संस्तवद्वेषुषु । विषया, मंत्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं यदो स्थापयित्वा लब्धा । मूलकर्मणा वा
मित्रकन्यायोनिसंसापना मूलकर्म । विरक्तानां अनुरागजननं वा । उत्पादवाक्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः ॥

अथ एषणादीयान्वा माह—

किमियं योग्या वसतिर्निति ईकृता । तदानीमेव त्किता सत्तालिता खती या छिद्रस्वतलजलप्रपाद्वेण वा, जल-
भाजनलोठेन वा तदानीमेव दिता वा अक्षितेत्युच्यते । सविचपृथिव्या, अणं, हरितानां, वीजानां प्रक्षानां उपरि स्थापितं
पीठफलदारिकं अथ दग्धा फलव्येति या दीयते सा भिदिता । काष्ठवेलकंटकमात्रणाधारकपणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शि-
ता वसतिः साधारणराज्येनोच्यते । मूलजस्तत्फलकदुकगृहजनेन, मसैन, व्याघ्रतेन, नृपसकेन, पिशाचगृहीतेन, सप्तया चा-
दीयमाना वसतिर्नियंकुषुषु । स्वायत्तं पृथिव्यादिभिः, वृक्षैः विपीलिकामकुणदिभिः सहितोन्मिथा शधिकवितस्तिमात्राया
भूमेरधिकया अपि सुतो प्रदणं प्रमाणातिरेकद्वेयः । शीतवातातगण्युपद्रवसाहिता वसतिरियमिति निर्दां कुर्वतो वसने
धूमद्वेयः । निर्वाता, विद्याला, नात्युष्णा शोमनेयमिति तत्रात्युष्ण इंगल इत्युच्येत । एवमेतेष्वमाविदोरेरनुपहृता वसतिः
गुहा तथा । अकिरियाद दुःखमार्जनादिसंस्काररहितया । अंसंस्तया चीयसंगवरादिताया । विष्याकुडियाय दाम्यारदि-
ताया । तज्जाय पसति । अन्तर्दिर्मां यसद् वसति । यतिर्दियिजन्यायान्नरतः ।

१ ष पुष्पे नास्त्यं पाठः । २ कोपं, मानं, मायां, लोभं वा प्रमुन्योत्पादिता क्रोधादिवसुषुषुषु ॥ इति

मूलादा—उगमेत्यादि उद्गमोत्पत्त्यनूपनादोपरदितायां । तत्राहारीपक्षसत्तिसंस्तरोपकरणोद्दिष्टं यतये वेद्यमुत्पत्त्य-
ति उत्पत्तये वैवातुः क्रियाविशेषैर्गर्गपिरोपिमितो उद्गमोद्देशिकावयः योऽस्य । यत्र भक्तादिकमुत्पाद्यते मार्गविरोधिभिरते
पात्र्यादयः योऽस्य साधोः क्रियाभेदा उत्पादनाः । तथा चावोचाम धर्मादृते—

भरद्यमुद्गमच्छत्यपथ्यैर्यैरुत्पाद्यते च वे ॥

श्रुतयत्थोः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥

एते द्वात्रिंशत्पञ्चाशत्कर्मांशत्वादित्येत न्यपदिश्यते । भक्तावयं यतेः पट्टजीवमिकावयवधनं सरकारणं वा भक्ता-
धिकमवयवाकर्म्मसुच्यते । एपनादोपास्तु संकितादयो दृशः । ते च मूलाचारोऽप्य यथा—

आशक्त्युरेसिय अज्जोवत्से य प्रविमिस्से य ॥

ठविदे वळि पाहुळिदे पाहुळारे व फीदे य ॥

पामिच्छे वरियत्ते आशित्तुविष्णुमालमारोहे ॥

अच्छिजे अणिसत्ते उगमदेसा दु सोळासिमे ॥

भायी दूतणिमित्ते आजीवे वणिबगे य तोमिहे ॥

फोरी माणी मायी छोदी य हवसि दस परे ॥

पूर्णे पच्छात्तशुद्ध विजगमंते य शुष्णजोगे य ॥

उब्बायणा य दोसो सोळासिमो मूलकम्मो य ॥

संकिदमणिज्जदणिकिक्कपिहिद संववहरणवायगुम्मिस्से ॥

अवरिणदलितछोष्टिद एसमदेसा दु दस परे ॥

तत्र पृथच्छेदेषुकापाकरंमकरणादिव्यापारेण पण्णां जीवमिकाथानां वार्धौ कृत्वा स्वेनोत्पादिना अन्येत वा
कारिता क्रियमाणा यानुमोक्षिता वसतिराधाकर्म्मशन्देनोच्यते ॥

१ पावन्तो दीनानामकृष्णा जायच्छन्ति लिङ्गितो वा वेपामियमित्युदित्य कृत्वा, पार्ष्णिनामेवेति वा श्रवणा-
नामेव निर्भयानामेवेति सा यत्ततिरदेलिका ॥ १ ॥

२ आत्मागै शृद्धं कुर्वन् अववरकं संयतानां गत्यविति कृतं अन्तोपवृद्धमित्युच्यते ॥

३ आत्मनो गृहार्थमानीतैः कामादिभिः सह श्रमणार्थमानीतेनात्मेन सिद्धता यत्र गृहे उत्पत्तिकं । ४ पापंकिनां गृहस्थानां वा सम्पत्तिभस्तेन क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयत्तादुदितस्य कामादिभिरक्षणेन निष्पादितं वेद्यस्य भिन्नं । ५ स्वार्थमेव कृतं संयत्तार्थमिदं इति स्थापितं ऋषिदं । ६ यत्ननागमनात्कलुषदेवतार्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथास्वं दत्तं, तद्वत्तावशिष्टं यत्तिन्यो दीयमानं यद्विस्तृष्यते । ७ संयत्ता इयद्विदिनेषामभिव्यन्ति, तत्त्ववेदादिने गृहसंस्कारं सफलं करिष्याम इति चेत्तसि कृत्वा यत्संस्कारितं चेन्न तत्प्राप्तुमिदं । तत्रागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापर्याप्तं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः ॥ ८ यद्गृहं अंशकारमुदुहं तत्र प्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यमपाकृतफलकं विन्यस्तप्रदीपकं वा तत्रादुष्कारम् । ९ गणादिना वा सचिन्तेन, गुह्यविना वा अचिन्तेन द्रव्येण, विद्यामंत्रादियत्नेन वा भावेन कीर्तं कीदृमित्युच्यते । अल्पगुणं कृत्वा सधुखिकमपृच्छिक्तं वा संयत्तार्थं गृहीतं पाप्मच्छं । ११ मद्रुदे तिस्रसु भवान् स्वगृहं यत्तिभ्यः प्रपञ्चेति गृहीतं परित्यजे ॥ १२ । कुटीकटकारिकं स्वार्थनिष्पन्नेन संयत्तार्थमानीतं तदभिहृतं । तच्च दुरदेशा दानीवमाचरितं इतरपनाचरितम् । १३ इष्टफाभिमूर्तिपदेन कृत्वा कपादेन वा स्थगितमपाकृत्य यदीयते यदुच्छिन्नम् । १४ निःश्रेण्याभिप्रायश्च इत आगच्छत युष्माकामेयं वसतिरिति वा दीयते द्वितीया रुढीया वा भूमिः स मालारोहं । १५ रत्नामात्यादिनिर्मयमुपदर्शयं परकीयं यदीयते तदपिच्छं । १६ गृहस्वामित्वां अनियुक्तेन वा दीयते या च स्वामिनाति वा यत्नेन वरपदेन सोभ्यति वसतिरित्यस्या एवमुद्गमदोषाः । योदय ॥

१ अद्योत्पादन्तोषाः । वारुणाणां स्वप्नेनालंकरणेन, कीदनेन, भोजनेन, स्वारेण वा घात्रीवत्स्वर्धया संयतेनोत्पादिता वसतिः घात्रीदोषदुष्टा ॥ १ ॥

२ मानांतरपदेर्लक्षं संदेशं यागं वा संपाद्योत्पादिता दूतकर्मदुष्टा । ३ अंगादिनिमित्तोपदेशादुत्पात्ता निमित्तदुष्टा । ४ स्वस्य जातिं कुलमैश्वर्यमभिप्राय माहात्म्यप्रकाशनेनेत्यादिता आजीवदुष्टा । ५ भगवत्सर्वेषामाहारदानाद्वसतिदा-
नाद्वा किं पुण्यं जायेत उत नेति पृष्टे यदि न जायत इति त्वमीमि तदेव गृही रक्षो वसति भे न प्रयच्छेदिति संप्रचार्ये
वदुद्गृहकयनादुत्पादिता वणिग्दुष्टा । ६ वैयकर्मणा दुष्टा चिकित्सादुष्टा । ७ क्रोधं, मानं, मायां, लोभं वा प्रयुज्यो-
त्पादिता क्रोपादिपदुष्टदुष्टा ॥ गच्छतामामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः इत्येषा धातो दुरादेवात्माभिः
युक्तेषु पूर्वे मनुष्या वा हन्ता सा पूर्वसंभवदुष्टा । वसनीतरकाहं गच्छन्मुनरपि वसतिं लप्स्ये इति यत्नसंसति सा यथा-
त्तमवदुष्टा । परं योवतोत्पादना दोषाः ॥ एषादोषाः शंखिवाद्यो दत्ता यथा— १ किमियं योग्या वसतिर्न वेति

क्षीबद्ध करना, लंबे तयार करना, अगिसे लोह तपावना, कठोतमे लकड़ी चीरना, पटासीसे छीलना, कुन्हाड़ीसे छेदना करना, इत्यादि क्रियाओंसे पट्टायाजीवाँको याधा देकर स्वयं वसतिका बनाई हो अथवा दूसरोंसे बनाई हो यह वसतिका अधःकर्म के दोषसे युक्त है।

२ जिसने दीन, अनाथ अथवा कृषण आर्वेग अथवा सर्वधर्मके साधु आर्वेग किंवा जैन धर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रथमुनि आर्वेग उन सबजनोंको यह वसति होगी इस उद्देशसे जो वसतिका चांधी जाती है वह उद्देशिक दोषसे दुर है।

३ जब गृहस्थ अपने लिये घर बंधवाता है तब यह कोठरी संवतोंके लिये होगी ऐसा मनमें विचार कर जो बंधवाई गई यह वसतिका अर्धोन्मत्त दोषसे दुर है।

४ अपने घरके लिये लाये गये बहुत फाष्टादिकोंसे धर्मणोंके लिये लाये गये काष्टादिक मिश्रण कर बनाई गई जो वसतिका यह दूतिक दोषसे दुर है।

५ पारंबद्ध साधु अथवा गृहस्थोंके लिये घर बाँचनेका कार्य शुरू हुआ था तदनंतर संवतोंके उद्देशसे काष्टादिकोंका मिश्रण कर बनाई जो वसतिका यह मिश्र दोषसे दूषित समझना चाहिये।

६ गृहस्थने अपने लिये ही प्रथम बनाया था परंतु नंतर यह गृह संवतोंके लिये हो ऐसा संकल्प जिनमें हुआ है वह गृह स्थापित दोषसे दुर है।

७ संवत अर्थात् मुनि के इतने दिनोंके अनंतर आँगव अतः जिस दिनोंमें उनका आगमन होगा उस दिनोंमें तब घर झाड़कर, लीपकर स्वच्छ करेंगे ऐसा मनमें संकल्प कर प्रवेशदिनमें वसतिका संस्कृत करना यह पादुडिग नामका दोष है।

पादुडिग दोषके प्रथम यल्लिनामक दोषका मूलाराधना दर्पणमें ऐसा लक्षण लिखा है—यश्च, नागं, माता, झुल्लेयता इनके लिये घर निर्माण करके उनको देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह चलि नामका दोष है।

मुनि प्रवेशके अनुसार संस्कारके कालमें न्हात कर अर्थात् उनके पूर्वमें संस्कारित जो वसतिका वह मादु-प्लव दोषसे दूषित समझना चाहिये।

जिस घरमें थियुल अंगार हैं तो वहाँ प्रसाधके लिये मिचीमें छेद करना, वहाँ काटका फलक होगा तो वह निरालना, उसमें दीपककी योजना करना यह पाहुकार दोष है.

द्रव्यकीत और माषकीत ऐसे खोदी किये हुए घरके दो भेद हैं. माष, पेल वगैरह सचित्र पदार्थ देकर संयतोंके लिये खरीदा हुआ जो घर उसको सचित्र द्रव्यकीत कहते हैं. घुल, गुल, खांड ऐसे अचित्र पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तकीत कहते हैं.

गिरा, मंत्रादि देकर खोदी हुए घरको माषकीत कहते हैं. अल्पकण करके और उसका ह्रद देकर अथवा न देकर संयतोंके लिये जो मकान लिया जाता है वह षामिच्छ दोषसे वृषित है.

मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनिओंको रहनेकेलिये दो ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परियह दोषसे दूषित समझना चाहिये.

अग्ने परकी भूमिके लिये जो स्तंभादिक सामग्री खपार की थी वह संयतोंके लिये लाना यह अभिषट नामका दोष है, इस दोषके आचरित और अनाचरित षेयं दो भेद हैं. जो सामग्री घर देखते अथवा अन्यग्रामसे लायी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐनी नहीं होय तो यह आचरित समझना चाहिये.

ईद, मट्टीके पिंड, काँठोंकी बाटी अथवा फनाद, पाषाणोंसे ढका हुआ जो घर गुला करके मुनिओंको रहनेके लिये देना यह उद्रिग दोष है.

नर्मनी यौगहसे चक्रर आप यहाँ आइये आपके लिये यह वसतिहा दी जाती है ऐसा कहकर संयतोंको दूमा अथवा तीमरा मंजिला रहनेके लिये देना यह मात्तारोह नामका दोष है.

राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे मय दिवाकर दूसरेका गृहादिक यतिओंको रहनेके लिये देना यह अञ्जैज नामका दोष है.

अग्निघृष्ट दोषके दो भेद हैं. जो दानकार्य में निषुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्त्रीमीने जो वसतिहा दी जाती है वह अग्निघृष्ट दोषमें दूषित है. और जो वसतिहा बालक और परवश ऐसे स्त्रीमीने दी जाती है वह भी उपयुक्त दोषदूषित समझनी चाहिए इस तरहसे उद्गमदोष निरूपण किए.

उत्पादन दोषका निरूपण—

जगतमें धात्रीके पांच प्रकार हैं, कोई धात्री बालकको स्नान कराती है, कोई उसको आभूषण पहनाती है, कोई उसका मन क्रीडाजते प्रसन्न रखती है, कोई उसको वाचा पानसे पुष्ट कराती है, और कोई उसको सुलाती है, ऐसे धात्रीके पांच कार्योंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने को रहनेकलिए वसतिका प्राप्त करते हैं अतः यह वसतिका धात्रीदोषसे दृष्ट है.

अन्यग्रान्त, अनपत्तरार, देश और अन्य देशके संवन्धी जनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदन कर वसतिका प्राप्त करना यह दूतकर्म नामका दोष है.

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, शीम, स्वप्न, और अन्तरिक्ष ऐसे निमित्तशब्दके जाठ विषय हैं. इनका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना यह निमित्त नामका दोष है. अपनी जाति, कुल ऐश्वर्य वगैरह का वर्णन कर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदन कर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह आक्षीयनामक दोष है.

हे भगवन् सर्व लोगोंको आहार दान देनेसे और वसतिकाके दानसे क्या महानुष्यकी प्राप्ति न होगी ? ऐसा श्रावक का मन्त्र सुनकर यदि मैं पुण्यप्राप्ति नहीं होती है ऐसा कहूं तो श्रावक दृष्ट होकर वसतिका नहीं देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अङ्गकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना यह वणिचग दोष है.

जाठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह चिकित्सा नामक दोष है.

क्रोध, मान, माया और लोभ दिलाकर जो वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना यह क्रोधादि चतुष्टय दोष है. जाने वाले और आनेवाले मुनिजोंको आपका घर ही आश्रय स्थान है. यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिकाकी प्राप्त करना यह पूर्वस्तुति नामका दोष है. निवास कर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान भिले इस हेतुसे स्तुति करना यह पश्चात्स्तुति नामका दोष है.

विद्या, मंत्र अथवा चूर्ण ग्रंथोंसे गृहस्थको अपने वश कर वसतिकाकी प्राप्ति करलेना यह विद्यादि दोष है. भिन्न कन्या अर्थात् भिन्न जातीकी कन्याके साथ संबंध मिला देकर वसतिकाका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना यह मूलकर्म नामका दोष है. इस प्रकार उत्पादन नामक दोषके सोला भेद कहे हैं.

अन एणा दोपके दण मद दिखत है—
यह वसति का योग्य है अथवा नहीं है ऐसी जिस वसति के विषय में शंका उत्पन्न होगी वह शंकित

दोषदूषित समझनी चाहिये।
जो वसति का तरकाळ हो सीधी गई है अथवा जिसकी तरकाळ ही लीपा पोती की गई है, अथवा छिद्रसे निरुलने वाले जलप्रवाह से किंवा पानी का पात्र लुढ़काकर जिसकी लीपापोती की गई है वह अधिक वसति का समझनी चाहिये।

सपित जमीन के ऊपर, अथवा पानी, हरित वनस्पति, पीज वा शसनी व इन के ऊपर पीठ फलक बगैरे रखकर यही आप श्रुत्या करे ऐसा कहकर जो वसति की जाती है वह निश्चित दोष से युक्त है।

हरितफलय वनस्पति, रटि, सविच श्रुतिका, बगैरे का अशुद्धन इत्यादि जो वसति की जाती है वह निश्चित दोष से युक्त है।

लकड़ी, घट्टा, रटि इनका आरूपण करता हुआ अर्थात् इनको बसीटवा हुआ आगे जानेवाला जो पुरुष उमसे दिखलाई गई जो वसति का यह साधारण दोष से युक्त होती है।

जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, जो मय, रोगी, नपुंसक, पिशाचप्रस्त और नग्न है ऐसे दोष से युक्त गृहस्थ के द्वारा यदि वसति की दी गई हो तो वह दायक दोष से युक्त है।

शुद्धिनी जल योगरह स्थान जीने से और चाँटी, मत्स्य बगैरह इस जीने से जो युक्त है वह वसति का उन्मिश्र दोषमहित समझना चाहिये।

मुनिजनों जितने विलस्त प्रमाण भूमि ग्रहण करना चाहिये उससे भी अधिक प्रमाण की भूमिका ग्रहण करना यह प्रमाणातिरेक दोष है।

ठंड होना और कड़ी धूप बगैरह उपद्रव इस वसति में है ऐसी निंदा करते हुए वसति में रहना यह भूम दोष है।

यह वसति का वास्तविक है, विद्याल है, अधिक उष्ण है और अच्छी है ऐसा समझकर उसके ऊपर राग मान करना यह ईगाल नाम का दोष है। इस तरह उद्भग उत्पादन और एषणादि दोषों से रहित वसति का मुनिजों के

लिए योग्य है, जो वसतिका अच्छी तरहसे देस भाल न करके लीपी पोती है वह योग्य नहीं है, जो वसतिका जीवोत्पत्ति से रहित है वह योग्य है, जिससे कोई उपद्रव नहीं है अथवा जिसमें शून्या नहीं है, ऐसी वसतिकामें अन्दर बाहर जो मुनि रहता है वह निवृत्त नृन्यासन तपका धारक समझना चाहिये।

अथ का विविक्ता वसतिरित्यत्राह—

सुण्णघरगिरिगुह्यारुक्खलमूलआगुत्तुंगारदेवकुले ॥

अकवप्पम्भारारसघरादीणि य विचित्ताहं ॥ २३१ ॥

नृन्यवेदमशिलायेदमतकसूलगुहादयः ॥

विचित्ता आपिताः शय्याः स्थाध्यायध्यानवर्धिकाः ॥ २३२ ॥

विसर्पोदयः—शय्य गृह ! गिरेयुद्धा, वृक्षमूल, आस्तुकराभा घेदम, देवकुल । विद्वत्गृह केनचिद्वृत्त माग्यार नवेनोच्यते । आरामगृह क्रीडार्थमायताना आवासाय कृत । एता विधिकवसतय ।

वित्रिस वसतिभेदानाह—

मूलरा—आगन्तुगर साधेवाहाविगृहं । अकवप्पम्भार अश्रुतग्राभार अक्षिमसिन्धालुहमित्यर्थः । आराम-पर आरामगृहं क्रीडार्थमायताना आवासाय कृतं । विचित्ताहं एता विविक्ता वसतय इत्यर्थः ।

विनृत्त वसतिकास्मा स्या स्वरूप है इस ग्रन्थका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—शून्यपर, पर्वतकी गुहा, वृक्षका मूल, देवर्मादिर, व्यापाराय देवा देखांतरोंमें फिरनेवाले क्या पारि रियोंको निवास करनेके लिये बनाये हुये घर, विद्वत्गृह, शिलाओंसे रस्यं बना हुआ घर, अकृत्रिम गृह, क्रीडा कर-ने के लिये आनेवाले जनोक लिये बनाये हुए घर ये सब विविक्त्वसतिकायें हैं।

अथ वसने योगमाधनाच्छे—

कलहो वोलो झंझा वागोहो संकरो मयसि च ॥

अज्ञाणवसयणविधादो नत्थि धिविचापु वसधीणु ॥ २३२ ॥

अयोग्यजनसंसर्गराजकलकलादया ॥

अविचिक्तास्यतेः संति समाधाननिपुदेनः ॥ २३२ ॥

प्रगभाराकृत्रिमारामदेवतादिदृहादिपु ॥

जायते चसतः साधोः समाधानमसिंहितम् ॥ २३३ ॥

विशयोदया—कलहो ममेवं वसतिस्तथैवं वसतिरिति कलहो न केनचित् अन्यजनरहितत्वात् । बोली सम्प्रवृत्ता । अशा सहेतो । यामोहो वैचित्र्यं । संकरो अयोग्यजनैः सह मिथुनं । ममत्वं च ममेदभावश्च । पारिथ नस्ति । जगन्नायकविषादो ध्यानस्यायनस्य च व्यापातः । उक्तः कलहविर्गं विच्यते । क ? विचिन्नाय पसचीय विचिन्नाया वसती । एकस्मिन्प्रमेये निकटस्थानसंततिविधानं । अनेकप्रमेयसंघाती स्वाभावः ।

विविक्तवसती यस्तदा दोषाभावरसाह—

मूढारा—कलहो नमेवं वसतिनयेवमिति कलिः । रोला रोलः दण्डबहुलवैत्यर्थः । संज्ञा संज्ञितं झकटक इत्येकं । यामोहो वैचित्र्यं । संकरो असंख्यैः सह मिथुनं ॥

अर्थ—यह मेरी वसतिज्ञा है, यह तेरी वसतिज्ञा है ऐसा कलह करनेका प्रसंग विविक्त वसतिज्ञाओं रहने वाले सुनि के उपर आता नहीं है. एकांत वसतिज्ञाओं मनको व्यग्र करनेवाले शब्द सुननेमें आते नहीं हैं, संज्ञेश-परिणाम और मनकी व्यग्रताभी यहाँ होती नहीं है. अयोग्य असंख्य गुरुपोंके साथ संबंध नहीं रहता है. विविक्त वसतिज्ञाके ऊपर ममत्व रहता नहीं है, ध्यान और अभ्यसनमें व्यस्य आता नहीं. ध्यान और अभ्यसनमें यह करक है.—एकही नियममें ज्ञानकी परंपरा स्थिर होना यह ध्यान है और अनेक विषयोंमें संचार करनेवाली ज्ञान-परंपराको स्वाध्याय कहते हैं.

इय सखीणमुक्तादो सुहृण्वचोर्ह तित्यजोर्ह ॥

पंचसमिदो तिगुत्तो आदृष्टपरायणो होदि ॥ २३३ ॥

पयमैकाग्र्यमापन्नो ध्यानैः शुद्धमवृत्तिभिः ॥

समितिः पंचभिर्गुणैश्चिभिरस्ति हितोचतः ॥ २३४ ॥

विजयोद्या—इय एवं । सङ्कीर्णं एकात्मतां उद्यमदो उपगतः । केन ? ओगेहि धौगैः तपोभिर्धौनैर्वा । सुहृत्पव-
शेदि मृगप्रभृतैः सुजननेन्द्रेण प्रभृतैः । पंचसमिदो समितिपंचकेपेतः । तिगुतो कृताश्रममनोवाक्कायनिरोधः । आदृष्ट-
परायणो होदि आत्मप्रयोजनपरो भवति । एतेन कथ्यते—विविक्तवसतिस्थायी यतिभिर्षातिदंष्ट्रयैः शुभैस्तपोभिर्वा
न्यान्वयमुपगतः संवरं निर्जरां स्वप्रयोजनं संपादयति इति ।

विविक्तवसतिस्थायी निर्दिष्टध्यानादिना प्राप्तस्तत्त्वः संवरनिर्जरे करोतीति दर्शयति—

भूलात्—इय अनेन पसतित्वाषित्वलक्षणेन प्रकारेण । संकीर्ण एकात्मतां । सुहृत्पवचेहि अन्तेशेन प्रभृतैः ।
ताद्य धादो वृषसि । संलीनमुपगत इति योग्यम् । ओगेहि यतोपाकायैर्धौनैर्वा । तिगुतो कृताश्रममनोवाक्कायनिरोधः ।
आदृष्टपरायणो आत्मप्रयोजनपरः संवरनिर्जरादिभ्यः इत्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार एकांत वसतिक्रमों निवास कर वह साधु झेड़के बिना सुखसे तप और ध्यान कर
आत्मस्वरूपमें लीन होता है. ईयांसमिति वगेरह पांच समितियोंका पालन करता है. मन पचन और शरीरकी अश्रुभ
प्रश्रितियां रोक कर आत्मप्रयोजनमें तत्पर होता है. अभिप्राय यह है कि, एकांत वसतिक्रमों रहनेसे मुनियोंके
ध्यानमें और स्वाध्यायमें विघ्न उपस्थित होते नहीं हैं. तथा रागद्वेषादिक संकल्यपणितामोंकी उत्पत्ति होती नहीं.
तपसे मुनि निजस्वरूपमें स्थिर होकर संवर और निर्जरास्वरूपमें आत्माके प्रयोजनको पूर्ण रूपसे प्राप्त कर सकते हैं.
अतः विविक्तध्यासन तप करना मुनियोंका परम कर्तव्य है.

संवरपूर्विकां निर्जरां सोऽनुमाह—

जो णिज्जरेदि कम्मं असंबुद्धो सुमहद्वि कालेण ॥

तं संबुद्धो तवस्सी खवेदि अंतोमुत्तरेण ॥ २३४ ॥

तस्मिर्जरयते कर्म संबुत्तोऽन्तमुहूर्ततः ॥

पष्ठपष्ठमादिभिः साधुस्तपसा यवसंबृतः ॥ २३५ ॥

विजयोद्या—जे लिज्जरेदि कम्मं यत्कर्म निर्जरेयति तपसा यत्तेन । कः ? असंबुद्धो असंबृतः अनुमयोगजिरो-
धरहितः । सुमहद्वि कालेण सुबुद्ध मरता कालेनापि । तं वत्कर्म रागेदि क्षपयति । अंतोमुत्तरेण अतिस्वल्पेन कालेन ।
कः ? संबुद्धो संतुष्टः मुनिवर्तिभिर्धर्मसुखेक्षणदीप्तपपरिणतः । तवस्सी तवस्सी नवदानादिमान् ।

संवरपुर सतं निर्जितं गगनाद्वेन खोलुयाद्—

मूलया—असंगुहो अंतर्गतो अशुभयोगनिरोधरहित इत्यर्थः । संगुहो गुप्तेसमितिषर्गोलुपेक्षारपीयहज्यपरिणतः । तत्रसौ अन्तर्गतो निरोधः ।

संवरपूर्वकं निर्जरांकी ग्रंथकारं स्तुतिं करते हैं—

अर्थ—अशुभ मत्, वचन और कथनी प्रशुचिन्ने न रोक कर चाखतपके द्वारा बहुतकालसे जो मुनि जितने कर्मकी निर्जरा करता है, गुप्ति, समिति, धर्म, अलुपेक्षादिकोंमें तत्पर रहनेवाला साधु उतना कर्म अनशनादि तपोके द्वारा अंतर्गुहर्तवे नष्ट करता है. गुप्ति समिति इत्यादिकोंसे संवरपूर्वक विपुल कर्मकी निर्जरा होती है और केवल चाख तप गुप्ति समित्यादिकोंके आश्रयते रहित होकर बहुतकालसे भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता है.

एवमवलयायमाणो भावेमाणो तवेण एदेण ॥

दोसे गित्वाडंतो पग्गहिद्वदरं परक्कमदि ॥ २३५ ॥

एवं भावयमानः संस्तपसा स्थिरमानसः ॥

अमशस्त्रं परीणामं नाशयंश्चेष्टते तराम् ॥ २३६ ॥

विजयोद्या—एवमुक्तेन । तवेण भावेमाणो तपसा भावयधत्तमानमुत्ततः । अवलयायमाणो अपलायमानः । सुतो दुर्धरात्तपसः । एवमवलयायमाणो इति क्वचित्पाठः तत्रायमर्थः—किंल एवमेदेण तवेण भावेमाणो इति पदसंबंधः । एवमेतेन तपसा भावयमानः अपलोयमाणो द्रष्टव्यकर्म विनाशयन् इति तदर्थकं । अशब्दार्थत्वात् । दोसे दूषयति इत्यत्रयमिति दोषाः अशुभपरिणामाः तान् घातयन् । पग्गहिद्वदरं नितरां । परक्कमदि चेष्टते सुक्तिमार्गे ।

मूलया—अवलयायमाणो अपलायमान दुर्धरात्तपसोऽभिव्यक्तियर्थः । भावेमाणो भावयमानः । तवेण एदेण दोसे जिन्मादंतो अशुभपरिणामात् विनाशयन् । पग्गहिद्वदरं नितरां परक्कमदि मोक्षमार्गे चेष्टते ।

अर्थ—इस रीतीसे तपश्चरणसे आत्माको संस्कृत करनेवाला और दुर्धरा तपसे जो अप्रयुक्त नहीं हुआ है. ऐसा मुनि रत्नत्रयको धृष्ट करनेवाले अशुभपरिणामोंको नष्ट करता हुआ मोक्षमार्गमें महाप्रयत्नसे प्रयुक्त होता है.

पतिना निर्जराधिना पूर्वभूतं तपोऽनुष्ठेयं इति कथयति ।

सो षाम वाहिरतवो जेण मणो दुक्कडं ण उठ्ठेदि ॥

जेण य सद्धा जायदि जेण य जोगा ण हायंति ॥ २३६ ॥

तत्तपोऽभिमतं बाह्यं मनो येन न दुष्यति ॥

योगा येन न हीयंते येन अद्धा प्रवर्तते ॥ २३७ ॥

विजयोक्ता—सो षाम वाहिरतवो तस्याम बाह्यं तवः । किं? जेण मणो दुक्कडं ॥ उठ्ठेदि येन तपसा क्रियमाणेन मनो दुःकुलं प्रति नोत्तिष्ठेत् । जेण य सद्धा जायदि येन च क्रियमाणेन तपसा तपसाध्यंतरे अद्धा जायते । जेण य जोगा ण हायंति येन च क्रियमाणेन पूर्वगृहीता योगा ॥ हीयंते । तत्तथाभूतं तपोऽनुष्ठेयमिति यावत् ।

पतिना निर्जराधिना एवं भूतं तपोऽनुष्ठेयमिति कथयति—

मूळरा - दुक्कडं ण उठ्ठेदि दुःकुलं प्रति नोत्तिष्ठते । सद्धा अद्धा तपसाध्यंतरे क्वचिः । जोगा पूर्वगृहीतव्रतविधयोः ।

निर्जरादी इच्छा रत्ननेत्राले मुनिवर्गको जो तप करना योग्य है उसका वर्णन करते हैं—

अर्थ— जिस तपके आचरणसे मन दुष्कर्मके प्रति प्रवृत्त नहीं होता है. तथा जिसके आचरणसे अभ्यंतर प्रायश्चित्तादि तपोमें अद्धा होती है. जिसके आचरणसे पूर्वके धारण किये हुए व्रतविशेषोंका नाश नहीं होता है उसी तपका अनुष्ठान करना योग्य है.

वाहिरतवेण होदि हु सत्त्वा सुहसीलदा परिचत्ता ॥

सखिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २३७ ॥

वाद्येन तपसा सर्वा निरस्ताः सुखवासनाः ॥

सम्यग्भूतनृकुतो देहः स्वः संवेगोऽचिरोपितः ॥ २३८ ॥

विजयोक्ता—वाहिरतपोऽनुष्ठाने मूले कथयत्युत्तरेः स्वयः । वाहिरतवेण वाद्येन तपसा देहभूतेन । सत्त्वा सुहसीलदा होदि मया सुपरीक्षिता परितोषका भवन्ति । सुपभावना समं जनयति । रसाः स्वयं च कर्मवेषेऽनुत्तरे चानपन्ति । पंचाः कर्मान्वितित्तुः स्वभावोपरिष्ठा भवन्ति इति मन्यते । सखिहिदं च सरीरं भवति । सरीरं दुःखनिमित्तं

तत्पदभूतानामय तत्कृष्णमुपायः । तद्वृष्टितं भवतीति यावत् । तद्विदो स्थापितः । आत्मा य स्वयं च सर्वेण संसारभीक्ष्णार्था । लोके-
ननु च संसारभीक्ष्णता हेतुस्तत्पक्षो न तपो हेतुस्तथा, ततोऽनुक्रमभाणि धूनरुरेण बाह्येन तपसा सर्वेण स्थापितः । लोके-
नानु संविन्नचित्त इति स्थाप्यते बाह्ये तपसि धर्मेमानस्ततो युक्तमुच्यते ।

साराज्योऽनुदानानुराज्यं यादित्वेनेत्यादि जहत्संभवेत्यवसानं ग्राह्यप्रकेनाचष्टे—
मूढारा—गुह्यभीलदर्शं मुखाभावना । सा हि रागं जनयति रागश्च कर्मानधं । संवेगे बाह्यं वषः कुर्वन् लोकनार्य
भक्तिमिच्छा इति श्याम्यगे यत्तन्वा एवमुक्तं । न पुनर्बाह्यं वषः संसारभीरुताया हेतुः किं तर्हि सा बाह्यवपसः ।

अर्थ—बाह्य तपसे संपूर्ण सुरस्वभावका त्याग होता है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे आलस्य, और सुख श्रियता नष्ट होती है, हमें या सुखसी भ्रान्ता करनेसे मनमें रागभाव उत्पन्न होता है, रागभाव कर्मबंधके कारणभूत दोषोंको उत्पन्न करता है, बंध कर्मस्थितिका कारण है अतः बाह्य तपसे सुखशीलताका ही नाश होता है, बाह्य तपमें शरीरमोहलना होती है, शरीर दुःखका कारण है, उसका त्याग करनेकी इच्छा करनेवालेको तप शरीर कुछ करनेमें उपाय है, अर्थात् बाह्य तप करनेसे शरीरस्तेयनाके उपायकी प्राप्ति होती है, बाह्य तपसे आत्मा मंगारभीरुता नामक गुणमें स्थिर होता है, शंका—संसारभीरुता तपके लिए कारण है, ऐसा समझना योग्य नहीं है इसलिए बाह्य तपसे सुनिराज संवगुणमें स्थिर किया जाता है, यह श्रद्धाकारका वचन अयोग्य है, उचार बाह्य तपधारणमें तत्परता देखकर इत सुनिर्वाचित संसारभयसे युक्त है ऐसा लोक समझते हैं, अतः संसारभीरुता कारण है और तप कार्य है, कार्यको देखकर कारणरूप को लोक जानते हैं, इस नियमका विचार करनेपर छद्मका-ने निर्माणभय तपका कारण है ऐसा जो कहे है वह योग्य है ऐसा सिद्ध होता है,

दंतानि इन्द्रियाणि य समाधिजोगा य फासिदा ह्येति ॥

अणिगृह्णन्वीरियओ जंबिदत्तहा य वोच्छिण्णा ॥ २३८ ॥

संतीन्द्रियाणि दान्तानि स्पृष्टा योगसमाधयः ॥

जीविताशा परिच्छिन्ना बलवीर्यमगोपितम् ॥ २३९ ॥

मिजयोद्या—इंताणि इंताणि इंताणि च । इति भवन्ति । अनशनाशमोदयनृत्तिपरिसंख्येन जिज्ञा शंता भवति इति । विविकप्राप्यत्वेन इतराणि इंद्रियाणि दांतानि भवन्ति । मनोर्होद्विगविपरहितायां वसतायस्थानात्तानि निगृह्णन्ति भवन्ति । समापिज्ञोया थ फास्तिदा इति । रत्नत्रयसमाधानसंबंधाः स्पृष्टा भवन्ति । अशनादिकं त्यजता विपरयागो निरस्तो ज्ञवति । विपरयागध्यकुलो हि रत्नत्रये न घटते । असति तस्मिन्व्याकुलोऽनुप्रपरिणामैकमुद्यो भवति इति मन्यते । अनिगृह्णद्विपरियदा अनिगृह्णीयता च भवति । वीर्याचारे प्रवृत्तश्च भवति । जीविदतण्ठा य या जीविते तृष्णा च ध्युन्निष्ठाणि गता । न हि जीविताशवान् भवनादिकं त्यक्तुमीदृते । जीविते तृष्णावान्यत्किंचित्छत्वा अंत्यमादिकं प्राप्नोत्येव पारयितुमुद्यतो भवति न रत्नत्रये ।

मूढारा—इतामि अनशनादिचतुष्टयेन हि प्राधान्येन जिज्ञा शंता भवति । विविच्छत्वात्वेन चेतानि इंद्रियाणि शान्त्यन्ति । मनोर्होद्विगविपरयागां चतुर्गणेष्वीनां विविच्छत्वात् अंत्यमात् । समापिज्ञोया रत्नत्रयैकाग्रतासंबंधाः । फास्तिदा वृत्तुष्टिनाः । अशनादिव्यजनाद्विपरयागनिरोधेन शुभपरिणामैकमुद्यत्त्वोपपत्तेः । अपिगृह्णद्विपरियदा । अनिगृह्णीयता वीर्याचारप्रवृत्तिश्च स्मादित्यर्थः । बोधिल्लणा निरक्षा रुक्ष्यते । न हि जीविताशवानश्चानादिकं त्यक्तुमीदृते, किं तर्हि यत्किंचित्छत्वा प्राप्नोत्येव भवतु वस्तुहेतु न रत्नत्रयम् ।

अर्थ—अनशन, अशमोदय और वृत्तिपरिसंख्या इन तीन तपोंके द्वारा सिद्धाका दमन होता है. विविक्तप्राप्तन तपके द्वारा स्वर्गनादि इंद्रियोंका दमन होता है. इंद्रियोंको त्रिय ऐसे विपर्योका अभाव जिसमें है ऐसी वस्तुविकामें नियास करनेसे स्वर्गनादिक इंद्रियां वृद्ध होती हैं.

इन पाह तपधरणोंसे रत्नत्रयमें एकाग्रता प्राप्त होती है. आहारादिकका त्याग होनेसे विपर्ययेन नष्ट होता है. निपर्योके प्रेम्से व्याकुल हुआ मनुष्य रत्नत्रयमें स्थिर होता नहीं है. रत्नत्रयका अभाव होनेपर वह व्याकुल पुरुष अनुम परिणामोंमें ही लीन होता है. ऐसा समझना चाहिये. वास्तवसे मुनिराजको अपनी आत्मिक शक्ति प्राप्ति होती है. अर्थात् वास्तव तप कर मुनिराज वीर्याचारमें प्रवृत्त होते हैं. वास्तवसे प्रभावसे मुनिराजकी जीवितकी आशा नष्ट होती है. जिसका जीवितके ऊपर स्नेह है वह आहारादिकोंका त्याग करना पसंद नहीं करता है. जीवितार्थी मनुष्य चाहे जो अंत्यमादिक करके प्राण धारण करनेके लिये उद्युक्त होता है. परंतु रत्नत्रयमें प्रवृत्त नहीं होता है.

दुःखं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देहरससुब्बले ।
 मुसुमूरिया कसाया विसएसु अणायरो होदि ॥ २३९ ॥
 रसदेहसुत्थानास्या जायते दुःखभावना ॥
 प्रमर्दने कपायाणामिन्द्रियायैव्वनादरः ॥ २४० ॥

विजयोदया--दुःखं च भाविदं होदि दुःखं च भावितं भवति । दुःखभाषना च कलमुपयोगिनी असंश्लेशेन दुःख-
 सहने कर्मनिर्जरा जायते । क्रमेण च जायमाना निर्जरा निरवशेषया कर्मपायसोपाय इत्येवमुपयोगिनी इति मन्यते ।
 अयि चासकृद्भाषितदुःखो निब्रह्मलो भवति इति । ध्याने अप्पडिबद्धो य होह भयतिवद्धा भवति । देहरससोक्ते शरीर-
 रससौख्ये । एतेषु त्रिषु प्रतिबद्धता समोभवेच्च । न निरसो भवतीति माया । मुमुक्षुर्दिव कसाया उन्मुक्षिताः कपायाः
 भवन्ति । कथं अनदानादिना कर्मायनिग्रह एतो भवति ? क्षमामार्गपार्जयसंतोषभायनोद्भिप्रतिपक्षभूता विनाशयन्ति कपा-
 यान्तिरिति चेत् अयमभिप्रायः -- अक्षान्धलाये, स्वस्वलाये, अशोभनात् या लाभे कोपकनाय उत्पद्यते । तथा प्रमुक्त-
 लाभाम्रसचन्द्रिक्षास्वाभाय लभिमानवद्वेति मानकपायः । अस्मदीयमिदगृहं यथान्ये न जानन्ति तथा प्रविशामीति विना
 मायाकपाय । अक्षान्धे रस्ते प्रादुर्भवति चेत् वास्तविकमकपायः । तथा यस्तत्प्रज्ञाने कोपः, तत्प्राप्ते च मानकपायः प्राप्यते ।
 मन्वेऽप्यानन्दंतीति न मम वसतेरस्त्यवकाशश्चात्रेति यचनाम्नायादनायः । अहमस्य स्वासीति लोभः । इदं कपायनिमि-
 त्तवस्तुत्यागस्य कपायाणामवकाश इति । विसृज्य विषयेषु स्वर्गानादिषु । अण्णारे होर अन्तरो भवति अतीतान्यं
 जायते । तसौवासीत्यात् तदावर्तनिमित्तं कर्मसंपरौ भवतीति भावः । अज्ञानस्य हि शुक्लाविरूपेषु चतुस्पर्शे, सौगंधे, रसे वा-
 वरस्पर्शको भवति अज्ञानं त्यजतां तथा क्षीरादिकमपि त्यजता क्षीरादिकेषु ।

मूढारा--असंश्लेशेन हि दुःखसहने शुभकर्म संबन्धिर्देहे स्वाता, क्रमेण मुक्तिश्च भावितकुलस्य च ध्याने
 निब्रह्मत्वा स्यात् इति मन्यते । अप्पडिबद्धो देहे रसे सौख्ये वानासक्तिः स्यात्तत्र समाधिप्रप्तौ न स्यात् । मुमुक्षुर्दि-
 वा इष्टिताः । इत्यप्येवागृहवर्तनिमित्तस्य अज्ञानादिवस्तुनस्त्वागादावतपसा कृत्वादिच्छुण्णभावबोधादयो निरुध्य-
 ते इतीदृश्रूप्यते । वस्तुतस्तु अत्रादिभावनात्तोषादिनिग्रहः स्यात् । अयमभिप्रायोऽन अज्ञानोदरलाभे स्वल्पस्याशोभनस्य
 वा लाभे क्रोध उत्पद्यते । तथा शत्रुस्य विचिन्तनस्य वा लाग्नादिव्यमानवद्वेति भानो जायते । भद्रिदगृहं यथान्ये
 न जानन्ति तथा प्रविशामि इति चिन्तया माया समुद्भवति । अज्ञानादौ विनिष्टे आसत्तेल्लोभः संभवतीति । तथा वलते
 रभ्रदाने कोपललाभे प्राप्यमानोऽन्येव्यागच्छन्तीति न मे वसतिरस्त्यवकाशो वा नेति वचनान्भाषा । अहमस्याः स्वासीति

भावनालोभः । इत्थं कषायोदयविभित्तवस्तुत्वान्न कषायजामयसर इति । अणादरो औदासीन्यं । वतश्च उदाहरणमिति कर्मास्त्रिविधोपः स्यादिति भावः । अशनं हि त्वज्जता चद्रतरसरूपगंधेष्वादरस्त्वको भवति ॥

अर्थ — वाङ्मतयोका आचरण करनेसे दुःस्वभावनाका अभ्यास होता है, अर्थात् संकट परिरणामोके विना दुःस्व सहन करनेसे कर्मोंकी निंन्दा होती है, क्रमसे होनेवाली यह कर्मनिर्वृता संपूर्ण कर्मका नाशरूप जो मोक्ष उसका उपाय होती है, अतः दुःस्वभावना परंपरासे मोक्षप्राप्तिका कारण होनेसे उपयोगी है ऐसा साधुगण समझे, दुःस्वभावनाका चारोंवार चिन्तन होनेसे साधुका चित्त धर्मभ्यानमें निश्चल होता है, वाङ्मतपमें निमग्न हुये मुनिकी देह, क्षीरादि पदार्थ और सुख इन तीनोंमें आसक्ति नहीं रहेगी, यह आसक्ति रत्नत्रयमें विभ्र करनेवाली होती है, अनश्वनादिक वाङ्मतप सर्व क्रोधादि कषायोंका निग्रह करता है, शंका- तपमें कषयनिग्रह करनेका सामर्थ्य कैसा ? क्षमा, मार्दन, आर्जव और संतोष इन भावनासे कषाय निग्रह होता है क्योंकि ये कषायोंके प्रतिपक्षी हैं, वाङ्मतप प्रतिपक्षी नहीं है ? इस शंकाका उत्तर—

इसका असिमात्र यह है कि, अन्धादि पदार्थ न मिलनेसे अथवा स्वल्प मिलनेसे, किंवा अप्रिय मिलनेसे, श्रेष्ठ कषाय उत्पन्न होता है, यदि अन्धादि पदार्थ यथेष्ट मिले और वे रसयुक्त भी हो तो मेरेको ही ऐसे अच्छे मिष्ट पदार्थ मिलते हैं इतरोको नहीं मिलते हैं ऐसा विचार मन में आनेसे मानरूपाय उत्पन्न होता है, मेरा भिक्षा लेनेका स्थान अन्य साधुओंको छात नहीं होगा इस रीतिसे मैं वहां प्रवेश करूं ऐसा विचार मन में उत्पन्न होना यह मायाकषाय है, विपुल अन्न और उसके रसमें आसक्ति होना लोभकषाय है, वसतिष्ठाके निपयमें भी क्रोधादि चारों कषाय उत्पन्न होते हैं, जैसे—

भाव करने वसतिष्ठा नहीं देनेपर क्रोध उत्पन्न होता है, उसके मिलनेपर मानकषाय उत्पन्न होता है, जन दूसरे साधु आनेसे तो यहां अवकाश नहीं है ऐसा वचनप्रयोग करता है जिससे मायाकषाय प्रगट होता है, इस वसतिष्ठाका मैं मालिक हूं यह संकल्प उत्पन्न होना लोभकषाय है, इस प्रकार कषायोंको उत्पन्न करनेवाली चीजोंका त्याग करनेसे कषायोंको मनमें स्थान नहीं मिलता है, अतः वाङ्मतपसे कषायनिग्रह होता है ऐसा आचार्यने कहा है, वास तपसे पंचेंद्रियके विषयोंमें अनादर होता है अर्थात् उनमें उदासीनता होती है, इस उदासीनतासे तपमें आदर उत्पन्न होकर कर्मोंका संवर होता है, आहारके पदार्थ शुक्लादिरूप घाटक, मुहुस्पर्शयुक्त, सुगंध

सहित व रसविशिष्ट हो तो भी उसमेंसे आहार त्याग करनेवालेका आहर नष्ट होता है. क्षीरादिकका जिसने त्याग किया है उस मृनीका क्षीरादिकमें आहरभाव नष्ट होता है.

कदजोगदाददमणं आहारणिरासदा अगिच्छी य ॥

लामालाभे समदा तितिक्लणं वंमचेरस्स ॥ २४० ॥

आहारस्वर्वात्ता दांतिः समस्तत्यागयोग्ययत्ता ॥

गोपनं प्रह्लाचर्यस्य लामालाभसमानता ॥ २४१ ॥

विजयोदय—कदजोगदा सर्वत्यागस्य पञ्चाङ्गाविन । योगश्च कृतो भवति कोटिन तपसा । माददमणं आ-
रमनो दमनं आहारे ह्रुते च योऽदुरापस्तस्य प्रशमनात् । आहारमिदमस्य आहारे नेतार्यं संपादितं प्रतिदिनं आहारा-
ताशां गत्यागाभ्यासात् । स्वर्वात्तादयि सुकरा भवत्याहारमिराशेत्येति भावः । अगिच्छी य दमृद्विज्ज भलेपटता च । कः ?
आहारे । न आहारे दृष्टिममक्लृपणा ते त्यजति । लामालाभे समदा लामालाभयो. समता । लाभे च सत्यापादस्य दुर्वी-
करणात् । अलाभे च तयाऽऽकोपात् । य. स्वयमेव क्लृपमपि त्यजति ॥ कथयिष्य परेषामदाने दुर्मनीभवति । तिति-
पक्कण वंमचेरस्स प्रह्लाचर्यं च सोढं भवति । रसवदाहारत्यागाद्भिन्नेऽसति शुभसंचये अनवाने च संचितप्रलये सति न
स्त्रीप्यनुत्पन्नो भवति इति भावः । तथा गलितगुणाणां पुंसां वैमुख्ये भगवान्मु प्रतीतमेव ॥

मूलारा—कदजोगदा कृता योग्या परिकर्म सर्वाहारस्यगस्य पञ्चाङ्गाविनोऽव्याप्तौ येवाप्तौ कृतयोग्यस्तस्य
भावः कृतयोग्यता । कृतकरणीयता प्राप्तेन तपसा स्यात् । आददमणं आरमनो दमनं आहारे सुते वातुरागदशमनाद्वै-
रखनं । आहारणिरासदा प्रतिदिनं आहारानानिरासान्यासात्सर्वस्यागकालेऽपि तद्वांछासमुच्छेदः सुकरः स्यादिति
भावः । अगिच्छी अलापठ्यमाहारे । न आहारे दृष्टिर्भाङ्कन्या तं दयजति । समदा आहारस्य लाभे हर्षस्याकरणादकांभे
च रोगस्य । यो हि स्वयमेवमल्लयमपि त्यजति स कथयिष्य परेषामदाने दुर्मनीभवति । बने वा दृष्यति । तितिकलनं
शुद्धाहारस्यगोनाभिन्नस्य रेतसोऽसंचयनात् । अनशनं च संचितस्य संहरणात् । स्त्रीऽन्यदुरागगुह्यगान् प्रतीतमेव च गलित-
रेतसा पुंसां स्त्रीषु वैमुख्यम् ।

अर्थ—भरण कालमें जो संपूर्ण आहारोंका त्याग करना पड़ता है उसका अभ्यास चाला तपके आचरण
से होता है. इन तपोंसे आत्मदमन नामका गुण प्राप्त होता है. अर्थात् आहारमें और सुखमें जो भ्रम उत्पन्न होता

हे उसका तपसे प्रशमन होता है अतः आत्माका दर्प अर्थात् मद नामका दोष नष्ट होता है. इस तपसे आहारकी इच्छा ना त्याग करनेका अभ्यास श्रद्धिगत होता है. इस लिए आहारनिरसता नामक गुण प्राप्त होता है. और सर्व कालमें यह गुण आत्मा अपनेमें धारण करनेमें समर्थ होता है. तपसे आहार की लंपटता नष्ट होती है. जो आहारमें लंपट है वह व्यक्ति आहारकी प्राप्ति होने पर उसको छोड़ना नहीं चाहता है. तपसे लाम और अलाभमें समता प्राप्त होती है. तपस्वीको आहार मिलनेपर हर्ष होता नहीं और न मिलने पर वह क्रुपित भी होता नहीं. जो तपस्वी प्राप्त हुआ आहार रखे छोड़ देता है वह यदि उसको कोई आहार न दे तो क्यों खिन्न होगा ? तपसे मुनि ब्रह्मचर्यको सहन करते हैं. रसयुक्त आहारका त्याग करनेसे नवीन रीयंका संचय नहीं होता है. और पुराना शुक्रसंचय नष्ट होता है. तब स्त्रीपर अनुरागभाव नहीं होता है. अिनका शुक्र नष्ट होबया है ऐसे मनुष्य स्त्रीसे पराङ्मुख होते हैं वह वस्तुस्थिति प्रसिद्ध है.

निहाजओ य ददक्षानवा विमुत्ती य दप्पणिग्घादो ॥

सज्जायजोगणिज्विग्घदा य सुहदुक्खसममदा य ॥ २४१ ॥

निद्रागृद्धिमदस्नेहलोभमोहपराजयः ॥

ध्यानस्वाध्याययोर्बुद्धिः सुखदुःखसमानता ॥ २४२ ॥

विजयोदया—निहाजओ य निद्राजयस्य । प्रतिदिनमथतः रसवदाहारसेवापरस्य बहुमोजितस्य नियते सुख. स्पष्टौ निरुपद्रवे य देशे शयनस्य निद्रा महती जायते, यथा परवशो निद्रयेत न ह्य भवत्यधुप्रपरिणामप्रघाते च पतति, न च रत्नत्रयेण घटयति, तस्मा जयो । ददक्षानदा ददक्षानता च दुःखोपनिषत्तान्यलति ध्यानादभविशुद्धो यतिः । कृत-
तपोयापनस्तु सुदानिपरीपदोपनिषत्तपि सहेते । विमुत्ती य विमुक्तिर्विशिष्टयागः अनशनमाधुघतेन शरीरेणैव स्वर्ग-
भवति तदेव दुस्वयम् । दप्पणिग्घादो अर्हयमकरणो यो दर्पस्तस्य निर्मातृत्वं कृतो भवति । सज्जायजोगणिज्विग्घदा
य वाचनेनानुपेक्षामप्यधर्मोपदेशीयौगः संययो यस्तस्य विद्याभावश्च । आहारार्थे भ्रमतः कथं स्वाध्यायः कियते ? बहुभोज-
नदेव उत्तमः सृष्टिर्नि आसितुमर्हसमर्थः । रसवदाहारमोजीआहारोभ्यणा दक्षमान इतस्ततः परावर्तते । अविधि-
कार्यो यस्तौ वतमानः परेण वचः शृण्वन्तः सद्य संयातव्यं कुर्वन्तापीते । विधिकेरेअस्थायी पुनर्निर्माणुलः स्वाध्याये
घटेते । सुहदुःखसममदा य सुतेन दुष्पति सुतेन रागेदोषावशेरेण सुखदुःखाननुभवः सुखदुःखसमता । अजानं

रसांश्च सुगन्धममृतान्स्वज्जातानुते रगस्त्यक्तो भवति । मुद्रादिविद्वानोपनिषत्ते अक्षयलेखात् दुःखे न च द्वेभ्योऽस्या स्तीति । यदि तत्तत्पण होदि इ हयनेन पंचचतुर्नीनिदिष्टानां मत्त्येक संवेद्यः ॥

मूलात् — विद्वत्तज्जो प्रतिदिनमश्रुतो रसतदाहारसेवापरस्थ बहुभोजनस्य निवाते निरुपद्रवे सुखरक्षितले निद्रा महतो नापते । यद्वर्णाग्निश्चेतन इय भवति, अष्टमपणिमप्रवाहे च पतति । न च रत्नत्रयाय कल्पते । तस्या ज्योऽनशना रिता क्रियते । इदगशाणदा तपसा भावितदुःखो हि परीणहविषातेऽपि न ध्यानाद् भवत्यति । विशिष्टा मुक्तिरदानादा-पुण्येन दुस्सज्जस्वादि देहस्य त्यजनात् । इष्यणिग्भावो अक्षयमवर्गे यो वर्पितस्य विनाशो । सञ्जय ओमाग्निविग्रहदा । वाननाग्निमरंथविप्राभायः । आहारपर्ये भ्रमणे बहुभोजनवासनस्वादि क्लृप्त्युपपत्तेन, रसतदाहारभोजनजन्यविद्वद्दृष्ट्या-दितस्ततः परामर्शेन, जनसंश्लेके वद्व्याधवपणतत्संभरणकरणार्थां च स्वाध्यायभंगसंभवात् । सुहृदुःससमदा सुखसाध-नाशनरसादिप्यजनाःपुनरे रगादुदयात् सुदादिवेदतोयेऽपि अचंङ्कशादुन्नेन च द्वेषादुद्भवात् ।

अर्थ — याज्ञ तपसे मुनि निद्राको जीव लेते हैं, जो प्रतिदिन भोजन करता है, रसयुक्त आहारका सेवन करनेमें तत्पर रहता है और बहुत भोजन करता है, जिसकी यात्राद्वित, दृष्टस्पर्श युक्त, और निरुपद्रव ऐसे स्थानमें सोनेकी फिफ्री होती है, ऐसा स्थान मिलनेपर दीपं कालतक सुरति लेता है, प्रेतके समान निश्चल सो जाता है, अशुभ परिणाम भी उसके मनमें हुआ करते हैं और वह रत्नत्रयमें प्रवृत्त होता नहीं इस तपसे ये सर्व दोष नष्ट होकर निद्राजय नायका गुण प्राप्त होता है।

तपसे ध्यानमें दृढता आती है, दुःख सहन करनेका अभ्यास होनेसे मुनि दुःखोंके प्रमंग आने पर भी ध्यानेसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, हमेशा तपका अभ्यास करनेसे वह सामर्थ्य मुनिमें आजाता है जिससे वे भूल, तृषा वगैरह परीणह प्राप्त होने पर भी दुःखोंकी परमाह नहीं करते हैं, तप करनेसे मुनिओंको निमुक्ति अर्थात् विशिष्ट त्याग नामका गुण प्राप्त होता है अगद्व्यादिक तपधर्माणमें तत्पर मुनिअसि अगिरका त्याग किया जाता है यह अगिरका त्याग करना ही बड़ा कठिन है, तपसे दर्पनाश नायक गुण प्राप्त होता है, अक्षयमको उत्पन्न करनेवाला मद् एग तपसे नष्ट होता है, अनयनादि तपसे वाचना, अनुप्रेक्षा, आत्मनाय और धर्मोपदेश इन स्वाध्यायके भेदोंका संनय आता है और उसमें विम उपरिष्ठत होते नहीं हैं, आहारकें स्निग्ध भक्षण करने वाले मुनिको स्वाध्याय करना शस्य नहीं होता है, बहुत भोजन करनेपर वह ऊपर मुल कर सोनेगा, वह चेत भी नहीं संकेगा, हमेशा रसयुक्त आहार

करनेवाले मुनिको आहारकी उष्णतासे दबा उधर लोटना पड़ेगा. बहुजन विसमें ठहरते हैं ऐसी वस्तिकामें रहनेवाला मुनि दूसरोंके वचन सुनकर उनके साथ मापण करनेमें अपना समय बिता देगा. और अध्ययन नहीं करेगा. परन्तु जो एकांत वस्तिकामें रहता है वह मुनि व्याकुलता रहित होनेसे स्वाध्यायमें तत्पर रहता है. बाह्य तपसे सुप्त और दुःस्वप्नमें समगा ग्राप्ता होती है. अर्थात् शुनि इसके प्रभावसे सुखमें आनन्द नहीं मानते हैं और दुःखमें दुःखित नहीं होते हैं. अर्थात् सुखमें रागभाव और दुःखमें द्वेषभाव उनको नहीं होता है. रागद्वेषोंके अभावमें सुखदुःखका अनुभव आता नहीं है. यही सुखदुःखसमताका स्वरूप है. आहार और रसयुक्त वी, दूध वगैरे सुख माधक पदार्थोंका त्याग करनेवाले शुनि सुखमें प्रीति नहीं रखते हैं. क्षुद्रादिकोंसे दुःख की प्राप्ति होने पर भी भँकड़ा परिणाम उनके मनमें नहीं होते हैं अतः वे दुःखमें द्वेष नहीं रखते हैं. इस प्रकार पाँच गाथाओंसे बाद तपके गुण आचार्यजीने कहे हैं.

आदा कुलं गणो पवयणं च सोमाविदं हववि सव्वं ॥

अलसत्तणं च विजटं कम्मं च विणिद्धुयं होवि ॥ २४२ ॥

आत्मा प्रयचनं संयः कुलं भवति शोभनं ॥

समस्तं त्यक्तमालस्यं कलमपं विनिचारितम् । २४१ ॥

वित्तयोव्या—आदा कुलं गणो पवयणं च सव्वं सोमाविदं हवविदं पदपटना । पाशेन तपसा स्वयं कुलमात्मनो, गणे, स्वशिष्यसंतानश्च शोभामुपनीतो भवति । अलसत्तणं च अलसत्तं च । विजटं त्यक्तं भवति । कुपेत्तपासमुपोमात् कम्मं च विणिद्धुयं कर्म च संसारमूलं विशेषेण निर्दूतं भवति ।

मूलार्थ—कुलं रत्नशः । गणो स्वगुरुशिष्यसंतानः । सोहाविदं शोभामुपनीतं । विजटं त्यक्तं । विणिद्धुयं विनिर्दूतं ॥

अर्थ—अपना आत्मा, अपना वंश, अपना गण अर्थात् अपने गुरुके शिष्योंकी परंपरा और जिनमत इन समस्तों बाह्य तपसे शुनि शोभा युक्त करते हैं. बाह्य तपसे अलसीपनाका त्याग होता है. दुर्धर तपधरणमें प्रवृत्ति करनेसे गंमारका मूलभूत कर्म मी पूर्णपणेसे नष्ट होता है.

बहुगाणं संवेगो जायति सोमत्तणं च भिच्छाणं ॥
मग्गो य दीविदो भगवदो य आणाणुपालिया होदि ॥ २४३ ॥

मिथ्यादर्शनिनां सौम्यं संवेगो भ्रयसां सतां ॥
मुक्तः प्रकाशितो मार्गो विनाज्ञा परिपालिता ॥ २४४ ॥

यिजोदया—बहुगाणं बहूनां । संवेगो जायति खंखलीकता जायते यथा । सहद्वयकं हृष्टा मूलमत्र भयमस्ति । क्षिप्रदमयि सरहामिति जलः प्रवर्तते । एवं तपस्युद्यतस्यलोक्य संसारभयादयमेवं क्षिप्रयति तदस्माकमप्यनियमितमेवेति विवेचयति । मीतया प्रतिक्रियां प्रारम्भते । सोमत्तणं च भिच्छाणं मिथ्यादर्शनीनां सौम्यता सुमुलता वा जायते । दुर्दैरमिदं महत्तपो यतीनां इति प्रत्यक्षा भवतीति । मग्गो य दीविदो मार्गं च मुक्तः प्रकाशितो भवति । यतीनां याज्ञेन तपसा करणभूतेन विना कर्मणा निर्जरा मास्तीति । भगवदो य भणुपालिदा धाया भगवता आका चातुपालिता भवति यतिना याज्ञेन तपसा कटोमेन ।

मूलापा—तपस्युगतं दृष्ट्वा अयमेवं क्षिप्रदयति क्वदमप्यनिवारितमेवेति विवेचि, भीतश्च क्वदविकर्तुमुत्सहते । सोमत्तणं सौम्यता दुर्दैरमिदं तपो वशीनमिति मिथ्यादर्शोऽपि प्रसन्ना भवन्ति इति वास्तव्यं । दीविदो । तपस्यैव कर्मणा निर्जरा भवति इति प्रकाशितः ।

अर्थ—तपश्चरणमें तत्पर युक्तिको देखकर बहुत पुनिबनोको संसारसे भय उत्पन्न होता है, “इस संसारमें भय है इसलिये मैं भी तपमें तत्पर होऊंगा, ” ऐसा विचार कर वे भी तपमें तत्पर होते हैं, संसारके भयसे यह महात्मा इसना तपःक्लेश भोग रहा है, और हमको भी यह संसारमय पुनिवार है ऐसा मनमें संकल्प कर उससे भय युक्त होता है, और भयवान् होकर उसकी प्रतिक्रिया करता है अर्थात् तपश्चरणमें वह भी लीन होता है, पुनिराजों का उग्रतप देखकर मिथ्यादर्शि भी अपनी उग्रता छोडकर सौम्य बनते हैं, यतियोंका यह तप बड़ा ही दुर्धर है ऐसा देखकर वे प्रसन्न होते हैं, तपके द्वारा युक्तिके मार्गका प्रकाशन होता है, क्योंकि बाह्यतपश्चरणके बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती है, बाह्यतपश्चरण करनेसे किन्तु भगवानकी आज्ञाका पालन होता है,

देहस लाभवं गेहलूहणं उवसमो तद्वा परमो ॥
जवणाहारो संतोसदा य जहसंभवेण गुणा ॥ २४४ ॥
संतोषः संयमो देहलाभवं चामवर्द्धनम् ॥

तपसः क्रियमाणस्य गुणाः सन्ति यथायथम् ॥ २४५ ॥

विजयोदया—देहस लाभवं शरीरस्य लाभगुणो वाशेन तपसा भवति । लघुशरीरस्य आवश्यकक्रियाः सुकरा भवन्ति । स्वाभ्यास्यते चाङ्गशसंपाद्ये भवति । जेहसस लूहणं शरीरलोहविनाशनं स गुणः । शरीरलोहदेव जनोऽसंयमे प्रयतते । शरीरमेवान्नेहेतुरिति तपोऽपि न करोति । तेनाद्विताः शरीरलोहो विनाशितो भवति । उवसमो तद्वा परमो तच्चा चोत्तमोपदामो भवति रत्नादेरु कृते सत्यसि संयमानस्य । किं च मम रागेण उपद्रवकारिणा । सति रागे हि नवकर्मवधो जायते । विरक्तकर्मरतोपवर्द्धनम् ॥ । सति चेत्ये मदीय क्रेशो निष्कलो भवेदिति मनः प्रणिधानादुपशमः । जवणाहारो परिमिताहारता इति केचिदाचक्षते । तच्च च गुणो भीरोगतादिकं । तथा चादुर्मितानि । पशुगुणा भजते । अपरे शरीरस्थिति मात्राहेतुप्राप्तः जवणाहारशब्दः शरीरपान्यः इति स्थिताः ।

मूलारा—लाभवं लाभ्यामिन्द्रियासौकर्यकारि लघुत्वं । जेहलूहणं देहलोहाद्वि जनस्य असंयमे प्रयुक्तिः । देहलाभहेतुरिति तपस्यपि न भजते । तेनाद्वित्यादेहे लोहस्य विनाशनं । देहलोहाद्विरक्तस्य संयमो गुणः परमः । रागे हि नवकर्मरूपविरतनः मौरसोपवर्द्धनं च स्वात्रागतुपद्रवारी च द्वेषः । परं च सत्यवं द्वेषो निष्कल इति मनःप्रणिधानादुत्तमः । जवणाहारो परिमिताहारता तत्र चायोग्यादियुगाः । शरीरस्थितिविभ्रात्रेहलाहारी वासी । संतोसदा संतोषः । जहसंभवेण अनशनानीना दाहशयोभेदानां यो येन संभवति स तेन व्याख्येय इति भावः ।

अर्थ—तपधरणसे देहमें लाभत्र गुण प्राप्त होता है, अर्थात् शरीरमें तपसे भारीपना नष्ट होता है जिससे आनन्दप्राप्ति क्रिया सुकर होती है, स्वाभ्यास और ध्यान लक्षके विना किये जाते हैं, तपके आचरणसे शरीरस्नेह नष्ट होता है, शरीरके स्नेहसे लोक असंयममें प्रवृत्त होते हैं, यह शरीर अनयत्ता कारण है, इसके स्नेहमें तीन होकर तपको छोड़ बैठते हैं, मुनि मुन्दर तपमें प्रवृत्त होनेसे उनके रागादि दोषोंका उपशम होता है, मुनि मनमें ऐसा विचार करते हैं—यह राग मान उपद्रव करनेवाला है, यह रागमान आत्ममें नवीन कर्मका बंध उत्पन्न करता है, और पूर्वकर्मिक रममें वृद्धि करता है, यदि मैं रागभावको मनमें आश्रय दूंगा तो भय तपधरण व्यर्थ होगा, ऐसा विचार करके रागभावको

श्राव कर देते हैं. तपसे परिमिताहारतानामक गुण प्राप्त होता है. जवणाहार शब्दका परिमित आहार ऐसा कोई आचार्य कहते हैं. परिमित आहार करनेसे नीरोगतादेक छह गुणोंकी प्राप्ति होती है. जितने आहारसे शरीर रह सके उतने आहारको जवणाहार कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य जवणाहार शब्दका अर्थ करते हैं.

एषमिषादिनोपसहरति—

एवं उगमउप्यावणेसणाशुद्धभक्षपाणेण ॥

मिदलहुयविरसलुक्खेण य तवमेवं कुणदि णिच्चं ॥ २४५ ॥

विजयोद्या—एयमेवं तयो णिचं कुणदिणि पव्यटन । एय स्वावर्णितरूपेण । एवं एतत् बाह्यं तप. कुणदि करोति णिचं नित्य । उगमउप्यावणेसणाशुद्धभक्षपाणेण उग्रमोत्पादनेपणाद्योपरहितेन, मकेन पानेन च । क्खिद्भूतेन ? मिदलहुयविरसलुक्खेण परिमितेन लघुनां, विरसेन, रूपेण यवमूलं शुद्धमाहारं मुक्खा तप. कुयोचाशुद्धमिति भावः ।

इत्थं बाह्यतपसो गुणानामकयोपसहारमाह—

मूलरा—एवं बाह्यं । कुणदि शुद्धयादिष्वप्युण्यमेवाहारं मुक्खा मुमुक्षुः तपः करोति नेतरमिति भावः ॥

अर्थ—मुनिराज उग्रम उत्पादन और एषणा इन दोनोंका त्याग कर मित, लघु, रसरहित और रुक्ष ऐसा आहार और पानके पदार्थ लेकर यह बाह्य तप नित्य करते हैं. शुद्ध आहार लेकर तप करना चाहिये, अशुद्ध आहार नहीं लेना ऐसा इस गायका अभिप्राय है.

उल्लीणोल्लोणेहिं य अहवा एक्कंतवटुभाणेहिं ॥

सट्ठिहइ मुणी देहं आहारविधिं पयणुगितो ॥ २४६ ॥

आहारमत्पयवेचं वृद्धो वृद्धेन संयतः ॥

तपसा संलिम्वलंगं युद्धेनैकांततोऽथवा ॥ २४७ ॥

खिलयोदया—उद्दीणोद्दीणोद्दि य अयर्थमात्रेण हीयमानेन ॥ तपसा चतुर्थपक्षादिक्रमेणानशनतपोवृद्धिः । एकदि-
कयत्वादिन्यूनतया अयमोदयवृद्धिः । एतस्य रसस्य द्योखयाणामित्यादिना क्रमेण रसपरित्यागवृद्धिः । एकपाटकं,
शुद्धसप्तकं, शुद्धत्रयं वा त्रयिदशमीति, भिदाश्रासपरिमाणन्यूनताकारेण वा वृत्तिपरिसंख्यानवृद्धिः । दिवसे आतापनं कृत्वा
रात्रौ प्रतिनापप्रदकरणमित्यादिना कायकन्देरावृद्धिः । एवं श्रमे महति संजाते क्रमेण अनशनादीनां न्यूनताकरणं । अहवा
अथवा पर्यंतयवृत्तमोद्दि एकान्तेन वर्धमानेः तपोभिः । सखिहृद संल्लिखति । सुणी मुनिः । वेहं । आहारविधिं जशनादि-
विधिं । पदगुणैस्ते । अल्पीकुर्यन् ॥

प्रकारोत्तरेण सन्देखनोपायमाह—

मूलाहारा—उद्दीणोद्दीणोद्दि वर्धमानोद्दीयमानैरनशनतनावित्तपोभिरिति शेषः । वयसि—चतुर्थपक्षादिक्रमेणानशनस्य
वृद्धिः । एककनलादिन्यूनतयानमोदयस्य । एकज्वादि रसत्यागक्रमेण रसपरित्यागस्य । एकपाटकं सप्त पंच श्रीणिवा
शुद्धाणि त्रयिदश भिजां शुद्धाणि । श्रासं कैकजिज्ञासित्यादिशानिक्रमेण शुद्धाणि इत्याधिक्रमेण वृत्तिपरिसंख्यानस्य ।
'दिवातापनं कृत्वा रात्रौ प्रतिमायोगावमहृदकरणमित्यादिविधिना कायकलशस्य । अन्यशुद्धासप्तमीपरिगुहाणव्यादि-
वस्तुत्वभवेनेन विविचक्षण्यसक्तस्य च दोषद्वया । एवं च महति श्रमे संजाते सति अनशनादीनां क्रमेण न्यूनताकरणं
हानिः । ज्ञाया अथवा । एतत्तववृद्धिर्गोद्दि । वर्धमानैरेव न हीयमानैः । आहारविधिं विहितमप्याहारं । पदगुणैस्ते प्रव-
सुक्तयत्न अल्पीकुर्यन् श्रैत्यर्थः ।

अर्थ—क्रमसे अनशननादि तपको धराते हुवे यतिराज अपने देहको कुछ कर शरीरसलेखना करते हैं.
उसका विवेचनक्रम इस प्रकार समझना चाहिये—एक उपवास, दो उपवास तीन उपवास इस प्रकारसे वे अनशन
तप बढ़ाते हैं. सुनिश्चैक आहारका प्रमाण कच्चीस ग्रसोंका कहा है. उनमेंसे एक श्रास, दोन श्रास, तीन श्रास कमी
कमी करके अयमोदय तपकी वृद्धि करते हैं. एकरसका त्याग, दो रसोंका, तीन रसोंका इत्यादि क्रमसे रसत्याग
करते जाना यह रसपरित्याग तपकी वृद्धि है. एक मल्लीमें ही आल आहार ग्रहण करूंगा, सातघर, तीनघरमेंही
प्रवेष्ट कर आहार करूंगा, अथवा आहारके श्रासोंका परिमाण कर आहार ग्रहण करूंगा इत्यादि रूपसे वृत्तिपरिसंख्यान
तपमें वृद्धि समझना. दिनमें आतापन योग कर रात्रौ प्रतिमायोग धारण करनेका नियम करना. इत्यादि प्रकारसे
सापक्षेय तपमें वृद्धि करना. इन तपोकी वृद्ध करनेसे जब मदान् श्रम होता है तब वे अनशननादि तपका प्रमाण

कम कम करते हैं. अथवा सर्वथा बन्दते हुवे तर्पणसे ये आहारका प्रमाण कम करते करते देहकी सल्लेखना करते हैं.

प्रकारान्तरेण संहतनोयत्प्रमाणे—

अणुपुण्ड्रेणाहारं संबद्धतो य सष्टिहृद् देहं ॥

दिवसुग्राहिण्य तत्रेण चात्रि सष्टेहणं कुण्ड ॥ २४७ ॥

क्रमेण संलित्वलंगमाहारं सर्वयन्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥ २४७ ॥

चित्रयोदया—अणुपुण्ड्रेण क्रमेण । आहारं संबद्धतो य आहारं न्यूनयित्वा । सष्टिहृद् देहं तनुकरोति । दिवसुग्राहिणे तत्रेण चात्रि सष्टेहणं कुण्ड । एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यात् इति । सष्टेहणं कुण्ड सहेतवर्त्ता करोति ।

मूलारा—अणुपुण्ड्रेण क्रमेण । संबद्धतो न्हास्यित्वा दिवसमाहिण्य । एकस्मिन् दिने प्रविशुद्घतिन । एकस्मिन् दिनेऽनशनमेव स्मिन्वृत्तिपरिसंख्यानं इति । अथवा संबद्धतो न्यूनयन् क्रमेणाहारं कुरुयति शरीरं । प्रतिदिनगृहीतेन तपसा वा सल्लेखना करोति इति व्याख्येयम् । वा शब्दस्य भिन्नक्रमस्य शोचनात् । तथा योक्तं—

क्रमेण संलित्वलंगं आहारं सर्वयन्यतिः ॥

प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ॥

अन्य प्रकारसे सल्लेखनाका उपाय कहते हैं—

अर्थ—क्रमसे आहार कमी करते करते क्षपक अपना देह कुछ करता है. दसरीज जिसका निधम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दूसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सल्लेखना करता है— अपना देह कुछ करता है.

विविधाहं एतणाहिं य अवगमेहि विविहेहि उग्मेहि ॥

संजममविराहितो जहावलं सष्टिहृद् देहं ॥ २४८ ॥

आहारगोचरैक्यैर्नानाकारैरन्वयैः ॥

मुमुक्षुः संल्लिख्यन्तं संयमस्याचरोधकम् ॥ २४८ ॥

विजयोदया—विविधाहि नानामात्रे । एसणाहिं य भोजने, एसवर्जितेरव्यत्ये शुष्केराजाम्बे । अयमाहि नानामात्रैरन्वयै । जगोहि उद्ये । संयममधिपधेतो संयम द्विप्रकारं अभिनाशयन् । जहानलं स्वग्लानविह्वरया देह तनूकरोति ।

मूलार्थ—विविधाहि अस्मद्विरसाह्युपद्रवाचान्तादिभिः । एसणाहिं आहारैः । अयमगोचरैः नियमैः । आहारगोचरैः ॥

अर्थ—नाना प्रकार रसवर्जित, अल्प, रुक्ष, ऐसे आचान्ता भोजनोसि अने साधार्थके अनुसार रूपक मुनि देहको कष्ट करते हैं, नाना प्रकारके उग्र नियमोंको प्रतिज्ञा लेकर इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमकी विराधना नहीं करवा हुआ स्थक्तीके अनुसार रूपक देहको क्षीण करते हैं.

संवि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ ॥

ताओ त्रि ण बाधते जहावलं सखिहंतस्स ॥ २४९ ॥

या भिक्षुप्रतिमाधिच्चा यले सति च जीविते ॥

पीडयन्ति न ताः कार्यं संल्लिखन्तं यथापलम् ॥ २४९ ॥

विजयोदया—सदि जाउगे आयुषि सति । सदि गले सति बले । जाओ या । विविधाओ विचिना । भिक्खुपडिमाओ भिन्नुमतिमा । सत्यो वि तास्य । ण बाधते न पीडा जनयति महत्तां । कस्य ? जहावलं सखिहंतस्स यथावलं तनूकरोति । आरभ्यमहाद्वेसास्य योगमर्गं संसेउच्च महान् जायते इति भावः ।

मूलार्थ—ण बाधति न पीडा जनयति । जहानलं ययानलं गले विना सल्लेखना कुर्मतः आरब्धमहाक्लेसास्य योगमर्गः संसेउच्च महान् जायते इति भावः ॥ भिक्षुप्रतिमा इत्यादि ॥

१ यदि जाओ इति भाषणा अन्तरं 'मासिप दुय खिय' इत्यादिरूपा गाथा भूलाराधनादपेगे स-
दोषाऽन्नि परमत्र मा गाथा कट्टिका च अपपजिब सूरिणा नोद्धियता ।

आत्मानं संछिजन् पृथिकावलब्धान्, महासत्त्वो, वितस्पीयद्, उत्तमसंदननः क्रमेण पुलिधर्मशुक्लध्यानो
सुनिद्रात्मापिष्ठिदेसोत्कृष्टदुर्लभादारग्नं व्रतं गृह्णाति । ईदृशमाहारं यदि भासाद्यन्ते लभेऽहं ततो भोजनं करोमि मान्य-
येति । तस्य मासस्यातिमोदिने प्रतिमायोगमाप्ते । सा एका भिक्षुप्रतिमा । एवं पूर्वोक्ताहारराज्यवृत्तगुनेनोत्कृष्टदुर्लभान्यान्वाभ्य
वष्टात्सपञ्चमर्हं गृह्णाति । आपद्द्वित्रिचतुःपञ्चदशमासाः सर्वत्रादिमदितकामतिमायोगाः । एताः सप्त भिक्षुप्रतिमाः ।
पुनः पूर्वाहाराज्यवृत्तगुणोत्कृष्टस्य दुर्लभस्य अन्यान्याहारस्य सत्त सत्त विनामि शारत्तयं व्रतं गृह्णाति । एतास्तिनो भिक्षु-
प्रतिमाः । शतो रात्रिदिनं प्रतिमायोगेन स्थित्या पञ्चात्रात्रिदिनमायोगमाप्ते । एते द्वे भिक्षुप्रतिने । पूर्वमपचिन्ननःपर्वय
स्त्राने मास्य पर्ववत्सर्वोर्वये केवलस्त्रानं मान्जोति । एवं द्वादशाभिक्षुप्रतिमायोगेन स्थित्या पञ्चात्रात्रिदिनमायोगमाप्ते ।
एते द्वे भिक्षुप्रतिने भवतः ॥

अर्थ—यदि आपुण्य हो और देहमें सामर्थ्य हो तो सिद्ध भिक्षुप्रतिमाओंका छात्रमें उल्लेख
है उनका भी वह क्षपक स्वीकार करके यथाशक्ति देह को क्षीण करता है। उन प्रतिमाओंसे इस क्षपकको
पीटा नहीं होती है। जिसने अपने शक्तिका विचार न कर इन प्रतिमाओंको धारण किया है, उसके शोगका भोग
होना है और उसके मनमें महामूर्खेश परिणाम उत्पन्न होते हैं।

अपने शरीरकी सहेखना करनेवाला, धैर्य रूपी बल और शरीरबल धारण करनेवाला, महा-
सत्त्वसंपन्न, परीपहीनो जीवनेवाला, उत्तम संद्वनका धारक, क्रममे धर्मध्यान और दुर्लभध्यानको पूर्ण करनेवाला
युनि स्वयं ठहरे हुए देशमें उत्कृष्ट और दुर्लभ आहारका व्रत ग्रहण करता है- अर्थात् उत्कृष्ट और दुर्लभ आहार
यदि एक महिनेके अंदर मेरेको मिलेगा तो मैं ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं ऐसी श्रविका करके उस महिनेके अंतिम
दिनमें वह प्रतिमा योग धारण करता है, यह एक भिक्षु प्रतिमा है।

पूर्वोक्त आहारसे शतगुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहारका या वह श्रेष्ठतम ग्रहण करेता है,
यह व्रत वह क्षपक दो, तीन, चार पाँच, छह और सात मास तक ग्रहण करता है, प्रत्येक महिनेके अन्तिम दिनमें

प्रतिमायोग धारण करता है. ये सात भिक्षु प्रतिमायें हैं.

पुनः सात सात दिनोंमें पूर्व आहारकी अपेक्षासे अतृणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न भिन्न आहार तीन दफे लेनेकी प्रतिज्ञा करता है. आहारकी प्राप्ति होने पर नीम दोन और एक ग्रास लेता है. ये तीन भिक्षु प्रतिमायें हैं. तदनंतर रात्रि और दिनभर प्रतिमायोगसे खड़ा रहकर अनंतर प्रतिमायोगसे ध्यानस्थ रहता है. ये दो भिक्षु प्रतिमायें हैं. प्रथम अधिज्ञान और मनःपर्यव्रानकी प्राप्ति होती है. अनंतर सर्वोदय होनेपर यह क्षपक फेपलजानकी प्राप्ति कर लेता है. इस रीतीसे चारा भिक्षुप्रतिमायें होती हैं.

शरीरसंश्लेषलनाहेतुषु उपन्यस्तेषु के उत्कृष्टा इत्यत्राह—

संश्लेषणा सरिरे तवोगुणविधी अणेगहा भणिदा ॥

आयंविहं महेसी तस्य दु उत्कस्सयं त्रिति ॥ २५० ॥

वैहस्संश्लेषलनाहेतुषुदुधा वर्णितं तपः ॥

चदन्ति परमाचाम्लमार्हता यत्र योगिनः ॥ २५० ॥

विशयोदया—संश्लेषणा सरिरे शरीरसंश्लेषलनानिमित्तं शरीरे सत्तेजना इत्युच्यते । तवोगुण तपःसंक्षितो गुणविकल्पः । अणेगहा भणिदा धनेरुद्धा निरूपिताः अतीतसूत्रैः । तस्य तन । महेसी महर्षयः । आयंविहं दु आचाम्लाशमाख्यं च । उपन्यस्योत्कृष्टमिति । वैति धृतिरिति ।

शरीरसंश्लेषलनाहेतुषु उपन्यस्तेषु क उत्कृष्ट इत्यार—

मूढारा—संश्लेषणा संश्लेषणानिमित्तं कार्ये कारणोपचारात् । तवोगुणविधी तपःसंक्षितो गुणविकल्पः । भणिदो निरूपितोऽतीतसूत्रैः । आयंविहं वक्ष्यमाणलक्षणमावाप्तं । महेसी महर्षयः । वैति भुक्ते ।

शरीरसंश्लेषलनाहेतु उपर कहे हैं उनमेंसे कौनसे हेतु उत्कृष्ट है इतका विवरण—

अर्थ—शरीरसंश्लेषलना निमित्त तो तप उसके अनेक विकल्प पूर्वोक्त गाथाओंमें कहे हैं. उन विकल्पोंमें आचाम्लमोजन करना यह उत्कृष्ट निवृत्य है ऐसा महर्षिगण कहते हैं.

शरीरसंस्केषनोपायोत्पन्नाचाम्बलानामित्युक्तं तत्कीदृशमिति चोदिते आह—

छट्टमदसमदुबाल्लोहिं भत्तोहिं अदिविकटोहिं ॥

मिदल्लहुग आहारं करोदि आयंविळं बहुसो ॥ २५१ ॥

पष्ठाष्टमादिभिश्चिन्नैरुपवासैरतंद्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥ २५२ ॥

विनयोदया—छट्टमदसमदुबाल्लोहिं भत्तोहिं अदिविकटोहिं क्षिप्रिचतु षवदिनोपवासैः उत्कटैः । मिदल्लहुगं आहारं करोति । परिमितं कल्पाहारं करोति । आयंविळं आयाम्लं । बहुसो बहुशः ।

मूढारा—छट्टयादि—क्षिप्रिचतुःपंचदिनोपवासैः । अदिविकटोहिं उत्कटैः । विपरिबद्धोहिं इति पाठे त्रिसे-
पतिकटैः । मिदल्लहुगं । परिमितं लघुं च गुणेन । आयंविळं काजिकाहारं । इदमत्र वात्सपर्यं पष्ठानुपवासैरतंद्रितो मि-
तलरचाहारं सुमुख्यैर्बहुशः काजिकाहारं करोति तत्संकेतनादेरुत्पूरकप्रमाचक्षते ।

तथा बोधं—पष्ठाष्टमादिभ्यश्चैरुपवासैरिदं द्रव्यं वि भुजानः ॥

मितल्लघुमाहारविधिं विदधात्संन्यासुर्न बहुशः ॥

अपि च—पष्ठाष्टमादिभिश्चिन्नैरुपवासैरतंद्रितः ॥

गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥

तथा—समोऽथ पष्ठमदमकैस्तपोधिकैस्ततो विकटैर्देवैर्मैः शमात्मकः ॥

तथा लघु द्वादशकैश्च सेवते मितं शुद्धा चाम्लमनाविलो लघुः ॥

आचाम्लभोजनं करना यह शरीरसंस्केषनका उत्कट उपाय है ऐसा पूर्व माथामें कहा है. अथ उत्सका विधि बतलाते हैं—

अर्थ—दोन दिनका उपवास, तीन दिनका उपवास, चार दिनका उपवास, पांच दिनका उपवास ऐसे उत्कट उपवास होनेक अनंतर मित और हलका ऐसा कांजीभोजन ही श्रपक बहुशः करता है.

भक्तप्रत्याख्यानस्यास्य वर्षमानस्य कियत्काल इत्यनोत्तरं आह—

उक्तस्स एण भक्तपङ्कणाकालो जिणेहिं णिहिट्ठो ॥

कालम्मि संपहुत्ते वाससवरिसाणि पुण्णाणि ॥ २५२ ॥

कालो द्वादशवर्षाणि काले सति महीयसि ॥

भक्तत्यागस्य पूर्णाणि प्रकृष्टः कथितो जिनैः ॥ २५२ ॥

विजयोदया—उक्तस्स एण उक्तपेण । भक्तपङ्कणाकालो भक्तप्रत्याख्यानकालः । जिणेहिं णिहिट्ठो जिनैर्निर्दिष्टः । कालम्मि काले । संपहुत्ते भवति सति । वाससवरिसाणि संपूर्णद्वादशवर्षमात्राद् ॥

भवति लीवितकाले संमलयमाने सति भक्तप्रत्याख्यानस्योत्कर्षेण कियान् काल इत्यत्राह—

मूढारा—कालमि काले अयोजीयितस्य । संपहुत्ते भवति सति । अन्ये संभवन्ते इति पठित्वा संभवति सतीत्यर्थं व्याचष्टुः ॥

जिसका वर्णन चल रहा है ऐसे भक्त प्रत्याख्यान विधीका काल कितना है इस प्रश्नका आश्चर्य उत्तर कहते हैं—

अर्थ—आधुन्य काल अधिक होनेपर भक्त प्रतिज्ञाका अर्थात् भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट कालप्रमाण जिनैत्र भगवानने पासा वर्ष प्रमाण कहा है.

उक्तषु द्वादशवर्षेषु एवं कर्तव्यमिति क्रमं संक्षेपनाया दर्शयति—

जोगेहिं विचिचोहिं दु खवेद संवच्छराणि चत्तारि ॥

वियड्ढो णिज्जुहिच्चा चत्तारि पुणो वि सोसेदि ॥ २५३ ॥

विचिचिः संस्मृत्स्विलगं योगैर्वर्षचतुष्टयम् ॥

समस्तरसमाक्षेपण परं वर्षचतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

विजयोदया—जोगेहिं विचिचोहिं । विचिचोहिं दु विचिचिर्नमित्यर्थः । यथेदि क्षपयति । संवच्छराणि चत्तारि ।

वर्षचतुष्टयम् । यत्किञ्चिद्रूपस्या । विगड्भी णिज्जुहिता रसादीन्धीरादीन्परित्यज्य । चत्तारि वर्षचतुष्टयम् । पुणो वि पुनरपि । सोसेदि तन्कुरोति तनुम् ।

द्वादशसु वर्षेषु सत्त्वैखनाया इतिकर्तव्यत्वाद्धर्मं मायाद्वयेन दर्शयति—

मूलारा—ओगेहिं कामवल्हेयः । विचिचोहिं विचित्रैरनियवैरित्यर्थः । विगटि क्षीरादिरसान् । णिज्जुहिता निःशेषेण त्यक्त्वा । सोसेदि शोषयति कृद्धीकरोति शरीरमिति शेषः । अन्ये चोसेदि इति पठित्वा नगरीत्यर्थं व्याचक्षुः ॥

इस यारा वर्षप्रमाण कालमें सहेखनाका कर्तव्यक्रम कैसा होवा है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—
अर्थ—अनेक प्रकारके कायक्लेशोंद्वारा यह क्षपक पहिले चार वर्ष व्यतीत करता है. अर्थात् पहिले चार वर्षोंमें कायक्लेशका एक ही प्रकार नहीं रहता है. चार वर्ष समाप्त होनेपर आगेके चार वर्षोंमें यह क्षपक दूध, दही, गुड, घी वगैरह रसोंका त्याग करके पुनः शरीरको कुश करता है. इस तरह आठ वर्ष व्यतीत होते हैं.

आयं विलणि विवियदीहिं दोणिण आयं विलेण एक्कं च ॥

अद्धं णावि विगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं ॥ २५४ ॥

आचाम्लरसहानिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ॥

आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेकं महामनाः ॥ २५४ ॥

षण्मासीमप्रकृष्टेन प्रकृष्टेन समाधये ॥

षण्मासीं नयते घोरः कायक्लेशो न शुद्धधीः ॥ २५५ ॥

विजयोदरा—आयं विलणि विवियदीहिं आचाम्लेन निर्विष्यता ॥ दोणिण वर्षद्वयं क्षपयति । आयं विलेण आचाम्लैर्नैव । एकं च एकं वर्षं । अद्धं णावि विगट्ठेहिं अदो अद्धं विगट्ठेहिं अत्यन्तकृष्टेस्तपोभिः कथयति । अदो अद्धं विकट्ठेहिं अतः परं षण्मासान् उत्कृष्टेस्तपोभिः ।

मूलारा—आयं विलणि विवियदीहिं आचाम्लं कीजिकाहारः । निर्विकृतिः रसव्यंजनानि विवित्त्वान्यसि कीर्णमोदनादिभो जनम् । अद्धं द्वादशस्य वर्षस्य अर्थ षण्मासानित्यर्थः । नादिविगट्ठेहिं मातुलकृष्टेस्तपोभिः । कथयति शरीरमिति शेषः विकट्ठेहिं उत्कृष्टे ।

अर्थ—आचाम्ल अर्थात् कांजीका मौजन करना और णिन्वियदी जिससे मौजनमें स्वाद उत्पन्न होता है

ऐसे साग, चटणी वगैरह पदार्थ को विकृति कहते हैं. इनसे रहित रसहीन भोजनको निर्विकृति भोजन कहते हैं. आचान्द्र भोजन और निर्विकृति भोजन कर धापक दो वर्ष वितता है. तदनंतर आचम्ल भोजन कर एक वर्ष व्यतीत करता है. अब अंतिम एक वर्षके ग्रथम छद्ममानतक वह मध्यम तपोद्वारा शरीरको क्षीण करता है. और अन्तके छोड़ो मायमें उत्कृष्ट तपोसे शरीरको कुछ करता है. इस तरह अपने आयुके अन्तिम द्वारा वर्षोंमें वह सछे-खना करता है.

व्यावर्णितेनैव क्रमेण अवचरितव्यमिति त्रिवर्गो न विचले इत्याचष्टे—

भत्तं खेत्तं कालं धातुं च पटुच्च तह तवं कुञ्जा ॥

वाद्दो पित्तो सिंभो व जहा खोमं ण उवयंति ॥ २५५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं धातुं ज्ञात्वा तपस्यति ॥

तथा क्षुभ्यंति नो जातु बान्तपित्तकफा यथा ॥ २५६ ॥

पिजयोव्या—भत्तं आहारं ताकवृद्धं, रसयदुल्लं, कुल्माषमार्यं, निष्पावचणकादिभिर्भे, शाकव्यंजनविरहितं वा । एतेषु अनूपजोगलसाधारणविकल्पं । कालं समशीतसाधारणभेदं । धातुमात्मनः शरीरप्रकृतिं च । पटुच्च भावित्य । तह तथा । तपे कुञ्जा तपः उर्ध्वज्ज्ञाया सोमं ण उवयंति । यथा सोमं नोपयंति । वाद्दो पित्तो सिंभो वा वातपित्तक्षेपप्रधिकं । ययोर्जनैव क्रमेण चरितव्यमिति त्रिवर्गो नास्तीति ब्रवीति

मूलाः—दुर्गं आहारं शांकरसूत्रिष्ठे कुल्माषकण्डायचणकनिष्पावनिर्दिष्टं शाकव्यंजनादिरहितं वा । एतेषु अनूपजोगलसाधारणविकल्पं । कालं शीतघर्मवृष्टिभेदं । धातुं स्वशरीरप्रकृतिं । पटुच्च भावित्य लोभं प्रकोपं । ऊपर दो गाथाओंमें जो आचारक्रम बताया है उसके मूल्यांकिक ही आचरण करना चाहिए ऐसा नियम नहीं है. अन्य भी प्रकार के ऐसा आगेकी गाथामें लिखते हैं—

अर्थ—आहारके अनेक प्रकार हैं जैसे शाक जिसमें जादा है ऐसा एक आहार, धी, दूध, वगैरह जिसमें अधिक है ऐसा आहार, दुल्ह्या नाम का घान्य जिसमें जादा है ऐसा आहार, निष्पाव, चना वगैरह से रहित केवल

जिसमें बहुत जल बूटि होती है ऐसा क्षेत्र जिसको अनूप कहते हैं, जिसमें अल्प बूटि होती है और जिसमें नदी के पानीसे खेती होती है ऐसे क्षेत्रको जामल कहते हैं। जिसमें अनूप और जामलके लक्षण मिलते हैं ऐसे देशको साधारण क्षेत्र कहते हैं। कालके श्रीतत्त्वल, वर्णकाल और उष्णकाल ऐसे भेद होते हैं। घातु—अपनी शरीरसकृति, अर्थात् देश, काल, अपनी शरीरकी प्रकृति इनका विचार कर वाल, पिच और सुष्यका खोभ न होना इस रीतिसे तप करके क्षपकने शरीरसंछेखना करनी चाहिये।

शरीरसंछेखनाक्रममभिधायार्थेतरसंछेखनान्नमभिधातुं अर्थात्संछेखनया सह संबंधं कथयति—

एवं तरीरसंछेख्णविहिं बहुविद्वा वि फासेतो ॥

अञ्जवसाणविसुहिं खणमवि खवओ ण मुंवेज्ज ॥ २५६ ॥

इत्थं संछेखनाभागं कुर्वणेनाप्यनेकधा ॥

नैव त्याज्यात्तमसंशुद्धिः क्षपकेण पटीयसा ॥ २५७ ॥

विशेषोक्त्या—एवमुक्तेन क्रमेण । शरीरसंछेखणविहिं नानाप्रकारं । फासेतो वि स्पृशयपि । अञ्जवसाण-विशुद्धि परिणामविशुद्धिः । पचगो खणमपि ण मुंवेज्ज क्षपकः खणमपि न त्यजेत् । एवं कापसंछेखनाक्रममभिधाय कपायसंछेखनामभिधातुकांमत्तया सह तस्याः संबंधं नित्यविधातव्यतयाभिधत्ते—

मूलात्—फासेत्तो रत्तलपि । अपि दाग्गो भिन्नक्रमो योग्यः । अञ्जवसाणविशुद्धिं शुद्धविशुद्धिपरिणतिं । यदांतक शरीरसंछेखनाका क्रम आचार्य महाराजने कहा है, जब अत्यंतर संछेखना—कपायसंछेखनाका संबंध करते हैं, प्रथम कपायसंछेखनाके साथ शरीरसंछेखनाको दिखाते हैं—

अर्थ—क्रमसे नाना प्रकारकी शरीरसंछेखना करता हुआ भी क्षपक युग्मि अपने परिणामोंकी निर्मलताको एक क्षण भी न छोड़े, तात्पर्य यह है कि, क्षपक शरीरसंछेखनाके तरफ जितना ध्यान देता है उतना ही कपाय-संछेखनाके तरफ भी देवे, यदि परिणामोंमें मलिनता उत्पन्न होगी तो शरीरसंछेखना करना व्यर्थ होगा, इसलिये परिणामकी विशुद्धि भी क्षपकको रत्ननी पड़ती है।

अग्र्यतरंगुदयभावे दोषं कथयति—

अञ्जवसाणविसुद्धीए वज्जिदा जे तवं विगट्ठंयि ॥

कुब्बंति बहिछेस्सा ण होइ सा केवला सुद्धी ॥ २५७ ॥

भावशुद्धया विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वन्ते तपः ॥

ग्रहिलेदया न सा तेषां शुद्धिर्भवति केवला ॥ २५८ ॥

पितृयोदया—भ्रष्टवसाणविसुद्धीए वज्जिदा अज्यवसानविसुद्धया वज्जिताः । जे ये । तवं तपः । विकट्ठंयि कट्टयमपि कुर्वन्ति । ग्रहितेस्सा ग्रहिलेदयाः पूजासत्काराद्यादित्येवमुच्यते । ण होइ तेसि केवला सुद्धी दोषोन्मिधका मपवतीति शुक्तिरिति यावत् ।

अग्र्यतरंगुदयभावे दोषमाह—

मुसापा—विकट्ठं पि उत्कृष्टमपि । ग्रहितेसा पूजासत्काराद्यादिवचिषमुच्यते । केवला अनुमकमस्त्रिबणरहिता । सुद्धा अनुभक्तमतिजंरा ॥

अग्र्यतरंगुद्वि न होनेसे दोष उत्पन्न होता है ऐसा कथन —

अर्थ—जिनके परिणामोंमें निर्मलता नहीं है वे साधु यद्यपि उत्कृष्ट तप करते हैं तो भी पूजा, आदर, कीर्ति इनकी इच्छासे वे तप करते हैं ऐसा समझना चाहिये. इसलिये उनके परिणामोंकी शुद्धि नहीं होती. अर्थात् उनके परिणामोंकी शुद्धि दोषरहित है ऐसा समझना. जय पूजा, आदर इत्यादिकी अभिलाषा छोड़कर मुनि उत्कृष्ट तप करते हैं तब उनके परिणामोंमें निर्मलता उत्पन्न होती है.

केपला शुद्धिः कस्य तर्हि भवतीत्याह—

अविगट्ठं पि तवं जो करेइ सुत्रिसुद्धसुक्खलेस्साओ ॥

अञ्जवसाणविसुद्धो सो पावदि केवला सुद्धिं ॥ २५८ ॥

विजयोदया—अविकट्ठं पि अनुत्कृष्टमपि तपो यः करोति । सुत्रिसुद्धसुक्खलेदयासमन्वितः विद्युद्वरिणायः स केवलो गुण्यं मामोति इति गाथायैः ।

तर्हि केवलं शुद्धि कस्य स्यादित्यत्र—

मूढारा—सो इत्यारि संपरसहभाविर्नो निर्बल करोतीत्यर्थः ॥

नित्यं मुनिने परिणाम केवलं शुद्ध होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—विशुद्धबुद्धिसेनाका धारक जो मुनि वह उत्कृष्ट ॥ यद्यपि नहीं केरना तो भी परिणामोसे निर्मल होनेसे दोषरहित अर्थात् केवल शुद्धि को प्राप्त होता है. ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

प्रस्तुता द्वितीया कपायसहेखनामुकपायवसायविशुद्धया योजयति—

अजस्रवसाणविशुद्धी कसायकलुसीकदस्स जत्थिन्ति ॥

अजस्रवसाणवितुद्धी कसायसहेहणा भणिदा ॥ २५९ ॥

कपायाकुलचित्तस्य भावशुद्धिः कृतस्तनी ॥

यतस्तनो विधातरुपा कपायाणां तनूकृति ॥ २६० ॥

विनयोदया—अजस्रवसाणविशुद्धी परिणामयिशुद्धि । कसायकलुसीकदस्स कपाये कलुषीकृतस्य ! जतिप नाहित यस्मात् इति तस्मात् । अजस्रवसाणविशुद्धी परिणामयिशुद्धि । कदायसहेहणा भणिपा कपायसहेहणेति गदिता ॥

अथयवनविशुद्धया कपायसहेखना साध्यसाधनमवेत योजयति ।

मूढारा—अजस्रवसाण इत्यादि—स्वोदयनिमित्तादाहद्रव्यादिसाधनमशालं योदैर्द्रव्यकोधादिभिः कूटत्वादि- रूपं कालुष्य नीवरय मुनेरप्यसतनिविशुद्धिर्नस्तीति हेतोः ।

प्रस्तुत कपायसहेखनाका परिणामयिशुद्धिके साथ संग्रह दिखाने हैं—

अर्थ—कपायोसे जिस मुनिका मन कलुषित हुआ है वह परिणामोकी विशुद्धीसे दूर रहता है. और जिसके परिणामोमें शुद्धता है वह कपायसहेखना कर सकता है इसलिये परिणामयिशुद्धिको आचार्योंने कपायसहेखना यह नाम दिया है. इन दोनोंमें अविनाभाव है. जहा परिणामोकी निर्मलता है वहा कपायसहेखना है. और जहां कपाय सहेखना है वहा परिणामोकी निर्मलता है.

शुभपरिणामप्रयाहवृत्तेन चतुष्कषायसहेयता जाता भवति इत्यभिधाय सामान्येन चतुर्णामपि कषयाणां तन्फलमेव उपपद्यते प्रतिपक्षपरिणामचतुष्कषे कथयति—

क्रोधं स्वमाए मार्गं च मद्वेणाज्जवं च मायं च ॥

संतोणेण य लोहं जिणदु खु चत्तारि वि कसाए ॥ २६० ॥

जेतब्बः क्षमया क्रोधो मानो मार्दवसंपदा ॥

अर्जयेन सदा माया लोभः संतोपयोगतः ॥ २६० ॥

विजयोदया—क्रोधे एवमप्येत्यादिना कषायविनाशने उपायस्तदुत्पत्तित्यागः ।

संयोगैराग्यव्यावृत्ततत्त्वज्ञानसंस्कारादिशुभपरिणामप्रवाहप्रवृत्तेन कषायसहेयता कृता भवति इत्यभिधाय क्रोधदीनां प्रत्येकं कृतीकरणोपायं प्रतिपक्षपरिणाममाचष्टे ।

मूलाय—जिणदि इतिभित्तवदादुपगतः क्रोधादीन्धर्मादिभावना कूत्वादिफलवानशक्तिरहितान्करोति ॥

शुभपरिणामोक्तं प्रवाहमेवो मुनि अवगाहन करता है उसको कषायसहेयताका लाभ होता है इस विषय में सुलभाना किया. अब क्रोधादि चार कषायोंको क्षीण करनेके उपायभूत चार प्रतिपक्षरूप परिणामोंका वर्णन करते हैं—

अर्थ—है क्षण मुने ! तुम धमालूपी परिणामेंति क्रोधको, मार्दवगुणसे मानकषायको अर्जव गुणके द्वारा मायाको और संतोषके सहारेसे लोभकषायको इस तरह चार कषायोंको जीतो.

उत्पत्तमानो हि कषागो धुद्धिमुपैतीति कथयति—

कोहस्स य माणस्स य मायालोमाण सो ण एदि घसं ॥

जो ताण कसायाणं उपपत्तिं चेव वज्जेइ ॥ २६१ ॥

चतुर्णां च कषापपाणां न वशं याति शुद्धधीः ॥

उत्पत्तिस्त्यज्यते तेषां सर्वदा येन तत्त्वतः ॥ २६१ ॥

त्रिजयोद्या—जो हस्त य लजैयं पश्यतया । जो तेखि करवाणमुष्णसं लेय वज्जेदि वस्तेणं कपायाणामु
रगसि एव परिहरति । कोभरस य माणस्स य माणलोमाण सौ ण वदि पसं मोघमानमायालोभानां ॥ कोपेति वसं
यस्तेयानुपलप्तिमपेक्षते स तद्वशात् कथं कपायसंछेदनां कुर्यादिति भावः ॥

अक्षयत्वागद्रूप्यादिसाययीसमादुत्पन्नानः कपायो वृद्धिसुपचानि इति तद्विनाशने उत्तमस्वमादिप्रयोगेण सहु-
स्वातीनिरोध एवोपाय इत्युपदिशति ॥

गृहारा—यसं ब्रूयन्नेवादिजन्यमानमूररयादिलक्षणमात्रमोवादिषरिणविलक्षणपतत्वंश्यम् ।

उत्पन्न होनेवाले कपाय वृद्धिगत होते हैं ऐसा कहते हैं—

अर्थ—जो मुनि उन कपायोंको उत्पन्न ही नहीं होने देता है वह बुद्धि श्रोत्र, मन, माया और लोभके
पद नहीं होता है, परंतु जो उनके उत्पत्तिकी अभिलाषा रखता है वह उनके पक्ष को जानेसे कपायसंछेदना कंसी
कर सकेगा ?

कपायोत्पत्तिं परिहर्तुमिच्छता किं कर्तव्यमित्यत आह—

तं वायुं मोक्षन्वं जं पडि उप्पज्जदे कसायमिग ॥

तं वस्तुमास्त्रिपुज्जो जत्थोवसमो कसायाणं ॥ २६३ ॥

तद्वेयं सर्वदा यन्न कपायाग्निरुचीयते ॥

यन्न साम्यतयसी वस्तु तदावेयं पटीयसा ॥ २६२ ॥

विजयोद्या—तं वस्तुं मोक्षन्वं वदस्तु मोक्षन्वं । जं पडि उप्पज्जेयं यथिमितं उत्पद्यते । कसायमी कपायमिग
तं वस्तुमस्त्रिपुज्जो तद्रूपणाश्रयण कुर्यात् । अथ यत्रोपपन्नपणे । उवसमो कसायाणं कपायाणामुपशमो भवति ॥

कपायोत्पत्तिपरिनिहीतुणा किं कर्तव्यमित्यत्राह—

गृहारा—जं पडि वदस्तु निमिचीकृत्य । अद्वियज्जो आश्रयेत् ॥

कपायोत्पत्ति न होनेके लिये क्या इलाज करना चाहिये इसका उत्तर—

अर्थ—बिनाके निमित्तसे कपायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है वह वस्तु छोड़नी चाहिये, और जो वस्तु

रूपायोंका उपग्रह करंगी वही वस्तु आश्रय करने योग्य है- जिस वस्तुका आश्रय करनेसे कर्पायोंका उपग्रह होगी उन्ही वस्तुका आश्रय करना चाहिये-

जइ कहवि कसायगंगी समुद्रितदो होज्य विज्यवेदब्जो ॥

रागहेसुपन्ती बिज्यादि हु परिहरंतरस ॥ २६३ ॥

घण्टेति कपायाभिर्विध्यातव्यस्तदा लघुः ॥

शास्त्र्यन्ति ह्यन्धिला दोषाः शस्त्रिणे तत्र तत्त्वतः ॥ २६३ ॥

विजयेदेषा—जइ कहवि कसायगंगी यदि ऊयंविजयगात्रिः । समुद्रितो होज्य समुद्रितो भवेत् । विजयेदेषा दण्डो विजयपदितव्यः । रागहेसुपन्ती रागदेयोरत्यन्ति । विज्यादि दु खु शास्त्र्यत्वे । परिहरंतरस परिहरन्ति । कपायाभिः प्रशान्ति नीपते । तदोपपेक्षेण भीषजन्तान्गत्यामिव हृदयं दहति । अक्षुभोगोपांगनामकर्मबद्धिरूपाननं करोति । राज ५५ खड्गो रागमानयति । महासमीरण इव तडुं कंपयति । सुरापानमिव यत्किंचिद्विगद्यति । आविष्टमह इव यत्किंचन कारयति । समीचीनगणलोकनं मलिनयति । वसंतवनमुत्पादयति । चारित्र्यस्य श्लेषयति । तपःपटुवं भस्मयति । अक्षुभप्रकृतितत्तां स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रसममनोमलं दौक्यमिति । हृदयं कठिनयति । प्राणश्रुती घातयति । भारतीमस्तत्तां प्रवर्तयति । गुरुमपि गुणान्दधयति । परानपवावयति । महतोऽपि गुणान्दधयति । मैत्रीमुन्मूलयति । छतमप्युपकारं विस्मरयति । भगकारमभ्युपयति । महति नरकगते पतयति । दुःखावर्ते निमज्जतीत्यनेकानपवादव्यवधानया ।

मूलरा—विज्यादि खु शास्त्र्यत्वेय । परिहरंतरस तदोपपेक्षेण कर्पायोंस्त्यनतः । तद्भाषना यथा—कपायो हृदयं दहति, मुद्रं विरूपयति । खड्गो रागमानयति । तडुं कंपयति । यत्किंचन आपयति । यद्वा यद्वा कारयति । सम्यगज्ञानं मलिनयति । दर्शनमुन्मूलयति । चारित्रं चूर्णयति । तपः क्षपयति । अक्षुभप्रकृतितत्तां स्थिरयति । शुभकर्मफलं विरसयति । प्रत्यग्रमनोमलं दौक्यमिति । हृदयं कठिनयति । प्राणश्रुती घातयति । गुरुमपि गुणान्दधयति । महतोऽपि गुणान्दधयति । परानपवावयति । महतोऽपि गुणान्दधयति । भैत्रीमुन्मूलयति । छतमप्युपकारं विस्मरयति । दुःखान्दधे निमज्जतीति ॥

अये—यदि किसी प्रकारे कर्पायाणि भ्रमक कर संछेपी तो उसका उपग्रह करना चाहिये- जो

कपायग्निका परिहार करनेका प्रयत्न करता है उसके रागद्वेषोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. कपाशमें कौनसे दोष भरे हैं इसका विचार । उसका उपशमन करना चाहिये.

दुर्जनोंकी संगतीके समान ये कपाय हृदयको जलाते हैं. अशुभ अंग और उपांगोंकी रचना करनेवाले नाम कर्मके समान कपाय सुस्वको क्षुल्ल करते हैं. नेत्रमें गये धूलिके कण जैसे आँखको लाल बनाते हैं वैसे कपाशसे भी चढ़ लाल होती है. बड़े जोरसे बहनेवाले वायुके समान कपाय शरीरको कंपित करते हैं. धुराणनसे मनुष्य चाहे जो चढ़बढ़ता है वैसे कपाशबन्ध हुआ मनुष्य बढ़बढ़ता है. विद्याचक्रस्त मनुष्य के समान कुल भी कार्य करने लगता है. यह कपाय सम्बन्धानरूपी नेत्रको मलिन करता है. सम्पददर्शनरूपी चक्षुको उच्छ्वस्त कर देता है. चारित्र्यरूपी सरोवरको सुखा देता है. यह कपाय सपरूपी कोमल कमलोंको दूध करता है. अशुभकर्मप्रकृतिको दृढ़ करता है. शुभकर्मके फलोंको रसहीन करता है. निमल मनको मलिन करता है. हृदयको निन्द्य बनाता है. प्राणिजोंकी हिंसा करता है. असत्य भाषणमें मनुष्यको प्रवृत्त करता है. बड़े बड़े गुणोंको भी लांघता है. कीर्तिरूपी धनको नष्ट करा देता है. दूसरोंकी निंदा करवाता है महापुरुषोंके गुणोंको ढक देता है. मंत्रीको तुच्छपाता है. किये गये उपकारको सुला देता है. अपकारका पाठ सिलवाता है. बड़े नयनर नरकोंके स्पर्शमें प्रमत्तोंको मिराता है. और कुलरूपी भोवरोंमें बुझता है. इस तरह यह कपाय अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करता है ऐसी भावना मनमें कर रागद्वेषोंकी उत्पत्तिके न होने देना चाहिये.

रागद्वेषमगोपुष्यकथनाय गाथा—

जावति केइ संगा उदीरया होति रागदोसाणं ॥

ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च पिस्संगो ॥ २१७ ॥

रागद्वेषादिकं साधोः संगभावे विनश्यति ॥

कारणाभावतः कार्यं किं कुत्राप्यचक्षति ॥ २१४ ॥

विजयोक्ता—जावति केइ संग गावन्तः केचन परिग्रहः । उदीरया होति रागदोसाणं उदयावका भवन्ति रागद्वेषयोः ॥ ते वज्जंतो सत्परिग्रहाजराकुर्वन् । जिणदि धु जयत्येव । रागं दोसं च रागेद्वेषः । निस्संगो नि.परिग्रहः ।

रागद्वेषयोः प्रशमनोपायमाह—

मूढारा—स्पष्टम् ।

रागद्वेषोका प्रशमन करनेका उपाय कहनेकेलिये यह गाथा कहते हैं—
अर्थ—राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले जो कोई परिग्रह हैं उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर उन रागद्वेषोंको जीतता ही है. अर्थात् परिग्रहका त्याग कर निःसंग बनना यह रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय है.

एवमुदयमुपपाति कथायाञ्चि स चेत्थमपकारं करोत्येवं उपशांतिं नेतव्य इत्येसद्वाथानयोवाहरणेनोच्यते -

पडिचोदणासहणवायव्वुमिदपडिवयणंइधणाइद्धो ॥

चंडो हु कसायगगी सहसा संपडिजलेऽजाहि ॥ २६५ ॥

वाक्यासहिष्णुतावाध्यामेरितः कोपपाषकः ॥

उवेति सहसा चंडो भूरिमत्युत्तरेन्धनः ॥ २६५ ॥

विजयोदया - पडिचोदणा प्रतिचोदनाया. असहनेमेय वातः तेन क्षुभित, प्रतिदचनेधैरिख' नूतः कपापाग्निः सहसा प्रज्वलति ।

एवं नोधादीनां निर्लेपोपायमुपदिश्येदानीं कोपस्य सार्यश्रंशकरत्वप्रकाशनद्वारेणैतत्करपायणामव्यपायभूयिष्ठना उपवेष्टुं तत्त्वबोधिरणां विद्वानेनाह -

मूढारा— पडीत्यादि —प्रतिचोदनासहणवातक्षुभितप्रतिवचनेवनेद्ध. । प्रतिचोदना शिष्यस्याविहितप्रवृत्तिनि पारणार्थं गुरोः गिलावचने सति प्रतिकृन्वचनं, तस्यासहणमपर्यणं गुरुणा, वदेव वातसेन क्षुभित- संक्षुक्षितो गुरोर्भनति कोपपिभिः । तदन्तरं प्रतिवचनं, पुनर्गुरुणा शिक्षावचने सति प्रतिकृच्छं वचनं तदेवैवचनं तेनेद्धो दीप्तः । अथवा प्रसिचोदना गुरुणा शिष्यस्य गिलापणं, तस्यासहणमपर्यणं शिष्येण, वदेव वातसेन क्षुभित ततः प्रतिवचनं पुनः शिष्यस्य गुरुणा नि क्षापणं तदेवैवचनं तेनेद्धो दीप्त मित्र्यास्य मनसि कोपपिभि । चंडो रौद्रः प्रत्याख्यानवारणोऽन्ववदुर्गमी वा । संपन्नजलेऽजाहि भद्रमपलेत् । तथा प्रोक्तम्—

वाक्यासहिष्णुतायात्प्रातिः कोपपावकः ।

दयेति सहसा चंदो भूरिप्रत्युचरेन्धनः ॥

एतं वा त्वय्यो भाव्यः ।

प्रतिबन्धनविलोः प्रतिकूलचरणपवनसंचलितः ।

चंदः कृपावदहनः सहसा संग्रबजेत्प्रापः ॥

कृपायापि उत्पन्न होकर जब आपका करने लगता है तब आगे कहे हुए उपायसे उसका उपशमन करना चाहिये. इस विषयको आचार्य तीन गाथाओंसे प्रगट करते हैं—

अर्थ—शिष्यकी अयोग्य कार्यमें प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरु उपदेश करते हैं. परंतु जब शिष्य प्रतिकूल उत्तर देता है तब वह गुरूको सहन नहीं होता है यह महन न होना यही वायु है. इस वायुसे गुरूके मनमें कोप-रूपी अग्नि प्रज्वलित होती है परंतु पुनः गुरु शिष्यको उपदेश देते हैं. शिष्य पुनः प्रतिकूल वचन बोलता है. इस प्रतिकूलवचनरूपी ईंधनसे गुरुकी क्रोधाग्नि उदीप्त होती है. येसा होनेसे अनंतानुबंधी अथवा अप्रत्याख्यानरूप कृपायापि प्रज्वलित होती है. तदनंतर वह—

जलिदो ह कसायग्मी चरित्सारं डहेज्ज कसिणं पि ॥

सम्भत्तं पि विराधिय अणंतसंसारियं कुज्जा ॥ २१६ ॥

स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं रत्नत्रितयकाननम् ॥

विदधाति महातापं संसारंगारसंचयैः ॥ २१७ ॥

विजयोदया—जलिदो हि कसायग्मी ज्वलितश्च कषयाग्निः । चरित्सारं चरित्सारं सारं दहयेय । सम्भत्तं विनाशानंतसंसारपरिभ्रमणे रत कुर्महेव ।

क्रोधज्झवं संप्रज्वलितः कमष्कारं करोति इत्यत्राह—

मूढारा-कदिणं पि कुल्लस्यपि । अनंतसंसारियं अनंतभवपरिवर्तनोद्यतं गुरुं शिष्यं च ।

अर्थ—चारित्र्यरूपी उत्कृष्ट वस्तुको जलाकर भस्म करती है, और सम्बन्धका नाश कर आत्माको अनंत संसारी करती है.

तस्माद् दुःखसामग्री पावं उपज्जमाणयं चेव ।

इच्छामिच्छादुःखकवद्वंद्वणसल्लेण विद्वाहि ॥ २६७ ॥

जायमानः कषायान्निः शमनीयो मनीषिणा ॥

इच्छामिच्छातथाकारप्रणिपातादिचारिणिः ॥ २६७ ॥

विज्ञयोक्ता—तथा तु तस्मात्पल्लु कषयानिः पापदुष्पचमनमेव प्रशमयेत् । केन “ इच्छामि यन्वत्तः सिद्धिः, मिथ्या भवतु मम दुःखं, ममस्तुभ्यं ” इत्येवंभूतेन सल्लेखेन ।

तर्हि स कथं संशमनीय इत्यत्राहः—

मूलारा—इच्छेत्यादि—इच्छामि भयतां शिक्षामित्यभ्युपगमवचनं । मिच्छादुःखकवद्वंद्विषया विफलं भवतु मम दुःखं, दुष्कर्मद्विषयायनोद्धेवनलक्षणं दुराचरणमिति मार्थनावचनं । वंद्वण भगवतः प्रसीदत, तमस्तत्र भवद्भयो इत्यादि-पूजावचनं, वरद्वयसल्लेखेन विद्वाहि विध्यापयेच्छिष्यः ।

अर्थ—इसलिये यह कषायानि पापको अब उत्पन्न करेगी ऐसा समझकर उसको उत्पन्न होते ही अर्थात् पापवर्धक कषाय उत्पन्न होते ही हे भगवन् ! मैं आपका उपदेश शिरोधार्य समझता हूं, मेरे पातक मिथ्या होयें मैं आपको वंदन करता हूं ऐसे वचनरूप सल्लेखे शान्त करना चाहिये.

तद्द चेव णोकसाया सल्लिहियत्वा पेणुवसमेण ॥

सण्णाओ मात्वाणि य तद्द छेस्साओ य असुहाओ २६८ ॥

संल्लिख्यं गौरवं संज्ञा नोकषाया महाभटाः ॥

समस्ता निदिता केदया समाधानं यता सता ॥ २६८ ॥

विज्ञयोदया—तद् देय णोक्तमाया तथैव नोक्तमायाः तन्कृतं ध्यायः । परेषुपसमेण परेणोपशमेन । संज्ञा, गार-
वणि, मग्गुपाद्य त्थेदया, हास्यरत्नपरितोक्तमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकपेदाः नोक्तमाया इत्युच्यन्ते । आहारमयमेधुन
परिप्रवृत्तिमायाः मंत्राः । क्रतो हीमाभिलाषो, रसेषु, सुखे च गारवसादित उच्यन्ते ॥

कथावक्षसाभेदेन कृतत्वविज्ञेयाभो कथायादीनामपि सुमुक्तोः सल्लेखनीयत्वमाख्यावि-

मूलात् — णोक्तसाया हास्यरत्नपरितोक्तमयजुगुप्सास्त्रीपुरुषनपुंसकपेदाख्या नय । परेण उल्लेखेन । उपसमेण
इत्येतेन दुर्य निमित्तल्लेखणेन देव्यादिकथावक्षस्यमृग्यमृग्यदुदात्तात्मभावनाप्रमवेन । सण्णाओ अनादिसंतत्या प्रवर्तमानाः
आहारमयमेधुनपरिप्रवृत्तिमायाः । असुहृद्भो कृष्णनीलरूपोत्कृष्टकृपाः ॥

अर्थ — स्यापके ममान हास्यादि नयनोरूपायोज्ञा मी उपशमन करना चाहिये. अर्थात् नो कथाय भी कुछ करने
चाहिये. आहार, मय, परिग्रह और मेधुन इनमें अभिलाषा करना यह मंत्राका लक्षण है. कृष्ण, नील और कपोत
ये तीन अशुभ लक्षणाएँ हैं. हास्य, रसि, आरति, जोक, भय, जुगुप्सा, सीयेद, पुलवेद और नपुंसकपेद ये नउ
नोक्तमाय हैं. अद्विमे तीन अभिलाषा होना, एवमे तीन अभिलाषा होना और सुखमें आसक्ति होना इनको गारव
कहते हैं. ये नोक्तमाय, मंत्रा, लक्ष्या और गारव उत्पन्न होते ही इनको उत्कृष्ट उपशमके द्वारा कुछ करना चाहिये.

परिवृद्धिदोषधाणो विगडसिराणहारपासुलिकडाहो ॥

सल्लिहिदत्तथुसरीरो अञ्जप्परदो हववि णिच्चं ॥ २६९ ॥

बाधेतावग्रतः साधुः प्रकटास्थिसिरादिकः ॥

तन्कृतसमस्तांगो भवत्थाच्यात्मनिष्ठितः ॥ २६९ ॥

विज्ञयोदया — परिवृद्धिदोषधाणो परिवर्द्धितताग्रतः ग्रन्थेयां पाठः परिवृद्धिदोषधाणो परिवर्द्धितताग्रतः । विष-
द्विगुणता—पासुलिकडाहो मङ्गोभूता मदन्त्यः अग्राय सिपाः, पादगोस्थिसिरादिकः कटाक्षदेनाद्य यम्य । सल्लिहिदत्त-
थुसरीरो मग्गवन्नूरुणं सदी' वस्य स । अञ्जप्परदो अस्यात्माध्याने तत्र रतः । होर यवति । निरुचं भित्तये ॥

गारमेधेन विज्ञेयानुशमेन कृतत्वविज्ञेयविरोधे विमुदपरिणाममवस्था प्रवर्तमानो सुमुक्तः संतवनं सद्गुणान
निष्ठितो भवति इति कथावक्षस्यमृग्यमृग्यदुदात्तात्मभावनामदित्यं गायान्देवेनाह—

भूटारा—परिवर्तितोद्योगो समंवाद्दहृदुत्कर्षितशुणधानमयमहो येन । परिवर्तितद्वहणो इत्यत्र पाठे परिवर्तितप्रमादपरिहार इत्यर्थः । विषह प्रकटीभूताः । ज्वाह स्मायुः । पायुलि पार्थस्यसंहतिः । कदाहो कटाश्वदेशः । नि-
तमसमीपतेस इत्यन्ये । सखिद्विदत्तशुसरीरो वनुसखेत्तनारंभात्वागमि तपोविशेषैः कुरुं यच्छरीरं तदेव तदा सम्मयगवशीकृतं
यस्य येन वा ॥

अर्थ—जिसने प्रतिदिन अनश्वनादि वाद्य तपोके नियम वृद्धिगत किये हैं; अथवा जिसने प्रतिदिन प्रमा-
दका परिहार अधिकारिभूतसे बढ़ाया है, वाद्य तप करनेसे छोटी और बड़ी सिराचें, शरीरकी दोनो पसवडि की
दृष्टियाँ, और नेत्रके अस्थि स्पष्ट दीख रही हैं, ऐसा वह क्षण निर्दोष शरीरसंश्लेखना करके अध्यात्मध्यानमें तत्पर
होता है अर्थात् क्षणक शरीर संश्लेखनाके साथ कृपाय संश्लेखना भी प्रमादका नित्य त्याग कर करता है.

एवं कदपरियम्भो सम्मंतरवाहिगमि सखिहणो॥

संसारमोक्षबुद्धी सन्बुवरिहं तवं कुणवि ॥ २७० ॥

यास्यामान्यन्तरीं कृत्वा योगी सहेत्वनमिति ॥

संसारत्यजनाकांक्षी प्रकृष्टं कुरुते तपः ॥ २७० ॥

इति सहेत्वनानुश्रवम् ॥

विजयोदया—एवं कदपरियम्भो पयमुच्यते क्रमेण कृतपरिकरः । सम्मंतरवाहिरमि सखिहणो अभ्यंतरसहोत्तन-
सहितार्थं वाद्यनहेतुतायां । संसारमोक्षबुद्धी संसारत्यागी कृतबुद्धिः । सन्बुवरिहं तवं सर्वेभ्यस्तपोभ्यः उत्कृष्टं तपश्चर-
ति । सहेत्वनं सम्मत्ता ।

मूलात् - संसारमुक्षयबुद्धी संसारत्यागकृतभविः । सन्बुवरिहं सर्वेभ्यस्तपोभ्य उत्कृष्टं धर्मशुभ्यान्लक्षणं ।
मल्लेत्तना सूत्रतः ११ अंकतः । ६६ ॥

अर्थ—इसतरहे शरीर संश्लेखना और कृपाय संश्लेखनामें जिसने वाद्यतपका आचरण कर अभ्यास किया
है संसारका त्याग करनेमें अपनी बुद्धि एकाग्र की है ऐसा वह क्षण संततपण उत्कृष्ट तप अर्थात् उत्कृष्ट
धर्मध्यान और उत्कृष्ट शुक्लध्यान करता है.

चोडुं गिलादि देहं पञ्चोड्वमिणमसुचिभारोचि ॥

तो दुक्तलभारभीदो कन्दपरियम्मो गणसुवेदि ॥ २७१ ॥

न शकनोम्यशुचि त्याज्यमिदं चोडुं महत्क्षयि ॥

विचिन्त्येति यपुस्त्ययत्तुं गणं याति कृतकियः ॥ २७२ ॥

विजयोदया—चोडुं गिलादि देहं शरीरोद्यद्वनपयदितः । पञ्चोड्वं शणमसुभारोचि परित्यागाहंमिष भद्रुचि-
गणे दिग्गणयुं । उपेदि दौक्ते । मध्येषा पाठः 'चोडुं गिलादि देहं' इति, ते व्याख्यानयति-शरीरं चोडुं अकृतावरोऽस्ति ।
पञ्चोड्वमिणमसुभारोचि परित्याज्यमिदं मनुचिभारयूले कृतरिति कृतमिषयः ।

अथ नित्यसुखार्थं नवकरोकानिमान्यपठेत्—

कपाषाण् मानसवेगमुपयोगेन संसिरोत् ॥

सममपिष्टलवे यास्तपसा संखिलेद्रुः ॥ १ ॥

उदयोषायमुत्पितसायुदयं च तुदरसदा ॥

कपावनोकपावणां तपसाप्येत तत्त्ववित् ॥ २ ॥

कृत्वापात्मनां भावक्रोपाधीनां प्रवर्तिनः ॥

द्रव्यवोपादिपापस्य हेतुं द्रव्यार्थिकं त्यजेत् ॥ ३ ॥

उरितसुखकोनहास्यादोन्मेषद्विधानसजितैः ॥

उयेत्क्षमारीः संखिलकादितच्छसिदातनैः ॥ ४ ॥

कपायानात्मनो त्यज्यालंवनोदीपनोद्वतान् ॥

तरोपमानैर्भिग्यादुपुषीदेविनयादिभिः ॥ ५ ॥

निश्चिकित्सस्य कोषापा वर्षमानान्यषामकम् ॥

युतं हर्षं च संहृत्य द्रापयति भवामयम् ॥ ६ ॥

छिद्यात्तद्विद्वद्गुणाल्पगणायामशमनैः ॥
 सद्भाश्वतस्यो दुर्लेख्यरिस्त्विद्ययासंयतां गतः ॥ ७ ॥
 भावनेच्छुद्धिद्विषं स्वात्मानं नित्यमुद्यतः ॥
 रागाद्युद्वेगप्रज्ञानमनुत्पत्यै श्रयाय च ॥ ८ ॥
 निश्चयात्संविद्वन्द्वद्वयरूपं तदस्म्यदम् ॥
 ब्रह्मेति संवताभ्यासात्कश्चित्तद्वयमनुते ॥ ९ ॥
 इदं कृत्वात्संस्कारं कर्त्तितांगकयायकः ॥
 शिवासाधरसंस्तुत्य शूरिबलः स्वमुद्धरेत् ॥ १० ॥
 इत्याशाधरादुत्पन्नमपसंस्पर्धे मूढाराधनावर्णेने पदप्रेमयार्थप्रकाशीकरणप्रवर्णेने
 भावको नाम दुर्वीय आश्वासः समाप्तः ॥

अथ षष्ठ्यर्थे आश्वासः ।

सुभाषितमनाः समी स्वसदृशाय पाल्येऽर्पिते ॥
 कृतक्षमणशासनः परगणप्रवेशोद्यत
 सुनार्यं गुरुमुत्तमं विधिविदादृतस्तेन यो ।
 विशोधयति सत्यं स पद्मानुमेवेत्सितम् ॥ १ ॥

अथ सङ्क्षेपानन्तरकरणीयाचार्यपरित्यागकर्मोपदेशार्थं गायार्थवकभाष्ये—

मूढाए—यौबुमित्यादि । त्वेदि उपैति दौकते । कोऽसौ कदयरियो कृतसमाधिवरणपरिक्रतो मुनिः । कं ?
 गर्गं स्वशुच्यर्णं । किंविशिष्टः सन् । दुःसमास्मीशो दुःसमाजवाच्छरीराश्रयः । कुतो हेतोः ? सतः इति शब्दो हेत्वर्थः ।
 यतो गिकादि ग्रायति क्षीणार्थे भवति । कोऽसौ ? कृतपरिकर्मा । किं कर्तुं ? योऽनुं गर्तुं । किं तत् ? इदं देहं । कि-
 मितिष्टं पश्योदन्वं परित्यागाद् । कुतः असुरमारोपि दोषपातुमद्यमुल्लासपविनमोवारिकत्वाद्भारमूलम् यतः

अथवा अनुचीनां भ्रातः संपातः । अन्ये तु गिलामीति पठित्वा इत्यथर्वं कथयन्ति । गिलाभि देहं वोढुं अकृतादरोऽरिभ न नाक्रोमि ॥ यतः परित्याग्यमिदं धनुगमिति क्ववभिधायः । तो तवः सहेस्रनान्वरं गणमुपैति ।

सहेस्रनाके अन्तर करनेके कार्यका उपदेश करते हैं—

अर्थ—यह देह अपावित्र पदार्थोंसे भरा हुआ है और भारभूत है ऐसा समझकर वह सहेस्रना करनेवाला दुनि गरीबों को धारण करनेमें हर्षाहित होता है. दुःस्वप्ना पात्र ऐसे धरिसे मखीत होकर समाधिभरणकी सामग्रीको अपनाता है. और अपने शिष्योंके पास जाता है.

सहेहणं करेतो जदि आयरिओ हवेज्ज तो तेण ॥

ताए वि अवत्थाए चित्तेवब्बं गणस्स हियं ॥ २७२ ॥

अपि संन्यस्यता चित्सं हितं संपाए सूरिणा ॥

परोपकारिता सङ्गिः प्राणान्तेऽपि न मुच्यते ॥ २७२ ॥

विज्जोद्वेषा—सहेहणं करेतो सहेहणं फलमुच्यते । जद यदि । आयरिओ हवेज्ज धात्वाद्यो भवेत् । तो ततः । तेण तेन । ताए वि तस्यामि । अपरथाए अवस्थायां । चित्तेवब्बं चित्तनीयं । गणस्स गणस्य । हिये हितं ।

सहेस्रनां कर्तुमुद्यतो शिष्या भवत्याचार्य इत्यर्थः । तत्र अनाचार्यः स्वचिचविक्षेपकारणं परित्यजेत् । आचार्यः पुनः गणापायि हितं चित्तयेदित्यनुगातिः ।

नूजाता—आपदि वस्त्रमपि देहस्यागोमोगलक्षणायाम् ।

अर्थ—सहेस्रना करनेके लिए उद्युक्त हुआ क्षपक यदि आचार्य पदवी का धारक होगा तो उससे उस अवस्थामें भी—क्षपकती अवस्थामें भी अपने गणके हिनकी चिन्ता करनी चाहिए.

कालं संभावित्वा सन्वगणमणुदिसं च बाहरिय ॥

सोमतिहिनरणवत्तंचविलग्गे मंगलोगासे ॥ २७३ ॥

विज्ञाय कालमाह्वयः सप्तं गणमात्मना ॥

आलोच्य सदृशं भिक्षुं समर्थं गणधारणे ॥ २७३ ॥

विजयोद्या—पाल समविद्या आत्मन गयु रि प्रति विचार्य । सत्त्वमयं सर्वगणं अणुदितं च बालाचार्यं च । यत्परिचर्य व्याहृत । सोमतिद्विरुत्तमण्यद्वयविलम्बो सोमने दिने, करणे, नक्षत्रे, निष्ठमे । ममलोगात्ते शुभे देशे ।

गणानुपालनाय स्वप्ने अनुदिश प्रतिप्राविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूढारा—आलं संभाविका आत्मन आयुः स्थितिं विचार्य । वाहरिय आकार्य । मंगलोगात्ते शुभे देशे ।

अर्थ—अपनी आयु अभी कितनी रही है इसका विचार कर तदनंतर अपने शिष्यसमुदायको और अपने स्थानमें बिसकी स्थापना की है ऐसे पाल आचार्यको बुलाकर सौम्यविधि, करण, नक्षत्र और लग्नके समय शुभप्रदेशमें—

गच्छाणुपालणत्वं आहोइय अत्तगुणसमं भिक्खू ॥

तो तम्मि गणविसमं अप्पकहाए कुणवि धीरो ॥ २७४ ॥

प्रवेशे पावनीभूते चारुलगादिके दिने ॥

गणं निक्षिपते तत्र स्वरूपां कृत्वा कथां सुधीः ॥ २७४ ॥

विजयोद्या—गच्छाणुपालणत्वं गच्छानुपालनायं । आहोइय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मनो गुणै समानं । भिक्खुं भिक्षुं । तो तत्त । तम्मि तस्मिन् । गणविसमं गणत्याग । अप्पकहाए अल्पया कथया । कुणर धीरो करोति धीरः । भन्त्ये तु वयं अस्मन् कथयेति ।

मूढारा—आमोगिय विचार्य । अत्तगुणसमं आत्मगुणैः कृत्वा समानं । उक्तं च

ज्ञानविज्ञानसंपन्नं स्वगुरोरभिसम्मतं ॥

विनीतो धर्मेदीलम्ब य सोऽहंति गुरो पदम् ॥

तो व्याहरणान्वरं । गणविसमं गणत्याग । अप्पकहाए अल्पया कथया ।

अर्थ—अपने गुणके समान जिनके गुण हैं ऐसा वह बालाचार्य गच्छका पालन करनेके लिये योग्य है ऐसा रिताए २२ उगपर अपने गणको विमर्जित करने हैं अपना पद छोडकर संपूर्ण गणको बालाचार्यकेलिये छोड

देते हैं, अर्थात् गालाचार्य ही यहाँसे उस गणका आचार्य समझा जाता है, उस समय पूर्वाचार्य उसको थोडास उपदेश भी देते हैं,

किमर्थमेव प्रयत्ने सूरि ?

अव्योच्छित्तिमित्रं सन्वगुणसमोयरं तयं णच्चा ॥

अणुजाणेवि विसं सो एस दिसा वोसि वोधित्ता ॥ २७५ ॥

अधिच्छेदाय तीर्थस्य तं विज्ञाय गुणाकरं ॥

अनुजानानि संयोष्य विगयं भवतामिति ॥ २७६ ॥

इति विस्सूत्रम् ।

विजयोदया—अव्योच्छित्तिमित्रं धर्मतीर्थस्य क्षन्तानां चारि-नामकस्य व्युच्छित्तिर्मा भुविलेपसर्थ । सन्व-गुणसमोयरं स्वर्गगुणसमाश्रित । तमा त्वं पादय प्राप्तया अणुजाणेदि अनुभा करोति । विस आचार्य । सो स्व. एव. । दिसा आचार्य । वोसि युष्माकमिति । वोधित्ता बोधयित्वा ॥ दिसा समसा ॥

किमर्थं कथं बोधनायैव यत् एवाचार्याय गणं समर्पयतीत्यत्राह—

सूत्राय—अव्योच्छित्तिमित्रं धर्मतीर्थस्य अनिच्छेदाय । समोयरं समन्वितं । स्थानं वा । तयं वं । अणुजा-णादि पालयतु भयानिमं गणं इत्यनुमन्यते । अधीरुच्छति या । दिसं एवाचार्य । एस दिसा वोसि वोधित्ता एव आचार्यो युष्माकमिति बोधयित्वा सातुकरं प्रतिपाद्य शिष्यामिति शेषः । दिक् सूत्रवः १२ अंकतः ५ ॥

अर्थ—धर्मतीर्थं सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान और चारित्र्य स्वरूपी है, इसका नाम नहीं होवे, इस ली परिपाटी अलंकारसे चलनी चाहिये इसलिये आलाचार्यको सर्व गुणसे परिपूर्ण समझकर यह तुम्हारा आचार्य है ऐसा गणको समझते हैं, यदि पूर्वोक्तार्थ अपने स्थानमें अपनी योग्यताके धारक शिष्यकी योजना न कर ही समाधिपरणेत लिये संयको छोड़कर चले जायेंगे तो संपूर्ण गणके रत्नत्रयधर्मका नाश होनेसे धर्मतीर्थका ही निच्छेद होगा अतः मेरे स्थानपर मैंने इस योग्य शिष्यको रक्षाय है और यह अपने तुम्हारा आचार्य है ऐसा कह कर वे सर्व गणकी धमा मारते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार है, (दिखा नामक प्रकरण समाप्त हुआ है,)

आमंतेऊण गणिं गच्छमि य तं गणिं ठवेदूण ॥

तिविहेण खमावेदि हु स बालउड्डाउलं गच्छं ॥ २७६ ॥

सकलं गणमामन्य कृत्वा गणिनिवेशनं ॥

स त्रिया क्षमयत्येवं बालवृद्धाकुलं गणं । २७६ ॥

विलयोक्त्या—आमंतेऊण गणि आमंज्य आचार्य । गच्छमि य गणे । तं गणिं ठवेदूण आत्मभानुज्ञातं स्थापयित्वा, स्वयं पृथग्भूत्वा । त्रिविहेण खमावेदि खु खबालउड्डाउलं गच्छं मनोवाक्यौघाद्गच्छति क्षमां स बालवृद्धैः संकीर्णं गणं ॥

अथ समर्पितसमर्थिनो मुमुक्षोः कृतस्वसंस्कारस्य सन्त्यवशीकृतकायकपायस्य प्रतिसूरिसमर्पितशिष्यद्वन्द्वस्य पराणं गन्तुमनसश्चिरसंवासादौपसंभाव्यजानाढः काष्ठुच्यकलंजगजक्षमणाक्रमं गायत्रयेणोपदिशति तत्रापि सूर्येणक्षमण-विधिं गाथाद्वयेनाह—

मूढापा—तं गणपालनाय स्वयमग्निसार्त । ठवेदूण गणमध्ये निवेश्य स्वयं च पृथग्भूत्वा । खमावेदि क्षम प्रादयति स वृद्धाचार्यः ॥

अर्थ—उस मयीन आचार्यको आमंत्रणकर और उसको गणके बीचमें स्थापन कर और स्वयं अलग होकर बालमुनि, वृद्धमुनि, इत्यादिकोसे पूर्ण ऐसे गणकी मन, वचन, कायसे क्षमा मांगते हैं.

जं दीहकालसंवासादपु समकारणेहरागेण ॥

कडुगपरसं च भणिया तमहं सब्बं खमावेमि ॥ २७७ ॥

यदीर्य कालसंवासममत्त्वस्नेहरागतः ॥

अभिप्रेतं गणितं किंचित्तत्सवं क्षमयामि चः ॥ २७७ ॥

विजयोक्त्या—जं दीहकालसंवासादपु दीर्घकालं सख संवासेन यस्मात् समत्वं, स्नेहो, ज्ञेयो, रागमय तेन । जं यत् कडुगपरसं च भणिया कडुके परसं या वच्च भणित्ता । त तत्तु युष्मान् । सब्बं सर्वान् । खमावेमि क्षमां प्रादयामि ।

१ कडुग इत्येकादारभ्य भणित्ता इत्येवापर्यवता वाक्यपर्यन्तिः कडुगस्यै नास्ति ।

मूलारा—ममकार मनेमे हति बुद्धिः । मेदरयोगेन स्वेदेन प्रणयेन, एगोपायनिवारणशिक्षणः कल्याणपापन-
मनोरथस्य तेन । भविता भविता भूवं । तं मो सन्वे वत्कटुकपदप्रमाणं गुणान्सर्वान्समयाभि तन्वनिवकाष्टुपरदिवा-
न्दरोमीत्यर्थः ।

अर्थ—हे मुनिवण ! तुम्हारे साथ मेरा दीर्घ काळतक सहवास हुआ है इसलिये मैंने भयत्वसे, स्नेहसे, द्वेषसे
आपको कटु और कठोर वाक्य कहे दोगे इसलिये आप सर्व मेरे ऊपर खयालेंगे ऐसी आशा है, मेरे कटु कठोर
भाषणसे आपके मनमें कष्टप्रभाव उत्पन्न हुआ होगा वो उसको त्याग कर मेरे लपराय की आप धया करते-

गणेश संपादनकमसाकेटे—

वैदिय गिमुद्धिय पडिदो तावार् सन्वदच्छलं तादिं ॥

धम्मयारियं गिययं स्वामेदि गणो वि तिविहेण ॥ २७८ ॥

प्रणम्य पणितः संघञ्जातारं वरसलं यतिम् ॥

धर्माचार्यं विजं सर्वं सम्पण् क्षमयति त्रिपार ॥ २७८ ॥

इति क्षमणासूत्रम् ।

पिडयोवदा—वदिय गिमुद्धिय पडिदो अभिवंण संकुचितपठितः । तावार् संसादः काजातारं । सवययच्छलं
सर्वेषां वात्सलं । तादिं पादि । धम्मयारियं वराधिपे उसमसमादिक् पमै सय श्रवसे अन्येषां प्रवर्तकं । गिययं
भारभीर्यं । एयमेदि गणो वि तिविहेण कमां प्राहवति गणकिरियिसेन । रामायणा समसा ॥

तणेन कार्यमाणस्य क्रममाह—

मूलारा—वैदिय गिमुद्धिय पडिदो वेदित्वा संकुचितपठितः प्रणम्य भूतलन्यत्सर्पचांगोभूत इत्यर्थः । तावार्
संसारदुःखाद्रक्षकं । तादिं अदि । गिययं विजं ॥ क्षमणा सूत्रतः ॥ १३ ॥ लेकतः ३ ॥

गणने भी आचार्य क्षमाके अनंतर कोनसा विधि करना चाहिये उसका वर्णन—

अर्थ—वंदना करके भूतलपर गंचागोंका जिन्दोने स्थापन किया है अथवा प्रथम वंदना करके अनंतर
पंचांग नमस्कार जिन्दोने किया है ऐसे वे गणके सर्व मुनिजन संसारदुःखसे रक्षण करनेवाले, सर्वके ऊपर प्रेम

रत्ननेत्रालो, उत्तमश्रमादिक दम्भ प्रकारके धर्ममें स्वयं प्रवृत्त होकर गणको प्रवृत्त करनेवाले ऐसे अपने पूर्वोपायोंको मन वचन क्रायसे धृमा मारते हैं, क्षमणा प्रकरण समाप्त हुआ।

अनुशासननिरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

संवेगजिणियहासो सुत्तयविसारदो सुदरहस्सो ॥

आदट्ठचित्तओ वि हु चित्तेवि गणं जिणाणाए ॥ २७९ ॥

स सूअररहस्सजः स्यार्यनिष्ठोऽपि यस्सजः ॥

संविम्रश्चित्तयत्तयेवं गणं घीरो जिनाज्जया ॥ २७९ ॥

पिअयोवपा—संवेगजिणिदहासो संसारभीक्ष्णतया करणभूतया उत्पादितहासः । परिमेहेऽस्मिन्त्यक्के अन्यंत-
रादस्य रागादयः निमित्तापायादपर्याति । तदपगमाच्चमूलस्थितौति कर्मणि मलयमुपवर्जति । तेषु नेष्टेयव चतुर्गतिभ्रमणं
नक्ष्यति इति पिजितहर्षः । सुतथापिस्सार्दो सुदे जितवर्णाते तदर्थं च विसारदो तिगुणः । सुदरहस्सो भुतप्रायश्चित्तप्रथः ।
आदट्ठचित्त-ने वि हु वात्तमप्रयोजनचित्तापरोऽपि । चित्तेदि गणं जिणाणाए चित्तानामाहवा गणचित्तां करोति ।

अथ परगणं प्रस्थादुमुपेतं गुरुणा गणस्य संपाचमनुशासनं गाथानामेकोपरस्सतेन निरूपयति तत्र तावदुप-
क्रममाह—

मूलारा—संवेगजिणिदहासो संसारभीक्ष्णतया करणभूतयोत्पादितो हासो हर्षो वेत्त । अस्मिन्वाक्कापरिप्रेदे त्यक्ते
निमित्तापायावर्तरा रागादयोऽपगच्छन्ति, तदपगमाच्चमूलस्थितौति कर्मणि नक्ष्यन्ति, तेषु च नेष्टेयव चतुर्गति-
भ्रमणं नक्ष्यतीति संज्ञातप्रमोद इत्यर्थः सुदरहस्सो भुतप्रायश्चित्तप्रथः । चित्तेदि इति कर्तव्यतानिरूपणेन अनुशुद्धाति ॥

उपदेशका निरूपण करनेके लिये उत्तरप्रबंध—

अर्थ—समारमे भयशुक्त होकर परिग्रहविषयक हर्षका चिन्धेने त्याग किया है. चिन्धने कहे हुये
धर्ममें अर्थात् आगममें और जीमादिक पदार्थोंमें चिन्धेने निष्पुणता प्राप्त कर ली है अर्थात् जिनार्थों और जीवा-
दिरूपदार्थोंका जो ज्ञाता है, प्राचक्षित ग्रंथका चिन्धेने भ्रमण किया है. ऐसे आचार्य आत्मदित्तकी चिन्तामें तत्पर
होते हों भी जिनाजाकी अनुसार चतुर्विध मंपकी चिन्ता करते हैं. ये आचार्य संसारसे भयशुक्त होकर परिग्रहोंक

त्याग करते हैं। परिग्रहोंका त्याग होनेसे रागादिक विकार दूर होते हैं। कारण निमित्त नष्ट होनेसे उससे कार्य भी नष्ट होता है। रागादिधोंका नाश होनेपर उनसे चिन्तका स्थितिविषय आत्मासे होता है ऐसे कर्म भी नष्ट होते हैं। कर्मोंका अभाव होनेपर चार गतिओमें जीवका भ्रमण होना बंद पड़ता है। इसलिये संयोगयुक्त आचार्य परिग्रहविषयक हर्षका त्याग करते हैं।

शिवमहुरगंभीरं ग्राहुगपल्हादणिज्जपत्थं च ॥

अणुसिद्धिं देहं तर्हि गणाहिबहूणो गणत्स वि य ॥ २८० ॥

गंभीरां मधुरां स्मिग्धां आत्माभानंददयिनीं ॥

अनुसिद्धिं ददात्येवं स गणस्य गणेशिनः ॥ २८० ॥

विजयोक्त्वा—निर्देहनेहसहितां । महुरं मायुर्यस्वमभितां । गभीरं सारायंयस्य गृहीतगंभीर्यं । ग्राहुगं प्रादिकं सुखायचोषा । पल्हादणिज्जपत्थं च । केत प्ररहादिपायिनी । पत्थं पत्थो हितो । अणुसिद्धिं देहं अनुसिद्धिं ददाति । तर्हि तस्मिन्पूयंके देहो फाले ॥ । गणाहिबहूणो गणत्स वि य गणाधिपत्ये गणाय च ॥

कीदृशीमनुशिद्धिं कर्तुं स ददाति इत्यत्राह—

मूलात्—शिवमहुरगंभीरं स्नेहलां, कोटुद्वयमियां, सारायंयस्य अस्पृष्टतां च । ग्राहुग प्रादिको हृदित्यर्थ-निश्चायनसमया । प्राक्षामित्यन्ये पठन्ति । पल्हादणिज्ज पानंदकरी । ग्रावं मागंयुगमिनीं ॥ तर्हि तस्मिन्पूयंके सोम्य-तिथ्यादियुक्तकाले क्षुभप्रदे च ॥

अर्थ—आचार्य गणस्यास फलनेके पूर्व चालाचार्य और गणको जो उपदेश करते हैं उसका ग्रंथकार इस भाषासे वर्णन करनेका प्रारंभ करते हैं—आचार्यका उपदेश, स्नेहसहित, मधुरतामें भरा हुआ, सारायुक्त अर्थमें भरा हुआ और गंभीर रहता है। उसका अभिप्राय सुखसे जाना जाता है, वह मनकी अनर्पित करनेवाला और हितकर होता है, आचार्य उचम तिथि नक्षत्रादि समकर्म और उत्तम स्थानमें गण और चालाचार्य को अमंत्रण देकर आगे कदा हुआ उपदेश देते हैं।

बद्धतओ विहारो दंसणणात्तरणेषु कायव्वो ॥

कप्पाकप्पठिदाणं सव्वेसिमणागदे मग्गे ॥ २८३ ॥

रत्तनत्तये विघातन्नयं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्पाकल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥ २८१ ॥

पितृयोदया—वर्द्धमानो विहारो कायव्वो वर्द्धमानविहारः कार्यः । क ? सव्वेसि कप्पाकप्पठियाणं अजागदे माने सर्वेषां प्रवृत्तिनिवृत्तिस्थितानां मुक्तिमार्गे । प्रमत्तसंयताविगुणस्थानपेक्षया विविचो यतिधर्मः । दंसणत्तसामाप्पि-
कादिपिकरत्तेन प्रवृत्तिधर्मोपि विचित्ररूपः । तस्य सफलस्योपादानं सर्वेणमित्यनेन । कोऽसौ मार्ग इत्याशंकायामाह—
सामान्येन दंसणणात्तरणेसु सम्मथशेनज्ञानधारिषेसु चतुर्विंशत्यगणेषुसोनायमुपदेशः ।

चतुर्विंशत्यगणमुद्दिश्योक्तेसमाह—

मूळारात्त—विहारो अनुष्ठानं । कप्पाकप्पठिदाणं योग्याबोध्यवस्तुप्रवृत्तिनिवृत्तिनिष्ठितानां । दुब्भाकं शुब्भाभिः कर्तव्य-
इत्यर्थः । अजागदे मग्गे आगमिमि रत्तनत्तये मार्गे इति समान्यस्य पक्षेनेत्यादिता विशेषितत्वात् ॥ तथा बोध्य—

रत्तनत्तये विघातन्नयं वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ॥

कल्प/कल्पप्रवृत्तानां सर्वेषामागमिष्यति ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गमें रहनेवाले दुनि और गृहस्थोंके आगमि रत्तनत्तये मार्गमें हे मुनिगण !
आप उत्तरोत्तर दृढिगत होने वाली प्रवृत्ति करो, तथा दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, और चारित्राराधनामें दृढिगत होनेवाली प्रवृत्ति करो ।

प्रमत्त संपत्त, अग्रमत्त संपत्तादि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे यतिधर्मके भी अनेक प्रकार होते हैं, और दर्शन, ब्रत, सामांपिक वगैरह निकल्पसे गृहस्थका प्रवृत्तिधर्म भी अनेक प्रकारका है, गार्थमें 'सव्वेसि' ऐसा पद है इससे प्रवृत्ति निवृत्त्यात्मक और निकल्पसहित गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका संग्रह होता है—

१ वर्द्धमानो इत्यत्र आरम्भ स्थितानां ध्यानत्वत्पर्वता वाक्यवर्णिकः कपुस्तके नास्ति ।

संखित्वा वि ॥ पवहे जह वचह वित्थरेण वहुंती ॥
उदधिं तेण वरणदी तह गुणसीलेहिं वहुाहि ॥ २८२ ॥

संक्षिप्तेहादितोऽम्भोर्वि गच्छन्तीच महानवी ॥

विस्तरन्ती विघातव्या गुणशीलप्रवर्तना ॥ २८२ ॥

विजयोदया—संखित्वा वि य पवहे संक्षिप्तवि च प्रवहे प्रवहत्यस्मादिति प्रवाहः उत्पत्तिस्थानं तत्र संक्षि-
प्तापि सती वरवदी । जह वचह यथा व्रजति । वित्थरेण वधुलसया । वहुंती वर्धमाना । उदधितेण यावत्समुद्रं । तह गुणसी-
लेहिं वहुाहि तथा सीलगुणैः सद्ये पश्येत्स्व ।

गणाधिपमनुशाकिं दुद्रादशगायाः कथयति—

मूलागा—संखित्वा वि य कृशापि । पवहे प्रवहणारंभे वज्रादि प्रवति । उदाहि वेण । समुद्रं यावत् । वहुाहि
वर्धयस्व त्वं भो गणाधिपते ! ॥

पालाचार्यको आचार्यका उपदेश—

अर्थ—उत्कृष्ट मदी जहसि उत्पन्न होती है वहां छोटी रहती है परंतु वह आगे गमन करते करते विस्तृत
शेकर समुद्रको प्राप्त होती है. धैर्य है पालाचार्य ! आप भी भारंभमें अल्प प्रमाणसे शील, द्रव, धारण कर उचरोचर
शील और गुणोंसे बढनेका प्रयत्न करो.

मज्जारसिदसरितोवमं तुमं मा हु काहिसि विहारं ॥

मा णसेहिसि दोष्णि वि अप्पाणं चेव गच्छं च ॥ २८३ ॥

मा स्य कार्पीचिहारं त्वं मार्जाररसितोपमम् ॥

मा नीनशो यणं स्वं च कदाचन कथंचन ॥ २८३ ॥

विजयोदया—मज्जारसिदसरितोवमं मार्जारस्य रचितं रटनं मार्जाररसितं तेन सह सादृश्यं उपमा परि-

रुद्धो यस्य विदारस्य तन्माजोररसितसदृशोपमं विहारं चरणं । तुमं भवान् । मा ह्यु काक्षिषि मा कार्षीः । माजोरस्म
रसितं प्राञ्जलम् धमेणापनीयते तद्वद्वत्तज्जयभावनातिशयवती प्राक् क्रमेण मंदायमाना न कर्तव्येति यावत् । मा नास्ते-
द्विती दोगिण वि अत्ताणं वेद गच्छे च । आत्मनो गणस्या च मा धिनाशं कृथाः । प्रथमेवातिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां
प्रयुक्तो भवान् गणं च तथा प्रवर्त्यमानो नदत्यति ।

मूढारा—मन्जाररसिदसिस्तोषयं माजोररसितेन विञ्जलवासितेन सदृशी उपमा परिच्छेदो यस्य । यथा
माजोररसितं माह् महत्भूय क्रमेण होपमानं भवति, तथा रत्नप्रभाभावात्मन्यं संपद्यते माकार्षीरित्यर्थः (?) । मेल्यादि ।
प्रथमेण अतिदुर्धरचारित्रतपोभावनायां गणं प्रवर्त्यन् स्वयं प्रवृत्तः पश्चाद्भारया तत्र मंदायमानो मात्मानं गणं च नाश-
विष्यसि इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसे माजोरका शुद्ध प्रथम शदा और नंतर छोटा होता है वैसे प्रथम रत्नप्रभभावना अति
दृढयुक्त कर अनंतर उसमें उत्तरोत्तर मंद मंदता घाटण करना आपके लिये योग्य नहीं होगा। ऐसे आचरणसे
जापका, संयका और दोनोका भी नाश होगा। प्रथम ही अतिशय दुर्धर तप और चारित्र्यमें प्रवृत्ति कर गणका और
अपना भी नाश कर लेना योग्य नहीं है।

जो सघरं पि पलित्तं गेच्छदि विध्वविदुमलसदोसेण ॥

किहू सो सद्विद्व्वो परघरदाहं पसामेदुं ॥ २८४ ॥

विध्यापयति यो वेदभ नात्मयिमलसत्त्वतः

परयेदमशमे तत्र प्रतीतिः क्रियते कथम् ? ॥ २८४ ॥

विजयोद्या—जो सघरं पि यः स्वगृहं अपि । दहमानमावस्थाव चांछति विष्यापयितुं कथमसौ श्रद्धातल्यः
परकीर्यदुदाहं प्रसामयितुं उद्योगं करोतीति ।

मया स्वयं मंदायमानेन गणकरणे मंदायमानो रक्षित्यते इति च मा संस्थासुं यतः—

अर्थ—जो पुरुष अहमीपनो अपने जलते हुये घरमो शीत करनेका प्रयत्न नहीं करता है वह दूसरोंके जलने हुये घरमो शीत करनेका प्रयत्न करेगा यह कहना कैसा अद्भुतके लायक माना जायगा ?

नरसिद्धदेवैयं प्रगतिरन्यमित्यान्वेष्टे—

वज्रेहि चयणकण्यं सगपरपक्खे तद्वा विरोधं च ॥

वादं असमाहिकरं विसंगिगमूदे कसाए य ॥ २८५ ॥

मुंय उययनकल्लं एवं विरोधं स्वान्यपक्षयोः ॥

असमाधिकरं वादं कषायानप्रिसन्निरभान् ॥ २८६ ॥

विजयोदका—पण्डित पयणकण्यं वज्रं भतिचार्यकारं ज्ञानदर्शनचरित्रविरयं । अयत्तनाकाले असाध्याय-
काले वा पठने । श्वेतगुह्यं, श्वेतगुह्यं वा विना । निष्ठान्, प्रथमयोरनुष्ठितः, अगुह्यमानं श्रुतिविको ज्ञानसिद्ध्याः ।
नैकाश्रमिनिमित्तान्तरादिमनोवैतन्त्र्यः सन्त्यग्नौनातिचारः । समितिभयनापहितता चारिभ्रतिचारः । एते
उपलब्धनैरोप्यन्ते । सगपरपक्खे तद्वा विरोधं च धर्मस्थेषु, मिथ्याचारेषु च विरोधं यजेतेत् । अतः समाधानविनाश-
कारणं यावत्तु यजन्तीया । पात्रे अगुह्यो यथात्मनो ज्ञयः पराजया परस्य वा भवति तदेयान्येयते न तस्य समाधानयान् ।
विमतिगमूदे कसाये य । कषाया हि कोषादयः स्वस्य परस्य च मूलं उपलभ्यति इति विप्रभूताः, इदं वदन्तीति बह-
मनास्तां यजन्तः ।

तथा चोक्तं—भित्तोकमदाः कुलगीलदानयो ॥

मसति दुर्गन्धमामि चापि ते ॥

यदीदृशं तानिकरास्तपसिनाम् ॥

भवति दीर्घान्यकस्य हि वैदित्यम् ॥ १ ॥

न केवलं ते परलोकोपनिषत्, इमं च लोकं यदावन्ति श्रुणाः ॥

न धर्मान्तरस्य च विमोक्षयोः, धनस्य कामस्य च ते विधातकाः ॥ २ ॥

गुह्यारा—धनगच्छं न्ययनकल्लं सन्त्यग्नौनातिचार्यकारमिल्यते । सगपरपक्खे धर्मस्थेषु सिध्यादृष्टिषु च
अगमादिहरं यैः समाधानजननं । विमतिगमूदे कसाये य वाये हि प्रभूतो यथात्मनो ज्ञयः परस्य च मूलं
नान्येयते न नरस्तमागन् । विमतिगमूदे स्वस्य परस्य च मूलमुपलभ्यतीति विप्रभूत्यान्, इदं वदन्तीति बह-
मनाः ।

इसलिये बालाचार्यकी प्रवृत्ति कैसी होनी चाहिये इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—हे बालाचार्य ! ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यसंघी अतिचारोंका त्याग करो- वाचना काल और स्वा-
स्यापकातको छोड़कर अन्य काल में पठन करना, अथवा स्वाध्याय करते समय क्षेत्रज्ञादि, कालशुद्धि और भाव
शुद्धि के बिना स्वाध्याय करना, ग्रंथको और पढ़नेवाले गुरुको छिपाना, ग्रंथ अशुद्ध पढ़ना तथा अर्थका विवेचन
अन्यथा करना, ज्ञान और ज्ञानवानोंका आदर न करना ये सम्यग्ज्ञानके अविचार हैं.

शुंका, फौधा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिमंशता और संस्तव ये सम्यग्दर्शनके अविचार हैं (इनका खुलासा
दर्शनविनयके प्रकरणमें आया है.) समितीकी भावनाओंका अभाव होना यह चारित्र्याविचार है. इन सब अति-
चारोंको न्यवनकल्प कहते हैं. इनका तुम त्याग करो. स्वकपल-जैनधर्मस्थ युनिगण और परपक्ष मिथ्यादृष्टिजन
इनमें विरोध भावका त्याग करो. मनके समाधानका नाश करनेवाले वादका भी त्याग करो. वादोंमें प्रवृत्त हुआ
गुरु अपना जय जिस उपाय से होया और अन्यका पतनय जिससे होया उसीको हूँदगा है. परन्तु वस्तुके
सत्यस्वरूपको बतलाकर समाधान करना नहीं चाहता है. हे बालाचार्य ! आप विप और अग्निके समान ऐसे
प्रोधादिकपाओंका त्याग करो. ये कपाय अपनेको और दूसरोंको मारते हैं इसलिए इनको विपसमान कहते हैं.
अग्निके समान हृदय को जलाते हैं अतः इनको अग्नि कहते हैं. कपायके विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

ये कपाय त्रैलोक्यमें मछलके समान हैं, कुल और क्षीलके शत्रु हैं. जिसको आत्मासे बड़े कष्टसे दूर कर
सकते हैं ऐसे मलस्वरूप हैं. ये कपाय तपस्विओंका यश नष्ट करते हैं और तपका घात करते हैं. इन कपायोंसे प्राणि-
ओंको दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है.

इस कपायशत्रुसे परलोकका ही नाश होना होता है ऐसा मत समझो. ये मर्यकर कपाय इह लोकका भी
नाश करते हैं. केवल ये कपाय धर्मभाव का ही घात कर रह जाते हैं ऐसा नहीं, इनसे काम और अर्थका भी
नाश होना है.

णाणम्मि दंसणम्मि य चरणम्मि य तीसु समयसारसु ॥

ण चाएदि जो-ठवेहुं गणमप्याणं गणधरो सो ॥ २८६ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्मिण्यु ॥
निघातुं गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ॥ २८६ ॥

चित्रयोदया—गणमि य । रत्नज्ये गणमात्मानं च यो न स्थापयितुं समर्थो नैवासौ गणघटा । अ चाण्डि न समर्थः । यद्यपि मम यदावर्तिनः सन्ति पञ्चावता भवतो गणितान्वर्तो ग्राभूदिति भावः ।

मूढारा—चाण्डि शम्भोति ।

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र्यमें जो अपनेको और गणको स्थापन करनेमें असमर्थ हैं यह मूढ गणघर पदके योग्य नहीं है, बहुत दुनि मेरे वश है इस लिये मैं गणघर हूं आचार्य हूं ऐसा गर्व तुम्हारे मनमें कभी भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये-

कीरकहिं गणघर्यो भवतीति धेवैकभूत इत्याद्ये—

गणमि द्वंद्वगणमि य चरणमि य तीसु समयसारेषु ॥

चाण्डि जो ठवेतुं गणमपणं गणघरो सो ॥ २८७ ॥

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु यस्मिण्यु ॥

निघातुं गणमात्मानं सक्तोऽसौ गदितो गणी ॥ २८७ ॥

चित्रयोदया—रत्नज्ये गण ॥

मूढारा—स्वयम् ॥

अर्थ—सिद्धांतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें जो अपने को और गणको स्थापन करनेमें समर्थ हैं यही गणघर हो सकता है-

पिंडं उद्योहं सेवजं अत्रिसोहिय जो हु मुंजमाणो हु ॥

मुलद्वारं पत्तो मूलोत्ति य समणपेछो सो ॥ २८८ ॥

पिंडं उवाहिं सेज्जं उग्गमउप्पादणेसणादीहिं ॥

चारिस्सरक्खण्डं सोधिंतो होदि सुचरित्तो ॥ २८९ ॥

यः पिंडमुपधिं सख्यां दूयणैरुद्गमरादिभिः ॥

गृह्णीते रहितां योगी संयतः स निगद्यते ॥ २८८ ॥

विजयोक्त्वा—पिंडं आहारं, उवाहिं उपकरणं, सेज्जं वसतिं । सोधिंतो शोधयन् । उग्गमउप्पादणेसणादीहिं उग्गमोत्पत्तौपणादिभिर्दोषैः । किमयं शोधयति ? चारिस्सरसणार्थं उद्गमविदोषं परिहरति । सुलंयत इति लोके यशो मे भविष्यतीति वा, स्वसमयप्रकाशनेन लाभो मेभ्यश्चे भवतीति वा चेत्तद्वक्तुमेति भावः । एवंभूतं सुचरित्तो मयकीति यतिः ॥

गूलारा—उपधिं विच्छाद्युपकरणं । सोधिंतो शोधयन् । उद्गमविदोषपरिहाराः कुर्वन् ।

अर्थ—आहार, पिंडी, फर्मादहु वीरं उपकरण और वसत्रिका इनका शोधन किए बिना न करताहुआ जो मुनि इनका ग्रहण करता है वह मूलस्थान नामक दोष को प्राप्त होता है. अर्थात् वह मुनिपदसे अप्र होता है. परंतु जो आहार, उपकरण और वसत्रिकाको उद्गम, उत्पन्न और एषणादि दोषसे रहित जानकर चारित्रशुद्धि के लिये ग्रहण करता है वह सुचारित्र माना जाता है.

एसा गणधरमेरा आचारत्थाण वणिगया सुत्ते ॥

लोगसुहाणुादाणं अप्पच्छंदो जहिच्छाए ॥ २९० ॥

समये गणिमर्यादा तेषामाचारधारिणाम् ॥

स्वच्छंदेन प्रवर्तते लोकसौख्यानसुरिणा ॥ २८९ ॥

विजयोक्त्वा—एसा गणधरमेरा एसा गणधरमर्यादा । सुत्ते वणिक्ता सूत्रे निकषिता । केपां ? आचारत्थाणं आचारस्थानं । गंचिमे आचारे ये स्थित्वैस्तेषां गणिनां व्यवस्था सूत्रं वर्णिता । लोगसुहाणुदाणं लोकानुवर्तिनां सुखे प्राप्तं न यच्छेद्यम् । अस्तंयतजनवेमणां सुगमरत्नं शाले निषिद्धः तत्र ये वन्तेते स्वच्छंदा तेषां अप्पच्छंदो आत्मच्छंदा एव केपदा न तेषां गणधरमर्यादां सूत्रे व्यवर्जिता । अथवा लोकसुखं नाम सुहाहारमोज्जं, यथाकामं सुदुःखव्यासने, मनोज्ञे वेदमति धर्मने च तत्र एतेषां विषयानुदाणादित्यर्थः ।

मूलात् - गणपरत्वेण आचार्यभार्यादा गणित्यवस्था इत्यर्थः । आचार्याणं आचार्यतां गणिनामित्यर्थः । लोगमुहापुरदानं लोकानुवर्तिनां मुतेयतां च । अथवा लोकमुलं नाम मृदादारभोजनं, यथाकार्यं मृदुतावभासबं, सर्वत्रैरग्ये वेदमति वलनं च तत्र सक्तानां । लोगमुदीणिरदानं लोकभुविर्विनाशिकाणं । जणच्छंदो आत्मच्छैव केवला न सुवोका गणपरत्वर्यात् । जहेच्छाप यजेच्छया लोकमुसाबुलानामित्यनेन संनयः ।

अर्थः—यह अच्छा संयत मुनि है ऐसा मेरा जगतमें गण फेले अथवा अपने मतका प्रकाशन कानसे मेरेको लाय होगा ऐसे भाव मनमें धारण न करके केवल चात्रि रक्षणावै ही निर्दोष आहारादिकोको जो ग्रहण करता है यही सचरित्र मुनि समझना चाहिये.

ज्ञानाचारादिक पाँच प्रकारके आचारोंमें जो स्थिर रहे हैं, अर्थात् पाँच आचारोंका जो निर्दोष पालन करते हैं, उन आचार्योंकी विनागममें उपर्युक्त मर्यादा कही है, परंतु जो लोकोंका अनुसरण करते हैं, और सुखकी इच्छा करते हैं उनका आचरण कुछ मर्यादास्वरूप माना नहीं जाता है. ब्राह्मण असंयमीलोकोंके साथ संसर्ग और सुखमें आदर करना ये बातें मुनिओंके लिये निषिद्ध मानी हैं. परंतु इनमें जो अनुरक्त हैं वे स्वेच्छासे प्रवर्तते हैं. ऐसा समझना चाहिये. उनकी गणधरमर्यादा द्वामें उल्लिखित नहीं है. अथवा लोकसुखका अर्थ यह भी होता है—यथेच्छ मिष्टाहारका भोजन करना, सुशुभ्रवस्त्र सोना, सुंदर परमं निवास करना, ऐसे कर्ममें रत होना इसको लोकसुख कहते हैं. जो विपयान्त मुनि हैं वे आचार्यत्वके योग्य नहीं हैं.

सीदायेइ विहारं सुहसीलगुणेहि जो अधुदीओ ॥

सो ण्वारि लिंगधारी संजमसारेण गिरसारे ॥ २९१ ॥

यः शिष्यानिवावतान् बोपाणामाश्रयाय दुष्टरलि तथा विनिबुद्धि सूप-
तिरहितं हारं सुममुञ्जितः ॥ १

हीनः संयमसारेण लिंगधारी स केवलम् ॥ २९० ॥

विजयोदया—सीदायेव मंदं करोति । विहारं चारित्रं स्वयमे प्रयुसि । सुहसीलगुणेहि सुतसमाधानाश्रयसि ।

जो अगुन्दीओ यो बुद्धिरहित । सो णवरि लिंगधारी स नृगार्हणी भवति, द्रव्यादींश्च धारयति । संजमसारेण निस्सारो सयमाख्येन शब्देनमाणस्यमधिकप्लेयेन सारेण नि सार । एतदुक्तं भवति—

उद्गमादिदोषदुष्टापेदादिमाहिणः संयमवैधुर्योल्लिङ्गधारणवैयर्थ्यं कथयति—

मूलाया—सीदोवेदि ि विरचन्ति । भवति लिङ्गधारी नृगार्हणी न यतिर्न गणधर इति गायः । निस्सारो दरिद्र ॥
भ्यासीः । अशुद्धिगो बुद्धिरहित ।

अप—येथेष्ट आदरादि सुखोक्तं तद्धीन होकर जो अशुद्धि मुनि रत्नत्रयमें अपनी प्रवृत्ति स्थित करता है वह द्रव्यालिंगधारी मुनि है ऐसा समझना चाहिये इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमसे वह निःसार है, इसका अभिप्राय यह है—

पिडं उवधिं सेंजामीविसोधिं यो सु सुंजमाणो तु ॥

मूलद्वानं पत्तो धालोस्धिं णो संमणवाल्लो ॥ २९२ ॥

विशयोक्त्या—य उद्गमादिदोषोपहतमाहारं, उपकरणं, वसतिं वा दृष्ट्वाति तस्य भौन्द्रियसंयम, नैव प्राणसंयम, ततोऽस्ती केचले नम्र । न यतिर्न गणधर इति निगद्यते ।

अर्ह—उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसति का इनका जो साधु ग्रहण करता है जिसको प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम है ही नहीं वह साधु मूलस्थानको प्राप्त होता है वह अशानी है, वह केवल नम्र है, वह यदि भी नहीं है और न गणधर ही है

मुल्लगामणयरज्जं पयहिय तेसु कुणइ दु मभन्ति जो ॥

सो णवरि लिङ्गधारी संजमसारेण निस्सारो ॥ २९३ ॥

ममत्वं कुरुते हित्वा यो राजयं नगरं कुलम् ॥

तस्य संयमहीनस्य केवलं लिङ्गधारणम् ॥ २९४ ॥

विजयोद्या—कुलनामधररत्नं कुलं, ग्रामं, वनं, च । पथद्वि पथित्वम् । तेषु कुण्डलि ममति जो ग्रामादिषु पुनः या करोति ममतां । गदीयं कुलं, बसदीयो ग्रामः, नगदं, राजवं चेति सोऽपि केवलं नमः । यो हि यम ममतां करोति तस्य यदि दोषं ज्ञातं तुष्यति अन्यथा वेष्टि, संक्षिप्तवति वा । ततो रागद्वेषोलम्बे च वर्तमानः असंयतो भवतीति भावः ।

मुलादिमकारकारिणोऽपि—

मुलारा—पञ्चाद्वि (वक्त्वा) । यो हि ॥४॥ ममतां करोति तस्य दोषं ज्ञाते तुष्यति अन्यथा वेष्टि, संक्षिप्तवति वा । रागादिमानसंयते व्यादरयतां कथं संशयः स्वानि वि भावः ।

अर्थ—जो मुनि कुल, गाँव, नगर और राज्यको छोड़कर उनमें पुनः जग करता है अर्थात् यह मेरा कुल है, यह मेरा ग्राम है, यह मेरा शहर है, मेरा राज्य है ऐसा संकल्प रखता है, वह फक्त नम है, संयमसे रहित है, जो जिस पदार्थमें ममता करता है वह उसका शुभ होनेसे हर्षित होता है और अनुभ होनेसे द्वेष करता है अथवा संक्षेप परिणाम करता है, इसलिये जो रागभाव, द्वेषभाव और लालमें लीन होता है वह असंयत होता है ऐसा समझना चाहिये.

अपरिस्सावी सम्मं समपासी होहि संवकजेषु ॥

संरक्त्व सचक्खुं य सवाल्लवङ्गाउलं गच्छं ॥ २९४ ॥

त्वं कार्यं पवपरिस्सावी समवद्वर्षविलेप्पवपि ॥

भूत्या विद्यानतो रक्ख वाल्लवङ्गुलं गणम् ॥ २९५ ॥

पिअयोद्या—अपरिस्सावी शूरपमिति दोषां विहाय निगृहीतानामपराधाणां श्रद्धां मा कृथाः । समपासी चेष्ट होदि कजेसु कार्येषु सम्यक् समदृश्येय च भव । खरपस सचक्खुं य परिपालय स्वं नेनं इव । किं सवाल्लवङ्गाउलं गच्छं तयादीर्घदेसकीर्णं नर्ण ।

एवं संयमद्वैयित्ये दोषानुद्धान्य गणितं गणरत्नायां नियुक्ते—

मुलारा—अपरिस्सावी बालोचितदोषाग्रकाशको भव । समपासी सनदर्शी । सचक्खुं निजनेत्रभिव सवाल्लवङ्गाउलं बालसहितैर्घृतेरसकीर्णम् ।

अर्थ—हे बालाचार्य ! यह गुरु अपरिसाधी है ऐसा समझकर शकाको छोड़ कर यदि किन्हीं अपने अपराध तुमको करे तो उनको तुम प्रगट मत करो- सब कार्योंमें समानदर्शी तुम होवो। और अपने नेत्रके समान बाल और वृद्धोसहित सर्व गणका रक्षण करो।

निधिविविहूणं खेपं निवदो वा जतथ दुट्ठओ होज्ज ॥

पव्वज्जा च ण लब्भदि संजमघादो च तं वज्जो ॥ २९५ ॥

प्रवज्जय संयमच्चंसि वृराजमंपराजकम् ॥

न क्षेप्रमात्मनीनेन सेवनीयं कदाचन ॥ २९६ ॥

विलयोद्या—वृणितार्थो यस्मिन्दुष्टो भवेत्तद्य क्षेत्रे पतित्यज्ज । पव्वज्जा च ण लब्भदि जतथ प्रवज्जया च न लभ्यते यत्र क्षेत्रे । शिष्या न जायते तथ । संजमघादो च जतथ संयमस्य चोपघातो यत्र क्षेत्रे तं वज्जो तत् लजेति । गणितिक्षा ॥ गणितिक्षया ।

साधूनामसेव्यं क्षेत्रमनुशासि ।

मूलार—पव्वज्जा च ण लब्भदि । प्रज्जया वा न लभ्यते । यन शिष्या न जायते तस्य क्षेत्रे त्यज । अन्ये तु न लभ्यते दातुं महीतुं वेति न्यायान्ति ॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें राजा नहीं है अथवा दुष्ट राजा है उस क्षेत्रका तुम त्याग करो- जहाँ प्रवज्जया नहीं है अर्थात् शिष्य नहीं होंगे अथवा जहाँ संयमका घात होगा उस क्षेत्रका तुम त्याग करो- गणितिक्षा अर्थात् आचार्यको लिममें उपदेश दिया है ऐसा गणितिक्षा नामक प्रकारण समाप्त हुआ।

गर्भं शिक्षयत्युत्तमप्रेम—

कुण्ह अपमादमावासाएसु' संजमतवोवघाणेसु ॥

गिस्सारे माणुस्से दुट्ठहवोहिं वियणिन्त्वा ॥ २९७ ॥

भावदयके कथा जाता प्रमादं (वृत्त) वर्षके ॥
विज्ञाय दुर्लभां चोधि निःसारं मानुषे भवे ॥ २९४ ॥

विजयोदया—कुण्ड वयमारमासगणेषु कुरुतामदमावश्यकेषु । संजमतचोवधणेषु संयमस्य, तपसव्याग्र-
येषु । शय्यदितः संयम इति पूर्वनिर्गतः । संयमे विना न तपः शक्योति कर्तुं मुक्तिमिति सामायिकादौ प्रवर्तमानस्य संयमो
मर्चति । असंगमे सज्जतीति, सावधकियान्तिवृत्तौ सत्त्वां कर्माणि तपसीति तपो भवति । नान्यथेति तपसोऽप्याश्रयः ।
विष्ण्वारं मानुसे साररहिते मानुष्ये अनित्यतया अनुचितया मनुजानां असारं । तत्र दुर्लभां चोधि दुर्लभां दीक्षाभिमुखां
मुदि । विज्ञापित्वा प्राप्त्वा ।

इतो गर्लं निक्षयति—

मूढारा—कुण्ड यूरं भो यतयः । अपमादं अवधानं । उबहणं उपधानं अवग्रहविशेषः । निस्तारं
अनित्यतया अनुचितया वा साररहिते । दुष्टमवोधि दुर्लभां दीक्षाभिमुखां मुदिप ।

अर्थ—हे मुनि गण ! तुम सामायिकादि छह आवश्यकोंमें प्रमादका त्याग करो क्योंकि आवश्यकिया
संयम और तपका आश्रयस्थान है. संयम और तप इन दोनोंमेंसे संयमको श्रेष्ठपना है इस लिये ग्राथामें संयम
दृष्ट प्रथम और तप शृष्ट अर्नंतर है. संयमके विना फल तप मुक्तिदायक नहीं है. तप मुनि सामायिकादि
आपश्यकोंमें प्रवृत्त होता है तप उसको संयम प्राप्त होता है और असंयम का त्याग होता है. सावधकियाका
त्याग होने पर तप कर्मोंको संतप्त करता है तभी उसकी तप यह संज्ञा प्राप्त होती है. अन्यथा नहीं. अतः आवश्यक
क्रिया तपका नी आश्रय स्थान है. यह मनुजजन्य साररहित, अनित्य, अपवित्र है. ऐसे मनुष्यजन्ममें दीक्षा
ग्रहण करनेके प्रति मुदि होता दुर्लभ है ऐसा जानकर पडावश्यकोंमें प्रमाद कभी भी हुम मत करो.

समिदा पंचसु समिदीसु सच्चवा लिणधयणमणुगदमदीया ॥

तिहिं गारवेहिं रहिदा होह तिगुचा य दंडेसु ॥ २९७ ॥

संज्ञागौरवरौद्रार्नध्यानकोपादिवर्जिताः ॥

समिताः पंचभिर्गुणास्त्रिभिर्भवन सर्वदा ॥ २९५ ॥

विजयोदया—सम्यक्प्रवृत्तः होह भवत । पंचसु सान्निदीसु पंचसु समितियु । सव्वदा सर्वदा । जिणवयणम-
णुगदसदीना जिणवचनमनुगतबुद्धयः । तिहि गात्वेहि रहिया गात्वअसुरहिताः । तिगुत्ता य गुत्तिअयसमन्विताः भवत ।
क दंहेमु अशुभमनोधाकायिणु ।

मूळारा—समिदा सम्यक् प्रवृत्ताः । तिदिहेसु अशुभमनोधाकायन्यापासे ।

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम हमेशा पांच समितियोंमें बत्पर रहो । जिनेयवके वचन में अपनी बुद्धि लगाओ,
अर्थात् जिनवचनके विरुद्ध अपनी बुद्धिको मत दोडाओ। तीन गारवसे रहित होकर तीन गुत्तिके धारक बनो। अशु-
भ मन वचन और शरीरकी प्रवृत्तिका त्याग करो।

सण्णाल कसाए वि य अहं रुहं च परिहरह णिच्चं ॥
दुट्ठाणि इंदियाणि य जुत्ता सव्वप्पणा जिणह ॥ २९८ ॥

हूपीकवन्तिनो दुष्टान्वियपारण्यगामिनः ॥

जिनवाक्याकुक्षोनाशु बद्धो कुरुत यत्नतः ॥ २९९ ॥

विजयोदया—सण्णाओ संज्ञा आहापादिविषयाः । कसाए वि कयाबलवि । अहं रुहं च अहं रौद्रं च भवान् ।
परिहरत निराकुरुत । णिक्के नित्यं । दुट्ठाई इंदियाई दुष्टमींद्रियाणि ॥ जुत्ता युक्ता ज्ञानेन सपसा च । सव्वप्पणा जिणह
संधाफल्या इंद्रियसर्वं कुरुत ।

मूळारा—जुत्ता ज्ञानेन उपसा च समाहिताः । सव्वप्पणा सर्वात्मना, सर्वशक्त्या ।

अर्थ—हे मुनिगण ! आहारादि चारों-संज्ञाएँ, चार कयाय, अतिध्यान और रौद्रध्यान इनका हम सदा त्याग
करो। ज्ञान और तपसे हुए इन्द्रियोंको अपने पूर्ण सामर्थ्यसे जीतो।

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्भि लोयम्मिः॥
बिहरंति विगदसंगा गिराउला णाणचरणजुदा ॥ २९९ ॥

धन्यास्ते मानवा मन्ये ये लोके विपयाकुले ॥
विचरन्ति गतग्रन्थाश्चतुरग्रे निराकुलाः ॥ -९७ ॥

विजयोदया—पण्णा दु ते मनुस्सा धन्यस्ते मनुष्याः । के ? ते विपयाकुलस्मिं लोकास्मिं ये शब्दादिमिरा-
रुणिं जगति । विगदंमंगा निःसंगाः फचिदपि विपये स्पर्शान् । बिताडला निराकुलाः । भाणवरणजुदा खतिने चारिजेण
च गुणाः । मालचारिप्रयुतानां प्रशंसा तथावरजनसमर्थो गणस्व ।

मूडारा — निराडला निराकुलाः ।

अर्थ—स्पर्शादिक पांच इंद्रियविषयोसि भरे हुए इस जगत में ज्ञान और चारित्र्ये तत्पर होकर विपर्या
में अनामस्त रहकर निःसंग बनकर निर्व्याकुल होने हुए विहार करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं,

सुरसत्तया गुरूणं वेदियभत्ता य विणयजुत्ता य ॥

सज्जाए आउत्ता गुरुपवयणवच्छला होह ॥ ३०० ॥

विनीता गुरुश्रूपाकारिणश्चैत्यभक्तयः ॥

यत्सला भवत ध्याने स्वाध्यायोद्यतचेतसः ॥ २९८ ॥

विजयोदया—सुरसत्तया गुरूणं सम्यग्दर्शनमानचारिणः गूणैर्गुह्यतया गुरु इत्युच्यते आचार्योपाध्यायसायक ।
श्रुतिस्मृतिपरमपराधनुमनं य भवति । सुकरो गुरुणः पुण्यान्ने अनुमनं नाम । वेदियभत्ता य वेत्यानि जिनसिद्धप्रति-
दिधानि एधिमार्गभिर्माणि तेषु भक्ताः । यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकुटिद्वयानाददोषो रागश्च जायते । यदि नाम उपकारो-
ऽनुपकारो वा न तुल्यतया प्रतिकुलतया तदुत्तमकारस्योपकारस्य वा अनुसृत्ये निमित्ततास्ति तद्विजिनसिद्धयुग्माः अनेत-
प्रानदर्शनसम्बन्धीतरागत्यादयस्तत्र यस्मिं न संति, तथापि तद्वृणानुसारं संपादयन्ति यादृशतया च गुणानुसारं अनु-
सृता य विलयं भवति तन्निपापयति । ते च संवरजिर्दे महत्वी मेषादयतः । तस्माच्चैत्यभक्तियुगयोगिनीं कुरुत । विभय-
शास्त्रोक्तयाचनासाधनपक्षालयोत्थयनं शुतस्य शुतं प्रयच्छन्मन्त्र भक्तिर्न कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, चतुर्मानं कृत्वा, निद्रां
निपातय्य, अर्पणंजनतदुभयमुद्धि संपादयन् सादरमानं श्रुतमनं संपदं निर्देयं ॥ करोति । अन्यथा मानवरण-
स्य कारणं भवेत् ।

शंक्राकांक्षादिभिरासौ दर्शनखिनयः । —

स च प्रयत्नेन भवद्भिः संपादोऽप्यया शंकादिवरिणामा मिथ्यात्वमानयन्ति । दर्शनमोहनीयस्य चाक्षया भवन्ति । ततो मिथ्यादर्शननिमित्तकर्मयशादन्ततस्तत्सारपरिधमणं तु खमीरूपां भवतां ज्ञायते । रूपरसगंधस्पर्शशब्देषु मनोशान्तोद्बोधेषु समिधितेषु अन्तर्कालाभ्यासादगोऽशीतिश्च जायते । तथा कृपायाश्च चाक्षमाभ्यन्तरं च निमित्तमाश्रित्य प्राप्नुवन्ति । ते चोत्पद्यमानाश्चारित्र्यं विनाशयन्ति । कर्मोद्वाननिमित्तनियोपरमो हि चारित्र्यं । रागादयश्च कर्मोदाननिमित्तक्रियास्तथा अनुमनोवाक्याकियाश्च कर्मोदाननिमित्ताः । तथा पशुजीवनिर्वायथापरिहारमन्तरेण गमनं । मिथ्यात्वेऽसंगमे वा प्रवर्तकं यत्नं साक्षात्पारम्येण वा लोचयाक्षाकरणं । भोजनं, अज्यवैक्षिताप्रमाजितवाननिक्षेपी शरीरमलोत्सर्गो जीवपीडोद्वेरेताः कर्मपरिद्वन्द्वनिमित्ताः क्रियाः । आसां परिवर्जनं चारित्र्यविनयः । व्यावर्णिताशुभाकियापरिवर्जनं विना चारित्र्यं नाम किमार्जयतां तस्मादत्रोद्योगं कुर्यात् ॥ अमशानादितपोजनवैक्यसहजं तपोविनयः । स्त्रि संश्लेशे महानाश्रयो भवेत्तुल्य निर्जरा । उपचारविनयाद्विनीत इति पूज्यते दुष्टैरन्यथा अविनीत इति निघते । किं च उपचारविनयं मनोवाक्याविकल्पं यो न करोति, स गुरुस्मरसायजनाति, नाशुचित्तवृत्ति, नाशुगच्छति, नाजलिं करोति, न स्तौति, न विद्वति करोति, गुरोरेवम आसनमारोहति, याति गुरुरेतेषां, निदले, परुषं वदति, आत्मोशति च । स नीचैर्गौत्रं यज्जाति । तेन भयकचाकालादिगुणेषु गह्रितेषु, सारस्तेवममसृकपादिषु वा जायते । न च रत्ननयं गुरुभ्यो लभते । विनीतं हि शिक्षयन्ति गुरवा, प्रवर्गेन मानयन्ति च ततो विनयपरा भवत । आवर्तयेत् वीर्यं विनये च गुणं महातमवबुध्य स्वस्व्याप गच्छता ह्येह । शोभनं लभयन् स्वप्राध्यायः । जीपादितव्यपरिजानं, तदुपायभूतश्च ग्रंथः तस्मिन्स्वाभ्यासे आशुता आशुता भवत । मित्रां, दास्यं, मीढां, धालस्यं, लोफयानां च त्यक्त्या ॥ तथा चोक्तः—“ शिदि न पशु मण्येज्ज हासं देह विवरज्ज ॥ जोगं समपाधमस्तं जुंजे भणकसो सदा ॥ ” इति ॥ गुरुरन्ययनयच्छला ह्येह शुद्धयचनप्रसला भवत ॥

मूढारा — सुस्तसगा उपासकाः । गुरुणं आचार्योपाध्यायसर्वसाधनां ॥ आशुता आसत्ताः निद्रादिकं स्वसया भवत द्यूयं । उचंच—गिद ॥ बहु मण्येज्ज हासदेदं विवरज्ज ॥ जोगं समण यन्मस्त जुंजे भणकसो सदा ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन गुणोंसे जो बड़े बन चुके हैं उनको गुरु कहते हैं, अर्थात् आचार्य, उपाध्याय, और साधु ये तीन परमेशी गुरु बड़े जाते हैं, हे मुनिगण ! आप इन गुरुओंकी शुश्रूषा करो, लाभ कीर्ति, आदर इनकी अपेक्षा छोटकर हे मुनिगण आप शुश्रूषा करो, शुश्रूषासे गुणोंपर प्रेम होगी, गुणोंमें करनेमें सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, तथा गुरुओंकी शुश्रूषा करनेसे उनके रत्नत्रयके प्रति अपनी अनुमति है यह सिद्ध होता है अनुमतीसे परियमके विना ही पुण्यकी प्राप्ति होती है।

हे मुनिगण आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और रुमिम प्रतिभाओंपर गति करो, शत्रुओंकी अथवा

मित्रोंकी प्रतिमा या फोटो दीस पटनेपर देय और ग्रेम उत्पन्न होता है. यद्यपि उस फोटोने उपकार फार कुछ भी नहीं किया है परंतु यह अशुभ उपकार और भिन्न ठव उपकारका स्मरण होनेमें कारण है. जिनथर- और सिद्धोंके अंतर्धान, अंतर्दर्शन, सम्बन्धन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अहंत्वप्रतिमा और सिद्धप्रतिमामें नहीं हैं तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें ये कारण होती हैं. क्योंकि अहंत्व और सिद्धोंका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है. यह गुणस्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित संवर और पूर्वसे पंचे हुए कर्मोंकी महानिर्जरा होती है. इसलिये आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्यभक्ति आप दयेगा करो. हे मुनिपुंज ! आप पांच प्रकारका विनय नित्य करो. ' विलयं नयति कर्ममलं इति विनयः ' जो कर्ममलता नाश करता है ऐसे कर्तव्यको विनय कहते हैं. इस विनयके ज्ञानविनय, दर्शनविनय चारित्र्यविनय तपो विनय और उपचारविनय ऐसे पांच भेद हैं. क्षात्रमें वाचना और स्वाध्याय का जो काल कहा हुआ है उसी काल में धुतका अध्ययन करो, धुतज्ञानको पतानेवाले गुरुकी शक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण कर आदरसे पढ़ो, गुरु और शास्त्रको छिपाकर स्वयं मैने और मेरी पुढीसे सब धुतज्ञान धारण किया है ऐसा गंव मनमें धारण करना छोड़ दो. अर्थ मुक्ति, पर्यजनशुद्धि और उभयशुद्धिके साथ धुतज्ञानका अध्ययन करो. विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ धुतज्ञान कर्मोंका संवर और निर्जरा करता है. यदि विनय न होगा तो दोषसहित धुतज्ञान ज्ञानावरण कर्मका निमित्त होता है. शंका, कांक्षा, विचिक्रिता इत्यादि दोषोंको जो हटाना वह दर्शन विनय है. इसकी आप प्राप्ति करनेमें प्रयत्न करो. नहीं तो शंकादिक परिणाम मिथ्यात्वको उत्पन्न करेगी जिससे दर्शनमोहनीयके आसन्न आफर मिथ्यात्वी पनौगे. इस मिथ्या दर्शनके निमित्तसे पंथा हुआ कर्म दुःसभीक ऐसे तुमको अनंत कालतक संसारमें ब्रमयेगा.

एह और अनिष्ट ऐसे स्वर्ण रत्न, गंध, रूप और शब्दोंमें अनंतकालतक जीयका अभ्यास होनेसे उनमें राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं. कषाय भी पाद कारण और अम्यंतर कारणोंको पाकर उदयमें आ जाते हैं. उनके उदयसे चारित्र्यका पात होता है. कर्मका जिनहोसे ग्रहण होता है ऐसी मानसिक, प्रायिक और वाचनिक क्रियाओंका अभाव होनेसे चारित्र्य उत्पन्न होता है. राग, द्वेष, मोह वगैरह परिणामोंसे कर्म आत्मामें आता है. तथा मन, चरन और शरीरके अशुभ व्यापारोंसे आत्मामें नवीन कर्म आता है. पानी, हवा, अग्नि, पृथ्वी और वनस्पति ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं. इन्द्रियादिक जीवोंको ग्रसजीव कहते हैं. इन छह काय जीवोंको बाधा हो इस

रीतिनि गमन करना, मिथ्यात्वमें और असंयममें जाविकी श्रुति जिससे होगी ऐसा वचन बोलना, साक्षात् अथवा परम्परासे जीवोंको याधा देना. भोजन करना, कोईभी वस्तु बिना देखे, बिना पाछे, जमीनपरसे लेना और रखना, जमीनकी देखभाल किये बिना उसपर दगना, मृतना, वगैरे क्रिया करना, ये क्रियायें जातिपद्धिका कारण हैं. इनका त्याग करनेसे चरित्र विनय होता है. अशुभ क्रियाओंका त्याग करना यह चरित्रका लक्षण है. परंतु जो आरंभ क्रिया करते हैं वे चरित्र धारण नहीं कर सकते हैं. इस लिये हे मुनिवृंद ! आप चरित्रमें नित्य उद्योग करो.

अनशुन, अवमोदर्य वगैरह तपोसे उत्पन्न होनेवाले परिधर्मोंको सहन करना यह तपोविनय है. यदि तप करते समय आत्मामें संकल्य परेणाम उत्पन्न होये तो कर्मोंका महान् आसन्न होगा और निर्जरा अल्प होगी उपचारविनय धारण करनेमें विद्वान् लोक यह मुनि विनयशील है ऐसा समझकर पूजा करते हैं. यदि उपचार विनय मुनिमें न हो तो वह निंदाना पात्र होता है. मानसिक उपचार विनय, वाचनिक उपचार विनय और क्रायिक उपचार विनय ऐसे उपचार विनयके भेद हैं. इन विनयोंको जो मुनि धारण नहीं करता है, गुरुओंकी मनसे अवहेलना करता है, गुरु आनेपर ऊठकर खड़ा होता नहीं, वे जानेपर उनके पीछे जाता नहीं, हात जोड़ता नहीं, उनकी स्तुति और निशंक्ति करता नहीं, गुरुके सम्मुख आसनपर चढ़कर बैठता है, उनके आगे जाता है, उनकी निंदा करता है और उनकी कठोर शब्द बोलता है, गालि देता है उनकी नीचयोग्यता वंश होता है. इस कर्मके उदयसे वह मातंग, चांदाल, धीवरादि निंश भीच कुलोंमें जन्म लेता है. कुत्ता, सूकर, वगैरह पशुओंमें वह उत्पन्न होता है. निंदा करनेवाले मुनिओं को गुरुने रत्नत्रयका लाभ होता नहीं. परंतु जो मुनि नम्रस्वभावका है गुरु उसको मयत्नसे पढाते हैं और उसका आदर करते हैं. इसलिये हे मुनिपण ! आप विनयमें नित्य तत्पर रहो. अविनय दोषसे भरा हुआ है और विनयमें वंश गुण निगम करते हैं ऐसा समझकर तुम स्वाध्यायमें अतुरक्त रहो. शोभन अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं. जीमादि तत्त्वोंका स्वरूप समझलेना और उसका वर्णन करनेवाले ग्रंथको पढ़ना यह शोभन-उत्तम स्वाध्याय है. इसमें तुम हमेशा तत्पर रहो. सीमा, दसना, खेला, आलस्य, लोक व्यग्रहार इन बातोंको छोड़कर तुम स्वाध्याय करो. पूर्वोक्तार्थ इस विषयमें ऐसा कहते हैं. 'मैं निंद्रा को अच्छी नहीं मानता हूं. मैं हास्य और क्रोधा का त्याग करता हूं. मैं आलस्य छोड़कर मुनिधर्मकी, योग्य क्रियाओंमें दम्यता

उद्युक्त रहें" हे सुनिश्चिन्त! तुम हमेशा बलोक्यमें सदाह ऐसे सर्वत्र स्थित आगमों में करो.

दुस्तहपरीसहेहि य गामवचीकंटएहि तिक्खेहि ॥

अभिभूत्वा वि तु संता मा धम्मधुरं पमुचेह ॥ ३०१ ॥

मा स्म धर्मपुरं स्याधुरभिभूताः परीपदैः ॥

हुस्तदैः कंटकैस्तरिक्षैर्गामैकवच्योमयैः ॥ २०९ ॥

विज्ञानेव्या—दुस्तहपरीसहेहि य तु तदैः परीपदैश्च । गामवचीकंटएहि तिक्खेहि धानोपापचमकंटकै-
स्त्रीकृण्वन् । अभिभूता वि य संता पराभूता यति संतः । मा धम्मधुरं पमुचेह मा एषा धर्मभारत्वाय । ननु च 'दुस्तह-
परीसहेहि य अभिभूता मा धम्मधुरं पमुचेह' इत्यनेन आक्रोशपरिग्रहसहन उपदिष्टं किमनेन 'गामवचीकंटएहि'
इत्यनेन ? । अयमभिमाया सूत्रकारस्य-सोढमुदादिषेद्वेदोऽपि न सहतेऽनिष्टं यचस्ततोऽतिदुःकरमपि तत्सोढन्यं इति
वदन्नाय पृथगुपायानम् ।

मूढारा—गामवचीकंटगेहि धाम्याणामपित्रिकजनानां धनानि एव कंटकास्तैराक्रोशबबनैरिच्छयः । सोढंछु-
यादिषेद्वेदोऽपि हि नास्ति वचनं सोढुं गमनोति इति अतिदुःसहस्याक्रोशवचनस्य पृथगुपादानं । अतिदुःसहस्ययाक्रो-
शवचनं मयाङ्गैः सोढव्यमित्युपदेशार्थः ।

अर्थ—दुःमह धुषादिक परीपहोंमें और ग्राम्यलोगोंके तीरण मालिवचनों से पीडित होते हुए भी हे
मुनिगण ! आप धर्मभारका त्याग कदापि न करें- 'दुःसह परीपहोंमें पीडित हो कर आप धर्मभार का त्याग न करें'
इन वचनोंमें हि आक्रोशपरिग्रह सहनका अन्तर्भाव होता है वो भी ग्राम्यतीक्ष्ण वचनोंको सहन करनेका उपदेश
क्यों किया है ? इन प्रश्नका उत्तर ऐसा है- धुषादिदेदनांच सही भी जाती है परंतु आनिष्ट वचन सदा जाता नहीं-
जतिदुःमह आनिष्ट वचन भी मुनिगण को सहना चाहिये यह दिखानेका आचार्यका अभिप्राय था इसलिये
'गामवचीकंटएहि तिक्खेहि' ऐसा पृथक् वचन दिया है.

तित्थयरो चटुणाणी सुरमहिदो सिञ्चिदव्ययधुवमि ॥
अणिगृहिद्वलविरिओ तत्रोविघाणमि उज्जमदि ॥ ३०२ ॥

धुवसिद्धिअनुज्ञानस्तीर्थकृत्त्रिदशार्चितः ।

अनिगुषा चलं वीर्यमुद्यतः कुरुते तपः ॥ ३०० ॥

विजयोदया—तित्थयरो तीर्थकरः तदिति संसारं येन मग्यात्मकीयं । केचन तदिति इत्तेन गणचरैर्यालंबनभूते-
रिति धृतं गणधरा या तीर्थमित्युच्यते । तदुभयकरणतीर्थकरः । अथवा 'तिसु तिसृदिदिशि तिर्यं' इति ध्युत्पन्नो तीर्थ-
शब्देन माणो रत्नत्रयत्मकः उच्यते सरकरणातीर्थकरो भवति । चटुणाणी मतिश्रुतायधिमनपरंपरज्ञानवान् । सुरमहिदो
सुरैश्चतुःप्रकारैः पूजितः स्वर्गावतरणलभमाभियेकपरितेनरूपेणेषु । सिञ्चिदव्ययधुवमि नियोगमायिन्यां लिखावपि ।
तथापि अणिगृहिद्वलविरिओ अटुपन्दुतकल्यार्थः । तयोविघाणमि तपःसमाधाने दक्षमपि उपयोगं करोति ।

तपस्युद्योगः सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यः इत्युपदेष्टुं मायाष्टाविंशतिं आचष्टे—

मूढारा—सिञ्चिदव्ययधुवमि अवर्त्यभानिन्यामपि सिद्धो सत्याम् ।

आलस्य छोडकर सर्व प्रयत्नेसे तपधरणमें तुम उद्योग करो ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं.

अर्थ—मति, श्रुति, अवधि और मनपर्यय ऐसे चार ज्ञानोंके धारक; स्वर्गावतरण, जन्माभिपेक और दीक्षा-
फलप्राप्तादिकोंमें चतुर्णिकाय देवोंसे जो पूज गये हैं, जिनको नियमसे मोक्षप्राप्ति होती है, ऐसे तीर्थकर भी अपना श्ल
और वीर्य नहीं छिपाते हैं और तपमें द्युक्त होते ही हैं इसलिये तुमको भी तपमें उद्योग करना आवश्यक है.
जिनका आश्रय लेकर भग्यजीव संसारसे तीरकर मुक्तिको प्राप्त होते हैं उसको तीर्थ कहते हैं. कितनेक भग्य जीव
श्रुतसे अथवा गणधर की सहायतासे संसारसे उकीर्ण होते हैं. इसलिये श्रुत और गणधरको तीर्थ कहते हैं. श्रुत
और गणधरको भी जो कारण हैं उनको तीर्थकर कहते हैं. अथवा 'तिसु विहदिनि तिर्यं' ऐसी भी तीर्थ शुब्दकी
व्युत्पत्ति है. रत्नत्रयारमक मोक्षमार्गको तीर्थ कहने हैं. उसको जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थकर कहते हैं ऐसे
तीर्थकरभी यदि तप करते हैं तो अन्य श्रुति भी क्यों न करें ?

किं पुण अवसेसाणं दुक्कलवत्तयकारणाय साहूणं ॥
 होइ ण उज्जम्भिट्ठवं सपच्चवायमि लोयमि ॥ ३०३ ॥
 मुमुदूणां किमन्येपां दुःखक्षपणकांक्षिणाम् ॥
 न रुतन्वयं तपो घोरं प्रत्यवायासुले जने ॥ ३०१ ॥

विजयोदया--किं पुण अवसेसाणं किं पुनर्न प्रयतितव्यं नवविष्टेः साधुभिः । दुस्पास्ययकारणाय दुःख-
 विनाशानभिनिर्भं । साधोयै लोकं धातुकः, शरीरस्य, यत्नस्य भीरोगतायाश्च विनाशो अविवक्षितश्चेत्ते सति, दायानलसमोभे
 गुन्यायायाति, लोक-रक्षामिदं यदोयं भस्मसात्कर्तुं अद्य इत्यपि सुखिंर निमिषमात्रेणापि मृत्युरेवाद्य
 मानमर्थमाप्तममृत्युममरणं संयत्तरं वा प्रति वचनाधिकारकः इत्याद्यावद्भाषाति मृत्युस्तावत्तपस्युपोनाः
 कार्यः । न हि मृत्योर्देशानियमोस्ति । स्थलं यत्र प्रचारी यथा शरद्वर्षादीनां । समीरणपथ एव
 प्रयोजिनां, ललितं यत्न मीतमरुतादीनां । कष्टतमस्य पुनरस्य मृत्योः स्थले, जले, विपति च विवृतिः । दृढमस्य, सुधास्ती-
 र्णां पुराणिपत्तेः, प्रमज्जस्य, शीतोष्णस्य वा, दिमास्या वा अप्रवेशदेशाः संति न तथा मृत्योः । यथा वा निदानमानं श्वा-
 धीना विद्यानिर्दलेष्मरूपं । अपमृत्योः पुनरित्येतदेव निदानं । यत्तस्य, कफस्य, शीतोष्णयोर्धपोर्हिमातपानां वाक्यः
 प्रतीकादभिहितं पुनः संमारे मृत्योः । हिमोष्णपार्श्वीनां च कालो विवितोऽस्ति न तद्वदस्य । न वा हितमस्य किंचिद्वि-
 ने । यथा एतदुपहनदुरे मरेदो निशापत्तेः । असत्यपि मृत्युपनिगते जीवतोऽपि कुरोमाशात्रिम्यो महद्भयं । यथा विपत्तो
 निजलतपुत्र पयाचाकिः । आयुर्गलकृपादयदत्र गुणास्तापदेय यावद्योमेति योगो देहे । यत्पुनस्तलमस्य फालस्य तावत्पत्तो
 वायस्य स्पर्शना । व्याधी य वायव्यमाने देहे न सुतेन शक्यते श्रेयः कर्तुं, यथा वेदमतिं स्वामाने समन्वासा प्रतीकारः ।
 धर्मात्तु या योगेषु रागद्वन्द्वः सुखदुःखः शत्रुत्व प्रवृत्तः यदा नरस्य चित्तं बाधते न तदा समेऽधिकारः । विभोदयो वैच-
 द्दुममर्योः प्रतापवृत्तिः, रागोदयस्य प्रवृत्तिरस्य दग्धं प्रदानः युद्धलभः । यदैव च तस्य प्रशमोपलब्धिः पूर्वोक्तकर्म
 प्रशान्ती तदैव धैर्यश्रुती चाकिः विस्तोपशान्तौ कार्यचिन्ते च । इत्थं मृत्युव्याधयो राग इत्येते प्रात्ययावा जगति, तांश्चै-
 तनि दृष्ट्वा, यदा ते न संति तदोयोगः कार्यः ।

मूढारा--किं पुण पुनर्नन्वैःसाधुभिरन्वयमपि तु तपस्युपामः कर्तव्यं यत् । सपञ्चवायमि आयुःशरीर-
 पलादिनिर्देशनालकितपञ्चाध्यायिना महिते ।

अर्थ--अन्य मुनिभो भी संसारदुःखोभा दृष्ट्य कर्तव्ये तस्ये स्या प्रयत्न नहीं करना चाहिये ? अर्थात्
 उनसे भी तपमें उपयोग करना उनसे प्राप्त है. इन जगद्गै मनुष्यज्ञ आयु, शरीर, चल और आरोग्यका नाश कर

होगा यह समझमें नहीं आता है. मृत्यु दावानलके समान है. वह इस संपूर्ण जगत्‌रूपी वनको कब दग्ध करेगा यह हम नहीं समझ सकते हैं. मृत्यु आज नहीं आवेगा, अथवा एकमासी, अर्धमास, दो महीने, छहमास, एक वर्ष तक आवेगा नहीं ऐसा खात्रीसे बचन नहीं कह सकते हैं. एक क्षणमें भी मृत्युका आगमन होगा. अवतक मृत्यु आता नहीं तबतक तपश्चर्याका उद्योग करना चाहिये. मृत्यु अमुक स्थानमें रहता है ऐसा उसका प्रदेश निश्चित नहीं है. गाडी-मोटर वगैरह स्थल परही गमन करते हैं. नक्षत्रसमूह आकाशमें ही प्रमण करते हैं. मत्स्य, मगर वगैरह जलचर प्राणी पानीमें ही फिरेते हैं. परंतु अत्यंत दुःख देनेवाला यह मृत्यु स्थलमें, जलमें, आकाशमें सर्वत्र प्रमण करता है. अग्नि, चंद्र, सूर्य, इन्द्र, ठंडा अथवा उष्ण वायु, और वर्षा समुदाय इनका जहां प्रवेश नहीं है ऐसे प्रदेश बहुत हैं. परंतु मृत्युका सर्वत्र अविविहित संचार है. बात, पिच और कफ ये रोग उत्पन्न होनेके कारण हैं परंतु अपमृत्युके लिये सर्व पदार्थ कारण हो सकते हैं. बात, पिच, कफ, शीत, उष्ण, जलवृष्टि, ठंडी, घृष इनका प्रतिकार करनेके पदार्थ हैं. परन्तु इस संसारमें मृत्यु का प्रतिकार करनेवाला कोई भी पदार्थ नहीं है. शीतकाल, वर्षाकाल और ग्रीष्मकाल इनका समय लोगोंको ज्ञात होता है. परन्तु मृत्युका आगमनसमय किसी को भी मालुम नहीं रहता है. जब राहुके मुखमें चन्द्रका प्रवेश होता है तब उससे छुटाने वाला हितकर पदार्थ कोई नहीं है उसी तरह मृत्यु जब जीवको पकड़ता है तब उसको उससे बचानेवाला कोई नहीं है. मृत्युके विना भी अन्य पदार्थोंसे प्राणिओंको भय उत्पन्न होता है. जैसे दुरु रोग, वज्रपात वगैरहसे भय उत्पन्न होता है. अशनिपात अचानक आकाशसे होता है. तद्वत् अचानक मृत्यु प्राणिको पकड़ता है. आयु, बल, रूप वगैरह तत्त्वक देहमें स्थिर रहते हैं जयतक रोगसे यह ग्रसित नहीं होता. जयतक वायुका आगमन नहीं तबतक फल वृत्तमें स्थिर रह सकता है वह गिरता नहीं है. जब रोगसे शरीर पीडित होता है तब मुखसे आत्महति करना नहीं होता है. जैसे अग्नीति घर चारों तरफसे जब धिर जाता है तब उपाय करना निवर्तन अशुभ्य है. शरीर में रोग नहीं हो तो भी जब भित्रके समान दलीनेवाला रागशत्रु इस मनुष्य के निचको पीडित करता है तब यह मनुष्य समता धारण करनेमें असमर्थ होता है. वैद्यके अच्छे प्रयोगोंसे प्राणीका पिचप्रकोप शांत होगा परंतु प्राणीका अहित करनेवाला रागभाव शांत होना बड़ा ही कठिन है. पिच शांत होनेपर जैसा प्राणी स्वकार्यमें निच लगता है, तथा पूर्वकर्म शांत होनेपर रागभाव शांत होकर आत्मरूप्याण करनेमें मनुष्य समर्थ होता है. इस प्रकार इस जगतमें मृत्यु, राग

और रोग ये तप करनेमें व्यत्यय लाते हैं. ऐसा मनमें विचार कर जब ये देहमें नहीं होंगे तब तपमें उद्योग करना चाहिये.

सत्तीए भत्तीए विज्जावच्चुज्जदा सदा होह ॥

आणाए णिज्जेरेत्ति य सवालउद्धाउले गच्छे ॥ ३०४ ॥

शक्तितो भक्तित; संघे वत्सलास्ते चतुर्विधे ॥

वैयावृत्यकराः शम्भज्जिनाञ्जानिर्जिरार्थिनः ॥ ३०२ ॥

विज्जपोषणा—सत्तीए भत्तीए शकला भक्त्या च । विज्जावच्चुज्जदा वैयावृत्ये उचलाः सदा होह नित्यं भवत । आणाए णिज्जेरेत्ति संवसलानामात्रा वैयावृत्यं कर्तव्यमिति सदाश्रया हेतुभूतया, वैयावृत्यं हि तपः तपसा निर्जरा भवतीति च । सवालउद्धाउले सह बालेर्वर्तमाना ये बुद्धास्तेराकीर्णं गणे ॥

मूलाए—आणाए वैयावृत्यं कर्तव्यमिति जिनानामाश्रया हेतुभूतया । णिज्जेरेत्ति वैयावृत्यं निर्जराहेतुभूतया-निर्जरा इति कृत्या ॥

अर्थ—बालमुनि और बृद्ध मुनिओंसे व्याप्त ऐसे मुनिमुद्रायका वैयावृत्य करनेमें हे मुनिबृन्द ! तुम अपनी शक्तिसे और भक्तीसे सदा उद्यत बनो. वैयावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी जिनदेवकी आज्ञा है ऐसा समझकर और यह वैयावृत्य तप है तथा निर्जराका कारण है ऐसा समझकर उसके करनेमें तुम तत्पर रहो.

वैद्याद्वयं कर्तुमशुण्कं प्रति इदमादत्तव्यति—

सेज्जागासणिसेज्जा उवधी पडिलेहणाउवगाहिदे ॥

आहारासहवायणविकिचणुव्वत्तणादीसु ॥ ३०५ ॥

उपधीनां निपयायाः शय्यायाः प्रतिलेखनम् ॥

उपकारोऽन्नभैषज्यमलत्यागादिगोचरः ॥ ३०३ ॥

विजयोदया—सेज्जोगासणिलेखा उवधी पडिलेखणा उवगमहिदे । सव्यवत्तास्य, निज्या स्थानस्य, उपर-
रत्नानां च प्रतिलेखना, उपग्रह उपकारः । किंविषयः ? आहारोसहस्रायणविर्चिञ्जुल्वत्तणादीसु योग्यस्य आहारस्य
औषधस्य वा दानं स्वाध्यायस्तोत्राणं असाकस्य शरीरमलनिपत्तः । उवत्तणे पादवीत्यादयोन्तरस्तोरस्योरथोषणं ॥
वैष्यावृत्यप्रयोगविधिं गामाहवेनाह—

मूलात्—सेज्जोगास्य श्रवणमननं । निसेल्ला उपवेस्सनस्यानं । उवधी उपकरणाणि । यथां प्रतिलेखना । उवग-
महिदे उपग्रहः उपकार इत्यर्थः । स आहारतद्विषययो माहाः । आहारोसह योग्यस्याहारस्यौषधस्य च दानं । यायणा कया-
न्यानं । विरिक्कणं लशुकस्य कायमलसोषनम् । उवत्तणं पाश्चात्पार्श्वान्तरितोत्थानम् ।

वैष्यावृत्य करनेके लिये उलुक्त हुए मुनिओंको वैष्यावृत्यका प्रयोगविधि बतलाते हैं—

अर्थ—श्रवणस्थान, बैठनेका स्थान, उपकरण-विंश्री कण्ठलु वगैरह इनका क्रीषण करना, आहार-योग्य
निर्दोष आहार, निर्दोष औषध, देकर उपकार करना, स्वाध्याय करना अर्थात् व्याख्यान करना, अशुक्त मुनिका
मेला उठाना, उस मुनिको एक पाशुसे दूसरे पाशुपर उठाकर सुलाना- बैठाना वगैरह कार्य करना यह सब
वैष्यावृत्यका विधि है.

अद्याण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे उमे ॥

वेज्जावब्बं उत्तं संगहणारक्खणोवेदं ॥ ३०६ ॥

मागं चोरापगाराजदुर्भिक्षमरकाविपु ॥

वैष्यावृत्यं विधातव्यं सरथासंग्रहं सदा ॥ ३०४ ॥

विजयोदया—अद्याण तेण सावयरायणदीरोधगासिवे उमे अध्वनां श्रेमेण श्रान्तानां पान्दरिमर्दनं । स्तेनैरपद्रुय-
माणानां । तथा व्यापदै, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, भरीरोधकै मायां च तदुपद्रवनिपत्तः विधादिभिः । उमे इमिक्खे मुमिक्खेदेया-
नयन । वेज्जावब्बं उत्तं यथावृत्यमुक्तम् । संगहसारक्खणोवेदं संग्रहसंरक्षणम्यामुतेतः ।

मूलात्—अद्याणं मार्गश्रेमेण श्रान्तानां पादादिमर्दनं । तेण चौरौपद्रवनिपत्तः । एवमुत्तराज्यापुषकारः । सावद-
रायणदीरोधकासिवे उपद्रव निराकारः । रोषक वंदीकारः । असिवे मरके तदुपद्रवविनाशो विधादिभिः । उमे इमिक्खे
मुमिक्खेदयनयनं । संगह मा भैष्ट्यादि धैर्यवशतत्पुर्वकः सम्यग्गैरीकारः । सारक्खणं संरक्षणं ।

अर्थ—जो मुनि रास्तेके शरसे थक गये उनकी पराचपी करना, हस्तमर्दन, अंगमर्दन करना. जिन मुनिओंको चोरसे उपद्रुव हुआ, दुष्ट पशुओंसे धीटा हुई हो, राजासे कष्ट पोंहोना होगा, नदीके द्वारा कोई मुनि रुक गये, भारी रोगसे पीडित होगये तो उनका उपद्रव विषादिकोंसे नष्ट करना चाहिये. यदि कोई मुनि दुर्भिक्षपीडित हुए हो तो उनको सुभिध देशमें लाकर उनकी पीडाका परिहार करना चाहिये. इन सब कार्योंको वैषाण्य कहते हैं. ऐसे कार्य करनेसे मुनिओंका संग्रह होता है. और आप ढरो मत ऐसा बोलकर उनमें घेर्य उत्पन्न कर उनका अंगीकार करना चाहिये.

वैषाण्यत्वाकरणं निश्चयि—

अणिगृहिद्वयलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोवदेसेण ॥

जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धस्सो ॥ ३०७ ॥

समर्थों न बिघने यो वैषाण्यं जिनाश्रया ॥

अमच्छायं घलं वीर्यमतो निर्धर्मकः सकः ॥ ३०५ ॥

विजयोदया—अभिगृहितेत्वादिना—अनिगृहणीयां वैषाण्यं जिनोपविष्टं क्रमेण न कुर्येति । शक्तोऽपि सत् स निर्धर्मो भवति धर्माभिप्रायतो भवति इति सूचार्थः ।

वैषाण्यत्वाकरणे दोषान्ग्राह्यमेवाह—

मुळारा—सङ्घे ।

जो मुनि वैषाण्य करता नही उसकी निंदा करते हैं—

अर्थ—जिसने अपना बल और वीर्य छिपाया नहीं है, और जो संबंध है तो भी विनेश्वरने कहे हुए क्रमसे जो वैषाण्य करता नहीं है वह मुनि निर्धर्मा है अर्थात् घमसे ग्रस्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये. ऐसा इस प्रकार अर्थ है.

योगांतराणि व्याचष्टे—

तित्थयराणाकोधो सुदधम्मविराघणा अणायारो ॥

अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जुहिदं होदि ॥ ३०८ ॥

आज्ञाकोपो जिनेन्द्राणां शुतघर्मविराघना ॥

अनाचारः कुतस्तेन स्वपरागमवर्जनम् ॥ ३०९ ॥

विजयोवरा—तित्थयराणाकोधो तीर्थस्तराणासाक्षीयः । सुदधम्मविराघणा श्रुतोपदिष्टधर्मनाशम् । अणाचारो आचाराभाक् वैयावृत्याख्ये तपस्ति अवृत्तेः । अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जुहिदं होदि ॥ आत्मा साधुवर्गः प्रयत्नं च त्यक्तं भवति । तपस्यशुयोगादात्मा त्यक्तो भवति, आपधुपकारकरणावतिवर्गः, श्रुतोपदिष्टस्याकरणादागमश्च त्यक्तः ॥

मूलाका—कोपो भंगः कृतो भवतीति शेषः । सुदधम्मविराघणा श्रुतोपदिष्टधर्मविनाशः । वैयावृत्याख्ये तपस्य-प्रवृत्तेः । णिज्जुहिदं तपस्यशुयोगादात्मा त्यक्तः । आपधुपकाराकरणावतिवर्गः । सुवोपदिष्टस्याकरणादागमश्च ।

अन्य दोषोका भी वर्णन करते हैं—

अर्थ--वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी अहंपरोधरकी आज्ञा है परंतु जो वैयावृत्य नहीं करता है उसने उनकी आज्ञाका भंग किया है ऐसा समझना चाहिये. वैयावृत्य न करनेसे शास्त्रमें कहे हुए धर्मका नाश होता है. वैयावृत्य नहीं करनेसे मुनिधर्मका आचार पाल नहीं संकेत इतलिये धर्मविनाश होगा. अनाचार होगा. क्योंकि, कोई भी वैयावृत्य नामक तपमें प्रवृत्त नहीं होगा. वैयावृत्य न करनेसे अपना, साधुवर्गका और आगमका त्याग होगा. तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेसे अत्याका त्याग हुवा, संकटमें उपकार न करनेसे यतिओंका त्याग होता है. और शास्त्रोपदिष्ट वैयावृत्यका पालन न करनेसे आगमका त्याग होता है. वैयावृत्य न करनेसे ऐसे महादोष उत्पन्न होते हैं.

१ कपुस्तके : 'वैयावृत्याख्ये तपसि' इति आर. २४ अश्वेतनयाद्वयं वटीका च नोपलभ्या ।

गुणवैयर्थ्यकारणे कथयति गाथाद्वयेन—

गुणपरिणामो सद्वा वच्छेदं भस्तिपत्तलंमो य ॥

संधानं तत्रपूया अव्योच्छिप्ती समाधी य ॥ ३०९ ॥

वित्तयोदया—गुणपरिणामो भस्तिगुणपरिणतिः । सद्वा अद्वा । वच्छेदं यासत्यं । भस्ती भक्तिः । पत्तलंमो य पानस्य लाभः । संधानं संधानं । तत्र तपः । अव्योच्छिप्ती य तित्यस्य अव्युच्छित्तिश्च तीर्थस्य । समाधी य समाधिश्च ।
वैयावृत्त्यकरणेऽष्टादशगुणान्नाथाद्वयेनोपदिशति—

मूत्रारा—गुणपरिणामो वैयावृत्त्यकरणस्य बाष्पनानसाधुगुणेषु वासना । क्रियमाणवैयावृत्त्यस्य च साधोः सत्त्ववत्त्वादिगुणेषु प्रबंधेन प्रवृत्तिः । पत्तलंमो पात्रस्य लाभः । संधानं कुतश्चिच्छिन्नानां दर्शनादीनां आरामनि पुनः संयोजनं ।

वैयावृत्य कारसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका वर्णन आचार्य दोन गाथाओंसे करते हैं—

अर्थ - वैयावृत्य करनेसे इतने गुणोंकी प्राप्ति होती है—

१ गुणपरिणाम—मुनिगुणोंकी वैयावृत्य करनेवालेमें परिणति होती है. उपसर्गादिसे जिसकी बीमा हुई है, ऐसे मुनिके गुण नरेंको प्राप्त हो ऐसी इच्छा वैयावृत्य करनेवालेके मनमें उत्पन्न होना यह गुणपरिणति शब्दका अर्थ है २ श्रद्धा करना, ३ भक्ति ४ वारसहय ५ पात्रलंम-पात्र की प्राप्ति होना ६, संधान किसी कारणसे विच्छिन्न हुए सभ्यदर्शनदिकोंको आसामें जोड़ देना. ७ तप ८ पूजा ९ तीर्थव्युच्छिप्ति तीर्थकी परंपरा सतत रहना अर्थात् धर्मका नाश न होने देना. १० समाधि.

आणा संजमसाखिबुद्धा य द्वाणं च अविदिगिंछा य ॥

वेज्जावचरस गुणा पमावणा कज्जपुण्णाणि ॥ ३१० ॥

गद्यम्—गुणपरिणामश्रद्धावात्सल्यभाक्किपात्रलाभसंधानतपःपूजातीर्थव्युच्छित्तिसमाधि-
जिनाज्ञासंयमसाहाय्यदानादिकीचीकृतसामभावनासंघकार्याणि वैयावृत्यगुणाः ॥ ३०७-३०८ ॥

विजयोदया—आणा संजमसाखिहदा य आणा संयमसाहाय्यं ॥ दणं च दानं च । सर्वशोषदिष्टेयावृत्यकरणादाज्ञा संपादिता । आज्ञासंपादनमाज्ञासंयमः । परस्य वैषावृत्यकृत उपकारः । रत्नवयस्य निरतिचारस्य दानं । संजमसाखिहदा य संयम साहाय्यमिति चार्थः । अविदिमिहदा य अविचिकित्सा ॥ वैजात्यवयस्य गुणा वैष्यावृत्यस्य गुणाः । पद्मवयसा प्रभावना च । कञ्जगुणानि कार्यनिर्वहणानि च ॥

मल्लाटा—साखिहदा साहाय्यं । दणं निरतिचाररत्नवयस्य संपादनं ॥

अर्थ—आज्ञासंयम, साहाय्य, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, कार्यनिर्वहण ऐसे वैष्यावृत्यके अठारह गुण हैं, सर्वज्ञने वैषावृत्य करना यह मुनिओंका कर्तव्य है ऐसी आज्ञा दी है. उनकी आज्ञाज्ञा संपादन करना चाहिये अथवा मुनिओंके संयममें वैष्यावृत्य करके उपकार करना चाहिये. संयमसाखिहदा संयममें सहायता करना.

गुणपरिणामो इत्येतत्पदं व्याचष्टे—

मोहगिगणादिमहदा धोरमहवियणापु फुटंतो ॥

उज्झदि दक्षते हु धगधगंतो ससुरासुरमाणुसो लोओ ॥ ३११ ॥

दक्षते सकलो लोको महता मोहबहिना ॥

धग्धगिर्येप कुर्वाणो महोवधनया स्फुटम् ॥ ३०९ ॥

विजयोदया—मोहगिगणा अजानाद्विना । अदिमहदा अतिमहता, सकलवस्तुविषयतया महदज्ञानं तेन उज्झदि दक्षते । धोरमहवेदनाप दोरया महत्या वेदनया । फुटंतो विशीर्यमाणः । धगधगंतो धगधगयमानः । ससुरासुरमाणुसो लोगो देवासुरमाणुसैः सह वर्तमानो लोकः ॥

गुणपरिणामं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मोहगिगणा मभेदनहमस्तेवदिधत्यलक्षणाज्ञानवहिना । अदिमहदा सकलवस्तुविषयतया अतिविपुलेन ।

फुटंतो विनीर्यमाणः । धगधगंतो धगधगयमान जायत्यमान इत्यर्थः । लोगो बहिरात्मप्राप्तिगणः ।

गुणपरिणाम इम गुणका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—यह जगत् मोहरूपी अग्नीसे अर्थात् अज्ञानरूपी अग्नीसे जल रहा है. इस अग्नीने संपूर्ण वस्तु

पेसली हैं. इस के द्वारा सब जीव दग्ध हो रहे हैं. हमसे होनेवाली घोर वेदनासे उनके अंग फुटने लगे हैं. और उनको यदा ही दाह हो रहा है. इस अग्नि में केवल मनुष्य और पशु ही दग्ध हो रहे हैं. ऐसा नहीं समझना परंतु ममन्त चतुर्गिराय देव भी जल रहे हैं. तात्पर्य यह है कि जगत्के समस्त जीव वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जाननेमें अग्रमर्ष हैं. उनमें गाढ़ अज्ञान घुसा है.

एदस्मि णवरि सुणिणो णाणजलोवग्गाहेण विज्झाविदे ॥

डाहुम्मुक्का होति तु वग्गेण णिज्जेदणा चेव ॥ ३१२ ॥

तत्र विध्यापिते सद्यो भूयसा ज्ञानपथसा ॥

मम्रा दमपयोराशौ सुत्वाप्यंते तपोचनाः ॥ ३१० ॥

विजयोदया—एवमि एतस्मिन्लोके दलमाने । णवरि पुनः सुखिणो णिजेदणा चेव होति सुख एव निर्देना मरन्ति । कथं ? णाणजलोवग्गेण ज्ञानजलोवग्गेण । विज्झाविदे नये मोहाशौ । डाहुम्मुक्का दाहोमुक्ताः । दग्गेण रागद्वेप प्रदोमम् ॥ एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलजलाहोमूलितज्ञानवज्जिमसत्त्वं नाम यतीनां सुखं निर्देनत्वं चेति ।

मूलात्—एवमि एतस्मिन्लोके दलमाने । णवरि पुनः । णाणजलोवग्गेण आत्मवेदाविभेदज्ञानसंल्लिखयाहेण विज्झाविदे विध्यापिते । मोहमहाप्राप्तिक्षेप । अन्ये तु एवंदीत्यस्य मोहाप्रापित्यर्थमाहुः । वग्गेण रागद्वेपप्रशमन । निर्देदणा चेव सुख एव निर्देना मरन्तीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—समीचीनज्ञानजलजलाहोमूलितं, विदेनत्वं च यतीनां सुखो ज्ञानानंदमयत्वं इत्यर्थः ।

अर्थ—यह मर जगत् अज्ञानाग्निमें जल रहा है परंतु मुनींघर ज्ञानमय जलके प्रवाहसे मोहरूपी अग्नि को पुष्पांश आन्ति, मंशुय अनध्ययमायादि वेदनामें मुक्त हुए हैं. अर्थात् उनको देह और आत्मा भिन्न भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है. देहही मैं हूं यह आन्ति उनके इदमं नष्ट हो गई है. मुनिजोने जिवेन्द्रियता और रागद्वेषका उपशम इन उपयोगमें अज्ञानतन्त्र वेदनाका नाश किया है. अभिप्राय यह है कि मुनि सम्पन्नारूपी जलप्रवाहसे अज्ञानाग्नि ममूल धांन कर वेदना राहित हुए हैं.

निगमहिर्दिव्यद्वारा समाहिदा समिदसम्बन्धेहंगा ॥

धृणा गिरावयवत्वा तवसा विधुंति कम्मरयं ॥ ३१३ ॥

निगृहीतेन्द्रियद्वारैः सर्वेचेष्टासमाहितैः ।

धन्यैस्तपःसमीरेण धूपन्ते कर्मरेणवः ॥ ३११ ॥

विजयोदया—निगमहिर्दिव्यद्वारा इन्द्रियं ह्रिचिचं ब्रह्मेन्द्रियं भावेन्द्रियं इति । तत्र ब्रह्मेन्द्रियं पुत्रलस्कंधा आत्मप्रवेशाच्च तत्पाधाराः । भावेन्द्रियं ज्ञानावरणक्षयोपशम इन्द्रियजनिजो रूपाद्युपयोगश्च । तत्रोपयोगेन्द्रियं शुद्धीतं तत्साहचर्याद्वागद्वेषावसन्नोक्तं मनोको च विषये प्रवृत्तौ । एव पापकर्मनिमित्ततया इन्द्रियद्वारद्वारेणोच्यते । तेनायमर्थः— निगृहीतेन्द्रियविपर्ययागतेया इति । समाहिदा रत्नत्रये समबहिर्दिशिक्ता । समिदसम्बन्धेहंगा सम्यक्प्रवृत्तसर्वेहंगाः । धृणा पुण्यवत्ता । गिरावयवत्वा निष्प्रला इति केचित्कृतम् । अग्रे निरपेक्षाः सत्कारं लाभं यान्तेषुमाणाः इति कथयति । तपसा विधुंति कम्मरयं तपसा कर्मरजोविधूतं कुर्वन्ति । निगृहीतेन्द्रियरतं, रत्नत्रयैकप्रता, निरवयवेष्ववत्ता, सत्कारादे- निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूतं च यतिगुणाः एतया माधया सूचिताः ।

मूला— निगमहिर्दिव्यद्वारा निगृहीतेन्द्रियविपर्ययागतेयाः । समाहिदा रत्नत्रये समाहितचिदाः । समिदा सम्यक्प्रवृत्ता । विद्धा ईर्ष्याभाविप्रवृत्तिः । गिरावयवत्वा निष्प्रला सत्कारादिनिरपेक्षा या । अत्र जितेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकप्र- ता, निरवयवेष्वत्वं, सत्कारादिनिरपेक्षता, तपसि वृत्तिमत्ता, कर्मरजोविधूतं च यतिगुणाः सूचिताः ॥

अर्थ—ब्रह्मेन्द्रिय और भावेन्द्रिय ऐसे इन्द्रियोंके दो भेद हैं. पुत्रलस्कंधाकी इन्द्रियाकार रचना होती है और आत्मार्थके प्रदेश भी इन्द्रियाकार वनते हैं उन दोनोंको भी ब्रह्मेन्द्रिय कहते हैं. आत्मप्रदेशोंके आधारसे पुत्रलस्कंध रहते हैं. ज्ञानावलीय कर्मके क्षयोपशमको भावेन्द्रिय कहते हैं. और रूप रस, गंधादिकोंको ज्ञाननेकेलिय आत्माकी प्रवृत्ति होना इसको भी भावेन्द्रिय कहना चाहिये. रूपादिकोंके प्रति उपयोग होना—उनको ज्ञाननेमें उद्युक्त होना इसको यहां इन्द्रिय समझना चाहिये. अर्थात् उपयोगरूप भावेन्द्रियको यहां इन्द्रिय कहना चाहिये. क्योंकि उसके आश्रयसे जीवके राग द्वेष संतुदर और असंतुदर स्पर्शादि विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं. जगत में स्थानिए विषय में इन्द्रियों प्रवृत्त हो कर जीवको दुःखित करती हैं. अतः बुनिगण इन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयोंमें होनेवाले रागद्वेषोंको नष्टकर रत्नत्रयमें अपने मनको एकाग्र करते हैं. और अपनी सर्व प्रवृत्तियों—बोलना, चलना, वस्त्र उखाना, आहार लेना वगैरह क्रियायें प्राणिपशुनके अधिप्राप्यते करते हैं. वे अपने मनको नियंत्रण करते हैं. अथवा सत्काराधी. और लाभकी अं-

ना ये नहीं करते हैं. उक्तः ये निरोप्य स्वभावान्न हैं. ऐसे छुनिराज्य गन्ध है. ऐसे ही यतिनायक तपश्चरणसे कर्म-रजसो आत्मामें दृष्टते हैं.

तत्पर्यं यह है कि—जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, ईर्ष्यादिसिधिविओंका पालन करना, सत्कारादिक की इच्छा न रखना, तपस्य तपश्चरण होना, क्रमनाश करना ये यतिओंके गुण इस भाषासे आचार्यजीने सूचित किये हैं.

इयं दृढगुणपरिणामो चेन्नावृत्तं करोति साहुरसः ।

चेन्नावृत्तं तदो गुणपरिणामो कवो होदि ॥ ३१४ ॥

इत्थं गुणपरीणामो विद्यते यस्य निश्चितः ॥

साधूनां भक्त्यर्थधूनां वैषाधुर्यं तनोति सः ॥ ३१५ ॥

विजयोदया—इयं दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यापणितेषु दृढपरिणामः । साधुस्व येन्यापकं नोदयताधोर्ष्यानुत्प करोति । येन्यापकं वैषाधुर्येन । तदो तेन गुणपरिणामो कवो होदि गुणपरिणामः कृतो भवति । एतदुक्तं भवति—यस्य यत्तेरेते गुणा, इमे नष्टयति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यत्तेरेते करोति स तेन गुणेषु परिणतो भवति । यस्य नोपकारः एतत्तस्य च गुणेषु परिणति कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैषाधुर्यं इति भाषयति ॥

गुणारा—दृढगुणपरिणामो यतिगुणेषु व्यापणितेषु निश्चलादुपरागसंस्कारः । तदो तेन तदुपमासमग्रयतिगो-वरेण । गुणे इत्यादि । एतदुक्तं भवति—अस्य यत्तेरेते गुणा नश्यन्ति यदि नोपकारं कुर्यात् इति यत्तेरेते करोति ॥ तेन गुणेषु परिणतो भवति । तैर्पक्षितो भवतीत्यर्थः ॥ यस्य नोपकारः कृतस्तस्य गुणेषु परिणक्तिस्वदप्रच्युतिः कृता भवति । अतः स्वपरोपकारनिमित्तं वैषाधुर्यं भाषयति । उक्तं च—स्वदु रनिर्गुणारंयाः परदुःखेषु दुःखिताः ॥ निर्व्ययेक्षं परार्थेषु परकृता मुमुक्षुयः ॥

अर्थ—वैषाधुर्य करनेसे यतिओंके गुणोंमें वैषाधुर्य करनेवालेके हृदयमें दृढ अतुराग उत्पन्न होता है. इस-लिये वैषाधुर्यमे गुणपरिणति होती है ऐसा आचार्य कहते हैं. अभिप्राय यह है कि, इस यतिराजमें जितेन्द्रियता, रत्नत्रयमें एकाग्रता, चरोद गुण हैं. यदि मैं इनकी इच्छा न करूँगा तो इनके ये यदनीय गुण नष्ट होंगे. ऐसा जो

मन में विचार कर उनकी सेवा करता है वह मुनि उनके गुणोंमें अनुरक्त होकर वैसा गुणवान होता है, और निम्नके ऊपर वैयावृत्यमें उपकार किया जाता है उसकी भी गुणोंमें परिणति होती है, अर्थात् वह अपने गुणोंसे व्युत्पन्न होता है। इसलिये यह वैयावृत्य तप स्वोपकार और परोपकारके लिये कारण होता है ऐसा आचार्य कहते हैं।

अहं अहं गुणपरिणामो तह तह आरुहइ धम्मगुणसेट्ठि ॥

यद्वुवि जिणवरमग्गे णवणवसंवेगसद्धवि ॥ ३१५ ॥

यथा यथा नियां साधोर्बधेत्ते गुणवासना ॥

जिनेशशासने अद्धा परोदेत्ति तथा तथा ॥ ३१६ ॥

विजयोद्या—अहं अहं यथा गुणपरिणामो भवति तह तह आरुहइ धम्मगुणसेट्ठि तथा तथाऽरोहति चारित्र-
गुणधेणीः । यद् इ यधेत्ते । जिणवरमग्गे जिनेशमग्गे । किं यदेत्ते ? नवनवसंवेगसद्धवि प्रत्यग्रसंसारमीकता अद्धावि । इह
गुणशास्त्रेण गुणानिर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः—यथा यथा यन्निगुणानां स्मरणं तथा तथा चारित्रगुणानुया-
रोहति । विस्तृतयतिगुणो न तत्र प्रयतते । तेषां गुणानां स्मरणान्नय रुचिरुपजायते । गुणानुस्मरणेनो हि भवति । संसा-
रभीतिः धृष्टा च प्रयत्नेना दृढयति यत्ति एतज्जये । एतया गाथाया सुकृता अद्धा ग्राह्यता । गुणानामनुस्मरणान्न च
अनिर्भवेत्ति ॥

अद्धां व्याचष्टे

मूढारा—गुणपरिणामो इह गुणदानेन गुणविर्भासः स्मार्तः प्रत्यय उच्यते । तेनायमर्थः । यथा यथा यत्तिगु-
णानां स्मरणं भवति तथा तथा चरित्रगुणानेनिसारोहति । बधेत्ते च विनवरत्तमोऽर्द्धा पूर्वसंसारमीकरवदुविद्धा अद्धा ।
उत्ते च —

यथा यथानिष्ठं साधोर्वधेत्ते गुणवासना ॥

जिनेशशासने अद्धा परोदेत्ति तथा तथा ॥

अर्थ—मुनि जैस जैस उत्तरोत्तर गुणोंमें परिणत अर्थात् एह होमि वैसे २ वे चारित्रगुणों की नसैनीपर
आरोहण कर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त होंगे, और जिनेशके मार्गमें उत्तरोत्तर ताजो संसारमीकताकी अद्धा चदे
गी. इस गाथामें 'गुणपरिणामो' यह ममस्त पद है इसमें गुण शुद्ध का अर्थ स्मरण ज्ञान ऐसा समझना चाहिये,

अतः इसका स्पर्धारथ इस गुजब है—जैसे २ यतिगुणोंका स्मरण होता है वैसे २ यति चारित्र्यगुणोंपर आरोहण करते हैं, परंतु जिनको यतिगुणोंका स्मरण नहीं होता है वे अपने में यतिगुण खानेका प्रयत्न नहीं करते हैं, यतिगुणोंका स्मरण होनेसे उनमें रुचि पैदा होती है, भव्यजीवीका गुणोंपर प्रेम रहता है अर्थात् वे गुणोंपर प्रेम करते हैं, संसारमीतिके विषयमें उत्पन्न हुई श्रद्धा यतिको स्तनत्रयमें ॥ करती है, इस गायार्थे श्रद्धा नामक गुणका विवेचन किया है.

स्त्री प्रपूजायां वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याचष्टे—

सङ्कृष्टा वद्वियापु वच्छलं भावदो उवक्कमवि ॥

तो तिल्वधम्मराओ सच्चजगसुहावहो होइ ॥ ३१६ ॥

विना गुणपरीणामं वैयावृत्यं करोति नो ॥

यतस्ततो मुमुक्षूणां वैयापृर्यं व्यनक्ति सः ॥ ३१७ ॥

प्रबृद्धधर्मसंयगाः श्रद्धया बध्मानया ॥

यतिः करोति चात्सल्यं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ ३१५ ॥

विज्ञायेदया—सङ्कट वद्वियापु श्रद्धया वर्धितया । यच्छलं भावदो उपक्रमवि वात्सल्यं भावता मनसा प्रारभते । तो ततः । विषयधम्मराओ धर्म लीजो रण । तीमयप्रतनो वा यतिपरमनः सकलं सुखमावहति । वात्सल्यं इत्येतद्व्याख्या-
तमनया गायया ।

भट्टावृद्धौ वा वात्सल्यं नाम दर्शनस्य गुणो भवतीत्याह—

मूखारा— भावदो मनसा । सच्चजगसुहावहो सर्वेषु जगत्सु यत्सुखमैत्रियिकं भवतीद्विवं वा तदायहल्यकपति

यतिः ।

गुणोंका स्मरण होनेसे स्त्रियुगुण उत्पन्न होता है और उसके बढनेसे चात्सल्य नामक सम्यग्दर्शन गुण उत्पन्न होता है, इसका वर्णन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ—श्रद्धागुण बढनेसे धुनि मनसे यतिओपर वात्सल्य करते हैं, अर्थात् उनका आदरसत्कार, सेवा-
दिक कार्य यथोचित करते हैं, इस वात्सल्य भावसे धर्ममें तीव्र प्रेम उत्पन्न होता है, जिसका धर्मपर तीव्र अलुराग

उत्पन्न हुआ है उस मुनिको जगतके ईद्रियजन्यसुख और अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होते हैं, इस गाथासे वात्सल्य गुणका वर्णन किया गया.

धैर्यावृत्त्यस्य 'भक्ति' नाम यो गुणस्तं व्याचष्टे—

अरहंतमिन्द्रभची गुरुभची सज्जसाहुभची य ॥

आसेविदा समयगा विमला वरधम्मभची य ॥ ३१७ ॥

‘भक्तिरहंस्तु सिद्धेषु धर्मस्वरिणु साधुषु ॥

धैर्यावृत्त्यकृतोत्कृष्टा पूजा भवति सेविता ॥ ३१६ ॥

विज्ञयोदया—अरहंतसिद्धभची तथाहंतो नामातिशान्ते एवीये मये दर्शनयिष्युस्याविपरिणामविशेषयद्वतीर्थ-
कृत्यनामकमोतिशयाः । स्वगापतरणादिपरिपूर्वापरव्यवहाराकस्याणभगिनः । यातिकर्ममलयाधिगतसकलवृथ्यभिकालगो-
चरस्वरूपायभासनपद्मिगिरतिशयज्ञानदर्शनमोहान्मूलनोपजातवीतरागसम्यक्त्वाः । चारित्रमोहोत्पादनलज्जवीतरागमाधा ।
धीयांतरावकर्मप्रक्षयाविभूतानंतदीयाः । परीतस्सारमध्यजमोदरणचद्रमतिशयाः । अष्टमहाप्रातिहार्यबहुस्त्रिशय
विशेषाः । सिद्धा नाम मिथ्याख्याविपरिणामोपनीतकर्मार्थकर्मधर्मिमुक्ताः । अजगत्प्रातिहार्यबहुस्त्रिशय
माननिवारणज्ञानतनयः । पुरुषाकारः शक्तपरमात्मवत्त्वाः । पतयोर्हंसदयोर्भक्तिः । गुणशब्देनात्राचार्योपाख्यायो गृही-
ती सयोर्भक्तिः । सज्जसाहुभची य तर्धसाधुभक्तिश्च । आसेविता भवति । अहंवासुपविष्टधैर्यावृत्त्यकरणात्तेषां
भक्तिः कृता भवति । रत्ननयतामुपकरणाच्छाश्वदरत एव तत्र भक्तिः । भैयावृत्त्यं भक्तिमापावयति अहंवादिष्वित्युक्तं ।
भक्तिं गाथाद्वयेन न्याचष्टे ।

मूलारा—गुरुभची आचार्योपाध्यायभक्तिः । अहंवासुपविष्टधैर्यावृत्त्यकरणाच्छक्तिः खलु कृता भवति । रत्ननय-
वतां चोत्करकरणात्तदादरत एव यमं भक्तिः । आसेविदा वैयावृत्त्यं शुर्ववासुकृता ।

अर्थ—अहंभक्ति इस लन्मके पूर्व तिसरे मयमे दर्शनविशुद्धि वगेरह विशिष्ट परिणामोसे जिनको साति
शय तीर्थकर नाम कर्मका वंघ हुआ है, अन्यजनदुर्लभ स्वर्गावतरणादि पांन कल्याणोक्तें जो स्वामी हैं, धाति-
कर्मोका नाश कर तिन्द्दिनि संपूर्ण द्रव्योक्तें निकानवर्ति पर्यायोका स्वरूप ज्ञाननेमें समर्थ ऐसे केवलज्ञान, केवल दर्श-
नकी प्राप्ति की है, दर्शनमोहनीय कर्मका समूल नाश करनेसे जिनको चीतराग सम्यक्त्वका लाभ हुआ है, चारि-

प्रमोहका समूल नाश कर जिन्होंने वीतरागभाव-चारित्रको प्राप्त किया है, वीर्यान्तराय कर्मके क्षयसे अन्तर्बीर्य-का लाभ जिनको हुआ है, आसन्न मर्त्योक्त उद्धार करनेके लिये जिन्होंने प्रतिज्ञा धारण की है, आठ महाप्राप्ति-हर्म्य और चोतिस विद्वेष अविशयोकी जिनको प्राप्ति हुई है वे अर्हदंग हैं, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कपाय और योग इन परिणामोंसे बद्ध हुए आठ कर्मोंका जिन्होंने नाश किया है, जो लरा और मरणसे परे हैं, जिनको किसी प्रकारकी बाधा नहीं है, जिनका सुख अनुपम और अनंत है, जिनका ज्ञानरूपी शरीर अतिशय उज्ज्वल और आचरणरहित है, जो पुण्याकार हैं, और परमात्मपदको धारण करते हैं, वे सिद्धपरमेष्ठि हैं, वेयावृत्तसे अर्हत् और सिद्धोंके ऊपर भक्ति होती है, गुरुभक्ति-गुरु-शुन्दरसे यहाँ आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठीओंका ग्रहण होता है, आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति और साधुभक्ति ये भक्तियाँ करनेका श्रेय अर्हदादिकोंसे कहा हुआ वेयावृत्त करनेसे मिलता है, और वेयावृत्त करने से धर्मपर निमल भक्ति उत्पन्न होती है, रत्ननयधारक मुमिओपर उपकार करनेसे, उनका आदर करनेसे ही उनके ऊपर भक्ति करने-का श्रेय मिलता है, वेयावृत्त तप अर्हदादि वंच परमेष्ठिओंमें भक्ति उत्पन्न करता है ऐसा इस गाथाका अभिप्राय है.

इदानीं वक्ष्या माह्वयं स्तौति -

संवेगजणियकरणा णिस्सद्धा मंदरुक्ख णिक्कंपा ॥

जत्तस्स वट्ठा जिणमत्ती तत्तस्स भयं णत्थि संसारे ॥ ३१८ ॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य विभीते भयतो न सः

येनावगमहिता गंगा स किं नश्यति वक्षितः ॥ ३१७ ॥

संसारभीरुनोत्पन्ना निःशल्या भंवराचला ॥

जिनभक्तिर्दृढा यस्य नास्ति तस्य भवाद्भयम् ॥ ३१८ ॥

विजयोदया - संवेगजणियकरणा संसारभीरुनोत्पन्ना । करणान्न सामान्यवचनोऽपि उत्पत्तिक्रियावृत्तिरन्यदीतिः । निरस्तज्ञ मिथ्यात्वेन, मायया, निदानेन च रहिता । मंदरुक्ख णिक्कंपा मंदर इय विभला । जत्तस्स वट्ठा जिणमत्ती ब्रह्मा जिने भक्तिर्दृढा । न तस्स भयमस्ति संसारे तस्य भयं नास्ति संसारपत् । जिनाब्जेनागार्हद्वयः सर्वे पयोच्यन्ते । कर्मवदेनानां च ज्ञयात् धर्मोऽपि कर्मोष्णमभिभवाति इति जिनाब्जेनोच्यते । द्रव्यलाभादिकमनुदिरस्य श्रवृत्तेस्तत्कथयति ।

संयोगजन्यकरण इत्यनेन संसारसमयनिराकरणोपायममृता विनाभक्तिरिति श्रुत्या प्रवृत्तेति यावत् । वैयर्थिकमिथ्याहरे सर्वत्र भक्ति प्रवर्तते इति तन्निरासाय विरुद्धा इत्युच्यते । भद्रकृत्य निष्कषा इत्यनेन सर्वकालवृत्तिताल्याता । सासादन सम्यग्देहिताप्यल्पकाला न संसारविस्सारयतीति ।

विनाभक्तिमाहात्म्यमभिष्टेति—

मूलारा—संयोगजनिककरण संसारभीकृतया न द्रव्यलाभादिना कुवोत्सायकरणशब्दो ह्यत्रोत्पत्त्यर्थः । गिरसला मिथ्यात्वमयनिदानरहित । वैयर्थिकमिथ्याहरेः सर्वत्र भक्तिः प्रवर्तते इति तन्निरासार्य इत् । मंदरोक्त निष्कषा सर्वकाल-लवर्तिनी न सासादनसम्यग्देहिषत्पकाला । वृद्धा अमेवा । निगमची विनाभवेनात्र पचाप्यदेहादय उच्यन्ते । कर्मणा-मेकदेशेन साकत्वेन न ज्ञेयान् । तथा धर्मोऽपि संसारे संसारान् । विनाविभक्त्या हि सुदेवत्वसुमातुपत्वलक्षणे सुखानु-बन्धिनेष भवे भ्रान्त्येति । उक्तं च ।

संसारभीकृतोत्पन्ना निःशल्या मंदरापला ।

विनाभक्तिर्देहा यस्य नास्ति यस्य भवान्द्रवम् ॥

भक्तिके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—संसार से यत् उत्पन्न करनेवाली, माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शक्तियोंसे रहित, मंदर पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनमें जिसकी हठ भक्ति है उस मुनिको संसासे मय नहीं रहता है, यहां जिनकुन्द से पंच परमेष्ठियोंका प्रवण होता है, जैसे अहन्त और सिद्ध परमेष्ठिओंने धातिकर्मका नाश किया है वैसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपरमेष्ठिओंने धातिकर्मोंका एकदेशसे नाश किया है इसलिये उनको भी विना कहते हैं, धर्म भी कर्मोंका पराभव करता है अतः उसको भी जिन कद सकते हैं द्रव्यलाभादिककी अपेक्षा न करके की हुई विनाभ-क्ति कर्मनाश करती है, यह भक्ति संसारमय दूर करनेवाली है, वैयर्थिक मिथ्याहरीकी सर्वत्र भक्ति रहती है, उसका निरसन करनेके लिये विनाभक्ति को निस्संछा, यह विशेषण दिया है, 'मंदरुत्पन्न निष्कषा' यह विशेषण सर्वकाल जिन भक्ति रहती है, सासादन सम्मगदष्टिके समान वह अल्प कालिक नहीं है ऐसा अभिप्राय व्यक्त करता है, सासादन सम्मगदष्टिकी भक्ति अल्पकालही रहती है अतः उसमें संसार नाश करनेका सामर्थ्य नहीं है,

पंचमहृद्व्यगुप्तो णिगहिदकसायवेदणो दंतो ॥

लब्धमिदि हु पत्तमृदो णाणासुदरयणणिधिमुदो ॥ ३१९ ॥

निःकपायो यतिर्दान्तः पात्रसूतो गुणाकरः ॥

महान्ततघरो घीरो लभते श्रुतसागरम् ॥ ३१९ ॥

चित्रयोदया—पंचमहृद्व्यगुप्तो पंचमिहामात्रैः कृतास्त्रवाजिरोधः । णिगहिदकसायवेदणो निगृहीतकपाय-
तेषाम् कपायस्तु तप्यत्वेत्यात्मनिमित्ति येदन्वा । दंतो दंतः श्रुतसागजदोयः । परिशानाद्वेद्यगमायनातः प्रशान्तपाग इति
कृत्वा शान्तं श्रुत्यते । लब्धमिदि तु पत्तमृदो लभ्यते पात्रभूतः । णाणासुदरयणणिधिभूदो नानाभुतस्त्वन्तिभिभूतः ॥

पात्रत्वमगुणमात्रे—

भूक्षापा—गुप्तो कृतास्त्रवाजिरोधः । वेदणः उदयः । लब्धमिदि लब्धते वैकावृत्त्यत् । आपन्नतारं हि सर्वोऽप्याश्रयति ।

अर्थ—अहिंसादि पांच महाप्रवर्तिते बंद किया है कर्मका आगमन निमित्त; कपाय आत्मको संतप्त करते हैं, अर्थात् दुःखित करते हैं, अतः जितने कपायसे उत्पन्न होनेवाली वेदनाको शान्त कर दिया है, समभावसे उत्पन्न होनेवाले दोष जिसके शान्त हुए हैं, अर्थात् ज्ञान और वैराग्यसे जिसका समभाव शान्त हुआ है, जो नानाप्रकारके भुतज्ञानरूपी रत्नोंका निधि है ऐसा सत्पात्र मुनि वैष्णवृत्य करनेसे ॥॥ होता है.

दंसणणणे तव संजने य संघाणदा कदा होइ ॥

तो तेण सिद्धिमग्गे ठविदो अप्पा परो वेव ॥ ३२० ॥

दर्शनज्ञानचारित्रसंचयानं क्रियते यतः

रत्नत्रयात्मके मार्गे स्थाप्येते स्वपरी ततः ॥ ३२० ॥

विजयोदया—दंसणणणे दर्शनज्ञानयोः तवसंजने य तपश्चाष्टयोदयः । संघाणदा होइ कृतादिब्रिमिचा-
दिचित्राणां दर्शनार्थीनां संचयनं कृतं भवति वेद्यावृत्त्येन । तो तस्मात् तेनैव वेद्यावृत्त्यकारिणा सिद्धिमग्गे रत्नत्रये ।
उपिदो अप्पा परो वेव स्थापितं वात्स्य परत्वा । अनया संचयनमित्येतत्तत्पुत्रपद्व्याख्यायाम् ॥

कुतश्चिन्निमित्ताद्विच्छिन्नानां स्मरानां वैयावृत्त्येन क्रियते इत्यावेदयति ।

मूलाय—तेन वैयावृत्त्यकारकेण ।

अर्थ—किसी कारणसे यदि समग्रदर्शन और चारित्र तप और संप्रम इनमें विच्छेद हुआ हो तो वैयावृत्त्य के द्वारा वे पुनः जुट जाते हैं, इस लिए वैयावृत्त्य करनेवाले व्यक्तिने अपने को और जिसका वैयावृत्त्य किया गया है उसको मोक्षमार्गमें—रत्नत्रयमें स्थापन किया है ऐसा समझना चाहिये, इस गथासे 'संधान' इस यज्ञका व्याख्यान हुआ है.

तत्र हत्येतद्व्याख्यास्तुमाह—

वेज्जावृत्त्वकरो पुण अणुत्तरं तवसमाधिमारुद्धो ॥

पप्फोद्धितो, विहरवि बहुभववाधाकर्, कम्मं ॥ ३२१ ॥

वैयावृत्यं तपोत्तस्यं कुर्वतानुत्तरं सुदा ॥

वेदनाश्चापवाधारा भिर्यंते कर्मभूषराः ॥ ३२१ ॥

विजयोषया—वेज्जावृत्त्वकरो पुण वैयावृत्त्याख्ये तपसि समाधिमाप्रतप्तमाधित । पप्फोद्धितो विहरदि विपूतपत्तिहरति । बहुभववाधाकर कम्म बहुमपेपु वाधा सपादयत्कर्म ।

वैयावृत्यकृत्यं तपोत्तुभं व्याचष्टे—

मूलाय—तवसमाधिं तपसि वैयावृत्त्याख्ये समाधिमेकाप्रताम् ।

अर्थ—वैयावृत्त्य करनेवाले मुनि वैयावृत्त्य नामके तपमें एकाग्र होकर अनेक भवोंमें वाधा उत्पन्न करने-वाले कर्मका नाश करते हुए रत्नत्रयमें विहार करते हैं

जिणसिद्धसाहुधम्मा अणागदासीदवट्टमाणगदा ॥

तिविहेण सुव्यमदिणा सब्भे अग्निपूहुया हेति ॥ ३२२ ॥

त्रेया विशुद्धचित्तेन कालाश्रितयवर्तिनः

सर्वनीर्यकृतः सिद्धाः साधवः संति पूजिताः ॥ ३२२ ॥

विजयोदया—विजयसिद्धाधुःमा तीर्थरुक्ताः, सिद्धाः, साधवो, धर्मदत्त । अणागन्तवीरवद्वमाणगदा सर्वे त्रिकालवर्तिनः । सर्वे त्रिविधेण पूजिता होति सर्वे मनोवाक्यैः पूजिता भवन्ति । सुदृढमश्या शुद्धचेतसा । तीर्थरुक्तेष्वयस्त्वत्प्राप्तसंगमनापूजिताः, दशविधे धर्मे तपसोऽन्तर्गताद्वैद्याभूत्यस्य च तदन्तर्गतत्वादिषाभूत्ये आदरात् तत्प्राप्तये धर्मः पूजितो भवति ॥

वैपावृत्यकारिणा देवालिङ्गविनाशोनां पूजा संपाद्यते इत्युपरिस्थितिः ।

मूलाद्या—आभिपूजिता जिनाद्यस्तदसांसपादनदूजिता भवन्ति । दशविधे धर्मे तपसः सद्भावद्वैत्याभूत्य-
एव च तदन्तर्गतत्वात्तद्वदरात्तत्र प्रपुण्ये च धर्मः पूजितो भवति ।

अर्थ—जो मुनि वैपावृत्य करता है उससे भूतकालीन, वर्तमान कालीन और भविष्यकालीन तीर्थकार, भिद्वपरमेष्ठी, साधु और धर्म इनका शुद्ध अन्तःकरणसे मन्त्रचन काण्यमे पूजन किया है ऐसा समझना चाहिये-वैपावृत्य करना चाहिये ऐसी तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा है उसका पालन करनेसे तीर्थकरादिकोंकी पूजा की ऐसा समझना चाहिये है, उत्तम क्षमादि दण्डमकारके धर्ममें तपस्या अन्तर्भाव है, और तपमें भी वैपावृत्यका अन्वर्भाव है, वैपावृत्य में आवर और उसका आचरण करनेसे धर्म का भी पूजन किया ऐसा माना जाता है।

वैपावृत्यं दशविधं आचार्योपाध्यायतपस्त्रिदशकल्मानगणकुलसंघसाधुमनोसंभवेन । तत्राचार्यवैपावृत्य-
माहात्म्यकथनानन्दे—

आइरियचारणात् संघो सन्धो वि धारिओ होदि ॥

संघत्स धारणाए अज्जोच्छित्ती कया होई ॥ ३२३ ॥

सूरिधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूद्दैरिच काननम् ॥ ३२३ ॥

विजयोदया—आयरियधारणाए आचार्यधारणत्वात्, संघो सन्धो वि धारिओ होदि सर्वः संघोऽयधारितो भवति । कथं ? आचार्यो दि स्तनत्रं प्राद्वसति । गृहीतस्तनत्र्यांस्तेषु द्रव्यति । अस्त्रिचारजातान्त्र्यपतयति । तदुपदेश-

पक्षेनैव गुणसंहितरूपतां घटे संघो नान्यथेति संघो धारितो भवति । संघधारणाया गुणमाचरे । संघस्त धारणाप्य
अयोच्छिन्नी कदा होदि धर्मतीर्थस्थाभ्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य अयुच्छिन्नाः कृता भवन्ति । उपाध्यायादयः सर्वे
एव साधयन्ति निरयशेषकर्मोपायमिति साधुशब्देनोच्यते ॥

वैयावृत्यसाध्यां धर्मतीर्थस्थाभ्युच्छिन्ति गाभाद्वयेन व्याचिख्यासुराचार्योपाध्यायतपस्विद्वैद्यग्लानगणकुल-
सेपलाशुपनोन्नधिपयभेदादवापि वैद्यावृत्ते घर्मोचार्यवैयावृत्यस्यैव करणीयत्वमप्ररूपणार्थमिदमाह —

मूढारा—आयस्त्रिधारणाए पंचानाराचरणचंबुराचार्यद्वयस्य धारणा स्वकर्मसामर्थ्यधैर्यानिमित्तव्यावर्तेन
स्वकर्मसामर्थ्योपादानं वैयावृत्यकरणं इति यावत् । सचो यदूनां परमार्थहितसाधनाभिमुख्यपरितिलकुणभाषप्रत्यासत्तिरूपः
सदुदायः । स च प्रतिकंधकापायकारण्यप्रवृत्तधर्मानुष्ठानमेवाचरन्नुर्विषः । शारिङ् । आचार्यो हि रत्नत्रयं मुमुक्षुन् ग्राह्य-
ति । गृहीतलक्षणांस्तत्र ब्रूयति । अतीचाराज्ञानव्यपनयति । तदुपदेशपरालनेनैव गुणसंहितरूपतां घटे संघो नान्यथे-
त्याचार्यधारणासंधौ धारितः स्वल्पे व्यवहरामितो भवति । अय्योच्छिन्नी धर्मवीर्यस्य अन्युदयनिःश्रेयससुखसाधनस्य
संतत्या प्रयुक्तिः ।

वैयावृत्यके आचार्यं वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य इत्येव प्रकारं दश भेद है आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी
शिक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ ऐसे मुनिओंके दस भेद है. इन दसोंका वैयावृत्य करना योग्य
है इस लिये इनकी अपेक्षासे वैयावृत्यके मी दस भेद होते हैं. उसमें आचार्य वैयावृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

तेवम्यत्तमस्य साधोर्धारणायां गुणे कथयति—

साधुस्त धारणाए वि होइ तह चैव धारिओ संघो ॥

साधू चैव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो ॥ ३२४ ॥

साधुधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ॥

न साधुभिर्विना संघो भूद्धैरिव काननम् ॥ ३२४ ॥

पिजयोदया—साधुस्त धारणाए यत्तस्य साधोर्वैयावृत्यकरणेन धारणायां । होदि भवति । तद येव तथैव
आचार्यधारणातः संघधारणात् । धारितो संघोधारितो यति समुदायः ॥ कयोमस्तस्य धारणायां समुदायपयवयोर्भेदवि

त्यादांकायामाह—साधु चेय हि संघो साधुविरित्तो नेय संघो नागार्थान्तरभूतोऽस्ति साधुज्यविरित्तः । कथं चित्समुदायवयवोऽव्यतिरेक इति मन्यते भाषास्त्रयेवानेतं । अव्युच्छिन्नविशेष्यार्यात्वात् ।

निर्दिष्ट साधवतीति नवाधुमाध्यायद्वयः साधवः, अतस्तैष्वन्यतमस्यापि वैयवृत्यकरणे गुणं दर्शयति—

मुहुरा—साधुस्त उपधाध्यायदीनामन्यतमस्य । तत्र चैव आचार्यधारणात् संघवारणाजतः । संघो यतिसमुदायः साधुविरित्तो समुदायवयवयोः कथंचिदव्यतिरेकात्साधव एव संघ इति व्यवहियते ॥

उत्तमे आचार्यवैयवृत्यका माहात्म्य कहते हैं—

अर्थ—वैयवृत्य कर आचार्यको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे संघको रत्नत्रयमें स्थिर किया सरिला हो जाता है. क्योंकि, आचार्य महाराज शिष्योंको रत्नत्रय ग्रहण कराते हैं. जिन्होंने रत्नत्रयका स्वीकार किया है उनको उनमें दृढ़ करते हैं, अतिचार उत्पन्न होनेपर उनको दूर करते हैं. उनके उपदेशके माहात्म्यसे ही संघ अपनेमें गुणोंका समूह धारण कर सकता है. अन्यथा वह गुणों को नहीं धारण करेगा. इस लिये आचार्य को धारण करनेसे मंथन भी धारण होता है. मंथन धारण करनेसे अशुद्धय और मोक्षमुख देनेमें कारणभूत धर्म अन्याहत रूपसे प्रयत्नित होता है.

उपाध्याय, तपस्वी, श्रेष्ठ वरिष्ठ को साधु कहते हैं, क्योंकि वे संपूर्ण कर्मका नाश, अर्थात् मोक्ष को माधते हैं. उपाध्यायादिक साधुजोमेसे किसी एक साधुको रत्नत्रयमें धारण करनेमें कोनसा गुण है इसका उत्तर आचार्य कहते हैं—

जैमे आचार्यका वैयवृत्य करनेसे संघका धारण होता है वैसे एक साधुको वैयवृत्य कर रत्नत्रय में स्थिर करनेसे संघका धारणा होता है. अर्थात् यतिजोका समुदाय रत्नत्रयमें स्थिर होता है, एक साधुको रत्नत्रयमें स्थिर करनेसे समस्त यतिसमूह को कैसा धारण कर सकते हैं ? क्योंकि समुदाय और अवयव परस्पर भिन्न है. समता उत्तर ऐसा है—साधु हि संघ है. साधुओंसे संघ भिन्न पदार्थ नहीं है. क्योंकि समुदाय और अवयव परस्परने कथंचित् अभिन्न है. इसप्रकार अव्युच्छित्ति गुणका दोन गाथाओंसे विवेचन किया है.

सिद्धिसुखे चेतस एकाग्रता समाधिरित्युच्यते तदुपगृह्णन् कृतं भवतीत्याचष्टे—

गुणपरिणामादीहिं अणुत्तरविहीहिं विहरमाणेण ॥

जा सिद्धिसुहसमाधी सा त्रि य उवगृहिया होदि ॥ ३२५ ॥

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विचित्रैः परैः ॥

प्राप्यते चर्तमानेन समाधिः सिद्धिशर्मेणा ॥ ३२६ ॥

विजयोदया—गुणपरिणामादीहिं य गुणपरिणामः, यथा, वास्तव्यं, भक्तिः, पात्रलाभः, संधानं, तपः, पूजा, तीर्थांशुच्छिन्तिः क्रियेत्येतैः । अणुत्तरविधीहिं प्रकष्टैः क्रमैः । विहरमाणेण आचरता । जा सिद्धिसुहसमाधी सिद्धिसुखेकाग्रता । सा त्रि य उवगृहिया होद सात्प्राप्तैरिति । फलमेवावदः कार्यं समाधानमन्तरेण न प्रयत्नते । न हि साध्ये वदे चेतस्यसति तदुपायभूतवन्दविसारणफलमेव जनः प्रयत्नते । इह य गुणपरिणामादय उपायाः सिद्धिसुखस्य न य सिद्धिसुखेकाग्रतामन्तरेण ते मुच्यन्ते इति यावत् ।

वैयावृष्यसाध्वसिद्धिसुखसाधनगुणपरिणामाविनवकाचरणपरेण मुमुक्षुणा सिद्धिसुखैकनिष्ठमनस्कवालाक्षणः समाधिः प्राप्यत इत्यादर्शयति—

मूलार्ता—अणुत्तरविहीहिं उत्कृष्टक्रमैः । अणुत्तरविहा आलिङ्गिता । सिद्धिसुखसमाधिपरिणतो वैयावृष्यकरः स्यादित्यर्थः ॥ उक्तं य—

एवं गुणपरिणामप्रमुखैर्विचित्रैः परैः ॥

प्राप्यते यतमानेन समाधिः सिद्धिशर्मेणा ॥

सिद्धिसुखमेव चित्तकी एकाग्रता होना समाधि है. वैयावृष्य करतेसे उसका संरक्षण होता है इस विषयका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—गुणपरिणाम, यद्वा. वास्तव्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तप, पूजा और तीर्थांशुच्छिन्ति ऐसे न उक्त क्रमोंसे आचरण करने वाले मुनिके द्वारा सिद्धिसुखमें एकाग्रता नामक गुणकी प्राप्ति की जाती है. अर्थात् वैयावृष्य करनेवाली वृत्ति सिद्धिसुखकी एकाग्रतामें परिणत होती है. कारणोंमें जो आदर किया जाता है वह कारण के विषयमें एकताको करता है. अर्थात् कारणोंका संग्रह करनेसे उससे इष्ट कार्यकी सिद्धि होती है. परंतु यदि

मन में पट चाननेका निचार न होगा तो उसको चाननेके लिये दंड, चक्र, मृचिकादि कारणसमुदाय की प्राप्ति में जन प्रवृत्त नहीं होते हैं. प्रकृत प्रकरणमें गुणपरिणामादिक सिद्धिसुलकी प्राप्ति के उपाय हैं इस लिये वे सिद्धिसुलकी एकाग्रताको जोड़े बिना नहीं रहेंगे.

अणुपालिदा य आणा संजमजोगा य पालिदा होति ॥
णिग्गहिआणि कसार्थिदियाणि साखिहदा य कदा ॥ ३२६ ॥

सिमाज्जा पालिता सर्वा विजित्त्य गुणहारिणाः ॥

कृतं संयमसाहाय्यं कपायेन्द्रियवैरिणः ॥ ३२७ ॥

विजयप्रेरणा—अणुपालिदा य आणा अनुपालिता य आणा भवति घैद्याश्रुत्यं कुयंता । केतं ? तीर्थछद्दीनां । फेन आणा ह्येतत्तद्वत्प्रपञ्चं व्याप्यते भवति । संजमजोगा य पालिदा होति इत्यनेन संयमपदव्यवस्था कृता संयमेन सह संबंधः आचार्यदीनां । पालिदा होति रक्षिता भवति । व्याघ्रापहृतानां रोगपरिग्रहानसंकेधेन धारयितुमसमर्थानां । अथवा संयमो योगादयः तपस्वि भवन्ति भवन्ति । स्वस्य परेषां च करणानुमनानाम्यां स्वस्यापक्षि-राखेन ह्यस्थतोपजातसामर्थ्यदीनां संयमतेषां द्वात्वाये—अद्या इति याप्येषोपाध्याहारेण सूत्र-पदानि संबधनीयानि । यस्माद्विग्रहीतानि कपायेन्द्रियाणि तद्वैरिण्यानि कुयंता तस्मात्साखिहदा य कदा सहायता कृता ॥

मूळार्थः—संजमजोगा आचार्यदीनां संयमेन सह संबंधः । अथवा स्वस्य परेषां च संबन्धो, योगस्वानुदानादि-वर्गोन्द्रियाः । स्वस्य हि परैर्वैपाकुल्यं कारयित्वा त्रिवर्माणं वातुमत्तं स्वारत्यं प्राप्तः परेषामव्यापभिरासेन स्ववर्त्यनयोग-रक्षो करोति । साखिहदा संयमं तामयवं साहाय्यकं कृतं भवति । कपायेन्द्रियदोषपक्षेनलक्ष्यवैपाकुल्यकारिणा । कर्म ? यस्माद्विग्रहीतानि भवन्ति कपायेन्द्रियाणि तद्वैरिण्यानि कुयंता ॥

अर्थः—जो मुनि वैपाकुल्य करते हैं वे तीर्थकरादिकोंकी आज्ञा पालते हैं ऐसा समझना चाहिये. “अणु पालिदा य आणा” इस वचनमें आणा नामक ध्वजपदका व्याख्यान हुआ. ‘संजमजोगा य पालिदा होति’ इस वचनमें संयमपदका व्याख्यान हुआ. रोगादि आपत्तियोंसे ग्रसित होनेसे जो योगादि परिषदोंको बिना संकेष्टसे धारण करनेमें असमर्थ हैं ऐसे आचार्यादिकोंकी वैपाकुल्यके द्वारा शुश्रूषा करनेवाले मुनि उनको संयमसे संबद्ध कर देते हैं. अर्थात् वैपाकुल्य किया जानेसे आचार्यादिक असमर्थी न बनकर संयममें ही स्थिर रहते हैं. अथवा शुश्रूषासे उनके

संयम और अनश्रुतादि तथोक्ता रक्षण होता है, स्वतन्त्रता वैयावृत्य दूसरोंसे कराकर अथवा करनेवालोंको अनुमोदन देकर रोगादिकोसे निवृत्त हुआ साधु दूसरोंकी आपत्तियोंको दूर कर स्वतन्त्रके सदृश उनके संयम और योग की रक्षा करता है, ऐसा कार्य करनेसे संयमकी सिद्धि करनेवाले मुनियोंको साहाय्य किया जानेसे साखिलता नामक गुणकी सिद्धि होती है, वैयावृत्य करनेवाला मुनि इंद्रिय और कर्मायोंके दोष आपद्ग्रस्त मुनियोंको दिवाता है तब वे इंद्रियनिग्रह और कर्मानिग्रह करते हैं, इस लिये वैयावृत्य करनेवालेने इस कार्यमें सहाय किया ऐसा माना जाता है,

अविसयदानं दत्तं निव्विदिर्गिच्छा य दरिसिदा होइ ॥

पवयणपभावणा वि य निव्वुहं संघकज्जं च ॥ ३२७ ॥

दत्तं सातिशयं दानमधि कित्सा च दर्शिता ॥

संघस्य कुर्याता कार्यं वाक्यं भाषयता र्हताम् ॥ ३२७ ॥

विश्रयोवणा—अविसयदानं दत्तं अतिशयदानं दत्तं भवति । रत्नत्रयदानम् । निव्विदिर्गिच्छा य दरिसिदा होइ सम्मयदर्शनस्य गुणो निर्विचिकित्सा नाम सा प्रकटिता भवति । दानमधि कित्सा निरस्ता शरीरमद्यानां निराकरणाय सुगुणां विना । पवयणपभावणापि य प्रयत्नमागमस्तदुक्तार्थादिमननात् प्रयत्नमभयना भवति । निव्वुहं संघकज्जं च संघेन कर्तव्यं कार्यं च निश्चयेन संपादितं भवति । एतेन कज्जपुण्णाणि इत्येतद्व्याख्यातम् ।

रत्नत्रयदाननिर्विचिकित्सप्राप्तकटनप्रयत्नप्रभावनासंपर्कार्निर्वहणलक्षणगुणचतुष्टयं वैयावृत्यफलं न्याख्यातु-
निर्दिष्टम्—

मूलाः—अविसयदानं लोकोत्तरदानं, लोकोत्तमस्य रत्नत्रयस्य न्यापस्त्वियपनोद्देन संपादनात् । निव्विदि-
र्गिच्छा द्रव्यविचिकित्सानिरासाः, पुरीषादिदेहमलापनयनात् । पवयणपद्भावणा आयमोक्षाधीनुप्रानात्तन्माहात्म्यप्रकाशानं,
वैयानृत्यकृता कृतं स्यात् । निव्वुहं निश्रयेन संपादितं स्यात् ॥

अर्थ—वैयावृत्य करके आपद्ग्रस्त मुनियोंको रत्नत्रय का दान दिया जानेसे अविशयदान नामक गुण की सिद्धि होती है, वैयावृत्य करनेसे निर्विचिकित्सा गुणकी प्राप्ति होती है, यह निर्विचिकित्सा सम्मयदर्शनका गुण है, सुगुणाके विना योगी मुनीके विप्राश्वादि मल दूर करनेसे द्रव्यविचिकित्साका स्थापन होता है, निगमन्तम् तत्त्वज्ञेने

मानकर वैयावृत्य करता है. वैयावृत्य करनेसे संगमो अपना कतेव्यसपादन करनेका श्रेय प्राप्त होता है. इस गणने 'कञ्जपुण्यनि' इस पदकी व्याख्या हेतुकी.

वैयावृत्यस्य फलमादात्म्यं दर्शयति—

गुणपरिणामादीहि य विज्जावञ्जुज्जदो समज्जेदि ॥

तित्थयरणामकम्मं तिलोयसंखोभयं पुण्णं ॥ ३२८ ॥

गयं गुणाकरीभूतं वैयावृत्यं करोति यः ॥

लभते तीर्थकृत्ताम त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ ३२८ ॥

विज्ञयोवया—गुणपरिणामादीहि य गुणपरिणामादिभिः कारणभूतैः । पुण्यं तित्थयरणामकम्मं समज्जेदि । पुण्यं तीर्थकरनामकर्म समजयति । कीदृक् । तिलोयसंखोभयं त्रैलोक्यसंक्षोभकारणसमं ॥

वैयावृत्यस्य फलं फले तीर्थकरत्वनामकर्मोत्पन्नं परमपुण्यं एवेति—

मूलारा — ३२८म् ।

वैयावृत्यके फलका माहात्म्यं पठते हैं—

अर्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुनि गुणपरिणाम वर्गरे गुणोंकी साहाय्यतासे त्रैलोक्यको शुद्ध करनेमें समर्थ ऐसा तीर्थकर नामकर्मका पुण्य बाँध लेता है.

पदे गुणा महच्छा वेज्जावञ्जुज्जदस्स वहुया य ॥

अप्पिठ्ठो हु जायदि सञ्ज्ञायं चैव कुब्बंतो ॥ ३२९ ॥

लभमानो गुणानेवं वैयावृत्यपरायणः ॥

स्वस्थः संपद्यते साधुः स्वाध्यायोद्यतमानसः ॥ ३२९ ॥

गिजयोवया—एदे गुण्या महक्षो एते गुण्या महान्तः । वेज्जावज्जुलदस्स पैयावुत्थोचतस्स । यहुया य यहुयः । अण्हिदो दु जायदि भान्तप्रयोजनपर एष जायते । सज्झायं पे॥ कुब्बंजो ताप्थायमेव कुर्नन् पैयावुत्थपरस्सु सं परं चो यत्तीति मन्यते ।

देवयूतपरस्य जगत्पूज्ययुग्मवदुत्संपत्तिं स्वपरोदरणपरत्वेन स्वार्थपरस्थाध्यायपरदुःखद्वन्द्वं च भकाशयति-
मूलरता—महद्वा महानि माद्विभिलज्यमाणत्वाच्च, तत्पूज्यत्वान्महाफलत्वाच्च ॥ बहुधा बहुषोऽष्टादशसंख्या-
त्वात् । अल्पद्विदो ह्युक्तमप्रयोजनपर एव भवति स्वाध्यायमेव केवलं कुर्वन् । तैयानुलोसतस्तु त्वं परं बोद्धरीति केवल-
साध्यायपराजस्य विशेषः । स्वाध्यायकारिणोऽपि विषयदुपनिपाते वन्त्युल्लेखित्वात् । यथा बोद्धमार्थ-

स वैद्यावत्यमर्तुने प्रतस्येव्यामयाविषु ॥

अनास्यवरको मृत्या तपसो इवयं हि सत् ॥

आत्मनोऽयं प्रयोजनं आत्मार्यः । संजातोऽस्येति तारकादित्यादित इति सिद्धमात्मार्थिव इति ॥

अर्थ—जो मुनि केवल स्वाध्यायी करता है वह स्वतः ही कार्य करता है अर्थात् स्वतःकी ही आत्मोन्नति वह करता है. पंतु जो वैद्यावृत्य करता है वह स्वयंको और अन्यको भी उन्नत बनाता है. उपर्युक्त गुणपरिणाम पनौह भद्राच् गुणों की उसको प्राप्ति होती है. इस लिये स्वाध्यायमें तत्पर रहने वालेसे वैद्यावृत्य करनेवाला श्रेष्ठ गिना जाता है. स्वाध्याय करनेवालेपर यदि आपत्ति आवेगी तो उस समय उसको वैद्यावृत्य करने वालेका मुख देखना पड़ेगा. अर्थात् मेरी यह निपत्ति दूर करी ऐसा उसको कहना पड़ेगा.

वर्ज्येह लप्पमत्ता अज्जासंसग्गमग्गिविससरिसं ॥

अज्जाणुचरो साधू लहदि अकिन्ति खु अचिरेण ॥ ३३० ॥

तथाज्योतिषसंगतिर्गर्भवद्वन्निष्वालेष तापिका ॥

दुर्ज्ञानेति च निधाय ह्युकीर्तिं लभते ततः ॥ ३३० ॥

विजयोदया--यजोद वर्जयन्त अग्निना विरेण सद्यः आर्यजनसंसर्गः । प्रमादपिशैवैवमिहस्यज्यः । अग्नापु-
चरो आर्यवृष्टः । साधू साधुर्लब्धिं अकिञ्चनं कर्मते शयना अभिरेण यश्चिरेण । विश्वसंतापकान्तरिताया अविनाशनाया ।
शंपमन्नीयितानाराणाधिरसदशाया । आपस्य अयशासत्य प्रतेयन् मीर्यतेकोदुपि साप्यानाय, श्रियापश्चिरसंसपतोऽपि किं

पुनर्विदितेतिव्यस्य । परिदार्यमेषं उच्यते परितुं यत्किञ्च चापम्यदाद्य न परितुं । तथा ॥ श्लोकः—
 कथं पतिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपि यत् ॥
 नर पतिवधयोऽपि यदा कायेन धार्यते ॥

आर्यसंग्रहोपात्तं माधववेकनादं—

मूलाय—आर्मविसस्रिसं चित्तमंतापापादनादग्निना संयमजीवितविनाशनाद्विरेण च तुल्यमार्जिकानं सगं
 दूरं त्यक्त । अर्जीर्गे पापादकीर्त्तिं प्रायेण दृग्गज्जोऽपि निमति किं पुनर्विदितवेदितव्यत्वाव्यमशेषं त्युक्तुमुद्युक्तो यति-
 ज्ञः । अर्जिकानुत्तिष्ठ शिक्षोरपिरावसरकरिति सुतरा परिहार्येति वात्सर्यम् । तथा च श्लोको वक्ति—कथं पतिनि का
 रक्षा यशो रक्ष्यमपि यत् । नरः पतिवधयोऽपि यदा कायेन धार्यते ॥

अर्थ—हे साधुगण ! तुम प्रथम छोड़कर आर्जिकों का सहवास छोड़ो, क्योंकि आर्जिकों का सहवास अग्नि और
 निपके समान है, चित्तमें संताप उत्पन्न करता है इसलिये यह सहवास अशुभितुल्य है और संयमरूप जीवितका हरण करता
 है इस वास्ते यह निपतुल्य है आर्जिकों का अनुसरण करने माला साधु विश्रुतते और शीघ्र ही अपकीर्तिका
 स्थान बनता है, प्रायः पाप और अर्जीर्त्ती से करने माले मिथ्यादृष्टि और असंयमी सामान्य लोक भी उत्तम आचरण
 करते हैं, परंतु मुनि तो योगयोग्य सम जानते ही हैं उनके लिये क्या कहना चाहिये, अर्थात् उन्होंने तो अवश्य
 आर्जिकों का साथ छोड़ना ही चाहिये, जितने त्याज्य पदार्थ हैं उनको त्यागने के लिये मुनिजन उद्युक्त होते हैं इस
 लिये उनकी पाप और अपशुका जस्तु त्याग करना चाहिये, यद्यपि विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

अर्थात् शरीर तो पदंगा ही उसकी हम कैसे रखा कर सकेंगे परंतु यज्ञका संरक्षण करना हमारा परम
 कर्तव्य है, मनुष्य का शरीर इष्टगया तो भी यज्ञरूपी शरीरसे यह धारण किया जाता है, अर्थात् वह नरनेपर
 भी उगका यह जगतमें रहता है इसी लिये कीर्तिमान् मनुष्य हमेशा अमर रहता है ऐसा सज्जन कहते हैं,

येरस वि तवसिस्स वि बहुस्सुदस्स वि पमाणभूदस्स ॥
 अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं हवेज्जादि ॥ १२१ ॥

स्वविरस्य प्रमाणस्य शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ॥
आर्थिकासंगतेः साधोरपवादो दुरुत्तरः ॥ ३११ ॥

विजयोक्त्या—थेरस स्थनिरस्य । स्वसिस्त्व वि अनानादितपस्युत्तस्यापि । बहुसुदस्व वि बहुयुतस्यापि । प्रमाणभूदस्व प्रमाणभूतस्य । अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं देवेज्जादि धार्यापरित्यज्जाज्जनापवादो भवति ।

मूढारा—तवस्तिस्व अतश्चानादितपस्युत्तस्य । जणजंपणयं लोकापवादः ।

अर्थ—मुनि बृद्ध, तपस्वी, अर्थात् उपवास, अवयोदय, रसपरित्याग कर्मैव तत्र कालेवाला, बहुश्रुत और ज्ञानान्य होने पर भी यदि वह आर्थिकाका सहवास करनेवाला होगा तो वह लोगोंकी निंदाका स्थान देनेगाही। आर्थिकाके साथ परिचय होनेस उसकी निंदा होना दुर्निवार है।

किं पुण तरुणो अयहुस्सुदो य अणुकिट्ठतवचरिचो वा ॥

अज्जासंसग्गीए जणजंपणयं ण पावेज्ज ॥ ३१२ ॥

न किं यूनोऽल्पवियस्य भवं विदधतस्तपः ॥

कुर्वाणस्यार्थिकासंगं जायते जनजरूपनम् ॥ ३३२ ॥

विजयोक्त्या—किं पुण ण पावेज्ज जणजंपणयं किं पुनर्न प्राप्तुपाउन्नमपवादं वा ? प्राप्नोति नियोगतः । केन ? अज्जासंसग्गीए आर्वागोएथा । कः ? तरुणो अयहुस्सुदो अणुकिट्ठतवचरिचो य तरुणो यतिरबहुयुतोऽनुत्कृष्टतपधा-
स्तिरस्य ॥

मूढारा—अणुकिट्ठं अनुत्कृष्टं । अज्जासंसग्गीए आर्वागबनगोएथा ॥

अर्थ—जो तरुण है, बहुश्रुतता जिसमें नहीं है अर्थात् जिसमें हिताहितका विचार कम है, जो उत्कृष्ट पारिवका धारक नहीं है ऐसा यदि आर्थिकाके संगमसि अननिंदाको प्राप्त न होगा क्या ? अवश्य होगा. तत्पर्यं यह है कि, जब विवेकपूर्ण, महान् तपस्वी और लोकभान्यतायुक्त ऐसा युनि भी आर्थिकाके सहवाससे अपकीर्तिका पात्र बनता है तो इतर अल्पज्ञ मुनिथोके विषयमें क्या कहना चाहिये.

अदि वि सर्वं थिरबुद्धी तद्वा वि संसगिलद्धप्सराए ॥
आंगसमीवे व षदं विलेज्ज विचं खु अज्जाए ॥ ३३३ ॥

आर्षिकामानसं सण्यो यतिसंगे विनश्यति ॥

सर्पिर्वन्धेः समीपे हि काठिन्यं किं न मुंचति ॥ ३३३ ॥

स्वयं साधोः स्थिरत्वेऽपि संसर्गमासष्टृष्टता ॥

क्षिप्रं विभावसोः संगे सा लोक्षेव विलीयते ॥ ३३४ ॥

विजयोपवा—अदि वि सर्वं थिरबुद्धी यद्यपि स्वयं स्थिरबुद्धिः । तद्वा वि तथापि । संसगिलद्धप्सराए संस-
र्गादुत्थप्रसरायः । अज्जाए आनोयः । विचं विलेज्ज विचं प्रवर्तते । किमिव ? अनिवसमीये य षदं अर्षिकामीपक्यं पुलभिव ।
न केवलमायोजन मय पादित्वापीयः किं तु—

बुद्धाए—थिरबुद्धी स्थिरचित्तो यतिः । संसर्गिवर्तिना षदं गोप्ती तथा लब्धः प्रसर्पिचोलासो यथा । विलेज्ज
विलीयते ॥

अर्थ—मुनि यद्यपि थिरा बुद्धिका थारक होगा तो भी मुनिके सखवासते जिसका चित्र बंचल हुआ है-
ऐसी आर्षिकाका मन अत्रिके समीप भी जैसा पिपल जाता है वैसा पिपलेगा इस वास्ते मुनि और आर्षिका दोनों
कोभी अमौन्य परिवच छोडनाही योग्य है.

सन्वद्य इत्थिवग्गमि अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ॥

णित्थरदि थंभचेरं तत्त्विवरीदो ण णित्थरदि ॥ ३३४ ॥

अविन्धत्तोऽजानावर्गे सर्वज्ञाप्यप्रमादकः ॥

प्रसचयं यतिः वास्तो रक्षितुं न परः पुनः ॥ ३३५ ॥

विजयोपवा—सन्वद्य इत्थिवग्गमि सर्वज्ञश्चेत् स्वीयं गालाकन्यामप्यमास्थविद्यादुरुपातिरुतेति विचित्रमेवे ।
अप्यमत्तो अप्रमत्तः प्रमादकः । सया अवीसत्थो विज्ञावरहितः । णित्थर निस्तरति वंभचेरं ब्रह्मचर्यं । तद्विवरीदो
तद्विवरीदः प्रमत्तः पित्रसर्पाद्य । ण णित्थरदि न निस्तरति ॥

न केवलं आर्वा एव लाज्या । किं यदि सर्वोऽपि स्त्रीजन इत्यनुशास्ति—
मूढारा—सञ्चलत्वात्, कुमारी, युवतिर्यध्यमा, वृद्धा, मुरुणा, कुरुणा इत्यादिविचित्रभेदे । अवीसत्या वि-
श्वासरहितः । नित्यरश्मिरणोत्तं प्रापयति ॥

अर्थ—पालिका, अविवाहित कन्या, तरुणी, मध्यम वयस्की स्त्री, वृद्ध स्त्री, मुरुप स्त्री और कुरुप स्त्री
एसे संपूर्ण स्त्रीमात्रमें मुनिजो प्रमादरहित होना चाहिये, विश्वासरहित होना चाहिये, इस रीतीसे प्रवृत्ति करनेवाला
मुनिही आजन्म अपना ब्रह्मचर्यव्रत निर्दोष पालन कर सकेगा अन्यथा नहीं, जो मुनि प्रमादी और स्त्रीजनमें
विश्वासयुक्त है वह अपने ब्रह्मचर्यव्रतको नहीं निभा सकेगा।

आर्याजुचरिते दोष प्रकटयति—

सर्व्वचो वि विमुक्तो साहू सञ्चत्य होइ अप्पवसो ॥

सो चेव होदि अज्जाओ अणुचरंतो अणप्पवसो ॥ ३३५ ॥

विमुक्तः सर्व्वतो जातः सर्व्वत्र स्ववशो यतिः ॥

आर्षिकाजुचरीभूतो जायतेऽन्यवशः पुनः ॥ ३३६ ॥

विजयोवशा—सर्व्वचो वि विमुक्तो साहू सञ्चत्य होइ अप्पवसो सर्व्वसाक्षात्सुखेन्द्रादिकादिमुक्तः साधुः सर्व्वत्र
भवति स्ववशः । सो चेव स एवात्मवशः । होइ भवति । अणप्पवसो अमात्मवशः । किं कुर्वन् ? अज्जाओ अणुचरंतो आर्यो
अजुचरन् ॥

मूढारा—सर्व्वचो वि सर्व्वसाक्षात्सुखेन्द्रादिकात् । विमुक्तो ब्यावृत्ताचित्तः । अज्जाओ आर्षिकाः अणुचरंतो अनु-
वर्तमानः ॥

अर्थ—जो साधु वार, संत, धनधान्यादि सर्व्व प्रकारके पीछाहोते भगवत्तरहित हुआ है, वही सर्व्व वस्तु
ओमेंसे अपने मनको जलम रखकर बितेन्द्रिय होता है, परंतु जो मुनि आर्षिकाके साथ परिचय रखता है वह
अपनेकी आत्माके शुद्ध स्वरूपमें तत्पर नहीं कर सकेगा, अर्थात् चित्तेन्द्रियता गुणको छोड़ देवेगा, इसीलिये आर्षि-
काका परिचय मुनिजोंके लिये निषिद्ध माना है।

सेलपट्टिमपपाणं ण तरदि जह मच्छिया विमोचेदुं ॥

अज्जाणुचरां ण तरदि तह अप्पाणं विमोचेदुं ॥ ३३६ ॥

आर्यिकावचने धीमि वर्तमानो दुरुत्तरे ॥

शक्तो मोचयितुं न स्यं श्रेष्ठममग्रेव मक्षिका ॥ ३३७ ॥

विजयोदया—रेलपट्टिमपपाण श्रेष्ठपरीतमायान । जह ण तरद मच्छिया विमोचेदुं यथा न तरति मक्षिका विमोचयितुं । तह अज्जाणुचरो ण तरद अप्पाण विमोचेदुं तथा आर्योदुचरो न शक्नोति जहमान विमोचयितुं ॥

मूलारा—रेल श्लेष्मा । ण तरदि न शक्नोति ॥

अर्थ—जैसे मनुष्यके रक्तमें आणोत् रक्तमें पड़ी हुई मक्खी उससे निकलनेमें असमर्थ होती है वैसे आर्यिकाके साथ परिचय किया हुआ मृनि भी उससे छुटकारा नहीं पाता है. अर्थात् उसका स्नेह छोड़नेमें वह असमर्थ होता है.

सायुस्स णत्थि लोए अज्जासारिमी खु बंधणे उवमा ॥

चग्गेण सह अव्वेतो ण य सरिस्सो जोगिकसिल्लेसो ॥ ३३७ ॥

मार्या बंधेन यंधोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिद्यता यते ॥

वज्रलेपः स नो तुल्यो यो याति सह चर्मणा ॥ ३३८ ॥

द्रव्यव्रतं मुक्षुणां स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ॥

मंडूकः पद्मगेनेव भीषणेन विनाश्यते ॥ ३३९ ॥

धरौणाभिव सांगत्यं पुंसा सर्वस्वरक्षिणा ॥

योगिना योपितां त्याज्यं ब्रह्मचर्यप्रपालिना ॥ ३४० ॥

इत्यार्यासंगत्यजनसूत्रम् ॥

विजयोदया—सायुस्स णत्थि लोए अज्जासारिमी खु बंधणे उवमा । साधोर्नस्ति लोके आर्यासिद्धी बंधने

उपमा । चम्रेण सह अर्धतो चर्मणा सह अपयच्छन् । न य सारितो जोषिगसिलेसो नैव सदृशः चर्मकारलेपः । केवलं आर्याजिनो दूरत एव पट्टिभ्यः अपि तु अन्यदपि वस्तु ॥

भूजारा—अज्जेत्यादि—अर्धतो द्रव्यमुपमा उपमेयं अस्मादधिक्या सदृशं । तर्हि चर्मयोजितवज्जलेपसमवेणा मुनेरार्यिका आर्यव्यतीति श्रुतिमानं प्रत्याह । चर्मोणत्वादि जवतो जवगच्छन् । जोषिगसिलेसो वज्जलेपः । उक्तं च—

नार्यो वपेन चर्मोऽप्यस्तुत्यो दृष्टाच्छिवा यतोः ॥

वज्जलेप. स सो हस्तो यो याति सह चर्मणा ॥

अर्थ—साधुके लिये आर्यिकाका सदृशस ऐसा बंधन है कि उसका वर्णन करनेके लिये जगतमें हृदयमान सोइ भी बंधन उपमानरूप नहीं है. चर्मके साथ वज्जलेप भी उसके लिये उपमान नहीं है. किसी चीजके ऊपर वज्जलेपके साथ चर्मका भी बंधन किया तो भी वह वस्तु उस बंधनसे मुक्त होनेकी संभावना होगी परंतु आर्यिकाका परिचय ऐसा बंधन है कि उससे वह दूरना असंभव है.

अण्णं पि तद्वा वस्तुं जं जं साधुस्स बंधणं कुण्णिदि ॥

तं तं परिहरह तदो होहदि दडंसंजदा तुज्झ ॥ ३३८ ॥

यद्यदन्यदपि द्रव्यं किंचिद्वंधनकारणम् ॥

तत्तन्निधा निराकृत्य जायच्चं दडंसंयमाः ॥ ३४१

विज्ञयोदया—अण्णं पि तद्वा वस्तुं अन्यदपि तद्वस्तुं वस्तु । जं जं साधुस्स बंधणं कुण्णिदि यत्साधोर्वंधनं करोति अस्वतंत्रतां करोति । तं तं परिहरह तत्तत्परिहारे उद्योगं कुरुत । ततः वस्तुत्यागात् । होहदि दडंसंजदा तुज्झ भवतां दडंसंयतता शुणो भवत्येवमिति यावत् । बाह्यवस्तुनिमित्तो ज्ञासंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति ॥

न केवलमार्गजन एव दूरतस्याज्योऽपि तु—

भूलाप—तथा तथाभूतमार्थिकासदृशमित्यर्थः । बंधणं पारतंत्र्यं । तदो बंधनकारिबस्तुत्यागात् । होहदि भविष्यथ । दडंसंजदा बाह्यवस्तुनिमित्तो ज्ञासंयमस्तस्यागे त्यक्तो भवति । तुज्झे भव्यं ॥

आपि सोऽत्रोक्ता ही दूरमे त्याग करना चाहिये ऐसा नहीं परंतु इतर वस्तु भी त्यागनी चाहिये —
अर्थ—जिम २ वस्तुमे साधु वंश जाता है, परतंत्र होता है वह वह वस्तु हे साधुगण ! तुम छोड़नेका उद्योग करो. ऐसी वंशनकारक वस्तुयें छोड़नेसे तुम्हें दृढव्ययगुणकी प्राप्ति होगी. बालवस्तुके सहवाससे असंयम उत्पन्न होता है. परंतु ऐसी वस्तु तुम छोड़ दोगे वन असंयमब्र त्याग होगा.

पासत्यादीपणयं णिचं वज्जेह सन्नधा तुम्हे ॥
हृदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस तम्मयदा ॥ ३३९ ॥

पार्थव्याससंसंस्पर्ककुशीलमृगचारिणः ॥
मलिनीक्रियते शश्वत्फललेनेव संगतम् ॥ ३४२ ॥
कपरायाकुलापिस्तानां पार्थस्यानां दुरात्मनाम् ॥
सुजंगानामिव त्याज्यः संगद्विद्वग्गवेपिणाम् ॥ ३४३ ॥

वित्तवैशेष—पासत्यादीपणयं पार्थस्यादिपंचकं पार्थस्या, अयस्य, संसक्त, कुशीलो, मूलचरिका इति पंच । तान् मूलतो निराकृत । अण्डरित्यादिपणमाह—मेलणदोसेण तम्मयदा होइ संसर्गदोषेण पार्थव्यादिमयता । तन्मयताप्रसि-
पसिबमव्यपनायाता गता ॥

अथ पार्थव्यादिसंगतत्वात् गामात्रेणमाह—

गूढारा—पासत्यादीपणयं पार्थस्यावसससंस्पर्ककुशीलमृगचारिणानां पंचकं । ते हि द्रव्यज्जमिप्यदृष्टवः । तथा
पासत्योसंस्पर्ककुशीलावससतो य होइ सच्छंदो ॥

एष पंच वि सकणा विजयवर्णपरम्पुहा भणिया ॥

इंदि जानीहि । तन्मयता पार्थव्यादिसंख्या । तद्वद्वगणानि अण्डरितुसिष्टौ वस्यते संज्ञपतस्त्विमानि—
पृथेऽसोऽयसजःपार्थव्यो यद्विजयपरदोषेऽप्रतिष्ठे ।

पोषम्—

संसर्गवशाद्गुणदोषौ भवतोऽचेतनेष्वपीति दृष्टान्तेन बोधयति --

जह् भाविज्जह् गंधेण महिया सुरभिणा व इदरेण ॥

किह् जोएण ण होज्जो परगुणपरिभाविओ पुरिसो ॥ ३४२ ॥

नानाशुभेन गंधेन मृत्तिका यदि वास्यते ॥

तदा नान्यगुणैरत्र कट्यतां पुरुषः कथम् ॥ ३४७ ॥

विप्रजोष्या -- जदि यदि । भाविज्जह् भाग्यते वास्यते । गंधेण गंधेन महिया मृत्तिका । सुरभिणा व इदरेण सुरभिणा च इदरेण वा । कह् जोएण होज्जो कथ संबधेन न भवेत् । परगुणपरिभावनो पुरिसो परेणं पार्श्वपात्रीनो गुणैः परिभाषित पुरुषः ॥

संसर्गवशाद्गुणदोषावचेतनेष्वपि स्यातां किं पुनश्चेतनेऽस्मिन्ति दृष्टान्तावष्टेनाचष्टे --

मूढारा -- भावेज्जह्दि वास्यते । जोगेण संबधेन । परगुणपरिभाविदो परेणं सिद्धानां गुणैः शुभाशुभैर्वर्गैः समन्ता-
द्रासितः ॥

संसर्गसं अचेतनपदार्थमें मी गुण ओर दोष उत्पन्न हो जाते हैं वही बात दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं --

अर्थ -- यदि दुर्गंध अथवा दुर्गंधके सहवाससे मृत्तिकाभी सुगंध अथवा दुर्गंध बनती है तो पार्श्वस्थादि-
कौंका संयोग होने पर मुनि उनके सुगंधसे क्यों न तन्मय होगा ? अर्थात् होगा ही अथवा परपदार्थ यदि सुगुण
होगा तो उससे संयुक्त होने वाला पदार्थ भी सद्गुणसंपन्न होगा और परपदार्थ यदि दुर्गुण अर्थात् दोषयुक्त
होगा तो वह भी दोषसे पूर्ण होगा ही.

परगुणप्रशङ्गमाह --

ॐ जो जारिसीय मेत्ती केरह सो होइ तारिसो चेव ॥

वासिज्जह् च्छुरिया सा रिया वि कणयादिसंगेण ॥ ३४३ ॥

ॐ गुह्यारपन्त र्द्वेषमें बह् गायना तथा उसकी टीका नहीं है तथा व्यक्तिगतित प्रतीत श्लोक भी नहीं है

विजयोदया—दृष्टान्तलोपन्यस्ता मृत्तिका क्षुरिका च । तथा चोक्तं सुरमिणा च इदरेण जारिखीति च ॥

परगुणग्रहण यह पदार्थ का स्वाभाव है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ऊपर महीन्द्र उदाहरण दिया है, इस श्लोकमें छुरीका उदाहरण आचार्य देते हैं, जैसे छुरी सुवर्णा-
दिक की जित्दहं देनेसे सुवर्णादि स्वरूपकी दखिनी है वैसे मनुष्य भी विसर्वाकी मित्रता करेगा वैया अर्थात्
मनुष्य दुष्टके सहवाससे दुष्ट और सज्जनसंगसे सत्पुरुष होता है.

दुष्कृतसंसर्गाए पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि ॥

सयिलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ॥ ३४४ ॥

शिष्टोऽपि दुष्टसंगेन विजहाति निजं गुणं ॥

नीरं किं नाग्नियोगेन घातितत्वं विमुंचति ॥ ३४७ ॥

विजयोदया—दुष्कृतसंसर्गाए पजहदि गियगं गुणं खु सुज्जणो वि । विजहाति स्वगुणं खुज्ज-
णोऽपि । सयिलभावं जहा उदयं पजहदि शैलं भावं यथा जहायुदकं । अग्निजोएण अग्निसंघर्षेन । साधुः स्वगुणं जहात्यन-
लसंघट्टजलमिवेति सद्वृत्तगुणसंगे वृत्तित् । ॥

दुर्जनसंसर्गागं गायपदेनोपेदुक्कामो दुर्जनसंसर्गास्तुजतत्वापि सहजगुणत्वायं दृष्टावेन समर्थयते—

मूढारा — स्वधम् ॥

अर्थ—सज्जन मनुष्य भी दुर्जनके संगसे अपना उज्ज्वल गुण छोड़ देता है, अग्नीके सहवाससे ठंडा भी
जल अपना ठंडपना छोड़कर बया गरम नहीं होता ? यह सहजगुणके त्यागका दृष्टांत है, अर्थात् अग्निके सहवाससे
नीवस्वभाव का जल भी अपना स्वभाव छोड़कर गरम होता है, वैसे सज्जन अपने जन्मजात निर्मल गुणोंको
छोड़कर दुर्जनके सहवाससे दूष्ट बनता है.

अशोभनगुणेन संसर्गात् तद्वत् स्वयमप्यशोभनगुणो भवतीति कथयति—

सुज्जणो वि होइ लहुओ दुष्कृतसंमेलणाए दोसेण ॥

माळा वि मोल्लिगरुया होदि लहू मडयसंसिद्धा ॥ ३४५ ॥

संसक्तो मृगचरितः स्वकल्पिते प्रकटकुचरितस्तु कुशील, ॥

अर्थ—पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त, कुशील, मृगचारित्र एते पांच चारित्र्यप्रष्ट मुनिओंका आप दूरसे ही त्याग करो. यदि उनका संसर्ग करनेसे तो उस संसर्गदोषसे आप भी उनके सरलित हो जाओगे. ये पार्श्वस्थादि मुनि प्रच्छन्न मिथ्यादृष्टि हैं.

पार्श्वस्थानि संसर्गं कर्तुं बांछन्त्यपि—

लज्जं तदो विहिंसं पारंभं गित्विसंकदं चेव ॥

पियधम्मो वि कमेणारुहंतओ तम्मओ होइ ॥ ३४० ॥

लज्जां जुगुप्सन् योगी प्रारम्भं निर्विशंकताम् ॥

आरोहन्प्रियधर्म्मपि कमेणेत्पस्ति तन्मयः ॥ ३४४ ॥

विजयोदया—लज्जं लज्जां उपारोहति । ततः पञ्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सां करोति । कथमहमेवंविधं प्रतर्ज्जं करोमि । दुस्तर्ज्जसापतनेहेतुमिति । पञ्चाचारित्र्यमोहोदयात्पश्यशः पारंभं प्रारभते । कृत्यारंभो यतिरारंभपरिमत्तादियु निर्विसंकदं चेव निर्विशंकतामुपैति । पियधम्मोयि धर्म्मप्रियोऽपि । कमेणारुहंतगो कमेण प्रतिपद्यमानो लज्जाविक्रं । तम्मओ होइ पार्श्वस्थादिको भवति ॥

तन्मयताप्रतिपत्तिकमाक्यान्यार्थमाह—

मूढारा—कथमित्यादि । धर्म्मप्रियोऽपि लज्जादीन् क्रमेणोदन्मार्श्वस्थादिको भवति । तथा हि पार्श्वस्थादि-

संसर्गं कर्तुं बांछन्त्यपि लज्जामारोहति ततः पञ्चाद्विहिंसं असंयमजुगुप्सां प्रतिपद्यते । कथमहं एवंविधं प्रतर्ज्जं करोमि दुरंत-संसारपतनेहेतुमिति । तदनु चारित्र्यमोहोदयात्पश्यस्तं प्रारभते । ततश्चारंभपरिमत्तादियु निर्विशंकतामुपैति । ततश्च पार्श्वस्थादिको भवति ॥

उनके संसर्ग करनेसे तन्मयता कैसी आती है इसका क्रम वर्णन आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—प्रथमतः पार्श्वस्थादिक मुनिओंके साथ संसर्ग रखनेमें लज्जा आ जाती है. अनंतर प्रयुक्ता होती है.

अथोद् इम अमूल्य प्रकृता नाश करनेमें मैं कैसा उत्तुक्त होऊँ, यह मेरा अववाक्यकार्य दुःखदायक संसारमें पतनका कारण होगा। ऐसा विचार मनमें अनेक बार पार्थस्यादिकोंके विषयमें उस जो जुगुप्सा उत्पन्न होती है, नंतर चारित्र्य मोहकर्मका उदय होनेमें यह परवश होकर अवर्ण्य करनेके लिये उत्तुक्त होता है, अवर्ण्य कर वह मुनि आरंभ परिग्रहादिकोंमें निःशङ्क होता है, यद्यपि वह मुनि पार्थस्यादिकोंके सहवासके प्रेममें धर्मप्रिय था तो भी क्रमसे लज्जा, जुगुप्सा वगैरह भावोंको प्राप्त होकर पार्थस्यादिरूप हो जाता है, यद्यपि वह शरीरसे और वचनसे पार्थस्यादिरूप नहीं है तो भी मनमें ऐसा हो जाता है,

यद्यपि वाक्पावाक्यां न प्रवर्तते तथापि मानसी पार्थस्यादितो प्रतिपद्यत इत्याद्ये—

संविग्नस्त्वपि संसर्गाद् पीवी तद्वो य वीसंभो ॥

सखि वीसंभे य रदी होइ रदीए बि तमयवा ॥ ३४१ ॥

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विक्रमभ्य परमस्ततः ॥

ततो रतिस्ततो न्यस्तं संविग्रोऽप्यस्ति तन्मयः ॥ ३४२ ॥

त्रिजयोद्या—संविग्नस्तत्र वि संसारभीतेरपि जेतः संसर्गात् पार्थस्यादिसंज्ञेन । पीवी होवि प्रीतिर्भवति । तवो य प्रीतेः सक्ततात् । वीसंभो होदि विरक्तभी भवति । खदि वीसंभे य रदी विरक्तो भवति रतिर्भवति । पार्थस्यादितु रदीए वि तमयवा रत्ना य तमयता ॥

यद्यपि तत्संज्ञाया वाक्पावाक्यां न तदाचारे प्रवर्तते तथापि मानसी पार्थस्यादिरूपता प्रतिपद्यते इत्याद्येष्ट—
मूलाया संसर्गात् पार्थस्यादिसंज्ञेन । वीसंभो निश्चयम् । रदी पार्थस्यादितु संसर्गेण चित्तविश्रान्तिः ॥
रदी आगम आगे की भावोंमें आचार्य कहते हैं—

अर्थ—संसर्गमप्युक्त मुनि भी पार्थस्यादिकोंके सहवाससे प्रथम प्रीतियुक्त होता है, प्रीतिके अनंतर उस विषयमें मनमें नियाम होता है, अनंतर उन्हींमें चित्त निश्चान्ति लेता है अर्थात् आसक्त होता है और वदन्तर वह संसारमूल मुनि भी पार्थस्यादिमय बनता है,

लाघवं दुष्टसंगेन शिष्टोऽपि प्रतिपद्यते ॥

किं न इत्तमयो माला स्वल्पार्था शवसंगता ॥ ३४८ ॥

विजयोदया—सुजनों वि होइ लख्यो सुजनोऽपि भवति लघु । दुर्जनसंमेलणाय दोसेन दुर्जनगोपीयोगेन ।
मालावि मोहणकया मालापि सुमनस्तं ग्रीस्त्रेन लघ्वी । होइ भवति । मलयसंनिधौ मृतरुसा संनिधौ ॥

निधगुणसंगवद्गुणपरिणतिं प्रतिपद्यति—

मूलात्—स्पष्ट ॥

हरे गुणके सहवाससे मनुष्य बुरा अर्थात् दुष्ट होता है इसी अभिप्रायको स्पष्टान्वसे स्पष्ट करते हैं—
अर्थ—दुर्जनके योगोंका संग संग होनेसे सज्जन भी नीच होता है. बहुत फीमत्तकी पुष्पमाला भी फेंकते
अर्थात् शवके संसर्गसे काँदीके फीमत्तकी होती है.

अबुष्टोऽपि दुष्ट इति शङ्क्यते यतिः पार्श्वस्थादिगोच्छ्रया स्वेतदुष्टान्तेनाचष्टे—

दुर्जनसंसर्गादि संकिञ्जिदि संजदो वि दोसेण ॥

पाणागारे बुद्धं पियतलो वंभणो चेव ॥ ३४६ ॥

संयतोऽपि जमैर्दुष्टो दुष्टानामिह संगतः ॥

क्षीरपा ब्राह्मणः शौण्डः शीण्डानामिव शङ्कयते ॥ ३४९ ॥

विजयोदया—दुर्जनसंसर्गादि इति स्पष्टार्थो गथा ॥

पार्श्वस्थादिंसंजगद्दुष्टोऽपि यतिर्दुष्ट इव शङ्क्यते इत्याचष्टे—

मूलात्—पाणागारे ज्ञानापायगोष्ठया ? (मसपानगोष्ठया इति भवेत्) वंभणो शिवभूविनिम्न । चेव यथा ।

पार्श्वस्थ वीरस्य कुपुनिष्ठाके संसर्गसे अबुष्ट भी यति लोकोके द्वारा दुष्ट माना जाता है. इसको स्पष्टान्वसे
आचार्य स्पष्ट करते हैं.

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दीपरहित भी युनि लोकोके द्वारा दोषयुक्त गिना जाता है. मदिरागृहमे जाकर
कोई ब्राह्मण दूध पीचे तो भी उसने मद्य पिया है वह मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं.

परदोसगहणलिच्छो परिवावरदो जणो खु उरसूणं ॥
 दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंपणोगासं ॥ ३४७ ॥
 परदोपपरीचादग्गही लोको घतोऽखितः ॥
 अपचादयदं दोपं मुचध्वं सर्वदा ततः ॥ ३५० ॥

विजयोदय—परदोसगहणलिच्छो परदोपग्रहणेच्छावात् । परिवावरदो परोक्ष परदोपवचने रतः । जणो जतः ।
 उरसूणं तु नितरागेय । तेण दोसत्थाणं परिहरह तेन दोषस्थानपरिहारं कुरुत । जणजंपणोगासं जनजस्यमावकाशं ॥

दोपापकारस्थानपरिहारसाह—

मूढार!—लिच्छो इच्छावान् । परिवावरदो परोक्षे परदोपवचने रतः । दु यस्मात् उरसूणं अतीव । जणजंपणोगासं
 लोकापवाचारवद्म् ।

अर्थ—लोक परदोप ग्रहण करनेके लिये उत्तुक रहते हैं, परोक्ष दोष कहनेमें वे आनंदित होते हैं, इस
 वास्ते हे मुनिगण ! जहाँ जाने दोषसंसर्ग होमा ऐसे स्थानोंका और बीजोंका आप त्याग करो, क्योंकि ऐसी
 बीजें रखनेसे लाभमें अपकीर्ति होती है.

दुर्जनगोष्ठी अनर्थमायबलैर्बलौकिकमित्येतत्कथयति—

अदिसंजदो वि दुज्जणकएण दोसेण पाठणह दोसं ॥
 जहू घूराकए दोसे हंसो य हवो अपावो वि ॥ ३४८ ॥
 दुर्जनेन कूले दोषे दोषमाप्नोति सज्जनः ॥
 कादंचः कौशिकेनेच दोषिकेणापद्रूयणः ॥ ३५१ ॥
 दुर्जनस्यापराधेन पीड्यते सज्जना जने ॥
 अपराधपराचीनाः पुदाकोरिव हंडुभाः ॥ ३५२ ॥
 असंयतेन चारित्र्यं संयतस्यापि लुप्यते ॥
 संगतेन समुद्रस्य सर्वस्वमिव वस्युना ॥ ३५३ ॥

लाघवं दृष्टसंगेन विष्टोऽपि प्रतिपद्यते ॥

किं न रत्नमयी माला स्वल्पाद्या श्रावसंगता ॥ ३४८ ॥

विजयोदया—मुल्लो वि होइ लहुओ सुजनोऽपि भवति लघु । दुज्जनसमेक्षणए दोखेण दुर्जनगोष्ठीदोयेण ।
मालावि मोहगदया मालावि सुमनसा मोलेन लब्धी । होइ भवति । मदयससिद्धा मृतकस्य ससिद्धा ॥

निचगुणसंगच्छुणपरिणतिं प्रणिगदति—

मूलरा—रपट्ट ॥

पूरे गुणके सहवाससे मनुष्य बुरा अर्थात् दुष्ट होता है इसी अभिप्रायको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—
अर्थ—दुर्जनके दोषोंका संग होनेसे सज्जन भी नीच होता है, बहुत कीमतकी गुणमाला भी अंतके
अर्थात् श्रावके संसर्गसे कौड़ीके कीमतकी होती है.

अदुष्टोऽपि दुष्ट इति शक्यते यति पार्थस्यादिगोष्ठा इत्येतदुष्टान्तेनाचष्टे—

तुज्जनसंसर्गीए सकिञ्जदि संजवो वि दोसेण ॥

पाणगारे दुद्धं पियतओ वंभणो चेव ॥ ३४६ ॥

संयत्तोऽपि जमैदुष्टो दुष्टानामिह संगतः ॥

क्षीरपा ब्राह्मण दौण्ड शौण्डानामिव शंकयते ॥ ३४९ ॥

विजयोदया—दुज्जनससर्गीए इति स्पष्टार्था गाथा ॥

पार्थस्येवामिसर्गादुष्टोऽपि चतिदुष्ट इव शंकयते इत्याचष्टे—

मूलरा—पाणगारे ज्यानापानगोष्ठया ? (मद्यपानगोष्ठया इति भवेत्) वभणो शिवभूतिर्नाम । चेव यथा ।

पार्थस्य वगैरह कुमुनिओके संसर्गसे अदुष्ट भी यदि लोकोके द्वारा दुष्ट माना जाता है इसको दृष्टान्तसे
आचार्य स्पष्ट करते हैं.

अर्थ—दुर्जनके संसर्गसे दोषरहित भी मुनि लोकोके द्वारा दोषयुक्त माना जाता है, मदिरागृहे जाकर
कोई ब्राह्मण दूध पीने लो भी उसने मद्य पिया है वह मद्यपी है ऐसा लोक मानते हैं.

परदोसगह्णलिच्छो परिवादरदो जणो खु उत्सूणं ॥
दोसत्थाणं परिहरह तेण जणजंणोगासं ॥ ३४७ ॥
परदोषपरीयादयाही लोको यतोऽस्त्विलः ॥

अपवादपदं दोषं मुचध्वं सर्वदा तदा ॥ ३५० ॥

पिनयोदया—परदोसगह्णलिच्छो परदोषग्रहणेच्छावान् । परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः । जणो जनः ।
एत्सूणे तु नितरमेव । तेण धोन्मथाणं परिहरह तेन दोषस्यानपरिहारं कुरुत । जणजंणोगासं जनजननावकाशं ॥

दोषावधारस्थानपरिहारमाह—

मूढार!—लिच्छो इच्छावान् । परिवादरदो परोक्षे परदोषवचने रतः । हु यस्मात् उत्सूणं कवीच । जणजंणोगासं
लोकापयाधारदम् ।

अर्थ—लोक परदोष ग्रहण करनेके लिये उत्सुक रहते हैं, परोक्ष दोष कहनेमें वे आनंदित होते हैं, इस
पास्ते हे धृतिगण ! जहाँ आने जानेसे दोषसंसर्ग होगा ऐसे स्थानोंका और बीजोंका आप त्याग करो, क्योंकि ऐसी
बीजें रखनेसे लाभमें अपक्षति होती है.

दुर्जनगोष्ठी अन्वयेमायहृद्वीकिष्किमित्तरूपयति—

अदित्सज्जो वि दुज्जणकण्ण दोसेण पाटणइ दोसं ॥

जहू धूगकए दोसे हंसी य हूओ अपावो वि ॥ ३४८ ॥

दुर्जनेन कृते दोषे दोषमाप्नोति संज्जनः ॥

कादयः कौशिकेनेव दोषिकेणापदूयणः ॥ ३५१ ॥

दुर्जनस्यापराधेन पीड्यते संज्जना जने ॥

अपराधपराधीनाः शृदाकोरिन् दुर्दृभाः ॥ ३५२ ॥

असंयतेन चरित्रं संयतस्यापि लुप्यते ॥

संगतेन समुद्रस्य सर्वस्वमिव दस्युना ॥ ३५३ ॥

विजयोदया—अद्विसेजको वि हत्यनगा-अतीव संयतोऽपि दुर्जनकृतेन दोषेण प्राप्नोति । वोसे अनर्थ । यथोक्तक-
कृतवोपनिमित्तं अपायोऽपि दुंसो हतः ॥

दुर्जनगोष्ठ्या देहलोकिभानर्थवद्वलमाह—

मूढारा—अपयो वि अपायोऽपि निर्दोषोऽपि ॥

दुर्जनसहवाससे इहपरलोके अनर्थ होता है इसका दधान्तपुरःसर स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—महान् तपस्वी भी दुर्जनके दोषोंसे अनर्थमें पड़ते हैं, अर्थात् दोष तो दुर्जन करता है परंतु फल
सज्जनको भोगना पड़ता है, जैसे उल्लूके दोषसे निष्पाप हंसपक्षी मारा गया.

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाचष्टे—

दुज्जनसंसर्गीए विभाविको सुयणमज्झयारमि ॥

ण रमवि रमवि य दुज्जनमज्झे वेरगमवहाय ॥ ३४९ ॥

दुष्टानां रमते मध्ये दुष्टसंगेन वासितः ॥

विदूरीकृतवैराग्यो न सिद्धानां कदाचन ॥ ३५० ॥

विजयोदया—दुज्जनसंसर्गीए विभाविको दुर्जनगोष्ठ्या भाषितः । सुज्जनमज्झयारमि सुजनमध्ये । ण रमदि
न रमसे । रमदि य दुज्जनमज्जे रमते दुर्जनमध्ये । वेरगमवहाय वैराग्यं परित्यज्य ॥

दुर्जनगोष्ठ्या दोषांतरमाह—

मूढारा—वैरगमवहाय संवर्गं त्यक्त्वा ॥

दुर्जनसहवाससे और भी दोष होते हैं यह दिखाते हैं—

अर्थ—दुर्जनके संगतिसे दुष्ट बना हुआ मनुष्य सुजनमें रहना अर्थात् उनकी संगति करना पसंत नहीं
करता है, परंतु वह पुरुष वैराग्यको छोड़कर दुर्जनके समूह में बड़े खानंदसे रहता है.

सुजनसमाश्रयणे युष्मद्व्यापनायोत्तरसूत्रमणि—

जहदि य गिययं दोसं पि दुब्जणो सुयणवंइयत्तुणेण ॥
जह मेरुमल्लियंतो काओ गिययच्छविं जहदि ॥ ३५० ॥
दुट्ठोऽपि मुंचते दोपं स्वकीयं शिष्टसंगतः ॥

किं मेरुमाश्रितः काको न घत्ते कनकच्छविम् ॥ ३५१ ॥

विजयोदया—जहदि य जहति निजमपि दोपं दुर्जनं, सुजनमिच्छयुजेन । यथा मेरुसमाश्रयणे काको जहति सत्त्वमपि छायामशोषनां लक्षणं । संतोषि दोषा नश्यति सुजनश्रयणे तत्तत्ते समाश्रयणीया इति भावः ॥

सुजनसमाश्रयणे गायत्सत्केन गुणान्वाचक्षणः सुजना समाश्रयणीया इत्युपदिशति—

मूढारा—परिकरं सांगत्वं । अलियंतो आभयन् ॥

सुजनोका सहवास करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है इस विषयका वर्णन आचार्य अनेक गायत्रांसे करते हैं, अर्थ—दुर्जन मनुष्य सुजनोका सहवास फलके उनके गुणोंसे युक्त होता है, और अपने पूर्व दोषोंको यह छोड़ता है, इसका उदाहरण यह है कि, मेरु पर्वतका आश्रय करनेवाला कौवा अपनी स्वाभाविक मलिन कांतिका त्यागकर मेरुपर्वतकी सुवर्णकांतिका आश्रय करता है, अभिप्राय यह है कि सुजनसंगसे विद्यमान दोष भी नष्ट होते हैं, इसलिये उनका ही आश्रय करना योग्य है,

सुजनसमाश्रयणे जगदुपपत्तं, पूजात्मकं कथयति गायो—

कुसुममंगंधमवि जहा देवयसेसत्ति करिदे सीसे ॥

तह सुयणमज्झवासी बि दुब्जणो पूइओ होइ ॥ ३५१ ॥

पूलां सज्जनसंगेन दुर्जनोऽपि ग्रपयते ॥

देवशोपा विगंपापि क्रियते किं न मस्तके ॥ ३५२ ॥

विजयोदया—कुसुममिन्तमद्रिका । यथा सौगंध्यरहितमपि कुसुमं देवतासेवेति क्रियेत तिरस्ति तथा सौंदर्येण मत्पयासी दुर्जनोऽपि वृद्धितो भवति ॥

साधुसंगेनासाधुरपि पूजा भाज्येति इत्याह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

सुजनके आश्रयसे अमृदयफल, मूलालाम होता है इसका विवेचन—

अर्थ—निर्गन्ध भी पुष्प यह देवताकी श्रेया है—प्रसाद है ऐसा समझकर लोक उसको अपने मस्तकपर धारण करते हैं. वैसे सज्जनोंमें रहनेवाला दुर्जन भी लोकसे पूजा जाता है.

द्रव्यसत्यमे वाकायनिमित्तात्मनोचरकृते प्रवृत्तिगुणं फलयति—

संविग्गाणं मञ्जुसे अप्रियधम्मो वि कायरो वि णरो ॥

उड्डजमदि करणचरणे भावणभयमाणलज्जाहिं ॥ ३५२ ॥

कात्तरोडम्रियधर्मांघ्रि ड्यक्तं संविग्रमद्यगः ॥

भीड्रपाभाषनामामनैदचारिड्रे यतने यतिः ॥ ३५७ ॥

विजयोदया—संविग्गाणं मञ्जुसे इत्यनया । संसाररतीरूपां मध्ये पक्षपति यद्यपि धर्मप्रियो न भवति । कात्तर-
आयुक्ते तथापि उडुके पापक्रियानिवृत्तौ भाषनया, भयेन, मानेन, लज्जया च ॥

संपत्ताना मध्ये निपसन्नप्रियधर्मांघ्रि संयमे यतते इत्युपदिशति—

मूलारा—धरणकरणे पापक्रियानिवृत्तौ, भाषण वात्तना, माण अभिमानः ॥

यत्न और शरीरकी प्रशुचिते उत्पन्न होनेवाले आत्मनका निरोध होना यह द्रव्यसंयम है. सज्जनोंके आश्र-
यसे इस द्रव्यसंयममें प्रशुति होती है यह अभिप्राय आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कोई मुनि संसारभीरु यतिजोके साथ रहकर श्री धर्मपर प्रेम नहीं करते हैं. और दुःखसे, परीपद और
उपसर्गसे भय युक्त होते हैं. तो भी भाषना, भय मान और लज्जाके बन्ध होकर पापक्रियाओंका वे त्याग करते हैं
तात्पर्य यह है कि, सज्जनोंका सहवास आवश्यक फलप्रद होता है.

संसाररतीरोरपि यते सुजनसमाश्रयेन गुणमभिदधाति—

संविग्गोति य संविग्गदरो संविगमज्झयारम्मि ॥

होइ जह गंधजुत्ती पयडिसुरभिदब्बसेजोए ॥ ३५३ ॥

संविद्यः परमां कोटिं साधुः संविद्यमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायति सुरभिद्रव्यकल्पिताम् ॥ ३५८ ॥

त्रिज्योत्पदा—संविद्योऽपि इत्यनया । अगपि संसारभीरुर्जनः संविद्यमप्यनिवाली संविद्यतरो भवति । यथा गंधयुक्तिः छत्रको गंधः प्रकृतिस्त्रिरभिद्रव्यसंख्येणं सुरभितरो भवति ॥

सत्संसादयुज्योत्कंप्रतिभाह—

मूला—गंधयुक्तिः छत्रको गंधः सुरभितरो भवतीति शेषः ॥ एवमिदं सुरभि स्वभावसुगंधि ॥

उक्तं च—संविद्यतः परमां कोटिं साधुः संविन्नमध्यगः ॥

गंधयुक्तिरिवायति सुरभिद्रव्यकल्पिता ॥

संसारभीरु यतीको भी सुजनके संघेते शुभप्राप्ति होती है यह कथन—

अर्थ—जो मुनि प्रथमे ही संसारभीरु है वह संसारभीरु मुनिओंके सहवासमें रहनेसे पूर्वसे भी अधिक संसारभीरु होता है, स्वभावतः सुगंधयुक्त ऐसे कस्तुरी, चंदन वगैरह पदार्थोंके सहवाससे कृत्रिम गंध अधिक सुगंधमय बनता है ।

वक्ष्य इत्येतावता चारित्रशुद्धा न भवद्भिः समाधयणीयाः । एक इति च । न संसृष्टाः परिदार्ये इत्येतदवष्टे—

पास्तथसदसहस्सादो वि सुसीलो वरं सु एको वि ॥

जं संसिदस्स सीलं वृत्तगणचरणाणि वद्धंति ॥ ३५९ ॥

एकोऽपि संयतो योगी वरं पार्श्वस्थलक्षतः ॥

संगमेन तदीयेन चतुरंगं विवर्यते ॥ ३५९ ॥

त्रिज्योत्पदा—पास्तथसदसहस्सादो वि पार्श्वस्थलक्षणे चारित्रशुद्धोपलक्षणाय । चारित्रशुद्धाच्छतसहस्रादपि एकोऽपि सुसीलो वरः । संगममाश्रितस्य सीलं, वर्तनं, प्राणं, चारित्रं च वद्धेते, स भवद्भिराधयणीय इति भावार्थः ।

वक्ष्य इति चारित्रशुद्धा न भवद्भिराधयणीयाः एक इति सुसीलो न त्याज्य इत्युपनिशति—

मूला—जं संसिदस्स समाश्रितस्य ॥

हे मुनिहृद ! चारित्रहीन मुनि बहुत हैं ऐसा समझकर उनका आप आश्रय मत करो और सद्वृत्तुणी मुनि एकही है ऐसा समझकर उसको मत छोड़ो ऐसे अभिप्रायका कथन—

अर्थ—वहाँ पार्थस्थ शब्दसे चारित्रहीन मुनियोंका ग्रहण समझना चाहिये अर्थात् चारित्रहीन मुनि लक्षावधि हो तो भी एक मुसील मुनि उनसे श्रेष्ठ समझना चाहिये कारण मुसील मुनीकाके आश्रयसे शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य बढ़ते हैं, ऐसे ही मुनिका आप आश्रय करो ऐसा गार्थार्थ है

संजवृत्तानावमाणं पि वरं दुःज्जणकदादु पूजादो ॥

सीलविणासं दुःज्जणसंसग्गी कुणदि ण दु इदरं ॥ ३५५ ॥

वरं संयतत प्राप्ता निंदा संयमसाधनी ॥

न त्वसंपत्ततः पूजा शीलसंयमनाशिनी ॥ ३६० ॥

विजयोदया—सयता परिअपरिण्त माअसुवर्णित सत पार्थस्थान्निवाधयामि इति न चेत्त कार्यमिच्छाचष्टे—सजवृत्तानावमाणं पि वरं सयतापमानमपि वरं । दुःज्जणकदादु पूजादो दुर्जनकृताया पूजाया । कथं ? दुःज्जणसंसग्गी सीलविणासं कुणदि दुर्जनसंसर्गं शीलविनाशं करोति । न तु इदरं न तु इतरं संयतजनावमान तु नैव शीलविनाशं करोति ॥

संयता ॥ मंदावरणं अवमानयति तत पार्थस्थान्निवाधयामीति न चेत्त । कार्यमिच्छाचष्टे—

मूजारा—ससम् ॥

चारित्रहीन मेरेको संयमी जन अपमानित करते हैं इस लिये पार्थस्थान्निवाध मुनियोंका आश्रय नै करुंगा ऐसी बुद्धि है मुनिगण ! आपको करना योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय ग्रंथकार आगेकी गार्थायें कहते हैं,

अर्थ—संयमी तपस्विभोजने क्रिया हुआ अपमान मी दुर्जनके द्वारा की गई पूजासे बढकर अच्छा है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि दुर्जनोका सद्वृत्ता शीलका नाश करता है परतु संयमी मुनियोंका सद्वृत्त शीलका नाश नहीं करता है अतः सज्जनसद्वृत्ताही श्रेयस्कर है

आसयवसेण एवं पुरिस्ता दोसं गुणं व पावंति ॥

तस्या पस्त्यगुणमेव आसयं अङ्घ्रिपुञ्जाह ॥ ३५६ ॥

गुणदोषौ प्रजायेते संसर्गवशातो यतः ॥

संसर्गः पावनः कार्यो विमुञ्च्यापावनं ततः ॥ ३५७ ॥

विजयोक्त्या—आसयवसेण आसयवसेण । एकमुक्त कर्मण । पुरिस्ता दोसं गुणं व पावंति । गुणपा दोषं गुणं वा प्राप्नुयन्ति । तन्ना पस्त्यगुणमेव आसयं अङ्घ्रिपुञ्जाह । तस्मात् प्रशस्तगुणमेव आसयं आच्छेत् ॥

प्रकृतमुपसंहारि—

नूतनारा—आसयवसेण—आश्वामिदोष । अङ्घ्रिपुञ्जाह आश्वयत्त युवम् ॥

प्रस्तुत प्रकरणका उपसंहार—

अथ—मनुष्यको आश्रयके बन्ध दोष और गुणोंकी मासि होती है, इस स्थिती हे पुने ! तुम उचम गुणपरिपूर्ण ऐसे ही आश्रयकी अधीत गुणयुक्त मुनिओंकी संगति करो.

पथं हिदयाणिहं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ॥

कडुगं वं ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स ॥ ३५७ ॥

वाच्यो गणद्विधतः पथ्यमनन्भीष्टमपि स्फुटम् ॥

तत्तस्य कटुकं पाके भैषज्यमिध सौख्यदम् ॥ ३५८ ॥

विजयोक्त्या—पथं हिदयाणिहं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स पथं हिदं हृदयस्य अनिमृषि वदत आत्मीयगणे पततः । कडुगं वं ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स कटूगपथिवापि तन्मधुरविपाकं भवति । तस्य परस्वयमिष्टेन कथितेन किमस्माकं प्रयोजनं । किम चेत्ति स्वयमपि प्रति ज्ञेयेषितव्यं । परोपकारः कार्यं पवेति कथयति । तथाहि—तीर्थाटतः विजयजनसंयोगतां केव तीर्थविहारं कुर्वन्ति । महत्ता नामैवं यत्-परोपकारवत्परिकरता ॥ तथा चोक्तं—

मुद्रा सति सहस्रस्य स्वभरणव्यापामात्रोचता ।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणी ।
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं चाडवो ।
जीमूतस्तु निदापसंभृतजगत्संतापविच्छिद्येय ॥

स्वपूष्यस्यानिच्छिद्यमपि पथ्यं कथ्यमित्यनुशास्ति—

मूढास—परधर्मित्वादि—परधित्वेनोक्तेन किमस्याकर्मिति स्वाश्रमवासी नोपेक्ष्यः यतः—

छुद्राः सन्ति सहस्रस्यः स्वभरणव्यापामात्रोचताः ॥
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥
दुष्पूरोदरपूरणाय पिबति स्रोतःपतिं चाडवो ॥
जीमूतस्तु निदापसंभृतजगत्संतापविच्छिद्येय ॥

अर्थ—हे मुनिगण ! तुम अपने गणमें रहने वाले मुनिके साथ हितकर वचन बोली यद्यपि वह हृदयको अश्रिय हो तो भी हरकत नहीं है। जैसे फटुक भी औषध परिणाममें मधुर, कल्याणकारक होता है वैसे तुम्हारा भाषण उस मुनिका कल्याण करना। दूसरेको अनिष्ट बोलनेसे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? क्या दूसरा मनुष्य अपना हित स्वयं नहीं जानता है ? ऐसा विचार करके दूसरों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। परोपकार करनेका कार्य करना ही चाहिये। देखो तीर्थंकर परमदेव भव्य जनोंको उपदेव देनेके लिये ही तीर्थविहार—धर्मविहार करते हैं। परोपकारके कार्यमें कमर कमना यही बहप्यन है। किसी कविने ऐसा कहा है—

“जगतमें अपना कार्य करने में ही तत्पर रहनेवाले मनुष्य हजारों की तादात में हैं। परंतु परोपकार ही जिसका स्वार्थ है ऐसा सत्पुरुषोंमें अग्रणी पुरुष एकाद ही है। बटवानल अपना दुर्घर पेट भरनेकेलिये समुद्रका हेमधा पान करता है क्योंकि वह छुद्र मनुष्य के समान स्वार्थी है। परंतु मेघ ग्रीष्मकालकी उष्णतासे पीड़ित समस्त प्राणियोंका संताप मिटानेके लिये समुद्रका पान करता है। मेघ परोपकारी है और बटवानल स्वार्थी है。”

एतरेणापि भक्षणयोरनियमपि तदग्राह्यं इति कथयति—

पत्यं हिन्दुयाणिष्ठं पि भण्णमाणं थरेण घेचब्बं ॥

पेष्ठेदुण वि छुट्ठं वालस्स घदं व तं खु हिदं ॥ ३५८ ॥

स्यान्तानिष्टमपि ग्राह्यं पत्यं बुद्धिमत्ता वचः

वृत्तनः किं न बालस्य दीयमानं घृतं हितम् ॥ ३६३ ॥

इति दुर्जनसंगवर्जनम् ।

विजयोद्या—इदमस्यानिष्टमपि कथ्यं थरेण बुद्धिमत्ता ग्राह्यं इति केतो निघाय । पेष्ठेदुण वि छुट्ठं अथष्टभ्यापि प्रवेक्षितं घृतं शालानो हितं भवति यथा तद्विवेति यावत् ॥

इदम्यानिष्टमपि सिद्धवाक्यं हितबुद्ध्या ग्राह्यमित्युपदिशति—

मूढरा—पेष्ठेदुण वि अथष्टभ्यापि दत्तादपि । मूढं सुते प्रवेक्षितं । तं वत् । नु खुट्ठं ॥

अर्थ—युष्मादि मुनिबोने कर्णको अप्रिय भी गुरुओंका भाषण ग्रहण करना चाहिये, जैसे माता बालकको पकड़कर उमकें मुलमें घृत डालती है, उसमें उसका हित होता है वैसे कर्णको अप्रिय भी गुरुका भाषण हि घृतके समान हितकारक होता है ऐसा समझ कर स्वीकारना चाहिये.

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ॥

अप्पणं थोवंतो तणलहुहो होवि हु जणम्मि ॥ ३५९ ॥

मा छेदयन्तु स्वयशो मा कायुः स्वं प्रशंसनम् ॥

लघवः स्वं प्रशंसतो जायन्ते हि तृणादपि ॥ ३६४ ॥

विलयोद्या—अपपसंसं परिहरह आत्मप्रशंसा त्यजत सदा । मा होह मा अपय । जसविणासयरा यशो-
विनाशकाः । सद्धिदुर्गः प्रप्राप्तमपि यशो मधतो नश्यति आत्मप्रशंसया । अप्पणं थोवंतो आत्मानं स्तुवन् । तणलहुओ
होदि इ जणम्मि यणपयसुभवंति सुजनसंघे ॥

आत्मप्रशंसा यशोविनाशिनीति वां लज्जेत्यनुशास्ति—

मूढारा—थोवंतो प्रशंसयन् ॥

अर्थ-हे गुणिगण ! तुम अपनी प्रशंसा करना हमेशाके लिये छोड़ दो. अपनी प्रशंसा आपही करनेसे सगुरुओंके द्वारा वर्णन किया गया तुम्हारा क्या नष्ट होगा. जो मनुष्य अपनी प्रशंसा करता है वह जगतमें तृणके समान हलका होता है.

संतो वि गुणा कथं तयस्स णस्संति कंजिए व सुता ॥

सो केव हवदि दोसो जं सो थोएवि अप्पाणं ॥ ३६० ॥

स्वस्सवेन गुणा योति कोंजिकेनेव सीधुनि ॥

स दोपः परमस्सेपां कोपः संयमिनामिव ॥ ३६१ ॥

विजयोव्या - संतो वि विद्यमाना अपि। कथं तयस्स मयैते गुणा इति कथयतः। गुणा णस्संति गुणा नश्यंति। कंजिएषु घुरा लोधीरेण सुरेव। सो केव हवदि दोसो स एव भवति दोषः। जं सो थोएदि अप्पाणं यदात्मानं स्तौति ॥

स्वयं स्वगुणकीर्तने दोषमाह -

मूबारा - विक्कइतयस्स एते मे गुणा इति कथयत। कंजिए कोंजिकेन। व यथा। कंजिएणेति पाठे यथेत्यप्याहारः। थोएवि स्तौति।

अर्थ-जैसे कोंजी पीनेसे मदिराजन्य उन्माद नष्ट होता है वैसे अपनी प्रशंसा अपने मुहसे करनेवाले मनुष्यके गुण नष्ट होते हैं. इस वास्ते अपनी स्तुति करना यह दोष है.

स्वगुणस्तुतयनाकरणे यदि ते नश्यंति ताँहि स्तोतव्याः स्युर्न तथा नश्यंति इत्याक्षेपे--

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरितस्स ण वि य णस्संति ॥

अकहिंतयस्स वि जह गहवड्ढो जगविसुदो तेजो ॥ ३६२ ॥

अनुक्तोऽपि गुणो लोके विद्यमानः प्रकाशते ॥

विजयोदया—संतो विप्रमान्वाः । अकूटितयस्त अमायमाणस्य । पुरितस्तस्स पुरुषस्य । गुणा न वि य जस्तंति
निय नश्यंति । यदि न स्वयं स्तौति इगुणावय प्रख्यातिमुपयातोत्येताव मेति वदति । अकूटितस वि अस्तुवतोऽपि
गदयणो प्रदणेतः आदित्यस्य । ज्यो अगदिरसुतो तेजो न जगति विद्युते तेजाः ॥

रगुणास्त्रायने यदि वे नश्यंति ततः स्तोतव्याः स्युर्न च तथा नश्यंति इत्याह—

मूढारा—गदयणो आदित्यस्य ॥

अपने गुणांकी स्तुति न करनेसे यदि उनका विनाश होगा तो उनके अविनाशार्थ उनका वर्णन करना
योग्य होगा परंतु गुणवर्णन न करनेपर भी ये नष्ट नहीं होते हैं ऐसा कथन—

अर्थ—वर्णन न करने पर भी भक्त्युक्त गुणोंका नाश नहीं होता है यह बात अनुभवर सिद्ध है. स्वगुणोंकी
स्तुति न करने पर भी वे प्रकटित होते हैं. क्या स्वर्गकी प्रशंसा न करने पर भी जगतमें स्वर्गका देव मसिद्ध
नहीं होता है ?

आत्मन्यस्ततो गुणानां उत्पन्नकं स्वयनमिति वचने न युज्यत इत्याह—

ण य जायंति असंता गुणा विकथंयस्तस्स पुरितस्स ॥

धंति तु महिलायंती व पंडवो पंडवो चेव ॥ ३६२ ॥

कथ्यमाना गुणा धाचा नासंतः सन्ति देहिनः ।

पंडका न हि जायन्ते योपा वाक्यशतैरपि ॥ ३६७ ॥

विजयोदया—ण य आर्यति धसंता गुणा नेषोपयन्ते अस्तंते गुणाः । विकथंयस्तस्स स्तुतवः । धेति निवृत्तं
महिलायंतो य पामलोचनेय भायरपसि । पंडवो पंडवो चेव पंडः पंडः पय मयति न युवतिः ॥

आत्मन्यस्ततो गुणानां उत्पन्नकं स्वयनमिति युज्यत इत्याह—

मूढारा—महिलायंतो मदिकेवाचरन् । पंडवो पंडः ॥

गुणा नहीं होनेपर भी स्तुति करनेसे वे उत्पन्न होते हैं यह कहना भी अयोग्य है—

अर्थ—जो पुरुष अपनी स्तुति करता है उसमें गुणोंकी उत्पत्ति नहीं होती है. जेम् कोई पंड सकि

समान हावभाव करता हुआ भी स्त्री नहीं होता है. वह पंड ही रहेगा. वैसे गुण अपनेमें नहीं होते तो क्या स्तुति करनेसे उनकी उरपचि हो जावेगी ?

संतं सगुणं किञ्चित्जंतं सुजगो जगन्मि सोदृणं ॥

लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा ॥ ३६१ ॥

‘विद्यमानं गुणं स्वस्य कीर्त्यमानं निश्चास्य यः ॥

महात्मा लज्जते बिसे भाषते स कथं स्वयम् ॥ ३६८ ॥

विजयोदया—संतं सगुणं किञ्चित्जंतं विद्यमानमपि स्वगुणं कीर्त्यमानं । सुजगो जगन्मि सोदृणं साधुजनस्य मध्ये भुत्वा । लज्जाद् मीढासुरेति । किह पुण कथं पुनः । सयमेव अप्पगुणकिच्चणं कुज्जा स्वयमेवामनो गुणकीर्तनं कुर्यात् ॥

सुजनस्यात्मगुणस्वभावमात्रं भाषयति—

मूढारा—स्वयम् ।

अर्थ—सत्पुरुषोंके सद्गुणोंमें कोई पुरुष किसी सत्पुरुषके विद्यमान भी गुणोंका वर्णन करने लगा तो वह सत्पुरुष लज्जासे अधोमुख करता है. किा वह क्या अपने गुणोंका स्वयमेव वर्णन करेगा ?

सगुणानीर्तने गुणमाचष्टे—

अविकथ्यतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजगमज्झमि ॥

सो चेव होदि हु गुणो जे अप्पाणं ण योएइ ॥ ३६४ ॥

निर्गुणोऽपि सतां मध्ये सगुणोऽस्ति स्वमस्तुवन् ॥

न स्थायते यदात्मानं गुणस्तस्य स एव हि ॥ ३६९ ॥

विजयोदया—अविकथ्यतो अगुणो वि होइ अकीर्तयन् स्वयमगुणोऽपि भवति । सगुणो व सुजगमज्झमि सुजनमध्ये । परस्परव्यावृत्तिर्निर्गुणः । अगुणस्तस्य गुणः इति परस्परमात्राकायमाह—सो चेव होदि गुणो ॥ एव गुणो भवति । जे अप्पाणं ण योएइ यदात्मानं न स्तौति । समीचीनवृत्त्येनादिगुणमात्राभिर्गुणः, आत्मप्रदोसाऽकरणगुणेन गुणवानिति भावार्थः ॥

यदि संति गुणास्तस्य विकल्पे संति ते स्युः ।
 ■ हि कस्तुतिगुणः शरण्येन विभाव्यते ■

स्वगुणास्तयने गुणमहि—
 मूढारा—अविकल्प्यतो अनुवृत्त । सगुणेन गुणवानिव । न बोलेहि न स्वीति । समीचीनज्ञानादिगुणा-
 माभाभिगुणः स्वस्त्वनाकरणगुणेन गुणवानिति यावार्थः ॥

अपने गुणोंका वर्णन न करनेमें ही फायदा है इसका विवेचन आचार्य करते हैं—
 अर्थ—जितमें गुण नहीं हैं ऐसा पुरुष सत्त्वनेमि मौन धारण कर बैठता है सब यह गुणी पुरुषके समान
 दीखता है, गुणरहित मनुष्य गुणवानके समान मानता यह शरसर विरुद्ध है इस शंकाका उचर ऐसा है—अपनी
 प्रशंसा नहीं करना यही सद्गुण है इससे वह पुरुष गुणी कहा जाता है, यद्यपि उसमें सम्पद्ज्ञान, दर्शनादिगुणोंका
 अभाव होनेसे वह निर्गुण है तो भी स्वप्रशंसा न करना यह गुण उसमें होनेसे गुणवानके समान यह पुरुष माना
 जाता है, यदि मनुष्यमें गुण ही तो वे स्वयं प्रकाशित होते हैं, उनके वर्णन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्या
 फस्तूरीका मुगंध सौगंध खानेसे व्यक्त होता है ? नहीं वह स्वयं प्रकट होता है, वैसे गुण भी स्वयं प्रकट होते हैं.

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं ह्वे तेसि ॥
 हंदि हु चरिदेण गुणाणकहणमुग्भासणं तेसि ॥ ३९५ ॥
 गुणानां नाशनं वाचा क्रियमाणं निवेदनम् ॥
 प्रकाशनं पुनस्तेषां चोष्टयास्ति निवेदनम् ॥ ३९० ॥

विजयोक्ता—वायाए जं कहणं वाचा गुणानां वक्तव्यं । तं णासणं ह्वे तेसि । तथाशतं मधेचेपां गुणानां ।
 चरिदेहि गुणाण कहनं चरितरेव गुणानां कथनं । तेसिमुग्भासणं दोष गुणानां प्रकटनं भवति । एतदुक्तं भवति— गुणा-
 न्यकटपितुफामस्य यदावा कथनं गुणव्यात्मनः प्रवृत्तिरेव मुग्प्रकाशनं इति ।

गुणानां यदावा कथनं तेषां नाशनं वतु गुणव्यात्मनः प्रवृत्तिस्तत्प्रकाशनं इत्याह—

मूढारा—पासर्षं इहलोकं सौख्यसौभाग्यादिदुलभंशनेन निष्कलीकरणं । परलोके च नीचेर्गोत्रनिमित्तत्वे-
नानिष्टफलसंपादकत्वापादनम् । उल्कावर्णं प्रकटनम् ।

अर्थ—वचनोंके द्वारा स्वगुणोंका वर्णन करता यह मानौ उनका नाश ही करना है- अपने शुभ आचरणसे ही गुणोंका कथन हो जाता है- शुभ आचरणसे ही गुण प्रगट होते हैं- अपने गुणोंको प्रगट करनेकी जिसकी इच्छा है वह सदाचारमें संपूर्ण प्रवृत्ति करे, ऐसी प्रवृत्ति ही उसके गुणोंका प्रकाशन करेगी-

वायाए अकंहंता सुजणो चरिवेहिं कहियगा होति ॥
विकर्हिंतागा य सगुणे पुरिसा लोगमि उवरीव ॥ ३६६ ॥

अजल्पन्तो गुणान्वाण्या जल्पन्तद्येष्टया पुनः ॥
भवन्ति पुरुषाः पुंसां शुणिनासुपरि स्फुटम् ॥ ३७१ ॥

विजयोक्ता—वायाए अकर्हिंता वाचया अकथयंतः । सुजणे साधुजनसम्ये । चरिवेहिं चि कर्हिंतागा य चरिते-प्रतिपादयन्तः । सगुणे आत्मीयान्गुणाद् । पुरिसार्ण पुरिसा लोगमि उवरीव इति । पुरुषाणासुपरीव भवन्ति पुरुषा लोके ॥

परिहैः स्वगुणप्रकाशनस्य भादात्म्यमाह—

मूढारा—सुकणे साधुजनसम्ये । उवरीव उपरीव ।

अर्थ—जो सुजनोमें वचनोंके द्वारा अपने गुणोंका वर्णन न कर केवल अपने चरित्रोंसे कहे हैं वे पुरुष जगतमें सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठपना पाते हैं-

सगुणमि जणे सगुणो वि होइ लहुगो णरो विकर्हिंता ॥
सगुणो वा अकर्हिंता वायाए होति अगुणसु ॥ ३६७ ॥

निर्गुणो गुणिनां मध्ये भूषणः स्वगुणं नरः ॥

सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव भुवन् ॥ ३७२ ॥

विजयोदया—सगुणमि जगे गुणवति जगे । सगुणो वि नरो गुणवानपि नरः । छद्मगो होदि लघुर्भवति । कः ? सगुण नरो वि कथ्यते स्वगुण नरो याचा निरूपयन् । किमिव सगुणो ॥ गुणवानपि । याचा अकथ्येतो यचनेन अप्रकटयन् । अगुणेषु निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणानां मध्ये स्वगुणं अत्रुवन्निव गुणिना मध्ये तं भुवन् गुणवानपि लघुर्भवति इत्युपदिशति—

मूलारा—बहिलको याचा निरूपयन् । वा यथा । उक्तं च—

निर्गुणो गुणिना मध्ये भूषणः स्वगुणं नरः ॥

सगुणोऽप्यस्ति वाक्येन निर्गुणानामिव भुवन् ॥

अर्थ—गुणानां मध्ये स्वगुणं भूषणान भी मनुष्य यदि अपने गुणोंका वर्णन करेगा तो वह लघु होता है, और वचनों द्वारा वह अगुणवान पुरुषोंमें स्वगुणवर्णन न करेगा तो वह गुणवान है ऐसा समझना चाहिये

चरिणहि कथ्यमाणो सगुणं सगुणेषु सोभदे सगुणो ॥

वायाए वि कहितो अगुणो व जणामि अगुणाम्मि ॥ ३६८ ॥

सगुणो गुणिनां मध्ये शोभते चरिर्नैगुणं ॥

भूषाणो वचनैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥ ३७३ ॥

विजयोदया—चरिणहि कथ्यमाणो चरितरेव प्रकटयन् । किं सगुणं स्वगुणं । सगुणो सोभदे गुणवान् जनः । क सगुणेषु गुणयत्सु । किमिव यायाए वित्कथ्यतो वचसा भुवन् । अगुणोच्च निर्गुण इव । अगुणमिम निर्गुणमध्ये ॥

निर्गुणो निर्गुणेषु वचनैरिव सगुण सगुणेषु स्वस्य गुणाद्यारिदैः प्रकटयन् शोभते—

मूलारा—अगुणो व निर्गुणो यथा । उक्तं च—

सगुणो गुणिना मध्ये शोभते चरिर्नैगुणं ।

भूषाणो वचनैः स्वस्य निर्गुणानामिवागुणः ॥

अर्थ—जो सद्गुणी मनुष्य अपने शुभाचरणों द्वारा अपने सद्गुणोंको सद्गुणी मनुष्योंमें वर्णन करता है वह शोभाको पाता है. परतु अगुण मनुष्य निर्गुणी मनुष्योंमें यदि अपने गुण वचनके द्वारा कहेगा तो वह शोभा नहीं पाता है.

सगणे य परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्वाह ॥

अथासादृणविरवा होह सदा बलाभीरु य ॥ ३६९ ॥

पुण्यभासादनां कुरुवं मा जातु परमेष्ठिनाम् ॥

बुरंता संसृतिजंतोर्जायते कुर्वतो हि तां ॥ ३७४ ॥

स्वजतासंयमं श्रेया मुक्तिस्त्वमीं जिघृक्षयः ॥

सा दूरीक्रियते तेन व्याधिमेव सुखासिका ॥ ३७५ ॥

मा ग्रहीषुः परीबादं स्वसंघपरसंघयोः ॥

संसारो वर्धनेऽनेन सलिलेनेय पादपः ॥ ३७६ ॥

विशयोक्त्या—सगणे य परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्वाह । अश्लाघनविरवा य होह अत्यासादन्तौ विरता भवत । सदा बलाभीरु य पपनीरवस्व भवत ॥

प्रकारातरेण शिक्षा प्रयच्छति—

मूढारा—परपरिवादं पराणवादं ।

अर्थ—हे सुनिगण ! आपको अपने गणमें अथवा परगणमें अन्य मुनिशौकी निंदा करना कदापि योग्य नहीं है. परकी विराधनासे आप विरक्त होकर हमेशा पापोंसे विरक्त होना चाहिये.

परनिन्दया दोषभाचये स्पष्टार्थो गायथा—

आयासवेरभयदुःखस्वसोयलहुगच्छणाणि य करेइ ॥

परणिंदा वि हु पाना दोहगमकरी सुयणवेसा ॥ ३७० ॥

शोकद्वेषामुल्लापासवैरदौर्भाग्यभीतयः ॥
विशिष्टानिष्टया पुसां जन्यन्ते परनिन्दया ॥ ३७७ ॥

परनिन्दाया दोगनाह—

मूलाय—मुकजनेस्सा मुबनाना देव्या ।

अर्थ—परनिन्दासे आघात, वैर, मीति, दुःख, शोक वगैरे दोष उत्पन्न होते हैं, यह परनिन्दा पाप और द्रोहको उत्पन्न करती है, परनिन्दा करनेवाला मनुष्य मुकजनों अभिय होता है.

परनिन्दा किसर्थे कियते गुणिवे स्थापयितुमात्मानमिति चेत्, त्रचितकरोति—

किञ्चा परस्स णिदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज ॥

सो इच्छदि आरोगणं परमि कहुओसहे पोए ॥ ३७१ ॥

उत्थापयिपुरात्मानं परनिन्दां विधाय यः ॥

अपरेणीयये पीते स निरोगत्वमिच्छति ॥ ३७८ ॥

विजयोक्त्वा—किञ्चा परस्स णिदं परनिन्दा कृत्या । जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज । य आत्मानं गुणितायां स्थापयितुमिच्छेत् । सो इच्छति स वांछति । किं आरोग निरोगतां । परमि कहुओसहे पीते कहुकोथपाविम्वम्वसिन् ॥

गुणवत्से द्वापविदुमात्मानं परनिन्दा कुर्वतः प्रत्यवायं दर्शयति ।

मूलाय—एएए ॥

सत्तःका गुणिपत्ता सिद्ध करनेके लिये परनिन्दा करते हैं. ऐसा कहना योग्य नहीं है--यह बात आचार्य दिखाते हैं—

अर्थ—जो परनिन्दा करके अपनेको गुणी सिद्ध करना चाहता है. वह मनुष्य दूसरोंको कड़वी औषधी पिलाकर स्वयं निरोगी होना चाहता है ऐसा मानना चाहिये जो औषधी खा लेगा वही निरोग होगा उसी तरह जो गुण प्राप्त कर लेगा वही गुणी होगा. परनिन्दासे गुणी बननेका प्रयत्न करना यह उल्टे रास्तेपर चलकर स्वस्थानको पोहोचनेका प्रयत्न करनेके समान है

सत्पुरुषकर्म व्याचष्टे—

ददत्तुण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ ॥

रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंणभएण ॥ ३७२ ॥

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य चित्ते जिह्नेति सज्जनः ॥

परापकादतो भीतः स्वदोषमिव रक्षति ॥ ३७१ ॥

विजयोदया—बहुण अण्णदोसं अन्यस्य दोषं दृष्ट्वा । सप्पुरितो लज्जिमो सयं होवि सत्पुरुषः स्वयं लज्जा-
मुपैति । रक्खइ सयं दोसं य सवोपमिव च रक्षति । जणजंणभयेण जगनिवाभयेन ॥

सत्पुरुषकर्म कथयति ।

मूळारा—रक्खवि छावयति । तयं तं अन्यदोषम् ।

सत्पुरुषोका नाम कहते हैं—

अर्थ—सत्पुरुष दूसरोंका दोष देखकर उसको श्रगट नहीं करते हैं प्रत्युत लोकनिंदकों मयसे उनके दोषोंको अपने दोषोंके समान छिपाते हैं, दूसरोंका दोष देखकर सत्पुरुष लज्जित होते हैं.

अप्पो वि परस्स गुणो सप्पुरिसं पप्प बहुदरो होदि ॥

उदए व तेछिंविट्ठ किहू सो जंमिहिदि परदोसं ॥ ३७३ ॥

स्वत्पौऽप्यन्यगुणो धन्यं तैलविट्ठुरिवोदके ॥

विवर्द्धते तमासाव परवोपं न चक्कि सः ॥ ३८० ॥

विजयोदया—अप्पो वि परस्स गुणो परस्स गुण स्वत्पौऽपि । सप्पुरितं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य । बहुदरो होइ
अतिमातान् भवति । उदए तेछिंविट्ठ उदके तैलविट्ठुरिव । किहू सो जंमिहिदि परदोसं कथमसौ द्रव्यमूत जल्पति
परस्स दोष ॥

मूळारा—सप्पुरितं पप्प सत्पुरुषं प्राप्य ।

अर्थ—अन्य मनुष्यता खल्व भी गुण सत्पुरुष ग्रहण कर उसको बड़ा बनाते हैं, अर्थात् अन्य जनोका अल्प गुण भी दीख पड़ा तो वे बहुत सुश्रु होकर उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं, जैसे पानीमें तेलका एक बिंदु यदि पड़ गया तो उमके आश्रयसे वह विस्तीर्ण होता है, वैसे सत्पुरुषसे प्रशंसित हुआ अन्य मनुष्यका गुण भी जगतमें फैलता है, अल्पगुणकी भी प्रशंसा करनेवाले सत्पुरुष क्या परदोषोंका कथन करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे.

एसो सत्त्वसमाप्तो तद् जतद् जह्वा हवेज्ज सुजणम्मि ॥

तुञ्जं गुणेहिं जणिदा सत्त्वत्य वि विस्सुदा किच्ची ॥ ३७४ ॥

यासस्तथोपपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ।

यथा गुणकृता कीर्तिलोके भ्राम्यति निर्मला ॥ ३८१ ॥

विजयोक्ता—एय सत्त्वोपपेदास्य संक्षेपः । तद् जतद् तथा यत्पुं । जह्वा हवेज्ज सुजणम्मि यथा भवेत्सुजने । तुञ्जं गुणेहिं जणिदा सत्त्वत्य वि विस्सुदा किच्ची । युष्माकं गुणैर्जनितं सर्वं नपि विधुता कीर्तिः ॥

सर्वोपपेदास्य

मूलार्थ—सत्त्वसमाप्तो सर्वस्य उपपेदास्य संक्षेपः । चेत्त्वो महीतत्त्वः । सुजणम्मि सुजनमध्ये । टंका य—

यासस्तथोपपदेशोऽयं सर्वो युष्माकमंजसा ।

यथा गुणकृता कीर्तिलोके भ्राम्यति निर्मला ॥

अर्थ—हे मुनिगण इस संपूर्ण उपपेदाका सार यह है कि, आप हमेशा इस प्रबलमें रहो कि जिससे आपकी कीर्ति हुजनोमें प्रसार पावेगी, और तुम्हारे गुणोंसे सर्वत्र तुम्हारा जगत्प्रसिद्ध यज्ञ होता सके.

कात्तो संपत्तानां कीर्तिरिति शंकायामुच्यते—

एस अत्ताडियसीलो वहुस्सुदो ग अपरोवतावी य ॥

चरणगुणसुद्धिदोचिय धणस्स ए वोसणा भमदि ॥ ३७५ ॥

अनन्यतापकोऽलंबास्त्राचर्यो बहुश्रुतः ॥

ज्ञातो हृत्चरित्रोऽयमेपा धन्यस्य घोषणा ॥ ३८२ ॥

विलयोदया—एस अलंछितसीलो एय आय अस्मदितसमाधिः । बहुस्तुदो य बहुश्रुतः । अपरोपतापी य अपरोपतापकारी च । चरणमुणमुद्दिष्टि य चारित्र्युणे. सुखितत्र इति । धण्यस्तस्य शु पुण्यवतः । घोषणा भ्रमद यतो विचरति ॥

कासो संयतना कीर्तिरित्यत्राह—

मूलाह—पोषणा कीर्ति ।

अर्थ—ये मुनिराज अलंबशीलके धारक हैं, इनकी ध्यानमें एकाग्रता अलंब रहती है, ये बहुश्रुत हैं. अनेक मतोंको ये जानते हैं, ये किसी भी प्राणीकी दुःख देखे नहीं हैं और चारित्रिक गुणोंमें ये स्थिर रहते हैं. इस प्रकार हे मुनिगण ! तुझारा पुण्य-यद्य लगतमें विचरण करो.

एय धुरुपदेशं श्रुत्वा गज. —

वाढात्ति भाणिदूणं एदं णो मंगलोत्ति य गणो सो ॥

गुरुगुणपरिणदभावो आणंदंशुं णिवाडेइ ॥ ३७६ ॥

इदं नो मंगलं बाहमेवमुक्त्वा गणोऽप्यसौ ॥

तोऽप्यमाणो गुणैः सुरैरानंवाशु विमुंचति ॥ ३८३ ॥

विजयोदया—वादत्ति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा एदं णो मंगलोत्ति एतद्रवतां चत्तर्ग अस्माकं मंगलं नितरां एतुस्सया । गुरुगुणपरिणदभावो गुरोगुणेशु परिणतचित्तः । आणंदंशुं णिवाडेइ आनंदंशुणि निभातयति ॥ एवं गुरुपदेशं श्रुत्वा गजः कृताभ्युपगमस्तं प्रति अवलोकरोति बह्वायादयेतावटे—

मूलाह—वादत्ति भाणिदूणं वाढमित्युक्त्वा । एदं णो मंगलोत्ति एतद्रवतां चत्तर्ग अस्माकं मंगलं नितरां यद्वादिदं वत्तदभ्युपगमस्तमस्माकं मंगलमस्तिवति, ये वत्तय गुरोत्ते निगम तदुपगमवचितो गण आनंदा-
शुणि पातयति इति संक्षेपः । वक्के थ—

जातमिति निगद्य गणो भंगलभेत्तद्ब्रह्मचोऽस्माकम् ॥
गुरुगुणपरिणतमनः सोऽब्रण्णयानन्दवत्त्ववति ॥

अर्थ—हे ममो ! आपका यह उपदेश हमको अतिशय भंगलकारक सुखदायक और पाप नाशक है ऐसा सुनिगम होलवे है और गुरुके गुणोंमें एकाग्रचित्त होकर नेत्रोंसे आनंदाद्यु विराजते हैं.

भगवं अणुगमहो मे जं तु सवेहोव्व पालिदा अम्हे ॥
सारणवारणपडिचोव्वणाओ धण्णा हु पावेति ॥ ३७७ ॥
अयं नोऽनुब्रह्मोऽपूजो यस्संवांगमिष पालिताः ॥
सारणावारणपदेसा लभ्यंते पुण्यआनिभिः ॥ ३८४ ॥

विजयोदया—भगवं अणुगमहो मे भगवदनुग्रहोऽस्मान् । जं तु सवेहोव्व पालिदा अम्हे यस्संवांगमिष पालिता पयम् । सारणवारणपडिचोव्वणाओ एवं कुरुते, माकुरुते इति शिक्षां । धण्णा हु पावेति धन्याः प्राप्नुयन्ति ।
मूढारा—अणुगमहो प्रसादो युष्माकं । मे अस्माकं । सवेहं व स्वदेहमिव । सारणवारणपडिचोव्वणाओ एवं कुरु तेनैवं कुरु इत्यादिशिक्षा ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने स्वदेहके समान हमारा पालन किया है, आपने हे पुनिगुण ! हम अमुक कार्य करो और अमुक कार्य मत करो ऐसी शिक्षा दी है, ऐसी शिक्षा भगवन्तको ही मिलती है, अन्योको नहीं.

अम्हे वि खमावेमो जं अण्णाणायमादरागेहिं ॥
पडिलोमिदा य आणा हिदोवदेसं करिताणं ॥ ३७८ ॥
क्षमयमो वयं तवद्रागाज्ञानभ्रमादतः ॥
आदेशं ददतामाज्ञा भवतां प्रतिक्कृलिता ॥ ३८५ ॥

चित्तयोदया—अम्हे वि खमावेमो वयमपि धर्मो प्रादयामः । जं अण्णाणायमादरागेहिं अण्णा अज्ञानात् ।

पमत्परोर्गेहि प्रमत्तद्रागस्य । पहिलोमिदा ॥ आपणा भवत्तं प्रतिकूलवृत्तयो जाताः। हिदोवेदं कर्तव्यं । आहो हितोपदेशं कुरुताम् ॥

मूला—रामवेयो क्षमां ग्राहयिष्यामो युष्माक ॥

अर्थ—हे प्रभो ! प्रमाद, रागभाव, अज्ञान इत्यादि विकारोंके आवेक्षमें आकर हमने आपकी आज्ञाका लोप किया होगा, आपके हितोपदेशके प्रतिकूल हमने प्रवृत्ति की होगी. इसलिये हे प्रभो ! हम आपके पास क्षमायाचना करते हैं.

सहिदय सकण्णयाओ कदा सचक्खू य लब्धसिद्धिपहा ॥

तुङ्ग वियोगेण पुणो णट्ठदिसाओ भविस्सामो ॥ ३७९ ॥

लब्धसिद्धिपथा जाताः सचित्तश्रोत्रबहुवः ॥

युष्मद्वियोगतो भूयो भविष्यामस्तथाविधाः ॥ ३८० ॥

विजयोव्या—सहिदय सकण्णयाओ सहृदयाः सकर्णकाश्च जाताः । कदा सचक्खू य कृताः सलोचनाः । लब्धसिद्धिपहा लब्धसिद्धिमार्गाः । तुङ्ग वियोगेण पुणो भयद्रमो वियोगेन पुनः । णट्ठदिसाओ नष्टदिक्काः । भविस्सामो भविष्यामः ॥

मूला—सकण्णयाओ सकर्णकाश्च । कदा कृताः सुप्तमभिरिति श्रेयः । तुक्त्वा भवद्भ्यः । णट्ठदिसाया नष्टदिक्का मार्गदर्शनरहिता शरयः ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपने हमको हृदययुक्त किया है. अर्थात् आपके उपदेशसे हम हिताहितका विवेक कर-
नेमें समर्थ होगये हैं. हमको कर्णोंकी प्राप्ति हुई है. अर्थात् आपने हमको श्राव्य यदाये हैं. और हमको आपने श्राव्य रूप लोचन प्रदान किये हैं. हमको आपने मोक्षमार्गमें भी लगा दिया है परंतु आपका वियोग होनेसे हम पुनरपि दिग्भ्रम हो जायेंगे. हाय !

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीविणाथम्मि ॥

पवसंते य मरंते देसा किर सुण्णया होति ॥ ३८० ॥

सर्वजीवहिते घृद्धे सर्वलोकेकनायके ॥

प्रोपिते चा विपत्ते वा देसाः शून्या भवन्ति ते ॥ ३८७ ॥

त्रिजयोदया—सद्वजयजीवहिदए सर्वस्मिन्नगति ये जीवाः तेषां हिते । थेरे पान्तपणुद्धे । सव्वजगजीवि-
णायम्मि सर्वजगतो जीवानो नाथे । पवसंते य मरंते प्रयासं युस्ति चा मतिपचमासे । देसा किर सुण्णया होति देशाः
फित्त शून्य भवन्ति ॥

सव्वजयजीवहिदए थेरे सव्वजगजीविणाथम्मि ॥

पवसंते य मरंते होवि हु देसोपयारोव्व ॥ ३८१ ॥

सीलदुगुणदुहिं हु बहुसुदेहिं अवरोवतावीहिं ॥

पवसंते य मरंते देसा ओखंडिया होति ॥ ३८२ ॥

अनन्यतापिभिः सर्वैर्युगदीलपयोधिभिः ॥

दीना बहुयुनैर्दशाः सांधकारा भवंति ते ॥ ३८८ ॥

सर्वदेशिय वैरुद्धैर्जन्यनो तत्पनिश्चयाः ॥

वेदनादो प्रयासे वा तेषामंथा भवंति ते ॥ ३८९ ॥

यास्यैराप्यायिता लोका धैर्मैधा इव धारिभिः ॥

येभ्यस्ते निर्गता घृद्धास्ते देशाः सन्ति खंडिताः ॥ ३९० ॥

त्रिजयोदया—सीलदुगुणेहिं य बहुसुदेहिं अवरोवतावीहिं श्रीलाल्यैर्युगल्लैर्बहुभूतैः अपरोपतापिभिः ।
पवसंते य मरंते युति प्रयासं वा मतिपचमासैः । देसा ओखंडिया होति अनपक्वा अवरोहिता भवंति । मत्तार्थेस्तरा साथा ॥
गूढारा—थेरे शान्तपणुद्धे ॥

गूढारा—देसोपयारोव्व जनपदोऽन्यकार इव भवति । हितार्हितशानशून्यो भवतीत्यर्थः ॥

मूढारा—ओरेंटिना अश्वसंहिता: वंचिता दैवेन विपर्यस्तित्वायसिद्धबुधाया इत्यर्थः ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आप सर्व जगत्के जीवोंका हित करनेवाले हैं. आप ज्ञानबुद्ध और तपोबुद्ध हैं. आप सब जगत्के जीवोंके स्वामी हैं. आप अब प्रवास करनेवाले हैं. अथवा संन्यासमरणका स्वीकार करनेवाले हैं ऐसे समय हमको सर्व देश ग्रन्थ दिते हैं. तथा सर्व देश अंधकारमय दीखते हैं. हे प्रभो ! आप झीलयुक्त, गुणयुक्त, और बहुशुद्ध हैं. आप प्राणिओंको दुःख न देनेवाले हैं. परंतु अब आप प्रवास करनेवाले हैं अथवा संन्यासमरण धारण करनेवाले हैं. ऐसे समयमें हमको सब देश संबोधित दीखते हैं.

संव्यस्स दायगाणं समसुहृदुक्खाण निप्पकंपाणं ॥

दुक्खं खु विसहिंदुं जे चिरप्पवासो वरगुरूणं ॥ ३८३ ॥

दायकानामशेषस्य स्वरिणामुपकारिणाम् ॥

समानसुखदुःखानां वियोगो दुःसहश्चिरम् ॥ ३९१ ॥

पवित्रविद्योद्यतदानपंडितैस्तनूभृतां तापविपादनोदिभिः ॥

गणाधिपैर्नाति विना न मेदिनी निरस्तपैकैः सरसीव वारिभिः ॥ ३९२ ॥

बुधैर्न शीलै रक्षिता नितंविनी तपस्विदानै रक्षिता गृहस्थता ॥

शुल्कपदेशै रक्षिता तपस्थिता प्रशस्यते नित्यसुखप्रदायिनी ॥ ३९३ ॥

मनीषितं वस्तु समस्तभंगिनां सुरदुष्माणामिव यच्छतां सदा ॥

शुणैर्गुरूणां विरहो गरीयसां न शक्यते सोढुमपास्तरफसाम् ॥ ३९४ ॥

इति अनुशिष्टिसूत्रम् ।

विजयोदया—सद्यस्स वपगाणं ज्ञानदर्शनचरित्रतपोदानोद्यतानां । समसुहृदुक्खाण सुखदुःखयोः समानां । निप्पकंपाणं परिपदेभ्यो निष्कल्पानां । वरगुरूणं मदतां गुरूणं । चिरप्पवासो चिरकालप्रवासो वियोगः । दुक्खं खु पिसहिंदुं जे सोढुमतीय दुष्करं ॥

मूढारा—संव्यस्स ज्ञानोदयेः । निप्पकंपाणं परिपद्योपसर्गेषु भिःक्षोम्याणां । । दुक्खं खु दुःखक्षोण एव ।

विसर्दिदुं ले विसोदुं । विरप्पवत्तो दूरेखांवरगव्वं मरणं वा । हत्ति गुणहत्तिष्टिः । सूदतः । १४ । अंकवः १११ ॥

अर्थ—जिनसे क्षिप्याको भ्रम, दर्शन, चारित्र, और वषोंकी प्राप्ति होती है- जो सुख और दुःखोंमें समान हैं अर्थात् रागद्वेषरहित हैं- परिपहोसे जिनकी ध्यानैकाग्रतामें बाधा आती नहीं है- ऐसे श्रेष्ठ आचर्योका चिरकालीन वियोग सहन करना अतिशय दुष्कर है,

सयं परित्तमाण्य भट्टरासत्ताधिकारं परगणवर्गो निरूपयति—

एवं आउच्छित्ता सगणं अभ्युज्जवं पविहरंतो ॥

आराधयाणिमित्तं परगणमणे मइं कुणदि ॥ ३८४ ॥

आपृच्छयेति वणं सर्वं चतुरंगमहोयमय ॥

करोत्पाराधनाकांक्षी गंतुं परगणं प्रति ॥ १९५ ॥

विजयोक्ता—एवं आउच्छित्ता आपृच्छय । सगणं स्वगणं । अभ्युज्जवं पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नचये प्रवर्तमानः । आराहणाणिमित्तं आराधनानिमित्तं । परगणमणे मइं कुणदि परगणमणे मति करोति ।

अथ तथाभाषित भ्रामण्यस्य सत्त्वनापरिणतस्यापृच्छणस्य गणिनः पुनर्मयत्तोक्तीवन्ननिरोधेन समधिप्रदं च-
सिद्धयर्थं परगणमनकमं सत्त्वद्विधौद्याभिरुपदिशति—

मूलारा—आउच्छित्ता आपृच्छय । संवाधेरवर्थाः । अभ्युज्जवं चयमाभिमुखं अतलसमित्यर्थः । पविहरंतो प्रकर्षेण रत्नचये प्रवर्तमानः ॥

इत प्रकार अशुशान्तनविकारकी समाप्ति करके आचार्य परगणचर्या नामक अधिकारत्वा निरूपण करते हैं—
अर्थ—इस प्रकार अपने भणको पृच्छकर अपने रत्नचयमें अविश्रय प्रयत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले वे आचार्य आराधनाके निमित्त परगणमें गमन करनेकी इच्छा मनमें धारण करते हैं,

किमयं परगणप्रवेनं करोति त्वार्थकार्या स्वगणापस्थाने दोषमाचष्टे—

सगणे आणाकोवो फरुसं करुहपरिदावणादी य ॥

णिग्मयसिणहकालुगिणझाणविग्गो य असमाधी ॥ ३८५ ॥

आजाफाया गणशस्त्रं परुषः कलहः ॥ ३९६ ॥

निर्भयस्तेहकारुण्यध्यानविज्ञासमाधयः ॥ ३९६ ॥

विजयोदया - सगणे आणाकोवो आत्मीयगणे आज्ञाकोपः । फरुसं कलहपरिवारणादी य परुषवचनं, कलहो, दुःसादीनि च । निम्नवसिषेहकारुण्यध्यानविज्ञासमाधयो य निर्भयता, स्नेह, फारुण्यं, ध्यानविज्ञाः । असमाही असमाधिच्छ ॥

किमर्थमानार्जस्तथाविधभिधुवो परसंघवेसं करोतीति पृच्छन् प्रति स्वगणवासिन आज्ञाकोपादीनव दोषा-
मुपेदुभिदमापठे—

मूढात्—आणाकोवो आज्ञाभंगः । परसं परुषवचनं । परिदावणा दुःखविपादलेदादीति । कोलणिया
कारुण्यम् ॥

आचार्य परागणमें प्रवेश क्यों करते हैं ? ऐसी शंका उपस्थित की जानेपर आचार्य स्वगणमें रहनेसे
दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा उक्त दिया है—उन दोषोंका सविस्तर विवेचन इस प्रकार—

अर्थ—आराधनासिद्धिके लिये आचार्य यदि स्वसंघमें ही रहे तो आज्ञाकोप, कठोरवचन, कलह, दुःख,
भिषाद, खेद वगैरह, निर्भयता, स्नेह, फारुण्य, ध्यानविघ्न और असमाधि ये दोष उत्पन्न होते हैं.

उद्वाहकरा धेरा कालहिया खुडुया खरा सेहां ॥

आणाकोवं गणिनो करेज्ज तो होज्ज असमाही ॥ ३९६ ॥

परापवादोद्यतयो जरंतः शौक्ष्याः खरा युद्धपरानर्थिनाः ॥

आज्ञाक्षतिं भिक्षु गणे स्वकीये कुर्वन्ति खुरेसमाधिहेतुम् ॥ ३९७ ॥

विजयोदया - उद्वाहकरा धेरा अपरासंपादकाः स्थविराः । कालहिया कलहकराः । खुडुया झुझकाः । खरा
सेहा परागण भ्रमार्गज्ञाः । आणाकोवं गणिणो करेज्ज आज्ञाकोपं सरेः कुरुं । तो होज्ज असमाही तस्मादाज्ञाकोपाद्वे-
दसमाधिः ॥

सगणे स्वविशिष्टव्यसमाधिकरमाज्ञाकोपं दर्शयति—

मृगारा—उद्गृह्णन्त्या अयनाभ्यादराः । अन्वर्हिगा कालदिकाः कटद्वररा इत्यर्थः । सुश्रुया अन्वलोपासका
पञ्चकाः । पराभीष्टताः । तेदा औद्या मार्गानभिरा इत्यर्थः । करेज्ज कुयुः ।

अर्थ—मृगमे दृढ मुनि यदि अतीति मंपादक होम, और धुल्लक अर्थात् धुल्लकान्ता घारण करनेवाले
परस्य यदि रुन्द करनेके लिये उद्युक्त होये, अमार्गज छिप्प मुनि अर्थात् समाधिविधि न जाननेवाले क्षिप्प मुनि
यदि नीरुज्य म्भारके होमये तो वे आचार्यही आज़ाका उद्धेधन करेगे तब आज़ाके उद्धेधनसे आचार्यकी असमाधि
होगी अर्थात् परिणाममें अज्ञानता उत्पन्न होगी. इसलिये आचार्य समाधिपरल साधनके लिये परगणमें प्रवेश
करते हैं.

परगणयासी य पुणो अब्जावारो गणी हवदि तेसु ॥

णहिय य असमाहाणं आणाकोयस्मि वि कदस्मि ॥ ३८७ ॥

अयापारदीनस्य ममत्त्वदानेः संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये ॥

नाताधियाने चित्तिंजपि सूरतेतैरसोपरसमाधिरस्ति ॥ ३९८ ॥

निज्ञतेपया—परलगेऽप्यमी संलग्न स्वधियागल्लभाप्यरतमाधानं स्वाधेयास्येति शंकां निरस्यति । परगणया-
नी य यः परलगे गतति गती मो मयापारोऽप्यापारः तेषु शिक्षाव्यापाररहितः । तेन आचार्यको न विद्यते मातामंगो
मागर्भिकः । इति य ममत्त्वमाधानं नास्ति न असमाधिः । आणाकोयस्मि वि कदस्मि वास्तव्ये कृतेऽपि ममाद्युप-
काप्तो वयनमिमे निमर्गे तुयस्ति इति नेतःप्रतिपानात् ॥

परलगेऽप्यमीचो रीभशरणान्ताओपादस्यासमाधिः स्वाधेयव्याप्तैकाग्र्याकरोति —

मृगारा—अन्यापारो विभक्त्यापाररहितः । तेषु परगण्यधियारिषु । तेनाताकोपो नास्तीति शेषः । विष्-
हमि हतेऽपि ममाद्युपकारय वचनमिमे किमर्थं कुर्वन्तीति चेत्प्रविपयानात् ।

परगणमें भी पढ मुनि, धुल्लक, अमार्गज मुनि रहते ही हैं अतः वहां भी आचार्यको असमाधि दोष
उत्पन्न होगा ही इन गंतारका प्रथम उत्तर देने हैं —

अर्थ—जब आचार्य परगणमें जाकर रहते हैं तब उन गणस्य मुनिओंको वे उपदेष्टा, आज्ञा करते नहीं, विमर्से

उस गणके मुनिओंके द्वारा आज्ञामार्ग करनेका प्रसंग आता ही नहीं। और यदि उन्होंने आचार्य की आज्ञा नहीं मानी तो भी आचार्य इनके ऊपर तो भेने कुछ भी उपकार किया नहीं अतः वे भेरा वचन क्यों शिरोधार्य करेंगे ऐसा विचार कर अपने परिणामोंकी शान्तता नष्ट नहीं करते हैं इसलिये असमाधि नामक दोषकी उत्पत्ति परगण-में रहनेसे नहीं होती है, आज्ञाकोष नामक दोषका विवेचन हुआ।

आज्ञाकोषदोषं अभिधाय द्वितीयं व्याचष्टे—

सुहे धरे सेहे असंबुडे ददु कुणइ वा परसं ॥

ममकारेण भणेल्लो भणिल्ल वा तेहिं परसेण ॥ ३८८ ॥

धालान्दुखान्शौक्षकान्दुष्टेषेष्टान् दृष्ट्वा स्वरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ॥

किंचिद्वागद्वेषमोहविपुक्तास्ते वा नरुदुःसंस्तवप्राप्तवाञ्छर्यः ॥ ३९९ ॥

विजयोदया— सुहे धरे सेहे असंबुडे असंबुडान् शौक्षकान्दुष्टेषेष्टान् दृष्ट्वा स्वरिर्निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् । कुणदि वा पवर्ल करोति वा परसं । ममकारेण मणेल्लो ममायेन धरेडा परसं । भणिल्ल वा तेहिं परसेण भण्येत वा गणी तेः परसं धव. ॥

पकरं व्याचष्टे—

मूळार— असंबुडे असंबुडान् प्रमादाचरणानित्यर्थः । ददु दृष्ट्वा । कुणदि वक्ति । मणिल्लो मणेत । परसं म्रूयान् इत्यर्थ । मणेल्ल मण्येत । परसेण प्रकीर्ण परिषयकृत्वधृष्टवाचंभ्यात् ॥

अथ दुसरा दोष कहेत है—

अर्थ—परप नामक दोषका स्वरूप इस प्रकार है—शुद्धक गृहस्थ, वृद्धमुनि, और असामंज मुनि ये प्रमादसे असंयमधूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसा देखकर उनको आचार्य परमापण करेंगे, ये भेरे संघमें रहकर ऐसा प्रमादयुक्त आचरण करते हैं ऐसा मनमें विचार कर उनको कठोर भाषण करेंगे अथवा वे दृढमुनि वगैरह उनके साथ कठोर भाषण करेंगे, अपने संघमें ही रहनेसे धृद्धादि मुनिओंके साथ अधिक परिचय रहता है जिससे वे आचार्य को और आचार्य उनको कठोर भाषण करेंगे तब परप नामक दोष उत्पन्न होगा।

पण्डिचोदणासहजदाए होज्ज गणिणो वि तोहिं सह कलहो ॥

परिदावणादिदोसा य होज्ज गणिणो व तेसिं वा ॥ ३८९ ॥

यावयाक्षमायामसमाधिकारी सूरः समं तैः कलहो दुरन्तः ॥

दोपास्ततो दुःखविपादखेदाः भवन्ति सर्वेष्वनिवारणार्थाः ॥ ४०० ॥

विजयोदया—पण्डिचोदणासहजदाए गुदगिहासहेनेन । होज्ज कलहो तेहिं सह गणिणो वि भवेत्कलहस्तेः
धुतकादिभिः सह गणितः । परिदावणादिदोसा होज्ज दुःखादिवोया मवेयुः । गणिणो य तेसिं व गणिजस्तेपां
क्षुल्लकादीनां वा कलहः ॥

कलहादिदोषद्वयं व्याख्याति—

बूलाए—पण्डिचोदणासहजदाए गुदगिहासहिल्लुतया । होज्ज मवेयुः ।

कलह दोषका पूर्वार्द्धेनैर्गणन करते हैं—

अर्थ—स्वगणमें रहनेसे आचार्य के शिक्षावचन सुनकर क्षुल्लकादिक मुनि क्रुद्ध होकर उनसे लड़ने अथवा
क्षुल्लकादिकोंसे आश्वामंश होनेसे आचार्यका कलह होना संभवनीय है. आश्वामंश होनेसे आचार्यके मनमें खेद,
संताप वगैरह विकार उत्पन्न होंगे अथवा ये आचार्य हमको हमेशा उपदेश देते रहते हैं आज्ञा करते हैं ऐसा विचार
कर क्षुल्लकादिक दुःख, संताप, शोकादिकसे पीड़ित होंगे.

परिदावणादीष इत्येतत्स्वजपदं प्रकार्यन्तेषां वि व्याचष्टे—

कलहपरिदावणादी दोसे व अमाउले कंतेसु ॥

गणिणो हवज्ज सगणे ममत्तिदोसेण असमाधी ॥ ३९० ॥

गणेन साकं कलहादिदोषं कुर्वत्सु बालादिषु दुर्धरेषु ॥

गणाधिपस्य स्वगणप्रवृत्तेर्ममत्वदोषादसमाधिरस्ति ॥ ४०१ ॥

विजयोदया—कलहपरिदावणादी दोसे व कलहं परिताषादिदोषं वा । अमा कुले कंतेसु गणेन सह कुर्वत्सु

धुस्रनादिषु । गणिणो हवेज्ज समणे ममत्तिदोसेण असमाधी गणिनो भवेम्ममत्वदोरेण उसमाधिः ॥

कलहादिदोषानेव प्रकारावरण व्याचष्टे—

मूलारा—अमा गयेन सह । आकुले ॥ । संक्षोभात्वं करत्वेसु कुर्वन्तु क्षुद्रकादिषु । ममत्ति-
दोसेण न केवलं सिद्धाष्टनेन ममत्वदोरेण वा असमाधिर्भवेदिति संबन्धः ।

परितापादिक दुःखोक्ता अन्य प्रकारसे वर्णन—

अर्थ—अथवा अपने संपर्के क्षुद्रकादि मृनि कलह, शोक संतापादिक परस्परमें करते हुए देखकर आचा-
र्यकी अपने बगलपर ममता होनेसे चित्तकी एकाग्रता नष्ट हो जायगी. अर्थात् उनके परिणाम अक्षांतिमय होगे,

परितापणपि इत्येतत्क्षुद्रपदं अन्यथा व्याचष्टे—

रोगादंकादीहिं य सगणे परिदावणादिपचेसु ॥

गणिणो हवेज्ज दुक्खं असमाधी वा सिणेहो वा ॥ ३९१ ॥

परीपदैर्योरत्तमैः स्वसंचं निरीक्ष्यमाणस्य निपीड्यमानं ॥

गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः प्रवर्तते संघपतेरचार्यः ॥ ४०२ ॥

पिलयोदवा - रोगातंकादीहिं य अत्यमहद्विषय्यादिभिः । परिदावणादि पचेसु परितापनादि प्राप्तेषु । सगणे
आत्मीयशिष्यवर्गे । गणिणो हवेज्ज दुःखं । आचार्यस्य भयेद् यं । असमाधी वा सिणेहो वा असमाधिष्वो स्नेहो ॥ ।

परितापनादिसूत्रमन्यथा व्याचष्टे—

मूलारा—रोगातंकादीहिं अत्यमहद्विषय व्याधिभिः । आदिशब्देन सुदोषद्रवादिभिः । सगणे स्वसेधे सियतेषु
शिष्यादिषु । दुक्खं मतस्तापः । असमाधी असमाधानाथ । चतुर्थ्ये प्रथमाविधानात् । सिणेहो मोहः । ममत्वकृतः छेद
इत्यर्थः । उक्तं च—

निजगणगतेषु रोगिषु परिवेदनदुःखपरिगतेषु पुनः ।
कारणशोकोमोहा भवेयुरसमाधये सुरैः ॥

इसही दोषका प्रकारान्तरे वर्णन—
अर्थ—छोटे मोटे रोग वर्गसह विकार संघमें फेल जानेपर अपना विषयवर्ग दुःख संतापादिते पीडित हुआ देखकर आचार्यको दुःख होगा, परिणामकी एकाग्रता नष्ट होगी, और उनमें स्नेह होगा. इसलिये समाधिभर-
जोद्यमी आचार्य इनके परिहारार्थ अन्य संघमें जाते हैं.

तण्डहादिषु सहण्डजसु वि सगणम्मि णिठमओ संतो ॥
जाण्डज व तेण्डज य अकण्ठिदं किं पि वीसरथो ॥ ३९२ ॥

परीपहेषु विश्वस्तः स्वगणे निर्भयो भवन् ॥
याचते किं वनाकल्प्यं सेवते भापते स्फुटम् ॥ ४०३ ॥

विजयोद्या—तण्डहादिषु सहण्डजेषु वि विपातादिकेषु परीपहेषु सदनीयेष्वपि । सगणम्मि णिठमओ संतो
स्वगणे निर्भवः सन् । जाण्डज व तेण्डज य वाचते या सेवते वा । अकण्ठिदं अयोग्यं किंचित्प्रत्याख्यातमशनं गानं वा ।
वीसरथो विश्वस्तः भयलज्जाभिरहितः ॥

निर्भयं व्यापद्ये ।

मुकारा—णिठमओ संतो निर्भीतिः सन् सुखिः । जाण्डज बोधेत । अकण्ठिदं अकल्प्यं अयोग्यं । किंपि प्रत्या-
ख्यातं भानभरानादिर्कं वा । वीसरथो विश्वस्तः । अकोतिभयलज्जाभिरहितः ॥

अर्थ—समीक्षितमरणोपेक्ष आचार्यने प्यास, भूख वगैरहका दुःख सहन करना चाहिये. परंतु वे अपने
संघमें रहनेपर निर्भय होकर आहार, जल, वगैरह पदार्थोंकी याचना करेंगे. अथवा स्वयं आहारादिकोंका सेवन
करेंगे. अयोग्य अर्थात् जिनका त्याग किया है ऐसा भी आहार और भानके पदार्थ भय, लज्जा छोड़कर खाने
पान करेंगे इस लिये उनका अपने संघमें रहना आगममें निषिद्ध प्राना है.

सिनेह इत्यस्य श्याल्या—

उद्वे संश्लेषवद्विष्य बाले अज्जाल तह अणाहाओ ॥

पासंतस्स सिणेहो हवेज्ज अच्चंतियविओगे ॥ ३९३ ॥

बालाः स्वांकोचिता दृष्टा वृद्ध्या चिह्नलचित्रहाः ॥

अनाथआर्यिकाः स्नेहं जनयन्ति गुरोस्तदा ॥ ४०४ ॥

विजयोदया—उद्वे संश्लेषवद्विष्य इत्यादि बुद्धान्यतीतस्वांकोचितबालान् यतींस्तथा आर्यिकाः, अनाथा. यद्यतः स्नेहो भवेत्प्राप्तिके विद्योने ।

स्नेहं व्याहरति—

मूलार—संश्लेषवद्विष्ये बाले सोत्संगधर्द्धितबालान् । बाल्यत्पश्यतिपालितान् । अणाहाओ अनाथा. । अरुचंति-अविभोद सर्वथा विरहे । पुनः संगमाभावात् ॥

स्नेहं दीपका विवेचन—

अर्थ—वृद्ध मुनि, जिनका बाल्यावस्थासे पालन क्रिया है ऐसे बालमुनि, अनाथ ऐसी आर्यिकाए हनको देखनेसे अब इनका मेर साथ अत्यंत प्रियोग होगा ऐसा विचार यदि स्वर्णमे आचार्य रहेंगे तो जाये निना नहीं रहेगा जिससे उनके असमाधिमरणकी संभावना होगी. अतः स्वर्णमे उनका रहना निषिद्ध माना गया है.

कोलुगिण इत्येतद्व्याख्ये—

खुद्धा य खुद्धियाओ अज्जाओ वि य करेज्ज कोलुणियं ॥

तो होज्ज उज्जाणविण्णो असमाधी वा गणघरस्स ॥ ३९४ ॥

आर्यिकाः क्षुल्लिकाः क्षुल्लकाः कारुण्यं कुर्वन्ति यतः ॥

ध्यानविन्नोऽसमाधिश्च जायते गणिनस्ततः ॥ ४०५ ॥

विजयोदया—खुद्धा य खुद्धियाओ क्षुल्लका, आर्यो. कुर्वन्तिगणन । ततो ध्यानविन्नोऽसमाधितो गणधरस्य भवतीति ॥

कारणं विवृणोति—

मूढारा—कोटुभिर्ग—सद्व्यभारटनं । सकुरुणमारटनम् ॥

कोटुणिय दोषका विवेचन —

अर्थ—शुद्धक, ब्रह्मचारी वगैरह गृहस्थ, ब्रह्मचारिणी, आर्यिकाये आचार्यको समाधि मरणके लिये उद्यमी देखकर शोक करेंगे जिसको देखकर आचार्यके ध्यानमें विष्रुपस्थित होगा और परिणाममें अन्नाति हांगी. इस लिये आचार्यका स्वगणमें रहना निषिद्ध माना है.

मत्ते वा पाणे वा सुरसूसाए व सिस्सवग्गम्मि ॥
कुब्बंतम्मि पमादं असमाधी होज्ज गणवदिणो ॥ ३९५ ॥

गगिनः प्रैर्यशुश्रूषाभक्तपानादिरूपने ॥
स्वगणेप्यसमाधानं शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ॥ ४०६ ॥

विज्वयोदया—मत्ते वा पाणे वा भक्ते पाणे वा शुश्रूषावां वा प्रमादं शिष्यवर्गे कुर्वति गणपतेरस्समाधिर्भवति ॥
ध्यानविप्रासमाधिदोषौ व्यापद्ये —

मूढारा—सुरसूसाए पयुष्टौ संवाहनादिकार्यौ । कुब्जताम्मि कुर्वति सति । असमाधी आर्तं रोद्रं वा ध्यानं । यदि वा समाधिर्निर्विकल्पयोगः परमानन्दः स च सविकल्पयोगलक्षणध्यानपूर्वकः । अतः शिष्यवर्गप्रमाददर्शनात् ध्यान-विषादस्ततः स्वसमाध्यभावः इति पूर्वसूत्रितं दोषद्वयं व्याख्यातं प्रक्षिप्यत्तव्यम् ॥

अर्थ—आहारके पदार्थ, पानिके जलादिक पदार्थ और शुश्रूषा—हस्तपादादि मर्दन वगैरह कार्यमें यदि शिष्यवर्ग प्रमादी बने अर्थात् इन कार्यमें यदि उन्होंने ध्यान नहीं दिया तो आचार्यके मनमें शांतिका अभाव होगा आतं ध्यान अधवा दुर्ध्यान उत्पन्न होगा.

एदे दोसा गणिणो विससदो होति सगणवासिस्स ॥

भियवुस्स वि तारिसयस्स होति पाएण ते दोसा ॥ ३९६ ॥

एते दोषाः सन्ति संघे स्वकीये सूरः साधोस्तादृशस्यापि यस्मात् ॥

तरमात्पयस्स स्वां समाधानकांक्षी धीरः संघं स प्रयात्पन्यदीयम् ॥४०७॥

विजयोदया—एदे दोसा गणिणो विससदो होति एते दोषा विशेषतो भवन्ति स्वगणे यस्तः । भियवुस्स वि तारिसयस्स मिस्सोरपि तादृशस्स उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वा भवन्ति प्रयेण ते दोषाः ॥

प्रायुका, दोषान्तरार्थग्याधिक्येन दर्शयन् उपाध्यायादेरपि स्वगणवासिनः प्रायोवृत्त्या वात्सवर्त्सयति—

मूलारा—विससदो कतिखयेन । तारिसयस्स तादृशस्य गणिसदृशस्य उपाध्यायस्य, प्रवर्तकस्य वेत्यर्थः ।

अन्यथा भिक्खुस्स सामान्यतेस्तादृशस्य स्वगणवासिन इति न्याचये ॥

अर्थ—जो आचार्य स्वगणमें रहते हैं उनको ये दोष होंगे तथा जो आचार्यके समान उपाध्यायमूनि, तथा प्रवर्तक मूनि हैं वे भी यदि स्वगणमें ही रहेंगे तो उनको भी प्रायः इन दोषोंका संभव होगा.

एदे सब्बे दोसा ण होति परगणणिवसिणो गणिणो ॥

तम्हा सगणं पयहिय वच्चदि सो परगणं समाधीए ॥ ३९७ ॥

भवन्ति दोषा न गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्वचिजं ॥

गणाधिनाथस्य ममत्वहानेर्विना निमित्तेन क्लृप्तो मिदुस्तिः (?) ॥ ४०८ ॥

विजयोदया—एदे सब्बे दोसा ण होति एते सब्बे दोषा न भवन्ति । परगणणिवसिणो गणिणो परगणनिवासिनो गणधरस्य । तस्मात्सगणं परित्यज्य यजति परगणं समाचये ॥

एतदोपासमेन समाधिसाधक्यत्परगणस्य गम्यत्वमनुवर्णयति—

मूलारा—पजहिय सर्वात्मना त्यक्त्वा ।

अर्थ—जो आचार्य अपना गण छोड़कर परगणमें समाधि मरणके लिये प्रवेश करते हैं उनको इन दोषोंका संबंध नहीं होगा है, इस लिये आचार्य समाधिसिद्ध्यर्थ परगणका आश्रय लेते हैं.

संते सगणे अहं रोचेदूणागदो गणमिमोत्ति ॥

सन्वादरसत्तीए मचीए वहुइ गणो से ॥ ३९८ ॥

गणे स्वकीयेऽपि गुणानुरागी सत्यस्वदीयं गणमागतोऽयम् ॥

मत्चेति भवत्या निजया च शक्त्या प्रवर्तते तस्य गणः स्वकृत्ये ॥ ४०९ ॥

विजयोदया—संते सगणे सत्यपि स्वगणे असद्गणे आतद्विचरणतो गणमिममिति सर्वानरेण शक्त्या भक्त्या च गणो वर्तते ॥

परगणपर्यागुणान्गमात्रयेणाह—

मूढारा — संतो सत्यपि । रोचेदूण हविगोपरीकृत्य । गणमिमोत्ति गणमिममिति । से सत्योचमसाधनार्थो-

यतस्य ।

अर्थ—स्वगणके होनेपर भी हमारे ऊपर प्रेम कर ये आचार्य हमारे गणसे आये हैं ऐसा मनमें विचार कर परगणयासी सुनिसप्रदाय पूर्ण आदर व सामर्थ्यसे उनकी सेवा करनेके लिये कटिबद्ध हो जाते हैं. अतः परगण-प्रवेश करना ही योग्य है.

गदित्यो चरणस्थो पच्छेदूणागदस्स खवयस्स ॥

सन्वादरेण जुचो गिज्जवगो होदि आयरिओ ॥ ३९९ ॥

गृहीतार्थी गणी प्रार्थ्यः क्षपकस्योपसेदुपः ।

निर्यापकश्चरित्राख्यो जायते सर्वयत्नतः ॥ ४१० ॥

विजयोदया—गीत्यों चरणस्थो गृहीतार्थः शान्ति चरणस्थः । पच्छेदूणागदस्स प्रार्थयित्वागतस्य । गवयस्स रणकम् । सत्पादरेण जुचो सर्वानरेण युक्तः । गिज्जवगो होर आयरिओ निर्यापको भवत्याचार्यः ॥

मूढारा — पक्षेदूण प्रार्थ्य । आगदस्स आश्रितस्य ॥

अर्थ—प्रार्थना करके आये हुए आचार्य को अर्पित क्षुण्णका समाधिमरण साध्य करानेवाला निर्यापका चार्म आगे लिये हुए लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये। अर्थात् वह गीतार्थ जीगदि पदार्थोंका वेत्ता, ज्ञानी, चारित्र्यमें स्थिर, क्षणिक के ऊपर पूर्ण आदर रखनेवाला होना चाहिये।

संविग्नावज्जमीरुस्स पादमूलमि तस्स विहरंतो ॥

जिणवयणसञ्जसारस्स होवि आराधओ तादी ॥ ४०० ॥

संचिमस्साधभीतस्य पादमूले व्यबस्थितः ॥

अर्हदागमसारस्य भवत्याराधको यतिः ॥ ४११ ॥

इति परगणचर्यासूत्रम् ।

विजयोदया—सचिग्नावज्जमीरुस्स ससारमीरो, पापकर्मभीरोश्च तस्य गुरो पादमूले वर्तमानो जिनवचन सारस्य भवत्याराधक । तादी यति । संते समणे, गीदस्थो, सचिग्नावज्जमीरु इत्येतस्सुत्रयेण परगणे चर्याया गुणो व्याख्यात ॥ परगणचर्या ॥

मूखारा—विहरंतो वर्तमानः । जिणेत्यादि जिनप्रवचनस्य सर्वस्य सारो अविवक्षितं रूप आराधना तस्या आराधको भवतीति संक्षेपः । तादी यतिः । परगणचर्या वंक्षत १५ सूत्रवत् १७ ॥

अर्थ—जो संसारसे मय युक्त है, जो पापकर्मभीरु है और जिसको जिनप्रवचन सर्व सार मान्य हुआ है ऐसे आचार्य के चरणमूले ॥ यति समाधिमरणोद्यमी होकर आराधनाकी सिद्धि करता है, “संते समणे, गीदस्थो, संविग्नावज्जमीरु” इन तीन गाथाओंसे परगणमें चर्या करना गुणयुक्त है ऐसा सिद्ध किया है। गणचर्या नामक प्रकरण समाप्त हुआ।

मार्गान्तिकपणार्थसुत्तरप्रपद्य—

पंचच्छसच्चजोयणसदाणि तत्तोऽहियाणि वा गंतुं ॥

णिज्जावगमणोसदि समाधिकमो अपुण्णादं ॥ ४०१ ॥

पंच पद सप्त वा गत्वा योजनानां शतानि सः ॥
निर्यापकमनुज्ञातुं समाधानाय मार्गति ॥ ४१२ ॥

विज्ञयोदया—पंचचतुस्रजोयनसदाणि पंचपदसप्तयोजनशतानि ततोऽप्यधिकानि वा गत्वा अन्वेपते निर्ता-
पके । शालेन अनुयातं समाधिरामो यतिः ॥

अथ श्रपकस्य परगणप्रवेसोद्यतस्य समाप्यर्थे निर्यापकाचार्येनन्वेपमाणस्य कर्म सप्तदशमिर्गार्थाभिनिर्गदति—
तत्र तत्पदमार्गणक्षेत्रपरिसारं निर्दिशति—

मूलात्—अनुज्ञातं शालेनाधुमत्तम् ।

मार्गणा नामक प्रकरणका निरूपण करणके लिये उत्तर प्रबंध—

अर्थ—जिसको समाधिभरणकी इच्छा है ऐसा मुनि पांचस योजन, छत्स योजन, सातस योजन अथवा
उमसे भी अधिक योजनतक विहार कर शालीक निर्यापकका शोध करता है.

स्वर्गाद्यर्थोत्तरमाथा—

एकं व दो व तिणि य शरसवरिसाणि वा अपरिदंतो ॥

लिणवयणमणुणादं गवेसदि समाधिकामो दु ॥ ४०२ ॥

एकद्वितीणि चत्वारि वर्षाणि द्वादशापि च ॥

निर्यापकमनुज्ञातं स मार्गयति निःश्रमः ॥ ४१३ ॥

मार्गणाकालपरिमाणं च यतिः—

मूलात् येष्विव अत्र शरसवरिसाणि इति निर्देशाच्चतुर्पादिसंख्यापरिग्रहो गोप्यः । अपरिदंतो अपरिदिकछः
अनुद्धिम इति यावत् ॥

अर्थ—समाधिभरणे-रु मुनि एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष लेकर बारह वर्ष तक खेदयुक्त न होता हुआ
जिनागमने निर्णीत निर्यापकाचार्यका अन्वयण करता है.

निर्योपकान्तेष्वर्ग्यं गच्छत क्रममुवाहयति—

गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अउक्षेणपुच्छणाकुसलो ॥

अंडिल्लो संभोगिय अपण्डिबद्धो य सव्वत्थ ॥ ४०३ ॥

एकरात्रतनूत्सर्गं प्रश्नस्वाध्यायपंडितः ॥

सर्वत्रैवाप्रतीचंघः स्याडिलः साधुसंयुतः ॥ ४१४ ॥

विलयोरुप्या—गच्छेज्ज एगरादियपडिमा अउक्षेण पुच्छणाकुसलो । गच्छेदेकरादिप्रभवावधौ अण्यपने परप्रदेते च कुशल । एकरादिप्रभा भिमुप्रतिमा भिक्त्यते । उपवास्तव्य कृत्वा चतुर्ध्या रात्रौ ग्रामनगरादेर्विहिंदो इमशाने वा प्राइमुख, उव्वसुल्लवैस्पाभिमुत्तो वा भूत्वा चतुरंगुलमानपादात्तरो नासिकानिहितदृष्टित्यक्तसायस्सिष्ठेत् । सुष्ठु प्रणिहि तचिन्त चतुर्विधोपतर्गतइ न चलेत्त पतेत् यावत्सूर्य उदेति । स्वाध्याय कृत्वा गम्भूतिद्वयं गत्वा गोचरेक्षेत्रपसति गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मर्गस्तत्रसूर्यपौरुष्यामर्धपौरुष्या वा मंगल कृत्वा याति एवं स्वाध्यायकुशलता । प्रश्न कुशलसोष्यते—वैत्सल्यतानार्थिका आयत्ताश्च, तालमध्यमबृद्धाश्च वृद्धा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशलः । यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थाडिलान्वेषण कुर्यात् । कायशोधनार्थं संभोगयोग्य, यति, संघाटकत्वेन गृहीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् । एव स्थाडिलान्वेषण संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यत्नपर स्थाडिलसंभोगो यतिरित्युच्यते । अंतरालभामन-गराविसंभिशदस्थयतिष्ठितस्कारस्वभान्नामधूर्णकमकादी सर्वत्र अयतिवदत्वात् अप्यडिबद्धो य सव्वत्थ इत्युच्यते ॥

निर्योपकाचार्यमार्गणाय गच्छत पैषषा विधिमाह—

मूलारा—एगरादियपडिमा अउक्षेणपुच्छणाकुसलो एकरादिकप्रतिमाकुसलोऽप्यवनकुशलः, प्रच्छतनकुशलश्च । तत्रैकपात्रिकभिब्रुप्रतिमा यथा—उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्ध्या रात्रौ ग्रामनगरादेर्विहिंदो वने इमशाने वा प्राइमुख, उव्वसुल्ल-वैत्समुत्तो वा भूत्वा चतुरंगुलमानपादात्तरो नासिकानिहितदृष्टित्यक्तसायस्सिष्ठेत् । सुष्ठु भ्रूणदित्वित्तअधुर्विधेयस नैसष्टो न चलेत्त पतेत् यावत्सूर्य उदेति । येना एकरात्रिकी विब्रुप्रतिमा । तत्र कुशलः । स्वाध्यायकुशलस्तु यः स्वाध्यायं कृत्वा गोचरेक्षेत्रपसति च गत्वा तिष्ठति । यत्र विप्रकृष्टो मर्गस्तत्र सूत्रपौरुष्यामर्धपौरुष्या वा मंगलं कृत्वा याति । प्रश्नकुशलस्तु यैश्चतस्र्यतानार्थिकाश्च तालमध्यमबृद्धाश्च वृद्धा कृतगवेषणो याति । अंडिल्लसंभोगिबद्धो यत्र भिक्षा कृता तत्र स्थाडिलं प्रास्तुकस्यानकायशोधनार्थगन्तेपेते । समाचारात्मकः संभोगः । योग्य यति संघाटकत्वेन गृहीयात् । स्वयं वा तस्य संघाटको भवेत् ॥ एवं स्थाडिलान्वेषणे संभोगयोग्ययतिना सहवृत्तौ च यो यस्य संघाटको भवेत् ॥ एवं

स्वच्छिन्नान्नेपेण समोगयोग्यविना सहधुतो च यो कल्पपरः स स्वच्छिन्नसमोगियवित्त्व्यते । अन्ये तु गच्छिन्नं समोगिय इति पठित्वा स्वच्छिन्नं हृद्वेति व्याख्याति । “अध्ययनप्रभविधौ निपुणोऽसावैकराट्रिकप्रतिभः ॥ स्वच्छिन्नशायी गायान्-प्रतिपद्यत सर्वत्र ॥” इतरे तु स्वाच्छिन्नः स्वच्छिन्नशायी, समोगियुतः सधर्मयुक्त इति मत्वेदं पेटुः ॥ “एकराट्रिकनूत्सर्ग-प्रस्तसाम्प्रात्यप्येष्टित सन्नेत्य प्रतोऽप्यः स्वाच्छिन्नः साधुसंयतः ॥” अप्यद्विवक्षो आसक्तिरुद्दिष्टः । सन्नेत्य सर्वत्राट्रिकल-प्राप्तमारादिमादियेसस्ययतिरुदिसत्कारसन्मानप्राप्त्युक्तमकटौ ॥

निर्यापक का अन्वेषण करनेके लिये निकले हुए आचार्य का कार्यक्रम बताते हैं—

अर्थ—एकराट्रिकप्रतिमाकुशल, अध्ययनकुशल और प्रभकुशल ऐसा वह मुनि निर्यापकाचार्य का अन्वेषण करने के लिये निहार करता है—एकराट्रिकप्रतिमाकुशल का स्वरूप कहते हैं—वीन उपवास करनेके अनंतर चौथे रात्रीमें ग्रामनगरादिकके बाह्य प्रदेशमें अध्यात्मशान्तमें, पूर्वदिशा, उत्तरदिशा अथवा चैत्य-जिन-प्रतिमानके सम्युक्त सुलकर दोनो चरणोंमें चार अंगुल ग्रमाणका अंतर सरकर नासिकाके अग्रपर वह यति अपनी दृष्टि निधत्त करता है, शरीरपरस्म ममत्वं छोड देता है अर्थात् कायोत्सर्ग करता हुआ मनको एकाम्र करता है, देव, मनुष्य, तिर्यच और अचेतन इनके दारा किया हुआ उत्सर्ग सहन करता है, वह मुनि मयसे अलगे गमन करता नहीं और नीचे गिरता भी नहीं है, अर्थात् निर्भय होकर स्वस्थानमें ही श्रयोदय होने तक स्थिर रहता है, यह एक रात्रिप्रतिमाकुशल है जो मुनि साध्याय कर दोन कोस गमन करता है और जहां आहार मिलेगा ऐसे क्षेत्रमें पसविसमें जाकर ठहरता है, यदि मार्ग दूर होव तो छत्रपौलषी अथवा, अंघोपौलषी के समय मंगल करके अंगे गमन करता है वह स्वाध्याय कुशलश्रुति है—

प्रभकुशल मुनि का स्वरूप—चैत्य, मुनि, आर्गेष्ठा, श्रावक, गाल, मध्यम और वृद्धोंको पूछकर निर्याप-रानार्थमा अन्वेषण करता है, जहां भिक्षा प्राप्त हो गई वहां जो स्वच्छिन्नका अन्वेषण करता है, अर्थात् शरीर शोधन के लिये प्रातुरु स्थान का अन्वेषण करता है, वह स्वच्छिन्नशायी मुनि है, समोमकुशल—सहायता करनेवाले योग्य यतिके साथ निहार करनेवाला, किंम योग्य यति का आश्रय करनेवाला अथवा योग्य यतिको स्वयं मदत करनेमें लो कुशल है वह यति समोमकुशल माना जाता है, मार्गमें ग्राम, नगरादिकमें रहनेवाले यति और

गृहस्थोंके सत्कार, सम्मानमें जो मोह नहीं करता है, जो अतिथि और भक्तादिकों पर मोहबुद्ध नहीं होता है ऐसे मुनिको अप्रतिबद्ध कहते हैं। निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये निकले हुए मुनिका स्वरूप इस प्रकार है—

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अंतरा हु अमुहो हवेज्ज आराहओ होब्ब ॥ ४०४ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरारालोचनापरः

संपद्यते तरों मूकस्तथाप्याराधको मतः ॥ ४१५ ॥

विलययोग्या—आलोचनापरिणदो रत्नत्रयातिचारान्मनोवाकाविकल्पनात्सीयान्युरो निवेदयिष्यामीति कृत-
संकाश्यः । सम्मं आलोचनादोपात्तरिस्सज्य संपरिणदो यत्तुमुपगतः । गुरुसयासं गुरुसमीपं । जदि अंतरा खु यद्यन्तराल
पर । अमुहो हवेज्ज पतितनिष्ठो भवेत् । आराधको होख आराधको भवति ॥

सम्यगालोचयिष्यामीति प्रणिधानपरो गुरुसंमुखं चक्षिषो दैर्घ्यावतराले एव अवबन्तीभूतोऽप्याराधकोऽस्तीति
उपविशति—

भूछारा—आलोचनापरिणदो, रत्नत्रयातिचारान्मनोवाकाविकल्पनात्सीयान्युरो निवेदयिष्यामीति कृतसंकल्पः ।
सम्मं सम्यक् आलोचनादोषं परित्यज्येत्यर्थः । संपच्छिदो यादृमुपगतः । अमुहो निर्बन्धतः ॥

अर्थ—मन बचन और कायके द्वारा रत्नत्रयमें जो अतिचार लगे हैं वे सब गुरुके पास जाकर मैं कहूंगा
अर्थात् गुरुके समीप दीर्घोंकी आलोचना करूंगा ऐसा मनमें निवार कर जो साधु गुरुके पास जानेके लिये निकला
पट्ट यदि मार्गमें ही वह मूकब्रह्मण्यको प्राप्त हो जावे तो भी वह आराधक होता है—आराधक माना जाता है,

आलोचनापरिणदो सम्मं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०५ ॥

यद्यपि प्रस्थितो मूले सूरेरारालोचनापरः

विपद्यतेऽन्तरालेऽपि तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥ ४१६ ॥

विजयोदया—आलोचनापरिणतो स्वापराधकथनावहितविषयः । गुरुसमीपमागच्छतो यच्छतपालं पयः कालं
कुपयति । आराधको ह्रीं आराधको भवति ॥

आलोचनापरिणतो समं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ असुहो हवेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०६ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः स्मृतिसन्निधिः ॥

यद्यस्यस्यमुस्तः स्मृतिस्तथाप्याराधकोऽस्ति संः ॥ ४१७ ॥

विजयोदया—तथा आलोचनापरिणतः गुर्वन्तिकं प्रस्थितः आराधको भवति । यथाचार्यो यत्कुसुमको ज्ञातः ॥

आलोचनापरिणतो समं संपच्छिदो गुरुसयासं ॥

जदि आयरिओ कालं करेज्ज आराहओ होइ ॥ ४०७ ॥

आलोचनाप्रवृत्तस्य गच्छतः स्मृतिसन्निधिः ॥

यद्यपि द्वियतो स्मृतिस्तथाप्याराधकोऽस्ति संः ॥ ४१८ ॥

विजयोदया—आचार्यः कालकरोऽप्याराधको भवति इति सूत्राद्यः ॥

पठन्मनोऽप्याराधकोऽक्तोऽपि—

मूलतः—स्पष्टः ॥

अर्थ—मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके चरणमभीष ज्ञाकर कहूंगा ऐसा मनमें विचार कर निकला
हुआ मुनि यदि मार्गमें ही मरण करे तो भी वह आराधक होता है.

अर्थ—मैं अपने अपराध परगणके आचार्य के पास कहूंगा इस अधिप्रायसे मगन करनेवाले आचार्य यदि
मार्गमें ही गुरुपस्थाकी प्राप्त होजाये तो भी वे आराधक होते हैं. अर्थात् यदि वे व्याधिजर्जरित होकर बोलनेमें
अतमर्थ हो गये तो भी वे आराधक होते हैं.

अर्थ—आलोचना करनेके उद्देशसे गुरुके समीप निकले हुए आचार्य यदि मार्गमें स्वर्गवासी हो जावे
तो भी वे आराधक माने जाते हैं.

कथं धाराधकता तस्य ? न कृता आलोचना ? नाचरितं गुरुपदिष्टं प्रायश्चित्तमित्येतत्कारणमात्रे—

सहं उद्धरिदुमणो संवेगुन्वेगतिव्यसङ्गाओ ॥

ज जावि सुद्धिहेदु सो तेणाराहओ भवदि ॥ ४०८ ॥

संवेगोद्वेगसंपन्नं शुद्धये गच्छत्यसौ यतः ॥

मनःशून्यं निराकर्तुं भवत्यारारधरुस्ततः ॥ ४१९ ॥

विक्रयौवया— कृतापराधाऽनालोचनायां मायाशक्त्यं भवति । सति मायाशक्त्ये न रजःप्रयशुद्धिरिति मया राक्षसं मुक्तं । संवेगुन्वेगतिव्यसङ्गाओ सकारणीकृता संवेगः, शरीरस्याशुचित्तमसारता, दुःखदुःखता चाबलो ज्ञय, तथेन्द्रिय-सुखानामवसिक्तारिता, तृष्णाभिव्युक्तिनिमित्ता च तमोद्वेगः । तौ संवेगोद्वेगौ, तीव्रा मरणकाले रत्नप्रयापयता श्रद्धा अ-पश्य विद्यते स लब्धते संवेगुन्वेगतिव्यसङ्गाओ इति । अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्य रत्नप्रयापय-माया स गता भवत्येते । ज जावि सुद्धिहेदु यस्माच्छुद्धिनिमित्तं यति । सो तेण धाराहओ होवि स तेन धाराधको भवति ॥

कथं अनलोचितस्याननुचितगुरुप्रायश्चित्तस्यापराधकत्वं स्वादित्यादि कारणात्—

मूलारा—सह कृतापराधानाञ्चनेन सति मायाशक्त्यं रत्नप्रयाशुद्धिश्च । उद्वेगः शरीरेन्द्रियसुते चासारत्वं तृष्णाभिव्युक्तिव्यसङ्गादुद्वेगो वैराग्यं । विषयसङ्गा उरुद्वेगमारणालिकरत्नप्रयत्नाधनारविः । संवेगाविश्रयं गच्छति यः स तयोक्तः । अथवा संवेगोद्वेगाभ्यां प्रवर्तिता तीव्रा श्रद्धा यस्मैति प्राज्ञम् । सोभिहेदुं शुद्धिनिमित्तम् ।

विसने आलोचना नहीं की, विसने गुरुकथित प्रायश्चित्तका आवश्यकता नहीं किया है यह मुनि अपराधक कैसे माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अपराध करके भी जो आलोचना नहीं करता है वह मुनि मायावी समझना चाहिये. मायाशून्यके होनेसे रत्नप्रयत्नमें निर्मलता होती नहीं ऐसा मनमें विचार कर शून्यका उद्धार करनेका विसने विचार किया है विसके मनमें संसारभय उत्पन्न हुआ है, शरीर अपवित्र, नि सार और दुःख देनेवाला है, इंद्रियसुख अवप्तिजनक और तृष्णा पदोन्नेत्राला है, ऐसा विचार कर जो उससे उद्धि हुआ है और विसके मनमें रत्नप्रयत्नियक श्रद्धा तीव्रतासे भगद हुई है और जो अपराध निवेदनके लिये गुरुके पास जा रहा है ऐसे मुनिभी यदि मार्गमें वचन

शक्ति नष्ट हो गई अथवा वह यदि मार्गमें मृत्युवश हो गया तो बिना आलोचनाके भी रत्नत्रयाराधक माना जाता है.

निर्यापकसूत्रान्येषणार्थं गच्छतो गुणभावाद्ये —

आधारजीदकपुणदीवणा अचसोधिणिज्ज्ञांसा ॥

अज्जयमहवलायवतुट्ठीपल्हादणं च गुणा ॥ ४०९ ॥

आधारजीदेकल्पानां जायते गुणदीपना ॥

गुणाः स्वशुद्धपसंक्षेपौ मार्दवाजवचतुष्टयम् ॥ ४१० ॥

विजयोदया — आधारस्वीदकपुणदीवणा आधारस्य जीदलक्षितस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना । एतानि हि शास्त्राणि निरतिचाररत्नत्रयतामये वर्णयन्ति । तदर्थमेवान्येषकः प्रयतते । अचसोधि आत्मनः बुद्धिः, निजज्ञा फलेशाभाय । न हि संकलेशानित्ये दूरं प्रयत्नुमीदृते । स्वदीपप्रकटनानामाया लक्ष्णा मयत्वेव, तत्र एव माननिरासो मार्दवः । शरीरस्पर्त्यागादित्युदितया सावर्ध । फलार्थोऽस्मीति मुष्टिर्भवति । अस्थितस्य प्रवृत्तादने हृदयसुखे च स्वपरोपकाराभ्यां गमिताः फाला, इत उत्तरं मदीय वय कार्ये प्रधाने उच्यते अविद्यामि इति चिंतया ॥

निर्यापकसूत्रान्येषणार्थं गच्छतो गुणानावष्टे —

मूढारा — आधारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामये वर्णयन्ति । तदर्थमेव पान्वेषकः प्रयतते । निपतंता संकलेशाभावाः । न हि संकलेशानित्ये दूरं प्रयत्नुमीदृते । अज्जयं मायात्यागः । स्वदीपप्रकटनायथावयोगात् ॥ मर्दवं माननिरासस्तत्र एव लापदं लोभनिर्भयः । शरीरस्यागादित्युदितत्वात् । मुट्ठी कृतार्थोऽस्मीति प्रीतिः । पल्हादणं स्वपरोपकारार्थ्यां गमिताः फाल इत उत्तरं स्वकार्ये एतेषुको भविष्यामीति चित्तयोद्यूतं यत्सुखं । एतेषो गुणा सुर्वान्येषणार्थं प्रययन्तिो भवन्ति ॥

निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेवाले आचार्य के गुणोंका वर्णन —

अर्थ — निर्यापकाचार्यका शोध करनेके लिये विहार करनेसे आधारशास्त्र, जीवशास्त्र और कल्पशास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है. ये शास्त्र निरतिचार रत्नत्रयका स्वरूप दिखाते हैं. और अन्येषक मुनि रत्नत्रय निर्मल

करनेके लिये अवश्य प्रयत्न करता है, आत्मशुद्धि अर्थात् आत्माकी शुद्धि होती है, संक्षेपपरिणाम नष्ट होते हैं, अथवा विदार करना छेददायक है ऐसा जो समझता है वह गुरुका अन्वेषण करनेके लिये क्यों कष्ट सहैगा पंडित जिनकी आराधनासिद्धि करनेकी इच्छा है वे कष्ट सह कर गुरुका अन्वेषण करते हैं, और इस कार्यमें वे कष्ट समझते नहीं, अज्जवगुण-गुरुका अन्वेषण करनेके लिये विहार करनेसे आर्जव गुणकी सिद्धि होती है अर्थात् कष्टका त्याग होता है, क्योंकि गुरुका शोध कर उसके आगे अपने दोषोंको मायाका त्याग कर प्रगट करनेसे आर्जव-गुणकी प्राप्ति होती है, दोष प्रगट करनेसे अभिमानका भी परिहार होकर मार्दव गुणका लाभ होता है, शरीरका परित्याग करनेकी शुद्धि होनेसे लाघव गुणका लाभ होता है, मैं कृतार्थ हो चुका ऐसा विचार मनमें आता है इससे द्विष्टि गुण भी व्यक्त हुआ, गुरुका शोध करनेके लिये प्रयाण करते समय प्रत्यक्ष अर्थात् हृदयमें सुख उत्पन्न होता है, आज्ञावक मैंने स्वपरीषकार करनेमें काल व्यतीत किया अब मैं आगेका सर्व काल मेरे कार्यमें ही अर्पित कर आराधनाओंकी सिद्धिमें हि व्यतीत करूंगा ऐसी चिन्तासे उसके हृदयमें सुख उत्पन्न होता है.

इसमें शुरुन्वेषणार्थमागतं दृष्ट्वा तद्वर्णयामिनां सामाचारकामं ध्याद्वरति -

आएसं, एज्जंतं अब्भुद्धिंति सहसा हु वदठूणं ॥

ओणासंगहवच्छुद्धाए चरणे य णाहुंजे ॥ ४१० ॥

अलोकय सहसा यान्ममभ्युपिच्छन्ति संयताः

आशोसंग्रहवात्सल्यप्रणामकृतयोऽखिलाः ॥ ४११ ॥

विजयोदया - आपसमें प्रापूर्णकं । एज्जंतं आयातं । सहसा अब्भुद्धिंति शीघ्रमभ्युत्थानं कुर्वन्ति यतयः । ओणासंगहवच्छुद्धाए अयुद्धे-ओ समणो सुचतयविसारदो उवासेज्ज एति विनासासंपादनार्थं आगच्छंतं संग्र-हीतुं । वत्सल्यया च तस्मिन्चरणे य णाहुं जा, चरितं समाचारकामं तवीयं शतुं वा अभ्युत्थानं कुर्वन्ति । कवित्यादः - “चरणे य णाहुं” इति चरणवगमनार्थं तत्र ग्राह्यम् ॥

शुर्वन्वेषणार्थमागतं दृष्ट्वा तद्वर्णयामिभिः करणीयं समाचारकामं यावात्रयेण निरूपयामि—

मूलाय - आपसं प्रापूर्णकं । एज्जंतं आगच्छंतं अब्भुद्धिंति अयुत्थानं कुर्वन्ति । वात्सल्या मुनयः । आणासंगह-

अमुद्रया सन्ना मुपतयधितारदा उपागेमग्र इति त्रिनासासंपदनाथं संमहः । आगच्छतो मुनेः सांसुस्येन श्रुतिमहर्षेण ।
परने य पातुंने वदीयपरिचं समाचारकर्म च प्राप्तुमिति दीक्षा । अन्येतु वरणवर्णामेहुं वरणवर्णमनार्थं इति प्रतिपन्नाः ।

चर्चं च—अभ्युभिष्टन्तव्या दृष्ट्यवगम्युक्तं समायत्तं ॥

क्षेमद्वयसत्त्वव्याघ्रप्रणामहेतोः शुलंयमितः ॥

इम प्रकार गुरु का अन्येषण करनेके लिये आपे हुए उस मुनीको देखकर परगणवासी मुनि-उसके साथ
कैसा वर्तन करते हैं इम विषयका विवेचन ग्रंथकार करते हैं—

अर्थ-अतिथि मुनि आता हुआ देखकर परगणस्थ यदि सहासा क्षीम्र खड़े हो जाते हैं, खड़े होजानेसे
त्रिनाम्नाका पालन होता है, आगत मुनिका स्वीकार होता है और बांस्तत्स्यं गुण प्रगट होता है, स्वार्थानिपुण
मुनिही उपायना मी एते कृत्य करनेसे होती है, आगत मुनिका आचार मी इस उपायसे जाना जाता है इत्यादिका
लार्प आगत मुनिको देखकर क्षीम्र खड़े होजाना चाहिये—

आगतुगवच्चुब्ध्या पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं ॥

अण्णोण्णवरणकरणं जाणहेदुं परिकखंति ॥ ४११ ॥

पासत्तप्पागंतुकाःसम्यक् विविधैः प्रतिलेखनैः ॥

क्रियाचारित्रयोपाय परिक्षन्ते परस्परम् ॥ ४२२ ॥

विजयोपया—आगतुगवच्चुब्ध्या आगतुको पास्तव्याया । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णेहिं अन्योन्ये ।
अण्णोण्णवरणकरणं अन्योन्यस्य चरणं करणं यः । परिकखंति परिक्षन्ते । क्रियार्थे अण्णहेदुं प्राप्तुं । समितयो गुप्तमद्वय-
महेतोच्यंते करणमित्याद्यदयकानि गृहीतानि । आचार्याणामुपदेशमित्यामचारोऽनेकप्रकारो दुरवगमः तं प्राप्तुं
महापरमार्थयोग्यो न पायमिति प्राप्तुं यः ॥

महापरा—पच्छन्त्या पास्तव्या सवयः । पडिलेहाहिं तु दृष्ट्वा । अण्णमण्णाहिं अन्योन्ये । अण्णेज्ज
परणकरणं अन्योन्यस्य परणकरणं चरणं गुप्तिसमितया । करणं चावदयकानि ॥ जाणहेदुं प्राप्तुं, सूरीणामुपदेशमेवा
त्मापारोऽनेकप्रकारो दुरवगम इति तं प्राप्तुं । सहापरमार्थयोग्यो न पायमिति या प्राप्तुं । अन्ये तु श्रविलेखनेरन्योन्य

करणादिज्ञानार्थं परीक्षते इति प्रतिपत्ता ॥ तथा च तल्लघ — आर्गन्तुक्वास्तव्या प्रतिलेखाभि परस्पर यतय ॥

अन्योऽन्यवरणकरणाज्ञाननिमित्तं परीक्षते ॥

अपि य—वास्तव्यागतुका सन्वगिविधे प्रतिलेखने ॥

क्रियाचरित्रयोश्च परीक्षते परस्परम् ॥

अर्थ—आया हुआ मुनि और गणके वास्तव्य अर्थात् दोनो मुनि अन्योन्यके आचरणको प्रकार परीक्षा पूर्वक देखते हैं, आये हुए मुनिकी सभिति और शुभ्रिया निर्दोष हैं या संदोष हैं इसका परीक्षण वास्तव्य मुनि करते हैं, आगतुक मुनि भी उनके सभिति शुभ्रिओंकी परीक्षा करता है, सामाधिकारिक छह आबश्यकोंकी भी वे मुनि अन्योन्य परीक्षा करते हैं अथवा अस्वायोंके उपदेशमेदसे आचार अनेक प्रकारका है उसका परिज्ञान करनेके लिये वे अन्योन्यकी परीक्षा करते हैं अथवा आगतमुनि अपने साथ रहनेकी योग्यता रखता है या नहीं यह जाननेके लिये वे मुनि परीक्षा करते हैं

क परीक्ष्यते इत्यत्राह—

आवासयटाणादिषु पडिलेहणवयणागहणानिक्खेवे ॥

सञ्ज्ञाए य विहारे भिक्खवगाहणे परिच्छंति ॥ ४१२ ॥

आवश्यकके ग्रहे क्षेपे स्वाध्याये प्रतिलेखने ॥

परीक्षन्ते वचोमार्गे विबाराशरयोरपि ॥ ४१३ ॥

विजयोदया—आवासगटाणादिषु अवश्यमेव स्मरनिर्जेटाधिभि कर्तव्यानि सामायिकादीनि आवश्यकान्यु च्यते तेषा स्थान स्थिति आवश्यकपरिणति काल । दुःखमदं जहाजाद वारसावत्तमेव च । अतुस्सिर तिसुखमित्यादिका क्रिया आदिशब्देन गृहीता । तेषु आवश्यकस्यामादिषु । पडिलेहणवयणागहणानिक्खेवे । प्रतिलेखने चक्षुषा उपकरणे वा, पचने, उपकरणता ग्रहणे, निक्षेपे, च सञ्ज्ञाप त्याग्ये, विहारे जघाविहारे, भिक्खवगाहणे निष्ठाग्रहणे च परिप्लवति परीक्षते । क्रिय सामायिकादीन्यावश्यकानि करोति ? कर्त्तव्ये वा यथाकाल करोति न वा ? किं वा द्रव्य सामायिकादी प्रचनेते उत भावसामायिकादौ ? द्रव्यसामायिकादिक भवति सामायिकाधिकं पठत, कालेन चोक्ता क्रिया कुर्वत । साधययोगप्रत्यास्थाने, कीर्तितुषुपाहुसरत्ते, आचार्योपाध्यायीनां वा गुणानुसृत्यै, क्षातिचरनिर्दगर्हयो ,

प्रत्यात्येयप्रत्याख्याने, शरीरसमस्तानि रासे वा, परिणतिर्मात्रसामाधिक्यविकर्त्तव्यं । तत्र प्रवृत्तौ न चेति परीक्षा । बहुधा पूर्वाभिदे प्रतिनिर्गमनं योग्यं न चेति किं पश्यति न वा । उपकरणेन युक्तुना लघुना प्रमाजने किं करोति न करोति वा । अथवा त्वरितं प्रमाजंयति, अग्रीहीयति, कृतप्रत्याख्यातयति, प्रमाजनेन विरोधितौ जीवाग्निमयति । आहाराभिमुखान्, आहारसाहिणो गृहीताङ्ककार, स्मृतिवासद्व्यवस्थान्, मूर्च्छाभिमुखताम्रमाजंयति न चेति परीक्षा । बच्चे परीक्षा--परुषं वचः, परनिर्गमप्रसारादृते, आरंभपरिग्रहयोः प्रयत्नं, निष्पत्त्यवसंयत्तकं, निष्पत्त्यवसंयत्तकं, निष्पत्त्यवसंयत्तकं वचो वा यति न चेति । यतो यद्वेद्यं यद्वा यत्र निक्षिपति तदुभयप्रमाजनेपूर्वकं किं युद्धति निक्षिपति वा नेति परीक्षा । काला विद्यादि कृत्या पठति किं वा न, अथवा श्रमं ग्रंथं पठति, कथं वास्थार्यं व्याचष्टे । स्वनिवासदेशादरे इत्समात्रादिपरिमाणे स्मृतिज्ञे, निजज्ञे निश्चिदे, दमे, अविरोधे प्रमाजनेनवलोकये किं स्वशरीरमलं त्यजति उतातो विपरीते इति विहारे परीक्षा । निरुपग्रहेण परीक्षा मात्र आत्मनो यो कांश्चिद्विज्ञां युद्धति लक्ष्यामुत् नवकोटिपरिदुःखमिति ॥

॥ ॥ परीक्षते इत्याह--

मूलाया -- आवासयत्तणादितु आश्रयकेषु सामायिकादियु, स्थानं स्थितिरावश्यकपरिणतिकाल इत्यर्थः । आरिस्त्येन दुःखार्थं अज्ञानार्थं वारसायत्तमेव य । चतुस्सिरे तिसुखमित्यादिकाः क्रिया युहीताः । पवित्रेहणा चक्षुःपिच्छा-
पित्ता प्राणितिरुपणप्रमाजने । विहारे भयमेव ॥

अर्थ--संवर और निजराकी इच्छा रखनेवाले मुनियोंके द्वारा किये जानेवाले सामायिकादि कर्तव्योंकी आवश्यक कहते हैं. अर्थात् सामायिकादि छह आवश्यकोंका पालन आगत मुनि योग्य समयपर करता है या नहीं इसकी परीक्षा वास्तव्य मुनि करते हैं. दो नमस्कार, चारा आवर्त, प्रत्येक दिशाके तरफ एक एक नमस्कार ऐसे चार नमस्कार, मन, वचन और क्रायकी छुदितसे करना इत्यादिक क्रियाओंका पालन यह मुनि करता है या नहीं इसका सूक्ष्म अवलोकन वे करते हैं, नेत्रोंसे उपकरणोंका शोधन करना, सोध करके उपकरण उठाना, रखना, चोलना, स्वाध्याय करना, विहार करना, आहार ग्रहण करना इत्यादि कार्योंमें आगत मुनीकी परीक्षा । ली जाती है. यह मुनि सामा-
यिकादि कर्तव्य करता है क्या ? योग्य कालमें करता है या नहीं ? केवल द्रव्यसामायिकादिकोंमें यह प्रवृत्त होता है या मानसामायिकादिकोंमें इसकी प्रवृत्ति है ? बचनेसे सामायिकादिकका पाठ चोलना और शरीरके सामायिका-
दिकोंकी क्रिया करना यह द्रव्यसामायिक समझना चाहिये. अशुभ योगका त्याग करना, तीर्थकरोंके गुणोंका स्मरण करना, आचार्य, उपाध्याय वगैरह पूज्य मुनियोंके गुणोंका स्मरण करना, अपने व्रतमें लगे हुए अतिचा-
रोंकी निंदा व गद्दी करना, त्याज्य पदार्थोंका त्याग करना, शरीरके उपरका स्नेह छोडना इत्यादिकोंमें जो उत्पत्ता

देखी जाती है वह सामायिकादिक आवश्यक है. इन भावसामायिकादिकोंमें इसकी परिणति है या नहीं यह वास्तव्य मुनि देखते हैं. यह स्थान प्रथम नेत्रसे देखकर स्वच्छ करता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. मृदु पिच्छ-कासे जमीन, कर्मदण्ड, शस्त्र वगैरे उपकरण स्पष्ट करता है या नहीं. धीरे धीरे संभारन करता है या त्वरित, जी-वोंको उपकरणसे हटाता हुआ उनको पीडा करता है क्या ? उनको फेर देता है क्या ? अथवा निरोधी प्राणिजोंको परस्पर मिश्रण करता है क्या ? जो आहारके लिये जा रहे हैं, जिन्होंने आहार ग्रहण किया है, जिन्होंने अण्डे ग्रहण किये हैं, जो अपने निवास प्रदेशमें ठहरे हुए हैं, जो दृक्छित होकर पड़े हैं ऐसे प्राणिजोंको यह मुनि धीरेसे हटाता है या नहीं उसकी वास्तव्य मुनि परीक्षा करते हैं. आगत मुनि के वचन की भी परीक्षा करते हैं अर्थात् आगतमुनि कठोर वचन, परिनिदा स्वप्रवृत्ता करता है क्या ? आरंभपरिग्रहोंमें ग्रहण करनेवाला, मिथ्यात्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्याज्ञानको उत्पन्न करनेवाला, असत्य, और गृहस्थोंका वचन बोलता है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. जो वस्तु जिस स्थानसे लेता है और जो वस्तु जिस स्थान पर रखता है उन वस्तुओंका प्रमांजन करके ग्रहण निक्षेपण करता है या अन्यथा उसमें प्रवृत्ति करता है इसका वे मुनि परीक्षण करते हैं. कालादिशुद्धि का विचार कर स्वाध्याय करता है या नहीं ? अथवा इस ग्रंथका यह मुनि पठन कर किस रीतिसे अर्थ कहता है. इसकी भी परीक्षा करते हैं. विहारपरीक्षाका स्वरूप इस प्रकार है—अपने निवासस्थानसे दूर हात वगैरे प्रमाणसे युक्त, प्राणिरहित, छिन्नरहित, समतलयुक्त विरीधरहित, मार्गसे चलनेवाले लोक जिसको नहीं देख सके ऐसे स्थानमें यह मुनि शरीरमलका त्याग करता है ? अथवा विपरीत स्थानमें शरीरमलका विसर्जन करता है इसकी परीक्षा करते हैं. यह विहारपरीक्षा कही जाती है. भिक्षाग्रहणपरीक्षा—जो कुछ आहार मिलेगा वह ग्रहण करता है अथवा नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करता है इसका भी वास्तव्य मुनि विचार करते हैं.

भाग्युक्तो यतिर्गुरुमुपाधित्य सविमयं संघाटकदत्तेन भगवद्गुणान्मोऽस्मीति विद्यापनं करोति । ततो भगवत्ये-
तापि समानारक्तो दत्तव्यः संघाटक इति निगदति—

आएससस तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादुव्वो ॥
 सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ ॥ ४१३ ॥
 देयः संघाटकोऽवदयमागताय दिनत्रयम् ॥

असंस्तुतस्य घत्नेन शय्यासंस्तरकावपि ॥ ४१४ ॥

विजयोव्या—आएलसस तिरत्त माणुणस्य चित्तं । णियमा संघाडओ दु दादुव्वो निधयेन संघाटको दातव्य एव । सेज्जा संथारो वि ॥ घसति. सस्तरञ्च दातव्यः । जइ वि असंभोइओ होइ । यद्यप्यपरीक्षितत्वरत्नद्वानाच रणीयो भवति । तथापि संघाटको दातव्यो भवति । युक्ताचारधेयसंग्रहते ॥

आर्गबुक्केन च त्रयमुपाश्रित्य भगवत्संपादकदानेनानुग्राहोऽस्तीति विद्यापितो गुरुस्तस्यै सामाचारज्ञं संघाटकं वगान् इति ज्ञापयति—

मूलाप—दु दादुव्वो दातव्य एव दुरेणार्थोऽत्र निगम्यः । असंभोइओ असंभोगिकः सामाचारिक इत्यर्थः
 युआचारधेयसंग्रह इति भावः ॥

आर्गबुक यति गुरुका आश्रयकर हे भगवन् ! सहाय देकर आप मेरे ऊपर अनुग्रह करो ऐसी विज्ञप्ति फाला हे तब आचारक्रमके ज्ञाता उसको संघाटक अर्थात् सहायमदन करते हैं यही भाव आगेके माथामे आचार्य फरते हैं—

अर्थ—अतिथिरूप भुक्तिको नियमसे तीन दिन तक सहायप्रदान करना चाहिये. उसको वसतिक्रा और तस्तर अर्थात् थड़ाई देना चाहिये. यद्यपि परीक्षा होनेतक उसके ताम आचारण करना योग्य नहीं है तथापि उसको सहाय देना चाहिये. और यदि उसका आचारण योग्य दीख पदा तो यणमें उसका संग्रह करना चाहिये.

दिनत्रयोत्तरकालं किं कार्यं शुद्धमेत्याहं कथां यदस्ति—

तेण परं अधियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादुव्वो ॥
 सेज्जा संथारो वि य गणिणा अबिजुत्तजोगिस्स ॥ ४१४ ॥

संघाटको न दातव्यो नियमेन ॥ परम् ॥
यतेपुस्तकरित्रस्य शाय्यासंस्तरकावपि ॥ ४२५ ॥

विजयोद्या—तेण गणिना तेन गणिता । परं दिनत्रयात् । अविचार्य अविचार्यं स्वदत्तसंघाटं यतियदन-
धवणोचरकाळं । तु शब्द पत्रकारार्थे प्रयत्नेते स च दण्डवो इत्येतस्मात्परतो द्रष्टव्यः । न दातव्य एव संघाटनः । सेजा
संघारो वा वसति. संस्तरो वा न दातव्य. । अविलुत्तजोभिस्स युक्ताचारस्यापि न दातव्यः संघाटकादि. परीक्षामंतरेण
किं पुनरितरस्येत्साशय. ॥

इयदादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

मूलारा—सेण गंतव्येन गणिता । परं वित्तयादूर्ध्वं । अविचार्य अविचार्यं । संघाटकयतिना सार्द्धं अवर्त-
यित्वा (१) अविलुत्तजोगस्स युक्ताचारस्यापि आंगंतुकस्य संघाटकादिकं युक्तयोगस्यापि परीक्षां विना न दातव्यमेव
किं पुनरितरस्येत्त्वविशयः । यदि परीक्षा धम्यते तदा संघाटकादिकं दातव्यमिति काल्ययः ॥

तीन दिनोंके अनन्तर गुरुके द्वारा कोनसा कार्य किया जाता है इसका निश्चय करते हैं—
अर्थ—तीन दिनोंके अनन्तर मुनिका यवन मुनकर अर्थात् यह आंगंतुक मुनि अपने गणमें आश्रय देने
योग्य नहीं है ऐसा कचन मुनकर आचार्य उस आंगंतुक मुनिको सहायप्रदान नहीं करते हैं. तथा वसतिका और
संस्तर भी उसको नहीं देते हैं. आंगंतुक मुनिका आचरण योग्य है परंतु तीन दिनोंके उसकी परीक्षा नहीं हुई तो
उसको भी आचार्य सहाय, वसतिका और संस्तर नहीं देते हैं.

अविचार्यं तेन सहायस्थाने को दोषो येनैतं कलः क्रियते इत्यरेकायां दोषमाचष्टे—

उग्गमउप्पादणएसणासु सोधी ॥ विज्जदे तस्स ॥

अण्णारमणालोद्धय दोसं संमुज्जमाणरस ॥ ४२५ ॥

गृह्णानस्य यतोऽसुरेनिराकृतदूषणम् ॥

उद्गमोत्पादनाहारदोषशुद्धिर्न जायते ॥ ४२६ ॥

विजयोद्या—उग्गमउप्पादणएसणासु उद्गमोत्पादनैरण्णदोषपरिहारो न विज्यते तस्य गणिनः । अण्णारं यतिं ।

अणालोहय दोषं अनालोचितदोषं । संयुज्जमानस्त संगृह्यतः । उद्रमादिदोषोपहतमाहारं वसतिं, उपकरणं वा सेवते यः यतिः तेन सह संवासात् संवासानुमतिं कुर्वता नानुमतिस्तथा भवति इति ॥

अविचार्य तेन सहायस्थाने को दोषो येनैवं यत्नः क्रियते इत्यारेकायां दोषमाचष्टे—
मूलरा—सोधी परिहर । उद्रमादिदोषाणां त्याग इत्यर्थः । तस्म गणिनः । अणगारं यतिं । संयुज्जमानस्त संगृह्यतः । उद्रमादिदोषोपहतमाहारं वसतिमुपकरणं वा यः सेवते तेन सह संवासात् । संवासानुमतिं कुर्वता नानुमति-
स्त्ववता भयवीति मन्यते ॥

समाध्यर्थं प्रश्नकेन गुरुमुपाधित्यागमनकारणं निवेदयति—

विणयेषुवक्ष्यमिषा खतसंपज्जवि दिवा व रादो वा ॥
दीवेदि कारणं पि य विणयेण उवट्टिय संते ॥

मूलरा—विणएण प्रज्यामादिता । उववक्षिमा परगणमिति शेषः । खतसंपज्जति उपाश्रयति । निर्योपकाचार्यमिति शेषः । रादो रात्री । दीवेदि शकतायति कारणं त्यागमनस्येति शेषः । खतमन्त्रार्थः—उच्छमार्थसाबनोद्यतः परगणं गत्वा निर्योपकाचार्यमुपाश्रयति । ततश्च दिने रात्रौ वा अवसरं प्राप्य वसुधाभितो विनयेनागमनकारणं ज्ञेते । एतां टीकाकारो नेच्छति

अर्थ—जो मुनि दोषोंकी आलोचना नहीं करता है, जो उद्रम, उत्पादना दण्णा दोषोंसे युक्त आहारका, वसतिरूपा, उपकरणका और संस्तरका सेवन करता है ऐसे मुनिके साथ जो आचार्य रहता है अथवा उसके साथ रहनेके लिये अन्य मुनियोंको अनुमति देता है, वह भी आगंतुक मुनिके समान दोषी समझना चाहिये, जो आगंतुक मुनि उद्रमादि दोषोंसे अशुद्ध हुआ है वह आलोचना भी नहीं करता है, अत एव उसको संयत्ते अलग करनाही योग्य है, उसके दोषोंको विचार न कर उसके साथ रहनेसे स्वयं भी आचार्य और संघ अशुद्ध होगा.

उब्बादो ते दिवसं विस्सामिच्चा गणिसुवट्ठादि ॥
उच्छरिटुमणोसहं विदिए व दिवसस्मि ॥ ४१६ ॥

॥ प्रणम्य गणनायकं त्रिधा भाषते निश्चि दिवाय संश्रितः ॥
आगमस्य विनयेन कारणं सिद्धये न विनयं विना क्रिया ॥ ४२७ ॥
विश्रम्यासी शल्यमुद्धर्तुकामः श्रान्तः स्थित्वा चासरं तं द्वितीये ॥
तत्राचार्यं दौकते वा तृतीये न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ॥ ४२८ ॥

इति मार्गणासूत्रम् ।

विजयोद्या—उक्तादो श्रान्तः स्थित्वा । तं दिवसे यागतदिनं । विस्मरन्ति तत्रा विथाय । गणितुयद्वादि आचार्य-
दौकते । उद्धरितुमणोसहं उद्धर्तु मन्तःशल्यं भस्तिचारं । विदिप तदिप य विपसमिम द्वितीये तृतीये वा तिने मार्गणापुरस्सरा
क्रिया सर्वा मार्गणत्युपन्यस्तार ॥

ततो द्वितीयेऽन्दि तृतीये वा स्वशल्यमुद्धर्तुं पुरुमुपसर्पन्ति—

मूलाग—उक्तादो श्रान्तः । तं दिवसे आगमनदिनं । उद्धर्तुदि दौकते । उद्धरितुमणो हृदयाभिष्णकात्पित्तुकामः
सर्वं रत्नत्रयातिचारं । अत्र मार्गणादुपनिष्यसि क्रिया मार्गणैवेति उपन्यस्ता । मार्गणा सूत्रतः । १६ । अंकतः । १७ ॥

अर्थ—मौलश्रमसे त्विभ हुजा यह आगतुक मुनि पहले दिन श्रमपरिहारार्थं विथान्ति लेवा है. तदनंतर
दूसरे दिन अथवा तीसरे दिनमें मनमें शल्यके समान बुभनेवाले अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके चरण
समीप वह प्राप्त होता है. मार्गणापुरःसर जो जो क्रिया की जाती है वे सब मार्गणा ही कही जाती है.

कीदृशगुणः चरितभेदोपाश्रित इत्याक्षये—

आचार्यं च आधारवं च व्यवहारवं पकुब्धीय ॥

आयावायविदंसी तद्देव लप्पीलगो चेव ॥ ४२७ ॥

आचारी सूरिराचारी व्यवहारी प्रकारकः ॥

आयापायह्युत्पीडी सुखकार्यपरिस्त्रवः ॥ ४२९ ॥

विजयोद्या—आधारवं च आधारवान् । आधारवं च आधारवान् । व्यवहारवं च व्यवहारवान् । पकुब्धीय
कर्तो । तद्देव आयापायविदंसी आयापायदर्शनेष्वतः । लप्पीलगो चेव । अवपीडकः ॥

अथैवं समाप्यन् कृत्स्निकर्मणा तेन सुसुखेणा कीदृगुणः स्वरिरुणमित इति श्रुतः सन् गायानवत्या नियमिका-
चार्यगुणधामं प्रपञ्चयिष्यन्नादौ तदुणात्तदुत्तरेण गायद्द्वयमाह—

मूलरा—आचार्यं आचारवान् । वकुल्लो प्रकृतौ । आयापायप्रदं चो आयापाययो रत्नत्रयस्य लाभच्छेदयो-
रंशेनोपगतः उन्नीतगो अवशीलका ॥

जित आचार्यका आगतुक युनि आश्रय करता है उसमें कोनसे गुण रहते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—आचार्य आचारवान्, आश्रयवान्, व्यवहारवान्, कर्त्ता, आयापायप्रदश्चोपगत, और उत्पीलक
होता है.

अपरिस्साई णिज्जावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती ॥

णिज्जवणगुणोपेदो एसिओ होदि आयरिओ ॥ ४१८ ॥

एभिर्निर्णोपकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्यतः ॥

दातुमारपधनामीशः पृथुकीर्तिकेपेयुपे ॥ ४३० ॥

विजयोव्या—अपरिस्साई अपरिसावी । णिज्जावओ निर्णोपकः । पहिदकित्ती प्रथितकीर्तिः । णिज्जवण
गुणोपेदो निर्णोपनगुणसमन्यतः । एसिओ होदि अपरिओ ईदग्भवस्याचार्यः ॥

मूलरा—णिज्जावओ—निर्णोपकः । उक्तं च—

आचारी स्वरिपथारी व्यवहारी प्रकारकः ॥

आयापायदिगुलीदी क्षुत्तकार्यपरिस्सवः ॥

एभिर्निर्णोपकः स्वरिगुणैरष्टभिरन्यतः ॥

दातुमारपधनामीशः पृथुकीर्तिकेपेयुपे ॥

अर्थ—आचार्य अपरिसावी, निर्णोपक, प्रसिद्ध कीर्तिमान और निर्णोपकके गुणसि पूर्ण होते हैं. इतने
गुण आचार्यमें होते हैं.

आचारवत्त्व्याख्यानायागता गाथा—

आचारं पंचविहं चरादि चरावेदि जो गिरादिचारं ॥

तुवदिसदि य आचारं एसो आचारवं णाम ॥ ४१९ ॥

आचारी स मतः सूरिरतिचारनिराकृतं ॥

चर्यते चार्यते येन पंचाचारोऽनुमन्यते ॥ ४२१ ॥

विज्ञानोदया—आचारं पंचविहं पंचप्रकारं आचारं । चरादि विनातिचारं चरति । परं या निरतिचारं पंचविधे आचारो प्रवर्तयति । उदयसिदि य आचारं उदयसति च आचारं । एलो आचारं णाम एव आचारत्वाग्राम । एतदुक्तं भवति—आचारार्गं स्वये केचि ग्रंथतोऽर्थतद्वच, स्वयं पंचविधे आचारो प्रवर्तते प्रवर्तयति च । पंचाचारत्वात् इति । पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवावितररश्चानपरिणतिः वर्धनाचारः । हिंसादिनिवृत्तिपरिणतिश्चादिनाचारः । चतुर्विधाशुश्रूषणं, गृहभोजनं, वृत्तेः परिरूपणं, रत्नानां रक्षणं, कायसंतापनं विनियोजादात् इत्येवमादिकस्तपःसंज्ञित आचारः । स्वशक्त्यनिगूहनं तपसि वीर्याचारः । एते पंचविधा आचाराः ॥

मूढारा—पंचविहं पंचविधे स्वाध्याये वृत्तिर्ज्ञानाचारः । जीवावितरवृद्धात्परिणतिर्वर्धनाचारः । हिंसादि निवृत्तिपरिणतिश्चादिनाचारः । अन्धनादितपश्चरणपरिणतिस्तप आचारः, तपसि स्वशक्त्यनिगूहनं वीर्याचारः । वीर्यावाचारस्य को भेद इति वेदुष्यते—सर्वशर्माधीनां निर्मलीकरणे यत्नो विनयः । निर्मलीकृत्येषु तेषु यथावीर्यं यत्न आचारः । इत्यनयोर्भेदः । श्लोकः—

सदृशीपृक्तपक्षां मुखक्षोर्निर्मलीकृतो ॥

यत्नो विनय आचारो वीर्योच्छुद्धेषु तेषु तु ॥

उदयसिदि । उपविशति च । एते तैल्लक्षयति [१] ग्रंथतोऽर्थतद्वचआचारार्गं वेत्ति पंचाचारोपेसात्स्वध्यायोगात् ॥

अर्थ—जो मुनि पांच प्रकारके आचार अतिचार रहित स्वयं पालता है और इन पांच आचारोंमें दूसरों को भी प्रवृत्त करता है, जो आचारका शिष्योंको उपदेश करता है वह आचारवत्त्व गुणका धारक समझना चाहिये- अभिप्राय यह है कि जो मुनि ग्रंथ और अर्थ से आचारार्गको जानता है, स्वयं पांच प्रकारके आचारोंमें प्रवृत्त होकर अन्योको भी प्रवृत्त करता है वह पंचाचारवान् कहा जाता है। पांच प्रकारके स्वाध्यायोंमें प्रवृत्ति करना यह ज्ञानाचार है। जीवावितरोंपर अद्वैत रखना दर्शनाचार है, हिंसादि पांच पापोंसे निवृत्ति रूप परिणाम रहना चा-

विचार है, चार प्रकारके आचार्योंका त्याग करना, अल्प भोजन करना, दाता, पात्र, आहार इत्यादिका परिभाषा करना, रसोंका त्याग करना, धरीरको आतापनादि योग और आसनादिकसे क्लेशयुक्त करना, एकांत स्थानमें रहना इतने सब प्रवृत्तियोंको तब आचार कहते हैं, तपश्चरणमें अपनी शक्ति नहीं छिपाना यह वीर्यचार है- ऐसे आचारोंके पांच भेद हैं।

प्रकापंतरेण आचारणत्वं कथयति—

दशविहङ्गिदिकल्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिंदा सयायरिओ ॥

आचारवं सु एसो पवणमादासु आउत्तो ॥ ४२० ॥

दशधा स्थितिकल्पे वा सुस्थितो गतदूषणे ॥

आचारी कथपत्ते युक्तः सूरिरागममातृभिः ॥ ४२१ ॥

विजयोदया—दशविहङ्गिदिकल्पे वा दशविधे स्थितिकल्पे वा । हवेज्ज जो सुट्ठिओ सया भवेयः सुस्थितः सवा । आयरिओ सवा । आचारवं सु आचारयान् । एसो एयः । पवणमादासु आउत्तो अवबनमादकासु समितियु शुचितु ख आयुक्तः ॥

आपावत्वमेव भंग्यतरेणोपविस्ति—

मूळारा—दिकल्पे आपरणविशेषे । पवणमादासु अवबनमादसु समितियुत्तिषु । आउत्तो फुवोबोगः ॥

अन्य प्रकारसे आचारयत्व गुणका निरूपण करते हैं—

अर्थ—जो दशप्रकारके स्थितिकल्पोंमें स्थिर है वह आचार्य आचारवत्वगुणका धारक समझना चाहिये- यह आचार्य तीन गुप्ति और समितियोंका गिनको अवबनमाता कहते हैं धारक होता है,

अभिहितकस्यनिर्देशार्थं गम्या—

अचेलकुम्भेसियसेज्जाहरायपिडकिरियम्मे ॥

जेट्टपाडिक्कमेगे वि य मासं पज्जो सवणकप्पो ॥ ४२१ ॥

अचेलकत्वमुद्दिष्टशक्येशाहारवर्जने ॥ राजपिण्डविवर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥ ३३३ ॥

विजयोत्पत्त्या—आचेलकमुद्देशेति चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकलपरिग्रहस्याम आचेलक्यमित्युच्यते । रणविषे धर्मं त्यागो नाम धर्मः । त्यागश्च सर्वसंगविरतिरेवमेव । तेनचेलो यतिरुपागारये धर्मं प्रवृत्तो भवति । अधिकचलाख्ये अपि धर्मं समुद्यतो भवति निष्परिग्रहः । परिग्रहाथो ह्यारंभप्रवृत्तिर्निष्परिग्रहस्यासत्यात्मे कुतोऽसंयमः । तथा सत्येयि धर्मं समवस्थितो भवति । एवं परिग्रहनिमित्तं ज्वलीकं वदति । असति बाह्ये शैवाधिके अभ्यन्तरे च रागादिके परिग्रहे न तिस्रिचमस्यद्वयव्यभिधानस्य । ततो ह्युच्येयमेव सकल सत्यमेव व्रणीति । लायवं च अचेलस्य भवति । अदृशविरतिरपि संपूर्णा भवति । परिग्रहभिरप्ये सति अदृशवर्तने प्रवर्तते नाप्यथेति । अपि च रमादिके ह्यक्तो भावविशुद्धिमयं ब्रह्मचर्यमपि विशुद्धतमं भवति । संगतीनिमित्तो हि क्रोधादृशप्रभावे चोत्तमा क्षमा व्यपवतिष्ठति । सुरुपोऽहमाख्या इत्यादिको दर्पस्त्वक्तो भवति अचेलेनेति । मार्दवमपि तत्र रातिहितं । असिहता चास्य स्फुटमात्मीयं मायमायुशयतोऽचेलस्याजंघना भवति मायाया मूलस्य परिग्रहस्य त्यागम् । चेलादिपरिग्रहपरित्यागपरो यस्तात् विरागभायमुपगतः । शब्दादिविपर्येय्यासक्तो भवति । ततो विमुक्तेश्च ब्रह्मोष्णवंशमराकादिपरित्यगात्, सुखासुरोदीर्घाः सोढास्त्रोपसर्गाः निश्चेलतामभ्युपगच्छता । तपोऽपि शोरममुष्टितं भवति ॥

एवमचेलत्वोपदेशेन दशविधधर्मात्पन्नं कृतं भवति संक्षेपेण । अध्यात्मया प्रकल्प्यते अचेलतामशोसा । संयममुद्धरेको गुणः । श्वेदरजोमलामरिहति चेत् ततो निजास्तद्वश्यादय प्रसाः सस्रमाः स्थूलारण जीमा उपपद्यते, ते वार्यते चेत्प्रमृष्टिणा । संसर्कं बलं तावत्स्थापयतीति चत्तर्हि हिंसा स्यात् । विषयने च विषयते संसर्गाः । चेत्लघवः स्थाने, क्षयने, निपयार्था, पाटने, छन्दने, वेष्टने, प्रक्षालने, संश्रद्धने, आतप्रक्षेपणे च जीवानां बाधेति महानसंयमः । अचेलस्यैवंविधासंयमाभावात् संयमयिमुद्धिः । ईद्विषयविशयो द्वितीयः । सर्पाकुले येने विषयमेवाविरहितो यथा पुमान् दृढमन्यतो भवति एवमिद्विषयनियमेने जचेलोऽपि प्रवर्तते । अथवा शरीरविकारो लज्जनीयो भवेदिति । कपाराभावाच्च शुणोऽचेलतायाः । स्तेनभावाद्भोग्यादिरस्तेन लेपं कुर्याद्विग्रहयित्वा कर्थाविग्रहमायं करोति । उन्मर्षेण वा स्तेनधेचनं कर्तुं यायात् । गुल्मयस्त्वयांघतादीतो वा स्यात् । चेलादिगमास्तीति गानं बोद्धवते । यलादप्यदृशणास्तेनेन सह कलहं कुर्यात् । लाभाद्वा लोभः प्रवर्तते । इति चेत्प्रमृष्टिणाममी दोषाः । अचेलतयां पुनरित्यंभृतदोषानुत्पत्तिः । ध्यानस्वाध्याययोरपिप्रज्ञा च । सूत्रीसूत्रं कर्पटादिपरिग्रहमांजलीवनादिव्याक्षेपेण तयोर्विज्ञो भवति । निःसंगस्य तथाभूतव्याक्षेपाभावात् । सृगार्थेषीरुपीषु निर्दिष्टता, स्वाध्यायस्य ध्यानस्य च भावना । ग्रंथयानन्द च गूढः । बाह्येच्छा निर्ग्रन्थतागोऽभ्यन्तरपरिग्रहस्यागमलः । यथा नृपनिराकरणमभ्यन्तरमलनिरासोपायः अतुंगं घान्धे नियमेन शुद्धयति । मात्या नृपस्य मुद्धिः । एवमचेलवति नियमादेव माल्या । सचेत्ते नीतरागद्वेषता न गुणः । सचेलो हि मनोहे चले

रक्तो भवति । मुख्यधर्मनोद्वे । बालद्वयान्वयनो हि रामदेवो तावसति ररिग्रहे न भवतः । किं च शरीरे अनादरो गुणः शरीरतादवचनेन हि ज्ञानोऽक्षयमे परिग्रहे च वर्तते । अनेलेन तु तद्वदस्वच्छः, वातातपादिवाधासहनात् । सब्रह्मा च गुणः देशातरगमनादी सहायप्रतीक्षणात् । पिच्छमात्रं गृहीत्वा हि त्यक्तसकलपरिग्रहः पथीय यातीति । सचे-
तस्तु सहायपरवशमानसदच कथं संयमं पालयेत् । चेत्तोविशुद्धिमकटनं च गुणोऽचेततायां । कौपीनविना प्रच्छा-
दयतो भावमुद्धिनं प्रापते । निरचेतस्य तु निर्विकारदेहतया सुखा विरागता । निर्भयता च गुणः । ममेदं किमपहंरति
चौरादयः, किं ताडयंति, यजंतीति या भयमुपैति सचेतो, भयानुरो वा किं न कुर्यात् । सर्वत्र विध्वञ्चता
च गुणः । निष्परिग्रहः न किञ्चनापि संकटं । सचेतस्तु प्रतिभार्मगायिनं धर्म्यं वा दृष्ट्वा न तत्र
विद्वांसं करोति । को चेत्पथं, किं करोति । अप्रतिष्ठेनता च गुणः । चतुर्दशविधं
उपपि श्रुतां यदुपतिष्ठेनता न तथावेच्छ्य । परिकर्मधर्जनं च गुणः । उद्देष्टनं, मोक्षनं, सीवनं, यंधनं,
रंजनं इत्यादिक्रमनेके परिक्रमे सचेतस्य । यस्य यत्नमायरणोः स्ययं प्रशालनं सीयनं वा कुरिष्यते कर्म, विमूषा, मूच्छा
च । लपयं च गुणः । यथेतेऽदशोपधिः स्थानासनवसनानादिकानु क्रियास्तु बाधुबद्धप्रतिबद्धो लघुभयति वेत्तार । तीर्थकरा-
वरितस्य च गुणः-संज्ञनतत्त्वसमया मुक्तिमार्गप्रत्ययानपरा जिनाः सर्वं पञ्चवेला भूता भविष्यंतश्च । यथा मेवोद्विषयत-
नताः प्रतिमास्तीर्थकरमार्गादुपाधिनश्च गणधरा इति तेऽप्यचेलास्तच्छिष्याश्च तथैवेति सिद्धमचेतस्यं । चेलपरिनेष्टिमांगो
न क्षिप्तश्चरः । द्युतयुद्धमलयभुजो निष्कलो जिनप्रतिकरपतां धत्ते । अतिगूढबलवीर्यता च गुणः । परीयद्वसहने शक्तोऽपि
सचेतो न परीयहान्तहत्ते । एवमेतद्वगुणयोक्त्रेणावचेतता जिनोपदिष्टा । चेलपरिनेष्टिमां आत्मानं निर्ग्रथं यो यथेसस्य
किमपदे पारंविनो न निग्रथाः ? धयमेव न ते निग्रथा इति याज्यात्रं नाद्रियते मध्यस्थैः । इत्थं चेले शोभा यथेच्छतायां
मदरिमिता गुणा इति अचेतता स्थितिकल्पयेनोक्ता ।

अद्वैतं मय्यसे पूर्वागमेषु चलपानादिग्रहणमुपदिष्टम् तथा शाचारग्रन्थौ भणितं-“प्रतिष्ठितोत्पादकफलं
ध्रुवानेति । भरतस्तु पात्रादिषु कथं प्रतिष्ठेयता भूयं प्रियते” । आचारस्यापि प्रितीयाभ्यायो लेकायिचयो ताम, तस्य पंचमे
उद्देशो एवमुक्तं-“पडिलेहणं, पावपुंछणं, उग्गहं, कइत्तणं, धण्णदरे उवाधे पावेज्ज” इति । तथा चरधेत्तणम् “धुत्तं तत्तथ पसे
दिरिमणे खेणं कथं वा धारेज्ज पडिलेहणं विदियं, तत्तथ पसे लुग्गिदे देसे उवे वत्तयाणि चारिज्ज पडिलेहणं तदियं ।
तत्तथ एसे परिस्सहं अण्णिपिदासत्तस सओ वत्तयाणि धारेज्ज पडिलिहणं चउत्तयं” । तथा पायेत्तणम् कथितं “क्षिरिमणे वा
लुग्गिदे वापि अण्णमे वा तस्स णं कप्पदि वत्तयादिकं पादचारित्तम् इति” । पुनइत्तोक्तं तत्रैव -“धाळापुपत्तं वा, दाटगपत्ते
वा मट्ठिगपत्तं वा लप्पपाणं, वण्णबीजं जप्पसारिदं तथा अप्पकारं पाज्जामे मत्ति पडिग्गहिस्समीत्ति” । चलपाने यदि न
प्राप्ते कथमेतानि स्रूपाणि नीयंते । भावनायां चोक्तं -“चरिमं चीवरचारित्तं पत्तयेच्छेत्ते तु िजिणे” इति । तथा
सूचकतस्य पुंडरीके अभ्यासे कथितं ‘एव फहेज्जो धम्ममकहं यत्तथात्तादिहंइमिति, ।

निरुपेय्युक्तं—“कसिणादं वत्थरुण्यलाई ओ भिक्खु पाडियगहिदि पज्जदि मात्थिं लहुगं” इति । एवं सुखनिर्दिष्टे चेत् अचेतता कथं इत्यन्यथे—आर्यिकणामागमे अनुष्ठानं वत्थं कारणपेक्षया । भिक्षुणां न्दीमानयोव्यशरीरवयवो दुस्त्वर्माभिलेखमानवीजो वा परिपहसने वा अक्षयः स गृणहति ।

तथा चोक्तमाचार्यो ‘सुदं मे आलसत्तो भगवन्ना पयमकखायं । इह खलु संयमाभिमुखा बुविद्वा प्रतीपु रिप्ता आदा मपंति । तं जहा—सन्तसमण्णगदे णोसन्तसमण्णगदे चेव । तथ जे सन्तसमण्णगदे पियोगदुत्थपाणिपदे खमिदियसमण्णगदे तस्स णं णो फल्पदि एवमपि वत्थं घारिदं एव परिदिदं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति” तथा चोक्तं फले-हरिद्रेमुक्तं य होर वैदुमुलंति देहे लुम्बिदगे घोल्ज सियं वत्थं परिस्सहणं च ण विद्वासीति” । द्वितीयमपि सर्वं कारणमेव यत्तत्प्रदणमित्यस्य प्रसाधकं आचारे विद्यते—“अह पुण एवं जाणेज्ज । उपातिकं ते हम्मेतेहिं सुवट्ठि वण्णे से अथ पडिजुणमुपधि पारिक्खवेज्ज” इति । विमसमये शीतवायासाहः परिगुल्ल चेत्तं तस्मिन्निज्जान्ते प्रीप्ते समायाते प्रतिष्ठापयेदिति । कारणपेक्षं प्रहणमाचर्यात् । परितोर्गोविशेषोपादानादुद्गाममपरित्याग इति चेत् अचेततावचनेन विरोधः । प्रक्षालनाविरुत्तस्कारियरहात्परितोर्गता वत्थस्य कथिता न तु हटस्य तयामरुथदार्थ, पात्रमतिष्ठापना सूत्रे-णोक्तेति । संयमार्यं पात्रमद्वयं लिख्यति इति मन्यते नैव, अचेतता नाम परिग्रहप्रापः पात्रं परिमह इति तस्यापि त्यागः सित्य पयेति । तस्मात्कारणापेक्षं यत्तत्प्रदणं यत्तत् कारणमेव तस्य प्रहणविधिः शुद्धीतस्य न परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव । तस्मात्तत्तं पात्रं धार्याधिक्कारमपेक्ष्य सूत्रेषु यत्तु यत्तु वत्तत्कारणमेवस्य निर्दिष्टमिति प्राह्यम् । यच्च भावनायामुक्तं—“वरिसं कीवरपारी तेण परमेचेल्लो जिणोति ।” यत्तु वत्तु विप्रतिपत्तिरुक्तवाच्यं । कथं ? केचिद्वदन्ति ‘वसिथेय दिसे तद्धत्तं कीरजिनस्य विलंनकारिणा शुद्धीतमिति’ । अग्रे ‘पण्णसादिउद्रे तरकटकशाखा विभिमिति’ । ‘समधिकेन परेण तद्धत्तं खंडलकमास्त्रेण शुद्धीतमिति केचिरुचयवन्ति’ । केचिद्वदन्तेन पत्तिमुपेक्षिते जितेनेय-परे पदन्ति । ‘विलंपनकारिणा जिनस्य रुक्मे तदारोपितमिति’ । एवं विप्रतिपत्तिरुक्तवाच्यं ददपते तत्तं सत्त्वल्लिप्यकट-नायं । यदि तेलप्रदणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः । सदा तद्वारयितव्यम् । किं च यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य प्रद-णं । यदि च वातमशानस्य प्रप्नोति । यपि च तेलप्रदणना चांछिता चेत् “अचेल्लो धम्मो पुग्गिमवदिमणं” इति वचो मिष्या भवेत् । तथा नवस्थाने यत्तु “यथाहमचेली तथा होउ पडिअमो इदि होन्णदिसि” तेनापि विरोधः । किं च जिनानामितरेषां वत्तत्त्यागफालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते, यदि वत्तं तेषामपि भवेत् । एवं तु युक्तं यत्तु । सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वत्तं वत्तु निश्चितं उपसर्गं प्रति ।

इदं चाचेतताप्रसाधनपरं शीतसंशयमाकर्तुणस्पर्शपरिपहसहस्यचनं परीपहस्येषु । न हि सत्त्वं शीतादयो पापन्ते । इमानि च सुमानि अचेततां दर्शयन्ति । “परिचचेसु वयेसु ण पुणो चेत्तमादिणं ॥ अचेतपवेरे भिक्खु जिण-रुवघरे सदा ॥ सत्त्वेल्लो सुखी भवदि । वसुधी चायि अचेतलो ! अहं तो सत्त्वेल्लो होप्पमि इदि

विष्णु न चिन्तय ॥ अचेलगणस्स दूहस्स सीधं भवदि एगदा ॥ जातपं से विजितेवो अभिसिद्धा अलाइसो ॥ न मे णि
 पारणं अणि छाएयं ता न विज्जेदि । अहं हावणि खेयाभि इति भिक्षुषु न चिन्तय ॥ अचेलगण तूहस्स संजइस्स तत्र
 स्सिपणो ॥ तणेसु अस्समाणस्स ने ते होदि विस्सथिदा ॥ एतेन ताव कलेण संडुंगतिणंसित इंसावाए जो संपसिंदं किम-
 म पुण वीहकरोहि ॥ एतस्समुत्तराणयने-अचेलको य जो घमो जो वायं पुणकरो । देखिदो वट्टमाणेण पसेण अ
 मइएणा ॥ एगधमे पत्तत्तणं दुविया लिमकण्णवा । उमएसिं पदिहाणमहं ससयमागदा ॥ इति वचनावचरमतीयंस्यापि
 भवेत्तत्ता सिद्धयति ।

नगमस्स य मुंडस्स य दीहलोमणवस्स य । मेहुणादो विरस्सस्स किं विगूसा करिस्सवे ॥ इति दशवैकालिका
 पामुक्ते । एवमाचेलकयं स्थितिकणः ।

धमणानुदिरिय कृतं भजादिकं उहेसिगमित्युच्यते । तच्च योडयविधं आधाकमोदिविकल्लेन । तत्परिह्वारो
 द्वितीयः स्थितिकणः । तथा चोक्तं करणे—

सोलसविधयुरेसं पजेद्वयंति पुरिमचरिमाणं ॥
 तिम्यगपणं तित्थे त्रिकण्यो होदि विदिओ डु ॥

सैरजाधरायेन प्रयो गण्यते वसति यः करोति । कृतां या वसति परेण भग्नं पतितैर्नृपैर्वा वा संस्करोति ।
 यदि या न करोति न संस्कारयति केवलं प्रयत्नः प्रयास्येति । एतेषां पिंडो नामाहारः, उपकरणं वा मतिलेखनादिकं
 ताव्याधरपिंस्तस्य परिदरणं कृतीया स्थितिकणः । सति शय्याधरपिंइप्रद्वेष्टेन प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारविकं । धर्म-
 फलसौभाग्ये वा आहारं वातुमशनो इरिदो लुब्धो या न वासी वसति त्रयच्छेत् । सति वसतो आहारादाने वा लोको
 मो निवृत्ति-भित्ता वसतापस्य पतयो न वातेन मन्वमनेन सेपाभाहारो वृण इति । एतेः सेवद्वय इयादहारं वसति च
 प्रयच्छति तस्मिन् धर्मकारितया । तपिपडाप्रद्वेष्टेन तु नोक्तदोगसंस्पर्शः ।

राजपिंडाप्रद्वेष्टेन धनुषः स्थितिकणः । राजदानेन शक्याकुप्रभृति कुले जाताः । राजते प्रकृति रंजयति इति वा
 राजा राजवदसो महर्षिको भण्यते । तस्य पिंडः तत्स्वामिको राजपिंडः । स निविचो भवति । आहारः,
 अनाहारः, उपधिसिति । तत्राहारवद्वेष्टेन भवति अशनादिभेदेन । एणफलकपीयसिः अनाहारः, उप-
 धिनाम प्रतिदेगं पत्रं पार्यं वा । एवंभूतस्य राजपिंडस्य प्रद्वेष्टेन को दोषः इति चेत् अगोचर्यते—
 द्विपिया दोषा वात्सल्यमुखाः परस्समुखाः मनुजतिर्वक्त्रविक्रयेनेति । त्रिपक्कता द्विपिया प्रामार-
 ण्यमुभेवात् । ते हिमक्ता अपि द्विभेदा दुया मद्रादेति । इया, गजा, गायो, महिया, मेण्ड्रा, इमानद्वय प्राम्यग
 पुषाः । दुषेय्यः संयतोपपातः । भद्राः पलायमानाः सयं डु पित्तः पातेन अमिघासेन वा व्रतिनो मारयंति वा घायनोहं-
 पनादिपराः । मापिन वारणपकास्तु व्याघ्रकन्याद्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे धंधनमुका यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्ति-

भद्रादयेतपलायने पूर्वदीपः । मानुषास्तु तलवरा म्ळेच्छभेदाः, प्रेम्णाः, दासाः, दास्यः इत्यादिकाः तैराकुल्लव्यात् दुःप्रवेशानं राजगृहं प्रविशन्तं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदितान्श्च दासादयः उपहसन्ति, आक्रोशयन्ति वारयन्ति ॥ । अयच्छायाः स्त्रिया भ्रैशुनसंज्ञया वाच्यमानाः पुनर्गर्ह्यो वा बलात्स्वयं प्रवेशयन्ति मोगार्थे । विप्रकीर्णं स्तनमुत्तर्णदिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता आपता इति दोषमप्यारोपयन्ति । राजा विभ्रस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टाः क्लीकुर्वन्ति । ततो ह्यत्र अविचेकितः दूरयति श्रमणालम्बार्थं च गृह्णाति । राजा विभ्रस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वास्तूच्यते । राजकुले आहारं न शोचयति अहमहातं च गृह्णाति । चिरातिसेवनाईमालदोषः, मंदभाग्यो वा हृदयानर्घ्यं रत्नादिकं गृह्णीयाद्भागलोचना गानुरूपाः सामयलोपयानुरूपान्तासु भवेत् । तां विभूर्ति, अंतःपुराणि, पण्यांगना वा विलोक्य निदानं कुर्यात् । इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजाईमहाह्वनप्रतिवेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते । स्वागर्धं राजार्पितोऽपि दुर्लभं प्रकृत्य । आगाढकारणे वा भुलस्य स्ववच्छेदो माभूदिति ।

खरणदेशेनापि चिनथो गुरुणां महत्तराणां शुश्रूषा च कर्तव्येति पंचमः कृत्तिकर्मसंस्कृतः स्थितिकल्पः ।

क्षातजीयनिष्ठापस्य दातव्यामि नियमेन यत्तानि इति षष्ठः स्थितिकल्पः । अचेलतायां स्थितः उद्देशिकराजपिण्डप-
रिहरणोचतः गुरुनक्षिकद्वितीतो यतारोपणाहो भवति । उक्तं च—

अग्रेल्लेदे य दिवो उद्देशादी य परिहरदि दोसे ॥

शुकमचिको विणीओ होदि यदाणं सया अरिखो ॥

इति यतवतनम्मेऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अस्मिमुपं स्थिताभ्यो विरतिभ्याः, धावकभ्रातृविकावर्गाय व्रतं प्रयच्छेत्, स्वयं स्थितः सुरिः स्वयमेवेक स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात् । उक्तं च—

विरदी साधमग्गे य निविहुं ढविप ते च सुपडिमुखे ॥

विरदं च दिदो बोसे ढविपे गणिणो उवादेब्ब ॥

इति यातवा अद्याय पापेभ्यो विरयणं व्रतं दृष्टिकरणं छादन् संवरो विरतिरित्येकायाः

शास्त्राय अग्गेवल्लथ पावाणं विरयणं वदं होद ॥

विकिरणं छादणं संवरो विरदिन्ति पगह्ठा ॥

इति । आद्यपाद्यात्यतीर्थयो रात्रिमोजनविप्राणयस्थानि पंच महाव्रतानि । तत्र प्राणिचिद्योगकरणं प्राणिनः प्रम-
तयोगात्प्राणव्यस्ततो विरतिरसिद्धिमाप्तं । व्यलीकपाणयेन दुःखं प्रतिपद्यते जीवाः इति मत्वा दयावतो यत्स्वत्यामिधानं
तद्विप्रीत्यं व्रतं । ममेवमिति संकल्पोपनीतद्व्यभियोगे दुःखिता भवेति इति तदयथा अदृष्टस्यादानादिरमणं तृतीयं व्रतम् ।
सर्वपूणायां नाह्यां तत्तापसशालानाप्रवेशनयचोनिष्ठारस्थानेकजीवपीडा साधमयेवेनेति तद्व्याघापरिहाराय तीर्थो रागा-

भिनियेयः, कर्मबंधस्य महतो मूलं इति ज्ञात्वा श्रद्धायतः मैथुनाद्विरसनं चतुर्थं व्रतम् । पतिव्रतः पृथगीयनिकायपीडाया मूलं मूर्च्छानिमित्तं चेति सकलव्यथत्यगो भवति इति पंचमं व्रतम् । तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनाच्च साधिमो जनपिरम-
णं पठे मतम् । सर्वलोचनियममहिंसाव्रतं अदत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयो द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रताणि । उक्तं च—

पदमग्निं सत्पत्नीया तदिये चरित्येयं सत्यवृत्त्याम् ॥

सेसा महत्त्वदा यत्तु तदेकदेशमग्निं ब्रह्मणं ॥

पंचमब्राह्मणधारिण्याश्रितव्रतव्रतजिताया अपि ल्येष्टो भवति अथुना प्रयोजितः पुमान् । इत्येव व्रतमः स्थितिरुत्प-
पुत्रपुत्र्येष्टव्यं । पुत्रपुत्रं नाम उपकारं, रक्षां च कर्तुं समर्थः । पुत्रपुत्रीतश्च धर्मः इति वदन् उच्येष्टुता । ततः सर्वाग्नि-
सत्पत्ताभिः विभज्यः कर्तव्यो विप्रस्य । येन च पितृयो लक्षणः पत्न्यापीडा, पररक्षेपक्षिणः, न तथा पुमांस इति च पुत्र-
स्य ज्येष्ठत्वं । उक्तं च—

अग्निच्छीं हु लघुसिगा पररूपसच्छा य पच्छुनिज्या य ॥

भीय पररूपकणजसि तेन पुरितो भवति जेष्टो ॥

अश्वेकताधिकल्पकितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिकर्मणं कर्तव्यमित्येवोदुपमः स्थितिकल्पः । नामश्रयणा-
द्वयदेशकालमावधिकल्पेन पदविषं प्रतिकर्मणं । भट्टिनी भट्टिदाहिना इत्याद्ययोग्यनामोच्चारणं कृत्यतत्तत्परिहरणं
नामप्रतिकर्मणं । दत्तपत्तिमिथ्यादण्डिजीवमतिद्विगपुत्रादिषु मनुष्यस्य कृत्यप्रतिकर्मणं स्थापनाप्रतिकर्मणं । सच्चि तम-
चित्तं मिथ्यमिति त्रिविकल्पं तस्य परिहरणं ब्रह्मप्रतिकर्मणं । प्रसक्त्यावयवबुलस्य स्वाध्यायभ्यानविषय-
संपादनपरस्य वा परिहरणं क्षेत्रज्ञप्रतिकर्मणं । संन्यासआश्रयकालादिषु गमनागमनादिपरिहारः कालप्रतिकर्मणं । मिथ्या-
त्वात्संयमकणाययोगेभ्यो निवृत्तिर्भाषप्रतिकर्मणं । प्रतिकर्मणसहितो धर्मः आद्यापञ्चात्ययोग्यजनयोः जातापराधप्रतिकर्मणं
मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति ।

पतिकर्मणं दिक्स्थिते ताद्विगदसिदियमिच्छपरिभा य ॥

पवित्रय चादभमादिय संयच्छर उत्तमहे ॥

अग्नी प्रतिकर्मणभेदा आर्षततीर्थकण्णीने पंचमे धर्मं, इतरस्य चतुर्थे धर्मे प्रतिकर्मणस्य कालनियम उक्तः
परायमानिचारं प्राप्तत्वा प्रतिकर्मणमभ्यात्मिकं दर्शनं । उक्तं च—

यमगो यजेतनो विद्य दूरायस्रो य सत्यसुमनो वि ॥

सुमेण वि यदि य सरो जगत्मानो वि यमदो वि ॥

ठाणविमो आयरिषं पावज्जामिचि मदिश्रमजिणेसु ॥

न पतिकर्मणं तेन दुःखेण विप्रमदि सो जेव ॥

समुद्रिषु वि पवित्री आदिय अंतमि सेा पडिकमदि ॥
मलिममा मण्णीति य अमलुमार्ण हवे उभयं ॥

इरियं मोयर छुमिणादि मयमाचरु मा व आचरहु ॥

पुरिम चरिमेसु सचो सचं पियमा पाडेकमदि ॥

मध्यमवीथंकरशिप्या इदुदुदयः, एकाम्रचित्तान्, यगोपलस्यास्तसावचत्वरितं सद्रहंया शुद्धयति । इतरे तु चल-
चिन्ता न लक्षयंति स्वापराधस्तेन सर्वे प्रतिकमणं उपदिष्टं जिनाभ्यां अंधबोटकदृष्टां वन्ययेन ॥

अमुपु पदसु पदैरुपेय मासुमेकत्र यस्तिवस्वदा विहरति इत्यं नवमः स्थितिकल्पः । एकत्र चिरकालावस्थामे-
विरपमुद्रमदेपं च न परिहर्तुं क्षमः । द्वयप्रतिवदता, सातगुहता, अलसता, सौकुमार्यभावना, क्षातभिक्षाप्राप्तिता च दोषाः ।
परमो समणकण्ठो नम द्वायः । पर्यकाळस्य चतुर्षु मासु एकश्रेयावस्थान् अभिलषागः । स्वावरत्ननामजीवाङ्गुला हि तदा
क्षितिः । तदा धमणे महानसंयमः, बुद्ध्या शीतपातपोनेन यत्कथिताराधना । पवेद्याव्यादिषु स्थाणुकंटादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जले-
न कर्दमेन वा वाप्यत इति पिशात्यधिनं द्वियसरातं परुषस्थानमित्ययमुत्तमः । कारणेपस्या तु हीनाधिकं वापस्थानं,
संयतोनां आपाशुशुद्धराग्यां स्थितानां उपरिद्राच्च कर्तां रूपेणमास्यादिप्रशद्विषयसवस्थानं, दुरिष्टयद्गुह्यतां, द्युतप्रहृष्टं, शक्य-
भाववैरादस्य करुणं प्रयोजनमुद्दिश्य अयस्यानेकेभ्यो उत्कृष्टः फालः । भार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलेन वा गच्छनाशनिमित्ते
समुपस्थिते देशान्तरे याति । अयस्याने सति रत्ननयविराधना भवितव्यतीति । पूर्णमास्यामापाठ्यामस्तिकां वाचां प्रतिपदादिषु
विनेषु याति । थापय त्यका पिशानिविषसा पतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एव वृशमः स्थितिकल्पः ।

कोऽसौ दशविधः स्थितिकल्प इत्याह—

मूढारा—आपेक्षकं यथादिपरिमहाभवो नप्रत्यभानं वा । तत्त्व संयममुद्धर्तिव्यवयकपाभावात्प्राप्त्याव-
निर्विघ्नत्वानिर्भयतापीतरागद्वेषताशरीरानादरस्यवद्यचेतोविशुद्धिप्रकट्यनिर्भयत्वसर्वत्रविस्त्रवत्वप्रक्षालनोद्देशनादिपरिकर्म उर्ज-
तविभूपायूरुल्लापयतीर्भकराचरित्वानिगुह्यलबीर्यतादगरीमितगुणप्राप्तोपलंभात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । तदुण-
समर्थनं दीहादृष्टया किंचिदुच्यते यथा—चेष्टे हि स्वेदादियोनिकप्राणिनां प्रक्षालनादिना वाधा स्यात् इति तस्याने
संयममुद्दिः । लज्जीयशरीराविकारनिरोधनाय प्रयत्नबाढ्याद्विजयः, चोराविंचनाशमावाल्कपायाभावः, सूयोसूत्रकर्पटा-
दिमार्गणसेयतायभावात्प्राध्यायध्याननिर्विघ्नता, अभ्यंतरग्रंथस्य चेलादिपरिमृदुलस्य त्यागः, मनोज्ञाननोदवक्ष्यत्यागत्
पीतरागद्वेषता, वातातपादिवायासहनाच्छरीरेऽनादरः, अभ्यंतरग्रंथस्य चेलादिपरिमृदुलस्य त्यागः, मनोज्ञाननोदवक्ष्यत्यागत्
करणाच्चेतोविशुद्धिप्रकटनं, चोरादिताडनादिमयाभावाभिर्भयत्वं, अपहर्षस्य अर्थस्थाभावात्सर्वत्र विवक्ष्यता, चतुर्दश-
विधोपकरणपत्तिमोहिनां वितपटानामिव यदुपगृह्णित्वमनस्यप्रक्षालनादिव्यासंगमारवाहित्वानि च न संवीत्यादि । चक्रे च—

स्थाने क्षालनतः कुतः कुतश्चलायारभतः संयमो ।
 तत्रे न्याकुलचित्तताय महातामघ्न्यवः प्रार्थनम् ।
 कौपीनेऽपि हूये परैश्च श्रमिति क्रोधः समुत्पद्यते ॥
 तन्नित्यं द्युचि रागाद्दृष्टमवतां वक्षं दकुम्भंढलम् ॥
 अपि च — विहारे विदुषां द्वेषो नाविकारातुर्वर्त्ते ॥
 तन्मयात्वे निसर्गोत्पे को नाम द्वेषकल्पयः ॥
 नैदिकचन्द्रमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ॥
 ते संगाय यदीहन्ते बल्कलाजिनवाससाम् ॥

२ उद्देशिगेत्यादि—उद्देशिकं—उद्देशिकं व शल्याधराजपितौ व उद्देशिक
 शल्याधराजपिता । पिंशब्देनोपलक्षणाद्गतवस्तुपुष्करणादिमहर्षं । तेषामुद्देशिकादीनां ग्रयणां परिहाराश्रयः स्थिति-
 कत्वाः स्युः । परिहारशब्दश्चात्र कुमनिर्दिष्टो दृष्टव्यः । कन्नाथाकर्मविकल्पेन पौकशविभोर्देशिकमन्त्रवित्यागावृद्धीयाः
 स्थितिकल्पः । ३ शल्याधराजदेन कात्र प्रको गृह्यन्ते वसन्तः कारकः, संस्कारकोऽत्रास्तेति संपादकश्च तद्विद्वस्यानः । सति
 हि तस्मिन्प्रकरणे प्रच्छन्नमयं योजयदातुरादिकं धर्मफललोभादिति लोकप्रयादंशका, यो बाह्यारं दातुमशक्तो दुरिप्रो वा न
 प्राप्तौ वसति प्रपच्छेत् । सति पशयित्वाते लोको मां निवति, शिवता वसतावस्थ यतयो न चानेन संवसावेन तेषामाहा-
 रो इत्त इत्येवं वसत्यलाभः । आहारं वसति च प्रयच्छति तस्मिन्वदूषकारितवा वते; तेनैव स्यात् इति शोषाः स्युः । अन्ये
 पुनः शल्याधराजपिताग इति पठित्वेवं व्याचक्षते । मार्गे व्रतता यत्र गृहे रात्रौ सुष्यते तत्रैवव्यदिने भोजनपरिहारा-
 वसतिसम्बन्धिद्रव्यनिमित्तपिदस्य वा रयामः इति एवीयः ४ अथ राजशब्देन इत्थाकुलश्रुतिकुले जातो, राजते प्रकृति
 रंजयतीति वा राजा सदृशो मर्द्धिको मण्यते । तत्त्वामिममकादिवर्जनं चतुर्थः स्थितिकल्पः । तदगृह्यमेवे हि यतेः स्वच्छं-
 द्वाचिचकुलं राधुपयावस्तद्रूपालोकनाद्वतुरादीनां त्रासस्तं प्रति यद्विददासपुष्टासोऽथरुद्धाभिः स्त्रीभिर्मधुनसंज्ञया वाच्य-
 मानाभिः, पुत्रार्थिनीभिर्वा बलाचस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपयोगार्थम् । निजकीर्तिरत्नसुवर्णादिकस्यान्यैः स्वयं चोरितस्य संयत
 आयात इति वत्र संच्योरिकाभ्यारोपणं । राजास्य विद्यस्तो राज्यं नास्त्यविष्यतीति कुत्रैवमात्मादिभिर्यवंचादिकं च स्यात् ।
 तथा आहाराविशुद्धिः क्षीरादिबिह्वित्तिसेवान्पर्यन्तदेवलोभाच्योरणं, परस्त्रीवर्त्तनादुपगोत्रेको, लोकोत्तरनिभृतिदर्शनाच्च तन्नि-

दानकरणं संभवेत् । एतदोपाभावेऽन्यत्र भोजनार्थमेव च श्रुत्युच्छेदपरिहारार्थं राजापेक्षोऽपि न प्रतिविध्यते ।

५ क्रिदियन्ने कृतिकर्म, पच नगस्कारः, पडावश्यकानि, नियेषिका चेति त्रयोदश क्रियाः । गुरुविनयमहस्त-
रनुष्ठानपर्यन्तं सा । ६ षट् मूलोत्तरगुणप्रतिपादन । अचेलतायां हि स्थित उद्वेगिकादिष्विच्छासंगोयवो गुरुभक्तिमान्
मिनीवच्च त्रतारोपणयोग्यः स्यात् । उक्तं च—

अचेलकं य इदो उदेसादी य परिहरदि दोसे ॥

गुरुभक्तिं विणोवो होदि वदानं स अरिवो हु ॥

७ जेष्ठ ज्येष्ठस्य मातापितृदूतधोपाज्यायाविकाविभ्यो महत्त्वमनुजनेन वा श्रेष्ठत्वं । ८ पट्टिकमणे पर्यापयिक
रात्रिद्विप्रागधिकपातुर्मासिकसायत्सरिकोक्तमायंभेदास्तप्तया कृत्वोपनिराकरणं ॥ ९ मासं त्रिंशद्वेदोरान्नमेकत्र
पानादौ स्तिरास । एकत्र हि पिरावस्थाने उद्रमादिदोषपरिहराकृत्तत्वं, श्रेयःप्राप्त्यवस्यता, शिवगुरुताल्लसा, सौकुमार्य
भावनाभावे, जातभिक्षाग्राहिता च दोषा स्युरिति टीकाया । टिप्पनके तु योगग्रहणादौ योगवसाने च तस्मिन्स्थाने मास-
मात्रं तिष्ठति इति मासं नाम नयमः कल्पः । उक्तं च—

पष्टिर्वधो लङ्घयत्वं न जणुयारो य देसविण्णानं ॥

षाणादीण अनुत्थी दोसो अविहारपक्खम्मि ॥

१० पञ्चो—प्राष्टदकले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानं । स्वावरजंगमजीवाकुला हि सदा स्थितिरिति सदा भ्रमणे
नदानसंयमः । दृष्ट्या शीतयातगतेन चात्मविराधना । पातो वा वात्यादिषु । स्थानुकटकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्द-
मेन पाथनमिति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रापस्थानमित्ययं दत्तमर्गः । कारणेष्वेषा तु हीनतधिकं बावस्थानं ।
संयतानामापावदुच्छेदनाभ्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टात्स्थ कर्तिकपौर्णिमास्याखिंशादिवसावस्थानं । घृष्टिवहुलतायां
दुतमहर्णं, शक्त्यन्तर्गं वैयापत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्यवस्थानं एकत्रैत्युत्कृष्टः काल । मार्ग, दुर्गिधो, ग्रामजनपदचलने वा
गच्छानादानमिति समुपस्थिते देशांतरं याति । अयस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यति इति पौर्णमास्यामापावदासति
याताया प्रतिपदादिषु दिनेषु यावत्—तस्मादो दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता काटस्य । एष दक्षमः स्थितिवत्यो न्याख्यातः टीका-
या ॥ टिप्पनके तु द्वाभ्यां द्वाभ्यां यासाभ्यां नियेषिका द्रष्टव्येति । सबणकण्ठो यहीनागावरणेभेदः । तथा चोक्तम्—

अचेलकत्तयुद्धिशब्दशब्दशब्दने ॥

राजार्पणविनिर्जित्वं कृतिकर्मप्रवर्तनम् ॥

प्रतमरोहणाहर्त्तुं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥

मासैकत्रस्त्रिभिः पञ्चाशद्विंशत्या द्वासेरिताः ॥

दशकल्पोंका निर्देश-पूर्ण करनचाली भाषा—

अर्थ—आचेलक्य—चेल युद्धका अर्थ वस्त्र ऐसा होता है। परंतु बड़ा चेल युद्ध संपूर्ण परिग्रहोंका उपलक्षण रूप है। अर्थात् आचेलक्यका अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा होता है। उचमक्षमादि दशधर्मों में से त्याग नामका एक धर्म है त्यागका अर्थ सर्वपरिग्रहोंसे विरक्त होना ऐसा होता है। अचेलता, आचेलक्य इन शब्दोंका भी यही अर्थ होता है। इस लिये वस्त्रादित यति सर्वपरिग्रहका त्यागी होनेसे त्याग नामक धर्ममें प्रवृत्त होता है। परिग्रहरहित यति त्यागधर्मके समान आर्कचन धर्म में भी प्रवृत्त होता है। लोक परिग्रहके लिये ही उद्योग, खेती, नौकरी वगैरह आरंभमें प्रवृत्ति करते हैं। परंतु मुनिने सर्व परिग्रहोंका त्याग किया है इस लिये उसको आरंभका अभाव हो चुका। आरंभका अभाव होनेसे असंयम भी नष्ट होता है। और सत्य धर्ममें स्थिरता आती है। परिग्रहके लियेहि मनुष्य दूसरेसे असत्य भाषण घोलता है। खेत, गृह, धनादि वाद्यपरिग्रह और क्रोधमानादि अन्यतर परिग्रह जब नष्ट होते हैं तब असत्य भाषण करनेका कारण ही नष्ट होता है। जब कभी निष्परिग्रही मुनि बोलगा तो सत्यही बोलगा। आचेलक्यसे साधवगुण प्राप्त होता है। अर्थात् महाव्रतको पूर्णविस्था प्राप्त होता है। जब परिग्रहकी मनमें अभिलाष उत्पन्न होती है तब दूसरोंका व दिया हुआ धन मनुष्य ग्रहण करता है।

परिग्रहोंका त्याग निसर्गने किया है वह ऐसे अकारणमें प्रवृत्त होता ही नहीं। रम्यादिकोंका त्याग होनेसे परिणामोंमें निर्मलता आती है जिससे व्रत्तचर्यका निर्दोष रक्षण होता है। व्रत्तचर्य निर्मलत्व होता है। क्रोध उत्पन्न होनेके लिये परिग्रह ही कारण है। परिग्रहोंका त्याग करनेसे क्रोध नष्ट होता है और क्षमागुण प्रगट होता है। मैं गुंदर हूं, मैं धनाढ्य हूं इत्यादि रूपका अभिमान भी परिग्रहोंका त्याग होनेपर मनमें नहीं रहता है। मार्दव गुण भी आचेलक्यसे प्राप्त होता है। निष्कमटता भी प्राप्त होती है। कारण आचेलक्यको धारण करनेवाला मुनि मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ होगा वह दुखसे कटता है। अतः उसको आर्जव गुणकी लब्धि होती है। परिग्रहही माया—

कृपादीपनाका मूल है। ऐसे परिग्रहका त्याग करनेसे वैराग्यभाव प्राप्त जाता है। तब मुनिराज शब्दादि पंचद्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होते हैं। परिग्रहसे रहित होनेपर मुनि शीत, उष्ण, दंष्ट्रमशकादि परिश्रम सहन करते हैं। देव दानयोंने उपसर्ग यदि किये तो भी सहन करते हैं। ऐसा दुःख सहन करनेका सामर्थ्य परिग्रहोंका त्याग करनेसे ही आत्मामें प्रगट होता है। परिग्रहोंके त्यागसे घोर तपका पालन भी होता है। एक अचेलत्वसे दश धर्मोंका पालन होता है ऐसा सिद्ध होता है। यह संक्षेपसे विवेचन किया।

अचेलताकी प्रशंसा जगत् दूसरे प्रकारसे आचार्य करते हैं—

आचेलस्यसे संयमशुद्धि होती है। यह पहिला गुण है। स्वेदजल और मलसे मलिन हुए वस्त्रमें स्वेदसे लिप्ता, जू बगैरह सम्मूर्च्छन जन्तु उत्पन्न होते हैं। तथा वस्त्रोंके आश्रयसे दूसरे वस्त्र और स्थूल वस्तु और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं। वस्त्रग्रहण करनेसे ये प्राणी पीड़े जाते हैं। जीवव्याप्त वस्त्र वैसा ही रखने पर भी हिंसा होती है। उसमेंसे एक एक जीव अलग करना चाहे तो वे मरते हैं। वस्त्रधारी मनुष्यको खदे होना, बैठना सोना, फाटना, छेद करना, चांधना, घेदन करना, घटना, मर्दन करना, घूममें सुखाना इत्यादि कार्य करते समय वस्त्रगत जीवोंको बाधा पोहोचानेसे महान् असंयमकी मासि होती है। परंतु वस्त्रत्यागी मुनिको उपर्युक्त असंयमका स्पर्श भी होता नहीं है। उनका संयम निर्मल रहता है। वस्त्रत्याग करनेसे इंद्रियविजय नामक गुण प्राप्त होता है। संपूर्ण व्याप्य वनमें विद्यमानादिरहित मनुष्यको सावधानीसे रहना पड़ता है। इसी प्रकार इंद्रियोंका नियमन करनेके कार्यमें वस्त्ररहित मुनिओंको बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। वे इंद्रियनियमन करनेमें सदा दक्ष रहते हैं। यदि वे असावधान रहेंगे तो लज्जास्पद गरीरविकारकी उत्पत्ति होगी। निर्वंश्यतासे कपार्योंका अभाव होता है। जिसके पास वस्त्र है वह मनुष्य चोरके भयसे गोमयादिकोंके रखने वस्त्रोंको लिप्ताकर उसको छिपाता है अर्थात् फण्टप्रयोग करता है। अथवा रस्ता छोड़कर उन्मागति चोरको फसानेके लिये जाता है। चोरको आता हुआ देखकर जोटे खुदप, लतालाह इत्यादिकोंमें छिप कर रहता है। भेरे पास वस्त्रादिक हैं दूसरोंके पास वे नहीं है ऐसा मनमें विचारकर अभिमानी होता है। जवरदस्तीसे चोर हरण करनेके लिये उमाह होनेपर उसके साथ कलह करता है। वस्त्रका लाल होनेसे लीमकण्ठ उत्पन्न होता है। वस्त्र ग्रहण करनेसे ऐसे क्षीण उत्पन्न होते हैं। वस्त्र के त्यागमें इन दोषोंका सर्वथा अभाव है। वस्त्रत्यागी मुनिको ध्यान और स्वाध्यायमें विमग्न रहना नहीं। कारण

यह परिग्रहस्थित आशक्ति रहित होता है। बल्ल सगीप रखनेसे वह फटने पर उसकी सीनिका निवार उत्पन्न होता है। सीनिके लिये खूबी समीप रखनी पड़ेगी। फपटोके टुकड़े पास रखने परदेगे धुई, दोरा, फपटोके टुकड़े इनका अन्ये-पण करनेमें चित्त व्याकुल हो जावेगा तब च्यान स्वाध्यायमें एकप्रवा रहेगी नहीं, परंतु निःसंभपुनीको ऐसी व्यग्रता नहीं रहनेसे उनके च्यानस्वाध्याय निर्विघ्न होते हैं। बल्लत्यागसे स्वस्वाध्याय व अर्थस्वाध्यायमें निर्विघ्नता प्राप्त होती है स्वाध्याय और च्यानका हमेशा अभ्यास होता है। इसलिये ग्रंथत्याग-परिग्रहत्याग यह गुण है। लेने तंडु-लने ऊपरका छिलका निकालनेसे यह निर्मल होता है वैसे बल्ल वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होनेसे अभ्यंतर क्रोधादि परिग्रहोंका त्याग होकर आत्मा निर्मल होता है। इसलिये बल्ल परिग्रहत्याग अभ्यंतर परिग्रह दूर करनेका मूल कारण है। छिलकेसे अलग किया हुआ तंडुलचान्य अवश्य निर्मल होता है। परंतु छिलके से युक्त तंडुलकी शुद्धि भजनीय है। इसी तरह निर्बल मुनि अवश्य निर्मल होते हैं। वस्त्ररहित मनुष्यमें रागद्वेषरहितता नामक गुण रहता नहीं है। स्वस्व मनुष्यका मन सुंदर वस्त्र दीलनेपर अनुरक्त होता है। व अपने असुंदरवस्त्रका द्वेष करने लगता है। बल्ल पदार्थोंके आशयसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। परंतु परिग्रह पास न रखनेसे उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। शरीरपर अनादर करना यह गुण है। शरीरपर श्रेम करनेसे ही मनुष्य असंयममें व परिग्रहमें प्रवृत्त होता है। निर्विघ्न मुनि बाल, धुर्यका ताप, शीत वरीरह से उत्पन्न हुई पीड़ायें सहन करते हैं। इस लिये वे शरीरपर निरादर रहते हैं यह सिद्ध होता है। निष्परिग्रहतासे स्ववशतागुण प्राप्त होता है। देशांतरको जाते समय इस गुणके प्रभावमें किसीके सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती है। संपूर्ण परिग्रहका त्यागी वह मुनि पिच्छमानका स्वीकार करता हुआ पक्षीके समान विहार करता है। परंतु वस्त्रधारी मनुष्य अन्य मनुष्यकी सहायताकी अपेक्षा करता हुआ संयमका कैसा पालन कर सकता है। अर्थात् उससे संयम पालन होता नहीं

वस्त्रत्यागसल मनकी विरुद्धि प्रगट होती है। कौपीन, बल्ल इत्यादिकेसे गुहा आच्छादित करनेवालेकी भावशुद्धि नहीं जानी जासकती है। परंतु जो वस्त्ररहित है उसका निर्विकार देह देवलसूत उसका वैराग्य स्पष्टतया स्पष्ट जान सकते हैं। इसलिये अचेलतासे मनोविशुद्धि नामका गुण प्रकट होता है ऐसा समझना योग्यही है। इस अचेल-तासे निर्भयता गुण प्राप्त होता है। जो वस्त्ररहित है उसको यह भेदा वह चोरादिक लोक हरण करेंगे, मरेको डोढ़ेंगे, बांधेंगे, ऐसी भीति उत्पन्न होती है। मययुक्त मनुष्य क्या नहीं करेंगा! अचेलतासे सर्व मनुष्योंमें विकास

उत्पन्न होता है परिग्रहहितको किमीमें भी धोखा उत्पन्न होती नहीं। परंतु सचेल मनुष्य अपनेसाथ आनेवाले मनुष्यको अथवा किसी दुसरे मनुष्यको देखकर उत्पन्न विषय नहीं करेगा। यह कौन है ? यह क्या करेगा ? ऐसी धोखा उसके मनमें आसन्न उत्पन्न होगी।

अग्रतिलेखना नामक गुणभी निष्पत्तिहवासे प्राप्त होता है। चौदा प्रकारके उपाधियोंको ग्रहण करनेवाले येताम्यर मुनिओंको बहुत संशोधन करना पड़ता है परंतु नग्नता धारण करनेवाले दिपंबर मुनिओंको इसकी आसन्नरुता रहती नहीं।

अचेलतामें परिकल्पनजन नामका गुण है। उद्देश्य करना, अलग अलग करना, सीना, बांधना, रंगाना इत्यादिक कार्य बलसहित मनुष्यको करने पड़ते हैं। परंतु निर्मल मुनि इनसे रहित होते हैं स्वतःके पास बल प्रायणादिक ही तो उनकी धोना पड़ेगा, फटनेपर मीना पड़ेगा, येमे कृतसित कार्य करने पड़ते हैं। वस्त्र समीप होनेसे उनमें अपनेको अलंकृत करनेकी इच्छा होती है और उसमें मोह उत्पन्न होता है।

अचेलतामें लाघव नामक गुण है। निर्वस्त्र मुनि सचे होना, गमन करना इत्यादिक कार्यमें वायुके समान अप्रतिबद्ध रहते हैं। अतः उनमें लाघव गुण रहता है सबस्त्र मनुष्यमें यह गुण रहता नहीं।

तीर्थकराचरित नामका गुणभी अचेलतामें रहता है उत्तमसंहनन-वर्ज्यभनाराच 'संहनन, और विपुलगतिके धारक ऐसे तीर्थंकर मुक्तिका मार्ग सर्व भक्त्योंको प्रगट करते हैं। जितने तीर्थंकर हो चुके और होने-वाले हैं वे सब वस्त्ररहित होकरही तप करते हैं। मेरुपर्णत वगेरह स्थानपर जो जिनश्रवित्तमायें हैं वे और तीर्थंकरोंके अनुयायि गणधरमी निर्मलरही हैं। उनके सर्व शिष्यभी वस्त्ररहितही होते हैं अतः अचेलत्व यह मुनिओंका प्रथम स्थितिरूप सिद्ध हुआ।

जिसने आपना शरीर वस्त्रसे घेष्टित किया है वह जिनधरके समान शरीरपरसे मोहका त्यागकर और आपने दो भुज नवि । लंघयमान करके निश्चल हो जिनधरका स्वरूप धारण नहीं करते हैं नग्नतामें अपना गल और वीर्य प्रगट करना यह गुण है। परंतु जो सवस्त्र है वह सामर्थ्ययुक्त होकर भी अर्थात् परीपद सदन करनेका सामर्थ्य होनेपर भी उनको नहीं सह सकता है इतने गुणोंको देखकर श्रीजिनधरने आगममें अचेलताका वर्णन किया है।

जिसने वस्त्रधारण किया है वह मुनि यदि अपने को निर्ग्रन्थ समझेगा तो गावंही सायुज्यो की भी हम क्यों न निर्ग्रन्थ समझे ? हम ही निर्ग्रन्थ है ऐसा उनका कहना केवल कहना ही है अर्थात् युक्तिरहित है. मध्यस्थ लोक अर्थात् परलोक लोक उनका कहना मान्य नहीं करते हैं.

इस प्रकार वस्त्रमें अनेक दोष हैं. नग्नतामें दोष तो है ही नहीं परंतु गुणमात्र अपरिमित है. इसीलिये आचार्य महाराजने अव्यक्तता स्थितिकल्पना प्रथम निरूपण किया है.

पूर्योगमोंमें वस्त्रपाद्यादिकोंका ग्रहण करनेका विधान मिलता है ऐसी जिनकी कल्पना है वे अपना पक्ष इस प्रकार स्थापन करना चाहते हैं.

यदि वस्त्र पात्रादिकोंका विधान नहीं है तो उसकी प्रतिस्तेयना निषेधसे करनेका विधान क्यों लिखा है ? आचार्यगणधि नामक ग्रंथमें “ प्रतिस्तेयनाशकं यत्नं ” इति । पात्र और कंबलको ओषधना चाहिये अथवा ये निर्जन्तुक हैं या जन्तुसहित हैं यह देखना चाहिये. यदि जन्तुसहित हो तो वे जन्तु पिच्छिकात्मे दूर करने चाहिये.

आचार्यगणके लोकविक्रय नामक दूसरे अध्यायके पांचवें उद्देशमें ऐसा वचन है — “ पटिलेहणं, पाद-पुच्छणं, उग्राहं, फटासनं, अण्णदरं उपधिं पायज्ज ” अर्थात् पिंडी, रजोदण्ड, कटासन चटाई, फलक, पादपीठ वगैरह तथा और भी दूसरा परिग्रह ग्रहण कर सकते हैं ऐसा उल्लेख किया है. वस्त्रसेना नामक प्रकरणमें इस मूल्य विधान है. तत्प एते क्षिरिमाणे सेमं वस्त्रं वा धारेज्ज पटिलेहणं विदियं । तत्प एते जुग्गिदे देसे हुंवे वत्थाणि धा-रिज्ज पटिलेहणं विदियं ॥ तत्प एते परीसहं अण्णधिहासस्स ततो वत्थाणि धारेज्ज पटिलेहणं चउत्तं । इसका सारांश यह है — यह लज्जायुक्त मुनि एक वस्त्र धारण करें और प्रतिस्तेयनकेलिए दूसरा वस्त्र अपनेपास रखें. यह मुनि योग्य प्रदेशमें दोन वस्त्र धारण करें और प्रतिस्तेयनकेलिए तिसरा वस्त्र धारण करें. यदि शीतादि परीषद् सहन न हो तो तीन वस्त्र धारण करें. और प्रतिस्तेयनकेलिए चौथा वस्त्र धारण करें.

तथा शदेसणा प्रकरणमें ऐसा कहा है “ हिरिमाणे वा जुग्गिदे चावि अण्णमे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिनं पादचारिचण ” अर्थात् लज्जायुक्त साधुको वस्त्रादिक रखने चाहिये. जिसके लिये दोष हो तो वस्त्र धारण करना योग्य है.

पुनरपि उमी प्रकरणमें ऐसा उल्लेख है—‘अलावुषचं वा दाकगषचं वा, मडिगपचं वा अप्पपाणं, अप्प वीजं, अप्पनरिदं तथा अप्पकारं पत्तलायें सति पडिग्गहिस्सामि ” अर्थात् पात्र लाभ होता हो तो में तुंधीका पात्र अथवा लकड़ीका पात्र किंवा मट्टीका पात्र ग्रहण करूंगा. जिसमें जीव नहीं है, चीज नहीं है और जो घटा नहीं है ऐसा पात्र यदि मिलेगा तो मैं ग्रहण करूंगा.

वस्त्रपात्र यदि प्राप्त नहीं है ऐसा आगममें लिखा होता तो हम सूत्रोंका आगममें उल्लेख ही नहीं आता. भावनामें भी ऐसा कहा है—‘‘वस्त्रं चीवरधारि तेन परमंचलये तु विणे ” अन्तिम तीर्थंकरके शरीरपर वस्त्र था तो भी वे अचलक जिन थे.

सूत्र कर्तागके पुंढरीक नामक अध्यायमें भी ऐसा कहा है ‘ण कहेज्जो घम्मकइं वत्थपप्पादिहेदुंमिति । यत्त और पात्र प्राप्त करनेके उद्देशसे धर्मोपदेश नहीं करना चाहिये.

वस्त्रपात्रके विषयमें निर्भीच ग्रंथमें ऐसा प्रमाण है. ‘कसिणाइं वत्थकंवल्लइं जो सिक्ख पडिग्गहिदि अप्पज्जसदि मासिगं लहुगं’ इति । सर्व प्रकारके वस्त्रकंचलोंको ग्रहण करनेसे मुनिको लघुमासिक नामक प्रायश्चित्त निधि करना पड़ता है.

इस प्रकार सूत्रोंमें वस्त्र ग्रहणका विधान है. इसलिये अचलवाक्ता-नव्रवाक्ता आपका विवेचन कैसा योग्य माना जायगा.

इसपर आचार्य कहते हैं— आगममें आर्यिकाओंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. और कारणकी अपेक्षा मिथुओंको अर्थात् मुनिजनोंको वस्त्र धारण करनेकी आज्ञा है. जो साधु लज्जालु है, जिसके शरीरावयव अयोग्य है अर्थात् जिनके पुण्यलिङ्गपर चर्म नहीं है. जिसके अंड दीर्घ हैं, अथवा जो परीणहसहन करनेमें असमर्थ है वह वस्त्र ग्रहण करता है.

आचार्यगमें इस विषयमें ऐसा कहा है—‘‘सुदं मे आउस्सत्तो भगवदा एवममस्साद । इह खलु संयमामि मुदा दुत्तिहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति । तं जहा-सब्बसमणागदे णो सम्बसमणागदे चेव । तत्थ जे सम्बसमणागदे विरांगत्थिपणिपदे सन्विदियसमणागदे तस्स णं गो कप्पदि एमसवि वत्थं धारेलं, एवं परिहिउं एवं अणत्थ एगेण पडिल्लहेगेज इति ” आशुम्भान् भगवान् वीरस्वामीने ऐसा कहा है—इस जगत्में संयमको धारण करनेवाले

स्त्री पुरुष दो प्रकारके हैं- संपूर्ण अवयवोंकी अवस्थाको प्राप्त हुए ऐसे और असंपूर्ण ऐसे दो प्रकार हैं- जिनके शरीर, हाथ और पाय मजबूत हैं, जिनके शरीरकी आस्थिरचना मजबूत है- सर्व इंद्रियोंमें परिपूर्णता अर्थात् निर्दोषता है उनको एक भी वस्त्र धारण करना और पहनना अव्योम्य है- मात्र उनको एक प्रतिलेखन अर्थात् पिन्डिका धारण करना योग्य है-

कल्प नामक ग्रंथमें ऐसा कहा है—‘हारितुकं च होद् देहदुर्मुंति देहे जुग्मिदगे धारज्ज सिंयं वर्यं परितहाणं च ग विवत्तीति ॥ जिसका देह क्षुत्सायुक्त है अर्थात् जिनका पुल्लेखिय चर्मरहित है अहकोप दीर्घ है, जो परीपह सहनेमें असमर्थ है वह मुनि जनसमुदायमें एक श्रेष्ठ वस्त्र धारण करें- कारणकी अपेक्षासे वस्त्र ग्रहण करना चाहिए इस विषय की पुष्टि करनेवाला और भी सूत्र आचारारंगमें है- ‘अह पुण एव जाणेज्ज उपातिके तेमंतेहि दुपबिण्णे से अध’ पटिखुण्णसुबधिं पटिहावेज्ज इति ’ इसका अभिप्राय यह है—‘शरीरके दिनोंमें जिसको जाबा सहन होता नहीं है ऐसे मुनिको वस्त्र ग्रहण करके आढके दिन समाप्त होनेपर और ग्रीष्म समय आनेपर जीर्ण चरन छोड़ देना चाहिये- कारण की अपेक्षा से वस्त्र धारण करनेका विधान है- जीर्ण वस्त्र का त्याग करनेका विधान आगममें है इसलिये वस्त्रका त्याग नहीं करना चाहिये ऐसा आगमसे सिद्ध होता है ऐसा यदि कहोमे तो वह अयोग्य है अबैलता यह मूल गुण है ऐसा आचार्यका बचन है अतः वस्त्रका त्याग करना ही चाहिये- प्रशालन नौरह संस्कार न होनेसे वस्त्रमें जीर्णता आती है- परंतु वस्त्रका त्याग करना चाहिये ऐसा कथन करनेके लिये जीर्ण शब्दका प्रयोग किया है- पात्रका भी संयमार्थ ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सूत्रोंमें उसका भी विधान है ऐसा कहना अनुचित है

अबैलता शब्दका अर्थ सर्व शरीरग्रहोंका त्याग ऐसा होता है- पात्र भी परिग्रह है इसलिये उसका भी त्याग करना अवश्य सिद्ध होता है- अतः कारणकी अपेक्षामें वस्त्रपात्रका ग्रहण करना सिद्ध होता है- जो उपकरण कारणकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है उसका त्याग भी अवश्य कहना चाहिये- इसलिये वस्त्र और पात्रका अधोधिकारकी अपेक्षासे सूत्रोंमें बहुत स्थानोंमें विधान आया है वह सब कारण की अपेक्षा से ही है ऐसा समझना चाहिये-

भावनामें इस विषयमें ऐसा उद्धृत है—‘वरितं चीवरयारी तेण परमचेलभो जिणोचि’ अर्थात् महावीर

स्वामीने एक वर्ष तक यस्त्रधारण किया था. तदनंतर उन्होंने उसका त्याग किया था. ऐसा मानना में उल्लेख है. परंतु इनमें अनेक विवाद हैं. अर्थात् यह कहना निश्चययुक्त नहीं है. कोई इस विषय में ऐसा कहते हैं "जिस दिन महावीर स्वामीने दीक्षा धारण की उसी दिनमें महावीरस्वामीके शरीरपर जिसने सुगंध पदार्थोंकी चर्चा की उसने वह वस्त्र ग्रहण किया छह महीने के बाद वह वस्त्र वृक्षके कांटोंसे और शालाज्योत्ति फट गया ऐसा कोई कहते हैं. एक वर्ष और कुछ दिन व्यतीत होने पर खदलक नामक ब्राह्मण ने यह ग्रहण किया था ऐसा कोई कहते हैं. द्वाग्ले जत्र यह वस्त्र जमीनपर गिर गया तत्र स्वामीने उसकी उपेक्षा की ऐसा कोई निबन्धन कहते हैं. सुगन्धी चर्चा करने वाले मनुष्यने मगवानके कंधे पर वह वस्त्र रखवा ऐसा कोई कहते हैं" इस तरह महावीर स्वामीका वस्त्र धारण अनिर्णीत है. सचेलालिंगमें ऐसे अनेक संशय होनेसे उसमें कुछ तथ्य नहीं दीखता है.

यदि मगवानने वस्त्रग्रहण किया था तो उन्होंने उसका क्यों नाश होने दिया. उनको वह सदा धारण करना योग्य था. यदि यह वस्त्र भेरा नष्ट होगा ऐसा प्रभूको ज्ञान था तो उसका क्यों उन्होंने ग्रहण किया ? यदि उनमें यह मायूस न था तो उनका अज्ञान प्रगट होता है.

यदि मगवानने यस्त्र धारण कर वह भी मुनिका लिंग है ऐसा सूचित किया है ऐसा कहोगे तो 'आ-बेलकको धम्मो पुरिमचरिमाणं' यह शब्द न भिध्या होगा. अर्थात् श्रवण तीर्थंकर महावीर इन्होंने आचलक्य धर्म-का उपदेश किया है. अर्थात् मुनिओंने संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए यह मुनिधर्म है. ऐसा उन्होंने उपदेश किया है. यह उपदेश असत्य समझना होगा.

उसी तरह नरस्थानग्रन्थमें 'यथाहमंचेली तथा होउ पच्छिमो इदि होक्खसिदिणि' श्री आदिभगवानका 'मैं जैसा निर्निष्ठ हूं ऐसा पश्चिम तीर्थंकर भी निर्निष्ठ ही होगा" यह वचन भी भिध्म मानना पड़ेगा.

जैसा महावीर स्वामीका वस्त्र त्यागकाल कहा है वसा अन्य तेवीस तीर्थंकरोंका यस्त्रत्याग काल क्यों न ही आपने दिखाया यदि वस्त्र उनको भी होता तो ऐसा कहना युक्त होता है.

सर्व परिग्रहोंका त्याग कर विनिरस जत्र ध्यान करते हैं जत्र समय यदि किसीने वस्त्र उनको पहनाया तो वह उपसर्ग कहलावेगा. शीत उष्ण, दशमदक, तुणस्पशं वगैरह परीपट सहन करना चाहिए ऐसा वर्णन परि-

पद संश्रोंमें किया है। यह वर्णन अचेलताकी ही सिद्धि करेगा।

जो वस्त्र धारण करेगा उसको जाड़ेसे, दंशमशकादिसे दुःख होता नहीं।

इन द्रव्योंसे अचेलताका ही निरूपण होता है। परिचयेसु वस्त्रेषु इत्यादि-गाथाओंका अभिप्राय—मुनि मनमें विचार करते हैं—उब मैंने वस्त्रका त्याग किया है तो मैं फिर उसको नहीं ग्रहण करूंगा। जिसने वस्त्रका त्याग किया है वह सदा जिनरूपका धारक माना जाता है। जिसने वस्त्र धारण किया है वह सुखी होता है और वस्त्ररहित दुःखी होता है। इसलिये मैं वस्त्र धारण करूंगा ऐसा विचार भिक्षु मनमें न लावे। निर्वस्त्र होनेसे मेरेको शीतसे दुःख होता है इसलिये मैं धूपका सेवन करूंगा ऐसा मानना भिक्षुको मनमें नहीं करने की चाहिये। और शीतादि परिपहोंको वह सहन करे, मेरे पास शीतनिवारण करनेवाला वस्त्र नहीं है। इसलिये मैं अत्रिक्रम सेवन करूंगा ऐसा विचार भिक्षुको नहीं करना चाहिये।

उत्तराध्ययनमें ऐसा अभिप्राय लिखा है—

जो आचेलपण धर्म है वही पार्थनाथस्वामीने कहा है। परंतु एक धर्म में ही अर्थात् मुनिधर्म में ही प्रयुक्त हुए मुनिओंमें दो तरह की—सचेल धर्म और अचेल धर्म ऐसी दो कल्पनायें उत्पन्न हुई हैं। अतः मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है, इस वचनसे भी चरमतीर्थंकर महावीर स्वामी के धर्म में अचेलता सिद्ध होती है।

वदवैकालिक ग्रंथमें ऐसा वचन है—

अभिप्राय—जो नग्न है, मुंड है अर्थात् जो कंछलोच करता है, जिसके नख केवल दीर्घ है, जिसने मैथुनका त्याग किया है ऐसे साधुको अलंकार की क्या जरूरत है,

इस प्रकार आचेलपण कल्पका वर्णन हुआ।

उद्देशिक स्थितिकल्पका वर्णन—

मुनिके उद्देशसे किया हुआ आहार, वसतिका वगैरहको उद्देशिक कहते हैं। उसके आधाकर्मोदि विकल्प से सोला प्रकार हैं उसका त्याग करना यह द्वितीय स्थितिकल्प है,

कल्पनामक ग्रंथमें इसका ऐसा वर्णन है—

अर्थात्—श्री आदिनाथ तीर्थकार और श्री महावीरस्वामी इनके तीर्थमें सोलह प्रकारके उद्देश्य दोषोंका परिहार करके आहारादिक ग्रहण करना चाहिए ऐसा कहा है यह दूसरा स्थितिकल्प है।

सेव्याधर कल्पका वर्णन—

सेव्याधर शब्दके तीन अर्थ हैं—जो वसतीकाको बनावा है वह, बनाई हुई वसतिकका संस्कार करने-वाला, अथवा गिरी हुई वसतिकाको सुधारनेवाला, किन्ना उसका एक भाग गिरगया हो तो उसको सुधारनेवाला वह एक, जो धनधाना नहीं है और संस्कार भी नहीं करता है परन्तु यहाँ आप निवास करो ऐसा कहता है वह, ऐसे तीनोंको श्रम्याधर कहते हैं, इनके आहारका, और इनके पिच्छिका, वगैरह उपकरणका त्याग करना यह तीनरा कल्प है।

यदि इन श्रम्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेने तो घर्मफलके लोभसे ये श्रम्याधर मुनिओंको आहार देते हैं ऐसी निंदा होगी। जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दस्त्रि है, लोभी छुपण है वह मुनिओंको वसतिदान न देंगे। उसने वसतिका दान किया तो भी इस मंदभाग्यने मुनिको आश्रय दिया परन्तु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निंदा करते हैं। जो वसतिका और आहार भी देता है उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना संभवनीय है, क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है। अतः उनके यहाँ मुनि आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

राजाके यहाँ आहार नहीं लेना यह चौथा स्थितिकल्प है। इत्याहुबंद, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपयोंसे अनुरंजन करता है उसको राजा कहते हैं। राजाके समान जो महामन्त्रीका धारक है उसको भी राजा कहते हैं, ऐसेके यहाँ पिंड ग्रहण करना यह राजपिंड है। इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि। अन्न, पान, स्वाद्य और स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं, तुष, फलक, आसन वगैरह पदार्थोंको अनाहार कहते हैं। पिच्छी, वस्त्र, पात्र उनको उपधि कहते हैं।

राजपिंडका ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ ऐसे दोषोंके दो भेद हैं, ये दोष समुत्थ और त्रिचोके द्वारा होते हैं। त्रिचोके के ग्राम्य और अग्र्यवासी ऐसे दो भेद हैं। ये दोनों प्रकारके त्रिचोके दुष्ट और मद्र ऐसे दो प्रकार के हैं। चोटा, हाथी, मंसा, भेडा, कुचा इनको ग्राम्य पशु कहते हैं, ये पशु राजाके घरमें श्राव्य होते हैं। यदि ये कुछ स्वभावके होंगे तो उनसे मुनिओंको बाधा पोहोचती है।

यदि वे मद्र हो अर्थात् दृष्ट स्वभावके न हो तो वे स्वयं मुनियोंको देखकर मय से भागकर दुःखित होते हैं। स्वयं मिर पड़ते हैं अथवा वक्ता देकर मुनियोंको मारते हैं। इधर सभर कुदते हैं।

वाप, सिंह वगैरह मांसभक्षी प्राणी, वनर वगैरह प्राणी राजा के घरमें बंधनसे यदि मुक्त होगये होंगे तो उनसे मुनिका यात होगा और वे यदि मद्र होंगे तो वे इधर उधर भागने पर भी मुनिको बाधा होने की संभावना है।

मनुष्योंसे भी राजाके घरमें मुनियोंको दुःख भोगने पड़ते हैं, उनका वर्णन— राजाके घरमें तलबर्, म्लेच्छ, दास, दासी वगैरह लोक रहते हैं, इन लोगोंसे राजगृह न्याप्त होनेसे यहां प्रवेश होने में कठिनाता पड़ती है। यदि मुनिनि राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहां उन्मत्त दास वगैरह लोक उनका उपहास करते हैं। उनको निंद्य जन्म बोलते हैं, कोई उनको अंदर प्रवेश करने में मनाई करते हैं, कोई उनको उछलते हैं, यहां अंतःपुरकी स्त्रियां यदि कमयिकार से पीडित होगी अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका अपरदस्तीसे उपभोगके लिये प्रवेश करवाती है।

कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चोर कर यहां मुनि आया था उसने चोरी की है ऐसा दीपारोपण करते हैं, यह राजा मुनियोंका भक्त है ऐसा समझकर दृष्ट लोक मुनि चेप धारण कर राजाके यहां प्रवेश करते हैं और यहां अनर्थ करते हैं, जिससे मुनियोंको बाधा पोटोचनेकी बहुत संभावना रहती है, अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविषेकी वनकर मुनियोंको दुःख देता है, अथवा अविषेकी दृष्ट लोक मुनियोंको दीप देते हैं उनको मारते हैं, ऐसे इतर व्यक्तिओंसे उत्पन्न हुए दोषोंका वर्णन किया है, अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कौनसे दीप करते हैं इसका वर्णन करते हैं—

राजगृहमें जाकर मुनि आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा देखभाल न कर लाया हुआ आहार ग्रहण करता है, विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दीप उत्पन्न होता है, अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लंपट होजाता है, दुर्दैवसे चर्वाही रत्नादिक अमूल्य वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा, अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा, राजाका वैभव, उसका अंतःपुर, वेड्या वगैरहको देखकर निदान करेगा, ऐसे दोषोंका संग्रह जहां होगा ऐसे राजाके घरमें आहाराका त्याग करना चाहिये।

परंतु जहाँ ऐसे दोष होनेकी संभावना नहीं है वहाँ मुनिको आहार लेनेके लिये मनाई नहीं है, गत्यंतर न हो अथवा भुतमानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिये राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है, ग्लान मुनि अथवा वीमार मुनिके लिये गजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है, वीमारी, भुतमानका रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहाँ आहार लेना निषिद्ध नहीं है।

५ चारित्र्य संपन्न मुनिका अपने गुरुका और अपनेसे बड़े मुनियोंका विनय करना सुश्रूषा करना यह कर्तव्य है, इसको कृत्तिकर्म नामक स्थितिकल्प कहाँ है।

६ व्रतारोपण योग्यता नामक उवा स्थितिकल्प है—

जिसको जीनोंका स्वरूप मानुस हुआ है ऐसे मुनीको नियमसे व्रत देना यह उवा स्थितिकल्प है।

जिसने पूर्ण निर्ग्रामस्था धारण की है उद्विधाहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरुभक्त और निम्नी है वह व्रतारोपणके लिये योग्य है।

व्रत देने का क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्यिकायें सम्मुख होकर बैठती हैं, ऐसे समयमें ध्यान और ध्याविकाओंको व्रत दिये जाते हैं, व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायें तरफ बैठता है वर गुरु उसको व्रत देते हैं।

ब्रवोंका स्वरूप जानकर पापोंसे निरक्त होना वह व्रत है, वृत्तिकारण, छादन, संवर, विरति ये सब शब्द व्रतके वाचक हैं, यही अभिप्राय 'गाऊण' इस माध्यामें कहा है।

पहिले तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर इन्होंने रात्रिभोजन त्याग और पंच महाव्रतोंका उपदेश किया है, व्रतन योगसे माणी के प्राणोंका पाव करना इसको हिंसा कहते हैं, इस हिंसासे विरक्त होना यह प्रथम अहिंसा महाव्रत है, असत्य भाषणसे प्राणियोंको दुःख होता है ऐसा समझकर दयावान मुनि सत्य बोलते हैं, यह उनका सत्य महाव्रत है, यह भेदा है ऐसा मंकल्प जिसके ऊपर है ऐसी वस्तु लेने पर लोक उस वस्तुके विरहसे दुःखित होते हैं यह देकर दयासे उनकी वस्तु लेनेका त्याग करना यह तीसरा अचौर्य महाव्रत है, सरसोस मरी हुई नलिकाओं तपी हुई लोहदण्डाका पुमनेसे सब मरसों जलकर भस्म हो जाती है उसी तरह योगी में पुरुषेन्द्रियाका प्रवेश होने में वहकि सर्प युद्धम जीव नष्ट होते हैं, यह भैयुन रागभाव को उत्पन्न करता है, यह कर्मवधका

महान् कारण है- ऐसा समझकर दयावान् मुनि उससे पूर्ण निरक्त होते हैं यह उनका चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। परिग्रहेमं एतौ प्रकारके जीवोंको वाया पोहोचती है- यह व्रमत्वपरिणामक लिय कारण है। इसलिये सर्व परिग्रहोंका त्याग करना यह परिग्रहत्याग नामक पांचवा महाव्रत है।

इन व्रतोंका पालन करनेकेलिए रात्रिभोजनका त्याग करना यह छठा व्रत है अहिंसामहाव्रत सर्व जीवोंके निषेध करता है। अर्थात् मर्मे जीमंवर दया करना यह अहिंसा महाव्रतका विषय है। अर्थात् महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत ये सर्व पदाथविषयक है। अर्थात् वाद्य घन धान्यादिक पदार्थोंका त्याग करनेपर इन व्रतोंकी प्राप्ति होती है। और वचे हुए व्रत अर्थात् तत्सममहाव्रत और ब्रह्मचर्यव्रत ये दो व्रत ब्रह्मोंका एकदेश विषय करते हैं। यही अभिप्राय पदमग्नि सत्त्वजीवा इम माथामे आचार्योंने दिलाया है।

ज्येष्ठ नामक सप्तम स्थितिकल्पका वर्णन--

७ जिनने पांच महाव्रत धारण किये हैं, और जो बहुत वर्ष की दीक्षित है ऐसी आर्यिकासे भी आज जिनने दीक्षा ली है ऐसा मुनि ज्येष्ठ माना जाता है। पुरुष संप्रद, उपकार और रखण करता है। जगतमें पुरुषने ही धर्मकी स्थापना की है। इसलिए उसको ज्येष्ठता मानी है। इमबास्ते सर्व आर्यिकाओंका मुनिका विनय करना यह कर्तव्य है।

दिया पुरुषने कनिष्ठ मानी गई है, वे अपना रखण स्वयं नहीं कर सकती। दूसरोंसे वे इच्छी जाती है। अर्थात् पुरुष जब उसकी इच्छा करता है तब ये उसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ होती है। उनमें स्वभावतः भय रहता है, कम जोरी रहती है। पुरुष ऐसा नहीं है अतः वह ज्येष्ठ है। यही अभिप्राय 'लेणिच्छी हु लघुसिरा इत वृत्तमे' कहा है।

८ जंगलनादि कल्पमें रहने हुए मनीको जो अविचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना यह अष्टम स्थिति कल्प है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे प्रतिक्रमणके छे भेद हैं- अर्थात् नाम प्रतिक्रमण, स्थानान्निक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि छह भेद हैं।

भट्टिणी, भट्टिदरिगा इत्यादि अयोम्य नामोल्लाखण करनेपर उसका पोरहार करना यह नाम प्रति-
क्रमण है।

असंयत, मिथ्यादृष्टि चीवोंके प्रतिर्विव अर्थात् प्रतिपाकी पूजा वगैरह करनेपर उससे परावृत्त होना यह
स्थापना प्रतिक्रमण है।

द्रव्यके संचित, अचित और मिश्र ऐसे तीन भेद हैं इनका त्याग करना यह द्रव्यप्रतिक्रमण है, जहाँ
जस स्वावर जीव रहत हैं ऐसे क्षेत्रका त्याग करना अथवा जहाँ स्वाध्याय करनेमें, ध्यान करनेमें बाधाये उत्पन्न
होती हैं ऐसे प्रदोषोंका त्याग करना यह क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

संस्थाकेलमें, स्वाध्यायकाल वगैरह कालोंमें आना जाना वगैरह क्रियाओंका त्याग करना यह काल
प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, संसयम, कषाय और योग इनसे निवृत्त होना यह भाव प्रतिक्रमण है।

श्री आदि तीर्थंकर और महावीर स्वामीने प्रतिक्रमण के साथ युनिधर्मका उपदेश किया है। अर्थात् प्रति-
क्रमण वर्रोज करना ही चाहिये ऐसा उन्होंने उपदेश दिया है। परंतु बीचके चाबीस तीर्थंकरोंने अपराध होनेपर
प्रतिक्रमण करना चाहिये ऐसा उपदेश दिया है। इस प्रतिक्रमणके दैवसिक, राविक, ईर्ष्यापथिक सिखाचर्यों, पाथिक,
चातुर्नासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ ऐसे सात भेद हैं। श्रीआदितीर्थंकर और महावीर तीर्थंकरणीत पांचवे
धर्ममें और अन्य तीर्थंकर प्रणीत चौथे धर्ममें प्रतिक्रमण के कालभेद बताये हैं। जब अतिचार लगते हैं तब प्रतिक्र-
मण करना चाहिये अर्थात् अपने आत्मका अवलोकन करना चाहिये।

मुनिको आहारमें, ईर्ष्याधर्ममें, सर्व प्रकारके स्वाम, जागृतावस्था इत्यादि समयमें जो दोष उत्पन्न होते
हैं उनका प्रतिक्रमण करना चाहिये। आदि भगवान् और महावीरके समयमें हुए मुनिओंका छोटकर बीचके
चाबीन तीर्थंकरके समयके मुनि जब अतिचार लगते थे तबही प्रतिक्रमण करते थे। अर्थात् आहार, दुःस्वप्न,
ईर्ष्यापथ इत्यादिक विषयमें जहाँ दोष लगता था तब ही वे प्रतिक्रमण करते थे। अन्यसमयमें नहीं। आहार, ईर्ष्यापथ
अर्थात् बंदनादिकमें लिये एक स्थानमें रहते स्वामको जाना दुःस्वप्न इत्यादिकके समयमें अपनी प्रवृत्ति सति-
चार हो या निरतिचार हो दोनों समयमें भी आपन तीर्थंकरकालीन मुनि प्रतिक्रमण करते हैं। अर्थात् दोष

लगनेपर वा न लगनेपर प्रतिक्रमण करना ही चाहिये ऐसी आर्थात् तीर्थंकरोंकी आज्ञा है.

गत्यम तर्न्यरके शिष्योंकी मुद्रि दृढ थी उनका बिच एकाग्र रहता था. उनका अपने कार्य पर लक्ष्य दृढ बना रहता था इसलिए जो कार्य वे करते थे उसकी गह्रा करते थे. परन्तु आर्थात् तीर्थंकरके शिष्य मोहयुक्त, चंचलचित्त होते थे अतः उनको अपराधोंका स्मरण नहीं रहता था इसवास्ते वे सबका प्रतिक्रमण करते हैं. इस विषयमें अथ घोटका उदाहरण उपयुक्त है—

किसी राजाका घोड़ा अंधा होगया तब उसने बैद्यके पुत्रको औपच देने के लिए कहा. वैद्यपुत्रको औपचि मातुम नहीं थी. वैद्य को अन्य गाँवको चला गया था अतः उसके पुत्रने घोड़े के नेत्रपर सर्व औपधियोंका प्रयोग किया. उसने घोड़े के नेत्र अच्छे होवाये. इसी तरह साधु भी एक प्रतिक्रमण दंडकमें यदि स्थिर चित्त न होगा. इससे यदि न हो तो तीसरेमें स्थिर होगा इसलिये सर्व दंडकोंका उच्चारण करना उसके लिये योग्य है. इसमें कोई विरोध नहीं है. सर्व भी दंडक कर्मक्षय करनेमें समर्थ होते हैं.

सामैकशरितानामक नीचे स्थितिकल्पका वर्णन —

वसंतादि छहो ऋतुओंमेंसे एकैक ऋतुमें एक भासपर्यंत एकत्र मुनि निवास करते हैं. और एक मास विहार करते हैं. यह नीचा स्थितिकल्प है. एकही स्थानमें यह—चिरकाल रहनेसे उद्भवादि दोषोंका परिहार होता नहीं. वसंतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है. सुखमें लंपटपना उत्पन्न होता है. अलस्य आता है, सुखमारता की भावना उत्पन्न होती है. जिन श्रावकोंके यहां आहार पूर्वमें हुआ था वहाँही पुनरपि आहार लेना पड़ता है. ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं. इसलिये मुनि एकही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं.

पाय नामक स्थितिकल्पका वर्णन—

वर्षाकालके चार मासमें एकही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग करना यह पाय नामक दूसरा स्थितिकल्प है. वर्षाकालमें जमिन सावर और घस जीवोंसे व्याप्त होती है. ऐसे समयमें मुनि यदि विहार करेंगे तो महा अंगम होगा. जलवृष्टिमें और बंद हवा वदनेसे आत्मविषयना होगी अर्थात् ऐसे समयमें विहार करनेसे मुनि अपने आचारमें व्युत्त हो जावेगे. वर्षाकालमें मृमि जलमय होनेसे कुवा, खड्डा इत्यादिकोंमें गिर जानेकी संभावना होती है. मृद, कंटकादिक यानभि दक जानेसे विहार करने समय उनसे बाधा होनेकी संभावना होती है.

कीचड़में फल जांगे इत्यादि दोषोंमें वचनेके लिये गुनि एकमो बीस दिवस एक स्थानमें रहते हैं. यह उत्सर्ग नियम है. कारणयश इससे अधिक या कम दिवस भी एक स्थानमें ठहर सकते हैं. आपाद शुक्ल दशमीसे प्रारंभ कर क्रांतिक पूर्णिमासीके आगे भी और तसि दिनतक एक स्थानमें रह सकते हैं. अध्ययन, धृष्टीकी अधिकता, शक्तीका अभाव, वैवाच्य करना इत्यादि प्रयोजन हो तो अधिक दिन तक रह सकते हैं. यह ऊपर लिखा ही है. यदि मारी रोग, दुर्भिक्ष, ग्रामके लोकोंका अथवा देशके लोकोंका अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकोंमें जाना, गच्छना नाश होनेके निमित्त उपस्थित होना, इत्यादि कारण उपस्थित होने पर मुनि चातुर्मासमें भी अन्य स्थानको जाते हैं. नहीं जाने पर उनके रत्नत्रयका नाश होगा. इसलिये आपाद पूर्णिमा व्यतीत होनेपर प्रतिपदा वगैरह तिथिमें अन्यत्र चले जाते हैं. इसलिये बीस दिन एकसौ बीस दिनोमें कम किये जाते हैं. इस तरह कालकी हीनता है. यह सब वर्णन दसवें स्थितिकल्पका समझना चाहिये. ये दसकल्प यत्याचार के भेद हैं

एवेसु दससु णिचं समाहिदो णिच्चवज्जभीरू य ॥

खवयस्म विसुद्धं सो जधुत्तचरियं उवविधेदि ॥ ४२२ ॥

मत्तमरोहणार्हत्वं ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ॥

भासैकत्र स्थितिः पर्या स्थितिकल्पा द्योरिताः ॥ ४२४ ॥

अद्यभीरुको नित्यं दशस्वेतेषु यः स्थितः ॥

क्षपकस्य समर्थोऽसौ वक्तुं वयोमद्वयणाम् ॥ ४२५ ॥

विजयोद्या—एवेसु दससु णिचं एतेषु दशस्थितिकल्पेषु नित्यं । समाविदो समाहितः । णिच्चवज्जभीरू य मित्यं पापभीरुः । यद्यगस्स क्षपकस्य । विसुद्धं अधुत्तचरियं यद्योक्तं वयोमसौ उवविधेदि ॥ विदधाति ॥

वराया स्थितिकल्पयुक्तः क्षपकस्य किं करोतीत्याह—

मूलाया—उवविधिदि करोति ॥

अर्थ—जो आचार्य इन दश प्रकारके कल्पोंमें सदा तत्पर रहते हैं. जो हमेशा पापकायोंसे भयभीत हैं

वे क्षपकको निर्दोष और आगमोक्त आचरण प्रदान करते हैं. अर्थात् क्षपकसे निर्दोष आचरण करवाते हैं. उसके आचरणोंमें दोष दिखाकर उसको शुद्धाचरणी बनाते हैं.

निर्याणकस्य सूर्यराचारकस्ये क्षपकस्य गुणं ध्यात्वाष्ट—

पंचविधे आचारे समुज्ज्वो सव्रसमिदचेद्वाओ ॥

सो उज्जमेदि खवयं पंचविधे सुदु आयारे ॥ ४२३ ॥

उद्यतः पंचधाचारं यः कर्तुं समित्तक्रियः ॥

क्षपकः पंचधाचारे प्रैर्येते तेन सर्वदा ॥ ४२४ ॥

विजयोदया—पंचविधे भायारे समुज्ज्वो पंचमकार आचारे समुद्यतः । समिदस्यचेद्वाओ सम्यक् प्रवृत्ताः स पर्यायेष्टा यस्य स्य । सुदु उज्जमेदि सुदु उपयोगे कारयति । सयगं क्षपकं । कं पंचविधे आचारे ॥

पंचाचारोपतः क्षपकं तत्र उपमयतीति आह—

मूलाय—समिदस्यविद्वाओ सम्यक्प्रवृत्तसकलगमनाधिक्रियः ॥

निर्याणक आचार्य यदि आचारवान् हांगे तो उनसे क्षपकको क्या लाभ होगा इस प्रश्नका उत्तर—
अर्थ—जो आचार्य दर्शनाचारादि पाँच आचारोंमें तत्पर रहते हैं, अपनी सब चेष्टाओं जो समितीओंके अनुसार ही करते हैं वे क्षपकको भी पाँच आचारोंमें निर्दोषतया प्रवृत्त करते हैं.

यः आचारपात्र भवति तदाश्रयणे दीपमाह—

सेज्जोवधिंसंधारं भत्तं पाणं च चयणकंप्पगदो ॥

उक्कप्पिज्ज असुद्धं पडिचए ता असंविग्गो ॥ ४२४ ॥

अशुद्धसुपघिं शय्यां भत्तं पानं च संस्तरम् ॥

सहायानप्यसंविग्रान्निधत्ते क्पवनस्थितिः ॥ ४२७ ॥

विजयोद्या—सर्वज्ञं वसति । उवाच उपकरणं । संयत्प्रपन्नं च संस्तरं भक्षणं च । असुदं उद्गमादिदोषोपहतं । उपकरणेन उपरुचयेत् । क. चयणकरणदोषो ज्ञानाचारादिकादीपकप्रवचनमुपगतः । पण्डितरूपं वा प्रतिचारकाभ्यां योजयेत् । असंविगे असंविगान् एवमसंयमे कृते भक्षान्कर्मवचो मधिष्यति ततोऽस्माकं महती संयुक्तिरेवापरमृतेति । भवराहितान् ॥

आचारहीनाश्रयणे दोषं गाथात्रयेणाह—

मूलारा चयणकरणदोषो ज्ञानदर्शनादिषु न्ययनमुपगतः । उवाच उपकरणं । असुदं उद्गमादिदोषोपहतं । पण्डितरूपं वा प्रतिचारकाभ्यां योजयेत् । असंविगे एवमसंयमे कृते भक्षान्कर्मवचो मधिष्यति इति दीर्घसंयुक्तिभयरहितान् ॥

जो आचार्य आचारवान् नहीं है ऐसे आचार्य का आश्रय करनेसे क्षपककी हानि होती है. इसका सुलाना—

अर्थ—जो ज्ञानाचारादिक पाँच आचारोंसे धोडाभा भ्रष्ट हुआ है ऐसा आचार्य क्षपकको वसतिफा, पि० आदिक उपकरण, नृणादिकाका संस्तर, आहारके पदार्थ, पीनेके पदार्थ उद्गमादि दोष सहित देगा. अर्थात् वसति वर्गरह पदार्थ दोषरहित है वा नहीं इसका विचार वह न करेगा. अथवा क्षपककी शुश्रूषा करनेवाले मुनि मंत्रारभयने युक्त है वा नहीं इसका विचार न करेगा मर्यादादिन मुनिआँको क्षपककी शुश्रूषा करनेके कार्यमें नियुक्त करेगा. हम यदि असंयममें प्रवृत्ति करेंगे तो हमको महान् कर्मवच होगा और वह हमको दीर्घकालतक संसारमें भ्रमावेगा ऐसी भीति जिनके मनमें नहीं है उनको शुश्रूषा करनेके लिये नियुक्त करनेसे क्षपकका आत्महित होना अशक्य ही समझना चाहिये.

सहेष्टहणं पयासेज्ज गंधं महेष्टं च समणुज्जाणिज्जा ॥

अप्याउगं व कथं करिज्ज सइरं व जंणिज्ज ॥ ४२५ ॥

सहेष्टवनाथाः कुन्ते प्रकाशनां कथामयोग्यां क्षपकस्य भापते ॥

स्वैरं पुरस्तस्य करोति मंत्रणं गंधप्रसूनादिविधिं च मन्यते ॥ ४२८ ॥

पिउयोद्या—सहेष्टहणं पयासेज्ज सहेष्टहणं प्रकाशयेत् लोकस्य । गंधं मात्वं वासुजानीयात् । गंधमाल्यान्-

यनमभ्युपगच्छेत् । अण्डजं वा कहेच्छ । अण्डयोग्यां वा कथां कथयेत् । क्षपकस्याद्युपधारिणामविधादिनीं ।
मदरं वा रौरवं वा जेगज्ज जरेत् । आरामकस्याग्रत इदं पुक्तं न रेत्यविचार्यं वेदेहा ॥

मूलादा—महेद्वजं पयसेज्ज क्षपकस्य मन्वावविधिं लोकस्मृत्यो प्रकटयेत् । समणुजोपेज्ज गंधादिकं सेवमानं
अपक्रममुक्तयेत् । अपाठगं अयोग्यं । कहे कथा । मदरं वयेष्टम् ॥

अर्थ—आचाररहित आचार्य क्षपककी संछेखना लोकमें प्रगट कर देगा. अथवा लोगोंको सुगंधित पदार्थ,
और पुष्प लौनेके लिए कहेगा. क्षपकके परिणामोंको विधाटने वाली कथायें कहेगा अथवा क्षपकके आगे योग्यायो-
न्यथा पिचार न कर चाहे जो करने लगेगा. अभिप्राय यह है कि ऐसे आचार्योंको क्षपकके कस्यावकी पर्यां नहीं
रहती है.

ण करेज्ज सारणं वारणं च खवयस्स चयणकप्पगदो ॥

उदेज्ज वा महच्छे खवयस्स वि किंचणारंभं ॥ ४२६ ॥

साररत्नत्रये प्रवर्तनं सारणं, दोपेभ्यो वारणं निवर्तनमिति यावत् ॥

सारणां वारणां नास्य कुरुते रूपवनस्थितः ॥

क्षपकस्य महारंभं कंचिदकारयते गणो ॥ ४१९ ॥

विज्ञयोदया—ण करेज्ज न कुर्यात् । किं सारणं रत्नत्रये वृत्ति । वारणं च निषेधे न कुर्यात् । तेभ्यः प्रकथय-
मानस्य । चयणकस्य क्षपकस्य । कः कथणकृत्तव्यो व्यवनन्तगतः । उदेज्ज वा महच्छे भारंभे कारयेच्छा महान्तं भारंभे
पट्टकशाला, पूजा, विमानं वा । चयनस्त वि क्षपकस्यापि किंचन ॥

मूलादा—सारणं रत्नत्रये प्रवर्तनं । वारणं रत्नत्रयावच्छेदमानस्य निषेधः । उदेज्ज कारयेत् । किंचणारंभं
कमपि पट्टकशालापूजादिकारिकारिकं सावयव्यापारं ॥

अर्थ—अष्ट आचार्य क्षपक रत्नत्रयमें प्रवृत्त होगा ऐसा उपदेश नहीं करता है. तथा यदि वह रत्नत्रयसे
च्युत होने लगा तो उसमें स्थिर भी नहीं करता है. वरुण आरंभ करावेगा अर्थात् पट्टकशाला, पूजा, विमान इत्या-

दि कार्य करनेमें लोगोंको प्रयुक्त करेगा. धूपकड़े लिए भी ऐसा ही महारम्भका कार्य करेगा. इगलिंग ऐसे आचार्य के महत्त्वामने धूपकड़ा दित होने काव्य नहीं है.

आचार्यो पुन से दोसे सब्बे वि ते विवब्जेदि ॥

तम्हा आचार्यो गिज्जवओ होवि आयरिओ ॥ ४२७ ॥

आचार्यः पुनर्दोषान्वयतः सर्वान्स्वियमुंचति ॥

निर्यापकस्ततः स्वरित्वाचारस्योऽभिधीयते ॥ ४४० ॥

इति आचारी

पिजणोरया—साधारणो पुन आचार्यः पुनः स्वरितः तान्स्वयैव्यञ्जयति योगान् । तस्मात्तस्मात् । पुणेदु प्रवर्तमानो दोषेभ्योऽप्यापुनश्च । आचार्यो भावयिओ गिज्जवओ दोषेण आचारस्य पलाचार्यो निर्वोपको भवति नापरः । व्यापगतमन्वासरयम् । भाचार्यम् ॥

निर्यापकत्वे स्वरित्वाचार्यन्तं नियमयति—

मूलात् — स्पष्टम् ॥

अर्थ—आचार्यत्वं गुणको धारण करनेवाले आचार्य ऊपर लिखे हुए दोषोंका त्याग करते हैं. इसलिये गुणोंमें प्रयुक्त होनेवाले दोषोंसे रहित ऐसे आचार्य निर्यापक होने लायक जानना चाहिए. जो आचार्य जो आचार्य रोंमें प्रयुक्त हैं वे ही निर्यापक समझना चाहिए. आचार्यत्वं गुणका वर्णन समाप्त हुआ.

भाषास्वल्पव्यङ्ग्यगत्योत्तरमर्थः—

चोदिसदसणवपुब्बी महामदी सायरोब्ब गंभीरो ॥

कण्ठवद्वारधारी होदि तु आधारवं णाम ॥ ४२८ ॥

धोरोग्गिलांगण्वेशो यः कालव्यवहारयित् ॥

आचारी स महामज्जो गंभीरो मंवरस्थितः ॥ ४४१ ॥

चित्तपेदपा—जो हससखण्डपुत्री चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी, नवपूर्वी या । महामहो महामतिः । सायतोम्य मंभीरो रस्यार इव रंभीरः । साधारणं नाम कल्पवृक्षद्वारा जो वा आधारधाम् मानी । दृष्टरिणामा न्ते मनोवाक्याविकल्पाः, शुभा या पुण्याख्यमूर्तिः । शुद्धा या शुभाशुभकर्मसंस्पर्धेतयः, इति बोधयति । शुभेष्ट शुद्धेष्टु ॥ प्रवतवति धृतमनारतमुपदिशयतोऽसौ वृत्तानस्य, चारित्र्यस्य, सात्त्विक आधारस्वभात् । ध्यानमाधार स्तानाधारचान ध्यानधारधाम् ।

आधारपत्तमष्टासभिर्गोवाभिव्योपिरव्यासुसदाधारखन्तं लक्षयति—

मूलरा — रूपरूपवद्धारपारी — अवधारितप्रायश्चित्तप्रासादुगततत्त्वयोगः । आधार्यं दर्शनज्ञानचरित्रतपसा-
मुत्पत्तिस्थितिद्विरशपिद्वान्तत्वाधरोऽन ज्ञानं सद्धान् स्मृतिधारयान् । नित्यशुचोपेक्षेन वापस्तपणकारणाशुभपरिणामेभ्यो
व्यावर्त्ये क्षपकस्य पुण्याचये, शुभयोगनये, संपरनिर्जराकारणे वा शुद्धोपयोगे प्रवर्तक इत्यर्थः ।

आधारपत्य गुणका सविस्तर वर्णन—

अर्थ—जो चौदापूर्व, दसपूर्व अध्या नउ प्रयोगी जाता है, जिसमें समुद्रतुल्य मंभीरता गुण है. जो कल्प
व्यनहारका जाता है अर्थात् जो प्रायश्चित्त आत्मका जाता है और उसमें वताये हुए प्रयोगोंका जिसने अनुसरण
क्रिया है. अर्थात् अपराधी मुनिओंको जिसने अनेकवार प्रायश्चित्त देकर इस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है
ऐसे आचार्य आधारपत्य गुणके धारक माने जाते हैं. इस गुणके धारक आचार्य मनोवचन और क्षीरके अशुभ
परिणाम पापामयके कारण होते हैं. शुभ परिणामों से पुण्यकर्म आत्मामें उत्पन्न होता है और शुद्ध परिणामोंसे
शुभाशुभ कर्मोंका संवर होता है ऐसा उपदेश कर शिष्योंको शुभ और शुद्ध परिणामोंमें प्रवृत्त करते हैं. हमेंका
शुभका उपदेश करते हैं. इनका ज्ञान वर्तन, चारित्र्य और तपकी आधार होता है. इसलिये ये आधारपत्य गुणके
धारक माने जाते हैं.

यस्तु ज्ञानगग्न भवति तदुभयपदे योगलब्धाचरे—

णासेन अगीन्द्रो चउरंगं तस्य लोगसारंगं ॥
णट्टमि य चउरंगे ण उ सुलहं होइ चउरंगं ॥ ४२९ ॥

चतुरंगमगीतार्थो नाशयेल्लोकपूजितम् ॥
संस्तुतौ लप्स्यते भूयो नाशितं तच्च दुःस्वतः ॥ ४४२ ॥

पिञ्जयोद्या — पातेरन्त अर्थात् तथो नाशयेद्युद्धीतस्यार्थः । तस्स तस्य क्षयकस्य । चतुरंगं चत्वारि ज्ञानदर्शो नवारिचत्वारि अंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य ते चतुरंग । लोके यत्सारं निर्वाणं तस्याङ्गे उपकारकं । चतुरंगं नाम यदि तर्हि तथापि तच्चतुरंगं पुनरुच्यते इति शङ्कामिमां निरस्यति । णट्टमि य चतुरंगे नष्टे इह जन्मनि चतुरंगे सुकिमार्गे । ण उ मुल्लङ्गे द्वौ चतुरंग । नैव सुतेन लभ्यते तच्चतुरंगं । विनाशितचतुरंगो मिथ्यात्वपरिणतः कुपोनिमुपगतः कथमिव लभ्यते चतुरंगं इत्यभिप्रायः ॥

अज्ञानमये दोषमाह —

मूलारा — चतुरंगं चत्वारि दर्शनज्ञानचारित्र्यपातंयंगानि यस्य मोक्षमार्गस्य त्वं । लोकसारंगं लोके यत्सारं व्यवहारैर्नैवार्थिपदं निश्चयेन निर्वाणं तत्पातं साधनं । यदि नाम नष्टं चतुरंगं तथापि पुनर्लभ्यते इत्यत्राह — नो इत्यादि विनाशितचतुरंगो मिथ्यात्वपरिणतः कुपोनिमुपगतः कथमिव लभ्यते चतुरंगमित्यभिप्रायः ॥

जो आचार्य ज्ञानी नहीं है उनके आश्रयसे दीयोत्पत्ति होती है, इस विषयका विवेचन —

अर्थ — जिसको सिद्धांतब्रह्मोका ज्ञान नहीं है वह आचार्य क्षपकके चतुरंगका नाश करता है, अर्थात् यदि क्षपकने अज्ञ आचार्य का समाधिमरण के लिये आश्रय, किया तो उसके सम्पगर्हणेन, सम्पगर्हण, चार्त्ति और तपका नाश होता है, यह चतुरंग मोक्षमार्ग का हेतु है, यह चतुरंग व्यवहारनयसे सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे इंद्रादि पदका कारण है, तथा निश्चयनयने लोकत्रयमें श्रेष्ठ ऐसे मोक्षका कारण है, यह नष्ट होने पर पुनः प्राप्त होना ऐसी शंका करना व्यर्थ है, क्योंकि अत्र यह नष्ट हो जावेगा तो वह मोक्षपद कैसे मिलेगा अर्थात् सम्पगर्हणेनादि-सौका नाश होनेपर इग आत्माको मिथ्यात्व अर्थात् कुपोनिब्रह्ममें दीर्घ कालतक घुमाता है, अतः इस चतुरंगकी पुनः प्राप्ति होना अविशय कठिण है,

इत्युक्तस्य चतुरंगं कथमयुद्धीतार्थो नाशयतीत्यारोपार्थमिथ्यमसौ नाशयतीति दर्शयति —

संसारसागरमिमं य अणंतबहुतिव्चदुनवसालिमिम ॥

संसारमणो दुक्त्वेण लहदि जीवो मणुस्सत्ते ॥ ४४३ ॥

तद् चेव देसकुलजाद्वस्वमारोगमात्तुं बुद्धी ॥
 सवणं गहणं सङ्गा य संजमो दुल्लहो लोए ॥ ४३१ ॥
 एवमवि दुल्लहपंपरेण लद्धूण संजमं खवओ ॥
 ण लहिज्ज सुदी संवेगकरी अवहुस्सुयसयासे ॥ ४३२ ॥
 सम्मं सुदिमलहंतो दीहंढं सुत्तिमुवगमिचा वि ॥
 परिवडइ मरणकाले अकदाधाररस पासम्मि ॥ ४३३ ॥
 सक्का वंसी छेत्तुं तत्तो तुक्कक्खिओ पुणो दुक्खं ॥
 इय संजमस्स वि मणो विसएसुक्कवुट्ठं तुक्खं ॥ ४३४ ॥
 आहारमओ जीवो आहारेण य विराधिदो संतो ॥
 अट्टदुहटो जीवो ण रमदि णाणे चरिचे य ॥ ४३५ ॥
 सुदिपाणयेण अणुसट्ठिभोयेणेण य पुणो उवग्गहिवो ॥
 तण्हाछुहाकलंतो वि होदि ज्ञाणे अवक्खित्तो ॥ ४३६ ॥
 पढमेण व दोवेण व वाहिज्जंतस्स तस्स खवयस्स ॥
 ण कुणवि उवदेसादिं सम्याधिकरणं अगीदत्थो ॥ ४३७ ॥
 संसारसागरे घोरे दुःखनककुलकुले ॥
 दुःखतोऽप्याव्यमानेन प्राप्पते जन्म मानुपम् ॥ ४४३ ॥
 देशो जातिः कुलं रूपं कल्पता जीवितं मतिः ।
 श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा संयमो दुर्लभो भवेत् ॥ ४४४ ॥

बहुदुर्लभसंतत्या साधुलब्ध्वापि संयमम् ॥
 लभतं नाज्ञसन्धिष्वे देशानां धृतिचर्चनीम् ॥ ४४५ ॥
 प्रपात्त्यापि चिरं दृष्टमश्रुताधारसन्निधौ ॥
 अलब्धदेशानो मृत्युकाले प्रमंशते ततः ॥ ४४६ ॥
 क्षोषेभ्यो वार्यते दुःखं संन्यस्तः कियते सुखम् ॥
 छिद्यते सुखतो वंशः कृष्यते दुःस्वतस्ततः ॥ ४४७ ॥
 लयमन्नमयो जीवस्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा ॥
 आर्त्तैरौघ्राकुलीभूतश्चतुरंगे न वर्तते ॥ ४४८ ॥
 शिशोःशुत्तिपानाभ्यां साधुराप्यायितः पुनः ॥
 क्षुधातृष्णाभिभूतोऽपि शुद्धस्थाने प्रवर्तते ॥ ४४९ ॥
 क्षुधया तृष्णया साधोर्वाचितस्य वदति न ॥
 उपदेशमशास्त्रज्ञः समाधिजननक्षमम् ॥ ४५० ॥

पिजयोव्या--तस्स पद्मेण भुषा । दोषेण य पिपासया वा । यच्चित्तैस्तस्स वाप्यमानस्य तस्य । सवयस्स क्षपस्स । पुनरपि उपवेशादि न करोम्युपदेशादि । समाधिकरण समाधि कियते चेत्तोपदेशादिना त । अग्नीद्वयो अगृहीतार्थः ॥

यत्तदेव प्रपद्येत अभिषक्ते--

मृत्पारा--संसारसागरदिभ संसारो ब्रह्म्यादिर्ष्वप्रकारधीरुत्तम । सागर इव दुस्सारदुःतरकरत्नात् । तत्र नारका-
 दित्तरीराणा महणमोक्षणाभ्यामसकृद्गतिर्ब्रह्मसंसारः । चतुर्दशीतिलक्षसंभक्तकादिनरकादिपृथीते कालेऽन्ता जन्ममरण-
 योर्द्विनिर्भविष्यति साता भन्यानामन्ता चाभन्याना क्षेत्रसंसारः । उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिद्वत्सर्पिण्याश्च प्रथम
 द्वितीयादिसमेगेषु पर्वीयेण लन्ममरणाय्या वृत्तिः कालसंसारः । दक्षवर्षसहस्रजन्मन्यायुःप्रयुतिसमयोत्तरवृद्धिक्रमसना-
 पितोत्कृष्टानु रिचक्षिफर्षर्षवृद्धिर्भवंसंसारः । कषायान्यवसायस्थानविवर्तवृत्तिर्भावसंसारः । बहुशारीरमानसागन्तु

मूलाश्रम—आहारमज्जो अज्जेन निर्वृत्त इव प्राणानां तन्यूलत्वात् । आहारेण भोजनत्यागेन । किलाभिधो ग्लानि गतः । विराहिदो इति पाठे भोजनेन विभोजित इत्यर्थः । अष्टदुहत्वो आर्तबुधः परातुरः । अष्टदुहदो इति पाठे आर्तद्विकेन आर्तप्रेदाभ्यां कृतः पीडितः ॥ उक्तं च—

अवमज्जमयो जीवस्त्यान्यमानोऽपसा कदा ॥

आर्तप्रेदाकुलीभूतश्चतुरंगे प्रवर्तते ॥

पशुशुब्रह्मरिणा पुनः श्रुतोपदेशशिक्षाविशेषाभ्यां निराकृतश्चतुर्मुखाकामः सदाशानैकवानो भवतीत्युपदिशति—

मूलाश्रम—उदग्गाहिदो कृजोपकारः । अवकिस्वत्तो अन्यमाश्रितः ॥

कथमगीतायेंत गुरुणा क्षुदादिना शाप्यमानो न चिकित्सेवे इति तदाश्रमणं प्रत्यागच्छे—

मूलाश्रम—यद्वेगेन तृष्णापरीषहेण । दोष्येण क्षुत्परीषहेण । तन्वाधिनजंतयस्तस्वत्कष्टं पीड्यमानस्य तववेसादि श्रुतदुहत्वनिरूपणप्रतधारणधृत्यादिप्रतीकारं । समापिकरणं धर्म्यशुक्लध्यानसाधनम् ॥

क्षापकके चतुरंगका अज्ञ आचार्यं कैसा नाश करता है ? इस प्रश्नका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—
संसारसागरमि य इत्त गाथासे ४२७ नंबरकी पद्यमेण य दोवेण य इत्त नायातकका अर्थ—

।हिंदी अर्थ—यह संसारसमुद्र अनंत और तीव्र दुःखरूपी पानीसे लयालब भरता है, ऐसे संसारसमुद्र में त्रमण करनेवाले इस प्राणीको मनुष्यजन्म कष्टसे मिलता है,

मनुष्य जन्म मिलनेपर भी उसमें देख, कुल, जाति, रूप, आरोग्य, दीर्घायुष्य, सुद्धि, शास्त्रश्रवण, ग्रहण श्रद्धा, और संयम इनकी प्राप्ति होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है,

उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुओंकी प्राप्ति होकर संयमकी भी प्राप्ति हो गई तो भी अल्पज्ञ आचार्यके समागमसे संसारभय उत्पन्न करनेवाला शास्त्रश्रवण प्राप्त नहीं होता है,

योग्य कार्यमें प्रवृत्ति करनेवाली स्मृति प्राप्त होनेपर भी और चिरकालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन करनेपर भी अल्पज्ञ आचार्यके आश्रयसे मरणकालमें क्षपक संयम छोड़ देता है, संयमसे भ्रष्ट होता है, संयमकी आराधना नहीं करता है,

नामके ममृदायमे एक छोटे चांसको छेद करके निखलना सुलभ है परंतु उससे उमको उखाटना जैसे बहुत रुठिन है वैसा इस मनको पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे निःशुल्क संयममें स्थापन करना बहुत कठिन है. राग-द्वेषोंका नाश करनेकी यद्यपि प्रतिज्ञा कीथी तथापि गुरीयछेलना जिसने की है, जो क्षुधादि परीयहोसे पीडित है ऐसा अल्प शक्तीका धारक क्षपक श्रुतजानमें एकाग्रता न होनेसे अत्र आचार्यके समीप रागद्वेषोंपर विजय नहीं पा सकता है. और चारित्र्यापक नहीं होता है.

यह जीव आक्षरमय है, मनो अन्वये ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि अब ही प्राणरक्षणका मूल कारण है. अन्नके त्यागमें यह आत्मा म्लान होता है, आर्तध्यानी होकर दुःखसे पीडित होता है, तब ज्ञान और चारित्र्यमें रममाण नहीं होता है.

श्रुतोपदेश और शिक्षाविलक्षण भी भोजनसे जिसने क्षुधा और प्यासका परिश्रम नष्ट किया है ऐसा यह क्षपक प्यानमें एकाग्र होता है अर्थात् बहुश्रुत आचार्यका आश्रय करनेसे क्षपकको श्रुतोपदेश और विशिष्ट उपदेश मिलनेसे क्षुधावृणाना परिश्रम नष्ट होता है और आत्मध्यानमें बह स्थिर होता है परंतु अल्पज्ञके आश्रयसे वह क्षुधादि परिपक्वोंका दुःख नहीं सहन कर सकेसे आर्तध्यानी बनता है.

अगीनाथ आचार्य क्षुधा और तपसे जन क्षपक पीडित होता है तब उसको उपदेशादिक नहीं करता है. अतः ऐसे आचार्यके आश्रयसे क्षपकको समाधि मरणका लाभ होता नहीं.

सो तेण विडम्बन्तो पपं भावस्स भेदमप्पसुदो ॥

कटुणं कोलुणियं वा जायणक्किविणत्तणं कुणइ ॥ ४१८ ॥

ताभ्यां प्रपीडितो घातं मित्रभावस्तुश्रुतः

रोदनं याचनं दैन्यं करुणं विदधाति सः ॥ ४५१ ॥

विजयोद्या—तो तेण क्षणकस्तेन प्रयमेन क्षीयेन वा । विडम्बन्तो विविधं दत्तमान् । पपं मानस्य भेदमप्पसुदो प्राप्य शुभपरिणामस्य भेदं मत्पश्यत । कलुज कोलुणियं च कुबन्ति यत्ता गुरुयत्ता रुदन्ता दीनता च भवन्ति तथा परीति । जायण च कुणइ याचा या करोति । किंविणत्तण कुणइ दीनता वा करोति ॥

अंकुततृणनादिप्रतिकारोऽल्पदासक. क्षमको विपरिणतिं प्राप्य गर्हणीयक्रियाः करोतीति गाथात्रयेणाह —
 भूधारा—तेजः सृज्यादिना । विबुद्धो । विविधसुषुप्तद्वयमाणः । पन्था प्राप्य । मायसस मेवं शुभपरिणामस्य
 विनाशं । कलुषं रोदनं । कोलुषियं । परकरुणोत्पादने किमिति दैन्यम् । तथा—

अर्थ—बहू श्रपक भूतसे अथवा प्याससे पीडित होकर शुभ परिणामोंको नष्ट कर देता है. वह अल्पशु
 श्रपक सुननेवालों को दया उत्पन्न करनेवाला रुदन करता है. शचना करने लगता है. और दीनता व्यक्त करता है.

उक्तेज्ज व सहसा द्या पिपुज्ज अस्तमाहिपाणयं चावि ॥

गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मरेज्ज असमाधिमरणेण ॥ ४३९ ॥

पूतुर्पादसमाधानपानं विधत्ति पीडितः

मिथ्यारवं क्षपको गच्छेद्विपयेतासमाधिना ॥ ४४२ ॥

विजयोक्ष्या—उक्तेज्ज व सहसा पूतुर्पादोक्ता सहसा । पिपुज्ज पियेक्षा । असमाधिपाणयं चावि असमाधि-
 पानरुमुच्यते यत्स्वयं स्थित्या सहसाभ्यां काले प्रायोग्यपानं ततोऽन्यदस्थिरवा अकाले च पत्यानं तदसमाधिपानक-
 मुच्यते । गच्छेज्ज व मिच्छत्तं मिथ्यात्वं वा गच्छेत् । कष्टोऽयं धर्मः किमनेन धम्मविधायिनिति विद्वारेण वेतसा ।
 मरेज्ज असमाधिमरणेण असमाधिना कापि मृतिमुपेयात् ॥

सूधारा—उक्तेज्ज पूतुर्पात् । असमाधिपाणयं यत्स्वयं स्थित्या सहसाभ्यां कालं प्रायोग्यपानं तत्समाधिपा-
 नकं ततोऽन्यदस्थित्याऽकाले च पानं सूत्रनिर्दिष्टमित्यर्थः । गच्छेज्ज कष्टोऽयं धर्मः किमनेन धम्मविधायिनिति विद्वारेण
 वेतसा मिथ्यात्वं प्रतिपद्येत । तथा—

अर्थ—बहू क्षपक क्षुधादिकोंकी वेदनासे जोरसे चिह्नाने लगेगा. स्वयं खदे होकर अपने दो हाथोंमें योग्य
 कालमें पानयोग्य पदार्थ पीना उसको समाधि पान कहते हैं. और बैठकर अपने हाथोंसे अकालमें पान करना
 उसको असमाधिपान कहते हैं. अर्थात् क्षुधा तथा पीडित होकर क्षपक सूत्रनिर्दिष्ट आहार लेगा ऐसा यहां अभिप्राय
 समझना चाहिये. अथवा संगमते अष्ट होकर मिथ्यात्वावस्थाको प्राप्त होगा. वह सखलना धर्म व्यथवा मुनिधर्म बड़ा

कट देनवाला है. हमसे आत्माको केवल भ्रम ही होते हैं. ऐसे धर्मसे क्या प्रयोजन है ऐसी यह क्षपक निंदा करते करते मरण करेगा और असमाधिसे मरणको मास होगा.

संसारपदोंसं वा निवमच्छिज्जंतओ गिगच्छेज्जा ॥

कुब्बते उद्वाहो गिच्छुभंतं विरिंते ॥ ४४० ॥

हित्वा निर्भस्सयमानोऽसौ संस्तरं गन्तुमिच्छति ॥

पूरुक्कुल्ययशस्तन्न त्याज्यमाने च जायते ॥ ४४३ ॥

विजयोक्त्वा--संसारपदोंसं वा कुण्ठि संस्तरं या दुप्यति । निवमच्छिज्जंतो गिगच्छेय सोत्तं पूत्कारं वा कुब्बंतं पदि निर्भस्संयमि निर्यायात् । कुब्बंतं पूरुक्कुल्ययति सति क्षपके । उद्वाहो धयशो धर्मस्य भवति । गिच्छुभंतं वद्विहिः सरणे । विरिंते वा पूथदरसे वा । उद्वाहो होदि धर्मदूषणो भवति । एवमपृथीतार्थः प्रतिकारानभिधो नाशयसि क्षपकम् ॥

मूलांशः--धंशारपदोंसं आचार्यग्रहणं करोति कुणदीस्यपादात् । गिताच्छेज्ज निःसरेद्वदिः कुब्बंतो उद्वाहो पूरुक्कुल्यति सति क्षपके अवशोऽवर्मद्वय भवति । गिच्छुभ्रमे वद्विहिःमरणे । विरिंते पृथक्करणे । क्षपकस्य उद्वाहो भवतीति ॥ संवैधः । निवमच्छिज्जंतो गिगच्छेज्ज कुब्बंतो उद्वादिमिति पाठे निर्भस्सयमानको निर्गच्छत्पूरुक्कुल्यतीतिमिति व्याख्येयम् गिदमच्छुभो ग्रहेदयमानो विरिंते हन्ति परं त्वं येति च व्याख्येयम् ।

अर्थ--यह क्षपक संस्तरकी निंदा करेगा अथवा आचार्यकी निंदा करेगा. यदि यह क्षपक रोनेपर जोरसे चिच्छानेपर यदि उसकी निंदा करी तो यह संघसे भ्रम जावेगा. जिनमे धर्ममें अययग होनेकी संभावना रहती है. ऐसे क्षपकको यदि संघसे पृथक् किया जावेगा तो धर्ममें दूषण लगता है. इतने विवेचनसे अत्यन्त आचार्य क्षपक का नाश कर देता है यह सिद्ध होता है.

पृथीतार्थः पुनः किं करोतीति चेदाह--

गीदत्थो पुण खवयस्स कुणदि विधिणा समाधिकरणाणि ॥

कण्णाहुदीहि उक्खेद्द्वो य पज्जलइ ज्ञाणग्गी ॥ ४४१ ॥

समाधानविधिं तस्य विधत्ते शारूपारगः ॥
दीप्यते दीपितः कर्णाद्भुतिभिर्व्यानपावकः ॥ ४५४ ॥

विजयोदया—युहीतार्यं पुन । स्वयमस्त । क्षपकस्य कुण्डि करोति । विधिष्वन्तरेण । समाधि करणानि समाधानक्रिया । कण्ठाद्भुतिं रुर्भोद्भुतिमि । उज्ज्वलदेवो उपगृहीत । पञ्चलं प्रज्वलति । द्वाणगि ध्यानगतिः ॥

नीतार्यः पुनः क्षपक सान्त्वयितुं यतते इत्याह—

मूढारः—समाधिरुणाणि समाधत्तस्तु साधनानि यथासं चाहान्याभ्यात्मिकानि च । कण्ठाद्भुतिं कर्णजप रूपपद्रव्यप्रक्षेपः । उज्ज्वलपन्थो उपगृह्यमाणो दीप्यमान ।

स्वार्थेण आचार्यं वया करते हैं इस प्रशंसा उत्तर—

अर्थ—सूत्रांपेक्ष आचार्य आगमानुसार क्षपकसी समाधिभगकी क्रिया करते हैं और उसका ध्यानरूपी अभि मधुर उपदेशरूपी आहुतिअंशें वृद्धिगत करते हैं. अर्थात् क्षपकको शुधादि वेदना सब पीडित करती है तब मधुर हितकर उपदेश देकर आचार्य उसको आर्तध्यान न होने पावे ऐसा प्रबल करके धर्मध्यानमें लगाने हैं.

स्वयसिच्छासंपादणेण देहपण्डिकम्मकरणेण ॥

अण्णेहिं वा उवाएहिं सो समाहिं कुणइ तस्स ॥ ४४२ ॥

क्षपकेच्छाविधानेन शरीरभक्तिकर्मणा ॥

समाधिं कुरुते सम्यगुपायैरपरंरपि ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—स्वयसिच्छासंपादणेण समाधिं कुणइ क्षपकसेच्छासंपादेनेन समाधिं करोति । यदिच्छ-
त्यसौ तद्वत्त्वा समाधिं रत्नत्रये समग्रभानं तस्य करोति इति यावत् । देहपण्डिकम्मकरणेण शरीराध्यात्मिकारक्रियया ।
अण्णेहिं वा उवाएहिं अन्यैर्वा सामयजनोपकरणवर्नचिरतनक्षपकोपाख्यानाविभिरुपाये. समाधिं करोति ॥

नीतार्यो यथासमाधिं विधत्ते तथा दर्शयति—

मूढारः—इच्छा संपादणेण यच्चित्तसौ योग्यं तद्वत्त्वा रत्नत्रयसमाहितं करोतीत्यर्थ. । देहपण्डिकम्मकरणेण
शरीरवाधाप्रतीकारक्रियया ॥ तथा—

अर्थ—युवाग आचार्य श्रमशुद्धी जो चाह है उसकी पूर्णता कर उसको रत्नत्रयमें स्थिर करते हैं. उसके देहकी बाधाओंको मिटा देते हैं. गुरुभाषण, उपकरणदान और प्राचीन सहेलनाधारकोंकी कथा कहना इत्यादि उपायोंमें उनकी धर्मध्यानमें एकाग्रता करते हैं.

गिउजुहं वि य पासिय मा भीही देइ होइ आसासो ॥

संधेइ समाधिं वि य वारेइ असंखुडगिरं च ॥ ४४३ ॥

वैरपाबुल्यकरैरलकं मा भैवीरिनि आपत्ते ॥

निपिथ्य संसुतिं तस्य समाधानं करोति सः ॥ ४४६ ॥

विजयदेवता—गिउजुहं वि य पासिय निर्वाणैर्धर्मिभिः परित्यक्तं दृष्ट्वा किं भवता परीपहसद्देन शलचि-
‘वनासाकं ? त्यक्तोऽप्यस्माभिरिति । माभीहि देव मा भैवीरिः कथं वदति । होवि भवति । संघे च आसासो आ-
भ्यासः । संधेइ समाधिं वि य रत्नत्रयैकगम्यमायिउअं । वारेइ असंखुडगिरं यं यावत्पुनर्वसुजानं यजने, नैयं शक्यो
मवाधिरयं महात्मा । को हि नामायमिव शरीरं माहारं दुस्त्यजे त्यक्तुं शक्नोति मोक्षादयत् ॥

मूलारा—गिउजुहं निर्वाणैर्धर्मिभिः परित्यक्तं । मासिय दृष्ट्वा । मा भीही मा भैवीरित्वयं वदति स्मरि । हो-
दि वासासो भवति वासासः । कथय तथा मा भीतिदामात् । संघेवि विच्छिन्नं पुनः संघते । असंखुडगिरं असंयुतानां
पथनं वारयति । नैयं यत्कथ्यो भयङ्कित्वं महात्मा । को हि नामायमिव शरीरमाहारं यं दुस्त्यजे त्यक्तुं शक्नुयाम् । इति
मोक्षादयत् ॥ तथा—

अर्थ—शुश्रूषा करनेवालोंने यद्यपि क्षपकका त्याग किया हो तो भी उसको देख करके हे क्षपक ! शुभ
परिपह सहन नहीं करते हो और तुम्हारा मन चहुत चंचल है, हमारा तुमसे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा कहकर शुश्रूषा
करने वालोंने तुम्हारा त्याग किया है. तो भी तुमको दरना नहीं चाहिये ऐसा बोलकर आचार्य उसको अभय करते
हैं. उसको आन्यासन देते हैं, उसको रत्नत्रयमें स्थिर करते हैं. जो लोक कहु बोलकर क्षपकका उत्साह भंग करते
हैं उनका आचार्य निवारण करने हैं. अर्थात् यह क्षपक महापुरुष है इसके प्रति ऐसा कहु भाषण करना योग्य नहीं

है, शरीर और आहार ये दो पदार्थ दुस्त्याज्य हैं परंतु इसने इनके ऊपरका मोह छोड़ा है, ऐसा भाषण कर के क्षपकको स्वकार्थमें उत्साहित करते हैं.

जाणदि फासुयद्वयं उवकण्ठे तु तहा उदिण्णाणं ॥

जाणइ पडिकारं वादपिचसिंभाण गीदत्थो ॥ ४४४ ॥

जानासि प्रासुकं द्रव्यं गीतार्थो व्याधिनाशनम् ॥

खेप्पमारुतपित्तानां विकृतानां च निग्रहम् ॥ ४५७ ॥

विजयोदया--जाणदि य जानाति च । फासुयद्वयं योष्यं द्रव्यं । उवकण्ठे तु विधातुं । तहा उदिण्णाणं तयोदीर्णानां विनाशने समर्थं । जाणदि पडिकारं जानाति प्रतिकारं । वादपिचसिंभाणं वातपित्तस्लेष्मणां । गीदत्थो गृहीतार्थः ॥

गूळारा--उदिण्णाणं कुषितानां यावदीनां वक्षुत्वात् । मुददीनां वा ॥

अर्थ--गूळार्थज्ञ आचार्य प्रासुक पदार्थ कोनसे रहते हैं यह जानकर क्षपकको देते हैं, वात पित्तादिक क्षुब्ध होने पर अथवा शुभादिककी वेदना प्रगट होनेपर उनका नाश करनेका उपाय वे जानते हैं.

अहव सुदिपाणयं से तहेव अणुसीहिंभोयणं देइ ॥

तण्हाल्लुहाकिलितो वि हेदि ज्ञाणे अवकिखत्तो ॥ ४४५ ॥

श्रुतपानं घृतस्तस्मै दत्ते विशुणभोजनम् ॥

छुत्तुण्णाकुलचित्तोऽपि ततो ध्याने प्रवर्तते ॥ ४५८ ॥

शुणाः स्थितस्येति बहुप्रकारा गीतार्थमूले क्षपकस्य सन्ति ॥ संपद्यते काचन नो विपत्तिः संक्षेपजालं न च किंचनापि ॥ ४५९ ॥

इति आधारी ॥

विजयोदया—अहय सुदिपाण्यं अथवा सुविधानं । से देदि तस्मै ददाति । मनुसिद्धिभोग्यं देदि अमुशास नभोजनं वा तेन पानेन भोजनेन च । तच्छास्त्रादिकिञ्चितो वि क्षुधा क्षुधा वा वाच्यमानोऽपि । ज्ञाने अवगच्छतो होदि ध्याने अवगच्छसिचित्तो भवति ।

मुढारा—से तस्मै । चिच्छित्तो पील्यमानः । अवविक्षित्तो अव्याक्षितः ॥

अर्थ—अथवा आचार्य क्षुपकको उस समय शास्त्रोपदेशरूपी वंश पदार्थ और शिक्षावचनरूपी आहार देकर उसकी भूल और प्यास शांत करते हैं, भूल और प्यास से पीड़ित होकर भी वह क्षपक उपयुक्त आहार से और पानी से संतुष्ट होकर आत्मध्यानमें एकाग्रचित्त होजाता है.

दोषांतरमाचष्टे—अष्टादीतार्यसफाश यस्ततः क्षपकस्य -

संसारसागरमि य णंते बहुतिब्बदुक्खसलिलमि ॥

संसारमाणो जीवो तुक्खेण लहइ मणुरसत्तं । ४४६

विजयोदया संसारसागरमि य संसारः सागर इय तस्मिन्सागरसागरे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेषु परिवर्तमानः संसारः । तत्र द्रव्यसंसारो नाम शरीरग्रहणमैश्वर्याभ्यासुचित्संस्तुत् । तथा—प्रथमायां पृथिव्यां सप्तधर्मेभ्य इत्यो हस्ता पदंयुलाधिकाः ममानं नारकाणां शरीरस्य । अधोऽधस्तत्पद्विगुणंयुयता वायव्यंयक्षु-शतानि । एवंपिक्खेषु शरीरेषु एकैकं शरीरमंतवन्तारं श्रुतीतमतीते काले भव्यानां तु भाविनि काले भाव्यमंतवन्तारग्रहणं ॥ अभव्यानां तु भविष्यति कालेऽव्यन्तानि तथाविधानि शरीराणि । यय द्रव्यसंसारः स्थूलतः ॥

क्षेपसंसार उच्यते—स्वीमंतकावीनि अमतिष्टांतानि बहुरशीतिनारकसहस्राणि । तदैकैकसिन् नरके अनंता जन्ममरणचोर्ध्वस्तिरतीते काले । भविष्यति तु भाल्या मम्याग्रति । अभव्यानां तु भविष्यत्यव्यन्तता ।

कालसंसार उच्यते—उत्सर्पिण्याः कस्याश्चिदग्रयमसमये प्रथमनरके उत्पद्यो, मृत्याव्यनोत्पद्यः पुनः कदाचि उत्पत्सर्पिण्या भ्रूतीयादिसमये उत्पन्न एवं भ्रूतीयादिसमयेयु । एवं उत्सर्पिणी समाप्तिं नीता । तथा अवसर्पिण्यां अपि । एवमितरेष्वपि नरकेषु । एवमुत्सर्पिण्यावत्सर्पिणीकालयोरनंतचुचिः । यवसंसार उच्यते -

प्रथमायां पृथिव्यां दशवर्षसहस्रावुर्जातः पुनः समयेनैकेन अधिकानि दशवर्षसहस्राणि एवं द्विसमयाष्टधिक क्रमेण सागरोपमपर्यंतग्राहुः समाप्तिं नीतम् । द्वितीयायां समयाधिकं सागरोपममादि कृत्वा त्रितीयादिसमयाधिकक्रमेण

यावत्सागरत्रयसमाप्तिः । तृतीययां समाध्याधिकं त्रिसागरोपमादिकं कृत्वा द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सागरोपमस्त-
कपरिसमाप्तिः । चतुर्थ्यां समयाधिकतत्सागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्दशसागरोपमपरिसमाप्तिः । पञ्च-
पंचम्यां समयाधिकदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावत्सप्तदशसागरोपमपरिसमाप्तिः । सप्तम्यां
समयाधिकसप्तदशसागरोपमादारभ्य द्वितीयादिसमयाधिकक्रमेण यावद्द्विंशतिसागरोपमपरिसमाप्तिः । सप्तम्यां
समयाधिकद्विंशतिसागरोपमादारभ्य यावद्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिसमाप्तिः । एवमेतेष्वधुर्विकल्पेषु परावृत्तिः भव-
ति सागर उच्यते ।

भाष्यसंसारस्तु सर्वजनसुखाधिगम्य इति नेह प्रतन्यते । एवंभूते संसारसागरे जनंते । बहुतिष्ठन्तु फलस-
ल्लिखिमि शारीरं, आर्गन्तुः, मानसं, व्याभाविकामिति विकल्पेन यद्वा नि तीयाणि दुःखाणि सल्लिखानि यस्मिन् तस्मिन् ।
संसारमाप्नोति परिवर्तमानः । जीवो दुष्कलेण कष्टेन । लभ्यते लभते । किं मनुस्सत्त्वं मनुष्यात् । मनुष्यक्षेत्रस्यापत्यात् सर्व-
ज्मसति तिरश्चासुखसेर्मज्जुतानिर्वर्तकानां कर्मणां कारणमूला ये परिणामस्तेषां दुर्लभत्वाच्च । के ते परिणामा इत्यबोधयते-
सर्वं एव हि जीवरिणामा निष्यत्वात्संयमकषयात्प्राप्तिप्रकारा भवन्ति । तानां मध्यमो
मेव इति । कुतः कर्मनिर्मिताना हि मिथ्यात्वादयः कर्मणि च तीव्रमध्यममंदशुभशविशिष्टानि ।
तेन कारणमेवतः कार्याणां परिणामानां विनिवृत्ता । तत्र ये हिंसादयः परिणामा मत्पमास्ते मज्जु-
गतिनिर्वर्तकाः पालिका राज्या, शरणा, गोमूत्रिकया, कर्दमरागेण च समानाः यथास्तंभयेन क्रोधमनमायालोभाः परिणामाः ।
जीवपातं कृत्वा हा दुष्टं कृतं, यथा दुष्टं मरणं वास्माकं अभियं तथा सर्वजीवानां । अहिंसा शोभना दयं तु असमर्थो
हिंसादिकं परित्यज्येति च परिणामः । मृग परदोषमुत्कं, परगुणानामस्तद्वत्त्वं दत्तं वा सत्त्वनाच्चाट । साधूनाम-
दोष्यशब्दे दुर्व्यापारे च मनुजानां का नाम साधुतास्माकमिति परिणामः । तथा शस्त्रप्रदारादप्यनर्थः परद्रव्यापहरणं,
द्रव्यादिनाशो हि सकलकुटुंबविनाशो । नेतरत् तस्मादुष्टं कृतं परधनहरणमिति परिणामः । एतद्वारादिलेचनमस्माभिः कृतं
सर्वतीव्राशोभनं । यथास्मदाराणां पैर्पक्षेण तु समाप्तसाक्षिकं तद्वत्सेयमिति परिणामः । यथा गंगादिमहागदीनां जनश-
स्तप्रवेशोऽपि न दुस्तिः सागरस्यैव द्रवियेनापि जीवस्य संतोषो नास्तीति परिणामः । परमार्थे परिणामानां सुलभता
अनुभवासिद्धेव । इत्थं दुर्लभमनुजन्तं साधुवदेनं परमपित्रं वचः । धर्मरीक्षमाणं बले तम इव, चंडकोपे दयेव, कुण्ठे सत्यव-
चनमिव । मानिनि परगुणस्तयनमिव, चामलोचनायामाज्ञाविव, खलेषूपकारादिव, आमातासमेतेषु वस्तुतत्वाद्ययोश्च इव ।
तद्वच्चैव मनुजत्वमिव । देसकुलरूपमारोगमाद्यं सुखी देशः, कुलं, रूपं, आरोग्यं, जायुर्बुद्धिश्च । तत्त्वं ग्राह्यं सद्गु य स्तं-
जमो धयर्षणं, ग्रहणं श्रद्धा संयमश्चोत्थंते दुःखरा, दुर्लभा लोके । तत्र देशदुर्लभतोच्यते । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजा अन्तर्द्वा-
पजाः सम्भूतैष्ठमाः इति चतु प्रकारा मनुजाः । पंचयत्ताः, पंचैरास्ताः, पंच विदेहा इति पंचदशान्वर्धभूमयः । पंच हैमवत-
थर्षी, पंच हरिवर्षाः, पंच देवकुर्वः, पंच उत्तरकुर्वः, पंच रथकाः, पंच हैरण्यवतवर्गः त्रिंशद्भोगभूमयः । लयणका-
लोद्भिदसमुद्रयोरन्तरर्द्धापाः । चाक्रिदकंधाश्वारप्रखवौच्चारभूमयः शुद्धासिद्धानकलेपकणंदशमलानि चागुलासंध्यातमाग-

मानशरीराणां सम्मुखिच्छमानां जन्मस्थानानि । तत्र भोगभूमिमतच्छेपं ॥ परिहृत्य कर्मभूमित्वात्तिदुर्लभा । कर्मभूमिषु च यद्वैरिषिद्वारकवारलीरुदिदेशपरिहारेण अंगवर्गमगमवादिदेशेषु वरत्तयिः । छन्दोऽपि देशे स्वादाख्यदिकुलपरिहारेण तपो योग्ये कुले जातौ । जातिगोचरंशः । सुकुले कथं दुर्लेभं इति चेद्वोच्यते । जाति, कुले, रूपं, यशस्यं, धानं, तपो, वलं वा प्राप्य अगर्हितत्वं । अन्येऽप्येतैर्गुणैरपि रूपः स्वयुद्धयमननं, परानवसाकरणं, गुणाधिक्येन नीचेवृत्तिः । परेण पृष्टस्यापि अन्यदेशान्तरं, क्षामगुणस्यास्तपनं, इत्येतेः परिणामेः उच्यते । कर्म भाषावदे । तेन कुलेषु पूज्येषु जायते । जंतुरस्य पुनर्न तथा प्रवर्तते अउमतिः । किंचित्तरिषीतेषु परिणामेषु कर्तमानो नीचैर्गोचमेव चानति असंशुतेन पृष्टं कुले दुर्लभं । उक्तं च—

जन्मा मत्तो यः कुलक्षरि रूपादैश्वर्याद्वा ज्ञानतो वा बलाद्वा ॥
प्राध्याप्यमा यस्तपो वा परेषु निदायुकः स्तौति बाल्याममेव ॥ १ ॥
अन्यावकासादरातिष्ठमाणां कर्तो मानं योऽविमानं विभर्ति ॥
नीचैर्गोचं नाम कर्मैव वास्याद्वन्नामुग्रं निर्दितं जन्मवासे ॥ २ ॥
यस्तु प्राध्यायुस्तमत्वं कुलपरिहृत्या मन्थमानो निशिष्ठान् ॥
अन्यान्कांश्चिन्नायजान्नाति धीराभीचैवृत्त्या युज्यते यपिकेषु ॥ ३ ॥
पृष्टोऽप्यन्यैर्नायदोवान्धवीति नारयानं वा स्तौति निर्मुक्तमानः ॥
उचैर्गोचं नाम कर्मैव धीमान् यज्जतीष्टं जन्मवासे प्रजानाम् ॥ ४ ॥

इति ॥ नीरोगतापि दुर्लेभः । असंशुतसद्वैद्यकर्मबंधनात् । वंधाच्छेदात्ताडनाभ्यासराणादादाद्रीधास्वासेच्छेपमेव सम्भति । तथा धान्यधापि—

अन्येषां यो दुःखाम्बुऽयुक्तेषां त्यक्त्या तीर्थं तीव्रसंक्षेपयुकः ॥
वंधाच्छेदेस्ताडनैर्मारणेन दाहं रोधैक्यमपि नित्यं करोति ॥
सौख्यं कांक्षन्नात्मनो दुष्टयिज्ञो नीचो नीचं कर्म कुर्वन्सर्व ॥
पक्षात्तापं तापिना यः प्रयाति यन्मात्रेणोऽयातयेयं स्वदैवम् ॥

रोगाभिभावाद्युद्धिवेष्टः कथमेव हितोद्योगं कुर्यात् ॥

तथा चाभाणि—

प्राप्तोऽप्युपासादिह जीवतोऽपि भद्रामयं रोगमहत्सनिव्यः ॥
यथाशानिः क्षान्तिपतत्यकुटो रोगस्तथागत्य निवर्तते येह ॥ १ ॥
बलाद्युपी रूपयुषाञ्च तावदायव रोगः स्मर्येति येह ॥

फलस्यै लघस्य द्वि जगु तन्तोस्तावच्च पातः श्वस्तनो न यावत् ॥
तस्मिन्मयेदं परिवाधमाने श्वेयः प्रकर्तुं न सुलेन शक्यम् ॥
युद्धे समंताश्च द्वि दृष्टमाने शक्कः प्रकर्तुं पुरुषोत्र किंचित् ॥

सद्यः परम्पराणि यातोद्यतस्तदीयाधियतमजीधितविनाशान् त्वं प्रत्येकाल्पयसुरेव भवति । आयुषश्छेदने बहूनि निमित्तानि । जलं, ज्वलनं; मास्तः, सर्पाः, वृक्षिकाः, रोगा उच्छ्वत्सानिश्वासनिरोधः, आहारालभः, वेदनेत्येवमादीनि । ततो धीर्यमायुर्न सुखमं मनुजस्ये । सामान्यवचनोऽप्यायुःशब्दः दीर्घं मनुजानुपि वर्तमानो गृहीतोऽन्यथायुर्मोत्रस्य संसारिणः सुखप्रस्तात् । लघ्वेऽपि देशादिषु युद्धिर्दुर्लभा । परलोकाश्चैवेषणपरा युद्धिरन्युद्दिश्वेनोच्यते न ज्ञानमात्रवाची । तच्च सुखमं ज्ञानावरणेन तव रुद्रोपवीर्यस्य जलधरपरलवणरुद्रमंडलस्य छायामांघ्रिभिर दिनपतेरग्नियेदकं भवति ज्ञानम् । किंचिन्मिथ्यात्योव्यादियस्तमुदेति विज्ञानं । नैवात्मा नाम कश्चित्कर्ता शुभाशुभयोः कर्मणोः । नापि तत्फलानुभवयनिष्ठा, नापि परलोकः प्राप्यः कर्मवशवर्तिना कश्चिदिति । तथाभ्यधाये -

लोको नार्थं नापरो नापि चारया धर्मो धर्मो पुण्यपत्ये न चापि ॥
स्वर्गो ह्यष्टः केन केनाधया ते गोरा दष्टा नारत्तार्था निवास्ताः ॥ १ ॥
वैद्यः को वा कोऽप्यवा सोऽस्ति मोक्षो, मिथ्या सर्वं यं ज्ञेयं निरर्थम् ॥
प्राप्ताः कामाः सेवितव्या यथेष्टं दष्टं स्वस्था दुरगे कोऽभिजायः ॥

इति । तथा चौग्ये—अष्टयर्षिका स्त्री विंशतिवर्षिकः पुमाश्च तयोः परस्परं प्रेमपूर्वहाषयावधिभ्रमकटाक्षलक्षिकिंचित्तादिभाष्यपूर्वकः संवेद्य एव स्वर्गः, नान्यः ।

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य जयिनीं सर्वोपेसंपत्सूरीं ॥

पद्मां ये प्रथिहाय यांति कुपियः स्वर्गोपवर्गेच्छया ॥

तत्रोपेयिनिर्द्वयं ते द्रुततरं नभीकृता मुदिताः ।

कोचिद्रजपटीलताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे ॥

तथान्येतरमिहितं—अष्टयुद्धवृत्तजीवाः, परलोकिनोऽमावात्यरलोकाभावः इति च । सत्यामपि बुद्धौ समीचीनज्ञानलोचनवत्ता, सकलग्राणिशूद्रोचररुणपरिव्यक्तवत्ता लाभसत्कारपुस्तकारादिनिरपेक्षेण, चतुर्गतिपरिभ्रमणप्रभवयातनास्तद्व्यामप्यलोक्य प्राणभृतां परमाभ्युक्तं प्राणभृतेन हा जनो विवेचनः मिथ्यादर्शनाद्यनुभारिणामकदंबकमिदमस्माभिरनुभगतिनिर्घतनप्रवृत्तप्राणदातव्यमित्यजाननस्तत्त्वैवासंस्कृत्यवर्तमानो, दुष्टपरत्वाकरमग्नरमुपविशत्यशरणो वराकः

१ कलस्य शारागमवृत्तन्तोः, इत्यपि पाठः क पुस्तके ।

१ 'तथा चाल्ये' इदमारम्भ स्त्री युद्धेति श्लोकावसानपर्यन्तो ग्रन्थः एव पुस्तके नास्ति ।

एति एतसंफलयेन यतिजनैश्च संसर्गो दुर्लभः । कुतः ? दर्शनमोहोदयजगन्नावरणोद्वालञ्च न याति गुणान्वोसि शब्दसे वा जनः । तत एव न होक्ते यतीञ्च या सुगुणमयिदुषस्तदुत्सर्जनमुपपद्यते । अपि च चारित्र्यमोहोदयव्यसंयतोऽतितरोऽग्निनस्ततो हिंसादिषु स्वयं करोति, कारयति यत्तुमोदते । हिंसादिषु वर्तमानेष्वेव एति वच्नाति । न हिंसादिपरिहारोद्यतेषु । विना रति कर्म हैः संसर्गोस्तत्सेवा वा । सा हि—

संसारोच्छेदकरी प्रदयकरी ज्ञानबुद्धिवृद्धिकरी ॥
कीर्तिकरी पुण्यकरी संस्रवा साधुपुण्यस्य ॥
दर्शनमात्रमपि सत्ता संसारोच्छेदने भवति वीजं ॥
किं पुनराधिकारकृता संसेवा साधुपुण्यस्य ॥
तत्सेवा यदि न स्यात्तद्भावाद् ज्ञानागमो विना कालात् ॥
द्वितकर्मप्रतिपत्तिर्मे स्यात्तद्भावाद् स्यात्ततो मोक्षः ॥
साधुपुण्यमपने यदि पारंपर्येण मोक्षमानयति ॥
इतिः श्रेयश्च नृणां को साधुपुण्यमाननाम् ॥
श्रेयाः कथं न यतयो विदुषा श्रेयोर्धिनत मनुष्येण ॥
मक्षयमिह ये श्रेयो मुश्रुधितेभ्यः प्रयच्छन्ति ॥
इति सततमणोत्तमानमोहाविद्वत्पलोकहितैषिणा नरेण ॥
जगदधिकृतयोपि भूतिदुका यतिवृत्तभा विनयेन सेवितव्या ॥

यद्वच्छा ज्ञातेऽपि यतिवैसर्गं न गुणः न केचित् श्रुणुयात् । एषा न वर्णस्य पात एव गुणो नरस्य अपि इ
श्रुयिरीजवापः । तद्वच्छ्रयं गुणो यतिसमीपगमनेन । तदेनं धयणं दुर्लभं कथयति । समीपमुपगतोऽपि निद्रायति ।
समीपस्थानां यथो यत्किंचित् श्रुणोति, न रोचते, वा तज्जर्ममाहात्म्यप्रकाशने मोहोदयात् । न ज्ञानाति या
मतिर्मायावत् एव तत्र नादुपगोऽव्य । अंतरेण चातुर्गमं कथं श्रोतुमुत्तरेत् । तथा चाभाणि—
साधुर्गमं शिवगतिमोदेयक्रानं संयातो निलयमपि प्रमादतोयात् ॥
भास्ते यो जन्मचयनाति तत्र श्रुण्वन् गन्तासौ हृदमपि पंक एव मक्षः ।

सत्यपि श्रयणे महणं विमानं तस्मिन्पितृशरार्यस्य दुरुद्धरं । सौख्याज्जीवादिबस्तुतत्त्वस्य कदाचिद्व्यश्रुत-
त्वात् । ज्ञानावरणक्षयोपसामप्रकरणमाद्य ज्ञतो यमंतत्वे तत्र शब्दा दुर्लभा । सोऽयं जिनप्रणीतो धर्मः सादिसालक्षणा;
सत्यं, क्षमामादिवाजंस्वतोऽप्युपगुणः, नयविधयल्लवर्कशूनः, परित्यक्तारोग्यमूर्च्छं, विनयमूलः, समीचीनज्ञानपुरः
मोदमद्यमादीरुहोत्पादेन पटुनातरिद्वत् जरादधानलक्षितोपायमुपयमानमुपगतो यथायथ, यथैकः प्रातुपेक्षः, मरणहरिणवि-

नमसमदुल्लस्यं दुर्गं, 'कूटरोमोरणां विनतासुतः, संपत्सुतापभाया हिमाचलः, सेतराषशोकपंकस्य, पिता सुभन-
ताया', पदस्यैरत्तानाया कर, कुयोनिमनविमनयुर्गं, इति अद्यानं अतिदुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । उपशमात्
प्रयोपशमात्, श्यामा दर्शनमोदस्य जति सि अद्यानं संस्यो दुर्लभतरः प्रत्याख्यानाय एषोदयात् । उक्तं च—

दुर्गो यो भवति नरेण तद्वधमा^{२६} क्षाल्यापि प्रयतनमत्र कष्टमेव ॥

तज्ज्ञानया धृतिमुपलभ्य ददतत्या, सज्जमे दणमपि ना कृथाः प्रमदिं ॥

भूत्वायं मुकुत्तरोऽपि पापकार्यात् घर्मोऽभूत्क्षणगपि दुष्करो भन्तुष्वैः ॥

आद्यवयं किमपि न ज्ञात्र संति गूढाः स्याद्वैतद्वयमिह कर्मणां गुरुत्वं ।

क्राद्विष्यामपि गजयन्त्रुणं भद्रान्तं तर्जसोः यममतुलं करोति यस्मान् ॥

तत्त्वज्ञः सर्वमनलज्ञिम् । असत्त्वे सत्त्वम् । इदमपि विद्यागीश्वरिणि ॥

करोति क्षणमालक्ष्यं परमहिते न्न याति धर्मं ॥

मुक्तं तस्यपि न स्यात् भेदतृषिद्यां संस्कारं ननु पुरुषः कथं लभेत ॥

एषमपि परंपरेण दुर्लभपरंपराया । लब्धूषाणि संयमे संयमे लक्षणो क्षपकः । किं न लोभज्ञां चुरितं न
लभते भुक्ति । संयोगात्पि संसारभयज्जनी । अयद्वस्तुद्वयोस्ते मयद्रुधुतस्य सूर्यः पादयै तस्माच्छ्रुतवानाचार्य आश्रयणीयः
एति प्रत्यवेन संययः ॥

समं दुदिमलमतो समोनीमां प्रतिमलभर्मनः । कदा मरणकाले । अयुस्सुइसमासे अयुधुतस्य पांछे । दिग्पादं चिरं कालं । मुचिमुवागमिच्छादि । किरादेन्ना । मणेन्द्रियविपयातंयस्यागः परियुक्ते । तेनायमर्थः । चिरप्रवृत्तिसंप्रमोषीति परिवृद्धि प्रच्यवते युक्तः । संप्रमात् । सियमदानिक्रमेण चरित्तियाणां सर्वत्र च सदा च सांविध्यात् अभ्यंतरफारणास्य संयमागध्ययते कथमितिचेत्-भगोबानातमनोषानां चरित्तियाणां सर्वत्र च सदा च सांविध्यात् अभ्यंतरफारणास्य कर्मणोऽपि रागद्वेषमोदपरिणायाः प्रादुर्भूतन्तीति । सत्कं वसी छेत्तुं अनवशः वंशीयुच्यते । गाढायलपता हि तत्र संभयति दायते घंसी च्छेत्तुं । तत्ते गुल्यात् उक्कट्टिं अक्कट्टं । पुणो पदवात् । दुक्कं दुध्दरं । एय एवं । सेजदत्त यि संयतस्यापि मनः । विसपयु रूपादित्तः । उक्कट्टि अयक्कट्टं । दुक्कं दुध्दरं । रागेद्वेषयो न्यातंयित्तुं अदास्यं । एतदुक्तं भवति - रागेद्वेषित्येयं विदि नाम प्रसिद्धा कृता तथापि कृतवर्तित्त्येयस्य शुद्धादिपरीपदेरुपद्रुतस्य नेद्वीरियं न धृतमानमणिभाजं सत्त्वात्तरं । रागेद्वेष्येन चरित्रापाधकता स्यात् । बद्धयुतः पुनः यथास्य रागेद्वेषी न जायेते तथोगदिदति भेलति । रज्जो नारीतिरेवमिदं कथयिष्ये -

त्वां तदुःखं नित्यप्रतिष्ठा विन्यस्तु देवेषु ॥ यस्तु येषु ॥
 कृषित्वत्तद्विचिन्तु कथंचिदेव सौख्यस्य संयात्र शरीरिणां स्वात् ॥
 यत्रैनं जन्मवद्वताऽयमेवं शरीरिणा दुःसम्पत्पश्यते सत् ॥
 अन्तर्बानोऽपि न तस्य हि स्यात् सर्वं सुखं सर्वशरीरसंस्थं ॥
 तदेकजीवः सुखमात्मनोऽहं मजेरित्यतं जन्मानवेऽस्मिन् ॥
 चैक्यभाषणः परतो पराको क्तेऽतिभीतो हरिणो यथैकः ॥
 भ्रमेऽनवेलेषु सुखे तथापि शरीरैकेन समापनीये ॥
 एतन्मूर्ती यदप्ययते तत्किपद्देवस्य विमृश्यमाने ॥
 अत्यल्पस्यैव तदस्सु तावत्तुःशरीरगौ पतितं सर्वमिदं ॥
 स्मृताकद्रसे रथादुरसे यथापि प्राप्तांबुदानां लयणार्णवाब्जु ॥
 यथाप्ययः सौख्यमितीष्यतेऽथ पूर्वोत्पद्युःप्रमतिकार एव ॥
 किंवा हि दुःप्राप्त्यथममस्तुतात् न लभ्यते किंचन सौख्यमन्य ॥
 मरीचेन ह्यंशु रणमशास्वै भुवनागमत्प्रादानमदयते च ॥
 धर्मैर्वाकुप्यततपचारणाय गुह्यप्रतिरुद्धाङ्गमंवरं च-॥
 शीतानुतापवारणं, च हरे तस्या च मित्राश्रमनोदनाय ॥
 यानानि चाध्यथमवारणार्थं स्नानं श्रमम्येदमलापनुये ॥
 स्नानं श्रमस्वीपथमासनं च दुर्गमनाशाय च मंधसेवा ॥
 धिरुच्यनाशाय च भूयानि कलाभिर्योगोऽरतिवाचनाद ॥
 तथेह सर्वं परिक्रियमानं भोगमिषानं सुखमनुयार्णो ॥
 दुःप्राप्त्यतीकारनिमित्तमेव भैरव्यसनेव रणार्दितस्य ॥
 निमित्तमकरोरेव विद्वद्वामने द्रव्याणि धीतस्ति निरेवमाणः ॥
 मयेव भोगा इति तत्रि योऽयः कुर्वीत सोऽकादिषु भोगसंकीर्ण ॥
 यतश्च नैकान्तमुखायवानि द्रव्याणि गोचरमूर्तीनि लोके ॥
 अतश्च दुःप्राप्त्यनिकाः पुद्गे देषु प्रकुर्वीथ तु भोगसंस्थं ॥
 सुप्राप्तिभूतस्य हि यत्सुखस्य कदेव मुपस्य विपायतेऽयं ॥
 बुद्ध्यादितः कांक्षति यानि चेह तान्येव विद्वेषकमपि धीति ॥

किं च सूचकविश्रमाभाते देयमानवाविचायचक्राणां निकटोपनिविष्टाश्रयनवनिधीनां, समाधेयतत्तुवशरत्नानां, चन्द्रार्चनानां, वशान्भोगानुभवचतुराणां । तथा सुधाशानानामप्यनेकमुद्रोपमजीविनां, अप्रत्ययप्रत्ययप्रीवितानां, सहजसे-
 नानुसारिविद्याभरणप्रत्ययसंगतसौमत्यस्वच्छेन मनोनयनचक्रमरुप्रसूतोन्ज्वलेन विलासपलारेण, सौकुमार्यचतुरेण
 विंगनानुपायासायमानसौरेण विद्रुमाधरणहयेन, भिविडोद्यतवृत्तस्नफलेन, मनोभवदक्षिणानिलमेरणां व्रील्लेन,
 त्रिलिङ्गनाद्याप्रतानेन, सुकुत्तपनीयमयस्त्वानवेदिकापरीतकामनीरभस्तिविशालजघनसरोविमूयेन, मुखरन्-
 पुत्तधमरछतकलफलेन देयकन्यालतापनेन परिपूतानामपि परैर्भोगैस्तुष्टिर्ने किं पुनरितरमानवानां । अपि तीव्रतरपुंवे-
 शोदयानलजनितचेतोविवाहानां नैवीर्यं यामलोचनासंगमः तापप्रकर्षानुबंधत्वात् । रूपवैवर्तविलासबातुर्पसोभाग्या-
 दीनां प्रकर्षोपकर्षलेपजापस्थितत्वावंगनासु । ताः यस्म्यतोऽपि उत्कण्ठानुपगतमुपजायमाना विद्राहमावहति कुर्वह । तास्य-
 क्त्वा चेन्मं यन्ति स्तुतिं या दीकते, परैर्वल्लिभिर्वीर्यान्दियते । स्वयं वा दुर्विभोचतमपातकं यमपाशेनाकृष्यमाणे विहाय ता
 विपुलमुल्लो, भिर्भोगेनयनो जितोत्तरोदत्तच्छादितलोहितलोचनो जहाति । तासां तनयोऽपि स्फटिकमोलवोपाधित-
 गुणप्रार्तिव्यः । साध्यास्त्रिररणाः संख्यासमयजलदलेरेव तुल्यभावा । औपखण्डधमाख्यादीन्स्व लघ्वानप्याहस्ति यल्लिः ।
 इति महत्तयं, न च तर्पयन्ति । तद्वर्जनायै पदकर्मसु प्रयतितयं । तानि च नन्दिगधकलानि यतुतरयासमूलानि हिंसावि-
 सावकाकियापतन्माणि, दुर्गतिपर्यन्ताति इत्येयमात्मिका भोगनिर्वेजनी । शरीरं पुनरिदमद्युर्बनिधानं, आत्मनो महात्मा
 भारः, न वाचास्ति किंचित्सारभूतं । साधितानिकापायं ध्यायितस्यानां क्षेत्रं, जरादाकिनीपितृगृहं, किं न मास्ये कुले
 जलतो विशालकीर्तिः गुणयानपि प्रदीपविभवतो नीचं कर्म, पुष्टे धायनं, प्रेषणकरणं, तदुच्छिद्यमोजनं वा करोति शरीर-
 पोषणाय । उत्तं च—

मात्सर्गतोऽथ न यद्दिनं च तस्य मध्ये सारोऽस्ति येन मनसा परितप्यमानः ॥

तस्मिन्प्रसादजनकांक्षितकामसारैः कोऽन्यः कुरिष्यति मनः प्रतिचक्षसातः ॥

वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च रोषैः सदा दुरितजैः प्रयिमथ्यमानः ॥

देहोऽयमेयमतिदुःखनिमित्तभूतो नाशो भयाति बहुधेति कुरुष्व धनं ॥

समातर्जं प्रक्षिपित्वास्त्रि तप्यगाढं स्नायुप्रमुखमधुमे प्रगतं शिराभिः ॥

लिप्तं च मांसकीधरोदककंदमेन रोगाहितं स्पृशति देहविपरीणीहं ॥

इत्येयमादिका शरीरार्जवेजनी ।

अल्पत आचार्यका आश्रय करनेसे और भी दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ—यह संसार समुद्र के समान है, द्रव्य, वेद, फल, सब और भाव इनके द्वारा इसमें परिवर्तन होता है, दीकाकार क्रमसे पांच प्रकारके संसारोका वर्णन करते हैं, द्रव्यसंसारका स्वरूप इस प्रकार है—



हाथ और छद अंगुल प्रमाण नारकी जीबोंका शरीर होता है। दूसरे नरकसे सातवे नरकपर्यंत नारकी जीबोंका शरीर दूना ऊंचा है। सातवे नरकमें नारकीजीबोंका शरीरमग्न पांचसौ घनुष्यका होता है। इस तरह नारकी जीबोंके शरीरके प्रकार हैं। प्राणिजोंने भूतकालमें एक एक शरीर भी अनंतवार धारण किया है। मग्न जीबोंने भूत-कालमें अनंतो शरीर धारण किये हैं। परंतु भविष्यकालमें वे अनंत शरीरोंको धारण करेंगे अथवा नहीं भी करेंगे। यदि थोड़ेदि दिनोंमें उनको मोक्ष प्राप्त होनेवाला होगा तो अनंत शरीर धारण नहीं करेंगे अन्यथा धारण करेंगे। अभग्नजीव भूतकालके समान भविष्यकालमें भी अनंतो शरीर धारण करेंगेही। इस प्रकार स्थूरीविसे द्रव्यसंसारका वर्णन किया है—

क्षेत्र संसारका वर्णन—सीमंतक नरक मिलसे अप्रतिष्ठ नामक नरकबिलतक चौरासी लाख नरकघिलोंकी संख्या है। इन एकैक नरकघिलमें भी इस जीवने भूतकालमें अनंत जन्मपरण धारण किये हैं। मग्नजीबोंके भविष्यकालमें अनंत जन्मपरण होंगे ही ऐसा नियम नहीं है। जगज्यों के भविष्यकालमें भी अनंत जन्मपरण होंगे ही।

कालसंसारका वर्णन—किसी उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें कोढ़ जीव प्रथमनरकमें उत्पन्न हुआ। आपुण्य समाप्त होनेपर अन्य स्थानमें उत्पन्न हुआ। पुनः कदाचित् किसी उत्सर्पिणीके दुसरे समयमें प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकारसे उत्सर्पिणीके तिसरा, चौथा, पांचवा वगैरे समयमें उसही नरकमें उत्पन्न हो होकर उत्सर्पिणीके संपूर्ण समय उसने पूर्ण किये। उत्सर्पिणीके समान अवसर्पिणीके समय क्रमसे उसही नरकमें जन्म लेकर उसने पूर्ण किये। प्रथमनरकमें जन्म लेले कर जैसे उसने उत्सर्पिणीके और अवसर्पिणीके समय पूर्ण किये। उसी तरह उसने अन्य नरकोंमें भी जन्म लेकर इनके समय पूर्ण किये हैं। प्रत्येक नरकमें पुनः पुनः जन्म लेकर इस जीवने अनंत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालको समाप्त किया है।

मग्नसंसारका वर्णन—प्रथम नरकमें दस हजार वर्ष भ्रमण आयु धारण करके यह जीव नारकी हुआ। पुनः क्रमसे एक सप्तय अधिक दस हजार वर्ष आयुका धारक हुआ। ऐसे एक एक समय बढ़ता हुआ यह जीव प्रथम नरकमें एकसागरोपम आयुपूर्ण करता है। दूसरे नरकमें एक एक समय अधिक के क्रमसे एक सागरोपम

त्रयं आयुष्य आदि लेकर तीन सागरोपम आयुष्यतक उसही नरकमें उत्पन्न होता है- तिसरे नरकमें एक समय अधिक तीन सागरोपम में प्रारंभकर दो तीन चार पांच इत्यादि समयोंसे वधता हुआ सात सागरोपम आयुष्यकी परिपूर्णता करता हुआ यह जीव चार चार तीसरे नरकमें ही उत्पन्न होता है- चौथे नरकमें समयाधिक सात सागर ने लेकर द्वितीयादिक समयादिके क्रमसे दशसागरोपमकी समाप्ति होनेतक चतुर्थ नरकमें इस जीवने जन्म धारण किये हैं- पांचमें नरकमें एक समयाधिक दशसागरोपमायुष्यका प्रारंभ करके द्वितीयादि समयाधिकके क्रमानुसार मरता सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक पांचवें नरकमें इस जीवने जन्म धारण किया था- छठे नरकमें समयाधिक सतरा सागरोपमायुष्यका प्रारंभ कर हुसरा, तिसरा वगैरे समय अधिक बढ़ता हुआ पाँचवीस सागरोपमायुष्य तक अंशरूपात जन्म जीवने धारण किये हैं- सातवें नरकमें समयाधिक पाँचवीस सागरोपम आयुष्य से उत्पन्न होफुड समयाधिक क्रमसे तेहतीस सागरोपमायुष्यकी समाप्ति होनेतक इस जीवने अंशरूपात जन्म धारण किये हैं- इस प्रकार आयुके विकल्पोंको धारण करते हुए इस जीवने भवसंसारमें अग्रण किया है-

भावसंसारका स्वरूप सर्वजन सुखसे जान सकते हैं इसलिये यहाँ उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है-

इस प्रकार इस संसारसमुद्रमें नानाविध तीव्र दुःखरूपी पानी है क्षारीरिक, मानसिक, आंगंतुक व स्वाभाविक ऐसे दुःखके अनेक भेद हैं- इस संसारमें अग्रण करने वाले इस जीवको फलसे मनुष्यपना प्राप्ता होता है- सर्व जगत्में मनुष्य उत्पन्न होनेका क्षेत्र अल्प है और तिमिंच प्राणी सर्व जगत्में उत्पन्न होते हैं- मनुष्यपना जिससे उत्पन्न होता है ऐसे कर्मकी उत्पत्ति करनेवाले कारणभूत परिणामोंकी प्राप्ति होना कठिन है इसलिये मनुष्यत्व दुर्लभ है-

मनुष्यत्व प्राप्तिके परिणाम कौनसे हैं इस प्रश्नका उत्तर—

जीवोंके परिणाम मिथ्यात्व, असंयम और कयाच ऐसे तीन प्रकारके हैं- वे परिणाम भी तीव्र, मध्यम और मंद हैं- कारणोंमें यथायुक्त क्रमोंमें तीव्र, मध्यम और मंद स्वभाव रहता है अतः उनसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंमें भी तीव्र, मध्यम और मंदवा आती है- कारणोंमें भेद होनेसं कार्यरूप परिणामोंमें भी विचित्रता आती है- इन परिणामोंमें जो मध्यम हिंसादिपरिणाम हैं वे मनुष्यपना के उत्पादक हैं- वायुक्रममें खींची हुई

रेखाके समान क्रोध परिणाम, लकड़ीके समान मानपरिणाम, गोमूत्राक्षरके समान मायापरिणाम और कीच-
डके रंगसमान लोमपरिणाम ऐसे परिणामोंसे मनुष्यपनाकी प्राप्ति होती है। जीवघात करनेपर हा मने दुष्ट कार्य
किया है, जिसे दुःख वा मरण हमको अप्रिय है, संपूर्ण प्राणिजोंको भी चढ़ अप्रिय है जगतमें अहिंसा ही श्रेष्ठ व कल्याण
कारिणी है, परंतु हम हिंसादिकोंका त्याग करनेमें असमर्थ हैं- झूट परदेरोंको कहना, दुसरेके सदगुण देख कर मनमें
श्रेय करना, अस्तर्यमापग करना यह दुर्जनोका आचार है, साधुओंको अयोग्य ऐसे निंदा भाषण और खोटे कामोंमें
हम हमेशा प्रवृत्त हैं, इसलिये हममें सज्जनपना कैसा रहेगा? ऐसा पथात्ताप करना- दुसरेका धन हरण करना यह
राक्षसहार करनेसे भी अधिक दुःखदायक है, द्रव्यका विनाश होनेसे सर्व कुंडुंबका ही नाश होता है इसलिये मेने
दुसरेका धन हरण किया यह अयोग्य कार्य किया है ऐसे परिणाम होना- हमने परखी वगैरह का हरण किया यह
बहुत अयोग्य कार्य हमसे हुआ। हमारी लोका किस्तिने हरण करने पर जेठा हमको अविद्यय कष्ट होता है वैसा
उनको भी होता है यह अनुभवने प्रसिद्ध है, ऐसे परिणाम होना- गंगादि नदिया हमें खा अपना अन्त जल लेकर
समुद्रमें प्रवेश करती हैं तथापि समुद्रकी तृप्ति होती ही नहीं- यह मनुष्यप्राणी भी धन मिलनेसे दुःख नहीं होता है,
इस तरहके परिणाम दुर्लभ है-

सत्पुरुषके मुखमें फठोर बपन, सूर्यमंडलमें अंधकार, तीनक्रोधी मनुष्यमें दया, लोभी मनुष्यमें सत्यभा-
षण, अभिमानी मनुष्यमें पागलोंका स्वयं, लीमें मायारहितपना, दुष्टोंमें कृतज्ञता, कपिल, चढ़ वगैरह आत्माभा-
सोंके मतमें वस्तुके सत्यस्वरूपका ज्ञान ये जैसे दुर्लभ हैं- वैसा मनुष्यप्राणी प्राप्ति होना दुर्लभ है-

देश, कुल, रूप, आरोग्य, दीर्घायु, धौंढ, शास्त्रश्रवण, ग्रहण, भद्रा, और संगम ये उत्तरोत्तर
दुर्लभ हैं-

यहाँ आचार्य उत्तम देशमें जन्म होना दुर्लभ है इस विषयका वर्णन करते हैं—
कर्मशुभिक्ष, भोगशुभिक्ष, अन्तर्हीषज और संपूर्णदृष्टि ऐसे मनुष्योंके चार भेद हैं-

डाई द्वीपोंमें पांचभरत क्षेत्र, पांच ऐरावत क्षेत्र और पांच विदेह क्षेत्र ऐसी चार कर्मशुभियां हैं- पांच
ईरावत क्षेत्र, पांच हरियर्ष क्षेत्र, पांच देवकुल, पांच उत्तर कुल, पांच रम्यक क्षेत्र और पांच हरिष्यवत क्षेत्र ऐसी तीस
भोगशुभियां हैं-

लपणसमुद्र और कालोदधि समुद्र के मध्यमें छानवें अन्तर्द्वीप हैं। षड्वर्तीका सैन्य, सुतनेके, और हगनेके स्थान, धीर्य, नाकका मल, कफ, कानका मल, दाँवोंका मल इनमें अंगुलका असंख्यात भाग प्रमाण गरीके धारक सम्पूर्ण मनुष्य उत्पन्न होते हैं। भोगभूमि और अन्तर्द्वीपोंका छोड़ कर्मभूमिमें उत्पत्ति होना दुर्लभ है। कर्मभूमिमें भी चपेट, चिलातक, पारसीक वगैरे देशोंको छोड़कर अंगदेश, वंगदेश, मगध वगैरह देशोंमें उत्पत्ति होना दुर्लभ है। उच्च देशोंकी प्राप्ति होने पर भी चाँदाल, धीवर, चमार, दोर वगैरे नीच कुलोंको छोड़कर तप करनेके लिये योग्य अर्थात् सुनिधर्म धारण के योग्य कुलोंमें, जातिमें, जन्म होना दुर्लभ है।

माताके वंशको जाति कहते हैं। उच्च कुलकी प्राप्ति होना क्यों कठिन है इसका विवेचन—

उच्च जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप, बल इनकी प्राप्ति होनेपर गर्व न करना अन्य लोक भी इन गुणोंसे भरेसे भी अधिक हैं ऐसा समझकर गर्व रहित होना, दूसरोंकी अवज्ञा न करना, जो गुणोंसे श्रेष्ठ हैं उनके साथ नम्रताका व्यवहार करना; दूसरोंके पूजने पर भी अन्य दोषोंका कथन न करना, अपने गुणोंकी स्तुति न करना इत्यादि परिणामोंसे उच्च गोत्रकर्मका बंध होता है जिससे मनुष्य उच्च कुलमें उत्पन्न होता है।

परंतु दुर्लभपुष्टिका मनुष्य उपर्युक्त परिणामोंका स्वीकार नहीं करता है। जो विपरीत परिणाम हैं, उनमें वह प्रवृत्ति करता है, जिससे उसको नीचगोत्रका बंध होता है। ऐसे विपरीत परिणाम होनेसे पूज्य-उच्चकुलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये उच्च कुल दुर्लभ है। अन्य ग्रंथोंमें इस प्रकार वर्णन है—

जो पुरुष जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, आज्ञा, शरीरबल अथवा तप इत्यादिकी प्राप्ति होनेमें उन्मत्त होकर दूसरों की निंदा करते हैं अथवा अपनी प्रशंसा करते हैं, दूसरोंकी अवज्ञा, अनादर और अशुभ नामकर्मका बंध कर लेते हैं, जिससे इस संसारमें उनको नियम कुलादिकमें दण्ड धारण कर प्रतिसमय निंदा, अपमान, वगैरह दुःख भोगने पड़ते हैं क्योंकि उसने पूर्वजन्ममें अत्यंत अभिमान धारण किया था।

परंतु जो पुरुष कुल, जाति वगैरहकी उत्तमता प्राप्त करके भी दूसरोंको अपनेसे भी उद्धीसे विशिष्ट समझता है, जो किसी का अपमान, अवज्ञा नहीं करता है, जो बुद्धिमान को देखकर नम्र होता है, पूजने पर भी जो दूसरोंके दोषोंका वर्णन नहीं करता है, अपनेमें गुण रहते हुए भी गर्वरहित होकर उनका कथन करता नहीं वह पुण्यपुरुष उच्चगोत्र शुभनामरूप इनका तीव्र बंधकर इस संसारमें सर्व लोकोंका प्यारा बनता है।

उच्च कुलादिक जैसे दुर्लभ है वैसी नीरोगता अर्थात् रोगरहितदेह प्राप्त होना भी दुर्लभ है। प्राणिओंकी वांछना, चाहना, मारना, जलाना अथ पानी न देना इत्यादि कार्यसे असावावेदनीय कर्मका तीव्र बंध होता है। इस विषयमें श्रंखान्तमें ऐसा विवेचन आया है—

जो इत्थं मनुष्य दयाका त्यागकर तीव्र संश्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणीको वांधना, तोड़ना, पीटना प्राण लेना, तानेके और पीनेके पदार्थोंसे वंचित रखना ऐसे ही कर्ष हमेशा करता है। ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है। ऐसे कार्य करते समय जिसके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं उसको निरंतर असावावेदनिय कर्मका बंध होता है। जिससे उसका देह हमेशा रोगपीडित ही रहता है। तब उसकी बुद्धि व क्रियाएं नष्ट होती हैं वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता है।

इस विषयमें श्रंखान्तमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं—

वह प्राणी यद्यपि जीता है तो भी रोगरूपी महाबलसे उसको सदा भयभीत प्राप्ति होती है, जैसे आकाशमें अकस्मात् पक्षपात होता है वैसे अकस्मात् रोग आकर मनुष्यको पकड़ता है जिससे उसका देह नष्ट होजाता है, जबतक वह रोगसे पीडित हुआ नहीं तबतक ही देहमें सामर्थ्य, आयुष्य, सौंदर्य रहते हैं। जबतक हवाका धबका फलको नहीं लगता है तबतक वह डंटलसे संलग्न रहता है। वैसेही देहमें रोगका आग्रा जय जानेपर उसके रूपादिक तब गुण बढासे प्रयाण करते हैं जैसा अग्नि जब धरको चारो ओरसे लगनेपर समग्रं पुरुष भी उसमेंसे अपनी अमृत्य वस्तुओंका रक्षण नहीं कर सकता है। वैसे रोगसे देह पीडित होनेपर अपना हित सुखसे करनेमें यह जीव असमर्थ होता है।

जो प्राणी हमेशा परजीवोंका शत्रु करके उनके श्रियजीवित का नाश करता है वह प्रायः अल्पायुषी ही होता है। आयुष्यका नाश होनेके बहुत निमित्त हैं—

पानी, अग्नि, वायु, संप, विच्छु, रोग, खासोन्ध्यास का रुक जाना। जाहार न मिलना, और चेदना इत्यादिकोंसे आयुका क्षय होता है। इसवास्ते मनुष्यजन्य प्राप्त होनेपर भी दीर्घायुष्य की प्राप्ति होना सुलभ नहीं है।

चचापि आयु शुब्द सामान्यका वाचक है तथापि यहाँ दीर्घायुत्वका वाचक माना है अन्यथा आयुष्य मात्र तो गंगारी जीयोंको सुलभ है ही।

देव, इल, जाति, नीरोमता वगैरह स्त्री प्राप्ति होनेपर भी बुद्धिका लाभ होना बड़ा कठिन है। बुद्धिका अर्थ वहाँपर परलोक की प्राप्ति कता देनेवाली बुद्धि ऐया है अर्थात् परलोकमें इस आत्माकी हित करनेवाली बुद्धि दुर्लभ है। सामान्य ज्ञान प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है। जैसे भेषपटलसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश भूतलपर नहीं आता है। वैसे ज्ञानाभरणीय क्रमके उदयसे आत्माकी ज्ञानशक्ति आच्छादित होती है। मिथ्यात्म कर्मका उदय होनेसे ज्ञानमें निपरतिपना होता है। अर्थात् पदार्थका सचा स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है। उसका विपरीत स्वरूप समझ लेता है।

आत्मा नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। अतः वह शुभाशुभ कर्मका कर्ता है ऐसा मानना निर्मूल है। शुभाशुभ कर्ममें सुख और दुःखरूपी फल उत्पन्न होता है। और यह आत्मा उसका अनुभव लेनेमें लीन होता है। यह कहना या मानना निःसार है। आत्मा पाप या पुण्य कर्मके चय होकर परलोककी प्राप्ति कर लेता है यह तथ्य भी मिथ्या है। इस त्रिपयमें अन्यत्र ऐसा कहा है—परलोक नहीं है। आत्मा और पाप पुण्य नहीं है। धर्म और अधर्म नामकी चीज भी नहीं है। क्या किमीने स्वर्ग देखा है ? अथवा भयंकर दुःख देनेवाले नारकियोंके निगमस्वरूप भी देखे हैं ? कर्म नष्ट, और मोक्ष क्या चीज है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। वध और मोक्ष न होने में तपनरणादिक कारना व्यर्थ है। प्राप्त हुए सुंदर स्त्री वगैरह पुरुषोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष तो छोड़कर अप्रत्यक्ष चीजेंकी अभिलाषा करना बुद्धिमानका कर्तव्य नहीं है।

इस त्रिपयमें कोई निदान ऐसा कहते हैं—सोलह वर्ष की स्त्री और धीस वर्षका जवान पुरुष इनका हान भावपूरक कटाक्षपात, हास्यमिश्रित भाषण और रतिक्रीडा यही स्वर्ग है इससे ओर स्वर्ग नामकी चीज ही नहीं है।

यह स्त्री मकरध्वजकी जपपनाका है, इममें संपूर्ण पदायोंकी संपत्ति प्राप्त होती है। स्वर्ग और मोक्षकी इच्छामें जो दुर्बुद्धि लोक इस स्त्रीका त्याग कर वनमें प्रयाण करते हैं वे स्त्रीका त्याग करनेके अपराधसे दंडित कर दिये जाते हैं। कितनीता मुंडन किया जाता है— कीड़ोंको रक्तस्र पहराया जाता है, कोई जटासुक्त और कोई

कर जो यन्त्रों जाते हैं उनकी ऐसी बुद्धि होती है, और जो उसकी आज्ञा शिरोधार्य समझकर प्रवृत्ति रखते हैं, उनको यहाँ दो स्वर्ग और मोक्षका सुख मिलता है—

और भी हम विषयमें कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं—

पार्वता चतुर्धा जेस धुणके चाद्र पूर्ण नष्ट होता है, जीव भी देहका नाश होनेपर विनष्ट होते हैं, पर-
लोकतो प्रयाण करनेवाला आत्माही नहीं है तो परलोककी सिद्धि कैसी होगी ? अर्थात् जीवनात्मक पदार्थ नहीं है,
इस लिये परलोकका भी अभाव है, ऐसे और इसके सत्य और भी विचार युद्धोंमें दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे
उत्पन्न होजाते हैं, जिनमें सुद्धि तो होती है, परंतु उसने कुमार्गका आश्रय लिया है, जियोंको यथार्थ रत्नप्रयत्नों
दिखलाने वाले सत्पुरुषोंका संसर्ग मिलना घटा ही कठिण हो रहा है.

यत्नजन अर्थात् सद्गुरु यथार्थ ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं, संपूर्ण माणिक्यों में वे दया करते हैं, वे लाभ
की, नस्कारपुरस्कार की अपेक्षा नहीं करते हैं, चतुर्गतिओंमें संसारजनन हुआगें यावनायें भोग रहे हैं यह
देकर उनमें अंतःकरणसे दयाका प्रवाह रहता है, "अहो ये अज्ञान मिथ्यादर्शनादि अशुभ परिणामोंसे अशुभ-
गतिको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका दण्ड पर रहे हैं इन कर्मोंसे छूटनेका उपाय ये लोक जानते नहीं हैं, इससे ही ये
दीन मानी अपार दुःखरूपी समुद्रमें प्रवेश कर दुःख भोग रहे हैं" ऐसा विचार सद्गुरु मनमें करते हैं, ऐसे सद्गुरुका
संस्पर्श होना दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्म और ज्ञानाधरणीय कर्मका उदय होनेसे लोक यतीके गुणोंको जानते नहीं और
उनके ऊपर भ्रमजन भी करते नहीं, इसी लिये उनके पास वे जाते नहीं, जबतक सद्गुरुओंका स्वरूप नहीं जाना
जाता है जबतक उगका स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति लोकोंमें नहीं दीलती है, चात्रिमोहनीय कर्मके उदयसे प्राणीकी
दिगा लोक स्वयं करते हैं, कराते हैं और अनुमोदन देते हैं, हिंसादिक कर्मोंको करनेवाले लोकोंमें प्रीति रखते
हैं, जो हिंसादि अकार्योंको नहीं करने देते हैं उनमें लोक प्रेम करते नहीं, जब मनमें अहिंसादिक गुणयुक्तोंपर
प्रेमही नहीं तो उनमें भयंरों और उनकी सेवा कैसी होगी ?

यह साधुसेवा संसारका नाश करती है, क्रोधादि अशुभपरिणामोंका उपशम करके ज्ञानको बढ़ाती है। साधुसेवाने पुण्य और यश बढ़ते हैं।

सत्पुरुषोंका एक बार दर्शन भी हुआ तो वह भी संसारका नाश करनेमें कारण होता है। तो उनकी सेवा करनेकी योग्यता मिलनेपर यदि हमने उनकी सेवा की तो उससे हमारे संसारका नाश होनेमें क्या देर लगेगी ?

चदि सज्जनोंकी सेवा हम नहीं करेंगे तो हमको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी। ज्ञानके बिना हमको हित प्राप्तनेवाले देवपूजा, स्वाध्याय यौतह कर्मोंका स्वरूप ज्ञात नहीं होता है। अतः मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं।

साधुओंकी उपासना करनेसे यदि परम्परासे भी मोक्षकी प्राप्ति होती है तो साधुओंकी सेवा करनेवाले मनुष्योंकी क्या हानि और श्रम होगा ? अर्थात् मोक्षप्राप्ति के समान जगतमें दूसरा अनुपम लाभ है ही नहीं अतः मनुष्यने साधुओंकी सेवा श्रमकी परवा न कर करनी चाहिए।

मोक्षप्राप्तिके इच्छुक विद्वान लोग अवश्य साधूका आश्रय करें। क्योंकि साधु पुरुष आश्रितजनोंको ज्ञानन्दसे अक्षय मोक्ष अर्पण करते हैं।

अभिमान और मोह दूरकर रह पर लोकमें हितको चाहनेवाले मनुष्य सतत सत्पुरुषकी विनयसे सेवा करें। क्योंकि, जगतमें सत्पुरुष वरूपी वैभवसे युक्त होते हैं। अर्थात् महातपस्वी जनोंकी सेवा अवश्य करनी चाहिए। वैभवयोगसे मुनि सदायस प्राप्त भी हुआ परन्तु उनसे हमने हितका उपदेश नहीं सुना तो उनके सहाय का फायदा हमने नहीं लिया ऐसा ही समझना चाहिए। यदि हमने सेतमें वीज नहीं बोया और बृष्टि हुई तो उस बृष्टि से कुछ फायदा नहीं है। वैसे सत्पुरुषका उपदेश हमने सुना नहीं तो उनका सहायस व्यर्थ ही हुआ ऐसा समझना चाहिए। यतीश्वरके समीप जाकर हम यदि उनका हितोपदेश सुनने तो यतिसमागम सफल हुआ ऐसा समझना चाहिए। इसलिये हितोपदेश सुनना दुर्लभ है ऐसा आचार्य कहते हैं।

सत्पुरुषोंका उपदेश सुननेके लिए जाकर भी कोई वहां सोते हैं, अथवा अपने पास बैठे हुए मनुष्यके साथ बातलाप करते हैं अथवा उनका वचन सुनते हैं सत्पुरुषके उपदेशके तरफ उनका लक्ष्य नहीं जाता, प्रगट किने धर्मके माहात्म्यपर मोहनीय कर्मके उदयसे उनकी अलक्षि हो जाती है।

अथवा मति बंद होनेसे उनके उपदेशका रहस्य नहीं जाननेसे उनमें उसका प्रेम उत्पन्न नहीं होता है प्रेमके बिना जनमें सुननेकी उत्कण्ठा नहीं होती है.

इस विषयमें आचार्य ऐसा कहते हैं—

मोक्षप्राप्तिके उपायका अर्थात् सत्सङ्गका उपदेश देनेवाले आचार्य के वसतिकामें जाकर भी जो प्रमाण अन्वय लोभोंकी बातें सुननेमें अपने चित्तको एकाग्र करता है वह मूल मनुष्य सरोवरके पास जाकर भी कीचड़में फँसे हुए मनुष्य के समान समझना चाहिये.

यद्यपि मनुष्यके वचन सुनने पर भी उसका अधिप्राय ध्यानमें रखना दुर्लभ है. क्योंकि जीवादि वस्तुओंका स्वरूप ब्रह्म होनेसे और यह पूर्वकालमें कभी सुननेमें नहीं आनेसे उसका अभिप्राय मनमें समझना कठिन है. यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम विदुष होनेसे बुद्धि जीवादिकोंका स्वरूप जानेगी, धर्मका स्वरूप जानेगी तथापि जाने हुए जीवादिके स्वरूपमें और धर्मस्वरूपमें श्रद्धा उत्पन्न होना दुर्लभ है.

यह भीजिनेश्वरका धर्म आहिसात्मक है. यह सत्यके आधार पर है अर्थात् सत्यपना इसकी नींव है. पर-पन हरण न करना यह इसका स्वरूप है. नउ प्रकारसे ब्रह्मचर्य द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है. संपूर्ण परिश्र-होवरसे भक्त्य दूर करना यह इसका ध्येय है. विनय इसका मूल है. इस धर्मके आचरणसे मनुष्यको सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है. क्षमा, मृदुपना अर्थात् अभिमानका त्याग, निष्कपटपता, संतोष इत्यादि गुण इस धर्मके अलंकार हैं. यह नरकका मार्ग बंद करनेके लिये वज्रगर्ला के समान है. पशुगतिरूपीवेलीको फाटनेके लिये यह जिनधर्म शुद्धादीके समान है. दुःस्वरूपी पर्वतके फिखरोंको पिघल करनेके लिये यह धर्म कठोर एवम्के समान है. मोहरूपी मशगुलको तथुल उपादनके लिये यह धर्म जोरदार हवाके समान है. बुद्धावस्थारूप चनकी अधीकी ज्वालायें बुद्धा-नेके लिये यह वर्षाकालीन घुट्टि करनेवाला मेघ है. परणरूप वृषिणका घात करनेके लिये यह धर्म वायुके तुल्य है. भयंकर रोममण्डको यह गरुडके समान है. मंषचिरूपी गंगानदीकी उत्पत्तिके लिये यह धर्म हिमपर्वत है. अगाध शीतलरूपी कीचड़को यह स्रष्ट है. यह जैनधर्म सौंदर्यका पिता है. देव्यर्मरूप रत्नोंकी यह खान है. कुयोनिधनमें अमण करनेवाले प्राणियोंको यह धर्म मुक्तिनगरको खोजनेवाला है. ऐसे जिनधर्मके ऊपर श्रद्धा होना अविश्रय दुर्लभ है.

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे लोक इससे सुंद मोहते हैं, दर्शनमोहनीय कर्मका उपश्रम, क्षय अथवा क्षयोपशम जब होता है तब इस परमहितकारक धर्मपर प्राणी श्रद्धा करने लगते हैं, श्रद्धा न करनेपर भी संयम-चारित्र्यकी प्राप्ति होना अधिकारी कठिन है, क्योंकि प्रत्याख्यानावरणी कर्म जीवको चारित्र्यपालन करनेमें प्रतिबंध करता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

मनुष्यको सत्यधर्मका स्वरूप बड़े कष्टसे मातुम होता है, ज्ञान होनेपर धर्ममें प्रवृत्ति करना उससे भी अधिक कठिन है, जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप जिसने जाना है ऐसे मनुष्यको धर्मका स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना चाहिये और इस धर्मका आचरण करते समय प्रमादको छोड़ देना चाहिये, एक क्षणपर्यंत भी उसका आश्रय नहीं करना चाहिये.

पापकार्य करनेकी अपेक्षा धर्माचरण करना अधिक सुलभ है, परंतु एक क्षणपर्यंत भी धर्माचरण करना मनुष्यको कठिनसा दीखता है.

इसमें कौय आश्चर्यकी बात नहीं है, पापकर्मके तीव्र उदयसे मनुष्य मुह होते हैं, एक सुच्छ कबड्डीकी भी महत्वकी चीज समझकर वह मुह मानव उसकी प्राप्तिके लिये महान्परिश्रम करता हुआ देखा जाता है.

परंतु तत्त्वज्ञ मनुष्य देश और मनुष्यका ऐश्वर्य देनेसे समर्थ मोक्षका मूल ऐसे सदर्म में अपना हृदय स्थिर करता है.

मूढ़ मनुष्य अहित कार्यमें ही प्रवृत्त करता है, और परमहितकर धर्ममें हमेशा आलसी रहता है, यह योग्यही है, यदि मनुष्य ऐसी प्रवृत्ति न करेगा तो उसका संसारमें भ्रमण कैसा होगा?

संयमकी-शुनिधर्मकी भी तो कि परंपरा दुर्लभ है प्राप्ति हुई तो भी अल्पज्ञ गुरुके समीप सछेलना धारण करनेवाले मुनिको संसारसे मय उत्पन्न करनेवाला धर्मोपदेश मिलना कठिन है, इस लिये यद्गुथुतज्ञ आचार्यका आश्रय करना ही योग्य है, ऐसा इतना विवचन करनेका अविश्राय है.

अल्पज्ञ आचार्यसे क्षणकाली उचम-मनोद्वारक धर्मोपदेश नहीं मिलनेसे मरणकालमें वह संयमसे भ्रष्ट होता है, तत्पर्य यह है कि दीर्घ कालतक प्राणिसंयम और इंद्रियसंयमका पालन व्यक्तने किया था परंतु मरण समयमें उससे वह भ्रष्ट होनेसे वह चारित्र्याधानसे रहित हो जाता है, संयमसे भ्रष्ट वह क्यों होता है इस प्रश्नका

उपर यह है—मनोय और अमनो-न पदार्थ सर्वत्र और इमेगा रहते हैं और अन्तरंग कारण जो कर्म उसका उदय होनेमें दुर्निवार राग, द्वेष, और मोहकी उत्पत्ति होती है, जिससे वह चारित्र प्राप्त त्याग कर बैठता है।

जैसे चांगेके मसुदायमेंसे छोटा गंम कुल्हाडीसे काट सकते हैं परन्तु ॥ उरगडकर- निःकालना अति-दुय कठिन है, जैसे मैचमीका घन जग नियमोंमें आसक्त होवा है तो उसमें उसको निकालना दुःसाध्य होना है। अर्थात् मनमें उत्पन्न हुए राग द्वेष नष्ट करना कठिन कार्य है, इस विवेचनका यह अभिप्राय है—रागद्वेषोंका पराजय रूपमें की क्षपकने प्रतिज्ञा की थी तथापि शरीरसेछलना करनेपर जब वह भूक प्यास वगैरह पनीरद्वेषि पीसित होता है और उसको सहन करनेका सामर्थ्य कम होवा है तब बुद्धिमानके गति मनकी एकाग्रता नष्ट होती है, बुद्धिमानमें एकाग्रता न होने में राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और वह क्षपक चारित्राराधनासे श्रुत होता है।

ऐसे समयमें यदि बहुभुज आचार्यका संगम प्राप्त होगा तो वे रागद्वेषोंकी उत्पत्ति न होगी ऐसा उपदेश देने हैं, शरीर और भोगोंमें पराग्य उत्पन्न होगा ऐसी कथायें उनको कहते हैं और चारित्राराधनामें उसको स्थिर करते हैं।

भोग और शरीर में पराग्य उत्पन्न करनेवाली कथा अर्थात् उपदेश इस प्रकार है—
नरकमें नारकीओंको दुःखही दुःख है, सुखका लेश भी वहाँ नहीं है, तिर्यच प्राणी, देव और मनुष्य इनको किसी प्रदेयमें किसी कालमें और किसी प्रकारसे बोगान्मा सुख मिलता है।

नाना दुषोनिमें अमण करनेवाले इस जीवन जो अपरिमित दुःख प्राप्त किया है वह इतना अधिक है कि आज्ञतक अनेक शरीर धारण कर इन्ने जितना सुख प्राप्त किया है उससे वह अनंत गुणित है, अर्थात् जितना सुख इस जीवने प्राप्तकर भोगा है वह भोगे हुए दुःखका अनंतवा भाग भी होना कठिन है,

इस जन्ममार्गमें यह एक जीव सुखेक एक मार्गसे कितने दिन भोगेगा, जैम यन्में अतिशय भयाकुल हरिण दुःखोंमें व्याप्त होनेमें मृगका जति अन्यकाल में ही बोगान्मा अनुभव लेता है।

जो मृग अनंतमार्गमें भ्रमण कर यह प्राणी प्राप्त करता है उसका एक भवमें यह प्राणी कितना हिस्ता प्राप्त कर लेगा यह विचारणीय है, जैम मेघोंका पानी लक्षणमयुद्धके पानीमें मिलकर सारा घन जाता है, वैसे इस जीवका अत्यन्त सुख दुःखमयिमें मिलकर दुःखरूप ही होजाता है।

इसी संसारमें जिसको लोक सुख यह नाम देते हैं, वास्तविक वह सुख है ही नहीं। वह केवल पूर्णकाल में उत्पन्न हुए दुःखोंको दूर करनेका इलाज मात्र है। प्रथमतः जो दुःख उत्पन्न होता है उसके इलाजको ही सुख कहते हैं। यदि प्रथम दुःख नहीं हुआ तो सुख की कल्पना भी उत्पन्न नहीं होगी।

तृष्णाका शून्य करनेकेलिये मनुष्य पानी पीता है, और भूख की चेदना नष्ट करनेकेलिये भोजन करता है। जल, हवा और द्रव्यसंतापका निवारण करनेके लिये लोक घरका, गुहाका आच्छादन करनेके लिये वस्त्रका, और निद्राका श्रम दूर करनेकेलिये शय्याका आश्रय करते हुए देखे जाते हैं।

रस्तेका श्रम दूर करनेके लिये पोदा, गादी वगैरह उपाय हैं। और श्रमसे उत्पन्न हुए स्वेदको हटानेका जलस्नान करना यह उपाय है। अथवा एकस्थान में स्वस्थ बैठना यह श्रम दूर करनेका उपाय है। दुर्गंधका नाश करनेके लिये सुगंधि पदार्थोंका सेवन करना यह उपाय माना जाता है। शरीरकी कुरूपता दूर करने के लिये अलंकारोंको धारण करना यह उपाय है। अरविको हटानेकेलिये कलाओंका अभ्यास करना यह सर्व प्रतिकाररूप होनेसे इसको ही लोक सुख समझते हैं। जैसे रोगसे पीडित मनुष्य रोगजन्य दुःखका प्रतिकार करनेकेलिये औषध ग्रहण करता है। देवोंके और मनुष्योंके भोग जिनको वे सुख रूप समझते हैं वे सब दुःखका प्रतिकार करनेमें केवल निमित्तमात्र ही हैं। पित्रप्रक्रांयसे जिसके सर्व अंगमें दाह हो रहा है वह मनुष्य शीतपदार्थोंका सेवन करता है उनको यदि वह अन्नानी भोग यह नाम देगा तो वह अन्नादिक पदार्थोंको भी भोग नाम देगा।

इस जगत्में पानी वगैरह पदार्थ सर्वथा सुख ही देते हैं ऐसी कल्पना करना भी भूलसे खाली नहीं है, इसलिये वे पदार्थ दुःखका प्रतिकार करनेवाले हैं इतना ही समझना चाहिये। उतमें भोगसंज्ञा करना योग्य नहीं है, जो अब भूलसे पीडित मनुष्यको सुखका कारण होता है वही लगभग मनुष्य को निपसमान हो जाता है। उष्णतासे पीडित हुआ मनुष्य जिन चीजोंको चाहता है वे चीजें शीतकालमें दुःखदायक होती हैं। इस जीवको चक्रवर्ती के सुखसे तृप्ति नहीं होती है। चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नके प्रभावसे देव मनुष्य और विद्याधरोंको जीतते हैं, उनके पास क्षयरहित नष्ट निधि रहते हैं, वे चौदह रत्नोंके स्वामी होकर दस प्रकार के योगोंका अनुभव लेते हैं तो भी उनसे उनका मन तृप्त होता नहीं।

देव भी देवोंगणाओंसे प्राप्त होनेवाले विषयसुखसे तृप्त होते नहीं हैं। देवोंका आयुष्य अनेक सगरोंका

रहता है. ये आमरण तरुण ही होते हैं. ये हमेशा देवांगनारूपी लतासमूहसे घिरे रहते हैं तो भी उनको इनसे उत्पन्न होनेवाले सुखसे तृप्त होती नहीं.

देवांगनारूपी लतामनकी आचार्य रस प्रकार निरूपणा करते हैं—

स्वामात्मिक अर्थात् जन्मसे ही साथ उत्पन्न हुये ऐसे दिव्य अलंकार, पुष्पमाला, दिव्यवस्त्र, दिव्य ऐश्वर्य-एतद्गुण संश्रयते यह देखीलवान्न सुंदर दीखता है. मन और नेत्रोंसे आल्हाद देनेवाले सौंदर्यपुष्पोंसे यह देखी-लतान्न सुल्लिप्त है.

इन लताओंको रिताम रूपी मनोहरता आवती है. कुछभारतारूपी नवीन कोमल अंकुर इनकी शोभा बढ़ाते हैं ये लतायें अपने शरीरके सुरांचमे दिगंगनाओंका मूल सुगंधित करती हैं. इनका अवरोधपक्ष्म सुंगके समान मनको तृप्ति बनाता है. ये लतायें कठिन, उन्नत अर्थात् पुष्ट और गोल ऐसे स्तनरूपी फलोंसे कमनीय दीखती हैं नदनरूप दाक्षिण पादके शक्रोंसे ये डुलती हैं, सुंदर चाटुरूपी सुंदर शालाओंसे मनोहर दीखती है. नभकीले दुर्ग के कमरपट्टारूपी लटके युक्त, क्षमजलसे भरा हुआ, ऐसे विशाल जपन रूपी तरोपारसे ये सोहती हैं. शब्द करनेवाले नूपुररूपी झरनोंसे फलफल शब्द करने वाली ऐसी देवांगनारूप लताओंसे घिरे होते हुए भी देव वृक्ष नहीं होते हैं. और भी अनेक भोग्य वदार्थोंने उनका मन तृप्त होता नहीं, यदि देवोंके मन इतनी सुलसाभंगी भिक्षुनेपर भी अनुत्त ही रहता है, तो मनुष्यका मन कैसा तृप्त होगा.

हीमतर पुराणदेवका जन्म उदय होता है तब वह असीके समान मनुष्यके मनको जलाता है. ऐसे समय रीतिभोगरूपी औषधमे भी उस मनकी जलन शांत नहीं होती है. रीतिभोगसे कायाग्रि अधिक ही प्रदीप्त होती है. रूप, तारुण्य, विलास, चतुरता, सोभाग्यादिकोयें एकसे दूसरी अधिक, दूसरीसे तीसरी अधिक ऐसी उत्तरोत्तर अधिक २ सुंदरी शिष्यां नजरमें आ जानेमे उनके संगमकी गन्धें अभिलाषा घडती है जिससे कामदेवना पुरुषको अधिक व्याकुल करती है.

कोई क्षिया अपने पतिव्रत त्याग करती हैं, अथवा मर जाती हैं अथवा वलवान पुरुष उनको हर कर ले जाने दे. अधया स्वयं यमके पानमे जकड़ा हुआ इन्द्रा न होते हुए भी स्त्रीको छोड़कर यममंदिरको जाता है.

मरनेकी अवस्थामें वह दीन पुरुष अपना मुख उधाड़कर, नेत्रोंकी टकटकी लगाता हुआ, रोनेमें जिसके नेत्रोंपर स्रजन और लालपना आगया है ऐसा होना हुआ अपनी प्राणप्यारीको छोड़कर चल बगता है।

स्फटिकमणिओंकी माला जैसा समीपके पदार्थका गुण ग्रहण करती है - वैसे स्त्रियोंके शरीर समीपस्थ व्यक्तिके गुणोंका ग्रहण करता है। संध्याकालीन मेनोको पक्ति लालरंगमें मनोहर दीखती है परन्तु उनका यह रंग शीघ्र ही नष्ट होता है वैसे स्त्रियोंका प्रेम उत्पन्न होकर शीघ्रही विलयको प्राप्त होता है। अर्थात् आज एक पुरुष पर उनका स्नेह साम जाता है तो कल ये दूसरोंपर प्रेम करेगी स्त्रीकी प्राप्ति होना भी दुर्लभ होता है। स्त्री, वस्त्र, गंध, माला वगैरह पदार्थ मिलनेपर समर्थ लोक जन-रदस्त्री से हर लेते हैं - इससे गम भय युक्त होता है, अर्थात् ये पदार्थ मेरे को प्राप्त हुए ह परन्तु कोई इसको ले तो नहीं लायगा ऐसा भय मनमें उत्पन्न होता है। ऐसा भय होनेसे ये पदार्थ आत्माको सुखदायक होते नहीं। इनकी प्राप्ति के लिए खेती वगैरह छह कर्म करने पड़ते हैं। इन पदार्थोंमें संपत्तिकरूपी फल प्राप्त होगा ही ऐसा नियम नहीं है और इनमें परिश्रम बहुत करना पड़ता है, इनमें हिंसादिक पापक्रिया करनी पड़ती है और ये कर्म अन्तमें दुर्गति की प्राप्ति में कारण होते हैं ऐसा उपदेश देकर बहुश्रुत आचार्य क्षणको भोगोंसे विरक्त करते हैं। शरीरका भी वास्तविक स्वरूप दिखाकर आचार्य विरक्त करते हैं—

यह करीर अविव्रताका निधान है अर्थात् इसके संपूर्ण अवयव अपवित्र पदार्थ से ही बने हैं, यह शरीर आत्माके ऊपर लदा हुवा मानो बोझाही है, इसमें एक भी पदार्थ सारयुक्त नहीं है यह अनेक संकटोंमें चिरा रहता है, रोगरूपी धान्यकी उत्पत्तिका यह स्थान है अर्थात् इसमें अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, चूड़ापरधारूपी पिच्छा-चिनीका यह भण्डानगृह है, मान्यकुलमें पैदा हुआ, विशाल-श्रीतिथुक्त, ओग शुणी ऐसा भी मनुष्य दरिद्री होनेपर इस शरीरका पोषण करनेके लिये नीच कर्म करता है, श्रीमानोंके आगे दोहता है, उनके संदेश एक स्थानसे दूसरोंको पोहोचाता है, और उनका उन्मिष्ट भोजन खाता है, इस विषयमें पूर्वाचार्य ऐसा कहते हैं—

इस शरीरके अंदर, बाहर और मध्यमें भी कुछ भी सारभूत वस्तु नहीं है, जिसको मन स्वीकार करेगा अर्थात् जब हम देहके स्वरूपका मनसे विचार करते हैं तो उसमें कोई सारभूत पदार्थ दीखता नहीं, इसप्राप्ति सारत्र विद्वान् तुच्छजनोंने कामधुनिके लिये पसंद किया हुए इस देह की इच्छा नहीं करते हैं,

हैं, रोगोंसे उत्पत्ति अर्थात् कारण पाप है और यहिरण कारण वातादिकोंका प्रकोप होना यह है, इन रोगोंसे यह देह पीडित होता है, दुःखोंको कारणभूत यह देह नाशवंत है ऐसा समझकर है आत्मन् अर्थात् वे क्षपक! हैं अनेक प्रकारसे धर्मसाधन कर, यह देह रक्त और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है, क्षिपिल इष्टिओंसे— इष्टिरूप खंभोंसे इस देहकी रचना हुई है, स्नायुओंसे यह सर्व तन्मय अकड़ा हुआ है, शिराओंसे वीर्य है, मांस, रक्तस्त्री पानी और कीचड़से यह लिपा गया है, इस देहमें रोगोंसे निवाह किया है, ऐसे शरीरको कोन स्पर्श करेगा, इस तरह शरीरनिर्जनी कथा कह कर आचार्य क्षपकको चारित्र्यमें स्थिर करते हैं,

गवित्थपादमूले होंति गुणा एवमादिया बहुणा ॥

ण य होइ संकिलेसो ण चावि उप्पज्जन्ति विवत्ती ॥ ४४७ ॥

विजयोद्या—गीतपत्रमूलें शरीरार्थसे बहुभुतत्वं पादमूले । होंति बहुणा गुणा गवित्थो पुण सधगस्स शोषपमाविश्वपंचमनिर्दिष्टः । ण य होइ संकिलेसो भेष भवति संक्षेपः । ण या वि उप्पज्जन्ति विवत्ती न वात्पचत्ते वि- पद्मरत्नमदस्य । तस्मादाधारवामाचार्यः उपाधवणीयः शत्रुपक्षेदादः । इति आधारव्यं ॥

गूलारा—विवत्ती रत्नमदविनाशः । आधारव्याम् ॥

अर्थ—जो आचार्य धर्माध्यक्ष है उसके चरणके समीप जो क्षपक समाचर्य रहेगा उसको उपर्युक्त गुणोंकी प्राप्ति होती है, उसको संक्षेप परिणाम नहीं होगा और रत्नत्रयमें कुछ वाया भी उपस्थित नहीं होगी, इस लिये आधारगुणयुक्त आचार्यका आश्रय लेनाही क्षपकके लिये योग्य है, इस प्रकार आधारवत्त्व गुणका वर्णन हुआ,

व्यवहारवत्त्वविकल्पयोः सरगमाया—

पंचविद् व्यवहारं जो ज्ञानइ तत्त्वदो सवित्थारं ॥

बहुसो य दिष्टकथपटवणो व्यवहारवं होइ ॥ ४४८ ॥

ज्ञानाति व्यवहारं यः पंचमंदं सविस्तरम् ॥

दत्तालोक्तिशुद्धिश्च व्यवहारी स भण्यते ॥ ४४९ ॥

विजयोदया—पंचविहं ववहारं पंचप्रकारं प्रायश्चित्तं । ओ जाणहि तच्चदो सवित्थारं यो जानाति तत्त्वतः सविस्तरं । चतुस्रो ऽ विदुः कदपदुवणो यदुसस्व दृष्टकृतप्रस्थापनः । आचार्याणां प्रायश्चित्तदानं दयं, स्वयं चान्द्रेणं दत्त-प्रायश्चित्तं । ववहारयं होदि व्यवहारयाम् भवति । पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तश्रुतता दशैता, कर्मदर्शनं कर्माभ्यासश्च प्रख्यापित । अशास्त्रो योर्लक्षितश्चादान्यतमनोऽभिलषितं । ऽ तेन, शुद्धयति, शास्त्रशोऽप्यदृष्टकर्मा, सुविपादयेति । ततो ज्ञान कर्मदर्शन, कर्माभ्यास इति तयो गुणा यस्य स व्यवहारोऽनिर्मुच्यते ॥

व्यवहारवचं गाथासमेकेन वस्तुकास प्रथमं प्रायश्चित्तज्ञानकर्मदर्शनकर्माभ्यासलक्षणमुपनयनं उपयहार-यन्तं निर्दिशति—

यूलाग—ववहारं प्रायश्चित्तं । विदुः कदपदुवणो दृष्टमाचार्यैः क्रियमाणमप्यथारितं । छुडमारमता, स्वस्य परस्य वा प्रयुक्तं प्रस्थापनं प्रायश्चित्तदानं येन स दृष्टकृतप्रस्थापनः । अशास्त्रो हि यत्किंचन प्रायश्चित्तं ददाति न च येन परः शुद्धयति । शास्त्रशोऽप्यदृष्टकर्मा कर्मसु विषयमेति ॥

अर्थ—पांच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तर जानते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त देते, हुए अन्य आचार्योंको देखा है और स्वयं भी जिन्होंने दिया है ऐसे आचार्योंको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं, इस गाथाके पूर्वोक्तमें आचार्योंकी प्रायश्चित्तज्ञता कही है और उत्तरार्धमें प्रायश्चित्त देते हुए देखना, प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास करना इन गुणोंका उल्लेख किया है, प्रायश्चित्तज्ञासका ज्ञान यदि न हो तो जो मनमें आया सो प्रायश्चित्त देगा अतः आचार्य प्रायश्चित्त ही होना चाहिए, चाहे जो प्रायश्चित्त देनेमें अपराधकी शुद्धि नहीं होती है, प्रायश्चित्तज्ञासका ज्ञानकार होवे हुए भी यदि प्रायश्चित्त देते हुए किसीको नहीं देखनेसे प्रायश्चित्त देने समय घबड़ाहट पैदा होती है, इसलिये, प्रायश्चित्तका ज्ञान, प्रायश्चित्तदानदर्शन और प्रायश्चित्त देने का अभ्यास ये तीन गुण जिसमें है ऐसे आचार्य को व्यवहारवान् आचार्य कहेंगे हैं.

कः पंचविधो व्यवहारः, ओ पा विस्तर इत्यादौकानां तदुभयं निरूपयति—

आगमसुद आणाधारणाय जीवेहिं हुति ववहारा ॥
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ॥ ४४९ ॥

व्यवहारो यतो जीवधृतशामधारणा ॥

एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा श्रेया विस्तरवर्णना ॥ ३६१ ॥

विषयोदया—आगमसुद आभाधारणा य जीवेदिं हुंति क्वहारा आगमः, श्रुते, आह्वा, धारणा जीव इति व्यवहाराः पंच । यदेति एतेषां आगमादीनां । परूषणा कीदृशी ? सवितथारा विस्तरसहिता । सूत्रनिर्दिष्टा सूत्रेषु चिन्तित भेषु निर्दिष्टा । प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामप्रतोऽकथनीयत्वाऽऽत्मावतरे च निर्दिष्ट्याविह नोज्यते । उक्तं च—

सत्वेण वि जिनबचनं सोदन्तं सद्विषयं पुरिसेण ॥

छेदसुदस्त इ अत्थो ण होदि सत्त्वण जादव्वो ॥ इति ॥

पंचविधत्वं व्याचष्टे—

मुञ्जारा—आगम एकादशांगीकं प्रायश्चित्तं । सुदं चतुस्सपूर्वाङ्कं । आणा स्थानोतरित्येतेन अन्याचार्येण स्थानांतरस्थितेन अन्याचार्येणा । ओषितस्य स्वगुणोपस्य स्पेसिचित्तस्य दस्ते भेषितं । धारणा एकाको र्बपावलपरिहीणः संज्ञावदोपस्तथैव दिशतः पूर्वोपधारितं प्रायश्चित्तं कथयति । जीवः द्वासेतविपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्तं संप्रतिष्ठाचार्ये शास्त्रीकं जीव इत्यन्ये । विरथारा विस्तरसत्त्वा । विस्तरमाश्रित्य । परत्त्वणा निर्णयः । सूत्रनिर्दिष्टा सूत्रेषु चिन्तितेषु निरूपिता बोद्धव्या ।

अत्र तु नोत्ता प्रायश्चित्तस्य सर्वजनानामप्रतोऽकथनीयत्वात् ॥ उक्तं च—

सत्वेण वि जिनबचनं सोदन्तं सद्विषयं पुरिसेण ॥

छेदसुदस्त इ अत्थो ण होदि सत्त्वण सोदव्वो ॥

पांच प्रकारके व्यवहार कीनसे और उनका विस्तार कीनसा है इस प्रश्नका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आगम, श्रुत, आह्वा, धारणा और जीव ऐसे प्रायश्चित्त के पांच भेद हैं. इनका सविस्तर वर्णन माचीन आचार्योंने द्वादशग्रंथोंमें सविस्तर किया है. प्रायश्चित्तका वर्णन सर्व लोगोंके समझे करना योग्य नहीं है. अन्य धार्मांतरमें इसका खुलासा किया है अतः यहां हम उसका निरूपण नहीं करते हैं.

अन्यत्र प्रायश्चित्त के विषयमें ऐसा उल्लेख मिलता है—

श्रद्धावानं सर्वं पुरुष जिनबचनं सुन सकते हैं. परन्तु प्रायश्चित्तशास्त्रका अर्थ सर्व लोगोंको जानने का अधिकार नहीं है.

न्यवद्वारवानसौ परलोचितापरधस्य कथं प्रायश्चित्तं ददातीत्याशङ्कयां प्रायश्चित्तदानक्रमनिरूपणाय
माथाश्रयम्—

दृढं सैत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं ।
संघदर्शनं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥ ४५० ॥
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय कालं भावकृतोद्यमम् ।
सम्यक्संहरनमुत्साहं पर्यायं पुरुषं धृतम् ॥ ४६२ ॥

विजयोक्त्या—दृढं केत्तं कालं भावं करणपरिणाममुच्छाहं द्रव्यमित्यादीनां विश्रित्येत्येनैव संबन्धः । तत्र द्रव्यं
त्रिदिशं सच्चिदानन्दित्वं मिथ्यामिति । कृपेयी, आपस्तेजो धातुः, प्रत्येककायाः, अन्तर्कायाः, त्रसाश्चेति सच्चि सद्रव्यमित्युच्यते ॥
मृणफलनादिकं जीर्धनुन्मित्रं अविच्छिन्नं । संसक्तं उपकरणं मिथं । एवं त्रिदिशा द्रव्यप्रतिसेवना । वर्षास्तु क्रोशाख्यगमनं अर्थयोजनं
वा । ततोऽधिकश्रेयसगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना ॥ अथवा प्रतिविद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्यगमनं, ततो रक्षणीया-
गमनं । तस्याखौ यवातिश्रोतः । उन्मार्गेण वा गमनं । अतः पुरप्रवेशः । अननुज्ञातगृहभूमिगमनं । इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवा ॥
आवश्यककालावस्थान्मन्त्राले आवृत्त्यकरणं । वर्षावाप्रहातिक्रमः । इत्यादिना कालप्रतिसेवना ॥ दर्पः, प्रमादः, अनामोमः
मर्दः, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भवत्येव ॥ एवमपराधनिदानं ज्ञात्वा प्रायश्चित्तं प्रकृतेर्देव्यादिकं ज्ञात्वा रत्नवकुलं,
धान्यवकुलं, शाक्यवकुलं यवागृन्नाकामित्रं वा पाशकमेव चेवाहरे द्रव्यपरिज्ञानं ॥ प्रायश्चित्तमाचरतः अनुपलोमलसाधार-
णक्षेत्रपरिज्ञानं । धर्मशीलाधारणमालङ्घनं । क्षमाभार्दवार्जवसंतोषकादिकं भावं । क्रोधादिकं वा करणपरिणामं ।
प्रायश्चित्तक्रियायां परिणामं । सङ्ख्यासार्वभौमं । किमयं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तः उत यशोर्थः, लाभार्थमुत फलनिर्जराधे इति ॥
उच्छाहं उत्साहं । संघर्षं शरीरयत्नं । परिषाद्यं प्रमत्त्याकालं आभामं । अल्पं धृतमस्य षड् वेति । पुरितं जातादतो मयास्त-
रंगः इत्येवमादिनं चिकन्त्यं न ज्ञातया ॥

प्रायश्चित्तदानक्रमं माथाश्रयेनाह—

मूलरा — दृढं सचित्तं द्रव्यीकयाधिकारिकं । अविच्छिन्नं मृणफलकादिकं । मिथे संसक्तमुपकरणं । त्रिदिशा
द्रव्यप्रतिसेवना ॥ रत्तं वर्षास्तु साधूनां क्रोधं द्विक्रोशं वा गमनं इष्टं । ततोऽधिकक्षेत्रगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । जयवा निपि-
च्छेत्रं विरुद्धराज्यछिन्नालुन्मार्गान्द्रव्यस्तुज्ञातगृहभूमिक्षेत्रादिकगमनं क्षेत्रप्रतिसेवना । कालं आवश्यककालवर्षावप्रहा-
सधिक्रमः कालप्रतिसेवा । भावं दर्पप्रमादनामोगमयाभिका भावप्रतिसेवा । एवं द्रव्यप्रतिसेवनादिद्वारेणपरधनिदानं
विज्ञापेति संबन्धः । करणपरिणामः । प्रायश्चित्तानुष्ठानपरिषति । किमयं सहसंवासार्थं प्रायश्चित्ते प्रवृत्तं उत यशोऽर्थं किवा

ह्यभाधं उत कर्मनिर्जगर्धमिति विज्ञाय । उच्छाहं प्रायश्चित्तं प्रत्युयोगं । संपदं शरीरबलं । परित्याग प्रधन्यकाल परिमाणं । ज्ञातम अलं धृतमस्य बहु मेति । पुरितं वैराग्यपरो न वेति वा विज्ञाय ॥

दूसरीने आलोचना कर कहे हुए अपराधोंका प्रायश्चित्त देनेका व्यवहारवान् आचार्यका क्रम दो गायार्थोंमें आचार्य कहते हैं.

अर्थ—द्रव्यके सचित्द्रव्य, अचित्त द्रव्य, और मिथ द्रव्य ऐसे तीन भेद हैं. शुक्ति, पानी, अग्नि, हवा, प्रत्येक फाय बनस्पति, अनंत धातु वनस्पति और इनजीव इन जीवोंको सचित्त द्रव्य कहते हैं. तृणका संस्तर, फलक वगैरे पदार्थ अचित्त द्रव्य हैं. जिसमें जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणोंको मिथ द्रव्य कहते हैं. ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं.

पर्याकालमें आधा फोस, आधायोजन मार्ग दुनि जा सकते हैं परंतु उससे अधिक वे गमन करें तो वह प्रायश्चित्त होता है यह क्षेत्र प्रतिसेवा है. जहां जाना निषिद्ध माना है ऐसे स्थानमें जाना, बिल्द्वराज्यमें जाना, जहां रस्ता टूट गया है ऐसे प्रदेशमें गमन करना, यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. उन्मार्ग से जाना, अंतःपुरमें प्रवेश करना, जहां प्रवेश करनेकी परधानगी नहीं है ऐसे गृहके जर्मनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवना है. (ततो रक्षणीयामनं, तस्मादहो यदातिक्रान्त.) इन पदोंका अर्थ लगाता नहीं.

गामाधिक्य प्रतिक्रमणादिक छह आवश्यकोंका जो काल नियत है उसको उल्लंघनकर अन्यकालमें सामायिकादिक करना. वर्षाकालयोगका उल्लंघन करना यह कालप्रतिसेवना है, दर्य, उन्मत्ता, असावधानता, साहस, भय इत्यादिरूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना मायप्रतिसेवना कहते हैं. इस प्रकार अपराधके कारण पदार्थोंका स्वरूप जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिये. प्रायश्चित्त देनेवालोंको आहारके पदार्थोंका भी ज्ञान होना आवश्यक है. कोई आहार रसयुक्त रहता है. अर्थात् उसमें गन्ध का प्राधान्य रहता है. कोई आहार घन्यप्रचुर रहता है. किसी आहारमें शाफकी मुख्यता होती है और किसीमें लापसी और शाफकी मुख्यता होती है. कोई आहार पेयपदार्थरूप पतला रहता है. ऐसे आहारके पदार्थोंका भी प्रायश्चित्तदाताको ज्ञान होना चाहिये.

प्रायश्चित्त करनेवालोंको और देनेवालोंको अनूप, जंगल और साधारण इन प्रदेशोंको ज्ञान होना चाहिये. जिस देशमें पानीकी विपुलता है उसको अनूपदेश कहते हैं. वन पर्वतादिक जिसमें दे और कम घुटि होती है उस

देशको जांगल देश कहते हैं. दोनों देशोंके लक्षण जिसमें है उसको साधारण देश कहते हैं. उष्णकाल, शीतकाल और साधारणकाल इसका भी ज्ञान होना आवश्यक है.

क्षमा, मर्दान, अर्जुन, संतोषादि परिमाणोंको मात्र कहते हैं. क्रोधादिक विकारोंको भी परिणाम कहते हैं प्रायश्चित्त क्रियामें परिणाम और सहचान इनका भी ज्ञान होना चाहिये. यह मुनि भेरा यज्ञ हो ऐसा अभिप्राय धारण ॥ प्रायश्चित्त लेनेमें प्रवृत्त हुआ है अथवा लभके लिये किंवा कर्मनिर्वारके लिये प्रवृत्त हुआ है इत्यादि हेतु जानलेना भी आचार्य के लिये आवश्यक है. प्रायश्चित्त लेनेवालेका उत्साह, शरीरसामर्थ्य, दीक्षाकाल, आगम-ज्ञान, अर्थात् यह आगमका अल्पज्ञाता है अथवा बहुज्ञाता है इत्यादिक बातोंका ज्ञान कर लेना भी आवश्यक है.

मोक्षचूण रागदोसे ब्रह्महारं पट्टवेष्ट सो तत्स ॥

ब्रह्महारकरणकुसलो लिणवयणविसारदो धीरो ॥ ४५१ ॥

रागद्वेयापपाकृत्य ब्रह्महारविसारदः ॥

ब्रह्मबहारी ददात्यस्मै प्रायश्चित्तं विधानतः ॥ ४५३ ॥

विजयोदया—मोक्षचूण लक्षणा । रागदोसे रागं द्वेयं च गन्धस्थः स्तभिति यावत् । ब्रह्महारं पट्टवेष्टि सो तत्स प्रायश्चित्तं ददाति स सूरिस्त्वस्मै । ब्रह्महारकरणकुसलो प्रायश्चित्तदानकुशलः । लिणवयणविसारदो निबन्धनीति मार्गमे निपुणः । धीरो धृतिमान् ॥

मूलरा—पट्टवेष्टि ददाति ॥

अर्थ— निबन्धनीति आगममें निपुण, वैधवात्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐस आचार्य राग और द्वेयभावना छोड़कर अर्थात् गन्धस्थ भाव धारण कर अपराधी मुनिको प्रायश्चित्त देते हैं.

अज्ञात्वा प्रायश्चित्तग्रन्थं यो ददाति तस्य दोषं संकीर्तयत्युत्तरगाथा—

ब्रह्महारमयान्तो ब्रह्महारिणजं च ब्रह्मरतो शु ॥

उत्सीर्यादि भवपके अयसं कम्मं च आदियदि ॥ ४५२ ॥

न्यवहारपरिच्छेदी न्यवहारं धदाति यः ॥
अवाप्यासौ यज्ञो घोरं संसारप्रवाहते ॥ ४६५ ॥

विजयोदया—यवहारं अयवहारं तो प्रायश्चित्तं ग्रंथतोऽर्थवत्त्व कर्मतदन्वाविधानम् । यवहरणिलजं च व्ययन्त्रियते अतिचारविनाशाभिनेति व्ययवहणीयमानोचनाधिकं प्रायश्चित्तं इति नवधा । यवहरं तो प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति । क भवपंके । अस्सत् आदिपदि अयश्चः तुंडाचार्योऽयं यस्त्वेव ददाति नायं परं शोधयति । संसारमीरयतिजनं वृथैव हेरा- दति इति । कर्म न आदिपदि यन्नाति कर्म दर्शनमोहनीयारूपं उन्मार्गोपदेशात् सन्मार्गविनाशनाश । तस्मादहो न ददात्प्रायश्चित्तमिति स्वार्थः । अवाप्यासमिव शिक्षा । ययमाचार्यो यदस्माभिर्देत् तदिदं कुर्विति यकिंजन न वक्तव्यम् । शुक्लरहस्याः प्रायश्चित्तसूत्रे यत्प्रयमिति ॥

शाकनक्षारना प्रायश्चित्तं ददतो दोषमाह —

मूछारा — अजलं तो ग्रंथतोऽर्थतः कर्मतदन्वाविधानम् । यवहरणिलजं व्ययन्त्रियते अतिचारविनाशाभिभिरुद्धी- यते इति व्ययवहणीयमानोचनाधिकं प्रायश्चित्तम् । यवहरं तो प्रयच्छन् । उस्सीयदि अवसीदति स्त्रियते । अजलं तुंडाचा- र्योऽयं यस्त्वेव ददाति नायं परं शोधयति संसारमीरं यतिजनं वृथा क्लेशयतीत्यकीर्तिः । कर्म दर्शनमोहनीयारूपं कर्म यन्नाति उन्मार्गोपदेशतत्सन्मार्गविनाशनाश । आदिपदि स्वीकरोति ॥

प्रायश्चित्तके ग्रंथको जानकर प्रायश्चित्त देना यह अयोग्य है ऐसा वर्णन—

अर्थ—ग्रंथके, अर्थात् और कर्मसे प्रायश्चित्त का स्वरूप जिसको मास्स नहीं है वह पुनि यदि आलोचनाविक नठ प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगना तो वह संसारके क्षीयकमें फसेगा अर्थात् संसारमें भ्रमण करेगा और अगतमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. यह तुंडाचार्य है अर्थात् चाहे जो प्रायश्चित्त मुलसे देता है. कोनसा प्रायश्चित्त किस अपरा- धके लिये देना चाहिये इसका तो इसको कुछ भी ज्ञान यदि नहीं है तो यह मुनिओंको कैसा अपराधसे मुक्त करेगा. संसारमीर मुनिओंको यह न्यर्थ ही छेड़ देता है. देखी लोकमें उसकी अकीर्ति फैलेगी. मनमें जो प्रायश्चित्त देनेका विचार आया सो दिया ऐसा करनेसे जिनासाका उल्लंघन हो जाता है. उन्मार्गका उपदेश करनेसे व सन्मार्गका नाश करनेसे उसको दर्शनमोहनीय कर्मका बंध होता है. इसप्रकार जब मुनि प्रायश्चित्त देनेका प्रयत्न न करें ऐसा आचार्य के प्रति यह उपदेश है. अर्थात् हम आचार्य हैं हमने जो प्रायश्चित्त दिया है वह तुग करो ऐसा नहीं कहना चा-

हिए, जिन्होंने प्रायश्चित्तयात्रा को जान लिया है ऐसे आचार्य प्रायश्चित्त देते समय सत्वधानी रसकर प्रायश्चित्त देवे निमेषे अत्रता दोष नहीं लगेगा.

अह ण करोदि तिग्गिच्छं वाधिस्स तिग्गिच्छओ अणिम्मादो ॥

ववह्वारमयाणंतो ण सोधिकामो विसुब्बोइ ॥ ४५३ ॥

उपवह्वारायुधः शस्त्रो न विशोधयितुं परम् ॥

किं चिकित्सामजानानो रोगघ्नरत्नं चिकित्सति ॥ ४५५ ॥

विजयोदया—यदि नाम सुपरा मुग्धनपश्चिज्जनपरिदुल्लभमानेनोपजाताहंकारा मूर्खलोकेनाहताः संति सूर-
पस्ते भयङ्किः दुरुपप्यं न वीरुनीयाः इति शिक्षयति—जह ण करोदि तिग्गिच्छो नो ईसो । अणिम्मादो अणिपुणः ।
तथा तथा । ववह्वारमयाणंतो प्रायश्चित्तयात्रा न स्मृतिः । सोधिकामो रसनयजुस्वभिलाषः । ण सोधेदि खु न शोधयत्येव ॥
ये नाम सुपरा मूर्खः बहुविषयपरिदुल्लभमानेन प्रहृष्टाहंकारा मूर्खलोकेनाहताः संति सूरपस्ते भयङ्किः
दुरुपप्यं नोपाश्रयणीया इति शिक्षयति—

मूखरा - तिग्गिच्छं दधिकारं । तिग्गिच्छओ वेधः । अणित्सदो अनिष्णातः । अणिपुणः । खु सोधेदि शोधयत्येव ।
अप्यं—जो आचार्य सुखर है अर्थात् वाचाल है, मूर्ख व नवीन शिष्योंसे वेष्टित होनेसे जिनको अभिमान
उत्पन्न हुआ है, मूर्ख लोगेंसे जो पूजनीय हो रहे हैं ऐसे आचार्यका आश्रय हे क्षपक ! तुम अपराधशुद्धीके लिए
कदाचित् भी न करो ऐसी शिक्षा इस गायामें दृष्टांतपूर्वक कही है यह इस प्रकार—जैसे अज्ञ वैद्य रोगका स्वरूप
जानता नहीं है जतः वह अनियुक्त होनेसे रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता है, वैसे जो जो आचार्य प्रायश्चित्त
ग्रंथके ज्ञानकार नहीं है वे यद्यपि रत्नत्रयकी निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी उसको निर्मल नहीं कर
सकते हैं.

तस्मा णिव्विसिदब्बं ववह्वारवदो हु पादमूलमि ॥
तस्य हु विज्जा चरणं समाधिसोधी य पियमेण ॥ ४५४ ॥

ततः समीपे ज्येष्ठहरयेदिनाः स्थितिविधिया क्षणकेण चीमता ॥
सिसिधुणा योधिसमाधिपादपौ मनीषितानेकफलप्रदायिनौ ॥ ४६६ ॥

इति ज्येष्ठहारी ।

विजयोदया—तच्छा निमित्तस्त्रिदशं तस्मात्स्यातव्यं । यद्वाहवदो ज्येष्ठहाराखतः एव । पादमूलमि पादमूले ।
तस्य च तम ज्येष्ठहाराखतामूले । विजया विद्या ज्ञानं भवति । चरणं समाधि सोपी य चारिष्य समधिष्य शुद्धिष्य ।
नियमेन निदधेन भवति । यद्वाहवः ॥

प्रकटयुपसेहरति—

मूलारा—विभिसिदशं अवश्यं स्यातव्यं । ज्येष्ठहाराखतः ॥

अर्थ—इसलिए क्षणके प्रायश्चित्तजु आचार्य के पासही निवास करना चाहिए. उनके पास रहनेसे ही
ज्ञानप्राप्ति होती है, चारिष्यप्राप्ति होती है और ज्ञानसे एकाग्रता और आत्मशुद्धि निश्चयसे होती है. इस प्रकार
आचार्यके व्यवहारख गुणका कर्णन किया है.

पशुब्धी क्तस्याचष्टे—

जो निष्कस्वणपवेसे सेरजासंथारखवधिसंयोगे ॥

ठागणिसेज्जागासे अगदूण विक्किचणाहारे ॥ ४५५ ॥

प्रवेशे निर्गमे स्थाने संस्तरोपधिदोषने ॥

उद्वर्त्तने परावर्त्ते शय्यायासुपवेशने ॥ ४६७ ॥

विजयोदया—जो निष्कस्वणपवेसे यों यः सृष्टिः क्षणकस्य वस्तुतेर्निःक्रमेण प्रवेष्टे वा । सेरजासंथारखवि-
संयोगे वसते; संस्तरोप, उपकरणस्य शोषने । ठागणिसेज्जागासे स्थाने, निषद्यावकाशे, अगदूणविकिचणाहारे
शय्याया, शरीरमलाहरणे, भक्तपानदोषने च ॥

प्रकारकत्वं गायत्र्यनुष्ठेन व्याचष्टे—

मूलारा—संयोगे शोषने । निसेज्जोगासे उपवेशनावकाशे । अगदूणविकिचणाहारे कच्छाया शरीरमलापहरणे

भक्तपानदोषने च ॥

अब आचार्य के प्रकुर्वित्व नामक गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—क्षपक जब वसतिकामे प्रवेश करता है अथवा चाहता है उस समयमें, वसतिका, संस्कार, और उपकरण इनके शोधन करनेके समय में, खड़े रहना, बैठना, सोना, शरीरगल दूर करना, आहारपानी लाना इत्यादि कामों में जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करता है उसको प्रकुर्वी कहते हैं. इत्यादिकार्यके करते समय आचार्य मनमें लुगुप्ता नहीं करते हैं.

अबमुज्जदचरियाए उक्कारमणुत्तरं वि कुब्बंतो ॥

सव्वावरसत्तीए वट्टइ परमाए भत्तीए ॥ ४५६ ॥

उत्तयापने मलत्थाने सर्वन्न विधिकोविदः ॥

परिचर्याविधानाय शक्तितो भक्तितो रत्तः ॥ ४६८ ॥

विक्रयोक्ता—अबमुज्जदचरियाए क्षपकस्य लघुघतचर्याया उपकारं अनुग्रहे हस्तगलेयनादिक । अणुत्तरं पकुर्वन्तो उत्कृष्टे प्रकुर्वन् । सत्त्वावरसत्तीय सर्वावरशक्त्या । भत्तीए भक्त्या । परमाए उत्कृष्टया । वट्टवि वर्तते । स मकुर्वकः स्मरिर्भयति इति संकेतः ॥

मूलाए—अबमुज्जदचरियाए पंडितभरणोपक्रमे । सव्वावर सर्वप्रयत्नेन ॥

अर्थ—उपयुक्त कार्यमें मकुर्वी गुणके धारक आचार्य हाथसे अवलंब देना योग्य द्वारा क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं. यह अनुग्रह भक्तिपूर्वक और उत्कृष्टतासे करते हैं.

इय अप्पपरिस्समगणिता खवत्तस्स सव्वण्डिचरणे ॥

वट्ठंतो आयरिओ पकुब्बओ णाम सो होइ ॥ ४५७ ॥

आत्मश्रममनालोच्य क्षपकस्योपकारकः ॥

प्रकारको मतः त्वरिः स सर्वावरसंयुतः ॥ ४६९ ॥

विजयोदया—एष एवं । क्षणपरिस्समं आत्मपरिश्रमं । अगणिता अपरिगण्य । रघयस्स आराधकस्य । सच्चरित्रचरणे सर्वशुश्रूषायां । बह्वतो वर्तमानः । भागस्त्रिजो आचार्यः । पशुज्वो नाम प्रकुर्वको नाम । होदि ॥ भवति । पकुन्वीरदं ॥

मूला—सन्वपद्विचरणे सकलशुश्रूषायां । पकुज्वगो प्रकारकः ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षपककी सर्व प्रकारकी शुश्रूषा आचार्य करते हैं. उसमें बहुत परिश्रम पड़ने पर भी वे शिच नहीं होते हैं. ऐसे आचार्य को प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं, इस प्रकार प्रकुर्वी आचार्य का स्वरूप कहा है.

क्षपकशिक्षावदा भाषा—

खवओ किलामिदंगो पडिचरयगुणेण गिन्वुदि लहइ ॥

तस्सा गिन्विसिदव्वं खवएण पकुज्वयसयासे ॥ ४५८ ॥

निपीळ्यमानः क्षपकः परिपहैः सुखासिकां याति सहायकौशलैः ॥

यतस्तत्तस्तेन समाधिमिच्छता निपेयणीया गुरवः प्रकारकाः ॥ ४७० ॥
इति प्रकारकः ।

विजयोदया—क्षयगो क्षपकः । किलामिदंगो ग्लानशरीरः । पडिचरयगुणेण शुश्रूषागुणेण, गिन्वुदि लहइ खुले लभते । खवणेण क्षपकेण । पकुज्वयसयासे विनयकारिणः समीपे । पशुज्वीरदं ॥

प्रकारकस्तभीरनिष्ठासाय क्षपकं शिक्षयसि—

मूला—गिलामिदंगो ग्लानशरीरः । पडिचरियगुणेण प्रविचारकोपचारेण । गिन्वुदि सुखं ॥ प्रकारकः ॥

आगे क्षपकको उपदेश देते हैं—

अर्थ—रोमसे प्रसिद्ध क्षपकमुनि आचार्यके द्वारा की गई शुश्रूषासे सुखी होता है. अतः क्षपकको शुश्रूषा करनेवाले आचार्यके पास ही रहना श्रेयस्कर है. प्रकुर्वी गुणका वर्णन समाप्त हुआ.

स्वययस्स तीरपत्तस्स वि गुरुगा होंति रागदोसा ह ॥

तम्हा दुहादिण्हिं य स्वयस्स विमोचिया होइ ॥ ४५९ ॥

अस्ति तीरं गतस्यापि रागद्वेपोदयः परः ॥

परिणामश्च संकिलष्टः क्षुत्तृष्णाविपरीपदैः ॥ ४७१ ॥

विलयोदया—जयगस्स क्षणकस्य ः तीरपत्तस्स वितीरं गतस्यापि। रागदोसा गुरुगा होंति रागद्वेपो गुरु तीमो भणत । तम्हा दुहादिण्हिं य क्षुत्तिपासादिभि परीपदेद्व कागणभूते । जययस्स क्षणकस्य विसोचिया होइ अशुभय रिणामो जायते ॥

आयोपायविदेशित्वं पंचदशविर्गाभिः ऋषयिबुक्तानः प्रथमं गायत्र्यवसुष्टयेन तल्लक्षणमाह—

मूलारा—गुरुगा तीजाः । विसोचिया अशुभपरिणामिः ।

आचार्यं मे आयोपाय दर्शनं नाम का गुण होता है उसका निरूपण करनेके लिये आगेका प्रबंध—

अर्थ—क्षणकमुनि मोक्षप्राप्ति होनेके निकट समय को प्राप्त हुआ हो अथवा मनुष्यपर्यायका का नाश होने के समयको प्राप्त हुआ हो तो भी उसके जंत करणमें तीव्र रागद्वेष उत्पन्न होने की संभावना होती है, क्योंकि उस समयमें उसको धुदादि तीव्र परिणामों अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं.

योगादृष्टुण पूर्वं तप्पडिक्खं पुणो वि आवण्णो ॥

स्वयमी तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो ॥ ४६० ॥

आलोचनं प्रतिज्ञाय पुनर्विप्रतिपद्यते ॥

लज्जते गौरवाकांक्षी स तां कर्तुमपास्तधीः ॥ ४७२ ॥

वितथोदया—योगादृष्टु, पुन जयज्याविक्रमेण तद्विपर्यायसत्तं स्तनयातिचारं निवेदयामीति पूर्वं प्रतिज्ञाय । तप्पडिक्खं तस्यापराधजत्याध्यापनस्य प्रतिपक्षेण निवेदन । आवण्णो आपन्न प्राप्त । रागयो तं तह आलोचेदुं लज्जेज्ज गारविदो क्षणकलमपराध तथा त्यागतिक्कमेण यद्विदुं जिन्हेति संभावनागुरु ॥

मूलात्—घोलाद्दूण प्रज्ज्वायविवसादारस्याय यावत्कमेण रत्नव्यातिचारं निवेद्याभीति प्रविद्याय । सः खिन्न-
 वरं तस्य अपराधनिवेदनस्य प्रतिपक्षमनिवेदनं । तं आलोचयितुमुपकान्तं दोषम् । तप तथा आत्मापरितुक्कमेण ।
 गारविको आत्मसंभवात्परः ।

अर्थ—मुनिदीक्षाके कालसे आलतक जितने रत्नवर्गमें अतिचार उगे हैं वे सब गुरुके सन्निध में कहूंगा
 ऐसी क्षणके प्रथम प्रतिज्ञा की थी परंतु लज्जा अथवा गर्व इत्यादि कारणोंसे अपने अतिचारोंको आलोचना करने
 में यह हिचकता है.

तो सो हीलणभीरू पूयाकामो ठवेणइचो य ॥

णिज्जूहणभीरू वि य खवओ विनदो वि णालोचे ॥४६१॥

ततः स्वस्थापनाकारी तयागावज्जानमोलुक्कः ॥

क्षपको गुणदोषौ नो पूजाकामो विषक्षति ॥ ४७३ ॥

विजयोदया—तो पदचात् । खो क्षपकः । हीलणभीरू ज्ञातमदीयापराधा इमे मामवज्जानंति इति अथहाभीरू ।
 पूजाकामो य पंशनाभ्युरधानं इयाविकायां पूजायामभिलाष्यान् । सापराधं न पूजयेतीति । ठवेणइचो य आत्मानं सुच-
 रितित्ये स्थापयितुं कामदय । णिज्जूहणभीरू वि य मामिमे सापराधं स्वजंतीति त्यागभीरुश्च । क्षपको स्वपराधं शरीरं च
 क्षपयामीति मधुतोऽपि णालोचेज्ज दोषं न कथयेदुदोर्दोषमास्मीधं ॥

मूलात्—चो पदचात् । हीलणभीरू ज्ञातमदपराधा इमे मामवज्जानंतीत्यपहाभीरू । पूयाकामो वैश्वनाभ्युत्थाना-
 दिसत्कारसाक्षात्क्षः । सापराधं न पूजयेतीति कुतर्जिधः । ठवेणइचो आत्मानं सुचरितित्ये स्थापयितुं कामः ।
 ठवेदुमिच्छंती इति पाठः आत्मानं मादस्त्ये स्थापयितुमिच्छन्तिर्त्यर्थः । णिज्जूहणभीरू इमे सदोषं मां स्वक्षयेतीति त्याग
 भीरू । स्वपरो वि त्यापराधं शरीरं य क्षपयामीति मधुतोऽपि । न आलोचे गुरोर्न कथयेत् ।

अर्थ—मेरे अपराध आचारोंको ज्ञात होने पर वे मेरा तिरस्कार करेंगे ऐसी मनमें वह कल्पना
 कर बैठता है. अथवा मेरेको अन्य मुनि वंदन करे, आदर करे ऐसी उसको अभिलाषा रहती है. यदि मेरे दोष
 इनको अवगत होंगे तो ये मेरी वंदना और आदर नहीं करेंगे ऐसे अभिप्रायसे भी क्षपक अपने दोषोंका निवेदन

नहीं करता है. मेरा आचरण निर्दोष है यह सिद्ध करना चाहता है इस हेतुसे भी वह दोषोंकी आलोचना करनेको तैयार होता नहीं. यदि मैं अपने अपराध इनको कहूंगा तो ये मेरा त्याग करेंगे ऐसी भी भावना क्षणिकके मनमें स्थान कर बैठती है. अतः वह यद्यपि अपने अपराध और ग़रीबका त्याग करनेके लिये खुलूक्त हुआ है तो भी गुरुको अपने दोष कहता नहीं.

तस्मात् अवायोपायविदंती स्वयत्स ओषपणवओ ॥

आलोचैतस्मात् अणुजगत्स वंसेइ गुणदोसे ॥ ४६२ ॥

आयापायविधिर्न हेयोपादेयबोदिना

विद्यते क्षपकस्यासावायापायदिगुच्यते ॥ ४७४ ॥

आयो रत्नत्रयस्य दुद्धिः । अपायो रत्नत्रयविनाशः ।

सतो वक्रमतेस्तस्य सामान्यालोचनाकृते ॥

आयापायविज्ञा चाख्यौ गुणदोषौ गणेशिना ॥ ४७५ ॥

विज्ञादोषा—सस्य रत्नवत्स गुणदोसे इत्येति पदसंयधः । तस्य अनालोचकस्य आलोचनायां गुणमितरत्र दोषं च इदमेति । ■ ? आयोपायविदंती आयोपायविदंती स्मृतिः । अपायो रत्नत्रयस्यविनाशः उपायो लाभः । उपायतादौऽनपेक्षः इति कुर्यात् रत्नत्रयस्य आत्र दुर्विर्लभः तदुभयदर्शी ओषपणवयो सामान्यं प्ररूपयन् यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोष इति । आलोचैतस्मात् वि अपि शब्दोऽत्र दुष्टनिर्दिष्टो आलोचनां कुर्येतोऽपि । अणुजगत्स मायावतः ॥

मूलात्—अपयो रत्नत्रयस्य विनाशः । उपायो लाभस्तौ निक्षेपण इत्येति । ओषपणवयो सामान्यं प्ररूपयन् । यो न कथयति स्वापराधं तस्यायं दोषः इति प्रजापकः । आलोचैतस्मात् आलोचनां कुर्येतोऽपि । अणुजगत्स मायावतः । गुणदोसे आलोचनायां गुणान् अनालोचनायां च दोषः ॥

अर्थ—जो क्षपक उपयुक्त कारणसे दोषोंकी आलोचना करनेमें प्रयत्न करता है. उसको आयोपाय दर्शन गुणोंके भास्क आप्त्य आलोचना करनेमें गुण और आलोचना न करनेसे हानि होती है इसका निरूप-

पण करते हैं, अर्थात् यदि आप आलोचना न करोगे तो आपके रत्नत्रयका नाश होगा और दोषोंका निवेदन करनेसे आपको रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और उसमें निर्मलताभी प्राप्त होगी इस प्रकार दोष और गुण वतानेवाले आचार्योंको आयोपायविदर्शी आचार्य कहते हैं, जो क्षणिक विशिष्ट अपराधोंको निवेदन न कर सामान्य अपराधोंका निवेदन करता है, और जो अपराध निवेदन करता हुआ भी मनमें मायाभाव रखता है उसके भी रत्नत्रयका नाश होता है और निष्कपटभावसे अपने सब दोषोंकी आलोचना करता है उसको रत्नत्रयप्राप्ति और विशुद्धि की प्राप्ति होती है.

माया अर्थात् कपट दोषोंकी उत्पत्ति करती है और यथार्थ कथन अर्थात् दीक्षाकालसे आज तक उत्पन्न हुए दोषोंका सत्यकथन गुणोंका जनक है इसलिये स्वदोषोंका आचार्यके समीप वर्णन करना चाहिये ऐसा आचार्य आगेकी भाषामें कहते हैं—

मायायां दोषवायात्यकथने च गुणे स्तोषति एवं दोषप्रकटनं कर्तव्यमित्युच्यते—

दुर्वलेण लहइ जीवो संसारमहण्णवाम्मि सामंणं ॥

तं संजमं खु अबुहो णसेइ ससल्लमरणेण ॥ ४६३ ॥

दुःस्वतः संयमं लब्ध्वा शरीरी भवसागरे ॥

सदात्पमुत्पुना सारं नाशयत्यपचेतनः ॥ ४७३ ॥

विजयोदया - दुर्वलेण लहइ जीवो फलेजनं लभंत जीवः । किं सामणं धामण्यं चारितं संयमं । ॥ संसारमहण्णवाम्मि खडुर्गतिपरिभ्रमणमदार्णवे दुष्पापघातया संसारो महापाप इव । ॥ शब्दः णसेइ इत्यतः पत्तो द्रष्टव्यः । तं संयमं तादात्म्येयादुच्यते ससल्लमरणेण । यद्यपि शब्दयोगेन प्रकटारं मिथ्यामायाविद्वान्मत्स्यभेदेन तथापीदं प्रकरणं शान्मायाशब्दं युज्यते, मायाशब्दसहितेन मरनेनेत्यर्थः । ननु समानतायाः प्रस्तुतत्वात् सामणं इत्यनेन तत् परित्यज्य कथमन्यदुपन्यस्तं 'तं संजमंमिति' । अस्यायमभिप्रायः भ्रमणशब्दस्य द्रष्टव्येऽप्रवृत्तिनिमित्तं यच्छागण्यं किं च तत्संयमः । तथयति सायवाभियाणतो नायं भ्रमण इति लोको वदति । ततोऽनुक्रमेण भावशब्दसमात्मन्यपस्थितमिदं दोषमावहतीति दृष्टान्तमुच्यते कथयति—

न केवलं प्रकारकः सन्सरिः क्षणकस्य चाक्षमुपचारं तथा करोत्यपि त्वाथापावविदर्शी सज्जाध्यात्मिकमपीत्यं दोषप्रकाशनयति तामेव प्रबंधेनाह—

द्वारा—सामर्थ्य आभ्यर्थ्य यथार्थ । ससह मायाशक्त्यसहितं प्रकरणवशात् ॥

अर्थ—इस संसारका दुःखसा किनारा प्राप्त होना कठिन है इस लिये आचार्य महाराज इसकी समुद्रकी उपमा देते हैं. चतुर्गतिओंमें भ्रमण करना यही संसार है. इसमें अमण करनेवाले जीवोंको संयमकी प्राप्ति होना अतिशय कठिन है. परंतु देवयोगसे ऐसे संयमकी प्राप्ति होनेपर भी मूलमें मनुष्य शून्यसहित मरण प्राप्त कर संयमको नष्ट करता है. मायाशक्त्य, मिथ्यात्वशून्य और निदानशून्य ऐसे शून्यके तीन भेद हैं. तथापि यहाँ प्रकरणमत्त मायाशून्यका ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् मूलजन मायाशून्यसे संयमका नाश कर मरण करते हैं. ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना चाहिये. शंका—भयाके द्वितीय चरणमें समानताका उल्लेख किया है परंतु तीसरे चरणमें उसका ग्रहण न कर 'संयम' शब्दका ग्रहण किया है अतः प्रस्तुत समानताका त्याग कर अन्यका ग्रहण करना योग्य नहीं है.

उत्तर—इसका अभिप्राय यह है कि श्रमण शब्दका अर्थ युनि है मुनि इस अर्थमें श्रमण शब्दकी मधुति होनेमें श्रमण्य शब्द अर्थात् समानता शब्द कारण है. समानता अर्थात् श्रमण्य और संयम दोनों शब्द एकार्थ वाचक हैं इसीवास्ते संयमशब्दकामी प्रयोग करना अनुचित नहीं है. 'सावधानक्रियापरो नायं श्रमणः' अर्थात् पापक्रिया करनेवाला मुनि नहीं कहा जाता है ऐसा लोक बोलते हैं. इसलिये आत्मामें भावशून्य रहना अर्थात् कष्टविचार रहना अयोग्य ही है.

जह षाम दन्वसल्ले अणुदुदे वेवणुद्विवो होदि ॥

तह भिक्खू वि ससल्लो तिव्वदुहट्ठो भयोव्विग्गो ॥ ४६४ ॥

द्रव्यशून्ये यथा दुःखं सर्वांगीणव्यथोदयः ॥

भावशून्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्यमनुदुते ॥ ४७७ ॥

विजयोदया—अह षाम यथा नाम । दन्वसल्ले शरलेंटकादौ अणुदुदे अणुदुदे अनिराहते । वेदणुद्विवो होदि वेदमातौ भवति । तह तथा भिक्खु वि सिधुत्तपि । ससल्लो भावशून्यवान् । तिव्वदुहट्ठो वेदणुदुहट्ठो भवति । भयोव्विग्गो तेन बलं भवति । एवमनुदुत्तव्यो गतिव्याप्ति का गतिमिति भयमस्तोषजावते । एवमर्थं दष्टन्तेनाविदो भवति ।

मूलारा—नाम स्फुटम् । इन्वसहे शरीरकंदकादौ । अणुदुहे अणुदुहे । वेदणुदुहो दुःस्वार्चः । ससहो माया-
बाहुल्यवान् । भवन्निग्नो एवमनुदूतशक्त्यो गमिष्यमि कां गमिमिति मयाकुलितचिचः ॥

यह भावशून्य दोषोंको उत्पन्न करता है. इसको ही दृष्टान्तसे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसे द्रव्यशून्य-वाण, काँटा वगैरह अरीमें घुसने पर मनुष्य दुःखी होता है वैसे भिक्षु भी यदि मनमें कपट मिथ्यात्व वगैरह भावशून्य धारण करेगा तो वह तीव्र दुःखसे पीडित होगा, और भयसे बंचल होगा. यदि मैं शून्यका त्याग नहीं करूँगा तो कोनसी गति मेरेको प्राप्त होगी ऐसा विचार मनमें आकर इस भिक्षुको भय उत्पन्न होता है.

कंदकसंक्षेपेण जहा वेधाणी चम्मसीलजाली य ॥

रप्पइयजालगत्तागदो य पावो सडवि पच्छ ॥ ४६५ ॥

कंदकेऽनुदुते प्राप्तो यथा त्वक्षीलनालिकां ॥

प्रतिवल्मीकरन्धाणि प्राप्याग्निं सदति स्फुटम् ॥ ४७८ ॥

विजयोपवा—कंदकसंक्षेपेण जहा कंदकाख्येन शून्येन कारणभूतेन यथा । वेधाणी चम्मसीलजाली य इयधन-
बन्मकीलनालिकादिव भवन्ति । रप्पइयजालगत्तागदो य कुपितवल्मीकाच्छिद्राणि प्राप्तः स पावः पतति पदचापथा ॥
एतेदेव दृष्टान्तसंक्षेपेण समर्थयितुं माभाद्वयेनाह—

मूलारा—वेधानी व्यधापनी सुपरिमित्यर्थः । वग्मकील मांसीकुप । जाली तादी । एतास्तिष्ठः प्रथमं पावे
भवन्ति । रप्पइजालगगागदो क्षुधितवल्मीकाच्छिद्राणि प्राप्तः ॥

दृष्टान्तसे उपर्युक्त अभिप्रायका स्पष्टीकरण करते हैं.

अर्थ—जैसे काँटा पावमें घुसनेसे प्रथम छिद्र पडता है अनंतर उसमें अंकुरके समान मांस बढ़ता है
तदनंतर वह काँटा नाडीतक घुसनेसे पांवका मांस विघटने लगता है. जिससे उसमें बहुत छिद्र पडते हैं. इस प्रकार
से वह पांव निरुपयोगी होता है.

एवं तु भावसहं लज्जागारवभण्डं पडिवद्धं ॥

अप्यं पि अणुदरियं वदसीलगुणे वि णासेइ ॥ ४६६ ॥

विविधं दोषमापन्नः संयमोऽनुद्धते तथा ॥

भयगौरवलज्जाभिः भावशाल्ये विनश्यति ॥ ४७९ ॥

विजयोदया—एवं तु एवमेव । भावसहं परिणामशाल्यं । लज्जागारवभण्डं पडिवद्धं स्वापराधनिगूढनं लज्जातो भवति । भयेन अपराधोऽकथिते कुप्यन्ति गुत्यस्त्यजति या मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्तीति । सुतपाः तपस्वयं सुसंयत इति महती प्रसिद्धिः सा विनश्यतीति गौरवेण च प्रतिपदमायाशाल्यं । अन्ये पि अल्पमपि शाल्यं अणुदरियं अनुद्धते । वदसीलगुणे यतामि शीलानि गुणाश्च विनाशयति ॥

सूत्रा—पडिवद्धं अत्यंतगर्हितं तन्मयाकृतं कथं भकाश्चये इति लज्जया प्रच्छादितं सद्य, अथं तपस्वी सुसंयत इति या, मां महद्वा प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति इति भयेन वा प्रच्छादितं । अल्पमपि अल्पमपि ॥

अर्थ—इसी प्रकार भावशाल्य भी जीवको दुःखदायक है. भय, गर्व और लज्जासे जब अपराध छिपाते हैं तब भावशाल्य जलान होवा है. जैसे लज्जासे अपराध छिपाते हैं वैसे भयसे भी अपराध छिपाते हैं. अपराध फहने पर गुरु मेरा त्याग करेगे अथवा बडा प्रायश्चित्त दोगे ऐसे भयसे अपराधोका कथन करनेमें क्षपक अनारानी करता है. मैं पडा वपस्वी हूं ऐसी मेरी जगतमें कीर्ति है वह अपराध कथनसे नष्ट होगी ऐसे गर्वजुक्त विचारसे अपराध निवेदन नहीं करता है. इस प्रकारसे मायाशाल्य मनमें उत्पन्न होकर वह व्रत, झील, और गुणोका नाश करता है.

तो भट्टबोधिलाभो अणंतकालं भवणाए भीमे ॥

जम्भमरणवत्ते जोणिसहसाडलो भमदि ॥४६७॥

प्रप्रष्टवोधिलाभोऽतथिरकालं भवार्णवे ॥

जन्ममृत्युजरावर्ते जीवो ब्रमति भीरणे ॥ ४८० ॥

वित्तयोदया—तो पञ्चमत् । भट्टोदितानो विनष्टदीक्षाभिमुखद्विलामः । अणंतकालं भगवद अणंतकालं भ्रमति ।
क भयरणये भयणये । भीने भयं नरे । उम्भमरणवसे जन्मभरणवर्ते । जोणिसहस्साले चतुष्पतियोनिसहस्साले ॥

ततः किं स्यादित्याह—

मूढारा—भट्टोदितानो नष्टदीक्षाभिमुखद्विलामः । अणंतकालं अर्द्धपुद्गलपरिवर्तमानं ॥

अर्थ—इस भावशून्यसे दीक्षाभिमुख बुद्धिका लाम नहीं होता है. अर्थात् मैंने मुनिदीक्षा व्यर्थ ही है
येसा विचार धुपकक मन्त्रमें आता है. भावशून्यसे यह जीव अणंतकालतक अर्थात् अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालतक
चोरानी लक्ष्योन्मुक्त, इस भयंकर भयसमुद्रमें भ्रमण करता है. जिसमें जन्म मरणरूपी मोहरें हैं.

तत्त्व य कालमणंतं घोरमहावेवणासु जोर्णासु ॥

पचंतो पचंतो दुक्खसहस्साह पप्पेदि ॥४६८॥

संविद्वययासु योनीषु पच्यमानः स संततं ॥

तत्र दुःखसहस्राणि दीनो वेदयते चिरम् ॥ ४८१ ॥

वित्तजोदया—सहस्र य तत्र स भयणये । अणंतकालं दुक्खसहस्साह पप्पेदि इति पच्यताना । अणंतकालं दुःख-
सहस्राणि अनुभवति । घोरमहावेवणासु जोर्णासु पचंतो घोरमहावेवणासु योनिषु पच्यमानः ॥

भये भ्रान्त्यर्क करोतीत्याह—

मूढारा—पचंतो पचंतो पुनः पुनरतिग्लान्यमानः ॥

अर्थ—इस घोर संसारसमुद्रमें अणंत कालतक जिनमें भयंकर वेदनाएँ हैं ऐसी सुयोनिओंमें पचते
हुए इस धुपकको सहस्रों दुःख योगने पढते हैं.

तं न खु खमं पमादा मुहुत्तमवि अस्थिदुं ससहेण ॥

आयरियापादमूले उद्धरिद्वयं हवदि सहं ॥ ४६९ ॥

मुहूर्तमप्यतः स्थातुं सशाल्येन न शक्यते ॥

आचार्यपादयोर्मूले तदुद्धर्तव्यमंजसा ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—त तस्मात् । मुहुत्तमपि अल्पिदुं ससेह्य ॥ यमो खु मुहूर्तमानमपि शास्त्रिणः शल्यसहितेन रत्नमयेण सह न शक्तः प्रमादयदापतिः संसारमीकः । आध्यात्मिकमूले उक्तमुपस्थाचर्यस्य पादमूले । उद्धरिव्यं ह्यपि सत्ते शल्यमुद्यतं भवति ।

महानुपसंहारार्हः—

मूलारा—ण समं न युक्तं । यमादा प्रमादवशात् ॥

अर्थ—इसलिये क्षपणसे प्रमादसे एक मुहूर्त कालतक भी शल्यसहित रत्नत्रय धारण करना योग्य नहीं है, अतः संसारभरते युक्त धनक आयोपायदर्शक आचार्यके पास भावशल्य का उद्धार करें.

तम्हा जिणवयणरुई जाइजराभरणदुक्खविच्चत्था ॥

अज्जवमहणसंपण्णा भयलज्जाउ मोल्लूण ॥ ४७० ॥

जिनेन्द्रवचनश्रद्धा जराभरणमीरवः ॥

निराकृतभयव्रीडाः संपन्नार्जवमार्दव्याः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—तस्मात् । जिणवयणरुई शिनागमे श्रद्धावतः । जाइजराभरणदुक्खविच्चत्था अतिजराभरणदुःखविचाराः । भज्जवमहणसंपण्णा आर्जितेन मार्दवेन युक्ताः । भयलज्जागो भयं लज्जां वा । भोक्त्वा सुखात्वा ॥

स्थितार्थमाह—

मूलारा—विचत्तथा निजसाः । अज्जवमहणसंपण्णा आर्जितेन मार्दवेन च युक्ता निर्जितमायामाना इत्यर्थः ॥

अर्थ—इसवास्ते निनेधरके आगममें श्रद्धा रखनेवाले जन्म, बुद्धाणा, धरणा के दुःस्वोत्ते भययुक्त, निष्कपटता, विनय इन गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे क्षपकको भय और लज्जा छोड़कर अपराधकथन करना योग्य है.

उप्पाडित्ता धीरा मूलमसेसं पुणब्भवल्याए ॥

संवेगजगणियकरणा तरंति भवसायरमणंते ॥ ४७१ ॥

पुनर्भवलतामूलमुत्पाद्य निखिलं बुधाः ॥

संवेगोत्पन्नवैराग्यास्तरन्ति भवचारिणिम् ॥ ४८४ ॥

पितृव्येवया—उपाडिता उत्पाद्य । धीराः । किं मूलं । कथं अखंड निरखणं । कस्य मूलं ? पुनर्भवलतायाः । किं तन्मूलं ? शल्यं । संवेगजनियकरणा संसारमीश्वोत्पादितद्विधाः । तदंति तदंति । भवसागरम-
पानं भवसागरमनंतं ॥

मूढारा—मूलं शल्यं । करणं किया समाधिमरणमिति यावत् ॥

अर्थ—संसाररूपी वेलीका मानो मूल ऐसा माबजल्य धीर क्षपक समूल उखाडकर फेक देते हैं, और संसारका भय मनमें धारण कर चारित्राचरणका अंगीकार करते हुए इस भयंकर संसारसमुद्रसे पार होते हैं,

उत्पत्यस्तूपसंस्कारार्थं माया—

इय जइ दोसे य गुणे ण गुरू आलोयणाए वंसेइ ॥

ण गियत्तइ सो तत्तो खवओ ण गुणे ण परिणमइ ॥ ४७२ ॥

तपःप्रसूचने दोषं दोषाणां सूचने गुणं ॥

एवं दर्शयते स्वरिपायापामदर्शकः ॥ ४८५ ॥

तवार्थी क्षपको नूनं हेयावेयविमूढधीः ॥

निवर्तते न दोषेभ्यो न गुणेषु भवर्तते ॥ ४८६ ॥

पिजयोदया—इय वदं । अदि गुरू ण वंसेदि यत्ति गुरूनं वंसेयेत् क्षपकस्य । किं आलोयणाए गुणे स्वापराधक-
धनस्य गुणान् । दोसे य दोषांदस्य यदि न दर्शयेत् । अलोयणाए इति यास्यशेषः । सो खवगो ण गियत्तइ । असी क्ष-
पको न निवर्तते । कुता ? तत्तो पूर्वोक्तदोषान्मायाशल्यात् । गुणे य ण परिणमदि गुणे च निःशल्यात्वेन परिणमते ॥
उत्पत्यन्वियाकरणे दोषमाह—

मूढारा - दोसे दोषान् । सामर्थ्याद्विनाशोचनायाः । तत्तो मायाशल्यलक्षणादोषात् । गुणे निःशल्यत्वे ॥

उपयुक्ते विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—अपने अपराध कहनेसे रत्नत्रयविशुद्धि नामक गुण प्राप्त होता है और न करनेसे संसारभ्रमण

करना पड़ता है अर्थात्
मायाश्रित्यका त्याग न

संसारभ्रमण नामका महादोष उत्पन्न होता है ऐसा यदि आचार्य न दिखावे तो क्षुपक
करेगा और निःशुल्य होकर गुणोंमें उल्ला न होगा।

तस्मा स्वप्णाओपायविदंसिस्त पायमूलमि ॥

अप्या गिन्विसिद्वब्बो धुवा हु आराहणा तत्य ॥ ४७३ ॥

आयापायविशस्तु समीपे स्थेयं बुद्धिमत्ता क्षपकेण ॥

तन्नाराधयते चतुरंगं नूनं विप्रमशोपमपास्य ॥ ४८७ ॥

इति आयापायविद्वक् ॥

चित्रयोदया—तस्मा तस्मात् आयोपायदर्शितः पादमूले परस्मादोपायविरहिते क्षुपको गुणे च परिणमते तदुभ
यार्थौ च । तस्मा तस्मात् तयगेन आयोपायविदंसिस्त गुणयोपदर्शनः । पादमूले । अप्या गिन्विसिद्वब्बो भात्मा ; स्वापयि-
तस्यः । तत्र गुणमात्रेण धुवा तु व्यापराहणा तत्त निश्चिता रत्नत्रयारधना तत्त । आयोपायः ॥

आयापायविदर्शितरत्नसमर्पणेऽयं द्यम्भाविनीमारचनानभिपत्ते —

मूढारा—गिन्विसिद्वब्बो स्वापयितव्यः । धुवा निश्चिता ॥ आयोपायविदर्शी ।

अर्थ—इस लिये आयोपायदर्शक आचार्य के चरणोंके समीप क्षुपकको रहना चाहिये वहां रहनेसे ही
रत्ननपाराधना क्षुपकको प्राप्त होती है, गुणोंकी प्राप्ति और दोषोंका नाश चाहनेवाले क्षुपकको अवश्य आचार्य का
आश्रय करना चाहिये।

अर्पणद्वक्त्यं व्याख्यातुं नाम संवत्समिति पूर्वेण उपायदर्शित्वेन ।—

आलोचणगुणदोसे कोई सम्मं पि पण्णविज्जंतो ॥

तिन्वोहिं गारवादिहिं सम्मं णालोचए स्ववए ॥ ४७४ ॥

कट्टयनाकयेने दोये दोषाणां कयेने गुणे ॥

वक्कात्मा कट्टयमानेऽपि नालोचयति तत्त्ववित् ॥ ४८८ ॥

विजयोदया—आलोचनगुणदोषेस आलोचनाया गुणदोषान् । कोर्ह कश्चित् । सम्मपि पणचिज्जंतो सम्यगव-
 चोच्यमानोऽपि । एवमो आलोचय सम्म क्षपकः सत्यम् न कथयेत् । केन हेतुना । विज्येहि गारवादिहि सीमैगारवादिभिः ।
 भादिचायेन लज्जामयक्रेशासहस्यं च युद्धते

द्रादशभिर्गार्वाभिरुपीहकत्वं प्रपंचविष्यन्नायोपायवित्त्वेनास्य संबंधमभिपद्ये—
 मूढारा—विपणविज्जंतो प्रक्षायमानोऽपि बोध्यमानोऽपि इत्यर्थः । गारवादिहि गारलज्जामयक्रेशासहस्यैः ॥

अवपीडकस्य यह भी आचार्य का गुण है, इस गुणका आयोपायदर्शित्व गुणके साथ संबंध दिखाते हैं—
 अर्थ—आलोचना करनेसे गुण और न करनेसे दोषोंकी प्राप्ति होती है यह बात अच्छी तरहसे समझाने
 पर भी कोई क्षपक तीव्र अभिमान, लज्जा, भय, क्लेश सहन करनेकी इच्छा न होना इत्यादि कारणोंसे अपने
 दोष कहनेमें उद्युक्त नहीं होता है, ॥ ११॥ निर्यापक आचार्य मधुरभाषण करके उसके लज्जादि विकार नष्ट करते हैं,

एवमनालोचयतोऽपि भाषः प्रकांति नेतव्यो निर्वापकेनैवेत्तदवाचये—
 निहं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥
 तो पल्हावेदव्यो खवओ सो पणवंतेण ॥ ४७५ ॥
 एकांते मधुरं खिगयं गंभीरं हवयंगमम् ॥
 स वाक्यः सुरिणा वाक्यं प्रांजलीकुर्वता मनः ॥ ४८९ ॥

विजयोदया—निहं स्नेहयत् । मधुरं श्रुतिस्त्रुं । हिदयंगमं हृदयसुखेयि । पल्हादणिज्जं सुखदं । एगंते एकांते ।
 पल्हावेदव्यो शिक्षयितव्यः । एवमो क्षपकः । सो सः । आत्मापराधं यो न कथयति । पणवंतेण प्रहापयता सुरिणा ।
 आयुष्मन् । उपलब्धसन्मार्गस्मरत्तत्रयनित्तिचारकत्वे समाहितचित्त ! अतिचारं निवेदय लज्जां, भयं, गारवं च विहाय ॥
 मुरज्जो हि माना पिभा च सदृशः, तेषां कथनं काल्पजेति । स्वदोषमिदं न प्रख्यापयति परेण । अतिचर्मस्य वा अयंग-
 यार्द्रमयत्वेन गितानादितुमुत्पातः । किमप्यशः प्रथयति स्वमीचीनदंशनस्य । मुक्तिमार्गे प्रधानस्य मंडं हि तद्यत्तिजने
 दूषणं । अतिचारदिमान्पा दूते च स्तत्रयत्तमलवनं न शोभते । परमिदा नौवेगोऽस्यास्त्वयः । स्वयं च निषते यद्गु जन्म-
 तु निदकः । परस्य मनःसत्तापं दुस्सहं संपादयतो अवदेयकर्मघः स्यात् । साधुजनोऽपि निंदति स्वधर्मतनयं
 किमर्थमयं एवं अयशःपंकेन लिखतीति । एवमनेनानर्थगृहपदोपग्रहटनं का सवेतनः करोतीति ॥

पयमनालोचयतोप्यस्य भावः प्रशान्तिं नेतव्य इत्येतद्वचने--

मूढारा--गिद्धं स्नेहयुक्तं ममत्वगर्भमित्यर्थः । मधुरं शुचिमुखं सम्मानपेक्षलभित्यर्थः । हिदयंगमं हृदयानुप्रेक्षि । पत्न्यादगिद्धं मुखं । तो पश्चात् । पत्न्येवैवञ्चो मावो से । संवोधनावष्टेन तस्य भावो मनः प्रह्लादयितव्यः प्रसन्ति नेतव्यो निर्वाणकाचार्येण । किम्याधियुगं वाक्यं पण्यवर्तेण प्रज्ञापयता प्रतिपादयतेति संबंधः । तथा हि--आयुष्मन् ! उपलब्धसन्मार्गे रत्नत्रयैर्मन्यकरौणकप्रतिभैः करण ! इच्छां मयं गौरवं च विहाय यथाज्ञातमसिचारं निवेदय । मातापितृकल्पस्य हि गुरुजनस्याग्रे स्वापराधं कथयतां का लज्जा ? न च लज्जाप्यैकैतिकी आस्यते । तथा च लोकः--

घनधान्यप्रयोगेषु विपासंभरणेषु च ॥

आहारे न्यवहारे च स्वच्छलज्जाः सदा भवेत् ॥ इति ॥

न च महालोचिते दोषमेते प्रकाशयित्व्यतीति भवता अस्माज्जानां भेतव्यं । धर्मचार्यो हि धर्मधुराधारेया पथीनां दविधर्मस्य च पाच्यतां निराकृतुमुद्यताः कथमित्थं समाख्यं उपाश्रितेन अवाटसा निवेदितं दोषं स्वत्ववोपनिव प्रकटयन्ति । सधर्मदोषप्रकटनं हि मोक्षमार्गप्रधानस्य सम्प्रदर्शनस्य दूषणं परार्थदया च नोचैर्गोत्रं कर्म वध्यते । षष्ठु जन्मदु निराश्रय भवति, वृत्ताति च निरुक्तः परस्य दुःसहमन संतापसंपादेन दुर्विपाकमसंश्लेष । निवृत्ते च साधुलनेन स्वधर्मनाणिक्यं किमयमेवमप्यशुगुरीपेण छिद्यतीति । तदेवमनेकानर्धमूलं परदोषोद्घातनं कः सुधीर्विदधीव । न च धर्माचार्यवर्दीन्यतया त्वया वैद्यप्रभावाद्वा यः कश्चित्सम्यग्भावादीनामन्यतमेतिचारः मातुरभूत्स प्रच्छादयितुं श्रूयान्, रत्नत्रयं हि निर्मलीकृतमेव परं महिमाननावहति प्रापयति च तस्मिन्मपि लोकोत्तरं सनातनं पदमिति ॥

यही अभिप्राय आगेकी भाषा में है.

अर्थ--यदि धूपक अपने अपराध नहीं कहे तो नियोगिकाचार्य धूपकको स्नेहयुक्त, कर्णमधुर, हृदयंगम प्रवेश करनेवाला, ऐसा भाषण एकांतमें कहते हैं. उसकी पद्धति इस मुक्तच समझना--हे आयुष्मन् प्राप्त हुए रत्नत्रयमें दोष नहीं लगेंगे ऐसा तुम प्रयत्न करनेमें सदा एकप्र थिच रहते हो इसलिये भय, लज्जा, और गर्व छोड़कर अपने दोष कहे. गुरुजन जो माता पिताके समान हैं उनके समक्ष अपने दोष कहनेमें लज्जा नहीं करनी चाहिये. वे गुरुजन तुम्हारे दोष स्वदोषके समान ही समझकर दूसरोंको नहीं कहते हैं, वे तो यतिधर्ममें कोइ दोष लगानेवा तो दूर करनेके लिये हमेशा उद्युक्त रहते हैं. अतः वे तुम्हारी अक्षीति होनेकी इच्छा क्या मनमें

धारण करेंगे? यतिजनमें दोष लगानेसे सम्यग्दर्शन जो कि मोक्षमार्गमें प्रधान माना जाता है उसमें दोष उत्पन्न होता है. अतिचारूपी चर्फ के आघात से स्तनत्रय रूपी कमलजन मुखने उभता है. परनिदा करनेसे नीचगोत्र कर्मका आसन्न होता है. तब निंदक जन अनेक जन्ममें लोगोंसे निंदित होते हैं. दुसरेके अंतःकरण को जो संताप उत्पन्न करते हैं उनकी असातावेदनीय कर्मका वंश होता है. तुम अपने धर्मको पुत्रके समान समझो और उसको अयश्रूपी फीचटये मलिन न करो. ऐसा करनेसे तुम्हारी निंदा होगी. अनेक अनर्थों को उत्पन्न करनेवाले परदोषोंको कोन विद्वान् प्रकट करेगा. अर्थात् तुम अपने दोष हमारे सामने निःशंक होकर बोलो. हम तुम्हारे दोष किसीके सामने प्रकट नहीं करेंगे.

णिबं मधुरं हृदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ॥

कोइ तु पणविज्जंतओ वि णालोचए सम्मं ॥ ४७६ ॥

कथायामकथायां च दोषाणां गुणदोषयोः ॥

कथायामपि नो फब्बिदालोचयति वक्रचीः ॥ ४९० ॥

विजयोक्ता - एवं प्रकाशनायां सत्यामपि यो नालोचयति इत्युत्तरस्यार्थः । एवं च प्रकाश्यमानोऽपि कश्चित्पक्षः स्वोपे सन्पन्नालोचयति

रापेभिदमाह - विविक्त्वात्पुरुषप्रभृतीनामित्युत्तरद्वारावा-

विबं मधुरं हृदयंगमं च पल्हादणिज्जमेगंते ।

कोइ तु पणवेज्जंतो वि य णालोचए सम्मं ॥

मूलात्ता - स्पष्टम् ।

अर्थ - श्लिग्ध, कर्णमधुर, हृदयमें प्रवेश करनेवाला ऐसा माषण बोलनेपर मी क्सेई क्षपक अपने दोषोंकी आलोचना करता नहीं. तब--

तो उपर्णलेदन्वा खवयस्सोप्पीलयण दोसा से ॥

वामेइ मंसमुदरमवि गदं सीहो जह सियालं ॥ ४७७ ॥

दोषमुद्रात्ययेत तत्स्यमुत्पन्निञ्जोत्पीडनो यतिः ॥
मांसं फंटीरवेणेव धृगालः कुर्वता भयम् ॥ १९१ ॥

विजयेत्याह—तो पञ्चात् । उष्णीहृदया अवपीडयितव्याः । के ? दोसा दोषाः । कस्य ? से तस्य । शतगस्य रूपकम् । केन उष्णीहृदया अवपीडयेत् सूरिणा । अपसरसस्तस्काशात् । किमस्माभिर्मवतः प्रयोजनं ? । यो हि स्वशरीर-
मग्रमल्पशतानेनगुः स द्वीकेने काचच्छायातुसारिसलिलं सरः । यो वा महारोगोरम्यस्तस्तदपनयनाभिलाषवान् स
येषां दोक्ते । एव रसनप्रयातिचारशिखरकृतुमभिलषता समाश्रयणीयो गुरुजनः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नैवादरः
किमनया शपकत्वविडम्बना । न चतुर्विधाहारपरित्यागमात्रावचसहेतुत्वेन । अयि तु कृपायसहस्रवतास्ता संघरो
निजंरा च, कृपाया ह्यभिनयकर्मदाने, वन्दे, स्थितिवियाने चोद्यताः पटिदरणीयाः । तेषु कृपायेषु मायातिमिच्छा तिर्द-
योनितिरुत्तनर्थाणा । मां त्यस्तुमसमर्थस्यापि ग्रथिएस्य भवतः संसारोदयेस्तिर्यग्भवावर्त । ततो निःसरणमतिदुष्करं ।
यजमानपरित्योगेनैव निर्ममताभिमायोद्धनमप्यसत्यं, सत्येवं तिर्यचोऽपि निर्ममताः स्युः । चतुर्दशानकारस्याभ्यन्तर-
चरित्पदस्य त्यागाट्टानैर्ग्रथं समवतिष्ठते । तत्वेयं हि मुक्तेरुपायः । भावनैर्ग्रथस्य उपाय इति दशविधवाद्याग्रथत्याग
उपयोगी मुमुक्षोः । न हि जीवमुल्लङ्घ्यसन्निधानमात्राधीनः कर्मबंधः । अयि तु शक्तिमिच्छजीवपरिणामालंबनः । अति-
नारत्येति दर्शनादीनि न मुक्तेरुपायः । 'सम्यग्दर्शनसप्तानचारिणाणि मोक्षमार्गः' इति किञ्च भवतः श्रुतिगोचरमायातं जैनं दृक् ?
समीचीनता हि दर्शनज्ञानचारिणाणां निरतिचारात्ता । सा च गुरुरूपदिष्टमायाभिचायरणे । गुरुवोऽपि कृतालोचनायैव
प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति । ततो भवागुरुप्रथयः अभव्यो वा । आसन्नप्रथयैवे सति किमेवं महामायाशाल्यं भवति ? । नैव
यतिजनयंदमाहोऽसि । 'समर्गं वंदेज्ज भेषावी संजदं सुसमाहिदं' इति वचनात् । जीवितसरणयोलांमालानयोनिना-
प्रशंसयोश्च समानचित्ततया समानो भवति । आविचारनियेदेने मां निवृत्तिं न प्रशंसंतीति भयता बालोद्यते । तत्कथं
समानोऽसि ? कथं वा वंद्यः ?

सौहो जहा सियालं उदरमयि गदं पि मंश वामेदि सिंहो यथा धृगालमुदरमयिष्टमयि मांसमुद्रात्ययति तद्व-
न्यायाशास्त्रमन्तर्लीनं तिस्सारत्ययवपीडकः ॥

सामप्रयोगेण सम्यग्मालोचयति च क्षपके ईडनेदौ प्रयोक्तव्यावित्युपदेष्टुं सट्टान्तमाचष्टे—

मूलरा—तो सामप्रयोगानंतरं । उष्णीहेद्वन्वा उत्पीडयितव्याः । उद्गाराणीया अंतर्निगूढास्तन्युत्थेन निःसार-
णीया इत्यर्थः । तथा हि अहो स्वापरापास्तुदवादिन् अपसरसस्तस्काशात् । मियमिरिव निब्योधेः किमस्माभिर्भवतः
प्रयोजनं । रत्नत्रयातिचारानिराकर्तुमिच्छता हि गुरुवः समाश्रयणीयाः । भवतश्च रत्नत्रयशुद्धिकरणे नास्त्यवादरः । तत्कि-
मनया शपकत्वविडम्बनया ? न हि चतुर्विधपशुशरीरपरित्यागमात्रायात्ता सहेतनेयमपि तु कृपायसहस्रवतायात्ता । तद्वत्संवरो

निर्जरा न । कदापि प्रमित्तकमार्दवे तत्स्यतिविधाने च समुत्पत्ता समुक्षुभिरपेक्ष्याः । तेषु च माया निवृत्ता तिर्य-
ग्योनिपरिवर्तनपञ्चतान् । मायां च स्वकृतसम्भोगोऽसि त्वं । प्रविष्टस्य च तिर्यग्भावत्वं संसारवारणारम्भवत्सो निःसारण
मतिदुन्दरं । पञ्चमात्रपरिमाणेनीय निर्गुणताभिमानोद्बुधं च न न्याय्यं । एवं सति हि तिर्यचोऽपि निर्गुणाः स्युः । चतु-
र्दशाभ्यान्महामहोधिनिर्मयं हि भवत्येवमन्तुगासवि धर्मतीर्थप्रणेतारस्तदेव च मुक्तेः सत्य उपायः । दक्षविपवाहामध-
त्यागस्तु भावनेर्विज्यासिद्धिमत्त्वे उद्योगयोगी युयुक्षोः । न राखु जीवपुद्बलद्रव्यमात्रप्रस्थासत्तिमात्रः कर्मबंधः । किं तर्हि
न त्रिभिन्नकजीवपरिणामकारणकः । न यातिचरत्यन्त्रि सम्भवत्वादीनि मुक्तेरुपायः । सम्भवदर्शनस्तान्चारित्राणि मोक्षमार्ग
इति जैनं वयः किं न भवतः धुतिगोचरतामवातरत् । तत्र य समीचीनतां दर्शयदीनां निरतिषास्तां व्यापयत्वे । सा न
गुणपरिपुमायश्चित्ताचरणेनैव भवत्या । मुख्यतः कृतालोचनार्यैव प्रावञ्चितं प्रवच्छन्ति । ततो भवान्पूरुषोऽमठय एव
वा, कथमन्यथैव महामायासत्त्वं अन्तर्बुद्धि । कथं वैदं यमिजनन्दनमर्हसि । 'सकलं बंदिग्न मेघापी संजवं सुसमाहिदं'
इति वचनात् । अतिविरलपदोर्लभाभाभयोनिदाप्रसंयोध समानचित्ततया समानोऽस्तु मन्यते । अतीशारालोचने मां
निंदति न प्रसंवंतीति भवता नातोऽप्येव वक्तुं समानोऽसि, कथं वा पंचः ? किं य महोर्वं न अद्विपक्षोके जानाति किं
तरहमेवैको जानाभीति मां मंत्वाः । यतोऽत्र यदा यो दोषो मूलोत्तरगुणादिगोचरी भवता कृतस्तमहं जानाम्यन्येऽपि यत्-
यत्पेति । वागदोस्त्यादि । निन्दो भया दृग्मालगुरमप्रविष्टमपि मांसिमुद्रालयत्वेवं मायासत्त्वं क्षपकस्यान्वलीनं निःसारयत्यु-
त्पीडक इति सात्पर्यं ।

अर्थ--अरपीदगुणधारक आचार्य धपकके दोषोंको जवरी से बाहर निकालते हैं, जैसे सिंह सिया-
रुके पेड़में भी चला गया मांस यमन करवाता है तैसे तेजस्वी अवपीडक गुणके धारक आचार्य धपकके दोष सब
बाहर निकालते हैं, ये उगको इग तरह भाषण करने हैं--हे मुने ! तुम हमारे पास मत रहो यहाँसे हट जाओ, हमसे
क्या तुम्हारा प्रयोजन है ? जिनको अपने शरीरका मल घों डालनेकी इच्छा है वह पुरुष कांचके समान सुंदर स्वच्छ
पानी जिनमें है वैसे गरोरमें जाता है, जो पुरुष महारोग में पीडित है वह उसका नाश करनेकेलिय वैद्यको शरण
जाता है, वैसे जिनको अपने रत्नत्रयमें लगे हुए दोष दूर करनेकी इच्छा है वह पुरुष गुरुओंका आश्रय करता है,
परन्तु तुमको तो रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा है ही नहीं अतः यह धपकका धेप व्यर्थ क्यों धारण किया है,
चार मझारके आधारका त्याग करने मात्रसे सहेखना नहीं होती है, परन्तु कपायोंका त्याग करनेसे सहेखना

होती है, इस सङ्केतनासे ही संवर निर्देश होते हैं, कृपायासे नवीन कर्मोंका ग्रहण होता है, बंध होता है, और स्थिति होती है, अतः इनको आत्मसे हटाना चाहिये, सब कर्णायोंमें माया बढी खराब है, यह प्राणिओंको तिर्थगो-नीकी प्राप्ति करा देती है, 'माया तैर्योगोनस्य' ऐसा तत्त्वार्थशास्त्र में उल्लेख है, यदि तुम इस मायाका त्याग न करेंगे तो इस भवसमुद्रमें तिर्थगमतिके मोचनेमें पडकर खूब अगमण करोगे, फिर वहांसे छूटना बड़ा ही कठिन हो जायगा, केवल नक्षमात्रका त्याग करनेसे तुम अपनेको निर्विषय मुनि समझ रहे हो परंतु याद रखो कि केवल वस्तुके त्यागसे निर्विषयता ही प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि पशु भी निर्विषय अर्थात् नष्ट रहते हैं, उनको भी निर्विषय मानना पड़ेगा, मिथ्यात्व, क्रोधादिक चार कर्णाय, और हास्य, रति, अरति, शोक भय, उद्विग्नता, लोभ, दुःख-वेद, नष्टकरवेद, ऐसे चौदा अम्यंतर परिग्रहोंका त्याग करनेसे भावनिर्विषयताकी प्राप्ति होती है, यही मोक्षलाभके लिये उपाय है, अम्यंतर परिग्रहका त्याग प्राप्त परिग्रहत्यागके लिये उपयोगी है,

केवल जीव और पुद्गलोंका साभिध्य होनेसे कर्मबंध नहीं होता है, परंतु कर्मबंधनके लिये योग्य जीवप-रिणामही उसके आधार हैं, अतिचारयुक्त सम्यग्दर्शनादिक जीवकी मोक्षकी प्राप्ति कर देनेमें समर्थ नहीं है, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारिवाणि मोक्षमार्गाः' अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता होना मुक्तिप्राप्तिका उपाय है, क्या यह जितेधरका वचन तुमने नहीं सुना है ? ज्ञान दर्शन और चारित्रका उच्च पालन करनेसे ही निरतिचारपत्ता प्राप्त होता है, गुरुओंने कहे हुए प्रायश्चित्तका पालन करनेसे वह निरतिचारपत्ता प्राप्त होता है, गुरु भी जिन्होंने अपने दोषोंकी आलोचना की है उनकोही प्रायश्चित्त देते हैं, तुम तो दूर भगव्य अथवा अभगव्य हो ऐसा हम समझते हैं, यदि तुम आसक्तभगव्य होते तो तुमारेमें यह चडा मायाश्रय क्यों रहता ? तुम मुनिजनकेलिये वंदनीय नहीं है, सम्यग् बंदेज्ज मेधावी संजद गुणमार्हित, अर्थात् जीवित और मरण, लाभ और अलाभ निंदा और प्रशंसामें जिसका मन समान रहता है वही समान कहा जाता है, अतिचारका निरूपण करने पर येही निंदा करेंगे प्रशंसा न करेंगे ऐसा तुम मनमें विचार कर रहे हो इस लिये तुमको समान मानना व्यर्थ है, इस वास्ते तुम बंध नहीं है, ऐसा भाषण करके अचपी-डक आचार्य धूपके सब ब्रताद्यतिचार बाहर निकलवाते हैं, उसके हृदयमें जो मायाश्रय घेठा था उसको बाहर निकालवाते हैं,

उज्जस्सी तेजस्सी वञ्चस्सी पहिंदकिचियायरिओ ॥

सीहगुओ य भणिओ जिणेहिं उप्पलिगो णाम ॥ ४७८ ॥

कंठीरव इचौजस्वी तेजस्वी भानुमानिव ॥

चक्रचर्तनीच चर्चस्वी सुरिक्कपीडकोज्जकि ॥ ४७९ ॥

स बहिं कीहगुलीडको मचति इति प्रके सत्त्वाह—

मूढारा—ओजस्सी यलवान् । तेजस्सी प्रवापवान् यतः सर्वोऽपि विभेति परैः सौमयाभुज्य इत्यर्थः ।

वरुपरसी प्रभोत्तरदानकुलः । सीहगुओ सिंहसमानः अक्षोभ इत्यर्थः ॥

अषपीडक आचार्यका लक्षण आचार्य कहते हैं—

अर्थ—उत्पीलक गुणधारक आचार्य ओजस्वी, चलवान् और तेजस्वी प्रतापवान् होते हैं, अर्थात् उनसे स्वयंपके झुनि और परसंघके भी-मययुक्त होते हैं, अर्थात् सर्व भुनिओपर वे अपना रोच जमानेकोल होते हैं, स्वल्प और परसंघके भुनि उनकी आत्मा नहीं उलंघते हैं, वे वचस्वी अर्थात् प्रश्नका उत्तर देनेमें कुशल होते हैं, उनकी कीर्ति चारो दिशाओंमें रहती है वे सिंह समान अक्षोभ्य रहते हैं, वे किसीको डरते नहीं हैं,

पिजयोदया—यो यद्वितकामस्त तं पलासच श्रवतयति । यया हिला मात्ता वालं घृतपति ।
इत्येतदुत्तरसूत्रेणाचष्टे—

पिछिंदूण रडंतं पि जहा थालस्स मुहं विदारिन्ता ॥

पम्जेइ घदं माया तस्सेव हिंदं विचिंतंती ॥ ४७९ ॥

ययावष्टम्य हस्ताभ्यां विदार्यं वदनं घृतं ॥

वालं पाययते माता रटंतं हितकारिणी ॥ ४८३ ॥

पिजयोदया—पिछिंदूण मुहं विदारिन्ता घदं पम्जेइ यया जननी याल्बद्वितचितोघता पुरुषंन्वमपि घां ले
अवष्टम्य मुतं विदार्यं घृतं पाययति । कष्टान्तिकेन योजयति ॥

यो यद्विदितमिच्छति ॥ तं यच्छास्यति ॥ प्रवर्तयति यथा माता बालं घृतपात्रे इति समर्थयितुं गाथाद्वयमाह—
 मूलरा—पेष्टदूषण हस्ताभ्यामवष्टब्ध । रत्नं पि मूक्तुर्नन्दमपि । पायेदि पाययति ॥
 जो लियका हित करना चाहता है वह उसको हियेके कार्यमें यलात्कारसे प्रवृत्त करता है, जैसे हित करनेवाली माता अपने नालरुको घृत पिलानेमें प्रवृत्त होती है—
 यह अभिप्राय आगेके सूत्रमें आचार्य कहते हैं—
 अर्थ—जैसे चालरुको हित करनेवाली माता नालरु रोता है तो भी उसको पकड़कर और उसका मुख पलात्कारसे उचाढ़कर उसको घृत पिलती है, उत्पीडक आचार्य भी वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं, यह बात आगेकी गाथामें आचार्य प्रमट करते हैं—

तह आयरिओ वि अणुज्जयस्स सवयस्स दोसणीहरणं ॥
 कुणदि हिंदं से पच्छा होहिवि कहु ओसहं वत्ति ॥ ४८० ॥
 अचपीठ्व तथोत्तपीकी हितारोपपरायणः ॥
 अन्तुं क्षपकं त्वरिदोपं स्वाजयतेऽस्त्रिलम् ॥ ४९४ ॥

विजयोदया—सह तथा । आयरिओ आचार्योंऽपि । अणुज्जयस्स सवयस्स अन्तुओ क्षपकस्य । दोसणीहरणं कुणर मायादात्यनितसं करोति । कहुओसहं वत्ति कहुकमीपथमिवा ॥ तस्य । पच्छाहिंदं होदि पच्छादितं भवतीति ॥
 तद्वान्तं प्रदर्श्य शार्ष्टविकेन योजयन्माह—

मूलरा—अणुज्जयस्स अन्तुओः । दोसणीहरणं । मायासत्त्वभिरासे । कहुओसहं वत्ति कहुकमीपथमिवेति ॥
 अर्थ—आचार्य भी मायाचार धारण करनेवाले क्षपकको जवरदस्ती में दोषोंकी आलोचना करनेमें वाध्य करते हैं तब वह दोष कहता है कहु औपधि जैसे रोगीमनुष्य का सेवन करनेके नंतर कल्याण करती है वैसे दोषोंकी आलोचना करनेसे क्षपकका कल्याण होना है, अर्थात् आलोचनासे भविष्यत्कालीन संसारपरिभ्रमणसे बह मुक्त होता है—

यो न निर्भर्त्सयति दोषं हृष्यपि प्रियमेव यदि स गुरुः शोभन इति न भवद्विर्मतव्यमित्युपदिशति—

विन्भाए वि लिहंतो ण भदओ जत्य सारणा णत्थि ॥

पाएण वि ताडितो स भदओ जत्य सारणा अत्थि ॥ ४८१ ॥

भद्रः सारण्या हीनो न लिहन्नापि जिह्वा ॥

ताडयन्नपि पादेन भद्रः सारण्या युतः ॥ ४८२ ॥

विजयोदया—अत्रापि वि लिहंतो जिह्वा स्वादयन्नपि न भदगो नैव भद्रकः । जत्य सारणा णत्थि । पत्थिम-
गुरो दोषनिवारणा नास्ति । पाएण वि ताडितो पादेन ताडयन्नपि स भदगो स सुखिर्भद्रकः । सारणा जत्य अत्थि सारणा
गुरो यम पिच्छते ॥

दोषं दृष्ट्वापि त्वां न निर्भर्त्सयति अपि तु भियमेव प्रयोजि स गुरुः शोभन इति त्वया न भवन्त्य इत्युपदिशति—
मूढारा—जिह्वन्तो स्वादयन् प्रियवचनाभिः सुख्यप्रतीत्यर्थः । सारणा दोषनिवारणा गुणप्रवर्तनं वा ।
जो शिष्योके दोष देखकर मी प्रिय ही बोलता है. निर्भर्त्सना करता नहीं है बर गुरु उत्तम है ऐसा है
मुने ! तुम मनमें मत समझो. ऐसा आचार्य उपदेष्टा करते हैं—

अर्थ—जो गुरु शिष्योको दोषोंसे निवारण नहीं करते हैं ये जिह्वासे मधुर माषण बोलें तो भी वे शिष्यों-
का अकल्याणही करनेवाले मानना चाहिये. जो गुरु शिष्योंसे शिष्योंका समाचार लेता है परंतु जो दोषोंसे शिष्योंको
अलिप्त रखता है पही गुरु हित करनेवाला समझना चाहिये.

सारणकस्य सूरेर्भद्रताप्रकटनाय गायो—

सुलहा लोए आदट्ठचित्ता परहिदम्मि मुक्कथुरा ॥

आदहं व परहं चितंता दुल्लहा लोए ॥ ४८२ ॥

परकार्यपराचीनाः सुलमाः स्वार्थकारिणः ॥

आत्मार्थमिव कुर्वाणाः परार्थमपि दुर्लभाः ॥ ४८३ ॥

विजयोदया—सुलमा लोए आदट्ठचित्ता सुलमाः प्रकृतः । लोए लोके । आदट्ठचित्ता स्वार्थे तत्पराः ।
परहिदम्मि मुक्कथुरा परहितकरणे अलसाः । आदहं व आत्मयोजनमिव । परहं चितंता परप्रयोजनविलासमुद्यताः
लोके दुर्लभाः ॥

सारकृत्यसूरिदुर्लभत्वस्यापनार्थमाह—

मृगार—दुर्लभाः प्रचुराः । आदद्भुचितया स्वकार्यचित्तनपपाः । मुक्कधुरा अलसाः आदद्भुव स्वकार्यभिल ॥
दोषोते निवारण करनेवाले आचार्यकी भद्रता प्रकट करते हैं—

अर्थ—इस जगतमें अपने कार्यमें ही तत्पर रहनेवाले और परहित करनेके कार्यमें अलसी ऐसे ही लोक बहुत हैं अपने हितके समान परहितकी चिन्ता करनेवाले लोक असंख्य बिरल हैं.

आदद्भुमेव चित्तदुमुहिदा जे परदुमबि लोगे ॥

कडुय फरुसेहिं साहेति ते हु अदिदुल्लाहा लोए ॥ ४८३ ॥

ये स्वार्थ कर्तुमुद्युक्ताः परार्थमपि कुर्वन्ते ॥

कडुकैः परपैर्योपयेस्ते तरां सन्ति दुर्लभाः ॥ ४८७ ॥

पिजयोदपा—आदद्भुमेव चित्तदुमुहिदा आत्मीयमेव प्रयोजनं चित्तपिजुसुरिधताः । अये । परदुमबि परप्रयोजनमपि कडुकरुसेहिं कडुकैः परपैर्योपयेस्ते । साधेति साधयमिषि लोके । अतिदुल्लाहा अतीव दुर्लभाः ॥

अमार्गनिवारणाणामदिदुर्लभत्वमाह—

गूढाए—अहिदा ठपुष्काः । कडुगणरुसेहिं कडुकपरुपैवचनैअहिदिअ वोपासिबबिंशु प्रयुक्कैः । साधेति साधयन्ति निष्पादयन्ति वा ।

अर्थ—जो पुरुष आत्महित करनेके लिये कटिबद्ध होकर आत्महितके साथ कडु और कठोर वचन बोलकर परहित भी साधते हैं वे जगतमें अतिशय दुर्लभ समझने चाहिये.

सूरिसंगे नायपीडयेत् नालो रूपको मायाबल्याप्रियत्ते । निर्मायत्वे निरतिचारत्नवये च गुणे न प्रवर्तेत इति आचार्यसंपादमुपकारं प्रकटीकरोति—

खवयस्स जइ ण दोसे उग्गालेइ सुहेमेव इदरे वा ॥

ण गियचइ सो तचो खवओ ण गुणे य परिणमइ ॥ ४८४ ॥

निर्वर्तनं न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तनम् ॥

विधत्ते क्षपकः सर्वदोषमत्याजितो यतः ॥ ४९८ ॥

विजयोक्ता—गयगस्त उदण सुष्टुमे य इदरे वा दोसे ण उग्गालेण क्षपकस्य सङ्गमात् स्थूलाङ्गा दोषा-
न्यदि नोद्गालयति । को राधो तसो ण नित्यत्तद् स क्षपकस्तेभ्यः सुल्लोभ्यो या दोषेभ्यो न विधत्ते । नैव गुणे
परिणमेते । निरादलकोपे गुणे वाऽपरजितो कथमाराधकः स्वादापधनार्थमायातोऽप्यसत्यपपीडेके ॥ उत्पीरुत्ति मदे ।
सुरेत्पीडकत्वाभावे क्षपकरथापकारमाह—

मुलारा—तसो स्थूलसूक्ष्मदोषेभ्यः । निर्व्याकृते निरुचिचाररत्नत्रये च ॥

अन्यार्ये यदि कठोर और बहुत शब्द दोषकर क्षपकको व्याधित नहीं करते तो वह मायाशून्यसे परावृत्त
नहीं होगा। निरुद्वटपना और निरतिचाररत्नत्रय पालन करना इन गुणोंमें उसकी प्रवृत्ति न होगी, परंतु क्षपकको
आचार्य दोषोंसे परावृत्त करते हैं; यह उनका महान् उपकार है। यही विषय आगेकी भाषामें प्रगट करते हैं—

अर्थ—यदि आचार्य क्षपककें सुक्ष्म अथवा स्थूल दोष उसके हृदयसे बाहर निकालनेका प्रयत्न नहीं
करते तो वह क्षपक गुणोंमें कभी प्रवृत्त नहीं होता। दोषोंका नाशकर यदि वह गुणमें प्रवृत्त न होगा तो वह
आराधक कैसा होगा ? इस वास्ते आचार्यमें अवपीडक गुण होना ही चाहिये, आचार्य इस गुणके धारक न हो तो
आराधनार्थ आया हुआ क्षपक आराधक न होगा।

तस्मा गणिना उत्पील्युण खद्ययस सन्वदो साहु ॥

ते उग्गालेद्वन्वा तरेसेव हिदं तथा चेव ॥ ४९९ ॥

नित्योत्पीडी पीडयित्वा समस्तास्तस्मादोषां स्वाजयेत् क्षितार्थी ॥
व्याधिध्यंसं किं विधत्ते न वैयः तन्वन्यायां व्याधितस्येष्टकारी ॥ ४९९ ॥
इति उत्पीडी ।

उपसंहारमाह—

मुलारा—स्पष्टम् । उत्पीडकः ॥

अर्थ—इस लिये उत्पीडक आचार्यको क्षपकका हित करनेके लिये उसके सब दोष निकालना योग्य है।

एवं अथपीडकतां व्याख्यावावसरमाप्तामपरिस्त्रावितां व्याचष्टे—

लोहेण पीदमुदर्यं व जस्त आलोचिदा अदीचारा ॥

ण परिस्सवंति अण्णत्तो सो अण्णरिस्सवो होदि ॥ ४८६ ॥

दोषो निवेदिशती यत्र तप्ते तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥ ५०० ॥

विजयोदपा—लोहेण पीदमुदर्यं य एवमत्र पदसंबन्धः । अस्त आलोच्य दोषा ण परिस्सवंति अण्णत्तो यस्मै कथिता दोषा न परिस्त्रयन्त्यन्त्यतः । किमिदं लोहेण पीदमुदर्यं लोहेन संतप्तं पीतमियोरुहं । सो सः । एवंभूतोऽपरिस्सवो होदि अपरिस्त्रावी भवति ॥

अपरिस्त्रावितां वृश्मिर्गोधादिर्व्योर्लुङ्कुणयः पूर्वं तत्संज्ञार्थमिदमाह—

मूलारा—लोहेण अर्थात् संतप्तेन । पीदं पीतमन्तर्गतं । ण परिस्सवंति । न प्रकटा भवन्ति । अण्णत्तो अन्यतः

अन्यत्रेहि यायम् । उक्तं च—

दोषो निवेदिशती यत्र तप्ते तोयमिवायसि ॥

न निर्याति महासारे स ज्ञातव्योऽपरिस्त्रवः ॥

इस प्रकार अवपीडक गुणका वर्णन हुआ. अब अपरिस्त्राविता गुणका वर्णन करते हैं—

अर्थ—जैसे तथा हुआ लोहका गोला चारो तरफसे पानीका शोषण कर लेता है और वह शोषण किया गया पानी उससे बाहर निकलता नहीं। वैसे क्षपकके दोष जो आचार्य सुनकर अपने मनमें ही रखते हैं अन्य लोगों को इस क्षपकने ऐसे ऐसे अपराध क्रिये थे ऐसा नहीं कहते हैं वे आचार्य अपरिस्त्रावी गुणके धारक हैं ऐसा समझना चाहिये.

देसण्णणदिचारे वदादिचारे तवादिचारे य ॥

देसच्चाणु विविधे सच्चच्चाणु य आवण्णो ॥ ४८७ ॥

अतिचारास्तपोषूत्तज्ञानसम्भवत्वगोचराः ॥

मनोचाक्षाययोगेन जायंते त्रिविधा यत्ते ॥ ५०१ ॥

विजयोद्या—ईसण्णणादिचारे य ध्वविचारे शब्दानस्यतिचारः श्रुंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिश्रोसांस्तथा।।
 ज्ञानस्य अतिचाराः अकाले पठने, धृतस्य धृतधरस्य वा विन्याकरणं अनुबोधमादीनां ग्रहणे तन्मायोग्यामग्रहणं, उपाध्याय
 निद्वयः, धर्मजनानां न्यूनताकरणं, आधिक्यकरणं । अर्थस्य अन्यथाकथनं वा । तपसोऽपमनान्तेरतिचारः । स्वयं न
 भुङ्के । मन्ये भोजयति, पतस्य भोजयामुज्जनाति मनसा चवसा कथेन च । स्वयं सुधा पीडित आहारमभिलषति ।
 मनसा पारणां मम कः मयच्छति, क या लहस्यामीति चिंता अनमनसिचारः । रसयद्वाहारमन्तरेण परिश्रमो मम आपति
 रति वा । पदजीवनिकपयाभायां अन्यतेमेन योगेन वृत्तिः । ययुरनिद्रतया संक्लेशजनयमित्यमनुष्ठितं मया, संतापकारीदं
 नाचरिध्यामि इति संकल्प अवमोक्ष्यातिचारः । मनसा यक्षुभोजनस्यतः । पदं यक्षु भोजयामीति चिन्ता । भुङ्क्व वापद्रवत-
 स्तमिरिति यत्नं, भुङ्के मया यद्विदुके स्वमगृह्यतमिति वा यत्नं, इत्यसंज्ञया प्रवर्गेण कंठदेशमुपसृक्ष्य वृत्तिपरिसंख्या
 नस्यातिचाराः । गृहसप्तक्रमेण प्रविशामि, पक्षमेव पादकं वेरिद्रपृहमेकं । एवंयुतेन दायकेन क्षयिकया वा क्वं त्रदीप्यामीति
 वा हृतसेकस्य । गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः पादांतं प्रवेशश्च । एवं भोजयामीत्यादिकः । कृतरसपरित्यागस्य रसास्ति-
 सक्ति, पतस्य वा रसयद्वाहारयोजनं, रसयद्वाहारभोजनानुपपन्नं, धातिचारः । कायशुश्रूषात्पनस्यातिचारः उष्णादितस्य
 शीतलव्यसमागमेष्ठा, संतापापायो मम कथं ध्याति चिन्ता, पूर्वाभुलक्ष्मीलक्षद्रव्यमेदंश्चानां स्मरणं, कठोरतपस्य श्रेयः,
 शीतलादेशादृक्कृताममनाजैनस्य अतपमेवेदाः । धातपसंतमशरीरस्य वा अमयुष्टगावस्य छायादुपवेशः इत्यादिकः ।
 गृहस्य भूतमुपगतव्यापि हस्तेन, शरीरेण चाप्यागानां पीडा । कथं ? शरीरपलमजलकणमार्जनं, हस्तेन पादेन
 वा शिलाफलकादिविगतोक्तापनयनं । श्रुतिकार्यानां भूमौ शयनं । निरनेन जलज्याहृगमनदेशे वा अपसृगनम् । अयमाह
 यर्गपादः कदा स्वागिति चिन्ता । यर्गति देशे कदास्योपरमः स्वागिति या । एवकटकविपरणे वर्गविपारणवित्यादिकः ।
 तथा अध्यापकारास्यातिचारः । सेवितायां भूमौ नससहितहरितसमुद्रितयायां विपरयत्वां यत्नं । अकृतभूमिगारीरममा
 जैनस्य हस्तपादसंकोचमसारणं, पादयोक्तारसंचरणं, कंदूयनं वा । द्विमसमीरणाभ्यां हस्तस्य कर्तव्यपुत्राभौ भयतीति चिन्ता,
 देशादलादिभिरुपरिनिपतितदिमाएकरं, मयद्वययगृहा वा । प्रभुत्वात्तापलेसोऽप्येति संकल्पाः । अतिमापरणादीनां
 स्मरणमित्यादिकः । प्रायश्चित्तातिचारमिरूपणा—तत्रातिचाराः । आकर्ण्य अनुमानियमित्यादिकाश्च । भूततिचारेऽ
 च मनसा अनुपुस्ता । अभावात्, प्रमादात्कर्ममुक्त्वादाटस्थावेदं अनुमकर्मैवधननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति
 पण्यदिकः प्रतिक्रमणातिचारः । ऐकोमयातिचारसमावर्तकमुपगमातिचारः । प्रवक्तोऽप्येको विवेकातिचारः । न्यु-
 त्सर्गातिचारः । कुतो भयति शरीरमतापामभिरुपुत्तिः । अनुमध्यानपरिणतिः । कायोत्सर्गदोषश्च तप अतिचार उक्ताः ।
 एवं छेदस्यातिचारः न्यूनो जातोऽहमिति संकल्पाः, भावतो रत्नप्रयानादानं मृड्यतिचारः सर्वो द्विमकार इत्याद्ये-
 रेमायाद विविधे देशातिचारं ज्ञानप्रकारं मनोवाक्याभेदात्कृतकारितानुमतयिकत्वाच्च । सत्यध्याने य सर्वोतिचारे च
 नापन्नो भावप्रः ॥

सम्यक्त्वादतिपारान्वियज्ञानस्याचार्यानां विश्वस्यो भिक्षुपालोचयति तत्र परिखावी यदि सूरित स्वास्तदा चक्षुर्
 रोपान्मनाप्रेति इति बलं गाथाप्रथमाह—

मूलाग्र— देसच्चाए दर्शनादीनामकदेशमये सति । विविधे मनोवाक्यार्थैः प्रत्येकं कृतकारितानुमनने-
नानात्वं गतात् । मन्वच्चाए सद्योगना दर्शनादीनां गगे । आवण्णो दर्शनादिचारान्विविधानप्राप्तो भिक्षु कथयति स्व
श्रेयानिति उत्तराद्वेन संबध्य । अन्ये पुनरेवं संबध्यन्ति । दर्शनादीनामविचारे विविधे आवण्णे प्राप्ते सति । भिक्षुः
स्वदोषान्कथयति । तत्र दर्शनादिचाराः शंकादयः प्रागुक्ताः । ज्ञानाविचारास्तु विनयविपर्ययरूपा अकालपठनादयः संश-
यविपर्ययो वा । आदिंसादिब्रह्मानां चाट्यनोगुणीयार्थोदात्तनिष्कषणसमित्यालोकितापानभोजनानि पंचेत्येदि तत्त्वार्थोक्त
भाषनादानयः । तपस्तनशनीरी सापेक्षस्य सर्वसंभजनमाविचारः ॥ वज्रतक्षनस्य परं मनसा, वाचा, कायेन वा भोजयतो
मुंजानं वा जनुमन्यमानस्य स्वयं वा क्षुद्रान्ततचाहुरभमिलपतोऽतिचारः स्यात् । मनसा को मे पारणां प्रदास्यति, क
वा लपये इति चिन्ता वा क्षुद्रसाक्षरमर्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा । पट्टनीवनिक्तायाथायां अन्यतेमेन योगेन
युक्तिर्वा प्रयुपनिद्रतया, संकुशो वा । किमर्थमिदमनुष्ठितं मया संतापकारि पुनरिदं नावरिव्यामि इति संकुशो वेति ।
२ अवमोर्दस्यतिचारे मनसा यदुभोजनादरः । परं यदु भोजयामीति चिन्ता, भुंक्ष्य यच्चन्द्रसस्तुतिरिति
यपनं । मुक्तं मया यद्विपुले साधु कृतमिति वा यपनं । इत्तसंज्ञवा वा प्रदर्शनं कंठवेशयुपस्युरयेति ।

३ यृत्तिपरितेख्यानस्याविचारे गृहसप्तकमेव, प्रविशामि इत्येवमादिसंकल्पं कृतवतः परं भोजयामीत्यभिप्रायेण
तदधिकप्रवेशादिकः ॥

४ रसपरित्यागस्य रसातिसाक्तिः परस्य वा रसवदाहुरभोजनाद्भोजनानुमननं चेति ।
५ विविचरज्यासतस्य पूर्वोक्तलक्षणहीनवसतो धयनासनं यथोक्तलक्षणवसतावरतिर्वेत्तादिकः ॥
६ कायवेदसाध्यातापनस्यातिचार उज्जाहितस्य हीतिलद्रव्यसमागमेच्छा, संतापपायो मेम कथं स्यादिति चिन्ता,
युष्मद्भूतहीतिलद्रव्यप्रदेशानां स्मरणं, कठोरतपद्वेषः, हीतिलदेशादकृतगन्धप्रमाज्जनस्यातपप्रवेशः । आतापसंतत्वा-
मयप्रगानस्य छायापुत्रवेश इत्यादिकः । वृथामूलाधिवासस्य हस्तेन पावेत वा शरीरावलप्रलक्षणप्रयोजनं । तद्वकिञ्च-
लाफलकादिगतोदकापनयनं, जलाद्रात्रां भूमौ शयनं, निम्नतलप्रवाहगमनदेशो वा अवशानं, अवप्रदे वृष्टिः कदा स्यादिति
चिन्ता, वृष्टौ वा भवेत्तदुपसमः स्यादिति वा, वृष्टिप्रतिबंधपाय दृष्ट्याधिधारणं वेत्यादिः । अद्यावकास्य ह्रियवाताभ्यामुप-
इतस्य कदेशदुपसमः स्यादिति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरिनिपतितदिसस्यापकर्षणमवद्यायचट्टना चा, प्रभुत्वात्तातपदे-
नोऽप्यमिति संकुलेतोऽग्निप्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकः ।

प्रायश्चित्ते आलोचनाविचारः 'आर्कपिबमित्यादिना' चक्ष्यते । प्रतिक्रमणविचारः स्वकृताविचारश्च मनसा अनुगुप्ता, अज्ञानतः प्रमादार्कमगुक्तादावस्थाया इदमष्टमकर्मवर्धनिमित्तमनुष्ठितं दुष्टं कृतमित्येवमादि दुर्गुप्ता । अज्ञानतःकरणग्राह्यः । उक्तोपयातिचारसमवाय उभयातिचारः । भयतोऽविवेको विवेकातिचारः । व्युत्सर्गातिचारः भयतः शरीरसमताया अनिवृत्तिरनुमध्यमानपरिणतिः कायोत्सर्गदोषाश्च । तपसः प्रागुक्ता एव । छेदस्यातिचारो न्यूनो अतोर्दमिति संकेतः । मूलातिचारभावतो रत्नप्रथानादानं, एवं विनयार्थिनां अपि सामान्यलक्षणादुसारेण यथासास्त्रमति-चारावित्याः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शन और ज्ञानमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, व्रतमें अतिचार उत्पन्न हुए हों, देशरूप अति-चार उत्पन्न हुए हों अथवा सब प्रकारोंसे अतिचार उत्पन्न हुए हों ये सर्व अतिचार क्षणक आचार्य के पास विश्वास-युक्त होकर कहें।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रसंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे अतिचार हैं, इनका स्वरूप दर्शनविनयके प्रकरणमें लिखा है।

ज्ञानके अतिचार—अकालमें अध्ययन करना, श्रुत और श्रुतधर अर्थात् जैनसिद्धान्तज्ञाता उनका अवि-नय करना, अनुयोगादिशास्त्रोंका अध्ययन करते समय उस अध्ययन के योग्य नियम धारण करने चाहिये, परंतु ये धारण न करना, जिस उपाध्यायसे शास्त्र पढ़ लिया हो उसका नाम छिपाया अर्थात् मैं किसीके पास नहीं पढ़ा हूँ, स्वयं मेरेको शास्त्रज्ञान स्फुरित हो गया है ऐसा कहना, पढते समय शब्द कम करना और जादा बड़ाना, अर्थका कथन शास्त्रसे विरुद्ध कहना, ये ज्ञानके अतिचार हैं।

तपके अतिचारोंका वर्णन—स्वयं भोजन नहीं करता है परंतु दूसरोंको भोजन कराता है, कोई भोजन कर रहा हो तो उसको अनुमति देता है, ये अतिचार मन से वचनसे और शरीरसे करना अर्थात् तुम भोजन करो ऐसा कहना, जो भोजन कर रहा है उसको तुम अच्छा करते हो ऐसा कहना ये वचनके द्वारा अतिचार हैं, इसी प्रकारसे शरीरसे और मन से भी अतिचार लगते हैं, भूल से पीड़ित होनेपर स्वयं मनमें आहारकी अभिलाषा करना, मेरेको पारणा कोन देना, किसी घरमें मेरी पारणा होमी ऐसी चिंता करना यह अनशन तप में अतिचार है।

रमयुक्त आहारके बिना यह भेरा परिश्रम दूर न होगा ऐसी चिंता करना परदक्ष प्रयत्न वचन और शरीर इन तीन योगोंमें से किसी एक योगसे बाधा देने के लिये प्रयत्न होना। भेरेको बहोत निद्रा आती है, और यह अवसोदय नामक तप मने व्यर्थ धारण किया है। यह संकेतदायक है, संताप उत्पन्न करनेवाला ऐसा यह तप फिर मैं कभी भी न करूंगा ऐसा संकल्प करना ये अवसोदय तपके अतिचार हैं,

बहुत भोजन करनेकी मनमें इच्छा रखना, दूसरोंको बहुत भोजन करनेमें प्रयत्न करूंगा ऐसा विचार, रुखना, तुम वृत्ति होनेतक, भोजन करो, ऐसा कहना यदि वह मने, बहोत भोजन, किया है ऐसा कहे तो तुमने अच्छा किया, ऐसा सोलना, अपने गले को हाथसे स्पर्शकर यहाँ तक तुमने भोजन किया है ना ? ऐसा हस्त बिन्द से अपना अभिप्राय प्रकट करना, ये सब अवसोदय तपके अतिचार हैं,

अर, वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार — मैं, सात, धरोंमें ही प्रवेश करूंगा, अथवा एक-पाठकर्म, प्रवेश करूंगा, किया दरिद्री के गृहमें ही आज प्रवेश करूंगा, इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकार के स्त्रीसे। यदि दान मिलेगा तो लेमे, ऐसा संकल्प कर, सात, घासे अधिक घा-में प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊंगा इसा हेतुसे, भिन्न पाठकर्म प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्याके अतिचार हैं।

रसपरित्याग तपके अतिचार-रसका त्याग करके भी रसमें अस्वाप्तिक उत्पन्न होना, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना, ये इस तप के अतिचार हैं,

कापवैलंबतपके आत्मापतयोगका अतिचार-उष्यसे पीडित होनेपर, शब्द पदार्थोंके संयोगकी इच्छा रखना, यह संताप भेरा कृता नष्ट होगा, ऐसी चिंता उत्पन्न होना, पूर्वमें अनुभवन किये गए शीतल पदार्थोंके स्थानका स्मरण होना, कठोर घूपका द्वेष करना, शरीरको पिच्छीसे स्पर्श न करके ही भूपसे शरीरसंवाप होनेपर छायामें प्रवेश करना, इत्यादिक अतिचार आत्मापनयोगके हैं,

शुद्धल योगके अतिचार-इस योगको धारण करनेपर भी अपने हाथसे, पावसे और शरीरसे जलकायिक जीवोंको डुल देना, अर्थात्, शरीरपर लगे हुए जलकण हाथमें पकड़ना अथवा पावसे, खिलापर अथवा फलरूपर संचित हुआ जल अलग करना, गीली गद्दीकी जमीनपर सोना, जहाँ जलप्रवाह बढ़ता है ऐसे स्थानमें अथवा खोल प्रदेशमें बैठना, वृष्टिप्रतिबंध होनेपर कम वृष्टि होगी ऐसी मनमें चिंता करना, वृष्टि होने

लगी तो कर इसका उपग्रह होना ऐसा संकल्प करना, अपना वृष्टिका निवारण करनेके लिये छत्र, चटाई वगैरह धारण करना।

अत्रावकाशके अतिचार-सचिच जमीनपर, त्रसदाहित हरितवनस्मृति जहां उत्पन्न हुई है ऐसे जमीनपर, छिद्रसहित जमीनपर ध्वन करना, जमीन और शरीरको पिच्छिकासे स्पृच्छ किये बिना हाथ और पाय संकुचित करके अपना कैला करनेके सोना, एक वाजसे दुसरी वाजपर सोना अर्थात् करवट बदलना, अपना अंग झुजलाना, हवा और घेदीसे पीडित होनेपर इनका रुज उपग्रह होना ऐसा मनमें संकल्प करना, शरीरपर यदि बर्फ गिरा होगा तो चाँसके तुकड़ोंसे उपकी हटाना, अंगका जलके तुषारोंको मर्दिन करना, इस प्रदेशमें पूष और हवा घटित है ऐसा पिचार कर संकल्प परिणामसे शुक्त होना, अग्नि और आच्छादन यत्नोंका स्मरण करना ये सब अज्ञावकाशके अतिचार हैं।

प्रायश्चित्त तपेक अतिचार-आकंपित, अनुमानित चंगरे दोष इस तपके अतिचार हैं. ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना, अहान्तसे, प्रमादसे, सीम कर्मके उदयसे और आलस्यसे मैने यह अशुभकर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है. मैने यह दृष्ट कर्म किया है ऐसा उच्चारण करना प्रतिकर्मणके अतिचार हैं. आलोचना और प्रतिकर्मणके अतिचारोंको उभयसिचार कहते हैं. परिणामोंके द्वारा विवेक न होना यह विवेकका अतिचार है. शरीरपरसे ममता हटाना ध्युत्सर्ग वष है. परंतु ममता दूर नहीं करना यह ध्युत्सर्ग तपका अतिचार है.

अशुभध्यातव्यं परिणामन होना और काकोत्सर्गके दोष ये तपके अतिचारमें कहे गये हैं.
छेदके अतिचार-ई न्यून हो गया हूं ऐसा मनमें संकल्प करना. रत्नप्रयको भावपूर्वक प्रहण न करना यह ग्लाना अतिचार है.

अतिचारके देवुरत्याग और सर्व त्याग ऐसे दो भेद हैं. मन, वचन, शरीर, कृत, कालित और अनुमोदन ऐसे नऊ भेदोंमेंसे किसी एकके द्वारा सम्पददर्शनादिकोई दोष उत्पन्न होना ये देशत्यागातिचार है और सर्व प्रकार से अतिचार उत्पन्न होना यह सर्वत्यागातिचार है. क्षणिकी इसमें अतिचार लग सकते हैं इसलिये यह गुरुके समक्ष इसमें आचोलना करें.

आयरियाणं वीसत्यदाए भिक्खू कहेदि सगदोसे ॥

कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेत्तिं कहेदि ते दोसे ॥ ४८८ ॥

विश्वस्तो भापते सर्वाणाचार्याणामसौ न सः ॥ (?)

आचार्यो भापतेऽन्येभ्यस्तां स्तुवन् स्वदधार्भिकः ॥ ५०२ ॥ (?)

पिअयोदया—आहरियाण आचार्याणां । भिद्धु । कहेदि कथयति । वीसत्यदाए विश्वासिन । किं ? सगदोसे स्वातिचारात् । कोई पुण णिद्धम्मो अण्णेत्तिं कहेदि ते दोसे । णिद्धम्मो निष्कान्तो चहिन्नेतो जिनप्रणीतास्सर्वात् । अण्णेत्तिं सान्येभ्यः । कहेनि ते दोसे कथयति आलोचितान्वोपान् । अनेण किलायमपराधः कृत इति ।

गूळारा—वीसत्यदाए विश्वासेन । फहदि अनेन किलायमपराधः कृत इति परेभ्यः प्रकाशयति ।

अर्थ—आचार्योके आगे कोई क्षपक विश्वास रखकर ये आचार्य मेरे दोष अन्योंको नहीं कहेंगे ऐसा विश्वास रखकर कहता है, परंतु कोई आचार्य जिनप्रणीत धर्मसे बाहिर होकर इसने अमुक दोष किया है ऐसा अन्यजनोंको कहते हैं, अन्यजनोंको क्षपकके दोष कहनेवाले आचार्य जिनधर्मभ्रष्ट हो गये ऐसा समझना चाहिये. क्षपक तो विश्वाससे कहता है और ये उसका भंडाफोड़ सर्व लोगोंके समक्ष करते हैं. ऐसा करना जैनधर्ममें निषिद्ध माना है.

तेण रहस्सं भिंदतएण साधू तदो य परिचत्तो ॥

अण्णा गणो य संघो भिच्छत्ताराधणा चेव ॥ ४८९ ॥

रहस्यमेदिना तेन त्यक्ताः कल्मषकारिणा ॥

साधुरात्मा गणः संघो मिथ्यात्वापराधना कुता ॥ ५०३ ॥

विजयोवणा—तेण तेन । रहस्सं भिंदतएण भिच्छत्तालोचितदोषप्रकाशनकारिणा । साधू साधुः । तदो य परि चत्तो ततस्तु परित्यक्तः । इन्द्रोपयकासेन एते मया उज्जवाणं दु मित्रो भवति । ज्ञानार्थं वा घतेयेत् । कुपितो चा स्तनमयं त्यजेत् । इति स्वचित्तेऽकुरुता परित्यक्तो भवति । अण्णा परिचत्तो, गणो परिचत्तो, संघो परिचत्तो, इति प्रत्येकाभिसिक्खंधा । भिच्छत्ताराधणा चेव मिथ्यात्वापराधना दोषो भवति ॥

मूलाना—रहरसं प्रच्छाद्यमल्लोचितदोषं । भिद्वण्ण प्रकाशयता । सगो सः आलोचितत्वदोषः । परिचतो मयध्रंसकत्वेनापहृतः । एतत्तन्मपत्तयेवञ्च । भिन्दन्नापना मिथ्यात्वमुत्थारितं स्थादात्मन इत्यर्थः । प्रकाशयति ॥

त्रय-धपरकते अलोच्यित दोष आचार्यको प्रकट कराना योग्य नहीं है परंतु यदि उसने प्रकट किये तो धपरक मापुता उसने उसी समय त्याग किया ऐसा मनसना चाहिये. ये यदि इसके दोष प्रकट करूं तो यह लज्जा-मान् धपरक अपने मनमें दुःखित होगा. यह अपना पात करेगा, क्रोधी चमकर रत्नत्रयधर्पकां त्याग भी कर देगा. ऐसा विचार मनमें लेकर धपरक दोष कहना उनके लिये शोभ्य नहीं था. दोष कहनेसे आत्मत्याग, गणत्याग और गंयत्याग आचार्यने किया और ये मिथ्याराधक बन गये ऐसा मानना चाहिये.

राधे माधुः परित्यक्तो भवतोत्यवेधे—

लज्जापु गारवेण व कोई दोसे परस्स कहिदोवि ॥

विष्परिणामिज्ज उभावज्ज व गच्छाहि ता निज्जा ॥ ४१० ॥

रहस्यस्य कृते भेष पृथग्भूयावतिष्ठते ॥

कोपतो मुंघते घृत्तं मिथ्यात्वं वा प्रपचते ॥ ५०४ ॥

निजधोदण—लज्जापु लज्जया । गारवेण व गुल्फना था । कोई कहित् । दोसे शोयत् । परस्स परस्मै । वदितो हि वदितोऽसि । विष्परिणामेन पृथग्भवेत् । नायं मम गुरुः कियो यदि स्वात्मिक मदीयान्दोषाहितवदति । मदीया वदिधनाः प्राणा गुरुस्त्वमिति या र्कमाजना साथ नष्टति चित्ता विपरिणामः । उभावज्ज वा लवेद्धा रत्नत्रयं दोषमकट-नेन वृत्तिः । गच्छतु वा गणान्तरं प्राप्तिदम् ॥

कथं साधुः परित्यक्त इत्यग्रह—

मूलाना—गारवेण मानगुरुयेव । परस्स परस्व । विष्परिणामेज विपरीतं परिणेत । पृथग्भवेत् नायं मम गुरुः । विधो यदि स्वात्मिक मदीयान्दोषाग्रिदेत् । मदीया वदिधराः प्राणा गुरुस्त्वमिति ममाजना साथ नष्टति चित्ता हि विपरिणामः । अयमर्थः निर्योषकागौरेण परस्मै गुणे क्वचित् सति कश्चित्प्रपको लज्जया गारवेण वा विपरिणेत । उभावज्ज व लवेद्धा रत्नत्रयमिति दोषः । गच्छाहि वा निज्जा गच्छाद्वा निर्यायात् । गणाद्वा निर्गच्छेत् । गणान्तरं प्रविशेदित्यर्थः । उपारयेज्ज व गच्छेज्ज भिन्दन्नाभिनि पाठ लवेद्धा चारिजं गच्छेद्वा मिथ्यात्वमिति ल्यालयेयम् । तथा चोक्तं—

रहस्यस्य कृते भेदे पृथग्भूयावतिष्ठते ॥
कोपतो मुंचते वृत्तं विपज्यात्वं वा प्रपद्यते ॥

उद्धोने साधुका त्याग किया ऐसा समझना चाहिये. उसका स्पाष्टीकरण—

अर्थ—आचार्य क्षपक के दोष अन्य मुनियोंको कहने पर क्षपक लज्जासे अथवा गर्वसे ये गुरु मेरेको हितकर नहीं जंचते हैं यदि ये हितकर होते तो मेरे दोष क्या अन्य जनोंके समझ थे प्रगट करते ? मैं आज तक ये गुरु मेरे पास प्राण हैं ऐसा समझता था परंतु आज वह समझना निर्मूल है ऐसा अनुभव मेरेको आया है. दोषके कहनेसे गुरुके विषयमें क्षपक के उपयुक्त परिणाम बन जाते हैं. इतना होकर ही रहता नहीं. परंतु वह क्षपक दोष प्रकट करनेसे कुपित होकर रत्नत्रयका त्याग करनेके लिये उद्युक्त होता है अथवा आचार्यका संघ छोड़कर अन्य संघ में प्रवेश करता है.

आत्मपरित्यागं ध्याचक्षुः—

कोई रहस्यभेद कदे पदोमं गदो तमायरियं ॥
उद्वावेडज व गच्छं भिदेडज बहेडज पडिणीओ ॥ ४९१ ॥

मारयत्यथवा सूरिं साधुर्मानप्रहाकुलः ॥
संसारकाननज्जान्ति न मन्यन्ते हि मानिनः ॥ ५०५ ॥

विजयोदया—कोई काश्चित् । रहस्यभेद कदे रहस्यभेद कृते । पदोसं गदो प्रवेशे यतः । तमायरियं तमाचार्यं । उद्वावेडज व मारयेत् । गच्छं भिदेडज गणभेदं कुर्यात् । किमनेन सूरिणा खेडरहितेन, यथा ममारयत्वं प्रकटितवान् एवं युष्माकपि निरपराधाभूयिष्यतीति सुवर । होज्ज पडिणीओ प्रत्यनीको भवेत् ॥

कथमात्मा परित्यक्त इत्यत्राह—

मूलार—पदोसं प्रवेशं । उद्वावेडज मारयेत् । गच्छं भिदेडज गच्छं भियादाचार्यद्वारास्य भेदं कुर्यात् । यथायं विदयस्तो ममालोपितदोषं प्रगटीकुर्यात्तथा युष्माकमपि प्रकटयिष्यतीति सुवचाचार्यद्वारास्य विषटनं कुर्यादित्यर्थः । पडिणीओ प्रत्यनीकः प्रविष्ट इत्यर्थः ॥

आत्मपरित्याग दोषका स्वरूप कहते हैं—

अयं-आचार्य के द्वारा लपकके अपराध सर्वजन समक्ष प्रगट होजाने पर क्षपकके मनमें यदि द्वेष बढ गया तो यह आचार्यको मारिगा अथवा मच्छममें फूट उत्पन्न करेगा अर्थात् इस आचार्यने जैसे मेरे दोष प्रगट किये हैं वैसे यह तुम्हारे दोष भी प्रगट करेगा, निरपराधी ऐसे तुमको यह दूषण लगवेगा, यह आचार्य स्नेहाहित है इसको छोड दो ऐसा बोलकर यह सर्वसंघमें भेदभाव उत्पन्न करेगा तथा आचार्यका शत्रु बन जावेगा,

गणस्तरागं कथयति—

जह धरिसिद्धो इमो तह अमहं पि करिज्ज धरिसणमिमोत्ति ॥

सब्बो वि गणो विप्परिणमेज्ज छंहेज्ज वायरियं ॥ ४९२ ॥

विश्वस्तो भायते शिष्यः सूरेभ्ये स्वदूषणम् ॥

परस्याथ पुनर्भूते सदाचारमहिर्भवः ॥ ५०६ ॥

पपायं दूषितोऽनेन दूषयिष्यति नस्तथा ॥

इति कुद्धो गणाः सर्वेः पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ॥ ५०७ ॥

विजयोपवा—अह धरिसिद्धो इमो धृष्टा दूषितोऽयं । तह तथा । अहं पि करेज्ज धरिसणमिमोत्ति अस्माग्दूषिताः कुर्वन्त अपमिति । विप्परिणमेज्ज दूषणमेव । छंहेज्ज वायरियं स्वगेष्टाचार्ये स्वजतीति कथ्येत तेन गणस्वरूप इति दूषणमिति । ततोऽनयोर्न संगतिरित्यव्ययते । यत् एष सूरिणा द्वेषप्रत्याख्यानपरेण त्यक्तोऽस्ती तत् एता गणस्तं त्यजति ॥

कथं गणः परित्यक्त इत्यत्राह—

मूढारा—धरिसिद्धो दूषितः शुभप्रकाशेनापकृतः । छंहेज्ज त्यजेत् ।

गणत्यागमां वर्णनं—

जैसा आचार्यने इस क्षपकको दोष कद करके दूषित किया है वैसा यह हमको भी दूषित करेगा ही ऐसा विचार कर गण भी आचार्यके प्रतिद्वेष होकर उसका त्याग करेगा- अथवा उससे स्वयं अलग होगा, दोषका कथन करनेवाले आचार्यने गणका त्याग किया ऐसा पूर्वमें कहा है और वहाँ गण आचार्य को छोड देता है ऐसा कहते

हैं अतः यह रूपन अमंगलमा दीखता है उत्तर—दोषोंका वर्णन करनेवाले आचार्यने यदि गणका त्याग किया तो यह भी आचार्यता त्याग करेगा ही. अतः इस कथनमें असंगतपना नहीं है.

संगतस्वक्तो भवतीत्येतद्व्याचष्टे—

तह चेन्न पक्षयण सञ्जमेव विष्परिणयं भवे तस्स ॥

तो से दिसावहारं करेज्ज णिज्जूहणं चावि ॥ ४९३ ॥

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिन्नस्ति चतुर्विध ॥

निर्घोटयति वा रुष्टो रोपत क्रियते न किम् ॥ ५०८ ॥

विजयोक्त्या—तह येन पक्षयण सञ्जमेव तथेव प्रपन्न सद्य सर्व एव मोच्यते रत्नत्रय यस्मिंश्चित्ति शब्दबुरूप श्री सदृशाची भूमति प्रपन्नवाच्य । विष्परिणद् पिरुद्धतया परिणत प्रभुत्त । हये तस्स भवेत्तस्य । तो तव । से तस्य । दिसापहरण करेज्ज कुयोत्त सय । णिज्जूहण यमि करेज्ज इति पक्षत्तवध । परित्याग या कुर्यात् ॥

कथं संघे परित्यक्त इत्यत्राह—

मूळारो—एवयणं प्रपन्नमाद्योऽत्र संघयाची मोच्यतेऽस्मिन् रत्नत्रयमिति व्युत्पत्तयेः । विष्परिणद् पिरुद्धतया प्रभुत्त । तो तवो विपरिणमनादेवो । से तस्य रत्तस्यभेदकस्य । विसापहरणं आचार्यपदभंगने । णिज्जूहणं निर्दोशनं । उक्तं य—

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिन्नस्ति चतुर्विध ॥

निर्घोटयति वा रुष्टो रोपत. क्रियते न किम् ॥

सचका त्याग भी होता है ऐसा वर्णन—

अर्थ—जिनम रत्नत्रयमा प्रपन्न-उपदेला किया जाता है ऐसे जनसमुदायका नाम संघ है. अर्थात् मुनि, आर्यिका, थायक और श्रायिका इनको मंग्य रहते हैं यह मय ॥१॥ दोष प्रगट करनेवाले आचार्य से विरुद्ध होकर उनका आचार्यपद हरण करेगे. अथवा उसका त्याग करेंगे.

अदि धरिसणमेरिसयं करेदि सिस्सस्स चेव आयरिओ ॥

धिदि अपुट्ठधम्मो समणोत्ति मणेज्ज मिच्छज्जणो ॥ ४९४ ॥

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनां ॥

धिक्त्वात्रिधर्मैस्तान्साधूनि विक्ति जनोऽज्वल ॥ ५०९ ॥

मिथ्यासमागतका एव दुष्टा सन्ति दिगंबरः ॥

इदृशीं कुर्वन्ते निर्दा मिथ्यात्वाकुलितं जना ॥ ५१० ॥

विनयोदया—नर धरिसणमेरिसय यदि दुग्ध पयधृत । करेदि करोति । सिस्सस्स चेव शिष्यस्येव । क मागयं । धिदि अपुट्ठधम्मो समणे चि भणिज्ज धिनिधण् अपुट्ठधर्मात् धमजान् । इति मणेज्ज मिच्छज्जणे परेमिप्पगहमित्तं ॥

मिथ्यात्वरारधनाद्वारायत् जनापवादमाह —

मूलारा—धरिसण धर्पण विडम्भा । धिदो धिण् धिण् । अपुट्ठधर्मे अपुट्ठधर्मणः निर्धर्मिकान् धमजान् दिगंबरान् । तथा वीरम् —

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनान् ॥

धिक्त्वात्रिधर्मैस्तान्साधूनि विक्ति जनोऽज्वल ॥

दोष प्राप्तिं करनेसे मिथ्यात्वकी आराधना होमी ऐसा वर्णन—

अर्थ—यदि आचार्य दोष प्रागट कर शिष्यको दूषित करेंगे तो मिथ्यात्वी लोक ये जैनपुनि अपने धर्मको पुष्ट नहीं बना सकते हैं, अपने दाधसे ये अपने धर्मका नाश करते हैं ऐसे वचन नीलकर धिक्कर करेंगे, इस शिष्य दोष प्रागट करना यह कार्य धर्मविघ्नमक है ऐसा सपक्षना चाहिये

प्रस्तुतापरिप्रापितोपसद्धारमथा मसिदायां—

इन्वेधमादिदोसा ण होति गुरुणो रहस्सधारिस्स ॥

पुट्ठेव अपुठ्ठे वा अपारिस्साइस्स धीरस्स ॥ ४९५ ॥

पृष्टोऽपृष्टोऽपि यो व्रूते न रहस्यं कदाचन ॥

इत्यादयो न विद्यन्ते दोषास्तस्य गणेशिनः ॥ ५११ ॥

इति विमुच्य रहस्यविभेदकं भजत गुह्यानिगूहकमंजसा ॥

न हि विशुद्धहितहितवस्तवो हितमपोद्या भजंत्यहितं जनाः ॥ ५१२ ॥

इति अपरिक्षवः ।

विलयोवया - इत्येवमादि शेषा इति । अपरिस्त्वं तु गवं ॥

मूलात्—पृष्ठे व अपृष्ठे वा अपरिस्तादृश किमेतान्लोचितमिति परेण पृष्ठे प्रश्ने कृतेऽपृष्ठे वा अपरिक्षाविणो गुह्यमकथयतः । धीरस्म स्वरूपेष्टादिना विफारसगच्छतः । अयमत्राभिप्रायो—यः शिष्योऽयं दोषं पृष्ठोऽपृष्ठो वा परस्मै न पठि, नार्पणितारिना प्रकाशयति स रहस्यपारी सूरिपरिक्षावीति विख्याति विभागस्तैस्तैर्वैर्भनागपि न स्पृशति इति । अपरिक्षावी ॥

अत्र यदा प्रस्तुत अपरिक्षाविद्या गुहाका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—जो आचार्य अपरिक्षावि गुणके धारक हैं वे शिष्यके—क्षपकके दोष सुनकर मनमें रख लेते हैं और उनको कोई पृष्ठे वा मत पृष्ठे वे कभी उसके दोष अन्यको कहते ही नहीं. दोष प्रगट करनेसे क्या हानि होती है इसका अपरिक्षावी आचार्य को पूर्ण ज्ञान रहता है. अतः वे कभी दोषप्रगटन नामका धर्मभ्रंश करने-वाला कार्य नहीं करते हैं.

लिप्यपत्तो इत्येतत्प्रपञ्चद्वयास्त्वानयोत्तरयर्थः—

संधारमत्तपाणे 'यस्य येनभिर्बन्धो दूरस्यस्यापि तस्य सः' इति कृत्वा—

संधारभ-तपाणे अभ्युण्णे वा चिरं व कीरते ॥

पण्डितचरणपमादेन य सेहानमसंबुडगिराहि ॥ ४९६ ॥

शुश्रूषकप्रमादेन शय्यागामासनादिके ॥

संपन्न दीनवाक्येन शिष्यकाणामसंबृते ॥ ५१३ ॥

विजयेन्द्रिया--इति क्रियाभिः पदसंयमोऽत्र कार्यः । संस्तेरं प्रकृतपते ॥ अगणुणे अमनोहे । कीर्तते क्रिय-
मणे । कुविदो कुपितो मयेक्षकः निरंया मर्यादां वा । संधारणचरणे अगणुणे वा कीर्तते कुविदो ह्येवञ्च स्वमनो मेरं वा
अभुमिच्छुञ्ज । भेतुमिच्छेत् । चिरं ॥ कीर्तते विराटा संस्तरकरणे सकृत्पानयने वा । पञ्चिचरणमपमयेन वा निर्यापकानां
धियापृत्यकरणे वा प्रमादस्तेन वा कुपितो भवेत् । मर्यादां वा आत्मीयां भेतुं इच्छेत् । सेहानमसंखुडभिरादि अयुद्धी-
तायानां असंयुताभिः पठयाभिर्वा कुपितो भवेत् ॥

निर्यापकत्वमेकादशभिर्वाभिन्वर्वाविरुधामुसारादौ तच्चान्निचितसंनियामादुल्लेखे क्षपकस्य चित्तसंतापे निर्यापका-
चार्येणैतथभूतेन सत्ता सचिर्त्तं निर्यापणीयमिति गाथात्रयेणाभिधत्ते--

मुखादा - अगणुणे अमनोसे अनविशिते । चिरं वा चिरेण वा सीमवाकियमाण इत्यर्थः । कीर्तते क्रियमाणे ।
पश्चिपरयपमारेण दीपापृत्यकरणां सत्कारणान्तवधानेन । सेहानं मेक्षणं । असंखुडभिरादि परक्याभिः प्रसिद्धाभिर्वाभिः ।

नितसका जिसके साथ संबंध है वह दूर भी होगा तो भी यह संबंधी पदार्थ उसका ही माना जायगा इस
नीतिके अनुसार यहाँ क्षपकका वर्णन करते हैं--

अर्थ--क्षपककी शुधूषा करनेवाले परिचारक संस्तरकी रचना यदि अमनोज्ञ मनोहर-न करेगे और
लाने पीनेके पदार्थ अमनोहर होंगे तो वह क्रोधयुक्त होगा अथवा समाधिपरणके नियमोंका भंग करेगा, किंवा
मंस्तर करनेमें यदि देर लगेगी तो भी वह कुपित होगा, आहार और पेय पदार्थ लानेमें देरी लग जाय तो कुपित
होगा, परिचारकगण शुधूषा करनेमें अलसी बन जाने पर उसको कोप उत्पन्न होगा, अथवा अपनी मर्यादा वह
छोड़ देगा, जिसको सखलनाविधि मात्तुम नहीं है ऐसं असंयमी जन्मे पञ्च-कंडोर भाषणसे वह क्रोधयुक्त होगा
तो उसको क्षमाधारण कर प्रसन्न करना चाहिये.

सीदुण्हुहाताण्हकिंलाभिदो तिब्बवेदणाए वा ॥

कुविदो हवेज्ज खवओ मेरं वा भेतुमिच्छेज्ज ॥ ४९७ ॥

वेदनायामसहायां धुतुण्णेष्णाहिमाविभिः ॥

क्षपकः कोपमासाद्य मर्यादां विधिभित्सति ॥ ५१४ ॥

त्रिजगदीश्वर—मोक्षदुःखदहण्डा किलामिदो शीतेनोष्णं शुचा पीडितः कुपितो भवेत् । तिव्यवेयणार वा
संस्पृष्टतया वा कुपितो मर्गदोषेन ननु भवेत् ॥

मूलार—किलामिदो पीडितः । मेरं नर्यादां प्रतिपन्नानुग्रहम् ।

अर्थं शीत, उष्ण, भूत और व्याम इनमें पीडित होनेसे क्षुपकको क्रोध उत्पन्न होता है, अथवा रोग
की तीव्ररेदनां मी विखल होकर क्रुद्ध होता है और मर्षादा तोड़नेकी ह्छला करता है, उस समय आचार्य उसको
शोचविष होकर प्रसन्न करते हैं.

गिज्ववपुण तदो ते चित्तं खवयस्स गिज्ववेद्व्वं ॥

अक्खोभेण खमाए जुत्तेण पण्डुमाणेण ॥ ४९८ ॥

निर्यापकेण शान्तेन शम्भनीयः न सूरिणा ॥

क्षमापरेण वीरेण कुर्येता चित्तनिर्युतिं ॥ ५१५ ॥

विजगदीश्वर—गिज्ववपुण संतोषमुत्पाद्यता सूरिणा । तदो ततः । से खवयस्स चित्तं तस्य कुपितस्य मर्षादां
भेनुमिच्छतो वा । चित्तं गिज्ववेद्व्वं चित्तं प्रशान्तिं नेयं । अक्खोभेण खलनरहितेन स्वस्थायता । पमाए जुत्तेण क्षम-
या युक्तेन । पण्डुमाणेण प्रणयमानेन । न हि रोषो मानी वा सूरिः परचित्तकलंके प्रशमयितुं ईहेते ततो निःक्रयायेण
मात्स्यमिति भावः ॥

मूलार—गिज्ववपुण संतोषोत्पादकेन । तदो कोपपरिणतिमर्षादाभेदेच्छान्तदं । गिज्ववेद्व्वं प्रशमनीयं ।

अक्खोभेण पटनरहितेन उद्वेगमुत्प्रेतवर्धः ॥

इसही रिपयको ओभेकी गाधामे आचार्य स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—संतोष उत्पन्न करनेमाले आचार्य तदनंतर कुपित अथवा मर्षादा तोड़नेको जो उत्तार हुआ है
ऐसे क्षपकका चित्त शांत करते हैं, आचार्य अपना चित्त क्षुब्ध नहीं होने देते हैं, वे स्वयं क्षमाधारण करते हैं, अभि-
मानका त्याग करते हैं, क्योंकि रोषवाले और अभिमानयुक्त आचार्य दुसरेका मन प्रमन्न करनेमें प्रयत्न नहीं करते
हैं, इसलिये आचार्य में कयायका अभाव होना चाहिये, अर्थात् निष्क्रयाच आचार्य ही क्षुपकका क्रुद्ध मन शांत कर
मरुते हैं ऐसा अभिप्राय मधुल्लना चाहिये.

एवंभूतो निर्वाणपत्नीत्येतद्व्याचष्टे—

अंगसुदे य बहुविधे णो अंगसुदे य बहुविधविभक्ते ॥
रदणकण्डयभूदो गुण्णो अणिओगकरणम्मि ॥ ४९९ ॥
यदुप्रकारपूर्वागयुतरत्नकरण्डकः ॥

सर्वाद्युयोगनिष्णातो वक्ता कर्ता महामतिः ॥ ५०६ ॥

विजयोदया—अंगसुदे य धृतं पुरुषः मुलचरणार्धश्यामीत्यर्धश्यामोऽप्येनोऽव्यक्ते । आचारादिकं द्वावरागिधं
समिन्नमभूते । यदुपिणे गन्तामकारे । आचारं, सूत्रकृतं, स्थानं, समवायः, व्याख्याप्रदर्शकं इत्यादिभेदेन । णो अंगसुदे
य अंगयासे वा । यदुविधविभक्ते समादिकं, चतुर्विंशतिस्तयो, पंचदश, प्रतिकुम्भं, वैनायिकं, कृतिकर्म, दशवैकालिकं, उत्तरा-
ज्यवर्गं, कल्पव्यवहारः, कार्यं, मन्त्राकारं, पुंडरीकं, महापुंडरीकं इत्यादिना विविच्यभेदेन विभक्तो । रवणकण्डयभूदो रत्नक-
रण्डकभूतः । गुण्णो अणियोगकरणम्मि यथाग्रस्तुतं यस्तु तत्र तत्र सदद्विषाद्युयोगयोग्याणां कुशलः । अनेन ज्ञानमाहा-
तर्गं सूचितं ॥

एवंभूतः सुदिरय निर्वाणपत्नीपुत्रपर्यवेनाह—

मूळारा—अंगसुदे अंगप्रविष्टप्रकपने । यदुविधे आचारं सूत्रकृतमित्यादिद्वादशविधे । णो अंगसुदे अंगदा-
ग्रभूते । यदुविधविभक्ते सामादिकं, चतुर्विंशतिस्तव इत्यादिना चतुर्दशप्रकारविभक्ते । रवणकण्डयभूदो रत्नकरण्डकसदृशः ।
युतरत्नानां रक्षणोपायत्वात् । गुण्णो कुशल । अणिओगकरणम्मि यथाग्रस्तु तत्र तत्र सदद्विषाद्युयोगयोग्याणां ।
एतेन ज्ञानमाहात्म्यं सूत्राद्विज्ञे ॥

आगेसी माथमै करे हुए गुणोंसे युक्त आचार्य क्षपकका मन असन्न कर सकते हैं यह दिखते हैं—

अर्थ—श्रुतज्ञान पुरुषस्थानीय समस्त करके आचारादिकों को मुक्त, पाँच वर्गपरह अथवाओं समान समझने
में श्रुतज्ञान में अंगकी कल्पना पटिन हो जाती है, श्रुतज्ञानके आचारादिक वारा भेद हैं जैसे आचार, सूत्रकृत, स्थान,
समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातधर्मिकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृदश, अनुचरोपादिक दश, प्रश्नव्याकरण, विपाक
यत्र, दृष्टिगाद, अंगथाय श्रुतज्ञानके भी बहुत भेद हैं, जैसे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, धैनयिक
कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, इत्यादि अनेक भेद हैं,
जैसे करदमें रत्नोंको रत्नते हैं वैसे ये आचार्य इन आगमरत्नोंको अपने हृदयमें धारण करते हैं इसलिय ये रत्नोंके

फरंट के समान शोभते हैं. जो जो प्रस्तुत विषय है उसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, इत्यादि अनुयोगोंकी योजना कर उमका प्रिवेचन करनेमें इनकी बुद्धि कुशल रहती है.

वत्ता कत्ता च मुणी विचित्रसुदधारओ विचित्रकहो ॥

तह य अपायविदण्हू मइमंपण्णो महाभागो ॥ ५०० ॥

विजयोदया—यस्त यक्ता । कत्ता य कर्ता च विनयवेयावृत्त्ययोः । विचित्रसुदधारओ विचित्रं धृतं प्रथमा-
दुयोगा, करणानुयोगाश्चरणानुयोगो, द्रव्यानुयोग इत्यनेन विरुत्तेन । विचित्रकहो विचित्रायाः कथायाः निरूपणा अस्य स
विचित्रकथाः । ननु च 'अंगसुदे य बहुविधे जो अंगसुदे य बहुविधविमते' इत्यनेनैव अवगतत्वात् किमेतत् 'विचित्र-
सुदधारओ' इत्यनेन ? नैय शौर्यः । पूर्वसूत्रे श्रुतकेवली निर्वापकत्वेनोक्तः । अनया तु भसमस्तधृताख्यायौऽपि एवंभूतो
निर्वापको भवतीति व्याख्यायते तेन न पुनरुक्तता । तह य तथा च । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारहः । महसंपण्णो
स्वामादिषया पुण्यसं समन्वितः । महाभागो स्वयंशो महात्मा ॥

मूळारा—वत्ता वक्ता प्रतिपादनकुशल । कत्ता कर्ता विनयवेयावृत्त्ययोः । विचित्रसुदधारओ विचित्रं प्रथमा-
दुयोगादिभेदेन चित्रमाधर्पकारि श्रुतकेवळिनिर्योपकैरुक्तं अवधारयता । अथवा विचित्रं धृतं परसमयादिसाक्षं । विचित्र
कथो विचित्रया कथया निरूपकः । न हेतयो. पौनरुक्त्यं शंस्यं पूर्वसूत्रे हि श्रुतकेवली निर्योपक उक्तः, इह पुनरुक्तानुव-
चधृतपरोऽपि । आपायविदण्हू रत्नत्रयातिचारहः । मदिसंघणो स्वाभाविकबुद्धिसंयुक्तः । महाभागो स्वयंशो महापुण्यो वा ।

अर्थ—ये आचार्यं वचनस्य गुणसं युक्त होते हैं. विनय और वैयावृत्त्य करते हैं. प्रथमानुयोग, करणानुयोग
चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकारके श्रुतज्ञानके धारक होते हैं. नाना प्रकारकी विचित्र कथायें कहने में
प्रवीण रहते हैं. गंता—'अंगसुदे य बहुविधे जो अंगसुदे य बहुविधविमते' इस वाक्यापे ही वे महाज्ञानी होते
हैं ऐसा संचित होता है. तो पुनः 'विचित्रसुदधारओ' यह विशेषण क्यों ग्रंथकारने गाथामें दिया है ? इसका
उत्तर यह है—'पूर्व गाथामें श्रुतकेवली निर्वापकाचार्य होते हैं ऐसा ज्ञाता है और इस सूत्रसे असमस्त श्रुतज्ञान
जिनको है ऐसे आचार्य भी निर्वापक होते हैं ऐसा संचित होता है. इसलिये यहां पुनरुक्त दोष नहीं है. यह
निर्वापकाचार्य रत्नत्रयके अविचारोंके ज्ञाना होते हैं, स्वामाविक बुद्धिमान् होते हैं और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं.

पगदे निस्सेसं गाहुगं च आहरणहेदुजुचं च ॥
अणुसासेदि सुविहिदो कुविदं सणिज्ववेमाणो ॥ ५०१ ॥

कथानां कथने दक्षो हेयादेयविचारदः ॥

मुद्धं शास्ति यतिर्धीरः प्रकृतप्रतिपादकः ॥ ५१७ ॥

विचयोदया—मणुमासेदि अणुशास्ति । पगदे यस्तुं प्रारब्धे वस्तुनि ॥ निस्सेसंगाहुगं समस्तमवयो घटसद्वत्
शासनं करोति । आहरणहेदुजुचं च । उपातेन हेतुना च । युक्तं पतस्मादेतोरिदमेवेति स्ति युक्त्यानुशास्ति सुविहितो
यतिः । कुविदं कुपितं । सणिज्ववेमाणो सम्यग्प्रसादमवत् सम्यक्प्रसादमुपनयन् ।

मूलारा—पगदे यस्तुं प्रारब्धे वस्तुनि । निस्सेसं समस्तं हेयमुपादेयं च । गाहुगं श्रावं अपयदा । निस्सेसं
गाहुगं समस्तावबोधकं । आहरणहेदुजुचं दृष्टान्तेन लिङ्गेन बोधधर्मं एतस्माद्धेतोरिदमेवैवदिति युक्त्यानुशास्ति इत्यर्थः ।
कुविदं मुद्धं क्षपकपदि । सणिज्ववेमाणो सम्यक्प्रसादमवयन् ॥

अर्थ—जिस्त वस्तुका विवेचन करनेके लिये प्रारंभ किया होगा उस वस्तुके समस्त अंगोपागोंका
स्वरूप दर्शात और युक्ति देकर कहा है. इस हेतुसे इस वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है इसके स्वरूपसिद्धिके लिये ऐसी
युक्ति है इत्यादि रूपसे जो कथन करता है वह यति कुपित क्षपकको अपनी मधुर वाणीसे प्रसन्न कर सकता है.

गिद्धं मधुरं गम्भीरं मणप्यसावृणकरं सवणकंठो ॥
वेइ कंहं गिज्ववगो तवीसमण्णाहरणहेडं ॥ ५०२ ॥
गंभीरां मधुरां अज्यां शिष्याचिन्तप्रसादिनीं ॥
सुन्वकारो दवात्यस्मै स्मृत्यानयनकारणिमिस् ॥ ५१८ ॥

पिजयोदया—पिद्धं प्रियध्वननगुह्यतया स्निग्धं । मधुरं अवतिरुद्धोदाहरतया मधुरं । गंभीरं अर्द्धगुह्यतया ।
मणप्यसावृणकरं सव सवदाप्रतिप्राप्तिर्ना । सवण कंठो श्रुतिसुखं । वेइ कंहं कथां कथयति । गिज्ववगो निर्बोपकः । सदी-
समण्णाहरणहेडं । स्मृतिसमानयनकारणं । पूर्वोक्त्युताशंभोरस्मरणं ॥ स्मृतिरिति श्रुते मतिवचनो वा । 'मतिः
दमृतिः संज्ञा चित्ताभिनिबोध शयनयावत्पम्' इति वचनात् । तेन सुन्दितमानयनकारणमित्यर्थः इति केचित् ।

मूलात्—सगणकंते श्रुतिस्त्रयं । हेदि कमचति । कथं कथां । सदीसमण्णाहरणहेदुं स्मृतिसमत्वाहरणहेदुं स्यते पूर्वान्पत्तगीर्धार्येगोचरस्य स्मरणस्य मतेवां समान्यनकारणम् ॥

अर्थ—आचार्य बहुत प्रिय वचन होनेसे स्निग्ध, कलोलधर न होनेसे मधुर, बहु अर्थयुक्त होनेसे गंभीर, मनसो आनंदित करनेवाली, कर्णको सुख देनेवाली, ऐसी कथा कहते हैं, जिस कथाको सुनकर श्रवकको पूर्वकाल में अल्पस्त ध्रुतज्ञानके विषयका स्मरण होभा ऐसी कथा वे कहते हैं,

णिज्जगधगो हत्थेस्सत्तपदं व्यावधे—

जह पक्खुभिदुम्मीए पोदं रवणभरिदं समुद्धम्मि ॥

णिज्जवओ धारेदि हु खिदकरणो बुद्धिसंपण्णो ॥ ५०३ ॥

सुखकारी दधात्येनं मज्जंतं दुस्तरे भवे ॥

पूतरत्तममृतं पोमं कर्णधार इवार्णवे ॥ ५१९ ॥

विजयोदया—अह पक्खुभिदुम्मीए यथा प्रचलितगत्ते । समुद्धम्मि समुद्धे । पोदं पोतं माध । रवणभरिदं रत्नै-
भरितं णिज्जगधो निर्योपक । धारेदि एतु धारयति । खिदकरणो परिचितक्रियः । बुद्धिसंपण्णो बुद्धिसंपन्नः सुदिमान् ॥

मूलात्—पक्खुभिदुम्मीणे प्रक्षुभितोभिंके । पोदं ग्रथहणं । णिज्जवगो निर्योपकः कर्णधार इत्यर्थ । खिदकरणो
परिचितक्रियः ॥

णिज्जगधो इत ध्रुपदकां स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—जिसमें तरंग उछल रहे हैं ऐसे समुद्रमें नौका चलानेका जिसने खूब अभ्यास किया है ऐसा सुदिमान नाविक रत्नोसे भरी हुई नाकाओ इवनेसे रक्षण करता है,

तह संजमणुभरिदं परिससहुम्मीहिं खुभिदमाद्धं ॥

णिज्जवओ धारेदि हु महुरेहिं हिदोवेदेसहिं ॥ ५०४ ॥

मल्लिसंयमरत्ताढं यत्तिनावं मवारणवे ॥

विमज्जंतो महाप्राज्ञो विमल्लिं सरिनाविकः ॥ ५२० ॥

विज्ञायोदया—तद् संज्ञमयुज्यग्रहिदं तथा संयमेव युषेद्व्य भवति संपूर्ण । संयमस्य खर्वेभ्यो युगेभ्यः प्रधानतया न संयमसादस्य पूर्वनिगतः । परित्सुदुग्मीति श्रुतिस्मात्तुल्यत्वाति परीयहास्ते । ऊर्ध्व इत्यनुक्रमेणोद्गच्छन्त्य ऊर्मिज्यप-
देनां लभन्ते । परीयहोर्मिभिः सुभिदं चलिने । अद्विदं त्रिकगूढं यवियोतं ॥ बिम्बवगो घोरेदि सुनिर्घोषकसुरिर्धोरयति ।
मधुरेदि द्विदोक्तेस्तेहि मधुरोहितोपवेदोः ॥

मूलाया—परीतदुग्मीहि परीयहा ऊर्ध्व इवातुक्रमेणोद्गच्छन्तीति कृत्वा । सुभिदं चलिने । आविदं त्रिकगूढं
प्रमितं वा ।

अर्थ—यैसे संप्रयुक्तोत्ते मरी हुई यह क्षपकनोका झुचा, प्यास, चौरह तरंगोस धुन्ध होकर तिरछी हो-
रही है, ऐसे समयमें निर्यपकाचार्य मधुर शिरोपदेशके द्वारा उसको धारण करते हैं अर्थात् उसका संरक्षण करते हैं,

विदिवलकरमादहिदं मधुर कण्ठाहुदि जदि ण देइ ॥

सिद्धिसुहभावहंती चचा साराहणा होइ ॥ ५०५ ॥

कर्णाहुति न चेहते धृतिस्थामकरीं गणी ॥

आराधनां सुखाहर्त्री जहानि क्षपकस्तदा ॥ ५०६ ॥

विज्ञयोदया—विदिवलकरं धृतिवलकारिणीं स्मृते, त्वैव धृतिस्तस्या अपर्यमकारिणी । आवद्विदं काम
चित्तो । मधुरं मधुरं । कण्ठाहुति कर्णाहुति । अदि ण देदि यदि न दयात् । सिद्धिसुधानयनकारिणी आपाहणा चचा
होदि एकता भवति ।

मूलाया—विदिवलकरं स्मृतिर्यैर्यपर्यमकारिणी । कण्ठाहुदि कर्णयोपद्रुतिर्होम इव संतपंकत्वात्। कर्णक्षप-
मितार्थः । आपहन्ती धुरंती ॥

अर्थ—निर्यपकाचार्य भी वाणी धैर्य उत्पन्न करती हैं, आत्मके हितका वर्णन करती हैं, मधुर और
कर्णाह्लादक होती हैं, आचार्य यदि ऐसे वाणीका उपयोग न करेंगे तो मुक्तिमोक्षप्राप्ति करनेवाली आराधना-
ओंका क्षपक त्याग करेंगा,

इय णिज्जवओ खवयस्स होइ णिज्जावओ सदायरिओ ॥

होइ य किच्ची पधिदा एवेहिं गुणेहिं जुत्तस्स ॥ ५०६ ॥

क्षपकस्य सुखं दत्ते कुर्वन्गो हितदेशनाम् ॥

निर्योपकं महाप्राज्ञं तमाहुः सुखकारणम् ॥ ५२२ ॥

ददाति शर्म क्षपकस्य स्तुरिर्निर्योपकः सर्वमपास्य दुःखम् ॥

यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि ॥ ५२३ ॥

इति सुखकारी ।

पित्तगोदया—एय पथ । विषयगो निर्योपकः । तवगस्स क्षपकस्य । णिज्जावगो होदि निर्योपको भवति । सदायरिओ सदाचार्योः निर्योपकायगुणसमन्वितः क्षपकस्योपकारी भवतीत्युक्त्वा स्वार्थमपि तस्य सूत्रेर्सेयति । होदि य किच्ची पधिदा भवति य कीर्तिं प्रथिता । एवेहिं गुणेहिं जुत्तस्स आचार्यस्यादिभिर्गुणैर्लोक्य ॥

प्रकृतमुपसंहारप्रकारेण निर्योपकस्य स्वार्थमिति दर्शयति—

मूलाय —पदिदा प्रथिता प्रख्याता । एवेहिं आचरवत्त्वादिभिरष्टाभिः ॥ निर्योपकः ॥

प्रस्तुत प्रकरणमी उपसंहार गाथा—

अर्थ—इस प्रकारसे क्षपकका मन आलङ्घ्यदित करनेवाले आचार्य निर्योपक होसकते हैं अर्थात् निर्योपकत्व गुणधारक, आचार्य क्षपकका समाधिभरण साथ सफते हैं, आचार्यस्यादि गुणोंका यहां तक वर्णन किया. इन गुणोंसे परिपूर्ण आचार्य की जगतमें कीर्ति फैल जाती है जैसे इन गुणोंसे आचार्य क्षपकके ऊपर उपकार करते हैं ये इन गुणोंसे उनका उज्ज्वल यश भी जगतमें श्रद्धित होता है.

इय अट्टगुणोवेदो कसिणं आराधणं उवविधेदि ॥

स्वगो वि ते भयवदी उवगृह्णहि जादसंवेगो ॥ ५०७ ॥

शियसुग्गममुपमपम्भममलं व्रतयति शमवति हितकृति सकलं ॥

नितरति पतिपतिरिति गुणकलितः शमयमदममयमुविजनमहितः ५२४

युगेतरमीभिः कलितोष्टभिर्जनैः समेत्य (१) कीर्तिः शशिरश्मिनिर्मलाम् ॥
आराधनासिद्धिवरंगनासखीं वदति सूरिः क्षपकाय निश्चितम् ॥ ५२५ ॥

इति सुस्थितः

विजयोदया—इय एवं । अद्युणोयेवो आचारवानित्याद्ययुणोपेतः सूरिः । कसिचं कुरुनां । आराधनं आराधनां । उपविषेदि दीप्तयति । तयगो वि क्षपकोऽपि । तं तां भगवतीं सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीं । उगगूहवि भाङ्गि-
मति । आरसंयेतो उत्पद्यसेनारभीकृतः । सुद्विदे सम्मत्तम् ॥

ययोक्तगुणमूरैः सकलारापनासंयादकत्वं भवभीकृत्य य क्षपकस्य वदाल्लिगन्सुनिदिशमाह—
मूलारा—उबविषेदि उपदोऽकते । भयवर्धो सकलवाधापनयनमाहात्म्यवतीम् । उबगूहवि आङ्गिगति ॥
सुस्थितः । सुनत ॥ १७ । अंकत ॥

अर्थ—इत प्रकर आठ गुणोंसे पूर्ण आपारंपका आश्रय करनेसे क्षपकको चार प्रकारकी आराधना प्राप्त होती है, और जिसको संसारभय उत्पन्न हुआ है ऐसा वह क्षपक भी संपूर्ण वाधाओंका नाश करनेवाली, अपूर्व माहात्म्ययुक्त भगवती धंय आराधनाको आलिङ्गन देता है.

एवं सुद्विदे एत्यतद्वयाप्येते, इत उचरं उपसंया इत्येतद्वयाख्यापेते—

एवं परिमगिगत्ता निःजवयगुणेहि जुचमायरियं ॥
उवसंपञ्जइ विज्जावरणसमगो तगो साह ॥ ५०८ ॥

निर्यापकं गुणोपेतं मार्गचित्यातियत्तनः ॥

उपसर्पत्यसो सूरिज्ञानचारित्रमार्गेकः ॥ ५२६ ॥

विजयोदया—एवं परिमगिगत्ता अनिय्य । कं आयत्ति आचार्यं । कीटगूतं ? निःजवयगुणेहि निर्यापकगुणै-
राचारसत्त्वादिभिः समन्वितं । उवसंपञ्जइ दीकते । फः ? तगो सः । साह साधुः । कीटगूतः ? विज्जावरणसमगो
ज्ञानेन चारित्र्येण समगः संपूर्णः ।

अर्थ—निर्यापकाचार्यं सम्यक्पूर्णीत्य तस्मै स्वं समर्पयतः क्षपकस्य गाथापट्केनेतिकर्तव्यताकप्रमुपदिशति—
मूलाय—परिमगिगत्ता अनिय्य । उवसंपञ्जइ उपदर्पति आश्रयतीत्यर्थः । तगो सः । उक्तमार्गोद्यतः ॥

अर्थ—इस प्रकार समग्र ज्ञान और चारित्रिक धारक वह थपक आचारवत्त्वादि आठ गुणोंसे पूर्ण अर्थात् यका श्रोत्रकर उनका आश्रय करता है.

गुरुकुले भारतनिर्गमः उच्यते सनातन समाचारः । तत्कर्म निरूपयति—

तियरणसन्वावासययडिपुणं तस्स किरिय किरियम्मं ॥

विणएणमंजलिक्कवो वाइयवसमं इमं भणदि ॥ ५०९ ॥

कूतिकर्मं विधायासो एरिपूर्णं त्रिगुद्धितः ॥

आचार्यवृषभं वसति मस्तकारोपितंजलिः ५२७ ॥

विजयोदया—तियरणसन्वावासययडिपुणं किरिय तस्स किरियम्मं । तदयं नियामकस्य स्रोतः कृतिकर्म धंद्वमां कृत्वा । कोषशं तिरियणसन्वाधानगमिडिपुणं मनोवाकायात्मतयवियदयकप्रतिपूर्णं सामायिकं, अनुविशतिस्तद्यो धंद्वना, प्रतिकर्णं, प्रत्यापयानं, कायोत्सर्गं, इत्येतं मनोयज्ज्ञाप्रविकल्पेन विविधाः पञ्चाधंद्वरुसंज्ञिताः । मनसा सर्वसाधय योगनिवृत्तिः, वचसा सन्धं सातज्जजोगं पचन्वामि इति यचनं । कायेन सावयकिप्राननुष्ठानं, मनसा वदुविप्रति तीर्थकृतां गुणानुसरणं 'लोगस्सुजोययेर' इत्येयमदीर्घां गुणानां वचनं । सल्लहविषयस्तत्तदुल्लतार अभिनेयः कायेन । धंद्वनैयगुणानुस्मरणं मनोवंदना । वाचा तद्रुणमहादभ्यप्रकाशानप्यचनोदधारणं । कायेन धंद्वना प्रदक्षिणीकरणं कृता- नतिश्च । मनसा कृताविचादाभिवृत्तिः । हा कुण्ठमिति वा मनःप्रतिकर्मणं । स्रोतोदधारणं यादयप्रतिकर्मणं । कायेन तद- भावरणं फायप्रतिकर्मणं । मनसातिचारादीनां करिण्यामि इति मनःप्रत्यापयानं । वचसा तत्तद्विरिण्यामि इति उदधारणं । कायेन तत्तद्विरिण्यामि इत्यंगीकारः । मनसा शरीरे मधेदमावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः । प्रलेपभुजस्य, यदुत्पुलमात्र- पाशंतरस्य निवृत्तवस्थानं कायेन कायोत्सर्गः । कायापयनियमसमकृत्वा परान्ते गुणवासीने प्रसन्नचेतसि शनैरगारय शरीरं भूमिं च प्रतिलेख्य अदूरे अलसीये आसित्वा कृतांजलिः भगवत्कृतिकर्मवंदनामिच्छामोसि आलोच्य अनुष्ठानः शनैरुत्थाय मूर्धन्यस्तकर अंबिलवितमगुदुतं समायिकं पठेत् । सूत्रानुगतं, अविवलं, अधिकृतं स्थितः कृतकायोत्सर्ग- अनुविशतिस्तवमभिधाय सूरिणानुक्तभग्नः गुरुस्तवनं पठेत् इत्येषा कृतिकर्मवंदना । वंदनोत्तरकाले विणपण विनयेन अंबलिक्कवो मुकुलीकृतांजलिः । वाइयवसमं आचार्यपूर्यमं । इणं इदं । गणदि प्रवीति इति ॥

गुरुकुले आत्मनिसर्गं उपपन्नं सनातन समाचारस्तत्कर्म निरूपयति—

मूला—तियरणसन्वावासययडिपुणं मनोवाकायात्मतयवियदयकप्रतिपूर्णं, आचार्यक्रिया चात्र विदयोग्या-

धार्मसाधिमध्यः । इत्यमेव श्रीचंद्रमुनिकुमनिधिषे व्याख्यानात् । किदिकम्पं धंदनां । अजलिकदो मुकुलीकुतां वलिः
वायमवसहं वाचकधुरमं आचार्यप्रधानं । इणं इहं वश्यमाणं वेत्ति मवीति ॥

गुरुकुलमें आपना आत्ममर्माण करना यह उपसंघा अन्दका अभिप्राय है. अतः इस उपसंघा समाचारका
क्रम आचार्य दिखाले हैं -

अर्थ- मन, वचन और शरीरके द्वारा मर्ष सामागिकादि छह आवश्यक कर्म जिसमें पूर्णताको प्राप्त हुए
हैं ऐसा कृतिकर्म कर अर्थात् वंदना करके विनयसे हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्य को क्षपक आगे लिखे हुए ध्वजके
अनुसार विज्ञप्ति करता है -

सामागिक, चतुर्विंशतिस्तय, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक क्रियाएं
मनोयोग, वचनयोग और काययोग को निर्मल करके करने चाहिये. अर्थात् प्रत्येक आवश्यकके योगके सर्वधसे
तीन तीन भेद होते हैं. मनके द्वारा सर्व साधयोगोंका त्याग करना, सर्व साधयोगोंका मैं त्याग करता हूं ऐसा
वचनसे उच्चार करना, शरीरमें सर्व साधय क्रियाओंका त्याग करना ऐसे सामागिकके तीन भेद होते हैं. मनसे
चोपीस तीर्थक्षेत्रोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे ' लोयस्सुज्जोवयरे ' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थक्षेत्र स्तुति
पोलना, ललाटपर हाथ जोड़कर जिनेंद्र भगवान को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशति स्तुतीके तीन भेद होते हैं.

वंदना करने योग्य गुरुओंके गुणोंका स्मरण करना यह मनोवंदना है. वचनसे द्वारा उनके गुणोंका
महत्त्व प्रगट करना यह वचनवंदना है. और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवंदना है. किये हुए अति-
चारोंका मनसे त्याग करना यह मनःप्रतिक्रमण है. हाथ हाथ मेंसे पापकार्य किया है ऐसा मनसे विचार
करना यह मनःप्रतिक्रमण है. प्रतिक्रमणके धर्मोंका उच्चार करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है. शरीरके द्वारा दुष्कृत्यों
का आचार्य न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है.

मनसे मैं अतिचारोंको भविष्यकालमें नहीं करूंगा ऐसा विचार करना यह मनःप्रत्याख्यान है. वचनसे
अतिचार में भविष्यमें नहीं करूंगा ऐसा पोलना अर्थात् भविष्यकालमें मैं अतिचार नहीं करूंगा ऐसा कहना यह
वचनप्रत्याख्यान है. शरीरके द्वारा भविष्यकालमें अतिचार नहीं करना यह कायप्रत्याख्यान है. यह शरीर मेरा नहीं
है ऐसा मनमें विचार करना अर्थात् शरीरपर मनसे ग्रेम दूर करना यह मनःकायोत्सर्ग है. मैं गुरीरका त्याग

करता हूं ऐसा स्वचोच्चार करना यह वचनकृत कायोत्सर्ग है, चाहु नीचे छोड़कर चार अंगुलमात्र अंतर दोनों पानोंमें रखकर निश्चल खड़े होना यह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है।

(कायापायनिरासमकृत्या इम पदका अर्थ ध्यानमें आता नहीं) एकान्तस्थानमें गुरु प्रसन्न चित्तसे बैठे हैं ऐसा देखकर उनके पास भद्रदरीतीसे आकर अपना शरीर और जमीन पिच्छासे साफ करना चाहिये तदनंतर गुरुसे पूर अथवा निकटन बैठकर अर्थात् गुरुसे थोड़े अंतर पर बैठकर हाथ जोड़ने चाहिये, ' हे भगवन् कृत्तिकर्मवन्दना करनेकी मेरी इच्छा है ' ऐसा कहकर आलोचना करनी चाहिये, उनकी अनुज्ञा मिलने पर साधकाश ऊठकर मस्तकपर हाथ जोड़कर रखने चाहिये और सामायिकका पाठ पढ़ना चाहिये, पाठ पढ़ते समय शीघ्रता और सायकशयना छोड़कर मध्यम मकारसे सामायिकपाठ पढ़ना चाहिये,

झड़के अनुसार दोपोंका त्याग कर निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये, तदनंतर चतुर्विंशति स्तुति पढ़कर गुरुके ऊपर प्रेम रखकर गुरुस्तुति पढ़नी चाहिये, इसीको कृत्तिकर्मवन्दना कहते हैं,

तुज्ज्ञेत्य चारसंगसुदयारया सवणसंघणिज्जयथा ॥

तुज्झं खु पादमूले सामणं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥

निर्यापकं महासूरिं स्मृत्याध्यानपरायणम् ॥

क्षपको नाशनुते सौख्यं विधेकमिव शाश्वतम् ॥ ५१८ ॥

तीर्णद्वयपयोधीनां समाधानविधायिनम् ॥

गुप्फमाकम्भीया पादांते योतयिष्यामि संयमम् ॥ ५२९ ॥

विजयोक्ता—कुक्षेत्य यूयमत्र । चारसंगसुदयारया द्वादश आचारदीप्ति अंगानि यस्य तत् द्वादशांगं अत एव तस्य पारं गता । सवणसंघणिज्जयथा आस्यंति तपस्यंति इति अभ्यासः । तेषां समुत्थयः अमणसंघ तस्य निर्यापका । तुज्झं खु पादमूले गुप्फाकं पादमूले उज्जवेज्जामि उच्योतयिष्यामि । सामणं यामण्यं ॥
विनयपूर्वकं क्षपकः क्षणीयकं प्रसिद्धानीते—

मूळारा—इत्य अत्र चेक्षे निष्कवया समाधिसपधारकाः, उज्जवेज्जामि संपूर्णं करोमि ॥

वंदनाके अनंतर विनयसे हाथ जोड़कर श्रेष्ठ आचार्यको आगे कहे हुए श्रवणके अनुसार बोलता है—
 'अर्थ—हे आचार्य' आपने द्वादशांग धृतज्ञानरूपी समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त किया है. आप तपश्चरण
 करनेवाले मुनियोंको समाधिप्रवेश की प्राप्ति करनेवाले हैं. आपके चरणोंका आश्रय लेकर मैं मेरा श्रामण्य-मुनिव्रत
 उज्ज्वल करना चाहता हूँ. अर्थात् मेरे ब्रह्मोंमें आज तक जो दोष लगे हुए हैं उनका श्रायश्चित्त लेकर ब्रह्मोंको उज्ज्वल
 करना चाहता हूँ

आत्मवेच्छां सुरये प्रकटयति—

पञ्चज्यादी सत्त्वं कादूणालोचनं सुपरिसुद्धं ॥
 दंसपणाणचरित्ते निरसहो विहरितुं इच्छे ॥ ५११ ॥
 वीक्षाप्रभृति निःशेषं विद्यायालोचनात्महम् ॥
 विलिख्योपमि निःशाल्यध्वतुरंगे निराकुलः ॥ ५३० ॥

विश्वोदया—पञ्चज्यादी सत्त्वं वीक्षाप्रहणादिकां सर्वां । कादूणालोचनं सुपरिसुद्धं दोषरहितं ।
 दंसपणाणचरित्ते वशोमयानचरित्ते निरसहो शस्यरहितो भूया । विहरितुं विदुर्भुं आचरितुं । इच्छे इच्छामि ॥
 आत्मवेच्छां स्वपकः सुरे प्रकाशयति—

मूढरा—पञ्चज्यादी वीक्षाप्रहणाप्रभृति निरसहो अतीवारविवाजितो भूया । विहरितुं आचरितुं । इच्छे इच्छामि ।
 क्षपक अपनी इच्छा आचार्यको कहता है—

अर्थ—वीक्षाप्रहणाकाठसे आज तक जो जो व्रतादिकोंमें दोष उत्पन्न हुए हैं उनकी मैं आकांपित, अनुमा-
 नित परीरे दण्डदोषोंसे रहित आलोचना कर दूँगा, ज्ञान और चारित्र्यमें निःशुल्क होकर प्रवृत्ति करनेकी इच्छा
 करता हूँ.

एवं कन्दे निसर्गे तेण सुबिहिदेण वायओ मणइ ॥
 अणगार उत्तमं साधेहि तुमं अविग्गेण ॥ ५१२ ॥

करता हूं ऐसा वचनोच्चार करना यह वचनकृत कायोत्सर्ग है, चाहू नीचे छोड़कर चार अंगुलमात्र अंतर दोनों पावोंमें रखकर निश्चल खड़े होना यह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है—

(कायापायनिरासमकृत्या इस पदका अर्थ ध्यानमें जाता नहीं,) एकान्तस्थानमें गुरु प्रसन्न चित्तसे बैठे हैं ऐसा देखकर उनके पास मंदरीतीस आकर अपना शरीर और जमीन बिछोकरसे साफ करना चाहिये, तदनंतर गुरुसे दूर अथवा निकटन बैठकर अर्थात् गुरुसे थोड़े अंतर पर बैठकर हाथ जोड़ने चाहिये, ' हे भगवन् कृतिर्कर्मवन्दना करनेकी मेरी इच्छा है ' ऐसा कहकर आलोचना करनी चाहिये, उनकी अनुज्ञा मिलने पर सावकाश ऊठकर मस्तकपर हाथ जोड़कर रखने चाहिये, और सामायिकका पाठ पढ़ना चाहिये, पाठ पढ़ते समय काव्य प्रवृत्ति और सावकाशपना छोड़कर अल्पम प्रकारसे सामायिकपाठ पढ़ना चाहिये,

द्वयके अनुसार दोपोंका त्याग कर निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये, तदनंतर चतुर्विंशति स्तुति पदकर गुरुके ऊपर प्रेम रखकर गुरुस्तुति पढ़नी चाहिये, इसीको कृतिर्कर्मवन्दना कहते हैं—

तुज्जैत्य चारसंगसुदुपारया सवणसंघणिज्जवया ॥

तुब्बं खु पादमूले सामण्यं उज्जवेज्जामि ॥ ५१० ॥

निर्यापकं महात्तरिं स्मृत्याभ्यानपरायणम् ॥

क्षपको नाश्नुते सौकर्यं विवेकमिव शाश्वतम् ॥ ५१८ ॥

तीर्णश्रुतपयोधीर्ना समाधानविधायिनाम् ॥

युष्माकमीशा पादांते योतयिष्यामि संयमम् ॥ ५२९ ॥

विजयोदया—तुज्जैत्य यूयमत्र । चारसंगसुदुपारया द्वादश आचारपदीनि अंगानि यस्य तत् द्वादशानि श्रुते सागर इव तस्य पारं गताः । ममणसंघणिज्जवया धाम्यंति तपस्यंति इति धमणाः तेषां सङ्गुदायः श्रमणसंघः तस्य निर्यापकाः । तुब्बं तु पादमूले युष्माकं पादमूले उज्जवेज्जामि उद्योतयिष्यामि । सामण्यं श्रामण्यं । विनयपूर्वकं क्षपकः करणीयकं प्रतिजानीते—

मूला—इत्य अत्र देखे गिज्जवया समाधिसंपपारकाः, उज्जवेज्जामि संपूर्ण करोमि ॥

दुःखोपा नाश करतेगली आराधनापताका हाथमें ग्रहण करनेका सुमने निधय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनासे कर्मोन्ना नाश होता है. कर्मोन्ना नाश होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद श्रीसत्यो मा न होहि उब्बादो ॥

पडिचरएहिं समंता इणमण्डं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥

महाभते ' तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ॥

समं सहायैरचरयामस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥ ५३३ ॥

इति उपसर्पणसूत्रम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताम सुविहिद आस्त्य तापयते । वीसत्यं विभक्तं । मा न होहि उब्बादो इयाकुलित-चित्तो मा न भू । पडिचरएहिं समं नतिचारको सद्ध । इणमण्डं इदं प्रयोजनं । संपहारेमो संपघारयामः । उपसंया निरूपिता ।

सूरिः क्षपकमाश्वासयथाह —

मूलात्—अच्छाहि आस्त्य तिष्ठ । वीसत्यो विभक्तः । उब्बादो व्याकुलितचित्तः । इणमण्डं इदं प्रयोजनं । संपहारेमो पर्यालोचयामः ॥ उपसंयम् ॥ सूत्रवः ॥ १८ ॥ अंकवः ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अत्र तुम निःशंक होकर हमारे संपर्कें उठो. अपने मनमेंसे खिन्नताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंने साथ तुममें विषयमें अवश्य विचार करोगे. इस प्रकार उपसंयाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सूत्रपरव्याख्या—

तो तम्स उत्तमहे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्हू ॥

खीरोदणदब्बुग्गहदुंछणाए समाधीए ॥ ५१५ ॥

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ॥

जिघृक्षान्विचिकित्साभ्यामुत्तमार्थं समावये ॥ ५३४ ॥

इति परीक्षणम् ।

एवं कृते स्वनिक्षेपे ततो ब्रूते शणेश्वरः ॥

निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं साधयस्व महामते ॥ ५११ ॥

विजयोदया—एवं कदे विसर्गो स्वभावत्यागे कृते । केण तेण सुविहिदेष तेन सुचारितेन रूपकेण । वायभो मणर सूरिवदति । यणयार त्यकभाव्यागारत्वादन्वार तस्य संयोगं । उत्तमं उत्तमं प्रयोजनं रत्नत्रयं द्रव्यं । साधेहि साधय । तुमं त्वं । अविग्न्येण अविघ्नेन ।

आचार्य आह—

मूलार—विसर्गो कात्स्न्यभास्त्यागे । उत्तमं उत्कृष्टप्रयोजनं रत्नत्रयं । साधेहि साधय संपूर्णोद्धार । तुमं त्वं ॥

अर्थ—इस प्रकार जन क्षपक अपना अधिप्राय आचार्यके पास जाकर व्यक्त करता है तब “हे मुने तुमने बाल और अन्यतर परिग्रहोंका त्याग किया है. इसलिये अब तुम निर्विघ्नतासे उत्तम प्रयोजन जो रत्नत्रय उसको सिद्ध करो.

धणोसि तुमं सुविहिद एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ ॥

संसारदुक्खमहणीं वेत्तुं आराहणपढायं ॥ ५१३ ॥

धन्यः स त्वं बंदनीयो बुधानां । साधो ! बुद्धिनिश्चिता चास्तमोह ! ॥
पस्यासंसारधर्मा सिद्धिवृत्ती तीक्ष्णां जन्मारामशार्द्धीं ग्रहीतुम् ॥ ५३२ ॥

विजयोदया—धणोसि तुमं पुण्ययामसि भवान् । सुविहिद तेण एरिसओ जस्स णिच्छओ जाओ । उपलक्षणपरं मनोक्षादारग्रहणे ईदग्यस्य निश्चयो जातः । संसारदुक्खमहणीं संसारे चतुर्गतिपरिभ्रमणे यानि दुःखानि तन्मार्गो हति भावः । उपसंया ॥

सूरिराराधनं श्रोत्साहयति—

मूलार—संसारदुक्खसमधर्णीं

वदपरमाच्च तदुःखनिवृत्तिरिति भावः । चतुर्गतिभ्रमणखेलाविनश्वरानोयतां । रत्नत्रयाराधनया हि कर्मण्यपारच्छन्ति

अर्थ—हे धपक तुम बड़े पुण्यवान हो. क्योंकि, चतुर्गतिओमें प्रभानवाले इस संसारमें उत्पन्न होनेवाले

दुःखोक्ता नाथ करनेवाली आत्मनस्पताका हाथमें ग्रहण करनेका तुमने निश्चय किया है. इस रत्नत्रयरूप आराधनामें कर्मोक्त नाथ होना है. कर्मोक्ता नाथ होनेपर दुःखका अभाव होता है.

अच्छाहि ताम सुविहिद वीसत्यो मा य होहि उव्वादो ॥

पडिचरएहिं समंता इणमट्ठं संपहारेमो ॥ ५१४ ॥

महामते ! तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं याचदिवं त्वदीयं ॥

समं सहायैरचरया भस्तस्येन कृत्यं हि परीक्ष्य सङ्गि ॥ ५३३ ॥

इति उपसर्पणस्तुतम् ।

विजयोदया—अच्छाहि ताव सुविहिद आस्त तापयले । वीसत्यं विभक्तं । मा य होहि उव्वादो व्याकुलितचित्तो मा य भू । पडिचरएहिं समं प्रतिचारकैः सह । इणमट्ठं इदं प्रयोजनं । संपहारेमो संमघात्त्यामः । उपसंयातिक्रियता ।

सूरिः क्षपकमाशालयसाह—

मूळार—अच्छाहि आस्तव तिष्ठ । वीसत्यो विभक्तः । उव्वादो व्याकुलितचित्तः । इणमट्ठं इदं प्रयोजनं ॥ । संपहारेमो पर्यालोचयामः ॥ उपसंयात् ॥ सूत्रः ॥ १८ ॥ अंकता ॥ ६ ॥

अर्थः—हे क्षपक ! अब तुम निःशुंफ होकर हमारे संगमें रहो. अपने मनमेंसे त्विष्यताको दूर भगाओ. हम प्रतिचारकोंके साथ तुमारे विषयमें अवश्य विचार करो. इस प्रकार उपसंयाधिकार समाप्त हुआ.

इत उत्तरं पडिच्छा इति सप्तपद्याख्या—

तो तम्स उचमहे करणुच्छाहं पडिच्छदि विदण्ह ॥

खीरोदणदव्वुमाहुतुंछणाए समाधीए ॥ ५१५ ॥

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं नं परीक्षते ॥

जिणुक्षाविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थे समाचये ॥ ५३४ ॥

इति परीक्षणम् ।

विज्ञयोद्या—तो पद्यात् । तस्स तस्य संपत्तस्य । उत्तमहे करणुच्छाहं रत्नत्रयाराधनाक्रियोत्साहं । पडिच्छदि परीक्षते । विदण् मागं । श्रीरोदनदन्तुगदुगुं उणाए क्षीरोदनद्रव्यग्रहण मनोवाहाराग्रहणोपलक्षणं । जुगुप्सापरेण समाधीय समादिनाहारागतं लौल्यमास्य किं धियते न चेति परीक्षते । इयमेका परीक्षा । समाधिनिमित्तं पडिच्छा ।

अथ मूरिः किमादारेऽस्य लौल्यमस्ति न वेति समाचर्य परीक्षते इत्येकत्रया मायया सूत्रयति—
मूलरा—विदण् मागंशः । श्रीरोदनदन्तुगदुगुं उणाए क्षीरोदनद्रव्यं मनोजाहारापलक्षणं तस्य अवग्रहो प्रहणं च विधिक्रित्ता निदा तथा । अथवा उल्लेखो मद् उद्ग्रह आसाकि मनोजाहारात्किर्निदाभ्यामित्यर्थः । समाधीय समाधिनिमित्तं । उक्तं च—

तत्सोक्तमार्ये परिणामद्विपरीश्रणात्सूरिवद्वारबोधः ।

इत्यादिसद्रूप्यरमोपयोगे रत्या जुगुप्सा विधिना समाधौ ॥

परीक्षा । सूत्रः ॥ १९ ॥ अंकतः ॥ १ ॥

इत्येके त्रयो पडिच्छा नामकं सूत्रपदस्य न्याख्या लिखते हैं—

अर्थ—मार्गज्ञ आचार्य यह क्षपक रत्नत्रयाराधनाफी क्रिया करने में उत्साही है या नहीं इसकी परीक्षा करते हैं. यह क्षपक नमाधिभरणके लिये उद्युक्त हुआ है परा दुग्धभाव वगेरह मनोहर भिष्ट आहारोंमें यह अभि-
लापवान् है या उससे निरक्त है इसका भी आचार्य निर्णय करते हैं. यह समाधिके निमित्त परीक्षा है.

खवयस्सुवसंपणत्स तत्स आराधणा अविवेखेवं ॥

दिव्येण निमित्तेण य पडिलेहदि अप्पमत्तो सो ॥ ५१६ ॥

आराधनागतं क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः ॥

दिव्येन निःप्रमादोऽसौ निमित्तेन परीक्षते ॥ ५३६ ॥

विज्ञयोद्या—राजगुरुस्य क्षपकस्य उद्यसंपणत्स अर्थात्किमुपायितस्य । तस्स तस्य । आराधणा अविवेखेवं आराधनाया अभिज्ञेय । पडिलेहदि परीक्षते । ५. १ सो च सुविनिर्घेयत्त । यत्पमत्तो अपमत्त । रेण दिव्येण देवतोपदे-
देन । निमित्तेण निमित्तेन ना इयमेका परीक्षा ।

अथ रागादमूलमुपायितस्य अपकस्याराधनानिर्विघ्नना राज्यादिकं च परीक्ष्य स्वीकारं करोतीति प्रसिद्धता
माध्याह्न्येनोपदिशति—

गुणोक्तः—अपि ह्येषा अवयवस्य आराधनाया अन्याक्षेप निमित्ततां । हिल्लेण देवतोपदेहेन, निमित्तेण च 'अंगं चरं वंजण स्रक्तरणं च छिण्णं च भोगं विविण्णविरिक्खं' इत्यष्टांगनिमित्तेन वा पडिल्लेहि परिश्ले निरूपयति वा ।

अर्थ—इमारे संपत्तिका इत क्षणकत्ते समाधिक्कलिये आश्रय लिया है, इसकी समाधि निर्विघ्न समाप्त होगी या नहीं इस विषयका भी आचार्य देवताके उपदेशसे अथवा गुणानुसृत निमित्तोत्से निर्णय करलेते हैं, यह भी एक परीक्षा है.

रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमपणं च पडिल्लिहिसाणं ॥

गुणसाधणो पडिल्लेहि अप्पडिल्लेहाए बहुदोसा ॥ ५१७ ॥

तं गृहीते मार्गवेदी गणं स्वं राज्यं खेत्तं भूमिपालं निरूप्य ॥

साधुं तरेगृह्णतो निःपरीखं चित्रा दोषा दुर्निचारा भयन्ति ॥ ५१८ ॥

इति निरूपणम् ।

विजयोक्त्या—रज्जं खेत्तं अधिवदिगणमपणं च राज्यं, खेत्तं, हेतुं प्राप्तमग्रादिकं अधिपति गणमात्मानं च । पडिल्लिहिसाणं परीक्ष्य । गुणसाधणो गुणान्तरव्यवसायीन् साधयति यः सूतिः स पडिल्लेहि प्रतिगृह्णाति । के । क्षपकं । अन्यत्र गुणसाधणं इति पाठः गुणान्साधयितुं उच्यते साधुं प्रतिगृह्णाति । अप्पडिल्लेहाए उक्तावाः परीक्षाया अभिधे । साधुदोषा बहुवचो बोधा भवति के ते इति वेदुम्वन्ते । निरुद्धादात्तुगो न वेति यदि न परीक्षितः, आहारे तृणापासक्तंश्चिन्ते तस्मिन् चित्तवतीति कथमाचार्यक. ह्यग्राह । क्षुण्णिसाधयतिगृह्णत्येवमासद्वनात्पुरुषं धर्मदूषणं कुर्यात् । आराधनाया व्यापेस्यो भवति न वेत्यपरीक्ष्य यदि ते न रक्षयति तस्मात् न कार्यमिच्छिः स्वयं च निघते ज्ञेयम् । राज्यक्षेत्रादीकं अन्यदुद्दिश्य ते गृहीत्वा प्राति । तथा च तस्यो परीक्षा येन कृता सोऽधुनं चेत्पश्यति तस्य राज्यवैध्यं स राज्यक्षेत्रादिकं अन्यदुद्दिश्य ते गृहीत्वा प्राति । तथा च तस्यो प्रकारतो भवति । अपरीक्षायां तु राज्यदिग्देशे स च क्षपकः स्वयं च क्लिश्यति । गणस्य चोपदेवं यदि पश्यति, आत्मतो वा न प्रारभते कार्यं । अपरीक्षितकस्ती सूतिनि तस्योपकारको न चात्मन इति दोषाः ॥

नाविसमाधिनिर्णयार्थं परीक्षान्वरमिदं—

मूढारा—खेत्तं देशप्रामाण्यदादिकं । अहिर्वादि व्यभिचरति राजानं । गणं संपं । अप्पणं आत्मसादीरे । पडिल्लिहिसाणं परीक्ष्य । गुणसाधको सम्बन्धत्वाद्विगुणसंपन्नक. सूति । गुणसाधनमिति पाठे गुणान्साधयितुमुक्तं क्षपकं । पडि-

न किं पितृवेति निमिहाहमायाव इति क्षपकस्य संकलेश । धद्वन्वसाध्यभिदं कार्यं न चास्मान्गुरुमुमोदयति नापि नलादलमरमाकं विचारयति इति परिचारकाणां संकलेश ॥ आपृच्छा सूत्र- २१ अंकतः १ ॥

परीक्षाके अनंतर आपृच्छा नामक सूत्रपदका व्याख्यान करते हैं—

अर्थः—रत्नत्रयी की आराधना करनेके कार्यमें सहायक चाहता हुआ यह क्षपक अपने संघमें आया है साधु ने तपश्चर्यादिकोंमें आया हुआ विघ्न बुर करना और उसकी झुठ्ठा करना तीर्थंकर नामकर्म बंध होनेमें कारण है यह बात आपकी विदित ही है, इस लिये आये हुये इस अतिथिको हम अनुग्रह—साहाय्य करे वा न करे इस विषयमें आपकी जो सम्मति होगी सो कहो, जगतमें इतर लोक भी परोपकार करनेमें उद्यमी दीखते हैं, हम तो मुनि हैं, संपूर्ण असमर्थोंको संसाररुयी कीचड़से—जिससे निकसना बड़ही कठिन है और जो अगाध है निकालनेमें हमको हमेशा उद्युक्त रहना चाहिये, 'आर्यहित करना चाहिये और शक्य हो तो परहित भी करना चाहिये' इस वचनके अनुसार इस क्षपकके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये क्या ? ऐसा आचार्यके पूछने पर यदि परिचारकोंने अनुग्रह करनेमें सम्मति दी तो आचार्य क्षपकको अंगिकारते हैं यदि परिचारकोंको विनापूछे ही क्षपकका आचार्यने स्वीकार किया तो आचार्य, क्षपक और परिचारक दोनोंको भी असमाधि होगी अर्थात् संश्लेषपरिणाम होगा हमने तो इसका स्वीकार किया नहीं है ऐसा समझकर परिचारक क्षपकका विनय करता, झुठ्ठा करना बगैरे कार्यमें उद्यमी न होनेसे नेरी ये लोक भक्ति नहीं करते हैं ऐसा मनमें विचार कर क्षपक संश्लेषयुक्त होगा मैंने उपकार करनेकी इच्छासे इसको संघमें रख लिया है परंतु परिचारक इस कार्यमें सहायक नहीं होते हैं इस विचारसे गुरुके मनमें भी संदेह होगा, समाधिभरण सिद्धि करना यह कार्य बहुत जनकी सहायतासे होनेवाला है परंतु गुरुने हमको विनापूछे ही इस क्षपकका स्वीकार किया है, हमारे सामर्थ्य असामर्थ्यका उन्होंने विचारही नहीं किया है ऐसे विचारसे परिचारक संकलित होते हैं,

पटिच्छणा इत्येतत्सूत्रपदं व्याचष्टे—

एगो संधारगदो जजइ सरिरं जिणोवदोसेण ॥

एगो सच्छिद्वि मुणी उग्गेहिं तवोविहाणेहि ॥ ५१९ ॥

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ यजतेऽगं जिनाज्जया ॥

तुःकरैः संहिस्त्यन्यस्तपोभिर्विवैर्यतिः ॥ ५३८ ॥

विजयोदया—एगो संभारगद्यो एक संस्तरमाकूटः । जजद सरीरं यजते दरीरं । जिणोवदेलेण जिमानामुपदेनेन । एगो संहिस्त्य मुनी एगो मुनिरस्तनूकरोति शरीरं । उगेहि तवोविहण्णेहि उदैस्तपोविधानैः ।

अथ सत्वपि संभसाम्यरेयं एरिणा अनुग्राहत्वेन एक एव । सयाधिमरणोद्यन प्रविमाहोऽनेकप्रतिग्रहणे मन-
समाधानां सुस्थानानुपपत्तेरिति प्रविश्यान्नियमार्थं प्रतीच्छां गाथात्रयेण सूत्रयति—

मूलरा—अजदि यजते यपोऽग्नी इति शेषः संन्यस्तवत्पर्यः । एगो अग्न्यो द्वितीय इत्यर्थः । एतेनैतदुक्तं भवति । एकः संन्यामपरः प्रविमाहो, द्वितीयश्च सहेत्यनोद्यनः ॥

पडिच्छणा इत सूतका विवेचन करते हैं—

अर्थः—एक क्षपक छिनेयरके उपदेखानुसार संस्तरपर चढकर दरीरका स्थाप्य करता है अर्थात् समाधि-
मरणका साधन करता है. और एक मुनि उग्र अनशनादि तपोंके द्वारा शरीरको शुष्क करता है.

तदिओ पाणुण्णादो जजमाणस हु हवेज्ज वाचादो ॥

पडिद्वेसु दोसु तीसु य समाधिकरणाणि हायन्ति ॥ ५२० ॥

यजमानक्षतैर्जैनिस्तृतीयो नातुमन्यते ॥

द्वित्रेषु अत्रितपात्रेषु समाधिदीयते तराम् ॥ ५३९ ॥

विजयोदया—तद्विओ पाणुण्णादो तृतीयो यतिगोशुगतः तीर्थश्रद्धिः एकेन नियोकैनामुग्राहत्वेन । कुतो यस्मात् । अजमाणस्तसु हु हवेज्ज वाचादो यजमानस्य भवेदेव व्याघात इति । कुतो व्याघात इत्यत्राह । पडिद्वेसु दोसु तीसु य संस्तरे पवित्रयोर्द्वयोस्त्रिषु च क्षणकेषु समाधिकरणाणि विस्ससमाधानक्रिया विनयेवैयभृत्यादयो हीयंते यस्माद्यजमानस्य व्याघातः । यस्मादेक एव यजमानो भवति ॥

तृतीयमत्रिग्रहणे शेषमाह—

मूलरा—पाणुण्णादो नातुमतत्तीर्थश्रद्धिस्तृतीय एकेनाचार्येणानुग्राहत्वेन । कुत इत्याह—अजमाणस्तस्य तपोऽग्नी देहं लुह्वतः । यमादो समाधिचिन्त. । पडिद्वेसु दोसु तीसु य संस्तरे पवितयोर्द्वयोस्त्रिषु वा सत्सु । समाधिकरणाणि विच-
समाधानक्रियावित्तवैयाहृत्त्यादयः । हायन्ति हीयंते ॥

सदे रूवे गंधे रसे य फासे य गिल्जिणाहि तुमं ॥
सब्बेसु कसाएसु य गिगाहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥
रूपगघरसस्पर्शशब्दानां मा सम भूर्वशाः ॥
कथायाणां विधेहि त्वं शृणाभिच नियहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोपेक्षा—सदे रूवे गंधे इत्यनया । अतु शब्दत्रयी विषयास्तेषा ज्यो नाम क ? तद्विषयो हि रागो वध हेतुत्वात् साम्यतिपक्षमारुत्या ज्ञेयत्वमेतौपेक्ष्यम् । अनेच्यते—सोपस्कारत्वात्स्वभावा सदे, रूवे, गंधे, रसे य फासे य राग तुम गिल्जिणाहि इति पक्षवध । अतथा शब्दादीना विषयाणा वसेन स्थित इति कृत्वा जेता भण्यते यथा पुरुषो जितो ऽप्येतुच्छते या पुरुषयशातुवर्तिनी न मयति । सब्बेसु कसाएसु य सब्बे कपपेसु वा जोधाविसु । गिगहपरमो निग्रह प्रमाण क्षमदिभाषनया सूत्रा मय ॥

इतिवचन्य कथायनिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति—

मूढारा—गिल्जिणाहि नि क्षेपेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति क्षेपः । अथवा शब्दादीन्विषयानिर्जय तदक्षो मा भूरित्यर्थः । गिगाहपरमो निग्रहप्रमाणः ॥

इन्निर्णयोको और कयायोको तुम जीतो ऐसा उपदेश—

अर्थ—शुद्ध, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोमें उत्पन्न होनेवाले रागभावनको जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे जीतना चाहिये ऐसा कहा उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश दे रहे हैं यह योग्य लचना नहीं।

उत्तर—यद्यपि सोपस्कार रहते हैं अर्थात् उसमें ग्रहणवश और कुछ शब्द जोड़कर संगंध शीक मिलाना पड़ता है 'मदे रूवे गंधे रसे य फासे य रागं तुम गिल्जिणाहि, ऐसा पद संगंध करना चाहिये अर्थात् यहां ऐसा अर्थ समझना चाहिये—हे क्षपक तुम शब्द, रूप, रस, और स्पर्श ऐसा पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रोधादिक कयायोका धमा, मार्दव, आर्जव, और शौचभावनासे निग्रह करो

शब्दादिक विषयोंके आधीन जो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहा जाता है, जैसे जो स्त्री पुरुषके वश नहीं रहती है उसको इसने पुरुषकी जीता है ऐसा लोक कहते हैं, अर्थात् शब्दादिक कर्णयोंके स्वाधीन है शपक । तुम कदापि न रहोगे तो तुम इन्द्रियजयी कहलायोगे ऐसा इस गायिका अभिराम है-

एवं ह्येन्द्रियकथायजयेन मया पञ्चार्थैककर्मत्वमित्यनोत्तरमन्वये-

हंतूण कसाए इंदियाणि सखं च गारवं हंता ॥

तो मलिवरामदोसो करेहि आलोयणासुद्धि ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकपायाससंज्ञाभिगौरवादिकम् ॥

विहायलोचनां सुद्धां त्वं विधेहि बिभुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विजयोदया--हंतूण हत्ता । कसाए कपायात् । इंदियाणि इंदियाणि च हत्ता । सखं च गारवं हंता खं च गारवं हत्ता । आलोचनाख्या सुद्धि । रागद्वेषो भस्मययनस्य हेतु इति परित्याग्याविति कथ्यते ॥ रागद्वेषव्यति नरो बोधात् । द्वेषा-दगुणात् एतेति ॥ तस्माद्रागद्वेषौ व्युदस्य कर्माणि कार्याणि ॥

एवंभिद्रियजयं कृत्वा यथास्ति कुर्यामहित्यनाह --

मूखारा--हंता हत्ता । मलिव मर्दिता । आलोचनासुद्धि आलोचनास्कां शुद्धि । रागद्वेषावसत्यवचनस्य हेतु इति परित्याग्यौ । ठकं च--एवाग्न परवतीति किमिति परतने स्वच्यवनकल्पं निवेदयति । निर्बयो भवता मुमुक्षुणा न कार्यों यताः ॥

इंद्रियजय और कथायजय करनेके अनंतर मेरा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं--

अर्थ--श्रीपादिकपाय और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंको जीत कर मूर्खिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंको है क्षपक तुम जीतों, तदनंतर रागद्वेषोंका मर्दन कर आलोचनारूप शुद्धि करो, रागभाव और द्वेषभाव असत्य वचनके कारण है इसलिये उनका त्याग करना चाहिये, रागभावसे मनुष्य दोषको देखता नहीं और द्वेषसे सद्गुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये,

अर्थ—तृतीय यति आचार्यके द्वारा अनुग्राह्य होता है ऐसा तीर्थकरनें आगममें नहीं कहा है. अर्थात् आचार्य ऊपरकी गाथाके अनुसार दो मुनियोंके ऊपर अनुग्रह करसकते हैं. दो या तीन मुनि यदि समाधिभरणके-
लिये संस्कार आश्रम करेंगे तो उनके अन्तःकरणको घर्ममें स्थिर रखनेका कार्य, विनय, वैवाह्यादिक कार्य, यथायोग्य नहीं हो सकेंगे. जिससे उनके मनको संकेल होगा. अतः एकही क्षणक संस्काराख्य हो सकता है.

तन्हा पडिचरयाणं सम्मद्वयेयं पडिच्छवे खवयं ॥

भणदि य तं आयरिओ खवयं गच्छस्स मज्झमि ॥ ५२१ ॥

एकमेव विधिना यतिं ततः स्वीकरोति स्वसहायसम्मताम् ॥

गृह्णाते हि कबलः स एष यः पंडितेन चवने प्रशस्यते ॥ ५४० ॥

इति एकसंग्रहः ।

मध्ये गणस्य सर्वस्य क्षणं भापते हितम् ॥

इत्थं कारयितुं शुद्धां विधिनालोचनां गणी ॥ ५४१ ॥

विप्रयोदय—तन्हा तस्मात् । एव पदं । पडिच्छवे अनुजानाति । छात्रं स्वपदे पदं । पडिचरयाणं सम्मद्वे
प्रतिधारकाणां इष्टं । भणदि य भणति य । तं क्षणं । कः ? आयरिओ आचार्यः । क । मच्छस्स मज्झमि गणस्य मध्ये ।
क्षणस्य दिसा किमर्थं गणोऽपि मार्गो यथा स्यात् । पडिच्छणेनस्स ॥

वपसहारमाह —

भूला—भणदि शिक्षाभित्तिदोष. । मज्झमि गणोऽपि मार्गो यथा स्यादित्येवमर्थे गणमध्ये शिक्षयति ॥
एकवर्तीच्छा ॥ सूत्रवः ॥ २२ ॥ अंकवः ॥ ३ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य परिचारक मुनियोंके संमत्यनुसार एक क्षणक मुनिका स्वीकार करते हैं. और ग-
णके मध्यमें उसको आगे की गाथाओंमें कहें सुनव उपदेश करते हैं. गणके बीचमें आचार्य क्षणकको उपदेश देनेका
कारण यह है कि, गणको भी समीपिना अर्थात् रत्नवक्ता स्वरूप माध्यम हो. अर्थात् समधिभरणका जर्गीकार
करते समय केनी मनुष्य फरनी चाहिये इसका स्वरूप माध्यम होनेके लिये गणके बीच क्षणकको उपदेश देते हैं.

फामेहि तं चरित्तं सत्त्वं सुहसील्यं पयहिदूण ॥

सत्त्वं परीसहचमुं अधियास्ततो धिदिवलेण ॥ ५२२ ॥

समस्तं स्पृश चारित्रं निरस्य सुस्वचीलताय ॥

परीपहचमुं घोरां सहमानो निराकुलः ॥ ५४२ ॥

विजयोदया— फामेहि प्रतिपद्यस्व । तं भवान् । किं ? चरित्तं चारित्रं । सत्त्वं सुहसील्यं सत्त्वं सुपशीलतां । पयहिदूण त्यपत्ता । सुखदीलितया हि चारित्र्यं भवं भवति । पिबत्योपकरणस्य यस्ते आशोधयन् । मनोराहारलंपटो न भिक्षां शोधयति । मायुपकरणे । सुकशील उन्नमादिदोषं न परिहृयति मनोशोधकरवद्व्याभिष्ठापत्वात् । फलेशास्वहो यस्य कस्यासिद्धतावाप्सो ॥

अथालोचना गामावत्प्रादिशत्वा त्वाचक्ष्णान्त्वात्सपादयूल्मुपाश्रितमारुपकं परिवारकसंयविषया प्रतिगृह्य तवालोचनां मोदुकामः स्मरिस्तमाश्रयित्यभावे च विसुं प्रोत्साहयन्गन्धान्नयमाभिव्यक्त्यनुशास्ति—

मूढारा— फामेहि प्रतिपद्यस्व । तं त्वं । सुहसील्यं सुप्रभावनया हि चारित्र्यं भंदायते । पिबत्योपकरणस्य यस्ते आशोधयन् । मनोराहारलंपटः कष्टं न भिक्षां शोधयति । मनोशोधकरणाभिष्ठापुकस्तु नोन्नमादिदोषं परिहृयति । फलेशास्वहो यस्य कस्याचित्स्थित्यायां वसन्नायास्ते । अभिषास्वहो सहभाग्यः ॥

क्षपकको आचार्यका उपदेक्ष—

अर्थ - हे क्षपक तूम अपना सुखस्वभाव छोडकर संपूर्ण चारित्रिको धारण करो, इस सुखस्वभावसे चारित्र्य भंद होवा है, सुखस्वभावी सुनि आहार, उपकरण और वसतिका इनकी सुद्धि नहीं करता है, मनोह्र आहारमें लंपट्टी बनकर उन्नमादिदोषोंका त्याग करता नहीं, अच्छे उपकरणोंमें प्रेमयुक्त होकर उसके दोषोंका परिहार नहीं करता है, श्रेष्ठ सहनेमें असमर्थ होकर जिस किसी वसतिकामें रहता है, इस लिये तूम सुखस्वभावका त्याग करो, अपने धैर्यके सामर्थ्यसे सर्व परीपहोकी सेवाको जीवकर चारित्रिक तूम रक्षण करो.

सहै स्त्वे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं ॥

सत्वेसु कसाएसु य णिगहपरमा सदा होह ॥ ५२३ ॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्बुधाः ॥

कपायाणां विधिहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—सहै स्त्वे गंधे रसे य फासे य णिज्जिणाहि तुमं फा ? सत्त्वियो हि रानो संघ-
देवतात् तत्त्वविपक्षभावनया अतत्त्वत्वेनोपवेष्टव्यः । अत्रोच्यते—सोपस्कारत्वात्सूत्राणां सहै, रसे, गंधे, रसे य फासे य
रागं तुमं जितादि एति पदसंघः । अथवा शब्दादीनां विषयाणां यथेन स्थित इति कृत्वा जेता मण्यते यथा पुरुषो जितो
ऽनयेरगुच्यते या पुण्यपराशु-रातिनी न भयति । सत्वेसु कसाएसु य सत्वेसु कपायेषु वा कोधादिषु । णिगहपरमो निग्रह-
प्रधानः क्षमादिभावनाया सदा भव ॥

इन्द्रियजन्य कथननिग्रहं च कुर्वित्युपदिशति—

मूढारा—णिज्जिणाहि निक्षेपेण जय त्वं शब्दादिविषयं रागमिति शेषः । अथवा शब्दादीन्विषयास्त्रिकोप-
सदसो मा भूरित्यर्थः । णिगहपरमो निग्रहप्रधानः ॥

इन्द्रियोक्तो और कपायोंको तुम जीतो ऐसा उपदेश—

अर्थ—शुद्ध, रस, गंध, और स्पर्श ये पांच इंद्रियोंके विषय हैं उनको कैसा जीत सकते हैं ? शब्दादिकोंमें
उत्पन्न होनेवाले रागमादको जीतना चाहिये क्योंकि वह कर्मबंधका कारण है. रागभावको उसके विरुद्ध भावनासे
जीतना चाहिये ऐसा यहां उपदेश करना योग्य था परंतु आचार्य शब्दादिकोंको जीतनेके लिये क्षपकको उपदेश
दे रहे हैं यह योग्य जचना नहीं.

उत्तर—एव सोपस्कार रहते हैं. अर्थात् उसमें प्रकरणवश और कुछ शब्द जोडकर संबंध ठीक मिलाना
पड़ता है. 'महै स्त्वे गंधे रसे य फासे य रागं तुमं जितादि, ऐसा पद संबंध करना चाहिये. अर्थात् यहां ऐसा अर्थ
समझना चाहिये—इ क्षपक तुम शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श ऐसा-पंचेंद्रियोंके विषयोंमें जो रागभाव उत्पन्न
होता है उसको जीतकर संपूर्ण क्रीपादिक कपायोंका धुमा, मारदय, आर्जय, और दौनभावनासे निग्रह करो.

शब्दादिक निषेधके आधीन तो नहीं रहता है वह शब्दादिकोंका जेता कहा जाता है- जैसे तो सी पु-
रुषने यद्य नहीं रहती है उसको इससे पुरुषको जीता है ऐसा लोक कहें हैं अर्थात् शब्दादिक कर्णयोके स्वाधीन
है श्रुतक 'तुम कदापि न रहोगे तो तुम शब्दियजयी कहलावोगे ऐसा इस भाषाका अधिप्राय है-

एवै इत्येदियकणयजयेन मया कर्त्तव्यमित्ययोरुत्तरमाचष्टे-

हेतूण कसाए इदियाणि सत्त्वं च गारवं हंता ॥

तो भलिदरागदोसो करेहि आलोयणासुद्धि ॥ ५२४ ॥

रागद्वेषकपायाधसंस्तभिगौरव्यादिकम् ॥

विद्वत्पालोचनं शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ॥ ५४४ ॥

विज्ञयोद्या-ईदृण हत्या । कसाए कपायान् । इदियाणि इदियाणि च हत्या । सत्त्वं च गारवं ईता सत्त्वं च
गारवं इत्या नरशित्ससात्तेभ्यादिप्रतिस्त्वं । तो पद्यात् । भलिदरागदोसो नृदितरागदोस । करेहि कुरु । आलोयणासुद्धि
आलोचनाख्या शुद्धि । रागदोसो असत्यकमक्षय हेतू इति परित्याग्यविविध कथितौ ॥ रागमत्र पश्यति ततो दोषात् । वेया-
रगुणात् प्रदीते ॥ तस्माद्रागद्वेषी शुद्धस्य पार्थ्याणि कार्याणि ॥

त्वाभिप्रियजपं कृत्वा दधार्हिकं कुर्यात्तद्विशुद्धाद्-

मूलात्--इत्या हत्या । भलिद मर्दितौ । आलोयणासुद्धि आलोचनाकर्षां शुद्धि । रागद्वेषाचसत्ययचनस्य हेतू

इति परित्याग्यौ । उक्तं च-रागमत्र पश्यतीति किमिति पश्यति स्वचक्षककल्प निवेदयति । निर्जयो भवता मुमुक्षुणा न
कार्ये कतः ॥

इदियजय और कपायजय करनेके अनंतर भेदा क्या क्या कर्तव्य है इस प्रश्नका उत्तर देते हैं--

अर्थ-क्रीयादिरूपस्य और स्वर्धनादिक इंद्रियोंको जीत कर साद्विगातव, रसगारय और सातमारव ऐसे
वीर्य गारवोंको है श्रुतक तुम जीतो तदनंतर रागद्वेषोंका भर्दन कर आलोचनारूप शुद्धि करो. रागमत्र और
द्वेषमात्र असत्य बचनेके कारण हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये रागमत्रसे मनुष्य दोषको देखता नहीं
और द्वेषसे सवगुणोंको ग्रहण नहीं करता है इसलिये रागद्वेषोंका त्याग कर कार्य करने चाहिये.

निरतिचारं मदीयं रत्नत्रयं ततः किं सुतोर्निवेदयामीत्याचष्टे—

छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि अवस्समेव कायव्वा ॥

परमस्विया विसोधी सुद्धवि ववहारकुसलेण ॥ ५२५ ॥

सपट्त्रिंशद्गुणेनापि व्यवहारपटीयसा ॥

कर्तव्येया महाशुद्धिरवश्यं परसार्थिका ॥ ५४५ ॥

विजयोदया—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशद्गुणसमन्वितेनापि । अवस्समेव होइ कायव्वा अयदयमेव भवति कर्तव्या । ॥ विसोधी विमुद्धिः सुस्तुभायतिचारणामपकृतिः ॥

आचारवमारीया अट्टगुणा वसविधो य ठिक्कम्पो ॥

वारस तव छावासय छत्तीसगुणा गुण्येयव्वा ॥ ५२६ ॥

अष्टाचारदयो द्वेपाः स्थितिकल्पा गुणादश ॥

तपो ब्राह्मदाया पोढावश्यकं पट्पडाहृतम् ॥ ५४६ ॥

सुद्धि पवहारकुसलेण सुद्धु अवि प्राप्यविष्णुकुशलेनापि । अष्टौ शानाचाराः वर्तमानासाष्टौ, सप्तौ ब्राह्मविधिं, पंच समितयः, विंशो गुणयष्ट पट्त्रिंशद्गुणाः ॥

मूढारा—छत्तीसगुणसमण्णागदेण वि पट्त्रिंशद्गुणैः समन्वागतेन किं पुनरन्येनेत्यतिशयार्थे अयिः । पट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ शानाचारा अष्टौ वर्तमानाचारः, सप्तौ ब्राह्मविधिं, पंच समितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायां । प्राकृतटीकायां तु अष्टादशतिमूलगुणाः । आचारसत्त्वादेशाष्टौ इति पट्त्रिंशत् । यदि वा दश आलोचना गुणा, दश प्रायश्चित्तगुणा, दश स्थितिकल्पाः, प्रहज्जीतगुणाश्चेति पट्त्रिंशत् । एवं सति सूत्रेष्टुश्रूयमाणेयं गाथा प्रक्षिप्तेव लक्ष्यते ॥

परस्मिन्त्या आचारपदिसमस्या- । विंशोद्दी- सम्यक्त्वाव्यतिचारणामपकृतिः । सुद्धवि ववहारकुसलेण जतीव प्रायश्चित्तनिगुणेनापि ॥

मोरे वत निरतिचारं है इत्यलिये गुरूको मे क्या विवेदन कहें? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—छत्तीस गुणोंके धारक व्यवहारकुशल, अर्थात् प्रायश्चित्त दानमें कुशल ऐसे आचार्योंकोभी अन्य आचार्योंके भाक्षीसे आलोचना करनी चाहिये. अन्यथा उनके रत्नत्रयमें लगभग दोष नष्ट नहीं होते हैं.

आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, आठ उप, पांच समिति और तीन शुद्धि ऐसे आचार्यके छचीस गुण हैं. अथवा आचारवचनदिक आठ गुण, आंचलक्यादिक स्थितिकल्पके दस गुण, चार प्रभुके त्रय तथा छह आरम्यरूप ऐसे आचार्यके छचीस गुण हैं.

सन्धे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवली अणंतजिणा ॥

छट्ठमरथस्स विसोधि विसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ॥ ५२७ ॥

सर्वे तीर्थकृतोऽनंतजिनाः केवलिनो यतः ॥

छप्पमरथस्य महाशुद्धिं वदन्ति गुरुसन्निधौ ॥ ५२७ ॥

विजयोपया—सर्वेषां तीर्थस्वामियस्या-गुरोर्निवेद्यामापराधं तदुक्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा शुद्धिं प्राप्नोति । सन्धेवि तित्थयरा सर्वेऽपि तीर्थकरा । तिण्णसंगा तीर्णसंगा यत्तु विलपरित्तत्वात् अपकाः । सन्धे वि केवली सर्वेऽपि केवलिनः । तदिदमात्मस्वर्गावतस्मादिकस्याणश्रयाः । केवलज्ञानापरत्वरूपस्यापि विलपरित्तत्वात् केवलिनः । अणंतजिणा अनंतसंसार-कारणानाद्यादिप्रसंगेषामिति ध्यातव्यं द्वावसाकृतायास्तु अनंतं तज्जगज्जनतजिना साधारणोपाध्यायसाधय । तेऽपि सर्वे यदा गुरुसमासे भोधि विसंति सदा गुरुसमासे एवमथशुद्धिं दर्शयन्ति । फलस्य ? छट्ठमरथस्य छप्पमरथस्य संबंधिनीमिति केचिद्वदन्ति । स्तनप्रवर्णिगामाश्रमको रत्नप्रवर्णिगुद्धया भवतीति छप्पमरथस्य विशुद्धिरित्युक्तवामय ।

न पेतद्वचनाकं सर्ववीर्यकुदासया छप्पमरथमिति गुरुसन्निधौ यतः शुद्धेः प्रवर्णिग्याः सद्भावादिति दर्शयन्तान्—
मूलरा—तिण्णसंगा तीर्णोऽतिव्रतः सगो येत्ते तत्त्वमंथा इत्यर्थः । अणंतजिणा अनंतसंसारकारणानादि कर्मपातं जितयंत षड्देहेनाचार्योपाध्यायसाधवश्च योत्र विजुत्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तीर्थकरणमेव वा विशेषणमिदं । वेदि संसारकारणतयादि जितयंत स्वरक्षणकर्मनिर्मूलस्त्वात् ।

अर्थ—मर्त्त तीर्थस्त्रोको धेमी आज्ञा है कि, गुरुको अपने अपराध कहकर उन्कोने दिया हुआ प्रायाश्चित्त लेकर आरमशुद्धि करनी पादिये सर्व तीर्थकर पश्चिद्विरूप अगाध कोबडको उछेव कर मुक्त होगये हैं. सर्व केवल-ज्ञानी पुण्य स्वर्गमे इय भूतलपर जन्म लेकर तीन कल्याणके फलक हुए हैं. केवलज्ञानापरण कर्मके दायसे संपूर्ण विधवा ज्ञान उनको हुआ था. चारित्र्यबोहनीय कर्म, निव्यात्त्व और अग्रत्याचार्यानादि नास कयाय इनको अनंत संग्राह है. इनके स्वर विन्दुने जेव प्राप्त कर लिया ऐसे आचार्य, उपाध्याय और मर्त्त माधुआको यहाँ अनंतजिन

रत्नत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा रत्नत्रयमय होता है. इस लिये उग्रस्थान प्रायाश्चित्त धारण कर निशुद्ध बोना चाहिये.

यो न चैत्त्वतिचारजातमलनिदाकरणमय सोऽन्यस्मे कथयेच्चतु स्वयं वेत्ति स कस्मादसौ परस्मे कथयति-
तदुक्तं याचरत्नीयाद—

जह मुकुसलो वि वेञ्जो अणस्स कहेदि आदुरो रोगं ॥

वेऽणस्स तस्स सोच्चा सो वि थ पडिक्कम्ममारभइ ॥ ५२८ ॥

कुवालोऽलि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गद्यम् ॥

वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विषयानि परिक्त्रियाम् ॥ ५४८ ॥

त्रिजयोदया—जह मुकुसलो वि वेञ्जो यथा मुकुटकुशलोऽपि वैद्यः । व्याधिभिरासे आदुरो आतुर । अणस्स कथेर अन्यस्मे कथयति । रोगं व्याधि । परपूतो मम व्याधि, विक्रित्वां कुर्विति । वेऽणस्स तस्स सोच्चा तस्य वेद्यस्य भूत्वा घटने । सो वि थ सोपि च अनतुरो वैद्य । पडिक्कम्ममारभइ प्रतिक्रियामात्मते ॥

उक्तमेवार्थं ऋतोपन्यासपुस्तकं दृढयितुं गाथाद्वयमाह—

मूढारा—मुकुसलो वि न्यापीनां निदाने, लिगे, विक्रित्वां पुनर्भयानिसे च सुवतं प्रवीणोऽलि । तस्स तत्तज्ज हन्व्याधि । कथं अस्मिपरीकृतस्य । सोरुया भूत्वा यास्यदिवि शेषः । सो रोगातो वैद्यः । वि य अदि च । आरभते भेदवर्धः । पडिक्कम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण कांक्षा मम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध कहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरोंको कहनेकी जरूरत नहीं है. यह क्यों दूसरोंको स्वामराध कहता है ? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ— जेना अच्छा निदान भी वैद्य स्वयं बीमार पढनेपर अपने रोगका स्वरूप दूसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औषध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर नीरोप वैद्य उसकी निश्चिन्ता कर औषध योजना करता है.

एवं जाणतेण वि पायच्छित्ताविधिमप्यणो सच्चं ॥

कादब्बादपरविसोघणाए' परसक्खिणा सोधी ॥ ५२३ ॥

जानतापि तथा दोषं स्वसुखत्वा परके शुरौ ॥

परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विजयोक्त्या—एवं जाणतेण वि विमानतापि । किं पायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अप्यणो आत्मनः । परो
उत्तुह्य पिरोपना यथा स्यादित्येवमर्थं स्वसाक्षिका परसाक्षिका च विमुक्तिरुक्त्येति मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते स्वीकृष्टिर्लं तस्य मनो भवेत् ॥

चित्तशुद्धिर्लं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

इति पञ्चमात् ! शुद्धिरतिशयराणां कृतेति परे मानयंति । निरतिचाररत्नत्रयोऽयमिति । परे भव्या एतदुपदेशो
नास्माभिः प्रयत्नित्ययमिति शीकृते । अन्यथा तदुपुणानितयामयमनास तदनुयायिगो भयंति । ततः कथमेतत् परानुमदः
कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरादनुमदः । तथा चोक्तं—अप्यदिदं कादित्यं अद स्वपरपरदिदं च कायवयं ॥ इति । तथापि—
'धेयोर्थिका हि शिनासासनपरसत्वेन कर्तव्यं प्रा निवेमेन हितोपदेशः' इति चेद्य इव । अथवा आत्मनः
परस्य पिरोपनाप्यं परसाक्षिकं । मम शुद्धि इच्छा परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाक्षिकार्यां शुद्धौ प्रयतते । अन्यथा सर्वे
स्वसाक्षिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्धयति । गतानुगतिको हि प्रपिण लोकः ॥

मूढारा—आदपरविसोघणाए आत्मनः परा उत्तुह्य विशोपना सम्यक्त्वाद्यविचारमलभालना वदर्थं स्वसा-
क्षिका परसाक्षिका भोत्तुह्य शुद्धिः रव्यादिदि हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकाक्षिप्तं तस्य मनो भवेत् ॥

तद्विस्तारादकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम् ॥

इति षष्ठीनात् । अथवा आत्मनं परं च विशोपयितुं परसाक्षिका विमुद्धिः कर्तव्येति व्याख्येयं । स्वसाक्षि-
कमेव हि शुद्धिं कुर्वन्वमायार्थं तत्फलं वा शुद्धिं दृष्ट्वा परोऽपि तथैव प्रयति । गतानुगतिकत्वाभावेण लोकस्य ।
तथा च तेऽपि तथा शुद्ध्यति स्वसाक्षिकमात्रेण ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान विनकी दे ऐसे मुनिराजने भी अपनी विमुद्धि होतैकैलिये आत्मसाक्षीमे
और परसाक्षी मे प्रायश्चित्त लेना चादियं. प्राय शुद्धका अर्थ लोक है. और शिचका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तफो निर्मल
करेना तो कार्य दे उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं.

यह भंजा दी है. ये सर्प महाबुनिगण गुरुदेव समीपही छत्रस्थकी स्तनत्रयशुद्धि प्रापयित्तसे होती है ऐसा कहते हैं. स्तनत्रयमें निर्मलता उत्पन्न होनेसे यह आत्मा स्तनत्रयमय होता है. इस लिये छत्रस्थोने प्रायश्चित्त धारण कर मिशुद्ध होना चाहिये.

यो न केवल्यनिचारजातमलनिराकरणमम सोऽन्यत्वे कथयेजस्तु स्वयं नेचि ॥ कस्मादसौ परस्मै कथयति तदुक्तं धायत्तीतिगृह—

जह सुकुसलो वि वेज्जो अण्णस्स कहेवि आदुरो रोग ॥

वेज्जस्स तस्स सोच्चा सो वि य पडिक्कम्ममारमइ ॥ ५२८ ॥

कुसालोऽस्ति यथा वैद्यः स्वं निगयानुरो गदय ॥

वैद्यस्य परतो ज्ञात्वा विदधानि परिक्रियाम् ॥ ५४८ ॥

पिण्डयोदया—जह सुकुसलो वि वेज्जो यथा सुद्ध कुसलोऽपि वेद्य । व्याधिनिरासे आदुरो आदुर । अण्णस्स फेहेर मन्यस्मे कथयति । रोग व्याधि । यवभूतो मम व्याधि, चिकित्सा कुर्विति । वेज्जस्स तस्स सोच्चा तस्य वैद्यस्य भूत्वा यवर्त । सो वि य सोऽपि च अनानुरो वैद्य । पडिक्कम्ममारमइ प्रतिक्रियामादत्ते ॥

वर्णनेयार्थं दृढातोपन्यासपुरस्सरं दृढयितुं गाथाइयमाह—

मूला—सुकुसलो मि व्याधीनां निदाने, लिंगे, चिकित्साया युतर्भननिरोधे च सुतरा प्रवीणोऽपि । तस्स तरय रसवापि । कथं अविपयीकृतस्य । सोच्चा श्रुत्वा वाक्यमिति शेषः । सो रोगार्थो वैद्यः । वि य अपि च । आरभते भेत्यर्थः । पडिक्कम्मं प्रतीकारं ।

जो मुनि अतिचारसे उत्पन्न हुए मलका निवारण करनका क्रम जानता नहीं है उसने दूसरोंको अपने अपराध फहना योग्य है परंतु जो अपराधोंका प्रायश्चित्त स्वयं जानता है उसको अपने दोष दूसरेको कहेनकी जरूरत नहीं है. वह क्यों दूसरोंको स्वापराध कहता है? और क्यों उनका दिया हुआ प्रायश्चित्त आचरता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जैसा अच्छा निदान मी वैद्य स्वयं बीमार पड़नेपर अपने रोगका स्वरूप दूसरे वैद्यको कहता है. अर्थात् मेरे रोगका स्वरूप ऐसा है और इसके ऊपर आप औषध योजना करो. रोगीवैद्यका यह भाषण सुनकर मीरोग वैद्य उमकी चिकित्सा कर औषध योजना करता है

ध्वं जाणतेण वि पायच्छित्तविधिपण्णो सत्त्वं ॥
 कादंब्वादपरिसोधणाए परसक्खिगा सोधी ॥ ५२९ ॥
 जानतापि तथा दोषं स्वसुक्त्वा परके शुरौ ॥
 परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धिः पटीयसा ॥ ५४९ ॥

विज्ञयोदया—एवं जाणतेण वि विज्ञानतापि । किं प्रायच्छित्तविधिं प्रायश्चित्तकर्म । अण्णो आत्मनः । परो
 वत्तुद्धा विशोधना यथा स्वयदित्येवमर्थं स्वसाधिका परसाधिका च विप्रद्विगच्छेति गम्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥

चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥

इति यथभाह ! शुद्धित्तव्यारणां क्लृप्तेति परे मानयंति । निरतिव्यारत्नचयोऽयमिति । परे प्रपन्नु एतदुपदेशो-
 नास्मान्भिः प्रपत्तिरित्यमिति लोकास्ते । अन्यथा तत्पुण्यतिशयजनकमानाजं तदनुयायिनो भवन्ति । कतः कथमननं परानुग्रहः
 कृतः स्यात् । कर्तव्यः स्वपरानुग्रहः । तथा चोक्तं—अप्यदिदं कादम्बे अर सज्ज परदिदं च कायकम् ॥ इति । तथापि—
 'धेयोयिन्ता हि जिगत्तासनकसत्तेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' इति वैत इव । अथवा आत्मनः
 परस्य विशोधनार्थं परसाधिकं । ननु शुद्धिं हृदया परोऽप्ययमेव क्रम इति परसाधिकायां सुखी प्रयतते । अन्यथा सर्वे
 स्वसाधिकामेव कुर्युः । तथा च न शुद्धयति । गतानुगतिको हि प्रायेण लोकः ॥

भूधारा—आदपरवित्तोपणार आत्मनः परा वत्तुद्धा विशोधना सम्यक्त्वावतिचारमलक्षालना तदर्थं स्वसा-
 धिका परसाधिका बोत्तुद्धा शुद्धिः स्यादिति हि मन्यते ।

प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ॥

तच्चित्तभाहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीदृतम् ॥

इति वचनात् । अथन आत्मनं परं च विशोधयितुं परसाधिका विप्रद्वि कर्तव्येति उच्यते । स्वसाधिका-
 कर्मैव हि शुद्धिं कुर्वन्वमाचार्यं वक्तव्यं वा मुनिं हृदया परोऽपि तथैव प्रवर्तते । गतानुगतिकत्वप्रायेण लोकस्य ।
 तथा च तेऽपि तथा गुण्यंति स्वसाधिकाभावात् ॥

अर्थ - इस प्रकार प्रायश्चित्त का ज्ञान जिनको है उसे सुनिराजने भी अपनी विप्रद्वि होनेकेलिये आत्मसाध्यामे
 और परसाध्या से प्रायश्चित्त लेना चाहिये. प्राय शब्दका अर्थ लोक है. और चित्तका अर्थ मन है. अर्थात् चित्तको निर्मल
 करनेका जो कार्य है, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं. प्रायश्चित्त लेनेपर इसने आत्मशुद्धि की है ऐसा लोक समझते हैं.

गुरुने उपदेशके अनुसार हमको प्रवृत्ति करनी चाहिये ऐसा समझकर सुखलोक उसके पास जाते हैं। यदि गुरुने विशिष्ट गुणोंका पिरञ्जान न दो तो उसके अनुयायी कैसे होंगे। और गुरुभी परानुग्रह कैसा कर सकेगा, इसबास्ते गुरुको स्वपराशुग्रह करना चाहिये। क्यों कि 'आत्महित करना चाहिये और शत्रु हो तो परहितभी करना चाहिये, इस उक्तिमें यद्यपि आत्महितकी मुख्यता दिखलाई है तोभी 'श्रेयोर्थिना हि ब्रिजशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमन हितोपदेशः' अर्थात् जिसको मोक्षकी इच्छा है, जो ब्रिजधर्म पर प्रेम रखता है उसको हितोपदेश करना अवश्य कर्तव्य है। जैसे वैद्य रोगीको औषध देकर उसके नीरोम करता है, उसका नीरोम करना जैसा कर्तव्य है वैसा गुरुओंका परहितके लिये उपदेश देना कर्तव्य है।

अथवा अपनी और दूसरोंकी आत्मशुद्धि करनेके लिये परसाधक ही आत्मशुद्धि करनी योग्य है। क्यों कि मेरी शुद्धि देखकर दूसरी आत्मशुद्धिका क्रम ऐसा ही है ऐसा समझकर परसाधक शुद्धि करनेके लिये प्रयत्न करेंगे अन्यथा सर्व लोक स्वसाक्षिही शुद्धि करेंगे, ऐसे करनेसे ये शुद्ध नहीं होंगे, लोकप्रायः गतानुचितक होते हैं।

परमात्परसाधिका शुद्धिः प्रधाना—

तमहा पञ्चज्जादी दंसण्णाणचरणाविचारो जो ॥

तं सत्त्वं आलोचेहि गिरवसेसं पणिद्धिदप्पा ॥ १३० ॥

ततः सम्यक्त्वचारिअज्ञानदूषणममाधितः ।

एकाग्रमानसः सर्वं त्वमालोचय यत्नतः ॥ १३० ॥

विजयोद्या—तमहा तस्मात्परमज्यादिर्कं । दंसण्णाणचरणाविचारो जो दर्शनज्ञानचरणाविचारो यः । तं सत्त्वं सत्त्वं अतिचारं । आलोचेहि कथय । पणिद्धिदप्पा प्रणिहितचित्तो भूत्वा । गिरवसेसं सर्वमिदमेतैर्वापगतत्वात् निरवशे समित्येतत्क्रमार्थ इति चेत् । ज्ञानदर्शनचारिनिविषयानामतिचारणं कतिपयानां सामस्येऽपि सर्वेशब्दस्य प्रवृत्तिरस्तीति निरपदेशग्रहणं प्रत्येकं ज्ञानाद्यतिचारान् ग्रहीतुमुपन्यस्तमिति तत्र दोषः ॥

गुणारा—पञ्चज्जादी दीक्षाग्रहणदिनात्प्रवृत्ति । गिरवसेसं सूक्ष्मसूक्ष्मभेदग्रहणद्वयसहितम् ।

परमाधिक शुद्धि ही मुख्य है अतः तू आलोचना कर ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथा कहती है—

अर्थ—इस लिये दीक्षाकालसे आवश्यक सम्पददर्शन, सम्पगञ्जन और सम्पक्चारित्र इनमें जो जो अतिचार

लगे होंगे उन सबका और दर्शनादिकके प्रत्येक अतिचारोंका हे स्वपक 'तु' एकाग्र चित्त कर करन कर. शंका - माथामें 'सर्व', शब्द है उससेही सर्व अतिचारोंका कथन करनेका आशय स्पष्ट होजाता है.

'नित्यशेष, यह माथामें दूसरा शब्द है वह व्यर्थ दिखता है.

उत्तर—ज्ञानादिकोंमें किसी एकके सर्व अतिचार इस अर्थमेंभी सर्व शब्दकी प्रशुति देखी जाती है. इस लिये 'निरवशेष' शब्द ज्ञानदर्शनादिकोंके प्रत्येक अतिचारोंका ग्रहण करनेके लिये माथामें आचार्य महाराजने जोड़ दिया है ऐसा समझना.

कथं निरवशेषालोचना कृता यद्यतोत्पत्त्यरेकस्यामाह—

काइयवाइयमाणसियसेवणा दुण्णओगसंभूया ॥

जइ अत्थि अदीचारं तं आलोचेहि गिस्सेसं ॥ ५११ ॥

विच्यते यद्यतीचारो मनोथाकायसंभवः ॥

आलोच्य तदा सर्वं निःशक्त्यभिभूतमानसः ॥ ५५१ ॥

विजयोदया—कार्यवाटयमाणसियसेवणा कायेन, यावा, मनसा च प्रवृत्तिं प्रतिसेवना । दुण्णभोगसंभूया तु प्रयोगसंभूता । तं तं । आलोचेहि कथय । गिस्सेसं नि दोषं । जइ अत्थि अदीचारो यद्यस्सत्तिचात् ।

मूलार—काइय इत्यादि कविकं काये भवं । वाइय चापि भवं । माणसिय मनसि भवं । यत्तेकनं विबावेकय-योगस्तस्य दुण्णदोःगो अद्भुभादुत्तमगुत्सुभाभरणं इत्यर्थस्तस्मात्संभूद सैवार्थः । तेवमस्मित्यत्र पाठपुरेणेल्लुत्तरः । संभूदमित्यत्रार्थत्वाल्लिगव्यत्यया तथा चोक्तं—

आधिकवाचिकमानससंसेवादुष्प्रयोगसंभूतो

यद्यस्ति सेदतिचारो निरवयवं निगद तं गुत्ते ॥

मगवतो निरुदे निःशेषमालोचय यद्यस्ति सेदतिचारः । कायादिना विबादीदुत्सुगुणयुंजानस्य योऽतिचारः संपन्नसं प्रकाशयेति वात्पर्यायः ॥

निरवशेष आलोचना कैसी की जाती है ? इस शंकाका उत्तर—

चटापन और छोटापन उत्पन्न होता है, और उसके अनुसार ही छोटा अथवा बड़ा प्रायश्चित्त दिया जाता है, अथवा परिणाममें तीव्रता वा मंदता होगी तो उसके अनुसार छोटा या बड़ा प्रायश्चित्त आचार्य देते हैं,

विश्वस्थालोचनाक्रमं धृतिः—

आलोचनां तु दुविधा औघेन य होदि पदविभागी य ॥

औघेन मूलपत्तस्स पयविभागी य इदस्स ॥ ५३३ ॥

आलोचना द्विधा साधोरौची पदविभागिका ॥

प्रथमा मूलपातस्य परस्य मदित्ता परा ॥ ५५३ ॥

विजयोक्त्या—आलोचनां तु दुविधा होदि द्विशकटैषालोचना भवति । औघेन पदविभागी य सामान्येन विशेषेण च । कचो हि सामान्यं विशेषं चाप्युक्त्य प्रवर्तते । कस्य सामान्येन आलोचना कस्य वा विशेषेणेत्यत आह— औघेन मूलपत्तस्स सामान्यालोचना मूलकं प्रायश्चित्तं प्राप्तव्यं । पदविभागी विशेषालोचना । इदस्स मूलमप्राप्तव्यं ॥

यवत्सां सामान्यविशेषालंकरणेन प्रवृत्तिदर्शनौची पादविभागी चेति द्विविधेऽलोचनेति निवस्य सारस्या-
मिनो निर्दिष्टानि ।

मूलपात—औघेन सामान्येन एकपदेन वा सामान्य लोचनेत्यर्थः । पादविभागी पादानां सम्पत्स्वाद्यपराधानां विनागे देशकालादिभेदे अवा पादविभागी विशेषालोचनेत्यर्थः । मूलं मूलकं प्रायश्चित्तं ॥

आचार्य आलोचनाका क्रम दिखते हैं—

अर्थ—आलोचनाके दोही प्रकार हैं, एक औपालोचना और दूसरी पदविभागी आलोचना, अर्थात् सामान्यालोचना और विशेषालोचना ऐसे इनके औरभी दो नाम हैं, यवन सामान्य और विशेष इन दो धर्माका आधाय लेकर प्रवृत्त होता है, अतः आलोचनाके उपर्युक्त दो भेद हैं,

सामान्यालोचना और विशेषालोचनाका स्वरूप इस प्रकार है—जो मूल नामक प्रायश्चित्तकेलिये योग्य है अर्थात् जिसकी पूर्ण दीक्षा मद्दपरावर्त नष्ट हो गई है उसको पुनः दीक्षा देना यह मूल प्रायश्चित्तका अर्थ है, इस प्रायश्चित्तके लिये योग्य मुनि दापोंकी सामान्यालोचना करता है, और जो प्रायश्चित्तको छोड़ कर के चार्मिके प्रायश्चित्तके योग्य है वह पदविभागी आलोचना करे,

जं जह् निसेविदं तं जेण य सह सव्वमालोच ॥ ५३२ ॥

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ॥

दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥ ५५२ ॥

विजयोदया—चरणं क्रमाचरणं । इतो अस्मादेतदविकांते । अमुगमि काले अमुकसिन्काले । देशे अमु-
स्मिन्देसे । अमुगभावेण अमुकभावेन धमेन भावेन । जं यत् । जघा निसेविदं यथा निसेवितं । जेण य सह येन च
सह । तं सव्वमालोचे तत्सर्वं कथयेद्देशकालभेदात् । परिणामभेदात्, सहायभेदात् च दोषाणां गुरुलघुभावः ।
गुरुलघुभावानुसारं वा गुरुलघु वा प्रायश्चित्तं दीयते । सत्सर्वं कथयति ॥

कालभेदापरिणामसहायभेदादोषाणां गुरुलघुभावः स्यात्तदनुसारि च प्रायश्चित्तमिति यो यथा यथ येन यथा
जातोऽतिचाररतं तथैवालोचयेदुत्कृष्टशुद्धिकाम इत्यालोचनाविध्यमुशासनार्थमाह—

मूळारा—अमुगमि अमुकसिन् । विप्रच्छद्रप्रत्यक्षे । इतो इतोऽस्मात्संसीपप्रत्यक्षादिना माक् । काले इति-
प्राचर्याक्षणे । पूर्वोक्त्यादिरूपे वा । देसे भूम्यैकदेशे, जांगलादौ पुरवनादौ वा । अमुगभावेण अमुकेन क्रोधादीनामन्व-
यमेन परिणामेन । अमुकेन सहानिस्तुपत्कारः निसेविदं निषिद्धमनुष्ठिषं । ते त्वया । तं सम्यक्स्याद्यतिचारं । समालोचे
संपूर्णमालोचय । उक्तं—

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ॥

दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥

अर्थ—अमुक कालमें, अमुक देशमें, अमुक परिणामसे जो दोष कैसा किया होगा और जिसके साथ
किया होगा उसका संपूर्णतया कथन करना चाहिये- देशकालभेदसे, परिणामभेदसे और साहाय्यभेदसे दोषोंमें

अपराधोऽस्ति यः काञ्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥
व्रते पदविभागो तां सूरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

पित्रयोदया—यन्मन्त्रादी सत्त्व प्रत्ययविक्रमं सर्वं । कर्मण जं जन्म जेन भावेन कर्मण यच्चत्र कालत्रये वा वेद्ये
येन भावेन प्रतिशेषितं । अहा तं तथा तत् । अष्टोत्तिष्ठो निरूपयन्निति । यदि पदविभागी विद्येयालोचना भवति । रास्या-
निराकरणे दोष आत्मापये ॥ गुणं दृष्टत्वेन वर्णयति ।

पादविभागो लभ्यति—

मूलार—जतय यस्मिन्नेले काळे व । पण्डितेविषं संव्यवहृतं । आलोच्यो पदविभागीमास्त्रोचयन्ताशुः
विभागी विद्येयालोचना स्वाद्विकृपयनबोधैर्द्वेष्टुमश्रुवेनामेवोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—हीन कालमें, जिस देखने, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूं
ऐसा करके जो दोष क्रमसे आपायेके आगे धपक कहता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है.

जह कंटपुण विद्धो सव्यगे वेदपुद्गुदो होदि ॥

तस्मिं दु समुष्टिदे सो गिस्सहो गिब्बुदो होवि ॥ ५५६ ॥

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापिचदना ॥

जायते निर्धृतस्मस्मिन्नुद्गृह्णे शास्त्रवर्जितः ॥ ५५६ ॥

विचयोदया—जह कंटपुण विद्धो यथा कंटकेन विद्धः । सव्यगे सर्वस्मिन् शरीरे । वेदपुद्गुदो होर चैदमयोप-
श्रुतो भवति । तस्मिं समुष्टिदे स्मिन्कंटके उच्यते । सो दुःखितः । गिस्सहो नि शक्यो शस्त्रेन रहितः । गिब्बुदो निर्धृतो ।
इति भवतीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शास्त्रानुकरणोद्धरणयोगेणुणौ दृष्टावमुक्तेन स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाह—

मूलार—वेदपुद्गुदो पीडोपद्रुतः । गिब्बुदो सुखी ।

अन्धका निराकरण न करनेमें दोष और शूलके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टान्तसे स्पष्ट
करते हैं—

सामान्यालोचनस्वरूपं कथयति—

ओषणालोचेदि ह्यु अपरिमिदवराधसम्बन्धवादी वा ॥

अञ्जोपाट् इत्यं सामणमहं शु तुच्छोत्ति ॥ ५३६ ॥

ओषेन भापतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः ॥

इतः प्रमृतिं चांछामि त्वत्तोऽहं संयमं गुरो ! ॥ ५५३ ॥

विजयोदया—ओषणालोचेदि ह्यु सामान्येन कथयति । कोऽपरिमिदवराधो सम्बन्धवादी वा बहुवो अपराधा यस्य मिथ्यात्व व्रतसंगो वा । परस्तादिकायां शुद्धौ मायाशक्त्यं निरस्तं भवति । मानकधायो निर्मूलितो भवति । गुरुजनः पूजितो भवति । शपरत्नया दुस्तेर्मागमव्यापना च कृता भवति । अञ्जोपाट् अचोपावे अयमभ्युक्तिः । इच्छं सामणं इच्छामि आमन्यं । अहं शु तुच्छोत्ति अहं स्वल्पको रजनवयेनेति इयं सामान्यालोचना ।

सामान्यालोचनस्वरूपं च वक्तुमाह—

मूलात्—अपरिमिदवराध बहुदोषः । सन्ध्यावादी सर्वेषां सन्ध्यास्त्वब्रह्मवादीनां चातो विनाशोऽस्मात्सीति । अनन्योपाये अयमभ्युक्तिः । इच्छं इच्छामि प्रतिपद्येहम् । शु यस्माद् । तुच्छो अहं स्वल्पको रत्नत्रयेण । सि इत्येवमालोचयतीति बोद्धव्यम् ॥

सामान्य आलोचनाका स्वरूपं कहे हैं—

अर्थ—विस्तरे अपरिमित अपराध किये हैं अथवा जिसके रत्नत्रयका—सर्व त्रोटका नाश हुआ है वह मुनि सामान्यरीतिसे अपराधका निषेदन करता है, जो मिथ्यात्वको प्राप्त हुआ अथवा जिसके ज्ञान ग्राह हुए हो वह सामान्यालोचना करता है, परसाक्षिसें शुद्धि कर लेनेसे मायाशक्त्यका नाश होता है, मानकधायका निर्मूलन होता है, प्रायश्चित्त लेनेसें गुरुस्तेनोका आदर होता है, अर्थात् उनकी आज्ञाका पालन होता है, उनके आधीन रहकर प्रताप-रण करनेसें मार्गकी प्रतिदिष्टि होती है, आत्मसें मैं पुनः मुनि होनेकी इच्छा करता हूं, मैं तुच्छ हूं अर्थात् मैं रत्नत्रयसें आप लोगसें छोटा हूं ऐसा कहना सामान्यालोचना है,

विशेषालोचनसामान्ये—

पञ्चज्यादी सत्त्वं कमेण जं जत्य जेण भावेण ॥

पडिसेविदं तद्वा तं आलोचिंतो पदविभागी ॥ ५३५ ॥

अपरमभोजस्ति यः कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ॥

श्रुते पदविभागौ तां सुरौ तत्र तथा तदा ॥ ५५५ ॥

त्रिजयोदश—पथ्यज्जाती सव्यं प्रव्यज्जादिकं सर्वे । कर्मण जं जन्म जेन मायेण भवेण यथात्र कालत्रये वा देशेन मायेन मतिसेयितं । नदा तं तथा तद् । आलोचितो निरूपयन्निवि । यदि पदविभागी विदोपालोचना भवति । इत्यादि निराकरणे दोषं शल्यापात्ते न गुणं दृष्टेन दर्शयति ।

पदविभागी लक्षयति—

मूलपर — जस्य चस्मिन्नेते फाले च । पक्षिसंविदं संव्ययद्वलं । आलोच्यते पदविभागीमाहोचयन्साधुः पदविभागी विशेषालोचना स्वाह्वरूपपनयोर्द्वेद्विद्वमकायेनाभेदोपचारात् ॥

विशेष आलोचनाका वर्णन—

अर्थ—तीन कालमें, जिस देशमें, जिस परिणामसे जो दोष हो गया है उस दोषकी मैं आलोचना करता हूँ ऐसा कहकर जो दोष क्रमसे आचार्यके आगे धपक करता है उसकी वह पदविभागी आलोचना है,

जह कंटपुण विद्धो सर्व्वमी वेदणुदो होदि ॥

तस्मि दु समुद्धिदे सो गिस्सद्धो गिण्डुदो होदि ॥ ५५६ ॥

कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापियेदना ॥

जायते निर्युतस्तस्मिन्नुद्भूते शाल्यवर्जितः ॥ ५५६ ॥

विजयोदश—जह कंटपुण विद्धो यथा कंटकेन विद्धः । सर्व्वमे सर्वांस्मिन् शरीरे । वेदणुदुदो होदि वेदणुदोप-
वृत्तो भवति । तस्मि समुद्धिदे तस्मिन्कंटके उद्भूते । सो दुःखितः । गिस्सद्धो निःशल्यो शल्येन रहितः । गिण्डुदो निर्दुतो ।
होदि मवलीति सुखी भवतीति यावत् ॥

शाल्यद्वरणोदरणयोर्दोषगुणौ दृष्टव्यत्वेन स्पष्टयितुं गायत्र्यमाह—

मूलारा — वेदणुदुदो पयोपदुलः । गिण्डुदो सुखी ।

श्रवभा निराकरण न करनेमें दोष और शल्यके नष्ट होने से गुण प्राप्त होता है यह दृष्टान्त स्पष्ट करते हैं—

अर्थ— जैसे जिसको कांटा चुभ गया है वह दुःखसे विह्वल होता है, उसके सर्व शरीरमें वेदना होती है, परंतु जब कांटा शरीरसे निकाला जाता है तब वह मनुष्य सुखी होता है,

वाधार्थान्तिकयोजना—

एवमणुदुददोसो मादृहो तेण दुक्खदो होइ ॥

सो चेव वंददोसो सुविसुद्धो णिव्वुदो होइ ॥ ५१७ ॥

दुःखरूपाङ्गुलितस्थान्तस्तथा शल्येन शल्यितः ॥

निःशल्यो जायते यः स लभते निर्मुक्तिं पराम् ॥ ५५७ ॥

चिन्तयोदया—एवं कंटकेन विह्वल इव अणुदुददोसो मनुदुददोपः । मादृहो मायावान् । स्यापराधाकथनानुदुद-
तदोयेण । दुक्खदो होदि । दुःखितो भवति । सो चेव वंददोसो स एव वंददोपः । सुविसुद्धो णिव्वुदो होदि । निर्मुक्ता
भवति ॥

मूलात्—मयिहो मायायुक्तः । तेण सन्यक्त्वादिदोयेण अनुदुदयेव । दुक्खयो इहपरलोके च दुःखार्त्तः ।
वंददोसो परस्मै कथितोपराधः । सुविसुद्धो कृतस्वपरसाक्षिकशुद्धिकर्मात् ।

वाधार्थान्तिकयोजना—

अर्थ— जैसे जिसने दोषरूपी कंटकको अपने मनसे निकाला नहीं है ऐसा मायावि मुनि अपने
अपराधोंका कथन न करना एतत्स्वरूप दोषसे दुःखी होता है, परंतु जब सर्व दोषोंका कथन करता है तब मायाशून्य
नष्ट होनेसे कांटा निकल जानेके समान आत्मार्थे प्रसन्नता उत्पन्न होती है,

मिच्छादंसणसहं मायासहं णिदानसहं च ॥

अहवा सहं दुविहं दब्बे मावे य वोधब्बं ॥ ५३८ ॥

मायाविदानमिध्यात्वभेदेन त्रिविधं मतम् ॥

अथवा द्विविधं शल्यं द्रव्यभावात्मकं मतम् ॥ ५५८ ॥

विजयोदया—मिच्छादस्तसहं मिथ्यादर्शनस्य । भावासह मायाशक्त्यं । विद्यासह निदानशक्त्यं च ।
महत्वा सह दुष्टिह मयदा शक्त्य द्विपकार । कृत्वे सवि य द्रव्यशक्त्य भावशक्त्यमिति । यो घञ् चोदयम् ॥

शक्त्ययेदनिर्णयार्थमाह—

मूढारा—मिच्छादर्शनसहं मिथ्यादर्शनं शक्त्यमिव अरीरायतः प्रविष्टकाहादियत् पापानुबन्धनिबन्धनत्वात् ।
एतदुत्तरयोरप्युक्तार्थो ध्यातव्यः । निदानसहं सम्भवत्वव्रतादिव्याहृत्याद्व्यादिक मे भूयादिति संकल्पः । द्रव्ये द्रव्यामयं ।

अर्थ—मिथ्यादर्शनशक्त्य, मायाशक्त्य और निदानशक्त्य एते शक्त्यके तीन दोष हैं, अथवा द्रव्यशक्त्य और भावशक्त्य ऐसे शक्त्यके दो भेद समझने चाहिये.

तित्विहं तु भावसहं वंसनगणे चरित्तजोने य ॥
सचित्ते य अचित्ते य मिरसगे वा वि द्रव्यस्मि ॥ ५३९ ॥

‘मायशक्त्यं त्रिधा तत्र ज्ञानादिअयगोचरम् ॥

द्रव्यशक्त्यमपि त्रेधा सचित्ताचित्तमिअकम् ॥ ५४० ॥

विजयोदया—तित्विहं तु त्रिविध एव । भावसह परिणामशक्त्य । द्रव्यशक्त्ये चरित्तजोने य दर्शने, ज्ञाने-
चारित्र्यदोने वा । दर्शनस्य शक्त्य दाकादि । ज्ञानस्य शक्त्य भक्तके पठने अद्विषयादिक च । चारित्र्यस्य शक्त्य समिति,
शुक्त्योत्पादः । योगस्य तपस प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजात । असयमपरिणामत वा । तपसदचारित्र्ये भावतर्माविवक्षया
तित्विहमित्युक्तम् । द्रव्यमिह सल्ल त्विह । द्रव्ये शक्त्य त्रिविध । सचित्ते अचित्ते मिस्तगे य सचित्तद्रव्यशक्त्य दासादि ।
अचित्तद्रव्यशक्त्य सुवर्णादि । मिस्तगे वा त्रिमिश्रद्रव्यशक्त्य दासादि एतद्विध द्रव्यशक्त्यमित्युक्तम् । चारित्र्याचारस्य
शक्त्यस्य कारणत्वात् ॥

अथमपि शक्त्य त्रिविधस्यारह—

मूढारा—भावसहं सम्भवत्वाद्यतिचारलक्षणपरिणामशक्त्य द्रव्ये इत्यादि । दर्शनस्य शक्त्यं संकादिकं ।
ज्ञानरक्षाकालपठनाविकं । चारित्र्यस्य समितिशुल्लतनादः । योगस्य तपसः प्रागुक्तानशनाद्यतिचारजातमसंयमपरिणाम-
त्वा । तपसश्चारित्र्येऽन्तर्भावविषयत्वा त्विहमित्युक्तं । सचित्तद्रव्यशक्त्यं दासादि । अचित्ते अचित्तद्रव्यशक्त्यं सुवर्णादि ।
मिस्तगे मिश्रद्रव्यशक्त्यं दासादि ।

अर्थ—भावशक्त्यके तीन भेद हैं—दुर्ज्ञेय, ज्ञान, चारित्र्य और योग इनमें य ५५१७००-

१ श्रुता, कौशादिक सम्प्रदायके श्रुत्य है-

२ अफालसे पटना और अविनयादिक करना ज्ञानके श्रुत्य है-

३ समिति और मुक्तिओंमें अनादर रहना चारित्र्यश्रुत्य है-

४ योग-तप-अनश्नादि तपोंके अतिचारके पूर्वमें वर्णन आया है-

असंप्रयसे मद्धुचि होना योगश्रुत्य है, तपस्वरणका चारित्र्यमें अन्तर्भाव करनेकी विवक्षासे भावशक्त्यके तीन भेद कहे हैं

द्रव्यशक्त्य भी तीन प्रकारका है, सत्त्विकशक्त्य, अविज्ञातशक्त्य और मिश्रशक्त्य, दासादिक सत्त्विक शक्त्य श्रुत्य है, सुवर्ण धौरेह पदार्थ अविज्ञात शक्त्य है, और श्रामादिक मिश्रशक्त्य है ये सब चारित्र्याचारके शक्त्यके कारण हैं-

भाष्यशास्त्रानुसरण्ये दोषमाह—

एवमवि भावसल्लं अणुकरित्ताण जो कुणद् कालं ॥

लज्जाए गार्वेण य ण सो ह्य आराधमो होदि ॥ ५४० ॥

अनुद्धत्ते प्रमथिन भावशक्त्ये दारिद्रिणः ॥

लभन्ते दारुणं दुःखं द्रव्यशक्त्यभिचारिणश्च ॥ ५४१ ॥

भावशक्त्यमनुद्धृत्य ये त्रियन्ते विमोहिनः ॥

मथप्रभावलज्जाभिः कस्याप्याराधका ॥ ते ॥ ५४२ ॥

दुःसहा वेदनेकञ्च द्रव्यशक्त्येऽस्त्यनुद्धत्ते ॥

भावशक्त्ये पुनः सास्ति सन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ ५४३ ॥

विलोकोदय—एवमवि एकमपि मानागं रत्नत्रयणां शक्तं । अविचारं । अणुकरित्ताण अनुद्धृत्य । जो कुणदि कालं यः करोति मरणं । कस्माद्विहरति । लज्जाए लज्जा । गार्वेण य गार्वेण वा । सो य सु आराधमो होदि । स आराधको नैव मथति । निर्वर्तिचारता हि तेषां यतीनां आराधना ॥

एकमपि भावशून्यमनुदूतं शिवमात्रस्य दोषमाह—

मूलाय—भावसङ्गं भावानां सम्भक्त्यादीनां शून्यमविवारं । अनुद्धरितार्णं अनुमूल्य गुरुत्वापयधित्वेनानिय-
कृत्येत्यर्थः । गारेण य ॥ शब्दाद्धेतव्यं च ।

भावशून्यका सद्वारं न करनेमें दोष दिखाते हैं—

अर्थ—जो धूपक लज्जासे गारवसे रत्नत्वयमें लगे हुए अतिचारोको दूर नहीं करता हुआ सरण करता है, वह आराधक नहीं होता है.

आते अपराधे सदाभीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति सिद्धयति—

कछे परे न परवो कहाँ वंसनचरित्तसोधिचि ॥

इय संकल्पमदीया गयं पि कालं ण याणंति ॥ ५४१ ॥

चारित्रं शोचयिष्यामि काले श्वः.....बहस्य ॥

शेमुपीमिति कुर्वाणा गतं कालं न जानते ॥ ५४३ ॥

विजयोदया—कछे स्वप्रभुसिके कोछे । अहं करिष्यामि वंसनचरित्तसोधिचि वंशमन्त्रानकारिबहस्यमिति । इय संकल्पमदीया एवं कृतसंकल्पमवयः गर्वयि कालं ण जानंति । गतमविनांतमपि आयुःकालं नैव जानंति । ततः सशस्त्रं मरणं तेषां भवति । अत एवोक्तं उपपन्नानुपपन्ना माया अनुपपन्नसो गिहंतथा । इति स्वाध्याय, कर्मणि, पाश्चात्तपोपेक्षितामि यद्भूमूलाणि पुनर्गमं सुयोगं विचारयेत् । मयया अतिचारकालं गतं चिरातिकालं नैव जानंति । ये हि अतिवाराः प्रतिदिनं ज्ञातास्तेषां कालं, संभ्रां, रतिदिनं इत्यादिकं पञ्चावालोचनाकाले गुरुणा गृह्यस्तावत् यद्वत् जानन्ति विस्तृतवाचिरातीतस्य । अथागतं त्वदीचारकालं तस्यप्रतिअसरस्य धर्मिदाधेव क्षेत्रभावो घटितचारस्य हेतुः ॥ जानंति न समदन्ति । सामान्यवाक्ययि न जानंति । इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केवांचिद्व्यवस्थानं ॥

सम्भक्त्यद्वैतकृत्यजो दोषस्तत्त्वणादेव संशोच्य इति शिक्षार्थमाह—

मूलाय—कछे यः । परे एकदिनांतरित्वामि दिने । कहाँ करिष्याम्यहं । इय संकल्पमदीया एवं पितागवदु-
द्धयः गयपीत्यादि अतिक्रान्तकालाय कालं न कुप्यंते । ततः सशस्त्रास्ते श्रियन्ते । अत एवोक्तं उपपन्ना उत्पन्नमाया अनु-
अनुद्व सो गिहंतथा । अथवा गतं चिरात्किञ्चन कालं संख्यापानिदिनादिकं अतिचारसमयं । अपि शब्दाद्वैतभावो च

न जानति न स्मरंत्यालोचनाकाले गुरुणा श्रुत्याः संत इति व्याख्येयम् । अन्ये तु गवं प्राप्तसतीचारं न स्मरंति तत्काल-
क्षेत्रमावाञ्छेति व्याचक्षते ॥

अराधनामें-रत्नत्रयमें अपराध-अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके परण समीप कथन करना
चाहिये, कालक्षेप करना योग्य नहीं है, ऐसा उपदेश आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कल परसों अथवा तरसों में दर्शने, झान और ध्यात्रिकी शुद्धि करूना ऐसा जिनहोंने अपने मनमें
संकल्प किया है ऐसे युनि अपना आयुष्य कितना नष्ट हुआ यह जानते नहीं है. अर्थात् उनका श्रव्यसहित भरण
होता है. इसी चास्त्रे सायाशस्य भर्जमें जय उत्पन्न होता है उसी समय उसको हृदयसे निकालना चाहिये, ऐसा
आचार्य कहते हैं. रोग, शत्रु और कर्म इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं. पुनः उनका नाश कुलसे कर नहीं
सकते. अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत होखे हैं उनका स्मरण होता नहीं है. जो अतिचार हुए हैं उनके
संन्या, दिन, रात्रि इत्यादिक रूप कालका स्मरण गुरुके पूजने पर क्षिप्योको होता नहीं है. वे अशुभ कालमें भरे द्वारा यह
अतिचार हुआ ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो गये हैं. जैसे कालका स्मरण
होता नहीं है वैसे क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनकाभी स्मरण होता नहीं. वे अतिचार स्मृतिज्ञानके
अगोचर होते हैं. अर्थात् हमसे कोनसे अतिचार हुए यहभी उनके प्यानसे नहीं रहता है. ऐसा कोइ आचार्य इस
साधका व्याख्यान करते हैं.

सशस्त्रमरणे को दोष इत्यशंकायामागच्छे—

रागवोसाभिहृदा ससल्लमरणं मरति जे मूढा ॥

ते दुःखसल्लवहुले भमंति संसारकांतारे ॥ ५४२ ॥

रागद्वेषादिभिर्भ्रमा ये म्रियन्ते सशस्त्रकाः ॥

दुःखशाल्याकुले भीमे भवारण्ये म्रियन्ति ते ॥ ५४४ ॥

विजयोदया—रागवोसाभिहृदा रागद्वेषादिव्यामिश्रताः । ससल्लमरणं मरति म्रियन्ते । जे मूढा ये मूढास्ते
संसारकांतारे मरंति ते संसारलब्ध्या भ्रमंति । कीदृशि ? दुःखसल्लवहुले दुःखानि शस्त्रवत् दुर्दैवत्वाच्छल्य
इत्युच्यन्ते ॥

सकलभारणे दोषमाह—

मूलरा—दुष्कृतसखबहुले दुःखानि कस्यानीम दुःखदरत्नाणानि प्रचुराणि यत्र कोवारे घंटकाटव्याम ॥

अतिचारकी शुद्धि किमे विना मरण करनेमें क्या दोष है ? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—राग और द्वेषसे जो छपक परावित होकर दोषोंकी आलोचना किये बिनाही मरण करते हैं, दुःख

रूपी शत्रुओंसे भरे हुए इस संसारवनमें भ्रमण करते हैं, जैसे शरीरमें घुसा हुआ शूल्य दुर्धर होवा है वैसे। राग द्वेष

संयुक्त होकर जीव भी दुर्धर दुःखोंको इस भवमें मोसते हैं, अतिचारकी आलोचना न करनेका यह फल है।

शत्रुओंकरणे युगं व्याकथे—

तिविहं पि भानसल्लं समुद्धरिचाण जो कुणदि कालं ॥

पब्बज्जावी सल्लं ॥ होइ आराधकों मरणे ॥ ५४३ ॥

उद्धृत्य कुर्वते कालं भावसत्यं त्रिधापि ये ॥

आराधनां मपयंते ते कत्याणधितारिणीं ॥ ५४५ ॥

विक्रयोदया—तिविहपि निविधमपि । भावसल्लं भावसत्त्वं । समुद्धरिचाण समुद्धृत्य । जो कुणदि कालं यः कालं करोति । कीदृशमूलं ? पब्बज्जावी मग्न्यादिकं । सत्यं सत्त्वं । न होषि त भवति । आराधनो भावधको वराकादीनां । मरणे भयमप्यये ॥

उद्धृत्यसत्यस्य मरणे युगं शृणाहि—

मूलरा—समुद्धरिराण समुद्धृत्य ॥

जो शत्रुका उद्धार करता है उसको आराधना सिद्ध होती है ऐसा कथन—

अर्थ—तीन प्रकारके भावश्रुतियोंका स्वरूप ऊपर कहा है, इन श्रुतियोंसे हृदयमें निमालकर-अतिचारोंकी आलोचना करके प्रायश्चित्त द्वारा जो अपने शत्रुओंके निर्मूल बनाकर मरण करते हैं उनकी आराधनाओंकी सिद्धि होती है, अमरण उन्होंने दीक्षा लेकर मत्तादिकोंका पालन किया था वह सब आराधनाओंकी प्राप्तिसे सफल होता है।

जे गारवोहिं रहिदा गिस्सल्ला दंसणे चरिचे य ॥
विहरंति मुत्तसंगां खवंति ते सब्बदुक्खाणि ॥ ५४४ ॥

सम्यक्त्वचूचनिःशल्या दूरोत्सारितगौरवाः ॥

विहरंति विसंगा ये कर्म्म सर्वं धुनंति ते ॥ ५६६ ॥

विजयोदया—जे गारवोहिं रहिदा ये गौरवोर्विदहिताः । गिस्सल्ला दंसणे चरिचे य निःशल्याः संतो दर्शने चरिचे य । विहरन्ति प्रवर्तन्ते । मुत्तसंगा निरस्तमूच्छांस्ते । सब्बदुक्खाणि भवंति ते सर्वोणि दुःखानि स्रवयन्ति ॥

नि शल्यतया रत्नत्रय प्रवर्तमानानां गुणमाह —

मूलरा—मुत्तसंगा निरस्तमूच्छाः ॥

अथ—आदिगारव, रत्नगारव और सातगारव ऐसे तीन गारवोंसे रहित होकर सम्यग्दर्शन, सम्पन्नान और सम्यक्चारित्र्यमें जो निरविचार होकर प्रवृत्ति करते हैं, संपूर्ण परिग्रहके त्यागी होनेसे वे सर्व दुःखोंका नाश करते हैं-

तं एवं जाणतो महंतयं लाभयं सुविहिदाणं ।

दंसणचरित्तसुद्धो गिस्सल्लो विहर तो धीर ॥ ५४५ ॥

इति ज्ञात्वा महालार्भं निःशल्यीभूतचेतसां ॥

शुद्धदर्शनचरित्रो विहरत्स्वापशल्पकः ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—तं प्रबान् । एवमुक्तप्रकारेण जाणतो जानन् । महंतर्ण महाते लाभे सुविहिदाणे सुसंयतानां वंसणचरित्तसुद्धो दूरानि चरित्रे च शुद्धि तपोः शुद्धि ज्ञानदर्शनशुद्धिमंतरेण न भवतीति ज्ञायानं शुद्धिरुक्ता । गिस्सल्लो शल्यरहितः ह्य । विहर चर । तो तस्माद्भीर धैर्योपेत ॥

रत्नत्रयनिर्मलीकरणे स्वार्थाविश्वव्यापकप्रकाशनेन प्ररोचनामुत्पाद्य तत्र क्षपकं प्रेरयमाह—

मूलरा—तं निनयचर्नं प्रसिद्धं । एवं एतेनात्मबुद्धेन विधिना । सुविहिदाणं निरतिचारस्त्वयाणां । दंसण-
चरित्तसुद्धि एतद्दृश्यशुद्धि विद्या न भवति रत्नत्रयशुद्धि । गिस्सल्लो दीक्षाग्रहात्पशुति कृतेभ्यो निष्कान्तः । विहर आचर ।
तं त्वं । प्रागनुष्ठितं रत्नत्रयं क्षोभयित्वा इत उत्तरं शुद्धं त्वमनुविधेयर्थः ॥

अर्थ—अतिचारहित होकर रत्नत्रयमें श्रुति करनेसे उत्तम शुभिर्जोको महान् लाभ होता है अर्थात् उनके सर्व दुःखोंका क्षय होता है ऐसा जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी शुद्धि कर तथा निःशब्द होकर हेक्षणक 'तुम धीरवासे इनमें श्रुति करो।

तम्हा सतूलमूलं अविच्छृटमधिप्युवं अणुखिम्बगो ॥
निम्बोहियमणिगूढं सम्मं आलोचए सव्वं ॥ ५१६ ॥
सम्यगालोचयेत्सर्वमनुद्धिप्रभावविस्तृतम् ॥
आनिर्गूढमनिर्गूढं निर्मूलसपगौरवम् ॥ ५१८ ॥

विजयोक्त्वा—तम्हा तस्मात् यस्मात्सशक्त्यकरणे दोषः । निःशक्त्यकरणे च सकलनिवृत्तिः दुःखकारणानां कर्मपात्रभाष्य । तम्हा तस्मात् । सम्मं सत्यमालोचये सम्यक् सर्वमतिचारं कथयेत् । दुःखनिवृत्त्यर्थ इति । कथमालोचयेद्विस्तराकायमालोचनाविशेषणमाह—सतूलमूलं तूलमूलाभ्यां सदितं । सव्वं निरवशेषं । अविच्छृटं अविस्तृतं । अधिप्युवं कथं निःशक्त्यो भवेयमिति प्रश्ने सत्याह—

मूलाद—तस्मा निःशक्त्येतरमरणगुणोपवर्त्तनादेव । तूलतूलं दीक्षादिवसादारभ्याकथायत्त मूलमतिचारजातं । कथसूचनार्थमिदं । अन्ये सतूलमूलं इति पठित्वा समस्तादयवकुणित्वव्यसाहुः । अविच्छृटं अनाधिकं । अधिप्युवं अत्यन्तरितं । अणुखिम्बगो निर्मेयः सन् । निम्बोहिदं अविस्तृतं । अणिगूढं अनपलपितं । आलोचय आलोचय, प्रकाशय त्वम् ॥

अर्थ—समस्त्य मरणसे भवयन्में दुःख सहन करना पड़ता है. और निःशक्त्यमरणसे सर्व कर्मोंका क्षय मरण कर, श्रान्तरितीसे, निर्मय और मोहरहित होकर दोषोंको न छिपाकर कहना चाहिये. दीक्षाग्रहण कालसे आज तक जितने दोष हुए होंगे उन सबको कहना चाहिये. उसमेंसे एकमी छिपाना नहीं चाहिये

जह् बालो अपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणह् ॥
तह् आलोचिक्खं मायामोसं च मोत्तुणं ॥ ५१७ ॥

अयमानसृपामायामुक्तेन प्राञ्जलात्मना ॥

वालेनेयाभिधेयानि कृत्याकृत्यानि धीमता ॥ ५६९ ॥

विजयोदया—जह्वाशो जपेते यथा यालो अल्पम् । कञ्जमकञ्जं ॥ कार्यमकार्यं वा । मणदि मणति । उज्जुगं मण्डुना क्रमेण । तद् मया । आलोचिद्व्यं वक्तव्योऽपराधः । मायामोक्षं च मोक्षं मनोगतां वक्तव्यं, वचनगतां, मृपा च सुपत्त्या ॥

आलोचनोचतस्य तद्विधिमभियसे—

मूढारा—उज्जुगं प्राञ्जलं । आलोचिद्व्यं प्रकाश्यं । मायां मनोवक्त्रां । मोक्षं वाग्वक्तव्याम् ॥

अर्थ—जैसा बालक कार्यं हो अथवा अकार्यं हो सरल अंतःकरणसे अपने पिताको कहता है, इसीतरह स्वपक्षकी भी अपने अतिचार मनका फट छोड़कर और वचनकी असत्यता दूर कर कहने चाहिये.

उपसंहारति प्रस्तुतम्—

दत्तं संपाणचरित्ते काट्टणालोचणं सुपरिसुदं ॥

गिरसल्लो कदसुद्धी क्रमेण सल्लेहणं कुणसु ॥ ५७८ ॥

सम्यक्स्वज्ञानघुत्तेषु विधायालोचनं यते ! ॥

कुरु सल्लेखनं सम्यक्क्रमेणापास्तकत्तमपः ॥ ५७९ ॥

विजयोदया—दत्तं संपाणचरित्ते दर्शनज्ञानचरित्रविषयां । आलोचणं काट्टण अपराधमिधाय । सुपरिसुदं गिरसल्लो मायाग्राह्यरहितः । कदसुद्धी कृतगुणनिरूपितमायविधितः । क्रमेण सल्लेहणं कुणसु क्रमेण सहैक्यतां कुरु ॥

आलोच्य मया किञ्चयमित्थाह—

मूढारा—सुपरिसुदं सर्वथा त्यक्तमार्य । कदसुद्धी कृतगुणप्रायविधितः । सल्लेहणं कुणसु सर्वोत्थना शरीर-

त्यागाय योग्यतासुत्पादयेत्यर्थः ।

प्रस्तुत विषयका उपसंहार करते हैं—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र इनमें हुए अपराधोंका निवेदन मायाग्राह्यका पूर्ण त्याग करके करना चाहिये. गुरुओंने दिया हुआ प्रायश्चित धारण करके शुद्ध होना चाहिये. तदनंतर क्रमसे सल्लेखना करनी चाहिये

तो सो एवं भणितो अब्भुज्जदमरणिच्छिदमदीओ ॥

सब्बंगाजादहासो पीदीए पुलहददसरीरो ॥ ५४९ ॥

इत्युक्तं स्वरिणोत्कृष्टां चिकीर्षुः क्षपको मृत्ति ॥

ज्ञातसर्वागरोमांचः प्रमोदभरविषहलः ॥ ५७१ ॥

विजयोदया—एवं शिक्षितोऽसौ क्षपकः । तो ततः । सो आराधकः । एवं भणितो एवं शिक्षितः स्वरिणा । अब्भुज्जदमरणिच्छिदमदीओ ॥ अभ्युपेत्य मरणे निश्चितयुक्तिः । सब्बंगाजादहासो सर्वोपजादहासो सर्वोपजादहासरीरो मीत्वा पुलकितशरीरः ॥

एवं शिक्षितः क्षपकः किं करोतीत्यन मायाद्वयमाह—

मूलारा—तो ततः शिक्षानंतरं कायोत्सर्गं करोतीति संबन्धः । अब्भुज्जद उन्मादवाक् । हासो हस्यः ।

अर्थ—यहांतक गुरुने क्षपको आलोचनाके विषयमें उपेक्ष किया, यह सब उपदेश सुनकर मरणकेलिये मितने निधाय निमा है ऐसा क्षपक मुनि अत्यंत हर्षित होवा है और उसके शरीरपर आनंदसे रोमांच आवे है.

पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुचो व कुणदि एगंते ॥

अमालोयणपत्तीयं काउत्सगं अणाबाचे ॥ ५५० ॥

वैत्पस्य सम्भुलः प्राच्यामुदीच्यां वा विद्याः स्थितः ॥

कायोत्सर्गस्थितो धीरो भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः ॥ ५७२ ॥

विजयोदया—प्राग्भुल उदरभुलः । चेदियहुचो य चैत्याभिमुखो वा भूत्वा । कुणदि कायोत्सर्गं । कीदृशपूर्व ? आलोयणपत्तीयं आलोचनप्रत्ययं । आलोचनानिमित्तं । प्रायोत्सर्गं स्थित्वा । यथा यतः सर्वान्ते कथयितुं तात्कायोत्सर्गं आलोचनान्देहुः । क तं करोति ? एगंते एकांते जनरक्षितदेशे । अणाबाचे । अणाबाचे । अमागे बहुजनमथे एकमुहो न भवति चित्तं । मार्गे स्थितः परकार्यव्याघातकद्रवति इति मत्वा । एकांते अमागे च कायोत्सर्गदेशे आख्यातः ॥ मूलारा—पाचीणोदीचिमुहो पूर्वाभिमुख उत्तदाभिमुखो वा । चेदियहुचो वा चैत्याभिमुखो वा । आलोयणपत्तीयं आलोचनप्रत्ययं । कायोत्सर्गस्यो दोषान्मरतीति कायोत्सर्गं आलोचनान्देहुकः । कावत्सर्गं सामायिकद्वंद्वकस्तवप्रयोगपूर्वकं श्रुतिसिद्धिर्भाक् कृत्वोपमिदं उपस्थिद्वर्भाक् करोतीति प्राकृतवीकान्नायः । अणाबाचे कलेयसंक्लेशकारणरहिते ॥

अर्थ—पूर्वदिशा अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके किंवा विनप्रतिभाके सम्मुख ३१ना मुख करके आलोचनाके लिये प्रथम क्षणक कायोत्सर्ग करता है. कायोत्सर्ग कर कदनेके लिये दोपका स्मरण किया जाता है. अतः कायोत्सर्ग आलोचनाका कारण है. यह कायोत्सर्ग विधि क्षणक एकान्तमें और अमार्गमें करता है. अर्थात् जहाँ दान नहीं है ऐसे स्थानमें और जहाँ जाने जानेका मार्ग नहीं है ऐसे स्थानमें क्षणक कायोत्सर्ग करता है. बहुजनमें कायोत्सर्ग करनेसे मन एकाग्र होता नहीं और मार्गमें कायोत्सर्ग करनेसे दूसरोंके कार्यमें अटचन उपस्थित होती है. इसलिये एकान्तमें और अमार्गमें कायोत्सर्ग करना चाहिये ऐसा विधि कहा है.

कायोत्सर्ग किमर्थ करोति आलोचयितुकामः इत्यादिवाक्यां कायोत्सर्गस्य उपयोगमाचष्टे—

एवं तु वोसरिचा देहे वि उवेदि निम्ममत्तं सो ॥

निम्ममदा निस्तंगो निस्सच्छो जाइ एयत्तं ॥ ५९१ ॥

सुत्तशाल्यममत्त्वोऽसोवकत्वं मतिपचते ॥

शाल्यमृत्पाटपिप्यामि पादगुले गणेक्षिनः ॥ ५७३ ॥

विजयोदया—एवं तु इत्यादिना एयमित्यन्तरसूत्रनिर्दिष्टरूपेण । मादमुय उयदमुखस्यस्याभिमुखो वा । एकांते मार्गे । वोसरिचा त्यस्या र्किं ? न हि त्यागमन्तरेण त्यागो युज्यते । देहमिति चेत् देहे वि उवेदि निम्ममत्तं सो इति न पठते निर्ममत्वं ननु श्यामः । भिन्नयोः पूर्वोक्तकालविषययोः क्रिययोर्धन एतः कर्तो तत्र पूर्वकालक्रियावचनाद् फत्या विधीयते । अथोच्यते यजसा त्यागः वोसरिचा इत्यनेन उच्यते । मनसा ममायं न भवति देह इति त्याग पश्चात्सन्वते । तेन वाद्यन.करणभेदासंगो भिज्यते । निम्ममदा भिस्तंगो निर्ममतया निस्तंगो निष्पत्तिहः । निस्सच्छो नि.परिमहत्वाद्येय नि.शाल्यः । एकसं जादि एकत्यभावनं प्रतिपचते ॥

कायोत्सर्गस्यालोचनाप्रत्ययत्वसमर्थनाय गाथाद्वयमाह —

मूलार—एवं पार्वणो इत्याहुफनिधिना । सु यस्मात् । वोसरिचा कायं व्युत्पन्नजामीति उच्येत त्यक्त्या । निम्ममत्तं अयं ऐहो मम भवतीति मनसा त्यज्जं हं । निम्ममदा निस्तंगो निर्ममतया निःसंगो बाल भ्रतरपरिमहरहितो अत एव निःशाल्यः । आलोचनापरिणतोऽहमिदानीं संपन्न इति न मे सम्भवत्वादपि दोषः कश्चिदप्यस्तीति दोषशंकादुरावे-

शक्तिपुष्पः । प्रकृतं एकत्वं अहमेकोऽसहायो भित्तो आ । देहोऽयं मज्जोऽन्यो दुःसंवेद्यत्वाय समानुपकारी निरतिचारस्तत्राय-
मेवाहमनो देहत्वाद्येन मे न किंचिन्नश्यति मम बुद्धिदूषण्यगम्युद्धिरिणि मायां ॥ न स्पृष्टेयमिति एकत्वभावनामयो
भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—पूर्व गाथाये कहे हुए अभिप्रायके अनुसार पूर्व, उचर अथवा चैत्यके तरफ मुख करके मैं शरीरका
त्याग करता हूँ ऐसा प्रथम वचनोच्चार करके तदनंतर 'यह देह मेरा है, ऐसी भावनाका मनसे त्याग करना चाहिये,
इस चास्ती शरीरत्यागके पचनकृत और मनःकृत ऐसे दो भेद होते हैं, देहके उपर ममत्वरहित होनेसे यह क्षपक
नियमिप्रद है, और निष्परिश्रम होनेवाली यह निश्चल्य भी है, अतः कायोस्सर्गके समय मैं झकेलाही हूँ यह
शरीर मेरा नहीं ऐसी एकत्वभावना उसको उत्पन्न होती है।

तो एवमुक्तवान्मो सरोहि सव्वे कंदे सगो दोसे ॥

आयरियपादसूले उप्पाडिस्सामि सञ्जुत्ति ॥ ५५२ ॥

इत्थंकेत्वगलः कुरुत्तं दोपं स्मरति यत्नतः ॥

इत्थं स प्राञ्जलीभूय सर्वं संस्मृत्य तूषणं ॥ ५५३ ॥

विजयोपेक्षा—एवमुक्तवान्मो एकत्वभावनामुपगतः । निरतिचारसाध्वसंगचारिभाष्येवाह । शरीरमिदमन्यदनु-
पकारि मम दुःप्रतिमिस्सायात् । तदिनाते मम किं विनश्यति । कदाचित्तस्योऽयमसौतिरिति मन्यमान । मायश्चित्ताद्यगणे म-
दिप्रदते । नायां च कर्मोदयनिमित्तां दृष्ट्वा ईदृशो मम शुद्धस्वरूपेणममुद्धिरिति । 'तो ततः । सरोहि स्मरति ।
सव्वे सवेणा । कंदे कुरुत्तं । सवे स्वकाम । दोसे दोषाणां । किमर्थं स्मरति । आपरित्यपादसूले कात्यायनपादसूले । उप्पा-
डिस्सामि उत्पद्यन्तिव्यामि । सञ्जुत्ति वर्धनानिचारमिति ॥

मूलरा—मो वत्त । कायोत्सर्गदिकमोपक्रमप्रवृत्तं । कंदे कुरुत्तं । किमर्थं स्मरति सरोहि—आपदिसिपादसूले

त्यादि ॥

अर्थ—जब क्षपक एकत्वभावनामय होता है तब मैं अतिचाररहित ज्ञान, दर्शन और चरित्रमय हूँ, यह
शरीर मेरेसे भिन्न है, यह उपकार न करने वाला और दुःसंकेलिये कारण है, उसके नाशमें मेरा कुछ बिगडना नहीं है,

यह शत्रु है इस लिये इसको कुछ करना चाहिये। ऐसे विचार उसके हृदयमें उत्पन्न होते हैं, ऐसे विचार उत्पन्न होनेसे यह क्षपक प्रायश्चित्ता आचरण करते समय स्थिर होता नहीं- कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मायाको यह त्याग देता है यह माया मेरे शुद्ध स्वरूपमें अशुद्धता उत्पन्न करनेवाली है ऐसा मनमें समझता है- और आचार्यके चरणसन्निधे दर्शनादिकके अतिचारोंका नाश करेगा ऐसा विचार कर पूर्वमें किये हुए सर्व दोषोंको स्मरता है,

स्मृत्या कि करोति पश्चादित्यसंज्ञायामित्यावधे—

इय उजुभावमुपमादो सज्ये वोसे सरित्तु तिवसुचो ॥
लेरसाहिं विसुज्झतो उवेदि सङ्ख ससुद्धरिडुं ॥ ५५३ ॥

एति शल्यं निरकर्तुं सर्वं संस्थूल दूषणम् ॥

आलोचनादिकं कर्तुं पुज्यते शुद्धचेतसः ॥ ५५४ ॥

विजयोक्त्या—उजुभावं उपमादो इय एवं ऊजुभावं उपगतः । सज्ये वोसे सर्वेषां दोषाणां । तिवसुचो सरित्तु विःस्मृत्या । लेस्साहिं विसुज्झतो छेदपारिभिर्विशुद्धभिर्गियदूषणम् । उवेदिः बौकते भाचार्य । सङ्खं शल्यं । ससुद्धरिडुं सत्यगुदर्थं ॥

स्मरणानंतरं किं करोतीत्यवधे—

सूक्ष्मारा—सरित्तु स्मृत्या । तिवसुचो नीन्वारान् । आचार्यमुपसर्पति ॥

दोषोंका स्मरण कर अनंतर कोनसा कार्य क्षपक करता है? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—इस तरहसे सरलपना धारण कर तथा सब दोषोंका त्रिवार स्मरण करके छेदयाजैसे विशुद्ध होता- हुआ अतिचारोंका उद्धार करनेके लिये आचार्यके पास क्षपक जाता है.

आलोचनादिया पुण होइ पसत्ये य सुद्धभावस्स ॥

पुज्यन्हे अवण्हे व सोमतिहिरक्खवेलाए ॥ ५५४ ॥

आलोचनादिकं तस्य संभवेच्छुद्धभावतः ॥

अपरान्तेऽप्य पूर्वाण्हे शुभलभादिके दिने ॥ ५५५ ॥

त्रिययोदया—आलोचनाविकों आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः क्रियाः । अथवा आलोचनं आलोचना । दिया दि-
येस । पुण परचात् । दोद प्रवति । ५ पक्षत्वे प्रशस्ते क्षेत्रे । अनेन क्षेत्रमुद्दिष्टता । विमुदमावस्स विमुद्विपरिणामस्य
भावशुक्ररेन कथिता । पुञ्जण्डे पूर्वण्डे । अवरण्डे च अपराण्डे चा सोमविहिरपयवेलाए सीम्ये दिने, नक्षत्रे, वेलायां च ।

आलोचनासिद्धिया क्षेत्रादिमुदावेव कार्यत्वनुशास्ति—

मूळारा—आलोचनादिया आलोचनप्रतिक्रमणादिक्रियाः । अन्ये दिया दिवा न रात्री इति व्याख्यासि । तच्च
त्रियमार्थमेव । पुञ्जण्डे इत्यनेनैव यात्रिनिषेधस्य सामर्थ्यलब्धत्वात् । पक्षत्वे शुभे देते ।

अर्थ—विमुद परिणामवाले इस क्षपकन्त्री आलोचना, प्रतिक्रमणादिक क्रियाएं दिनमें और प्रशस्त स्थानमें
अर्थात् शुद्ध स्थानमें होती हैं. दिवसके पूरे भागमें अथवा उत्तर भागमें, सौम्यातिथि, शुभनक्षत्र, जिस दिनमें रहते
हैं उस दिनमें होती हैं. आलोचना करनेके लिये परिणामोंकी विमुदताके साथ २ क्षेत्रशुद्धि, शुभदिन, शुभतिथि और
शुभनक्षत्र इनकी भी आवश्यकता रहती है ऐसा इस गाथासे व्यक्त होता है.

एवमादिषु अप्रशस्तेषु देसेषु आलोचनां न प्रतीच्छेत् इति आचार्यशिक्षापञ्चचनं—

निष्पत्तकंदइच्छं विज्जुहवं सुक्खरुक्खकडुदंष्ट्रं।

सुण्णघरहदेलपत्थरारासिद्धियापुंजं ॥ ५५५ ॥

निःपन्नः कटुकः शुद्धरूपादयः कंठकाचितः ॥

विच्छादयः पतितः शीघ्रों दयदग्गस्तद्धित्तः ॥ ५७७ ॥

त्रिययोदया—निष्पत्तकंदइच्छं निष्पन्नं कंठकाकुले । विज्जुहवं अक्षविभाहवं । सुक्खरुक्खकडुदं । शुक्कशृङ्गं,
कडुकरल, वट्टं दग्धं । सुण्णघरहदेल शून्यं गृहं, खदेवकुले, पराणराशि, एकपुंजं ॥

आलोचनासयोग्यं क्षेत्रं गाथात्रयेणोपदिशति—

मूळारा—निष्पत्त निष्पन्नं कटुकशृङ्गं स्थानं । एवं कंठइच्छं इत्याशयि व्याख्येयं । विज्जुहवं अक्षविभातोयदुवं ।
कटु कटुकरलं । वट्टं दवानलादिच्छुष्टं । इष्टिबापुंजं इष्टकानिचयं ।

अप्रशस्त देशमें आलोचना करना योग्य नहीं है ऐसा आचार्यका शिक्षापर चचन दिताते हैं—

अर्थ—जो क्षेत्र पक्षोसे रहित है, कंठसे गाए हुआ है, बिजली गिरनेसे जहां जमीन फट गई है, जहां

मुक्त दृष्ट है, जिसमें कटुत्वके घृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, ऐसे स्थानोंमें दोषोंकी आलोचना करना योग्य नहीं। अन्य परस्परका मंदिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोंका ढेर है ऐसा स्थानभी आलोचनाके लिये अयोग्य है।

तृणपत्रकटुछारिय असुह सुसाणं च भग्गपडिदं वा ॥

रुहाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि ॥ ५५६ ॥

धुद्राणामत्पसत्त्वानां देवतामां निकेतनम् ॥

तृणपापणकाष्ठास्थिपत्रपांस्वादिसंख्याः ॥ ५७८ ॥

शून्यवेहसरजोभस्मचर्चं प्रभृतिवृषिता ॥

रुद्रवेवकुलं त्याज्यं निषमन्यदपरिहरम् ॥ ५७९ ॥

विषयोक्त्या—तृणपत्रकटुछारिय असुहसुसाणं च तृणवत्पत्रकटुछात्रत् यत्स्थान । अशुचिसुसाणं वा भग्ग-
चिषमहाणं वा । भग्गानि पतितानि वा आहतानि यदाणि वा यस्मिन् स्थाने तदप्रपठित । अधिउत्ताणं वा ठाणाणि देव-
ताना स्थानानि । कीदृशीनां ? कदाचन रोक्ताणां । खुद्दाणं खुद्दाणां स्वस्वकानां ॥

मूखरा—छारियं भस्मभूत्वादियुक्तं । अशुचि अमेध्यादियुक्तं । सुसाणं इमशानं । भग्गपडिदं भग्गपतित
भाजनयुद्वादियुक्तं । रुहाणं रौद्राणां चासुहादीनां । खुद्दाणं क्षुद्राणां स्वस्वकानां । अल्पसंख्यानामित्यर्थः । अधिउत्ताणं देव-
ताना अन्ये अधिउत्ताणं इति लोकेन आभारमैक्यमाने स्थापितवर्तदेवानामित्येवमाहुः ।

अर्थ—जिसस्थानमें तृण, झरूपान, और काठके पुंज हैं जहां भस्म पड़ा है, ऐसे स्थानभी आलोचनाके
लिये वर्ज्य है अपवित्र दमशान, तथा फुटे हुए पात्र, अथवा गिरा हुआ घर जहां है वह स्थान भी वर्ज्य है रुद्रदेवतायें
और क्षुद्रदेवतायें इनकेभी स्थान वर्ज्य समझने चाहिये।

अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं ॥

आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविमत्थं ॥ ५५७ ॥

चिकित्साधिपतां शुद्धां साधुमालोचनां स्फुटम् ॥

सूरिणां सर्वथा स्थानमस्तमाधानकारणम् ॥ ५८० ॥

चिकित्साधिपता—अण्डो य अन्यद्वा स्थानं परमादिकं । अप्यसत्यं अग्रगतं । इमेवञ्च मयेत् । जे ठाणं यास्यामं । तस्य तस्मिन्स्थाने । आस्तोयने व पट्टिच्छवि आलोचनां ॥ प्रतीच्छति । गणी गणयत् । किमर्थे । से तस्य क्षणकस्य । अपि-
स्य व अपिच्छादे । एतन्मालोचनाया एतानां प्रारब्धकार्यविदितं भवतीति मत्वा ।

मृगाश्रय—पट्टिच्छवि मुजोति । अविगतत्वं आरब्धकार्यनिर्विप्रक्षिद्धत्वं ॥

अर्थ—ऊपरके स्थान जैसे जल्य हैं वैसे अन्यमी ओ अन्योन्व स्थान हैं उसमेंभी क्षणकी आलोचना आचार्य
गुनवे नहीं। ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षणकी क्षायसिद्धि नहीं होती ऐसा मानकर उसकी आलोचना आचार्य
प्रदण नहीं करते हैं।

ए तर्हि आलोचनां मनीरुचनीत्यपार—

अरहंतसिद्धसागरपद्मसरं खीरपुष्पफलभरियं ।

उज्जानभगवणतोरणपासादं पागजक्वधरं ॥ ५८१ ॥

जिनंद्रयधुनानादिमं विरं चास्तोरणम् ॥

सरः स्वच्छपयःपूर्णं पाद्विनीपदं संक्षितम् ॥ ५८२ ॥

पादपूरतैः सेन्यं सर्वसत्त्वोपकारिभिः ॥

आराभे मंदिरं नम्रैः सज्जनैरिव भूषितं ॥ ५८३ ॥

समुद्रनिम्नभादीनां मीरमक्षमनोहरम् ॥

सच्छायं सरसं दृक्षं एवित्रफलपट्टवयु ॥ ५८४ ॥

जिनयोदया—अरहंतसिद्धसागरपद्मसरं अर्हन्तिदशावधुनाभिमितं दृष्टान्ते ।
अर्हन्तिदशमितादावध्यादा । सागरादिसमीपं ज्ञानं क्षम्येयत्तत्त्वमपि विद्वन्वेको ज्येष्ठे । सागरपुष्पफलभरिं क्षीरपुष्प
फलभरितवत्समीप्यात् स्थानं क्षीरपुष्पफलभरितमिमुच्यते । उज्जानभगवणतोरणपासादं उद्यानमयनं, सौरजं, प्रभातः ॥
पागजक्वधरं । नम्रानां यक्षणां च चूदे ॥

क तर्हि सूरिः क्षपकस्थालोचनां प्रतीच्छति इति पृच्छयां गाथादयमाह—
मुलारा—अरहंत अष्टप्राम्निहार्यसहितप्रतिमास्थानं । सिद्ध अष्टप्राम्निहार्यपहितप्रतिमास्थानं । सागर समुद्र
समीपप्रदेशः । पञ्चमसर पद्माकरजलाशयसमीपं । सीरुण्णकलभरिदं क्षीरयुथैर्बटधूलाशोकादिभिः पुष्पितैः कलितैश्च
वृक्षैर्यकोनो यो देशस्तदास्यासन्नस्थानं । उज्जणभवनं कोडावनमप्यगृहं । तोरणपासादं महाशृङं सौचद्वार्योदि ॥

किस प्रदेशमें क्षपककी आलोचनाका आचार्य स्वीकार करते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—
अर्थ—अर्हन्तका मंदिर, सिद्धोंका मंदिर, अर्हत् और सिद्धोंकी जहां प्रतिमा है ऐसे पर्वतादिक- समुद्रके
समीपका प्रदेश, जहां क्षीरयुथ है, जहां पुष्प और फलोंसे लदे हुए वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उपान, तोरणद्वारसहित
मकान, नागदेवताका मंदिर, वक्ष्योदिर ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं।

अण्णं च एवमादिय सुपसत्तयं हूवइ जं ठाणं ॥
आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अत्तिगत्तये ॥ ५५९ ॥

अस्तमन्यदपि स्थानयुपेत्य गणनायकः ॥

आलोचनामसंकेषां क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥ ५८४ ॥

मुलारा—स्वर्ह ।

अर्थ—और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके लिये योग्य हैं ऐसे प्रशस्त स्थानोंमें क्षपकका धर्म
निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठ कर आलोचना सुनते हैं।

सूरिरेव स्थित्या आलोचनां प्रतिगृह्णातीति कथयति—

पाचीणोदीचिमुहो आयदणमुहो व सुहणिसण्णो हु ॥
अस्लोयणं पडिच्छदि एक्को एक्कस्स विट्ठमि ॥ ५६० ॥
जिनाचार्या दिशाः प्राच्या कोवर्था वा स सन्धुलं ॥
शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निपण्णवान् ॥ ५८५ ॥

विजयोदया - पार्लोर्दोचिमुहो आपदणमुहो च । आदमुखः, उदरमुखः । आगतवन्धः स्थानसामान्ययत्नोऽपि क्रियमतिमास्थानाच्यय युर्दोतस्तन विनायतनाभिमुलो ना । मुदणिसणो इ सुपेनासीतः । आलोचयं आलोचनं । गदिदृष्टि भ्रणोति । एको वर एव सुदिरक्तस्थालोचनं । गिपदमि वक्तव्ये । विमिरणपसारणपरस्य धर्मरथे स्वपदिमिति उदयार्थं तददरमत्कार्याम्बुदयो यथा स्थानदिति लोकः प्रादुरो भवति । सुरेसु कोऽभिप्राये येन प्रादुरो भवति । आररणपरतनुदण्डनप्रार्थिस्त्रेण तद्विगमिमुलता तिथिवायादिवदिति । उदमुखता तु स्वयंप्रमादित्तीयं ज्ञतो विदरस्थानं चेतेति कृत्या तद्विगमिमुलता कार्योसिद्धिरिति । कृत्याभिमुपतटापि शुभमथिणामतया कार्यसिद्धेरंग । निव्याङ्कसमाहृतस्य यत् धवणं तदालोचयितुः सम्माननं । यथा कर्माचिञ्चयेण अथि अनादौ गुरोरेति नोत्साहः परस्य स्यात् । एक एव भृणुयाश्चुरिलेऽजापरो यज्ञो मय्ये नाभयोर्धं प्रकटयितुमीदृते । चित्तदेदस्तास्य मथति, तथा कयपतः एकस्तेलालोचनं भृणुयात् । कुलधारात्पापुणयनैकयचनमर्धस्य । सरोपमिग्रहं नायं ब्रूताकः प्रतीच्छति । इत्यनेनैव गतायाद्विरदमि इति यथन निरर्थकं । यथ्येऽपि सप्त स्युर्न एकेनैव धुवं स्यात् । न सङ्गम्यममस्य अपराधपनास्य मनेनायगत यदेति नाभ्यस्य सकाशे भृणुयात् इति । एतत्सञ्ज्यो विपदमि वक्तव्ये आचार्यादिशेति ॥

सुमरास्तस्थाने णीदग्भृत्या सरिराढोपनां प्रतिगृण्हातीत्यब्राह्म--

[illegible]

पूर्वोदीच्योर्जिनार्थम्वा येनासीनो निराकुलः ॥

शृणोत्वा लोभनामेक एकस्यैव रहो गवः ॥

आचार्य इस प्रकार घंटकर आलोचना सुनते हैं इस बातको स्पष्ट करते हैं:-

अर्थ—पूर्वाभिमुख, उत्तरदिशामिश्र अथवा जिनमंदिराभिमुख होकर मुखसे बैठकर आचार्य आलोचना सुनते हैं. एशान्तस्थानमें एकही आचार्य एकथपकसीही आलोचना सुनता है. अपकारका नाश करनेवाले सूर्यका पूर्वदिशामें उदय होता है अतः पूर्व दिशा प्रशस्त है. सूर्यके उदयके समान हगारे कायमेंभी दिन प्रतिदिन उन्नति होने ऐसी इच्छा करने वाले लोक पूर्वदिशाके तरफ अपना प्राण करके अपना इष्ट कार्य करते हैं. क्षणिकके ऊपर अनुग्रह

करनेका कार्य मैंने हाथमें लिया है, उसकी सिद्धिके लिये यह दिशा कारणभूत है ऐसा समझकर वे पूर्वाभिमुख बैठते हैं, विदेहेश्वरमें स्वयंप्रभादि तीर्थकर होणये हैं- विदेहेश्वर उत्तरदिशाके तरफ है- अतः उन तीर्थकरोंको हृदयमें धारण कर उस दिशाके तरफ आचार्य अपना मुख कार्यसिद्धिके लिये करते हैं- चैत्यके तरफ मुख करनेसे परिणाम शुभ होगा जो कि कार्यसिद्धिके निमित्त है इस विचार से वे चैत्याभिमुख बैठते हैं.

निर्यातुल बैठकर गुरु आलोचना सुनते हैं. इस प्रकारसे सुननेसे आलोचना करनेवालेका सम्मान होता है. इधर उधर लक्ष देकर सुननेसे गुरुका भेदे संबंधमें अनादरभाव है ऐसी आलोचककी समझ होगी जिससे दोष कहनेमें उसका उत्साह नष्ट होगा. एक ही आचार्य एकके दोष सुने, यदि बहुत गुरु सुननेके लिये बैठेंगे तो आलोचना करनेवाला कष्टक लज्जित होकर अपने दोष कहनेके लिये तयार होने पर भी उसके मनमें खेद उत्पन्न होगा. अतः एक ही आचार्य एककी ही आलोचना सुने. एक कालमें एक आचार्य अनेक क्षपकों की आलोचना सुननेकी इच्छा न करें. क्यों कि अनेकोंका वचन ध्यानमें रगाना बड़ा कठिन कार्य है. इसलिये उनके दोष सुनकर योग्य प्रायश्चित्त नहीं दे सकेगा. इतने विवेचन से हि एकात्ममें गुरुके बिना अन्य कोई नहीं होगा ऐसे समयमें आलोचना सुननी चाहिये ऐसा सिद्ध होता है. अतः 'विरहम्मि' यह पद व्यर्थ है. इसका उत्तर ऐसा है- यदि यहां अन्य भी होंगे तो आलोचकके दोष बाहर फूटनेका समभव है. एक गुरु यदि होंगे तो उस स्थानमें मच्छररितीसे दुस्तेर का प्रवेश होना योग्य नहीं है. यह सूचित करनेके लिये आचार्यने 'विरहम्मि' ऐसा पद दिया है.

शौच्यस्य भालोचनान्कमभावादे-

काङ्क्षण य किरियम्मं पहिलेहणमंजलीकरणसुद्धो ॥

आलोएदि सुविहिदो सन्वे दोसे पमोत्तूण ॥ ५६१ ॥

कृत्वा त्रिशुद्धिं प्रतिलिख्य सूरिं प्रणम्य सूर्यस्थितपाणिपद्मः ॥

आलोचनामेष करोति सुक्त्वा दोषानघोषानपशत्यदोषः ॥ ५६२ ॥

इति आलोचना.

पिजयोदया—काऊण य किदिकम्मं कृतिकम्मं धंदवां पूवे कत्था। पटिलेदणमंजली करणमुदो मतिलेखनासहितः
मांजलीकरणमुदुक्कः । आलोपदि कयपति । सुविद्वो सुचारियः । सज्जदोसे पूर्वोपात्त । पभोत्तुण त्यक्त्वा । आलोचना ॥

एवमाभासालोचनाग्रहणक्रमं दिश्रुयित्वा सिध्वायालोचनाक्रममुपदिशति—

मूत्रारः—किरियम्मं वंदनां । प्रकमात्सरेव । सा चात्र सिद्धयोगमाकिंभ्यां इति वृद्धा । श्रीचंद्राचार्यसु सिद्धबा-
रिशनांविमर्कित्वां व्यापष्टे । पटिलेदणमंजली दक्षिणपार्श्वे पिठेन सद ललाटवटमयुक्करपुटः । करणमुदो मनोवाक्काय-
शुद्धियुक्त । आलोचना सूत्रतः २३ । अंकतः ४० ॥

शिष्यकं आलोचनाका क्रम करते हैं—

अर्थ—प्रथम वंदना करके हाथमें पिच्छिका लेकर अंजलि करना चाहिये, आलोचनार्थे जो दोष आगममें
करे हैं उनका त्याग कर सर्व दोषोंका आचार्य महाराजके पास कथन करना चाहिये. सिद्धमक्ति व योगमक्ति
पदकर वंदना करनी चाहिये ऐसे शब्द आचार्य कहते हैं. परंतु श्रीचंद्राचार्य सिद्धमक्ति, चारित्र्यमक्ति तथा श्रुतिमक्ति
पदकर वंदना करनी चाहिये ऐसा कहते हैं.

आलोचनाक्रमं निरूप्य गुणदोषा इत्येवदशास्थानायोत्तरप्रबंधः—

आकंपिय अनुमाणिय जं विहं वादरं च सुहुमं च ॥

छणं सदाडलयं बहुजण अब्वत्त तस्सेवी ॥ ५६२ ॥

अनुकंप्यानुमान्यं हि यद्वृष्टं स्थूलमन्यथा ॥

छन्नं शब्दाकुलं भूरि सूर्यव्यक्तं च तत्समं ॥ ५६७ ॥

विजयोदया—आकंपिय अनुकंप्यामाहमिति संवाद्य आलोचना । अनुमाणिय गुतेरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालो-
चना । जं विहं यद् दष्ट दोषजातं परेखायालोचना । वादरं च यत्स्थूलमतिचारजातं तस्यालोचना । सुहुमं च यत्सूक्ष्ममति-
चारजातं तस्यालोचना । छणं अट्टालोचना । सदाडलयं शब्दा आकुला परस्य आलोचनार्थं सा शब्दाकुला । बहुजन-
शब्दः सामान्यविषयोऽपीदं मुदजनवाहुल्ये वर्तते । गुतेरालोचनायाः प्रस्तुतत्वाद्द्वर्णानां गुरुणां आलोचनाः कियते सा
पहुजनशब्देनोच्यते । मय्यता अन्यकस्य क्रियमाणा आलोचना । तस्सेवी तानाहमचरितान्दोशान्. सेवते सा तस्सेवी
तस्य आलोचना । इदं सूत्रं । अस्य व्याख्यानयोत्तरप्रबंधः ॥

अथैवालोचनाकर्म निरुद्धालोचनागुणदोषनिरूपणार्थं सप्तपट्टि माथाः कथयति—तत्रादौ तावदाकंपादि तदो-
दोषान्दश विस्ति तद्विपर्ययरूपस्याहुवनाम्—

मूळारा—आर्कपिय अनुर्कयमात्मनि संपाद्यालोचना । सुद्धमं सूक्ष्मस्य दोषस्यालोचना । जं दिष्टं यदुष्टं
दोषजातं परैलस्यालोचना । वादरं यत्तच्छुद्धमतिचारजातं तस्यालोचना । छणं प्रच्छन्नं पुष्ट्या आलोचना ॥
आलोचनाका क्रम यहां तक आचार्य महापालने कहा है. आगे 'गुण दोषा, इस प्रकरणका सविस्तर वर्णन
करते हैं—

अर्थ—अपने विषयमें गुरूके मनमें दया उत्पन्न कर आलोचना करना यह आर्कपित दोष है,
अनुमानित—गुरूके अभिप्राय उपायसे ज्ञानकर आलोचना करना. यदुष्ट—जो अपराध दूसरोंने देखे हैं
उनकी ही आलोचना करना. वादर—स्थूल अतिथारकिसं समूहकाही कथन करना. छोटं अपराध छिपाना. सूक्ष्म-

सूक्ष्म अतिचार कहकर बड़े दोष छिपाना. छन्न—न देखे हुए दोषोंकी आलोचना करना.
शब्दाहलित—जिस आलोचनमें शब्द आशुलिख हैं ऐसी आलोचना का नाम शब्दाहलितालोचना
है. अर्थात् पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांयत्सरिक आलोचनके सम्य बहुत यतिगण मिलकर आलोचना करते हैं. तब
उनके ध्वनिजोंमें अपना ध्वनि भी मिलाकर दोषोंकी आलोचना करना.

गहुजन—गहुजन शब्द सामान्य जनका वाक्क होने पर भी प्रस्तुत प्रकरणमें गुरुबनोंके समुदायमें रूढ
हुआ है. बहुत गुरु मिलकर जो आलोचना करते हैं उसको बहुजनालोचना कहते हैं.

अन्यक्त दोष—जो आशानी है ऐसे मुनिको अपने दोष कहना.
तत्सेवी—जो दोष स्वतः किये हैं ऐसे ही दोष जिसके दास होचुके हैं अर्थात् जिसने अपने दोषोंके
समान दोष किये हैं उसको अपने अपराध कहना. ऐसे आलोचनोके दस दोष हैं.

इन दोषोंका आचार्य विस्तारसे वर्णन करते हैं.

आर्कपिय इत्येतत्सूत्रपदं ध्याचये

भर्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण ॥

अणुर्कंपेउण गाणि करेइ आलोयणं कोइ ॥ ५६३ ॥

सूरि भक्तन पानेन प्रदानेनोपकारिणा ॥

ब्रिनयेनानुक्रम्य स्वं दोषं वदति काव्येन ॥ ५८८ ॥

विलायेदथा -- मध्येन च पाणेन ॥ स्वयं शिक्षालिख्यसमन्वितत्वात्मवर्तको भूत्वा आचार्यस्य प्राप्तुकेन उद्गमा-
विदोपराहितेन भक्तेन धा मानेन वा धैर्याश्रयं कृत्वा, उपकरणेन कर्मदण्डपिण्डादिव । त्रिदिकम्भकरेण कृतिकर्मवन्दनया
॥ । आर्कपेदूय अनुकंपामुपाय । गति आचार्य । कोद आलोचनं करेद कश्चित्पापराधं कथयति ॥

आर्कपिय इत्येतत्सुत्रपदं गथापंचकेन व्याचक्ष्णः पूर्वं तत्क्षणं गामाद्वैतेनाह --

मूलाय --- आर्कपेदूय स्वयं शिक्षालिख्यसमन्वितत्वात्मवर्तको भूत्वा निर्दोषमफासिंषापनेन वंदनया वा गणित-
मात्मनि तत्क्षणं कृत्वा ।

प्रथमतः आर्कपित दोषका स्वरूप कहेते हैं --

अयं -- स्वतः शिक्षालिखिते युक्त होनेसे आचार्य की प्राप्तुक और उद्गमाविदोषसे रहित आहारपानी के
द्वारा पैपापुस्य करना, सिंही कर्मदण्ड रंगीरे उपकरण देना, कृतिकर्म वंदना करना इत्यादि प्रकारसे गुरुके मनमें
दया उत्पन्न करके कोई अपने अपराध करता है.

तस्यालोचयतो मनोव्यापारं दर्शयति --

आलोचदं असेतं होहिदि काहिदि अणुग्गहमिनोत्ति ॥

इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोचनादोसो ॥ ५८९ ॥

आलोचितं मया सर्वं भविष्यत्येय मे शुणं ॥

करिष्यतीति मन्तव्यं पूर्वं आलोचनामलः ॥ ५८९ ॥

विश्रयोदया -- आलोचदं असेतं होहिदि निस्वशेषं आलोचितं यन्विष्यति । काहिदि करिष्यति । अणुग्गहं इमो-
त्ति । अनुमदं अयमिति । भकादिदानेन छतोपकारस्य माम तुष्टो गुरुनं महात्मायस्त्रिचं प्रयच्छति । अपि तु स्वल्पमेव । ततो
मदाप्रायाधित्तदानभयार्त्थलं सुखं फलित्तिारं खं कथयामीति । इय एवं आलोचनस्तस्स शु एवं मनसि कृत्वा आलोच-
यतः । पढमो मयमः । आलोचना दोसो आलोचनादोषः । कोऽसो न्विनयो नाम यत्किंचित्पुष्पा गुरुवस्तुपन्नित्तुमु-
यश्चित्तदायिनो भविष्यतीति स्वगुदया वसुदोपायापोषणान्मनस्तोऽविवयः । मन्ते तु वर्णयन्ति आलोचना । अ दोषदच
आलोचनादोषः । अनुमाभिसंधिपुनःसरा आलोचना दुष्टतमालोचनदोष इति यावत् ॥

तस्मात्तद्विषयतो मन्त्रोक्त्यापारं दर्शयति—

मूढाया—होहिदि अतोपं अस्यावर्जितचित्तस्य गुरोरे भविष्यति स्थूलं सुक्ष्मं चातिवात्सल्यं भया । न क्षसी हृत्प्रायश्चित्तं मे शम्भुति किं तर्हि ? काहिदि अनुगम्यमिहोत्ति करेण्यत्यग्रपुष्पाकारमिति । आलोचितस्य ह्युपतमो आर्कपनामकः । दोषत्वं चान्य गुरोरेधिन्यप्रवर्तनात् । यत्किंचित्कञ्चनागुरमधुष्टा लघुमत्वादेव च रायितो भविष्यति इति रसकुटुब्हा अक्षरोणाप्यारोपनाद्धि न नान्यतो विनयः ।

आलोचना करते समय उसकी मनःप्रवृत्ति कैसी रहती है इसका वर्णन—

अर्थ—आहारादिकों के दानसे सुष्टु किये गुरु मेरेको महान् प्रायश्चित्त न दोगे. छोटासा प्रायश्चित्त देने-अतः स्थूल सूक्ष्म सप्त दोष मैं सुल्की कहूँगा. इस विचारसे कोई यदि अपने दोष कहते हैं.

और इस प्रकार सर्व दोषोंकी आलोचना होगी ऐसा मनमें समझते हैं. यह आलोचनाका प्रथम दोष है. इस दोषमें अविनय घुसा हुआ है. उसका विवेचन इस प्रकार—

जो कुछमी मिलनेसे गुरु संतुष्ट होकर छोटासा प्रायश्चित्त देगा ऐसा अपने मनमें विचार कर उनपर असदोषका आरोपण करना यह मानसिक अविनय है. अर्थात् गुरु छोटी होनेसे उपकरणादि पदार्थ मिलनेसे छुप होजाते हैं ऐसे दोषका आरोपण करना. अशुभपरिणामसहित यह आलोचना की जाती है इस वारंते यह आलोचना सदोष है ऐसा कोई आचार्य इस आलोचनाके विषयमें कहते हैं—

केदूण विसं पुरिनो पिपुज्ज जह कोह जीविदच्छीओ ॥

भण्णतो हिदमहिदं तविमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६५ ॥

काश्चित् कोत्वा विषं मुंक्ते नरो मत्वाहितं हितं ॥

जीवितार्थी यथा मूर्खस्तथेयं चुद्धिरिच्यते ॥ ५९० ॥

विजयोद्या—केदूण विस्सं पुरिस्सो इत्यादिना । जह कोह पुरिस्सो जीविदच्छी विसं केदूण पिबेज्ज इति-संयथ. । यथा काश्चिपुरुषो जीवितार्थी तिवं कीत्वा विवति । अहिदं अहिदं कृत्वा । विषयानं हिदं भण्णतो हितमिति मन्य मानः । तपिमा तथा इपं सल्लुद्धरणसोधी भाषाशब्दोद्धरणमुद्धिः । सामान्यवचनोऽपि शब्दश्चोद्धरण भाषाशब्दे लुप्तः ।

तस्य उद्धारणं ताम् स्वयत्तापराधकथनं । आलोचनाशब्दोद्धारणमेव युक्तिरुच्यते । उद्धारणं न चारिष्यतपसां नैर्मल्येषु त्वत्वा-
त्, जीवितार्थिनः । हितमुद्रया मूर्धता अदिता । जीवविषयान् उपमानं तद्वितीयमालोचना, मल्लोचनानिदिनोत्तं वंदनया वा
मूर्धता युक्तं स्वयमुद्रया प्रियदाशना न शुद्धं संवादपति विषयानमिव जीवितं विद्वत्पण्डित्यं पानं दुष्टता उपमानोपमेययोः
सद्विचारणा धर्मस्तथाप्युपमानमुपमेयं तयोश्च साधारणं धर्ममाश्रित्य सर्वानुपमानोपमेयता । चंद्रमुखी कन्या इत्यादौ चंद्र
उपमानं, उपमेयं मुखं, दृष्टता सर्वजनप्रनोपलभता च साधारणो धर्मः ॥

दृष्टानुमुनेन गुर्वनुकंपनापूर्वकालोचनाया दुष्टवामान्येष्ट -

मूलात्—कटूणा मूर्धत्वा । जीविद्वितीयो जीवितार्थी । अहिं दं प्रणायवहारित्वादपकारकं । त्वयिमा तथा हयं ।
भक्त्यनुपचारपूर्विका । सत्तुद्धारणसोपो शक्यत्व यावाक्यस्योद्धारणं त्वत्कृतापराधकथनं मल्लोचना । तदेव सोपो बुद्ध्या
रत्नमेव नैर्मल्येषु त्वत्वात् । धर्मेन मूर्धता पीतं विपं जीवितार्थिण सफादिना गुरुमनुकंप्य कृतालोचना शुद्धि न करोतीति
दृष्टान्वार्यं । इदमालोचना विषयदृष्टेति शास्त्रयम् ।

अर्थ—जीनेकी इच्छा करनेवाला कोई पुरुष अहितकर विपको खरीद कर हितकर समझकर पीता है।
उत्तके समान ही यह मायाश्रित्यसे उद्धार करनेवाली शुद्धि समझनी चाहिये। आलोचनाके दोष मनमेंसे जाण करना
ही शुद्धि है। अर्थात् अपने क्रिये हुए अपराध निष्कण्ट भावसे गुल्फे समीप रहना ही श्रवणोद्धारण शुद्धि है, इस
शुद्धिसे ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य निर्मल होते हैं।

परंतु यह आलोचना जीवितार्थी मनुष्यने हितकर समझकर किये हुये विषयानके समान है, विषयान
उपमान है और यह आलोचना उपमेय है। आहारादि पदार्थ गुरुको देकर अथवा वंदना करके गुल्फो मानो
खरीद लिया है ऐसी मनमें कल्पना कर यह आलोचना की जाती है अतः यह दुष्ट है, इस उपमान और उपमेयमें
साधारणधर्म दृष्टता है, उपमान और उपमेय और साधारण धर्मका आश्रय लेकर उपमान उपमेयता दिखाई
जाती है, जैसे चंद्रमुखी कन्या इस उदाहरणमें चंद्र उपमान, मुख उपमेय और गोलाई, सर्वजनचिन्ताकर्षकता
यह साधारणधर्म है, वैसे यहां भी विषयान उपमान, आलोचना उपमेय और दोतामें दृष्टता यह साधारणधर्म
है, यद्यपि इस गायामें सत्तुद्धारणसोपी इस समस्तपदमें मल्ल शब्द सामान्यवचक है परंतु इस प्रकारमें माया-
श्रित्यके अर्थ में यह रुढ हुआ है-

उपमानांतरेणापि उपमेयं आलोचनं प्रभवति ॥

वृष्णरसगंधजुप्तं किंपाकफलं जहा दुहविवागं ॥

पञ्चा णिच्छयकदुयं तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६६ ॥

अधुरालोचनैपादौ बिपाके सेविता सती ॥

लीलं करोति किंपाकफलसुक्तिरिवास्तुत्वम् ॥ ५९१ ॥

विश्वोक्ता—वृष्णरस एवादिता । किंपाकफलं वृष्णरसगंधजुप्तं जहा दुहविवागं । किंपाकाण्यस्य सतोः फलं । वृणोविद्युत्पदस्य ततोः फलस्वाभाववचनसिद्धेर्बोद्धियुक्तवचनमतिप्रयतितवर्णविपरिग्रहं स्वययति । तेभा- यमर्थः—भरतमित्रकृपे, मधुरसयुक्तं, प्राणसुखं सेवितमिति यावद्युक्तः । दुहविपाकं दुःखविपाकं । पञ्चा अनुभवो- सरकाळं । णिच्छयकदुयं मिश्रयेन कडुं । तधिमा ते यथा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुक्तिः किंपाकफलोपमेय उप- मति, उपमेयं आलोचना, दुःखविपाकता साधारणो धर्मः ।

तरया एव दुर्विपाकतां दृष्टोक्तमुत्तेजावदे—

मूलात् — वृणोत्यादि नयनप्रियवर्णं मधुररसं प्राणसुखरसं चैतयोः । दुहविवागं दुःखविपाकं सरणे कारण- त्वात् । पञ्चा अनुभवोपरकाळं । णिच्छयकदुयं मिश्रयेन परमायेन कडुं दुर्विपाकत्वात् । तधिमा तथेयं दुःखविपाका- दुर्गतिदुःखहेतुत्वात् ।

दुस्तर उपमानके द्वारा भी उपमेयरूप आलोचनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—किंपाकफलका रूप बड़ा सुंदर रहता है. रस, मधुर होता है, गंध नाकको मोहित करता है. परंतु उसका सेवन करनेसे परिणाम कालमें दुःख उत्पन्न होता है. अर्थात् उसके भक्षणसे जीवको प्राणत्याग करना पड़ता है. यह आलोचनाकी शुद्धि भी किंपाकफलके समान है. यहाँ किंपाकफल उपमान, आलोचना उपमेय और परिणाम में दुःख दायकपना यह साधारण धर्म समझना चाहिये,

किमिरागकंचलस ब सोधी जडुरागवत्तयोधीव ॥

अवि सा हवेज्ज किहू इण तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५६७ ॥

धीरपुरिसचिण्णाहं पवददि अदिघमिओ व सज्जाइं ॥

धण्णा ते भगवंता कुब्बंति तवं विकटं जे ॥ ५६८ ॥

धीरेराधारितं धन्याः कुर्वन्ते दुश्चरं तपः ॥

दुःखाम्भसो भवाम्भोयधुस्तरात्तारकं परम् ॥ ५९३ ॥

विजयोदया—धीरपुरिसचिण्णाहं धीरेः पुरैराधारितानि । पवदति प्रवदति ॥ अदिघमिगोय भतीय धार्मिक इव । सज्जाइं सर्वाणि । धण्णा धन्याः पुण्यपंथः । ते भगवंतः माह्वल्यवंतः । जे वे । कुब्बंति कुर्वन्ति । तवं तपः । विकटं उत्कटं इति वदति ॥

अणुनामिद्य इति द्वितीयमालोचना दोषं गाथापटकेन व्याख्यानः पूर्वं तल्लक्षणं गाथापंचकेनाह—
मूला—चिण्णाहं आधारितानि । पवददि प्रकर्षणं कथयत्यलोलोचनाकारी । धण्णा इत्यादीति संयंयः । अदि-
घमिगो य अतीव धार्मिक इव । भववंता माह्वल्यवंतः विकटं । उत्कटं ।

अनुमानित दोषका वर्णन—

अर्थ—अलोचना करनेवाला मुनि भानो अपनी अतिशय धार्मिकता दिखाता हुआ इस प्रकारकी स्तुति करता है—हे भगवान् ! धीरे पुरुषसे किया हुआ सर्व प्रकारका तप जो मुनि करते हैं वे अतिशय धन्य हैं, पुण्यवान हैं और महारत्ना हैं.

यामापहारपासत्यदाए सुहसीलदाए देहेसु ॥

वददि णिहीणो हु अहं जं ण समत्थो अणत्तणस्त ॥ ५६९ ॥

कलमापहारपार्वस्यसुखशीलतया तपः ॥

न प्रकटमलं कर्तुं वदत्येवमधार्मिकः ॥ ५९४ ॥

विजयोदया—यामापहारपासत्यदाए कलमिगुहनेन पार्वस्यतया च । सुहसीलदाए च सुखशीलतया च । तदो सतः । सो सः । वददि कथयति । णिहीणो जयन्त्यः । अहं महकं । जं यस्मात् । न समत्थो असमर्थोऽशक्तः । अणत्तणस्त अनशनस्य ॥

मूलरा—यामास्यहार वलनिगूहनेन । पास्तस्वदाण पार्थस्वतया । वददि गिदीणो इत्यादिकं कथयसि । गिदीणो अद्वयं जं न समस्तयो । गिदीणो लघन्वः । अद्वयं अहं । अं यस्मात् । अयं—अपना चल छिपाकर और स्वयं पार्थस्वदाणि होनेसे और सुखमें आसक्त होनेसे वह मुनि गुरुकी इस प्रकार प्रार्थना करता है, ' मैं लघन्य हूं, असमर्थ हूं इसलिये मेरेको उपवास करनेका सामर्थ्य नहीं है ।

जाणह य मज्झ थामं अंग्गाणं दुब्बलदा अणारोगं ॥

येष्य समत्थोमि अहं तवं विकटं पि काहुंजे ॥ ५७० ॥

पार्थैत्यत्त्वमनारोग्यं दौर्बल्यं वह्निमंदता ॥

भगवंस्तत्र विज्ञाता मदीयाः सकलाः स्फुटम् ॥ ५९५ ॥

विजयोक्त्या—जाणह य भस्मद्वलं युष्माभिरवसितमेव । अंग्गाणं दुब्बलदा उदराग्निदौर्बल्यं । साणारोगं रोगाघर्षा न । अहं तवं विकटं काहुंजे च समत्थोमि अहं तप उत्कटं कर्तुं मेव समर्थोऽस्मि ॥

मूलरा—जाणय जालीय पूर्व । मज्झ थामं मम धातुं । महणीयोपक्षिणं उदराग्निदौर्बल्यमित्यर्थः । अणारोगं रोगवशात् । काहुंजे कर्तुं । समत्थो मि समर्थोऽस्मि । कटं च—

अग्निमायमनारोग्यं वलं मे क्षतमेव धाः ॥

कथा च न समर्थाऽऽमुत्कटं पशितुं तपः ॥

अयं—हे प्रभो ! आप मेरा सामर्थ्य भित्तना है वह तो जानवे ही हैं, मेरा उदराग्नि अनिद्रय दुर्बल है, मेरे अंगके अवयव कुछ है इसलिये मैं उत्कट तप करनेमें असमर्थ हूं, मेरा शरीर हमेशा रोगी रहता है.

आलोचेमि य सव्वं जइ मे पच्छा अणुगाहं कुण्ह ॥

उज्झ सिरीए इच्छं सोधी जह्णिच्छरेज्जामि ॥ ५७१ ॥

आलोचयामि निःशेषं कुरुष्व ययमुग्रहम् ॥

त्वदीयेन प्रसादेन विशुद्धिर्मेम जायताम् ॥ ५९६ ॥

विजयोदया—आलोचयामि य सत्त्वं सर्वमतिचारजातं आलोचयामि । अदि पच्छा अनुग्रहं कुणहं मम यदि पच्छास्तुग्रहं कियते ययक्तिः । तुच्छा सिरीय । भवतां श्रिया । इच्छं इच्छामि । सोधी सुद्धि । विच्छरेल्लजामि निस्तारयि-
व्याम्यत्मानं ॥

मूढारा--पच्छा आलोचनानंतरं । अनुग्रहं कृपां । तुच्छसिरीय भवतां प्रसादेन । इच्छं इच्छामि । सोधीयं
सुद्धि । निच्छरेल्लजामि निस्तारयाम्यात्मानं । अन्यस्तु निच्छरेल्लजामि निस्तारितुमिच्छामीत्याह ॥

अर्थ--यदि मेरे ऊपर आप अनुग्रह करेंगे अर्थात् मेरेको आप यदि शोभासा प्रायश्चित्त देंगे तो मैं अपने
संपूर्ण अतिचारोंका कथन करूंगा और अपनी कृपासे मैं छुद्धियुक्त होकर अपराधोंसे मुक्त होऊंगा.

अनुमानेदृण गुरुं एवं आलोचनं तदो पच्छा ॥

कुणहं ससच्छो सो से विदिओ आलोयणा दोसो ॥ ५७२ ॥

कुर्वाणस्यानुमान्येति त्तरिमालोचनां यतेः ॥

भवत्यालोचनादोषो द्वितीयः शाल्पयोगोपकः ॥ ५९७ ॥

विजयोदया--एवं अनुमानेदृण एवं अनुमानेन ज्ञात्वा । गुरुः प्रार्थितः करिष्यति स्वल्पप्रायविचलत्वेन ममा-
नुग्रहं इति । पच्छा आलोचनं कुणहं पक्ष्वादालोचनां करोति । ससच्छं शाल्पसहितं । सो सः । से तस्य । विदिओ द्वितीय
आलोयणादोसो आलोचनदोषः ।

मूढारा--अनुमानेदृण अनुमानेन ज्ञात्वा ।

अर्थ--गुरु मेरेको शोभासा प्रायश्चित्त देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे ऐसा अनुमान करके भाषायामावसे
जो मुनि पश्चात् आलोचना करता है, यह अनुमानित नामक आलोचनाका दूसरा दोष है.

गुणकारिभोचि मुंजइ जहा सुहृयी अपच्छमाहारं ॥

पच्छा विवायकडुगं तधिमा सछ्छरणसोधी ॥ ५७३ ॥

सेव्यमानो यथाहारो विपाके दुःखदायकः ॥

अपथ्यः पथ्यश्रेष्ठतया तथेयं शुद्धिरिति ॥ ५९८ ॥

इति अनुमान्यदोषः ॥

विजयोदया — गुणकारिओति मुंजर गुणसुपकारं करोति इति मुंके । जहा सुहृत्वी यथा सुयायी । अपथ्यमाहारं । कीदृग्भूतं पच्छा विपाकद्वयं भोजनोत्तरकालं विपाककृतं । तथिमा तथा इमाः । सत्सुन्दरसौधी शल्योदरणशुद्धीः मधुतो दितमुदया गृहीतप्यालोचना संकल्प्य यदि नाम मुंके तथापि विपाके कटुक एवासौ । एवं गुर्वभिमायानुमानेन तास्ति संकल्पमात्रेण । अनुमापिय ॥

मूखारा — गुणकारमोति गुणसुपकारं करोति इति । कच्छा भोजनोत्तरकालं । तथिमा अपथ्यं पथ्यमिति संकल्प्य मुकमिय । गुर्वभिमायानुमानेन मधुतद्विदबुद्ध्या गृहीतप्यालोचना परिणामेऽनर्थावहा । न हि संकल्पवशाद्दुःखानुऽन्यथाभावः ।

अर्थ — जैसा सुखकी चाहना करनेवाला कोई पुरुष भोजन के अनंतर जिसका परिणाम दुःखदायक होगा ऐसा आहार खाता है, परंतु उससे दुःख न होकर दुःख ही उत्पन्न होता है वैसी यह आलोचना शुद्धि है, अपथ्य आहार मेरेको हितकर होगा ऐसी बुद्धि के द्वारा मनमें संकल्प कर यदि कोई पुरुष मक्षण फेरगा तोभी वह परिणाममें कटुही फल देगा, वैसे गुरुके अभिप्रायका अनुमान करके अर्थात् गुरु मेरेको अनप माय-चित्त देने इस बुद्धिसे की गई, हितकर भी आलोचना अनर्थ करनेवाली होती है, संकल्पसे वस्तुका परिणामन भिन्न नहीं होगा, संकल्पमात्रसे अपथ्य आहार पथ्यकर नहीं होता है, इस प्रकार अनुमानित दोषका वर्णन हो चुका,

जं होवि अण्णदिठं तं आलोचेदि गुरुसयासस्मि ॥

अदिठं गूहंतो मायिहो होदि णायव्वो ॥ ५७४ ॥

परैः सुचयने हट्टमहट्टं या निग्गहति ॥

महादुःखफला तेन मायावल्ली परोप्यते ॥ ५९९ ॥

विजयोदया — जं अण्णदिठं होदि यद्वत्पट्टं भवति अपपज्जतं । तं आलोचेदि कथयति । गुरुसयासंमि गुरु-

समपि । अहिंसे परेच्छ । गुईतो प्रच्छादयन् । मायिहो मात्स्न्यो होहि । मायावानिति श्रुतश्रयो भवति ॥
 जे दिव्यमिति सुयोगालोचनादोषं मायात्रयेण विवृण्वन् द्वाभ्यां लक्षयित्वा एकयाधिपति—

मूढारा—अण्वहिंसे परेच्छ । गुईतो प्रच्छादयन् ।

अर्थ—जो अपराध अन्य जननि देलें हैं उतनेही शुरुके पास आकर कोई युनि कहता है. और अन्यसे न देखे गये अस्वभावको छिपाता है वह यावावी है ऐसा समझना चाहिये.

दिष्टं व अदिष्टं वा यदि न कहेइ परमेण विणएण ॥

आयरियपायमूले तदिओ आलोयणादोसो ॥ ५७५ ॥

यदि दृष्टमदृष्टं च नालोचयति दूषणं ॥

तदास्त्यालोचनादोपस्तुनीयो दोषवर्चकः ॥ ६०० ॥

विलयोदया—दिष्टं व अदिष्टं वा परेदृष्टमदृष्टं वापराधं । परमेण विणएण अदि न कहेइ प्रकृष्टेन विनयेन यदि न कथयेत् । क आयरियपायमूले मात्स्न्यपायमूलं । तदिओ आलोयणादोसो सुतीय आलोचनादोषः ॥

मूढारा—दिष्टं वैरिति शेषः ।

अर्थ—दूसरोंके द्वारा देले गये हो अथवा न देले गये हो संपूर्व अपराधोंका कथन शुरुके पास जाकर अतिथय विनयसे कहना चाहिये परंतु जो युनि ऐसा नहीं करता है वह युनि आलोचनाके तीसरे दोष से लिप्त होता है ऐसा समझना चाहिये.

अहं बालुयाए अवडो पूरदि उक्कीरमाणओ चेव ॥

तहं कम्मादाणकरी इमा हु सल्लुद्धरणसुद्धी ॥ ५७६ ॥

दोषशुद्धिरपचेतसा पुनः कस्मैपरिति कृता निर्धीयते ॥

बालुकासु रचितोऽब्जदः पुनर्बालुकाभिरभितो हि पूर्यते ॥ ६०१ ॥
 इति दृष्टम् ।

चंक्रमणे यद्वाणे निसेल्लवट्टणे य सयणे य ॥

उद्धमसिस्सक्खे य गम्भिणी बालवत्थाए ॥ ५८० ॥

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमने तथा ॥

आर्द्रगात्रपरामर्शे गम्भिण्या बालवत्सया ॥ ६०६ ॥

परिविष्टेऽभवत्तपो यः सूक्ष्मः स निगच्छते ॥

स्थूलं प्रच्छाद्य येनारसौ जिनवाक्पपरारुमुखः ॥ ६०६ ॥

विजयोद्या--चंक्रमणे अथ स्वात्मपुलेन यथा व्याकुलितचित्तो मनसोर्ध्वयामनुपयुक्तो गतवान् । इणे निसे ल्ल उद्यट्टणे य सयणे य ममलनेनकृत्वा स्थाने, निपटो, शय्या च कृता । उद्धमसल्लरफले आर्द्राया नात्राधिकं स्पृष्टे । सरक्खे य सच्चिन्मभूतिसहिते स्थिते सुसमाहिते वा । गम्भिणी गम्भिण्या । बालवत्थाए बालवत्सया दीवमाने धृढीते इति ॥ सुदुर्ममिति परंपरा आलोचनादोषमाकष्टे—

मूळारा—चंक्रमणे इत्थादि अत्र उपरत्कारेण व्याख्येयं । तथाहि--चंक्रमणे अवदयायादिवहुले मार्गे लयाकुल-चित्तो गतोऽहमिति सूक्ष्मं दोषं वदति । उणे निसेल्ल उद्धवने प्रविलेखल्लमकुट्टवा स्थानमुपवेश्वात् शयने वा मया कृतमिति व्रते । कटणे काले पञ्चावश्यकं मया न कृतमिति वदति । उद्धमस आर्द्रसर्पः अत्रादि नागाधिकं मया स्पृष्टमिति वद-वति । सरक्खे सच्चिन्मभूतस्थाने मयाशिवं, भूतियुक्तमादेन मया लले प्रविष्टं, जलार्द्रपादाभ्यां रजोऽवधृष्यमित्यादि-कनल्लोचयति । गम्भिणी अष्टमाधिसात्सर्गधारिण्या मम परिविष्टमिति व्रते । बालवच्छाए मासाभ्यन्तरप्रसूतया मम परिविष्टं कर्तुं ललनल्लमवाळे स्वकस्या स्त्रिया मेऽज्ञं वृत्तमिति निगदति ।

अर्थ--चंक्रमण--जहाँ जोस बहुत गिरी थी ऐसे मार्ग से ह्यासमितीमें चिसकी एकाग्रता न कर मैने गमन किया था. पिन्चिक्कासे जमीन साफ न करके मैं जमीन पर बैठ था, सोया था. और लटा हुआ था. योग्य कालमें मैने छोहो आवश्यक किये नहीं थे. पानीसे मीले शरीर आदिक पदार्थोंको मैने स्पर्श किया था. सचित्त भूलिपर मैं बैठा था. लटा हुआ था और सोया था. धूलिसे भरें हुए पावोंसे जलमें मैने प्रवेश किया था. आठ महिने नउ महिने जिसको हुए है ऐसे गर्भवतीने भेरेको आहार दिया था. प्रसूत होकर जिसको एक महिना भी पूरा नहीं हुआ था ऐसे स्त्रीने मैनेको आहार दिया था. रोवा हुआ अथवा स्तनपान करता हुआ बालक छोडकर स्त्रीने मेरे

को आहर दिया था इत्यादि ब्रह्म दोषोंको जो कहता है उसकी आलोचना शुद्ध नहीं है-

इय जो दोसं लहुगं समालोचेदि गृह्णे धूलं ॥

अयमयमायाहिदयो जिणवयणपंसुहो होदि ॥ ५८१ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं च वेदोपं मापते न गुरोः सुरः ॥

मायावीडाववाविष्टः सवा दोपोऽस्ति पंनमः ॥ ६०७ ॥

विजयोव्या - इय एवं । जो यः दोसं अतिचारं । कीदृग्मूलं ? लहुगं स्वल्पं । आलोचेदि कथयति । विणिगृह्णादि-
विनिगृह्यति । किं ? धूलं स्थूलं । अयमयमायाहिदयो अयमयमायासहितनिश्चितः । महतो दोषान्यदि प्रधीमि महत्प्राल-
म्बितं प्रयच्छेतीति अयं, स्वज्ञेति मामिति या । द्रुया निरतिचारत्वरितसर्वसमानमंगसङ्गः स्थूलान्न शक्नोति वक्तुं । कश्चि-
यच्छास्त्रे मायावी सोऽपि न निरुद्धति । जिणवयणपंसुहो होदि । विनवचनपरत्वादुक्तो भवति ।

मुळार-अयमयमायाहिदयो अयं, महो, माया या हरये विचे यस्यासौ बहुप्रायस्त्रिषं भवेत् सयमेत्यजनमेवेत्
वा सूक्ष्मेव दोषं वक्ति, स्थूलं प्रच्छादयति । यूपान्निहित्वात्परादिप्रोक्ष्मीति गर्वान्न स्थूलान्वक्ति । मायावी तु प्रकृत्यै-
व अक्षकत्वात् वान्वक्ति । उक्तं च-

आत्मने श्रवेण स्थाने संस्तरे गमनेऽग्ने ॥

आर्दगाऽपराभर्षणमिषया बालदत्तया ॥

परिविष्टेऽभवद्वेभो यः सूक्ष्मः स निगवणे ॥

स्थूलं प्रच्छात येनासौ विनपास्यपराद्भुक्षः ॥

अर्थ-इस प्रकार भी छोटे दोष कहकर बड़े दोष छिपाता है, वह मुनि भय, मद, और कपट इन
दोषोंसे भरा हुआ विनवचनसे पराङ्मुख होता है, बड़े दोष यदि मैं कहूँगा तो आचार्य महाप्रायश्चित्त देंगे, अथवा
मेरा त्याग करोगे ऐसे भयसे कोई बड़े दोष नहीं कहता है, मैं निरतिचार चास्त्रि हूँ ऐसा समझकर स्थूल दोषोंको
अव्ययुक्त होकर कोई मुनि कहता नहीं, कोई मुनि स्वभावसे ही कपटी रहता है अतः वह भी बड़े दोष कहता
नहीं इस वास्ते ये मुनि विनवचनसे पराङ्मुख हैं-

सुहुमं व बादरं वा जड्ण कहेज्ज विणएण स सुहुणं ॥

आलायणाए दोसो पंचमओ गुरुसयासे से ॥ ५८२ ॥

विजयोदया—भावाभावात्मिका विजयचतुष्टयैतस्या अकरणात् प्रविचार्यो ॥

मूढारा—गुरुसयासे गुरुसमीपे वर्तमानस्य ॥

अर्थ—सहस्य अथवा स्थूल दोष यदि गुरुको विजय से न कहेगा तो वह विनोपदेशका उल्लंघन करनेसे आलोचनके पांचवे दोषसे दूषित होता है.

उत्तर भाषा—

रसपीदयं व कडयं अहंवा कवहुकडं जहा कडयं ॥

अहंवा जदुपूरिवयं तविमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५८३ ॥

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं कृतं विपाके कटकं गृहीतं ॥

यथा तथेत्थं विहितं विपत्ते विनाशेनं तावमपारसुभम् ॥ ५८४ ॥

इति सूक्ष्मबोधः

विजयोदया—रसपीदयं व कडयं रसोपलेशपरमनाद यद्दि. पीतपूर्णकटकमिव । अथवा कवहुकडं तदुल्लंघन-
पत्राच्छादितमिव वा । भस्मनिस्सार । अथवा जदुपूरिवं अन्तर्दिष्टं तदुल्लंघनमिव । पीतता रसोपलितस्य तथा
तथात्वा गृहीरिति प्रथमो दृष्टान्तः । सुन्दरपत्राच्छादितपत्राभावात् द्वितीयो दृष्टान्तः । गुरुतरमय प्रवृत्ति
निस्सार यस्तु यात्रे तु स्वर्गशमलेन प्रच्छादित यथा तथा स्वस्यानपराधान्कथयति । पापमीच्छासकयोदये सुनिहितं
संपन्नः कथं महत्त्वविचारं प्रवर्तत इति प्रत्ययजननाय अंत सारपरिधत्वा कृषियेनोच्यते । सुद्धम् ॥

हृन्तांविनयेन सूक्ष्मबोधालोचना सुगुह्यते—

मूढारा—रसपीदयं सुवर्णरसरसितं । एतेन शुद्धेरत्वात् दर्शितं । कवहुकडं सुवर्णपत्रप्रच्छादितं । एतेन गुरुतर
पापप्रच्छादनं दर्शितं । जदुपूरिवं आश्वासकमर्थं पतेनांतर्निःसारतोवाहता साधोः ॥

अर्थ—सौनंका मूढाभा दिया हुआ लोहेका कड़ा जैसा ऊपर से मनोहर दीखता है. जयवा ऊपरसे सोने
के पतले पत्रसे मूढा हुआ लोहेका कड़ा जैसे ऊपरसे ही सुंदर दिखता है परंतु अंदर नि सारता ही रहती है. किंवा

निसर्क अंदर लाख मरी है ऐसे सोनेके कंठके समान यह आलोचना खुदि है. जैसे प्रथम दधान्तमें सुवर्णका ऊपर ही मुलाया है परंतु अंदर निःसारणवा है वैसी यह आलोचना उपरसे तो अल्पशुद्ध दीखती है परंतु अंदर अशुद्धि मरी हुई है. जैसे सोनेके पत्रसे मढा हुआ लोहा अंदर छिपा हुआ रहता है. वैसे यह आलोचनाशुद्धि बड़े बड़े पाप छिपानेवाली और ऊपरसे छोटे पापोंका कथन करनेवाली है. यह मुनि पापभीरु है यह बड़े पापोंमें कैसे प्रवृत्त होगा ऐसा मानो विद्यास उदात्र करनेके लिये यह सस्म दोषोंका कथन करनेवाली आलोचना है. यह तीसरे लाख से भरा हुआ कंठके दृष्टान्तसे व्यक्त होता है. इस प्रकार सस्म दोषकी आलोचनाका वर्णन हुआ.

अदि मूलगुणे उत्तरगुणे य कस्तइ विराहणा होज्ज ॥

पढमे विदिए तदिए चउत्थए पंचमे च बदे ॥ ५८४ ॥

आये प्रते द्वितीये घा-दोषः संपद्यते यदि ॥

सूत्रे ! कस्यपि कस्यस्व विराहयति तदा कथम् ॥ ६०६ ॥

विजयोदया—यदि मूलगुणे उत्तरगुणे च कस्यविद्विपते मूलगुणे, चारित्र्ये, तथाचि या अनशानाशुद्धयुगले भक्तिचारो भवेत् । अहिंसादिके ज्ञते ॥

छणमिति यष्टे आलोचनादोषे गोधाष्टकेन व्याकर्तुं कामः पूर्वं याथात्रयेण तद्वक्ष्यमाणम्—

मूलार—मूलगुणे चारित्र्ये वपसि वा । अहिंसादित्रये । कस्तइ कस्यचित्साधोः । निरापणा अतिचारः । तयो प्रायश्चित्तं । उपापण आलोचनया, प्रतिफलनया, स्थानांतरणमनादिना वा । पच्छणं पृच्छति आत्मानमनुविश्य पृच्छति करोति । मयावमपरुधः कुतस्तस्य किं प्रायश्चित्तं इति न पृच्छति । स्पष्टम् ॥

अर्थ—यदि किसी मुनिको मूलगुणमें अर्थात् पांच महावर्तोंमें और उत्तरगुणोंमें-- तपश्चरणोंमें अनशानादिक भरा तपोंमें अतिचार लगेगा तो—

को तस्सा विज्जइ तवो केण उवाण वा हवदि सुद्धे ॥

इयं पच्छणं पृच्छदि पायच्छित्तं करिस्संति ॥ ५८५ ॥ ;

विजयोदया - को यस्य विजयः सको किं तस्मै दीयते त्वम् ? । केन उवाच - होदि या सुतो केतोपोयन वा शुबो भवतीति । प्रच्छण्य प्रच्छन्न । पुच्छति पृच्छति । आत्मानमुदित्य भवत्यमपराधः - कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्त इति न पृच्छति । किमर्थमेव मत्तुम् पृच्छति । आत्मा प्रायश्चित्तं करिस्सति करिष्यामि ॥

अर्थ - उसको कोनसा तप दिया जागा है, अबवा किस उपवाससे उसकी सुद्धि होती है ऐसा प्रच्छन्न रूपसे पूछता है अर्थात् मैंने ऐसा २ अपराध किया है और उसका क्या मागश्चित्त है ? ऐसा न पूछकर प्रच्छन्न पूछता है, प्रच्छन्न पूछकर तदनंतर मैं उस प्रायश्चित्तका ज्ञानकर करूँगा ऐसा हेतु उसके मनमें रहता है.

इयं पृच्छणां पुच्छिय, साधू जो कुण्ड अप्णो सुद्धि ॥

तो, तो जिणेहि बुबो छहो आलौयणा दोसो ॥ ५८६ ॥

इत्यन्यथा जतदछसं पृच्छयते वेत्स्यशुद्धये ॥

तथानो जायते दोषः पण्डः संसारवद्धकः ॥ ६१० ॥

विजयोदया - इयं पृच्छण्य पृच्छिय । जो साधू साधु । अप्णो सोधि कुणदि कात्मनः सुद्धि करोति । तो छहो आलौयणा दोसो बुबो जिणेहि । पछोऽसायालोचनादोषस्य भवतीति वितैलका ॥

अर्थ - ऐसा शुभ रीतिसे पूछकर जो साधु अपनी सुद्धि कर, छेपा है, वह आलोचनाका छद्मा दोष है ऐसा विवेचने कहा है.

घादो हवेज्ज अप्णो जदि अप्णस्मि जियिदस्मि संतस्मि ॥

तो परववेदसकदा सोधी अप्णं विसोविशुज ॥ ५८७ ॥

भोजने च कृतेऽन्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ॥

अपरस्य तदा शुद्धिर्विहिता परभर्माणा ॥ ६११ ॥

आत्मशुद्धिं विचिन्ते यः प्रपृच्छय परभर्माणा ॥

अपरंभौपमे पीते स्वस्यारोग्यं करोति सः ॥ ६१२ ॥

चित्रयोदया—घादो दवेज्ज अण्णो एसो भवेदन्थाः । जदि अण्णभि जिमिदम्मि संतम्मि । यत्तन्यस्सिअन्नुत्तपत्ति सत्ति । तो ततः । परववेत्तकदा सोधी परव्वपदेशकत्ता सुद्धिः । अण्णं वित्तेवेज्ज अन्तं विगोचयेव्व ॥

छत्रयेणदुट्ठालोपनाया नेप्पहयं दट्ठोतेन सुट्ठयति—

मूलाया—घादो रुत्ताः । जिमिदम्मि सुखवत्ति । संतम्मि सत्ति । परववेत्तकदा अन्यमुदिरयकत्ता । अयं-उपयुक्त दोषका द्वावत्त इम प्रकार है— यदि किसी अन्य मनुष्यके भोजन करनेपर उससे अन्य मनुष्यका पेट भरेगा तो दूसरेके नामसे किया हुआ आचक्षिप्त दूसरेको विमुक्त करेगा ऐसा मानना पड़ेगा।

स्वयोच्चार गथा—

तवसंसजमस्मि अण्णेण कवे जदि सुग्गदि लह्विदि अण्णो ॥

तो परववेत्तकदा सोधी सोविज्ज अण्णपि ॥ ५८८ ॥

संयमे वेत्तुतेऽन्थेन विमुक्तिं लभते परः ॥

परव्याजकृता शुद्धिस्तदा साधयते परम् ॥ ६१३ ॥

तवेव दृढवत्ति—

मूलाया—सुग्गदि सट्ठवत्तिम् ॥

अयं-तप और संयम भी अन्य स्वकीने किये जानेपर यदि अन्यही स्वकीको सुगविकी प्राप्ति होगी तो दूसरेके नामसे किया हुआ आचक्षिप्त भी दूसरेको दोषसे मुक्त करेगा ऐसा मानना पड़ेगा।

मयत्तण्हदो उदयं इच्छद् चंदपरिवेसणा कूरं ॥

जो सो इच्छद् सोधी अकंहतो अप्पणो दोसे ॥ ५८९ ॥

शुशेनिजं दोषममापमाणो दोपस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः ॥

मन्ये स तोयं मृगतृष्णकातो जिहृक्षतेऽज्ञं शशिविवतो वा ॥ ६१४ ॥

इति छलं दूषणम् ॥

विशयोदया—मयतच्छादो हयत्र पदचटनेत्यं । जो अण्णो दोसे अकथेलो सोधी इच्छइ सो मयतण्णावो उदयं इच्छइ, चंद्रपरिवेसने फूरं इच्छइ ॥ । य जातमनो दोयानमिषाय गुरूणां सुद्धिमिच्छति स मृगतुण्णात उदकं यांति, चंद्रपरिवेसादशनमिच्छति । निष्कल्लासाधम्योदयं इष्टान्तर्दाष्टान्तकमावः । छयं ॥

पुनस्तदेव समर्थको-

मूलात्—मिगतित्थावो मृगतुण्णातः । उदयं उदकं । चंद्रपरिवेसणे चंद्रपरिवेसात् चंद्राववादित्यर्थः । फूरं भक्तं श्रीचंद्रदिग्पदके त्वेवमुक्तं । ॥ कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा—चंद्रनामा सूरकारः परिवारादितो राक्षा निःसारितोऽन्यः कुतः । परिवारेण च राक्षा सह योजनं परिकृतं । एवमेकदा समायाते तस्मिन् राजनि भोषतुमुपविष्टे गगने चंद्रस्य परिवेषमा-लोक्ष्योक्तं लोकैरेव चंद्रस्य परिवेषो जात इति । एतच्छ्रुत्वा परिवारः सूरकारस्य राजकुले प्रवेक्षो जात इति मत्वा भोर्णुं मतवान् च फूरं प्राप्तवान् इति । गुरोरेमेप्रकाशवत् ॥

अर्थ—जो मुनि आपने दोषोंका विवेचन न करके उनसे मुक्त होना चाहेगा यह मृगतुण्णासे पानी प्राप्त करने की कोशिश करता है अथवा चंद्रके परिवेष्टसे अन्न प्राप्त करने की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिये। दूसरेके नामसे अच्छकरीत्या प्रायश्चित्त करना न्यर्थ है ऐसा इन दो दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है-

हर्षात् और दाष्टोन्निष्क इन दोनोंमें निष्कलताकी समाधना इस माथामें दिखाई दे, किसी राजाने चंद्रनामक रसोदया को अपने घरसे निकाल दिया, और उसके स्वात्ममें दूसरे रसोदयाको नियुक्त किया, तब राजाके साथ परिवारने बीमना छोड़ दिया, एक दिन राधा भोजनके लिए आया उस समय आकाशमें चंद्रको परिवेषयुक्त देखकर चंद्रका परिवेष्ट-प्रवेष्ट हुआ ऐसा लोगोंने कहा तब सुनकर परिवार भोजनके लिये आया परंतु उसको भोजन नहीं मिला, ऐसी कथा यहां समझनी चाहिये, यह कथा श्रीचंद्राचार्य के टिप्पनकमें कही है-

पवित्रयचाउम्मासियसंवच्छरिणसु सोधिकालेषु ॥

बहुजणसद्दाउल्लप्प कहेदि दोसे जहिच्छाप ॥ ५९० ॥

शब्दाकुले चतुर्मासपक्षवर्षक्रियादिने ॥

यथेच्छं पुरतः सुरंरालोचयति योज्यमः ॥ ६१५ ॥

विजयोदया—यस्मिन्मयात्ममासिप पक्षानतिवारशुद्धिकालेषु । यहुजयसाहाउलप बहुजनशान्दलंकेते । ज-
धिच्छाप दोसे कथेदि येच्छया दोपानात्मीयान्कथयति ॥

सङ्गुलनामिति सप्तमं आलोचनादोषं गायत्रयेणाह—

मूलाया—अहिच्छाप यमेच्छया ।

अर्थ—पार्श्विक दोषोंकी आलोचना, चार्मासिक दोषोंकी आलोचना और वार्षिक दोषोंकी आलोचना
सन यतिसमुदाय मिलकर जब करते हैं तब अपने दोष स्वेच्छासे करना यह बहुजननामका दोष है.

इय अव्वत्तं जइ सार्वेत्तो दोसे कहेइ सगुरुणं ॥

आलोचनाए दोसो सत्तमओ सो गुरुसयासे ॥ ५९१ ॥

अव्यक्तं वदतः स्वस्य दोपान्संक्लिष्टचेतसः ॥

आलोचनागतो दोषः सप्तमः कथितो जितैः ॥ ६१६ ॥

वितयोदया—जदि इय अव्वत्तं सार्वेत्तो दोसे कहेइ सगुरुणं यथेवमव्यक्तं भावयन्त्योपाकथयति स्वगुरुभ्याः ।
सप्तमो भालोचनादोसो । सप्तम आलोचनादोषः गुरुसयासे गुरुसमीपे प्रवृत्तो भवति ॥

मूलाया—सार्वेत्तो भावयन् ॥

अर्थ—यदि अस्मत् रीतिसे गुरुको सुनाता हुआ अपने दोष छुनि कहेया तो गुरुके चरणसन्निध
उसने सातवा शब्दाङ्कित दोष किया है ऐसा समझना.

अरहट्टघडीसरिती अह्वा तुंदलुदोवमा होइ ॥

भिण्णघडसरिच्छा वा इमा हु सल्लद्धरणसोधी ॥ ५९२ ॥

अरगतघटायंत्रसमां भिन्नघटोपमां ॥

तुंदरज्जुभिभामेनां शुद्धिं शुद्धिचिदो विदुः ॥ ६१७ ॥

इति शब्दाकुलो दोषः ॥

विजयोदया—अरुद्धदृष्टीसारिली अगतमयीसदृशी पूर्णोत्पण्णा । एवमपराचकयनं स्वपुरेण प्रवृत्तमेव
अप्रवृत्तमेव गुरुणा व्युत्तवत् । अरुणा बुद्ध्युदेवमा ह्येव यथा मयनचमणालिका इव, सा यथा मुक्तापि यज्ज्वाति
एतमिदं धादुमुल्लङ्घनमुक्तापि मायावात्यसहितेति यज्ज्वाति । विपद्यसदृश्या वा मिश्रवृत्तसदृशी वा यथा भिन्नो घटो
घटकार्यं जलधारणं अट्टावायने वा कर्तुमसमर्थ एवमिदमालोचना न निर्जितं संपादयतीति साधर्म्यं ॥ सद्वत्त्वपं ॥

सद्वत्त्वबोधोपहृष्टालोचनावैयर्थ्यं दृष्टानेन समर्थयते—

मूलाया—अरुद्धदृष्टीमरिली यथा जलसर्वघटिकाः पूर्णा अपूर्णा एवमपराचकयनं स्वपुरेण कृतमव्यक्तमेव
गुरुणाऽव्युत्तवत् । बुद्ध्युदेवमा मयनचमणालिकालुल्या । सा यथासुजापि यज्ज्वाति । एवमिदं दोषालोचना गुरु
कुह्यदुजापि मायायुक्तेति यज्ज्वाति । मिश्रवृत्तसदृश्या वा स्फुटितघटसदृशी । यथा भिन्नो घटो जलधारणाधिकार्यं कर्तुं न
शक्नोति वषेयं निर्जेरामिति साधर्म्यम् ॥

अर्थ—जैसे अगर्त घटीयंत्रमें लगे हुए बड़े जलसे भरे हुए भी अपूर्ण हो जाते हैं अर्थात् वे हमेशा
जलसे भरते हैं और पुनः रिक्त होते हैं वैसे अपराधोंका अपने मुखसे कथन किया तो भी कथन नहीं किये सारिला
हो जाता है- क्योंकि यहुतोंके शब्दोंमें उसके शब्द गुरु सुन नहीं सकते हैं- अथवा काष्ठको छिद्र पाहनेवाला वस्त्र
नामक वस्त्र हुआते समय दोरीसे मुक्त होकर भी बंधा रहता है- एक पांशसे उसको दोरी ढिली हो जाती है
परंतु दूसरी पाश उसकी उसी समय दोरीसे दृढ़ बंधी जाती है- इसे वह गूंथेसे अपराधोंका वर्णन बाहर पड़ता है-
तो भी अंतरंगमें माया शब्दसे सहित होनेसे कर्मबंध का ही कारण होता है- अथवा वह आलोचना फूटे बड़ेके
समान है- फूटा बड़ा जल लानेमें और जल धारण करनेमें असमर्थ है- वही यह आलोचना कर्मनिर्जरा करनेमें
असमर्थ होती है-

आचार्यपादमूले तु उवगदो वंदित्वा तिविहिण ॥

कोई आलोचक तु सब्बे दोसे जहावत्ते ॥ ५९३ ॥

चरिमक्तिभरानम्रः सूरिपादाम्बुजद्वयम् ॥

प्रणम्य भाषते कश्चिदपि सर्वं विधानतः ॥ ६१८ ॥

विज्ञेयोन्या—आययिष्यामले उवगढो आचार्यपाठसूत्रमुपगत' । तिविधेयं चेद्विदूष मतोवाणायशुद्ध्या च-
रता इत्या । कोऽपदिपत् । आलोक्तञ्च इ उदयेव । छन्दे दोषे नष्टावचे सर्वान्दोषान्स्थूलान्मुद्गांश्च यथावृत्तान्मनो-
याजायन्तिनान्तरात् इतकारितानुमतभिरगम् ॥

बहुजनमित्यष्टमालोचनादोषं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूढारा—जयावचे शबावृत्तात् । येन मनोवाक्कान्कुवकारितानुमतान्वयमेत शकारेण प्रयुक्तान् ॥

अर्थ—कोइ मुनि आचार्यके साक्षि जकार उनके चरणोंको मन, वचन और शरीर इनको शुद्धकर
नमस्कार करता है. तदन्तर मन, वचन, शरीरसे ऊँच, कारित और अनुमोदनके साथ स्थूल अथवा सूक्ष्म जो जो
दोष हुये थे उनका संपूर्ण कथन करता है.

तो वंसणचरणाधारएहिं सुचत्थमुव्वहंतेहिं ॥

पवयणकुसलेहिं जहारिहं तवो तेहिं से दिण्णो ॥ ५९४ ॥

तस्य सूत्रार्थदक्षेण रत्नत्रितयशालिना ॥

व्यवहारविद्या दत्तं प्रायश्चित्तं पयोचिन्म ॥ ६१९ ॥

विजरोदया—तो पस्वात् आलोचनोत्तरकाळ । वंसणचरणाधारएहिं समीचीनदर्शनधारिप्रधारणोपेत ।
सुत्तरयमुव्वहंतेहिं सूत्रार्थमुदहन्निः । पवयणकुसलेहिं सूत्रार्थमुदहन्निः । अस्मिन्मन्त्रेण 'प्रयचनकुशलैः' इति ।
अयमभिप्रायः—प्रायश्चित्तप्रवृत्तिः प्रयचनगम्यः तेन प्रायश्चित्तचक्रशोभेरित्यर्थः । अन्यथाव्यक्तो न इदमिति न ज्ञेयमयिद्वि-
षयः इति प्रायश्चित्तप्रवृत्तिः प्रयचनगम्यः । तेहिं तैः । से तस्मै । अपारिहं तवो दिण्णो अपराधानुरूपं तपो दत्तं । तपोप्राप्त्येन
प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं तेन प्रायश्चित्तं दत्तं इत्यर्थः ॥

मूलारा—तो आलोचनोत्तरकाळ । पवयणकुसलेहिं प्रायश्चित्तचक्रशोभैः । अन्यथाव्यक्तोपि प्रायश्चित्तसंज्ञानालो न
लोपयतीति प्राधान्यकदनार्थं अस्य प्रयचनगम्यं । तवो प्रायश्चित्तं । जवारिहं अपराधानुरूपं । तेहिं तैः प्रसिद्धैर्वर्माचार्यैः ।
से तस्मै ।

अर्थ—जब मुनि आलोचना समाप्त करता है तब सम्मदर्शन और सम्यक्चारित्रिके धारक, धूत्रार्थको
अपने हृदयमें धारण करनेवाले, और प्रवचनमें कुशल ऐसे आचार्य आलोचना करनेवाले को यथायोग्य प्रायश्चित्त

देते हैं, शंका सुश्राव्यके घारक इस शब्दका अर्थ प्रवचनमें निपुण ऐसा होता है तो पवयणकुसलो यह शब्द साधार्थमें व्यर्थ है।

उत्तर—यहाँ प्रवचन शब्दसे प्रायश्चित्त ग्रंथ यह अर्थ आचार्य को अभिमत है, छत्रशब्दसे प्रायश्चित्त शास्त्रके विना अन्य आत्र ऐसा समझ लेना चाहिये, अन्य शास्त्रों का ज्ञाता होकर यदि प्रायश्चित्त शास्त्रका ज्ञाता न हो तो वह प्रायश्चित्त नहीं दे सकता यह अभिप्राय यहाँ मुख्य है, उसकी सिद्धीके लिये यहाँ 'पवयणकुसलो' यह पद आचार्य महाराजने साधार्थमें जोड़ दिया है।

णवममभि य जं पुब्बे भणिवं कप्पे तद्देव ब्रह्महारी ॥

अंगेसु तेसस्पुसु य पइण्णए चावि तं दिण्णं ॥ ५९५ ॥

तेसिं असदहत्तो आहरियाणं पुणो त्रि अण्णाणं ॥

जइ पुच्छइ सो आलोयणाए दोसो हु अट्टममो ॥ ५९६ ॥

यत्कल्पव्यचहारार्णपूर्वादियुतभावितम् ॥

तत्तदालोच्य विधानेन दत्तं सूत्रपटीयता ॥ ६२० ॥

अत्रद्वाराय वचस्तस्य स यथा पृच्छते परं

आचार्यैः कथितो दीपस्तदालोचनगोचरः ॥ ६२१ ॥

वित्तयोक्षण—तेसिं तेषां । आहरियाणं आचार्याणां ब्रह्मणं । असदहत्तो अप्रदधाना । पुणो वि अत्रि पुनरपि यदि पृच्छत्यन्यतस्तौ । अट्टमगो भट्टोवणादौसो सोऽष्टमः आलोचनादौषः ॥

अत्रेयं गाथा सूत्रेष्टुश्रूयते ।

मूलाय—एतां श्रीवित्तको नेच्छति ।

मूलाय—स्पष्टम् ।

अर्थ—नौवा पूर्व प्रत्याख्यान नामका है उसमें प्रायश्चित्तका निरूपण है, अंगवत्तश्रुतमें कल्पनामक प्रकरण में प्रायश्चित्तका विचार किया है, वाक्यके अंगोंमें और प्रसीर्णकोंमें जो प्रायश्चित्त का निरूपण है उसके अनुसार आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं।

पंतुं उत्तरे दिये हुए प्रायश्चित्तमें अथवा न करके यह आलोचक युनि यदि अन्त्याका पूरणा अथाप
आचार्य महाराजने दिया हुआ प्रायश्चित्त योग्य है या अयोग्य है ऐसा पूछेया तो यह आलोचनाका बहुजन
पृच्छा नामक आठवा दोष होगा.

पणुणो वणो ससंछं जघ पच्छा आदुरं ण तावेदि ॥

बहुवेदणाहिं बहुसो तधिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ५९७ ॥

दोषावतीर्णोंडि दधानि पीडां परप्रकारेण विशोध्यमानः ॥

व्रणों हि शुष्कोऽपि करोति पाषां प्रचात्यमानः किमुनाचिपक्षः ॥५९८॥

इति भरिषरिदोषः ।

विनयोदया—पणुणो वणो प्रयुजं प्रणं । उपचितं । ससंछं शल्लघुसहितं । पच्छा पश्चात् । आदुरं व्याधितं ।
किमु न तावेदि । किमु न तापयति श्रापयत्येव । बहुवेदणाहिं यक्षीर्भियं दनाभिः । बहुसो बहुशः । तधिमा तथा इयं सल्लुद्ध-
रणसोधी भालोचनानुसृष्टि । मायश्चरणरित्यागेन छटा यतिशोभना सङ्कटा युक्तमायश्चिचारि शब्दालिशवस्त्रमधिकत-
त्याहुःरापादा । पणुजं ॥

पणुजनदोषपुष्टालोचनाया दुःसावहस्यं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूलाय—पणो उपरि रुद्रः । ससंछो अंतःकंडूदियुक्तः । ण तावेदि न कर्तव्यमिति ? । बहुसो बहुशः राक्ष । तधिमा

तथैवं मायावृणारित्यागेन छनेति संकटदोषापि गुरुतत्प्रायश्चित्तभङ्गानशम्यनुबिद्धत्वेन दुःसावहत्वात् ॥

अर्थ—निम्नमें फांटा रहा है ऐसा व्रण यह जाता है तब वह अनेक प्रकारकी वेदनाएँ उत्पन्न कर जीवको
जैना बहुत दुःख देता है. वैसी यह आलोचना भी जीवको बहुत दुःखदायक है. यह आलोचना माया और असत्य
भाषणमें रहित है. इसलिये यद्यपि अतिशय अच्छी मानी जाती है तथापि गुरुओंने दिये प्रायश्चित्त पर श्रद्धान न
होनेसे दुःखदायक है. इस प्रकार बहुजन नामक दोषका वर्णन हुआ.

आगमदो जो चालो परियाण व हवेज्ज जो चालो ॥

तस्स संगं दुच्चरियं आलोचेदूण वालमदी ॥ ५९८ ॥

आगमेन चरित्रेण बालो भवति यो यतिः ॥
तस्यालोचयतो दोषं स्वं दोषो नवमो मतः ॥ ६२३ ॥

विजयोदया—आगमनो बालो आगमेन ज्ञानेन वा बालः । परिपाएण न हवेज्ज बालो चरित्रबालो वा यो भवेत् । यः स तस्स तस्मै । स्वं दुर्यदिदं आत्मोपमतिकारं । आलोचयेदूण बालमयी उपधा बालदुग्धिः ॥

अथ नवममल्लकार्यमालोचनोदोषं याथान्येष न व्याचष्टे तत्रेते ह्यन्यां गाथाभ्यां दशमत्येकवावक्षिपति—
मूढारा—आगमदो भुवज्ञानेन । बालो छपु । परिपाएण चरित्रेण । जो गुरु । तस्स तस्मै । आलोचयेदूण

नियेय । बालमयी लोकरुग्धिः ।

अर्थ—जो मुनि आगमते बाल है अर्थात् जिसको आगमका ज्ञान नहीं है तथा जो चरित्रबाल है अर्थात् चरित्र भी जिसका श्रेष्ठ नहीं है उसको बाल कहते हैं ऐसे मुनिके पास आकर कोई अल्पज्ञानी मुनि अपने दोषों की आलोचना करता है,

आलोचिद्व असेतं सत्त्वं इदं मएचि जाणादि ॥

बालस्सालोचैतो णवमो आलोचना दोसो ॥ ५९९ ॥

निवेदितं मया सयं नासौ जानाति दूषणम् ॥

बिभ्राणयति मे शुद्धिं प्राणिधायेति मानसे ॥ ६२४ ॥

विजयोदया—आलोचिदं कथितं । असेतं सत्त्वं निरुदयेवं सत्त्वं । मतेवायस्सपल्लोऽतिचारः सर्वदन्वैन-
उच्यते । छत्रातिरादुमतविकल्पा अश्रेया इत्याचार्यते । मएचि जाणादि भयेति जानाति । बालस्सालोचैतो, ज्ञानबाला-
य च चरित्रबालाय वा कथयति णवमो आलोचनदोसो नवम आलोचनदोषः ॥

मूढारा—असेतं कृतकारितानुमतविकल्पं । सत्त्वं ममेवाककायकृत् दूषणं । बालस्स ज्ञानबालाय चरित्रबा-
लाय वा गुरवे । नवमो बालो बालाबालोचनमया सर्वमालोचितमिति नवज्ञानीते सोऽन्यको नामालोचना दोषो
भवतीति सम्बंधः ।

अर्थ—और मैंने इसके पास संपूर्ण अपराधों की आलोचना की है मनु, वचन, कायसे और कृत, कारित

अनुमोदनसे किये हुए अपराधीकी भेने आलोचना की है ऐसे जो समझता है उसकी यह आलोचना करना नैवे दोषसे दृष्ट है. प्रानपालको और चारित्रवालको अपने अपराध कहना यह नौवा अव्यक्त नामक दोष है.

कुट्टाहिरणं जह् गिच्छएण दुज्जणकदा जहा मेची ॥
पच्छा होदि अपत्थं तधिमा सद्धरणसोधी ॥ ६०० ॥
इदमालोचनं दत्ते पञ्चात्तारं वुरुणरं ॥
बुट्टानामिष सांगत्थं कूटं स्वर्णमिवाधवा ॥ ६२५ ॥

इति अव्यक्तदोषः ।

पिज्जपोषणा -- कवचं । कुट्टाहिरणं जह् पच्छा अपत्था गिच्छएण होदिस्ति पदवटना । यथा कुट्टाहिरण्यं धन-
मिति गृहीतं पचापपाप्यं निरुपगतो भवति अभिमतद्वयग्रहणे अनुपायत्वात् । यदपि इयमपि वालस्य क्रियमाणालो-
चना स्वरूपप्रापयदिवचमासीत् अनुपायत्वात् सट्टसी । ज्ञानवालाः परायणयोगप्रापयदिवचं दातुं न क्षमः । दुज्जणकदा य
मेची जहा पच्छा होर अपत्थं इति संबंधः कार्यः । दुर्जेने कृता मेची यथा न पत्थं, दुःखं प्रयच्छतीति एवं चारित्रवालस्य
संप्रमोभयविकरस्य कृतापि प्रापयदिवत्तात्तात्तममूला धनेकानर्थावहेति भावः ॥

मूलात् -- कुट्टाहिरण्यं कूटकं सुवर्णं । पच्छा पश्चात् । पच्छाकाळे । अपच्छं दुःखकारणं । यथा कुट्टाहिरण्यं
धनमिति गृहीतं पचापपाप्यं निरुपगतो भवति । अभिमतद्वयग्रहणे अनुपायत्वात् । एकथियमपि वालगुरोस्मै क्रियमाणा
लोपना अनुरूपप्रापयदिवत्तात्तात्तममूला धनेकानर्थावहेति भावः ॥

अर्थ -- जैसे कृत्रिम सुवर्ण धन समझकर ग्रहण किया परंतु कार्यकालमें उसका उपयोग नहीं होता है.
अर्थात् वाजार में शिञ्जत वास्तु लेने के लिये उसको बेचनेका विचार किया तो कोई भी उसको स्वीकारेगा नहीं
जिससे शिञ्जत वास्तु मिलना अशक्य होता है. वैसे वालमुक्तिके पास जाकर आलोचना करने पर भी दोषानुरूप
प्रापयित्त नहीं मिलेगा. जिससे कर्मनिर्जरा होना असंभव है, जो ज्ञानवाल है वह योग्य प्राशस्तिक नहीं दे सकता
है. दुर्जेन के साथ यदि भेत्री की तो वह वैसी प्रसंग पटनेपर दुःखदायक ही होती है. प्राणिसंयम अथवा इन्द्रिय

संयम जो पूर्णतया पालन नहीं करता है उसके पास दोषोक्ती आलोचना करनेसे उसके अतुरूप प्रायश्चित्त नहीं मिलता है और वह आलोचना अनेक अनर्थ को उत्पन्न करनेवाली होती है.

मुद्राराधना

८०१

पासत्यो पासत्यस्स अणुगादो दुक्कळं परिकहेइ ॥

इसो वि मज्झसरिसो सब्बत्यवि दोससंचइओ ॥ ६०१ ॥

पार्श्वस्थातां निजं दोषं पार्श्वस्यो भाषते कृषीः ॥

विचित्तो निचिन्तेदोषेरेयोऽपि सहस्रो मृगा ॥ ६२६ ॥

विज्रयोपया—पासत्यो पासत्यस्स अणुगादो दुक्कळं परिकययति । एसो वि एयोऽपि । मयकसरित्तो मत्सदृशः । सब्बत्य वि सर्वव्यपि महेसु दोससंचरओ दोषसंचयोपतः ।

हरछेपेति प्रामाणिकतामेवं गाथापेक्षेन कृपापेक्षे । वज्र विस्तृभित्तस्य लक्षणं द्वाभ्यां च सेपमाह—
मूलादु—मृगसंख्येयं दृष्टक्षणापर्यन्तस्थानसमकुशीलसंज्ञकमगवतिजानमेकतृप्तः । अणुगदो विनीतः घनः ।

दुक्कळं दूषनरितं इयं । सुवत्स्य वि सर्वव्यपि हेतुः । दोससंचरिगो दोषसंचरणोचतः ।

अर्थ—पार्श्वस्थ भूमि पार्श्वस्व भूमिके पास जाकर उसको अपने दोष कहता है, क्योंकि यह भूमि भी सर्व वस्तुमें भोग्य समान दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा वह समझता है.

जाणादिं मज्झ एसो सुहसीलत्वं च सब्बदोसे य ॥

तो एतं मे ष दाहिदि प्रायच्छित्तं महच्छिति ॥ ६०२ ॥

जानीते मे यतः सर्वा सर्वदा सुखदीलताम् ॥

प्रायश्चित्तं ततो नैप महास्थिति निश्चितम् ॥ ६२७ ॥

विजयोपया—एसो मज्झ सुहसीलत्वं जाणादि एष मम तु प्राप्तव्यत्वं वेत्ति । सब्बदोसे य जानाति सर्वदोषं च । तो एतं मे न दाहिदि एष मे न दास्यति । महत्स प्रायश्चित्तमिति महत्यागद्विचिन्तयि मया कथयतीति स्वरूपः ।
मुद्रारा—सुहसीलत्वं तु प्राप्तव्यत्वं । महच्छिति महद्विधि परिकययतीति संबंधः ।

अर्थ—यह मुनि मेरे सुखिया स्वभावको और त्योंके अतिचारोंको जानता है, इसका और मेरा आचरण समान है, इसलिये यह मेरेको बड़ा प्रार्थयित न देगा ऐसा विचार कर वह पार्थस्य मुनि गुरुको अपने अतिचार कहता नहीं और समानशीलको अपने दोष बताता है।

आलोचिदं असेसं सब्बं एदं मणुसि जाणादि ॥

सो पवयणपटिकुद्धो दसमो आलोचणा दोसो ॥ ६०३ ॥

एतस्य कथने शुद्धिः सुखतो मे भविष्यति ॥

अयमालोचनादोषो दशमो गदितो जिनैः ॥ ६२८ ॥

पिउयोदया—स्वर्णार्णो ।

मूला—मदति अयमिति भिन्नप्रकृत्यः तेन जललीति च मत्वा परिकल्पयतीति संबंधः । सो प्राणुजलक्षणाः

पवयणपटिकुद्धो जागमतिपिद्धः ॥

अर्थ—यह पार्थस्य मुनि को हुए तू पूर्ण अतिचारोंका स्वरूप जानता है ऐसा समझकर अतः प्रार्थोसे प्रार्थयित लेना यह जागमतिपिद्ध दशवा तत्सेवी नामका दोष है।

उत्तरा गाथा—

जह कोइ लोहिदकयं वत्थं घोवेज्जं लोहिदेणेव १

ण य तं होदि विमुद्धं तथिमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०४ ॥

उक्तो दोषः सवोपस्य सवोपेण न नाइयते ॥

रक्करत्तं कुतो वज्जं रक्केनैव विशोधयते ॥ ६२९ ॥

विजयोदया—जह कोइ लोहिदकयं करोति फियसागान्यवाची इह उपे वर्तते तेनाप्यर्थः—यथा कश्चित् लोहितेन दित्तं पथं । घोवेज्जं प्रक्षालयेत् । लोहिदेणेव लोहितेनैव । ण य तं होदि विमुद्धं नेतद्भवति विमुद्धं । तथिमा सल्लुद्धरणसोधी आलोचनाशुद्धिः दोषं न निरस्यति । तद्विलक्षणं वस्तु यथा निर्मलजलं पक्वं वस्त्रस्य न तु लोहितेन लिप्तं

वर्जं शोधयति तयाभूतमेव द्योहितं । पवमनीचाराशुद्धिं अशुद्धत्वं त्वन्योदेयमवृत्तेः अशुद्धालोचनया नमिराक्रियते इति साधर्म्यमिषोक्तम् ॥

मूढारा—लोकहितं कश्चिरेणास्मिं । करोतेः क्रियासामान्यत्वाच्चित्तेन लेपनेऽपि वृत्त्यविरोधित्यात् । तद्विमा स्वयं वृष्टेनान्वस्य दुष्टैर्निगर्तुमशक्यत्वादिति सामर्थ्यम् ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रक्तसे भरा हुआ वह रक्तसे ही घोने लगजाय तो वह कभी विशुद्ध नहीं होगा अशुद्धही रहेगा वंसा यह आलोचना दोष है, अर्थात् यह दोष अतिचारसे आत्माको विशुद्ध नहीं बना सकेगा। रक्तसे उलटा पदार्थ पानी है, वह स्वयं स्वच्छ है अतः रक्तसे मरे वस्तुको यह स्वच्छ करता है, अथवा वस्तुको लगा हुआ कीचड़ घों डालता है, परंतु रक्त रक्तसे लिस हुए वस्तुको कभी भी शुद्ध नहीं कर सकेगा, उसी तरह अशुद्ध रत्नत्रयमाला गर्भस्थ मुनि अशुद्ध रत्नत्रयमाले मुनिके अतिचारोंका निराकरण करनेमें समर्थ होता नहीं।

पवयणणिहृवयाणं जह दुष्कडपावयं करैताणं ॥

सिद्धिगमनमहदूरं तद्विमा सल्लुद्धरणसोधी ॥ ६०५ ॥

जिनेशवाक्यप्रतिकूलचित्ता यथा चिसुक्तिं वचयंति पूताम् ॥

तथा विशुद्धिं क्षुधयो बवंतो दोषाकुलानां निजदूषणानि ॥ ६३० ॥

इति तत्समः ॥

विजयोद्या—पवयणणिहृवयाणं जिनेशवीतवचनमिहवकारिणां । दुष्कडपावयं करैतावे दुष्करपापकारिणां । जह सिद्धिगमनमहदूरं यथा सिरुगमनमतिदुष्करं । तस्सेधी बवं ॥

मूलारा—पवयणणिहृवयाणं आगम्यपन्देवुणां । अदिदूरं अविधिप्रकृष्टं । अमन्यपेक्षया अनंतकलेनाव्यसंभवि ।

अर्थ—जो मुनि जिनेशके कड़े हुए आगमके वचनोंका लोप करते हैं और दुष्कर पाप करते हैं उनको मोक्ष की प्राप्ति जैसी अनंतकाल व्यतीत होनेपर भी होती नहीं वैसे जो अन्वयसहित आलोचना करते हैं उनको मोक्षप्राप्ति अत्यंत दूर है।

सो दस वि तदो दोसे भयमायसोसमाणलज्जाओ ॥
 निज्जुहिय संसुद्धो करोदि आलोयणं विधिणा ॥ ६०६ ॥
 हित्था दोयान्दशपिति त्यक्तमायामवाविकाः ॥
 स विनीतमनाः सुरेरालोचयति यत्नतः ॥ ६०७ ॥

विजयोदया—सो क्षणकः । तदो ततः आलोचनया दुष्टया सुदूरभावात् । दोसे निज्जुहिय दोपास्त्यक्त्वा । दस वि दशपि । भयमायमोसमाणलज्जाओ भयमाया मनोयतां युवा वचनमार्ता, मार्त लज्जां व द्युपत्त्वा संशुद्धो सस्यन् मुक्ता । विधिना आलोयणं करोदि । विधिना आलोचनं करोति ॥

एवमालोचनाया इत दोपान्वाल्याय वस्यागं प्रकृते योजयमाह—

मूढार—सो निर्वापकाचार्यपरमूलोगवितः क्षणकः । तदो दुष्टालोचनादुदधसामर्थ्यात् साया मनोवचनं

मोसं वाग्बर्त्ता, । निज्जुहिय दोषान् भयार्द्रात् त्यक्त्वा ॥

अर्थ—इस लिये क्षणकशुनि आलोचनाके दस दोषोंका भी त्याग कर आलोचना करो. क्यों कि इमित आलोचना आत्मानो छुद् करनेमें असमर्थ है. अथ, माया कष्ट, असत्य भाषण, गर्व, और लज्जा इनका भी त्याग कर शस्त्रोक्त विधीसे आलोचना करना क्षणकका कर्तव्य है.

तोऽसावालोचनाविधिरित्याशङ्क्याह—

णट्ठन्नल्लयलियगिहिभासमृगददुरसरं च मोचूण ॥
 आलोचेदि विणीदो सम्मे गुरुणो अहिमुहत्थो ॥ ६०७ ॥
 गृहस्थवचनं मुत्त्वामौनं च करमर्त्तनम् ॥
 सम्पक्कमुत्तपपा वाचा वकि दोयान्युरोपुरः ॥ ६०८ ॥

विजयोदया—णट्ठन्नल्लयलियगिहिभासमृगददुरसरं च हस्तमर्त्तनं, भक्ष्येयं, नखनं माप्रस्य, वल्लितं, गृहिवचनं, मृगवत्संवाकरणं, घोरस्वरं च मुक्त्वा आलोचेदि कथयति । विणीदो कृताञ्जलिपुटोऽवततश्चिरस्कः । अद्दुदं अद्दुतं । अवि-
 लंसितं । स्पष्टं । गुरुणो अहिमुहत्थो घुरोरेभिमुपः ॥

मूलरा—लट् हस्तनर्तनं । लल्ल लल्लेपं देहकर्म च । वल्लिद गान्धर्मोदृतं । मूल मूलवत्संज्ञाकरणं । दुरुरसरं धर्मरत्नं, दधे. स्वरं वा । विणीदो क्खाञ्जल्लिपुडोञ्जवतिशिरस्सो हस्तमागत्यकगुरुभूमिदेसख । अदिमुद्धवो मुटोममवाधोवणेण अभि-
मुत्तं गवासेनोपविष्टः । २०६ च—

मूकसंज्ञागवलेन धूक्षेपं हस्तनर्तनं । शुद्धिणां वचनं नैव तथा शब्दं च वर्धनं ॥ १ ॥ विमुञ्चयामिमुत्तं स्थित्वा ।
गुरुणा गुणधारिणां ॥ स्वापराध समानष्टे विनयेन समन्वितः ॥ २ ॥

अर्थ—हाथोंका अभिनय करना, भोंहोंमें ऊपर उठाना, शरीर हिलाना, शरीरको मूडना, गृहस्थके समान लट्ठ भाषण करना, शृंगेके समान संज्ञा करना, धर्म स्वरसे बोलना, इत्यादि दोषोंका त्याग कर आलोचना करनी चाहिये. अर्थात् नम्रता पूर्णक हाथ जोडना, भस्त्रक नम्र करना, अति क्षीय अथवा अतिचिंतवका त्याग कर गुरुके तरफ अपना मुह करके आलोचना करनी चाहिये. एक हाथके अंदर पर गगलनसे बैठकर आलोचना करनी चाहिये.

पुढविदग्गागणिवणो य वीयपत्तेयणंतकाए य ॥

विगतिगचतुपंचिदियसंचारं अणेयविहं ॥ ६०८ ॥

एकस्त्रिभिंचंतुःपंचहृपीकांगिचंराचने ॥

असुन्दतवचस्तेयमिधुनंअयसेचने ॥ ६३३ ॥

चित्रयोवया—पुढविदग्गागणिवणो ॥ पुढिव्यामुद्धेज्यो एवमे च । वीयपत्तेयणंतकाए य वीये प्रत्येककाये वनस्पती । विगतिगचतुपंचिदियसंचारं ॥ विगतिगु पंचिदियसत्त्वविषये चारंमे अयेमविषे अनेकप्रकारे । पुढिव्या मुत्ति-
कोपलशर्कपासिक्तालयणाश्रकमिरयाविकायाः कननं, चिल्लनं, वहनं, कुट्टनं इत्यादिरुयादग्मः । उदककरकावश्यप
गुपारादीनां अग्नेदानां पान, स्नानप्रवाहनं, तरणं हस्तेन, पादेन, गात्रेण वा मर्दनं इत्यादिकं । अग्नेज्यालः, प्रदीप,
उत्तुर्गर्क इत्यादिकस्य तेजसः उपर्युद्धस्य, पापणस्थ, मुत्तिकायाः सिक्ताया वा प्रसेपणं, पापणकाष्ठदिभिर्देननं इत्यादिकं ।
शंशान्दल्लिमादी वायौ पाति व्यजनेन, तालवृत्तेन, दूर्गेण, चेष्टादना वा समीरणोत्थापनादिक. वाते पाभिगमनं, वीजानां
प्रत्येककायानां अनंतकायात्रां च वृक्षवल्लीमुत्सस्ततावृणुपफलादीनां दहनं, छेदनं, मर्दनं, पंचपं, भस्त्रणमित्यादिकः ।
ईभिन्द्रियादीनां मारणं, छेदनं, ताडनं, पंचपं, रोचनमित्यादिकं ॥

आजोचं गगचतुष्टयेनलोचनाधिपिपिपवीकृत्यमाह—

मूलाद—युद्धि युधिषीकायिकाः । अगणि तेजःकायिकाः पवणेषु वातकायिकाः । दीज दीजमूला वनस्पति-
कायिकाः । एवं पतेयं प्रत्येकांगाः । णंतकाये अंतकायिकाः साधारणांगाः । विगेत्यादि स्त्रिचतुःपंचद्वित्रयसत्वानामारंभे
विराभने । एतद्विद्युत्तयादिभिरपि योक्तं । अणेषुविभे अनेकप्रकारे । तथा हि—पृथिव्या मृत्तिकोपलक्षणासिक्कावलयज-
आयिकायाः लूननविलेखनरहनकुट्टनमंजनादिक आरंगः । खड्ककरकावययुत्तारादीनामभेदानां पाननानावगाहन
तरणरस्तादिनर्नादिकः । अभिज्वालाप्रदीपोगेत्युकादिकस्य तेजसः संपूर्णकपापयमृत्तिकासिक्काविक्षेपणपायाग
काष्टादिहूननादिकः । क्षत्रावैलिकादिवातस्य कपाटछात्रादिना प्रतिबंधः । व्यवजनाविना या सस्य करणं क्षातेवाभि-
गमदक्षित्वादिष्वो वायुभेदानां । पृथ्वहीलतागुल्मगुणपुष्पफलादीनां रहनछेदननाजनबंधरोचनादिकः ।

अर्ध—पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा, धूलि, अनंतकायिक वनस्पति, प्रत्येककाय वनस्पति, इंद्रिय, त्रैद्विय,
—संज्ञिका इन एकिकोंका यद्यदि भेसे हुआ होगा तो नै उस की आलोचना करता है.

पटुतादिप्रिय, पञ्चाक्षर्य इन प्राणआका बच बाद भारत हुआ है। न उत का आलोकन कर रहा हूँ।
पृथिवीके अनेक प्रकार हैं- जैसे-युसिका, पापाण, शर्का, बाछका, नमक, अन्नक वगैरह पृथ्वीके भेद हैं।
हत्यादिरूप पृथ्वीको तोदना, हलसे विदारण करना, मोदना इत्यादिरूप से मैंने उनका नाश किया होगा।

पानीके भी बहुत भेद हैं जैसे-पानी, बर्फ, ओस, हिमबिंदु औरह पानीके भेद हैं। इनका पान करना, स्नान करना, उसमें कूदकर स्नान करना, तीरना, हाथ, पाँव, और शरीरसे मर्दन करना इत्यादिरूपसे भी उनका नाश किया है।

अग्निके ज्वाला, दीपक, उत्सुक इत्यादि भेद हैं। इनके ऊपर मैंने पापण, मुषिका अथवा बाहुका फेर-
कर इनको नाश किया होगा। पापण और लकड़ी से उसको पीटा होगा। इत्यादिरूप आरंभ मैंने किया होगा।

बायुके संज्ञावात, मंदलिक एंस भेद हैं. जलश्रष्टि सहित जो वायु बहती है उसको शंज्ञावात कहते हैं. जो चर्तुलाकार अमण करती है उसको मंदलिक वायु कहते हैं. इस प्रकार बहनेवाले वायु को मैंने पंचमे, क्षुपसे और वस्त्रसे रोका होगा, उसको उत्पन्न किया होगा, वातेके सम्मुख गमन किया होगा.

यनस्पती—बीज, अनंतकारिक, प्रत्येककारिकदृष्ट, वल्ली, छोटे छोटे पेदाका समूह, लता, तुण, तुण, फल

धर्मोदय वृत्तस्य के भेद हैं. इनको मने बलाया है, तोडा है, छेदन किया है, मर्दन मोटना खाना धर्मोदयसे इनका मने धारण किया है,

द्वंद्विय, त्र्यंश्रिय, चतुर्द्विय इन ग्राणिओका मने छेदन किया है. उनको बांधा है. रोका है और वादन किया है इत्यादि रूप आरंभ मने किये हैं.

विद्वोवधितेज्जाए गिहिमचणितेज्जवाकुसे लिंमे ॥

तेणिककराइमचे मेहूणपरिग्गहे मोसे ॥ ६०९ ॥

दर्शनज्ञानधारिततपसां प्रतिक्कुलने ॥

उद्गमेत्तपावनाहारदूषणानां निषेवणे ॥ ६१४ ॥

विजयोध्या - विद्वोवधितेज्जाए सिंहे, उपकरणे, वस्तुतो च उद्गमोत्पादनैवणवाजाविचारः । गिहिमचणितेज्जवाकुसे लिंमे । गृहस्थानां भाननेषु कुंभकरणशरावादिषु कस्यचिद्विशेषणं, तेषां कस्यचिद्वस्त्रं धारिमात्रिचारः । गुह्य-सिलेख्यत्याज्योचयितुमशक्यत्वात् पीठिकावासांसां, यदयथा, मंचे या आसनं निषेच्यते । पीठिकादिव्यनेकचिह्नान् कुलाहं कुंभेय्या । प्राणितो वधाय नापठ्यं उपयते । ततोऽदिसामताविचारः । तथा चोक्तं - पीठिकासंयत्ने मंचया साधये तथा । अणाचरितमन्त्राणं आसिद्धं सार्द्धं पि वा । गंधीरवासिणो पात्रा नुयेकसा दुर्विचिचया ॥ सम्राट् दुप्यवि लेहं च वज्राय पठयन्मय ॥

उपवेशनं यथा गोखट्याग्रिष्ठस्य गृहेषु भिगया कस्तव शेष इति केचिद्गृह्यचर्यस्य विनाशः । स्त्रीभिः सह संयासात् । असकृत्सवीयकुचतटविषाधरादिसमवलोकनाद्गोत्रनाशिन्यां च विरक्तः । कथमिव वसितमीये भुजिक्रियां संपादयाम् । नमुचि देवं धैरकथमस्यामासंघां तु तावदमी इति कुप्यन्ति वा गृहस्थाः । किमर्थमयमत्र दाराणां मध्ये निषण्णो यति कुंभे न धातीति । स्नानमुत्तर्जनं, गन्धक्षालनं च वाकुसमित्युच्यते । स्नानेन उष्णोदकेन शीतजलेन सौवीरकादिना वा विलस्य घात्रीधुविविधस्याः इतरेऽपि स्वल्पकायाः कुशुभिर्पीठिकादयो वा नश्यन्ति । तथा चोक्तं -

सुहृन्मा संति पात्रा सु पासेषु न विलेप्य वा ।

सिण्हायति यतो भिषक् सिफट्टेणोपपीड्य ॥

वा सिण्हायतो तद्वा ते सीदुसण्णोदगेण वि ।

जायजीव वदं घोरं अण्णाणममचिह्दं ॥

छोदगंधादिना उद्धर्तनं च नाचंति । लिगविकारागशब्देनोच्यते । शेषिकारादिभस्ते

अदत्तानं रात्रिगोत्रं च । पदस्तादने छते तत्सामिनि प्राणानहार एव हुतो भवति । वहिद्वराः प्राणा घनानि प्राण-
भृता राजानो दृढयन्तीह । राजा ॥ मोक्षं अनेनासंयमयुल । रात्रौ अनेने पदवीवनिजायवाचा । अयोग्यस्य प्रत्या-
रथास्य च भोजन । दाहपरीक्षसमय । कस्य, माङ्गनाच्छिद्यविषतनदेष्टस्य, दायिकागमनमार्गेस्य तस्यात्मनदाव-
स्थानदेशस्य अपरीक्षा । मेरुणपरिगृहे चैव मैथुन परिग्रह्येव । मोक्षे दृष्टा च ॥

मूलाया — पिंडोवधिसेव्याए आहारे उपकरणे वसती वोद्वयादिरतिचार । मिद्विचा गृहिणामन्त्रेषु मान-
नेषु कुंभकरकरावस्थि कस्यचिज्जलमस्मादिदम्यस्य निक्षेपणं वैर्ब कस्यादिदानं चारित्रादिचारः तेषा दुष्प्रवित्ते-
रेस्तात् शोधयितुमशक्यत्वाच्च । भिक्षेज्ज निषद्या पीठिकायां अंसयां सदाया मंत्रके वा आसनमित्यर्थः । तेषु हि अनेक-
छिद्राकुलेषु प्राणिनो शुनैरेत्या दद्या वा नापनेतुं शक्येरन् । तन्नोऽहिंसाव्रतातिचारः । अथवा गोचरजडस्य गृहेषु
प्रवेशनं निषया । तन्न हि प्रसवर्चस्य विनाशः, स्त्रीभिः सह संवास्तात् । मोक्षनार्थिनां शुभ्रिचिवांतरायकरणादुद्देशः क्रोधा-
दिसंक्लेशः स्यात् । बाहुके स्नानमुद्धर्तनं गायत्र्याजनं च बाहुकस्मिन्निशमिधीयते तैर्हि शुभ्रिंधादिस्थाः स्वदेहस्याहव
प्राणिनो विनश्यति । छिगे छिगपिकासाविक्रिया तात्त्व्याह्निगशब्देनोच्यते । वेनिकक चौर्य । रात्रिभेदे रात्रिमोक्षने तद्वधने-
कासंयमयुलं पङ्क्तौबिनिकोवयथात् । तत्कारिणां पायोग्यस्य प्रत्याग्यादस्य च भोक्षनं बहिः पात्राविस्थापनप्रदेशपात्रका
गन्तमागस्तावर्धमानैशानां बाडपरीक्षा ।

अर्थ — पिंड-आहार, उपकरण और वसतिका इनको स्वीकार करते समय मेरेसे उद्गम, उत्पादन एवम्
वरीरह दीप उत्पन्न हुए होगे।

गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, बर्तन, कूक-कर्मबल, धारम वगैरे पत्रोंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ
रखते होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्रातिचार हैं; क्यों कि ये पदार्थ अंदरसे स्वच्छ करना कठिन है,
छोटी चौकी, वेत्रासन, खाट, फलंग इनके ऊपर बैठना इसको निषधा कहते हैं-

चौकी वरीरह पदार्थोंमें अनेक छिद्र रहते हैं और उसमें जो प्राणी रहते हैं वे दीखते भी नहीं। यदि
दीर्घ भी तो उनको निकाल नहीं सकते। इसलिये ऐसे चौकी वरीरह पदार्थोंपर बैठनेसे अहिंसाव्रतमें अतिचार उत्प-
न्न होते हैं। यही अभिप्राय अन्य ग्रंथोंमें भी कहा है—

अथवा आहारके लिये श्रावकके घरमें जाकर वहां बैठाना यह भी अयोग्य है, स्त्रियोंके साथ सहवास
होनेसे नजचर्यका नाश होता है, वारंवार स्त्रियोंके स्नान, अधरोष्ठ वगैरह अवयव देखनेसे कामजन् उत्पन्न होता

है, जो भोजन करना चाहते हैं उनको भी विग्र उपस्थित होता है, मुनि के सन्निध आहार लेनेमें उनको संकोच होता है अथवा उनको उद्वेग ओषादिक विचार उत्पन्न होते हैं, यह आमन अपवित्र है तो भी ये इसपर कैसे धैर्य हैं ऐसा विचार मनमें उत्पन्न होनेसे ये कोपयुक्त होते हैं, ये यति विद्यार्थी कीचमें क्यों बैठते हैं यहां से क्यों अपने स्थानपर जाने नहीं।

स्नान करना, उग्रद्वन लगाना, शरीरके अवयव घोंना इन क्रियाओं को 'वाकूस्त' कहते हैं, ठंडे पानीसे अथवा उष्ण पानीमें, नेत्रमें अंजन लगाना, शरीरपर उग्रद्वन लगाता इन क्रियाओंसे शरीरपर रखनेवाले प्राणी मर जाते हैं तथा विद्वत्में रहने वाले प्राणी, जमीन के छोटे छोटे छोटों में रहने वाले चट्टी पत्थर कीचमें रहते हैं, इसलिये स्नान मुनि-ओंको निषिद्ध माना है, मुनियोंको आभरण यह चोर घन पहनना चाहिये, आभरणमें भी यही अभिप्राय लिखा है, लोभ परैरह मुनधी यदायोंका उग्रद्वन शरीरपर मुनि नहीं लगाते हैं,

लिंग विकासनाक्रियाको लिंग कहते हैं, इसका मुनित्याग करते हैं, न दिया हुआ पदार्थ लेना और रात्रि भोजन इसका मुनिओं को त्याग रहता है न बी भुज्ज लेना मानते उस वस्तुके मालिकका प्राण ही लेना है, घन प्राणीओंका प्राण प्राण है, जो दुसरोका घन हरण करते हैं राजा उसको दंडित करता है, राजा भोजन करना अनेक अंगों का मूल कारण है, राजमें भ्रमण करने से स्थावर और अस्र जीवों को बाधा पोहोचती है, राजा भोजन करने में अयोग्य पदार्थ, और त्याग हुआ पदार्थ का भी सेवन होता है, रात्रिकालमें दाताकी परीक्षा नहीं हो सकती है, राजा अपने हस्तपुत्रसे भोजन करते समय जो अन्न नीचे जहाँ गिरता है वह भूयदेश, जहाँ जन्नकी म्पत्ती रहते हैं वह प्रदेश और दायक जहाँसे आफर आहार देता है वह प्रदेश, आहार देते समय वह जहाँ लड़ा होता है वह प्रदेश और स्वयं मुनि जहाँ लड़ें हुए हैं वह प्रदेश ये तीनोंसे रहित है या सहित हैं इनका निर्णय रात्रमें नहीं होता है, इस वास्ते राजा आहार लेना योग्य नहीं है, मनुष्य करना, परित्यज रहना, शूद्र चोलना इनका मुनि त्याग करते हैं,

प्राणे दंसणतव्वीरिये य मणवयणकायजोगेहि ॥
कदकारिदेणुमोदे आदसपओमकरणे य ॥ ६१० ॥

विज्ञानोदया—भाषे दाने । इंसणतयलीरिए श्रद्धायां तपसि चीर्ये च योऽतिचारः । मणतयकायजोगेहि मनो-
वाक्कायक्रियाभि । मनसा सम्मग्यानस्यावयवा, किमनेन ज्ञानेन, तपश्चारित्र्यमेव फलदाय्यनुष्ठेयमिति । सम्मग्यानस्य वा
मिथ्याज्ञानमिदमिति दूषणं । मनसा वाचा कायेन वा स्वास्त्रिप्रकाशनं, सुखवैषम्येन नैतदेवमिति शिरःकण्ठेन वा ।
संरुपांक्षादि दर्शनेऽतिचारः । तपस्यसंयमः । चीर्ये स्वशक्तिगहनं । स पातीचारः सर्वस्वप्रकार इति कथयति । कद-
चारिदे अयुमेदे कृत, कारितोऽनुमतञ्च । चादपरपञ्चयोगकरणे य आत्मनैव कृत. कारितोऽनुमतञ्च, परप्रयोगक्रियया कृतः
कारितोऽनुमतो वा ॥

मूढारा—भाषे इत्यादि । सम्मग्यानस्य किमनेन तपश्चारित्र्यमेवात्मिकफलदाय्यनुष्ठेयमिति मनसाचङ्गा, मिथ्या-
ज्ञानमिदमिति वाचा, कायेन च सुखवैषम्येनावधिप्रकाशनं । शिरःकण्ठेन नैतदेवमिति वाचिचारः । दर्शनादीनां च प्राप्ति-
का एव । आदपरपञ्चयोगकरणे आत्मना परेण वा कृतः कारितोऽनुमतञ्च ॥

अयं—ज्ञान, दर्शन, तप और चीर्य इनमें मन, चक्कन और क्षीरसे और कृत, कारित, अनुमोदनसे अतिचार
उत्पन्न हुए हैं तो उनकी आलोचना करता हूँ. मनके द्वारा सम्मग्यानकी अवज्ञा करना, सम्मग्यानकी क्या जरू-
र है, तप और चारित्र्यही फलदायक है. उनका ही आश्रय करना चाहिये. अथवा सम्मग्यानको यह सिध्याज्ञान
है ऐसा दूषण लगाना. मनसे, चक्कनसे और क्षीरसे सम्मग्यानके विषयमें अरुचि प्रगट करना, मुँह मोड़कर अथवा
मस्तक हिलाकर यह सम्मग्यान नहीं है ऐसा प्रगट करना. ईश्वर, सर्वार्थ शरीरह सम्मग्यदर्शनके अतिचार हैं.

तपश्चरण करते समय अस्वयंरूप प्रवृत्ति करना, तपका अतिचार है. अपनी शक्ति छिपाना वीर्यका
अतिचार है ये अतिचार कृत, कारित और अनुमोदित ऐसे तीन प्रकारके हैं. स्वयं करना, स्वयं कराना और
अनुमोदन देना अथवा परमयोग क्रियासे भी करना, कराना, और अनुमोदन देना ऐसे तीन प्रकार हैं.

अरूपाण रोहुरे जणवण् च रादो दिवा सिवे उमे ॥

दृष्पादिसमावण्णे उरुरदि कमं अभिदेत्तो ॥ ६११ ॥

दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरादिवोचने ॥

योऽपराधो भवेत्काश्चिन्मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ ६१५ ॥

सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारश्रमभीलुकः ॥

आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो भुरोः ॥ व३६ ॥

विजयोदया—अज्ञान रोहणे अणवें ये राख्याचि द्योते अणवें यावन्तो भार्यासोणं रोघके परत्वे जाते यदि निरस्त न लयेते संक्षिप्त भिक्षा चर्या तज अयोग्यस्य सेवा कृता आत्मना तमपि कथयति । रादो दिवा रात्रौ अयमस्ति चादो जातो दिवसे इति वा कथनं । भार्या उपद्रुते संते विधवा भवेण वा तपिषधनायाग्रयमतिचारो जात इति वा । दुर्भिक्षे वा महति अयमोदयमग्रेन वदामसा सेवितं, अन्ये याऽव्योयभिक्षाग्रहणे इत्यं प्रवर्तिता इति वा कथनं । इत्यादि विवराण्ये शर्यो विहितः समाख्यः ॥

निर्द्धमस्यैव देवादीनामः समारप्यः ॥
मूकता — अदृष्टान् रोषो लज्जवरे । जनपदे देवे । आपत्तीद्वानो मार्गालेषां परवक्त्रे रोषके परवक्त्रे प्रपुष्टे नि सर्गमलमनानन्द साधोर्वा वारयद्येत संछिद्रा भिक्षापय्या संज्ञाया अयोग्यसेवा वा आत्मना कृता कामपुत्ररतीति संय्य । रादो दिया राज्ञी दिवा वा योऽतिचारो ज्ञातः । आसिंवे मार्यामुपदेवे संयस्य विद्यामन्त्रादिना वस्त्रादिकारे योऽतिचारः । कमे बुद्धिभे अयोग्यसेवनादिना योऽतिचारोऽन्यो ॥ वाट्क । इत्यादिसमाख्ये वर्णविभिः खानुख्येन आबण्णो गमस्त्रं सर्वं व्यवहति गरीरेमे फलयति । किं कुर्वन् ? कम् अपिदेलो पेशाकम् काष्ठकम् यानसिक्कामय ॥

अर्थ—देशमें बाहर जानेके अथवा प्रवेश करनेके चितने मार्ग हैं वे अनुसन्धके द्वारा रोके जानेपर बहसि निकलना अशुक्ल हो जाता है. उस समय भिक्षा गिरना कठिन हो जानेसे परिणाममें संकट पैदा होता है. कदाचित् ऐसे समयपर अयोग्य पदाधिकारी सेवन होता है. आलोचनाके समयमें हुआ था यह भी कथन करना चाहिये.

दृष्यपमान्दृष्टाणाभोगआपणा आदुरं य तित्तिणिदा ॥

संकिन्दुसहसाकारे य भवपद्मोसे य मीमंसं ॥ ६१२ ॥

अण्णाणणेहंगास्व अण्णवसअलस उपधि सुमिणंते ।
पळिकुण्णं ससोधी कॅरंति वीसंतवे मेवे ॥ ६१३ ॥

चित्तोदया -- इति त्वांतिः । अत्र दयौल्लेख्यकारः । क्रीडासंशयः, व्यायामकुहकं, रसायनसेवा, हास्यं, मीनगुंठापरचनं, प्यवनमिस्त्रादिको र्णः । प्रमादः पंचावेषः । विकृताः, कृपायाः, दंष्ट्रियविपयासकृता, निद्रा, प्रणय-
मेति । अथवा प्रमातो नाय संस्मिन्प्रस्तफागो, कुशीलावृष्टिः, बाल्यास्त्रिशृणं, काव्यकरणं, समितिव्यनुपयुक्तता ।
छेदने भेदनं, पेरणमभिरातो, स्वघनं, यतनं, रक्तघनं, प्रसालनं, रंजनं, देष्टनं, ग्रयनं, दूरणं, समुदायकरणं,
लेपनं, सेवणं मल्लिजमिल्यादिकं संविलयद्वस्तकनं, स्त्रीपुरुषलक्षणं निमित्तं, ज्योतिर्जनं, छेदः, अघोरास्त्रं, वैद्यः,
लौकिकवैदिकसमायाश आशालासि । उपयुक्तोऽपि सम्पगतोच्चारं न वेति सोऽनामोगुहः, श्वाशिसंवेतसा वा
कृतः । नदीपूरः, अश्वपुराणं, मद्रापातापता, वर्षाभिषाक्तः, परवक्रोद्य इत्यादिका धाणताः । योगार्तः, शोकात्तौ, वेदनात्
इत्याता भविष्यः । रसासकृता युपरता वेति क्रिमकारता तिविषया शब्दवाक्या । सचिचं किमचिषामिति श्रुतिर्
द्रव्ये भंजनमेवमशुणादिभिराहारव्योपकरणस्य. यसत्वेयां 'उग्रमादेदोपोपवृत्तिरस्ति न वेति शंकायामध्युपाशानं ।
अशुभस्य मतसो पाचो वा श्रुतिनि प्रवृत्तिः सहसंयुच्यते ॥

एकांतायां पक्षतो श्वातश्रुगम्यामादयस्तेना वा प्रविशन्ति इति भवेत् दारुण्यत्वे जातोऽतिचारस्त्रीयकपाय
परिणामः प्रदेय इत्युच्यते उदकप्राणविसर्गमतया प्रत्येकं चतुर्विंशत्यस्त्रात्वारः कृपायाः । आरामनः परस्व या पल्लास-
यादिपरीक्षा मीमांसा तत्र जातोऽतिचारः । प्रलाटिकप्राकुचितम् । आकुचितकप्रसारणं । धनुषाचारोणं । उपलाष्टु-
क्षेणं, शपनं, वृत्तिकंठकापुल्लंघनं, पशुसर्पादीनां संघपरीक्षणार्थं धारणं, औपधवीवपरीक्षणाधर्मजनस्य, चूणस्य वा
प्रयोगः, इत्यन्यौजनया प्रसानामेकोद्भिद्याणां च संसृष्टेना परीक्षा । आशानाचारणं दृष्ट्या स्वयमपि तथा धरति तत्र
दोषानभिन्नः । अथवाऽस्मानिनीतमोदुमादिदोषोपहृतं उपकरणवदिकं सेवते इति अक्षानतप्रवृत्तोऽतीचारः । शरीरे, उप-
करणे, वरातो, कुले, ग्रामे, नगरे, देते, वंशुषु, पात्रांस्थेषु वा मनेदंमात्रः सेवस्तेन प्रवर्तित आचारः । ममशरीरमिदं
श्रीतो चातो याचसृति, कटादिभिर्नर्तधनं, अग्निसेवा, श्रीपातयनोद्गतां यावदण्डग्रहणं वा, उद्धर्तनं, वा । उपकरणं यित-
इत्यतीति तेन सकायाकरणं यथा पिच्छुविनाशमवावयमार्जनं इत्यादिकं । अक्षुणं, तैलाविना कर्मदत्तादीनां प्रक्षालनं वा,
यसत्तिष्णादिमश्रुणस्य भंजनान्देवां ममतया निवारणं, चतुर्नां यतीनां प्रवेशनं कुलं न सहते इति भाषणं, प्रवेशो कोपः,
यद्गनां न दातव्यमिति नियेधनं, कुलस्थैव वैवाच्यलक्षणं । निमित्ताद्युपदेष्टा तत्र ममतया ग्रामे नगरे वेतो वा अवस्थाना
नियेधनं । यतीनां संगंधिनां सुयेन सुलमात्मनो दुःखेन दुःपमित्यादिरतिचारः पार्श्वस्थानां चंदना, उपकरणादिवानं वा
तदनुपचालसमर्थता श्रुता ऋदित्यावासकृता. ऋदिगौरवं, परिचारे कृतादरः । परकीयमात्रसात्करोति शिष्यवचनेन उपकरण-

सन्ता सपनासु उपनिर्लान्तिवारः । उन्नादेन, निसेन पितायादेनोन धा वल्यसता । मयथा प्रलितिभिः पलित्हीतस्य पलात्कारेण भेभमात्पादिता अयाव्यानमोत्तवं, मुगथासतां तुयादिमक्षनं या श्रीभिर्निपुनैर्वा पलादप्रत्यकरणं । यत्तुं द्वाध्यायेषु धारणनेषु वा धारण्यं । उपदितादेन मायोच्येन प्रष्टयमनाचरे वृत्तिः । मात्या दातुकुलं पुण्यमन्येभ्यः प्रयदाः । कायाभेदंनन मता यो न जानीति तथा वा । अद्रकं मुक्ता विरसमानं मुक्तमिति कथनं । ग्लानसयाचारदेर्वा विपातुलं करि-
त्यामि इति विचित्रद्वीपा स्थये नस्य मेघनम् । स्वये वाडयेगेसेवा युमिणमित्युच्यते । प्रत्यक्षेणकालमावाधयेण प्रपृ-
सत्यापि गारभ्यान्तरा कथनं पठिङ्कुसमतदेनोच्यते । कथं ? सविचयेमां कृत्य अधिचं खेपितमिति । अचित्तं खे-
पिता नचिन्म तेजिनमिति कथति । तथा स्वावस्थाने कृतमप्यनि कृतमिति, पुमिक्षे कृतं दुमिक्षे कृतमिति, दिवसे कृतं
रात्री कृतमिति, मरणावसथा संपादितं तीव्रभाविना संपादितमिति । यथावकाललोचनो यतिर्गोवत्सदि-
ज्जापदिनं प्रयच्छति नाकच्ययेदेयं मम ज्ञापयित्तं इति स्वये एवमुक्ति स दम्यं शोषका । एवं मया स्वमुदि खुष्टितेति
निवेदनः । कथमेवेकैर्गोविदिभ्यः ममापयो विचारं उल्लसति कथयामि । कसं दम्यवादिचारकम् । आर्धिवदे अतिराकृपन् ॥

स्वांगंयसो विमान्निवारणविहत्या यथागमं निर्दिश्यन्ते । तथाहि --

मूढादा—। तत्र दशोऽनेनप्रकारः । श्रीदासंपर्यो व्यायामः, कुक्षं, रसायनसेवा, दास्यं गीतभंगारौ, घातनं, व्ययनभिर्यायिकः । प्रसारं शेषया विकया, कथायाः इन्द्रियविषयासक्त्या, निद्रा, मणय इति। अथवा संक्षिप्तदृष्टकर्म, कुशीलानु-
गुतिः, सामुद्रिकनिमित्तान्योत्प्रेरणकप्रेक्षोपाख्यैरिच्छाैरिच्छासमयधनचादादिवासनासंश्लिषणं, काव्यकरणं, समितिप्य,
हृष्टपुष्पा, प्रेक्षनं, भेदनं, वेष्टनमभिर्यावो, व्ययनं, सीधनं, वंधनं, रत्ननं, प्रक्षालनं, रंजनं, घेष्टनं, प्रयनं, पूरणं, समुवा-
पकदहनं, छेपनं, क्षाद्येनं इत्यादिछोऽनेनप्रकारः प्रमाथः । अन्तर्भावोऽप्युक्तायावि अतिचार्याः सम्मगतायद्योयः ।

जापगा आरगापूरगन्मत्तगानो मद्रावातावातवर्णमिगावरयकफरोयाद्युपसर्गः । आतुरत्वं रोगशोकवेदनोभेदात्त्रेधा । तिसि-
गिशा द्वेपा दतासप्तता मुद्राश्च चेति । ७ पिण्डाद्युपयोगिद्वन्द्वे किमिदं सचित्तमुक्तापिचमिति संवेदे सत्यपि वर्जनेभेदनव-
क्ष्यादिकत्वं । पिदादेर्णा किमत्रोद्वेगादियोगोपहातिस्ति न चेति संक्षयागम्युपादानं । ८ सहसाकारोऽद्भुतस्य मनसो धाप्यो
वा हतिनि म्पृषति । ९ भयं वर्जनात्तं यस्यो स्वेनव्याद्यादिरत्र वेदव्यतिथि द्वारास्वयनम् । १० प्रदेयस्तीव्रसंयतलक्षणा-
स्पदिनामः । ११ मीनांता नम्य परस्य वा बललापवादिषीक्षा । अथवा प्रसारितस्य कस्याकुंचनं, आकुंचितस्य वा
प्रसारणं, धनुरासारोचनं, उपलागुल्लेखणविशेषणध्वनं, नृतिच्छक्राकुंचनं, यजुसर्पादीनां मंजपरीक्षागावधारणं,
ओषधीषीषरीक्षणागमंजनस्य वा प्रयोगः । १२ लवणसंयोजनया द्रव्यानामेकैदियणां वा सम्मन्वयनपरीया ।

१२ यतानां आपरणवर्त्मस्थानरणं, अग्निना उपनीतरय उद्रमादिदोषदृष्टस्य उपकरणदेः सेवनं वा ॥ १३

स्नेहो देहो रश्मिर्ममिच्छुः प्रपद्यते । तेन भवेत् शरीरं शीतविना वाध्यते इति कटांचलं ।
धर्माभिसेवनप्राप्त्यप्यहं ब्रह्मणोऽर्हतामुपचरोऽप्रतिवारः । तथा ममोपकरणं विनश्यति इति पिच्छविनाशमप्यहं प्रमाज्वनम् ।
कर्मदत्त्यादीनां प्रशालनं, वेलादिना वा अश्रद्धां, वसतेस्तृणवायुसारणं मंजनादिनिवारणं वा । बहुधा यतीनां प्रवेशनं म-
नीयं कृतं न सहेते इति भाषणं वा । प्रवेशे पार्श्वस्थादीनां बंदनोपकरणादिदानं वा । तदुद्धमनासमर्थता वा ॥ १४ मार्त-
मृद्धिरसस्तासक्तिः तेन परिवारे लोभात्परजीयस्य प्रियवचनादीनां आत्मसात्करणं वा, गंधगात्यातां वृत्तादिलेखनं, अनिष्ट-
रसस्यापेक्षरसादरो, यथेष्टभोजनशयनादितत्परत्वं च । १५ अनात्मवस्तु-जन्माद्यपि प्रकृतपिशाचवैशाखित्वा पारसंभ्यं,
सावित्रहात्कारेण वा गंधमात्यतां धृत्वादिलेखनं, प्रत्याकृयात्मोन्नतं, रात्रिभोजनं वा । स्त्रीभिर्ननुसकैर्वा बलात्मैषु नम्रवर्तनं
वा । १६ आलस्यं स्वापायाबाधकं ज्वनुरसाहः । १७ उपविर्भाषाप्रयोगः, प्रच्छन्नमनाचारे प्रवृत्तिः, प्रशादगृहं क्षात्वा
अन्वेष्यः पूर्वं तत्र प्रवेशः कार्यपदेशेन यथा फेट न जानन्ति तथा । भद्रकं भुक्त्वा विरसमन्नं भुक्तं इति कथनं ।
तान्मात्सायान्निर्दिष्टमावृत्यं करिष्यमीति किंबिदृग्दृष्ट्या स्वयं तस्य सेवा । १८ स्वप्नंतः सुप्तस्याचोद्यसेवकः । १९ पलि-
कुंभं द्रव्यादिपिपयदिवातिपारकयनम् । यथा वापितं लेपित्वा अचित्रं सेवितमिति वक्ति । स्वावस्थाने कृतं मार्गे
कृतमिति । मुनिषे कृतं रुमिषे कृतमिति । दिवा कृतं रात्रौ कृतमिति वा । शीघ्रमोचादिकृतं मयंक्रोधादिकृतमिति वा ।
२० स्वयंमुक्तिः—अकृतालोचनेन यस्मिन्नावस्थतिरिति वाच्यं तदुच्यते इति स्वयमेव तदुच्यते ।
एवं मया स्वच्छादितान्छितेति निवेदनम् । उक्तं च—

एकद्वित्रिपतुःपञ्चद्विषीकागिराधने ॥

असन्तवचःस्तोयमैथुनप्रयसेवने ॥

वसन्तानां नृपारिचरापसां प्रतिकूलने ॥

बद्धमोक्षपादनाकारपणानां निषेवणे ।

दक्षिणेश्वर मठके नामसे बैरिचौरनिरासेघने ॥

शोष्पराशोऽभवत्कश्चिन्मनोवाप्ययकर्मभिः ॥

॥ मांसेनेषायांभी संसारसाधीलकः ॥

[illegible]

अर्थ—दुर्पते अनेक प्रकार हैं। क्रीडामें स्पर्द्धा, व्यायाम, कपट, रसावनसेवा, हास्य, शीत और श्रृंगार-नृत्न, दोहना और इदना ये दुर्पके प्रकार हैं। प्रमादके पांच प्रकार हैं—विक्रया, कयाथ, इंद्रियोंके विपर्ययोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह। अपरा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुंदीलायुशुचि, बाद्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, और समिति में उपयोग न देना ऐसे भी प्रमाद के पांच प्रकार हैं।

छदन करना, गेहन करना, पीमना, आघात करना, चुभना, खोदना, घांभना, फादना, घोंना, रंगाना ऐसन करना, गूंथना, पूर्ण करना, एकत्र करना, लेपन करना, फेरना, चित्र बनाना इत्यादि कर्मोंको संक्लिष्ट हस्त कर्म कहते हैं।

स्त्री पुरुषके लक्षणोंका वर्णन करने वाले शास्त्रोंको निमित्त शास्त्र कहते हैं। ज्योतिर्हान, छंदःशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, वैषकशास्त्र, लौकिकशास्त्र, मंत्राद इत्यादि शास्त्रोंको बाध्यशास्त्र कहते हैं।

उपयोग देकर भी जिसमें अतिपारोक्षा सम्पद्धान नहीं होता है उसको अनाभोगकुत अतिचार कहते हैं। अपरा मन वृत्तरे तरफमें लगनेपर जो अतिचार होता है वह भी अनाभोग कुत है।

नदीपूर, अपि लगना, महापापु बहना, इष्टि होना, शत्रुके सेन्यसे विरजाना, इत्यादिक कारणों से होनेवाले अतिचारोंको आघात अतिचार कहते हैं।

रोमसे पीडित होना, शोकसे दुःखित होना, वेदनासे व्याधित होना, ऐसे आर्तवाके तीन प्रकार हैं। इस से होनेवाले अतिचारोंको आर्तवातिचार कहते हैं।

रतमें आसक्त होना और बहुत यदन्द करना इस कार्यको तिष्ठिदा अतिचार कहते हैं।

शक्ति — विच्छिन्ना कौरे उपयोगी द्रव्योंमें ये सचित हैं या अचित हैं ऐसी शंका उत्पन्न होनेपर भी मोदना, फोदना, भक्षण करना, आहार और उपकरण और वसतिका ये पदार्थ उद्गमादिदोष रहित हैं अथवा नहीं है ऐसी शंका होनेपर भी उनको स्वीकारना यह शंकितातिचार है।

सहसा—अशुभवचनमें और अशुभ विचारोंमें वचनकी ओर मनकी तत्काल अविचारपूर्वक प्रवृत्ति होना इसको सहसातिचार कहना चाहिये।

भयातिचार—एकान्त स्थानमें वसतिका होनेसे सर्प, दृष्ट पशु, वायु बौरेदृशणी प्रवेष्ट करेंगे इस भयसे वसतिकाके द्वार बंद करना।

प्रदोष—संजलन करायोंका तीव्र परिणामन होना अर्थात् उनका तीव्र उदय होना। पानीके ऊपरकी लकीर, धूलिके ऊपरकी लकीर, जमीनके ऊपरकी लकीर, और पत्थर पर उफरी हुई लकीर इन के समान क्रोधके चार प्रकार हैं। इस प्रकारसे मान, माया, लोभके भी दृष्टांत आसानीसे समझ लेना चाहिये। इनसे होनेवाले अति-चारों को प्रदोषातिचार कहते हैं।

भीमांसा—अपना चत और दूसरेका चत इसमें कम और ज्यादा किसका है इसकी परीक्षा करना इससे होनेवाले अतिचारको भीमांसातिचार कहते हैं।

फैले हुए हाथको समेट लेना, संकुचित हाथको फैलाना घुपको दोरी लगाकर सज्ज करना, परावर फेकना, माटीका ढेला फेकना, याचा देना, मर्यादा-वादको उछटना, कंटकादिकोंको लांपकार गमन करना पशु, सर्प वगैरह प्राणियोंको मंत्र की परीक्षा करनेके लिये पकड़ना, और सामर्थ्यकी परीक्षा करनेके लिये अंजन और चूर्णका प्रयोग करना। द्रव्योंको संयोग कर ब्रस और एक्केद्रियों की उत्पाचि होती है या नहीं इसकी परीक्षा करना इन कृत्योंकी परीक्षा कहते हैं। ऐसे कृत्य करनेसे ब्रतोंमें दोष उत्पन्न होते हैं।

अज्ञानातिचार—अज्ञ जीवोंका आचरण देखकर स्वयं भी वैसा आचरण करना, उसमें क्या दोष है इसका ज्ञान न होना, अपना अज्ञानीके लोच, उद्गमादि दोषोंसे सहित ऐसे उपकारणादिकों का सेवन करना ऐसे अज्ञानसे अतिचार उत्पन्न होते हैं।

शरीर, उपकरण, वसतिका, कुल, साँव, नगर देख, वंश और पारस्पर्यपूर्ण इनमें ये भेरे हैं ऐसा भाव उत्पन्न होना इसको स्नेह कहते हैं। इससे उत्पन्न हुए दोषोंको स्नेहातिचार कहते हैं। यह ठंडी हवा मेरे शरीरको पीटा देती है ऐसा विचारकर चटाईसे उसको ढकना, अग्नीका सेवन करना, ग्रीष्म ऋतुका ताप मिटानेके लिये वस्त्रग्रहण करना, उकटन लगाना, साफ करना, ठेलादिकासे कमंडलु वगैरह पदार्थों स्वच्छ करना, धोना। उपकरण नष्ट होगा इस भयसे उसको अपने उपयोगमें न लाना, जैसे पिच्छिका झट आवगी इस भयसे उससे जमीन, शरीर, पुस्तकादिक साफ न करना- इत्यादिक अतिचारोंको उपचारातिचार यह संज्ञा है।

वसतिका का रुण कोई पशु खाता होगा तो उसका निवारण करना, वसतिका मद्य होती हो तो उसका निवारण करना, बहोतसे यदि मेरी वसतिका में नहीं ठहर सकते हैं ऐसा भाषण करना, बहुत मुनि प्रवेश करने

तुम तो उनपर क्रुद्ध होना, बहुत यतिओं को वसति का मत दी ऐसा कहना, वसति का की सेवा करना अथवा अपने इन्हें मुनिओं की सेवा करना, निमिच्छादिओं का उपदेष्टा देना, ममतत्वे ग्राममें, नगरमें अथवा देशमें रहने का निषेध न करना, अपने संबंधि यतिओं के सुखसे अपने को सुखी समझना और उनको दुःख होनेमें अपने को दुःखी समझना, शयनस्थिति धुनिओंकी चंदना करना, उनको उपकरणों के देना, उनका उल्लेख करने में मामध्य न रहना, इत्यादि कृत्योंमें जो दोष होते हैं उनकी आलोचना करनी चाहिये।

सूदिक का त्याग करनेमें असमर्थ होना, क्रुद्धि में गौरव समझना, परिवारमें आदर रखना, मियभाषण करने और उपभोग देना परकीय वस्तु अपने वश करना इसको सदिगौरव कहते हैं। इष्टरसका त्याग न करना, अनिष्ट रसमें अनादर रखना, इसको रसगौरव कहते हैं। अविशय भोजन करना, अविशय सोना इसको शांतगौरव कहते हैं। इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये।

परके वश होनेसे जो अविचार होते हैं उनका विवेचन इस प्रकार है—उन्माद, विष, पिशाच इत्यादि कारणोंसे परवश होनेमें अविचार होते हैं। अथवा शक्तिके लोकोत्ते पकड़नेपर बलात्कारसे श्व, पुष्प वगैरहका सेवन किया जाना, त्याग हुए पदार्थोंका भक्षण करना, रात्रिमोचन करना, सुखको सुगंधित करनेवाला पदार्थ, तांबूल वगैरह भक्षण करना, स्त्री अथवा नपुंसकोंके द्वारा बलात्कारसे बलचर्यका विनाश होना, ऐसे कार्य परवशतासे होनेसे अविचार लगते हैं। घृच्छता, अनुप्रेक्षा वगैरह चार प्रकारके स्वाध्याय और अवसक क्रियाओंमें अनादर आलस्य करना, इनकी आलोचना करना क्षपकका कर्तव्य है।

अनधि शब्दका अर्थ भाषा होता है। गुह रीतिसे अनाचारमें प्रवृत्ति करना, दाताके परका शोच करके अन्य मुनि जाननेके पूर्वमें वहां आहारार्थ प्रवेष्ट करना, अथवा किसी कार्यके निमित्तसे दूसरे नहीं जाननेके इस प्रकारसे प्रवेश करना, मिष्ट पदार्थ खानेको मिलने पर भोजनका विरस अन्न खानेको मिला ऐसा कहना। रोगी मुनिका किंवा आन्तर्यका पैयापत्य करनेके लिये धानकोसे कुछ चीज मांगकर उसका स्वयं उपभोग करना। ऐसे दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये।

स्नममें उपयोग पदार्थका सेवन होना उनको 'सुमिष' कहते हैं। द्रव्य, श्वेत, काल और भावके आश्रयों जो अविचार हुए हो उनका अन्यथा कथन करना उसको 'पलिकुचन' कहते हैं। जैसे सविच पदा-

धृता सेवत करके अचित्तका सबने किया ऐसा कहना, अचित्तका सेवन कर सचिपका सेवन किया ऐसा कहना, असत्काममें कोई कृत्य किया हो तो मैंने वह कार्य रास्तेमें किया ऐसा कहना सुमिश्रमें किया हुआ कृत्य दुर्मि-धाने कियाया ऐसा बोलना, दिनमें कोई कृत्य करनेपरभी मैंने रातमें अहुक कार्य किया था ऐसा बोलना, अकपा-पभारसे निचे हुए कृत्यको तीन परिणामसे किया था ऐसा बोलना, इन दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये,

आचार्य के पास आलोचना करने पर आचार्य प्रायश्चित्त देने के पूर्व ही स्वयं यह प्रायश्चित्त मैंने लिया है ऐसा कतफर तयं प्रायश्चित्त लेता है उसको स्वयं शोधक कहते हैं, स्वयं मैंने ऐसी शुद्धि की है ऐसा कथन करना, इस सीरीसे दर्पादिकें द्वारा अतिचार होते हैं वे सब कहने चाहिये, और अपने किये हुए अतिचारों के क्रमका उल्लेखन नहीं करना चाहिये,

इय पयविभागियाए व ओवियाए व सल्लुमुद्धरिय ॥

सव्वगुणसोधिक्कली गुरूवसुं समायरइ ॥ ६१४ ॥

स सामान्यविशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम् ॥

विषसे गुरुणा दत्तां विशुद्धिं दृष्टमानसः ॥ ६१७ ॥

विजयोदया—इय एवं । पयविभागियाए व विशेषालोचनया वा । ओवियाए व सामान्यालोचनया वा । सल्लु मायाशक्त्यं । उद्धरिय उद्घृत्य । सव्वगुणसोधिक्कली सर्वेषां गुणानां दर्शनज्ञानचारित्तपत्तां शुद्धिमभिलषन् । गुरू वसुं गुरुणोपादिं प्रायश्चित्तं । समादियादि सम्भगादृते । रोपं दैन्यमशब्दानं च त्यक्त्वा ॥

एवमालोच्य प्रपेचनालोचनाविधिगमिधायोपसंहरति—

मूलारा—गुरू-येवं गुरूपदिष्टं प्रायश्चित्तं । समादियादि सम्भक्तरोपदैत्याशब्दानां त्यागेनादत्ते गुणवृत्ति । समा चरदोदि वा पाठः । वत्त रोपादित्योगेनलुप्तिघटीत्यर्थः ॥

अर्थ—विशेषालोचना करके अथवा सामान्यालोचना करके मायाशुल्यको हृदयसे निकालकर दर्शन, ज्ञान-चारित्र और तपश्चरणोंमें शुद्धिकी अभिलाषा रखता हुआ गुरूके द्वारा कदा हुआ प्रायश्चित्त रोप, दीनता और अश-दानका त्यागपर क्षपक ग्रहण करता है,

नालोचनाके दोषोंका यहाँतक वर्णन किया. अब गुरुके आगे आलोचना करते समय स्वतः की निंदा करनी चाहिये.

परिहारालोचनानुसङ्गस्य गुरुसकाशे आलोचनानिबन्धः शुणवतीति वदति—
कदपावो वि मनुस्सो आलोयणणिंदको गुरुसयासे ॥
होदि अचिरेण लहुओ उरुहिंयमारोन्व भारवहो ॥ ६१५ ॥
मनुष्यः कृतपापोऽपि कृतालोचननिन्दनः ॥
संप्रयाते लघुः सद्यो विभारो भारवानिच ॥ ६१६ ॥

विजयोदया—कदपावो वि मनुस्सो कृतपावोऽपि मनुष्यः समर्जितानुमकर्मसंचयोऽपि मनुष्यः । अथवा पापस्वाशुमकर्मणः कारणभूताऽसंयमादिरिद्ध पापशब्धेनोच्यते, तेनायमर्थः—कदपावोऽपि कृतालोचनमार्दिकोऽपि । आलोचय णिंदको कृतालोचनः कृतानिबित्तव्य । ॥ मनुस्सयासे गुरुसयासे गुरुसमीपे । होदि भवति । अचिरेण लघुको लघुतमः । उरुहिंयमारोच्य भवदरितमार इव । भारयहो भारस्य योदा ॥

एवं दीवानुस्त्वा शुणान्यकुमाकोचनानिदानाद्युत्तरमाह—

मूलात्—आलोयणिंदको कृतालोचनः कृतनिन्दनः । लघुगो दोपकुट्टः । एवेन गुणा निस्सपिवा दोषविपर्य-
परुमत्वात्तेषां । उरुहिंयमारोच्य अवगारितमार इव ।

निंदाका माहुरम्य आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अनुमकर्मका संचय जिसने किया है ऐसा भी मनुष्य यदि गुरु के समीप आलोचना और अपनी निंदा करेगा तो वहोत बोझा मस्तकपरसे उतर जानेपर भारवाही मनुष्य जैसा सुखी होता है वैसा ग्रीष्म सुखी होता है. अथवा पापके अनुमकर्मके कारणभूत अंत्यमादिक को भी पाप कहते हैं. इसलिये यहाँ दुसरा अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—जिसने असंभवाचरण किया है वह भी मनुष्य गुरुके समीप जाकर दोषोंकी आलोचना और निंदा करेगा तो भारवाही मनुष्य भार उतरनेसे जैसा सुखी होता है वैसा सुखी होता है.

भावशुद्धयर्थो आलोचना असत्यां भावशुद्धो को वा दोष इत्याह—

सुबहुसुदा वि संता जे मूढा सीलसंजमगुणेषु ॥

ण उवेंति भावसुद्धिं ते दुक्खणिहेलणा होति ॥ ६१६ ॥

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति भवन्तोऽपि बहुश्रुताः ॥

चतुरंगे विमूढा ये दुःखपीडया भवन्ति ते ॥ ६३९ ॥

पिजयोदया—सुबहुसुदा वि संता जे मूढा ये मूढा से मूढाः । सीलसंजमगुणेषु शीले क्षमाविके घमं, संपमो, जेतु गुणेषु क्षान्तव्यवस्था-सु च । भावसुद्धिं परिणामेन शुद्धिं । ण उवेंति नोपयांति ते दुक्खणि-हेलणा दुःखेतिपीडया । होति भवति ॥

भावशुद्धयभावे दोषमाह—

मूलरा—संता संतः । मूढा मुग्धाः । मीलं उचयक्षमादि गुणाः ज्ञानवर्धनवर्तासि । ण उवेंति नोपयांति ।

भावसुद्धिं भावशुद्धिं । दुक्खनिहेलणा दुःखेतिपीडयाः । दुक्खनिहेलणा इति पाठे दुःखगुहाः इत्यर्थः ।

परिणामोक्ती निर्मलता करनेके लिये आलोचना की जाती है यदि भावशुद्धिकी प्राप्ति न हो तो उससे क्या सुकसान होता है यह दिखाते हैं—

अर्थ—जो गुणि महाविद्वान् दोषर श्री क्षमादिकथनं, संपम, ज्ञान, वर्धन और तपमें यदि भावशुद्धि युक्त नहीं होते हैं वे इस संसारमें नाना दुःखोंसे पीडित होते हैं—

छातायाभालोचनायां शुरुणा कि कर्तव्यमित्यत आह—

आलोयणं सुणिता तिमबुचो भिक्खुणो उवायेण ॥

जदि उज्जुगोत्ति णिज्जइ जहाकदं पट्टवेदव्वं ॥ ६१७ ॥

त्रिःकृत्वालोचनां शुद्धां भिक्षोर्विज्ञाय नरत्ततः ॥

स मध्यस्थो रहस्यज्ञो दत्ते शुद्धिं यथोचिताम् ॥ ६४० ॥

पिडयोदया—आलोचनं आलोचनां । सुणिता श्रुत्वा । तिमबुत्ता त्रिः पृच्छत । भिक्खुणो भिक्षोः । उवायेण

उपायेन । अदि उज्जुगोर्ति य यदि ऋजुरयामिति । णञ्जर बनेन वात्तरणेन वा श्रयते त्रयेण ऋजुता । यथा अदुशोर्भाव-
मुत्पद्यमानाग्र व्यवहारिणः प्रागर्चित्त प्रयच्छति सुरयः । भावद्विर्मतेरेण पावानपायात् रत्नमयस्य निरतिचारया
भावात् ॥

इतावामालोचनायां गुरुणा किं कर्तव्यमित्यत आह—

गुप्तारा — विष्णुर्त्तं श्रीन्यारात् । उवाण गनः प्रह्लाव । अयस कीदृशोऽवरापस्ते विस्मृतो न धुर्त्तं
मयेति वा । उज्जुगोर्ति ऋजुरयामिति । णञ्जदि श्रयते वचनेन आचरणेन वा । अथारुदं यथाकृतं । पापं शुद्धयती-
त्यध्याहारः । गदुपेवत्तं तथा प्रायश्चित्तं दावमयम् ॥

आलोचना करनेके अवसर गुरुको क्या करना योग्य है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ — संपूर्ण आलोचना मुनकर गुरु क्षपकको तीन बार उपायसे पूछते हैं अर्थात् तुमने कौनसे अपराध
किये हैं ध्यानमें नहीं रहे हैं पुनः कदो ऐसा तीन बार पूछते हैं । यदि वह क्षपक सरल परिणामका है ऐसा गुरुके
अनुभवमें आजाय अर्थात् क्षपकके आचरणसे और उसके पचनसे गुरु उसका निष्कपटपना अथवा कपटीपना जान
लेते हैं । यदि यह क्षपक कपटी है ऐसा दोन पढेगा तो वे उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं । परिणामकी निर्मलता न
हीनेसे पापका नाश होगा नहीं । और रत्नमयमें निरतिचारपना आता नहीं ।

प्रश्नो इत्तप या मालोचना कीदृशी यस्यां सत्यां प्रायश्चित्तं दीयते न च दीयते इत्यत्र आह—

आदुरसह्ये मोसे मालागराय कञ्ज तिवस्तुसो ॥

आलोयणाए धकाए उज्जुगाए य आहरणे ॥ ६१८ ॥

राजकार्यामुत्तरासत्पसवास्यानामिव त्रिधा ॥

दोषाणां पुच्छना कार्या सूरिणागमवेदिना ॥ ६१९ ॥

विप्रबोद्धा—आदुरसह्ये आदुरो व्यधिकृत । स मेवेन पात्रज्यं पूछयते । किं भुक्ते ? किमाचरति ? कीदृशी वा
योगस्य श्रुतिरिति । शतव्यमपि सरीरल्लं निः परीक्षते । शुद्धता मणस्य ज्ञाता न वेति । राजकार्ये तिवस्तुसो राजा-
शासते कार्यं किमेवं करिष्यामीति निः पूछयते । आलोय राजकञ्जं तिवस्तुसो राजा आहते कायं श्रितेवं करिष्यामीति निः
पूछयते । आलोयणाए यकाए पकायाः । उज्जुगाए ऋन्यादयः । आहरणे द्रव्यन्ताः । यदि सात्त्विकमयेकरूपेण चेति ततो
जाली अन्यथा अन्यदाचेते चेकेति भावः ॥

व्यापितः शून्यं मोघो मालाकारो राजकार्यं चैतानि पंच यथा त्रिःपृच्छयन्ते त्रया आलोचनानि ऋज्वी यथा चेति शतं त्रिःप्रष्टव्या । यदि चारत्रयमप्येकत्वेण वक्ति तदा ऋज्वी प्रायश्चित्तवानार्हः अन्यथा वक्ता प्रायश्चित्त दानायोग्येषुपदेदुमाह—

मूलाशय—आदुरेत्यादि । त्रिकषुचो त्रीन्वारयन् । प्रष्टव्याथालोचनाथामातुरादय पंच आहरणे दृष्टान्ता भवन्ति इति संवधः । तत्रातुरः-त्रिः पृच्छयते वेद्येन किं शुक्लं कीदृशी च रोगप्रशुचिरिति । तथा शून्यं त्रिः पृच्छयते अत्र ते कंदकादिरिति । तथा मोघे ऋज्वीपदारे किं ते चोर्त्तव्यमिति त्रिः प्रश्नाः कियते । तथा मालाकारोऽपि त्रिः पृच्छ-यते । किञ्चनमूल्या वद पुष्पमालेति । तथा राशः आह्वयितं कार्यं त्रिः पृच्छयते किमेव करिष्यामीति । एवमालोचना-पि त्रिः परीक्ष्यते कीदृशोऽप्यप्रतिपुना भव्येति ।

सरल आलोचना अथवा यत्न आलोचना कैसी समझना ? जिसको ऊपर प्रायश्चित्त देना न देना अवलं-नित है ? इस प्रश्नपर आचार्य उत्तर देते हैं.

अर्थ—रोगीको वैद्य तीन बार पूछते हैं—तुमने क्या खाया है ? तुम कौसी प्रशुचि करते थे ? और तुम्हारे रोगका क्या हाल है ? धीरेसे यदि अन्न अथवा कटिंका अन्नभाग पुसनेपर वहाँ ही काँटा घुस गया है ना ? अब त्रण अच्छा हुआ है ना ? ऐसा तीन बार पूछते हैं. किसीने वहाँ चोरी होगई हो तो तुम्हारा बोर क्या क्या माल लूटकर ले गये हैं ऐसे तीन बार पूछते हैं. यात्राकारको भी तुम्हारी इस पुष्पमालाकी क्या कीमत है ? इस प्रकार तीन बार पूछते हैं. राजकार्यके लिए भी ऐसा ही तीन बार पूछते हैं अर्थात् यह कार्य मैं कहे क्या ? उसी प्रकार आलोचना घरगासे या सरलपनासे की गई है इसको जाननेके लिये तुम्हारे अपराध कैसे है पुनः कहो ऐसा तीन बार भी उसने एकरूपसे ही अपराधोंका कथन किया तो समझना चाहिये कि इसकी आलोचना सरल है यदि वह भिन्न भिन्न प्रकारसे कहेगा तो इसकी आलोचनासे मायाचार है ऐसा समझना चाहिये.

पडिसेवणातिचारे जदि णो जेपदि जघाकमं सव्वे ॥
ण कर्हेति तदो सुदिं आगमववहारिणो तस्स ॥ ६१९ ॥

हैं वे यदि शपक क्रममें न छोड़ेगा तो अर्थात् युक्त और स्थूल अपराधोंका कथन नहीं करेगा तो प्रायश्चित्त शास्त्रके माता आचार्य उसको प्रायश्चित्त नहीं देते हैं. हम विषयमें आगममें ऐसा कहा है—
जो शत्रुभक्तों अलोचना करते हैं ऐसे पुण्य प्रायश्चित्त देने योग्य है. और जिसके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उसको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं. इससे यह सिद्ध हुआ कि सर्व अतिचार निवेदन करनेवाले में ही क्षयुता रहती हैं. उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है.

पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि जहाकमं सब्बे ॥

कुब्बंति तहो सोधि आगमववहारिणो तस्स ॥ ६२१ ॥

निःशेषं मापते दोषं यदि यांजलमानसः ॥

तदानीं कुर्यते शुद्धिं क्षयवहररयिचारदाः ॥ ६२२ ॥

स्पष्टा नाथा ।

यथायदीपःलोपने प्रायश्चित्तप्रयोगमनुजानाति —

मूळरा—-१५४५

अर्थ—यदि द्रव्य, श्रेय, काल और भाव के आश्रयमें हुए संपूर्ण दोष शपक अनुक्रमसे छोड़ेगा तो प्रायश्चित्तदानशुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं.

परिक्ता निर्वोगयामालोनायां कृतार्थां गणिनां किं कर्तव्यमित्याहं द्वितोऽद्वयपारं कथयति—

समं खट्वाणालोचिंदमि छेदमुदजाण गणी से ॥

तो आगममीमंसं करेदि सुते य अत्ये य ॥ ६२२ ॥

सम्यगालोचेते तेन सूत्रं नीमांस्ते गणी ॥

अनालोचे न कुर्वन्ति महान्तः कांचन क्रियाम् ॥ ६२३ ॥

प्राप्त्या वफामवकां वा सूत्रिसलोचनां पतेः ॥

विदधाति प्रतीकारं युद्धिरस्ति कुतोऽन्यथा ॥ ६४८ ॥

विजयोदया--रायणेन समं आलोचिदमिह सुपेकेन सम्यगालोचिते । छेदसुदजापगमणो सो छेदसुदयः मूरिः सः । सो पश्चात् । आगमभोमंस आगमचिचारं । कोदि करोति । कथं ? सुपे य अत्थे य सुपे च अर्थे च । इदं सुं अस्य चागमर्थ इति श्रुत्यायस्यैवमूलस्य इदं प्रायश्चित्तमनेन सुवेन चेदं निर्दिष्टं इति प्रथिरूपयति ॥

युद्धिना निर्दोषगालोचिते मूरिः किं करोवीत्ययम्--

मूलारः--छेदसुदजापगमणी प्रायश्चित्तसूत्रज्ञ आचार्यः । आगममीमंसं । प्रायश्चित्तसाधविचारणां । सुपे य अत्थे य इदं सूत्रस्य चागमर्थ इति विचारयतीत्यर्थः ।

यत्किं द्वारा निर्दोष आलोचना किं चानेपार आचार्य का क्या कर्तव्य है इस शंका का उत्तर कहते हैं--
अर्थ--धुपसुनि अथ निर्दोष आलोचना करते हैं प्रायश्चित्तसूत्रके ज्ञाता आचार्य तब आगम से अपराधोंकी प्रतीक्षा करते हैं, अर्थात् यह प्रायश्चित्तको धतानेवाला सूत्र है, इसका यह अर्थ है, इस अपराधको यह प्रायश्चित्त देना योग्य है, इस सूत्र के द्वारा यह प्रायश्चित्त धतलाया है, इत्यादिरूपसे आचार्य प्रथम प्रायश्चित्त का विचार करते हैं.

परिणामाय निरूपयितव्यस्तदीयः किमर्थमित्यत आह--

पडिसेवादो हाणी वड्डी वां होइ पावकम्मस्स ।

परिणामेण दु जीवस्स तत्थ तिब्बा व मंदा वा ॥ ६२९ ॥

आतस्य मतिसेवातो हाभिर्द्विद्विष होदिनाम् ॥

पापस्य परिणामेन तन्नि मंदा च जायते ॥ ६४९ ॥

मित्रवोधया--पडिसेवादो जातस्स पावकम्मस्स परिणामेण हाणी वड्डी वा होदि । कीदृसी ? तिब्बा व मंदा वा इति पक्कटना । पडिसेवनातो जातस्य पापकर्मणः परिणामेन पाश्चात्येन करणेन हाणिर्वा वृद्धिर्वा भवति । तीया हाणि स्तीमा वृद्धिः । मंदा वा हाणिर्मादं वा वृद्धिः ॥

ययादोपं प्रायश्चित्तं निरूपयता सूत्रिणा अतिचारसहभावी सदुत्तरकालाभ्यावपि क्षुपकस्य परिणामो नित्य-
नीयो यदः--

मूलतः—पक्षितेवादी अर्थमार्गित्वेनान्नात्वात्पाप पापस्य पात्रात्पुनः पुनरापनं पुनरापनं ।
 शुद्धित्वं हानिस्तत्रालोचनाकाले स्थापितं संयुक्तः । सामान्येवापि दुष्कृतहानिद्विद्धितीजसद्वत्पुनरापनमेवेन प्रतिपत्तव्यम् ।
 तथा बोध्यम्—

त्रातस्य प्रतिसेवातो हानिर्विद्धिअ देदिनाम् ।

पापस्य परिणामेन सीमा मंदा य जायते ॥

अत्रार्थं स्पष्टकरे परिणामका यो विचार करते हैं, उसका विचार करने की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर करते हैं—

अर्थ—असंयमादिकसे जो पापकर्म हुआ ॥ उसकी आलोचना करनेके अनंतर यदि शुभ परिणाम तीन हुए हों तो पापकी तीव्र हानि होगी, यदि सुभपरिणाम मंद हुए हो तो पापकी मंद हानि होगी. जैसे तीव्र असंयमसे वा मंद असंयमसे पूर्णकालमें तीव्र पापशुद्धि अबवा मंद पापशुद्धि हुई थी वैसे आलोचनाके अनंतर पुनरपरिणामकी तीव्रता वा मंदतासे तीव्र वा मंद पापकी हानि होती है.

तदुभयं व्यावधान्य गणोद्वयमुत्तरम्—

सावज्जसंक्लिद्धो गालेह गुणे णयं च आदियदि ॥

पुल्लकदं व दढं सो दुग्गदिभयवणं कुणवि ॥ ६२४ ॥

स्विरत्तवं नयते पूर्वं संसारासुखकारणम् ॥

एतेषां विमुने पापं संक्लिष्टः क्षिपेत गुणम् ॥ ६४७ ॥

विजयोदया—सावज्जसंक्लिद्धो सावयसंक्लेशो विदधकारः । सह प्रवेष्टेन एतेन वर्तते इति तावद्य एकः ।
 अन्यस्तु संक्लेशोऽपि तयापा । ननु सावयः । कानं विमले मि मम न जायते, संपूर्णं चरितं । अतीरं वा किमर्थमिवमतिदुर्बलं
 ॥ पोषोमासदमिति पवमादिकस्तथिरासाय सावयविशेषणं सावयसंक्लिष्टः । गालेदि गुणे गालयति गुणान् सर्वान्
 मानचारित्राणि । णयं च आदियदि आदत्ते च अस्मिन् । पुत्रकदं च दढं कुणवि पूर्वसंज्ञितं च दढीकरोति । कयायपरि-
 णामनिमित्तजवात् स्थितिबंधस्य । दुग्गदिभयकारणं दुर्गतयः भारकत्वाद्यः विविचित्रेदनासहस्रसंकुलास्तासु मयं
 पदेयदि, यत्कर्मधुसुं तदवदत्ते स्थिरयति ॥

तदुभयं न्यायार्थं गामाद्वयमाह—

मंदारा—सावजनसंकिटिद्वे सपापसंकेशाविष्टः । ज्ञानं मम विमलं किं नोत्पद्यते, चारित्र्यं वा संपूर्णं, शरीरं वा किमिदं ममार्थदुर्गलं तयोयोगाक्षमभित्यादिचित्तवाधमात्रात्मकसंकेतव्यवच्छेदायै सावचवियोगेणम् । गुणे स्वययवत्वात् । इदं सिद्धं । दुर्गादिभयवचनं दुर्गतिषु नारकत्वतिर्यक्कुमानुपत्यकुदेवत्वभवभ्रमयेषु भयं दुःखान्ता नरो । दृश्यते जीवेन संपदं कियते केन तत्प्राप्तकर्म । उक्तं य—

स्वित्तं नयते पूर्वं संसारसुखकारणम् ।

नवं संचिनुते वारं संकिटः क्षिपते गुणम् ॥

परिणाम और पाप पंचका वर्णन—

अर्थ—सापद संक्षेप दो प्रकारका है. पापसे युक्त संस्लेख, और केवल संस्लेख, मेरेको निर्मलज्ञानकी प्राप्ति क्यों नहीं होती है ? संपूर्ण चारित्र क्यों नहीं प्राप्त होता है ? भेरा यह शरीर क्यों इतना दुर्बल है, क्यों उससे ठप और योगका फट नहीं सहा जाता है ? इस प्रकारके विचार को संस्लेख नाम है इस संस्लेखको भिन्न दिखानेके लिये सावय यह विशेषण संस्लेखके पीछे दिया है. जिससे फक्त मनको बीटा होती है ऐसे पापयुक्त संस्लेख परिणामोंसे सम्मगर्दर्थन, ज्ञान और चारित्र इन गुणोंका नाश होता है, नवीन पापबंध होता है और, पूर्व पापकर्मों में दृढ़ि होती है. क्यों कि कर्मापरिणामोंसे स्तिविबंध होता है. हवाराँ विचित्र वेदनायें जिसमें होती है ऐसी नारकादिक अवस्थाओंका सापद संस्लेख परिणाम कारण है. जो नवीन अनुभक्तमें आता है वह इस पापयुक्त परिणामोंसे आत्मामें स्थिर हो जाता है.

पडिसेविचा कोई पच्छत्तावेण उच्छमाणमणो ॥

संवेगजणिदकरणो देसं घाएज्ज सव्वं वा ॥ ६२५ ॥

कृत्वापि क्लमपं कश्चित्पश्चात्तापकृशानुना ॥

दशमानमना देशं सर्वं वा हन्ति निश्चितम् ॥ ६४८ ॥

विजयोदया—पडिसेविचा कोई कश्चित्पश्चात्तापसंभवादिसेवनोऽपि । पच्छत्तावेण उच्छमाणमणो पञ्चचरणेन दल-

मानचित् । सयोगजनिवृत्तयो संसारभीरुत्वान्नित्यसंयमनाश्रित्य- । देस सत्यं वा धादेज्ज आत्माभिनवनसचित्तकर्मपुद्गलरूपैकदेशनिर्गता वा स्वीकरोति, समस्त वा तद् धातयेत् । यदि मध्यमो मवो वा परिणामो देश धातयति । अथ तीय- समस्त इति भावः ॥

मूलात्—करणं सयमवित्या । देसं आत्माभिनवं संचितकर्मपुद्गलरूपैकदेशं धादेज्ज धातयेत् । यदि मध्यमो वा परिणामस्तदा देशं हन्त्वथ तीव्रत्वदा समस्तमिति भावः । तत्प्राप्तसमर्थश्लोकी ॥

आदस्य मृतिसेवावर्त्तमानं मंदं च रेफस्तः ।

हानिःसता त्वमावेन स्याद्विदित्वास्तवा वया ॥

सुंक्लिष्टो हृदयन्पूर्वं धम्मात्यं हः कथं गुणान् ।

इत्यंशतोऽक्षिणं वा सत् संसिद्धोऽनुब्रूयात्प्रभ ॥

अर्थ—पूर्वकालमें किसी क्षयकर्म असंयमका सेवक किया था प्रसंग पश्चात् उसका अन्तःकरण पश्चात्तापसे दग्ध हुआ तब वह संसारसे मयभीत होकर संयमाचरणमें तत्पर हुआ. इस संयमाचरणके प्रभावसे नवीन संचित्त कर्मों हुये प्रापकर्मके स्कंधमेंसे एकदेशकी निर्जरा होती है अथवा यदि तीव्र संयमाचरण हो तो उससे संपूर्णका मी पाठ होता है. अभिप्राय यह है कि संयमाचरणके परिणाम मंद अथवा मध्यम प्रकारके हो तो कर्मके एकदेशकी निर्जरा होती है और यदि तीव्र हो तो संपूर्ण कर्मका धात होता है.

तो णच्चा सुत्तविट्ठु णालियधमगो व तस्स परिणामं ॥
जानदिण्ण धिसुज्झवि तावदियं देदि जिदकरणो ॥ ३२६ ॥

मालिकाधमचञ्जात्वा प्रमाणं कुरुते सुधीः ॥

ततः शुध्यति यावत्या तावतीं स परिक्रियाम् ॥ ३२७ ॥

पिउयोवया—तो तस्मात् । णच्चा धात्वा । सुत्तविट्ठु प्रायश्चित्तसूत्रात् सूत्रि । किं ? तस्स परिणामं कृत्वा पराधस्य परिणाम । कथं परिणामो प्रायते इति चेत् सहस्रासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमग्न इत्यादिकं सुञ्जातेमेव । तत्कार्यो परमात्, तेमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्यवत् परिणामोऽपि विचारसमकालं वृण । इति । किमिव ? णालिगधमगोव्य नातिक्रिया यो धमति सुवर्णकार सोऽग्नेर्वैलाघल विधिं ध्या चमन करोति, एव सूत्रिपि अस्य कर्मं तनुत्तरमहदेति निर्दिष्ट्या

जागृतिगल प्राणना प्राणदिवलेन । तिसुःत्रदि चिन्तुदधति । तावदिगं तावत्परिमाणं प्रायश्चित्तं बल्यं महद्व्यो । द्वेदि ददति । त्रिदशरत्नो पतिवित्तमयादिपञ्चदानक्रियः ।

उक्तार्थं प्रकृते बोलयग्राह-

मूढारा-गरपा प्रात्वा । सहवासेन वतकार्योपेयातद्वचनाढा निश्चित्य । सुचिद्व छेदसूत्रज्ञः । णालिगधम्मगी य मुरार्णकार इव । जावदिरेण यावता । अत्तेन सहवा या प्रायश्चित्तेन वक्षिता च । तिसुल्लशदि बिशुद्धवति निर्मलीभवति मुनिः कोचनं च । त्रिदशरत्नो परिचित्तमोपदिपञ्चदानक्रियः ।

अर्थ-प्रायश्चित्त प्राप्त्य आचार्य विसते अपराध किये ये ऐसे धुप रुके परिणाम जानकर विसते प्रायश्चित्त नसें यह दुर्ल होगा उतनी प्रायश्चित्त उयको देते है जेसे कुपणकार अग्निके सामर्थ्य असामर्थ्यको देख कर तदनु रूप क्रम या अपिन्न हवासें उसको प्रज्वलित करवा है वैसे प्रायश्चित्त देनेके कार्यका जिनको पूर्ण परिचय हुआ है ऐसे आचार्य हमका अपराध छोटी है या बडा है, इसने कोषादि परिणाम तीव्र थे या मंद थे इस विषयका विचार कर अनु रूप प्रायश्चित्त देते है, दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते है इस प्रश्नका उत्तर- सहवाससे परिणाम जाने जा सकते है अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मंद कोषादिकका स्वरूप मानुम होता है, अथवा जन हमने अविचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है.

आउज्येदसमर्था तिगिछिंदे मदिर्विसावो वेज्जी ॥

रोगादंकाभिहदं जह्म गिरुज्जे आतुरं कुणइ ॥ ६२७ ॥

उल्लोपीकुल्ले वैयो वैयशोखविमरदः ॥

यथातुरं कुताभ्यासो रोगात्तत्कादिपिडितम् ॥ ६५० ॥

गिज्जे - आउज्येदसमर्था निर्मातसमस्तपुण्यदः । तिमिछिदे चिकित्सायां । मदियिसारदो बुद्धया तिसुणः । पेज्जे वैयः । रोगात्तत्काभिहदं महत्वा बल्येन या दवाधेयना पीडितं । आतुरं व्याधितं । जह्म यथा । गिरुज्जे कुणवि चिन्तुं करोति ।

मंत्रार्थनिष्ठो वैद्यो रोगिण्युक्त्याचार्यः क्षपकं संसारव्यापेरुद्धरीति गायद्देनाह—
मृदाया—आज्वेदस्यचो निर्घातसमस्तवैषकशाब्दः । विगिच्छेदं चिकित्सिते । रोगार्थकानिहृदं अल्पेन
महता वा न्यायिना पीडितं । गिरुजं नीरुजं निरामयं ॥

अर्थ—विस्तेने समस्त आयुर्वेदशास्त्रका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो रोगपरीक्षण करनेमें निष्ठुण है
ऐसा वैद्य छोटे ब्रह्मचा नदे रोगोंसे पीडित मनुष्यको औषधि देकर जैसे नीरोग करता है उसी प्रकार—

एवं पवणसारसुयपारगो सो चरित्सोधीए ।

पायच्छित्तविदग्ध कुण्ड विसुद्धं तयं खवयं ॥ ६२८ ॥

गणापिपः कृताभ्यासो व्यवहारविचक्षणः ॥

क्षपकं मलिनीमूलं निर्मलीकुरुते तथा ॥ ६५१ ॥

विजयोवया—एवं पवणसारसुयपारगो प्रयत्नेन यत्सारमूलं शुद्धं तस्य पारगतः । पायच्छित्तविदग्ध प्राय-
श्चित्तकर्मज्ञः । चरित्सोधीए चारित्र्यमुदया । तयं खवयं तर्क क्षपकं । विसुद्धं कुण्डं विसुद्धं करोति ।

मृदाया—पवणसारसुयपारगो प्रवचनस्य विनागमस्य सारभूतं शुद्धं प्रायश्चित्तसूत्रं वस्तुमस्तं जानन् ॥

अर्थ—आगममें जो सारभूत शुद्धज्ञान है उसमें प्रवीण, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता आचार्य क्षपकको प्राय-
श्चित्त देकर उसका चारित्र्य निर्मल बनावे है ।

एवमिदं व्यापारिणतुणे असत्यम्योऽपि भवति नियमक इति शंकायां कथयति—

प्रदारिसंमि शेर असदि गणत्ये तहा उवक्ष्णाए ॥

होदि पवची येरो गणधरवसहो य अदणाए ॥ ६२९ ॥

गणस्थिते ऽसतीदृक्षे स्थविरेऽध्यापके तथा ॥

अस्ति प्रवर्तको वृद्धो बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥ ६५२ ॥

विजयोवया—एवमिदं व्यापारिणतुणे । शेर एवमिदं अधिवर्तमाने । गणत्ये गणस्थे । तहा तथा । उवक्ष्णाए

उत्तराये पाङ्गति । होदि भवति । पिङ्गलपयो निर्वाणकः । पयसी प्रवर्तकः । येरो स्थविरधिरम्यजितो मार्गरो । मनपरपरमदो य पालाचारो वा । उदण्ण यत्नेन प्रवर्तमानः । पञ्चमालोचनायां गुणदोषविकल्पाणां समाप्ता ॥

यथोक्तगुणे मणाधिपेऽप्यपेक्षे वा निर्वाणपेऽसति अन्योऽपि निर्वाणकः स्मादित्यनुशास्त्रि-
मूलारा—भेरे वृद्धाचार्ये । पयसी अल्पधुतः सन्तर्जयमर्यादापरितप्तः प्रवर्तकः । येरो चित्रप्रलितो मार्गरोः
गान् । मन्दरपद्मो पलाचार्यः निर्वाणको भवतीति संन्यः । उदण्ण प्रतादितु यत्नेन प्रवर्तमानः ॥

आचार्यैरे आधारवत्यादि गुणोंका पूर्वमे वर्णन कर चुके हैं इन गुणोंके धारक आचार्य यदि प्राप्त न हो
तो अन्य मुनि भी धपकके मनाधिमरण साधनेके लिये निर्वाणरूपदक्षा धारक हो सकता है क्या इस संकाका उत्तर-

अपं—पूर्वोक्तगुणोंके धारक संप्रपत्ति आचार्य न हो तथा इन गुणोंके धारक उपाध्याय भी यदि न हो तो
प्रपर्वक मुनि अथवा अनुमयी वृद्ध मुनि वा पालाचार्य यत्नेसे प्रवर्तमे प्रवृत्ति करते हुए धपकका समाधिमरण
साधनेके लिये निर्वाणकाचार्य हो सकते हैं, जो ज्ञानसे अल्प है परंतु संप्र संघली मर्यादा योग्य रहेगी ऐसे आच-
वरणका ज्ञान विसमो है उसको प्रवर्तक कहते हैं जो जिसको दीक्षा लेकर बहुत दिन हुए है येने अनुमची वृद्ध
मुनिको तापु कहते हैं.

सो कदसामाचारी सोज्झं कट्ठं विधिणा गुरुतयाते ॥
त्रिहरदि सुविसुद्धप्पा अभुज्जदवरणगुणंकली ॥ ६३० ॥

स चारित्रगुणाकांदी कृत्या शुद्धिं विधानतः ॥

गुरोरंते समाचारी विशुद्धये चेष्टते तराम् ॥ ६२३ ॥

पिङ्गलोदपा—सो पदसामाचारी स धपकः कृतसमाचारः । सोज्झं शुद्धि । कट्ठं कृत्या । विधिणा विधिना ।
गुरुतयाते गुरुसमीपे । विद्वत्पि प्रयत्ने । सुविसुद्धप्पा सुपु विमुक्तात्मा । अभुज्जदवरणगुणंकली अभ्युपवत्वास्त्रि-
गुणसाधनमभ्यसितः ॥

एतगुरुपरप्रत्यक्षिपस्य धपकस्य देहत्यागोपितकालाशास्त्रवन्तरणं माथात्रणेनोपदिशति—
मूलारा—कदसामाचारी कुवसामाचारः । सोज्झं कट्ठं शुद्धि कृत्या ।

अर्थ—विमल आचार निर्दोष है ऐसा वह क्षणक प्रयश्चिच लेकर आश्रयित भिक्षुके अनुसार गुरु-
मनीष रहकर आपने जो निर्मल चारित्र्यक बनाता हुआ रत्नमयमें प्रगुचि करता है तथा समाधिमरण के लिए
विम निश्चित आचरणका स्वीकार किया है उसमें उदात्तकी इन्डा करता है.

एवं वासारत्ते फासेदूण विविध तवोकम्मं ॥

संथारं पडिबज्जदि हेमंते सुहविहरांमि ॥ ६३१ ॥

धर्मास्तु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः ॥

सुखदुःखौ सं हेमन्ते संस्तरं प्रतिपद्यते ॥ ६५४ ॥

विजयोपया—एवं वासारत्ते पर्याकाले । फासेदूणं स्पृष्ट्वा । विविधं नानाप्रकारं । तवोकम्मं तप कर्म । संथारं
क्षेप्नुं । पडिबज्जदि प्रतिपद्यते । हेमंते शीतकाले । सुहविहरांमि सुखविहारे अनन्तरे समुद्यतस्य महाभयप्रियमेव न
भवेति तत्र शले एते सुखविहारमित्युच्यते ।

दुःखार—वासारत्ते पर्याकाले । फासेदूणं वस्तुशब्दं । सुहविहारमिव सुखो महाभयप्रियमनुभवीयदन्विष्टं रि-
हारोन्नतानुष्ठानं यत्र ।

अर्थ—इम प्रकारसे वर्षाकालमें नांनां प्रकारके तप कर कर धूपक अंसमें अनन्तनादि कर्त्तव्य पर भी म-
हान् रुधका अनुभव नहीं आता है ऐसे हेमंतकालमें संस्तरका आश्रय करती है.

संखपरियाद्वयस्य पडिक्कमित्तु गुरुणो णिओगेण ॥

सत्तवं समारुहिता गुणसंभारं पविहरिज्जा ॥ ६३२ ॥

निस्पर्शवच्चिखतुरंगदोषं गुरुपदेशेन विशुद्धचेताः ॥

प्रवर्तते शुद्धगुणाचिरुदः संसारकांतारविलिघनाय ॥ ६५५ ॥

इति गुणदोषौ ।

विजयोदया—संखपरियाद्वयस्य सर्वस्य शालदंशनकारित्वपूर्णस्य अतिचोदय । पडिक्कमित्तु अतिविकृते

भूया । गुरभिभोगेण गुरूपदेशेन । गुणसंभारं गुणानां समूहे । सर्वं कृत्स्नं । समावेष्टिता सम्यगाकृष्टा । पयिहृदिज्ज
प्रवर्तते । आलोचनागुणदोषाः ॥

मूलाः—सव्यपरिधाइयस्स सर्वस्य श्रावदर्शनचरित्रपर्यावस्थाविचारान् । पविक्रियसु प्रविविक्तो भूत्वा ।
निजोरेण उपवेशेन ॥ आलोचनागुणदोषाः । सूत्रत २४ । अंकतः ॥ ६७ ॥

अत्रेदमुक्तायानुमोदनाय वृत्तमाधेयम् ।

सधर्पिधनिवृत्तिरूपनुगुर्वोदाय सायाविकं ॥

वच्छेदैर्विधिवद्भूतमिदमिदमप्यप्यवलेख्यवि ॥

वृत्तं वाक्का उवाचरे कवमपि च्छेदेऽप्युपस्थापय--

त्येवेति क्षान्तपुंरीणमिह नोव्येदेयुगीनेषु तम् ॥

इति गुणद्वयगत्योऽनन्तरं विष्णुरस्मत्प्रयत्नसद्वृत्तभावव्यक्तसौभाग्यसंपत् ॥

विवरयितुमित्यश्रीसंगमासाधरांगमज्जमिममुपपत्तो प्रायगुण्याभ्यराव ॥

इत्यासाधरागुस्मृत्तग्रंथसंदर्भे मूलापचनादपने पदप्रमेयार्थप्रकाशोकरणप्रथमे

क्षपकरजननयविद्युदीविधानीयो नाम चतुर्थे आश्वासः ॥ ४ ॥

पंचम आश्वासः ।

पोगथायां वसतौ गणाधिपगिरा योग्यं श्रितः संस्तरम् ॥

शुभ्रपादवत्संयतैः परियुक्तो भोग्ये विविक्त्रेऽपि तेः ॥

संपाये विगतस्फुटोऽल्पितपरित्यक्तबुद्धवर्त्तकनः ॥

क्षान्ते संप्रमत्तौ विषय्य यतते संवर्त्तुमद्योऽनिशम् ॥

अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपके संपूर्ण अतिचारोसे निवृत्त होकर अर्थात् ज्ञानादिकोका निर्दोष
पालन कर गुरूके उपदेश से सर्व गुणोंके समुदागको हृदयमें धारण कर रत्नत्रयमें धापक प्रवृत्ति करता है.

भीरुती वसतिगंगा का या नेत्येवदवाचरे उत्तरेण ग्रंथेन तथा योग्यां निरूपयति—
गंधवज्रजट्टसचक्कजंतगिक्कम्मफरसे य ॥

णत्तिरज्जवा णट्टिहोवण्डरायमगे य ॥ ६३३ ॥

गाथका चावका नर्तकाश्चात्मिकाः शालिका मालिकाः कोलिका वांशिकाः ॥

काट्टिका लोट्टिका मात्तिकाः पात्रिकाः कांडिका दांडिकाश्चार्मिकादिछपकाः ॥ ६३६
विजयोद्या—गंधवज्रजट्टसचक्कजंतगिक्कम्मफरसे य गाथकानां, नर्तकानां, गजानामश्चानां च शा-
लायां । तिलमईनकुम्भकारशालायां च, रजकपाट्टिहोवण्डरायां समीपे । राजप्रागंत्य वा समीपभूतायां वसती ॥

अर्धं स्वयत्समाधिसोपनस्यप्यारावरुत्वायोग्यवसती निवसतः समाधिदवावातो भयतीति योग्यवसतिं
समिधाय निरुचिष्यन् गायासप्तकेन क्षित्तीनापि वसतिं सूचयति—उजादौ तावद्वाधादयमयोग्यशय्यां लक्ष्यितुमाह—
मूलार—गंधवज्र गंधर्वी कीर्त । णट्ट नृत्यं । जट्ट हस्ती । अस्त अश्वः । चक्क चक्कं कुम्भकारोपकरणं । जंत
येनं तिलेधुपीलनोपायः । कुरुते शांतिक्कम्मणिकारादिकः । पात्रिक । कोलिकः । रंजय रजकः । पाट्टिहिय पाट्टिहिकः
होदिकः । होमः श्रवणः । णट्ट नटः वंशवाद्योद्यनर्तकः । रायमगे मशवर्म्म, राजमगो या ॥

कोनसी वसतिगा योग्य है और कोनसी नहीं है इसका विवेचन ग्रंथकार करते हैं. प्रथमतः अपोग्य
वसतीका वर्णन करते हैं—
अर्थ—गंधर्वशाला-गायनशाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, तेलीका घर, कुम्भारका घर, घोषीका घर,
पात्रे वज्रांशालाका घर, दांडका घर, शंसके ऊपर चक्कर नृत्य करनेवालेका घर इतके समीप जो वसतिगा होगी वह
मुनिके लिये योग्य नहीं है. जो वसतिगा रावमार्गके समीप है वह भी युनिवासके लिये योग्य नहीं है.

चारणकोट्टगकट्टालकरकचे पुण्णदयसमीगे य ॥

एवंविधवसधीए होज्ज समाधीए वाषादो ॥ ६३४ ॥

चारणा चारणा चाजिनो मेपका, मद्यपाः पंडकाः सार्थिकाः सेवकाः ॥

भ्रातिकाः कोट्टपालाः कुलाला भटाः पण्णनरीजना दूतकारा विटाः ॥ ६३७ ॥

संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रिया । सा न शय्या निषेज्या कदाचिद्वृक्षैः ॥

पालयद्भिः स्वभावनरत्नं सदा रुढसंसारकांतराविच्छेदकम् ॥ ६५८ ॥

विज्ञयोदया—चारणकोट्टयकृत्तलकरकचे चारणकोट्टयकृत्तलकायां, रजकशालायां, रसवणिक्शालायां । पुष्प-
पाटस्य या जयादायस्य या समीपगुतायां । पक्षिपक्षसमीप ईददयां यस्तौ वसतः । होज्ज याचयो भवति व्याघातः ।
कस्य ? समीपे सगामेच्छितैकाग्र्यस्य । शीघ्रविक्रयणाणां मनोमनानां शब्दानां रूपादीनां च त्रिचिधानाञ्छब्दग्रहणत्वान्व
स्थानविप्रो भयतीति प्रतिनिरूप्यते व्यापगतिता वसतिः ।

गुलारा—चारण भंडनमाचार्यमायकादयः । कोट्टय कुट्टकाः । वर्द्धकिदिताडुट्टैवृक्षालिकावयः । कलाल करुण
पाठः । करकचे करुचं करुचत्रं । पुष्प पुष्पमाटिका नालाकारम् । इय उदकं वापीकूपादिजलाशयम् । समीपे यापा-
दौ विसैकाग्रताया विनाशो भवति मनोमोहनिद्राभोगां धनियानाञ्छब्दग्रहणत्वान्व ॥ अत्र गंधर्वदिपदैः साक्ष्यार्थोदिना
गायकादयो गृह्यन्ते । तेन गावरादिशालासमीपपरिचिन्त्यं यस्तौ समाधिकार्मेन रथातक्यमिति वात्पर्यार्थः ।

इहं च—गाथका पादवः । नर्तकामात्रिकाः शाळिका मलिकाः कोलिका वंशिकाः ॥ काटिका लौहिका मारिकाः
पात्रिकाः । कटिका शिष्टिकाधार्मिकानिच्छपकाः ॥ चारणा यावथा याचिनो धेपका । मद्यणाः पंडकाः सार्थकाः सेवकाः ॥
मायिकाः योद्धापाठाः कुत्राडाः भटाः । पण्यनारीजना धूतकारा विदाः ॥ संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रियाः सा न रुद्व्या
निषेज्या कदाचिद्वृक्षैः ॥ बालवार्द्धिः समायाजनत्वं सदा रुढसंसारकांतराविच्छेदकं ॥

अर्थ—मांद, प स्तुतिपाठकं, जहां रहते हैं ऐसे स्थानके समीप जो वसतिका होती वह भी मुनिनिवासके
लिये अयोग्य है, जहां शिलागट लोक रहते हैं, जहां बडई, पाथरगट लोक रहते हैं, और जहां मद्य सेचनेवाले
लोक रहते हैं ऐसे स्थानके समीप वसतिकामें मुनिका रहना योग्य नहीं है, जहां घोबी लोक कपड़े धोते हैं उस
स्थानके समीप वसतिका करना योग्य नहीं है, जहां काठ करोखों बिदागते हैं उस स्थानके समीप वसतिका होना
योग्य नहीं है, यगीचा और जलाशयके समीप वसतिका रहना योग्य नहीं है, ऐसी वसतिकाओंमें रहनेसे चित्तकी
एकाग्रताका नाश होता है, ईद्रियों के मनोहर विषय, और शब्दादिक विषय, समीप होनेसे ध्यानमें विम होता
है, इसलिये ऐसी वसतिकाओं में मुनियों के लिये वर्ज्य मानी हैं,

क. तर्हि कथं लिख्यत्यश्वत्थरात्रे—

पंचैदियप्ययारो मणसंस्मोमकरणो जर्हि णत्थि ॥

चिद्धदि तर्हि तियुत्तो उद्वरणेण सुहप्पवत्तेण ॥ ६३५ ॥

पंचाशमसरो यस्यां विचते न कदाचन ॥

त्रियुत्तो वसतो तस्यां शुभध्यानोऽवतिष्ठते ॥ ६३६ ॥

विजयोद्या— पंचैदियप्ययारो पंचानामिन्द्रियाणां स्वविषयाभिमुख्येनादरात् प्रकटं गमनं । ऊर्हि यस्यां यस्यैव जायते । कीदृशैदियमचारो मणसंस्मोमकरणो मनसंस्मोमकारी । तर्हि तस्यां वसतौ । चिद्धदि तिष्ठति । त्रियुत्तो कुतमलोपादायसंदेहकः । उद्यमेण । प्यमेव सुहृत्प्यवत्तेण सुखप्रवृत्तेन ।

क. तर्हि कथंभूतः सद् क्षपकस्त्वितिरयत्रा—

मूलारो—ययारो प्रणारः त्वत्स्वविषयाभिमुख्येनादरात्प्रकटं गमनं ग्रहणाय प्रवृत्तिः । चिद्धरि तिष्ठति । सुहृत्प्यवत्तेण सुखेनानायासेन प्रपदंमानेन ॥

क्षपकं ह्यनि कदां और कसे रहते हैं इत् प्रश्नका उत्तर कहते हैं—

अर्थ—जहां रहनेसे सुनिर्वाणी की इन्द्रियां अपने अपने विषयों के तरफ न दौड़ेगी, जहां रहनेसे मनकी एकाग्रता नष्ट न होगी ऐसे स्थानमें अर्थात् ऐसी वसतिकामें त्रियुत्तियारक ह्यनि निवास करते हैं, जिसमें रहनेसे स्थानमें निर्विमता होगी वह वसतिक्षा ह्यनिनिवासके लिये योग्य है.

मनःसंक्षोभहेतुः पंचानामिन्द्रियाणां प्रणारो यस्यां वसतौ नास्ति तस्यां सर्वस्यां तिष्ठति न येत्यश्वत्थे—

उत्तमउत्तप्यादणसणविमुत्ताए अकिरियाए हु ॥

वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए ॥ ६३६ ॥

उत्तमादिमलापोढा सप्रकाशा भक्तक्रिया ॥

संस्काराकरणायोग्या सम्मूर्च्छनविर्वाजिता ॥ ६३७ ॥

विजयोद्या— उत्तमउत्तप्यादणसणविमुत्ताए उत्तमोत्पादनैषणोपरिहृतायां । अकिरियाए हु आत्मनः उप-

मेगनमा जंतुकिपागदितायां । यमदि यमति । अमंयताए तयस्येतगंनुंदेय सत्यैरंतितायां । बिण्णहुडिगाए संदह्य ररति-
तायां । मंउजाए यमनी ॥

म च यस्यां मतःश्लोकः षडेन्द्रियप्रवायो नास्ति तस्यां मरस्यामेव स्थेयं किं तर्हि तथाभूतायामप्युद्गमादि-
रोपरहित्त्यादिबिम्बिद्यायायेत्यनुमासि—

मृत्यरा — अकिरियाए आत्मानमुदिरय सम्भार्जेनलेपनादिकियाएदितायां । असंसत्ताए वज्रस्यैरांगकुंक्ष
मरदेवैलितायां या । बिण्णहुडिगाए सर्पमुपद्वरदितायां । किःसंकारायाभिलम्ब्ये ।

त्रिममें मन धुण्य होता नहीं है, त्रिममें रहनेमें पंचेन्द्रिय अपने विषयके प्रति दीव लगावे नहीं है ऐसा
नपं ही स्थान दुनिजोके लिये योग्य है क्या ? इस प्रश्नका उत्तर—

अंधं—जो घसतिमा उद्गम, उरपादन और एषणा दोषोंसे रहित है. जो यसत्तिका सुनि के उदेउपेय
स्तिपी पीवी मरं नहीं है ऐसी यमविकामें धूपक रहते हैं. जिसमें जंतुओंका चास नहीं है अथवा बाहरसे आकर
जहां प्राणि पाम नहीं करते हैं, जो संस्काररहित है ऐसी यसत्तिकामें सुनि रहते हैं.

त्रिरौग का यसतीरायवित्थया इत्यत्र यसति व्याख्येयति-

दो तिणिण वि सालाओ घेत्तब्बाओ विसालाओ ।

सुहणिकखलवणपवेसणयणाओ अवियडअणंघयाराओ ॥ ६३७ ॥

मिथ्याहट्टिजनागम्या गृहिशय्यायिचर्जिताः ॥

द्वित्रा यसतयो आत्माः सेव्या विध्वस्ततामसाः ॥ ६६१ ॥

विजयोप्या — सुगणिपरायणपवेसणयणाओ बौद्धचमपेक्षविर्गमना अपि । अवियडअणंघयाराओ अविवृल्लटाए
अगंयकाराअ जययतो दे नाले भाते । एक्कं एणको घसति, बन्धस्यो अण्णं यतयो यासज्जनाएच घमेश्वयनार्यामा-
याताः । पिपुत्तपाराजया दीतपत्तादिमयेशात्तयणसियमायतनोदुस्सहं दुग्गं स्यात् । उदीरसल्लःअणोऽपि कयमप्रच्छने
क्रियेत । अंपकारपणुले चत्तयमः स्यात् । अनुगमिज्जमण्यवेशायां आत्मविपायना असंयमविपायना च ॥

पुनर्वसति गरीयसां च व्याख्येयति—

गूलाए — सुहणिकखलवणपवेसणयणाओ सुगतिर्गमाः सुतप्रवेशा निविधाश्च । दुःखनिर्गमप्रवेशायामात्मनो पाल-

युद्धजनानां च विराधनां स्वात् । अनिर्विहायां अप्रकस्य त्वगसिन्धुप्रतप्तोः शीतलपट्टिद्वारं दुःसहं स्थानम् । अविग्रह अधिकटा संवृतद्वारा पितृद्वाराया यनंतरोकद्वय दोषो विष्णुतोः सङ्गदुष्फलं च । अर्वाधयाजो अंशकाररहिताः । अंधकारवहुलायां असंयमः स्यात् । दो विष्णिविद्धे तिन्यो वा । तत्र यदि द्वे संपवेवे वदैकस्यां क्षपकसिद्धेत् अन्यस्यान्ये यतयो धर्मधवणा-धर्मागतौ मन्वडोकद्वय । यदि विस्वस्तदा क्षपकः, संपो धर्मदेवता च पृथक् पृथक् प्रवर्तते ॥ चेतन्वाजो मन्वाः ॥

कोनसी निर्दोष वसतिकाओका आथय लेना चाहिये इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—जिनमें सुखसे प्रवेश कर सकते हैं और बाहर आसकते हैं, जिनका द्वार दफा हुआ है, जिनमें विपुल प्रसाद है, ऐसी बर्दी दो वसतिकाओं क्षपकके वास्ते जवन्यतया होनी चाहिये, एक वसतिकामें क्षपक रहता है और दूसरीमें अन्य मुनि और प्रभेधवार्थ आये हुये लोक रहते हैं, यदि तीन वसतिकायें होगी तो एकमें क्षपक दूसरीमें संपके मुनि और तीसरीमें धर्मोपदेय ऐसी पृथक् पद्धति समझना चाहिये, वसतिकाका द्वार दफा नहीं होगा तो शीत वातादिकोका प्रवेश होनेसे केवल चर्म और अस्थि ही जिसके अवशेष रहे हैं ऐसे क्षपकको दुःसह दुःख होगा, जत वसतिकाका द्वार दफा हुआ ही होना योग्य है, द्वार दफा नहीं होगा तो ऐसी वसतिकामें शरीरमलत्याग क्षपक कैसे कर सकेगा ? यदि वसतिकामें बहुत आधार होगा तो वहाँ रहने से असंयम की प्राप्ति होगी, जिस वसतिकासे पाहुर जानमें और अंदर जानेमें यदि कठिन्ता होगी तो आत्मविराधना और संपमविराधना ये दोष उत्पन्न होंगे,

अन्यथाज्ये—

घणकुट्टे सकथाडे गामवाहिं वालखुदुगणजोम्ने ॥

उज्जानघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुणहरे ॥ ६३८ ॥

निबिड्याः संवृतद्वाराः सुप्रवेशविनिष्कमाः ॥

सकवाटा लसत्कुब्जा पालधृज्जनोचिताः ॥ ६३९ ॥

चित्तयोव्या—घणकुट्टे रढकुले । सकवाडे कण्टकसहिते । गामवाहिं ग्रामवाह्ये प्रेशे । वालखुदुगणजोमे गालानां वृक्षानां गलस्य चतुर्विधस्य योग्ये उचानकृदे । गुहाए गुहायां । वा सुणहरे शृत्यश्रुते वा । संचारो होदिति क्रियापदवि-संशयः ॥

मूलात् — पण्डिते हृदयविविधभित्तिके । गगनबहिः श्रामाहृदिदेशे । आळवुगुणलोभो काळानां घृष्टानां गणस्य
पतुर्विधस्य च उचिते । निरिक्तेन्द्रे पर्यवर्त्तय । शुद्धस्य देवताविकले ॥

और भी योग्य वसतिकामा वर्षण—

अर्थ—जिमके किवाड और भित्ति मजबूत हैं ऐसी वसतिकार्यों गांवके बाहर होनी चाहिये, जहाँ चालू और
बूढ़ और चार प्रकारका गण आ जा सकते हैं ऐसे फासले पर वसतिकार्यों होनी चाहिये, उलानगृह, गुहा, और
शून्य पर ये भी वसतिकार्य योग्य माने गये हैं ऐसे स्थानमें क्षणकाल संस्कार करना योग्य है-

आमंतुपरादीषु त्रि फटपुहिं य चिलिमिलीहिं कायव्यो ॥

खवयस्सोच्छागारो घम्मसवणमंडवादी य ॥ ६१९ ॥

उषानमंदिरे हूये शुद्धायां शून्यवेइमनि ॥

आमंतुकनियासे वा स्थितिः कृत्वा समाधये ॥ ६२३ ॥

क्षपकाच्युपिते धिज्जये धर्मश्रवणमंडपः ॥

जनानंदकरः अयः कर्तव्यः कटकादिभिः ॥ ६६४ ॥

इति शब्दग्रा ।

विश्वयोद्धया—आमंतुपरादीषु वि आमंतुकैः रक्तधापरायातैः सार्धकैः कृतेषु शुद्धादिषु संघारो होदिति वक्ष्य-
मायेत खंरंधः । उक्तानां घसतीनामलामे कटपदि कटैः । यज्जस्य क्षपकस्य धरस्थितये प्रस्तादने कार्यं । धम्मसवणमंड-
वादी य धर्मश्रवणमंडपादितं च अनेन यदुत्तरांसयमनिमित्तयसतितयाता, मंयमसाधनवसतिविकल्पद्वय कथितः । सेउजा ॥

मूलात्—आमंतुपरादीषु आमंतुभिः रक्तधापरायातैः सार्धकैः कृतेषु गृहेषु । आदिगन्देन अन्येवपि एव
विषेषु धम्मजयोगेषु धनकुडवादिगुणोपेतोद्यानगुहादिषु पंचसूत्रेषु क्षपकस्य संस्कार कर्तव्य इति संबंध । उक्तानां
वसतीनां अलामे यत्कर्तव्यं तदाह कटपदि इत्यादि चटुर्वर्गसदृशमयश्चच्छादनैः । चिलिमिलीहिं पट्टिभिः । उच्छागारो
अवस्थितये गृहं । अन्ये उच्छागारो इति पट्टिया प्रच्छन्नप्रवेशमित्याहुः । न केवलमेव एव कर्तव्यो, यायता धर्मश्रवण
मंडपादि च कर्तव्यं कटागिमिरिति संबंधः । एतेन बहुतरांसयमनिमित्तयवसतितया, संघमसाधनवसतिविकल्पश्च
कथितः । वसतिः सुत्तम् २५ ॥ अंकव ७ ॥

अर्थ—एक भाँवसे दूसरे भाँवको व्यापार करने के लिये जानेवाले व्यापारी लोगोंके लिये निर्माण किये पर चोरे स्थानोंमें भी धुपकके लिये संस्तर की योजना करते हैं और भी जो मुनि के लिये योग्य स्थान हैं उनमें संस्तरकी रचना कर सकते हैं—उपलुंक वसतिघाओं की प्राप्ति नहीं होगी तो बाँसके दलसे तट्ट और आच्छादन घनवाकर वसतिका निर्माण करना चाहिये—वसतिकाके सिवाय घर्मोपदेशके लिये सभामंडपादिक भी बनवाने चाहिये—इतने विवेचन का अभिप्राय यह है कि जिसमें असंयम अधिक उत्पन्न होगा ऐसी वसतिकाओंका त्याग करना चाहिये, संयमसाधक वसतिघाओंके विकल्पका वर्णन भी इससे सिद्ध होता है, इस प्रकार वसतिकाका वर्णन हुआ.

एवंयूलायां यस्तौ संस्तर इत्यम्भूत इत्याचरे -

पुढवीसिलामओ वा फलयमओ तणमओ य संयारो ॥

होदि समाधिणिमिच्च उत्तरसिर अहव पुज्जसिरो ॥ ६४० ॥

उत्तराशाशिराः क्षोणीशिलाकाष्ठतृणात्मकः ॥

संस्तरो विधिना कार्यः पूर्वोशामस्तकोऽथवा ॥ ६४५ ॥

विश्वोदया—पुढवीसंयारो भवति । सिलामयो वा शिलामयो वा । फलयमओ फलरुमयोवा वा । तणमओ वा दणमयो वा । समाधिणिमिच्च समाध्यम् । उत्तरसिरमथ पुज्जसिरे पूर्वोत्तमान् उत्तरोत्तमानो वा संस्तरः कार्यः । प्राची दिग्भ्युदयिकेपु प्रशस्ता । अथयोत्तरादिक् स्वयंप्रभासुत्तरदिग्गततीर्थकरस्तुदेशेन ।

अथ प्रागुक्तलक्षणायां योग्यवस्तौ आरापकत्व समाभ्यगतया संस्तरं माधसप्तकेन तिरुगविष्यन्पूर्वं वट्टेरां अदुरो प्रस्तुमिदमाह—

मूलाए—उत्तरसिरे इत्यादि उत्तरादि दिक् स्वयंप्रभासुत्तरदिग्गततीर्थकरस्तुदेशेन शुभकार्ये चागमे प्रशस्ता । लोके पुनः आम्बुदयिकेषु कार्येषु पूर्वो दिक् प्रशस्त्यते सूर्याग्नपत्वात् । अत्र उत्तराशिराः पूर्वक्षिरा वा क्षपकरय समाध्यर्थं दृष्टिव्यादिमयः संस्तरः कर्तव्य इति सात्वयेम् ॥

इस प्रकारकी वसतिकायें संस्तर केसा होना चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—संस्तरके दृष्टिधी संस्तर, शिलामयसंस्तर, फलरुमयसंस्तर और तणमय संस्तर ऐसे चार भेद

है- गमाधिके निमित्त इन संस्तरों की आवश्यकता रहती है, इन संस्तरोंके मल्लका माग पूर्वं दिया अथवा उत्तर दिगाने तरफ होना चाहिये, पूर्वं दिया अत्युदधिक कागमें प्रशस्त मानी जाती है और उत्तर दिया विदेह क्षेत्रमें धर्मप्रभादितीर्थर उत्पन्न हुए हैं उनकी भक्तोंके उद्देशसे प्रशस्त मानी गयी है-

भूमिसंस्तरनिरूपणाय याथा-

अथसे समे असुसिरे अहिसुयअविले य अप्पपाणे य ॥

असिणिद्धे घणगुत्ते उज्जोवे भूमिसंघारो ॥ ६४१ ॥

निस्सिग्यत्थसुत्त्वस्पर्शः प्रासुको निर्विलो घनः ॥

संस्तरः क्रियते क्षोणीप्रमाणरचितः समः ॥ ६४६ ॥

विजयोदया - अथसे समृद्धी । समे भूमिजोयता । असुसिरे असुयिरा भयिला । अहिसुया उद्देहिकारहिता सप्पपाणे निर्जन्तुका । असिणिद्धे अनाद्री । घणगुत्ते पना गुप्ता । उज्जोवे उद्योतवती भूमिः । भूमिसंघारो भूमिसंस्तरः । सुद्धी भूमिपोयते फलरणवर्द्धनेन । अस्तमिलेन तृणामनो याथा । सुपिरे विले या प्रविष्टा निर्मितास्तत्रयाः पीकयन्ते । भाद्रावेदपकायितानां पीडा । मसुद्योते अपपद्यतः कथमसंयमपरिहारः । अन्ये तु सप्तम्यततां श्यायन्ते । असुद्धयां अभिम्नोभतायामसुवितायां इति वदयुक्तं । अधियस्स संस्तरस्य अन्यत्वाभावात् । अपि च पुबवी सिलाभमो या इति धम्येन पृथिवीरूपतया संस्तरस्योक्तः ।

भूमि संस्तरिकुं छवपवि-

मूलार-अपसे अधद्वी । समे अभिम्नोभता । असुसिरे अहिच्छा । अहिसुय उद्देहिकारहिता । अप्पपाणे निर्जन्तुका ॥ अप्पमाणे क्षपहसरीरप्रमाणा ॥ असिणिद्धे । अनाद्री । पना घना सुद्धा ॥ गुणे अफकटा । उज्जोवे उद्योतवती ॥ भूमि भूमिः । अटस्यत्वादियमगुणोपेता छितिः संस्तरो भवेत् “अत्रावेत्वात्ययमार्थे सप्तमीलिगप्रत्ययइय । उक्तं च ॥

निर्जन्तुका पना गुप्ता समामृद्धी सुनिर्गला ॥

अनाद्री स्वप्रमाणा च मोद्योता संस्तरो घरा ॥

सुद्धी हि भूमिगर्भितरचरणार्द्धनेन चाभ्यते । अधभायायात्मनो याथा । सच्छिद्रायां छिद्रप्रविष्टास्तत्रस्था वा निर्मिताः प्राणिनः पीडयन्ते । उद्देहिकासंभवयोग्याथां संन्यासकालोद्भूतोद्देहिकाणिः क्षपको दंदइयते । सप्राणिकायां

प्राणिसंयमविराज्य स्वप्नमाणाचिकारां न्यर्थः शतिलेखनादिष्ठ्यासंगः । प्रमाणहीनायां गात्रसंकीर्णदुःखं । आर्द्रायां अण्मादिकर्जंतुपीडा । जहदायां वंगमारेण यमन्त्यां वज्रतर्जुवाधा, शयितुः कष्टं च । प्रफट्यायां गिध्याट्टिजानुपंगः । अनुपोगायां दृष्टिमतिवैषादः शकोऽसंयमपरिहारः ॥

भूमिसंस्तरका निरूपण करनेवाली गाथा —

अर्थ—जो जमीन मृदु नहीं है वह संस्तरके लिये योग्य है. जमीन मृदु होगी तो वह हाथ और पायोंके मईनसे चाधित होगी. वह जमीन अगुणिर होनी चाहिये. सुषिप्त—छिद्र होगे, बिल, होंगे तो उसमेंसे निकले हुए और प्रचिष्ट हुये त्रसजीवोंको पाधा होगी. वह सभा होनी चाहिये. वह ऊंची नीची होनेसे क्षपकको सोनेमें पाधा उत्पन्न होगी. यदि वह गीली होगी तो जलकार्षिक जीवोंको पाधा पहुंचेगी, इसलिये वह छलसीही होनी चाहिये. कृमिकीटकादिकसे रहित, प्राणिरहित, प्रकाययुक्त, क्षपकके देहप्रमाणके अनुसार और शुभ, सुरक्षित होनी चाहिये. यदि प्रकाशरहित हो तो अंत्यमका परितार हो नहीं सकेगा. प्राणियोंसे युक्त होमी तो प्राणिसंयमका रक्षण क्षपक नहीं कर सकेगा. कृमिकीटक सहित होगी तो कीटादिक जंतु क्षपकके देहको काट खायेंगे. वह शरीर-प्रमाणसे अधिक होनेपर शतिलेखनादिकका व्यासंग अधिक करना पड़ेगा. प्रमाणसे हीन होगी तो शरीरसंकीच करना पड़ेगा. यदि रूढ़ न होगी तो क्षपकके अथवा शोधन करनेवाले के शरीर से दब जाने पर उसमें रहनेवाले जंतुओंको पाधा पोहोचेंगी. यदि शुभ न हो तो मिथ्याटाट्ट लोकोका संसर्ग होगा. अतः मृदुत्वादिविदोषोंसे वर्जित पृथिवी-जमीन संस्तररूप होगी. अन्यथा नहीं.

विद्वत्थो य अफुडिदो णिकंपो सव्वदो असंसत्तो ॥

समपट्ठो उज्जोवे सिलामओ होदि संथारो ॥ ६४२ ॥

विच्चस्तोऽप्सुदितोऽकंपः समपट्ठो विजंतुकः ॥

उचोते मसूणः कार्यः संस्तरोऽस्ति शिलामयः ॥ ६४७ ॥

विजयोऽया—विद्वत्थो य विचस्तः । वहात्तुदनाद्वर्णना । अफुडिदो अस्फुटितः । णिकंपो निमलः । सचवो समंतात् । असंसत्तो जीयरहितः । पापजमत्कुभादिरहित इति यावत् । समपट्ठो समपृष्ठः । उज्जोद उद्योते । शिलामओ होदि संथारो शिलामयो भवति संस्तरः ॥

शिलासंस्तरमाह—

मृदाया-विद्रुगो विव्रत्वो दाहलुटनघर्षणादिभिः प्रासुकीभूतः । अफुडिदो अस्फुटितः । निर्वहो निश्चलः ।
पापणमलुणादिरहितः । समपट्टो समतलः । उज्जोए समकाशप्रदेशे वर्तमानः ।

शिलासंस्तरका विवेचन—

अर्थ - शिलाभय संस्तर विचल अर्थात् अग्निज्वालासे दग्ध, टाकीके द्वारा उकीरा गया अथवा चिसा हुआ होना चाहिये, क्योंकि अग्न्यादिके द्वारा वह प्रासुक हो जाता है, वह शिलाभय संस्तर टूटा निश्चल हो, सर्वतः जीवसि रहित, मलुणादि जीवसि रहित, समतल, और प्रकाशयुक्त होना चाहिये.

भूमिसमकंदलहुओ अकुडिल एगंगि अप्पपणो य ॥

अम्बिहो य अफुडिदो लण्हो वि य फलयसंथारो ॥ ६४३ ॥

लघुर्धूमिममो खंदो निःशब्दः स्वप्नमाणकः ॥

एकांगः संस्तरोऽछिद्रः सुदृष्यः काष्ठमयो मतः ॥ ६४८ ॥

विकीर्षण-भूमिसमकंदलहुओ भूयवकणः, मदान्, छपुः । अकुडिल एगंगि अप्पपणो य अचलः, एक-
शरीरः, निर्लन्तुकः । अम्बिहो य अछिद्रः । अफुडिदो अस्फुटितः । लण्हो मधूणः । फलयसंथारो फलकसंस्तरः ॥
फलकसंस्तरं क्यावहे-

मूळारा-भूमिसक समंततो भूमिदग्धः । रंदं विस्तीर्णः । लहुओ वल्लु नेतुमानेतुं वा सुसकः । अकुण्कुचोकांग
अकुण्कुचो तिःशब्द एकांग एकफलकः । अप्पमाणो पुरिप्पमाणः । लण्हो मधूणः ॥

फलकभय संस्तरका वर्णन—

अर्थ—चारों तरफसे जो भूमिसे संलय हुआ है, रंद, और हलका, उठानेमें रखनेमें अनायासकारक,
सरल, अखंड, निर्जन्तुक, स्निग्ध, मृदु, अफुट ऐसा फलक संस्तर के लियें योग्य है.

गित्संघी य अपोहो गिरुवहदो समधिवास्तनिज्जंतु ।
 मुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥ ६४४ ॥
 कृत्यस्तृणमयोऽसंधिः संस्तरो निरुपद्रवः ॥
 निःसम्भूच्छेरपच्छिद्रो मृदुः सुप्रनिलेखनः ॥ ६६९ ॥

विजयोद्या—गित्संघी य अंगिरहितः । अपोहो अच्छिद्रः । गिरुवहदो निरुपद्रवः अचूर्णितः । समाधिवास्त-
 निज्जंतु । मृदुरयो निर्जंतु ॥ । मुहपडिलेहो सुयेन प्रविलेपनीयः सुयेन शोभ इति यावत् । मउओ मृदुः । तणसं-
 थारो हवे चरिमो वृणसंस्तरो भवेदन्त्यः ॥

वृणसंस्तरं व्याचष्टे—

मूलात् — गित्संघी निर्गन्धिवृणविरचितः । निरुपद्रवसमायनगुणो ग । अपोहो धंतश्च्छिद्ररहितवृणः । गिरुव-
 हदो अचूर्णितवृणः । समधिवास्त समधिवास्यः सम्यगधिवासुं कथ्यः । लब्धं जनायोग्यत्वात् । मउओ मृदुः ॥

वृणसंस्तरका वर्णन—

अर्ध—वृणसंस्तरं मांठ रहित वृणसे वना हुआ, छिद्ररहित, न ठटे हुए वृणसे रचा गया, जिसपर
 सोनेसे अथवा पैठनेसे अंगमें खुजली उत्पन्न न होगी ऐसे वृणसे बना हुआ, मृदुस्पर्शवाला, अंतुरहित, जो सुखसे
 शोधा जाता है ऐसा होना चाहिये.

जुचो पमाणरइओ उमयकालपडिलेहणासुद्धो ॥
 विधिधिहिदो संथारो आरोहव्वो तिगुत्तेण ॥ ६४५ ॥
 प्रमाणरचित्तो योग्यः कालव्रित्तयशोभनः ॥
 आरोहव्वखिमुत्तेन संस्तरोज्जं समाधये ॥ ६७० ॥

विजयोद्या—जुचो सुब्बो योग्यः । पमाणरइओ प्रमाणसयन्वितः । नाथस्यो गतिमहान् । उमयकालपडिले-
 हणासुद्धो सुप्रीत्यास्तमनजालद्वये प्रविलेपनेन शुद्धः । विधिधिहिदो संथारो शास्त्रनिर्विघ्नमहत्संस्तरः । आरोहव्वो
 आरोहव्वः । केन तिगुत्तेण विमुत्तेन कृताशुभमनोवाक्यानिरोधेन ।

चतुर्भिस्त्वपि संस्तरस्य गुणव्यापनमुद्येत आरोह्यमाह—

मूलारा—जुतो योग्य । पमाणरद्वो नात्यल्पविपुल । उययोऽकाल सूर्योदयास्तमनकालद्वये विधि शालकम् ॥
अर्थ—चारों प्रकारके संस्तरोंमें ये गुण होने चाहिये। योग्य, प्रमाणयुक्त, बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा जो नहीं है। सूर्योदयकाल में और सूर्यास्तकालमें शोधन करनेसे जो शुद्ध होवा है-शास्त्रोक्त विसकी रचना हुई है, ऐसे संस्तरपर मत, वचन और कल्पकी शुद्धकर क्षपकको आरोहण करना चाहिये।

गिसिदित्ता अप्पाणं सच्चयुणसमण्णिदंमि निज्जवट्ठु ॥

संथारस्मि गिसण्णो विहरदि सछेहणाविधिणा ॥ ६४६ ॥

निर्योपके समपर्यं स्वं समस्तयुणशालिनि ॥

प्रवर्तते चिधानेन क्षपकः संस्तरे स्थितः ॥ ६७१ ॥

तृणक्षोणिपापाणकाष्ठप्रशस्ते स्थितः संस्तरे धर्ममार्गप्रचीणा ॥

धुनीते समस्तानि कर्मानि योगी रणे योषवर्गो बलानीव धीरः ॥ ६७२ ॥

इति संस्तरः ॥

विजयोदया—गिसिदित्ता स्थापयित्वा । त्यक्त्वा अप्पाणं धारमार्गं । सच्चयुणसमण्णिदस्मि सर्वगुणसमन्विते निज्जवणे निर्योपके । संथारस्मि संस्तरे । गिसण्णो निपण्णो । विहरदि देखते । सछेहणा विधिणा सहेतुना द्विप्रकारा पाठार्थवत्तरा चेति । द्रव्यसहेतुना भावसहेतुना च । माहारं परिहाय गरीरसहेतुनां करोति । सम्यग्परोन्नादिभावनाया मिष्वारथाविपरिणामास्तनूकरोति । एवं वस्तुसंस्तरो निरूपितौ ॥

किं कृत्वा संस्तरमारुढः किं करोतीत्याह—

मूलारा—गिसिदिचा समपर्यं, सछेहणाविधिणा आहारपरिहायनेन गरीरं, सम्यक्त्वादिभावनाया मिवात्वा-र्थांश्च वनूकरोतीत्यर्थः । संस्तरः सूत्रव. २६ अंकतः ॥

अर्थ—क्षपक संपूर्ण गुणों से पूर्ण ऐसे निर्योपकाचार्य पर अपना सर्व भार सोपकर अर्थात् उसको ही शरण मानकर संस्तरपर आरोहण करता है और सहेतुबनाका विधिपूर्वक आचरण करनेकी शुरुआत करता है। सहेतुबनाके दो प्रकार हैं, वाक् सहेतुना और अयमंतर सहेतुबना अथवा द्रव्यसहेतुना और भावस-

छेत्तना. आहारका त्याग करनेसे शरीर सञ्छेत्तना होती है. सम्मग्दर्शनादिकी भावनासे मिथ्यात्वादिपरिणामों को क्षीण करना रूपसञ्छेत्तना है. इस प्रकार वसति और संस्तरका विवेचन समाप्त हुआ.

पियधम्मा ददधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा ॥

उंदण्ह पक्खइया पक्खसणमि य विदण्ह ॥ ६४७ ॥

स्धेपांसः मियधर्माणः संविन्नाः पापभीरवः ॥

रुयाताएउंदानुगमनाः कट्पाकल्पविचक्षणाः ॥ ६४८ ॥

विज्जदोदया—पियधम्मा मियो धर्मो येषं ते भवंति मित्थमर्माणः । ददधम्मा धर्मं स्थिराः, संविन्ना संविन्ना । संस्तरमीत्याः । घउज्जमीरुणो पापभीरवो धीरा धृतिमताः । उंदण्ह अभिप्रायार्द्धः । पक्खइया प्रत्ययिताः । पक्खसणमि य विदण्ह । प्रत्ययणफलकमत्ता । धर्मेद्वयदिग्धं तेन प्रियचारिता यतः । ततस्त्वारिणे क्षपक्रमपि धर्मेयिमुत्सहन्ते तस्माद्ददयतां ॥ कर्तुं । यद्यपि चारित्रेऽनुसाराग्रतः, सम्यग्दृष्टिनया तथापि चारित्र्यमोहोदयानुदवचारिता भवन्ति इति विशेषणमुपपक्षे ददचारिता इति । अदवचारिता हि न अक्षयम् परिद्रेयुः । कस्मादक्षयम् परिद्वरन्ति पापभीरवो यदमात् । संविन्ना विविचित्रयसनिधानसूत्रकतुर्नतिभ्रमणमयव्याकुलाः । धीरा ह्यमेन परीयदसहा इत्यावदायते । परीयद्वैः पराश्रितो न संयमे पालयतीति मग्न्यते । धृष्टकेन अनुकमपि तद्विगितेवायततत्प्रयोजना वैपाबुत्से चर्तस्ते । नानामिमायका इति वदयितुं उंदण्ह इत्युक्तं । प्रत्ययितव्या मुदाभिर्नामी असंयमं कुर्वन्ति क्षपके वैपाबुत्सेयता इति साकारनिराकारमत्याख्यामन्ताम् ॥

अथ तथा कृतपरिकरायाराधकस्य यमोक्तलक्षणयां वसती विविचिहितं संस्तरमारुडस्य अष्टावत्वारिंशतं सप्तधिसहाय्याभियोक्तुं चत्वारिंशतं याथा. सूत्रवशात् सल्लक्षणव्यापनार्थं गाथाद्वयमाह—

मूढारा—धीरा परीयदसहाः । उंदण्ह अभिप्रायविद । पक्खइया अनेकवारान्परितप्रत्यया. । धर्मो हि चारित्रं उतः स्वयमप्यिचारित्राः क्षपकमपि चारित्रे वर्तयितुं सहायतां च कर्तुं नोत्सहन्ते इति प्रियधर्माण इत्युच्यते । सम्यग्दृष्टितया चारितानुरागिणोऽपि चारित्रमोहोत्पादस्थितचारित्राः संत कथं क्षपकस्य चारित्रसमाधानाय प्रयतंत इति ददधर्माण इत्युच्यते । पापाद्विभ्यतो नासंयमं स्वजेयुरित्यवधमीरव इत्युच्यते । अयोक्ताणा अप्यनुगम्याभिप्रायमिति ताद्विभि-

मानमिच्छाश्च न गुणभिरास्वचरि कर्मण्यधिक्रियन्ते इति प्रत्यक्षिताः प्रत्याख्यानकर्मप्राप्तेऽनुच्यते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पदसाफ-
तयं विलम्बः ।

परिचारकोंका लक्षण दो गाथाओंसि आचार्य कहते हैं—

अर्थ—जिनका धर्मपर शास्त्र प्रेम है और जो स्वयं धर्म में स्थिर हैं संसारसे और पापसे जो हमेशा मययुक्त हैं, धैर्यवान और क्षपकके अभिप्रायको जाननेवाले, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपककी शुभ्रपा करने योग्य माने गये हैं, धर्म अर्थात् चारित्र्य, जो यदि स्वयं चारित्र्यपर प्रेम करते हैं वे क्षपकको भी उसके पालनेमें उत्साहित करेंगे और उसको मदत करेंगे, सम्यग्दृष्टि होनेसे चारित्र्य में वे केवल प्रेम ही करते हैं और चारित्र्यमोहनीय कर्मके उदयसे उनके चारित्र्य शिथिल होगा एसी शंकाफा निरसन करनेके लिये 'दिग्धम्मा' यह विशेषण है, अर्थात् परिचारक जैसे चारित्र्यपर प्रेम करते हैं वैसे वे उसमें दृढ़ भी रहते हैं, जिनका चारित्र्य दृढ़ होता नहीं वे असंयमका स्थापन करनेमें असमर्थ होते हैं, परिचारक गण पापसे मययुक्त हैं अतः वे असंयमका स्थापन करते हैं, ज्ञाना प्रसार के दुःखोंका निधानभूत ऐसे चतुर्गतिके भ्रमण से वे व्याकुल होयगे हैं इसलिये वे संसारभीरु यने हैं परिपक्वोंको वे सहन करते हैं, जो परिपक्वोंने पराजित होते हैं वे संपन्न पालनेमें असमर्थ देखे जाते हैं, जो क्षपक के दिना कहे भी मनके अभिप्राय जानते हैं वे ही वैयावृत्य कर सकते हैं, परंतु जिनमें अभिप्राय जाननेका सामर्थ्य नहीं है वे वैयावृत्य नहीं कर सकेंगे ऐसा अभिप्राय 'छंदण्डु' इस पदसे आचार्य ने व्यक्त किया है, जिनको खानार और निराकार प्रत्याख्यान का काम ज्ञात नहीं है और जिन्होंने पूर्वमें कभी क्षपकका वैयावृत्य किया नहीं है ऐसे मुनि अभिप्राय जाननेवाले हो तो भी उनकी आचार्य परिचारकके कार्यमें नियुक्त नहीं करते हैं, इसलिये परिचारक प्रत्यपित अर्थात् अनेकवार क्षपक की सेवा जिन्होंने की है अर्थात् जो अनुभवी हैं ऐसे होने चाहिये.

कप्पाकप्ये कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्ता ॥

गीदत्या भयवंता अहदालीसं तु पिज्जवया ॥ ६४८ ॥

प्रत्याख्यानविदो धीराः समाधानक्रियोद्यता ॥

पद्मताडिताष्टसंख्याना ग्राह्या निर्यापकाः पराः ॥ ६४९ ॥

दिनयोदया - कृष्णकले कुतस्वा योग्यमिदमयोम्यमिति भ्रंक्षनपरीक्षायां कुशलः । समाधिकरणजुजवा
क्षणवचित्तममाधानकरणीयताः । सुदरदस्ता द्युतप्रत्यक्षित्तययाः । भीदस्या सुदीतस्त्रयार्थः । भगवते भगवतः स्वपरो-
दारण्यमाद्वारप्रयन्तः । अट्टालीसं तु अष्टज्वाविशतसंख्या । पिञ्जवगा नियोपका यतयः ॥

मूढारा - कृष्णकले योग्यायोग्यभक्तानादिपरीक्षायां । भयवंगा स्वपरोद्वरणमाहलन्वचनाः ।

अर्थ - ये आहारणनादिक पदार्थ योग्य हैं इनका ज्ञान परिचारकोंको होना आवश्यक है यदि वे इस
ज्ञानने वंचित हो तो क्षणकाले असंयमे भी प्रवृत्त करने लग जायेंगे, आयोग्य आहारमें भी प्रवृत्त करेंगे। क्षणकाला
विच समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रथको जाननेवाले। आगममूळ, स्वयं और परका उद्धार करनेमें कुशल अर्थात्
स्वरोपकार करके उद्धार करते हैं ऐसी विनयी लगने कीर्ति फैली है, ऐसे परिचारक गति अट्टालीस होते हैं

निर्योपका इममुपकारं कुर्वन्तीति कथनयोत्तरप्रबंधः -

आमासणपरिमासणचंकमणासयण निसीदणे ठाणे ॥

उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उट्टणादीसु ॥ ६४९ ॥

आमर्शनपराभर्शगमस्थानशयादिसु ॥

उद्धर्तनपरावर्तप्रसाराकुंचनादिसु ॥ ६७५ ॥

विजयोदया - आमासणपरिमाणनवक्रमणसयणनिसीयणे ठाणे क्षणकस्य शरीरकेशस्य स्पर्शने आम-
र्शनं, समस्तशरीरस्य हस्तेन स्पर्शनं परिमर्शनं । चंकमणमितस्ततो गमनं । निसीदणे ठाणे निपद्यास्थानमित्येतेषु ।
उव्वत्तणपरियत्तणपसारणा उट्टणादीसु । उद्धर्तने पाश्चात्त्यान्वन्तरसंचरणे । हस्तपद्मदिप्रसारणे आकुंचनमित्यादिषु च ॥
निर्योपकाः क्षणकालेनमिममुपकारं कुर्वन्तीत्युत्तरप्रबंधेन कथयिष्यन्नादौ तेषां तद्वदपरिचर्यायां चतुरो नियोक्तुं
गयाद्वयनाद् -

मूढारा - आमासण-शरीरकेशस्पर्शनं । परिमासण सर्वगात्रस्पर्शनं । चंकमण इतस्ततो परिचरणं ॥

दण्डकके ऊपर उनके द्वारा किये जानेवाले उपकारका आचार्य वर्णन करते हैं -

अर्थ - शरीरके एक देयका स्पर्शन करना उसको आमर्शन कहते हैं। अर्थात् हाथ या पांच अंगों पर अव-
रोधी याथा दूर करनेके लिये हाथों दायना, पगचंपी करना, संपूर्ण अंगके स्पर्शनको परिमर्शन कहते हैं- अर्थात्

नैपुण्यं अंग अपने हाथमें मृत्र दावना विसागे छुपककी देहवाया मिटिगी. क्षपककी हाथका आथ्रय देकर इधर उधर चलने गमय मंदत करना इसका प्रक्रमण कहते हैं. उसको संस्तरपर सुलाना, हाथ देकर बैठाना, खडा करना, उसको पदप्रगलने दुमरे बगलपर सुलाना, हाथ पांव पसराना, संकुचित करना इत्यादिक उपकार परिचारक सुनि करते हैं.

संजदकमेण खवयस्स वेहकिरियाहु पिच्चमाउत्ता ॥

चदुरो समाधिकामा ओल्लगंगांता पडिचरंति ॥ ६५० ॥

वेहकर्मसु पेठने क्षपकस्य समाधिवाः ॥

वत्थारो यत्तयो मयस्सया परिचर्यापययणाः ॥ ६५१ ॥

विज्जलोकणा - संजदकमेण मयत्तेनेय । सयमस्त क्षपकस्य । वेहकिरियाहु शरीरक्रियाहु व्यापणिताहु । पिचं मतिदिने । माणुसा प्रायुताः । चदुरो चत्वारो यत्तयः । समाधिकामाः क्षपकस्य समाधिकदलमभिलषन्तः । ओल्लगंगांता उपासनां कुर्वन्तः । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति । 'वत्थारि जणा धम्मं कहंति विक्कधानो वज्जिज्जा' इति पदसंबंधः चत्वारो धर्म कथयन्ति विकथाः परितन्य ॥

मूखारा - संजदकमेण सुनिमोण । आदरा मनीषाकावैः समाहिताः । समाधिकसा क्षपकस्य समाधिभिः कण्ठः । ओल्लगंगांता पमुंठि कुर्वन्ति । पडिचरंति प्रतिचारका भवन्ति ॥

अर्थ - यह सब उपकार करते समय परिचारक सावधानी रखते हैं. अर्थात् असंयमकी उत्पत्ति न होगी और क्षपकको मनाधान होगा ऐसा प्रयत्न करते हैं. उपर्युक्त कार्य करनेकोलेपे हमेद्या चार परिचारक सुनिओकी नियोजनार्थ योजना करते हैं.

कास्ता विकथा भवन्ति ।

भचित्थिराजजणवक्कदण्णत्थण्डणट्टियक्काओ ॥

वज्जिज्जा विक्कहाओ अउद्धणविचायणकरीओ ॥ ६५२ ॥

खीराजमन्मथाहारद्रव्यदेसादिगोचराः ॥

विमुच्य विकथाः सर्वाः समाधाननिपुदनीः ॥ ६५३ ॥

विजयोदया—भक्तिसिधाराय अणवदकंदप्राथम्यलक्षणाग्रहायो । भवेत् मल्यते सेव्यते इति भक्तं चतुर्विधाहारः । भक्तस्य, गीतां, रासां, जनपदानां रागोद्रेकात्मदाससमिधोऽग्निष्टवप्राप्तप्रयोगः कंदर्पः तस्य अयस्य, गङ्गानां, गर्तिकाणां च यतः कथास्ततः । अस्तप्यसिराधनकरीओ । अतमानमसिचतवे इत्याध्यात्मिकं । आत्मनस्तत्त्वनिष्पन्निरूपणं ध्याने तस्य सिराधनकरीओ विराधनाकारिणीः ॥

पत्नारो विक्रयास्तवक्ता धर्मं कथयधीत्येवद्वयायावबोणाह—

महारा—भक्तिसिध भक्तकथां लीकथां च । कंदुप्राथम्य कामकथां धनकथां च । लक्षणाद्वय नटनार्त्तिकाकर्था ।

विद्वानाओ भार्गविकथकथाः । अवकाशं शुभच्यवनं ॥

चार मुनि विक्रथाओंका त्याग कर धर्मकथाका वर्णन करते हैं ऐसा आगे संबंध स्पष्ट करेंगे, प्रथम विक्रथाओंका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—चार प्रकारके आहारका वर्णन करना भक्तकथा है, स्त्रियोंका वर्णन करना लीकथा है, राजाओंकी कथा कहना राजकथा है और अनेक देशोंका वर्णन करना देशकथा है, कामविकारसे उन्मत्त होकर हास्य-मिश्र असम्यक् वचन बोलना उसको कंदर्प कहते हैं, वांसकं ऊपर खेलनेवाले और वृत्त्य करनेवालोंका वर्णन करना ये सब दुःकथायें हैं, ये आत्मार्थके स्वस्वरूपके चिंतनमें बाधा उत्पन्न करती हैं, इस लिये इनको त्यागकर शय्यकको चार मुनि हमेशा धर्मका उपदेश देते हैं,

कथं तादृं कथयंति—

अखल्विदमगिद्विदमव्याहृष्टमणुन्चमविलंबिदममंदं ॥

कंतमभिच्छामेद्विदमणत्पहीणं अपुणरुतं ॥ ६५२ ॥

अनाकुलमनुद्विदमन्याथेषमनुद्धतं ॥

अनर्थहीनमगिद्विदमविचलितमदृतम् ॥ ६७८ ॥

विजयोदया—अखल्विदं अस्फुटितं अन्यथा शब्दोच्चारणं शब्दस्फुटनं, विपरीतरथानिरूपणा शब्दस्फुटनम् । अगिद्विदं अनाकुलं । अनाहृतं अलयाहृतं यमप्रतिहतं प्रत्यक्षादिना । अनुच्छवं नातिमहद्भ्रजगिस्मेतं । अचलं पितं नातिदामेनः । अमंदं नात्यल्पवोरं । कन्तं ओमनोदरं । अभिच्छामेद्विदं मिथ्यात्वानुविग्रहे । अणत्पहीणं अभिधेय-द्रव्यं यद्य भवति । अपुणरुतं उक्तस्य अविशेषणं भूयोऽभिधातं पुनरुक्तं यथा तत्परोक्तं न भवति ।

मूढारा—अगमिदं अस्माद्धिः । अन्यथा सन्देशाणविपरितार्षक्यनरहितं । अमीलिदं अतर्विगमं । अन्यथा-
इदं प्रत्यक्ष श्रोतृप्रमाणतद्विभूतं । अपुत्र्य नापुत्रैर्प्येति । अविलम्बितं । अपुनरुत्तं उक्तसार्वस्य अनिर्देशेण भूयोऽभिधानर-
हितम् ।

मुनि धर्मोपदेश किस प्रकार कहते हैं--

अर्थ--वे मुनि जन्म धर्मोपदेश देते हैं तब उनके मुलसे जिस अभिप्राय के शब्द निकलने चाहिये वे ही निकलते हैं विपरीत अर्थका कभी भी वे वर्णन नहीं करते हैं, एकही शब्द वे दो तीन दफे नहीं बोलते हैं, संशय उत्पन्न करने वाला भाषण बज्ये करके प्रत्यक्षप्रतीति प्रमाणसे आविर्बुद्ध वचन मुलसे निकलते हैं, उच्चस्वर और मंदस्वर का समागम कर मध्यमस्वरासे वे भाषण करते हैं, अतिशय सावकाश और अतिशीघ्रताको छोड़कर मध्यम पद्धति का अवलम्बन बोलते हैं, उनका भाषण, कर्णमनोहर, मिथ्यात्वसे अभिश्रित, निरर्थकताग्रहित रहता है, जो अर्थ एक दफे कहा है, उसको ही पुनः कहना पुनरुक्तदोष कहा जाता है इस दोषसे रहित उन मुनिगणका भाषण रहता है.

जिह्वं मधुरं हिदयंगमं च पल्हादणिज्ज पत्त्यं च ।

चत्तारि जणा धम्मं कहंति निब्बं विचित्तकदा ॥ ६५३ ॥

प्रलुप्तजनकं पथ्यं मधुरं हृदयंगमं ॥

धम्मं वदन्ति चत्वारो ह्यविचित्रक्रियोयताः ॥ ६७९ ॥

विजयोपदेश--जिह्वं त्रियं । मधुरं रलितपदवर्णरञ्जनं । हिदयंगमं श्रोत्रहृदयसुप्रवेशि । पल्हादणिज्ज पत्त्यं च सुतार्वं पथ्यं च कदापि कायवन्ति । निब्बं मनुषरतं । विचित्तकदा नानाकथाकुमुदाः ॥

मूढारा--जिह्वं त्रियं । मधुरं ललितवर्णपदरचनं । विचित्तकथा नानाकथाकुमुदः ॥

अर्थ--त्रिय, सुंदरशब्दरचनायुक्त, फान और हृदयमें प्रवेश करने वाला सुतरक, हितप्रद ऐसा धर्मोपदेश अनेक कथाओंके साथ वे चार परिचारक मुनि कहते हैं.

कीदृशी क्षपकस्य कथा श्रूयितव्या इत्यत्रान्ये—

स्वययस्म कहेद्व्या दु सा कहा जं सुणिचु सो खवओ ॥

जहिद्विसोत्तिभावं गच्छदि संवेगणिज्वेगं ॥ ६५४ ॥

क्षपकस्य कथा कथ्या सा यां श्रुत्वा विमुचते ॥

सर्वथा विपरीणामं याति संवेगनिर्विदौ ॥ ६५० ॥

विजयोदया—क्षपकस्य क्षपकस्य । सा कहा सा कथा । कहेद्व्या कथयितव्या । सो खवओ अस्मै क्षपकः । जं यां कथां । सुणिचु श्रुत्वा । जहिद्विसोत्तिगमाचो त्यक्ताश्रुपरिणामः । गच्छदि संवेगणिज्वेगं संसारजीवतां शरीरसो-
मनिर्वेदे च प्रतिपद्यते ।

एवं सनां प्रति भर्षणैश्च विविधभिधाय क्षपकं प्रति कथाविशेषकत्वं नियमयति—

मूलम्—सुणिचु श्रुत्वा । जहिद्व त्यक्त्वा । विसोचियभावं दुरव्यवसायं ॥

क्षपकको कोनसी कथा कहना योग्य है ! इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—क्षपकको वह कथा सुनानी चाहिये कि जिसके सुननेसे उसके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए अशुभ
परिणाम विनष्ट होकर वह संसारभीत और देहभोगसे विरक्त हो जावेगा।

आक्खेवणी य संवेगणी य णिज्वेयणी य खवयस्स ॥

पात्रोग्गा हेति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा ॥ ६५५ ॥

भवत्पात्रेपात्रिर्नैर्गानिर्वेदजानिकाः कथाः ॥

क्षपकस्योचितान्तिस्त्रो विक्षेपजनिका तु नो ॥ ६८१ ॥

विजयोदया—आसेवणी, विक्षेपणी, संवेजनी निर्वेजनी चेति चतस्रः कथाः । तासां मध्ये का योग्या । का
यायोग्येव्यनोत्तरं प्रवीति । आक्खेवणी य इति आसेवणी, संवेजनी, निर्वेजनी च कथा क्षपकस्य श्रोतुं, आप्यातुं च
योग्या । विक्षेपणी तु कथा न योग्या इति सूत्रार्थः ।

मूलात्—विक्षेपणीवर्तमानाक्षेपयादिकथात्रयं क्षपकस्य आन्वयवयोपदिशति ॥

अर्थ—आधेपणी, विधेपणी, संवेजनी और निवेजनी ऐसे कथा के चार भेद हैं. इन कथाओंमें आधेपणी, संवेजनी और निवेजनी कथायें श्रवणको सुनाना योग्य हैं. विधेपणी कथाका निरूपण करना हितकर न होगा.

तासों कथनों स्वरूपनिर्देशावलोचने गाथाहृत्—

सावखेवणी कहा सा विज्जावरणमुवदित्सादे जत्थ ॥

ससमयपरसमयगदा कथा दु विवखेवणी णाम ॥ ६५६ ॥

कथा साधेपणी झूठे या विद्यावरणाविकम् ॥

विधेपणी कथा वाक्कि परत्तमसमयी पुनः ॥ ६८२ ॥

विज्जयोदया—आधेपणी कहा सा सा आधेपणी कथा भण्यते । जत्थ यस्यां कथायां । विज्जावरणमुवदित्सादे ज्ञानं चारित्यं चोपदिश्यते । एवेयूतानि भवत्यतीति ज्ञानानि सामाविकारिणी वा चारित्र्याण्येयस्यरूपाणि इति । ससमयपरसमयगदा कथा ॥ विधेपणी णाम । या कथा स्वसमयं परसमयं वाश्रित्य प्रवृत्ता सा विधेपणी भण्यते । सायथा निरर्थं, सर्वथा क्षणिकं, एकमेवानेकमेव या, संदेय, विज्ञानमार्गं वा दृश्यमेवेत्यदिकं परस्वमयं पूर्वपक्षीकृत्य प्रारम्भादु ज्ञानेन भागनेन च विरोधे प्रवर्ण्य कथंचिदित्यं, कथंचिदित्यं, कथंचिदेकं, कथंचिदेकं, इत्यादिस्वल्पमयनिरूपणा च विधेपणी ॥

फिक्कक्षणा साः कथा इत्थन्न गाथाहृत्पमाह—

मूळारा—विज्जानित्वारि ज्ञानं । चरणं सामाविकाविकारित्यं । ससमयपरसमयगदा सर्वथा निरयमेव सर्वथा क्षणिकमेवेत्यादिपरगतं पूर्वपक्षीकृत्य प्रत्यक्षादिना च प्रविशिय्य कथंचित्त्विकं इत्यादि स्वमतं प्रतीयकृतेन व्यवस्थापयतीत्यर्थः ।

इन कथाओंका स्वरूप आचार्य दो गाथाओंसे कहते हैं—

अर्थ—जिसमें समयज्ञान और चारित्रिका निरूपण किया जाता है उस कथाको आधेपणी कहते हैं. अर्थात् मति, श्रुत, अवधि योग्य पांच प्रकारके सम्पन्नानका स्वरूप, और सामायिक छेदोपस्थापना योग्य पांच प्रकारके चारित्रिका स्वरूप जिसमें कहा गया है उनको आधेपणी कथा कहते हैं. जिस कथामें जैनमतके सिद्धान्तों का और परमतका निरूपण है उसको विधेपणी कथा कहते हैं. इसका विशेष विवेचन—चस्तु सर्वथा नित्य ही है,

सर्वथा अनित्य ही है, सर्वथा एक ही है, सर्वथा अनेकही है, सर्वथा सदृश ही है, सर्वथा विज्ञानरूप ही है, सर्वथा शून्य ही है, इत्यादि अन्यमतेके सिद्धान्तोंको पूर्वपक्षमें स्थापित कर उचरपक्षमें वे सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमसे निरुद्ध हैं ऐसा सिद्ध करने वस्तुका स्वरूप कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक, इत्यादिरूपसे जैनमतके द्वारा सिद्ध करना यह विधेयणी कथाका वस्तुस्वरूप है।

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्तं तवधीरिय इट्ठिगवा ॥

गिज्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोवे य ॥ ६५७ ॥

संवेजनी कथा तूते ज्ञानचारित्र्यवैभवा ॥

निर्वेदनी कथा वत्ति भोगांगवेरसारताम् ॥ ६८३ ॥

विजयोद्या—संवेयणी पुण कहा संवेजनी पुनः कथा । णाणकारित्तवधीरिय इट्ठिगवा ज्ञानचाटि-तपोभाषणा अनित्यशक्तिसंपत्तिरूपणपटा । गित्ठेयणी पुण कथा निर्वेदनी पुनः कथा सा । सरीरभोगे भवोवे य शरीरे, भोगे, भवसंततौ च परावस्तुपताकारिणी शरीराण्यष्टुर्चीनि, रसाविस्ततातुमयत्वात् । शुक्रज्योतिषधीजत्वात्, अशुष्याहात्परिवर्द्धितत्वात् च परावस्तुपतितत्वात् च न केवलमशुष्यसारमपि । अनित्यत्वात्स्वभावाः प्राणधृतः इति शरीरतत्वाधरणत्वात् । तथा चतुर्विस्थाननिर्यतत्वात् च न केवलमशुष्यसारमपि । अनित्यत्वात् यस्मि अगम्यन्ति । भल्लसे तेषां, लब्धानां वा विनाशो भोगा दुर्लभा । उरीयल्लगंधमास्त्रभोजनादयो दुर्लभा, दुःखदुर्लभो अदृशसुखो इति निरूपणात् । तथा ॥

मूढाट—भागेत्यादि—ज्ञानचारित्र्यतपोभावनाजनितशक्तिसंपत्तिरूपणपटा । भवोवे भवसंततौ शरीराविज्ञयस्य अष्टुचित्वादित्स्वतिरूपेण परावस्तुपताकारिणी निर्वेदनीति व्याख्येयम् ।

अर्थ—ज्ञान, धारित्र्य, तप इतका अभ्यास करनेसे आत्मामें कैसी २ अलौकिक शक्तियाँ प्रगट होती हैं इनका सुलासेवार वर्णन करनेवाली कथाको संवेजनी कथा कहते हैं। शरीर, भोग और जन्म परंपरामें विरक्ति उत्पन्न करनेवाली कथाका निर्वेदनी कथा ऐसा नाम है, इसका सुलासा—शरीर अपवित्र है क्योंकि यह रस, रक्त, मांस, शुक्र वगैरह सब घातुओंसे बना है। रक्त और चौर्य इसके उपादान कारण हैं, अपवित्र आहारसे इसकी वृद्धि हुई है, अर्थात् माताने खाया हुआ और लालारससे अपवित्र-उच्छिष्ट बना आहार गर्भावस्थामें जीवके शरीरमें प्रविष्ट होता है तब यह शरीर बढ़ता है, अशुचिस्थानसे—योनीसे यह निकळा है इस लिये भी अपवित्र है, न केवल यह

अपवित्र ही है पांतु निःसार भी है, इस शरीरके आश्रयसे आत्माको भी अनित्यता प्राप्त हुई है, अर्थात् इस आत्माको बार बार जन्म मरण धारण करना पडा है- वस्त्र, स्त्री, गंध, गुप्पमाला, भोजन वगैरह भोगपदार्थ दुर्लभ हैं इनकी प्राप्ति होनेपर आत्मा दुःख होता नहीं, इनका लाभ नहीं होनेसे अथवा लाभ होने पर भी यदि वे शीघ्र नष्ट हो गये तो महान् दुःख उत्पन्न होता है.

देवजन्मकी प्राप्ति होना व मनुष्यजन्म मिलना दोनों दुर्लभ हैं, ये बहुत दुःखोंसे भरे हैं, इनमें अल्प सुख की प्राप्ति होती है, इस प्रकारका वर्णन जिसमें किया जाता है वह कथा निर्वैजनी कथा कहाती है.

विश्वस्वेवणी अणुरदस्स आउणं जदि हवेज्ज पक्खीणं ॥

हौज्ज असमाधिमरणे अप्पागमियस्स खवगस्स ॥ ६५८ ॥

विश्वेपणीरत्तस्यास्य जीवितं यदि गच्छति ॥

तदानीमसमाधानकला या तस्य जायते ॥ ६८४ ॥

विलोकोक्त्या - विश्वेपण्या परममायानिकृपणायां अनुत्कस्य । आउणं आयुष्कं । जदि हवेज्ज यदि भवेत् । पक्खीणं मस्सीणं । होज्ज भवेत् असमाधिमरणं । अप्पागमियस्स कायमरस भद्रपशुतस्य संपकस्य यथैव पूर्वपक्षीकृतं दूदणाभिधानाय तेवय तत्त्वमित्थं पत्तायात्समीचीनज्ञानदर्शनस्य रत्तनयैकात्म्ये नास्तीति मथ्यते ।

विश्वेपणामासकस्यायुःमक्षयेऽल्पश्रुतस्यासमाधिमरणमाह -

दुद्धारा - अप्पागमियस्स अल्पश्रुतस्य ॥

अर्थ - विश्वेपणी कथामें जो की स्वमतका प्रतिपादन कर परमतका खंडन करती है- यदि क्षपक अनु-रक्त हुआ है और ऐसी अवस्थामें यदि उसका आयुष्य विलीन होगा तो उसको असमाधिगण होगा. क्षपक अल्पश्रुत धारक हो वो पूर्वपक्षमें जो परमतका स्वरूप उचरणक्षमे दूषित करने के लिये कहा है वही वस्तुका सत्य-स्वरूप है ऐसी थडान करेगा जिससे उसको रत्नत्रयागचना न होगी.

अनुभूतस्य तर्पणयोगिनी विशेषणीतीमां शंतां निरस्यति -

आगममाहृष्णजो विकहा विक्खेवणी अणउग्गा ॥

अबुज्जदम्मि मरणे तस्स वि एदं अणायदणं ॥ ६५९ ॥

कथया बहुश्रुतस्यापि नासन्ने मरणे सति ॥

अनाचारं न कुर्वन्ति महान्तो हि कदाचन ॥ ६६० ॥

पिजयोदया - आगममाहृष्णजो वि बहुश्रुतस्यापि । विक्खेवणी विशेषणी अणउग्गा अत्रायोग्या । गणु-

जदंमि मरणे रत्नत्रयाराधनपरे मरणे । तस्स वि अनुश्रुतस्मापि एवं पतत् । अकारवर्ण मनायतनं गमाधारः ॥

अनल्पश्रुतस्य विशेषणी कथोपयोगिनी भविष्यतीत्याका निरस्यति -

भूखंता - अनुश्रुतदम्मि रत्नत्रयाराधनपरे । तस्स वि असंश्रुतस्य पुनः सुतरादपकारिकेत्यवधार्यः । अणायदणं

अनायाः असमाधिमरणमणयाम् ॥

जो बहुश्रुत है उसके लिये विशेषणी कथा उपयोगिनी होगी इस शंकाका निरासन करते हैं -

अयं - यदि क्षपक आचमस्त्रानी होगा तो भी यह विशेषणी कथा रत्नत्रयाराधना जिसमें की जाती है

ऐसे समाधिमरण के समयमें उसको उपयोगी मानी है, क्यों कि यह विशेषणी कथा समाधिमरण के लिये सहायक नहीं है, आधारभूत नहीं है,

अनुज्जदंमि मरणे संधारत्थस्स चरमवेलाए

तिनिहं पि कहंति कंहं तिदंढपरिमोडया तम्हा ॥ ६६० ॥

विभेपिणों विबुध्यातः समाधानविचायिनः ॥

कथयन्ति कथास्तिव्रो निस्त्रिदंडत्रिगौरवाः ॥ ६६१ ॥

विजयोदया - अनुश्रुतंमि मरणे । निम्नभूते मरणे । कस्य संधारत्थस्स चरिमवेलाए । संस्तरस्य अंतकाले । तिपिदं विमंति पथ संयज्जनों, निपिजकों आदिपणी व कथों कथयन्ति । तिदंढपरिमोडया अनुममनोवाजाया दंडगन्धेनो-
व्यते । वट्टेदन्काणि. सूर्य । तम्हा तस्मात् । वनायतनत्वादिरेपिण्या ॥

प्रकृष्टोपसंहाराद्—

मूला— चरिमवेलाए प्रत्यामजगरणश्रुणे । विद्वत्परिमोक्षया । अशुभमनोवाक्यानिर्मूलकाः साधवः ॥

अर्थ— संसारमें पड़े हुए क्षणकका मरणफल जब निकट आचुका है तो ऐसे समयमें अर्थात् अन्तरिमय में अशुभ मनोविचार, अशुभ शरीर प्रवृत्ति और अशुभमन इनका त्याग करनेवाले गणधरादि मुनि संवेजनी, निवेजनी और आशेषणी ऐसी तीन कथाओंकाही वर्णन करते हैं, विशेषणी कथा ममाधिमरणके लिये आधाररूप नहीं है, इसलिये उसका निरूपण करते नहीं.

जुत्तस्स तवधुराए अब्बुज्जवमरणेवणुसीसंनि ॥

तह ते कहंति धीरा जह सो आराहओ होवि ॥ ६६१ ॥

मणोभावनियुक्तस्य मृत्यास्तज्जतयेति तम् ॥

ते वर्धन्ति तथा तस्य मथ्यारचको यथा ॥ ६८७ ॥

विजयोदया— सुलहल युक्तस्य । तवधुराए तपोभारेण । अब्बुज्जवमरणेणुसीसंनि समीपीभूतमरणधकस्य शिरसि स्थितस्य क्षणस्य । ते धीरा । तह तथा । कहंति कथयन्ति । जह सो आराधगो होदि यथास्तनाराधको भवति रत्नधयस्य ॥

ते चत्वारो धर्मकमानियुक्तं यावकाया कथयन्ति यथा रत्नत्रयभाराधयत्येतेत्यन्त्यापयद्वाह—

मूला— अब्बुज्जवेत्कादि । समीपीभूतमरणवन्तस्य शिरसि क्षणकस्य ॥

अर्थ— तपका भार नितने धारण किया है, निकट प्राप्त हुए समाधिमार्गरूपी वांस्के अग्रभागपर जो ठहरा है ऐसे क्षणको चार मुनि ऐसाही उपदेख देते हैं कि बितरो सुनका वह रत्नत्रयका आराधक होगा.

चत्वारि जणा भत्तं उवकण्ठेति अनिलाए पाओगं ॥

छंदियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपण्णा ॥ ६६२ ॥

तस्यानयंति चत्वारो योग्यमाहारमश्रमाः ॥

निर्माना लब्धिसंपन्नास्तदिष्टं गतदृषणं ॥ ६८८ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा चत्वारो यतयः । सत् अशनं । पाठग प्रायोगं उद्गमादिदोषपुद्गतं । उवकप्यति भ्रानयति । अगिलाए ग्दानिमित्तरण । कियत्तं कालमानयाम इति संकेतं विना । छंदियं स्वपकेण हए अशनं पानं वा । सुत्तिपमानापीपदमशानिकरसरसमित्येतावता तेनेणं न तु लौल्याव । अयमदोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं । क आन-यति ? अमाइणो मायारद्विताः अयोग्यमिति ये नानयन्ति । लडिसंपण्णा मोहन्तरायश्रयोपशमादिद्विखालाब्धिसमन्विताः । अलम्बिमान्स्पर्कं हेतयति । मायावी शयोगं योग्यमिति कल्पयेत् ॥

चत्वारस्तदर्पं तन्मुक्तिमदानं उपनयन्तीत्यनुशासित-

मूढार—उवकप्येति आनयति । अगिलाए ग्दानं विना कियत्तं कालं आनयाम इति संकेतं विना । छंदियं मूढपानं क्षुत्तिपातादुःखसमसापिकरं निराकरोतीत्येतावदेव क्षपकेणष्टं । अवगदोसं वातपित्तश्लेष्मणामजनकं प्रशमकं च श्रमादिदहितं वा । अमाइणो अयोग्यं योग्यमिवमिति मतारणरहिताः । लाभान्तरायश्रयोपशमादिद्विखालाब्धिसमन्विताः । तथैव क्षपकार्यात्संकेतज्ञानम् ॥

अर्थ — बार मुनि ग्लाबिछा त्यागकर उद्गमादिदोषरहित आहारके पदार्थ क्षपकके लिये लाते हैं, कितने दिनतक हमको लम्बा पड़ेगा ऐसा विचार वे मनमें नहीं करते हैं. क्षपक जो पदार्थ चाहता है उसको वे लाते हैं. क्षपक भी जिनसे मूल्य और 'यास' शांत होगी ऐसे ही पदार्थ चाहता है. लौन्ससे आहारकी इच्छा वह नहीं करता है. क्षपकके घात, पिच, और श्लेष्मको न धाननेवाले पदार्थ ही परिचारक मुनि लाते हैं. परिचारक मुनिओंके हृदयमें मायाभाव नहीं रहता है. अतः वे अयोग्य आहारको योग्य बताते नहीं. मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्मका धयोपशम जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ही परिचारक आहार लानेके कार्यमें आचार्यके द्वारा योजे जाते हैं. जिनको भिक्षालब्धि नहीं है ऐसे मुनि इस कार्यमें निवृत्त करनेसे क्षपकको छेड़ दिया.

चत्वारि जणा पाण्यमुवकप्यति अगिलाए पाओगं ॥

छंदियमवगददोसं अमाइणो लडिसंपण्णा ॥ ६६३ ॥

विजयोदया—चत्वारि जणा इति स्पष्टार्थो गथा—सुरिणा अनुज्ञातो निवेदितात्मानौ द्वौ द्वौ पृथगमकं पृथ-
कपानं दानयतः ॥

चत्वारः क्षपकाय पानमानयन्तीत्याह—

मूलार—स्पष्टम् ॥

अर्थ—चार मृनि आचार्यके द्वारा निरुक्त होकर क्षपकके लिये योग्य बीनेके पदार्थ लाते हैं. (बाकी संपूर्ण अभिप्राय ऊपरकी गथाके समान ही समझना चाहिये.)

वत्तारि जणा स्वरवन्ति द्रवियमुक्कप्पियं तयं तेहिं ॥

अगिलाण् अप्पमत्ता खवयस्स समाधिमिच्छन्ति ॥ ६६४ ॥

पानं नयन्ति चत्वारो द्रव्यं तद्रूपं तद्रूपकल्पितं ॥

अग्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विभ्रमाः ॥ ६६९ ॥

चित्रचोदया—तेराभीतं भक्तं पात्रं वा चत्वारो रक्षन्ति प्रमादरहितः प्रसा वया न प्रविशन्ति, यथा वापटे न एतदस्ति ॥

वत्तारस्सङ्कल्पानं तरां रअन्तीत्याह—

मूलार—रक्षन्ति यथा प्रसादयो न पतन्ति परे वा न पातयन्ति इत्यर्थः । द्रवियं द्रव्यं । उक्कप्पियं आनीतं । तयं भक्षणं वा ।

अर्थ—उपर्युक्त मृनिओके द्वारा लाये हुए आहारके और पानके पदार्थोंका चार मृनि प्रमाद छोडकर रक्षण करते हैं. उन पदार्थोंमें अस जीवोंका प्रवेश न होगा और कोई गिरा न सर्वेभेग ऐसी संभाल वे करते हैं. क्यों कि क्षपकका जिस प्रकारसे बिच रत्नश्रयमें एकाग्र रहेगा वैसा ही वे प्रयत्न करते हैं.

काइयमावी सव्वं चत्तारि पट्टिवन्ति खवयस्स ॥

पडिलेहंति य उवधोकलि सेज्जुवधिसंथारं ॥ ६६५ ॥

मलं क्षपान्ति चत्वारो चर्चःप्रस्रवणादिकम् ॥

शय्यासंस्तरकौ कालद्वये प्रतिस्तिखन्ति च ॥ ६७० ॥

विजयोवया—काइयमावी सव्वं पुरीषप्रश्रुतिकं मलं सव्वं । क्षपकस्य चत्वारः । पट्टिवन्ति प्रतिष्ठापयन्ति । पडिलेहंति य प्रतिस्तिहन्ति च । उवधो काले उव्यात्तमनकात्वेलेयोः । सेज्जुवधिसंथारं वसन्तिमुपकरणं, संस्तरं च ॥

चत्वारस्तन्याढापनोऽं वृत्ताद्याश्चिखिलेन च पुनर्नीत्याह -

मूलारा—काइयमादि विंगमूत्रवल्घ्यसेलादियलं । पठितुंति बहिः क्षिपति । पठिलेहंति शोययन्ति । अबधो

काले प्रातः सायं च ॥

अर्थ—चार मुनि क्षपकका मलमूत्र निकालनेका कार्य करते हैं- तथा सूर्यके उदयकालमें और अस्त-
कालमें समयमें ये वसंतिका, उपभ्राण और संसार इनको शुद्ध करते हैं, खच्छ करते हैं-

खवगस्त घरदुवारं सारखंति जणा चचारि ॥

चचारि समोसरणदुवारं रक्खन्ति जदणाए ॥ ६६६ ॥

क्षपकावसथद्वारं बत्वारः पान्ति यत्नन्तः ॥

धर्मश्रुतिगृहद्वारं चत्वारः पालयन्ति ते ॥ ६९१ ॥

विजयोदया—उपयगस्त क्षपकस्य । घरदुवारं गृहद्वार । सारखंति पालयन्ति । जदणाए यत्नेन । बत्वारि यत्वारः ।
असंयतान् शिक्षकोष निषेणुं द्वारं पालयन्ति । चचारि दत्तारः । समोसरणदुवारं समवसरणद्वारं । जवणाए यत्नेन
भारक्षंति पालयन्ति ॥

चत्वारस्तद्वृहद्वारं बत्वारब्ध धर्मश्रवणमंडपद्वारं रक्षंतीत्याह—

मूलारा—सारखंति पालयन्ति । असंयतान् शिक्षकोष निषेणुं द्वारपालायते । जदणाए यत्नेन । समोसरण-

दुवारं धर्मश्रुतिगृहद्वारं ॥

अर्थ—चार परिचारक मुनि क्षपककी वसतिस्त्रिके दरवाजेका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं, अर्थान् असंयत
और शिक्षकोको ये अंदर जानेको मना करते हैं, और चार मुनि समोसरण के द्वारका प्रयत्नसे रक्षण करते हैं-
धर्मोपदेश देनेके मंडपके द्वारपर चार मुनि रक्षणके लिये बंठे हैं-

जिदणिहा तल्लिच्छा रादौ जगंति तह य चचारि ॥

चचारि गवेसंति खु खेत्ते देसपत्रचीओ ॥ ६६७ ॥

निधि जायति चत्वारो पितृनिद्रा महोद्यमाः ॥

चतुर्मासं चत्वारो यत्नादेशविगोचराय ॥ ६९२ ॥

प्रिययोष्या - जितनिद्रा जितनिद्राः । तद्विच्छा निद्राव्यतिष्ठतः । यतौ रात्रौ । अर्धंति आपरं कुर्वन्ति । सत य तन क्षपणसमाप्ते । चत्वारि चत्वारः । भवेद्विंशति शु शरीरां कुर्वन्ति । तेन क्षेत्रं स्वस्थमुपैते । देशेष्वप्युपैते । देशेष्वप्युपैते ।

चत्वार क्षपणसमीपे रात्रौ जायन्ति चत्वारश्च रात्र्युपविष्टे देवादिक्षेत्राद्येवार्त्ता युगयं इत्याह—

यूयारा—सण्णद्धा क्षपणसमाप्ते । देसप्यवधीओ देसराज्यादियोरः । युभासुभराः ।

अर्थ—निद्राको जीतनेको इच्छा रखनेवाले चार मुनि क्षपणके पास जागरण करते रहते हैं, और जहां क्षपक और संप ठहरा है उस देशकी छुभासुभ पार्वका निरीक्षण करनेवाले चार मुनि आपसोंके द्वारा नियुक्त किये जाते हैं,

वाहिं असद्वयदियं कहंति चतरो चदुन्विषकहाओ ॥

ससमपरसमयविदू परिसाए सा समोसदाए खु ॥ ६९८ ॥

बाहिर्दन्ति चत्वारः स्वपरागमकोविदाः ॥

अर्जतःशब्दपातं ते जनानां निस्थिताः कथाः ॥ ६९९ ॥

विजयोष्या—बाहिं यदिः क्षपकावासात् । असद्वयदियं यावत् दूरे स्थितां शाश्वते न सृपते । स च क्षिप्वा । चतरो चत्वारः पर्यायेण । कथाओ चतुर्विधाः कथाः पूर्वे व्यावर्तिताः । क्षीरमूलास्ते क्षपका धम आह—ससमपरसमयविदू स्वपरागमकोविदाः । परिसाए परिये । समोसदाए द्वाए समागतये ॥

चत्वारश्च यवस्तोदपि कथाः कथयन्ति क्षपककर्णोपविशब्दमिषाह—

यूयारा—बाहिं यदिः क्षपकावासाद्दूरे । असद्वयदियं यथा क्षपको न द्रुणोति । चदुन्विष आक्षेपीप्रमुखाः । परिसाए परिये । समोसदाए सतुर्विद्यां । आगतव्यमित्वये ॥

अर्थ—क्षपणकी वसतिके साहर क्षपक न हुन सके इतने अंतरपर स्वयं और अन्यधर्मोंके मित्रांतिका

रहस्य जाननेवाले चार मुनि सुमामंडपमें आये हुए श्रोत्रार्थको एकत्रे अनंतर दूसरा इस पद्धतीसे आशेषणपादि-
कथार्थोंका वर्णन करते हैं.

वादी चत्वारि जणा सीहाणुग तह अणयसत्यनिदू ॥

धम्मकहयाण रक्खाहेदुं विहरंति परिसाए ॥ ६१९ ॥

चत्वारो चादिनोऽशोभ्याः सर्वशास्त्रविशारदाः ॥

धर्मदेशनरक्षार्थं विचरन्ति समन्ततः ॥ ६१४ ॥

विजयोदया - वादी पाणिनः । चत्वारिजणा चत्वारः । सीहाणुग सिंहसमानाः । अनेगसत्यविदू भनेकतात्त्विकाः ।
धम्मकहयाण धर्म कथयतां । रक्खाहेदुं रक्षायं । विहरंति । इत्येततो यान्ति । परिसाए परिवदि ।

चत्वारो चादिनो धर्मकथापरमाणं प्रयाणक्षेपनिराकरणाय समायमित्वतो विचरंतीत्याह--

मूलारः—महाणुभावा सिद्धयत्परैरपुण्याः ।

अर्थ—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता, सिद्धसमान ऐसे बाद करनेवाले चार मुनि धर्मकथा करनेवालोंका रक्षण
करनेके लिये समामें इधर उधर भ्रमण करते हैं.

एवं महाणुभावा पग्गहिदाए समाधिजज्जाए ॥

ते गिज्जवन्ति खवयं अट्ठयालीसं हि गिज्जवया ॥ ६७० ॥

एवमेकाग्रचेतस्काः कर्मनिर्जणोद्यताः ॥

निर्योपका महाभगाः सर्वे निर्योपयन्ति तं ॥ ६९५ ॥

विजयोदया - एवं महाणुभावा, एवं भावाग्र्यवंतः । पग्गहिदाए प्रकृष्टया । समधिजज्जाए समाधौ धृक्कस्य
प्रयत्नवृत्त्या । ते गिज्जवन्ति खवयं ते निर्योपयन्ति क्षपकं । अट्ठयालीसं हि अष्टवत्वारिंशत्प्रमाणः । गिज्जवया निर्योपकाः ॥
अस्तुतमुत्पलहरति --

मूलारः—महाणुभावा महानाहुल्याः । पग्गहिदाए प्रकृष्टया रीकृष्टया वा । समाधिजज्जाए समाधौ यत्नवृत्त्या ।
गिज्जवन्ति संसारजर्णवार्त्त्रिपर्यंतुं प्रयोजयन्ति ॥

अर्थ—इस प्रकार ये माहस्यवान् जड़तालीस मुनि उत्कृष्ट प्रयत्नसे क्षपकको समाधि में एकाग्र करते हैं. और संसारसमुद्रसे प्रयाण करनेवाले उन क्षपकको समाधिके कार्यमें अर्थात् रत्नत्रयमें प्रयुक्त करते हैं.

ध्यायन्तिगुणा इत्येव निर्वाणका इति न ग्राह्यं, किन्तु भरतेरावतयोर्निचिप्रकालस्य परावृत्तेः कालानुसारेण प्राणिनां गुणाः प्रवर्तन्ते तेन कदा यथाभूताः शोभनगुणाः संभवन्ति तदा तथाभूता यतयो निर्वाणकत्वेन ग्राह्या इति दर्शयति -

जो जारिसओ कालो भरदेरवदेसु होइ वासेसु ॥

ते तारिसया तविया चौदालीसं पि गिजजवया ॥ ६७१ ॥

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्गुणाः ॥

भरतेरावतक्षेत्रभाचिनो मुनियुंगयाः ॥ ६७६ ॥

विजयोद्या - जो जारितभो कालो इत्यादिवा यो गारकालो ! भरदेत्वदेसु यालेसु भरतेरायेतसु जनपदेसु । पंचमरताः पंचरायतास्ते निर्वाणकास्तारिस्ताः तारगुणाः कालानुगुणा इति यावत् । तस्या तस्मिन्काले ग्राह्या इत्यर्थः । सर्वत्र सर्वदा यथोक्तगुणगणना एव निर्वाणकाः स्मृतिरिति न ग्राह्यं । कालानुसारेण प्राणिव्यो गुणप्रभूतैः भरतेरावतक्षेत्रेषु विविधकालपरान्तरितवत्तत्र कदा यथामूला यावन्तथा स्फुरद्गुणा यतयः संभवन्ति तदा तथाभूतास्तापंतक्षेत्रे निर्वाणकत्वेन व्यवस्थान्ता इति दर्शयितुमाह -

नूढारा - भरदेरवदेसु पंचसु भरतेषु पंचसु ऐरावतेषु । यामेसु क्षेत्रेषु । तस्या तदा वसिष्काले कालानुगुणा निर्वाणका ग्राह्या इत्यर्थः ॥

जिनका गुणवर्णन ऊपर किया है ऐसे ही मुनि निर्वाणक होते हैं ऐसा न समझना चाहिये. परंतु भाव और ऐरावत कालमें विभिन्न कालका परावर्तन हुआ करता है इसलिये कालानुसार प्राणिजोंके गुणोंमें भी जषन्यमध्यमता और उत्कृष्टता आती है. जिससमय जैसे शोभन गुणोंका संग्रह रहता है उस समय जैसे गुणधारक मुनि निर्वाणक परिवारक समग्र कर ग्रहण करना चाहिये.

अर्थ - भरतक्षेत्रमें और ऐरावतक्षेत्रमें समस्तदेशोंमें जो जैसा काल प्रवर्तता है उसके अनुसार निर्वाणक समझना चाहिये. अर्थात् मध्यमकालके आरंभमें पंचेचालीस निर्वाणक होते हैं.

एवं चतुरो चतुरो परिहृवेद्व्यगा य जटणाए ॥
कालम्भि संकिलिडुमि जाव चत्तारि सार्धेति ॥ ६७२ ॥
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जटणेण कालतंसयणा ॥
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ ६७३ ॥

हेयाः क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदंजसा ॥

यावत्सिद्धन्ति चत्वारः काले संक्षेपसंकुले ॥ ६९७ ॥

काशानुसारिणौ प्रात्तौ द्वौ जयन्येन योगिनौ ॥

भरतैरायनक्षेत्रभवौ निर्यापकौ यती ॥ ६९८ ॥

निर्यापकौ — स्वशार्थोक्तस्यापह्नवमिति न त्रयोदशपदे ॥

काशानुसारेणात्र निर्यापकाणां संख्यादानिक्रमं दर्शयति—

मूल्याः — परिहृवेद्व्यगा हानिं कृतव्याः । जटणाए देशकाशानुसारेण गुणेषु यत्नेन । संकिलिडुम्भि संकले-
सयडुले ॥

अर्थ — इस प्रकार देशकाशानुसार गुणोंको यत्नेसे देखकर इस संकलेश्च परिणायुक्तकालमें चार चार
निर्यापक कम कम करना चाहिये, वे तब तक कम करना जब वे चार रहेंगे, अर्थात् क्षणिक समाधिभरण साध-
नेके लिये कमल देदा, काल, गुणकी अपेक्षासे यदि चार ही निर्यापक हो तो भी समाधिभरणरूपकार्यकी समाप्ति
देती है, अतिरूप संकिलिष्ट कालमें दो निर्यापक भी क्षणिक इत कार्याको साध सकते हैं, परंतु बिनागममें एक
निर्यापकका किसी भी कालमें उल्लेख नहीं किया है.

उपस्थितौ द्वौ निर्यापकौ इति तिस्र्यमुच्यते । एवमेव जयन्यतो निर्यापकः कस्माच्चोपन्यस्त इत्याशङ्कयार्
एतस्मिन्ननिर्यापके दोषमात्रये —

एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परोपवयणं च ॥

वसणममभाधिभरणं उट्ठाहो दुग्गदी चावि ॥ ६७४ ॥

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं एको नियोपको यदि ॥

असमाधेयैतिव्यक्तैयमसौ दुर्गतिः परा ॥ ६९९ ॥

विज्ञोद्वेगा—एको यदि नियोपक । अथा चसौ आहया त्यक्तो भवति नियोपको भवति । पयवण च प्रवचन च त्यक्त भवति । वसण व्यसन दुःख भवति । असमाधिभरण समाधानभरणेण रत्नत्रये मृतिः स्यात् । उद्गहो धर्मदूषका भवति । दुग्गही चासि दुर्गविज्ञ भवति ॥

सर्वतमन्वा नियोपकसंख्या निपमपति

मूलारा--दुवे हो ।

एकस्मिन्नियोपके दोषमाह--

मूलाया--अथा चसौ नियोपकेण आत्मा त्यक्ताः । परो रूपकः । वमर्णं दुःखं भवति । उद्गहो धर्मदूषणं ।

अन्यतासे एक नियोपकका आगममें क्यों उल्लेख नहीं है. दो नियोपकोंका क्यों उल्लेख किया है ऐसी शंका होनेपर आचार्य एक नियोपक होनेमें उत्पन्न होनेवाले दोषोंका वर्णन करते हैं.

अर्थ--यदि एकही नियोपक दोष तो उसमें आत्मत्याग, रूपकका त्याग और प्रवचनका भी त्याग होता है. एक नियोपकसे दुःख उत्पन्न होता है और रत्नत्रयमें एकाग्रताके बिना भरण हो जाता है. धर्मदूषण और दुर्गती भी होती है.

एष नियोपकेणत्मा त्यक्तो भवति, रूपक इत्येतत्कथयति -

खवगपडिजगणाए शिक्खमाहणादिसकुणमाणेण ॥

अण्णा चत्तो तव्विवरीदो खवगो हव्वदि चत्तो ॥ ६७५ ॥

मिध्वायाविदधानेन रूपकप्रतिकर्मणा ॥

अनारतं प्रसक्तेन स्वस्त्यत्तोऽन्यो विपर्ययः ॥ ७०० ॥

विजयोद्वेगा—खवगपडिजगणाए रूपकप्रतिजाभरणया क्षयरप्रतियत्नेन । खवगपडिजगणाए इत्यनया गाथया अत्रैव पदसट्ठना शिक्खमाहणादिसकुणमाणेण शिक्षाग्रहण, निंदा, कायमल्लयान वा कुर्वता नियोपकेण । अन्पा चसौ आत्मा त्यक्तो भवति । अशानाग्रहणाच्चिदाया भवावात् । कायमल्लाना वाऽनिरूपकणान्यहती नियोपकस्य पीडा ।

तद्विवरीदो यदि नियामो भिक्षां भ्रमति निद्राविशयशरीरमलनिरासाद्यं यति, यद्यगो सत्तो भयति क्षणक-
स्मृक्तो भवति ॥

कथं ज्ञात्मा त्वक्तः कथं वा क्षपक इत्यत्राह—

मूढारा—यतिजगन्गण कार्यकरणे । विस्तृतग्रहणादि भिक्षाग्रहणं क्षयमलत्यागं च । अकुगमणेन अकुर्वता
निर्यापयेत् । चत्तो अशनादभ्रणादिनिर्यापणादिष्पुमृत्राशुस्तुर्जनाञ्च महर्वा पीडां प्रापितः । तद्विवरीदे भिक्षाभ्रमण-
निद्राकल्परागदुःखवर्गभ्रमे । चत्तो त्वक्तः क्षपकस्तत्तमाधानादुत्प्रेधानापलापार ॥

एतु निर्यापक से आत्माका और क्षपकका भी त्याग होता है इसका विवेचन—

अयं क्षपकके कार्यमें हि यदि निर्यापक तपर रहेगा तो आहारग्रहण करना, शयन करना, और शरी-
रमलना त्याग करना इन कार्योंका त्याग करनेसे निर्यापकको आत्मत्याग करना पड़ेगा. अर्थात् आहारका ग्रहण
न करनेसे, निद्राका अभ्रम होनेसे, और शरीरमलका विसर्जन करनेसे निर्यापकको बड़ी वेदना होगी जिससे
उमरुा देह पड़ेगा. यदि निर्यापक भिक्षाग्रहणादि कार्यमें ही लग जावेगा अर्थात् वह भिक्षाके लिये यदि भ्रमण
करेगा, खूब सोवेगा, और जाँचके लिए जावेगा तो क्षपकका त्याग होगा.

खवयस अप्पणो वा चाए चत्तो हु होइ जइधम्मो ॥

पाणस्स य बुच्छेदो पवयणचत्तो कओ होदि ॥ ६७६ ॥

स्वस्यापरस्य वा त्यागे यानिधर्मो निराकृतः ॥

ततःप्रवचनत्यागो ज्ञानविच्छेदको मतः ॥ ७०१ ॥

विजयोदयः—ऊचयस अप्पणो वा चाए क्षपकस्यात्मनो वा त्यागे । चत्तो खु होदि जइधम्मो त्यक्तो भवति
यतिधर्मः । यतर्धर्मो येयावृद्धवर्णं स परित्यक्तो भवति क्षपकग्रहणाय गमने । जगत्सने तु आवयणकानि यतिधर्मेषु
प्रधानानि त्यक्तानि भवन्ति क्षतिर्देवत्यात् । जणसरस य बुच्छेदो ज्ञानस्यापि शुब्धेदो भवति, निर्यापकेन सह स्मृति-
मुपयाति । ततो तरमातपयकचागो होदि प्रवचनत्यागो भवति । प्रवचनशब्देनागम उच्यते । ग्राह्य हि केचिदेव भवन्ती-
ति चेदेकका निर्यापका अमशनादिनादिच्छिन्ना स्मृतिमुपेयुः कः शास्त्राभ्युपदेशोत् कश्च धारयेद्वेति प्रवचनत्यागः ॥

सपरत्यागो प्रवचनत्यागमाह—

मूलारा—अदिधर्मो यतेर्धर्मो धैर्यावृत्तकरणं पलायन्यकं च त्यक्तं शसिचैकस्यात् । पाणस्स य वोच्छेदो शान्तरयापि व्युच्छेदः स्याद्विजातीयकमरणत् । पक्वपणचाखो तदो वतो क्षान्त्युच्छेदात् श्रवचनस्यागमस्य त्यागो विसर्जनं भवति भोजनाद्यकरणेनातिविलष्टस्य नियोषकस्य न रणात् । प्रज्ञा हि केचित्तेव स्युः ॥

अर्थ—क्षपकका अथवा अपना त्याग होनेपर यतिधर्मका ही त्याग हुआ। वैवाचित्य करना यतिका धर्म है। आरमरयाग अथवा क्षपकका त्याग होनेसे यतिधर्म भी नाश होता है, क्षपकको छोड़कर यदि नियोषिक जावेगा अथवा नहीं जावेगा तो यति धर्ममें जो सामायिकादिक अवश्य कर्तव्य है उनका त्याग होगा, शक्ति कम होनेसे ज्ञानका भी नाश होगा, नियोषिक और क्षपक दोनों भी मरने तो आगमका त्याग होगा, प्रायः विद्वान् एकाद ही होता है, इस पास्ते अहारादिकके कष्टसे त्विन्न होकर नियोषिक मरणको प्राप्त होगा तो कोन शास्त्रोंका उपदेश करेगा और कोन शास्त्रको धारण करेगा? इसलिये एकही नियोषिक होनेसे श्रवचनत्याग होता है, यह सिद्ध हुआ।

व्यसनं व्याख्याते—

चायम्भि कीरमाणे वसणं खवयरस अप्पणो चावि ॥

खवयरस अप्पणो वा चायम्मि हवेउज असमाधि ॥ १७७ ॥

क्षपकस्यात्मनो वारितं त्यागतो व्यसनं परम् ॥

भवेत्ततोऽसमाधानं क्षपकस्यात्मनोऽपि वा ॥ १७८ ॥

विलयोदया—आयम्मि कीरमाणे त्यागे विद्यमाने । वसणं खवयरस क्षपकस्य दुःखं भवति, प्रतिकाराभावात् । अप्पणो वा वसणं नियोषिकस्य वा व्यसनं भवति अशानादित्यागात् । असमाधिमरणं व्याचष्टे—चायम्मि त्यागे सति । खवयरस असमाधि क्षपकस्य अहाराधिमरणं भवति । विसर्जसमाधि कुर्वतः समीपे जगत्वात् । अप्पणो वा नियोषकस्य वा । हवेउज भवेत् । असमाधिः अशानादित्यागजनितदुःखप्रचलितस्य ॥

स्वपरत्यागे तु अमप्याह—

मूलारा—स्ववयस क्षपकरव दुःखं त्यागतीकाराभावात् । अप्पणो अशानादित्यागात् । असमाधी क्षपकस्य असमाधिः । समापिकराचार्यसंनियानायाभावान्धार्यस्य वा अशानादित्यागजनितदुःखसंश्लेशवेशात् ॥

च्यसन अर्थात् दुःखका वर्णन करते हैं—

अर्थ—निर्यापकने क्षपकको छोड़ देनेपर क्षपकका दुःख होता है, उस दुःखका क्षपक कुछ भी प्रतिकार नहीं कर सकता है, और आहारादिकका त्याग होनेसे निर्यापकको दुःख होता है, क्षपकका त्याग करनेपर उसके अंतःकरणकी रत्नत्रयमें एकत्र करनेवाला कीर्द न होनेसे उसका असमाधिभरण होता है, और यदि क्षपकके पास हमारा निर्यापक रहनेसे उसको आहारादिकका त्याग करना पड़ेगा तबसे निर्यापककी भी रत्नत्रयमें एकाग्रता होना असंभव होगी-

सेवेज्ज वा अकप्पं कुञ्जा वा जायणाइ उदाहं ॥

तण्हाद्युपादिभगो खवओ सुण्णम्मि णिज्जवए ॥ १७८ ॥

क्षुधादिपीडितः गृण्ये सेवते याचते यतः ॥

क्षपकः किंचिनाकल्पं दुर्मोचमयशस्तनः ॥ ७०३ ॥

विजयोदया—सेवयइ वा अकप्पं अयोग्यसेवां कुर्यात् । अस्थितभोजनादिकं पार्श्ववर्तिन्यसति । कुपजा वा कुपजा । जायणा उदाहं मिथ्याहरीणां गत्या याचते क्षुधा वा कृपा वा अभिमुखोऽहं भक्षते यत्नं वा वेदीति । सुण्णम्मि णिज्जवणे भसति निर्यापके ॥

निर्यापकमात्रेऽकीर्तिं वक्ति—

मूढारः—अकप्पं अयोग्यमसितिभोजनादिकं । जायणादि याचनामजप्रयानादिकप्रार्थनं मिथ्याहरीन्प्रति । आदिमन्देत तत्रयेयादिकं । पागो पीडितः । सुण्णम्मि अबिद्यमाने ।

अर्थ—यदि एक निर्यापक आहारादिके वास्ते बाहर गया तो इधर क्षपक अयोग्य सेवन करेगा अर्थात् चैतन्य भोजन करना चगेरह कार्य करेगा, किन्तु मिथ्याहरीके पास जाकर याचना करेगा, मैं भूखसे पीडित हुआ हूं अथवा प्याससे कष्टी हो रहा हूं मेरे को खानेके लिये या पीनेके लिये दो ऐसी याचना करेगा-

दुग्मादि एतद्व्याचष्टे—

असमाधिणा व कालं करिञ्ज सो सुण्णगम्मि णिज्जवगे ॥

गच्छेज्ज तवो खवओ दुग्मादिभसमाधिकरणेण ॥ ६७९ ॥

यतोऽसमाधिना मृत्युं याति निर्यापिकं विना ॥

क्षपको दुर्गतिं भीर्मा दुःखदां लभते ततः ॥ ७०४ ॥

विजयोदया—असमाधिना व अतति निर्यापके समीपस्थे समाधिभूतरेण कालं कुर्यात् । ततस्तेन असमाधिमरणेन । एतन्नो दुर्गादि गच्छेज्ज क्षपको दुर्गतिं यायात् अशुभप्रयानात् ॥

असति निर्यापके दुर्गतिविषयमाह—

मूढारा—स्पष्टम्

दुर्गतिं का धर्मान—

अर्थ—निर्यापक समीप न होनेपर क्षपका असमाधिते मरण होगा, और ऐसे मरणसे अर्थात् अशुभ-

स्यात्पूर्वक मरणसे क्षपकको दुर्गति होगी.

सच्छेद्दणं सुणित्ता जुत्ताचारेण णिज्जवेज्जतं ॥

सत्वेहिं वि गंतव्यं जदीहिं इदरत्थ मयणिज्जं ॥ ६८० ॥

चतुर्विधस्य संघस्य कञ्चन प्रेषयेत्ततः ॥

संन्याससूचकाचार्यो निर्यापकगणेशिना ॥ ७०५ ॥

श्रुत्वा सल्लेखनां सर्वैरागतव्यं तपोधनैः ॥

कारिणां शुद्धदृष्टेन भजनीयमतोऽन्यथा ॥ ७०६ ॥

विजयोदया—सच्छेद्दणं सल्लेखना । सुणित्ता श्रुत्वा । जुत्ताचारेण युक्ताचारेण सूरिणा बिज्जवेज्जतं प्रवर्त्यमानां । सच्छेद्दणं गंतव्यं यतिभिरितरत्र निर्यापके सूरौ गदचारित्रे मान्यं । याति ॥ ण यत्तयः ।

सम्यग्गार्वाण्येण प्रवर्त्यमाने क्षपकस्य समाधिभरणोपक्रमे श्रुते सति सर्वशरीरा यदुपसर्पणं अन्यथा विकल्पं

चाह—

मूढारा—बुद्धिचारेण सुविदित्वाचारेण धारिणा । निव्वेवेव्वन्तं । प्रवर्त्यमानं । इदं त्व मंदचारिणे सूरौ निर्यापके सति । भयणिन्नं गंतव्यं न वेत्यर्थः—
 अर्थ—निरतिचार स्तव्यका वाल्म करेनवाले निर्यापकाचार्य के द्वारा क्षपकत्वां सहेखनाभरण होने वाला है यह सुनकर सर्व भूमिजोंको क्षपकके पास जाना योग्य है. परंतु निर्यापकाचार्य मंदचारित्रका धारक होगा तो यति चाहे वो जा सकते हैं. अन्यथा नहीं.

सहेहणाए मूलं जो वच्चइ तिब्बभच्चिरायेण ॥
 भोत्तूण य वेवसुहं सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६८१ ॥
 एगम्मि भवगहणे समाधिररणेण जो मदी जीवो ॥
 ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तहभवे एमोत्तुण ॥ ६८२ ॥
 सोदूण उत्तमहस साधणे तिब्बभच्चिसंजुचो ॥
 जदि णोवयादि का उत्तमहमरणम्मि से भती ॥ ६८३ ॥
 एति सहेखनामूलं भक्तितो यो महाभनाः ॥
 स निरयमदनुते स्थानं भुक्त्वा भोगपरंपराः ॥ ७०७ ॥
 एकत्र जन्मानि प्राणी त्रियते यः समाधिना ॥
 अकल्मषः स निर्वाणं सप्तार्ष्टिलं भवेः ॥ ७०८ ॥
 यो नेति परया भक्त्या श्रुत्वोचमार्थसाधनम् ॥
 उत्तमार्थमृतौ तस्य जंतोर्भक्तिः कुतस्तनी ॥ ७०९ ॥

विक्रयोदया—सोदूण धुत्वा सत्तमार्थसाधनं । वीवभक्तिसंयुक्तो यदि गच्छेत् । नैव तस्य उत्तमार्थमरणे भक्तिः ॥

अत्रमे गाये सवेज्जुभये—
 मूलरा—येने धी विवयाचार्यो नेच्छवि ।

मूलादा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जो यति तीव्र भक्तियोगसे संश्लेषनाके स्थानकी वंदना करनेको जाते हैं उनको मरणोत्तर देवपालिका सौख्य मिलता है अनंतर उनको मोक्षभी प्राप्ति होती है, जो यति एकमयमें समाधिपरणसे मरण करता है वह अनेक भव धारण कर संसारमें प्रमण नहीं करेगा, उसको सात आठ भव धारण करनेके अनंतर अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होगी।

अर्थ—समाधिपरणका साधन कोई सुनि कर रहा है ऐसा मालूम होनेपर अन्य अन्य संघके सुनि बड़े आदर भावसे उसके दर्शन के लिये जाने यदि कोई नहीं जायेगा तो उसकी उत्तमार्थमरणमें भक्ति नहीं है ऐसा समझना चाहिये

उत्तमार्थमरणभक्त्यभ्यासे दोषभाष्ये—

जद्यथ पुण उत्तमममरणमि भक्ती य विज्जदे तस्स ॥

किंहु उत्तमममरणं संपज्जदि मरणकालमि ॥ ६८४ ॥

उत्तमार्थमृतौ यस्य भक्तिर्नस्ति शरीरिणः ॥

उत्तमार्थमृतिस्तस्य मृतौ संपद्यते कुत ॥ ७१० ॥

विज्जयोदया—जस्स पुण यद्यथ पुण उत्तमार्थमरणे भक्तिं विपत्ते तस्य मरणनाके कथमुत्तमार्थमरणं संपद्यते इति दोष लक्षित ॥

उत्तमार्थमरणे भक्त्यभ्यासे दोषभाष्य—

मूलादा—स्पष्टम् ।

उत्तमार्थ मरणम भक्ति न होनेसे क्या दोष होता है इनका वर्णन—

अर्थ—जिसकी उत्तमार्थमरणमें—समाधिपरणमें भक्ति नहीं है उसको मरणश्लेष्में उत्तमार्थमरणकी प्राप्ति केसी होगी अर्थात् वह आर्त्तादिक अशुभभयानसे मरणको प्राप्त होगा, ऐसा अभिप्राय इस वाक्यासे लक्षित होता है।

सहृददीणं पासं अस्त्रियदु असंबुडाण दादब्बं ॥
तेसिं असंबुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ॥ ६८५ ॥

तस्यासंबुतवाक्यानां न पार्श्वे देयमासितुं ॥

वचनैरसमाधानं तदीयैर्जायते यतः ॥ ७११ ॥

पिजयेत्तया — असंबुडाण पासं सहृददीणं अस्त्रियदु ण दादब्बं । अस्पृतातां क्षपकसमीपं दौकतं न दातव्यं ।
थावेरेसस्सानां वेयां वचनं न श्रूयते ।

फत्समासंबुतजनसानीपगमनं निषिष्यते इत्याद्ये — तेसिं असंबुडगिराहिं होज्ज खवयस्स असमाधी ।
तेपामसंबुताभिर्वाग्मिमेवेक्षपकस्य अस्समाधिः । क्षीणो हि जनो शक्तिकिरूपधुवा कुप्यति संक्षेपमुपयाति या ।

उक्तनार्थसाधकस्य समीपे वापातालानां गमनं निषेदुमाह—

मूळारा—सहृददीणं शब्दप्रतीनां च फलफलकारिणामित्यर्थः । पासं समीपं अर्थाक्षपकस्य ।

अस्त्रियदुं आश्रयितुं । असंबुडाण वाग्म्युत्पत्तिभित्तिविकलानां । असंबुडगिराहिं असूत्राभिर्वाग्मिभिः । असमाधी वित्तविक्षेपः ।
क्षीणो हि जनो शक्तिकिरूपधुवा कुप्यति संक्षेपइत्ये वा ।

अर्थ—जो श्रमगुप्ति अथवा भाषासामितीके फालक नहीं है, जो आगमसे विरुद्ध भाषण बोलते हैं अथवा जो जादा फलफल करते हैं ऐसे लोकोंको क्षपकके पास नहीं जाने देना चाहिये, क्यों कि उनका निरर्गल आगम विरुद्ध भाषण सुनकर क्षपकका वित्त रत्नत्रयमें स्थिर न होगा और क्षीण हुआ वह क्षपक कोपयुक्त संक्लेश परिणामयुक्त हो जावेगा अतः आगमविरुद्ध जादा वाद करनेवाले को क्षपकके पास जादा निषिद्ध किया है, जहाँ तक शब्द सुननेमें आवेगा वहाँ तक उनका गमन निषिद्ध समझना चाहिये.

भत्तादीणं भत्ती गीदत्थेहिं वि ण तत्थ कादब्बा ॥

आलेयणा वि हु पसत्थमेव कादब्बिया तत्थ ॥ ६८६ ॥

गीतार्थैरपि नो कृत्या स्त्रीस्तत्तार्यादिका कया ॥

आलोचनादिकं कार्यं तत्रातिमधुराक्षरम् ॥ ७१२ ॥

विज्ञाचोदयः—भूतादीनां तंती भक्त्यादिकथा । भूतीतीतीति यतिभिस्तत्र क्षपकसकाशे न कर्तव्येति । आलोचना
वि श्रु आलोचनागोचराद्यतिचारविन्या । तत्र क्षपकसमीपे । पसदयमेव कादन्त यथासौ न शृणोति तथा कार्यो ।
चहुषु युक्ताचारेषु सूरिषु सत्सु ॥

गीतार्थानां क्षपकाति व्यवहार्यसाह—

मूढारा—तंती कथा । आलोचना गोचराद्यतिचारगोचरा । पसदयमेव यथासौ न शृणोति तथा कथा कर्तव्येत्यर्थः ॥
अर्थ—आगमार्थको जाननेवाले भुजिओंको क्षपकके पास भोजनकथा, धर्मके कथाओंका वर्णन करना
योग्य नहीं है. योग्य आचारोंको जाननेवाले आचार्योंके पासही सूक्ष्म अतिचारविषयक आलोचना करना हो तो यह
भी प्रशस्त ही करनी चाहिये. अर्थात् वह क्षपक सुन न सके ऐसी आलोचना करनी चाहिये.

पञ्चकखाणपडिक्कमणुवदेसणिबोगतिविह्वोसरणे ॥

पट्टवणापुच्छाए उवसंपण्णो पमाणं से ॥ ६८७ ॥

प्रत्याख्यानोपदेशादौ सर्वत्रापि प्रयोजने ॥

क्षपकेण विधातव्यः प्रमाणं सूरिराश्रितः ॥ ७११ ॥

विह्वोदयः—आशापयनं प्रतिक्रमणादिकं । से तस्य सकाशे कर्तव्यमिति यावत् । यदि शक्तोऽसौ, न केवल-
तु शातस्य समीपे ॥

चहुष्वपि युक्ताचारेषु सत्सु सूरिषु क्षपकेण प्रत्याख्यानादिकं प्रथममुपाश्रितस्यैव सूरः समीपे कर्तव्यमित्यनु-

शासि—

मूढारा—भिक्षुओं आशादानं । तिविह्वोसरणे त्रिविधाहारणयो । पट्टवणा प्रायस्त्रिं । अपुच्छा प्रश्नः ।
उवसंपण्णो निर्वापकत्वेनाश्रितः । पमाणं प्रमाणविशेषो भवति । यथावच्छिन्नस्तदा तदनुज्ञया तादृगन्योऽपि प्रमाण-
मिति निर्णयः ।

युक्ताचारके ज्ञाता अनेक आचार्य हो तो भी जिसके पास क्षपकने प्रथम आलोचना की है उसके ही सज्जि-
य प्रत्याख्यानादिक करने चाहिये ऐसा वर्णन—

अर्थ—क्षपकमुनि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण वगैरेह आवश्यक कर्तव्य प्रथम आचार्यके पास ही करे, आज्ञा ग्रहण करना, उपदेश सुनना, तीन प्रकारके खाहारका त्याग करना, (जल छोटकर) प्राचक्षिच ग्रहण करना, ग्रन्थ करना, इत्यादिह धार्यमें प्रथमाचार्य ही उसके लिये प्रमाण है- यदि ग्रन्थमाचार्य उपदेश देना, वगैरेह कार्यमें अशक्त हो तो उनके आज्ञानुसार दूसरे आचार्यके पास क्षपक प्रतिक्रमणादिक कर्तव्य कर सकता है.

तेहृकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेचव्या ॥

जिक्काकण्णाण वलं होहिदि तुंडं च से विसवं ॥ ६८८ ॥

तेन तैत्तादिना कार्यो गंडूपाः संख्यनेकशः ॥ *

जिह्वाबदनकण्ठादिर्नैर्मल्यं जायते ततः ॥ ७११ ॥

अयान्ति येषां गुणिनः सहाया चिन्नं चिना ते ददते समार्धि ॥

समाधिदानोद्यतमानसैस्ते प्राच्याःप्रयत्नेन ततो गणेन्द्राः ॥ ७१६ ॥

इति निर्यापका ।

विजयोदया—तेहृकसायादीहिं य तैलेत कण्ठादिभिदव । बहुसो बहुसो । गंडूसया दु गंडूपाः । घेचव्या प्राक्षाः । तन गुणं यदति-जिक्काकण्णाण वलं जिह्वायाः कर्णयोश्च शक्तिर्न वचने धर्मण च । होहिदि भविष्यति । तुंडं च से विसवं होविन्ति पदसंबंधः । तुंडवैशद्य अपि क्षपकस्य भविष्यति । निर्यापक्यत्वार्णता समाप्ता ॥

वाक्क्षवणपाटवमुद्धेदसाधं ययादोपं तैलादिगंडूपाकरणं गुरुनिवोगेन रूपकस्य विधेयतयोपदिशति—

मूलांरा—गंडूसया गंडूपा । घेचव्या प्राक्षाः क्षपकेण । वलं । धचने धवणे च शक्तिः । तुंडं गुणं । निर्यापकः सूनतः २७ अंकत ॥ ४० ॥

अर्थ—तेल और कणायले द्रव्योंके क्षपकको बहुतवार कुरले करने चाहिये. कुरले करनेसे जीम और कानोंमें सामर्थ्य प्राप्त होता है. अर्थात् कणायद्रव्यके कुरले करनेसे जीमके उपरका मल निकल जानेसे वह स्वच्छ होती है. बोलनेमें समर्थता प्राप्त होती है. कर्णमें तेल डालनेसे श्रमणशक्ति घटती है- निर्यापकवर्णन समाप्त हुआ.

पिञ्जलावयपयासणा इत्येतद्वदति—

दृव्यपयासमकिञ्चा जइ कीरद तस्स तिबिह्वोसरणं ॥

कहिंवि मच्चविसेसंमि उस्सुगो होज्ज सो खवओ ॥ ६८९ ॥

अप्रकाश्य त्रिधाहारं त्याज्यते क्षपको यदि ॥

नदोत्सुकः स कुत्रापि विशिष्टे जायतेऽशने ॥ ७१७ ॥

विकपोषण — द्रव्यपयासमकिञ्चा द्रव्यधाहारस्य प्रकाशनं तं प्रति दौकनं अकृत्या । जइ कीरद यदि क्रियते । तस्स तस्य क्षपकस्य । तिबिह्वोसरणं त्रिधधाहारस्यागः । कहिंवि मच्चविसंमि मच्चविसंमि मच्चविसंमि । उस्सुगो होज्ज सो खवओ उस्सुको मयेस क्षपकः । आहारोत्सुक्यं चित्तं व्याकुलवति ॥

अर्थं त्रिधधर्मेस्वादिगुणग्रामसमग्रनिर्वापिकचक्षिगणपरिषर्षमाणस्य क्षपकस्य त्रिधधर्माद्वारं परित्तिहीनोराहारविक्षो-
पौत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं विशिष्टाहारवर्धनलक्षणां परमाहारप्रकाशनां गायामसप्तकेन द्वावर्णचित्त्व्यन्पूर्वं समुक्तिकं उत्पद्योतवि-
धिं गायाम्बुदेनाह—

मूळार — द्रव्यपयासं द्रव्यस्य नामाविधाहारस्य प्रकाशं तं प्रति दौकनं । उस्सुगो उत्सुकः सोत्कंठमभिलाषुकोऽ-
नादिसंततया भवर्त्तमानवधाधारसंज्ञायाः ॥

अथ आहारप्रकाशनं प्रकरणका आप्तायं वर्णनं करते हैं—

अर्थ—क्षपकको आहार न दिखाकर ही यदि उससे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराया जायेगा तो वह किसी आहाराविशेषमें उत्सुक होगा. अर्थात् अग्निक आहार मरेको चाहिये ऐसी इच्छा उसके मनमें प्रादुर्भूत होगी जिससे उसका मन दुःखित होगा. यह आहारसंज्ञा जीवमें अनादिकालसे संलम्ब हुई है. इसचास्ते उसको आहार दिखाकर उपदेग देकर उससे विरक्त करना चाहिये.

तस्मा तिबिहं वोसरिह्विदत्ति उक्कस्सयाणि दृव्वाणि ॥

सोसिचा संविरलिय चरिमाहारं पायासेज्ज ॥ ६९० ॥

पासितु कोई तादी तीरं पचस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुण्णो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९१ ॥

ततः कृत्या मनोज्ञानमाहाराणां प्रकाशना ॥

सर्वथा कारयिष्यामि त्रिविधाहारभोजनम् ॥ ७१८ ॥

कश्चिद्दृष्ट्वा तदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥

इति वैराग्यमापन्नः संयेगमवगाहते ॥ ७१९ ॥

विजयोदय—पासितु दृष्ट्वा आहारसुखदर्शितं । कोऽ कश्चिद् । तादी यत्ति । तीरं पचस्स तीरं प्राप्तस्य । इमेहि अमीभिर्मनोज्ञेराज्ञादैः । किं मेत्ति किं समोक्तं । वेरगमणुण्णो भोगवैराग्यमनुप्राप्त उपगतः । संवेगपरायणो होदि संसारमयात्प्रागे प्रथमो भवति ॥

मूढारा—बेतारिदिगिं प्रत्याशयान्यतीति । सोत्तिष्ठा सर्वतोपत्यष्टत्वात्तस्मदीपमानीय । संविरुद्धि भोजनेषु पिरलं विरलं वृत्त्या । संविरुद्धय इति पाठे सन्ध्याग्निरपत्येत्यर्थः । पयासेवज दग्धयेस्सुरिः । एतां टीकाकारो नेच्छति ॥

कश्चित्पानि दृष्ट्वा परं वैराग्यं प्राप्नो भवमवग्रथानो भवतीत्यनुसासित—

मूढारा—पासितु उपदर्शितमाहारं दृष्ट्वा । तादी मुनिः । तीरं नरणांतं । इमेहि एवैरुत्कृष्टभोग्यैः । किं मेत्ति किं प्रयोजनं ममेति । वेरगं भोगवैराग्यं । मनोक्लविपसेषा हि पौनःपुन्येन प्रवर्त्यमाना सत्राभिरुपमनुष्यभ्यादि वसत्र कर्म-बंधस्ततो भूयोऽपि भीममवग्रथेष इति ।

अर्थ—इसलिये अच्छे अच्छे आहारके पदार्थ वर्तनीमें शुधक् शुधक् परोसकर उस क्षणके समीप लाने चाहिये. और उसको दिखाना चाहिये. ऐसे उत्कृष्ट आहारको देखकर कोई क्षणक मुनि भी तो अब इस भवक दुसरे किनारे को प्राप्त हुआ है, इन मनोहर आहारकी मेरेको कुछ आवश्यकता नहीं है ऐसा मनमें समझकर भोगसे विरक्त होता है. और संसारसे भययुक्त होकर आहारका त्याग करनेमें ही उद्युक्त होता है.

आसादिचा कोई तीरं पचस्सिमोहिं किं मेत्ति ॥

वेरगमणुण्णो संवेगपरायणो होदि ॥ ६९२ ॥

देसं भोञ्चा ह्य हा तीरं पचस्सिमेहिं किं भेत्ति ॥
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होवि ॥ ६९३ ॥
 सत्वं भोञ्चा धिच्छी तीरं पचस्सिमेहिं किं भेत्ति ॥
 वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो होइ ॥ ६९४ ॥
 आसवाय कच्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२० ॥
 अशित्वा कच्चिदंशेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२१ ॥
 कल्मषत्वा सर्वभोतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ॥
 इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ॥ ७२२ ॥

विजयोदया - मनोव्यवस्थेया हि योनःपुरेण प्रवर्तमाना अभिव्यक्तेरुपैति संतोः । स जानुपराः कर्त्तुं प्रवृत्तावन्ते हेतुः, यतो भोगं भोगाधिप्रेयसने भवधृतामिति स्पष्टायै गणपत्ययोचरं । प्रकाशना समस्ता पयासना ॥
 कोपि स्तोकं तुल्ये प्राक्षिप्य विरक्तः सन्तर्क्षितनः स्यादित्याह—

मूलारा—एतदं ।

कोऽपि आहारैकदेशं वक्षिभत्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—दादा । भुक्ताश्च विविधादायाः पीताश्च विविधास्तनाः ॥

मावरो विविधा दद्याः पितरश्च भवार्थेये ॥ इति श्लोकविपादाविष्टः ॥

कोऽपि सर्वमाहारं भुक्त्वा धिग्भिग्मागित्यात्मानं निन्दित्वा तथा स्यादित्याह—

मूलारा—एतदम् ।

अर्थ—कोई क्षपक भुनि नाना प्रकारके मनोवृत्त आहार की प्राप्ति होनेपर इनसे भेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा विचार करके उनका सेवन नहीं करता है, मैं तो अब परणके अन्तिम समयको प्राप्त हो चुका हूँ

अतः इससे मेरा कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा नहीं इस विचारसे वैराग्यको प्राप्त होकर संन्यास होता है, कोई क्षपक उस आहारों से थोटा आहार उठाकर अपने झुंडमें डाल कर ददनंतर हाथ 'अब तो मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं इस आहारसे मेरा क्या मतलब है ऐसा विचार कर विरक्त और संसारसीत होता है, कोई क्षपक संपूर्ण आहारका भक्षण कर उसमें विरक्त होता है, हाथ मेरेको थिरकार दो, मैं अन्तिम समयको प्राप्त हुआ हूं, ऐसे विचारसे विरक्त और भवभीत होता है, मनोश्च विषयोंका सेवन करते रहनेसे वाग्धर अभिलाषा चटती ही जाती है, यह अभिलाषा विषयोंपर अनुराग उत्पन्न करती है, अनुरागमें कर्मबंधन होता है और यह कर्मबंधन संसारसमुद्रमें प्राणीको पटक देता है, इस प्रकारके विचारसे क्षपक आहारका त्याग करता है, प्रकाशन प्रकरण समाप्त हुआ।

शारीर्ये सुतपस्यं न्याचये -

कोई तमादयित्वा मणुणरसवेदनाए संविद्धो ॥

तै चैवणुबंधेज्ज ह्यु सत्त्वं देसं च गिद्धीए ॥ ६९५ ॥

वसिप्रत्या सुंदराहारं रसास्वादनालसः ॥

कश्चिदमनुयच्छति सर्वं देशं च गृद्धितः ॥ ७२३ ॥

इति प्रकाशनम् ।

वित्तयोदया—कोई फाइयतिः । तं दक्षिणमाहारं । अदयित्वा भुञ्ज्या । मणुणरसवेदनाए मनोजरसाभुवनं । वसिप्रत्या सुंदराहारं । तै चैवणुबंधेज्ज ह्यु तमेवास्वादिदेवं मनोज्ञास्वाद्यनुभूतोयत् । दक्षिणदेशं च गिद्धीए गृद्धया ॥

कश्चिद्विनमत्यस्तं दक्षिणमाहारं सर्वं भुक्त्वा वदन्सानुभवाविष्टतेनैव सर्वं तदेकदेशं वा गृद्धया नित्यमभिलषेदि-
त्याह—

गुलारा—आवृत्ता—भुक्त्वा । वेदनाए अनुभवेन संविद्धो सम्मूर्च्छितः ॥ एतां श्री विनयाचार्य उत्तरसूत्रे न्याचय । प्रकाशना । सूत्रः २८ । अंकता ॥

इति नामक प्रकरणका विवेचन—

अर्थ—कोई क्षपक दिखाया हुआ आहार मक्षण कर उसके स्वादिष्ट रसमें लुब्ध होकर उस संपूर्ण आहार को पारंपार भक्षण करने की इच्छा रखता है- अथवा उसमेंसे किसी एक पदार्थ को बारंबार खानेकी अभिलाषा करता है.

तत्थ अवाओवायं दंसेदि विसेसदो उवदिसंतो ॥

उद्धरिदु मणोसहं सुहुमं सण्णिव्वेमाणो ॥ ६९६ ॥

कुरुते देशनां सुरिरायापायविशारदः ॥

निरारक्तुं मनःशतयं सूदमं निर्योपयन्नसुम् ॥ ७२४ ॥

विशयोवया-तस्य भवहारसक्तौ ज्ञातार्या । अत्राभोवायं इन्द्रियसंयमदशापायं, असेयमस्य च होकनं । दंसेदि दंसेवति । विसेसदो विशेषेण । उपदिसंतो उपदिशन् । उद्धरिदु उद्धतुं । मणोसहं मनःशतयं । सुहुमं सुदमं । सण्णिव्वेमाणो सम्पन्न प्रशमयन् ॥

अर्थ—मनोशारारसदृष्टपदार्थात्मकक्षत्त्योद्धरणपूर्विका क्षपकस्य ह्यानि गाथाचतुष्टयेन व्याचक्षाणः पूर्व तादृक् शक्त्यासौत्थ सस्य निर्योपकाचार्येण प्रयोज्यं प्रतिविधानमभिधत्ते—

गूढारा-तत्थ तस्यां मनोशारारसासक्तौ क्षपकस्य ज्ञातार्या । अपायोवाये अपायभित्त्रियसंयमविनाशे, उपायं च तदसंयमवर्धकनं । विसेसदो उवदिसंतो 'वागितोन्द्रियस्य कापि कार्यवित्तिरस्तीति' । "अंधासर्वं महानंदो विपप्राचीकृते-क्षणः । चक्षुषांथो न ज्ञाति विषयापो न केनचित्" ॥ इत्येवं प्रायेण विशेषेणोपदेतं कुर्मन् । उद्धरिदु उद्धतुं उत्पादयितुं । मणोसहं भित्तगर्वं भोजनमृदिलक्षणं योरदुःसकारणं । सुहुमं सूदमं गुरुणापि तदैवोपलक्षणीयत्वात् । सैनिश्ववेमाणो सम्यक् प्रीणयन्प्रशमोत्पादेन स्त्रीतलयन्निरर्थक्यं ॥

अर्थ—जब आहार में क्षपककी आसक्ति हो जाती है तब अभिलाषा रूपी सूक्ष्म मनःक्षल्यको निकालनेके लिये आचार्य शांततासे उसको विज्ञाप रीतीसे उपदेश करते हैं- उपदेशमें वे आहारकी मृदुलसे इन्द्रियसंयमकी हानि होती है और असंयमकी वृद्धि होती है ऐसा विशेषरीतीसे कहते हैं- विसुने इन्द्रियोक्तो तन्मं नही रखा है : वह कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता है, विषयांच मनुष्य अवशसे भी अन्धा है, आत्ममे अंधा पुरुष केवल पदार्थोंको

देख नहीं पाता परंतु विवेकतो वह रहित नहीं है. परन्तु विषयांच हेय, उपादेय, कुछ भी जानना नहीं. इस प्रकार का उपदेश करके उसकी आहारकी अभिलाषा हृदयसे निकालते हैं.

सोच्चा सल्लमणस्यं उद्धरदि असेसमप्पमाणेण ॥

वेरगमणुप्पत्तो संवेगपरायणो खवओ ॥ ६९७ ॥

काच्चिदुद्धरत्ते शस्यं क्षिप्रमाकर्ण्य देशनाम् ॥

करोति संसृतिप्रस्तः सूरिणां वचसा न किम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया—सोचा श्रुत्या वैराग्यरूपां । सल्लं शब्दं, उद्धरदि उत्थायति । असेल अशेषं । जपमोक्षेण प्रमादं विना । वेरगमणुप्पत्तो वैराग्यमनुमान । संवेगपरायणः संवेगपरः । क्षपकः शल्योद्धरणपरो भवति ॥

गुरुपदेशमाकर्ण्यं श्रुतिं प्रतिशुद्धः स क्षपको यदिपचं तदभिषेचं—

सूत्रा—१५८५ ।

अर्थ—इस प्रकार वैराग्य यदनेपाला उपदेश सुनकर क्षपक प्रमाद छोड़ देता है, और संपूर्ण अभिलाषा रूपी शल्यको हृदयसे निकालकर फेंक देता है. वैराग्य युक्त होकर संसारसे मययुक्त होता है.

अणुसज्जमाणए पुण समाधिकामस्स सव्वमुवहरिय ॥

एक्केकं हवेंतो ठवेदि पोराणमाहारे ॥ ६९८ ॥

समाधानीयतो गृध्नोः संत्याज्य सकलं गणी ॥

एकैकं हापयन्नेवं प्रकृते दधने शनैः ॥ ७२६ ॥

विजयोदया—अणुसज्जमाणए पुण ह्वेत्प्यादावभिलाषस्य दोषोपदर्शने । अणुसज्जमाणे आहारे अनुपगतवति क्षपके । समाधिकामस्स समाधिमरणमिच्छताः । सव्वमुवहरिय सर्वमाहारमुपसंहृत्य । कथं एवेकं हवेंतो एकैकं आहारं हापयन् सृतिः । ठवेदि स्थापयति । क्षपकं । पोराणमाहारे प्रकृते आहारे ॥

तदनुवर्तिनं समाधिमरणार्थिनं एकैकद्वापनेन सर्वं शुद्धि-रुत्साहं लावयित्वा सृतिः क्षपकं प्रकृताहारे स्थापयतीति उच्यते—

कतिप्रकारं पानकमित्येकापाणात्परे—

मत्स्यं वहलं लेवडमलेवडं च ससित्ययमसित्यं ॥

छुब्बिहपाणयमेयं पाणयपरिकम्पयोगं ॥ ७०० ॥

लेपालेपघनस्वच्छसिक्थसिक्थविकल्पतः ॥

पानकमोचितं पानं पोडेवं कथितं जिनैः ॥ ७२८ ॥

पितृपोदण—सार्धं रज्जुं एकं पात्रं उप्योदकं सौवीरकं । त्रिंशतिनीलाफलरसप्रभृतिकं च अन्यद्रव्यं ।
द्रव्यादिकं लेवडं लेपसहितं । अलेवडं प्रलेपसहितं यत्र इस्ततलं विलिपति । ससित्ययं सिक्थसहितं, असिक्थं
सिक्थरहितं । छद्मा रोद्धा । पाणयमेव एतत्पानकमेकं । परिकम्पणयोगं पानकाख्यपरिकर्मप्रयोगं ।

अर्थं छद्माहारपरिहारेणोपलब्ध अक्षरस्य तत्प्रत्यक्षपानविधानं गायत्र्यश्वकेनोपदेश्यन्पूर्वं तपोन्यायानुपानवि-

करूपान्निर्दिशति—

मूलारा—सच्छं रज्जुं उप्योदकादिकं । वहलं कश्चित्प्राक्षापातकतिविबीकाधिकफलसार्पिकं । लेवडं इस्तत-
ललेपि त्रिषिपोलादिकं । अलेवडं मंदमथितादिकं । ससित्ययं वेयादिकं । असिक्थं सुद्रसपादिकं । छद्मा रोद्धा ॥

पानकके कितने प्रकार हैं इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—स्वच्छ यह एक पानकका प्रकार है. गरम पानी, वगैरहस्रो स्वच्छ कहते हैं. वहल—काजी, ब्राह्मरस,
इमलीका सार, वगैरह गाढ़ पानक. लेवड जो हाथको चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह. अलेवड—हाथको न
चिपकनेवाला मांढ ताक वगैरह. सिक्थसाहित—जिसमें भातके सिक्थ रहते हैं ऐसा पानक अर्थात् मांढ सिक्थग. भातके
सिक्थ जिसमें नहीं है ऐसा मांढ असिक्थग ऐसा छह प्रकारका पानक आगममें कहा है

आयंविलेण सिंभं स्त्रीयदि पितं च उवसमं जादि ॥

वादस रक्खणं एत्थ पयत्तं खु कादब्बं ॥ ७०१ ॥

आचाम्भेन क्षयं याति खेप्पमा पित्तं प्रशाम्भयति ॥

परं समीररक्षार्थं प्रयत्नोऽस्य विधीयताम् ॥ ७२९ ॥

विजयोदया—आयं विद्येण आचाम्मेन । स्तिभं सीयदि इष्टेष्वा ख्यमुपपाति । पिच्छं च पिच्छं च । उपसमं जादि उपसममुपपाति । यादस्स यातस्य । रक्खण्डं रक्षणाघं । एत्थ अत्र । क्वत्ते हँ क्वात्थं प्रयत्नः कर्त्तव्यः ॥

ककारित्तत्रासप्रतिकारोपायमाह—

मूढारा—स्तिभो सीयदि इष्टेष्वा ख्यमुपपाति । रक्खणत्वं प्रकोपतिवारणार्थं । एत्थ अत्यासन्नमूल्यके क्षपके । पयत्तं प्रच्छदो पत्तः । येन यातः कुपितः प्रक्षाम्यति येन वा न कुप्यति स आयुर्भद्रानुसारं भोगकः कर्त्तव्यं पचात्रापीन-
त्वमिषक्कफभानुमहारीनाम् ॥

अर्थ—आचाम्मेने करु का क्षय होता है, पिषका उपशम होता है और यातका रक्षण होता है अर्थात् उसका भी मशौर होता नहीं इसलिये आचाम्लमें प्रयत्न करना चाहिये, अर्थात् इतर पानकोंकी अपेक्षासे आचाम्ल पानक क्षपककी प्रकृति को अनुकूल होता है इसलिये क्षपक विशेषतासे इसको उपयोगमें लावे,

पानभावनीचरकालभाविने व्यापारं दर्शयति—

तो पाणपण परिभाविदस्स उदरमलसोघणिच्छाए ॥

मधुरं पडजेदब्बो मंडं न विरेयणं खयओ ॥ ७०२ ॥

ततोऽसी भाविनः पानैर्जाठरस्य विसुद्धये ॥

मलस्य मधुरं मंदं पायनीपो विरेचनम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—तो पदयात्र । पाणनेन पानेन । परिभाविदो भाविता क्षपका, मधुरं पडेजदब्बो मधुरं पाययि-
त इयः । किमर्थं ? उदरमलसोघणिच्छाए उदरगतमलनिरासाय ॥

पानकसंस्कारोत्तरमुपक्रमं आशङ्कयेनाह—

मूढारा—पडजेदब्बो पाययितव्यः ॥

पानभावनीचर क्या क्रिया करनी चाहिये इसका वर्णन—

अर्थ—पानक पदार्थका सेवन करनेवाले क्षपकको पेटके मलकी शुद्धि करनेके लिये मांडके समान मधुर रेचक औषध देना चाहिये.

आणाहवन्तियादीहिं वा वि कादब्बमुदरसोधणं ॥
वेदणमुपादेज्ज हु करिं अतंत्तं उदरे ॥ ७०३ ॥

अनुवासादिभिस्तस्य शोष्यो वा जाठरो मलः ॥

अभिरस्तो यतः पीडां महतीं विदधाति सः ॥ ७३१ ॥

चित्तयोदया—आणाहवन्तियादीहिं अनुवासानादिभिः कादव्यं कर्तव्यं । उदरसोधणं उदरस्य मलमुदरशोधनोद्यते तस्य निराक्रिया उदरमलशोधना । किमर्थमेवं प्रयासेन महता मलं निराक्रियते इत्यत्राचष्टे । वेदणमुपादेज्ज एव वेदना-मुत्पादयेद्येव । उदरे करिस्तस्य पुरीषं अतंत्तं स्थितं ॥

मूत्रारा—आणाह अनुवासनं । कश्चित्किञ्चित्स्वप्नशृणुपनाहो वा । वणि वतिः । सैववादिमयी शुद्धप्रणया आदिशब्देन वापनवत्त्वादिव्राह्मणं । करिं पुरीषं । अत्यवयं तिष्ठत् ॥

अर्थ—कांजीसे भिगे हुए पित्त पक्वादिकोसे उदरको सेकना चाहिये तथा सेवानमक वगैरह पदायोंकी चर्तिका बनाकर शुद्धद्वारमें उसका प्रवेश करना चाहिये ऐसा करनेसे सब उदरका मल निकलता है, ऐसा प्रयास क्यों करते हो इस मशनका उच्चर ऐसा है कि, यदि उदरमें मल संचित होनेपर उसको न निकला जाय तो वह वेदना उत्पन्न करता है.

एवं छुत्तोवरको घनस्य क्षपकस्य योग्यं व्यापारं निर्वोपकसुरित्तेपायनादशयति—

जावज्जीवं सब्बाहारं तिविहं च वोसरिहिदित्ति ॥

जिज्जवओ आयरिओ संघस्स णिवेदणं कुब्जा ॥ ७०४ ॥

आराधकस्त्रिधाहारं यावज्जीवं विमोक्षति ॥

निवेदयामि संघस्य निर्योपकगणेशिना ॥ ७३२ ॥

विजयोदया—जावज्जीवं जीवितावधिकं । सब्बाहारं सर्वोहारं । त्रिविधं अन्नं, वायं, स्वादं च । वोसरिहिदित्ति त्यजतीति । जिज्जवगे आयरिओ निर्योपकः सुरिः । संघस्स णिवेदणं कुब्जा संघं निवेदयेत् ॥

एवं विशोधीदरस्य क्षपकस्य योग्यं सुरिग्रयोग्यक्रममुपदिशति—

मूत्रारा—तिविहं अन्नं, वायं, स्वादं च । वोसरिहिदित्ति त्यज्यति क्षपक इति ।

इस प्रकार क्षपकका उदर ओषधेपर क्षपकके द्वारा कोनसी क्रिया निर्यापक खुरि कराते हैं इसका विवेचन—
अर्थ—यह क्षपक अब अशन, स्वाद्य और स्वाद्य, ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका आमरण त्याग करता है ऐसा निर्यापक आचार्य संपूर्ण संघको विदित करते हैं.

स्वामेदि तुल्ल खवओत्ति कुंचओ तस्स चेव खवगस्स ॥

द्वानेद्वव्वो णेदूण सव्वसंघस्स यसधीसु ॥ ७०५ ॥

क्षपको वोडवित्तालेया निःशस्यीभूतमानसः ॥

शान्तः क्षमयते अक्ताः । क्षमाशुणविचक्षणः ॥ ७३३ ॥

विजयोषया—कामेदि क्षमां ग्राहयति । तुल्ल युष्मान् । कुंचगो प्रतिलेखनं । खवगोत्ति क्षपक इति । तस्स खेव एवगस्स तस्यैव क्षपकस्य । कुंचगो प्रतिलेखनं । शवेद्वव्वो दरोषितव्यं । णेदूण नीत्वा । सव्वसंघस्स वसवीण् सर्वसंघस्य वसवीषु ।
सूरिणा संपन्न निवेदनविधिमाह—

मूळारा—स्वामेदि क्षमां ग्राहयति । तुल्ल युष्मान् । कुंचगो प्रतिलेखनं । शवेद्वव्वो क्षमयति युष्मात्क्षपक इति भाषमाणेन ब्रह्मचार्यदिना सर्वसंघस्यसतिषु नीत्वा तथ्यातिरेखनं सूरिणा दर्शयितव्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षपक आप सब लोगोंको क्षमा ग्रहण करनेकी प्रार्थना करता है इस अभिप्रायका मापण सर्व संपर्मे जाकर आचार्य ब्रह्मचारीके हाथमें क्षपककी पिच्छी देकर कहते हैं. और यह पिच्छिका सबको दिखाते हैं. अर्थात् क्षपक सर्व मुनिओंक पास जा नहीं सकता है इसलिये उसकी पिच्छिका सबको दिखाकर क्षपक आप लोगोंसे क्षमा चाहता है ऐसा आचार्य कहते हैं.

तेन संघेन ब्रह्मक्षपकाभिग्रायेण कर्तव्यक्रियाचष्टे—

आराधणपत्तीयं खवयस्स व णिरुवसग्गपत्तीयं ॥

काओसग्गो संघेण होइ सव्वेण काद्वव्वो ॥ ७०६ ॥

आराधनास्य निर्विघ्ना सम्यक् संपद्यतामिति ॥

स याति सकलः संघस्तानूत्सर्गमसंभ्रमम् ॥ ७३४ ॥

विजयोदया—आराधनपक्षीं रत्नवाराधना क्षणकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । प्रवणस्तस्मिन्निवसन्गपक्षीयं क्षणकस्योपसर्गं मा भूवेत्येवमर्थं च । आगोमन्गो कायोत्सर्गं । संवेण सन्नेण सर्वेण संवेन । होदि नायद्वयो भवति कर्तव्य ॥ एवं क्षमिन् संवेन किं कर्तव्यमित्यत्राह—

मूलादा—आराधनपक्षीयं रत्नवाराधना क्षणकस्य यथा स्यादित्येवमर्थं । विहनसगपक्षीयं क्षणकस्योपसर्गं मा भूवेत्येवमर्थं च ।

क्षपकका अभिप्राय ज्ञात होनेपर संयक्ता उस समयका कर्तव्य कहते हैं—

अर्थ—क्षपकको रत्नवाराधना प्राप्त होवे और उसको समाधिदण की प्राप्ति निर्दिष्ट उपसर्ग रहित होनेके लिये सर्व संयक्तो उस समय कायोत्सर्ग करना चाहिये.

खवयं पञ्चत्वावेदि तवो सन्नं च चटुविधाहारं ॥

संघसमवायमल्लो सागारं गुरुणिओगेण ॥ ७०७ ॥

तं चटुर्विधमाहारमाचार्यो विधिकोविदः ॥

मर्चये सर्वस्य संघस्य स प्रत्याख्यानयेत्ततः ॥ ७३५ ॥

विजयोदया—खवयं क्षपकं । पञ्चत्वावेदि प्रत्याख्यानं कारयति । निर्यापरुः स्मृतिः । तदो पञ्चात् । सन्धे सर्वं चटुविधधाहारं चटुविधाहारं । संघसमवायमल्लो संघसमुदायमर्थे । सागारं साकारं गुरुनियोयेन । इतरे गुण्यनुग्रया ।

ततः स्मृतिः किं करोतीत्यत्राह—

मूलादा—पञ्चत्वावेदि प्रत्याख्यानं कारयति । सागारं सविकल्पं । अत्रगाथाऽप्रत्याख्यानापेक्षं । गुरुणिओगेण गुण्यमेवा ॥

अर्थ—तदनंतर संघके समुदायमें सविकल्पक प्रत्याख्यान अर्थात् चार प्रकारके आहारोंका निर्यापकाचार्य क्षपकको त्याग करावे हैं और इतर प्रत्याख्यान भी गुरुके आदेश बड़े क्षपक करता है.

अहवा समाधिहेतुं कायन्वो पाणयस्सा आहारो ॥

तो पाणयं पि पच्छा वोसरिद्वन् जहाकाले ॥ ७०८ ॥

त्रिविधं वा परित्याज्यं पानं देयं समाधये ॥

अवसाने पुनः पानं त्याजनीयं पटीयसा ॥ ७३६ ॥

पितृवोदया - अर्द्धा अथवा । समर्पणहेतुं समाधिचित्तवैकल्यात् । तदर्थं कान्ठ्यो कर्तव्यः । पाणमस्त आहारो पानकस्य विकल्पः । सो पञ्चात् । पाणमपि पानकमपि । चोचरिद्वयं सक्तम् । अक्षकाले यथाकाले नितरां शक्तिहानिकाले । पूर्वपाथ्या चतुर्विधाहारस्यागः कार्यं इति, योऽतिशयेन परीपहसाधाम्भ्रमऽस्तं प्रत्युक्तं । अनया तु यो न तथा भवति तं प्रति विविधद्वारत्याग इति विद्यते ॥

एवं परिपहलक्ष्णभ्रमरूपेणैव मुदनिर्गमेन पानविकल्पविधिमाह -

मूलाया - समाधिहेतुं चित्तसंश्लेषनिरासाय । आगारो आकारो विकल्पः । अक्षकाले नितरां शक्तिहानिकाले ॥

अर्थ - अथवा क्षणकाले चित्तकी एकाग्रता होनेके लिये पानकको छोड़कर अशन, स्वाद्य और स्नाद्य ऐसे तीन प्रकारके आहारोंका त्याग कराना चाहिये । और जब क्षणकाली शक्ति अतिशय कम होती है तब पानकका भी त्याग करना चाहिये, जो परीपह सहन करनेमें खूब समर्थ है उसको चार प्रकारके आहारोंका त्याग करना चाहिये परंतु जो उपसर्ग सहन करनेमें असमर्थ है उसके लिये तीन प्रकारके आहारोंका त्याग रक्ताया है.

कीटकपानं तस्य योग्यमित्यह -

अं पाण्यपरियममग्नि पाण्यं छत्विहं समक्खादं ॥

त से ताहे कण्वि तिबिहाहारस्त दोसरणे ॥ ७०९

यन्निदिष्टं पानकर्माधिकारे दातुं शक्तं तत्समाधानरत्नम् ॥

पौदा पानं युज्यते तस्य पातुं त्रैधाहारत्यागकाले पवित्रम् ॥ ७३७ ॥

इति प्रत्याख्यानम् ।

पितृवोदया - अं पाण्यपरियममग्नि पानकारके परिकरे । पाण्यं छत्विहं पदविधं पानकं । यमपक्खादं समाख्याते । सच्छे यद्वलमित्यादिक । ॥ उत्पानं ॥ से ॥ स्या । ताहे तदा । कण्वि योग्यं भवति । त्रिधाहारस्त अशनस्य, स्वाद्यस्य च त्यागे ॥ पञ्चपाथं ॥

कीटकपानं तस्य तदा योग्यमित्यह -

मूढारा—तं पदविषयम् । यथास्तं । से वस्य । ताहे तदा । प्रत्याख्यानं मृतः । ३० । अंकवः । १० ।

कोनसा पानक उसको बोधय है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पानक परिकर्म प्रकारके पानकके छह भेद बतलाये हैं । तीन प्रकारके आहारका त्याग कराने पर यह पानक उसको उस समय देना योग्य है । पञ्चक्लाण प्ररुण समाप्त हुआ ।

तो आयरियउवज्ज्यायसिस्तसाधम्मिगे कुलगणी य ॥

जो होल्लकसाओ से तमहं तिन्निहेण स्वामेदि ॥ ७१० ॥

आचार्येऽध्यापके शिष्ये संघे साधर्मिके कुले ॥

योऽपराधो भवेत्त्रेया सर्वं क्षमयते स तं ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तो प्रायाग्य, नोत्तरकाले । आयरियउवज्ज्यायसिस्तसाधम्मिगे जाचार्ये, उपाध्याये, शिष्ये, स्वामिनि, कुलगणे य कुले गये य । ओ होल्ल कसाओ यो भवेत्त्रेयाय । कोधो, मानो, कामो वा । तं सर्वं निरप्यसेसं सं निरप्यसेयं । तिन्निहेण त्रिविधेन । आमेदि क्षमयति भिराकरोति ।

अर्थ—प्रतिपक्षभक्तश्रद्धाभ्यासस्वाराधकस्य समाधिभरणसिद्ध्यर्थं वतुर्विषयसंबन्धमापणविधिं गायान्कतुष्टयेन न्याचये—

मूढारा—कुलं दीक्षगुरुपूर्वत्रिगुरुसंपन्नम् । कस्ताओ कोयादीनामन्यतमः । रामेदि क्षमयति ॥

अर्थ—प्रत्याख्यानके अनंतर आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक मुनि, कुलमुनि, और गणमुनि इनके विषयमें जो हृदयमें कृपाय होगा अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ होगा उस सर्व कृपायको क्षपक मन, वचन, काया विशुद्ध कर हृदयसे निकाल देता है ।

अवभाहियजादहासो मत्थम्मि कदंजली कदपणासो ॥

स्वामेइ सन्धसंघं संवेगं संजणेमाणो ॥ ७११ ॥

सूर्यन्यस्तकरांभोजो रोमांचांचितविग्रहः ॥

त्रिधा क्षमयते सर्व संवेगं जनयन्नसौ ॥ ७३९ ॥

विजयोदया—अथ हिदम्बादासो नितरमुपजातचित्तप्रसादः । कर्तव्यं मुमुक्षुणा यत्तत्सकलं मयावृष्टितं इति । भृत्यमि कदम्बजो मस्तकन्यस्तोजलिः । कदम्बजो मस्तकन्यस्तोजलिः । कामेदि क्षमां ग्रहयति । सत्यसंघं सर्वे श्रमणगणं । संवेग सधर्मानुत्तमं । संजगेमाणो सम्बन्धुपदवत् ॥

मूढारा—अभ्यधिकं निरंतरं उपजावचित्तप्रसादो । यत्कर्तव्यं मुमुक्षुणा वत्सर्वं मयावृष्टिमिति । संवेगं धर्मानुत्तमं । संजगेमाणो सम्बन्धुपदवत् संघस्य ॥

अर्थ—मुमुक्षुका सर्वे कर्तव्य मेने किये हैं इस विचारसे जिसके हृदयमें प्रसन्नता उत्पन्न हुई है ऐसा यह क्षणक अपने मस्तकपर दो हाथ जोड़ सर्व संघको नमस्कार करता है. और साधर्मिकोंमें अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण कराता है. अर्थात् हाथ जोड़नेसे उत्तमे मेरे ऊपर आप सब लोग क्षमा करो ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया.

मणवयणकायजोगेहिं पुरा कदकारिदे अनुमदे वा ॥

सब्बे अवराधपदे एत्त खमावेमि निस्सल्लो ॥ ७१३ ॥

योऽपराधो मयाकारि मनसा बधुपा गिरा ॥

क्षमये तमई सर्वं निःशस्त्रीभूतमानसः ॥ ७४० ॥

विजयोदया—मणवयणकायजोयेहिं ननोयकाययोयै । पुरा पूर्व । कदकारिदे अनुमदे वा कृतकारितायुम-
तांश्च । सब्बे अवराधपदे सर्वानपराधविशेषान् । एत्त एव । खमावेमि । क्षमां ग्राहयामि । निस्सल्लो शल्यरहितोऽहमिति ॥
मूढारा—अवराधपदे अपराधविशेषान् ॥

अर्थ—मन, वचन और करीके द्वारा, तथा कुद, कारित और अनुमति के द्वारा जो जो अपराध मेने किये हैं उनकी आप लोक मेरेको क्षमा करो- मैं शल्य रहित हुआ हूँ.

अम्मापिदुसरिस्सो मे खमहु खु जगसीयलो जगाघारो ॥

अहमनि खमामि सुब्बो गुणसंवायस्स संघस्स ॥ ७१३ ॥

मम पितृजननीसदृशः शश्वत्त्रिभवनमहितः सुयशः संघः ॥
प्रियहितजनकः परमां धीर्ति रचयत कृतवानहमस्मान्तिम् ॥ ७४१ ॥

इति क्षमणा ।

विजयोदया—अम्मापिटुसरिस्सो माया पित्रा च सद्वधो । मे मम कम्महु क्षमां करोतु । जगसीदलो जगतः सर्व-
प्राणिलोकस्य शीतलः । जगापारो आसन्नभयलोभस्य आघातः । अहमपि स्वपामि परकृतमपरार्थं मनसि न करोमि ।
हुदो शुद्धः क्रोधाविकलं कविरहात् । गुणसंघादस्स गुणसमुदायस्य । सेवस्स संघस्य । क्षमणा ॥

मूलात्—अम्मा माया । लमहु क्षमां करोतु संघः । जगसीदलो सर्वप्राणिसुखायहः । जगाधारो आसन्न-
भयलोकप्रायः । हुदो क्रोधाविकलं कनिर्मुक्तः । संघश्चभाषणं सूतः ॥ ३१ ॥ अंकवः ॥ ४ ॥

अर्थ—यह संप माता और पिताके समान हित करनेवाला है, जगतके संपूर्ण प्राणिजोंको सुखदायक
है, आसन्न भय लोकोंको यह आश्रय स्थान है, क्रोधादि कलंकासे-दोषोंसे रहित है, और गुणोंके समुदायने
परिपूर्ण है, इस सर्वसंघसे मैं क्षमाकी याचना करता हूं, यह संघ मेरेको क्षमा प्रदान करे, मैं भी दुसरेने किये हुए
अपराध मनमें नहीं लाता हूं अर्थात् दूसरेके अपराधोंको भूल जाता हूं, क्षायणाक्षरका विवेचन समाप्त हुआ.

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं ॥

दंसणणाणचरित्ते संघार्यंतो हवे संघो ॥ ७१४ ॥

इय खामिय वेरगं अनुत्तरं तवसमाधिमारुढो ॥

पपभोडितो विहरदि बहुभववाधाकरं कम्मं ॥ ७१५ ॥

वट्ठंति अपरिदंता दिन्ना य रादो य सच्चपरियम्मे ॥

पडिचरया गणहरया कम्मरयं पित्तिरेमाणा ॥ ७१६ ॥

क्षपधित्थेयति वैराग्येयं स्पृशन्ननुत्तमम् ॥

तपःसमाधिमारुढधेष्टते क्षपयन्नघं ॥ ७१७ ॥

अप्रमत्ता गुणाधाराः कुर्वन्तः कर्मनिर्जराय ॥

अनारतं प्रवर्तते व्यावृत्तौ परिचारकाः ॥ ७४३ ॥

विवयोदया—वृद्धिं वि यतंगते । अपरिदंता अपरिग्रहान्ताः । विद्या य रात्रौ य विने रात्रौ च । सव्यपरिक्रमे सर्वपरिचरणे । परिचरणा नियोगकाः । गणहृदया गणान् घर्मस्थान् चारयन्तीति गणधराः । कम्मरयं कर्मस्थं स्वः । गिज्ज-देमाणा निर्जरेत्यन्तः ॥

अथैवं कृतक्षमणस्य क्षपकरय सर्वत्र समाहितमनसो बहुभवकोटिसंचितानुभूतकर्मनिर्जरास्त्वक्षणं क्षमणं गाथा-पंचकैर्न व्यावृत्तः । पूर्णं तदर्थसंग्रहगाथापन्यस्ववि—

मूढारा—आमिय क्षमयित्वा सर्वसंबं । वेरगो निर्विण्णः । अनुषरं उत्तुष्टम् । पप्फोखितो निर्जरयम् । विह-रवि प्रवर्तते ॥

तथा प्रयत्नमानस्य संन्यासिनो निर्वापका वैद्यापूरुषे सुतरां यत्वे इत्याह—

मूढारा—अपरिदंता अपरिधर्माः । गुणधरा गुणान्तरपरिधर्मान्धारयन्तः । कम्मरयं कर्म दुष्कृतं रज इव शरीरस्य सौकर्य्यविगुणानामिवात्मनः संज्ञानादीनां प्रतिबंधकत्वात्कचूदूदुप्रश्रुतीनामिव दुर्योतिविपदां संपादकत्वाच्च । गिज्ज-देमाणा क्षपकरयस्मन्नक्षैकदेशेन क्षमणां प्रापयन्ताः ।

अर्थ—यह संघ गुणोंका समूह है. यह कर्मोंका नाश करके प्राणिजोंको मुक्तिमुल देनेवाला है. दर्शने, ज्ञान और चारित्रिकी इकट्ठा करनेवाला है. अतः इसको संघ यह अन्यर्थक नाम प्राप्त हुआ है.

अर्थ—इस प्रकारसे सर्व संघको क्षमा करानेवाला, उत्तुष्ट वैराग्यकी सीमाको प्राप्त हुआ, तपमें एकाग्रताको प्राप्त हुआ ऐसा यह क्षपक अनेक भयमें दुःख देनेवाले कर्मका नाश करता हुआ रत्नत्रयमें विहार करता है.

अर्थ—गणको घर्ममें स्थिर करनेवाले आचार्य और परिचारक मुनि दिवस और रातमें सर्व कार्योंमें उत्तर होकर क्षपककी शुभूपा करते हैं. जिससे उनकी कर्मनिर्जरा होती है. यह कर्म स्वर्गके समान है.

जं बद्धमसंखेज्जाहिं रयं भवसदसहस्सकोडीहिं ॥

सम्भत्तुप्यचीए खवेह तं एयसमेयेण ॥ ७४७ ॥

यज्जन्मलक्षकोटीभिरसंख्याभी रजोऽजितम् ॥

तत्सम्यग्बोधोत्पादे क्षणेनैकेन हन्यते ॥ ७४४ ॥

विजयोदया—जे यत् । बड़े रथें बड़े रज्ज्. कम । यथा रजश्छादयति एतस्य गुणं शरीरादेः कच्छददुग्धभृतिनं दोषमत्यहति । तद्वद्वीथीयुष्मत्पञ्चछादयति । संपादयति च विचित्रा विषय् तेन रज इव रज इत्युच्यते । भवसद्वलहस्त कोटीति भवशतसहस्रकोटिभिः । तद्रजः यथेति क्षयवति । केन ? सम्पत्पुत्तीए अद्वानोलस्या । एतस्मिन्नेव एकेनैव समयेन । तथा चोक्तं—सम्यग्दृष्टिआयकविरताभक्तवियोजकदर्शनमोवल्लापकोपशान्तमोदक्षपक्षीणमोहजिनाः ऊन-शोऽसंख्येयगुणनिर्जरा इति ॥

तत्कालोर्लेश्व संन्यासिगस्तदुपासिनां च श्रद्धानस्य माहुराभ्यनभिष्टीति—

मूलारा—रथें पापं । रखेंवि गालयंति । क्षपकवत्परिवारका आविशेषणैव वा भववर्जीया सन्यस्तपद्भूमिमतु-प्राप्ताः । एयसमयेण अल्पकालेन ॥

अर्थ—रज—धूलि शरीरको आच्छादित कर विरूप बनाती है और तख्ख, दद्रू वगैरह रोगको उत्पन्न करती हैं; वैसा यह कर्मरज आत्माके ज्ञानदर्शनादि गुणोंको आच्छादित कर उसको दुर्गतिमें लोटता है अतएव इस बद्द हुए कर्मरजकी आचार्य और परिचारक युनि क्षपकशुश्रूषा कर निर्जीर्ण करते हैं, जब सम्यग्दर्शन जीवको प्राप्त होता है तब कोट्यवधि भवमें संवित हुए कर्मको भी एक समयमें निर्जीर्ण करते हैं, क्षपककी छुश्रूषा करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है. जिससे एक समयमें असंख्येय गुणी निर्जरा होती है. तथा जो मध्य क्षप-पके दर्शनार्थ आते हैं उनको भी सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे उनके कर्मकी निर्जरा होती है. तत्प्राधान्यम महाशास्त्रमें 'सम्यग्दृष्टिआयक इत्यादि' श्रुतमें सम्यग्दृष्ट्यादि श्रावकाको प्रतिसमय असंख्येय गुणित कर्म निर्जरा होती है ऐसा लिखा है.

एयसमएण विघुणादि उवलजुत्तो बहुभुवज्जियं कम्मं ॥

अण्णयरग्मि य जोगो पच्चक्खाने विसेसेण ॥ ७१८ ॥

जुनीते क्षणतः कर्म संचितं बहुभिर्मयैः ॥

व्यावृत्तोऽन्यतमे योगे प्रत्याख्याने विशेषतः ॥ ७४५ ॥

विजयोद्या -- एतासमेव विपुणादि अनेन फालेन निर्जुनाति । उपउचो परिणतः । ॥ अणायरमि
॥ यल्लिक्कल्लिस्तपसि । किं ? यहमग्निं कर्म अनेकप्रपसंचितं कर्म कर्म । पञ्चम्याने उपजुचो विसेसेण विपुणादि
यापज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागे परिणतः विदोषेण कर्माणि निरस्यति ॥

सद्वृत्तप्रीत्यादादिपरिणामस्य मदिमानं मायाद्वयेन व्यावर्णयति--

मूढारा--उपजुचो परिणतः । अणदूरमि य जोगे यत्र ॥ चिदपि तपसि । पञ्चम्याने यापज्जीवं चतुर्विधाहार-
त्यागे । विसेसेण अतिशयेन ॥

अर्थ--जिस किसी तपमें उप यह आत्मा एकाम्राको प्राप्त होता है तब वह अल्पकालमें ही अनेक
मर्मों से पादित कर्मका नाश करता है. और जो जीव यावज्जीव चार प्रकारके आहारोंका त्याग करता है वह
निदोष रीतिसे कर्मोंका नाश करता है.

एवं पडिक्कमणाए काउसग्गे य विणयसज्जाए ॥
अणुपेहासु य जुचो संधारगळो धुणदि कम्मं ॥ ७१९ ॥
प्रतिक्रान्तो तनूत्सर्गे स्वाध्याये विनये रतः ॥

अनुपेहासु कर्मेति धुनीते संस्तरास्थितः ॥ ७४६ ॥

विजयोद्या -- एवं उक्तेन क्रमेण । पडिक्कमणे प्रतिक्रमेण काउसग्गे य । कापोत्सर्गे च । विणयसज्जाय
न पणे गंधं ॥

मूढारा--जुचो समाहित । धुणदि संस्तरारूढः सम्यक्स्वागियुक्तः पापं निरस्यति । विसेसेणेत्यनुपर्वनात्तत्प-
रिचारकाद्योऽपि इति व्याख्येयम् । अपणा भूतः ३२ । वंक्तः ५ ॥

ताटक्कू संन्याससमाप्तिवि रुचिरवरे भावहृयंग्मीन-
व्याढीढाः प्राच्यलभार्तिभलिसभिघो यावज्जुः स जुब्बत् ॥

साम्प्रदानंशमृताशपरिविबुधमदायज्यसंभोगिसेव्यः ।

सृजैत्संवत्तमूर्तिः पिवतु गुरुभिर्मां सुरिदिमां सुधावत् ॥

इत्याशापणुसूत्र्यसंदर्भे मूलाराधनादर्पणे पदप्रमेवार्थप्रकाशीकरणप्रवर्णे उत्तमार्थमदोलोगो नाम पंचम आभासः ॥

अर्थ—उक्त क्रमसं संस्काराह्वांजो क्षपक प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, विनय, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा, इनमें एकत्र होकर कर्मका क्षय करता है. खवण सूत्रका विवेचन समाप्त हुआ.

इत उच्चरं अनुगातसंनं श्रक्त्यते इति निमदति—

णिज्जवया आयारिया संथारत्यस्स विंति अणुसिंठि ॥

संवेगं णिव्वेगं जणंतयं कण्णजावं से ॥ ७२० ॥

अनशननिरते तनुभृति सकलं भवमयजनकं विगलति कलिलं ॥

अनुहिमकिरणे ह्युदयति तरणो कमलचिक्कसने घनमिव तमः ॥ ७४७ ॥
क्षमणम् ।

निर्यापको गणी शिखां संस्तरस्थाय यच्छति ॥

कुर्वन्संवेगनिर्दौ कर्णे जपमथानिशम् ॥ ७४८ ॥

अनुदिगिटि न वेद्दे क्षपकाय गणाग्रणीः ॥

त्यजेदारधनादेर्वी तदानीं सिद्धिसंफलीम् ॥ ७४९ ॥

विजयोदया—णिज्जवगा आदरिया निर्यापकाः सूर्याः । अणुसिंठि सिंति ध्रुवग्राननुसारेण शिक्षां प्रयच्छन्ति । संथारत्यस्स संस्तरस्थाय । संवेगं संस्तरणीकतां । विव्वेगं वैराग्यं च । जणंतमे उत्पादयस्ते । कण्णजावं कर्णजापे । से तस्मै क्षपकाय ॥

श्रीमूलाराधनादर्पणे षष्ठोऽध्यायः ।

अथ वीरजिनं नत्वा श्रीनिर्यापकसूरिणा ।

संपाद्या क्षपकस्यानुशिष्टिः सप्तीकरिष्यते ॥ १ ॥

मिथ्यात्वं निवर्तं निरस्य सुभवन्सम्यक्त्वयाराध्य सद्—
मर्कियोवनमस्तुवाचमिरतो ज्ञानोपयोगं सदा ॥

कुर्वन्पंचमहाव्रतावनपटः सर्वेन्द्रियावेन्द्रिय-

ग्रामं संस्तरमावसत्वमुभयया धन्यस्त्वपस्तुतः ॥ २ ॥

अथैवं प्रतिपन्नसन्न्यासस्योत्तमार्गसाधनोद्यतस्य युमुखोर्भक्षोर्निर्योपकाचार्येण संपादनां शिक्षां गायानां सप्तसप्त-
दशधिकाष्टशतया व्याचूर्णयित्वन्नुपक्षेपमाह—

मूढारा—मिच्छेवं संसारशरीरभोगवैराग्यं । कृष्णजावं कर्णसमीपोच्चार्यमाणवचनमर्थो क्षपकाय अनुशिष्टि
वश्यमाणार्धमप्रतिपाशां ददाति । कर्णजपं च कर्णजाहोरेचचार्यमाणवचनमस्कारादिपरमाक्षररूपं ददातीति । मत्पत्र शब्दस्य
उत्तमनिर्विहत्याश्रयणात् ॥ तदुक्तम्—

निर्योपको गणो शिक्षां संस्तरमाव यच्छति ॥

कर्णसंयोगनिर्वेदो कर्णेनपपटोऽनिरागम् ॥

अर्थ—निर्योपक आचार्य संस्तरस्थ-संस्तरारूढ क्षपकको श्रुतज्ञानदे अमुसार उपदेश देते हैं और निर्वेग उत्पन्न करने वाला कर्णज्ञाप देते हैं.

कोऽस्ती कर्णजावो ये ते प्रयच्छन्तुस्वीत्यन्वाचष्टे—

गिरसहो कदमुद्धी विज्जावच्चकरवसधिसंधारं ॥

उवाधि च सोधइत्ता सहेहण भो कुण इदाणिं ॥ ७२१ ॥

शोधयित्वोपधिं शय्यां वैयावृत्त्यकरामपि ॥

निःशल्पीचूष सर्वत्र साधो ! सहेहवनां कुरु ॥ ७५० ॥

विजयोदया—गिरसहो मिथ्यादर्शनं, माया, निदानं इति त्रीणि गाल्यानि तेभ्यो नि कान्तः । तत्पञ्चदशेन,
नकुतया, भोगनिरुद्धतया वा कदमुद्धी कृता शुद्धिनिर्मलता रत्नत्रये येन स कृतशुद्धिः । विज्जावच्चकरवसधिसंधारं
विचित्रा आपत् विपत् इत्युच्यते । व्याचम, उपसर्गाः, परिपदा, असंयमो, मिथ्याज्ञानं इत्यादिभेदेन तस्यामापदि यत्प्रति
पिधानं तदेवावृत्त्यं तत्करोति य आत्मनः स धैयावृत्त्यकरस्तं । वसधिसंधारं वसधिसंस्तरं । उपधि पिच्छादिकं च ।
शोधयित्वा विशोध्य । सहेहणं सहेहणं । कुण कुरु । इदाणिं इदानीं । किं ? संयमासंयमवियेकज्ञाः असंयमं त्रिधा मनो-

याक्रयैः परित्वरन्ति न वेति परीक्ष्य अयोग्यवेद्यावृत्यकरणं त्यागः । योग्यानां चावृणा । पूर्वोपपद्योर्वसतेः, संस्तरस्यो पकरणानां च शुद्धिं कुर्वेति आक्षेपयता तच्छुद्धिः कृता भवति ॥

सारकाङ्क्षिकीं गुरुसंपादयामदुशिष्टिं प्रपंचविषय-धामान्याविशेषाभ्यां गाथात्रयेण तामुद्दिशति । तत्र सामान्यव-

स्तावत्—

मूलरा—सोपइत्ता वैयावृत्यकरादियतुहं संशोष्य सुपरि-ययोग्यानां त्यागो, योग्यानां ध्यानुज्ञा, वैय्या वृत्त्यकराणा शोथना । अय्यादित्रयस्य च विधिवत्ताविलेखनम् । सकेदण सकेलना मिथ्यात्वादिगणस्य सम्यक्त्वादिभाष-
नया निराकरणं । योः क्षपकराज । इदानीं संप्रति प्रत्याप्तान्ने भरणशुणै । सुतरा प्रकलविधानार्थमिदमुच्यते ।

अर्थ— मिथ्यादर्शन, साया, और निदान ऐसे तीन शब्द हैं, उच्चश्रद्धानसे मिथ्यादर्शनका, सरलपना-
निष्कपटता, निष्कपटतासे मायाश्रयका और योगनिःस्पृहासे निदानश्रयका नाशकर जिसने रत्नत्रयमें निर्म-
लता प्राप्त कर ली है ऐसे हे क्षपक मुने ! तू जो वैयावृत्य करनेवाले, वसतिका, उपधि और संस्तरकी शुद्धि करके इस
समय संछेदना करी, व्याधि-रोग, उपसर्ग, असंयम, मिथ्याज्ञान और परीपहोंको विपत्ति कहते हैं, ऐसी विपत्ति
आनेपर जो उसता प्रविकाग करना उसको वैयावृत्य कहते हैं, इस वैयावृत्य करनेवाले परिचारकोंको वैयावृत्यकर
कहते हैं, वैयावृत्य करकेवाले मुनि संयम असंयमके ज्ञाता हैं या नहीं इसका विचार क्षपकको करना चाहिये, यदि वे
अयोग्य हो तो उनका त्याग करना चाहिये, वे असंयम का मन, वचन और शरीरसे त्याग करते हैं या नहीं इसकी
परीक्षा करके अयोग्य हो तो त्याग करना चाहिये, और योग्य परिचारकोंको वैयावृत्य करनेके लिये आज्ञा
देनी चाहिये, दिनके पूर्वकालमें और अपराह्नकालमें वसति, संस्तर, और उपकरणोंकी तुम दरीोज शुद्धि करो
ऐसी परिचारकोंको आज्ञा देनी चाहिये- ऐसी आज्ञा देनेसे उसने उनकी शुद्धि की ऐसा सिद्ध होता है,

मिच्छत्तस्त य वमणं सम्मत्ते भावणा परा भत्ती ॥

भावणमौक्कारदिं णाणुबुत्ता सदा कुणसु ॥ ७२२ ॥

मिथ्यात्ववमनं दृष्टिभावनां भक्तिमुत्तमाम् ॥

रतिं भावनमस्कारे ज्ञानान्यासे कुरुयमम् ॥ ७२३ ॥

त्रिजयोदया — मिच्छतस्त य धमणं मिध्यात्वस्य धमणं । समगच्छे भावणा तत्त्वअद्याने अस्तकद्रुत्तिः । पय उरठ्ठा भक्तिः । भावणमोक्षाररदी नमस्कारो द्विविधः द्रव्यनमस्कारो भावनमस्कारः । नमस्तस्मै इत्यादि शब्दोच्चारणं, उल्लान्गोपनक्तिः, श्रुतोजलिता च द्रव्यनमस्कारः ॥ नमस्कृतत्वात् नानुगतो भावनमस्कारस्तत्र रतिः ॥ नापुन्ययोगं भुक्तमानोपयोगं च । सदा कुणसु कुर्विति ॥ धर्ममिदं ॥

तामेवावतुक्षिष्ट विदेयेनोदितसि—

मूढारा— वरणं त्यागं । भावणा अस्तकद्रुत्तिं । मत्ती भक्तिं । प्रक्रमादर्ददादिष्वेव । भावणमोक्षाररदी नमस्कार- नीयाहंवारिगुणतुल्यगुणधने भावनप्राप्ते कोसाक्षि । नापुन्ययोगं बुद्धिज्ञानपरिणतिं ॥

अर्थ— हे धूपक ! तू सदा मिध्यावक्ता बनन कर, अर्थात् मिध्यात्वका त्याग कर और सम्मगर्धानमें हमेशा प्रवृत्ति कर, अर्थात् परमेश्वरमें उत्कृष्ट भक्ति कर, भावनमस्कारमें आसक्त होकर हमेशा ज्ञानोपयोगमें तत्पर हो, यह गाथायें हुआ।

गाथामें भावनमस्कार शुद्ध है, नमस्कारके भावनमस्कार और द्रव्यनमस्कार ऐसे दो भेद हैं, ' नमस्तस्मै जिताय ' ' श्रीजितेश्वरको नमस्कार हो ' ऐसा मुखसे कहना, मस्तक नम्र करना, हाथ जोड़ना यह द्रव्यनमस्कार है, जिनको नमस्कार करना योग्य है ऐसे व्यक्तिओंके गुणोंपर अनुराग करना यह भावनमस्कार है, इस भावनमस्कारमें उद्युक्त रहनेके लिये आचार्यने इस गाथामें धूपकको प्रेरणा की है, तथा ज्ञानोपयोगमें अर्थात् श्रुतज्ञानमें परिणति कर ऐसा धूपकको कहते हैं।

पंचमहव्ययवक्ता कोहचउक्स्त जिमगहं परमं ॥

दुहंतिदियाविजयं दुविहतेवे उज्जमं कुणह ॥ ७२३ ॥

धुने ! महावतं रक्ष कुन कोपादिनिग्रहम् ॥

हृषीकनिर्जयं द्वेषा तपोभागं कुरुवमम् ॥ ७२४ ॥

त्रिजयोदया— पंचमहव्ययवक्ता पंचानां महावतानां रक्षां । कोहचउजस्त रोयचतुष्कस्य । जिमगहं निग्रहं । परमं प्रकृतं । दुहंतिदियविजयं दुहंतिन्द्रियविजयं । दुविहतेवे विप्रकारे तपसि । उज्जमं उद्योग । कुणसु कुह ॥

तथा—

मूढारा—कोषवृत्तकस्तु कोषयानमायालोभानां । दुर्लभदिव्यविजयं । सम्बन्धमितानां चञ्चुरानीनां विशेषेण

लयः स्वयदाकरणम् ॥

अर्थ—हे सुने ! तू पंच महाव्रतोंका रक्षण कर. क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंका नाश कर. दुःखसे विनका दमन कर सकते हैं ऐसे आँसू, कान ध्वनिह शब्दियोंको विशेष प्रकारसे तू जीत ले. वाह्य और अभ्यन्तर तपोमें तू तत्पर रह.

मिच्छुत्तस्तस्य य यमं व्याचष्टे—

संसारमूलहेतुं मिच्छत्तं सत्त्वधा विवर्ज्येहि ॥

बुद्धिं गुणणिदं पि तु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि ॥ ७२४ ॥

भवद्गुणमहामूलं मिच्छात्तं शुच संवत्था ॥

मोक्षते सगुणां बुद्धिं मध्येनय सुने ! लघु ॥ ७२५ ॥

मिच्छयोव्या—संसारमूलहेतुं संसारस्य मूलकारणं । मिच्छत्तं अश्नानं । सत्त्वधा मनोवान्मन्यैः । विवर्ज्ये हि वज्रयं । बुद्धिं गुणणिदं पि तु बुद्धिं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । मिच्छत्तं मिच्छात्वं मोहिदं मुग्धां । कुणदि करोति । मन्त्रेण विचार्यते । कथं भयमता मिच्छात्तस्य ? न हीदं संभाव्यते । अस्तेमादिभ्यो मिच्छात्वं प्रथममुपजातमिति कुतः ? यथा मिच्छात्वं स्तुतिमित्तकं निधनाद्भवति, एवमस्तेमादयोऽपीति का तस्य प्रथमता ? अथ तदेतदेव दर्शनमोक्षः प्रथमं भवति । पञ्चाचारिजमोहादीनीत्येतदपि असत् । तदा कमाह्लसद्भावात् । एवं सामान्यतः सूत्रकारः 'मिच्छाद्वी-
नाचिरतिमसाक्षफापयोगा वंचयेत्तवः' इति वचने मिच्छात्वं पंचहेतुषु पूर्वमुपन्यस्तं वंचयितुः संसृष्ट संसारः, संसारमूल-
हेतुमिच्छात्वं बुद्धिं अर्थमाधार्यपरित्यजेदगुणसमन्वितामपि मिच्छात्वं विपरीतां करोति इत्याह । अन्ये तु वदन्ति । बुद्धी
गुणणिनया पि सु शुश्रूषाश्रयणश्रवणचारणद्वयो मुखेर्गुणास्तदेतुमपीति ॥

मिच्छात्वावबन्निविष्टत्वं व्याकृतुं वक्ष्यमाणाः सूत्रवन्सर्वात्मना वक्ष्यामि विषयेतयोपदिश्यापायप्रवियु-
तया समर्थयेते ॥

मूढारा—संसारमूलहेतुं संसारकारणधर्मबंधप्रधानकारणं । गुणणिदं पि गुणान्वितामपि । शुद्ध्याश्रयण-

महणधारणवित्तानोक्षोदोहत्त्वाग्निनिषेधश्चाण्डगुण्युक्तामपि । मोहिं दुग्धा विपर्ययप्रहावेद्येन यथाव दस्तुपरिच्छेदप-
रिभट्टाम् । अत्रेयं गाथासूत्रे न द्रव्यते ।

मूढारा—एतौ विलयाभागौ नेच्छति ।

‘मिथ्यात्वका चमन करो’ इस वाक्यका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—संसार का मूलधारण मिथ्यात्व ही है, अर्थात् मिथ्याश्रद्धान ही संसारका मूल है, इस मिथ्या-
त्वका है क्षपक । तू मन, चमन और कायसे सर्वथा त्याग कर, यह मिथ्यात्व गुणोंसे युक्त ऐसी बुद्धीको भी सुग-
ध करता है.

यहाँ शंका—मिथ्यात्वको सर्व कर्मों में ग्रथम आप कहते हैं वह योग्य नहीं है, जैसे मिथ्यात्व अपने
कारणोंसे उत्पन्न होता है वैसी असंयमादि कों की भी उत्पत्ति अपने २ कारणोंसे होती है अतः मिथ्यात्वका कारण
दर्शनमोहनीय कर्म ग्रथम उत्पन्न होता है अतएव चारित्र्य मोहादिकोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी कहना असत्
है, क्योंकि हमेशा आत्मामें आठों कर्मों का सञ्चार है.

उत्तर—सामान्यतः सूत्रकारने ‘मिथ्यात्वाविरतिममादकपाययोगा बंधहेतवः’ इस सूत्रमें मिथ्यात्व
को ग्रथम स्थान दिया है अर्थात् बंधके कारणोंमें मिथ्यात्वका ग्रथम उल्लेख है, संसार बंधपूर्वक है, और संसार
का मूल कारण मिथ्यादर्शन है.

यह मिथ्यात्व बुद्धीको विपरीत करता है, यहाँ कितनेक आचार्य ऐसा कहते हैं—शुश्रूषा-गुननेकी इच्छा
शालाश्रवण करना, श्रवणकर उसको हृदयमें धारण करना, कालांतरमें भी धारण किया हुआ नहीं भूलना इत्या-
दिक बुद्धीके गुण हैं, मिथ्यात्व इनको भी विपरीत बनाता है, अर्थात् बुद्धि और उसके शुश्रूषादिकके कारण भी
मिथ्यात्वके सहसासे विपरीत होते हैं.

अतदुपपत्तुनि तद्रूपमभासिता कथं विज्ञानस्वेवाशंकाया विपर्यस्तमपि ज्ञानमुदेति तच्चमिच्छसद्भावादित्यावष्टे—
परिहर तं मिच्छतं सम्मत्ताराहणाद् दृढचित्तो ॥

होदि णमोकारमि य णाणे वदभावणासु धिया ॥ ७२५ ॥

मयतन्दिह्याओ उदयन्ति मद्या मण्णंति जह सतण्हयगा ॥

सम्भूदंति असम्भूदं तघ मण्णंति मोहेण ॥ ७२६ ॥

पिब सम्पत्त्वपियूयं मिथ्यात्वविषमुत्सृज ॥

निधेहि भक्तिश्चित्ते नमस्कारमनारतम् ॥ ७२४ ॥

मिथ्यात्वमोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः ॥

कुरंगा इव दृष्टगताः सखिलं दृगदृष्टिकाम् ॥ ७२५ ॥

विजयोदया—मयतन्दिह्या युगलूणिज्जसब्बेन आवित्थरएअयो भयितोष्मणा संपृक्ता कण्ठयन्ते । ता अजल-
भूताः । मद्या मण्णंति ज्वरंति । मद्या मण्यंते उदरमिति । यथा कण्ठयद्वा कृष्णसंततलोचनाः । तद्व य शयेय । मद्या इय
नरा मपि । अस्तम्भूदं सम्भूदंति मोहेण असत्यमपि तत्त्वमित्ययणञ्छित्ति दृशनमोहेन हेतुना ॥

स्वनिमिषसन्निधानाश्चान्त्य विपर्ययः स्यादिति दृष्टान्तं न समर्थयते—

मूढारा—मयतन्दिह्या युगलूणादाब्धेन भोक्तेनोष्मणा संपृक्ताः सूर्यरश्मय कच्यंते । अवयवि दृक्कल्पति । सद्य-
ईति सद्भूतमिति । मोहेण दर्शनमोहेन ॥

अर्थ—हे क्षणिक सुने ! तू ऐसे मिथ्यात्वका त्यागकर और सत्यस्त्वकी आराधनामें अपनको स्थिर कर
पंच परमेश्वरोंके नमस्कारसे, शानाराधनामें और व्रताभ्यासमें तू दृढ़ हो.

औ धरतु किस स्वरूपका धारक नहीं है ज्ञान उसको अत्यरूपसे कैसा जानेगा ? इस शंकापर आचार्य
उत्तर देते हैं—- ज्ञान विपरीतभी होता है क्योंकि उसको विपरीत करनेके कारण मिलते हैं. इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सूर्यके प्रचंड किरणोंसे जब जमीन अत्यंत गरम हो जाती है. तब उसकी उष्णता सूर्यके किर-
णोंसे मिश्र होकर पानीके समान दीखती है. प्याससे जिनकी आँखें संलप्त हो रही हैं ऐसे हरिणोंको उस समय
सूर्यके किरणोंमें जलका आभास होने लगता है. वैसा मिथ्यात्व कर्मके उदरसे इस जीवको असत्यपदार्थ भी सत्य
भासने लगता है. अतएवको मिथ्यात्वव्रस्त जीव तत्त्वरूप समझता है.

मिच्छन्तमोहणादो घत्तूरयमोहणं-वरं होदि ॥

वद्वेदि जन्ममरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं ॥ ७२७ ॥

मिथ्यात्वमोहतो जंतोर्वरं कनकमोहनम ॥

दत्ते मृत्युसहस्राणि प्रथमं न परं पुनः ॥ ७२८ ॥

विजयोदया—मिच्छन्तमोहणादो मिथ्यात्वजन्ममोहात् । घत्तूरयमोहणं उग्रमरुतसंवेद्यजमितमोहनं । वरं होवि शोभते भवति । कथं ? वद्वेदि वर्धयति । जन्ममरणं जन्ममरणं च विचित्राहु योनिषु । किं दंसणमोहो दर्शनमोहजन्म-फलं । ए दु इदरं जन्ममरणं वद्वेदि तैय धत्तूरयमोहनं जन्ममरणपरंपरां धानयति कतिपयदिनमाविमोहसंसादनोचते अनंतकालवृत्तिपरित्यजनक्षणे मोहने अतिशयेन निरुद्धमिति भावः । ततो जन्ममरणप्रवाहरीरुणा भवता स्यात्तय मिथ्यात्वे इति ।

मिथ्यात्वजन्ममोहमादिमानमादर्शयति—

मृत्कार—वद्वेदि वर्धयति ॥

मिथ्यात्वसे उत्पन्न दुष्ट मोहके माहात्म्यका आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—मिथ्यादर्शनसे जो मोह परिणाम उत्पन्न होता है उससे घत्तूरका सेवन करनेसे उत्पन्न हुआ मोह अर्थात् उन्मत्तपना अच्छा है ऐसा हम समझते हैं, क्यों कि दर्शनमोहनीयसे उत्पन्न हुआ मोह अनेक पुण्योनीओमें जन्म मरणोंकी दृष्टि करता है, परन्तु धनूर खानेसे उत्पन्न हुआ पागलपना जन्ममरणको नहीं बढाता है, तथा यह थोड़े दिनपर्यंतकी जीर्ण रू सफला है, इसलिये अनंतकालवत् पदार्थोंका विपरीत स्वरूप दिखानेवाला दर्शन मोह-जन्म मोहपरिणाम अत्यंत निरुद्ध है ऐसा समझना चाहिये, जन्म मरणके प्रवाहसे दरेनेवाले हे क्षपक ! तू घेसे दुष्ट मिथ्यात्वका त्याग कर.

ननु मरण परित्यक्तं मिथ्यात्वं तत्तत्तुं इदानीं तत्त्यागोपदेश इत्यत्राशंक्यामाह—

जीवो अणादिकालं पयचमिच्छन्तमोहो संतो ॥

एवमिच्छन्तु दु सम्मत्ते एतत्त पयत्ते खु कादब्बं ॥ ७२८ ॥

अनादिकालमिध्यास्वभावितो न प्रवर्तते ॥
सम्पत्त्वेष्वयं यतस्तेन प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जीवो अनादिकालं एव च मिच्छन्तु च भाविदो सतो जीवोऽनादिकालप्रवृत्तमिध्यास्वभावितः सन् । न रमिञ्ज सु वैव रमेत । समस्तं सम्पत्त्वे एव यत्र सम्पत्त्वे । पयसं प्रयत्नः । काक्ष्यं रु कर्तव्य एव । अने-
तकाले परिमाणितं मिध्यासं दुस्त्यजं तदेव दुःप्रत्यान्यं । ययोगश्चिरपरिचितं छिद्रं निवार्यमाणोऽपि यत्नात्मविश्रान्ति
इति कर्तव्यं सम्पत्त्वे दाढयं ॥

मूळारा—एव अत्र सम्पत्त्वे । सु काक्ष्यं कर्तव्य एव प्रयत्नः । निवार्यमाणोऽपि जीवश्चिराभावितं मिध्या-
स्वभुवाद्युराग इव छिद्रमिति ॥

अर्थ—अनादिकालसे जीवमें मिध्यात्व चला आया है इससे यह जीव सम्पत्त्वमें रममाण होता नहीं।
इस मिध्यास्वकाही स्वाद इसको अनादिकालसे आज तक आ रहा था इन लिये यह जीव सम्पत्त्वमें नहीं रमेगा।
इस वास्ते सम्पत्त्वमें प्रयात्न करनेके लिये जीवको चार बार मिध्यात्वका त्याग करनेका आचार्य उपदेश करते हैं।
अन्तकालसे मिध्यास्वका अग्यास होनेसे उसका त्याग करना बड़ाही कठिन है। जैसे सर्प अपने चिरपरिचित
घिलमें निवारण करने परभी प्रवेश करता है वैसे इस जीवको भी बार बार मिध्यात्व का त्याग करनेके लिये और
सम्पत्त्वमें दृढता लानेके लिये चार बार मिध्यास्वत्यागका उपदेश करना अव्योम्य नहीं है।

अग्निविसकिण्डसप्पादियाणि दोसं ण तं करेऽज्जहू ॥

जं कुणदि महावोसं तिच्चं जीवस्स मिच्छन्तं ॥ ७५९ ॥

विजयोदया—अग्निविसकिण्डसप्पादियाणि यश्चिद्विषं कृष्णसर्पं इत्यादीनि । दोसं ण तं करेऽज्जहू दोषं तं न
कुणुं । जं कुणदि यं करोति । महावोसं मत्तं दोषं । जीवस्स जीवस्य । तिच्चं दीप्तं । किं ? मिच्छन्तं मिध्यासं अथयानं ॥
अन्यादिभ्यो मिध्यास्वस्य मिश्रिष्टां दुष्टवामापष्टे—

मूळारा—करेऽज्जहू कुणुं । तदेव स्पष्टयति ॥

अर्थ—आग, विष और फाला सर्प वगैरह पदार्थोंसे भी उत्पत्ती होती नहीं। जितनी बड़ी हानि
तीव्र मिध्यास्वसे जीवोंकी होती है, अर्थात् तन्ममें अथद्वान करनेमें संसारमें ग्रमण करना पड़ता है।

अग्निसकिष्टसप्पादियाणि दोसं करंति एयमेवे ॥

मिच्छत्तं पुण दोसं करोदि भवकोडिकोडीसु ॥ ७३० ॥

विपात्रिकृष्णसर्पायाः कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि ॥

मिथ्यात्वमावेदोपं भवानां कोटिकोटिपु ॥ ७२८ ॥

विज्ञयोदया—अग्न्यादिभिः क्रियमाणस्य अल्पतां मिथ्यात्वेन संगणस्य च महतां दर्शयत्युत्तरगायया । अ-
न्यादीन्त्येकमवदुःखदानि मिथ्यात्वं पुनर्दोषं करोति भवानां कोटीकोटीपु ॥
मूलारा—सपट्टम् ॥

अर्थ—अपि, विप और जाला तर्प चगेरह पदार्थसि जीवकी हानि एक ही भवमें हो सकती हैं परंतु
मिथ्यात्वसे अनेक कोटिकोटिमवोमें हानि होती है.

मिच्छत्तसङ्खिक्खा तिव्वाओ वेदणाओ वेदंति ॥

विसलित्तकंडविद्धा जह पुरिसा निप्पडीयारा ॥ ७३१ ॥

विद्धो मिथ्यात्वशाल्येन तीव्रां प्राप्नोति वेदनाम् ॥

काटिनेव विपाक्तेन कानेन निःप्रतिक्रियः ॥ ७२९ ॥

विज्ञयोदया—मिच्छत्तसङ्खिक्खा मिथ्यात्वात्वेन शाल्येन विद्धाः । तिव्वाओ वेदणाओ तीव्रा वेदनाः । वेदंति
अनुभवयन्ति । विसलित्तकंडविद्धा विपत्तिरेव शरेण विद्धाः । जह यथा । पुरिसा पुरुषाः । निप्पडीयारा विपत्ती काराः ॥

मिथ्यात्वमष्टमपकारं दर्शयति—

मूलारा—वेदंति अनुभवंति । निप्पडीयारा पत्तीकाररहिताः । अपिहित्वाः संत इत्यर्थः ॥

अर्थ—विपत्तिप्राप्ताण शरीरमें घुसनेपर उसका विप नर्ब शरीरमें पसरकर मनुष्य प्राणरहित होता है,
अर्थात् उस पुरुषपर कुछ इलाज हो नहीं सकता, चैसा मिथ्यात्वशाल्यमे रिद्ध हुए मनुष्य तीव्र वेदनाओका अनु-

भव लेते हैं.

अच्छीणि संघसिरिणो मिच्छत्तणिकाचणेण पट्टिडाहुं ॥

काल्मदो वि य संतो जादो सो दीहसंसारे ॥ ७३२ ॥

मिध्यात्वोत्कर्षतः संघश्रीसंज्ञस्य विलोचने ॥

गलिते प्राप्तकालोऽपि यातोऽसौ दीर्घसंस्तुतिम् ॥ ७३० ॥

विजयोदया—अच्छीणि आक्षिप्ती । संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितस्य । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । पट्टिकाणि पतिते । इहैव अभवन्ति । कालमदो वि य संतो भूत्वापि । जादो सो । जातोऽसौ । दीहसंसारे दीर्घसंसारे ॥

तद्वयोपाकमेतत् हृदयति—

मूलात्—संघसिरिणो संघश्रीसंज्ञितत्वात्परत्वं । मिच्छत्तणिकाचणेण मिथ्यात्वप्रकर्षेण । काल्मदो द्युतः ॥

अर्थ—संघश्री नामक प्रधान की आलें तीव्र मिथ्यात्व से नष्ट हुई और मरणके अनंतर वह दीर्घ संसारी हुआ.

कडुगमि अणिव्वलिवमि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं ॥

दोदि निहिदं तु गिच्चलियमि ग मधुरं सुगंधं च ॥ ७३३ ॥

कडुकेऽलाबुनि क्षीरं यथा तद्व्यत्ययोधिते ॥

सोधिते आयते ह्वयं मधुरं पुष्टिकारणम् ॥ ७३१ ॥

यदि नाम उपपन्नमिव्यात्वोऽस्मि तथापि दुर्धरं क्षारिममदुष्टितं भवा तदस्माद्विस्तरणे समर्थमित्याशा न कर्तव्येति ।

विजयोदया—कडुगमि दुद्धिए कडुकाळाव्यां । अणिव्वलिवमि अमृदायां । निहिदं खीरं निक्षिप्तं क्षीरं । जह कडुगमेव दोदि यथा कडुकरसमेव प्रयति । यच्चकारेण माधुर्यव्यावृत्तिः क्रियते । गिच्चलियमि य मधुराया मलाभ्यां । निहिदं निक्षिप्तं क्षीरं जह मधुरं दोदि सुगंधं च । यथा मधुरं भवति सुगन्धि च ॥

मिध्यात्वविष्टोऽपि दुष्परतपश्चरित्राचारणादस्मान्निरिव्याधीत्याशां निरसितुं दृष्टांतपुरःसरं गाय-

ह्वयेनोत्तरमाह—

मूलात्—अणिव्वलिवमि अयोधिते । दुद्धिये तुनके ।

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूँ तो भी मैंने दुर्धर चारित्र का पालन किया है इसलिये यह दीर्घ संसारसे मेरा रक्षण करेगा ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये. ऐसा आशय दिखाते हैं—

अर्थ—गीरसहित कटुक रूखों में लाला हुआ दूध कड़ होजाता है. अर्थात् उसका मधुरपना सब नष्ट होता है. परंतु शुद्ध अर्थात् गीरसहित रूखोंमें रखला हुआ दूध कड़ होता नहीं. वह मधुर और सुगंधित रहता है.

तद् मिच्छत्तकटुगिदे जीवे तवणाचरणविरियाणि ॥

णासंति वंतमिच्छत्तस्मि य सफलाणि जायंति ॥ ७३४ ॥

तपोज्ञानचरित्राणि सन्निध्यात्वे तथांगिनि ॥

नश्यंति चांतामिध्यात्वे जायन्ते फलवन्ति च ॥ ७३५ ॥

चिचिधदूषणकारि कुदर्शनं लघु विमुक्त्य कृमित्रिमिवोत्तमाः ॥

सकलधर्मविधादि सुदर्शनं सुचिभजंति सुमित्रमिवाशनम् ॥ ७३६ ॥

इति मिथ्यात्यापोहनम् ॥

विजयोदया - तद् तथा । मिच्छत्तकटुगिदे मिथ्यात्वेन कटुकते जीवे । तवणाचरणविरियाणि तपो, ज्ञानं, चारित्र्यं, धीर्यमित्येवानि नासंति नश्यन्ति । तस्य कृत्स्नरूपविनाशः । समीचीनं, तपो, ज्ञानं, चरणं, धीर्यमिगूहनं च मुक्त्वा पश्यो न तप प्रभूतमानं । सा च सम्पत्कृतदायलेनेव नश्यथा । वंतमिच्छत्तस्मि निरस्तमिध्यात्वे जीवे सफलाणि फलसमं भवितानि तप, प्रभूतीनि । जायन्ति जायन्ते । किं तपसः फलं ? अभ्युदयमुक्तं, निधेयसंतुलं यः । मिच्छत्तस्स य वमर्ष इत्येतदपरावर्थात् । मिच्छन्ते ॥

मूळारो—णासंति नश्यन्ति । सम्पत्कृत्स्नरूपविनाशः ॥ वंतमिच्छत्तस्मि निरस्तमिध्यात्वजीवे । सफलाणि अभ्युदयनिर्भेयसमुदकराणि । इति मिथ्यात्ववमर्षम् ॥

अर्थ—वैसे मिथ्यात्वसे विपरीत रूचि अर्थात् विपरीत श्रद्धानी वने हुये इस जीवमें तप, ज्ञान, चारित्र और धीर्य ये गुण नष्ट होते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और धीर्य ये शुद्धी के उपाय हैं परंतु एकेक तपादिक मुक्तीके उपाय नहीं. तब सम्पददर्शनकी प्राप्ति होती है तब तपादिकोंमें सम्पत्पना आता है. इसके अभावसे तपादिकोंमें सम्पत्पना जा नहीं सकता. मिथ्यात्वका त्याग जिसने किया है ऐसे जीवमें—सम्प-

गद्यमेव तथापि सद्गुण सफल होते हैं इस तपश्चरणसे रहलोकका सुख और इन्द्रपदकी प्राप्ति होती है और मोक्ष-मुक्तका भी लाभ होता है, 'मिच्छतस्तस्य य वसणं' इस गाथासूत्रका यहाँ तक विवेचन किया-

सम्ममं भायणा इत्येतद्व्याचष्टे—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते मव्यदुक्खणासयरे ॥

सम्मत्तं खु पविद्धा णाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३५ ॥

मा स्म कार्पीः प्रमादं त्वं सम्मत्तत्वे भद्रवर्धके ॥

तपोज्ञानचरित्राणां सस्यानामिच पुच्छरं ॥ ७३६ ॥

विजयोदया—मा कासि मा कार्पीः । तं भवान् । पमादं प्रमादं । सम्मत्तं सम्मत्तत्वे । सव्यदुःखणाखणने सर्व-दुःखनिर्मूलनोपयते । अयं सम्मत्तं सर्वदुःखनाशकारि ? ननु ज्ञानादीभ्यश्चि सर्वदुःखनिवृत्तिनिमित्तानि इत्यत आह—

सम्मत्तं खु भद्राजमेय तत्त्वस्य । पविद्धा आधारः । णाणचरणवीरियतवाणं ज्ञानस्य, चरणस्य, वीर्योत्तारस्य, तपस्य । ननु मय्येव परिणाम परिणामिन्द्रोपाधारो य इत्थं परमधिकरणतां यति ततः अथमुच्यते सम्मत्तस्य आधार इति । यथा परिणामिन्द्रोपधर्मतरेण ज्ञानादीनामनवस्थितिरिव समीचीनता तेषां न वर्तते विनैति स्वयंदस्याधारता ॥

सम्मत्तस्यभावनां गाथाएकेन व्याचष्टाणः क्षपकं तदवधानपरत्वात् कर्तुमाह—

मूढारा—मा कासि मा कार्पीः । तं त्वं । पमादं अवबधानम् । पविद्धा प्रतिष्ठा आश्रयः । ज्ञानादीनां जीव-

द्रव्य विनाशनिमित्तिव सम्मत्तं विना समीचीनता न स्यादिति सत्य तवाधारतोच्यते ॥

'सम्मत्तभावना' इस पदका स्पष्टीकरण करते हैं-

अर्थ—यह सम्मत्तदर्शनेन संपूर्ण दुःखों का नाश करता है, इसलिये इसमें है क्षपक तुम प्रमादी मत बनो, शंका—सम्मत्तदर्शनेसे सर्व दुःखोंका नाश कैसे होता है ? उत्तर—यह सम्मत्तदर्शने अर्थात् जीवादितत्त्वोंका श्रद्धान ज्ञान, पारित्रि, वीर्य और तपका आधार है, इसलिये यह संपूर्ण दुःखों का नाश करता है ऐसा समझना चाहिये, शंका—परिणाम परिणामिन्द्रोपधर्मके आधारसे-रहते हैं इस वास्ते ने अन्योन्य आधार होते नहीं, अतः सम्मत्त परिणाम ज्ञानादि परिणामोंका आधार हैं ऐसा आप क्यों कहते हैं, उत्तर—जैसे परिणामनशील द्रव्यके विना—आत्मा

कं विना ज्ञानादिक रहते नहीं वैसे ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप को सम्यक् पना-सम्यग्दर्शनके विना प्राप्त होना नहीं इस लिये सम्यग्दर्शनको आधार माना है-

नगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खु तरुस्स जह मूलं ॥

तह जाण सुसम्मत्तं पाणचरणवीरियतवाणं ॥ ७३६ ॥

सारं द्वारं पुरस्सेव यच्चस्येव विलोचनम् ॥

मूलं महीरुहस्येव संज्ञानादेः सुदर्शनम् ॥ ७३५ ॥

यत्नानि नायकेनेव शरीराणीव जंतुना ॥

ज्ञानादीनि प्रवर्तते सम्यक्त्वेन विना कुतः ॥ ७३६ ॥

विजयोदया—नगरस्स जह दुवारं नगरस्य द्वारमित्येव नगरप्रवेशतोपायो यथा द्वारं । तद्वा तथा सम्यत्तं सम्यक्त्वं । पाणचरणवीरियतवाणं ज्ञानादीनां । एवं हि ज्ञानादीभ्यस्तुप्रविष्टो भवति जीवो यदि परिणतो भवेत्सम्यक्त्वे प्रवेशेरेण सम्यग्ज्ञानाद्यनुमेयस्वयात्संभवत् । न हि सात्त्विकयमवध्यादि, यथाहृयात् चारित्रं, यदुत्तरे निर्गोराभिहितं वा तपः मतिलभते जंतुः । सम्यक्त्वे विना । मुहस्स चक्खु जहा मुखस्य चक्षुर्वेधा शोभायिथायि तथा ज्ञानादीनां सम्यक्त्वे विधत्ते अर्थान् । तरुस्स मूलं यथा तरोर्मूलं यथा स्थितिनिर्माणं, तथा सम्यक्त्वं ज्ञानादिस्थितिभिहितं ॥

ज्ञानादीनि प्रति सम्यक्त्वस्य प्रवेशतोपायवद्व्यवस्थितिभिहितत्वानि कुर्यादि—

मूळार—दुवारं द्वारेण गौरजनो नगरमित्येव सम्यक्त्वेन ज्ञानादिषु प्रविरुति जीवः । न ह्यसौ साविशयनव-
ध्यावैकानं यथाकवातचारित्रं यदुत्तरनिर्गोराभिहितं वा प्रविलम्बते जन्तुः सम्यक्त्वं विना ॥

अर्थ—जैसे द्वार नगरमें प्रवेश करनेका उपाय है, अर्थात् जब आराममें सम्यक्त्वंकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञाना-
राममें प्रवेश होनेके लिये द्वारके समान है, अर्थात् जब आराममें सम्यक्त्वंकी उत्पत्ति होती है तब उसमें ज्ञाना-
दिकोंका भी मंदा होता है, सम्यक्त्वके विना सम्यग्ज्ञान, तप, चारित्रादिकोंकी प्राप्ति होती ही नहीं, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न होनेसे जीवको विशिष्ट अवध्यादिक ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, कर्मकी अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त होते ही नहीं, मुक्तको जानसे जेसा सौंदर्य प्राप्त होता है तथा ज्ञानादिकोंमें सम्यग्दर्शनसे सम्यक्पना प्राप्त होता है, जैसे श्रावको मूलसे दृढता आती है वैसे ज्ञानादिकोंमें स्थिरता और दृढता सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होती है.

भावाणुराग्येमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा ॥
 धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं ॥ ७३७ ॥
 दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ॥
 सिद्धन्ति चरियमट्ठा दंसणभट्ठा ण सिद्धन्ति ॥ ७३८ ॥
 दंसणभट्ठो भट्ठो ण तु भट्ठो होइ चरणमट्ठो हु ॥
 दंसणममुयत्तस्स हु परिवड्ढणं णत्थि संसारे ॥ ७३९ ॥
 अट्ठोऽस्ति दर्शनभट्ठो व्रतभट्ठोऽपि नो पुनः ॥
 पत्तने स्यस्ति संसारे न दर्शनममुषत्तः ॥ ७४० ॥
 ये धर्मभावमज्जाधिभेरागानुरंजिताः ॥
 जैनै संसति मत्ते नेवां न किंचिद्वस्तु दुर्लभम् ॥ ७४१ ॥

विशयोदया—दंसणभट्ठो भट्ठो दर्शनभट्ठो भट्टव्रतः । चरणभट्ठो विचारित्रमणोऽपि धर्मभावभट्टः । ण तु न च । भट्ठो होवित्ति वाक्यशेषं कृत्वा संबोधः । न तु तथा भट्ठो भवति कारिवभट्टः यथा दर्शनभट्टः । दंसणं अर्थानं । अनु-
 गतस्स भत्पज्जतः । चारित्राकृष्ट्यापि परिवड्ढणं संबारे णत्थि तु परिपत्तने ससारे नास्त्येव । असंयमनिमित्ताजितपाय-
 संहारेस्सयेय ससारः । किमुन्यत्ते परिपत्तने मास्तीति ? अयमभिप्रायः—परि समंतत्सर्वपांस्तु मस्तिपु यत्तत्तदु संस्वर्ण मास्ती-
 ति । स्वर्णत्वात्ससारः सचापि मास्तीति न्यवहियते । तथा हि स्वर्णवर्णोऽप्यन गत्युच्यते । दर्शनात्पत्रभट्टस्य अर्धपुत्रल-
 परिवर्तने भवत्येवमहत्संसारमिति निगुण्यत्वमो दर्शनभट्टः ॥

सार्ध—नितनेक लोक भावानुरागी रहते हैं जैसे विनदच श्रेष्ठी. अर्थात् जो जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप कहा है
 यह सत्य ही है ऐसा पक्ष अदान करनेवाला मनुष्य तत्त्वका स्वरूप मालूम नहीं सो दो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ
 तत्त्वस्वरूप कभी धूला होता ही नहीं ऐसी श्रद्धा करता है इसको भावानुराग कहते हैं, प्रेमयुक्त अनुरागका दृष्टान्त

* दंसणभट्ठो भट्ठो इस गाथासे ऊपर जर्हिसा, सत्य, अर्चार्थ महाव्रत इतने विषयोंका वर्णन करनेवाली
 गाथाओंकी मूलादायना वंशिका कारणोंकी मूलप्रतीमें नहीं है. वीचके पत्र ही नष्ट होगये हैं. अतः यहाँसे हमने
 विजयोदया ही जोड़ दी है. ।

मणिचूल है. इनने अपने भित्रको—सगरचक्रन्वीको चार चार समझाकर मोयादिकोसे विरक्त किया था. निम्नके ऊपर श्रेय है. हमको चारचार समझाकर सम्मार्गमें लगाना यह प्रेमावुराग कहाता है. मञ्जानुगम यह पाँचवोंमें था अर्थात् ये जन्मसे तेज आसमें अविद्या स्वहयुक्त थे. वेसे हे क्षणक दू घर्मावुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड़.

अर्थ—जो पुरुष सम्पददर्शनमें भ्रष्ट हुआ है वह भ्रष्टही समझना चाहिये. दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. चारित्रभ्रष्ट जीव मुक्तिकी प्राप्ति कर सकते हैं परंतु दर्शनभ्रष्ट जीवको मुक्ति लाभ होता नहीं.

अर्थ—जो जीव दर्शनमें भ्रष्ट हुआ है उसको भ्रष्टतम कहना चाहिये. चारित्रभ्रष्ट जीव दर्शनसे भ्रष्ट नहीं माना जाता है. अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीवमें दर्शनभ्रष्ट जीव अतिक्रम्य भ्रष्ट है. जो चारित्रसे भ्रष्ट हुआ है. परंतु सम्पददर्शन से न्युत नहीं हुआ है उसको संसारपतनकी मीति नहीं है. धंका-असंयमसे उत्पन्न हुए पापके भारसे जीवको संसारमें प्रमथ्य फाना पड़ता ही है अतः चारित्रभ्रष्ट जीवका संसारपतन नहीं है ऐसा आप क्यों कहते हो ? इस प्रश्नका उत्तर—चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतिओंमें प्रमथ्य करता नहीं. उसका संसार अल्प रहता है अतः उसको संसार नहीं है ऐसा कहा जाता है जैसे किसीके पास थोड़ासा धन है तो भी वह धनी कहालाता नहीं, परंतु दर्शनभ्रष्ट मनुष्यको अर्धं पुद्गलपरिगर्भित फाल्गुनक संसारमें प्रमथ्य करना पड़ता है इसलिये वह अत्यन्त निष्ठुर है.

एककथं सम्यग्दर्शनस्य मादरम्यं कथयति -

सुखे सम्मत्ते अविरदो वि अज्जेदि तित्थयरणमं ॥

जादो दु सेणिगो आगर्मेसि अरुहो अविरदो वि ॥ ७४० ॥

अणिक्को वतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ॥

आहंस्वपदमासाय सिद्धिसोचं गमिष्यति ॥ ७४१ ॥

वित्तयोक्ता—सुखे सुखे । सम्यक् सम्यक्त्वे । धंकाद्यतिचारत्मायात् । अविरदो वि अत्रत्याख्यानापरत्वं कोपमात्मन्यालोभाकाशुदृष्ट्यात् । दितादिनिटुतिविश्रामरहितोऽपि । स्तिथयणमकममं तीर्थकृत्यस्य कारणे कर्म अज्जे यति । वित्तयसंप्रभताविरपि तीर्थकृत्यमकर्मको हेतुत्वे ततः कोऽपिधनो दर्शनस्य इति चेत् दर्शने स्वत्येव देयं तीर्थे

करनागकर्मणः कारणता । नान्यस्येति गम्यते । जानो खु जातः सज्जु । सेविषो थेणिकः । जगमेसि भविष्यति काले । अद हो अहंन । भविष्यो वि भसयतोऽपि सन् । नदु थेणिको भविष्यत्वर्हन् न त्वर्हत्वं तस्यातीतं तेन कथमुच्यते जात इति । भविष्यद्वर्हत्वं न निष्पन्नं इति युक्तमुच्यते जात इति ॥

अकेला भी सम्मदर्शन महात्म्ययुक्त होता है ऐसा विवेचन आचार्य करते हैं—

अर्थ—शुंका, कांक्षा वगैरह अविचारोंसे रहित अविरत सम्मच्छीको भी तीर्थकरनाम कर्मका बंध होता है, अत्रयाख्यानाश्रयी कोष, मान, माया और लोभ इनका उदय होनेसे, परिणामोंमें हिंसादिकोंसे विरक्तता उत्पन्न न होने पर भी केवल निरतिचार सम्मदर्शन धारण करनेवाले मनुष्यको तीर्थकर कर्मका बंध होता है, शुंका—विनयसंपन्नता वगैरह अन्य कारणोंसे भी तीर्थकरत्वकी प्राप्ति होती है, सम्मदर्शनमें ही ऐसी न्या विधि-पटता है ? उत्तर—सम्मदर्शन होनेपर ही विनयसंपन्नतादिक तीर्थकर कर्म बंधके कारण होते हैं अन्यथा उनमें कारण पता नहीं है, केवल सम्मदर्शनके साहायतासे ही थेणिक राजा भविष्यत्कालमें अरहंत हुआ है,

शुंका—थेणिक भूपाल भविष्यकालमें अर्हन् होनेवाला है उसको अर्हदावस्था प्राप्त होचुकी है ऐसा नहीं है, अतः वह अर्हन् होगया ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर—भविष्य कालीन अर्हत्पन्न अभी निष्पन्न नहीं हुआ है इसलिये वह होगया ऐसा कहना योग्य है,

कल्याणपरंपरये लंहति जीवा विमुद्धसस्मत्ता ॥

समर्द्धसणरयणं जग्घदि ससुरासुरो लोओ ॥ ७४१ ॥

अकिट्ठा लभ्यसे येन कल्याणानां परंपरा

मूल्यं सम्मयत्तरत्नस्य न लोके तस्य विद्यते ॥ ७४० ॥

विजयोदया—कल्याणपरंपरयं कल्याणपरंपरा । छंदत्वं, सकलचक्रलंछुतां, अहमिदत्वं, तीर्थेकत्वमित्यादिके उभंते जीवाः । विमुद्धसस्मत्ता विमुद्धसम्यक्त्वा । समर्द्धसणरयणं सम्मदर्शनत्वं । जग्घदि ससुरासुरो लोओ सकलो लोभो मूल्यतया दीयमानोऽपि न लगते सम्मयत्तरत्नमित्यर्थः ॥

अर्थ—इस निर्मल सम्मदर्शनसे ईश्वरपदवी, चक्रवर्तीपना, अहमिद्वानस्था और तीर्थेकरपद ऐसी कल्याण परंपरा उत्तरोत्तर जीवको मिलती है, यह सम्मयत्तरत्न रत्न इतना गूलवान है कि देव और असुरोंसहित यह संपूर्ण

लोक भी प्रदान किया तो भी उसकी कीमतकी मर्यादा होती नहीं है. अर्थात् संपूर्ण त्रैलोक्य देनेपर भी सम्पत्तिल मिलता नहीं.

सम्पत्तस्स य लभे तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लभो ॥

सम्मदंसणलंभो वरं खु तेलोक्कलंभादो ॥ ७४२ ॥

लद्धूण वि तेलोक्कं परिवहदि दु परिमिदेण कालेण ॥

लद्धूण य सम्भत्तं अक्खयसोक्खं हवदि मोक्खं ॥ ७४३ ॥

सम्पक्कस्स च यो लाभल्लोक्कस्स च यस्सपोः ॥

त्रैलोक्यमुपलभ्यापि ततः पतति निश्चितम् ॥

अभ्यासं लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ॥ ७४२ ॥

ददाति सौख्यं विद्युनोति दुःखं यं लुनोति नयते विमुक्तिं ॥

निवृत्ति निर्दां कुरुते सपर्यां सम्पक्कत्वरत्नं विदधाति किं न ॥ ७४३ ॥

इति सम्पक्कत्वं ।

विजयोदया - स्पर्धामेव न म्याकपायते गाथाद्वयम् । अनंतरसम्पत्ते भावना रत्येतद्व्याख्यातं ॥ सम्भत्तं ॥ अर्थ - एक सन्यदर्शनका लाभ और दूसरा त्रैलोक्यका लाभ इन दो लाभोंमें सन्यदर्शनका लाभही अधिक है. त्रैलोक्यका लाभ होनेपर भी यह थोड़े कालके अनंतर नष्ट होता है. परंतु सन्यदर्शनका लाभ निर्विकार अविनाशी सुख देनेवाले मोक्षकी प्राप्ति करा देता है. अतः सन्यदर्शनका लाभ त्रैलोक्यलाभसे भी श्रेष्ठ है. सम्पत्तिका वर्णन समाप्त हुआ.

परा भत्ती शब्देन द्रव्याव्यागात् प्रबंध उत्तरः -

अरहंतसिद्धचेदियपवयणआयरियसन्धसाहुसु ॥

निव्वं करोहि भत्ती णिव्विदिग्गिच्छेण भावेण ॥ ७४४ ॥

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु चैत्येष्वन्वार्पसाधुषु ॥

विद्येहि परमां साधो ! निश्चयस्थितमानसः ॥ ७७४ ॥

विज्ञयोदया - एतद्विज्ञेयविषयगण गायस्वित्यस्यसङ्घसु ब्रह्मेतिषदेषु तत्र्यतिविष्टिषु, प्रवचने, आचार्येषु सर्वसाधुषु च । तत्र भक्ति करोहि तोवा भाक्तिं कुर्याति । ज्ञानविनिष्ठेन विचिकित्सत्पक्षितेन । भावेन परिणामेन ॥

परामर्शी इमं पदका आचार्यं स्पष्टीकरण करते हैं--

अर्थ--अरहंत, सिद्ध, और उनकी प्रतिभायें, आगम, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इनके ऊपर हे धर्मक ? तुम मलिनपरिणामोंका त्याग कर तीव्र भक्ति करो.

जिनभक्तिमाहात्म्यं कथयति -

संवेगजनिदकरणा गिरसह्या भंदरोन्व निवर्कणा ॥

जस्स दृढा जिणभत्ती तस्स भवं णत्थि संसारे ॥ ७७५ ॥

विज्ञयोदया - संवेगजनिदकरणा संस्कारभीरुतया उपाधितात्मलाभा । गिरसह्या मिथ्यात्वेन, माध्या, निदा नेन, च रहिता । भंदरोन्व निवर्कणा भंदर इव निदबला । जस्स दृढा जिणभत्ती यस्य दृढा जिनभक्तिः । तस्स सलारे भय णत्थि तस्य संसारनिमित्तं भय नास्ति ॥

जिनभक्तिका माहात्म्य दिक्ताते हैं--

अर्थ--संसारभयसे उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व, माया और निदानसे रहित, मेरु पर्वतके समान निश्चल ऐसी जिनभक्ति जिसके अंत कारणमें हैं उस पुरुषको संसारमें किसी से भी भय उत्पन्न नहीं होता. अर्थात् जिनभक्ति के प्रभानसे उनका संसार नष्ट होकर उसको शीघ्र मुक्तिलाभ होता है.

एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गहं णिवारेण ॥

पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिपरंपसुहाणे ॥ ७७६ ॥

तह सिद्धचेदिणु पक्कणे य आइरियसव्वसाधुसु ॥

भत्ती होदि समत्था संसारुच्छेदणे तिच्चा ॥ ७७७ ॥

विज्ञा वि भक्तिवन्तस्स सिद्धिपुवयादि होदि सफला य ॥
किह पुण णिबुद्धिवीजं सिद्धादिदि अभित्तिमन्तस्स ॥ ७२८ ॥

जिनद्रभक्तिरत्तापि निपेदुं दुर्गतिं क्षमा ॥
आसिद्धिलब्धि नो दातुं सारां सौख्यपरंपराम् ॥ ७३५ ॥
सिद्धचैत्यधुताचार्यसर्वसायुगता परा ॥

विच्छिन्नमस्ति भवं भक्तिः कुठारीच महीरुहम् ॥ ७३६ ॥
नेह सिच्यति विद्यापि सफला न हि जायते ॥

किं पुनर्निर्धुनेवजिं भक्तिहीनस्य सिच्यति ॥ ७३७ ॥

विजयोदया - विज्ञा विद्यापि । भक्तिवन्तस्स भोक्तव्यता । सिद्धिपुवयादि सिद्धिमुपयाति । होदि सफला य
भावितादिनस्य ॥ क ? अत्रोदयिषु ॥

अर्थ—अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिना नाश करने में समर्थ है. इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है
और मोक्षप्राप्ति होने तक इममें इंद्रपद, षष्ठमर्तपद, अष्टमर्तपद और तीर्थकरपदके सुखोंकी प्राप्ति होती है.
मिदपरमोष्टि, और उनकी प्रतिमा, आगम, आचार्य, सर्वसाधु, इनमें की हुई तीन भक्ति संसार का
नाश करनेमें समर्थ होती है. जो भक्तिमान् है उसको इष्ट पदार्थोंकी दात्री विद्या सिद्ध होती है. अर्थात् उससे
इष्ट पदार्थ भक्तिमानको मिलते हैं. जो भक्तिहीन है अर्थात् जो अर्हदादिकोंमें भक्ति नहीं करेगा उसको सुखिका
पीज जो रत्नत्रय वह देने प्राप्त हो सकेगा ?

तेसिं आराधणायगाण ण करिज्ज जो णरो भत्ति ॥

धात्ते पि संजमंतो सालिं सो उसरे ववदि ॥ ७२९ ॥

भक्तिमाराधनेनानां योऽङ्कुर्याणस्तपस्यति ॥

स यष्टयूयरे शालीननालोच्य समं चरुवम् ॥ ७३८ ॥

विजयोदया—तोले आराधनायागणं अर्हवारीयां आराधनाया नायकाना । ■ करिज जो गरो भोसैं जो नरो नाकें न करोति । स धासैं सि सज्जमतो नितरां सयमे उद्यतोऽपि शालीमुपरे देशे उपति । ऊरे शालिपपत अफल यया करोत्येव दुधर समय चरत्यय अर्हदादिषु माकिरहितो मिथ्यावष्टि सज्जति आब ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओंके नावक ऐसे अर्हदादिपरोमिष्टिओंमें जो पुरुष भक्ति नहीं करता है. यह चारि प्रमं रूप तत्पर रहनेपर भी क्षार वृत्तिकामें शालिवीज योनेशले मनुष्य के समान है.

लेसे शालिवीज क्षारजमीनमें बोनेसे कुछ फायदा नहीं है वैसे मिथ्यादर्शनसाहित होकर खूब तपश्चरण करनेसे भी मुक्तिफल की प्राप्ति होती नहीं.

वीपुण विणा सत्सं इच्छदि सो वासमम्पण विणा ॥

आराधनमिच्छन्तो आराधनभक्तिमकरंतो ॥ ७५० ॥

ते वल्लेन विना सरपं वारिदेन विना जलम् ॥

कांक्षन्ति ये विना भक्तिं कांक्षंस्वाराधनां नराः ॥ ७५१ ॥

पिजयोदया—वीपुण विणा सत्सं इच्छन्तिच्छति योगेन विना । वासमम्पण विणा वृष्टि भञ्जेण विना । कारणेन विना कार्यमिच्छतीति यावत् । आराधना दत्तत्रयसंनिधि इच्छति । अकुर्वन्नाराधनाभक्तिं वेतुमूर्तां ॥

अर्थ—आराधनारूप भक्ति न करके ही जो स्वप्नयसिद्धिरूप फल चाहता है वह पुत्र वीजके विना धाम्यप्राप्तिकी इच्छा रखता है अथवा मेषके विनाही जलवृष्टि की इच्छा करता है ऐसा समझना चाहिए.

विधिणा कदरत सस्सत्स जहा विणादयं हवदि वासं ॥

तह अरहादिगमची णाणवरणदंसणतवाणं ॥ ७५१ ॥

विधिनोत्तस्य सस्यस्य वृष्टिर्निष्पादिका यथा ॥

तथैवाराधनाभक्तिश्चतुरंगस्य जायते ॥ ७५० ॥

विजयोदया—विधिणा कदरत सस्सत्स जहा विणादयं हवदि वासं । तेन कारणकलोपेन णाणवरणदंसणतवाणं । वासं जहा विणादयं हवदि वपे यथा फलनिष्पाति करोति । तह तथैव । आराधनभक्ती रपोत्तस्य । सस्सत्स शब्दस्य ।

भाराद्वपभस्त्री लारापकेषु अर्हदृष्टिषु भस्त्री भक्तिः । पाणवरणवसंज्ञतवाणं ज्ञानस्य, ध्यानस्य, चारित्र्यस्य, तपस्यस्य निष्पत्तिरिति अयति ॥

अर्थ—ज्ञान्य उत्पन्न करनेके संपूर्ण कार्योंका आश्रय कर जमीनमें बीज बोनेके अनंतर बलवृष्टि होनेसे फल निष्पत्ति होती है. वैसे अर्हदृष्टि पूज्य पुरुषोंपर भक्ति करनेसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, और तपस्वी फल उत्पन्न होता है.

भक्तिमाहात्म्यं फलान्तिशयोक्त्येनैव कथयितुमशक्योऽप्युत्पन्नानुपस्थितिं गायत्र्याम्—

वंदणभस्त्रीभित्तेषु मिहिलाहिओ य पडमरहो ॥

देविद्वपाडिहरं पत्तो जादो गणधरो ॥ ७५२ ॥

वंदनाभक्तिमात्रेण पद्मफो मिथिलाधिपः ॥

देवेद्रूपभितो भूत्वा सधूव गणनायकः ॥ ७८१ ॥

देवमानादिषौरैरिभूषभूतपूर्वकाणि ॥

भक्तिराशु दुःखदा निवृन्ति सेविताजखिलानि ॥ ७८२ ॥

इति भक्तिः ।

पिणवोद्या—पद्मभस्त्रीभित्तेषु वंदनापुरुषमात्रेण केव । मिहिलाहिओ य पडमरहो मिथिलानगराधिपतिः पद्मरथो नाम । देविद्वपाडिहरं पत्तो देवेद्रूपतां पूजा प्राप्तवान् । जादो गणधरो य गणधरश्च ज्ञात ॥ भस्त्री ॥

विशिष्ट फलका प्रदर्शन करके भक्तिका माहात्म्य कहने की इच्छासे आचार्य उदाहरण देते हैं—

अर्थ—वंदना करनेकी लीज भक्तीसे मिथिला देशका राजा यमरथ देवदेवसे पूजाविशयको प्राप्त हुआ और यह पाशुपुज्य तीर्थकर का गणधर हुआ. भक्तीका वर्णन हुआ.

आराधणापुरस्सरमण्णहिदओ विसुद्धलेस्साओ ॥

संसारस्स खण्णकरं मा मोचीओ णमोक्कारं ॥ ७५३ ॥

आराधनापुरोयानं मा स्मेकाग्रमना मृष ॥

शुद्धलेदयो नमस्कारं संसारक्षयकारकम् ॥ ७८३ ॥

विलयोन्या—आराधनापुरोत्तरं णमोकारं मा मोर्च्यो आराधनाया अग्रसरं नमस्कारं मा मृष । कीदृग्भूतं? संसारस्त रयकरं संसारस्य पंचनिधपरिवर्तनस्य क्षयकरं । अण्णदिद्वो अनन्यहृदयः अनन्यमतिचित्तः सन् । विसुद्ध-
लेस्तामो विशुद्धलेदयप परिणतः । तत्र नमस्कारः नमस्कारमात्राप्रणविकल्पेन चतुर्दो व्योस्थितः । तत्र नाम
नमस्कारो यदय कस्यचिन्नमस्कार इति कृता संज्ञा इदमस्य नामधेयं यथा स्यादिति त्रिगुण्यगानं पदं सर्वं सर्वत्र
प्रवर्तते । नमस्कारणव्यापृतो जीवस्तस्य कृतांजलिपुटस्य यथायुतेनकारेणवशापिता मूर्तिः स्थापनानमस्कारः । नम-
स्काराभूतं नानास्ति ग्रंथः यत्र नयप्रमाणानिनिशेषादिगुणेन नमस्कारो निरूप्यते, तं यो वेत्ति न च चाग्रतं तद्विरूप्ये
उयं उपप्लुतोऽन्यगतत्रिगुण्यत्वात् स नमस्कारायाधत्त्यन्नादिरुतक्षणस्य कारणात्वादागमद्रव्यममस्कार इत्युच्यते । नो
आगमद्रव्यममस्कारस्त्रिविकः, सायकशरीरभाविनद्रव्यतिरिक्तेभेदात् । नमकाराभूतस्य वच्छरीरं त्रिकालगोचरं
तत्पत्यन्तेन भुक्तकानं नोपजायते इति शरीरमपि कारणं वनापि नमस्कारशब्दो धर्तते । तस्मिन्शरीरं त्रिविकल्पं व्युत्पन्नं,
व्यावर्तितं, लक्षणमिति । आयुषो निःशेषकलनाक्षतमनन्तुतं एकं । येनस्योपसर्गजलदा व्यपित्तशब्देनोच्यते । आयुषो
मयमधेयं यात्मनैव पत्यत्तं सत्यकाशान्देनोच्यते । तस्मिन्विकृतो भक्तप्रणयणानं, प्रायोपगमनं, दंनिनीमरणं इति तेष्वन्यतमेन
त्यक्तं विधिना कायकयागसङ्घेयनापुरःसरं प्रमज्ज्यातःप्रभृति निर्वापकशुक्लमाश्रयकारिषसमेत्ये कृत्वा मध्ये प्रकृष्टान्
क्षान्दसंनवारिजाणां अतिचारानालोच्य तद्विमित्रमात्रायाश्चिन्ताशुसारिणः द्रव्यभायसङ्घेयतानुगतस्य विधिघाशाधत्तपा-
यवानीदिक्रमेण रत्नप्रचारायनं भक्तप्रणयणम् । शंमिनीमरणप्रायोपगमने वक्ष्यमाणलक्षणे तैः परित्यक्तं त्यक्तमुच्यते ।
यद्येव तस्मिन् जीवे नमस्कारोपयोगं प्रति लीबधदेय कारणात्सीतममस्कारोपयोगस्य तदेवैदमिति तत्रापि नमस्कारशब्दः
प्रवर्तते । नमस्कारोपयोगरूपेण यो भाविष्यति स भावीति अभ्यसे । स्थापना अर्धदर्विनां आगमननमस्कारक्षानं आगमभाव-
नमस्कारः । नमस्कारमाणाहर्दादिगुणानुगतकर्मलक्ष्य, प्रणामो नो अस्ममभावनमस्कार इह युज्यते ।
निर्देशसामित्वाधनाधिकरणस्थितिविधानिन्युयोगद्वारेनैरुच्यते । अर्धदर्विगुणानुगतकर्मलक्ष्यः आत्मनो वाक्काय-
क्रियास्तयनाशितोवनतिक्रमो नमस्कारः । समग्रदृष्टिनां आगमभावनमस्कारस्य स्वामीति । मत्तिश्रुत
ज्ञानावरणशयोपशमः, दर्शनमोक्षोपशमः, क्षयः, क्षयोपशमस्य वाहं साधनं, अम्यन्तरं शास्त्रा प्रत्यासन्नभयः । आत्मानि
यतेति नमस्कारः । अंतर्मुखीस्थितिकः । अर्धदर्विनां परिणामसे इसका स्वीकार करं. इसका कभी भी त्याग न करना
नमस्कारोऽपि तावदा भिद्यते ।

अर्थ—यह भावनमस्कार आराधना पुनःसर हृदयमें घातण कर- इससे पांच परिवर्तनयय संसारका नाश
होता है. हे क्षयक ! तू एवमा हृदयसे और विशुद्ध परिणामसे इसका स्वीकार करं. इसका कभी भी त्याग न करना
चाहिये.

इय नमस्कार के नामनमस्कार, स्थापनानमस्कार, द्रव्यनमस्कार और भावनमस्कार ऐसे चार भेद हैं। नामनमस्कार—जिम किसीका 'नमस्कार' ऐसा नाम रखना यह इस पदार्थका नाम हो इस हेतुसे जो जो पद प्रयोग किया जाता है उसको नामनमस्कार कहते हैं।

स्थापनानमस्कार—नमस्कार करनेमें तत्पर होकर हाथ जोड़कर मस्तकपर लिखने स्थापन किये हैं ऐसे जीवकी जैसी आकृति होती है वैसी आकारयुक्त जो मूर्ति स्थायी चावी है उसको स्थापनानमस्कार कहते हैं।

द्रव्यनमस्कार—नमस्कारप्राप्त नामका ग्रंथ है जिसमें नव प्रमाण और निक्षेप वगैरहके द्वारा नमस्कारा निरूपण किया है। इस ग्रंथका जिसको ज्ञान है परंतु इसमें निरूपण किये गये अर्थमें सांप्रतकालमें जिसका उपयोग नहीं है, अर्थात् सांप्रतकालमें जिमका अन्य पदार्थके सरफ चित्त गया है वह पुरुष 'द्रव्यनमस्कार' शब्दने वाल्य है। वह पुरुष नमस्कारका यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले भुवज्ञानका कारण होनेसे उसको आगम द्रव्यनमस्कार कहते हैं।

तो आगम द्रव्यनमस्कारके शेषक शरीर, भावि और वद्व्यतिरिक्त, ऐसे भेद हैं। नमस्कार प्राप्तवके ज्ञाताका जो त्रिकालगोचर शरीर उसमें भी नमस्कार शब्दका प्रयोग करते हैं क्योंकि शरीरके बिना नमस्कार शब्दका ज्ञान जीवकी होना नहीं। इस लिये शरीर भी ज्ञानका कारण है। उसमें भी नमस्कार पदका प्रयोग करते हैं। त्रिकालगोचर शरीर में जो भूतशरीर नामक भेद है उसके व्युत्पन्न, व्यावित और त्यक्त ऐसे तीन भेद हैं। आयुष्य पूर्ण चलने पर जो शरीर आत्माने छूट जाता है उसको व्युत्पन्न शरीर कहते हैं। उपसर्ग होनेपर जो शरीर छूट जाता है वह व्यावित कहा जाता है। आयुष्यका अभाव हुआ है ऐसा समझकर आत्माके द्वारा जो शरीर त्यागा जाता है उसको त्यक्त कहते हैं। इसके तीन भेद हैं। भक्तप्रत्याख्यान, प्रयोगपमन और शंखिनीमरण इन तीनों भेदोंमें से किमीका भी आश्रय कर योग्य विधिमें शरीरका त्याग होता है उसको त्यक्त कहते हैं।

भक्तप्रत्याख्यान—भुनिदीक्षा लेनेके अनंतर दीक्षा कालसे कपाय मछेलना और शरीरसंछेलना करके नियामप्राचार्यका आश्रय करनेके कालपर्यंत बीचके कालमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यमें जो जो अतिचार हुए हैं उनकी आलोचना करके गुरुके दिये हुये प्रापञ्चित का स्वीकार करना चाहिये। तदनंतर द्रव्यसंछेलना और भाव-संछेलनाका आश्रय करके तीन प्रकारके आहाराका त्याग कर रत्नप्रयकी आराधना करना इसको मक्तप्रत्या-

रूपान कहते हैं, इंगितरीमण और प्रायोपगमन मरण ऐसे दो भेदोंका लक्षण आचार्य आगे कहेंगे, इन मरणोंके द्वारा इरीरिका त्याग धरना उसको भी त्यक्त कहते हैं,

जीव जव या तब चह जैसा नमस्काररूप उपयोगको कारण था वैसा वह भी इरीर भमस्कारके प्रति उपयोग लगानेका कारण था अतः वही यह इरीर है ऐसा ज्ञान इरीरको देखनेसे होता है इसलिये भूतशरीरमें भी नमस्कारका प्रयोग कर सकते हैं जिसमें भविष्यकालमें नमस्कारके प्रति उपयोग होगा वह भावि कहाता है

नमस्कार विषयक ज्ञानके तरफ जिसका उपयोग होगा है उसको आगम भावनमस्कार कहते हैं, जिनकी नमस्कार करना योग्य है ऐसे अर्हदादिक परमेश्वरों के गुणोंमें अनुरक्त होकर अपने दो हाथ जिसने कमलकलिकाकार क्रिये हैं तथा जो नमस्कार कर रहा है उसको नौ आगम भावनमस्कार कहते हैं,

इस नमस्कारका निर्देश, स्वाभित्त, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इतने अनुयोगों के द्वारा वर्णन करते हैं—

अर्हदादिकी गुणोंमें अनुरागी होकर जो आत्मा बचनेसे स्तुति करता है और मस्तक नम्र करता है उसकी इस अवस्थाको नमस्कार स्वामी—सम्यग्दृष्टि इस नौ आगम भाव नमस्कारका स्वामी है, इस नमस्कारके ये साधन हैं,— मति श्रुतज्ञापरण फर्मका ध्योपपन्नम, दर्शन मोहका उपद्रव ध्य और ध्योपपन्न ये बाधा साधन हैं आत्मा अन्तरंग साधन है, अर्थात् प्रत्यासन्नभग्न्य अन्तरंग साधन है, अधिकरण—आत्मामें यह नमस्कार रहता है, अतः यह आधार है, इसकी स्थिति अन्तर्गृहवर्ती है, अर्हदादि पंचपरमेश्वरोंके अपेक्षासे इसके पांच प्रकार हैं, अथवा अर्हदादिकोंमें अनेक विकल्प हैं इस लिये भी नमस्कारके अनेक भेद होते हैं, अर्हन्तके सामान्य केवलि अर्हत्, गणधर केवलि अर्हत्, तीर्थंकर केवलि अर्हत् ऐसे भेद हैं, सिद्धोंके भी गति सिद्ध, तीर्थसिद्ध, श्रेष्ठसिद्ध, लिंग सिद्ध ऐसे अनेक भेद हैं इनकी अपेक्षासे नमस्कारके भी अनेक भेद होते हैं,

मणसा गुणपरिणामो वाचा गुणभासनं च पंचण्डं ॥

काण्ण संपणामो एस पयट्ठो णमोक्करो ॥ ७५४ ॥

चित्रयोदया—अथ नमस्काररूपेण 'णमो छोप सज्जसाधुणं' इत्यथ लोकप्रदणं सर्वप्रदणं प्रत्येकमभिलेख-

प्यते । जमो लोए सव्वेसि अरहंताणं, जमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, जमो लोए उब्बसि आशरियाणं, जमो लोए सव्वेसि उव्वयायानं" इति । अरहंताणमित्यादि बहुवचननिर्देशादेव सर्वेषामरहंतीनां ग्रहणं सिद्धमती न कर्तव्यं सर्वशब्दोपादाने इति चेत् । अर्थात्तीपदोपगतमत्तेषु, ऐरावतेषु, विवेहेषु च ये अहंता, सिद्धा, आचार्या, उपाध्यायाः, साधवश्चासीना, वर्तमाना, भविष्यताश्च तेषां ग्रहणार्थं सर्वशब्द उपात्तः । सादृशविशेषस्वायनार्थं प्रत्येकं नमःशब्दोपादानं ।

अर्थ—नमस्कार इस पदका अर्थ हम प्रकाश है. मनके द्वारा अहंदादिकोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनके द्वारा अहंदादि पंच परमेश्वरोंके गुणोंका वर्णन करना, शरीरसे पंच परमेश्वरोंके चरणोंको नमस्कार करना यह नमस्कार शब्दका अर्थ है.

जमो अरहंताणं इत्यादि नमस्कार ध्रुवमें 'जमो लोए सव्व साहूणं' ऐसा अन्तिम वाक्य है. इसमें लोक शब्द और सर्व शब्द इन दो शब्दोंका संयोग प्रत्येकके साथ करना चाहिये. अर्थात् जमो लोए सव्वेसि अरहंताणं, जमो लोए सव्वेसि सिद्धाणं, जमो लोए सव्वेसि आशरियाणं, जमो लोए सव्वेसि उव्वयायानं ।

शुका—अरहंताणं, सिद्धाणं वगैरहमें बहु वचनका प्रयोग होनेसे ही सर्व अहंदादिकोंका ग्रहण होता है अतः सर्व शब्दकी जरूरत नहीं है.

उत्तर—हाँ द्वीपमें पांच भगव, पांच ऐरावत और पांच विंदहों में जितने अहंता, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं, हो गये हैं. और हमें उनका ग्रहण करनेके लिये यहाँ सर्व शब्दका प्रयोग किया है. और आदर विशेषण दित्यनेके लिये प्रत्येकके आगे नमः शब्दका प्रयोग किया है.

अरहंतणमोक्षारो एको वि हविज्ज जो मरणकाले ॥

सो जिणवयणे दिट्ठो संसारच्छेदणसमत्थो ॥ ७५५ ॥

एकोप्यहंमस्कारो मृत्युकाले निपेक्षितः ॥

विध्वंसयति संसारं भास्वानिव तमश्चयम् ॥ ७८४ ॥

विजयोद्या—अरहंतणमोक्षारो अहंतां नमस्कारः । जो मरणकाले भवेत्तत्र पक्षो वि । जो मरणकाले भवेदेकोऽपि । सो सः । जिणवयणे दिट्ठो जिनवचने दृष्टः । संसारच्छेदणसमत्थो संसारोच्छेदनसमर्थः ॥

अर्थ—मरण समयमें अरहंतोंको एक भी यदि नमस्कार किया तो वह भी संसारका नाश करनेमें समर्थ है ऐसा विनायगमें कहा है।

ननु सम्पत्त्यपानचार्जितभांसि संसारमुच्छिदंति यद्यपि न स्वात्मस्कार इत्याशंकायामाह—

जो भावणमोक्षारेण विणा सम्पत्तणचरणतत्त्वा ॥

ण हु ते होति समत्था संसारच्छेदणं काहुं ॥ ७५६

संसारं न विना क्खत्तं नमस्कारेण सुविट्ठुं ॥

चतुरंगयुगोपेलं नायकेनेव विट्ठिपम् ॥ ७५७ ॥

विजयोदया—जो भावणमोक्षारेण विणा वो भावमस्कारेण विना सम्पत्त्ये, ज्ञानं, चारित्रं, तपश्च । एतद् एतत्कारणं । ण हु ते संसारच्छेदणं काहुं समत्था होन्ति । न हि ते संसारच्छेदने कर्तुं समर्था मर्याति ॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करते हैं इस लिये नमस्कार की क्या आवश्यकता है ?

इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—भावनमस्कारके विना सम्पत्त्य, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करने में समर्थ नहीं होते हैं।

एतयं तम्यम् दैवज्ञानचार्जितभांसि नोक्षनार्हं इति सूत्रेण विवक्ष्यते । नमस्कारसामान्येय रूपांशिनारणे उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशंकायामाह—

चतुरंगीए सेणाए णायगो जह पवत्तओ होदि ॥

तह भावणमोक्षारो मरणे तवणणचरणणं ॥ ७५७ ॥

विट्ठिपो नायकेनेव चतुरंगं चलीयसा ॥

संसारस्य विघाताय नमस्कारेण योज्यते ॥ ७५८ ॥

विजयोदया—चतुरंगीए सेणाए णायगो चतुरंगाया. विनाया नायको । जह पवत्तओ होल्ल यथा प्रवर्तको भवति । तह भावणमोक्षारो तथा भावनमस्कार । मरणे मरणमोक्षार । तवणणचरणणं तपोसामान्यरणानां क्षाधिक

सम्यग्दर्शनार्थयोग्यात्मका अर्हन्त इत्येवं शब्दानात्मको भावनमस्कारः सम्यग्दर्शनात्माकत्वात् । समीचीनं तपो, मानं, चारित्र्यं च प्रवर्तयति । न शास्त्रगुणश्रवणं यिना शब्दशुद्धस्य ग्रामाण्यमयं व्यवस्थापयितुमीशः । यत्तु नामापायद्विना न यत्तु ग्रामाण्यमिति । न हीन्द्रियविषयग्रान्तमथार्थमद्वैतवार्थमिति वा विवेकं शक्यते अस्मदादिना । अर्थ-यापारम्यमोदीनो धीतरंगोद्वेगस्य च यतो यत्तु यत्तु यत्तु विज्ञानं जनयति, नाप्यर्थमिति समीचीनज्ञानस्य सम्यग्-ज्ञानपुरस्सरतया चरणं तपश्च समीचीनं सत्कर्ममपनोद्रे निमित्तं नान्यथेति प्रवर्तकता भावनमस्कारस्य ततः प्रभावत्वा-अपानमस्कारः संसारोच्छेदकारिणीति स्पष्टमिति ॥

यदि आप भावनमस्कारसे ही संसारनाश होता है ऐसा कहते हो तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि बोधमागं' इस धृष्टके साथ विशेष उत्पन्न होगा। क्यों कि नमस्कार ही केवल कर्माका नाश करनेमें उपाय है ऐसा आपका अभिप्राय है। सम्यग्दर्शनादिक चीनो मिलकर मोक्षका उपाय है और आपके मतसे केवल नमस्कार ही मोक्षोपाय है। इस धृष्टका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ—गज, रथ, अथ और पायदल इस प्रकार चार सेनाओंका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है, वैसे ॥ भावनमस्कार भी भरणसमय में तप, ज्ञान, चारित्र्यका प्रवर्तक है।

धार्मिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतवीर्य ये अर्हत्के गुण हैं ऐसी श्रद्धा करना यही भावनमस्कार है। यह नमस्कार सम्यग्दर्शनात्मक ही है। इससे ही मुनिराजके ज्ञान, तप, और चारित्र्य, कर्मनिर्जरा करना, संवर करना इन कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। आत्मगुणोंपर यदि श्रद्धा न होगी तो यह भावनमस्कार शब्दशुद्धका ग्रामाण्य सिद्ध करनेमें समर्थ न होगा। वक्तोंमें यदि प्रमाणता न होगी तो उसके वचन प्रमाणभूत कैसे माने जायेंगे। इन्द्रियज्ञान से यह वार्थ है और यह अर्थार्थ है इसका निर्णय कर नहीं सकता। जिनके रामदेव नष्ट होयें हैं और जो पदार्थोंका सत्त्वा स्वरूप जानते हैं उनका वचन अर्थात् आत्म प्रमाणभूत मानना चाहिये। उसको अप्रमाण समझना योग्य नहीं है। सम्यग्दर्शनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सम्यग्ज्ञान है। उन्हीं तरह चारित्र्य और तप भी जब उत्कृष्ट-निर्दोष होते हैं तब कर्मनाश करनेमें निमित्त हो जाते हैं अन्यथा नहीं। इसलिए भावनमस्कार इनका प्रवर्तक है ऐसा समझना चाहिए, यह भावनमस्कार प्रमावसंपन्न होनेसे संसारका उच्छेद करता है ऐसा मानना अयोग्य नहीं है।

आराधनापढायं गेहंतस्स हु करो णमोकारो ॥
 मल्लस्स जयपढायं जह हत्थो धेतुकामस्स ॥ ७५८ ॥
 नमस्कारेण गृह्णाति देवीमाराधनां यतिः ॥
 पत्ताकाभिव हस्तेन मल्लो निश्चितमानसः ॥ ७८७ ॥

विजयोदया—आराधनापढाकां ग्रहंतुकामस्य मल्लस्य भावनमस्कार एव करो जयपढाकां ग्रहंतुकामस्य हस्त
 विधेयुत्तराधायः ॥

अर्थ—जो क्षपक आराधनारूप पढाका ग्रहण करता है उसका भावनमस्कार ही हाथ है. जैसे जयप-
 ढाकाको मल्ल पुल अपने हाथसे ग्रहण करता है.

अण्णाणी वि य गोवो आराधिचा मदो णमोकारं ॥
 चंपाए सेट्टिकुले जावो पत्तो य सामणं ॥ ७५९ ॥
 अज्ञानोऽपि मृतो गोपो नमस्कारपरायणः ॥
 चम्पाश्रेट्टिकुले भूत्वा प्रपदे संयमं परम् ॥ ७८८ ॥
 समस्तानि दुःखानि विच्छिद्य सयः ॥ सुखानि प्रभूतानि साराणि वृथा ॥
 मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे । विवाधानि दत्ते नमस्कारमित्रम् ॥ ७८९ ॥
 इति नमस्कारः ।

विजयोदया—अर्हद्गुणधामरहितोऽपि योपो द्रव्यनमस्काराज्जाव्य मृतश्रेणपुरे श्रेष्ठिकुले जातः । धामण्यं
 च प्राप्तवान् इति च द्रव्यनमस्कारोऽप्येवं विपुलं फलं प्रयच्छतीति भावः । नमस्कारो व्याख्यतः । णमोकारं ॥

अर्थ—सुभग नामक भालाको अर्हतके ज्ञानादि गुणोंका स्वरूप याक्ष्म नहीं था. उसने मरण समयमें
 अर्हतको द्रव्यनमस्कार किया था. मरणके अनंतर वह चंपापुरनगरमें वृषभदत्तश्रेष्ठिका पुत्र हुआ. उसका अवस्थाको
 प्राप्त होकर मुक्त हुआ. द्रव्यनमस्कार यी ऐसा विपुल फल अर्पण करता है. नमस्कारका विवेचन हुआ.

षाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तिणिगहो काउं ॥
 णाणं अंकुसभूदं मचस्सा दु चित्तहत्थिस्स ॥ ७६० ॥
 न शक्यते चरिक्कु विना ज्ञानेन मानसं ॥
 अंकुसोन विना कुञ्ज क्रियते कुंजरो वचो ॥ ७९० ॥

चित्रयोदया—जातुयओगं इत्येतद्व्याख्यानायोत्तरः श्रवणं—षाणोवओगरहिदेण दातपरिणामरहितेन पुंसा । सक्को चित्तणिगहो काउं इति चित्रग्रहः फर्गुमद्यप्यः । कस्मात् ज्ञानमन्तरेण ॥ शक्यद्विषयानिग्रहः कर्तुमित्योरकार्यो—ज्ञानं निग्रहकरेण साधकतामं ततस्तर्जते न भवति चित्तनिग्रह इत्यान्वये । णाणं अंकुसभूदं मचस्स शु चित्तहत्थिस्स मानमंकु-
 शम्भूतं मणस्य चित्तहस्तिनः । इदमत्र द्योतते—इह विस्मयाद्यैव किमुच्यते ? अग्यत्र सचित्तशीलसंवृतस्वरादी स्थितं क्षेत्रव्य-
 मिति युवतिं इहापि यदि तदेव तस्य निग्रहो नाम कः ? इमोच्यते—विषयव्यज्ञानतया अशुभमयानलेशयातया वा परिणतिः
 प्राणभूतो यस्य तस्य निरोधो प्रथमज्ञानपरिणामेन क्रियते । परिणामो हि परिणामिन् निरुणद्धि, परिणामोऽस्मद्विरुद्धस्य-
 वा साधकतया इति । यथा सक्तो हस्ती न कचिद्व्यवतिष्ठते यंधनमईनादिकं विना तद्यथाचिरहस्तपि यत्र कुत्र वनाशुभय-
 रिणामे प्रपतंते इति ॥

अर्थ—ज्ञानपरिणामसे रहित पुरुष अपने चित्तका निग्रह करनेमें समर्थ नहीं होता है. अर्थात् ज्ञान मनको जीवनमें साधकत्व है उसके विना मन अन्य उपागसे नहीं जीवा ला सकता है. जैसे मत्तहाथीको अंकुश बंध करता है वैसे उन्मत्त हुए इस चित्तरूप हाथीको बंध करनेके लिये यह ज्ञान अंकुशके समान है.

प्रश्न—यहाँ चित्तशब्दसे क्या अभिप्राय समझना चाहिये. 'सांघवशीतसंवृत' इत्यादि शब्दमें चित्तशब्दका अर्थ चैतन्य ऐसा माना है. क्या वहाँ भी वही अर्थ मानते हो ? तो—'चैतन्यनिग्रह करना' इसका क्या अभिप्राय समझना चाहिये. ?

उत्तर—जो विपरीत ज्ञानरूप अथवा अशुभध्यानरूप वा अशुभलेशधारूप परिणति जीवकी होती है उसका निरोधही आत्मके यथार्थ ज्ञानरूपपरिणतसे युक्त होता है. पणिगाम परिणामीका विरोध करना है जैसे हमारे विरुद्ध तुम अपने परिणाम धारण करना योग्य नहीं है. जैसे मत्तहाथी बंधन मर्दानादिकके बिना कहां परभी स्थिर रहता नहीं है. वैसे यह मनरूप हाथी भी जिस किसी अशुभ परिणाममें प्रवृत्त होता है.

विल्जा जहा पिसायं सु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥
 गाणं हिदयपिसायं सु पउत्ता करेदि पुरिसवसं ॥ ७६१ ॥
 स्वम्यस्तं कुस्ते ज्ञानं नानानर्थपरं मनः ॥
 पुरुषस्य वजो विद्या पिशाचमिव दुर्ग्रहम् ॥ ७९१ ॥

चित्तयोद्ध्या - विल्जा सुहु पउत्ता जहा पिसायं पुरिसवसं करेदि । विद्या सुहु प्रयुक्ता सम्यगाराधिता यथा
 पिशाचं पुरुषस्य पश्यं करोति । तद् गाणं सुहुजुचं वसं करेदि हिदयपिसायं च । तथा ज्ञानं सुहु प्रयुक्तं वशं करोति ।
 किं ? हृदयपिशाचं । चित्तं पिशाचवद्योग्यकारितया ज्ञानं समीचीनं मसृष्टप्रवर्तमानं शुभे शुद्धे वा परिणामे प्रवर्तयति
 चेवनामिति यावत् ॥

अर्थ - पूर्ण विधीसे विद्याचर आराधना करनेपर पिशाच वश हो जाता है वैसे ज्ञानके तरफ पूर्ण उपयोग
 देनेसे यह हृदयरूपी पिशाच पुरुषके स्थायीन होता है. यह हृदय पिशाचके तुल्य अयोग्य कार्य करता है परंतु
 ज्ञानोपयोगसे पुरुष इस हृदयको शुभ अथवा शुद्ध परिणामोंमें प्रवर्तित करेदे है. जैसे सम्यग्दृष्टि जीव विद्याराधन
 करके पिशाचको वश कर उससे धर्मप्राप्तवना के कार्य करता है वैसे इस मनको भी हे धूपक ! द्वाजानाराधना कर
 शुद्ध परिणामोंमें तरफ कर.

उवसमइ किण्हसप्पो जह मंतेण विधिणा पउत्तेण ॥
 तह हिदयकिण्हसप्पो सुहुजुत्तेण गाणेण ॥ ७६२ ॥
 ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यसेन मानसम् ॥
 मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पद्मसः ॥ ७९२ ॥

चित्तयोद्ध्या - उवसमइ किण्हसप्पो उपशम्यति कुण्ठसर्पः । जह यथा । मंतेण पउत्तेण स्वाहाकारेणा विद्या इति
 स्वाहाकारो भवदावेदोच्चेते मंतेण सुहु प्रयुक्तेन । तह तथेव । हिदयकिण्हसप्पो उवसमइ हृदयकुण्ठसर्प उपशा-
 म्यति । सुहुजुत्तेण गाणेण सुहु प्रयुक्तेन ज्ञानपरिणामेन । यथुमनियद्देहुता ज्ञानस्य आख्या नाथयोक्ता । द्वितीयया
 चित्तस्य त्वचकारित्वं शान्तभावनयोक्तं । अनया तु अशुभपरिणामप्रशंति कारिता शान्तभावनया निरूप्यते ॥

अर्थ—योग्य विधिमें भाष्य किया हुआ मंत्र प्रयोग करनेपर कृष्णमर्पण को वश करता है. अर्थात् मंत्रके प्रमाणमें जोधर्म पूर्यमान करनेवाला सर्प ज्ञात होकर भ्रात्रिके वश होता है. वैसे यह हृदय रूपी कृष्ण सर्प भी उत्तम प्रणाली प्रयुक्त किन्ने ज्ञानपरिव्याप्तके द्वारा वश किया जाता है. पहिली भाषासे ज्ञान अशुभ परिणामोंको निग्रह करनेमें सफल है यह दिखाया है. दूसरी भाषाके द्वारा चित्त स्वच्छ करनेका उपाय दिखाया है. अर्थात् ज्ञानभावसे निज रग होता है ऐसा कहा है. और प्रस्तुत गायत्रीसे ज्ञानभावन-ज्ञानाभ्यास अशुभ परिणामोंकी प्रशान्ति करता है यह बताया है

आरण्यवो वि मत्तो हत्वी गियमिज्जदे वरचाण ॥

जह तह गियमिज्जदि सो पाणवरचाण मणहत्थी ॥ ७६३ ॥

नियम्यते मनोदस्ती मत्तो ज्ञानवरत्रया ॥

हस्ती चारण्यकः सप्यो भयदायी वरत्रया ॥ ७९३ ॥

विजयोदया—आरण्यको वि मत्तो हत्वी ऋण्यचारी मत्तो हस्ती । गियमिज्जदे वरचाण नियम्यते नियम्यते परचेण यथा । तथा मणहत्थी मनोदस्ती नियम्यते । पाणवरचाण ज्ञानवरत्रेण । गियमिज्जदि वरचाण, दुर्निपास्तया च मनो दस्तीति मनोदस्तीति भण्यते । ज्ञानमनुममयादं निरुणद्धि । इत्यनयोच्यते ।

अर्थ—आरण्यमें स्थण्डपनासे निहार करनेवाला मत्त हाथी जैसे मज्जयुत शृंखलासे बांधा जाता है वैसे यह मन प्राणिजोंरा अद्वित रूपा है और दुर्निवार है अतः यह हाथीके समान होनेसे इसको हाथी कह सकते हैं. यह मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी शृंखलामें बांधा जाता है. अर्थात् ज्ञान अशुभसंकल्पोंके समूहको रोकता है. मनमें ज्ञानके प्रभाव से अशुभ संकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं.

ज्ञानवरत्रया गियमित्तस्य मनोवशणारं निरूपयत्युत्तरभाषा-

जह मफुडओ सणमवि मज्झत्यो अत्थिदुं ण सक्केइ ॥

तह खणमवि मज्झत्यो विसएहिं विणा ण होइ मणो ॥ ७६४ ॥

मध्यस्थो न कपिः शक्यः क्षणमायासितुं यथा ॥
मनस्ताथा भवैवैव मध्यस्थं विपर्ययिना ॥ ७९४ ॥

विजयोदया — मध्यस्थो यणमवि मध्यस्थो अल्पिण्डु ण उक्ता सप्तकेदि मर्कटकः क्षणमपि मध्यस्थो निर्विकारः सत् स्यात् न शक्नोति । तथा मनो विस्मयिते विना मध्यस्थो साक्यमपि न होदि तथा मनो विपर्ययः शब्दादिनिमित्ता रागादय इह विपर्ययाच्चाख्या विपर्ययात्वात् । ततोऽयमर्थः, यत्र रागद्वेषी विना मध्यस्थं मनो न भवति । ज्ञानभाव-
त्रायामसत्यां रागद्वेषोवृत्तेष्व मन्त्रो व्यापार इत्यर्थः । एतथा ज्ञानं मनसो माध्यस्थं करोतीत्याख्यायते । यस्मान्मा-
नसोऽनाप्यद्वयमस्ति सन्निहितमनोमनोऽपि स्वरागद्वेषसङ्चारितया —

ज्ञानरूपी श्रुतलासे न बंधे दुष्ट मनस्यी चेष्टार्थो का वर्णन —
अर्थ — यान्तर एकक्षणा पयन्त मी स्थिर अर्थात् निर्विकार एकस्थानमें रहता नहीं। मन भी विपर्ययों के विना स्थिर नहीं रहता है। हमेशा विपर्ययोंमें विचरता है। अर्थात् हमेशा अन्दर रह, स्वर्ग धर्मरे विपर्ययोंका निमित्त पारर या रागद्वेषोंसे युक्त हुआ ही करता है। विपर्ययोंसे निवृत्त होकर माध्यस्थ भावमें यह समान होता नहीं। सतत ज्ञानका अभ्यास न होनेसे इसकी रागद्वेषमें परिणति हो रही है। परंतु ज्ञानका अभ्यास करनेसे माध्यस्थ-
भान मनमें उत्पन्न होता है। मनोऽ-इष्ट विषय और अमनोऽन्न अनिष्ट विषयके सहवाससे मन्तमें क्रमसे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। तत्र माध्यस्थ भावका लोप होता है।

तस्मा सो उडुहणो मणमकडओ जिणोवएसेण ॥
रामेद्वो णियदं तो सो दोसं ण काहिदि से ॥ ७९५ ॥

सदा रमयितव्योऽसौ जिनवाक्यकने ततः ॥

रागद्वैपादिकं दोषं करिष्यति ततो न सः ॥ ७९५ ॥

विजयोदया — तथा तस्मात् । सो मणकडओ मनोमर्कटः । उडुहणो इतस्तत् उल्लेखनपरः । रामेद्वो णियदे सर्वकालं रमयितव्यः । क जिणोवदसमि जिनागमे । तो ततो जिनामरतेः । सो मनोमर्कटः । दोसं रागद्वेषादिकं । ण काहिदि न करिष्यति । से तस्य ज्ञानाभ्यासकारिणः ॥

अर्थ — गुण यह मनोमर्कट इतस्ततः कूदने लगता है। इस मनोमर्कटको जिनामयके अभ्यासमें दिनरात तत्पर करना चाहिये। जिससे यह रागद्वेषादिक विकारको छोड़ देगा।

धरमाः ज्ञानाभ्यासे सति मनोमर्कटको कोचं जगुमणरिणामं न करोति-

तद्वा णाणुवओगो खवयस्स विसेसदो सदा भणिदो ॥

जहं विघणोवओगो चंदयकेल्लं करंतस्स ॥ ७६६ ॥

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्तः क्षपकस्य विशेषतः ॥

धियेय्यं कुर्वतस्तस्य चंद्रकज्यधनं यथा ॥ ७६६ ॥

विजयोदया - सदा णाणुवओगो धरमाऽज्ञावपरिणामः । यवगस्स विसेसदो सदा भणिदो सपक्खं विशेषतः सदा विकपितः । जहं विघणोवओगो यथा व्यधनाभ्यासो विशेषतो भणितः । कस्य ? चंदयकेल्लं करंतस्स चंद्रकज्यधे कुर्वतः ।

ज्ञानाभ्याससे यह मनोमर्कट अशुभ परिणाम नहीं करेगा ऐसा कथन-

अर्थ-चंद्रक यंत्रका येष करने की इच्छा रखनेवाला धीर पुरुष जैसे हमेशा लक्ष्यवेध करतेका अभ्यास करता है, वैसा मनोमर्कट यद्य करनेके लिये हमेशा क्षपक को ज्ञानाभ्यासकी आवश्यकता है,

णाणपदीओ पज्जलइ जस्स हियए विसुद्धलेस्सस्स ॥

जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासणभयं ण तस्सट्ठि ॥ ७६७ ॥

शुद्धलेदपस्य यस्यान्ते दीप्यते ज्ञानदीपिका ॥

तस्य नाशभयं नास्ति मोक्षमार्गे जिनेोदिते ॥ ७६७ ॥

विलयोदया - णाणपदीओ ध्यानमदीपः । पज्जलइ प्रज्वलति । यस्य विमुद्धलेदपस्य दृश्ये । तस्य संसारार्थे पतित्या यिनयोऽस्तीति विनाशार्थं नास्ति । जिणदिट्ठमोक्खमग्गे जिनेददे ध्रुवे रत्नत्रयदृष्टिरपि मोक्षमार्गेशब्द इव भुतचुचिभ्रांतः ॥

अर्थ-विशुद्ध परिणामयुक्त ऐसे जिने क्षपक के हृदयमें ध्यानरूपी दीपक सतत प्रकाशमान रहता है उसको जिनधरने कहे हुए आग में नष्ट होनेका भय नहीं रहेगा, अर्थात् सतत ज्ञानाभ्यास करनेसे जीवा दिक पदार्थोंका जिनशास्त्रमें जो नवोंके आचारमें अनेक अपेक्षाओं को लेकर स्वरूपदर्शन किया है उसका स्वरूप सुलभा होगा, परंतु जिनकी ज्ञानाभ्यास नहीं है उसको जिनगमका रहस्य मात्तुम न होगा,

ज्ञानप्रकाशमहात्म्यं कथयति—

पाण्डुञ्जोवो जोवो पाण्डुञ्जोवस्स णत्थि पडिषादो ॥

दीयेद्वं खेत्तमणं सूरु पाणं जगमस्सं ॥ ७६८ ॥

ज्ञानोवोतो महेवोतो व्याघातो नस्स चिचने ॥

क्षेत्रं चोत्तयेत्त सूर्यः स्वरूपं सर्वमसौ पुनः ॥ ७६८ ॥

स्थित्योपरा—पाण्डुञ्जोवो नानोयोत्त यच्च घोतोऽतिशयितः । कस्तस्यातिशय इत्यत आह—पाण्डुञ्जोवस्स णत्थि पडिषादो ज्ञानोपरा इत्यत्र प्रतिपातः । दीयेदि प्रकाशयति । तेन नणं स्वल्पं क्षेत्रं । कः ? सूरु आदिभ्यः । पाणं जगमस्सं ज्ञानं जगद्देशेन । दीयेदि प्रकाशयति । समस्तव्याप्यब्रह्मवत्प्रकाशो वास्तीत्यर्थः ॥

ज्ञानप्रकाशका महत्त्वं आचार्यं कहेते हैं—

अर्थ—ज्ञानरूपी जो प्रकाश है वही उत्कृष्ट प्रकाश है, हममें यह विशेषता है कि यह किसीके द्वारा नष्ट नहीं सकते हैं, हम वगैरह पदार्थ दीपकका नाश करते हैं परंतु ज्ञानदीपका नाश करलवाला; जगमें कोई भी पदार्थ नहीं है, स्वयंका प्रकाश बहुत तीव्र है परंतु वह भी अल्पक्षेत्रको ही प्रकाशित करता है, परंतु यह ज्ञान-प्रदीप समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, समस्तको व्याप कर जानेवाले ज्ञानके समान दूसरा प्रकाश जगमें नहीं है,

पाणं पयासओ सो वओ तवो संजमो य गुत्तिथरो ॥

तिण्हं पि समाओगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ ७६९ ॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं गोपकं साधकं तपः ॥

त्रयाणां कथिता योगे निर्द्विर्निर्जिनशासने ॥ ७६९ ॥

चित्रयोपरा—पाणं पयासं ज्ञानं प्रकाशयति । संसारं संसारधारणं, मुक्तिं मुक्तिकारणं च ॥ सो वओ तवो निर्जटानिमित्तं तपः । संजमो य गुत्तिथरो संयमदत्त गुप्तिकरः । तिण्हं पि त्रयाणामपि । समाओगे संयोगे गोपयो मोक्षः । जिणसासणे विद्वो । जिनशासने वृत्त ॥

अर्थ—ज्ञान संसार और मुक्तिके कारणोंको प्रकाशित ॥

को

उत्पन्न करनेवाला संयोग और इन तीनोंका संयोगरूप मोक्ष जिनका स्वरूप ज्ञानागमों कहा है ज्ञान उन सबको जानता है.

प्राणं करणविह्वलं लिङ्गग्राहणं च दंसणविह्वलं ॥

संजगद्गीणो य तवो लो कुण्ठि शिरत्थयं कुण्ठि ॥ ७७० ॥

णाणुज्जोण विणा लो इच्छदि भोक्खमग्गमुवगंतुं ॥

गंतुं कड्डिमिच्छदि अंधलओ अंधयारम्मि ॥ ७७१ ॥

करणेन विना ज्ञानं संयमेन विना तपः ॥

सम्पत्त्येन विना लिंगं कियमाणमनर्थकम् ॥ ८०० ॥

ज्ञानोद्योतं विना योऽत्र मोक्षमार्गं प्रयास्यति ॥

प्रयास्यति बने दुर्गे सोऽन्धोऽन्धतमसे सति ॥ ८०१ ॥

वियस्योपया - णाणुज्जोण विणा ज्ञानोद्योतेन विना । जो इच्छति यो पांछति । भोक्खमग्गमुवगंतुं चारिअं तपस्य इह मोक्षमार्गं इच्छत्येते चारिअं तपस्योपगंतुं । गंतुं कड्डिमिच्छदि गंतुं दुर्गमिच्छति । कः ? अंधलओ अंधाः । अंधयारम्मि अंधकारे तमसि । यथा दृक्छण्णुत्तमदिनिश्चिते प्रदेशे गमने अतिदुष्करं अग्रसारो सति । तद्वत्तिसादिपरिहारो जीविकायाः कुले दुष्कर इति मन्यते ॥

अर्थ - चारित्रिहीन ज्ञान, सम्पददर्शनरहित मुनिदीक्षा धारण करना, संयमरहित तप करना, ऐसे कार्य व्यर्थ हैं. अर्थात् इतने मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं. अर्थात् चारित्र्यसहित ज्ञान और प्राणिसंयम और इंद्रियसंयम सहित तप करना चाहिये, सम्पददर्शनसहित मुनिदीक्षा धारण करनी चाहिये तब मोक्षकी प्राप्ति होती है.

अर्थ - ज्ञानरूपी प्रकाश अर्थात् ज्ञानदीपको त्याग कर मोक्षका तपायभूत ऐसा चारित्र और तपकी प्राप्ति करनेकी लो इच्छा करता है वह अंधकारमें दृक्छ वृणादिकोसे व्याप्त ऐसे दुर्गमप्रदेशमें प्रवेश करने वाले अंधमनुष्यके समान तपसना चाहिये, जैसे जीवोसे भोर हुए प्रदेशमें हिंसादिकोंका परिहार करना कठिन है वैसे ज्ञानके विना मोक्षमार्गकी प्राप्ति कर लेना कठिन है.

जह्नुदा खंडसिलोगेण जमो मरणा दु फेडिदो राया ॥
पत्तो य सुतामणं किं पुण जिणउत्तसुत्तेण ॥ ७७२ ॥

संयमं श्लोकखंडेन निवार्य मरणं यमः ॥

यदि नीतस्तदा किं न जिनसूत्रेण साध्यते ॥ ८०२ ॥

विजयोदया—जह्नुदा खंडसिलोगेण यदि तालखंडेन श्लोकस्त। जमो राया मरणादो फेडिदो यमो राजा मरणा-
दरत्नारितः । पत्तो य सुतामण्य प्राप्तया शोभनं आभरणं । किं पुण जिणउत्तसुत्तेण । किं पुनर्जिनोत्तसुत्तेण प्राप्यफले
आश्रयं । यादवमनाध्यानकं च । रादुकं भवति—

भवेत्तं धेन जीवितार्थिना याकि चित्तुक्तं पवनं भुत्वा हास्यपरेण राजा भाग्यमालं यचापत्वारणे निमित्तं वि-
भववेदितां पवो भाग्यमालं किमभिलषितं न प्रापयति ।

अर्थ—यम नामक राजा श्लोकके खंडका स्वाध्याय करनेसे मरणकी आपत्तीसे मुक्त हुआ और उत्कृष्ट चारित्र्य-
की भी प्राप्त हुआ, स्वयं बनाये श्लोकखंडसे भी न। आपत्तीसे मुक्त होकर उज्ज्वल चारित्र्यको प्राप्त हुआ
तो जिनसूत्रके अध्ययनसे उत्कृष्ट फल अर्थात् मोक्ष क्यों न मिलेगा, (इस यमराजाकी कथा आराधनाकथाकोषमें
देखो)

जैसे एक राजाने भीख मांगनेवाले एक अश्व अंधका वचन सुनकर इसीसे कंठस्थ किया, उस वचन से
उसके ऊपर आई हुई आपत्ति टली, एक अंधका वचन भी आपत्ती दूर होनेमें निमित्त होगया वो विश्वके समस्त
पदार्थ ज्ञाननेवाले जिन भगवान् के वचनोंका अभ्यास करनेसे क्या अभिलषित पूर्ण न होगा ? अवश्य पूर्ण होगा-

सत्यस्यापि भूतस्य भावना मरणकाले ददस्तीत्येवं तत्कथयति—

ददसुण्णो सुलदहो पंचणमोकारमेत्त सुदणायो ॥

उवजुत्तो कालग्गदो देवो जावो महद्दीओ ॥ ७७३ ॥

ददसुण्णोऽथ शूलस्यो जातो देवो महर्द्धिकः ॥

नमस्कारयुताभ्यासं कुर्वणो भक्तितो भूतः ॥ ८०३ ॥

विजयोदया—ददसुण्णो सुलदहो ददसुण्णो नाम चौरः शूलमारुढः । पंचणमोकारमेत्त सुदणायो उवजुत्तो

काष्ठगतो पञ्चनमस्कार एव धृतनामे उपयुक्तः सन् कालगतः । महद्भिर्देवो जादो महर्द्धिको देवो जातः ॥
स्वल्पधुतका अग्न्यात् भी मरणकालमे महाफल देनेवाला होता है इस का विवेचन--
अर्थ—शूलपर चढ़ाया हुआ रूढ़धूर्ण नामक चौर पंचनमस्कार मात्र धृतज्ञानमें विचकी एकाग्रता करके
मरण को प्राप्त हुआ और स्वयंमे महासद्बिद्याली देव हुआ.

ण य तग्नि देसयाले सव्वो बारसविधो सुदक्खंधो ॥

सत्तो अणुचितेदुं बलिणा वि समत्यविचेण ॥ ७७४ ॥

मृदयुकाले धुतरत्नं चः समस्तो द्वादशार्गिकः ॥

बलिना शक्तिचित्तेन यतो ध्यातुं न शक्यते ॥ ८०४ ॥

विजयो—सव्वो बारसविधो वि सुदक्खंधो तग्नि देसयाले ॥ य सव्वो अणुचितेदुं बलिणा वि समत्यविचेण
सव्वो द्वादशविधोऽपि धुतरत्नं धरन् विजयमेव देवो काले य देव शक्योऽनुस्मर्तुं नितरामपि समर्थचित्तेन । बहुधुतस्यापि
न ध्यानलब्धये समस्तं किं तु किंचिदेव शक्ये । तथा श्रुत्वा 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानमिति' ॥

अर्थ—मरणकालमें सव्वे-बार प्रकारका धुतरत्नं धका चित्तन करता चलवान और समर्थ भनके पुरुष
द्वात् भी शक्य नहीं है. बहुधुत विज्ञान युनि भी संपूर्ण श्रुतज्ञान को आपने ध्यानका विषय नहीं बना सकते हैं.
अर्थात् किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें संपूर्ण श्रुतज्ञान ध्यानका विषय होता नहीं फिर मरण समयमें संपूर्ण
श्रुतज्ञान ध्यानका कैसा विषय हो सकेगा ? श्रुतज्ञानका कोई एक सत्र ध्यानमें विचार ॥ सकता है. इसी वास्ते
ध्यानका लक्षण 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानं' ऐसा कहा है.

एककम्मि वि जग्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गमि ॥

गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥ ७७५ ॥

एकत्रापि पदे यत्र संवेगं जिनभाषिते ॥

संपत्तो भजते तत्र त्यजनीयं ततस्तदा ॥ ८०५ ॥

विजयोदया - सप्ताहद्विपदिविहो वि दशा, शुद्धा, रोगेण, शीतेन, आतपेन वाधितोऽपि सन् । जीवाणं प्राद्व्यं कृत्वा जीवानामुपपातनं कृत्वा । पट्टिगारं काटुं च दृढादीनां प्रतिकारं कर्तुं । तं मा त्रितेहि मा कार्पाश्वितं । लम्बाहुं शुद्धिं लम्बस्व स्मृति । विषमि हिमशीतलं जलं कर्षस्मिद्वसितं । अगाधं वा सप्त सुपथितेव लज्जोपगुणितं प्रविश्य मर्दासिष्टुट इव निमज्जनेन उज्जने करोमि । लडाहे, शिरसि, पृथुले चोरस्थले कल्फकनयनिपातो यदि स्याद्भट्टं भवेत् । कन्दारदिकताधिकपहलगणनादिलाभे वा जीवामि इति वा । आतपति वा दिवानिहां तर्पे । अपसादिततीक्ष्णकरकटाभि-कुलेचक्षिति व्यज्जतलवृन्तसमुपनीतशीतभास्तपतेन धम्ममेषमपकुर्वतु भवन्तः । हिमानी पततु । पातु मातरिसवान इति वा । आद्रूपकानूपमसुरनिपुताद्रौ न भक्षयामीति । सम्यक् कथितं, क्षीरं शर्करामिषं सुलोणं पिबामीति च । धम्मव-गायमानं कादिस्मिं कुदत्त । सीतेन स्फुटन्ति मनोगानि इत्येवमादिका प्रतिक्रिया मनसि न कार्येत्यर्थः । असदेयोदयः स नो महत्तमिति निपत्ति, को नु तस्य प्रतीकारः ? सदुपसक्तकालयविन प्व दाढाद्रव्यसंपायाः प्रतीक्षा इति मनो निधेहि ॥

अर्थ—प्यास, शूल, रोग, शीत, उष्ण, इत्यादिक्रमे सुषमो पीडा होने पर भी तुम जीवोंका धातकार प्यास वगैरहको मिटानेका मयत्न करनेका विचार कभी मनमें मत लाओ। ऐसे दुःखके समय आपमके श्वचनोका स्मरण करो। और आगे कहा हुआ विचार मनमें प्रा लाओ।

कासूरका चूर्ण डालकर सुगंधित किया हुआ, शर्करा समान कीतल जल में पीऊं, अथवा सुगंधित कमल-जोंसे व्याप्त ऐसे अगाध सरोवरमें सच हाथी के समान प्रवेश कर निमज्जन करके स्नान करूं; ललाट, मस्तक, विद्याल छाती इनके ऊपर ओलेका समुदाय पड़ेगा तो बहुत ही आल्हाद होगा। कमल, शीत बालुका, कोमल कौपल, इनका किया हुआ विछाना यदि मेरेको सोनेके लिये मिलेगा तो मैं जीऊंगा अन्यथा मेरे प्राण चले जायेंगे ऐसा विचार मनमें नहीं करना चाहिये। रातमें और दिनमें प्यास मेरेको सताती है इसबास्ते धर्यिके तीक्ष्ण किरणों को यहाँसे दूर करो। पंखा धनोदके द्वारा ठंडी हवा करो और और भेटा संपूर्ण श्रम आप दूर करो। चर्पट धृष्टि होवो, बापु बहने दो। ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। कदाहिमें तेल हुए, सुगंधित घृतसे गीले हुए अपूप में भरुण केहंगा, अच्छी तरहसे पका हुआ, खांदमिश्रित सुलोण दूध में पिऊंगा ऐसा विचार नहीं करो, धानभग करता हुआ बैरका अग्नि जल्दी तयार करो। मेरे सर्व अंग यहाँसे फूट रहे हैं इस प्रकार के इलाजके विचार क्षपकको मनमें करना योग्य नहीं हैं। मेरे ऊपर असाता वेदनीय कर्मका वडा रोप हुआ है उसको क्या इलाज है, जब उसका उपशम होनेका समय आवेगा तब धाब पदार्थोंके द्वारा इलाज हो सकते हैं ऐसा मनमें विचार करना चाहिये।

रविअरविहरिसिम्भयउत्सुगचदीणत्तणविजुचो वि ॥
भोगयरिभोगहेट्टु मा हि विविचिहेहि जीववहं ॥ ७७९ ॥

इपेटिसुक्कच्चदीनत्तरटयरत्तयाविसंयुतः ॥

त्वं भोगपारिभोगार्थं मा कार्पयिजिवाचनम् ॥ ८१० ॥

विजुचोदया — रविअरविरिसिम्भयउत्सुगचदीणत्तणविजुचोदयि । शब्दद्विविधया प्रीती रतिः । अमनो-
प्रविणयत्तपिपत्ति या विमुत्तता सा अरतिः । हारयऊमोदयनिमित्तः परिणामो हर्षः । मर्षं, उत्सुकता, दीनतेयेयमादिभि-
जुकोदयि । भोगपरिभोगहेट्टु भोगेयमोमार्थं या जीनयपे मा छया मनसि ॥

अर्थ—स्पर्धादि रिपयोंपर प्रेम होना वह रति है, अनिष्ट पदार्थों से संशय होनेपर जो विमुत्तता होती है
उमफो अरति कहते हैं, हास्य कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंको हर्ष कहते हैं, मय, उत्सुकता, दीनपना इत्या
दिक परिणाम आत्मामें उत्पन्न होने परभी भोगेयभोगके लिये हे क्षणक ! तू क्षीयकच करनेका विचार मनमें मत कर,

महुकरिसमज्जियमहुं व संजमो योवयोवसंगलियं ॥

तेलोक्कसब्बसारं णो वा पूरेहि ॥ जहसु ॥ ७८० ॥

माक्षिकं मक्षिकाभिर्वा स्तोकस्तोकेन संस्थितं ॥

मा नीनशो जगत्सारं संयमं वेल्ल पूरयेः ॥ ८११ ॥

विजुचोदया—महुकरिसमज्जियमहुं व महुकरीभिः समर्जितं मत्पिच । क्षम्यं चारियं । योवयोवसंगलियं
स्तोकस्तोकेनोपयितं । तेलोक्कसब्बसारं त्रैलोक्यस्य सर्वसारं विष्टपत्रये यदतिशयान् स्थानं, मानं, ऐश्वर्यं सुखं या तस्य
कारणस्यान् त्रैलोक्यसर्वसारं । मा जहसु मा त्याशीः ॥

अर्थ—मधुमाक्षिकया जैसा थोडा थोडा मधु संचित करता है वैसा थोडा थोडा करके संचित किया हुआ
यह संयम तू मत छोड़ क्योंकि त्रैलोक्यमें जो अतिशय उत्कृष्ट स्थान, मान, ऐश्वर्य और सुख है उसकी इससे प्राप्ति
होती है, अतः ऐसे महान् संयम का हे क्षणक ! तू त्याग मत कर,

दुस्त्वेषेण लभति माणुस्सजादिमदिसवणदंसंणचरिचं ॥

दुस्त्वलज्जियसामण्णं मा जहसु तणं व अगणंतो ॥ ७८१ ॥

नृत्वं जातिः कुलं रूपसिद्धिचं जीवितं धलम् ॥

अचणं ग्रहणं बोधिः संसारे संति दुर्लभाः ॥ ८१२ ॥

विजयोदया—युष्मत्प्रेष लभति माणुस्सजादिमदिसवणदंसंणचरिलं दुस्त्वेन लभते मनुष्यजन्म जंतुः । सन्ने

यपपि माणुस्सजादिशब्दः सामान्यवाच्ययुपात्तस्तथापि विशेषमवसाययति इति श्राव्यं । मनुजा हि चतुःप्रकाराः—

कर्मयुमित्तमुत्पन्नं मोगभूमिभवास्तथा ॥

अंहरदीपजाद्येष तथा सम्युत्प्लुता इति ॥

अस्मिन्मेषिः कृषिःक्षिप्यं पाणिज्यं व्यवहरति ॥

इति यत्र प्रयत्नेन तृणमाश्रीयोन्वयः ॥

प्रपदयस्त्वयं यत्र तपःकृमपरा नराः ॥

सुरत्वेर्गते था त्तिदि प्रयति हलशत्रयः ॥

यत्ताः कर्मयुयो क्षेयाः पूर्वोक्ता दश पंच च ॥

यत्र संभूय पर्याप्तिं याति ते कर्मभूमिजाः ॥

मघत्तुपराहृत्पात्राभ्यवमादयैः ॥

गृहदीपयौक्तियव्यैस्तन्निस्तत्र क्षीयिकाः ॥

पुट्टयामादयो यत्र न निवेशा न बाधिरः ॥

न कुलं कर्म क्षित्यानि न यथाधमस्तेस्मिन्ति ॥

यत्र नागो नराक्षिय मैथुनीभूय मीरुताः ॥

रन्ते पूर्वेपुण्यानां प्राप्नुयन्ति परं फलं ॥

यत्र प्रकृतिमदत्तास् दिवं याति मृता अपि ॥

ता भोगममयकोपास्तत्र स्सुभोगभूमिजाः ॥

अभाषता एकोरुत्ता तांल्लिक्खिपणिनाः ॥

आददीमुत्तहस्यस्वविपुदुत्तमुत्ता अपि ॥

हयफण्णजकुर्णाः कर्णेयवरणास्तथा ॥

इत्येवमादयो मेया अतर्हीपजा नराः ॥

समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलादिभिः ॥
 वेदयन्ते मनुष्यास्तस्ते मृगोपमचेष्टिताः ॥
 कर्मभूमिषु चकारादलभुदरिभ्युर्जो
 स्संस्थायास्तमहेषु प्रसूयौच्चारभूमिषु ॥
 मुफासिषाणकस्तेषामरुणैर्दंतमलेषु च
 अत्यन्ताद्गुचिदैतेषु सद्यः सम्मुच्छन्नेन ये ॥
 भूतानां सुखसामंक्षयेकप्रागमात्रशरीरकाः ॥
 भामु नदधन्त्ययत्तिरते स्तु- सम्मुच्छन्ना नदाः ॥

पतेषु कर्मभूमिजन्मानयतां एव रतजयपरिणामयोग्यता मेतरेषां इति तदेव मनुजजन्म गृह्यते । लक्ष्येऽपि मन्मिन् ज्ञानादलोदयाद्विदितपरिज्ञातां समथां बुद्धिर्न सुलभा । सया विना लन्धमपि मनुजजन्म विकलमेव । इष्टि-
 रक्षितमिपायतं लोचनं, प्रयिणसंयद् विना कुनीलकम्बिषु, सुभ्रगतमर्मेतरेण रूपमिव, यथाधेतरक्षितं पचतमिव, सत्पा-
 म्नि मती यदि भागानां पचः भ्रुणुरात् सापि त्रिफलेव सरोजद्विता सरसीष । इदमपि ध्येयं वासपचमगोचरमेव गृहीतं,
 ग्रथणमपि ध्यानरहितं सुलभमेव । इदं यथा येन प्रतिपादितं तथेति अद्वैतं दुर्लभं दर्शनमोहोदयात् । लक्ष्यपि
 भ्रष्टरते गारिजसोहोदयात्, स्मृतोऽभिरचिते मार्गे मनुचित्तुर्लभा । यद्यं दुरत्यजिद्वसामणां दुःपार्जितधामण्यं । मा जहदु
 मा स्वाधी । तर्णं च भगवन्तो तुगमिव भगवन्वन् ।

अर्थ—इस प्राणीको दुःखसे मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है, उत्तम जाति, बुद्धि, सुनिपत्ता, सम्पदपूर्वत,
 चारित्र्य ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर दुर्लभ होनेसे महाकष्टमे प्राप्त होती हैं, गाथामें यद्यपि मनुष्यत्व, जाति ये शब्द
 सामान्यवाची हैं तो भी उनमें निश्चित मनुष्यत्व, उच्च जाति ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये,

मनुष्यके चार प्रकार हैं, उनका वर्णन—

कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्वद्रोषज और समूर्द्धिम ऐंम मनुष्यके चार भेद हैं, जहां अग्नि—द्रव्य धारण
 करना, मणि—यही स्वाता लिखना, रूपि—खेती करना, पशुपालन करना, शिल्पकाम करना अथवा हस्तकौशल्य
 के काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्यायदानका कार्य करना, ऐसे छह कार्योंसे जहां उप-
 जीविका करनी पड़ती है, जहां संयमका पालन कर मनुष्य तप करलेमें तत्पर होते हैं और जहां मनुष्योंको पुण्यसे
 स्वर्ग प्राप्त होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं, ये कर्मभूमि
 अद्राद्वीपमें पंधरा हैं, अर्थात् पांच भगवन्, पांच येरावन और पांच निदेह,

जहां मद्यांग, दुर्यांग, वखांग, भोजनांग, पात्रांग, आभरणांग, माल्यांग गृहांग, दीपांग, और श्रोत्रांग ऐसे दश प्रकारके कल्पग्रन्थ रहते हैं- और इससे मनुष्योंकी उपवीचिका चलती है ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं. भोगभूमिमें नष्ट, कुल, अस्मिप्यादि क्रिया, विलय, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती हैं. यहां मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पवित्रात्मी होकर समाप्त होते हैं. वे सदा नीरोगही रहते हैं और सुख भोगते हैं. यहां के लोक स्वभावसे ही मृदु परिणामी अर्थात् मंद कपायी होते हैं. इसलिये मरणोपर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है. भोगभूमिमें रहने-वाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं.

अन्तरद्वीपज मनुष्योंका वर्णन—ये मनुष्य, अथापक गुणों, एक दांगवाले, पंखवाले, सींगकी धारण करनेवाले, ऐसे अनेक प्रकारके रहते हैं. यहांके कोई मनुष्य दर्पणके समान मुखवाले, हाथी, घोडा, इनके मूल समान मूलवाले, बिजली और उल्का समान मुखवाले रहते हैं. किसी २ मनुष्योंके कान हाथी और घोडोंके कान सीसे रहते हैं. कितने मनुष्योंके कान इतने बड़े होते हैं कि वे उसको ओढ़ सकते हैं. इन सब मनुष्योंको अन्तरद्वीपज मनुष्य कहते हैं. ये मनुष्य छवणोद और कालोद समुद्रके बीचमें १६ अन्तरद्वीप हैं उनमें रहते हैं. उनका आचरण पशुके समान रहता है. ये मनुष्यायुका अनुभव लेते हैं.

कर्मभूमिमें चक्रवर्ती, चलभद्र वगैरह षडे राजाओंके सैन्योंमें, मलमूर्खोंका जहां क्षेपण करते हैं ऐसे म्यानोंपर, वीर्य, नाफका मल, कफ, कान और दांतीका मल और अत्यंत अपवित्र प्रदेश इनमें जो तत्काल उत्पन्न होते हैं. जिनका शरीर अंगुलका असंख्यात मांस मात्र रहता है. और जो जन्म लेनेके बाद स्त्रीग्र नष्ट होते हैं और जो लक्ष्यपर्याप्त होते हैं उनकी सम्मूर्च्छन मनुष्य कहते हैं.

इन मनुष्योंमें जो कर्मभूमिज मनुष्य हैं उनको ही रत्नवयपरिणाम की योग्यता है. इतरोंको नहीं है. इस वास्ते मनुज श्रद्धसे इनका ही ग्रहण समझना चाहिये.

रत्नवयकी योग्यताको धारण करनेवाला मनुष्यजन्म मिलने पर भी ज्ञानाचरणकर्मके उद्वेगसे हितहित की परीक्षा करनेवाली बुद्धि प्राप्त होना सुलभ नहीं है. ऐसी बुद्धि यदि प्राप्त नहीं हुई तो यह मनुष्यजन्म प्राप्त होकर भी निष्फल ही हुआ समझना चाहिये. नेत्र बंद होकर भी उनसे पदार्थ दीखते नहीं हैं, अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी यदि सौंदर्य प्राप्त नहीं हुआ, बोलनेकी शक्ति प्राप्त होकर भी यदि असत्य बोलनेके तरफ ही प्रवृत्ति होने

सुखी, तो नेत्र, उबकूल, सुमगता और खचनदर्शक सब प्राप्त होना विफल है, जैसे उत्तम बुद्धि प्राप्त होनेपर भी यदि मनुष्य आप्तका बचन नहीं सुनेगा तो वह बुद्धि भी कुछ कामकी नहीं है ऐसा समझना चाहिये, जैसे कमलरहित सुतेपर सुंदर नहीं दीखता है चेमी आप्तबचन न सुननेवाली बुद्धि भी शोभाहीन ही है ऐसा समझना चाहिये, यहाँ श्रवण द्रव्य उठ भी सुनना इस सामान्य अर्थ का वाचक नहीं है, परंतु आप्तके बचन सुनना यहाँ श्रवण शब्दका अर्थ है, श्रवण भी भ्रष्टान सहित सुलग है, जैसे विनेश्वरने कहा है वैसाही भ्रष्टानगुणयुक्त श्रवण लगतमें दुर्लभ है, दर्शनमोहका उद्घुस होनेसे यह भ्रष्टान जीवको प्राप्त होना कठिन है, पदार्थ का स्वरूप जान लेनेपर भी और भ्रष्टा ज्ञानेपर भी चारित्र्यमोहकर्मका उद्घुस होनेपर तत्त्वज्ञात्यक्त मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करना बड़ा ही कठिन है, इसलिये वे क्षपक 'तुमको यह दुर्लभ भ्रामण्य-शुनिएनाभी प्राप्त हुआ है अतः इसको तुणके समान जानकर मत त्यागो,'

जीपपातदोषमादात्म्य भाषाप्रयेन कथयति—

तल्लोकजीविदादो वरेहि एक्कदरमत्ति देवेहि ॥

भण्णदो को तल्लोकां वरिस्स संजीविदं मुच्चा ॥७८२॥

वैश्वैरं कं घृणीप्य त्वं त्रैलोक्यजीपितन्ययोः ॥

इत्युक्तो जीवितं मुपचया त्रैलोक्यं घृणुतेऽत्र कः ॥ ८१३ ॥

विजयोक्त्या—त्रैलोक्यजीपितयोरं गृहाणेति देवैर्भोदितः कलेलोक्थं दूषति । जीपस्य जीवितं स्पृकत्वा, जीपमेव प्रदीप्तं याचति । परमादेव त्रैलोक्यस्य मूल्यं जीवितं सर्वपापिनस्तस्मात्त्रैलोक्यजीवितघातो जीपस्य जीवादेश्चामृते जीपस्येव पञ्चममर्थकमिति चोक्त, उत्तरेण सभावात् । जीपस्य हंतुल्लोक्ययावत्समो मत्तान्दोषो भवतीति यावन् ॥

जीपयतिसे उत्तरच ह्रस्व दोष का महत्त्व आचार्य दो भाषाओंसे दित्वाते हैं

अर्थ—त्रैलोक्य और जीवित इन दोनोंमेंसे तुम कोई एक ग्रहण कर सकते हो ऐसा देवोंके द्वारा कहा-जानेपर मनुष्य जीवन की ही लेगा, क्योंकि यह जीवन त्रैलोक्यकी कीमतका है, अर्थात् संपूर्ण जीवोंका जीवन त्रैलोक्यके बराबरीका है, इस वास्ते जीवका घात करना विलोकका घात करनेके समान है, तात्पर्य—जीवघात करना यह महान् दोष है,

जं एवं तेलोक्तं णमघदि सच्चस्स जीविदं तस्मा ॥
 जीविदधादो जीवस्स होदि तेलोक्कधावसमो ॥ ७८३ ॥
 त्रैलोक्येन यतो मृत्युं जीवितव्यस्य जायते ॥
 जीवजिवितधातोऽतत्रैलोक्यहननोपमः ॥ ८१४ ॥
 प्राप्य दुर्लभसंतत्या आमण्यं सुखसाधकम् ॥
 एकग्रमानसो रक्ष निधानमिव सर्वदा ॥ ८१५ ॥
 अर्थ—संपूर्ण जीवित कर्णोक्तं त्रैलोक्यके क्षीयतकी वरावरीका है अतः जीवकं जीवितका धातु
 करना त्रैलोक्यपातके समान है.

अहिंसाव्रतमहस्ता निवेदयति—

णत्थि अणूदो अपं आयासावो अणूणयं णत्थि ॥
 जह तह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥ ७८४ ॥
 अल्पं यथायुतो नास्ति महदाकाशतो यथा ॥
 अहिंसाव्रततो नास्ति तथा परमुच्चतम् ॥ ८१६ ॥
 पितृयोदया—णत्थि अणूदो अपं आयासावो अणूणयं णत्थि । आकाशादत्र
 अन्यन्महदास्ति यथा तथात्यङ्गत्वं अहिंसातो महदास्ति ॥
 अर्थ—इत जगतमें अणु से छोटी दूसरी वस्तु नहीं है और आकाशसे भी बड़ी कोई चीज नहीं है इसी
 प्रकार अहिंसा जगत्से दूसरा कोई बड़ा व्रत नहीं है.

जह पव्वदेसु मेरु उव्वायो होइ सच्चल्लोयम्मि ॥
 तह जाणसु उव्वायं सीलेसु वदेसु य अहिंसा ॥ ७८५ ॥

पर्यन्तेषु यथा भेरुद्वयकवर्ती यथा नृषु ॥

जीवरक्षत्रतं सारं सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥ ८१७ ॥

विजयोदया—जह पञ्चदेसु सर्वस्मिन्लोकैः पर्वतेभ्यो भेरुद्वयोद्येस्ताथा अहिंसा शीलेषु व्रतेषु च उन्नततमेति जानीहि । प्रताना, शीलानां, गुणानां च अधिष्ठानमहिंसेति वदति ॥

अर्थ—जैसे सगे लगतमें भूमिमें भेरुपर्वत बड़ा है वैसे यह अहिंसा व्रत संपूर्ण शील और समस्त व्रतोंमें बड़ा है.

सन्धो वि जहायासे लोगो भूमीए सन्धवीउदधी ॥

तह जाण अहिंसाए वदगुणसीलाणि तिष्ठन्ति ॥ ७८६ ॥

ययाडकासो स्थितो लोको वरण्यां द्वीपसागराः ॥

सर्वव्रतानि तिष्ठन्ति जीवन्मानवते तथा ॥ ८१८ ॥

विजयोदया—यथा सर्वलोक उत्पन्नांधस्तिर्यग्विपकल्प आकाशाधिकरणः । भूमौ च स्थिता. सर्वे द्रोया उव धपय्य । तदैव जाण जानीहि । मतगुणशीलाण्यहिसायां तिष्ठन्ति इति ॥

यह अहिंसा व्रत, गुण और शील सर्वोको आधार है ऐसा कथन—

अर्थ—उर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्य लोक ऐसे लोकके तीन भेद हैं परंतु यह लोक भी आकाशमें है. अर्थात् त्रैलोक्यका आधार आकाश है इस भूतलमें संपूर्ण द्वीप और समुद्र आधेय होकर रहे हैं. वैसे व्रत गुण, और शील ये सब अहिंसाके आश्रयसे रहते हैं.

कुर्वन्तस्स वि जत्तं तुवेण विणा ण ठंति जह अस्या ॥

अरएहिं विणा य जहा णट्ठं णेमी दु चकस्स ॥ ७८७ ॥

यथा तिष्ठन्ति चक्रस्य न तुंवेन विनारकाः ॥

एतैर्विना न तिष्ठन्ति यथा चक्रस्य नेमयः ॥ ८१९ ॥

विजयोदया—कुर्वन्तस्त वि जयन् यत्नं कुर्वन्तोऽपि । पिंडीमंतरेण यथा न तिष्ठन्त्यपि । ज्वरैर्विना नेम्यच-
स्थानं चकस्य यथा नास्ति ॥

तद् जगण अहिंसाए विणा ण सीलाणि ठंति सच्चाणि ॥

तिस्सेव रक्खणहुं सीलाणि वदीव सस्सत्त ॥ ७८८ ॥

तथा शीलानि तिष्ठन्ति न विना जीवरक्षया ॥

तस्योः शीलानि रक्षार्थं सस्यादीनां यथा द्युतिः ॥ ८२० ॥

विजयोदया—तद् जगण तथैव आनीहि । अहिंसां विना सर्वाणि शीलानि न तिष्ठन्ति । अहिंसाया एव रक्षायां
शीलानि दृष्टिरिय सस्यत्त ॥

अर्थ—कितनाभी प्रयत्न करो तुम्हीके विना चक्रके आरे नहीं रह सकते हैं, वैसे अहिंसाके विना सर्व
शीलोंका पालन करनेका कितना भी प्रयत्न करो उनका पालन नहीं किया जायगा, अर्थात् अहिंसाके बिना शी-
लही स्थिति नहीं है, जैसे घाम्यके रक्षणार्थं गाछ लगाते हैं तथा अहिंसाके रक्षार्थंही शीलव्रत हैं, कितना भी प्रयत्न
करो आरे न हमें वो नेमीकी स्थिति नहीं होती है वैसे अहिंसाके विना शील नहीं टिक सकते हैं.

अहिंसाप्रतर्नंतरेणैव नेम्यमाशु—

सीलं वदं गुणो वा गाणं गिस्संगदा सुहृच्चाओ ॥

जीवे हिंसन्तस्स ह्यु सव्वे वि गिरत्थया हंति ॥ ७८९ ॥

व्रतं शीलं तपो दानं नैर्मन्थ्यं नियमो गुणः ॥

सर्वे निरर्थकाः सन्ति कुर्वन्तो जीवहिंसनम् ॥ ८२१ ॥

विजयोदया—शीलदीनि हि संवरविजयं चोदित्यनुष्ठीयन्ते । हिंसायां तु सत्त्वां न स्ताः फलभूते संवरनिजरे
मुक्कयुपायभूते इति निष्कलता मन्यन्ते ॥

अहिंसाके विना इव व्रतोंको निष्कलता प्राप्त होती है ऐसा कथन—

अर्थ—शील, व्रत, गुण, ज्ञान, विष्णुब्रह्मा, और विषयसुखा त्याग ये सर्व आचार जीवहिंसा

कानेवालेके विप्ल हो जाते हैं. झीलादिक आचार कम्की निर्जरा, और संवरके उंदरसे किये खाते हैं परंतु हिंसा करनेसे मुर्ताके उपायभूत संवर और निर्जरा न्यर्थ होते हैं.

सव्वेसिमासमाणं हिवयं गब्भो व सव्वसत्थाणं ॥

सव्वेसिं वदगुणणं पिण्ढो सारो अहिंसा नु ॥ ७९० ॥

आश्रमाणां मतोर गर्भः शास्त्राणां हृदयं परम् ॥

पिण्डं नियमशस्त्रिणानां समतानामहिंसनम् ॥ ८२२ ॥

विजयोदया—सव्वेसिमासमाणं संयोगमाश्रमाणां हृदयं । शास्त्राणां गर्भः । सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्ड-

मूलः सारो भवत्यहिंसा ॥

अर्थ—यह अहिंसा सर्व आश्रमोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, और सर्व व्रतोंका निचोटा हुआ

सार है.

जगहा असच्चवयणादिपुहिं दुक्खं परत्त होदिसि ॥

तप्परिहारो तस्मा सव्वे वि गुणा अहिंसाए ॥ ७९१ ॥

अस्तुतुताविपिर्दुःखं जीवानां जायते यतः ॥

परिहारस्ततस्तेषां अहिंसाया गुणोडबिलः ॥ ८२३ ॥

विजयोदया—जगहा असच्चवयणादिपुहिं यस्मादसत्यवचनेन, अदत्तादनेन, मेषुलेन, परित्येहेण च परस्य दुःखं भवति । तस्मात्तेषां असत्यवचनादीनां परिहार इति सर्वेषि अहिंसाया गुणतः ॥

अर्थ—अस्तुतुता विलनेसे, न दी हुई वस्तु लेनेसे, मेषुनसे और परिग्रहसे परको दुःख उत्पन्न होता है. परंतु अहिंसाके पालनेसे इन सब दोषोंका त्याग होता है. अतः सत्यवचनादिक अहिंसाके ही गुण हैं ऐसा समझना चाहिये.

गोत्रमणिस्त्रिवधमेत्तिणियति जडि हवे परमधम्मो ॥

परमो धम्मो किं सो ण होइ जा सव्वभूदया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीब्राह्मणवालानां धर्मा ययस्त्वहिंसनम् ॥

न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया क्रयम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया—जोयमभित्तिउग्रमेत्तिणियति गवा, ग्राह्यगना, खोगा च वयमावनिगुत्तिर्यदि भजेदुत्तुष्टो धर्म परमो धर्म न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ—गोहत्या, ब्राह्मणहत्या, स्त्रीग्रह इनसे निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा

विस्तानिघुत्ति उपयेण काट्यति कृतापकारत्तवि सधयात्थेद्वान् मार्पियुमीहले जन । तत्परेयामसकृज न्मान्तरे पितुगदिमपमुपासताना अत्त ' मात्समयुक्त इति पदति—

सब्धे वि य संबंधा पत्ता सन्धेण सब्धजीवेहि ॥

तो भारतो जीवो संबंधी केव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्धः सर्वे समं प्राप्ता संबंधा जंतुभिर्यतः ॥

संबंधिनो निहन्यते ततस्ताश्चिन्ना भुवम् ॥ ८२५ ॥

चित्तयोदया—सन्धे वि य सर्वेऽपि च । सग्धः सबधा प्राप्ता । सब्धेण सर्वेण जीवेन । खग्धनीयेहि सर्वजीवे । तो तत्मात् । जीवो मात्तोपत सवधित एव यातयति ॥

उपायसे हिंसाका निषेध लोकर करते हैं अपने संबंधीको क्षपसाध क्रिये होगे तो भी उनको मारते नहीं, तो अनेक पूर्ण जन्मोंमें जो पिता, पुत्र इत्यादिक संबंध की प्राप्ति हुए होगे ऐसे प्राणिजोंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण—

अर्थ—सर्व जन्मोंका सर्व जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संबंध अनेक भवोंमें हुआ है, इसलिये मारनेके लिये उलूक हुआ भगुण अपने संबंधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये जगतमें संबंधि-ओंका घात करना अतिशय निंद्य माना जाता है.

गोवंमणित्विवधमेच्छिण्यति. जदि हवे परमधम्मो ॥

परमो धम्मो किह सो ण होइ जा सब्बभूदया ॥ ७९२ ॥

गोस्त्रीद्रास्त्राणयालानां धर्मो यद्यस्त्यहिसनम् ॥

न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया रुधम् ॥ ८२४ ॥

विजयोदया--गोवंमणिच्छिन्नयन्त्रेण विजयति गवा, द्राक्षयाणा, स्त्रीणां च वचमाननिष्ठित्तिर्हदि भजेदुःकष्टो धर्म परमो धर्म कये न भवति या सर्वजीवदया ॥

अर्थ--गोदृष्ट्या, द्राक्षणादृष्ट्या, स्त्रीमध इत्येव निवृत्त होना यदि, उत्कृष्ट धर्म समझा जाता है तो सर्व जीवोंपर दया करना यह उत्कृष्ट धर्म क्यों नहीं माना जायगा.

हिंसानिर्वृत्ति उपायेन काव्यति कृतपादभारानपि नाथयान्स्वेहान् मातयितुमीहते जत. । तत्परं नाम सच्छिज्ज-
ग्रान्तरे पितृपुत्रादिभयमुपागतानां अंग ! मारपापमुक्तं इति धरति--

सज्जे वि य संयथा पत्ता सब्बेण सब्बजीवेहिं ॥

तो मारंतो जीवो संबंधी चेव मारेइ ॥ ७९३ ॥

सर्वे सर्वे समं प्राप्ता संयथा जंतुभिर्यतः ॥

संयंघिनो निहर्ग्यते ततस्तान्निव्रता धुवम् ॥ ८२६ ॥

विजयोदया--सर्वे वि ॥ सर्वेऽपि च । संयथा सब्बथा प्राप्ता । सब्बेण सर्वेण जीवेन । सख्यजीवेहिं संयंघीदे ।
तो तस्मात् । जीवो मारणोपगतः संयंघिन एव घातयति ॥

उपायसे दिसासा निषेध लोक करते हैं. अपने वंधुओंने अपराध किये होंगे तो भी उनको मारते नहीं. तो अनेक पूर्ण दन्तमें जो पिता, पुत्र इत्यादिक संयंघ तो प्राप्त हुए होंगे ऐसे प्राणिजोंको मारना क्या योग्य है ? नहीं इसका स्पष्टीकरण--

अर्थ--सर्व जीवोंका सब जीवोंके साथ पिता, पुत्र, माता इत्यादि रूप संयंघ अनेक भवोंमें हुआ है. इसलिये मारनेके लिये उद्युक्त हुआ मनुष्य अपने संबंधीको ही मारता है ऐसा समझना चाहिये. जगतमें संयंघि-
जोंका घात करना अविद्य निघ माना जाता है.

तच्च संबंधहन्तं लोके अतिनिर्दिष्टं ।

जीववहो अपवहो जीवव्या होइ अप्यणो हु दया ॥

विसकंटओन्व हिंसा परिहरियन्वा तदो होदि ॥ ७१४ ॥

आत्मघातोऽद्विनां घातो दया तस्यात्मनो दया ॥

विपकांड इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ॥ ८१६ ॥

विजयोदया—जीववहो अपवहो जीवानां घात आत्मघात ॥ जीवानां क्रियमाणा दया आत्मन एव कृता भवति । मरुतेष्वजीवघातनोदयतः स्वयमेतेकेषु जन्मसु भावेति । इत्येकजीववहोऽपि स्वयमेतेकेषु जन्मसु परे रक्ष्यते । इति विपलिसकंटकपत्र परिह्वार्यो हिंसा दुःखभीरुणा ॥

अर्थ—प्राणिओंका नाश करना यह अपना ही नाश करना है और प्राणिओंपर दया करना ही अपने ऊपर दया करना है, जो एकजन्ममें प्राणीका घात करता है वह अनेक जन्मोंमें मारा जाता है, और जिसने एकबार भी प्राणीके ऊपर दया की है वह अनेक जन्मोंमें इतर प्राणिओंसे रक्षा जाता है, ऐसा विचार कर विपसे लिप्त हुए हंटरमें जैसे लोक दूर होते हैं वैसे दुःखभीक मनुष्यको इस हिंसासे दूर रहना चाहिये.

हिंसादोषनिर्णय जन्मनि दर्शयति--

भारणसीलो कुणदि हु जीवाणं रक्खवसुन्व उव्वेगं ॥

संबंधिणो वि ण य विस्तंभं मरित्तए जंति ॥ ७१५ ॥

उद्धेगं कुरुने हिंखो जीवानां राक्षसो यथा ॥

संबंधिनोऽपि नो तस्य विख्यासं जातु कुर्वते ॥ ८१७ ॥

विजयोदया—भारणसीलो हु भारणसील पट्टनभोदन् । राक्षस इव जीवानामुद्धेगे ऋतेति । संबंधिनोऽपि न विखसं उपयान्ति तस्मिन्प्रपके ॥

इसही जन्ममें हिंसासे दानि होती है इसका विवेचन करते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य दुसरेको मारनेमें उद्युक्त होता है वह राक्षसके समान प्राणिओंको मय उत्पन्न करता है, उसके संबंधि मनुष्य भी उसके ऊपर विद्यास नहीं रखते हैं.

वधबंधरोधघणहरणजादणाओ य वेरमिह चेव ॥

णिळ्विसयमभोजितं जीवे मारंतगो लभदि ॥ ७९६ ॥

इह वंधं वंधं रोधं रोधं यातनां देशघाटनम् ॥

हिंस्यो वरैरमभोग्मत्वं लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—यधं मारणं, वंधं बंधनं, रोधं अस्त्रोदकादिक रोधनं, घनहरणं, रिजयोहालनं । यातनात्त्व वधर्पणानि । धैर विरयादाटनं अभोज्यतां च रोपाशालनादिहन्नात् । मारंतगो हंता । लभदि लभते ॥

अर्थ—जो आशालनादिको वध करता है वह मारना, बांधना, रोकना, धन हरण करना, और अनेक प्रकारसे पीडा देना, बंधन करना, देशसे निकालना, क्षातिसे च्युत करना, इत्यादिक दुःखोंको प्राप्त होता है,

कुक्षो परं वधिचा सयंपि कालेन मारदुज्जते ॥

हृदघादयाण गत्यि विसंसो मुत्तूण तं कालं ॥ ७९७ ॥

यतो कष्टः परं हत्वा कालेन त्रियते स्वयम् ॥

हृतदंत्रोसन्तो नास्ति विशेषस्तं क्षणं विना ॥ ८२९ ॥

विजयोदया—कुक्षो परं वधिचा कुक्षु-सन्परं अयं वधित्वा । स्वयमपि गच्छता कालेन धियते । हृतचातक-पोतर्हिस्ति विशेषः । मुत्तूण तं कालं मुत्तया तं कालं । पूर्वमसौ मृतः पश्चात्स्वयमिति ॥

अर्थ—कुक्षु शोकर जो अनुप्य दुसरोको मारता है वह भी कुछ काल बीतनेके अनंतर मरणको प्राप्त होता है, इस वास्ते इत और घातकमें कुछ फरक नहीं है, हाँ फक्त कालका ही अंतर रहता है,

अपासगरोमिदयविरूद्धाविगल्दा अवलदा य ॥

दुम्भेहवण्णरसंगंधदाय से होइ परलोए ॥ ७९८ ॥

अल्पायुर्दुर्वलो रोमी विरूपो विकलेन्द्रिय ॥

दुष्टगंधरसस्पर्शो जायतेऽमुच हिंसकः ॥ ८३० ॥

चित्तयोदया - व्यापकगोचिद्व्यापिकवद्विगलना नवछदा ॥ यत्पञ्चवित्तरेणितविरूपता, विकलैत्रियता
 दुर्वेद्यता । दुर्मेघवर्णरसगंधद्वयं यं दुर्मेघता, दुर्वर्णता, दूरसदुगंधता च । से तस्य । होदि मयति । परलोप जन्मान्तरे ।
 अर्थ—हिंसा करनेवाला मनुष्य परजन्ममें ब्रह्माश्रयी, रोगी, कुरूप, विकलैद्रिय अर्थात् अंध, बहिरा,
 गूंगा, दुर्बल, मूल, अशुभचर्च, रस गंधबाला, होता है।

मारोदि एयमवि जो जीवं सो बहुसु जन्मकोडीसु ॥

अवसो मारिजंतो मरदि विघाणेहि बहुपुहि ॥ ७९९ ॥

एकोऽपि हन्यते येन शरीरी भवकोटिषु ॥

त्रियते मार्यमाणोऽङ्गी विघानैर्विविधैरसौ ॥ ८३१ ॥

विजयोदया - मारोदि हंति । परमवि एकमपि । जो जीवं यो जीवं । सो सः । बहुसु जन्मकोडीसु यकीसु
 जन्मकोटिषु । अवसो मरदि मारिजंतो अवसो मार्यमाणो त्रियते । विघाणेहि बहुपुहि बहुभिः प्रकारैर्मर्यमाणः ॥

अर्थ—जो मनुष्य एक प्राणीको भी मारता है वह अनेक कोट्यवधि जन्मोंमें अवश अर्थात् परतंत्र हो-
 कर नाना प्रकारसे मारा जाकर मरणको प्राप्त होता है।

जावह्याइं दुस्खाइं होति लोचमि चदुगदिगदाइं ॥

सब्बाणि तानि हिंसाफलाणि जीवस्स जाणाहि ॥ ८०० ॥

दुर्गतो यानि दुःखानि दुःसहानि शरीरिणाम् ॥

हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः ॥ ८३२ ॥

चित्तयोदया - जावह्याइं यावन्ति । दुस्खाइं दुःखानि । हुंति भवन्ति । चंदुगदिगदाइं गतिचतुष्टयगतानि ।
 सब्बाणि तानि हिंसाफलाणि सर्वाणि तानि हिंसाफलानि । जीवस्स जाणाहि जीवस्येति जानीहि ॥

अर्थ—इस जगत्में जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं वे सर्व हिंसाके ही फल हैं ऐसा
 समझना चाहिये।

का हिंसा नाम यस्या इमे क्षोषा निरुह्यन्ते इत्याचष्टे—

हिंसादो अविमर्णं बहुपरिणामो य होइ हिंसा हु ॥

तद्गहा धमत्तजोगे पाणव्ववरोवओ णिच्चं ॥ ८०१ ॥

हिंसातोऽविरतिहिंसा यदि वा वयचित्तनम् ॥

यतःधमत्ततायोगस्ततःप्राणवियोजकः ॥ ८३३ ॥

पित्रयोदया—हिंसान्तरे अविमर्ण हिंसातोऽविरतिहिंसेति संवधनीयं । प्राणान् प्राणिनो व्यपरोपचामीति संकल्पकर्तृत्वं हिंसा इत्यर्थः । वधपरिणामो वा इवमीति एवं परिणामो वा हिंसा । नष्टा हस्मात् । धमत्तयोगो धमत्तता सन्धः । पाणवधरोवओ प्राणवधनमेवेति । णिच्च मिल्य । कृपाया इत्येवमादय पचववपरिणामा भात्मनो भावः । प्राणानां परस्परं च द्रव्यभाव प्राणानां वियोजक इति हिंसेत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

रत्तो वा दुडो वा मूढो वा जं पयुजदि पओगं ॥

हिंसा वि तत्थ जायदि त्ता सो हिंसगो होइ ॥ ८०२ ॥

पित्रयोदया—रत्तो द्रिष्टो मूढो वा सन्धयोगं प्राप्नोते तस्मिन्निहता जायते । न प्राणिनः प्राणानां वियोजन-
मात्रेण आत्मनि दामादीनामनुदुःखादकृ सोऽप्रधोक्ते अहितक इति । यस्याद्रायाद्युत्पत्तिरेव हिंसा । न हि जीर्वातरगत-
वेदतया अन्यतमप्राणवियोगापेक्षा हिंसा, तद्विमानरुगा वा अहिंसा, किंतु आत्मेयं हिंसा आत्मा कैव्य अहिंसा । मना-
वपरिणत आत्मेय हिंसाः अविमर्त एव च अहिंसा । उक्तं च—

अत्ता चैव अहिंसा अत्ता हिंसचि णिच्छओ समये ॥

जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो ॥ ८०३ ॥

जीवपरिणामवशो बंधो जीवो मृतियुक्ते नोपेयाक्ता । तथा चाप्याणि—

अज्झवसिद्धो य बद्धो सत्तो दु मरेज्ज णो मरिज्जेत्य ॥

एसो वंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ ८०४ ॥

जीवास्तादीयानि शरीराणि शरीरग्रहणस्थान्कोनिसंखितं (?) यरावगो वेत्ति तत्संभवकालं तत्पीडापरि-
हारेऽदुःखरुत्तप विषयां दाम्यस्तत्कारणनैष्य प्रवृत्तौ भवत्यहितकः । उक्तं च—

पाणी कम्परस खयत्यमुठ्ठियो णोठ्ठियो य हिंसाए ॥

अद्वि असढो हि यत्थं अप्पमत्तो अवघगो सो ॥ ८०५ ॥

नुमपरिणामसमन्वितस्याव्याप्तनः स्वधारीरतिमिचितान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण वंचः स्वाद्य कस्यचिन्मुक्तिः स्यात् । योगिनामपि चायुष्काविरुचधनिमित्तवंचसद्भावात् । अत्रापि च—

जदि सुद्धस्स य वंधो होहिदि बाहिरगत्वथुजोगेण ॥

णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवघहेदु ॥ ८०६ ॥

तस्मात्प्रिच्छयनवाधयेय प्राणवंचरप्राणवियोगावेशा हिंसा ॥

जित्तेके दोष आप फहेत्ते हैं उस हिंसाका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हिंसासे निरक्त न होना अथवा हिंसा करनेके परिणाम होना अर्थात् मैं प्राणिके प्राणोंका घात करना ऐसा निषाद रचना हिंसा है, प्रमत्तयोग प्राणों का नाश करता है, विकथा, कषाय वगैरे पंचरा प्रकारके परिणामों को प्रमाद कहते हैं, इस प्रमादसे युक्त हुए प्राणीको प्रमत्त कहते हैं, ऐसे प्रमत्तका जो योग अर्थात् मनवचन और शरीरका व्यापार उसको प्रमत्तयोग कहते हैं, इस प्रमत्तयोगसे अपने भावप्राणोंका और दूसरों के द्रव्य प्राण, और मान प्राणोंका नाश होता है, इसलिये प्रमत्त योगको हिंसा कहते हैं,

अन्य आगमग्रंथमें हिंसाके विषयमें ऐसा लिखा है—

रागी, द्वेषी अथवा मूढ बनकर आत्मा जो कार्य करता है उससे हिंसा होती है, प्राणिके प्राणोंका वियोग तो हुआ परंतु रागादिक विकारोंसे आत्मा यदि उस समय मलिन नहीं हुआ है तो उससे हिंसा नहीं हुई है ऐसा समझना चाहिये, वह अहिंसक ही रहा ऐसा समझना चाहिये, अन्य जीवके प्राणोंका वियोग होनेसेही हिंसा होती है ऐसा नहीं अथवा उनके प्राणोंका नाश न होनेसे अहिंसा होती है ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, परंतु आत्माही हिंसा है और वही अहिंसा है ऐसा मानना चाहिये, अर्थात् प्रमाद परिणतआत्मा ही स्वयं हिंसा है और अप्रमत्त आत्माही अहिंसा है, आगममें भी ऐसा कहा है—

आत्मा ही हिंसा है और आत्माही अहिंसा है ऐसा बिनागममें निधाय किया है, अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद रहित आत्मा को अहिंसक कहते हैं, और प्रमादरहित आत्माको हिंसक कहते हैं, जीवके परिणामोंके अधीन वंच

होता है, जीव भरण करो अथवा न करो परिणामके वक्ष हुआ आत्मा कर्मसे बद्ध होता है ऐसा निश्चय नयसे जीवके वक्षका संक्षेप से स्वरूप कहा है.

जीव, उसके शरीर, शरीरकी उत्पत्ति विषयमें होती है ऐसी योनि इनके स्वरूप ज्ञान कर और उसके उत्पत्तिका फल ज्ञानकर पीढाका पहिहार करनेवाला और लाभ, सत्कारादिकी अपेक्षा न करके तप करनेवाला जीव अहिंसक माना जाता है. लाभमें इस विषयमें ऐसा विवेचन है—

शरीर पुरुष ऊर्मक्षय करनेके लिये उद्युक्त होते हैं वे हिंसाके लिये उद्युक्त नहीं होते हैं. उनके मनमें शठ भाव-माया नहीं रहती हैं और वे अप्रमत्त रहते हैं इसलिये वे अवधक-अहिंसक माने गये हैं.

विषयके शुनपरिणाम हैं ऐसे आत्मके शरीरसे यदि अन्य प्राणि के प्राणका वियोग हुआ और वियोग होने मात्रसे यदि पंच होगा तो किसी को भी मोक्षकी प्राप्ति न होगी. क्योंकि योगियोंको भी वायुकायिक जीवोंके वक्षके निमित्तसे कर्मबंध होता है ऐसा मानना पड़ेगा. इस विषयमें शास्त्रमें ऐसा लिखा है—

यदि रागद्वेषरहित आत्माको भी बाह्यवस्तुके संवक्षसे पंच होगा तो जगतमें कोई भी अहिंसक नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा अर्थात् शुद्ध मुनिको भी वायुकायिक जीवके वक्षके लिये हेतु समझना होगा. इसलिये निश्चय-नयके आश्रयसे हमारे प्राणीके प्राणका वियोग होनेपर भी अहिंसामें बाधा आती नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

गणिक्रियनेदानकरूपमिति -

पादोसिय अधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए ॥

एदे पंचपओगा किरियाओ होति हिंसाओ ॥ ८०७ ॥

द्वैपिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी ॥

क्रियाधिकरणी चेति पंच हिंसायसाविकाः ॥ ८३४ ॥

द्विजयोद्या - पादोसियाधिकरणिय कायिय परिदावणादिवादाए पादोसिय शब्देनेष्टद्वारविचष्टरणाविनिमित्तः कोपः प्रदेय इत्युच्यते । प्रदेय एव प्रदेयिको यथा पितृय एव वैभयिकमिति । हिंसाया उषकरणमधिकरणमित्युच्यते । हिंसोपकरणानुप्रियस आधिकरणिकी क्रिया । दुष्टस्य सतः कोयेन वा चलनक्रिया कायिकी । पारितापो दुःखं दुःखो-

गतिनिमित्त किया पारितोषिकी किया । आयुर्विद्विजलप्राणानां वियोगकारिणी प्राणविषादिकी किया । एदे पंच प-
योमा पंच पंच योगाः । हिसाकितियाशो हिसासंबंधित्यः कियाः ॥

हिमामंघ्रि क्रियाओंका वर्णन—

अर्थ—द्वेषते किया करना, अर्थात् इष्ट स्त्री व धनदिक पदार्थका किसीके द्वारा हरण किया जानेसे जो क्रोध उत्पन्न होता है उसको मन्त्रेप कहते हैं । हिसाके उपकरणोंको ग्रहण करना, अधिकरण क्रिया कहते हैं । इष्ट होकर शरीरके द्वारा चलन होना कायिकी किया है । परिताप-दुःख-दुःखोत्पत्तिके लिये जो क्रिया की जाती है उसको पारितोषिकी किया कहते हैं । आयु, इंद्रिय, बल और प्राण इनका धात करनेवाली क्रियाको प्राणा विषादिकी किया कहते हैं । ऐसे पांच प्रकारके उपयोगोंको हिसा किया कहते हैं ।

तिहिं चटुहिं पंचाहिं वा कमेण हिंसा समप्यदि हु ताहिं ॥

अंधो वि सया सतिसो जइ सरिसो काहयपदोसो ॥ ७०८ ॥

हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च पंचभिः साधयन्ति ताः ॥

किया पंचाः समागेन द्वैषिकी कायिकी किये ॥ ८३६ ॥

विजयोपचा—तिहिं चटुहिं पंचाहिं वा त्रिभिर्मनोवाक्यैः, चतुर्भिः कोचमानमणालोभैः, पंचभिः स्वशोभादि-
भिर्निद्रिषैर्वा । कमेण हिंसा समप्यदि गु क्रमेण हिंसा समाप्तिमुपैति । ताभिर्मनसा प्रवेष्टो ययसा द्विषोऽहमीति पयने
वादेरा, कावेन मुतदिवर्णार्थिकरणे कायदेरा । मनसा द्विषोपहरणादाने, वाचा दाने उपयुक्तमीति हस्तादिताडने इति
अधिकरणमपि त्रिविधे । मनसा उत्सृष्टानीति चित्त, पयस्ता उत्सृष्टाभि इति, हंतुं वादस्तुमिति उत्कि । कायेन चटने
कायिकी । मनसा दुःखमुत्पादयामीति चित्त दुःखं मयनः कटोभि इति उत्किचांचा पारितोषिकी क्रिया, हस्तादिताडनेन
गु गोत्याहनं कायेन पारितोषिकी किया । प्राणान्द्रियोऽप्यासीति चित्ता मनसा प्राणालिपतः, हन्मीति वचः वाक्प्राणा-
निपातः । कायव्यापारः कायिकप्राणातिपातः । क्रोधनिमित्ता कर्मविदधीति, माननिमित्ता, मायानिमित्ता, लोभनिमित्ता,
वैषादित्ता दानप्रदं क्रोधादिनिमित्ता पापपरितरेकं । क्रोधादिनिमित्ता परस्तितापकरणं, प्राणालिपतरो घट क्रोधनि-
मपति । स्वशोभार्थदिद्रपनिमित्तो वा प्रदेक, इंद्रियमुपार्थ वा कलपहुप्रसूनादिद्रननिमित्तसाधनोपादाने, तत्सु-
साधनेच विपयव्यासत्तिभिर्प्रदायकतः कायपरितरेकः । परसा वा वाटाडिभनमत्कृतदिना संतापकरणं, मांसाद्यथ
वा प्राणिमाणवियोऽनेनिति । किमेताभिर्हिंसाभिः संपातः कर्मपंचः समान उत न्यूनाधिसमाचो पंचश्रेत्याशोकायानाद्यथे

बंधोऽपि कर्मबंधोऽपि विना सूरितो स्यात्सदृशः । कथं ? उदि सूरितो यदि सदृशः ! कायिकपुत्रोऽतो कायिकी क्रिया ग्रहे पञ्च यदि नमः सदाकलनामानाश्रयस्यापि वंध्यस्य सादृश्यं, अन्यथा न सदृशता ! तीव्रमध्यमरूपाः परिणामाः तीर्णं, मध्यं, मंदं च बंधमाणाद्व्यन्ति । इति भावः ॥

अर्थ—मन, वचन और शरीर ऐसे तीन योग क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय .और स्पर्श-नादिक पांच इंद्रियां इनके द्वारा क्रममे हिंसा समाप्त होती है. मनसे द्वेष करना, मैं द्वेषयुक्त हुआ हूं ऐसा वचनसे कहना यह वादेप है शरीरके द्वारा द्वेष करना अर्थात् मुल लाल होना, मोहें धक्का होना वगैरह कायेद्वय है.

मनके द्वारा हिंसाके उपकरण लेना, मैं शस्त्रग्रहण करता हूं ऐसा बोलना, हाथ पांव इत्यादिकसे डोकना. ऐसे अधिकरणके तीन भेद हैं. मनसे ऊठने का विचार करना, वचनसे मैं ठोकूंगा, ताडन करूंगा ऐसा बोलना, शरीरसे हिलना फिरना, यह सब कायिकी क्रिया है. मैं दुःख उत्पन्न करूंगा ऐसा मनसे विचार करना, मैं तुमको दुःखित करूंगा ऐसे वचनमे बोलना, हस्तादिकोसे ताडन करना यह कायिकी क्रिया है. प्राणोंसे मैं प्राणीको अलग करूंगा ऐसा विचार करना, मैं मारूंगा ऐसा मुलसे बोलना वाक्प्रणानिपात है. शरीरसे मारनेकी क्रिया करना कायिकप्राणातिपात है. ये पांच क्रियायें कोई पुत्र क्रोधसे, कोई मावसे, मायासे और लोभसे करते हैं.

क्रोधादिकसे शस्त्र ग्रहण करना क्रोधादि निमित्त कायपरिस्पंद कदा जाता है. क्रोधादिकसे दूसरों को मंवाप उत्पन्न करना, क्रोधादिकमे प्राणव्रप करना, स्पंदनादि इंद्रियोंके निमित्तसे भी द्वेष उत्पन्न होता है. इंद्रियसुलके लिये फल, कोमल कोपल, पुष्प वगैरहका छेदन करनेका साधन ग्रहण करना, इंद्रियसुलके लिये ही विषयका साक्षिण्य पाकर शरीरकी बहुत हालचाल करना, दूसरोंको याद आलिंगन देना, वस्त्रोंसे श्रुत करना, मांसादिकोंके लिये प्राणिजोंको प्राणसे वियुक्त करना ये सब हिंसा क्रियायें हैं.

इस हिंसाक्रियासे उत्पन्न होनेवाला कर्मबंध समान होता है अथवा कम जादा होता है. इस शंका का उत्तर आचार्य ऐसा देते हैं—

कर्म बंध कथंचित् समान होता है. अर्थात् शरीरके द्वारा होनेवाली क्रिया और श्रदेप यदि समान होगा तो उससे कर्मबंध भी समान होगा अन्यथा नहीं. कारणोंमे सामान्यता यदि होगी तो कार्यमे अर्थात् कर्मबंधमे

नी समानता होगी. और यदि कारणोंमें विशेषता होगी तो कारणोंमें-बंधमें विशेषता होगी ही. जीव, मंद, और मध्यम रूप परिणाम उत्पन्न होनेपर जीव, मंद मध्यम प्रकारका बंध होगा ऐसा अधिप्राण समझना चाहिये.

अधिकरणभेद निरूपयति—

वीस पल तिष्ठिण मोदय पण्णरह पला तहेव चत्तारि ॥

चारह पलिया पंच दु तोसि पि समो हवे बंधो ॥ ८०९ ॥

जीवगदमजीवगदं समासदो होदि दुविहमधिकरणं ॥

अदुत्तरसयमेदं पढमं विदियं चदुब्बेदं ॥ ८१० ॥

जीवाज्जीवाधिकरणेन तन्नाधिकरणं विद्या ॥

ज्ञानमष्टोत्तरं पूर्वं द्वितीयं च तृतीयं च चतुर्विधम् ॥ ८३६ ॥

विजयोदया—जीवगदमजीवगदं इति जीवगत इति जीवप्रायं उच्यते । न हि जीवद्रव्यत्वमात्रमेव हिंसायां उपकरणं भवति । किंतु जीवस्य पर्यायः आत्म्यस्य । हिंसादेर्जीवपरिणामो युक्तोऽभ्यंतरकरणं । अजीवगतः पर्यायः द्रव्यार्थं हि अजीवद्रव्यत्वात्पः सदा सन्निहितकार्यः स्वाकादन्वितकलां कथमिव संप्रत्ययति । एतद्विस्तृतं स्वकारणं सात्प्रियाकदाविदेति । यदा सयं समिहितसहकारिणस्तदेव स्वकार्यं कुर्वन्ति । नाग्यदेति युक्ता पात्राविकृता कार्यस्येति भावः । समासदो त्रिविधमधिकरणं संक्षयतो द्विविधमधिकरणं । अदुत्तरसयमेदं अदुत्तरसयमेदं । पढमे जीवगदमधिकरणं । विदियं द्वितीयं अजीवगतमधिकरणं चतुर्थमेव चतुर्विधम् ॥

अधिकरण भेदोंका निरूपण करते हैं—

अर्थ—प्रादोपिक्र वगैरह हिंसाके पांच भेद ऊपर कहे हैं. प्रत्येकके क्रीच, मान, माया और लोभके आश्रयसे पांच पांच भेद होते हैं. अर्थात् क्रोधादिकके आश्रयसे प्राणादिकके बीस भेद होते हैं. इन्द्रियोंकी अपेक्षामें इन प्रादोपिकादि पांच क्रियाओंके पंचबीस भेद होते हैं. और मन वचन, और शरीर की अपेक्षामें इन क्रियाओंके पंधरा भेद होते हैं. इन सबोंका कर्मबंध समान होता है.

अर्थ—अधिकरणके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ऐसे संक्षयसे दो भेद हैं. जीवाधिकरण के एकसे

आठ भेद हैं और अजीवाधिकरणके चार भेद हैं। जीवाधिकरण अर्थात् केवल जीवद्रव्य आस्रवका आधार नहीं होता है। किंतु पर्यायमदित जीवद्रव्य आस्रवका आधार होता है। जीवके परिणाम हिंसादिकके लिये कारण होते हैं और ये परिणाम अभ्यंतर कारण है। अजीवका पर्यायभी आस्रवका आधार है यदि द्रव्य ही आस्रवका आधार माना जावेगा तो उच्च तो हमेशा ही रहता है अतः उसका आस्रवरूप कार्य हमेशाही रहेगा, उसमें अनित्यता नहीं रहेगी, पर्याय अपने र कारण मिलने पर उत्पन्न होते हैं, जब पर्यायों को महकारि कारणोंका सहाय्य मिलता है तब वे आस्रवारमक कार्य करते हैं अन्यथा करते नहीं। इस लिये कार्यमें कादाचित्कता अर्थात् अनित्यता आती है,

मध्यमस्य भेदादिकपपत्ति—

संरंभसमारंभारंभं जोगेहिं तह कसाएहिं ॥

कदकारिदागुमोदेहिं तहा गुणिदे पढमभेदा ॥ ८११ ॥

विधिना योगकोपादिसंरंभादिकृतादयः ॥

भिदा भवंति पर्वस्य गुण्यमानाः परस्परम् ॥ ८१७ ॥

विशेषोद्घा—संरंभसमारंभारंभयोगेहिं तह कसाएहिं माणव्यपरोपणादो प्रमाद्वतः प्रयत्नः संरंभः । सा प्याया हिंसादिप्रियायाः नाधनानां समाहारः समारंभः । संचित्तिसापुष्करणस्य आधाः प्रक्रम धारंभः । योगशब्देन मनोयाज्ञाद्यत्यागात् उच्यते । एतैः संरंभसमारंभारंभयोगैः । तथा कसाएहिं कपयैः कदकारिदागुमोदेहिं कृतकारिदागुमोदेहिः । तहा गुणिदा तथा गुणिताः । पढमभेदा जीवाधिकरणभेदाः । प्रयत्नपूर्वकत्वाच्चैतनायतो व्यापारस्यादौ संरंभस्य पद्यनं । अनुपायसाध्यस्मिद्धिर्न भवति प्रयत्नवत्तोऽपि तेतः साध्यसमाहरणं । प्रयत्नादन्तरेति समारंभो युक्तः । साध्यं पुनः उपसाधनसंहती सत्यां प्रक्रमते क्रियाप्रिति आरंभः पद्यानुपपत्ताः । स्वातंत्र्यविशिष्टेन आत्मना यत् क्रियते प्रक्रियते तत् ठते । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिगुण्यमिति यत्तकारितं । स्वयं न करोति न च कारयति, किं त्वभ्युपैति यत्तदनुमनं शन्युगमस्तत्र मरमस्तादृच्यते कोधनिमित्तं स्वातंत्र्यस्य हिंसाविषयः प्रयत्नावेलाः क्रोधकृतकायसंरंभः । मानठत कायसंरंभः, मागदत कायसंरंभः, लोभकृत कायसंरंभः । क्रोधकारितकायसंरंभः, मानानुगतकायसंरंभः, मायाकारितकायसंरंभः, लोभकारितकायसंरंभः । क्रोधानुमतकायसंरंभः, मानानुमतकायसंरंभः, मायानुमतकायसंरंभः, लोभानुमतकायसंरंभः । इति ऋषाया मंत्रयः । क्रोधकृतकायसमारंभः, मानकृतकायसमारंभः, मायकृतकायसमारंभः, लोभकृतकायसमारंभः । मोथकारितकायसमारंभः, मानकारितकायसमारंभः । मायाकारितकायसमारंभः, लोभकारितकायसमारंभः

क्रोधानुमतकायसंभारं, मानानुमतकायसंभारं, मायानुमतकायसंभारं, इति द्वावृत्तकायसंभारं । क्रोधकृतकायसंभारं, मानकृतकायसंभारं, मायाकृतकायसंभारं, लोभकृतकायसंभारं । क्रोधकारितकायसंभारं, मानकारितकायसंभारं, मायाकारितकायसंभारं, लोभकारितकायसंभारं । क्रोधानुमतकायसंभारं, मानानुमतकायसंभारं, मायानुमतकायसंभारं, इति द्वावृत्तकायसंभारं । एवं एते संविदिताः कायसंभारः पदत्रिंशत् । एते संविदिता जीवाधिकरणकारणभेदा अष्टोत्तरशतसंख्या भवन्ति ॥

अथ प्रथम जीवाधि करणके भेद कहते हैं.

अर्थ—हिंसा, चोरी वगैरह पापकार्योंमें प्रमादी होकर प्रयत्न करना संभ्रं कहा जाता है. हिंसादिक कार्य कर-
नेके लिये शत्रुदिकोंका संग्रह करना समारंभ कहा जाता है. और संचित किये शत्रुदिकोंसे हिंसादिकार्य करना, शत्रु
करना उसको आरंभ कहते हैं. योग शब्दसे मनोयोग, वचन और काययोगका ग्रहण करना आहिये. संभ्रं, समारंभ
आरंभ, मनोयोग, वचन योग, और काय योग, कृत, कारित और अनुमोदन और कषाय इनके द्वारा हिंसादिक पाप
प्रवृत्तियोंको गुणित करनेपर प्रथम जीवाधिकरणके भेद होते हैं. चैतन्यवान् आत्मा प्रयत्नपूर्वक व्यापार करता है
आत्मा प्रथम संभ्रं है. उपायके बिना साध्य सिद्धि नहीं होती है इस लिये प्रयत्नके अर्थात् उपायोंका-साध-
नोंका संग्रह करना इसको समारंभ कहते हैं. अतः संभ्रंके अनंतर समारंभ कहा गया है. कार्यकी शुरुआत साध-
नोंका संग्रह होनेके अनंतर होती है. इस लिये आरंभका उसके अनंतर उल्लेख किया है.

स्वातंत्र्य विशिष्ट आत्मा जो कार्य करता है वह कृत है, दूसरेके प्रयोगकी अपेक्षासे जो सिद्ध होता है
उसको कारित कहते हैं. जो कार्य स्वयं करता ही नहीं और दूसरेसे कराता नहीं परंतु स्वयं करने वालेको सम्मति
देता है उसको अनुमोदन कहते हैं.

क्रोधिये स्वयं हिंसाकार्यमें प्रयत्न करना उसको क्रोधकृतकाय संभ्रं कहते हैं. मान, माया और लोभसे
स्वयं हिंसा कार्यमें शरीरके द्वारा जो प्रयत्न करना उसको मानकृत काय संभ्रं, मायाकृत काय संभ्रं, और लोभ-
कृत काय संभ्रं ऐसे चार भेद हुए.

क्रोध, मान, माया और लोभके वल्ल होकर हिंसा कार्यमें दूसरोंको शरीरके द्वारा जो प्रवृत्त करना उसको
क्रमसे क्रोधकारित कायसंभ्रं, मानकारित कायसंभ्रं, मायाकारित कायसंभ्रं और लोभकारितकाय संभ्रं ऐसे
चार भेद होते हैं.

क्रोधादिक चारुति हिसादि कायोंमें स्वयं प्रवृत्त हुए मनुष्योंको शरीरके द्वारा जो अनुमति देना उसके भी चार भेद हैं। यथा क्रोधानुभूतकायसंरंभ, मानानुभूतकायसंरंभ, मायानुभूतकायसंरंभ और लोभानुभूतकायसंरंभ ऐसे चार भेद हैं सब मिलकर संरंभके चार भेद हुए।

समारंभके भी चार भेद होते हैं। उनका क्रम—क्रोधकृत कायसमारंभ, मानकृत काय समारंभ मायाकृत काय-समारंभ और लोभ कृत काय समारंभ, क्रोध कारितकायसमारंभ, मानकारितकाय समारंभ मायाकारितकायसमारंभ, और लोभ कारित काय समारंभ, क्रोधानुभूत काय समारंभ, मानानुभूत काय समारंभ, मायानुभूतकायसमारंभ और लोभानुभूत, कायसमारंभ।

धारंभ के भी संरंभ और समारंभ के समान चार भेद होते हैं—

यथा—क्रोधकृतकायारंभ, मानकृत कायारंभ, मायाकृत कायारंभ और लोभकृत कायारंभ, क्रोधकारित कायारंभ, मानकारितकायारंभ, मायाकारित कायारंभ, लोभाकारित कायारंभ मायानुभूत कायारंभ और लोभानुभूत कायारंभ इस प्रकार चारभेदके भी चार भेद होते हैं इस प्रकार कायके आरंभतक छत्तीस भेद होते हैं। इसी प्रकार यचनके छत्तीस और मनके छत्तीस मिलकर एकसौ आठ भेद जीवाणिकरणके होते हैं।

अतीवाधिकरणत्वं चतुरसे भेदानाचष्टे—

संरंभो संकल्पो परिदावकद्वो हवे समारंभो ॥
 आरंभो उद्वयो सव्ववयानं विसुद्धाणं ॥ ८१२ ॥
 निवलेवो निव्वचि तद्वा य संजोयणा निसग्गो य ॥
 कमसो चतु दुग दुग तिय भेदा होतिं हु विदीयस्स ॥ ८१३ ॥
 संरंभोऽकथि संकल्पः समारंभो वित्तापकः ॥
 शुद्धयुद्धिभिरारंभः प्राणानां व्यपरोषकः ॥ ८१८

निर्वर्तना सनिक्षेपा संयोगः सनिसर्गकः ॥

द्विचतुर्द्विभिमेदाः स्युर्द्वितीयस्य यथाक्रमम् ॥ ८३९ ॥

विजयोदया--निषेधो गिच्छति तदा य संजोयणा निसर्गो य निक्षेपश्चतुःप्रकारः । निर्वर्तना द्विप्रकारा । संजोयना द्विप्रकारा । निसर्गोऽपि द्विप्रकारः इति संव्ययते ॥

अर्थे--द्विसादिक क्रमोका विचार करना संकल्प है. प्राणिओंको संताप उत्पन्न करना समारंभ है और आरंभ सर्व निर्मल अवतोंका नाश करनेवाला है.

अर्थे--निक्षेप, निर्वचि, संयोजना और निसर्ग ऐसे अजीबाधिकरणके चार प्रकार हैं. निक्षेपके चार भेद, निर्वर्तनाके चार भेद, संयोगके दो भेद और निसर्गके तीन भेद हैं.

निक्षेपस्य षत्तुरो विकल्पानाचष्टे--

सहस्राणामोगिन्य दुष्यमज्जिद अपञ्चवेकखणिकसेवो ॥

देहो व दुष्यउसो तहोवकरणं च णिञ्चचि ॥ ८१४ ॥

निर्वर्तनोपधिदेहो दुःप्रयुक्तोऽभिधीयते

निक्षेपः सहसादृष्टदुर्दृष्टाप्रत्ययेक्षणौ ॥ ८४० ॥

विजयोदया--सहस्राणामोगिन्य दुष्यमज्जिद अपञ्चवेकखणिकसेवो--सहस्रानि क्षेपाधिकरणं, अनामोगानि क्षेपाधिकरणं, दुःप्रयुष्टनिक्षेपाधिकरणं, लाभस्वेक्षितनिक्षेपाधिकरणं चेति । निक्षिप्यते इति निक्षेपः । उपकरणे पुस्तकादिः शरीरं, शरीरमलानि ता सहस्र ग्रीष्मं निक्षिप्यमाणानि भयात् । कुतश्चित्कार्यांतरकरणयुक्तेन वा स्वस्तिन पदार्थनि-
कायवाधाधिकरणतां प्रतिपद्यते । अस्वयमपि त्वरायां जीवाः सन्ति न संतीति निरूपणामतेरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोप-
करणं अनामोगानि निक्षेपाधिकरणमुच्यते । दुःप्रयुष्टमुपकरणं निक्षिप्यमाणं दुःप्रयुष्टनिक्षेपाधिकरणं
स्याप्यमानाधिकरणं वा दुष्यमुष्टनिक्षेपाधिकरणं । प्रमादोऽनोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति अप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते
तदप्रत्यवेक्षितं निक्षेपाधिकरणं । निर्वर्तनामप्रमाचष्टे--देहो य दुष्यजुचो दुःप्रयुक्तं शरीरं द्विषोपकरणतया निर्वर्त्यते इति
निर्वर्तनाधिकरणं भवति । उपकरणानि च सच्छिद्राणि यानि जीवधामानि भिन्नानि निर्वर्त्यन्ते तान्यपि निर्वर्तनाधिकरणं ।
यस्मिन्सौवीपादिभजने प्रविष्टानि सिक्कन्ते ।

निक्षेपके चार भेदोंका वर्णन--

अर्थ—सहसा निक्षेपाधिकरण, अनाभोग निक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण और अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ऐसे निक्षेपाधिकरणके चार भेद हैं

महसानिक्षेपाधिकरण—पिछी, कमठछ उगैरह उपकरण, पुस्तकादिक शरीर और शरीरका मल इनको भयसे महसा जलदी फेर देना, रखना किसी कार्यमें उत्तर होनेसे अथवा तरासे पिछी कमठछादिक पदार्थ जब जमीन पर पड़वे जाते हैं तब पटराव जीवोंको बाधा देनेमें आधाररूप होते हैं अर्थात् इन पदार्थोंसे जीवको बाधा पहुंचती है, तबरा नहीं होनेपर भी जीव हैं या नहीं हैं इसका विचार न करके, देख भाल किये बिनाही उपकरणादिक जमीनपर रखना, फेरना उसको अनाभोग निक्षेपाधिकरण कहते हैं.

उपकरणादिक वस्तु बिना साफसूफ किये ही जमीनपर रख देना अथवा जिसपर उपकरणादिक रखले जाते हैं उसको अर्थात् चौली जमीन घंगरहको अच्छी तरह से साफ सूफ न करना इनको दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं

साफ सूफ करने पर जीव हैं अथवा नहीं हैं यह देखे बिना उपकरणादिक रखना अमृत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है.

अत्र निर्वर्तनाधिकरणके भेद कहते हैं—

शरीरकी असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना दुःप्रयुक्त कहा जाता है ऐसा दुःप्रयुक्त शरीर दिसाका उपकरण यत्र जाता है हम वालो हमको देह निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं. जीव बाधाको कारण ऐसे छिद्रसहित उपकरण बनाना हमनी भी निर्वर्तनाधिकरण कहते हैं जैसे फांजी नगरह रखे हुए पात्रमें जन्तु प्रवेश कर भर जाते हैं.

संजोयणमुवकरणार्णं च तथा पाणभोयणाणं च ॥

दुड्डणिसिद्धा मणवचिकाया भेदा णिसगस्स ॥ ८१५ ॥

आहारोपधिभेदेन द्विधा संयोजनं मनम् ॥

दुःसुद्धाः स्वान्तवाक्काया निसर्गस्त्रिविधो मतः ॥ ८४१ ॥

विजयोदया—संजोयणमुवकरणाय उपकरणाना पिच्छादीना अन्योभ्येन संयोजना । दीतस्पर्शास्य पुस्तकस्य कमंडलादेर्यो अतपादितेन पिच्छेन प्रमाजने इत्यदिकं । तथा तथा । पाणभोजणाय च पाणभोजनयोश्च पानेन पानं,

भोजन भोजन, भोजन पानेन्येयमादिकं संयोजनं यस्य सम्मूर्च्छनं संभवति सा हिंसाधिरुणत्वेनायोयात्ता न सती ।
दुर्हितसिद्धा मण्यनिकाया दुर्दुर्मनसा मनोबाजायकमेता निरुपद्रवोन्मेष्यते ॥

अर्थ—पिच्छी, कर्मदलु वगेरह उपकरणोंका संयोग करना जैसे टंडस्पर्मबाले पुस्तकका धूपसे संवत कर्मदलु और पिच्छीके साथ संयोग करना अथवा धूपसे तयी हुई पिच्छीसे कर्मदलु पुस्तकको स्वच्छ करना वगेरहको उपकरण संयोजन कहते हैं, जिनसे सम्मूर्च्छन जीवकी उत्पत्ति होती ऐसे पेयपदार्थ दुसरे पेयपदार्थको साथ संयुक्त करना, अथवा भोज्य पदार्थके साथ संयुक्त करना, भोज्य पदार्थके साथ अथवा पेयपदार्थको संयुक्त करना, जिनसे जीवांशों हिंसा होती ऐसा ही पेय और भोज्य पदार्थोंका संयोग निषिद्ध है इससे अन्य संयोग निषिद्ध नहीं है।

मन बचन और शरीरके द्वारा दुष्ट मनुषि करना उमको निसर्ग कहते हैं.

अहिंसारक्षणोपायमन्त्रे—

जं जीवणिकायवहेण विणा इंदियकर्यं सुहं णत्थि ॥

तभिह सुहे णित्गो तम्हा सो रक्खवि अहिंसा ॥ ८१९ ॥

नास्तीन्द्रियसुखं किंचिज्जीवहिंसां विना यतः ॥

निरपेक्षस्तत्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ॥ ८२५ ॥

विजयोवद्या—जं जीवणिकायवहेण यस्माज्जीविकाययातं विना । इंदियसुखं इन्द्रियसुखं अस्ति । त्वीयल-
गंयमास्यादितेया विचित्रा जीविकायपीडकाहिंसा नात्रेण मदतोषाज्जीवित्यान् । वरिधिरिन्द्रियसुखे । निरसंगो यस्त
पावहिंसां नैन्द्रियसुखार्थी । तस्मादिन्द्रियसुखार्थं मा कृणु इत्युपदिशति सूरिः ।

अहिंसाके रक्षणका उपाय आचार्य बताते हैं—

अर्थ—जीवोंका वध किंवा विना इन्द्रियसुखकी प्राप्ति होती ही नहीं। स्त्रीसंभोग करना, वस्त्रधारण करना, पुष्पमाला गलेमें धारण करना इनसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होता है परंतु स्त्रीसंभोगादि कार्योंमें जीवहिंसा अवश्य होती है। स्त्री वगेरह पदार्थोंकी प्राप्ति करनेमें मदान् आरम्भ करना बढता है। इसवास्ते इन्द्रिय सुखसे अहिंसाका रक्षण होता नहीं है अपक ! तू इस इन्द्रियसुखमें स्नेह मत कर जो इन्द्रिय सुखमें इच्छा नहीं करता है वही अहिंसा का रक्षण करता है।

जीवो कसायबहुलो संतो जीवाण घायणं कुणह् ॥
सो जीववहं परिहरदु सया जो निजियकसाओ ॥ ८१७ ॥

कपायकलुयो यस्माज्जीवानां कुरुते यथम् ॥

निःकपायो यतिस्तस्मादहिंसारक्षणक्षमः ॥ ८२६ ॥

विजयोदया—हिंसा कपायै प्रवर्धते, ततोऽहिंसामिच्छता एते परिदुर्तव्या इगुत्तरमृगार्थम् ।

हिंसा कपायसे उत्पन्न होती है अहिंसामें चाहने मल्लोको अपाणेंका त्याग करना चाहिये मग्मा आगेके मायामें लिखते हैं

अर्थ—जीव लय कपायके चक्ष होता है तब वह जीवोंका भारता है, परंतु जिम्मेन रुपाय जीने हैं यही जीववधका परिहार करता है, अर्थात् अहिंसाका यही पालन करता है, प्रमाद अर्थात् रुपाय हिंसामें जीवको प्रवृत्त करते हैं इसलिये अहिंसातत्त्वको चाहनेमाले उनको दूरसे ही त्यागे

आदाणे निक्खेवे चोसरणे ठाणममणसयणेसु ॥

सच्चत्थ अप्पमत्तो दयावरो होदु दु अहिंसो ॥ ८१८ ॥

काएसु गिरारंभे फासुगभोजिमि पाणहिदयमि ॥

मणवयणकायगुत्तिमि होइ सयला अहिंसा हु ॥ ८१९ ॥

दायनासननिक्षेपग्रहर्षक्रमणादिषु ॥

सर्वत्राप्यग्रमत्तस्य जीवत्राणं त्तं यत्ते ॥ ८२७ ॥

विवेकनियताचारग्रासुकाहारसेविनि ॥

मनोवान्नायमुत्तेजस्ति दयातमम्वंडितम् ॥ ८२८ ॥

विजयोदया—प्रमादो हिंसाया प्रवर्तक म परित्यज्योऽहिंसामवाप्यता इति माध्यात्रे ॥

विजयोदया—परित्यक्तात्मस्य ग्राह्यकर्मोक्तिनो धानमायनानादिते मनसि गुप्तिप्रयोषिते संपूर्ण भवत्यहिंसा इति सूत्रार्थे ॥

अर्थ—वस्तु उठा लेना, रखना, छोड़ना, खड़े होना, घंटना, शुभन करना इत्यादि समस्त कार्य करते समय बिन्धोने ममादका त्याग किया है ऐसे श्रेष्ठ दयाके धारक साधुजनसे आर्हिंसा पूर्णतासे पाली जाती है।
 अर्थ—जिसने आरंभका त्याग किया है, जो प्रामुख आहार लेता है, ज्ञानाभ्यास करनेमें जिसने अपने चिचको स्थिर किया है, तीन गुप्तिओंका धारक ऐसे मुनिराजमें यह आर्हिंसा पूर्णताको प्राप्त होती है।

आरंभे जीववहो अप्यासुगसेवणे य अणुमोदो ॥

आरंभावीसु मणो णाणरदीए विणा चरइ ॥ ८२० ॥

आरंभेऽङ्गिबधे जन्तुरमासुकन्निपेवणे ॥

प्रयततेऽनुमोदे च साश्वज्ज्ञानरतिं विना ॥ ८२१ ॥

विलयोदया—पृथिव्यदिगितयो व्यापार आरंभः । तस्मिन्वति सदाश्रयमाणपुद्गल इति जीवबधो भवति ।
 उग्रमाविदोपहृतस्य आहारास्य भोजने जीवनिष्कायवधानुमोदो भवति । ज्ञानरतिमंतरेण आरंभे कपयिष्य मनः प्रवर्तते ।

अर्थ—पृथिवी, जल, इत्यादिकके आश्रयसे आरंभ होता है, अर्थात् जमीन खोदना, यानी सींचना, इत्थं तोड़ना इत्यादि क्रियाओंको आरंभ करते हैं, ऐसा आरंभ करनेसे उनके आश्रयसे रहनेवाले जीवोंका घात होता है, उग्रमाविदोपहृत आहार लेनेसे, जीवनिष्कायके बधके लिये सम्मति दी है ऐसा समझा जाता है, और ज्ञानाभ्यासमें यदि प्रेम न हो तो मन आरंभ और कपयमें प्रवृत्त होता है।

तम्हा इहपरलोए दुक्खणि सदा अणिच्छमाणेण ॥

उवओगो कायव्वो जीवदयाए सदा मुणिणो ॥ ८२१ ॥

मुनिनानिच्छता लोके दुःखानि घृतये सदा ॥

उपयोगो विघातव्यो जीवत्राणवत्ते परः ॥ ८२० ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मान् । आरंभो भवता स्थावरः, मासुकभोजनं मोक्षं, ज्ञाने शरतिष्य अपात्राया इति शपकशिक्षा । आर्हिंसा जीवदया तस्याः फलमुपदर्शयति—तस्मा इत्यनया उभयलोकागतदुःखपरिहारमिच्छता दयाभावना फलं इति कथयति ।

अर्ध—इस वास्ते है छापक ! यदि तुम इहपर लोकमें दुःखको नहीं चाहते हो तो हथेला जीवदया करनेमें अपने चित्तको स्थिर करो प्रासुर भोजन ग्रहण करनेमें यदि अरति उत्पन्न हुई हो तो उसको दूर करो-

इष्टकस्य स्वस्वकालवर्त्येऽपि अहिंसाजतं करोत्यात्मनो महान्तमुपकारमित्याख्यानं कथयति—

पाणो वि पाहिहरे पचो छुटो वि सुसुमारहृदे ॥

एतेन एकदिवसच्छदेन हिंसावधुणेन ॥ ८१२ ॥

अप्येकाहव्यापकेन प्रकृष्टं प्राप्तः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः ॥

एकैतेन प्राणिरक्षान्तेन क्षितः क्रूरोऽनेकनग्नौघमघ्ये ॥ ८११ ॥

परां सपर्यां ददन्ती निरत्यये निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे ॥

करोत्यहिंसा जननीच पालिता सुत्वानि सर्वाणि रक्षांसि धुन्यती ॥ ८१२ ॥

इति अहिंसा

विजयोदया —पाणो वि कंडालोऽपि पाहिहरे प्रातिहार्यं पचो प्राप्त । सुसुमाख्ये सिंशुमारकुले नृदे भिक्षि-
सोऽपि । एतेन हिंसावधुणेन एकेनैव अहिंसाव्यतारयेन मुनेन । अल्पकालकदेन अल्पकालकृतेन ॥ अहिंसा ॥

स्वल्पकालतरु पाला जामे पर भी यह अहिंसाव्रत प्राणीपर सहान् उपकार करता है—

अर्ध—सिंशुमार इदनें केने गये चांडालने अल्पकाल तकही अहिंसा व्रतका पालन किया था परंतु वह इस नवके महात्म्यसे देवोंके द्वारा पूजा गया- इस प्रकार अहिंसा व्रतका वर्णन पूर्ण हुआ-

द्वितीयमतनिरूपणाय उत्तरप्रबंध —

परिहर असंतवयणं सत्त्वं पि चदुच्चिधं पयत्वेण ॥

घर्चं पि संजर्मितो मासादोसेण लिप्पदि हु ॥ ८१३ ॥

सुंचासत्तयं वचः साधो । चतुर्भेदमपि जिघा ॥

संयमं विदधानोऽपि मापादोपेण वाध्यते ॥ ८१३ ॥

विजयोदया—परिद्धर परित्यज । असंख्यपर्यन्तं अस्मद् अशोभनं यच्चनं । यत्कर्मनिर्णयनं यच्चस्तदशोभनं । तथा चोक्तं—‘असदभिधानमवृत्तं’ ननु वचनमात्मपरिणामो न भवति । इत्यातरे हि तत्पुद्गलार्थं, आत्मपरिणामो हि त्याज्यो यो येषस्य वचस्थितयो निमित्तभूतो मिथ्यात्वमखण्डः कषायो योग इत्येवंप्रकारः । तस्मादसद्वचनपरिहारेण देशोऽनुपयोगी कस्याःकृत इति अनोच्यते—असंयमो हि त्रिप्रकारः कृतः कारितोऽनुमतश्च । इयमस्मिन्नखण्डे प्रवर्तयामि जनेन वचनेन प्रवृत्तं यातुजालानि । इत्यप्रिसंशितेरेण वास्य वचनस्वाश्रयसेस्ताद्वचनकारणभूतोऽभिसंधितात्मपरिणामो भवति कर्मनिमित्तमिति परिहृत्यस्तस्य परिहारे तत्कार्यं वचनमपि परिहृतं भवति । न हासति कारणे कार्यमतिपत्तिरित्य-स्तद्वचनपरिहारेऽनेन कर्मनोपन्यस्त इति स्वयमसद्वचनैकेदेशपरिहारेऽव्यपहतमसद्वचनं भवति इत्याशंकां परिहरति सत्यमिति चतुस्त्रिधमिति तदीयमनंदोपन्यासः । एवमेवेति । तत्र अप्रमत्ततामुपदिशति । घटं हि संजमंतो नितरा-मपि संप्रसमाचरयति । तासादोक्षणं भाषावचनं तन्निमित्तत्वाद्वायोगाख्य आत्मपरिणामो भाग्यशब्देनोच्यते । भाषादुष्टः भाषादोषः । यावद्योगेन बुद्धेन निमित्तेन आतं यत्कर्म तेन । लिप्यदि लिप्यत एव संवप्यत एव भाषा । एतेन कर्मबंधमि-मि-सत्तादोषकथनेन असद्वचनपरिहारे दाख्यं करोति क्षणकस्य ॥

दुसरे तत्प्रमाणव्रतका नित्यपण करनके लिये आचार्य प्रारंभ करते हैं.

अर्थ—असत्य भाषण का हे क्षणक ! तू त्याग कर क्यों कि वह बंधन का कारण है. तत्त्वार्थोपनिषद्में ‘अमदभिधानमवृत्तम्’ इस सूत्रमें यही अभिप्राय कहा है.

शंका—वचन अर्थात् बोलना यह आत्मपरिणाम नहीं है. वह पुद्गल नामक द्रव्यका परिणामन है. जो आत्मपरिणामबंध अथवा बंधस्थितिका निमित्त है वही त्याज्य है. मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग ये आत्म-परिणाम कर्मबंधके कारण होनेसे त्याज्य हैं. इस लिये असत्य वचनका परिहार करना, त्याग करना कुछ उपयोगी नहीं है. अतः उसका त्याग करनेका उपदेश क्यों किया?

उत्तर—असंयमके कृत कारित और अनुमत ऐसे तीन प्रकार हैं. इस मनुष्यको इस असंयममें मैं प्रवृत्त करूंगा अथवा वचनके द्वारा स्वयं असंयममें प्रवृत्त हुए इस मनुष्यको मैं अनुमोदन देऊंगा. इस प्रकारके संक-ल्पके बिना वचनकी प्रवृत्ति होती नहीं. इसवास्ते ऐसे वचनका कारण आत्मपरिणाम ३- यह आत्मपरिणाम कर्मबंध होनेमें कारण है अतः त्याज्य है. इसके त्यागसे इसका कार्यभूत वचन भी त्यागा जाता है. यदि कारण न हो तो कार्यका ज्ञान कैसे हो सकेगा. इस लिये असत्य वचनका त्याग इस क्रमसे आचार्यने दिलाया है.

असत्य वचनके—आचार्यने चार भेद किये हैं. इन सब भेदोंका त्याग हे क्षणक ! तू प्रयत्नेसे कर. क्योंकि संयमका आचरण करता हुआ भी धुनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है. अर्थात् हुए वचन योगसे जो

कर्मास्रव आता है उससे वह लिप्त होता है, दुष्ट बचन कर्मबंधका' निमित्त होता है इसलिये हे क्षपक तू उसका त्याग कर.

प्रतिज्ञातं चातुर्विध्यमाचष्टे—

पटुमं असंतवयणं संभूद्वत्थस्स होदि पडिसेहो ॥
 णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जघेयमादीयं ॥ ८२४ ॥
 प्रथमं तच्चोऽसत्पं यत् सतः प्रतिपेधनम् ॥
 अकाले मरणं नास्ति नराणामिति यच्च ॥ ८२४ ॥

विजयोक्त्वा—पढने परसंतवयणं चातुर्पु आद्यमसद्वचनं संभूद्वत्थस्स होवि पडिसेहो सतोऽर्थस्य प्रतिपेधः । सतां सतो न यजनं असद्वचनमित्येकोऽर्थः । तस्योदाहरणमाह—णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति पयमाविकं नास्त्यकाले मच्चुत्थस्य द्युतिरिति पयमाविकं यजनं । आयुषः स्थितिकालः काल इत्युच्यते । तस्मान्कालादन्यः कालोऽकालः । तस्मिन्नकाले । ननु न भोगभूमिनराणामनपवर्त्यमानुरतः अकाले मरणं नास्त्येव अतो युक्तमुच्यते णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति । मरणाद्वत्थ्य सामान्यवाचित्वासर्वकैरपिष्यः अकालमरणाभाषोऽयुक्तः केपुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्रायः ।

अर्थ—चार असत्य बचनोंमें पहिला असत्य बचन इस प्रकार समझना चाहिये—अस्तित्वरूप पदार्थका निषेध करना यह प्रथम असत्य बचनका भेद है. जैसे मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है, आयुष्यके स्थिति कालको यहाँ काल कहना चाहिये. इस कालसे जो अन्य काल उसको अकाल कहते हैं. अंका—मनुष्यको अकालमें मृत्यु नहीं है यह कहना सत्यही है क्योंकि भोगभूमिके मनुष्योंका आयुष्य विष यत्नादिसं कम होता ही नहीं अतः उनको अकालमें मरण नहीं है यह कहना योग्यही है. उचर—चर शब्द सामान्यवाची होनेसे संपूर्ण मनुष्योंका वाचक है. इस लिये अकाल मरण नहीं है ऐसा कहना जयोग्य ही है. कितने कर्मभूमिके मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है उसका यहाँ निषेध किया है. अतः अकालमें मनुष्योंको मरण नहीं है यह कहना सत्यपदार्थका—विद्यमान पदार्थका निषेध करनेवाला होनेसे अवश्य असत्यही है.

अहवा सयबुद्धीए पडिसेघो सेत्तकालमावेहि ॥
 अविचारिय पात्थि इहु घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२५ ॥
 कलओउत्तीति यदुभूते द्रव्यादीनां चतुष्टयम् ॥
 अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावंकं त्रिभिः ॥ ८३६ ॥

विज्ञयोदयाः—अथवा विज्ञानबुद्धीए पडिसेघे सेत्तकालमावेहि अविचारिय भावमिति शेषः । स्वपुद्गला देश-
 कालनवैराग्यमविचार्यमाणं अत्र नास्ति इदानीं न विचिन्ते । शुक्लरुक्मरूपो न वेत्यानिरूप्य घटस्य भाग इत्थं अनेन-
 प्रकरणेण एत्ति घटो जह एवमादीयं नास्ति घट इत्येवमादिषु । ततो घटस्य अविशेषेण अस्तित्वचनं असङ्ख्यनमित्युदाह-
 रणान्तर्गमिदं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाग इन अपेक्षाओंसे विचार न कर यहाँ घटा नहीं है। इत्यादि
 रूप वचन अपनी बुद्धीसे कह देना। अभिप्राय यह है कि किसी अपेक्षासे घटकी सत्ता होने पर भी घट सर्वथा
 नहीं है ऐसा कहना यह भी असत्य वचन ही है। जैसे काल घट नहीं है परंतु घरमें यदि श्वेतघट है तो घट है
 ही नहीं ऐसा कहना ऐसा योग्य होगा। अपेक्षासे एक क्षेत्रमें घट न होगा। तो दूसरे क्षेत्रमें उसका सद्भाव
 होगा। परंतु स्वक्षेत्र परक्षेत्रका विचार न करके एकदम घट है ही नहीं ऐसा कहना असत्य ही है। वह
 अपने स्वरूपमें रहता है परंतु स्वरूपकी अपेक्षासे भी नहीं है ऐसा कहना। यह असत्य है। भूतकालकी
 अपेक्षासे कोई घट न होनेपर वर्तमान कालकी अपेक्षासे भी उसकी सत्ता नहीं मानना यह कालकी अपेक्षासे
 निषेध करता है इत्यधिक पहिले असत्य के उदाहरण हैं।

जं असमदुब्भाक्वणमेदं विदियं असंतवयणं तु ॥

अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२६ ॥

द्वितीयं तद्वचोऽस्त्यमभूतोद्भावंकं मतम् ॥

अस्त्यकाले सुराणां च मृत्युरित्येवमादि यत् ॥ ८३६ ॥

विजयोद्या—अथसधुत्तुम्भान्ममेदं विविद्यं असंतवयणं तु । यदसदुद्गाढं द्वितीयं असद्वचस्तस्योदाहरणमुत्तरं । अथि घुराणमकाले गच्छति जहेवमादीयं । घुराणमकाले मृत्युस्तीत्येवमादिकं यथा असवेयं अकालमरणमनेनोच्यते इत्यसद्वचनम् ॥

॥यं—जो नहीं है उसको है कहना यह असत्य वचनका दूसरा भेद है जैसे 'देवोंको अकाल मृत्यु नहीं है ऐसा आगम कहता है परंतु देवों को अकाल मृत्यु है ऐसा कहना- इत्यादि रूप असत्यका दूसरा प्रकार है-

अहवा जं उम्भामेवि असंतं खेत्तकालमोवेहिं ॥

अविधारिय अत्थि इह घडोत्ति जह एवमादीयं ॥ ८२७ ॥

विजयोद्या—अथवा जं उम्भामेवि यद्वचनं उद्गावयति । असंतं घटं । कथमसंतं? खेत्तकालमोवेहिं क्षेत्रांतर-संवधित्वेन संतं इदंलं घटे कालांतरसंव्यंघेन अतीते अनामने ॥ असंतं मायांतरसंवधित्वेन कृष्णतयादिता संतं । अविधारिय अपिचार्य इयं सदा श्रममखत् एति अस्ति घट इत्येवमादिकंसंध्यादित्यमलक्षययतीति असद्वचनं ।

अर्थ—अथवा द्रव्य क्षेत्रकालांतरसे घट न होने पर भी बिना विचारके सर्व द्रव्यक्षेत्रकालोपेक्षया घट है ऐसा कहना यह दूसरा उदाहरण है- जैसे एक कोठरीमें घट है परंतु दूसरे कोठरीमें न होनेपर भी दूसरे कोठरीमें है ऐसा कहना- संफल घट है परंतु कालाभी है ऐसा कहना- पर रूपसे घट नहीं रहता है परंतु उसके स्वरूपसे भी वह है ऐसा कहना- वर्तमानकालमेंही घट की सचा होनेपरभी भूतकालमें भी था ऐसा कहना यह सब असत्यके दूसरे प्रकारके उदाहरण है ।

तदियं असंतवयणं संतं जं कुणदि अण्णजादीगं ॥

अविचारित्ता गोणं असोत्ति जहेवमादीयं ॥ ८२८ ॥

तृतीयं तद्वचोऽस्त्यं यदनालोच्य भापते ॥

पदार्थमन्यजातीयं गौर्वाजीत्येवमादिकम् ॥ ८२७ ॥

विजयोद्या—तदियं असंतवयणं तृतीयमसद्वचनं । संतं जं कुणदि अण्णजादीयं सचत्करोति अन्यजा-तीयं । अविचारित्ता गोणं असोत्ति जहेवमादीयं । अथमित्येवमादिकं । सतो यतीवहेत्वात् अथत्वं असत्तस्य ध्वनं ।

अर्थ—एक जातीके सत्यदाय को अन्य जातीका सत्यदाय कहना यह असत्यका तीसरा भेद है। जैसे वेल है इसका विचार न कर यहां भोटा है ऐसा कहना- यह कहना विपरीत सत् पदार्थका प्रतिपादन करनेसे असत्य है।

अतुर्थमसहचरमाचष्टे—

जे वा गरहिद्वयणं जे वा सावज्जसंजुदं वयणं ॥

जे वा अपियवयणं असत्त्ववयणं चउत्तं च ॥ ८२९ ॥

सावयं गहितं चाकयमग्रियं च मनीषिभिः ॥

त्रिप्रकारमिति प्रोक्तं तुरीयकमसूतृतम् ॥ ८३० ॥

विजयोद्या—जे वा गरहिद्वयणं यद्वा गहितं वचनं । जे वा सावज्जसंजुदं वयणं । यद्वा सावयं संजुदं वचनं । जे वा अपियवयणं यद्वा असत्त्ववचनं । तत् चउत्तं वचनं असत्त्ववयणं मसहचरं ॥

असत्यका चौथा प्रकार कहने हैं—

अर्थ—जो निश्चयन बोलना, जो आपसुक्त वचन बोलना और जो अग्रियवचन बोलना वह सब सच चौथे प्रकारका असत्य वचन है।

तेषु वचनेषु गहितवचनमाचष्टे—

कक्करसवयणं णिद्धुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च ॥

जे किंचि विप्पलानं गरहिद्वयणं सभासेण ॥ ८३० ॥

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं परुषं पिशुनं वचः ॥

रूपर्यापरमसंबंधं गहितं सकलं मतम् ॥ ८३१ ॥

विजयोद्या—कक्करसवयणं कर्कशवचनं भाष्यं सभासवचनमिति केचिद्वचनस्ये असत्यमिति । णिद्धुरवयणं निष्ठुरवचनं । पेसुण्णहासवयणं च गरदोषस्वरूपवचनं । पैशुण्यवचनं हासवचनं वचनं । जे किंचि विप्पलानं यत्किंचिदप्रलपनं च मुञ्जस्तथा । गरहिद्वयणं गहितवचनं । सभासेण संक्षेपेण ॥

अर्थ—कर्मशवचन-गर्बयुक्त भाषण को कर्मशवचन कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं- कोई शूद्र-वचनको कर्मशवचन कहते हैं- निम्नतर भाषण दूसरोंके दोष दिखानेवाला वचन, उपहासका वचन जो कुछ भी बड़-बड़ करना अर्थात् वाचाल होकर चाहे जैसा बोलना यह सब संक्षेपसे गृहित वचन ही है-

सावद्यशवचनं निरूपयति—

जसो पाणवधादी दोसा जायति सावज्जवयणं च ॥

अविचारित्ता श्रेणं श्रेणस्ति जहेवमादीयं ॥ ८३१ ॥

प्राणिघाताद्यो दोषाः प्रवर्तन्ते यनोऽन्विताः ॥

सावद्यं तद्वच्चो ज्ञेयं पश्चिक्खारंभवर्णकम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—जसो पाणवधादी दोसा जायतीति यस्माद्वचनाद्वेतोः प्राणवधाद्यो दोषा जायन्ते । सावज्ज-वयणं तं सावद्यं वचनं सत् दुष्टिनीं क्तम् । महिर्घं पीतोदकां पयसा मपूरय, प्रसूताभि उच्चिदु । इत्येवमादिकानि अधिखा-रित्ता अपिचार्य क्रिमेवं वस्तुं युक्तं ममेति । अथवा योगोऽनेन वचसा नयेति अपरीक्ष्य चौरं दौरोयनिति कथनं ।

अर्थ—जिस भाषणसे प्राणिहिंसा वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा भाषण बोलना उसको सावद्य वचन कहते हैं- जैसे इस जमीनको लोदो, इस मेसने पानी पिया हैं अब इसको पानीसे घो दालो- पुष्प तोड़ो- इत्या-दिक वचनोंको सावद्य भाषण कहते हैं- मेरा बोलना योग्य है या नहीं इसका विचार न करके अथवा ऐसे भाषण सदीप हैं या निर्दोष हैं कुछ विचार न करके परीक्षाके बिनाही कह देना यह सब सावद्य वचन है- जैसे चोरको यह चौर है ऐसा कहना-

परसं कटुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ ॥

उत्तासणं च हीलणमपियवयणं समासेण ॥ ८३२ ॥

हासभयलोहकोहपदोसादीहिं तु मे पयत्तेण ॥

एवं असंतवयणं परिहृत्तिद्वयं विसिसेण ॥ ८३३ ॥

अचञ्जाकारणं चैरकलहद्रासवङ्ककम् ॥
अप्रच्यं कटुकं श्रेयसप्रियं वचनं चुषैः ॥ ८४१ ॥
रागद्वेषमदकोयलोभमोहादिसंभवं ॥
वित्तभं वचनं हेयं संयतेन विक्षेपतः ॥ ८४२ ॥

विजयेत्या—द्रासगय—शर्येन, भोग, लोभेन, प्रदोषेणेत्येवमादिना कारणेन । एवं असंतवयर्थं एतद-
संयत्नं स्वया गतेन प्रयत्नेन । परिहृतिद्वयं परिश्रमश्च । विमेस्य विक्षेपणम् ॥

अर्थ—सर्वल्लेद करनेवाले भाषणको पस्य करते हैं जैसे तू अनेक दोषोंसे दुष्ट है, मनको उद्धिग करने-
वाली भाषाको तू भाषा कहते हैं जैसे तू निय जस्तीमें पैदा हुआ है, धर्म रहित पापी है, इत्यादि, येर उरपक्ष
करनेवाला भाषण जैसे न गया है, तेरेको कुछ भी ज्ञान नहीं है, तेरे समान मूल्य इस संसारमें दूसरा कोई नहीं है,
इत्यादि निमनं कलह हो जाता है यह कलहश्चारी वचन कहते हैं, मनको द्राग पोहोचिमा क्लेश होगा यह वचन
उपमानकर है, दूसरीकी अपञ्जा करनेवाले शब्द बोलना यह हीलन वचन है, जैसे तुमको विचार हो, इस तरह
अप्रिय वचनका संक्षेपण उर्णन किया, हास्य, भीति, लोग, द्वेष इत्यादि कारणोंसे जो असत्य भाषण किया
जाता है हे क्षपण! उसका तू प्रयत्नसे विक्षेप त्याग कर-

एवमसंश्लेषं परिहार्यमुपदिश्य सत्यमनलक्षणमुक्तामश्वचनलक्षणतया दर्शयति—

तत्त्विवरीदं सत्त्वं कञ्जे काले मिदं सविसृ य ॥
भत्तादिकहारीदियं भणाहि तं चेव सुयणाहि ॥ ८४३ ॥
विपरीनं ततः सत्यं काले कार्ये मितं कृतम् ॥
निर्भयतादिकथं दृढि तदेव वचनं शृणु ॥ ८४४ ॥

पिजयोद्या—शक्तिवरीं—मसहजन विपरीतं । सत्त्वं सत्यं भणाहि भण । कञ्जे कार्ये ज्ञानाचारिणादि
विशयलक्षणे । भत्तं वमपट्टिरे परस्य या वमगार्गन्यायनाकरे काले । अस्वक्षमदीनां कालादन्यः काल इत्यकालशब्दे-
नोच्यते । अथवा कालताम्रं प्रस्ताप उच्यते । मिदं परिमितं वचनं । सनित्पथ मन्वतो ज्ञानस्य विषये प्रपुष्टं वचनं ।
भणाहि भण । भत्तादिकथारीदियं भणाहि तं चेव य सुयणाहि भक्त्योगस्वीराजकथादिरहितं । तं चेव य तथाभूतमेव

वचन सुणाहि शुणु । अयमयोग्य न उचीति एतावता सत्यमत याचितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं शृण्वतो मनोऽशुभतया च कर्मयोगो मद्भातिनिति भाव ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्यने उपदेशकिया अत्र मत्पयवचनका स्वरूप कहते हैं

अर्थ—असत्य भाषणके खितने प्रकार ऊपर कहे हैं उनके निरुद्ध जो जो भाषण हैं वह २ हे क्षपक ! तुम बोलो ज्ञान, चारित्र्यादिकों का उपदेश देनेवाला, असत्यमसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनों को सदमर्मों स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक ! तुम बोलो सामागिक, प्रतिक्रमण, वेदना, स्तुति वगैरह आश्रयकों के कालके सिवाय अन्य समयको यहा काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषण को चहा सत्यभाषण कहते हैं ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू मितही बोल वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चौर कथा वगैरह विकथाओंसे वर्जित होना चाहिये ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी निकथाग्रजित भाषण सुन यह वक्ता अयोग्य बोलता नहीं है एतानता इसने सत्यग्रत पाला है ऐसा तू मत समझ दूसरेका असद्भाषण सुननेपरभी मनमें अद्भुत संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मपथ होगा है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक ! तू मत सुन

सत्यवचनगुण हृदयनिर्वाण रयाप्यति गाकोसरा स्पष्टा—

जलचंदनससिमुत्ताचंदमणी तह गारस्त पिब्याणं ॥

ण करसि कुणइ जह अत्थउजुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य वदनं चद्रचद्रकातमणिर्जलम् ॥

न तथा कुस्ते सौरूप वचनं मधुर यथा ॥ ८३६ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि में पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं खितना आनंद अर्पयुक्त, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमें भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है

न सत्यमित्येतावतो यत्नं यच्छब्दं, सत्यमेव सदेव यच्छब्दमेव चेति प्रवृत्तिः—

अण्णस्स अप्पणो वा विधम्मिए विद्वन्तए कज्जे ॥

जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ॥

स्थमपृष्ठो वसान्यत्र पृष्ठ एयं सदा वद ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—प्रणष्ट्य अप्यजो षापि दाम्पत्यं क्षालभो वा घामिककार्ये विनश्यति सति शत्रुहोऽपि मृतिः ।
 अनतियातिनि कार्ये प्रष्ट एव सर्वं नाप्रष्टः ॥

जो सत्य है वह सोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिओंका कल्याण करता है वह भाषण सोलना चाहिए यही अभिप्राय आगेकी साधार्थ कहा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य तब होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे हि बोलना चाहिये। यदि कांय विनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो। नहीं पूछेगा तो बोलना नहीं

सञ्चं वदन्ति रिसओ रिसहिं बिहिदाठ सव्व विग्जाओ ॥

मिच्छुस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सम्भवादिस्स ॥ ८३७ ॥

शर्दति ऋषयः सत्यं यद्विद्या निखिलाः कृताः ॥

तन्म्लेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वदा सत्परादिनिः ॥ ८५६ ॥

विजयोद्या--सत्त्वं वर्द्धति रिसओ सत्यं वर्द्धति यतयः । रिसीहे विहिदाओ यतिभेविहिताः सर्वविद्याः ।
मिच्छुस्सवि म्हेच्छुस्सपि सिर्द्धति सिध्पन्ति । विज्जाओ विधाः । सधवादिस्स सत्थयदिनः ॥

अर्थ—रूपिण सत्यभाषण करते हैं-ऋषिोंने सर्व विद्यायें उत्पन्न की हैं, जो सत्यवादी हैं ऐसे म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं.

अर्थ—एकदफे ही बौला हुआ असत्य भाषण अनेक ॥ बोलें हुए सत्यभाषणोंका संहार करता है—
असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें द्रुता है. शंकायुक्त रहता है. मेरा असत्यभाषण यदि गूढ होगा तो मेरा नाश
होना ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है.

अप्यद्वन्द्वो अकिञ्ची भंमारदिकलह्वेरमयसोगा ॥

वधवंधभेदणा सन्ने मोलमि सणिहिडा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो मयं वैरमकीर्तिभरणं कलिः ॥

विभावो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥ ८४७ ॥

आशासरसनाछेवसर्वस्वरणादयः ॥

इहोसत्येन लभ्यंते परत्र नरकायनिः ॥ ८४८ ॥

विजयोद्गा—अप्यद्वन्द्वो अग्रयः । अकीर्तिः, संक्षेपाः, भ्रष्टाः, कलहो, वैर, भयं, शोकः, वधो, वंघः,
स्वजनभेदः, धननाशोऽस्यमी बोधः । सकिहिता नृगपञ्चे ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, संक्षेपपरिणाम, तिरस्कार, कलह, वैर, मय, शोक, वध, वंघ, स्वजनमें घृष्ट,
और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापस्तागमदारं असच्चवयणं भणंति हु जिणिंदा ॥

त्तिदपूण अपायो वि हु मोसेण गदो वस्स णिरयं ॥ ८४९ ॥

कालिलस्यासच्चद्वारं चित्तं कथितं तिनैः ॥

निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकगतः ॥ ८५० ॥

विजयोद्गा—पापस्यागमदारमिति वदत्यस्य जिंदाः । इदं अपायोऽपि कृपाभावेन वसुस्तेन नरकं
इत्यल्लयानकं वाच्यं ।

अर्थ—भिन्नैर् भगवान् असत्य भाषण पाप कर्मके आसन्न दस्तावेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापाश्रयका कारण है. इदयमें पापरहित वसु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया.

परलोगमि वि दोस्ता ते चेव हवंति अलियवादिस्स ॥

भोसादीए दोसे जेचेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्यवादिनो दोषाः परत्रापि भवन्ति ते ॥

सुचनोऽपि प्रयत्नेन मृषाभाषाविदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोगमि नि दोसा परयेऽपि दोषास्स एव अपत्यपात्य एव भवंतलीकवादिनः । यत्नेनापि परिहरताः । किं ? भोसादिगे दोसे चुपादिकादोषाव । मृषा आदिर्वैयं स्तेवाम्मखवटिप्रदाणां ते मुपादियः । अतद्गुणसं-
विमानयदुग्धीविरच प्राहाः । स्तेयविदोषान्बन्धिरहस्तोऽपीत्यर्थः ॥

अर्थ—असत्य बोलनेवाले पुरुषको अविधास योगे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं. असत्य भाषण बोरी मैथुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुरुष कर्तो है ऐसा माना जाता है. परलोकमें बड़े प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है.

भवतु नाम अमयवत्यादिका मृगयादस्य दोषाः कर्कशवचनादिना परम्ये वाच के दोषा इत्यकारोए—

इहलोहय परलोइय दोसा अे होति अलियवयणस्स ॥

कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव णादब्बा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःखविघायिनः ॥

त एव कथिता जैनैः सकटाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोगिण दोसा अस्मिन्नयमि परत्र च ये दोषा भवंति बलीक-नदिनः । कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति प्रत्यक्षा ॥

असत्यवचन बोलनेमें अविधास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परंतु कर्कशवचनादिकसे परमवर्गे अथवा इस वर्गमें कौनसे दोष उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

वचनं सुणादि ध्रुव । अयमयोष्यं न त्रीति एतावता सत्यवतं पालितमिति आशा न कार्या । परेणोच्यमानमसद्वचनं श्रुण्वतो मनोऽश्रुभतया च कर्मक्षेत्रे मदान्ति भावः ।

असत्य भाषणका त्याग करनेके लिये ऊपर आचार्यने उपदेशकिया अब सत्यवचनका स्वरूप कहते हैं-
अर्थ—असत्य भाषणके जितने प्रकार ऊपर फटें हैं उनके विरुद्ध जो जो भाषण है वह २ हे क्षपक ! तुम चोली, ज्ञान, चारित्र्यादिकों का उपदेश देनेवाला, असत्यसे परावृत्त करनेवाला, अन्य साधुजनोंको सदमर्म स्थिर करनेवाला ऐसा भाषण हे क्षपक ! तुम चोली, सामायिक, प्रतिक्रमण, वंदना, स्तुति वगैरह आवश्यकों के कालके सिद्धाय अन्य समयको यहाँ काल समझना चाहिये अर्थात् योग्य काल प्रसंगको जानकर प्रगट होनेवाला ऐसे भाषण की यहाँ सत्यभाषण कहते हैं, ऐसा सत्य भाषण हे क्षपक ! तू भितही बोल, वह भाषण भक्तकथा, राजकथा चौर कथा वगैरह विकथाओंसे वर्जित होना चाहिये, ऐसा भाषण तू बोल और अन्यका भी विकथायोजित भाषण सुन, यह बक्ता अबोग्य बोलता नहीं है एतावता इसने सत्यवत पाला है ऐसा तू मत समझ, दूसरेका असद्भाषण सुननेपरभी मनमें अशुभ संकल्प उत्पन्न होकर महान्कर्मबंध होता है ऐसा जानकर दूसरोंका असत्य भाषण हे क्षपक ! तू मत सुन.

सत्यवचनमुनि हृदयनिर्वाणं श्यामयति गायोक्तता स्याद्वा—

जलचंदनससिसुत्ताचंदमणी तह परत्स शिब्बाणं ॥

ण करंति कुणइ जह अत्थज्जुयं हिदमधुरमिदवयणं ॥ ८३५ ॥

नरस्य चंदनं चंद्रचंद्रकातमणिर्जलम् ॥

न तथा कुरुते सौख्यं वचनं मधुरं यथा ॥ ८३४ ॥

सत्यवचनमें हृदयको सुख देनेका गुण है इसका विवचन—

अर्थ—पानी, चंदन, चंद्र, मोती, और चंद्रकांतमणि ये पदार्थ लोगोंको उतना आनंद उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं जितना आनंद अर्घ्युक्त, हितकर और मधुर भाषण उत्पन्न करता है, अर्थात् पानी, चंदन और चंद्रादिकोंमें भी सत्यवचन जीवोंको अधिक आनंद देता है.

अण्णात्स अण्णो वा विधम्मिए विहवंतए कज्जे ॥

जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ॥ ८३६ ॥

स्वकीये परकीये वा घर्मकृत्ये विनश्यति ॥

त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एवं सदा वद ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—अण्णइय अण्णो वापि अन्यइय आत्मनो वा धार्मिककार्ये विनश्यति सति अपुष्टोऽपि ग्रहि ।
क्षमतिपतिनि कार्ये पृष्ट एव वद मापृष्ट ॥

जो सत्य है पर बोलना चाहिए ऐसा नहीं परंतु सत्य होकर जो प्राणिजोंका कल्याण करता है वह
भापण बोलना चाहिए वही अभिप्राय आवेकी माथामें रखा है—

अर्थ—दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे ही बोलना चाहिये
यदि कार्य बिनाशका प्रसंग न हो तो अप कोई पूछेगा सब बोलो. नही पूछेगा तो बोलना नही.

सत्त्वं वर्दति रिसओ रिसीहिं विहिवाउ सच्च विज्जाओ ॥

मिच्छस्स वि सिज्झंति य विज्जाओ सच्चवाविस्स ॥ ८३७ ॥

गदंति नपयः सत्त्वं चद्विया निखिळाः कुताः ॥

तन्मलेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वथा सत्पयादिनः ॥ ८४६ ॥

विजयोदया—सत्त्वं वर्दति रिसओ सत्त्वं वर्दति यतयः । रिसीहिं विहिवाओ अविभिर्बंदिताः सर्वंविद्या ।
मिच्छस्सपि म्लेच्छस्सपि सिध्यन्ति सिध्यन्ति । विज्जाओ विद्याः । सच्चवाविस्स सत्त्ववादिनः ॥

अर्थ—आपिण सत्यभाषण करते हैं. श्रमियोंने सर्व विद्याये उत्पन्न की हैं. जो सत्यवादी है ऐसे
म्लेच्छ को भी विद्यायें सिद्ध होती हैं.

ण उहदि अग्नी मन्वेण णरं जलं च तं ण वुड्ढेइ ॥
 सत्त्ववलिंयं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिण्दी वि ॥ ८२८ ॥
 दघाते न हुताओन न निमज्जति वारिणि ॥
 ग्रन्थः सत्त्ववलोपेतो नरो नवापि नोद्यते ॥ ८४७ ॥

विजयोदगा—ण उहदि अग्नी पारं न दहस्यति सत्त्वेन वरं । जलं च तत्र घुट्टेइ अहं च तत्र निमज्जयति ।
 मन्त्रवर्ण्ये मायमेव नरो मन्त्रयति ते न वहति नारुयति । तिस्र्या गिरिन्दीवि तीजयेण गिरिन्दीवि ॥

अर्थ—सत्यवादी को अग्नि जलाता नहीं पानी उसको डुबोनेमें असमर्थ होता है. सत्यभाषण ही जि-
 नका चालार्थ है ऐसे मनुष्य को चढे वेगसे पर्वतपस्से छूदनेवाली नदी भी नहीं बहा सकती है.

सत्त्वेण देवदावो णवन्ति पुरिसस्म ठन्ति य वसम्मि ॥
 सत्त्वेण य गहगहिदं मौण्डु करेति रक्खं च ॥ ८३९ ॥
 यदथा भवन्ति सत्त्वेन देवताः प्रणमन्ति च ॥
 विभोचयन्ति सत्त्वेन ग्रहतः पान्ति च स्फुटम् ॥ ८४८ ॥

विजयोदगा—सत्त्वेण देवदावो णवन्ति सत्त्वेण देवता नमस्यन्ति । पुरिसस्म ठन्ति य वसन्तिम पुरुषस्य च यदो
 सिधति । गहगहिदं सत्त्वेण नोपद विद्याग्रहणं मोचयति सत्त्वेन । करेति सत्त्वेण रक्खं च कुर्वन्ति सत्त्वेन द्रष्टुं दिश्या ॥

अर्थ—सत्त्वने प्रभावसे देवतायें सत्यवादी को वंदन करती हैं. और उसके वज्र होती होती हैं. सत्यके
 प्रभावमें विशाच भाग जाता है. और सत्यके प्रभावमें देवतायें रक्षण करती हैं. अर्थात् सत्यवादीपर आपे हुयं
 नंरुट दूर रहती हैं.

माया न होइ विस्सस्सणिज्ज पुज्जो गुरुज्ज लोगस्स ॥
 पुरिसो इह सत्त्ववादी होदि नु सणियल्लओज्ज पिओ ॥ ८४० ॥

नरो मानेव विश्वास्यः पूज्यो गुरुर्विवाञ्जिते ॥
सत्यवादी प्रियो नित्यं स्वबंधुरिव जायते ॥ ८१९ ॥

विजयोदया—आदाय होति विस्वस्तकिल्ल मातेव भवति विश्वसनीयः । पूज्यो गुरुः लोभस्त पूज्यो गुरु-
चतुःकल । क. सत्यवादी पुरितो सत्यवादी गुरुः । प्रियो ह्येति तथियद्वयोव प्रियो भवति गेयुरिय ॥

अर्थ—सत्यवादी के ऊपर लोक माताके समान विश्वास रखते हैं. सत्यवादी लोक गुरुके समान
पूज्य समझे जाते हैं. सत्यवादी मनुष्य स्वजनके समान लोकोको प्रिय होता है.

सत्त्वं अयगवदोसं धुत्तूण जणस्त मज्झयारम्मि ॥
पीदि पावदि परमं जसं च जगविसुदं लहइ ॥ ८४१ ॥
भापमाणो नरः सत्तं लभते प्रतिमुत्तमाम् ॥
धुधानंक्करिं कीर्ति शक्षांकरसुंदराम् ॥ ८४० ॥

विजयोदया—सत्त्वं धुत्तूण सत्यवचनमुपत्ता । कीदमूतं? मज्झयदोसं शेररहितं । क? जणस्त मज्झयारम्मि
जननये । पीदि पावदि परमां प्रीति प्राप्नोति पत्तं । जसं लहइ यथाय लभते । जगविसुदं जगति विभुतं ॥

अर्थ—दोषरहित सत्यभाषण लोक सद्गुणार्थं बोलनेसे मनुष्य उत्कृष्ट आदरको प्राप्त होता है. और
जगत्तमं उसका बल प्रसिद्ध होता है.

सत्त्वमि तवो सत्त्वमि संजमो तह वसे सया वि गुणा ॥
सत्त्वं णिवंधणं हि य गुणाणमुदधीव मच्छणं ॥ ८४२ ॥
गुणानामालयः सत्तयं मत्स्यानामिव नीरचिः ॥
प्रमाणमस्ति सत्तेन वज्जितोऽपि गुणैः परैः ॥ ८५१ ॥

विजयोदया—सत्त्वमि तवो सत्त्वमि संजमो सत्यापारो तप-संयमो, लेपाश्च गुणः । सत्त्वं णिवंधणं गुणाणं
तत्त्व गुणानां निबंधनं । सत्त्वं मच्छाण जक्रीय सत्त्वं मत्स्यानामुदधिरिव ॥ -

अर्थ—सत्यके आश्रयसे तप और संयमकी वृद्धि होती है. इस सत्यका आधार पाकर ही सर्वगुण अपनी वृद्धि कर सकते हैं. समुद्र जैसे मच्छोंका आश्रयस्थान है वैसे संपूर्ण गुणोंको सत्य आश्रय स्थान है.

सत्त्वेण जगे होदि पमाणं अण्णो गुणो जदि वि से णत्थि ॥

अदिसंजदो य मोसे ण होदि पुरिसेसु तणलहुओ ॥ ८४१ ॥

संपद्यंते गुणाः सस्ये संयमो नियमस्तपः ॥

संयतोऽपि मृषावादी जायते तृणतो लघुः ॥ ८५२ ॥

विलयोरपि—सत्त्वेण जगे होदि सत्येन जगति भवति । पमाणं प्रमाणं । यद्यप्यण्णो गुणो नास्ति । भतीय संयतोऽपि सतां मध्ये तृणवद्गुणवत्सि मृषावचनेनेति भाषार्थः ॥

अर्थ—पुरुषमें सत्यके सिवाय अन्य गुण न होनेपर भी सत्यगुणसे ही वह प्रमाण माना जाता है. महान संयमी बुनि भी सरपुरुषोंके समुदायमें असत्य कचन घोलनेसे तृणके समान तुच्छ होजाता है.

होहु सिंहडी व जह्मी मुंडो वा णग्गओ व चीवरचरो ॥

जदि भणदि अलियवयणं विलंबणा तस्स सा सव्वा ॥ ८४४ ॥

मुंडो जदी चित्थी नम्रधीचरी जायतां नरः ॥

विंबयनाखिला सारस्य वितथं यदि भाषते ॥ ८५३ ॥

विलयोरपि—होहु सिंहडी मय्यु नाम खिखावान् । जदी मुंडो वा । नम्रधीचरचरो वा ययलीकं वदति तस्य ॥ सार्थो विलंबना ॥

अर्थ—भटुप्प शिल्पा रत्नेनेवाला हो, जदा धारण करनेवाला हो, मुंदन करनेवाला वग्न अथवा चीवरधारी, हो, यदि वह असत्य घोलता है तो वह सर्व उसकी विटंबनाही समझनी चाहिये.

जह परमणस्स त्रिसं विणासयं जह व जोव्वणस्स जरा ॥

तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासयमसव्वं ॥ ८४५ ॥

कालकूटं यथास्तस्य यौवनस्य यथा जरा ॥
शुणानां चिद्धि सर्वेषां नाशकं वितथं तथा ॥ ८५४ ॥

विजयोद्या—जह परमपणस्स यथा परमावस्थ विनाशकं विधे । यथा वा जरा यौवनस्य, तथा जामीहि
अहिंसादिशुणानां विनाशकं असत्ये ॥

अर्थ—जैसे उरकट अमृतोषम अन्नको विष नष्ट कर देता है, वद्वारस्या तारुण्यको नष्ट करती है वैसे यह
असत्य भाषण अहिंसादि शुणोंको नष्ट करती है.

मादाए सि य वेसो पुरिसो अलिण्ण होइ इक्केण ॥
किं पुण अवसेसानं ण होइ अलिण्ण सत्तुन्व ॥ ८४५ ॥

समातुरप्पविद्वाभ्यो यथाभाषणलालसः ॥
शेषाणां किमु लोकाणां न शत्रुरिव जायते ॥ ८५५ ॥

विजयोद्या—मादाए सि य मातुरप्पविद्वाभ्यो अवस्यलोकेण एकेण पुरुषेण । शेषाणां पुनरं किं भवेयल्लोकेन
शत्रुरिव ॥

अर्थ—शूठ बोलनेवाले मनुष्यपर माता श्री विश्वास नहीं रखती है, फिर इस एक असत्य भाषणरूपी
दोषसे अन्य लोक उसको शत्रुसमान क्यों नहीं गिनेंगे.

अलियं स किं पि मणिः घाद कुण्णि बहुगण सव्वाणं ॥
अविसंकिदो य सयनमि शेोः अलियभासणो पुरिसो ॥ ८४७ ॥

एकेनासत्यवाक्येन सत्त्वं ऽपि हन्धते ॥

सर्वत्र जायते नित्यं शक्तिने ऽत्यभाषकः ॥ ८५६ ॥

विजयोद्या—अलियं स किं पि मणियं सच्छुद्धं । सत्यानि बहूनि नाशयति । अलीकवादी पुरयः
स्यमपि शक्तिनो भवति कितरां ॥

अर्थ—एकदफे ही गैला हुआ असत्य भाषण अनेक बार बोलें हुए सत्यभाषणोंका महार करता हैं असत्यवादी पुरुष स्वयं भी मनमें डरवा है योकायुक्त रहता है मेरा असत्यभाषण यदि प्रकट होया तो मेरा नाश होना ऐसी भीति उसके मनमें उत्पन्न होती है

अप्यन्वचो अकिची भंभारदिकलहेवरभ्यसोगा ॥

वधवंधमेवणाणा सन्वे मोसमि सणिहिडा ॥ ८४८ ॥

अप्रत्ययो भयं चैरभकीर्तिभरणं कलिः ॥

विपावो मत्सरः शोक सर्वेऽस्त्यस्य बांधवा ॥ ८४७ ॥

आयासरसनाछेदसर्वस्वहरणाद्य ॥

इरासत्येन लभ्यते परत्र नरकाचनिः ॥ ८५८ ॥

विजयोदया—अप्यन्वचो अत्रत्यव । अकीर्ति, लक्ष्मि, अरति कलहो, वैर, भय, शोक, वधो, उध, स्वजनमेव, धत्ताशब्देत्यमी दोषा समिहिता नृगवजने ॥

अर्थ—अविश्वास, अकीर्ति, महोदधपरिणाम, तिरस्कार, कलह, वैर, भय, शोक, वध, उध, स्वजनमें फूट, और धनका नाश ऐसे पाप सत्यभाषणसे उत्पन्न होते हैं.

पापसामगमदारं असत्त्ववयणं भणति हु जिणिवा ॥

द्विदण अपावो वि हु मोसेण गदो वत्तु णिरयं ॥ ८४९ ॥

कलिलस्यासन्नद्वारं वित्तवं रुधितं जिने ॥

निष्पापो हि यस्सुत्तेन अत्रितेन नरकंगत ॥ ८५० ॥

विजयोदया—पापस्यागमद्वारमिति वदत्वसत्य जिनेन्द्र । इत्थं अपापोऽपि मृगामात्रेण वसुगन्तो नरक इत्याख्यातक वाक्य ।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान असत्य भाषण पाप कर्मके आसन्न दरवाजेके समान है ऐसा कहते हैं अर्थात्

असत्य भाषण पापात्मकता कारण है. इदयमे पापसहित वस्तु राजा असत्यभाषणसे नरकमें चला गया.

परलोभमि वि दोस्ता ते चेव ह्वंति अलियवादिस्स ॥

मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स ॥ ८५० ॥

असत्यवादिनो दोषाः परचापि भवन्ति ते ॥

मुंचतोऽपि प्रयत्नेन गृषाभाषाविदूषणम् ॥ ८६० ॥

विजयोदया—परलोभमि वि दोसा परभवेऽपि दोषास्त एव भयस्वलीकृवादिनः। यत्तेनापि पटिहस्तः। किं? मोसादिमे दोसे दुषादिकान्दोषान्। सुषा आदिषोणं स्तेषाग्रहपरिग्रहाणां ते मुषादयः। भयद्रुणले-
विनामवजुमुमीदिरत्र ग्राह्य। स्तेषादिषोषात्परिहृतोऽपीत्यर्थः ॥

अर्थ—असत्य दोहनेवाले पुरुषको अविश्वास वगैरे दोष परलोकमें भी प्राप्त होते हैं. असत्य भाषण चोरी मेधुन, परिग्रह वगैरह पापोंका त्याग करनेपर भी, परलोकमें इन दोषोंका यह पुण्य कर्तो है ऐसा माना जाता है. परजन्ममें बड़े प्रयत्नसे इनका त्याग करने पर भी इन दोषोंका उसके ऊपर आरोप आता है.

अथतु नाम भयस्यपस्यादिका गृषाभाषवस्य दोषाः कर्कशवचनादिना परत्वे इह वाच्य के दोषा इत्यत्राच्छेदः—

इहलोइय परलोइय दोसा जे हंति अलियघयणस्स ॥

कक्कसवदणादीण वि दोसा ते चेव नादब्बा ॥ ८५१ ॥

ये सन्ति वचनेऽलीके दोषा दुःस्वविधायिनः ॥

त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ॥ ८६१ ॥

विजयोदया—इहलोमिय दोसा बरिसुखमनि परत्र च ये दोषा मवन्ति कलीकृवादिनः। कर्कशवचनादीनामपि त एव दोषा इति दातव्या ॥

अदरयवचन चोलनेसे अविश्वास वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं परंतु कर्कशवचनादिकसे परभवसे अथवा इस भयसे कोनसे दोष उत्पन्न होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—अमल चोलनेसे इहपर लोकमें जो दोष उत्पन्न होते हैं वे ही दोष कर्मशिवचनादिकसे भी उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना चाहिये-

उपसद्धारगाथा—

एदेसि दोसाणं मुक्को होदि अलिआदिवविदोसे ॥

परिहरमाणो साधू तत्त्विवरीदे य लभदि गुणे ॥ ८५२ ॥

असत्यमोषिणो दोषा मुंचति सकला उमे ॥

तद्विपक्षा गुणाः सर्वे लभ्यन्ते वुषप्रलिताः ॥ ८६२ ॥

अवमयविषयनचित्तधिमोषी निरुपमसुम्बकरजिनमतरोचो ॥

परमं वचयति कलिलमशेषं यशयति मुनिमुत्तवचनविशेषम् ॥ ८६३ ॥

इति सत्यम् ॥

विजयोदया—एतेभ्यो दोषेभ्यो मुक्को भवति व्यलीकृदियन्ने दोषाण्य परिहरवि साधु । लभदि तत्त्विवरीदे तेनापि दोषप्रतिपक्षभूताग्रहयितावादिगुणान् । प्रत्यय, कीर्ति, असह्येय, रति, कलहरभाव, निर्भयतादिकम् ॥ तस्य ॥

उपमंद्धार गाथा—

अर्थ—असत्य मापण, कर्मशादिभाषणोक्ते दोषोंका जो त्याग करता है वह पुरुष इन दोषोंके प्रतिपक्षरूपी गुणोंकी प्राप्ति कर लेता है. अर्थात् जगमें निश्चय, कीर्ति, असंख्य, कलहका अभाव, निर्भयता वगैरह गुणोंका उसको लाभ होता है. सत्यमद्धारवक्ता वर्णन हुआ

व्याख्याय सत्यमत तृतीयवक्त निगदति—

मा कुणसु तुमं शुद्धि बहुमप्यं वा परादियं घेत्तुं ॥

दंतंतरसोषण्यं कल्लिदमेत्तं पि अविदिणं ॥ ८५३ ॥

बहुरूपं च परब्रह्ममदत्तं मा ग्रहीस्त्रिधा ॥

ब्रतस्य ध्वंसने शक्तं दत्तानामपि शोधनम् ॥ ८६४ ॥

विजयोदया—मा कुणस्तु तुमं बुद्धि मा छयास्त्वं बुद्धि । कीदृशी ? एषादिवं घेत्तुं परकीयं वस्तु ग्रहीतुं । परकीययष्टुविशेषणमाच्छे—बहुमर्त्यं वा ग्रहदम्पं वा । अत्यद्रव्यपरिमाणमभिधाति—दत्तं तत्सो धनमं कालिदमेतं पि दत्तान्तरशुद्धिफारि वृणदालाकामात्रमपि । अविनिष्णव यवर्षे ॥

अचौर्यवतका वर्णन—

अर्थ—हे क्षयक ! तुम इससे जे द्राता नहीं दी गई छोटी या मोटी वस्तु कदापि मत ग्रहण करो. जिससे दातोंमिसे मल निकाला जाता है ऐसी तृणखलकामी ग्रहण करना योग्य नहीं है.

जह मक्कडओ धावो वि फलं वृहूण लोहिदं तस्स ॥

दूररथस्स वि छेवदि चित्तूण त्रि जह वि छंडेदि ॥ ८५४ ॥

दूरस्थितं फलं रक्तं यथा तृप्तोऽपि मर्कटः ॥

ग्रहीतुं धावते इच्छुः श्रूयो यद्यपि मोक्षयति ॥ ८५५ ॥

विजयोदया—जह मक्कडओ यथा मर्कटो यानरः । धावो वि वृत्तोऽपि । वृहूण फलं इच्छयापि फलं । लोहिदं रक्तं । तस्स दूररथस्स वि छेवदि दूरस्थमपि फलमुद्दिश्योद्धुववं करोति । जह वि चित्तूण छंडेदि यपि ग्रहीत्या त्यजति ।

अर्थ—जैसे मर्कट—यानर तृप्त होकर भी लालरंगका फल देखकर दूरसे ग्रहण करनेके लिये दौडकर आता है. यद्यपि वह आगण कर उसको छोट देगा तोभी प्रथम लोभयुक्त होकर उसे ग्रहण करता है.

वार्धन्तिके योजयति—

एवं जं जं पस्सदि दव्वं अहिलसदि पाविटुं तं तं ॥

सब्बजगेण वि जीवो लोमाइहो न तिप्पेदि ॥ ८५५ ॥

तथा निरीक्षते द्रव्यं यद्यत्तत्तल्लिख्यक्षति ॥

जीवच्छिलोकलाभेऽपि लोभग्रस्तो न तृप्यति ॥ ८६६ ॥

विजयोदया—एव जे जे पस्तति एवं यद्यत्यक्षति प्रव्यं । तं त पाविदुमद्विलसति । तच्च द्रव्यं प्राप्तुमभिल-
पति । सन्तुजेन पि संयोजापि जगता । लोभादहो जीवो य तियेवि जीवो लोभाविषो न तृप्यति ॥
दाष्टान्तिरुमं ऊपरका आदाय संयटित करते हैं—

अर्थ—ये लोभी मनुष्य जो जो वस्तु देखता है वह वह प्राप्त कर लेने की इच्छा करता है लोभवश
हुआ मनुष्य मर्ने नलोक्ष्यती प्राप्ति होनेपरभी तृप्त होता नहीं

जह मारुवो पवट्टइ खणेण वित्थरइ अबभयं च जहा ॥

जीवस्स तहा लोभो मंदो वि खणेण वित्थरइ ॥ ८५६ ॥

यथा विषद्वेत्ते धातः क्षणेन प्रथते यथा ॥

प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मंदोऽपि वेद्दिनः ॥ ८५७ ॥

विजयोदया—जह मारुवो पवट्टइ यथा मास्स । प्रवट्टेते । एणेण खणेन । वित्थरइ विस्तीर्णो भवति । अबभयं च
जहा यथा धातं । जीवस्स जीवस्स । तह तथा लोभो मंदोऽपि रूपेणेय विस्तीर्णतामुपयति ।

अर्थ—ऐसे मंद वायु एक क्षणके अनंतर वदकर विस्तीर्ण होता है । अथवा जैसे आकाशमें मेघ प्रथम
घोटे रहते हैं और अनंतर नहते रहते सर्व आकाश व्याप्त कर देते हैं एवं जीवका लोभ प्रथम मंद होता है नगर
क्षणसे विस्तीर्ण होता है ।

यादाद्रभ्यस्तसिधिमयेक्य लोभकर्मण उदयो जायते तस्य लोभः संवर्द्धते तद्वृद्धौ चायं दोष इति व्याचष्टे—
लोभे य वट्ठिदे पुण कज्जाकज्जं णरो ण चित्तेदि ॥

तो अप्पणो वि मरणं अगर्णितो चोरियं कुणइ ॥ ८५७ ॥

प्रवृद्धे च ततो लोभे कृत्याकृत्यविचारकः ॥

स्वस्थ मृत्युमजानानः साहसं कुर्वते परं ॥ ८६८ ॥

विजयोत्पत्त्या—जोभे य वहिदे पुण लोभे य वृद्धियुगले पुनः । कब्जाकब्जे नरो ष चित्तेदि कायं अकायं च न मनता निरुपयति । इदं वन्तु युक्तं न यति । तो तवः युक्तयुक्तयिचारणमायात् । अप्पणो मरणमपि भगणिचा आत्मनो मृगुमप्यगप्य । जोत्ति चोयं करोति । चवीप्रहर्णं, तालोदाटनसंयवेसादिकं च । भयं सुत्थोः कष्टतरमयस्थितमपि न गणयति नराधोयं मृत्युत्त इति भावः ॥

सायददायाँका मात्रिप्य प्राप्त् करेकं च तौम कर्मका उदय होता है तब लोभ वृद्धिगत होता है- लोभ पदनेने आगे खिंचे हुए दोषणी वृद्धि होती है—

अर्थ—लोभ की वृद्धि होनेपर मनुष्य करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यका मनसे विचार ही नहीं करता है अपना अकार्य भी उसको योग्य लगता है. युक्तायुक्त विचार के नष्ट होनेसे जिससे प्रण प्राप्त होगा ऐसा भी मादमरुम करनेसे लिये उष्टुक होता है. चोरी करता है. चोरी करनेसे कारागृहमें दुःख भोगता है. धीमत्तके परता वाला लोलर अंदर प्रवेष्ट करता है. मृत्युका कष्टतर भय उपस्थित होनेपर भी लोभाविष्ट मनुष्य कुछ पता नहीं करता है.

न नेचल्लयात्थन धयेयद्वयकादि चोयं जणि तु परेणामपि महतीमानयति विषदमिति कथयति—

सत्थो उवहिदुब्धी पुरिसो अत्थे हिदे य सत्थो वि ॥

सत्तिप्पहारविद्धो व होदि हियमंमि अदिदुहिदो ॥ ८५८ ॥

सयोंप्यथ हत्ते द्रव्ये पुरुषो गतयेतनः ॥

आसित्तिविद्ध इव स्थान्ते सदा दुःम्यायते तराम् ॥ ८५९ ॥

निसयेदया—सत्थो उपहितपुत्ती सयों जन. उवहिदुब्धिः स्थापितचित्त- । क ? अत्थे वस्तुनि इदं भयत्विचि । भागे हिदे य सत्थो वि सयोंपि जनो ययं हते । अतिदुहिदो अतीव दु रिता भवति । किमिच ? सत्तिप्पहारविद्धो हिदेये नरायात्येन सत्थेन हृदये विद्ध इव ।

चोरी करनेसे चोरकोही उपद्रव होता है ऐसा नहीं. अन्य लोगोंके ऊपरभी उनसे बड़ी विपत्ति आती है.

अर्थ—मर्त्य लोकोकी उदि धनमें आमक रहती है. इसलिये ऐसे धनका चोरक़दारा हरण होनेपर उनको मरणतुल्य दुःख होता है हृदयपर शक्तिनामक शक्ती की चोट लगनेपर जैसा दुःख होता है वैसा धनहरण होनेसे दुःख होता है.

अत्यग्निं हि दे पुरिसो उम्मत्तो विगयत्वेयणो होदि ॥
मरदि च हव्वारिकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स ॥ ८५९ ॥
द्रव्णिणे अहिलीन्तूय म्रियतेऽयं हत्ते नरः ॥

हाकारमुखरः क्षिप्रं नृणामर्थो हि जीवितम् ॥ ८७० ॥

विजयोद्या—अत्यग्निं हि दे पुरिसो उम्मत्तो विगयत्वेयणो होदि उम्मत्तो विवेतनो भवति । चेतनाविरोधे शान्त्यर्थे चेतनाशब्दो वर्तते नष्टानो भवतीति यावत् । अन्यथा चेतन्यस्य विनाशाभावात् ॥ मरदि च हव्वारिकिदो अत्थो जीवं खु पुरिसस्स पुरुषस्य जीवितमर्थः ॥

अर्थ—दूसरे के द्वारा अपना धन खूदा जानेपर मनुष्य उन्मत्त अर्थात् पागल बनता है, ज्ञानरहित होता है, मेरा धन मेरा धन ऐसा बारबार कहता हुआ प्राणोंका भी त्याग करता है, इसलिये 'धन मनुष्यका प्राण है' ऐसी जो लोकोक्ति जगमें प्रचलित हुई है उसमें सत्यता है.

अहर्हृत्तिरिदरिसागरजुद्धाणि अहंति अत्यलोभादो ॥

पियबंधं चेवि जीवं पि णरा पयंहंति घणहेटुं ॥ ८६० ॥

विचरंति पर्वतेऽम्भोद्यौ युद्धदुर्गवनादिषु ॥

त्यजंति द्रव्यलोभेन जीवितं बांधवानपि ॥ ८७१ ॥

विजयोद्या—अहर्हृत्तिरिदरिसागर अदबी, दरी, निर्दि, सागर, युद्धं मयिशक्ति आंधलोभात् । प्रियबंधं धनं अहति घननिमित्तं, । सर्वेभ्यो धनं प्रियतमं यत्तत्तदर्थिनः सर्वं त्यजन्ति इति भाषार्थो माध्यायाः ॥

अर्थ—धन के लोभमें मनुष्य बंगल, पर्वत, समुद्र और युद्धमें प्रवेश करते हैं, धन के निमित्तसे अपने प्रियपुत्रोंका और प्राणोंका भी त्याग करते हैं, प्रिय बांधव और प्राणोंसे भी धन मनुष्यको अत्यंत प्रिय है क्योंकि इसके लिये धनार्थी सबोंका त्याग करते हैं.

अत्ये संतमि सुहं जीवदि सकलचपुत्तसंबंधी ॥

अत्थं हरमाणेण य हिंदं हव्वदि जीविदं तेसि ॥ ८६१ ॥

विद्यमाने धने लोका जीवन्ति सहवंपुभिः ॥

तस्मिन्नपहृते तेषां सर्वेषां जीवितं हृतम् ॥ ८७२ ॥

वित्तयोदया—यत्ने सेतमि सुदं अयं सवि सुतं । जीवति सकलतपुचलवंधी जीवति सह कलत्रैर्योगिभिः, पुत्रैर्युग्मिभ्यः । अयं हृत्वा तेषां कलत्रादीनां जीवितमेव हृतं भवति ॥

अर्थ—चोरके हृदयमे दया, लज्जा, दम, और विद्यात ये गुण निवास नहीं करते हैं. चोरको धनके लिये कुछ भी अकलंव्य नहीं है. अर्थात् अत्यंत निंद्य, और क्रूर कार्यभी वह धनके लिये करता है.

चौरस्त नत्थि हियए दया च लज्जा दमो व विरसासो ॥

चौरस्त अत्थहेदुं नत्थि य कादन्वयं किं पि ८६२ ॥

न विन्यासो दया लज्जा सन्ति चौरस्य मानसे ॥

मायुल्यं धनलुब्धस्य तस्य किंचन विद्यते ॥ ८७३ ॥

निजयोदया—चौरस्त नत्थि हियए दया च लज्जा दमो, विरसासो ॥ चोरस्य नत्थि अकलंव्यं किंचिन् । अर्थादिम इति मायायं ।

अर्थ—घनमे इष्टियमुलकी प्राप्ति होती है, धनसे मनुष्य पत्नी, पुत्र और संबंधी जनोके साथ जी सकता है. और यदि उसका धन चोरने हरण किया तो उसने उसका और उसके पत्नी पुत्रादिकोका जीवित हरण किया ऐसा ममज्ञाना चाहिये.

लोगभि अत्थि पक्खो अवरद्धंतस्स अण्णमवराधं ॥

णीयछया वि पक्खे ण होति चोरिक्खसीलस्स ॥ ८६३ ॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र पक्षे लोकोऽपि जायते ॥

बंधवोऽपि न चौरस्य पक्षे सन्ति कदाचन ॥ ८७४ ॥

विज्ञयोदया—लोगभि अत्थि पक्खो लोकेऽस्ति पक्षोऽयमपराधं हितादिकं कुर्वतो बंधवोऽपि न पक्षतो प्रतिपद्यंते ये चौर्यकारिणः ॥

अर्थ—हिंसादिक अन्य अपराध करने वालोंके पक्षमें लोक रहते हैं परतु मंथुभी चोरों करने वालोंके पक्षमें रहना नहीं चाहते हैं

अणं अवर्ज्यं तस्मिन् दिति गिरये घग्नि आवासं ॥

माया वि य ओगासं ण देह चोरिक्खसीलस्स ॥ ८६४ ॥

वित्तरंति जना स्थानं दोषेज्ज्यत्र कृते सति ॥

स्नेये पुनर्न मातापि पुरुषानकदायिनि ॥ ८७५ ॥

विक्रयोदया—अण १। अवर्ज्यं तस्मिन् अन्य अपराध कुर्वत वदति स्वायत्ते भवन्ताम् । माताप्यकाशा न वदति सुराया मयूखस्य ॥

अर्थ—अन्य अपराध करने वालोंको लोक अपने घरमें आश्रय देते हैं परतु लोक तो क्या चोरी करनेवाले मनुष्यको उसकी माता भी आश्रय देती नहीं

परदत्त्वहरणमेद आसवदारं सु वेति पावस्त ॥

सोभारियवाहपरदारयेहिं चोरो हु पापदरो ॥ ७६५ ॥

द्रवधापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते ॥

सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः पापीर्यास्तस्करो मतः ॥ ८७६ ॥

विजयोदया—परदत्त्वहरणमेद परदत्त-पापहरणमेव पापस्याकचद्वारं भुषति । शौरिकारत्, व्याधत्, पर वारत्तिविजान् चौर पापीयान् ॥

अर्थ—परदत्त्व हरण करना यह पाप आनेका द्वार है सुअर का घात करनेवाला, मृगादिकालो परतुने-वाला और परस्त्री गमन करनेवाला इनसे भी चोर अधिक पापी बिना ज्ञाना जाता है

सयणा भित्तं आसुयमह्णीणं पि य महल्लए दोसे ॥

पाडेदि चोरियाए अयसे दुक्खम्मि य महल्ले ॥ ८६६ ॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं दुराचारो मलिम्लुचः ॥

सर्वं पातयते दोषे दुष्पथे दुर्गन्धस्यपि ॥ ८७७ ॥

विजयोदया—सयने मितं चंद्रमिश्राणि आश्रययुतं समीपस्थं च महति दोषे चंचलपणपदरणादिके पातयति चौर्ये । महत्सयशक्तिं दुराचरे न निपातयति ॥

अर्थ—चोरके जो स्वजन, मित्र, और आश्रयसे रहनेवाले अन्य लोगोंको भी यह चोरी बड़े संकटमें पिरा देती है, अपरिचित चोरके साथ उसके स्वजन मित्रादिकोंकोभी लोक बांधते हैं, उनके अवयव सोदते हैं, उनका धन छीन लेते हैं, बड़ी अपकीर्ति और दुःसम्पत्ति गिराते हैं।

चंद्रवधजडणाञ्जो छायायादपरिस्वस्वखयं सोयं ॥

पावद्वि चोरो सयमवि मरणं सत्त्वस्सहरणं वा ॥ ८७७ ॥

ययं ययं भयं रोधं सर्वस्वहरणं, मृत्पिम् ॥

वियायं यातना लोकं तस्करो लभते स्यम् ॥ ८७८ ॥

विजयोदया—चंद्रवधजडणाञ्जो कर्म, ययं, यातनाय, छायायातं, परिग्रहं, भयं, शोकं प्राप्नोति । स्वयमपि चोरो मरणं सर्वस्वहरणं वा ॥

अर्थ—अपयव सोदना, बांधना, अनेक प्रकारसे पीडा देना, परापर कत्तना इत्यादिक प्रकारसे लोक चोरोंको तकलीफ देते हैं, शोक, सर्वस्वहरण और मरण इन दुःखोंको चोर प्राप्य होता है।

णिचं दिया य रत्ति च संकमानो ण णिदमुवलमदि ॥

तेणं तओ समंता उव्विगमओ य पिच्छंते ॥ ८७८ ॥

यांकमानभना निव्रां तस्करो जातु नाशुते ॥

कुरंग इव चित्रस्ते वीक्षते सकला दिशाः ॥ ८७९ ॥

विजयोदया—णिचं दिया य रत्ति च संकमानो नित्यं दिवारात्रि संकमानः न निद्रासुषुप्तते चौरः । समंता-
त्येस्ते उव्विगमरिण इय ॥

अर्थ—चोरके मनमें दिनरात मग रहता है. उसको मगके बारे निद्रा भी आती नहीं. वह हमेशा चारों तरफ मगयुक्त हरिणके समान देखता रहता है.

उंदरकंदपि सहं मुच्चा परिवेमाणसब्बंगो ॥

सहसा समुच्छिदभओ उन्निगो धावदि खलंतो ॥ ८६९ ॥

आकर्ण्य भूपिकस्यापि दाढं संकितमानसः ॥

धावते सर्वतः सद्यः स्वलन्स्वमरणाकुलः ॥ ८७० ॥

विजयोदया—उंदरकंदपि सहं मूककलनकुतमपि दाढं सुग्या मरुत्तस्वर्गगाधः । सहस्रोपरभयोदितो घटति । स्थलपदे पदे ॥

अर्थ—भागते हुए मूकका अर्थात् चहेका ब्वनि सुनकर चोर भीतीसे थरथर कांपने लगता है और बरकर दौढ़ने लगता है. दौढ़ते समय गहपदीसे गिरजाता है.

घटि पि संजमंतो घेत्तू किलिदमेत्तमविट्ठिणं ॥

होदि हु तणं न लहुओ अप्पच्चदओ य चोरो व्व ॥ ८७० ॥

अदस्से तृणमात्रेऽपि गृहीते संयतोऽपि ना ॥

अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो जायते लघुः ॥ ८८१ ॥

विजयोदया—घटि पि संजमंतो मित्तरामपि लयमं कुर्वन् । अदस्से तृणमात्रमपि गृहीत्या तृणयत्तुमर्पति, अस्त्रयितश्चौर इव ॥

अर्थ—महान् संयम धारण करके भी साधु न दिया हुआ तृणमात्र भी ग्रहण करके चोरके समान अति-श्रासी बन जाता है और तिनके के समान रलका हो जाता है.

परल्लोगम्मि य चोरो करेदि गिरयम्मि अप्पणो वसदिं ॥

तिव्वाओ चेदणाओ मणुभवहिदि तस्य सुचिरं पि ॥ ८७१ ॥

विधाय पुरुषः स्तेयं नारकीं वसतिं गतः ॥

सहते वेदनास्तत्र चिरकालं सुदुःसहाः ॥ ८८२ ॥

विजयोदया—परलोकमिमं यं चोरो कोरेदि परलोकं चोराः करोष्यात्मनो नरके वसति । कीदृश्वतो यत्र नरकेषु सुचिरं दीर्घकालं पत्यमलः सीधयेवना अनुभवति ॥

अर्थ—चोरीके पापसे मरकर चोर वरकमें जाता है, उत्पन्न होता है- और दीर्घं कालतक पचता हुआ तीव्र वेदनाओंका अनुभव करता है-

तिरियगदीणुं वि तहा चोरो पाठणदि तिब्बदुस्खाणि ॥

पाण्ण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरं ॥ ८७२ ॥

लभते दान्तरुं दुःखं स्तेनस्तिर्यग्गताचपि ॥

प्राप्नोति प्रापदाः पापो योनीं नीचामसौ चिरम् ॥ ८८३ ॥

विजयोदया—तिरियगदीणं वि तहा तिर्धन्गताचपि चोराः प्राप्नोति र्नामणि दुःखानि । प्रयेण नीचयोनिष्वेव संसर्पति सुचिरमपि ॥

अर्थ—चोर पापकर्मसे पशुगति में जन्म लेकर तीव्र दुःखोंका दीर्घ कालतक अनुभव लेता हुआ अमण फरता है और प्रायः नीच पशुओंमें—अर्थात् कुत्ता, सुपट, गधा इत्यादिकोंमें तथा विकलवयादिक योनिओंमें अमण करता है-

माणुसभवे वि अत्था हिदा व अहिदा व तस्स णस्संति ॥

ण य से षण्णुवचीयदि सयं च ओलद्विद्वि घणादो ॥ ८७३ ॥

नृत्येहता हता वार्थाः पलायंतेऽखिलाः स्वपम् ॥

न धियंते प्रयत्नेऽपि स्वयं यास्यति या ततः ॥ ८८४ ॥

विजयोदया—माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि तस्य अर्थो नश्यन्ति हता वा अहता वा । न चोपयाति संघं धनं, तस्य उपचितेऽपि धने स्वयं तस्मादुपयाति धनम् ॥

अर्थ—मनुष्यभवं भी वह चोर जन्य लेनेपर उसका धन पूर्वं पापकर्मिक उदयेसे हरा जाता है, अथवा वह दखिरी हो जाता है, कितना भी प्रयत्न करनेसे उसके पास धनसंचित होताही नहीं, अथवा धन संचित होने-परभी वह स्वयं उससे दूर चला जाता है, अर्थात् अन्तर्गत कर्मके उपाजनेसे वह धनका उपभोग ले नहीं सकता.

परदव्वहरणवुद्धी सिरिमूदी नयमज्झयारम्मि ॥

होदूपा हवो पहदो पत्तो सो दीहसंसारं ॥ ८७४ ॥

श्रीभूतिमहर्षौ प्राप्य पुरमग्ये विजम्बनाम् ॥

परद्रवपरलो दीनः प्रपद्ये दीर्घसंस्तुतिम् ॥ ८८५ ॥

विजयोदया—परदव्वहरणवुद्धी परद्रव्यहरणबुद्धिः, सिरिमूदी श्रीभूतिनगरमग्ये स्तुतितः प्रवृत्तश्च भूत्वा दीर्घसंसारं प्राप्तः ॥

अर्थ—पञ्चव्य हरणमें जिसकी बुद्धि प्रवीण थी ऐसा श्रीभूति नामका ब्राह्मण जो कि राजाका पुरोहित था वह नगरमें पीटा गया और मारा गया, इस चोरीके दोषसे उसने दीर्घ कालवक संसारमें भ्रमण किया.

अवसादात्मनोऽगच्छपदस्य दत्तं योन्वं गृह्णतेति व्याचष्टे—

गुदे सज्जे दोसा ण होति परदव्वहरणाच्चिरदस्स ॥

तत्त्विवरीदा य गुणा होति सदा दत्तमोहस्स ॥ ८७५ ॥

देवैदरायगहवहदेवदसाहम्मि उग्गहं तम्हा ॥

उग्गहविहिणा दिण्णं गेण्हसु सामणसाहणयं ॥ ८७६ ॥

एते दोषा न जायंते परद्रव्यविवर्जने ॥

तद्विपक्षा गुणाः सन्ति सुंदरा दत्तभोजिनः ॥ ८८६ ॥

इंद्रराजगृहस्वामिदेवतासमघर्मिभिः ॥

वित्तीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नञ्चितयवर्धकम् ॥ ८८७ ॥

विमुञ्चते यः परवित्तमंजसा निरिदियमाणं सदृशं गृह्णा सदा ॥
अनन्यसाधारणभूतिभूयिताः स याति निर्वाणमपास्तकल्मषः ॥ ८८८ ॥
इति अस्तेयम् ॥

विजयोदया—इतिदराजगद्वर देवैन्द्राणां, राक्षां, गृहपतीनां, राक्षसूटानां, देवतानां, सधर्मणां च पट्टिग्रहं ।
उमाद्विहिता अवग्रहविधिना । दिष्णे दत्तं । गिरहसु गृहाण । सामण्यसाहचर्यं ग्रामण्यसाधनं ग्रामसंयमस्य या
साधनं । अदत्ते ॥

आचार्येन अदत्तादानके-चोरीके दोष दिखाये जब योग्य दी हुई वस्तुका तू ग्रहण कर ऐसा क्षपकको
उपदेश करते हैं-

अर्थ—उपर्युक्त दोष चोरीका जिसने त्याग किया है ऐसे महापुरुषमें नहीं रहते हैं. परंतु उस महापुरु-
षमें उपर्युक्त दोषोंके विरुद्ध गुण उत्पन्न होते हैं. दिया हुआ पदार्थका उपभोग लेनेवाले उस महा पुरुषमें अच्छे
अच्छे गुण प्रकट होते हैं.

देवेंद्र, राजा, गृहस्थ, राजाधिकारी, देवता और सार्धमिक साधु इन्होंने योग्य विधीसे दिया हुआ,
मुनिपनाकी सिद्धि करनेवाला, जिससे ज्ञानकी सिद्धि होगी और संयमकी प्राप्ति होगी ऐसा पदार्थ दे क्षपक तू ग्रहण
कर. आचार्य महाप्रवक्ता वर्णन पूर्ण हुआ.

चतुर्थ व्रतं निरूपयति—

रक्ख्वाहि वंमचेरं अब्बंमे दसविधं तु वज्जिच्चा ॥
णिच्चं पि अप्पमत्तो पंचविधे इत्थिवेरग्गे ॥ ८७७ ॥
अत्रास्मा दशधा त्यक्त्वा रामावैराग्यपंचके ॥
नियेदय मानसं पाहि ग्रहचर्यमनारतम् ॥ ८८९ ॥

विजयोदया—रक्ख्वाहि वंमचेरं पाठय ग्रहचर्यं । अत्रा दशप्रकारमपि वर्जयित्वा नित्यमप्रमत्तः पंचविध
स्त्रीवैराग्ये ॥

अर्थ—हे शूफक ! तू दस प्रकारके अवस्थाओंका त्याग कर, ब्रह्मचर्यका आचरण कर- हमेशा ब्रह्मचर्यके पालन में सावधान रहना चाहिये और पाँच प्रकारके स्त्रीविरागमें हे शूफक ! तुम तत्पर रहो

ब्रह्मचर्य पालनेके लिये तू शायते इत्यादि काया तज्याचये—

जीवो वंभा जीवन्मि चैव चरिया हविज्ज जा जदिणो ॥

तं जाण वंभचरं विमुक्कपरदेहतिचिस्स ॥ ८७८ ॥

निरस्तांगांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ॥

जीवै ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ ८९० ॥

विशेषोद्घा—जीवो वंभा ब्रह्मराज्येन जीवो भण्यते । ज्ञानदर्शनविरूपेण ब्रह्मते इति वा । यायहोकाफां वंधते लोकपूरणात्वाया क्रियाया इति वा । जीवन्मि चैव ब्रह्मण्येय अर्था । जीवस्वरूपमनतपर्यायात्मक एव निरूप्यतो ब्रह्मि नो । त जाण जानीहि । यमचरिय ब्रह्मचर्यं । विमुक्तपरदेहतिचिस्स विमुक्तपरदेहव्यापारस्य ॥

सूत्रा—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धेभ्यां परद्रव्यसुखः प्रवृत्तिः ।

तद्ब्रह्मचर्यं ज्ञातसार्वभौमं ये प्राप्तिं ते याति पर प्रमोदम् ॥

ब्रह्मचर्यका रक्षण कर ऐसे में आपने कहा परन्तु ब्रह्मचर्य का स्वरूप क्या है ? ऐसी शकाका उत्तर आचार्य देते हैं—

अर्थ—ब्रह्मचर्य इस सामाजिक शब्दमें जो ब्रह्म शब्द है उसका अर्थ जीव ऐसा होता है, अथवा ब्रह्म शब्दका अर्थ बुद्धिगत होना बढना ऐसी है इस ब्रह्म शब्दसे ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है ज्ञान और दर्शन रूपसे जो बुद्धिगत होता है उसको ब्रह्म कहते हैं जीव इन गुणोंसे बुद्धिगत होता है इस वास्ते इसको ब्रह्म कहते हैं अथवा लोकपूरण समुदायमें यह आत्मा संपूर्ण लोकाकाशमें अपने प्रदेश पसार कर बढता है इस लिये जीवको ब्रह्म कह सकते हैं इस जीवका स्वरूप अनंत पर्यायात्मक है ऐसा समझकर उसके स्वरूपमें जो रमायण होने की क्रिया उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं इतारके अर्थमें प्रवृत्ति करना अर्थात् उसके देहको आलिंगन करना वगैरे क्रियाओंसे जो विरक्त हुआ है वह मुनि अपने आत्मके स्वरूपका—उसके ज्ञान, दर्शन चास्त्रि वगैरे शुद्ध गुणोंका विचार कर उसमें ही वृत्त होता है इसलिये ऐसे धुनिका ब्रह्मचर्य विशुद्ध होता है

मनसा पचसा तरीरेण परशरीरानोचरव्यापाराविशये लक्षकतः दशविषयब्रह्मत्यागात् दशविधे ब्रह्मचर्ये प्रयतीति यस्तु कामो न भवेद्भावाच्चे—

इच्छिविसयामिलासो वञ्छिविमोक्त्वो य पणिदरससेवा ॥

संसर्तद्वत्सेवा तदिदियालोयणं चेव ॥ ८७९ ॥

चित्रयोदया—इच्छिविसयामिलासो स्त्रीसंघिनो ये इन्द्रियाणां विषयास्तासां रूपं, तदीयोऽधररसः, तासां वक्षप्रत्ययो गंधः, सासां कण्ठ गीनः, हासो, मधुरं वचः, सुदुस्वरोध तत्र अभिलाषः । आत्म-
ररत्नपटितलपटिलक्षणे ब्रह्मचर्यं गृह्णीति ज्ञातना ब्रह्म ततोऽन्यो धामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्यायाः सोऽत्र
अपरोऽज्ज्ञातनेन तत्र ययां तावामिलापरिणतिः । पतिशयिमोक्त्वो मेहनतिप्रकारनिवारणं । पणिदरससेवा पुण्या-
हारससेयना । संसर्तद्वत्सेवा स्त्रीभिः संतकानां संनदानां शप्यादीनां सेवा तद्वत्स्वरोधेय कामिनां तनुब्रह्मसद्व्य-
पशोऽपि मीलि ज्ञपयति । तदिदियालोयणं चेव तासां परांगायलोकं य ॥

किं तदस्यविधं ब्रह्म कत्यारिलागात्तद्विलक्षणं वृत्तप्रकारं ब्रह्मचर्यं भवतीति जिज्ञासायामब्रह्मभेदान्वक्ष गाथाह-
येन निर्दिशति—

नूलापा—इच्छिविसयामिलासो स्त्रीणां संघिनो ये विषया इन्द्रियाणां गोचराः शिवाः सुन्दरं रूपं, तदधररस-
स्तत्पुलभसिवादिगंधस्तत्कण्ठगीतवृत्तिसमधुरगन्धमयनतल्लुचादिरसैश्च पु अभिलाषो महीबुमौस्तुल्यं । वक्षिवि-
मोक्त्वो लिंगविकारकरणं । पणिदरससेवा वृत्त्यव्ययसोपयोगः । संसर्तद्वत्सेवा लोसेयितव्यावसायप्रभोगः कामिनी-
तनुस्पर्शवत्कामिनां तत्संपृक्तद्वन्द्वस्पर्शोऽपि हि अतिमुत्पादयति । तदिदियालोयणं लीवरंगनिरीक्षणं ॥

मनसो, वचनसो और त्रीरसे परस्त्रीरके साथ जिसने प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है ऐसा मुनि दश प्रका-
रके अव्रतका त्याग करता है- तब वह दश प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन कर सकता है- प्रपकार अव्रतके दस प्रका-
रोंका वर्णन करता है—

अर्थ—स्त्रीमंचपी चो इन्द्रियोंका विषय है उनकी अभिलाषा करना अर्थात् उनका सौंदर्य, उनका अधर-
रस, उनके मुखका गंध, उनका मनोहर गायन, हंसना और मधुर भाषण, तथा उनके शरीरका सुदुस्पर्श इनकी
अभिलाषा करना- यह अव्रत है- आत्माके शुद्ध स्वरूपको जानकर उसमें परिणति करना अर्थात् प्राप्ति करना
ब्रह्मचर्य है- इस ब्रह्मचर्य को धारण करनेवाले आत्माको ब्रह्म कहते हैं- इस ब्रह्मसे विरुद्ध जो स्त्रीके शरीरके रूपादि

पर्याय उनको अवलोकने हैं ऐसे अवलोकने चर्चा करना अर्थात् अभिलाषा करना या अन्नक्षर्च्य है-

२ वात्स्यनिमोक्त्वो—अपने इंद्रियमें विकार होना, अर्थात् अपने लिंगमें विकार होना वह स्थिर और दृढ होना।

३ वृष्यरससेवा—जिससे शरीरमें बल बढ़ेगा, वीर्यवृद्धि होगी, ऐसा आहार और ऐसे रसोंका सेवन करना-

४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रियोंके श्रव्या वरीरु पदार्थोंका सेवन करना—उपभोग लेना। स्त्रीके शरीरका स्पर्श जैसे कामिगोको प्रीति उत्पन्न करता है वैसे उनके श्रव्यादिक पदार्थों का स्पर्श भी कामिगोको हर्ष उत्पन्न करता है-

५ तदिन्द्रियालोचन—स्त्रियोंके सुंदर अंगोंका अवलोकन करना-

संस्कारो संस्कारो अदीदमुनरणमणादभिलासे ॥

इष्टविसयसेवा वि य अव्यं वसविहं एवं ॥ ८८० ॥

गद्य—स्त्रीरूपाद्यभिलाषयस्तिमोक्षणधृष्याहारसेधनतसंस्तद्रूप्यासुरागतद्वारांगनिरीक्षणसत्कारसंस्कारादरतानीतरतस्मरणानागतभिलषणेश्विषयनिषेधस्वरूपं दशविषयमद्रक्ष्य मंतव्यम् ॥ ८९१ ॥

विज्ञयोव्या—संस्कारो संस्कारो सम्मानना । स च तदुरागप्रवर्तितः । संस्कारो संस्कारः दासां पलमात्प्रादिभिः । अदीदमुनरणं अतीतकालवृत्तिस्तीक्षास्मरणं । आणमदभिलाषा भविष्यति काले एवं तामिः प्रीडां कल्प्यामि इति रतभिलाषः । इष्टविसयसेवा वि य इष्टविसयसेवापि च । अर्थात् वसविहं एवं अग्रा दशमकार्त्तमवलेतम् । अक्षीणरागस्य परद्रव्योपयोगाद्रागेनैव भवतः । तेन सद्युत्सोपयोगः, परद्रव्यालेखनं, क्षानभदानमिति धीतरागतावितु चरणं प्रक्षर्च्य ततोऽन्यदिदं दशविषयमग्रेयेति निरूपितं ॥

मुलापा—संस्कारो पूजा । सम्मानो वरापराभरणलुपथाः । अदीदमुनरणं अतीतकालवृत्तिसंभोगस्मरणं । अणालादभिलासो भविष्यति काले तामिः सदैवं स्त्रीलज्ज्यामिलेवमादिसनोरयः । इष्टविसयसेवा मनोबांछितसौपोधानाद्युपयोगः ॥

तथा चाबोचाम यमोमृते—

मा रुपादिरत्नं पिपास सुष्टानं मा वस्तिमोक्षं कृपाः ॥
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा या वा वरागे दृक्षं ॥

मा स्त्री सत्कृत मा प संकृत रत्नं वृत्तं स्मर स्मार्थे मा ॥
वत्स्येनेच्छ जुपस्व मेष्टविपयान् शिःपंचया ब्रह्मणे ॥

दत्तविधिमध्यमद मुमुक्षुणात्यंवापकारत्वात्वाग्नित्युपदेष्टुं तरोषानाह—

अर्थ—सत्कार-स्त्रियोंका सत्कार करना, मुग्धानों-उनके देहपर प्रेम रखकर वला, माला वगैरह पदार्थों-
से उनका सत्कार करना. उनको अलंकारादिक पदार्थ अर्पण करना.

अरीतम्भण—भूतकालमें किये हुए रतिक्रीडाओंका स्मरण करना. अनागतमिलाप-भविष्यत्कालमें
उनके साथ ऐसी २ रतिक्रीडा करनेवा ऐसी अभिलाष मनमें करना,

हृदविषयमेवा—मनोबोद्धित सौध, उद्यान वगैरहका उपयोग करना. जिसके रागभाव प्रबल हैं ऐसे मुग्ध
के पदव्यापक तेजसे रागद्वेष प्रबल होते हैं. ज्ञान, भद्वान, और चित्तरागता इत्यादिकोंमें प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है.
इससे विरुद्ध अन्नदत्त दक्षप्रकार करे हैं.

एवं विसर्गिभूतं अघ्यंमं दत्तविहंपि णादब्धं ॥

आवादे मधुरस्मिन् होवि विवागे य कडुयदरं ॥ ८८१ ॥

आपाते मधुरं रम्यमयत्त दत्ताधाप्यदः ॥

विषाके फटुकं श्रेयं किंपाकमिव सर्वदा ॥ ८९२ ॥

विजयोषया—यद्ये पितृगिभूतं विगर्हिना सदृशं पतद्वमल दत्ताप्रकारं तातव्यं । आपाते मधुरस्मिन् भवति
विषाके तु कटुकतामे ॥

मूलाराधना—विसर्गिभूतं विषयदमिवध संतापमोदमूच्छाधरणाधिकरणात् । आवादे आपाते सेवोपक्रमे ।
विवागे विषाके विरतगमने । कडुयदरं अत्यंतदुस्वस्वत्वादविकष्टम् ॥

अर्थ—यद्य दत्त प्रकारका अन्न निष और अधिक के समान है ऐसा समझना चाहिए. यह अन्न प्रारम्भ
में बड़ा मिष्ट माउम होता है परन्तु अन्तमें अत्यंत कटवा है.

दिनमें और रातमें भी निद्रा आती नहीं है. और हमेशा सीका ही चिंतन करता है. और कल्याणकारक धर्मको भूल जाता है.

सयणे जणो य सयणासणे य गामे घरे व रण्णे वा ॥
कामपिसायगहिदो ण रमदि य तह भोयणादीसु ॥ ८८५ ॥

आसने शयने स्थाने नगरे भयने चने ॥

स्वजनेऽन्यजने कामी रमते नास्त्वेतनः ॥ ८९७ ॥

विजयोदया—सयणे जणे य स्वजने, परजने, शयने, आसने, घासे, शृङ्गे, अरण्ये, भोजनप्रक्रियासु च न रमते कानपिशाचयुहीतः ॥

मूला०—सयणे स्थजने । जणे परजने ॥

अर्थ—कामातुर मनुष्य, अपने संबंधी जनोंमें, अथवा परकीय लोगोंमें, विष्टता हुआ हमेशा लिप्त ही रहता है. गाममें, घरमें, अरण्यमें, और भोजनादि क्रियाओंमें भी उसका मन कुछ नहीं रहता है. उसको हमेशा कामरूपी पिशाच सताता रहता है.

कामादुरस्म गच्छदि खणो वि संवच्छो व पुरिसस्स ॥

सीदंति य अंगां होदि अ उक्कंठिओ पुरिसो ॥ ८८६ ॥

न राओ न दिवा शंते न भुंक्ते न सुत्वायते ॥

दष्टः कामसुजगेन न जानाति हिताहिते ॥ ८९८ ॥

कामाकुलितचित्तस्य मुहूर्तो वत्सरायते ॥

सर्वदेहकंठमानस्य भवनं काननायते ॥ ८९९ ॥

विजयोदया—कामादुरस्स गच्छदि खणो वि कामव्यगिचित्तस्य गच्छति क्षणोऽपि । संवत्सर इव अंगानि च सीदंति । भवत्युक्कंठितश्च पुरुषः ॥

मूलारा०—उक्तं किं प्रत्युत्तरः ।

अर्थ—जो मनुष्य क्षमणीय हुआ है उसको एक प्राण भी चर्पके समान मानने लगता है- उसके सपूर्ण अंग कूट होते हैं, और वह किसीकी मार्गप्रतीक्षा कर रहा है ऐसा दिसता है- अर्थात् उत्कंठितसा दीखता है- अर्थात् प्रियत्नीकी उत्कंठासे वह व्याकुल होता है-

पाणिदलचारिगंडो बहुसो चित्तेदि किं वि दीणमुहो ॥

सीदे वि निवाइजइ वेवदि य अकारणे अंगे ॥ ८८७ ॥

इस्तन्यस्तकपोलोऽसौ दीनो घ्यायति संतप्तम् ॥

प्रस्थियति तुपारेऽपि कंपते कारणं विना ॥ ९०० ॥

चिह्नयोदया—पाणिदलधारितगंडो पाणितलपृष्ठगंडः, बहुको चित्तोद्दि बहुसाधितो करोति । किमपि दीनमुखाः ॥
नतिऽपि स्थिते । चेष्टते च अंगं कारणमवदत्तरेण ।

मूलारा—पाणिदलधारितगंडो इस्तलन्यस्तकपोलः । निवाइजइ प्रस्थियति ॥

अर्थ—कामरूपी रोमसे पीठित हुआ मनुष्य अपना गाल हाथके ऊपर रखकर दीनमुखसे अतिशय चिंतायुक्त होता है- इस चिंतासे ठीकदिनमें भी उसके सर्व अवयव खेदसे गीले होते हैं- और उसके अवयव विना कारणके धर धर कांपने लगते हैं- सीति अथवा ठंडी यह अवयव कंपके लिए कारण हैं- परंतु इनके चिंता भी इसके अवयव कंपने लगते हैं ॥

कामुमचो संतो अंतो ह्यश्चदि य कामचिंताए ॥

पीदो व कलकलो सो रदगिजाले जलंतस्मि ॥ ८८८ ॥

अरल्याग्निशिखाजालैर्ज्वलाद्भिरनिवारितैः ॥

सोन्तर्विंदस्यते पीतैस्तप्तैस्ताग्रद्रवैरिव ॥ ९०१ ॥

चिजयोदया—कामुमचो कामोन्मत्तः । कामचितया चिरं दस्यते । पीतताग्रद्रव इव । अरल्याग्निशिखासु ज्वलन्तीषु ॥

स्त्रीविषयो रागोऽब्रह्म स च तत्प्रतिपक्षभूतैराग्येन नाशयितुं शक्यते इति मत्वा वैराग्योपायकथनायाचष्टे—
कामकदा इत्यिकदा दोसा असुचिचवुद्धुसेवा य ॥

संसग्मीदोसा वि य कुंरति इत्थीसु वेरगं ॥ ८८२ ॥

दोषाः कामस्य नारीणामाशौचं वृद्धसंगतिः ॥

संगदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥ ८९३ ॥

शिक्येवशा—कामकदा इत्यिकदा कामकृताः स्त्रीकृताश्च दोषाः । अशुचित्वं, वृद्धत्वेण, संसर्गदोषाश्च कुर्वन्ति स्त्रीषु वैराग्यं ॥

स्त्रीविषयरगतक्षयग्रह स्त्रीवैराग्यात्मकतत्प्रतिपक्षभावनावष्टंभान्निष्टावयितुं शक्यते इति स्त्रीवैराग्योपायपंचक-
मुपारद प्रबंधेन प्रपंचयितुमादौ सङ्घटितं—

मूलारा०—कामकदा कंदर्पेण निर्मिताः । दोसा अपराधाः । पुंसोऽणकारा इत्यर्थः । असुचिषा अनेक्यत्वं
देहस्य । बुद्धत्वेन स्त्रीकृतद्वानामुपासना । संसर्गादोसा स्त्रीसंगलक्षणापराधाः । एते पंचत्वे भाव्यमानाः स्त्रीषु वैराग्यं
न नयन्ति । श्लोकः—

कामांगानांसंगदोषादौचानि भावयन् ॥

कृतावसंगतिः स्त्रीषु विरक्ते भद्रा र्मुदय ॥

एवमुपक्षेपायाः पद ॥

स्त्रीविषयके रागभावको अग्रह कर्तते हैं वह इसके प्रतिपक्षभूत वैराग्यसे नष्ट होता है. येसा समझकर
वैराग्यके उपायोंको आचार्य कथन करते हैं—

अर्थ—कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, वृद्धोक्ती सेवा, और संसर्गदोष इन पांच कार-
णोंसे स्त्रियोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है.

कामकृतदोषनिरूपणा उत्तरेण प्रबंधेन क्रियते—

जावइया किर दोसा इहपरलोए दुहावहा होति ॥

सब्वे वि आवहदि ते मेहुणसण्णा मणुस्सत्स ॥ ८८६ ॥

दृश्यते सुबने दोषा यायन्तो दुःखदायिनः ॥

पुरुषस्य क्रियन्ते ते सर्वे मैथुनसंशया ॥ ८९४ ॥

दुःखावहा दुःखावहा मवंति दोषा

विजयोदया—जावदिय फिर दोसा इत्यादिना यावता किल जन्मद्वये । दुःखावहा

हिसावयस्तान्गर्गोनपि आवहति मैथुनसंशया मनुष्यस्य ॥

कामदोषान्गर्गपंचपंचालतोत्तरप्रबंधेन व्याचिरव्यासुपादौ तत्सामान्यसंग्रहायाभाह—
मूलारा०—दोसा हिसादयः । आपहृदि करोति । मेहुणसण्णा योन्यादौ रंमुमिच्छा काम इति यावत् ॥

कामकृत दोषोंका वर्णन आचार्य विस्तारसे करते हैं—

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें जितने दुःख देनेवाले हिसादिक दोष उत्पन्न होते हैं वे सब काम संशयसे अर्थात् मैथुन की इच्छासे उत्पन्न होते हैं.

सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयवि य ॥

रसिदिया य भिहं ण लहवि पज्झादि विमणो य ॥ ८८४ ॥

ध्यायति शोचति सीदति रोदिति, वत्स्यति आम्प्यति नृत्स्यति गापति ॥

छान्प्यति मायति रुप्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो चिमना बहु ॥ ८५॥

दिष्यते त्विद्यते तप्यते सुहृते, याचते सेवते मोदते धावते ॥

मुंचते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मत्प्यो विषसे मनोजातुरः ॥ ८९६ ॥

विजयोदया—सोयदि विलपदि शोचते, विलपति । परितप्पते । कामादुरो विसीयदि ॥ कामातुरो विपीयति
च । नत्तं विनं निद्रां न लपते । पज्झादि विमनस्को भवति ॥

कामार्थं इदमिदं करोतीति प्रबंधेनाभिप्रेते—

मूलारा०—सोनवि शोकं याति । विलवदि विवणं करोति । विवीददि विसूयति । पज्झादि प्रबंधेन स्मर

वीष्टत्वियं, विसरति या धर्माधिकम् ॥

अर्थ—कामसे पीड़ित मनुष्य शोक करता है, रोता है, पश्चात्ताप करता है और विव्र होता है. उसको

मूढारा—संतो सन् । कल्लये क्षमित्तमवाप्ताविद्वने । अरत्त्यन्निजाले पीत्तामित्तमवाप्ताद्रव इवान्तर्वलति सति कामचित्ताभिर्बिंशष्टः सत् काममहाविष्टः पुरुषः परित्यजेते । इति पदपटना ॥ उक्तं च—

कामोन्मत्तो सर्वश्रेष्ठे चित्ताभिर्दक्षते नरः ॥

अरत्त्यग्नौ ज्वलत्युन्मैत्तमवाप्ताद्रवो यया ॥

मूढारा—अयमप्यद्विचिक्नुस्तत्तत्त्वं वचनमपिपत्तिबाधगढयं । कुसलत्वमर्थनपुनं वचनप्रतिपत्तौ वागुपन्यासे प्राचीण्यं वा । सत्तप्यद्वा शक्यकुण्ठा । तिस्रस्ता तीक्ष्णा ॥

अर्थ—कामवेदनासे मनुष्य उन्मत्त होकर चित्तासे दग्ध होता है, जैसे अग्निसे तपाहुआ तविका गोला जलता है वैसा यह कामीपुल्य क्षमचित्तासे अतिरूप अग्निमें दग्धया जलता है—

कामादुरो णरो पुण कामिज्जंते जणे दु अलहंती ॥

धत्तदि मरिंदु बहुधा मरुप्पवादादिकरणेहिं ॥ ८८९ ॥

मंदायते मत्तिर्याति सवो वचनकौशलं ॥

मवनेन उररेणव माधितस्य चित्तपिना ॥ ९०२ ॥

काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥

सुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपतनाविभिः ॥ ९०३ ॥

विजयोदया—कामादुरो कामादुरो नरः । स्वाभिलषिते इत्ते अलभ्यमाने चेष्टते बहुधा मरुं । पर्वतोर्ध्वनिपतेन तरशायानवलंबनेन, अग्निप्रयेयादिना वा ॥

मूढारा—परास्ति चेष्टते । गवेपयति वा । मरुप्पवादादिकरणेहिं गिरिप्रपाताशुपयैः । उक्तं च—

काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ॥

सुसूर्पति तदोद्विग्नो नगप्रपतनाविभिः ॥

अर्थ—कामादुर मनुष्यको अपना प्रिय मनुष्य न मिलनेसे अर्थात् उसको इष्ट स्त्री की प्राप्ति न होनेसे

वह पर्वतपरसे गिरकर मनेकी इच्छा करता है. समुद्रमें प्रवेश कर ग्राण देना चाहता है. शहकी खासामें फाँसी लगाकर मरना चाहता है और अग्निप्रवेशादिक से ग्राणत्याग करनेको इच्छा करता है.

संकर्षण्यजादेण रामदोसचलज्जमलजीहेण ॥

विसयविलवासिणा रविमुहेण चिंतादिरोसेण ॥ ८९० ॥

सकल्पांलकजालेन विषयच्छिद्रवासिना ॥

रामद्वेषद्विजिहेन शुद्धचिंतामहाभुषा ॥ ९०१ ॥

चित्तयोदया—संकर्षण्यजादेण संकटांदमसूतेन । रामद्वेषवसयमलजिहेन । विषयविलवासिना रतिमुलेन चिंतातिरोपेण ॥

मूलारा—संकल्प इष्टांगनादनात्तां मत्तुलंठगभ्रांभवसायः । जगत्तं द्वयं । चिंतादिरोसेण इष्टांगनागुणसमर्थन तदोपपरिहरणार्थे विचारात्मचित्तनातिक्रोधेन ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प संकल्प रूपी अंडसे उत्पन्न होता है. राग और द्वेष ऐसी दो जिह्वा उसको है. यह विषयरूपी विलमें रहता है. विषयात्मिक ही इसका मुख है. और यह चित्तरूप रोपसे युक्त है.

कामसुजगेण दट्टा लज्जाणिम्मोगटप्पदाटेण ॥
णासंति गारा अवसा अणेयदुक्खायहविसेण ॥ ८९१ ॥

दष्टकामसुजगेण लज्जानिर्मोक्कमोचिना ॥

दर्पकट्टाकरालेन रतिवक्खेण नदयति ॥ ९०५ ॥

चित्तयोदया—कामसुजगेण कामसंघेण । लज्जात्वक्खिर्मोक्कतकारिणा, दर्पकट्टेण वृष्टा अनेरदुःखावह विरेण मरा नदयन्ति ॥

मूलारा—लज्जाणिम्मोग लज्जैव निर्मोक्कः कंयुको यस्य मोक्षयत्नात् । लज्जानिर्मोक्कमोचिनेत्यर्थः । अणेयदुक्ख-
प्राविसेण अनेरदुःखात्मकविषेण ॥

अर्थ—यह कामरूपी सर्प लज्जारूप कांचलीका त्याग करता है. उन्मत्तारूप दांडसे यह महाभयंकर दीखता है. ऐसा यह सर्प जब दंश करता है तब अनेक दुःखरूपी विषों मनुष्य व्याप्त होकर नष्ट होते हैं.

आसीविसेण अवरुद्धस्स वि वेगा हवंति सत्तेव ॥

दस होति पुणो वेगा काममुअंगावरुद्धस्स ॥ ९९२ ॥

आशीविषेण वृष्टस्य सप्तवेगाः क्षारीणिणः ॥

वृष्टस्य स्मरसर्पेण जायंते दश द्रुःसष्टाः ॥ ९०६ ॥

विजयोदया—आसीविसेण आसीविषेण सर्पोंप्रणया दृष्टस्यापि सत्तेव वेगा मभवन्ति । काममुअंगेन वृष्टस्य दशवेगा भवन्ति ।

नूलारा—आसीविसेण सर्पोंप्रणया । अवरुद्धस्त वृष्टस्य । वेगा विषोद्रेकाः । सत्तेव ॥ सप्तवा—

पूर्वे वर्षाफलो वेगे द्रुष्टं दयावीमवत्यसृक् ॥

दवायता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्दीय च कीटकाः ॥

द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्धेगौरवं ॥

दशोचो वंशविह्वलुर्ध्वे छीवनं वभिः ॥

संधिविश्लेषणं तंद्रा पंचमे पर्वभेदनम्

दाहो हिप्या च पष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥

मूर्च्छाद्विषाकोऽनीसारः प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे ॥

सक्यशृङ्खलीभयः सर्वथेष्टानिवर्तनम् ॥

अर्थ—जितको सर्प दंश करता है उस मनुष्यको मात विषवेग उत्पन्न होते हैं. अर्थात् सर्पके विषसे उस मनुष्यको सात अवस्थायें क्रमसे प्राप्त होती हैं. परंतु कामरूपी सर्पके दंशसे मनुष्यको दस अवस्थायोंको भोगना पड़ता है.

पटमे सोयदि वेगे दहं तं इच्छेदे विदियवेगे ॥

निस्ससदि तदियवेगे आरोहदि जरो चउत्थमि ॥ ८९३ ॥

शौचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ॥

तृतीये निम्बसित्युच्चैर्ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते ॥ ९०७ ॥

विजयोदया—पटमे सोयदि वेगे प्रथमे वेगे रोषति । द्वितीये वेगे स तं द्रष्टुमिच्छति । निम्बसिति च तृतीये वेगे । भारोहति लघुत्वं वेगे ॥

के से दशवेगा इत्यत्र गाथादयमाह—

मूलादा—सष्टम् ।

उत्त दश वेगौका वर्णन क्रमसे आचार्य करते हैं—

अर्ध—कामवेगकी पहिली अवस्थामें वह कामी पुरुष शोकयुक्त होता है. दूसरी अवस्थामें इष्ट स्त्रीको देखनेकी इच्छा करता है. तीसरे वेगमें दीर्घ आसोच्छ्वास करता है. चौथे वेगमें उसको ज्वर पड़ता है.

डग्नवि पंचमवेगे अंगं छट्टे ण रोचदे भत्ते ॥

मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होइ अट्टमए ॥ ८९४ ॥

दधत्ते पंचमे गात्रं यत्तं पठे न रोषते ॥

प्रपाति सातमे मूच्छीमुन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥ ९०८ ॥

विजयोदया—छट्टादि पंचमवेगे पंचमवेगे दहते । मकारात्तिः पट्टवेगे । सप्तमवेगे मूच्छति । उन्मत्तो भयस्यष्टमे ॥

मूलादा—सष्टम् ।

अर्थ—पांचवे वेगमें उसको अंगों दाह उत्पन्न होता है. छठे वेगमें उसको अस्वादिषोभे अरुचि उत्पन्न होती है. सातवे वेगमें वह मूर्च्छित होता है. आठवे वेगमें उसको उन्मत्तावस्था प्राप्त होती है.

णवमे ण किञ्चि जाणदि दसमे पाणेहि मुच्चदि मद्दधो ॥

संकल्पसेण पुणो वेगा तिच्चा व मंदा वा ॥ ८९५ ॥

न वोत्ति नवमे किञ्चिद्वामे मुच्चयेतमुग्धिः ॥

संकल्पतस्ततो वेगास्तीवा मंदा भवन्ति वा ॥ ९०९ ॥

विजयोदया—नवमे जातमानं वेत्ति । दशमे वेगे प्राणविसृज्यते । मदान्वयस्य संकल्पयत्येव पुनस्तीवा मंदा या भवन्ति वेगाः ।

मूढारा—मर्षणे कायांगः ॥

अर्थ—नवमे वेगमें वह अपने को भी जानता नहीं है और दशमें वेगमें वह प्राण छोड़ देता है. ये दश-वेग संकल्पकी जैसी तीव्रता अथवा मंदता होगी वैसे तीव्र या मंद होते हैं.

अष्टमूले जोणहे सुरो विमले णहम्मि मज्झणहे ॥

ण उहदि तह जह पुरिसं उहदि विवडुत्तउ कामो ॥ ८९६ ॥

ज्येष्ठे सूरः सिते पक्षे मध्याह्ने विमलेऽम्बरे ॥

नरं दधति नो तद्वद्वर्धमानो यथा स्मरः ॥ ९१० ॥

विजयोदया—ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे विमले नभसि मध्याह्ने रविः स ॥ दधति तथा यथा पुरनं दधति मर्षदमानः कामः ॥

मूढारा—जैष्ठु श्वेष्ठमासे । मूले मूलनक्षत्रे । जोणहे शुक्लपक्षे । णहम्मि आकाशे ॥

अर्थ—ज्येष्ठमासकै, शुक्ल पक्षमें निरग्न आकाशमें मध्याह्नसमयमें सूर्य भी उतना पुरुषको संतप्त नहीं करता है जितना यह काम संतप्त करता है. अर्थात् ज्येष्ठमासके शर्यतापमें भी इस कामका ताप प्रचंड और असह्य है.

सूरग्री उहदि दिवा रत्तिं च दिया य उहइ कामग्गी ॥

सूरस्स अत्थि उच्छगारो कामगिणो णत्थि ॥ ८९७ ॥

दिवसे प्लोपते सूर्यो मनोवासी दिवा निशम् ॥

अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये मनोवासिनि नो पुनः ॥ ९११ ॥

वितयोदया—सूरगी उददि दिया स्वर्गभिर्वदति दिवा, नक्तं दिवा ददति कामाग्निः । सूर्यस्याच्छादनकारी छत्रविक्रमस्ति न कामाग्नेः ॥

मूलारा—उच्छाकारो आच्छादनकारि छत्रादिक ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका ताप लोकोको दिनेयें ही संवत्स करता है. परंतु यह कामाग्नि रातमें और दिनमेंभी नोबीस घंटे जीवको सताता है. सूर्यसत्ताप उन्नादिकसे दूर कर सकते हैं परंतु इस कामाग्नीको लोक द्वांत नहीं कर सकते हैं.

विजम्नायदि सूरगी जलादिर्हृण तद्वा ह्यु कामगी ॥

सूरगी उदह तयं अबन्तरचाहिरं इदरो ॥ ८९८ ॥

बन्धर्विषयाप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन ॥

प्रक्षोपते यहिर्वह्निर्दिरन्तश्च मन्मथः ॥ ९१२ ॥

विजयोदया—विजम्नायदि सूरगी विष्पाति सूर्यजनितस्वापो जलादिभिर्न तथा जलादिभिः कामाग्निः प्रक्षोभयति । सूर्यस्योष्णत्वं त्वच वहति । कामाग्निरन्तर्वह्निश्च दहति ।

मूलारा—सूरगी सूर्यजनितस्वापः । तयं त्वचम् ॥

अर्थ—सूर्यरूपी अग्नीका संताप जलादिक जीवोपचारसे दूर कर सकते हैं. परंतु कामाग्नीको बुझानेके लिये कोई उपाय नहीं है. सूर्यकी उष्णता त्वचाको जलाती है परंतु कामाग्नि इस शरीरको और आरमाकोभी जलाती है.

जादिकुलं संवासं घम्माणि य बंधवस्मि अगणिन्ता ॥

कुणदि अकज्जं पुरिसो मेहुणसण्णापसंमूढो ॥ ८९९ ॥

बंशुं जातिं कुलं धर्मं संवासं भवनातुरः ॥

अवमन्य नरः सर्वं कुरुते कर्म निदितम् ॥ ९१३ ॥

विजयोदया—जादिकुलं मनुषित्वं । संवासं सहस्रं । धर्मं चोद्यमानपि अवमन्य पुरुषोऽकार्यं करोति

भयुनतंवा मूढः

मूढारा—संवासं सहस्रसतो जनान् भिन्नादीन् ॥

अर्थ—कामेच्छासे उप मनुष्य व्याकुल होता है उस आसकी जाति और कुलका विचार नहीं करता है- अपने साथीदारोंका अपने धर्मबंधुओंको भी धन मानता नहीं है अर्थात् वह निर्लज्ज होता है. और अकार्य कर बैठता है.

कामपिपायगहिदो हिदमहिं वा ण अप्पणो मुणदि ॥

होइ विसायगहिदो बसदा पुरिसो अण्णवतो ॥ ९०० ॥

विषाचनेव कामेन व्याकुलीकृतमानसः ॥

हितादितं न जानाति निर्विचिकीकृतोऽधमः ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—कामपिपायगहिदो कामविषाचयुतः हिदमहिं वा न वेत्ति, विषाचैव यदीतः पुरुष इव सदा धनारमयशो भवति ।

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—विषाचग्रस्त मनुष्य जैसा आपमें नहीं रहता है वैसा कामपिषाचके वश हुआ मनुष्य हिताहित जानता नहीं- वह बुद्धिभ्रष्ट होता है-

णीचो व णरो बहुगं पि कदं कुलपुत्तओ वि ण गणेदि ॥

कामुम्मत्तो लज्जासुओ वि तह होदि णिल्लज्जो ॥ ९०१ ॥

नोपकारं कुलीनोऽपि कृतघ्न इव मन्यते ॥

लज्जासुरपि निर्लज्जो जायते भवनातुरः ॥ ९१५ ॥

विजयोदया—जीवो व जरो नीच इव नरः कृतमपि बहुमुषकारं न गणयति । कुलपुत्रोऽपि सन्कामोन्मत्तो, लज्जायानपि पूर्व विगतलज्जो भवति ।

मूलारा—गीनो व अकुडीन इव । कुलपुत्रको कुलीनः ॥

अर्थ—नीच मनुष्य सज्जनोने किये हुए उपकारको भूल जाता है जैसे कामपीडित मनुष्य प्रथम लज्जा-वान होता है परन्तु अन्तमें वह लज्जाको विलांबलि देता है.

कामी सुसंजदाण वि रूतदि चोरो व जग्गमाणाणं ॥

विच्छदि कामगयथो हिदं भणंते व सचू व ॥ १०१ ॥

स्तेनो वा जागरूकेभ्यः संयतेभ्यः प्रकुप्यति ॥

द्वितोपदेशानं कामी द्विपन्नमिव पदयति ॥ ११६ ॥

विजयोदया—कामी सुसंजदाण वि कामी सुसंयतानामपि वयति । जाग्रतां चोर इव कामप्रस्ताः, भेषते विले प्रतिपादयतः शत्रुरिव ॥

मूलारा—कामगयथो कामप्रस्ताः ॥

अर्थ—कामी मनुष्य संयमी मनुष्योपर कष्ट होता है जैसा चोर जागरण करनेवाले पुरुष पर कष्ट होता है. लो मनुष्य उसको हितका उपदेश करते हैं उसको कामीपुरुष शत्रुके समान गिनता है.

आयरियउवउद्दाए कुलगणसंघस्स होदि पडिणीओ ॥

कामकलिणा हु घत्थो धम्मियमार्वं पयहिदूणं ॥ १०३ ॥

सूर्योपाध्यायसंघानां जायते प्रतिकूलिकः ॥

धार्मिकत्वं परित्यज्य प्रेर्यमाणो मनोमुवा ॥ ११७ ॥

विजयोदया—अयरियउवउद्दाए वाचायोणां अभ्यापकानां, कुलस्य सुवशिष्यवर्गस्य, सूर्यधर्मश्रावृत्तिपराणां वा । चातुर्वर्ण्यस्य वा संघस्य च संपत्तिं प्रति कुलः कामकलिना प्रस्ताः धार्मिकत्वं विहाय ॥

मूला— उचच्चावग आच्चापकाः । कुल स्वगुरुक्षिप्यवर्गो । गुणधर्मभ्रातृक्षिप्यो वा । गण स्वशिष्यवृन्द । सप्त
पादुपपन्थम् । पट्टिनीओ प्रतिवृत्तः । फलि दोषः ॥
अर्थ—कामदोषसे न्यास हुआ गुरुव आचार्य, उपाध्याय, गुरु और शिष्यवर्ग और अपने सहाध्यायी,
चातुर्वर्ण्य और संपर्क प्रतिकूल होता है-

कामव्यत्यो पुरितो तिलोयसारं जहृदि सुदलाम्भं ॥
तेलोकपूइदं पि य माहृणं जहृदि विसयंधो ॥ ९०४ ॥

माहात्म्यं भुवनरूपतिं भुतलाम्भं च मुंचति ॥
सतृणावक्ष्या सारं मोहाच्छावितचेतनः ॥ ९१८ ॥

विजयोदया—कामव्यत्यो कामवस्तुनः । तैलोक्यसर्वसात्त्वयि भुतलाम्भं जहति । तैलोक्येन पूजितमपि माहा-
त्म्यं त्यजति विपर्वाधः ॥

मूला— स्पष्टम् ।

अर्थ—कामवस्तु मनुष्य तैलोक्यमें सर्वोत्कृष्ट और साररूप ऐसे भुतलानके लाभको छोड़ता है. त्रैली-
प्यसे पूजनीय ऐसा भी अपना माहात्म्य वह कामवस्तु होकर खो बैठता है.

तह विसयामिसयत्यो तणं व तवचरणदंसणं जहइ ॥

विसयामिसगिद्धत्सं ह्यु णत्थि अकायव्वयं किंचि ॥ ९०५ ॥

जीर्णं तृणमिव मूल्यं चतुरंगं विभुंचतः ॥

नाकूल्यं विद्यते किंचिज्जिह्वक्षोर्विषयामिपयम् ॥ ९१९ ॥

विजयोदया—तह विसयामिसयत्यो विषयामिपलंपटः । तृणमिव तपस्वरणं दर्शनं च जहति । विषयामि-
पलंपटस्य नास्त्यकार्यं किंचित् ॥

मूला— अभिस आहारः । परत्यो लंपटः ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें स्पष्ट होकर कामी पुरुष रत्नत्रयको त्रिविकेके समान त्याग देता है तब छोड़ता है. उसके लिए अकार्य कुछ भी नहीं है.

अरहंतसिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्ववग्गाणं ॥

कुणदि अवण्णो णिञ्च कामुम्मत्तो विगयवेसो ॥ ९०६ ॥

एह्मात्थयवर्णवाधं यः पूजयानां परमोष्ठिनाम् ॥

अकूत्थं कुर्वतस्तस्य मर्यादा कामिनः कुतः ॥ ९२० ॥

विजयोक्ता—अरहंतसिद्धआचारिय अर्हतां, सिद्धान्तं, मात्वार्याणां, उपाध्यायानां, सर्वेषां यतीनां वार्षार्णवाधं करोति नित्यं पिष्टतयेयम् ॥

मूलार्थ—अवणं अकीर्तिं । विमदवेसो विकृतयेयः । विमदयविरूप इत्यर्थः ॥

अर्थ—कामी पुरुष अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व मुनिओंकी सेवा निंदा करता है. अर्थात् उनमें दोष न होनेपर भी दोषारोपण करता है. और यदि स्वयं ब्रह्म यदि होना तो यतिपना छोड़कर अन्य वेप धारण कर यथेष्टाचरण करता है.

अयसमणत्थं दुःखं इहलोए दुग्गवा य परलोए ॥

संसारं पि अणंतं ण सुणदि विसयामिसे गिद्धो ॥ ९०७ ॥

स दुःखमयशोऽनर्थं कलमयं द्रविणक्षयम् ॥

संसारसागरेऽनन्ते भ्रमणं च न मन्यते ॥ ९२१ ॥

विजयोक्ता—अयसमणत्थं अयत्न अनर्थ । दुःखं वेदपरलोके पुणं गर्हि, संसारमप्यनंतं माविने न चेति विपयानिधे युद्धः ॥

मूलार्थ—स्पष्टम् ॥

अर्थ—विषयरूपी आहारमें आसक्त होकर ब्रह्म कामी अयत्न, अनर्थ, दुःख, इह परलोकमें अशुभमति,

और अनंत मंसारकी शुद्धि इन वातोंको वह वानसाही नहीं अर्थात् में विषयलपटी चनेसे मेरी डुरी हालत नमेगी मेरेको ससारमें अनंतकालतक दुर्गति धारण कर अपकीर्ति के साथ प्रमण करना पड़ेगा इन बातोंका वह विचार ही नहीं करता है

णीचं पि विसयहेदुं सेवदि उक्को वि विसयलुद्धमदी ॥

बहुगं पि य अवमणं विसयथो सहइ माणीवि ॥ ९०८ ॥

उद्योऽपि सेवते नीचं विपयामिपसांक्षया ॥

स्मरार्तः सहतेऽवक्षां मानयानपि मानयः ॥ ९२२ ॥

विजयोदया—णीचं पि विसयहेदुं शानकुलाभितीव म्यूनमपि सेवते कुलीनो बुद्धिमानपि विषयलुद्धमतिः ।
परितपं महातमपि धनिमि क्रियमाणं सहते विषयाय ॥

पूजारा—अवमाण धनिभिः क्रियमाणं पराभवं । माणी वि मानयानपि ।

अर्थ—विषयसेचनेरु लिए वह उच्चकुलीन और बुद्धिमान होकर भी विषयमें लुब्ध होकर ज्ञान, जाति और कुलादिसे हीन ऐसे नीच पुरुषोंकी सेवा करता है तथा उसका मानी स्वभाव होते हुएभी वह विषयाय नौचोमे किये गये अंगेरु अपमानोंको, और धनिओसे किये गये अपमानोंको सहता है-

णीचं पि कुणदि कम्मं कुलपुत्तदुगुंछियं विगदमाणो ॥

वारत्तिओ वि कम्मं अकासि जह लांघियाहेदुं ॥ ९०९ ॥

कुर्लानो निन्दितं कर्म कुरुते विषयाशया ॥

जिधुसुर्नर्तको यत्तं चारिअं त्यक्तवान किं ॥ ९२३ ॥

विजयोदया—णीचं पि कुणदि नीचमपि करोति कर्म उच्छिष्टमोजनादिकं कुलीननिन्दितं विनयाभिमानः ।
धारात्तिगो नाम यतिरतिगदितं कर्म वृत्तगन् यथा कुलीन स्त्रीनिमित्त ॥

पूजारा—णीचंपि उच्छिष्टमोजनादिक । वारत्तओ वारत्तको नाम यतिः । अकासि अकाशीत् कृतवान् ।
एविषयाहेदु नर्तकीनिमित्तम् ॥

अर्थ—कुलीन जिसकी निंदा करते हैं ऐसा कर्म-कृत्य वह विषयी पुरुष अभिमानको तिलांजली देकर करने लगता है. उच्छिष्टभोजनादिक कार्य नीच कार्य है. ऐसे कार्य वह करता है. कुलीन ऐसा वारत्रिक नामक यक्षिने नाचनेवाली स्त्रीके निर्भिन्न भिन्नकर्म किये थे- वह उदाहरण है.

सूरो तिक्खो सुक्खो वि होइ वसिओ जणस्स सघणस्स ॥

विसयाभिसम्मि गिद्धो माणं रोतं च मोत्तुणं ॥ ९१० ॥

कामी शूरोऽपि तीक्ष्णोऽपि मुख्योऽपि भवति स्फुटम् ॥

चिरगर्वः श्रामनो वदयो वैषयस्य गदवानिव ॥ ९१४ ॥

विजयोदया—सूरो तिक्खो सुक्खो वि होइ सुखलीणो मुख्योऽपि धनिको अन्त्य वसवर्ती भवति । विषयभिलाषे नृपः युक्तः अभिमाने रोष मुक्खा ॥

मूलात्—तिक्खो असह्यः । सुक्खो सुखः, प्रधानः, वसिगो वसवर्ती ॥

अर्थ—विषयभिलाषी होकर छद्म, निगुण और सुम्भ्य ऐसा भी पुरुष विषयवश होकर मान और रोषको छोड़कर धानिक जैसे नभते हैं ऐसा नाचता है.

माणी वि असरिससत्ति चट्ठयम्मे कुणदि पिच्चमविलज्जो ॥

भादाविदरे दासं वाथाए पररस कामेती ॥ ९११ ॥

विधत्ते धादु नीचस्स कुलीनो मानवानपि ॥

मातरं पितरं वाचा दासं कुर्वन्नपन्नपः ॥ ९१५ ॥

पिजयोदया—माणी वि असरिसस्स वि मानी वासदत्तस्यापि चट्ठं करोति । याचा आत्मीयां मातरं पितरं या गत्यमाणादयति । त्वादां दासो गृहे भवामीति वदन्तरे कामयमानः ॥ ०

मूलात्—असरिसस्स वि नीचस्यापि । चट्ठकम्मे धादुचार्यैर्जं कर्म पादमर्दानादि ॥ अविलज्जो निर्लेजः सन् । कामेती कामयमानः कुर्वन् इत्यर्थः । भग माता तव दासी भग पिता तव दास इति कथयन् । उक्त च—

मात्री च करोति सदा बहुकर्मा लुचितोऽप्यसदृशस्य ॥
 मातापितरौ दासस्य कथयति लोकस्य कर्मांशः ॥
 इमां गाथां टीकाकारो नेच्छति ॥ ०

अर्थ—मात्री मनुष्य मी हीन जातीय लोगोंकीभी विषयलंघन होकर सुशामत करता है. उनके पात्र दावना शरीर मर्दन करना योग्य कार्य करता है. और निर्लज्ज होकर मैं दास बनकर तेरी सेवा करूंगा ऐसा कहता है. मेरी माता और पिताभी तुमारे दास बनेंगे ऐसा कहता है.

वयणपडिवचिकुसलत्तणे पि णासइ णरस कामिस्स ॥

सत्थपहृल्ल तिकत्वा वि मदी मंदा तहा इवदि ॥ ११२ ॥

विजयोदया—यद्यप्यपडिवचिकुसलत्तणं पि पवने प्रतिपद्यते ॥ कुशलतापि विनश्यति कामिनो नरस्य । वायव्यमहता दास्ये वदित्वा वसितीक्ष्णापि मसि कुंडिता भवति ॥

अर्थ—कामी मनुष्यका वचन-चातुर्य और उसकी बुद्धीकी चतुरता नष्ट होती है. शास्त्रोंका निरूपण करने-वाली अविद्या चातुर्ययुक्त भी उसकी बुद्धि मंद हो जाती है.

होदि सचक्खू वि अवक्खुव वधिरौ वा वि होइ सुणमाणो ॥

दुट्ठकरेणुपसत्तो वणहत्थी चेव संमूढो ॥ ११३ ॥

न पदपति संनोत्रोपि सन्नोत्रोऽपि शृणोति न ॥

कामार्तः प्रमदाकाक्षी दन्ताव हनन्तेनः ॥ ११४ ॥

विजयोदया—होदि सचक्खू वि अवक्खुव चक्षुष्यागपि अवश्रुतिव भवति । परं समीपस्थमपि यतो न पश्यति । गृहीतो वा वि होदि वधिर इव भवति । सुणमाणो शृण्वदपि अव्यक्तधवणात् । दुट्ठकरेणुपसत्तो दुष्टनटिणीप्रसक्तः । वणहत्थी चेव वनहत्थीनः । संमूढः ॥

मूढारा—अचक्खुव अप इव समीपस्थमपि यतो न पश्यति । वधिर इव भवत्यव्यक्त-धवणात् । वणहत्थी चेव वनगज इव ॥

अर्थ—वह कामी मनुष्य नेत्रयुक्त होकर भी अंगोंके समान होता है- अपने पायकी भी वस्तुको वह देखता नहीं- सुनकर भी बहिरोंके समान अनुसुनी कर देता है- जैसे वनका उन्मत्त हाथी दुष्ट हाथिनोके वश होकर मृदु वन कर कुछ सुनता नहीं कुछ देखता नहीं- वैसे ही कामी पुरुषकी स्थिति होती है, वे हितकी बातें सुनना नहीं चाहते हैं- और हितकर विनमूर्ति, मुनि वगैरोंको दर्शन करना नहीं चाहते हैं-

सलिलनिबुद्धोऽप्य णरो युञ्जतो विगयचेयणो ह्रीदि ॥

वृक्षो वि होह मंदो विसयपिसाओवहद्विचो ॥ ९१४ ॥

सलिलेनैव कामेन सद्यो जाळ्यविधायिना ॥

वक्षो वि जायते मंदो नीयमानः समंततः ॥ ९१७ ॥

विजयोऽप्य—सलिलनिबुद्धो युञ्जतो परोऽप्य सलिलनिमग्नः प्रवाहेणोक्षमणो नरो यथा । विगयचेयणो विगत-
चित्तन्यो भवति । वृक्षो वि होह मंदो वक्षोऽपि स्ववैकाय्ये नवीणोऽपि जडो भवति । विसयपिसाओवहद्विचो
पिपयपिशाणोपहतचित्तः दिवया रूपान्तर्यधैतोकिञ्चमेतुत्पात्तिगाना इयेति यिण्याः पिशाचा इत्युक्ताः ॥

मूळारा—युञ्जतो प्रवाहेणोक्षमनः । वक्षो सर्वकार्येषु प्रवीणः । विसयपिसाओवहद्विचो रिपवा रूपान्तर्य-
पिशाच इव चेदोदिभ्रमहेतुत्वात् । मनुष्यदुःखमनाः ॥

अर्थ—जैसे पानीके प्रवाहमें डूबा हुआ और यहता जा रहा है ऐसा मनुष्य चेतनरहित अर्थात् मूर्छित होता है, वैसे पानी ईन्द्रियोंके त्रिषयरूपी पिशाचसे ग्रस्त हुआ मनुष्य यदि कार्यं कुशल हो तो भी वह मंद बुद्धि होता है, अर्थात् रूपादि पदार्थोंमें उसकी बुद्धि दौढ़ती है अतः इतर कार्यों में वह मंदसा होता है-

चारसत्रासाणि वि संवसिस्तु कामादुरो ण णासीय ॥

पार्दगुहमसंतं गणियाए गोरसंदीचो ॥ ९१५ ॥

चर्पद्वावशकं चेदयां निपेज्यापि स्मरातुरः ॥

नाशासीद्रोरसंदीचः पदांशुप्रमशोभनम् ॥ ९२८ ॥

विजयोदया—धारसवासाणि द्वादशवर्षयात्रं सहोदित्वापि । कामादुरोपि । कामतुतोपि । न ज्ञातवान्गोरसंदीपः ।
किं ? गणिकायाः पापंगुणमसन्ते ॥

मूलरा—संवसितु सहवासं कृत्वा । न जासीय न ज्ञातवान् । असंतं अविद्यमानं असोमनं वा शोर्णमित्यर्थः ।
गणियाण वेदयायाः कायसुंदरीनाम्याः । गोरसंदीपो मुनिनामेदं ॥

अर्थ—गोरसंदीप नामक मुनि चारा वर्षतक एक कायसुंदरी नामक गणिकाके सहवासमें रहा था परंतु
उम गणिकाके पापको अंगुठा नहीं था यह बात उसको माखमही नहीं थी.

सीदं उण्हं तण्हं सुहं च दुस्सेज्ज भत्त पंथसमं ॥

सुकुमारो वि य कामी सहइ भारमवि गसयं ॥ ११६ ॥

शीतमुष्णं क्षुधां तृष्णां दुराहारं पयि अममम् ॥

दुःशय्यां सहते कामी वहते भारमुल्बणम् ॥ ११७ ॥

विजयोदया—सीदं उण्हं तण्हं सुहं च । पंथसमं मार्गमनखेदम् ॥
कामी सुकुमारोऽपि शुभमपि भारं वहति ॥

मूलरा—दुस्सेज्ज भत्त दुःशयनं दुराहारं च । पंथसमं मार्गमनखेदम् ॥

अर्थ—ठंडी, जल, प्यास, भूख, खराप शय्या, खराब आहार, और मार्गभ्रम इन सबको कामी मनुष्य
सहता है. वह सुकुमार होनेपर भी पदा भार धारण करता है.

गायदि णच्चदि धावदि कसइ ववदि लवदि तह मलेइ णरो ॥

तुण्णइ उण्णइ जाचइ कुलम्मि जादो वि विसयवसो ॥ ११७ ॥

क्षुण्यते कृप्यते लूयते पूयते प्राप्यते पाचते सीव्यते चिज्यते ॥

छिद्यते भिद्यते क्रीयते दीर्यते रज्यमप्यते रज्यते सज्यते कामिना ॥ १३० ॥
विजयोदया—गायदि णच्चदि—गायति, सुलति, घावति, छपति, वपति, लुप्ताति, ग्रहीयति, सीव्यति, पट्टवस्त्रा-
दिपयनं करोति । जाचते कुलप्रखलोऽपि सम्बिषयमुपगत आत्मानं भाषां च पोषयितुं ॥

मूढारा—स्मिन्नि कृणति क्षेत्रं यादवकीत्यर्थः । उषदि सुतावि, नलोदि मर्ययति । तुष्णेदि तुष्णयति । विष्णिदि ययति ॥

अर्थ—प्रियपदश उच्चरुतीन मनुष्य गाता है, नाचता है, दौड़ता है, बाँव चोता है, जमीन नांगरता है, मर्दन करता है, तपेदे मर्दा है, कपेदे चुनता है, अपना और पत्नीका पोषण करनेके लिये उपर्युक्त कार्य करता है-

सेवदि णिवादि रक्त्वदि गोमहिस्तिमजावियं हयं हस्ति ॥
 वनहरदि कुणवि सिप्यं तिणेहपासेण दृढबद्धो ॥ ९१८ ॥
 गोमहिस्तीह्यरास भरक्षी फाट्टहृणोदकगोमयवाही ॥
 प्रेषकंङ्गणमार्जनकारी कामनरन्द्रस्यास्ति मनुष्यः ॥ ९१९ ॥
 आयुधैर्विचिधैः कीर्णां रणक्षोणो विगाहते ॥

लेखनं कुरुते वीनः पुस्तकानामनारतम् ॥ ९२० ॥
 संपुक्तां कर्पति क्षोर्णां गर्भिणीमिच योपितम् ॥
 अधीत्य पटुशःशस्त्रं कुरुते क्षिनुपाठनम् ॥ ९२१ ॥
 क्षिप्तपानि बहुभेदानि मनुते परतुष्यते ॥
 विघेते वचनां विभ्रां वाणिज्यकरणोद्यतः ॥ ९२२ ॥
 अवमन्य भवान्भोद्यौ पतनं बहुवीचिरे ॥
 किं किं करोति नो कर्म मर्त्यो मदनलंघितः ॥ ९२३ ॥

विजयोत्पदा—सेवदि णिकादि-सेवति सस्यावगंतं एणादिकेभ्य । निजति, रक्त्वति मां, महिषीं, अजाः, आसिकं, हयं, हस्तिनो वा । पाणिन्यं करोति । समस्तैपुण्यं प्रवीय उत्कृमादिकं करोति कामिनीगतबेदभावेन दृढबद्धः ॥

मूढारा—सेवदि णिकादि सेवते नीचादिकं । अथवा सेवदि राजादिसेनां करोति । णिकादि निन्दयति सस्यावगंतं प्रगादिकमुत्पादयतीत्यर्थः । अजाविगं छामनेयं । वनहरदि वाणिज्यं करोति । सिप्यं क्षिप्तं करकोशलं काष्ठविभ्रादिकर्म ।

अर्थ—स्त्रीके स्नेहपाशसे जलवा हुआ वह कामी मनुष्य नीच मनुष्यकी अथवा राजाकी सेवा करता है। धान्यके बीचमें उत्पन्न हुआ घृण निकालता है। गाय, भैस, बकरा, हाथी, घोडा वगैरह प्राणिजोंका रक्षण करता है। व्यापार करता है, हस्तकौशल्यके कार्य करता है। अर्थात् नानाप्रकारके काठके चित्रादिक बनाता है-

वेदेइ विसयहेदु कलत्तपासेहि दुब्बिमोएहिं ॥

कोसेण कोसियारुत्त दुम्मदी णित्त्व अप्पाणं ॥ ११९ ॥

दुमोच्चै. ऋग्मिनीपातौः कामी चेष्टयते कुर्षीः ॥

लालापाशैरिधात्मानं कोवकादृग्भिः स्वयम् ॥ १३६ ॥

चित्रादीव्या—वेदेइ विसयहेदु चेष्टयति विषयहेतुनिमित्त । आत्मानं कलत्तपाशैर्मोचयितुमशक्यैः कोशेन कोशकारकोट इव दुर्मेति ॥

मूलार्थ—वेदेवि चेष्टयति यन्नाति । दुब्बिमोवेहिं मोचयितुमशक्यैः । कोसेण लालातंतुजालेन ।

अर्थ—निपचसुख भोगनेकी इच्छासे जिसका छुटना अशक्य है ऐसे स्त्रीके स्नेहपाशसे कामी मनुष्य अपनेको नेष्टित करता है। जैसे रंजुमको उत्पन्न करने वाला फीदा अपने मुससे निकले हुए तंतुओंसे अपनेको वेष्टित करता है।

रागो दोतो मोहो कसाथेपेसुण संकिलेसो य ॥

ईसा हिंसा मोसा सूया तेणिक कलहो य ॥ १२० ॥

रागो द्वेपो मद्रोऽसूया पैअन्यं कलहो रतिः ॥

चचनेण्ण्यो परामृतिदोषाः सन्ति स्मरादुर ॥ १३७ ॥

यिजयोदया—रागो दोसो रणो द्वेप, अहानं, कयाया. परदोषसंस्तवनं, संक्षेयः, ईष्यो, हिंसा, मृदा, परगुणासदनं, स्तैन्यं कलहश्च ॥

मूलार्थ—मोहो अहानं । पेसुणं परदोषसूजनं । मोसं असत्त्वं । असूया परगुणासहनं । चेणिकं नोचं ॥

लंघणपरिमवणिग्याहपरिवादरिपुरोगसोगधणणासो ॥

वित्तयाउलम्भि मुलहा सन्वे दुस्त्रावहा दोसा ॥ १२१ ॥

विजयोदया—लंघणपरिमव जल्पनं परिग्रहः । वंचना परोक्षपवाद् । शत्रुः, रोगशोको, घननाश इत्यादयः ।

वित्तयाउलम्भि मुलहा विपयकुले सुलभाः सर्वेऽपि दुःखावहा दोषाः ॥

नूतारा—लंघण दोषोद्धोषणं । विगदि निरुक्तिः वंचना । परिवाद् परोक्षा अपवादः । वित्तयाउलम्भि विपया-
कुले शुचि ॥

अर्थ—जो विपयसे दुःस्वित है ऐसे मनुष्यमें रागद्वेष, मोह, अज्ञान, कृपाय, परदोषोका कथन करना, संश्लेष परिणाम, ईर्ष्या, सन्दर्भ, हिंसा, अतत्यभाषण, अन्योके गुण सहन न करना, चोरी और कलह ऐसे दोष उत्पन्न होते हैं। बहुरादना, परामर्श, फमाना, परोक्षमें निंदाकरना, रोग, शोक, घननाश वगैरह दोष उत्पन्न होते हैं प्रायः ये सब दोष कामी मनुष्यमें सुलभतया उत्पन्न होते हैं-

न केवलमात्मन एव अपि नु परोक्षद्रव्यमपि करोति कामीति वदति—

अवि य बहो जीवणं मेहुणसेवाए होइ बहुगणं ॥

तिलणालीए तत्ता सलायवेसो य जोणीए ॥ १२२ ॥

तिलनात्यमिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेशने ॥

तिलानां देहिनानां पितृणां योन्त्यां स्निग्धप्रवेशने ॥ १२४ ॥

विजयोदया—अवि य बहो जीवण । अपि य बहूनां जीवानां द्रव्यो भवति । मेहुणसेवया । जोणीए योन्त्यां । तिलानां नाडिकायां शरीर-शरीरप्रवेश इव ॥

मूलाए—अपि य अपि य । न केवलं मेहुणं भवन्नात्मनमेव तैस्तेर्दोषैः, वदत्येति किं तर्हि योर्लज्जतमपि यद्वत् दितस्ति इत्यधिकमुच्यते इत्यर्थः । सत्तापसंपवेसे ॥ तप्तलोहसलाक्यायां प्रवेशयमानायां तिलपूर्णनाडिकायां तिलानां वाया यथेति संबंधः ॥ उक्तं च—

तिलवात्स्यामिव क्षिप्रं तप्तलोहप्रवेशने ॥

। तिलानां देहिनानां पीढा योन्त्यं, क्षिप्रप्रवेशनाय ॥

कामी पुरुष स्वयंही इतने दीपसे पीड़ित होता है ऐसा नहीं परंतु दूसरोंकोभी उपद्रव करता है—
अर्थ—मैथुन सेवन करनेसे वह अनेकजीवोंका वध करता है- जैसे तिलकी फलीमें अग्निसे तपी हुई सलाई
ग्रसिए होनेसे सब तिल जलकर खाक होवे वैसे मैथुन सेवन करते समय योनीमें उत्पन्न हुए जीवोंका नाश होता है-

कामुग्भन्तो महिलं गम्मागम्मे पुणे अविण्णाय ॥

सुलहं दुलहं इच्छियमणिच्छियं चावि पत्येदि ॥ ९२३ ॥

इच्छावतीमनिच्छां स्त्रीं दुर्बलां दुर्लभां कुधीः ॥

अज्ञात्वा याचेते कामी सर्वाचारबहिर्भवः ॥ ९२९ ॥

पितृपोद्वा—कामुग्भन्तो कामोन्मत्तो । स्त्रियाः शरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं उत्तस्त्रिगन्धर्वमभोग्यमिति
अपिषात्य इदमित्यमशुचि इति श्रूयते । सुलभां दुर्लभां आत्मनश्च जलायवतीं मित्रमित्राणां च प्रार्थयते ॥

मुक्ताः—गम्मागम्मे स्त्रियाःशरीरमात्मनश्च गम्यं भोग्यं यत्तद्विदग्मं अभोग्यं इत्यविज्ञाय यवारथमनिरूप्य,
सुलभां दुर्लभामात्मनीच्छावतीमनिच्छावतीं वा कामोन्मत्तः स्त्रियं प्रार्थयते इति टीकाकारः । अन्ये तु गम्मागम्मेमित्यपि
महिलाविशेषणमाहुः । तथा च तद्गम्यार्थः—

कामोन्मत्तो गम्यागम्यरूपां च दुर्लभां सुलभां ॥

अज्ञात्वा प्रार्थयते भोक्तुं सेच्छामथानिच्छाम् ॥

अर्थ—कामविकारसे उन्मत्त हुआ मनुष्य स्त्रीका शरीर और अपना शरीर भोग्य है या अभोग्य है इसका
कुठभी विचार नहीं करता है. वह शरीर पवित्र है वा अपवित्र है इसका भी वह विचार नहीं करता है. यह स्त्री
दुर्लभ है या सुलभ है, यह स्त्री मेरी अभिलाषा करती है या नहीं इसका बिना विचार करके ही उसकी वह प्रार्थना
करने लगता है.

दृष्ट्वा परकलत्रं किहिदा पत्येद्दु निषिधो जीवो ॥

ण य तत्थ किं पि सुक्खं पावदि पावं च अज्जेदि ॥ ९२४ ॥

परकीयां स्त्रियं हृष्ट्वा किं कांक्षति चिमूढधीः ॥

न हि तां लभते जातु पापार्जयते परम ॥ ९४० ॥

विदुरोदया—बहून् परकलत्तं पर्यां फलये हृष्ट्वा । कथं वा सत्यार्थये जीवो निरस्तलज्जो भवेयं भवतीति ।
प्लव्यां प्रार्थनामात्रादभिगतायां तु ये प्रभोति । पापं निवोगेनार्जयति ॥

परदारतन्त्रार्थयमानं सुगुप्सते—

मूलरा—किं कथं तयात् । निम्बिजो निम्बजः । तस्य प्रार्थनामात्रात् परकलत्ते । य अज्जदि उपाजयत्येव ॥

अर्थ—परस्त्रीको देवकर यह मनुष्य निर्लज्ज होकर कैसे प्रार्थना करता है- यह सही नहीं होगी ऐसा

समझकर क्यों प्रार्थना करता है? प्रार्थना करनेसे तथा वह प्राप्त होने पर भी दुःखही प्राप्त होगा और नियमसे भावो-
पाजन होगा।

आहृष्टिदूण चिरमपि परस महिलं लभितु दुक्खेण ॥

उप्पितमभिवसत्थं अणिब्बुदं तारिसं चेव ॥ ९४१ ॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथंच न ॥

अनिर्घृतमभिविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥ ९४१ ॥

विदुरोदया—आहृष्टिदूण चिरमपि विरकात्मनिष्ठत्वात् । परस्त महिलं परस्य महिलं परस्य स्त्रियं ।
दुक्खेण लभितुं श्रेयसं लभया । उप्पितं व्याकुलप्रयत्नयस्तन्निर्दुतं चरणं इति क्रियाविशेषत्वेन नेयं । तारितो चेव यया
तदीयाभातेः पूर्वमद्यमददः पश्चादपि तदीयावृत्त्यवस्थात्तादृश इत्युच्यते ॥

परस्त्रीसेविनमनुसोचति—

मूलरा—आहृष्टिदूण अभिलष्य । वलियमं सोत्तरात् । उप्पिच्छदिति पाठेऽपि ॥ अर्थ—अस्वयं अभिगृह्या-
समाकुल वा । अणिब्बुदं अतिसुष्ठं । सेवमान इत्याद्याद्याधीक्यायास्त्रीण्यपि विशेषणानि । तारितो चेव पूर्वपदविकृतचित्त
एव भवति । उक्तं च—

अभिलष्य चिरं लब्ध्वां परनारीं कथं न च ॥

अनिर्घृतमभिविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥

अर्थ—चिरकाल परस्त्रीकी मनमें अभिलाषा करने परभी कदाचित् उसकी प्राप्ति होतीभी नहीं। अथवा कटसे मिलभी गई तोभी उसका भोग लेते समय मनमें भय उत्पन्न होता है- मनमें अविश्वास उत्पन्न होता है- जिसमें सुखही प्राप्ति होती नहीं। अर्थात् मिलनेके पूर्व जैसा वह अवसु था वैसा मिलनेपर भी भयादि विकार उत्पन्न होनेमें अवसुही रहता है-

कहमवि तमंघयारे संपत्तो जत्थ तत्थ वा देसे ।
किं पावदि रइसुक्खं भीदो तुरिदो वि उल्लावो ॥ १२६ ॥

यत्र तत्र प्रदेवो तामंघकारे कथंचन ॥

अचाप्य त्परितो भीनो रतिसौख्यं किमश्नुते ॥ १२७ ॥

विजयोवया—कथमपि तमंघकारे केनचित्प्रकारेण परंपर्यां प्राप्तः । अंघकारं संग्रहः । तां यत्र तत्र वा देशे, शय्यगृहे शून्यापत्ते, भट्ठयां च किं प्राप्नोति ? रतिसौख्यं । प्रकाशे स्वभिलषितानवयवार्थस्त्वयाः पश्यतो मृदुनि शयनतले विगतमनोव्याकुलस्य सुखं भवति । नान्यथेति भावः । किं प्राप्नोति रतिसुखं भीतः सन् राजपुत्रेभ्यस्तस्या वा संबंधिभ्यः । पश्यति मां, परे परमंति मां, परपत्नीति वा संग्रहणं अपि तया त्वरितं किं पुनरुत्तम् ॥

परस्त्रीसेवायां तमेव सुसाभावमुद्धितति-

मूलारा—मं परमहिंसां । अस्थितयः शून्यगृहादौ । भीदो तत्पतिराजपुरुषादिव्यलस्तः । तुरिदो उपालोकः । विजयवो विगतसंभरणः । प्रकाशे तन्मनोप्रावययान्पश्यतो मृदुसुखतले तदास्तिगनादि कुर्वतो निर्भयनिराकुलतया पचनइसतादिकमनुभवतश्च समोगसुखं भवतीति भावः ॥

अर्थ—दुसरको फसाकर किसी तरह अंधकारमें उसकी प्राप्ति भी हो गई तो शून्य घरमें, शून्य देवाल-यमें अथवा जंगलमें उसके साथ सम्भरण होनेसं क्या रतिसौख्य मिलेगा अर्थात् उसके मनमें यदि इसका पति इम दोनोंको देखेगा, अथवा राजाधिकारियोंके नजरमें हय आजार्वेण किंवा परस्त्रीके कोइ संबंधी यदि हमको देखेगे तो वे हमको पांधेंगे, मारेंगे ऐसे विचारसे उसके साथ उसको माषण करनेके लिये भी निर्व्याकुलता नहीं रहती है तो उसके साथ रतिसुखकी प्राप्ति कैसी होगी? रतिसुखकी प्राप्ति होने पर भी वह सुखी नहीं होता है- प्रकाशमें व्याकुलतारहित मृदुशून्यापर परस्त्रीके सर्व अवयव देखनेसे, उसके साथ क्रीडा करनेसे सुख होगा अन्यथा नहीं। अत

परस्त्रीके सेवनमें मूल नहीं। उसके विचारमें अशुभ कर्मके आशय होते हैं जिससे आत्माको कुमतीमें दारुण दुःख भोगने पड़ते हैं।

परमहंस सेवतो वैरं वधवंधकलहघणनासं ॥

पावद्दि रायबलादो तिस्रे णीयछयादो वा ॥ ९२७ ॥

सर्वसङ्घरणं रोषं वधं वंधं भयं कलिम् ॥

तज्जगतिपार्थिवादिभ्यो लभते पारदारिकः ॥ ९२८ ॥

विजयोदया— परमहंस सेवतो परल्लिखं सेवमान, वैरं, पधं, वंधं, कलहं, घटनाशं च प्राप्तोति राजमूलार तस्या। स्वजनाह ॥

परस्त्रीभोजोऽपायनाह—

मूलार—तिस्रे तस्याः ।

अर्थ—परस्त्रीका सेवन करने वालोंको राजासे अथवा परल्लिखिके संबंधियोंते वैर, वध, वंध, कलह, घटनाश वगैरे आपत्ति प्राप्त हो जाती है।

जदि दा जणेइ मेहुणमेवा पावं सगम्भि दारम्भि ॥

अदितिव्वं कह पावं ण हुज्ज परदारसेविस्स ॥ ९२८ ॥

अनर्थकारणं पुंसां कलजे स्वेपि मैथुने ॥

करोति कल्मषं घोरं परकीये ण हि पुनः ॥ ९२९ ॥

विजयोदया—अदि ता जणेइ यन्नि साणज्जनयति मैथुनकर्मसत्वा किं पावं सगमर्यायां । अतितीव्रं पापं कर्तं ॥ भवेत् परदारसेविस्स परल्लिखितः । अदस्तादानमज्जेति हो यतो दोषो ॥

परदारसेविनस्तीम्रतरापावंधमाह—

मूलार—अदितिव्वं अदस्तादानमज्जासेवनदोषद्वयावेशात् त्रीम्रतरल्लिखिति भावः ॥

अर्थ—अपनी पत्नीमेंनी यदि मैथुनसेवन करनेसे पाप उत्पन्न होता है. तो परस्त्रीके साथ मैथुन सेवन करनेसे परस्त्रीसेवी मनुष्यको तीव्र पापकर्मका कर्षो बंध न होगा. परस्त्रीसेवन करनेमें चोरी, ब्रह्मचर्यविनाश ऐसे दो दोष उत्पन्न होते हैं. परस्त्री न दी हुई चस्तु है.

मादा धूदा भज्जा भगिणीसु परेण विप्पयम्मि कदे ॥

जह दुक्खमप्पणो होइ तहा अण्णरस वि णरस्स ॥ ९२९ ॥

यथाभिद्रूमाणास्तु स्वस्तमाहृस्तुनाविषु ॥

दुःखं संपप्यते स्वस्य परस्यापि तथा न किम् ॥ ९४५ ॥

विजयोदया—मादा धूदा मातरि सुहितारि भगिन्यां परेण विप्रिये कृते कर्मणि यथा दुःखमात्मनो भवति । तथा तस्यापि नरस्य दुःखं भवति । तन्मायाविप्रिये असद्व्यवहारे सति ॥

स्वस्येव परस्यापि परेण मात्रादिषु दुराचारकरणे दुःखं भवतीत्येवंविधविचाररहितः पारदारिकोऽसद्व्यवहारादिति नीत्रपायं संक्षिप्तेनीत्येतद्वायादयेनाह—

मूलारा—धूदा पुत्री ।

अर्थ—माता, लडकी, अपनी पत्नी, और अपनी बहिन, इनके साथ किसीने कुछ दुराचार किया तो जैसे अपनेको दुःख होता है वैसे अन्य पुरुषकी माता, पत्नी, बहिन और लडकीयोंके साथ असद्व्यवहार करनेसे उसकोभी दुःख होता है ऐसा समझना चाहिये

एयं परजणदुक्खे निरेवेक्खो दुक्खवीयमज्जेदि ॥

णीयं गोदं इच्छीणजंसवेदं च अदितिव्वं ॥ ९३० ॥

इत्थमर्जयते पापं परपीडाकृतोद्यमः ॥

स्त्रीनपुंसकवेदं च नीचगोत्रं द्रुक्तरम् ९४६ ॥

विजयोदया—एयं परजणदुक्खे निरेवेक्खो दुःखवीजं संचिनोति । किं ? । सज्जं कर्म, नीचगोत्रं, स्त्रीत्व, मनुष्यकत्वं च ॥

मन्त्राणां—भिरवेकस्ते निर्विचारः परदाररतिग्रिव इत्यर्थः ॥ दुःखजीवं असद्व्ययं । भीमागोदं नीचैर्गोत्रम् ॥
अर्थ—जो दूसरोंके दुःखकी पूर्वा नहीं करता है उसको दुःखका चीज ऐसा असातोवदनीय कर्मका बंध होता है और नीचगोत्र, क्षीरपना, नृपसंक्रपना ऐसी अवस्थाओंकी प्राप्ति होती है.

जमगिच्छंती महिलं अवसं परिभुजदे जहिच्छाप् ॥

तद् य किञ्चिद्विजं जं सो तं से परदारगमणफलं ॥ १३१ ॥

सुखपते यदनिच्छंती क्षिप्रयमानांगनावत्ता ॥

तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥ १४७ ॥

विजयोव्या—जमगिच्छंती महिलं यथेच्छन्ती पुमांसं स्त्रीत्वेन अवया यथेच्छया परिभुज्यमाना यद्विच्छापति तत्तस्या जमान्तराचरितपरदारगमणफलं ॥

प्राक्तनपरदाररत्युपाजितवीर्यो बीयाः क्षीपयांयमापलाः परपुत्रेण बलादुपशुभ्यमानाः क्लेशमुपैवीत्याह—

मन्त्राणां—जं यत् । जमिच्छंती भोक्तारमकामयमाना । परिभुजदे परपुत्रेण बलात्परिशुभ्यमाना सा स्त्री क्षिरयते । तं से तत्तस्य जन्मांतरपरदारमुक्तिफलमिति सर्वथाः ॥ वक्तं च—

मुख्यते यदनिच्छंती क्षिप्रयमानांगनावत्ता ॥

यदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ॥

अन्ये—जमगिच्छंती महिलां अयसं परि भुजदे जहिच्छारा ॥

तद् वि किञ्चिद्विजं जं सो इति पठित्वा एवं व्याचक्षते—यदनिच्छंतीमवदां महिलां परिभुंते यथेच्छया यथा परिभुजानोऽसौ निर्वृतिं न प्राप्नोति तत्तस्य क्लेशमात्रिरूपं परस्त्रीमुक्तिफलमिति । तथा योक्तम्—

यदयमकामयमानां कामयते योषितं बलादवत्ताम् ॥

यदेतमुपैति तवासौ वदस्य परदारगमणफलम् ॥

अर्थ—पुरुषको इच्छा न करनेवाली परंतु पुरुषके द्वारा जो बलात्कार किया गया उससे संकोक्षपरिणामोसे युक्त होती है. वह उसका पूर्वजन्ममें परस्त्रीभोगका फल है ऐसा समझना चाहिये. अर्थवृत्तिसेन पूर्व जन्ममें जबरदस्तीसे

परस्त्रीका उपयोग लिया था यह पुल्ल इस जनमे स्त्रीमर्क्याको प्राप्त होता है तब यह भी यत्नात्कारसे भोगा जाता है।

महिलावेसविलंबी जे गीचं कुणइ कम्मयं पुरिसो ॥

तह बि ण पूइ इच्छा तं से परदारगमणफलं ॥ ९३२ ॥

योपावेपचरः कर्म कुर्वानो न यदश्रुते ॥

कांदितं शर्म तत्तस्य परदाररतैः फलम् ॥ ९४८ ॥

विलयोदया—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपथरतैः फलम् ॥ ९४८ ॥
वस्तु पंदरत्वं परदारगमनफलम् ॥

जन्मांतरपरस्त्रीमुक्त्युपादितनपुंसकवेदो जीवो नपुंसकपर्यायपत्नः स्त्रीवेपं चारयन् यत्र कामनीढां शु-
र्वैत्राणि न दृष्यतीत्युपदिशति—

मूलार—महिलावेसविलंबी स्त्रीवेपथरी । कम्मवं कामनीढां । तं से सत्पंदत्वं तस्य स्त्रीवेपथराणिः ॥

अर्थ—स्त्रीवेप धारण करनेवाला पुरुष अर्थात् नपुंसक नीच कर्म करता रहता है वो भी उसकी इच्छा पूर्ण होती नहीं. यह उसका नपुंसकपना पूर्व जन्ममें परस्त्रीसंभोग करनेका फल है. अर्थात् परस्त्रीसंभोग करने-
वाले पुल्ल अन्य जन्ममें नपुंसक होते हैं.

मञ्जा भगिणी मादा सुदा य बहुएसु भवसयसहस्सेसु ॥

अयसायासकरीओ होंति विसीला य णिन्चं से ॥ ९३३ ॥

जननी भगिनी भार्या देहजा बहुजन्यसु ॥

आयासाकीर्तिकारिण्यस्तस्य संति विशीलिकाः ॥ ९४९ ॥

विलयोदया—मञ्जा भगिणी मादा भार्या भगिनी माता सुता च बहुषु भवसहसेषु अयसाः आयासं कुर्वन्त्यो
भवन्ति नित्यं विशीलास्तस्य ॥

पारदारिकस्य बहुषु भवेयु भार्यादयो विशीलाः संपद्यन्ते इत्याह—

मूलरा—सष्टम् ॥
अर्थ—परस्त्री सेवन नितने पूर्व जन्ममें किया था उसकी पत्नी, बहिन, माता और लड़की लक्षावधि जन्मोंमें अपनी करीबी, दुःख देनेवाली और हमेशा न्यायचारिणी हो जाती है—

होइ सयं पि त्रितीलो पुरिसो अविदुज्जगो परमवेसु ॥

पवइ वषवंधादि कलहं निवंचं अदोसो वि ॥ १३४ ॥

विशीलो दुर्भगोऽप्यत्र जायते पारदारिकः ॥

निर्वोप्योऽप्यश्नुते चंचं संक्षेयं कलहं वधम् ॥ १५० ॥

विजयोदया—होदि सयं पि त्रितीलो पुरिसो अविदुज्जगो परमवेसु । सफलहं वा असौख्योऽपि ॥

परस्त्रीभानो विशीलमावादिजन्माह—

मूलरा—सष्टम् ॥

अर्थ—यह परदारसेवी पुरुष भी विशील-शीलव्रत रहित होता है और कुरूप होता है. निर्दोष होनेपर भी वध, वंध कलह इत्यादि दुःखोंको वह प्राप्त होता है.

इहलोए वि महं दोसं कामस वसगदो पत्तो ॥

कालगदो वि य पच्छ कडारपिगो गदो निरयं ॥ १३५ ॥

महान्तं दोषमासाय भवेऽत्र स्मरमोहितः ॥

सत्या कडारपिगोऽगच्छेत्तुं दुःसहवेदनम् ॥ १५१ ॥

विजयोदया—इहलोए वि महं कडारपिगो इहलोकेऽपि महान्तं दोषं प्राप्तः कामवसंगतः । कालं कृत्वा पञ्चात्रकेषु प्रविष्टः । वाच्यमथाप्यवतन्तम् ॥

उचमेवार्थमाख्यतेन स्वापयग्राह—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमें भी कड़ापिंग नामक राजपुत्र कामना होकर महान् दोषसे दूषित हुआ. और मर-
गोचर नरकमें उत्पन्न हुआ. (आसाधना कथा कोषमें इसकी कथा प्रसिद्ध है.)

एदे सत्वे दोसा ण होति पुरिसस्स बंमचारिस्स ॥

सत्त्विवरीया य गुणा हवंति बहुगा विरागिस्स ॥ १३६ ॥

भवन्ति सकला दोषा नैवामी ब्रह्मचारिणाः ॥

संपद्यन्ते गुणाश्चित्रास्तद्विपक्षा विरागिणाः ॥ १५२ ॥

विजयोदया—एदे सत्वे दोषा न भवन्ति ब्रह्मचारिणः पुंसः । तद्विपरीताश्च गुणा भवन्ति यद्वयो
विरागस्य ॥

एवं कामदोषाग्रदूतं तदभावं प्रकृते भावयति—

मूलारा—स्पष्टम् ॥

उपर्युक्त सर्व दोष ब्रह्मचारी पुरुषको स्पष्ट नहीं करते हैं. कामसेवनसे विरक्त ऐसे ब्रह्मचारीमें काम-
दोषसे विरुद्ध बहुत गुण नियास करते हैं.

अर्थ—जिसका रागभाव नष्ट हो चुका है ऐसा ब्रह्मचारी मुक्तजीव के समान प्रेक्षक होकर तीव्र काम-
नीति दृग्ध होने वाले इस सर्व जगत्को देखता है. कामाग्नीके कष्टसे ब्रह्मचारी मुक्त होता है. और पीतराग होता
है. अर्थात् काम विकारसे दूर रहना यही सच्चे मुक्त की प्रशिक्षा उपाय है. कामकृत दोषोंका वर्णन समाप्त हुआ.

कामगिणा धमघमतेण य उज्झतयं जगं सत्त्वं ॥

पिच्छइ पिच्छयभूदो सीदीभूदो विगदरागो ॥ १३७ ॥

कामाध्यना कुचफलानि निपेवमाणा रम्ये नितंबविषये ललनानदीनाम् ॥
विश्रम्य चारुबदनान्मु निपीयमानाः सौख्येन नारकपुरीं प्रविशन्ति नीचाः ॥ १५३ ॥

नरो विरगो मुषधुद्वितो सिनेद्रवध्वस्तसमस्तकल्पः ॥
विदस्यमानं ज्वलता दिवाविशं स्मरामिना लोकमेवेततेऽस्त्रिदम् ॥ ९५४ ॥
, इति कामवोषाः ॥

विजयोदया—कामगिणा कामाग्निना । धमधगयमानेन दहमानेन । दहमानं ज्वात्सवं त्रेकते प्रेक्षकभूतः स्वयं
विरतीभूतः । कः ? वीतरागः ॥

अष्टपारिणः सुतरादिशकसाह—

मूढारा—वेष्टगभूदो प्रेक्षक इव । द्रष्टव्यं न सत्कष्टाकिष्ट इति भावः । सीदीयूदो निर्बुद्धो मुष्कालमवत् ॥
इति कामवोषाः ॥

इतिपक्ष्या इत्येवमाख्यामयोत्तरः प्रबंधः ॥ कामकथा ॥

महिलाकुलसंवासं पदि सुदं मादरं च विदरं च ॥

विसयंधा अगणंता दुक्लससमुहम्भि पाडेइ ॥ ९५८ ॥

जननीं जनकं कानं ननयं सत्तुवासिनं ॥

पातयंति नितंयिन्यः कामात्तो दुःवसागरं ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—महिला दुःपसमुद्रे पतयति विधवांश्चां अगणयन्ती । किं ? कुलं सत्तुवासिनः पति, सुतं, मातरं च ॥

एवं कामवोषाग्रन्थेन न्याख्यावेदानी सीदोषान्वाचिष्यसुगोयाः पंचषष्टिमाह—

मूढारा—संवासं सहवासिनं । विसयंधा कामात्तो । पतेदि पत्यादीन् अपिपति ॥

अर्थ—विपयांच हुई स्त्री कुल, सहवासी, पति, पुत्र, माता और पिता इनका आदर नही करती है और
सबको दुःखसमुद्रमें डुबा देती है.

माणुष्णयस्त पुरिसदुमस्त णीचो वि आरुहदि सीसं ॥

महिलाणिस्तेणीपु पिस्सेणीपु ज्व दीहदुमं ॥ ९६१ ॥

स्त्रीनिःश्रेण्योन्नतस्यापि दुरारोहस्य लीलया ॥

मस्तकं नरवृक्षस्य नीचोऽप्यारोहति द्रुतम् ॥ ९५६ ॥

विजयोदया—माणुषयस्स मानोऽतल्य पुरुषद्रुमस्य शिर आरोहति नीचपुरुषोऽपि महिलातिःश्रेण्या दीर्घमिव द्रुमं ॥

मूलार्थ—दिग्बहुमं वर्त्तनैर्वृक्षम् ॥

अर्थ—स्त्री रूपी नसेनिके आश्रयसे नीच पुरुष अभिमानसे उन्नत ऐसे पुरुषरूपी वृक्षके मस्तकपर चढ़ बैठता है जैसे नसेनिके द्वारा ऊँचे वृक्षपर लोक चढ़ते हैं-अभिप्राय यह है-नीच पुरुषका आश्रय कर अपने पतिका अभिमान मढ़ीमें मिला देती है-उसके कौतिका छुप कर देती है-

पव्यदमिता माणा पुंसाणं ह्येति कुलवलघणेहिं ॥

बलिषुहिं वि अश्वलोहा गिरीव लोगप्यासा य ॥ ९४० ॥

भान्या ये संति मर्त्यानामश्लोभ्या बलिनानमपि ॥

सर्वत्र जगति ख्याता महान्तो मंदरा इव ॥ ९५७ ॥

विजयोदया—पव्यदमिता माणा भवन्ति मानानि पुरुषणां कुलवलघनैः । बलिभिः ब्रह्मोभ्यानि निरिवह्योके प्रकाशभूताभि च ॥

मूलार्थ—माण्णा अहंकाराः । बलिषुहिं वि बलवद्विरपि । अश्वलोमा चालयितुमशक्याः । गिरीव लोगप्यासा जगति ख्याता मेरवो यथा । अत्र पर्यंतसामान्यार्षोऽपि गिरिशब्दो गिरिद्रवृत्तिगुणते कट्टिपक्षेपणयोगात् । उक्तं य—
पर्वतसदृशा माना कुलवलघिर्भैर्भवन्ति पुरुषणाम् ॥
गिरिराजवत्प्रकाशा ये आश्लोभ्या बहद्विरपि ॥

अर्थ—उच्च कुल, बल-सामर्थ्य, और धनसे पुरुषोंका मान पर्वत तुल्य बढ़ा होता है- उनके मानका ध्वंस करनेके लिये बलिष्ठ पुरुषभी असमर्थ होते हैं- और जगतमें उनका गान पर्वतके समान सर्वत्र प्रसिद्ध होता है ते तारिसया भाणा ओमच्छिज्जेति दुष्टमहिलाहिं ॥
अहं अंकुसेण निस्सादज्जइ हत्थी अदिवलो वि ॥ ९४१ ॥

चाटैस्ते शीजनैस्तीक्ष्णैर्नाग्न्यन्ते क्षणमाव्रतः ॥

नितांतकुटिलीभूतैरकुसूरिव दंतिनः ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—ते तारितया साणा तावि तयाभूतानि मानानि अवमध्यन्ते दुष्टस्त्रीभिः । यथा बंधुदोष निपया कार्यते इत्थी अतिवलोऽपि ॥

मूलारा—ओमाच्छिज्जति विनाशये । गितियाविज्जति उपवेश्यते ।

अयं—येते पुरुषोक्ताभी महाभान दुष्ट स्त्रियोंके द्वारा च्वस्त नए किया जाता है. अर्थात् अपने हीनाचार से वे अपने पत्नीका अभिमान धूसमें मिलाती है. जैसे दाधी बदामी हो तोभी छोटा अकुल उसको बलात्कारसे जमीनपर बिठा सकता है.

आसीय महाजुष्टाहं इत्थिहेदु जणम्मि बहुगाणि ॥

भयजणणाणि जणाणं भारहरामायणादीणि ॥ ९४२ ॥

आसन्नरामायणादीनि स्त्रीभ्यो युदान्पनेकशः ॥

मलिनारभ्योऽद्दमालाभ्यः सलिलानीच चिट्टये ॥ ९५९ ॥

विजयोदया—आसीय महाजुष्टाणि भासन्महायुद्धानि जगति स्त्रीनिसिणानि चहति भयजनकानि जनानां भारतरामायणादीनि ॥

मूलारा—आसन्नं कृतानि ।

अयं—इस जगतमें इस स्त्रीके लियेही भयानक रामायण, महाभारतके समान मनुष्योंका महा क्षय करने वाले अनेक बड़े युद्ध हुए हैं.

महिलासु णत्थि वीसंभणयपरिचियकवण्णादा णेहो ॥

लहुमेव परगयमणाओ ताओ सकुलंवि य जहंति ॥ ९४३ ॥

विश्रंभसंस्तवस्नेहा जगु संति न योपितः ॥

त्पजन्ति वा परासक्ताः कुलं दृणमिव द्रतम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—महिला। स्त्रीषु न संति विस्मयणया, परिचय, इतमता, कोदय । सदसा पटलतचित्तालाः स्फुल्लं जहति ॥

मूलाय—पण्य प्रसाद । कदम्बजवा कुतबता । स्फुल्लं स्फुल्लं कुलीनं वा ।

अर्थ—स्त्रियों विद्यात, प्रसाद, परिचय, कुतबता अर्थात् किये उपकारोंका स्मरण रखना—कृतज्ञ न पाना, और स्नेह ये गुण नहीं रहते हैं- वे जब परगुणसक्त हो जाती हैं तब अपने हित करनेवाले पतिकोभी छोड़ देती हैं, अपनी कुलनितको छोड़ती हैं- नीचोंका हाथ पकड़ती हैं-

पुरिसस्स दु वीसंभं करेदि महिला बहुप्पयारेहिं ॥

महिला वीसंभेदु बहुप्पयारेहिं वि ण सक्का ॥ १४४ ॥

विस्मययन्ति ता मत्पं प्रकारैर्विचिष्येलेषु ॥

विस्मयः शक्यते कर्तुमेतासां न, कथंयन ॥ १४५ ॥

विजयोदया—पुरिसस्स दु वीसंभं कुरुप्पयारेहिं, वि ण सक्का, प्रकारैर्विचिष्येलेषु नेतुं न शक्ताः पुमांसः ॥

मूलाय—वीसंभेवं विचिष्ये नेतुं ॥

अर्थ—अनेक कपट प्रयोगोंसे ये पुरुषोंके मनमें विश्वास उत्पन्न करती हैं अर्थात् अपने हावभाव, मधुर भाषण, वगैरहसे अपनेमें अनुरक्त करती हैं, पांडु पुरुष उसको अपनेमें अनुरक्त नहीं कर सकता है

अदिलुहुयगे वि दोसे कदम्मि सुकदस्सहस्समगणंती ॥

पइ अप्पाणं च कुलं घणं च णासंति महिलाओ ॥ १४५ ॥

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे कृतदोषसदृसशः ॥

उपकारमवज्ञाय स्वं निघ्नन्ति पतिं कुलम् ॥ १४६ ॥

विजयोदया—अदिलुङ्गयोगे वि दोसे सत्येपि दोषे हृते सुष्ठुसतमव्ययव्य पठि, आत्मानं, कुलं, धनं च नाशयति युपतय ॥

मूढारा—अदिच अतीव । सुगदसद सपकार्यं ।

अर्थ—पतिके द्वारा छोटासा भी अपराध हुआ तो उसके हजारों उपकारभी वह भूल जाती है और उसका, कुलका, और धनका और अपनाभी नाश कर डालती है

आसीविसो व्य कुविदा ताओ दूरेण पिदुदपावाओ ॥

रुष्टो चंडो रायाव ताओ कुर्वन्ति कुलघाव ॥ १४९ ॥

आशीविषा इव त्याज्या दूरतो नीतिहेतवः ॥

दुष्टा नृपा इव कुद्धास्ता कुर्वन्ति कुलक्षयम् ॥ १५० ॥

विजयोदया—आसीविसो व्य अशीविष इव कुपितस्ता दूरेण नीतिहेतु न शस्या । रुष्टाओ राजेव ता कुर्वन्ति कुलघात ॥

मूढारा—दूरेण त्याज्या इति शेष पिदुदपावाओ प्रच्छन्नपातका । दूरेणवापिदु सत्ता दूरपदि नोपेया इत्यर्थः ।

अर्थ—भयंकर सर्पका जैसे दूर से ही त्याग करना हितकर है वैसे दुष्ट स्त्रियोंका दूरसे ही त्याग करना फलदायक होता है जैसे कुब राजा अपराधीके कुलका समूह नाश करता है वैसे दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिके कुलका पूर्ण नाश करती है,

अकदमि वि अवराधे ताओ धीसच्छमिच्छमाणीओ ॥

कुर्वन्ति न्ह पदिणो सुदस्स ससुरस्स पिदुणो वा ॥ १४७ ॥

अकृतेप्पपराधे ता नीचा स्वच्छंदवृत्तय ॥

निघ्नन्ति निर्धूणा पुञं चञ्चुर पितरं पत्तिम् ॥ १५४ ॥

विजयोदया—अकदमि वि अवराधेपि । अवराधे अपराधे । ताओ ता । धीसच्छमिच्छमाणीओ स्नेच्छा

मनुचिन्मिलयन्त्यः । पतिगो वधं कुर्वन्ति पत्युर्वधं कुर्वन्ति, सुदस्स युतस्य, सुदस्स श्वगुरस्यापि । पितुणो वा पितुर्वो वधं कुर्वन्ति ॥

मूढारा—वीसत्यं स्वेच्छामप्रवृत्ति ॥

अर्थ—स्वच्छंद प्रवृत्ति करनेवाली स्त्रिया निरपराधी पतिविका, अच्छे ज्ञानका, अपने ससुरका और पिता-कात्री घात करती हैं. जो जो अपने स्वच्छंद प्रवृत्तिमें बाधक होगा ऐसा सम्झती हैं उनका २ वे घात करती हैं.

सत्कारं उपकारं गुणं व सुहलालणं च गेहो वा ॥

मधुरवयणं च महिला परगदहिदया ण चित्तेह ॥ १४८ ॥

उपकारं गुणं स्नेहं सत्कारं मधुरं वचनं सुहलालनम् ॥

न मन्यन्ते परासक्ता मधुरं वचनं स्त्रियः ॥ १४५ ॥

विजयोदया—सत्कारं सत्कारं सम्मानं । उपकारं उपकारं, गुणं कुलरूपवैधनादिकं गुणं च पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं च । गेहो वा कोठं च । मधुरवयणं च मधुरवचनं च । महिला युवतिः । परगदहिदया परपुरुषपादु-रकाक्षिका । ण चित्तेह न चित्तयति ॥

मूढारा—गुणं कुलरूपवैधनादिकं पत्युः । सुहलालणं सुखेन पोषणं ॥

अर्थ—आदरसत्कार, उपकार, गुण, कुल, तालम्प और सौदर्य इत्यादि गुणोंसे पतियुक्त होनेपर भी-यदि स्त्री जप परपुरुषपर अनुरक्त होजाती है जब पतिके इतने गुणोंका कुछभी विचार नहीं करती है. पत्नीने बड़े प्यार से उसका पोषण किया, उसने स्नेह दिखलाया और मधुर वचन भी बोले तो भी इन बातोंका वह कुछभी विचारकर ती नहीं है.

साकेदपुराधिपदी देवदी रज्जसुवस्वपम्भट्टो ॥

पंगुलहेदुं छहो णदीए रत्ताए देवीए ॥ १४९ ॥

साकेताधिपतिदेवरतिः प्रच्याव्य राज्यतः ॥

देव्या नदी-हृदे विमो रक्तया पंशुरक्तया ॥ ९६६ ॥

विजयोद्या—साकेतपुराधिपती साकेतपुरस्य सामी । देवती देवरतिसंज्ञितः । राजलोपखण्डमद्वे राज्येन सौख्येन च नितरा भव । पशुलदेहं पशुलनिमित्तं गंधर्वप्रवीणेन पशुना सह जीविषुमपिलब्धम् । कृद्वे विविक्तः । जनीप नदी । रक्षाप देवीप रक्षानामधेयया देव्या ॥

मूषारः—साकेत अयोध्या । देवदत्तो देवरतिसंज्ञः । पशुलदेहं गाधर्वप्रवीणेन पशुना सह जीविषुमिच्छन्त्या । ब्रूवो प्रभितः । रक्षाप रक्षासंज्ञया ॥

अर्थ—साकेत नगरका देवती नामक राजा था. उसको रक्षा नामकी अर्पित प्रिय रानी थी. रानीके स्नेहसे उसने राज्यका और सुलकाभी त्याग कर दिया तथापि भानविद्यामें प्रवीण ऐसे एक पशुके ऊपर वह प्रेम फाली लगी. हमके साथ रहनेकी इच्छासे उसने अपने पतिको नदीमें डकेल दिया.

ईसाहुद्याप गोववदीपु गामकूडधूदिया सीसं ॥

छिण्णं पद्दो तथ मछुण पासमि सीहवलो ॥ ९५० ॥

गोपवत्त्या रुधा छित्वा गामकूडसुताथिरः ॥

राजा सिंहवलः कुड्डी शबत्तेप्योपरया हतः ॥ ९६७ ॥

विजयोद्या—ईसाहुद्याप इर्ष्यावला । गोपवदीप गोपवतीनामधेयया । गामकूडधूदिया गामकूटस्य दुहितुः । सीसं छिण्णं तिरदिच्छन् । पद्दो प्रदत्तया । मछुण अन्त्या । पासमि पार्श्वदेशे सीहवलो सिंहवलसे खितः ॥

मूलाप—ईसाहुगाण इर्ष्यावत्या । गोमवदीप गोपवतीसंज्ञया । गामकूडधूदियासीसं गामकूटदुहितुः इत्यर्थः । मछुण सन्त्या । सुतनिर्देशेनेत्यपरः । पार्श्वमि पार्श्वदेशे । सीहवलो सिंहवलसे नाम ॥

अर्थ—सिंहवल नामक मछुण को गोपवती नामक बृद्ध इर्ष्यालु थी थी, उसने अपने सौतका मस्तक तोटकर अपने पतिको भी मालेमे मार डाला.

वीरमदीप सूलगदचोरदहोद्विगाए वाणियओ ॥
पहदो दत्तो य तथा छिण्णो ओद्वोत्ति आलविदो ॥ ९५१ ॥

वीरघत्तापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः ॥

ओष्ठच्छिन्नो मयानेन पापयेत्युदितं मृषा ॥ ९५८ ॥

विजयोदया—धीरपदीय वीरपतीसकिया । सूलगदचोरदहोद्विगाए शूलसचोरदघाघरया । वाणियओ पणिकसुत । पहदो ग्रहत । दत्तो य दत्तक । तथा सया । छिण्णो ओद्वोत्ति ओष्ठच्छेदनेन छत । इति य । आलविदो भणित ॥

मूलाप—पहदो ग्रहणुव्यारकथं । दत्तो दत्तनामा । छिण्णो उद्वोत्ति अनेन छिन्नो मसौष्ठ इति आलविदो आल प्रापित. ॥

अर्थ—शूलपर चढाये हुए चोरके द्वारा जिसका ओष्ठ खंडित किया गया था ऐसी वीरमति नारकी स्त्रीने दत्तनामक मेरे पतीने मेरा ओष्ठ छिन किया है ऐसा राजासे जाकर कहा और उसके द्वारा अपने पतीका खा हुआ घात करवाया

वग्गविसचोरअंगी जलमत्तगयकण्हत्तप्पसचूसु ॥
सो वीसंसं गच्छदि । वीसंमदि जो महिलियासु ॥ ९५२ ॥

उयाग्गे विये जले संपे शची स्तेनेअले गजे ॥

स विच्चसिसि नारीणां यो विच्चसिसि दुर्मनाः ॥ ९६९ ॥

विजयोदया—वग्गविसचोरअंगीजलमत्तगयकण्हत्तप्पसचूसु । व्याग्गे, विये, चोरे, अगो, जले, मत्तगजे, छणसपे, शची च । सो विस्सम गच्छदि स विस्सम गच्छदि । विस्समदि जो महिलियासु विस्सं यः करोति यत्तितासु ॥ मूलाप—वीसमदि विच्छसिसि ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रियोंपर विचार करता है वह वाध, विष, चोर, अप्रम, जलमवाह, मदनाला हाथी, छणसपे और शत्रु इनके ऊपर विचार करता है ऐसा समझना चाहिये.

वग्धादीया एदे दोसा ॥ णरस तं करिज्जण्हू ॥
जं कुणइ मद्दोसं दुट्ठा महिला मणुरसस ॥ ९५३ ॥

व्याघ्रादयो महर्दोषं कदाचित्तं न कुर्वते ॥

लोकद्वयविधानिन्यो यं क्षियो वक्त्रमानसाः ॥ ९७० ॥

विजयोद्या—व्याघ्रादिषु विषमगन्तवापीयो विषमगन्तं चिन्तयित्वा कथयत्युत्तरमाय ॥ गधादीया
लपामिनादय पूर्वपुनर्निर्णय ॥ दोस दोष ॥ णरस नरस्य ॥ त ण करिज्जण्हू ॥ दुपुं ॥ ज कुणवि मद्दोसे नं करोति
महात दोष ॥ दुट्ठा महिला दुष्टा उक्ता ॥ मणुरसस मनुष्यस्य ॥

मूलार्थ—हरिज्जण्हू दुपुं ॥

अर्थ—व्याघ्रादिसौ मे विश्वास करने से विज्ञाना दुःखान् मनुष्यका होता है उससेभी अत्यधिक दुःखान्
दुष्ट महिलाओंसे होता है-अर्थात् व्याघ्रादिकोमे विश्वास करना कथचित् अन्ध माना जायगा परंतु दुष्ट स्त्रीपर
विश्वास करनेसे सर्वथैव अपना पात करेला है.

पातसकालणदीबोव्व ताओ गिचंवि कलुसहिदयाओ ॥

घणहरणकदमदीओ चोरोव्व सकज्जयुरुयाओ ॥ ९५४ ॥

सकज्जमलायाया रामाः प्रादुपेण्या इयापगाः ॥

स्तेनवरस्वार्थतविद्याः सर्वस्वहरणोयताः ॥ ९७१ ॥

विजयोद्या—पातसकालणदीबोव्व प्रादुदकालस्य नव इय ॥ ताओ ता ॥ गिचं वि निस्समवि ॥ कलुस-
हिरयाओ कलुगहदया ॥ स्त्रीषु हव्यपाप्मेन विषमुच्यते ॥ नदीयथ्यंतर् ॥ रणेण, जेणेण, मोहेण, ईर्ष्याया, असुयया, मायया
या षडुगीरतमय वित्त तासा ॥ चोरोन चोर इव ॥ सकज्जयुरुयाओ सकावे गुण्य ॥ घणहरणकदमदीओ भनापहरणे
हृतदुययः ॥ चोरा अपि कथमस्माभिरित्येतदीयमात्मसाक्ष्य भवतीति कृतदुययः ॥ ता अपि मणुरवचनेन रनिमीडानु-
कूलतया या पुरयस्य द्रव्यमादत्तुमुद्यताः ॥

मूलार्थ—रलुसहिदयाओ रागद्वेषमोहेत्यासुषायाविष्टिता आविडमन्थाय ॥ सकज्जयुरुयाओ रजकार्यगुण्यः ॥

अर्थ—पर्पाकालकी नदीका मध्यमदेश मलिन पानीसे भरा रहता है और स्थियोंका चित्तभी राग, द्वेष,
मोह, ईर्ष्या, अयुय, कपट इत्यादिक दुष्टभावेसे मलिन होता है-चोर जैसा मतमें इन लोगोंका घन कित उपपत्ते

प्रमाण किया जावेगा ऐसा विचार करता है वैसे स्त्रिया भी घन हरण करनेमें निपुण होती हैं. अर्थात् वे मधुरवचन बोलकर, रतिक्रीडामें अनुभूतता दिखाकर पुष्पका द्रव्य हरण करनेमें उद्युक्त रहती हैं. अपने कार्यमें हमेशा तत्पर रहती हैं.

रोगी दरिद्रं वा जरा व ण उवेइ जाव पुरिसस्स ॥

ताव पिओ होदि णरो कुलपुत्तीए वि महिलाए ॥ ९५५ ॥

दारिद्र्यं विवस्सो न्याधिं यावथाभोति मानथः ॥

जायते तावदेवास्याः कुलपुत्र्या अपि प्रियः ॥ ९७२ ॥

विजयोदया—रोगी दरिद्रं कां र्थाधिदैरिक्तं वा जरा या । ण उवेदि न दोक्ते वायरपुण्यं । साय पिओ होदि णरो सावप्रियो भवति नरः । कुलपुत्तीए वि कुलपुत्र्या अपि । महिलाए पाताया । कुलपुत्रीषु वाग्यः किमस्ति साध्वो हि प्रायेण कुलपुत्र्य पतिमेव वेजतेति मध्यमाणा. प्रियं त्यजंतीति ॥

मूलारा—ण उवेवि जायाति ।

अर्थ—रोग, दारिद्र्य, अथवा वृद्धावस्था अथवा पुरुषको प्राप्त होती नहीं तत्पक्ष स्त्रीको अपना पति प्रिय होता है जब उसका शरीर रोगसे पीडित होता है, वृद्धावस्था उसके शरीरको खर्च करती है तब वह स्त्रीको अभिय होता है. साधारण स्त्रियोंको ही दारिद्र्यादि अवस्थामें वह अभिय मान्य होता है ऐसा नहीं. किंतु जो पति को दैत्यतुल्य समझती हैं ऐसी कुलीन स्त्रिया भी पतीको अभिय समझ कर त्याग करती हैं.

जुण्णो व दरिद्रो वा रोगी सो चेव होइ से वेत्तो ॥

णिप्पीलिओन्व उच्छू मालाव मिलाव गदगंधा ॥ ९५६ ॥

प्रसूनमिव निर्गंधं द्रेव्यो भवति निर्धनः ॥

म्लानमालेव वर्षिष्ठो रोगीक्षुरिव नीरसः ॥ ९७३ ॥

विजयोदया—जुण्णो वृद्धो वा । दरिद्रो वरिद्रः । रोगिद्रो व्याधितः । सो चेव स ण्य युजत्वे घनित्य नीरोगत्वे वा यः प्रियः स एव होदि भवति । से तस्याः । वेत्तो द्वेषः । णिप्पीलिओन्व निष्पीडित एव उच्छू रक्षुः ।

मालाए मिलाय गदगंधा मालेय म्माना नएगंधा । अणहतरस इधुः सोभारहितनिगंधमाला च यथाऽप्रिया । यौवनं, धनं, यकिञ्च पुंसोऽतिशयस्तद्व्याये नैवास्माविष्यते स्त्रीभिः ॥

मूलाः—सो चैव स एव । यो युक्त्ये यन्त्रित्ये नीरोगत्वे च सति प्रियः । से तस्याः । येसो हेन्यः । लच्छुः इधुः । मिडादगदगंधा म्माना नष्टगंधा च ॥

अर्थ—पुरुष तरुण, श्रीमान और नीरोगी अवतक रहता है तबवक वह स्त्रीको प्रिय लगता है परंतु वही जय दृढ़, दृढिंद्री और रोमी बनता है तब स्त्री उसका प्रेय करती है, जैसे रसहीन ईल मनुष्य त्याग देते हैं अथवा सोभारहित निगंधमालापुष्पोंकी माला जैसी लोक त्यागते हैं वैसे धनहीन, वृद्ध और रोमी पतिकी स्त्री इच्छा नहीं करती है, वारुण्य, धन और सामर्थ्य ये बातें पुरुषमें विशेषता उत्पन्न करती हैं, जिसमें ये बातें पायी जाती हैं वह स्त्रीको प्रिय होता है, इनका नाश होनेसे यह उनको अप्रिय लगता है-

महिला पुरिममवणाए चैव वंचेच्च गियडिकवडेहिं ॥

महिला पुण पुरिसकवं जाणइ कवहं अयणाए ॥ ९५७ ॥

बंचयन्ति वचनं नराचार्यः समस्तानपि हेलया ॥

जानंति वचनं पौलं तवीयं न नराः पुनः ॥ ९५४ ॥

पिजयोवया—महिला पुरिसमवणाए यमिता पुरुषमनादेकेष बंचयन्ति । निहत्या कपटतया च स्त्रीभिः कृतां निहन्ति वचनं शठतां च न जानंति पुमांसः । मदित्वा पुण चामलोचना पुन जाणदि जानाति । किं कपटशतं पुरिसकवं पुरुषेण कृतं । अयणाए अचञ्जया औदासीन्येनैव अक्केडेनेति यावत् ॥

मूलाः—अयणाए चैव अयद्यैव अक्केडेनेत्यर्थः । गियाडिकवडेहिं मृपास्मितजल्पितदपथकोपकथाभिः स्त्रीभिः कृतां निहन्ति वचनं कपटं च शठतां नरा न जानंति इति भावः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको आयास के बिना फसाती है अर्थात् झूठा हास्य, असत्य भाषण, शपथ, असत्य कोप, और मधुर भाषण इत्यादिकोसं ये पुरुषको अनायामसे फसाती है, स्त्रीका किया हुआ कपटप्रयोग पुरुष नहीं जान सकते हैं, परंतु स्त्री पुरुषके कपट वत्काल जान लेती है,

नरो ह्येवं मन्यते श्रियोऽहमेतस्या इति न बातसौ प्रिय इत्यावाटे—

जह जह मण्डेइ णरो तह तह परिमवइ तं णरं महिला ॥

जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ ॥ ९५८ ॥

यथा यथा स्त्री पुरुषेण मन्यते तथा तथा सा कुरुते परामर्चं ॥

यथा यथा कामवदोन मन्यते तथा तथा सा-कुरुते विटंवनाम् ॥ ९५९ ॥

विजयोदयत—जह जह मण्डेइ णरो यथा यथा मानयति नरः तथा तथा परिभियति तं नरं युयति । जह जह कामेइ णरो यथा कामवते मनुष्यस्तथा तथा पुरिसं विमाणेइ तथा तथा पुरुषं विमानयति ॥

मूढारा—विमाणेवि जचक्षाहवं करोति ।

नै इत स्त्रीणां मिय हं ऐसा पुरुष समसता है परंतु वास्तविक वह उसका प्रिय नहीं है इस विषयका विवेचन—
अर्थ—जैसे जैसे पुरुष स्त्रीका आदर करता है वैसे वैसे वह उसका अनादर करती है, तथा जैसे वैसे उसकी उरफकी करता है वैसे वैसे वह उसका तिरस्कार करने लगती है—

मतो गउव्व णिच्चं पि ताउ मदविभलाउ महिलाओ ॥

दासेव सगे पुरिसे किं पि य ण गणंति महिलाओ ॥ ९५९ ॥

भवन्ति सर्वदा योपा मत्तास्तंभेरमा इव ॥

सवं वासमिव मन्यन्ते पुरुषं मूढमानसाः ॥ ९६० ॥

शीलसंयमतयोर्चाहर्भवास्ता नरांतरनिविष्टमानसाः ॥

चित्तयन्ति पुरुषस्य सर्वदा दुःस्वप्नमपकारिणो यथा ॥ ९६१ ॥

विजयोदया—मतो गउव्व मत्तगज इव । णिच्चं नित्यं । तावो मदविभलावो मदेन विह्वला युवतयः । दासे य सगे पुरिसे दासे वा सपुत्रे वा । किञ्चि किञ्चिदपि विदोषजाते । य गणंति नैव गणयन्ति । कुलीनो गमान्यो मर्तो स्वामी । दास्याः पुत्रोऽयं जगन्पः अहमस्य स्वामिनीति विवेकं करोति ॥

मूढारा—किंचिदयत्तर । अयं दासीपुत्रोऽयं च कुलीनो मान्यो मम स्वामीति न विवेचयति सदांथाः प्रमदाः किं तु मम दास्याः पुत्रोऽयं निष्करोऽहमस्य स्वामिनी मयामान्येति दृष्यन्ति । उक्तं य—

मनो गजपथिर्यदुत्ता नित्यमखिविह्वलाः ॥

पासे वा स्वपत्नी वापि विवेकं नैव कुर्वते ॥

प्रातः सगे पुरितो इति पाठे अयं कुलीनः स्वासीदयादि विशेषणं चातं । दास इवं स्वपुरुषे ॥ गणयति दास-
वर्गं मन्यते इत्यर्थः । उक्तं च—

भवंत्यः सर्वदा योषा यन्ताः स्वेतरसा इव ॥

स्वं दासजिव मन्यन्ते पुरुषे मूढमानसाः ॥

अर्थ—जैसा पण हाथी मदसे विह्वल होता है वैसे गविंष्टिखिया भी सबसे अपने पतिको और दासको
नौकरको समानभावे देखती है, अर्थात् नीसरेके समान अपने पतिको ये मानती है, पति में नौकरसे कुछ विवे-
कवा है ऐसा ये जानती नहीं, मेरा पति मेरा स्वामी है और कुलीन है और यह दास दासीका पुत्र है, यह हीन-
जातिका है मैं उसकी स्वामिनी हूं ऐसा विवेक उनके अंतःकरणमें उत्पन्न होता नहीं.

अणिदुपरगदहिदया तावो वग्धीव दुडहिदयाओ ॥

पुरिसस्स ताव सचूव सदा पावं विचिंतति ॥ ९६० ॥

कुर्यन्ति दाहणां पीढामापिपाशानलाहताः ॥

अपराधं विनाप्येताः पुंसां ह्यावा इयावमाः ॥ ९७८ ॥

विश्रयोदया—अणिदुपरगदहिदया तावो अनिमृते परजते हृदयमासाभिति अनिभूतपरगदहृदया मयन्ति ।
मपिपाशितपशजिचितायोपाः । वग्धीव दुष्टहृदयमासां अहृतेऽप्यपकारे यथा ज्यामी परं मारयितुमेव कृतचिन्तेति
दुष्टहृदया एवमिमा अपि । पुरिसस्स ताव पुरुषस्य तावत् । सचूव सदा पावं विचिंतति । प्राचुरिच सदा पापमेव अनुममेय
चेतसि कुर्यन्ति । यथा यो रिपुः कश्चिदकृत्यचित्सर्वदा घनमस्य विनश्यत्, विपदोऽस्य भवत्विति चिन्तं करोति तथैव सा
मपि ॥

मूलाप—अणिदुपरगदहिदयाओ अनिपाशितपापासकचिचा । अन्ये अनिभूतमपि चंचलमाहुरसंभूतमित्यपरे ।
दुष्टहिदयाओ अहृतेऽप्यपरपये मारणेनतचिचाः । पावं अनुषं । घनमस्य विनश्यत् विषदोऽस्य भवन्त्वित्यादि ॥

अर्थ—स्त्रिया परपुरुषों के आसक्त हुए अपने हृदयको परावृत्त नहीं करती है, व्याघ्री जैसी अपकार न करने पर भी मनुष्यको मार डालती है वैसे दुष्ट स्त्रिया निरपराधी पतिको भी मारती है-जैसे शत्रु अपने प्रति पक्षिका अशुभ होनेका ही चिन्तन करता है, वैसे ये दुष्ट स्त्रिया भी अपने पतिका अशुभ कथ होया इसका ही विचार करती हैं, शत्रु प्रतिपक्षका धन नष्ट होनेका चिन्तन करता है विपक्षियोंका विचार करता है वैसे हि दुष्ट विचार ये दुष्ट स्त्रिया अपने मनमें करती हैं,

संक्षान्त गणेषु सदा ताओ ह्रुति खणभेत्तरागाओ ॥

वादेश्च महिलियाणं हृदयं अविचंचलं निचंचं ॥ ९६१ ॥

क्षणैव चंचला नारी संक्षेपेव क्षणरागिणी ॥

छिद्रार्थिनां सुखगीव शर्वरीव तमोभयी ॥ ९६२ ॥

विश्वयोव्या—संक्षान्त गणेषु सदा ताओ ह्रुति संख्या एव नरेषु सदा ता भयंति । खणभेत्तरागाओ अल्प कालरागाः । अस्तिररागता नाम दोषः मरुटितः । यथा संख्याया रक्ता विनाशिनी । महिलियाणं हृदयं अविचंचलं निचंचं । स्त्रीणां हृदयं अविचंचलं नित्यं । निमित्त वादो य यात इय ॥

मूलारा—रागाओ रताः प्रीतिर्नानावर्णश्च ॥

अर्थ—संख्याकालका शालरंग खणमात्र टिकता है अनंतर वह जैसा तट होता है वैसी स्त्रियोंकी प्रीति क्षणमात्र रहती है अर्थात् अल्पकाल प्रेम करना यह दोष स्त्रियोंमें रहता है- स्त्रियोंका हृदय हमेशा वायुके समान अविद्यय चंचल रहता है,

जावइयाई तणाईं वीचीओ वालिगाव रोमाईं ॥

लोए हवेब्ज तचो महिलाचिताईं चहुगाईं ॥ ९६३ ॥

सिक्ततातृणफलोरोमाणि सुवनत्रये ॥

यावन्ति सन्ति तावन्ति मानसानि मृगीहसाम् ॥ ९६० ॥

विजयोदया—आवरणार्थं यावन्ति दुष्कानि, वीचया, घातुकाः. रोमाणि च अगतिं ततो युष्मदीनां विता वया ॥
 मूढारा—ततो तेभ्योऽपि ।

अर्थ—जगतमें जितना दुःख है, जितनी मयुद्धकी और नदीकी लहरें हैं, जितना बालुकासमुदाय और प्राणिजोता केदममूह है उनसे भी अधिक तरुण स्त्रियोंके मनमें विचारसमुदाय उत्पन्न होता है.

आगत भूमि उदधी जल मेरु धाउणो वि परिमाणं ॥

माहुं सक्का ण पुणो सक्का इत्थीण च्चिचाइं ॥ ९६१ ॥

नगभूमिन्भोऽम्मोयिसल्लिख्खेन्नमःस्वताम् ॥

सकयते परिमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥ ९८१ ॥

विजयोदया—आगतभूमि आकाशाय भूमेरुपेठलक्ष्य, मेरोवर्षोच्च परिमाणमस्ति । स्त्रीणां चित्तं पुनर्मातुं न

सक्यमस्ति ॥

मूढारा—आगतभूमी । आकाशधीना परिमाणमस्ति । अत एव ते मातुमियत्तवावधारितुं सक्याः, न पुनः स्त्रीचित्तानि परिमाणभावात् । निर्दिष्टं नानाम्परावधिषत्पञ्चालाङ्गुलतापेया ॥ ठर्कं च—

नवभूमिन्भोऽम्मोयिसल्लिख्खेन्नमःस्वताम् ॥

सकयते परमा कर्तुं स्त्रीचित्तानां न सर्वथा ॥

अर्थ—आकाश, जमीन, समुद्र, पानी, मेरु और वायु इन पदार्थोंका कुछ परिमाण है परंतु स्त्रीके चित्तता अर्थात् उनके मनमें निरंतर उत्पन्न होनेवाले संकल्प विकल्पोका परिमाण जानलेना अशुभव है.

चिद्व्रंति जहा ण चिरं विज्जुज्जल्लुब्बुदो व उक्का वा ॥

तह ण चिरं महिलाए एक्के पुरिसे हवे पीवी ॥ ९६४ ॥

यथा समीरणोत्कांभोबुबुदाच्चिररोचिषः ॥

एकत्र नावतिष्ठते तथैताश्चलद्युत्तयः ॥ ९८२ ॥

विजयोदया—अदा न विरं चिह्नि यथा न चिरं तिष्ठति विद्युतः । अलबुद्बुदा उल्काया तथा यनितायां न कस्मिन्नियुक्ते प्रीतिश्चिरं तिष्ठति ॥

मूल्या—चिह्नि तिष्ठति । अलबुद्बुदो अलबुद्बुदः । उल्का उल्का । कन्दिनि कस्मिन्निनि ॥

अर्थ—जैसे विजली, पानीका बबूला, और उल्कापात ये पदार्थ शीघ्र नष्ट होते हैं- वैसे खिओकी किसी पुरुषपर प्रीति दीर्घ कालतक नहीं रहती है

परमाणू वि कइंचिवि आगच्छेज्ज गहणं मणुरसस्स ॥

ण य सक्का वेत्तुं जे चित्तं महिलाए अविसण्हं ॥ ९६५ ॥

ग्रहीतुं शक्यते जातु परमाणुरपि ध्रुवम् ॥

न सूक्ष्मं योयितां स्वान्तं दुष्टानामिव चंचलम् ॥ ९८३ ॥

विजयोदया—परमाणुरपि कर्पचिन्मनुष्यस्य ग्रहणमगच्छेत् । यनिताया चित्तं पुनः ग्रहीतुं न शक्यमिति

स्वरने ॥

मूल्या—आगच्छेज्ज गहणं आगच्छेद्ग्रहणं । माहो भवेत्तिथ्यर्थः । ण य सक्का वेत्तुं जे ग्रहीतुं न शक्यम् ॥

अर्थ—परमाणु को भी मनुष्य किसी उपाय के द्वारा ग्रहण करेगा. परंतु खियों का अत्यंत सूक्ष्म चित्त उसके द्वारा ग्रहण किया नहीं जाता है

कुविदो व किण्हसण्यो दुडो सीहो गओ मदगलो वा ॥

सक्का हवेज्ज घेत्तुं ण य चित्तं दुट्टमहिलाए ॥ ९६६ ॥

कुट्ट-कंठीरवः सर्पः स्वीकर्तुं जातु शक्यते ॥

न चित्तं दुष्टदृवीनामेतासामपि भीषणम् ॥ ९८४ ॥

विजयोदया—कुविदो व कुपितः । कुण्डलं । दुष्ट विदो, मदगलो वा ग्रहीतुं शक्यते । न तु ग्रहीतुं शक्यते दुष्टयनिताचित्तम् ॥

मूलात्—भगवतो मत्पाः ॥

आश्वासः

६

अर्थ—अतिशय दुःख हुआ कस्ता सार्थ, दुष्ट सिद्ध और उन्मत्त दासी को भी मनुष्य एकदनेसे समर्थ है।
परंतु दुष्ट स्त्रीका मन एकदनेसे ये समर्थ नहीं है।

सकं हविज्ज वहुं विज्जुज्जोएण स्वमच्छिम्भि ॥

ण य महिलए विचं सक्का अदिचंचलं णाहुं ॥ १६७ ॥

रूपं संतमतौ द्रष्टुं विद्युद्योनेन पार्यते ॥

चेतश्चलस्वभावानां पोषाणां न कथंचन ॥ १८५ ॥

विजयोद्या—सकं हवेज्ज विद्युद्योनेन मसित्यं रूपं द्रष्टुं शक्यं न पुनर्पुनरिति चित्तमतिचपलं अचर्यते शक्यम् ॥

मूलात्—अच्छिम्भि नेत्रे स्थितं । नेत्ररूपमित्यर्थः । अच्छीहि इति पाठे अक्षिभिर्यस्य कस्यचिद्रूपं विद्युत्प्रकाशेन
द्रष्टुं शक्यमिति व्याख्येयम् ॥

अर्थ—बिजलीके अत्यल्प प्रकाशसे भी नेत्रका रूप देखना शक्य है परंतु अतिशय चंचल ऐसा तरुण
स्त्रीका मन ज्ञान लेना अति कठिन है।

अणुवत्तणाए गुणवत्तणेहिं विचं हरंति पुरिसस्स ॥

मादा व जाव ताओ रत्तं पुरिसं ण याणंति ॥ १६८ ॥

अलिपुहिं हसियवयणेहिं अलियरुयणेहिं अलियसवहेहिं ॥

पुरिसस्स चलं विचं हरंति कवळाओ महिलाओ ॥ १६९ ॥

महिला पुरिसं वयणेहिं हरदि पदणदि य पावहिदएण ॥

वयणे अमयं चिद्धदि हियाए य विसं महिलियाए ॥ १७० ॥

हरन्ति मानस रामा नराणामनुवर्तनेः ॥

तावद्यावन्न जानन्ति रक्तं क्लृप्तलब्धतसः ॥ ९८६ ॥

हसितै रोदनैर्वीर्यैः शपथैर्विविधैः शठाः ॥

अलीकैर्मनस युंसां गृह्णन्ति कुटिलाशयाः ॥ ९८७ ॥

हरन्ति पुरुषं चात्रा चेतसा प्रहरन्ति त्वा ॥

याचि लिप्सति पीयूषं विषं चेतसि योषिताम् ॥ ९८८ ॥

चिजयोवया—महिषा पुरिसे यवणेहि यन्तिता पुरुष एवनेहरति । इति च पाथेन हृदयेन । याव्ये मधु लिप्सति ।
हृदये विषं युवतीनाम् ॥

मृणारा—अनुवचणाए उदात्तपूरया । गुणवणेहि गुणकीर्तनेः । हरन्ति गृह्णन्ति । माना वा
नाता यथा वालस्य ॥

मृणारा—अलिपिहि असलैः । एते हे अपि गोषे टीकाकारो नेच्छति ॥

मृणारा— वापाय कचसि ॥

अर्थ—पुरुषके छंदका अनुसरण करके, और उसके गुणोंका वर्णन करके वे पुरुषका मन हरण करती हैं। जब तक पुरुष अपनेमें अनुरक्त हुआ नहीं तब तक वे उसकी गुणप्रशंसा, उसके छंदानुकूल प्रवृत्ति करती हैं। मिथ्या हास्यवचन, मिथ्या रोना, मिथ्या सोगंद ताना इत्यादि कपटयुक्तिओंसे पुरुषका मन हरण करती हैं। स्त्री पुरुषका चित्त मधुर वचनसे चौराती है और पाषण्डक हृदयसे उसका घात करती है। स्त्रियों के वचनोंमे मधु रहता है और हृदयमें विष रहता है

तो जाणिऊण रत्तं पुरिसं चम्मट्टिमंसपरिसेसं ॥

उद्दाहंति वधंति य वडिसामिसलगमळं व ॥ ९७१ ॥

उदपु पवेज्जहि सिला अग्गी ण डहिज्ज सीयलो होज्ज ॥

ण य महिलाण क्काई उज्जुयमावो णरेसु हवे ॥ ९७२ ॥

पापाणोऽपि तरेस्तोये न ददेदपि पावका ॥

न चित्तं पुरुषे स्त्रीणां प्रजलं जातु जायते ॥ ९८९ ॥

विजयोदया—उदय पवेल्य शु उदके तरेदपि शिला, मत्रिरपि न ददेत्, स्त्रीतलो या मयेत् । नैव वनितानां कदाचिन्नेरेषु कतु मयति मनः ॥

मूढारा—उरोर्हति निष्कासयति । प्लो दीकाणारो नेच्छति ॥

मूढारा—उदये जले । पवेल्य सु तरेदपि । कदाइ कथंचित् । कजुगमावो प्रांजलपरिणामः ॥

अर्थ—अपनेपर आसक्त हुआ पुरुष चर्च, हठी और मांस ही दोष जिसका बचा हुआ है ऐसा देवकर गलको लगे हुए मत्स्य के समान उसको मार देती हैं अथवा उसको अपने घरमेंसे निकाल देती हैं. अर्थात् जब पुरुषके पास धन नहीं रहता है तब स्त्रिया उसको अपने घरसे निकाल देती हैं या उसको मार डालती हैं, कदाचि-
न पानीमें शिला तरेने लगेगी, अग्नी अपना दाहक स्वभाप छोड़कर ठंडी होगी तोभी स्त्रियोंका मन कभीभी कप-
ट छोड़कर सरलता नहीं धारण करेगा.

उज्जुगमावमि असत्तयमि किच होदि तासु वीसंभो ॥

विस्संभमि असंते कां होल्लज रदी महिलियासु ॥ ९९१ ॥

प्रांजलत्वं विना स्त्रीषु विस्संभो जायते कथंम्

विस्संभेण विना तासु जायते कांहरसी रतिः ॥ ९९० ॥

विजयोदया—उज्जुगमावमि कतुभाये मसति कथं भवति तासु विस्संभः । असति विस्संभे का वनितसु रतिः ॥

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्त्रियोंमें सरलपना नहीं रहता है. अतः ये पुरुषोंपर विश्वास रखती नहीं. विश्वासके अभावमें उनका ग्रम भी स्थिर नहीं रहता.

गच्छिज्ज समुहस्स वि पारं पुरेसो तरित्तु ओघवलो ॥

मायाजलमि महिलोदधिपारं ण य सक्कदे गंतुं ॥ ९९४ ॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं तीर्त्वा याति परं ध्रुवम् ॥
न मायाजलधेः स्त्रीणां बहुविभ्रमचारिणः ॥ ९९१ ॥

विजयोदया—गच्छिज्ज मन्त्रेण समुद्रस्य अपि परं पारं तीर्त्वा महाबलः । मायाजलधितोविधिपारं नैव गंतुं

शक्नोति ॥

मूला—तरिषु तीर्त्वा । ओगबलो महाबलः । बाहुबल इत्यन्ये ॥

अर्थ—सामर्थ्यवान् मनुष्य समुद्रका दूसरा किनारा प्राप्त कर सकता है, परंतु कपटरूपी जल जिसमें है
येसा स्त्रीरूपी समुद्रको तीरकर दूसरा किनारा पुरुषके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है-

रदणाउला सवग्धाव गुहा गाहाउला च रम्णदी ॥

मधुरा रमणिल्लजावि य सढा य महिला सवोसा य ॥ ९७५ ॥

सव्याग्नेष गुहा रत्नैर्बहुभेदैर्विराजते ॥

रमणीया सदोषा च जायते महिला सदा ॥ ९९२ ॥

विजयोदया—रदणाउला रत्नसंकीर्णा सव्याग्ना गुहेव रम्या नदी गाहाकुलेव मधुरा रम्या शढा सवोषा च

यजिता ॥

मूला—रदणाउला रत्नाकीर्णा । या सदा । गाहाउला मकराविसंकुला रम्णदी रमणीयापया ॥

अर्थ—पर्वतकी रत्नपूर्ण गुहा सुंदर दीखती है परंतु उसके अंदर व्याघ्रका निवास होनेसे वह भयानक
भी है- नदीका स्वरूप ऊपरसे रमणीय दीखता है, परंतु अंदर मकरादि क्रूर जंतुआका निवास होनेसे वह भया-
वह है- वैसे स्त्री भी मधुर और सुंदर होने पर भी कपटमय और दोषसे भरी हुई होनेसे अहित करने वाली ही है-

दिट्ठं पि ण सव्भावं पडिवज्जदि णियडिमेव उहेदि ॥

गोघाणुल्लुक्कमिच्छी करेदि पुरिसस्स कुलजावि ॥ ९७६ ॥

न दृष्टमपि सद्भावं वक्कधीः प्रतिपयते ॥

गोधान्तोद्धि विधत्ते सा पुरेये कुलपुत्र्यपि ॥ ९९३ ॥

विजयोद्या—दिद्वेपि दृष्टमपि न प्रतिपद्यते सद्भावं निष्ठितिबोधोपन्यसति ॥

मूढारा—दिद्वेपि परेणलोकितमपि । सद्भावं दोषरूप । जेदि उपन्यस्यति । अयमर्थः परेण दृष्टमपि दोष सत्यं न प्रतिपद्यते स्त्री, अल्लयं दोष इति न मन्यते किन्तु जाल्प्यं न कुतो भवेति वचनमेवावष्टभ्नाति । अत्रे-
धार्मे दृष्टतमाह—गोधाणुलुक् गोपाया इव ग्राहं पुरुषविषये कुलपुत्रिकापि करोति । यथा गोधा स्वावष्टब्धं भूमिं
पेलात्कारेणपि लाड्यमाना न स्वजति यथा गोपिदपि स्वगृहीतं पदं न मुच्यति । यत्पदमेवापि लाज्यमाना । अन्ये तु
गोधाणुलुक् गोधान्तरपानमाहुः । यथा गोधा पुरुषं दृष्ट्वा तव आत्मानं गोषायति । यथा गोपिदपि यदेष सो न पदयति
तथा करोमीति । अथवा गोधाया अन्तर्दि करोति ग्राहेण गोपामपि विरक्तरोतीत्यर्थः । तथा बोक्तम्—

न दृष्टमपि सद्भावं वक्तव्यं प्रतिपद्यते ॥

गोधान्तर्दि विषये सा पुरुषे कुलपुत्र्यापि ॥

अथचैव, ज्वालेय—परेण निजगणं सोधनमपि अर्थेनात्मन्य दृष्टमपि न प्रत्येति स्त्री, किं वदिं तमशोभनं वक्त-
तथा प्रत्येति । तथा पुरुषस्य संबंधितेनात्मानं गोषायति । तथा चोक्तम्—

प्रत्येति न सद्भावं दृष्ट्वापि हि कपटनाटकं वदुते ॥

गोधाणुर्दि गोषा विषयति नरस्य कुलज्यापि ॥

अर्थ—दूतरे मनुष्येन स्त्रीका कुल दोष देखा हो तोभी यह मेरेमें यह दोष है अथवा भेन यह दोष किया
है ऐसा कभी नहीं कहेगी. कपटसे डा दोषका आच्छादन ही करेगी, जैसा गौद नामक प्राणी किसी स्थानका
आश्रय लेकर उसकी इतना बिपक जाता है कि उससे कोईभी जलन नहीं करसकते हैं. वैसे ॥ए स्त्री अपराध करके
भी मेने यह अपराध किया है ऐसा कभीभी स्वीकार न करेगी.

पुरिसं वधमुबेधिति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि ॥

दोसे संधाविदि य होदि य इत्थी मणुरसस ॥ ९७७ ॥

दोषान्छादनतः सा स्त्री वर्षवर्षविधानतः ॥

प्रमदा गदिता प्राज्ञैः प्रमादयदुल्लतवतः ॥ ९९४ ॥

विजयोदया—पुरिस वचमुपेक्षेदिति पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति निरुच्यते । मनुष्यस्य दोषान्संहतान्करोतीति स्त्रीति निगद्यते ॥

स्त्रीपापकदम्बनिरुचिद्वारेण उदोषानाह—

मूढारा—पुरिसमित्यादि । गिरुत्तिवाद्मिम व्याकरणे । दोषं संघाहेति दोषान्संघातीकरोति । पुरुषं वधमुपनयतीति वधूरिति व्यगदिद्यते योषित् । तथा मनुष्यस्य दोषान्संहतीकरोति इति स्त्रीति च ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको मारती है इस वास्ते उसको 'वधु' कहते हैं पुरुषमें यह दोषोंका समुदाय संघित करती है इस वास्ते इसको 'स्त्री' यह नाम है.

तारिसओ णत्थि अरी णरस अण्णेत्थि उच्चदे णारी ॥

पुरिसं सदा पमचं कुणदिसि य उच्चदे पमदा ॥ ९७८ ॥

मारिर्यतः परोत्स्यस्यास्तनो नारी निगद्यते ॥

यतो विलीयते रुद्ध्वा पुरुषं विलया ततः ॥ ९९५ ॥

विजयोदया—तारित्तथो साहचर्यो नरस्य मारिररतीति नारी । पमदा पुरुषं प्रमचं करोतीति प्रमदा । निरुच्यते ॥

मूढारा—साहचर्यो नरस्य मारिररतीति नारी । पमदा पुरुषं प्रमचं करोतीति प्रमदा ॥

अर्थ—मनुष्यको इसके समान दुसरा शत्रु नहीं है अतः इसको 'नारी' कहते हैं. यत् पुरुषको प्रमच अर्थात् उन्मच पनाती है इस लिये इसको 'प्रमदा' कहते हैं.

गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा ॥

जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा य ॥ ९७९ ॥

अवलत्ति होदि जं से ण ददं हिदयमिम धिदिबलं अत्थि ॥

कुम्भरणीपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी ॥ ९८० ॥

आलं जणेवि पुरिसस्स महलं जेण तेण महिला सा ॥
 एवं महिलाणामाणि होति असुभाणि सञ्चाणि ॥ ९८१ ॥
 गिलओ कलीए अलियस्स आलओ अविणयस्स आवासो ॥
 आयमरसावसघो महिला मूलं च कलहस्स ॥ ९८२ ॥
 कुत्तिस्सा नुयंतो मारी कुमारी गदिता स्ततः ॥
 दिभेत्ति धर्मकर्मणो यतो भीरुस्ततो मत्ता ॥ ९९६ ॥
 यतो ललति महापोवं महिलाभिहिता ततः ॥
 अबला भण्यते तेन न येनास्ति यलं ह्रुदि ॥ ९९७ ॥
 जुषते प्रीतिनः पापं यतो योपा ततो मत्ता ॥
 यतो ललति दुईत्ते ललना प्रणिता ततः ॥ ९९८ ॥
 नामान्यपि दुरर्थानि जायंते योपितामिति ॥
 सभस्सं जायते प्रायो निर्दिनं पापवेतसाम् ॥ ९९९ ॥
 मत्सरविनयायासक्रोधशोकशोभियाम् ॥
 सर्वासं कारणं रामा विषाणामिब सर्पिणी ॥ १००० ॥

विजयोदया—भिलओ कलीए कलेर्निलयः । व्यलीरुत्सालयः । अविनयस्याकरः । अयासस्यायकादाः ।
 कलहस्य मूलं युवतिः ।

मूलाए—पुरुषस्य गलेऽग्रं लावलीति, पुरुषं वा इष्टा विलीयते इति विलया कथ्यते । नोजदीत्सावि नरं
 दुःखेन नोजयतीति युवतिर्योषा च ॥

मूलाए—शबलति नास्ति हृदये पृथिवलभस्या इति अबला । कुमारी कुत्तिवं यण्णोपायं जनयति इति कुमारी ॥

मूलाए—महिला पुरुषस्य महान्तं बालं जनयति इति महिला । कलहादिवं श्रीविजयाचार्यो नेच्छति ॥

मूलाए—कलीए रागद्वेषयोः । आगरो आकरः । आवसघो आवासः ॥

अर्थ—पुरुषके गलेमें यह अनयोको बांधती है अथवा पुरुषको देखकर उसमें यह लीन होजाती है अतः इसको 'विलया' कहते हैं. यह स्त्री पुरुषको दुःखसे मंथुक्त करती है अतः 'युवति' और 'योषा' ऐसे दो नाम इससे हैं.

इसके हृदयमें धैर्यरूपी बल दृढ रहता नहीं अतः इसको अचला कहते हैं. कुत्सित ऐसा मरण ॥ उपाय उत्पन्न करती है इस लिये इसको कुमारी कहते हैं. यह पुरुषके ऊपर दीपरोपण करती है उस लिये इस को महिला कहते हैं. ऐसे स्त्रियोंके लिये नाम हैं ये सर्व अशुभ ही है. स्त्रिया रागद्वेषका निवासस्थान है. असत्य मापणका घर है, अविनयका स्थान है और दुःखोंका कारण है. और कलहका मूल है.

सौमस्त सरी वेरस्त खणी निवहो वि होइ कोहस्त ॥

निवहो गियहीजं आसवो य महिला अकिचीए ॥ १८३ ॥

कुलजातियशोधर्मदारीरार्थशमादयः ॥

नाइयेंते योपया सर्वे बाल्या तोयदा इव ॥ १००१ ॥

विजयोद्या—सौगस्त सरी शोकस्व नदी । वैरस्यावनिः । निवहः कोपस्य । निवहो निहूनीनां । अकीर्ति-राधयो युवतिः ॥

मुळार—सरी नदी, खणी यातिः, निवहो संपातः । निवहो राक्षिः ॥

अर्थ—स्त्री शोकनी नदी है. वैर की भूमि—अर्थात् उत्पत्ति स्थान है. स्त्री कोपका सजुदाय रूप है. कपटोंका समूह है और अकीर्तिका आधार है.

पासो अत्यस्त सजो देहस्त य दुग्गदीपमगो य ॥

अनाहो य अणत्यस्त होइ पहवो य दोसाणं ॥ १८४ ॥

पावकः सुखवारुणां आवासो दुःखपाषसाब् ॥

प्रण्यपो ब्रतरत्नानामनर्यानां निकेतनम् ॥ १००२ ॥

विजयोदया—आसो अथस्त्व अर्थस्य मायाः । वेदस्य श्रवः । दुर्गतिमर्गः । अन्वर्थस्य कुल्पा । द्रोपणां प्रभवः ॥
 मूलार—आवाहो यववीनां जलपानस्तर्पानं कुत्सेत्पारः । पवाहो प्रवेशः ॥
 अर्थ—स्त्री घननागका कारण है-देहमें क्षयरोग उत्पन्न करती है-दुर्गतिका मार्ग है और अनर्थोंका निवास है और दोषोंकी उत्पत्तिस्थान है-

महिला विगयो धम्मस्स होदि परिहो यं मोक्खमगसस् ॥
 दुक्खणा य उप्पत्ती महिला सुक्खाण य विवत्ती ॥ १८५ ॥
 असत्त्वानां ग्रहं योपा यवनानां वसुंधरा ॥
 कुठारी धर्मदृष्टाणां सिद्धिसौधमहागला ॥ १८६ ॥
 दोषाणामालयो रामा भीमानामिव वाहिनी ॥
 गुणानां नाशिका माया व्रतानामिव जायते ॥ १८७ ॥

दिव्योदया—महिला विगयो यन्मिता पिप्प्लो भवति । धम्मस्स धर्मस्य । परिहो मोक्षमार्गस्य । दुःखानां कोट्य-
 स्तिः । लोप्यानां य विपत्तिः ॥

मूलार—परिहो परितः । अर्गिष्ठार्थः । विवत्ती विनाशः ॥
 अर्थ—स्त्री भर्माचारणमें विघ्न समान है-मोक्षमार्गमें यह अर्गलाके समान प्रतिपेक्षक है-दुःखोंकी उत्प-
 त्तिस्थान है और सुखोंका नाश करनेवाली है-

पासो च वंधिदुं जे छेत्तुं महिला असीव पुरिसस्स ॥
 तिच्छे व विंधिदुं जे पंकोव निमज्जिदुं महिला ॥ १८६ ॥
 बंधने महिला पायाः स्वयं गुः गुंसां निकर्तने ॥
 छेदने निश्चितः कुंतः पंकोऽप्राप्तो निमज्जने ॥ १८७ ॥
 विजयोदया—पासोच पंधिदुं जे पास इव बंधितुं । सुगमा माया अमरदरो व्यापकाने ॥

मूलार—यथिदुं जे बडुं । विथिदुं जे छेचुं । पंको पणको नाम कर्ममेदः । गिनबिदुं छुबिदुं ॥
 अर्थ—सी पुरुषको बंधनकेलिये पाशके समान है. पुरुषको तोदनके लिये कुन्हाडकि समान है और विद्व करने के लिये बाण के समान है. और दुबानेके लिये कीचढके समान है.

सूलो इव भिचुं जे होइ पवोडुं तहा गिरिणदी वा ॥
 पुरिसस्स खुण्णदुं कद्दमीव मब्बुंज्व मरिदुं जे ॥ ९८७ ॥
 अमीगि य डहिदुं जे मदेव पुरिसस्स सुब्बिदुं महिला ॥
 महिला निकत्तिदुं करक्कोव कंडूव पडलेडुं ॥ ९८८ ॥
 पाडेदुं परस्स वा होदि तहा सुगरो व ताडेदुं ॥
 अबहणणं पि य जुण्णेदुं जे महिला मणुस्सस्स ॥ ९८९ ॥
 चंदो हविज्ज उण्हो सीदो स्रो वि थडुमागांसं ॥
 ण य होज्ज अदोसा भट्ठिया वि कुलवालिया महिला ॥ ९९० ॥
 एए अण्णेय बहुदोसे महिलाकवे वि चितयदो ॥
 महिलाईतो विचित्तं उच्चियदि विसगिसरसीहिं ॥ ९९१ ॥
 वग्घादीणं दोसे णच्चा परिहरदि ते जहा पुरिसो ॥
 तह महिलाणं दोसे दंहुं महिलाओ परिहरइ ॥ ९९२ ॥
 महिलाणं जे दोसा ते पुरिसाणं पि हुंति णीचाणं ॥
 तचो अहियदरा वा तेसिं बलसत्तिजुचाणं ॥ ९९३ ॥

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ ॥
 तह सीलरक्खयाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा ॥ ९९४ ॥
 किं पुण गुणसाहिदाओ इच्छीओ मत्थि वित्थडजसाओ ॥
 णरलोमदेवदाओ देवेहिं वि वंदणिज्जाओ ॥ ९९५ ॥
 सित्थयरक्खधरवासुदेवबल्लदेवगणधरधराणं ॥
 जणणीओ महिलाओ सुरणरवरहिं महियाओ ॥ ९९६ ॥
 एगपदिव्वइक्कणावयाणि धारिंति किस्सिमहिंलाओ ॥
 वेधच्चतिव्वदुक्खं आजीवं णिति काओ वि ॥ ९९७ ॥
 सीलवदीओ सुच्चंति महीयले पत्तपाडिहेराओ ॥
 सावाणुगगहसमत्थाओ वि य काओव महिलाओ ॥ ९९८ ॥
 तुमघेण ण वूढाओ जलंतघोरग्गिणा ण द्ढाओ ॥
 सप्पेहिं सावज्जेहिं वि हरिदा खद्धा ण काओ वि ९९९ ॥
 सब्बगुणसमगगणं साट्ठणं पुरिस्सपवरसीहाणं ॥
 चरमाणं जणणित्तं पत्ताओ हवंति काओ वि ॥ १००० ॥
 मोहोदयेण जीवो सब्बो दुस्सीलमइल्लियो होदि ॥
 सो पुण सब्बो मंहिला पुरिसाणं होइ सामण्णा ॥ १००१ ॥
 तस्मा सा पक्खवणा पउरा महिलाण होदि अधिक्किच्चा ॥
 सीलवदीओ गणिदे दोसे किह णाम पावंति ॥ १००२ ॥
 इत्थिमदा ॥

नराणां भेदने शूलं वह्ने नगवाहिनी ॥
 मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनीकरणे मपी ॥ १००६ ॥
 अनलो वह्ने पुसां सुद्ररश्चूर्जने परः ॥
 ज्वलंती पवने कंदूः करपत्रविपाटने ॥ १००७ ॥
 उच्छ्वङ्गद्वौ राविः शीतो जायते गगनं धनय ॥
 मादोषा प्रायशो रामा कुलपुत्र्यपि जातु चित् ॥ १००८ ॥
 सर्पिणीव कुटिला विभीषणा बैरिणीव बहुदोषकारिणी ॥
 मंडलीव मलिना नितंबिनी चादुकर्म वितनोति यच्छतम् ॥ १००९ ॥
 नारीभ्यः पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा ॥
 चित्तसुहृजते पुंसो राक्षसीभ्य इव स्फुटम् ॥ १०१० ॥
 दोषास्पर्जंति विद्वांसो दोषान्ज्ञात्वेति दूरतः ॥
 व्याघ्रीव कृपाहीनाः परामिपरायणाः ॥ १०११ ॥
 'दोषा ये संति नारीणां नराणां ते विशेषतः ॥
 द्रष्टव्या दुष्टशीलानां प्रकृष्टबलेजसाम् ॥ १०१२ ॥
 व्याघ्रा इव परित्याज्या नरा दूरं कुचेतसः ॥
 रामाभिः शुद्धशीलाभी रक्षंतीभिर्निजं व्रतम् ॥ १०१३ ॥
 यथा नरा विमुंचते वनिता ब्रह्मचारिणः ॥
 त्याज्यास्ताभिर्नरा ब्रह्मचारिणीभिस्तथा सदा ॥ १०१४ ॥
 न रामा निखिलाः संति दोषवन्त्यः कदाचन ॥
 देवता इव दृश्यंते वंदिता बहवः स्त्रियः ॥ १०१५ ॥
 मातरस्तीर्यकर्तृणां मुचनोद्योतकारिणां ॥
 जायते वनिता घन्याः शक्रचक्रमांबुजाः ॥ १०१६ ॥

शलाकागुरुयास्तामिर्लोन्यते सुवनचित्ताः ॥
 धात्रीभिरिव शुद्धाभिमर्णयः पुरुतेजसः ॥ १०१७ ॥
 पुरतन्निनि न जायते शुद्धशीलाः स्त्रियो विना ॥
 विना नीरदमालाभिः पानीयानां क संभवः ॥ १०१८ ॥
 आजन्म विधवाः काश्चिद्रक्षाचर्यमलंङ्कितम् ॥
 घरति दुर्धरं घन्या ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम् ॥ १०१९ ॥
 कन्याभिरार्योकाभिश्च वीर्यते दुःखरं तपः ॥
 विचिच्छद्य शमशस्त्रेण मन्मथप्रतिषण्वकम् ॥ १०२० ॥
 श्रियते शुद्धशीलाभिर्यावज्जीवमद्वितम् ॥
 पतिमस्रवतं हवीभिः परायिः पूजितं सताम् ॥ १०२१ ॥
 देवेभ्यः प्रतिहार्यणि माता विख्यातकीर्तयः ॥
 पोषाः क्षीलप्रसादेन श्रूयते पद्मवो मुनि ॥ १०२२ ॥
 शीलपूतयो विलोक्युं या ज्वलतं हुताशनम् ॥
 सप्रथोः शीतलीकुण्डं या ज्वलतं हुताशनम् ॥ १०२३ ॥
 सर्वशास्त्रसमुद्राणां वंदितानां जगत्त्रये ॥
 सविभ्यः सन्ति शीलाख्याः साधूनां चरमांगिनाम् ॥ १०२४ ॥
 निमत्स्यते न पानीयेनीयते न नदीजलेः ॥
 सत्यो न्यालेर्न भक्ष्यन्ते न दक्षान्ते हुताशनैः ॥ १०२५ ॥
 मोहोदयेन जायते स्त्रीपुंसामद्युषाः शुभाः ॥
 परिणामा इति ज्ञात्वा मोहो निव्यो न जन्तवः ॥ १०२६ ॥
 साधारणेषु सर्वेषां जीवानामनिवारिते ॥
 दुष्टाः सन्ति परीणामस्ततः कार्योऽय निग्रहः ॥ १०२७ ॥

शुद्ध्या भवंति नार्योऽपि शुद्धशीला महीयसा ॥
 स्त्री पुमानिति कुर्वन्ति शोभुषीं संवमेधसः ॥ १०२८ ॥
 साधन्येन ततो नेह निर्दिताः सन्ति योषितः ॥
 शुद्धशीला न गच्छन्ति दूषणं हि कदाचन ॥ १०२९ ॥
 शुद्धशीलफलितसु जायते नांगनासु चरितं मलीयसं ॥
 आस्पृश्य हि विदधाति तामसं हंसरदिमपु कदाचनपि किं ॥ १०३० ॥
 इति स्त्री दोषाः ॥

इति मन्त्राः ॥

मूला—सूत्रो वि य मूलमिव । पत्रोऽतुं प्रवाहयितुं संसारार्णवे पातयितुं । मरुत्तुल्य श्रुत्यरिव ॥
 मूला—अगमिषि य अगमिषि । इदितुं ये दग्धं । मरुत्तुल्य मयादिजलचिचकार इव । मरुत्तुं मूलीम-
 वितुं । निक्षिपितुं लंघयितुं । फलफलोप करपत्रमिव । कंठ कंठुः । स्नेहिका । पत्रोऽतुं स्वेदयितुम् । पक्वमिति यावत् ॥
 मूला—पात्रेऽतुं दारयितुं परस् कुठारा । अयहणं लोहकारस्य घनः ॥
 मूला—पट सत्यं, फटिनं, भविष्या भद्रिका । अकूटा ।
 मूला—महिलाहितो स्त्रीभ्यः । लब्धययि उचितैः ॥
 मूला—स्पष्टम् ।

पर्व प्रवक्ष्येन स्त्रीषु दोषान्प्रदर्शयतीत्युपेक्ष्यते तेषां ताभ्योऽधिकतराणां वा सङ्ग्राहं भाषयति ॥
 मूला—एव अन्नादिजनितसामर्थ्यं । सति शक्तिः वीर्यमचित्समभावमित्यर्थः । ताभ्यो सहितानां स्त्रीभ्योऽधिक-
 वरमित्यत्रापि लिंगादिपरिणामेनानुवर्त्यम् ॥

शीलरिरक्षिपया पुंग्विदुषाः स्त्रिय इव स्त्रीभिरपि दुष्टपुमांसो जुगुप्स्या इति दर्शयति—
 मूला—निदिता निधा त्वान्या इत्यर्थः । शीलरक्षिपयाञ्छुचिचरितं रक्षितुमुच्यतानां ॥
 ननु च शीलरक्षिपयाणमित्येतदपेक्ष्यमयत्तविषयानुपपत्तेः पूर्वोक्तप्रबंधेन स्त्रीणां त्रिरुच्यते तत्किमिदानीं का-
 विच्छीलवत्योऽपि स्त्रियः संभवेत्युच्यते पर्वेऽनुज्ञानं प्रति सविस्तरं स्त्रीमतल्लिखितानां गुणग्रामसङ्कावल्यापनार्थमाह—

मूढारा—किं पुण किं पुनर्बलव्यम् ॥ यद्यपि जातिभागेण संसारस्तररोगनिर्विज्यैर्गोशसुरैरुपरसिद्धैः संवर्धित-
मिलन्यापि पात्रिद्वयविशेषाद्विषयस्तेषामपि स्तुतिपदं भवन्तीति विस्मययोनित्वायैवेवम् । यतः शुणेत्यादि । यित्युद्ध-
साजो विस्तीर्णकीर्तयः ॥

निर्दोषेणाह—

मूढारा—गणपरमराजं तीर्थकरमक्षिप्यणां दृपमतेनपुरस्सरेन्द्रभूषिपर्यवगणपरप्रधानतां । सुरणस्पजेरहिं
सौधमैन्नादिवेन्द्रमरुतपञ्चरस्यांदिनरेन्द्रे ॥

श्रीचिदोषणां शीलपलनविशेषमुपब्रूयति—

मूढारा—एगपरिव्यव एकपतिप्रतं देवाप्रियुतसाक्षिपणिसदृशप्रतिपन्ने मत्तेरि प्रवृत्ति । कृष्णावद कन्या-
प्रवं कौमारप्रसपरिप्रे । किस्तिमालाजो यद्योभूरणाः । किस्तिमहिलाओ इति पाठे कीर्तियुजाःक्षिय इत्यर्थः ॥
पेधव्यविचयदुपल्लवं रंढापदुःसाहमहदुःखं । जीवं जीवितपर्यन्तं ण्ति नयन्ति प्रापयन्ति । कावो काक्षिम् ॥
तथा काक्षिच्छीलपलनविषयप्रधानमुपब्रूयत्यहोऽपि लोके श्रूयते इत्याह—

मूढारा—शुरूयंति श्रूयते । पञ्चपादिदेराओ देयतादिभ्यः प्रतिद्वन्द्वन्यपत्यविकारसंस्काराः । साबागुगदसन्म
त्याजो आकौशोपरसमर्थाः । कापो वि काक्षिरस्तीतादयः ॥

काक्षिश्च शीलपलनप्रतिपक्षतत्त्वोपलक्षणपत्रयोऽपि श्रूयते इत्याह—

मूढारा—ओषेण महानदी जलप्रवाहेण । ण दूढाओ न नीताः । कावो वि काश्चन शीलवस्यः सुलोपनादयः ।
तद्वपगोक्षगामिपुंरुत्तामसूत्येन सत्यापिवनिजमुपरितविवोदाः काक्षिन्श्रूयते इत्युपदिशति—
मूढारा—परिमाणं परमवेक्षणां । जणित्तं सवित्रीभायं । कावो वि सुनंतादयः ।

किं तर्वेऽपि जीयाः प्रकृत्येव शुद्धसुदत्तभावाः शीलमल्लिभ्यं तु मोहोदयैकनिमित्तमेणां स प सर्वेणां संसा-
रिणां भावेण साधारण इति मोह एव विद्वन्नीयो न जंतव इति शिक्षकगंगाद्वयेन प्रस्तुतमुपसंहरति—
मूढारा—एगम् ।

मूढारा—सा प्रागुता । पण्यवणा दोषप्रत्यापना । पवरा महिला प्रवराः धियः अधिकृत्य नुभपतीति संवयः
इत्यहं—भगिदा प्रतिपदिताम् । किं णाम कयमहो न कथमित्यर्थः ॥ श्रीदोषः ॥

अर्थ—स्त्री पुरुषको झूठके समान भेद करती है। जैसे पर्वत परसे नीचे गिरनेवाली नदी पदार्थको बटे जोरसे अपने साथ बहाती हुई मधुद्रुमें ले जाती है वैसे स्त्री भी पुरुषको मयसमुद्रमें फेंक देती है। जैसे कीचड़ मनुष्यको खोल फसाता है वैसे स्त्री भी पुरुषको कीचड़के समान फसाती है। जैसे मृत्यु मनुष्यको मारता है वैसे स्त्री भी पुरुषको मारती है। अर्थात् समान स्त्री पुरुषको जलाती है। मद्य जैसे चिचम विकार उत्पन्न करता है वैसे स्त्री भी पुरुषके चित्तको विकृत करती है। करोत जैसा लकड़ीको फाड़ता है वैसे स्त्री भी मनुष्यके हृदयको दुर्भाषण और अयोग्य व्यवहारसे चीरती है। खुजलीमें जैसे सब जंगमें कंडू खुजली उत्पन्न होती है वैसे इसके सहवाससे शांति नहीं मिलती है। यह परशुके समान फाड़ती है व मृदरके समान दुराचरणसे पुरुषके हृदयपर आघात उत्पन्न करती है। पुरुषके पूर्ण करनेके लिये स्त्री लोहके घन समान है।

चंद्र कदाचिन् शतिलताको त्यागकर उष्ण बनंगा, सूर्य भी थंडा होगा। आकाश भी लोहपिंडके समान घन होगा। परंतु छलीन थंडकी भी स्त्री कल्याणकारिणी और सरलस्वभावकी धारक नहीं होगी।

ऊपर कहे हुए दोषोंके साथ और भी अनेक दोष स्त्रियोंमें हैं। उनका यदि पुरुष विचार करेगा तो वे स्त्रिया उसको विप और अभिके समान भयानक दीखेंगी और उनसे उनका चित्त लौटेगाही। व्याघ्र, सर्प वगैरे क्रूर प्राणीओंके दोष जानकर जैसे मनुष्य उनसे दूर रहता है वैसे स्त्रियोंमें दोष है ऐसा जानकर पुरुषको उनका त्याग करना उचित है।

स्त्रियों में जो दोष हैं वे ही दोष नीच पुरुषों में भी रहते हैं। इतनाही नहीं स्त्रियोंसे भी उनकी अभावि-
ता से उत्पन्न हुई शक्ति अधिक रहनेसे उनमें अधिक दोष रहते हैं।

शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निंदनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है वैसे शीलका रक्षण करने वाली स्त्रियोंको भी पुरुष निंदनीय अर्थात् त्याग्य है। संसार, शरीर और भोगसे वित्त मुनिओंके द्वारा स्त्रिया निंदनीय मानी गई है तथापि जगतमें कोई २ स्त्रिया गुणातिशयसे शोभायुक्त होनेसे पुनिओंके द्वारा भी स्तुति योग्य हुई हैं। उनका यह जगतमें फैला है। ऐसी स्त्रिया मनुष्यलोकमें देवताके समान पूज्य हुई हैं। देव उनको नमस्कार करते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र और गणधरादिकोंको प्रसवनेवाली स्त्रिया देव, और मनुष्योंमें जो प्रधान व्यक्ति हैं उनसे वंदनीय होगई है, कितनेक स्त्रिया एक पतिव्रत धारण करती है, कितने

स्त्रिया आजन्म अधिमादित रहकर निर्मल ब्रह्मचर्य त्रत धारण करती हैं। कितनेक स्त्रिया वैषम्यका तीय दुःख आजन्म धारण करती हैं।

शूलव्रत धारण करनेमें स्त्रियोंमें श्राप देना और अनुग्रह करनेकी भी शक्ति प्राप्त हुई थी ऐमा आश्रमोंमें वर्णन है। देवताओं के द्वारा ऐसी स्त्रियोंका अनेक प्रकारसे माहात्म्य भी दिखलाया गया है।

ऐसी महाशीलवती स्त्रियोंको उत्तमब्राह्म भी घहानेको असमर्थ है। अग्नि भी इनको नहीं जला सकती है। यह शक्ति होती है। ऐसी स्त्रियोंको सर्व व्याघ्रादिक प्राणी खा नहीं सकते हैं। अथवा युद्धमें लेकर अन्यस्या-नमें नहीं फँक देते हैं।

संपूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण, श्रेष्ठ पुरुषमेंभी श्रेष्ठ, तत्त्व मोक्षगामी ऐसे पुरुषोंको कितनेक शीलवती स्त्रियोंने जन्म दिया है।

मोहोदयने जीव कुशील बनते हैं। मलिन स्वभावके धारक बनते हैं। यह मोहोदय सर्व स्त्रियोंमें और पुरुषोंमें समान रीतिसे है। जो पीछे स्त्रियोंके दोषोंका विस्तारसे वर्णन किया है वह श्रेष्ठ शीलवती स्त्रियोंके साथ संपर्क नहीं रखता है अर्थात् वह सब वर्णन कुशील स्त्रियोंके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि शीलवती स्त्रिया गुणोंका पुंजस्वरूपही है। उनको दोष कैसे छू सकते हैं। स्त्रीकुल दोषोंका यदातक वर्णन किया।

श्रीगतान्तेपानमिवाप भुवि निरूपणार्थ उत्तरप्रबंधः—

देहस वीयणिप्पसिखे च आहारजम्मबुद्धीओ ॥

अवयवणिग्गमअसुद्धं पिच्छसु वाधी य अधुवन्तं ॥ १००३ ॥

देहस्य वीजनिष्पत्तिक्षेत्रांथोजन्मबुद्धयः ॥

अंसाद्य निर्गमोऽशौचं क्षेत्रं व्याधिरनित्यता ॥ १०३१ ॥

विजयो दया—देहस्य बीज इत्यादिकः । देहस्य बीजं, निष्पत्ति, क्षेत्रं, आहारः, जन्म, बुद्धिः, अवयवः, निर्गमः, व्याधिरभूतेत्येतान्यद्वेति स्मृतिप्रतीति क्षणकं ॥

पुं स्त्रीदोषान्वात्थायेदानीं देहाशुचित्वं समग्रमुया व्याचष्टे । तत्र शरीरस्य बीजं, निष्पत्ति, क्षेत्रमाहारो, जन्म, बुद्धिरवयवनिर्गमाभुवित्वमसारत्वेक्षणं, व्यापयोऽभुवत्वं चेति द्वादश प्रबंधेन व्याचर्चिषुः क्षणकं प्रस्तुदिसति —

मूढारा—देहस्तं श्रकराण्यन्मनुजानामिति द्रष्टव्यं । निष्पत्तिं निष्पद्यमानता । जन्मा प्रसवः । जुहो जन्मक्षणे-
त्तरकाळभान्युपचयः । निगम कर्णयोग्यो निर्गच्छन्तीति निर्गमाः कर्णमलादयः । पेच्छसु अहो महासत्त्व, कर्मक्षपणो
यत्, सुमुखो ! अस्मत्पर्यव्रतसिद्धयर्थं देहस्य बीजादीनि प्रोक्षस्व त्वं ।

अपवित्रताका वर्णन करनेके लिए अब उच्चर प्रबंध है—
अर्थ—देहता बीज, उत्पत्ति, क्षेत्र, आदार, जन्म, वृद्धि, अवयव, निर्गम, अशुचि, व्याधि और नश्वरता
इतने प्रकारोंको हे धृपक ! तुम देखो ऐसा आचार्य क्षपकको कहते हैं. ? देहके बीज, उत्पत्ति वगैरह विषयोंका विवे-
चन यहाँसे आचार्य करेंगे ।

देहस्य बीजमित्येतद्याख्यानांयोगरगाथा—

देहस्तं सुकसोणिय असुई परिणामिकारणं जहा ॥

देहो वि होइ असुई अमेक्षधदपूरवो व तवो ॥ १००४ ॥

देहस्याशुचिनिर्वीजं यतो लोहितरेतस्ती ॥

ततोऽसावशुचिर्होयो यथा ग्याज्यपूरकः ॥ १०३३ ॥

विजयोदया—देहस्य बीजं मनुजानां शुक्लतोणितं । अशुचि शुक्लं पुंसां, शोणितं च वनितायां परिणामि
कारणं । जहा यस्मात् । परिणामिकारणं शरीरत्वेन यदुभयं परिणमति तस्मात्परिणामिकारणं । देहोपि अशुइ शरीरमपि
अशुचि त्वत्त एव । अमेक्षधदपूरणो व जमेवधुवपूरक इव । यवशुचिपरिणामि कारणं सदशुचि यथामिष्यद्युतपूरकः
अशुचिपरिणामकारणं च शरीरं इति सूत्रार्थः ॥

देहबीजं गाथात्रयेण न्यायशरणः प्रथमं मातृपवधुणो अशुच्युपादानकारणत्वेन अशुचित्वमुपपादयति—

मूढारा—सुणसोणिटं शुक्लं गर्भयोग्यं पुंसो रेतः शोणितं च शुक्लशोणितं । समाहारवद्वस्य संकृतिप्रधानत्वात्

किंभिद्वर्मप्ररोदनयोग्यं जलौघिकमवस्थांतरभाषणं शुक्लार्तवमित्यर्थः । तथा चोक्त अष्टांगहृदये—

शुद्धे शुक्लार्तवे सत्तः स्वकर्महेतुचोदिवः ।

गर्भेः संपद्यते शुक्लवशादन्तिरिचारणौ ॥

परिणामिकारणं परिणमते विवर्तते इति परिणामि तच्च वत्कारणं च जनकं परिणामिकारणं लपदानकारणं ।
तद्वर्णनं यथा—

लपदानकारणं यत्पौर्वापर्येण वर्तते ॥

फलस्येदमिदं तद्व्यस्युपदानमिति स्थूलम् ॥

अनेकपदपुण्यगोच अमेव्यपुतपूरक इव । यथा योक्तम्—

शुद्धमेवित्तमंगस्य बहुपदानकारणं ॥

अनुच्यंगं ततो बहुदमेव्यपुतपूरकः ॥

प्रयोगः—पदश्रुति परिणामिकारणं तद्व्यस्यि, यथाऽमेव्यपुतपूरकः । अश्रुतिपरिणामिकारणं च स्मृतिरं तस्माद्-

श्रुति ।

देहके बीजका दो नाथाओसे वर्णन—

अर्थ—जिससे देहकी उत्पत्ति होती है ऐसा यह बीर्य और रक्त अपवित्र है, अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला देह एवित्र कैसे हो सकता है ? रक्त और बीर्य ही शरीरका परिणमन होता है अतः शरीर अपवित्र है, विष्टासे पने हुए पृतपूरकें समान शरीर अपवित्र हैं, अपवित्र पदार्थोंका परिणमन जिसके कारण है वह पदार्थ अपवित्र होता है, जैसा अपवित्र विष्टाका घृतपूरक अपवित्र होता है वैसे शरीर भी अपवित्र कारणोंका ही परिणमन होनेसे अपवित्र है, ऐसा इस नाथाका अभिप्राय है—

बहुं विहितसणीयं अमेव्यमिव संकुदो पुणो होज्ज ॥

ओज्जिघिदुमालहुं परिभोत्तुं चावि तं बीर्यं ॥ १००५ ॥

द्रष्टुं घृणायते देशो वचोरगशिरिव स्फुटम् ॥

स्पष्टुमालिगितुं भोक्तुं तद्वीजो सुख्यते कथम् ॥ १०१३ ॥

पिजयोदया—दहुं यि य द्रष्टुमपि । विहितसणीयं सुसुखनीयं । अमेव्यमिव अमेव्यमिव । संकुदो पुणो होज्ज भोजिजिघृक्षुं कुतः पुनर्भवेदामातुं । मालहुं आलीगितुं । परिभोत्तुं चावि परिभोक्तुं चापि । तं बीर्यं खल्व् शुद्धरासेपिताम्बी बीर्यं । तत्परिणामत्वाच्छरीरमपि तत्रैव बीर्यमिव शरीरमपि मात्रा योजनमिति उक्तं ॥

शरीरस्याशुविश्रुतार्तवमयत्वेनाशुचित्वात्त्यबोधोपेक्षणायत्वमनुयास्ति—

मूलगा—अयेच्छमिव भूयमिव । निर्द्विंसगिज्जं दुमुप्पमीवं । उज्जिपिटु आगमं ॥

आलटटु आल्लिगित्तुं उगेनुं या । परिओहुं उपभोक्खु तं धीजं शरीरमित्यर्थः । तच्छुक्कोणिताख्यं धीजं तत्परिणामतया-शरीरं इत्यर्थः । अथवा तन्वीजमिति पाठः । तत्र तच्छुक्कोणितं वीजमत्येति वदवीजं शरीरमित्यर्थः । अत्रेदमप्यर्थम्—यतः शरीरं द्रुमुमपि प्रतीपमिव घृणा क्रियते ततः कुतः पुनरप्याणादियोग्य भवेत् । तथा बोत्तम्—

द्रुद्धं घृणायते देहो घर्वासादिरिय सुट्टम् ॥

सप्तदुमाह्मिगित्तुं भोक्खुं तद्धीजो युज्यते कथम् ॥

अर्थ—यद् शुक्र और रक्त देहनेके लिये भी उपयोग्य है, विष्टा जैसी देखने योग्य नहीं है, इसलिये इनका आलिंगन करना, उपभोग लेना कैसा योग्य समझा जायगा ? तत्र शुक्क शोणित अर्थात् रक्त वीर्यकी ऐसी अपवित्र अनुपभोग्य अरस्था है तत्र उनसे बना हुआ शरीर भी आलिंगनयोग्य और भोगने योग्य नहीं है ऐसा समझना चाहिये.

परिणामिकारणशुद्धया सपरिणामरूप कार्यं शुद्धं भवति । शरीरं न तथेति कथयति—

समिदकदो घदपुण्णो सुद्धदि सुद्धसणेण समिदस्स ॥

असुच्चिमि तम्मि वीए कद् देहो सो हवे सुद्धो ॥ १००६ ॥

कणिकाशुद्धितः शुद्धः कणिकापृतपरकः ॥

वर्चोयीजः कथं देहो विशुद्धयति कदाचन ॥ १०१४ ॥

इति बीजम् ।

विजयोदया—समिदकदो घदपुण्णो सुद्धदि कणिकारुतं पूतपूर्णकं सुद्धदि शुद्धयति । सुद्धसणेण शुद्धतया । समिदस्स कणिकाद्रव्यस्य । असुच्चिमि तम्मि वीए अशुचित्वीजं तस्मिन्निव्यते । कद् देहो सो हवे सुद्धो वेधः परिणामः कार्यं शुद्धयति ॥ धीयं ॥

परिणामिकारणशुद्धया तत्परिणामात्मकस्वात्कार्यमपि शुद्धं भाव्यशुद्धकणिकापृतपरवज पुनर्मसुद्धशरीरं तद्विपर्ययादित्यावेदयति—

मूत्ररा—समिधकरो इत्यादि—समिधा कणिकाद्रव्येण कुत्रो निर्गुहः । धीए उत्पन्ने इत्याद्यादाः ।
 कायरूपसे परिणत होनेवाले कारणमें यदि शुद्धता हो तो उससे उत्पन्न होनेवाला कार्य भी शुद्धतायुक्त
 दीखता है। सूरिद शुद्ध नहीं है क्योंकि उसका कारण अशुद्ध है इस विषय का विवेचन—
 अर्थ—गेहूँके आटेसे बनाया हुआ घृतपरक पवित्र है क्योंकि, गेहूँका आटा पवित्र है, वैसे वीर्य और
 रक्त ये पदार्थ पवित्र नहीं है अतः इनसे उत्पन्न होनेवाला पदार्थ अर्थात् सूरिद शुद्ध कैसा माना जायगा अर्थात्
 वह अशुद्ध ही है

शरीरनिष्पत्तिक्रमविरूपणार्थे उत्तरप्रश्नम्—

कललगदं दसरत्तं अच्छवि कलुसीकदं च वसरत्तं ॥
 थिरभूदं दसरत्तं अच्छवि गन्भम्मि तं वीर्यं ॥ १०७ ॥

दशाहं कलिलीभूतं दशाहं कलुपीकृतं ॥
 दशाहं च स्थिरीभूत वीजं गर्भेऽप्यनिष्ठते ॥ १०३५ ॥

विशयोक्त्या—कललगद कललम्ब नाम पर्याय तं गत प्राप्ते वीजं दश दिनमात्रं । अच्छदि भाल्ले । कलुसीकदं
 च कलुपीकृतम् । दश रात्रमात्रं धक्कतिष्ठते । थिरभूदं दसरत्तं थिरभूतं दशदिनमात्रं । अच्छदि भाल्ले । गन्भम्मि
 गर्भे च धीज तदीज ॥

नृद्वनिष्पत्तिक्रम माध्यायकेन व्याख्ये—

मूत्राय—कललगदं विर्लम्बान्तरजतद्रव्यकल्पकललव्यपर्यायं प्राप्तं । दसरत्तं दशाहोरात्रात् ।
 कलुसीकदं स्थितम् । थिरभूदं दडीभूतं । गन्भम्मि गर्भादये ।

अर्थ—माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होनेपर वहा दश दिनतक वीर्यको कलल नामकी अवस्था होती है।
 तदनंतर दस दिन पर्यन्त वह कलुप होता है इसके अनंतर वह दस दिनतक स्थिरपनाको प्राप्त होता है। अगिप्राय
 यह है कि, गले हुए ताम्र और चांदीका रस परस्पर मिलानेसे जो अवस्था उन दोनोंकी होती है वही अवस्था
 माताके रक्तसे संयोग होनेपर वीर्यकी होती है, उसको कललावस्था कहते हैं, तदनंतर वह काला होता है उसके इस

अवस्थाका नाम 'वृत्त' है- इसके अन्तर वह स्थिर होता है- ऐसी तीन अवस्थायें क्रमसे चर्यको प्रथम मासमें प्राप्त होती हैं,

ततो मासं बुबुदभूदं अच्छिदि पुणो वि घणभूदं॥

जायदि मासेण तदो मंसपेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेन बुबुदीभूतं तन्मासेन घनीकुलम् ॥

मांसपेसी च मासेन जायते गर्भपंजरे ॥ १०३६ ॥

विजयोदया—उत्तरे स्थिरभावोत्तरफालं । मासं बुबुदभूतं अच्छिदि मासमात्रं बुबुद इव भास्ते । पुणो वि घणभूदं पुनरपि घनभूतं । जायदि मासेण जायते मासेन ततोऽपि घनभावावुत्तरफालं । मासेण मासेन । मंसपेसीय मांसपेसी भवति ॥

मूलादा—उत्तो इति—स्थिरभावोत्तरफालं । बुबुदभूदं बुबुद इव । घणभूदं कठिणत्वं प्रातः । मंसपेसी बुबुद-संस्थानो मांसपिंडः ॥

अर्थ—प्रथममासके अन्तर दूसरे मासमें धीर्यको वयुलेकी अवस्था-बुबुदावस्था प्राप्त हो जाती है- पुनः एक मासतक वह बढ़ पन जाता है- इसके अनंतर चतुर्थ मासमें उसको मांसपेसीकी आकृति प्राप्त होती है-

मासेण पंच पुलगा ततो हुंति हु पुणो वि मासेण ॥

अंगगणि उवंगगणि य णरस्स जायंति गम्भस्मि ॥ १००९ ॥

मासेन पुलकाः पंच मासेनांगनि पष्ठके ।

उपपंगानि च जायंते गर्भवासनिवासिनः ॥ १०३७ ॥

विजयोदया—मासेण पंच पुलगा मासेन पंच पुलका भवन्ति । पुणो वि मासेण पुनरुत्तरेण मासेन । अंगगणि य अंगान्युपंगानि च । णरस्स जायंति गम्भस्मि नरस्य जायन्ते गर्भे ॥

मासेण—पुलगा पुलकाः । नलकावृद्धिरोदेसेवङ्कुरः । अंगगणि द्वौ नलकौ, निवङ्को, द्वौ चाह, वरः घट्टं, शिरावेत्यष्टौ । उपंगानि अंगगणि अंगान्युपगताः कर्णनासाग्रादौष्टेयंगुलिप्रभृत्यवयवाः । वरुं च—

गलया बाहू य वक्षः शिखं युद्धी वरो य सीसो य ॥
अष्ट्रेव दु अंगादं देवे सेवा उबंगादं ॥

अर्थ—पाँचवे माससे उस मांसपेदीकी पाँच पुलक अर्थात् पाँच अंगुर उत्पन्न होते हैं. इनसे नीचेके दो अंगुरोंसे दो पैर, उपरके तीन अंगुरोंसे चीचके अंगुरसे मस्तक और पार्श्वके दो अंगुरोंसे हाथोंकी उत्पत्ति होती है. इन अवयवोंकी यह अंगुर पूर्णवस्था है. तदनंतर छठे मासमें हाथ, पाय और मस्तककी रचना होती है और उपांग ओल, कान, नेत्र इत्यादिक अंगोंकी रचना होती है. इसप्रकार गर्भस्थ बालकके अवयवों की रचना है.

मासमि सप्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ॥

फँदणमडुममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥

चर्मरोमणि जायंते मासे तस्यात्र सप्तमे ॥

संपदोऽष्टमे विनिर्याणं नवमे दशमे ततः ॥ १०१८ ॥

विजयोदया—मासमि सप्तमे मासे । तस्य तस्य गर्भस्थस्य । चम्मणहरोमणिप्पत्ती चर्मनखरोमणिप्पत्तिर्भवति । फँदणमडुममासे संपदनीप्पच्छन्नं अष्टमे मासे । णवमे दसमे य विभागवत् नवमे दशमे चोदयसिर्गमनं भवति ॥
मुञ्जारा—मासमि इति—कंदर्पं संचलनं णिग्गमणं मातुरुदराग्निःसरणं प्रसूतिरित्यर्थः ।
इसके अनंतर—

अर्थ—सातवें सहस्रदिनें जब गर्भके अवयवों पर चर्म और रोमकी उत्पत्ति होती है, और तब और पैर के नख उत्पन्न होते हैं. आठवें मासमें उस गर्भ में चलन चलन होने लगता है. नववा और दसवा इन दो सहस्रदिनों में गर्भसे बालक बाहर आता है अर्थात् उसका जन्म होता है.

सन्वासु अवत्यासु वि कल्लादीयाणि ताणि सन्वाणि ॥

असुइणि अभिञ्जाणि य विहिंसिणिज्जाणि णिच्चं पि ॥ १०११ ॥

यतोऽयुचीनि सर्वाणि कललादीनि कारणम् ॥
वचोऽशिवत्तो देहो जुगुप्सो महतां सवा ॥ १०३९ ॥

इति निरूपतिः ॥

विजयोदया—सव्यासु अटयसु वि सर्वास्यवस्थासु शुक्रशोणितयोः । कललादियणि कललमबुद्धमित्यादि
कानि । सनानि मसुर्द्वि सर्वाणि अयुचीनि । अमेज्जगणिव अमेध्यमिव । विहिसणिज्जानि जुगुप्सनीयानि । निजं वि
नित्यमपि ॥

सव्यासु इति—अवस्थासु प्रतिसमयभाविनीषु शुक्लवर्णविवर्तनैरिषामिषु अमेज्जगणि य गूशानि यथा ॥ नि-
रूपतिः ॥

अर्थ—रक्त और वीर्य की प्रथम माससे आरंभ कर दस मास तक जो जो अवस्थायें होती हैं वह
सबही अपनित ही हैं। कैसे विद्या नित्य जुगुप्सा करने लायक ही है। निरूपति नामक प्रकार का वर्णन हुआ।

गर्भेऽवस्थानफलं कष्टुर्मे कण्ठेयसुखरागपय । निरूपति सर्वे—

आमासयमि पक्कासयस त्वरि अमेज्जमज्जमि ॥

वरिषपडलपच्छणो अच्छद् गब्भे हु णवमासं ॥ १०१२ ॥

निरूप्यामाशयस्याथ ऊर्ध्वं पकाशयस्य सः ॥

जरायुर्वेष्टितो मासासवात्राभेध्यमध्यगः ॥ १०१० ॥

विजयोदया—आमासयमि आमाशये । आयुम्यये मुक्तमशनमुदराग्निना अपकं तस्य आशयः स्थानं तस्मिन् ।
पक्कासयस त्वरि लादरेण अग्निना पक आहारः पकं तस्य आशयः स्थान । तत उपरि । अमेज्जमज्जमि अमेध्ययोः
पकापकयोर्मध्ये । गब्भो अल्पदि आस्ते गर्भः । कीदृक् वरिषपडलपच्छणो चित्त मांसतोणित जालसस्थानीय वरिष-
पडलराब्धेनोच्यते तेन प्रतिच्छन्नः । कियंते जालमास्ते ? णवमासं उपलक्षण नवमासग्रहण दशमासमात्रमव्यवधानात् ।

तदेदनिरूपतिक्षेत्रं गात्रवेण निरूपयित्वन्गर्भेवस्थानक्रमशोयनं तस्याभिधेते—

मूला—आमासयमि—उदरान्वयपकयुक्ताग्रधाने । पक्कासयस त्वरिमात्रकमुत्तारस्थानस्य । अमेज्जम-
ज्जमि अमेध्ययोः पकापकयोर्मध्ये । वरिषपडलपच्छणो वस्तिपटलं जालस्थानीय विवतमासशोणितं तेन प्रच्छादितः ।

गर्भो हु अत्र पाठे आमादायावधः पकादायकोर्बु नवदशमासात् जगदुपच्छादितो गर्भे आस्ते इति सूत्रार्थः ॥ गठमा-
प्रपन्निम इति पाठे तगे तरदेहो वा गर्भे विवृतीति व्याख्येयं । जवमासो उपलक्षणादस्यापि ॥

गर्भे में बालक किन् स्यानमें रहता है इसका विवेचन—

अर्थ—आमाशय और पकाशय इन दोनों के बीचमें बालक सगान भांस और रक्तसे लेपटा हुआ बह गर्भे
नट मढ़िने पाता रहता है. साया हुआ अम उदरगमिसे जिस स्थानमें घोडासा पचाया जाता है वह स्थान आमा-
शय कहा जाता है. और जिस स्थानमें पूर्ण पकाया जाता है वह स्थान पकाशय है. ये दोनों स्थान अवविप्र है.
पकाशयके ऊपर और अपकाशयके नीचे अर्थात् दोनोंके बीचमें गर्भका स्थान रहता है. गायामें 'गयमास'—यह
शब्द उपलक्षणवाची है. इससे इस मातका भी ग्रहण होता है. अर्थात् कोई गर्भ दसमासतक भी माताके उदरमें
रहता है.

अशुचित्स्थाने समस्थिताः स्वल्पकालं यदि जुगुप्स्यते विरागस्थिताः कथमयं न जुगुप्सणीय इत्याक्षेपे—

नमिदा अमेऽक्षमज्ज्ञे मांसं पि समकसमस्थिवो पुरितो ॥

होदि हु निहिंसणिज्जो जवि वि हु णीयह्ज्जो होज्ज ॥ १०१३ ॥

भासमेकं स्थितोऽयक्षं वच्योमज्जे जुगुप्स्यते ॥

निज्जोऽपि न कथं गर्भे वति नवदश स्थितः ॥ १०१४ ॥

इति क्षेत्रं ॥

विजयोदया—यमिमा अमेऽक्षमज्ज्ञे पांतस्य जमेधस्य च मज्जे । भासेपि आस्तमाजपि समकसमस्थिवो स्वप्न-
मयदातया स्थिताः पुरतः । सु शब्द पयकारार्थः स च क्रियाशब्दात्परो द्रष्टव्यः । निहिंसणिज्जो इत्यतः परतः । निहिंस-
णीभो दोदि इति जुगुप्सणीय पय मवति नाजुगुप्स्य इति यावत् । जदि वि हु णीयह्ज्जो होज्ज यद्यपि वेधुमेयेत् ॥
स्वल्पकालं यदाभ्यध्यायमभ्युषितो वंधुरपि जुगुप्स्यते पक्त्यभर्ष देहधिरं तत्र स्थितो न जुगुप्स्य इति गाथा-
इयेताह—

गूढारा—नमिया इति—वमिदा जमेधमज्जमि पांतस्य जमेधस्य च मज्जे । ससमकसं आस्तप्रत्यक्षं ।
जदि वि यद्यपि । णीयह्ज्जो वंधुः ॥

अपनिग्रस्थानमें स्वल्प कालतक रहा हुआ मनुष्य भी जुगुप्सा योग्य माना जाता है तो चिरकाल वहां रहा हुआ क्यों जुगुप्सा योग्य नहीं माना जायगा ? इस प्रश्नका उत्तर—
अर्थ—वान्ति और विमृष्टके बीचमें अपना कोई संबंधी मनुष्य एक मासतकभी रहा हुआ अपने मत्पक्ष हुआ तो हम उसकी ग्लानि करते ही है. यद्यपि वह हमारा स्वजन भी हो तो भी उसकी ग्लानि हमारे मनमें होती ही.

किह पुन णवदसमासे उसिदो वमिगा अमेज्झमज्झम्मि ॥

होज्ज्वण विहिंसणिज्जो जदि वि हि णीयल्लओ होज्ज १०१४ ॥

विजयोदया—किह पुन फथे पुनः । न होज्ज विहिंसणिज्जो न मयेज्जुगुत्सनीयः । णवदसमासे उसिदो तवमासे वदमासे पावस्थितः । वमिगा अमेज्झमज्झम्मि माना उपयुक्त आहारो वमिगाशब्देनोच्यते । खेपः सुगमः ॥ पित्तं गर्ह ॥

मूढारा—किथ—उसिदो सिद्धतः । वमिगा जनन्योपयुक्त आहारः । क्षौत्रम् ॥

अर्थ—तो तिसने गर्भमें मर दस माहिमतक निवास किया है और माताका भक्षण किया हुआ आहार खाकर जो शुद्धिको प्राप्त हुआ है वह क्यों न ग्लानिका पात्र यनेया ? अर्थात् वह अवश्य घृणाका पात्र है.

येनाहारोपासाधुरचित्तपरीते जातसमाचये—

दंतेहि चन्निवं बीलणं च सिमेणं मेलिदं संतं ॥

मायाहारियमणं जुत्तं पित्तेण कहुण ॥ १०१५ ॥

पिच्छिलं चर्वितं दन्तैर्मिथितं खेरुमणा च यत् ॥

अनं मात्राक्षितं युत्तं पित्तेन कहुकात्मना ॥ १०१६ ॥

वित्तयोदया—दंतेहि चन्निवं वृक्षदृष्टान्तं । बीलणं पिच्छिलं । कथं, सिमेण मेलिदं खेषणा मिथितं संतं । मादादावित्मणं मात्रा युक्तमर्थं । कहुण पित्तेण जुत्तं कहुकेन पित्तेन जुत्तं ॥ येनाहारोपासिद्धपरीतो नरः संपन्नस्तं गाथापंचकेन व्याचष्टे—

मूलाग—बतेहि इति श्रीलङ्गं विच्छिन्नं । मिच्छिं संतं मिच्छिं सत् । माण्डरिं माण्डुक्यम् ।

जिस आहारसे उसका शरीर पुष्ट होता है उसका वर्णन आचार्य करते हैं—

अर्थ—दांतोंसे चबाया गया, कफसे गीला होकर मिश्रित हुआ ऐसा भोजन स्वादा हुआ अब उदरमें पित्तके मिश्रणसे कहुवा होता है—

वमिगं अमेक्षससिंसं वादविओजिदरसं स्वलं गब्भे ॥

आहारेदि समंता उवरीं थिप्पंतगं जिप्पं ॥ १०१६ ॥

अमेक्षसदृशं वातं समीरेण पृथक्कृतम् ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसम् ॥ १०१७ ॥

विजयोदया—वमिगं वातं । अमिच्छससिंसं अमेक्षेन सदृशं । वादविओजिदरसं खांडे वातेन पृथक्कृतं रसं कलमागं । गब्भे आहारेदि गिळ मिले गर्भस्थो भुंजे । समंता समंतात् । उवरीं उपरि । थिप्पंतगं विगलंतमसौ पतेनाश्वर समाश्वरतीति ज्ञायते ॥

मूलाग—वमिगं इति—वमिगं अन्तश्छेदितं । वादविओजिदरसकखंडं वायुपृथक्कृताररसकलभागं । आहारेदि भुंजे गर्भस्थो मनुष्यः । समंता समंततः । वमिगं विगलंतमसौ । पतेनाश्वरसमाश्वरतीति ज्ञायते ।

ऊर्ध्वं च—

ऊर्ध्वसो मातृमुक्तस्य श्रेष्ममिश्रस्य पिच्छिळं ॥

वृश्निवत्स्य मृदं दंतीः पित्तसंगमुपेयुवः ॥

अमेक्षसदृशं वातं समीरेण पृथक्कृतं ॥

ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसं ॥

अर्थ—वांति और विषाके समान, वातसे किसका सभभाग और खलमाग अलग किया गया है ऐसे आहारका ऊपरसे और चारो तरफसे एक एक बिंदु जब गिरने लगता है तब वह गर्भस्थ जीव उसको नित्य ग्रहण करता है. जबतक शरीरमें नाभि उत्पन्न नहीं होती है तब तक वह जीव चारों तरफसे मातृमुक्त आहार शरीरके द्वारा ग्रहण करता है.

तो सत्त्वमग्नि मासे उप्पलणालसस्ति हवइ णाही ॥
 तत्तो पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए ॥ १०१७ ॥
 ततोऽस्ति सप्तमे मासे नाभी ह्युत्पलनालवत् ॥
 ततो नाभ्या तया वान्तं तदादत्ते स गर्भगः ॥ १०४४ ॥

विजयोदया—तेरा मासानां रत्तं सत्त्वमग्नि मासे रक्के सप्तमासे । उप्पलणालसस्ति नाभी हवइ उपल-
 नालसहवीलभिमंयति ततो नाविल्लण्युत्तरकाठे । वमियं तं आहारेदि णाभीए वांतामाहारयति नाभ्या ॥
 मूलरा—वो सत्त्वमग्नि इति—तत्तो पाए तवः प्रभूतिः ॥
 अर्थ—सातवें महीनेमें शरीरमें कमलके डंठलके समान दीर्घं नाल पैदा होता है, तबसे यह जीव माता-
 का खाया हुआ आहार दीर्घनालसे ग्रहण करने लगता है.

वमियं व अमेष्ठं वा आहारिद्वं स किं पि सप्तमक्खं ॥
 होदि हु विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१८ ॥
 अमेष्ठं अक्षययेकं मासं दष्टो छुगुप्पये ॥
 निजोपि न कथं गर्भे मासाद्यवशानसो ॥ १०४५ ॥
 इत्थंयः ॥

विजयोदया—वमियं व अमेष्ठं वा वांतममेष्ठं यथा । आहारिद्वं वा भुक्त्वात् । स किं पि सप्तमपि एकवारं ।
 सप्तमपयं सप्तमसं । होदि छु विहिंसणिज्जं भवति छुगुप्पनीयो । यदि वि य णीयल्लओ होज्ज । यद्यपि यं भुज्जेत् ॥
 मूलरा—वमियविति—आहारिद्वं भुक्त्वात् । स किं पि एकवारमपि ।
 अर्थ—कोई गतुप्प अपने सामने वांति और विष्ठाको यदि खागया तो उसको देखकर मनमें ग्लानि
 पैदा होती है. यदि वह मनुष्य अपना संवंधी भी हो तो भी ग्लानि उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी.

किह पुण णवदसमासे आहारिद्वं तं णरो वमियं ॥
 होज्ज ण विहिंसणिज्जो जदि वि य णीयल्लओ होज्ज ॥ १०१९ ॥

विजयोद्या—स्वष्टोत्तरा गाथा । आहारणदं सम्मत्तं ॥ आहारो निरूपितः ॥

मूढारा—किंहेति—आहारेदूण भुक्त्वा ॥ आहारः ॥ ५ ॥

अर्थ—पुनः जो नउ दस ग्रहिनै वक्रा वांति स्वाकर इद्विगत हुआ है वह अपना संबंधी भी हो तो भी यह ग्लानिका पात्र क्यों न होगा? यह आहार का प्रकरण समाप्त हुआ।

जन्मनिरूपणावोत्तरा गाथा—

असृचिं अपेच्छणित्तजं दुग्गंधं मुत्तसोणियदुवारं ॥

वोत्तुं पि लज्जणित्तजं पोट्टमुहं जम्मभूमी से ॥ १०२० ॥

शोणितप्रस्त्रवदारं दुग्गंधं जठराननं ॥

अवाक्यजन्मभूतस्य लज्जनीयमशौचकम् ॥ १०४६ ॥

विजयोद्या—असृचिं, असृचि । अपेच्छणित्तजं अपेक्षणीयं । दुग्गंधं दुर्गंधं । मुत्तसोणियदुवारं मूत्रस्य शोणितस्य च द्वारं । वोत्तुं पि लज्जणित्तजं वषट्पुमपि सनाज्ञा लज्जनीयं । पोट्टमुहं उदरमुलं पर्यणं । ॥ जम्मभूमी से जन्मभूमिस्तस्य ॥

मूढारा—असृचिमिति—अपेक्षणीयं अग्रहण्यं । वोत्तुं पि कथयितुमपि प्रसिद्धान्ता । पोट्टमुहं उदरमुलं वोनिरित्यर्थः । से तस्य नरस्य नरवेहस्य वा ।

अर्थ—प्राणी की जन्मभूमि विसर्गो उदरका मुल कहते हैं वह अपवित्र है, देखने लायक नहीं है, वह दुर्गंधपुक्त और मूत्र तथा रक्त बहनेका द्वार है- उसका नाम लेकर वर्णन करनेसे लज्जा उत्पन्न होती है।

जदि दाव विहिंसिज्जइ वत्थीए मुहं परस्त आलहुं ॥

कह सो विहिंसणिज्जो ण होज्ज सल्लीढपोट्टमुहो ॥ १०२१ ॥

परो यस्तिमुत्थस्पर्धां महाद्भिर्नियते यदि ॥

उदरद्वारसंस्पर्शी विनिचो न तदा कथम् ॥ १०४७ ॥
इति जन्मः

विजयोदया—अदि दाव विहिस-जदि यदि तावल्हुण्यस्यते । नशीप मुहं वस्तिमुहं । फूरस्स आलहुं परत्थ
उट्टुं । किंय सो विहिसनिज्जो ण हो-ज कयमसो न चुयुत्तनीयो भवेव । तल्लोदयोदमुहो आस्वादितचरांग. ॥
मूढारा—जदिदा इति । नशीप मुहं वस्तिमुहं, अपानं योनिं ॥ आलहुदु ल्पणुं भवचः । सहीद समारवा-
दितं ॥ जन्म ॥
अर्थ—ऐसे अपवित्र योनीको देखनेवाला मनुष्य ग्लानिका विषय होता है तो जो इस अवयवका आ-
स्वाद लेता है वह क्यों न ग्लानिका विषय न होगा ?

जन्मदुर्घं निरूपयति—

घालो विहिसनिज्जाणि कूणदि तह चेव लउज्जणिज्जाणि ॥
मेज्जामेज्जं कज्जाकज्जं किंचिवि अयाणंतो ॥ १०२२ ॥
निंयावि लज्जनीयानि कर्माणि कुरुते शिशुः ॥
कुरयाकुरयमज्जानानो सेव्यासेव्यं च मूढधीः ॥ १०२४ ॥
विजयोदया—गालो विहिसनिज्जाणि कूणदि घालो जुयुत्तनीयानि कर्माणि कुरुते । तथा चेव लउज्जणिज्जाणि
तथा धेय लज्जनीयानि । मेज्जामेज्जं दुव्ययुधि च । गल्लकज्जं किं वि वि अयाणंतो कार्याकार्यं किंचिव्यज्जानद् ॥
मूढारा—घालो इति—कूणदि कर्माणि इति शेषः । किंचिवि किंचिदपि ।

जन्म दृष्टिका निवेचन करते हैं—

अर्थ—यह बालक ग्लानि उत्पन्न करनेवाले कार्य करता है, तथा बिम्बसे ललित होना पड़ेगा ऐसे भी
कार्य करता है, यह कार्य उत्तम है अथवा यह कार्य अयोग्य है इसका वसको शोभाता भी ज्ञान नहीं रहता है,

अण्णरस अप्पणो वा सिंहाणयत्तेलमुत्तपुरिसाणि ॥

चम्मट्टिवसापूयादीणि य तुंढे सगे जुमदि ॥ १०२३ ॥

स चर्मपूयमांसास्थिवर्चोमूत्रकफादिकं ॥

त्वंस्यापरस्य वा वक्के क्षिपते विगतत्रपः ॥ १०२५ ॥

त्रिजयोऽद्या—अण्वस्तर अण्वणो धा अन्यस्यात्मनो या । सिधाणव द्देष्याणं । मूयं, पुरीयं, चम्मद्विसापूयानि-
या यमं अक्षि यसां पयादिक् । न । खगे नंदे गुभ्रवि आत्मीये मुखे दिसन्ति ॥

मुहारा—अज्जमास इति—सिपाणय भेष्या । खल युवकं । पुरिस पुरिपं । नुहे मुये ।

अर्थ—दूसरेका अध्या अपना इल्लमा-कफ़, सुत, विद्या, चर्च, दह्री, बसा, पीष, अपने मुखमें बलता है. इस कायों को करते समय उसको ग्लानि नहीं आती है.

ॐ किं चि खदि ॐ किं चि कुणदि ॐ किं चि जंपदि मलज्जो ।।

जं किं चि ज्ञात्य तत्थ व सोसरदि अथाणगो बोलो ॥ १०२३ ॥

यत्किञ्चिदुक्तं तत्रैव पालः श्वाद्यन्यालङ्घितः ॥

सदते विगनज्ञानः प्रदर्शे यद्र सत्र ॥ १०५० ॥

विप्रयोदया--००० किं धि लादि, पक्षिबलिषि, धारिकविरजरोति । चरित्किउजदपल्लजः । जे-किं-धि-सहयं
तस्य वि चरित्विषय तत्र वा शुभापगुर्वी वा देशे । पोखरदि स्मृपुनक्ति । अजाणनो बालो भयो बालः ॥

मङ्गलार्त्थं इति—इति यत्किञ्चिद्विप्रश्न्यमभिमर्त्य वा । नारद उवाच—
 नोत्तरमिदं नोत्तरमिदं नोत्तरमिदं ।

अर्थ—जो कुछ भी पदार्थ बालक खाता है, मनमें जो आया वह कार्य करता है; युद्धमें जो आया वह बोलता है, जगह पवित्र हो अथवा अपवित्र हो यहाँ अन्न बालक मलमूत्रका विसर्जन करता है.

द्यालक्षणे कदं सव्यमेव जदि णामं संभरिज्ज तदो ॥

अप्याणमि वि गच्छे णिष्वेदं किं पुण परमि ॥ १०२५ ॥

पालं यदि कृतं कौडपि कृत्यं संस्मरति स्वयम् ॥

तदात्मन्यपि निर्वेदं यात्यन्यच्च न किं पुनः ॥ १०५१ ॥

पुनः ॥
पिच्छयोऽप्या—यावत्पुनः न किं पुनः ॥ १०५१ ॥

मूढारा—यावत्तने इति—संभवेच्च सरेत् । अणान्निमिवि आत्मन्यपि । गच्छे गच्छेत् । निन्देदं वैराग्यं ।
पटदि श्रीशरीरपदौ ॥ वृद्धिः ॥

अर्थ—भयुष्य बालपनमें जो जो कृत्य करता है उसकी यदि उस को स्मृति होगी तो वह अपनी भी
श्लानि करेगा फिर अन्य के विषयमें अर्थात् स्त्रीके शरीर वगैरह में उसको श्लानि होगी इस विषयमें कहना ही
क्या है ?

कुणिमकुडी कुणिमेहिं य मरिदा कुणिमं च सवदि सव्वत्तो ॥

ताणं व अमेज्झमयं अमेज्झभरिवं सरीरमिणं ॥ १०२६ ॥

अमेध्यस्य कुटी गात्रममेर्येनच परिता ॥

अमेध्यं सवत्ते छिद्रं अमेध्यमिव भाजनम् ॥ १०५२ ॥

इति वृद्धिः ।

विज्ञयोदया—कुणिमकुडी कुचिता कुडी, कुणिमेहिं भरिदा कुचितैभरिता । कुणिमं वा सवदि सव्वत्तो कुचितं
सर्वतः कल्पति समंतात् । ताणं व अमेज्झमयं तार्णमिव अनेज्झमयं अमेध्यमिव । अमेज्झस्वरिवं अमेध्यपूर्णं । सरीरमिमे
शरीरमिदं ॥

अवयवान्नाथाभिश्चतुर्दशविधयोपधाणाः प्रथममवयवधिनं निर्दिशति—

मूढारा—कुणिमेति कुणिमकुडी कुणिम कुचितं दुर्गमं तन्मयवृद्धं । इमं इदं मानवीयं । एतां गार्वा श्रीविज्जा-

वाचार्यः पाश्चात्तमन्त्रे पठति ॥

अर्थ—यह शरीर दुर्गम है, दुर्गम वस्तुओंसे भरा है, इससे दुर्गम स्वेद मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं,
यह शरीर विज्ञासे भरी हुई वृषकी चनी शोषणके समान दुर्गम है-

वृक्षिमं निरुष्य शरीरवयवानाचये—

अष्टीणि हुंति तिणिण्डु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए ॥

सव्वमि चैव वेहे संघीणि हवन्ति तावदिया ॥ १०२७ ॥

शतानि त्रीणि संत्यस्थ्यां भज्जापूर्णानि विद्यहे ॥

संघीनामपि तावन्ति सन्ति सर्वत्र मानुषे ॥ १०५४ ॥

मिजयोदया—अट्टीणि हुंति तिष्ठन्ति इति संघाणि विद्यताम्यस्तीति । भरिदणि कुञ्जिममज्जाए पूर्णानि कुचितेन मज्जासामितेन । संत्यग्निं चेद देहस्मि सर्वस्मिद्य देहे शरीरे । संघीणि हवंति तस्यदिया । संघिममाणमपि त्रिसतमेव ॥

नृदेहागयेकतावधारणार्थमुत्तरप्रबंधमाह—

मूलाया—अट्टीणि इति—तावदिया त्रिशतप्रमाणाः ॥

शुद्धिके क्रमका निरूपण कर शरीरेके आखण्योका विवेचन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके देहमें तीनसे आस्य हैं, वे दुर्गंध भज्जा नामक घातुसे भरी हुई हैं, और तीनसे ही संघि हैं.

गृहारूण णवसदाहं सिरासदाणि य हवंति सचेव ॥

देहन्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि ॥ १०२८ ॥

मांसपेसीशिरासनायुवातान्यंगे यथाक्रमम् ॥

पंच सप्त नच प्राज्ञाः सर्वदाणि प्रचक्षते ॥ १०५५ ॥

मिजयोदया—गृहारूण णवसदाहं आसूनां भयशानि । सिरासदाणि य अयंति सचेव सिरासां सप्तसप्तानि । देहन्मि मंसपेसीण हवंति पंचेव य सदाणि पंचशतानि शरीरे मांसपेदयः ॥

मूलाया—गृहारूण इति—गृहारूण स्नायूनां । छिप क्षिराः ॥

अर्थ—देहमें नउसे स्नायु हैं, तथा सातसे सिरा हैं और इस शरीरमें पंचसे मांसकी पेक्षिया हैं.

चचारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंदराणि तथा ॥

छचेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जु य ॥ १०२९ ॥

शिराजालानि चत्वारि कंदराणि च पोटका ॥

सिरामूलानि पट् चैव मांसरज्जुद्वयं तथा ॥ १०५६ ॥

विजयोदया—चत्वारि सिराजालाणि चत्वारि शिराजालानि निरासंघाताः । सोलस ॥ कंडराणि तद्वा । गोडश
कंडरसंघितानि । तथा एवेद सिराकुश पडेव शिरामूलानि । देहे दो मंसरज्जू य शरीरे मांसरज्जूद्वयं ॥
मूलरा—चत्वारि इति—सिराजालाणि शिरासंघाताः । कंडराजो रक्तपूर्णमहाशिराः । कंडराणि तद्वा इत्यपि
पठन्ति । शिराजुषा शिरामूलानि । मंसरज्जू शृणोदराश्रिते ।

अर्थ—शिराओंके चार साल हैं सोलह कंदस हैं. छह सिराओंके मूल हैं. और देहमें दो मांसरज्जु हैं.

सत्त तयाओ कालेजयाणि सत्तेव होंति देहग्नि ॥

देहग्नि रोमकोडीण होंति सीदी सदसहस्ता ॥ १०३० ॥

कालेयकानि सप्ताने त्वचः सप्त निवेदिताः ॥

सर्वत्र कोटिलक्षणामशीती रोमगोचरा ॥ १०५७ ॥

विजयोदया—सत्त तयाओ सप्त त्वचः । काक्रेजनाणि सत्तेव होंति देहग्नि सत्तेव कालेयकानि देहे । देहग्नि
रोमकोडीण होंति सीदीसदसहस्ता शरीरे रोमकोटीनां अशीतिसदसहस्याणि ॥

मूलरा—सत्त तयाओ इति । तथा त्वचः । कालेजयाणि कालेयकानि मासकंबानि । अशीतिं अशीति । सदस-
हस्ता लक्ष्याणि ॥

अर्थ—इस शरीरमें सात त्वचा हैं. और सात कालेयक हैं और अस्सीसाल कोटि रोम हैं.

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति ॥

कुणिमरस आसया सत्त हूति देहे भणुस्सस्स ॥ १०३१ ॥

आमपकाशयस्थानं पोडशौवांत्रपष्टयः ॥

कुथितस्याश्रयाः सप्त शरीरे सन्ति मानुषे ॥ १०५८ ॥

विजयोदया—पक्कामयासयत्था पक्काशये आमशये अवस्थिताः । अंतगुंजाओ अंत्यपृथः । सोलस हवंति
पोडशौव भयन्ति । कुणिमरस आसया कुथितस्य आश्रयाः सप्त भवन्ति देहे मनुजस्य ॥

मूला—पञ्चमगासकया दधि—पञ्चमगासकया पञ्चदशये अमाशये च रियताः । अंतर्गुणाओ अंत्रयष्टयः ।
कुणिमरम दुधितस्य । आनया आधयाः ॥

अर्थ—पञ्चदशम और आमाशयमें सोलह आठ रहती है. मनुष्यके देहमें दुर्योध मलके सात आशय हैं.

धूणाओ तिणिं देहमि होति सत्तुचरं च मम्मसदं ॥

नव होति वणमुहाइं णिन्वं कुणिमं सर्वताइं ॥ १०१२ ॥

नव संति वणास्यानि म्मुच्यमानानि कइमलम् ॥

निवः रधूणाशतं देहे मर्मणां ससंसुतं ॥ १०५९ ॥

पिण्डयो रया—धूणाओ तिणिं देहमि होति रधूणास्तियो भवन्ति । देहे सत्तुचरं च मम्मसदं मर्मणां शतं
तत्ताधिकं । नव होति वणमुहाइं वणमुहाइं नव भवन्ति । णिन्वं कुणिमं तिस्रं कुणित्वं स्वयस्ति ॥

मूला—धूणाओ इति । धूणाओ वातपित्तकृष्णमात्राः । मम्मसदं मर्मसदं । सर्वताइं सर्वन्ति संवन्ति संक्षि ।

अर्थ—इस देहमें तीन रधूणा हैं. और एकसो सात मर्मस्थान हैं. और नव वणमुहा हैं बिसेसे नित्य
दुर्योध सनरा है.

देहमि मच्छुलिगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण ॥

अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव ॥ १०१३ ॥

शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येकं सुरयो विदुः ॥

स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरं ॥ १०६० ॥

पित्तयो रया—देहमि सरिरे । मच्छुलिगं मस्तिष्कं अंजलिमित्तो सयप्पमाणेण स्वयंजलिप्रमाणं परिच्छिद्यं ।
मेदोऽप्यंजलिप्रमाणं । योज्जोवि तत्तिओ चेव । शुक्रमपि तादन्मात्रमेव ॥

मूला—देहमि इति । मच्छुलिगं मस्तिष्कं ग्रहिवलीस्यर्थः । तया स्वकीयं । ओजो शुक्रं । तत्तिगोवायन्मानं
उक्तं च—शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येकं सुरयो विदुः ॥

स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरं ॥

अर्थ—इस देहमें मस्तिष्क एक अंजलिप्रमाण है. अर्थात् वह अपने अंजलिप्रमाण जानना. भेद और आज अर्थात् शुक्र ये दोनों भी स्वांजलि प्रमाण समझने चाहिये.

तिणि य वसंजलीओ छन्वेव य अंजलीओ पित्तस्स ॥

सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्दाढगं होदि ॥ १०३४ ॥

पणंजलिमितं पित्तं वसांजलित्रयप्रभा ॥

श्लेष्मा पित्तसमो रक्तमर्द्धाढकमितं मतम् ॥ १०६१ ॥

विजयोदया—तिणि य वसंजलीओ तिस्रो वसांजल्यः । छन्वेव य अंजलीओ पित्तस्स पणंजलयः पित्तस्स । सिंभो पित्तसमाणो श्लेष्मा पित्तप्रमाणः । लोहिदमद्दाढगं होदि लोहितोऽप्यर्द्धाढकं भवति ॥

मूलार—तिणि इति-वसंजलीओ वसाया अंजल्यः । अद्दाढगं द्वार्त्रिशत्प्रकृतां ।

अर्थ—वसा नामक धातु देहमें तीन अंजलिप्रमाण रहती है. पित्तका प्रमाण छह अंजलि हैं. श्लेष्म अर्थात् कफका भी इतना ही प्रमाण है. रुधिरका प्रमाण आधा आढक है.

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा ॥

वीसं णहाणि दंता वत्तीसं होति पगदीए ॥ १०६५ ॥

पट्प्रस्थप्रमितं वत्थो मूत्रमर्द्धाढकप्रमम् ॥

नखानां विंशतिर्दन्ता द्वार्त्रिशत्प्रकृता मताः ॥ १०६२ ॥

विजयोदया—मुत्तं आढयमेत्तं मूत्रं आढकमात्रं । उच्चारस्स ॥ हवंति छप्पच्छा पट्प्रस्थप्रमाण उच्चारः । वीसं णहाणि विंशतिसंख्या नखानां । दंता वत्तीसं होति दार्त्रिशद्वयन्ति दंता । पगदीए प्रकृत्या ॥

मूलार—मुत्तं इति । उच्चारस्स पुरीपस्य । छप्पच्छा पट्प्रस्थाः प्रस्थः पोटलपल्लानि । पगदीए प्रकृत्या अन्तर्दीपकमिदं ॥

अर्थ—मून एरु आरु प्रमाण हे और उल्चार-विषय यह छह प्रमाण है. नाल चीस रहते हैं और इन वचीम होवे हैं. स्वभावरतः शरीरमें इन अवयवोंका प्रमाण कहा है.

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिक्कुलेहिं बहुगेहिं ॥

सत्वं देहं अर्णविद्रुण वादा छिदा पंच ॥ १०१६ ॥

कायः कृमिकुलाकीर्णः कृमिणो वा द्रणोऽन्विहः ॥

तं सर्वं सर्वतो व्याप्य स्थिताः पंच चरणयवः ॥ १०१७ ॥

विज्ञयोदया—किमिणो व वणो संज्ञाप्रतिमिणयम् । बहुगेहिं किमिक्कुलेहिं भरिदं सरीरमिति संवंधः । वपुष्मि विचीनां कुक्षेभित्तिः । सत्वं देहं अर्णविद्रुण यना छिदा पंच समस्तं शरीरं व्याप्य पंच पाणयवः स्थिताः ॥

यूवात—किमिणो इति-किमिणो यजोऽन्य संज्ञाप्रतिमिर्द्रुण इव । अर्णविद्रुण व्याप्य । पंच प्राणोदयनव्याप्तस-
मानाशानाः ॥

अर्थ—प्राण वैना किमियोमि भ्रा गृह्य है. वैसा यह देह भी सर्वत्र क्रियिजोसि भ्रा है. इस देहको व्या-
परा पांच पाण रहते हैं.

एवं सत्त्वे देहमि अवयवा कुणिमपुगला चैव ॥

एवं मि णत्ति अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ॥ १०३७ ॥

इत्थंगेऽययवाः सन्ति सर्वे कुधितपुद्गलाः ॥

नैकोऽप्यवयवस्तत्र पवित्रो विद्यते शुचिः १०३८ ॥

विज्ञयोदया—एवं उभेन प्रकारेण । देहमि मत्वे अवयवा शरीरपदार्थाः सर्वे अवयवाः । कुणिमपुगला येन
अनुपपुद्गला इव । एवं मि णत्ति अंगं एकोऽयि मारुणयवः । जं पूयं सुचियं च होज्ज । योऽययवः पूतः शुचियो मयेत् ।

यूवात—एवं इति-पुनिमपुगलाः शुचिताः पुद्गला येषां ते । पूतं पवित्रं । सुचियं नृत्तं मनोमं वा ।

टीप—१ पाणयः ।

अर्थ—ऊपर कहे प्रकारसे इस देहके सर्व अवयव अशुभ पुद्गलोंसे बने हैं- इसमें एक भी ऐसा अवयव नहीं दीखेगा जो अवयव पवित्र और शुचि है.

परिदृष्टसत्त्वचर्मं पंडुरगन्तं मुयंतवणरसियं ॥

सुष्ठु वि दहदं महिलं दंष्टुपि णरो ण इच्छेज्ज ॥ १०३८ ॥

दरधमिःशेषचर्माणं पांडुरांगीं गलद्रसां ॥

दिदृशन्तेऽपि नो कोऽपि बह्वभामपि बल्लभः ॥ १०३९ ॥

पिजयोद्या—परिदृष्टसत्त्वचर्मं परितो दृश्यते यथापटलं । पंडुरगन्तं पांडुरांगं । मुयंतवणरसियं विगलद्रसं । सुष्ठु वि दहदं महिलं मिषममालपि पिनतां । दंष्टुपि णरो ण इच्छेज्ज द्रष्टुमपि नरो न वांछति ।

मूलापा—परिदृष्ट इति-सप्ततन्त्ररसियं लघ्वन्त्ररसो यस्यास्तां लघ्वन्त्ररसिकां । सुष्ठुवि दहदं अतिबल्लभमपि ॥

अर्थ—जिमकी देहकी त्वचा अम्नीसे जल जानेसे सफेद दीख रही है- जिससे रस सदा सरता है- ऐसी स्त्री यदि पूर्वमें अविशेष मिष भी तो भी उसकी ऊपर लिखे प्रकार ग्लानि उत्पन्न करने वाली अवस्था देखकर मनुष्य उसको देखनेको भी चाहता नहीं-

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरसियापू तथाए णो यमिदं ॥

को णाम कुणिमभरियं सरीरमाल्लुमिच्छेज्ज ॥ १०३९ ॥

अभविष्यन्न चेद्वात्रं पिहितं त्वदमया त्वचा ॥

को नामेदं तदास्पृश्यन्मक्षिकापत्रतुल्यया ॥ १०४० ॥

इत्यंशः ॥

पिजयोद्या—जदि हो-ज्ज तथाए ण यमिदं यदि त्वचा न स्थितिं भवेत् । कीदृश्या मच्छियापत्तसरसियापू मक्षिकापत्रयदिति । तदा को नाम इच्छेज्ज कुणिमभरिदं सरीरं को नाम वांछेत् ? किं कुचितपूर्णं सरीरं । माल्लुं स्मरं ॥ अप्यपचाः ॥

मूछारा-जदि इति-मच्छिन्नापत्तसिधियाए महिकाएगुह्यया । आलट्टु रुष्टुं आर्त्तिगिहं वा । अवयवाः ॥
अर्थ- मकलीके पंखके समान फली त्वचासे यह शरीर यदि नहीं ढका होता तो दुर्भ्रंश से भरे हुए इस
शरीरको भस्म करनेकी किसको इच्छा होती ? अर्थात् कोई भी इसको छूना नहीं चाहता-

कण्ठेसु कण्ठागूधो जायदि अच्छीसु चिकणंसूणि ॥

पासागूधो सिंघाणयं च पासापुडेसु तहा ॥ १०४० ॥

कर्णयोः कर्णगूधोऽस्ति तथागूधोर्मलमश्रु च ॥

सिंघाणकायसो निंघा नासिकापुटयोर्मलाः ॥ १०६७ ॥

चिकणंसूणि-कण्ठेसु कर्णयोः । कण्ठागूधो कर्णगूधः । जायदि आवेत । अच्छीसु भक्षणो । चिकणंसूणि मलम-
श्रुविशेष । पासागूधो नासिकामलं सिंघाणयं च सिंघाणकं च पासापुडेसु नासापुटयोः ।

मूछारा-कण्ठेसु-इति-कण्ठेसु कर्णविशेषयोः । कण्ठागूधो कर्णोक्तो मलः । सिंघाणकायसो नासिको-
क्तो मलः । सिंघाणये नासाकायी श्रेष्ठा ॥

अर्थ- कानमें कर्णगूध अर्थात् कर्णमल पैदा होता है. आलमें नेत्रमल होता है. और आंसु उत्पन्न होते
हैं. नाकमें पट्टमल और फली मल उत्पन्न होता है.

खेलो पिच्चो सिंभो वमिया सिंभामलो य वंतमलो ॥

लाला जायदि तुंडमि मुत्तपुत्तिं च सुक्कमिदरत्थे ॥ १०४१ ॥

लालानिर्गविरुद्धेयपुरेगा विविचा मलाः ॥

जायते सर्वदा वक्ते वंतकीटाकुलमणे ॥ १०६८ ॥

ये मेहशुदयोः सन्ति चर्बोमूत्रावयो मलाः ॥

न वक्तुमपि शक्यंते वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥ १०६९ ॥

सपथार्थोच्यताया—

सेदो जादि सिलेसो व चिक्कणो सव्वरोमक्खेसु ॥

जायंति ज्वलिवक्खा छप्पादियाओ य सेदेण ॥ १०४२ ॥

चिदणो रोमक्खेपु स्वेदः सर्वेषु सर्वतः ॥

यूकाः पट्पदिका लिखा जायंते सर्वदा ततः ॥ १०७० ॥

चित्रयोक्ता—सेदो जगिद देवो जायंते । सिलेसो व चिक्कणो चर्मकारस्तेष्ववचिवक्कणः । सव्वलोमक्खेसु सर्वलोमक्खेपु जायंति जायंते । जूका यूकाः । लिपक्खा लिखाश्च । छप्पादियाओ य चर्मयूकाश्च । सेदेण हेतुना सेदेन हेतुना । पत्तायता प्रयत्नेन शरीराययथा व्याख्याताः ॥

एवं वेदस्याप्यवधानप्रबंधेन व्याख्यायेदानीं तन्निर्गमन्याख्यानाय गाथाचतुष्टयमाह—

मूछटा—लेलो इति—दृढरस्ये मेहनयोनिगुदयोः ।

मूलाया—सेदो इति । सेदो प्रवेदः । जादि प्रादुर्भवति । सिलेसो वा यज्जलेप इव । सेज्जेव वा । छप्प-

विआओ पट्पदिकाश्चर्मयूकाः ॥

अर्थ—नाकका मल, यूक, पित्त, कफ, वमन, बिन्दाका मल, दन्तमल और लाला ये मल मुखमें उत्पन्न होते हैं, मूत्र, विष्ठा और वीर्य ये उदर में होते हैं.

अर्थ—शरीरकं संपूर्ण रोमत्र्यंसे चम्हारके यहाँके सचिक्कण पदार्थ के समान स्वेद निकलता है. इस स्वेदसे यूका, लिखा तथा चर्मयूका उत्पन्न होती हैं. यहाँतक शरीरके अवयवोंका वर्णन किया है.

विगमसणे । निर्गमनव्याख्यानायाच्छे—

विष्ठापुण्णो मिण्णो व घडो कुण्णिमं समंतदो मलइ ॥

पूर्दिमालो किमिणोव वणो पूर्दिं च वादि सदा ॥ १०४३ ॥

गात्रैर्युंचति चर्वासि चियहो निविलैरपि ॥

गुधण्णो घटो गथं छिद्रित्तो विचैरिच ॥ १०७१ ॥

सुखैरवगचैः स्त्रोणां निचितैर्वीचैर्मलैः ॥
 सारासारप्रदृष्टानां मानसं न्दिहते कथम् ॥ १०७२ ॥
 लज्जनीयेऽतिचीभत्से मूढधी रमते कथम् ॥
 योगीं क्षिणे स्वच्छक्ते निच्ये कृमिरिव व्रणे ॥ १०७३ ॥
 अंगारस्येव कायस्य बहिरंतश्च हृदयेते ॥
 वैकोप्यवयवः शुद्ध सर्वथा मालिनात्मनः ॥ १०७४ ॥
 इति निर्गमः ।

मित्रयोदया—विष्णुपुण्यो विष्टामिः पूर्णः । मिणो व एको मिषपट इव । कुण्डलं कुण्डितं । समंतदो समंतात् ।
 गच्छति स्फुरति । ईगलोब्धयो मलत्पूति निचिदात्मिगणयन् । पूति च यदि सदा दुरभियाति सदा । निगमणे सम्पत् ॥

एवं प्रत्यंगमलसावित्यमाख्याय देहस्य सापत्त्वेन दुर्गघोरावित्तं बतह—

मूलारा—विष्णुपुण्यो इति-गच्छति स्वयति देहः । पूर्वगच्छो दुर्गघोद्वारी । कियिणो क्रियिनिचिवः । यदि शुचति
 देहः । एता माया केचिदुत्तरं पठन्ति । निर्गमः ॥

अर्थ—विष्टामे पूण घटा जैसा चारो तरफसे दुर्गघको स्रवता है. अथवा क्रिमिओंसे भरा हुआ व्रण
 सडकर जैसा गलने लगता है वैसा हम देहसे भी हमेशा दुर्गघ मलमूत्रादिक पदार्थोंका साव होता रहता है.

ईगलो घोंवते ण सुब्बदि जह महापयत्तेण ॥
 सव्वोहिं समुद्देहिभिं सुब्बदि देहो ण धुब्बंतो ॥ १०८४ ॥
 सिण्हाणुब्बंगुब्बट्टणेहिं मुहदंतअच्छिधुवणेहिं ॥
 णिच्चंणि धोवमाणो वादि सदा पूदिंयं देहो ॥ १०८५ ॥
 कापो जलैः पयोधीर्ना धान्यमानोऽम्बिलैरपि ॥
 स्वभावमलिनो जातु मंगार इव शुच्यति ॥ १०८५ ॥

अभ्यंगोद्धर्तनस्नानमुखदंताक्षिधावनैः ॥

मुथद्विगोच्यमानोऽपि दुर्गंधं वाति विग्रहः ॥ १०७६ ॥

विजयोदया—सिंहद्वारभंगमुखदृष्टेहि य स्नानेन, अभ्यंगेन, उद्धर्तनेन । मुखदंतच्छिद्युवर्णेहि मुखस्य दंता-
नालङ्गोच्च प्रशास्त्रेन । निरञ्चपि शुल्यमाणो नित्यमपि क्रियमाणशौचः । चाति सवा पृथिगं देहो । दुरभिगंधतां न
सजति देहः ॥

एवं निर्गमं न्याख्याय देहवच्छुचित्वं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मलार-ईगालो इति-ईगालो अंगारः । धोव्यंतो धान्यमानः, शोध्यमानः ॥

सिंहद्वारेति—सिंहद्वारभंगमुखदृष्टेहि स्नाताभ्यंगोद्धर्तनैः । युवणेहि प्रक्षालनैः । पृथिगं दुरभिगंधं ॥

अर्थ—जैसे फोला प्रयत्नपूर्वक धोनेपर भी स्वच्छ अर्थात् मफेत रंगका नहीं होता है वह फाला ही
रहता है. वैसे यह देह संपूर्ण समुद्रके पानीसे धो डालने पर भी स्वच्छ-पवित्र नहीं होता है. अपवित्र ही रहता है.
इस शरीरको स्नान, अभ्यंग स्नान, उद्धर्तन भी स्वच्छ नहीं करा सकते हैं. छंद, दांत और आँखें बार बार धोने पर
भी अच्छे ही बने रहते हैं. यह देह हमेशा दुर्गंधताको बाहर छोड़ता ही रहता है.

पाहाणघादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलोहि ॥

मुहकेसवासतंवल्लगंधमल्लोहि धूर्वेहि ॥ १०७६ ॥

मृत्तिकांजनपाषाणघातुत्वत्सूलवल्लिभिः ॥

केशास्थवास्तर्बूलधूपपुष्पधलाविभिः ॥ १०७७ ॥

विजयोदया—पाहाणघादुअंजणपुढवितयाछल्लिवल्लिमूलोहि । पाषाणशोदेन रत्नान्युच्यन्ते । घातुजंलं । अंजणं
अंजनं सौवीरं च । पुडयी मृत्तिका । तथा त्वत् । मुखवालः । मुखं धाल्यते मुखं गंधतां नीयते येनास्तौ मुखधातः । केशाः
सुरभितां नीयंते येनास्तौ केशवान्, पतैः पाषाणादिभिः ॥

यथेवं अत्यंतप्रतिविधेयदीर्घाभ्यः कायस्त्वत्तवं छोकै सेव्यते इत्यत्र गाथाद्वयमाह—

मूलारा—पासाणे इति-पासाण रत्नानि । घादु हेमादिकं जडं वा । अंजण सौवीरकज्जलादि । पुढवि रट्टि-
पादि । तथा मध्यत्वक् । छल्लि बाह्यत्वक् । मुहकेसवासा वास्यंते सुरभीन्निजंते मुखं केशाश्च येनास्तौ । गंधं कस्तूरि-
कादि । महं पुष्पमाला ।

अर्थ—यापण शुद्धते रत्न यह अर्थ लेना चाहिये. धातुका अर्थ जल ऐसा होता है. अथवा सुवर्णादिक-
को पातु रहते हैं. अंजन, मृत्तिका स्त्रया, मूल सुगन्धित करने वाले पदार्थ, फेड़को सुगन्धित करने वाले पदार्थ,
अर्पति रत्न, गुणार्णोदि पातु, अंजन, मृत्तिका, वनस्पतिबोकी छाल, मूल और फेड़ोंको सुगन्धित करनेवाले पदार्थ,
वांछ, सुपमात्ता, इत, इन पदार्थोंसे—

अभिभूदुत्विगंधं परिभुज्जदि मोहिषुहिं परदेहं ॥

परिभुज्जदि पूइयमं संजुत्तं जह कडुगमंडेण ॥ १०४७ ॥

प्रच्छाया निवित्तं गंधं सुजयतेऽन्यफलेचरम् ॥

हिंयादिभिरिय द्रव्यैः विधितं विघृणात्मभिः ॥ १०४८ ॥

विजयोदया—अभिभूदुत्विगंधो निरुक्तायुभगंधः । पर्येह संजुत्तं परस्य वेहः संयुक्तः । मोहिषेहिं मूढैः । परि-
गुण्ये । परिभुज्जदि पूरणं मोक्षं यथा युक्तं संसृजते । कडुगमंडेण मरिचेदिन्यादिभिश्च ॥

मूलरा—अभिभूयेति—अभिभूय निरस्य । दुत्विगंधं दुस्तत्परिकुण्ठगंधं । उपलभ्यादौभस्तत्भावं च । रमणीय-
तामसाभेनैतर्गः । अभिभूदुत्विगंधो इति या पाठः । कडुगमंडेहि मरिचद्विक्वादिभिः । अद्भुत्तित्वं ॥

अर्थ—इन पदार्थोंने विपक्वा दूर्गंध दूर किया है ऐसा परकीय देह मोहित लोगोंके द्वारा भोगा जाता है.
जैसा अपमित्र, दुर्गंध मांसको हिंग, जीरा, भिरच वगैरे पदार्थोंसे छोक देकर जैसे मांसखुष्य लोक खाते हैं
वैसे परकीय देहका कामी लोक उपभोग लेते हैं.

अब्भंगादीहिं विणा सभावदो चेव जदि सरिरमिमं ॥

सोमेज्ज मोरदेहुव्व होज्ज तो णाम से सोभा ॥ १०४८ ॥

मयूरेददव्वेहो ययभासयविसर्गतः ॥

अभविट्ठत्तया सोभा तस्मिन्नीयणतेपिणी ॥ १०४९ ॥

विजयोदया—अब्भंगादीहिं विण्य सुगंधतेनैव प्रक्षयं, उद्धर्तनं, यामालेयनमित्यादिभिर्मयिना । सभावदो चेव

यदि सोपेन्द्र हमें शरीरें सभागत पत्र यदि शोभित एवं शरीरं । मोरदेहव मयूदेहवत । होज तो नाम से सोभा भवेत्त स्फुटं देहस्य शोभा ॥

एवमशुचित्वं प्रपंच्य देहस्यसारताम्रशुण्यं माथचतुष्टययाच्ये—

मलारा—अन्धेगादीहिं प्रवि—दमं मातुषं । जान स्फुटं ॥

अर्थ—सुगंध तेल लगाकर स्नान करना, उबटन लगाना, स्नान करना, छेप करना इत्यादिकाफी अपेक्षा के बिनाही मयूर देहके समान यह देह स्वभावतः सुंदर होता तो ही मनुष्यदेह सुंदर है ऐसा कह सकते. परंतु बाह्य पदार्थोंके बिना सुंदरता आती नहीं है.

जदि दा विहिंसदि णरो आलहुं पडिदमपणो खेलं ॥

कथ दा निविबेज्ज बुघो महिलामुहजायकुणिमज्जलं ॥ १०४९ ॥

आत्मनः पत्नितो खेलो यदि स्प्रष्टं घृणायते ॥

तवा रामामुखांभो हि पीयते कुपितं कथम् ॥ १०८० ॥

विजयोदया—जदि दा विहिलदि णरो आलहुं पडिदमपणो खेलं यदि तावन्नरो बुगुप्सते स्मन्दुसारसनोऽपि कासं । कथदा निविबेज्ज बुघो कथमिदानीं विवेदुः । महिलामुहजनिदकुणिमज्जलं सुवतिसुखत्तमुद्वममुक्खिजलं ॥

मूलार्थ—नदिवा इति—वार्णि इदानीं । विवेच्य विवेत । कुणिमज्जलं अशुच्येभः । ललाबिलार्यः ॥

अर्थ—मनुष्य यदि अपने भी धृक्को स्पर्श करनेमें ग्लानि उत्पन्न करता है अर्थात् अपना धूक, फफू और वही वद हाथसे स्पर्श करना भी चाहता नहीं तो वह शुद्धिमान मनुष्य स्त्रीके मुहमें उत्पन्न हुआ अपवित्र जल कैसे पीता है. कुछ माहुर भर्ती पडवा ?

अतो वहिं व मज्जे व कोइ सारो सररीरगो णत्थि ॥

पुंरंडगो च देहो णिसारो सव्वहिं चेव ॥ १०५० ॥

वीक्ष्यमाणे मनुष्याणां चहिरंतश्च वीक्ष्यते ॥

पुंरंडवंदवदेहो न सारोऽत्र कदाचन ॥ १०८१ ॥

विजयोद्या—अंतो बहिः य मन्वे अंतर्वर्तिभ्ये । को वि सारो सरीस्रो पतिय । शरीरेऽङ्गे सारभूतं न
किप्तिवस्ति । परंढको वा निरसारो सन्वाहिं च य साररहितः सर्वत्रैव ॥

मूलाय—अंतो बहिः च इति—मन्वे अंतराले । सारो सेव्यं रूपं । सन्वाहि सर्वत्र ।

अर्थ—अंतर्धे, बाहर और मध्यमें भी इस देहमें कुछ भी सार वस्तु नहीं मिलेगी जैसे एरंडकी लकड़ी सर्व
तरहमें साहीन होती है वैसे इस देहमें सारका नाम भी नहीं मिलेगा ।

चमरीवालं खगिवसाणं गयदंतसप्पमणिगादी ॥

दिदो सारो ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि ॥ १०५१ ॥

चमरीणां कचं क्षीरं गवां शृङ्गाणि स्वङ्किनां ॥

सुजंगानां मणिः विक्कं बहिणां करिणां रदः ॥ १०८२ ॥

प्रिजयोद्या—चमरीवालं चमरीरोमाणि । खगिवसाणं चक्षिनां शृङ्गाणां शिपणं । गवानां दंताः । सर्पाणां
रत्नाविकं च । इह सारभूतं । ण य अत्थि कोइ सारो मणुस्सदेहम्मि नास्ति किञ्चित्सारं मणुष्यदेहे ॥

छगलं मुचं दुक्कं गोणीए रोयणा य गोणस्स ॥

सुब्बिया दिद्व ण य अत्थि किञ्चि सुच्चि मणुयवेहस्स ॥ १०५२ ॥

कस्तुरिका कुंरगणागमिथं सारो विलोक्यते ॥

क्षरीरे न पुनर्नूणां कोऽपि कापि कदाचन ॥ १०८३ ॥

विजयोद्या—असुर ॥

मूलाय—चमरी इति—चमरीवाला अरण्यगर्भीपुच्छदेशः । खगिवसाणं गंडकद्वयं । मणिगादी आदिशब्देन
मणुष्यदेहमवस्थूरिकादिकं । यज संछत्तीकाकारः कण्डेसु कण्ठगूढो इत्यादिगाथात्रयं पूर्वसूत्रे पठित्वा ‘विद्वपुणो
इत्यादि गाथानवकं निर्गमन्याख्यामवधार्यतु । आमुचीति च बीजादिभिरष्टाभिरपि समवधानात् । एवं च सति द्वादशसूत्री
तेन नेष्टा शक्यते । अरमाभित्तु ग्राह्यतीक्ष्णरातादिमतेनैव व्याख्यायते । अन्ये तत्सारत्वमेक्षणमात्रौचान्तर्गमयन्ति ॥
तथा च उत्पठः—क्षेयानि बीजनिष्पक्षेनांधोऽजन्मवृद्धिभिः ।

अर्थ—चमरी नामक गौके केत, गंडेका साँव, हाथीके दाँत, सर्पके मस्तकका माणि आदि शब्दसे मोरका पंख, कस्तुरी वगैरह पदार्थोंसे सार अर्थात् उत्कृष्टता—पवित्रता देखी गई है परंतु इस मनुष्यदेहमें सार नहीं दीखता है।

अर्थ—वकरोका मूत, गायका दूध और गाय और बैलकी गोरोचना ये पदार्थ मवित्र है। परंतु मनुष्य देहमें कुछनी पवित्र चीज अवलोकनेमें नहीं आवेगी। अशुचि प्रकरण समाप्त हुआ।

व्याधि इत्येतद्व्याचष्टे प्रबंधेनोत्तरेण—

वाइयवित्तियसिभियरोगा तण्हां छुहा समादी य ॥

णिच्चं तवंति वेहं अहहिइजलं'व जह अग्गी ॥ १०५३ ॥

कुथितसन्नानि पा कुथितैःकृते कुमिकुलैर्विविधैरभितो भृते ॥

एगचि मृणां सफलाशुचिमंविरे भवति किंचन नाम्न कलेवरे ॥ १०८४ ॥

इति अष्टौषं ।

विजयोदया—वातवयवित्तियसिभियरोगा दोषप्रथममवा व्याधयः । तण्णासुधाधम इत्यादयश्च । वेहं नित्यं तपंति ज्वलितोऽग्निर्जलमिव बुल्लुसुपरिस्थितभाजनगतं ॥

देहव्याधिरूपणार्थं गान्धात्रयमाह—

मूलारा—वादिय इति—वादिय वित्तिय वातादिभिः प्रयङ् मिधैः समस्तेष्व जनिता ज्वरादयो व्याधयः । समादीय समादयश्च । तवंति तपन्ति । अहहिइजलं बुल्लुसुपरिस्थितभाजनगतं तोयं ॥

अर्थ—वातजन्य रोग, पित्तके रोग और कफसे होनेवाले रोग, व्यास भूक, और श्रम इत्यादिकोसे अग्निके द्वारा बैसा जल तप जाता है वैसे यह देह संतप्त होता है।

अदि रोगा एकस्मि चैव अच्छिस्मि होति छण्णउदी ॥

सन्वस्मि दाइं देहे होदक्वं कदिहिं रोगेहिं ॥ १०५४ ॥

यदि पण्यवति रोगाः संभवन्ति चिलोचने ॥

क्रियन्तस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेचरे ॥ १०८५ ॥

कोट्याः पंचाष्टपटीख लब्धाः सह सहस्रकैः ॥

नयमिर्नवन्तिः पंचशत्याङ्गीतिश्रुतुता ॥ १०८६ ॥

विजयोदया—अदि रोगा एकस्मि जेय अङ्गिस्मा यदि ताणद्वीगा एकास्मिजेय तेजे पण्यवतिसंख्या भवन्ति । सग्यमिग दागं देहे सयस्ते इदानीं नारीरे । होत्तव्य कन्तिहि रोगेहि । कन्तिमिक्यापिभिर्नयितव्यम् ॥ वाचिगइं ॥

मूलरा—अदि दाह इति-उज्जडरी पण्यवतिः । दाहं इवानी ।

कवेय य कोडीओ भवति तद् अद्भुतद्विलम्बादं ॥

नय नवदि न सहरता पंचसरा होति पुलसीदी ॥

अर्थ—यदि एक आलौं रोग छानने उत्पन्न होले हैं तो सम्पूर्ण देहमें कितने व्याधि होमे. अर्थात् तरुणं देहमें असंख्यात होमे. व्याधिका प्रकरण समाप्त.

अधुपतामुत्तरया पापका ध्याकटे—

पीणत्थर्णिदुवदणा जा पुल्लं णयणदइदिया आसे ॥

मा चेव होदि संकुडिद्वंगी विरसा य परिलुण्णा ॥ १०८५ ॥

पीनस्तनीन्दुवणा या तारुण्ये हरते यतः ॥

अमिथा जायते जीर्णा संक्षुयष्टिरिवारसा ॥ १०८७ ॥

विजयोदया—पीणत्थर्णिदुवदणा पीनस्तनभासांतपूर्णवद्रानना । आ पुल्लं या पूर्व । णयणदइदिया मयम् भवता जाता । सा चेय होदि संकुडिद्वंगी सेव प्रवति संकुटितवत्तु । विरसा कातरस्सद्विदा । परिलुण्णा परितरे, जीर्णा अराकुटीय ॥

अधुपत्तवत्तापनार्थ गाथाः पंचदश आह—

मूलरा—पीणत्थर्णेति-पीणत्थणययणंगी पीनस्तनभागासंपूर्णवद्रानना । णयणदइदिया नेत्रमिया । आसी जाता ।

विरसा पागस्सद्विदा ।

अर्थ—जिसके स्तन पृष्ठ थे और मुखचंद्रके साथ स्पष्टों करता था, जो पूर्वमें नेत्रांको अतिशय आनंद दायिनी थी, वही स्त्री संकुचित शरीरवाली अर्थात् मसीहिन, और लीर्ण झोपट्टीके समान चारों तरफसे लीर्ण होती है-

जा सख्यसुंदरंगी सखिलासा पढमजोन्वणे कंता ॥

सा चेव मदा संती होदि हु विरसा य बीमन्ळा ॥ १०५६ ॥

या चौवने मिया कांता सर्वावयवसुंदरी ॥

दुंगंया कुथिता सास्सि बीमत्सा विरसा सुता ॥ १०८८ ॥

त्रिजयोदया—जा सख्यसुंदरंगी परया. सखोंनि अंगानि सुंदरानि । सखिलासा खिलाससहित । पढमजोव्दया मथमजोयमा । कता कांता । लावेव मदा संती सेव सुता सती । होदि हु विरसा मवति विरसा । बीमन्ळा जुगुप्सनीया ॥ मूढारा—जा सखैलि—मूढा सती सुता सती । बीमन्ळा जुगुप्सनीया ।

अर्थ—जिमके सर्ग अययव सुंदर, विलाससहित, और मथम तारुण्यसे युक्त थे वही स्त्री मरनेपर विरस और ग्लानि करने योग्य होती है. अर्थात् शरीरकी सुंदरता इतना बगैरे गुण अस्थिर हैं ऐसा इन दो गाथाओंसे आचार्यने दिखाया है.

शरीरस्त्वशे ध्रुवता व्याख्याता गाथाद्वयेन । इत्यतो. संयोगस्याध्रुवता व्याचष्टे—

मरदि सयं वा पुण्वं सा वा पुण्वं मदिज्ज से कंता ॥

जीवत्तस्स व सा जीवती हरिज्ज चलिपुहिं ॥ १०५७ ॥

अत्रियते बल्लया पूर्वं स्वयं वा त्रियते पुरा ॥

जीवंती जीवतो वान्येन्दिहयते वलिभिर्विलात् ॥ १०८९ ॥

त्रिजयोदया—मरदि सयं वा पुण्वं अत्रियते स्वयं वा पूर्वं पुनत् । सा वा पुण्वं अत्रियेत । से तस्य पुनः कान्ता । जीवत्तस्स जीवतो वा सा जीवन्ती चिह्यते वलिगहिं वलिभिरपरैः । इत्थं संयोगस्य बहुधाऽनित्यता ॥

नं नरीत्नं पद्मवत् स्थावराय दंपत्योः संयोगाशुवत् न्याचष्टे—

मृला—मरुति इति—अरुति सर्वं क्रियते स्वयं पुत्रान् ।

अयं—यति, पत्नीकं प्रथम आयु नष्ट होनेसे मरता है अथवा उसकी स्त्री मर जाती है. अथवा पति जीवा रहतेहि बलवान लोग स्त्रीको हरण कर ले जाते हैं.

सा वा हवे विरत्ता मोहत्या अण्णेण सह पलायुज्ज ॥

अपलाययंती च तगी करिज्ज से वेयणस्सणि ॥ १०५८ ॥

विरज्यते स्वयं तस्याः सा वा तस्य विरज्यते ॥

परेण वा समायाति तिष्ठन्ती वा चिरुप्यते ॥ १०९० ॥

विगलौषा—सा वा होज विरत्ता सा भवेद्विरक्ता पुण्ये तणानि तयोः संगतिः । महिला अण्णेण वा सह पलायुज्ज सा विरत्ता पुणितिरयेन ॥ सह पलायनं कुर्यान् । भगतायन्ती अपलायमावा या । तगी सर । करेज्ज से वेयणस्सणि कुणितिरयेन ॥

मृला—सा वा इति—यत्नमज्ज गच्छेन् । तगी सा । वेयणस्सणि चित्तदुक्खाति ॥

अयं—अथवा वह स्त्री अपने पतिसे असंतुष्ट होकर अन्य पुरुषसे साथ भाग जायगी, अथवा विरक्त होकर वे दोनों एक साथ रहेंगे तथापि वह स्त्री पतिके मन को दुःख देती रहेगी. अर्थात् प्रतिकूल विचार, आचार और भाषण से वह पतिको दुःख देनेवाली होगी.

शरीरसामुपसामावष्टे—

रूपाणि कटुकभादियाणि चिद्वन्ति सारवेत्तस्स ॥

घणिद्वं पि सारवेत्तस्स ठादि ण चिरं सरिरमिदं ॥ १०५९ ॥

चिरं तिष्ठति संस्कारे काष्ठयावादिरूपकम् ॥

कठवरं मनुष्याणां न संस्कारे महत्यापि ॥ १०९१ ॥

विजयोद्या—रूपाणि कटुकममादियाणि काष्ठे उत्कीर्णानि रूपाणि स्त्रीणां पुंलां अन्येषां ॥ आदिशब्देन शिला-
वृत्तादिपरिमहचिह्नं चिह्नं सार्वेयस्स चिह्नं तिष्ठति संस्कुरुतः । धोनेदं पि सार्वेयस्स नितयामपि संस्कुरुतः । छादि ण
चिह्नं शरीरमिमे न तिष्ठति चिह्नं शरीरमिदं ॥

देहाणुवत्वमाह—

मूलाय—रूपाहं इति—सार्वेयस्स संस्कुरुतः ।

शरीरकी अनित्यताका विवेचन—

अर्थ—लकड़ी, पत्थर, हस्तिदंत इत्यादिकोसे बनाये हुए स्त्रीपुरुषोंके चित्र और अन्य प्राणिओंके
चित्र संस्कार करनेसे बहुत काल तक रहते हैं परंतु इस देहपर व्यायाम, अन्नादिकोंके द्वारा कितना भी संस्कार
करो चिरकालतक ठहरता नहीं।

न केवलं शरीरेष्वपि अनित्यमपि त्वन्यदपि इति व्याचष्टे—

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलधुनुदो व मणुगाणं ॥

इंदियजोव्वणमदिरुवतेयवलवीरियमणिच्चं ॥ १०६० ॥

मौषनेंद्रियलावण्यतेजोरूपपलादयः ॥

गुणाः क्षणेन नश्यन्ति शारदा इव नीरदाः ॥ १०९२ ॥

विजयोद्या—मेघहिमफेणउक्कासंझाजलधुनुदोव मेषवस्त्रिमवस्त्रेष्वनुस्कायस्सभावज्जलधुनुदयस्व । मणुगाणं
मनुजानां । इंदियजोव्वणमदिरुवतेजोरूपपलादयस्सं । इंद्रियाणि, मौषने, मतिः, रूपं, तेजो, बलं, वीर्यं, चानित्यं ॥

न परं शरीरमेवानित्यं अपि तु अपरमपीत्याह—

मूलाय—मेघहि—स्पष्टम् ।

अर्थ—मेघ, वर्षा, पानीका फेन, उल्का, संध्याकाल और पानीका बबुला इन के समान मनुष्योंकी
इंद्रियां, तारुण्य, बुद्धि, रूप, तेज, बल, वीर्य ये भी अनित्य हैं। जब मनुष्यमरण हो जानित्य है तो उस पर्या-
यमें प्राप्त होनेवाली उपयुक्त चीजें किसी स्थिर हो सकती हैं।

इदिति शरीरसंप्रदायते इत्याख्यानकं दर्शयति—

साधुं पडिलाहेतुं गदरस सुरयस्स अग्गमाहिसीए ॥

णठे सदीए अंगे कोढेण जहा महुचेण ॥ १०६१ ॥

गतस्साहारदानार्थं सुरतस्य तपस्विनः ॥

भूषणात् किं महत्वेन्या नष्टः कुष्ठेन विग्रहः ॥ १०६२ ॥

विजयोद्या—साधुं पडिलाहेतुं गदस्सा साधोपाहावदानार्थं मतस्य । सुरयस्स सुरतनीमधेयस्य राज्ञः । अग्न-
महिषीए भग्नमहिष्याः सदीए सत्याः शोभनायाः । अंगं षष्ठं शरीरं नष्टं । कोढेण कुष्ठेन । जहा मुहुत्वेण यथा मुहूर्तेन ॥

इदिति शरीरसंप्रदायवर्तते इत्याख्यानकेन दर्शयति—

मूढारा—साधुं इति—साधुं पडिआहेतुं संघमिन्नं भोजयितुं । सुरयस्स सुरतनाम्नो राज्ञः । अग्नमहिषीए पट्ट-
महावेन्याः । सदीए शोभनायाः ।

अर्थ—सुरत राजाकी पट्टरानी बहुत ही सुंदर थी. एक समयमें राजा मुनीश्वरको आहार देनेके लिये गया था उस समय इसर रानीका शरीर अंतर्मुहूर्तेमें कीट रोगसे व्याप्त होगया. अभिप्राय यह है कि, जो रानीका शरीर अन्तर्मुहूर्तके पूर्वमें यहा ही सुंदर और राजाको अत्यंत प्रिय था वही अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर ही अत्यन्त निरूप हो गया. अतः शरीर परिवर्तनशील है यह बात इस उदाहरणसे स्पष्ट होती है.

वज्जो य णिज्जमाणो जह पियइ सुर च खादि तंवोले ॥

कालेण य णिज्जंता विसए सेवंति तह मूढा ॥ १०६२ ॥

इंतुमग्रे कुतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ॥

सेयते विपयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ॥ १०६३ ॥

विजयोद्या—वज्जो य णिज्जमाणो इतुं नीयमानः । जह पियइ यथा सुरं पिबति । खादि तंवोले तांवूले
भक्षयति । तथा कालेण य णिज्जंता मृत्युना नीयमाना मूढाः । विसए सेवंति विषयाननुभवन्ति ॥

मूढारा—वज्जो इति—वोयांप्रत्ययेन वधार्हः पुमान् । णिज्जमाणो इतुं नीयमानः यपेवेन । कालेण परिवर्तते
मृत्युना नीयमानः ।

उक्तं च—इंदुममे कृतो मही दुर्निवारेण मनुना ।

सेवते विपयं वध्यः गगनेन सुरादिकं ॥

अर्थ—यद्य करनेके लिये जिसको ले जा रहे हैं ऐसा कोई मूढ मनुष्य जैसे मदिरा पीकर तांबूल भक्षण करता है वैसे कालके द्वारा मारने के लिये ले जानेवाले मनुष्य भी मूढ हो कर विपयोंका सेवन करते हैं.

वग्धवरदो लगगो मूले य जहा ससप्यविलपडिदो ॥

पडिदमधुविंदुभक्खणरविओ मूलम्मि छिज्जंते ॥ १०६३ ॥

इयाग्गेणारे कृतो हंतुं विले साज्जगरे गलः ॥

छिदरमाने इहं लग्गो मूले चिविचमूविकैः ॥ १०९५ ॥

अपदयन्नयतो मृत्युं यथा कञ्चन मूढधीः ॥

पतन्मधुकणारस्थावे विवत्ते परमां रत्तिम् ॥ १०९६ ॥

विजयोद्या—वग्धवरदो—व्यधिगाभिद्रुतः । लग्गो लग्नः । मूलम्मि लतायाः मूले ससर्पवति पिलेपतितः । पडिदमधुविंदुमन्मजरविगो स लक्ष्मणस्थानवतितमधुगिद्धात्सादनरतिकः । मूलम्मि छिज्जंते । मूले छिद्यमाने मूषिका-मिर्वथा ॥

दृष्टांतोपन्यासपुरःसरं विषयविनश्चत्वं गाथाद्वयेण भावयानि-

मूलारा—वग्धेति—वग्धवरदो व्याघ्रेण प्रारब्धोऽभिद्रुतो इंदुममे कृत इति यावत् । मूलम्मि ससर्पकूपभित्तिदृष्टप्रकृ-
बवत्तीयुष्मे । पडिदमधुविंदुमन्मजरविओ कथमपि मृतपतितमाक्षिकलवात्सादनप्रीतिकः । छिज्जंते छिद्यमाने मूषिकैः ।

अर्थ—मारनेके लिये जिसके पीछे व्याघ्र लगा है, ऐसा कोई पथिक, जिसमें सर्प हैं ऐसे कूयकी रतिके तटपर लगी हुई बेलीके बुधाको पकड़कर लटकने लगा. उस समय मूषके छत्तेसे मधुविंदु उसके ओष्ठके अग्रभागपर गिरने लगे तब वह व्याघ्र का दुःख भूल कर मधुविंदुसे उत्पन्न होनेवाले स्वादमैही आसक्त हो गया. परंतु वह इस बेलीका मूल चूहोंके द्वारा काटा जा रहा है और मैं उसके काटेनपर कुण्ठेमें पड़ूँगा यह सब सोचें वह पथिक जैसे भूल गया वैसेही संसारी मनुष्य की हालत है.

तद् नैव मञ्जुवधपरद्वौ बहुदुःखसप्पबहुलमि ॥
 संसारविले पडिदो आसामूलमि संलग्गो ॥ १०६४ ॥
 यत्तुत्तुपात्रेक्षितो दुःखसर्पे जन्माविले गतः ॥
 ल्हयमानस्तथा मूढो बहुभविन्नमूपकैः ॥ १०९७ ॥

विजयोद्या—यद् चेत्त तथैव । मञ्जुवधपरद्वौ यत्तुत्तुपात्रेणाभिद्रुतः । संसारविले पडिदो संसार एव विलः
 तस्मिन्वर्तितः । कीटपभूते बहुदुःखसर्पाकुले आशामूले । संलग्गो सम्यग्लग्नः ॥

मूढारा—बभूवेति-आसामूलमि आशा विषयाकांक्षा मूलमिवाखंवनभूतत्वात् ।

इसीका आगेके दो गाथाओं से वर्णन करते हैं—

अर्थ—इस मनुष्यके पीछे मृत्युरूपी व्याघ्र लगा है, यह मनुष्य अनेक दुःख रूपी सर्प जिसमें निवास
 करते हैं ऐसे संसाररूपी विलमें गिरा है, परंतु इसने आशारूपी बेली की जड़ शायंसे पकड़ रक्खी है,

यद्विग्वमसूतएहिं आशामूलमि तम्मि छिज्जंते ॥
 लेह्वि विभयविलज्जो अप्पसुहं विसयमधुविंदु ॥ १०६५ ॥
 आशामूले इहं लग्नो विषयास्वादने रत्तिम् ॥
 महतीं कुरुते नाशमपदयस्समतः स्थितः ॥ १०९८ ॥

इति अष्टौव्यम् ॥

विजयोद्या—यद्विग्वमसूतएहिं य यद्विमिधिमूपकैः । आशामूलमि तम्मि छिज्जंते । आशालये मूढे
 तस्मिन्निच्छन्नमने । लेह्वि खादति । विभयविलज्जो निर्मको निहंलज्जश्च । अप्पसुहं विसयमधुविंदु । अल्पसुखे विषयमधु-
 पुद्रलसंघत्वा यत्तमानाः कतिपयाः पदया अतिस्वल्पास्त एव मधुविंदवः ॥ अधुवत्तं ॥

मूढारा—यद्विग्वेति-विसयमधुविंदु विषयव्यासुरादिना मूलमाणो स्वाद्यार्थो मधियन् स्वल्पसुखनिमित्तत्वात् ।
 तस्य विद्रुतल्लयभग्न्यमानपुरोऽनस्थितपुद्गलविवर्तिपर्यावः । तथा पाशोचाम सिद्धयंके-

सुधारणं सर्वन्त्यभिमुखहृषीकण्णयिनः ॥

क्षुणं ये तेऽप्यूर्ध्वं विपसपचर्द्व्यंग विपयाः ॥

त एवाविर्भूय प्रतिचितपनायाः सखु विरो-

मबन्त्येधास्तोऽप्यहह किमु कर्पन्ति विपदः ॥

अर्थ--आखारूपी वेलीकी जह नाना विभरूपी चूहोंके द्वारा काटी जा रही है इस बातको बह जानता ही नहीं। परंतु विपयसुखरूपी अल्प मधुके कणका आस्वादन करनेमें ही वह लबलीन होरहा है, नंत वगैरह इंद्रियोके द्वारा जिनका ग्रहण होता है ऐसे रूप, रस, गंध स्पर्शादिकोंको विपय कहते हैं। ये विपय मधुके समान अल्प सुख उत्पन्न करनेमें निमित्त हैं। अतः इनको मधु कहते हैं। इनका बिंदु अर्थात् इन रूपादि पदार्थोंके जो थोड़ेसे पुद्गलरूप मोगनेमें आते हैं उसको बिंदु कहते हैं। इस प्रकार अधुवत्त्वका वर्णन हुआ।

घालो अमेक्षालितो अमेक्षामउक्षामि चेव जह रमदि ॥

तह रमदि णरो मूढो महिलामज्जे सयममेज्जो ॥ १०६६ ॥

रामावर्चोमध्यवर्ती मनुज्यः फ्रीडत्येपोऽमेध्यरूपः शिशुर्वो ॥

वर्चोलिप्तोऽमेध्यमध्यं प्रयुक्तो कीदक्सारं निवनीयस्वभावं ॥ १०६७ ॥

विजयोदया—याहो अमेक्षालितो शालोऽ अमेध्येन लिप्तः । अमेक्षामउक्षामि चेव अमेध्यगच्छे एव । जह रमदि यथा रमते प्रीतिमुपैति । तथा रमदि णरो मूढो तथा रमते मूढः । महिलामेज्जे योविदेव यदेकाक्षुक्षिणैशरीरतया अमेध्यराद्येनोच्यते । सयममेज्जो सयममेध्यमृतः ॥

सकलाभिमतैत्रियार्थनायके स्त्रीनाम्नि विपये यथावत्स्वरूपतुलादपरत्वेन जुगुप्सामुखावबन्बांगवचचंदंगान्मुसु लुपुपरमविभुं गायादयमाह—

मूलात् —वालो इति—रमदि प्रीतिमुपैति । महिलामेज्जे महिला अमेध्यभिव समस्वाक्षुक्षिणामास्वरीरत्वात् ॥

अर्थ—विपसे लिप्त हुआ वालक जैसे विष्णुमें ही क्रीडा करता है उसमें सुख मानता है। वैसे अनेक अपवित्र पदार्थ बिसके शरीरमें भरे हुये हैं ऐसी स्त्रीरूपी विष्णुमें यह कामी अपवित्र पुद्गल क्रीडा करता है,

कुणिमरसकुणिमगंधं सेविता महिलियाए कुणिमकुडी ॥

जं होति सोचइचा एदं हासावहा तेसिं ॥ १०६७ ॥

अमेध्यनिर्माणमेध्यपूर्णं निषेवमाणैर्वनिताशरीरम् ॥

धैर्मन्यते स्वं शुचिरस्तवोधैर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवंति ॥ ११०० ॥

विज्ञयोक्ष्मा—कुणिमरसकुणिमगंधं यद्युचिरस्तमशुचिगंधं । सेविता सेवयमानाः । महिलियाए महिलाया युनयाः । कुणिमकुडि यद्युचिराशरीरकुटि । जं होदि सोययंता । परं हासायदं एतच्छोचत्वं हास्यावहं । तेसिं तेरां ॥

मूमरा—दुर्मिलि—कुणिमकुडि अशुचिदशरीरकुडी । सोचइचा शौचे बिच येषां ते शौचविताः शुचित्वमनसः आत्मानं शुचि गनयमानाः । इत्यर्थः ।

अर्थ—जिमसे अशुचि रस पहला है, सिसका गंधमी अपवित्र है ऐसी स्त्रीरूपी श्लोषकी सेवन करनेवाले कामी पुरुष अपनेको पवित्र मानते हैं यह उनका विचार हास्यास्पद है.

एवं एदे अच्छे देहे चिंतितयस्स पुरिसस ॥

परदेहं परिभोत्तुं इच्छा कह होज्ज सधिणस्स ॥ १०६८ ॥

बीजावयो येन शरीरधर्माश्रिते क्रियन्ते पुषनिदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीय तेन ॥ ११०१ ॥

विज्ञयोक्ष्मा—एवं एदे अच्छे एवमेतान्तर्यामिन् । देहे शरीरधर्मार्थान् । चिंतितयस्स चिंतयतः । पुरिसस्स पुरुषस्य । परदेहं परस्पर शरीरं परिभोत्तुं परिभोक्तुं । इच्छा किह होज्ज इच्छा कथं भवेत् । सधिणस्स पूजायतः । उज्जावतः ॥

मुल्लटा—एदे बीजादीन । सधिणस्स लज्जावतः । उक्तं च—

बीजावयो येन स्त्रीरधर्माश्रिते चिंत्यते पुषनिदनीयाः ॥

निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनमेध्यकुटीय तेन ॥

अर्थ—इम प्रकार इग देहमें उत्पन्न होनेवाले अनेक निषयोक्ता जो पुरुष मनमें विचार करता है. उसको

परदेहका उपभोग लेते समय क्यों न लज्जा उत्पन्न होगी? अर्थात् ऐसे अविविध देहका उपभोग लेनेसे वह विचारी मनुष्य परावृत्त होगाही.

एवम् अत्ये समं दोसं विच्छिन्तओ णरो सघिणो ॥

ससं शीरे वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि ॥ १०६९ ॥

निरीक्षिते यो वपुषः स्वभावं यचोनियासस्य चिनश्चरस्य ॥

देहं स्वनीयेऽपि विरज्यतेऽसौ क्षोपास्पदायाः किञ्चु नांगनायाः ॥ १०७० ॥

इति अचौचम् ॥

विजयोदया—एवम् अत्ये समं दोसं विच्छिन्तओ णरो सघिणो । मय्ये निश्चयम् । मय्येति वि विरज्जइ किं पुण अण्णस्स देहम्मि । पुनरन्यशरीरे विरज्यतेऽपि शरीरे विरज्जति विरक्ततामुपैति । किं पुण अण्णस्स देहम्मि किं मूढाया—एवम् अत्ये इति—विच्छिन्तओ निरूपयम् । अभुषित्वं ॥ ६७ ॥

अर्थ—देहका बीज, निमित्त वगैरह प्रकरणोंका वर्णन किया गया है. इनके स्वरूपका इस देहमें जिसने मन्व्यग्रप्रसार ने विचार किया है वह पुरुष अपने शरीरसे ही विरक्त होगा किन् अन्यके देहके विषयमें उसको क्यों न नैराश उत्पन्न होगा? अशुचित्वम् वर्णन समाप्त.

बुद्धदेवानिकरणात् उनं नरंस्तस्मिन्नाया इत्यादिकः । शीलबुद्धता भवति न केवलम् यथा इत्याद्ये—

थेरा । तरुणा वा बुद्धा सीलैहिं होति बुद्धीहिं ॥

थेरा ॥ तरुणा वा तरुणा सीलैहिं तरुणेहिं ॥ १०७० ॥

बुद्धा नराः शीलैस्तस्मिन्नाया यतः ॥

जानेते तरुणा बुद्धास्ततः शीलं बुधैः स्तुतम् ॥ १०७३ ॥

विजयोदया—थेरा पा तरुणा वा स्वधिरास्तस्मिन्नाया । बुद्धा होति बुद्धा भवन्ति । सीलैहिं होति तरुणेहिं बुद्धेहिं शीलैः प्रशंस्यते । श्रमा, मार्दव्यं, क्रुद्धि, संतोष इत्यादिकं शीलबुद्धेर्गोचर्यते । थेरा वा तरुणा वा स्वधिरास्तस्मिन्नाया । तरुणा

एय । सीतेहिं तगणेहिं तरुकीः नीसैः । एतेन शीलवृद्धा इह वृद्धरोदेन युधीताः । एतेषां सेवा वृद्धसेवेति कथितं भवति ।
गृध्रगुणानां सेवतः स्वयमपि गुणोत्कृष्टगुण्यतीति मन्यन्ते ॥

एवं कामदोषक्षीदोषावृत्तिर्यानि प्रीणि क्षीयेराग्यनिमित्तानि ज्यालयाय सोप्तवं वृद्धसेवां पंचवस्त्रभिर्यथाभि-
ज्योषणालो वृद्धरूपनिरूपणार्थं गथाद्वयमाह—

मूत्रारा—थेरा येति—सीतेहिं क्षमादिभिः । जुष्टेहिं वृद्धिं भवैः । न वयसा वृद्धेन । तरुणेहिं काम्यादिभिः प्रा-
येण सारुण्येन सह वृत्तिर्यात्तेषां । यत्पठन्ति ओकाः—

अवश्यं यौवनस्येन क्षीयेनापि हि जंतुना ।

विकारः सल्लु कर्तव्यो नाविकाराय कौवनम् ॥

युग्मविद्धौ च वृद्धगुणदोषपुल्लसेयनाहुणदोषोत्कर्षौ ।

अथ वृद्धसेवाका वर्णनं विस्तारसे करते हैं—केवल वय अधिक होनेसे मनुष्य शीलवृद्ध होता नहीं
इसका वर्णन—

अर्थ—वृद्ध हो अथवा तरुण हो यदि उनका शील बढ गया हो अर्थात् क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच
बरीरह आत्मचर्म पढ गये तो उनको शीलवृद्ध कहना चाहिये और जिनके ये धर्म नहीं बढ पाये उनको चाहे वयसे
वृद्ध भी हो तो भी तरुण ही कहना चाहिये. अभिप्राय यह है कि शीलवृद्धोंको ही यहाँ वृद्ध कहना चाहिये और
उनकी सेवाकाही नाम वृद्धसेवा है. जिनके क्षमादिक गुण वृद्धिगत हुए हैं उनकी सेवा करनेसे अपने भी गुण
बढते हैं.

अपि वैद वत्पादीनामपि संसर्गो गुणत्वान्यतस्तेऽपि तपसैव मंदीभूतकामरतिदर्पनीय इति वदति—

जह जह वयपरिणामो तद् तद् णस्सदि णस्स वल्लब्धं ॥

मंदा य हवदि कामरदिदणकीडा य लोमो य ॥ १०७१ ॥

यथा यथा वयोहानिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरतिफीडादपूरूपवत्तादयः ॥ ११०४ ॥

विजयोदया—जह जह सबपरिणामो अतिकामति यथा यथा उवाचपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंक्षितः । परस्त्व
परिणामो प्राणिनः परिणामः । सच ह्यस्य से तथा तथा तस्य मंदा इवति मंदा भवति । कामरदिदण्मीडा ज्ञान्यन्त इति
कामा विषयास्तत्र रतिर्दयः, कीडा, लोभ- लोभश्च मंदविषयतयादिपरिणामेन बृद्धेन सह संयासात् । लयमेवापि
मंशकामादिपरिणामो भवतीति भावः ॥

यद्यपि तपसैव कामरतिदुर्पकीडा लोभा न्यग्भावमितुं सक्यास्तथापि ययःपरिणतिरपि तदनुकूलकारणतां प्रति-
पद्यते इति बभौबृद्धसंसर्गस्य अपि गुणवत्त्वव्यापनार्थमाह—

मूलार—अथ ज्ञेयति—ययपरिणामो युवत्वमध्यमत्वसंक्षितः । मंदा न्यग्भूता । कामरदो विषयप्रीतिः उक्तं च—

यथा यथा बबौहानिः पुरुषस्य तथा तथा ॥

मंदाः कामरति कीडादुर्पत्वलादयः ॥

सधैष च लोकोऽव्यधीते—

प्रथमे वयसि यः शोभः स शान्त इति मे मतिः ।

प्रस्तु-क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥

मंशकामरत्वादिपरिणामेन बृद्धेन सह संयासात् स्वयमेव च तादृक्परिणामो भवतीति मन्यते । कुडीनान्म-
त्वेवदुच्यते कुडीनानामन्यधापि भाषात् । यत्सर्वति—

वयसः परिणानेऽपि कुडीलस्य कुतः शमः ॥

सुषुप्तमपि माधुर्यं नोपयातीद्रयारुणं ॥

यतिः, त्यागीजन इनका भी संसर्ग करना सह्यप्राप्तिका उपाय है क्योंकि यतिगणोंने तपके द्वारा विषय-
प्रीति कम की है, इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जैसी जैसी मनुष्यको आधु अधिक होती जाती है वैसा २ उसका विषयोंमें प्रेम कम होता जाता है
मंद, कीडा, और लोभ ये दुर्विकार कम होते हैं, तरुणावस्थामें इन दुर्विकारोंका अदमनीय वेग रहता है, मध्यम-
वय होनेपर इनके वेग में मंदता आती है, बिनके ये उपर्युक्त विकार मंद हुये हैं ऐसे बृद्धोंकी संगति करनेसे ये
कामादिविकार मंद हो जाते हैं,

खोभेदि पत्यरो जह दहे पडतो पसण्णमवि पंकं ॥

खोभेइ तहा मोहं पसण्णमवि तरुणसंसग्गी ॥ १०७२ ॥

जातिोऽपि क्षोभ्यते मोहो युवसंगेन देहिनः ॥

कर्मसः पतता क्षिप्रं प्रस्तरेणेव वारिणः ॥ १०७५ ॥

विजयोदया—लोभेदि क्षोभयति । पत्यरो शिला मद्धती । जह यथा । दहे च्छेदे पडतो पतन् । पसण्णमवि पंकं प्रशांतमपि पंकं । योभेदि काष्ठयति । तथा मोहं । पसण्णमवि प्रशांतमपि । तरुणसंसग्गी तरुणयोद्धी ॥

तरुणयोद्धीमप्यवर्त्तते—

मूळारा—लोभेदि इति—लोभेदि उदीरयति । पसंतं प्रशांतं असुद्रवं । मोहं कामं ॥

अर्थ—जैसा यहा पत्थर सरोवरमें पडनेसे उसका निर्मल पानी उछलकर मलिन बनता है वैसे तरुण संसर्ग मनके अच्छे विचारोंमें मलिनता उत्पन्न करके उनकी गंदे बनाता है. यदि कोई मनुष्य क्षातिपरिणामका धारक है. तो भी उसको तरुणसंसर्ग त्यागना ही योग्य है अन्यथा उसके शांत विचारभी तरुण संसर्गसे बिगड़ेंगे.

कलुसीकंदपि उदयं अचच्छं जह होइ कदयजोएण ॥

कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु वुडुसेवाए ॥ १०७३ ॥

उदीर्णोऽप्यंगिनो मोहो वृद्धसंगेन निश्चितम् ॥

पंकः कतकयोगेन सलिलस्यैव शाम्भ्यति ॥ १०६ ॥

विजयोदया—कलुसीकंदपि उदयं कलुगीकृतमप्युदकं । कदयजोएण कतकफलसंबंधेन । अचच्छं स्वच्छं । जह होइ यथा भवति । कलुसोऽपि कलुगितोऽपि । मोहो मोहः । उवसमदि उपशाम्यति । वुडुसेवाए वृद्धसेवया ॥

प्रसवेवायाः फलोत्पत्त्यविद्वुदकस्यं वक्ति—

मूला—कलुसीकंदपि इति—कदयजोएण कतकफलसंबंधेन । कलुसो अकटः ॥

अर्थ—जैसा मलिन पानी भी कतकफलके संयोगमें स्वच्छ होता है वैसे कलुप मोह भी क्षीलवृद्धोंके संगमें शांत होता है.

लीणो वि मट्टियाए उदीरदि जलसयेण जह गंधो ॥
लीणो उदीरदि णरे मोहो तरुणासयेण तहा ॥ १०७४ ॥
जांनोण्युदीयते मोहः पुंसस्तरुणसंगतः ॥

लीनः किं मृत्तिकागंधो नोदेति जलयोगतः ॥ ११०७ ॥

विजयोदया—लीणो वि लीनोऽपि । मट्टियाए मृत्तिकायाः । गंधो मंधः । अथा जलसयेण जलाश्रयेण ।
उदीरदि उदयमुपैति । लीणो वि मोहो णरे लीनोऽपि नरे मोहः । उदीरदि उदयमुपदीयते । तरुणासयेण तरुणा-
श्रयेण तथा ॥

मोहोदयभावाभावयोस्तरुणससर्गभावाभावानुपि चाखिलं दृष्टान्तेन स्पष्टयितुं गायान्दयमाह—

मूलारा—लीणो वि इति—लीणो अयुद्धभूतः । जलसयेण नीरससर्गेण ॥

अर्थ—जैसा मट्टीमें गंध रहता है परंतु जलके आश्रयसे वह प्रगट होता है वैसे तरुण के आश्रयसे
भी मोह उमड़ पड़ता है.

संतो वि मट्टियाए गंधो लीणो हवदि जलेण विणा ॥
जह तह गुट्टीए विणा णरस्स लीणो हवदि मोहो ॥ १०७५ ॥
रहितो युधसंगरया मोहः सक्खि लीयते ॥
जीवस्य जलसंगत्त्या पुरुषगंध इव स्फुटं ॥ ११०८ ॥

विजयोदया—संतो वि सधपि मृत्तिकाया गंधः । जलेन विना लीनो भवति यथा तथा गोष्ठ्या पिना
मोहो नरस्य लीनो भवति ॥

मूलारा—संतो वि इति—लीणो हवद् नोदेदीत्यर्थः ॥

अर्थ—मट्टीका गंध मट्टीमें रहता हुआ भी जलके संसर्गके विना प्रगट होता नहीं है- वैसे संसर्ग के
विना मनुष्यका मोह प्रगट नहीं होता है.

तरुणो वि बुद्धसीलो होदि णरो बुद्धसंसिक्खो अचिरा ॥

लज्जासंक्रामणावसाणमयधम्मबुद्धीहिं ॥ १०७६ ॥

युवापि बुद्धसीलोऽस्ति नरो हि बुद्धसंगतः ॥

मानापमानभीरांकावर्मेबुद्धिचपाविभिः ॥ ११०९ ॥

विजयोदया—तरुणो वि बुद्धसीलो भवति । बुद्ध संश्रितोऽचिरम् । लज्जाया, शंकाया, मानेन, अपमानमेवेन धर्मेबुद्ध्या च ॥

बुद्धसेयमादास्वभाह—

मूढारा—तरुणो वि इति—माण संवतोहमिति अभिमानः । अवमानमयं महत्त्वलण्डनभीतिः ।

अर्थ—बुद्धोके र्मसंगतिं तरुण मनुष्य भी शीघ्रही शीलगुणोंकी वृद्धि होनेसे शीलबुद्ध बनता है । लज्जासे, भीतिसे, अभिमानसे, अपमानके डरसे और धर्मेबुद्धीसे तरुण मनुष्य भी बुद्ध बनता है ।

बुद्धो वि तरुणसीलो होइ णरो तरुणसंसिक्खो अचिरा ॥

वीसंभणिच्चित्संको समोहणिज्जो य पयडीण ॥ १०७७ ॥

बुद्धस्तरुणशीलोऽस्ति नरस्तरुणसंगतः ॥

विभ्रंसनिर्विशंकत्वमोदप्रकृतियोगतः ॥ १११० ॥

पिजयोदया—बुद्धो वि बुद्धसीलो भवति । बुद्ध संश्रितोऽचिरम् । लज्जाया, शंकाया, मानेन, अपमानमेवेन धर्मेबुद्ध्या च ॥

बुद्धसेयमादास्वभाह—

मूढारा—बुद्धो वि इति—वीसंभणिच्चित्संको स्त्रिया विभासेन दुर्गतिदुःखादिभयरहितः । समोहणिज्जो सकामो मतः । पयडीण प्रकृता ॥

अर्थ—तरुणोंकी संगतिसे बुद्ध मनुष्य भी स्वभावतः कायचित्कारसे युक्त होकर स्त्रियोंके ऊपर विश्वास करने लगता है और दुर्गतिके भयसे रहित होता है ।

सुंदयसंसगगीए जह पाहुं सुंडओऽभिलसदि सुर ॥

विसए तह पयडीए संमोहो तरुणगोटीए ॥ १०७८ ॥

इंद्रियार्थरतिर्जाबो चुवगोऽव्या विमूढधी ॥

शौण्डगोऽव्या यथा शौण्ड सुरां कांक्षति सर्वदा ॥ ११११ ॥

विजयोदया—सुंदयसंसगगीए यथा शौण्डगोऽव्या । जह पाहुं सुरमभिलसदि यथा पाहुं सुरमभिलपति । तथा पयडीए समोहो तथा प्रकृत्या समोह । तरुणगोटीए विसए अभिलसदि तरुणगोऽव्या विषयानभिलपति ॥

मूलात्—सुंदय इति—सुंदयसंसगगीए मध्यगोऽव्या । पाहुं पाहुं ॥

अर्थ—जैसे मध्याससे मधका प्राजन न करने वाले मनुष्य को भी उसने पानकी अभिलाषा उत्पन्न होती है वैसे तरुणोंके संगसे बृद्ध मनुष्य भी विषयोंकी अभिलाषा करता है

तरुणोहिं सह वसंतौ चालिदिवो चलमणो य वीसत्यो ॥

अचिरेण सहरचारी पावदि महिलाकवं दोसं ॥ १०७९ ॥

विश्रन्वत्प्रपलक्षो य स्वैरी तरुणसंगतः ॥

नरिलाविषयं दोष स ग्रीष्मं लभते नरः ॥ १११२ ॥

विजयोदया—तरुणोहिं तरुणै सह वसन् चलेन्निप्रपलक्षिण, सुन्दु विभक्त अचिरेण सहरचारी । पावदि प्रामोति । महिलाकवं दोस वनिताविषय दोष ॥

मूलात्—तरुणोहिं इति—सहरचारी सहरचारी । महिलाकवं स्त्रीविषय ॥

अर्थ—तरुणोंके संगसंगसे बृद्ध मनुष्यकी इन्द्रियां रूपादिविषयोंमें उत्सुक होती हैं भग चंचल बनता है और स्त्रियोंमें विश्वास रत्नकर वह स्वच्छंदी होता है स्त्रियोंके सहवाससे वह दोषी बनता है

पुरितस्स अप्पस्तथो भावो तिहिं कासणेहिं संभवइ ॥

वियरम्मिऽअंधयारे वुत्तील्लसेवाए ससमक्खं-॥ १०८० ॥

ध्यातैर्कान्तकुशीलेहृदयैर्नैः करणैस्त्रिभिः ॥

कृतिसतो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंक्षयम् ॥ १११३ ॥

विजयोद्या—पुरिसस्स पुण्यस्य अग्रगत्तो मायस्त्रिभिः कारणैः संगच्छति । एकत्रि, अंधकारे, कुशीलेत्या
दंशनेन च प्रत्यक्षम् ॥

मूलात्—पुरिसस्स उपलक्षणास्त्रिधा । अप्सत्यो कामाशिलापुरुषः । विचारमि स्त्रिया सहकान्ते पुंसः,
पुंसा च स्त्रियाः । कुशीलेस्याय ससम्भारं आत्मप्रत्यक्षं स्त्रीपुंसयोः कामसेवायां सत्यां तदबलोकने सति हृदयैः ।

उक्ते च— ध्यातैर्कान्तकुशीलेहृदयैर्नैः करणैस्त्रिभिः ॥

शुक्तिवो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंक्षयम् ॥

अर्थ—पुरुषं तीन कारणैर्नि अग्रगत्तं विचार उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एकांत स्थानमें, अंधकारमें और
अपने समक्ष कीर्त्तपुरुष काम सेवनेमें, अंधकारमें और अपने समक्ष कोई स्त्रीपुरुष काम सेवन करते हुए देखकर
कामाभिलाषरूप अग्रगत्त विचार उत्पन्न होते हैं

पासिय सुच्चा व सुंदरं पिङ्गजंतं मुंडओ मिलसदि जहा ॥

विसए य तह समोहा पासिय सोच्चा व मिलसंति ॥ १०८१ ॥

निसर्गमोहितस्यान्तो दृष्ट्वा धृत्वाभिलष्यति ॥

विषयं सेवितुं जीयो मदिरामिव मयपः ॥ ११४ ॥

विजयोद्या—पासिय सुच्चा व सुंदरं शूर्य शीतमानं दृष्ट्वा वा धृत्वा वा ओडोऽभिलषति । यथा तथा
समोहा विगमानमिच्छति दृष्ट्वा युजा वा ॥

मूलात्—पासिय दृष्ट्वा । सोच्चा दृष्ट्वा । पिङ्गजं शीतमानं ॥

अर्थ—मदिरापान करते हुए पुरुष को देख कर अथवा मदिराका वर्णन सुनकर जैसे मद्यपी मनुष्य मद्य
पीनेकी इच्छा करता है तथा मोहयुक्त मनुष्य भी विषयोंका सेवन करनेवालोंसे देख कर वा सुनकर विषयसेवनेकी
इच्छा करने करता है.

जादो खु चारुदत्तो गोह्रीदोसेण तह विणीदो वि ॥

गनियासत्तो मज्जासत्तो कुलदूसओ य तहा ॥ १०८२ ॥

चारुदत्तो विनीतोऽपि ज्ञातः संसर्गदोषतः ॥

वेदयामांससुरासक्तः कुलदूषणकारकः ॥ १११५ ॥

विजयोदया—जादो खु चारुदत्तो विनीतोऽपि चारुदत्तो गोह्रीदोसेण गणिकासक्तो ज्ञातः मयावसक्तः कुल

दूषकश्च ॥

मूढारा—विणीदो मुचरितः ।

अर्थ—ज्ञानी भी चारुदत्त कुसुमसर्गसे गणिकामें-वेश्यामें आसक्त हुआ तदनंतर उसने मठमें आसक्ति कर अपन कुलको दूषित किया.

तरुणरस वि वेरगो पण्हाविज्जवि णरस्स बुद्धेहि ॥

पण्हाविज्जह पाडच्छीवि हु वच्छस्स फरुसेण ॥ १०८३ ॥

तरुणस्यापि वैराग्य शीलबुद्धेन जायते ॥

क्रियते प्रस्तुतक्षीरा यत्सस्पर्थेन गीर्णे किम् ॥ १११६ ॥

विजयोदया—तरुणरस वि तरुणस्यापि वैराग्य ज्ञाप्यते क्षामयस्तपोबुद्धेः । यत्सत्य स्पर्थेन यया गोः प्रस्तुत-क्षीरा क्रियते ॥

शीलबुद्धेभ्यो भूतोऽपि वैराग्योत्पत्तिमाह—

मूढारा—पण्हाविज्जदि ज्ञान्यते । पण्हाविज्जवि दुग्धक्षरणं कथ्यते । पाडच्छीवि विद्युष्कापि दुग्धरहितस्तन्नापि गौः । फरिसेण स्पर्थेन ॥

अर्थ—जैसे बछड़ेके स्पर्शसे गौके स्तनोंमें दुग्ध उत्पन्न होता है वैसे ज्ञानबुद्ध, यथापृष्ट और तपोबुद्धीके सहवाससे तरुणके मनमें भी वैराग्य उत्पन्न होता है.

परिहरद् तरुणगोद्री विसं व बुद्धावले य आयदणे ॥

जो वसद् कुण्ड् गुरुणिहेसं सो णिच्छरद् वंमं ॥ १०८४ ॥

यः करोति गुरुभागपितं मुदा संयये वसति बुद्धसंकुले ॥

मुंचते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥ १११७ ॥

रजो धुनीते हृदयं पुनीते तनोति सत्त्वं विधुनोति कोपम् ॥

मानेन पूर्णं चिनयं नयंति किं बुद्धसेवा न करोत्यभीष्टम् ॥ १११८ ॥

इति बुद्धसंगतिः ॥

विज्ञयोद्या—परिहर तरुणगोद्री परिहरति तरुणः एव गोद्रीं विपमिय यः, बुद्धराकीर्णं चायतने यो वसति । करोति यः गुपीतो स निस्तरति प्रत्यक्षयोधेति संक्षेपोपदेशः ॥ बुद्धसेवा गता ॥

प्रत्यक्षंतिशब्दोपायमाह—

मुखात्—विसं वा विपमिय । बुद्धावले दीहृद्वसंकुले । आयदणे स्थाने । गुरुणिहेसं गुरोराज्ञा । णिच्छरदि निर्वाहयति । वंमं ब्रह्मचर्यं । बुद्धमेवा ॥

अर्थ—जो मनुष्य तरुणोका संग विपतुल्य समक्षकर छोहता है, जहाँ रहते हैं ऐसे स्थानों में रहता है, और जो गुरुओंकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करता है वही मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है- बुद्धमेवोका प्रकरण समाप्त हुआ-

स्तीर्तसर्गश्रुतभोगपेक्षणे स्वमकसा भंक्षणीनोसावि य इत्यस्य सूत्रपञ्चाशद्व्यः साध्याहारतया सूत्राणामपि सिद्धजंता इति पाण्ययोगार ॥—

आलोच्यणेण हृदयं पचलदि पुरिमस्स अप्पसारस्स ॥

पेच्छंतयस्स बहुसो इच्छीण थणज्जहणवदणाणि ॥ १०८५ ॥

मानसं स्वल्पसत्त्वस्य स्त्रीसंसर्गं विनश्यति ॥

तत्पनस्तनवपाणि पश्यतो बहु चलयते ॥ १११९ ॥

विजयोद्या—आलोगणेन आलोकनेन । हित्वं हृदयं प्रचलति । अल्पघृतिकस्य पुंसः प्रेक्षमाणस्य बहुशो युवतीनां चदनगयोघरपुयुजघनानि ॥

स्त्रीसंसर्गकृतदोषवेक्षणं नाम पंचम स्त्रीधैर्यगवकारणं गायद्वाविस्तया व्याचक्ष्णः प्रथमं योषिदालोकनलक्षण-
संसर्गस्य दुर्निवारत्वाद्योषपरंपरायुद्गाथवति ।

मूलरा—आलोगणेन निरीक्षणेन प्रकरणान्नारीणां । पचलदि प्रकरणं भुज्यति । अप्यसारस्य अल्पघृतिकस्य ।

पेच्छुक्तासं धितयवः । उक्तं च—

दृष्टिपतो मधेस्पूयं न्यासुषति तवो मनः ॥

प्रणिघत्ने जनः पश्चात्तत्कथाद्युणकीर्तने ॥

, बहुतो वारंवारं ॥

स्त्रीसंसर्गं करनेसे दोष उत्पन्न होते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—जिसमें धैर्यगुण अल्प है ऐसे पुरुषका हृदय स्त्रीको देखकर चंचल होता है, अर्थात् उसका मुख,
स्तन, षडा नितंबभाग ये अवयव देखनेसे अल्प धैर्यवाला पुरुष मोहित होता है.

लज्जं सदो विहिंसं परिचयमघ निव्विसंकिदं चैव ॥

लज्जालुओ कमेणाळहंतओ होदि वीसत्यो ॥ १०८६ ॥

निरस्यति ततो लज्जां संस्तवं कुरुते ततः ॥

ततो भवति मिःशंकस्ततो विश्वसिति धुधम् ॥ ११२० ॥

विजयोद्या—लज्जं तदो विहिंसं तवो हृदयचटनोत्तरकालं लज्जां विनाशयति । विनष्टलज्जः परिचयमुयेति ।
सामिर्दशनस्त्रीपगमनदसनादिकं करोतीति यायत् पश्चाद्विहिंसतो भवतीति मामनया सह स्थितं पश्यति इति या गुंका
तामपाकरोति । लज्जावानपि नरः क्रमेण अभिदिता अवस्था उपारोहन्, विश्वस्तो भवति ॥

मूलरा—तदो हृदयप्रचलनोत्तरकाल । विहिंसं विश्वसित् विनाशयन् । परिचयं दर्शनसमीपगमनदसनादिकं ।
निव्विसंकिदं मामनया सह स्थितं पश्यतीति शंकाविगमं । परिचयं निर्विशङ्कतां च क्रमेणारोहन् विश्वसच्चित्तं स्त्रीपु कृत-
मुखसाधनत्वप्रत्ययः स्यात् ॥

अर्थ—मन चंचल होनेके अनंतर उसकी लज्जा नष्ट होती है. लज्जा नष्ट होनेपर उनके साथ उसका परिचय होता है अर्थात् वह उनकी स्थिर नयनोंसे देखता है. उनके पास जाता है, उनके साथ इसी मजाक करता है. तदनंतर उसका भय भी नष्ट होता है. मैं इस स्त्रीके तारा रहता हूं येरी लोक निर्दरा करेगे यह भय उसके मनसे दूर चला जाता है. वात्सल्य—लज्जावान् मी मनुष्य ऐसी अवस्था आँको प्राप्त होकर स्त्रियोंमें विश्वस्त होता है. अर्थात् स्त्री यह सुख का साधन है ऐसा वह समझता है.

वीसत्यदाए पुरिसो वीसंभं महिलियासु उवयादि ॥

वीसंभादो पणयो पणयादो रदि इचदि पच्छा ॥ १०८७ ॥

विश्वासे सति चित्रंभो चित्रंभः प्रणये सति ॥

रामानु परमा पुंसः प्रणये जायते रतिः ॥ ११२१ ॥

‘विजयोदया—वीसत्यदाए विश्वस्तताया ममसः विधेभमुपयाति युवतिषु । विधेभात्यणयः प्रणयाप्रतिभंवति ॥
मूढारा—वीसत्यदाए लयनका विश्वासेन । वीसंभं आसत्वेन न्यवहारं विश्वासेनात्र प्रवृत्तिनिधुची चित्रंभ-
रावेनोच्यते । तथा चोक्तं—

विश्वस्तेन च विश्वस्त्य चित्रंभं स्त्रीषु गुच्छति ॥

चित्रंभस्याणकोऽस्त्वेष प्रणयाच्च रतिस्ततः ॥

अर्थ—सुरसाधनकी कल्पनासे वह स्त्रियोंमें विश्वास करता है. इस विश्वासेसे प्रेमकी उत्पत्ति होती है. अर्थात् यह स्त्री हमारी आप है ऐसा अभिप्राय उसमें उत्पन्न होता है. जिससे प्रेमका उदय होता है. इसके अनंतर दोनोंमें आसक्ति पैदा होती है.

उद्धावसमुद्धावहिं चा वि अड्डियपेच्छणेहिं तथा ॥

महिलासु सदरचारिस्स मणो अचिरेण खुब्भदि हु ॥ १०८८ ॥

नारीणां दर्शनोद्देशमापणप्रतिभाषणैः ॥

आकृष्यते मनो नृणामयस्कात्तेरिचायसम् ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—उद्भासलमुद्भायोहि सभादन्धप्रतिवचनै, लीबनेन, प्रेक्षणेन, तथा चनिताभिः स्वच्छाचारी तस्य दीपं मनश्छलति ॥

मूलरा—उद्भावसुसुहर्षेहि संभाषणप्रतिवचनैः । अस्त्रियपेच्छणेहि आश्रयणेन भणितकरणेन च सदरचारिस्स स्वेच्छाचारिणः ॥

अर्थ—स्त्रियोंके साथ मभाषण और प्रत्युत्तरसे, उनके पास आना जाने करनेसे, उनको देखनेसे, स्वेच्छाचारी घने हुए पुरुषका मन चंचल बनता है—

तिद्धिगदिविलासविग्भमसहासचोद्धिदकडक्खदिद्धिहिं ॥

लीलानुदिरादिसम्मेलणोक्थारेहिं इत्थीणं ॥ १०८९ ॥

हासोपहासलीलाभिर्मुसगाग्रप्रकाशनैः ॥

विलासोर्विभ्रमैर्होवैर्भावैः सह गमागमैः ॥ ११२३ ॥

विजयोदया—तिद्धिगदिव-लीला स्त्रिया, गत्या विभ्रमेण, नतैवाभिप्रायेण, निगूहनेन, कटाक्षपलोकनेन, शोभया, गुह्या, क्रीडया, सहगमननादिना उपचारेण च ॥

मूलरा—तिद्धि स्थावकं । गदि चलन । विलास नयनविकारः । विक्कम भर्युगांतविकारः । लासः मत्तुणन्तुयं बेद्धि अग्रप्रकटन । लील शोभा मधुरागविषेष्टितैः प्रियानुकरणे वा । शुवित्तेजः । सम्मेलण एकत्रावस्थानं । उपचारेहिं सहगमनाशनापुष्पचरैः ॥

अर्थ—स्त्रियोंका खडा होना, उनका गमन करना, अवलोकन करना, भोहें बक करना, मधुर वृत्त्य, ललनादिको दिखाना, अभिप्राय छिपाना, कटाक्ष फेंकना, सुंदर रीतीसे अंगोंको हिलाना, प्रिय करके छेदानुसार प्रवृत्ति रखना, शोभा, कांति, क्रीडा, साथ गमन करना, साथ बैठना, इत्यादिक उपचारोंसे पुरुषका मन चंचल होता है.

ढागोचहासकीडासहस्रवीसत्यजंविणहिं तहा ॥

लज्जामज्जादीणं मेरं परिंसो अदिक्कमदि ॥ १०९० ॥

मन्मनैः कोमलैर्वाक्स्पर्धुर्वैद्यैर्विस्मयाभाषणैः ॥

गतिस्थितियुतिक्रीडानर्भविज्योकोमोदनैः ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—दासोपहासकीडा हासेन प्रतिहासेन च, क्रीडया, एकत्रिते विज्यस्त्वजल्पितेन च लज्जामर्यादयोः सीमातिक्रमं करोति नरः ॥

मूलाद—दासो कर्कुरं । अवदास प्रविहासः । रहस्सचोसंभजंविदिदिं एकांतविश्वासेन संजल्पैः । लज्जामज्जा दार्णं लज्जामर्यादयोः । मर्यादात्र स्थितिरिदंभावनिवम इति यावत् । मेरं सीमां ।

अर्थ—हीके हासपर स्वयं हंसना उसके साथ खेलना, एकान्तमें विश्वासयुक्त होकर बोलना, लज्जाका त्याग करना और स्त्रियोंके साथ पुरुषोंका जो सम्बन्ध व्यवहार होता है जिसको मर्पदा कहते हैं उसको सीडना ऐसे काव्योत्प्रेष पुरुष सीमातिक्रम करते हैं.

ठाणगदिपेच्छिदुच्छावादी सन्वोसिमेव इच्छीणं ॥

सन्त्रिलामा चैव सदा पुरिसस्स मणोहरा हुंति ॥ १०९१ ॥

वक्राचलोफनैः स्त्रीणां वैराग्यं निहयने दृणाप् ॥

शरीरस्पर्शभिः कूटैः पन्नगैरिव जीवितम् ॥ ११२५ ॥

विजयोदया—ठाणगदि स्थानं, गतिः, मेक्षितमुत्साहमणीत्यादयः सर्वासामेव स्त्रीणां सखिलासाः पुरुषस्य मनः खरापवदन्ति ॥

मूलाद—होति सर्वासां स्त्रीणां स्वनादयः सखिलासा भवन्त्येव ॥

अर्थ—सियोंका खडा होना, सलील यमन, कटाक्ष फेककर देखना, मधुर भाषण करना इत्यादि सभी चावें विलासयुक्त—दायभावयुक्त होनेसे पुरुषोंका मन हरण करनेवाली होती है.

संसग्गीए पुरिसस्स अप्पसारस्स लब्धप्पसरस्स ॥

अग्गिसग्गीवे लक्खेव मणो लहुमेव विगलह् ॥ १०९२ ॥

योपितां नर्तनं गानं विकारो विनयो नयः ॥

द्रावयन्ति मनो नृणां मदनं पावका इव ॥ ११२६ ॥

विजयोदया—संसर्गादि सद्व्यगतेन, गमनेन, आसनेन च पुरुषस्य अल्पसारस्य लब्धमसरस्य मनो द्रवी-
भवति । अग्निनिष्कटस्थिता लाशेव ॥

मञ्जरा—संसर्गादि स्त्रीसंगत्या सहवासमिच्छया । अप्ससारस्त हीनसत्वस्य । प्राप्तस्वेच्छाजल्पनाविप्रवृत्तेः ।
विलापि चिलैयेते । द्रवीभवति ॥

अर्थ—सहगमन करना, एकासनपर बैठना, इन कार्योंसे अल्पवैर्यवाले और स्वच्छदसे चोलना, हँसना,
बंगारह क्रिया करनेवाले पुरुषका मन अग्नीके समीप जैसी लाख पिघल जाती है वैसा पियल जाता है.

संसर्गीसमूहो मेहुणसहिदो मणो हु दुम्मेरो ॥

पुब्बावरमगणंतो लंघेज्ज सुसीलपायारं ॥ १०९३ ॥

मत्थिला मग्गयावासविलासोल्लासितानना ॥

स्तुता पि हरते चित्तं वीक्षिता कुरहे न किं ॥ ११२७ ॥

निर्मर्यादं मनः संगतसंभूटं सुरतोत्सुकम् ॥

पूर्वोपरमनाहत्य शीलद्यालं विलंघते ॥ ११२८ ॥

विजयोदया—संसर्गीसमूहो स्त्रीसंसर्गसंभूटः मनो मिथुनकर्मपरिणतं निर्मर्यादं पूर्वोपरमगणयदुत्सुर्ब्रह्मेच्छी
छात्राकारं ॥

मूढारा—मेहुणसहिदो मुखोलुसुकं । अत्र पूर्वोत्तरयोश्चार्थव्यासुद्धिर्निर्दिष्टाः । विम्भेरो भिमर्यादं । पुब्बावरं
कारणकार्यभावं ॥ अगणंतो अपर्यालोचयन् । ब्रह्मेवदि उल्लंघयति । चालेज्ज सुसीलेति षष्ठेऽपि स एवार्थः ॥

अर्थ—स्त्रीसहवाससे मनुष्यका मन मोहित होता है तब उसमें मैथुनसंज्ञा अर्थात् मैथुन करनेकी तीव्र
इच्छा होती है. उस समय वह कार्यकारणका विचार करता नहीं. वह शीलवटका उल्लंघन करनेके लिये उताह
हो जाता है.

इन्द्रियकसयसणगागारवगुरुया समावदो सव्वे ॥

संसगिल्लत्तपनरस्स ते उदीरंति अनिरेण ॥ १०५४ ॥

कपायेन्द्रियसंज्ञाभिगारवैरुक्काःसदा ॥

सयें स्वभावतः संगदुद्भवन्त्यचिरेण ते ॥ ११०९ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसयसणगागारवगुरुया इन्द्रियैः, कपायैः, संज्ञागिराहारमयमैथुनपरिमहविपयाभिः ।
अद्विरसातागौरवैश्च गुरुकाः । स्वभावत एव सर्वे प्राणयुतः संलग्नलब्धप्रसरस्य अतीव अशुभपरिणामा आविरादेवो-
त्पद्यन्ते ॥

मूलारा—सव्वे सर्वे प्राणिनः । इन्द्रियादिभिश्चक्षुर्भिः स्वभावतो गुरुका महान्तः संति । ते इन्द्रियादिवोऽदुभ-
परिणामचतुष्टयं । उदीरंति उदीर्यन्ते क्षीयन्तविलम्बप्रसरस्स क्षीयं समुद्भववित्यर्थः ॥

अर्थ—प्रायः प्राणिजैर्भिः स्वभावसे ही इन्द्रियाः, कपायः, संज्ञा और गारव उत्कट रहते हैं- स्त्रियोका संसर्ग होनेसे पुरुष सख्यं दी घनता है तब इन्द्रियादिक उच्छ्रित हो जाते हैं- जिससे शीघ्रही अत्यंत अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं- संज्ञाके आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, और परिग्रहसंज्ञा ऐसे चार भेद हैं- आहारकी उत्कट अभिलाषा होना, भीति उत्पन्न होना, मैथुनकी तीव्र इच्छा रहना और परिग्रहमें अभिलाष उत्पन्न होना ऐसा चार संज्ञाओंका क्रमशः अर्थ है- आदिगारव, रसगारव और सातगारव ऐसी गारवके तीन भेद हैं- इनका वर्णन पीछे गया है-

मादं सुदं च भगिणीभेगंते अछिर्यतगस्स भणो ॥

सुव्वमइ णरस्स सहसा किं पुण सेत्तासु महिलासु ॥ १०९५ ॥

मातृस्वसृसुताः पुंस एकांते अयतो मनः ॥

शोगं क्षोभं वज्जखेव किं पुनः शेषयोपितः ॥ ११३० ॥

पिनयोदया—स्पष्टार्थो ॥

अयं—माता, अपनी लडकी और बहिन इनकागी एकान्तमें आश्रय पाकर मनुष्यका मन शुद्ध होता है फिर दूसरी महिलाओंके विषयमें कहना ही क्या ?

उत्तरा—

जुष्णां पोच्चलमइलं रोगिय बीमस्स वंसणविरूजं ॥
मेहुणपडिगं पच्छेदि मणो तिरियं च खु णरस्स ॥ १०९६ ॥
निःसारां मलिनां ज्ञाणां विरूपां रोगिबुद्धयम् ॥

विजयोवया—जुष्णे ओजसरां । पोच्चलमइलं निःसारल्लिनां । रोगिद्वीभसत्वंसणविरूजं व्याचितां बीमस्तल्लोराणां विरूपामपि छिद्यं । मेहुणपडिगं मैथुनकर्मनिमित्तं पच्छेदि प्रार्थयते । मणो मनः । तिरियं खु तिरिच्छी वा हृदया दि तीमरामावेशाद् तिर्यक्ष्यपि नराणां प्रवृत्तिः ॥

रहस्येभ्याः श्रीयमाणास्तल्लिनां रोगिणीया एव रमण्यो मनःकोमाय पुंसः प्रमविष्वंतीत्याशंकायासाह-
मूलरा—जुष्णे अतिदृढां । पोच्चलमइलं निःसारां, मलिनां च । रोगिद्व व्याचितां । बीमच्छदंसणा बीमत्सा लोथनां । मेहुणपडिगं मैथुनं प्रति सुरतादभित्यर्थः । तिरियं खु तिरिच्छी वा । तिरिच्छीमपि वा । एक च—
रोगपटीमतिनीणां बीमत्सां दुर्बलां विरूपां च ॥

अपि च तिरिदचीमवलाभिच्छति मदन्वरी भोक्नुम् ॥

अर्थ—जो स्त्री दृढ़ है, निःसार है, मलिन है, रोगी है, जिसकी ओंखें बीमत्स—भयानक है, जो कुरूप है ऐसी स्त्रीकीभी यह मन मैथुन करनेके लिये प्रार्थना करता है. इतनाही नहीं तिर्यच स्त्रीकोभी चाहता है. तीव्रकामके आनेगमें आफर मनुष्यकी पशुके साथभी मैथुन करनेकी प्रवृत्ति हो जाती है.

प्रकारांतरेणपि स्त्रीसंसर्गमादर्शयति—

दिट्ठणुमदुदुदविसयाणं अमिलाससुमरणं सव्वं ॥
एसा वि होइ महिलासंसग्गी इत्थिविरहम्मि ॥ १०९७ ॥

दृष्टश्रुतानुसूतानां विषयाणां रुचिस्थितिः ॥
नारीसंसर्गं पृथोऽपि चिरहेऽप्यास्ति योषितः ॥ ११३२ ॥

विजयोदया—विष्टानुदसुदधिसयाणं दृष्टानां, अनुभूतानां, श्रुतानां च विषयाणां अभिलाषसहस्रमरणं अभिलाष-
सरणं । सद्यं एतेषु वि द्रोहि महिलासंसर्गस्य एतेषुऽपि भवति युवतिसंसर्गः । इत्थीविरहे स्त्रीविरहे ॥

स्त्रिया सहवासदिना यिनापि स्त्रीसंसर्गादादौयसी—

मूढाया—एता वि पण्डितं दृष्टानां, अनुभूतानां, वा विषयाणां अभिलाषणं स्मरणं वा तत्सर्वमियं अपरा स्त्री
संसर्गं भवत्येते । इतिविरहे वि योषितो व्यवधानेऽपि सति ॥

उत्ती व—दृष्टश्रुतानुसूतानि विषयानि विषयतश्च संस्मरतः ॥

प्रमदाविरहेऽपि जुनेऽवति प्रमदाभयो दोषः ॥

प्रकारांतरसेमी स्त्रीसंसर्गका निरूपण करते हैं—

अर्थ—स्त्रीके विरहमें भी देले हुए, सुने हुए, श्रुतप्रभव विनका लिखा है ऐसे पदार्थकी अभिलाषा करना
बारबार उनका स्मरण करना यह भी संसर्गका एक भिन्न प्रकार है.

धरो बहुसुखो पञ्चई पमाणं गणी तवस्तिस्ति ॥

अचिरेण लभदि दोसं महिलावगममि वीसत्थो ॥ १०९८ ॥

दृष्टो गणी तपस्वी च विन्वास्यो गुणवानपि ॥

अचिराच्छ्रमते दोपं विन्वस्तः प्रमदाजने ॥ १११३ ॥

यिजयोदया—येतो स्वविरः, बहुश्रुतः, प्रलयितः, प्रमाणभूतः गणधरः, तपस्वीत्वेवं प्रकाः । अचिरेण चिरका-
लमंतरेण । लभति दोसं अपदो लभते । महिलावगममि युवतिचर्मे । वीसत्थो विन्वस्तः ॥

दृष्टत्वापि प्रमममि स्त्रीविश्रवासो दोषाव स्यादित्याह—

मूलाया—पञ्चई प्रत्ययितो विन्वस्त इति यावत् । पमाणं प्रमाणभूतः । तवस्तिस्ति तपस्वीत्वेवं प्रकाः । अचिरेण चिरका-
दि पुनस्तारण्यादियुर्दोसकरपरमभागिनीति शब्देन प्रकाश्यते ।

अर्थ—बहुसुखि, बहुश्रुतमि—अनेक मतोंको जाननेवाले सुनि, प्रमाणभूत सुनि आचार्यपदप्राप्त सुनि बहुत

कालके दीखित मुनि ये भी महिलावर्गमें विश्वास होनेसे दोषयुक्त माने जाते हैं. अपवधके पात्र होते हैं.

किं पुन तरुणा अवटुसमुदा य सइरा य विगदवेसा य ॥

महिलासंसर्गगीए णट्टा अबिरेण होहंति ॥ १-१९९ ॥

किं पुनर्विकृताकल्पाः स्वैरिणः शोपसाधवः ॥

नारीसंसर्गतो नट्टा न संति स्वरूपकालतः ॥ १-१३४ ॥

विजयोदया—किं पुन तरुणा सपौधना, अवटुश्रुता, स्त्रैरिण. विछित्तवेपाअ युयत्तिसंसर्गेण झटिति नट्टा न अबन्ति ? किं पुनर्विकृत्येति शक्यम् ॥

सदेव सदित्थमयकमभित्था भजति—

मूलात्—सरत्त स्त्रैराः स्वच्छंदवारिणः । विगदवेसा विकृतवेपाः । देसकुलवयोवर्षविद्यावरणाद्यनुचितने-

पथ्याः स्वातुरूपव्याप्ययुगाः ॥

अर्थ—जो तरुण है, अपवध है, स्त्रैराचारी है, जो देश, कुल, वय, वर्ष, विद्या, आचार इत्यादिकोंको प्रतिकूल ऐसा वेप धारण करते हैं. ऐसे मनुष्य स्त्रीसंसर्गसे क्यों न शीघ्र नष्ट होंगे अर्थात् होंगे धी. अर्थात् वे लोक स्त्रीसंसर्गसे अजीर्तिमान् होंगे इसमें क्या आश्चर्य है.

सगडो हु जइणिगाए संसग्गीए दु चरणपम्भट्ठो ॥

गणियासंसग्गीए य कूववारो तहा णट्ठो ॥ १-१०० ॥

जैविकासंगतो नष्टधरणाच्छकटो यतिः ॥

वेदयायाः सह संसर्गोन्नट्टः कृपवरस्तथा ॥ १-१५ ॥

विजयोदया—सगडो छ समदलामधेय. जइणिगाए संसग्गीए जइणिगासंशयाः संसर्गेण । चरणपम्भट्ठो चारित्र्याच्छ. । गणिकासंसग्गीए गणिकामोच्छा कूवरो वि कूपारनामक. । तहा णट्ठो तथा चारित्र्याच्छ. ॥ स्त्रीसंसर्गेण पूर्वेणमपि संवमधंसां गाथाद्वयेन दर्शयति—

मूला—सगहो शकटो नाम इति ॥ जइमियाए जैनिकानां न्या ब्रह्मण्याः ॥
अर्थ—शकट नामके मुनि जैनिका नामक वेस्याके संसर्गसे चारित्र्यसे च्युत होगये, तथा कूपार नामक
मुनिभी वेदयाके सहवासमें चारित्र्यही हो गये हैं।

रुद्री परासरो सच्चईयराथरिसि देवपुत्तो य ॥

महिलास्त्रालोई णड्डा संसचदिष्टीए ॥ ११०१ ॥

रुद्रः पराशरो नद्यो महिलारक्तया दद्या ॥

देवर्षिः सात्पतिकेवपुत्रञ्च क्षणमाव्रतः ॥ १११३ ॥

विजयोद्या—रुद्री परासरो रुद्रः, पराशरः, सात्पकि, राजर्षिदेवपुत्रञ्च युवतिरूपायखो कितलंसक्तया
दत्तक नयः ॥

मूला—सच्चई सात्पकिर्नाम । रावरिही राजर्षिनामा, । महिलान्त्रालोई स्त्रीरूपायलोकिनः । संसचदिष्टीए
सन्नुदमासकया दत्ता ।

अर्थ—रुद्र, पराशरमुनि, सात्पकीमुनि, राजर्षि नामक मुनि और देवपुत्र नामक मुनि त्रिओंका रूप देख-
नेमें आसक्त हुई दृष्टीसे नष्ट हुए हो गये।

ओ महिलासंसग्गी विसंव वडूण परिहरइ णिळ्चं ॥

णित्थरइ वंमवेरं जावजीवं अकंपो सो ॥ ११०२ ॥

भुजंगीनामिव स्त्रीणां सदा संगं जहाति यः ॥

तस्य ब्रह्मघ्नं पूतं स्थिरीभवति योगिनः ॥ ११३७ ॥

विजयोद्या—ओ महिलायाः स्त्रीणां संसर्गं निषमिव दृष्ट्वा नित्यं परिकरति । अस्मै ब्रह्मघ्नं उद्धति
पावजीवं निश्चलः ॥

स्त्रीगोष्ठीपरिहारगुणमाह—

मूला—अकंपो विचलः ।

अर्थ—जो पुरुष स्त्रीका ससर्ग विषयके सभान समझकर उसका नित्य त्याग करता है वही महात्मा याव-ज्जीव नक्षत्रचर्यमें बढ रह सकता है

सत्त्वमि इत्यिवगमि अण्यमतो सदा अभीमत्यो ॥

वम निन्त्रदि वद चरित्तमूल चरणसारं ॥ ११०३ ॥

अधिभ्वस्तोऽयमतो य स्त्रीवर्गे सकले सदा ॥

यावज्जीवमतो पाति ब्रह्मचर्यमग्वंछितम् ॥ ११३८ ॥

विजयोदया—सत्त्वमि सर्वस्वोवर्गे । अयमन्त सदा धविभ्वस्त, ब्रह्मवत्सुब्रह्मति चारित्र्य मूल सार ॥
मूलार—२५४४

अर्थ—सपूर्ण स्त्रीवर्गमें जो पुरुष-धुनि सागध रहता है, अविशस्त रहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है यह नक्षत्रचर्य चारित्र्यका मूल और सार है.

। किं मे जेपदि किं मे पस्सदि अण्णो कंठं च वट्ठमि ।

इदि जो सदाणुपेक्खइ सो दढवंमब्बदी होदि ॥ ११०४ ॥

अइ वणें कथं किं मे जन पइयति भापते ॥

खिंता यस्येदही नित्य दृढवत्तवन्नतोऽस्ति सः ॥ ११३९ ॥

विजयोदया—किं मे जेपदि किं जल्पति मा खनोऽन्य । किं पइयति, कीदृशी वा गम वृत्तिरिति य सदानुपेक्षते भसौ दृढनक्षत्रचर्यमतो भवति ॥

ब्रह्मवत्तदाख्योपायमाह—

मूलार—अणुपेक्खदि अनुचितवति ।

अर्थ—लोक में विषयमें क्या बोलते हैं, लोक में तन्फ किस निगाहसे देखते हैं, और मेरी प्रवृत्ति कैसी है ऐसा जो प्रतिदिन बारबार विचार करता है वहाँ दृढ ब्रह्मचारी बन सकता है

मञ्जुषहतिवस्तुरं व इच्छिरूवं ण पासदि चिरं जो ॥

स्त्रिपं पडिसंहरदि य मणं खु सो णिच्छदि बंभं ॥ ११०५ ॥

न पदयत्यंगनारूपं ग्रीष्मार्कमिव यस्त्रिरय् ॥

क्षिप्रं संहरते कृष्टिं तस्य ब्रह्मव्रतं स्थिरम् ॥ ११४० ॥

विजयोक्त्या—मञ्जुसूक्तिकससूत्रं य माध्यान्ते स्थितं तीक्ष्णमाहिर्यमिष स्त्रीणां क्वं चिरं को न पश्यति ।
क्षिप्रमुपसहरति कृष्टिं य स निस्तरति प्रलययै ॥

मूला—स्त्रिपं शीघ्रं । पडिसंहरदि निपतंगति ॥

अर्थ—मन्थान्द्रको प्राप्तं शुष्ण तीक्ष्ण वर्षके समानं जो स्त्रीका रूपं देवचक्रं नहीं देखता है अर्थात् स्त्रीके रूपसे अपनी कृष्टि को नन्दरी हटाता है यही ब्रह्मचर्यका रक्षण कर सकता है-

एवं जो महिलाएँ सदैव रूपे तद्देव संफासे ॥

ण चिरं सज्जति हु मणं णिच्छदि स संततं बंभं ॥ ११०६ ॥

गंधे रूपे रसे स्पर्शे शब्दे स्त्रीणां न सज्जति ॥

जातु यस्य मनस्तस्य ब्रह्मचर्यमलंघितम् ॥ ११४१ ॥

द्विपार्थिव हरिकांता मंथु मीनं पक्षीष । भुजगमिव मथूरी सूर्यिकं वा विह्वली ॥

गिरति निकटवृत्तिः संयतं निर्दया स्त्री । निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयं ॥ ११४२ ॥

प्रथयति भवमार्गं मुक्तिमार्गं वृणक्ति । दधयति शुभशुद्धिं पापशुद्धिं विधत्ते ॥

जनयति जनजल्पं श्लोकशृङ्गं लुनीने । वितरति किमु कष्टं संगतिर्नागनानाम् ॥ ११४३ ॥

इति स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

विजयोक्त्या—एवं जो महिलाएँ एवं को युगतिशब्दे, रूपे, संस्पर्शे च चिरं मनो न सचसेज्जो ब्रह्म विस्तरति ।
संसर्गणी ॥

मूला—सज्जति संघर्षे । स्त्रीसंसर्गदोषाः ॥

अर्थ—इस प्रकार जो स्त्रीका गंध, शुब्द, रूप, रस, स्पर्श, इनमें अपने मनको लगाता नहीं चही ब्रह्मचर्य का पालन निरतिचार करता है-

इहपरलोपु जदि दे मेहुणविसुचिया हवे जणहु ॥

तो होहि तमुबबुत्तो पंचविधे इत्थियेरगो ॥ ११०७ ॥

यदि ते जायते तमुबबुत्तो पंचविधे इत्थियेरगो ॥

उद्योगः पंचया कार्यः स्त्रीवैराग्यं तथा त्वया ॥ ११४४ ॥

विशयोक्त्या—इहपरलोपु यदि इहपरलोके च यदि मेहुणवरिणामो भवेत् । पंचविधे स्त्रीवैराग्ये त्वमुपयुक्तो भव । तमुपयोगविगदपरत्तसाधुनपरिणाम इति चौरुपेयः ॥

यत् वैराग्योपायपचकं प्रपञ्च्य तमुपयोगविषयं निर्दिशन्कथकं वा प्रयुक्ति—

मूलरा—मेहुणवरितोत्थिया मेहुणाधुभतमपरिणामः । इमे जणु भवेत् । इहलोकविषयपरलोकविषयं वा मेहुणं सेविषुमाकाशा यदि तव स्वादिति खपयः । तं त्वम् ॥

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें यदि मेहुण करनेका परिणाम हृदयमें उत्पन्न होगा तो पांच प्रकारके स्त्रीवैराग्यमें से कथक वृद्धि भेदा उद्युक्त हो जिससे तेरा मेहुण परिणाम जो कि अधुभ है नष्ट होगा- ऐमा आचार्य का कथकको उपदेश है-

उदयमि जायवद्विय उदण्ण ण लिप्पदे जहा पउमं ॥

तह विसण्हि ण लिप्पदि साहू विसण्णु उसिओ वि ॥ ११०८ ॥

लिप्पयते वर्तमानोऽपि विषयेषु न तैर्यतिः ॥

पद्मजातं जले बृद्धं जातुं किं लिप्पयते जलैः ॥ ११४५ ॥

विजयोक्त्या—उदयमि जायवद्विय उदके जातं परिबृद्धं च यथा पलं उदकेन न लिप्पयते । तथा न लिप्पयते त्रियदैः साधुर्विषयेषु वर्तमानोऽपि ॥

श्रीवैराग्यभावनापरस्य महात्म्यमाह—

मूढारा—उसिद्धो वि चतुर्मानोऽपि ।

अर्थ—जलमें उत्पन्न होकर वहां ही वृद्धिगत हुआ ऐसा कमल जैसे पानीसे अलिप्त ही रहता है, वैसे साधु विषयमें रहकर भी—उन विषयोंमें रहकर भी उन विषयोंसे अलिप्त रहते हैं, चात्पर्य यह है कि, वे पंच प्रकारके वैराग्य कारणाँका बराबर विचार करके अपने हृदयके सिंहासन पर वैराग्यको इस बिठाते हैं, जिससे वे विषयोंसे अलिप्त रह सकते हैं.

उत्पादितस्तुदधि अच्छे रमणोच्छ्रणं जह जलेण ॥

तह विसयजलमणोच्छ्रणमच्छेरं विसयजलहिमि ॥ ११०९ ॥

विषयवैविष्ट्यस्य चिन्तनस्पर्शनं यतेः ॥

सागरं गाहमानस्य सलिलैरिव जायते ॥ १११० ॥

वित्तयोदया—भोगार्थितस्तुदधि अकलाहमानस्योदधि आश्रयं यथा जलेनास्पर्शेन । तथा विषयजलेनार्द्र-
चित्ता आश्रयं विषयजलचिन्तनस्पर्शनासीनस्य ॥

विषयपरिकरितस्य विषयैरलभिष्वगे विसर्गं भाषयति—

मूढारा—उत्पादितस्तु हयमानस्य । अच्छेरं आश्रयं अणोच्छ्रणं अन्तरीकरणं । अस्तसैतम् । विसयजलचिन्ति
विषयवैविष्ट्यस्य लीवैराग्यभावनापरस्य साधोर्विषयजलनाद्रीकरणमाश्रयमित्यर्थः ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष समुद्रमें अग्राहल करके भी यदि जलस्पर्शमें अलिप्त रहेगा तो वह आश्रयकारक
यात समझनी चाहिये, वैसे विषयसमुद्रके बीचमें अग्राहन करके भी विषयजलमें चिच अलिप्त रहना आश्रयकारक है.

मायागहणे बहुदोससावए अलियदुमगणे भीमे ॥

असुइतणिछे साहू ण विप्पणस्संति इत्थिवणे ॥ १११० ॥

न दोषदत्तापदे श्रीमे वंचनागहने यतिः ॥
नश्यति स्त्रीवनेऽलीकपादपेऽशुचितारुणे ॥ १११७ ॥

विजयोदया—मायागहने यथा गहन परेषा दु प्रेषा एव मायापि परेतुर्धिममेति मायापि गहनमिदुल्लभते । मायागहनं यस्मिन्मे तन्मायागहनं तस्मिन् । बहुलोसत्तावदे बहुलो दोषा बहुदोषा, असूया, पिशुनता, चपलता, भीरुता, नितर्य प्रमत्ता चेत्येवमादयस्तैः व्यापदा यस्मिन् । अलिगदुमगणे यथा दुमो मदाननेकतातोपशापाकुलश्च तद्रघुलोक्ता दुमगणो यस्मिन् । श्रीमे भयकरे । अशुचितारुणित्वे अशुचितण्डुले । यतयो न विप्रजस्यन्ति स्त्रीवने ॥

योपिदृढवामविभ्राव्यतः साधुप्रकाशयति—

मूलारा—मायागहने मायैव परमदुर्गमत्वाद्गहनं क्वादिगुरुमजालं यत्र । बहुलोसत्तावदे बहुलो दोषाश्चास्या-
वैश्वर्यचापलभीरुत्वप्रमत्तत्वादयः । ते व्यापदा व्यापादयो यत्रावियास्तिप्रसरत्वात् । अलिगदुमगणे अलीकमसत्त्वं वच-
स्तवेव दुमगणा यत्र अनेकशालोपशरासकुलत्वात् । अशुचितण्डुले अशुचीनि देशंगोपांति तान्येन गुणानि निरंतर
प्रसूतत्वात् तैर्दुताः । न विभ्रमयसंति न विभ्रम्यन्ति । दिदृमूढा न मयन्तोत्यर्थः ।

अर्थ—यह स्त्रीवचन मायासे गहन हुआ है अर्थात् जैसे गहन वनमें प्रवेश करना कठिन है वैसा इस मायाका स्वरूप जाननाभी बड़ा कठिन है अतः माया भी गहन कहलाती है. इस स्त्रीवनमें यह माया गहन है. जैसे वन सिंहव्याघ्रादि क्रूर प्राणिओंसे व्याप्त रहता है वैसे स्त्रीवन भी अनेक दोषरूप व्यापदोंसे व्याप्त हुआ है. इस स्त्रीवनमें अस्या-दूतोंके गुण सहन न होना, चुगली करना, चंचलपना, दरपोकपना, और अत्यंत उन्मत्तता इत्यादि दोषरूप क्रूर प्राणी इस स्त्रीवनमें निचरते हैं. जैसे वृक्ष बड़ा होता है, उसको आत्मा उप-
शाखाएँ रहती हैं. वैसे स्त्रीवनमें असत्य भाषणरूप वृक्ष अपनी अनेक शाखा उपशाखाओंसे बढ गये हैं, यह स्त्रीवन भयकर है इसमें अपवित्रतास्त्री वृण ऊगता है. परंतु ऐसे स्त्रीवनमें जितेन्द्रिय तपस्वीगण दिदृमूढ नहीं बनते हैं ।

सिंगारतरंगाएँ विलासवेगाएँ जोन्वणजलाएँ ॥

बिहसियेकणाएँ सुणी गारिणईएँ न मुड्यंति ॥ ११११ ॥

‘हरियुगारकल्लोला यौवनाम्बुवर्धनदी ॥

अ विलासास्पदा ह्रासफेना वहति संगतम् ॥ ११४८ ॥

चिजयोदया—सिंगारतरंगार शृंगारतरंगया, विलासवेगया, यौवनजलया, बिहस्तिफेनया, नारीनया मुनिर्जो-

भागे ॥

मुनेः क्षीतदिवप्रयत्नमाह—

मूलारा—सिंगार सौमिगसंस्कारः । न वृक्षीति नोद्गन्ते ।

अर्थ—स्त्री नवकिं तुल्य है. नदीमें तरंग, वेग, शानी, फेन, इतनी बातें रहती हैं. इस स्त्रीरूपी नदीमें शृंगाररूपी तरंग हमेशा उछलते रहते हैं. विलासरूपी वेगसे यह बहती है. तारुण्यरूपी जलसे भरी हुई है और बंदहासरूपी फेनसे यह ब्याप्त हो रही है. ऐसी स्त्रीरूपी नदी जितेन्द्रिय मुनिओंको नहीं बहा सकती है.

ते अविस्तरा जे ते विलाससलिलमदिचबलरदिवेगं ॥

जौब्बजणईसु तिण्णा ण य गहिया इच्छिगाहेहिं ॥ ११४९ ॥

विलाससलिलोत्तीर्णां ऐस्तीन्ना यौवनायगा ॥

अग्रस्ताः प्रमदाग्राहैस्ते वन्या मुनिपुंगवाः ॥ ११४९ ॥

विनयोदया—जे अविस्तरा ते अतिश्रुतः । ये विलाससलिलां मतिवपस्तरतिवेगां, यौवननदीमुत्तीर्णाः, न न युद्धिता युवतिग्राहैः ॥

नौविष्याह्वायविरहेण तारुण्यवरंगिणीमतिअग्न्याग्रयौसधि—

मूलारा—स्पष्टम्—

अर्थ—यह यौवनरूप नदी विलासरूपी पानीसे और अतिशय बंचल रतिरूपवेगसे युक्त है. इस नदीमें तरुण स्त्रीरूपी मगर रहते हैं. परंतु जिन मुनिराजोंको स्त्रीरूप मगरने नहीं पकड़ा है वे मुनिराज इस जगतमें वन्य हैं. ऐसे मुनिराज ही अतिशूर सम्मने चाहिए.

महिलाबाह्विमुक्ता विलासपुंवखा कडक्कदिदिसरा ॥

जण्ण चिधंतीह सदा विस्सयवणे सो हवह् धण्णो ॥ १११३ ॥

धन्यं स्त्रीव्यावनिर्मुक्ताः कटाक्षोक्षणसायकाः ॥

चिभ्यति विपयारण्ये वर्तमान न योगिनम् ॥ ११५० ॥

विलज्जोदया—महिलाबाह्विमुक्ता युवतिव्यावविमुक्ता । विलासपुंवखा, कटाक्षदिदिसरा । ये न प्रीति सदा विपयवने जगत भवति स भग्य ॥

कामिनीकटाक्षनिरीक्षणाब्धोऽयमणमनस्कमभिष्टौति—

मूलारा—वाह व्याधः । ण चिधंति न निम्बति ।

अर्थ—स्त्रीरूपी पारधीके द्वारा छोड़े गए कटाक्षरूपी बाण विपयवनमें प्रमण करनेवाले जिस महात्माका घात नहीं करते हैं वे इस जगत में धन्यताके पात्र हैं,

विज्योगतिस्खंदतो विलासखंधो कडक्कदिद्विणहो ॥

परिहरदि जोव्वणवणो जमिथिवयो तगो धण्णो ॥ १११४ ॥

न विज्योकरदोऽभ्येति विलासनलरो मुनिम् ॥

कटाक्षक्षोऽगनाव्याघस्तारुण्यारण्यवर्तिनम् ॥ ११५१ ॥

विज्योदया—विज्योभतिपयवतो विलासकपो विश्रमतीक्ष्णदतो विलासकथ कटाक्षदिदितय परिहरति ये युवतिव्याघ्र ॥ धन्य ॥

योगतमिगम्यमभिनंदति—

मूलारा—विज्योग भूयुगातपिकरः । विलास नेत्रविकारः । कटक्कदिद्वी अपमगनिरीक्षणं । तगो सः ।

अर्थ—जो हावमारूपी तीक्ष्ण दाढाओंसे युक्त है विलासरूपी बाहु जिसके हैं, कटाक्षरूप नखों को घारण करनेवाला यह तस्त्रीरूपी व्याघ्र तारुण्यवनमें विचरनेवाले जिन माहात्माओंको एकदता नहीं वे महात्मा धन्य हैं,

तेहोक्काडविडहणो काममगी विसयस्वस्वपल्लिओ ॥
 जोब्बणतण्हिचारी जे ण डहइ सो हवइ घण्णो ॥ १११५ ॥
 त्रिलोकदाही विपयोद्धतेजाः । तारुण्यतृण्याज्वलितः स्मराग्निः ॥
 न प्लोपते ये स्मृतिधूमजालः । स वंदनीयो विदुषा महत्मा ॥ ११५२ ॥

विजयोदयाः—तेहोक्काडविडहणो ब्रँलोष्यादाविदहनः । कामाग्निसिधियवृक्षे प्रज्वलिते गौचनलणसंवरणघतुरं
 यथा ब्रह्मसौ धन्यः ॥

कामरत्ननादाहं दोसति—

मूलरा—तण्हि तृणं । तृण्या या तत्र चरत्यभीक्ष्णमिति । अन्ये गौचनतृण्याचारिणं ये न ब्रह्मवीति प्रतिपन्नाः
 द्वितीयाधे प्रथमाभिधानात् । उक्तं च—

त्रिलोककानननोदाही यानमिर्ज्वलितस्वराम ॥

गौचनोदचरुण्यासर्थं धन्यं ब्रह्मति नो नरं ॥

अर्थ—यह कामाग्नि विपयरूपी धूमोंका आशय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रैलोक्यरूपी यनको यह कामा
 ग्नि जलानेके लिये उद्युक्त हुआ है, परंतु तारुण्यरूपी घृणपर संचार करनेवाले अग्नि महात्माओंको यह जलानेमें
 असमर्थ हैं ये महात्मा धन्य हैं—

विसयसमुद्रं जोब्बणसल्ले हसियगइपेविस्वदुम्भीयं ॥

घण्णा समुधरंति हु महिलाभयरेहिं अचिच्छक्का ॥ १११६ ॥

विपुलयौवननीरमनाकुलो विपयानीरनिधिं रतिचीविकम् ॥

इह वधूसकरैरकदर्थितस्तरति धन्यतमः परदुस्तरम् ॥ ११५३ ॥

इति चतुर्थं व्रतम् ॥

विजयोदया—विसयसमुद्रं विपयसमुद्रं । यौतन्मसल्ले हसनममन्योक्षणतरंगनिचितं । धन्याः सम्युद्युक्तरंति
 युवतिमकरैरस्पृष्टाः ॥ चतुर्थं व्रतं व्याख्यातं ॥ चतुर्थं ॥

ष्टेन्द्रियाणां नुब्धतां स्त्रीभिरगतिर्वचं प्रतिवर्णयति—

नूढारा—इति दृग्गदिवत्सदुन्मीयं ह्यतिगमनभक्षणतरंगं । अच्लिषा अस्पृष्टाः । अद्वचर्यन्तम् ॥

अर्थ—यह विषयसमुद्र यौवनरूपी जलसे भरा हुआ है। स्त्रियोंका भेदहास, गमन, कटाक्ष फेंक कर देलना येही इसमें तरंग हैं। जो महात्मा स्त्रीरूपी भगवत्सु ग्रसित न होकर इस विषयसमुद्रको तीर कर जाते हैं। वे ही स्तुतीके पात्र अर्थात् धन्य हैं। चतुर्थं ब्रह्मचर्यमहाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ।

पञ्चमसहस्रव्रतविरूपणायोक्तप्रत्येकः—

अब्धमंतरयाहिरपु सखे गंधे तुमं विवञ्जेहि ॥

कदकारिदण्डुमोदेहिं कायमणवयणजोगेहिं ॥ १११७ ॥

याद्यमाभ्यन्तरं संगं कृतकारित्तमोदनः ॥

विमुंक्षस्य सदा साधो ! मनोवाफायकर्मभिः ॥ ११५४ ॥

यिज्ञयोदया—अब्धमंतरयाहिरमे अभ्यन्तराग्राह्यांश्च । सखे गंधे सयोगंधान् । तुमं विवञ्जेहि यत्नं भयान् । कदकारिदण्डुमोदेहिं कृतकारित्तमोदेहिः । कायमणवयणजोगेहिं कायेन मनसा यावा यत् ॥

एवं ब्रह्मचर्यव्रतं व्यावर्त्य संग्रतं अपरिग्रहाख्यं पंचमं महाव्रतं गाथापंचपट्या प्रवर्धेन न्यायर्णयितुकामः प्रथमं तेर्मेत्यर्थं प्रति क्षपकं प्रयोजयति—

मूळारा—अब्धमंतरयाहिरपु अभ्यन्तराग्राह्यांश्च । गंधे गरिमहान् । तुमं त्वं ॥

अथ पांचवे परिग्रहपरित्याग महाव्रतका आचार्य विस्तारसे निरूपण करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक ! तुम संपूर्ण अंतरंग और चंद्रिग परिग्रहोंका मन, वचन, और शरीरसे तथा कृत, कारित और अनुमोदनसे अर्थात् नऊ प्रकारोंमें त्याग करो।

तत्राभ्यन्तरपरिग्रहमेदं निरूपयति याथा—

मिच्छत्सेवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा ॥

चचारि तह कसाया चउदस अब्धमंतरा गंधा ॥ १११८ ॥

एकत्रियद्वयतुःसंख्याः सगाः सति चतुर्दश ॥ ११५५ ॥

विजयोक्त्वा—मिच्छसेधेरगत वस्तुयागात्प्रयच्छानं मिथ्यात्वं, धेवशब्देन स्त्रीपुंल्लिङ्गसकृद्व्याख्यानां कर्मणां प्रदणं । तज्जनिताः स्यादीनां अन्योन्याविषयतायाः स्त्रियः पुंसु रागः । पुंसो ब्रुवन्ति, नपुंसकस्योभयत्र । हस्तादिना य छद्मेता हास्ये, रतिरतिः शोको, भयं ब्रुवन्ति । एते षट्दोषाः । चत्वारि तद्द कस्याया चोद्भव अन्तरेण गंधा । चत्वारस्तथा कृपायाश्चतुर्दशैते अन्तरेणः परिग्रहाः ॥

किंकोऽभ्यन्तरगंधा भयनीलत्राह—

मूलात्—यैदः स्त्रीपुंल्लिङ्गसकृद्व्याख्याः कर्मभिर्जनिता रागाः । स्यादीनामन्योन्याविषयाः प्रीतयः । स्त्रियाः पुंसु रागो, मैथुनसंशोद्धोषः, पुंसः स्त्रीपु । नपुंसकस्योभयत्र च । हासादिया हास्यादिकाः । हास्यं रतिरतिः, शोको, भयं, ब्रुवन्ति । हासादिना य छद्मेता हास्ये, रतिरतिः शोको, भयं ब्रुवन्ति । एते षट्दोषाः । चत्वारि तद्द कस्याया चोद्भव अन्तरेण गंधा । चत्वारस्तथा कृपायाश्चतुर्दशैते अन्तरेणः परिग्रहाः ॥

अन्तरंग परिग्रहोका वर्णन—

अर्थ—बीधादि षट्कार्यैके सत्य स्वरूपपर श्रद्धान न करना मिथ्यास्य है, स्त्रीवेद, पुल्लवेद और नपुंसक वेद ऐसे वेदकर्मके तीन भेद हैं, स्त्रीवेद कर्मका उदय होनेसे जीवकी पुरुषमें अभिलाषा होती है, पुल्लवेद का उदय होनेसे स्त्रीमें अभिलाषा होती है, नपुंसक वेदसे स्त्री और पुल्ल दोनोंमें अभिलाषा होती है, हास्य, रति, अरति, शोक्, भय, ब्रुवन्ति, ऐसे षट् दोष हैं, क्रोध, भान, माया और लोभ ऐसे चार कृपाय हैं, सब मिलकर अन्तरंग परिग्रहक बोद्ध भेद होते हैं।

बाहिरसंगा खेत्तं त्रयं घणघणकुप्यभंडाणि ॥

दुप्यचउपप्य जाणाणि चेव सयणासणे य तथा ॥ १११९ ॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ॥

यानं शय्यासनं कुप्यं भंडं संगं बहिर्दश ॥ ११५६ ॥

विजयोक्त्वा—बाहिरसंगा बाह्यपरिग्रहाः । त्रयं कर्मणावधिकरणं । त्रयं वास्तु ग्रहं । धान्यं सुयर्णादि । धनं पान्यं प्रीत्यादि । कुप्यं कुप्यं वस्त्रं । भंडं भंडशब्देन दिगुमरिचादिकमुच्यते । दुप्यचउपप्य द्विपदशब्देन दातृदासीदुल्लवर्णादि । चतुष्पय भजतुस्यादयश्चतुष्पदाः । जाणाणि शिविकाविमानादिकं यत्नं । सयणासणे भयनानि आसनानि च ॥

बाह्यार्थधाः कति सन्तीत्याह—

मूढारा—हेतुं कर्षणाद्यधिकरणं । तस्य वास्तु गृहं । धण धनं ग्रामसुवर्णादि । धुप्य धान्यं त्रीणादि । कुप्य कुप्यं वस्त्रकंवचादिकं । भंड भांडं हिम्यमरीचादिकं । दुपद द्विपदं दासीदासादिमुल्लवर्गादि । चउणद चतुष्पदं गजगुरगादि । जाणणि यातं शिक्षिकानरविमानादि । सवणासणाणि दम्प्याविष्टरादि । म्ते दस ॥

अर्थ—बाह्य परिग्रहके दस प्रकार हैं. उनका सुल्लासाः—
 वत्थ—वास्तु घर. धण—धुयर्णादि धातु. धान्य—चावल, गेहू, चना वगैरह. कुप्य—वस्त्र. भांड—हिम, मीरु वगैरह. दुपद—दास, दासी, नोकर वगैरह. चउण्य—दासी, घोडा, बैल इत्यादि. जाण—यान—पालखी, विमान इत्यादि. शयन—विद्याना. आसन—पलंग वगैरह. ये दस प्रकारके बाह्य परिग्रह हैं.

बाह्यमष्टमनिराकृत्याभ्यंतरकर्ममलं क्षानदशोनसम्यक्त्वचारिषवीर्यान्वाद्यथत्वानामात्मगुणानां छावने स्थापनं न निराकर्तुं शक्यते इत्येतदुपशान्तमुक्तेनाचष्टे—

अहं कुंडओ ण सक्को सोघेदुं तंदुलस्स सतुमस्स ॥

तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥ ११२० ॥

नाभ्यन्तरः ससंगस्य साधोः शोचयितुं मलः ॥

शक्यते सतुपस्येव तंदुलस्य कवाचन ॥ ११५७ ॥

विजयोदया—अहं कुंडओ ण सक्का उपसद्धितस्य तंदुलत्वान्तर्मलं । पाहो हुयेऽसपनीति यथा शोचयितुमशक्यं । तथा बाह्यपरिग्रहमलसंसक्तस्याभ्यंतरकर्ममलं अशक्यं शोचयितुमिति आध्यायः । सपरिग्रहस्य कस्माच्च कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्वये बाह्यपरिग्रहमलेनोच्यते । तौ च सर्वदा संबंध साविहिताविति येषक एवायमात्मा स्यादिति एवं च सुवस्यमाय इति चोदिते, न तयोः संघर्षहेतुरपि तु लोभादयः परिणामाः । लोभादिपरिणामहेतुकं बाह्यद्रव्यग्रहणं ।

तनु ण मिध्यात्वादयोऽन्तरंगसंगा एव जीवस्य कर्मवर्षणे हेतुबलत्किमर्थं वद्विरसंगपरित्यागोऽयमुपदिश्यत इति पर्यनुज्ञानं प्रत्याह—

सूजारा—कौंडलो अन्तर्मलः । कुकुस इति यावत् । ण सक्को न शक्यते । सोघेदुं निराकर्तुं । संगसत्तस्स बाह्य-परिग्रहादसक्तस्य । बाह्यद्रव्यग्रहणस्य लोभादिपरिणामहेतुकत्वाद्दोषादिपरिणामस्य चापरापरकर्मवर्षणविर्यथन्त्यत्र केना-

पुण्येन सर्वयथागतः कर्मोच्छेदः कर्तुं शक्यते इति भावः ॥

नाह मल जलक दूर न किया जानेगा तबतक ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य और अन्याबाधत्य वर्गरे आत्मगुणोंको दमनेवाला अंतरंगमल दूर करता अशक्य है इसका उद्घात द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्थ—ऊपरका छिलका निकाले बिना चावलका अंतरंग मल नष्ट नहीं होता है, वैसे बाह्यपरिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है ऐसे आत्मका कर्ममल नष्ट होना शक्य नहीं है, ऐसा इस ग्राथका अभिप्राय है,

प्रश्न—परिग्रहसाहित जीवको मोक्षकी प्राप्ति क्यों होती नहीं ? जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य के बाह्य परिग्रह हैं और ये दो द्रव्य हमेशा रहते ही हैं इसलिये यह आत्मा सर्वकाल कर्मबधसे बद्ध ही रहेगा, और सर्वकाल बद्ध होनेसे उसको मुक्ति का अभाव ही होगा,

उत्तर—जीव और अजीवका संबंध रहना परिग्रह नहीं कहलाता है, परंतु लोभादिक परिणाम फलका संन्य होनेमें निमित्त होते हैं जब आत्मा लोभादिपरिणामोंसे युक्त होता है तब बाह्य परिग्रहका ग्रहण होता है इसलिये जो मनुष्य बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है यह मनमें लोभादिक परिणामोंके बिना ग्रहण नहीं करता है, अर्थात् लोभादिक विकार जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब आत्मा बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है

अतो यो बाह्यपुण्यद्वेषः परित्यागमत्तरम् तेनादत्ते इति वदति—

रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा ॥

तो तइया वेत्तु जे मंघे बुद्धी णरी कुणइ ॥ ११२१ ॥

उबीयते यया लोभो रागः संज्ञा च गारय ॥

शरीरी कुलते बुद्धिं तदादातुं परिग्रहम् ॥ ११५८ ॥

विजयोदया—रागो लोभो मोहो मोक्षो मोक्षो राग, द्रव्यभक्तगुणासक्तित्वेन, परिग्रहेच्छा मोक्षो । ममेष्ट भाव सदा । किंचित् प्रम भयति योमनमिति इच्छाशुभ्यं क्षन्त । लोभोऽग्नित्वो य परिग्रहगत स गोरवप्राद्वेलोप्यते । एते यदीरिता परिणामास्तत्र ग्रथान्वाक्षान् प्रतीक्षु मन करोति नान्यथा । तस्मात्तो बाह्य ग्रहाति परित्यजे स नियोगतो लोभाद्यनुगमपरिणामवन्नेति कर्मण्य वषट्को भवति । ततस्तत्त्वत्वा परिग्रहा ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लोभो ममेवं यावः । रागो ममकारजोऽस्तीक्ष्णमाणद्रव्यगतासक्तिः । सञ्ज्ञा संज्ञा उपकरणदर्श-
नोपयोगाज्जायमाना परिग्रहेच्छा यदि किञ्चिन्मम भवति शोभनं इति इच्छादुगतं तथा ज्ञानमित्यर्थः । गारवाः परिग्रह-
गतास्तीव्राभिलाषाः । उदिष्णामि उदितानि । ते वान् वास्तानित्यर्थः । उक्तं च—
लोभरागौ तथा संज्ञागौरवे व्यक्ततां गते ॥

यदा तथा चाहियंयान्मदीनुं कुरुते मति ॥

तस्माद्यो बाह्यं गृह्णाति परिग्रहं स नियोगतो लोभाद्यशुभपरिणामयानेवेति कर्मणां बंधको भवति । तत्तस्या-
ज्या एव बाह्याः परिग्रहाः । कर्मबंधनिबंधनमूच्छांनिमित्तत्वात् । तथा चोक्तम्—

मूच्छांलक्षणाकरण्यात्सुचदा ज्यासिः परिग्रहत्वस्य ॥

समंबो मूच्छांवाग्विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥

यद्येवं भवेति तथा परिग्रहो न रतु कोऽपि बहिरंगः ॥

भवति नितरां यतोऽतौ धत्ते मूच्छांनिमित्तत्वम् ॥

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्तेति चेद्वेदेष्टव्यम् ॥

यस्मादकणयाणां कर्मग्रहणे न मूच्छांतिव ॥

इती अभिप्रायका आगेकी गाथा खुलासा करती है—

अर्थ—रागभाव, लोभ, और मोह जब मनमें उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मामें बाह्य परिग्रह ग्रहण कर-
नेकी बुद्धि उत्पन्न होती है. अन्यथा नहीं. यह मेरा है ऐसा भाव मनमें उत्पन्न होना उसको राग कहते हैं.
पदार्थोंके गुणोंमें असक्ति होना ही लोभ कहलाता है. परिग्रहमें इच्छा उत्पन्न होना मोह कहा जाता है. ये पदार्थ
मेरे हैं और अच्छे हैं ऐसा अभिप्राय रहना संज्ञा है. परिग्रहोंमें तीव्र अभिलाष उत्पन्न होना गौरव कहलाता है. ये
परिणाम जब आत्मामें उत्पन्न होते हैं तब यह आत्मा परिग्रहमें अपना मन लगाता है. उपर्युक्त परिणाम जब
आत्मामें उत्पन्न नहीं होते हैं तब परिग्रहका ग्रहण करनेमें वह उद्युक्त नहीं होता है. इसलिये लो बाध परिग्रह ग्रहण
करता है वह नियमसे लोभादिक अशुभ परिणामोंसे विरा हुआ है ऐसा समझना चाहिये. अतः उसको कर्मबंध

होता है. जिसका मन कर्मबंधमें प्रयत्नीत है वह परिग्रहका त्याग करे ? यह परिग्रहका त्याग मनमें आया तब किया अन्यथा नहीं किया ऐसी स्वेच्छाचारप्रवृत्ति योग्य नहीं है. निश्चयसे परिग्रहका त्याग करना चाहिये.

■ च परिग्रहस्याग्रे न स्वमनीषिकाचारचित्तोऽपि तु मिश्रयेन कर्तव्यत्वोपदिष्ट इत्याचष्टे—
चेलादिसत्त्वसंगञ्चाओ पढमो हु होदि ठिदिफणो ॥

इहपरलोइयदोसे सत्त्वे आवह्दि संगो हु ॥ ११२२ ॥

ग्रंथो लोकदूषे वोंपं विषयानि यतेस्ततः ॥

स्तिपतिकल्पो मतः पूर्वं चेलादिग्रंथमोचनः ॥ ११५९ ॥

विजयोदय—चेलादिसत्त्वसंगचाओ इति वसतिषा हि स्थितिकल्पा निरूपिता अचेलादयः । तत्र आचेलक्यं नाम चेलाग्रचलाओ न भवति । किंतु चेलादिसत्त्वसंगत्यागः प्रथमः स्थितिकल्पो दशानामायाः । इहपरलोमिनयोसे देहिकामुदित्रांय वीपानायइति परिग्रहो, यत्माचसत्त्वमहदगतवोपपरिहारेणावत्यता सकलाः परिग्रहस्त्वाज्याः । इति भागः ॥

स च बाह्यपरिमहत्याओ च स्वमनीषिकाचचित्तोऽपि तु मिश्रयेन कर्तव्यत्वोपदिष्ट इत्याचष्टे—

मूलाप—पढमो मायुफानामाचेलक्यादिस्थितिकल्पानां दशानामायाः । हि नियमेत । इहपरलोइयदोसे देहिका-
नामुदित्रांय वीपानवकारकथमर्था । हु यस्यात् । तस्माज्जन्मद्वयगतवोपपरिशारे आपरवया सकलः परिग्रहस्त्वाज्य
इति भागः ॥

अ(गममें परिग्रहका त्याग करनेका उपदेश किया है वह इस प्रकार—

अर्थ—आचेलक्य, उद्देशिग्र वगैरह दस प्रकारका स्थितिकल्प पूर्वमें कहा है. आचेलक्य नामक कल्पमें वस्त्रकाही त्याग करनेका उपदेश दिया है ऐसा नहीं किंतु यस्यादि सर्व परिग्रहका त्याग अचेलक्य शब्दका अर्थ है. 'आचेलक्य कल्प' दस कल्पोंमें प्रथम मिला है. परिग्रहसे इहलोकसंबंधी और परलोकसंबंधी दोष उत्पन्न होते हैं. परिग्रहसे यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा संकल्प जिस चीजमें दोता है उसका संरक्षण करना, संस्कार करना इत्यादिक कार्य करने पडते हैं. स्थानादिक करते समय हिंसा होती है. उसके लिये शूद्र बोलता है. चोरीमी करता है. मेशुनकार्यमें प्रवृत्ति करता है. इस वसिष्ठसे अशुभ परिणाम होते हैं. नरकादि दुर्गतिका बंध होता है. और

उसका फल नकादिगतिओंमें विविध दुःखरूप प्राप्त होता है, दुःखलोक और परलोकके दोनोंका परिहार हो ऐसी अभिलाषा लिनके मनमें उत्पन्न हुई है वे संपूर्ण परिश्रमोंका त्याग करे. ऐसा इस विवेचनका अभिप्राय है.

भुतं चेत्परित्यागमेव सुखयति आचेलकमिति न इतरस्यामभित्यागोकायामाचरे—

देसामासियमुत्तं आचेलकंति तं सु ठिदिकप्पे ॥

लुत्तोत्तय आदिसहो जह् तालपलंबमुचम्मि ॥ ११२३ ॥

उवेशामर्योक्तं सूत्रमाचेलकमिति स्थितम् ॥

लुत्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रालम्बसूत्रवत् ॥ ११६० ॥

विजयोवपा—देसामासियमुत्तं परिग्रहेकदेशामर्योकारित्वं आचेलकंति आचेलकमिति । तं सु तत् । ठिदिकप्पे स्थितिकल्पे वाच्ये प्रवृत्तं सूत्रं विरोगतो मुमुक्षुर्वा यत्कर्तव्यतया स्थितं तस्मिन्मुच्यते स्थितिकल्पः । स्थितप्रकारः । यत्तुल्यं भवति—चेत्तद्वद्वत् परिग्रहेणलक्षणं, तेन सकलप्रपञ्चस्याम आचेलकमशब्दस्यार्थ इति । तालपलंबं वा कप्पदिति सूत्रे तालवाच्यो न तद्विशेषवचनः किंतु यत्रस्पष्टेकदेशस्तद्विरोध उपलक्षणाय यत्रस्तीर्त्ना युहीते । तथा चोक्तं कन्ये—

हरिततपोस्तद्दिगुच्छा गुग्मा यहील्लस य कप्पया य ॥

यत्तं वणस्पृशीओ तालोदेसेन चादिह ॥

इति । तालेदि वलेद्विचिय तलेप आदेस्ति उस्तिदो वस्ति ॥

तालादिजो तद्विचियवणस्पृशीणं द्ववि पासे ॥

प्रलंबं त्रिविधं मूलप्रलंबं, अन्नप्रलंबं च । कंदमूलकलायत्तं, भृगुमुमवोशिकंदमूलप्रलंबं, अंकुरप्रपालफलपत्राणि अन्नप्रलंबाणि । तालस्य प्रलंबं तालप्रलंबं यत्रस्पृशेत्तुरादिकं च लभ्यते इति यथा सूत्रार्थतोषदापीति मन्यते । भयवा लुत्तोय आदिशब्दो लुत्तोय सूत्रे चादिशब्दः । अचेलकमिति प्राप्ते । यथा तालपलंबमुचम्मि यथा तालप्रलंबसूत्रे । तालादीति वाच्यप्रयोगानुसृत्या तालपलंबमिति युक्तं । तथाचोक्तं सिद्धांतमिति निश्चयेनैव सूत्रकोरण देशामर्योक्तसूत्रं हेतुतत्तुतं । नादिशब्दलोपोऽत्र तालप्रलंबसूत्रे न तु देशामर्योक्तं भवतीति ॥

ननु च आचेलकवृद्धसिध इत्यादि सूत्रे यश्चमात्रत्याग एव ज्ञायते भुतत्वाच्च पुनरितरस्यागस्तद्वचमुच्यते “चेलादि सज्जसंगन्धालो पत्तमो ॥ होदि ठिदिकप्पो ॥ इत्यत्राह—

मूलरा—देसामासिय इत्यादिस्थितिकल्पे वाच्ये तत्रप्रथमतयाविष्टमाचेलकमिति सूत्रं देशामर्योक्तं । वाह-

परिमहैकदेशस्य चेलस्य परामर्शकं बालपरिग्रहाणमुपलक्षणाथ दणार्त्तं । यथा तालप्रलंबं च कल्पद्विष्टि सूत्रे तालप्रलंबो वनप्रत्येकदेशस्य तरुविशेषस्य परामर्शको वनप्रतीतो उपलक्षणाथ गृहीतः । तथा चोक्तं कल्पे—हरिवतणोसधियुक्तागुम्मा वल्ली लदा य रुक्ता य ॥ एवं वणफ्फदीओ बालायेसेण आदिट्ठा ॥

तालवि दलेदित्तिव तलेय जम्बोत्ति वरियदो वत्ति ॥

तालादिणो वरत्तिय वणफ्फदीणं दवदि णामं ॥

तालस्य प्रलंबं तालप्रलंबं । प्रलंबं च द्विविधं मूलप्रलंबं, अप्रप्रलंबं च । तत्र मूलप्रलंबं भृग्यनुमवेदि कंद मूलकुट्टादिकं । ततो अग्न्यवद्य प्रलंबं अंशुमप्रबालपत्रपुष्पफलादिकं । वनस्पतिकंदारिकमनुभोक्तुं निर्णयानामादीनां च न युज्यते इति । यथा । तालप्रलंबं च कल्पद्विष्टि इत्यत्र सूत्रेऽर्थेस्ताथा सकळोऽसि बाक्काः परियदो मुमुक्षुणां प्रदीतुं न युज्यते इत्यचेलकेति सूत्रेऽर्थे इति तात्पर्यं । अथवा हस्तोत्थ आदिसदो छुमोऽत्रादिसदः । अत्र आचेलक्येति सूत्रे ताल प्रलंबं सूत्रवर्गादिशब्दो छुमो योद्धव्यः । यथा तालादीनि शब्दप्रयोगमकृत्वा तालप्रलंबमित्युक्तं । तथा आचेलक्यमित्येव शब्दप्रयोगमकृत्वा आचेलक्यमित्युक्तं इत्याशयः । अन्ये त्वेवं प्रतिपन्नाः देसो मूच्छालक्ष्यस्य अंतर्गतवहिरंगभेदभिन्न- दय परिमहरतैक्वेसो बाक्काः परिग्रहः तत्परामर्शकमाचेलक्यमिति सूत्रं कर्तव्यवयावधारितं । अेषं सनानं । तथा चोक्तं—

तदेसानर्गकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ॥

छुमोऽभयवदिसन्वोऽत्र तालप्रलंबसूत्रपत् ॥

आचेलक्य शब्दका अर्थं वल्लमात्रका त्याग ही है ऐसा आगमका अभिप्राय है इतर परिग्रहका त्याग करना चाहिये ऐसा आगम कथना नहीं है. इस शंकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—दस प्रकारके स्थिति कल्पोंमें से आचेलक्य नामक पहिला स्थितिकल्प है. आचेलक्य शब्द परिग्रहके एक देशका विचार दिखानेवाला सूत्र है. मुनियोंके स्थिति का-कर्तव्य कर्मका प्रतिपादन करनेवाला यह सूत्र है. इसलिये इसको स्थितिकल्प कहते हैं. आचेलक्य अर्थात् नग्नता धारण करना मुनिका कर्तव्य ही है इसलिये इसको स्थितिकल्प कहते हैं. इसका अभिप्राय यह है— चेल शब्द परिग्रहका उपलक्षण है. अतः चेल शब्दका अर्थ अर्थ वल्ल ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहोंका भी ग्रहण करना चाहिये अर्थात् आचेलक्य शब्दका अर्थ वल्लका त्याग इतनाही नहीं है किंतु वल्लत्यागके साथ अन्य संपूर्ण परिग्रहका त्याग माना जाता है. इसके लिये

आचार्यने तालपलंघका उदाहरण दिया है- तालपलंघ इस सामासिक शब्दमें जो ताल शब्द है उसका अर्थ तादका वृक्ष इतनाही लोक नहीं समझते हैं किंतु वनस्पतिको एकदेशरूप जो तादका वृक्ष वह वनस्पतिओंका उपलक्षण रूप समझकर उससे सम्पूर्ण वनस्पतिओंका ग्रहण करते हैं-

सत्यनामक ग्रंथमें इन विषयमें ऐसा कहा है—

‘हरिद तगोसाधि’ शब्दे - “हरित, वृक्ष, फलकी पक्ष्मया होने तककी टिकनेवाली वनस्पतिको ओषधि कहते हैं- गुच्छ, गुल्म-छोटे छोटे पौधे, पेसी, कोमल वृक्ष, वर्गसह वनस्पतिओं का ताल शब्दसे संग्रह होता है- इसलिये ताल शब्दसे सम्पूर्ण वनस्पतिका जैसा संग्रह माना जाता है चैत्रा ‘आचेलम्प’ शब्दसे सम्पूर्ण परिग्रहोंका त्याग यह अर्थ उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है

‘तालपलंघ’ इस शब्दमें जो पलंघ शब्द कहते हैं उसका स्पष्टी करण ऐसा है— पलंघके मूलप्रलंब, अग्रपलंघ ऐसे दो भेद हैं- फंद मूल और अक्षुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुये हैं उनको मूलप्रलंघ कहते हैं- अंजु, कोमल पत्ते, फल, और फटोर पत्ते इनको अग्रपलंघ कहते हैं- अर्थात् तालपलंघ इस शब्द का अर्थ उपलक्षणमें वनस्पति आके अंजुरादिक ऐसा होता है, तालपलंघ शब्दसे जैसे सम्पूर्ण वनस्पतिओंके अंजुरादिकोंका ग्रहण हो जाता है वैसे प्रस्तुत विषयमें भी आचेलम्प शब्दका सम्पूर्ण परिग्रह-त्याग यह अर्थ अभीष्ट है-

अथवा यहाँ आदि शब्दका लोप हुआ है ऐसा समझना चाहिये, अर्थात् अचेल शब्दके आगेके आदि शब्दका लोप हुआ है- ‘अवेलादित्य’ के ऐवजमें अचेल शब्दका प्रयोग कर आदि शब्दका लोप किया गया है- तालपलंघ इस शब्दमें ‘तालादि’ ऐसा शब्दप्रयोग न करके तालपलंघ ऐसा कहा है, सिद्धांतके आधारसे आचेलम्प शब्द को आचार्यने देशाभर्शक सब कहा है परंतु यहाँ आदि शब्द प्राप्त हुआ है ऐसा ज्ञान मानते हैं- तब यह शब्द देशाभर्शक नहीं है ऐसा समझना चाहिये-

न य होदि मंजदो वत्यमित्चागेण सेससंगेहि ॥
तस्मा आचेलकं चाओ सत्त्वोसि होइ संगणं ॥ ११२४ ॥

चेलमात्रपरित्यागी छेपसंगी न संयतः ॥

यतो मतमचेलत्वं सर्वं ग्रयोच्छन्नं ततः ॥ ११६१ ॥

विज्ञयोक्ता—ण ॥ हरेवि संजदो नैव संयतो भवति इति । चक्षुषाभ्यागेन शेषपरिग्रहसमन्वितः । यथादन्यः द्रव्योः इत्युच्यते । आचेलकामिष्य चेलत्यागमात्रमेव यदि निर्दिष्टं स्याच्चेलादन्यपरिग्रहं कृत्वा संयतः स न भवति यस्तत्समावाचेलक्यं नाम सर्वसंगपरित्यागोऽत्र मंतव्यः । इति युक्तिरूपन्यस्ता चेलसाध्यश्च परिग्रहोपलक्षणार्थाः । किंच महाप्रतीपदेशमवृत्तानि च सजाणि शोचकानि । सर्वसंगपरित्याग आचेलकामिष्यव निर्दिष्ट इत्यस्य ॥

चेलसाध्यस्य सकलवाह्यपरिग्रहोपलक्षणार्थां युक्तिरुपन्यस्यति—

मूलार—सेसंसेनेदि वल्लवर्जगरिमैः समन्वितो युयुधुर्बलयात्रत्यागेन संयतो नैव भवति । समस्तद्रव्योपरतो हि संयत इत्युच्यते स कथं यत्समाभं स्याज्जं वत्सदो न्यपदिश्यते । तस्मादाचेलक्यं सर्वसंगपरित्यागः । आचेलक्येन सृते निर्दिष्ट इत्युत्पार्यस्य ॥

अर्थ—यत्तमात्रका त्याग करने पर भी यदि अन्य परिग्रहों से पुरुष युक्त है तो उसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिये. अर्थात् वल्लके साथ संपूर्ण परिग्रहत्याग जिसने किया वही मुनि माना जाता है इसलिये “ आचेलक्यका ” अर्थ संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ऐसा ही होता है. आचेलक्य शब्दका वल्लत्याग इतनाही अर्थ माना जाय तो वल्ल छोड़कर अन्य सब परिग्रहोंका स्वीकार करनेवाला न्यक्ति मुनि माना जायगा—इसलिये संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग ही आचेलक्य शब्दका अर्थ है ऐसा उपलक्ष्यसे समझना चाहिये. महाप्रतीपका उपदेश देनेवाले सूत्रोंसे भी ‘ आचेलक्य ’ शब्दका अर्थ सर्वसंगत्याग है ऐसा सिद्ध होता है. यदि वल्लका ही त्याग किया और बाकी परिग्रहोंका त्याग नहीं किया तो आईसादि व्रतमधुदाय मुनिओंमें नहीं रह सकेगा.

नव यदि चेलमात्रमेव त्याग्यं स्यात्तेतदं नदितादिकानि च सृते इत्येतद्वाच्ये उक्तस्यायायां—

संगणिमित्तं मोरेइ अलियवयणं च भणइ तेणिकं ॥

मज्जदि अगरिमिदमिच्छं सेवदि मेहुणमवि य जीवो ॥ ११२५ ॥

परिग्रहार्थं प्राणिहन्ति वेहिनो ववत्पसत्तं विदधानि मोषणं ॥ निषेवते स्त्री अयते परिग्रहं न लुब्धयुद्धिः पुरुषः करोति किम् ॥ ११६२ ॥

स्वित्तयोदया—संगमिमिचं मोरेदि परिग्रहनिमित्तं प्राणिनो हिनस्ति षट्कर्मप्रवृत्तेः । अथ इत्थं परकीयं ग्रहीतुं कामस्तं हिनस्ति, भणत्वाहीकं करोति स्तौत्रं, मज्जेते अपरिमितामिच्छां, मैथुने च प्रवर्तते । सत्येवमहिंसादिमृतानि न ह्युः । परिग्रहस्य च त्यागे तिष्ठति निश्चलान्यहिंसादीनि ॥

कथं यदि चेत्तमात्रमेव त्याग्य स्यान्नान्यत्तदा अहिंसादिमृतानि न स्युरिति ॥ एतद्व्याख्यातुमाह—
यूथारा—मारेदि हिनस्ति प्राणिनः षट्कर्मसु प्रवृत्तेः । परद्वन्द्वं वा ग्रहीतुमस्तं दिनस्ति । अपरिमिच्छं अपरिमितामिच्छा । निरवधितृणामित्यर्थः । एवं च सति कथमहिंसादिमृतानि स्युः । समप्रपञ्चपरित्यागमुत्तानि निश्चलानि तिष्ठन्त्येव क्षोभनिवृत्ताभावात् ॥

यद्दी अभिप्राय ओमेकी गायामे आचार्यं कहेते है—

अर्थ—परिग्रहके निमित्तसे यह जीव आसि, मरि, कृषि आदि छह कर्म करता है जिससे जीवोंकी हिंसा होती है- दूसरेका घन हरण करनेकी इच्छासे उसका घात करता है असत्य भाषण बोलता है- चोरी करता है- मनमें अमयाद इच्छा धारण करता है- तथा मैथुनमें प्रवृत्त होता है- परिग्रहके वश होनेसे ऐसे पापोंको यह जीव करता है तब उसके अहिंसादिक व्रत कैसे हो सकते हैं- जब परिग्रहोका त्याग होता है तब ही अहिंसादिक व्रत निश्चल हो जाते हैं-

अपि चाशुभपरिणाममंवरणमंतरेण प्रत्ययकर्मोपलब्धः कथं निवार्यते । मत्प्रत्ययकर्मोपचयेन कर्मणां सैवानंतकाला संश्रुतिरित्येवमेतत्सि हस्य परिग्रहप्रहणभाविनोऽशुभान्परिणामानाचरे—

सण्णमागएपेसुण्णकलहफुदसाणि णिहु रविवादा ॥

संगणिमिचं ईसासयासल्लाणि जायंति ॥ ११२६ ॥

संज्ञागौरवैपशुन्यविवादकलहादयः ॥

दोषा ग्रथेन जन्यन्ते दुर्नयेनैव सर्वदा ॥ ११२६ ॥

यिज्योदया—सण्णमागएपेसुण्ण परिग्रहसंज्ञा तत्सन्धिधैर्यं च जायते सपरिग्रहस्य । पिशुनयति सुचयति परदोषमिति पिशुनत्तस्य कर्म पैशुन्यं । परिग्रहवानात्मनैव सधनपरिपालनेच्छुः परस्य दोषान्प्रकाश्य तदीयं धनं

हारयति, कलहं वा करोति । पनार्यं परत्वं धत्तौ वदति विवाहं वा कुर्यात्, ईष्याद्यशस्त्राणि च जायते । अयमेतलौ नयच्छति न महो इति संकल्प ईर्ष्या । परस्व धनव्यचासहनमधूया ॥

परिमहद्वाहिणोऽन्तर्गतसंस्तुतिवित्रीमधुमपरिणाममधुमवृत्तिमन्तर्गतपरां च व्याकुर्मुत्तरप्रबंधमाह—

मूलरा—सण्णा परिग्रहसंज्ञा । गारव श्रद्धिगौरवं । तपरिग्रहस्य च जायते । येसुणा परदोषसूचनं । मंयमहावि-
श्रो दि स्वयनरक्षार्थे परस्य दोषान्प्रकाशय तद्धनं नृपादिना शारयति । कलहं वा करोति घनार्थे । परत्वं वा वक्तो वक्ति,
निवृत्तं विवाहं वा करोति । ईसा ईर्ष्या । अयमेतस्मै प्रयच्छति न महामिति संकल्पं । अस्वा परसंप्रसासहनम् ।

यदि अष्टुमपरिणामोका संवर न होया अर्थात् अष्टुमपरिणाम चदी नहीं शोक जायेगे तो नवीन कर्मोका
आगमन नहीं रुक सकता है. नवीन कर्मोका आगमन होनेसे फिर संसार अनंतकालतक रहेगा ही. परिग्रहके सञ्जा-
वमें अष्टुम परिणाम होते हैं और संसार दीर्घकालका होता है ऐसा विवेचन आगेके भाष्यमें आचार्य करते हैं—

अर्थ—परिग्रहसंज्ञाका उदय होनेसे आत्मामें परिग्रहके प्रति अभिलाष उत्पन्न होती है. तदनंतर मैं बड़ा
प्रेमपूर्णवाली हूं ऐसा अभिमान उत्पन्न होता है. परिग्रहसे मनमें दुष्टयना उत्पन्न होता है. अपने धनका संरक्षण
करनेमें यह सावध रहता है. और दूसरेके असावधानतादिक दोष देखकर उसका धन दूसरोंसे हरण कराता है. कलह
करता है. धनके लिये कठोर भाषण करता है. तथा विवाद करता है. इस परिग्रहसे ईर्ष्या, अहंसा और कपट ये
दोष उत्पन्न होते हैं. यह पुरुष इसको धन देता है मेरेको धन नहीं देता है ऐसा भाव उसके मनमें उत्पन्न होता है.
यह ईर्ष्या दोष है. दूसरोंका धनिकपना सहन न होना अहंसा दोष है. परधन हरण करनेके लिये उसको ठगना
मायाश्रय कहते हैं.

कोधो माणो माया लोभो हास रद्द अरदि भयसोगा ॥

संगणिमितं जायइ दुगुच्छ तह रादिभत्तं च ॥ ११२७ ॥

कोधं लोभं भयं मायां विद्वेषमरतिं रतिम् ॥

द्रविणार्थी निश्चाभुक्तिं विदधाति विचेतनः ॥ ११२८ ॥

विजयोदया—तदा कोधो माणो क्रोधः परित्यहस्तास्य परिणामोऽदने जायते । धन्योऽहमिति गर्वितो भवति ।

परो धनं हृदया गृह्णीतीति तद्विग्रहककण्ठमाणा न्व भवति । काकणिलोभे कार्पाणं खण्डति । तद्वत्पथा कर्पाणसह-
स्रादिभिमिति लोभस्य हेतुर्द्रव्यलाभः । निर्द्विचिन्ने लोको हसतीति हासस्यापि कारणं । द्रव्यमात्मीयं पश्यतः तत्रातुरागो
रतिः । सद्दिनाशो भवति । तदन्ते हर्षति इति भयं । शोको ना । जुगुप्सते वा विरूपे । परिग्रहविरपालतायै राजावपि
मुक्ते । मदीयं भोजनं परे हृदयार्थिनो भवन्ति इति मन्यमानः ॥

मूलारा—कोयो भ्रमे परेण गृह्यमाणे जायते । माणो धनाद्व्योडहमिति गर्वः । माया परो धनं हृष्टं गृण्हाति
इति तद्विग्रहककण्ठाद्वपणं । लोभो कार्पाण्यादिलोभे कार्पाण्यादिकं कांक्षतीति । द्रव्यलाभाद्व्योभः प्रवर्तते । हस्त हास्यं
धनितो निर्धनं हृद्वं हस्तः स्यात् । रदि स्वयं पश्यतस्तत्रातुरागः । अरदि धनविनाशे कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं ।
भय धनमन्ये हरन्तीति भीतिः । सोगा शोको धनविच्छेदे मनःकाषः । दुर्गुच्छ विरूपे परिमहे जुगुप्सा । धनार्थत्वाद्
गुणितामपि राजादिहृदयवृत्त्या निन्दनं । रादिभचं मदीयं भोजनं दिसा परे हर्षतीति तत्रभार्य नर्कमुक्तिः । स्यान्पादिहृदा
दुर्वृत्त्या वा हृत्पलाभाय राजौ भुक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध आता है. परिग्रह पास होनेसे मैं धन्य हूँ ऐसा अभि-
मान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारसे उसको छिपाता है. यह माया दोष
है. काफिका का लाम होनेपर कार्पाणका लाम होनेको इच्छा करता है. वह भी मिलनेपर हजारों कार्पाणकी
माप्ति मेरे को कर होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है. अतः द्रव्यका लाम होना लोभका हेतु है. जो
दरिद्री है उसको देखकर लोभ हस्त है. अतः यह धन हास्यका हेतु है. अपने धनको चारवार देखकर परिग्रहवान
उसमें रति-आसक्ति करता है. उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. भेषाधन उससे हरण करेगा ऐसी
भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है. परिग्रहका रक्षण करनेके लिए वह
रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ
रहती है.

गंधो भयं णराणं सद्दोदरा एयरत्यजा जे ते ॥
अण्णोणं मारेदुं अत्थणिमिच्चं मदिमकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो महाभयं नृणामेकारध्ये सहोदरौ ॥

ग्रंथार्थं हिंस्तिहं युद्धं यतोऽकाष्टां परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोद्या—ग्रंथो भयं नराणां । ननु भयसेवस्य रमेणः उदयानुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न वास्तु-
क्षेत्रादिको ग्रंथः लशामृतस्ततः निमुच्यते ग्रंथो भयमिति न दोषः । यद्वाद्या एकोद्वय एकोद्वय मसया
अपि सतः एकरथश्च एकरथनगरे जाताः । अं यस्मात् । ते अन्वेषणं मोरेदु अन्योन्यं हन्तुं । नत्यनिमित्तं वस्तुनिमित्तं
मदिमकास्ती बुद्धिं कृतवन्तः ॥

मंथस्य भयहेतुत्वमर्थस्त्वलेन व्यापयति—

सङ्घारा—भयं भयहेतुः । सहोदरा एकोद्वयमवा अपि सन्तः । एकरथया एकरथे नगरे जाताः । अं
यस्मात् ते नसिद्धाः । नसिद्धास्ती मतिमकार्थः । चित्तं कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्विरथमिच्छन्ति—

अर्थ—परिग्रहसे वस्तुपूर्वक भय विकार उत्पन्न होता है, कुंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम
उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं, वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं है, इस लिये परिग्रहको आप भय
नर्थो कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको हम भय कहते हैं, एक भावाके उदरसे उत्पन्न
हुए माई भी एकरथ्या नामक ग्राममें अन्योन्यको भारवेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके युद्धमान लोक
परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं,

अत्यनिमित्तमदिभयं जादं चौराणमेकमेकमेकैर्हि ॥

मन्त्रे मंसे य विलं संजोड्य मारिया अं ते ॥ ११२९ ॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणाधिनाम् ॥

मयो मांसे चिपं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥ ११३६ ॥

विजयोद्या—अत्यनिमित्तं अदिभयं जादं यत्तीव भयं जातं । चौराणं एकमेकैर्हि ॥ चौराणामन्योन्यैः सह ।
मन्त्रे मंसे य विलं संजोड्य मये मांसे च चिपं संयोज्य । मारिता अं ते यस्मात्ते मारिताः ॥
आत्मनान्तरेण वदेवाह—

परो धनं दद्यात् गृह्णातीति तन्निग्रहकरणात्माया वा भवति । काष्ठीकिलामे कार्पाणं चांछति । तदुच्यते कर्पाणसह-
जादिकमिति लोभस्य हेतुर्द्वयलाभः । निर्द्विविधं लोको दयतीति ह्यसस्यापि कारणं । द्रव्यमाहमीदं पश्यतः तत्रादुरागो
रतिः । तद्विनाशो भवति । तदन्त्ये हरति इति भयं । शोको वा । सुगुप्तते वा चिरूपं । परिग्रहपरिणालबाधं राज्ञावपि
शुके । मदीयं भोजनं परे दद्यात्कार्यतो भवति इति मन्यमानः ॥

मृत्पारत—क्रोपो भये परेण गृह्यमाणे जायते । मायो घनाब्धोऽहमिति गर्भः । माया परो धनं दृष्टं गृह्णाति
इति तन्निग्रहकरणाद्वचनां । कोभो वाक्यादिलामे कार्पाणविक्रं चांक्षतीति । द्रव्यलाभाद्धोभः प्रवर्तते । हस्त हास्यं
धनितो निषेधं दृष्ट्वा हस्तः स्यात् । रदि स्वर्धनं पश्यन्लागदुपगः । अरति धनविनाशे कचिदपि चित्तस्यानवस्थानं ।
भय धनमन्ये हरन्तीति भोतिः । सोमा कोको धनविच्छेदे भनत्वापः । कुगुल विरुके परिग्रहे सुगुप्ता । धनार्थत्वाद्
गुणिनामपि राजादिदं दत्तुमुया निवर्तनं । रादिभस्ते मदीयं भोजनं दिवा परे हरतीति वस्त्रभ्राथं नक्तंशुक्तिः । स्वान्यादिच्छंवा
गुदृष्ट्या वा क्रम्यलाभाय राज्ञी युक्तिः ।

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यको धन देते समय क्रोध जाता है. परिग्रह पास होनेमें मैं धन्य हूं ऐसा आभि-
मान उत्पन्न होता है. मेरा धन देखकर अन्य पुरुष हरण करेगा इस विचारमें उसको छिपाता है. यह माया दोष
है. काष्ठीकिका फा लाभ होनेपर कार्पाणका लाभ होनेको इच्छा करता है. वह भी मिलनेपर हजारों कार्पाणकी
प्राप्ति मेरे को कष्ट होगी ऐसा विचार उसके मनमें उत्पन्न होता है. अतः द्रव्यका लाभ होना लोभका हेतु है. जो
दृष्टिही है उसको देखकर लोक हसते हैं. अतः यह धन हास्यका हेतु है अपने धनको चारोंवार देखकर परिग्रहवान्
उसमें रति-आसक्ति करता है. उसका विनाश होनेपर वह दुःखी होता है. मेरा धन दुसरे हरण करेगा ऐसी
भावना उत्पन्न होकर भय उत्पन्न होता है अथवा शोक भी उत्पन्न होता है. परिग्रहका रक्षण कानेके लिए वह
रातमें भी भोजन करता है. क्योंकि मैं यदि दिनमें भोजन करूंगा तो याचक लोग मांगेंगे ऐसी उसकी समझ
रहती है.

गंथो भयं गराणं सहोदरा एयरथ्यजा जं ते ॥

अण्णोणं मारेदुं अत्थणिमिच्चं मदिसकासी ॥ ११२८ ॥

ग्रंथो मन्त्राभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरी ॥

ग्रंधार्थं हिंस्सितुं बुद्धिं यतोऽक्काष्टं परस्परम् ॥ ११६५ ॥

विजयोपचार—ग्रंथो भयं नराणां । ननु मणसस्य कर्मणः उदयादुपजातः परिणाम आत्मनो भयं न वास्तु-
क्षेत्रादिको ग्रंथः तथाभूतस्ततः किमुन्यते ग्रंथो मयमिति, भयहेतुत्वाद्भयमिति न दोषः । सहोदरा एकोदेर प्रसवा
अपि संतः परस्परज्जा एकरथ्यतमरे ज्ञाताः । जे यस्यात् । ते अण्णोष्णं भवेदुं अन्योन्यं हन्तुं । अत्यभिहितं धसुनिमित्तं
मदिसकात्सी बुद्धिं कृतयंतः ॥

ग्रंथस्य भयहेतुत्वस्योक्त्यानेन कथापयसि—

मन्त्रारा—भयं भयहेतुः । सहोदरा एकोदरप्रमवा अपि सन्तः । एकरथ्यया एकरथ्ये नगरे ज्ञाताः । जं
यस्यात् ते प्रसिद्धाः । मदिसकात्सी मतिमकर्णुः । विषं कृतवन्त इत्यर्थः । अत्रान्ये द्विस्वमित्युक्ति—

अर्थ—परिग्रहसे मनुष्यमें भय विकार उत्पन्न होता है, शंका—भयनामक कर्मके उदयसे जो परिणाम
उत्पन्न होता है उसको भय कहते हैं, वास्तु क्षेत्रादिक परिग्रह भयरूप नहीं है, इस लिये परिग्रहको आप भय
क्यों कहते हो ?

उत्तर—भयके लिये परिग्रह कारण है इस वास्ते उसको इस भय कहते हैं, एक माताके उदरसे उत्पन्न
हुए भाई भी एकरथ्या नामक अभयं अन्योन्यको मारनेके लिये उद्यत हुये थे यह विचार करके बुद्धिमान लोक
परिग्रहमें अभिलाषा नहीं रखते हैं,

अत्यभिहितमदिभयं जादं चौराणमेकमेकैर्हि ॥

मज्जे मंसे य विसं संजोड्य मारिया जे ते ॥ ११२९ ॥

तत्स्करणां भयं जातमन्योन्यद्विविणार्थिनाम् ॥

मये मांसे विपं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥ ११३६ ॥

विजयोदया—अत्यभिहितं अदिभयं जादं अतीव भयं जातं । चौराण एक्कमेकैर्हि ॥ चौराणामन्योन्यैः सह ।
मज्जे मंसे य विसं संजोड्य मये मांसे च विपं संयोज्य । मारिता जे ते यसांसे मारिताः ॥
आल्यार्तांतरेण तदेवाह—

मूलाशः—एकमेकोहि कन्वोन्ये कर्तुमिमांरिताः । अन्योन्यवोऽविभयं जातमित्यन्ये । संजोह्य संयोज्य ॥
 अर्थ—इस धनके निमित्तसे चार चौराको महामय उत्पन्न हुआ था- अर्थात् इन्होंने मद्य मांसमें परस्पर
 रोंको मालुम न पड़ेगा इस प्रवृत्तसे विप मिलाया था जिससे मारा मांसका यथेन करके वे लोग मरणको प्राप्त हुए-

संगो महाभयं जं विहेडिदो सावगेण संतेण ॥

पुत्तेण चैव अत्थे हिदम्मि णिहिदिछिए साहुं ॥ ११३० ॥

संगो महाभयं यस्मात्पञ्चकेण कवर्धितः ॥

निहितेऽपहृते ब्रह्मे तन्जने तपोधनः ॥ ११३१ ॥

विजयोव्या—संगो महाभयं यस्मात्पञ्चकेण कवर्धितः । जं यस्मात् । विहेडिदो कवर्धितः । सावगेण संतेण भावकेण
 सत्ता । पुत्तेण चैव पुत्तेणैव । णिहिदिछिणे कथे हिदंदि साहुं निक्षिप्तेऽर्थे हृते साहुं ॥

पुत्तरव्याख्यानमाह—

मूलाशः—विहेडिदो कवर्धितः । पुत्तेण भावकस्यैव । निहिद्वत्तमे गत्वानिक्षिप्ते ॥

अर्थ—एक श्रापकके पुत्रने अपने पिताका जमीन में गाढा हुआ धन हरण कर अन्य स्थानमें रखा था-
 जब उसको अपना गाढा हुआ धन नहीं प्राप्त हुआ तब उसके मनमें भेसा धन मुनिते लिया होगा ऐसा संशय उत्पन्न
 हुआ क्योंकि मुनिको उसने चातुर्भासमें अपने घरमें ही रहनेके लिये आवास दियाथा- जर मुनि चातुर्भासि समाप्त
 होनेपर विहार करने लगे ॥ इस भावकने अनेक प्रकारकी कर्मायें कइकर बाधा दी है- ये कर्मायें श्रेणिक
 पुराणमें हैं-

दुओ वंभण विग्घो लोओ हत्थी य तह य रायसुयं ॥

पहियणरो वि य राया सुवण्णयारस्स अवस्वाणं ॥ ११३२ ॥

वण्णरणउलो विज्जो वसहो तावस तहेव चूदवणं ॥

रवस्वसिवण्णीडुंडुहु मेवज्ज सुणिस्स अवस्वाणं ॥ ११३३ ॥

सीदुण्हादववादं वरिसं तण्हा छुहासमं पंथं ॥

दुहसेज्जं दुज्जत्तं सहइ वहइ भारमवि गुरुयं ॥ ११३३ ॥

गावट्ठ णच्चइ घावइ कसइ ववइ लवदि तह भलेइ णरो ॥

तुण्णदि विणादि जायदि कुलमि जादो वि गंथत्थी ॥ ११३४ ॥

पर्यं थातं धुयं वृष्णां तापं शीतं अमं छुमं ॥

दुमुत्तं सहतेऽर्थार्थी भारं वहति पुच्छलं ॥ ११३८ ॥

कूपति वीज्यति सीर्यति त्विचते चपति पश्यति नश्यति याचते ॥

धमति धाचति चरुणति सेवते रुदति ताम्यति हृत्यति गायते ॥ ११३९ ॥

पठति जल्पति लुठति लुंणते हरति हृष्यति नश्यति लिख्यति ॥

रजति कस्पति वहति सिंचति मुञ्चति वंघते ॥ ११७० ॥

अस्सिति रोक्षति माद्यति लज्जते हसति तृप्यति नृत्यति ॥

तुदति गृह्यति रज्यति सरज्जते व्रबिणलुब्धमनाः कुरुते न किम् ॥ ११७१ ॥

विजयोदया—गायति गायति, नृत्यति, घावति, छपति, धपति, कर्णशच्छेदं करोति, मर्दनं करोति, सीज्यति, धपति, याचते कुले जातोऽपि परिग्रहार्थं ॥

इतोऽर्थीय षट्पुष्करनिघट्पुष्पादिकर्म करोति तदाह —

मूलारा—सीदुण्हादववायं शीतोष्णातपवातं । मंथार्थी सहते इति संबंधः । एतां संस्कृतीकाकारो नेच्छति ।

मूलारा—कसदि क्षपति । जायदि याचते ॥

अर्थ—दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, लोक, हार्यी, राजपुत्र, पथिक, राजा, और सोनार इनकी कथायें तथायानर, नौला, वैद्य, बेल, तपस्वी, वृत्तवन, सर्व ऐसी सोला कथाओंका वर्णन श्रेष्ठिक, घ्राणमें आया है. आवकने मुनि-राजको आठ कथा धन उन्नीवेही ग्रहण किया है ऐसे अभिप्रायसे कही थी. अनंतर मुनिसज्जनेभी तेरा धन मेने नही ग्रहण किया है इस अभिप्रायको श्रुत करनेके लिये कही थी. इसके अनंतर आवक पुत्रने पिताका धनकलश लाकर दिया तब उसका संदेह दूर हो गया. यह मनुष्य परिग्रहार्थ गाता, है, नाचता है, इसर उधर दौडता है, खेत हाल

से नांगरता है, उसमें बीच चीता है, धान्य पकनेपर, उसको काटता है, मलता है इतने कार्य परिग्रहका संग्रह करने के लिये करता है, इस परिग्रहके निमित्त ही मनुष्य कपड़े सीता है, बुनता है, और याचना करता है, कुलीन होकर भी ऐसे ऐसे कार्य करता है

सेवइ गियादि रक्सइ गोमहितमजावियं हयं हलिय ॥

बवहरदि कुणदि सियं अहो य रची य गयणिहो ॥ १११५ ॥

आउधवासस उरं देइ रणमुहम्मि गंयलोमादो ॥

भगरादिभीमसाबदधुलं अदिगच्छदि समुहं ॥ १११६ ॥

क्रीणानि वयते वल्लं गोमहिष्यादि रक्षति ॥

अर्थार्थी लोहकाष्टास्थिस्पर्णकर्म करोति ना ॥ १११७ ॥

रुधिरकर्मदुर्गममाहवं निशिमशस्त्रविवारितकुंजरं ॥

हरिपुरस्सरजुविभीषणं भ्रमति वित्तमना गहनं वनम् ॥ १११८ ॥

विपुलवीचिविगाढनभस्तलं मकरपूर्वकयार्चरसंकुलम् ॥

जलनिधिं द्रविणार्जनलालसो विशति जीवितनिस्पृहमानसः ॥ १११९ ॥

पिजयोदया—आउधवासस उरं देइ आनुधवर्षसा उरो दसाति । रणमुहे रणमुहे । गंधलोदादो प्रपलोनाम् । भकरादिभीमश्वपद धुलं अविशति समुहं ॥

मूलारा—गियादि निर्धिति निर्धिति इति लोके । बवहरदि ऋषियज्यादिकं करोति । सियं लेपादिस्तविधानं । एतां श्रीवित्तयो नेच्छति ।

मूलारा—आउधवासस आनुधवर्षस्य । सक्षपातस्थेत्तयः । सावद श्वापदाः । अतिक्रूरस्त्रजगनार्थं मकराद-
नोऽन्वेवमुक्ताः । अदिगच्छदि प्रविलसति ।

अर्थ—यह मनुष्य माणी सेवा करता है, गौ, महिष, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा वगैरह आम्निओंका रक्षण

करता है. व्यापार करता है, श्रित्कार्य करता है. परिग्रहोंकी प्राप्ति हो ॥ लिये निद्राका भी त्याग कर इन कार्योंमें रात दिन सत्पर होता है. परिग्रहके लोभमें यह मनुष्य संग्राममें-युद्धमें शस्त्रोत्की घृष्टि अपने छातीपर होने देता है. अर्थात् युद्धमें हजारों घणोंकी वर्षा होनेसे उत्पन्न हुये अघातोंको सह लेता है. जिसमें मगर-कूर जलजंतु विचरते हैं ऐसे गयानक समुद्रमें भी यह प्रवेश करता है.

जदि सो तत्थ मरिज्जो गंधो भोगा य कस्स ते होज्ज ॥

महिलाविहिंसणिज्जो त्सिददेहो व सो होज्ज ॥ ११३७ ॥

निधनमृच्छति तत्र यदेकको भवति कस्य तदा घनमजितम् ॥

विपियविघ्नविनाशितविग्रहो जनतयाखिलयापि जुगुप्सते ॥ ११३५ ॥

धुनीति धुनीति धुनीति कृणीते न दत्ते न मुक्ते न शेते न विन्दे ॥

सदाचारदृष्टेर्बहिर्भूतचित्तो घनार्थी विधेयं विपत्ते निकृष्टम् ॥ ११३६ ॥

विजयोदया—अपि सो तत्थ मरिज्जो ययत्तो रणमुत्ते द्रुतिमियात् । ग्रंथा भोगाश्च ते शायत्कस्य मवेयुः । घनिताभिनिघः विनदुत्तरणापययो भवेद्यपि न मृतः ॥

मूलार्थ—इत्थं रणमुत्तारौ । गंधा अर्थोः । महिलाविहिंसणिज्जो स्त्रीणां निघः । त्सिददेहो संलब्धवीकृतशरीर. सत् । यद्यपि न मृतस्तथापि दुर्भंगो भवेदिति भावः ॥

अर्थ— यदि यह प्राणी रणमें फालके मालमें चला गया तो सब परस्निह और भोग पदार्थ किसके होंगे ? यदि युद्धमें यह नहीं मरा और हाथ, पाव वगैरह अंग दृटनेपर ऐसे मनुष्य की उसकी खिया निंदा करती है.

गंथणिमित्तमदीदिय गुहाओ भीमाओ तह य अटवीओ ॥

गंथणिमित्तं कम्मं कुण्ह अकादब्बयंपि णरो ॥ ११३८ ॥

गिरिकंदरदुर्गोणि भीपणानि विगाहते ॥

अकृत्यमपि चित्तार्थं कुरुते कर्म सुट्ठीः ॥ ११३७ ॥

त्रिजयोदया—गणनिमित्तप्रदीप्य ग्रंथनिमित्त प्रविद्यते शुहां । तथा भीमाआटवी । ग्रंथनिमित्तं कर्म अकर्त-
व्यमपि करोति नरः ॥
मूढारा—अदीप्ति प्रविकृति ।
अर्थ—इत्त परिग्रहैय लुप्य होकर उसके लिये भयंकर गुहाओंमें प्रवेश करता है, इस परिग्रहके लिये अक-
र्तव्य भी कर बैठता है.

सूरो तिवस्त्रो मुक्त्वो वि होइ बसिओ जणस्स सधणस्स ॥

माणी वि सहइ गंथणिमित्तं बहुयं पि अवमाणं ॥ ११३९ ॥

जायते धनित्तो बहयः कुलीनोऽपि मज्झानपि ॥

अपमान धनाकांक्षी सद्यते मानवानपि ॥ ११७८ ॥

विजयोदया—सूरो तिवस्त्रो मुक्त्वो वि होइ बसिओ मूळंअ बसवती भवति जलस्य सधवस्य । अग्निमानवानपि
सद्यते ग्रंथनिमित्त अपि परिमय ।

मूढारा—तिवस्त्रो असहनः । मुक्त्वो मुक्त्यः । बसिओ बसवती । अवमाणं परिअवं ।

अर्थ—शूर, तीक्ष्ण, और मूर्ख सब मनुष्य धनवानके वश हो जाते हैं, अभिमानी मनुष्य भी इस धनके
लिये चोर अपमान दुःख सहता है

गंथणिमित्तं घोरं परितावं पाविदूण कंविद्धे ॥

लछकं संपत्तो पित्तं पिण्णागंगो खु ॥ ११४० ॥

कांपिल्यनगरेऽर्थार्थं परितापं दुरुत्तरं ॥

प्राप्य पिण्याकगंगो ज्वालल्लुकं नरकं कुचीः ॥ ११७९ ॥

विजयोदया—अत्यभिहितं वसुनिमित्तं महत् दुःख प्राप्य । कांपित्ये कपिल्लनगरे । लल्लुकं लल्लुकतामेधेयं
संभ्रमो नरकं पिण्याकगंगं संश्रु ॥

पुनराव्यानमाह—

मूलरत-कंगिले कांदिन्यनगरे । लछकं लछकसंछकं । तमःप्रयाख्यानां पटनरकभूमौ कृतियप्रखारं । उक्तं च-
दिशरललहणरत्नप्रभःपद्मप्रामपीडकाः । विण्णमगंगो विण्णमगंगसंछकः ।

अर्थ- इस धनके विमित्त विण्णकगणध नामक भयुष्य नरकमें-लछक नरक बिलमें जन्म लेकर तीव्रतम
दुःख भोगने लगा.

एवं चेदुत्तरस वि संमद्वो चेव गंथलाहो दु ॥

ण य संवीपदि गंथो सुदरेणवि संवभगरस ॥ ११४१ ॥

कुर्वन्तोऽपि परां चेष्टामर्थलाभो न निश्चितं ॥

संवीपते विपुण्यस्य नाथो लब्धोऽपि जातुचित् ॥ ११८० ॥

विजयोदया-एवं चेदुत्तरस वि यः चेष्टमानस्यापि संशयित ॥ संवभगरः । न ॥ संवभगुपपावि संयः ।
सुखिरेणापि संवभगपस्य ॥

तपादकर्मपरस्यापि पुण्यफलं धनाढान्यमाह—

मूलरत-संखरुो अनिश्चित. ॥

अर्थ- ऊपर कहा हुआ प्रयत्न करने पर भी परिग्रहात्म्य अर्थात् धनप्राप्ति होती ही ऐसा निश्चय नहीं
है, जिसका माग्य फूटा है उसको दीर्घ कालसे प्रयत्न करने पर भी धनप्राप्ति होती नहीं है.

जदि वि कहंचि वि गंथा संवीएज्जहू तह वि से णत्थि ॥

त्तिच्ची गंथेहिं सदा लोभो लोभेण वहुदि सु ॥ ११४२ ॥

नाथे संवीयमानेऽपि पुरुषो जातु नृप्यति ॥

लपथमेन यथा न्यायिर्लोभो लाभेन वर्द्धते ॥ ११८१ ॥

विजयोदया-जदि वि यद्यपि कर्मान्तेजचित् प्रकारेण ग्रंथाः संवभगुपेयुः । तथापि तस्य दुस्तिर्नस्ति ग्रंथैः ।
सदा लोभो लोभेन वर्द्धते ॥

मूलरा—कथंचि केनापि प्रकारेण । सचीएवण्ह संचययुपेयु । आमाहु धनप्राप्ते ॥

अर्थ—यद्यपि किसी प्रकारसे किसी उपायसे परिग्रहका संग्रह हुआ तथापि वह आत्मा उसके प्राप्तिमें लुप्त होता नहीं। क्योंकि सदा लाभ होनेपर परिग्रहसे लाभ बढ़ताही रहता है

जघ इंधणेहि अग्गी लवणसमुदो णदीसहस्सेहिं ॥

तह जीवस्स ण तिची अत्थि तिलोगे वि लद्धम्मि ॥ ११४३ ॥

नदीजलैरिवाम्भोधिर्धनैरिव पाषाणम् ॥

लोकैस्त्रिविरपि प्राप्तेर्न जीवो जातु तृप्यति ॥ ११४२ ॥

विजयोदया—अथ इधणेहिं इधनेयं चाग्निः, यथा वा समुद्रो नदीसहस्रैः । तथा परिग्रहेर्न तृप्यति जीपजलोपवेष्टव्येऽपि ॥

मूलरा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे लकड़ीअंसे अधिकी तृप्ति होती नहीं। हजारो नदियोंके जल मिलनेपर भी लवणसमुद्रकी प्यास नहीं बुझती है वैसे त्रिलोक्य की प्राप्ति होनेपर भी इस परिग्रहोके द्वारा जीव तृप्त होता नहीं है।

पडहत्थस्स ण तिची आसी य महाधणस्स लुद्धस्स ॥

संगेसु मुच्छिदमदी जादो सो दीहत्सारी ॥ ११४४ ॥

महाधनसमृद्धोऽपि पट्टहस्ताभिषो वणिक् ॥

जातस्तृप्तिमनासाय लुब्धधीर्दार्थ्यसंस्मृति ॥ ११४३ ॥

विजयोदय—पट्टहत्थस्स पट्टहस्तनागधेयस्य वणिजः न वृत्तिप्राप्त्यर्थं यथा महाधन्यस्य लुब्धस्य । परिग्रहं मुच्छिन्नमतिरसो जातो वीर्यससारः ॥

अथ लोभेनलस्यो सत्या दोषमाल्यानेन लुद्धयति—

मलारा—पञ्चमृत्युस्य स्फुटहस्तान्मनो वज्रिजः । आसी जातः ॥

अर्थ—पट्टदस्त नामक वैद्य बड़ा धनिक और अतीव लोभी था. इस परिग्रहसे उसकी वृत्ति हुई नहीं. इन परिग्रहोंसे लुब्ध होकर ही उसने प्राण छोटे और दीर्घ संसारी हुआ.

तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्स घण्णचित्तस्स ॥

किं तस्य होज्ज सुक्खं सदा वि पंपाए गहिदस्स ॥ ११४५ ॥

हाहाभूतस्य जीयस्य किं सुखं वृत्तितो विना ॥

आशया ग्रस्यमानस्य पिशाब्बेव निरंतरम् ॥ ११८४ ॥

विजयोदया—तित्तीए असंतीए हाहाभूदस्य किं तत्र सुख भवेत् । आपाया पृथीवस्य ॥

तूतावत्तरयामिदं व दुःखमाह—

मलारा—घण्णभूदस्य संतोषरहितस्य उपदमनसः । तस्य मये लब्धेऽपि । पंपाए आशया ॥

अर्थ—यदि परिग्रहोंकी प्राप्ति होनेसे भी मनुष्य वृत्ति नहीं हुआ और उसमें ही लुब्ध हुआ तो आशया दास बना हुआ वह मनुष्य क्या सुखी होगा ? नहीं कभी भी सुखी नहीं होगा.

हम्मदि मारिज्जदि वा वल्लदि कंमदि य अणवराचे वि ॥

आमिसहेदुं घण्णो खज्जदि पक्खीहिं जह पक्खी ॥ ११४६ ॥

हन्यते ताव्यते बध्यते रुध्यते मानतो वितयुत्तोऽपराधं विना ॥

पक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिषः स्वाद्यते लुच्यते दोषहीनः परैः ११८५
विजयोदया—हम्मदि आहन्यते । मारिज्जदि मार्यते, बध्यते रुध्यते वानपराधोऽपि । अभियन्तिमित्तं लंपटः
स्वाद्यते यथा पक्षिभिः पक्षी गृहीताहारः ॥

मलारा—हम्मदि ताव्यते । घण्णो लुब्धः । पक्खी गृहीताहार पक्षी । यथा नांसार्यं परैः पक्षिभिः स्वाद्यते
वथा धनार्थं परैर्धनी ताडनादिकं प्राप्यते इति संबंधः ॥

अर्थ—जिसके गृहमें मांस है ऐसा पक्षी मांतामिलापी इतर पक्षियोंके द्वारा खाया जाता है. वैसे परिग्रहवान् धनार्थ मनुष्य इतर परिग्रहको चाहनेवाले लोगोंके द्वारा पीटा जाता है मारा जाता है, उसको किसी कोठरीमें बंद कर देते है किसीका अपराध नहीं करनेपर भी उसको लोक परिग्रहामिलापी बनकर दुःख देते हैं

मादुषिदुपुच्छदारेषु वि पुरितो ण उवयाइ वीसंभं ॥

गंधणिमित्तं जगइ कंअस्संतो सव्वरचीए ॥ ११४७ ॥

प्रियासचित्रीपितृदेहजादौ सदापि विन्वासमनादधानः ॥

न त्रायमाणः सकलां त्रियामां प्रयाति निद्रां घनलुब्धबुद्धिः ॥ ११४६ ॥

विजयोदया—मादुषिदुपुच्छदारेषु वि विन्वासनोद्येधपि मात्रादिषु विग्रंभं भोषयाति । जगति सर्वरत्नीः

प्रलयम् ॥

मूढारा—सहम् ।

अर्थ—यह मनुष्य परिग्रहोष्मा अभिलाषी होकर सर्व रत्निमें यद्वद्वता हुआ जाता है माता, पिता, लवका, पत्नी इन विषयनपि लोगोंपर भी विश्वास नहीं रखता है.

सत्त्वं पि संकमाणो गामे—णयरे धरे च रणो वा ॥

आधारमगणपरो अणप्पवसिओ सदा होइ ॥ ११४८ ॥

अरण्ये नगरे ग्रामे गृहे सर्वत्र संकितः ॥

आधारान्वेषणाकांक्षी स्ववशो जायते कदा ॥ ११४७ ॥

विजयोदया—सत्त्वं पि संकमाणो सर्वेभ्यः शत्रुमान ग्रामे, नगरे, गृहे, अरण्ये वा, आधारान्वेषणपरोऽनात्मवश सदा भवति ॥

मूढारा—सत्त्वंपि साधुमत्साधुन्या । संकमागो धनापहारवत्येन कल्पयन् । आधारश्चायुक्तस्थानं । अणप्पवसिओ पर्ययाः ॥

अर्थ—सर्व मनुष्योंपर उसका विचार नहीं रहता है. इसलिए वह परिग्रहवान् मनुष्य गांवमें, शहरमें, घरमें, अरण्यमें, अपने परिग्रहका जहां रक्षण होगा ऐसा स्थान ढूँढनेकी क्रिमें रहता है. वह अपनी आत्माको बच करानेमें असमर्थ होता है.

गंधपट्टियाए लुब्धो वीराचरियं विचिन्तमावसधं ॥

जेच्छद्दि बहुजणमज्झे वसवि य सागारिगवसए ॥ ११४९ ॥

धीरेराचरिते स्थानं विचिन्तं घनलालसः ॥

विहराय भूरिलोकानां मध्ये गेहीष तिष्ठति ॥ ११५० ॥

पिजबोयण—मंसगडिगाए लुब्धो मंधमिनिषं लुब्धोपि धीरेर्वाचरितं विचिन्तमावसयं जेच्छति । बहुजनमध्ये वसति । गृहस्थानां घेदमनि ॥

मूढारा—गंधपट्टियाए मंधमिनिषं धनं रक्षिमुमित्यर्थः । यदि वा गंधपट्टियावलुब्धो मंधविशेषलुब्धः साधुः । वीराचरितं महायुनिवेशितं । आवसधं वसति । सागारिगवसए गृहरक्षणार्थम् ।

अर्थ—यह कृष्ण मनुष्य परिग्रहमें लुब्ध होकर धीर पुरुष जहांपर रहते हैं ऐसे एकांत स्थानमें रहना पसंद नहीं करता है. वह जहां बहुत लोक रहते हैं ऐसे गृहस्थोंके घरमें रहता है.

सोदूण किंचिसहं समग्धो होइ उट्टिदो सहसा ॥

सन्नत्तो विच्छत्तो परिमसदि पलादि मुञ्चवि य ॥ ११५० ॥

शब्दं कंचिदसौ श्रुत्वा सदसोत्थाय धावति ॥

सर्वतः प्रेक्षते द्रव्यं पराश्रयति मुञ्चति ॥ ११५१ ॥

पिजबोयण—सोदूण किंचि सहं श्रुत्वा कंचन शब्दं परिग्रहयन्सहसोत्थितः सर्वो दिशः प्रेक्षमाणः पराश्रयति स्वं द्रव्यं, पलायते, मुरति य ॥

मूढारा—सोदूण किंचि सहं श्रुत्वा कंचन शब्दं सन्नत्तो सर्वा दिशा । परिमसदि पलायति । स्वं धनं ॥

अर्थ—परिग्रहवान् मनुष्यके कुल शब्द सुन लेनेपर सबसे चकित होता है. उठकर सदा होता है. चारो

दिशाओंका अवलोकन करता है- अपने द्रव्यको हृदय है- मूर्तिसे प्राण जाता है अथवा मूर्ति होकर गिर पड़ता है-

मूलराचना

११४८

तेजमणूरोहइ तहं गिरिं उप्पहेण व पलादि ॥

पविसदि य हदं दुग्गं जीवाण व्हं करेमाणो ॥ ११५१ ॥

आरोहति नगं वृषधुत्पथेन पलायते ॥

निर्गन्तनुमतो मीतो हदं विचति कुत्तरम् ॥ ११५० ॥

विजयोदया—तेजमणूख सेनभयेन आरोहति आरोहति तहं गिरिं या । म्यस्वो भवति । प्रविशति या हदं । दुग्गं वा स्थानं जीवाणा यातमं कुबंज ॥

दुलारा—तेजमणूख कोरमीला । इदं पदं नदं । करेमाणो कुबंज ॥

अर्थ—मेरा परिग्रह चोर लेगा इस दरफे मोरे वह श्रादपर अथवा पर्वतपर चढ़कर छिपकर बैठता है- अथवा मार्ग छोड़कर अमांगसे दौड़ने लगता है- सरोवरमें प्रवेश करता है- अथवा जियोंका घात करता हुआ दुर्गम स्थानमें प्रवेश करता है-

तह वि य चोरा चारमडा वा गच्छे हरेज्ज अवसत्स ॥

गेप्पिज्ज दाइया वा रयाणो वा विट्ठेपिज्ज ॥ ११५२ ॥

अवशस्य नरस्यार्थो हठतो बलिभिः परैः ॥

दायादैस्तस्करैर्भूषणायमाणोऽपि लुप्यते ॥ ११५१ ॥

विजयोदया—तथापि पलायनचाननिकं कुबंतो द्रव्यं हरति चोरा वा चारमडा वा । परवशस्य दायादा वा गृह्णन्ति राजानो वा विलुपन्ति ॥

मूलारा—तथ वि पलायनं कुर्वतोऽपि । चारमडा मुग्धपुरुषाः । दाइया दायादाः । विट्ठेपिज्ज उराछयेदुः ॥

अर्थ—भ्रामणेवाला अथवा दौड़नेवाला तम मनुष्यके पछि चोर जाकर उसको पकड़ते हैं- उससे धन छीन

लेते हैं. पारधीन होनेपर नावीदार लोक, उसका धन लेते हैं. अथवा राजा उसका धन हर लेता है.

संगणित्वं कुट्टो कलहं रोलं करिञ्ज वरं वा ॥

पट्टणेज्ज व मारेज्ज व मारेजेज्ज व य हस्मेज्जा ॥ ११५३ ॥

कल्लि कलकलं वैरं कुरुते नायते परं ॥

म्रियते मार्यते लोकैहस्यते चार्थलपटः ॥ ११५४ ॥

विजयोक्त्वा—संगणित्वं कुट्टो कट्टः परिग्रहनिमित्तं कलहं वैरं वा करोति हंति, ताडयति, । परं स्वयं प्राणान्धियोजयति वा । परेण वा ताडयते मार्यते परेण ॥

मूढारा—पट्टणेज्ज ताडयेत्तरं । मारेज्जो मारयेत्तरं । मारेजेज्ज मार्यते परं । हस्मेज्ज ताडयते परं ।

अर्थ—परिग्रहे निमित्तसे क्रोधी हुआ यह मनुष्य दूसरोंके साथ वंटा करता है. वैर करता है. दूसरोंको मारता है. पीटता है. दूसरोंके प्राण लेता है, अथवा दूसरोंके द्वारा यह मारा जाता है, पीटा जाता है.

अहवा होइ विणासो गंथस्स जल्लिगमूसायावीहिं ॥

णट्ठे गंधे य पुणो तित्थं पुरिसो लहवि दुक्खं ॥ ११५४ ॥

कुराणुभूषिकाभोभिः सन्वितोऽर्थो विनादयते ॥

तत्र नष्टे पुनर्वाहं ददाते शोकचक्षुिना ॥ ११५५ ॥

विजयोदया—अथवा होज विणासो अथवा ग्रीपस्स विनासो भवेत् । अश्लिष्टमूपकादिभिः कष्टे पुनर्वाहे सीमं दुःखं लभते मनुष्यः ॥

मूढारा—सपुण्यं—

अर्थ—अथवा उसके परिग्रहका नाश अग्नि, जल, चूहे वगैरहसे होता है. परिग्रह नष्ट होनेपर फिर वह पुरुष दुःखी होता है.

सोयइ विलवइ कंदइ णट्ठे गंधम्मि होइ वीसण्णो ॥

पञ्चादि णिवाहुज्जइ केवहु उक्कंठिओ होइ ॥ ११५५ ॥

श्वसिति रोदिति सीदति वेपते गतवन्ति द्रविणे अहिलोपमः ॥

करनिविष्टकपोलतलोऽधमो मनसि शोचति प्रत्नुरुतेऽभितः ॥ ११९४ ॥

चित्रयोदया—सोयइ विलवइ शोचति, विलपति, कंदति नष्ट परिग्रहे विपण्यश्च भवति । चित्तां करोति ।
पिपत्यंतस्संतापाऽजलादिक, वेपते उत्कंठितो भवति ॥

मूलारा— विसण्णो विपण्णो विचेतनो वा । पञ्चादि चित्तां करोति । णिवाहुज्जइ विवत्सन्ताऽंतापाज्जलादिकं ।
मत्वेदेनापूर्वत इत्यन्यः ॥

अर्थ—परिग्रहना नाश होनेपर शोक करता है, जोतसे रोने लगता है. लोगोंके हृदयमें दया उत्पन्न होगी ऐसा रोता है. मनमें विन्न होता है, चित्ता करने लगता है. हृदयमें बहुत जलन पैदा होनेसे पानी पिता है, उसके अपयव कांपने लगते हैं और यह उत्कंठित होता है.

डब्बदि अंतो पुरितो अप्पिण् णट्ठे सगम्मि गंधम्मि ॥

वायावि य अक्खिप्पइ बुद्धी विय होइ से मूढा ॥ ११५६ ॥

अंतरे द्रव्यशोकेन पायकेनेव ताप्पयेते ॥

बुद्धिर्मदायते यादं मुखात्युत्कठते तराम् ॥ ११९५ ॥

चित्रयोदया—डब्बदि वक्षते भंतः पुष्टय व्याप्तीये नष्ट परिग्रहे । यागपि नश्यति बुद्धिरपि मंदा भवति ॥
मूलारा— अक्खिप्पइ नश्यति स्मरति वा ॥

अर्थ—परिग्रहका नाश होनेसे मनुष्य मनमें जला करता है उसका वचन भी नष्ट होता है. अर्थात् उसका बोलना भी बंद पड़ता है उसकी बुद्धि भी मंद होती है.

उन्मत्तो होइ णरो णे गये गहोवसिहो वा ।
घट्टदि मरुणवापदिपुहिं बहुधा णरो मरिंदुं ॥ ११५७ ॥

उन्मत्तो वधिरौ मूको द्रव्ये नष्टे प्रजायते ।

घट्टते पुरुषो मर्तुं गिरिप्रपतनादिभिः ॥ ११५६ ॥

विजयोद्वार—उन्मत्तो होर णरो उन्मत्तो भवति नरः । मरे पस्त्रिहरे ग्रहगुहीत इय चेष्टे मरुणवापादिभिर्नैतुं ॥
मूकारा—गहोवसिहो वा भूवापि इव । घट्टदि केष्टे । मरुणवापादिपुहिं यदुपगतादिभिः ॥

अर्थ—परिश्रद्धा नाश होनेपर यह जीव उन्मत्त होता है, पिशाच अस्त मनुष्यके समान चेष्टा करता है, और पर्वत, अग्नि, पानी इत्यादिकसे मारेकी इच्छा करता है.

चैलादीया संग्गा संसज्जंति विविहेहिं जंतूहिं ॥

आंगंतुगा वि जंतू हवंति गधेसु सणिहिदा ॥ ११५८ ॥

चैलावयोऽन्विता ग्रंथाः संसज्जति संयन्तः ॥

संति सन्निहिताश्चित्रास्तस्मिन्नांगंतुकास्तथा ॥ ११५७ ॥

विजयोद्वार—चैलादिना चैलादिसेमोखलमावरणादयः परिभृताः । संसज्जंति सम्बृण्णामुपयंति । विविहेहिं जंतूहिं नलाप्रकारिजंतुभिः । आंगंतुगा वि आंगंतुमात्र उपाय । गधेसु सणिगधिरा भवंति ग्रंथेषु सन्निहिता भवन्ति । चैलापिपीलिका मरुणादयः । आन्वेषु कीटमादयः । गुडामृषादिषु रसजीवाः । वेपनादौ ॥

मूकारा—संतिगर्जनि लम्बच्छेति । यक्षतवद्वो बुद्धामत्कुनादिभिः धान्यानि कीटकादिभिः । गुडामृषादीनि च रसजत्राणिभिः ॥

अर्थ—ओठनेके वस्त्र प्राय णादिक परिग्रहमें नाना प्रकारके सम्बृण्ण जीव उत्पन्न होते हैं, जू, चिटी, मत्स्य चौराह आंगंतुक प्राणी भी आकर परिग्रहमें ठहरते हैं, धान्यमें कीट उत्पन्न होते हैं, गुडके घनाये अप्पादिक स्वाद्य पदार्थोंमें रसके वरुण जंतु उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार पशुग्रह जंतुओंका उत्पत्ति स्थान होता है.

आदाणे शिवस्वेते सरेमणे चावि तेसि गंधाणं ॥

उद्धस्सणे वेक्ककसणे फालणपप्फोडणे चेव ॥ ११५३ ॥

विजयोदया—आदाणे, निक्षेपे, संस्करणे, बहिर्नयने, बंधने, मोचने, तेषां ग्रंथानां पाठने विद्युत्ते च ॥

मूढारा—सरेमणे संस्करणे । उवस्सणे वह्निर्नयने । वेक्कसणे बंधगोचने । फालणे पाठने पप्फोडणे उपधूने ॥

अर्थ—पदार्थ ग्रहण करना, जमीन पर रखना, उसको सोचना, बाहर लेजाना, बंधना, खोलना, फोड़ना, शटकरना इत्यादि किया करने समय प्राणिजोंको बाधा पोहोचती है.

छेदणयंयणेवेदुणआदावणचोव्वणादिकिरियासु ॥

सेधट्टणपिपिदावणहणणादी होदि जीवाणं ॥ ११६० ॥

बंधनं छेदने मेदने पाठने धूनने चालने शोषणे ॥

वेदने कालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीडा परा जायते वेदिनाम् ॥ ११९८ ॥

विजयोदया—छेदने, बंधने, शोषणे प्रक्षालने च । सम्बंधे परित्यापनद्वयनदिकं भवति जीवानां ॥

मूढारा—आदावण शोषणे । चोव्वणादि प्रक्षालनकवक्रुशदिकं । सेपण्ण सम्बद्धं । पटितवण पीडनं उदावण

नारणं ॥

अर्थ—छेदन करना, बंधना, शोषण करना, छुलाना, धोना, इत्यादिक क्रियां कृते समय जिनको मर्दन संतापन और घात उत्पन्न होता है,

जदि/वि विविचदि जंतू दोसा ते चेव हुंति से लग्गा ॥

होदि य विक्किचणे वि हु तज्जोणिविओजणा णिययं ॥ ११६१ ॥

तेभ्यो निरसने तेषां ध्रुवा योनिवियोजना ॥

दोषा मर्दनसंघट्टवित्तापमरणादयः ॥ ११९९ ॥

विजयोदया—जदि वि विविचदि यथापि निराक्रियते जीवास्त एव संबद्धादयो दोषा भवन्ति । भवन्ति च पृथक्करणे तेषां तद्योभिरियोजना निश्चयेन ।

महारा—अदिवि यद्यपि । विरिञ्चिदि स्फोटयति । ते चैव संप्रवृत्तद्वयः । सैव संप्रवृत्तः । लम्बा अनुपत्ताः । तन्मोक्षिविजोवणा तेषां अन्यनामुत्पत्तिरयानविवेकः ॥

अर्थ—यद्यपि जीवोक्तो अलग करने पर भी सर्वोपादिक दोष परिग्रहवानके होते ही हैं, जब जीवोंको प्रयत्न किया जाता है तब उनको अपने उत्पत्तिस्थानका विवेक होता है—

यदमविश्वपरिग्रहगतद्वेयमभिधाय सच्चित्तपरिग्रहद्वेयमाचष्टे—

सच्चित्ता पुन गंधा वच्यंति जीवे सयं च दुक्खंति ॥

पापं च तज्जिनिमिंतं परिगिण्हंतस्स से होई ॥ ११६२ ॥

सच्चित्ता अंगिनो व्रन्ति स्वयं संसरत्तमानसाः ॥

अहीतुर्जायते पापं तस्मिन्मिसमसंचायम् ॥ १२०० ॥

विजयोदया—सच्चित्ता पुन गंधा वच्यंति जीवे परिग्रहः । दासोदासगोमहिर्यादयो प्रैति । जीवान्तर्यं च दुःखिता नमति । कर्मणि नियुज्यमाना कृप्याधिके पापं च स्वपरिग्रहीतजीवकृतान्तर्यमनित्मिकं तस्य भवति ॥

एवमचित्तप्रग्रहान्द्वेयपरिग्रहसच्चित्तप्रैयधनदोषानाह—

मूळार—दुस्सजति कुव्यादिकर्मणि नियुज्यमाना दुःखिता भवन्ति । तज्जिनिमिंतं परिग्रहीतजीवकृतान्तर्यमन-

दुःखोत्पादनहेतुकं ।

अर्थ—जो सच्चित्त परिग्रह है अर्थात् दास दासी, गो गधिर्य वगैरे सजीव परिग्रह हैं वे जीवोंका यात करते हैं, और स्त्री वगैरे कर्मोंमें नियुक्त करनेपर दुःखी होते हैं, विनका परिग्रहवानने स्वीकार किया है ऐसे दास दा-
स्यादिक अन्तर्यमरूप प्रयुक्तिपर जो पाप उत्पन्न करते हैं उसका संबंध परिग्रहवानके साथ होता है, अर्थात् स्वामी की प्रेरणासे वे असंयमरूप कार्य करनेसे स्वामी पापसे बद्ध होता है—

इद्वियमयं सरिरं गंधं गेण्हदि य वेहसुवसत्थं ॥

इद्विभसुहाभिलासो गंधगहणेण तो सिद्धो ॥ ११६३ ॥

देहस्याश्रयमयत्वेन देहसौल्याय गृह्यतः ॥

असौख्यभाग्याभिलाषोऽस्ति सकलस्य परिग्रहः ॥ १२०१ ॥

विजयोद्या—इंद्रियसुखभिलाषः कर्मव्यनिमित्तो मुमुक्षुणा लाल्यः । स परिग्रहग्रहणे बलादावततीति व्याख्ये-
शंद्रियमयं सरितं स्पन्दनादिष्वेन्द्रियाभारत्वात् । परिग्रहं च बेलपावरणादिकं इंद्रियसुखायमेव गृह्यति । यातातपाय-
नभिमतस्पर्शनविधाय आरम्भशरीरे कलांलंकारादिभिरलंकृते वयभिलाषमुत्पाद्य तद्व्यासंगजनितप्रीत्यार्धितया अभिमत-
माणादयति । सेवनाद्यर्थं च तत् इंद्रियसुखाभिलाषो ग्रन्थं गृह्यतः सिध्यति । स्वाध्यायध्यानास्ययोस्तपसो विप्रकारी
परिग्रहकादुभयं चातरेण न संपरनिर्जरे ॥

इंद्रियसुखाभिलाषः कर्मबंधननिवर्तयान्मुमुक्षुभिस्त्याज्य एव । स च परिग्रहग्रहणेन बलात्सिध्यति इति
व्याख्ये—

नूलारा—इंद्रियमयं स्पर्शनादीन्द्रियाधारत्वात् । गंदं बेलभावरणादिकम् । देहभोक्तृत्वं वातातपावनिषेधा-
दिना शरीरस्य स्वारज्यदुःखनिमित्तं सिद्धो निश्चितः ॥

अर्थ—इंद्रियसुखोंमें अभिलाषा करनेसे कर्मबंध होता है अतः मुमुक्षु इंद्रियसुखकी अभिलाषा नहीं करते
हैं, जिन्होंने परिग्रहोंका स्वीकार किया है उनको नियमसे कर्मबंध होता है, इस विषयका स्पष्टीकरण—शरीर
पंचेन्द्रियोंका आधार है अतः उसको इंद्रियमय कहते हैं, जीव स्पर्शनादि इंद्रियसुखके लिए बलादिपरिग्रहका
स्वीकार करता है, हवा, भूष वगैरहका अनिए स्पर्श शरीरको न होवे इस हेतुसे वस्त्रादिकोंका जीव स्वीकार करता
है, जन जीव अपना शरीर बलादिकोंमें अलंकृत करता है तब अपनेमें दूसरोंकी अभिलाषा उत्पन्न करके
उनके शरीरसे सहनामकी प्रीति उत्पन्न करके अपना इष्ट साध्य करता है, दूसरोंके शरीरसुखकी प्राप्ति करनेके लिए
अपने शरीरको अलंकारादिसे सजाता है, अतः ग्रन्थ-परिग्रह धारण करनेका मूल कारण इंद्रियसुखकी अभिलाषा
है यह सिद्ध होता है इस परिग्रहसे स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धि होती नहीं, स्वाध्याय और ध्यान के बिना
कर्मके संशय और निर्वराके अभावमें संपूर्ण कर्मोंका नाश कैसे होगा ?

तथोपश्रव्ये कुतो निरवशेषकर्मणामो भवतीति कथयति—

गंथस्म गहणरक्खणसारवणाणि नियदं करेमणो ॥

विविखत्तमणो उज्झाणं उवेदि कहं मुक्खसज्झाओ ॥ १२६४ ॥

रक्षणस्थापनादीनि कूर्वाणोऽयस्य सर्वदा ॥
निरस्ताध्ययनो ध्यानं व्याधिनाः कुरुते कथम् ॥ १२०२ ॥

विजयोद्या—तथैव महानरपुत्राणां परिग्रहानं, तद्वक्षणं, तत्संस्कारं च नित्यं कुर्वन् । व्याधित्तचित्तः कथं
गुणध्यानं कुर्यात् निमुक्तलाप्यायः । एतदुक्तं भवति—व्याधित्तचित्तस्य न स्वाध्यायः अस्यति तस्मिन्वस्तुयाथास्तव्याविदुषः
ध्वैर्येकनिष्ठं ध्यानं कथमिदं धर्तते ॥

परिमदात्स्वलाप्यायानविचारात्तत्तत्र संवरनिर्बराविरथाकुलो मोक्षो गोवेदिलमुनास्ति—
मूलारा—विस्तृतध्यानो व्याकुलचित्तः । मुक्तस्वलाप्यो लाकधुलभावनाकः । ग्रंथग्रहणादिना चित्तस्य विक्षेपे सति
स्वाध्यायासंभयात् । वस्तुयाथास्तव्यमनान्तः रुधमिय ध्वैर्येकनिष्ठं ध्यानमुपविहृत इति भावः ॥

यही अभिप्राय आगेकी माथामें आचार्य पढ़ते हैं—

अर्थ—परिग्रहका स्वीकार करना, रक्षण करना, उनमें संस्कार करना इसी कार्यमें जिसका चित्त लगा
है ऐसे मनुष्यकी धर्मध्यानमें प्रवृत्ति नहीं होती है. इस परिग्रहके आलमें पढ़े हुए मनुष्य स्वाध्याय मी नहीं कर
सकते हैं. चित्तकी एकाग्रता होनेपर स्वाध्याय सिद्ध होता है. परतु चित्तका लय परिग्रह में ही होनेसे स्वाध्यायसे
मनुष्य विमुक्त होता है. स्वाध्यायसे वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जब मात्स्म्य होता है तब चित्तकी एकाग्रतासे धर्म
ध्यानकी सिद्धि होती है. स्वाध्यायविमुक्त और परिग्रहात्मक लोकोंको यथार्थ वस्तुस्वरूप मात्स्म्य न रहनेसे शुभ
ध्यानकी सिद्धि होती नहीं है.

परमवस्थाव्यं देयं परिग्रहमुखायातमुपशोयति—

मंथेसु धाडदहिदजो होइ दरिदो भवेसु बहुगेसु ॥

होदि कुणतो णिव्वं कम्मं आहारहेदुम्मि ॥ ११६५ ॥

अर्थप्रसक्तचित्तोऽस्ति निःस्वो बहुषु जन्मसु ॥

आसार्यमपि कर्माणि निंद्यानि कुरुते सदा ॥ १२०३ ॥

विजयोद्या—मंथेसु धाडदहिदजो ग्रंथसक्तचित्तः बहुषु भवेसु दरिद्रो भवति । आहारमात्रमुपि
नीचकर्मकारी भविष्यति । निदि बोधहन्, उपानदेचनं, पुरीषमूत्रालापन्यतं इत्यधिकं नीचं कर्म ॥

अमीभिरस्विलेदोपैग्रयत्यागी विसुच्यते ॥

भूरिभिस्तद्विषदेअ निखयीभियते गुणेः ॥ १२०५ ॥

विजयोदय—येसि दोसां कुंचा पूर्वोक्तान्परिग्रहयद्वगणतान्दोषान्दोषास्त्यजेदिति दोषप्रतिपक्षभूतान्पानयि समते ॥

अथत्तागिनो दोषविच्छेदं गुणप्रसिद्धं चोपदिशति—

मूढारा—मुंचदि पूर्वोक्तान्दोषास्त्यजति । द्वितीयायेऽत्र पट्टी ॥

अर्थ—परिग्रहका त्याग करनेसे पूर्वोक्त सर्व दोषोंका त्याग हो जाता है, और इस दोषोंके प्रतिपक्षी औदार्य, निस्पृहता वगैरह गुणोंकी प्राप्ति होती है.

गंयन्वाओ इंदियणिवारणे अंकुसो व हत्थिरस ॥

णयरस खाइथा वि य इंदियगुत्ती असंगं ॥ ११६८ ॥

अंकुसो गतसंगत्वं विपयेअनिवारणम् ॥

इंद्रियाणो परा गुप्तिः पुरीणाभिव त्वातिका ॥ १२०६ ॥

विजयोदय—गंयन्वाओ संगत्यागः इंदियनिवारणे इत्ययमिंदियशब्द उपयोक्तैरिंदियविषयः स्तम्बी अ भिमि-
चलक्षण । तेनायनये—इंद्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निवारणे निमित्तभूतोंऽकुश इव इस्तितो निवारणे उत्पद्यमानात् ।
नगरस्य दादिगा पि ॥ नगरस्य दातिका इव । असंगं च निष्पद्यिहता । इंदियगुत्ती इंदियगुप्तिरिंदियरक्षा रागोत्पत्ति-
निमित्तैरिंदियज्ञानरक्षा ॥

तैर्मयरवैन्द्रियरूपवोपकल्पमाह—

मूढारा—इंदियनिवारणे इंद्रियज्ञानस्य रागद्वेषमूलस्य निरोधने निमित्तमूवः । सप्तस्था निमित्तार्थे विधानात् ।

अंकुसो य उत्पद्यमानतद्वारणे इति शेषः । खादिगा वि य दातिका यथा निवारणेणोपयः । इंदियगुप्ति रागद्वेषोत्पत्ति-
निमित्तैरिंदियज्ञाननिवारणेणोपयः ॥

अर्थ—जैसे कुमार्गमें यशुच हुए हाथीको अंकुश निवारण कर बोन्य मार्गपर लावा है, खंदक अर्थात् खाईसे जैसे नगरका रक्षण होता है वैसे परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष विसर्ग मूल कारण है ऐसे इंदिय ज्ञानकी

निवृत्ति होती है अर्थात् परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं; जिससे इंद्रियां अयोग्य कार्यमें प्रवृत्त होती नहीं.

पुनराश्वानः

११५८

सप्यवदुलम्बि रण्णे अमंतविजोसहो जहा पुरितो ॥

होह दढमप्यमत्तो तह जिगंथो वि विसएसु ॥ ११६९ ॥

विपयेभ्यो दुरंतेभ्यल्लस्यति ग्रंथवर्जितः ॥

अरुपमंचौपपधो मर्त्यः सप्रेम्य इव सर्वथा ॥ १२०७ ॥

निजयोदया—सप्यवदुलम्बि सप्यवदुल रण्णे अरण्ये । अमंतविजोसहो मंत्रेण, विजया औपसेन च रहितः पुमान् । दढमप्यमत्तो होदि नितरां भग्नमत्तो भवति । तथा निग्रयोऽपि क्षाधिक्रयदानैकवल्बानययावयतवारिनमन-
विचीनधिरहितो विपमारण्ये रागादिसर्वबहुले साधधानोऽपि भवेत् ॥

निःसंगदस्याप्रमत्तताहेतुवयाह—

मूढारा—रण्णे अरण्ये । विसएसु इंद्रियोर्धेणु रागाद्वेषलक्षणप्रभावरहितः । याकाद्रव्य हि मनसा स्वीकृतं रागा-
द्वेषप्रवृत्ति करिष्यतो मोहनीयकर्मणः सहकारिकारणमिति तस्याग्रे ता न स्यात् । तदभावे च नापूर्वकर्मवैध इति नैर्मल्य-
मेव ग्रथको मोक्षोपाय इति भावः ॥

अर्थ—जिसको सर्वांगिष दूर करनेकी विद्या, मंत्र और औपधिका ज्ञान नहीं है ऐसा मनुष्य जिसमें सर्पो-
का बहुत प्रचार है ऐसे अरण्यमें कारणवश श्राप होनेपर बहुत सावधान रहकर संप्रति अपना वचन करता है.
नैसे क्षापिक सम्मग्नदर्शन, केंद्रलक्षण, यथाख्यातचार्त्त, एतत्स्वरूपी मंत्र, विद्या और औपधिरहित निग्रय मुनि
रागद्वेषादि संप्रति मरे हुए पंचेन्द्रिय विपयरूपी अरण्यमें साधधान रहते हैं. अभिप्राय यह है कि, परिग्रहका त्याग
करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं और विषयाभिलाषाका अभाव होता है.

रागो हवे मणुण्णे विसए दोसो य होइ अमणुण्णे ॥

गंथच्चाएण पुणो रागाहोमा हवे चत्ता ॥ ११७० ॥

रागो मनोहरं ग्रंथे द्वेपद्यास्त्यमनोहरे ॥

रागद्वेपपरित्यागो ग्रंथत्यागे प्रजायते ॥ १२०८ ॥

विजयोदया—रागद्वेपयोः कर्मणं मूल्योर्लिभिषं परिग्रहः, पत्रिग्रह्यागे रागद्वेपौ एव सक्तौ भवतः । याद्यद्वयं मनसा स्वीकृतं रागद्वेपयोर्बाजं, तस्मिन्नसति सदकारिकाए न च कर्ममात्राद्वेपद्विपर्यया सत्यपि द्युतिपदे दंडाद्यनंतरकारणवैकल्ये न यदोत्पत्तिर्यथेति मन्यते ॥

एतेदयाद—

मूढारा—मणुण्ये वृष्टेयं मनसा स्वीकृते सति ॥

अर्थ—इष्ट विषयोर्मै रागभाव उत्पन्न होता है और अनिष्ट विषयोर्मै द्वेप उत्पन्न होता है, परंतु परिग्रह का त्याग करनेसे राग और द्वेप दोनों भी नष्ट होते हैं, रागद्वेप कर्मबंध होनेमें मूल कारण हैं, रागद्वेपमें ही कर्मबंध होता है, परंतु परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेपोंका त्याग होता है, मनमें विचार कर जब जब चाह द्रव्यका अपीत बाह्य परिग्रहका स्वीकार करता है तब रागद्वेप उत्पन्न होते हैं, यदि सहकानिकारण न होगा तो केवल कर्ममात्र से रागद्वेप उत्पन्न होते नहीं, वयपि द्युतिपदसे घट उत्पन्न होता है व यपि दंडादिक कारण नहीं होगे तो घटकी उत्पत्ति नहीं होती है.

कर्मणा निर्जरेणोपायः परीपद्मसदनं । यथा शोकं पूर्वोपायकर्मनिर्जरेण परिपोरदव्याः परीपद्माः सोबा भयन्ति ग्रंथचेष्टापरणादिकं स्वज्ञेतेति व्याख्ये—

सीदुण्णदंसमसयादियाण विण्णो परीसहाण तरो

सीदादिणिवारणए गंधे णिययं जहेतेण ॥ ११७१ ॥

शीतावयोऽज्विलाः सम्यग्निवपद्यंते परीपद्माः ॥

शीतादिचारकं संगं योगिना त्यजता सदा ॥ १२०९ ॥

विजयोदया—सीदुण्णदंसमसयादियाण ननु च उरयोगनिपते संकुशरहितता परीपद्मजयः । न तु शीतो-
प्यादयो नदि ते आत्मपरिणामाः यान्त्रपरिणामाश्च बंधस्वरनिर्जरेणोपायो ॥ भयन्ति । योऽनात्मपरिणामो नास्ती
निर्जरेणोपायो यथा पुत्रलग्नतरुणद्वयः । अनात्मपरिणामाश्च शीतद्वयः क्षुत्पिपासाद्वयो दुःगन्धेतवः । ननु दुःखे तत्

किमुच्यते भुक्तिपासादयः परीषद्वा एति नैव योग्यः । क्षुदादिजन्यदुःखविरयत्वात् क्षुदादिशब्दानां । तेन भुक्तिपासाशीतोष्ण
यन्तामशकान्पादीनां परीषद्वचनो युक्तिर्नोपिच्यते । सीदुष्णदंसमस्ययावियण शीतोष्णयन्तामशकादीनां । परिस्सहाणं उरो
विण्णा परीषद्वाणां उरो दञ्जं । केन संपिदिपिण्णायणे शीतादीनां निषेधकान् । गंधे पियद्व ज्वाहेण ग्रंथाच्चियत्ते लज्जता ॥

चेत्तादिग्रन्थ लज्जता दुःशूननिर्वर्णयोग्यः परीषद्वसहने कृतं स्यादित्याह—

मूलारा—परीसहाण शीतादिजन्यदुःखानां । उरो मृदयं । शीतादिदुःखोद्भवे निःसंमलेश्च मनः कुतमित्यर्थः ।

नियारण
विचारकान् ॥

परिषद् महत् करनेसे कर्म की निर्जरा होती है ' पूर्ववर्गमें जीवने जो कर्मसंचय किया है उसको निर्जरा
ज्ञानैकैलिप्द परिषद् सहन करना चाहिए ' ऐसा आगममें कहा है, ग्रंथ का अर्थात् वस्त्रप्रावरणादिकोंका त्याग करने
वाले श्रुति परिषद् सहन करते हैं इसका विवेचन—

अर्थ—दुःख आनेपर भी मंझेश परिणाम न होना ही परिषद् जय है, परंतु शीत, उष्ण, भूल, व्यास
वंगरहको परीषद् जय नहीं कहते हैं क्यों कि ये आत्मपरिणाम नहीं हैं, वे बंध, संतर, निर्जरा और मोक्षके उपाय
होते नहीं, जो जो आत्मपरिणाम नहीं है वे निर्जराके हेतु नहीं हैं जैसे बुद्धलके रूपादिक गुण, शीत उष्णता वंगरह
आत्माने परिणाम नहीं, क्षुधा, व्यास वंगरहभी आत्माके परिणाम नहीं हैं वे सब दुःखके कारण हैं, वे स्वयं दुःख
नहीं हैं इसयास्ते उनको परिषद् कहना योग्य नहीं है।

उत्तर—आपका कहना योग्य है, क्षुदादिकोंके उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुदादिशब्दोंका विषय है, इस
वास्ते क्षुधा, पिपासा शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्य इत्यादिकोंको परीषद् कहना अनुचित नहीं है।

इस गाथाका अभिप्राय यह है कि, शीत उष्ण इत्यादिकोंको मिटाने वाला वस्त्रादि परिग्रह जिसने नि-
यमने छोड़ दिया है उसने शीत, उष्ण, दंशमशक वंगरह परीषदोंको छाड़ी आगे करके शूर पुरुषके समान जीत
लिया है ऐसा समझना चाहिये।

वेदे आदयः सर्वस्य हिंसावेऽयमस्य मूलं परित्यक्तो भवति परिग्रहं त्यजतेत्याचष्टे—

जम्हा निगमंथो सो वादादवसीदंसमस्तथाणं ॥

सहदि य विविधा वाधा तेण सदेहे अणादरदा ॥ ११७२ ॥

शीतवातात्पादीनि कष्टानि संहते यतः ॥

क्रियतेऽनादरो देहे निःसंगिन ततः परं ॥ १२१० ॥

विजयोक्ता—अम्हा यस्मात् । निग्नयो सो निष्प्रियहोऽसौ । वाक्पुवसीदंसमस्याणं विविधां पाधां
वातात्पणीतवंशमशकानां विविधं दुःखं स्रद्धा विपद्यति संहते । तेन सहनेन । सदेहे सदेहे अणत्पदा आदराभावाः ।
शरीरे अकृतादराज्ज अहात्वेदोषं हिंसादिकं, तपसि च साधकत्वनिगृह्णेन प्रयत्नेन ॥

हिंसदिसकलसंयममूलं शरीरपरः संगं त्यजता त्यक्तः स्यादित्याह—

मूलपरः—स्रष्टम् ॥

जितने परिग्रहोका त्याग क्रिया है उसने देहका सम्यक्ता छोड़ दिया है ऐसा समझना चाहिये. क्योंकि
देहममत्व ही सर्व हिंसादिक असंयमका मूल कारण है. इस विषयका विवेचन—

अर्थ—यह परिग्रहत्यागी चात, भूप, शीत, दंशमशकदिपरिग्रहोसे होनेवाले विविध दुःख सहता है
इसलिये यह परिग्रहोमें अनादरवान् है यह बात निर्णीत होती है. ॥ शरीरसे समत्वभाव दूर होता है तप हिंसा-
दिक सर्व पापोंका त्याग होता है. और तपधर्म्ममें अपनी शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होती है.

संगपरिमगणादी निस्संगे णत्थि सत्त्वविक्षेवा ॥

उद्गणज्झेणाणि तओ तस्स अविग्गेण वच्वन्ति ॥ ११७३ ॥

व्याक्षेणोऽस्ति यतस्तस्य न ग्रंथान्वेषणादियु ॥

व्यानाध्ययमयोर्विज्ञो निभंसस्य ततोऽस्ति नो ॥ १२११ ॥

विजयोक्ता—संगपरिमगणादी वरिग्रहान्वेषणादि परिग्रहस्य स्वाभिव्यक्तस्य यस्मिन्वगवेषणे हेतुनामस्तीति ।
तथा तत्त्वामिनां कोऽस्य स्वामी? त्वं च न कासौ अच्यतिष्ठते इति पुनर्योज्ञा? कामे संतोषो, अन्तर्मे दीनमनस्कता, तदन्तर्यं
तत्संस्करणं, तद्रक्षणं इत्यादिकं आदिशब्देन गृह्यते । निःसंगे संगराहिते णत्थि सत्त्वविक्षेपाः । न स्तंति सर्वे व्याक्षेपाः ।
उद्गणज्झेणाणि ध्यानं अध्ययनं च । तयो व्याक्षेपमवात् वेतसि । तस्स अपरिग्रहस्य । अविग्गेणं वच्वन्ति विग्रमन्तेण
पतते । सर्वेषु तपस्तु प्रधानतोर्ध्वान्स्साध्याययोरुपायो अपरिग्रहता इत्याख्यातमनया गाथया ॥

सर्वतपसासुतंसयोः स्वाध्यायध्यानयोर्नैःसंगहेतुकत्वे युक्तिमाह—

मूलारा—संगपरिणामादौ परिग्रहान्वेषणविरुद्धेन च वस्तुशोधोद्यमस्यैव ध्यानगवेषणतत्त्वार्थनिरूपणप्रवृत्तेः ॥
 शिरोभरत्तमदेव्यतद्वानयनसंस्करणवक्ष्यामीनि । विन्धेवा व्याशेषाधिकव्यासंगाः । अविग्वेषेण वर्धति निरंतरायं प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो परिग्रहोंमें विरक्त हुआ है, उसको परिग्रहोंको हटानेकी चिन्ता नहीं रहती है, जिस परिग्रहको लोक चाहते हैं उसको हटानेका प्रयत्न करते हैं, जिसके पास मेरी अभिलषित वस्तु मिलेगी ? क्या तेरे पास मेरी इष्ट वस्तु है ? ऐसा प्रश्न करते हैं, उस वस्तुका स्वामी कहां रहता है ? इसकी खोज वे करते हैं, उसके पास जाकर पाचना करते हैं, यह वस्तु मिलने पर मन आनंदित होता है, परंतु नहीं मिलनेपर दीनता उत्पन्न होती है, अमीष्ट चीजको लाकर उसको सुंदर बनाकर रक्षण करते हैं, परंतु जो निष्परिग्रही हुए हैं ऐसे मनुष्य इन सर्व संसदोंमें दूर होकर मुली होते हैं, निष्परिग्रही मनुष्यों का मन अव्याकुल रहता है जिससे उनके ध्यानाध्ययन कार्य निर्यम सिद्ध होते हैं, सर्व तथोंमें ध्यान स्वाध्याय ये प्रधान हैं, यह निष्परिग्रहता उनकी प्राप्ति का उपाय है ऐसा अभिप्राय हम मायासे व्यक्त होता है-

गंधच्चाण पुणो भावविसुद्धी वि दीविवा होइ ॥

ण हु संगघडिदुद्धी सेगे जहिदुं कुणदि बुद्धी ॥ ११७४ ॥

दर्शितास्ति मनःशुद्धिः संगत्यागेन तात्त्विकी ॥

संगासक्तमना जातु संगत्यागं करोति किम् ॥ १२१२ ॥

विजयोदया—संगच्छाण पुणो संगत्यागेन पुनः । भावविसुद्धी वि दीविवा होदि परिणामस्य विशुद्धिर्दीप्तिता वदिता भवति । ण हु संगघडिदुद्धी नैव परिग्रहव्यतिशुद्धिः । संगे जहिदुं कुणदि बुद्धी परिग्रहोत्पत्तुं करोति शुद्धि ॥
 भावविसुद्धेरपि नैःसंग्यं क्षिणमित्याह—

मूलारा—वीविदा दर्शिता ॥

अर्थ—परिग्रहोंका त्याग करनेसे परिणाम निर्मल होते हैं और प्रतिदिन परिणामोंकी निर्मलता बढ़ती ही रहती है, परिग्रहोंमें जिसका मन सुगन्ध हुआ वे वह मनुष्य परिग्रहोंका त्याग करनेमें असमर्थ हो जाता है-

या न ममांता सतेसता कषायविषया सा च परिग्रहत्वान्मूलेति कथयति—

गिरसंगो चैव सदा कसायसङ्ग्रहणं कुणदि भिक्खू ॥

संगा नु उदीरंति कसाए अग्गीव कट्ठाणि ॥ ११७५ ॥

निःसंगे जायते व्यक्तं कषायाणां तनूकृतिः ॥

कषायो दीप्यते संगेरिचनैरिव पावकः ॥ १२१३ ॥

विज्वयोदया—स्मिस्तंभो खप विष्णुविग्रहश्च सदा कषायपरिष्काराभांस्तनूकरोति न सपरिग्रहः । कथं इति तदाचष्टे—संगा नु उदीरंति परिग्रहा उदीरयन्ति । कसाए कषायान् । अग्गीव अग्निरिव कट्ठाणि काष्ठानि ॥

किं न दनांतकषायमतेरन्तावि संगत्यागमुला वेत्यनुशास्ति—

मूलाता—उदीरंति उद्गाययंति । अग्गीव अग्निं यथा ॥

परिग्रहका त्याग करोते ही यति कषायसङ्ग्रहना कर सकते हैं—

अर्थ—जो परिग्रहका त्यागी है वही अपने कषाय परिणाम क्षीण कर सकता है. परिग्रहवान् के कषाय कभी क्षीण होते ही नहीं. जैसे इन्फेन्कोषी प्राणी होनेसे अग्नि घटेगी ही कभी वह उपशान्त न होगी वैसे परिग्रहसे कषाय उत्पन्न होते हैं नष्ट होने नहीं.

सञ्चत्य होइ लहुगो रुवं विस्सासियं हववि तस्स ॥

गुरुगो हि संगमच्चो संकिज्जइ चावि सच्चत्य ॥ ११७६ ॥

लहुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणम् ॥

गुरुः सर्वत्र संग्रथः शंकनीयश्च जायते ॥ १२१४ ॥

विज्वयोदया—सत्यतः होइ सर्वत्र प्रयति । गमने आगमने च लघुगो लघुः । रुवं वेसासियं रूपं विश्वासकारि न भवति । तस्स निगम्य । यस्मात्पारणादिक्यच्छान्तिप्राप्तोऽज्ञात्कमुपद्रवं करोति पनं वा सेन चीचरादिना प्रञ्जाय नयतीति शंसं कुर्वन्ति परिश्रुतं दृश्यम् ।

निःसंगस्य लघुत्वविश्राम्तये वञ्छि—

मूलाया—सत्त्वतः गमनाययनादी । लहुगो अभासिको भवति निःसंगः । वेसासियं विश्रामकारि ॥

अर्थ—जिसने परिग्रहोंका त्याग किया है वह सर्वत्र लघु होता है अर्थात् चित्तारहित होता है. उसके स्वरूपको देलकरही लोग उसके ऊपर विश्वास करते हैं. परंतु जिसके पास वस्त्र श्रावणादिक हैं उसके ऊपर लोक विश्वास नहीं करते हैं. इतने अपने पास कुछ छिपाकर रक्सा होगा ऐसा समझते हैं. तथा यह हमारा घन वस्त्रमें छिपाकर ले जायया ऐसी युंका उनके मनमें उत्पन्न होती. अभिप्राय यह है कि परिग्रह अविश्वासका कारण है.

सत्त्वत्य अप्पवसिळो निस्संगो निब्बमओ य सत्त्वय ॥

होदि य निप्परियम्मो निप्पडिकम्मो य सत्त्वय ॥ ११७७ ॥

प्रतिबंधप्रतीकारप्रतिकर्मभयावयः ॥

निर्ग्रयस्य न जायते दोषाः संसारहेतवः ॥ १२१५ ॥

विजयो—सत्त्वत्य अप्पवसिळो सर्वत्र श्रोत्रे, गन्धे, स्पर्शे च अतमवशक्तः । निस्संगो निप्परियम्म. । सत्त्वत्य य निप्पमो सर्वत्र निर्भयाच्च । होदि य निप्पडिकम्मो भवति य निर्व्यापारः, कृपादिक्रियाभारंमरक्षितः । निप्पडिकम्मो य इव पूर्णकृतं इव परमाचिन्तिष्टं कार्यमित्येतच्चास्य न विपत्ते ॥

निःसंगस्य स्यात्तंश्वतिर्भयत्यानारंभत्यनिश्चितयैर्युज्यसंपत्तिमाह—

मूढार—, निप्परियम्मो परिकर्मभयः कृपादिअपारोभ्यो निर्व्यापः । निप्पडियम्मो इव पूर्ण कृतं, इव इदानीं करोमावृत्तं च पुरस्तात्परिप्यामि इत्येवमादिक आत्मनि चित्तासंस्कारोऽत्र प्रतिकर्म तस्माच्चिप्यान्तो निष्प्रतिकर्मा । अन्ये तु निप्पडियम्मो यतिः । निप्पडियम्मो निर्व्यापार इति व्याख्यानिव ।

अर्थ— निष्पाग्रही मनुष्य भावमें, नगरमें, अरण्यामें, सर्व स्थानोंमें अपने स्वाधीनही रहता है. उसको कदा भी नय नहीं है उसको खेतों, उद्योग, घटा करने की चिंता नहीं रहती है. यह कार्य आज मैंने समाप्त किया है अब यह अत्राक्षिप्त कार्य कल या परसों करूंगा ऐसी चिंता उसको नहीं रहती है.

सुपर्यायेनो महत्सुखं भवति संगपरित्यागेनेति यदति—

भारहंतो पुरिसो भारं ऊरुहिय निब्बुदो होइ ॥

जह तह पयहिय गंथे निस्संगो निब्बुदो होइ ॥ ११७८ ॥

महाश्रमकरे भारे रभसाङ्गारवानिव ॥

निरले सकले ग्रये निवृत्तो जायते यतिः ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—भारफलेतो पुरितो भारघटितः पुरुषः । भारं ऊरुद्वयं माय्यक्तार्थं । निवृत्तो होदि सुखी भवति । यथा सया विस्सेतो निवृत्तो होदि निष्परिग्रहः सुखी भवति । ग्रये एषद्विष ग्रंथान्तरित्वज्य । वापराभायलक्षणे दि सुरतं सर्वमेव । तथाहि—प्रशान्तादिना सुखादायक्यते जातं स्वास्थ्यमेव सुपममिति लोको मन्यते ॥

संगतयागानुसरित्यमाह—

मूढाता—ऊरुद्वयं अथवाये । निवृत्तो सुखी । सर्वमपि हि सांसारिकं सुखं वायाभायलक्षणमेव । भोज-

नादिना सुखापपनोदाजाते स्वास्थ्यं लोकरय सुखजन्यवद्वरोगलंभात् । एतद्विष परिलज्य ग्रंथान्तिःसंगःसन् ॥

विसफो सुखसी इच्छा है उसको परिग्रहका त्याग करनेसे महासुख प्राप्त होता है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ— जिसने अपने मस्तकपर योद्धा धारण किया है उसको वह योद्धा उबरनेपर सुख होता है. वैसे

ग्रंथका-परिग्रहका त्याग करनेसे मनुष्य सुखी होता है. बाधाका अभाव होना ही सुख है जैसे अब. खानेसे भूख

पिड़ती है तब जो स्वारथ्य प्राप्त होता है लोक उसकोही सुख कहते हैं.

यत्समादेवं परिग्रहग्रहणेऽतिप्रहयो जगमद्वयमपिनो दोषाश्च—

तस्मा सख्ये संगे अणगणं वदुमाणं तीदे ॥

तं सख्यत्वं निवारहि करणकारवणुणाहिं ॥ ११७९ ॥

भवन्तो भाविनो भूता ये भवन्ति परिव्रजाः ॥

जह्वाहि सर्वथा तांस्तव कृतकारितमोदितैः ॥ ११८० ॥

विजयोदया—सला सस्मात् । सख्ये संगे सर्वान्परित्यज्यत् । अणलयेदं भवान्तात् । बहुधाजो तीदे धर्तमानतरी-
तारिच भवान् । सख्यग्रह निवारहि सर्वथा निवारय । करणकारवणुणाहिं कृतकारिताग्रहणमुदनेन । कयं अतीवो
भावी या परिग्रहो वंधकारणं येन निवार्यते? अयमभिप्रायः अतीतस्वस्यागिसंबंधंयं वस्तुनि ममेदं यस्मासीदिति तदनु
स्मरणानुतागदिना अनुभवरिणामेन वंधो भवतीति मा कथंस्तदनुस्मरणं अनुरागे वा । एवं गतिष्यति इत्यर्थंयत् यम
द्रवियं प्रति ॥

यत्समादेवं परिग्रहग्रहणेऽतिप्रहयो जगमद्वयमपिनो दोषा भवेयुः—

मूलरूप—अणुगणदे भविष्यतीत्यंशुल मग वल्लिं वल्लिति, भाविष्यति वस्तुनि स्वस्वामिसंघातुरागेणाशु-
भपरिणामेन प्राप्स्यंशो भवतीति भाविनो ग्रंथानिवारय त्वमिति क्षपकं नियुक्ते । द्वीदे अतीवान् उचाट्यवस्तु ममासीदि-
स्वतीतयस्तुन्यपि स्वस्वामिसंघातुस्तरणानुरागादिरप्यशुभपरिणामः प्राप्यवधाय प्रसवतीत्यतीतपरिग्रहनिवारणनियोगः ।
मरतलपुण्यार्हि काराव काराणः काराणं, अणुण्या अनुसा, अनुसविः ॥

परिग्रहत्याग करनेसे मुल मिलता है और परिग्रह ग्रहण करनेसे इस भवमें और परभवमें दोष उत्पन्न होते हैं—

अर्थ— इसलिये हे क्षपक भविष्यकालीन, वर्तमानकाल सचंधी और भूतकाल सचंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर तथा छुट; कारित और अनुमोदनासे इनका तू त्याग कर.

शुक्ला— जो परिग्रह पीत चुका और जो आगे प्राप्त होनेवाला है वह वधका कारण कैसे हो सकता है ? इस पासे उसका निरवारण करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जो परिग्रह नष्ट हो चुकनेसे उसमेंसे स्वस्वामिसंघ नष्ट हुआ है तोभी यह परिग्रह वस्तु भेरी थी ऐसा स्मरण होकर उसमें ममत्व होता है. जिससे अशुभ परिणाम उत्पन्न होकर वध होता है. इसी प्रकार भविष्य-
कालीन परिग्रहमेंभी ममत्व होता है. भविष्यकालमें भेरेको अशुभ चीज मिलेगी ऐसे सकल्प मनमें उत्पन्न होकर अशुभाशुभ परिणामोंसे कर्मवध होता है इसलिये निकालसचंधी संपूर्ण परिग्रहोंका तू त्याग कर ऐसा क्षपकको आ-
चार्य उपदेश करते हैं

जावन्ति केइ संगा विराधया तिविहकालसंभूदा ॥

तेहि तिविहेण बिदो विमुचसंगो जहू सरीरं ॥ ११८० ॥

यावन्तः केचन ग्रंथाः संभवन्ति विराधकाः ॥

निर्वृतः सर्वथा तेभ्यः शरीरं मुंच निःस्पृहः ॥ ११८१ ॥

वित्तयोदय—जापति केर संग यावन्त. केचन पटिपदा. । विराधका वित्तप्रकाः । क्यय ? नल्लयपय ।

तिविधकालसंभूता कालव्ययमृताः । वेदि तिविधेण विरलो विमुत्संगो तेभ्यो मनोयाकावैर्बलितः सन् विमुक्तसंगः । अहं सत्परं त्वज शरीरे ।

मया रत्नवयवितानुहं इत्येषान्मंत्र्यान्निरस्य निःसंगः सजंगं त्वजेति क्षपकमादिशति—

मूढारा—विराधया रत्नवयविनाशकाः । अहं त्वज त्वं ॥

अर्थ—ओ त्रिकालमंत्र्यो परित्यक्त रत्नवयवैकं विनाशकं है उनसे हे क्षपक तूं मन, वचन और कावसे विरक्त होकर अर्थात् निरपराध होकर इस शरीरका त्याग कर.

एवं कदकरणिज्जो तिकालतिविहेण चैव सत्त्वत्य ॥

आसं तण्हं संगं छिद ममांसि च सुच्छं च ॥ ११८१ ॥

इत्थं कृतक्रियो बुंच क्षिपयं सार्वकालिकम् ॥

तृष्णामाशां क्रिया संगं ममत्वं त्यज सर्वदा ॥ ११९१ ॥

विजयोपेया—एवं कदकरणिज्जो एवं कृतकरणीयः । यरकर्मभ्यमाराधनो बांछता बाह्यरसदीरत्यागादिकं । स परमभूतः । तिकाळे वि कालव्ययेऽपि । तिविधेण भिविधेन । सत्त्वत्य सर्वत्र सर्वविधो सुखसाधनगोचरो । आसं आशां । तण्हं एष्णां । संगं परिमदभूतां । छिद ममस्मि ममेदमिति संकल्पे छिदि । मुक्छं मूच्छां मोहमिति पाषट् ॥

इत्थं कृताराधनासिद्धयंगभूतसंकेतनाशरदीरत्यागादिकृत्यः सन्ननासिद्विभ्रमसंस्कारवशाद्विषयसुखेषु ग्रहभूमेव शरासाविषयकं निर्मूलयेति शिक्षासर्वेस्पमाह —

मूढारा—सन्वदय सर्वेषु मनोतत्पर्येनादिविषयेषु । आसं आशां । चिरमेते ईदृशा विषया मनोदितोदिता भूयानुरित्यारंसा । तण्हं एष्णां । इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यंता इति तीमं ग्रवंषप्रवृत्त्यभिलाषं । संगं तन्मयीभाव्यं । छिद छिदति त्वं । ममस्मि ममेमे मोन्या अहंमेयां मोक्षेति भंगत्वं । मुक्छं मूच्छां मूढतां निश्चेतनतां । अन्ये पुनरित्यमर्त्यं कपयंदि—सर्वत्र शरीरावायातां । दडतंर शरीरव्यापि मे भविष्यतीत्यादिबुद्धिः । तथा एष्णां सर्वोपायेन रक्षणपेक्षां । तथा संगमासक्तिं । तथा ममतां ममेदमिति प्रविवंधं । तथा मूच्छांमयैव विद्यामीति आसक्तिशुद्धिः । भोः क्षपकराज ! निवारयेति ॥

अर्थ—आराधना की सिद्धीके अंगभूत कर्तव्य जिससे किये हे ज्यार्थां शरीरसंछेदना जिससे की हे ऐसे

दे क्षपक ज्ञान' तू तीनों कालमें भववचन कायेसे सर्व परिग्रहोंकी आशा और तृष्णाका त्याग कर, संग, ममत्व और मूर्च्छाका त्याग कर, चिरकालक भोको सुख देनेवाले विषय उत्तरोत्तर अधिक ग्रहणसे मिले ऐसी इच्छा रखना उसको आशा कहते हैं, तृष्णा-ये सुखदायक पदार्थ कभी भी भोगसे अलग न होवे ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं, संग-परिग्रहोंमें अतिश्रम्य तन्मय होना, ममत्व-ये पदार्थ भोगे योग्य हैं मैं इन का भोक्ता हूँ ऐसा मनमें संकल्प करना, और मूर्च्छा अर्थात् मोहयुक्त बनना, हे क्षपक तू आशा, तृष्णा, संग, मूर्च्छा वगैरह अशुभ भावोंको छोड़ दे.

परिग्रहस्य त्यागजन्यसुखाविजायमिदं जन्मनि प्राप्त्यं निर्दिशत्युत्तराश्विनः—

सत्त्वगंधविमुक्तो सीदीभूदो पसष्णचिसो य ॥

जं पावइ पीयसुहं ण चक्रवही वि तं लहइ ॥ ११८२ ॥

समस्तग्रंथनिर्मुक्तः प्रसन्नो निर्दृताश्रयः ॥

यत्प्रीतिसुखमगमोति तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ॥ ११८३ ॥

विजयोपपा—सत्त्वगंधविमुक्तो परित्यक्तोऽप्यग्राह्यं यत्तदग्रंथः । सीदीभूदो शरीरीभूतः । पसष्णचिसो य प्रसन्नचित्तः सन् । जं पावइ पीयसुहं यत्प्राप्नोति प्रीत्यामकं सुखं । न चक्रवही वि तं लभति चक्रवर्त्यपि तत्र लभेत ॥

वाङ्मार्ग्यवरपरिग्रहत्यागसमुद्भवं सुखातिशयविहं जन्मनि प्राप्यसुपदिसति—

मूलापा—सीदीभूदो मध्येष्वितिकर्तव्यताविताभ्याकुलत्वात्प्रसन्नतापनिवर्तनाच्छैत्यं प्राप्तः । पीयसुहं जानंदात्मकं सौख्यम् ॥

परिग्रहका त्याग करनेसे जो सुखातिशय इस जन्ममें प्राप्त होता है उसका आगेकी गाथामें उल्लेख करते हैं—अर्थ—जिसने वाङ्मार्ग्यवर परिग्रहोंका त्याग किया है वह शरीरीभूत होता है अर्थात् परिग्रह रहनेपर उसकी रक्षा करनेकी विता उत्पन्न होती, है, न्याकुलता बढ़नेपर मन संतप्त होता है, परिग्रहका त्याग करनेसे संतापका नाश होता है, जिससे श्रुतिराज शीतावस्थाको प्राप्त होते हैं, उनका अन्तःकरण प्रसन्न होता है, अतः ऐसी अवस्थामें जो सुख उनको प्राप्त होता है वैसा चक्रवर्तीको भी प्राप्त नहीं होता है.

रागविवागसतण्णाविगिद्धि अवतित्ति चक्रवट्टिसुहं ।

णिरसंराणिव्वुइसुहरस कहें अगधइ अणंतभागं पि ॥ ११८३ ॥

गृह्याकांक्षाकारणं सेवते यचक्री सौख्यं रागपाकं वितृप्ति ॥

सौख्यस्येदं नास्तसंगस्य तुल्यं स्वस्योऽस्वस्यैः सौख्यमाप्नोति कुत्र ॥ १२२१

दुःखानि नश्यन्ति शर्मोणि पुण्यन्ति कर्मोणि शुभ्यन्ति चित्राणि संगे ॥

अगृहीते यतः संगतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन पुंसा ॥ १२२२ ॥

इति पंचमं ब्रतम् ॥

विजयोदया—रागविषयगतदुःखमिति अयमिति चक्रवट्टिसुहं । रागो विषयकः फलमस्येति रागविषयकरूपे विषयद्वयमासेव्यमानं रंजयति विषयेष्विति रागो विषयकः फले सुखस्योपुच्यते । सद्यः कृष्णया वर्तते इति सत्यं, अनिदोयेन शार्ङ्गं फांक्षी जनयति इति अतिशुद्धिः । न विद्यते एतत्तरस्त्रितयविद्युति यथेयंभूतं चक्रवर्तिमुखं । निरसंराणि-पुण्ड्रिमुखस्त निःसंगस्य यच्चिर्बुविमुखं तस्यानन्तभागमपि न प्राप्नोति ॥

कुतश्चक्रवर्तिमुखं निःसंगसुखमावृण्व्यत इत्येतेषां निराकरोति ॥

मूलात्—रागविषया विषयसुखमासेव्यमानं विषये पुरुषं रंजयतीति रागो विषयकः फलमस्येति रागविषयकं चक्रवर्तिमुखं । सतंरा प्रागुक्तलक्षणव्यानुगंधि । अतिशुद्धी अविशेषेण गृह्यमाणोक्षां ह्यांश्रमस्मिन्निति अतिशुद्धिः । अति-विश्वि नास्ति विशेषेण पुनराकांक्षा निवृत्तिलक्षणेन दृष्टिः सौहृदं, पुनर्नोदुःखानि कदाचिदपिदेवंविषयपरितिरूपं यद्य तदविवर्ति । आ इत्थंभूतं चक्रवर्तिमुखमठ एतद्विलक्षणं निःसंगस्य यथेयंविद्युत्तौ संगत्यागे निर्दुःखतायां सुखं मुक्तात्मनो-य इमं तस्य नागंपि जन्तवांसमपि । कथमयेवञ्च अयेवत् प्राप्नुयाच्चदिति संबंधः ॥ आर्कचन्यम् ॥

निष्पत्तिप्रदतासे होनेवाले सुखसे चक्रवर्तीका सुख अल्प है. यह बताते हैं—

अर्थ—विषयसुखका उपभोग लेने से वह इंद्रिय-विषयोंमें आसक्ति करता है. इस वास्ते चक्रवर्तीका सुख गगभाव को उत्पन्न करने वाला है यह कृष्णको बताता है, मैं सुखमें अतिशय लंपटताप्राप्ति होती है. चार चार भोगनेपर भी दृष्टि उत्पन्न होती ही नहीं. इसलिये परिग्रहका त्याग करनेपर रागदेहप्रदहित यतीश्वरको जो सुख

प्राप्त होता है चक्रवर्तीका मुसल उसके अनन्त आगधी भी बरोबरी नहीं कर सकता है- इस तरह पाँचों महा
त्रयोका वर्णन हुआ

महायत्तसंज्ञा अन्यथा अहिंसादीनामिति दर्शयति—
एवमहव्ययं ॥

गार्धेति जं महत्वं आयदिदाइं च जं महछेहिं ॥

जं च महछाइं सयं महब्बदाइं हवे ताहं ॥ ११८४ ॥

साधयन्ति महार्थं यत्तमहङ्गिः सेवितानि यत् ॥

महाति यत्स्वयं सन्तो महाप्रतान्यतो विदुः ॥ ११८५ ॥

विजयेवणः—साधेति जं महार्थं साधयन्ति यस्यान्महाप्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्यप्रकर्मकद्वयकनिवारणं
महाप्रयोजनं संपादयतीति महाप्रसाभि । आयदिदाइं च जं महछेहिं यस्याश्चरितानि महङ्गिः तस्मान्महाप्रतानि इति
निदर्शितः । जं च यस्यान्महङ्गणि रूपं महार्थं तथो महाप्रतानि यदुल्लेखसमयेदस्यलार्हिसि रूपतया या महान्ति ॥

एवमहिंसादीनि प्रतानि पंचाभि प्रवेक्ष्य साधवं तद्व्यापारविभोजननिष्ठत्वाद्विरक्षणं गायथा पञ्चोत्तरदासेन
व्यापिकायुः प्रयत्नं तेषां महाप्रसंज्ञाया अन्यर्थतां समर्थयते—

मूलारा— साधेति संपादयन्ति । महत्वं असंयमनिमित्तप्रत्यप्रकर्मकद्वयकनिवारणलक्षणं महाप्रयोजनं ।
महछेहिं तीर्थकरादिभिः । महत्तानि धूलमूदमविकल्पसकलार्हिसाधिविरतिरूपतया महार्थं विपुलानि । हवे भवति । ताहं
अहिंसादीनि हिंसादिविरतिरूपानि दुष्टविष्टपाणि नो अगमनायवगतोक्षया चारियमोहस्य क्षयोपशमादुपमादक्षयाद्वा
प्रवृत्ता जीवस्य हिंसादिपरिणामव्यवृत्तयो यावत्तीव्रं न हिंसन्ति, नावृत्तं वदामि, नावृत्तमावृत्ते, न भैक्षुनं करोमि, न परिग्रहं
शुतनीत्येवभूताः परिणतय इति यावत् ॥

अहिंसादिकं व्रतों की महाव्रत संज्ञा अन्यर्थक है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—अहिंसादिकों को महाव्रत संज्ञा अन्यर्थक है असंयमने उत्पन्न होनेवाले नपीन कर्मसमूह का
निवारण करना यह महाकायं इन अहिंसादिकों से होता है अतः इनको महाव्रत कहते हैं- महापुरुषोंने इनका

आचरण किया था इस लिए भी इनको महीयत कहते हैं- अथवा ये स्वयं महान् हैं अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म प्रकारके पंच पातकोंका त्याग ही इनका स्वरूप है इसलिये भी इनको महान्त कहते हैं-

तेर्हि चैव यदाणं रक्खंठं रादिभोयणणियत्ती ॥

अट्टप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥ ११८५ ॥

रक्षणाय यता तेषां निवृत्ती रात्रिमुक्तितः ॥

रात्रांतमातराश्चाष्टौ सार्धाश्चापि-य-भावनाः ॥ १२१४ ॥

विज्ञयेत्त्या-तेति चेय यदाणं तेषामेवाहिंसादिद्वितातं । रक्षायं रक्षणार्थं । रादिभोयणणियत्ती रात्रि भोजनादिचुष्टिः । रात्रौ यदि भिक्षार्थं पठेदति तस्मात्स्वाचरांश्च दृश्यादृशुरालोक्यात् । न च रायकागमनमार्गं, तस्यापि वक्ष्यामहेति, आत्मनो वा दक्षिणस्य वा निपातदेशे, दीपमाने यादादं योग्यं न वेति निरूपयितुमर्थं कथं समर्थः ? किंवापि दुःपरिहारक जानाति स ससमानं कथं परिदेत् कष्टरुचकान्निक् रायिकायाः ग्राहने वा कथं शोधयति । पक्वविभगिका वा पचनात्तमिह्यालोचनं सस्यतापरिक्षितवियर्थं कुर्वताः कथं सस्यतमवधिष्ठते ? सुप्तेन स्वादिभूतेभिरसम्यग्याहारे पृक्तोऽवच्छादानं ज्ञात् । कश्चिद्विज्ञाने विवैय स्वापिठं, मानमयासे भुंजानस्यापरिग्रहयत्तयोः स्यात् रात्रिभोजनान्तु व्यावृत्तेः सकलानि यतान्यवधिष्ठते संपूर्कानि । अट्टप्पवयणमादाओ अष्टौ प्रयत्नमादाकाश्च सङ्कतपरिपालनार्था । एवं पंच समितयः मिश्र्यो गुणपञ्च मयवनमादृकाः । रत्नत्रयं प्रदत्तं तस्य मातुर् इमेताः । क. उपमार्थाः । यथा माता पुत्राणां अपायपरिपालनोद्यता, पक्षे, गुप्तिसमितयोऽपि त्रतानि पाठ्यन्ति । मायणाओ य सव्वाओ, भावनाश्च सर्पाः । पीयात- रायक्षयोपद्रवमारिभ्रनोद्दोषशमस्योपद्रवमारेक्षेणामना नाद्वेतेऽरुहृष्टप्रत्यक्षे, कति भावनाः । अथ किमिदं ब्रूते नाम ? पायज्जीवं न हिमकि, नादुतं बदमि, नादसमादेते, न मिथुवर्ज्म करोमि, न परिग्रहमादेते । एतेष्वनृत धारमपरिणाम उत्पद्यः कथंचित्तयेव अयतिष्ठते उत दिनयति वा ? । अवस्थानमनुभवविरुद्धं । जीवादिपरिग्रहे तस्य थज्जमे वा प्रवृत्तस्य इत्यमुपयोगमावाहत् । अथ विनश्यति ? परिणामान्तरोत्पत्तौ असति का रक्षा ? सतो ह्यपायपरिहारो रक्षा ततः किमुच्यते यतानां रक्षायै रात्रिभोजनविरतिरिति । यदा न दिनसोत्पुपयोगो न तदा मानृतं यदामोत्येवमानव्यः संति परिणामाः । किं पुनः परिणामान्तरे वाक्यम् । अथोच्यते-

नामादिविकल्पेन चतुर्विधानि त्रतानि । तत्र नामवर्तं कस्याचिद्वृत्तमिति कृता संज्ञा । हिंसादिनिवृत्तिपरिणामयत आत्मनः शरीरस्य चर्चं प्रत्येकत्वार्थ आकारः समभाविके परिणतस्य सद्भग्यस्यापनादृतं । भाविद्यतत्त्वप्राप्तिज्ञानपरिणति- रात्मा आगमद्रव्यवर्त । ब्रतस्य राशीरं त्रिकाळोचरं, ज्ञायकशरीरवर्त । चारियमोहस्य क्षयात्क्षयोपशमाद्धा यस्मिन्ना- तमिति भविष्यति विरतिपरिणामः स भाविजनं । उपशमे क्षयोपशमे वावस्थितः चारियमोहो नो आगमद्रव्यव्यतिरिक्

कर्म प्राप्तं । न हि नस्तीतिदिष्टो ग्रानोपयोगो यष्यते आगमभाष्यमतमिति । नो आगमभाववत्तं नाम चारिजमोक्षोपशमात्
 रस्योपशमात् क्षयाशा ननु तो हिंसादिपरिणामाभायः आदिस्मादिनतं । प्राणिनो विद्योजने प्राणान्नं, असदभिधाने, अदत्ता-
 नाने, मिथुनरन्ध्रिदोष, मूर्च्छायां वाऽपरिणतिरिति यावत् । तथा चोक्तं— 'हिंसावृत्तयेयमक्षपरित्रेभ्यो विरतिवित-
 तिति' हिंसादयः क्रियाविशेषा आत्मव परिणामस्तेभ्यो आत्मनो व्याघृत्तिर्हिंसादिव्यपरिणतिव्रतमिति सुगार्थः । यस्मि-
 दिमादिव्याघृत्तयं नाम यद्गुरुं जीवस्य प्रवर्तितं तत्परिणाम्यते रात्रिभोजननिवृत्त्या प्रवचनमगुरुभिश्च । यस्मि-
 न्याऽस्मिन् न हि नश्यति सति च न विनश्यति तत्तत्पात्रयति यथा दुर्गो राजानं । तस्यां रात्रिभोजननिवृत्तौ प्रवचनमाह-
 वानु आपनानु या सतीषु हिंसादिव्याघृत्तयं भवति । न सात्वसतीषु इति युक्तमुक्तं सूत्रकारेण ॥

वरकस्तद्वृत्तयाधुपाय इत्याह—

मूलात्—रक्तदं अणयपरिहातलक्षणं रक्षणमिति । पचयनमादाभ्यो प्रवचनमाहारः । प्रवचनस्य रत्न-
 यत्वा मातर इव पुत्राणां मातर इव सत्यप्यदोनादीनां अपादनिवारणपरयणास्तिस्रो गुणयः, पंचसमितकश्च । अथवा प्रव-
 चनस्य मुनेश्चारितस्मरत्योत्पादनरक्षणविशेषनिषिधानास्तथा व्यपदिश्यते । तथा वायोपाम धर्मोपदे-नृत्तं ॥

अहिंसां पंचात्मप्रतनय यतार्गं जनयितुं ।

मुपुत्तं गानुं या विनलयितुम्याः श्रुतविषः ।

विदुस्त्वित्यो गुप्तीरपि च समिठीः पंच नदिमा ।

अयन्तिवद्यावाप्नो प्रवचनसविधीव्रतपरः ॥ १ ॥

भाषणाभ्यो धीर्यान्तरायचारिजमोहलवोपशमाद्यपेक्षेणात्मना भाव्यतेऽसकृद्वचन्यन्ते इति भावना असकृन्ना-
 वृत्तयः । अत्र्याससंस्मरा इति यावत् । सत्र्याभ्यो निःशब्दताभावनासंस्मर्द्वाथमिदं । यस्मिन्नयति यद्विनश्यति सति च
 तिस्रति तत्तत्परिणामयति । यथा दुर्गो राजानं । तिस्रति च सति रात्रिभोजननिवृत्त्यादिपरिणामजाते जीवस्य हिंसादिव्या-
 घृत्तं नाम नोआगमभावप्रकाशनामयेवं स्वरूपं न असतीति तत्परिणाम्यन्ति रात्रिभोजननिवृत्त्यादयः क्षुद्रद्वित्यपरिणतय
 इति निर्णयः । ननु च जीवात्र दिनस्मि, इत्यादि परिणामो नवमित्युच्यते । न किमुलवः सन्विनश्यत्तु तथैवायवति-
 स्ते । न तावन्नतिष्ठते अतुभयविरोधाजीवादिस्तद्भावे तच्छब्दो न चायवृत्त्यात्मनस्तथोपयोगप्रतीतेः । अथ विनश्यति
 परिणामान्तरोत्पादमात्रिधीव्यते वदि तस्यासतो धनपुन्यत्वा रक्षा । सतो ह्यपणपरिहारो रक्षा । तवस्तोति चेवेत्यदि
 मयं युक्तिरित्युक्तमिष परगामः । अनोच्यते—यावज्जीविकहिंसादिन्यावृत्तिरूपपरिणतस्य अवस्थातुरात्मनः कथंचित्तथैवा-
 यस्थानस्य विवक्षितत्वाद्भोचदोषोऽत्रकामं लभते इति ॥

अर्थ—इन अहिंसादि व्रतोंके रक्षणार्थ रात्रिभोजन त्यागका उपदेश आचार्योंने किया है. यदि रात्रिमें भिक्षाके लिए मुनिपर्यटन करेंगे तो व्रत और स्वावर जीवोंका भण होगा. क्योंकि वे रातमें नहीं दीखते हैं. आहार देने वालेका आगमन मार्ग, आहारके पदार्थ रखने का स्थान, स्वयं जहाँ आहारके लिए खंडे हुए हैं वह प्रदेश, जहाँ उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह स्थान, दिया जाने वाला आहार ये सब योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं इनका निरीक्षण रातमें करना शुभय नहीं है. दिनमें भी जीवोंका परिहार करना अशुभ्य है. फिर रात्रीमें उनका कैसा परिहार हो सकेगा. पत्नी वगैरह अब परोसनेके साधन और अन्न रखनेके पात्र रातमें सोचना अशुभ्य है.

जिसके विषयोंका सम्यक् निरीक्षण हुआ ही नहीं ऐसी पदविभागिका आलोचना अथवा एपणा समिति आलोचना करनेवाले युनिकं सत्यव्रतका कैसे रक्षण होगा. दानका स्वामी सोया होगा तो उसने नहीं दिया हुआ आहार ग्रहण करनेसे अचौर्य त्रत नहीं टिक सकता है. किसी पात्रमें दिनमें स्थापन किया हुआ आहार वस-विकामें ले जाकर भोजन करनेसे अपादिग्रहव्रतका रक्षण कैसे होगा. रात्रिभोजनका स्वाग करनेसे सर्व व्रत पूर्ण होते हैं. इन व्रतोंके रक्षणार्थ ही आठ प्रवचन माताओंका और सर्व भावनाओंका रक्षण करना चाहिये. तीन गुणित और पांच समितिओंको प्रवचनमाता कहते हैं. रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं. इस रत्नत्रयकी ये गुणित और समिति माता के समान है. जैसी माता पुत्रका अपाय से रक्षण करती है वैसे गुणित और समिति व्रतोंका रक्षण करती हैं. सर्व भावना भी व्रतोंका रक्षण करती हैं.

वीर्यान्तराप कर्मका क्षयोपशम, चारित्र्यमोहका उपशम अथवा शयोपशम इनसे युक्त ऐसे आरम्भोंके द्वारा जो बारबार पाली जाती हैं उनकी भावना कहते हैं.

व्रत किमकी कहते हैं ? उत्तर—आमरण में हिंसा नहीं करूंगा, शठ भाषण नहीं करूंगा, दूसरेने नहीं दी हुई वस्तु मैं ग्रहण नहीं करूंगा, मैथुन सेवन नहीं करूंगा और परिश्रमका स्वीकार नहीं करूंगा इस प्रकारका जो आत्मार्थ परिणाम उत्पन्न होता है. उसको व्रत कहते हैं.

शंका—यह आत्मशक्त परिणाम कथंचित् वैसा ही रहता है अथवा नए होता है ? यदि यह परिणाम आत्मार्थ स्थिर रहता है ऐसा कदापि तो यह कहना अनुभवविरुद्ध है. क्यों कि जब आत्मा जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जाननेमें उद्युक्त होता है अथवा अज्ञान करनेमें अपने चित्तको लगाता है तब उपर्युक्त परिणाम आत्मार्थमें

नहीं रहता है। यदि यह वतरूप परिणाम हमारे परिणाम उत्पन्न होनेपर नष्ट होता है ऐसा कहोगे तो वह असहिष्णु ठहरा, असहिष्णुता रक्षण करता कर सकते हैं। कोई पदार्थ सक्षुब्ध होनेपर ही उसमें अपाव और परिहार हो सकते हैं। अतः अतोंके रक्षणार्थ राखिभावना त्यागका वर्णन करना व्यर्थ है।

उप से ग्रहणिका घात नहीं करूँगा ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है तब मैं असत्य नहीं बोलूँगा वरन् परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। तब अन्य परिणामोंके विषयोंमें क्या कहना चाहिए।

उपपुक्त शंकाका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं—
नामादिक निकल्पोंसे अतोंके चार प्रकार होते हैं। किसीका अत ऐसा नाम रचना यह नामअत कहलाता है। स्थापना अत—हिता, असत्य, चोरी इत्यादि पापोंसे निवृत्तिरूप परिणाम जिससे उत्पन्न हुए हैं वेसा आराम और शरीर दोनों भी वंशकी अपेक्षासे एकरूप हुए हैं। अतः सामायिकमें परिणत हुए जीवके आकारमें अतोंकी स्थापना करके अतोंको स्थापना अत कह सकते हैं।

आगम द्रव्यअत—भविष्यकालमें आत्मामें अतोंके स्वरूपको ग्रहण करनेवाला अर्थात् आननेवाला ज्ञान-परिणाम अतोंके स्वरूप आननेमें अनुपपुक्त है। ऐसे ज्ञानपरिणत आत्मको आगम द्रव्यअत कहते हैं।

ज्ञापकशरीरअत—अतत्र आत्माका त्रिकालगोचर जो शरीर उसको ज्ञापकशरीरअत कहते हैं।
चारित्र मोह कर्मके धर्मसे, अथवा धर्मपक्षमसे जिस आत्मामें चिरात्किरूप परिणाम उत्पन्न होगा वह आत्मा भावअत कहलाता है।

उपश्रममें अथवा धर्मपक्षममें जो चारित्र मोहकर्म रहा है उसको नो आगम द्रव्य व्यवहिरिकर्म अत कहते हैं।

मैं हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा इत्यादिरूप जो ज्ञानोपयोग उसको आधर्मभावअत कहते हैं।

चारित्र मोहनार्थ कर्मका उपश्रम, धर्म अथवा धर्मपक्षम, होनेपर जो हिंसादि परिणामोंका अभाव होता है उसको अधिसादि अत कहते हैं। इसको नो आगमभावअत कहते हैं।

प्राणिजोते प्राणोंका विनियोग करनेमें अशुचि नहीं करना यह अधिसाअत है। झूठ बोलनेमें, नहीं दी हुई वस्तु ग्रहण करनेमें, मीथुनमें, और ममत्वमें आत्माली परिणति नहीं होना इनको क्रमसे सत्यअत, अचरित्रअत,

ब्रह्मद्वय और परिग्रहत्यागव्रत कहते हैं. श्री उमास्वामी आचार्य 'हिंसानृत्तस्तेषावक्ष्यन्तिद्वेभ्यो निरतिव्रतं' ऐसा व्रतका कथन करतेबाला घन करते हैं. वे हिंसनृत्तक क्रियाविशेष आत्माके परिणाम में उनसे परावृत्त होना अर्थात् हिंसादिकर्मों परिलगति न होना ही व्रत के रूपा उपर्युक्त सूत्रका अभिप्राय है.

हिंसादिकीसे परावृत्त होना इस प्रकारका जो आपत्ताका परिणाम है उसका रात्रिभोजन त्यागके द्वारा, प्रवचन मायाके द्वारा रक्षण होता है अर्थात् रात्रिभोजन त्याग और समिति गुप्ति ये अहिंसादि ब्रह्मोंका रक्षण करने हैं। प्रवचन माता और रात्रिभोजन त्यागके अभावमें ब्रत नष्ट होते हैं और इनके सङ्क्रावमें ब्रह्मोंका रक्षण होता है, जिसके अभावमें त्रिसका नाश होता है और जिसके सङ्क्रावमें जो नष्ट नहीं होता है वो समझना चाहिये कि वह उसका रक्षण करता है, जैसे दुर्गके अभावमें राजाका नाश होता है और उसके सङ्क्रावमें रक्षण होता है, जैसे रात्रिभोजन त्याग, प्रवचनमाता व भावना इनके सङ्क्रावमें हिंसादिकीसे आत्मा परावृत्त होता है और इनके अभावमें परावृत्त नहीं होता है इसलिए इनको आचार्यने व्रतारक्षणार्थ माना है वह योग्य ही है,

तेसि पंचणहं पि य अहयाणमावज्जणं वे संका वो ।।

आदिविचिन्ती यं हवे राक्षीभृत्तत्पत्संगास्मि ॥ ११८६ ॥

हिंसादीनां मुनेः प्राप्तिः पन्थानां सह शंफया ॥

विपत्तिर्जायते स्वस्य रात्रिमुत्तरं तथा स्फुटम् ॥ १२२५ ॥

विजयोद्भवा—तैस्ते र्षभर्ण वि य भद्रवर्णभाषज्ज्वं तेषां पंचनां, हिसादीनां भ्राताः । स्वेका या शोका या मम हिसाद्वयः संपुता न येति । ॥ मयेति । यदीमत्पुंसमिमं राजावाहाराप्रक्षणे भक्ति न केवलं हिसादीषु गरिण्यति । विवस्वी य हविर्ज आत्मनश्च यतेः सत्यपि विपद्वर्णेन । स्थानुसर्पकंदर्माभिः ॥

‘रात्रिमो जने मुनेर्दोषानाह—

मूढारार—अण्बंगानं हिंसादीनां । आखट्यं प्राप्तिः । 'संका मय हिंसादयः किं संवृत्ता न चेति संज्ञा । अण्दि-
यत्ती आत्मदिवत् । राज्ञी निधाय पर्यटतो कतेः सूर्यकंटकाभिभिरुपसर्गाञ्च भवेत् । पसंगमिष प्रवृत्ती सत्याम् । उक्तं च—
प्राप्तिः संका च पंचानां हिंसादीनां कतेयेवेत् ॥

रात्रिभोजनसद्वारे स्वविपत्तिश्च जायते ॥

अन्ये तु अण्ड्याणं ग्रथानां । आवरणं सर्वधाविनाश इति न्यास्यन्ति । तथा चोक्तम्—

तेषां पञ्चानामपि महाग्रन्थानां विनाशने शंका ॥

अस्मद्विपत्तिञ्च भवेद्विभावरपीमक्तसंयोगेन ॥

रात्रियोजनप्रवृत्तौ हिंसादयः कथयिष्ये चेदुच्यते । रात्रौ भिक्षार्थं पर्यटन्यागिनस्त्रसान्धावरंशञ्च हिनसति । तेषां तमस्यहरदत्वान् ॥ न च दायकगमनयार्गं, तस्य स्वस्य च अवस्थानवेदं, भोजनमाजनादिस्थापनश्चानं, उच्छिष्टहरय धा-
नियत्नवेगं, शीयमानं चाहारं, योग्यप्रयोगं देहि निरूपयितुं पारयति भोग्यप्रतिबद्धस्थित्वात् ॥ प्रदीपेऽपि प्रबोधितेऽतिसू-
क्ष्मरत्नानां निरूपणं न स्यात् । पतंगद्विषयप्रसंगञ्च स्यादिति रात्रौ भुञ्जानः कथमहिंसकृतमनुपालयेत् । तथा रात्रौ
मुत्सवा पर्वविभागिकमेकणासमित्यालोचनौ सव्यगृहीक्षितविषयां कुर्वतः । कथयिष्ये सत्यमतमयतिष्ठेत् । तथा सुप्रस्य स्वा-
भिभूतस्याहारमन्येन कृतं रात्रौ तद्वज्रद्वया गृह्णेत्यवचादानमपि कथं न स्यात् । तथा विद्विद्योगिणो वैरिणो वा निःशक्ति-
ता रात्रौ मार्गादौ प्रसक्त्यर्थं नाप्रायन्ति । रामांशाः स्यैरिण्यो वा ह्लादयितारवन्द्यः । तथा दिवावीर्यं मिलयसतौ स्वनाम्ने
स्थापितं आहारं रात्रौ भुञ्जानः समंशः किमिति न स्यात् । ततो महाव्रतसंपूर्णताविच्छन्प्राप्तिभोजनवितरणं पट्टमणुव्रत-
मनुविधेरेष । अणुव्रतत्वं पात्य दिवा भोजनस्यापि करणत्वात् । एवाहुः—उदके अणुव्रदे रात्र्यभोजनान्नो वैरमणमिति । तथा
चात्रोच्यते धर्मादौ ॥

पर्येतन्नि महाफलानि महत्वं माय्यानि विपदविरत्यस्मन्तीति महति नक्तमयनोदग्राणुव्रताग्रामि ये ॥

म्रागित्राणमुत्तमप्रवृत्त्युत्तरमातुःशान्तिपूर्णाभवत्साम्याः शुद्धदशो ग्रथानि सक्तुर्दुर्बन्तिव विवेकिनि ते ॥

न्यामिनिर्दशद्वारेण गुप्तीः ममिनीञ्च लब्धयति—

अण्ड्यादौरोपरमणदरस्य गुप्तीओ ह्येति तिणोव ॥

चेद्विदुकागमस्य पुणो समिदीओ पंच विद्वान्ओ ॥ ११८६ ॥

मूलाया—अण्ड्यादौरोपरमणदरस्य आस्रवहारनिरोधासक्तस्य । चेद्विदुकागमस्य गमनवचनादिकं कर्तुं प्रवृत्तस्य ।

उक्तं च—

मपंति गुप्तयस्विन्यो योगनिग्रहलक्षणाः ॥

एतां श्री विजयो नेच्छति ॥

अर्थ—सन्निभे आहारप्रसंग हांनेपर हिंसादिक पांच पापोंकी उत्पत्ति होती है. अथवा शंका उत्पन्न होती है. अर्थात् सन्निभोजन करनेसे हिंसादिक पाप उत्पन्न होते हैं या नहीं ऐसा संशय उत्पन्न होता है. सन्निभोजन करनेसे हिंसादिक पाप ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं किंतु इससे यत्किना नाश भी होता है. हंठ, सर्प, कंटक इत्यादिकसे यत्किना याच भी होगा. यत्ति यदि सन्निभे आहार करनेके लिए आवश्यककें घर जायेगे तो सर्पादिकोंसे उनके प्राण नष्ट होनेकी संभावना है.

अथचमनातृकस्यप्राप्त्याद्योसरप्रवृत्तयः मनोमुक्तिं प्राप्नुयति श्याव्यातुभावातोत्तराया—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुस्सि ॥

अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ती ॥ ११८७ ॥

मनसो दोषविस्सेपो मनोगुत्तिरितीप्यते ॥

वाग्गुत्तिद्वचाप्यलीकादेर्निवृत्तिमौनमेव च ॥ ११८६ ॥

विजयोदया—जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति । या रागाद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्नवसत्तां जानी-
हि मनोगुत्ति । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुत्तिरिति वयुज्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुत्तिरयामप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं गुणं मन-
सस्य जा रागा । अमनूतं तथापि असत्ता का रक्षा ? सतोऽप्यप्यपरिहारोपयुक्ततयुज्यते । किं च मनःशब्देन किमुच्यते
द्रव्यमन उत भावमनः ? इव्यवर्गमनशब्द तस्य कोऽप्यायो नाम यस्य परिहारो रक्षा स्यात् । किं च द्रव्यांतरेण तेन
रक्षितेनास्य जीवस्य फलं च प्राप्तमनः परिणामोऽप्युपमावहति । ततोऽप्युक्ता रक्षामनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्ष-
योपशमसंज्ञातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अथायः कः ? यदि विनाशः स न परिहृत्युं सस्यते यतोऽनुप्रायविको विनाशः ।
अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरामनः स्यात् । ज्ञानानीह बीच्य इवानास्तमुत्पद्यते न चास्ति तद्विनाशोपायः । अयि
च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्यावृत्तिरिष्टिय किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ॥

अथ प्रतिपिधीयते—नो इन्द्रियमतिरिद्ध मनःशब्देनोच्यते । सा रागादिपूरिणामैः सह षट्कालं आत्मनि प्रवर्तते ।
न हि विषयायग्रहादिज्ञानमंतरेष्वास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, बहुभयसिद्धेर्वास्ति नाशरा युक्तिः अनुगम्यते । वस्तुतत्वा-
नुपाधिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न घतेते इत्येतदप्यलमसाक्षिकमेव । तेन मनसस्तत्त्वावप्राप्तिनो रागादिभिरसद

चरति या सा मनोगुप्तिः । मनोबहणं क्षानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तरागद्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरूपया इन्द्रियमतै
भुते, अवधी, मनःपथे या परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इत्येते च । अथवा मनःकट्टेन मनुते य आत्मा स एव
भगवते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरिवर्तिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैवं पूरे सम्यग्योगनिब्रह्मो
गुप्तिः इष्टकृतमनोपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य निब्रह्मो रागादिर्कार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । अलिगादिणिपत्ती वा मोणे
या दोर यच्चिगुप्ती विपरीतायंमतिपत्तिहेतुत्वात्परदु रोल्यचिनिमित्तत्वाच्चाधर्माया व्यावृत्तिः सा वागगुप्तिः । ननु च क्षावः
पुत्रत्यात् विपरीतायंमतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुत्वांचो धर्मो न बालो संवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् ।
सद्युदिनत् । एवं तदि व्यहरीसत्परुषपादरूपमसंसापरात् परनिदायपृष्ठात्परोपद्रवनिधिनाथ वचसो व्यावृत्तिरात्मम-
स्तयाभूतस्य वचसोऽप्रयत्नैका वागगुप्तिः । या चायं प्रवर्तयन् अमुषं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह प्रहण वागगु
प्तिक्षेपेण याचितोऽपराधपुण्यकृता घावः परिहृते वागगुप्तिः । मोने वा सकलमया वचसो या परिहृतिः सा वागगुप्तिः ।
अधोपपन्नचनेऽप्रपुष्टिः प्रेक्षार्थकालितया योगवं तु शक्ति या न वा भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तव्या ततो महाभेदो
गुप्तिरसमिष्टो । नीले वागुप्तिवत् स्फुटतरौ वयोभेदः । योग्यवच्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चिच्चददुःसापदकतेति॥

मनोगुप्तिं वागगुप्तिं च लक्षयति-

मूलाः—मजस नो इन्द्रियज्ञानलक्षणादय मनसस्तत्त्वावप्राहिणो । सा रागादिणिपत्ती रागद्वेषादिभिरात्मपरिणा-
मैरसहपरिता सा मनोगुप्तिः । अननि हि बहुतरादिकरुले ह्यपदिबिषयान्मोम्याभोरूपरूपतया गुणहति सत्यात्मनो रागद्वेषौ
प्रवर्तौ । उपेक्षणीयरूपतया तु तेजान्मन्त्रीकुर्वाणि तदप्रवृत्तिरेव तथा प्रवर्तौते ॥

वदधोनिद्रियैर्गुह्यमुक्षति द्वेष्टि रच्यते ॥

वतो वदौ भ्रमलेषे मोदव्यहगतः पुमान् ॥

अविद्याभ्याससंहारैरवदो क्षिप्यते मनः ॥

तदेव ज्ञानसरस्रोरैः स्वतस्तत्त्वेज्जविप्रुते ॥

इत्यागममसहस्रावय । मनोबहणं ज्ञानोपलक्षणं । तेन सर्वो बोधो । निरस्तरागादिकलङ्को मनोगुप्तिः स्यादन्य-
था इन्द्रियमतौ, धुनेऽवपौ मनः पर्वये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । अथवा मनुते विचारयति हेयमुपादेयं
प तत्वं योऽरागात्मा मजः शब्देनोच्यते । तस्य रागादिरूपेण अपरिणतिर्मनोगुप्तिरिति ब्राह्मम् । एवं च सति सम्य-
ग्योगनिब्रह्मो गुप्तिरित्यपि न विरुद्धयेत् । दृष्टफलमनपेक्ष्य हि योगस्य वीर्यपरिणामस्य निब्रह्मो रसादिकार्यकरणनिरोधो
जीवस्य नाथावरं तदव्यतिरेकत्वात् ।

पुणल्लविवाहोदयेन मन्ववयणकायजुत्तस्य ॥

जीवस्स आ हु सत्थी कम्ममग्गकारणं बोधो ॥

इति वचनाय योगप्रबन्धेनात्र वीर्यमुच्यते ॥ अलिंगादिपिपयति विपरीतार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्प्रसङ्गः श्रोत्यत्तिनिमित्त-
त्वाद्याधर्मायाः याचो व्यावृत्तिः सा याम्युतिः तथाविधवाक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यरूपेणापरिणतिरात्मन इत्यर्थः । मोक्षं
सकलप्राक्प्रवृत्तिनिमित्तवीर्यनिरोधो जीवस्य । अयोग्यवचनो न वदत्येव, प्रेक्षापूर्वकारितया बोधेन्यं तु यत्किं न वेति प्रथमा
बाग्युत्तिर्भाषासमितिस्तु योग्यवचसः कर्तृतेत्यनवोर्नोविक्षेपः संख्यः । मौनपक्षे ॥ अकान्तवकाश एव ॥

प्रवचनमार्ताओंका व्याख्यान आचार्य सविस्तर करते हैं प्रथमतः मनोयुति और बाग्युत्तिका लक्षण
कहते हैं—

अर्थ-रागद्वेषसे मन परावृत्त होना यह मनोयुत्तिका लक्षण है, असत्य भाषणादिकसे निवृत्त होना अथवा
मौन धारण करना यह वचनयुत्तिका लक्षण है

शंका—प्रवृत्त हुये मनकी युति होती है अथवा रागद्वेषमें अग्रवृत्त मनकी युति होती है ? यदि मन
छुन कार्यमें प्रवृत्त हुआ है तो जाका रक्षण करनेकी क्या आवश्यकता है, और यदि किसी कार्यमें वह प्रवृत्त ही
नहीं है और वह यदि असद्रूप है तो उसके रक्षणकी जरूरत ही क्या है ? जो चीज स्वयं सद्रूप होनी तो उसमें
अपाय होनेकी समावना रहती है अतः उसको अपायसे वचाना योग्य होगा, असत्का न नाश होता है और न
रक्षण होता है,

और भी हम आपको पूछते हैं कि, मन शुब्दका आप क्या अर्थ करते हैं, मन शुब्दका द्रव्यमन ऐसा
अर्थ होता है या भावमन ऐसा अर्थ आप मानते हैं ?

द्रव्य वर्गणासे बना हुआ वो उसको ही हम मन कहते हैं ऐसा यदि कहेंगे तो उसका अपाय क्या
चीज है जिससे हम उसको वचना चाहते हैं ? अथवा अन्य पदार्थ के द्वारा उसका रक्षण करनेसे भी कौनसी फल-
निष्पत्ति होगी ? क्या आत्माके परिणाम अशुभ फल उत्पन्न करेंगे ? अर्थात् द्रव्यांतरके सहायसे आत्मामें अशुभ
परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं इसवास्ते आत्माका अपायसे रक्षण करना व्यर्थ है

तो इंद्रियमविज्ञानावरण कर्मके श्रयोपक्षमसे जो मतिज्ञान उत्पन्न होता है उसको मन कहते हैं ऐसा यदि

आप कहते हैं तो उस मनका अपाय क्या चीज है ? नाश होना ही अपाय है ऐसा कहोगे तो इस नाशका परिहार करना शक्य ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका नाशपर्याय होता ही है। यदि मनका नाश नहीं होता है ऐसा मानोगे तो आत्माकी एक ही ज्ञानमें हमेशा प्रवृत्ति रहेगी। परंतु समुद्रमें जैसे हमेशा अनेक छहरे उत्पन्न होती हैं वैसे आत्मामें हमेशा अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। उनका अविनाश होनेका अर्थात् वे स्थिर रहनेका जगतमें कोई उपाय नहीं है, इंद्रियसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान रामादिकोंसे युक्त ही रहता है। अत एव रामादिकोंसे व्यावृत्त होना यह मनोगुप्तिका लक्षण है ऐसा समझना अयोग्य है।

उपर्युक्त शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं— नो इंद्रियमतिको इस मन कहते हैं अर्थात् नो इंद्रियावरण फर्मका श्रयोपग्रह होनेसे जो जो ज्ञान मनमें उत्पन्न होते हैं उसको हम मन कहते हैं। यह नो इंद्रियमति रामादि परिणामोंके साथ एक कालमें आत्मामें रहती हैं। विषयोंमें जब अवग्रह, ईशदिज्ञान होते हैं तब रामदेवकी भी साथ प्रवृत्ति होती है। यह सपके अग्रभवमें आता है। इसकी सिद्धि फलनेके लिये अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है। परंतु जब वस्तुके यथार्थ स्वरूपका मन विचार करता है तब मानसिक ज्ञानके साथ रामदेव नहीं रहते हैं। यह भी अनुभव सिद्ध है। जब मन वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानते समय रामदेवसे रहित होता है तब मनोगुप्ति आत्मा में है ऐसा ममता जाता है। अर्थात् जो जो ज्ञान रामदेवसे रहित होगा वह वह मनोगुप्ति ही है, ऐसा समझना अयोग्य न होगा। मनोगुप्ति इस सुब्दमें मत शब्द उपलक्षणात्मक है। अर्थात् रामदेवरूपी कलंकसे रहित सर्व प्रकारके ज्ञानोंको मनोगुप्ति कह सकते हैं। अन्यथा इंद्रियज्ञान, बुद्धिज्ञान, अधिज्ञान, और मनःपर्यवधानमें घरिणत और राग द्वेषरहित आत्मको मनोगुप्तिका अभाव है ऐसा मानना पड़ेगा। परंतु उपर्युक्त रामदेवपरहित ज्ञानपरिणत आत्मामें भी मनोगुप्ति है आत्मामें ऐसा माना है।

अथवा 'मनुते य आत्मा स एव मनो भण्यते' अर्थात् जो आत्मा विचार करता है उनको मन कहना चाहिये, ऐसा आत्मा जब रामदेव परिणामसे परिणत होता नहीं तब उसको मनोगुप्ति कहनेमें हर्ज नहीं है।

अथवा 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' यह गुप्तिका लक्षण है। दृष्ट फल—कीर्ति, आदर इत्यादिक दृष्टफलकी अपेक्षाके विना वीर्यभिराग्यारूप जो योग उसका निरोध करना अर्थात् रामादि कर्माँको योग कारण है। उसका निरोध करनेसे मनोगुप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि मनोगुप्तिसे जीवमें रामदेवपादिक परिणाम उत्पन्न होते हैं।

कीर्ति, लोकादृष्ट, स्वर्गादिसुख वगैरहकी इच्छा धारण न करते हुए मनोयोगको केवल आत्मकल्याणकी भावनासे रोकना अर्थात् रागद्वेषादि कार्योंकी मनोयोगसे उत्पत्ति न होने देना इसको भी मनोगुप्ति कहते हैं। वाग्युक्तीका स्वरूप—‘अलियादिवचोगुप्ती, मोक्षं वा होइ वक्त्रिगुप्ती’ जो विपरित अर्थका ज्ञान करनेमें हेतु होगा, जो दूसरोंको दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त होना। जिससे अर्थमें वृद्धि होगी ऐसे भाषणसे परावृत्त होना यह वचनगुप्ति है।

शंका—वचन पुनरुक्त्यर्थ है और वे विपरितार्थका ज्ञान करानेमें हेतु हैं। किन्ती पदार्थसे आत्माको हटा देनेमें वचन समर्थ है। परंतु कर्मका संशय करनेमें शब्द अर्थात् वचन समर्थ नहीं है। क्योंकि कि वे आत्माका परिणाम अर्थात् धर्म नहीं हैं। शुद्धादिक आत्मधर्म नहीं है।

व्यालीक—असत्य, कठोर, आत्मप्रशंसायुक्त, परतिष्ठा करनेवाला, जिससे परप्राणिओंको उपद्रव होत है ऐसे भाषणसे आत्मा परावृत्त होना यह वाग्युप्ति है अर्थात् वाग्युप्ति उपर्युक्त भाषणोंमें आत्माको प्रवृत्त नहीं करती है। जिस भाषणमें प्रवृत्ति करनेवाला आत्मा अशुभ कर्मका स्वीकार करता है ऐसे भाषणसे परावृत्त होना वाग्युप्ति है। अर्थात् विशिष्ट वचनका आत्मा त्याग करता है उसीको वाग्युप्ति कहना चाहिये। अथवा संपूर्ण प्रकारके वचनोंका त्याग करना अर्थात् मौन धारण करना इसको भी वाग्युप्ति कहते हैं। जो आत्मा अयोग्य वचनमें प्रवृत्ति नहीं करता है परंतु विचारपूर्वक योग्य भाषण बोलता है अथवा नहीं भी यह उसकी वाग्युप्ति है। परंतु योग्य भाषण बोलना यह भाषा समिति है इस प्रकार गुप्ति और समितिमें अंतर है। मौन धारण करना यह वाग्युप्ति है। योग्य भाषणमें प्रवृत्ति करना समिति है और गुप्तिमें किसी भाषाको अर्थात् वचनको उत्पन्न न करना यह गुप्ति है ऐसा इन दोनों में स्पष्ट भेद है।

कायकिरियाणियत्ती काउत्सग्गो सरीरगे गुत्ती ॥

हिंसाविणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥ ११८८ ॥

कायक्रियाविणित्तिर्वा देहनिर्ममत्तापि चा ॥

हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा वपुषो युतिरिष्यते ॥ १२२८ ॥

विक्रमोदया—कायगिरियाणियत्ती कायस्यौदारिकोदेः शरीरस्य या क्रिया निवृत्तिः सरीरो गुप्ती शरीरपिपाया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत् । आचनस्यानशयनादीनां क्रियात्वात् सा चात्मनः प्रवृत्तकत्वात् कथमात्मना कार्या क्रियाम्यो व्यावृत्तिः । अथ मतं, कायस्य पर्यायः क्रिया, कायाच्चात्वात्तरमात्मा उतो द्रव्यान्तरपर्यायात् द्रव्यांतरं तत्परिणामद्वयं तस्याऽपरिणतं व्यावृत्तं भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरित्युक्तमनो मण्यते । सर्वेषामेवात्मनोभित्यं कायगुप्तिः स्यात् न केद्रेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य संबन्धिनी क्रिया कायदाधेनोच्यते । तस्याः कारणभूतात्मनः क्रिया कायक्रिया तस्या निवृत्तिः । काउत्सस्यो कायोत्सर्गः शरीरस्यानुचिदात्मसात्तामात्रेभिन्नतां चावेत्य तद्रूपमतापरिहारः कायगुप्तिः । अन्यथा शरीरमाणुः शूद्रपलायनं त्वष्टुं न शक्यते इत्यसंभवः कायोत्सर्गस्य । धातुनामनेकार्थत्वात् गुप्तिर्निवृत्तिवचनं इति सूत्रकाराभिर्योऽन्यथा 'कायकिरियाणियत्ती शरीरो गुप्ती' इति कथं शूयात् । कायोत्सर्गग्रहणे निष्कलता मण्यते । यथेयं सायकिरियाणियत्ती इति न पक्षेण, कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येवैव शक्यं इति चेत् न कायविषयं मनेवमावर्तित्यमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य गृह्यते । धातुनामनलघननादिक्रियाशु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यान्न केच्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्यापबुध्यते सूच्छोपरिणतस्यपि अपरिपदता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात् । तत्र उभयोपादानं व्यवधारितुमुच्यते । कर्मानानिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः कायमोचरमतात्पर्यमपरा या कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः । द्विंसादिणियत्ती या शरीरगुप्ती इत्यदि विद्वान् द्विंसादिणियत्ती शरीरगुप्तिरिति इष्टा जिनामने, प्राणिप्राणवियोजनं, अश्वादानं, मिथुनकर्म शरीरेण, गरिमदादममित्यादिका या विशिष्टा क्रिया संह कायस्येत्युच्यते । कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्वाच्यः कायगुप्तिरिति व्याख्यातं सुरिणा ॥

कायगुप्तिं द्विधा लक्षयति—

मुहारा—शयकिरियाणियत्ती कायस्य औदारिकशरीरस्य संबन्धिनी क्रिया परिणामः । उपकरणमहणनिक्षेपण गमनादिकर्मलक्षणा कायक्रिया । अत्र पुनः उत्कारणभूता जीवस्य क्रिया तच्छब्देन गृह्यते काये कारणोपचारात् । तेन कायक्रियायां कारणभूतायाः क्रियायाः सकाशाद्वत्सल्यो निवृत्तिर्वाच्यः कायक्रियानिवृत्तिरित्युक्तमनः कायपरिपद्वृत्ति मत्स्यपरिपद्वृत्तिप्रवृत्तकेनेत्यर्थः ॥

काउत्सस्यो शरीरस्यानुचितमसात्तामपन्निरिक्ततां च भावयतस्तद्रूपमतात्परिहारः । कर्मानानिमित्तसकलकायक्रियानिवृत्तिः । कायमोचरमतात्पर्यमपरोपा कायगुप्तिरित्युक्तं तल्लक्षणं । यदि हि कायक्रियानिवृत्तिरित्येवोच्यते तदा मुच्यंशवश्यायां कायपरिपद्वृत्तिर्वाच्यत्वात्कायगुप्तिरिति श्रुतुमन्यते । अथ कायोत्सर्गः कायगुप्तिरित्येवोच्येत तदापि कायविषयमनेनंभावरहितस्य गमनादिक्रियामवृत्तस्यापि कायगुप्तिरिति प्रसज्येत इति व्यवधारितुमवृत्त्यर्थमुभयोपादानं ॥ सरीरो

शरीरविषया । हिसादिजित्ती प्राक्प्रमाणव्यपेक्षादित्यहणशियुनकर्मविशेषकरणोपकरणविपरिग्रहणविकारिक्रिया
व्यावृत्तिः ॥ सरीरगुणित् शरीरमत्र धारिता वेग शरीराच्छरीरक्रियागुणित्निवृत्तिः शरीरगुणित्तिरिति स्थितम् ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीर की जो क्रिया होती रहती है उससे निवृत्त होना यह कायगुणित्ति का लक्षण
है- अथवा हिसा, चोरी बगेरह पापक्रियासे परावृत्त होना इसको भी कायगुणित्ति कहते हैं,

शंका—चैठना, खंडे रहना, दानन करना वर्गहको क्रिया कहते हैं- ये क्रिया आत्माके द्वारा होती हैं
अतः आत्मा इन क्रियाओंका प्रवर्तक होनेसे यह इन क्रियाओंसे कैसे परावृत्त हो सकता है ? अब इसके ऊपर यदि
आप ऐसा कहोगे आत्मनादिक क्रिया शरीरकी पर्यायें हैं- आत्मा तो शरीरमें अन्य भिन्न वस्तु है- अर्थात् शरीरकी
क्रियासे आत्मामें कुछ परिणति होती नहीं इसवास्ते शरीरकी क्रियाका आत्मामें रपाग होनेमें आत्मा शरीरक्रियासे
परावृत्त है ही अतः कायक्रियासे आत्मा निवृत्त होनेसे आत्माकी कायगुणित्ति है ऐसा कह सकते हैं- परंतु यह
आपका कहना अनुचित है- ऐसा कायगुणित्ति का स्वरूप माननेसे संपूर्ण आत्मार्थमें कायगुणित्ति मानना पड़ेगी-

उत्तर—शरीरसंबंधिनी जो क्रिया होती है उसको 'काय' कहना चाहिये- इस क्रियाको कारणभूत जो
आत्माकी क्रिया होती है उसको ध्यायक्रिया कहना चाहिये- एसी क्रियासे निवृत्ति होना यह कायगुणित्ति है-

कायोत्सर्गको भी कायगुणित्ति कहते हैं शरीर अपवित्र है, असार है, आपत्तिका कारण है ऐसा विचार कर
इस ममताका त्याग करना भी कायगुणित्ति है अर्थात् शरीरपरसे ममत्वभावको हटाना भी कायगुणित्ति है- शरीरका
त्याग करना इसको कायगुणित्ति नहीं कहना चाहिये क्यों कि शरीर आयुही मूलखामे जकड़ा है उसका त्याग
करना शक्य नहीं है- अतः इसकी अपेक्षामें कायगुणित्ति मानने से तो कायोत्सर्गका अभावही होगा-

धातुके अनेक अर्थ होते हैं इसलिये यहां गुणित्ति शब्दका निधारे ऐसा अर्थ लेना चाहिये ऐसा सूत्रकारका
अभिप्राय है- अन्यथा 'कायकिरियाणिबची सरीरेग गुची' ऐसा वचन सूत्रकार कभी न कहते-

कापोत्सर्ग प्रहणमें जो शरीर की निश्चलता होती है उसको कायगुणित्ति कहते हैं ऐसा यदि कहोगे तो
'कायकिरियाणिबची शरीरेग गुची' ऐसा कहना व्यर्थ है- 'कायोत्सर्गः कायगुणित्तिः' इतनाही गुणीका लक्षण
कहना योग्य था ऐसी झंका करना भी योग्य नहीं है- क्योंकि शरीर विषयक ममत्व रहितपनाकी अपेक्षामें कायो-
त्सर्गकी भवृत्ति होती है- यदि इतनाही अर्थ कायगुणित्ति माना जायगा तो भागना, एकस्थानसे अन्य स्थानके

प्रति ज्ञाना, कूदना वगैरह क्रियाओंमें प्रवृत्त हुए प्राणिकों भी क्रायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा परन्तु ऐसा माना नहीं जाता है।

यदि 'क्रयाक्रियाविनृत्तिः' अर्थात् शरीरकी क्रियाका त्याग करना कायगुप्ति है इतनाही लक्षण मानोगे तो मृच्छिष्ठ होकर जो मनुष्य पड़ा है उसको भी कायगुप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा। इस वास्ते व्यभिचार निवृत्तिके लिए कायोत्सर्ग को कायगुप्ति मानना चाहिए और शरीर की क्रियानिवृत्ती को भी कायगुप्ति कहना चाहिए। इस विवेचनका अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिए—कर्मग्रहण जिनसे होता है ऐसी संपूर्ण शरीर क्रियाओंका त्याग करना इसको कायगुप्ति कहते हैं तथा शरीरविषयक ममताका त्याग करना इसको भी कायगुप्ति कहते हैं, ऐसा इस गाथाद्वयका अभिप्राय है।

हिसादिकोंका त्याग करना भी कायगुप्ति है ऐसा जिनाममें कहा है प्राणियोंके प्रणोंका वध करना; न ही हुई चीज लेना अर्थात् चोरी करना; मेयुन क्रिया करना, शरीरसे परित्यक्तोंका ग्रहण करना, इत्यादिक जो विशिष्ट क्रियाएँ उनका यहां काय शब्दसे संग्रह करना चाहिए। कायिक क्रियाओंसे आत्माका संरक्षण करना कायगुप्ति है ऐसा आचार्यमहाराजने व्याख्यान किया है।

छेत्तस्स वदी णयरस्स स्वाइया अहव होइ पायारो ॥

तह पावस्स णिरोहो ताओ गुचीओ साहुस्स ॥ ११८९ ॥

गुररय स्वातिका गइस्सेअस्स च यथा वृत्तिः ॥

तथा पापस्स संरोधे साधूनां गुप्तयो भताः ॥ १२१९ ॥

विजयोदया—छेत्तस्स वदी क्षेत्रस्स वृत्तिः । नगरस्व स्वातिका अथवा प्राकारो भवति नगरस्व । तथा पावस्स जितेशो पापस्व निरोधोऽपयः । जाओ गुचीओ ता गुप्तयः साधोः ॥

गुमीनां पापनिरोधोपायवां दृढयति—

मूलारा—पावस्स णिरोधो यथा क्षेत्रावेमंगचोराल्पपायहेतुनिरोधे कृत्वादेव उपायात्तथा पापनिवारणे युने गुप्तय इत्यर्थः ।

अर्थ—येतका संरक्षण उसके आमंत्रात् जो बाढ लगाई जाती है वह करती है. नगरका संरक्षण खाई व तट करते हैं तथा ये तीन गुप्तियां साधुका पापसे रक्षण करती हैं. पापोंका निरोध करनेमें अर्थात् संवर करनेमें ये उपाय हैं.

तस्या तिविहेण तुमं मणवचिकायपपओगओगमि ॥

होहि सुसमाहिदमवी गिरंतरं उक्षाणसज्झाप ॥ ११९० ॥

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगेषु समाहितः ॥

अथ त्वं सर्वथा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥ १२१० ॥

त्रिजयोदया—तस्या तिविधेण मणवचिकायपपओगमि मनोवचिकायविषयप्रकृष्टे दोषे । तुमं त्वं । सुसमा-
हिदमवी होहि सुष्ठु समाहितमतिर्भय । कथं ? गिरंतरं उक्षाणसज्झाप निरंतरमुत्तम्यास्त्याध्यायः ध्यानस्याध्यायवर्तरेण
गुप्तयो नापतिष्ठन्त इति भावः ॥

एवं तिस्रोऽपि गुप्तीः प्ररुज्य तत्र क्षपकं सुसमाहितं कर्तुं क्षेममुपायमाह—

गुलारा—तन्हा वरमाहुतवः पाणनिरोपोयास्त्वस्मान्निविधेऽपि मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे व्यापारे सुस-
मादिवमतिर्भय त्वं । कथंभूतः सच्च । गिरंतरं उक्षाणसज्झाप संततं ध्याने स्वाध्याये या प्रवर्तमानः सच्च । ध्यानस्वाध्या-
याभ्यां विद्या गुप्तयो नापतिष्ठन्ते इति भावः ॥ उक्तं च—

तस्मान्मनोवचःकायप्रयोगे सुसमाहितः ॥

अथ त्वं सर्वथा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ॥

अर्थ—ये तीनों गुप्तियां पापका संवर करनेमें कारण हैं इसलिये मन, वचन और शरीरकी प्रवृत्तिओंमें
दे क्षपक ' तुमको हमेशा साधधान रहना चाहिये. और हमेशा ध्यान और स्वाध्यायमें तत्पर रहना चाहिये. ध्यान
और स्वाध्यायमें तत्पर रहनेसे गुप्तिओका संरक्षण होता है. जो ध्यान और स्वाध्यायमें अपनेको तत्पर नहीं करता
है उस क्षपकही गुप्तियां स्थिर नहीं रह सकेगी.

समितिर्व्याप्यागोत्तरपक्षेऽप्यसमितिस्मितिस्वरूपयोत्तरा गाय—

मग्नुज्जोदुपयोगालंबणसुखीर्हि इरियदो मुणिणो ॥

सुत्तापुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवणम्मि ॥ ११९१ ॥

यागोव्योतोपयोगानामलंबस्य च शुद्धिमिः ॥

गच्छतः सूत्रमार्गेण मनेर्यासमितिर्पेतः ॥ १२३१ ॥

विद्वदोदय—मग्नुज्जोदुपयोगालंबणसुखीर्हि मार्गेण शुद्धिः, उद्योगशुद्धिरूपयोगशुद्धिश्चालंबनशुद्धिरिति वतल्लः सुखदस्ताभिः पदणमुतादि । इरियदो गच्छतः । मुणिणो मुने । सुत्तापुवीचि सुत्तापुसारणे । भणिदा कथिता । इरियासमिदी ईर्वांसमितिः । पवणम्मि प्रपञ्चे । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम मग्नुज्जोपनिर्गलि कादिनसता, योजाङ्कुरत्णहृति-पक्षारार्थमतिरहितता ॥ सुकुटतरता इत्यपि ता च उद्योगशुद्धिः । निशाऽननक्षनादीनामसुकुटः प्रकाश, अथवापी प्रदीपदिप्रकाशः । पादोच्चारनक्षेपदेशजीवपरिहरणार्थद्वितयेतत्ता उपयोगशुद्धिः । गुस्तुलीयविधिप्रमादिकनपूयैवास्वार्थ-प्रज्ञं, सैयतप्रपोगक्षेपमार्गं, वैषावृत्त्यकरणं, अनित्यतापासत्वाद्द्वयार्तपक्षे भ्रमणतत्पर्यं, मानवैशमायाशिक्षणं, विनियोजनप्रतिबोधनं सैति प्रयोजनशिक्षया आलंबनशुद्धिः । किं तत्र सूत्रमुत्सारिणमनं, अद्वतं, नातिघिलीपितं, पुरो युगमात्र-वर्शनमशुचि, अयिदृष्टचरणन्यासं, भगविसयाधरेण सलीलमननुरोधेणं, परिहृतलंबनयापनमाधिलवितमुनं, निर्विकारं, अक्षपलमसंभ्रान्तमननूर्ध्वतिर्यक्येक्षणं, इत्तमानपरिहृततत्पदणपक्षे, अक्षपपशुपक्षिमुगोद्वेजनं, पिरद्वयोनिसेकमण-जातवाप्याभ्युदासाय उतासच्छमनिलेखनं, भ्रमातिचारितप्रतिमार्गयायिसंयुक्तं । बुद्धेदुपलीचईसारमेयाविपरिद्वि-बुद्धे, परिद्वितुस्तुपमवीमस्माईगोमथशपतिचपञ्जलोपलफलनं, दूरीकृतबोरीकलहं, भनारुतलनमं निरूपयतो यतेरीयांसमिति ॥

समितीव्यांकारव्यात्रादौ ईर्वांसमिति निर्दिशति—

मूलारा—मग्नुज्जोदुपयोगालंबणसुखीर्हि मार्गेणोपयोगालंबनशुद्धिभिः अतस्तुभिः कणमूलाभिः । इरियदो गच्छतः । सुत्तापुवीचि सुत्तापुसारणे । तत्र मार्गस्य शुद्धिः पिबिलिन्नादिनसारपत्रं, वीजाङ्कुरत्णहृतिपत्रजलकर्त्तृसारिद्वित्वं, सुकुट-रस्य, व्यापितं च । उद्योगशुद्धिः स्पष्टप्रसूतत्वं, रविकप्रकप्तस्य ॥ उपयोगशुद्धिः—पादोच्चारनक्षेपदेशवर्तिप्राणिपरिहरण-मग्निपानपरायणत्वं । आलंबनशुद्धिर्भूतवीर्यैतत्ववित्त्वनादिकमपूर्वदासावप्रहणं, संयययोगक्षेत्रमार्गणा, वैषावृत्त्यकरणं, अन-नियतावासरारब्धसंघाटनं, त्रमतयो, मानादेशमाणाश्लेषणं, विनियोजनप्रतिबोधनमेवमादिसमागिर्विरोधिप्रयोजनपिशा । मग्नुपवीचिगमनं तु नातिदुर्बलपितं, पुरो युगमात्रदर्शनप्रशुचिकं, अदूरचरणन्यासं, निर्मेवविस्मयमसलीलमननत्युत्थेपं,

तत्कलीक न होगी इस प्रकारसे यमन करना चाहिये- विरुद्ध उत्पत्ति स्थानोंमें प्रवेश करते समय वहाँके असजीवों को अपने शरीरसे वाधा न हो इतलिये चार चार प्रतिलेखनसे अर्थात् पिछिकासे शरीर स्वच्छ करना चाहिये, मार्गमें चलते समय अपने शरीरको इतरोंका धक्का न लगे इस तरहसे चलना चाहिये- दृष्ट मौ, बैठ, कुत्ता, इत्यादि मार्गोंका परिहार करते यमन करना चाहिये- घान्यका भूसा, शालीघान्यके छिलके, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तुलका डेट, पानी, परधर, फलक इतका परिहार करके यमन करना चाहिये- चोर, कलह इत्यादिकसे दूर रहकर यमन करना योग्य है- जाते समय अपने पावोंसे कोई चीजका अथवा प्राणीका आपसमें प्रवेश न हो इस प्रकारसे यमन करना यह धुनिकी रीतिमिति है-

भाषासमितिस्वरूपाथोसरगाथा—

सन्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ॥

वदमाणरसणुवीची भासासमिती हवदि सुद्धा ॥ १११२ ॥

कयालीकाविचिनिमुत्तं सरयासरयस्यपाद्वयम् ॥

वदतः सूत्रमाणेण भाषासमितिस्वरूपते ॥ १११३ ॥

चित्तयोष्या—चमुर्दिशा पाद—सत्या, मृण, सत्यसहिता मृण, असत्यमृणा चेति । सतां हिता सत्या । न सत्या न च मृणा या सा असत्यमोसा । द्विप्रकारं वाच्यमित्यभूतां । अलियादीदोसवज्जं व्यलीकता अर्थोभावा, पाद्वयं, वैदुष्यमित्यादिदोषरहितं । अणवज्जं पापशयो न भवति इत्यनवयं । वदमाणस्स व्यावर्ततः । अणुघोची सदानुसारेण भासासमिती सुद्धा इवदि भाषासमितिः शुद्धा भवति ॥

भाषासमिति व्याकरोति—

मूलाप—सन्चं सत्यं । जतपदादिपदादसत्तिथं । जतसत्याद्वर्मसत्यान्च कोऽस्य भेद इति चेत् व्रमः । श्लोकः—

असत्त्वविरतो सत्यं सत्त्वसत्त्ववि चन्मत्तम् ॥

वाक्समित्यं मितं तदि धर्मं सत्त्वैव वद्वि ॥ १ ॥

असच्चमोसं असत्यमृणा । न सत्त्वं वाच्यमसमित्यर्थः । अलियादीदोषवज्जं । असलजा, असत्यासत्त्वता, पाद्वयं, वैदुष्यमित्यादिदोषरहितं । अणवज्जं हितादिपापशवरहितं । अणुनीचि सदानुसारेण ॥

अर्थ—वचनके चार प्रकार हैं- सत्यवचन, मृगवचन-असत्यवचन, सत्यासत्यवचन और असत्यासत्यवचन. सत्युक्तोंका हित करनेवाला वचन सत्यवचन है- जो सत्य ही नहीं और असत्य ही नहीं ऐसे वचनको असत्यमृगणा अर्थात् असत्यामत्य वचन कहते हैं- साधु अर्थात् यतिगण उपर्युक्त दो प्रकारके भाषण बोलते हैं- इन दो प्रकारोंके वचनमें असत्यपना, व्यर्थपना, कठोरता, निंदा वगैरे दोषोंका अभाव रहता है. ऐसे वचनोंसे पाप कर्मका आगमन होता नहीं. सुनिगण सूत्रानुसार निर्दोष भाषण करते हैं- इसको भाषासमिति कहते हैं.

सत्यवचनमेवं निरूपणति—

जणवदसंमदिठवणा जामे रूवे पडुश्चववहारे ॥

संभावणववहारे भावेणोपम्मसञ्चेण ॥ ११९३ ॥

पेशसम्मनिनिक्षेपनामरूपप्रतीतिता ॥

संभावनोपमाने च रूपवहारे भाव इत्यपि ॥ १२३३ ॥

विशयोदया—अणयदसंमदि नानाजनपदप्रसिद्धा सुखंकेतानुविधियिनी धाणी जनपदसत्त्वं । गच्छति इति गीष्, गजंतीति गज इत्येवमादिषा मययथार्थानुगमामावेऽपि विवक्षिताभेदप्रवृत्तिनिमित्तभूता । सम्मदिदोषेन संस्थानाभ्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो मेरुश्च इत्यादिकाः नाश्वाः द्रुमलक्षणयोगात् केनापिच स्वतो लक्षणत्यादीभ्यस्तथैनाभ्युपगममादिष्व वशिष्ठजे मानेय वा प्रमुपगमानाः सम्मत्तिसत्यदोषोच्यते । शार्ङ्गमिन्द्रः स्वन्दः इत्येवमादयः सद्भावनासद्भावस्थानविषया एवापनासत्त्वं । भरिहर्नवं, रजोहर्नवं, ईवं इत्येवमादीनां विषयाणां तत्राभावाद्दपलीकृता नाशनीयता आकारमात्रे परमाण्वतयासर्वसामानां । तस्य च स्थापनायां परस्त्वस्तितयादुद्विष्टप्रवेष्टेण वा सद्भावनात् । ईद्रादि संज्ञा स्वप्रवृत्ति निमित्तज्ञातिगुणविषयाद्रव्यनिरूपेणा तच्छब्दाभिधेयसंघपरिणतिमात्रेण तन्मुक्तः प्रवृद्धा नामसत्त्वं । रूपग्रहणे उपलक्षणे प्रवृत्तिमित्तानां नीलमुत्पलं, धवलो हि मृगलान्छन इत्येवमादिकं रूपसत्त्वं । खेयंख्यंतरायेक्षाभिचांगं च परमुत्पलं परमुत्पलं दीर्घो ऽस्य इत्येवमादिकं प्रतीत्यसत्त्वं । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सभाषणवा गृहं संभावनासत्त्वं । अपि दीर्घो समुद्रं तरेत् । शिरसा पर्वतं विधाय इत्यादि ॥ पूर्वमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तत्पश्यतीतिनागतपरिणामान्प्रति इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि कर्वांसि ओदनं पच, कटे दुर्मियेयमादीनि व्ययादरसत्त्वं । अहिंसादृष्टानो भावः पालयते येन वचसा तद्भावसत्त्वं निरीक्ष्य स्वप्रयत्नाचारे भवेत्येवमादिकं । एत्येवमसागरीषमादिक्पुगमा सत्यम् ॥

किं तज्जनपदादिभेदादसंभा सत्यमित्याह—

[illegible]

मत्स्य वचनके भेद कहलें हैं—

अर्थ—जनपदगत्य, मम्मतिगत्य, स्थापनागत्य, नामगत्य, रूपगत्य, अतीतिगत्य, संभावनागत्य, व्ययगत्य, भागगत्य, मासगत्य और उपभोगगत्य ऐसे मत्वके दस भेद हैं, इनके विद्येय स्वरूपका विवेचन—

१ जपनदमस्त्य—अनेक देशोंमें प्रसिद्ध संकेतका अनुकरण करनेवाला जो वचन उसको जपनपदसत्य कहते हैं, जेने ' गच्छतीति गौः ' ' गच्छतीति गवः ' अर्थात् जो जाता है उसको गौ कहते हैं अर्थात् बैलको गौ कहना चाहिये, गो शुन्दका मकेत मेल नामक पदार्थमें है, जो गर्जना करता है उसको गव अर्थात् हाथी कहना चाहिये, गजगुच्छका मकेत हाथीमें प्रसिद्ध है, यद्यपि यहां निरुक्तीमें प्रतिपादित अर्थका वस्तुमें अनुसरण नहीं दीगता है तथापि ये शुब्द प्रियक्षित पदार्थोंमें श्रुति करनेमें निमित्त होते हैं-

२ सम्प्रतिपत्त्य—सम्प्रति शब्दमें आकृतिका ग्रहण होता है। गवेंद्र, नरेंद्र इत्यादिक शब्द शुभ लक्षणके पोतक हैं। कोई पदार्थ स्वतः शुभ लक्षणसंपन्न दीखते हैं अतः उसमें स्वतः ईश्वरपना—संपन्नपना दृष्टिगोचर होता है। उसके ईश्वरपनाका आधार लेकर अन्य भज-हाथी अथवा मनुष्यमें उसका प्रयोग करते हैं ऐसे शब्दको सम्प्रतिपत्त्य कहते हैं। जैसे गजकी विशालता देखकर उसको गवेंद्र कहना। किसी मनुष्यमें राजाके समान संपन्नता देखकर, उगको मय लोक नरेंद्र कहते हैं। राजा, राव, राणा वगैरह शब्द सम्प्रतिपत्त्य हैं।

स्थापना सत्य—अहंय, इंद्र और स्कंद वगैरह शब्द सद्भाव स्थापनाके विषय हैं, इनको स्थापना मत्त्व कहते हैं, अहिहनन मोहनीयकर्मका नाश होना, रजोहनन ज्ञानावरण और दर्शनावरणका नाश होना इत्यादिक क्रिया अहंन्तिमें रहती हैं अतः उसमें असत्त्वपनाका संशय लेना योग्य नहीं है। अहंन्तके समान प्रतिमाना आकार रहता है अतः अहंन्तकी उसमें स्थापना करते हैं—ऐसा आकार रखकर मूल पदार्थोंकी उसमें स्थापना करते हैं। तथा जैसे पदार्थ देखकर उसमें यह वह वस्तु है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती ही है। यह स्थापना सत्त्व समझना चाहिये।

नाम सत्य—जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया इनकी अपेक्षाके बिना ही शब्दका पदार्थ के साथ संबंध कर देना वह नाम सत्य है। जैसे जीवनिष्ठिया अचेतन पदार्थ में न रहत हुए भी उसको जीव कहना। किसी पदार्थका इंद्र वगैरह नाम रखते समय इंद्रकी देवत्व जाति, परमेश्वर्य संपन्नता वगैरह गुणोंका विचार न करके ब्यवहार के लिए इंद्र ऐसा नाम रखना।

रूपमत्त्व—रूपशब्द प्रवृत्ति निमित्तका उपलक्षण हैं। जैसे कमलमें नीलगुणका प्रकर्ष देवकार उसको नीलकमल कहना। चंद्रमें सफेदपनाकी अधिकता देखकर उसको चमक कहना इत्यादिक उदाहरण रूपसत्त्वके समझ लेने चाहिये।

प्रतीतिपत्त्य—किसी अन्य भगंधी पदार्थकी अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका निर्णय करके वैसा कहना जैसा दीर्घ वस्तुओं देखकर दूसरी वस्तु न्दस्व कहना वगैरह।

भगवत्पना सत्य—वस्तुका वैसी प्रवृत्ति नहीं होते हुये भी वैसी प्रवृत्ति करनेकी उस पदार्थमें योग्यता है यह ज्ञान कर वैसी कल्पना करना जैसे यह ज़दमी अपनी दो भुजाओंसे समुद्रको तीर सकेगा ऐसा कहना यह

यह संभानना सत्य है- यह मनुष्य यस्तकसे पर्वतका भेद न करेगा वगैरह इस सत्यके उदाहरण हैं- व्यवहारसत्य-पर्ययानकालमें पदार्थका वह परिणाम नहीं है तथापि भूतकालमें वह परिणामन था अथवा भविष्यत्कालमें वह उत्पन्न होगा तथापि यही यह पदार्थ है ऐसा समझकर जो वचनप्रवृत्त होते हैं उनको व्यवहार सत्य कहते हैं- जैसे भाल पकाओ, चटाई बनाओ इत्यादि.

भावमत्य-आईसालवर्षात्मक परिणामका जिस वचनसे रक्षण होता है उसको भावमत्य कहते हैं- जैसे आँवोंको देतकर यत्नचारपूर्वक प्रवृत्ति करो ऐसा उपदेश देना- उपमासत्य-जैसे पद्योंपम है, सामरोपम है यह उपमा सत्य है.

सुराविषवचनप्रत्यक्षार्थ कथयन्ति-

तत्त्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्य सच्चमोसं तं ॥

तत्त्विवरीया भासा असच्चमोमा हवे दिष्टा ॥ ११९४ ॥

विज्ञयोदया-तत्त्विवरीयं सत्याविपरीतं । मोसं सृणा 'यस्तदभिधानमवृत्तं' इति वचनात् । मिथ्याज्ञानमिथ्याव-
रंजयोरत्नयमस्य वा निमित्तं वचनमस्तदभिधानं अप्रवास्तं तत्सत्यविपरीतं । तं उभयं तत्सत्यमनुते अ उभयं जत्य यस्मिन्
पापये । तं तद्वाक्यं । सच्चमोसं सत्यवृत्त्युच्यते । तद्विवरीया भासा सत्यावृत्त्युच्यते अ यथाश्रुता भासा भाषा वचनं
असच्चमोसा असत्यमुपेति । हवे मयेत् । दिष्टा दद्या पूर्वांगमेव । एतान्तेन न सत्या नापि मृषा नोभयमिथा किंतु जात्यंतरं
यथा वस्तु नैकांतेन नित्यं नापि भगित्यं नापि सर्वथा एकांगयोः समुच्चयः किंतु कर्वाचिद्रूपसिद्धयानित्यात्मनं ।
एवमियं भारती ॥

असत्यादिवचनप्रत्यक्षार्थमाह-

मूढारा-तत्त्विवरीदं मोसं मिथ्याज्ञानासंयभादिति सत्त्वास्तत्सत्यविपरीतमृषा । तं उभयं सत्यमृषाद्वयं । जत्य
यस्मिन्वचने । सच्चमोसं सत्यानृतं यथा सर्वं दत्तं, सर्वं दत्तं, सर्वं मुक्तं । अथवा धृतकर्षत्पार्थिवं गोवीरं शोभनं स्या-
दिति रजस्वितेन पूरे सति शोभनमिति वचनस्य साधुवर्तिनशस्यशुणपेक्षया सत्यत्वमव्ययवृत्तिनिमित्तत्वायेक्षया च
मृषात्वात् । तत्त्विवरीया सत्यादसत्याभिधानाच्च पृथग्मृषा असत्त्वमोसा एकांतेन न सत्या, नापि मृषा, नोभयमिथिता
किंतु जात्यंतरं । यथा वस्तु नैकांतेन नित्यं, नाप्यनित्यं नापि सर्वथैकांगवयोः समुच्चयः किंतु कर्वाचिद्रूपसिद्धयानित्यात्मक-
नेच । नवधा वेधा ॥

अन्यथादि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—उपलुक्त मत्स्य भाषणके विरुद्ध जो भाषण उसको असत्य भाषण कहते हैं, ‘असदभिधानमनृतं’ प्रमादमे प्राणिज्जोत्तो पीढा होगी ऐसा भाषण बोलना वह असत्यभाषण है ऐसा सूत्रकार कहते हैं. अथवा जिस भाषणसे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादृष्टि और अमंगलकी उत्पत्ति होगी वह भी असत्य भाषण है. जो भाषण अग्रशस्त है अर्थात् मज्जनने जिसकी प्रशंसा की नहीं वह असत्य भाषण समझना चाहिये.

जिस भाषणसे मत्स्यपन्था और अमत्स्यपन्था दोनों हैं उसको सत्यमृषा भाषण कहते हैं. सत्य, असत्य और मिथ्य भाषणों में जो भिन्न है अर्थात् जिसमें मत्स्यताभी नहीं और असत्यताभी नहीं वह भाषण असत्यमृषा है. जिसको मत्स्यभी नहीं कह सकते जो असत्यभी नहीं मानी जाती है ऐसी और जिसको मिथ्यभी नहीं कहा जाता है ऐसी भाषाको असत्यमृषा कहना चाहिये.

जैम वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है, सर्वथा अनित्य नहीं है व सर्वथा नित्यानित्यात्मकभी नहीं है. परंतु उस नित्यानित्यतर धर्मोंका मनुष्य है अर्थात् कथंचिद्विषयानित्यात्मक है. उगी तरह असत्यमृषा भाषण समझना चाहिये. मत्स्य और मृषा इन दोनोंका मिश्रणभूत जो भाषा उसको मत्स्यमृषा कहते हैं उसका उदाहरण ऐसा है—
‘यी और मांढरं निश्चित गायका रूप शोभन है क्या ? ऐसा बछने पर पद शोभन है ऐसा कहना दूबको माधुर्योदि गुणोंकी अपेक्षाएं मत्स्य कह सकते हैं और ज्वर यदानेमें बड़ कारण होगा इसकी अपेक्षासे बड़ असत्य है.

सा नयमकतस मत्स्याय भेदा इवंत इति माथाउयेमाचे—

आमंतेणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य वणवणी ॥

पञ्चववणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥ ११९५ ॥

आडापनी संशोधनी प्रच्छनी प्रत्याख्यानी याचनी प्रज्ञापनीच्छानुलोमा सांशयिकी निरक्षरा चेति नयणा सत्यमृषाभाषा मंनदया ॥ ११३४ ॥

पिउगोदया—आमंतेणी यया दाया परोडिमुसीकियने सा आमंयणी । हे देववत्त इत्यादि अगृहीतसंकेतान भिगुर्गु जतोति मेन न मृगा एदंतागृहीतसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमिति चेति व्यासकृता । स्वाध्यायं कल्ल, विस्मयारोपमत्स्य इत्यादिका प्रमुदात्मनयाणी आणवणी । चोदितरयाः क्रियायाः कारणप्रकरणं यापिक्ख नैकान्तिम सत्या ॥

मुपैव पा । अयणी प्राणोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्विद्वत्तत्वं इत्यादिना याचनी । दानुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा । निरोध-
यद्वन्नास्ति भवतां भूयेति प्रत्यवाक् संपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदितरा । वेदनाभावाभावाभेदेय प्रवृत्तेरुभयरूपा ।
पणवणी नाम धर्माकृता । ॥ यद्विद्विद्वत् प्रवृत्त्या केचिन्नमनीस करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य करणत्वावृद्धिरूपा ।
परापराणी नाम केनचिदुत्तमनुवाच्य इदं क्षीरादिहं एवंतं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यातरमुखिद्वय तरकुर्वित्युद्धितं
पुराणा प्रत्याख्यानानां निष्कारणो न एके इति नैकांततः सत्यता गुह्यवचनात्प्रसूतो न शोपायेति न प्रपेक्षांतः । इच्छानु-
सोमा य ल्यस्तिन पृष्टं घृतानर्तमिधं शीरं न शोभनमिति । यदि परो वृयात् शोभनमिति । माधुर्यादिप्रशस्य गुण-
सद्भावे ज्वरबृदिनिमित्ततां चापेक्ष्य न शोभनमिति वक्तो न प्रपेक्षांततो नापि सत्यमेवेति ब्रूयात्मकता ॥

के से उभयभाषाभेदा नयेति पृष्टताग्राथाद्वयेनाचक्षे—

मूलात्—आभंगानि संबोधिनी हे देवदत्त इत्यादिका । आपवणी आहापनी इदं कुर्वित्यादिका । जायणी
यायणी यथा तानं किंचिदं जायिष्ये । संपुच्छणी यंप्रच्छनी यथा त्वानं किंचित्प्रच्छामि । पणवणी प्रजापनी यथा तव
किंचित्कथयिष्यामि । पचवमणी प्रत्याख्यापनी यथा त्वानं किंचित्प्रत्याखयिष्यामि । इच्छानुलोमा छंदस्तुल्ल वाक् यथा
शालिताच्छीरयो भवन्तीति गुरुषोक्तं एवमेतदिति सिध्यवाक् ॥

असत्यमृषा भाषण के नक्त प्रकार हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

अर्थ—जिस भाषासे इसरांको अभिमुख किया जाता है उसको आमंत्रणी-मंत्रोचिनी भाषा कहते हैं. जैसे
'हे देवदत्त यहाँ आओ' देवदत्त यद्रक्षा संकत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने
संकेत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है.

आणवणी-आहापनी भाषा जैसे स्वाध्याय कृतो, असंयमसे विरक्त हो जाओ. ऐसी आज्ञा दी हुई क्रिया
कारंसे नस्यता और न करनेसे अकृत्यता इस भाषामें है. इस लिये इसको एकान्त रीतीसे सत्यभी नहीं कहते और
असत्यभी नहीं कह सकते हैं.

याचनी-ज्ञानके उपकरण काल और संयमके उपकरण पिच्छादिक मोको दो ऐसा कहना यह याचनी
भाषा है. दावाने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है. अतः यह सर्वथा
सत्यभी नहीं है और सर्वथा असत्यभी नहीं है.

प्रश्न पछना उभयो प्रश्नभाषा कहते हैं जैसे तुमको निरोधमें-आराधुमें वेदना-दुःख है या नहीं वगैरह.

यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना. वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा हमको सत्यासत्य कहते हैं.

पणवणी-परमोपदेश करना इसको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं. यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर जाती है. कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं. इसकी अपेक्षा इसको असत्यपणा कहते हैं.

पञ्चसखाणी-किन्तिनि गुरुका अपने तरफ लख न लीचकरके कहा कि मैंने इतने कालतक क्षीरादिक पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा. कार्यान्तरको उद्देश्य करके वह करो ऐसा गुरुने कहा. प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक यह एकांतसत्य नहीं है. गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है.

इच्छानुलोमा-ज्वरितमनुष्यने पूछा वी और शकर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है ? यदि दूसरा कहेंगा कि यह अच्छा है. तो मधुरतादिक गुणोंका उसमें सद्भाव देखकर वह शोभन है ऐसा कहना योग्य है. परन्तु ऊपर ब्रह्मको वह निमित्त होता है इस अपेक्षासे वह शोभन नहीं है अतः सत्यथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिये इस वचनमें उभयात्मकता है.

संसयवयणी य तद्वा असञ्चमोसा य अट्टमी भासा ॥

ठावमी अणस्वरगदा असञ्चमोसा हवदि णेया ॥ ११९६ ॥

विजयोदया-संसयवयणी किमयं स्थाणुकत पुरुर इत्यादिका द्रव्योत्कस्य सद्भाषमितत्वाभावे भावेक्ष्य दिक्रान्ता । अणस्वरगदा भंगुलिरस्फोटविध्वभिः कृताकृतसंकेतपुरुषोपेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते रानुमयकृता ॥

मूढारापना-संसयवयणी किमयं स्थाणुकत पुरुष इत्यादि संविषयवाक् । अणस्वरगदा अक्षरहीना यथा अंगुलिरस्फोटविध्वनाः कृतसंकेतस्वेषां विषयविनिमित्तत्वात् । सिद्धांतरत्नमालयां पुनरित्यमान्तात्म—

यावन्ती क्षापनी दृच्छानयनी संशयन्यपि ॥

आक्षानीच्छतुल्ला वाक् प्रत्याख्यान्यथनक्षर ॥

असत्संगोपमापेति नवया बोधिता विनिः ॥

अथैषाव्यक्तमस्तिष्ठानं वक्तुः श्रोतुञ्च यद्वदेत् ॥
 त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंपन ॥
 प्रष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामागेष्यामि च किंचन ॥
 बालः किमेव वक्षीति ब्रूत संदेहिष्य मन्यतः ॥
 आक्षयाम्येहि भो भिक्षो ! करोम्याख्यां तव प्रभो ! ॥
 किंचिन्नां लजयिष्यामि हुंकरोत्यत्र गौः कुलः ॥
 आचन्यादितु दृष्टांता इत्यनेनैव प्रदर्शिताः ॥

अर्थ—संक्षेप वचन यह असत्यवृत्तिका आह्वय प्रकार है- जैसे यह दृष्ट है अथवा मनुष्य है इत्यादि हममें दोनोंमेंसे एककी सत्यता है और इतरका अमान है इस वास्ते उभयपक्षा इसमें है.

अनक्षर वचन—बुटकी बजाना, अंगुली में इषारा करना जिसको बुटकी बजानेका संकेत मात्स्य है उस की अपेक्षा से उसको वह प्रतीतिका निमित्त है और संकेत मात्स्य नहीं है उसको अप्रतीति का निमित्त होती है इस तरह उभयात्मकता इसमें है.

उगमउपपायणएतर्णाहिं पिंडमुवधि सेज्जं च ॥

सोधिंस्सहस्रं य मुणिणो विसुद्धंए एसणासमिदी ॥ ११९७ ॥

आहारमुपाधिं शय्याशुद्रमोत्पादनादिभिः ॥

विशुक्तं गृह्यतः साधोरेपणा समितिमेता ॥ १२३५ ॥

विशयोपेक्षा—उगमउपपायणएतर्णाहिं उद्गमोपायैपणादोपरहितं मत्तमुपकरणं वस्तुति च गृह्यत एवणास-
 मितीर्भवतीति सूत्रार्थः । दशार्थकाष्टकीकृत्या श्रीविजयोदयायां प्रपंचिता उद्गमादिदोषा इति केद्व प्रतन्यन्ते ॥
 एवणासमिति निर्दिशति—

मूलाष्ट—सोपेवस्स त्याज्यतः । वट्टमादिदोषत्वं पिंडादिकं गृह्यत इत्यर्थः ॥ विसुद्धे निर्मला भवति ।

अर्थ—उद्गमदोष, उत्पादनदोष और एवणादोष इन दोषोंसे रहित जो सुनि उपकरण, आहार और

यमनिद्रा का स्वीकार करते हैं. वे मुनि एषणाममितीको निरतीचार पालते हैं ऐसा समझना चाहिये. श्रीविजयोदया नामकी दशवेकालिक टीकामें उद्दमादि दोषोंका सविस्तर विवेचन अपराजित धूर्तिने किया है अत एव यहाँ उसका निरूपण करना वे नहीं चाहते हैं.

आदाननिक्षेपणनिरूपणार्थं भाषा—

सहसाणाभोगिवदुष्पमज्जिय अपञ्चवेसणा दोसो ॥

परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥ ११९८ ॥

सहसाहट्टदुर्हट्टाग्रत्तयवेक्षेणमोचिनः ॥

अचत्त्यादाननिक्षेपसमित्तिजत्तयत्तिनः ॥ १२३६ ॥

विज्ञादोष्या—सहस्रणभोगिद आलोक्षनग्रमाजंतमरुया आदानं निक्षेपं इत्येको भंगः । अनालोप्य प्रमाजंनं कृत्वा भादानं निक्षेपते चेति द्वितीयो भंगः । आलोप्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः । आलोकिर्तं प्रमृष्टं च न पुनरालोकिते च शुद्धं चेति चतुर्थो भंगः । पनहोप्यनुष्टुपं परिहरती भवति भादाननिक्षेपणसमितिः ।

आदाननिक्षेपसमितिं लक्षयति—

मूलरा—आलोक्षनग्रमाजंनेऽकृत्वा पुलकादेरादानं, निक्षेपं वा कुर्यात् एकः सहस्राव्यो दोषः । अनालोप्य प्रमाजंनं कृत्वा दुस्तकारेरादानं निक्षेपं वा कुर्वाणोऽशभोगितात्तो द्वितीको दोषः । आलोक्ष्यासम्बन्धकप्रतिष्ठित्य सवृत्तुक्तो- निष्ठित्यतो वा तृतीयो दुष्पमृष्टस्तो दोषः । आलोकिर्तं प्रमृष्टं च न पुनः शुद्धमशुद्धं चेति निरूपितमित्यादाननिक्षेपकरणाय- दुर्धोऽमरयभ्रणायो दोष एतावज्जन आदाननिक्षेपसमितिः स्यात् ॥

आदान निक्षेपका आचार्य निरूपण करते हैं—

अर्थ—विना देखे और विना भूमि स्पष्ट किंगे पदार्थ उठा लेना, यह पहिला भंग हुआ. विना देखे भूमि स्पष्ट करके पदार्थ जमीनपर रखना अथवा उठा लेना यह द्वितीय भंग है. देखकरके भूमि स्पष्ट किंगे विना पदार्थ उठा लेना अथवा रखना यह तीसरा भंग है. देखना और धोडासा झाड़ लेना यह चौथा भंग है इन चार दोषोंका त्याग कर पदार्थोंको उठा लेना और रखना आदाननिक्षेपण समिति है अर्थात् जमीनको अच्छी तरहसे

देवकर और स्वच्छ कर उसपरले पदार्थ उठा लेना अथवा उसपर पदार्थ रखना यह आदान निधेपण समिति है.

एद्रेण चैव यदिह्वावणसामिदीवि वणिग्या होवि ॥

वोसरणिज्जं दब्बं थंडिले वोसरितस्स ॥ ११९९ ॥

अनेनैव प्रकारेण प्रतिष्ठापनका मत्ता ॥

सम्मिस्सयज्जतस्साज्यं प्रदेसो स्थंडिले यत्तेः ॥ १२०० ॥

विजयोदया—एद्रेण चैव आदाननिधेपणविषयवत्तकथनेन । पविह्वावणसमिदीवि वणिग्या होदि । प्रतिष्ठापनसमितिर्धर्णिता भवति । वोसरणिज्जं परिचयकत्वं सूत्रपुरीयादिकं मलं । थंडिले पोसरितस्स स्थंडिले निर्जन्मुके, निरिच्छद्रे, समे न्युत्पुज्जः ॥

प्रतिष्ठापनसमितिं व्याचष्टे—

मूलात्—एद्रेण आदाननिधेपणविषयवत्तकथनेन । वोसरणिज्जं अवश्योत्सुगं । दब्बं विण्मूत्रवेळसिघाण-कठविंछुचित्पेक्षादिकं । थंडिले निर्जन्मुकनिरिच्छद्रसमत्यादिविशिष्टे प्रदेसे । तथा चावोचाम धर्माभूते—

निर्जन्मी कुसले विविक्काविपुले लोहोपरोधोच्चिते ॥

फुट्टे छट्ठ उदीपरक्षितिले विष्ठादिकानुत्सुज्ज ॥

युप्रक्षाश्रमणेन सक्कमभितो छट्ठे विभत्तव त्रिषा ॥

सुसुष्टेऽप्यपहसकेन समिठावुत्तर्ग वत्तिष्ठते ॥

अर्थ—आदाननिधेपण समितिका निर्दोष पालन करनेके कथनसेदी प्रतिष्ठापन समितिकाभी वर्णन हुआ. त्यागने योग्य मूत्र पुरीयादिक मलका त्याग निर्वन्मुक और निरिच्छद्र जमीनमें करनेवाले धुनि प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते हैं.

एदाहिं सदा जुचो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ॥

हिंसिदादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहु ॥ १२०० ॥

आमिः समितिमियोंगी लोके पड़जीवसंकुले ॥
दोपैहिंसादिभिर्नैव लिप्यते विहरअपि ॥ ११३८ ॥

विजयोदया—यदादि पतामि । सदा सुतो सदा युक्तः । अयमिमा विहरमाणो दु अगति विहरसपि । कीटकी ? जीविकायाडले पड़जीविकायाकीर्ण । हिंसादीहिं हिंसादिभिः । न लिप्यति न लिप्यते साधुः । आदिग्रहणेन परितापने, संपदने, भोगानुभवाकरणादिपरिग्रह । समितिषु प्रयत्नमानः प्रमादरहितः प्रयत्नयोगाग्रगण्यपरोपणं हिंसेरनुव्येत । हिंसादिनिरासि कर्मणि हिंसादिशब्दोच्यते । कार्यं कारणश्चमृत्तिः प्रतीतिरतत्वात् । यद्यपि विवर्जनमिमिसगुणा-
न्यते तत्र प्रयत्नमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहयुषाग्नितं तामरसपत्रं फाञ्जनीलनीरवर्तमानमपि मांघुना लिप्यते ।
विलसन्निचितजीविकायाकुलेऽपि अगति संवरमपि मुनिर्न लिप्यते अग्रमसत्तया प्रवृत्तः पंचसु समितिष्विति ॥

समिति संततसमाहितस्य हिंसादिहारयातयात रुद्धभाषार्थं भाषयति—

मूलाट—हिंसादीहिं प्रणातिपातपरितापनसंघटनान्यूनताकरणादिपड़जीवोपपातायुक्तादिवनितपायैकैः । न लिप्यति न कथ्यते ॥

अर्थ—इन पांच समितिओंका पालन करनेवाला युनि जीवसमुदायसे भरे हुए जगत्में हिंसादिक पातकोसे असिम रहता है. आदिग्रहसे परितापन, अर्थात् तफलीफ देना, संघटन जीवोंको परस्परमें मिलाता, उनके अंग कम करना, इत्यादि दोषोंसे समिति धारक यति लिप्त नहीं होता है. जो समितिओंको पालता है. वह प्रमादरहित होता है. प्रमादसे प्राणोंका घात करनाही हिंसा है. हिंसादि साहित कर्मोंको हिंसादि कहते हैं अर्थात् हिंसादिक कारण हैं और उससे होनेवाली क्रियाएँ कार्य हैं. यहाँ कार्यमें कारणका उपचार फाँके हिंसादिकके फायकोभी हिंसा कह सकते हैं. त्याग-गुणयुक्त यति विषयोत्ते भरे हुए इस जगत्में रहकरभी विषयोंमें आसक्त होते नहीं है. अतः वे पापसे लिप्त नहीं होते हैं. जैसे स्नेहगुणसे युक्त कमलपत्र पत्रपंके समान नीलजलमें रहकर भी उससे लिप्त होता नहीं. निरंतर प्राणिजोंमें भरे हुए इस लोकमें मुनि विहार करते हैं तो भी वे प्रमादरहित होकर पांच समितिओंमें प्रवृत्त होते हैं अतः पापोंमें लिप्त होते ही नहीं.

पउमणिपत्तं ॥ जहा उदयेण न लिप्यदि सिणेहगुणजुत्तं ॥
तह समिदीहिं न लिप्यइ साधू काएसु इरियंतो ॥ १२०१ ॥

समिन्तो लिप्यन्ते नाध्वर्जावमध्ये चरश्चणि ॥

स्निग्ध कण्डिकीण सलिलैरिव वा स्थितम् ॥ १०३९ ॥

स्निग्धं कमलनायनं साललापनं नास्ति । तया
 विजयोद्या-धरमणिपत्न्यस्तथा नोक्तेन विलिख्यते रेवमुणसमन्वित । तया
 प्राणैः प्रणयता प्रवर्तमानोऽपि न लिख्यते सासु समिग्मिहभूतायि ॥

उक्तार्थं समग्रां
श्रुतिमुपन्यस्यति—

उत्कायसमनाय शुकुपुत्रय्याव—
 मूलाः—समिदीर्हं समिविभिर्गिरिभिः । ण लिपदि दिसान्निभिर्न कथेत् । काण्णु पट्टचीवदेहेषु । इरियंतो
 प्रवर्तमान । अत कायसव्वेन प्रागिशरीरपोढनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिरास्तगोचयुड्डया सश्लोकाभ्यादिनो गृह्यते ।
 तथैव एतत्ते साप्यव्यप्रासाधनस्य एतेष्वियु लक्ष्यतात् । तथा च द्रव्योऽयं यच्चिद्विर्गर्भसमर्भगुणान्वितं तत्तत्र प्रवर्त-
 मानमपि होत न लिख्यते । अथा चरुविचर्गर्भसमेहन्गुणान्वितं पश्चिनीपत्रं जलान्तं प्रवर्त्यपि जलेन । प्राणिशरीर-
 पोढनापाद्यमानकर्मत्वपरिणतिरुत्पद्येग्यपुट्टनविचर्गर्भसमर्थेसमितिगुणान्वितवत् साधुस्वभावेककथाविषु वेपु अन्तः प्रवर्त-
 मानोऽपि न लिख्यते ॥

अर्थ—स्नेहगुणसे युक्त कमलका पत्र जलमें लित होवा नहीं है तदन् प्रणिर्घोक्त शरीरमें निहार करने बाला यविराज समित्थिओंसे युक्त होनेसे पापमें लित होता नहीं

सखासे वि पठते जह दृढकवचो ण त्रि-शदि सरोठे ॥

तह समिदीहिं ण लिप्पइ साधू काएस हरियो ॥ १२०३ ॥

बध्यन्ते समितो नाथैः कायमध्ये भ्रमन्नपि ॥

सप्तदो वि०यते कुत्र शरत्वर्ये रणांगणे ॥ १२४० ॥

विद्यगोदया—सत्यासि वि पठते शरणागुपि धतति सति च रणागणे या रदुक्वचो न शरोभिद्यते, तथा
समितिमिहंतुभूताभिर्न रिष्यते हिंसादिवा कायेषु धवंमानो मनि ॥

तमेवार्थमुदाहरणतरेण ब्रुव्यति—

मूलाप—सरवासे चाणयूथौ वर्षाग्रहेणै अमृत्तवृत्तिं लक्षयति ॥ दृढकवचो अभेरयसञ्जाह् । अत्रापि प्रयोगः
पर्यवतरन्नीय ॥

अर्थ—रणांगणमें बाणोंकी छुट्टि होनेपर भी लिखने ॥ वक्तर धारण किया है ऐसा शूरपुरुष भिन्न नहीं होता है अर्थात् वह शूरवृष्टिमें संचार करता हुआ भी अक्षतही रहता है वैसे समितिरूपी कवच धारण करनेवाले मुनिरूपी योद्धा भी हिसादि बाणोंसे अक्षत ही रहते हैं. जीवनिभावमें विहार करते हुए भी वे पापोंसे अलिप्त ही रहते हैं.

अतथैव चरइ वालो परिहारण्हू वि चरइ ततथेव ॥
 श्रद्धादि पुण सो वालो परिहारण्हू वि मुञ्चइ सो ॥ १२०३ ॥
 बालश्चरति यथैव सनैव परिहारवित् ॥
 वध्यते कल्मषैर्पाल इतरो मुच्यते पुनः ॥ १२४२ ॥

विजयोक्ता—अतथैव चरइ वालो यथैव क्षेत्रे चरति जीवपरिहाराक्रमानभिज्ञः । परिहारण्हू वि जीववाधा परिहारक्रमशोऽपि तथैव चरति । तथापि यज्ज्ञादि सो पुन वालो वध्यते पुनरसौ ज्ञानवालाश्चारिवालाश्चासीत् । परिहारण्हू परिहारकः । मुञ्चइ मुच्यते कर्मलेपात् ॥

नमानदेशचारिणोरप्यक्षयिक्रमोः वापकथंयथौ दर्शयति—

मूलम्—अतथैव यथैव क्षेत्रे । चरति गमनादिक्रियायु प्रवर्तते । वालो बधपरिहारक्रमानभिज्ञः । वज्रवदि पादैरेष्यते । मुच्यदि पापलैपांमुच्यते भावैर्न लिप्यते वेत्यर्थः ॥

अर्थ—जीवोंकी याचाका परिहार करनेका क्रम जिसको ज्ञात नहीं हुआ है ऐसा अज्ञ जीव जिस जगहमें रहता है उसी जगहमें जीवयाधाका परिहार करनेवाले मुनिभी रहते हैं. परंतु अज्ञ जीव कर्मसे चढ़ होता है अर्थात् ज्ञानसे बाल और चारित्र्यसे बाल ऐसा अज्ञ कर्मचढ़ होता है परंतु ज्ञानी और चारित्रवान् जीव कर्मबद्ध होता नहीं है.

उक्तमर्थमुपलंहरयुत्तरगाथया—

तस्मा चेद्विदुर्कामो जइया तइया भवार्हि तं समिदो ॥
 समिदो हु अण्णमण्णं णावियदि खवेदि पोराणं ॥ १२०४ ॥

यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भव ॥

पुराणं शिष्यते कर्म नान्नोति समितो नवम् ॥ १२४३ ॥

विजयोद्या—यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न वञ्चते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु मत्ता यद्यते कर्मसमूहेन तस्मात् । तन्मा चेष्टिदुष्कामो गमनभयपायामिच्छापी । जइया तइया यदा तदा । तं भवान् । समिवो भवाहि समितिपरो भवेति नियोगश्चरित्वाह क्षणकं । समिवो खु समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्ष्यादिषु । अणमण्णं कर्म अन्यत् अन्यत् । प्रत्यग्रं । पादियदि देवावचे । कवेदि पोरारणं प्राक्तनं च कर्म क्षण्यति निजंरयति ॥

पयमीयांत्समितिब्याख्यायोपसंहरत्तासु क्षणकं निगोक्तमनुश्लि—
सुत्तरा—यस्मात्समितः पापेवैष्यते समितस्तु पापैरपि मुच्यते तस्माद्धेतोः । चेष्टिदुष्कामो निरवयवयोजनार्थि-
तथा गमनारिषु प्रवर्तिषुमिच्छन् । जयिगा तइया यदा तदा सर्वदेत्यर्थः । भवाहि तं भोः क्षणकराज ! भव त्वं । समिवो ईर्ष्यादिषु श्रुतिनिरूपितक्रमेण प्रवृत्ताः । अणमण्णं अपरपरं पापं । कम्पमणमिति पाठे कर्मान्यदित्यर्थः । पादियदि नैमावचे । उक्तं च—

यदा तदा ततश्चेष्टो चिकीर्षुः समितो भवः ॥

समितो न नयं कर्म छाति क्षण्यतीतरत् ॥

इदमत्रोक्तार्थसंग्रहपुस्तकप्रमाणम् ।

पापेनाभ्यवचेऽपि पदमणुसोऽप्युद्देय नो क्षियते ॥

बहुषो यदनादतः परवधाभावेऽप्येव वच्यते ॥

यतोगादधिरक्षा संवमपदं भोति प्रतामि इया—

न्यप्युज्जांति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यभिरथाः सताम् ॥

उपरके अर्थकाही आचार्य आधामो उपसंहार करते हैं—

अर्थ—समितिओंमें प्रवृत्ति करनेवाले धुनि पापसे बद्ध होते नहीं वे उमसे मुक्त होते हैं, जो समितिरहित प्रवृत्ति करते हैं ये कर्मसमुदायसे बंध जाते हैं, इस लिये जाना, जाना, पापण करना इत्यादि कार्य करनेके अभि-
लापीओंको चाहिये कि वे समितिओंमें तत्पर रहें- इसलिये हे क्षणक ! तुम समितिमें तत्पर रहो, जो समितिओंमें तत्पर रहते हैं उन्हें नवीन २ कर्मका बंध नहीं होता है और उनका पूर्ववत् कर्म इत बरता है—

एवमो अष्टपवणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ॥

एवमेति सवा सुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥ १२०५ ॥

राद्धांतमात्तरोऽटो ताः पांति रत्नत्रयं यतेः ॥

जनन्यो यत्नतो नित्यं तनुजस्येव जीवितम् ॥ १२४४ ॥

विजयो दया—एवमो अष्टपवणमादाओ यता अष्टपवचनमाएकाः । एवमो प्रयता । णाणदंसणचरित्तं रक्खंति समिचीनज्ञानदर्शनचारिणां पालयन्ति सवा मुनेः । मादा पुत्तं व अथा जननी पुत्रं यथा । प्रयता माता पुत्रं पाहवस्यपापम्यानेभ्यः ॥

इवानी मुनिसिधितानां प्रवचनमाहृत्य दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूढारा—रक्खंति अषायकुत्सारयन्ति । पयदाओ सम्यक्दर्शिता प्रवक्तव्यताम् ।

अर्थ—ये अटो प्रवचनमादायेषु प्रथमपूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका पालन करती हैं- पुत्रकाहित करनेमें सावधान माता अपायसे जैसे उसको बचाती है वैसे ये मुनि और समितिवा रत्न-त्रयका रक्षण करती हैं उसमें दोष उत्पन्न न होने देती हैं-

प्रतमापनानिरूपणायोगोत्तरप्रबंधः । त्रयोदशविधं चारित्रं अष्टपवणपचयत्तचारित्रत्तथना । तत्र यतानां लोके सेपायित्तुं भावना एवेकस्य पंच पंचामिहितास्तेषां अहिताग्रजभाबता इति बोधयति ॥

पुसण्णिकवेवादाणिरियासमिदी तहा मणोगुत्ती ॥

आलोयमोयणं वि य अहिंसाए भावणा होंति ॥ १२०६ ॥

मनोगुप्पेयपणावाननिक्षेपेयैक्षिताशिताः ॥

महाज्जने मता जैनैरादिमाः पंच भावनाः ॥ १२४५ ॥

विजयो दया—एवमनिरूपणवाच्योक्त्यादिभिः । एवमसमिदी पणमसमितिद्वारादननिक्षेपणात्तमिति, ईशोत्तमिति मता मनोगुति । आलोयमो लब्धं च आलोकयेद्धनं च । अहिंसाए अहिंसाग्रतस्य । भावणा भावनाः । होंति भवन्ति ॥ पणमातामिति निरूप्यते—

मिधकाटः, पुसुलाकाटोऽवधदकलच्छेति काष्ठत्रये सातये । प्रामनगरादिषु इयता कलिन आहारनिपत्ति-अपति, अमीषु मीसेषु, यस्य वा कुलस्य घाटस्य वापे नोन्नतकाल इच्छायाः प्रमाणादिना विधाकालोऽवगन्तव्यः । क्षुद्रद

मम सीमा मंवा चेति स्वदरीव्यस्थां च परीक्षणीया । धर्मयवप्रदः पूर्वं गृहीतः । एवंमूल भादातो मया न भोक्तव्यः इति
अथायमवप्रदो मेमिति मीमांसा कथ्या । तदन्तरं पुरतो युगान्तमानभूमाभाबलोकरतः अद्भुतं, अचिह्नितं, असंश्रान्तं
यजेत् । अनेनवातुरधिष्ठचरणन्यानी निर्विकार र्वयवन्तोत्तमांवाः । यकधैमेनामुदकेन अनसदरितयदुलेन वर्धना
एदया नु मरान्, करमान्, वलीवर्दान्, श्यांस्तुरगामतिगन्धसारोयान्कलदकारिणो वा मनुष्याभूतः परिहरेत् ।
पक्षिणो मृगायाहाकारालोचता वा वशा न विभ्यति, यथा वा स्वमाहारं सुभत्या न यजन्ति तथायायात् । मनुना प्रतिलेपनेन
कृतप्रमाजने मण्डेयति चित्तरसुसमाहितफटादिकं वाक्यतो भवेत् मागलरगति । मित्रवर्णो वा भूमिं प्रविशन्त
दर्शनप्राग एव धेनवमाजनें कुर्यात् । नुपगोमयमसपुन्यपक्षालानिवन्धं, द्रव्योपलफलादिकं च परिहरेत् । मित्रमानो न क्रुधे
न्, पूज्यमानोऽपि न क्रुधेच्च । न सोमद्वैत्यपुलं, उद्धृतपता नं वा युद्धं प्रविशेत् । तथा मत्तानां युद्धं न प्रविशेत् । दुराण्यनां
गमालाकगदितं कुलं वा, यवसायां, दानशालां, विवाहवृद्धं, वार्यमाणानि, रस्यमाणानि, अश्वमुक्तानि च गृह्णाणि
परिहरेत् । बहिर्दुकुलानि उन्ममलच्छकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठारमभ्यानि सममेवादेत् । द्वारमार्गं कयाटं वा नोदाटयेत् ।
चारवत्सं, पलकं, शुनो वा नोसंयचेत् । पुष्येः फलेर्वाधिषण्णकीर्णां भूमिं यजेत् । वयमीनेयं कित्तां । भिक्षात्रयेषु परेदु
लामार्थिषु दिग्धलेषु मण्डेहं न प्रविशेत् । तथा कुडुविषु व्यघ्रविषण्णदीनमुरेषु च सत्तु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गणभूमिमति-
प्रस्य न गच्छेत् । वांचामयक्यमनं वा स्वागमनिधेयमार्थं न कुर्यात् । विदुदिव स्यां तदु च दर्शयेत् कोऽमलमिश्रो वास्य-
सीति भविसार्धं न कुर्यात् । रहस्यगृहं, वनगृहं, कन्दलीलताशुक्रमगृहं, वाक्यांघ्रशालाख्य अग्निनयमानोऽपि न प्रविशेत् ।
शत्रुजनप्रचरि प्राणिरहिते मनुष्यपरोपरोधमजिते, कनिमममप्रदामागे गृधिभिरनुषाप्रक्षिष्टेन । समे विच्छिष्टे, धूमनो यतुर्द-
गुलयावान्तरो निखलः कुल्यस्तेमादिभ्रमनयदन्त्य तिष्ठेत् । छिद्रां कयाटं, प्राकारं वा न पदयेत् चोर इव । शत्रुरागमनमार्गं
व्यवस्थापयेत्, कदुच्छ्रमस्तनादिकं च नोपयेत् । स्नानं प्रवच्छेदया, गरिभया वा दीयमानं न गृहीयात् । रोगिणा, अति-
युद्धेन, पालेनोत्तमै, पिशाचिन, सुग्नेनोपेन, यूकेन, दुर्द्वेन, भीतेन संकितेन, धत्यासन्नेन, अतूरेण, लज्जायापृतमुषया,
आपृतमुषया, उपानदुपदित्यस्तवधेन वा दीयमानं न गृहीयात् । रजेन भिषेन वा कडकन्युकेन दीयमानं वा । मोक्षं, मधु,
नवनीतं, कलं अमरितं, मूलं, पत्रं, मांफुदं, कंदं च यजयेत् । तस्यृष्टानि सिद्धायपि विप्राकरपरसंगंधानि, कुक्षितानि,
पुष्पितानि, दुराणानि, जंतुसंस्पृष्टानि च न दद्याथ एवेत्, न स्पृशेच्च । उद्गमोत्पादीनगणादीषुदुदं नाभ्यषहरेत् । नयनो-
द्विगविशुद्धाहारप्रयमेगणासमेति ॥

[illegible]

सांप्रतं ब्रतानां स्वीयार्थं भावनाः पंचमो व्याख्याणः पूर्वमस्मिन्मात्रभाष्यनाः पंच व्याख्ये --
 नूलरा--आहोगभोग्यं दृष्टुत्तरप्रसंगेऽवलोकितस्य तदुर्विषयाद्यादरस्य वस्मनं ।

अथ प्रयोदी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं. चारित्रिकें गुप्ति. समिति और आहिंसादिक व्रत ऐसे तेषा प्रकार हैं. भावनाओंसे व्रतोंमें स्थिरता उत्पन्न होती है. एकैक व्रतकी पांच २ भावनायें आचार्योंने कही हैं. प्रथमतः अहिंसा व्रतकी भावनाओंका आचार्य वर्णन करते हैं—

एषणासमिति, आदानाविक्षेपासमिति, ईर्ष्यासमिति, मनोगुप्ति और आलोकित पानभोजन ऐसी पांच अहिंसाव्रतकी भावनाएँ हैं.

अथ एषणा समितीका वर्णन—भिक्षाकाल, पुशुधाकाल और अवग्रहकाल ऐसे तीन काल हैं. गाँव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार खपार होता है, अमुक महिनेमें, अमुक डुलका, अमुक गहरीका अमुक भोजन काल है यह भोजनकालका वर्णन है.

पुशुधाकाल—आज मेरेको भूल तीव्र लगी है या भेद लगी है. मेरे शरीरकी सखियत कैसी है इसका विचार करना यह पुशुधाकालका स्वरूप है.

अमुक भिषगु मैंने फल प्रश्न किया था, इस तरहका आहार मैंने मक्षण न करनेका निगम लिया था, आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार करना इसको अवग्रहकाल कहते हैं.

इतना विचार होनेपर आहार के लिये जब मुनि निकलते हैं तब आगे चार हाथ प्रयाण जमीनका निरीक्षण कर जलदी, अति सावकाश और गहवरी ऐसे दोषोंका त्यागकर गमन करना चाहिये. जाते समय अपने हाथ नीचे छोड़कर चलना चाहिये. दूर अन्तरपर पांव रखते हुए नहीं जाना चाहिये. निर्विकार होकर और अपना मस्तक धोरासा नीचे करके जाना चाहिये. जिसमें कीचड़ नहीं है, पानी फैला हुआ नहीं है, जो ग़स और इतिकाय जंतुओंसे रहित है ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिये. मार्गमें गदहा, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़ा, भैंसा, कुचा और कलह करने वाले लोक इनका दूरमेही त्याग करे अर्थात् इनके समीपसे गमन नहीं करना चाहिये. आहार करनेवाले पशु पक्षी आँकों अपनसे भीति उत्पन्न न हो और चे अपना खाना छोड़कर न मागे इस तरहसे मुनिको आह्वयार्थ जाना चाहिये.

रास्तेमें जमीनसे समान्तर फलक पत्थर वगैरे चीजें होगी, अथवा दूसरे मार्गमें प्रवेक्ष करना पड़े, अथवा भिन्न वर्णकी जमीनपरसे चलना हो तो जहाँसे भिन्नवर्णका प्रारंभ हुआ है वहाँ खदे होकर प्रथम अपने सर्व अंग परसे पिण्डका किरानी चाहिये. धानके छिलके, गोबर, मलमका देर, धूसा, शुष्कके पत्ते, पत्थर फलकादिकोंका परिहार करके गमन करना चाहिये.

मम सीमा मंदा वेति स्वामीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अव्यवस्थाः पूर्वं गृहीतः । एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति अद्यावत्प्रवृत्तौ मनसि गीर्वासा कार्या । तदनन्तरं पुत्रलो युगांतरमानभूमागावलोकरतः जडुत्तं, अविलंबितं, असंश्रान्तं प्रजेत् । अन्वेषणादुरीषिष्ठप्रवरणन्यासो निर्विकार ईश्वरवतोत्तमांगः । यक्षदेवेभ्यस्तुकेन अवसहस्रितपङ्कलेन वरमेवा रक्ष्यतां नृगराज, करयान्त्र, बलवैद्यैर्न, नवांस्तुरगान्मादियन्त्रारमेयान्कल्लहारिणो वा मनुष्यान्मृतः परिहरेत् । परित्पणो द्यूताशालारत्नलोचता वा यया न विध्यति, यथा वा रथमाहारं युषत्वा न प्रजानि तथा यायात् । सृजुना प्रतिष्ठिन्ननेन वृत्तमाजिते गच्छेच्चरि चित्तगन्धुसमाहितफलार्थिने चामतो यवेत् सागर्तरमस्ति । मिश्रवर्णो वा भूमिं प्रविशंस्त- पूर्वमुदयान् एव धेयमाजितं कुर्यात् । तुषणोऽप्ययस्सुखसल्लोलनिष्य, वृत्तेष्वलफलाधिकं ॥ परिहरेत् । निषेधनो न क्रुध्येत्, पूज्यमानोऽपि न हुरयेत् । न गीतद्वयवहुलं, उद्धृतपदानं ॥ गृहं प्रविशेत् । तथा मसानं गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्या- गनालफलादित कुलं या, रथसाधो, दामभालो, विद्याहृद्, धार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत् । इति द्रुक्ताणि लब्धमादृक्कुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठलाम्भयानि सममेवादेत् । द्वायमर्कं क्वाटं वा भोदादेवेत् । धातवत्सं, गलकं, मुनो वा भोदुंयेवेत् । पुनैः कलेयोर्वैवाकीर्णो भूमिं वञ्चयेत् । यदानीमेव सितां । शिक्षाचरेषु परेषु तानार्थिषु स्थितेषु तत्रेह न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बेषु व्यामोषिष्वनरोममुषेषु च सस्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षामार्गणसमिति- क्रम्य न गच्छेत् । पांचायनकल्लनं वा स्वाममनिर्द्वारां न कुर्वीत् । विपुदिव स्यां तनुं च दशयेत् कोऽमलभिक्षां वास्व- तीति अभिसाधि न कुर्वीत् । रक्ष्यगृहं, यन्मृदं, कदलीरुतामुष्मगृहं, नाट्यार्थवशालाञ्च अभिनंयमानोऽपि न प्रविशेत् । यदुक्तमन्वारं प्राविशति गजुच्यपरीपरोऽभ्यर्जिते, यनिर्गममधेशमार्गे गृहेष्विज्ज्जातस्तिष्ठेत् । समे किञ्चिद्दे, भूमतो चतुरं- गुलपापान्तरो निश्चल कुल्लंभाविकल्लमल्लन्य तिष्ठेत् । छिद्रपारं क्वाटं, प्राकारं वा न परयेत् लोर इव । दातुरागमनमार्गं धपस्मान्देह, फट्टच्छुभभाजनार्थिने च शोचयेत् । जने प्रयच्छत्या, यमिष्या या दीवमानं न गृहोयात् । रोगिणा, अस्ति- पूज्येन, गार्ग्योन्मतेन, पिशाचिन्म, मुग्धेनांधेन, नूतेन, दुर्धलेन, अस्तिसेन, भद्रेण, लज्जायापूतमुषया, आयुमनुष्या, उपामनुषरिन्मस्तपादेन वा दीवमानं न गृहीयत् । खडेन भिक्षेन वा कदक-सुरेन दीवमानं वा । मंसि, मधु, नवनीतं, फलं अद्वारितं, मूलं, पत्रं, सांडुनं, ऊदं च वञ्चयेत् । तस्मिंस्तानि सिद्धान्त्यपि विषयवृत्तपरसंगेचानि, कुथितानि, पुत्तितानि, पुराणानि, जंतुसंस्मृष्टानि च न वृथास्त खायेत्, न स्पृशेच्च । अश्वभोत्यावैषणादोपदुष्टं नाभ्यचहरेत् । नवको- टिनिरिदुःसाक्षरप्रदणमेवणासमितिः ॥

यन्निश्चिन्वेत यत्र यदादीयेन यतस्तदुभयं गतिलेखनायोग्यं न वेति विलोख्य पञ्चास्तुतमार्जनं पुनरवलोक्य निक्षिपेद्गृह्याद्या । पर्या आदाननिक्षेपणसमितिः । ईशसिमितिर्निरुपिषेत् तथा मनोमुषिष्य । स्फुटपरप्रकाशावलोकि- तस्य मोजनमिवादिस्वावतमानताः पंच ॥

सांप्रतं त्रवानां स्वर्गार्थं भावनाः पंचशो ब्याचक्ष्णः पूर्वमर्हिसावतभावनाः पंच व्याचष्टे —

नूतारा—आलोगभोयणं श्रुततरमनस्तेजोलोकिवत्य चतुर्विधमप्याध्याहारस्य वल्लभं ।

चोरके समान, छिद्र, दावाजा, फिवाड, तट वगैरहका अवलोकन न करे, दावाका आनेका रस्ता उमका खंड रहनेका स्थान, पत्ती और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र इनकी छुट्टावके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिये.

जो अपने चालकको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिये. रोमी, अतिथयष्टद, चालक, उन्मत्त, अंध, गंगा, अशक्त, मययुक्त, शकयुक्त, अतिथय नजदीक जो खटा हुआ है, जो दूर खटा हुआ है, ऐसे पुरुषसे आहार नहीं लेना चाहिये. लज्जासे जिसने अपना मुंह फेर लिया है, जिसने अपना मुंह दफ छिपा है, जिसने जोड़ा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंच जगहपर खटा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिये. दूदी हुई अथवा खंडयुक्त हुई ऐसे पत्तीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिये.

मांस, मद्य, मफलन, नहीं विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कंदका त्याग करना चाहिये. इन पदार्थोंका स्पर्श जिनको हुआ है वह अन्न भी त्यागना चाहिये. जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, चलित हुआ है, जो क्षुधित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये. उद्गम, उत्पादन, एषणा दोनोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिये. नल कोटीमें परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है.

जो चीज जहाँ रखना हो, और जो चीज जहाँसे उठाना हो वे दोनों पिंछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है. इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये. और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये. इसको आदाननिर्घण समिति कहते हैं. ईशानमितिका और मनोयुक्तिका वर्णन पूर्वमें किया है. अधिक स्पष्ट प्रकाशमें देरकर भोजन करना अर्थात् यद्ये प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अर्द्धसाव्रतकी पांच भावनायें हैं.

द्वितीयप्रत्ययाना उच्यते—

कोधमयटोगहरसपदिष्णा अनुवीचिभासरणं चेव ॥

विदियरसा भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ १२०७ ॥

किमपि निंदा की तो क्रीडित न होना चाहिये और किसीने जादर किया तो आनंदित न होना चाहिये अर्थात् तोप और तोपका त्याग करके जाना चाहिये- जहाँ गीत नृत्य हो रहा है, जहाँ पताफाओंकी पंक्ति सजाई जा रही है, ऐसे घरमें प्रवेश न करे, मदिरागृह अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, पेयका गृह, लोकनिंद्य कुलोंका त्याग करना चाहिये- यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुकोसे छोड़ा है ऐसे श्रद्धाका त्याग करना चाहिये।

अतिशय दसिंद्री लोगोंके गृह, आचार विरुद्ध चलनेवाले, धर्मंत लोगोंके गृहका त्याग करे बड़े, छोटे, और मध्यम ऐसे घरमें प्रवेश करना चाहिए।

यदि द्वार बंद होगा, अर्गलासे बंद होगा तो उसको उपाहना नहीं चाहिये। छोटा बछड़ा, बकरा, और कुत्ता इनको लोप कर नहीं जाना चाहिए, जो जमीन, पुष्प फल और वीलोंसे व्याप्त हुई है उसपरसे जाना निषिद्ध है। हाल ही जो लीपी गई है, जहाँ अन्य भिक्षुका आहार लाभके लिए खंडे हुए हैं ऐसे घरमें प्रवेश करना निषिद्ध है।

अर्थात् मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हो, सिख दीख रहे हो उनका द्रुत दीनतायुक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है।

जहाँ अन्य भिक्षु रहते हैं तथा जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं उस भूमिको उलंब कर आगे गमन नहीं करना चाहिये। याचना करना, अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिये अस्पष्ट शब्द बोलना निषिद्ध है। पिजलीके समान अपना ऊपर दिखाना चाहिये। मेरेको कौन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प नहीं करे।

एकांतगृह, उद्यानगृह, फंदलीओमें बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे २ वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाव, शाला, गंधर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रतिग्रह करनेपर भी प्रवेश करता निषिद्ध है।

जिसमें बहुत जनोंका प्रचार नहीं है, जो प्राणिरहित है अपवित्रता और परोपरोचरहित-अर्थात् दूसरोंका जहाँ प्रतिबंध नहीं है ऐसे घरमें जाने आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोंनि प्रार्थना करनेपर खंडे होना चाहिये, समान, छिद्ररहित ऐसे जमीनपर अपने दोन पावोंमें चार अंगुल अंतर रहेगा इस तरह निश्चल खंडे रहना चाहिये। भौत, खौब वगैरहका आश्रय न लेकर स्थिर खंडे रहना चाहिये।

चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किनाह, तट बगैरहका अवलोकन न करे, दाताका आनेका रस्ता उगना खेद रहनेका स्थान, पत्नी और बिसमें अब रस्ता है ऐसे पात्र इनकी शुद्धताके तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिये।

जो अपने मालरुको स्तनपान करा रही है और जो गर्भिणी है ऐसी स्त्रियोंका दिया हुआ आहार न लेना चाहिये। रोमी, अतिशयष्टुड, पालरु, उन्मत्त, अन्न, भययुक्त, शंकायुक्त, अतिशय नजदीक जो खड़ा हुआ है, जो दूर खड़ा हुआ है, ऐसे पुरुषमें आहार नहीं लेना चाहिये। लज्जासे बिसने अपना धुंध फेर लिया है, जिसने अपना मुख ढक लिया है, जिसने जोड़ा अथवा चप्पलपर पांव रखा है, जो उंचे जगहपर खड़ा हुआ है, ऐसे मनुष्यका दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिये। दूटो हुई अथवा संशयुक्त हुई ऐसे पत्नीके द्वारा दिया हुआ नहीं लेना चाहिये।

मांस, मद्य, मषलन, नदी विदरा हुआ फल, फूल, पत्र, अंजुर और फदका त्याग करना चाहिये। इन पदार्थोंका स्पर्श बिसको हुआ है वह अब भी त्यागना चाहिये। जिनका रूप, रस, गंध, स्पर्श, बलित हुआ है, जो सुधित हुआ है अर्थात् खराब हुआ है, जिसको जंतुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिये, न खाना चाहिये और उसको स्पर्श भी नहीं करना चाहिये। उद्गम, उत्पादन, एषणा दोषोंसे दूषित आहार नहीं खाना चाहिये। नरु कोटीसे परिशुद्ध आहार ग्रहण करना एषणासमिति है।

जो चीज जहां रखना हो, और जो चीज जहासे उठाना हो ये दोनों पिछीसे स्वच्छ करना योग्य है या नहीं है। इसका विचार कर नंतर उनको स्वच्छ करना चाहिये और वह चीज रखनी चाहिये या उठानी चाहिये इसको आदाननिर्धरण समिति कहते हैं। ईयासमितिका और मनोगुप्तिका वर्णन पूर्वमें किया है अश्विऋक्षप्रकाशमें देवतार भोजन करना अर्थात् सर्व प्रकाशमें भोजन करना ऐसी अहिंसान्वयी पांच भावनायें हैं।

द्वितीयमतभाषना उच्यते—

कोपभयलोभहरसपदिष्णा अपुवीचिभासणं चेव ।

विदियस्त भावणाओ वदस्त पंचेव ता ह्येति ॥ १२०७ ॥

हास्यजोअभयकोषप्रत्याख्यानानि योगिनः ॥

सूत्रानुसारिवाक्यं च द्वितीये पंच भावनाः ॥ १२४६ ॥

निजयोदय—जो प्रथम जो भूतस्थानों प्रत्याख्यानानि बतल्यः । अणुवीचिभाषणं चैव सूत्रानुसारेण च भाषणं । सतया, दृष्टा, मत्पश्यन्, अभ्यवयुगा चेति यत्नतो वाच्यः । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरवृत्त्यं । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणानां प्रत्यावधाने असत्तापरिहृता यत्रानि नान्यथा ॥

अद्वैतविरतिभाषणः पंच भूषयति—

मूलाष्ट—पदिष्या त्यागः । क्रोधादीनां प्रत्याख्याने एवावस्थासत्यानुवचसौ त्यक्तुं शक्येते तेषां सत्कारणत्वा-
मिति वदन्तिकाश्चतस्रो भावनाः भविष्याः ।

दूरे प्रतकी सत्यप्रतकी भावना कइते हैं—

अर्थ—क्रोध, भय, हास्य और लोभ का त्याग करना ये चार भावनाये और सूत्रानुसार भाषण करना निम्नी मत्प्रतकी पांच भागनाये हैं सत्यवचन, असत्यवचन, सत्यमृषा और असत्यमृषा ऐसे वचनके चार प्रकार निम्नरूपसे सत्यवचन और अवत्यवचन ऐसे दो वचन व्यवहार योग्य माने हैं. वाक्योके दो व्यवहार योग्य नहीं हैं. भय, लोभ और हास्य असत्यभाषणके कारण हैं. उनका त्याग करनेसे असत्यवचनोका परिहार होता है. रहा हो नहीं.

दृष्टीप्रसन्नभाषण उच्यते—

अणुपुण्यादगाहणं अमंगबुद्धी अणुण्यविचा वि ॥

पुदावंगियउगाहजायणमथ उग्गहाणुत्स ॥ १२०८ ॥

असम्भ्रताग्रहः साधोः सम्भ्रतासक्तवृद्धिता ॥

दीयमानस्य योगस्य गृहीतिरूपकारिणः ॥ १२४७ ॥

चित्रशोक्ता—अणुपुण्यादगाहणं तस्य सामिभित्तनुव्रतस्य अग्रहणं । शानोपकरणसे: अमंगबुद्धी अणुण्य भूवरादुगाहं तेषां गृहीतेर्प्रति अमक्तवृद्धिता । वृद्धांगस्य उग्गहाणं एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्यमिति । परिग्रहः यावदाचित्तो यत्नवन्मपि इति न बुद्धिः कार्यो । उग्गहाणुत्स यत्नवन्मत्तुङ्गामस्य इदं शानलेयमयो-

मृदाया—यज्जणनणुण्णादिगिण्णोरेस्स यज्जनननुसातगृहप्रवेदास्य । गृहस्वामिभिदिदं गृहं प्रविशात्र तिष्ठ इत्येवमनुमानगृहप्रवेदास्य गृहप्रविश्यात्र तिष्ठत्येवमनुमानाते प्रवेक्ष्ये प्रवेक्ष्य वर्जनं । क्व तद्विलाह नोयरा-
रीनु मीपरे अमेवं धम्मस्यपणवधाननयनादिकर्मणि च । सेषा चतुर्थी । उगाहजायणमणुवीरिए अयमहवाचनमनुधीच्या ।
मभीर्नं पत्तेवं भवद्दिग्गं दातव्यमिति मन्त्रानुसारेण योग्यस्य परिग्रहस्य प्रार्थना । फलेनैतदपि संगृहीतं श्रुत्यागारविमोचिता-
यात्पत्तरीरोपास्तरपथेअनुद्धिसपमाविमवादाः एवेति सेषा पंचमी । तथा तथा पचैत्यर्थः ॥

अर्थ—गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाई की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यत्की
निर्दिष्ट है. अर्थात् हम घरके श्रेष्ठगमें आप प्रवेश का सकते हैं इस रीतीसे यदि परवानगी न हो तो वहां प्रवेश
करना अनुचित होगा. आगममें अविकट ज्ञानसंयमोपकरणकी याचना करनी चाहिये. इसप्रकार अर्चोपम्रतकी
भायनायें हैं.

महिदालोयणपुब्बरदिसरणं संसत्तवसहिक्कहाहिं ॥

पणिदरसेहिं य विवदी भावणा पंच वंभस्स ॥ १२१० ॥

महिदालोकमालायौ चिरंतनरतस्छुतौ ॥

पासं संसरत्तवस्तूनां वलिछादहारसेवमम् ॥ १२४९ ॥

योगिनो मुच्यमानस्य विरागीयुतेचतसः ॥

तुरीये भावनाः पंच संपद्यन्ते महाव्रते ॥ १२१० ॥

विजयोदया—महिदालोकोन्यपुब्बरदिसरणमंसत्तवमदिविकहाहिं । स्त्रीणामालोकं, पुंवरितस्तरणं, स्त्रीभि-
राहृत्या या यमनिः शृंगारकथा इत्यंगद्वितयः । पणिदरसेहिं य विवदी कलदपंकरेभ्यो विरतिव्येति पंच यतभावनाः ॥

प्रप्रचयेभावनाः पंचाह—

मृदाया—पुत्तरदिनरत्न प्राप्तेचित्तमोचुरमरणं । संसत्तवसपि स्त्रीमिराहृत्य वसनिः । अमंयत्तजनयुकवसति-
रिगम्यः । विडया शृंगारकथा । पणिदरसेहिं कलदपंकरेभ्यो रसेभ्यः ।

अर्थ—चित्रोक्तं अंग दंतना, पणानुभूत समीगादिकथा स्मरण करना, स्त्रियां जहां रहती है वहां रहना

शृंगाररूपा करना इन धार वागोंसे निरुक्त रहना ये चार ब्रह्मवैतकी भावनायें हैं विससे मल और
 जाता अर्थात् सामयिकर होगा ऐसे पदार्थोंका त्याग करना चाहिये ये ब्रह्मचर्य की पाँच माननायें हैं.

अपडिग्गहारस मुणिणो सदक्खित्सरसयस्खजंगेसु ॥

रागदोसादीनं परिहारो भावणा हुंति ॥ १२११ ॥

यत्तेः स्पर्थे रस्ते गंधे वर्णे शब्दे शुभाशुभे ॥

रागद्वेषपरित्यागो भावना पंच पचमे ॥ १२५१ ॥

विजयोदया—अपरिगृहस्त मुर्णणो गरिग्रहरहितस्य मुने । सदक्खित्सरसयस्खजंगेसु राक्षस्पर्शरस्वरूपगणेषु ।
 मनोभेदु । रागदोसादीनं रागद्वेषयो परिहारो विषयभेदात्पञ्चकारमायना पञ्चमस्य ॥

मनोभेदरूपचंद्रियार्थपरिहारभेदात्पंचपरिग्रहव्यवभावनाः प्राह—

मूलाग—अपरिगृहस नैर्मन्यस्य । दोसादीनं आविर्भावित मोहत्वादि ग्रहणं ॥

अर्थ—परिग्रहरहित सुनि मनोवृत्ति और अमनोज एसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इनमें राग द्वेष
 करते हैं. अर्थात् स्पर्शदि पांच दृष्टान्ति विषयोंमें रागद्वेष नहीं करना ये पाँच परिसहत्यापन्नत की पाँच माननायें हैं.

भावनामाहात्म्य वचनानि—

ण करेदि भावणामाविदो सु पीडं ववाण सत्त्वोत्तं ॥

साधू षामुत्तो समुद्दो व किमिदाणि वेदतो ॥ १२१२ ॥

भावना धान्यवृत्तेना संपत्तो उत्तपीडनम् ॥

विदयति न सुप्तोऽपि जागरूकः स्वयं पुनः ॥ १०५२ ॥

विषयोदया—य केचिद्दु न करोत्वेव । क ? भावणामाविदो भावनास्मिन्निवित । पीड पीडा । ववाण यत्तानां ।
 सत्त्वोत्तं सर्वथा । साधू स्वधु । षामुत्तो प्रपंचेन निद्रामुपगत । समुद्दो य समुदात्त गतो या । किमिदाणि वेदतो ।
 नेतयमान ॥

भावनामाहृत्यमाह—

मन्त्रारा—शीटं पीठं । विराजतां । पाशुको निर्भरनिद्राकृतः । समुद्रो मूर्छितः । वेदो वेतवमानः ।
अर्थ—इन व्रतोंकी भावनाओंका अभ्यास करनेसे यदि इन भावनाओंसे संस्कृत होता है. तब वह ग्राह
सोता हुआ नी अथवा मूर्च्छित हुआ भी अपने व्रतोंको अतिचार युक्त नहीं करता है. वो जागृत अर्थात् साव-
धान रहनेवाला यह मुनि अपने व्रतोंको कैसे दूषित होने देगा ? अर्थात् दिनरात व्रतोंकी भावनाओंका अभ्यास कर-
नेसे उसके मृत होनेका निरतीचार रहकर उषोपर उद्यतावस्था की प्राप्ति कर लेवे है.

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमचो ते ॥

अच्छिद्वाणि असंङ्गाणि ते भविसंति हु वदाणि ॥ १२१३ ॥

त्वमतः समितीः पंच भावयस्वैकमानसः ॥

महाव्रतान्यसंङ्गानि निश्चिद्वाणि भवन्ति ते ॥ १२५३ ॥

भावनाः समितिगुह्यो यतेर्वचयन्ति फलदं महाव्रतम् ॥

शर्मकारि इजसां निरासकाधारस्यमिव कालवृष्टयः ॥ १२५४ ॥

इति महाव्रतवृष्टिः ।

विजयोद्या—एदाहिं पताभिः । भावणादि भावनाभिः । तम्हा तस्मात् । भावेहिं भावय । अप्पमचो ते
अप्रमत्तस्य । अच्छिद्वाणि अक्षिद्वाणि । भैरतयेण प्रवृत्तानि । अक्षिद्वाणि संपूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥

एवं प्रकाशितस्वरूपमाहृत्यमासु भावनासु संन्यासिनं प्रयुक्ते—

मन्त्रारा—भावेहिं संस्कर त्वगतानि । अच्छिद्वाणि भैरतयेण प्रवृत्तानि । निर्दोषाणि वा । असंङ्गाणि संपूर्णानि ।
ते तव । तत्ताट्यभावनानिष्ठस्य ॥

अर्थ—इस वास्ते हे क्षपक ! तुम अप्रमत्त अर्थात् निर्दोष आचरणयुक्त होकर इन भावनाओंका अभ्यास
करो. तुम जब भावनामय होगे तब तुमारे संपूर्ण तब निर्गुण टिक सकेंगे और पूर्णवस्थाको प्राप्त कर लेंगे. अतः
हे क्षपक ! तुम अपनेको भावनाओंसे सुसंस्कृत बनाओ.

प्रतपरिणामोपपातमिति तानि शस्यानि तत्तत्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

निसंख्यस्तेषु पुणो महत्त्वदाहं हवंति सत्त्वाहं ॥

वदमुपहृम्मदि तीर्हि दु निदानमिच्छच्चमार्याहं ॥ १२१४ ॥

महावतानि जायन्ते निःशस्यस्य तपस्विनः ॥

निदानवंचनमिध्यादक्षनैर्हन्यते व्रतम् ॥ १२५५ ॥

विजयोदया—निससङ्गरहेष शस्यरहितस्यैव ऽवृणाति दिनस्मृति शस्यं । शरकंडकादि शरीरादिद्रोहाणि तेन नुन्यं यज्जाणितो याधानिमित्तं, अंतर्निविष्टं परिणामजातं तच्छस्यमिह गृहीतं । महत्त्वदाहं महावतानि भवंति । शस्यं कस्यचिदेव प्रतस्योपपातकं, यथा मयणासमिध्याभावो अहिंसाव्रतस्येत्यादौकां निरस्यति सर्वशस्यो । ननु क महत्त्वेन व्रत-मपेक्षार्थं । मिध्यात्पादिशस्यं अणुनतारयपि हृग्मेव । सारं प्रस्तुतारयमहाव्रतमागमित्यमुक्तं । अत्र लोपं—हिंसादिभ्यो पिरितपरिणाममात्राणि प्रतामि । शस्ये मिध्यात्पादिके सति किं न भवंति ? केनैवमुच्यते निःशस्यस्यैव महाव्रतानि भवंति ? एतत्तत्तिथिपातायाह—अदमुपहृम्मदि व्रतमुपहृन्त्ये । तीर्हि दु तिरुमिः । निदानमिच्छच्चमार्याहं निदानमिध्या-त्वमात्राणि । भ्रष्टाव्रतारयात्तमायातामस्य पूर्वमिपातं इति चेन्न-मिध्यात्वं व्रतविपातं प्रकल्पेण करोसीति प्रधानं ततो मिध्यात्वं माया अस्ति श्रिये ऽहे मिध्यात्वं तद्वदस्य पूर्वमिपातः पश्चात्निदानसाधेन व्रतः । तस्यात्याव्रतारयत्पूर्वमिपातः । तस्यैवैवपरिमिह मोक्षमार्गस्त्वेन प्रस्तुतं, तस्य नासतोः सम्यग्दर्शनदानवोर्भवति । सति मिध्यात्वे पितोचिनि न ते साः । समीचीनज्ञानस्यैवोच्चारिभ्रष्टाव्रतारयत्तत्त्वामुक्तेः । अतं व्रतानार्थिकायाः यत्र चित्तप्रणिधानं इवमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनादिभ्रष्टारया प्रतोपयालकारि ॥ ननवा स्वातिचारिनिगूढतलक्षणा माया च व्रतमुपहृन्त्येति मन्वते ॥

प्रतानि रिरश्रिपुणा सुसुशुणा प्रतोपयावनिमिषावनिविष्टपरिणामलक्षणानि शीण्यन्ति शस्यानि वचयामितीति मिश्रार्थमाह—

मूला—मन्वाहं यथा क्षणायामित्यमायः अहिंसानतरेवं शस्यं कस्यचिदेव प्रतस्योपहृन्त्य भवित्यदीत्यासंका-निरामार्थमिदं, अणुव्रतमरणार्थं वा । वदं स्वनिमित्ताज्जातं महदणुव्रतं । तीर्हि दु तिरुमिरपि । तथाहि—सम्यक्चारित्रिमिह-नोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं तच्च सम्यग्दर्शनज्ञानयोः सतोरेव यावान् । तच्च स्वनिरोधिनि मिश्रत्वात्वे सति न स्यादिति मिश्रत्वात्वेन प्रतमुपहृन्त्ये । यथा रत्नत्रयानुसृष्टेर्नतत्वादेर्वैज्यत्र इदमेतस्मान्मे भूयादिति चित्तप्रणिधानं निदानमिप्यते । तच्च सम्यग्दर्शनमविपरतन्मूळं प्रतमुपहृन्त्येव । तथा मायात्र मनसा स्वातिचारिनिगूढतलक्षणा गूढतेऽतः सापे व्रतोपयाति-नीति मन्वते ॥

ग्रन्थ ब्रतपरिणामोंको घातते हैं अतः उनका त्याग करना चाहिये ऐसा शपथको कहते हैं—
अर्थ—शुल्करहित ब्रतोंके संपूर्ण महाव्रतोंका संरक्षण होता है। परंतु बिन्दुने शल्योंको आश्रय दिया है उनके ब्रत मर्यादा, मिथ्यात्व और निन्दन इनसे नष्ट होते हैं—

विशेषार्थ—जो प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर उसका घात करता है उसको शल्य कहते हैं। अर्थात् नाण, खंडक, रंगरह गुरीरादिकने प्रवेश कर उसको पीड़ित करते हैं इसलिये उनको शल्य कहते हैं वैसे प्राणिकों दुःख देनेमें कारणीभूत ऐसे अंतरंग परित्यागोंको वे भी नाणादिकके समान दुःख देनेवाले होनेसे शल्य कहते हैं

शुद्ध—एषणासमितीका अभाव होनेसे संपूर्ण ब्रतोंका नाश नहीं होता है परंतु फलक अहिंसाव्रत का ही घात होता है वैसे इन शल्योंसे सर्व ब्रतोंका घात नहीं होता है—

उत्तर—नायामें 'सर्व' शब्द है इससे सर्व ब्रतोंका नाश होता है ऐसा सूचित होता है।

शुद्धा—शल्योंमें महाव्रतके समान अशुद्धों का भी नाश होता है परंतु ग्रंथकारने महाव्रतोंका नाश होता है ऐसा क्यों कहा है।

उत्तर—अशुद्धोंका और महाव्रतोंका शल्योत्पत्ति मात्र होता है परंतु यहाँ महाव्रतोंका विवेचन करना ग्रंथकारको अभीष्ट है अतः 'महाव्रतोंका शल्य घात करते हैं ऐसा ग्रंथकारने कहा है।

शुद्धा—हिमादिक शपथसे निरक्त होना यह ब्रतोंका लक्षण है तो मिथ्यात्वादिक शल्य जीवमें रहने पर भी ब्रत अर्थात् निरक्तिपरिणाम रह सकते हैं। अतः शुल्करहित पुरुषकेही महाव्रत होते हैं ऐसा कहना योग्य नहीं है।

उत्तर—ब्रतोंका शल्यमे घात होता है। वे शल्य तीन प्रकारके माया मिथ्यात्व और निन्दन ऐसे हैं। यहाँ सम्यग्चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। परंतु बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके चरित्रको मोक्षप्राप्ति आती नहीं है। मिथ्यात्वपरिणाम आत्मामें रहनेसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होते ही नहीं। क्योंकि मिथ्यात्व इनका निरोधी है। वह इनको उत्पन्न होने नहीं देता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र इनको रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रयको पूर्णताको मोक्ष कहते हैं। अनंतज्ञानादिक अनंतचतुष्टयकी प्राप्ति करनेमें चित्तको न लगाना अन्यथात्तोंमें अपने मनको एकाग्र करना जैसे इस उपमे मेरेको इंद्रादि षट्दर्शकी प्राप्ति होनी चाहिये ऐसी अभिलाषा करना निन्दन शल्य है। वह शल्य सम्यग्दर्शन का नाश करता है और परंपरया ब्रतोंका भी घात करता है। मनुके द्वारा

अतिचार छिपानेका भाव रहना मायाश्रित्य है, अर्थात् ये तीन श्रुत्य श्रवोक्ता—चारित्र्यविणामका घात करते हैं ऐसा मित्र हुआ।

तत्त्वं निदानं त्रिविधं होइ पसत्थापसत्थभोगकन्दं ॥

तिविधं पि तं निदानं परिपंथो सिद्धिमगास्त ॥ १२१५ ॥

निपेदु सिद्धित्वाभस्य विभवस्येककत्तमपम् ॥

निदानं त्रिविधं शस्त्रभशस्ते भोगकारणम् ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—तस्य तेषु शस्त्रेषु निदानं विद्वानाख्यं श्रुत्यं । त्रिविधं त्रिविधं । होदि भवति । पसत्थमप्यसत्थ-
भोगकन्दं प्रशस्तनिदानमशस्तनिदानं, भोगानिदानं चेति । त्रिविधं पि त्रिविधानं विप्रकारमपि निदानं परिपंथो विप्रः ।
सिद्धिमगास्त रक्तमपस्त ।

निदानस्य त्रैविध्यं रत्नत्रयमतिवैयर्थ्यं चाविपत्ते-

मूढारा—भोगकर्तृ भोगा इष्टेन्द्रियाद्याः । एता येन तद्भोगकृतं । भोगकारणमित्यर्थः । त्रिविधं विप्रः ॥

अर्थ—मीनश्रुत्योर्ममे निदान नामक श्रुत्यकं तीन भेद हैं, प्रशस्त निदान, अशस्तनिदान और भोगकृत
निदान ये तीनों भी निदान रत्नत्रयके विरोधी हैं।

प्रशस्तनिदानमिच्छन्नायोरुपगमा—

संजमहेदुं पुरिसत्तमच्चयलविरियसंघदणवुद्धी ॥

सावययंधुकुलादीणि निदानं होदि हु पसत्थं ॥ १२१६ ॥

नृत्तं सत्त्वं चलं वीर्यं संहतिं पावनं कुलं ॥

इत्ताप याचमानस्य निदानं शस्तमुच्यते ॥ १२१७ ॥

विजयोदया—संजमहेदुं संयममिति चेत् पुरिसत्तमच्चयलविरियसंघदणवुद्धी पुरुषत्वमुपसाह, चलं शरीरगतं
संयमसाधनानि मम स्फुरिति चित्तमणिधानं प्रशस्तनिदानं सावययंधुकुलादिनिदानं अद्विजकुलं, वंधुकुले वा उत्पत्ति
प्राप्त्या प्रशस्तनिदानं ॥

प्रशस्तनिदानं यच्छि—

मूलात्—सत्त उत्साहः । यत्तं देहाद्यर्थं । सावयवकुलं हि अद्विष्टकुलं, वंघुकुलं, सुवत्स्यादिकं च । मुक्तवादीनि, संयमार्थनिष्ठतः प्रशस्तनिदानं स्यादिति सर्वथाः ।

अर्थ—पुरुषस्य अर्थात् उत्साहः, आर्त्तारिक्चल, वीर्यतरावकर्मका ध्योपश्रम होनेसे उत्पन्न होनेवाला दृढ परिणाम, अस्थिवंधन अर्थात् वज्रवृषभनाराचादिकसंहनन, ये सब संयममाधक सामग्री मेरेको प्राप्त हो ऐसी मनकी एकग्रता होती है उसको प्रशस्तनिदान कहते हैं, धनिककुलमें, वंघुओंके कुलमें उत्पन्न होनेका निदान करना प्रशस्त निदान है-

अप्रशस्तनिदानमाद्ये—

माणेण जाइकुलरुजमावि आइरियिगणधरजिणसं ॥

सोमग्गणादेयं पथंती अप्पसत्थं तु ॥ १२१७ ॥

अईङ्गणधराचार्यमुभगांदयतादिकं ॥

प्रोक्तं प्रार्थयते शस्तं मानेन भयवर्धकम् ॥ १२१८ ॥

शिययोदरा—माणेण मानेन हेतुना जाइकुलरुजमादि जालिमोवंधः, कुलं पितृवंशः, जातिकुलरूपमात्रस्य कुलभत्वात्प्रशस्तमादिपरिग्रहः । इह आरियिगणधरजिणत आचार्यत्वे, गणधरात्वे, जिनत्वे, सोमग्गणादेजं सौ-
भार्थ, भागी, आदेयत्वं च । पेच्छंतो प्रार्थयतः । अप्रशस्तामेव निदानं मानरूपयदुक्तिर्यात् ॥

अप्रशस्तनिदानमाद्ये—

मूलात्—माणेण अभिमानयेन । जाइकुलरुजमाद्य प्रशस्तं मातापितृकुलं । सौख्यं दीपं वायुरिह प्राप्यं । वग्गमा-
प्रस्य मुलभत्वात् । सोमग्गणादेजं सौभाग्यमात्रमादेयवक्तव्यतां वा । पेच्छंतो प्रार्थयतः । अप्पसत्थं मानरूपयदुक्तिर्यात् ॥

अर्थ—अभिमानके वश होकर उत्तम मातृवंश, उच्च पितृवंश, अर्थात् प्रशस्त जाति और प्रशस्त कुल, रूप इसकी अभिलाषा करना, आचार्यपदवी, गणधरा पद, वीर्यकषपद, सौभाग्य, आज्ञा और सुंदरपना इनकी प्रार्थना करना यह सब अप्रशस्त निदान है, क्योंकि कि मानरूपपसे दुषित होकर उपर्युक्त अवस्थाको अभिलाषा की जाती है-

कुब्जो नि अण्यसत्थं मरणे पच्छेद्द परवधादीयं ॥

जह् उग्गसेणघादे कदं णिदाणं वसिष्ठेण ॥ १२१८ ॥

अमरास्तं याचते कुब्जो मरणेऽन्यवचं कुब्धीः ॥

अयाचतोऽयमेनस्य वसिष्ठो हननं यथा ॥ १२१९ ॥

विजयोदया—कुब्जो हि षट्ठोऽसि । अण्यसत्थं परवधादिकं । मरणे मरणकाले । पच्छेदि प्रार्थयते । अथा यथा उग्गसेणघादे उग्रसेनमरणे । कदं विधानं वसिष्ठेण वसिष्ठेन यतिना ॥

क्रोधायपि तदप्रसारं द्यादित्याह—

मूढारा—वसिष्ठेण यस्मिन् यतिना ॥

अर्थ—कुब्ज होकर मरणसमयमें शुद्धवधादिककी इच्छा करना यह भी अप्रशस्त निन्दन है. वसिष्ठ नामक पुनीने उग्रसेन राजाका वध करनेका निदान किया था विससे यह मरकर उग्रसेन राजाका कंस नामक पुत्र हुआ था. अपने पिताको फाराभारमें बंद कर यह राजपुत्र आरुह हुआ. (आराधना कथाकोषमें इसकी कथा है.

भोगमिदमनिरूपणा—

वैविगमाणुसभोगो णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहत्तं ॥

केसवच्चक्रधत्तं पच्छंतो होवि भोगकदं ॥ १२१९ ॥

स्वर्गभोगिनरनायकामिनीः श्रेष्ठिचक्रिचलसार्थवाहिनां ॥

भोगमूर्तिमधियो निदानकं कांक्षतो भवति भोगकारणम् ॥ १२२० ॥

यिजयोदया—वैविगमाणुसभोग देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगात् । पच्छंतो अभिलषन्ति भोगकदं भोगकृतं निदानं । णारिस्सरसिद्धिसत्थवाहत्तं नारीत्वं, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । केसवच्चक्रधत्तं चासुखेयत्वं सकलचक्र धर्तव्यं च यांछति भोगार्थं । भोगमिदमनिरूपणा—

भोगनिदानमाह—

मूढारा—नारीस्सर नारीत्वभीषरत्वं च । पच्छंतो वांछन्ति सति । देवमर्त्यभोगान्भोगावमेव च स्वीच्यतीति ॥

अर्थ—देवोंमें और मनुष्योंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना यह शोथल्ल निदान है, स्त्रीपना, पतिकपना, भ्रष्टिपद, तार्थवाशपना अर्थात् सब व्यापारिजोंका स्वामित्व, केवपद-नारायणपदवी, सकलचक्र-वर्तीपना इनकी भोगोंके लिये अभिलाषा करना यह भोगनिदान है.

संजमसिद्धारल्लो घोरतवपरकमो तिगुत्तो वि ॥

पगरिज्ज जइ गिदाणं सोवि य वड्ढेइ वीहसंसारं ॥ १२२० ॥

घृद्धसंघमतपःपराक्रमः शुद्धयुसिकरणोऽपि ना ततः ॥

माति जन्मजलार्थि सुवुत्तरं कापरस्य गणना कुचेत्तसः ॥ १२६१ ॥

वित्तपरेषण—संजमसिद्धारल्लो संघमः शिखरमिव दुरारोहत्याश्चलत्वाद्वा । पण्डुलं भवति । मरुएलं-यमोऽपि । घोरतवपरकमो मोरे तपस्ति पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्धतपोऽनुग्राह्यपि । तिगुत्तो वि गृहसिञ्चयसमन्वि-तोऽपि । पगरिज्ज जइ गिदाणं यदि कुर्यात् । वड्ढेइ वधंयति संसारमात्मनः । किमपरस्मिन्निदावकारिणि वाच्यम् ॥

त्रिनेन्द्रप्रत्यक्षापि निदानकरणे संसारदीर्घकारणमाह—

मूलात्—संजमसिद्धारल्लो संघमः शिखरमिव दुरारोहत्वाश्चलत्वाद्वा । तवारल्लः संययकाक्षानिष्ठ इत्यर्थः ।

घोरतवपरकमनो दुर्गते तपस्तुत्साहो यस्यासौ ॥

अर्थ—जैसे पर्वतका शिखर निचल और चढकर ऊपर जानेके लिये कठिन है वैसे उत्कृष्ट संघम भी धारण करना कठिन है. ऐसा उत्कृष्ट संघम किसने प्राप्त किया है, घोर तपमें जो उत्साहयुक्त है अर्थात् जो दुर्धर तपधारण करनेमें तत्पर रहता है. जो तीन युगियोंका धारक है ऐसा भी धृनि निदान करेगा तो वह भी संसारको चढरेगा अर्थात् उसको भी संसारमें दीर्घकाल तक ग्रसण करना पड़ेगा. तो अन्य निदान करनेवाले छुद्र मनुष्यको संसार में घुमना पड़ेगाही.

जो अण्णसुखहेट्ठं कुणइ गिदाणमविगणियपरमसुहं ॥

सो कागणीए विज्जेद मणिं बहुकोटिसयमोछं ॥ १२२१ ॥

निदानं योऽल्पसौरुषाय विद्यते सौख्यनिस्पृहः ॥

काकिण्या स मणिं दत्ते यांके कल्याणकारणम् ॥ १२६२ ॥

गिरयोषया—जो अल्पदुःखहेतु योऽल्पसुखनिमित्तं निदानं करोति परमे सुखिछले अनवरं कृत्या । स का-
कण्या विच्छीर्णति मणिं यशुकोटिततप्तमौल्यम् ॥

संसारदुःखाय निदानयत्नं निवेदि —

मूलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्कृष्ट मोक्षके सुखमें अनादर करके अल्प सुखके लिए निदान करता है वह अनेक
कोटि रूपयोंकी कीमतवाला मणि कोही मिलने की इच्छासे बेचता है ऐसा समझ लेना चाहिए.

सो भिदइ लोहत्थं णावं भिदइ मणिं च सुत्तयं ॥

छारकदे गोसीरं उहदि णिदाणं सु जो कुणदि ॥ १२२२ ॥

स त्प्राय मणिं भिन्ने नावं लोहाय भस्मने ॥

कुशीरद्वति गोशीरं निदानं विदधाति यः ॥ १२६३ ॥

चित्रयोषया—सो भिदइ स निनासे कीललोहाय नावं भनेकयस्तुभूता । भित्ति छनं च सुभायं । गोशीरं
चंदनं क्वदति प्रसारं यो निदानं करोति स्वर्णम् । सारयिनाशसाधर्म्यं विदमाद्ये—सुपकारोपरि कथा यो निदान-
कारी, तेन भीषधृतिरं विनाशितं । अर्थात्प्रायमणिं यच्छति ॥

मूलात्—गोशीरं धरचंदन । अत्र स्वरविनाशसाधर्म्यविदेशो वेद्यः ।

अर्थ—जो मनुष्य निदान करता है वह मनुष्य लोहके कीलके लिए मौलाका भंदन करता है, गोशीरके
लिए रत्नहारको तोड़ता है, भस्मके लिए गोशीर चंदनको चलाता है ऐसा समझना चाहिए. अर्थात् तुच्छ संसार
गुलती प्राप्ति के लिए निदान करना अबोध है. उत्कृष्ट संयमका उससे नाश होता है. रसोदयाकी कथामें उपर्युक्त
वाग्वीरा उद्धृत है.

कोही संतो लद्धूण उहइ उच्छं रसायणं एसो ॥

सो सामणं णासंइ भोगहेतुं णिदाणेण ॥ १२२३ ॥

आमर्ष्यं नाश्रयते तेन भोगाय सिद्धिसाधकम् ॥ १२१४ ॥
विजयोदया—कुभी सन् रसावनमूलमिच्छुं लब्ध्वा ददति ॥ समानतां नाशयति सर्वदुःखान्याधिविनाशो-
पतां भोगार्थनिदानेन ॥

मूला—कोडी सती कुडी सन् । रसावनं कुशविनाशनरसावनमूलं ॥

अर्थ—जैसे कोई कुशरोगी मनुष्य कुशरोगका नाशक रसावन तुल्य ईश को पाकर उसको जलाता है वैसे
निदान करनेवाला मनुष्य सर्वदुःखरूपी रोगका नाश करनेवाले संयमका भोगकृत निदानसे नाश करता है।

पुरिसत्तादिनिदानं पि मोक्षसकामा मुणी ण इच्छन्ति ॥

जे पुरिसचाहुमओ भावो भवमओ य संसारो ॥ १२१५ ॥

नरत्वाधिनिधानं च न कांक्षन्ति मुमुक्षवः ॥

नरत्वादिमये तस्मात्संसारस्तन्मयो यतः ॥ १२१५ ॥

विजयोदया—पुरिसत्तादिनिदानं पुरुषत्वादिनिदानमपि मोक्षामिच्छाविषो मुनयो न वाञ्छन्ति । यस्मात्पुरुष-
त्वाधिरूपे भवपर्यायः । अथामकञ्च संसारः भवपर्यायपरित्यक्तस्वरूपत्वात् ॥

प्रशस्तिर्वाभस्यापि मुमुक्षुणामकरणीयत्वमाह—

मूला—भावो वैदमइजण्योचः ।

अर्थ—पुरुषत्वं, बल, वीर्यं वगैरहंका निदान भी मुमुक्षु मुनि करते नहीं। क्योंकि पुरुषत्वादिपर्याय भी
भव ही है और भव संसाररूप है।

दुबुल्लखल्यकमक्खल्यसमाधिमरणं च बोधिलामो य ॥

एयं पत्थेयल्लं ण पच्छणीयं तओ अप्पणं ॥ १२१६ ॥

समाधिमरणं बोधितुः खल्वकर्मक्षयस्ततः ॥

प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः परं नातः कदाचन ॥ १२१६ ॥

विजयोदया—दुःखसमूहय दुःखानां शारीरानां, आंगतुक्तानां स्वाभाविकानां च दुःखो भवतु । तथा कर्मणां सत्कारणभूतानां स्तनधसंज्ञानुसारं ग्रहणं, दीक्षामिषुषो चोचितमस्य घटप्रारब्धेरीचं तावत् ॥
नर्दि प्रतापनुष्ठापिना किं प्रार्थयित्वाह—

महारा—तोषितान्यो रत्नत्रयशक्तिः । अत्र यथापूर्वं देवदेवमुपद्रवो भाव्यः ॥

अर्थ—मेरे शारीरिक दुःखोंका, आंगतुक्त-अकस्मात् उत्पन्न होनेवाले दुःखोंका, और स्वाभाविक दुःखोंका अन्यजगत्प्रमाणोंका नाश हो । तथा इन दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले असातवेदनीयादि कर्मोंका भी नाश हो । मेरेको समधिपत्यकी अर्थात् स्तनत्रयशक्ति पूर्वक मरणकी प्राप्ति हो । दीक्षाधारण करनेमें ग्रहच करने वाली स्तनत्रय प्राप्ति हो इन बातोंकी प्रार्थना करनी चाहिये । अन्य वस्तुकी प्रार्थना करना योग्य नहीं है ।

पुरिसचाक्षीणि पुणो संजमलमो य होइ परलोप ॥

आराधयस् गियमा तवत्यमकदे पिदाणे वि ॥ १२२६ ॥

नरस्यसंयमप्राप्ती परम भवतः स्वयम् ॥

निदानमंतरेणापि दृगाद्याराधनांऽग्निः ॥ १२६७ ॥

विजयोदया—पुरिसचाक्षीणि पुरुषसाक्षिकं, संयमलानाम् भविष्यति परजन्मनि कस्य ? कुतरत्नत्रयप्राप्तस्य निश्चयेन । तवर्चमकृतेऽपि निद्रामे ॥

आराधकस्य निदानं विनापि प्रेतपुरुषत्वादिसामयवश्यंभावि संभाव्यि—

मूलारा—अकदे अकृतेऽपि ॥

अर्थ—जिसने स्तनत्रयकी आराधना की है उसको निदान न करनेपरभी अन्यजन्ममें अर्थात् आगेके जन्ममें निधयसे पुरुषत्वादिककी और संयमकी प्राप्ति होती है ।

माणस भंजणत्थं चित्तेदब्बो सरिणिज्जेदो ॥

दोसा माणस्स तद्वा तेह्व संसारणिज्जेदो ॥ १२२७ ॥

भवशरीरनिर्वेदमानदोषविवर्चिनम् ॥

कर्तव्यं मानमंगाय संसारान्तं चियासता ॥ १२६८ ॥

विजयोदया—आणरस अंबावर्षे मानमंजनार्थं स्वात्म्य शरीरनिर्वेदः । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव संसार-
निर्वेदश्च स्वात्म्य इति क्षणक क्रियापकस्युरि शिष्ययति । शरीरस्य यशुचित्वादिस्वभावचित्तवतः । किमेतेन शरी-
रेणेति शरीरे अनादृः शरीरनिर्वेदः । स कथं मानस्य भंजने निमित्तं । स हि शरीरपुरुषमेवावहति । तत्रतिपक्षत्वात् ।
यदीच्यते मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो शुद्धिः । स च शरीरनिर्वेदेन मज्यते । मानस्य दोषा नीच
कुलेपूलचित्तोऽयमुणाक्षमः सर्वविद्वेषता, रत्नत्रयापलाभ इत्यादिकाः । संसारस्य द्रव्यश्रेत्रकालभावमपपरिवर्तन
रूपस्य परादमुजता संसारनिर्वेदः । तत्रोपयुक्तस्य अदंकारविमितानां विनाशात्, विनिधानां च शुषानां यदुनां क्षसकृत्य-
वृष्टिः जनेनप्रपिच्छवराचात् । इत्यस्येभ्यो युगेभ्योऽतिशयितानां गुणानामन्यैरुपलभ्यमात् ॥

अप्रस्तुतिदानागमानभंगोवाचानरूपकं शिक्षयति—

मूढारा—शरीरनिर्वेदो धीभक्तपूतिक्षयितापकत्वात्रानादरः । किमेतेन शरीरेणाशुख्यविस्वभावेत्यवमानन-
मित्यर्थः ॥ वदुपयुक्तो हि देहाभिसौकुल्येण क्रियमाणानाम्योक्तपक्षभावनां विनाशयतीति रूपाभिमानमंजनाय सद्भावानो-
पदेशः । दोसा दोषा अपकाराः । ते च नीचकुलेपूलचित्तनिर्मान्यगुणाप्रपि-
संसारनिर्वेदो इत्यश्रेत्रकालभावमपपरिवर्तनरूपस्य संसारस्य परादमुजता । वदुपयुक्तस्य यत्स्वर्वाकारणानां नियगुणा-
नामनेकप्रपिच्छवलेपलभ्यमात् । त्वप्राप्यमान्यगुणे-दोऽतिशयितानां ज्ञानतपप्रयुक्तगुणानां महापुरुषयोग्येण अस्त-
मपृष्टिर्दस्ताव नहुणाच्छेत्तो मानो नित्ययति ॥

अर्थ—मानका मर्दन करनेके लिये शरीरनिर्वेदका चिंतन करना चाहिये अर्थात् शरीरसे मन विरक्ति-
युक्त होगा ऐसा विचार करना चाहिये. तथा माननाशार्थं अभिमानके दोषोंका भी विचार जरूर करना योग्य है
ऐसा आचार्य क्षणकको उपदेश देते हैं. शरीरके अपवित्रत्वादि स्वभावोंका चिंतन करनेसे घेसे शरीरसे मेरा क्या
प्रयोजन सिद्ध होगा ऐसा समझकर आत्मा उससे विरक्त होता है-

प्रश्न—शरीरवैराग्य माननाशके लिए कैसे कारण होता है ? क्योंकि, वह मानसे उलटा है. वह तो
शरीरपर प्रीति उत्पन्न करनेके लिए कारण होगा ?

उत्तर—मान शब्द यद्यपि सामान्यका वाचक है परंतु यहां रूपाभिमानमें रूढ समझना चाहिए.
यह रूपाभिमान शरीरनिर्वेदसे त्राट होता है.

मानक दीप इस प्रकार है—मान जीवको नीच कुलमें उत्पन्न करता है. मानसे गुणों की प्राप्ति नहीं होती है. मानी पुरुषका सर्व जन द्वेष करते हैं. उसको रत्नजयादिक का लाल नहीं होता है. इत्यादिक दीप मान कृपायमें हैं.

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, मन्त्रपरिवर्तन ऐसे पांच परिवर्तन स्वरूप संसारसे पराङ्मुख होनेका विचार हमेशा करना चाहिए. इस विचारसे भी मानका घाव होता है. जब आत्मा संसारसे पराङ्मुख होता है तब अहंकारके साधनभूत कारणोंका नाश होता है. अनेक मधुसूनीय गुणोंकी प्राप्ति होती है. मेरे को जो ज्ञान तब बमोहर गुण प्राप्त हुए हैं वे अन्य पुरुषों को भी प्राप्त होते हैं अतः गर्व करना योग्य नहीं है ऐसा विचार करनेसे मानका नाश होता है.

कुलाभिमानोत्तरासोपायमन्त्र—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो नीचत्तणं पुण उवेइ ॥

जीवाणं खु कुलाइं पधियरस व विरसमंताणं ॥ १२१८ ॥

उचं भवे कुलं नीचो नीचमुच्चः प्रपद्यते ॥

कुलानि सन्ति जीवानां पाधानामिव विश्रमः ॥ १२१९ ॥

विवचोदया—णीचो वि होइ स्थानमनैश्वर्यविभित्तिरोगूतः । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि नीचत्तणं तेन्यन्तां । पुण उवेइ पुनः उपैति । उच्चो खलु । कुलाइं कुलानि । नीचमुच्चानां ? विरसमंताणं विरसमतां वदन्तां कुलानि कुलपद्वत्त्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य कः कुलगर्भः । पधियरसय पधिरस्य यथा विधमस्थानं व नियतमस्ति वददेवास्तेति भावः ॥

कुलाभिमाननिरासोपायमाह—

मूलारा—णीचो स्थानमानैश्वर्यविभित्तिरोगूतः । उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकः । कुलगर्भं गोत्राणि स्थानानि च । विरसमंताणं विश्राम्यतां स्थितिकुर्वतां कुलानि जीवानां संपद्यते । यथा पविकरय न विश्रामस्थानं नियतमस्ति तथा कुलं जीवस्येति भावः । अनियतकुलस्य कः कुलगर्भ इति माननिर्जकः । विरसमत्वाणमिति कवित्पाठः । उक्तं च—

उषं मये कुलं नीचो नीचसुखः प्रपद्यते ॥
कुलानि संति जीवनां पाथानां विभक्ताः ॥

कुलभित्तनका नाश करनेका उपाय कहते हैं—

अर्थ—स्थान, मान, ऐश्वर्यादि न होनेसे मनुष्य नीच कहलाता है. ऐसा नीच मनुष्य इनकी प्राप्ति होने पर लोकोंके द्वारा उच्च माना जाता है. जिसके स्थान, मान, ऐश्वर्यादिक बड़ गये हैं वह मानव कालान्तरसे इस मानके दोषसे हीनताको प्राप्त होता है. जैसे श्वास कनेवालडा मनुष्य एक जगहमें ही विश्रांति नहीं लेता है. भिक्षुभिरु स्थानोंका वह आश्रय लेता है वैसे यह जीव भी एक ही कुलमें नहीं रहता है. भिक्षु भिन्न कुलोंमें उसको जन्म लेना पड़ता है. कभी उच्च कुलमें यह जन्म घारण करता है कभी नीचकुलमें उत्पन्न होता है अतः कुलका गर्व करना योग्य नहीं है.

किं च गर्वो छातमगो धूर्ध्वं परस्य वा हार्ति दुःखो संक्षेपते तस्य शुकोऽङ्कणः न चास्य बुद्धिदानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व जीवासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवरस ॥

कट्टी वा हाणी वा सच्चत्थ वि तिचिओ चेव ॥ १२२९ ॥

हानिदुद्धी प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ॥

सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सप्रमानता ॥ १२७० ॥

विजयोदया— उच्चासु व जीवासु व यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पद्यति तद्योनिगोदोच्यते । न तत्स्य उच्चता नीचता वा ततः किमुच्यते उच्चासु व जीवासु व इति । अत्रोच्यते— योनिगोदं कुलमेवात्रोच्यते । तेनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते या उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य बुद्धिहीनता सर्वत्र तत्प्रमाण एव क्षान्तिगुणाविशयमेव उत्कृष्टता । निन्दितगुणः कुलीनोपि न पूज्यते उत्पन्नैः । अगम्येपि कुले संयुतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवासे ध्रुमतो हि संतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ॥

स एव नीचोत्तमगच्यजातः सकर्मवश्यः क्षयुपैति तास्ताः ॥

तृपश्च दासः श्रपन्त्यश्च विप्रो दरिद्रवंशश्च सगृह्यवंशः ॥

ओपाश्रितवर्गद्विदयचित्ता च संजायते कर्मवशात्स एव ॥

को याधिकारः सुकुलेषु नृणां का वा सिद्धिसान्यकुलप्रचलौ ॥
कार्योऽधिकारो ननु धर्मं एव कार्यो विद्विस्तापि च कुचक्रेषु ॥

किंच सर्वोऽपि दयारजनः स्वस्रोतस्त्वं परस्व चापकर्षं मन्वमानो गर्वमुपैति । न चारवात्तन उमनीचकुलप्रतिनिधिते
ब्रह्मरानी स्वस्त्योऽप्ययोग्यकुललेखंकार इति शिक्षयति—

मुत्तारा—जोभीसु कुलेषु । सरीरनिष्पादनस्यामानामुत्तरनीचत्वासंभवात् । अत्र योनिशुद्धेन कुलेमेवोच्यते ।
वतिषोकेषु अनेयत्तमदेसप्रचयात्मक एव । मान्यकुले प्रसूतो नेकेनापि भवेदेन वर्द्धते, नपि निमे आतो हीयत इति
भावः । ततो शानादिगुणादिसाधोमोदेय दृश्यते न कुलोच्चत्वयोगात्तत्कः कुलीनत्वगर्व इति गर्वस्वर्णोपायशिक्षणं ॥

गर्वं करनेसे आत्मकी बृद्धि होती है और न करनेसे उसकी हानि होती हो तो तब गर्व करना योग्य होगा।
परंतु आत्मा कम जाता होता हुआ नहीं दीलता है। इस विषयका विवेचन—

अर्थ—जहां आत्मा गृहपर छीर उत्पन्न करता है अर्थात् धारण करता है ऐसे आचारको योनि कहते हैं।
आधाररूप योनि उग्रभी नहीं है और नीच भी नहीं है। इसलिये 'उच्चासु व नीचासु व' ऐसा कहना अनुचित है।

उत्तर—योनिशुद्धका अर्थ उत्पत्तिस्थान ऐसा नहीं है। प्रस्तुत प्रकरणमें योनिशुद्धका ऐसा अर्थ
लेना चाहिये। इसलिये यहां ऐसा अर्थ समझना योग्य होगा—मान्यकुलमें अथवा निम्न कुलमें उत्पन्न होने पर भी
जीवकी बृद्धि या हानि नहीं होती है। सर्वत्र वह अमररूपा प्रदेगारमक ही रहता है। शानादिगुणोंके अतिशय से ही
उत्कृष्टता प्राप्त होती है। जिसके गुण निम्न है वह कुलीन होनेपरभी अन्य पुरुषोंके द्वारा नहीं पूजा जाता है। हीन
कुलमें उत्पन्न होने परभी यदि वह गुणी होगा तो पूजा जाता है।

अन्य ग्रंथमें इस विषयमें ऐसा कहा है—

“इम संसारमें प्रमण करनेवाले प्राणीका कोईभी कुल नित्य नहीं है। अपने किसी हुए कर्मके वश होकर यह
मंताही आत्मा नीच कुल, उच्च कुल और मध्य कुलमें जन्म लेता है। और नीच, उच्च, मध्यम अवस्थाको प्राप्त होता है।
इम संसारमें रात्वा भी दुर्दैवयोगसे दास होता है। श्वपच भी—मांसभजी अन्य जन्ममें ब्राह्मण बन जाता है। दरिद्री
वंश भी पनसंपन्न होता है। कर्मके वश होकर इस लीवकी बोर, जनि, संप्र इत्यादिकोंसे दुःख प्राप्त होता है।
मनुष्यमें उच्च कुलकी प्राप्ति होनेपर कर्म नहीं करना चाहिये और नीच कुलमें उत्पन्न हुए प्राणिओंकी उपपत्ता

नहीं करनी चाहिये. अर्थात् उनका विरस्कार करना योग्य नहीं है. मनुष्यको धर्ममें अधिकार करना योग्य है. अर्थात् धर्मचरण करना उसका कर्तव्य है और धर्मकार्यसे उसको पराङ्मुख होना योग्य है.”

कालमणंतं णीचगोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ॥

जोणीमिदससत्यागं ताओ वि गदा अतंजाओ ॥ १२३० ॥

सामं साममनंताअ नीचामुच्चं प्रपचनें ॥

तथाप्युक्त्वा अपि मात्ता अनंता योनयो भवे ॥ १२७? ॥

विजयोवया—कालमणंतं णीचगोदो होदूण अनंतकलं नीचैर्गोत्रं भूया । लभदि सगिमुचं ओणि । लभते सकुदुर्गोत्रं । कीदरी इवरसलागं इतरसलाकां । इतर नीचेर्गोत्रः । गदा अणंताओ अनंताः मात्ता एकेन जीवेन ॥

यथाप्यदमात्ता संसारे पवेदअनेवको धीचा योनीभूयो लब्ध्वा कथमप्यवरांतरोचं योनिमेकैक्यो लभते तथाप्यनंतनीचयोनिताभंतरात्त्वयर्थिन्य उवा योनयोऽप्यनंतर एयानेननादिकालेन लब्ध्वा इत्युपरिसृति—

मूलारा—भीषागोदो नीचैर्गोत्रः । तर्हि सकृत् । लब्धं ओणि लब्धैर्गोत्रं । इतरा नीचैर्गोत्रः । ललाका अंतरा न्तरवर्तिन्यो यस्य लब्धैर्गोत्रतां । ताओ वि ता अप्यनंतरालेऽंतराले लब्ध्वा अप्युर्ध्वयोनयो यदा प्राप्ताः । उक्तं य—

सामं साममनंताअ नीचामुच्चं प्रपचते ॥

तथाप्युवा अपि मात्ता अनंता योनयो भवेत् ॥

ततोऽस्य देवायचे मान्यकुटे प्रसूतस्य गदः । को या भिक्षो कुले जातस्य विपादः कर्तव्य इत्युपेक्षेव श्रेयसीति शिक्षासर्वसं ॥

अर्थ—यह जीव अनंतकालतक नीच गोश्रकर्मके उदगसे लब्ध कुलमें लब्ध होता है. इस जीविने अनंतवार नीच कुलमें जन्म लिया है.

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विब्भओ णाम ॥

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि किं दुक्खं ॥ १२३१ ॥

उच्यते बहुशः कोऽत्र लब्धा त्यक्तेऽस्ति विसयः ॥

नीचत्वे वास्ति किं दुःखं लब्धा त्यक्ते सहस्रशः ॥ १२७२ ॥

पिजयोदया—यत्र यदुसो चि यदुसोऽपि लब्धविजये लब्धपरित्यक्ते च । उच्यतेऽस्ति मान्यकुलप्रसूतये । को ज्ञान विषयो को ज्ञान विषयः । कदाचिदलब्धपदविषयिदानीमेव लब्धमिति भवेद्भवे । बहुसो चि यदुसोऽपि । लब्धविजये लब्धपरित्यक्ते । नीचत्वे चापि नीचिर्गोत्रप्रसूतये अपि । किं दुःखं किमिदं दुःखं ॥

एतदेवाह—

मूलारा—लब्धविजये ज्ञाने परित्यक्ते च । विषयजो कदाचिदलब्धपूर्वमिदं इदानीमेव लब्धमिति गर्भः स्यात् ॥

अर्थ—इत जीयने बहुतरवार उच्य पुलमें मी जन्म लेकर त्याग किया है. उसमें दुःख मानना मी व्यर्थ है यदि उच्यकुलकी प्राप्ति पूर्व फालमें कभी भी नहीं हुई थी और अबही हुई हो तो तो गर्व करना योग्य था. नीच गोत्र के उदयसे नीचकुलमें भी अनेक बार जन्म हुआ है उसका खेद माननेकी आवश्यकता नहीं है. परंतु जिससे उच्य पुलमें जन्म प्राप्त होगा ऐसा धर्माचरण करना चाहिये.

उच्यत्तणमि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स ॥

णीचत्तणे ण दुक्खं तह होइ कसायधदुलरस्स ॥ १२३२ ॥

उचरत्वं जायते प्रीतिः संकल्पवशतोऽग्निः ॥

नीचत्वेऽपि महादुःखं कषाययशश्चर्त्तिनः ॥ १२७३ ॥

विलयोदया—उच्यत्तणमि मान्यकुलराज्य । पीदी प्रीति । संकल्पवसेण संकल्पवशेन होदि जीवस्स भवति नीचस्य मराले दुःखे जातोऽहमिति मनोनिधानात् । नीतो भवत्यर्थो ज्ञान । नेत्यभुतं संकल्पमंतरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव य न दुःखस्य निमित्तं अपि च नीचत्वेन य नीचिर्गोत्रत्वे च दुःख तथा भवति । प्रीतिरिय परनिमित्तक मपति । कस्य ? कषायधदुलरस्य कसायशब्द सामान्यपचनोऽपि मानकषाये वर्तते । तेनायमर्थः । यदुःखमाननयायो जतयति दुःखमस्य न नन्विर्गोत्रस्य ॥

नेवीशनीचकुलत्वे सुयदुःखे दुःखतः । मित्तु माना-यातस्य वदालवनः संकल्प स्येत्यनुज्ञास्ति—

गृहाण—संस्पृश्यमेव उत्तमं मे कुत्र इति मनःप्रणिधानसामर्थ्येन । तत्र प्रीतिरिय । संकल्पवशेनैव । कसा-

यदुःखमस्य मानोःकटरस्य यदुःखे मानोऽहस्य जनयति दुःखं न नीचिर्गोत्रस्यमेवेति भावः ॥

अर्थ—जीव उच्चकुलकी प्राप्ति होनेसे श्रीविपुक्त होता है उसका कारण उच्चकुल है ऐसा नहीं समझना चाहिये, मैं उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ हूं ऐसा विचार उत्पन्न होनेसे जीव अतिशय सुधा होता है, यदि ऐसा संकल्प मनमें न होगा तो मान्य कुलकी प्राप्ति होनेपर भी वह श्रीविपुक्त नहीं होता है, उसी तरह नीच कुल भी दुःखका कारण नहीं है, किंतु संकल्पही दुःखका कारण होता है, कणाय जिसमें प्रचुर है उस जीवको उससे दुःख होता है नीचगोत्र उसका कारण नहीं है, मायामें कणाय शुद्ध सामान्यतया प्रयुक्त किया है परंतु यहाँ वह शुद्ध प्रकरण वक्ष मानव, वायका वाचक समझना चाहिये, अर्थात् शनकणायसे ही जीवको दुःख होता है, नीचगोत्रतः उसका कारण नहीं है.

एव भीविपरितापी संकस्यायन्तायितेतस्त्वष्ट्युत्तरमाश्रया—

उच्चत्तणे व जौ गीचत्ते पिच्छेज्ज भावदो तस्स ॥

उच्चत्तणे व गीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥ १२३३ ॥

उच्चत्तममिद्व नीचत्तं वेतसा पो निरक्षते ॥

उच्चत्तं इव नीचत्तये किमसी न सुखायते ॥ १२३४ ॥

विजयोक्त्या—उच्चत्तणं व उच्चैर्गोत्राद्यनिव जौ गीचत्ते पेश्चपि यो नीचैर्गोत्रं मेस्सते । इदं वंजालत्वं परमिति भावशाब्दोऽनेनार्थेयस्त्वपि इदं निवृत्तवाची । यस् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि कपोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति चक्षति—उच्चत्तणे वि मान्यकुलत इव नीचत्तणेऽपि नीचैर्गोत्रस्येऽपि । पीदी किं ण होज्ज । प्रीतिः किं न भवेत् । भवत्येवेति यावत् ॥

संकस्यायन्तौ श्रीतिपरितापी इति स्पष्टयितुं गाथाद्वयमाचष्टे—

मूलार—भावदो चिन्देन । इदं चांबालत्वं परमित्यादिरूपेण भावयेदित्यर्थः । पीदी यत्नेन लब्धं तत्तस्य शोभनं अलभ्येन शोभनेनापि किं वेनेति यो यदा संकल्पं करोति तस्य तत्र प्रीतिर्भवत्येव तथातुभवात् ॥

अर्थ—जो मनुष्य उच्चगोत्रके समान नीच गोत्रको भी देखता है अर्थात् चांडालपनामी अच्छा है ऐसा जो मानता है उसको उच्चत्वके समान नीचत्वमें भी प्रीति क्यों न होगी अर्थात् वह नीचत्वको भी अच्छा ही

समझना। जिनने जो प्राप्त किया है उसको वह अच्छा समझता है, जो चीज अलभ्य है वह अच्छी होनेपर भी मेरा उससे कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा समझकर प्राप्त चीजही अच्छी है ऐसा वह मनमें समझता है- तात्पर्य यह है कि मोहके पक्ष होकर जीव नीचपनाकोभी अच्छा समझते हैं।

णीचत्तणं व जो उच्चत्तं पेच्छेज्ज भाववो तस्स ॥

णीचत्तणेयं उच्चत्तणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥ १२१४ ॥

यो नीचत्वमिवोच्चत्वं विकल्पयति मानसे ॥

तत्परोच्चत्वे न किं दुःखं नीचत्वमिव जायते ॥ १२७५ ॥

विजयोदया—यत्किंपरीतायौत्तरा गत्या । स्पष्टतया पशुस्थिति नापेक्षते । संकल्पयत्ता प्रीतिवैयर्थ्यमुपबलित्वा ।
मेतदभिलक्ष्य अगत इति धर्तते । यस्मादुच्चैर्गोत्रेयेऽपि न सुखदुःखयोर्भाषामागौ च भवताः संकरपादः ॥

मूढारा—१७६म्

अर्थ—जो जीव नीचपनाके समान उच्चपनाको देखता है उसको उच्चतामें भी नीचत्वके समान दुःखही अनुभवमें आता है। अभिप्राय यह है कि, संकल्पसे उत्पन्न हुई प्रीति अथवा दुःखसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता है, यह अनुभवसिद्ध सत्य है, संकल्पसे उच्च गोत्रमें भी प्रीति अभीति उत्पन्न होती है, संकल्पसे नीचत्वमें भी प्रीति और अभीति उत्पन्न होती है।

तस्मा ण उच्चणीचत्तणाहं पीदिं करेति दुःखं वा ॥

संकम्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवसस ॥ १२३५ ॥

ततो नोच्चत्वनीचत्वे कारणं प्रीतिदुःखयोः ॥

परमुच्चत्वनीचत्वसंकरपः कारणं तयोः ॥ १२७६ ॥

विजयोदया—तस्मा तस्मात् । उच्चणीचत्तणाणि मान्याभ्यामन्यकुलत्थानि । न करेति दुःखं वा न कुतः प्रीति दुःखं वा । सति संकल्पे भाषादसति अभिप्रायः ॥

उपसंहारमाह—

मूलारः—राष्ट्रम् ॥

अर्थ—इस लिये मान्यकुल और अमान्यकुल वास्तविक विचार करनेपर सुल और दुःस्वके विधाता नहीं है संकल्पही जीवको प्रीति और अप्रीति उत्पन्न करता है अर्थात् संकल्पके साथ प्रीति और अप्रीतिका अन्यथा व्यतिरेक है जब संकल्प उत्पन्न होता है तब ही सुल दुःस्वकी उत्पत्ति होती है और जब संकल्प मनमें नहीं होता है तब सुल दुःस्वकी उत्पत्ति नहीं होती है इसलिये संकल्प ही सुल और दुःस्व उत्पन्न करता है ऐसा समझना चाहिये

मानकथायसाध्योऽयं दोष इति कथयति सूरि ।

कुणदि य माणो जीचागोदं पुरिसं भवेसु बहुपुसु ॥

पप्ता हु जीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥ १२३६ ॥

नीचगोत्र नर मानो विघस्ते बहुअन्मसु ॥

प्राप्ता लक्ष्मीमतिनीचा योनीमानेन भूरिशाः ॥ १२३७ ॥

विजयोदया—कुणदि य करोति । माणो अहकार । जीचागोदं पुरिस नीचगोत्रमस्येति नीचगोत्रं पुरिसं आत्मान । भवेसु जन्मसु । बहुपुसु बहुपु । पप्ता प्राप्ता । जीचजोणी खु नीचगोत्रमेव । का ? लच्छिमदी लक्ष्मीमती । फेन मिमिचेन ? माणेण सुकपा नीचनान्दुकुला कुलीना चेति गर्वण ॥

मानवोपनर्थावयानेकेन सथापयति—

मूलारः—माणेण सुरूपा, सुगोवना, कुलीना कन्याहेत्येवहकारेण ॥

मानकथायमे जीवको नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है ऐसा उदाहरण के द्वारा आचार्य कहते हैं

अर्थ—मान कथायसे प्रसुप्त प्राणी अनेक जन्मोंमें नीच गोत्रयुक्त होता है अर्थात् नीचकुलमें जन्मता है, मैं रूपवती सुंदरी हूं, तरुणी हूं और कुलीन हूं ऐसा नीच मानकथाय लक्ष्मीमतीको हुआ था जिससे उसको अनेक जन्मोंमें नीचकुलमें उत्पन्न होना पड़ा ॥

पूयावमाणरूपविरूवं सुभगत्तदुब्भगत्तं च ॥
आणाणाणा य तथा विधिणा तेणे ॥ पडिसेज्ज ॥ १२३७ ॥
सुमगत्त्वमसौभाग्यं स्वरूपत्वं विरूपता ॥
आज्ञानाज्ञादरो निंदा चित्ते कुल्या न घीमता ॥ १२७८ ॥

विजयोदया—पूयावमाणरूपविरूवं, पूजा, अवमानं परिभयः । रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभनरूपविय
यत्तया इह विरूपशब्दसंस्थितेन प्रयुज्यमानोऽतिदायिते रूपे प्रयवते । तेन सारूप्यं धेरूप्यं चेत्यर्थः । सुभगत्तदुब्भगत्तं च
सौभाग्यं दौर्भाग्यं च सर्वेषां मित्यन्ते देयत्वं चेति यावत् । आणाणाणा य तादा आदेशमात्रविवातः ज्ञानाज्ञा च तथा विधि-
ना माननियेधमकारिण्य । पडिसेज्ज प्रतिपेयाः । अभिधेयवशाद्धिगवचनमवृत्तिरिति लिख्यतेरेण पूजादिशब्दोपनीतेन
प्रतिपेयपदार्थस्याभिसंयधः । परिभये प्राप्तेऽपि कदम्बचित्रयुक्ते । एवं प्राप्ता ज्ञानेण पूजास्तत्र कोऽनुसरोमी स्य । दुःखे वा
परिभयप्राप्तौ । पूज्यमानोऽपि यद्यपु दुःखः परिमयानपाप्स्यति । न चाग्रमनः पूजायां काचित्कद्विद्धिः । परिभये वा द्वाभिः संक
ल्पपदार्थावगतमनो जायते प्रीतिपरित्यागौ न केवलं पूजापरिमयाभ्यामेवेति ॥ उक्तं च—

यः स्मरयेत्तु चिन्तुणो मधुरं परं गोभः । संनिपते च यत्कथं चेत्येवंचिन्तयेत् ॥
इति विभक्तौ कथमयं भयसंकटस्थः प्राप्तेत्येकमपि पितृकर्मफलोपभोगं ॥
भयया मनुष्यपतयः पुनरेव तासा हीना भवेति नृपयोऽनुचयस्य भूयः ॥
कांस्या च ये युनक्तिभिर्पिण्यमादुरुपा देय्या भयेत्यनुभवायमुपरय भूयः ॥
दृष्टः कविप्रवरदत्तनिविभगो यः संहरयेत्ति फलपुण्यतया हरिद्वः ॥
भूयस्य मित्रयदुर्गजुजगोयैगुदः संलक्ष्यते व्यसममारभ्येक एव ॥

उपनीचकुलभयपूयावमानादयोऽपि तत्पक्षः । प्रत्याख्यया इत्याख्याति—

मूलारा—अयमाण परिभयः । न्यायेन तेनेव । फालग्वर्तमित्यादिप्रबंधोक्तेन । पडिसेज्जा प्रतिपेयाः । तथाहि
प्राप्तपरिभयोऽपि कदाचित्पूयवे पुनर्वहुतः परिभयः । एवं प्राप्ता ज्ञानेण पूजाः । न चैवमप्युपनीचकुलभयजीवस्य दृष्टि
दानी स्यात्तं तस्मात्स पूजायां प्रीतिः । परिभवे चाप्रीतिः । संकल्पवशाच्चस्य प्रीतिपरिवापो स्यात्तां ॥ केवलपूजावया-
नाभ्यां । एवमन्येष्वपि शुभाशुभधर्मेण व्यतिर्गमनिषेधः कल्पः ॥

अर्थ—मानकपापका त्याग जैसे करना योग्य है वैसे उगके साथ पूजा-लोकसे आदरसत्कार प्राप्त होना
अवमान-पराभव अनादर प्राप्त होना, रूप-सौंदर्य, विरूप-कुरूपता, सुभगता-सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा सबत्र अलं-
दित रहता, और उसका लोकसे पालन न होना, इत्यादिकोसे ग्रहण ॥ दुःख होता है परंतु वहभी त्यागना योग्य है,

इन्के विषयमें ऐसा विचार करना चाहिये— भंस कभी परमेश्वर-अनादर-अपमानभी हुआ है तथा कभी पूजाभी हुई है, इस प्रकार इस संसारमें अन्तवत्स में पूजाभी गया था, न पूजामें अनुशासन करना चाहिये और न अनादर होनेके प्रसंगमें खेद लिख्न होना चाहिये, जैसे मेरी यादवार शूजा हुई थी वैसे बारवार अनादर भी हुआ था, पूजाके समय न मेरा आत्मा कुछ बटा था और न अपमानके समय कुछ घटा था, दोनों प्रसंगमें वह असंख्यात प्रदेगी ही रहा था अर्थात् पूजा और अपमानके समय जब आत्माकी घट बढ नहीं होती है तो आनन्द खेद मानना अज्ञानता का ही चोकर समझना चाहिये सकल्प यद्य होकर आत्मा भीवियुक्त और संतापयुक्त होता है, उसको पूजा और अपूजा कारण नहीं है, अन्यत्र इस विषयमें ऐसा कहा है—जो पुरुष निर्मल गुणोंका धारक होनेसे मधुर वचनोंसे स्तुतिका पात्र बना था वही मनुष्य नानाप्रकारके कठोर वचनोंसे, निंदाके वचनोंसे अपमानित भी हुआ था, यह पढा आश्चर्य है, संसारके संफटोंसे यह घिरा हुआ यह पुरुष-आत्मा किये हुए नाना कर्मोंके फलोंका उपभोग लेता हुआ संसारमें घूमता रहता है, कभी जीवोंको दुष्टत्व प्राप्त होता है तो कभी वे दास बनते हैं, कभी वे हीनकुली होते हैं कभी उच्च कुली, पुनरपि हीनकुली होते हैं, जो पुरुष दरीरकी कान्तीसे मदनतुल्य और स्त्रियों को अविश्वय प्रिय थे वे ही जब असुखमत्त्व प्राप्त होनेपर उनके द्वाारा तिरस्कर्णीय अवस्थाको भी प्राप्त हुये थे, पुण्योदयसे जो पुरुष उत्कृष्ट रत्नोंसे अलंकृत थे पापका उदय आनपर वे दमिद हुए ऐसाभी देखनेमें आया है, जो पुरुष अनेक सकटोंसे घिरा हुआ देखा गया था वही कालान्तरसे मित्र और बहुत प्रियजनोके द्वारा आलिंगित हुआ है ऐसाभी देखनेमें आता है अतः उपर्युक्त धादर अनादर वगैरे बातोंमें आनन्द और खेद मानना योग्य नहीं है ऐसा विचार कर अभिमानका त्याग करना चाहिये.

इच्चैवमादि अविचित्रितयो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ॥

एदे सम्मं अत्ये पसदो णो होइ माणो हु ॥ ११६८ ॥

जइदा उच्चचादिणिदाणं संसारवहुणं होदि ॥

कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवधणिदाणं ॥ १२३९ ॥

पुतेपां चिन्तनान्मानो वर्धते सर्वदाऽभिचत् ॥

संसारबद्धकः सचो ह्रीयते तत्त्वचिन्तने ॥ १२७९ ॥

उच्यन्त्यादिनिदानेऽपि संसारं लभते यदि ॥

तदा वचनिदानेऽपि शब्दमागीति का कथा ॥ १२८० ॥

विजयोन्मेषा—अस्मा यदि तावत् । उच्यन्त्यादिनिदानं उच्येयोज्ज्वा, पुरुषत्वं, स्थिरशरीरता, अद्विद्रुलमस्ति-
चंचुतेत्येवमाविकं मुक्तेः परंपरया कारणमपि चिन्ते क्रियमाणमपि । संसारचक्रं होदि संसारवृद्धिं करोति । किंघ ॥
करित्सपि कथं न करित्सपि । दीदृशसंसारं दीदृशसंसारं । परमपदभिदानं परमपदे चित्तप्रणिधानं ॥

उच्यन्त्यादिनिदानेऽपि शब्दमागीति का कथा ॥ १२८० ॥

मूलात्—वस्तुतो विवक्षितः । एवो श्रीविजयो नेच्छति ॥

परमपदनिदानं सुवत् । द्रापयति संसारमिषाषष्टे—

मूलात्—उच्यन्त्यादिनिदानेऽपि मुक्तेः परंपरया कारणमपि तन्मे यथादित्यासास्मानं ॥

अर्थ—जो पुरुष उपर्युक्त वातावरणं विचार नहीं करते हैं वे गर्वसे मानकषायमे युक्त होकर दुःख पाते हैं।
पांतु जो इनका विचार करते हैं अर्थात् मानसे होनेवाली हाडिआँका विचार करते हैं वे मानसे दूर रहकर सुखी
होजावे हैं.

उच्योत्रमे जन्म होना, पुरुषस्य, दृढ गरीरपना, श्रीमंत कुलमे जन्म होना इत्यादिक याते यद्यपि मोक्ष
प्राप्तमि परंपरासे कारण हैं तो भी इनकी प्राप्ति मेरे कं हो ऐसी अभिलाषा करनेसे संसार वृद्धिके लिये कारण हो
जाती हैं. तो दूसरे का वध करनेका निदान—अभिलाषा क्यों संसारवर्षक न होमा.

आचार्यगणधरादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नवयसिष्ठयलाभार्थिता हि सेत्याशंकायामुच्यते—

आभारियचादिनिदाने वि कंदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ॥

घणिदं पि संजमंतस्स सिद्धिणं माणदोसेण ॥ १२८० ॥

निदानेऽपि कुलादीनि जायंते नात्र जन्मनि ॥

संयमं विदधानस्य मानिनो यातना पण ॥ १२८१ ॥

विजयोदयः—आचार्यत्वादिभिदाणं वि कदे आचार्यत्वादिभिदोऽपि ह्यते । अस्ति तस्स नास्ति तस्य । तस्मिं भये तस्मिन्ने विदानकरणभये । चकिदे पि संजमोस्स निवरागपि संवमे कुवितः । किं नास्ति सिज्जणं सेधनं मुक्तिः । केन ? माणदोसे ॥ मानकपायदोषेण ॥ ॥ क्षाधार्यत्वादिप्रार्थनां करोति । प्रष्टो भविष्यामीति संकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥

आचार्यत्वादिप्रार्थना कर्त्तव्या रत्नत्रयादिस्त्रयालामशार्बनापरत्वादिति शंकायसाह—

मूलारा—तस्मिन् भवे निदानकरणजन्धनि.) सिद्ध्यर्थं सेधनं सिद्धिः । यवपि अस्ति उदरे आचार्यत्वादिकं व-
धापि नास्ति मुक्तिरिति भावः । माणदोषेण आचार्याभिभवबूढ्यो भविष्यामि इति शंकलपपरावेन ॥

आचार्यपदवी, गणधरपदवी इत्यादिकसी अभिलाषा करना अयोग्य नहीं है क्यों कि रत्नत्रयका साहाय्य प्राप्त होनेके लिए उनकी अभिलाषा की जाति है. इस शंकाका उत्तर आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आचार्यगण, गणधरपदवी इत्यादिका निदान करने परभी इनपदवीकी प्राप्ति इसी जन्ममें होती भी नहीं. बहुत उलज्जल संवस होनेपर भी इन पदवीकी उसी जन्ममें प्राप्ति नहीं होती है. कदाचित् आचार्यत्वादिकसी उसी भवमें प्राप्ति भी हो गई हो मी उस संयमी को मुक्तिपदवी प्राप्ति मानकपाय दोषसे नहीं होती है. मैं आचार्य होकर पूज्य होऊ इस अभिप्रायसे मृष्टि होती है अतः उसमें अहंकार प्रकट दीलता है.

भोगवोपनिषदायां सार्यां निदानं तथा न भवति इति उच्यते—

भोगा चित्तिदब्बा किपाकफलोवमा कडुविवागा ॥

महुरा व मुंजमाणा मःक्षे बहुदुक्खमयपउरा ॥ १२४१ ॥

मधुराः सेवमाना हि विपाके दुःखदायिनः ॥

चित्तनीयाः सदा भोगाः किपाकफलसंनिभाः ॥ १२८२ ॥

विजयोदयः—भोगा चित्तिदब्बा भोगक्षित्त्वाः । चित्तिपफलोवमा किपाकफलसदृशाः । कदापिरा कडु अनिष्टं विपाकः फलं पर्याप्तं कडुविपाकाः । मधुराव मधुरा इव । मुंजमाणा मुंजमानाः । मध्ये मध्ये । बहुदुःखमयपउरा निवित्रदुःखप्रयाः ॥

भोगनिश्चिन्नाभावाय भोगदोषभावनासाह—

मूलारा—मधुरा न मधुरा इव । मन्त्रे मन्त्रे शुचिः क्रियायाः । बहुदुःखसमयवधरा भोगसेवया पार्ष्णं वदन्तः क्षान्ति-
पानि दुःखानि ने न भविष्यन्ति इति विचिन्धुः पञ्चासाहुल्याः ॥

भोगों के दोषों का विचार करनेसे भोगनिदान उत्पन्न नहीं होता है इस विषयका विवेचन—

अर्थ—भोग किंशकफलके सम्मान अवसानमें कदुविषाक है अर्थात् किंशकफल खाते समय मधुर लगता है परंतु उमका कदु परिणाम होता है अर्थात् अन्तर्में उससे प्राणीको अत्यंत दुःख होकर मरणक्री प्राप्ति होती है. भोग भी मधुर करते समय मधुर—आनंददायी मात्स्य होते हैं परंतु अन्तर्में तीव्र अशुभ कर्मबंधके कारण बनकर चतुर्गतीमें अतिदुःख दुःखदायक होते हैं.

भोगनिदानदोषं कथयन्ति—

भोगनिदानेन य सामर्ण्यं भोगस्यमेव होड कदं ॥

साहोद्वयो जह अत्यिदो वि नेको वि भोगस्यं ॥ १२४२ ॥

भोगार्थमेव चारिचं निदानं सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थविचारणे ॥ १२४३ ॥

विज्ञयोदया—भोगनिदानेन य भोगनिदानेन वा । सामर्ण्यं ध्यातव्यं । भोगस्येव होड कदं भोगार्थमेव कदं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदानं तति सामर्थ्याकुलितचित्तस्य प्रत्यक्षकर्मप्रयाहस्वीकृती उपतस्य का सेयतता ॥

भोगनिदाने दोषं भावते—

मूलारा—भोगधनेव न कर्मक्षयार्थं । भोगरागाकुलचित्तस्ये प्रत्यक्षप्रत्यक्षकर्मप्रयाहस्वीकरणाभियोगात् । साहोद्वयो भाग्यामयलनो चरयासी फलाभ्युपयोगार्थी यथा वृक्षसाम्राज्यप्रस्थितः कश्चित्सेतुसंयानयमनं विप्रयति तथा क्षमणोऽपीति भावः । अत्यन्तसह—

भोगार्थमेव चारिचं निदानं सति जायते ॥

कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थं विचारणे ॥

भोगनिदानकं दोषं कहेते हैं—

अर्थ—मुनिव्रत धारण का निमित्त भोगप्राप्तिका निदान किया समझना चाहिये कि भोगके लिये ही उमने मुनिव्रत धारण किया है न कि कर्मक्षयके लिये. भोगनिदान करनेसे भोगाभिलाषासे-भोगोंकी उत्कंठासे चित्त व्याकुल होता है तब गनीन कर्मव्रताहका स्वीकार करने के लिये वह उद्युक्त होता है. जिससे संयतपनेका अभाव होता है. जैसे कोई अपने इस स्थानपर जा रहा था मार्गमें किसी वृक्षका फल स्वानकी उसकी इच्छा हुई तब वह वृक्षकी शाखाको फलके आश्रामे पकड़कर खड़ा हुआ. इस कार्यमें लगनेसे स्वतः स्थानको जानेमें उसने विघ्न ही पैदा किया ऐसी समझना चाहिये. इसी तरह यदि निदान करेगा तो उसने कर्मक्षयरूपकार्यमें स्वयं विघ्न उपस्थित किया है ऐसा मममत्ता चाहिये. अथवा निदान करनेवाला मुनि भोगार्थ ही चादित्र धारण करता है. जैसे नोकर केवल द्रव्यके लिये स्वामीकी सेवा करता है.

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ॥

सणिदाणवंभवेरं अव्यंभत्थं तहा होइ ॥ १२४३ ॥

मवस्यन्नञ्चत्थोर्धं सनिदानं तपो यतः ॥

अपसारो विचातार्थं मेपस्येवस्ति मेवतः ॥ १२८४ ॥

पिजयोदया—आवडणत्थं धमिमातार्थं. जह यथा । ओसरणं अपसरणः । मेसस्स होदि मेपस्य भवति । मेसादो मेरात् । सनिदानंभवेरं सनिदानस्य यतस्तत्पत्तयं । अव्यंभत्थं मैथुनार्थं । तहा होदि तथा भवति ॥

भोगावभावा प्राप्तर्यं पाठयतो मयो मैथुनार्थमेव तद्वदति न प्रसममुत्तारं इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

मुत्तारा—आवडणत्थं अभिप्रातार्थं । ओसरणं अपसरणं । सनिदानं भोगा मे मूयामुरिति विदानपतो यतेः ॥

अर्थ—एक वक्त्रसे दूसरा वक्त्रा जैसे अथाव करनेके लिये पीछे हटता है उसी तरह निदानयुक्त मुनिका मद्यचर्यत्र मैथुनके लिये है ऐसा समझना चाहिये. अर्थात् भोगप्राप्ति की आशासे ही सनिदान मुनि व्रताचरण करता है. कर्मक्षयके लिये वह व्रत पालन करता है ऐसा मानना अयोग्य होगा.

जह वाणिथा य पनिणं लाभत्थं विकिण्णति लोभेण ॥

भोगाण पनिदमूदो सणिदाणो होइ तह धम्मो ॥ १२४४ ॥

स्त्रिक्रीणाति तपोनयं भोगेन सनिदानकः ॥

माषिकयमिव कावेन सारासाराविचारकः ॥ १२८५ ॥

पिजवोदया—उद्ध चणिया यथा । वाणिजः । पणियं पण्यं । लाभार्थं लाभार्थं । विस्त्रिणंसि विस्त्रिणंसि । लोभेन लोभेन । भोगेन भोगेन । पणिहो पण्ययुतः । सणिदाणो सनिदानः । तदा धम्मो होदि तथा धर्मो भवति ॥

भोगकांक्षया चारित्रं भोगविक्रयं भवेदित्याह—

मूलारा—दणियं पण्यं विज्ञेयद्रव्यं । भोगाय पणिदमूदो भोगोविक्रयतां प्राप्तः ॥

अर्थ—जैत व्यापारी लोभवश होकर लाभके लिये आपना माल बेच डालता है ऐसे निदान करनेवाला मुनि भोगके लिये धर्मरूपी माल बेच डालता है, ऐसा समझ लेना चाहिये.

भोगनिवृत्तपक्षः धामव्यं भणिदति—

सपरिगग्रहस्त अव्यंभञ्चारिणो अविरदस्त से मणसा ॥

कापुण सीलवहणं होदि हु णडसमणरूवं व ॥ १२८५ ॥

ससंगस्यानिवृत्तस्य चित्तेनाग्रहचारिणः ॥

कामेन शीलयाहित्वं न्यर्थं नदयतेरिव ॥ १२८६ ॥

विशयोदया—सपरिगग्रहस्त सपरिग्रहस्य भोगनिदानपक्षो येवञ्जितो रामोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सप रिग्रह इति । तस्य अव्यंभञ्चारिणो मनसा मैथुनकामेनि प्रवृत्तस्य । अविरदस्त मर्यादयुक्तस्य मैथुनात् । मनसा जिज्ञेसम् । से तस्य कायेन तु शरीरेणैव । सीलवहणं ब्रह्मचर्यवहनं । होदि भवति । णडसमणरूवं य नटानां धामणरूपनिष्ठ ॥ कायेन भाष-
धामणपरहितं यथा अफलेमेवामिदमपि इति भाषः ॥

भोगनिदानवत्तः धामव्यं प्रणिन्दति—

मूलारा—सपरिगग्रहस्त येवञ्जितरोगेण अव्यंभञ्चारिणो भावमैथुनप्रवृत्तस्य । अवि-
रदस्त मनसा स्त्रीसेवनादनिवृत्तस्य । से भोगनिदानपक्षो मुनेः । शीलवहणं ब्रह्मचर्यधारणं । हु पसार्यको यो नैवेत्यर्थः । णडसमणरूवं य नटानां यत्निष्ठपचारणमिव । यथा कायेन नटैर्वित्तुं धार्यमाणं भाषधामण्यरहितत्वात्तिष्ठत्वं तथैवमपीति भाषः ॥

भोगका निदान करनेवाले मुनिका मुनिपना निदनेलप्यक है ऐसा आचार्य कहते हैं।
अर्थ—भोगका निदान जिसने किया है वह मुनि अंतरंगमें रागभावसे युक्त है अर्थात् उसके मनमें प्रवृत्त होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये। उसका मत मैथुन कर्ममें नष्टके होनेसे वह मैथुन कर्मसे परावृत्त नहीं है ऐसा समझना चाहिये। वह उसीसे ही शीलवतको धारण करनेवाले नष्टके ममान भावसे मुनिपनासे च्युत हुआ है, ऐसा मुनिपना स्वर्थ है ऐसा अभिप्राय समझना।

रोगं कंठेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ॥

तह अण्णेतदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥ १२४६ ॥

आकाक्षति मद्दुःखं निदानी भोगतृष्णया ॥

रोगित्यं प्रतिकाराय कुबुद्धिरिव कञ्चन ॥ १२८७ ॥

विजयोदया—रोगं कंठेज्ज व्याधिमिलयति । जहा कोर यथा कश्चित् । किमर्थ ? पडियारसुहस्स कारणे भोगतण्हाए सुग्राधिमभाष्ये । तह तथा भविरदस्स अव्यावृत्तस्य । अण्णेतदि यन्त्रेयते । दुक्खं दुःखं । कः सणिदाणो सनिदत्त । भोगतण्हाए भोगतृष्णया ॥

भोगनिदानविधाविमनुष्यलवि—

मूढारा—पडियारसुहस्स कारणे, औपपत्तेवान्तरमुलप्राप्त्यर्थं अण्णेतदि श्राययेते ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य औपपत्तेवनका सुख ॥॥ करनेकी अभिलाषसे देहमें रोगोत्पत्तीकी इच्छा करता है, वैसे निदान करनेवाला मुनि भोगकी लालसासे दुःखोंको चाहता है ऐसा समझना चाहिये।

संदेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ ॥

तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं पिदाणेण ॥ १२४७ ॥

भोगार्थं वहते मायुनिदानित्वेन संयमम् ॥

स्वधनेन कधीर्गर्वाभासनाय मद्दग्धिनाम ॥ १२४८ ॥

पिजयोद्या—रंदेण स्केधेव । जहा कोद यथा कथित् । गरुत्वं सिद्धं गुर्वी शिलां । चोह्य वदति । किमर्थं ? आसन्नार्धं आसन्नार्धे । अस्या उपरि सुरसनासे इति मत्वा सयथा गुरशिलोद्धननेर्दं नोपेक्षते, स्वयं तरया उपर्यासनसुप-
मोपेक्षते स्वपुण्या । नह भोगत्वं तु तथा भोगार्थमेव । होदि भवति । संजमानहणं दुर्बद्धं संयमधरणं । जिदाणेन निदानेन सह ॥

नृधारा—आसन्नार्धं अस्या उपरि सुरेनोपवेक्ष्यामीति मत्वा । तु भोगार्थमेव । जिदाणेन अनेन दुर्बतरसंयमेन भोगा भूवागुरिति प्रार्थनया सह । अत्र बहुदुःखेन स्वल्पसुखसाधनमित्युपहासः ॥

अर्थ—इस शिलापर मैं सुरसे चेंदुंगा इस अभिप्रायसे जैसे कोई मूल्य अपने कंधेपर बड़ी शिला धारण करता है, अर्थात् शिलाका भार अपने कंधेपर सदैव रहता है उससे होनेवाले कष्टकी वह परवाह नहीं करता है वैसे भोगका निदान करनेवाला मुनि जो महान् संयम धारण करता है वह भोग के लिये ही समझना चाहिये, शिलापर चेंठनेसे अल्पसुख होगा परंतु हमेशा शिलाको कंधे पर रखना कष्टदायक है वैसे अल्पसुखके लिये महान् संयम धारण करना शिलाके समान दुःखदायक है।

या छवस्तु जतितादिप्रियसुखासामिन्नित्यस्तु विनाशो यन्नाथते दुःखं तदधिकृतमं भक्तं स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुः, जान्थी पतेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगमोक्त्वं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि ॥

एवेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविमिट्ठं ॥ १२४८ ॥

यत्सुखं भोगजं जंतोर्यद्वःखं भोगनाशजम् ॥

भोगनाशोत्थितं दुःखं सुखाधिकृतमं मतम् ॥ १२४९ ॥

पिजयोद्या—भोगोपभोगसोपपद्य मृष्टाद्यनंतवृत्तादिकः ग्रीवस्यालंकारदिभिश्च । जनितां यत्सुखं । भोगणा-
सम्मि सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । जं जं दुक्खं च यद्यदुःखं जायते । एवेसु पतयोः सुखदुःखयोः भोगनाशो
सुखसाधनानां विनाशे च । दुक्खं पडिविमिट्ठं अधिकृतमिति यावत् ॥

मृष्टादनवर्तमानादिनिमित्तकमुखात्तमिन्नित्यवस्तुविनाशजन्यं दुःखमधिकतरमयः स्वल्पसुखार्थे कः सुधीर्दुःखा-
दिभ्यर्दुःखात्थी पतेदिति दर्शयति—

मूलात्—भोगात्मि भोगांगविनाशे । पटिविस्त्रिंष्टु अपिस्वरं ।

पाप चरुके संयोगसे जो सुख प्राप्त होता है उससे उस वस्तुका वियोग होनेसे प्राप्त होनेवाला दुःख अधिक है. इसलिये स्वस्त्यसुखके लिये कोन दुःखसे भयभीत सचेतन प्राणी-विद्वान् मनुष्य दुःखसमुद्रमें गिरना चाहेगा.

इस अभिप्रायका आचार्य उल्लेख करते हैं—

अर्थ—मरु अन्न, तांबूलादिक पदार्थोंको भोग करते हैं. स्त्री, वस्त्र, अलंकारादिकोको उपभोग करते हैं. इन भोगोपभोगोंसे जो सुख आत्माको प्राप्त होता है. तथा भोगसाधनात्मक इन पदार्थोंका वियोग होनेसे जो दुःख उत्पन्न होता है. इन दोनोंमेंसे दुःख ही अधिक समझना चाहिये. अर्थात् सुख साधनोंका नाश होनेसे मनुष्य को अधिक दुःख होता है.

देहे दुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ॥

दुक्खरस य पहियारो रहसणं चेव सोक्खं खु ॥ २२४९ ॥

धुवमदिपीडिते देहे समासक्तः कथं सुखी ॥

दुःखस्यास्ति प्रतीकारो नहर्त्वाकारोऽथवा सुखम् ॥ १२९० ॥

विजयोदया—देहे शरीरे मनुजानां । दुहादिमहिदे हुथा, पिपसया, शीतोन्मेज, श्वाधिभिश्च मयिते । चले अनित्ये ॥ । सत्तस्स जासक्तस्य । किं सुखं होव किमन सुखं भवेत् । दुक्खरस य पहियारो दुःखस्य प्रतीकारः रद्धस्सणे देय नहसकरण एव सोक्खं सौख्यं । खु शब्दः प्राप्त्यर्थः दुःखप्रतीकारोत्पत्तौ वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥

किंचित्कंचचिद्व्येव्यपि इत्थमनुसुभोगेषु सुहादिपापादर्थितेऽनित्ये विनाशिते च मनुष्येदे जाग्रदादिरसस कथं सुखाय गंधोऽपि सत्यः स्यादिति व्यवस्थापयति—

मूलात्—दुहादिमहिदे दुमुआदिक्कदिति । चले अनित्ये । सत्तस्स जासक्तस्य मनुवस्य । पहियारो निराकरणं । रहसणं नहसर्त्तनं ॥

अर्थ—यद देह भूख, प्यास, शीत, उष्ण और रोगोंसे पीडित होता है तथा अनित्य भी है ऐसे देहमें

आसक्त होनेसे इस आत्माको कितना सुख प्राप्त होगी. दुःख निवारण होना अथवा दुःख कमी होना ही सुख है ऐसा संसारमें माना जाता है- दुःख के प्रतीकारको ही लोक सुख समझते हैं.

सुखमंतरेणापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरैद्वियं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थं दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिपद्यते न च दुःखाभिलाषः. नाहस्य युक्त इति कथयति—

सोऽसं अणपेक्षितत्वा वाच्यं दुःखमणुगं वि जह पुरिसं ॥
तद् अणपेक्षित्य दुःखं न तस्य सुखं लोभमि ॥ १२५० ॥
अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं वाचते नरम् ॥
अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विचते जने ॥ १२५० ॥

विजयोदया—सौख्यं सौख्यं । अणपेक्षितत्वा अनपेक्ष्य । वाच्यं दुःखमणुगं वि जायते दुःखमणुगं । जह पुरिसं यथा पुरुष । तद् तथा अणपेक्षित्य अनपेक्ष्य युक्तं दुःखं । लोभमि न तस्य सुखं लोके भास्ति सुखं नामैद्वियं । भिरेदोषवृद्धौ भयनमभिलषति । स्वात्मास्त्वोपज्ञातश्च यथा शय्यां कामयेत । पापममकातेष्वप्यपोहनायेव विधिकान्विक, वैकृत्यभिराकृतये एव यस्याणि भूयणाणि च, बीमां वनाशनायेव गुरुष्ककालानुयार्थिकं, देहदयमनाथैव रमण्य इति सर्वं दुःखमतीकारमेव ॥ त्रिष्विषयेष्वेदं जनिताः प्राणिनां किमन्यथर्षिनां परस्परभिलाषः । स तेषां परस्परशरीरसेत्सर्गे स्वस्वार्थे प्रत्यममाकर्षति । अहंभिलाषमिति तानां कर्मणां सङ्ग्राहः । न हि कार्यमपि कलकारणसिद्धौ न भवति । यामो हि सेव्यमानो वेत्तव्यो न कदापि निरुद्धिरस्ति । सतोऽप्यनुभवमुपवृद्धयेत । कारणसंग्रहार्थं कार्यपातः । नित्यमपि निरंतराग्नितापहहनदहानान् पश्यत्येवमेव दुःखमिति मन्वमानो हृष्टो दर्शयति—

सुखं विनात्यति दुःखं पुनरैद्वियं न जायते ततः सुखार्थं दुःखमेव प्रागात्मनोऽभिपद्यते न च दुःखाभिलाषः. नाहस्य युक्त इति कथं

मूलाय—अणुगं स्तोकमपि । अणपेक्षित्य अनपेक्ष्य । दुःखे सत्येव सुखं जायते । शुद्धाविपीडितस्यैव भोजनान्नान्येष्वल्लर्जनादिति भावः । ऐद्वियं सुखदुःखे स्वविषयापेक्षे इत्यन्ये । तथा चोक्तम्—

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं वाचते नरम् ॥
अनपेक्ष्य तथा सुखं न सुखं विचते जने ॥

दुःख सुख के विनाभी होता है परंतु ऐंद्रियिक सुख दुःख के बिना उत्पन्न नहीं होता है- इस लिये सुखको अभिलाषा करनेवाला प्राणी प्रथम दुःखकी अभिलाषा करता है ऐसा सिद्ध हुआ। परंतु दुःख की इच्छा करना बुद्धिमानके लिये योग्य नहीं है ऐसा अभिप्राय आगेकी गाथामें दिसाते हैं—

अर्थ—सुखकी अपेक्षा न करता हुआ घोडासाभी दुःख मनुष्यको दुःखित बनाता है। परंतु सुख दुःख के बिना-उसकी अपेक्षा न करके मनुष्यको सुखी करनेमें असमर्थ होता है अर्थात् जितना ऐंद्रियिक सुख है वह सब दुःखसे भरा हुआ है। और दुःखका यतीकार मात्र है। लोक प्रतिकारको ही सुख समझ रहे हैं। जब भूख और व्यास मनुष्यको सताती है तब वह अन्न और पानीका अन्वेषण करता है अर्थात् अन्न पानी सेवन कर अपनेको सुखी समझता है। सूर्यके फटार किरणोंसे दुःखों होता है तब शीत पदार्थको चाहता है-आहेसे जब शरीर सिझुहने लगता है तब वस्त्रादिकको चाहता है। हवा, आतप, और पानीसे जप पीटा होने लगती है तब उसको हटानेके लिए धरमें प्रवेश कर सुखी होता है। खदे होनेसे और चँलनेसे तकलीफ भाव्य पबनेपर शय्याको चाहता है। पार्योंको प्रवासे धकावट उगन्न होनेपर बालकी कंगरु बाहनोंको चाहता है। कुरूपता दूर करनेके लिए वस्त्रालंकार, खरीरकी दुर्गंधता मिटानेके अर्थ कालागुरु आदिक सुगंध पदार्थकी स्पृहा उसको होती है। खदे बुर करनेके लिए स्त्रीको चाहता है, ये सब दुःखके प्रतीकार ही हैं।

स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंमकवेद इनके उदयसे तिनो लिंगोंके प्राणिओंको परस्परामिलाषा उत्पन्न होती है। परंतु यह अभिलाषा अन्योन्यके दूरिरसंसर्ग होनेपर भी नहीं भिटती है। क्योंकि अभिलाषको उत्पन्न करनेवाले कर्म हमेंदा आत्मामें मौजूद हैं- ये धार धार अन्यान्याभिलाषा उत्पन्न करते रहते हैं जब तक अलंब कारण मिलते ही रहेंगे तबतक कार्यकी उत्पत्ति होगी। जब दमसेवन मनुष्य करता है तब नवीन २ तीन चेदोंकी उत्पत्ति होती जाती है- पूर्वानुभवमें बुद्धिही होती है- कारण के संपर्कसे कार्यमें नित्यता आती है। मनुष्य निरंतर इच्छारूपी अग्निमें दग्ध होता है अतः उसको मंतापकी प्राप्ति नहीं होती है। जब तीन वेद नष्ट होते हैं तब परस्परामिलाषाका कारण ही नष्ट हुआ तब वह भी नष्ट होती है- संश्लेष वेद नष्ट होने पर जो स्वास्थ्यलाम होता है उसको ही सुख समझना चाहिए।

जह कोडिहो अग्नि तपती गेव उवसमं लभदि ॥
तह भोगे सुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥ १२५१ ॥
सेवमानो यथा वहिं न कुट्टी लभते शमम् ॥
सुंजानो न तथा भोगं संतोषं प्रतिपद्यते ॥ १२५२ ॥

विजयोदया—अह कोडिहो यथा कुष्ठेनोपद्रुतः । अग्नि तपती अग्निना वृक्षमानमूर्तिरपि । गेव उवसमं लभदि नैष व्याघरेणरामं लभते । न ह्यग्निरुपद्रामकः कुष्ठस्यापि तु बद्धकः । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपद्रामयति । यथा कुष्ठं नोपद्रामयति बद्धिः । यथैवति चाभिलाष अवलदित्वं यमः । तह तथा । भोगे सुंजंतो भोगानुभवभोजितः । खणं पि णो उवसमं लभदि । क्षणमात्रमपि भोगशमे लभते भोगाभिलाषतोषस्य ॥

भोगैर्बुद्ध्यामिबधैरेन परितापानुद्वं बोधयति—

मूढार—अग्नि तपती अग्निं सेवमानः । उवसमं स्मृतिं कुपुस्य । वदित्वापस्य तद्वर्धकत्वात् । उवसमं भोगाभिलाषरमाप्नोति । तन्निमित्तबोधाध्यकर्मणः प्रियोगानुपचोगेन प्रतिक्षणमाधीयमानोदीरणप्रवणत्वात् ॥

ऐसे सुखको ही सब माननेवाले आचार्य हृष्टान्त प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जैसे छुट्टी मनुष्य अग्निसे शरीर तपनेपर भी उपश्रमको प्राप्त नहीं होता है. अर्थात् अग्नि सेवन से कुछ उपश्रान्त नहीं होता है. उलटा यवने लगता है. जो जिसके बदनमें निमित्त होता है वह उसका उपश्रमन नहीं कर सकता है. जैसे अग्नि कुछको श्रांत नहीं कर सकता है. वैसे स्त्री वगैरह पदायोंका सबवास भी अभिलाषका उपश्रम नहीं करता है किंतु वह उसको बढावा ही है. भोगोंका उपभोग लेनेमें उद्युक्त हुआ पुरुषका अभिलाषारूपी रोग क्षणपर्यंत भी शान्त नहीं होता है. प्रतिदिन वह बढता ही है.

कच्छुं कंदुयमाणो सुहाभिमाणं करोदि जह दुक्खे ॥
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहि कुणदि तथा ॥ १२५३ ॥
मैथुनं सेवमानोऽग्नी सौख्यं दुःस्वेषि धन्यते ॥
शितैः कंदुयमानो वा कच्छं करकहैः कुधीः ॥ १२५४ ॥

वितायोदया—कच्छुं कच्छुं । कंठ्यमाणो नरोर्मदयम् । सुहामिमाणं करोद् सुखामिमाणं करोति । जह दुपयो यथा यु.ते । तद् मेदुण आदीहि तथा मैथुनादिदु खे रमसादिगेने, वाधरत्तने, उरस्ताडने नखेनिशितेगच्छेदने कच्चा-करणे ॥ उक्तं च—

नद्यः प्रेत इयारिष्टः स्मनाशिव शपथिव ॥

आसायासपरिथांतः स कामी रमते किल ॥ १ ॥ इति ॥

अनुभवसिद्धं विषयसुरं कथं प्रतिविध्यते इत्याशंकां दृष्टांतपंचकावचनेन निराकर्तुं गाथाद्वयमाचष्टे—
मूळार—कंडुखणो नरोरुद्धितम् । मेदुण आदिस्मि रवसाळिगनावरत्तनोरस्ताडनकथाकर्पणीविगनल-छेदनादिजन्ये ॥

अर्थ—कच्छु रोगको नखोंसे खुलानेवाला मनुष्य सुजाते समय जपनेको सुली समझता है. जैसे यह जीवभी मैथुनादि दुःखोंसे भी अपनेको सुली समझता है. गान् आलिंगन करनेमें, अधस्तुवनमें, वक्षस्थल सर्वनेमें, नखोंसे जंगमों व्रण करनेमें और केशाकर्पणमें अपनेको सुली समझता है. इस विषयमें अन्यग्रंथमें ऐसा कहा है—वह कामी मनुष्य पिशाचके समान नम्र होकर, शब्द करनेवाला, और आयाससे थककर मैथुन सेवन करता है.

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरित्ति मण्णदि वराओ ॥

तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥ १२५३ ॥

सेवमानो नरो नारीं दुःखदां सुखदां कुषीः ॥

मन्यते मधुरां यहीं कृमिघोषातकीमिव ॥ १२५३ ॥

विजयोवया—घोसादकीं घोषातकीं । किमि कृमिः । खंतो भक्षयन् । जहा मधुरित्ति यथा मधुरमिति मन्यते पराकः । तद् तथैव । दुक्खं वेदंतो दुःखमनुभवन् । मण्णदि सोक्खं जणो कामी मन्यते कामिजनः सुखं ॥
मूळार—घोसादकीं घोषातकीं । खंतो भक्षयन् ॥

अर्थ—घोषातकी नामका कहेया फल भक्षण करनेवाला कृमि उसको मीठा ही समझता है. जैसे दुःखका अनुभव करनेवाला कामी पुरुष दुःखको ही सुख मानता है.

सुहृ वि मगिज्जंतो कथं वि कयलीए णत्थि जह सारो ॥

तह णत्थि सुहं मगिज्जंते भोगेसु अप्यं पि ॥ १२५४ ॥

संपद्यते सुखं भोगे सेव्यमाने न किंचन ॥

सारो नोऽ न्विच्छपमाणोऽपि रंभास्तंमं विलोक्यते ॥ १२५४ ॥

विजयोदया—सुहृदुं वि सुहृदुं अपि मगिज्जंतो भुग्यमाणोऽपि सातः कदल्यां क्वचिदपि भूले मध्येऽग्ने या यथा नास्ति तथा भोगेभ्यश्चिद्यमानं सुखं न विद्यते ॥

इतिरैर्भोग्यतया गृह्यमाणेषु विषयेषु निःसुखत्वेकान्तमनुशास्त्रि—

मूढारा—परमं क्वचिन् । भूले मयेऽन्ते वा ।

अर्थ—सुहृदु विचार करने पर भी केलेके हृद्यमे प्रायं मे, मण्यभागमें और अन्तमें भी कुछ भी सार दीखता नहीं है वैसे भोगमें विचार करनेपर भी कुछ सुख नहीं है.

ण लहवि जह लेहंतो सुक्खल्लयमड्डियं रसं सुणहो ॥

से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मणए सुक्खं ॥ १२५५ ॥

विश्वस्ता येः प्रतार्यन्ते विमुह्यन्ते निषेवकाः ॥

प्रवर्द्धकाः प्रपीड्यन्ते कस्तैर्भोगैः समो रिपुः ॥ १२५५ ॥

निपेड्यमाणो वनिताकलेष्वरं स्वदेहलेदेन सुखायते जनः ॥

श्वा ह्यश्रुयानो रसमस्यि नीरसं स्वतालुरक्ते मनुते सुखं यथा ॥ १२५६ ॥

विजयोदया—ण लहवि जह सुणगो सुक्खल्लयं अड्डियं लेहंतो रसं । श्वा सुकमस्यि लिहन् सत् यथा रसं न लभते । सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोषणं मणए तीक्ष्णास्त्रिज्जसत्तालुगलितकथिमास्वाह्वन्मुजायिमानं करोति । तह तह यथा तथा । पुरिलो ण किंचि सुखं लभे । पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥

मूढारा—लेहंतो आस्वादयन् । सुक्खल्लयं शुष्कं । अड्डियं अस्थि । सगतालुगरुहिरं । तीक्ष्णास्त्रिज्जसत्तालुगलितलोहितं ।

अर्थ—जैसे कृपा रक्तहीन सूखी वट्टी चाटने लगता है. परंतु उससे रस नहीं होता है. वट्टीको चूसे तो समय उगीके वातुका रक्त निकलने पर वह उसमें सुख समझता है. वैसे कामी पुरुष भी विषयोंमें सुख समझता है. अर्थात् स्त्रीसहवासमें उसका स्वयं वीर्यपतन होता है. और उसमेंही वह सुख समझता है.

महिलादिभोगसेवी ण लहवि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ॥
सो भण्णदे वराब्बो सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥ १२५६ ॥

नम्रो बाल इवास्वस्थः स्वनजन्यरक्तजल्पनः ॥

श्वासाकुलो जनो नार्या कीदृशीं अयत्ने रतिम् ॥ १२५७ ॥

आरंभे भराफान्तां दीनामुद्धीमिवाकुलाम् ॥

किं सुखं लभते मूढः सेवमानो जितंयिनीम् ॥ १२५८ ॥

विभीमरूपाः कुटिलस्वभावा भोगा भुजंगा इव रंघसंस्थाः ॥

ये सार्यमाणा जनयन्ति दुःखं ते सेविताः कस्य भवन्ति ज्ञान्त्यै ॥ १२५९ ॥

प्रददयं सौख्यं वितरन्ति दुःखं विश्वासंस्तृपाय च वंचयन्ति ॥

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते सन्ति भोगाः परमा द्विपन्तः ॥ १२६० ॥

विजयोदया—ग्रहिलादिभोगसेवी रुधिरादिभोगसेवयोक्तः । तथा सो ण किंचि वि सुहं लहवि तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते पत्य । सो वरागो सगकायपरिस्समं सौक्खं भण्णदे ॥ वराकः सगकायश्रमं सौख्यं मन्यते । भयुभवसिद्धं सुखं कयं नास्तीति शक्यते वक्तुं शब्दांशवय यस्यपि सुखे सुपज्ञाने जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारण-
येति वंचति ॥

मूलार—स्पष्टम् ॥

अर्थ—श्री वेगवहको भोगनेवाला यह कामी पुरुष किंचित्भी सुख नहीं प्राप्त करता है. यह दीन पुरुष अपने शरीरपरिश्रममें ही सुखकी कल्पना करता है. स्त्रीसहवासमें सुखकी प्राप्ति होती है यह बात अनुभव सिद्ध है उसको आप मुसामात्र कैसे कहते हो ?

इस शंकाका उत्तर ऐसा है—सुखके अभावमें भी जगत् को सुखकी आंति होती है- यह उसका विपर्यस्त ज्ञान है.

क्षीसद् जलं च मयतण्डिया हु अह वणमयस्स तिसिदस्स ॥

भोगा ग्रहं च दीप्संति तह य रागेण तिसियस्स ॥ १२५७ ॥

कामिभिर्भोगसेषायामसस्यं दृश्यते सुखम् ॥

क्षुरैर्मृगतृणार्थां पानीयं दृपितैरिव ॥ ३०१ ॥

विक्रयोद्या—वीसद् वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्डिया चंनं मृगेण हरिणादिना तृणानि-
भूते जलनाशायता जलमिव दृश्यते मृगतृणिका । न का मृगेण अलक्षणीयत्वेऽपि जलं भवति । तथा रागेण तिसिदस्स
भोगा ग्रहं च दीप्संति नगत्तितेन मोक्षाः सुखमिव दृश्यंते ॥

मुलाए—यणमयस्स वनमृगेण हरिणादिना जलं हवीयायाः पशूवग्रावः । भोगा कामिन्यादिनिर्भोक्षाः,
इत्रियमतीत्यः ।

इसी विषयका शब्दीकरण—

अर्थ—जैसे जंगलमें विचनेवाले हरिणोंको टपसे पीठिव होनेपर मृगतृणिका जलके समान दीखती है-
परंतु वह वास्तविक जलरूप नहीं है बैसे रामभावमें व्याकुल हुए इस जीवको भोगपदार्थ सुखमय दीखते हैं परंतु
वे वास्तविक सुखरूप नहीं हैं.

वग्घो सुखेज्ज मदयं अक्कासेउण अह मसाणम्मि ॥

तह कुणिमदेहसंफंसेणेण अबुहा सुत्तायंति ॥ १२५८ ॥

कृपितस्त्रीतनुस्पर्शो नष्टबुद्धिः सुत्तायते ॥

अथमुखा शयं व्याघ्रः इमशाने किं न तृप्यति ॥ १२०२ ॥

विजयोद्या—यमो सुखेज्ज इत्यनेन व्याघ्रो भुक्तकर्मव्याघ्रस्य वृप्यति यथा तथा कुणितदेहसंस्पर्शनिनामुष्ण
मुलापिणमद्वयनिर्भरणा भवन्ति ॥

मूढारा—सुखेज्ज क्वयति श्रीवितो भवति ॥ मदर्थं मृतकं । अवगासेवून आडिय उपरि चटित्वा वा । सुवा-
जम्मि शमसन्ते । कुणिमवेहंसासणेण कुणितयुवतिकेवत्सयनेन । सुवायंति सुखाधिगमहर्निपर्या भवन्ति ॥

अर्थ—अमृतांनमं व्याघ्र प्रेतका भयण कर ॥ होवा है कैसे मूर्ख लोक दुर्गव अरारिके सगुंसे मेरेको सुख
प्राप्त हो रहा है ऐसा समझकर अविशय हर्षित होते हैं ।

भयदु नाम पुत्रं भोगस्तथापि तदत्यन्तमिति निवेदयति—

तह अप्यं भोगसुहं जह धावंतस्स अठित्वेगस्स ॥

मिमेहं उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्यं ॥ १२५९ ॥

मध्यंविनार्कितसस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनियेषणे ॥ १३०३ ॥

पित्रयोर्व्या—तथा अप्यं भोगसुहं-धावंतस्स अठित्वेगस्स मिमे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्यं तह अप्यं
भोगसुहं । धावंतोऽस्थितवेगस्य धीमे उप्पाभित्तत्वा यथा मार्गस्यैकतरुच्छायासुखमस्य भोगसुहं तथा ॥

एवं दुःखे मृदात्मनां सुखाभिमानं समर्थ्य साधनं पदानुरोधेन भवतु ताम भोगसुहं तथा सदत्यस्मिन्निभ्युपगत
सिद्धायेन दर्शयति—

मूढारा—अठित्वेगस्स अविच्छिन्नत्वस्य । वा अवगा उण्हातत्तस्स मध्याह्नार्कैरिमितस्य । छायासुहं मार्ग-
स्यैकतरुच्छायाप्राप्त्या दर्शयति ॥ उक्तं च—

मध्यंदिनार्कतस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ॥

वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनियेषणे ॥

भोग पदार्थं सुख है ऐसा यद्यपि मान लिया तथापि यह सुख अत्यल्प है ऐसा दिखाते हैं—

अर्थ—ग्रीष्मकालमें धर्यकी धूपसे जिसको कष्ट होरहा है और जो गर्मता जारहा है ऐसे पथिकको रास्तेमें
दृक्षकी छायासे जल्प सुख मिलता है कैसे इस जीवको प्राप्त हुए भोगपदार्थोंसे अल्पता सुख मिलता है ।

अह्वा अप्यं आवाससुहं सरिदाए उप्यियंतस्स ॥
 भूमिच्छिक्कंगुहस्स उब्भमाणस्स होदि सोचेण ॥ १२६० ॥
 स्रोतसा नीयमानस्य याववाशासुखं भवेत् ॥
 पादांगुष्ठे क्षितिस्पृशे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥ १३०४ ॥

विजयोदया—अह्वा अथवा । अल्पं लघु । आवाससुहं आवास एव सुखं । सरिदाए नद्यां । उप्यियंतस्स निमग्नतः । भूमिच्छिक्कंगुहस्स भूमिस्पर्शगुहस्य । सोचेण उब्भमाणस्स क्षोतसा प्रयोद्दोहमानस्य । अल्पं आश्विनसुखे तद्विद्विपसुखमस्यस्पर्शनिमित्तात्तेन लेयंयः ॥

मूकारा—यथा वा वक्ष्यमाणमत्यल्पं तथा भोगसुरभिति संबंधः ॥ आवाससुहं आवास एव सुखं । लब्धा मया-
 रथाया तदं प्रापयामि इत्याशया निर्दुभितिरर्थः । सरिदाए नद्यां । उप्यियंतस्स निमग्नयागच्छतः । भूमिच्छिक्कंगुहस्स भूमिः
 स्पर्शगुहेन येन तस्य । भोगप्रमाणस्य उद्भमानस्य । सोचेण प्रवाहेण ॥ कर्क च—

क्षोतसा नीयमानस्य यावदाशसुरं भवेत् ॥

पादांगुष्ठक्षितिस्पर्शे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥

अर्थ—अथवा नदीमें लछके प्रवाहसे जो बहता नारदा है ऐसे मनुज्यके पाँवके अंगुठका घोंदासा
 स्पर्श जमीनपर होनेपर मैं अब डूबूंगा नहीं ऐसा भास होकर घोंदासा उसको आश्विनसुख प्राप्त होता है वैसे
 इस जविको ससारमें ईदियोंसे अन्यदुष्ट प्राप्त होता है ऐसा पूर्व गायकसे साथ संबंध समझना चाहिये-

इंद्रियसुखानि यदलक्षण्याणि युक्तो विसावस्तथ सानि सर्वानि श्रुतं वारपदिभुक्कानि, तेषु सुखेषु परित्यक्तेषु
 न युक्तो विसाव इति लगानं अतयति तेषु सुरि—

जावन्ति केह भोगा पत्ता सच्चे अणंतखुचा ते ॥

को णाम तत्थ भोगेसु विभओ लब्धविजडेसु ॥ १२६१ ॥

यैऽनंतशोअङ्गिना सुक्का भोगाः सर्वे त्रिकालगाः ॥

को नाम तेसु भोगेसु सुकलत्तेसु विस्मयः ॥ १३०५ ॥

विजयोदया—जायति केर भोगा यावन्त केचन भोगाः । सखे पत्ता अणंतलुत्ता ते । सर्वे प्राप्ता अनंतवारं ,
तव । को नाम तस्य भोगेसु को नाम नेसु भोगेषु विस्मय-लभ्येयुर्द्विगेषु ॥

इन्द्रियसुखेखनादरोषाद्विषादमाह —

मलरा—अणंतलुत्ता अनंतवारान् । निन्मओ विस्मयः आश्चर्ये । छट्ठविजयेसु प्राप्तलकेषु ॥
इन्द्रियसुख यदि पूर्वकालमें कभी मिला ही नहीं और अब ही प्राप्त हुआ होगा तो विस्मय-हर्ष मानना
योग्य है परंतु सर्व इन्द्रियसुखोंका इस जीने अनंत प्राप्त उपभोग लिया है और उनका त्याग किया है. अतः
उनमें आश्चर्यचकित होना योग्य नहीं है. इस प्रकार इन्द्रियसुखमें आचार्य अनादर उत्पन्न करते हैं—
अर्थ—जितने योग हैं वे सब अनंतरार जीको प्राप्त हुए हैं इस लिए प्राप्त करके त्याग किए गए
इन भोगोंमें आश्चर्य ही क्या है ? भोग कुछ अलम्भपूर्व नहीं हैं अतः इनके प्राप्तिले आश्चर्ययुक्त होना योग्य नहीं है.

भोगतृष्णा निरंतरं वर्धति भवतं, सेव्यमाना. पुनर्भोगास्त्वामेव तृष्णां वर्द्धयंति ततो भोगेच्छां क्षिप्रिल्लनं
करोति यदिति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु बहुदे तण्हा ॥

अग्गीव इंधणाइ तण्हं दीविति से भोगा ॥ १२६१ ॥

यथा यथा निषेवयन्ते भोगास्तृष्णा तथा तथा ॥

भोगा हि वर्धयन्ते तामिधनानीव पावकम् ॥ १३०६ ॥

विजयोदया—जह जह भुंजइ भोगे यथा भोगाभ्युक्ते । तह तह तथा तथा । भोगेसु बहु वैतण्हा भोगेसु
वर्धते तृष्णा । मग्गीव इंधनं वा । यथा अग्गीव इंधनानि । दीविति दीपयंति । तद्वत् तथा । तद्वत् तृष्णां दीपयन्ति ।
तस्य भोगेभुंजोग ॥ तथा चोत्त-तृष्णाविष परिदहति न जातिरालां ॥ इण्डियार्थविमवै परिकृक्षितेव ॥

भोगतृष्णाविर्दृशतये सेव्यमाना भोगास्तद्विदुद्वर्धयं एव भवतस्तच्छांतये भोगेच्छायेव क्षिप्रिल्लयेति
शिक्षार्थमाह ॥

मलरा—अग्गीव अग्निमिव ॥

यह भोगतृष्णा है लक्षक । तरेको निस्तर जला रही है. यदि भोगपदायाका बूं सेवन करेगा तो उसी

विजयोदया—आह ईश्वरोहिं यथैतन्नैराग्निं नृप्यति । यथा ॥ समुद्रो नवीसहस्रः । तथा जीवो न शक्यो मोहेत्लर्यपिबु ॥

भोगानामतर्पणं सद्यन्वयाचष्टे—

मूलार—विषेभु गर्पयितुं ॥

अर्थ—जैसे ईश्वरोंसे अग्नि तृप्त नहीं होता है, जैसे हजारों नदीओंसे समुद्र तृप्त होता नहीं वैसे जीव भोगोंसे संतुष्ट होता नहीं है,

देविदचक्रवर्दी य वासुदेवा य भोगभूमीया ॥

भोगेहिं ण तिप्यंति तु तिप्यदि भोगेसु किह् अण्णो ॥ १२६५ ॥

भोगेषु भोगिणीर्वाणचलकेशयचक्रिणः ॥

न तृप्तिं ये तु गच्छंति तत्र तृप्यंति किं परे ॥ १३०९

विजयोदया—देविं देवानामग्रिपताय, चक्रलंछना वासुदेवा अर्धचक्रयतिनः । भोगभूमिजास्य भोगेनं नृप्यन्ति । कथमव्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगः । सुलभाभितभोगसाधनाधिरजीविनः स्वतंत्रात्मासी । अन्ये तु भयवशा अठमरणमात्र-
॥ पि कर्तुं भराका . स्वस्वायुष , पराधीनतृप्तयश्च नृप्यंतीति सा कथा ॥

सुलभाभितभोगसाधनाधिरजीविनः स्वतंत्राच्च देवैर्द्रावयोऽपि इत्रियसुलेनं नृप्यन्ति किं पुनरितर इति सकी-
दुकोदयसं शिक्षयति—

मूलार—१२६५ ॥

अर्थ—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अर्द्ध चक्रवर्ती अर्थात् नारायण, प्रतिनारायण, और भोगभूमिज ये भोगोंसे तृप्त होते नहीं हैं, तो अन्यपुरुष उनसे कैसे तृप्त होंगे ? देवेन्द्रादिकोंको भोगपर्यार्थ सुलभ हैं, वे दीर्घायुवी हैं, और स्वतंत्र हैं, इनसे भिन्न जीव-जन्म तृप्त पेट भरनेमें भी असमर्थ हैं स्वस्वायुषी हैं और पराधीन हैं इस लिये हम तृप्त कैसे तृप्त हो सकते हैं.

संपत्तिविवेकीसु य अज्जनस्वखणपरिगहादीसु ॥

भोगस्यं होदि णरो उच्छुयचित्तो य घण्णो य ॥ १२६६ ॥

व्याकुलीभवति प्राणी ग्रहणे रक्षणोऽर्जने ॥

नाशे संपदि तत्तस्य भोगायोत्कंठितश्चलः ॥ १२६७ ॥

विलयोदया—संपत्तिविवेकीसु य संपत्सु विपत्सु च । अज्जनस्वखणपरिगहादीसु द्रव्यस्य लब्धस्यार्जने, पुंजीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणेति । हस्ते विप्रेकीर्णस्य ग्रहणे । आदिशब्देन तद्रक्षयकरणे वा । भोगस्यं अनुभवार्थं । अर्जनादिषु प्रयुक्तः । उच्छुयचित्तो य घण्णो य णरो होदि चलचित्तं उत्कंठायांश्च भवति नरः । द्रव्यसंपत्तिं जातायां रागाज्जलचित्तं भवति । इति प्रादिभिर्नाशे कथं जीवामि । पुनर्द्रव्यार्जनं करोमीति ।

भोगसाधनस्य धनस्य संपत्तादुपार्जनसिषु चलचित्तत्वाच्चित्तपत्तौ च पुनस्तत्त्वात्पुनर्लोकिकाकुलशा च त्वादिति भोगकृतं दृष्टदुःखायतं बोधयति—

मूलारा—परिगहादीसु परहस्ते विप्रेकीर्णस्य इति गतस्य स्वीकरणे स्वायत्तस्य व्ययकरणे च । उच्छुयचित्तो इत्यसंपदि जातायां रागाज्जलचित्तः । घण्णो द्रव्यविनाशे द्रव्याभिर्घाती कथं पुनर्धनं लप्स्ये इत्युत्कंठावान् ॥

अर्थ—संपत्तिकी मासि होनेपर उसका रक्षण करना, घटाना, दूसरोंको दी हुई संपत्तिको वापिस लेना, उसका व्यय करना, और भोगमें लाना इत्यादि कार्योंमें मनुष्यका मन चंचल और उत्कंठित होता है, इत्यसंपत्ति प्राप्य होनेपर मनुष्य का मन रागभ्रममें चंचल होता है, धनादिकोंका नाश होनेपर ‘अथ मैं कैसा जीऊंगा, अब पुनः द्रव्यार्जन करूंगा ऐसा विचार उत्पन्न होता है।

उच्छुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ॥

पीदीए विणा ण रदी उच्छुयचित्तस्स घण्णस्स य १२६७ ॥

व्याकुलस्य सुखं नास्ति कुतः प्रीतिर्विना सुखम् ॥

कुतो रतिर्विना प्रीतिसुत्कंठां बहूतः परम् ॥ १२६८ ॥

विलयोदया—उच्छुयमणस्स व्याकुलचित्तस्य ण सुहं न सुखं भवति । सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी । सुहेन

विना कुतो भवति प्रीतिःश्रुतिः । पीदीप विना प्रीत्या विना । न रदी न रतिः । उच्छुद्धचित्तस्व व्याकुलचेतसः । वण्णस्स उत्कण्ठायाकिन्या शुद्धितस्य ॥

मञ्जरा—पीदी रतिः ॥

अर्थ—जिसका मन व्याकुल हुआ है उसको सुख होती नहीं है. सुखके बिना प्रीति उत्पन्न नहीं होती है. और विना प्रीतिके रति उत्पन्न नहीं होती है. जिसके मनमें उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है उसको व्याकुलता संताती है.

जो पुण इच्छति रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिब्बुदिकरम्मि ॥

कुणदि रविं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥ १२६८ ॥

निरस्तदारादिविपक्षसंगती रिरंसुरथ्यात्मसुखे निरंतरम् ॥

रतिं विधत्तां शिवशर्मकारणे तथा समा नास्ति जगत्त्रये रतिः ॥१३१२।

पिऊपोद्धा—जो पुण इच्छति रमिदुं य. पुना रमितुं इच्छति । सो कुणदि रदि स करोतु रतिं । क' अज्झप्प-सुहम्मि अभ्यात्मसुखे । णिब्बुदिकरम्मि निवृत्तिकरे । उवसंतो उगतांतरामन्तोषः । एतदुक्तं भवति । मनोकात्मनोऽपिपय-सन्निधाने संकल्यश्रेयुकां वो रागश्रेयो सी परित्यज्य निवृत्तिश्रुतिद्वरे शप्यामसुखे रतिं करोतु । अज्झप्पसमा अत्यल्पपयिप-या रतिरस्यहमशब्देनोच्यते । तथा सद्यो रतिः । णत्थि सु न विद्यते एव । यस्मात् भोगवतिरव्याप्तमनो रस्या न सद्यो ॥ भगवन्प्रेष्यं तर्हि निरंतरस्यायिना पुरेणेन किं विधीयतामिति पृच्छन्ते परमार्थतत्त्वोपदेशसर्वस्वदानेनाशुपुण्ड्रंति ॥

मूजारा — इच्छति रमिदुं नित्यं रतिमधिगच्छति इत्यर्थः । अज्झप्पसुहम्मि शुद्धस्यात्माशुभत्यानंदे । णिब्बुदि-अरम्मि वृत्तिकरे । कुणदु रदि आत्मार्थि । उवसंतो मनोकात्मनोऽपिपयसंविषयात्मसंस्कल्पश्रेयुकां रागद्वेषौ निवर्त्ये स्वात्मवशमोचतः संन । अज्झप्पसमा आत्मसत्त्वविषयवति सद्यो । रदी प्रीतिः कचिदपि जगन्नवसारभोगाशुभृतिरपि मध्ये ॥ तर्क य—

यदग चमिणां सौख्यं यच्च रम्यं विबौकसां ॥

कलथापि न तत्सुखं सुपदस्य परमात्मनाम् ॥

अपि न ।

आत्माशुभाननिष्ठस्य व्यवहारसहिःसिंघतेः ॥

जालते परमानंदः कश्चियोगेन योगिनः ॥

अर्थ—जो मनुष्य समाज होनेकी इच्छा करता है, राज और कोप जिसके आंत हुए है वह पुरुष अध्यात्म सुखमें जो कि आनंददायक है उसमें समाज होवे. अर्थात् अपनी आत्मानुभवमें हमेशा तत्पर रहे. इष्टानिष्ट विषयकी प्राप्ति होनेपर मनमें संकल्प होता है. और इस संकल्पमें शयदेपकी उत्पत्ति होती है. समुद्रतीका त्याग कर तृप्ति उत्पन्न करनेवाले आत्मानुभवरूप सुखमें प्रीति करे. क्योंकि अध्यात्मरतिके समान भोगरति है नहीं.

कथम् ?

अप्यायत्ता अक्षपरदी भोगरमणं परायत्तं ॥

भोगरदीष्ट चइदो होदि ण अक्षपरमणेण ॥ १२६९ ॥

स्वस्थाध्यात्मरनिर्जनोनैव भोगरतिः पुनः ॥

भोगरत्वास्ति निर्मुक्तो परया न कदाचन ॥ १२७० ॥

विजयोद्वा—अप्यायत्ता स्थायका । अक्षपरदी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परद्रव्यानुपेक्षणात् । भोगरमणे तथा परायत्तया वा साध्यमाश्रयते । तेषां च कथंचिदेव साधिष्यं कचिदेव कस्याचिदेति । एतेन स्वायत्त- न प्रच्युतो भवति । अक्षपरमणेण अध्यात्मरतया ॥

कथमध्यात्मरतिर्भोगरतिं तिरस्करोतीत्याह—

मूलार्ता—अप्यायत्ता परद्रव्यातिरेकत्वात् । अक्षपरदी आत्मस्वरूपविषया रतिः । परायत्तं च द्विद्रव्यालंब- कत्वात् । चइदो लक्षः । भोगरतिनिमित्तपरद्रव्यानां कचित्कदाचित्कथंविस्तीर्णित्वात् । केत्यादि । अध्यात्मरत्यालंबनस्य स्वद्रव्यस्य सर्वदा सर्वथा सन्निहितत्वात् ।

अध्यात्मरतिं क्यों अष्ट है इसका उत्तर—

अर्थ—सात्मानुभवमें रति करनेके लिए अन्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं रहती है, भोगरतिमें अन्य पदा- योंका आश्रय लेना पड़ता है. अन्य पदायोंकी किसीको प्राप्ति होती है और किसीको नहीं भी होती है. अतः इन दो रतिओंमें साम्य नहीं है. भोगरतीसे आत्मा च्युत होनेपर भी अध्यात्मरतिसे वह अष्ट नहीं होता है. अतः इस हेतुसे भी अध्यात्मरति भोगरतिसे—श्रेष्ठ है.

अनेकविप्रसंहिता विनाशिनो च भोगरतिः, अथात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विप्र इति कथयत्युत्तर

गाथा—

भोगरं दीपं णासो णियदो विग्घा य होति अरिवहुगा ॥

अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो णं विग्घो वा ॥ १२७० ॥

नाशो भोगरतेरस्ति प्रत्यूहश्च सहस्रशः ॥

नाशोऽध्यात्मरतेर्नास्ति न प्रत्यूहाः कुतश्चन ॥ १२७१ ॥

विक्रयोदय—भोगरदोष भोगरत्याः । भियदो णासो निवतो विनाशः । विग्घा य इति विप्रश्च प्रसंगित । अदियुत्ता अतीव यत्नः । अज्झप्परदीए अध्यात्मरतेः सुभाविदाए सुष्ठु भावितायाः । णासो नाशो न विद्यते । विग्घा वा विप्रा वा न सन्ति । तियत् नभरसस्यउत्तमत्तया, बहुविप्रतया, विनिग्रतया च तयोर्दोषयमिति भावः ॥

प्रकारान्तरेणाऽपि कौशाट्यं दर्शयति—

दुखारा—विषयो अवश्यभावी । विष्यो ऽन्तरयाः ॥ अन्तरान्तरा तद्विषयनिश्चारयकरणीयव्यासंगानुपपे-
शात् ॥ सुभाविदाए स्वभ्यस्तयाः । विग्घो एकोऽलंतरायः सुभाविताध्यात्मरतेः कुवकुत्तया न्यायेपासंभवात् ॥

भोगरति अनेक विप्रसि मरी झुरे हे परंतु अध्यात्मरतिका अभ्यास करनेसे उसका न नाश होता है न उसमें कोई विघ्न भी उपस्थित होता है इसका विवेचन—

अर्थ—भोगरतिका सेवन करनेसे नियमसे आत्माका नाश होता है तथा इस रतीमें अनेक विघ्न भी उपस्थित होते हैं, अध्यात्मरतिका उत्कृष्ट अभ्यास करनेपर आत्माका नाश भी नहीं होता है और विघ्न भी नहीं आवे हैं, अध्यात्मरति अनश्वर है अर्थात् नित्य है, और भोगरति नश्वर अर्थात् अनित्य है, भोगरति विघ्नोत्पत्ति युक्त होती है परंतु अध्यात्मरति निर्विघ्न है ऐसी इन दोनोंमें सहाव विषमता है.

इदियसुखं शत्रुतया संकल्पभीषं तथा ॥ तथादरो अन्तर्निवृत्तेः अतोद्विद्य सुखत्यमेव कीतरामवेदुके संवेर
इति मत्ता सुखिस्त्वामभिराह—

दुक्खं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होदि जदि सच्चू ॥

अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सच्चू किण ण हुंती ॥ १२७१ ॥

शुर्वन्नो देहिनां दुःखं जायते यदि शयवः ॥

तदानीं न कथं भोगा लोकद्वितयदुःखदाः ॥ १२५ ॥

रिजयोद्या—दुःखं उप्यादिता दुःखमुपाय । अदि सच्च होति शत्रवो संयति । पुरिसा पुरिसस्त पुरुषाः पुरुषस्य । अविदुषं कुणमाणा भोगा अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । किंच सच्च न इति कथं शत्रवो न भयति भयन्त्येति । कथं भोगानां दुःखदेतुता एवं मन्यते ? इन्द्रियसुखं नाम स्त्रीपदार्थमंगलादिपदद्वयसंनिधान-जन्यं । तच्च स्र्यादिकं दुर्लभतमं निद्रिचिपस्य, तेन तदर्थं कृप्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो मदानायासः । इद्वैय भया-मुगमि दुःखनिमित्तं च कर्म हिसायेषु प्रवर्तमानोऽजयति । तदिदं दुर्लभे संसारामोक्षे निमज्जयति । तत्र च निमज्जेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥

इन्द्रियसुखानामिति दुःखकरत्वं प्रदर्शनेन शत्रुत्वं व्यवस्थाप्यंस्तत्रावावरं कारयति—

मुलारा—अविदुषं इन्द्रियसुखार्थं कर्तनीयकान्तिन्यादिकं सन्निपापयति । तत्सन्निपापनं च धनसाध्यमेवेति धनार्थं कृप्यादिकं करोति । सच्च कुर्वन्तिरंतरं आत्मानमायासयति, हिसादिकं च प्रवर्तयति । तथा च महान्पापं धत्तेन च अपकृत्य शिक्षास्वर्गस्थविधानार्थमेव यत्नं कृत्वा पुरिसिरोरत्नेन ॥

इन्द्रियसुखं बहुसमान समग्रना चाहिये. इन्द्रियसुखमें आदर करनेसे वृष्टि होती नहीं है. अतीन्द्रिय सुख ही पीतरागपना और संवरका कारण है ऐसा आचार्य चूदामणि कहते हैं

अर्थ—दुःख उत्पन्न करनेसे यदि पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं. तो अतिशय दुःख देनेवाले इन्द्रियसुख क्यों न शत्रु माने जायेंगे ? इन्द्रियसुख दुःखदायक कैसा इस प्रश्नका—

उत्तर—स्त्री, वस्त्र, गंध, पुष्पमाला वगैरह पदार्थोंके सानिध्यसे इन्द्रियसुख उत्पन्न होते हैं. परंतु स्त्री वगैरह पदार्थोंकी प्राप्ति होना दरिद्री मनुष्यको अतिशय दुर्लभ है. दरिद्री मनुष्यको उनकी प्राप्तिके लिये कृपि वगैरहके लिए प्रयत्न होता है जिससे संसार बढानेवाला और दुःखका कारण ऐसा कर्मबंध उसको होता है. यह कर्म दुःखदायक और जिसका अंत अतिकष्टसे प्राप्त होगा ऐसे संसारसमुद्रमें जीवको डूबाता है. संसारमें नियम हुए इस जीवको कौनसा दुःख प्राप्त नहीं होता ? अर्थात् सर्व प्रकारके दुःख इस जीवको योग्यने पढते हैं.

शत्रुतया भोगा इति कथयति—

इषहं परलोभे वा सत्त्वं भित्तत्तणं पुणमुर्वेति ॥

इषहं परलोभे वा सदाहं दुःखावहा भोगा ॥ १२७२ ॥

शत्रुवो यान्ति भित्तत्त्वमिहं वामुन्न वा यवे ॥

भित्तत्त्वं प्रतिपद्यन्ते भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥ १२७३ ॥

विजयोदया—इषह अस्मिन्नेव जन्मनि । परलोभे वा परजन्मनि वा । सत्त्वं शत्रुतयः । भित्तत्तणं भित्ततां । पुणः पुर्वेति पुनर्दोहस्ते । शत्रुवः शत्रुतामपि जह्युः । कार्यवशात्, उपकारविशयसंपन्नानामभिप्रेतां वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोभे वा सत्त्वदा दुःखावहा भोगा सर्वदा दुःपावहा भोगा । ततः शत्रुतया इति भावनीयं ॥

भोगानां शत्रुत्वभावभावनायैवाह—

मूढारा—इषहं अभिममेन जन्मनि । अन्यस्त्वेवं व्याख्यात् ॥ इष इहसवे । इ किं इह लोके परलोभे इत्यर्थः ।

पुन ज्वेन्नि कार्यवशाच्छत्रुवो भूतया पुनर्भित्तत्वं यान्ति ॥

अर्थ—इसी जन्ममें अथवा अन्य जन्ममें अपने शत्रु शत्रुत्व का त्याग का भित्त हो सकते हैं. कार्यके पण होकर शत्रु अपना वैर छोड़कर मित्र होते हैं. अथवा उनके ऊपर शत्रुत्व उपकार करनेसे भी वे अपना शत्रुत्व छोड़ देते हैं. परंतु इस जन्ममें अथवा जन्मोंतरमें भी भोग हमेशा दुःखदायी ही हैं. इसलिये उनसे जगतमें कोई भी महात्मा शत्रु नहीं है.

एगमि सेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ॥

भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोटिकोटीसु ॥ १२७३ ॥

वैरिणो देहिनां दुःखं यच्छन्त्येकत्र जन्मनि ॥

संततं दुस्सहं दुःखं भोगा जन्मनि जन्मनि ॥ १२७४ ॥

विजयोदया—एगमि सेव देहे । करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी एकस्मिन्नेव देहे कुर्याद्दुःखं न चा शत्रुः । भोगा पुण भोगा. पुनः । से तस्य । दुक्खं करंति दुक्खं कुर्वन्ति । भवकोटिकोटीसु जन्मेषु भवेयु । एवं भोगदोषात्तेत्याज निदानं त्वया न कार्यं इत्युपनिषद् सूरिणा ॥

मूलाधारणा—करेज्ज कुयन्ति । भवकोटिकोटीसु ॥ जनविषु मयेषु ॥

अर्थ—इस भयमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसको शत्रु दुःख देगा या नहीं भी. क्यों कि हम सी उसके साथ लड़कर हमारे शरीरका रक्षण कर सकते हैं. अतः वह नियमसे हमारे शरीरको पीड़ित नहीं कर सकेगा. परंतु भोग अनंतभयोंमें इस शरीरधारक आत्माको दुःख दे रहे हैं. भोगोंके ऐसे दोषोंका स्वरूप जानकर हे क्षपक ! तू भोगनिदान मत कर ऐसा आचार्यने उपदेख दिया है.

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ॥
तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥ १२७४ ॥
निदानी मेक्षते भोगात्त संसारमनारवम् ॥

मध्वेव मेक्षते पानं तटस्थायी न तुस्सदम् ॥ १३१८ ॥
चिंतयोदया—मधुमेव पिच्छदि मायेष पदपति तथा तटेऽवलंबमानः । ण पिच्छदि न मेक्षते । पपादं प्रपातमात्मनः । तह तथा । सणिदाणो निदानस्वहितः । भोगे पिच्छदि भोगान्मेक्षते । ण हु पेच्छदि दीहसंसारं । नैव मेक्षते दीर्घसंसारं ।

भोगनिदानयतो भोगजन्यपापपरंपरानवेक्षित्वं दृष्टान्तेन भावयति—

मूलारा—मधुमेव सुते पतनं शीघ्रकिन्दुमिव । तडिओलंबो कूपभिर्येकदेऽवलंबमानः । पपादं प्रपातनं ॥

अर्थ—कूपके भित्तिके एक भागपर खड़ा हुआ मनुष्य मधुके छतेसे गिरते हुए मधुविशुद्धोंका आस्वाद लेनेमें ही मस्त रहता है परंतु कूपमें गिरनेका भय मनमें नहीं लाता है वैसे निदान करनेवाला मनुष्य भोगोंके पदार्थोंका आस्वादन लेनेमें निमग्न रहता है परंतु इससे मेरेको संसारमें दीर्घकालतक अग्रण करना पड़ेगा ऐसा विचार मनमें लाता नहीं है.

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा मयं अयाणंता ॥
तह संगदिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥ १२७५ ॥

भोगमन्त्रे प्रवीच्यन्ति जन्मदुःखमनारतम् ॥

आपद्रुयंतो मृत्तित्रासं जालमन्त्रे ह्रया इव ॥ १२१९ ॥

विजयोद्या—जालस्त जालस्य । अंते मन्त्रे । जहा मन्त्रा रमंति यथा मत्स्या रमंते । भवमयानंता भयमन-
यमुच्यमाना । तद् संवादिसु तथा परिग्रहणेषु । जीया रमंति जीवा रमंते । संसारमयकला संसारमगणयंतः ॥

कमिन्यादिभोगेषु निर्भयक्रीडां प्रापिनां रम्यत्वेन स्पष्टयति—

मूला—अन्ते मन्त्रे । अयं शृणुभीति । संसारमगणतो संसारतद्विषयत इत्यर्थः ॥

अर्थ—धीयस्ते जालमं भवेदा जिनको परित्थान नहीं है ऐसी मछलियां जैसी खेल्ती हैं. जैसे संसारी जीव संसारभयसे रहित होकर स्त्री वगैरह परिग्रहमें रममाण होरहे हैं.

कुर्यान्निपतममूलाभीष्टियदुष्पानि निवोगतः प्रहृष्टयोर्द्वेषपागयोर्निमित्तत्वात् । तच्छ कुत्सितास्तु योनिषु कृत्वा
दुःखानि विचित्राणि चतुर्भक्ताः देवादिभ्येषु दृष्टा भोगा वस्त्रालंकारभोजनादयो दुःखं निराकुरु न क्षमा इति पदति
माथाद्वयेन—

दुक्क्षेण देवमाणुसमो लब्धूण चावि परिविद्धिदो ॥

णियविमदीदि कुजोर्णी जीवो सखं पठत्यो वा ॥ १२७६ ॥

माप्यपि कृच्छ्रतो जीवो देवमानवसंपदम् ॥

प्रवासीय निजं स्थानं कुर्यान् पाति निश्चितं ॥ १३२० ॥

विजयोद्या—दुक्क्षेण लब्धूण पलेद्येन लब्ध्वा । देवमाणुसमो देवमाणुसमो भोगान् । परिविद्धिदे परिवर्तित्वा ।
प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीवः । कुजेर्णो नियवमवीदि कुत्सितं योनिं नियतयुगैति । किमिय ? सखं स्वयं, पठत्यो वा
प्रवासीय ॥

दुःखरतप्रशरणपूर्वनिवृत्तेन देवादिभोगाद्व्याप्य भुंजानस्य मोहद्विषयमूलकप्रहृष्टरमहोपरिणामसंगृहीतदुःख-
चक्रस्य नियोगेन कुर्यान्निपूषणतिर्पवदि । तत्र च दुःखान्यनुभवतत्तत्तच्छादकमिन्द्रियभोगा न मनागपि परित्रां कुर्वे-
न्तीति माथाद्वयेनोपदिशति—

मूला—दुक्क्षेण संवसवलेक्षपूर्णकनिवृत्तेन । परिविद्धिदे परिवर्तुतः । अदीदि ज्वैति । पठत्यो वा प्रवासीयवा ॥

इन इंद्रियसुखोंका उपभोग लेनेसे आत्मामें सीय रागद्वेग उत्पन्न होते हैं और इनसे आत्मा कुपोनिमें पड़कर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव लेता है, यद्यपि देवादिवर्तिये वस्त्र, अलंकार, भोजनादिक भोग मिलते हैं तथापि वे इस आत्माके दुःखोंका नाश नहीं कर सकते हैं- इसी विषयका आचार्य दो माथाज्यमें वर्णन करते हैं—
अर्थ-संयमके बलेसे निदान वस्त्र होकर देवोंके और यशुष्योंके भोगोंकी प्राप्ति कर लेनेपर यह आरमा प्रवासी? लेता अपने घरके प्रति गमन करता है वैसे कुत्तिसव योनिज्योनि निश्चयसे उत्पन्न होता है-

जीवस्स कुजोणिगदस्स सस्स दुबल्लाणि वेदयंतस्स ॥

किं ते करंति भोगा मदोव केज्जो मरंतस्स ॥ १२७७ ॥

किं करिष्यंति ते भोगा योनिं यातस्य कुत्तिसतां ॥

किं कुर्वन्ति मृता वैद्या त्रियमाणस्य वेदिनः ॥ १३२१ ॥

विजयोदया—जीवस्स कुजोणिगदस्स कुपोनियतस्य जीवस्य । दुष्प्राणि वेदयंतस्स सुखानि देवयमानस्य । किं ते करंति भोगा किं वे कुर्वन्ति भोगाः स्त्रीपक्षादयः । नैव किंचिदपि दुःखलभयमेवेतु क्षमाः । मया य देवजो वैद्यो मृतो यथा । मरंतस्स त्रियमाणस्य न किंचित्कर्तुं क्षमः ॥

मृलारा—मदो मृतः । मरंतस्स त्रियमाणस्य रोगिणः ॥

अर्थ—कुपोनिज्योनिं जीव जब दुःखानुभव लेता है तब ही यक्षादिक पदार्थ उसका योडासा तुल्य भी हरण करनेमें समर्थ नहीं है, क्या मया हुआ वैद्य मरनेवालेका रोगदुःख मिटा सकता है ?

जह सुत्तवदसउणो दूरंणि मदो पुणो व एदि तहिं ॥

तह संसारमदीदि हु दूरंणि मदो निदाणमदो ॥ १२७८ ॥

संसारं पुनरायान्ति निदानेन नियंत्रिताः ॥

दूरं यातोऽपि पक्षीच रदिमना निजमास्पदम् ॥ १३२२ ॥

वितस्योदया—जह सुत्तवदसउणो यथा सुवेण दीवेण यदः पक्षो । दूरंणि मदो दूरमपि गतः । पुणो एदि तहिं

पुनरप्येति तेषां वेद्यं । तद् संसारमदीदि ह्यु संसारस्यन्तरः सु शब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—संसारमेवाधिगच्छ-
सीति । दूरं च गतो महादेवं स्वर्गादिस्थानमुपगतः, निदानमदो निदानं परममे सुखतिस्रो मे मनःप्रविधानं गतः ॥

निदानिनः संसारावत् समर्थयते—

मूलारा—सुखतद्वत्तवणो दोषैर्नूत्रनियतः पक्षी । तर्हि स्वस्थानमेव । इह संसारयेवाधिगच्छतीत्यर्थः । दूरं

महादेवस्वर्गादिरथानं । निदानमदो परममुत्साहिसाधिनःप्रविधानं गतः ॥

अर्थ—दोषैरे वंधा हुआ पक्षी दूर जाकर भी पुनः अपने पूर्व स्थानपर आता है वैसे यह जीव भी
निदानके प्रभावसे महाप्रद्विस्तपन्न स्वर्गादि स्थानमें जाकर पुनः संसारमें प्रमग्न करता है.

काश्चिदुक्तः कारागृहे इयता फालेन तद् द्रविणं दास्यामि मन्ववीयेमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा इत्थं रोचतेभ्यः
प्रदाय स्वगृहे सुखं दत्तमपि पुनर्वंधा कैरुसमर्थेयंयते तथैव निदानकारी कृतेन पुण्येन परिमलस्वर्गोऽपि पुनरप्यः पत-
तीति निगदति—

दाऊण जह्वा अत्यं रोधणमुक्को सुहं घरे वसइ ॥

पत्ते समए य पुणो रंमइ तह चेव धारणिओ ॥ १२७९ ॥

अधमणो निजे गेहे रोधमुक्को सुखं वसेत् ॥

वत्वार्यं समये प्राप्ते यथा भूयो निरुपयते ॥ १२८६ ॥

विजयोदया—दाऊण दात्या, अत्यं अर्थ, जह यथा, रोधणमुक्को रोधेन मुक्तः, सुहं घरे वसति एव सुखेन गृहे
वसति । पत्ते समये य प्राप्ते नावधिकाले, पुणो रंमइ पक्वत्वं रंम्यते, तथा चेव पूर्ववदेव, धारणिओ अधमणः ॥

निदानेन दिवं प्राप्य पुनरधमयोनिसु पक्वीति निदर्शनमुत्तरं गणाह्वयेनोपहिति—

मूलारा—अर्थं कलंतररंभवकादिद्रव्यं । रोधणमुक्को परगच्छाद्विच्युतः । समए इयता फालेन पुनर्दास्यामि इति
प्रतिपद्यावधिकाले । रंमदि परलभे क्षिपते । तथा चेव पूर्ववदेव । धारणिओ अधमणः ॥

कारागृहमें कैद किया हुआ कोई मनुष्य इतने दिनोंके अनंतर में तुझारा द्रव्य देखेगा इस समय तुम
अपना धन मेरेको दो ऐसा कहकर उनसे धन लेकर वह कैदमें रखनेवालोंको देकर उनसे अपनी मुक्ता कर लेता
है. धरमें जाकर वह सुखसे रहता है. परंतु पुनः वे कबों देनेवाले धनिक आकर उसको पकड़ते हैं. वैसे

ही निदान करनेवालेकी परिशिष्टि होती है, अर्थात् निदानकारी मनुष्य किए हुए पुण्यसे संग्रप्ताति कर लेनेपर भी पुनः अधोगतिमें चला जाता है. इसी अभिप्रायको स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—कई लेनेवाला पुरा धन देकर कैदसे मुक्त होता है और घरमें आकर सुखसे रहने लगता है. परंतु जब पुनः साधुकारको धन लुब्धमेका काल प्राप्त होता है तब पुनः वह कर्मा लेनेवाला पुरा कैदमें डाल जाता है. वैसे—

दादंशिके योजयति—

तह सामणं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सगो ॥

संसारमेव गच्छइ तत्तो य जुवो निदाणकरो ॥ १२८० ॥

संभूदो वि निदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ॥

पत्तो तत्तो य जुदो उववणो निरयवासम्मि ॥ १२८१ ॥

इवानीं वरणं कृत्या तुलं सुखत्थाऽवनिष्ठते ॥

अदिधे समये प्राप्ते तथा याति पुनर्भवम् ॥ १३२४ ॥

देवश्चकीं सुलं सुक्खा संभूतो हि निवानतः ॥

निरंतरं महादुःखं प्राप्तश्च प्रतिवर्तितम् ॥ १३२५ ॥

विजयोदया—संभूदो वि निदाणेण निदानेन संभूतः कश्चित्, देवसुपुलं देवसुगं, चक्कहरसोक्खं चक्कहर-
सौख्यं, पत्तो प्राप्तः । तत्तो ॥ जुदो कस्यात्सुखात्तद्व्युतः, निरयवासम्मि निरयवासे ॥

मूढारा—निदाणकरो एतत्तपेजुभावेन देवलोको मे गृह्यादिति विद्वानं नृत्वं येनासौ ॥

भोगनिदानदोषमर्षाऽव्यनेनाख्याति—

मूढारा—संभूदो संग्रहणमकः कुटुम्बिकपुत्रः । देवसोक्कं सौधमकल्पवासिसुसुखं । चक्कहरसोक्खं प्रसन्न-

चात्यदादश चकचविदाम् ॥

अर्थ—निदानयुक्त तप करके कोई पुरुष स्वर्गमें सुख भोगता हुआ काल व्यतीत करता है- परंतु वहाँका आनुरूप समाप्त होनेके अनंतर वह पुरुष स्वर्गमें व्युत्त होकर संसारमें अग्रण करता है-

अर्थ—सभूत नामक कोई किसानका लडका निदान युक्त तप करके सौधर्म स्वर्गके सुखका उपभोग लेकर यहाँ भूत क्षेत्रमें ब्रह्मदत्त नामक अन्विम चारहवां चक्रवर्ति हुआ- चक्रवर्तिके सौख्य भोगकर चक्रवर्ति पदसे अष्ट होकर नरकगर्तमें सातवें नरकमें उत्पन्न हुआ-

एवञ्चा दुरंतमदुयमचाणमसिप्पयं अविस्सायं ॥

भोगमुहं तो तग्हा विरदो मोक्खे मादि कुज्जा ॥ १२८२ ॥

अतर्पकमविश्वायं भोगसौख्यं विनम्बरय ॥

दुरंतं सर्वथा त्यक्त्वा मुक्तिसौख्ये मतिं कुरु ॥ १२८३ ॥

विजयोद्या—एवञ्चा ज्ञात्वा, दुरवसानदुःखफलमिति यावत्, अदुचं अन्वियं, अत्ताणं अत्राणं, अतिवर्णं अतर्पकं, अविस्सायं असकृद्वृत्तं, भोगमुखं भोग्यते सेव्यते इति भोगा- इत्यादयः, तेज्जितं सुखं, तो एवञ्चात्, तग्हा एवञ्चात्, भोगमुहं, दुर्लभादिदृष्टोपात्, विरदो व्यावृत्तः, मोक्खे मोक्ष निर्वचरोपक्रमोपाये । मदि कुज्जा मतिं कुपोत्त, अनुसि- यमानेन चारिणेन तपसा वा कर्मण्योऽस्तीति मतिं कुपोत्त, न निदानं कुपोत्तियर्थः ।

एवं भोगनिदाने दोषान्प्रपंच्य भोगसुखोपायानुरःसरं तपसा कर्मण्योऽस्तीति भावनीयन्तेनोपदिशति—
मुञ्जारा—एवञ्चा ज्ञात्वा । दुरंतं दुरवसानं । दुःखफलमिति यावत् । अत्ताणं अरक्षकं, रक्षितुमशक्यमिति वा । अतिपपं अतृप्तिकरं । अविरसमं असकृद्वृत् । अनादिसंसारोऽनेकवारानुक्तत्वात् । तो एवञ्चात् । मदि अनुसोयमानेन तपः संयमादिना कर्मण्योऽस्तीति बुद्धिं न निदानं ॥

अर्थ—वह भोगमुख अन्तरहित ऐसे दुःखरूप फलको देता है, अनित्य है, इससे जीयका संरक्षण नहीं होता है अर्थात् कुगतिमें जानेवाले जीवको यह भोगमुख उससे संरक्षण नहीं करता है- इस भोगमुखसे जीव दुस्त नहीं होता है- यह सुख जीवको चार चार प्राप्त होता है- एवं दोषविशिष्ट इस भोगमुखका जब ज्ञान होता है तब यह आत्मा संपूर्ण कर्मका नाश करनेवाले मोक्षमुखमें अपनी बुद्धिको लगाता है- अतः हे क्षपक ! आपरणमें लाये हुए रत्नत्रयसे और तपसे कर्मक्षय होता है ऐसा समझकर तू निदानका त्याग कर-

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाचरणं विसोधेदि ॥

तो सुद्धणाचरणो तवसा कम्मवत्तयं कुणइ ॥ १२८३ ॥

विमोध्य दर्शनज्ञानचारित्रितयं यतिः ॥

निर्निदानो विशुद्धात्मा कर्मणां कुरुते क्षयम् ॥ १२८४ ॥

विजयोदया—अणिदाणो य मुणिवरो अणिदानो यतिपुरुषः, दंसणणाचरणं रत्नत्रयं विसोधेदि किञ्चोपयति, निदानाभावादनतिचारं सम्पद्यदोषं शुद्धं प्रयति, तस्मिन्निर्मलं ज्ञानं, विशुद्धज्ञानपुरोमं चारित्रं विशुद्धं भवति, तवसा कम्मवत्तयं कुणइ तपसा कर्मणां कुरुते क्षयम् ॥

एवं निदानरूपान्वितरेण इवाक्याय संप्रत्यनिदानत्वे गुणं व्याचष्टे—

मूलारा—विसोधेदि निदानाभावादि निरतिचारे सति सम्पत्तये, जातायां ज्ञानविशुद्धौ, चारित्रं विशुद्धं संप्रयेता।

निदानके दोषोका सविस्तर विवेचन हुआ. निदान नहीं करनेमें क्या गुण है इनका विवेचन—

अर्थ—जिन्होंने निदान नहीं किया है ऐसे मुनिराज अपना रत्नत्रय निरतिचार करते हैं. निदानके अभाव से सम्पद्यदर्शन निर्मल होता है निर्मल सम्पद्यदर्शन ज्ञानको निर्मल बनाता है. विशुद्ध ज्ञानके साथ पाला गया चारित्र भी निर्मल होजाता है. इस तरहसे निर्मल रत्नत्रयधारक साधु तपश्चरणके द्वारा संपूर्ण कर्मोंको अपने आरमासे जलग करता है.

इच्छेवमेदमविधितयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ॥

इच्छेवं परसंतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥ १२८५ ॥

दोषानिति सुधीशुद्ध्वा निदानं विदधाति नो

जानानो दारुणं मृत्युं को हि भक्षयते विषम् ॥ १२८७ ॥

लुपति पातकलोपि चारित्रं सिद्धिसुखं विधुनोति पवित्रम् ॥

देहवतामुरुषोपनिधानं किं कुशलो न शृणोति निदानम् ॥ १२८८ ॥

विजयोदया—इत्येवमेवमविवर्तितयदो इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविवर्तितयता॥ शोल्लुङ्गु भावेदेव, विद्वानकरणमयी नि-
दानकरणे मतिर्बुद्धिः, शब्दार्थं परस्त्वतो इत्येवमेवतत्पदयन्, न खलु नैव, होदि स्मवति विद्वानकरणमयी निदानकरणमतिः ॥
विद्वान् ॥

एवंविधयायमानबुद्धानानुष्ठानबोः फलेऽर्थादि—

मूढारा—इत्येवमेवं इति श्राव्यवचनोक्तं । वस्तु । एवमेव इत्यमित्थं । अभिविचयतो ज्ञानवतोऽप्ययित्वा ॥
अर्थ—उपर्युक्त बातोंका जो पुरुष विचार नहीं करता है उसकी बुद्धि निदान करनेके तर्फ लगी है. परंतु
जो इन बातोंका विचार करता है वह निदान नहीं करता है. निदान करनेसे रत्नत्रयमें निर्मलता आती है और उसके
द्वारा कर्मका क्षय होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा विचार करनेवाला मुनि निदानका त्याग करता है. परंतु
मोक्षमें जिसकी बुद्धि सुबुद्ध हो गई है वह मुनि रत्नत्रयकी निर्मलताके तर्फ ध्यान नहीं देता है अतः वह निःशून्य
नहीं होनेसे संसारमें भ्रमण करता है.

मायासंश्रुतसालोयणाधियारस्मि वणिणदा दोसा ॥

मिच्छत्तसंछुदोसा य पुत्तमुत्तवणिण्या सत्त्वे ॥ १२८५ ॥

आलोचनाधिकारस्य मायाशून्यस्य दूषणं ॥

उक्तं मिथ्यात्वशून्यस्य मिथ्यात्ववचनस्तत्त्वे ॥ १२९ ॥

विजयोदया—मायासंश्रुतस्य मायाशून्यस्य, आलोचनाधिकारस्मि मायाशून्यवचनस्तत्त्वे ॥ १२९ ॥
'दोषा', मिच्छत्तसंछुदोसा मिथ्यात्वशून्यदोषात्र । सत्त्वे सत्त्वे, पुत्तमुत्तवणिणदा पूर्वमेव व्यावर्णिताः, शून्यनपगतदोषा-
भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूचिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शून्यतया त्वया व्यावर्णिता ॥

मायामिथ्यात्वशून्यदोषाग्रयुक्तान्क्षयकमनुस्मरणति—

मूढारा—गुल्यं मिथ्यात्ववचनवर्णनाधिकारे ॥

अर्थ—आलोचनाके अधिकारमें मायाशून्यके दोषोंका वर्णन ग्रंथकारने किया है. मिथ्यात्वशून्यके
दोषोंका भी पूर्वमें वर्णन हो चुका है. हे क्षयक! तुझको इन तीनों शून्योंके दोषोंका परिज्ञान हुआ है अतः तू इन
तीनों शून्योंका त्याग कर.

मायाशक्त्यपरित्यागार्थाव्याप्तेन वर्तते—

पञ्चद्वयोधिलाभा मायासङ्गेण आसि पूदिमुही ॥

दासी सागरदत्तस्य पुष्पदंता दु विरदा वि ॥ १२८६ ॥

मायाशक्त्येन ही चोघेः प्रअष्टा कुधितानना ॥

दासी सागरदत्तस्य पुष्पदंताजिकाभवे ॥ १२९० ॥

विजयोदया—पञ्चद्वयोधिलाभा विनष्टो दोषाभिमुखद्विलाभो यस्याः सा प्रअष्टयोधिलाभा । आसी आसीत् । का ? पूदिमुही प्रतिमुहीसंक्षिता । सागरदत्तस्य दासी सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? मायासङ्गेण माया शब्देन । पुष्पदंता दु विरदा वि मायासङ्गेण पञ्चद्वयोधिलाभा आसी इति पदसंबन्धः पुष्पदंताख्यासंयता च मायया प्रअष्टयोधिलाभा आसीत् । मायाशक्त्येन ॥

मायाशक्त्यफलमार्थान्वयेन कथयति—

मूलारा—योधि दीक्षाभिमुखद्विदिः । आसि संजातः । पूदिमुही प्रतिमुहीलान्वयवर्णनाम्नी । विरदा वि आर्थिकापि

मती ॥

मायाशक्त्यका त्याग न करनेसे जिसका नुकसान हुआ गा ऐसी व्यक्ति का दृष्टांत आचार्य कहते हैं—
अर्थ—पुष्पदंता नामकी आर्थिका मायाशक्त्यसे दीक्षाके विचारसे रहित हुई अर्थात् मैंने दीक्षा आत्म-
कल्याणके लिये धारण की है ऐसी भावना मायाशक्त्यसे उसकी नष्ट हुई और वह मरकर सागरदत्तके यहां प्रति-
मुही नामकी दासी हुई. इस तरह मायाशक्त्यका वर्णन हुआ.

मिच्छत्तसद्युदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ॥

बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिडिओ मरिची ॥ १२८७ ॥

विद्धो मिथ्यात्थसत्त्येन धार्मिको वत्सलाश्रयः ॥

मरीचिरग्रमद्भीमे चिरं संसारकरनेने ॥ १२९१ ॥

निदानमयायाविपरीतवशोर्निर्विदायतंजी निक्षितैः शरैरेव ॥
विद्युद्य दोषानिति शुद्धबुद्धयस्त्रिधापि शून्यं दवयन्ति यत्नतः ॥ १३३२ ॥
इति शून्यम् ॥

विजयोदया-मिच्छतस्तद्विरोधा मिथ्यात्वशून्यवोपात् । पियचमो साधुवच्छलो संतो प्रियधर्मः साधूनां वरस्त-
तोऽपि सन् मरीचिः । यदुदपये संसारे मुचिरं पडिदिहो संसारे सुचिरं भ्रातृ, कीदृशे ? यदुदुःखे ॥ मिथ्याशून्यं ॥

मिथ्यात्वशून्यापकारनर्थक्यत्वेन आह—

मूलार—मरीचो मरीचिकुमारः । पंचमहाप्रवरका ॥

अर्ध-निसफा धर्मवर देम था और जिसमें साधुओंके प्रतिवात्सल्य था ऐसे मर्यादिनामक मुनिने मिथ्यात्व
शून्य दोषते चिरकालतक अनेक दुःखोंसे व्याप्त संसारमें प्रमग किया. इस प्रकार मिथ्यात्वशून्यका वर्णन हुआ.

एवं निर्वाणकेन सूरिणा संस्तूयमान. साधुयगो निर्वाणपुरं प्रविशतीति वक्ष्यति उत्तरप्रबंधेन—

इय पद्धज्जामंदिं समिदिबुद्धं तिगुचिदिदचकं ॥

रादियसोयणउजं सम्मत्तकं सणाणधुरं ॥ १२८८ ॥

प्रमज्जयंगंत्रिकां गुत्तिचकां ज्ञानमहाधुरं ॥

समित्थुक्षणामारुहा क्षपको वृक्षोनादिकम् ॥ १३३३ ॥

विजयोदया—इय सारथिजंते साधुयगसत्थो साधुबणियगो संसारमहादर्थे तरवित्ति यदवदत्ता । व्याधार्ति-
तक्रमेण संस्क्रियमाण. साधुवृक्षार्थः संसारमहादर्थो तरति । पल्लवज्जामंदिनामवृक्ष पच्छिदो प्रबन्ध्यामंदिनामवृक्ष प्र-
स्थितः, समिदिबुद्धं समित्तिवलीयत्ता, तिगुचिदिदचकां तिगुत्तिवृक्षकां, सम्मत्तकं सव्यक्काक्षां, सणाणधुरं समी-
चीनज्ञानधुरती ॥

सांप्रतं सामान्यविशेषाभ्यामभिहित्व कथयन्निर्वाणं ज्वाविरज्ज्याधुः पूर्वं सामान्येन उदोयान्यक्तुं साधानिपट्टणा
प्रक्रमते । तद्विषयविशेषसिद्ध्यर्थं च तावत्प्रत्येकं ज्वाल्यातमर्थं सुउत्सृज्यसुपसंतुष्टं गाथाद्वयेतोषमालंकारमुभयगमभिधेयं—

मूलार—एवज्जामंदिं प्रज्जया दीक्षा मा भंजिरिय गद्धिका यथेति यावत् । बहुवाक्काभारक्षमत्वात् । रादियभो-
यणउजं राध्यभोजनं द्रव्यवो माधवतश्च रात्रिभोजनमिद्विद्वयं दीर्घेद्विषयद्वयं यस्याः सा राज्यभोजनाद्धि सांतवियेर-
नितत्वाभावात् कप् ॥

निर्यापक आचार्यके द्वारा स्तुति किए हुए साधु मोक्षनगरीमें प्रवेश करते हैं इस विषयका विवेचन आगे आचार्य करते हैं—

अर्थ—जो उपदेशका क्रम यहाँतक आचार्य महाराजने बताया है उससे जब साधुमनूहरूपी सार्थ संस्कृत किया जाता है तब वह संसाररूपी महान् जंगलके दूसरे किनारेपर सुखसे जा सकता है अन्यथा नहीं। जिसको समीतिरूपी बेल जोंदे हैं, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिरूपी षड्विध जिसके हैं सम्यक्त्वरूपी आँख और सम्यग्ज्ञान जिसकी घुरा है, और द्रव्यरात्रिभोजन साक्षात् रातमें आहार लेना और भावरात्रिभोजन—रात्री भोजनकी मनमें अभिलाषा करना इन दोनोंका त्याग हो जिसके दीर्घ दृढ़ है ऐसी दीक्षारूपी गाड़ीपर सवार होकर साधुरूपी व्यापारिओंका समुदाय संसाररूपी महाजंगलके दूसरे किनारेको सुखसे जाता है,

वदमंडभरिदमारुहिदसाधुसत्येण पत्थिवो समयं ॥

णिब्बाणमंडहंदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥ १२८९ ॥

प्रस्थितः साधुसार्थेन व्रतभंडभृता सह ॥

सिद्धिसौख्यमहामांडं ब्रहीतुं सिद्धिपत्तनम् ॥ १३३४ ॥

विजयोदया—वृद्धनृपनरित्त्वं व्रतभंडपूर्णं । साधुसत्येण पत्थिवो साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धि-
पुरं । निब्बाणमंडहंदुं नियर्वाणद्रव्यनिमित्तं साधुवाणियनो क्षयकसाधुवाणिक् ॥

मूलारा—मंडं क्रयणकं । समयं सह । निब्बाण सिद्धिखंडं । साधुवाणियनो क्षयकयद्विपणिक् ॥

अर्थ—साधुरूप व्यापारिओंके साथ इस क्षयकरूप व्यापारीने दीक्षारूपी—व्रतरूप माल भर दिया है और वह इसको बेचकर मोक्षरूपी मालकी सर्वोदो करनेके लिये सिद्धिपुरको खाना हो रहा है-

आयरियसत्यवाहेण णिज्जउत्तेण सारविज्जंतो ॥

सो साहुवगसत्यो संसारमहाडवि तरह ॥ १२९० ॥

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ भीमां जन्ममहादवीम् ॥

आचार्यसार्थवाहेन महोद्योगेन लघते ॥ १२३५ ॥

विजयोद्या—आचार्यसत्यवाहेन आचार्यसार्थवाहेन । निचजुत्तेण सर्वदानपरिणा साद्विज्जंतो संस्क्रियमाणः ।

तथाभूतक्षपप्रत्य यतिविनिष्ठस्य यतिर्बुद्धस्य संसारज्ज्ञेनोपायमाह—

मूलारा—किञ्चजुत्तेण सममममाहितम् । साद्विज्जंतो संस्क्रियमाणः । पुनः पुनरपायदेतुव्यावर्तनोपाये निधुष्यमान इत्यर्थः । सो तत्तादारापकसाधुविशिष्टः । सत्थो वाणिज्योपगतः । यतिकुसंघातः तददि अतिक्रामति ॥

अर्थ—आचार्यरूपी न्यापारिज्जोके नायकके द्वारा जो कि सर्वदा सावधान रहता है संस्कारयुक्त हुना यह साधुरूप व्यापारिज्जोका समुदान संसाररूपी जंगलको चीरकर मोक्षपुरको सुलसे जाता है.

तौ भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाळंघं ॥

इंदियचोरेहिंतो कसायवहुसावदेहिंतो ॥ १२३६ ॥

तं भायनामहाभांडं प्रायसे भवकानने ॥

कपायअयालतः सुत्तरिंदियस्सेनतस्तथा ॥ १२३७ ॥

विजयोद्या—जो ततः । भावणादियंतं रक्खदि भावनाश्रित्यः प्रयत्नं रक्षति । साधुसत्थं तं साधुसार्थं तं । भाउतं साधुके भाउमत । कुतो रक्षति इत्याशंकार्णा उत्तर—इंदियचोरेहिंतो इंदियचोरेभ्यः, कसायवहुसावदेहिंतो । कपाय यदुभ्यास्तेभ्यश्च ॥

मोअपयप्रशयिन्तो यतिर्बुद्धसाचार्यवार्त्तामिंदियकथायंसंसायाजपरिज्जाणमाह—

मूलारा—जो सः सार्थवाहायमानो धर्माचार्यः । भावणादिजुतं भावना रात्रिभोजननिवृत्त्यप्रवचनमाह-कमिर्बुद्धं महाजनेषु प्रकल्परं । जुणमिति कचित्पाठः । आजुत्तो सर्वत्रोपगतः । आजुत्तमेति कचित्पाठः । चोरेहिंतो चोरेभ्यः । स्वाध्यायध्यानप्रवर्त्तेन प्रमादाद्व्यावर्तनाभिंदियमत्स्यनुयायिराण्हणकियमाणसंयमबाधारहिंणं यतिकर्त्तं सुरिः करोतीति भावः ॥

अर्थ—रात्रिभोजनरायाग, पंच भक्षजठ, घृष्टि सागिती इनमें प्रयत्न करना एतत्स्वरूप भावनाओंसे आचार्य साधुरूप सार्थको इन्द्रियचरिते और कृपायरूप हिस ग्रानिओंसे रक्षण करते हैं.

विसयाडवीए मञ्जे ओहीणो जो पमाददोसेण ॥

इन्द्रियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुपंति ॥ १२९२ ॥

प्रमादवसतो यानो भट्टो बिपयकानने ॥

तदीयं प्रतसर्वस्वं लुप्यतेऽक्षमलिम्लुचैः ॥ १३३७ ॥

विजयोष्या—विसयाडवीए मञ्जे स्पष्टोत्तरकपंगधसदृशद्विपया अटवीय से दुर्लभिकामणीयाः । तस्या विपयाडव्या मध्ये जो ओहीणो य साधुरपस्तनः । पमाददोसेण प्रमाददोषेण इन्द्रियचोरा इन्द्रियात्प्राप्तोरा । ते स्वरूप साधुबिजः । चरित्तभंडं चरित्तभंडं । विलुपंति अपहरति । सविहितमनोसामनोसविप्रजः इन्द्रियमय्युयायिनो रागद्वेषाकारिणं विनाशयन्ति प्रमादितः । आचार्यस्तु भ्राते स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयन्तीति नैन्द्रियचोरेवर्धयन्ते इति भावः ॥
विकथाद्यन्यतमप्रमादेन वियोगादपस्तनस्य मुमुक्षोरिन्द्रियकपायसाध्यं मयमथनस्य रत्नवलयमन्त्रस्य वा क्षति गोधादयेन लक्षयति --

मूलारा—जो साधुदण्डि । ओहीणो अपस्तनः । सार्धाद्विद्वित इत्यर्थः । तो सार्धापस्तन्यादन्तरमेव विलुपंति रागद्वेषद्वैतैः ॥

अर्थ—प्रमादके यज्ञ होकर जो साधु स्वर्ग, रूप, गंध, रस और शब्द इत्यादि इन्द्रियविषयरूपी अटवीमें प्रविष्ट हुआ है उसका चारित्ररूपी भांडवल इन्द्रियरूपी चोर हर लेते हैं, जब साधु प्रमादी होते हैं तब समीपके हुए और अनिष्ट पदार्थ देखकर उनके मनमें रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, जिससे उनका चारित्र नष्ट होता है, आचार्य प्रमादके यज्ञीभूत मुनिओंको प्यान और स्वाध्यायमें मग्न करके उनका प्रमाद दूर करते हैं तब वे इन्द्रियचोर उनको बाधा नहीं देते हैं ऐसा इस गाथाका गाव है.

अहवा तछिच्छाईं कूराईं कसायसावदाईं तं ॥

खज्जंति असंजमदाडाईं किलेसादिदंसेहिं ॥ १२९३ ॥

तमसंयमवन्द्याभिः संक्लेशदहनैः शितैः ॥

कषायव्यापदाः क्षिप्रं दूरया भक्षयन्ति च ॥ १३३८ ॥

विजयोदया—अदवा अथवा । तद्विच्छादं अपसृतजनलिप्सावन्तः । कृपाई कृपाः । कनायसायदां कपायव्याला मृगाः । ते अपसृते । अज्जति भक्षयेयुः । असंलग्नदुग्धाहं असंयमवन्द्याभिः । क्लिष्टसादिदेहिहं क्लेशादिविरोधः । इन्द्रियाणां कषायाणां या वेश निपतत्यसति निर्वापके सुपानिधि भावः ।

मूत्ररा—तद्विच्छादं अपसृतजनलिप्सावन्तः । सर्वे व्युत्पन्नमप्रसन्नपरा इत्यर्थः । शृणुई निर्दयाः । कसायसाव- दाई कोषादिबालसृगाः । तस्यं भक्षयेयुः । संक्लेशादिदेहिहं संक्लेशा रागद्वेषमोहाः । आदिशब्देन परिपक्वादिक्लेशाः त एव वृक्षा एवमा इत्यास्तैश्च ।

अर्थ—अथवा विषवारम्भमे प्रवेष्ट किंचिद् द्रुप अर्थात् मुनिसार्यसे अष्ट द्रुप मुनिको चाहनेवाले, एकदनेकी इच्छा करनेवाले कूर कषायरूपी हिंस्र प्राणी असंयमरूपी दादाभासे परीपह, रागद्वेष मोह वगैरेह दातोसे मक्षण करते हैं. जब प्रमाद वश द्रुप मुनिओंको सुधास्नेवाले आषायका असव रहता है तब मुनिओंकी क्या परिसिध्यति होती है इसका इस गायामे उल्लेख किया है.

तथोर्दिग्रियकषययोः प्रवृत्तिरनेकदोषमूलैवि कथयन्ति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवतो असंलदो होइ ॥

सिद्धिपट्टपण्डिताओ ओहीणो साधुसत्त्यादो ॥ १३९४ ॥

इंदियकसायगुरुत्तणेण सुहसीलभाविवो समणो ॥

करणालसो भविता तेवदि ओसण्णसेवाओ ॥ १३९५ ॥

यः साधुःसार्धतो अष्टः सिद्धिमार्गानुयायिनः ॥

सोऽवसन्नकियाः साधुः सेवमानोऽस्त्यसंयतः ॥ १३३९ ॥

कषायाक्षुस्त्वेन तपस्वी सुखभावनः ॥

अवसन्नकियो मूत्वा सेवते करणालसः ॥ १३४० ॥

[इति अवसन्नः]

विजयोदया—इंद्रियकसायशुद्धगत्तेण तीर्क्ष्णिकसायगतिरिणमतया । सुहृसीलभाविदो समणो सुसमाधिभाषितः धमणः । करणाललो प्रयोक्ताविधासु क्रियासु जलसः । भविषा भूत्या । सेवदि सेवते । ओसणसेवाधो अवससेवाः । अष्टचारित्राणां विद्यासु प्रवर्तते इति शक्यत् ॥ ओसणणो ॥

इंद्रियकसायपरत्वेप्रतला साधुसंघाटकबहिर्ध्वरयवसन्नाविरूपेण संयमश्रंशं व्याचिरासुपदानवसन्नं गाथादयेनाह-
मूलारा—ओसणणसेवणलो अष्टचारित्राणां क्रियाः । वडिसेवतो मार्गभाविभोम्येन भजन् ॥
अष्टक्रियावरणकारणं भवति—

मूलारा—गरुडगत्तेण तीक्ष्णपरिणनेन । सुहृसीलभाविदो शर्मकाप्रवाणसितः । करणालसो व्यापइयककाय-
हेसरभाषावध्यानेषु, प्रयोदशसु क्रियासु वा निश्चिलः । अवसन्नः ॥

इंद्रियकसायमे प्रवृत्ति करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा कहते हैं.

अर्थ—अष्टचारित्र मुनिओंकी क्रिया रत्नत्रयमार्गके विकृष्ट होकर अब मुनि करते हैं तब ये मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हैं । और साधुपयोगसे अलग रहते हैं. अर्थात् संपका त्यागकर स्वच्छंद होते हैं. तीक्ष्ण कपाययुक्त होकर मुनि इंद्रियोंके विषयोंमें आतक्त होते हैं. इस व्यासक्तिसे वे सुखशील होकर समिति, मुक्ति और महाव्रत ऐसे तेरह प्रकारके चारित्र्यसे अलगसी होजाते हैं, और अष्ट मुनिओंके आचरणमें प्रवृत्ति करते हैं.

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ॥

पंथं छंडिय णिजंति साधुसत्थरस पासम्मि ॥ १२९६ ॥

हृपीकतस्करैर्भीमैः कपायश्वापदैरपि ॥

विमोच्य नीयते मार्गे साधुः सार्थस्य पार्श्वतः ॥ १२९७ ॥

विजयोदया—केई गहिदा इंदियचोरेहिं केचिद्गहिता इंदियचोरेः । कसायसावदेहिं तदा तथा कपाय-
पार्श्वरथं गाथापंचकेनाह—
मूलारा—छंडिय त्याजयित्वा । पासम्मो पार्श्वे रत्नत्रयामास इत्यर्थः ।

अर्थ—चित्तनेकं मुनि इन्द्रियरूपी चोर और कषायरूप हिंस श्रानिद्योसो जग पकड़े जाते हैं तब साधुरूप
न्यापारिओंका स्थग ॥ पार्थस्य मुनिके पास जाते हैं ।

तो साधुसत्त्वपंथं छंडिय पासमि णिज्जमाणा ते ॥

मारवगहणकुडिल्ले पडिदा पवेति दुक्खाणि ॥ १२९७ ॥

साधुः सार्धं परिलख्य नीयमानो महासयम् ॥

सहते दारुणं दुःखं प्राप्नो गौरवकाननम् ॥ १२९८ ॥

पिण्डयोदया—तो साधुसत्त्वपंथं साधुसार्धस्य पंथानं । छंडिय त्यक्त्वा । पासमि पाभे । णिज्जमाणां ते नीय-
मानस्ते । मारव विरज्जिरत्वासातगौरवसंछे भवेत् । पडिदा पतिताः । पवेति प्राप्नुवन्ति । दुक्खाणि दुःधानि ॥

मूलाय—मरदगह्णिणकविह्ले रिद्धिरससातगौरवनिषिद्धकंदकपाय ॥

अर्थ—ये मुनि साधुसार्थका मार्ग छोड़कर पार्थस्य मुनिके पास जाते हैं तब आद्विगर्भ, रसगर्भ और
सातगर्भ इनसे व्याप्त जंगलमें पदकर दुःख भोगते हैं ।

सहस्रविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ॥

विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥ १२९९ ॥

शलयदुःकंटकैर्विद्धाः पतिता दुःखमासते ॥

एकाकिनोऽटवीं याता विद्धा वा विपकंटकैः ॥ १३०० ॥

विजयोदया—सहस्रविसकंटएहिं विद्धा मिथ्यात्मन्याभिधानाद्यकंटकैर्वीं विद्धाः । पडिदा पतिताः । दुक्खेसु
पडंति दुःखेसु पतंति । विसकंटयविद्धा वा अडवीए एगागी पडिदा ॥ विपकंटकेन विद्धा अटव्यायेकाकिनः पतिता यथा
दुःखेसु पतंति तथैकेनैव शरीरान्तिकयोजन ॥

मूलाय—विद्धा रूपिताः । पडिदा चारित्राद्धृष्टाः । एगागी असहायाः ॥

अर्थ—जैसे विषरूप फंटकसे बिट्ट हुए पुष्ट जंगलमें अकेलेहि पदकर दुःख भोगते हैं वैसे मिथ्यात्म,

माया और निदानरूप विषकंदकोसे विद्व होकर विषयरूप जंगलमें अकेले पटक कर अविश्वय कुरुष योगते हैं.

पंचं छेडिय सो जादि साधुसत्तरस्त चैव पासाओ ॥

जो पडिसेवदि पासत्यसेवणाओ हु निदम्भो ॥ ११९९ ॥

साधुः सार्थपयं त्यक्त्वा स पार्थ्वे याति संघतः ॥

पार्थ्वस्थानां किरणं यानि यन्नारित्रविबलितः ॥ १२०० ॥

विजयोदया—साधुसत्तिय पंचानं त्यक्त्वा कस्य पार्थ्वे याति यस्मांमी दोषा व्यावर्जिताः । मौरयगाहने पातः
प्राप्त्यविषकंदकेषां दयस्वोत्पात्ताः । यामाह—पंचे छेडिय साधुसत्तरस्त आदि परित्यज्य साधुसार्थस्य पंचानमसौ याति ।
पात्रनिमि पात्रे । जो पडिसेवदि अ । प्रतिसेवते, पासत्यसेवणाओ हु पार्थ्वस्थसक्ताः, निदम्भो धर्मस्वार्तिनं तस्यादपगतः,
धर्मविपगतः सन्पार्थ्वस्थविचरणीयाधु क्रियाधु प्रवर्तते ॥

मूलाय—छडिय त्यक्त्वा । निदम्भो चारित्राभिर्गतः ॥

अर्थ—साधुसार्थका श्रागं छोडकर बिस मुनिका आश्रय लेते हैं वह मुनि चारित्रिका स्वामी होता है.
और पार्थ्वस्थ मुनिजोंकी क्रियाओंका आचरण करता है.

सैव कथं निर्दमंता तुभ्येत्यातोस्व वदति—

इद्वियकत्साययुरयत्तणेन चरणं तणं ॥ परस्संतो ॥

निदम्भो हु सविता सेवदि पासत्यसेवाओ ॥ १२०० ॥

कथायास्मयुरस्तेन पश्यन्मृतं तृणं यथा ॥

भूत्वा निर्दमंको याति पार्थ्वस्थानां सदा क्रियाः ॥ १२०५ ॥ (पार्थ्वस्थः)

विजयोदया—इद्वियकत्साययुरयत्तणेन इद्वियकत्सायविषयेगौरवान्त्व रागजोषपरिणामयोः कोधादिपरिणा-
मानां च तीव्रत्वात् । चरणं चारित्र्यं, तणं च क्षणमिव, परस्संतो पश्यन् रागादयोऽप्यधुमपरिणामास्तत्प्राप्तस्य प्रतिब-
धनास्तेन सकमुपं ज्ञानचारात्रिं निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादृक् चारित्र्यादृशेतीति निर्दमंतास्य । ततः
पार्थ्वस्थसेवाधु प्रयतते । पासत्यो ॥

मूलारा—पसंतो रागद्वेषाद्युपपरिणामप्रतिपक्षतत्त्वज्ञानतया चारित्रानादरं कुर्वन्निस्त्योः । पार्थस्यः ॥

पार्थस्य मुनि धर्मसहित क्यो रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पार्थस्य मुनि इन्द्रिय, कर्माय और पंचेन्द्रियोंके विषयोसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान समझता है उसके रागद्वेष और क्रोधादि परिणाम तीव्र होजाते हैं। रागद्वेषादिक अशुभ परिणाम पार्थस्य मुनिके तत्त्वज्ञानका नाश कर डालते हैं। इसलिए यह मुनि अपने मलिन ज्ञानसे चारित्रको तुच्छ समझता है। और ऐसी नम्र होजते चारित्रसे अपट होजाता है ऐसे चारित्रअट मुनिको पार्थस्य कहते हैं। जो मुनि सन्मार्गमें प्रवर्तनेवाले मुनियोंका त्याग करते हैं वे पार्थस्य मुनिका आश्रय लेकर चले बनेते हैं।

इन्द्रियचोरपरक्षा कसायसावदमण वा केई ॥

उभमगेण पलायंति साधुसत्यस्त दूरेण ॥ १३०१ ॥

अक्षचौरहताः केचित्कणायन्यालभीतिनः ॥

उन्मार्गेण पलायंते साधुसार्थस्य दूरतः ॥ १३४६ ॥

विजयोदया—इन्द्रियचोरपरक्षा इन्द्रियचोरकृतोपद्रवाः । कसायसावदमण वा केई कषायव्यालहृण भयेन वा को चक्षु उभमगेण उभमगेण पलायंति पलायन इवति । साधु सत्यस्त दूरेण साधुसार्थस्य दूरतः ॥

कुर्वीलं गायामेयेन दृश्यति—

मूलारा—परक्षा कृतोपद्रवाः । दूरेण दूरतः । निर्लज्जो दुराचारावर्धभात् ।

अर्थ—कितनेक मुनि इन्द्रियचोरोंसे पीडित होते हैं और कषायरूप धापदोंसे ग्रहण किए जाते हैं वा साधुसार्थका त्याग वा उन्मार्गसे पलायन करते हैं ।

तो ते कुसीलपट्टिसेवणावणे उपपवेण धावता ॥

सण्णानदीसु पडिदा किलेससुत्तेण वुट्ठंति ॥ १३०२ ॥

ततोऽप्येन घावन्तः कुशीलानां क्रियावन्ते ॥

क्षेत्रस्रोतोभिरुत्थन्ते याताः संज्ञामहानदीः ॥ १२४७ ॥

विजयोवयः--तो नद्यः साधुसाधोद्गारद्वयताः, कुशीलपडिसेषणावने कुशीलप्रतिष्ठयभावने, उपपयेण घावन्तः उन्मार्गेण पडावन्तः । सख्याणदीसु संज्ञानदीसु । पडिदा पतितः । किठेससोत्तेण फलेसयोतसा । सुदन्ति ते सुदन्ति ॥

मूलादा--ते साधुसाधोद्गारद्वयताः ॥ सख्या आहारययौधुनपरिग्रहवांदां । युज्यन्ति उन्ते ॥

अर्थ--साधुसाधोद्गारद्वयताः दूर पलायन जिन्दोने क्रिया हैं एते वे मुनि कुशील प्रतिष्ठयना-कुशील नामक अष्ट मुनिके सदाय आचरणरूप वनमें उन्मायते भागते हुए आहार, श्रय, मैयुन और परिग्रहकी शिष्टारूप नदीमें पडकर दुःस्वरूप प्रवाहमें हवते हैं.

सख्याणदीसु ऊढा युद्धा थाहं कंहं पि अलहंता ॥

तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्भि ॥ १२४८ ॥

संज्ञानदीसु ते मग्नाः कचिदप्यत्रयस्थिताः ॥

पद्माब्जन्मोदधिं यानि दुःखभीमस्रपाकुलम् ॥ १२४९ ॥

विजयोवयः--सख्याणदीसु ऊढा संज्ञानदीमिरकृष्टाः संतो तिमग्नाः । तो पडात् । संसारोदधिमदंति संसार सागरं मयिसंति । बहुदुक्खभीसम्भि महुदुःखभीसम्भि ॥

मूलादा--ऊढा अकृष्टाः । युद्धा मग्नाः । थाहं जयस्थानं । कंहं पि कचिदपि सम्बन्धवादीनामन्यत्वमेऽपि । तो पडात् । अदंति प्रदिसन्ति । मसं शेषा मत्स्या ॥

अर्थ--चार संज्ञारूपी नदीमें जब मुनि हवते हैं तब वे कहांभी स्थिरताको प्राप्ता होते नहीं अर्थात् संज्ञारूपी नदीमें रहते रहते वे मुनि अतिशय दुःखोंमें भयंकर संसारसमुद्रमें प्रवेश करते हैं.

आवागिरिदुग्गाणि य अदिगम्भ तिरुदक्खसडसिलासु ॥

उल्लोडिदपब्भद्वा खुपंति अणंतियं कालं ॥ १२५० ॥

दुरात्मगिरिदुर्गाणि गत्वा दंढशिलोत्करे ॥

अष्टा सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्याथाः ॥ १३४९ ॥

विजयोदया—आत्मगिरिदुर्गाणि य आशागिरिदुर्गाश्च । अदिगम्य अतिक्रम्य । त्रिवेदककशिलासु त्रिवेदक-
कंशशिलासु । उल्लेख्य यन्मष्टा अवलुङ्गिताः खेदः प्रअष्टाः खुपन्ति गमयन्ति । अणन्ति यं कालं अनन्तं कालं ॥

मूलार्त्—अदिगम्य अतिक्रम्य । प्रविशत्यन्यः । कस्तवड निष्ठुराः । उल्लेखिदपञ्चमष्टा पूर्वमेव लुङ्गिताः पविष्टाः ।
पञ्चमप्रअष्टाः पतिताः । लुङ्गित्वा पविता इत्यन्ये । इतरगुणेभ्यः प्रख्युता मूलगुणेभ्यः सम्यक्त्वाच्च प्रच्युता इत्यर्थः ।

खर्वेणिय गमयन्ति च अन्ये खुपन्ति इति पठित्वा गमयन्तीत्यर्थमाहुः । उक्तं च—

दुरात्मगिरिदुर्गाणि गत्वा दंढशिलोत्करे ॥

अष्टाः सन्तश्चिरं कालं गमयन्ति महाव्याथाः ॥

अर्थ—आधारूपी पर्वतके दुर्गम स्थानको उल्लंघन तीन दंढरूप निष्ठुर शिलापर मारते हैं, अर्थात् मन
बचन और शरीरकी असमर्थतासे तत्पर होते हैं, इस प्रकार चारित्र्यसे भ्रष्ट होकर अनन्तकाल व्यतीत करते हैं.

बहुपावकर्मकरणादवीसु महदीसु विष्पण्डा वा ॥

अद्विष्टणिष्ठुदिपथा भमन्ति सुचिरं तत्पथे ॥ १३५० ॥

पापकर्ममहादव्यां विप्रनष्टाः कदाचन ॥

सुखमार्गमपश्यन्तस्तत्रैवापायान्ति ते पुनः ॥ १३५० ॥

विजयोदया—बहुपावकर्मकरणादवीसु बहुविधान्यश्रुमकर्मयोगेष्टाः । तस्य महदीसु दीर्घांसु । विष्पण्डा
विप्रनष्टाः । अद्विष्टणिष्ठुदिपथा अरुष्टनिर्मुक्तिमार्गाः । भमन्ति भ्रमन्ति । सुचिरं तत्पथे सुचिरमपि । तत्पथे तत्रैव ॥

मूलार्त्—भरणं निर्वर्तनं । विष्पण्डा विप्रान्ताः । अमन्ति आवर्तन्ते ॥

अर्थ—नानप्रकारके पापरूप अरण्यमें वो दिग्भ्रष्ट हुए हैं और जिनको मुक्तिमार्गका दर्शन नहीं हुआ
है ऐसे वे भ्रष्ट मुनि उसी पापरूप अरण्यमें चिरकाल अमण करते हैं.

दूरेण साधुमत्स्यं छंडिय सो उपपद्येण न्नु पलादि ॥
सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिष्ठाओ ॥ १३०६ ॥

साधुसार्धं स दूरेण त्यक्त्योन्मार्गेण नश्यति ॥

क्रिया यांति कुसीलानां या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ॥ १३५१ ॥

विजयोदया—दूरेण साधुसार्धं दूरान्साधुसार्धं । छंडिय त्यक्त्वा । सो सः । उपपद्येण न्नु पलादि उन्मार्गेण पलायते । सेवदि कुसीलपडिसेवणाओ सेवते कुसीलप्रतिसेवकाः । जो यः । सुखमिदिष्ठाओ सुखनिर्दिष्टाः ॥

कुसीलक्रियासेवनापकारमाह—

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—अष्ट मुनि दूरसे ही साधुसार्धका त्यागकर उन्मार्गसे पलायन करता है. तथा आगममें कहे हुए

कुसीलनामक याष्ट मुनीके योगीका आचरण करता है.

इंद्रियकसाययुद्धगच्छणेन चरणं तर्णं व पस्संतो ॥

निर्द्वेषतो भविता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥ १३०७ ॥

कपायाक्षशुश्रुत्वेन वृत्तं पदं संस्तुणं यथा ॥

सेवते न्द्वेषको भूत्वा कुसीलाविययाः क्रियाः ॥ १३५२ ॥

(इति कुसीलः)

विजयोदया—इंद्रियकसाययुद्धगच्छणेन इंद्रियकसायययिष्णामानो शुश्रुत्वेन । चरणं तर्णं ॥ पस्संतो चरणं युग-
मिच पश्यन् । निर्द्वेषतो भविता बन्दीको भूत्वा । सेवदि सेवते कुसीलसेवाः ॥ कुसीला ॥

कुसीलक्रियासेवानभिप्रेतमाह—

मूढारा—निद्वेषतो निर्द्वेषः इत्यन्ते ॥ कुसील ॥

अर्थ—इंद्रियके विषयोमें और कपायके तीव्र परिणायोंमें तत्पर हुए ये अष्टमुनि चारित्रिको दृणसमान समझकर निर्लेज होकर कुसीलका सेवन करते हैं. कुसीलमृनिवर्पणं समाप्त.

सिद्धिपुरमुखीणा वि केइ इन्द्रियकसायचोरेहिं ॥

पवित्रुचरणभंडा उवहदमाणा गिबट्टंति ॥ १३०८ ॥

केचिन्सिद्धिपुरासन्नाः कपायेन्द्रियतस्करैः ॥

मुक्तमना निवर्तते लुप्तचारित्रसंपदः ॥ १३०९ ॥

विजयोदया—सिद्धिपुरमुखीणा वि सिद्धिपुरमुखीणा अपि । केइ केचित् । इन्द्रियकसायचोरेहिं इन्द्रियक-
पायचोरे । पवित्रुचरणभंडा अपहृत्तचारित्रभांडाः । उवहदमाणा उपहृताभिमानाः । गिबट्टंति निर्वर्तन्ते ॥

यथाहं गायचंचयेनाह—

मूलरा—उवहीणा निरुद्धतवंतः । उवहदमाणा लंघितसंयमाभिमानाः । गिबट्टंति निर्व्यात्वमापवन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ—मोक्षमार्गके समीप आकरभी कितनेक मुनि इन्द्रिय और कपायरूपी चोरोसे जिनका चारित्ररूपी
भंडबल हटा गया है और संयमका अभिमान जिनका नाश हुआ है ऐसे होकर निर्व्यात्वको प्राप्त होते हैं.

तो ते सीलवरिदा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति ॥

बहुपरियणो वरिहो पावदि तिव्वं जघा दुक्खं ॥ १३०९ ॥

ततः सीलवरिद्रास्ते लभन्ते दुःखमुत्थणम् ॥

बहुभेवपरीचारा निर्द्वेना इव सर्वदा ॥ १३१० ॥

विजयोदया—तो पक्खात् । ते सीलवरिदा ते सीलवरिद्राः । दुक्खं दुःखं । अणंतं अंतर्गतं । सदा वि पावंति
सदा प्राप्नुवन्ति । बहुपरियणो बहुपरिजनो । वरिहो वरिद्रः । पावदि दुक्खल तिव्वं गण्णोति दु खं तीव्रं यथा ॥
मूलरा—बहुपरियणो प्रसुराणोपवर्गः ॥

अर्थ—जिसका परिवार बहुत है ऐसा दरिद्री मनुष्य जैसे अतिशय तीव्र दुःखको प्राप्त होता है वैसे ते
सीलवरिद्री मुनि हमेशा तीव्र दुःखको प्राप्त होते हैं.

सो होवि साधुसत्यादु निगदो जो भवे जघाछंदो ॥
 उरमुत्तमणुबदिटुं च जघिच्छाए विकल्पतो ॥ १३२० ॥
 स सिद्धियाधिनः साधुनिर्गतः साधुमार्गतः ॥
 स्वच्छंदस्वेच्छमुत्तमं चरित्रं यः प्रकल्पते ॥ १३२५ ॥

विप्रयोक्ता—तो होदि ॥ अर्थात् । साधुसत्यादु निगदो साधुसार्थाभिपुत्तः । जो हवे जघाछंदो सो भवति भवेच्छादुत्ति । उरमुत्तं उरमुत्तं । अणुबदिटुं अणुबदिटुं च स्वर्षितो । जघिच्छाए विकल्पतो यथेच्छाया विकल्पयम् ॥

यघाछंदीभावे योगनाह—

मूढारा—जघाछंदो सेच अणुवि । अणुबदिटुं अणुबदिटुं स्वर्षितः । विकल्पतो इदमि-
 एमेय पदले न तथेति विकल्पयन ॥

अर्थ—जो मुनि साधुसार्थाका त्यागकर स्वतंत्र हुआ है, जो खेच्छाचारी बनकर आपसविकल्द और पूर्वोक्तार्थोंने नहीं कहे हुए आचार्योंकी कल्पना करता है, वह स्वच्छंद नामक अष्टमुनि समझना चाहिये.

जो होवि जघाछंदो हु तरस घणिदंवि संजमितस्त ॥
 णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥ १३११ ॥
 यज्जायते यघाछंदो नितरामपि कुर्वतः ॥
 वृत्तं न विणते तस्य सम्यक्त्वसहचारितः ॥ १३१६ ॥

विप्रयोक्ता—जो होदि जघाछंदो सो भवति खेच्छादुत्तिः । तस्त घणिदंवि संजमितस्त तस्य निगरामपि
 संपेय प्रवर्तमानस्य । णत्थि दु नास्तेय । चरणं चारिणं । चरणं तु होदि सम्मत्तसहचारी सम्यक्त्वसहचार्येण
 यथेष्टचारिणं । स्वचरणं वृत्तं तु यत्किंचित्पारिकल्पयनः सूत्रमनुसरतः नैव सम्यक्दर्शनमस्ति । तदंतरेण सम्यक्चारिणं नैव
 तथ भवति ॥

मूढारा—सम्यक्त्वसहचारी सम्यक्त्वसहभाव्येय ॥ खेच्छादुत्तिः सुगुणमनुसरतः सम्यक्त्वाभावात् कुनस्तथं
 सम्यक्चारिणमिति भावः ॥

अर्थ—यद्येच्छ प्रवृत्ति करनेवाले उस श्रष्ट मुनिने यद्यपि घोर संयम धारण किया होगा तथापि उसका संयम चारित्र नहीं कहा जाता है. क्योंकि उसको सम्पददर्शन नहीं है. सम्पददर्शनके साथ संयमको ही सम्पदचरित्र कहते हैं. स्पष्टदृष्टि मुनि अपने मनानुकूल वस्तुकल्पना करता है, आसन्नविरुद्ध करनेसे यह सम्पददृष्टि नहीं है सम्पददर्शनके बिना उसको चारित्रिकी प्राप्ति कैसे होगी ?

इंदियकसायगुरुक्तणेण सुचं पमाणमकरोतो ॥

परिमाणेदि जिणुत्ते अत्ये सच्छेददो चेव ॥ १३१२ ॥

जिनेन्द्रमापित मध्यं कथायासगुरुकृतः ॥

प्रमाणीकुरुते वाक्यं यथाच्छेदो न दुर्भताः ॥ १३५७ ॥

(इति स्पष्टछेदः)

विजयोक्त्या—इंदियकसायगुरुक्तणेण कथायाश्च-कृतान्तेन स्वमपमानयन्, परिमाणेदि भगवथा गृह्णाति जिणुत्ते नान्ये जिमोक्तार्थान्, सच्छेदो चेव स्वेच्छादिप्रत्ययेष्व ॥ यथाछेदः ॥

नूतार—परिमाणेदि लभ्यथा गृह्णाति विवक्षतीत्यन्वयः । अत्ये जीगदिपञ्चाश्वि । सच्छेदो चेव स्वाभिप्रायेणैव यथाछेदः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कथाओंमें अत्यंत आधीन होनेसे यह श्रष्ट मुनि जिनश्रणीत सिद्धांतको प्रमाण नहीं मानता है और स्पष्टछेदचारी बनकर सिद्धांतका स्वरूप अन्यथा समझता है और अन्यथा विचारमें लाता है.

इंदियकसायदोसेहिं अधवा सामणजोगपरिततो ॥

जो उव्वायदि सो होदि णियत्तो साधुमत्थादो ॥ १३१३ ॥

कपायेन्द्रियदोपेण वृत्तात् सामान्ययोगतः ॥

यः यम्रष्टः परिश्रान्तः स म्रष्टः सावुसार्थतः ॥ १३५८ ॥

वित्तयोदधः—शुद्धिकसायकोत्तेहिं शुद्धियकपायदेहि । अथवा सामान्यजोगपरिततो अथवा सामान्ययोगेन दातु । जो उदवायदि यथाविधान्ययते । सो होदि स भवति । णियतो साधुसत्थादो निवृत्त साधुसार्थात् ।

सप्तमं माथाह्वेनाह—

यूरा—परिवृत्तो विविण्ण । भातो वा । उब्बायन् पारिजान्कयते । विखंयते इत्यन्ये ॥

अर्थ—शुद्धिय और कपायको दोपसे अथवा सामान्य ध्यानादिकसे विरक्त होकर जो साधु वारिजसे प्रवृत्त होता है वह साधुसार्थसे अलग होता है

इदियकमायवसिथा केइ ठाणाणि ताणि सत्त्वाणि ॥

पाविज्जते वेसेहिं तेहिं सब्बेहिं ससत्ता ॥ १३१४ ॥

स्थानानि तानि सचर्याणि कपायायगुरुकृताः ॥

ससत्ता सकलैदंघि केचिद्गच्छन्ति दुधिय ॥ १३५९ ॥

विजयोदधः—शुद्धिकसायवसिथा शुद्धियरुवाययथागा । उइ केचिन् । ठाणाणि तानि सत्त्वाणि तान्यशुभम्भान् पारिजानानि । पाविज्जति मायसे । वेसेहिं तेहिं सब्बेहिं ससत्ता रोचिस्ते तेषं सत्तका ॥ ससत्ता ॥

मूखरा—ठाणाणि परिणामान् । तानि मिथ्यानास्तंयमादीनि ॥ पाविज्जते नीयते । तेहिं है प्रसिद्धे रात्तादिभि ॥ ससति ॥

अर्थ—शुद्धियविषय और कपायके वर्गीभूत क्लृप्तनेक प्रवृत्त मनि मन दोपोंसे युक्त होकर सर्व अशुभ स्थानकी प्राप्ति करानेवाले परिणामोंको—अशुभ परिणामोंको प्राप्त होते हैं

इय एवे पचविधा जिणेहिं सवणा दुगुच्छिदा भुत्ते ॥

इदियकसायगुरुत्तणेण णित्तचसि पडिपुक्का ॥ १३२१ ॥

इत्येते साधव पंच निदिता जिनशासने ॥

प्रत्यनीककारभा कपायाक्षगुरुकृता ॥ १३६० ॥

विजयोदधः—यामरायत्तिगद ॥

यवनप्राचीनां सामान्यदोषमाह—

नृपरा—दुष्टोच्छिदा विनिनाः पट्टिच्छदा प्रतिपक्षमता नंदा वा ॥

अर्थ—ये पाँच तरहके द्रष्टृ मनिजोकी बिनेश्वराने आगममें निंदा की है, ये पाँच प्रकारके मनि इंद्रिय और कपायकें मुख्यमे विनिनिर्दोषानुसार आचरण करनेवाले शुनियोकें प्रतिपक्षी हैं—

दुष्टा चबला अदिदुल्लजा य णिरुचं पि समणुवच्छा य ॥

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इंदियकसाया ॥ १११६ ॥

दुरंताधंचला दुष्टा वृत्तसर्वस्वहारिणः ॥

दुर्जयाः सन्ति जीवानां कषायैर्निद्रियतस्कराः ॥ १११७ ॥

छिद्रोपक्षाः सख्यमाना विभीना नो पार्थ्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम् ॥

क्रोथाविष्टाः पक्का वा द्विजिह्वाः विज्ञायेत्थं दूरतो वलभीयाः ॥ १११८ ॥

तृणतुल्यमवेत्य विशिष्टफलं परिमुन्य चरित्रमपास्तमलम् ॥

बहुदोषकपायहृदीकवशा नियसन्ति विरं कुगताववशाः ॥ १११९ ॥

[इति संसक्तः]

विजयोद्या—दुष्टा दुष्टा आत्मोपद्रवकरित्वान् । चपला अनवस्थितत्वात् । अदिदुल्लजा अतीव दुर्जयाः अनुपलभ्यचारित्र्यमोदशयोपदामकपेण जीयेन दुःखेन व्यभिचरेते इति । पिञ्चेपि नित्यमपि । समणुवद्धा च सख्यमानु-
यच्छादिभ्रमोद्गोदयस्य व्यक्तगणस्य स्वकावत् । श्रियाध्वत्कथं वगल्हाः । क्रियशब्दो ब्रौह्मे न प्रयुक्तः कित्यभीष्टेयं
मुग्धैर्दुर्गुणदार इत्यर्थः । चपलता तु पाणिमानां अनवस्थितत्वं व्यतो न विरोधः । दुःग्गवहा य दुःग्यावहाश्च । जीवाणं
जीवानां अभिमतमोनालमे प्राप्तस्य चाऽप्येव महत् दुःखमित्यनुवसिद्धमेव सर्वग्राणभूतां । कषायास्तु प्रोधादयः कषा-
येति तदर्थः । वथरा दुःग्गकारणालोदराणां निमित्तत्वात् दुःग्गवहाः । इंद्रियकषायधनमे जीवान् हिनस्ति । दुःखकर्मणेन
पास्तवत्यमर्देयं इति । यत एव दुःग्गवहा अत एव भीमाः । इंद्रियकसाया इंद्रियकषायपरिणामाः ।

नृपमयमज्ञानिरूपानां इंद्रियरूपायागमयावचकंदरस्त्वमुपदेशं सांपतं वदौपत्यमाह—

नृपरा—दुष्टा उपद्रवकरित्वान् । चपला अनवस्थितत्वात् । अदिदुल्लजा चरित्रमोदशयोपदामकपेणभ्रमो-

अभिभवितुमशक्यत्वात् । समणुज्वा सम्प्रगतुलता । चारिमोहो-वस्थ ररगत्थस्य सुहृद्वैदं यवर्तमान् । दुःखतावहा य इष्टभोगस्यापामौ, प्राप्तस्य कषाये चक्षुरादिभुक्तेन दुःखस्यानुभवसिद्धत्वात् । कोचादिपृष्ठ-यतापरुत्वात् । दुःखकषणास-प्रेषान्निमित्तत्वाद्वा द्वयेऽपि दुःखकर । भीमा भयंकरा । दुःखावहतामेव वा ॥

अर्थ—ये इन्द्रिय और कषाय जीवोंको अस्त्रिय उपद्रव करते हैं और चंचल हैं, इनको जीत ॥ अतिशय फटित है जबतक चारित्र मोहनीय कर्मोंका शोषणनहीं बड़ा हुआ है तबतक इनमें जीतना अशक्य है जबतक चारित्रमोहरूप कारणात्मा सञ्जाव है तबतक इन कषाय और इन्द्रियांका संग्रह रहता ही है इन्द्रिय और कषाय नित्य हैं अर्थात् गतगत इनका आराम भंग होता है अतः इनको नित्य स्वरूप है इन्द्रिय आग कषाय परिणामोन्ना एक स्वरूप नहीं रहता है कर्मों जीव परिणाम, कभी मानपरिणाम, कभी लोभ परिणाम ऐसा परिवर्तन होता ही रहता है इसलिय इनको चंचल भी कहते हैं ये इन्द्रिय और कषाय जीवोंको दुःख देते हैं, जीवोंको इष्ट भोगोंका अलाम होनेसे अथवा प्राप्ति होने पर भी उनका नाश होनेसे मदान् दुःख उत्पन्न होता है यह गत अनुभूति सिद्ध है, कषाय-कोचादिक इत्येक घात करते हैं इन्द्रिय और कषायोंके आधीन होकर प्राणी जीवोंका घात करते हैं, जीवोंको घातनेमें असामोहनीय कर्मक ज्ञान आते हैं ये इन्द्रिय और कषाय दुःखदायक हैं इसलिए भयानक हैं,

तदुत्तेज्जमि पियतो वत्थो जह्वादि पूदिय मथ ॥

तथ विभिक्षदो वि इंदियकसायगंधं वह्दि कोई ॥ १३१७ ॥

मास्त्रेदीधासुपेनोऽपि कषायार्क्षं निपेवते ॥

नैलमाशुरव वस्त प्रनिवाति पितृरपि ॥ १३१४ ॥

निजयोदया—सुख-कर्ममयि, शिको पितृ, कृत्यं यस्त बज्जोल । जह्वादि पूदिय मथ भूतिसध यथा घति । प्राणतमघ यथा न जहाति । सत्रियमालाऽपि सुतमिण । इत्येक, नच विभिक्षो वि तथा सेक्षितोऽपि परित्यक्ता लयमोऽपि । शरीरकसायगंधं वह्दि । इन्द्रियकषायमुज्जति इति यावत् ॥

दीधया इन्द्रियविनयावन्तमजह्वा—

मूलाया—मन्तेनं तुरुज्ज्वल सेलरस सुगर्भतैलमित्यन्ते । यमजो छत्ता । पूदिय गंधं दुर्गंधं प्राक्तनयेव । दिक्पिदने कुतश्चस्तीनारसंसार । इन्द्रियकसायगंधं चक्षुरादि-कोचादिवस्तना ॥

अर्थ—मकरके शुरुआत विलोनेपर भी उसके शरीरसे दुर्गंध ही निकलता है अर्थात् वह अपने प्राकृतिक गंधका त्याग नहीं करता है-शुरुआतल अवस्थय सुगंध रहता है परंतु मकरके प्राकृतिक गंधमें उससे कुछ भी फरक नहीं होता है वैसे भ्रष्ट साधु गंधम सहित होनेपर भी इन्द्रिय कायारूपी दुर्गंधका त्याग नहीं करता है-

मुंजंतो वि सुभोयणमिच्छति जघ सुयरां समलमेव ॥

तघ द्वित्रिखदो वि इन्द्रियकसायमलिणो हवदि कोट् ॥ १३१८ ॥

मुक्तवापि कञ्चन ग्रंथं कयायाक्षं न मुंचति ॥

द्वित्यापि कञ्चुकं सपौ विजहाति विपं नहि ॥ १३१५ ॥

वैधितोप्यधमः कश्चिक्कपायाक्षं चिकीर्षति ॥

शूकरः शोभनै रत्नैर्मलं लुप्तोऽपि कांक्षति १३१६ ॥

विजयोदया—मुंजंतो वि सुभोयणं मुंजानोऽपि शोभनमाहारं । सुयरो जघ मलमेव इच्छति सुकरो यया समलमेवामिलयति चिरंतनाभ्यासात् । तद तथा । द्वित्रिपदो वि इन्द्रियतोऽपि कृतकतपरिग्रहसंस्कारोऽपि । कोट् कश्चित् । इन्द्रियकसायमलिणो इत्यपि इन्द्रियकयायारूपपरिणामोपगतो भवति । भगवोपि जगः सुखदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परितर्कित्विच्छायां वि मार्हस्थपरिस्सागकालं पुनरपि तनापततीति ॥

मूढारा—समलं पुरीष ॥

अर्थ—जैसे शूकर उत्तम आहारका भोजन करता हुआ भी विद्याका ही अभिलाष मनमें धारण करता है क्योंकि उसमें दीर्घमूलमें निष्ठाभक्षणका अभ्यास रहता है, वैसे जिसने दीक्षा धारण की है अर्थात् व्रतका स्वीकार निमने दीर्घ कालमें किया है ऐसा भी कोई धुनि इन्द्रिय और कयाय रूप अशुभ परिणामोंसे परिणत होता है शुरुआत उपदेश सुनकर दुःख नाश करनेके उपायका ज्ञान होनेपर इन्द्रिय और कयायोका त्याग करता है गृहस्थान्याका त्याग करनेपर पुनः वह धुनि उमीमें पड़ता है.

अनेकदण्डांतोपन्यासेन दशयति मृरुत्तरमगंधेन—

वाहमएण पलावो जुहं वटठूण वायुरापडिदं ॥
 मयमेव मओ वागुरमदीदि जह जुटतण्हाए ॥ १३१९ ॥
 चिह्वाय हरिणो थुयं व्याधुभीतः पलागित्तः ॥

स्वयं पुनर्यथा याति वागुरां यूथतूणया ॥ १३२० ॥

वित्तयोदया—वाहमएण वायमनेन । पलावो मओ रुनपलावजो सुग । वायुरापडिदं जुहं वटठूण वागुरापडित्तं स्वरूपं इत्यया । मयमेव वागुरमदीदि मगो स्वयमेव वागुरां माविशति सुग । जह यथा, कुतः, जुटतण्हाए यूथतूणया, एव को वि निह्वायस मुखा इवमयः साधया संवधः कायः ॥

मउपोडपि ज्जो गुरुदण्डाधित्तदुःखिदुस्सुमाचनया परिल्लेकत्रियकरवो जित्तीज्जं प्रतिपयापि विराधरदर-
 कयारैत्रियरोधानेनयशादुत्तरपि गृह्यात्तदोयानेपापतनीत्येतदुत्तरदण्डात्तदुत्तरवर्गं माधालसकेन सुगृह्यति—

मूलारा—पलावो कृतपलावनः । मओ सुगः । अदीरि प्रविशति ॥

अर्थ—पारधीके मयसे यागा हुआ हरिण जालमें अपना मृगमपहू वटा हुआ देखकर स्वयं भी जालमें प्रवेश करता है. मृगमपहूमें लगका प्रेम रहता है. प्रेमवश होकर वह स्वयं पंथनमें पडता है. वेमे कोइ गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनरपि उसका स्वीकार करता है.

पंजरसुक्को सडणो सुइरं आरामए सुविहरतो १
 सयमेव पुणो पंजरमदीदि जध णीटतण्हाए ॥ १३२० ॥
 आरामे विचरन्स्वेच्छं पतन्नी पंजरकयुतः ॥

यथा याति पुनर्मूढः पंजरं नीडतूणया ॥ १३२१ ॥

विश्रानोदया—पंजरसुक्को सडणो पंजरान्मुक्तः पक्षी । सुइरं आरामए सुविहरतो आरामेसु स्वेच्छया विहरन् । सयमेव स्वयमेव । पुणो पुनः । पंजरमदीदि पंजरसुपेति, जह णीटतण्हाए यथा णीटतूणया ॥
 मूलारा—सइरं स्वेच्छया । णीडतूणए त्यावासलमेन ॥

अर्थ—पंजरसे मुक्त हुआ पक्षी उदात्तमें—जगीचेम दीर्घ काल स्वेच्छासे घूम कर जेम् अपने अपने घरकी अभि लापासे पुनरपि पंजरमें आता है. वेम यह सुनि भी गृहस्थावस्थाका त्याग कर पुनः उसका स्वीकार करता है.

कंठभो गण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिण ॥
सयमेव पुणो पंके जलतण्हाए जह अदीदि ॥ ११२१ ॥

उत्तरितः करीद्रेण पंकतः कलभो यथा ॥

स्वयमेव पुनः पंकं प्रयाति जलतृणया ॥ ११२२ ॥

विजयोदया—कलभो गजपोत मर्हत नईये एमित. । गण पंकादुद्धरिदो गजेन परेण पंकादुद्धरो । दुत्तरादु उत्तरात् पंकात् । जलतण्हाए जलतृणया गजेन, सयमेव पुणो पंकं जह अदीदि, स्वयमेव कलभो यथा पंकमुपेति । जलतण्हाए जलतृणया ॥

गजारा—कलभो घालगतः । उद्धरिदो उद्बृज् । दुत्तरादु उत्तरात् ॥

अर्थ—हार्थिका वल्वा वहे कीचरमे कया या उसको छुकिवाय् हाथीने बाहर निस्साला परंतु पानीको प्यामने यह फिरभी कीचरमे फमता ई वने कोइ मुनि फिर गृहस्थ होत है.

अग्निपरिक्लिप्तादो सठणो रुक्खादु उप्पाडित्ताणं ॥
सयमेव तं दुमं सो णीढणिमित्तं जघ अदीदि ॥ ११२३ ॥
उद्दुय णाग्वनः पक्षो संयत्तो बन्निवेष्टितान् ॥
तत्रैव नोढलोभेन यथा याति पुनः स्वयम् ॥ ११२४ ॥

विजयोदया—रुक्खादो सठणो उप्पाडित्ताणं रुक्खादुत्तरात् शकुनि । कीढाभूतात् ? अग्निपरिक्लिप्तादो अग्निना नर्मतांवेष्टितान्, सयमेव तं दुमं जह अदीदि स्वयमेवात्ता पक्षी अग्निपरिक्लिप्तदुममधिगच्छति, णीढणिमित्तं स्वायास निमित्त ॥

मूलाए—अग्निपरिक्लिप्तादो बहियलवितान् । उप्पाडित्ताणं उद्बृज् ॥

अर्थ—अग्निमे धिं हुए पृथक्का त्यागकर पुनरपि अपने घरकी अभिलाषामे जेग पक्षो उमी शृङ्खके तरफ जाता ई वने कोइ मुनि फिर गृहस्थानस्था धारण करत है.

अप्युक्तं आहणां पासुचां काह जगमाणेण ॥

उद्विदो तं घेचुं इच्छदि जघ कोदुगहलेण ॥ १३२२ ॥

लंघ्यमानोऽहिना सुभो जाग्रतोत्थापितो यथा ॥

कौतुकेन तमादातुं कश्चिदिच्छति सूदधीः ॥ १३७१ ॥

विजयोवया—लंघितो अहिना लंघ्यमानोऽहिना, कोद पासुचो कश्चित्सुप्तः, जगमाणेण उद्विदो जाग्रतो उत्थापितः । जघ तं घेचुमिच्छति यथा सर्वे घटीतुमिच्छति, कोदुगहलेण कौतुकेन ॥

मूलाया—पासुचो निर्भरनिद्रावन्तः ॥

अर्थ—जिसके ऊपरसे सर्वे जाग्रत हैं ऐसे सोये हुए किसी मनुष्यको किसीने जागता पर जगकर उठे हुए उस मनुष्यने उसी सपके कौतुकसे एकदना बाहा जैसे कोई गृहस्थावस्था संसारका कारण है ऐसा समझकर उसको त्यागकर फिरभी उसीको स्वीकारता है,

सयमेव वंतमसणं णिहज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।

होलो किविणो मुंजदि सुहणो जघ असणतण्हाए ॥ १३२४ ॥

स्वयमेवाशनं वातं निर्लेज्जो निर्घुणाशयः ॥

सारमेयो यथाश्रान्तिं कृपणोऽशनतृष्णया ॥ १३७२ ॥

विजयोवया—सयमेव वंतमसणं स्वयमेव वंतमसणं वातमशनं सुहणो णिहज्जो णिग्घिणो भ्या निर्लेज्जः निर्घुणः ।

मूलाया—वंतं छर्दिम् । किविणो कृपणः ।

अर्थ—जैसे निर्लेज्ज और उग्रुत्साहित कुचा स्वयं किया हुआ वमन स्वयं ही अन्नकी इच्छासे भक्षण करता है, कृपण और अन्नमे आसक्त कुचा स्वयंका वमन किया हुआ अन्न स्वयं खाने लगता है.

सयमेव वंतमसणं णिहज्जो णिग्घिणो सयं चेव ।
होलो किविणो मुंजदि सुहणो जघ असणतण्हाए ॥ १३२४ ॥

स्वयमेवाशनं वातं निर्लेज्जो निर्घुणाशयः ॥

सारमेयो यथाश्रान्तिं कृपणोऽशनतृष्णया ॥ १३७२ ॥

गृहवासं तथा त्यक्त्वा कश्चिदोपशताकुलं ॥

कपायेन्द्रियदोषार्तो याति तं भोगलक्षणाया ॥ १३७३ ॥

विजयोक्त्या—यत्ने केई फलं केचित् । निहितास्त्वोसमुक्ता गृहवासोभ्यो मुक्ताः शिष्यवद्वा चि संता दीक्षिता अपि संतः । इन्द्रियकलायदोसि इन्द्रियकपायदोषान् । ते चेव तांश्चैव गृहवासगतान् । निष्कृतिं गृह्णन्ति ॥ श्रीहृद्गृहवासो येन दुष्ट इति भ्रण्यते । ममेवं मावाविद्यमानः अनुपपन्नमावालोभोपादनप्रवीणजीवनोपायप्रवृत्तः । कपायाणामाकुरः परेषां पीडागुणद्वयोरतत्त्वपरिकटः । पृथिव्यमेकोवायुचनस्पतिष्वनस्तवृत्त्यावृत्त्यापारो, मनोयाकायैः सचित्ताचिचनेताशुसुखद्विविधप्रदपवर्धनोपजानमासः यत्र स्थितो जनोऽसारे सारतां, अनित्ये नित्यतां, अशरणे शरणतां, अशुनो शुचितां, दुःखे सुखितां, अहिते हिततां, असंशये संशयणीयतां, शत्रुभूते च मित्रतां च मन्यमानः पतितः परिधापयति । स भयसराकोऽपि पद्मविषयलक्षितः । दुरुचरकालोहर्षजयोवरगतो हृष्टिरेव, यागुरापतितसृगकुलमिषः, अग्रादकदंभोन्मत्तो अरकुंजर इव हताशाः, पाशबद्धो विहङ्ग इव, खारकावण्डस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासी-नोऽस्पदलो सुग इव, सर्वेति कोपयजमानसकटः कूटपाशायकट्यो जलचर इव, । यथावस्थितो जनः क्रामयहलतमः पटलेताम्रिदत्ते । रागमहाभातैरपगुतः, पिताशार्दिभीभिः कवलोकित्यते, शोकपृष्ठैरनुगम्यते, कोपपावकेन मस्मसाम् क्रियते, दुराशालसिकाभिनिष्कले यज्यते, प्रियाप्रियदोषाशोनिमिरनिशु शक्यीक्रियते, प्राथिताद्यामशरसतैस्तृणीरतां नीयते, मायास्थविरिक्या गाढमालिङ्गयते, परिभ्रमकटिनकुञ्जरेष्विदर्यते, स्वशोमसेम लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हस्यते, पापपातकैरबोधः पात्यते, भयावःशलाकामिन्नुद्यते, अवासवयवैः प्रतियासरं भीष्यते, ईर्ष्यामया विरूपतां परिप्राप्यते परिमग्नमैर्दृष्टते । यन्नावस्ति तोऽसंयमाभिद्रुको भवति । असुखाजायावाः प्रियतां याति, मानवावाधिपतितां अनुभवति, विशालथलकादिभिराजपद्मनद्याद्यासुखं न लभते, संसारदारकादामानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय च प्रभवति, मरण विषयापदं न धवति, मोहघनजृम्बटां न मोदयति, विविचयोऽभिसुयसंचरणे न निवेधति । तत्र एवैन्दुवागृहवासो वास्तवस्य सतोऽपि दीक्षिता इन्द्रियकलायदोसि हि इन्द्रियकपायदोषान् । दिशन्त्यः समुच्चयायः । तेनैवमभिसंपद्यते पुनो हि पुनरपि ते दैव तायेव । निष्कृतिं गृह्णन्ति ॥

मूला-इन्द्रियकलायदोसोऽहं इन्द्रियेन्द्रियमिष्टाविरूपग्रहणे सत्सुखीर्षः शोभासिहास्यादिद्रव्यकथनोक्त्यायेनित्या वोपा रागद्वेषोऽन्यसौः कारणभूतः । ते चेव यानेव गृहदोषान् । एषा प्राकृतटीकाकारभवेन व्याख्या । तथा बोक्तम्—

एवं केचिद्गृहद्वन्द्वविमुखा अपि दीक्षिताः ॥

कपायेन्द्रियदोषेण तदेवाद्दते पुनः ॥

अपि च—गृहवासं तथा त्यक्त्वा कश्चिदोपशताकुलं ॥

कपायेन्द्रियदोषार्तो याति तं भोगलक्षणाया ॥

श्रीविजयाचार्यकु—गृहवासतोपासकस्या दीक्षिता अपि सताः । केचिदिद्विदोपास्यगृहवासगतानेष पुनरपि गृह-
न्तीति ज्ञात्वाय । हि सत्त्वस्य समुपवार्थस्य मित्रकथयत्य पुनो इत्यतोऽन्तरयागिसंबंधात् । तथा चोक्तं विष्णु-
श्रीनियर्धन्याम्—

एवं केचिद्गृहवासदोषसुक्ताश्च दीक्षिताः संताः ॥

इद्विकथयत्यदोषान्पुनरपि तानेव गृह्णन्ति ॥

गृहवासधोपासु मनेर्देयागमहावेको, दुराशाचिक्षार्थीपारबर्धं समस्तपापमूलोभमहोरागसुखं, जीवनोपा-
कृत्यादिकायेर्धैरैरतयमगृहाणसंसंहरत्ससुखमिषकृष्टा, पक्ष्मीचमिकायमाणसिपावद्वारप्रविशद्दुर्निवाज्जहाइस्यात्रयंधान्ये-
सगहो कलंककृष्टसत्त्वं, दुर्गेशधुरीणोपेपनिमिचय, विषपावर्तसहस्रशं कलंकदोर्मनयं, परपीठानुग्रहकरणपरिकर-
बंधसमिद्धदुर्गकारराक्षसक्षिप्तकेतव्यं, श्वेतेश्वरसत्त्वान्पि सद्रव्योपार्जनमहणवर्धनव्यकरणान्यासंगसहजजायमान-
मनोबाकायबौरधयससाक्षुविनयराक्षसश्रयणीयादिसुःखानात्मसु सारदिदुष्टिनिर्बंधाः । कंप्यं सर्वगदलपूजितत्वं,
चिवाशास्त्रिनीविकारभूविषयं, परितापनिष्ठत्वं, भिद्यविप्रयोगान्निनिपातविशराहता, शोकानलरवालाकरालता, अतिष्ट-
येयोगदुर्गतद्विपाशसमर्द्धत्वं, कोपपाशकभस्मसांकरणत्वं, शार्जितामसिदेनिदानजर्जरत्वं, मायस्यदिरिद्विनिर्भरभता, भवा-
पःशलापात्रतोदन, भारस्यैव्यातोर्धैशुभ्यदैरन्यान्मृतास्तेयविषयदांपट्याविषवीटकोपसृष्टता, कुयोनिसहस्रसुखप्रवेशकर्मठपाप-
बंधनिबधनत्वं इत्यादयः केचिभिः शुक्तकेचिभिर्वा पथमपि कल्पयितुं शक्या नु हक्या वेति ॥

अर्थ—उपयुक्त दृष्टांतसे यह सिद्ध होता है कि कोई गृहस्थावस्थाके दोषोंसे युक्त होकर और दीक्षा लेकर भी इंद्रिय और कर्मायेंके दोषोंको पुनः ग्रहण करते हैं।

इस गृहस्थपनाको क्यों दृष्ट कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर—

यह गृहवास ममत्वका अधिष्ठान अर्थात् मूल कारण है. हमें ज्ञा माया और लोभ को उत्पन्न करने वाले ऐसे जीवनोपाय इसमें लीवकों करने पड़ते हैं यह गृहवास कर्मायेंकी खान है. यह जीवोपर पीडा और अनुग्रह भी करता है. अर्थात् गृहस्थावस्थामें रहने पर किसीको भीटा करनेका और किसी पर अनुग्रह करनेका हमेशा प्रसंग आता है. पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा और वनस्पति इन स्थावरोंका इसमें हमें ज्ञा घात करना पड़ता है. मत्त वचन और दारिके द्वारा सचिन अचिच अनेक स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ तथा द्रव्य प्राप्त करनेके लिये इस गृहवासमें

महा आगम करने पढ़ते हैं। इस गृहवासमें रहकर लोक असारको सार, अनित्यको नित्य, अशरणको शरण, अपवित्रको पवित्र, दुःसमें सुख, अहितमें हित, अनाधरमें आधार, शत्रुमें मित्रकी कल्पना करते हैं और चारों तरफ भागते हैं। मनमें भीति और शंका होनेपर भी अपायके स्थानकी ही उनको प्राप्ति होती है।

जिससे मुक्त होना अतिशय कठिन है। इस लोहेके पिंजरेमें कैद किये हुए सिंहके समान, जालसे जड़द कर बाँधे हुए हरिणके समान, अतिशय दुस्तर कीचमें फंसे हुए बूढ़े हाथीके गमान ये सर्व गृहस्थ हताश होजाते हैं। अर्थात् ऐसी पापमय, संसारमें पुमानेवाली गृहस्थानस्थाने निकलकर आत्मकल्याण करना अतिशय कठिन है। पापमें पकड़े गये पक्षीके समान, छंद लानेमें डाले हुए असमर्थ दीन हरिणके समान, इन गृहस्थोंको शमसे-सुखमें अत्यंत भय होता है। बूढ़ पाशमें पकड़े गये भस्मके समान इस गृहस्थावस्थामें रहनेवाले लोक कामदेवना रूप गाढ़ अंधकारसे अर्धाव काममोहसे युक्त हो जाते हैं। इन गृहस्थोंके पीछे पकड़नेके लिये रागरूपी हाथी दौड़ रहा है। बिंठा रूपी पिशाची से ये पीड़ित होते हैं। शोक रूपी अग्नि इनको जलाकर भस्म करती है। दुःखद आघाते पंचे हुए ये गृहस्थ अपने स्थानसे हिल भी नहीं सकते हैं। प्रिय पुत्र, भार्यो, इत्यादिकोंका वियोग रूपी पक्ष इनके हमेशा तुकड़े २ कर डालता है।

इस पशुकी प्राप्ति न होना एतत्स्वरूप सैफडो पापके लिये ये माले के समान हैं। जैसे बाण भातेमें रहते हैं वैसे इन गृहस्थोंमें हमेशा इष्ट विषयकी प्राप्ति न होना यह दुःख निवास करता है। भार्यारूपी बूढ़ी इनको गाढा लिंगन देती है। अपमान रूपी कठिन कुन्हादसि इनका मन विदीर्ण होता रहता है।

अर्कविरूपी विष्णुसे ये लीपे जाते हैं। मोहरूपी बड़ा वनका हाथी इनको मार डालता है। पापरूपी बधक लोक इनके ज्ञानका वध करते हैं। मयरूपी लोहेकी सुईयाँ इनका अंगको चुभती हैं। परिश्रमरूपी कीड़े इनको प्रतिदिन मय दिखाते हैं। ईर्ष्यारूपी कज्जलसे ये लीपे जानेसे कुरूप होजाते हैं। परिग्रहरूपी पिशाचोंसे ये पकड़े जाते हैं। इन गृहस्थावस्थामें रहनेपर मनुष्य अंत्ययमके तरफ झुक जाता है। इसलिये गुण सदन नहीं होना एतत्स्वरूपी पत्नी इनको बहुत प्रिय भाव्य होती है। अर्थात् इनका मन अन्यके गुणोंका द्वेष करता है। अभिमानरूपी वनाग्रीमें पड़कर ये मद्भाग कष्टका अनुभवन करते हैं। महान् और निर्मल ऐसे चारित्ररूपी छत्रवृक्षका सुख इन गृहस्थोंको प्राप्त होता नहीं है। यह गृहस्थावस्था कर्मका नाश करनेमें असमर्थ है। इससे मरणरूपी विषबुध दग्ध नहीं होता है।

यह गृहयाग मोहकपी भलबल वेदकी श्रद्धावास्था सोढनेमें समर्थ नहीं है. अनेक योनिओंमें जीवका अमण करना इनमें पंद नहीं हो पाता. इस लिए ऐसे गृहयागके दोषोंका त्याग का मुनिदीया धारण करके भी कितनेक मुनि फिर भी उन्ही दोषोंका आश्रय करते हैं.

बंधणमुक्तो पुनरेव बंधणं सो अचेयणोदीदि ॥

इंद्रियकत्माबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥ १३२६ ॥

बंधमुक्तः पुनर्यं निमित्तं स चियासति ॥

यो दीक्षितः कपायास्थानसिषेययिपते कुधीः ॥ १३२४ ॥

विजयोद्या—बंधणमुक्तो बंधनमुक्तः । पुनरेव बंधणं पुनर्बंधनं । अदीदि प्रतिपद्यते । सो अवेदणो सोऽहः । का । जो सिद्धिगदो संतो इंद्रियकत्माबंधणमुवेदि यो दीक्षितः सन्निद्रियकपायबंधमुपैति । इंद्रियकपायपरिणामाः कर्म बंधनक्रियायां साधकतमत्वाद् बंधबंधनशब्देनाच्यते ॥

गणाद्वीपदुष्टदुष्टासंसेयनाभिमुदीकरणाबंधणं फलकपायदोषगणमाधिवमाणं प्राप्तिवै शक्यमणितप्रबंधेन विरक्तरोति—
मूलारः—अवेदणो अहः । अदीदि प्रतिपद्यते । इंद्रियकत्माबंधणं इंद्रियकपाया एव बंधनं कर्मबंधनक्रियायां साधकतमत्वात् ॥

अर्थ—जो दीक्षा लेकर इंद्रियां और कपायके बंधनको प्राप्त होता है वह जैसा कोई अज्ञवाणी बंधन मुक्त होकर भी पुनः बंधनका स्वीकार करता है वैसा समझना चाहिए, इंद्रिय और कपाय ये कर्मबंधनक्रियामें मायस्वरूप फलण होनेसे उनको भी बंधन कहना अयोग्य नहीं है.

मुक्तो वि णसो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ॥

जो दिक्खिदो वि इंद्रिय कत्तायमइयं कलिमुवेदि ॥ १३२७ ॥

दीक्षित्यापि पुनः मायुः कपायाधत्तालिं यदि ॥

विपुंक्षति कलिं मुत्त्वा पुनः स्वोक्कुत्ते कलिम् ॥ १३२५ ॥

विजयोदया—प्रतिष्ठापनं ॥
मूलरा—कलिना बद्धेन ॥

अर्थ—जो साधु दीक्षित होकर भी पुनः इन्द्रिय और कर्पणरूप कलहका स्वीकार करता है वह कलह में रहित होकर भी फिर कलहका स्वीकार करता है ऐसा समझना चाहिए.

उद्धरण—

सो विच्छिदि मोचुं जे हरथगयं उम्मुयं सपञ्जलियं ॥

सो अक्कमदि कण्हसण्यं छावं वण्यं च परिमसदि ॥ १३२८ ॥

विषाय ज्वलितं हस्ते मुञ्चुरं स उमुचये ॥

आनाममि स कृष्णाहिं न्याघं सृशति सधुचं ॥ १३२९ ॥

विजयोदया—सो विच्छिदि त्व नेच्छति । मोचु मोच्यु । किं हरथगयं हस्तस्थितं हस्तगतं वा । उम्मुयं संपञ्जलितं उम्मुयं मुच्यु प्रपञ्चति । सो कण्हसण्यमक्कमदि स कृष्णसर्पवदिकाम्पमति । छावं वण्यं च परियसदि धुवोपद्रुतं व्याघ्रं च सृशति ॥

मूछारा—मोचुं जे लप्सुं । उम्मुयं अर्पयप्रचलितकाष्ठं । अक्कमदि लंघयति । छावं क्षुत्पीडितं । परिमसदि सृशति ॥

अर्थ—जो मातृ दीक्षित होकर पुनरपि इन्द्रिय और कर्पणरूप परिणामोंको स्वीकारता है वह हाथमें जलवे हुए अग्निमें नहीं त्यागना चाहता है अथवा झाले सर्पको लोभकर आना चाहता है किंवा भूतसे पीडित व्याघ्र को स्पर्श करना चाहता है ऐसा समझना चाहिये.

सो कंठोल्लसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ॥

जो विम्विदो वि इंदिय कमावसिगो हवे साधू ॥ १३२९ ॥

कंठाल्लसिलोऽग्राघं सोऽज्ञानो गाहेत न्हदम् ॥

अनलो वापि यो दीघां कपायाधं प्रपचये ॥ १३३० ॥

विजयोद्या—सो कंडोहगिदमिलो म कंडारलोकिमिळ । दहकथादं दहमयाधं । अदीनि प्रविशति । अ-
ज्जानी अमः । लो दिमिदो वि य यो दीशिनेपि शंदियरुसाववसिमो इंदियकपायशवती सादस्यत्वेवव्यवहारः ॥

मूला—कंडोहगिदमिलो मलाबलंविदहपद ॥

अर्थ—जो अज्जानी साधु दीक्षा लेकर इंदिय और कपायके वस्त्र होता है वह कंडमें शिला बांधकर
अमाध सरोवरमें प्रवेश करना चाहता है. माथामें इंदिय और कपायके वस्त्र हुआ साधु और गलेमें शिला जिमने
चांधी है ऐसा पुरुष हममें सादश्य होनेसे आचार्यने अपेक्षा व्यवहार कर एक ही व्यक्तिको दो विशेषणसे युक्त
किया है परंतु एक दृष्टांत और दूसरा दार्ष्टांत है.

इंदियगहोबनिहो उवसिहो ण दु गहेण उवसिहो ॥

कुणदि गहो एयभवे दोसे इदरो भवसवेसु ॥ १३३० ॥

शुहीतोऽशुग्रहाघातो नापरो ग्रहपीडितः ॥

अक्षयः स सवा दोषं विदधाति कदाग्रहः ॥ १३३८ ॥

विजयोद्या—इंदियगहोबनिहो इंदियग्रहशुहीतः । उवसिहो शुहीत । ण दु गहेण उवसिहो भेष ग्रहेणोपखुदः ।
कुतः ? यस्मात् । कुणदि गहो एयभवे दोसे एरुदिप्रदेय भवे ग्रहो शुद्धव्यामोदलक्ष्यं दोषे करोति । इदरो भवसवेसु
इंदियकपायग्रहो भवसवेसु दोषं करोति ॥

मूला—उवातिहो ग्रहाविष्टः । दोसं बुद्धिव्यामोहं ॥

अर्थ—जो इंदियरूप ग्रहसे पीडित हुआ है उसको ही ग्रहपीडित कहना चाहिये. लो ग्रहसे पीडित है
वह वास्तविक पीडित नहीं है. क्यों कि ग्रह तो एक भयमें ही पीडा देता है अर्थात् बुद्धिमें मोह उत्पन्न करता है
परंतु इंदिय और कपाय रूपी ग्रह इस जीवको मुँकडो भयमें दुःख देता है अतः उसको ही ग्रह कहना चाहिये.

होदि कसाउम्मचो उम्मचो तव ण पित्तुम्मचो ॥

ण कुणदि पित्तुम्मचो पावं इदरो जघुम्मचो ॥ १३३१ ॥

कपायमत्त उन्मत्तः पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः ॥

प्रमत्तं कुरुते पापं द्वितीयो न तथा स्फुटम् ॥ १३७९ ॥

विजयोदया—होदि कसा उन्मत्तो अत्रैवं पदवटना । उन्मत्तो होदि उन्मत्तो भवति यथा । कः ? कसाय उन्मत्तो कपायोन्मत्तः । तथा उन्मत्तो एव होदिपि पदवटना तथा उन्मत्तो न भवति । कः ? पित्त उन्मत्तो पित्तोन्मत्तः । एतेन पित्तवृत्तादुन्मादात् कपायवृत्तस्योन्मादस्य उन्मत्तता व्यता । कथं ? न कुण्ठादि पित्तोन्मत्तो पापं न करोति पित्तोन्मत्तः । पापं इदं उन्मत्तो कपायोन्मत्तो यथा पापं करोति, तथायत् न करोति । यतः एकेकोपिऽपि क्रोधादिः हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणां स्थितिविधं शीर्षोक्तरोति । विवेकज्ञानमेव विरक्तरोति पित्तोन्मादः ततोऽनयोर्भइवंतरं इति भाषे ॥

मुखात्—उन्मत्तो उन्मत्तः । तच्च न तथा न । पित्तोन्मत्तो भवत्तुन्मत्तो यथा कपायोन्मत्त इति संबधः ॥

अर्थ—जो कपायसे उन्मत्त हुआ है उसको ही वास्तविक उन्मत्त कहना चाहिये. परंतु जो पित्तसे उन्मत्त हुआ है वह वास्तविक उन्मत्त नहीं है. पित्तसे जो उन्माद उत्पन्न होता है उससे भी कपायोन्माद अतिशय तीव्र है. और दुःखदायक है. पित्तोन्मत्त मनुष्य पाप नहीं करता है परंतु कपायोन्मत्तमनुष्य पाप करता है. अर्थात् पित्तोन्मत्त मनुष्यसे कपायोन्मत्त मनुष्य महान् अन्याय करता है. एकैकभी क्रोधादिक कपाय हिंसादिक पापोंमें जीवको प्रवृत्त करता है. कर्मका स्थितिविधं उत्तरोत्तर दीर्घ करता है. परंतु पित्तोन्माद एक विवेक ज्ञानको ही नष्ट करता है उससे हिंसादिक पाप और कर्मकी दीर्घ स्थिति नहीं होती है. अतः इन दोनोंमें महान् अंतर है.

इंद्रियकसायमइओ णरं पिसायं करंति तु पिसाया ॥

पावकरणवैलंघं पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥ १३८० ॥

कपायाक्षपिशाचं पिशाचोक्रियते जनः ॥

जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्रपापक्रियोद्यतः ॥ १३८० ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायमइओ इंद्रियकपायमयः पिशाचः । णरं पिसायं करंति नरं पिशाचं करोति । कीदृग्भूतं पिसाचं करोति । सुजणमज्जे पेच्छणयकरं सुजणमज्जे प्रेक्षणीककरणं । पावकरणवैलंघं हिंसादिपापक्रिया-विलंघनो प्रेक्षणीयत्वेन संपदवर्त्तन् पिशाचं करोतीति यावत् ॥

मूलारा—पायकरणवैजंघं वायकरणमेव निर्वचना यस्य तं । पेच्छण्यकरं प्रेक्षुण्यकरिणं हिसादिपाणक्रियाविश्वता
 प्रेक्षणीयकत्वेन संगदयत् विशाष करोतीत्यर्थः । उक्तं च—

कथायाद्यापिज्ञानेन पिज्ञाचीक्रियते नरः ॥

सन्मध्ये प्रेक्षाणीभूतः कुर्यन्माषविट्स्वनाम् ॥

अर्थ—इंद्रिय और कथाय रूपी पिशाच मनुष्यको सुजनको देखनेलायक हिसादि पापक्रिया करनेवाला पिशाच बनाता है.

कुलजस जस्समिच्छसगरस णिघणं वरं खु पुरिसस्स ॥

॥ १३३३ ॥

येयतस्य कुलीनस्य योगिनो मरणं वरम् ॥

श्लोकद्वयसुखध्वंसि न कपायाक्षपोषणम् ॥ १३८१ ॥

विद्ययोदया—कुलजस्त पुरिसस्त लसत्सिच्छन्तस्त कुलमसूतस्य पुंनः यशोदुमिलायिनः । निषण्णं घटं
मृतिः दोमता । न तु घटं जीविभूजेनैव परं जीयन् । विविजयेण संविकसाययसिपण् वीक्षितसौन्दर्यकपायदाबलिनः ।
जीयन् न शोभनमित्यर्थः ॥

मूलारार-णिपणं मरणं । क्षीयिन् जे जीविन् ॥

अर्थ—उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ तथा बसकी अभिलाषा कर्मवाला ऐसे पुरुष का मरना भी अच्छा ही मानना चाहिये. परंतु दीक्षा लेकर पुनः इंद्रिय और कषाय के वश होकर जीना अच्छा नहीं है. अभिप्राय यह कि, इंद्रिय और कषाय के आधीन होकर जीना पापासवके लिये कारण है अतः ऐसा जीना खराब है.

जोध सणजो पमहिदचावकंडो रधी पलायंतो ॥

णिंदिज्जिदि तद्य इन्द्रियकसायवसिगो वि पव्यज्जिदो ॥ १३३४ ॥

विन्यते संयतः सर्वैः कथायाश्चवर्णितः ॥

[illegible]

विजयोदय—यथा रथी पलायतो निदिच्छति यथा रथी पलायति चेत् । कीदृक् ? खण्डो रग्गहिद्वयकंडो सप्रत्यः प्रगृहीतगण्डोऽऽ तथा इन्द्रियकसायवसिगो वि पवज्जिदो तथा इन्द्रियकपायवस्यर्थेपि प्रयजितो निद्यते ॥

मूलार—रथी रथारोहः ॥

अर्थ—जैसे-युद्ध के लिये तयारी चिसने की है अर्थात् कवच पहन कर और हाथमें धनुष्य और बाण लेकर सड़ने के लिये तो रथमें आसूट हुआ है ऐसा रथी वीर रणको देखकर यदि डरके मारे युद्धसे भागने लगता तो जगतमें उसकी निंदा हुए बिना नहीं रहती. वैसे दीक्षित होनेपर इन्द्रियकपायवश हुआ पुरुष जगतमें निंदाका पात्र होता है.

अथ भिक्खं हिंदंतो मउडादि अलंकिदो गहिदसत्थो ॥

निदिज्जहु तथ इन्द्रियकसायवसिगो वि पवज्जिदो ॥ १३३५ ॥

कपायाभयशस्याची वृत्त्यते कैर्न संपतः ॥

याचमानो यथा मिथां भूपितो मुकुटाविभिः ॥ १३८३ ॥

विजयोदय,—अथ नि-पचं हिंदंतो मुहुदाभिभिरदृष्टो गृहीतको मिथां भ्रमन् निद्यते । निद्यते इन्द्रियक-पायवस्यवर्तो प्रयजितः ॥

मूलार—गहिदसत्थो धृमात्तः ।

अर्थ—जैसे मुकुट, अंगद वंगर आभूषण पहना हुआ, हाथमें शस्त्र को धारण करनेवाला मनुष्य यदि मीर मांगता हुआ देता गया तो उसकी लोक निंदा करते हैं वैसे दीक्षा लेकर इन्द्रियवश और कपायवश होना यह ऊपरके वृष्टांत के समान निदनीय है.

इन्द्रियकमायवसिगो मंडो णमो य जो मत्तिणगत्तो ॥

सो चित्तकम्मसमणोव ममणरूवो असमणो हु ॥ १३१६ ॥

सर्वांगीणमलालीदो नमो मुंडो महत्तपाः ॥

जायते सकपायाक्षश्चित्रमणसक्षिभः १३८४ ॥

विजयोदयो—इंद्रियकषाययस्त्रिगो इंद्रियकषाययशीष्टलः, मुंडो नदद्वय यो मलिनमात्रः सच । सो समणरूपो न समणो स भ्रमणरूपो न भ्रमणः । सो चित्तकर्मसत्त्वयो एव स चित्तकर्मभ्रमण इव । परमाभ्रमणसत्त्वरूपोऽपि यथा निग्रभ्रमणो न भ्रमणस्तत्र मुंडो नदद्वयमरिणामश्रवणः ॥

मूलाय—चित्तकर्मसमणोऽयं चित्रलिखितविवरिय । समणरूपो परमार्यवत्सदृशरूपोऽपि ।

अर्थ—जो इंद्रिय और कषायके वश हुआ है, मुंडमस्तक, और मलिन अरि है वह मुनि होनेपर भी मुनि नहीं माना जाता है. वह चिर्यास्तव्य मुनिके समान है ऐसा मानना चाहिए. जैसे चित्र लिखित मुनि वास्तविक मुनि नहीं है वैसे इंद्रियवश कषायवश मुनि पाप परिणामसे मलिन होनेसे अशुभ कर्मके बंधक माने गये हैं इसलिये उनको मुनि नहीं समझना चाहिए.

ज्ञानं नरस्य शोषानपहरति इंद्रियकषायज्वलमुद्येन यथा सारथतः महारणमावरणं च शत्रुं नाशयतीत्युत्तरगा-
थायै, इंद्रियकषायज्वले ज्ञानं कषायहारित्वाख्यं अतिशयं न लभते यथा सारथहीनस्यावरणसंधाहारस्य महारणं च लक्षणवत्तादिकं शत्रुजयस्यमतिशयं नास्त्यत्यन्ति ॥

णार्ण दोसे णासिदि णररस इंद्रियकषायविवरणेण ॥

आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥ १३३७ ॥

ज्ञानदोषयिनाशाय कषायेंद्रियनिर्जयः ॥

नारं शत्रुं शत्रुविपाताय जायते सत्त्वसंभवे ॥ १३८५ ॥

विजयोदयो—णार्ण ज्ञानं दोसे दोषान् । णासिदि नाशयति । णरस्स गरस्स इंद्रियकषायविजयेन । जह यथा । आवहरणे पहरणं भायुगो हरणं महारणं शत्रुं । लहमावेन यतने इति सत्त्वसत्त्वस्स । अरिं रिपुं । णासेदि नाशयति ॥

मूलाय—जावरण भ्रमादः । नरसत्तस्स सत्ययुद्धस्य ।

इंद्रियाँ और कषायोंको जीतनेसे ज्ञान शत्रुत्वके दोषोंका नाश करता है. जैसे धैर्ययुक्त मनुष्यका शत्रु और कबच शत्रुका नाश करता है ऐसा आगेकी गाथाका भाव है, इंद्रिय और कषायोंको यदि न जीता जायगा तो ज्ञान दोषोंका नाश नहीं कर सकेगा. जैसे धैर्यहीन मनुष्यके शत्रु और कबच शत्रुको नहीं जीत सकते हैं.

अर्थ—इंद्रिय और कषायोंपर विजय प्राप्त करके ज्ञान पुण्यके दोषोंका नाश करता है. जैसे धैर्यवान् मनुष्यका आशुष शत्रुका आयुध नष्ट कर देता है.

णाणंणि कुणदि दोमे णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥
आहारो वि हु थाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥ १३३८ ॥
दोयाय जायते ज्ञानं कपायेंद्रियद्वित्तम् ॥

विजयोदया—णाणंणि कुणदि दोमे णरस्स ज्ञानं दोयन्नपि करोति नरस्य । इंदियकसायदोसेण इंद्रियरूपाय-
परिणामदोसेण । उपकार्यंणि भद्रुणकारितामुद्धति परमसंगेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्यहारो विगमिन्नः प्राणा-
विधनाशयति ॥

मुलारा—दोमे अपकारान् ॥

अर्थ—इंद्रिय क्षणायस्वी परिणाम दोषेति पुरुषका ज्ञान मी दोषोको उत्पन्न करता है, यद्यपि ज्ञान
उपकार करनेवाली चीज है परंतु दूसरेके अर्थात् सदोषके संगर्षे दोष उत्पन्न करता है, जैसे अन्नसे प्राण धारण
होता है परंतु वह विषयशुक्त होकर प्राणोंका नाश करता है देता है.

णाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इंदियकसायविजयेण ॥

बलरुत्तवण्णमाळ करेहि जुत्तो जघाहारो ॥ १३३९ ॥

विदधाति गुणं ज्ञानं कपायेंद्रियवल्लितम् ॥

वपुयोंग्यं करोत्तन्नं बलवर्णोदिसुंदरम् ॥ १३४० ॥

विजयोदया—आण करेदि आग करोति। पुरिसस्स गुणे पुरुषस्य गुणान् । कये ? इंदियकसायविजयेण इंद्रिय-
कपायविजयेण बलवर्णकवमाळ करेदि बल रूप, तेज, आशुख करोति । जुत्तो जघाहारो युक्तः शोभनो यथाहारः ॥
वियेणाभिधित- ॥

मुलारा—वण्ण तेलः । जुत्तो सिद्धिः ॥

अर्थ—इंद्रियां और कर्णयोको जीतकर ज्ञान मूल्यधे गुण पैदा करता है- जिसमें विष मिश्रण नहीं हुआ
है ऐसा उत्तम आहार तेल, चीर्ष, रूप, पराक्रम और आयुको बढ़ाता है.

गार्णं वि शुणे णासेदि णरस्स इंदियकसायदोसेण ॥

अपवघाए सत्थं होदि हु काएरिस्सहत्थगयं ॥ १३४० ॥

कपायेंद्रियदोषेण ज्ञानं नाशयते युणं ॥

इअममात्तमविनाशाप किल भीरुकरास्थितम् ॥ १३८८ ॥

पित्रयोदया—ज्ञानमपि युवाग्रस्तमिति नरया इंदियकपायपरिणामदोषेण । आत्मवघाय भवति शंखं कापुण्यवृत्तागते इति ॥

मूलाद—अपवघाए स्वघाताये ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपायेंद्रिय दोषोंसे मनुष्यका ज्ञान गुणोंका ध्वंस करता है. धेवंहीन पुरुषके साथमें रहनेवाली वारवार उसका ही नाश करती है.

उत्तर गार्णयः ॥

सवट्ठरसुदो वि अवभाणिज्जदि इंदियकसायनोसेण ॥

णरमाउधहत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिसंबति ॥ १३४१ ॥

कपायेंद्रियदोषातः शास्त्रोऽप्यवमन्यते ॥

किं प्रेतः पाखरहस्तोऽपि न स्वगैः परिभूयते ॥ १३८९ ॥

पित्रयोदया—सुषुप्तसुदोषि सुष्ठु यशुतोऽप्यवमन्यते इंदियकपायदोषेण । शूहीतात्ममपि नरं हृतं भुजः परिभयन्ति यथा ॥

मूलाद—अवभाणिज्जदि अवशारेणुःक्रियते ॥

अर्थ—इंद्रिय कपायेंद्रिय दोषोंसे बहुयुत विद्वानका भी लोक जयमान करते हैं. जिसके क्षायमें शस्त्र है ऐसे मरे हुए मनुष्यका गीघ पराभव करते हैं.

इंदियकसायवसिगो बहुसुदो वि चरणे ण उज्जमदि ॥

पक्खीय छिण्णपक्खो ण उप्पहदि इच्छमाणो वि ॥ १३४२ ॥

घृते नाक्षकपायार्त्तः शुलशोऽपि प्रवर्तते ॥

उद्धीयते कुतः पक्षी लूनपक्षः कदाचन ॥ १३९० ॥

निलमोदया—इंद्रियकसायसिगो इन्द्रियकसायवशात्, बहुशुलोऽपि चारिते नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी नोत्ततति इच्छति ॥

मूढारा—इच्छयाणो वि उत्सहितुमिच्छन्ति ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपायोंके वश हुआ पुरुष विद्वान होकर भी चारित्र्यमें उद्यम नहीं कर सकता है, जिसके पक्ष टूट गये हैं ऐसा पक्षी उड़नेकी इच्छा करता हुआ भी नहीं उड़ सकता है,

णस्सदि संगमि बहुगं वि णाणमिंद्रियकसायसम्मिस्सं ॥

वित्सम्मिस्सिदुदुं णस्सदि जघ सक्काकडिदं ॥ १३९३ ॥

लंसते बहुपि ज्ञानं कपायेंद्रियवृत्तिम् ॥

सत्कार्कर्ममपि क्षीरं सविपं भंक्षु नश्यति ॥ १३९१ ॥

विजयोदया—णस्सदि संगमि बहुगमि णाणं नश्यति स्वयं वहसि वान् इन्द्रियकसायसन्निधेः । शर्कराफणितं नृप विपनिमित्तम् । माधुर्योत्सादिवायता दुग्धस्य शर्कराफणितराशेन कप्यते ॥

मूढारा—णस्सदि विनश्यति । सुदं भुताख्यं । सक्काकडिदं अतिमधुरमित्यर्थः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कपाय विकारोंसे मिथ्र हुआ मधुवसा भी क्षान नष्ट होता है, विपत्तिश्रित भी मीठा कदाया हुआ दूध नष्ट होता है अर्थात् उसका स्वभाव नष्ट होता है,

इंद्रियकसायदोत्तमलिणं णाणं ण वट्टदि हिदे से ॥

वट्टदि अणस्स हिदे खरेण जह चंदणं ऊढं ॥ १३९४ ॥

ज्ञानं परोपकाराय कपायेंद्रियदूषितम् ॥

किमूढमुपकाराय रासमस्य हि चंदनम् ॥ १३९२ ॥

मिजवोदया—ज्ञाने लदीय तन्मये उपकारिताया प्रसिद्धतामपि स्वीकृत्यारि भवति इन्द्रियकषाययमलिनं परोपकारि
 न भवति यरेकोऽं चंदनादिक्लमिषेति सूचार्थः ॥

मूलारा—दिने उपकारे । से तस्य ज्ञानगतः ॥ उपकारितया प्रसिद्धतामपि नोपकाराय भवतीत्यर्थः ।

अर्थ—इन्द्रिय और कषायोंसे ज्ञान मलिन होता है तब वह अपने स्वामीका हित करनेमें असमर्थ होता है परंतु उस ज्ञानसे दूसरों का हित होता है. गंधा चंदनका बोझा धारण करता है परंतु उससे उसका भी हित होता नहीं. जो उस चंदन का उपयोग लेते हैं उनकाही उससे हित होता है. उसी तरह इन्द्रियकषायसे जिसका ज्ञान मलिन हुआ है ऐसा आत्मा गंधेरुममान स्वप्नानमें अपना हित नहीं कर सकता है.

ज्ञानं प्रकाशकस्यमपि जहाति—

इंद्रियकसायनिगह्निमीलितदस्स दु प्यामदि ण जाणं ॥

रत्ति चक्खुणिमीलभम जथा दीवो सुपञ्जलिदो ॥ १३४५ ॥

कषायायल्लघुदीनस्य न विज्ञानं प्रकाशयते ॥

निमीलितं क्षणस्यैव दीपः प्रज्वलितो निक्षि ॥ १३९३ ॥

मिजवोदया—इंद्रियकषायपरिणामवशादिति निगदति । इन्द्रियकसायनिगह्निमीलितदस्स इन्द्रियकषायनि-
 श्चे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशकं । रत्ति च सुपञ्जलिदो इत्यम निमीलितवस्तुषु पुंसः । जहा दीवो
 सुपञ्जलिदो यथा सुमल्पलितः प्रदीपः ॥

मूलारा— निमीलितदस अन्तुपुक्तस्य । इन्द्रियकषायामिभूतरयेत्यर्थः । प्यामदि ण वस्तुषुकाशकं न भवति ।
 रत्ति रामो । चक्खुणिमीलितस्य विहितवैषम्य ।

ज्ञानका पदार्थको प्रकाशित करना अर्थात् जानना यह धर्म है परंतु वह भी कषायवश होनेपर नष्ट होता है ऐसा करते हैं.

अर्थ—इन्द्रिय और कषायवश होकर आत्मा हीनवस्थाको पोहोचता है तब उसका ज्ञान पदार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेमें असमर्थ होता है जैसे रातमें कोई आदमी आत्मे भीचकर सोया हुआ है ऐसी परिस्थितिमें उसके

पास जलवा हुआ भी दीर्घक क्या पदार्थको दिखानेमें तब पुलक को सहायक होता है? इसी प्रकार कृपायवशा होने-पर आत्माको उसके ज्ञानसे पदार्थको जाननेमें सहायता नहीं मिलती है.

इन्द्रियकसायमडलो वाहिरकरणिहुदेण वेसेण ॥

आवहदि को वि विसए सउणो वीदंसगेणेव ॥ १३४६ ॥

बाहिर्निभृतवेयेण गृह्णते विषयान्सदा ॥

अंतरामलिनः कंको मीनानिव दुराशयः ॥ १३९४ ॥

वित्तयोत्पत्त्या—रात्रियकसायमारतो इन्द्रियकसायरिणानामलिनः वाहिरकरणिहुदेण वेसेण । वाष्टात्वा गन्-नाद्विषयाः क्रियाया निभृतेन वेयेण । कोरे विसए आवहदि । काञ्चिद्विषयानागृहीतं ज्ञातमनो भोगाय ॥
मूलात्—वाहिरकरणिहुदेण । गमनागमनादिक्क्रियार्थकृतेन । वेसेण आकरोध । आवहदि सेयते । नउणो पक्खिनः । वीरतदेणेय भीतशंकेनेय । गृह्णतशिक्षितपक्खिनो यथा न्याय इति शेषः । अन्यस्तु सउणो वीदंसगेणेव इति पठित्वा पक्षी बंजरा पथेति प्रविष्टः ॥ तथा च तदुक्तम्—

उपायाको कुटीक्षिते बहिर्निभृतवेयवान् ॥

आदत्ते विषयोर्बन्धका निष्ठुवः शत्रुको यथा ॥

अर्थ—इन्द्रिय और कृपायवश होकर वित्तका आत्मा मलिन हुआ है ऐसा पुरुष वाश आना जाना चंगरह क्रियाओंसे अपना मूलस्वरूप-मलिनस्वरूप छिपाकर विषयोंका सेवन करता है परंतु मनमें यह निःशंक नहीं रहता है अर्थात् मेरा मलिन स्वरूप कदाचित् लोक आनेमें ऐसा भय हमेशा उसको व्यथित करता है, जैसे पारधी किसी पक्षीको पकड़कर उसको शिथिल देकर उसका पूर्वस्वरूप छिपाता है वैसे कृपायमलिन आत्मा अपना मलिन स्वरूप छिपाकर बाल क्रियाओंसे अपनी छुदला दिखानेका प्रयत्न करता है परंतु वह मनमें हमेशा शंकिता ही रहता है.

घोटगल्लिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ॥

वाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्स ॥ १३४७ ॥

घोटकोच्छ्वास्तुल्यस्य किमन्तः कुपितात्मनः ॥

दुष्टस्य यफचेष्टस्य करिष्यति बहिः क्रिया ॥ १३९५ ॥

विजयोत्तरा—घोटकोच्छ्वास्तुल्यस्य योऽन्तर्गतस्य मानस्य यथा यतिर्भयान्विता न तद्वन्तर्भवणता । तद्वत्कस्य-
विदाहर्षं धरन् समीचीनं भाव्यतराः परिणामाः शुभाः । स यद्युत्पद्यते । बाहिरकरणं हि क्रियादि बाह्यक्रिया अनन्ताना-
मिना किं करिष्यति । अन्वतरास्मि कुपितस्व अंतः कुपितस्व । इंद्रियकषायसंज्ञाऽऽश्रुभरणेणमेव नष्टाभ्यंतरतपोवृत्ते-
रिति यावत् । यत्किमुपकरणवत् सकयविभुतक्रियस्य ॥

युक्ता—घोटकोच्छ्वास्तुल्यस्य यथा घोटकलिं बहिर्मुखं माने यत्परं तथा बहिः सुष्ठुतोऽन्तरमुत्पद्यते इत्यर्थः ।
कुपितस्व इंद्रियकषायसंज्ञावितस्य । बाहिरकरणं अमलगतावितपक्षरत्नं । किं ते बहिदि किं तस्य करिष्यति । यत्किमुत्प-
करणस्य यत्किमुत्पद्यस्य ।

अयं—योरे की लीद अंतर दुर्गविभुक्त रहती है परंतु बाहरसे वह स्निग्धकलितसे युक्त होती है।
अंतरभी यह वैसी नहीं होती, उपयुक्त स्थानोंके संपान किसी पुरुषका—शुनिका आचरण ऊपरसे अच्छा—निर्दोष
दीप्त पड़ता है। परंतु उसके अंदरके विचार कषायेत मलिन अर्थात् मंद रहते हैं। यह बाह्याचरण उपवास, अथवा
दर्यादित रूप उसकी कुछ उन्नति नहीं करता है। क्योंकि इंद्रियकषायरूप अंतरां यत्किं परिणामोसि उसका अर्थ-
वत् तब नष्ट हुआ है, जैसे पशुला ऊपरसे स्वच्छ और प्यजन धारण करता हुआ दीखता है परंतु अंतरांगमें मारस्य
मारनेके गंदे विचारोंसे युक्तही होता है।

यहां तथा करणीयतपोवर्द्धिं सत्कल्लं संपादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्यादांकायां धुरितराच्ये—

बाहिरकरणविमुद्धी अन्मंतरकरणसोषणरथाप ॥

ण इ कुंडयस्स तोषी सक्का सतुसस्स काहुं जे ॥ १३४८ ॥

मत्ता बहिः क्रियाशुदिरन्तर्भलविमुद्धये ॥

पहिर्भलधयेनेव मंदुलोऽन्तर्विग्रोच्यते ॥ १३९६ ॥

विजयोत्तरा—बाहिरकरणविमुद्धी बाह्यक्रियाविमुद्धिः । अन्मंतरकरणसोषणरथाप अन्मंतरक्रियाणां विनया-
रीणां मुद्धये, भाव्यतरतपोसं लब्धये यदुत्तरकर्मनिर्भररथयाणां परिशुद्धये अर्थात् बाह्यान्वयमनामितिर्भावति । ततोऽन्यथेतया

पाशान्युपदिशति । यदि यदर्थं तत्प्रदायं इति प्रधानताभ्यन्तरतत्पक्षः । तत्र शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै वाह्यमस्ते । उक्तं न-पाशो तपः परादुष्परिणामपरिणामात्मिकात्मिका तपसः परिशुद्धिर्णार्थं ॥ इति ॥ न तु कुण्डयस्स सोभो सका काहुं जे नैवान्तर्मलेस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? सतुसस्स सतुपस्स घान्यस्स ॥

न चैवं कर्त्तव्यं तपो चाहुतेव गित्तवसेयं अतः—

मूला— अन्धमेतरेत्यादि अन्धन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धयर्थं अन्धन्तरतपसा लब्धेयं बहुतरकर्मनिर्जराण्यु-
माणां परिशुद्धये बाह्यतयासि क्रियेण । इति न व्यर्थतया तावदुपदिशति । यदि यदर्थं ॥ तत्र प्रधानमिति, तत्र प्रधानताभ्यं-
तरतपस इति तात्पर्यं ॥ जोडवस्स अन्तर्मलेस्य । सुखी स्फोटनं सतुसस्स सतुपस्स घान्यस्स ।

बाह्य तप करना चाहिये ऐसा आश्रममें कहा है और वह अपना फल जीवको देना ही है परंतु आप तो उसको निष्फल बता रहे हैं अतः वह आपका कइना विरुद्धसा भाव्यम होता है ? इस प्रश्नका आचार्य उत्तर देते हैं—

अर्थ— बाह्य क्रियाओंकी अनशनादि तपोऽंजी निर्मलता अंतरंग विनयादि तपोऽंजी निर्मल करनेके लिये होती है अर्थात् अन्धन्तर तप छोड़े कालमें बहुत कर्मोंकी निर्जरा करनेका सामर्थ्य रखते हैं, और बाह्य तप इन-
तपोका सामर्थ्य बढ़ाता है अतः बाह्य तपोको ' बाह्य यह नाम सार्थक है, अन्धन्तर तपके लिये बाह्य तप है अतः
अन्धन्तर तप प्रधान है, यह अन्धन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामोंसे युक्त रहता है, इसके विना बाह्यतप कर्म
निर्जरा करनेमें असमर्थ है, श्रीसमन्तभद्र आचार्य ' हे प्रभो आप अतिशय काठिन ऐसा बाह्य तप अन्तरंग तपकी
१ द्वीके लिये करते थे ' ऐसी विनय की स्तुति करते हैं, इससे अभ्यतर तप प्रधान है, और बाह्य तपसे अभ्यतर
तपमें विशुद्धता प्राप्त होती है यह सिद्ध होता है, बाह्य तप निष्फल अर्थात् व्यर्थ है ऐसा समझना योग्य नहीं है,
जो धान्य सतुप है अर्थात् ऊपरके छिलकेसे युक्त है उसका अन्धर्मल नष्ट नहीं होता है,
जब छिलका नष्ट होता है तब धान्यका अन्धर्मलभी नष्ट होता है, अतः अन्तरंग तपको विशुद्धताके लिये बाह्य
तप भी करना चाहिये ऐसा आचार्यका मत इस भाषासे स्पष्ट होता है.

अन्धन्तरापोधीए सुद्धं पियमेण वाहिंरं करणं ॥

अन्धन्तरादोसेण हु कुणदि णरो वाहिंरं दोसं ॥ १३४९ ॥

विजयोदया—अम्बंतरसोर्षीष अम्बंतरमुद्रया । मुद्रं विषयेन वाहिरं करणं शुद्धं निश्चयेन वाह्यं करणं । अम्बं-
तरदोलेन तु अंतःपरिणामदोलेन इद्विकल्पपरिणामादिना । कुणदि जतो वाहिरं दोसं करोति नरो बाह्यान्वो-
पान्वाक्याअयान् ॥

मूलादा—मुद्रं निर्दोषं भवति । वाहिरकरणं वाक्कायक्रिया वाहिरं वाक्कायाश्रयं ।

अर्प—अम्बंतर शुद्धिपर नियमसे बाह्य शुद्धि अवलंबित है. अंतरंग यदि जगुद्र है तो मनुष्य वचन
और शरीरके आश्रयसे दोष करता है. इंद्रिय और कर्पाय परिणाम ये अन्तरंग दोष हे इनसे आत्मा जब मलिन
होता है तब वचन और शरीरसे भी दोष होता है और यदि अन्तरंग परिणाम निर्मल है तो वचनवृत्ति और शरीर
प्रवृत्ति भी निश्चयसे शुद्ध होती है.

लिंगं च होदि अम्बंतरस्स सोर्षीए वाहिरा सोर्षी ॥

भिडडीकरणं लिंगं जह् अंतो जादकोधरस ॥ १३५० ॥

यहिः शुद्धिर्यतो लिंगमन्तःशुद्धेऽप्रजायते ॥

नांतः कोपयिसुक्तेन भ्रुकुटिः क्रियते यहिः ॥ १३५८ ॥

यत्र प्रयान्ति स्थितिकन्मधुवीस्तद्वृत्ते चैर्ह्वयं कर्पायैः ॥

काष्ठं हुताशैरिच तीव्रतापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम् ॥ १३५९ ॥

चैः पोष्यंते दुःखदानप्रवीणास्तेषां गीढां ये ददन्ते दुरन्ताम् ॥

भ्रीमाकारा व्याघ्रयो वा प्ररुढाः संत्यक्षार्धाः कस्य ते न क्षयाय ॥ १४०० ॥

इति सामान्याक्षकायायदोषाः ॥

विजयोदया—लिंगं च होदि चिह्नं = भवति । अम्बंतरस्स परिणामसोर्षीष अम्बंतरस्य परिणामस्य शुद्धः ।
वाहिरा सोर्षीबाह्या शुक्तिरन्तर्मादितपोविषया । भिडडीकरणं लिंगं भ्रुकुटीकरणं लिंगं । जह यथा । अंतो जादकोधरस्स

अंतर्जातस्य कोपस्य द्विगं द्विगभाजः । बाह्यानामन्यतराणां चैवं भवति यदि परस्परविनाभाविता स्यादभिपन्नयोरिव ।
प्रसिद्धा द्विगल्लिप्तिभावः कार्येण याहोत्र कारकस्यान्यतरस्थेति भावार्थः ॥

मूलारा—लिंगं यमकं । धूम इव बन्धेः कार्याख्यं साधनमित्यर्थः । आव्यंवरस्ता अन्यत्परिणामस्य । बाहिरा
अनन्तनादितपोविषया । सामान्येन्द्रियकणायदोषा ॥

अर्थ—अन्यतर परिणाम सुदृढीका अनन्तनादि बाह्य तत्र लिंग है, चिह्न है, जैसे किसी मनुष्यके मनमें
क्रोध जब उत्पन्न होता है तब उसकी मोहें ऊपर चढ़ती है और व्यादह चक्र होती है, अर्थात् चली हुई मोहें
देतकर लोक इस मनुष्यके मनमें क्रोधका विकार उत्पन्न हुआ है ऐसा अनुमान करते हैं, इस प्रकार बाह्य और
अन्यतर परिणामोंमें लिंगलिप्तिभाव है, अर्थात् बाह्य लिंग है अंतरंग लिपी है, अव्यंतर और बाह्य इनमें जब
आपसमें धूम और अग्निके समान अविनाभाव रहता है तब लिंगलिप्तिभाव माना जाता है, अर्थात् बाह्य कार्यरूप
और अन्यतर कारणरूप होनेसे अविनाभाव इनमें होता है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये-

ते चेव इन्द्रियाणं दोसा तत्त्वे हवंति णादब्बा ॥

कामस्स य भोगाण य जे दोसा पुच्चणिदिट्ठा ॥ १३११ ॥

ये रामाकामभोगानां प्रपञ्चन निरूपिताः ॥

अक्षणाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याः सकलाः स्फुटम् ॥ १३०१ ॥

विजयोदया—ते चेव इन्द्रियाणं दोसा त एवंद्रियाणां सर्वेषां दोषा प्रयन्ति इति प्रतल्याः । के ? ये दोसा पुच्च
णिदिट्ठा ये दोषाः पूर्वनिर्दिष्टाः । कामस्स य भोगाण य कामस्य भोगाणां च संबंधतया निर्दिष्टा दोषाः ॥
इतानी विदोषण इन्द्रियदोषान्नायानवकैव व्याचिख्यासुः पूर्व सामान्येन उदभिधानाय गत्यादयमाह—

मूलारा—स्फुटम् ॥

अर्थ—काम और भोगसंबंधी जो दोष पूर्व कहे हैं वे ही सर्व दोष इन्द्रियोंके विषयमें भी समझने चाहिए,

महल्लिप्तं असिधारं तिवस्सं लेहिउज जव णरो कोई ॥
तव विसस्यसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोमे ॥ १३५३ ॥

१३०८

मधुलिङ्गामसंघर्षां तीक्ष्णां लेष्टि च मूढधीः ॥
इंद्रियायं सुखं मुंक्ते यो लोकद्वयदुःखदं ॥ १४०२ ॥

विजयोदया—मधुलिङ्गं मधुना लिङ्गां । अविधारं असेर्घायां । तिष्यं तीक्ष्णां । जड् ण्यते कोई लेहिज्ज यथा नरः कश्चिदास्वादयति विह्वला । तद् विसयमुद्धं सेवयि तथा विषयसुखं सेवते । दुर्भावदं इव य परलोप दुःपावहमत्र जन्मनि परय च, स्वल्पमुपगतया गदुदुःपतया च साम्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः ।

विषयसेवायां लोभद्वयदुःखमृविद्यायां स्वल्पमुल्लापव्यास्य प्रयोजकत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते ।
मूढाया—लेहेज्ज विह्वला स्वादयेत् ।

अर्थ—जैसे कोई पुरुष मयसे लिप्त वरवारकी तीक्ष्ण धारा विह्वलसे चाटता है वैसे सर्व प्राणी इहलोकमें और परलोकमें दुःखदायक विषयोंका सेवन करते हैं. वरवारकी मधुलिप्त तीक्ष्ण धारा चाटनेसे थोडासा सुख मिलता है परंतु गदुदु दुःख होता है. वैसे ये विषय भी इहपरलोकमें अव्यसुख और अधिक दुःख देते हैं अतः स्थिति और दार्ष्टान्तिकता साम्य है.

एकैकैन्द्रियविषयवरायातिभिर्मृगादिभिरुपद्रवो द्याक्, किं पुनरशेषेन्द्रियविषयकल्पदेवैः प्राप्येऽनये वाच्यमिति मयाचेदे—

सदेण मओ रुत्वेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ॥
मच्छो रसेण भमरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥ १४५३ ॥
रूपशब्दरसरूपदर्शनं धास्तक्ता यथाक्रमम् ॥
पतंगयुगभीने भद्रमराः प्रलयं गताः ॥ १४०३ ॥

विजयोदया—सदेण मओ गन्धेन युगः वाण्यच्छेद्यतरससुभित्ठणाभयासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिक दुष्टममं दुःखसमानतिविशाल विशालागच्छीभिर्भक्तमुल्लेखति प्रियतामाप्राणान् । मणगजो वि फरिसेण यनगजज्ज पित्ततिनीदरमिव दुष्पमेसासु, संयुतिस्वि महतीसु वरण्यानीसु, विषद इव दुष्टतिक्रमणीयासु सहजीतरुगतक-
नापादासः, रम्यगिरिनिदीविपुलन्दे, स्वेच्छापानतरुणिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रतिभिः, अनुकूलमेककरिणीमन्दयनेनासु-

मरुमानो वासिताविशालजलयस्पर्शनीर्णवप्रीतिर्मदकलो विवेचनो रागबद्धतिमिरपटलायुंक्षितलोचनो महति गर्ते निपतितः परं ग्रसनमयगाहले । मच्छो भस्वाः युवजनमनःखरोनपायिविहासिनीविलोचनविभ्रमविलेननोद्यतः स्थव्याहा-
ररसलोदुयो विपदमहावदयः प्रयाति । विविचसुरभिप्रसन्नकररजोऽङ्गरागो भ्रमटः । विपदादपकुसुमगंधेनापहत
त्रियमप्रपानो भ्रमति । एवमेते बोधान-प्रापिताः ॥

इन्द्रिविशेषदेवगान्ध्याभासतलेन व्यापित्वामुदेकैस्त्यापीन्द्रियविषयस्य सेवायां यरणांतविपदः संपरंते किं
दुतः पंचानामिति गाथाद्वयेन दृष्टांतपुष्टमाचष्टे—

मूलात्—यविशो मारिकाः । दोषे मरणवसानदुःखानि ॥

यूकेक इन्द्रियोंके बद्ध होकर भुंग खोर प्राणियोंको दुःख प्राप्त हुआ है- परंतु मनुष्य प्राणीको पंचेन्द्रिय
विषयलब्धतासे क्यों न दुःख प्राप्त होगा ? अर्थात् इन पंचेन्द्रिय विषयोंसे अवश्य अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं- इसी
विषयका विवेचन—

अर्थ—शब्द सुनकर हरिण मरण कष्टको प्राप्ता होते हैं- हरिण जंगलमें केवल मुखके वाष्पसे भी दूट
सके ऐसा कोमल वृण लाकर और घृष्ट वायुके श्रेयस्पर्शसे ठंडे पानीका स्थान जानकर बढ़ाका स्फटिक
तुल्य निर्मल पानी पीकर पुष्ट होता है- अंतःकरणके समान वेगसे दौढ़नेवाला यह हरिण जब व्यापका गायन
सुनता है तब मुखसे आखें मीथकर लदा हो जाता है- दृष्ट यमके दाढ़ाके समान तीक्ष्ण और विशाल चाणपंक्ति
से शरीर भिन्न होने पर वह अपने अत्यंत प्रिय प्राणोंको छोड़ देता है-

बनहस्ती स्पर्शनेन्द्रियके वध होकर अतिशय दुःखको प्राप्त होता है- विलासिनी स्त्रियोंके हृदयके समान
प्रवेश करनेमें अद्यक्य, संसारके समान विस्तृत, विपत्तीके समान दुर्लभ्य, ऐसे जरणोंमें सल्लुकीके बुद्धोंके कोमल
पर्चोंका और शाखाओंका आहार घनहापी करता है- सुंदर पर्वतोंपरसे यहनेवाली नदियोंके अगाध नृदमें स्वच्छ-
दसे पानी पीना, स्वेच्छासे मज्जन करना इन बातों से वह प्रसन्न होता है- अनुकूल अनेक दृष्टिनीओंके साथ वि-
हार करता है- वरुण दधिनिर्गमि विद्यालयनका स्पर्शने करनेसे वह उन्मत्त होकर अचेतनसा होता है- साररूप गाढो-
धकारसे उसके नेत्र मुंद जाते हैं- तब वह महान् गड्ढेमें गिरकर अतिशय संकट को प्राप्त होता है-

मरुत्य भी रसनेन्द्रिय पथ होकर प्राणोंको छोड़ बैठता है- सुंदर स्त्रियोंके विशाल लोचनके विभ्रमका

अनुष्ठान करनेवाला नरक्य स्वल्प आहारके समयमें लोडुप होकर शीघ्र ही श्राणोंका नाश करनेवाली विपत्तीको प्राप्त होता है।

नाना प्रकारके सुगंधित पुष्प समुद्रायेके परागमें व्याप्त हुआ अमर विपशुके पुष्प का सुगंध घेंघकर अनेक प्रिय श्राणोंको समझता है।

पुष्प दायक पक्षी दीपकहो सुगंध कलिका ममज्ञकार उमपर श्रद्धा करनेके लिए झपटता है और अपने मान छोट देता है। इस प्रकारके ये निरर्थक श्राणा दुःखको प्राप्त होते हैं।

पित्र्यां दुःखं प्रतिपाद्य विपश्यन्मज्जन्ति मनुजमनो दंसयन्ति ॥

इदि पंचहि पंच हरा सदग्नफरिसंगंधरूजोहि ॥

इच्छो कहं ण हग्मदि जो भेचवि पंच पंचेहि ॥ १३५४ ॥

सतज्जु गंधमित्तो घाणेदियवसगदो विणीत्ताए ॥

विगपुष्पगंधमग्घाय मदो णिरयं च संपत्तो ॥ १३५५ ॥

रूपसन्दरसरसशंगयानां यदि हन्यन्ते ॥

पुक्केन तदा कस्य सीळणं पंच निपेयिणाम् ॥ १३५६ ॥

भरव्यां गंधमित्राग्यो घाणेंद्रियवशा गतः ॥

विपप्रसूनमाप्राप्य विपस्य नरकं गतः ॥ १३५७ ॥

निजगोदपा—भरज्जु सरस्यां तर्णां । गंधमित्तो गंधमित्तो नाम श्रुपाकः । मदो मृतः । विणीत्तापुरी गतिः । घाणेदियमग्घो घाणेंद्रिययुग्मगतः । विगपुष्पगंधमग्घाय विपचूणयसितपुष्पमाघाय । मदो मृतः । णिरयं च गंतो नरकं च गंतः ।

मूलाभा—पंच पिपयान् । एतां धीविजयो नेच्छन्ति ॥

एवं निराश्रयं पत्येकं तीव्रविषयसंग्रहेतुं दुःखं प्रदश्यं मनुष्याणां श्रमिद्वार्याख्यानेः पंचभिः प्रवृत्तयिष्यप्राप्तौ

गंधमित्रादिभिरात्मनर्पेणां कथयन्ति—

मूढाया—भारुप सरयुर्दक्षिणात् नद्यां । गंधमित्तो गंधविज्ञो नाम राजा । विष्णीदाए अयोध्यायाः स्वामी ।
विषदुस्त्रगंधं ज्येष्ठभ्रातृमयुक्तोद्विग्नत्वोवाक्विणुसुरभितमकुसुमगंधं । अण्णाव सिधित्वा । संपन्नो गतस्त्रीवद्विपयरागा-
न्निदुच्छतपाकोदरेण ॥

तिर्यचोक्ते दुःस्वप्ना वर्णन कर अब मनुष्य गतिमें विषयसंगसे उत्पन्न हुये दुःस्वप्ना वर्णन करते हैं—
अयं—इस प्रकार शुद्ध, रस, स्पर्श, गंध और रूप ऐसे पांच विषयोंसे हरिण, भ्रतस्य, अमर, और
पर्वण ऐसे तिर्यच प्राणोंसे रहित होगये हैं. परंतु जो पांचोहि विषयोंका लेवन करता है ऐसा मनुष्य क्यों न प्राण
मुक्त हो जायेगा ?

अयं—निर्नीला यगर्गमें गंधमित्र नामक राजा ब्राह्मणद्वयके वज्र होकर विषमंध पुष्प को छेपकर मर गया
और नरकमें उत्पन्न हुआ. तीव्र विषयसंगसे कर्मबंध होकर यह राजा नरकमें उत्पन्न हुआ.

पांडल्युत्ते पंचाल्यगीदसहेण मुच्छिदा संती ॥

पासादादो पछिदा गह्वा गंधब्बदत्ता वि ॥ १३५६ ॥

मूर्च्छिता पाटलीपुत्रे श्रम्यपंचाल्यगीत्तिः ॥

मृता गंधर्वदत्तापि प्रासादारपतिता संती ॥ १३५६ ॥

विषयोदपा—पाटलिपुत्रे पंचालस्य गीतशब्देन मुच्छिता खती प्रासादात्पतिता नष्ट गंधर्वदत्ता मानसेया
मलिका ॥

मूढाय—भावात् गायनोपाध्यायनामैर् । गंधर्वदत्ता गणिकानामेदम् ॥

अर्थ—पाटलिपुत्रनगरमें पंचालनामक गायनाचार्यका माना सुनकर गंधर्व दत्ता नामक वैश्य मूर्च्छित
होगई और प्रासादसे गिरकर मरगाई.

माणुसमंसपसचो कं पिछुवदी तथेव भीमो वि ॥

रज्जव्बद्धो गह्वो मदो य पच्छा गदो गिरयं ॥ १३५७ ॥

मर्यामांसरसासक्त-कापित्यनगरगधिपः ॥

राज्यभ्रष्टो मृतः प्राप्तो भीमः श्वस्रसुखयाम् ॥ १७०७ ॥

विजयंगरा—शत्रुग्योसप्रसक्त-कापित्यपुत्राधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृतः पञ्चाक्षरकमुपयातः ॥

मृगारा—हं पितृवदी कापित्यपुत्राधिपतिः ॥

अर्थ—रापित्यनगरका राजा भीम मांसमक्षण करनेमें सुख्य हुआ था इस मांससक्तिदीपसे वह राज्यभ्रष्ट होकर मृत्युमो प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ.

चोरो वि तद् सुवेगो महिलारुबमि रत्नविष्टीओ ॥

विद्धो सरेण अच्छीसु मद्दो णिरयं च संपत्तो ॥ १३१८ ॥

सुवेगस्तरुनरो वीनो रामारूपविपत्तर्फीः ॥

बाणविद्धक्षणे मृत्वा प्रपदे नारकी पुरीम् ॥ १३०८ ॥

विजयोदया—चोरो वि तद् सुवेगो सुवेगनामधेयकोरोपि युपतिकपाकृष्टदिः शरैर्विद्धः शयेन मृतो नरकमुपगतः ॥
मृगारा—सुवेगो सुवेगसंज्ञः । अच्छीसु नेत्रयोः ॥

अर्थ—सुवेग नामपाण्योर त्रिपोंके रूपालोकनमें युग्म होकर बाणोति विद्ध होकर तत्काल मरणको प्राप्त हुआ और नरकमें उत्पन्न हुआ.

काशिरिण गोवे सत्ता गहवदिपिया वि णासक्खे ॥

मारदूण सपुचं धूयाए मारिदा पच्छा ॥ १३५९ ॥

गोपासक्ता सुतं हत्वा नासिम्यनगरे पृत्ता ॥

पापा गृहपतेर्मार्गो दुद्धिया मारिता सत्ती ॥ १४०९ ॥

दुःपदानमिणुणा निपेविताः स्पर्शरूपरसगंधनिस्वनाः ॥

दुजना इव विमोह मानवं योजयंति कुपये प्रयीयसि ॥ १४१० ॥

अग्निनेव हृदयं प्रदहते सुषाते नु विषयैर्विश्रितः ॥

तत्कथं विषयवैरिणो जनाः पोषयन्ति भुजगानिवाधमान् ॥ १४११ ॥

इति इंद्रियविशेषदोषाः ।

विजयोदया—रसादिषु स्वशोभित्वेन हेतुना । गोत्रे सत्ता आत्मीये गोत्रले आसक्ता । गिह्यदि-
पिया रात्रुदयावरे । आसके नासिक्ये नगरे । मारेदूण समुत्तं स्वपुत्रं हत्वा । भूदाय दुहिता । फल्गा यदवात् । मारिदा
मृति नीता ॥ इंद्रिया ॥

मूढारा—गोत्रे गोत्रले । गद्वदिपिया रात्रुदयावरे । आसिके नासिक्यनगरे । मारेदूण हत्वा विपुत्नी ॥

सामान्यविशेषाभ्यामिन्द्रियदोषाः ॥

अर्थ—नासिक्य नगरमें अपने फाले हुये ग्वालेपर आसक्त हुई एक ग्रामकृत्की भावने अपने पुत्रका वध
किया तदनंतर अपनी लहकीके द्वारा मांसी जानेपर मरकर नरकमें उत्पन्न हुई, इंद्रियोंका वर्णन हुआ-

एवमिन्द्रियदोषसुखदुःखं कोपदोषप्रकटमात्रं प्रकथ्यते—

रोसादृष्टो जीलो हृदणभो अरदिअगिसंसत्तो ।

सीदे वि जिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिहो वा ॥ १३६० ॥

अरत्थादिक्करालेन दयामलीकृतविग्रहं ॥

प्रद्विषयति तुषारेऽपि तापितः कोपबहिन्ना ॥ १४१२ ॥

विजयोदया—रोसादिहो रोषादिष्ठः । जीलवर्णो भवति इदम्भो विनष्टदीप्तिः । अरदिअगिसंसत्तो भरत्यसि-
संततः । सीदे वि जिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिहो वा । गहोवसिहोव प्रदणोपसुष्ट इव ॥

इतः कषायविशेषदोषणमायाचतुर्विधमोपक्षयिष्यन्तं कोपदोषान्प्रदणमायाभिः कथयति—

मूढारा—रोसादृष्टो कोपप्रस्तः । जीलो ध्यामलवर्णः । हृदणभो विनष्टदीप्तिः । जिवाइज्जदि दृष्टितो भवति ।
प्रविषयतीत्यर्थः । वेवदि कंसते ॥

अब इंद्रियदोषोंका वर्णनकर अब कोपके दोषोंको प्रगट करनेके लिये शुरुआत करते हैं—

अर्थ—जब मनुष्य क्रोधसे संतप्त होता है तब नीलवर्ण बनता है, अर्थात् क्रोधोदय होनेके पूर्व मुखका जो

वर्ण दीखता था उससे मित्र मिलन ऐसा वर्ण होगा है. उतकी कांति नष्ट होती है. अरति-विस्काररूप अर्घीसे वह चलने लगता है. जादके समयमें भी उसको प्यास लगती है. और विशाचपीडित मनुष्यके समान वह कंपता है.

मिउडीतिबलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खवस्सो ॥

कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥ १३६१ ॥

अ भाज्यां भापते भापामयूतां कुरुते क्रियाम् ॥

कोपट्याकुलितो जीवो ग्रहार्ते इव कल्पते ॥ १४१३ ॥

त्रिवलीकालितालीको रक्तस्तन्वीकृतेक्षणः ॥

दंतवष्टाधरो दुष्टो जायते राक्षसोपमः ॥ १४१४ ॥

विजयोदया—मिउडीतिपत्तिपणवणो सुकुधीत्रियटितवदनो । उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खथो उग्रतोमिच्चल-
सुरत्तकक्षेक्षणः । रोसेण रोवेण हेतुना । न परसो राक्षस इव । णराण भीमो णरो भवति परः ॥

मूखारा—मिथलिय कलटवलिग्रयुक्तं । उग्गद निर्गत । लुक्खवस्सो रुक्खचट्टः । भीमो भयावहः ॥

अर्थ—कोपसे भोहें चढती हैं और ललट तीन बलिअते युक्त होता है. कोपसे आंखें बड़ी बड़ी होती हैं, निश्चल होती हैं और लालसुत होती हैं. तब मनुष्य मानो राक्षसके समान भयानक दीख पड़ता है.

जइ कोह तत्तलोहं गहाय रुद्धो परं हणामिस्ति ॥

पुव्वदरं सो उव्वदि उहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥ १३६२ ॥

आददानो पथा लोहं परदाहाय कोपतः ॥

शर्यं प्रदद्याते पुर्य परदाहे विकल्पनम् ॥ १४१५ ॥

विजयोदया—जइ कोह यथा कश्चित्तलोहं गहाय रुद्धो परं हणामिस्ति रुष्टः परं हन्मीति । पुव्वदरं सो उव्वदि पूर्वतरं स पथ दाते तेन तेन रुद्धीतेन । उहिज्जका परो ण वा पुरिसो दल्लते परः पुरयो न वा शरते ॥

मूखारा—गहाय रुद्धीत्या सर्वमानः ॥

अर्थ—जैसे कोइ कुछ मनुष्य दूसरोंका पात करनेके हेतुमें अग्निमें जापा हुआ लोहा हाथमें लेता है परंतु प्रथम ही वही दग्ध होता है दूसरा पुरुष अनित्यता लोह पिंडमें दग्ध होगा या नहीं भी

तत्र रोसेण सयं पुव्वमेव लज्झदि हु कल्लकलेणेव ॥
अणस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुद्धो ण य करिज्जा ॥ १३६३ ॥

विवशामस्तथा कोपं परयात्ताय मूढधीः ॥

स्वयं निहन्त्यते पूर्वमन्यचातो विकल्प्यते ॥ १४१६ ॥

विजयोपया—तत्र रोसेण तथा रोपेन स्वयं पूर्व बलते इपीकृतलोहसंस्थानीयेन । अम्यस्य पुनर्तुं खं कुर्यान्न वा रुद्धः ॥

मूलारा—फलकलेणेव ताद्वारेण यथा ॥

अर्थ—तत्त लोहेके मगान कोधी मनुष्य प्रथम स्वयं संतप्त होता है तदनंतर वह अन्य पुरुषको दु खित कर सकेगा अथवा नहीं भी. नियमपूर्वक दुःखित करना इसके हाथमें नहीं है. जिसके ऊपर हम रोप करते हैं उसने शुभ कर्मका उदय होगा तो हम उसका ज्ञान भी याँका नहीं कर सकते हैं.

णासेदूण कसायं अग्गी णासदि सयं जथा पच्छा ॥

णासेदूण तत्र णरं णिरासवो णस्सदे कोवो ॥ १३६४ ॥

कोवो सत्तुगुणकरो णीयाणं अप्पणो य मण्णुकरो ॥

परिभवकरो सवासे रोसे णासेदि णरमवसं ॥ १३६५ ॥

आचारं पुरूपं हत्वा पापः कोपः पलायते ॥

प्रदण जनकं काष्टं बन्धिः किं नोपशाम्यति ॥ १४१७ ॥

शत्रूपकाराद्रोपो यः स्वयंघृणां च शोककृत् ॥

स्थानं कुलं वलं कोषं हत्वा नाशयते नरम् ॥ १४१८ ॥

विजयोदया—रोसो सत्सुगुणकरो रोगः दान्तोर्को गुणो घर्मोऽप्यस्मत्तिथं नाम तं करोति । अथवा दान्तोर्को गुणमुत्पन्नं करोति रोगः । यतोऽस्य हि रोगद्वयेन दक्षमानं तं दृष्ट्वा ते तुल्यं । कथमस्य रोगमुत्पन्नं इत्येवमाह-
नान्ने चक्षुर्पति । जीयाजं अणुलो या विज्ञानात्मनश्च बांधवानां शोकं करोति । परिश्रवकरो सवासो स्वनिवासस्थाने
परिषयमानवति रोसो नास्तिदि नरमवसे रोगो नरमवधं नाशयति ॥

मूलापा — समस्तयं अस्मत्पारं । एतां श्रीविजयो नेच्छति ॥

मूलापा — सत्सुगुणारो रोगोऽप्युत्पन्नोऽप्यस्मत्तिथं करोति ॥ अथवा दान्तोर्को गुणमुत्पन्नं करोति । ते हि नरं

होतवन्ति स्वमालं कोपकृतं मतिर्धनं वा दृष्ट्वा कुप्यन्ति ॥ जीयाजं बांधवानां । मण्युक्रतो कोरुजनकः । सवासो स्वनि-
वासस्थाने परिषयमानवतित्यर्थः ॥

अर्थ — जैसे अग्नि अपनी आधारभूत लकड़ीको प्रथम जलाकर पश्चात् स्वयंमी नष्ट होती है वैसे क्रोधभी
अपने आधारस्तेषु पुरुषका प्रथम नाश करके अनंतर स्वयं शांत होती है.

अर्थ—शत्रुमें अपकार करना यह गुण है वही गुण क्रोधमें भी है अर्थात् क्रोध जीवपर अपकार ही
करता है. अथवा क्रोध शत्रुपर उपकार करता है क्योंकि जब मनुष्य क्रुद्ध होता है तब उसके शत्रुओंको आनंद
उत्पन्न होता है और इनको हमेशा क्रोध किस प्रकारसे उत्पन्न किया जा सकेगा उसका ही विचार कर वे अपने
मतिपक्षको मोघयुक्त करते हैं. क्रोधसे मनुष्य अपने बांधवोंको भी कष्ट पहुँचाता है उनको शोकयुक्त करता है.
क्रोध अपने घरमें अपमानको लाता है और अपने आश्रयस्थानका नाश करता है.

ण गुणे पैरुश्रवि अववददि गुणे जेपदि अजपिद्वत्वं च ॥

रेसेण रुद्विदओ पारगसीलो नरो होदि । १३६६ ॥

गुणागुणो न जानाति यचो जरूपति निन्दुरं ॥

नरो रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपमः ॥ १४१९ ॥

विजयोदया—ण गुणे पेच्छदि गुणं न पदयति यस्ते कुप्यति । अववदति निन्दति । गुणे गुणमपि तदीयात् ।
जेपदि अजपिद्वत्वं च पदत्यत्यमपि । रेसेण रुद्विदओ रेसेण रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपमः । पारगसीलो नरो हवदि नारकसीलो
मरति नरः ॥

मूढारा—शुनो गुणान् । तस्मै कुवन्ति । वदीनान् । अवयवद्वि निवृत्ति । जलं सिद्धं च अवान्वयमपि । नरदिबो प्रवृत्तिः ॥

अर्थ—जग मनुष्य जिसके ऊपर क्रोध करता है वह इस व्यक्तीके गुणोंका महत्त्व वह मूल जाता है-उमके गुणोंकी निंदा करता है-जो शब्द श्रुति निकालना अयोग्य माना जाता है ऐसे शब्दोंका उच्चार वह देशक करता है-अर्थात् क्रोधके आवेशमें आकर मनुष्य गाली देता है-असम्य शब्द बोलता है-क्रोधसे मन क्रूर बनता है-अत एव प्रोपते मनुष्योंका नरकीयोंका स्वाभाव बनता है-

जघ करिस्वयस्स घण्णं वरिसेण समज्जिवं खलं पचे ॥

उद्धवि फुल्लिगो दिचो तघ कोहग्गी समणसारं ॥ १३१७ ॥

धान्यं कृषीचलस्येव पावकः कलेशान्तोऽर्जितम् ॥

आमर्ण्यं प्लोपते रोपः धुणेन व्रतिनोऽखिलां ॥ १३२० ॥

पिजवोदना—जह करिस्वयस्स तथा कर्पकस्य धान्यं घर्णेन समजितं तत्कथास्तं दहति विरुद्धलिगो वीरत्तया नोपासिद्विदति धमणव्य हारं पुण्यपक्वो ॥

मूढारा— करिस्वयस्स कर्पकस्य । खलं खलजं । फुल्लिगो अग्निक्वणः । समणसारं यत्पित्तं । तपः पुण्यं वा ॥

अर्थ—एक वर्षतक परिधम कर उपजाया और खलमें संचित किया हुआ किसानका धान्य एक छोटसे अग्निके स्फुल्लिगसे नष्ट होजाता है वैसे क्रोधरूपी अग्नि मुनिके अमूल्य पुण्य नामक वस्तुका नाश कर डालता है-

जघ उग्गवित्तो उरगो दम्भतणं कुरहदो पकुप्पन्तो ॥

अच्चिणे होदि अविस्सो तघ होदि जदी वि निस्सारो ॥ १३६८ ॥

मर्यत्तोत्रविपः सर्पः रुद्धो दग्धतृणाहतः ॥

निर्विप्यो जापते शीघ्रं निम्सारोऽस्ति तथा यतिः ॥ १३७१ ॥

पिजवोदना—जह उग्गवित्तो उरगो मर्यत्तोत्रविप उरगो वर्मवृणांकुरकताः तत्पक्वपरोपवशमुत्पन्नं स्पृष्टं दृग्मादिकं मशयित्वा छदिति निर्विप्यो भवति । तथा यतिरपि निम्सारो भवत्यधिरूप्य स्तब्धमयिनाशात् ॥

गूढाग्रा—उरगो सर्पः । इक्ष्मत्तण्डुलहरो दर्भसूरीदिहः । पङ्कज्यतो प्रकर्षेण कुप्यन् । अविस्तो स्पृष्टं दर्भो-
रिक्कं भगवति वा तदित्युद्गीर्णगत्तो अयति । गिस्तारो क्रोपविषयमपकृत्य नष्टरत्नयः स्यात् ॥ उक्ते च—
पुविनो गर्भमागोऽन्यं गिस्तारो जायते यतिः ॥

दर्भादुरागिष त्वर्धं दुष्टबुद्धिर्गुणममः ॥

अर्थ—जैसे उग्रविषका घातक सर्प दर्भ उर्णाङ्कुरते व्यथित होकर अविषय मुन्द होता है. और उस तृण
को क्रोपने का दासता है तब निर्विष होता है वैसे यति भी क्रोपसे रत्नत्रयका नाश करता है जिससे वह नि-
गार होता है.

पुरिमो मण्डसरिमो होदि सख्वो वि रोसहदख्वो ॥

होदि य रोसणिमिचं जम्मसहसेम् य दुख्वो ॥ १३१९ ॥

सुरूपोऽपि नरो रुष्टो जायते मर्कटोपमः ॥

क्रोपोपाजितपापश्च विरूपो जन्मकोटिदुः ॥ १४२२ ॥

विज्ञानोदया—पुरिस्तो मण्डसरिमो पुरगो मर्कटसदृशो भवति । सुरूपोऽपि सरोपोऽपद्वत्कृपः । इह जन्मनि
पौन्यपुनरप्यं पातमधिकभाष्ये—होदि भवति । जन्मसहस्रेषु दुरूप पतद्वत्कृतात्क्रोपात् ॥

गूढाग्रा—रोसणिमिचं यच्चजन्मकृतेन रोषेण हेतुना ॥

अर्थ—पुरा सुंदर हीनपर भी जब वह क्रोपयुक्त होता है तब उसका रूप नष्ट होता है. यह मर्कट
गरीया दीलता है. इतनाही नहीं रोपसे वह अनेकजन्मोंमें अर्थात् हजारों जन्मोंमें कुरूपही होता है. एक भवमें
चोप करनेसे अनेक जन्मोंमें कुरूपता प्राप्त होती है.

सुदु वि पिओ सुदुप्पेण होदि वेत्तो जणस्स कोप्पेण ॥

पपिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥ १३७० ॥

हेष्यो जनः प्रकोपेन जायते बहुभोज्यं सन्न ॥

अकृत्यकारिणस्तस्य नश्यति प्रथितं यशः ॥ १३२३ ॥

पितृयोदया—सुदृष्टि विहरयति । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव हेष्यो भवति सोऽपि ययो नश्यति ।

कस्य ? कुदस्य अफज्जरणेन कुदस्य अकार्यकरणेन ॥

मूढारा—येसो हेष्यः ॥ यथिदेवि प्रकृतमपि वा ।

अर्थ—क्रोध करनेसे अतिशयप्रिय मनुष्य भी अधिक क्रान्त है, अर्थात् क्रोध करनेसे क्रोधी मनुष्यका मर्त्य होकर मनुष्य अयोग्य कार्य करता है जिससे उसका प्रसिद्ध यशभी नष्ट होता है—

भीयच्छगो वि कुदो कुण्दि अणीयल्ल एव सच्च वा ॥

मारेदि तेहि मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाणं ॥ १३७१ ॥

कुपितः फुरुते मूढो यथिवानपि विद्वियः ॥

परं मारयते तैर्यो मार्यते म्रियते स्वयम् ॥ १३२४ ॥

पितृयोदया—भीयच्छगो वि कुदो कंधुवि यंपूक्करोति शत्रुयद् । तेहि यथिवान् । मर्यते वा स्वयं वैरागमानं वा हन्याद् ॥

मूढारा—

भीयच्छगे वि बंधूतपि । अणियल्लेवा अर्धचूनिव । सपूणं शत्रूनिव । मारेदि बंधूतपि । तेहि बंधूभिः अप्पाणं वा आत्मानं ॥

अर्थ—निकट संबंधी मनुष्य भी क्रोधसे अपने बंधुओंको शत्रुतुल्य समझता है, उनको मारता है अथवा उनसे स्वं मारा जाता है—

पुज्जो वि णरो अचमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चैव ॥

जगविससुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥ १३७२ ॥

रुपितः पूजनीयोल्लेखे पंडलो वापमन्यते ॥

समस्तं लोकविख्यातं माहात्म्यं च पलायते ॥ १३२५ ॥

चित्रयोर्व्या—पुत्रो वि पूज्योऽपि नरो भयमन्यते रोगेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माघसम्भं नरवति
 मृताः—सद्यम् ॥
 अर्ध—रोगं करनेवाला मनुष्य पूजनीय होनेपरमी वत्काल अपमानित होता है, उसका प्रसिद्ध माहात्म्य
 भी रोगमें नष्ट होता है.

हितं अलिप्यं चोज्जं आचरदि जणस्त रोसदोसेण ॥

तो ते सज्जे हिंसालियेचोज्जससुब्बवा दोसा ॥ १३७१ ॥

कृत्वा हिंसानृतस्तेयफर्माणि कृपितो यथा ॥

सर्वं हिंसानृतस्तेयदोषनामोति निश्चितम् ॥ १४३६ ॥

चित्रयोर्व्या—हितं अलिप्यं चोज्जं हिंसामसत्सं शौचं यज्यपति अकस्म रोपदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिषमया
 रोगा मये भविष्यन्ति ॥

मृताः—चोज्जं धैर्यं । जणस्त लोकस्य संबंधि । हिंसादिकं करोतीति संबंधः ॥

अर्ध—क्रोधयुक्त मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, अतस्य बोलता है, चोरी करता है अतएव अनेक
 जन्मोंमें उमड़ी मी हिंसा होती है, उसके विषयमें असत्य बोला जाता है, लोक उसका धन चुराकर ले जाते हैं, ऐसे
 अनेक भयमें क्रोधले डूबल भोगने पड़ेंगे.

वारवदीय असेसा धुद्धा दीवायणेण रोसेण ॥

धदं च तेण पावं दुग्गदिभयवंधणं घोरं ॥ १३७४ ॥

द्वीपायनेन निःशोया दग्धा द्वारावती रुया ॥

पापं च दारुणं दग्धं तेन दुर्गतिमीतिवम् ॥ १४२७ ॥

इति कोपः ।

विजयोदयः—वारवती द्वारवती निदेशेय वृषा रुहेन क्षीपायेन । घोरं च पार्श्वं बद्धं दुर्गन्धिमयमृत्तिलमिश्रं ।
कोटुमि वने ॥

त्रोपदोषनवोक्त्यानेनाह—

मृदाया—वारवती द्वारवती । दुर्गादिभयप्रपञ्चं नरकादिभयमुद्धरं ॥ क्रोधदोषाः ॥

अयं—क्षीपायेन मुनिनि क्रोधवज्र होकर संपूर्ण द्वारका नगरी दग्ध की थी इससे उसको दुर्गतिके भय उत्पन्न करनेवाला घोरपाप पंड हुआ । क्रोधका वर्णन समाप्त हुआ ।

मानदोषनवोक्त्यानेनाह—

कुलरुद्राणावलमुदलाभिस्सरयत्यमदितवादीहिं ॥

अप्याणमुष्णमेतो नीचागोदं कुणदि कम्पं ॥ १३७५ ॥

जगतिरूपकुलैश्वर्यविज्ञानाज्ञातपोबलैः ॥

कुर्वाणोऽहंकृतिं नीचं गोघ्नं यध्नाति मानवः ॥ १४२८ ॥

विजयोदयः—कुलरुद्राणा कुलेन रूपेण आड्रव्य, बलेन, श्रुतेन लामेन, वेधबलेन तपसाऽन्यैश्च आत्मानमुत्कर्षन्नीचीगोदं कर्म यज्नाति ॥

मानदोषनवोक्त्यानेनाह—

मृदाया—रूपाणा रूपमाया य । लाभिस्सरयत्न लाभैश्वर्यमर्थश्च । उष्णमेतो उररूपयन् । कुणदि यज्नाति ॥

मानदोषका वर्णन विस्तारसे आचार्य करते हैं—

अर्थ—कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊँचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका वंश कर लेता है ।

दध्ण अप्पणादो हीणे मुक्खाउ विंति माणकलिं ॥

ददृष्टुण अप्पणादो अघिण्माणं ण यंति बुघा ॥ १३७६ ॥

विजयोदया—दृष्टव्य अल्पणादो आत्मनो हीनान् दृष्ट्या मूलो मानकलिं च्छेदयति । बुधाः पुनरात्मनोऽधि-
गामिनोऽप्य मानं निरस्यन्ति ।

मूलरा—अल्पणादो आत्मनः सकाशात् । हीनं कुलादिभिरप्रपञ्चान् । कलिं पापं । अधिष्णु कुलादिभिरुल्ल-
ष्टान् मुष्टपायलोभ्य । न चेति न यांति सर्ववीत्यर्थः ॥

अर्थ—अपनेसे कुलादिके हीन लोगोंको देखकर कितनेक पूर्व मनुष्य अभिमानयुक्त होकर पाप
उपाजन करते हैं, तथा अपनेसे भी कुलादिके वडे लोगोंको देखकर मानरहित होजाते हैं.

माणी विरसो सत्त्वस्य होवि कलहमगवेरदुक्खाणि ॥

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥ १४३० ॥

द्वेषं कलिं भयं चैरं युद्धं दुःखं यथाः क्षतिम् ॥

मूलाग्रजं पराभूतिं मानी लोकद्वयेऽस्तुतः ॥ १४३१ ॥

विजयोदया—माणी विरसो सत्त्वस्य मानी सर्वस्य द्वेषो भवति । कलहं, भयं, वैरं, जम्बांतरानुनं दुःखं च
प्राप्नोति । निबोमन् एद परम चारमामं ॥

मूलरा—सप्तम ॥

अर्थ—मानी मनुष्यका सत्र लोक द्वेष करते हैं-वह कलह, वैर, भय, और अनेक बन्धनोंमें दुःखोंको प्राप्त
होता है. नियमसे रहलोकमें और परलोकमें उमका अपमान भी होता है.

सव्ये वि कोहदोसा माणकसायसस होदि णादब्बा ॥

माणेण चैव मेधुणहिंसलियचोज्जमाचरदि ॥ १४३८ ॥

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा मानिनः सन्ति निश्चितम् ॥

मानि हिंसावृत्तस्तस्यैशुनानि निपेवन्ते ॥ १३३१ ॥

विजयोदया—सत्ये वि कोपदोषा कोधस्य चर्षिता दोषाः । न गुणे पिच्छदि इत्येवमादिस्त्रयेण ते सर्वे मान
रूपादरथापि ग्रहय्याः । माने मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याग्निधाने च प्रयतते ॥

मूढारा—कोपयेता न गुणो पेच्छदि इत्येवमाविसूत्रोक्तः ॥

अर्थ—कोः कर्मेते जो दोष प्राप्त होते हैं वेही मानसे प्राप्त होते हैं. मानवश होकर मनुष्य मैथुन, चोरी
अस्तरमापण और हिंसा वगैरह पाप करता है.

सयणस्त जणस्त पिओ णरो अमाणी सवा हवदि लोए ॥

जाणं जसं च अस्थं लभदि सकज्जं च माहेदि ॥ १३३२ ॥

निर्मानो लभते पूजां दुःस्वं गर्वमपास्यति ॥

कीर्तिं साधयते शुद्धाभास्पवं भवति श्रियाम् ॥ १३३३ ॥

विजयोदया—सयणस्त मानरहितः सज्जनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । लोए लोके । जाणं ज्ञानं ।
जसं यश, अस्थं द्रुधिणं लभते स्यै कार्यमन्यदपि साधयति ॥

मनमार्दिगुणमभ्यस्तुतेन मानितो दोषस्तद्वैरीत्वेन लक्ष्यविदुः गाथाहवमाह—

मूढारा—मज्जणस वंशुलोक्तस्य । जणस्त सामान्यलोक्तस्य ॥

अर्थ—निरभिमानी मनुष्य स्वजन और परजनको प्रिय होता है. जगतमें सदा उसको ज्ञान, यश और
धनकी प्राप्ति होती है. निरभिमानितासे वह अपने इतर कार्य भी साधलेगा है.

ण य परिहायदि कोई अत्ये मउगचणे पउत्तम्मि ॥

इह य परच य लब्भदि विणएण हु सज्जकल्लणं ॥ १३८० ॥

मादवं कुर्वतो जन्तोः कश्चनार्यो न क्षीयते ॥
संप्रयते परं सद्यः कल्याणानां परंपरा ॥ १४३१ ॥

विजयोद्या—ज य परिहायति माद्वे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो क्षीयते । येनार्यमर्थं हनिमयात् मत्वं कुर्वीत ।
माद्वे तु प्रयुक्ते इदं अर्मातरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याणं ॥

मूढारा—मात्रयत्तने माद्वे ॥

अर्थ—माद्वे माय धारण करनेसे मनुष्यका कुछ सुकसान नहीं होता है, अतः अधिमान धारण करना व्यर्थ है इस जन्ममें और पर जन्ममें विनयधारण करनेसे मनुष्यका सर्वथा कल्याण होता है.

सद्वि साहस्तीओ पुचा सगरस्स रायसीहस्स ॥

अदियलवेगा संता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥ १४८१ ॥

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महापलाः पट्टिसहस्रसंख्याः ॥

इडेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा घराधरेन्द्रा इव भूरिसत्त्वाः ॥ १४८४ ॥

इति मानः ॥

विजयोद्या—सद्वि साहस्तीओ सगरस्य राजसिंहस्य चक्षिणः पट्टिसहस्रसंख्याः । पुत्रा महापलाः पितृणा मानदोषेण ॥ माणस्सिगं ॥

अर्थकयानेन मानदोषं द्रव्यति—

मूढारा—रायसीहस्स चक्षिणः । उक्तं य—

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महापलाः पट्टिसहस्रसंख्याः ॥

इडेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा घराधरेन्द्रा इव भूरिसत्त्वाः ॥

मानदोषाः ॥

अर्थ—राजसिंह सगर चक्षुषी को साठ हजार पुत्र थे वे महा बलवान् थे परंतु मानके वश होकर वे सब नष्ट होगये. (आराधना कथाकोपादिकोंमें इनकी कथा है.

मायादोषविरूपणयोः परमाया—

अथ कोटिसमिद्धो वि ससङ्गो ण लभति सरीराणिज्वाणं ॥

मायासङ्गेण तद्वा ण गिब्वुदिं तत्र समिद्धो वि ॥ १३८२ ॥

विदधानोऽपि चारित्रं मायाशाल्येन शल्यितः ॥

न धृतिं लभते कुत्र शाल्येनेव वनर्द्धिकः ॥ १३८५ ॥

विजयोदया—अथ कोटिसमिद्धो वि यथा कोटिसमिद्धोऽपि शरीरपुत्रविष्टाल्यो न शरीरसुखं लभते । तथा मायाशाल्येन न निर्धृतिं लभते तपःसमूहोऽपि ॥

मायावोधानाथासमकेनाह—

मूढारा—कोटिसमिद्धो कोटीश्वरः ॥

मायादोषका निरूपण करनेकी लिये उच्चर माया—

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य कोटिधनका स्वामी होनेपर भी उसके गृहीतों प्रविष्ट हुआ बाण उसको व्याधित करेगा ही, वैसे मुनिराज तप से समृद्ध होनेपर भी माया दान्यते उसको सुखलाभ नहीं होया।

होदि य वेस्तो अप्पच्चद्दो तथ अवमदो य सुजणत्स ॥

होदि अचिरं सत्तु णीयाणवि णियडिदोसेण ॥ १३८३ ॥

द्वेषमग्रस्त्ययं निर्दां परामृतिभग्नैरवयु ॥

सर्वत्र लभते मायो लोकदयविविरोधकः ॥ १३८६ ॥

विजयोदया—होदि य वेस्तो देवो भवत्प्रत्यपितः तथा सुजनस्याग्रतः । चांघवोपि शत्रुक्षिरेण भवति मायादोषेण ॥

मूढारा—अप्यच्चद्दो अविद्यासः । णीयाणवि कंपूतानपि । णियडि माया ॥

अर्थ—मायावी मनुष्यका सब लोक द्वेष करते हैं, उमकं ऊपर कोई विश्वास रखता नहीं, उसको अपमानका दुःख सहना पड़ता है, सुजन उसको मान देते नहीं दे, मायावी मनुष्य अपने संबंधी अनोका भी शत्रु बनता है,

पावइ दोसं मायाए महल्ले लहु मगावरायेवि ॥
सत्त्वाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ॥ १२८४ ॥

अरतिर्जायते मायी यंधूनामपि दारुणाः ॥

महान्तमद्भुते दोषमपराधनिराकृतः ॥ १४३७ ॥

एका सत्यसहस्राणि माया नाशयते कृता ॥

श्रुत्वा तु राणीव नित्योद्देगविधायिनी ॥ १४३८ ॥

त्रिलोक्या—पापवि दोषं प्राप्तोति तस्य तद्व्यवसायं च मायादोषी ॥
नारायति । महारोगमरणं तस्य तद्व्यवसायं च मायादोषी ॥
दुलारा—छदुसगायतोपे मि । अत्येव्यात्मना कृते दोषे सति ॥

अर्थ—मायायी मनुष्येने अत्यमा अपराध किया हो सो मी यह महान् दोषी माना जाता है, एरु माया हजारों गत्य पचनोका नाश करती है, अतः महादोषका आराधण करना और हजारों सर्वोका कुचलना ऐसे दोषे दोष मायामें रहते हैं,

मायाए मिच्चमेदे कदम्भि इधलोगिगच्छपरिहाणी ॥

णासदि मायादोसा विसजुददुद्धं व सामणं ॥ १३८५ ॥

मिच्चमेदे कृते सत्ताः कार्यं नश्यति मायया ॥

विपमित्रमिव क्षीरं सवार्यं नश्यति व्रतम् ॥ १४३९ ॥

विज्जोदया—मायाए मायका । मिच्चमेदे मैत्र्या विनाशे कृते । इह लोसिगच्छपरिहाणी ऐहलोकिप्रकार्य-
विनाशः । णासदि सामणं नश्यति धामणं ॥ मायादोसा माया योगदेतोः । विसजुददुद्धं विपयुतदुग्धमिव । मित्र
कार्यविनाशः धामण्यहानिश्च मायाजनितदोषो ॥

मदारा—मिच्चमेदे मित्रविनाशे । सुब्बि सत्राबुद्दामीने वारुते सतीत्यर्थः । इह लोसिगत्यपरिहाणी ऐहिकस-
कार्यकृतिः ॥

अर्थ—इस करतमें मैत्रीका नाश होता है, मैत्रीके नाशमें ऐहलोकि प्रधर्मयोगादि कार्योंका नाश होता है,

शह कपट मुनिपनका नाश करता है- जैसे विभिन्निधु दुग्ध मधुषण करनेसे मनुष्यका नाश होता है- मायामें भिन्न-
काये विनाश और आशयहानि नामके दोष हैं-

माया करेदि णीचागोदं इच्छी णवुंसयं तिरियं ॥

मायादोसेण य मवसणसु डंभिज्जदे बहुसो ॥ १३८६ ॥

सैणपंदस्सत्तैरध्वनीचगोत्रपरायथाः ॥

मायादोषेण लभ्यन्ते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥ १३४० ॥

विजयोपया—माया करेदि णीचागोदं माया करोति मोक्षोत्तमं कर्म नीचैर्णां योयमस्य जन्मोत्तरे । इत्थी णवुंसयं-
तिरियं स्त्रीदिदं, नपुंसकयेदं, तिरियेताति च नामकर्म करोति । अधया ऊर्त्तवं, नपुंसकत्वं, तिरियेत्तयं या । मायादोसेण ।
मायासंज्ञानिदेन दोषेण । भवसेदसु जन्मदोषेषु । उभिरुत्तदि वंछ्यते । धृत्सो यदुशः ॥

नूत्तारा—डंभिज्जदे वंछ्यते । येन तेनापि इह लोके वंचितेन वा ॥ वक्तं च—

सैणपंदस्सत्तैरध्वनीचगोत्रपरायथाः ॥

मायादोषेण लभ्यन्ते पुंसा जन्मनि जन्मनि ॥

अर्थ—मायासे नीच गोत्रकी प्राप्ति होती है, अर्थात् परब्रह्ममें नीच कुलमें जन्म होता है, इस मायासे
स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यकगतिकी प्राप्ति जीवको होती है, जो जीव माया करता है वह सैकड़ों भगवें अन्य
लोगोंसे अनेक उपायों द्वारा बंचित होता है,

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ॥

कोहमदलोहदोसा सब्बे मायाए ते होति ॥ १३८७ ॥

यः क्रोयमानलोमानामाविर्भावोऽस्ति भागिनः ॥

संपद्यन्तेऽखिला दोषास्ततस्तोषामसंयमम् ॥ १३४१ ॥

विजयोपया—क्रोधो माणो क्रोयमानलोमास्तत्र जीये सखिहिता यत्र स्थिता माया । क्रोयमानलोमजन्मा
दोषाः सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥

नूत्तारा—सण्णिहिदा स्थिता । अत एव मायाभिन्नाः क्रोधादिदोषाः सर्वेऽपि स्युः । मायाए मायाविनि जीये ॥

अर्थ—जहाँ माया रहती है वहाँ क्रोध, मान और लोभ भी साथ ही रहते हैं. अर्थात् क्रोध, मान और लोभते जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मायावानको भी होते हैं.

सरस्ती य भरघगामस्त सत्तंसवच्छराणि निस्सेतो ॥

बहुो वंभणदोसेण कुंभकारेण रुहेण ॥ १३८८ ॥

सप्तदश्याणि निगोपं कुन्मकारेण कोपिना ॥

अस्मितं भरतगामशस्यं प्राप्तेन वंचनां ॥ १३८९ ॥

धर्मपादपनिकर्तनशस्त्री जन्मसागरनिपातनकर्त्री ॥

दुःखशोकभयैरसहाया निर्दितं किमु करोति न माया ॥ १३९० ॥

इति माया ॥

विजयोद्या—सरस्ती सख्यं । भरघगामस्त भरतनामधेयग्रामस्य सत्तंसवच्छराणि वर्णसत्तकं । निस्सेतो बहुो निरवदोपेण शस्ये । वंभणदोसेण मायादोषेण हेतुना । रुहेण कुंभकारेण रुहेण कुंभकारेण ॥ मायाविग्रहा ॥

मायादोषमर्थोपयानेन द्रवयति—

नूडारा—सरस्ती बलजलपुत्रीकृतं धान्यं । भरघगामस्त भरतनाम्नो ग्रामस्य । मायादोषाः ॥

अर्थ—भरतनामक ग्राममें साठ वर्षतकका समस्त धान्य कुंभकरने मायादोषसे रुष्ट होकर भस्म कर दिया. मायानर्जन समाप्त.

लोभदोषनाशये—

लोभेणांसायचो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ॥

णीइ अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥ १३८९ ॥

लोभतो लभते दोपं पातकं कुन्ते परम् ॥

जानीते परमात्मानं नीचमुच्चं न नष्टयीः ॥ १३९० ॥

विजयोद्या—लोभेण लोभेन देवता । असागण्णो ममेदं भविष्यतीत्याद्या प्रत्यः । पावदि दोसे प्रामोति दोपान् ।
 बहुं कुण्दि पावे पावे ॥ बहुं करोत्यापावान् । णीए थांशवान् । अप्पाणं ॥ आत्मानं वा । लोभेण लोभेन । परेण न विगणेदि
 न विगणयति मनुजः । थांशवानपि पापते स्वसरीरधर्मं न नापेक्षते इति यावत् ॥

लोभदोषानाथापवेषेनाह—

मूलाह—आसागण्णो इदमिदं भविष्यतीत्याद्या प्रत्यः । दोसा बहुपापकरणादीन् । णीए थांशवान् । न विग-
 नेदि थांशवानपि पापते स्वसरीरस्य धर्मं च नापेक्षते इति भावः ॥

लोभके दोषोका वर्णन—

अर्थ—लोभसे मनुज आशाग्रस्त होता है अर्थात् मेरेको यह मिलेगा यह मिलेगा ऐसा मनोरथ उत्पन्न
 करनेवाली आशा इक्षित होती है. यह लोभ दोषोका संचय है. लोभवश होकर पुरुष बहुत पाप करते हैं. लोभसे
 अपने बहुओंको भी वह उपेक्षा करता है. और लोभसे अपने स्वरीरको कष्ट पोहोचाता है.

वस्तुतः सारासारतया न कश्चित् कर्मवधातिशय येन केनचित् बुद्धयेण जनिता मूर्खा कर्मबंधे भिमितं आत्मा
 शुभपरिणामनिमित्तवादिनि मत्या स्वरिराच्छे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ कि वच्चं ॥

लभिदमउठादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥ १३९० ॥

लोभमस्तुणेऽपि पापार्थमितरत्र किमुच्यते ॥

मुकुटादिपरस्यापि निर्लोभस्थ न पातकम् ॥ १४४५ ॥

विजयोद्या—लोभो तणे वि जादो लोभस्तुणेऽपि जातो । जणेदि पापं जनयति पापं । इदरत्थ इतरत्र सारयति
 वस्तुनि । कि वच्च किं वाच्यं ॥ लभिदममुठादिसंगस्स वि स्वसरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति । अलोहस्स
 लोभमरुपायार्जितस्य मुकुटादेः सारद्वयस्यापि प्रत्यासत्तिर्न वंचायेति मन्यते ॥

यत्र कुत्रचित्पृच्छो लोभ एव पापवंधायालमित्तुपरिश्रुति—

मूलाह—इदरत्थ सारवस्तुनि । क्वं वक्तव्यं । लभिदममुठादिसंगस्स वि स्वसरीरलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि ।
 अलोहस्स तद्वत्तमूर्च्छांरहितस्य ॥

वस्तु सार और असार दोनों तरहकी होती है. परंतु उससे कुछ कर्मबंधमें विशेषता उत्पन्न नहीं होती. किंतु उस वस्तुके संगते उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा अर्थात् ममता कर्मबंधका निमित्त है. और यही ममता आत्मानमें दुभाग्यम परिणामोंको निमित्त होती है. इसी अभिप्रायको आचार्य विशद करते हैं—

अर्थ—दुष्णमें भी लोभ उत्पन्न होनेसे वह पापबंध उत्पन्न करता है. तब इतर सारयुक्त वस्तुओंमें लग्नकी उत्पत्ति होनेपर पापबंध अवश्य होगाही. परंतु मन यदि निर्लोभी है तो शरीरपर मुकुटादि परिग्रह होने पर भी उसको पापबंध नहीं होता है लोभकषायका अभाव जब होता है. तब किसीने खबरदस्तीसे मुकुटादि पहनाये तो भी वह परिग्रह उमंगों पापकर्ममें बद्ध नहीं कर सकता है. ऐसा इस भाषाका अभिप्राय है.

तल्लोकेण वि चित्तस्स गिण्डुवी णरिथ लोभघरथरस ॥

संतुट्ठो पु अलोभो लभदि दुरिहो वि गिण्डवाणं ॥ १३११. ॥

सुगं त्रैलोक्यलाभेऽपि नासंतुष्टस्य जायते ॥

संतुष्टो लभेन सौख्यं वदिद्रोऽपि निरंतरम् ॥ १३१२ ॥

विअयोइया—सैद्योकेण वि त्रैलोक्येणापि । चित्तस्स गिण्डुवी णरिथ चित्तस्य त्रिचूतिर्नास्ति । लोभघरथरस लोभघरस इव । सतुट्ठो संतुष्टः तत्पेन केनचिद्वस्तुना दुरीरस्थितिहेतुभूतेन । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । लभदि लभते । दुरिहो वि वदिद्रोऽपि । विरथालं निर्धनं । संतोषयतश्चिन्ता निवृत्तिर्न द्रव्याभ्यां, सत्यपि द्रव्ये महति असंतुष्टस्य हृदये न दति तु ग्रासिका ॥

मूलात्—सैद्योकेण वि त्रैलोक्येणापि लब्धेन । गिण्डुवी तृप्तिः । संतुष्टो येन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन पूर्ति प्राप्ता । अलोभो द्रव्यगतमूर्छारहितः । गिण्डवाणं सुतं । संतोषयत्वा चित्तनिवृत्तिर्न द्रव्याभ्यां, द्रव्ये हि महति सत्यसंतुष्टस्य महादुःखासिद्धिः स्यात् ॥

अर्थ—लोभग्रस्त मनुष्यको त्रैलोक्यकी प्राप्ति होनेपर भी संतोष नहीं होता है. जो जो शरीरको सुख देनेवाली वस्तु प्राप्त होगी उमंगें उसका लोभ बढ़ताही जाता है. जिससे शरीर स्थिर रहेगा ऐसी किसी भी वस्तुसे जो मनुष्य संतुष्ट है ममता रहित है वह चाहे दुरिही हो तो भी उसीको समाधानवृत्ति प्राप्त होती है. संतोषके स्वाधीन

ही गन्धर्वानवृत्ति रहती है. द्रव्यके अर्धानि यह नहीं रहना चाहती. बहुत द्रव्य होनेपर भी असंतुष्ट व्यक्तिके हृदयमें बड़ा दुःख होता है.

मृतशयन।

१३३२

सन्ने वि गंधर्दोसा लोभकसायस्स हुंति णादब्बा ॥

लोभेण चैव मेहुणहिंसाखियचोच्चमाचरदि ॥ १३९२ ॥

जायंते सकला दोषा लोभिनो ग्रंथतापिभः ॥

लोभी हिंसाचतस्तेयमैशुनेषु प्रवर्तन्ते ॥ १४४७ ॥

विजयोक्त्वा—सन्ने वि गंधर्वोसा सपेंडपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्यालाले सर्वेऽपि । लोभकसायस्स लोभकपापयुतः लोभः क्रियायोऽस्यास्तीति लोभकपाप इति गृहीतव्यम् । अथवा लोभसंक्षितस्य क्रियायस्य दोषा इति संयंपनीयं । लोभेण चैव लोभेन चैव । मैशुनं, हिंसां, अलीकं, चौर्यं वा चरति । वतः सावयचक्रियायाः सर्वस्या भादिमान् लोभाः ।

किं थ—

मृत्वाय—गंधर्वोसा परिग्रहपापभाः शत्रुत्वाः ॥

अर्थ—परिग्रहके दोषोंका विस्तारसे पूर्व प्रकरणमें वर्णन हो चुका है. वे सर्व दोष लोभ कपाययुक्त मनुष्यके होते हैं. अपना लोभसे उपपुंक्त दोष उत्पन्न होते हैं. इस लोभसेही मैशुन, हिंसा, असत्यवचन, और चोरी इन पापोंको करी करता है. जिसकी वापसियायें हैं उनको लाभ हेतु है.

रामस्स जामदग्निसस्स वजं धित्तूण कचविस्सिओ वि ॥

णिषणं पत्तो सवुल्लो ससाहणो लोभदोसेण ॥ १३९३ ॥

रामस्य जामदग्न्यस्य गृहीत्या लुब्धमानसः ॥

कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सबलः क्षयम् ॥ १४४८ ॥

लोभेन लोभः परिवर्धमानो दिवानिशं वह्निरिचिन्वनेन ॥

निपेन्पमाणो मलिनत्वकारी न कस्य तापं कुन्ते महान्तं ॥ १४४९ ॥

इति लोभः । इति कपायविशेषदोषाः ॥

विजयोदया—रामस्तस रामस्तस । जामदग्नितस जामदग्नितस । वजं वजं । क्षिपूण युदीत्या । कक्षचिद्विजो वि
 कार्तवीर्योऽसि । विपक्षं पक्षो विषयं प्राज्ञः । सकुलो संपुत्रगर्भः । ससाहजो सबलः । लोभदोषेण लोभदोषेण । लोभः ॥

लोभदोषमहत्त्वमयस्यगतेन व्यनक्ति—

मूढात्—जामदग्नितस जामदग्नितसोः । परशुरामस्येत्यर्थः । वजं वजं जामदग्नितस्येत्यर्थः । ससाहजो चतुरंग-
 बलेन सह ॥ उक्तं य—

रामस्य जामदग्नितस्य गां हत्वा लुब्धमानसः ॥

कार्तवीर्यो नृपः प्राज्ञः सकुलः सबलः क्षयम् ॥

लोभदोषाः । कषायविदोषदोषाः ॥

अर्थ—जामदग्नितस नाम अर्थात् परशुरामका सर्वं योका समूह कार्तवीर्यं राजाने लोभवश होकर ग्रहण किया
 या. इस लोभदोषमे पद अपने संपुत्रगर्भ और सर्वं सेन्यके साथ परशुरामके द्वारा मारा गया. लोभ वर्णन समाप्त.

ण हि तं कुणिञ्ज सत्तू अग्नी वग्धो य किण्वसृण्यो वा ॥

जं कुण्ड महादोसं विन्धुद्विग्वं कसायिषू ॥ १३९४ ॥

वाटुसर्पानलज्यायाः कदाचित्सन्न कुर्वते ॥

यं करोति महादोषं कषायायिः शरीरिणाम् ॥ १४५० ॥

विजयोदया—रघु ॥

कषायसामान्यदोषसंश्लेषाभावाद्—

मूढात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—रघु, अग्नि, वायु, और कृष्ण सर्प इन्मे भी यह महादोष उत्पन्न नहीं होता है. जो कषाययजु
 उत्पन्न करता है. लोभकषाप मोक्षप्राप्तिमें महाविघ्न उपस्थित करता है.

इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा पाठेति दोसविसमेसु ॥

दुःस्वप्नेषु पुरित्से पसद्विलिणिव्वेदखलिया जु ॥ १३९५ ॥

कपायेन्द्रियदुष्टाद्वैदोषदुर्गेषु पात्त्यते ॥

न्यक्तनिर्वेदखलिनैः पुरुषो बलवानपि ॥ १४५१ ॥

पितृणोवक्ता—इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा इंद्रियकपायदुर्दंतवाक्याः । पाठेति पाठयति । दोसविसमेसु पापविषयम-
स्यानेषु । दुष्परायणेषु दुःपरायणेषु । पुरित्से पुरुषान् । पसद्विलिणिव्वेदखलियाव्यो ग्रंथिगिलाविर्वेदखलिनाः ॥

सांनतमिंद्रियरुपायाणां जीवस्य परमार्थकाद्याधिरूढमपकारकत्वं मन्वसानसदनुवर्तने बहून् दोषस्तद्वत्त्वावर्तने
च प्रपुरुषाणाम्प्रदर्शयमानान्येन वस्त्रिजयमष्टादशभिरनुयुगैर्बति—

तत्र कायदुर्भयनित्तैर्यं गाथाचतुष्टयेनाचष्टे—

मूलारा—दुर्दंतस दुष्टगोदंष्ट्राः । दोसविसमेसु पापविषयस्यानेषु । पुरित्से जीवान् । पसद्विलिणिव्वेदखलिणिदा
अपवैराग्यकथिकान् ॥

अर्थ—इंद्रिय और श्रोत्रादिक कपायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जस उनकी वैराग्यरूपी लसाम ढिली होजाती
है तब मनुष्यको अथवा प्राणिजोंको पापरूपी विषयस्थानोंमें अर्थात् पापरूपी दुःखदायक यद्धोंमें गिराये बिना
रहते नहीं. गिराये ही है.

इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता ॥

आणकसाए मीदा ण दोसविसमेसु पाठेति ॥ १३९६ ॥

कपायेन्द्रियदुष्टान्वेदनिर्वेदयंत्रितैः ॥

दोषदुर्गेषु पात्त्यते न सद्विधानकशावर्जैः ॥ १४५२ ॥

पितृणोवक्ता—इंद्रियकसायदुर्दंतस्सा इंद्रियकपायदुर्दंतगुणैः वैराग्यपटीनवियमिताः संताः ध्यानकरास्तु-
भीता न शोषिष्यमेसु पातयन्ति ॥

मूढात्ता — मलिनता निर्बलताः । अज्ञानकसाय सद्व्ययनचर्मकष्टेः । भीत्या ज्ञानाः ॥
अर्थ—परंतु जब इंद्रियकषायरूपी एह घोंडे वैराग्यरूपी उग्रामसे लींचे जाते हैं और ध्यानरूपी चाबुक मे ने ताड़ित किये जाते हैं तब पापरूपी दुःखदायक मद्युग्मे मनुष्यको वे नहीं पटकते हैं.

इंद्रियकसायपण्णगद्व्या बहुवेदणुदिदा पुरिसा ॥

पञ्चमदृश्याणमुक्त्वा संजमजीयं पविजहंति ॥ १३९७ ॥

विचित्रचेचनादष्टाः कषायाश्चमुजंगमैः

नष्टरूपानमुत्थाः । यो गुंथते वृत्तजीवितम् ॥ १३५३ ॥

विजयोदया—इंद्रियकसायपण्णगद्व्या, बहुवेदनायष्टाः पुंल्लः अष्टदृश्याणमुत्थाः संजमजीयं परित्यजंति ॥

मूढात्ता—बहुवेदणुदिदा मूर्ख्यमार्दिताः ॥

अर्थ—इंद्रिय और कषायरूपी सपोंले हमे गये फुल्ल लीज विप वेदनासे पीड़ित होकर उषम स्थानरूपी सुखमें व्युत्त होते हैं. और संयमरूपी प्राणोंका त्याग करते हैं.

अज्ञानागदेहं इंद्रियकसायमुजगा विरागमर्तेहिं ॥

णियमिजंता संजमजीयं साहुस्त ण हरंति ॥ १३९८ ॥

सदृग्गानमंत्रवैराग्ययेपलौर्निर्णयिपकृताः ॥

न सापोस्ते क्षमा हर्तुं दीयं संयमजीवितम् ॥ १३५४ ॥

विजयोदया—अज्ञानागदेहं इंद्रियकसायमुजगा वैराग्यमंत्रवैराग्ययणाः सायोः संयमजीवितं न हरंति ॥

मूढात्ता—अज्ञानागदेहि सदृग्गानसिद्धौषधैः ॥

अर्थ—ध्यानरूपी औषध और वैराग्यरूपी मंत्र इनके द्वारा जब इंद्रियकषायरूपी विषयुक्त सर्प नियमित किये जाते हैं तब ये मुनिके मंत्ररूपी प्राणोंका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते हैं.

सुमरणपुंखा चितावेगा विसयविसलिचरइधारा ॥

मणधणमुक्खा इंदियकंढा विंधंति पुरिसमयं ॥ १३९९ ॥

हृषीकर्मार्गणास्तीक्ष्णाश्चितापुरंवाः सृतिस्पदाः ॥

नरं मनोधनुमुक्ता विध्यंति सुखहारिणः ॥ १४०० ॥

विजयोदया—सुमरणपुंखा सरणपुंखा, चितावेगा विषयविषेण लिता रतिधारा येषां ते मनोयनुमुक्ताः इंद्रिय-
धाराः पुरुषद्वयं धारयन्ति ॥

इंद्रियनिर्वचं गाथायेनाह—

मूढार—विसयविसलित्तरदिधारा—विषयविषेण लिता रतिधारा येषां अत्र विषयशब्देन भोग्यबुद्धया मूढा-
माननां रूपदीर्घा निर्मांखा विषयिणाः । इंद्रियशब्देन चक्षुरापुष्यभोगाः । विंधंति निष्यन्ति । मयं मृगान् ॥

अर्थ—स्मरण रूपी पुंस्त अर्थान् पंस धिनके लगें हैं, चिता रूप वेगसे युक्त, विषयरूपी विपसे लित हुए,
रतिधारामें संयुक्त, ऐसे इंद्रियरूप बाण मनरूप धनुष्यमें छुटकर मनुष्य मृगका घात करते हैं. यहाँ नेत्रादिक
इंद्रियोका विषयोंके तरफ जो उपयोग लगना उसको ही इंद्रिय कहना चाहिये. भोग्यबुद्धीसे ग्रहण किये रूपरस-
गंधादिभौक्षा जो ज्ञान होता है उसको विषय कहते हैं.

ताम्रगणान्पुरुषजगद्वननोपताःपतत यत्र धारयन्तीति कथयति—

पिदिसेडएहि इंदियकंढे अज्ञाणवरतसितिसंजुचा ॥

केडंति समणजोहा सुणाणदिट्ठीहिं दृढण ॥ १४०० ॥

हृषीकर्मार्गणास्तीक्ष्णा साधुभिर्धृतिखेटकैः ॥

ध्यानसायकमादाय न्वण्डयन्ते ज्ञानदृष्टिभिः ॥ १४०१ ॥

विजयोदया—पिदिखेटएहि घृतिखेटेः इंद्रियशरान्वारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विततः । समणजोहा श्रमणयोधाः
समयःज्ञानरष्ट्या दृष्ट्या ॥

मूढार—पिदिखेटएहि संतोषकळैः । केडंति वारयंति ॥

रंद्रियषाण जप आरमाका पात करनेके लिये उद्युक्त होते हैं तात् यदि उनका इस प्रकार निवारण करते हैं, अर्थ—एकानुरूपी पतने युक्त दोकर सुनियोज सम्यग्दानरूपी आसौसे देख लेते हैं नंतर धैर्यरूपी ढाल हाथमें लेकर रंद्रियरूपी बाजोंका निवारण करते हैं.

गंधाउचीचरंतं कसायविसकंटया यमायमुद्रा ॥

विभ्रंति विसयतिक्खा अधिविदोवाणहं पुरिसं ॥ १४०१ ॥

प्रमादवचनाः साधुं चरंतं संगकानने ॥

धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं विष्यन्तीन्द्रियकण्टकाः ॥ १४५७ ॥

विजगोश्रया—गंधाउचीचरंतं चरित्प्रवचने चरन्तं । कसायविसकंटकाः प्रमादमुद्रा विष्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा भूतिस्त्वोपानद्रहितं पुढरं ॥

कसायनिर्जयं गंधाचतुष्टयेनाह—

मुद्राया—विमगति मग्न विषयैः शोषापाण्डयनधूतैर्धतुभिस्तीक्ष्णाः । अधिविदोवाणहं धृतिद्विद्वज्जित्वाहितं ॥

अर्थ—परिग्रहपनमें प्रमग्न करनेवाला पुरुष यदि संशोणरूपी दृढ ज्ञता नहीं वेहनेवा तो कृपायरूपी विष्णुक्त कटि निपयोगे तीक्ष्ण होकर प्रमादरूपी सुहृदके द्वारा पुरुष को चुभेमेही.

संदतम्य पुनोपंगिरिकम्य कगलविषकंटकाः किंचिदपि न कुर्वन्ति रक्षावधे स्मरिः—

अथद्विदिदोवाणहस्स उवओगदिद्विजुत्तरस ॥

ण कपेति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥ १४०२ ॥

आपद्धपुत्तुपानररुमुपयोगविलोचनम् ॥

कपायकण्टकाः साधुं न विष्यन्ति मनगपि ॥ १४५८ ॥

विजगोश्रया—आपद्धविदिदोवाणहस्स आपद्धपुत्तिदोवाणहस्स ॥ नोपयोगसहितदृष्टमनेः स्वस्थमपि दुःखं न कुर्वन्ति कपायविषकंटकाः ॥

मृताय—आइए परिहृता । उपयोगदिष्टिमुत्तमस्य भेदज्ञानोपयोगेन यतन्यापारसहितस्य ॥
 परंतु मुनिराज कणायमर्कटकोसे दुःख न होगा ऐसी सामग्रीसे युक्त होते हैं अतः उनको दुःख नहीं होता है, इसीसे निनिचनार्थ गाथा—
 अर्थ—जिसने सतोपरूपी यजवृत जूता पहना है और भेदज्ञानोपयोग रूप आंखोंसे जो देखता है
 ऐसे मुनिराजको कणायविषमर्कटक तिलमात्रमी दुःख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं—

उडुहणा अदिचवला अणिगाहिदकसायमक्कडा पावा ॥

गंधफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥ १४०३ ॥

कपायमर्कटा लोलाः परिग्रहफलैपिणाः ॥

लुंपन्ति संयमारामं योगिनो निग्रहं विना ॥ १४०४ ॥

विजयोदया—उडुहणा असंयता अतिचपला अभियुहीला, कपायमर्कटा, परिग्रहफलासक्तद्वया नाशयन्ति संयमारामं ॥

मूलाय—उडुहणा उडुपुलाः । अणिगाहिदा अकृतनिग्रहाः संतभा ।

अर्थ—जो असयमको उत्पन्न करते हैं, अतिशय चपल हैं, विनम्र निग्रह नहीं किया है ऐसे कपायमर्कट परिग्रहरूप फलोंपा लुब्ध होकर संयमरूपी योगीचोंको उडूखल करते हैं—

णिच्चं पि अमञ्जत्ये तिकालविसयाणुसरणपरिहृत्ये ॥

संजमाञ्जहिं जदी वंधंति कसायमक्कण्ण ॥ १४०५ ॥

त्रिकालदोषदा नित्यं चंचला मुनिपुंगवैः ॥

कपायमर्कटा गाढं चघ्यन्ते घृत्तरञ्जुभिः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—णिच्चं पि मिलमपि धमाघस्यान्, त्रिकालविषयोपलुसरणपटून्, कपायमर्कटान्यतयः संयम-
 रञ्जुभिर्मर्दयन्ति ॥

मूला—अमग्रतये चंचलम् । परिहृत्ये पट्टम् ।

अर्थ—हमेशा चंचल, और तीनों कालोंमें भी दोष उत्पन्न करनेमें निपुण ऐसे कर्णधारों मर्कटोंको यतिराज संयमरूप दोरीसे बांधते हैं। जिससे वे कुछभी अपाय नहीं उत्पन्न करेंगे।

विदिवमिण्हं उवसमसरोहिं साधूहि णाणसत्येहिं ॥

इंदियकसायसत्तू सक्का जुत्तेहिं जेहुंजे ॥ १४०५ ॥

महोपशमसत्त्वाद्यैर्ज्ञानास्त्रैर्धृतियभित्तैः ॥

साधुयोर्धैर्विजीयन्ते कर्पायेन्द्रियचिद्विषः ॥ १४०६ ॥

विजयोदया—विदियमिण्हं धृतिसमूहः, उपशमशरीरः साधुभिर्ज्ञानास्त्रैरप्युक्तैरिन्द्रियकर्पायशमनवो जेतुं

शक्यः ॥

दुनकमयनिर्जयं गाथाचतुष्टयेन व्याचष्टे—

मूला—विदियमिण्हं सत्तोपसमूहः । णाणसत्तेहिं ज्ञानसत्तैः । जुत्तेहिं उपलुक्तैः ॥

अर्थ—मंतोपरूपी कवच पदेनकर हाथमें बिन्दुनें उपशमरूप नाण लिये हैं ऐसे साधु, भेदज्ञानरूपी द्रव्योंने इन्द्रियकर्णारूपी धनुष्को चीत खेते हैं।

इंदियकसायचोरा सुभात्रणमंकलाहिं वज्झंति ॥

ता ते ण विकुल्वंति चोरा जह संकलायका ॥ १४०७ ॥

कर्पायाक्षद्विपो धक्का भावनाभिस्तपक्षिना ॥

धुंग्वलाभिरिव स्तेना न दोपं जातु कुर्वन्ते ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—इंदियकसायचोरा इंदियकर्णारूपीराः शुभभागमायधुंग्वलाभिरिवंधेते । वंध्यस्थाले न विकारं दुर्यन्ति धुंग्वलायचोरा इव ॥

मूला— व विकुल्वंति विरूपकं न हृवंति ॥

अर्थ—जैसे शूलनासे चक्रे हुए चोर स्वस्थानमें स्थिर बैठते हैं उनसे कुछ उपद्रव नहीं होता है वैसे इन्द्रियरूपवर्णी चोर सुप्रभावनारूपी शूलनाजैसे अब जलहकर बांधे जाते हैं तब वे रागादिक विकारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।

इन्द्रियकसायवग्धा संजमणघादणे अदिपसत्ता ॥

वेरमालोहदण्डपंजरोहिं सबका हु नियमेहुं ॥ १४०७ ॥

कपायास्त्रमहाज्याघातः संयममाणभक्षिणः ॥

अधिरोग्य नियम्यन्ते वैराग्यदृढपञ्जरे ॥ १४०८ ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायवग्धा इन्द्रियकपायवग्धा, संयममरभक्षणे अत्यासका वैराग्यलोहदण्डपंजरे नियन्तुं शक्या, शक्या यतो नेतुं ॥

मुलारा—अदिपसत्ता अतीवासत्ता ॥

अर्थ—इन्द्रियकपायरूपी व्याघ्र संयमरूप मनुष्यको भक्षण करनेमें अत्यासक्त होते हैं, इस लिये उनको वैराग्यरूप लोहेके पंजरेमें बांधकर बंध किया जा सकता है,

इन्द्रियकसायहृत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण ॥

विणयवरत्तावन्दा सक्का अवसा वसे काहुं ॥ १४०९ ॥

नीता ग्रतमहावारिं कपायास्त्रमंतंगजाः ॥

यदा संत्यवशाः सन्तो वद्धा विनयरदिमभिः ॥ १४१० ॥

विजयोदया—इन्द्रियकसायहृत्थी इन्द्रियकपायवदक्षिणः वतयारीमुष्मीताः विनयवरत्तावद्धा अवसा अपि शक्या यतो नेतुं ।

मुलारा—वदयानि ग्रतमंघनावर्त्य । अदिणीदा प्रवेदिताः । उवायेण विशिष्टयतिहस्तिनिदर्शनेन ॥

अर्थ—इन्द्रियकपायरूपी दाधीयाँको मतरूप बंधनस्थानमें ले जाकर विनयरूपी रज्जुसे बांधना चाहिये जिससे वे अवश होनेपर भी बन्ध हो जाते हैं,

इंद्रियकसायहत्यी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ॥
धीरेहिं हंभिदन्वा धिदिजमलारुपहरोहिं ॥ १४०९ ॥
कपायाधमजाः शीलपरिखालंघनेनिणिः ॥
पतन्व्याः सबसा धीरेधृतिकर्णप्रतोदनेः ॥ १४१० ॥

विजयोपेता—इंद्रियकसायहत्यी सीलपरिखालंघनेनिणिः रोदन्वा धीरेधृतिकर्णतोदग्रहरो ॥

मूवरा—वोलेदु संयत्तिं । कस्तिदं आगतां । जमलार ऊपरपुण्ड्रं ॥

अर्थ—इंद्रिकषायरूपी हाथी जब शीलरूपी अर्गलको उल्लंघनेकी अभिलाषा धारण करते हैं, तब धीर
पुरुष उनको फंतीयरूपी कर्णप्रहासोंमें पड़ करते हैं.

इंद्रियकसायहत्यी दुस्सीलघ्नं जवा अहिलसेज्ज ॥

णार्णकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥ १४१० ॥

कपायाधद्विपा मत्ता दुःशीलयनकांक्षिणः ॥

ग्रानांकुदोर्धिधीयन्ने तरसा वशवर्तिनः ॥ १४११ ॥

विजयोपेता—इंद्रियकसायहत्यी इन्द्रियकषायहत्यी दुःशीलयनं प्रवेदुं यद्वामिलंबंति तया मवया अपि यत्रो
एतुं तामर्त्ते ज्ञानां कुसेन ॥

मूवरा—अहिलसेज्ज प्रवेदुमिच्छेयुः ।

अर्थ—इंद्रियकषायरूपी हाथी जब दुःशीलरूप वनेमें श्रेष्ठ कले की इच्छा करता है तब भेदज्ञानरूप
अंगुलीय प्रवण होने पर भी यत्र हो जाता है.

जदि विसयगंधहत्यी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ॥

विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण त्रिणा ॥ १४११ ॥

ध्यानयोधावशीयूता रागद्वेषमदाकुलाः ॥
ज्ञानाङ्कुरं विना याति तदा विषयकाननम् ॥ १४३७ ॥

पिञ्जवोदयः—अदि विस्मयनं पदहृत्वी यद्यपि विषयमपहस्तिनः स्वयं ग्रंथादर्थो प्रविशति रागद्वेषमज्ञानं तिष्ठेयु-
मिग्नानस्यानयोधत्वा यदे ग्रानाङ्कुरेण विना ॥

मूढारा—वि एव । सर्वं स्वयं स्वयमेव । स्वाभिस्थानीयवीचप्रयोगं विनैव । गंगवर्णं प्रयः संगः स आत्र द्वा-
स्तितीसोपागालं परोपनसारणलक्ष्मो गृह्यते । अन्यो कनमिव हस्तिनामिबद्धियकपायाणां प्रचारयिष्यत्वात् । अदिगि-
नदि प्रविशति । इन्द्रियकपायहस्तिन इति यक्ष्यमाणेन संबंधः । चेदुज्ज ज्ञानजोहस्त्वात् वास इत्यात्र अकारप्रक्षेपः ।
तेन ध्यानयोपस्थायने सिद्धेयुर्नान्योपपत्ते न सुखित्यर्थः । भाणकुलेण विना रागद्वेषमप्रांथाः संतो ध्यानयोपयुक्तं ध्या-
नोदुम्भनविषयं मंधयते रागभिस्थानीयवीचप्रयोगं विना पंचेन्द्रियकपायहस्तिनो यदि प्रविशति संबंधः ।

अर्थ—यद्यपि विषयरूपी मत्त द्वायो स्वयं प्रेरकते विना परिग्रहरूपी जंगलमे प्रवेष्टु करते हैं, और वे राग
द्वेषने मग हो गये हैं तो भी वे ध्यानरूपी अङ्कुरके विना विज्ञान और ध्यानरूप योधाके वृक्ष होते नहीं हैं.

विसयविरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्वी ते ॥

पसमे रामेदब्बा तो ते दोसं ण काहिंति ॥ १४३९ ॥

तदा तममने रम्ये कपायावमहागजाः ॥

रम्यमाणा न कुर्वन्ति दोपं साधोर्मनगपि ॥ १४४० ॥

इति सामान्यकपायनिर्जयः ।

पिञ्जवोदयः—विसययविरमणलोला विषयवनरमणलोलाः बाला इन्द्रियकपायहस्तिनः ते रविमुपनेयाः प्रशमेन
तवस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥

कथंभूताः संत इत्याह—

मूढारा—विसयविरमणलोला विषयः अग्निन्यादिगताः काम्यरूपादयः । वनानि शल्यन्यादिकाननानि विद-
या पनानीय भोग्यत्वात् । पूर्व चनरुधेन विद्यादमी इह च उदुम्भान्निजाल्यव्यादिवने गृह्यते । पसमे आत्मदेहसंस्काराना-

विभूतशामाविषयेऽप्ये । अत्र पुरीषात्ते इत्युपमानशब्देन । कादिति करित्वंति । एषा श्रीविजयाचार्यमतेन व्याख्या ।
यथा चोचम्—

यदि संगठयी याति रागद्वेषमदोद्धताः ।
भयानयोपपन्ना नैव संति ज्ञानाकुलं विना ॥
विषयारण्यसाक्षात्ते कणायाश्चहस्तिनः ॥
ततः समरति नेषा येन दोषं न कुर्वते ॥

अन्यस्येवमाह—

ध्यानयोपायसीमुक्ता रागद्वेषमदाकुलाः ॥
ज्ञानाकुलं विना याति यदा विषयकलनम् ॥
तदा समवने रम्ये कणायाश्चमहागजाः ॥
रम्यमाणा न कुर्वति दोषं साधोर्मनागचि ॥

अस्ये पुलकितपादादयं दृष्य संवृज्जति तत्साठसंबन्धम्—अत्र विषयशब्देन तन्मोहादित्रियं स्मारयन्ति । अदि-
गिज्ञादि इत्यन्त्यातिक्रम्य याति इत्यर्थमाहुः । अपि दाहं च निवर्तार्थं । तथा च सर्वप्रथमः—

रागद्वेषमदोषः करणकरीन्द्रो विद्वान्विषयनिर्ध्वम् ॥
ध्यानमुभटस्य यद्यो ज्ञानाकुलितो सचेन्नियतम् ॥
द्वितीयपाथादां तु चपला स्थाने वाट्या इति पठति । तत्रापि तैरुक्तम्—
इन्द्रियरूपायकलमा विषयवने श्रीकृष्णकरसरसिकाः ॥
उपगतवने प्रवेदयाततो न दोषं करित्वंति ॥

इति गान्ध्यादाश्चकण्यनिर्जयाः ॥

अर्थ—विषय यन्मै व्रीडांकरनेमै आमक्तं और अत्र ऐसे इन्द्रिय कणामरूप हाथीको वैराग्यमें तत्पर करना चाहिये ऐसा करनेमें ये दोष नहीं करेंगे.

सदे रूढे गंधे रसे य फासे सुभेय असुमे य ॥
तद्भा रागदोसें परिहर तं इंद्रियजण ॥ १४१३ ॥

शब्दे वर्णे रसे गंधे स्पष्टे साधुः शुभाशुभे ॥
रागद्वेषपरित्यागी हृषीकविजयी मतः ॥ १४६९ ॥

चित्तयोद्धया—सदे रूढे गंधे रसे य शुभाशुभेषु शब्ददिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इंद्रिय जयेनेत्युक्तं सूत्रस्यार्थः ॥
साधतं सामान्येन इंद्रियजं गाथापंथकेन न्यायक्षणाः प्रथमं कृत्वा येन सद्भासादददिविषयरागद्वेषपरि-
लागे क्षपकं निर्मुक्ते—

मूलात्—उक्तं करजगृहमाणशब्दद्विविषयमित्यव्ययमानरागद्वेषवशोऽप्यविश्वानां कुरावेन सखपात्रानुप्रवेशविना-
शोद्भूतोः ॥

अर्थ—हे क्षपक ! तू शुभाशुभं शुद्ध, रस, गंध, और रूप इनमें राग द्वेष का निराकरण कर अर्थात् इंद्रियों को
जीत कर शुभाशुभं शुद्धादिक निषेधों से उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष का तू नाश कर.

जहू णीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदस्थितो पिवदि ॥

कडुयं पि इंद्रियजं पिबुद्वेदं तह भजेज्ज ॥ १४१४ ॥

हृषीकविजयः सन्निः कडुकोऽपि निषेच्यते ॥

भेषजमभिय चांशुर्निस्त्वसोऽहं ययांजसा ॥ १४७० ॥

पित्रयोद्धया—जहू णीरसं पि यथा स्वादुरहितं कटुकमवीरपणे जीवितार्थं पियति । तथा इंद्रियजं भजते
कटुकमपि निर्मुक्तिहेतुम् ॥

निर्ममत्वयदुःखावदस्वात्सर्जनानामभिमतमिंद्रियजं शब्दे नियोगेनोपदिश्यते इत्यनान्यसंतं दृष्टांतावद्वर्तमान
प्रकृते व्यवस्थापयति—

मूलात्—णीरसं स्वादुरहितं । कडुगंधं पीतकमपि । भजेज्ज सेवयात्वं ॥

अर्थ—जैसे रोगी पुरण स्वादुरहित व कटु ऐसा भी औषध जीनेके लिये पीता है, वैसे मोक्ष प्राप्तिके लिए
कटुक भी इंद्रियजप करनेके लिये हे क्षपक ! तू हमेशा तत्पर रहना चाहिये.

इन्द्रियजने क उपाय इत्यादिकांश्च। इन्द्रियकषायविषयान्। दुःखानामप्ये अवनस्थितः। ये दुःखमास्त पश्यन्तानी-
मनुमाः। अनुमा ये ते पश्य अनुमाः। ये तु अनुभवतया बोधा इवानीं दृष्टिं से दुःखा इति पृथीका न त्वदुःखा आतास्त पश्यानी-
इति कथं जानुरागमन्य ये याऽनुमास्तेषु कथं द्वेषः दुःखतां प्रतिपत्त्यगतेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा पुण्हि असुभा ते चेव पुगला जादा ॥

जे आसि तदा अयुभा ते चेव सुभा इमा इण्हि ॥ १४१५ ॥

पुत्रला ये दुःखाः पूर्वमदुःखाः सन्ति तेऽधुना ॥

अदुःखाः पूर्वमासन्त्ये सांप्रतं सन्ति तेऽधुना ॥ १४१६ ॥

विजयोदगा—जे भवति शुभं यण्हि ये पुत्रलाः दुःखा भासयिदानीं त एवादुःखा जाताः। ये चास्वेस्तदा अनुमा
मे दीप दुःखा इवानीं इति न ती रागेद्वयी युक्ती इति शिक्षयति ॥

यथायमिन्द्रियजनः सूत्रे विषयवत्या निवृत्तत्वाहं कलत्रोपायो नीरुपायाः साध्यसिद्धेर्योगात् इत्यनुपुनानमनुशसि-
युक्तता—आसि पूर्वकाले भूताः। सुभा इष्टरामिन्याविरूपकामाया भोग्यपुद्गिनावपन्ताः बोधता इति पृथीताः।

अनुभा दुर्भवेपरित्वेन पृथीताः। तदा भासनपुद्गलपक्षमणाले अनुभा अनिष्टरान्यादिरूपकामाया भोग्यपुद्गिनावपन्ताः बोधता इति पृथीताः।
ना इति पृथीताः। अनुभा दुर्भवेपरित्वेन प्रतिपन्ताः। तदा तेष्वनपक्षिषु अनुभाधुरूपेषु कलत्त्वं विदां रागेद्वयावतार
प्रचार इमि निभातरस्य ॥

इन्द्रियैको जीवनेनै सोमसा उपाय है ऐसी दुका हीनेपर उत्तर देते हैं. इन्द्रिय और कणायोंके विषयमें
दुःखानुमपना निमित्तरूपसे नहीं कहा जाता है. जो विषय दुःख थे वे वर्तमान समयमें अनुम' बनते हैं. और जो
अनुम थे वे दुःख भी होते हैं. अनुम होनेमें निमन्ता यह जीव द्वेष करता था वे ही अब दुःख बननेपर उनमें यह
जीव अनुरक्त होता है. और जो अब अनुम हैं वे कालांतरमें दुःख होनेवाले हैं इसलिये उन से द्वेष करना भी योग्य
नहीं. नतर्पये यह है कि. जो अनुम हैं वे दुःख बननें तथा जो दुःख हैं वे अनुम बननें अतः इस जीवका रागेद्वेप
दुक्त होना योग्य नहीं है यही अभिप्राय आगेकी गायामें स्पष्ट करते हैं—

अर्थ—जो पुद्गल दुःख थे वे ही अब अनुम होगये हैं तथा जो पुद्गल अनुम थे वे अब दुःखरूप हुए हैं
अतः इन के ऊपर रागेद्वेप करना योग्य नहीं है.

सद्ये वि य ते मुच्चा चत्ता वि य तह आणंतसुत्तो मे ॥
 सव्वेसु एत्थ को मज्झ विमळो मुत्तविज्जेसु ॥ १४१६ ॥
 मुत्तोद्धिताः कृताः सर्वे पूर्वं तेऽ नन्तशोऽङ्गिना ॥
 को मे ह्येवो विपादो वा द्रव्ये प्राप्ते धुयाद्यमे ॥ १४७२ ॥

विज्जोदया—सत्ये वि य ते मुच्चा सर्वेऽपि च ते पुद्गलाः शुभाशुभरूपा अमुश्वस्त्वक्ता अनंतवारं मयः । तेषु द्रव्येषु मुक्तत्वेषु को विस्मयो भवेति त्वया चित्ता कार्या ॥

यदा च मया भाव्यमानेऽपि पुद्गलेष्वनाभविद्यावासना मयंसमाजंयति तदा मयैवं भावनीयमिति सत्या-
 सिनमुद्गोपयति—

मूढारा—भोग्यपुढार्यनिनिविश्य सानुरागं सेवमानः । मे मया । कस्य एतेषु भोगतया श्रुतीत्या सेवयमानेषु पुद्गलद्रव्येषु । विष्णुभो अमुक्यपुद्गला श्रुतीत्याभ्यांबाध ॥

अर्थ—उपर्युक्त सर्वे शुभाशुभ पुद्गल मेने अनंतवार भोगे हैं और अनंतवार उनका त्याग भी किया है. अतः भोगकर त्यागे मये इन पदार्थोंमें विस्मित होना मेरे लिए अयोग्य है. ऐसा विचार है स्वपक ! तू हमेशा कर.

यदि सुखसाधनतया तेष्वनुरागे, यदि दुःखसाधनतया रोषः सैव सुखदुःखसाधनतया शुभाशुभादीनां रूपानां भैवाल्लि संकल्पमतेरेणारम्भः इति यदिति—

त्वं सुमं च असुमं किंचि वि दुक्खं सुहं च ण य कुणदि ॥

संकप्पविसिसेण ह सुहं च दुःखं च होइ जए ॥ १४१७ ॥

रूपे शुभाशुभे न स्ताः साधनं सुखदुःखयोः ॥

सङ्कल्पवशतः सर्वं कारणं जायते तयोः ॥ १४७३ ॥

विजयोदया—रूपं सुमं च रूपं शुभमशुभं वा किंचिदुःखं सुखं च नैव करोति । संकल्पवशेनैव सुखं वा दुःखं भवति जगति ॥

किं च कामिन्म्यादिनि इन्द्रियमात्रे द्रव्ये यदि सुखसाधनतया तवानुरागे दुःखसाधनतया वा प्रद्वेयः संपद्येत तर्हि तस्यैवा सुखदुःखसाधनत्वा संकल्पपरतुल्यत्वेन इति चित्तधित्युपदिशति—

मूढारा—स्वयं रूपं तयोप्यादिप्रियमायं यमिन्यादिपुद्गलद्रव्यं । संकल्पविद्येतेन इ शुभाशुभाकारोद्धेलि-
मानसाभ्यस्यसायपास्वरयेनेव । जगे नदिरज्जमग्निकमे ॥ समान्येन्द्रियनिर्जयः ।

ये पुद्गल पदार्थ सुलोक साधक हैं अतः इनमें भेदा अनुसारा है और अन्य पुद्गल दुःस्वके साधन होनेसे उन से मैं ड्रेप करता हूं ऐसा कहना भी योग्य नहीं है, शुभाशुभ रूप पुद्गल न दुःस्वके न सुखके साधन हैं, परन्तु तेरा संकल्प ही मुल और दुःखका साधन है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—शुभ रूप अशुभ रूप सुखका अथवा दुःखका उत्पादक नहीं है, परन्तु हे आत्मन् ! संकल्प से ही मुल और दुःख होता है.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू ॥

इदि अपणो गणिता णिज्जेवज्जो हवदि चक्खू ॥ १४१८ ॥

पिक्खयानि यत्तब्बधुर्महावोपमनिर्जितम् ॥

निर्जितव्यं ततः सद्भिः सर्वथा तदतंद्रितैः ॥ १४७४ ॥

विजयोदया—एह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवहइ चक्खू ॥

अथुना लोकद्रव्यपुद्गले बहुतरभावनावैन्द्रियविद्येपनिर्जयं गाथाइयेन व्याकर्णयिष्यभावाविदुर्जयतमस्या-
बहुयो निर्जिते निरुक्ते—

मूढारा— णिज्जेवज्जो भोगादिभ्योऽस्तिदायेन निप्राकम् ॥

अर्थ—सुलोकमें और परलोकमें बहुतरांशिय अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा जानकर बहुतरि-
न्द्रिय पर विजय प्राप्त करनेना चाहिये.

एवं समं सद्वरसंगं फासे विचारयित्वा ॥

सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेवज्जाणि बुद्धिमदा ॥ १४१९ ॥

शब्दगंधरसस्पर्शगोचराण्यपि यत्नतः ॥

जेतव्यानि ह्ययीकाणि योगिना शमभाणिना ॥ १४७५ ॥

दुर्जयाधरानिर्लिपमर्तृभिः पंच यो विजयतेऽक्षविद्विषः ॥
तस्य सन्ति सकलाः करस्थिताः संपदो भुवननाथपूजिताः ॥ १४७६ ॥

इति इंद्रियनिर्जयः ॥

विजयोद्भा—एवं तन्मं उभयजन्मगोचरानेन्दोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाण्यपौद्रियाणि शब्दरसगंध-
स्पर्शस्मिययाणि निःश्लेषानि बुद्धिमता । सद्दत्तसंगंधफलो इति वेगपिण्डी क्षममी ॥

मूढारा—एवं लोकद्वयगतनेकदोषावहत्वेन । सद्दत्तसंगंधफलोऽशब्दरसगंधस्पर्शस्मिययाणि ॥ इंद्रियविशेष

निर्जयः ।

अर्थ—इसी प्रकार स्पृष्टेन्द्रिय, स्मरेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय वगैरह इन्द्रियां भी इहपर लोकमें अनेक दोषोंको
उत्पन्न करती है ऐसी विचार कर उनको भी बुद्धिमान पुल्ल जीवनेका प्रयत्न करें. अर्थात् इन इंद्रियोंके शब्द
रसादिरु निपयोगें शरीरेषणा संकल्प करना छोड़कर समयावना रत्ननी चाहिये.

प्रो घञ्शोपायमाचष्टे—

जदिदा सवति असंतेण परो तं णत्थि मेत्ति समिदव्वं ॥

अणुक्कं वा कुञ्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥ १४२० ॥

दत्ते शापं विना दोषं नायं मेऽस्सीति सस्यते ॥

कृपा कूलेत्थयं पापं वराकः कथमर्जति ॥ १४७७ ॥

विजयोद्भा—जदिदा सवति असंतेण यदि तावत्सत्ता शोकेण शण्णति परः स दोषो न प्रयासीति क्षमा कार्या।
धम्मदोषस्योपेनेनास्य मम किं नाष्टं इति । अणुजतुक्कं अणुकोष्ठके कुण्डहाकोऽसद्विधानेन समाज्येति पापमारं अनेक
दुःखायदं । मदीयदोरेस्य किञ्चिदायाति दोषजते । गुणयोस्मिसे किञ्चिद्वदति ? प्राणिनं प्रतिनित्यया गुणदोयास्तत्त-
मेव मति सुपटु गयोऽनास्ततो मुधानेन कर्मगंधः संपावते इति ॥

ददती कथयविशेषनिर्जयं गायानामेकाग्रिशतया ज्याचक्षणः पूर्वं क्षणालक्षणं श्रुतिपक्षादिमावनास्वभारं
प्रोपनिर्जयोपायं गायामनेनाह—

मूढरा—सयदि आमोदसति । असंतेण अवियमानयोणेण अहेतुता । तं णत्थि मेत्ति समिदव्वं स क्षापनिमित्त

मया परेणपण्डितो दोषो ऽपि नास्तिइति श्रमा कार्या । आरुणेणव्यापतेनास्य मम ऽहं नष्टमिति । अणुकंघं अनुकंघं ।
उभं भगवोऽगन्तव्येन भूतिरुपगम्यहं उच्छ्रितभारं अर्जति, नहि मदीयेद्विरस्य किंचिदोषजातमायाति शुणैर्वा गुण
जातं । मतो गुणेनेन पारं कथये इति श्रमागम्यी पितो आक्रोशके कुर्वन्त । एवंभूते हि क्षान्त्यनुकंघाभावेन सद्यः कोप-
मरुमाररतः ॥

अर्थ—मैंने इसका अपराध किया नहीं तो भी यह पुरुष मेरेपर क्रोध कर रहा है मालि दे रहा है, मैं तो
निरपराधी हूं ऐसा विचार कर उमंग ऊपर श्रमा करनी चाहिये- हमने मेरे असदोषका कथन किया तो मेरी इसमें
दुष्ट भी हानि नहीं है- अगर प्रोप करनेपर दया करनी चाहिये- क्योंकि यह दीन पुरुष असत्य दोषोका कथन
का पापोपाजन कर रहा है- यह पाप उसको अनेक दुःखोंको देनेवाला होगा- मेरे दोषोंसे न इसमें दोष उत्पन्न
होने दें और न मेरे गुणोंसे इस में गुण पैदा हो जावे हैं- प्राणिओंके गुण दोष उनके साथ ही संबद्ध रहते हैं अतः
गुण दुःगता मरंघ ही नियत प्राणिओंमें ही रहता है अतः दीन व्यर्थ ही कर्मबंध कर रहा है ऐसा विचार कर
अपदोष रहने पालेपर दयामान रहना चाहिए-

चिन्ता कठनात्मिका रोचं पुरुषमपसारयति—

अदि वा सवेज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदब्बं ॥

सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदात्ति ॥ १४२१ ॥

सत्वेऽपि सयत्तो दोवे सद्धनीयं मनीषिणा ॥

विशने ऽपि दोषोऽप्यं न मिथ्यानेन जल्पितम् ॥ १४७८ ॥

पिञ्जयोदया—अदि वा संवेज यदि वा सवेज सता रोयेष सता कामां । सोऽजेन कथयमानो दोषो
मार्गादि न स्वर्गीकं जेनोक्तमिति संकल्पयता । न हि संतो दोषाः परे चेद्वदुक्तं विनश्यंति ॥

मूलरा—अदिता सवेज इत्यादि । ठोको हि श्रोणेणसतोऽपि दोषाश्चलन्ति । किं पुनः सत्तत्त्वोऽस्य दोषो न
च भिन्नदोषाये प्रापनदुर्दानुनास्यो वेगादमेवमिदं दोषं आनन्नपि न त्यक्तुं शक्नुयामिति तत्त्वज्ञानभावनामयी क्षमा
दुर्प्राप्तिनि नास्त्ये ॥

करुणात्मक विचार कठोर रोषको दूर करता है—

अर्थ—यदि मेरेमें दोष हैं और इसने मेरे लक्ष्य दोषोंका कथन किया है तो भी इसके ऊपर क्षमा करना मेरा कर्तव्य है. इसने जो दोष कहा है वह मेरा है ही. इसने असत्य तो कहा ही नहीं ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए. विद्यमान दोषोंको कोई कैसे तो क्या वे गूढ़ होजाते हैं ?

जो पक्ष समुपकारं महांतं चेतसि करोति स तत्प्रापरापं मह्यं सदेत इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—
सत्तो वि ण केव इद्धो हृदो वि ण थ मारियो चि य क्षमेज्ज ॥

मारिज्जंतो विसहेज्ज केव धम्मो ण णट्ठोचि ॥ १४२२ ॥

शमोजसिं न हंतोज्जेन निहंतोडं सिं न मारितः ॥

मरणेऽपि न मे धर्मो नश्यतीति विषद्धान्ते ॥ १४७९ ॥

विजयोद्घा—सत्तो चेद धातु पपासि न इतः इत्यहन्तं शुणं पृथुं चेतसि संस्थाप्य किमेनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षमत्तव्यं । धर्ममितरत्रागि योत्थं । इत क्व न दृष्टुं प्रापितः । मायमात्पोऽपि सदेत विपक्षिसूदनक्षमोऽभिलषितसुखसं-
पादभोचतो धर्मो न विनाशित इति ॥

यो परीक्षं महंतं उपकारं विचे करोति स तदीयमन्यवपरापं तवते इति लोकप्रसिद्धेनैव मार्गेण कोपादूज्ज्वा-
वंपति—

मूढारा—सखेगिहं पेयं एतस्मिं । ण हरो न कश्चाविभिस्तादितः । एवमहन्तं महंतं शुणं चेतसि संस्थाप्य किमेनेनैव शपनेन मम नष्टम् । पापत्र तादयतीति वा अज्जोष्ठरि धर्मां कुर्वात् । एवमुत्तरत्रापि योत्थम् । धम्मो समस्तविषयपराजग्रहणः सकलसुरासंगदोनोपतो दूयो यमानेन न नाशित इति ॥

जो जिसके ऊपर महान उपकार करता है वह उसका अल्प अपराध सहता है. यह लोकोक्ति जगतमें प्रसिद्ध ही है. इसीका विवेचन—

अर्थ—इसने मेरे को मालीही दी है. इसने मेरे को पीटा तो नहीं है. अर्थात् न मारना यह इसमें महान् गुण है इसने मालि दी है परंतु मालि देने से मेरा तो कुछ भी नुकसान नहीं हुआ अतः इसके ऊपर क्षमा करना ही मेरे लिए उचित है. ऐसा विचार कर क्षमा करनी चाहिए. इसने मेरे को फक्त ताटन ही किया है. मेरा क्व तो

नहीं किया है. वध करने पर सौ जाता करनी चाहिये. मेरा धर्म संकटको दूर करनेवाला और शक्ति सुख देने वाला है वह धर्म इसने नष्ट नहीं किया है इसने बड़ मदान् उपकार मेरे लिये किया है ऐसा मानकर क्षमा ही करना योग्य है.

वपार्यांतरमपि रोषविजये निरूपयति—

रोसेण महाधम्मो णासिञ्ज तणं च अग्निणा सब्बो ॥

पावं च करिञ्ज माहं बहुगंपि णरेण खमिदब्बं ॥ १४२१ ॥

क्रोधो नाशयते धर्मं विभावसुरिवेन्धनम् ॥

पापं च कुरुते घोरमिति स्मर्या विपद्यते ॥ १४८० ॥

विजयोक्षया—रोसेण महाधम्मो दुर्लभतरो धर्मोऽनुयायी रोसेण मदीयो नश्यति ॥ अग्निना मृणमिव ।
तथा क्षात्र्यधायि—

अज्ञानकायुजवितस्त्वयमानवातेः ।

तैर्युक्तिः पश्यमान्युदविस्फुलिगः ।

द्विसाक्षिद्रोऽपि भूषामुत्थितवैरघूमः ॥

क्रोधात्मिवद्दहति धर्मवन नराणां ॥ इति ॥

पापं वा कुर्यान्ममायं क्रोपस्तद्वेकदुःखवीजमिति विष्टे वा क्षमा कार्या ॥

वपार्यांतरमपि रोषविजयेऽप्रीति—

मुखाद—महं मम दुर्लभो दुर्लभो दुश्चरोऽनुगामी य मे धर्मो निःशेषोऽपि रोसेण नश्यतीति भावयेत् ।

तथा श्रोतम्—

अज्ञानकायजनिस्त्वयमानवातेः

संभुक्षितः परुषवायुरविस्फुलिगः ॥

द्विसाक्षिद्रो भूषामुत्थितवैरघूमः ।

क्रोधोऽपि रद्दहति धर्मवनं नराणाम् ॥

मोहं मम रोषो यूयसां कुर्वीत स्वानेकमवदुःखमीडं इति चिंतया क्षमा कार्या । अथवा पावं करोच्च माहं पावं
मा युक्तो महारोगेनेति नियोन्वयः ॥

और भी उपाय कहते हैं—
अर्थ—जैसे अग्निसे सर्व ठण नष्ट होता है तलकर स्वाक होता है वैसे अतिशय दुर्लभ, परमवैभवं साथ
आनेनाला, पड़े ऊठसे प्राप्त किया गया सदुर्गम क्रोधसे नष्ट होता है-

यूयोनार्य इमं विरयसे ऐमा पडते हैं—
यह क्रोधरूप अग्नि अज्ञान रूपी ईश्वरसे उत्पन्न होता है, अपमानवायुसे भस्मक ऊठता है, कठोर वचनरूपी
सुलिंगसे युक्त है, हिंसा रूपी ल्वासासे युक्त है और अतिशय प्रगट ऐसा वैरही इसका धूम है ऐसा यह क्रोधाग्नि
मनुष्यके धर्म रूपी वनीकेका क्षणात् नाश करता है- भै यदि क्रोध करूंगा तो मेरेसे पाप होगा. पाप अनेक
दुःखोंका बीज है. इन प्रकारका विचार कर मनमें क्षमा करना चाहिये.

वयायंस्वरमपि पदति—

पुन्वकदमश्वापात्रं पत्ते परदुःखकरणजादं मे ॥
रिणमोक्खो मे जावो मे अज्जत्ति य होदि खमिदब्बं ॥ १४२७ ॥

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥
क्षणमोक्षोऽयुना मासो विजायेति विपद्यते ॥ १४८१ ॥

चित्तयोदया—पुन्यभद्रमच्छपात्रं पापममद्वारमज्ञानता अनेनापि प्रमादिना पूर्व कृतं वर्कम पापं पेरणां दुःखका
रणं तदप्य निपातितं । क्षणमोक्षोऽय मम जात इति चिंतयताऽपमार्पितव्यो रोषः ।

मूहारा—पुन्यकदं पापात्प्रकारणं ज्ञानताऽज्ञानतापि वा प्रमादवशा सता यत्सुरोपाजिव तदिदं पापमयोदिते-
ममेवि संवधः ॥ क्षणमोक्खरो क्षणमोचनं । अज्जत्ति यथेति । उक्तं च—

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ॥
क्षणमोक्षोऽयुना मासो विजायेति विपद्यते ॥

अर्ध—भैंसे पूर्व जन्ममें दूसरोंको दुःख देकर पापबंध मार लिया थां. पाप आनेका कारण नहीं जानते हुए इस प्रमादी मनुष्यने मेरा पाप अब उदयावस्थामें लाया है. अतः मैं इस ऋणसे आज मुक्त हो रहा हूं ऐसा विचार कर दुःख देनेवालोंपर धैर्य धारण करनी चाहिये. अर्थात् कोपको अपने मनसे हटाना चाहिये.

पुत्रं सयमुपमुचं काले णाएण तेत्थियं वृत्तं ॥

को धारणीओ घणियस्स दित्तओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १४२५ ॥

अनुमुक्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम् ॥

अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ॥ १४८२ ॥

विजयोदया—पुण्यं सपमुपमुचं पूर्व समयमेव मुक्तं, अथयिक्काले प्राप्ते । णयेण मीत्तां । इत्थं अधमर्णे उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःखं करोति ॥

पूर्वजन्मविराद्धेन परेणोदीरितं तद्विराधनोपार्जितं पापमनुभवतो मे किं दुःखं स्वावधमर्णाय पूर्वमुणोक्तस्य स्वयं मुक्तं इत्थं तापगन्तमेव यथा व्यवहारमवधिकाले प्राप्ते ददत इत्येवमप्यर्थं विषयमानस्य कोपस्य निमद्वायेमुपायोक्त-मुपविशति—

मूढारा -- णाएण धर्माचारेण । धारणीओ ऋणिकः ॥

अर्थ—जैसे साहुकास्से द्रव्य लाकर उसका उपभोग लिया परंतु उसका धन मर्यादा काल आनेपरभी लौटाया नहीं. परंतु अब धन लौटानेका समय यदि प्राप्त हुवा है तो अवश्य साहुकारको उसका धन वापिस देना चाहिये. उसका धन उसको देनेमें कौन दुःख करेगा. वैसे इस मनुष्यको पूर्व जन्ममें दुःख देकर पापोपाज्जन किया था. अब यह मेरेको दुःख दे रहा है यह योग्य ही है. इसने दिया हुवा दुःख मैं यदि क्षांत भावसे सहन करूंगा तो मेरा पापकर्म तत्र नष्ट हो जायगा. मैं इस पाप ऋणसे रहित होकर सुखी होऊंगा ऐसा विचार कर रोप नहीं करना चाहिये.

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ॥
 इदि अप्पणो गणित्ता परिहृदिब्बो हवइ कोधो ॥ १४२६ ॥
 निवेचितः कोपरिपुण्यतोऽद्भिनां ददाति दुःखान्पुमयत्र जन्मनि ॥
 निकर्तनीयः शमस्वङ्गधारया तपोविधौधैः स ततोऽप्यदुर्जयः ॥ १४८३ ॥

इति क्रोधनिर्जयः ।

स्वित्पोदण—स्पष्ट ॥

मूलरा—स्पष्ट । क्रोधनिर्जयः ॥

अर्थ—इम लोकमें और परलोकमें यह क्रोध अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा विचार कर क्रोधका परिहार—त्याग करना चाहिये.

उत्तरा माया-क्रोधजयोपायभूताग्नितत्मादुपपद्यं मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को पृथ मय्य माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तरस ॥

उच्चते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥ १४२७ ॥

नीचत्ते मम किं दुःखमुच्चत्वे को ऽत्र विस्मयः ॥

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति निश्चयः किं कदाचन ॥ १४८४ ॥

विजयोदया—को पृथ मय्य माणो कोऽत्रावकृत्यातेऽज्ञानीदेकरत्नव्यतसे यथो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपो द्रविणप्रभुदेकरत्नां मासस्य मोमेऽप्युन्नतये अतस्त्वयिनि सति उपस्थिते ओत्तरकालनीचत्वे ॥

मानजयोपायं गाथाचतुष्टयेणोपदिशति—

मूलरा—अत्र वर्तमाने ज्ञानदेकरत्नाय । अणिच्चे उच्चत्वे च वैववत्तातेऽज्ञव्ययिनि सति । किं

मम पदुवारात्रीचत्वमपि प्राप्तस्यापि अस्मिन्नुच्चत्वे प्राप्ते सर्वे इति मार्दवं भावयेत् इति भावः ॥

उक्तं च—

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ।

नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति निश्चयः किं कदाचन ॥

मानके प्रतिपक्ष श्रुत परिणायोका वर्णन करते हैं—

अर्थ—मैं इस संसारमें अनेकवार नीचावस्थामें उत्पन्न हुआ हूं, उच्चत्व और नीचत्व ये, दो अवस्थायें नित्य नहीं हैं, कुछ काल रहकर नष्ट होती हैं, ज्ञान, कुल, रूप, संपत्ति, प्रभुत्व ये अनेकवार इस जीवको प्राप्त हुए हैं, ये प्राप्त होकर भी पुनरपि नष्ट हो चुके हैं, और पुनः नीचत्व प्राप्त हुआ है, अतः अभिमान करना फिजूल है.

अधियासु बहुसु संतेसु ममादो एत्य को महं माणो ॥

को विव्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥ १४२८ ॥

परेषु पियमानेषु किं दुःखमधिकेषु मे ॥

घोनिहीनेच्चदंकारः संसारे परिचलिति ॥ १४८५ ॥

विजयोदया—रघुदा ॥

सूछारा—ममादो नस्तकाशान् । विव्भओ हर्षः ॥

अर्थ—कुल, रूप, संपत्ति इत्यादिक घातोंमें मेरेसेभी अधिक श्रेष्ठ लोक जगतमें हैं अतः इसमें मेरा अभिमान करना व्यर्थ है तथा ऐसा उच्चत्व मेरेको पूर्वकालमें अनेक बार प्राप्त हुआ था इसलिये इसमें आश्चर्य चकित होना भी मेरे लिये अयोग्य है.

उत्तरगाथा—

जो अवमाणकरणं दोसं परिहरइ निच्चमाउत्तो ॥

सो णाम होदि माणी ण दु गुणवत्तेण माणेण ॥ १४२९ ॥

स मानी कुरुते दोषमपमानकरं न यः ॥

न कुवाणः पुनर्मानमपमानविचर्दकम् ॥ १४८६ ॥

विजयोदया—जो अवमाणकरणं दोषं परिहरति निस्सुमुत्तुकाः सा मानी भवति । न तु भवति मानी गुणरिक्तेन मामेन ॥

अदोकिन्मानिवेपदनिन्दारेणाहंकारनिराकरणं कारयितुमाह—

मृदारा—अवमाणजकरणं परिभक्करं स्वस्य परस्य वा । दोसं कुल्लपोषियादिगिराहोत्कर्षसंभावनं परप्रध-
वंनं वा । आउत्तो सर्वत्र समाहितः । सो धाम स एव भानी भवति । तन्माहात्म्यस्य केनापि खंडयितुमशक्यत्वात् ।
गुणरितेण सपरपराभयकारणकालवदोपटोयनिलपरिपरणलक्षणगुणपरिहीनेन । माणेण स्रब्धत्वमात्रेण । तन्माहात्म्य-
तंडनस्य येन सेनापि कर्तुं शक्यत्वात् ॥ ठळं य—

स भानी कुरते दोषमपमातकरं न यः ॥

न कुर्वाणः पुनर्मानमपमानविवर्धकम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपमानका कारण ऐसे दोषका त्याग करता है और हमेशा दोषरहित प्रवृत्ति रखता है उसको ही भानी समझना योग्य है. गुणरहित होनेपर भी मान करनेसे कोई भानी नहीं माना जासकता है.

इह य परत्तय लोए दोसे वहुगे य आवहदि माणो ॥

इदि अप्पणो गणिता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥ १४३० ॥

द्वितयलोकभयंकरमुत्तमो विविधदुःखशिलाततदुर्गमम् ॥

प्रचलभार्दवप्रविद्याततो नृपति माननगं शतखंडनम् ॥ १४८७ ॥

इति माननिर्णयः ॥

विजयोदया—इह य परत्तय अन्यद्वये दोषाभ्यह्नावहति मानमिति विगण्य माननिग्रहं कुर्यात्साधुजनः ॥
मृदारा—एष्टम् । माननिर्वयः ॥

अर्थ—इस जन्ममें और परजन्ममें यह मानक्याव बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है. ऐसा जानकर सपरूप मानका निग्रह करते हैं. अर्थात् मानका त्याग करते हैं.

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निन्दति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंदरेण णज्जंति ॥

मायाए पत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लब्धो ॥ १४३१ ॥

दोषो नियुज्यमानोऽपि स्पष्टतां याति कालतः ॥

निक्षिप्तं हि जलेवर्चो न चिरं न्यथतिष्ठेत ॥ १४८८ ॥

विजयोदया—अदिगृहिदा वि दोषा धर्तीय मंत्रुता अपि दोषा जनेन प्रायंते कालांतरे भावया प्रयुक्तया को गुणो लप्स्य इति चिंतया निवर्तते ॥

मायाजयोपायं गाथापंचकेनाह—

मूलारा—अदिगृहिदा मुष्टु गोषिताः । लब्धो येन वंचना प्रयुज्यते इत्यार्जवभावनया भायां निर्जयेदिति तात्पर्यम् ॥

मायाका प्रतिपक्षी परिणामका स्वरूप आचार्य कहे हैं—

अर्थ—दोषोंको अविशुद्ध छिपाने पर भी कालांतरसे कुछ काल उपतीत होनेके बाद वे दोष लोफोंको भास्त्रम पड़ते ही हैं, इसलिये मायाका प्रयोग करने पर भी क्या फायदा होता है ? ध्यानमें नहीं आता-

पञ्चिभोगमि असंते पियडिसहस्सेहि गूहमाणस्स ॥

चंदग्गाहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥ १४३९ ॥

जणपायडो वि दोसो दोसोसि ण घेप्पस्स सभागस्स ॥

जह समलत्ति ण विप्पदि समलं पि जए तलावजलं ॥ १४३३ ॥

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः सभाग्यस्य न गृह्यते ॥

समलं मलिनं केन गृह्यते सारत्वं जलम् ॥ १४८९ ॥

नीचेन छायमानोऽपि स्पष्टतामेति निर्मलः ॥

राहुणा पिहितध्वजो भूयः किं न प्रकाशते ॥ १४९० ॥

विजयोदया—जणपायडो वि दोसो लोकमकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्येत भाग्यवतः । यथा समलमिति सदृश । एतदुक्तं भवति पुण्ययतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्यं । प्रकटोऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्यः । दोषविनिग्रहने हि मान्यतायिनाशमयादिति भावः ॥

किं च कृतदोषादिर्मोक्षतिरोपायौ भाग्यशुद्धयोदयाधीनौ न पुरुषाकारयत्नौ सत्किमर्थं राक्षसीवाणशत्राया माया प्रतायते इति सिद्ध्यति—

मूढारा--अपिभोगस्मि पुण्ये । चंदमहो सोमग्रहणं । स्थां श्रीविलवो नेच्छति ॥

आप्यदाडिन्नो दोषपि दोष इत्यपृहीत्वा लोको माननां करोति इति पुण्यवतो मायवा न किंचित्साध्यं तथा-
प्यसौ यदुपपन्ना मान्यतामेव विनाशयेत् इति शिक्षयति--

मूढारा--राष्ट्रम् ॥

अर्थ--उत्कृष्ट भाग्य यदि न होया तो हलारो कपट करके दोषोंको छिपाने पर भी वे प्रगट होते ही हैं। जैसे चंद्रको राह ग्राम लेता है यह बात छिपती नहीं सर्व जनप्रसिद्ध होती है, ऐसे दोष छिपानेका कितना भी प्रयत्न करो परंतु यदि तुम पुण्यवान न होंगे तो तुम्हारे दोष लोगोंको मालूम होंगे ही।

अर्थ--जो मायवान मनुष्य है उसका दोष सर्व जनोंको अत्यश होनेपर भी लोक उसको दोष मानते नहीं हैं, जिस लालाचका पानी मलिन होनेपर भी उसके मलिनपनके तर्क जब लक्ष्य नहीं देते हैं, इससे यहां यह अभिप्राय समझना चाहिए-- पुण्यवान् कपट करनेकी कुल भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोष प्रगट होनेपर भी धीमान मान्य होते ही हैं, मान्यताका नाश होगा इस भयसे दोषोंको छिपाते हैं परंतु जब मान्यताका नाश होनेका भय ही नहीं है तो कपट करनेकी ॥॥ आवश्यकता है।

अथ भावां करोत्यर्थाप्यं तथापि सान्निधिकेति वदति--

हंससर्पहं बहुगोहं सुपटनेहिं अपडिभोगस्त ॥

हृत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥ १४३७ ॥

दंभेऽर्थः क्रियमाणेऽपि त्रिपुण्यस्य न जायते ॥

आयाति स्वयमेवासौ सुकृते विहिते सति ॥ १४३९ ॥

पितृयोदया--हंससर्पहं बहुगोहं दंभतैर्यदुभिः सुमुकुटपि अपुण्यस्य हस्तं नायत्यर्थः । अन्यस्मात्पुण्यात् ॥
त्रिपुण्यस्य मायप्रयोगो धनसाधनायपि न स्यादिति बोधयति--

मूढारा--अपडिभोगस्त अपुण्यस्य । अण्णादो अन्यस्मादंजनपयोक्तात् । सपडिभोगादो सपुण्यात् ॥
धनके लिये यावा करते हैं यह कहना भी व्यर्थ है ऐसा कहते हैं--

अर्थ—तैकडो कपट प्रयोग करने पर भी और चेमाख्य कपट प्रयोग करने पर भी पुण्यवान मनुष्यसे भिन्न मनुष्यको अर्थात् पापी मनुष्यको धन प्राप्त नहीं होता है- तात्पर्य—कपट करनेसे धन प्राप्ति होती नहीं यह पुण्यसे ही मिलता है-

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ॥

इदि अप्पणो गणिता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥ १४३५ ॥

धितरनि बिपुला निकृतिघरित्री बहुविधमसुलं दुरितसावित्री ॥

इयमिति निहता बिपुलमनस्कै कज्जुणपविना बिमलयशस्कैः ॥ १४९२ ॥

इति मायानिर्जयः ॥

विलयोद्घा—इह य परत्त य इहपरत्तोक्तयोगेद्वन्द्वोपानवदति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहृतं भवति माया ॥

मूलारा—एष्टम् । मायानिर्जयः ॥

अर्थ—इपरमवर्गे भाषासे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं ऐसा जानकर भाषाका त्याग करना चाहिये-

लोमे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ॥

अकएवि हवदि लोमे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥ १४३६ ॥

संपयते सपुण्यस्स स्वयमेत्थान्यतो धनम् ॥

हस्तप्राप्तमपि क्षिप्रं विपुण्यस्य पलायते ॥ १४९३ ॥

विजयोद्घा—लोमे कदे लोमे कृतेष्वर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोमे पुण्यवतः । ततः अर्थो-सत्किरर्षलोमे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिंतया लोमो निरकार्यः ॥

लोमजयोपार्थं गाथात्रयेणाह—

मूलारा—पडिभोगवंतस्स पुण्यवतः । अर्थात्किरर्षलोमनिमित्तमपि तु पुण्यकृतं पुण्यमित्यनया चिंतया लोम-मनुष्यश्च लोमं निराकुर्यादिति भावः ॥

अर्थ—लौम कल्पेसभी पुण्यप्राप्तित मनुष्यको द्रव्य मिलता नहीं है. और लोम न करनेपर भी पुण्यवान को धनकी प्राप्ती होती है इसलिये धनप्राप्ति होती है इसलिये धनप्राप्ति होनेमें धनासाक्ति कारण नहीं है परंतु पुण्य ही कारण है ऐसा विचार कर लोम का त्याग करना चाहिये.

अपि च अर्थमासये जनः प्रयत्ने कर्मा पुनरसृष्टमासास्त्वकाश्च तेषु को विस्मय इति मनःप्रणिधानं कुरु लोमविजयवेति पदंति—

सब्ये वि जाए अत्या परिगहिदा ते अणंतधुचो मे ॥

अर्थेषु इत्य को मज्झ विमओ गहिदविजहेसु ॥ १४३७ ॥

सेसारेज्जात्यमानेन प्राप्ताः सर्वे सहस्रशः ॥

विस्मयो लब्धयुक्तेषु कस्तेषु मम सांप्रतम् ॥ १४९४ ॥

विजयोदधा—तन्ने पि लभे माया सर्वेऽपि जगत्प्राप्ता मयातंतवारं समार्थेण्यमीषु को विस्मयो पृथीतस्त्वेषु ॥

उपायांतरमाह—

मूढाटा—सपथम् । लोभनिर्लेयः ॥

धन प्राप्त्यर्थं लोक यत्न करते हैं धन तो अनेकें धार मिल गया था और नष्ट भी हुआ था इसलिये धनमें आश्चर्य करना किञ्चल है लोम विषयकें लिये ही है क्षणकत् मनको स्थिर कर ऐसा आचार्य उपदेश करते हैं—
अर्थ—इन प्रलोभयमें मैंने अनंतवार धन प्राप्त किया है. अतः अनंतवार ग्रहण कर स्वामी हुए इस धनके विषयमें आश्चर्य चकित होना किञ्चल है.

इह य परस्म्य लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ॥

इदि अप्पणो गणिता गिज्जेदब्बो हवदि लोभो ॥ १४३८ ॥

लोकद्वये दुःखफलान् दत्ते गार्थक्यतोयेन विचर्द्धितोऽयम् ॥

स्तोपशखेण निकर्त्तनीयः स लोभधस्त्रो यदलः क्षणेन ॥ १४९६ ॥

कपायचौरानातिवृत्तकारिणः पवित्रचारित्रधनापहारिणः ॥
शृणोति यथाकृच्छरित्रमार्गैः करस्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः ॥ १४९६ ॥

इति लोभनिर्जयः ॥

पित्रयोदया—इन्द्रियस्वावलम्बनं ।

मूलार—स्पष्टम् ॥ लोभनिर्जयः ॥

अर्थ—इन्द्रलोकमें यह लोभ अनेक दोषोंको उत्पन्न करता है ऐसा समझकर लोभकरायपर विजय प्राप्त करना चाहिये, इन्द्रिय और कर्पायोंका वर्णन समाप्त हुआ-

परमिन्द्रियकपायपरिणामनिरोधोपायभूताप्यरिणामनुपदिश्य निद्राजयक्रमं निरूपयति स्मृतिः—

णिहं जिणाहि निच्यं णिदा हु नरं अचेयणं कुणइ ॥

यट्टिज हु पासुसो खवको सज्जेसु दोसेसु ॥ १४९७ ॥

निद्रां जय नरं निद्रा विदपाति विचेतनम् ॥

सुप्तः प्रवर्तते योगी दोषेषु सकलेष्वपि ॥ १४९७ ॥

पित्रयोदया—णिहं जिणाहि निद्रां जय । अजिता सा किमपकारं करोति इत्यासेक्य आह—णिदा हु नरं अचेयणं कुणइ निद्रा नरं अचेतनं करोति । सैतत्परहितपक्षमाभापरिमुच्यते अचेतनं करोतीति । अत्रोच्यते—वियेकमानरहितस्य भेषाश्चैतनराहेनोच्यते । यत् एव योग्ययोग्यादियेकमानरहित अत एव । यट्टिज ॥ यतवे एव । पासुसो मकमेण सुता । खवको क्षपकः । सट्ठेसु दोसेसु हितामनुगपरिग्रहभेदेषु ॥

परमिन्द्रियकपायजयान्तरादेतनुपदिश्य क्षम्यकरणतुरोपायसकलं निद्राजयोपायं सोपायं गाथादसकेनोपदिशति मशार—जिणाहि जय त्वं । अचेयणं युक्तकुणवियेकविमुक्तं । दोसेसु हिंसादिषु ॥

इन्द्रिय कपाय परिणामोंका निरोध करनेमें उपायभूत परिणामोंका यथातक आचर्यने विवेचन किया अब निद्राजयका क्रम कहते हैं—

अर्थ—हे क्षपक ! तू निद्राका जीत ले, निद्राको न जीतनेसे क्या हमने होती है इस संकाका उत्तर ऐसा है—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है, आराममें चेतन्यादित अवस्थाका अभाव ही है अतः निद्रा अचेतन करती है, ऐसा क्यों

कदा है? उत्तर—वियेकज्ञानका अभाव निद्राके समय होता है. अतः निद्रा मनुष्य को अचेतन करती है ऐसा कहा है. योगयोग्यविवेकज्ञान न होनेसे आत्मा अचेतन होता है, ऐसा कह सकते हैं. गाढ़ निद्रित हुआ मनुष्य हिमा, मेथुन, परिग्रहादिक दोषोंमें प्रवृत्त होता है.

निद्रा कर्मोद्भववशाद्भवति कथं प्रयाणाकृतव्या इत्यत्राह—

अदि अधिवाधिञ्ज तुमं निद्रा तो तं करेहि सल्लसायं ॥

सुहुमत्ये वा चित्तेहि सुणव संवेगणिज्जेगं ॥ १७४० ॥

यदा प्रदाधत्ते निद्रा साध्यायं त्वं तदाश्रय ॥

अर्धोपनीयसो ध्यायन्कुरु संवेगनिर्विदो ॥ ४९८ ॥

विजयोदया—अदि अधिवाधिञ्ज तुमं पचापिवाधेन भवतं निद्रा । तत्स्थ कुक स्वाध्यायं । सुहुमत्ये वा चित्तेहि सल्लसायं । सुणव संवेगनिज्जेगं शृणुय संवेज्जनीं निर्वेज्जनीं वा कथां ॥

दर्शनारण्योपदेशोत्रेकावधिं निद्रा कथं भवा निरोद्धुं दक्षयेत्तत्राह—

मृक्षारा—तुमं त्वं । सुण व शृणु वा । संवेगनिज्जेदं संवेज्जनीं निर्वेज्जनीं वा कथाम् ॥

निद्रा कर्मके उदय में प्राप्ती है अतः वह मंत्रसे कर्मों दृष्टाई जा सकेगी इस प्रश्नका उत्तर आचार्य देते हैं—
अर्थ—यदि निद्रा तुमका सतावंगी तो तू स्वाध्याय कर, सुख पदार्थोंका विचार कर, संवेज्जनी और निर्वेज्जनी कथाओंका भी श्रवण कर ये निद्रा जीतनेके उपाय हैं.

प्रकरणतर् निद्राविजयोक्तुं निगदति—

पीदी मए य सेगे य तहा णिदा ण होइ मणुयाणं ॥

एदाण तुमं तिणिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥ १४४१ ॥

निद्रा प्रीतौ मये शोके यतः पुंसो न जायते ॥

निज्जयाय त्तास्तस्यास्त्यमिदं चित्तयं भज ॥ १४९९ ॥

विजयोदया—भीती भय य सोमे प्रीत्या भये शोके वा सति निद्रा भुत्वाणां न भवति । तेन प्रीत्यानिशेषां कुरु
त्ये निद्राविविक्तये ॥

मलारा—प्रीत्यादिद्वये सति नोदेति ॥

निद्राविजयके स्तिष्ठ दूसरा उपाय.

अर्ध-प्रीति, भय और शोक इनसे कोई भी विकार होनेपर निद्रा नहीं आती है- इसलिय निद्रा विज-
सायं तु प्रीत्यादिकला सेवन कर.

प्रीतिभयशोकात् भुत्वाणां कुरुमात्रकमादिवानिभित्ता । निद्राया वा अविशिष्टाया कथं वा संभारार्थिनो
निरच्यते प्रीत्यादिके इत्यादिकावां संवरहेतुभूततया सदापदेनं प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु संसारादो पीदं च उचमहम्मि ॥

सोमं च पुरातुच्चरिवादो णिदाविजयहेतुं ॥ १४४२ ॥

ज्ञानाकाराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ॥

पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥ १५०० ॥

विशयो—भयमागच्छसु भयं प्रतिपद्यत । संसारात् संसारान् पंचविधपरिवर्तनकयात् । प्रीतिं रत्नत्रयाराधनायां ।
शोकं त्वेति पूर्वकृतानुस्मिताया । निद्रां विजेतुं नरकादिमतिव्यसह्यपरिवर्तमानेन शरीरमागतुं, मानसिकं, सामाजिकं
च दुःखं विचित्रमनुभूतं तत्पुनरुत्पादायस्ति इति मनः प्राणिषेहि । सकलमापत्संहतिमुन्मूलयितुं, अभ्युदयनिश्चयस-
त्प्राप्तिं च प्रापयितुं, असारदारीरभारमपेक्षितं, अन्तर्भावोच्चरितोमसाज्जग्यश्रियमाकन्दुं, कर्मविषयिष्ठपानुसंगदयितुं
समाभिमां, अन्तेषु भयेषु भयवशात्पापं रत्नत्रयाराधनां कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिंसादुल्लेखेयाश्रयपरिग्रहेषु
विषयान्यकरणेषुभुवननोवाक्राययोगेषु च विचित्रकर्मजनमूलेषु कर्तुंविधेयधर्मायतिमिच्छेत् अन्तरत्वं मंदभाष्यः
प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणादिमुपधुक्षितया सम्मार्गस्योपपेक्षणागुणभंगमाश्रयवरोधोदयात्तदुदीरितायो-
नयवोधात् । भयगमे सत्यपध्वच्छायाः, चारिमोहोदयात्सन्मार्गेऽप्रवृत्तेषु दुःखान्भोधौ निमग्नोऽस्मीत्युद्दिष्टचित्ततया
च निद्रा प्रयाति ॥

संभारार्थं निद्रां निमीषता किं विषयं प्रीत्यादित्रयं विषयमित्यत्राह—

मलारा—अविषयस्य । नरकादिगतिषु असह्यपरिवर्तमानेन शरीरमागतुं, मानसं, स्वाभाविकं च दुःखं भयात्-
भूतं तत्पुनरपीदमायातीति चेत्तः प्राणिषेदीत्यायः ॥

उत्तन्मृन्नि रत्नत्रयासाधनायां सर्वा विपदो निराकर्तुमशुद्धयनिःश्रेयससंपदः संपादयितुं, कर्मविपश्यन्मूलयितुं, अनंतज्ञानादिचतुष्टयभियनाकर्तुं, असारशरीरभारमपसारयितुं न समर्पितमागमिमांसासंसारमप्राप्तरी रत्नत्रयासाधनां विषा-
तुमुपनोदस्मि, धन्योऽस्मि, क्लृप्तोऽस्मि, पुण्याहं ममेदमयेति प्रीति भावयेदित्यर्थः । पुरा दुर्बलितो पूर्वचित्ति दुराचरो ।
हा कष्टनानिर्वाहं निष्प्राच्यत्संयमरूपाऽऽभ्युपयोगप्रावर्तेषु चतुर्विधबंधनिर्बंधनतया विविधचतुर्गतिदुःखप्रबंधवि-
भाटेषु मंदभागः कथमहं ग्रस्तः ? हिताहितमीनां सामुद्रतया सन्यागोपदेशं युक्तं लब्ध्वापि प्रवृत्तज्ञानावरणोदयवशात्
तदुपविष्टाथैतत्सत्यमगोपेऽपि दुर्बलमिष्यात्त्वविपाकेनाश्रदोऽपि, दुर्बलचारिणोहोत्रेकेण श्रेयोभार्गाप्रयुक्तं कथमहं
दुरंतसंसारपापवारदुःखावर्णसहस्रेषु सुखं दुर्निवृत्तोऽस्मिन्सुखिप्रहृदयो भवेदित्यर्थः ।

मीति, भय और शोक ये अशुभ परिणाम हैं अतः अशुभ कर्मका आगमन होनेमें ये हंतुं हैं, निद्राके समान ये भी त्याग्य हैं तो भी संवराधीके लिए इन मयाधिकोंका निरूपण आचार्य क्यों करते हैं ? इस शंकाका परिहार करनेके लिए प्रीत्यादिकके विषयोंका भी सुलासा करते हैं—

अर्थः—हे क्षपक 'तु पाँच प्रकारके परिवर्तन रूप संसारसे भययुक्त हो, रत्नत्रयकी आराधना करने में तु प्रेम युक्त हो और एवंकृतपापोंके विषयमें मनमें शोक कर. ऐसा करनेसे तु निद्रापर विजय पा सकेगा.

नरकादि मतिओंमें अनेक वार उत्पन्न होकर अनेक प्रकारके शारीरिक, आंगंतक, मानसिक दुःखोंका तु अशुभ स्थिति है ये दुःख फिर भी मेरेको प्राप्त होंगे ऐसा विचार कर भययुक्त हो. और अपना मन ध्यानमें एकाग्र कर. यह रत्नत्रयासाधना सब संकटसमुदायका नाश करती है. अशुद्ध और मोक्षमुख देती है. असार शरीरका भार इस रत्नत्रयासाधनासे दूर होता है. इससे जीवको अंगंश दर्शन और अनंतज्ञानकी प्राप्ति होती है. यह कर्मरूप विपश्यन्को उपपादनेमें समर्थ है. इसकी अनंत भवोंमें कभी भी प्राप्ति नहीं हुई थी. मैं आज इसको प्राप्त करनेमें उद्युक्त हुआ हूँ. ऐसा विचार करके रत्नत्रयासाधनामें प्रीतिकी भावना प्रानी चाहिये.

इसि, आसत्य भाषण, चोरी, मैथुन सेवन और ब्रह्मचर्य ये पाँच कुकार्य विचित्रकर्मवीर उत्पत्ति करनेसे बँटते हैं मिथ्यात्व, कथय, और अशुभ मनोवचन और कथय इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका जीवमें आगमन होता है. उपयुक्त कारणोंमें प्रकृति, स्थिति गैरत चार प्रकारके कर्म बंधकी उत्पत्ति होती है. मंदभाग्यवान मैं ऐसे कर्मोंमें हमेशा ग्रस्त हुआ था. हिताहितविचार करनेवाली बुद्धिकी मेरेमें कभी थी. सम्मार्गका उपदेशक न मिलेले.

तथा प्रानारण कर्मका उद्देश्य होनेमें भेरेको हितज्ञान आजतक नहीं हुआ था. अथवा उपदेशक धित्तेपर भी उसके उपदेशका अभिप्रायही में नहीं जान सका. कभी ज्ञान होनेपर भी मैंने उस उपदेशपर विश्वास नहीं किया. विश्वास करनेपर भी चारित्र्योद्देश्यके वश होकर चारित्र नहीं पाला. इसी कारणमें मैं संसारसमुद्रमें डूबा हूँ इस प्रकारके शोकाविचारसे निद्रा नष्ट होती है.

जागरणार्थं इन्वेवमादिकं कुण कर्म सदा उत्तम ॥

ज्ञानेण विणा वंज्यो कालो हु तुमे ॥ कायत्वो ॥ १४४३ ॥

सदैवसुपयुक्तेन निद्रां निर्जयता त्वया ॥

न ध्यामेन विना स्थयं पवित्रेण कदाचन ॥ १५०१ ॥

चिजयोद्धा—जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुण कर्म सदैवसुपयुक्तं । ध्यानेन विना वंज्यः कालो न कर्तव्यस्तथा ॥

मूढारा—जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं । वंज्यो निष्कलः । सत्सुपायसिद्धीपथप्रयोगैर्निद्रामहाव्याधिं जित्वा तानि स्वया सख्यपानशून्येन क्षणमपि न स्थापयाम् । त्वयैव कर्मसंवरणविर्जरणकर्मणि पुरीणत्वात् शक्ति भावः ॥

अर्थ—निद्राका नाश करने के लिये इस प्रकारका उपयुक्त कर्म है. और ध्यानके बिना एक कालकाल भी तुझको नष्ट करना योग्य नहीं है.

संसारद्विविगित्थरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहिं ॥

सोढुं ण खमो अहिमणणीय सोढुं व सधरम्मि ॥ १४४४ ॥

न दोपाननपाकृत्य खप्पुं जन्ममि युज्यते ॥

अनर्थकारिणो रौद्रान्पल्लगानिव मंदिरं ॥ १५०२ ॥

चिजयोद्धा—संसारद्विविगित्थरणमिच्छदो संसारद्विविगित्थरणमिच्छजनपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्नुं क्षमः । अहिं अनपणीय स्वप्नुमिव गृहे ॥

यावदयोग न निराकृतस्तानपवांसिहन्ममिति स्वापः कर्तुं न युज्यते इति वक्रमणितया निद्राविवयाय सज्जयति ॥
 मूढार—इच्छादो इच्छम् । बांछतो वा । अन्ते किञ्चित्दो इति पठित्वा निश्चययुक्तो मुनिरित्यर्थमटुः । अणवणी
 ॥ स्वत्मादतिःसार्यः । दोसादि राणादिसर्पः । सोढुं स्वप्नुं । न यमो न बुद्धेऽसि त्वम् । न सममिति पाठे न युक्तं तवेति
 योष्यम् ॥ अहिं सर्पे ॥ उक्तं च ॥

न दोषाननपाकृत्य स्वप्नुं वन्यमि युज्यते ॥

जनैर्बकारिणो रौद्रतन्मगानिव मंदिरे ॥

अर्थ—संसाररूप जंगलमेंसे निकलनेकी इच्छासे दोषोंको पिना दूर किए ही सोना योग्य नहीं है, क्या
 सर्पको घरमेंसे बाहर निकाले बिनाही घरमें सोना योग्य है ?

को नाम निरुज्येगो लोगे मरणादिअग्निपज्जलिंदे ॥

पज्जलिंदम्मि व णाणी धरम्मि सोढुं अभिलसिज्ज ॥ १४४५ ॥

संसारे युज्यते स्वप्नुं कस्य दोषैः प्रदीपितं ॥

महासापकरैर्महे पावकैरिव भीषणे ॥ १५०३ ॥

विजयोदय—को नाम निरुज्येगो लोगे मरणादि अग्निपज्जलिंदे जतिजरा मरणव्यापयः, दोकानयमि,
 प्रापिदात्तायो, अधिमत्तवियोग इत्यादिभाषिना प्रवृत्तिः । णाणी सोढुमभिलसेज्ज घावो दस्तुमभिलयेत् । पज्जलिंदम्मि
 धरम्मि च प्रवृत्तिते गृह इय ॥

भंगवतरेण जिद्रां निराकारवमि—

मूजरा—अणुविभगो खंडमरहितः ॥ मरणादि शतशुभाधिकराजन्मभयमानभंगमशोकादि । णाणी तत्पक्षः ।

अर्थ—इस जगत्में कोन निखेरा है अर्थात् किसको भय है नहीं ? सभी मनुष्योंको जन्म, मृदावस्था,
 मरण, रोग, शोक, इच्छित वस्तुओंकी प्राप्ति न होना, इस वस्तुओंका वियोग होना एतत्स्वरूप अग्नीसे तब पीड़ित
 हो रहे हैं-ऐसा विचार कर धानी सोनेकी इच्छा करेगा क्या ? कोनसा धानी मनुष्य अग्निसे धर प्रवृत्तित होने
 पर सोनेकी इच्छा करेगा ?

को नाम निरुब्धेगो सुविज्ज दोसेसु अपुवसंतेषु ॥
महिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥ १४४६ ॥

को दोषेव्वप्रशांतेषु निरुद्धेगोऽस्ति पंडितः ॥

द्विपत्तियव समीपेषु विविधानर्थकारिषु ॥ १५०४ ॥

विजयोदया—को नाम निरुब्धेगो को नाम निरुब्धेगः स्वपेदागादिषु संसारमयर्हनेषु दोषेषु मनुपदांतेषु
शुद्धीतायुधानां शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥

मूलाय—मज्झयारे मध्ये ॥

अर्थ—जैसे जिन्दोने हाथोंमें शस्त्रधारण करि हैं ऐसे छत्रुओंके बीचमें निर्भय होकर कोन स्थिर रह
सकता है ? वैसे संसारको बंधनेवाले रागद्विक दोष स्वांत नहीं होनेपर कोन स्वानी पुरुष निर्मयतासे सोचेगा. अर्थात्
रागादिक विकार शत्रुके समान इस जीवको कष्ट दे रहे हैं ऐसे प्रसंगमें निद्राधीन होना क्या योग्य माना जायगा ?

णिदा तमस्स सरिस्सी अप्णो गत्थि तु तमो मणुस्साणं ॥

इदि णच्चा जिणसु तुमं णिदा ज्ञाणस्स विग्घयी ॥ १४४७ ॥

नस्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेवं सर्वदा ततः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—णिदा निद्रा तमस्स इत्यादिमप्यसमो नस्ति मनुजानां इति ज्ञात्वा निद्रां ध्यानस्य विप्रकारिणीं जयेति ॥

मूलाय—णत्थि निमित्ततमस्य सद्व्ययनप्रतिबंधात्मत्वात् ॥ उक्तं य—

नस्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ॥

सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ॥

अर्थ निद्रारूप अंधकारक मयान जगत्तमो अन्य अंधकार है ही नहीं ऐसा समझकर ध्यानमें विप्र डाल-
नेवाली इस निद्राको तुम जीतो

कुण वा निद्रामोक्षं निद्रामोक्षस्त भणिद्वेलाण् ॥

जह वा होइ समाही खवणकिंलितस तह कुणह ॥ १४४८ ॥

निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचायवा यन्ते ॥

यथा वा ह्यन्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—कुण वा निद्रामोक्षं कुण वा निद्रामोक्षस्य कथितायां वेलायां रोमस्समीपे यामे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति मयत्त उपवासपरिथातस्य तथा वा निद्रामोक्षं कुव ॥ निद्राविमोक्षं ॥

एवं निद्रानिरासमुत्सर्गेणोपविश्य तदववाहमाह—

मूलारा—भणिद्वेलाह शान्तिद्वीयग्रहे । रवमणकिंलितस उपवासस्वाध्यायादिना म्हातिं गतस्य । उक्तं य—

निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचायवा यन्ते ॥

यथा वा ह्यन्तदेहस्य समाधानं तथा कुरु ॥

अर्थ—निद्राका त्याग करनेकं समयमें अर्थात् रात्रीके तिसरे प्रहरमें हे क्षपक् ! तू निद्राका त्याग कर. अथवा उपवासमें धके हुए तुझको जिस प्रकारसे समाधान रद्दगा मसा निद्राका त्याग कर. निद्राका प्रकरण समाप्त.

उक्तार्थोपलक्षारं बह्व्यमानं वाधिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

एस उवावो कम्ममवदारणिरोहणो ह्वे सब्बो ॥

पोराणयरस कम्मस पुणो तवसा खओ होइ ॥ १४४९ ॥

कर्मास्तवनिरोधेऽयमुपग्रहः कथितस्तव ॥

कल्मषस्य पुराणस्य तपसा निर्जरा पुनः ॥ १५०७ ॥

उदीयमानेन महोद्यमेन क्षेत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री ॥

प्रशस्तकर्मव्यवधानशक्ता विजीयते भानुमतेव राज्ञि ॥ १५०८ ॥

इति निद्रानिर्जयः ।

विजयोद्या—एतन् उवाचो कर्मणामस्त्रधराद्विरोधे उवाचो उपायोऽयं सर्वोऽविरहितः । तौपजस्य कर्मण-
स्तपसा शयो भवति । संपरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥

एवं संवरपूर्विक निर्जरा निर्वाणाय प्रभवतीति संवरोपायान्तरं च सांप्रतं निर्जराविभिरो उपसि गाथासनादि-
नृणा अपनमुपमयति—

मूढारा—यस मिण्डतस्य च वमणमित्यादिसूत्रसमुदायनिर्दिष्टः ॥

उपयुक्त अर्थसा उपमंदार अथवा आगे कहा हुआ अधिका उत्तर गाथासे कहते हैं—

अर्थ—जितना फलें कदा है वह सर्व कर्मायमनग निरोध करनेका उपाय है. तथा इस कर्तव्य-
का पालन करनेसे पूर्ववद् कर्मका अप भी होता है. तपसे पूर्व कर्मका क्षय होता है. संवरसहित निर्जरा कर्मका नाश
कर मोक्ष प्राप्तिका भी कारण होती है संवरहीन निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है यह दिखानेके लिये आचार्यने
प्रथम संपरका गाथामें उल्लेख किया है.

अब्धन्तरवाहिरगे तवग्नि सत्ति सगं अगूंहंतो ॥

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणल्लभो तं ॥ १४५० ॥

यत्तस्वाभ्यन्तरे यासो स्वां शक्तिमनिगृहयन् ॥

तपट्ठयन्नलसः स त्वं देहसौख्यपरादमुलः ॥ १५०९ ॥

विजयोद्या—अब्धन्तरवाहिरगे अभ्यन्तरे यासो च तपस्युद्योगं कुरु स्वां शक्तिं गृहयमानः । सुते शरीरे
यानासक्तिः अमालसः । न हि शरीरे हृद्ये वा आसक्त्यायतिपक्षमूले तपसि प्रयतते । न चालसः प्रयतते तपसि ।
अगूंहयनेन स्थितं सुते शरीरे च प्रतिपक्षायमलसतपमावेदितमनेन ॥

द्विविधे तपसि सत्तन्मूर्धं परिहरन् सतत्त्वा तन्मुच्येत्यनुदाति—

मूढारा—अप्पडिपद्धो सुहे देहे यन्नासकः । न हि शरीरे सुते ग आसक्त्यायतिपक्षमूले तपसि प्रयतते
न नालसः ।

अर्थ—हे शपक ! तू अभ्यन्तर तप और चाल तपमें अपनी शक्ति न छिपाता हुआ उद्यम-प्रयत्न कर,
सुखमें और शरीरमें तू आसक्ति मत कर, आसक्तिको बिसने छोड है वह शरीरमें और सुखमें आसक्त न होकर
१७२

सुख और शरीरके प्रतिपक्षभूत तपमें सदा उद्योग करता है- आलसी मनुष्य तपके विरुद्ध शरीर और सुखमें आसक्त होकर तपका त्याग करता है, अतः तू शरीर और सुखमें आसक्ति न करता हुआ तपमें उद्योग कर-

१३७०

पुलस्त्यवना

सुहृत्सीलदाए अलसत्तणेण देहपण्डित्वाए य ॥

जो सत्तीए संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥ १४५१ ॥

आलस्यसुखशीलत्वे शरीरप्रतिबंधने ॥

विदधानि तपो भवत्या स्वशक्तिसदृशं न यः ॥ १५१० ॥

विलस्योदया-सुहृत्सीलदाए सुखासक्ततया, मलसतया, देहप्रतिबद्धतया या या शक्तौ सत्यामपि तपोऽन करोति शक्तिसमं ॥

यद्योक्तमनावरतो दोषानुत्तरप्रबंधेनाह-

मूढारा-सत्तिसमं शब्दच्छक्तिः ॥

अर्थ-सुखसम्भावसे, आलस्यसे, और देहकी प्रीतिसे जो सामर्थ्य होनेपर भी शक्तपुस्तुसार तप नहीं करता है-

तस्स ण भाओ सुद्धो तेण पठत्ता तदो हवदि माया ॥

ण य होइ धम्मसद्धा तित्त्वा सुहदेहपिक्खवाए ॥ १४५२ ॥

तस्य सुद्धो न भावोऽस्ति माया तेन प्रकाशिता ॥

शरीरसौख्यसक्तस्य धर्मअद्धा न विद्यते ॥ १५११ ॥

विजयोदया-तस्स ण भावो तस्य परिणामो न सुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्वधर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मो तीव्र न अद्धा न भवति । केन ? सुहदेहपिक्खवाए सुतेय वेहे च्चुप्पेक्षया तत्र भाव-सक्तया युद्धया हेतुभूतवा ॥

मूढारा-जदो नस्यात्तेन शक्तिसमे तपसि अप्रवर्तमानेन स्वशक्तिप्रच्छादितया माया प्रयुज्यते, यस्यासं सुख-

देहयोरासक्त्या तत्त्व धर्मे भ्रष्टा वीजा नारिणः, यत्मात्तव ह्यभस्तमोऽनुपगः ॥ कसो इति पाठे तपः वरुं शक्तिमम नास्तीति प्रकाशयता तपोऽकरणादित्यर्थः ॥

अर्थ—उसका परिणाम निर्मल नहीं है ऐसा समझना चाहिये. शक्तयनुसार तपमें प्रवृत्त न होनेसे ज्ञानाभावी है ऐसा सिद्ध होता है. भायासे भावमें-परिणाममें झुट्ठता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्र भ्रष्टा उत्पन्न नहीं होती है. मुक्तमें और देहमें बुद्धि संलग्न होती है इससेभी परिणाममें निर्मलता नहीं रहती है और धर्ममें तीव्रभ्रष्टा नहीं उत्पन्न होती है.

अप्या य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ॥

सुहसीलदाए जीवो वंचदि हु असादेवणियं ॥ १४५३ ॥

वीर्यं निगूह्यते येन तेनात्मा वंच्यते स्वयम् ॥

सुखशरिततया तेन कर्मासातं च यध्यते ॥ १५१२ ॥

पिजपोरणा—अप्या य वंचिओ आत्मा वंचितरतेन । शक्तयनुसारे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिश्च प्रच्छादिता भवति सुखासक्ततया जीवो कश्चायसातयेदनीयं चानेकमेवेपु पुनरावहं ॥

मूला — स्पष्टम् ॥

अर्थ—शक्तयनुसृत्य तपमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है उसने अपने आत्माको फसाया है और अपनी शक्ति भी छिपा दी है ऐसा मानना चाहिये. सुखासक्त होनेसे जीवको असाता बंदनीयका अनेक भवमें तीव्र दुःख देनेवाला तीव्र बंध होता है.

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ॥

देहपडिबद्धदाए साधू सपरिग्रहो होइ ॥ १४५४ ॥

वीर्यान्तरायचारित्रमोहानर्जयतेऽलसः ॥

शरीरप्रतिबंधेन जायते सपरिग्रहः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—विरिञ्चतरात्रं वीर्योत्तरायमलसतया वसति चारित्र्यमोदनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरिग्रहो भवति ॥

मुलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—असती होनेसे वीर्योत्तराय कर्मका बंध होता है, और चारित्र्य मोदनीय कर्म का भी बंध होता है, शरीरमें आत्मिक होनेसे साधु परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता है, वह परिग्रह धारक होता है-

मायादोसा मायाए हुंति सज्जे वि पुब्बणिदिट्ठा ॥

घममि निप्पिवातस्स होइ सो दुल्लहो घम्मो ॥ १४५५ ॥

मायादोषाः पुरोदिष्टाः समस्ताः सन्ति मायया ॥

घर्मेऽपि निःप्रियाशस्य धर्मोऽस्य सुलभः कथम् ॥ १५१४ ॥

विजयोदया—मायादोसा मायादोषाः सर्वेऽपि पूर्वनिर्दिष्टाः । मायायां तपसि स्वार्थकिमिगूढलक्षणया भवति किं च घममि घर्मे तपोलक्षणे । निप्पिवासस्स अनादस्य जन्मनिरे दुल्लहो भवति घर्मे ॥

मुलात्—मायाए कपति स्वार्थकिमिगूढनेन । निप्पिवासस्स विरादस्स । दुल्लहो जन्मांतरदुर्लभं तपः ॥

अर्थ—तपमें अपनी शक्ति छिपाना ही माया है, माया करने से होनेवाले दोषोका पूर्वमें धर्मेन कर चुके हैं जो तप घर्मेमें अनादर करता है उसको अन्य जन्ममें घर्म दुर्लभ होता है-

दोषान्तरमपि निगमति—

पुद्गुत्ततवगुणणं चुक्को जं तेण वंचिओ होइ ॥

विरियणिगूही वंधदि मायं विरियंतरायं च ॥ १४५६ ॥

अक्रुचार्णस्तपः सर्वैर्यंचितोऽस्ति तपोयुगेः ॥

मायावीर्यान्तरायौ च तीव्रो यच्छान्ति कर्मणी ॥ १५१६ ॥

विजयोदया—पुद्गुत्ततवगुणणं पूर्वोक्तस्वरनिर्जरा चेत्येयमादिभिस्तपःसाधैरुपकारैः । चुक्को व्युतः । जं यस्मान् । तेन तपःसाधोपकारव्युत्पन्नं । वंचिओ होदि वञ्चितो भवति । विरियणिगूही यंचदि मायं, संवरणपरो मायाकर्म, वीर्योत्तरायं च यज्जाति ॥

आर भी दोषोंका वगन करत हैं—

अर्थ—पूर्वमें तपश्चरणके संवर और निर्जरा गुणोंका वर्णन किया है, जो तपश्चरण नहीं करता है उसके कर्म का सयर और निर्जरा नहीं होगी, अर्थात् संवर और निर्जरासे बढ पुरुष हमेशा वंचित रहेगा, जो अपनी शक्ति छिपाता है उसके मावारुपायका और वीर्यावराय कर्मका बंध होता है—

तवमकर्तस्सदे दोसा अण्णे य होति संतरस्स ॥

होति य गुणा अणेया सत्तीए तवे क्करोतस्स ॥ १४५७ ॥

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि दोषाः सन्ति तपस्विनः ॥

कुर्वाणस्य पुनः शक्त्या जायन्ते विविधा गुणाः ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—तवमकर्तस्स तपस्यजुयतस्वेमे दोषा अन्ये च भवन्तीति दासभ्याः । भवन्ति ज्ञानेकगुणाः शक्त्या तपसि यतमानस्य ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—तपश्चरणमें उद्युक्त न होनेवाले पुरुषको ये दोष तो होते ही हैं परंतु अन्य भी दोष उत्पन्न होते हैं, जो व्यक्ति तपश्चरणमें छत्पजुमार अद्युक्त होते हैं उन में अनेक गुणोंकी उत्पत्ति होती है.

तपोगुणप्रवयापनायोत्तरअधः—

इह य परस य लोए अदिसयपूयाओ ल्हइ सुतवेण ॥

आवज्जिज्जति तद्वा देवा वि संइदिद्या तवसा ॥ १४५८ ॥

लोकद्वये पराः पूजाः प्राप्यन्ते कुर्वता तपः ॥

आवर्ज्यन्तेऽम्बिला देवाः पुरंदरपुरःसरा ॥ १५१७ ॥

विजयोदया—इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आत्तर्ज्येति च तपसा देवाः संस्पृकाः ॥

तपोमाहात्म्यमाह—

मूढारा—पूजादि आदिशब्देन दुःखाद्यविश्वद्वितीत्यदि ॥ आबन्धित्वं प्रणामं कार्यते । अन्ये आकांक्षि इति पठित्वा अक्षोभदुःखयातीत्यर्थमाहुः । सर्वदिवा सेन्द्राः ॥

तत्पुण्यका निरूपण करने के लिए उच्चर ग्रन्थ—

अर्थ—इह लोकमें और परलोकमें निरविचार तप करने से आत्मामें आविष्टय-कृद्धि प्राप्त होती है और सर्वत्र महादर भी होता है. तप के माहात्म्यसे इंद्रादिक देव भी नारा होते हैं.

अप्यो वि तवो बहुगं कष्टाणं फलद् सुखयोगकदो ॥

जह अप्यं बडवीजं फलद् बडमणेयपरोहं ॥ १४५९ ॥

तपः फलति कल्याणं कृतमल्पमपि स्फुटम् ॥

बहुशान्त्वोपयासाख्यं बटवीजं यथा वटम् ॥ १५१८ ॥

पित्रयोक्त्वा—अप्योपि तपो अल्पमपि तपः महाफलदायकं फलति सुसंपत्तिपक्षं । सुष्ठु प्रमुच्यते प्रयत्नेने-
तेति च विग्रहे सत्यम् सुमयोगशब्देनोच्यते । यथा बलमपि वटमीजं फलति बटमनेकपरोहं अल्पमपि पृथुकं फलदावि-
तपः इत्येतद्व्याख्यानमवा ॥

मूढारा—सुखयोगकदो यथाशक्ति संयमेवाचरितम् । निदानासयमरहितमिति वा । फलदि जनयति । अणेष-
वापोहं अनेकमराहेम् ॥

अर्थ—अल्प तपस्चरणसे भी महा फल्याण होता है संयम की मी उत्तम-निर्दोष सिद्धि होती है. जैसे
सूक्ष्म बटवीज अनेक खाखाओंसे युक्त महान बटवृक्षको जन्म देता है. वैसे अल्प तप भी विपुल फल-स्वर्गादिक
सुखको उत्पन्न करता है.

सुष्ठु कदाण वि सस्मादीणं विन्वा हवंति अदिवहुगा ॥

सुष्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोदं वि जणं विग्घो ॥ १४६० ॥

विजयोव्या—सुदृ कदण वि सम्यक् क्लानामपि दास्यादीनां अतीव विद्या मयेति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्व

तपसो विहितस्यास्ति प्रत्युहो न मनागपि ॥ १५१९ ॥

जगति न कश्चिद् विमः फलदोने । निर्विग्रहदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितं अनया ॥

मलापा—सत्सादीनं धनधान्यादिनाम् ॥ स्वयम् ब्रह्मो व्याधातः ॥

अर्थ—स्वैती ब्रह्म परित्यज्य करेने पर मी, उसका फल मिलेने तक बहुत विघ्न उत्पन्न होते हैं परंतु निरतिचार तप पादनेपर कोई भी विघ्न उत्पन्न होता नहीं। अर्थात् विघ्नके विना ही तपश्चरणसे स्वर्गोदि फल मिलता है। तप में निर्विघ्न फल देना गुण है ऐसा इस भाषासे सिद्ध होता है।

जणमरणादिरोगादुरस्स सुतनो वरोसधं होदि ॥

रोगादुरस्स अविचित्रियमोसधं सुप्पउत्तं वा ॥ १४६१ ॥

सुत्तुजन्मजरार्तस्य तपः सुखविधायकम् ॥

महारोगादुरस्स च मेवल्यं वीर्यसंयुतम् ॥ १५२० ॥

विजयोव्या—जणमरणादिरोगादुरस्स जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतनो वरीयधं भवति । रोगपीडितस्य सुम-
युक्तमतिवीर्यमपि । जन्ममरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायते ॥

मूलापा—वरोसधं जन्ममरणादिरोगकारणकर्मोपशान्तनात् ॥

अर्थ—जन्म, मरण वगैरह रोगोंसे पीडित इस प्राणीसे उत्तम तप उत्कृष्ट औपधके समान हितकर है, जैसे रोगसे पीडित मनुष्यका रोग उत्तम औपधके सेवनसे नष्ट होता है वैसे तपसे जन्ममरणादि रोगोंका नाश होता है, तपसे जन्ममरणके कारणभूत कर्मका नाश होता है अतः कारणका नाश होनेसे कार्यकाभी नाश होगाही।

संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधरं ॥

सुतवोदाहेण जहा सीयधरं उज्झमाणस्स ॥ १४६२ ॥

मातेयास्ति सुविधास्यः पूज्यो गुरुर्निवाचितः ॥
 महानिधिरिव आद्याः सर्वज्ञेयं तपोधनः ॥ १५२१ ॥
 लभ्यन्ते नरदेवानां सर्वाः कल्याणसंपदः ॥
 परमं सिद्धिसौख्यं च कुर्वता निर्मलं तपः ॥ १५२२ ॥

पितृयोदया—कृष्णजिह्वसुहादं कल्याणानि स्वर्गवत्तरणादीनि । कल्यो विभूतयश्चक्रांछितानां अर्द्धचक्रवर्तिनां
 सुतानि ॥ यानि देवानां मनुष्याणां च, यथा परमनिर्द्वैतिसुखं तानि शोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥

मूलात्—कक्षाया स्वर्गोत्तरणादीनि ॥ इष्टि चक्रवर्त्योदिविभूतयः ॥

अर्थ—स्वर्गसे धूपकर मन्त्राके गर्भमें आना, मेरु पर्वतपर इंद्रके द्वारा अग्निपेक किया जाना इत्यादिक
 कल्याणिकौकी प्राप्ति तपसे होती है। अनेक क्राद्धि संपत्ति, सकल चक्रवर्ति और अर्द्धचक्रवर्तिक सुख भी इससे जी-
 यको मिलते हैं। और मनुष्योंके जो सुख हैं वे मिलते हैं-और मुक्तिसुख भी इससे मिलता है।

कामदुहा घर्धेणू णरस्स चिंतामणिव्व होइ तओ ॥
 तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विट्ठसणं सुतओ ॥ १४६५ ॥

चिन्तामणिस्तपः पुंसो धेनुः कामदुघा तपः ॥
 तिलकोजस्तपो भठ्यस्तपो मानविभूषणम् ॥ १५२५ ॥

विजयोदया—कामदुहा कामदुघा घर्धेणू, चिंतामणिश्च तथा यदभिलषितं तस्य दानम् । तिलकारध्यालंकारो
 मरल शोभने तपः मानस्य विभूषणं च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानः शोभते इति ॥

मूलात्—माणस्स विभूषणं । तपसा हि सर्वजगन्मान्येन मानः शोभते ॥

अर्थ—तप इच्छित पदार्थ देता है अतः वह कामधेनु और चिंतामणि स्तनके समान माना गया है।
 तिलरु नामक अलंकार से जेमें मनुष्य सुंदर दीखता है वैसे सुंदर तप मानका अलंकार है। तपसे मनुष्य जग-
 न्मान्य होता है अतः उसका मान शोभने लगता है।

होइ सुतवो य दीओ अण्णतमंघयारचारिस्स ॥

सब्बावत्थासु तओ बहुदि य पिदा व पुसिस्स ॥ १४६६ ॥

अज्ञानतिमिरोच्चेदि जायते दीपकस्तपः ॥

पितेव सर्वावस्थासु करोति नृहितं तपः ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—दोह सुतओ य बीओ सम्यक्त्वपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति सेचरतः । एतेन जगतोऽ
ज्ञानरूपं तमो विनाशयति तपः इति सूचितं ॥ सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते पितेव पुनः ॥

मूलार्थ—अण्णतमा प्रकृतमज्ञानं । तदि तपसा विनाश्यते वत्कारणकर्मक्षपणाय ॥

अर्थ—अज्ञानरूप अधकारमें संचार करनेवाले इस जगतको उत्तम तप दीपकके समान है, अर्थात्
अज्ञान नामका अधकार उपसे नष्ट होता है ऐसा सूचित हुआ, संपूर्ण अवस्था में तप पिता के समान हितकर
ही है.

विसयमहापंकाउल्लगुहार संकमो तवो होइ ॥

होइ य णावा तरिहुं तवो कसायातिचवल्लणदि ॥ १४६७ ॥

विभीमविषयमोघेस्तपो निस्तारेणे प्लवः

तप उत्तारकं श्रेयं विभीमविषयावदात् ॥ १४६७ ॥

विजयोदया—विसयमहापंकाउल्लगुहार विषयो महापंकाकुलगतं इव दुस्तरत्वात् । तस्मिन् संकमो भयति ।
तदुत्तरणे हेतुर्भवति तपः । तपो नौकतुंगवित्तु कवाथातिचपलन्दर्शो ॥

मूलार्थ—गुहाय गते अवष्टे । लघुन्यामित्यन्त्यः । संकमो रेतुर्बन्धः । अविचल्लणदि महाजदी ।

अर्थ—ये पंचेंद्रियोंके विषय विभमें अतिशय कीचट है ऐसे गह्रोंके समान हैं, कीचट युक्त गह्रोंमें
फना हुआ आदमी उसमें से निकलकर बाहर आना अतिशय कठिन कार्य है, वैसे ही ये इंद्रियविषय भी हैं परंतु
उपके सामर्थ्यसे इन विषयरूप गह्रोंसे मनुष्य निकल सकता है- कषायरूपी अतिचपल नदी को उल्लंघनमें तप
नौकाके समान है-

फलिहो य दुग्गदीणं अणेयदुक्खवाहाण होइ तवो ॥
 आमिसत्तण्हाछेदणसमत्थसुद्धकं च होइ तवो ॥ १४६८ ॥
 इंद्रियार्थमहातृप्याच्छेदकं सालिलं तपः ॥
 दुर्गतीनामगम्यानां निषेधे परिचस्तपः ॥ १५२८ ॥

मिजयोक्था—फलिहो च दुग्गदीणं दुर्गतीनां परिच ॥ १ ॥ कीदृशं दुर्गतीनां ? अनेकदुःखाचहानां । किं च विषयतृप्याच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तृप्याच्छेदने ॥

मूढारा—तलिहो अर्मेला । आमिसत्तण्हा विषयशुद्धिः । आहारशुद्धिरित्यम्यपक्षे तण्हा विपासा ॥
 अर्थ—अनेक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली दुर्गतिओंको तप अर्गलाके समान है. अर्थात् तप करनेवाले मनुष्यको दुर्गतिका बंध होता नहीं है. पानीसे जैसी प्यास उपशान्त होती है वैसे तपसे तृप्या—सोभ नष्ट होती है.

मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ॥
 होइ य तवो सुत्तिथं सव्वासुहोसमलहरणं ॥ १४६९ ॥
 मनश्चायासुखव्याघ्रस्तानां शरणं तपः ॥
 कलमपाणामशेषाणां तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥ १५२९ ॥

विजयोक्था—मणदेहदुक्खवित्तासिदाण मानसानां शरीरतणां दुःखानां ये विषयस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः । मयति य तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलभिरासकारि ॥

मूढारा—वित्तासदाण विषयतानाम् ॥ सरणं ब्रानं । गदी आश्रयणीयं । सुत्तिथं तथादिस्तानस्थानम् । असुह-
 दोस्त पापफलाभ्युपकारिणो रमादयः ॥

अर्थ—मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे जो दुःखित हैं उनको तपही रक्षक है और उपाय है. यह तप सर्व अशुभ परिणामरूप मलको दूर करनेमें तीर्थके समान है.

संसारविसमदुग्धो तवो णण्डुस्स देसओ होदि ॥

होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥ १४७० ॥

तपः संसारकांतारे नष्टानां देशकं यतः ॥

दीर्घे भवपथे जन्तोस्तपः संवलकायते ॥ १५३० ॥

विजयोक्त्या—संसारविरामदुग्धो संसारो विषमदुग्धं इव दुरुत्तरणीयत्वात् । तस्मिन्मण्डपस्य दिग्भूदरप । तयो देसगो होदि तप उपदेश्च भवति । संसारवियमदुग्धमुत्तारयतीति । होदि तवो पच्छयणं भवति तपः पथ्यइते भवकांतार-
म्मि भवकांतारं । विघन्मि दीर्घे ॥

मूढारा—विममदुग्धो दुरुत्तरण्ये । णण्डुस्स दिग्भूदस्य । देसओ मार्गदेशकः । पच्छयणं पथ्यइतं संवलं ।
कंतारे दुर्गममार्गे ॥

अर्थ—जैसे महारथमें प्रवेश किया हुआ मनुष्य दिग्भूद होता है, उससे निकलना कठिन होता है, वैसा यह संसारमी महावन के समान दुरुत्तर है-यह तप उसको उपदेशक है अर्थात् संसारवनसे वह तप प्राणीको निकालता है-यह तप इस दीर्घसंसारवनमें मार्गमें भ्रमण करने योग्य कलेवाके समान हैं-

रक्खा भएसु सुतवो अम्भुदयाणां च आगरो सुतवो ॥

णिस्सणेी होइ तवो अक्खयतोक्खस्स मोक्खस्स ॥ १४७१ ॥

अयत्तामाकरो शेयं भयेम्पो रक्खकं तपः ॥

सोपांनमाक्खुणामवाधं सिद्धिमांदिरम् ॥ १५३१ ॥

विजयोक्ता—रक्खा भएसु सुतवो मयेपु ॥ सुतपः । अम्भुदयानां वाकरः सुतपः । मोक्खस्स अक्खयसुक्खस्स
निशयणी भवति तपः ॥

मूढारा—रणम् ॥

अर्थ—यह तप भयमें दीविका रक्षण करता है-यह सुतप अम्भुदय का आकर है अर्थात् स्वर्गादिमुक्तियों का उत्पत्तिस्थान है-और अक्षय मुक्त विसर्ग है ऐसे मोक्षके लिये यह तप नयेनीके समान है-

तै णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कण्ण पुरिसस्स ॥
अग्गीव तणं जल्लिओ कम्मतणं उहदि य तवग्गी ॥ १४७२ ॥
तन्नास्ति सुवने वस्तु तपसा यन्न लभ्यते ॥
तपसा दहते कर्म वहिनेव तृणोत्करः ॥ १५३२ ॥

विजयोद्या—तणत्थि तयास्ति यद्य लभ्यते तपसा सम्यक्फलेन । तपोऽग्निः कर्मवृणं दहति तृणमियाग्निः
मरुपलितः ॥

मुखा—पुरिसस्स पुरुषेण । अथवा पुरुषस्य कर्मवृणमिति संबंधः ॥
अर्थ—निर्दोष तपसे जो प्राप्त न होगा ऐसा पदार्थ जलतमें है नहीं। अर्थात् तपसे पुरुषको सर्व उत्तम
पदार्थोंकी प्राप्ति होती है जो प्रज्वलित अग्नि वृणको जलाती है वैसे तपस्वरूप अग्नि कर्मरूप तृणको जलाती है,

सम्मं कदस्स अपरिसवस्स ण फलं तवस्स वण्णेहुं ॥
कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भामयसहस्सं ॥ १४७३ ॥
चित्तिं यच्छते वस्तु सर्वं चित्तमणेरिव ॥

तपसः शक्यते वक्तुं न माहारम्यं कथंचन ॥ १५३३ ॥
विजयोद्या—सम्मं कदस्स सम्यक् एतस्य विराक्षयस्य तपसः फलं वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वा-
सत सद्यस्ते यप्यस्ति ॥

मुखा—सम्मं कदस्स निराक्षयस्य । अपरिसवस्स अशोडितस्य ॥
अर्थ—उत्तम प्रकारसे किया गया और कर्मोत्सव रहित तपका फल वर्णन करनेमें जिसको हजार जिह्वा
है ऐसा भी कोई शेषादि देव समर्थ नहीं है,

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ॥
तवसा भावेदन्ना अप्पा णिच्चं पि जुत्तेण ॥ १४७४ ॥

इति विलोक्य तपःफलमुत्तमं विमलधृतनिर्विशितमानसः ॥

तपसि पूतमतिर्यतते यतिः कुतपसः स फले विगतादरः ॥ १५३४ ॥

विजयोद्या—एवं पादूण एवं क्षात्वा तपो मद्गोपकारि संयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥

उपसंहारमार्ग—

सूक्ष्मा—दिवानं स्थित्वा । क्षुत्तेन उपयुक्तेन ॥

अर्थ—इस प्रकार तप महा उपकारक है ऐसा जानकर संयममें स्थिर होकर हमेशा उपयुक्त तपके द्वारा आत्माका अभ्यास करना चाहिए ।

अहं गृहिद्वेषणो वि य अद्याक्ञ्जे णिउज्जदे भिन्धो ॥

तह चैय दमेयब्बो वेहो मुणिणा तवगुणेषु ॥ १४७५ ॥

तपःक्रियायामनिग्रं स्वधियहो नियोजनीयो यतिना हितैविणा ॥

नियोज्यते किं न गृहीतवेतनो मनीषिते कर्मणि न स्वषेदकः ॥ १५३५ ॥

विजयोद्या—अहं गृहिद्वेषणो वि य तथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्यं नियुज्यते भुलकः । तथैव इमित्तव्यो वेहो मुनिना तपोगुणेषु । उच्छरणं ॥

मूळारा—गृहिद्वेषणो गृहीतं वेतनं कर्ममूल्यं वेत । अद्याप निर्दयं । भवगो धूलकः कर्मकरः । इमेदब्बो हेइयः । तवगुणेषु तपोभेदेप्यन्यथादिपु । तपस्युत्तमः ॥

अर्थ—जिसको वेतन दिया है ऐसे नोकरको हमेशा कार्यमें नियुक्त करना चाहिये उसके ऊपर दया नहीं करना चाहिये, वैसे यह देह मुनिके द्वारा तपोगुणमें हमेशा लभाना चाहिये-

इच्चैव समणघम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणदोसे ॥

एतय तुममपमचो होहि समणगदसदीओ ॥ १४७६ ॥

गुणैरुद्येयैः कलिते मनोरमैर्निरस्तवोये कथिते तयोधनैः ॥
सदात्र धर्मे शिवसीव्यकारणे प्रमादमुक्तैः क्रियतां महादरः ॥ १५३६ ॥

इति तपसःक्रमः ।

विजयोदण—इत्येव सत्यपामो इत्येवं धर्मलपामैः दशविधैः समुज्ज्वलैः कथितो भया । परस्य तुममप्यमत्तो
होदि तत्र दशविधैः धर्मैः न्यनममत्तो भयः । समापनस्मृतिकः इति यन्मिना स्वदिक्षुपरित्समाप्तिरावर्जिता ॥

अपुन्य मूरिः रमतिस्नासमाप्तिमादरीक्यनुपदिक्षार्थसारणद्रुद्धिननि सन्यासिनं प्रगुणयति—
मत्तारा—इत्येव इत्येवः । मे भया । दशविधो उत्तमलपामो । यथास्थानं पूर्वनिरूपणात् । तुमे त्वं ।
ममागद्वदतादीनो समागतद्वदस्मृतिकः समुत्पन्नवत्सरणः । सकल्यागदसदीनो इति पाठे समागतस्मृतिक इत्यर्थ-
माहुः ॥

अर्थ—इह प्रकार मैंने इन प्रकारके धर्मों का उपके गुण और दोषों सहित वर्णन किया. इस दशविध
धर्मों में वे धपक । तू हमेशा प्रमाद रहित प्रवृत्ति कर. जिसको स्मृति है ऐसे धपकको इस प्रकार उपदेश देकर
उपदेशकी आपावने समाप्ति की है.

तो खगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं ॥

चित्तपसायविमलं पफुल्लिं पीविमयरं ॥ १४७७ ॥

क्षपकाननराजीवं ततो भानि चिकाचित्तम् ॥

हृतमोहतमरुण्डैः सुरियाक्यमरोचिभिः ॥ १५३७ ॥

पित्तोदया—तो मयगवयणकमलं ततः सिद्धान्तं तस्य क्षपकस्य धवनकमलं प्रफुल्लितं सुरिचयैरस्मेरैस्तैव-
चनरदिभिः चित्तपसायविमलं प्रीतिमकरं ॥

अथ शारत्तगाथाभिद्वूलिगमाचष्टे तयादौ निर्यापसावायसदुपदेशसंपादितं क्षपकस्य समायात्र धर्मरसात्या-
रगातिरूपं गमाद्वयेन व्यपगतुमायेन संयकृत्कथयति—

गूलारा—नो निशान्तं । वेदिं श्रुतावधारितेः । रस्सीहिं रदिभिः । विमलं विवर्णरहितं । पफुल्लिं विकसितं ॥

अर्थ—आचार्यरूप सूर्यके उपदेशरूप किरणोंसे क्षपकका मुलकमल प्रफुल्लित होता है-विष प्रसन्नतासे निर्मल होकर उत्तमोत्तम प्रीतिरूपी मकरंद बहने लगता है-

११८४

वयणवन्मलेहि गणिअभिमुहेहि सावत्थियदत्थियपचेहि ॥
सोभदि ससभा सरोदयम्मि फुल्लं व गल्लिणिवणं ॥ १४७८ ॥

सुरेभानि प्रभावेण तत्सवो मुखपंकजैः ॥

सरोयरमिवाकीर्णं पद्मवैकसितै रवैः ॥ १५३८ ॥

विजयोदया—वयणकमलेहि पवनकमलैः ।
म । सूर्योदये सुस्पितनलिनवमनसि ॥
मूलाय—सोभदि गोमते रम्य । सोददि य इति पाले तल्लाणपेक्षया वर्तमानता । वल्लं च—

शुभ येन सुखांभोवैर्दिल्लताभिदलैः सदा ॥

शोभति स्मोदयं भानोः कुल पद्मवर्णं यथा ॥

अर्थ—आचार्यके समक्षमें जिनके नेत्रकी बापनी विस्मित हुई है ऐसे यत्थियोंके सुलकमलोंसे वह मुनि सभा द्रव्योदयमें प्रफुल्लित कमलमनके समान योग्भा धारण करती है-

गणितवयसामवपाणएण पल्हादिदम्मि चित्ताम्मि ॥

जाओ य णिवुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥ १४७९ ॥

प्राप्योपदेशपीयूषं क्षपकोऽजानि निर्वृतः ॥

समस्तअमविध्वंसि तृपार्तं हव पानकम् ॥ १५३९ ॥

विजयोदया—गणितवयसामवपाणएण गणित- उपदेशासुतपात्रकेन प्रच्छादिते त्रिषे ज्ञातोक्षी सुदु निर्वृतः
तुपितः पानकं पीत्वि्य ॥

शुरुपदेशकानां क्षपकस्य निर्वृतिं दृष्टत्वेन स्पष्टवति—

मूलाय—अमवपाणएण अमृतपात्रकेन ॥

अर्थ-जैसे पानकका आगन कर प्यासा हुआ मनुष्य आनन्दित होता है वैसे निर्यापकाचर्यके उपदेशासुल पानकको पीकर अंतःकरण प्रसन्न होनेसे यह क्षणक क्षुब्ध संतुष्ट हो गया।

तो सो खवओ तं अणुसाहिं सोऊण जादसंवंगो ॥

उड्डित्ता आयसियं वंदइ विणएण पणदंगो ॥ १४८० ॥

ततोऽणुं छासनें अन्यं श्रुत्वा संविप्रमानसः ॥

उत्स्राज्य वंदते स्वरिं स नम्रीकृतविभ्रहः ॥ १५४० ॥

विजयोप्या-तो लो रज्ज्मो ततोऽसौ क्षणकः तदनुशासनं कृत्वा जातसंवेग उत्स्राज्य भाचार्यं वंदते विनयेन प्रणतार्कः ॥

एवमुदिदिग्धिवगोत्सकाधनैरकल एवौनासुरागेण अपकेण विधेयां निर्यापकाचार्यसपर्याचर्यां दर्शयति--

मूजारा-नं तो

अर्थ-आचार्यका उपदेश सुनकर जिसको घममें अतिशय श्रद्धा हुई है ऐसा वह क्षणक नम्र होकर उठकर आचार्यके चरणोंको विनयसे वंदन करता है।

भंते समं णाणे तिरत्ता य पडिच्छिदं मए एदं ॥

जं अह उत्तं तं तह काहेस्ति य सो तदो भणइ ॥ १४८१ ॥

तवेमां देशनां कृत्वा शेषामिद शिरस्यहम् ॥

यथोक्तभाचरिप्यामि पराजितपरीपहः ॥ १५४१ ॥

विययोप्या-भंते समं णाण भगवन् सम्यग्दानं एतच्छिरसा मया परिगृहीतं । यवथोक्तं भयद्रित्तथा करिप्यामि इति वदति ॥

वेदनानंतरफरणीयं क्षणकस्य गुरुरग्रे शासनस्वीकारपुरःसरं वदयानुज्ञाचक्रवित्ताक्रममाह--

मूजारा-भंते भगवन् ! अणं आवां । एदं इयं । काहेस्ति करिप्यामीति ॥

अर्थ—हे भगवन् ! आपने जो सम्यग्ज्ञानका उपदेश भेरेको दिया है उसे मैं मस्तक नम्र कर ग्रहण करता हूँ. आपने जो वैया कहा है वैसी ही मैं प्रवृत्ति करूँगा.

अप्या निच्छद्वि जहा परमा तुष्टी य हवदि जह तुञ्ज ॥

जह तुञ्ज य संघस य सफलो हु परिससो होइ ॥ १४८९ ॥

यथा मे निस्तरत्यात्मा तुष्टिरस्ति यथा तव ॥

संघस्य संघस्य यथा तथास्ति सफलः अयमः ॥ १५४२ ॥

विजयोदया—अप्या निच्छद्वि जहा अर्धं यथा निस्तीर्णो भवामि संसारस्य । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति । भवतां संघस्य वास्मदनुपदे प्रवृत्तानां अयस्य फलं भवति ॥

मूलार्थ—अप्या निच्छद्वि अर्धं संसारं चोत्तिर्णीको भवामीत्यर्थः । तुभ्यं युष्माकम् ॥

अर्थ—इस संसारसे मैं जिससे उत्तीर्ण होऊँगा, जिससे आपको संतोष उत्पन्न होगा, मेरे उपर अनुग्रह करने में उद्युक्त हुए आपका और संघका परिश्रम जिससे सफल होगा ऐसे उपायका मैं अवलम्ब करूँगा.

जह अप्णो गणस्य य संघस्य य विसुदा हवदि किची ॥

संघस पसायेण य तहं आराहइस्तमि ॥ १४८३ ॥

यथात्मनो गणस्यापि कीर्तिरस्ति प्रथीयसी ॥

अहमाराधयिष्यामि तथा संघप्रसादतः ॥ १५४३ ॥

विजयोदया—जह अप्णो गणस्य यथा ॥ गणस्य संघस्य च कीर्तिर्विद्युता भवति तथाहमाराधयिष्यामि संघस्य प्रसादेन ॥

मूलार्थ—अप्णो ममेत्वर्थः ॥

अर्थ—मेरी गणकी, और संघकी जिस उपायसे कीर्ति प्रसिद्ध होगी, गणकी कृपासे मैं उस उपायका जाश्रय कर रत्नत्रयाश्रयन करूँगा.

धीरपुरितेहिं जे आयसियं जे च ण तरंति कापुरिसा ॥
मणसा वि विचिंतेहुं तमहं आराहणं काहं ॥ १४८४ ॥
याराधिता महाधीरैरधीरैर्मनसापि नो ॥

अस्ताधां साधयिष्यामि देवीमारघनानामहम् ॥ १५४४ ॥

विजयोदया—धीरपुरितेहिं धीरैः पुरुषैर्वा आचरिता, यां च शक्नुवन्ति कापुरिया मनसापि न चिंतयितुं तादृ
शोमारघनानामहं करिष्यामि ॥

मूलरा—ण तरन्ति न शक्नुवन्ति । काहं करिष्यामि ॥

अर्थ—जिसका धीरपुरुषोंनेही आचरण किया है, धैर्यहीन पुरुष जिसको धारण करनेमें बिलकुल अस्-
मर्थ है ऐसी आराधानाका है प्रभो ! मैं मालन करूंगा।

एवं तुभ्यं उवाचसामिदमासादइत्तु को नाम ॥
वीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरो वि णरो ॥ १४८५ ॥

तयोपदेवापीयुपं पीत्वा को नाम पावनम् ॥
विभेतीह ध्रुदाविभ्यः कातरोऽपि नरः प्रभो १५४५ ॥

विजयोदया—एवं तुभ्यं एवं भक्तामुपदेशायतमाश्राय को नाम विभेति कातरोऽपि नरः ध्रुवादीनां मूल्योपं ॥
मूलरा—असादइत्तु आत्माश्च । अत्र महापौरपीण्डेभ्यो मरणाद्वा न भीतिः करिष्यत इति प्रतिका गम्यते ॥
अर्थ—उपशुक्त आपकं उपदेशाश्रितका आत्माद लेकर कोनसा भययुक्त पुरुषमी ध्रुवादिकसे और मरणसे
दोहा ? अर्थात् भययुक्त पुरुष भी आपका उपदेश सुनकर निर्भय होता है और मृत्युसे भी निडर होकर आराध-
नाओंका आराधन करता है

किं जंघिण चहुणा देवा वि सइंदिया महं विग्घं ॥
तुमं पावेयगहयुणेण काहुं ण तरिंहति ॥ १४८६ ॥

पठालैरिव निःसारैर्बहुभिर्भाषितैः किम् ॥
मत्स्यरुकराणो शक्तो न मे शक्नोऽपि निश्चितम् ॥ १५७६ ॥

विजयोदया—किं ज्ञेयिष्य वदुषा किं बहुना अल्पितेन देवा अपि नृपतमप्रमुखा मम विप्रं कर्तुं असमर्थाः
भयरादौपद्रवहणमुनेन ॥

आराधयानिर्बहणस्तौडगसाष्टमनिष्ठे—

मुह्यता—सदैविया राजमुत्पन्नमुत्पाः । पादावगात्रेण पादप्रसादानुग्रहेण । न त्रिहति न समर्था भविष्यति ॥
अर्थ—आधिक बोलेते वया मल्लष ह? इन्द्रसहित देवभी आपके चरणानुग्रह होनेपर विश्व करनेमें अस-
मर्थ होते हैं-

किं पुन दुहा व तण्हा परित्समो वादियादि रोगो वा ॥
काहिति इष्माणविघं इन्द्रियविराया कसाया वा ॥ १४८७ ॥
ध्यानविमं करिष्यमि किं क्षुवादिपरीयज्ञः ॥
कपायाक्षद्विपो वा मे स्वल्पसादसुपेयुषः ॥ १५४७ ॥

विजयोदया—किं पुन किं पुनः कुर्वन्ति ध्यानस्य विमं क्षुवा वा, दण वा, परिधमो वा, वातिकाविरोगो वा,
इन्द्रियाणां विषयाः, कपाया वा ॥

मुह्यता—वादियादि वातिकपैतिकंश्लेषकादि । काहिति मनागपि न करिष्यति इत्यर्थः ॥

अर्थ—क्षुषा, प्यास, परिधम, वातादिकसे होनेवाले रोग, इन्द्रियोंके विषय और कपाय ये सब मेरे
ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकेंगे- इन्द्रादिक देव भी मेरी आसथनामें आधा लानेमें असमर्थ हैं फिर ये क्षुद्र उपद्रव मेरा
क्या नुकसान कर सकते हैं ?

ठाणा चलेज्ज मेरु भूमी ओमच्छिया भविस्सिद्धिदि ॥

न य दं गद-भूमि विमर्दि तत्त्वं पश्यपमापण ॥ १४८८ ॥

स्थानतल्ललात नाकपवतः पुच्छर चक्षुभात मय्यत ॥
 त्वत्प्रसादपुण्यं न प्रभो ! जातु याभि विवृतिं मनगपि ॥ १५३८ ॥
 मनसा चक्षुषा घवसा भगवत्युशासनमेतदनन्यमतिः ॥
 तव यो विदधाति सदा विधिना शिवततिसुतेति स मुक्तमलः ॥ १५४९ ॥

इति अनुशिष्टिः ॥

विजयोदया—राणा चलिच्च स्वस्मात्स्थानाच्छलिष्यति मेकः । भूमिः परावृत्तमस्तिता मलिष्यति । नहिं विवृतिं
 गमिष्यामि भवतां पापप्रसादेन ॥

दुष्टारा—चलेच्च यतिष्यति । ओमच्छिष्या अयोमत्तका । गच्छं गमिष्यामि । विगदि विवृतिं विराभना-
 मित्यर्थः ॥ चूलिका १२ अपरानुशिष्टिः ॥ सूततः ३२ ।

अर्थ—स्थानसे पर्वतभी हिल जायेगा, लयवा समस्त पृथ्वी यी ओधी हो जायसी. तो भी मैं आपसे
 चरणावृत्तमें पिकारी नहीं होऊंगा.

इदं गणेशमुखचंद्रभयं समिच्छ-

दक्षायरेष्टमनुशिष्टचमृतं प्रयज्ये ॥

अद्यापियामनुसमयकने किलातो ॥

हृदयवर्लं अपकपुण्यपुंश्चकोराः ॥

इत्यादाभरातुस्सुतमंथसंदर्भं मूलाराधनापूणे पद्ममेयार्थमकाशीकरप्रवणे पष्ठ आश्वासः ॥

सतम आश्वासः ।

पंकोक्षेकठोपवेषेषु गुरुणा नीत्या स्मृतिं वर्णितः ।

संन्यस्तान्मन्मथिष्ठितः पुन पिपन्सद्वयनक्षनसृत्तम् ॥

लेखयद्भक्तिमित्तुर्विचमहासंपादिकांशं पदं ।

यः प्राप्नोति महान्वमर्हति भद्रं देहेऽपि तस्यापहृत ॥ १ ॥

अथ यथोपदिष्टं स्वयस्त्वनिरुहनेन संस्तरणस्य जायोऽनुनिष्ठवः प्राक्तनदुर्दैवविषाकृशालुपरिधते कचिदसमाधि
विग्रहनिर्वापने निर्योपद्रापोऽप्येवावश्यकरणीयं सारणाक्रमं कथयितुं गार्थाविश्लेषक्रमते तत्रादौ प्रामुक्तमेवार्थमनुस्मरयितुं
उपन्यासयति—

एवं स्ववओ संधारगओ खवड् विरियं अगूहंतो ॥

देदि गणी वि सदा से तह् अणुसट्ठिं अवरिदंतो ॥ १४८९ ॥

निर्जरां गुरुत्ते गुर्वां कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥

वृत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णः मियंबदः ॥ १५५० ॥

नमस्तममनुशासनम् ॥

मूलारा—एवं यथोक्तदशध्वजप्रयत्नधर्माध्वरणक्रमेण । यद्यदि अपयति च बहुतरंगेकदेशेनाशुभं कर्म प्रागु-
पतिनं अभिनवं निरुपानः । तथा पूर्वोक्तैरेव विधिना । अपरिदंतो अनिर्विण्णः । उक्तं च—

निर्जरां कुरुते गुर्वां कुर्वाणः क्षपकस्तपः ॥

वृत्ते निर्योपकः शिक्षामनिर्विण्णः मियंबदः ॥

एतां श्रीविजयो नेष्टति—

अर्थ—इम प्रकार दश प्रकारके धर्मका आचरण करनेमें क्षपक पूर्ववद् कर्मका एक देश
फा क्षपण-धूप करता है और नियोपकाचार्यभी न धककर उसे सदा उपदेश देते रहते हैं-

सारणेऽप्येतामश्रुपदप्याख्यामनुसरम् ॥

अकडुगमतिचयमणं विलंब्र अकसायमल्लवणं मधुरं ॥

अत्रित मटुव्विगंधं अल्लमणुहं अणदिसीदं ॥ १४९० ॥

फट्टनित्तकपायाम्लवणस्वादुमीरसेः ॥

पानकं मध्यमेयुक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ॥ १५५१ ॥

विजयोक्ता—अकडुपं अकटुकं, अतिरक्तं, अनामलं, अकपायं, अल्लवणं, अमजुदं, अत्रितं, अटुरमिगंधं,
मृत्पादमनुष्णदीपं ॥

गत्याश्रयबोधार्थं पावनं मायाद्वयेनाभुस्माभ्यति—

मूढाया—अत्र दुर्गं खेपत्रार्थं गन् । तेन कटुतिनास्तृकपावनगमयधुरोपगुणानामौरुद्वयेन त्रिवेधममनति
भीतिमिति निर्देसन गणितगान । अत्रिरत्नं अत्रिगतत्वं । मध्यममृदुकादिरसयुक्त इत्यर्थः । अदुर्गिरार्थं मुनिभिः । उक्तं च—

कटुतिष्ठः प्रपावाम्ललवणस्वादुभी रसैः ॥

पावनं मध्यमं युक्तं त्रये लीणाव शीयते ॥

अर्थ—जो आहार कटुक, तिक्त, आम्ल, कमायला नमकीन, मधुर, विरस, दुर्गन्ध, अस्वच्छ,
उष्ण और छीत नहीं है ऐसा आहार धूपरुको देना चाहिये. अर्थात् मध्यम रसोका आहार देना चाहिये.

पाणगमसिम्बलं परिपूयं स्त्रीणस्तस् तस्स दादञ्चं ॥

अह वा पच्छं खवरस तस्स तह होइ दायस्व ॥ १४९१ ॥

पितृवोदया—पाणगमसिम्बलं पाणकमद्वेलमकारि पतिपूतं स्त्रीयाव क्षपकाय दातव्यं । पद्याभूतं वा क्षपकस्य
तस्य पच्छं तथा भूतं ततश्च ॥

मूलार्थ—असिम्बलं कटुकं न करोति । परिपूयं गालितं । पच्छं समाध्वविरोधि ॥

अर्थ—जो पंच पदार्थ शीण क्षपकको दिया जाता है वह कफको उत्पन्न करनेवाला न होना चाहिये.
और वह स्पष्ट पवित्र होना चाहिये. क्षपकको जो देनेमें पच्छ-हितकर होगा ऐसा ही पावनक देने योग्य है.

संयारत्यो खवओ जइया स्त्रीणो ह्वेज्ज तो तइया ॥

वोसरिद्वज्जो पुल्लविधिणेव सोपणगाहारो ॥ १४९२ ॥

यदासौ नितरां शोणस्तदपि त्याज्यते तदा ॥

पट्टोपासो न कुर्वन्ति निरर्थकं नियोजनम् ॥ १५५२ ॥

विज्ञयोश्वा—संघातयो संस्तरस्य क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा न्युत्सृष्टयोऽपानकविकल्पः पूर्वविधिर्भवेत् ॥

अतीक्ष्णस्य यमोक्तपानकत्वजननियमिनुस्मरयति —

नूत्ररा — अग्निहीन इत्यर्थः । ते तथैविधयानकृद्वात् । पोसरिद्व्यो लाबयितव्यः । पुण्यविधिणेव क्षानिसू-
त्रोपनयेन ॥

अर्थ—संस्तरपर सोया हुआ क्षपक जब क्षीण होमा तब पानकके विकल्पका भी 'हानि' नामक सूत्रके अनुसार त्याग करना चाहिये

एवं संधारणदस्स तस्स कमोदणुण खवरस ॥

अंगे कच्छइ उट्टिज्ज वेयणा ज्ञाणविग्घयरी ॥ १४९३ ॥

इत्थं शुश्रूषमाणस्य संस्तरस्थस्य वेदना ॥

पूर्वकमनुभावेन काय क्षाप्यस्य जायते ॥ १५५३ ॥

विज्ञयोश्वा—एवं संधारणदस्स एवं संस्तरगतस्य क्षपकस्य कमोदयेन कचिदुत्तेवमोपजायते ध्यानविग्रकारिणी ।
इत्थं शुश्रूषमाणस्यापि दुष्कृतोदयसमाकरसन्निधौ वेदनोत्पद्यते इत्याह—

नूत्ररा—एत्थइ कचिदुत्तेवमो । वेयणा ज्ञाणविघीडा ॥

अर्थ—संस्तरपर आरुह हुए क्षपकके शरीरमें कर्मिक उदयसे ध्यानमे विघ्न उत्पन्न करनेवाली वेदना उत्पन्न होती है अर्थात् पेट रोगाह शरीरके किसी अवयवमें खुलादि पीडा कमोदयसे उत्पन्न होती है.

यद्दुग्गुणसहससरिया जदि णावा जम्मसायरे भीमे ॥

भिज्जदि हु रयणभरिया णावा व समुदमज्झमि ॥ १४९४ ॥

ददोनज्ञानचारित्रतपोरत्न भृतस्ततः ॥

संसारसागरे घोरे यतिपोतो निमज्जति ॥ १५५४ ॥

विजयोदया—५ द्रुगुलसद्वत्समर्पिता द्रुमिगुणसद्वत्कीर्तिरा संपूर्णा यतिनौजंमसागरे भीमे यदि भेकसुयेयात्
रत्नप्रपूणा नीलिय ममुद्रमप्ये ॥

तद्वेदोदयात्सद्वत्मानविनाशेन दुःखानावेसात्सामुर्गियन्त्य रत्नत्रयं यतो चोरे संसारसागरे निमज्जतीति
दसंगवि—

मूलरा—जदिपाथा यतिनीः । पोत इय यत्नतः प्रणेयरादाश्रितानां तारकत्वाच्च । भिज्जिदि दैववक्ताद्विघटते ।
यत्तिभावं नोधाप्यं दुःखनीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह यतिरूप नौका हजारों गुणोंसे भरी हुई है कदाचित् मयंकुर संसारसमुद्रमें डूब जायगी. तात्पर्यं
प्रव, शील, समिति गुणि, रत्नत्रय इत्यादि गुणोंसे भरी हुई क्षयकरणी नौका रोगवेदनासे डूबनेका प्रसंग आनेपर
उसे बचाना चाहिये

गुणमरिदं जदि पावं दृष्टूण मवोदधिम्मि भिज्जंतं ॥

कुणमाणो हु उवेखवं को अण्णो हुज्ज णिद्धम्मो ॥ १४९५ ॥

निमज्जंतं मयाम्मोचो यो हट्ठो तमुपेक्षंतं ॥

अधामिको निराचारो नापरो विचयंतं ततः ॥ १५५५ ॥

विजयोदया—गुणमरिदं जदि पाव युगेः पूर्णो यतिनां भवसमुद्रमध्ये भिद्यमानां दृष्ट्वा यः करोत्युपेक्षां
तस्माकोऽन्यो भवेद्धर्मेति शीतः ॥

आराधयत्स मन्मथिप्रकारणमप्रतिकुर्वाणं प्रणिप्रति—

मूलरा—कुणमाणो कुर्माणत् । उवेखं दुर्देवोदयजन्यमानश्लादिपीडाप्रतीकारभावं ॥

अर्थ—गुणोंसे परिपूर्ण यतिनौका यदि भवसमुद्रमें फूटती हुई देखकर जो उसकी उपेक्षा करता है
उससे जगत्में अन्य अधार्मिक कौन होगा ?

वेज्जावच्चस्स गुणा जे पुब्बं विच्छेण अक्खादा ॥

तोसिं किडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज तं खवयं ॥ १४९६ ॥

वैयावृत्यगुणाः पूर्वं कथिता ये प्रपञ्चतः ॥

तैकरूपेणापरो नीचस्त्यज्यते, निलिलैरपि ॥ १५५६ ॥

विजयोपेक्षा—वेदजायबस्तस गुणा वैवावृत्यस्य गुणा ये पूर्व विस्तरेण व्याख्यातास्तैव्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षणकं ॥

आरायकवायामृगप्रतिहृत्तिः स्तार्थप्रसोडपि स्यादित्याह—

मृदारा—पुनर्वं गुणावृत्तित्वे गुणपरिणामो इत्यादिना । तेषां किञ्चिदो वेद्यश्च्युतः ॥

अर्थ—रैवावृत्यके गुणोंका विस्तारसे पूर्वसे वर्णन किया है, जो क्षणकसी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भट होता है, अर्थात् क्षणकसी उपेक्षा करनेसे क्षणक संसारसमुद्रमें डूबेगा और उपेक्षकके भी गुण नष्ट होंगे उसमें पाल्मत्यादि गुणोंका नाश होगा

तो तत्स तिगिच्छा जाणएण खवयस्स सञ्जसत्तीए ॥

विज्जादेसेण घसे पडिक्कम्मं होइ कायव्वं ॥ १५९७ ॥

वैयावृत्यं ततः कार्यं चिकित्सां जानता स्वयम् ॥

वैद्योपदेक्षानद्यास्य द्युक्तितो भक्तितः सदा ॥ १५९७ ॥

विजयोपेक्षा—जो तत्स तत्तास्यस्य क्षणकस्य चिकित्सां जानता सर्वशक्त्या प्रतिफलं कर्तव्यं वेद्यस्य बोधदेक्षेन ॥ एवं क्षणकैरेण धृतिप्रदं नैरादृशयते निर्गोपकाचार्यं निगुणे—

मूलार—जो अग्निधामस्यार्थप्रदं प्रदोतोः । तत्स तिगिच्छाजाणएण तस्य संबन्धितो चिकित्सां स्वयं वैद्योपदेक्षेन वा जानता निर्गोपनाचार्येण सपडिक्कम्मं वस्य प्रतीमारः कार्यं इति संयमः ॥

अर्थ—क्षणकके रोगका निदान जाननेवाले यतीने वेद्यके उपदेक्षासुसार अपनी सर्व शक्तियोंसे उसके रोगका परित्सार करेगा चाहिये,

णाऊण विहारं वेदणाए तिससे करेज्ज पडियारं ॥

फासुगदच्चेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिवादं ॥ १५९८ ॥

पिप्राय विवृति तस्य वेदनायाः प्रतिक्रिया ॥

औषधैः पानकैः कार्या वातपित्तकफपहेः ॥ १५५८ ॥

पिप्रायोदया—पादूण विकारं गत्या विकारं तस्या वेदनायाः ततः प्रतिकारं कुर्यात् । योग्येन्द्रवैवातकफ पिप्पत्रपित्तं ॥

मूला—विचार दोषवैषम्यं । वित्ते तस्याः । पडिपादं शान्तिम् ॥

अर्थ—वातादिदमे उत्पन्न हुए विकार को जानकर योग्य पदार्थोंसे वेदनाका प्रविकार करना चाहिये, जिससे वातादिक विकार नष्ट होगे।

चण्डीहि अवबवणतावणेहि आलेवसीदकिरियाहि ॥

अवमगणपरिमहण आदीहि तिगिछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

अभ्यगस्येदनालेपवस्तिकर्मांगमर्दनैः ॥

परिचर्यापरेणापि कुत्यास्य परिकर्मणा ॥ १५५९ ॥

पिप्रायोदया—चण्डीहि वस्तिकर्मणि, मयदृषणतावणेहि ऊष्मकरणतापनैः, आलेपनेन, शीतकियया, अभ्यगणपरिमहण आदीहि तिगिछदे खवयं ॥ १४९९ ॥

मूला—चण्डीहि वस्तिकर्मणि ॥

शीतकिरियाहि मातुक्रवलेपनादिभिः । परिसदन अंगमर्दनैः । तिगिछदे अपगतवेदनं करोति ॥

अर्थ—पस्तिकर्म (इनिमा करना) अभिते सेकना, शरीरमें उष्णता उत्पन्न करना, औषधीका लेप करना, शीतपना उत्पन्न करना, सर्व अंगका मर्दन करना, इत्यादिके द्वारा क्षपकक्षी वेदनाका उपशम करना चाहिये।

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ॥

खवयरस पावकम्मोदएण तिव्वो ण हु ण होज्ज ॥ १५०० ॥

कस्यचिन्नियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि ॥

पापकर्मोदये तीन्ने न प्रशाम्यति वेदना ॥ १५६० ॥

मिजयोदया—पूरे नि कीरमाणे प्रतीकारे क्षणकस्य वेदनोपशमः तीव्रेण पापकर्मोदयेन नापि भवेदपि, नहि
वदित्रंरमादन्तरेनैव कर्मणि स्वफले न प्रयच्छन्ति । तदेव हि चरिद्रव्यं परस्य वेदानां प्रथमवर्ति नापरस्येति प्रतीतेरितम् ॥
अभिभूतपापविपक्षे प्रतीकारैवार्थमाह—

मूलाया—विज्येण पोरेण । उक्तं च—

कृत्यविक्रियमाणेऽपि बहुधा परिकल्पयि ॥

पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशान्त्यति वेदना ॥

अन्ये पापकर्मोदयेण निरुगा य सा होत्व इति पठित्वा पापकर्मोदये सति वेदनोपशमो न भवेत्, कोत्रा वा
प्रेवना भवेदिति प्रतिपन्नाः ॥

अर्थ—इत प्रकार इलाज करनेपर भी, तीव्र कर्मका उदय होनेसे बाह्य उपचारसे वेदनाका उपशम होता
नहीं. बाह्य द्रव्यसे किसी की वेदनाका उपशम होता है और किसीकी नहीं भी अतः कर्मोदयकी विचित्रता
सिद्ध होती है.

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिभूदो ॥

उवसग्गेहिंव खवओ अचेदणो ह्येज्ज अभिभूदो ॥ १५०१ ॥

क्षपको जायते मीमेरुपसर्गपरीयहै ॥

अभिभूतः परायसो विह्वलीभूतचेतनः ॥ १५६१ ॥

विजयोदया—अहवा तण्हादिपरीसहेहिं अथवा तडाविजिः परीयहेरभिभूतो भवेत्क्षपकः, उपसर्गोभिभूतो
निश्चेतनः स्यात् ॥

निमिच्चान्तरमणि समाधिविस्तार्यानिषचे—

मूलाया—अचेदणो विधान्तो मूदो च ॥

अर्थ—अथवा भूक, प्यास इत्यादि परियहोसे पीडित होकर क्षपक निश्चेतन होगा अर्थात् मूर्च्छित होगा
अथवा शान्त होगा. तथा उपसर्गसे भी पीडित होनेपर मूर्च्छित होता है.

तो वेदणावसट्टो वाउल्लिओ वा परीसद्वादीहिं ॥
 खवओ अणणवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥ १५०२ ॥
 दयाकुल्लो वेदनाग्रस्तः परीपहकरालितः ॥

ग्रलपत्यनिचद्धानि वाक्यानि स विचेतनः ॥ १५६२ ॥
 विजयोदया—ततो वेदनाग्रस्तावौ व्याकुलितः परीपहोपसर्गः क्षणकोऽसायनात्मपदो विप्रलभेचानि किञ्चित् ॥
 विभ्रान्तये विभ्रानाह—

मूढारा—यो विभ्रान्ताचैनन्तरावध्रान् । वेदणावसट्टो वेदनावसट्टोऽस्य । वाउल्लिओ व्याकुलीकृतः ।
 विप्पलवेज्ज विविचं जनार्थकं जल्पेत् अं किञ्चि जनिबद्धं ॥

अर्थ—वेदनात्की अससतासे दुःखी होकर, परीपह और उपसर्गसे व्याकुल होकर क्षणक आपमें नहीं रहेगा
 जपान् उतकं विचकी एकाग्रता भंग होगी जिससे वह पूर्वोपर संबंध विरहित बहपद करेगा।

उब्भासेज्ज व गुणसेहीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ॥
 छट्ठं दोक्कं पढमं वसिया कुंठालिदपदमिच्छंतो ॥ १५०३ ॥

अयोग्यमरानं पानं रात्रिसुक्तिं स कांक्षति ॥

वारिन्नलजनाकांधी जायते वेदनाकुलः ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—उब्भासेज्ज पदेदायोग्यं, संयमगुणधेयितः कुतावतरणमुक्तिः, छट्ठं रात्रिमोजनं, दोक्कं पाणं, दिवसे
 पढमं प मरानं पा । वसिया कवाचित् । कुंठालिदपदमिच्छंतो स्पलनपदं इच्छन् ॥

मूढारा—उभासेज्ज अयोग्यं वदेत् । गुणसेहीदो संयमगुणारोहणात् । उदरणवुद्धिओ अवतरणे कृतमतिः ।
 छट्ठं रात्रिमोजनं । दोक्कं पानं । पढमं मोजनं । वसिया कदाचित् । अस्मले मोजनं पानं वेत्सर्गः । कुंठालिदपदं स्पलनपदं ।
 दीनरपानमित्यन्यः ॥ उक्कं च—

वदेद्वस्तुचितं साधुः संयमवज्जनोन्मुक्तः ॥

अस्मले मोजनं पानं वा वातन्ततलितं पदम् ॥

अर्थ—अयोध्या गणना बोलेगा, संयमगुणसे उतरनेकी बुद्धि करेगा, अर्थात् संयम छोड़नेका विचार उस-
के मनमें उत्पन्न होगा। रात्रिभोजन करना, अथवा रात्रौ पानी पीना, दिनमें प्रथम-भोजन करना, एतद्विषयक
विचार उसके मनमें उत्पन्न होंगे- इस प्रकारसे वह संयमसे स्खलित होनेकी इच्छा करेगा।

तह मुझंतो स्वर्गो सारेद्वयो य सो तयो गणिना ॥

जह सो विमुदलेसो पब्बागदेवदणो होज्ज ॥ १५०४ ॥

तथेति मोहमापन्नः सारणीयो गणेशिना ॥

यथास्मि मुदलेदयाकः स प्रत्यागन्तचतनः ॥ १५०५ ॥

विजयोदया—तह मुझंतो स्वर्गो मोहमुपगच्छद् स्वरक्तस्तथा सारयितव्योऽसौ गणिना कथं ? यथा विमुद-
लेसो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥

वेदनादितर विजयविजयोभे शक्ये कि कार्यमित्यगह—

मूढात्—तह मुझंतो सबओ विजयपनाविपकारेण जगत्विभ्रसो भयम् । सारेद्वयो सारयितव्यः सर्वः । भगो

॥ । आसन्नचतुर्दशरथः । पद्मागदेवदणो क्वापुदितयथार्थशुद्धिः सन् ॥

अर्थ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुए क्षणको आचार्य पूर्वाचरणका स्मरण दिलाते हैं, जिस उपायसे वह
निर्मल लक्ष्म्याका श्रावक होगा और चैतन्यकी प्राप्ति करेगा ऐसा ही उपाय वे करते हैं-

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं नामो कथ्य वससि को व संपही कालो ॥

किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं नामसो धाहं ॥ १५०५ ॥

कस्त्वं किं नाम ते कालः सांप्रतं कः क वर्तसे ॥

कोऽहं किं मन नामेति ते पृच्छति गणो यतिम् ॥ १५०६ ॥

विजयोदया—कोऽसि तुमं कस्त्वं ? किं नामेवम् ? कथ्य वससि कथं वससि ? को व संपर्दीकालो को वेदानीं
कालः ? किमर्थं दिवा रात्रिर्वै ? किं कुणसि तुमं किं करेतेति पयान् ? कथं वा अत्थसि कथं वा विमुदित ? किं नामसो
धाहं कथं वा किं नामधेयः ?

कृपमेव सारगित्तव इत्यग्राह—

मूढारा—संपदि गले । इदानींवाला किमयं विवा रात्रितो ।

सारगोपाय रहते हैं—

अर्थ—हे दुने' तुम कोन हो ? तुमारा नाम क्या है ? तुमारा नाम क्या है ? अब कोनसा काल है ? अर्थात् अब दिवस है या रात्री है ? तुम क्या कार्य करते हो ? और कैसे रहते हो ? मेरा नाम क्या है ?

एवं आउच्छिन्ना परिकल्हेदुं गणी तयं खवयं ॥

सारइ वच्छल्याए तस्त य कवयं करिस्संति ॥ १५०६ ॥

इत्थं क्षपकदापूच्छय चित्ते जिज्ञासता सता ॥

चरसलत्थेन कनेक्या सारणा तस्य सूरिणा ॥ १५०७ ॥

विजयोवया—एवं आउच्छिन्ना धामधुररत्ने सारयति गणी तं दणकं । किं सचेतनो निवेसन इति परीक्षितु-
काया वसलत्थया उपपत्ति चेत्तथा कवयं परिकामीति भाव्यो ॥

विमर्शमेव सार्वते इत्यग्राह—

मूढारा—अचोच्छिन्ना अनुपल । आपुच्छिता इति प्रायिकः पाठः । परिकल्हेदुं किमयं सचेतन उत नि-
वेसन इति परीक्षणार्थं । सरेदि स्थितिं प्रापति । वच्छल्याए यास्तत्त्वेन । कवयं करिस्संति यद्यस्ति चेतनास्य तथा कवयं
करिष्यामीति नत्वा ॥

अर्थ—यह क्षपक सचेतन है आया अचेतन है अर्थात् यह सावधान है किंवा असावधान है इसका परीक्षण
करनेके लिये नवे प्रेमसे उपपुक्त प्रश्न यास्पर समझो पूछते हैं यदि इसमें चेतना होगी अर्थात् यह सावध होगा
तो मेरे पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देगा. औरसावध है ऐसा मित्र होनेपर इसको हम, कवच करेंगे ऐसा हेतु मनमें
धारण कर आचार्य उपपुक्त प्रश्न क्षपकको करते हैं.

जो पुण एवञ्च सारणं तस्स वियल्लवक्खुस्स' ॥

सो तेण होइ मिद्धमसेण खवओ परिचो ॥ १५०७ ॥

मुक्तान् क्षपयत्ययं यः करोति न सारणम् ॥
तेनासौ यजितो नूनं जिनघर्मे ह्यबोद्धव्यः ॥ १५६७ ॥
विजयबोधः—जो पुण यवै न कटिख यः पुनरेवं न दुर्गोच सारणं। स्वस्तिविचवृत्तेः ॥ क्षपकलेन परित्यक्तो भवति स्मरिणः ॥
तथा तत्पसारणे य वगाह—

मूलात्—विपक्षद्वयस्य रत्नविनिर्गच्छेः । निर्वर्तने निर्विद्वेत् ॥
अयं—जो निर्यापकाचार्य ऐसे मश्र नहीं पछेगा और जिसकी विचवृत्ति अष्ट हुई है ऐसे क्षपकको स्मरण दिलाकर एतन्मर्मे स्तिर न करेगा तो उस निर्विद्वेय निर्यापकाचार्यने क्षपकका त्याग किया है ऐसा माना जायेगा ।

एवं सारिज्जंतो कोई कम्मुवसमेण लभदि सदि ॥
तह य ण लभिज्ज सदि कोई कम्मे उविण्णम्मि ॥ १५०८ ॥
तस्येति सार्यमाणस्य कस्यचिज्जायते सृष्टिः ॥
नीग्रक्रमोदये नान्यः स्मरणं प्रतिपद्यते ॥ १५१८ ॥
संततसारणवारणकारी कामकपाहपीकमियारी ॥
घर्भयतो विदधीत समधि सर्वमपास्य गणी तरसायिम् ॥ १५६९ ॥

इति सारणं

विजयोदया—एवं तारिज्जंतो एवं सार्यमाणः कश्चिद् चारित्र्योद्दोषशमेन या सृष्टिं यो योग्यविक्रयं लभते ।
अयुक्तेयं मन इच्छा गकाले भोक्तुं पातुं या प्रत्यावृत्तातं कथं कोलेडपि आर्ययामीति न लभते सृष्टिं कश्चित्कर्मण्युद्दोषेण नो विद्वेयनसिपा-नापरणे । सारणा ॥

तथा सारणायांमपि लघुक्रमेण एव सृष्टिः स्वान्मान्यस्तेत्याह—
मथारा—कोई कश्चिन्नोद्दोषमविज्ञानावरणस्य गोपदामविशेषं प्रातः । कम्मुवसमेण चारित्र्योद्दोषशमेन । अस्त-
द्वेगोपशमेन वा । सदि अयुक्तेयमिच्छा मय काले भोक्तुं पातुं । वा प्रत्यावृत्तातं वा कथं कोलेडपि आर्ययामीति योग्यायो-

नृविषयां शुद्ध । नय वि मार्वेनानीडवि । कस्मे मोहंदिनसतिमानवरणे । उदिष्यन्मि कीयवेदनादिवस्तुनिवारयुदेति ॥
 माराना मृदुनः ३४ अंकनः २०

अर्थ—इस प्रकार अयोग्य इच्छाएं परावृत्त करनेपर भी कोई क्षुब्ध पापकर्मके उपद्रवसे योग्य विषयके मरण को प्राप्ति होता है। अर्थात् मैं अकालमें मौजान करनेकी और पंच यदार्थ पीनेकी इच्छा की थी- जिसका मैंने त्याग किया है उसका योग्य कालमें भी सेवन करना अनुचित है। ऐसा सारण उसको होकर वह अयोग्य आपराधिक परावृत्त होता है। परंतु जिसका पापकर्म उदयमें आता है और नो इंद्रियमतिज्ञानावरण कर्म उदयमें आता है यह स्मरणशून्य होता है। यह सारणा नायक प्रकरण समाप्त हुआ-

सदिमलभंतरस वि कादब्बं पडिकम्ममट्ठियं गणिणा ॥

उग्रदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायब्बो ॥ १५०९ ॥

प्रतिकर्म विधातव्यं तस्य स्युतिमगच्छतः ॥

उपदेशोऽपि कर्तव्यः स्मरणारोपणधमः ॥ १५१० ॥

विजयोदया—सदिमलभंतरस वि स्युतिमलभानस्यापि गणिनाऽस्थिते कर्तव्यं । प्रतिकारः, उपदेशोऽपि मनुष्याः तदा तन्व कर्तव्यः ॥

अथ गथाहनसारणरथापधस्य वचनं गाथानां पशुःसप्तत्यधिकेन श्रुतेन व्यापिकयामुस्तदुपक्रमाय प्रथमं परमाणुः कथयति—

मुखात्—अदिं निरंतरं । अनुतोमो स्मरणारोपणधमः । इदंमनुष्याधीत्यपदः ॥

अर्थ—जो स्युतिको प्राप्त होता नहीं है उसको भी निरंतर उपाय करना चाहिये उसको साक्ष्य करनेके उपाय करने चाहिये। वैसे उसको अनुकूल उपदेश भी हमेशा करना चाहिये-

चेर्यतोऽपि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरब्बो ॥

उग्गमसेज्ज वउक्कावेज्ज व मिदेज्ज व पदिणं ॥ १५१० ॥

परीषद्गतुरः कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते ॥
आर्तः प्रकुञ्चते वीनो मर्यादां च विभित्सति ॥ १५७१ ॥

विजयेद्या—वेदतो पि चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषद्गतुराजितो यत्किञ्चिद्देव आटेव, भियादा स्वो प्रत्याख्यातप्रतिष्ठां ॥
जानतोऽपि दुःसाकुञ्चयानुचितार्थाचरतः कटुकवचनादिकं न शरोव्यभिल्युपविशति—
मूलारा—परको पराजितः । तस्मादेव आटेव । पदिणं प्रत्याख्यानप्रतिष्ठां ॥

अर्थ—कोई क्षणक समय होकर कर्मोदयसे परीषासे व्याकुल होकर जो भी कुछ बोलेगा अनुचित भाषण करेगा अथवा जो जो आहारके और पीनेके पदार्थ त्यागनेकी प्रतिज्ञा की थी वह उसका भग्य भी करेगा-

ण हु सो कडुवं फरुसं व भाणिदन्नो ण खीसिदब्बो य ॥

ण य वित्तासेदब्बो ॥ य वट्टुवि हीलणं काटुं ॥ १५११ ॥

न विमीपयः स नो वाच्यो वचनं कटुकादिकम् ॥

न स्यालयः स्मरिणा तस्य कर्तव्यासावना न च ॥ १५७२ ॥

विजयोद्या—ण हु सो कडुवं स एवं कुर्वन्स्वरूपः न कर्तव्यः कटुकं वक्ष्ये या न भस्समीयं, स च नाहं नेतव्यः, न च युक्त परिभयः न तु तस्य ॥

मूलारा—ण खीसिदब्बो न निभेत्स्यैः । नोपहसनीय इत्यन्यः । न रोषयितव्य इत्यपरः । ण य वट्टुवि नापि युक्तं भवति । हीलणं अनादरः ॥

अर्थ—प्रतिज्ञा भंग करनेपरभी निर्यापिकाचार्य उसे कडवे और कठोर शब्द न बोले उसकी भर्त्सना न करे, उसको भय न दिखाये, अथवा उसका अपमान न करे-

परुपवत्तनादिभिः को दोषो जायते इत्युच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी विण्फुरिसिदो तगो संतो ॥

उट्ठाणमवक्कमणं कुञ्जा असमाधिकरणं च ॥ १५१२ ॥

विराधितो भवन्मानो वचनैः कटुकादिभिः ॥
 लिपुंक्षत्पसमाधानं श्रुत्याख्यानें लिङ्गासति ॥ १५७३ ॥

विजयोदया—परुषवचनानिहेदि परुषवचनादिमिमानी विराधितं सन् ॥

वानपाठव्यादिकयोगे दोषानाह—

मूढारा—विपुलरिसिधो विराधितः । उदाय गुणभेजितः पतनं । दुःस्थानं वा । अवकर्मणं सम्भक्तवत्यागं ।

कठोरादिक वचन मोलेनेस कीनला दोष उत्पन्न होता है? इस प्रश्ना उत्तर—

अर्थ—परुषवचनानिहेदि यदि उसकी भासना की जावेगी तो वह संयमभसे भ्रष्ट होगा, अथवा दुर्घ्यानि की प्राप्त होगा, किंश सम्यक् प्रका त्याग कर विध्यात्मी बनेगा.

तस्स पदिण्णामेरं भित्तुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ॥

संस्वादरेण कवयं परीसहणिवारणे कुज्जा ॥ १५१३ ॥

निर्यापकेन मर्यादां तस्य मंशु युयुक्षतः ॥

कर्तव्यः कवचो गाढः परीपहनिवारणः ॥ १५७४ ॥

विजयोदया—तस्स पदिण्णामेर तस्य स्वप्रतिष्ठाव्यवस्थां भित्तुं चांछतो निर्वापकस्तिः कवचं कुर्याद्विचारणक्षमं ॥

तस्य प्रतिष्ठावर्धनोन्मुद्यत्वे प्रतिविधानमनुशास्ति—

मूढारा—मेरं व्यवस्थागं ॥

अर्थ—जय क्षपक प्रतिष्ठाभाग करनेके लिये उद्युक्त होगा तब निर्यापकाचार्य क्षपकको प्रतिज्ञा भंगसे निवृत्त करनेकेलिये कवच करे.

णिछं मधुरं पल्हादणिज्ज हिदयंगमं अतुरिदं वा ॥

तो सीहवेद्वो सो खवओ पणवन्तेण ॥ १५१४ ॥

गंभीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयंगमम् ॥

सुरिणा शिक्षणीयोऽसौ प्रज्ञापनपटीयसा ॥ १५७५ ॥

विजयोद्या—किंच स्नेहसहितं, मधुरं शोभायितं, हृदयसुखाविधायि, हृदयप्रवेशि, अत्यरितं असौ शिक्षयि-
तव्यः शपकः प्रज्ञापयता ॥

मूलार—तो सीहृत्वेदव्यो विद्वयितव्यः । पणवतेण स्निग्धादिगुणयुक्तं वचनं वदता गणिना ॥

अर्थ—निरांपकाचार्य शपकको प्रेमसहित, कर्माश्रिय, हृदयको सुख देनेवाला, हृदयमें प्रवेश करनेवाला,
ऐसा उपदेश करे।

रोगादंके सुबिहिद विठलं ॥ वेवणं धिदियलेण ॥

तमदीणमसंभूढो लिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥ १५१५ ॥

संतोपचलतस्तीव्रास्ता रोगान्तकेवदनाः ॥

अकातरौ जयाभूदो इत्तविणं च सर्वथा ॥ १५७६ ॥

विजयोद्या—रोगादंके महतोत्पादय व्याधीन् । विपुलां वा चेदनां धृतिविलन अथ स्वमदीनोऽभूदप्य प्रत्यु-
द्वाद् चारित्र्यम् । वीतरागकोपता हि चारित्रं । तस्माधिप्रतीकारार्थेषु आहरणतो वेदनासु च हेतवतो नश्यति । ततश्चा-
दित्रयिप्रास्थया जेतव्या इति भावः ॥

दुःखनिवारणी शिक्षां कथयपटनानीमिहः प्रबधेनाभिघत्ते—

मूलार—रोगादंके अस्याभदतश्च व्याधीन् । पच्चूहे विधाम् । वीतरागकोपता हि चारित्रं तद्व्याध्यादिप्रती-
कारार्थेषु यस्तु आहरणतो व्याध्यादिषु हेतवत्तज नश्यति ॥

अर्थ—हे अयक ! तू दीनता का छोट कर मोहका त्याग कर अल्प और बड़े दोनो प्रकारके व्याधिओं
को तथा वेदनाको धैर्यके पस्ते जीतले। चारित्रिके जो शत्रु हैं उनको भी तू जीतले। राग और कोपसे अपने आत्मा-
को अलग रखनाही चारित्र है। रोगका नाश करनेवाले पदार्थोंमें जो आदर करता है और वेदनाओंमें जो देय
रखता है उसका चारित्र नष्ट होता है। अतः चारित्रिके विधातक पदार्थोंको जीतना योग्य है।

सत्त्वे । उपसर्गो परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुमं ॥
णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिमु आराहओ मरणे ॥ १५३६ ॥
त्वं पराजित निःशेषानुपसर्गपरीपदान् ॥
समाधानपरो भद्र ! मूल्यावाराधको भव ॥ १५३७ ॥

विजयोदया—सत्त्वे वि य उपसर्गो सत्त्वोच्छोपसर्गान् परीपदांश्च मनोवाकायैवेय । उपसर्गपरीपदजयदुःखा-
भीरता मनसा जयः । यीतोऽयमिति ध्वया न दुःखानि हरन्ति । सतिहितद्रव्यादिसहकरिकारणमसदेष्टमुदयागतं अजि-
गर्गनीयं बलं प्रपच्छतेष्वेति धृतिबलेन यावता मनसा जयः । शान्तोस्मि चेदनादुःखदात्मतां पश्यत मदीयानिमां अतिकष्टा-
मब्रूयां । वरधोऽस्मि तादितोऽस्मि श्लेषमविदीनवचनानुधारणं । असकृदनुभूतायोः परीपदाः क्षुदादयः, उपसर्गाश्च पूर्व ।
पृच्छुर्दन्तमपि नामी मुञ्चति । केवलं धृतिरक्षितोयं वराको राट्टीति निघते । न सन्मार्गात्प्रव्याचयितुं इमे क्षमा इति उदार
वचनवा वचनेन जयः । अदीनेक्षणमुत्तरावस्था अवलता च कायेन जयः । निज्जिणिय सम्ममेदे निज्जितीयं सम्पन्ने-
तादुपसर्गपरीपदाग्रमरणे मरणकाले । आराधओ होहिस्मि एतज्जयपरिणतो मावेव्वसि । उपसर्गपरीपदव्याकुलितचेतसो
नैवाराधकवा ॥

मूला—तिविधेण द्रव्यावियोगवशादापकोपयमयायधीर्यमसदेष्टमिमादुपसर्गपरीपदज्ञानप्रसक्तकेन (?) निवार्येत ।
सदिदानीं दूरेयं दुःखभीरता, न एतदु भीतोऽयमिति कृपया दुरात्मनि श्वजतीतीदृशी धृतिबलभावता मनसा तन्निर्जयः
भान्तोऽस्मि दुःसहा मे वेदना । पश्यत मदीयानिमामतिकष्टमवस्थां । हा वैय ! वैवदयोऽस्मीत्यादि दीनवचनानुधारणं ।
परीपदाश्च सर्वेण शरीरिणा आस्तसारभ्यनुभूताः असकृदुपसर्गाश्च । न चामी पूरुर्बन्तमपि मुञ्चति केवलं निःसत्त्वोऽयं
कानुक्तो राट्टीति निघते न वैते सन्मार्गाद्रव्याचयितुं मां क्षमते इत्यादिभीरोदासवचनोद्धारणं च याथा वत्परजयः ॥

अदीनेक्षणयं प्रहसिन्मुसत्वावस्थानं कायेन तद्विजयः ॥ एदे एवान् ॥

अर्थ—हे क्षुपक ! तूं मन वचन और शरीरसे सब उपसर्ग और परीपदोंको जीतले. जब इनको तू पूर्ण जी-
तनेमें समर्थ होगा तबही मरणसमयमें तूं स्तनवयाराधक होगा. अन्यथा नहीं.

विशेषार्थ—उपसर्ग और परीपदोंके दुःखोंसे भयभीत न होना गही मनसे उपसर्ग और परीपदोंको जीतना माना जाता
है. यह पुरुष मयबुद्ध है ऐसा समझकर उपसर्ग और परीपद तकलीफ उत्पन्न करनेका कार्य दयासे छोडते हैं. ऐसा
नहीं समझना चाहिये. समीपके द्रव्यादि पदार्थों से असाता वेदनीय कर्मका उदय आनेमें सहकारि कारण है जब

वेदनाय कर्म उदयमें आता है और उसका अनिवार्य सामर्थ्य है तब वह अपना फल देकर ही नष्ट होया ऐसा धैर्य धारण कर विचार करना यह मनके द्वारा उपसर्ग परीषदों का जय समझना चाहिये, मैं बक गया हूं, ये दुःख दुःसह हैं मैं अतिशय कष्टम अवस्था को प्राप्त हुआ हूं, मेरे शरीरमें आग लगी है, मैं पीटा जा रहा हूं इत्यादिक दीनता व्यक्त करनेवाले शब्द मुझे न निकालना यह वचनसे जय समझना चाहिये.

धुयादिक परीषदोंका अनंत बार अनुभव ले चुका हूं. अनेक बार घोर उपसर्ग भी भरोको प्राप्त हुए थे. जोरसे रोनेपरभी ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको क्या छोड़ देंगे? यह पुरुष धैर्यरहित है, यह दीन है, यागवार रोता है, बिछाता है ऐसी लोक मेरी निंदा करते. ये उपसर्गादिक दुःख मेरेको सम्भाविते भ्रष्ट करनेमें असमर्थ हैं. ऐसे उदार वचन कहना यह भी वचनजय समझना चाहिये.

परीषदादिकोंसे दुःख होने परभी मुझमें दीनता न दिखाना, आँखोंमें दीनता न धारण करना, मुँह न झूलना, शरीरमें निश्चलता रहना, यह शरीरसे जय समझना चाहिये.

इन प्रकार उपसर्ग और परीषदोंको दृढ़तासे जीत कर भरणसमयमें हे क्षपक ! तू रत्नत्रयपाराधक हो.

मंभर सुविहित्य जं ते मञ्जस्मि च्चदुन्विहस्स संघस्स ॥

बूढा महापटिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥ १५१७ ॥

अहमाराधयिष्यामि प्रतिज्ञा या त्वया कृता ॥

मध्ये संघस्य सर्वस्य तां स्मरत्यधुना न किम् ॥ १५७८ ॥

विषयोदया—संगर स्मृति निधेहि । सुविहित्य सुचारिव । किं स्मरामि इति चेत् ते तां प्रतिज्ञां कृतवानसि । मञ्जस्मि मध्ये । कस्य ? चदुन्विहस्स चतुर्निचय संघस्य । बूढा धृता । महापटिण्णा महती प्रतिज्ञा । अहयं अहं आराध-इस्सामि आराधयिष्यामि इति ॥

मूलरा—जं ते यत्कथा । बूढा कृता ॥

अर्थ—हे निदर्षचारित्र घातक क्षपक, तू चार प्रकारके संघमें अर्थात् उनके समक्ष बड़ी प्रतिज्ञा धारण की है अर्थात् मैं रत्नत्रयका आराधना करूँगा ऐसी यद्वाप्रतिज्ञा धारण की है उसका स्मरण कर.

को नाम भटो कुलजो माणी योलाइदूण जाणमज्झो ॥
जुज्यो पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥ १५१८ ॥
जनमध्ये जुजास्फालं विधाय बलगर्वितः ॥

कः कुलीनो रणे मानी शत्रुव्रस्तः पलायते ॥ १५१९ ॥

विजयोदया—को नाम भटो कः पलायते युद्धे भटः शत्रुः । कुलजो मानी । योलाइदूण भूजास्फालनं कृत्वा ।
जनमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजयं करिष्यमीति उद्गुप्य आवडिदमेत्तओ अभिमुखायासशत्रुत्वे भरिभीतः । कः पलायनं
करोति ॥

इतः क्षपकं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तं हत्वा प्रबर्धनं शोत्साहयति—

मूळार—माणी यदाऽसंपादनाहंकारी । योलाइदूण आत्मानं सुत्वा । जुजास्फालनं कृत्वा । एवं शत्रुपराजयं
करिष्यामि इत्युद्योग्यंति यावत् । आवडिदमेत्तओ चेव मिलितमात्र एवारिणा सह धयया अभिमुखायासमाश्रयिरेरिति
वोग्यम् ॥

अर्थ—“मैं शत्रुको अवश्य पराजित करूंगा” ऐसी प्रशिक्षा जिसने जुजास्फालन करके सर्व जनसमूह
की है ऐमा फोन स्वामिमानो कुलीन शत्रु पुरुष बहुत समीप आनेपर डरकर पलायन करेगा।

दार्ष्टान्तिके योजयति—

योलाइदूण पुब्बं माणी संतो परीसहादीहिं ॥

आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो ह्वे साहु ॥ १५१९ ॥

कः कृत्वा स्वस्तवं मानी संघमध्ये तपोधनः ॥

परीपहरिपुत्रस्तः क्षिप्रयत्यापातमाव्रतः ॥ १५२० ॥

विजयोदया—योलाइदूण पुब्बं जुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । परीसहादीहिं आवोद्धमेत्तगो चेव परीपहारा-
एवं दृष्टान्ते दक्षितमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति—
मूळार—आवडिदमेत्तओ परीपहारीमिलितमात्रकः । विसण्णो दुःखितः ।

अर्थ—सर्वे संपत्ते समस्त परीषद् और उपसर्ग अनपरा भी मैं प्रत्याख्यान आहारादिक पदार्थका स्वीकार न करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा लेकर परीषदादिक आतेही कोनसा साधु दुःखी होकर स्वप्रतिज्ञाका त्याग करेगा ? अर्थात् अपनी प्रतिज्ञामें परीषदादिक अनपरा भी दृढता धारण कर उसको नष्ट न करेगा।

आवडिया पडिचूला पुरओ चेव कर्मति रणभूमिं ॥

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वडुंति ॥ १५२० ॥

प्रविशंति रणं पूर्वं शत्रुमर्दनलालसाः ॥

पच्छन्ति नास्तुनायोऽपि शत्रूणां प्रसरं पुनः ॥ १५८१ ॥

वितपोचरा—आपदिता पडिचूला अभिमुखापाताः शत्रवः । पुरदो चेव कर्मति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्गान्ति रणभूमिं । अवि य मरिज्ज रणे यपानि रणे स्त्रियन्ते । ण य पसरमरीण वडुंति नैव प्रसरमरीणां वर्धयन्ति ॥

मूढारा—आवडिदपडिचूला आपविता अभिमुखा जातः प्रसिचूलाः शत्रवो येषां सुमदानां ते । पुरदो चेव पूर्वमेव शत्रुभिरनाकांक्षेवेति भावः ॥ कर्मति आकर्मन्ति । रणभूमिं युद्धाय कल्पितां भूमिं । मरेज्ज भियेरन् । पसरं उत्साहं । वडुंति वर्धयन्ति ।

अर्थ—इच्छा कलेपाले शत्रु युद्धभूमिमें आगे आगे ही पैर बढाते हैं कदाचित् युद्धमें शत्रु प्रहारात् मरणका स्वीकार करेगे परंतु अपने प्रतिपक्षीका उत्साह शत्रेणा ऐसा कार्य वे कदापि नहीं करेंगे अर्थात् रणभूमिमें पलायन नहीं करेंगे।

तद् आवडिदपडिचूलाए साह विमणिणो सूर ॥

अदितिव्वेयणाओ संहति ण य विगडिमुखयांति ॥ १५२१ ॥

मानिनो योगिनो धीराः परीषद्वनिपुद्दिनः ॥

सहन्ते वेदना घोराः प्रपद्यन्ते न विक्कियाम् ॥ १५८२ ॥

विजयोदया—तद् आवडिदपडिचूलाए तथा अदितिव्वेयणाओ साधवो मानिनः सूरः । अदितिव्वेयणाओ अतीव तीव्रवेदनाः । संहति संहते । ण य विगडिमुखयांति नैव विक्कितिसुपयांति ॥

मूलारा—आवर्द्धिपक्षिकुलद्वय आपत्तितां दुर्दैवसाधुपरिधत्ताः प्रविशुल्या उपसर्गोपरीपद्धा येषां ते आपत्तिमति-
 कृत्यास्तेषां भाव आपत्तिमतिभूतता तस्यां सत्त्वां । उपसर्गोपरीपक्षेषु सति येषु उपरिभवेषु सति येषु यामत् । अन्ये तु आवर्द्ध
 पक्षिकुलद्वय इति गटित्या आपत्तिमतिकृत्यतेत्यर्थमाहः । विगादि रत्नप्रवधिप्रधानं ॥

अर्थ—येमे पूर्वकृत अशुभ कर्मके उदयते परिषदादिक अति तीव्र दुःख देनेपर भी अर्थव उनसे अति-
 तीव्र वेदना होनेपर भी सारिष्यन्ती साधुपण सच मढ़ेले हैं परंतु वे विकार को प्राप्त होकर स्तब्धयाराधनाका
 त्याग नहीं करते हैं.

थीलाइयरस कुलजरस माणिणो रणमुहे धरं मरणं ॥

॥ १५२२ ॥

रणारंभे वरं नृत्यमुञ्जारफालनकारिणः ॥

यायज्जीवं कुलीनस्य न पुनर्जनजल्पनम् ॥ १५८१ ॥

विजयोद्या—धोलाप्यश्म हुतमुजाह्मालम्ब । भाणिणो मानितः । रणमुद्ये वरं मरणं युक्तमुने शोभनं मरणं ।
न न वरं नैव शोभनं । तज्जनयं भानु जायस्त्रीयं न रुज्जनमग्ने रुज्जनमग्ने पाथस्त्रीयं निवस्त्रणं ॥

मूलात्—घोलादरासं कुमुमुआकासनय । धरं शोभनं । लङ्गणपं लङ्गाकारकं । धर्मसायनमित्यर्थः ॥

अर्थ--जितने हुआसकॉट कर अनुको अतिनेकी प्रतिष्ठा की है ऐसे कुलीन स्वाभियानी मनुष्यका रणमें मर जाना भी मला है. परंतु सज्जनोंमें जिसने निंदा होगी ऐसा कार्य अर्थात् रणसे भागना, शत्रुको पीठ दिखाना कभी भी मला नहीं है. क्यों कि ऐसे कार्यसे आवन्म निंदा होती है.

संभरणस्त माणिणो संजदस्त णिहणगमणं पि होइ वरं ॥

ण य लज्जणं कादुं कायरदावीणकिक्विणचं ॥ १५२३ ॥

संपत्तस्य यरं मृत्युमार्निर्नोऽसकतादिनः ॥

न वीनत्थविपणत्त्वे परीपद्धरिपुद्दय ॥ १५८४ ॥

विजयोदया—समकस्स समानस्य श्रयणस्य ॥। माणियो मानिनः, संजदस्स संयतद्वय । निधणमगणं पि होदि परं निधनमनमपि भवति वरं । य य लज्जमयं फाडुं नैव लज्जनैयकरणं शोभनं । कातरता न वरं । दीणकिविणत्तं वीनत्वं करणं तं च न परं ॥

पूछारा—निधणमगणं भरणपत्तिः । कादरदा चित्तधीकता । दीणकिविणत्तं दीनत्वं, वैषम्यं, कृपणत्वं किमपि धरुं न शक्नोमि इति पचनं ॥

अर्थ—सगदेष रहित, अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहनेवाले ऐसे भुनिका भरण होना भी भला है. जिससे लज्जित होना पड़ेगा ऐसा कार्य-रत्नत्रयाभ्यासे च्युत होना-कभीभी योग्य नहीं है. चित्रमें भय उत्पन्न होना, मुरा भयसे द्रवना, मैं असमर्थ हूं. प्रतिज्ञा धारण करनेमें समर्थ नहीं हूं इत्यादिवचन बोलना निश्च है.

पूयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं ॥

पुत्तपटत्तादीणं रणे पलादो सजणलंछं ॥ १५२४ ॥

घरं मृत्युः कुलीनस्य पुत्रपौत्रादित्तंतैः ॥

न पुट्टे नदयतोऽदिभ्यः कर्तुं स्वकुललंछनम् ॥ १५८५ ॥

विजयोदया—एवस्स अप्पणो एकस्यात्मनः । जीविदहेदुं जीवितनिमित्तं । को करिज्ज जंपणयं कः कुर्यादप-
पादं । पुत्तपटत्तादीणं पुत्रपौत्रादीनां । रणे पलादो रणायलागमानः । सजणलंछं स्वकुललंछनं ॥

मूछारा—जंपणयं अपवादं । पट्टादीनां पौत्रपौत्रादीनां । पत्तयो पलायमानः । अन्यः पलादो इति पठित्या
पलायनेत्यर्थमाह । सुणमलंछं ललाटे कुटुम्बादिसमानं ॥

अर्थ—अकेले अपने जीवितके लिये कौन मानी पुरुष अपवादका-निंदका कार्य करेगा. ऐसे अकार्य से अर्थात् रणसे भागने के कार्यसे पुत्र पौत्रादिक तक अक्षीति रहा करती है. अर्थात् पुत्र पौत्रादिक भी अपने पूर्वजोंको अक्षीतिसे दुःखी होत है. उनको लज्जित होना पड़ता है.

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीविदत्थं तं ॥

कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुब्बं सगणलंछं ॥ १५२५ ॥

विजयोद्या—सह तया । अल्पतो अविद्वत्तं भवतो जीवितार्थे । कुलस्य संग्रहस्य य मा कुणसु जने वृत्तण्यं

कुलस्य संग्रहस्य संघस्य मा ग्राह्यं येदनाचमणम् ॥ १५८६ ॥

मृदार—किमं कुलं कुलं कुलं कुलं कुलं कुलं । सगणजं सगणजं विदधत् ।

अर्थ—यैसे दे शुक ! तुम अपने जीवितके लिये अपने कुल और संघको दूषण उत्पन्न होगा ऐसा कार्य मत करो अर्थात् तुम अपनी प्रतिज्ञाओं पर रहो- मेरेसे प्रतिज्ञाका पालन नहीं होता है ऐसा दीनवचन कहोगे तो तुमारे मैपूर्ण गणको तज्जित होना पड़ेगा.

गाढप्यहारसंताविदा वि सुरा रणे अरिसमक्खं ॥

ण मुहं भंजंति सयं मरंति भिलडीए सह वेव ॥ १५८६ ॥

त्रियन्ते समरे वीराः प्रहाराकुलिता अपि ॥

कुर्वन्ति शत्रुदीर्घं न पुनर्चोरिणां पुरः ॥ १५८७ ॥

विजयोद्या—गाढप्यहारसंतापित वि मादप्रहारसंतापिता अपि सुरा रणे युद्धे । सगं मुहं अरिसमक्खं ण मरंति स्यमुगमं भरीणां पुत्तो न कुर्वन्ति । मरंति त्रियन्ते । भिगुदीए सह वेव शत्रुत्वा सह वैय ॥

मूलरा—भंजंति षक्वन्ति । सयं त्वं मुहं । भिलडीमुहा शत्रुद्वयो मुरेषु येषो वे शत्रुत्वा सहैव त्रियन्ते इत्यर्थः ॥
अर्थ—शूर पुरुष रणमें गाढ दसप्रहार होनेमें शत्रुके समक्ष मूल निराकर भागते नहीं है, वे अपनी मोह दे देही करके मरण का ही अंगीकार करते हैं.

सुहु वि आवद्धप्पा ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ॥

कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥ १५८७ ॥

कातरत्वं न कुर्वन्ति परोपहृकरास्तिताः ॥

किं पुनर्दीनतादीनि करिष्यन्ति महाधियः ॥ १५८८ ॥

विजयोदया—सुरदुषि आवरपचा नितरमण्डं प्राप्ता अपि । सत्पुत्रिणा ण कायरत्तं करंति सरपुरुषा न कातरतां हुर्यन्ति । कणो पुण कादिंति कुतः पुनः करिव्यन्ति । दीणत्तं किंविणत्तं चापि दीनतां कुरुपणतां च ॥

मूढारा—सुरकुवि आवदि पचा नितरां आपदं प्राप्ता अपि ॥

अर्थ—अतिशय विपत्ति प्राप्त होने पर भी सत्पुरुष दस्ते नहीं हैं तो वे असमर्थता और दीनता क्यों दिखायेंगे ?

कोई अग्निमदिगदा समंततो अग्निना वि ङ्गमता ॥

जलमङ्गुगदा व णरा अत्यंति अवेदणा चेव ॥ १५२८ ॥

अग्निमत्पगताः केचिदक्षमानाः समंततः ॥

अवेदना वित्तिष्ठन्ते जलमण्ड्ये गता इव ॥ १५२९ ॥

विजयोदया—कोई अत्यंति अवेदना चेव केचिदसते अचेतना इव । अग्निमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः । अग्निना वि ङ्गमता समंतात् अग्निना अपि । जलमङ्गुगदा व णरा जलमण्ड्यगता वरा इव । अचेतना इव ॥
मूढारा—अग्निमदिगदा अग्निं प्रविष्टाः ॥

अर्थ—किंतनेक पुरुष अधिक वीचमें पहनेपर और चारों तरफसे अग्नि लगने पर भी अर्थात् उसके दाह-से दग्ध होनेपर भी मानो जलमें मवेद किसे पुरुष के समान अथवा अचेतन पदार्थके समान स्थिर रहते हैं ।

तत्थ वि ताहुकारं सगंगुलिचालणेण कुब्बंति ॥

केइं करंति घीरा उक्किं अग्निमङ्गुमि ॥ १५२९ ॥

सायुकारं परे तत्र कुर्वन्त्यंगुलिनर्तनैः ॥

आनंदितजनस्वान्ता उत्कृष्टि कुर्वन्ते परे ॥ १५३० ॥

विजयोदया—तत्थ वि ताहुकारं सगंगुलिचालणेण कुब्बंति सायुकारं कुब्बंति सायुकारं स्वांगुलिचालनया कुर्वन्ते । केइं अग्निमङ्गुगदा घीरा केचिद्वसिष्ठमगता धीराः । उक्किं करंति उक्कीयन्ते कुर्वन्ति ॥

मूलात्—तप वि य यययि अग्निश्च्यगतास्त्वयसि । सप्तधुष्काई अदकं सनतीद यदुशुभं कर्म क्षयं यातीति प्रशंसां । सममंगुलिषाद्येन स्यादुचिन्वनेन । नलच्छोटिकयेत्यन्यः । केई एतदुभयत्र योन्यं । उचिदिति उक्तोदयनं । विशिष्टदृक्कलकल-मित्यर्थः ।

अर्थ—उस अग्नीमें भी अपनी अंगुलियां दिलाकर कोई धीर पुरुष अच्छा ही हुआ ऐसा सूचित करते हैं- इस उपसर्गसे मेरा कर्म क्षयको प्राप्त होगा, यह अग्नि मेरे कर्मको नष्ट करता है- इसका हमारे ऊपर बड़ा उपकार हो रहा है ऐसा अंगुलियां दिलाकर सूचित करते हैं- कोई धीर पुरुष आनंदसे विशिष्ट श्रन्द करते हैं-

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवहुणाए लेस्साए ॥

निव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिंति धिदि ॥ १५३० ॥

वेदनायामसंज्ञायां कुर्वन्त्यज्ञानिनो धृतिम् ॥

लक्ष्यया भववर्द्धिन्या सुखास्यावपरा यदि ॥ १५३१ ॥

विजयोक्ता—जदिदा यदि क्षयम् । तह तथा भण्णाणीधिदि कर्तिरिति तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति । संसारपवहु-णाए लेस्साए संसारप्रपञ्चमकारिण्या लेदय्या । तिज्याए वेदणाए तीमायां वेदनायां सत्यां । सुहसाउलया सुखास्वादन लेपटा ॥

मूलात्—तथ तेन साधुभारकरणाधिकारेण । संसारपवहुणाए संसारप्रवर्धनकारिण्या । सुहसाउलगा सुखा-स्वादनलेपटाः ।

अर्थ—संसारको बढ़ानेवाली लेस्यासे युक्त होकर भी उपसर्गसे वीत्र वेदना होनेपर भी यदि सुखास्वाद करनेमें लंपट अज्ञानी पुरुष वैय धारण कर दुःख सहन करते हैं तो—

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खसक्खयं कर्तेण ॥

वटुतिव्वदुमखरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥ १५३१ ॥

तदा धृतिं न कुर्वन्ति किं भवच्छेदनोद्यताः ॥

ज्ञातसंसारनैः सार्यां वेदनायां तपोभनाः ॥ १५३२ ॥

विजयोदया—किं पुन जविणा ण करिळा हवदि सिद्धि किं पुननं कायां भवति घृतिः यतिना । कीदृशा ? संसारसव्यदुःखपरपर्यं करिणेण संसारसर्वदुःखक्षयं कुर्यात् । यद्वृत्तिव्यदुःखसरस्त्राणणेण यद्वनं चतुर्गतिगतानां दुःखानां रसं जानता ॥

मूढारा—रसजाणण स्वाद्वयेदिना । कुळा भवन्त्या ।

अर्थ—संपूर्ण दुःखोंका रस जाननेवाले यति क्यों न धैर्य धारण करें, अर्थात् जब कोई अज्ञानी भी जीव धैर्य धारण कर दुःख सहते हैं तो वे रासपशील यतियोंका दुःख सहन करना कर्तव्य ही उहारा दुःखसे मययुक्त होना उनके लिए भित्तां अयोग्य है.

असिधे दुष्मिक्खे वा कंतारे वा मएव आगाढे ॥

रोगोहे व अमिसूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥ १५१२ ॥

दुर्बिक्खे मरके कक्षमये रोगे दुरुत्तरे ॥

मानं कापि विमुंचंति कुलीना जातु मापवि ॥ १५१३ ॥

विजयोदया—असिधे मार्ग । दुर्बिक्खे या दुर्बिक्षे या । कंतारे भटव्यां वा । गाढे मये च । उपर्युपरि तिपतितभये वा । रोगोहे व अमिसूदा व्याधिभिर्वा अभिभूताः । ण विजहंति कुलजा माणं न विजहति कुलप्रसूता मानं ॥

मूढारा—असिधे मार्ग । आगाढे उपर्युपरि तिपतति सति । अनियोगेण ।

अर्थ—मारी, दुर्बिक्ख, गह्वर अरण्य, पुनः पुनः भय प्राप्त होना, रोगोंसे पीडित होना इत्यादि प्रसंगपर कुलवान् मनुष्य अभिमान छोड़ते नहीं हैं.

ण पियंति सुं ण य संति गोभयं ण य पलंडुमादीयं ॥

ण य कुट्वंति विकम्भं तेहव अण्णपि लज्जणयं ॥ १५१४ ॥

सेवंते मथगोमांसपलांडूवि न मानिनः ॥

कर्मान्यदपि कुच्छेऽपि लज्जनीयं न कुर्वते ॥ १५१५ ॥

विजयोद्या—ए विवेति सुरं न विवेति सुरं । ए खंति न च अखंति गोमांसं । ए य एलंडमाधीयं न एलंडं प्रभृतिर्कं प्रशंसति । ए ॥ कुर्वन्ति विक्रमं देव कुर्वन्ति कुत्सितं कर्म परोच्छिद्यभोजनादिकं न कुर्वन्ति । तदेव अर्णपि लज्जणयं तथैव नाप्यदपि लज्जनीयं कुर्वन्ति ॥

मूढारा—ए यं खंति नष अखंति भातिनः । गोमांसमित्यर्थः । एलंडमाधीयं लघुगुंजनप्रभृतिकं । वि-
कर्मं कुत्सितं कर्म परोच्छिद्यभोजनादिकं ॥

अर्थ—कुलीन मनुष्य कभी भदिरापान नहीं करते हैं. गोमांस भक्षण नहीं करते हैं. प्याज, लहमन, वीरह कंदोला भक्षण नहीं करते हैं. तथा वे दूसरोंका उच्छिद्याद्य भक्षणादिक कर्म नहीं करते हैं. वैसा अस्य भी लज्जा उत्पन्न करनेवाले कर्म वे करते नहीं. तो—

किं पुण कुलगणसंघजसमाणिणो लोयपूजिता साधू ॥
माणं पि जहिय काहंति विक्रमं सुजललज्जणयं ॥ १५३४ ॥
कुलसंघयशस्वकाः किं कर्म जगद्विहिताः ॥
मानं विमुच्य कुर्यन्ति लज्जनीयं तपोधनाः ॥ १५३५ ॥

विजयोद्या—किं पुण लघू वि कामे काहंति किं पुनः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यति । कुलगुणसंपन्न जसमाणिणो कुलस्य संघस्य च यदा संपादनाहंकारयंतः । लोयपूजिता साधू जाके कृतपूजाः । माणे विजहिय मानं त्यक्त्वा जललज्जणयं साधु जनेन विलज्जनीयं कर्म ॥

मूढारा—जसमाणिणो यदा संपादनाहंकारवंतः ॥

अर्थ—कुल, गण, संघ इनकी पदोन्नति चाहनेवाले साधुगण क्या कुत्सित कर्म करी करेंगे ? कभी भी नहीं करेंगे. मनुष्योंके द्वारा नियं ऐसा कर्म लोकव्य साधु मानका त्याग कर करेंगे क्या ? कभी भी नहीं करेंगे.

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्यं व आवदिं पत्तो ॥
तं पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा हु संडुत्ति ॥ १५३५ ॥

लघ्वीं विपत्तिमुखीं वा यः प्रयातो विप्रीदति ॥

नरा वदन्ति तं पदं धीराः पुष्पकातरम् ॥ १५९६ ॥

विजयोदया—जो गच्छिज्ज विखादं गो गच्छेद्विपादं । महल्लं अप्यं ॥ आपरं पत्तो महतो अल्पं वा आपदं शतः ॥
तं पुरिस्कातरं पुद्गेषु फातरं । धीरपुरिसा संदुचि विंति धीराः सुपुण्याः पदं इति मुचन्ति ॥

आपदि विप्रीदतोऽपवादं वदंयति—

मूढारा—विखादं विपादं । आपदि आपदं । पुरिस्कातरं पुद्गेषु कतरं । संदोचि नपुंसकनिमि इवन्ति ॥

अर्थ—जो छोटी या बड़ी आपत्ति जानेपर हिम्न होता है धीर पुरुष उसको फातर-डरपोक मनुष्य ऐसा कहते हैं तथा उसको पदं कहते हैं.

मेकञ्च गिण्यकंपा अवस्तोमा सागरुन्व गंभीरा ॥

धिदिवतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावर्द्धटु वि ॥ १५९७ ॥

समुद्रा इव गंभीरा निःकम्पाः पर्वता इव ॥

विपद्यादि महिष्ठायां न क्षुब्धन्ति महाधियः ॥ १५९७ ॥

विजयोदया—मेकञ्च गिण्यकंपा मेहरिय निश्चलाः । अपतोमा अरुंपाः । सामरोव्य सागर इव धिदिवतो
सप्पुरिसा धृतिर्मतः संतोपयताः सप्पुरिसाः । महल्लावर्द्धटु वि महत्त्वाभाषादि अपि ॥

सत्पुरुषसद्वृत्तव्यापनेन विपदि धैर्यमवलम्बयति—

मूढारा—महल्लावर्द्धटु वि महत्त्वाभाषादि । अक्षोभ्या क्षोभयितुमशक्याः । अवाल्पाविता भवन्तीति संबधः ।

उक्तं च—

समुद्रा इव गंभीरा निरुंपाः पर्वता इव ॥

विपद्यादि महिष्ठायां न क्षुब्धन्ति महाधियः ॥

अर्थ—वेदों आपत्ति जानेपर भी धैर्ययुक्त, संतुष्ट सत्पुरुष मेरुके समान निश्चल रहते हैं और समुद्रके समान क्षोभरहित होते हैं.

केई विमुचसंगा आदारोविदमरा अण्डिकम्मा ॥
 गिरिपब्भारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥ १५३७ ॥
 स्वयरोपितभराः केचिन्निःसंगा निःप्रतिक्रियाः ॥
 गिरिप्राग्भारमापच्चाधिचन्वापदसंकटय ॥ १५९८ ॥

विजयोत्तरा—कैयं उत्तमं संप्रति प्रति वक्तव्यमेषेन संबन्धः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नमयं साधयन्ति ।
 कीदृश्वृत्ताः ? विमुचसंगा निष्परिग्रहाः । आदारोविदमरा आत्मारोपितभराः । अपडिकम्मा निष्प्रतीकारा । गिरिपब्भारम
 भिगदा गिरिप्राग्भारमभिगताः । कीदृशे ? बहुसावदसंकडं बहुदुःखालम्बुगाकुलं । भीमं भयानकं ॥

महासत्त्वानां महोपसर्गोऽपि रत्नवत्साधननिर्वाहं गाथाद्वयेन प्रकाशयन्ति—

मूलारा—आदारोविदमरा आत्मन्यारोपितकणीयभाराः । अपडिकम्मा अप्रतीकाराः । गिरिपब्भारं पूर्वतशुहां ।
 अविगदा प्रविष्टाः

अर्थ—कितनेक मत्स्यरूप संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर तथा संपूर्ण कार्य अपने ऊपर लेकर आपसिको
 दूर करनेके लिए कुछ भी मयत्न नहीं करते हैं और जहां बहुत हिंस्रजीव निवास करते हैं ऐसे पर्वतोंकी
 गुरामें जाकर उत्तम वस्तुकी प्राप्ति कर लेते हैं, अर्थात् रत्नत्रयको साध लेते हैं.

अधिविधयिष्यदकच्छा अणुतरविहारिणो सुवसहाया ॥

साहिति उत्तमं सावददांडतरगदे वि ॥ १५३८ ॥

राब्धान्नसचिवाः सन्तः सन्तुष्टाः शुद्धदृष्टयः ॥

साधयन्ति स्थिताः स्वार्थं व्यालवन्तान्तरेष्वपि ॥ १५९९ ॥

विजयोत्तरा—अधिविधयिष्यदकच्छा पूजा निवारं यदकच्छाः । अणुतरविहारिणो प्रकटचारित्राः । सुवस-
 हायाः सुतमानसहायाः । सापिन्ति उत्तमं साधक्युत्तमायं रत्नमयं । सावददांडतरगदा वि व्यापदं द्यूमध्यगता अपि ॥
 मूलारा—पक्षकच्छा स्वीकृत्यता । कृतप्रतिष्ठा वा । अणुतरविहारिणो प्रकटचारित्राः ॥

अर्थ—चिन्होंने अलौकिक धर्म चारण किया है, जिनका चारित्र उत्कृष्ट है, तिलमात्रगी जिसमें दोष नहीं

हे ऐसे चारिके धारकः श्रुतज्ञानकी मदल जिनको मिली है ऐसे सुनिराज कर प्राणिजोंके दाहमें चले जाने पर भी रत्नत्रयकी सिद्धि कर ही लेवे हैं-

मह्यकिटु तिरत्तं खञ्जंनो घोरवेदणट्टोऽपि ॥

आराधनं पवणो ज्ञाणेणावंतिसुकुमालो ॥ १५३९ ॥

घीरोऽबन्तिसुकुमारोऽगाधिरात्रं शुद्धमानसः ॥

श्रुतास्य न्यायमानोऽपि देवीमाराधनां प्रति ॥ १६०० ॥

चित्तयोदयः—मह्यकिटु तिरत्तं खञ्जंनो घोरवेदणट्टोऽपि घोरवेदणट्टो वि घोरयदना-
वाधितोऽपि । आराधनं पवणो ज्ञाणेण सुमन्योनेनाराधनां प्रपन्नः । कः ? भवंतिसुकुमालो अर्थादिसुकुमारः ॥

उपसर्गसहात्मनर्थादयानान्युपन्यसति—

सूकारा—मह्यकीटु श्रुतास्य । तिरत्तं तिरात्रं । वेदणट्टो वेदनार्तः । अवति उज्जयिन्यां । सुकुमालो सुकुमारस्थानी ।

अर्थ—दृग्गालीके द्वारा तीन राश्रसक जो स्वाये गये, जिनके प्रत्यंगोंमें नीच वेदनायें हो रही थी, ऐसे भी अवति सुकुमार सुनि शुभभयानसे रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हो गये. (इनकी कथा तथा आगेके उदाहरणोंकी कथायें आराधना कथाकोषमें हैं)

भोगिलगिरिमि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवंतो ॥

वग्धीण वि खञ्जंतो पडिदण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५४० ॥

सिआगाराधनां देवीं बुद्धलाट्टो सुकोसालः ॥

भक्ष्यमणो मुनिव्याख्या सैद्धार्थिरविपणधीः ॥ १६०१ ॥

विजयोदयः—सुबलधिरसुकोसलोऽपि सिद्धत्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जन्मीत्यर्थो भक्षितः सन् प्रतिपञ्च्य उत्तमाय ॥

मूलरा—भोगिलगिरिमि सुबलधिरमि । सिद्धत्थदइय भयः पुत्रत्वात् । वि खञ्जंतो स्वायमानोऽपि अर्थ—सुबल धामक पर्वत पर सिद्धार्थ राजाके पुत्र सुकोशल नामके मुनिराज को पूर्वं जन्ममें माता

धी एसी प्यासति गवण किया. वो भी उन्होने शुभधानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति की अर्थात् इस तिर्येव ॥ उपसर्गसे वे रत्नत्रयमे भेट नहीं हुए.

भूमीए सभं कीलाकोट्टिदेहो वि अलुचम् व १

भयवं वि गयकुमारो पखिवण्णो उत्तमं अहं ॥ १५४१ ॥

घरणपामार्दचमेव किल कीलितविग्रहः ॥

प्रापद्भजकुमारोऽपि स्वार्थं निर्यलमानसः ॥ १५०२ ॥

विजयोदया—भूमीए सभं भूमी सभं । कीलाकोट्टिदेहो कीलोकृतदेहः । अलुचम् य आर्द्रचर्मकम् । भयवन्पि भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूढाए—कीलाकोट्टिच कीळेः प्रतापं कीर्तिताः ॥

अर्थ—गीले चर्मके समान कीले ओककर विनकी अमीनके साथ एक का दिया है ऐसे भगवान् गज-कुमार भुनीमे उत्तमार्थ को रत्नत्रयको साथ लिया अर्थात् रत्नत्रय प्राप्तिके प्राप्ता वे पूजा होगये.

कच्छुजरत्नासतोसो भसेच्छदुच्छिक्तुच्छिदुक्खणि ॥

अविद्यासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥ १५४२ ॥

कासशोपासुचिच्छिदुच्छिदुक्खमभृतिवेवनाः ॥

सोढाः सनत्कुमारेण यतिना दारवां सताम् ॥ १५०३ ॥

विजयोदया—कच्छुजरत्नासतोसो कच्छु-चरकासतोपा । भसेच्छदुच्छिक्तुच्छिदुक्खणि तीयो जठराग्निः अग्नि-
पुक्षि तु न य । अविद्यासयाणि असदेष्टेन धृताणि सणक्कुमारेण सनत्कुमारेण । वाससयं पर्यन्तमे ॥

मूढाए—कच्छु कच्छु । जर जर । भसेच्छदुच्छिक्तुच्छिदुक्खणि तीव्रजठराग्निजोदरापायाः । अन्ये अम-
गच्छन्ति इति एतिया अभयमयन्ति । छदि छदिदिल्लयेयान्दुः । अविद्यासिद्ध सोढाणि । सयं निःसंश्लेष । वास-
सयं पर्यन्तम् ॥

अर्थ—कच्छु, ज्वर, खासी, स्वास, मस्मक व्याधि, आंस्वके रोग, इत्यादिक रोगोंसे होनेवाली पीडा-
सनचुमार धुनने औ कि गृहस्थावस्थामें चक्रवर्ती ये सो वर्ष तक संछेय परिणामके बिना धारण करी पंहु रत्नत्र-
यता त्याग नहीं किया.

पावाए गिबुडाए गंगामज्जे अमुज्झमाणमदी ॥

आराधणो पवणो कालगओ एणिआपुत्तो ॥ १५४३ ॥

गंगार्यां नाबि मद्रायों एणिकातनयो यतिः ॥

असूडमानसः स्वार्थं साधयामास शम्भतम् ॥ १६०४ ॥

चिदयोदया—काष्ठाए मिथुडाए नादि निमग्रायां व । गंगामज्जे गंगया मज्जे । अमुज्झमाणमदी असूडमाननतिः ।
भाराधनं पवणो आराधनो प्रतिपन्नः । कालगओ सन् । काले गतः । एणिआपुत्तो एणिकपुत्रमार्थे यतिः ॥

मूछाए—काळयई मल्लं प्राप्ताः । एणिआपुत्तो एणिकापुत्राक्यो मुनिः ॥

अर्थ—एणिकापुत्र नामके यतिराज नाममें आरेहण कर मंगोंके दूसरे किनारे पर आरहे थे तब ताव
गंगामें हूच गई पंतु मुनिराजकी बुद्धि में जरासाभी मोह उत्पन्न नहीं हुआ और वे आराचनाप्राप्ति कर मर गये.

ओमोदरिए धोराए मइवाहु असंकिलिठमदी ॥

धोराए तिगिन्छाए पडिवणो उत्तमं ठाणं ॥ १५४४ ॥

अवमोदर्यमंत्रेण मद्रवाहुर्महामनाः ॥

युमुक्षाराक्षसो जित्वा स्वीचकारार्थमुत्तमम् ॥ १६०५ ॥

चिदयोदया—ओमोदरिए धोराए धोरेयाज्जमोदर्येण तपसा समन्वितः । मइवाहु असंकिलिठमदी मद्रवाहुर्लसं-
क्रिएचित्तः । धोराए तिगिन्छाए धोरेया धुया याधितोऽपि । पडिवणो उत्तमं ठाणं प्रतिपन्न उत्तमाये ॥

मूछाए—ओमोदरिए अवमोदर्येण योविरोयेण विविष्टः । तिगिन्छाए युमुक्षया ॥

अर्थ—घोर अवमोदर्य तप करनेवाले मद्रवाहु धुनि तीव्र भूत्से पंडित होनेपर भी संक्षेय परिणाम के
बच नहीं हुए और उन्होने स्तब्ध को प्राप्त कर लिया.

कोत्सेवील्लिवधडा वृद्धा णइधूरण जलमल्लसे ॥

आराधणं पवणा पावोवगदा अमुढमदी ॥ १५४५ ॥

चैयाए मासत्तमणं करितु गंगातडम्मि तण्हाए ॥

घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥ १५४६ ॥

मासोपवाससंपद्यंपायां तुद्धत्तरादित्तः ॥

धम्मघोपो युनिः प्राप्तः स्वाथं गंगानदीतटे ॥ १६०६ ॥

विगयोएवा—अंगार चंयानगयो । मासवणं करितु मासोपवासं कृत्वा । गंगातडम्मि गंगायाम् । तण्हाए
घोराए तृणपा तीव्रया वादितोऽपि । धम्मघोसो धर्मघोषः । उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ।

मूलार—कोत्सेवी कीर्त्तणं नगर्को । छल्लियद्धा सल्लिवाः सुखवर्द्धिताः इंद्रदत्तादयो वृद्धिदादिभ्याः आशकाः
तेन घटाः समुद्रायाः । जटिपूरेण यमुनाप्रवाहेण । पाथोपगवा प्रायोपगमनमरणं प्राप्ताः । एतां भीविजयो नेच्छसि ॥

मूळारा—मासवमणं मासोपवासं । करितु कृत्वा ॥

अर्थ—कीर्त्तणी नगरीं ललित घट नामके मुनिओंका समुदाय नदीके प्रवाहसे बह गया तो भी संल्लेख

परिणामके शय यह नहीं हुआ.

वात्पर्य—सुखने जिनके दिन ग्यनीत होगये थे ऐसे इंद्रदत्तादिक धर्त्तास श्रीमंत वैश्यपुत्र थे. उन्होंने

दीक्षा लेकर यमुना नदीके तटपर तप किया. एक दिन वे एता यमुनानदीके प्रवाहसे यह शय परंतु रत्नत्रयमें

स्तिर रहकर उन्होंने प्रायोपगमन मरण प्राप्त कर लिया.

वंपानगरीमें एक महिनाके उपवास करके गंगानदीके किनारेपर तीव्र व्याससे पीडित होनेपर भी धर्म

पौष मुनिराजने असंमिलित परिणामसे उचमार्थ प्राप्त कर लिया.

सीदेण पुब्बवदरियदेवेण विमुञ्जिएण घोरेण ॥

संतचो सिरिदत्तो पडिवण्णो उचमं अट्ठं ॥ १५४७ ॥

अर्थ—दंश और मशकोंसे भक्षण किया गया विषुज्ज्वलात्मक शुनि वीव वेदनाओंको सहकर रत्नत्रयाराधनाको प्राप्त हुआ.

हृदिपणपुरगुरुदत्तो सम्मलियाली व दोगिन्यंतस्मि ॥

इज्यंतो अधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५२ ॥

चास्तन्यो ह्मास्तिने चीरो द्रोणीमानिमहीधरे ॥

गुरुदत्तो यत्तिः स्वार्थं जग्राहानलयेष्टिः ॥ १५५३ ॥

विज्योक्त्वा—हृदिपणपुरगुरुदत्तो हस्तिमापुर्यास्तथो गुरुदत्तः । संमलियालीय हस्तिसंकोश निरामाक [१] पूर्णभाजनं धर्मपत्रनिर्दितादि भयेमुत्तमं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अभिप्रक्षेपः संवलीयुज्यते ॥ तद्वच्छिदरसि निक्षिप्ताग्निः । दोगिन्यंतस्मि द्रोणीमन्यते इत्यमानः प्रपन्नः उत्तमार्थं ॥

मूलाट—हृदिपणपुरगुरुदत्तो हस्तिनं पुरं यस्यासौ हस्तिनपुरो हस्तिनागपुरस्याभी स चासौ गुरुदत्तश्च स शुनिः सत् । संमलियालीय शक्तिभिर्पूरितमर्कप्रपञ्छादितमथोमुत्तभाजनं सर्वत्राभिसंवेष्टितं संवलिस्थालीत्युच्यते ॥ दोगि-
मंतस्मि द्रोणिमति पर्यते । अधियासिय तस्यदेवतां सदित्वा ॥

अर्थ—हस्तिना नगरके गुरुदत्त नामक शुनि द्रोणिमति पर्यत्पर तप करतें थे. कोई द्रष्टुने संमली याली के समान उनके मस्तरूपर अग्नि रत्नकर जलाया था. उसकी धोर वेदना सहकर वे रत्नत्रयको प्राप्त होगये. सद्दीके भाजनमें वालमी फट्टी भरकर चारों तरफ आंकेके पते भरना चाहिये अनंतर उस भाजनका मुंह नीचे करके उसके चारों तरफ अग्नि लगा देना चाहिये इसको ही संमलीयाली कहते हैं.

गाढण्णहारविद्धो पूहंगलियाहिं चालणीव कदो ॥

तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५३ ॥

गाढग्रहारविद्धोऽपि कीटिकाभिरनाकुलः ॥

स्वार्थं चिलातपुत्रोऽग्राञ्चालनकृतविग्रहः ॥ १५५४ ॥

विजयोदय—गाढण्णहारविद्धो नितपमायुर्धेर्विदः । पूहंगलियाहिं कृष्णः स्फुलोत्तमगैः सिपीलिकाभिः । चालणीय कदो चालनीव फलवित्यतपुनस्तथापुत्तमायुष्यगतः ॥

मूलारा—गात्रण्यहारविदो निरपमामुपैर्विदः । पृथगिच्छियाहं हि स्थूलमस्तकशृण्वकीटिकाभिः । विस्वपुत्रो विद्या
तपुनो मुनिः ॥

अर्थ—वीथ शरामहार होनेसे जो जलमी हुये थे और विनका भस्तक बड़ा है ऐसी काली चीटी-
ओंने खाकर जिनका शरीर चालनीके समान छिद्रमय किया था उसे विद्यातपुत्रनामक मुनि उत्तमार्थ को प्राप्त हो गये.

दंडो जठणावकेण तिवस्वकंडेहिं पूरिदंगो वि ॥

तं देयणमधियासिय पांडवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥ १५५४ ॥

यमुनायकनिक्षिप्तः कारपूरितविग्रहः ॥

अरुणारूप वेदनां चंडः स्वार्थं शिश्राय धीरधीः ॥ १६१४ ॥

विजयोद्या—दंडो वेडनामको यतिः । अमुणावकेण यमुनावकसंक्षिप्तः । तिवस्वकंडेहिं तीक्ष्णः शरीरः पूरिता-

नोऽस्ति रक्तमयं समाराधयति स्म ॥

मूलारा—पण्णो मन्यो नाम मुनिः । दंडो इत्यर्थः । जठणावकेण यमुनावकनाम्ना राक्षा ॥

अर्थ—दंड नामक मुनिराजके ऊपर यमुनावक नामक दुरसमुत्पन्ने बाणोंकी दृष्टि करके उनका सर्व
शरीर प्रणयुक्त कर दिया तो भी उस मुनिराजने रत्नत्रयकी आराधना की ही.

अभिमण्डणादिया पंचसया णयरम्मि कुंभकारकडे ॥

आराधणं पक्खणा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥ १५५५ ॥

यंत्रेण पीज्यमानांगाः प्राप्ताः पंचशतममाः ॥

कुंभकारकटे स्वार्थमभिनंदनपूर्वगाः ॥ १६१५ ॥

विजयोद्या—अभिमण्डणादिया अभिनंदनप्रभृतयः पंचशतसंख्याः, कुंभकारकटे गगरे यंत्रेण पीज्यमाना
मन्याराधनं प्राप्ताः ॥

मूलारा—कुंभकारकडे कुंभकारकटसंज्ञे ॥

पूर्वकारानिदेवेन कृतैः क्षीतोष्णमारुतैः ॥

श्रीदत्तः पीड्यमानोऽपि जत्राहाराधनां सुखीः ॥ १६०७ ॥

विजयोदया—सर्वेण क्षीतेन । संततो संतप्तः । पुण्यवश्रित्यदेवेण विपुलविषण पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोरपादितेन विरिदितः श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥

मूढारा—विपुलविषेण उत्पादितेन । संततो पीडितः । शिरिदिण्यो श्रीदत्तः ॥

अर्थ—पूर्वं जन्मका चेरी किसी देवने क्षीतजल द्रष्टि, व शीत हवा उत्पन्न क्त श्रीदत्तनामक मुनीको पोर दुःख दिया ॥ तो भी इस मुनीवरने उत्तमार्थ प्राप्त कर ही लिया.

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आववं च अदिउण्हं ॥

सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तमं अण्हं ॥ १५४८ ॥

मारुतं त्रैच्यकं तापं बह्मित्तं शिलातलम् ॥

सोद्धा गुपमसेनोऽपि स्वापं प्रापवनाकुलः ॥ १६०८ ॥

विजयोदया—उण्हं वादं उण्हं यातं, उण्हं सिलादलं उण्हं शिलातलं ॥ आववं च अदिउण्हं आतापं वायुण्णे सहिदूण प्रसन्न गुपमसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्नः ॥

मूढारा—शिलादलं शिलातलं । आववं आतापं । त्रैच्यमसेनो गुपमसेनः ॥

अर्थ—अतिदुःख उण्ण वायु, अग्निसि गरम किया हुआ पर्वतका शिलातल और उर्यसंताप इन तापत्रयसे पीडित होनेपर भी गुपमदत्तेने यह सब सह लिया तथा उत्तमार्थ को वश किया.

रोहेडयस्मि सत्तीप्प हओ कोचिण अग्गिद्वदो वि ॥

तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अण्हं ॥ १५४९ ॥

अग्निराजमुता शकत्या विद्वः ऋचिन रांयतः ॥

रोहेडकपुरे सोद्धा देवीमारामनां भित्तः ॥ १६०९ ॥

विजयोद्या—रोदेदगमि रोदेदगे नगरे । तत्तीय द्रवो शस्त्रा हतः । कौलेण कौचनानामधेयेन । अग्निदररोवि
 भग्निराजगुप्तोऽपि । तं वेद्यमधिपानिय तां वेदनां प्रसन्न । उत्तमार्थं प्रतिपद्यः ॥

मूलारा—रोदेदगमि रोदेदगमि नगरे । मत्तीय द्रवो शस्त्रा हतः । कौलेण कौचनानाम् राज्ञा । अग्नि-
 दररो अग्निराजान्मो राज्ञः पुनः कार्तिकेयसंज्ञः । अधिपानि य अग्न्यात्म्य प्रसन्नैत्यर्थः ।

अर्थ—रोदेद नगरमें कौच राजाने अग्निराजाका पुत्र कार्तिकेय मुनिको शक्ति नामक शस्त्रसे मारा था
 तब मुनिराजने उस दुःखको सह कर स्तवत्रयही प्राप्ति की।

काईदि अभयघोसो त्रि चडवेगेण छिण्णसत्त्वंगो ॥
 तं वेद्यमधिपानिय पंडिवणो उत्तम अट्टं ॥ १५५० ॥
 कांकक्षां चंडवगेन िबनिःशंपविग्रहः ॥
 विपत्त्याभयघोपोऽपि पीडामाराधनां गतः ॥ १५५१ ॥

विजयोद्या—काईदि अभयघोसो चंडवगेण छिण्णसत्त्वंगो चंडवेगेन
 छिन्नसर्पोग ॥

मूलारा—कांकक्षां नगरां । अभयघोसो अभयघोषः ॥ चंडवेगेण चंडवेगनाम्ना राजपुत्रेण ॥
 अर्थ—कांकदी नामक नगरमें चंडेग नामक दृष्ट राजपुत्रने अभयघोष मुनि के सर्व अंगोंको छेद डाला
 था तो भी वह वीर्य वेदना उन्होंने सह कर उत्तमार्थही प्राप्त कर ली।

वंसेहिं य मसपुहिं य खजंतो वेदणं परं घोरं ॥
 विजुल्लरोऽधियासिय पंडिवणो उत्तमं अट्टं ॥ १५५२ ॥
 प्रपदे मशकंदत्तौः स्वाद्यमानो महामनाः ॥
 विजुल्लोरमुनिः स्वार्थं सोदुदुःसहवेदनः ॥ १५५३ ॥

विजयोद्या—वंसेहिं य वंशमशकंद मश्वयमाणः विजुल्लोरस्तां वेदनां अवगणय्य आराधनां प्रपन्नः ॥
 मूलारा—विजुल्लरो विजुल्लरः ॥

अर्थ—अभिनेदनादिक्र पांचसो मुनिओंको कुंभकरकट नामक नगरमें बंत्रावे पैलकर माता या तो भी उन्हें अराधना का त्याग किया ही नहीं।

गोठे पाओवगदो सुवंधुणा गोन्चरे पल्लिवदम्भिं ॥
हुड्केतो चाणाक्को पडिवण्णो उत्तमं अंठं ॥ १५५६ ॥
वसदोए पल्लिविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ॥
अराषण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्भि ॥ १५५७ ॥
कुलात्तेऽरिष्टसंजेन दग्गयायं वमतो गणी ॥
सारं धूपमसेनोऽगादुत्तमार्थं तपोवनैः ॥ १६१६ ॥

पिज्जवोएदा—बखरीए पल्लिविदाए वसतौ वग्गयां । रिट्ठामासवत्तमच्चेवम कुपमसेनः सह मुनिपरिपदा प्रतिपन्न आराधनाम् ॥

मूलरा—गोठे गोठके । पाओवगदो पावोगमनं भितः । सुवंधुणा सुवंधुनाम्ना मंत्रिणा । गोबरे करीये । पल्लिविदम्भि मन्त्रीपिते । एतौ श्री विजयो नेच्छन्ति ॥

मूलरा—रिट्ठामच्चेण रिट्ठनाम्ना मंत्रिणा । परिसाए परिपदा । स्वशिव्यवत्तमच्चेतैर्यदः । कुणालम्भि कुणालपुरे ॥
अर्थ - गोठमें चाणक्य नामक मुनिने प्रायोपवेशन धारण किया था. सुवंधुनामक राजमंत्री उसका बैरी था. उनमें गोमय-कंदोड़ी राशिमें चाणक्य मुनिको अग्नि लगाकर जलाया. तो भी उन्होंने स्तनत्रयाराधनाका त्याग नहीं किया. और उत्तम अर्थ को वे प्राप्त हुए।

अर्थ— कुणालनगरकी एक व्यक्तिको आम लगाकर रिट्ट नामक राजमंत्रीने अनेक शिष्योंके साथ वृषभसेन नामक मुनिराजको जलाया तो भी संपूर्ण शिष्योंके पास मुनिराजने आराधना को धारण किया.

अदिदा एवं एदे अणगारा तिब्बवेदणद्धा वि ॥

एयागी भट्टियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अंठं ॥ १५५८ ॥

अथी तपोपनाग नामाः स्वार्थमेकाकिनो यवि ॥

अप्यास्य वेदनास्तीयाः निःप्रतीकारविग्रहाः ॥ १६१७ ॥

विजयोदया—अर्धवा एवं यदि तावदेतदेत एतवस्तीयवेदनापीडिता अस्ति एकाकिनोऽप्रतीकार उक्तमाद्यं प्रतिपद्या ॥

मूलारा—एगावी एकाकिनोऽसहायाः ॥

अर्थ—यदि ये उपर्युक्त रणतरुष पुर्नजिने तीव्र वेदनाओंसे पीडित होकर भी अकेल ही तीव्रवेदनाका कुछभी हलाज नहीं किया. और उसमार्थ की अर्थात् रत्नत्रयाराधना की प्राप्ति करी.

किं पुन अणयारसहायोगेण कीर्तयस्मि पडिकम्मे ॥

संघे ओलमगते आराधेदुं ण सकेज्ज ॥ १५५९ ॥

चतुर्विधेन संघेन धिनत्तेन निषेवितः ॥

तद्वाराययसे न त्वं देधिमाराराधनां कथम् ॥ १६१८ ॥

विजयोदया—किं पुन अणयारसहायोगेण किं पुनर्न शक्यते आराधयितुं अमगारसहायेन भयता कियमाणे प्रवि कारे संघे ओलमगते चतुर्विधेन निषेवितः ॥

मूलारा—ओलमगते उपाय न कुर्याति सति । ण सकेज्ज न शक्येत त्वया ॥

अर्थ—हे धूपक ! तुम सो अनैक मुनियोंकी सहायतासे युक्त हो और तुझारी तीव्र वेदनाका हलाजभी हो रहा है. तबमें अनैक मुनि भी तुझारी श्रद्धा करते हैं. अतः तुम आराधना देपीकी भक्ति क्यों नहीं करते हो ?

जिणवयणममिदभूदं महुं कण्णाहुदि सुणंतेण ॥

सफा हु संघमज्जे सावेदुं उत्तमं अहं ॥ १५६० ॥

कर्णजलिपुटेः पीत्वा जिनेन्द्रचनममृतम् ॥

संघमध्यं स्थितः शक्तः स्वार्थं साधयितुं सुमन् ॥ १६१९ ॥

यितुं ।

विजयोद्या—विजयपणं विनामो यत्नं, । अमृतमृतं, मयुरं कर्णोद्भूतिं शृण्वता त्वया संयम्यो शक्यमापन्न-
मूलारा—अप्रागुद्दि कर्णयोपगुहिरिव । तयोपभिरिव षट्पक्वकरिस्तात् । सखा शक्या त्वया ॥
अर्थ—जितेश्वरका वचन अमृतकें समान मीठा है, कर्णको श्रिय है इसका तुमको उपदेश प्रतिदिन
मिलता है अतः इस संपन्न तुमको रत्नप्रयासाधना करना अशक्य नहीं है-

गिरयतिरिक्त्वगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ॥

जं पचं इह दुक्खं तं अणुचित्तेहि ताच्चित्तो ॥ १५६१ ॥

श्वन्नतिर्यमरस्वर्गसुखदुःखानि सर्वथा ॥

तवं पित्तय महाबुद्धे अवलोकधान्यनेकशुः ॥ १६२० ॥

विजयोद्या—गिरयतिरिक्त्वगदीसु य नरकतिर्यगातिषु च । माणुसदेवत्तणे य संतेण माणुसवैयत्ययोच्च
सता यत्नत इह सुपरान्तर्द दुःखं तं अणुचित्तेहि ताच्चित्तो ॥

एवं प्राणलभ्यसासत्यमुमुक्षुवर्गदुःसहपरीपदोपसर्गसद्वत्प्रदर्शनयवैवतारचकस्य धृतिवलयभयनामुद्धोष्य सांम-
तमनारिकालादुभूतपादुर्गतिकदुःखमुलानुपित्तनवलेन तत्सद्वत् प्रबंधेनोपविरति-

मूलारा—संतेण सता भयता । ताच्चित्तो वद्वत्तनताः ॥

अर्थ- नरकगति तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगतिशोभें है शक्य ! तुमने जो दुःख सहन किया है
उमका भी वो तुम कुछ विचार करो-

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ॥

कायणिमिच्चं पत्तो अणंतस्सुत्तो बहुविधावो ॥ १६६२ ॥

नरकें वेदनाधिघा द्युःसहासातदायिनीः ॥

देहासक्तया प्राप्ताधिरं यास्ता विचित्तय ॥ १६६३ ॥

विजयोदया—निरपसु नरकेषु । वेदनायो वेदना । अणोषमाओ अनुपमाः । तादृश्या वेदनायां अगत्यन्यथा
अभावात् । असादृशद्वाराओ असद्वेषकमवबुद्धाः । कारणवद्बुद्धत्वेन कार्यानुपपत्तिराख्याता । कायणिमिषं पत्तो शरीर-
निमिषासंयमार्गितकर्मनिमिषावगन्मूलकारणं निदंष्टं कायनिमिषमिति । अण्वंशो अण्ववधारं । तं अयान् यद्विधाओ
यद्विधाः ॥

इतो नरकदुःखानुपपत्तये गायानामेकाग्रानिश्चला क्षपकं व्यापारयति—

मूला—अणोषमाओ अनुपमास्तादृश्याः पीडायास्त्रिषु लोकेष्वपि अन्यस्या अभावात् । असादृशद्वुलब्धो अस-
देगकर्मोदयप्रपेन निरंतरं प्रवर्तमाना इत्यर्थः । कायणिमिषं शरीररक्षाभिप्रासासंयमावितकर्मनिमित्तत्वात्तासां मूलकारण-
भावनार्थे इह । पत्तो शास्त्रत्वं जीव इति वा । यद्विधाओ उच्यशीव नरकदिक्कारणान्नान्यत्वावनेकप्रकाराः ॥

अर्थ—नरकमें सुमने ऐसी तीव्रवेदनाओंका अनुभव लिया है कि जगत्में अन्यत्र कहीं भी ऐसी
वेदनाएँ नहीं हैं. असाता ऐदनीय कर्मका बहुत काल तक तीव्र उदय होनेसे नरकमें सतत दुःख भोगना
पड़ता है. हे क्षपक! शरीरके निमिष अर्थात् शरीरके मोहमें पड़कर तू असंयमी हुआ था, इससे तेरे को दीर्घकालीन
असाताकर्मका वंध हुआ था. अनंत मर्वामें इस कर्मके उदयसे तूने दुःख भोगा है.

उष्णनरकेषु उष्णमहतास्त्रसाधौलया नाथा—

जदि कोहू मेरुमचं लोहपुष्टं पक्खविस्स निरयमि ॥

उण्हे भूमिमपत्तो निमिसेण विस्सेज सो तत्थ ॥ १५६१ ॥

क्षिप्तः स्वप्नायनी क्षिप्तं मेरुमात्रोऽपि सर्वथा ॥

उष्णामुर्वीममासाद्य लोहपिष्टो विलीयते ॥ १६२२ ॥

विजयोदया—निरयमि उण्ं लोहपुष्टं मेरुमचं जदि कोर पक्खवेस्स उष्णनरके लोहपिष्टं मेरुसमानं यदि
काश्चिदेवो दानवो वा प्राक्षेपेत् । सो तत्थ भूमिमपत्तो वेण विस्सेज लोहपिष्टो भूमिमग्राण एव इवत्वापुण्याति । उण्हेण
उत्प्लेन नरकपेल्लानं ॥

नारकाणामुपदुःखनिमित्तमुत्पत्यमहत्पुण्यातिरुत्पन्नया व्यापयति—

मूला—कोर कश्चिरेवो दानवो वा । लोहपुष्टं लोहपिष्टं । उण्हे उष्णे प्रकृत्या । आर्षत्वापुष्णमिति वा । भूमि-
मपत्तो मूलमन्वापेयेत्यर्थः । निमिसेण निमेषमात्रकालेन । विस्सेज द्रवीभवेत् ॥

अर्थ—उष्ण नरकमें यदि देव अथवा राक्षस मेरुप्रमाण लोहका गोला फेंक देगा तो वह विलकी तलभूमीको प्राप्य होनेके पूर्वगंही विलकी उष्णतासे पिघलकर पानी होता है.

तह चेध य तदेहो पञ्जलिदो सीर्याणरयपविस्वत्तो ॥

सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सदिज्ज लोहुण्डं ॥ १५६४ ॥

शिस्तत्त्वाग्निना तहो मेरुमात्रः सहस्रधा ॥

भीतामवनिमप्राप्य लोहापिंडो विधीयते ॥ १५६३ ॥

विजयोदया—तह केध तर्पेव । तदेहो मेरुमात्रदेहः सोढुंढो लोहपिंडः । पञ्जलिदो प्रज्वलितः । सीवणिरयमि
लीतनरके । पविस्वत्तो पक्षितो भूमिमप्राप्त एव । सीदेण सदिज्ज शीतेन विधीयते ॥

तद्वच्छीतलीनतां प्रवीति—

भूणार—तद्वच्छीपिय मेरुमात्र एव । पञ्जलिदो ज्वलनसंतप्तः । सीदो शीत । सदेवज्ज खंडकंवी भवेत् ॥

अर्थ—यदि यही लोहका गोला उष्णतासे पिघला हुआ शीत नरक विलमें फेंक दिया जायगा तो यहाँ की शीत भूमीका स्पर्श होनेके पूर्वमें ही यंधति उसके टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे.

शीतोष्णजनिधेदनातिशयमुचिदय शरीरेवेदनाभाषये—

होदि य णरये तिब्बा समानदो चेव वेदणा देहे ॥

चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स क्षारेण सिचस्स ॥ १५६५ ॥

तादृशी वेदना श्वेन्न घोरदुःखे निसर्गजा ॥

यादृशी चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेतनः ॥ १६२४ ॥

विजयोदया—होदि य णरये तिब्बा भवति च नरको सीत्रे वेदनाः । देहे शरीरे । समानदो चेव समभावत एव ।
चुण्णीकदस्स च चूर्णितस्यैव । घोरं सिचस्स क्षारेण सिचस्व । अमुच्छिदस्स अमूर्च्छितस्य । यादृशी वेदना तादृशेव
शरीरे वेदेनेति यावत् ॥

नरसेतु परमोष्णसीतमधवां वीजां वेदनां निवेद्य नैवर्मिणीं शरीरपीडासुखमन्तलेन व्यनक्ति—
मृदाया—पुष्पीकटस्य सुद्रव्यदिना शुष्कत्वस्य मादुषत्वं यथा । अनुच्छिद्यस्स मृच्छोन्मत्ताप्रस्य चेतयमानस्येत्यर्थः ।

उक्तं च—

तादृशी वेदना श्रेष्ठं चोद्रे दुःखे निवर्तयन्ता ॥

आदृशी चूर्णितस्यालि क्षिप्तक्षारस्य चेततः ॥

शूलोष्ण वेदनात्ता वर्णनं हुआ अब शारीरिक वेदनाका वर्णन करते हैं—

अर्थ—सुद्रवादिर्लोसि जिसको चूर्ण किया है, जिसके ऊपर क्षार जलका सिंचन किया है ऐसे अनुच्छिद्य
मनुष्यके शरीरमें वैसी वेदना होती है वैसी वेदना नरकमें जीवको स्वभावतः ही होती है.

गिरयकडयमि पत्तो जं दुक्खं लोहकंटएहिं तुमं ॥

जेरइएहिं य तत्तो पट्टिओ जं पाविओ दुक्खं ॥ १५६१ ॥

यच्छरभ्रावसथे भमिमे ग्रामोदुःखमनं कथा ॥

निश्चितैः कटकेलौहैस्तुच्यमानः समन्ततः ॥ १६२५ ॥

विजयोदया—गिरयकडयमि नरकविलसमूहे-नरकदंष्ट्रावारे इति । केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरपगतै रिति ।
पत्तो जं दुक्खं यरदु प प्राप्तः । लोहकंटएहिं निक्षिप्ततरलोहकंटकेः तुच्यमानसमे ॥

इतो नरसेतु विविक्तानि वीजदुःखांशानि षड्विंशः प्रमासूपाणि परीपहोपसंगदुःखतीव्रतावयित्स्मरण्याय संख्या-
मितं शेषयति—

मृदाया—गिरयकडयमि रत्नप्रभादिभूमिस्थितसमूहे अन्ये कटकदंष्ट्रेण रंजनावारमादुरवरे गर्तम् । जं दुक्खं
तं अनुचितेति गिरसेति गत्या संबंधः कार्यः । लोहकंटयेहिं निक्षिप्ततरलोहकंटकेःस्तुच्यमानसत्वं । यतो तस्मादलोहक-
टकनिक्षिप्तभूमिमागान्निष्ठान्तः सन् । षणा केषांविदाचार्योणां यतेन न्याय्या ॥ उक्तं च—

नररुदटे तं प्रातो यददुःखं लोहकंटकेस्तीक्ष्णेः ॥

यत्कारलेन्मोडणि च पिप्पलान्तः प्रापितो घोरम् ॥

अन्येणां त्वयं पाठो गन्वते । “नेदृणहि य संतो पटितो विस्वोहि दुहंतो” पूर्वदिं तु समानम् कुरुतं—

आवसैःकंटकैः प्राप्तो यदुतुपं तरकावनौ ॥

नारकैस्तुयमानः सन्पतितो निशिवैर्बान् ॥

अर्थ—नरकके बिलोंमें आविश्य तीक्ष्ण लोहके कंटकोंसे जो दुःख तुमने प्राप्त किया है उसका इस समय तुम चिन्तन करो. अर्थात् वह श्रुत दुःखसे अनंत गुण बढा या ऐसा समझकर सांयतका दुःख तुम श्रावित भावसे महन करो.

जं कुरुतामलीपं दुक्खं पचोसि जं च सुलम्भि ॥

असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिदकंकेहि ॥ १५६७ ॥

यत्तले कुरुतामस्यामसिपत्तवने गतः ॥

सर्वतो मध्यमागोऽयं कंककाकादिपक्षिभिः ॥ १६२६ ॥

विज्ञानोद्घा—जं कुरुतामलीपं य यद् यं प्राप्तोऽसि विप्रियाजितनिशातशाखमलीभिः । ऊर्ध्वमुखोनुलैश्च तीक्ष्णकंटकाकीर्णकुरुतामलीपरोहन् नारकमयाप । जं च सुलम्भि यद्य दुक्खमयासोसि दुक्खप्रायोत । असिपत्तवणम्मि य जं अस्य एव पयागि यस्मिन्ना तद्वसिपत्तवने । उष्णादितानां पुरुषेणां नारकाणां असिपत्तवनेऽनेकासुरविक्रियादिनिर्मितविनिर्माद्युपपन्नाणि यस्मानि । जं च कयं यद्य दृढ । गिदकंकेहि ग्रहैः कंकैश्च यज्जमैस्तुडैः तरलकोचमैस्तुडैति । तीक्ष्णकुरुतामलीपं यत्तले कुरुतामस्यामसिपत्तवने गतः ॥

महारा—कुरुतामलीपं ऊर्ध्वमुखोनुलैश्च तीक्ष्णकंटकाकीर्णकुरुतामलीपरोहन् नारकैर्धूल्यमाणः सन् । तद्वयाद्या समारोहन् । सुलम्भि शूलमिष्येतैः श्रोतःसन् ॥ असिपत्तवणाभि उष्णतानां पूतकवतां नारकाणां कृते संछिदासुरैर्निर्मिते यद्गुप्तमानपटुमसमूहे । य दृढतादित्रायुष पचवन्तु । गिदकंकेहि ग्रहैःकंकैश्च । ते हि वज्रमयतुर्गेतत्राणि तुडंति ॥ बीरणीकृतकपपसत्तैः शरंति, निर्जलसरपकैश्चरणाकुशैश्च साहवन्ति ॥

अर्थ—नरकमें विक्रियाने सामर्थ्यसे कुरुतामली नामक पक्ष अमुर देव बनाते हैं. ॥॥ वृक्षको नीचेसे लेकर चौटीवक कटि रहते हैं. कोई झाटोंका मुह ऊपर रहता है और कितनोंका मुह नीचे होता है. नारकोंके मयसे दीन नारकी उस वृक्षपर चढते हैं तब कोई नारकी जीव उनको ऊपर खींचते हैं और कोई नीचे खींचते हैं. ऐसे

कायते उन दीन नारकीओंका देह विदीर्ष्य होकर उनको घोर वेदना होती है- झूलपर चढ़ानेसे जो दुःख होता है- उगका हूं स्मरण कर- नरकमें असुरदेव विक्रियासे नाना प्रकारके शस्त्रोंके समान जिनके पत्र हैं ऐसे वन उत्पन्न करते हैं- उष्णतासे पीड़ित होकर रोते हुए नारकी जीव उसमें विश्रामके लिये जाते हैं परंतु वे शस्त्रमय पत्र पड़कर उनके अवयव टूटते हैं जिससे उनको घोर वेदना होती है- गीयपक्षी, और ॥ पक्षीमी अपने वज्रके समान मुंहसे और तीक्ष्ण चरण रुपी अंकुशोंसे नारकीओंको डुल उत्पन्न करते हैं.

सामसवलेहिं वीसं वइतरणीए य पावेओ जं मि ॥

पत्तो कयंवालुयमइगम्ममसायमवित्तन्वं ॥ १५६८ ॥

असुरवैतरण्यां च प्रापितो निर्घृणाक्षयैः ॥

कंदपवालुकापुंजं ग्राहमाना यदा मृतः (?) १५२७

विजयोपपन्ना—सामसवलेहिं इयमसवलेहिं इयमसवलेहिं इति सूरैः । दोसं दोषं दंडानां । वइतरणीए य पावेओ जं सि । वैतरण्यां नरां प्रापितो यवसि । वइभिन्दूतानां जलं मृगयतां विधु विन्यस्तदीमलौचमानां शुष्कतालुगलानां वैतरणी नदीमुपदर्शयंति । रंगचरणकुलां, भगाधनीलनीरभरितच्छवां, विषयसेव वुरन्तयणानुसंधनोयतां, संसृतिरिच दुक्खरां, भावोप पिशाळां, कर्मपुत्रलक्खं धत्तेवतिरिय विविन्नविपदिप्रियिनीं, तद्धांनद्वदूराभेयोपजातेकेटां स्रग्धजीविताः स इति मन्यामाना मृततरगतयस्तामगद्वेति । तदयमाह्वानंतरमेव कृतांजलयः पिपंति तादृपससिभे तवैभः । परपवचनमिय हृदयदाहविधादि, हा विमल्लयाः सेति करणं रस्तां शिरांसि परपुत्तमसमीरणरेणोस्थिततरंगमसिधारा निकुन्तमिह करयरणानि च । तेनातिशारेणोष्णेन, कालकूटविषयमानेन जलेन, यनांतरयवेक्षितां बहामाना झटितं घटितकरत्तरणा- सादमेव रटन्ताः समारोहन्ति । तेषां च ग्रीवासु द्यामशयला महतीः शीलां वज्रशृंगयलाप्रोता वचंति दुर्वेयोयाः । पक्षा च तस्यामेव घातयंति । पातितास्तः कृतोन्मल्लननिमलनानामुचमंगानि अक्षुरविक्रियाविर्गितमहामकरफरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतंति । पुनश्च तटमारुदगन्धस्तस्तांस्तकभूय निष्कलं वध्मंति । तानपरिस्वयवस्थितान्त्वक्षीकृत्य विध्वंतीति निशातशरतसहस्रेः । पत्तो कलंवालुगामविगमम प्राप्य कंदंवाप्रसूनाकारा गालुकाचितदुःप्रवेशां, वज्रदलांलतवदि- रंगारकणप्रजरोपमनाः परिप्राप्य तत्र चलात्संचार्यमाणः यथातवानसि दुःखं तन्निवतय ॥

मूलारा—सामसवलेहिं इयमसवलेहिं इयमसवलेहिं इति सूरैः । दोसं दंडनं वइतरणीए य वैतरण्यां च । जं सि यदुःखम- सि त्वं प्रापितः । ते हि नारकाणां शुद्धिभूतानां जलमन्वेपमाणानां । विधु विक्षिपदीनचपुणां । शुष्कवालुमूलानां । नरकनदीं

रंगनरंगमाजकुचभंगीनीलीनीलपूतितन्त्रां । विषयसुरसेवामिव दुरंतवृणानुबंधोत्पत्तां । मंस्तुतिमिव दुरुत्तरमाशागमिवाति-
दिग्गतां । धर्मदुर्दयसमंहेनिमिव निवित्रविकरतीं वसेवंति । तदर्थनाथ ते दूरादेव यमुदयुतोत्कंठां लब्धवतीविताः संजाताः सरन-
इति मन्यजानाः । द्रुततरालयत्नासम्पन्नाहन्ते । उदन्तवत्सेव कुण्डांजलयः पयः पिवन्ति तप्तवायोद्भूतमिवात्यंतसर्वांगीण-
दाहकिमपि । नतश्च तेषां ह्य विप्रलब्ध्याः स इति धृक्कणं रसतां शिरांसि करचरणं च परुषतमसमीरणमेरणोच्छ्रिततरंगान्ति-
विनिर्गमिपाता निरुन्नास्ति ॥ तेन च योजोपलभ्यारवाणिषा फालकूटविषद्वर्णपद्धारिषा, त्रणांवरप्रवेदिता, दंददृष्टमाना
सदिति पुनर्पेदितशिरः करचरणस्तदमवर्तस्ते चर्दन्ति । ततश्च वेदसुरकुमारस्तान्धजंशृङ्खलायददुर्विभोपमहाशिखामूढकंधरा-
स्तरागेनेव पालयन्ति । कत्र च तेषां कृतनियज्जनोन्यजनानां शिरांसि अमुनिमित्तमहामकरकरप्रक्षारेण जलैरीयूय निपत-
न्ति । तत्र च तदमाह्लासः पुनः संयोजितशिरसां तेषां काः शिलाः पुनर्निज्जलं वप्यन्ति । कृन्तव्यशुभ्रं कंदवसुकुमारकाण्डिकी
यमरुच्यलंठुनां प्रदीपलपिरोमादप्रभसां । अद्विगम्य प्राप्य । सत्रागल्लसुरैः संचार्यमाणो यत्र दुःखं शास्तस्तस्मात्सि (१) प्रति-
मनस्यपपापयेति अपचक्षिष्या संचादन् ॥

अर्थ—दय्याससहल नामके असुर देवोंके द्वारा वैतरणी नदीमें नारकिओंको जो दुःख दिया जाता है उसका
हे धूपक ! तू स्मरण कर. जिनकी तीव्र व्यास लगी है, जो पानीको हूँद रहे हैं, चारों दिशाओंमें दीन नेत्र लगाकर
जो देख रहे हैं, जिनकी ठाठ प्याससे सुख गई है, ऐसे नारकिओंको वे अदुरादेय वैतरणी नदी दिखाते हैं.

यह नदी अनेक तरंगोंसे उछलती है, इसमें अगाध पानीसे अनेकसरोवर भरे हुए रहते हैं. विषयका सेवन
जैसे मृषाको पदार्ता है वैसी यह दुःखदायक नदी व्यास की वदती है. संसारसे निकलना जैसे काठिन है वैसे वैतरणी
नदीमें प्रवेश करनेसे उसमेंसे बाहर निकलना नितांत काठिन है. यह नदी आशोक समान विशाल है. कर्म के मुद्गल
वैसी अनेक तराही आपसियोंको उत्पन्न करते हैं वसी यह नदी भी नारकिओंको अनेक प्रकारके दुःख देती है.
इस नदी का दर्शन होत ही नारकिओंको इसमें प्रवेश करनेकी उत्कंठा उत्पन्न होती है. अब हमारे सब
दुःख नष्ट होंगे और हम सुखसे जीवेंगे ऐसा समझकर वे उसमें जलदी प्रवेश करते हैं.

उत्तम प्रवेश करते ही वे अपनी अंजलिओंसे ताँके त्रिकं समान लाल रंगका पानी पीना शुरू करते हैं. परंतु
जैसे कठोर मापण हृदय को संतप्त करता है वैया वह जल मनको अतिशय दुःख उत्पन्न करता है. तब द्राप्य! द्राप्य!
हम गिलगुल फल भरे हैं ऐसा करुण वचन बोलते हैं. अतिशय कठोर वायुसे उछले हुए जलतरंगरूप तरवारियोंसे

नाराकियोंके मस्तक, हाथ, पाय टूट जाते हैं, अतिशय धार और उष्ण जल कालकूट विषके समान जब ज्ञानोंमें प्रवेश करता है तब उनको अत्यंत दाहदुःख होने लगता है।

जब उनके हाथ और पैर खुद जाते हैं तब वे नदीके तटपर चबते हैं उस समय श्वाभञ्जल नामके असुर वज्रकी शंखलासे बंध हुए बड़े २ पत्थर उनके गलेमें बांधकर पुनः बँतारणमें उनको ढकेल देते हैं- पढ़ने पर वे ज्ञान नदीमें डूबकर पुनः उभर आते हैं और पुनः डूब जाते हैं, असुरोंके द्वारा उत्पन्न किये भगर नामक प्राणी-ओंके हाथका आघात होनेसे उनका मस्तक फूट जाता है और वे पुनः नदीमें डूब जाते हैं,

पुनः जब वे तटपर आते हैं तब उनकी असुरदेव झाड़को निचल बांधते हैं और तीक्ष्ण लक्ष्मणवि बाणसे बिद्ध करते हैं,

नदनंतर वे नारकी जिसमें बज्रके टुकड़े भिले हुये हैं, और जो खदिर की जमीन के समान लालरंगकी है ऐसी अग्निवत्त वास्तुकांमें उन नाराकियोंको बलात्कारसे श्वर उभर बुलाते हैं, ऐसे समय जो दुःख उनकी होता है वे क्षपका उसका हुन विचार करो,

जं गीलमंडवे तचलोहपडिमाउले तुमे पंचं ॥

जं पाइओसिं वारं कडुयं तचं कलयलं च ॥ १५६९ ॥

तत्तायःप्रतिमाकारिणं यत्प्राप्तो लोहमंडपे ॥

आयसं पायमानोऽपि प्रत्यंतं कटलं कडु ॥ १६२८ ॥

विजयोदयः—अं पसं सं चिंतेहि अथासं दुःखे सञ्चितय । पीलमंडवे कालोहपडिते मंडपे । तत्तलोहपडिमाउले तत्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसंपाद्यमानस्तलोहप्रतिमायुत्पादितो यदुःख प्राप्तवानसि तन्मनसि निधेहि । जं पाइओसिं वारं यत्पायितोऽसि क्षारं । कडुयं कडुक । पंचं तसं ॥

मूलाः—जं गीलमंडवे कालोहपडियमंडपे । तत्तलोहपडिमाकुले ज्वाभिलोहवर्णतलोहमकुबुवसिंधाते । तुमं त्वया । पचं प्राप्तं । बलात्कारसंपाद्यमानस्तलोहप्रतिमायुत्पादितमादिदुःखं । पञ्चिदो सिं पायितोऽसि । कटलं ताम्रगीतकविष्ठसंज्ञरसमुगुलसिक्थकलधजबुधभलेभाः काथयित्वा मिलिवाः कलकल दसुच्यंते ॥

अर्थ—काले लोहसे बनाये बंदूपमें चटुवल्ली तथाये लोहकी श्रतिमाये रहती हैं। तुमको उनसे बलात्कारसे आश्लिष्यन करानाये है। तब जो दु स तुमको उत्पन्न होता ॥ उसको तुम ध्यानमें लाओ तथा क्षाण्, अग्निवत्तम और कड़ुआ रस तुमको पिलाते थे उसका भी तुम स्मरण करो।

जं स्वाविओसि अवसो लोहंगारे य पञ्जलंते तं ॥

कंदुसु जं सि रस्वो जं सि कच्छीणु तल्लिओ सि ॥ १५७० ॥

दुःस्पदर्यं वायमानो यल्लोहमंगारसंषयम् ॥

पच्यमानः कंदुकासु मंडका इथ रंधितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—अं स्वाविओसि यस्मादितोऽसि अवशोऽवशः । बलात्कृतविदारितात्मकः । लोहंगारे य पञ्जलंते तं लोहंगारान्ज्वलयतः त्वं । कंदुसु जं सि रस्वो कंदुकासु यमंडका ॥ य पच' ॥

मूलारा—स्वविशो रंधितः । अवसो यस्मादंविदारितमुल्लतः । लोहंगारे कोदसयोंगात् । तं त्वं कंदुसु मंडक पचनाभांगु त्वेदनिष्ठासु । रस्वो मंडक इव पकः । कपटोप कृत्या कटादिक्षयाभित्थयैः ॥

अर्थ—उस नरकमें हे क्षपक! तुमको बलात्कारसे यंत्रके द्वारा मूल क्राडकर लोहके जलवे भंगार खिलाये थे, और तुमको यदिके समान कड़ाईमें बलाया था- उसका तुम विचार करो-

कुट्टकुट्टिं चुण्णाचूर्णिणं मुग्गरमुसुंदिहत्थेहिं ॥

जं वि सखंडो खंडिं कओ तुमं जणसमुहेण ॥ १५७१ ॥

चूर्णितः कुट्टितश्चिन्नो यन्मुद्ररसुसंहिभिः ॥

चल्लुशः खंडितो लोकैर्यच्छुश्रूष्यैरितस्ततः ॥ १६३० ॥

पित्तयोदया—कुट्टकुट्टिं बटुओ यत्कुट्टितचूर्णितः मुद्ररसुसंहितस्तैः, यथा जनसमूहेन भवान् असह्यजेडित-सार्धतः करणे कुट्ट ॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सक्षति सुतवीलता ॥

तथा कृपा दमो कालं प्रसादो गर्हये क्षमा ॥ १ ॥
 इत्येवमाद्याः सुमुखाः प्रशस्ता ये शरीरिणां ॥
 तेषु ते तुलभा नित्यं कांतारेष्टित्व मातुषाः ॥ २ ॥
 शत्रुमित्र उदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ॥
 शत्रुरेव हि सर्वोऽयं जनः सर्वस्य नारकः ॥ ३ ॥
 कंचनैः कणधैर्यैर्नारकैः कणचैर्नरैर्यैः ॥
 मदाभिर्मुंदातैः शूलैः प्राचाः पापाणपट्टितैः ॥ ४ ॥
 सुष्टिमिर्यष्टिमिळीष्टैः तंदुभिः शक्तिभिः शरीरैः ॥
 अस्तिभिः क्षुरिकाभिश्च कुंतैर्दंडैः सखोमरैः ॥ ५ ॥
 तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ॥
 भूखपापास्त्वयं जातिर्वैकिथैरपि आयुधैः ॥ ६ ॥
 नारकास्तत्र तेऽभ्योऽयं रोपयेनेन पुरिताः ॥
 पूर्वैराण्यनुस्मृत्य धर्मगणानसेयवान् ॥ ७ ॥
 मिति छिद्यति भिद्यति खाद्यति च तुदंति ॥
 विषयंति चापैर्मनंति ग्रहरांश्च इरांश्च च ॥ ८ ॥
 श्वशुरगणकुक्षुध्याश्चरुद्रुमरूपाणि वापेर ॥
 विहृत्य चिद्वं पाथा वाधेतेऽयं परस्परं ॥ ९ ॥
 काष्ठरौकसिकारूपैर्निपतंति च केषु चित् ॥
 पततस्मान्महीच्छति ते च शूलामसिस्थिताः ॥ १० ॥
 मज्जायंति जलीभूय वायुभूय तुदंति च ॥
 दहति दहमीभूय न दहति परस्परं ॥ ११ ॥
 तिष्ठ दासेय इन्मि त्वां त्वं कुतस्ताः पलायसे ॥
 निगदसे महागोदान्मृत्युस्त्वां समुपस्थितः ॥ १२ ॥
 छिदि छिदि तत्राकपं रंदि हंषि विधानतः ॥
 यमोर्निनं मृदानाम्नु वद छळादय मात्य ॥ १३ ॥
 अंगरे पातयाप्येवं तुम्ह पिंडो भदीवय ॥
 विशसेति च संरम्य तं मुच्यति गिरोऽनुमाः ॥ १४ ॥

मूलारा—इष्टाकुटि असीव कुटःकुलः । गुणलुणि असीव चूर्णकुलः । गोमार लोहकंठकिवनष्टि । सुमुंहि चज

मुष्टि । मुद्राहस्तैर्नारैर्वह्मत्वं कुट्टितो, रुक्म मुसुंक्षिहस्तैः । सुवर्णं चूर्णवत्त्वं तर्धिवेति संन्यः ॥ जं वाचि यच्चवसि ।
रंङासदि कदो रंङं लंङ कृत । जण नारकाः ॥

मूलारधना

१४३८

अर्थ—नरकमें मुद्रा, भूँडों वषट्क आयुषोद्धार उप अनेक नारकियों द्वारा चूर्ण किये गये थे. और अनेक नारकियोंने तेरे अनेक बार तुझे भी किये थे. उन दु खोंका तू स्मरण कर

१-२ अतुकूल किया करना, और बोलना, नम स्वभाव, सुख स्वभाव, लज्जा, दया, प्रसन्नता, दान, देना, इन्द्रिय दमन करना, विनय धामा इत्यादिक जो उषम शुभ मनुष्योंमें होते हैं वे जंगलमें जैसे मनुष्य दुर्लभ होते हैं वैसे नारकियोंमें दुर्लभ होते हैं ३-८ इस जगतमें बड़, मित्र और उदासीन ऐसे तीन भेद हैं परंतु नरकमें मित्र और उदासीन वे भेद हैं ही नहीं किंतु सचही नारकी जीव आपसमें छद्मपना ही धारण करते हैं. याण, धक, नाराच, करौठ, नल, गदा गुडल, शूल, पाश पाषाण, पट्टिख, मूठ, लठी, मट्टीकें डेले, झील, शंखनामक आयुध, घागविघेय, तरवार, छुरी भाला, दंड तोमर इत्यादि अनेक आयुधोंसे नारकी जीव क्रोधसे सतत होकर परस्परमें लडा करते हैं नरक भूमीका भी घेसा स्वभाव है कि उपर्युक्त शस्त्र स्वयं उत्पन्न होते हैं नारकी भी अपनी विक्रि-यासे ऐसे शस्त्र उत्पन्न करते हैं विमंगलानसे भी पूर्व वैरोका स्मरण कर वे नारकी अन्योन्य को मारते हैं, छेदते हैं भिन्न करते हैं भक्षण करते हैं दुःख देते हैं वाणोंसे बख्सी करते हैं. प्रहार करते हैं. ९-१० कोई कोई दुष्ट पापी नारकी कुशा, सियाल, मेडिया, बाघ, गीब इत्यादि प्राणियोंका रूप धारण कर आपसमें लड़ते हैं. कोई २ नारकी लकड़ी और पर्वत वनकर अन्य नारकियोंको ऊपर धिर पड़ते हैं अथवा शूलके अग्रभागपर चढ़ावे हुए नारकियोंके शरीरपर वे गिर पड़ते हैं ११ कितनेक नारकी जीव पानी होकर डुबाते हैं. वायु होकर उड़ते हैं अग्नि होकर जलाते हैं परतु परस्परपर वे दया नहीं करते हैं १२-१४ अरे दास तू यहां खर में तेरेको मारुंगा, तू कहां भाग जाता है, महामोहसे तूं छिपना चाहता है परतु मैं तेरे लिये मृत्यु होकर आया हूं वे नारकी छेदन कर, भेदन कर, पीटा कर, खोंच, रोक, जलाव, बांध, चूर्णकर, ढकल, मार, प्राणले इत्यादि अशुभ मायण आपसमें बोलते हैं

अनेनेटया नारकेण प्राणितवेदनां शुद्धिं निरूपयति—

जं आवहादो उप्पाडिदाणि अच्छीणि गिरयवासम्मि ॥

अवसत्ता उक्खया जं सत्तलमूलायते जिब्भा ॥ १५६४ ॥

उत्पाद्य चहुशो नेवे जिह्वा संखिच्च मूलतः ॥

यचीतो नारकैदुःखं दुःखदानविशारदैः ॥ १६११ ॥

पिजयोदया—जं आवहादो उप्पाडिदाणि गिर पृष्ठदेशादुत्पट्टिते । अच्छीणि लोत्रने । गिरयवासे य नरक-
पासे च । अवसत्ता अवशस्य । जं यत् । सत्तलमूलायते जिब्भा निरवयोपा ते जिह्वा ॥

मूलारा—अष्टदुहो लघुद्रुतः । कुठरिफळः श्रीवापखिमभागादिलयः अन्यस्तु तसं तृतीयाधे मन्यते । उक्खयादा
उत्पत्ता । उत्पाटिता ॥

नारकी जीव और भी लो दुःख देते हैं आचार्य उनका वर्णन करते हैं—

अर्थ—हे क्षपक! नरकमें मस्तकके पश्चिमभागेसे तेरी अंखि निकाली गई थी और परार्थीन हुए तेरी
जिह्वा भी मूलभागेसे नारकिओंने उखाड़ी थी इसका भी मनमें विचार कर,

कुंभीपाप्सु तुमं उक्खडिओ जं विरं पि वं सोल्लं ॥

जं सुठिउच्च गिरयम्मि पठलिदो पावकम्महिं ॥ १५७३ ॥

कुंभीपाके महातापे कथितो यत्समंततः ॥

अंगारप्रकरैः पक्तो यच्चूलप्रोतमांसवत् ॥ १६३२ ॥

विक्रयोदया—कुंभीपाप्सु तुमं कुंभीपाकेषु त्वं । उक्खडिओ उत्कथितः । जं सुठिउच्च शूलप्रोतमांसवत् ।
गिरयम्मि नरके । पठलिदो अंगारप्रकरे पक्क । पावकम्महिं पावकमग्निः ॥

मूलारा—कुंभीपागेसु कुंभ्य चट्टिकाः । पाकाः पचनाधिकरणानि । कुंभ्यज्ज्वाः पाकाश्चते कुंभीपाकास्तेषु ।
सोढं धृतमिधितैलं, यज्जलेप इत्यन्यः ॥ सुठिउच्च शूलप्रोतमांसं । पठलिदो अंगारप्रचारफळः । पावकम्महिं नारकैः ।

अर्थ—क्षपक! नरकमें अनेकवार तुम कुंभीपाकमें पकाये गये थे, तथा हुए नारकीओंके द्वारा शूलमांसके

समान वीत्र अर्नीये जुने भी मयेये- इन वर्तिका भी-स्मरण करो-

जं भजिजदोसि भजिजदंगपि व जं गालिओसि रसयं व ॥

जं कपिओसि वल्दूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥ १५७४ ॥

शाकचङ्गुयमानो यत् गाल्यमानो रसेन्द्रवत् ॥

चूर्णवच्चूर्णमानो यद्वल्दूरमिव कर्तितः ॥ १५७५ ॥

विजयोद्या-जं भजिजदोसि यद्वल्दूरं भजिजदंगपि भजिजदनामयेयशाकवत् । जं गालिओसि रसगोष्थ यद्वल्दूरमिव रसयत् । जं कपिओसि वल्दूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो रसयत् । जं कपिओसि वल्दूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो रसयत् । जं कपिओसि वल्दूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो रसयत् । जं कपिओसि वल्दूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो रसयत् ।

मूलार-भजिजदो वृष्टः । भजिजदंगपि व भजिजदनामयेयशाकवत् ॥ पचनीयमिद्वल्दूरः ॥ रसयं गुड-रस इव । कपिओ भवत्येवमु छिन्नः । वल्दूरयं व मांसदण्डमिव । वल्दूरं पि वेति पाठे शुद्धमांसमिवेत्यर्थः । चुणि-कदो पूर्णकृतः ।

अर्थ-हे क्षपकः तुम नरकमें भजिजद नामक साग के समान अग्नीपर पकाये मये थे. तथा गुड के रस के समान तुम गाले मये थे. शुष्क मांसके समान तुम्हारे दुकड़े १ किये मये थे. और चूर्णके समान चूर्ण किये गया था.

चक्रेहि करकचोहिं य जं ति णिकचो त्रिकसिओ जं च ॥

परस्यहिं फाडिओ ताडिओ य जं तं मुसंडीहिं ॥ १५७५ ॥

दारितः ऋक्चैदिउवः खड्गैर्विद्धः शरादिभिः ॥

यत्पाटितः परश्वान्यस्ताडितो मुद्ररादिभिः ॥ १५७६ ॥

विजयोद्या-चक्रेहिं करकचोहिं चक्रेः करकचः । जं ति णिकचो यदसि निष्ठतः । त्रिकसिओ त्रिविधं कृतः । परस्यहिं फाडिओ परस्यभिः पाटितः । ताडिओ ताडितः । जं तं त्वं मुसंडीहिं मुपुंडीभिः ॥

मूढारा—निकतो नियतं छिन्नशर्कः । विकचिदो विविधं संदितः ककचैः । परसुहिं परशुभिः । फाडिदो फाटितः । तं स्वम् ॥

अर्थ—चक्रमे हे क्षपक' तेरा छेदन किया गया था और करोतसे अनेक प्रकरसे तू चीरा गया था. कुन्हा-दीसे तू फाटा गया था. तथा भृशुंदी नामक शरके द्वारा बर्षाव सुदूरसे तू पीटा गया था.

पासेहिं जं च गाढं बद्धो मिण्णो य जं सि दुघणेहिं ॥

जं खारकहसे खुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥ १५७६ ॥

पाणैर्यद्धोअभितो मिन्नो दृघणेरवशो घनैः ॥

दुग्गेमेऽधोयुत्तीवृतो यत्तिस्सः क्षारकवसे ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—पासेहिं पाशैः । जं यत् । गाढं बद्धो दटं बद्धः । मिण्णो ॥ मिश्रश्च । जं सि यदस्ति । दुघणेहिं घनैः । खारकहसे क्षारकवसे । खुप्पिदोसि मिश्रातोऽस्ति । ओमच्छिओसि अधोमस्तकः । अवसो परवशाः ॥

मूढारा—दुघणेहिं लोहकारचनैः । खारकहसे क्षारपंके । खुप्पिदो मिश्रातः । ओमच्छिओ अधोमस्तकः ॥

अर्थ—पाशसे नारफिओन तैरेको दट बांधा था. और तैरे मस्तक पर घनके प्रहार क्रिये थे. परयत्न होनेसे क्षारके कीचहमें नचि मस्तक और ऊपर पाय करके तुमको गाढ भी दिया था.

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फाडिओसि मल्लिदोसि ॥

जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिव्वेसु वेण ॥ १५७७ ॥

यदापणः परायत्तो नारकैः कुरकर्मभिः ॥

लोहचुंगगाटके तीक्ष्णे लोखमानोऽतिवेगतः ॥ १६३६ ॥

विजयोदया—यद्धमः, पातितः, मर्दितः, लोडितश्च तीक्ष्णेषु चुंगगाटकेषु वेगेन ॥

मूढारा—छोडिदो निसलीकृतः । आच्छ दलन्यः । मोडिदो नमयित्वा अमः । फाडिदो पातितः । मेलिदो मर्दितः पादैः । लोडिदो लोडितः । सिंघाडएहिं शृङ्गाटकेषु त्रिकोणकंदेषु लोहमयत्रिकोणकंदकेष्वित्यन्यः ।

अर्थ—नारकजोने तेरा जमीनपर पटककर मर्दन किया था, तबिन अन्न विनके है ऐसे लोहेके कंटकोपर तू बहे वेगसे पसीटा गया था तथा नमकर उन्होंने तुझको मोटा या.

पूलाधना

१४४२

विच्छिन्नगोबंगो खारं सिच्चिनु वीजिदो जं सि ॥

सत्तीहिं विमुक्कीहिं य अद्याए खुंचिओ जं सि ॥ १५७८ ॥

नरद्वा लोकेज्ज्विलं गात्र क्षुरभेर्निशितैश्चिरम् ॥

वीजितः क्षारपानीयैः सिक्त्वा सिक्त्वा निरंतरम् ॥ १६३७ ॥

विजयोदया—विच्छिन्नगोबंगो विच्छिन्नगोपांय. । खारं सिच्चिनु खारं सिक्त्वा । वीजिदो जं सि यमोपजितः । सत्तीहिं शक्तिभिः । विमुक्कीहिं य अयोमयबद्धाभैर्वहे । अद्याए दयामंतरेण । खुंचिदो पराजितं ॥

मूलार—विच्छिन्नगोबंगो; विविधं संख्यानि हस्तादीन्युत्पादीति य यत्नः । खारं क्षारेण । सिच्चिनु सिक्त्वा । सुतिक्लेहिं अतिनिक्षताभिः । वीजितयापायेषु विमुक्तीहिं इति पठित्वा अयोमयकंटकाभैर्दैहिल्लभ्यमभयम् । खुंचिदो भिण्णः । परावर्तित इत्यन्वयः ॥

अर्थ—तुमारे भिन्न अवयवोंपर खार चूर्ण का जल संचिकर नारकी उपके ऊपर हवा कर देते थे. तदनंतरपुष्पि नामक शस्त्रसे और लोहेके कटि विनको लगे हैं ऐसी लाठियोंसे निर्दय होकर खींचकर लोटते थे.

पगलंतरुधिरधारो पलंबचमो पमिन्नपोट्सितो ॥

पठलिदृढिदओ जं फुडिदथो पडिचूरियंगो य ॥ १५७९ ॥

शक्तिभिः सुचाभिः खड्गैर्यदिच्छन्नाखिलविग्रहः ॥

विगलद्रक्तधाराभिः कर्दमीकृतभूतलः ॥ १६३८ ॥

विजयोदया—पगलंतरुधिरधारो प्रगल्भधिरधारः । पलंबचमो प्रलंबचम् । पमिन्नपोट्सितो प्रमिन्नोदर शिरः । पठलिदृढिदओ प्रतप्तदृढः । जं यत् । फुडिदच्छो स्फुटितलोचकः । पडिचूरियंगो य परिचूरितानां य मूलार—पेष्ट रुद्धं । पठलिदृढिदओ प्रतप्तचित्तः । फुडिदलो स्फोटितक्लेशः ॥

अर्थ—जिसके शरीरमें रक्तकी धारा बह रही है, शरीरका घमटा नीचे लटक रहा है, जिसका घेठ और मस्तक फूट गया है, जिसका हृदय लम हुआ है, जिस फूट गई है, तथा सब शरीर चूर्ण हुआ है ऐसा न नरकमें अनेक मा दुःख भोगता ॥ उसका चिंतन कर-

जं चडयंडतकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिळ्वं ॥

गिरए अणंतखुत्तो तं अणुचितेहि निस्सेसं ॥ १५८० ॥

यत्सफुटल्लोचनो वग्घो ज्वलिते वज्रपावके ॥

यद्विज्जन्तस्सपादादिच्छिद्यमानास्थिसंचयः ॥ १६३९ ॥

शोषणे पेपणे कर्पणे धर्पणे लोदने मोदने कुदने पाटने ॥

आसने ताडणे मर्दने चूर्णने छेदने भेदने मोदने यत्थित्तः ॥ १६४० ॥

दुःकृतकर्मविपाकवशोत्थं कालमपारमनंतमसखम् ॥

लोढमिदं हृदये कुरु सर्वं कातरतां विजहीहि सुबुद्धे ! ॥ १६४१ ॥

इति श्वप्रगतिः ॥

विजयोदया—अं यत् । चडयंडतकरचरणंगो येपमानकरचरणांयः । पत्तो सि वेदणं तिळ्वं । मत्तोऽस्ति वेवणां तीक्षां । गिरए नरके । अणंतपारं अनंतवारं बह् अणुचितेहि अणुकमेण वित्तय । निस्सेसं निरवशेषं ॥ नरकगतिदुःखं पणितम् ॥

मूढरा—चडयंडत प्रकंपमानं । अणुचितेहि अणुकमेण वित्तय त्वं ॥ इति नरकगतिदुःखावृत्तितं ॥

अर्थ—हे क्षपक! नरकमें जिसके हाथ पाय वेदनासे कंप रहे हैं ऐसे तूने अनंत बार जो दुःख भोगा है

उसका अनुक्रमसे पूर्वस्मरण कर-नरक गतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ-

तिरियगदि अणुपत्तो भीममहावेदणाउल्लमपारं ॥

जम्मणमरणरहटं अणंतखुत्तो परिगद्धो जं ॥ १५८१ ॥

जन्ममृत्युजरणीणां घोरां तिर्यगतिं गतः ॥

किं तीव्रां बहुशो लब्धां सरसि त्वं न वेदनाम् ॥ १६४२ ॥

पंचधा स्यावरा जीवा विमुदीभूतचेतनाः ॥

लभंते यानि दुःस्वानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥ १६४३ ॥

विजयोदया—तिरियगाँदं यणुपत्तो तिर्यगतिमनुगाहः । भीममहादेवनाडलमपारं । भीममहादेवनाकुलमपारं जन्ममरणरुदहं जन्ममरणघटीबंधं । अणतसुप्तो अनंतपारं । परित्यक्तो परिस्राप्तोऽसि । यत् विदेहि तं इति दक्षयमाणेन संबंधः । तिर्यको हि बालाविधाः पृथिव्येतेषोवायुवनस्पतिप्रसभेन ॥

आत्मभुवनान्यपि न स्मरति दुःस्वानि केचिदिदं नराः प्रमत्ताः ॥

दृष्टुं तान्मयसमुद्रबानि ते विस्मरंतीति न विस्मयोऽत्र ॥ १ ॥

प्रमादलोपायमतो नरेभ्यो श्रान्तोऽपि सोऽयं परिकल्प्य पय ॥

छेत्तुमर्चनाये प्रभवति यस्मिन्मुणा न दोषाश्च समुद्रयंतु ॥ २ ॥

होति भियातं सखिलादि बोणे क्षेमं भवे संधयितुं समर्थाः ॥

ये जंगमस्ते न तु सांति क्षांतिरेकत्रिषाणां वत जीयसामो ॥ ३ ॥

सर्वेष्वसर्गनिह मोक्षकामा यथा विरागा मुनयः सहेते ॥

सर्वेष्वसर्गानवशा वराका यकंद्रिया ये न सदा सहेते ॥ ४ ॥

जालंघयूका यधिराश्रयाला रथ्यास्तु रक्षासरणमहीणाः ॥

प्रमर्षमाणा गजयानियानैर्दया क्रियंते विषया वराकाः ॥ ५ ॥

तथा प्रकारो विकलैर्द्विषाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ॥

मृत्युः समंतात् सततं सुघोरो श्रेय्यरत्नेषु न निःशरण्याः ॥ ६ ॥

मोऽजाविकाशे परित्यर्पमाना यामाविक्रमैः परिप्लव्यमाणाः ॥

अग्नौन्ययकैः परित्युष्यमाणाः दुःखं च भुङ्क्ते ॥ हि ते लभंते ॥ ७ ॥

तिष्ठैः क्षिप्रोतिश्रवणैश्च यक्षैः सजादितैश्चावययैस्तनूनां ॥

चिरं स्फुरंतः प्रतिकारहीनाः कुच्छेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥ ८ ॥

निमल्यमाणा उदधिदुनापि निज्यासवातैरपि चोद्यमानाः ॥

प्रचोद्यमाना लघुनोष्णानपि नश्यंति ये तेषु प्रयेत्कथा का ॥ ९ ॥

धरः प्रविश्येह यथा नरः समुद्रमज्जनं चैव निमज्जनं च ॥

भीटाप्रसक्तो बहुजोऽपि कुवादन्यकार्यं स्ववशी वयस्याः ॥ १० ॥

अविश्य ज्ञ-भोवधिमप्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्मयुक्त्यन् ॥
 अस्त्युक्तैर्दृष्टिं समाप्नुवन्ति पेरीयमानाः कहुदु-खतोयम् ॥ २१ ॥
 सत्यैः शरीरैरपि ते मदाति दुःखानि नित्यं समाप्नुवन्ति ॥
 स्थलेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगर्भेभ्य हृष्टः ॥ २२ ॥
 देवो न मत्ता न विता न वञ्चुर्न चापि भिन्नं न सुखं नाथः ॥
 न श्रेष्ठो न भिन्नो न भक्ष्यं न ज्ञानास्तेष्व कुतः सुखं स्यात् ॥ २३ ॥
 माया विद्योनेऽपि सतीह वायव दुःखान्नु उच्यते न जनो लभेत ॥
 माया विद्योगस्तु मयेव येषां स्थानं कथं ते न हि दुःखरागे ॥ २४ ॥
 मा मैष्ट मा भूत्तव दुःखजालं मा विष्ट मा चेति वतककार्णा ॥
 आवास्तको वायवुर्कंपिता या तेषां जनः कोऽस्ति यथा मरणा ॥
 तैस्तैः प्रकाशैः सर्वतः समंवाञ्छन्वद् याना अपि मृत्युमुग्रं ॥
 करोति या को ग्रहणं विरीक्ष्य विमुच्य संयचयिदो मनुष्यान् ॥ २५ ॥
 अन्योन्यतो मर्यजनाश्च पापाश्च सुखवित्तश्चापि भवामवाप्ति ॥
 पंचैत्रिया याभिः समाप्नुवंति दुःखानि तेषां हि कोपमा स्यात् ॥ २६ ॥
 स्नानं यथास्वभापि भक्षयति भितास्ति रस्वोऽपि न निष्कृपाकाः ॥
 निहस्य सादरं परम्येषु तिर्यक्षु किं विरमपनोयमस्ति ॥ २७ ॥
 अन्योन्ययातार्थमनुग्रयति हंतुं समग्र्यः रूपणोऽनुयाति ॥
 तं कदिचदभ्यः सहरसा निर्हता इी पिक्ततो भीमतरे किमभ्यत् ॥
 अन्योऽन्यद्विद्वज्जनवनिदा अन्योन्यमाहस्य विजीविष्यन्तः ॥
 सस्था न येऽन्योन्यमवात्सर्पति किं ते भवेयुः सुखिनः कदाचित् २०
 ब्रमे सुगास्तोयतृष्यपुण्याः मुगिसहाया रतिपान्नुवन्ति ॥
 व्यापादिमिष्येद्रयमाप्नुवन्ति निरेनसः कारणमत्र कमे ॥ २१ ॥
 विद्योजिता भक्तमस्तुतैश्च यादैर्भुक्तो भूयैश्चतसस्तनोऽनुकूलैः ॥
 विद्यास्तु दीनाभिः विरीक्ष्यमाणः सुदारुणं मारणमाप्नुवन्ति ॥ २२ ॥
 स्वमावपायाः कृकवीरिताभिः मोत्साहिता दुःश्रुतिभिः पुलस्य ॥
 अविभक्तो दुर्गतो यथेष्टं प्रत्नोऽभ्यर्तव्यं हितान्नमन्ते ॥ २३ ॥
 ब्रमे सुगेभ्यः विविक्तस्नानेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तयाविधेभ्यः
 ते विन्यते न कचिदाभ्यस्ततो बहन्त्यया विप्रति जीवितानि २४

सर्वकुशादिग्रहैर्गजान्ध कशादिघतैश्च हवा हताश्याः
भावश्च तोमादिवधैः परेषां कुर्वन्ति कर्माभरणदकाभाः २५
प्रत्या युतानामलमेतदेव विरागमापन्नमेवे निमित्तम्
तादृग्विषयानां यद्वचो हि कोऽयः कथं प्रकुर्वन्त्यमितेतरस्य २६
दंष्ट्रामानाश्च द्वाविधेर्गोदाजलोधेस्तु समूहामानाः
श्रुवाः रज्ज्वाः सर्वसरीसृपाश्च सार्धं त्रिव्यते यद्वयो यतान्ये २७

इतानीं विवेकगतिदुःखानुचितने गाथासप्तकेन क्षपणं व्यापारवति—

सूयात—अनुपपत्तो नरकगतः पञ्चाव्ययः । अपातं अतीतं विराजुर्वधिरुक्तात् । रघुं घटीयं च । परिगदो जं ।
मातो यदुदुःखं । पितेहि तं सज्जमिति वक्ष्यमाणेन संपन्नः ।

अर्थ—प्रयंकर वेदनाओंसे व्याकुल) पाररहित ऐसे तिरपंयगतीको प्राप्त हुआ तू अनंतवार जन्मसरणरूप घटीयंत्र को प्राप्त हुआ था, उसका भी तू विचार कर, स्मरण कर, तिरपंयोंके पृथिवी, वायु, जल, अपि, वनस्पति और ज्ञास ऐसे अनेक भेद हैं।

१-२ कितनेक उन्मत्त मनुष्य पूर्वजुभूत दुःख भी यदि भूल जाते हैं तो देखे हुए सुने हुए अन्य लोगोंके दुःख वे भूल जाते हैं इसमें क्या आश्चर्य है, अपना प्रमाद नष्ट होनेके लिये मनुष्योंको स्वयं के ज्ञात हुए भी अपराध कहनेही चाहिये, अपने दोषोंका स्मरण रखना और दूसरोंको कदना गुणोत्पत्तिके लिये कारण होता है दोषस्मरण करनेसे और कहनेसे गुणोंकी शुद्धि होती है।

३ मनुष्य ठंडीसे बाधा होनेपर निर्वातस्थलका आश्रय करते हैं, उष्णतासे भीहित होने पर ठंडा जल पीते हैं मय उत्पन्न होनेपर निर्भय स्थानका आश्रय लेते हैं द्वीन्द्रियादि जीव भी उपर्युक्त बाधाओंसे अपना रक्षण करनेमें समर्थ हैं, परंतु एकेन्द्रिय जीवोंमें वह सामर्थ्य नहीं है।

४ जैसे वैराग्ययुक्त मोक्षेच्छु शुमिगण सर्वप्रकारके उपसर्ग सहते हैं वैसे बुद्धादिक एकेन्द्रिय जीव पराधीन और दीन होनेसे हमेशा सर्व प्रकारके उपसर्ग सह लेते हैं।

५-९ जैसे जन्मांध, मूंगे, बहिरें लोक और बालक उनका कोई रक्षक न होनेसे दीन और परतंत्र होकर हाथी घोटे, यान वाहनादिकसे मर्दित होते हुए मरते हैं, वैसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुर्गिन्द्रिय जीव भी उपर्युक्त प्रकारसे

मरते हैं उनकी नारकियोंके तुल्य दुःख भोगना पड़ता है। ये जीव गांवों अथवा अरण्यमें भी रहे परंतु सर्वत्र भयंकर मृत्यु हाथ धोकर उनके पीछे दौड़ता ही है। माघ, वक्रा, मेढा, वगैरे प्राणिओके हाथ पाजोंसे वे कुचले जाते हैं। रथादिकोंके पहियोंसे उनका नाश होता है। वे स्वयंभी अपने देहसे अन्योन्यको पीटा देकर मरते हैं। कितनेक जीवोंके मस्तक चूटते हैं, पाव टूट जाते हैं तथा शरीर के तंत्र अवयव रोगसे पीडित हो जाते हैं तब अधिक दुःखी होकर महाफटसे प्राण त्याग करते हैं। द्विद्विआदिक कोई जंतु इतने छोटे होते हैं कि वे एक पानीके बुंदमें भी डूब जाते हैं। निधासकी हवासे भी उड़ जाते हैं। योद्धीसी उष्णतासे भी उनको दुःख होता है। ऐसे प्राणिजोंको यदि उपर्युक्त दुःखोंकी प्राप्ति होगी तो कहना ही क्या ?

१०-११ क्रीडामें बहुर, तरुण, ऐसा कोई मनुष्य जैसे सरोवरमें प्रवेश करके चारोंवर उन्मज्जन निमज्जन करता है अनेक प्रकारसे क्रीडा करता है। स्वाधीन होकर और अन्य कार्योंको छोड़कर जलक्रीडामें ही तत्पर होता है जैसे सर्व प्राणी भी जन्मसमुद्रके मध्यमें प्रवेश कर एक अन्तर्बहूर्तमें भी अनेक जन्मसमुद्रके मध्यमें भवेद्यकर एक अन्तर्बहूर्तमें भी अनेक जन्म मरणोंको प्राप्त करते हैं। इस संसारसमुद्रमें उनको दुःखरूपी कदवा पानी चारोंवर पीना पड़ता है।

१२ उनके वक्षः शरीर होनेपर भी उनको हमेशा तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं, जब उनको स्थूल शरीर प्राप्त होता है तब उनके दुःखादिक इतर स्थूलग्रस प्राणिओके समान ही देखे जाते हैं।

१३ इन द्विन्द्रियादिक प्राणिओको माता, पिता, वंशु, गुरु, स्वामी मित्र, कोई भी दितकर्ता नहीं रहते हैं। बीमार होनेपर न इनके कोई संबंधी भी है जो कि उनको अन्न खानेको देंगे इन जीवोंको ज्ञान भी नहीं रहता है तो सुखकी प्राप्ति इनको कैसा हो सकेगी।

१४-१५ माता का वियोग होनेपर भी दुःखरूपी समुद्र मनुष्य तीर नहीं सकता तो बिनको माता ही नहीं है वे अत्यंत दुःखके स्थान क्यों नहीं चलेगे, और ये भीति छोड़ दे, तरेको कुछ दुःख नहीं होगा ऐसा आश्वासन मनुष्योंको मिलता है। इस प्रकार इन तीन प्राणिजोंको कोई भी आश्वासन देनेवाला नजर नहीं आता है, और उनके उपर कोई दया भी करनेवाला दीखता नहीं।

१६ उपर्युक्त प्रकारोंसे वे पशु चारों तरफमें उग्र मृत्युको धारण करते हैं, अर्थात् वे अनेक प्रकारसे मरण

के बगु हो जाते हैं, जिनकी पशुगतिके संबंध का ज्ञान हुआ है ऐसे मनुष्योंको छोड़कर अन्य कोई भी व्यक्ति उनका रक्षण करनेका प्रयत्न नहीं करती है।

१७ कोई पंचेन्द्रिय पशु आपसमें लड़ भिड़कर दुःखी होते हैं, कितनोंको तो मनुष्य दुःख देते हैं, कितने पशु पशोदयसे और धुषा वृषादिकसे पीड़ित होकर दुःखी होते हैं, नानाप्रकारके भय उनके उत्पन्न होते हैं, उनके दुःखोंको उपमा ही नहीं है ?

१८ कोई विवेच्य प्राणी इतने निर्दय होते हैं कि वे अपने बच्चोंको भी खाते हैं, तो वे अन्य प्राणिजोंको खाते होंगे इसमें आश्चर्यावह क्या है।

१९ ये पशु आपसको मारनेके लिए दूट पड़ते हैं, कोई निर्दय प्राणी, उन दोनों को मारनेके लिए दौड़ता है, कोई अकस्मात् आकर उनको मार देता है।

२० ये सब पशु अन्योन्यको मारनेका योग्य मोका देखते रहते हैं, और अन्योन्यको खाकर जीने की अभिलाषा करते हैं, अन्य प्राणी मेरेको मारेंगे ऐसा ना। सभीके मनमें होनेसे उनके निद्रा आती नहीं इस विवेचनसे आपको भाखूम होगा कि क्या ये प्राणी दुःखी हैं ?

२१ वनमें हरिण पानी पीकर और वृण भक्षणकर पृष्ट होते हैं और हरिणीओंके साथ रहकर सानंदविन विताते हैं, ये किसीका कुछ चक्कसान तो करते ही नहीं परंतु व्याघ्राधिक दृष्ट मनुष्यसे इनको हमेशा भय उत्पन्न होता है इसमें पूर्वकृत पापकर्म ही कारण हैं।

२२ हरिण अपने बालक और हरिणीसे विपुक्त होते हैं, और हरिणी भी अपने बालक और अपने दृष्ट हरिणीसे विपुक्त होकर दीननेत्रोंसे चारों दिशाओंको देखती हैं, इस रीतीसे दुःखित होकर भयंकर मृत्युके मालमें पोहोचते हैं।

२३ कितनेक मनुष्य स्वभावतः पापी होते हैं, कुकची शिकार वगैरहका महत्त्व बताकर और दृष्ट शार्ङ्गोंका प्रमाण दिखाकर पशुओंको मारनेमें मग्न करते हैं उत वे भी दुर्गतिले भयग्रहित होकर प्राणिजोंको भयेष्ट मारते हैं और उनको खाते हैं।

२४ हरिणादिक पशुओंको वनमें हिंस्र पशुओंसे तृण रहता है और ग्राममें भी वे आने तो दृष्ट लोकोत्से

उनको मय उपलब्ध होता है. अतः उनको कहां भी निर्भयता का अनुभव आता ही नहीं. विचारे किसी प्रकारसे अपने दिन व्यतीत करते हैं.

२५ हाथी वगेरह प्राणिओंको अंशुयादिकके आयावसे दुःख भोगना पड़ता है. छड़ी वगैरहका आयाव पोंटे गहन करते हैं. पैल भैन वगैरह शृङ्ग वायुक वगैरहका प्रसार सहन करते हैं. और आमरण मनुष्योंके वश होकर उनको कार्य फलें पड़ते हैं.

२१ जो मनुष्य युद्धमान है वह इन दुःखों का विचार कर बिरक्त होते हैं ऐसे मनुष्य इतर प्राणिओंको दुःख देनेका कार्य नहीं कर सकते हैं।

२७ बहुतभे प्राणी दयामिळे वच होकर मरते हैं, कोई जलप्रवाहमें बहते बहते इहलोककी यात्रा पूर्ण फलें हैं, कोई हरिण, पक्षी, तपें, और तज्जतीय बहुत प्राणी इसी प्रकार मृत्युवश होते हैं.

तादुणतासणवंधणवाहणलंछणत्रिहेडणं दमणं ।।

कण्णच्छेदणणासावेहणणिह्णं चैव ॥ १५८२ ॥

मदा परयशीभताद्यनुर्था व्रसफायिकाः ॥

कुलं पट्टयिषं दीना लभन्ते विरमुत्पणम् ॥ १४४४ ॥

तावन् याहन् पण्डने नासने नासिकातोवने कर्णयोः कर्तने ॥

लाठन दाहने दाहने वृद्धने पीउने मईने हिंसने यातने ॥ १६४५ ॥

विश्वयोदया—आजणकारण तातुनवासनयंपल्लोडिगणान्तिरे
॥ १६४५ ॥

गूढार—गूढारण यष्ट्यादिभिरागतः । वासस्य प्राप्तं भयपण्ड्यं । गूढारणं यष्ट्यादिभिरागतः । वासस्य प्राप्तं भयपण्ड्यं । गूढारणं यष्ट्यादिभिरागतः । वासस्य प्राप्तं भयपण्ड्यं ।

पाह्य भाराश्रया देशोदरजनयनं । लङ्घ्य दानपद्मागारेण दाढं । विष्टेज्यं कर्तव्यं । यत्किञ्चिन्नास्ति तन्न भवेत् । अथवा निरोधाय रज्ज्वादिवियोजनं ।

निदंणं यपजनिदण्यम् ।

अर्थ—ठाठी वगैरहसे पीटना, मर्य दिखाना योही है—

मंछपयादिक आकासे उनके अवयवपर दाह करना, तकलीफ देना, कान नाक छेदना, अंडका नाश करना इत्यादिक दुःख विर्यगतिमें भोगने पड़ते हैं-

छेदणमेदणद्धणं पिपीलणं गालणं छुहातण्हा ॥

भस्वणमदणमलणं विकत्तणं सीदण्हं च ॥ १५८३ ॥

ससिलमारुतशीतमहातपत्रमणभक्षणपाननिरोधनैः ॥

दमनसोदनगालनभंजनं जलवियोजनभोजनवर्जने ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—छेदनेमदनवहनिपीडनगालनानि छुट्टादयाप्रक्षममदनमलनायकतमानि । शीतमुष्णं च ॥

मूलार—द्धणं अभिपत्तादित्वा घृतानां दाहः । पिपीलण नाबीमणपीडनं । गालणं रोगादौ रक्तनिःसारणं ।

मदणं कणिकायन्मलनं । विकत्तणं वर्णविनां भिषिचं कर्तनं ।

अयं—अवयवोंका छेदन, भेदन करना, कुछ अवयवोंपर दहन चढ़नेपर उसको जलाना, नाबीमें ग्रथ होनेपर उसका मर्दन करना, रक्त निकालना, कणिकाके सभान मर्दन करना, भ्रूक और प्याससे दुःख होना, कान नाक वगैरह अवयवोंको अनेक प्रकारसे कटरना इत्यादि विर्यच गतिमें दुःख हैं-

जं अत्ताणो निप्पट्टियम्मो बहुवेदणुदिओ पट्ठिओ ॥

वटुण्हि मदो दिवसेहिं चट्ठण्हंतो अणाहो ते ॥ १५८४ ॥

अत्राण-पतितः क्षोण्यां निःप्रतीकारविग्रहः ॥

दुःसहं वेदनां सोदत्वा बहुभिर्वासरैर्युतः ॥ १५८७ ॥

विजयोदया—जं अत्ताणो यदत्राणो निप्पट्टियम्मो निष्प्रतीकारः । बहुवेदणुदिओ बहुवेदनादितः । पट्ठिओ पतितः । वटुण्हि मदो दिवसेहिं बहुभिर्मुक्तो दिवसेः । चट्ठण्हंतो स्फुरदेहः । ते त्वं ॥

मूलार—अत्ताणो अक्षरणः । निप्पट्टियम्मो निष्प्रतीकारः । वेदणुदिओ वेदनादितः । चट्ठण्हंतो स्फुरदेहः । अणाहो अनाथः । तं त्वम् ॥

अर्थ—इत पशुगतियों, अरुधित, उपायपरहित, बहुवर्तीय वेदनाओंसे दुखित, शोक दे हुएकों से जमीनपर अनेक बार पड़ा था ॥३॥ बहुत दिनतक अपने सर्व अवयव वेदनासे डिलाता हुआ अनाथ ऐसे होते प्राण छोड़ें थे उनका न स्मरण कर.

रोगा विविहा चाघाओ तह य पिब्वं मयं च सज्जचो ॥

तिव्वाओ वेदणाओ घाडणपादाभिधादाओ ॥ १५८५ ॥

धुत्तुण्णायपाधिसंहारविहलीभूतमानसः ॥

पद्मं च बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृषये कुठ ॥ १५८६ ॥

विजयोदया—रोगा विविहा व्याधयो नानाप्रकाराः । चाघाओ याघाब्ध । तथा पिब्वं भयं च सज्जचो तिल्यं भयं च सज्जचः । तिव्वाओ वेदणाओ लीला वेदना घाटनपादाभेद्यताब्ध ॥

मूलात्—सम्यक्तो संपत्तः । वेदणाओ विविधा दूषादयः ॥ प्राप्तं प्राप्तं । पदभिधादा चरणेन दाडने । पाशमिपादा इति पाडे अभिधातः पीडामार्गः ।

अर्थ—इस पशुगतियों नाना प्रकारके रोग, अनेक तरहकी वेदनायें, तथा नित्य चारों तरफसे भय भी प्राप्त होता है. अनेक-प्रकारके पावने रगटना, ठोकना इत्यादि दुःखों की प्राप्ति पशु भविष्ये तुझको प्राप्त हुई थी.

सुविट्ठिय अदीवकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ॥

जम्मणमरणमणंतं अणंतखुत्ता समणुभूतं ॥ १५८७ ॥

विजयोदया—सुविट्ठिद सुचारित्र ! अदीवकाले असीतकाले । अणंतकायं तुमे अदिगदेण अणंतकायं स्वया प्रविष्टेन । जम्मणमरणमणंतं जन्ममरणं चाननं । अणंतखुत्ता अणंतव्यापक शक्तिः । समणुभूतं ॥ मूलात्—अणंतकायं आधारणवरीरं । तुमे स्वया । अदिगदेण प्रविष्टेन ।

अर्थ—हे उचम चारित्र्यके धारक शपक ! असीतकालमे अथाव भीते हुए कालमे अनंत खरीरोंको धारण करके अनंत जन्ममरणोंका अनंतवार अनुभव लिया है.

इव्वेवमादिदुस्सं अणंतसुत्तो तिरियखजोणीए ॥

जं पत्तोसि अदीदे काले चित्तेहि तं मव्वं ॥ १५८७ ॥

तिर्यग्गतिं तीव्रचिन्निव्रवदनां गतो जराजन्मविपर्ययाकुलए ॥

दुःस्वासिकां यां गतवाननारतं विंचितयेस्तामपहाय दीनताम् ॥ १६४९ ॥

इति तिर्यग्गतिः ।

वित्तयोदया—इच्छयादिदुष्यं इत्येवमादिदुःखं । अणंतसुत्तो अन्तःकारं । तिरिस्खजोणीए तिर्यग्योनौ । जं यत् । पत्तोऽसि प्राप्तोऽसि । अदीदकाले अतोत्तफाले । चित्तेहि तं सव्वं तत्सर्वं चिंतय ॥ तिरियमदी ॥

मूढारा—मूढम् ॥ तिर्यग्गतिदुःखानुपिबन्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार तिर्यग्गतिमें अनंतवार जो दुःख तुझको भोगना पड़ाया उस सर्व दुःखका हे क्षपक ! तू बारंवार मनमें विचार कर इस प्रकार तिर्यग्गतिका दुःखवर्णन पूर्ण हुआ ।

देवत्तमाणुसत्तो जं ते जाएण सकयकम्मवसा ॥

दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतसुत्तो समणभूदं ॥ १५८८ ॥

मानुयीं गतिमापथा यानि दुःखान्यनेकशः ॥

त्वमथाम्निखिरं कालं तानि स्मर महानते ! ॥ १६५० ॥

निजयोदया—देवत्तमाणुसत्ते देवत्तमाणुसत्तोः । जाएण जातेन । सकयकम्मवसा स्वकृतकर्मपशान् । दुक्खाणि किलेसा वि य दुःखानि फलेनाद्य । अणंतसुत्तो अनंतवारं समणभूताः ॥

देवत्वमनुष्ययोश्चिरानुभूतानि दुःखान्यनुचितविद्युमुपक्षिपति—

मूढारा—जादेण गतेन । सकद रत्तुं । दुक्खाणि कलःपीचाः । किलेसा शरीरकष्टानि ॥

अर्थ—हे क्षपक! तूने कुछ पुण्य कर्म का उदय होनेसे देव और मनुष्य गतिमें भी जन्म धारण किया था. इन गतिओंमें भी तुम्हें अनंतवार दुःख और क्लेश सहन करने पड़े थे.

प्रियविष्ययोगदुःखं अप्रियसंवासज्वाद्दुःखं च ॥
जं वेमणसदुःखं जं दुःखं पच्छिदालाभे ॥ १५८९ ॥

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥ १६५१ ॥

विजयोदया—प्रियविष्ययोगदुःखं प्रियविष्ययोगत्वात् दुःखं । अप्रियसंवासज्वाद्दुःखं च अप्रियः सहचासेन
जानं च दुःखः । येन नामधेयणेऽपि सार शब्दे आयेते, येन दर्शनादर्शने धूमायेते । जं वेमणसदुःखं यद्वेगमनस्यदुःखं
पच्छिदालाभे प्राप्तिनालाभे यदुःखं ॥

मातृपगतिदुःखदुःखिते क्षणं प्रयोक्तुं गाथा नय दिसन्नाहौ दुःखसहस्रत्वागमानसदुःखानि गाथात्रयेणानुस्मरयति—
मूढारा—प्रियविष्ययोगदुःखं यन्नामधेयणेऽपि सपर्योगोदरोभाषाप्रियजन्यमानो मनस्यात्तावो जायते । यदर्श-
ने च पशुषु वीक्षपक्षिके इव स चेत्ते प्रिय इत्युच्यते । प्रियेण विमयोगाविषयत्वं । समान्नावावदुःखं सुखं वैद्योत्तस्तापः ॥
अप्रियमप्यातो यन्नामप्राप्तयेऽपि सिद्धः फलमूदेति यद्विदोक्तं च कोचने धूमायेते सोऽप्रिय इत्याकाशयेते ॥ अप्रियेण
मन्यानः सहस्रस्मानं संयोग इति वाणम् ॥ जं ते माणसदुःखं यत्त्वन्मा प्रियविमयोगदुःखादिविषयं मानसं दुःखं । मानुष
भापसंभ्रानं तत्त्वर्धमेव विवर्धेति यद्व्यमायेत संजघः । पच्छिदालाभो शार्ध्वमानस्य वस्तुवोऽप्राप्तौ जातः ॥ इत्तं च—

प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ॥

अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ॥

अर्थ—प्रिय पुत्र, पत्नी वगैरहंका वियोग होनेसे तथा अप्रिय शत्रु, विष, कंटकादिकोंका संयोग होनेसे
हृत्तनो पटु व डाल मास हुआ था. अप्रिय पदार्थोंका नाम सुनते ही हृत्तको भस्मकमूल उत्पन्न होता था और अप्रिय
शत्रुओंका दर्शन होनेसे ही आँखें लाल हो जाती थी. तथा याचना करनेपर इच्छित वस्तुका जप लाभ न होता
था तब हृत्तको मनमें बहुत ॥॥ योगमा पटला था.

परमिचचदाए जंते असम्भवयणेहिं कडुगफरुसेहिं ॥

णिज्मत्थणावमाणणत्तज्जणदुःखसाइं पत्ताइं ॥ १५९० ॥

कर्कशे निष्ठुरे निःश्रवे भाषणे तर्जने मत्सने ताडणे पीडने ॥
 अकने दंभने मुंडने सेवने बाधने वर्तने मर्दने छेवने ॥ १६५२ ॥
 दुःसंहं किंकरिभूतः करणे निंदकर्मणः ॥
 यदवापश्चिरं दुःस्वं तन्निवेद्याय मानसे ॥ १६५३ ॥

विप्रयोगेदृशं—परमिच्छदस्य परश्रुत्यतया । असम्भवयोगेहि अशिष्टवचनैः । कद्वयकदहेसीह कद्वकैः परह्यैश्च ।
 निम्नभाषणादभाषणतत्प्राप्तदुःखार्थं पचारि निर्वृत्तसेनायामनवज्जनदुःखानि प्रोक्षानि ॥

मूढारा—परैर्यादि परस्मै राजादेशुल्लसंतीरां प्रेम्णतया सत्यां अक्षिष्टवचनादिजनितं मानसं दुःखं तत्संख्या
 संग्रातं तर्पितव्यं ॥ उक्तं च—

दुःसहं किंकरिभूतः करणे निंदकर्मणः ॥
 यदवापश्चिरं दुःस्वं तन्निवेद्याय मानसे ॥

निरुभच्छणा पिक्वारातिरुत्कारौ । अथभाषणा धनूनां मध्ये अबलाकरणं । तच्छणा तर्जनीयुरिच्छिप्य ह्मास्यते
 यत्ने करिष्यामीति कोषायेशभिप्रवर्धनं ॥

अर्थ—श्रीमान लोक राजादिकोंकी सेवा करते समय उनके अस्त्रेय शब्द; कदु, और कठोर शब्द सुन-
 कर तेरेको तीव्र मनोदुःख प्राप्त होता था- निर्मत्सना, अपमान, श्ल्यादिक का दुःस्व अनेकवार तुझको प्राप्त हुआ था-

दीणचरोसंचित्तसोगारिसिग्निगपठलिदमणो जं ॥

पत्थो घोरं दुक्खं भाणुसज्जोणीए संतेण ॥ १५९१ ॥

भीशोकमानमौत्सर्गरागद्वेषमदादिभिः ॥

तप्यमानो मतो दुःखं पाक्कैरिव चिंतय ॥ १६५४ ॥

विजयोदया—दीणचरोस—चित्तादीकवरोपचित्तसोगारिसिग्निभिः संतप्तमना यत् । पत्थो घोरं दुक्खं प्राप्ते
 घोरं दुःखं । भाणुसज्जोणीए संतेण मंथुरयोनी सत्त्वं मयता ॥

मूढारा—पठित्तिदमणो दीर्घत्वसिग्निगपठलिदं संवत्तं मनो येन यंत्रं वा । तन्मानसं दुःखं यथा यथा भाणुपथोनो
 मयता प्रातं तद्विन्त्यव । उक्तं च—

अर्थ—दीनपना, क्रीध, चिंता, शोक, असहनीयता, एतद्वय अगिओसे पीडित होकर हे क्षपका तुमको घोर दुःखोका अनुभव मिल चुका है.

भीतीकमानमास्वर्यरागद्वेषमदादिभिः ॥
तत्पमानो गतो दुःखं पावकैरिव चित्तम् ॥

दंडणमुंडणताडणघरिसणपरिमोसंमकिलेसा य ॥
घणहरणदारघरिसणघराहजलादिघणनासं ॥ १५१२ ॥
स्तेनाग्निजलदायावपार्थिवैर्यनविह्लवे ॥

कथादंडादिभिर्घाते हस्तपादादिमर्द्दने ॥ १६५५ ॥

निसरोरवा—इंडण मुंडण—इंडनमुंडणताडणदूषणपरिमोवसंक्लेसाः परधनापहरणदारदूषणाणि शुद्धदारज-
न विभिन्नविणमत्तान् ॥

अथदुःखानुसरणाय गाथापदकमाह—

नूदारा—इंडण अपराधे ममि राजादिमिर्धनापहरणं । घरिसण साक्षेष्पूण्यारोमणं । घरिसोसे परद्रव्यहरणं
घरत्परिवर्णं भाग्यविधर्षणं जलादिघणानामो जलान्म्यादिभिर्धनेविनाशः ॥

अर्थ—मदुष्य गतिमें अपराध होनेपर राजादिको घनापहार होता है. यह दंडनदुःख है. कुछ अपराध होनेपर मत्सरके सर फेंग निकलगाना यह मुंडण दुःख है. ताडण दुःख-अपराध होनेपर सटके लगाना. घर्षण दुःख प्राथम्यगहित दोषारोपण करनेमें मनमें दुःख उत्पन्न होता है. अपराध होनेसे राजा घन लुटवाता है तब जो डारण होता है उसको परिमोष दुःख कहते हैं. घोर द्रव्य हरण करते हैं तब जो दुःख उत्पन्न होता है उसको घन हारण दुःख कहते हैं. भार्याको कोई हुए जबरदस्तीमें हरण करनेपर उत्पन्न हुए दुःखको दारहरण दुःख कहते हैं. पर जलनेमें, घन नष्ट होनेमें इत्यादिक कारणोंमें मानसिक दुःख उत्पन्न होते हैं.

दंडकसाल्डिसदाणि डंयुराकंटमहणं घोरं ॥
कुंभीपाको मन्थयपलीवणं मत्तबुच्छेयो ॥ १५१३ ॥

मूर्ध्नि प्रज्वालने चङ्क्षुर्भक्तपानादिरोधने ॥

शुंखले रज्जुभिः काष्ठैर्हस्तपादादिवंधने ॥ १६५६ ॥

विजयोद्या—इंद्रकृतालमृत्तमणि इंद्रकृतागणधिशैल्लाडनानि इंद्रादिकार्यत्वाद्दशज्येनोच्यन्ते । इंद्रगुप्तमुष्टिप्रहारः । कंठमर्दनं कंठकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुंभीपाकः । मन्त्रमणलीयनं मन्त्राके अग्निप्रज्वलनं । मन्त्रबुद्धेदो भ्रातारनिरोधः ॥

मृजरा—रसा धर्मयष्टिः । अत्र ईकादिकर्तृभिः इंद्रादिकार्यत्वात्ताडनान्मुच्यन्ते । इंद्रगुप्तमुष्टिप्रहारः । दोषपट्टद्वयान्ति या । कंठयमरणं कंठतोमरि प्रक्षिप्य मर्दनं । कुंभीपागो उष्ट्रिकायां प्रक्षिप्य पवनं । पलेयलं अग्निप्रज्वलनम् । मन्त्रबोद्धेदो आहारनिरोधः ॥

अर्थ—लाठी, चायुरु और बेंतमे ठोकना, मुष्टिआसे छरीस्वर प्रहार करना, कंठोपर मुलाकार खूप मर्दन करना, कुंभीमें एकाना, मस्तकपर अग्नि जलाना, आहार पानी नहीं देना इत्यादिकोसे मनुष्य यतिमें दुःख होता था.

दमनं च हृत्पिपादस्य निगलअंद्वरचरज्जूर्हि ॥

बंधगमाकोटणयं ओलंवणणिहणनं चैव ॥ १५९४ ॥

पराभंचे तिरस्कारं धृशशाखाचलंधने ॥

न्याघसपंविपारतिरोगादिभ्यो विपर्यये ॥ १६५७ ॥

विजयोद्या—दमनं च हृत्पिपादस्य हस्तिपादेन नर्हन् । निगलअंद्वरचरज्जूर्हो निमलेन, अंद्रकाभिः, बर-
नाभिः, रत्नभिरन्य वंधन । आकोटणय हस्तो पृष्ठतो नीत्वा बंधन । ओलंवणं प्रीवाचदपारास्य तरुशाखाद्यु लयनं । निह-
णनं गतौ निक्षिप्य धूरणं ॥

मृदाराधना—दाणं च हृत्पिपादस्य गजचरणतलप्रक्षेपः । जयथा दाणं खंडनं हस्तिपादेनैव । अन्ये यमनं
इति पाटिलोन्मर्दनमित्यर्थमाहुः । कंठु ग्रंथला हृदि हलन्त्यः । अन्ये अंडु इति पाटित्वा चर्मबंधनमित्यर्थमाहुः ॥
आकोटणं हस्तो पृष्ठतो नीत्वा बंधनं । उक्तवन्धनं प्रीवाचदपारास्य तरुशाखायामवलंयनं ॥ निहणनं गतौ निक्षिप्य धूरणं ॥

अर्थ-हायकिं पायों कुचलाया, चेही, सुंलल, लर्मकी कादी ओर दोरी इनसे बांधवा, हाथ पीठके तरफ बांधना, चंडको पाशुबद्ध कर दास्यपर लटकाना, यहुमें फेरकर ऊपर मड़ी डालकर बंद कर देना इत्यादि दुःख योगे ये.

कृष्णोदसीसाम्नासाल्लेदणदंताण भंजणं चेव ॥

उत्पाडणं च अच्छीण तहा जिम्मायणीहरणं ॥ १५९४ ॥

जिह्वाकणोष्ठनरसाक्षिपाणिपादादिकर्तने ॥

स्त्रीसत्यानातपोष्ययापुसुखादिकर्तने ॥ १६५८ ॥

विजयोद्या-कृष्णोदसीसामाल्लेदण कर्मवोरोधयोः, शिरसो, नासिकापादाद्येभ्यः । भंताण भंजणं क्षेत्र भंतानो भंजने । उत्पाडणं च अच्छीणे अस्पोरुत्पाटने, तथा जिम्मायणीहरणं जिह्वादिहरणं ॥

मूढारा-हरणं निन्दनाशनं ।

अर्थ-कृष्णच्छेद करना, होठोंको छेदना, नाकको काटना, मस्तक तोटना, दांत गिराना, आँसे निकालना, फोटना, जीम निकालना, जपोंत्तु हंमसे जीम बाहर रखना इत्यादि दुःख प्राप्त हुए ये.

अग्निविससुत्तुसप्पादिवालसत्थामिषादघादेहि ॥

सीदुण्हुरोगदंसमसपूहि तण्णाछुहदीहि ॥ १५९६ ॥

पिच्छयोषा-अग्निविससुत्तुसप्पादिवालसत्थामिषादघादेहि अक्षिपल्य, शत्रूणां, सपदेस्वोत्तुमुगणां, दास्य प्रदारय्य च धातैः । सीदुण्हुरोगदंसमसपूहि शीतोष्णन, भंसाभसाकं, तण्णाछुहदीदि चट्टमुघादिरिभिः ॥

मूढारा-सप्पादि सयंमुक्षिणकुण्डरुजोभक्षिपादयः । वाल व्याघ्रसिद्धादयः ॥

अर्थ-अग्नि, विष, शत्रु, सर्प, क्रूर मणी, और शूलप्रहार इनसे मी अनंत बार दुःख प्राप्त हुआ था. शीतसे, उष्णसे, रोगसे, दंसमशकसे अनंत बार दुःख प्राप्त हुए थे.

जे दुक्खं संपत्तो अणंतसुत्तो मणे सरिरे य ॥

माणुसमवे वि तं सव्वमेव चित्तेहि तं धीर ! ॥ ११९७ ॥

शरीरं मानसं दुग्धं साधो ! प्राप्तमनेकदाः ॥

यद्दुःसहं त्वया मृत्वे तत्त्वं चित्तय यत्नतः ॥ १६५९ ॥

मार्हितं दुरितकर्म निर्मितं मानुषीं गतिमुपेयुषा त्वया ॥

दुःसहं विरमवाप्तमूर्जितं किं न चित्तयसि तत्त्वतोऽमुस्वम् ॥ १६६० ॥

इति दृग्गतिः ।

विजयोक्ता—जे दुग्धो संपत्तो अणंतसुत्तो अणंतवारं । अणंतसुत्तो अणंतवारं । मणे सरिरे य मनसि शरीरे च । माणसे शरीरे च दुःखं प्राप्तः । माणुसमवे वि मनुष्यमवेव अपि । तं सव्वमेव चित्तेहि तत्त्वतोऽमुस्वम् । तं धीर त्वं धीरः ॥

मृशारा—सहम् । मनुष्यगतिदुःखानुविषयम् ॥

अर्थ—हे क्षपक ! इस मनुष्यगतिमें भी अणंतवार जो मानसिक और शारीरिक दुःख तेरेको प्राप्त हुआ था हे धीर ! तू उसका चार २ चित्तन कर.

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेषु माणसं तिव्वं ॥

दुक्खं दुत्तसहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणत्तस्स ॥ १५९८ ॥

देवत्वे मानसं दुःखं घोरे कायिकतोऽग्निनः ॥

वराधीनस्य बाह्यात्वं नीयमानस्य जायते ॥ १६६१ ॥

विजयोक्ता—सारीरादो दुक्खादु शारीराद्भावे । होदि भवति । देवेषु माणुसं तिव्वं देवेषु मानसं तीमं । दुःखं सोऽमुस्वम् । अयमस्स अवसस्स । परेण अभिजुज्जमाणत्तस्स अनेन अभियुज्यमाणस्य यादनतां नीयमाणस्य ।

वरागतिदुःखमाशयकमनुसारादित्थं गाथाचतुष्टयमाशयत्वाद्दौ तदुत्पत्तीत्यतस्त्वं सव्वेत्तुमुपदिशति—

मूलं—परं सत्समिगं देवेन । अभिजुज्जमाणत्तस्स नाहंनतां नीयमाणस्य । वरुणं चासत्त्वापादनद्वारावतारेण मानसं दुःखं त्वं त्वं वरुणः । वरुणोऽसत्त्वापादनद्वारावतारेण विधिरत्तं वरुणः ॥ १६६१ ॥

अर्थ—देवगतिमें आर्यिक दुःखकी अपेक्षा मानसिक दुःख अतितीव्र है-जब अधिक पुण्यप्राप्ति अधिकारी देव हीन पुन्यके धारक देवको चाहमकर्म में निमित्त करता है तब उसको महान् मानसिक कष्ट अनुभवमें आता है-

देवो माणी सत्तो' पांसिय देवे महद्विपु अण्णो ॥

अं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥ १४५९ ॥

दुष्पां दुप्पवामरो मानी महद्विक्कसुराधियम् ॥

तदा स अयत्ते दुःखं मानभंगेन मानसम् ॥ १४६२ ॥

विक्रयोपपा—देवो माणी सत्तो देवो मानी सन् । पांसिय देवे देवान् इत्यादि । महद्विपु महद्विक्कान् । अण्णे सन्तान् । अं दुक्खं संपत्तो यत्पेरे दुःखं प्राप्त- । भग्गेण माणेण भग्गेण मोक्षेन ॥

दुरगतवेष प्रमत्तारायप्रापणि मानसदुःखान्यनुस्मारयितुं गाथात्रयमाह—

मूढारा—माणी स्वोरुपसभानमाभिमिषेक्षेण साध्यमानः । पांसिय इत्यादि । महद्विपु महती तित्तिदेरविक्रा

दुष्पां क्खिदिगिमादिगुणमपद परिगमादिविगुणिअ वेणं तान् । संपत्तो मानी देवः सत्तांमुल्लेख्येन आसत्त्वं यदुत्तुल्लं लक्षितयेति मर्षणः । न सत्तमेव चित्तेहि तं धीरेल्लुक्किज्जाय सम्बधाय विराशितयान् । एवमुत्तरादिपि योग्यम् ॥

अर्थ—मानी देव अन्य महाक्खिदाली देवोको देखकर जिस घोर दुःख को प्राप्त होता है वह महद्विपु गतिके दुःखांको अपेक्षासे अनंत गुणित है-क्खिदाली देवोको देखकर उसका गर्व क्षतयः चूर्णे होनेसे वह गता यथी होता है

दिव्हे भोगे अत्तरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ॥

पजहंतगस्स अं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥ १४६० ॥

सुंदरास्त्रिदिवयासिसुदरीधुचतो विचुयभोगसंपदः ॥

ध्यायतो भवति दुस्समुत्त्वणं गर्भवासवसतिं च निदितां ॥ १४६३ ॥

पिउयोवपा—दिव्ये भोगे दिव्याभोगान् । अत्तरसाओ देवकृत्यकाः । सग्गवासं च स्वर्गवासं च । पजहंत गस्स परित्यजतः । अयत्तस्स परित्यज्य । अं ते दुक्खं जादं यच्चय दुःखं जातं । चयणकाले व्यथनकाले ॥

च्ययनसमयसकुलं दुःखमनुस्मारयति-

मूढारा - अवमस्त गत्यंतरनिर्वर्तककर्मपरतत्रस्य ॥

अर्थ-—अब मृत्युके पाश गलेमें आ पड़ते हैं तब दिव्य भोग, देवांगना, और स्वर्गवास का त्याग करते गमप जो तुमको दुःख हुआ था, हे क्षणकाल तू उसे स्मरण कर.

अं गम्भवासकुणिमं कुणिमाहारं लुहादिवदुक्खं च॥

चित्तंतगरा ये सुचि सुहृदयस दुक्खं चयणकाले ॥ १६०१ ॥

पूर्वभयार्जितदुष्कृतजातं । उत्पन्नं त्रिविधास्वमशस्तम् ॥

दुःखमसह्यमपरमयासम् । चित्तय भद्र विमुच्य विपावम् ॥ १६०२ ॥

इति देवगतिः ॥

विश्वरोक्ष-—अं गम्भवासकुणिमं यद्वर्भयासकुलितं । कुणिमाहारं लुहिताहारं । लुहादिवदुक्खं च । चित्तंतगरा चित्तयत । सुचिसुहृदयस सुचि-लुहितस्य । अं दुःखं चयणकाले बहूः प्र चयणकाले स्वर्गोच्छेदमकाले ॥
मूढारा-—कुणिमं कुलितं । अशुचिदुःखमर्थादि । सुचिसुहृदयस देवले शुभेऽसुहितस्य सतः । द्यूतम्-

इतकल्पदुर्मर्कपूषणमणिचिष्णोद्यभूपायट-

ल्लामलान्यावरणापरगविमबच्छावाप्रभासवताम् ।

रुडयौढदुग्मर्षिषा विनिष्पत्ता पय्यासक्षेपायुषाम् ॥

सदःशूरं प्रथते ग्रन्थित्विष्य सुखं श्रेष्ठेपि यज्ञेप्यते ॥

देवगतिदुग्मदुर्गतमम् ॥

अर्थ-—आयुष्यकी मर्यापि समयमें अब यहाँसे चयकर मेरेको माताके दुर्गंध गर्भमें रहना पड़ेगा, दुर्गंध पदार्थों का गर्भामे आहार लेना पड़ेगा और धुआ, प्यास वगैरह दुःखोंमें मेरे को पीना होगी, मैं इस देवपर्यायमें सुखी और पवित्र हूँ परंतु अब क्या करूँ यह आयामी परिस्थिति कैसे टल सकती है ऐसा विचार आनेपर जो दुःख तुमको प्राप्त हुआ था उसका हे क्षणकाल तू मनमें निवार कर

एवं एवं सर्वं दुःखं चतुर्गदिगदं च जं पचो ॥
तचो अणंतभागो होज्ज ण वा दुक्खमिमंगं ते ॥ १६०२ ॥
दुर्गन्तो यत्त्वया प्राप्तमेवं दुःखमनेकयाः ॥

न तस्यानंतभावोऽपि भद्र ! दुःखमिदं स्फुटम् ॥ १६६५ ॥
विजयोदया—एवं एवं सर्वं दुःखं चतुर्गदिगदं च जं पचो यत्प्राप्तवान् । सचो
तात् ॥ भस्मन्तभागो अणंतभागः । होज्ज ण वा मयेद्या न वा । दुक्खमित्यगते दुःखमिदं भवे मनुजजन्मनि ॥

एवं चतुर्गदिगदिगति स्मारयित्वा ग्रहते योजयति—

मूलरा—दोषत्रयं यं यं भवेद्वा नया । इमंगं इदानीतनं ॥

अर्थ—इम प्रकार इम चतुर्गतिमें जो जो दुःख प्राप्त हुआ था, उसका विचार करनेसे ऐसा माझम होता
है कि जो मामतकालीन दुःख है वह एवं दुःखोंका अनंतोक्त होना या नहीं भी होया. अर्थात् यह दुःख अत्यंत
अल्प है इसमें धरता कर तू अपने श्रद्धा स्वरूपसे च्युत होना अयोग्य है.

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताहं अविस्समंतेण ॥

दुक्खाहं सोढाहं किं पुण अदिअप्पकालमिस्सं ॥ १६०३ ॥

संख्यातमप्यतंख्यातं कालमध्यास्य तादृशम् ॥

अल्पकालामिदं दुःखं सहमानस्य का न्यथा ॥ १६६६ ॥

वित्तयोक्त्वा—संख्यातमंतर्हितं कालं संख्यातमंतख्यातं वा कालं । ताहं दुष्पपाहं सोढाहं तानि दुःखानि
सोढानि । अविस्समंतेण विधायमरहितेन । किं पुण किं पुनः सट्ठेते । अदिअप्पकालमिस्सं अत्यन्तकालमिदं दुःखं ॥

१६ परिमाणतः पूर्वोक्तदुष्पपाहं तादृशं दुःखस्याल्पत्वं समर्थ्य कालोऽपि तत्संख्यात्पत्वं त्रयीति—

मूलाया—संखेज्जं संख्यातं इतरपंचमस्यादिसंबन्धन्यस्थितेरोक्षया । असंखेज्जं एकसाधारोपममनुकृष्टसिधत्त-
पेक्षया । अविस्समंतेण विधायमरहितं ॥

अर्थ—है धृषक ! नरकादिदुष्मतिओंमें तुझको संख्यात वा असंख्यात कालतक निरंतर दुःख भोगना पडा

या. वह भी तुमने भोगा है. पंखु आजका दुःख अत्यंत अल्प है. और वह अतिशय अल्पकाल पर्यंत ही रहने वाला है.

जदि तारिसाओ तुहो सोढाओ वेदनाओ अवसेण ॥

धम्मोसि इमा सबसेण कहं सोढुं ॥ तीरेज्ज ॥ १६०४ ॥

अयंशेन त्वया सोढास्तादृश्यो वेदना यदि ॥

किं तव धर्मबुद्धयेयं स्वचक्षेन न सञ्चिन्ते ॥ १६४७ ॥

पिञ्जवोदया—जदि तारिसाओ यदि तारदयः। तुहो सोढाओ वेदनाओ त्वया सोढा वेदनाः। परमोसण परवशेन। धम्मोसि धर्म इति। इमा इयं वेदना। अयंशेन स्वचक्षेन सता। सोढुं न तीरेज्ज सोढुं न शक्यते। कपं वेदना धर्माः। उत्तमसुखमादावांजायदिभि. दशमकारो धर्म उच्यते। वेदनासहने धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं संशयोऽयं ॥

धर्मादुत्तरमरणेन अनिवार्यदुःखसहनाय धर्मबुद्धीरप्यदि—

पूजारा—तुमे त्वया। धम्मोसि वेदनासहनेन समक्षमादिलक्षणे धर्म इत्यनुष्यत्वता। न तीरेज्ज न शक्येत ॥

अर्थ—ऐसी घोर वेदना भी तुमने सहनी है क्यों कि तुम नरकादि कुपतिओं में परतंत्र थे जब परतंत्र हो कर इतना भारी दुःख सह लिया तो अब तो तुम स्वाधीन हो. स्वाधीनतामें शोदासा दुःख सहनेका समय प्राप्त होनेपर कायर नहीं होना चाहिये वे वेदनायें धर्मरूप हैं ऐसा समझकर वेदना दुःख सहना चाहिये. उचमसमादि भारोंको धर्म कहते हैं. वेदना धर्मरूप कैसी है. इसका उत्तर-वेदना का मतलब वेदना सहन करना ऐसा है अतः उममें धर्म उचरका प्रयोग करना अयोग्य नहीं है.

तण्हा अणंत सुचो संसारे तारिती तुमं आसी ॥

जं. पसमेदुं सब्बोदधीणमुदंगं ॥ तीरेज्ज ॥ १६०५ ॥

आसी अणंतवृत्तो संसारे ते छयावि तारिसिया ॥

जं. पसमेदुं सब्बो पुमगल्लकाओ न तीरेज्ज ॥. १६०६ ॥

जदि तारित्या तण्हा लुघा य अवसेण ते तदा सोढा ॥
घम्मोत्ति इमा सबसेण ण कर्घं सोढु ण तीरेज्ज ॥ १६०७ ॥

सुइयाणएण अणुसट्ठिभोयेण य सदोवगहिण ॥

आणोसहेण निब्बा वि वेदणा तीरेदे सहिदुं ॥ १६०८ ॥

संसारे भ्रमनरुट्ठणा दुरंता या तुवाभवत् ॥

न सा वमयितुं शक्या स्वाग्गोधिज्जल्लसि ॥ १६१८ ॥

पुत्तुशा नाएही जाता संसारे सरत्तस्सव ॥

न शयया यादशी हंतुं सर्वपुत्तलराशिना ॥ १६१९ ॥

सोक्खवा तृट्ठणापुत्तुले ते त्वं नेमं सहसे कथम् ॥

स्थयणे धम्मवृद्धयर्थमल्पकाले महामत्ते! ॥ १६२० ॥

समुद्रो लंघितो येन मकरग्राहसंकुलः ॥

गोप्पदं लघतस्सस्य न लेदः कोऽपि चित्ते ॥ १६२१ ॥

धुत्तिपानकशिक्षाश्रयतध्यानोपघेयते । ॥

वेदनानुयुहीतेन सोढुं तीन्नापि शक्यते ॥ १६२२ ॥

विगतोदया—सुरपाणएण त्रिविधमंशुयाधुनपानेन । यणुल्लिखोयेण य अनुशासनभोजनेन । उदय-
दिरण स्पष्टनिन । यानोदधेन शुभप्रयत्नोपघेय च । तिस्र्यात्रि धंदणा । तीन्नापि चयना । तीरेदे सहिदुं वाच्यते सोढुं ॥

दुःमदृष्ट्यानुसरण्या तदश्वणोर्जित्पुण्यमुपापरीयदौ तिरस्कायं धर्मावर्धनेन सत्वमुत्तुदयितुं गाथात्रयमाह—
मूलारा—तुमे तव । आभी मूला । मन्जोदधीणं सकलसमुद्राणां । उदय जलम् ॥

मुद्रारा—स्पष्टम् ॥

मूलारा—इमा इयं लुघा एवमा च ॥ एतद्गाथात्रयं श्रीविजयो नेच्छति ॥

वेदनानुयुहीतधुनयाश्रयमाह—

सूत्रा—युधि आक्षेपणी, सेवेवनी, निर्वेदनी चेति त्रिविधकर्म-इयाश्रयणं । उवगहिदेण आहितवलेन त्वया ।
नश्यं वेदनासादण्य सेवलेति विधिरज पर्यवस्यति । उक्तं च—

युत्तियान्कविशानशुभय्यानौपधैवते । ॥

वेदनामुपहृतेन सोढु सीवापि शक्यते ॥

अर्थ—हे क्षयक' इस संसारमें अनन्तवार तुमको इतनी तीव्र व्यास लगती थी की उसके प्रशमन करनेके लिये मर्म समुद्रोंका जलभी असमर्थ था

अर्थ—हे क्षयक । भूत भी अनन्तवार इतनी तीव्र लगती थी की उसके मिटानेके लिये सर्व जगत्के पुद्गल

भी अशक्त रहे

अर्थ—ऐसी तीव्रभूत और व्यास यदि तुमने परतन होकर सब ली थी तो अगती वेदना धर्म समस्तकर तुम स्वप्नरा हो कर क्यों न नष्टन कर सकोगे अगस्त्य सहन कर सकोगे ही-

अर्थ—मैंवेदनी, विवेकनी और आक्षेपणी इन तीन धर्म कथाओंका श्रवण करना ही सानो अमृत है, इस अनृतता प्राशन करके तथा निर्यापकाचार्यका उपदेश रूपी भोजन मक्षण कर तुलारा आत्मबल बढ़ेगा शुभ-पान-नरूपी आर्षणीका भी सेवन कर तुम इस यदनात्मा अन्त कर सकते हो

भीदो व अभीदो वा निष्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ॥

मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णस्मि ॥ १६०९ ॥

पीडानाकुपकारस्य तोषकारस्य चोदित्ता

नाभीतस्य न भीतस्य जंतोर्नश्यति कर्मणि ॥ १६१३ ॥

पिडयोऽया—भीदो व अभीदो वा भीतोऽयीतो वा । निष्पडियम्मो सपडियम्मो वा निष्पत्तिकारः समतिकारो वा । मुचदि ण वेदणाए जीवो न मुख्यतो वेदनाया जीव । उदिण्णस्मि कम्मे कर्मण्यसहेये उदीणे ।

जसहेनोदयसमुदये वेदनाविभोक्षाभावमाह—

मुलारा—कम्मे असहेयान्ने ॥

अर्थ—मनुष्य दण्ड्य हो जयवा धर्मवान हो वह प्रतिकार करे अथवा न करे जब असातावेदनीय कर्मकी तीव्र उदीरणा होती है तब वेदना होगी ही. उसको दूर करनेका सामर्थ्य किसी भी उपायोंमें नहीं है.

पुरिसस्स पावकम्मोदण्ण ण करंति वेदणोवसमं ॥
सुहु पडत्ताणि वि ओसघाणि अदिवीरियाणी वि ॥ १६१० ॥

ओपयानि सवीर्याणि प्रयुक्तान्यपि यस्ततः ॥

पापकर्मोपये पुंसःक्षमयन्ति न वेदनाम् ॥ १६७४ ॥

पिञ्जपोषण—पुरिसस्स पावकम्मोदण्णिमं पुरुषस्य पापकर्मोदये न करंति न कुर्वन्ति ॥ वेदणोवसमं वेदणो-
पयानि वि सुहु प्रयुक्तान्यपि : ओसघाणि अदिवीरियाणि औपघानि अतिवीर्याण्यपि ॥

पापोद्रेके प्रयुक्तानामपि प्रतीकाराणां अकिञ्चित्करत्वमाह—

मूढारा—आदिवीरियानी वि वीर्योतिप्रयुक्तान्यपि ॥

अर्थ—पापकर्मोंके उदयसे अतिशय सामर्थ्य युक्त उत्तम औपघ भी वेदनाका उपशम करनेमें असमर्थ होते हैं. ये औपघ निपुणतासे रोमीको देनेपर भी ये रोग दूर करनेमें असमर्थ होते हैं.

रायादिक्कुडुंवीणं अदयाए अंसजमं करंताणं ॥

धणंतीरी वि काहुं ण समथो वेवणोवसमं ॥ १६११ ॥

असंयमप्रयुक्तानां पार्थिव्यादिक्कुडुंबिनाम् ॥

पीटा धन्वन्तरिःशक्तो निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥ १६७५ ॥

विजयोदया—रायादिक्कुडुंवीणं राजादीनां अनेक द्रव्यसंपत्तिरिचारकसंपत्त्युपगतानां । अदयाए असंजमं करंताणं दयामन्तरणासंयमं कुर्वतां । धणंतीरी धनसंपत्तिरिचारकसंपत्त्युपगतानां । अदयाए असंजमं वेदनायैव धन्यन्तरेष्वेणेन सूचिता ॥

पापप्रयुक्त्यापायां द्रव्यादिसंपदैक्यमाह—

मूढात—कुडुंवीणं एतेन द्रव्यसंपत्तिरिचारकसंपत्त्यु सूचिता ॥ अदयाए निर्देयत्वेन । असंयमं पशुजीवनि-
काययापायां । धणंतीरी वि धन्यन्तरिरपि । वैवसंपत्त्युचनार्थमिदम् ॥

अर्थ—राजा को वह लोक अतिशय घनवान् होते हैं- उनकी शुश्रूषा करनेके लिये अनेक मनुष्य सदा तत्पर रहते हैं- रोग दूर करनेमें वे अत्यधिकी प्रस्ताह नहीं करते हैं- धनवतरीके समान चतुर हैं वे। उनके रोगका निदान कर आपधि देते हैं- परंतु वे भी वेदनाका उपशम करनेमें अत्यधिक होते हैं- तात्पर्य यह है कि, उदय आनेपर रोगही वेदना उत्तम औषधीसे भी शान्त नहीं होती है-

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लब्धेहिं ॥

फासुगदब्धेहिं करेति साहुणो वेवणोवसमं ॥ १६१२ ॥

दयालोःसर्वजीवानामौपघेन रूपथाश्रयम् ॥

प्रार्थनासेन किं साधोः प्रासुकेन करिष्याति ॥ १६७६ ॥

त्रिजयोदया—किं पुनः। जीवणिकाए जीवणिकायान्। दयंतया दयमाना। जादणेण लब्धेहिं प्राप्तया लब्धेहिं। फासुगदब्धेहिं प्रासुगदब्धेहिं। करेत्तु कुर्वेत्। साहुणो वेवणोवसमं साधोवेदनोपशमं ॥ परिचारकसंपन्नभावो दयंतसे जीवणिकाए दयंतया इत्येतत् यथा ध्यायेत्तु श्रमो भवति तथा कुर्वेति परिचारकः। असी पुनर्यतयः पञ्चजीवनिफाय साधपरिहारोचता- अत्यंतमपि नाशनीययोः याचनेन लब्धेहिं श्रवणेन द्रव्यसंपन्नभाव आख्यायते ॥

निपत्ये पापपरिहृतवेदनायाः सुखं दुर्जयतमाह—

मृलारा—दयंतया उदायंतः। एतेन परिचारकसंपन्नभावो दृश्यते ॥ अन्येहिं परिचारका यथाकथं विदुषाधि कदाप्यति तथा कुर्वते। यतयः पुनः स्वसंयमाविरोधेनैव तं प्रति व्यापिषिषंसनार्थमयोग्यद्रव्यसेवा निराकरोति

अर्थ—मुनिराज तो छह प्रकारके र्ज-बोपर नित्य दया करते हैं वे याचनासे लाये हुए प्राप्तुक औषधोंसे स्वपक्ष साधुकी अधवा सभी साधुकी रोगवेदना कैसी मिटा सकते हैं? उनके पास द्रव्य नहीं रहता है और राजाके समान शुश्रूषा करनेवाले वैद्यादिक परिचारक भी नहीं रहते हैं, राजाकी वेदनाका उपशम जिस प्रकारसे होगा वह उपाय परिचारक करते हैं उममें असंयमका ध्यान ही वे नहीं रखते हैं- मुनि तो छह प्रकारके जीवोंको बाधा नहीं ही इसके तत्पर ध्यान देते हैं- यदि वे नहीं ध्यान देंगे तो उनके संयमका नाश होगा- संयमके रक्षणके साथ रोगपरिहार यदि होगा तो वे आपथका समन करते हैं- यदि संयमरक्षण न होगा तो वे औषध ग्रहण नहीं करते हैं-

भोक्त्वाभिलासिणो संजदस्त गिघणगमणं वि ह्येदि वरं ॥
 न य वेदणाणिमित्रं अप्पासुगसेवणंकाहुं ॥ १६१३ ॥
 संयतस्य वरं साधोर्मरणं मोयकांधियः ॥

वेदनोपशमं कर्तुं नामासुकनियेवणम् ॥ १६७७ ॥

मित्रयोदया—मोक्षराभिलासिणो विरयशोकमोपायभिलापिणः । संजदस्त प्राणसंयमयतः । गिघणगमणं वि
 होदि अरं मरणमपि वरं । न य द्वैय वरं । वेदणाणिमित्रं वेदनोपशमार्थं । अप्पासुगसेवणं काहुं अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥
 मूढारा—वेदनामित्रं वेदनोपशमनाथम् ॥

अर्थ—संपूर्ण यथैव विनाशकारी अभिलाषा करनेवाले सुनि भरणाको भी अच्छा समझते हैं, परंतु वेदना
 के उपशमके लिए अयोग्य द्रव्यका सेवन नहीं करते हैं, अर्थात् संयम बालकर योग्य प्राप्तुक जीवध मिलेगा तो
 लेने हैं अन्यथा नहीं।

गिघणगमो एयभवे पासो न पुणो पुरिच्छजम्भेसु ॥

णाणं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगेसु ॥ १६१४ ॥

एकअ निघनं नाओ न तु भाविषु जन्मसु

असंयमः पुनर्नागं दत्ते बहुपु जन्मसु ॥ १७७८ ॥

विजयोदया—गिघणगमो एयभवे मिधनगमनेकपदे । पासो न पुणो न पुत्तांशः । पुरिच्छजम्भेसु साविडु
 जम्भसु । असंजमो पुण मांसममः पुनः । भवसएसु अन्नमदोसु । बहुपसु बहुसु । णासं कुणर मांसं करोति । वेदनाहि न
 भयतमनुयाति गन्धमभापनीयत्तं । मा हि जन्मनं भद्रं करोति । अयंयमः पुन अतयेवं बहुधासुभवं करोति । उक्तं च—
 दुःप्राप्तोक्तानामर्द्धतपधपरिद्वयान्नामात्सपरिमयान्यन्यमहेत्यस्येति ॥

वेदनान्नादभयमेत तद्विजयोदयपर्यवश्य इत्याह ---

मूढारा—णानो अभावः । पुरिक्र अमेकतेषु ॥

अर्थ—मरणरूप नाश एक भवमे ही होभा परंतु वह नाश नहीं है, क्योंकि उससे आत्माका अहित होता
 नहीं है, परंतु अमर्यमाचारणं भावि संकटो जन्मोका नाश होता है, जो सुनि रत्नत्रय भावनार्थे उत्तर रहते हैं

वेदना उनको नहीं अनुमती है. प्रत्युत वह मंद होती है. क्योंकि यह भावना असातावेदनीय कर्म का रस मंद करती है. अनेकमते असातावेदनीय कर्मका अनुभव तीव्र बनता है. आचार्य उपास्वामी महाराजने 'दुःखसो-
मतापाकंदनवपविदेवनान्यात्मपरोभवस्थान्यसदेवस्य' इस श्लोकमें असाता वेदनीय कर्मके कारणोंका-दुःख शोक औरद कारणोंका उल्लेख किया है.

॥ ना करेति निवृत्तुं इच्छया त्रि देवा सद्दिश्या सन्वे ॥
पुरिसस पावकमे अणवकमगे उदिणमि ॥ १६१५ ॥

कांक्षितोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षयाः ॥

वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥ १६७९ ॥

विजयोदया—ना करेति निवृत्तुं न कुप्यन्ति निवृत्ति । पुरिसस पुरुषस्य । सद्दिश्या देया सन्वे इच्छया वि-
सेवका। सर्वे देवा इच्छितोऽपि । पावकमे पापकर्मणि । अणुप्रमगे अटुकमदे । उदिणमि उदयमुपगते ॥

न च फलेन पश्यमाने दुर्निपारे असतोय कर्मणीद्रव्योऽपि पुरुषं सुखयितुं प्रसवतीत्युपविसृति—
मृशरा—इच्छया वि धेरनां निराकर्तुमिच्छितोऽपि । अणवकमगे निःप्रतिकारे । तर्कं च—

न कुप्यन्ति सुराः सर्वे प्रसन्ना अपि निवृत्तिम् ॥
पापकर्मोदये पुंसः सत्वेन निरुपक्रमे ॥

अपि च ॥

कांक्षितोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षयाः ॥

वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ॥

अर्थ—जब पाप कर्मका उदय पुरुषको क्रममें आता है तब सब देव मिलकर भी उस पुरुषको सुखी
बना नहीं सकते हैं. सुखी बनाने की तीव्र इच्छा होनेपर भी वे उसको सुख देनेमें असमर्थ होते हैं.

किं पुण अण्णो काहिदि उदिणकम्मस निव्वुदि पुरिसो ॥
हत्थीहिं अतीरं तं अंतुं मंजिहिदि किं ससथो ॥ १६१६

उदीर्णकर्मणः पीडां दुमपिप्यति किं नरः ॥

अभयो दंतिना युतः शयकेन न भज्यते ॥ १६८० ॥

कर्मण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिपेदुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ १६८१ ॥

यित्येवमुक्त्वा—किं पुन कथं पुन । अणो कादिदि बुद्धिः अन्यः करिष्यति मुख्यः । उदिष्णकर्मस्त
पुन्यप्राप्तोदयः । विष्णुर्देवित्वेति । इत्येवम् । अतीत्येव बुद्धिर्महाबलः कर्तुमशक्यं यद्वैजने । किं ससगो
मर्तोहि कथं स्वल्पमाणो भंषयति साधकः ॥

दिव्यशस्त्रैर्वेदनामतिचिद्गीर्णोदितस्य निरुक्तमपाककर्मविषाकिम्वेदनाभिराकृत्ये सुतरं सामर्थ्याभावं दृष्टीतेन
प्रवयति—

मूढाः—अणो दिव्यशक्त्या वेदनामतीकारेच्छयायदितः । अहिनि करिष्यति । उदिष्णकर्मस्त उदयागत
दुर्तिवारातडोचकर्मस्य दीपस्य । अनीरतं अशक्यं । मनुं भक्तुं । भञ्जिदिदि भंक्षयति । सख्यो धरुक्कः । अनुर्कपायामल्ये
वा कः । महात्रैर्वैदुर्भिराजैर्को भेषु न शक्यते स कथं धराकेनाहपल्लेनेकेन शब्देन मज्जते इत्यर्थः । उक्तं च—

कर्मण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ॥

प्रतिपेदुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥

अर्थ—जय देव भी इच्छा होनेपर भी मुख्यके दःखको नष्ट कर सुखी करनेमें असमर्थ है तो अन्य मुख्य
कर्मकी उदीरणा होनेपर केसा सुखी करने में समर्थ होगे । महासाधार्थसंपन्न हाथी भी जिस युद्धको सोरने में असमर्थ
है उसको जय शक्तीका धारक खगोल कैसे तोड़ सकेगा ।

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ॥

चारुंदु ण समरया घणिंदं पि विक्ख्वमाणा वि ॥ १६१७ ॥

ये युक्ताः पतनं शक्ता न धारयितुमात्मनः ॥

ते परित्रां करिष्यन्ति परस्य पततः कथम् ॥ १६८२ ॥

पितृणोदया—ये देवा अण्णो वि कम्मोदयण्यं भरणहुप्पं ते देवाः सेंद्रकाः कम्मोदयण्यं पिश्यासं ।
भरणदुःखं शामनोऽपि । योरेदं न सम्मया निवारयितुं न समर्थाः । चण्डिं वि कुब्जमाणा भित्तां विजिगा कुर्वन्तोऽपि ॥

सेंद्रकीनां स्वपरग्रहदुःखानिराकरणशक्तित्वेकीतिकीमुपदिशति—
मूला—ते सेन्द्राः । कम्मोदयण्यं दुर्निवारसद्देयादिकर्मविपाकहेतुकं । भरणदुःखं मृत्युं पराविशयद्वि-
र्जनदेवकर्मैव प्रयोगादिप्रभवमन्तर्यायं । अथवा भरणसमाप्तं दुःखं भरणदुःखं दुर्निवारविषयान्त्वर्मन्तरापमित्यर्थः ।
विजिगमणा दिक्पक्षत्वनुभावाद्द्विविधां च क्रियां पलायनात्मगोपनादिनां कुर्वतः । उक्तं च—

ये शक्षाः पवनं शक्ता न वारयितुमात्मनः ॥

ये परित्रां कटिष्यन्ति परस्म पवतः कथं ॥

अर्थ—देवमी कर्मिके उदयसे होनेवाले अपने भरणकें दुःखोंको स्वयंभी दूर नहीं कर सकते हैं, अथवा
करने भी वे अपना भरण दाख दूर नहीं कर सकते हैं,

उज्झंति जत्थ हेत्थी महावलपरक्कमा महाकाया ॥

सुत्ते तमि व्हंते ससया उदेळया चेव ॥ १६१८ ॥

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंधराः ॥

शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥ १६८३ ॥

विजयोदया—उज्झंति यस्मिन् स्रोतसि दृष्टिनः दृष्टेते महाबलपरक्कमा महाकायाः । तस्मिन् स्रोतसि दृष्टि
शशका गता एव ॥

उत्सार्यसमर्थनार्थमाह—

मूला—तुज्झंति उज्झन्ते । स्वयमेव नदन्तो यांतीत्यर्थः । अथवा स्रोतसः स्वातंत्र्यविवक्षया जत्थेत्यत्र

वर्तते इतीया उक्तं च—

तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंधराः ॥

शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसि का स्थितिः ॥

यदं आहारादिजं सामर्थ्यं । परक्मो नैसर्गिक नीये । यूदेळया येव व्हंती गता एव । अनायासतत्पक्षत्र व्यंते ॥

अर्थ—जिग नदीके प्रवाहमें गहान् सरीरके धारक-जिनका शारीरिक बल और परक्रम महान् है ऐसे मनुष्य भी इस जाते हैं तो उसमें स्वर्गोद्य केसे स्थिर रह सकेंगे। अर्थात् वे तो अवश्य डूबेंगे ही।

किंहु पुण अण्णो सुब्बहिदि सगेण उदयमग्गेण कम्मणेण ॥

तेल्लोक्केण त्रि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥ १६१९ ॥

अत्रिदया येन पात्यन्ते विक्कियावल्लालिनः ॥

नायासो विद्यते तस्य कर्मणोऽन्यनिपातने ॥ १६८४ ॥

पित्रयोदया—किंहु पुण अण्णो सुब्बहिदि कथं पुनरुच्यो मोक्षयते, खेन कर्मणा उदयामतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मो-
निरागम्यैव समुत्पत्ते ॥

मूलारा—पुण यावयाहंभरे । अण्णो त्रैलोक्यांतरयत्नी कश्चिदेकः कर्मो विद्यप्रतिबंधव्यतीकाहंकारविबंधितः ।
गुणहिदि मोक्षयते । इत्यत्र नाद्युभाविरुध्यत इत्यर्थः । समुवेदं सम्पुण्यमुदयमागते ।

अर्थ—देव भी कर्मके उदयवृत्त होकर भरण दु खसे अलग नहीं रह सकते हैं तो अन्य प्राणी इस दुःखसे कैसी अपनी मुक्ता कर सकेंगे। सर्व त्रैलोक्यमें भी यदि उदयमें आये हुए कर्म छो रोक्नेका प्रयत्न किया तो भी यह उनमें नहीं रुका जायगा अर्थात् चलवान् कर्म अनिवार्य है।

कह ठाइ सुक्कपत्तं नाएण पढंतयम्मि मेरुम्मि ॥

देवे वि य विहडयदो कम्मरस तुमम्मि का सण्णा ॥ १६२० ॥

कर्मणा पततीन्ध्रे तु परस्य क न्यवस्थितिः ॥

मेरो पतति वानेन शुष्कपत्रं न तिष्ठति ॥ १६८५ ॥

वित्तयोदया—कह ठाइ सुक्कपत्तं कथं विष्टव् शुष्कपत्रं न तिष्ठति । वानेन पतति मेरो । अणिम्यायएयुषसंपथमदेवानपि
पुत्तरीदुयंतः कर्मणो भयत्यल्पयत्ने का संज्ञा ॥

एतत्तुमुपन्यस्य कर्मणोऽक्षयप्रतीकारतां दर्शयन्क्षुभकं वदुपेक्षायां सष्टमवस्थापयति—

मूढारा—पदमयमि पतति सति । देवे अग्निमाद्यष्टौषधैर्भयसंभ्रान्त्युपान । निहृदयदो अग्निभक्तः । तुमन्मि राये । आसन्नयुत्वौ मनुष्यमात्रे । का सण्या को विचारः । इच्छमानेनैदम्बसद्वेषसुपनीयमानं प्रतिबध्नुं शक्यते नेत्यमिति चर्चोदितका युक्तिरिति साधन । लक्षणा ॥

अर्थ—जिस वायुसे गेह पर्वत भी स्थिर रह नहीं सकता है क्या उससे शुष्क पत्र स्थिर रहेगा? कर्मोदय अग्निमादिक आठ गुणोंके धारक देवोंको बुझी बनाता है, हजर प्राणिवर्ग तो उनसे अत्यल्प शक्तिके धारक हैं क्या उनको यह कर्म दुःख दिये बिना रहेगा?

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे ॥

सज्जबलाइं कम्मं मलेवि हत्थीव णल्लिणिवर्णं ॥ १६२१ ॥

पलीयेभ्यः समस्तेभ्यो बलीयः कर्म निश्चितम् ॥

सद्वपलीयांसि सुद्राति कमलानीव कुंजरः ॥ १६८६ ॥

विजयोदय—कम्माइं कर्माणि यत्थति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कल्पायस्मात्सर्वेषां विंशुविद्याद्वय-शरीरपरिवारादलाति मरैरति हस्तोऽन भल्लिणयनं ॥

कर्मभल्लय सर्वयलोपमैकत्वमाह—

मूढारा—सज्जबलाइं विंशुविद्याद्वयशरीरपरिवारादिवलति । मलेदि मरैरति ॥

अर्थ—जगतमें कर्म ही अतिशय बलवान् है, उसे प दूसरा कोई भी बलवान् नहीं है, जैसे हाथी कमलवनका नाश करता है वैसे यह बलवान् कर्म भी सर्व विंशु, विद्या, द्रव्य, शरीर, परिवार, सामर्थ्य इत्यादिकोंका नाश करता है

इच्चेवं कम्मुदओ अवाराणिज्जोत्ति सुहु णारुण ॥

मा दुक्खायसु गणसा कम्ममि सगे उदिण्णमि ॥ १६२२ ॥

कर्मोदयमिति ज्ञात्वा दुर्निवारं सुरैरपि ॥

मा कार्पोमानसे दुःखमुदरणे सति कर्मणि ॥ १६८७ ॥

विजयोदया—रथेयं कम्पुद्वयो इति शब्दः प्रकांतपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं हस्त्युत्तरपराभर्षे । कम्पुद्वयो कर्मोदयः । भयान्तिजोति अनिगम्य इति । सुदुष्प्राप्य सख्यशक्त्या । दुष्प्राप्यसु मणसा मा कर्णोद्विःखं मनसा । कर्ममिसि नगे उद्विष्यमि कर्मणि उदीर्णे ॥

प्रकृतं उपलब्धत्वं सपकमनसि निवेदयति—

मृत्वाप—इच्छेयं इतिः मयाग्री । एवमुत्तरपराभर्षे । उक्तप्रकारेण समानं कर्मोदयसाध्यवर्णनमिदमर्थः । सा दुःस्वप्राप्य मा दुःस्वप्राप्य सा दुःस्वप्राप्य दुःस्वप्राप्य मा मंसा इत्यर्थः । परमानंदमयो ब्रह्मस्येति भावः । मणसा । तदुद्विष्यमि न दुःस्वप्राप्य न संक्षिप्यते मनः । इति भावः ।

अयं—इस प्रकारे कर्मका उदय दुर्निवार है ऐसा समझकर स्वकीय कर्मका उदय होनेपर हे क्षपक ॥ तू मनमें दुःखित मत हो-

पडिकूविदे वि सण्णे रडिदे दुक्खाविदे किलिठ्ठे वा ॥

ण य वेदणोवसामदि णेव विसंभो हवदि तिस्से ॥ १६१३ ॥

विपादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥

न पडिओपशमं गति न विओपं प्रपद्यते ॥ १६८८ ॥

विजयोदया—पडिहूपिदे परिदेवने कृते शोके । विपादे रदने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदणोवसाम्भवति । अपि काधियतीनयो भवति वेदनायाः ॥

न च परिवेयनादिना दुःखस्योपशमोऽनकर्ण्यो या कश्चिद् भवति केवलमात्मनः क्लीवता प्रकाश्यते इति सिध्यति—

मृत्वाप—पडिकूविदे आतंविद्यमि पुरुषे आतंविद्यपने वा कृते । एवमुत्तरपरापि व्याख्येयं । विसण्णे शोके कृते । रडिदे रोदने कृते । दुष्प्राप्ये दुःखे कृते । किलिठ्ठे स्वस्य परस्य चोपवागे कृते । विदेसो अतिशयः स च प्रकरणादिमर्ष्यः । उक्तं य—

विपादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ॥

न पीडोपशमं गति न विओपं प्रपद्यते ॥

अर्थ—शक्ति, विवाद, दुःख, संकलेशपरिणाम करनेपर तथा लहने करनेसे भी दुःखोंका क्षयन नहीं होता है. अथवा उसमें कुछ विशेषता भी नहीं होती है.

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संक्खिसेण होइ स्वयसरस ॥

अट्टं सुसंक्खिसे उच्चाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥ १५२४ ॥

नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि संक्खेशकरणे गुणः ॥

केवलं पश्यते कर्मे नियमगतिनिबंधनम् ॥ १६८९ ॥

विजयोऽस्या—अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ अन्योऽप्यत्र गुणो न संक्खिच्छोकादिना संक्खेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि तत्कर्तुं नारभन्ते यस्य स्तार्यं फलं अस्ति । संक्खेशेन न किंचित्फलं अपि मुमुक्षोः, अत्र तु संक्खेशपरिणामो ह्यार्तं ध्यान मनोप्राप्तियोगोपायं तच्च तिर्यग्गुणो निमित्त । ततोऽप्यत्र स्वमीधं भयं रथदीयः संक्खेशो दुःखसरे तिर्यगायतं निपातयतीति भयोपबर्धनं कृतं ॥

परिदेयनादिदुष्यन्नादुपकारांतरमपि मुमुक्षोर्न भवत्यपि महानुपकारः स्यादित्योवेदयति —

सूक्ष्मारा—अण्णो वि प्रपृच्छदुःखोपशमापकपर्यदिलक्षणतः गुणयंबंधसाधुकाराविकः । गुणो उपकारः । अस्य अत्र अनहरोऽव्यागवतिरे सति दुःखे । संक्खिसेण परिकृजितादिना । स्वयस्स अशुभकर्मबंधणोपायतस्य । अट्टं वेदनासृष्टिसमन्वाहातन्यमार्तं ध्यानं । तिरिआउगणिमित्तं तिर्यग्गुणरुद्धबंधनिबंधनं । ततोऽस्मादल्पदुःखादुद्धिजननं भवंतं दुःखसरे तिर्यग्दुःखायतं संक्खेसः पातयतीति भयोपबर्धनांधमिदं ।

अर्थ—शोभादिक मंक्खेश परिणाम उत्पन्न करनेमें कुछ भी फायदा नहीं होता है. जिससे फायदा होता है शुद्धिमान लोक यही कार्य करते हैं. मंक्खेश परिणामसे मुमुक्षुओंको कुछ भी फल प्राप्त होता नहीं उनमें तो उलटा अमनोत्तम विप्रयोग नामक आर्तध्यान उत्पन्न होता है. अर्थात् विषय, कंठक, अशु आदिक प्राप्तिहल—अनिष्ट पदार्थोंको प्राप्ति होनेपर वे पदार्थ जैसे कर्म अलग होंगे ऐसा बार बार चिंतन होना ही अमनोत्तम विप्रयोग नामक आर्तध्यान है. इसकी उत्पत्ति संक्खेश परिणामसे होती है. यह ध्यान तिर्यचायुका बंध होनेमें कारण है. अतः हे छपक! यदि तू इस अल्प दुःखसे मय्युक्त होगा तो उत्पन्न हुए संक्खेश परिणाम तुझे दुर्निवार तिर्यग्गतिसं गिरा देंगे. अतः तू संक्खेशपरिणामोंको छोड़ दे.

हृदयाकाशं भुङ्गीहि होइ तह कंठिया हुसा होति ॥
सिगदाओ पीलियाओ घुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥ १६२५ ॥
हते सुष्टिभिराकाशं विहितं वृषखंडनम् ॥
सखिलं मयितं तेन संक्लेषो येन सेवितः ॥ १६२६ ॥

विजयोदया—हृदयाकाशं हतं सुष्टिभिराकाशं ताडितं । वृषखंडनं वंजुलायं । सिक्कापीडनं तिलयंत्रे तैलार्थं ।
जलमंथनं च घृतार्थं यथापार्यकं तथा नयकः सखेओ वेदनाकुलस्य । वेदनायाः अनिराकरणत्वात् नैरर्थपञ्चमस्य त्रयोदो-
पन्यासी इत्यान्वयाद्यौमित्तकयोः ॥

वेदनाकुलस्य संक्लेषोऽथर्वसमर्थनार्थं बहुते दृष्टान्तानामष्टे—

मूलाद्या—हृदं अपनारज्याभिभवाय ताडितं । कंठिजा वंजुलार्थं कुटिताः । पीलियाओ तिलयंत्रे त्रिद्विष्य तैलार्थं
पूर्णताः । घुमिलिरुदयं मथितमुदयं घृतार्थं । तेन येन वेदनासांस्वर्थं संक्लेषः कृत इति संबंधः । वं सत् । यतः संक्लेषा-
वेदनीयसमादेः, पुण्यर्थथाः दिवां प्रत्युत तिर्यगायुर्धपः स्यात् । वक्तं च—

हत्वं सुष्टिभिराकाशं विहितं वृषखंडनम् ॥

सखिलं मयितं तेन संक्लेषो येन सेवितः ॥

अर्थ—जैसे आकाशको सुष्टिजोसे मारना, वंजुलोंके लिये भूसा कूटना, तैलके लिये घाहु को यंत्रसे
पीतना और धीके लिये जलका मंथन करना जैसा व्यर्थ है वैसा दुःस्वानिराकरणके लिये संक्लेषपरिणाम उत्पन्न
करना व्यर्थ है, क्योंकि वेदनाकुल मनुष्योंके वेदनाओंका परिहार करनेमें संक्लेष परिणाम असमर्थ है, वहां इष्टत
आकाशादिकको कूटना और दाशान्त संक्लेषपरिणाम इन दोनोंमें साम्य दिखाया है, निरर्थकतारूप धर्म दोनों में
होनेसे साम्य स्पष्ट है.

पुण्यं समयमुद्युतं काले गाएण तेत्थियं दब्बं ॥
को धारणीओ धणिदस्स वेतओ दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२६ ॥

पूर्वं मुक्तं स्वयं द्रव्य काले न्यायेन तत्स्वयं ॥

अधमर्णस्य किं दुःस्वयुत्तमर्णाय यच्छत ॥ १६९१ ॥

विजयोदया—पुण्य सयमुपभुक्त पूर्व स्वयुगपुक्त । काले न्यायेन न्यायेन । तेत्तिग द्रव्य तावद्द्रव्यं । को दुष्पराधो होला धारार्णगो को दुःशितो भवेद्द्रव्यमण घण्डिमि उत्तमर्ण । इदं ते स्व द्रव्य द्रव्य ॥

तयमादाय मुक्तं यावद्द्रव्यं तावदेव काले धनिकाय प्रयच्छतो धारणिकस्य स्वयमर्जितपूर्वस्य पापस्य फल-
मनुभवस्तत्तत्तस्य किं दुःसं स्यादिति ज्ञात्वा पूर्वकर्मोद्भवत्तद्द्रव्यं तस्यहनसुणभोक्षमिव पश्यन्मात्स्य दुःखबलं भूरिति

स्मरयिषुं प्रायुक्तमेव गाथात्रयमग्यात्वादि—

मूढात्ता—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष योग्य कालमें स्वयं धनिक से धन लेकर उसका उपभोग करता है परंतु जब वह धनिक उसमें योग्यकाल व्यतीत होनेपर धन लेता है तब वह पुरुष क्या लिख होता है? क्योंकि वह जानता है कि मैंने कर्मस्वरूप लिया हुआ धन धनिकको लौटा देना मेरा कर्तव्य है

तद्देवैव संयं पुण्यं कदरस कम्मस्स पाककालम्मि ॥

पायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होइज जाणंता ॥ १६९२ ॥

कृतस्य कर्मणाः पूर्वं स्वयं पाकमुपेयुषः ॥

विहारं बुध्यमानस्य कस्य दुःखायते मन- ॥ १६९३ ॥

विजयोदया—तद्देवैव तथा देव । मय पुण्य कदरस कम्मस्स पाककालं पूर्वं कृतस्य कर्मणा । पाककालम्मि फलकालकाले न्यायेनगते । को णाम दुष्पराधो होला जाणंता को नाम दुःशितो भवेत्तयात्ता ॥
मूढात्ता—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो जीवने पूर्वजन्ममें कर्म किये हैं तमका फलकालकाल काल आवश्यक प्राप्त होता ही है. उसके प्राप्त होनेपर कोन जाता पुरुष दुःखी होता है अभिप्राय यह है कि कर्म जब फल देने लगेगा उस समय उनका ज्ञान परिणामोंमें अनुभूत करना चाहिये.

इय पुण्यकदं इण मज्ज महं कम्मणुगसि णाऊण ॥
 रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२८ ॥
 पूर्वकर्मगततासात् सत्त्वं त्वं महामते । ॥

ऋणमोक्षमिव ज्ञात्वा मा भूर्मानसि दुःखितः ॥ १६२९ ॥

विजयोदया—इय पुण्यकद इय बयभूत । दुक्ख पुण्यक पूर्वकर्मणा कृतं । इणं इव दुःखं । अज अय ।
 मह कम्मणुगति मम कर्मणामिति । णाऊण ज्ञात्वा । रिणमुक्खण ऋणमोक्ष । दुक्खं पिच्छसु दुःखं मेक्षस्य । मा दुक्खिओ
 होज्ज दुःखितो मा भू ॥

मूढारा—इणं अमुभूयमानदुःखाभिख्यत्तथाकं । महं मम ॥ कदं च—

पूर्वकर्मगततासात् सत्त्वं त्वं महामते । ॥

ऋणमोक्ष इति ज्ञात्वा मा भूर्मानसि दुःखितः ॥

अर्थ—जो दुःख में इस समय मोग रहा है वह पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही है- मेने पूर्व जन्ममें कुरुर्म
 नहीं किये होते तो इस जन्ममें उनका फलमोग मेरेको कैसे ॥ हो जावा ? यह तो मैं ऋणमोक्ष कर रहा हूँ ऐसा
 चित्तन हे क्षपक' तू इदयमें कर और दुःखी मत हो.

पुण्यकदमज्ज कम्मं फलितं दोसेण इत्य अण्णस्स ॥

इवि अण्णो पओगे णक्खा मा दुक्खिओ होज्ज ॥ १६२९ ॥

स्वयं पुराकृतं कर्म ममाद्य फलितं स्फुटम् ॥

दोषो नैवात्र कस्यापि मत्वा दुःखासिकां त्यज ॥ १६३० ॥

विजयोदया—पुण्यकदमज्ज कम्म पूर्वकृत मदीय कर्म फलितं फलित । दोखो ण एत्थ अण्णस्स दोषो नैवाभ्यस्य
 इति । अण्णो पओगे णक्खा मा । मा दुक्खिओ होज्ज मा कथा दुःख ।
 पुनस्तदेव भावयति—

मूढारा—अण्णो पओगे एय भोक्ख्य स्वयं कृतत्वात् ॥

अर्थ—मैंने किया हुआ पूर्वकर्म अब मुझको दुःख दे रहा है. इसमें अन्य किसीका भी कष्ट नहीं है. जन में स्वयं कर्म किया था तो अब उसका फल मेरेको ही भोगना पड़ेगा ऐसा विचार करके हे क्षयक! तू कष्टी मत हो.

अविदा अभूदपुत्रं अण्येति दुःखमप्यणो चेव ॥

जावं दधिज्ज तो णम होज्ज दुःखाइदुं जुत्तं ॥ १६३० ॥

अमृतपूर्वमन्योपामात्मनो यदि जायते ॥

तदा दुःखासिका कर्तुं मानसे युज्यते तत्र ॥ १६३५ ॥

विज्ञयोवया—अविदा यदि जायत् । दुःखमन्येवां भमृतपूर्वं । अप्यणो जेव जावं दधिज्ज आत्मन एव जातं भवेत् । तो णम होज्ज दुःखाइदुं जुत्तं । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं ॥

किं च तर्पत्सारिसाधारणं पणविपक्तिं तत्र दुःखमनुभवतः का दुःखासिकेति सिध्यति—
मूढारा—अप्यणो जेव तर्पेव । दुःखाइदुं दुःखं कर्तुं । नक्तं च—

अनिष्टयोगनिवविप्रयोगौ साधारणौ सर्वशरीरभाजौ ॥

इत्यतमनुद्वया विगणय्य भीमात्र सेदयत्यात्ममनो विपादैः ।

अर्थ—यदि हमने पूर्वजन्म में तो दुःख देने वाला कार्य नहीं किया था और यदि इस समय हमको दुःख भोगना पड़ रहा है तो अवश्य दुःख करना अवस्था संकलशपरिणाम करना योग्य है.

सत्वेति सामणं अवससिदद्वयं करं काले ॥

णाएण य को दाऊण णरो दुःखादि विलवदि वा ॥ १६३१ ॥

अवश्यमेव दातव्यं काले न्यायेन यच्छ्रुतः ॥

सर्वसाधारणं ददं दुःखं कस्य मनीषिणः ॥ १६३६ ॥

पिजयोवया—सत्वेति सामणं सर्वेषां मन्वानां धामण्यं । काले कर्मविनाशनकाले । अवसस दातव्यं अवश्य दातव्यं । यस्मात्समाप्तं । करं करणव्याप्तं दाऊण दत्त्वा । णाएण य न्यायेन च को णरो दुःखदि विलवदि वा को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥

मूलारा—करं सिद्धायं । इवसादि दुःखं करोति । विद्यवदि परिदेवनं ॥ तोषि ॥

अर्थ—मर्ग मर्त्योक्तो मुनिव्रत कर्मविनाश करनेके समयमें अवश्य देना योग्य है- क्यों कि राजाको कर देनेसे क्या कोइ मनुष्य दुःख करेगा? विलाप-शोक करेगा? जेसा कर देना न्याय प्राप्त है वैसे मुनिव्रत धारण करना अथवा दूसरोंको देना अवश्य कार्य है-

सन्धोर्लसि सामण्यं करभूदमवत्सभाविकम्फलं ॥

इय मज्ज मेत्ति गच्छा लभसु सदि तं धिदि कुणसु ॥ १६३२ ॥

सर्वसाधारणं दुःखं दूनिवारमुपागतम् ॥

सहमानो मुने मायूहेःखितसत्यं मज स्युत्तिम् ॥ १६३७ ॥

विलापोदया—सन्धोर्लसि सर्वेषां विनेवानां । सामण्यं करभूदं अवत्स भाविकम्फलं अवश्यभाविकम्फलं । एणमज्जेनेदि इदं धामपथं मज करभूतं ममेति । गच्छा ज्ञात्वा । लभसु सदि स्युत्तिं प्रतिपद्यस्व ॥ तं वत् धिदि कुणसु पृति कुरु ॥

मूलारा—सदि स्युत्ति । एकमात्राद्वारप्रत्याख्यानविक्रयो । धिदि कुणसु

मुक्तोत्तिता मुद्धमोहान्मया सर्वेऽपि पुत्रकाः ।

अचिच्छेदिज्य तेत्पन्न मम विहस्य का स्युहा ॥

समभयमहर्निद्रोऽनंतलोडनंतवारात् ॥

पुनरपि च निगोदानंतशोन्तविकृतः ॥

किमिह फलमसुखं तवदयापि भोक्ष्ये ।

सकलफलपिपेतः कारजं देव! देयाः ॥

इत्येवमादिसंक्षोपमानमावष्टंभादेदनाद्वेदनामतिकारार्थितयात्पक्षौषधस्नानावभिलाषं मा कार्पीरित्यर्थः ॥

अर्थ—यह मुनिव्रत कर्म का फल है, यह करदानके समान है- ऐसा समझकर सर्व मर्त्योक्तो अवश्य

धारण करना चाहिये. यह भेदा भुनियत कर के समान है ऐसा समझकर पूर्वमें जो आहारका त्याग किया था उसका स्मरण करो और धैर्य धारण करो.

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंधसन्निस्स ॥

पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो धरं मरणं ॥ १६३३ ॥

साक्षीकृत्य गृहीतस्य पंचापि परमेष्ठिनः

सयनस्य पर सुदुः परत्याख्यानस्य भंगतः ॥ १६२८ ॥

विशेषोपेक्षा—भरतत तिरुकेचलि अविउत्ता सन्त्यस्यसन्निस्स ॥ अहंत, खिन्नान्, केवलिन, तमस्या देवता सर्वं च संघं साक्षितेनोपपादय हृतस्य । पञ्चपञ्चलस्स भंजणादो मत्त्याख्यानस्य विनाशनात् । धरं शोभनं मरणं मरणपरित्यागः ।

अथनपि बोध्यमानो दुर्पारमोहोदयात्प्रत्याख्यानं यत्नामभ्युत्ति तदा तदङ्गमहाबोधोपपन्नैर्निन प्रत्यक्षस्याज्यो गुरुणे सुबुधैर्दुर्माह—

मूलार—अविउत्ता तत्तथानवासिदेवताः । अहंदादयः साक्षिणो यत्र तत्तत्साक्षि तस्य । पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो मत्त्याख्यानस्यारसेरुनादित्यर्थः ।

अर्थ—अहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सामान्य केरली, दीक्षास्थानस्थित देवता और सर्व संघ इनके साक्षीति जो आहार के त्यागका तब धारण किया जा उसका त्याग करना योग्य नहीं है. उससे तो मरनाही अच्छा है.

कथं मरणदोषमनता प्रत्यक्षानमस्येत्तादात्म्यामाचरे प्रपद्यमुत्तर प्रत्याख्यानमंडवे दुष्टतां निवेदयितुम्—
आसादिदा ततो होति तेण ते अप्पमाणकरणेण ॥

राया निव सन्निकन्दो विसंब संतेण कज्जम्मि ॥ १६३४ ॥

अग्रमाणयता तेन न्यक्कताः परमेष्ठिनः ॥

कार्याश्रितवर्तमानेन साक्षीकृतनृपा इव ॥ १६९९ ॥

विजयोद्या—आसादिवा परिभूताः । तदो ततः पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेन प्रत्याख्यानभंग-
कारिणा । ते अर्हदादयः । अग्रमाणकरणेन अग्रमाणकरणेन तत्साक्षिकं कर्म प्रतिष्ठातं विनाशयता ते अग्रमाणीकृता भवन्ति ।
अग्रमाणकरणे च ते परिभूता भवन्ति । राजा विद्य साक्षिकको राजेव साक्षीकृतः । कर्त्तव्यमि विस्वदेतेण कार्ये विसे-
यदता । एतदुक्तं भवति राजसाक्षिक प्रतिष्ठातं कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ।

इतः प्रत्याख्यानग्रहणदुष्टता प्रवर्धनायेष्ट—

मूल्यारा—आसादिदा अवशाहवाः कृताः । तदो प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकालं । तेण प्रत्याख्यानभंगकारिणा । अग्र-
माणकरणेन तत्साक्षिकप्रतिष्ठानानुष्ठाननिष्ठपणादिसंवादेनेन । यच्च यं विग्रहयते स तं परिभवतीति प्रतीतमेव । राजा
वि य दृष्ट इष्ट । विस्वदेतेण व्यभिचरता राजसाक्षिकं प्रतिष्ठातकर्मोक्तता राजा यथा परिभूतो भवत्येवमर्हदादयोऽपि इत्यर्थः॥

प्रत्याख्यानका भग करना मरणसे भी कैसा भुता है इस प्रश्नका उत्तर आपार्य सविस्तर देते हैं. प्रथमतः
प्रत्याख्यान का नाश करना क्यों भुग है? इसका सुलसा करते हैं—

अर्थ—प्रत्याख्यान ग्रहण कर जिसने उसका त्याग किया है उसने तो अरहंतादिकों को साक्षीभूत सम-
झकर उत्तन प्रत्याख्यान लिया था यदि उसने प्रत्याख्यानको नष्ट किया तो अर्हंतादिकों को उसने अग्रमाण माना
था ऐसा समझना चाहिये उनको अग्रमाण माननेसे उसने उनका तिरस्कार—अनादर किया है ऐसा भाव सिद्ध
होता है. जैसे किसी मनुष्य ने किसी कार्यमें राजाको प्रमाणभूत मानकर प्रतिज्ञा की थी परंतु उसने उस कार्यकी
प्रतिज्ञाका यदि भंग कर दिया तो उसने राजाको अग्रमाणभूत समझकर उसका अपमान किया ऐसा लोक समझते
हैं. इसी प्रकार मत्याख्यान लेकर उसको तोहनवाले पुरुषने अर्हंतादिकों को अग्रमाणभूत माना है उसने उनका
तिरस्कार किया है ऐसा समझना चाहिये.

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवण्ण ॥
तत्सत्त्वित्त्वं कथं सो पक्ववखाणं ण मंजिज्ज ॥ १६३५ ॥

प्रमाणीकुरुते भक्तो यो योगी परमेष्ठिनः ॥
तत्साक्षिकमसौ जातु प्रत्याख्यानं न मुंचति ॥ १७०० ॥

विजयशंकरा—जब दे कर पयानं यदि ते कृताः प्रमाणं । अरुहताधी अर्हदादयः । भवेज्ज मवेज्जुः । खवणण भवेण । नन्नादिमर्दं चडे कन्तं न्नायं तित्तासिके कृतं प्रत्यख्यानं । रो ७ मेलिज्ज क्षपको च नाप्रयेन् ॥

कराभिरुके दर्शयन्ती—

मृत्तारा—प्रमाणं अतिक्रमणाविश्रय, । हवे-इ भवेज्जुः ॥

अर्थ—यदि उमने अर्थां क्षपकने अर्हदादिकोंको प्रमाणमूत-वस्थान करनेवाले समझा है तो उनके प्रत्यक्षमें दिया हुआ प्रत्याख्यान नष्ट करना मयके लिए कैसा उचित हो सकता है ? अर्थात् अर्हदादिकोंको नाशोभत ममत्तर किया हुआ प्रत्याख्यान तोड़ देने से मिथ्यात्वकी प्राप्ति होती है, जो कि अनंत संसारमें भ्रमण करानमें हेतु है.

सविस्वकरायहीलणमात्रहृद् जरत्स जह महादोसं ॥

तह जिणवरादिआमादणा वि दोसं महे कुणदि ॥ १६३६ ॥

साक्षीकृत्य परायूयाः कुर्वते परमेष्ठिनः ॥

पुनःसर्वो मद्भद्रोयं भूमिपाला इव स्फुटम् ॥ १७०१ ॥

पितृयोदया—मज्झिमपरिवायदीलनं नाशोहृत्तनाजरात्तिकः । अस्मद्वि जरत्स जह महादोसं जानयति यथा मत्स्य मत्तल्लं रोयं । तह जिणवरादि मात्स्यत्वा तथा अर्हत्त्वासादनायि । दोसं महे कुणदि दोयं महाप्लं करोमि ॥

विनायमात्मनाभ्योपमहत्त्वं सर्वध्वजे—

मृत्तारा—हीलणं परिभञ्जः । महे महातम् ॥

अर्थ—किमी आपमें राजाको साक्षी समझकर हमने यदि वह कार्य नहीं किया अर्थात् प्रतिज्ञाका नाश किया तो हमने राजाका परिभव किया ऐसा मझना चाहिये, प्रतिज्ञा भंग करनेवालोंको राजा दंडित करता है वह उसको मझान् अपराधी समझकर दंडका घोर दूख देता है, उसी प्रकार विनेश्वरादिके सामने प्रतिज्ञात प्रत्याख्यान का भंग करनेपर विनेश्वरादिकोंका हमने घोर अभिनय किया है ऐसा समझना चाहिये, यह अभिनय महान् दोषोंको उत्पन्न करता है.

तं महान्तं वीरं कथयति—

निश्चयरपवयणमुदे आङ्गिण् गणहरे महङ्गीण् ॥

एदे आसादन्तो पबइ पारंचियं ठाणं ॥ १६३७ ॥

संवन्तीरुआचार्यश्रुताधिकमहर्द्धिकान् ॥

वराभवति योगी च स पगंचिकमंचति ॥ १७०२ ॥

विजयोदया—निश्चयरपवयणमुदे तीर्थकरान्, रत्नवर्ण, आगमं, । आर्यणि आचार्यान् । गणहरे गणधराम् ।

महङ्गीण् महर्द्धिकान् । एदे एतान् उत्सादितो असादयन् । पबइ प्रामोति । पारंचियं ठाणं पारंचियतामधेयं प्रायश्चित्तस्थानं ॥

तदोपमहर्त्तव्यं तन्मतीकारुशुरुवप्रापणदर्शनेन स्वधरआणयति—

महारा—पवयण रत्नवर्ण । पारंचियं ठाणं पारंचिकं नाम प्रायश्चित्तं ॥

उत्ती महान् दीर्घोक्ता आचार्यं कथनं करोते है.

अर्थ—तीर्थकर, रत्नग्रन्थ, आगम, आचार्य, गणधर, और महर्द्धिक मुनिराज इनकी आसादना करने-

वाला पारंचिक नामक प्रार्थनार्थको प्राप्त होता है- अर्थात् पारंचिक प्रार्थनार्थ लेने पर ही उसकी बुद्धि होती है.

सत्सलीकयरायासादणं हु दोसं करे हु एयमवे ॥

भन्नकोडीसु य दोसं जिणदि आसादणं कुणइ ॥ १६१८ ॥

निरस्कुता नृपाः संतः साक्षित्वेऽस्य शरीरिणः ॥

एकअ दवने दुःखं जिनेद्रा भवकोटिपु ॥ १७०३ ॥

विजयोदया—साक्षीइतराजाभक्तजतादोषदर्ददायवमानजनितक्षोपो महानिति कुर्यति । स्पष्टार्थो नाथा ॥

रत्नायमाननआदोषाजिगायवमाननदोषस्य महतां व्यनक्ति—

नूअरा—दोसं दुःखं, तत्कारणं च ।

अर्थ—साक्षीभूत राजाकी आसादना करनेसे एक भवमें ही माणीको हानि भोगनी पड़ती है अर्थात्

राजा एकही भवमें उसको दंड या शिखा देगा परंतु बिनेधरादिकोंकी आसादना करनेसे इस जीवनको कोटवधि

भगोमं दुःख भोगना पठता है, राजाकी आसादनाकी अपेक्षा जहंदादिकोकी आसादना महान् दुःख देती है ऐसा अभिप्राय ममक्षना चाहिए.

१४८४

मोक्त्वाभिलासिणो संजदस्त पिघणगमणं पि होह वरं ॥
 पञ्चक्खणं भंजंतस्स ण वरमरह्हादिसविस्वकदा ॥ १६३९ ॥
 पिघणगमणमेयभवे णात्तो ण पुणो पुरिहजम्मसु ॥
 णात्तं ययभंगो पुण कुणइ भवत्तप्पसु बहुएसु ॥ १६४० ॥
 ण तह्हा दोत्तं पावइ पञ्चक्खणमकरित्तु कालगदो ॥
 जह्हु भंजणा हु पावदि पञ्चक्खणं महावोत्तं ॥ १६४१ ॥
 मोक्खाभिलापिणः साधोभरंणं शरणं वरम् ॥
 प्रत्याख्यानस्य न त्यागो जिनासिद्धादिसाधिणः ॥ १७०४ ॥
 एफन्न कुरुते दोषं मरणं न भवन्तरे ॥
 व्रतभंगः पुनर्जातो भवानां कोटिकोटिषु ॥ १७०५ ॥
 प्रत्याख्यानमनादाय त्रियमाणस्य देहिनः ॥
 न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—ण तह्हा दोत्तं पावदि न तथा दोष प्राप्नोति । पञ्चक्खणमकरित्तु प्रत्याख्यात्यजना । काल-
 गदो वृत्तः । जह्हु भंजतो पावदि यथा प्रत्याख्यानभंगमरह्हादोय व्रतमोक्षि ।
 सुसुखयतोः संन्यस्तचित्तात्तं भाषायुग्मेत पुनर्सुखस्यते—
 मूढात्—भंतुं यस्तुम् ।
 मूढात्—एषम् ॥ एते द्वे श्रीबिलयादयो नेच्छन्ति ॥
 अष्टवसंन्यासाद्वृत्तसंन्यासस्य मरणे सुतरां दोषमाह—

प्रत्याख्यानमदृश्य मूलस्तथैव दोषवान् ॥

प्रत्याख्यानं यथा भंजनं महान्तं दोषमाप्नुयान् ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा करनेवाले मुनिका मरण होना भी अच्छा ही है परन्तु अहंदादिकोको माधी कर लिए हुए प्रत्याख्यानका भंग करना कभी भी योग्य नहीं होमा- मरण होनेसे एक भयका ही नाश होगा अर्थात् आगेके जन्ममें पुनः माणी अपनी उन्नति कर संकेता पातु व्रतयोग करनेसे ऐसी प्राणीकी हानि होती है कि प्राणके कोट्यारवि भयोंमें भी वह अपनी उन्नति करनेमें असमर्थ ही हो जाता है.

अर्थ—प्रत्याख्यान किए बिना ही जिसने प्राण छोड़े है वह उस दोषको प्राप्त नहीं होता है जिसको कि प्रत्याख्यान करके छोड़ने वाला प्राप्त होता है. अर्थात् आहारका त्याग करने की प्रतीक्षा किए बिना ही जिसने मरण किया होगा उसके मनमें प्रथमं करने लायक भाग नहीं रहते हैं इसलिए वह महान् दोषको प्राप्त होता नहीं पातु आहारत्यागकी प्रतीक्षा ले चुकने पर फिर जो अपनी प्रतीक्षा तोड़ता है उसके इदमं संकेतशपरिणाम नीचतया उत्पन्न होते हैं अत एव वह महान् दोषी होता है.

प्रत्याख्यानानाहारमंगः स आहारः प्रार्थमानो हिंसादिदोषान्तरि लाभात्पत्तीति विप्रवृत्ति—

आहारस्य हिंसइ भणइ असत्त्वं करेइ तेषकं ॥

रुसइ लुब्धइ मायां करेइ परिगिण्हइ य संगे ॥ १६४२ ॥

जिनस्ति देहिनोऽन्वार्थं भापते वितथं वनः ॥

परस्य हरते द्रव्यं स्वीकरोति परिग्रहम् ॥ १७०७ ॥

विजयोभवा—आहारस्य हिंसइ आहारस्य च जीवनिमायाहन्तिनस्ति । अमल्यं भणति, स्वीन्यं करोति । रुप्यत्य-
नामे, गुप्यति नामे, मायां करोति, परिगृह्णाति संवाच ।
अमासोऽर्द्धादिमाश्रिकं प्रत्याख्यानः स प्रार्थमानोऽहिंसादीनेषान्दोषाननुपजयति इति वक्तुमुत्तरप्रबंधमाह

मूला॥१॥—ईमदि पद्बीबन्तिकायादिनन्ति । रुसदि भोजनवदंगप्रतिपंकाय कुप्यति । लब्धमदि ग्रहं विधेये धनदवादातरसाग्ने । संगे यदयुहिष्यादीन ।

छोटं दूण आहारका सेवन करनेसे प्रत्यास्थानमंग होता है- प्रत्यास्थानमंग छोड़कर जो आहारकी अभि लाषा करता है वह हिंसादि मंगूषे दोषोंको उत्पन्न करता है इन अभिप्रायको प्रगट करते हैं—

अर्थ—यह ज़ीय आहारके लिये छद्मजय जीर्णको मारता है, असत्य वचन चोलता है, चोरी करता है, आहारका लाभ न होनेपर रुष्ट होता है, और होनेपर जादा लाभ पढता है, आहारके वास्तो मनुष्य कपट करता है, तथा परिग्रहोंको यदाता है,

होइ णरो गिह्जो पयहइ तवणाणंदसणचरिन् ॥

आमिसकलिणा ठइओ छाये मइलेइ य कुलस्स ॥ १६४३ ॥

रत्नग्रयं जगत्सारमाहारार्थं चिद्वृत्ति ॥

निस्सपो सुवनल्यातं मलिनीकूत्ने कुलम् ॥ १७०८ ॥

विजयोदयः—नोइ णरो गिह्जो निर्लेज्जो भवति नरः । आहारार्थं पयान्थाअरणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञानं, दानं चारिणे च । अभिगख्येन कलिनायक-च, छायां कुलस्स मरिणयति वरोधिउदयोदयादिना ॥

मूला॥२॥—गिह्जो आहारार्थं परयांचादिरुत्तात् । आमिसकलिदे आहारसंज्ञाम्बेन कलिना पापरुमेणा । ठइओ अन्ये कलिने आसकः । ठइओ वुत्तित इति ज्वावकवे । ज्ञायं ज्ञोभां महात्म्यं वा ॥

अर्थ—आहारके लिये मनुष्य धाचना करता है, जिससे उसको निर्लेज्जता प्रकट होजाती है, आहारके लिये वह तप, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यको तिलांबलि देता है, आहार मंत्रारूपी पापके वेश दोकर अपने कुलको मलिन करता है,

णाभदि बुद्धी जिम्भावसरस्स भंदा वि होदि तिक्त्वा वि ॥

जोणिगसिल्लसलमो व होइ परिसो अणणवसो ॥ १६४४ ॥

जिह्वेन्द्रियवशात्प्राशु बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति ॥
संपद्यते परायत्तो योनिगच्छुपलम्बवत् ॥ १७०९ ॥

चित्रयोदया—प्रासादि बुद्धी बुद्धिर्नश्यति । आहारलम्पटवत्या युक्तयुक्तविवेकाकरणत् । कस्य । जित्वापशंस्य
तीक्ष्णा पि मनी पूयं बुद्धिः कृडा भवति । स्मरणमलोपलुता अर्थयाथारूपं न पश्यतीति पारम्यीकश्लेशलम्बा इव
भवति पुनर्योऽन्तर्भवति ॥

मूलरा—प्रासादि आहारलम्पटवत्या युक्तयुक्तविवेकाकरणत् । मंदा स्मरणमलोपलम्बवत्कृडा । अर्थयाथारूपं न
पश्यतीत्यर्थः । लोपिगामितेसलम्बो वयलेभावलम्ब इव ।

अर्थ—जो मनुष्य जिज्ञासके बड़ा होता है, उसकी बुद्धि नष्ट होती है, अर्थात् वह आदर लुब्ध होकर
युक्तायुक्त का विचार मनमें से निकाल देता है, जिज्ञासे बन्नीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि, प्रथम यद्यपि तीक्ष्ण होगी
तो आगे वा मलिन होती है, रम्य लुब्ध होकर पदार्थोंका यथार्थ निश्चय करनेमें वह असमर्थ होता है, आहारलो-
पुत्र मनुष्य ब्रह्मके वचनमें मानो वधा हुआ विलकुल अस्वतंत्र होता है,

धीरत्तणमाहुर्यं कदण्णवं विणयधम्मसत्तभावो ॥

पयइह कुणइ अणत्थं गल्लगो मच्छओ वेव ॥ १६४५ ॥

धम्मधैर्यकृतज्जत्तमाहस्स्यानि निरस्यति ॥

महान्तं कुरुतेऽनर्थं गल्लमो यथा अपः ॥ १७१० ॥

चित्रयोदया—धीरत्त धीरत्वं, माहात्म्य, उतकतां, विमयं, धर्मधर्मां च प्रजहति । करोत्यनर्थेऽपह्नां च । प्रज-
हति करोत्यनर्थमात्मनः । गलान्द्रज्जमाहस्य इव ॥

मूलरा—१ दण्डदा छात्रत्वा । अजस्यं मरणात् दुःखमात्मनः । गल्लगो वह्निशासकः । मच्छगो वेव
मरत्य इव ॥

अर्थ—आहारके वश होकर मनुष्य धर्म, महत्ता, कृतकता, विनय, धर्मश्रद्धा, इन गुणोंको छोड़ देता है,
गलमें लगी हुई मछली जैसे अपने प्राणोंको छोड़ देती है वैसे आहारलुब्ध पुरुष भी अपने प्राणोंको छोड़ देते हैं,

आहारत्यं पुरितो माणी कुलजावि पहियकिची वि ॥

मुंजेति अमोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥ १६४६ ॥

कुलीनो धार्मिको मानी ख्यातकीर्तिर्विचक्षणः ॥

अभक्ष्यं वल्मते वस्तु विरुदां कुरुते क्रियाम् ॥ १७११ ॥

विजयोद्या—आहारस्य आहारार्थं युक्ते अभोजनानि पुरुषो । मानी कुलीन , अशितकीर्तिरपि अकल्पीयं

करोति ॥

मूजारा—माणी मानिनोऽपि । अकिच्चं च फलजायोग्यमपि ॥

अर्थ—आहारके वडा होकर पुरुष अभक्ष्यभक्षण भी करता है मानी, कुलीन, कीर्तिमान भी पुरुष आहार

लुब्ध होकर अक्षय्यं करते हैं

आहारत्यं मज्जारिंसुमागि अही मणुस्सी वि ॥

दुग्धिमक्खादिसु खार्यति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥ १६४७ ॥

इहपरलोइयदुक्खाणि आवहते णरस्स जे दोसा ॥

ते दोसे कुणइ णरो सत्वे आहारगिच्चीए ॥ १६४८ ॥

दुग्धिमक्खादिसु मार्जरीशिशुमाराहिमानवाः ॥

वह्णमान्यपल्यानि मत्स्यन्ति वुमुथिताः ॥ १७१२ ॥

ये जन्मद्वितये सोपा-केचनानर्थकारिणः ॥

ते जायन्तेऽलिता जन्तोर्राहारासक्तचेतसः ॥ १७१३ ॥

विजयोद्या—स्पष्टम् ॥

अमत्यतमभक्षणं सुयार्चोना छद्मवति—

मूजारा—अही सर्पोः स्त्रीत्वद्वन्द्वतमा-। मणुस्सा मादुषीः सजातीयत्वात्प्रीत्याच्यमान्द्वन्द्वतमा-। दुग्धिमक्खादिसु

दुग्धिमदुग्गीपरोपदिसु । पुत्तभंडाणि सुगमम् ॥

आहारगृहेः सर्वापराधकारणत्वमाह—

मूलारो—गरस आत्मनः ।

अर्थ—मांजारी, जिंशुमारी, सर्पिणी, और स्त्री भी कुक्कालादिक प्रसंगमें अपने प्रिय बालकोंको भी खा जाते हैं. 'जिन दोपोंसे रहलोक और परलोकमें दुःस्वर्गकी प्राप्ति होनी है मनुष्य आहार लेन्व होकर उन सर्व दोषोंको कर दालवा है.

उत्तरभाषाद्वयम्—

आहारलोलुपतया स्वयमूरुजसमुद्रे तिमितिमिगिलादयो मस्या महाकाया योजनसहजायामाः दण्मासं विप्लवयन्ताः स्वपन्ति । निद्रापिमोक्षानन्दरे विदिताननाः स्वजठरमिषमस्यादीनाद्वारिकृत्य अवधिष्टाननामधेये भवन् । तत्तुरुणोबलप्रमलाहाराः शालिसिक्थमाचननुत्वारुव शालितिक्थसंज्ञकाः पक्षीदण्डमस्माकं शरीरे कथयति नाथया—

अवधिष्टाणं निरयं मच्छा आहारेहेतु गच्छति ॥

तत्थेवाहारमिलासेण गदो शालिसिच्छो वि ॥ १६४९ ॥

अहारसंज्ञया श्वन्नं महान्तं सप्तमं परम् ॥

गच्छन्ति निमयो यातः शालिसिक्थोऽपि नष्टधीः ॥ १७१३ ॥

त्रिजयोषया—अवधिष्टाणमियादिषा नाथ ॥

चक्रधरो वि सुभूमो फलस्तगिद्धीप् वंचिओ संतो ॥

णटो समुद्रमञ्जे सपरिजणो तो गओ निरयं ॥ १६५० ॥

चतुरंगबलोपेतः सुभूमः फललालसः ॥

नटोऽभोधौ निजैः सार्यं ततोऽपि नरकं गतः ॥ १७१५ ॥

विजयोष्या—चक्रधरो वि सुभूमो नाम चक्रालंछनः फलरसमृदया वंचितः समुद्रमञ्जे विनष्टः सपरिजनः ।

पथाथ नरकं गतः ।

मरत्यस्योमहदृष्टान्ताभ्यां आहारगृह्णितोपाश्रित्योपनिषत्सु गाथाद्वयमाह—

मूढारा—अवच्छिन्नं सप्तमन्त्ररूपं अचविश्वनाम्नं प्रतारं । आहारगृह्णितपतकं हेतुनिमित्तं यत्र गमने ।
मात्रिमित्यो शान्तिनिश्चयमायगात्तात्कालिकिष्यो चाग क्षुद्रमत्स्यः । वत्कथानकं यथा—स्वयंभूरगणसमुद्रवास्तव्या
चोत्तममहद्भ्रातृणा यो जतरं चाश्वमात्रपुष्टिर्कृमाः, सार्द्धो जतरं तद्व्योच्यया महामत्स्या आहारलोक्षुपत्वेन पणमा-
सान्नुने प्रणयं विप्रदि । नतो मुने पिपासां प्रविष्टेतरमत्स्यादीन्मन्त्रयित्वा चक्षोमपाप्मानोऽचविस्थानं प्रजति । तत्कर्ण-
यामिन्स्तरहणं महादाराभ तर्दृष्टांतरालैर्निर्गन्तुनो मत्स्यादीन् अवलोचय इमे अवज्ञानिनो यन्मुखं पिपातुं न जानन्ति यदो-
क्मत्स्यानं शरीरं भवोक्तिः सन्तुं सोऽपि न लभेतेति कृतोक्कट्टरौ श्रुत्वाः प्राक्षिपिष्यन्त आचि तत्सहवासिनो भयति ॥

मूढारा—चक्रपरो अष्टमः । वंचितो प्रतारितः । निरर्थं सप्तमं ॥

स्वयंभूरगण सङ्घर्षे तिभि विमिगिलादिक महामत्स्य रहते हैं. उनका शरीर बहुतही बड़ा रहता है. उनकी
शरीरकी लंबाई हजार योजनकी कही है. वे मत्स्य ■■■ यामतक अपना मुंह उपाटकर नींद लेते हैं. नींद खुलनेके
बाद आहारमें लुच्य होकर अपना मुंह बंद करते हैं. तब उनके मुहमें जो मत्स्यादिक प्राणी आते हैं उनको वे
निगल जाते हैं. ये मत्स्य आयुष्य समाप्तिके अनंतर अवधि स्थान नामक नरकमें प्रवृत्त करते हैं. इन मत्स्योंके
कानमें शालिमिकथ नामक मत्स्य रहते हैं वे उनके कानका मल खा कर जीवन निर्वाह करते हैं. उनका शरीर
तंडुलके भीषण प्रमाणका रहता है अतएव उनकी शालिमिकथक ऐसा अत्यर्थक नाम हैं. वे अपने मनमें यदि
द्वारा शरीर इन महामत्स्योंके समान बड़ा होवा तो हमारे मुंहसे एक भी प्राणी निकल नहीं सकता. हम संपूर्ण
प्राणिओंको खा जाते ऐसा विचार थतत करते हैं. इस विचारमें उत्पन्न हुए पापोंसे वे भी उसी नरकमें प्रवेश
करते हैं. यही अभिप्राय आगेकी गाथासे आचार्य कहते हैं—

अर्थ—आहारकी अभिलाषामें मत्स्य अवधि स्थान नामक सातेवे नरकमें गमन करते हैं. इस आहारा-
भिलाषसे ही शालिमिकथक मत्स्य भी उमी नरकमें उत्पन्न हुआ. (इसकी कथा आराधना कथाकोषमें देखो)

अर्थ—फल्लोके रमका आस्वादन करनेमें आपत्त होकर सुभ्रम चक्रवर्ती भी अपने परिवार सहित सङ्घ-
ट्रमें गडकर मर गया और नरकमें उत्पन्न हुआ.

आहारत्यं कालेन पावकम्भाणि तं परिगञ्जो सि ॥

संसारमणादीयं तुक्खससहससाणि पावंतो ॥ १६५१ ॥

आहारसंज्ञया मद्र कृत्वा पापं दुरुत्तरम् ॥

चिरकालं मवाग्मोघी मातो दुःखमनारतम् ॥ १७१६ ॥

पित्रयोक्त्वा—आहारार्थं पापानि कर्मानि कृत्वा संसारमनादिक प्रविष्टो भवान्दुःखसहसाणि वेदयमानः ॥
पुनराह—परिलोभो भ्रान्तः ।

अर्थ—हे क्षपक ! इस आहारके वश होकर तूने अनेक पापकर्म कर अनादि संसारमें अमण किया था,

दे क्षपक ! अनादि कालपर्यन्त तूने आहार वश होकरही हजारों दुःख मह लिये थे.

पुनरपि तदेव तं संसारं किं भमिदुमिच्छसि अणंतं ॥

जे णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥ १६५२ ॥

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि अमितं भवकामने ॥

दुःखादामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुच्यसि ॥ १७१७ ॥

पित्रयोक्त्वा—पुनरपि पुनरपि । तथैव संसारममृतमदितुं किमिच्छसि ? यस्मादद्याद्याहारे दुष्णा न गच्छति ॥
मूढारा—ण वोच्छिज्जइ न निराक्रियते । ते त्वया । उक्तं च—

किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि अमितं भवकामने ॥

दुःखदामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुच्यसे ॥

अर्थ—हे क्षपक तेरी आहारामिलाया अद्यापि शांत नहीं हुई है अतः तू अभी भी पूर्ववत् अनंत संसारमें अमण करना चाहता है क्या ?

जीवस्स णत्थि तिच्ची चिरंप्पि भुंजंतयस्स आहारं ॥

तिच्चीए विणा चित्तं उन्वरं उद्धुदं होइ ॥ १६५३ ॥

आहारं चल्भमानोजपि चिरं जीवो न तृप्यति ॥

उद्धुदं सर्वदा चित्तं जायते तृप्पितो विना ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—जीवस्स णत्थि तिच्ची जीवस्स भास्ति तृप्ति. चित्तमप्याहारं भुंजानस्स । तृप्या च विना चित्तं नितरायुषलं भवति ॥

किं च—

मूलं रा—उन्वरं अत्यंतं । उद्धुदं आकुलं ॥

अर्थ—हे शृणक ! चिरकालपर्यंत आहार ग्रहण करके भी यह जीव गुण नहीं हुआ है और तृप्तिके बिना यह चित्त अत्यंत आकुल रहता है.

जह इंधणेहिं अग्गी जह य समुदो णदीसहस्सेहिं ॥

आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥ १९५४ ॥

इंधनेनैव सप्ताधिः सलिलेनैव वारिधिः ॥

अंधसा गृह्यमाणेन जीवो जातु न तृप्यति ॥ १७१९ ॥

विजयोदया—जह इंधणादि धम्मी यत्तन्धनेरग्निर्नदीसहस्रैश्च धिल्लयसिन्धुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जैसे इंधनोसे अग्नि तृप्त नहीं होता. वैसे हजारो नदीओसे समुद्र तृप्त नहीं होता है तथा यह जीव भी आहारसे कभी भी तृप्त नहीं होता है.

देविदच्चवट्ठी य वासुदेवा य भोगमूमा य ॥

आहारेण ण तिच्चा तिप्पदि कह भोगणे अण्णो ॥ १६५५ ॥

ओगिनआकिणो रामा वासुदेवाः पुरंदराः ॥

नाहरिस्तुमिमायातास्तुप्यं त्यत्र परे कथम् ॥ १७२-॥

विजयोदया—देवदेवप्रणयदी य देवेंद्रा कामान्तरायक्षयोपशमकर्यत् आत्मीयवस्तुलेजोनिमिसेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि पण्डितिकविगतश्रेष्ठकारिर्वैष्णवप्रैकविमहारेण संस्करणोचरतः द्विक्रितेन उपादेयकपार्तेनोऽपि । भोगभू-
मिता भोजनांगकल्पलक्ष्मणेन न तैसाः । कथमस्यो जनस्तुप्यति ॥

मूलाया—वैष्णवेत्यादि सुरेंद्रा कामान्तरायक्षयोपशमकर्यत् आत्मीयवस्तुलेजोनिमिचेनाहारेण न गुप्ताः । नाप्यु-
भयेऽपि चक्रिणः पण्डितिकविगतश्रेष्ठकारिः वर्षमात्रेणैकदिनमाहारसंस्करणोचरतः द्विक्रितेन, नापि भोगभूमिजातभोजनांग-

कल्पवृक्षमयेन ॥

अर्थ—देवेंद्रों को कामान्तराय कर्मका तीव्र क्षयोपशम रहता है इस लिये उन शरीरमें कति स्थिर करने वाला जो आहार उसकी प्राप्ति होती है उससे वे दृष्ट नहीं होते हैं. मकल चक्रवर्ती और त्रिलंब चक्रवर्तीके घरमें सीनतो साठ सौएया रहते हैं वे सब मिलकर दररोज एक दिनका आहार तयार करते हैं उसका भोग लेकर चक्रवर्तीओंकी भी वृष्टि नहीं होती है. भोगभूमि जीव भी भोजनांग नामक कल्पवृक्षसे दिव्य आहार की प्राप्ति करके संतुष्ट नहीं होते है. उपर्युक्त देवेंद्र, चक्रवर्ती और भोगभूमिज जीव कामान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे युक्त होते हैं इनको स्पेच्छित आहारके पदार्थ मिलते हैं तो भी वे तृप्त नहीं होते हैं तो अन्य तुलसरीले जन कैसे तृप्त होते हैं ?

उध्दुदमणस्त ण रदी विणा रदीए कुदो हवन्ति पीदी ॥

पीदीए विणा ण सुहं उध्दुदचित्तस्स घण्णस्स ॥ १६५६ ॥

रत्ताकुलितचित्तस्य प्रीतिर्नास्ति रतिं विना ॥

प्रीतिं विना कुतः सौख्यं सर्वदा गृह्णतेतसः ॥ १७२१ ॥

विजयोदया—उध्दुदमणस्त इतो मद्रमतो मद्रमस्माच्चेदमिति परिच्छवमानचेतसो न रतिः, क च तथा विना प्रीतिः । प्रीत्या च विना सुखं चतचित्तस्य तत्तदाहारटेपटस्य ॥

मूलाया—उध्दुदमणस्त इदमिती मद्रमस्माच्चेदमिति परिच्छवमानचेतसः । घण्णस्स तत्तदाहारलंपटस्य ॥

अर्थ—यह आहार स्वादु है यह आहार मीठा है इससे मैं सुखी होता हूं ऐसे विचारसे मनुष्यका मन

हमें ज्ञा चंचल होता है हमलिये रतिमें प्राप्ति होना नहीं। बिना रतिके प्रतिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और मीरीके बिना आहार लम्पट पुष्पकी सुस नहीं होगा।

सब्बाहारविधाणेहिं तुमे ते सच्चपुगला बहुसो ॥
आहारिदा अदीदे काले तिचि च सि ण पत्तो ॥ १६५७ ॥
पुद्गला पियिचोपाये सकला भक्षितास्त्वया ॥
अतिनेज्जंतशः काले न च तृप्तिं मनः भित्तम् ॥ १७२० ॥

विजयोदया—सब्बाहरणविधाणेहिं अज्ञानपचपापेह्यगिकस्वैरुपया सर्वे पुद्गला गहुषा आहारिता' अतीते काले वृष्टि व न च प्रसो भयान् ॥

मूलपा—विधाणेहिं अज्ञानादिविकल्पैः ।

अर्थ—हे हृषिक ! आजवरु जितना भूतशाल व्यतीत हुआ है उतने कालमें अन्न, पान, खाद्य और लेवा ऐसे चार प्रकारके आहार होने गहुषार भक्षण किये हैं तो मो वृ त्त नहीं हुआ है.

किं पुण कंठव्याणो आहारेदूण अज्जमाहारं ॥
लभिहिंसि तिचि पाज्जुदधि हिमलेहणेणव् ॥ १६५८ ॥
मोज्जं कंठगतघाणैसुस्त्वा प्रार्थनयाहृतं ॥
किमिदानीं पुनस्तुमिं सुबुद्धे ! त्वं गमिष्यसि ? ॥ १७२३ ॥
न वृत्तिर्यस्य सपत्ता पीते जलनिचेज्जले ॥
अवदयायकणैद्वित्रैः पीतैः किमु स तृप्प्यति ? ॥ १७२४ ॥

विजयो—किं पुण किं पुन कंठप्राणोप्याहार गृहीत्वा प्रीति रूप्यसे । पीत्वोदधिं न दसो यथा हिमलेहनेन ॥
मूलपा—कंठव्याणो कंठगतप्राणः । लभिहिंसि प्राप्तयसि त्वं । हिमलेहणे व अवश्ययायव जिह्वयास्वादनेन यथा न तृप्यति पीत्वोदधिं न यथाः सत्त्वया त्यप्यव प्रवृत्तेनाहारेण न तृप्स्यसीलब्धैः ।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य समुद्रको पीकर भी तृप्त नहीं हुआ तो वह क्या एकाद विमर्शितता आसरावन करनेसे तृप्त होगा? वैसे हे क्षणिक' तू आज तक आहार भक्षण कृत तृप्त नहीं हुआ है. आज तेरे कंठमें प्राण आये है तो आज आहार ग्रहण कर तू तृप्ति की प्राप्ति कर लेगा क्या ? विचार का और आहरेच्छा छोड़ दे

को एत्थ विमओ दे बहुसो आहारभुत्तपुब्बमि ॥

जुंउज्ज हु अभिलासो अमुत्तपुब्बमि आहारे ॥ १६५९ ॥

सुत्तपूर्वें पने ! कोऽस्मिन्नाहारे तव विस्मयः ॥

अपूर्वें युज्यते कर्तुमभिलापो हि वस्तुनि ॥ १७०५ ॥

विजयोदया—को एत्थ विम ते कोऽत्र विस्मय । आहारे बहुलो सुत्तपुब्बे युज्यते आहारार्थे अभिलापो भुक्तपूर्वें ॥

मूला—आहारा आहारे । जुज्जुन मुक्तो मनेत् ।

अर्थ—जो आहार दूरकालमें अनेकवार भक्षण किया जा उसमें फिर अभिलाप तेरे मनमें उत्पन्न हुई है. इसमें आश्चर्य करता किजल है जिसका भक्षण किया नहीं था उसमें भी अभिलापा जीवको उत्पन्न होती है

आत्रादमेत्तसोक्खो आहारेण तु सुलं वहुं अत्थि ॥

दुःखं चेवरथ बहु आहट्टतस्स मिन्दीए ॥ १६६० ॥

आपानसुखदे भोज्ये न सुखं वहु विच्यते ॥

रुद्धितो जायते भूरि दुग्गमेवामिलाप्यतः ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—आत्रादमित्तसोक्खो विद्याप्रपन्नमानसुख आहार । न सुखमत्र यदस्ति । दुग्गमेवान बहु अभिलपन्न आहारमृदया ॥

मूला—आत्रादमेत्तसोक्खो विद्यामेलापकमायुखः । आहट्टतस्स अभिलपतः । अर्बचतो वा ॥

अर्थ—जब विद्याके उपर आहार आता है तभी सुख होता है. वह भी सुख अत्यल्प है परंतु अतिशय

अमितायाम् आहार ग्रहण करनेमें सुखही अपेक्षासे दुःखही लादा है- अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक मष्ट करने पड़ते हैं अतएव आहारमें सुख कम है और दुःख अधिक है-

सुरस्यारसनायाः कारणमाचरे-

जिह्वामूलं चोलेइ वेगदो बरहओन्व आहारो ॥

तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥ १६६१ ॥

अतिक्रामति वाजीव जिह्वामूलं स वेगलः ॥

तत्रैव पृथगे स्वादं भुज्जानो न पुनः परे ॥ १७२७ ॥

विजयोदया-जिह्वाया मूलं वेगेनातिशयत्वाद्वातः जात्यस्य इव । जिह्वामान एव रसं वेत्ति जीवो न भावा गदुपरितः, न च पुरतोऽग्रतः । अथा च जिह्वा ॥

हुतो नो मुराक्षरासुखमस्यमिलनाह-

मूलादा-बोलेहि बज्जो जिह्वां छंपयिमा यानीत्यर्थः । तत्थेय जिह्वामान एव । अत्यैव विह्वा । रसं स्वादं जाणदि पेत्ति । भोज्य । पुरवो जिह्वायाः पूर्वदिग्गम्य मुदयेत् । से जिह्वायाः । परदो परस्मिन्-भागे गडवेखावौ ॥ उक्तं च-

जात्यस्य इव वाहारो जिह्वामेत्यानिबधतः ॥

तत्रैव तत्रसं वेत्ति नैवावर्ण्यरतोऽपि वा ॥

अर्थ-जैसे उज्जम घोडा बड़ वेगसे दौहता है वैसेही यह आहार भी जिह्वाके द्वारा भागका उल्लंघन करके शीघ्र पेटमें प्रवेश करता है- जिह्वाके अग्रभागमेंही आहारका रस जाननेका सामर्थ्य है अर्थात् संपूर्ण जिह्वा आहार का रस जाननेमें अगम्य है वंसा समझना चाहिये, आहार वालीमें परोसा है ऐसी अवस्थामें अथवा वह पेटमें लेजानेके अनंतर जीव उसका रसस्वाद लेनेमें अगम्य है और जिह्वा अल्प भी है इस लिये आहार का सुवानुभव अत्यल्प है-

अच्छिणिमिसेणेचो आहारासुहसस सो हवइ कालो ॥

गिन्दीए गिलइ वेगं गिन्दीए विणा ण होइ सुखं ॥ १६६२ ॥

निमेषमाधके सौख्यमाहारग्रहणे परं ॥

युद्धितो भिलति क्षिप्रं तथा न हि विना सुखम् ॥ १७२८ ॥

विक्रयोद्या—अच्छिन्नमिषमन्त्रितो अक्षिनिमेषमाधः कालः । आहारसत्तेष्वामन्त्रितसुखस्य सुखया देगेन भिगति । यतो युद्धया च विना नालोद्विगसुखं ॥

मृगार-आहारयुद्धस्य आहारसत्तेष्वामन्त्रितसुखं । वेगं क्षीमम् ॥

अर्थ—आहारके रसायुधमसे जो सुख मिलता है उसका काल आल सुंदर फिर उषदनेमें जितना काल लग सकता है उतना है यह जीव अभिलाषासे आहारको शीघ्र निगल जाता है. और अभिलाषाके विना इन्द्रिय सुखकी प्राप्ति होती नहीं.

दुःखं गिद्धीघथस्साहंतेतस्स होइ ग्रहुगं च ॥

चिरमाहृदियदुगायचेडस्स व अण्णगिद्धीए ॥ १७२९ ॥

अशानं कांसितो नित्यं व्याकुलीभूतेष्वेतस्सः ॥

वरिद्धयेदकरयेव गृद्धस्यास्ति कुतः सुखं ॥ १७३० ॥

विजयोद्या—दुःखं गिद्धीघथस्स दुःखं महादुःखं लंघतया प्रस्तस्यभिलषत. । चिरमाहृदियदुगायचेडस्स य प्रणमिर्दीप्य ममपृथ्वया सिद्धे व्याकुलस्य वरिद्धयेदधिकतो दासेरसेय ॥

मृगार-गिद्धीघथस्य लंघतया प्रस्तस्य आहारमभिलषतः । आहृदिय व्याकुलस्यामपृथ्वया । दुःख-वरेदम्य वरिद्धयेदस्य ।

अर्थ—आहारमें लंघ दोऊ जो उमकी अभिलाषा करता है उसको वह घंटे दुःख भोगने पड़ते हैं. जो निरालसे अथकी अभिलाषामें पीडित हुआ है ऐसा दखिरी पुरुष जैसे दुःख पावा है वैसे दुःखानुभव आहार नंपरीको भी होता है

को णाम अप्पयुक्खस्स कारणं बहुसुखस्स चुक्केज्ज ॥

सुखदे हु संकलित्सेण सुणी सग्गापवग्माणं ॥ १७३१ ॥

को नामाल्पसुखस्यार्थे वंच्यते सुखतो बहोः ॥

संक्षेपार्थः क्रियते येन मृत्तिकादिषु इषिया ॥ १७३० ॥

विजयोदया—अथ काम अल्पसुखस्तु कारणं को नामाल्पसुखविमितं महतोऽनिमित्तसुखात्प्रत्यवर्ते ॥ मुनिः

मरेणेन मरणपर्यन्तमुत्पाज्या ॥

मूढारा—मृदुसुखस्त निर्वृत्तिपुरात् । युक्तेन प्रत्यवेत ॥

अर्थ—ज्ञानमा प्राप्ती शोदेस सुखके लिये बहुत सुख जिससे मिलता है ऐसे निमित्तोंको छोड़ देगा-
अर्थात् हे क्षम ! तू अब भक्षण करके घोटासा सुख अल्पकालतक टिकनेवाला प्राप्त कर लेगा परन्तु इससे तुझको
व्यर्थमुक्त और मोक्षमार्गसे वंचित रहना पड़ेगा. आहारभिलाषसे संक्षुब्ध परिणाम बुद्धिगत होते हैं और उनमें
स्वर्गापरिणाम सुखसे हाथ धोने पड़ते हैं.

मदुलितं असिधारं लेहइ मुंजइ य सो सविसमणं ॥

जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥ १६६५ ॥

मधुलितामसेधारां नियातां म लिलिप्रति ॥

युमुञ्जते विपं घोरं सन्यस्तो योऽनानायति ॥ १७३१ ॥

विजयोदया—मदुलितं मधुना लितामसिधारं आशब्दयति । सविषमज्ञने भुंक्ते यो मरणवेशकाले अयोग्या
काममार्येन करोति ॥

मरणागतभनस्यास्तनमृत्योर्दुर्गारोहोदयादहारमिच्छतो दृष्टांतद्वारेण महान्तं दोषमावेवयति—

मूढारा—मरणदेसयाले मरणं दिशति ददाति कथयति वा मरणवेदाः स चासौ कालश्च तस्मिन्मृत्युवेलायाभि
त्यर्थः । पच्छेज्ज पांजेन । अकप्पियाहारं अहंदादिसाक्षिकं प्रत्यावृत्त्यातत्त्वादयोग्यमाहारं ॥

अर्थ—जो धूपक मरण मरणमें अबोध आहारको अभिलाषा रखता है वह शहदने लपेटी हुई तरवा-
रती धाराको जिह्वामें चाटना है ऐया समझना चाहिये. अथवा वह विषामेथ हुआ अन्न खाता है ऐसा समझना
चाहिये. वास्तव्यं यह है कि आहार की अभिलाषासे संक्षुब्ध परिणाम होते हैं जो कि दुर्गतीके कारण हैं.

असिधारं च विसं वा दोसं पुरिसस्स कुण्डं एयमवे ॥

कुण्डं दु मुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु ॥ १६६६ ॥

असिधारविषे दोषमेकञ्च कुरुतो मवे ॥

अशनायाः पुनर्जन्तोर्दुरितं भवकोटिषु ॥ १७३२ ॥

विनायोदया—असिधारं य असिधार वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवार्थं भव-
नांगु मुंन्दोण करोति ॥

गूढाया—अरूपनेषा अवोगोपयोगः ॥

अर्थ—तत्पराकी धारा अथवा विष ये दोन चीजे एकभवमें ही पुरुषका दुःखसान करती है परंतु मुनिजों
के लिये आयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भोजनों दैनिकीक होता है. अर्थात् दुःखतिमें दुःख देनेवाला होता है.

जायंति किंचि दुक्खं सारिरे माणसं च संसारे ॥

पत्तो अणंतसुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥ १६९७ ॥

शरीरं मानसं दुःखं हृदयेते यज्जगज्जे ॥

तद्भवति यतेः सर्वं अशनाया विसंशयम् ॥ १७३३ ॥

विजयोदया—जायंति किं चि दुक्खं यापरिकिदुःखं शरीरं मानसं वा संसारं स्वमनंतवारं प्राप्तवान् । वरसर्वं
सर्वप्रममनार्थोदयेष ॥

किं च कायनमनार्थेव तपसूत्रे स्पष्टा प्रादुर्भवति तद्वत् संसारकारणकर्मबंधनिबंधनत्वाद्दुःखावर्त्यनिमित्तमत
स्त्वपरिहाराय मततं प्रवृत्तयेति शिक्षयितुं उत्तमप्रबंधमाह —

मूलरा—ममत्तिदोसेण ममायमहमाय स्वामी उपलक्षणाद्यमेयाहमहमेवायमिति च यमत्वं तथैव दोषो
दैवरीकं रूपमवयवः । तेन हेतुना ।

अर्थ—हे धृषक ! इस अमादि ममारमें अनतवार जो शारीरिक अथवा मानसिक दुःख तुझको भोगने पड़े
दे उनका कारण एक दूरीरकं ऊपर ममता करना यही है. अर्थात् दूरीरसे प्रेम आबतक तेरा नहीं नष्ट हुआ इससे
ही मैं दुःखोंका तू पात्र बन चुका है

एण्हं पि जदि ममात्ति कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ॥
दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणंतयं कालं ॥ १६६८ ॥
यते! देवममत्वेन प्राप्तं दुःखमनारतम् ॥

इदानीं सर्वथा साधो ! तव तत्त्वं निराकुरु ॥ १७१४ ॥

चित्रलोचनः—एण्हं पि इदानीमपि सरीरे करोमि ममतां तथैव त्वमि दुःखानि चतुर्गुणेषु परावर्तमानोऽनंतकालं प्राप्स्यसि ॥

मूलारा—संसारतो चतुर्गुणेषु परिवर्तमानः ॥

अर्थ—एवंवत् इमं ममयमे भी यदि तू शरीरस्नेह को न छोडेगा तो चतुर्गुणोंमें अनंतकाल भ्रमण करता हुआ तू पुनः उनही दुखोंका स्थान होगा. अर्थात् अनंतकालतक शरीरस्नेह दुःख देगा ही. शरीरस्नेह छोड़ना ही दुःखसे छुटनेका उपाय है.

णदिथ मयं मरणसमं जम्मणसमं ण विज्जेवे दुःखे ॥

जम्मणमरणादकं छिण्ण ममात्ति सरीरादो ॥ १६६९ ॥

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ॥

जन्ममृत्युकरौ छिद्धि शरीरममतां ततः ॥ १७१५ ॥

चित्रलोचनः—णदिथ मयं मरणसमं मरणसदृशं मयं नास्ति । कुयोमिण्ण जन्मसमानं दुःखं न विपत्ते । जग्गमरणात्तं किंदि शरीरममतां ।

मूलारा—जन्ममरणादकं जन्ममरणे आतंको मारणात्मकव्यपिरिव दुःखमयप्रकर्षत्वात् । तद्धेतुत्वात्तु वेदममत्वं तथोक्तम् । उक्तं च—

दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं मयं ॥

जन्ममृत्युकरौ छिद्धि शरीरममतां ततः ॥

अर्थ—इमं वगतमे मरणके समान अन्य मय नहीं है. और कुयोनिमय जन्म लेना महान् दुःख दायक

दे. शरीर समान भूरा दुःख है नहीं. इसलिये जन्ममरणरूपी व्याथीको उत्पन्न करनेवाली शरीरममता वृ अपने हृदयमें दूर कर.

अणो इमं शरीरं अणो जीवोसि पिच्छिदमदीओ ॥

दुःखसमयकिलेसयरी मा हु ममत्तिं कुण शरीरे ॥ १६७० ॥

परोऽयं विग्रहःआयो ! चेतनोऽयं यतःपरः ॥

सतस्संयं विग्रहस्तेनं भद्राङ्गैरुत्कर्षं त्यज ॥ १७३६ ॥

पिज्जोदया—अणु इमं शरीरं अण्वदिदं शरीरं भन्वो अंहुरिति निश्चितमसिदुःखसंस्पर्शसंपन्नमोचतांया दृश्या शरीरे समगाम् ॥

महादुःखोपायकायसत्त्वव्याजनाय देहहर्म्येदभावर्था भाययति—

मूढारा—दुःखपरिकिलेसयरी विचाप्रसादलभेण चित्तविशेषरूपेण ॥ दुरेत्य क्रियमाणः परिक्लेशः शारी-
रो मानसश्च संतापः । ग्रहरणकारणं ।

अर्थ—दे धापक । यह शरीर भिन्न है और जीव इससे भिन्न है ऐसा निश्चयसे समझकर दुःख और संश्लेश
रहित पणिगामोक्षी जननी देहममता वृ छोड़ दे.

सत्त्वं अधियासंतो उवसगविधिं परीसहविधिं च ॥

जित्संगदाए सखिह असंकिलेसेण तं मोहं ॥ १६७१ ॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीपहान् ॥

निःसंगस्त्वमसंकिष्टो देहमोहं तनूकुरु ॥ १७३७ ॥

पिज्जोदया—सद्यं उवसगविधिं सर्वं उगमगोविकल्पं परीपहविकल्पं च माहमानो मोहं भवांस्तनूकुरु ॥
जित्संगदाया धर्मेस्तेनेन च ॥

शमादिगन्तव्यभावनया आर्तैरौदपरित्यागभावनया पोपसर्गाभिभवं परित्यज शरीरममत्वं यासयेति
शिशुगर्भमाह—

मृदाय—विधिं विकल्पं । नित्यसंग्रहाय निःसंगत्वभावनाया । सखिहं कृशीकुरु । अस्मिन्किलेसेण आर्चरीद्रभावना

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीषहान् ॥

निःसंगस्तमसंस्त्रिष्टो देहमोहं तलुं कुरु ॥

अर्थ—हे धारक सर्व प्रकारके उपसर्ग और सर्व प्रकारके परीषह सहकर निःसंगत्वकी भावनासे और नैवेद्यगृहीत परिणामोंसे तू मोह को क्षीण कर.

ण वि कारणं तृणादीसंथारो ण वि य संघसमवाओ ॥

साधुस्त संकिलेसो तास्त य मरणावसाणम्मि ॥ १६७१ ॥

तृणादिसंस्तरौ योग्यश्चतुर्दो संघमीलनम् ॥

निःफलं जायते साधो ! मृत्यो संस्त्रिष्टोचेतसः ॥ १७१८ ॥

विजयोदया—अपि कारणं तृणादी नैव कारणं तृणादिसंस्तरः सहेतवताया, नापि संघसमुदायः मरणावसाने नैविलस्यता साधोः ॥

मरणादे नैविलेनमाविशतः संस्तरादिविचित्रैवर्ध्वमाह—

मूढारा—कारणं सन्ध्याविनिर्मितं । मरणावसाणम्मि मृत्योर्निकटे सति ॥

अर्थ—यदि मरणके समयमें संपलेख परिणाम उत्पन्न होंगे, तो तृणादिकोंका संस्तर, और संघसमुदाय भी गड़बड़नाके प्रति कारण रूप नहीं होंगे, क्योंकि ये बाल कारण हैं, अस्मिन्किलेय रूप परिणाम ही सहेतवनाकेलिए उपपन्न कारण माने गये हैं- इसलिये परिणामोंमें संकलेय न उत्पन्न होगा ऐसा क्षणकने प्रयत्न करना चाहिए अपाव्-अपरिममताका त्याग करना चाहिए.

जह वाणियमा सागरजलमि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ॥

पत्तणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जति ॥ १६७३ ॥

रत्नसंयुतपात्रदथा चाणिजःआगेर यथा ॥

पत्तनं निरुपा साधो ? निरुजंति प्रमादतः ॥ १७३९ ॥

त्रिजगोदया—उदः कालियया यथा यणिजो रतसंपूर्णोर्मिभिः सह यिवश्यति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मृदा पणनोत्तिष्ठमागतम अग्निः ॥

मन्दरकूटप्राचीरमसैरुत्तमावतां संतरसंययतामग्निं राट्रेयाभिरपरिमहामहिषमसमाधिकरणं स्यादिति दृष्टान्तपुरः-
ममं मगाभिगएयाधितसमुभरति—

मृत्ताग—यतादयदा विद्रादित प्रमादेन दुर्घातमहामत्स्यपौस्तद्विद्विषिपत्तमन्तेबयंतः (१) विवजंति मरणांतं विपदनामद्वयेति । रत्नपूर्णोर्मिभिः सह ॥

अर्थ—जैग नीलागे देशांतरमें जाकर व्यापार करनेवाले बैश्य रत्नोंसे भरी हुई नौकाके साथ शहरके ममीप आरुत भी प्रमादवश होनेमें समुद्रमें डूबकर मरते हैं ऐसे—

संछेहणा विमुद्धा केई तह चव विद्रिहसंगेहि ॥

संधारे विहरता वि संकिलिहा विवजंति ॥ १६७४ ॥

मथा सिद्धिमभीपराः गुद्धसंस्तरयायिनः ॥

निपतंति मयायतें जीयाः संक्लेशयोगतः ॥ १७४० ॥

विजयोदया—संक्लेशा विमुद्धा रातीरस्मद्गतमायात् । संक्षेपमया विमुद्धा अग्नि संतः । एवं केचित् विद्रि-
हसंगेहि विद्रिहं रागद्वेषादिभावप्रसिद्धं मद । संधारे विहरता वि संस्तेर प्रवर्तमाना भवि । संकिलिहा विवजंति
संस्तरयायिन्त विनश्यति ॥

मृत्ताग—तद्वेरणा विमुद्धा वि मयक्ककुलीकृतवपुरेडवि । विविपसंगेहि । विविचै रागद्वेषादिभावपरिमहै-
मद । संकिलिहा अर्जरीद्रराताम्यामाविष्टाः ॥

अर्थ—शीरगंधयना को जिनकी निरतिचार हो रही है परंतु मनमें विचित्र रागद्वेषादि रूप भावपरिग्रह
निराग करने हैं ऐसे मुनि कथापछलना की शुद्धि नहीं होनेमें मंस्तरमें आलस होनेपर भी संक्लेश परिणामोंसे
चेष्टेजि होकर मंमामगमुद्रमें डूबकर मरते हैं.

महोदध्यापरिसममिं कयं दुक्करं च सामण्यं ॥

मा अल्पतोक्त्वहेतुं तिलोगसारं वि जासेह ॥ १६७५ ॥

सहेतुनाश्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम् ।

मा स्म त्वाद्योर्जगत्यारम्भसौख्यजिघृक्षया ॥ १७३१ ॥

विश्वयोदया—महोदध्यापरिसममिं शरीरसहेतुनायां क्रियमाणानां जननान्वितयसा त्रिविधाहारत्यागेन, यापरज्येया या यतपरिहारेण । जाते परिधर्ममिमे । दुक्करं च सामण्यं दुक्करं कृतं च सामण्यं । शिरकाहे तिलोक्तसारं कृतिसिद्धिस्तोत्रांगमुपदानात् । अभ्यसुम्पदहेतु अस्याहारस्वेवाजनितसुखनिमित्तं । मा विनासेहि नैव विनाशाय ॥

एवं उभाभावेप्यशरीरस्यमयबुद्धय रत्नाहारमेवात्रमितसुखामिहपिगोत्कृष्टसुखमायतनं विराम्यन्तदुक्करतपोरत्नं

यापूयैपि शिक्षयन्ति—

मूलात्—सहेतुनापरिसमं शरीरसहेतुनायां क्रियमाणानां जननान्वितया तपसा त्रिविधाहारत्यागेन यावज्जीवं वा यतपरिहारेण जातं केहेतिद्वयममतां येह । तिलोगसारं सतिश्रवणभ्युदयनिःश्वेयसमुद्रसंपादनान् ॥

अर्थ—शरीरमहेतुना करोते ममय जनननादि तप करेते, जलके विना अन्य वीन प्रकारके आधारोंका त्याग करेते, तथा आभय भानाहरका त्याग करनेसे जो तप हे क्षणिक ! तुझको हुआ है उससे तुझको यह मुनि व्रत दुक्करसा दीखता है तो भी यह उत्कृष्ट स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाला होनेसे त्रिलोक्यका अपूर्व सार है. ऐसे लोकोत्तर मुनिव्रतको आहारजन्य अल्प सुख के लिये हे क्षणिक ! तू मत छोड़द.

धीरपुनिसपण्णत्तं सपुनिसणिसेवियं उवणमिच्छा ॥

धण्णा गिरावयवत्वा संथारगथा णितज्जेति ॥ १६७६ ॥

पुन्यःकथितं धीरेर्मार्गं यद्विनिपेक्षितम् ॥

निरपेक्षाःश्रिता धन्याःसंस्तरस्था निचेरते ॥ १७४२ ॥

विद्वयोदया—धीरपुनिसपण्णत्तं उभयगोष्ठां परिपहणां चोपनिषत्तैः अविवचलसुतयो ये धीरास्तैरपदिष्टं तास्यै । सपुनिसणिमिदं सपुनिसणिमेवितं । मार्गे उवणमिच्छा आधित्य । धण्णा धन्याः पुण्यवतः । गिरावयवत्वा निरपेक्षाः परित्यक्तप्राणः । संथारगत्वा संसारान्द्राः । विसज्जेति शरीरे ॥

मूलात्—धीरा उपमर्गोपनिषादेषि अविबलगतयः । तवणनिष्ठा काश्चित् मार्गः । गिरानयकत्वा प्रत्याख्यात—
मत्नानिरपेक्षाः सतः । विसर्जति निन्दते विमुक्तकंठोत्सर्गः । उक्तं च —

पुरुषैः कथितं धीरमार्गं समिद्वर्निषेचितं ॥

निरपेक्षाः श्रित्वा धन्याः सत्वरसा निन्दते ॥

अर्थ—मदान् उपसंगं और परिपद्दसि पीडित होलेपर भी विनका धैर्यं निश्चल रहता है ऐसे धीर पुरुषोंने
इत प्रनिष्ठाका उपदेश दिया है. यह मुनिमत सत्पुरुषोंके द्वारा सेवन किया गया है. पुण्यवान् सुनीधर जिन
आहारोंका त्याग किया है उनका सेवन कभी भी नहीं करते हैं और मंस्वरमं आरुड होकर इस मुनिव्रतकी पूर्ण
सप्ता मिद्वि नर लेने हैं

तम्हा कलेवरकुडी पव्योढव्यत्ति निम्ममो दुक्खं ॥

कम्मफलमुवेदस्सतो विसहसु भिस्वेदणो चेव ॥ १६७७ ॥

कलेवरमिदं त्याज्यमिति विशास्य निःस्पृहः ॥

सहस्य कर्मजं दुःखं निर्वेदन इयास्मितम् ॥ १७४३ ॥

पित्तबोधेन—तद्वा तस्मात् । कलेवरकुडी शरीरकुडी । पव्योढव्यत्ति परित्याग्येति मत्वा । निम्ममो शरीरे
ममतारहितो । दुपत्तं विसहसु दुःखं विसहस्य । कम्मफलमुवेदस्सतो कर्मफलमुपेक्षमाणो । विलेदणो चेव निर्वेदनमेव ॥
उपसंहारमाह—

मूलात्—पव्योढव्यत्ति परित्याग्येति मत्वा । कम्मफलं निष्कटिकारनिरर्थकः । भिस्वेदणो चेव निर्वेदन इव ॥

अर्थ—इतलिये यह शरीररूपी शोषणं त्यागने योग्य है ऐसा समझकर हे क्षुपक ! शरीरमें तू समता रहित
शरीर कर्मफलके विषयमें साधेपसदित हो. वैराग्यमें तत्पर होवा हुआ परीपदादिकमेंसे उत्पन्न हुए दुःखोंको वेद-
नारहित समझकर सहन कर.

इय पणविज्जमाणो सो पुब्बं जायसंक्खिलेसादो ॥

विणियचंतो दुक्खं पस्सइ पवेहेदुक्खं वा ॥ १६७८ ॥

एवं प्रज्ञाप्यमानोऽसौ त्यक्तसंक्लेशवासनः ॥

अन्यदुःखमिवात्मीयं दुःखं पश्यति सर्वथा ॥ १७४४ ॥

विजयोदया—इय एतं । पणविज्जमाणो प्रज्ञाप्यमानः । सो पुब्बं जायसंक्खिलेसादो पूर्वं जातसंक्लेशात् । विणियचंतो विनियतमानः । दुक्खं पस्सइ ॥ रं पश्यति । किमिव ? पवेहेदुक्खं वा परशरीरगतमिव दुःखं ॥

सम्यग्दृष्टिदशमिने क्षपकं भूति तत्तादृक्पयोधनायाः फलवतां कथयति—

मूलार—सो शप्यसंसारआयितः संन्यस्तः । पुब्बं जाद पूर्वोत्तरमात्र । विणियचो विनिवृत्तः । विणियचो इति नाडे विनियतमान इत्यर्थः ।

अर्थ—इम प्रकरसे जिसको उपदेश दिया जा रहा है ऐसा वह क्षपक उत्पन्न हुए संक्लेश परिणामोंको अपने मनसे हटाता है. और परीषदादिकोंसे उत्पन्न हुए दुःखोंको वह दूसरोंके शरीरस्थ दुःखके समान समझने लगता है. मानो मैं दुःखसे मुक्तही हुआ हूं ऐसा मानने लगता है.

रायादिमहद्द्वियागमणपओणेण चा वि माणिस्स ॥

माणजणेण कवयं कायन्वं तस्स खवयस्स ॥ १६७९ ॥

धन्यस्य पार्थिवादीनामगमादिप्रयोगतः ॥

क्षपकस्यापि दातव्यो मानिनः कयचो हृदः ॥ १७४५ ॥

पितयोदया—रायादिमहद्द्वियागमणपओणेण राजादिमहादिकागमनप्रयोगेण । चावि माणिस्स मानिनोऽपि । माणजणेण मानजनेन । कवयं कायन्वं । कवचः कर्तव्यः । तस्स खवयस्स तस्य स्रपकस्य । मम धीरतां प्रच्छं अमी मदीन्द्रकाः समाधाताः । अमीनां पुरस्तादपि प्राप्या याति यांतु कामं तथापि स्तां मनस्वितां नाहं त्यजामोति मानयनो दुःगे खदते ॥ कुर्वते दातव्यं ॥

मानधनस्य प्रकारान्तरेणापि कवचमिति पूर्वव्यत्ययोपविशति—

मूलार—महद्द्वियागमण महादिकानां तत्समीपमननं । माणखणेण पूजामनसोत्पादनेन । तस्स दुर्निवारदुःखा-

नारय । मानपना दि मय भोरतां द्रष्टुं इमे महर्षिणः संभाराला ययत्येवं पुरो वेदनायाः शान्ता याति कर्म नोत्तु । तथाप्यहं मनश्चिन्तां न मुंवासीति स्वस्वधर्मो दुर्धरं सहते ॥

अर्थ—हे क्षपक ! राजा बभेह श्रीमान् लोक तेरी सल्लखाना देखने के लिये आये हैं ऐसा कहकर अभि-
मानी क्षपक तो मान उत्पन्न कर कवच करना चाहिये. अर्थात् जब राजादिक श्रीगान्धर्व पुरुष क्षपकदर्शन करनेके
लिये आते हैं तब उस क्षपकही अभिमानप्रज्ञता करनी चाहिये. मेरी दृढता तथा धैर्य देखनेके लिये ये राजादिक
पुरुष आये हैं इनके आगे मेरे प्राण चले जाने सो भी कुछ परवाह नहीं है. मैं अपना मान नहीं छोड़ूंगा. दुःख
महान् भी मैं अपने प्रतका नष्ट नहीं करूंगा ऐसे भाव क्षपकके मतमें राजादिकोंको लुत्कर उत्पन्न करने चाहिये.

इक्ष्वेवमाह्वकवचं भणिदं उत्सर्गियं जिणमवम्मि ॥

अववादिदं च कवयं आगाढे होइ कावन्नं ॥ १६८० ॥

इत्येव कवचोऽवाचि संभ्रमेण धुत्तरोदितः ॥

भियोपेणापि कर्तव्यो दुःखे सति दुरुत्तरे ॥ १७४६ ॥

विजयोदया—इथेयमादिकवचं भणिदं इत्येवमादिकः कवचः कथितो जिनमते । उत्सर्गियो औत्सर्गिकः
सामान्यभूतः । अववादिदं कावचं कावचं विदोपरूपोऽपि कवचः कर्तव्यो भवत्यागादे मरणे ॥

एवं दूरमरणस्य सामान्यरूपतया प्रवचन कवचमभिप्राय निकटमरणस्य तं विशेषरूपतया विषेयमनुशास्ति-
मूलार—उत्सर्गियं सामान्यभूतः । अववादिदं विदोपरूपः । तत्कालोपपन्नानांतरावनिमित्तदुःखाविदुःखान्तरा-
करणोपायतया यथायथं प्रयोग्य इत्यर्थः । आगाढे आसन्नमरणे ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीजिनमतमें कवचका औत्सर्गिक-सामान्यस्वरूप कहा है. तथा जब आगाढमरण
प्राप्त होता है तब विदोपरूप कवचभी करना चाहिये.

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तुणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥ १६८१ ॥

स्तोत्र्यतो क्षपकः तुरैर्वचनैर्हृदयंगमैः ॥

चंद्रस्येव कुरेः ब्रह्मैः शीतलैः कुमुदाकरः ॥ १७४७ ॥

क्षणेन दीपोपनयापसारिणः समेत्य धारयानि तमोऽपहारिणः ॥

जडोऽपि तुरैः क्षपको विबुध्यते महांसि भानोरिव नीरजाकरः ॥ १७४८ ॥

परीपहं प्रभवति संस्तरे स्थितो निकर्तितुं परमपराक्रमकमः ॥

निराकृतः कवचघरस्तपोधनो रणांगणे रिपुमिव कर्कशं भटः ॥ १७४९ ॥

इति कवचः ।

शितलोदयः—जड कवचेण यथा कथयेत् । अभितलेन कमेतेन । कथयिदो सप्रलुः । रणमुहे सखणमलंघितजो होरि रणमुगे मदनानमंत्तरो भवति । कम्ममन्त्रो य मदनपादिक्रियामन्त्रः । जिणदि य ते जयति य तामरीम् ।

सप्तचक्रवटशृङ्गेनाप्यागिच्छन्पर कर्त्तुं श्रुतवितुं गाथाद्वयमाह—

नूतागः—अभेजेन भेतुमशक्येन । कथयिदो सप्रलुः । अलंघयिजो अनभिमाख्यः । कम्म प्रहरणक्रिया । ते

नरम् ॥

नर्प—जैमे अभेद करच पदना हुजा वीर पुरुष रणमें शत्रुके सम्मुख निःशंक होकर जाता है और वह शत्रुके अंतर्पनीन होता है अर्थात् शत्रु टनको मारनेमें अनमर्थ होता है. अश्वप्रहारमें समर्थ वह वीरपुरुष शत्रु प्रक्षो बीरता है. वंमे—

एवं खवओ कवचेण कवचिओ तह परीसहरिणं ॥

जायइ अलंघणिज्जो उक्षाणसमत्थो च जिणदि य ते ॥ १६८२ ॥

विज्जोराज—एवं गयणो एवं धापकः कवचेनोपयुहीतः परीपहारिणिनं लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च गायत्तिहारिन् ॥ कवचम् ॥

नूतागः—अभेदरहितो अद्वितीयजयः । करचः । सूनः ३५ । अंकनः १७४ ॥

नर्प—इमं नक्षत्र खपक भी वा उपदेगुरुषी करनमें युक्त होता है तब परीपहर्षी शत्रु उन्मत्ता पराजय

कान्तो भोगमर्थं होते है. इस कवचमें युक्त होकर शपक धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर होकर परीपहरण श्रुतों की जाता है. कन्याधिमारा का वर्णन पूर्ण हुआ.

एवं अधियासेतो समं खवओ परीसहे एदे ॥

सब्य अपडिवद्धो उवेदि सब्यत्य समभावं ॥ १६८३ ॥

इत्येयं क्षपकः सर्वान्सहमानः परीपहान् ॥

सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्तताम् ॥ १७५० ॥

निःस्पृहीभूतः—एवं अधियासेतो एवं सहमानः समग्रपरीपहनेतान् । सर्वत्र निःस्पृहीभूतः शरीरे, यस्तौ. गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्ततां ॥

अथ तेषां त्रिष्वनयोपमद्वयेन तादासिष्यपरीपदसहितोः क्षपकस्य निर्वृत्यो सर्वोचरणदिरोमणिकल्पामभिल-
जमानसमाधिसापत्तपरित्यक्तलिप्ता समतां गाथायोजनेन व्याख्ये—

मूला—एवं एनयोपमद्वयिभित्तः । अधियासेतो सहमानः । एदे तरकलोपरिद्वान् । सब्यत्य शरीरयस्यसतिगणपरि-
पारकाहो । अपडिवद्धो ममेदमहमस्येति संकल्पपरहितः । उवेदि प्रतिपद्यते । सब्यत्य जीवितमरणादौ । समता वा रागद्वे-
षोपशमं । अवि च—

अर्थ—इम प्रकार समस्त परीपहोमो अब्याकुलतामें सहन करनेवाला यह क्षपक शरीर, वसतिका, राग
और परिचारक मुनि इन सर्व वस्तुमें समग्रराहित होता है. रागद्वेषोंको छोड़कर समताभावमें तत्पर होता है.

सब्येषु दन्वपञ्चयविधीषु णिद्वं ममत्तिदो विजडो ॥

णिप्पण्यदोसमोहो उवेदि सब्यत्य समभावं ॥ १६८४ ॥

समस्तद्रव्यपर्यायममत्वासंगवर्जितः ॥

निःप्रेमरागमोहोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ॥ १७५१ ॥

विजडोऽयम्—सब्येषु सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्यं परित्यक्तममतादोषः ममेदं सुखसाधनं मदीयं इति
या । निष्पण्यदोसमोहो निस्तेदो, निर्वोहो, निर्मोहः सर्वत्र समतासुषेति ॥

मूढारा—विधीसु विकल्पेषु । ममत्तदो विज्ञानो मयेदं सुखसाधनं मदीयमिदमिति वा ममत्वेन त्यक्तः । गित्यन्तरोपमोदो मिलेदो, मिदेषो, ममेदमिदमिदं चानिष्टमित्यज्ञानरहितञ्च । उवेदि क्ताद्व्यवचोपगृहीतः सम् । क्षपक इति सर्वत्र गोन्यं ॥

अर्थ—संपूर्ण द्रव्य और उनके पर्यायमेदमें वह क्षपक ममतारहित होता है अर्थात् ये द्रव्य और पर्याय भरे सुखसाधन हैं ऐसा निश्चित्य उसके मनमें नहीं उत्पन्न होता है. वह स्नेह, मोह और द्वेषरहित होकर सर्वत्र मनतामान धारण करता है.

संजोगविष्यदोगेसु जहदि इडेसु वा अणिडेसु ॥

रदि अरदि उत्सुगत्तं हरितं दीणत्तणं च तथा ॥ १९८५ ॥

मिषामिषपदार्थानां समागमवियोगयोः ॥

विजहीहि त्वमौत्सुक्यं दीनस्थमरतिं रतिं ॥ १७५२ ॥

विजगोदवा—संयोगे रतिं, विषयोने अरतिं, एते वस्तुन्युत्कंठं, इत्योने रतिं रतिं, हर्षं, इष्टविषयोने अरतिं दीनता । उत्सुगत्तं उत्सुगतां वा तथा जहति क्षपकः कथेदेनोपगृहीतः ॥

मूढारा—रदि इष्टे वस्तुनि संयुग्ममाने, विष्टविष्टमिनिष्टे वा विद्युग्यमाने । अरदि अनिष्ट संयुग्ममाने इष्टे वा त्रियुगमाने विज्ञानपरिवर्ति । वस्तुगतं इष्टे वस्तुनि वक्तव्यं, वदि तन्मे मिलति, भद्रकं भवेदिति हृदयोत्कलिका । हरितं इष्टसंयोगे रोमांचवचनप्रसारदित्यादिप्रत्ययममानंदं ॥ दीणत्तणं इष्टविषयोने वैवर्ण्यादिना इष्टव्यमानं विपादं । क्वचोपगृहीतो यद्वादीति संयंघः ।

अर्थ—इष्टवस्तुका संयोग होनेसे चित्तमें प्रेम उत्पन्न होता है. अथवा अनिष्ट वस्तु अपनेसे हट जानेसे भी प्रेम उत्पन्न होता है. अनिष्ट वस्तुका संयोग होनेसे अथवा इष्टवस्तुका वियोग होनेसे चित्तमें अस्थिरपना उत्पन्न होता है. इष्ट वस्तुमें उत्कंठा अर्थात् यदि इष्ट वस्तु मिलवाय तो बहुत ही अच्छा होगा ऐसा हृदयमें विचार उत्पन्न होना हमको उत्सुकता कहते हैं. इष्ट वस्तुका संयोग होनेसे रोमांच, वचनमें प्रसन्नता इत्यादिसे जो आनंद उत्पन्न होता है उसको हर्ष कहते हैं. इष्ट वस्तुका वियोग होनेपर प्रत्यक्ष विवर्णता उत्पन्न होती है जिससे मनकी

विषयाणां अनुमान होता है इस लिखलाको दीनता कहते हैं- क्षपक क्षुनि क्वचत्से शुच होकर रवि अरवि, उत्सु-
कम्प, हर्ष, दीनता इन मनोविकारोंका त्याग करता है-

मित्रियुयणाद्रीसु य सिरसे साधम्मिए कुले चावि ॥

रागं वा दोसं वा पुवं जायंवि सो जहइ ॥ १६८६ ॥

मित्रे शत्रौ कुले संचे सिज्ये साधम्मिके सुरी ॥

रागद्वेपं पुरोत्पन्नं त्रिमुंचस्य प्रवीर्यते ! ॥ १७१३ ॥

विजयोदया—मित्रैस्तुलनाद्रीसु य मित्रेऽनुपुषु वा । त्रिज्येपु व सधम्मणि कुले वा पूर्व आत्वं रागद्वेपं यातो
जगानि ॥

मूमा—सुयणाद्रीसु षुयमातापितृयुगोदिषु । पुठ्व जाइं प दीक्षाग्रहणाद्वा प्राणुरपसं संस्कारेणानुब्यध्यमानं । च
सत्सुत्त्वयमान, उत्पत्त्यमानं च । सो क्वचवोपगृहीतः ॥

अर्थ—मित्र, शत्रु-भाता, पिता, गुरु पंगरह, शिष्य, और साधर्मिक इनके ऊपर दीक्षा ग्रहणके पूर्वमे
अपरा कनचने अनुगृहीत होनेके पूर्व जो रागद्वेप उत्पन्न हुए थे क्षपक उनका त्याग करता है-

भोगेसु देवमाणुससगेसु ण करइ पच्छणं स्वयओ ॥

मग्गो विराथणए भणिओ विसयाभिलासोत्ति ॥ १६८७ ॥

कुर्पादिज्यादिभोगानां क्षपकः प्रार्थनां न तु ॥

उक्ता विरापनामूलं विपयेषु स्पृहा यतः ॥ १७१४ ॥

विजयोदया—भोगेसु देवमाणुससगेसु देवमानवगोचरयोगप्रार्थनां न करोति क्षपको ज्यायसितकपचोप-
गृहीतः । विपयभिलासो मुक्तिमार्गविराथणया मूलमिति ज्ञात्वा ॥

मुद्रा—देवमाणुससगेसु गुरतरगोचरेषु । मग्गो कपयः । विराथणए रत्नप्रवर्धित्वावनयोः ॥ अभिदा उक्त-
मते । विमपाभिलासोति विवपाव्रजेति मन्यमानः । हेत्वर्थे वा इति ॥

अर्थ—इस कृतचये युक्त होकर क्षपक देव और मनुष्यके भोगों की अभिलाषा नहीं करता है. यह रिषेयञ्ज मुक्तिमार्गके विरुद्ध है. ऐसा समझकर क्षपक उसका त्याग करता है.

इडेमु अणिट्टेसु य सहफरितसररुवगंधेसु ॥

इहपरलोए जीविदमरणे भाणावमाणे च ॥ १६८८ ॥

सञ्जत्य णिविसेसो होदि तदो रागरोसरहिदंप्पा ॥

खवयरस रागदोसा दु उत्तमहुं विपवेंति ॥ १६८९ ॥

शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे साधो! शुभेऽशुभे ॥

सर्वत्र समतामेहि तथा मानापमानयोः ॥ १७५५ ॥

समाधो भव सर्वत्र निर्विशेषो महामते! ॥

रागद्वेषोदये जंतोरुक्तमार्थो विनश्यति ॥ १७५६ ॥

विलयोदया—स्पर्श.

मूषारा—इहपरलोके इहलोके इष्टे अनिष्टे वा गच्छपरलोकेऽपि अथवा इहलोके परलोके च सम इति माह्वाम् ।

मूलाया—णिविसेसो इष्टनिष्ठविरुद्धवियुक्तः । तदो निर्विशेषकात्क्षयोपगृहीत्वाद्या । उत्तमहुं रत्नत्रयं, स-
द्धयानं, समाधिमरणं वा विराधेयानि विनाशयत ॥

अर्थ—इष्ट और अनिष्ट ऐसे शुद्ध, रस, गंध, स्पर्श, रूप त्रियोगों, इहलोक और परलोकमें. जीवित और मरणमें, मान और अपमानमें यह क्षपक समानभाव धारण करता है. अर्थात् रागद्वेष रत्नत्रय, उत्तम ध्यान और समाधिमरणका नाश करते हैं. इसीलिये क्षपक अपने हृदयसे इनको दूर करता है.

उत्तरगाथाहर्य—

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणंतिमसायं ॥

सो तह वि असंमूढो उवेदि सञ्जत्य सममावं ॥ १६९० ॥

सुखी यद्यपि पीडास्ति प्रकृष्टा मारणान्तिकी ॥

तथापि क्षपको याति सर्वत्र समचित्ताय ॥ १७५७ ॥

विजयोदया—जदि यि ये से यपपि तस्य क्षपकस्य बरगकद्वयते मारणांतिकं दुःखं मवेत् सो कवचोपोपगृहीतः सपक्षः तथापि धस्तमूढः समभावे सर्वत्रोपैति ॥

मारणांतिकेऽपि दुःखे समुदीर्णे कवचोपगृहीतः सामान्यं प्रच्यवते इति कवचानुमानं भावयति—

मूढा—से कवचोपगृहीतस्य क्षपकस्य । चरितंते चरमकाळाते । मारणंविषं मरणं यावद्वोग्यं तथाविधासङ्गे-
पोदयमं पालयाम् । आसार्त्तं दुःखं । अस्तंढो मरीचदध्युल्लासालक्ष्यातिः ॥

अर्थ—यद्यपि उम क्षपकसो अंतसमयं मरण प्राप्त होनेलक दुःख होमा सो भी कवचसे युक्त होनेपर यह मोहरहित होजाता है. देह और आत्माकी भिन्नताका उसको सम्यग्ज्ञान हुआ है अतः वह सर्व देहादिक, वस्तु-
ओंमें सममान धारण करता है.

एवं सुभाविदप्ता बिहरद् सो जावदीरियं काये ॥

उद्वाने सयणे वा गिरीयणे वा अपरिंदतो ॥ १६९१ ॥

एवं भावित्पारिजो यावदीर्यं कलेबरे ॥

तावत्प्रचर्तते साधुस्थाय शयनादिषु ॥ १७५८ ॥

विजयोदया—एवं सुभाविदप्ता नियोजनं सूरिणा गदितोयं एवमित्युच्यते । तेन सम्यग्भावितचित्तः सन्नि-
हरदि प्रयतंते मणिरिधांतः । आपदीरिदं काये यावच्छरितं यत्नमस्ति उत्पाने, शर्वमे आस्तमे वा ॥

निर्योपक्रमूरितिरुवितार्थसम्यग्भावितचित्तस्य सर्वत्र देहाभावं यावदेहवत्तमभिलषति—

मूढा—एवं गुरुत्वायेन । सुभाविदप्ता सम्यग्भावितः सन् बिहरति । सयणे शयने । गिरीयणे उपवेशने ।
अपरिंदतो अपरिधातः ॥

अर्थ—इस प्रकार निर्वाणकार्यके कड़े हुए उपदेशसे जिसने पदार्थोंका स्वरूप जानकर अपने आत्माको
गुप्तस्थ बनाया है ऐसा वह क्षपक जब तक देहमें सामर्थ्य रहता है तबतक ऊठना, सोना, और बैठना इन
क्रियाओंमें न धरता हुआ प्रयुक्ति करता है.

जाहे सरीरेचेढा विगदयामस्त से यदणुभूदा ॥

देहादि वि ओसगं सज्जतो कुणइ गिरवेक्खो ॥ १६९२ ॥

श्रीगणेशैर्यदा चेष्टा स्वत्पा भवति सर्वथा ॥

तदा देहप्रहाणाय यतते नि स्पृहाशायः ॥ १७९९ ॥

विजयोदया—जाहे सरीरेचेढा यदा शरीरेचेष्टा विगलकल्प्य तस्य स्वरूपा जाता, तथा शरीरादुरसंगं करोति सर्वतो मनोबाह्यैर्निरक्ष ॥

गृहीतरूपस्य मरणवेलाया करणीयमाह—

मूढारा—जाणे यदा । आत्म वळे । यदणुभूदा स्वत्पा जाता । विजसगं बरित्तागं । सवस्तो मनोचापण्ये ।

कुणवि लक्षितोप ॥

अर्थ—जब उसका देहसामर्थ्य नष्ट होता है तब समझी स्वय उठता, भैठता, सोता यगैरह क्रियायें पद होती हैं तब मनोपचन और शरीर से निरपेक्ष होकर वह शरीर का त्याग करता है, उसके ऊपरका मोह पूर्ण तथा छोड़ देता है

तत्रैव शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरमायया दर्शयति—

सेउजा संयारं पाणयं च उवधि तहा सरीरं च ॥

विउजावच्चकरा वि य दोसइ नमचमारुढो ॥ १६९३ ॥

उपर्ये संस्तरं छाट्यां पानं व्याधृत्तिकारिणः ॥

शरीरं मुंचते योगी सम्यक्त्यारुढमानसः ॥ १७६० ॥

विजयोदया—सेउजा चर्वाति । संस्तरं तृप्पारिकं, पान पिच्छ, शरीर च वेयाधृत्तरांश्च व्युत्सृजति । समत्त-
मारुढो समात संपूर्णं रत्नत्रयमारुढ ॥

उत्तमं व्यवहरणार्थमाह—

मूढारा—साम्भवं संपूर्णं रत्नत्रयं, साम्भं वा ॥

धरु धरीरादिकोंका त्याग करता है इत विषयका विवेचन—
अर्थ—गंभीरं रत्नग्रन्थपर आरुट होकर यह धरु वृत्त वृत्तिका, वृत्तादिकका संस्तर, पानाहार, अर्थात् जल पान, पिच्छ, धरीर आर वैवाश्रत्य करनेवाले परिचारक मुनि इनका निर्गोद होकर त्याग करता है.

अवहट्ट कायजोगे व विष्यओगे य तस्य सो सत्वे ॥

सुद्धे मण्यप्यओगे होइ गिरुद्धश्चसियप्या ॥ १६९४ ॥

निराकृत्य यचोयोगं काययोगं च सर्वथा ॥

स यिशुद्धं मनोयोगे स्थिरात्मा ज्ययतिष्ठते ॥ १७६१ ॥

विनयोदया—अथदृष्टकायजोगे याव्योगात्कायचोचांघ सर्वाधिराकृत्य असायत्र मनोयोगे सुद्धे स्थितो भवति ।
विनयोत्तरसंचारादिरुद्धं मध्ययसितं च आत्मरूपं मानारण्यं यस्य सः ॥

मूलारा—अवहट्ट निराकृत्य । वविष्यओगे याव्ययापरात् । तस्य तस्मिन्मरणक्षणे । सो सत्त्वमाहवः । सुद्धे रागद्वेषमोदरहिते मनोयोगे स्थितो भवति ॥ गिरुद्धश्चसियप्या निरुद्धो विषयान्तरसंचाराद्वयवर्तियोऽव्ययसितश्च पुनरुत्तरविवर्तकेण निश्चित आत्मा स्वरूपं ज्ञानारण्यं येन च यथाभूतः सत् । उक्तं च—

समस्तान्नायवागयोगाग्निरत्येकत्र संस्थितः ॥

मनोयोगोऽस्ति सर्वद्विनिश्चितात्मस्वरूपकः ॥

अर्थ—वाग्योग और काययोग ज्ञा पूर्ण त्याग कर अर्थात् धरीरकी प्रवृत्ति और चोलना बंदकर सुद्ध मनोयोगमें स्थित होता है. उसके मनसे इतर विषयोंका विचार हट जाता है और आत्मस्वरूप का विचार ही स्थान पता है.

पूर्वं सच्चत्येसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्या ॥

मिच्छी करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥ १६९५ ॥

समत्यमिति सर्वत्र प्रपद्यामलमानसः ॥

स मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताः प्रतिपद्येते ॥ १७६२ ॥

विजयोदया—एवं सर्ववस्तुषु वि एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विजुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदिता-
मुपेक्षां च पञ्चादुपैति शपकः ॥

समत्वपरिणत्वपरिणोया नैश्चादिभावनाः प्रविनिर्दिष्टाति—

मुञ्जारा—उपेक्षा चोपेक्षा । तदो यथावत् । एतेनाध्यात्मैकनिष्ठ वृत्ताहोऽस्य विषयवयोपदिश्यते ॥

अर्थ—इस प्रकार संपूर्ण वस्तुओंमें समताभाव धारण कर यह शपक अन्तःकरणको निमग्न बनाता है
तथा उसमें मैत्री, प्रमोद, करुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंको स्थान देता है.

मैत्रीममृतीषां चिंतानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मित्रचिन्ता मेत्ती करुणा य होइ अणुकंपा ॥

मुदिता जदिगुणचिन्ता सुहृदुक्खविधियासणमुवेक्खा । १५१६ ॥

जीवेषु सेरुया सकलेषु मैत्री परानुकंपा करुणा पवित्रा ॥

सुखैरुपेक्षा सुखदुःखसाम्यं गुणानुरागो मुदितायगम्या ॥ १५१७ ॥

विजयोदया—जीवेसु मित्रचिन्ता जनतकालं यगत्सु गतिषु परिश्रमतो यदीयं चरसर्वं प्राणश्रुतोऽपि यदुदाः
कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रचिन्ता मैत्री । करुणा य होइ अणुकंपा शरीरं, मानसं, स्थावरिकं च दुःखमसंशाना-
पुण्यतो इष्टं वा वा परत्वा मिथ्यादर्शनेनाविदया कृपयेणाहोभेन योयेम च समुपाजितानुक्रमकर्मपर्याप्यपुनरुक्तं यतदु-
द्वयोदया विपदो विपदाः प्राप्नुयन्ति इति कठना अनुकंपा । मुदिता नाम यविगुणचिन्ता यतयो हि चिन्तिता, विरागा,
विमया, विमाना, विरेया, विलोभा इत्यविकाः सुखे अरता दुःखे वा अक्षेण उपेक्षस्युष्यते । समता यता ॥

मैत्र्यादीनां लक्षणम्याह—

मूलांश—मित्रचिन्ता उपकारकाद्यवसिदिः । आनंदारं नरकादिगतिषु यदीयं चरत्परिश्रमतो ममामी सर्वेऽपि
प्राणिनो यदुदाः कृतमहोपकारा इत्येतन्मित्रं इत्यर्थः । अथवा सर्वचलेषु दुःखानुत्पत्त्यभिलाषः । परमार्थसुखप्राप्त्यादांसनं
च । मित्रचिन्तनं मित्रचिन्ता मैत्रीत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

मा कार्यत्वेऽपि पापानि मा च भूत्वेऽपि दुःखितः ॥

सुख्यतां जगद्वेष्या मयिर्मेवैवो निगद्यते ॥

अणुकंपा—छिद्रममानजनवृद्धरमुदिः । वा वरमना इमे मिथ्यात्मायुषां विषदुःखविषदुःखविषाकं यथा विपदः

प्राप्तयेन प्राप्नुवन्तः कः गदिसौख्यं लभेदतित्वात्रैव. श्रोतः प्रवृत्तिरित्यर्थः । लदियुगपि ता यवीनां युजा विनीतत्वविराग-
नयनपरहितैव रतिरत्नारदः । तेन विता प्रमोदनिर्भरेण मनसा दुर्लभानं । सुदुःखस्याधिवासना सुखदुःखयोः सामयेन
भावनं इत्थं न—

विनयितागिनां मैत्री करुणाप्यनुकंपनं ॥

मुदिता सद्गुणतोष उपेक्षा समचित्तवा ॥

तथा या तस्याधमतेनातोषाम धर्मायुतं तथा मेक्यावयो भाव्याः ॥ दृष्टं ।

मा भूस्कोपीह दुःखी भजतु जगद्वज्रमशर्मति मैत्री ॥

न्यायो ह्येतु खल्वप्रयत्नमधिगुणेष्वेति प्रमोदस् ॥

दुःखत्रयेयभातौ न्यथमिति कृष्णां भाषि मामेहि शिक्षा ।

या इत्येति युक्त्यामपि परमपदाभ्युक्ता भावयन्तु ॥

मैत्री वरीरह भान्तार्थक्रे त्रिययोका वर्णन—

अर्थ—अनंतज्ञाने भरा आत्मा पटीयत्रके समान इस चतुर्गतिमय संसारमें भ्रमण कर रहा है. इस
पंसारमें तंपूर्ण प्राणि-जनें में ऊपर अनेकवार महान् उपकार किये हैं ऐसा मनमें जो विचार करना यह मैत्री
भावना है. अथवा तंपूर्ण प्राणिजोंमें किसीको भी दुःख न उत्पन्न हो ऐसी मनमें इच्छा रखना इसको भी मैत्री
भावना कहते हैं.

शारीरिक, मानसिक, और स्वाभाविक ऐसी असल दुःखराक्षी प्राणीजोंको सता रही है यह देखकर
ब्रह्म इन दीनप्राणिजोंमें मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अधुमयोगसे अनुभक्तमें उत्पन्न किया था यह
क्रम उदयमें जाकर इन जीवोंको दुःख दे रहा है. ये कर्ममय होकर दुःख भोग रहे हैं इनके दुःखसे दुःखित होना
करना है. ये इस दुःखसे कैसे मुक्त हों ऐसी मनमें आद्रता उत्पन्न होना करुणा है. यतिजोंके गुणोंका विचार
करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावना का लक्षण है. यतिजोंमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमान-
हिरण्यता, निर्दोषता और निर्लोभता ये गुण रहते हैं. सुख प्राप्त होने पर रागसहित रहना और दुःख प्राप्त होनेपर
देषभाव न होना यह उपेक्ष भावना है. ऐसी भावना क्षुपक अपने मनमें साता है. समताका वर्णन समाप्त.

दंसण्णणचरित्तं तवं च विरियं समाधिजोगं च ॥

तिविहेणुवसंपज्जिय सन्वुवरिहं कम्मं कुण्ह ॥ १६९७ ॥

वर्धनज्ञानचारित्रतपोवीर्यनिविष्टधीः॥

प्रकृष्टां कुरुते, चेष्टां मनोवाक्यकर्मभिः ॥ १७६४ ॥

विजयोदया—वंसण्णणचरित्तं तवं विरियं समाधिलोमे च तत्पथद्वयं तत्परागतं, अशनख्यान-
क्रियं, स्मशकया निगूहने चित्तकाप्रयोगं । तिविहेणुवसंपज्जिय मनोवाक्यैः प्रतिपद्य । सन्वुवरित्तं सर्वेभ्यः पूर्वमनुष्ठ-
वर्धनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितकर्म । कुण्णिदं दर्शनादिपदव्यासं करोति ।

मैत्र्यादिभाषनाखलाद्वयहरयोक्षमार्गे प्रतिपद्य परमार्थयुक्तिप्रयत्ननाय क्षणको यत्त इत्युपदिशति—
मूल्या—सर्वं अशनखागतिना । विरियं स्वशक्त्यनिगूहनं । समाधियोगं रत्नत्रयैकाग्रवया सर्वपं दृढोपयोगं
या । अथवा समाध्याख्यो योगो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षणानामष्टानां योगांगानां मध्ये
अटनसंगं समाधियोगोत्र । तिविहेण मनोवाक्यैः एवसंपज्जिय प्रतिपद्य । सन्वुवरिहं सर्वेभ्यः पूर्वप्रकृतवर्धनादिपरिणामे-
भ्योऽतिशयितं । कम्मं दर्शनादिपरिणामपदव्यासं शुभतमभयानश्रमोद्यममिति यावत् ।

अर्थ—जीवादितत्त्वोपर श्रद्धा रत्नानां तत्त्वोका स्वरूप ज्ञान लेना, रागद्वेषादिव होना, अपनी शक्तिके
अनुसार आहारका त्याग करना, चित्तको एकाग्र करना, इत्यादि क्रियाओंका स्वीकार करके मनपचन काय
योगोंसे पूर्वके दर्शन ज्ञान चरित्र इत्यादिक शुष्कोंसे अधिकतासे उज्ज्वल परिणाम उत्पन्न कर प्रवेश करता है.

शुभ-भयानमारुहताः परिकरमाच्छे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिदो जिदभओ जिदकसाओ ॥

अरादिरदिमोहमहणो ज्झाणोवगओ सदा होहि ॥ १६९८ ॥

रागद्वेषकोवमात्सर्यमोहा येन त्यक्ता निर्जितोद्येण सर्वे ॥

ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधोः सामग्रीतो याति कार्यं प्रसिद्धिं ॥ १७६५ ॥

इति समता ॥

विजयोपमा—विदरागो स्वलो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्वयेषु तेषां पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शरसास्त्रेभ्यु विजि-
ग्रहेषु तत्संस्थानादिषु च यो रागः ॥ जितो येन सोऽभिधीयते । तथा गतोषु या गीतिः ॥ योऽय उच्यते ॥ च जितो येन
स जितदेशः । “केतुर्गुणिवृत्तस्य रेणुगो लम्बो जहा भेगे ॥ रागवीर्येणोद्दिष्टस्व कम्पासयो द्योदि” इति जितवचना-
धिगमाद्ग्रासीदर्थतिः । सर्वदुःखानां मूलकारणभूतो रागोपायमिति मनसा विनिश्चित्य यस्तयोर्न विपरिणामते ततोऽभिधीयते
जितरागद्वेषः । तस्योपायो जितेति प्रियेत्याचष्टे—अद जिदिदिलो इति धाभ्यचोचं कृत्वा संबंधः । जिदिदिओ इन्द्रियशब्देन
रूपापाठानुपपन्नो परिग्रहते स जितो येन ॥ उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत्
भूतनामोपयोगो ज्ञानमन प्रवृत्तौ सत्त्वा, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्तेः न च वायव्यपालं रमणुपयोगमं-
तरणास्ति समर्थो रागद्वेषयोः । सकल्यपुःरगो हि नास्ति । निर्वकसागो क्षमाभारं वार्ज्यस्ततोपरिणामनिवृत्तकषायप-
रिणामप्रसक्तो जितकषाय इत्युच्यते । अत एव जितेभ्यः कर्मण जडये उपजातो रत्नरातिपरिणामौ, मोदो, मिथ्यागुर्न च सम्प्रग्रा-
मरागनवा मज्जाति य स मर्यते अदिदिदिमोदमपन्नो एवं निरस्तभानप्रतिपक्षपरिणामः । द्योणोपपन्नो द्योषि ध्यानाप-
परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्योक्तोऽस्तस्य अर्थवाच्यस्य ग्राहि भवति विज्ञानं भविष्यत् च नापत्तिश्चेति ।
अविचलमेव वस्तुनिष्ठ ज्ञान ध्यानाभिपश्यते ।

मूलाह—जिदरागो इत्यो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्वयेषु तत्पर्यायेषु च रूपरसगंधस्पर्शरसास्त्रेभ्यु विचिन्नेषु
तत्संस्थानादिषु च यो रागः गीतिः स जितो येन । केतुर्गुणिवृत्तस्य रेणुणा लम्बो जया भेगे ॥ तथा रागयोसणेहोक्षि-
स्त कम्पास्यो होरि ॥ इति जितवचनाधिगमाद्ग्रासीदर्थतिः सर्वदुःखानां मूलकारणभूतो रागद्वेषो इति मनसा निश्चित्य
यावद्योर्न परिणामते स जितरागद्वेष उच्यते । जिदिदिओ क्षुब्धनामोपयोगीकृत्यतिवलेन जितोऽभिभूतो रूपापाठपानादुप-
योगो येनासौ जितेन्द्रियः । अत एव जितरागद्वेषो यदाद्रव्यालंबोपयोगप्रवृत्तसंकल्पतुः सत्येन तयोः संभयात् ॥ जिदभ-
वो न मे दृष्टुः कुतो भीति भित्तादि भावतया विरस्तुतभीतिः जिदरूसाको क्षमाभिभावनादतिरुक्षोपादिपारतंत्र्यः । मो-
दो मिथ्याज्ञात तन्मथर्न सप्रमज्ज्ञानसंस्कारेण साम्यभावनया रत्नरातिमयनयात् । सदा तथा निरस्तभानप्रतिपक्षपरि-
णामत्वात् । एतद्वाधाद्वयमन्ये पुनस्तत्पर्यवर्तिनः । समता सूततः १६ ॥ अंकतः १६ ॥

शुभधानपर आरूढ होनेवालेकी सामग्रीका वर्णन—

अर्थ—विदरागो जीवाजीव द्वय आत्मासे अर्थात् स्वस्वरूपसे भिन्न है. रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये
इन द्रव्योंके पर्याय हैं इनके भी अनेक उचरभेद हैं. तथा इन द्रव्योंकी अनेक प्रकारकी आकृतिवा दृष्टिगोचर होती
है. इन परसे जिसने अपनी प्रीति अलग की है अर्थात् जो इनसे मोहसहित हुआ है उसको ‘वितराग’ कहते हैं.
जीवादि द्रव्योंके अनिष्ट पर्यायोंको देखकर द्वेष करता जिसने छोट दिया है उसको ‘जितेद्वेष’ कहते हैं.

अपने अंगको तेल लगाकर बैठे हुए यदुत्यके सर्वांगपर चाधुमे आये हुए घृति रेषु निष्पन्न जाते हैं वैसे राग, द्वेष और मोहोंसे लिप्ता हुए जीनेके संपूर्ण प्रदेशोंमें कर्मका आगमन होता है। विनियमके उपदेशका स्वरूप जानकर दुर्गातिके दुःखोंसे भययुक्त हुआ मन्व्य पुल्ल रागद्वेष ही सर्व दुःखोंके मूल कारण हैं ऐसा मनमें निश्चयकर रागद्वेषोंमें परिणत नहीं होता है, ऐसे पुरुषको 'चित्त रागद्वेष' कहते हैं इन रागद्वेषोंको जीतनेका उपाय जितेन्द्रियता है।

रूपरस गौरव विषयोंके लक्षण आत्माका उपयोग लगना यह शब्दोंका अर्थ यहाँ समझना चाहिए अर्थात् मतिज्ञानके उपयोग का नाम इन्द्रिय है, यह मतिज्ञान उपयोग केसा जीता जासकता है।

इस प्रश्नका उत्तर—दुर्लभज्ञानके उपयोगमें आत्माको प्रवृत्ति होनेसे मतिज्ञानोपयोग जीता जासकता है, एक समयमें आत्मासे दोन उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि इन प्रवृत्तियोंमें नियोज पाया जाता है, चाब द्रव्यका आश्रय जिनको है ऐसे उपयोगोंके बिना रागद्वेषको उत्पत्ति नहीं होती है रागद्वेष संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए मतिज्ञानका उपयोग कुतज्ञानोपयोगमें आत्माको प्रवृत्त करनेसे जीता जाता है जिससे रागद्वेष का भी पराजय होता है

विदकसाय—धृमा, मार्दव और संतोषरूप परिणामासि क्रोधादिक चारों कषाय भी जीते हैं अरति और रति कर्मका उपय होनेसे रति और अरति परिणाम उत्पन्न होते हैं मोह और मिथ्याज्ञानका सम्यग्ज्ञानही भावनासे नाश होता है जब आत्मा जिहेंद्रिय होता है तब क्रोधादिक कषाय, रति, अरति मोह और मिथ्याज्ञान इनका नाश होता है और आत्मामें सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, उपर्युक्त सब परिणाम ध्यानके गूढ हैं उनका नाश करनेपर आत्मा ध्यान नामक परिणामका आश्रय करता है, जब आत्मा रागादि कषायोंसे न्याकुल होता है तब उसका ज्ञान पदार्थोंका यथार्थ ग्रहण नहीं करता है और निश्चलभी नहीं रहता है, जब ज्ञान निश्चल होकर वस्तुमें स्थिर होता है तब उसकोही ध्यान कहते हैं।

धम्मं चदुप्पयारं सुकं च चटुव्विघं किल्लेसहरं ।।

संसारदुस्खभीरो दुण्णि वि ज्झाणाणि सो ज्झादि ॥ १६१९ ॥

धर्मं चतुर्विधं द्यात्वा ससारसुखभीरुक ॥
शुक्ल चतुर्विधं ध्यान ध्यातु प्रकमते यति ॥ १७६६ ॥

विजयोदया—धमा चतुष्यथार चमोच्यत चतु प्रसार । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मं स्वमायाति
नायादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिफ वस्तु भवति । अतिशयभावादेव वस्तु भण्यते न सरविषणादि, तेन धर्मशब्दो वस्तु-
समाववाची । धर्मोदस्तुरप्रभावादनपेतमिति धर्म्यमित्युच्यते । यथेवभावादेरपि धर्मोदनेपेतत्वमस्ति । सप्रयुक्तमनो-
नैव दोष । विमुक्तमनोत्ववस्तुयोगं रोयातकादिप्रसमन, अभिमतमार्गं च धर्मभाषित्य प्रवर्तमानत्वादमीदनपेततेति
अथानायासविकसादिसक्षाभिरुच्यते । धेयं ज्ञेयवस्तुलरूपं तदविविनामायि च ज्ञान ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येय ।
अने तु व्याचक्षते—क्षनामाधैवाजंयादिकादमीदनपेतत्वादर्थ्यं इति । ननु च ध्यान धेयविविनामायि न च क्षमादयो
धर्मो ज्ञेया येन तदपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको नृत्वाविधो धर्मो धेयस्तस्मादनपेतस्तस्याप्यनाप्रकृष्टे ‘आज्ञापाय
विपाकसस्मानविकषयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते उत्तमक्षमादिधर्मपरिणतात्परमगोऽनपेतत्वात् । धर्माद्वनपेततेति
धर्म्यमित्युच्यत इति केतुः शुक्लस्यापि धर्मोदनपेतत्वादप्यप्यनता स्यान्नोच्यते ॥ रुदिराशेषे कश्चित्समाविनीं क्रियात्माधित्य
क्षेत्रेणैवैतत्प्रतीति । न ता क्रियातत्र भागुगमनादक्ष इति व्युत्पादयमान स्थिते शायिते च प्रवर्तते न चाश्रुत्यादिभ्यपि
क्षेत्रेणैवैतत्प्रतीति । तद्विद्वानि शुक्ले न धर्मोदो वर्तते । धर्मोदःप्रवाप्याज्जदो वर्तते । अथ किं ध्यान, उत्तमसहजनस्यै
कामादितानिरोधो ध्यानमिति केतुः यद्वत् सहनेनप्यापसहनं च वज्ररिषभनारायसहनन, वज्रनारायसहनन,
नारायसहननमिति । तेन त्रिषु एक सहजन यस्य स उत्तमसहननस्तस्य एकभय मुखमखेत्येकात्रे याद्विताविरोध स ध्यान
मित्युच्यते । ननु चित्तानिरोध चित्ताया अभायस्तस्य का एकमुपयता कथं या कर्मणा भाये अभये च निमित्तता आर्तरीद्र
वोरशुनकर्मनिमित्तमेव । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुत्वेन अनोच्यते । न निरोधशब्दोऽना
मानायाधी किंतु रोधवचनो यथा मनोनिरोध इति । ननु च परित्यक्तवतो निरोधो भवति । चित्तायास्तु को निरोध इत्यभो-
ह्यते । केचिदप्यद्वि नानार्थावलम्बनेन चित्ता परित्यक्तवती तस्या एकसिद्धये नियमाधितानिरोध इति त इदं प्रपञ्च्य ।
नानार्थाधया सिता सा कथमेकैव प्रवर्तते? एकैव चेत्प्रवृत्ता नानार्थावलम्बन परित्यक्तं नासाद्वर्ततीति निरोधवाच्यो युक्ति
रसंगता, तस्मादेवमत्र व्याख्यानं चित्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तथा चैतन्यमन्यग्रन्थं वार्यभयवल्कला ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते
इति परित्यक्तस्य निरोधो नाम एकत्रैव विषये प्रवृत्तिसाद्वि य एकत्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसहनन
प्रयोगादेवासीद्रोयोरनुत्तमसहननेन प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्वधानावलम्बनो गतिविभागो न स्वात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीं
तनानामपि तयोर्वृत्ते सूत्रतरविरोधश्च “तद्व्यतिरदेताविरत्तप्रमत्तसयताम्” “हिंसातृप्तस्यैवसंश्लेषो रौद्रमविरत्तेश-
विरत्तये” इति गुणस्थानमाश्रयलेनैव स्वामिनिर्देशलतत्वात् । अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्याने, तत्र
सुते शुक्ल साक्षात् गुप्त्यग ध्यान निर्देष्टुमिति मन्यगानेन उत्तमसहननग्रहणं कृतं सूत्रकारेण । यत्वेव आर्तरोधधर्म्यमुक्ता-

नोति सत्यमुत्तरं भोगपक्षे न निर्वृताद्युदात्तार्थरौद्रयोतिरिति । अत्रोच्यते । उत्तमसंदनस्यैकामर्चितातिरोधो स्थान-
मितीर्षं सूर्यं मुच्यं ध्यानं मुच्यं यमुदिश्य प्रवृत्तमुत्तरं ॥ सूत्रमार्तरौद्रधर्म्यशुद्धानीत्येतेदेकाग्रचित्तासामान्येऽन्तर्भूते
अवभिमतमपि ध्याने निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानस्यविकल्परूपमभिगमयितुमतः प्राप्तमिच्छयोः आत्मे-
रौद्रयोरुत्तरन्यास इति न दोषः ॥ अथवोत्तमसंदनवद्रक्षं वीर्यविक्रयणम् आत्मनः उपलक्षणं, उत्तमसंदनस्य
वीर्यविक्रयणवतो आत्मनो वदेकपस्यानिष्ठं ध्यानं तत्र ध्यानमिति सूचयते ॥ मुक्तं च बहुविधं शुद्धं च ध्यानं चतुर्विधं
ध्यानं क्लेशहरं संसारदुःखघ्नकं चतुर्गोतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेष्वो भोवाः । दोषिण वि श्लाघाणि सो ज्ञादि ध्याने
चर्म्यशुद्धं क्षपकः ह्यादि भ्यायति ॥

अथ तत्परिपूर्ववदभाषासत्समुद्भावितवीर्यविक्रयः मन्थिमतमः क्षपकः कर्मक्षपणप्रधानतमोपर्यपरीपहादभिरय
तिरस्काररूपप्रतापमानंदसांद्रलयादुभावं मंदश्लिषनिजगत्सुखसाधनरूपं प्रकृतध्यानविक्षेपं यथाविभवमापद्यथोत्पुसेप-

पुरःसरं गाथाद्वयविक्रयिण्या ध्यानमाप्नुयति—

मूर्तारा—धर्मं धर्म्यं । धर्मोद्वेगव्याज्यवस्तुत्यक्तपुरुषमममार्गदेवार्थोत्तमं ध्यानमुच्यते । धारपत्यवस्था-
पयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मो वस्तुवाचात्म्यं । वस्तुस्य भागातिशयादेव हि वैतन्यादिकाऽजीवादिकं वस्तु भवति ।
स्य भागाविशेषाभावादेव काऽवस्तु भण्यते स्वरविषयादि । तेन धर्मोद्वेगो वस्तुवान्परीह स्तुतिवशात्प्राप्तादिविविक्लिप्तधर्मवि-
क्षेपवृत्तिरूपेण । अन्यथा आर्तरीदयोऽपि धर्म्यं तानुच्येव । वस्तुभाववाचनधर्मोत्तमसंयतेन विसेपान् । उक्तं चार्थे—

प्रसस्ताप्रणिधानं यस्मिन्नेकत्र वस्तुनि ॥

तद्वयानमुक्तं मुक्त्यगं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥

तत्रानपेक्षं यद्वर्मात्तद्वर्मा ध्यानमिष्यते ॥

धर्मो हि वस्तुवाचात्म्यमुत्साहविजयात्मकं ॥

चतुष्पथां चतुर्विधमाक्षेपावयिषाऽसंस्थानलक्षणव्येयविशेषविचयविकल्पात् । मुक्तं कथावरजसः क्षया-
दुपशमाद्वा प्रतिसमयमात्रेणैवद्विर्गोत्तरं शुचिर्माः संयमविकल्पलक्षणैर्गुणैः संवध्यमानत्वाच्छुक्लमिति जगपदिश्यते
विशुद्धिस्त्वानिविशेषात्पल्लवस्तत्तं ध्यानं । अत एव धर्म्यार्थोत्तरत्वं । उक्तं च—

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कथावरजसः क्षयादुपशमाद्वा ॥

मात्रिक्यश्लिषावदिदं सुनिर्मलं विषयकम् च ॥

पनुर्निधं प्रथमत्वाविर्लक्षणीपारमेष्ठ्यविवर्तकनीचार्दं, सद्भक्तियोगप्रतिपादित्युपरपरत्तोकयात्रेषर्षिं चेति पनु-
 रिभेदेर्विकल्पनात् ॥ किलेसाहं सहजसादीरगानसार्ग्यतुदुःस्वप्नचैतनाव्यावर्तकत्वात्, तन्निमित्तकमुपकृतकर्मविपाकमु-
 त्पत्तिनिरोपणवशात्तथाविधदुःसन्निविष्टकर्मादिकाशावनपरत्वाच्च, नलेद्योच्छेदकरं धर्मबहुवर्तकं च द्वितये अपि । अत एव
 संसारदुःखभीषः कृतपरिहरः साधुसद्व्यापयति । अनयोश्च शून्यस्य कलेः सहस्वरत्वेऽपि पञ्चावुपादानं धर्मपूर्वकस्यैदंमुगीन
 सुसुष्ठुलतासाध्वन्यरापनार्थं सुरिकार्थीत् । तथा च भगवद्वत्समेनगादाः कादृचनान्नेदानीं ध्याननिर्णयेकं तपरत्तुपालेभिरे ।

तथा—

वेदत्राहुर्न हि कालोऽयं व्यानस्य ध्यावतामिति ॥
 तेऽर्द्धमतानभिप्रात्ये त्वावपयत्वात्मनः स्वयम् ॥
 अत्रेदानीं निपद्यन्ति क्षुब्धध्यानं चित्तोपमाः ॥
 धर्म्येष्यान् युतः प्राहुः श्रेणीभ्या माग्वियतिनाम् ॥

अत्राणानि ध्यातिध्यानमेकप्रवित्तामिरोधः । एकवस्तुनिष्ठमात्मनो क्वात्तदित्यर्थः । अत्र चित्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते
 तच्चैतन्यमन्यद्वयं धार्धमयगच्छता ज्ञानपयोगरूपेण वर्तते इति परिरंभवइवति । एकस्मिन्निवस्थितेऽये मुने कपालंयने
 चित्ताया यदोक्तपरिर्वयचैतन्याभित्ताया अन्तःकरणवृत्तेर्निरोधोऽवरोधो मानार्धव्यावर्तेन तत्रैवावस्थापनमेकाप्रवित्ता-
 निरोधो ध्यानायाङ्गो लक्षणसुखलक्षणीयम् ।

तदुक्तम्—

इष्टे ध्येये विपरा मुद्विर्त्ता स्थापतानवर्तिनी ॥
 ज्ञानितरागरामृष्टा सा ध्यातिध्यानमीरिता ॥
 उद्यात्यपु मन्वेदेवस्तज्जणं विभटस्यनाम् ॥
 योगप्रसक्तस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥

यथादि ध्यायति त्रिणिधत्ते । सम्ये शुक्ले वा ध्याने परिणतो भवतीत्यर्थः । उक्तं च—
 प्रत्याहृत्य यथा चित्ता नागालंबनवर्तिनी ॥
 'एकालंबन स्त्वैवां निरुणद्धि विमुद्वयोः ॥

तदास्य योगिनो योगश्रितैकानिरोपतं ॥

प्रसेव्यानं समाधिः स्वादयानं स्पेष्टफलप्रदम् ॥

अर्ध-धर्मध्यानके चारुदे हैं और शुक्लाध्यानके भी चार भेद हैं. इन दो ध्यानोंसे संसारके बलेश दूर होते हैं अतः संसार से मग्नयुक्त क्षपक इन दोनों ध्यानोंका हृदयमें चिंतन करते हैं.

जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसको धर्म कहते हैं अर्थात् वस्तुका जो विशिष्ट स्वभावन उसको धर्म कहते हैं. चैतन्यादिक विशिष्ट स्वभाव होनेसेही जीवादिक पदार्थों को वस्तु कहते हैं. विशिष्ट स्वभावसे पदार्थको 'वस्तु' यह नाम प्राप्त हुआ है. स्वविषयादिकोंको कोई भी विद्वान् वस्तु नहीं कहते हैं क्योंकि उसमें कोई भी धर्म नहीं है. अर्थात् स्वविषयण चीज ही नहीं है अतः यहाँ धर्म यह शब्द वस्तुके स्वभावका वाचक है. इस धर्मसे अर्थात् वस्तुस्वभावसे ध्यानयुक्त रहता है उसको धर्मध्यान कहते हैं.

शंका—यदि आप वस्तुस्वभावसे युक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हो तो आर्चध्यान भी वस्तुस्वभावसे युक्त होनेसे उसको भी धर्मध्यान कही, क्यों कि इनमें संशुल हुए अनिष्ट वस्तुका विषय, संयुक्त इष्टवस्तुका अवि योग, रोगपीडा धर्मरहका क्षमन, मात्सिकालमें इष्ट वस्तुकी प्राप्ति इत्यादि वस्तु धर्मोंका आश्रय लेकर ये ध्यान प्रवृत्त होते हैं अतः इनमें धर्मसे अनपेक्षित-सहितपना है. अतः इनको भी धर्मध्यान कहना चाहिये ?

उत्तर—यहाँ धर्म शब्द विशिष्ट अर्थात् विवक्षितधर्मका वाचक है इसलिये आज्ञा, अपाय, विषाक, सस्थान इत्यादि विशिष्ट धर्मोंसे जो युक्त है ऐसे आज्ञाविषय, अपायविषय, वीरह ध्यानोंको धर्मध्यान कहना चाहिये. आज्ञा, अपाय, विषाक वीरह धर्म धर्मध्यानके ध्येय हैं. अर्थात् ध्येय ध्येय हैं. इन धर्मोंको धर्मध्यान विषय करता है. वस्तुस्वरूपही ध्येय और ध्येय बन सकता है. इन वस्तुस्वरूपके नाम अविनाभावी एकारूप जो ज्ञान उसको धर्मध्यान कहते हैं. इस प्रकार धर्मध्यान शब्दका अर्थ स्पष्ट करना चाहिये.

उत्तमधर्मा, मांदव, आर्जव इत्यादिकोंको धर्म कहते हैं इन धर्मोंसे जो ध्यान युक्त है उसको धर्मध्यान कहना चाहिये ऐसा कोई आचार्य कहते हैं.

शंका—ध्यान तो ध्येयके साथ अविनाभावी है. अर्थात् वह ध्येयके बिना रहताही नहीं. क्षमादिक धर्म ध्येय नहीं हैं अतः ध्यान इनसे युक्त रहता है ऐसा उक्त्यन्त गेय्य नहीं है. यदि ध्यान धर्म ध्येयके बिना रहता है तो ध्यान धर्म ध्येय नहीं है.

धर्मध्यानके ये सम्यक् धर्म ही विषय-व्येय ठहरने देखा होनेपर 'आश्वासनाय विपाकसम्यग्विचयाय धर्म्यम्' यह सूत्र बिकट है ऐसा मानना पड़ेगा क्योंकि इस सूत्रमें आश्वास, विपाक और संस्थान ये धर्मध्यानके ध्येय विषय हैं ऐसा कहा है यदि उत्तम धर्मादि दश धर्मोंसे आत्मा युक्त है और उस आत्मामें वह ध्यान भी अभिन्न है अतः यह ध्यान शुभादि धर्मोंमें युक्त है ऐसा कह सकते हैं यह आपका भी कहना अनुचित है क्योंकि शुचल ध्यान भी इन धर्मों से क्या अभिन्न नहीं है ? अर्थात् शुचल ध्यानको भी धर्मध्यान कहना चाहिये, इस प्रकार शंकाकारका कथन है, अब आचार्य इसका उत्तर देते हैं—

तुदि शब्दोंमें जो क्रिया दिखाकर शब्दार्थ कहते हैं वह केवल शब्दश्रुत्याचिके लिये ही समझना चाहिये, उस लुपिशब्दोंमें वह क्रिया होती ही है ऐसा नियम नहीं है, 'आशु धमनादयः' अर्थात् जो शीघ्र गमन करता है—जाता है उसको अथ कहते हैं यह अथ शब्दकी श्रुत्युत्पत्ति दिखाते लिये उसकी निहक्ति दिखाई है, परंतु यह अथ शब्द सोये हुए अथवा खड़े हुए सोठमें भी व्यनहित होता है वहे वेगसे दोड़नेवाले गरुड वगैरे प्राणिजोंमें इस अथ शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है, वैसे इस शुक्लध्यानमें धर्म शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती है धर्मध्यानसे भिन्न आर्त रोद्रध्यानमें भी इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है.

प्रश्न—ध्यान किमत्रो कहते हैं ? उत्तर— उत्तमसहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यायम्' अर्थात् उत्तमसहननपांलेके एकाग्रचित्तानिरोधको ध्यान कहते हैं छह सहननोंमें वषट्पुष्पमनससहनन, वज्रनाराचसहनन, और नाराच सहनन इन तीन सहननोंको उत्तम सहनन कहते हैं, इन तीनोंमें से एक सहनन जिसको है ऐसा पुरुष उत्तम सहनन धारक है वह पुरुष एकाग्रमें चित्ताका निरोध करता है इस चित्तोके निरोधको ध्यान कहना चाहिये.

शंका— चित्तोके अभावको चित्तानिरोध कहते हैं वह एकमुख कैसा होता है ? तथा वह कर्मोंके भाव अथवा अभावमें कैसा कारण होता है ? आतं ध्यान आर रोद्र-ध्यान अष्टमकर्मका निमित्त है, धर्मध्यान और शुचल ध्यान दश कर्मका तथा निर्जसका निमित्त है.

उत्तर—यहां निरोध शब्द अभावका वाचक नहीं है किंतु रोचका वाचक है जैसे मूत्रविरोध शंका—जो पदार्थ चंचल है उसका निरोध होता है परंतु चित्ताका निरोध कैसे हो सकता है ? उचर—चित्तोके विज्ञान अनेक पदार्थोंका आश्रय लेकर चित्ता चंचल होती है उसको एक विषयमें स्थिर करनाही चित्तानिरोध है ऐसा कहते हैं उनको ऐसा

पुछना चाहिये—यदि चिन्ता अनेक अर्थोंका—पदार्थोंका आश्रय लेती है तो वह एक वस्तुमें ही कैसी स्थिर होगी और यदि एकही पदार्थमें स्थिर होगी तो अनेक पदार्थोंका वह अवलंबन क्यों लेगी. इस वास्ते उसके निरोध का वर्णन करना असंगतसा दीखता है. चिन्तानिरोधका यहाँ ऐसा विवेचन करना चाहिये—

चिन्ता शब्दसे चैतन्य अर्थ समझ लेना. यह चैतन्य अन्य अन्य पदार्थको जानता हुआ ज्ञानपर्यायसे परिणत होता है. ऐसे परिस्यंदयुक्त चिन्ताका निरोध करना अर्थात् एकही विषयमें उसकी प्रवृत्ति होनाही चिन्ता निरोध समझना चाहिये. जो एक पदार्थमेंही निरुद्ध हुआ है वह वही प्रवृत्त हुआ है ऐसा कहा जाता है. उत्तम संतानवालोंको ध्यान होता है ऐसा सूत्रप्रयोग है इससे उत्तमसंहननरहित जीवोंमें आर्त रौद्रध्यानकी प्रवृत्ति नहीं होगी. इससे इन ध्यान के आश्रयसे जो नरकादि गतिओंकी प्राप्ति का वर्णन आचार्यने किया है वह अनुभवसे विरुद्ध होता है. इस कालमें भी इन ध्यानोंका सञ्चार है अतः अन्यथाज्ञाते भी उपयुक्त कथन विरुद्ध पड़ता है. यह कथन अन्यज्ञातोंमें भी विरुद्ध होता है. 'तद्विस्तरेदेशनितप्रमत्तसंयतानाम्' 'हिसानृतस्वैयविषयसंक्षेपेभ्यो रौद्रम- विरतदेशविरतयाः' 'इन सूत्रोंमें केवल गुणस्थानोंका आश्रय लेकर ही आर्त रौद्रध्यानके स्वाभीओंका वर्णन किया है. इससे भी ध्यान अनुत्तमसंहननवालोंको भी होता है यह सिद्ध होता है.

उपयुक्त आक्षेपका निराकरण—

निर्जराके कारण जो ध्यान है उनका यहाँ वर्णन है. इसवास्ते सूत्रोंके लिये साधात्कारणभूत ध्यानका वर्णन करनेके लिये आचार्यने 'सूत्रमें उत्तमसंहननस्य' ऐसा शब्द ग्रहण किया है.

शंका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्रधर्म्यशुक्लानि' ऐसा आगेका सूत्र है यह असंगत है क्योंकि आर्त- ध्यान और रौद्रध्यान निर्लेपके कारण नहीं हैं.

उत्तर—'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानं' यह सूत्र मुख्य ध्यान जो कि मुक्तिका अंग है उसको उद्देश करके प्रवृत्त हुआ है. और एका के आगेका 'आर्त रौद्रधर्म्यशुक्लानि' यह सूत्र एकग्रचित्तको सामान्यसे उद्देशकरके लिखा है. यह सूत्र अनभिमत अनिष्टध्यानका वर्णन करता है. प्रस्तुत ध्यान अनभिमत ध्यानसे-आर्त और रौद्रध्यानसे अलग है और इसका स्वरूप निलकुल आर्त रौद्र ध्यानसे उलटा है यह दिखानेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है. इसलिये प्रासंगिक आर्त रौद्रध्यानका मुख्यध्यानके आगे उद्देश किया है.

अथरा 'उत्तमसंहननस्य' यह मुन्द विशिष्ट वीर्यवान् आत्माके लिए उपलक्षण है. अर्थात् उत्तमसंहनन विर्भावप्रपञ्चान् आत्माया एवमस्तु मे स्थिर ऐसा जो ध्यान उमरों ध्यान कहना चाहिये ऐसा मन्त्रार्थ है.

गुप्तन ध्यान चान् प्रसारका है (इसका ग्रंथकार आगे वर्णन करेगा) यह ध्यान चतुर्गतिके दुःखोंका नाश करता है चतुर्गति प्रमल करनेमें त्रियको सब उत्पन्न हुआ है अर्थात् चतुर्गतिके दुःखोंसे जो भयपुक्त है. ऐसा धारण प्रयोगान् और गुप्तनध्यान ऐसे दो ध्यानोका चिन्तन करता है.

ण परीसंदर्हि संताविउं वि सो झाइ अट्टरुदाणि ॥
मुदुवहाणे सुखं पि अट्टरुदा वि जासंति ॥ १७०० ॥

आनरीद्वद्वयं त्याज्यं सर्वदा दुःखदायकम् ॥

मेन विध्यस्याते ध्याने दुर्नयेनेव सशयः ॥ १७१७ ॥

वित्तवोरव—य परिकल्पितो न क्षयकः गरिक्सेतोद परीयते । संतापितो वि साधितोऽपि अट्टरुदाणि आत्तं रोदं य न क्षार ताप्यानि । मुदुपहाणे सुखं उपपाने । मुदुमपि अट्टरुदाणि जासंति पालंरीद्वद्वयमे जासपतः ॥

वीमदुःखानोऽन्वी मदधानं प्रतिषण्णे इति एकरुपातुवाविचयकं दुर्धानप्रविषधमनुसासित—

मुदाया—यो मदुत्तमोपायः मायुः । मुदुभिभाणे विमुदुवि मुदुत्तमनैरसंकेतपरिणादैरिदुद्धं विशिष्टा द्युद्धि बर्गविचलत्तागिर्विद्विंश्चैरिपमवि मद्गुगामांरीट् नासकः । किं पुनरितरदिति त्वया संसारधीरुणा चोरपरीपतोपहृते-
सादि ते दुष्पाने मनागपि नाशकनीये इति प्रतिषेधपरोक्तिः ॥

अर्थ—यह धपक परिषदोंके द्वारा पीडित होनेपर भी आगे ध्यान और साधनध्यानका चिन्तन नहीं करता है. गूढ परिणामोंके द्वारा उम्र घपकका ध्यान समन्वितता करनेमें मग्न है तो भी ये आनरीद्वध्यान उस उत्तम ध्यानका नाश करेगा है. इसलिये हे धपक! मंगारदुःख में भयपुक्त होकर परीषदोंसे पीडित होनेपर भी इन अनुभवाध्यानोंका स्वीकार करना नरे लिये रित्तुल अयोग्य है.

अट्टे चउप्पयारे रुहे ॥ चउव्विधे य जे भेदा ॥
ते सव्वे परिजानदि संथारगओ तओ खवओ ॥ १७०१ ॥

रौद्रं चतुर्विधं ध्यानं ये चातौ सन्ति केचन ॥

ते भेदा दूरतस्याज्या विज्ञाय विधिधेदिना ॥ १७०८ ॥

विजयोक्ता—अट्टे चउप्पयारे आतें चतुःप्रकारे, जे भेदा रुहे य चउव्विधे ये भेदाः । ते सव्वे परिजानदि तान् ससोन् विजानामि । संथारगओ संस्तरगतः । तयो खवओ वसो खपक्कः । जो यत् परिहरे खुस्स कथं सत्त्वतोऽनवतुः । वमानो निमोग्गः । परिहरेधि छदि ? । पत्थं आतैरौद्रं परिहृज्ज तस्मात् छातन्वयति इति दशयति ॥

यो रसियोगतः परिजिहीषति स नित्यं तत्स्वरूपपरिज्ञानपरो मयतीति सविकल्पमपि दुर्ध्यानद्वयं क्षपणेन

विनर्शनैर्याभिलुप्येष्टुमिदमाह—

मूळारा—परिजानदि लक्षणविधे च न भेदस्याभिदेहफलफलभाषगुणस्थानप्रभेदानामर्थनिर्णयविषयवलाभारैरातै

रौद्रं च अचक्षुष्यते इत्यर्थः ।

अर्थ—आर्तध्यानके चार प्रकार है तथा रौद्रध्यानके चार भेद हैं. संस्तरपर पडा हुआ क्षपक इनके सर्व भेदोंका स्वरूप जानता है. यदि इनके भेदोंका परिज्ञान ठमको न होगा तो वह उसका त्याग नहीं कर सकेगा. आर्तरौद्रध्यानका त्याग करनेके लिये उसके स्वरूपका ज्ञान होना अवश्यंभावी है.

अमणुणसंपओगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे ॥

अट्ठं कसायसहिंयं ज्ञाणं मणियं समासेण ॥ १७०२ ॥

तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेत्र छव्विहारंभे ॥

रुद्धं कसायसहिंयं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥ १७०३ ॥

अवहट्ठ अट्ठरुद्धे महामये सुगदीए पच्चूसे ॥

धम्मो सुक्खे य सदा होदि त्थमण्णगदमदीओ ॥ १७०४ ॥

स्तस्यासत्यचोरशायद्धिघातंभवेदतः ॥

कपायसहितं रौद्रं ध्यानं श्रेयं समासतः ॥ १७६९ ॥

प्रियायोगप्रियप्रतिपरीषद्विद्वानतः ॥

कपायकलितं ध्यानमातं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥ १७७० ॥

रौद्रमातं त्रिधा त्यक्त्वा सुगतिप्रातिवंचकम् ॥

घर्मपशुकलद्वये योगी साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ॥ १७७१ ॥

पितृयोक्त्या-अपदद्वय । अदृश्ये आर्तरोत्रे । मदलो अयस्य हेतुत्वान्मदामये । सुगतीन् पञ्चभूते सुगते-
विप्रभूते । घर्मे सुके वा घर्म्ये शुके वा ध्यानेऽसौ शरणः । लम्पणागदमदी सौ होवि सम्यगनुरत्नमविर्भयति ॥
संक्षेपेणार्थव्यवस्थितकल्पकयाचष्टे—

नूतारा-अहं ऋते अमनोक्तसंयोगादिना यीदिते गुंसि भवमाहो । उक्तं चार्थे—

ऋते भवमयार्थं दयाद्वयानमार्थं चतुर्विधं ॥

दृष्टानवाप्यनिष्ठानिनिदानासावेदुक्तम् ॥

कक्षावसद्विधं प्रमादादिप्रित्वित्वात् ॥ समासेण संक्षेपेण । विस्तरस्त्वार्योक्तो यथा—

ऋते विना मनोकार्थान्द्रव्यभेदवियोगकम् ॥

निदानप्रत्ययं वैषम्यप्राप्तेष्टार्थैषितव्यम् ॥

ऋते ह्यपगतेऽनिष्टे भवमाहं दृतीयकम् ॥

मयेषुतुर्धमप्येकं वेदनोपगमोद्भवम् ॥

प्राप्त्यप्यप्योर्ध्वनोद्वेगपर्ययोः स्मृतियोजने ॥

निदानवेदनापानविषये चानुचितेन ॥

इत्युक्तमार्तमार्तचित्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥

प्रमादादिप्रित्वं तनु षड्युपस्थानसंश्रितम् ॥

व्यप्रस्तुतमं तेष्याव्रवमाश्रित्य जंभितम् ॥

अन्युद्गर्तकाढं तदग्रस्तत्वाखलंनय ॥
 आश्विनोपलमिकोऽयं स्यान्मज्जतिर्यग्भाविः फल्गुम् ॥
 तस्मादर्थान्नमात्तोख्यं देयं श्रेयोर्वैविनामिदम् ॥
 मृच्छाकौशीलीत्यकैनादयकौसीद्यान्यतिगृध्रुता ॥
 भगोद्रेगानुशोकाश्च लिगान्यार्यै स्मृतानि वै ॥
 बाह्यं च लिगमातस्व गात्राब्जनिर्विवर्णता ॥
 हस्तन्यस्तकपोलत्वं साक्षुसान्यत्र तादृशम् ॥

रीद्रभेदावाह—

मूलशः—सारकशनेषु सकादि गृहीत्वा स्वद्रव्यादिरक्षणे । छत्रिबधरंध्रे पृथ्वीवतिकायहिंसने । रुद्रं रोदयते

प्राणिन इति रदो हिंखो रुद्रे भयं रौद्रं ॥ समासेण संक्षेपेण, विस्तरस्त्वापेक्षो । यथा—

प्राणिना रोदमादुः श्रुतः सत्वेषु निर्वृणः ॥

पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यातं चतुर्विधम् ॥

हिंसानंरश्मृगनंदस्तेवसंरक्षणतत्तकम् ॥

पश्यातु तदुणत्सानात्वाह् पंचगुणभूमिकम् ॥

प्रकृष्टतदुल्लेखयान्नबोपोद्वल्यद्वितम् ॥

अथमुद्गर्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते ॥

वपयथाभिसंधानमंगच्छेद्योपवापने ॥

ईदृशकृष्यमित्यादि हिंसानंदं स्त्वो जुष्यैः ॥

हिंसानंदं समावाय हिंसाः प्राणिषु निर्वृणः ॥

हिंसस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चादन्यात्वा वा परान् ॥

पुरा किलारविदास्यः प्रख्यातः सचराधिपः ॥

रुधिरस्तनारौद्रमिसंधिः आस्त्री विवेस सः ॥

मिषगर्हिस्रया चेति छिन्नान्यस्य स्मृतानि ते ॥

सूयन्मनो यथायाक्वैरतिर्तप्तान्मन्त्रितनम् ॥

वाक्पाठव्यादिलिङ्गं तद्वितीयं रौद्रविष्यते ॥

सेवानन्दः परब्रह्मद्वारेण स्मृतिबोद्धवम् ॥

भवेत्संरक्षणानन्दः स्मृतिरयोजेनाविषु ॥

प्रवीतलिङ्गमैवैवद्वौद्रध्यानद्वयं भुवि ॥

भारकं तु रामस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरं ॥

भारकं तु छिन्नभरणाधुरसंगं मुखचिकियम् ॥

प्रत्येवभंगकं च नेत्रयोश्चैति ताम्रवाम् ॥

प्रयत्नेन विनैवेत्तद्वौद्रध्यानद्वयं भवेत् ॥

अनादिवासनोद्भूतभक्तस्वहितुलेनमुनिः ॥

अपि यः—अतएवमित्यतस्वाश्रयैः परित्यजेन भाषयन् ॥

भीषणीतो समाधाय संक्षिप्तं ध्यानमृच्छति ॥

संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुत्पिप्पी ॥

सैव दुष्प्रणिधानं रयादपध्यानमतो विदुः ॥

स्वार्थधातकल्याणुध्यानिं त्यक्त्वा नित्यं सद्दयानैकज्ञानो भवेत्सुपदैस्वार्थमाह—

मूलरा—अबहट्ट अपहृत्य । भगवते दुर्गेतिदुःस्वहेतुदुहितवर्धनदानत्वात् । सुगदीपं सुदेवत्वसुमानुपपन्न-
नागतित्वायाः सुगतेः । पञ्चदे विभक्त्युते तत्कारणपुण्यबंधप्रक्षयप्रतिबंधित्वात् । समध्यानदमदीप्तो सम्यग्गुणवृद्धिः ।

अर्थ—अमनोज्ञसंप्रयोग-अनिष्टपदार्थोका संयोग होनेपर उसका वियोग किस उपायसे होगा ऐसा चार
२ विचार करना अमनोज्ञ संप्रयोग नामक आर्तध्यान है, इष्टविषयमेव—खीज्रादिक पदार्थोका वियोग होनेपर
उमकी प्राप्ति की चार बार चिन्ता करना, परीकृष्ट प्राप्त होनेपर ये कैसे दूर होंगे ऐसा मनमें चार २ विचार करना.

आगेके भयमें मेरेको अच्छे २ पदार्थ प्राप्त होने चाहिये ऐसा विचार करना यह निदान नामक आतर्ध्यान है-
 चोरी करनेका बार २ विचार करना, चारसे घन न रहता जावे इस लिये उसका संरक्षण करनेके लिये
 शस्त्रादिक ग्रहणकर उनका रक्षण करनेके हृत्परिणाम बारंबार होना, छद्म प्रकारके आरंभ करना अर्थात्
 पद्मावलीवैली जिसमें हिंसा होती है ऐसा आरंभ करनेमें तल्लीन होना इसको रौद्रध्यान कहते हैं- हिंसा करनेमाले
 मनुष्यको हार कहते हैं ऐसे मनुष्यमें उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसको रौद्रध्यान कहते हैं ऐसा रौद्र ध्यानका
 लक्षण संश्लेषसे फटा है- ये आर्त और रौद्रध्यान दोनों भी त्यागने चाहिये- क्योंकि ये महाभयके कारण हैं और
 सुगतिके प्रतिबंधक है अर्थात् दुर्गतिके कारण हैं- ये धर्मध्यान और शुक्लध्यानके साधक हैं ऐसा समझकर धर्म और
 शुक्ल ध्यानमें क्षणक सदा स्थिर रहता है-

किंनर्धमसौ ध्यात्मयोः शुभयोर्द्वैतस्य इत्यादिवाक्यां ध्यानप्रवृत्तौ कारणमाचष्टे—

इंदियकसायजोगिणिरोधं इच्छं च गिज्जरं विउल्लं ॥

चित्तरस य वसियत्तं मग्गादु अविप्पणासं च ॥ १७०५ ॥

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्कपायाश्रनिरोधनम् ॥

वदयत्तवं मनसो मार्गद्वंधं निर्जरां पराम् ॥ १७०६ ॥

विजयोदया—इंदियकसायजोगिणिरोधं स्वर्गाविपुष्पात् उपयोगं इंदियशब्देनोच्यते । कपायाः क्रोधादिरात्रौ
 वीगः संवेधस्तस्य निरोधं निवारणमिच्छन्निर्जरां च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नैद्रियविषय
 अन्योपयोगसंभवः, कपाशार्णां बोधनिः, चित्तस्त य वसियत्तं चित्तस्य स्वयंशब्दे इच्छन् स्वेषुविषये चित्तमस्तदुत्तरा-
 पयतोऽनिष्टान् व्यववर्तयतः स्ववशं भवति ॥ चित्तस्य मग्गादो अविप्पणासं च मार्गाद्वैतव्यवविप्रयाशे च वांछन्,
 मशुभध्यानप्रवृत्तौ रत्नत्रयात्स्वुतो मयामीति ध्यात्वे प्रवर्तते ।

यमेध्यानस्य प्रयोजनमात्रं परिकरं च निर्दिष्टं याथावत्तुष्टयमाचष्टे—

मूळारा—ओम संवेषः । इच्छं वांछन् । गिज्जरं शुभकैकेद्वैतसंश्रयं । विबलं शालाख्यंतरजपोविकल्पांतरसाध्य
 निर्जरातोऽतिशायिनी । वसियत्तं स्ववश्यतां । त्वेष्टेऽर्थे चित्तं स्थापयितुं अनिष्टान् च न्यावर्तयितुमिच्छति । मग्गादु अवि-
 प्पणासं रत्नत्रयादुपच्यवनम् ।

यह क्षपक शुभध्यानमें क्यों प्रवृत्त होता है इस अंशके उद्धारमें कारणका निवेदन करते हैं—
 अर्थ—स्पर्शादिक विषयोंमें उत्पन्न हुआ जो उपबोध उसको यहाँ इंद्रिय कहते हैं. इंद्रिय और कर्मायोंका संबंध नष्ट करनेकी यदि इच्छा हो, कर्मोंकी विपुल निर्बला करनेकी यदि इच्छा हो, तो तु अपनचित्त स्वाधीन रखने का प्रयत्न कर. वस्तुके यथार्थ स्वरूप को जाननेमें अपने मनको एकाग्र कर. जब मन स्वाधीन होता है तब इंद्रियोंके विषयके प्रति उपबोध नहीं लगता है और कर्मायों की भी उत्पत्ति नहीं होती है. चित्तको अपने इस विषयमें अर्थात् उत्तम क्षमादिक धर्मोंमें स्थिर करना चाहिये. और अनिष्टविषयोंसे परावृत्त करना चाहिये. रत्नत्रयमार्गसे अपनी च्युति न हो ऐसी इच्छा करनेवाले क्षपक को अग्रिम ध्यानका त्याग करना चाहिये. और शुभ ध्यानमें स्थिर रहना चाहिये.

ध्यानपरिष्कारप्रतिपादनाद्योत्तरभाषा—

किंचिदिद्विमुपायतद्विज्ञाने गिरुद्धविद्विओ ॥
 अप्याणहि सदि संघित्ता संसारमोक्खड्डम् ॥ १७०६ ॥
 एकाग्रमानसश्चक्षुष्यविर्यं परवस्तुतः ॥

आत्मनि स्थितिमाधाय ध्यानं श्रयति मुक्तये ॥ १७०३ ॥
 विज्ञयोदया—किंचिदिद्विमुपायतद्विज्ञाने गिरुद्धविद्विओ एकविषये पदोक्षरमेव निरुद्धवैतन्यः। तद्विनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिग्राह्योऽत्र युक्तः। अप्याणेदि आत्मनि। सदि स्मृति। संघित्ता संघाय। स्मृतिग्राह्येनात्र धुतक्षानेमाधगतस्यावस्था स्मरणमुच्येत, संसारमोक्खड्डं संसारविमुक्तये ॥ प्रयोजनमुक्त्वा परिफर्माह—

मूला—किंचिदिद्विमुक्तये। विद्वं चक्षुः। उच्येत्यपि उपाकर्त्य। बाह्यद्रव्यालोकाभ्याकार्यं चात्मा एद्विमुक्तये। निरुद्धविद्विओ एकविषये पदोक्षराने निरुद्धवैतन्यः दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिग्राह्योऽत्र युक्तः। अप्याणस्मि स्वसंवेदनमुच्यते दृष्टिचिद्रूपे स्यात्तस्मि। सदि धुतक्षानाधिगतायैस्मरणं। उक्तं च—
 पूर्वेभुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः।
 तत्रैकग्रन्थं समसाध न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

अपि च—

गहिर्यं तं मुरगणाणा पच्छा संवेगणेण सावेच्च ॥

जण्डु मुअमवंबदि योमच्छदि अपसन्मवे ॥

ध्यानका परिकर कहनेके लिये याया—

अर्थ—नेत्रोंको जण्डु पदार्थोंके अवलोकनसे इटाना चाहिये अर्थात् नाकके अग्रमासपर नेत्रोंको निश्चल करना चाहिये. तदनंतर एक विषयको धारण करनेवाले परोक्षज्ञानमें अपना ज्ञानोपयोग स्थिर करना चाहिये. स्वतंत्र वेदनज्ञानसे जिसका अनुभव आता है ऐसे अपने शुद्ध चैतन्यरूप आत्मामें श्रुतज्ञानके साहाय्यसे आगमसे जाने हुए पदार्थोंका स्मरण करना चाहिये. यह ध्यान धुनिषण संसारसे मुक्त होनेके लिये करते हैं.

पञ्चाहस्तिु विसयोहिं इंदिर्योहिं मणं च तेहिंतो ॥

अप्यणम्मि मणं तं जोगं णणिघाय धारेदि ॥ १७०७ ॥

प्रत्पाहृत्य मनोऽक्षाणि विपयेभ्यो महाबलः ॥

प्रणिधानं विघत्तेसायत्तमनि ध्यानलालसः ॥ १७०८ ॥

विजयोदया—पञ्चाहस्तिु प्रत्याहृत्य । विद्येयोहिं विपयेभ्यः । इंदियाहं इंद्रियाणि मणं च मनश्च न्यायत्वं । तेहिंतो विपयेभ्यः । मणं त धारेति सम्मनो धारयति । ऋ भण्योऽहि आत्मनि । जोगं योगं धीर्यतरायक्षयोपशमजपीर्यपरिणामं । णणिघाय प्रणिघावरथाव्य, एतदुक्तं भवति धीर्यपरिणामेन नोऽंद्रियमति धारयतीति ॥

मुरगतस्तेव परिकर्मोहिं—

मूलरा—पञ्चाहस्तिु ध्यायत्वं । इंदियाहं बहुश्रुतपुषोगात् । सणं नो इंद्रियमसि । तेहिंतो तेभ्यः ।

विपयीकृतं । जोगं णणिघाय धीर्यतरायक्षयोपशमजं धीर्यपरीणामसमष्टम्य धीर्यपरिणामविशेषेण शुद्धस्वात्मनि निर्विषयो नोऽंद्रियमति धारयतीत्यर्थः । ॥ एणोऽन्तः परिकरः सूक्ष्मलोकः । वाह्यस्त्वयं—

पर्वतगुहायां, भिरिकंदरे, दर्या, तरुकोटे, त्वीपुल्लिने, विष्वक्ने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे, वा अशालमृगायां पशूनां पक्षिणां, मनुष्याणां वा ध्यानविप्रकारिणां साक्षिचक्षुः, वरस्योरंगुलिभिरुप शुद्धाविवर्जिते उज्ज्वलीतोने प्रचलादिविद्वे निरलोन्द्रियमनोविषयेतौ, श्रुतवस्तुल्लस्यार्थमूषागे मंदमंदप्राणपानप्रचरो नाभेरुर्ध्वं, हृदि लटाटे या वज्र वा मनो-वृत्तिं वयापरिचयं प्रविधाय ध्यायतीति तत्रैव चास्माच्चक्षुस्तत्र मंत्रो मातृदाससेनपादाः—

ययोक्त्वक्षणे ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा ॥
 तदेदं परिकर्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥
 शून्यागारे गुहायां च दिवा वा यदि वा निशि ॥
 क्षीपशुकलीयजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥
 खान्यत्र वा कविदेवो प्रसूते प्रासुके समे ॥
 श्वेतनयेतमज्ञेयध्यानविघ्नविवर्जिते ॥
 मूतले वा शिलापट्टे सुरासीनः स्थितोऽयवा ॥
 समदुःखाकृतं गात्रं निष्कृपाद्ययं वधत् ॥
 नासाग्रम्यस्तानिःस्पंदलोचनो मंदमुचुसन् ॥
 द्वात्रिंशदोषनिर्मुक्तकावोत्संगव्यवस्थितः ॥
 प्रत्याहृत्वालुंटाषांस्तर्पेय्यः प्रयत्नतः ॥
 बिंशो वाहृष्य सर्वेभ्यो निरुष्य भ्येषयस्तुति ॥
 निराकृतिप्रो निर्भितिर्निरादर्यो निरंतरः ॥
 स्वरूपं पररूपं वा भ्यायेदंतर्बिद्युद्वये ॥

किंच—वेहायथा पुनर्येन न स्वात्मानोपरोधिनी ॥

तदयस्यो मुनिर्भयोदस्थित्वास्तित्वाधिरूप्य वा ॥

देशादिनियमोऽत्येवं प्रायो वृत्तिव्युपाश्रयः ॥

कृतात्मनां तु सर्वोपि देशादियानसिद्धये ॥

अर्थ—विषयों इंद्रियों और मनको हटाना चाहिये. अर्थात् इंद्रियोंका उपयोग याह पदार्थमें समझेपने प्रयुक्त होता है. उनको समझेपरहित होकर वहांसे हटाना चाहिये. और चीयंतरायकर्मके ध्योपययसामर्थ्यसे मनोबोधको अपने आत्मामें स्थिर करना चाहिये.

कृतमनोनिरोधः किं करोतीत्याहंभ्याह—

एवमेव मणं संभित्तुणा घमं चट्विहं श्रादि ॥

आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥ १७०८ ॥

ध्यायत्येकाग्रचेतस्को घर्म्यध्यानं चतुर्विधम् ॥

आज्ञापायविपाकानां संस्थाया विचयं सुचीः ॥ १७०९ ॥

विजयोदय—एतत्तुणा घमं चट्विहं श्रादि ॥ अर्धतत्पत्तिरुतोयमुक्तः सूत्रकारेण । वाह्यपरिकर उच्यते । पर्वतशृङ्गां, निरिकंदेर, वयो, तद कोटेर, नदीपुल्लिन, पितृवन, शीर्षांशान्, शृङ्गागारे वा न्यालसूत्राणां पट्टाणां, पक्षिणां, मनुष्याणां वा ध्यानविचकारिणां सन्निधानादौ, तदध्यायानुसिद्ध आश्रयैवेति, उल्लेखीयतापवातादिविपक्षिते, निरस्तैर्द्विधमनोविक्षेपहेतौ, शुद्धाचतुर्गुल स्पर्शे भूयान् मंदं मंदं प्राणपानविचारः नभिरूपं हृदि सल्लङ्घ्य वा मनोहृत्ति यथापरिचयं प्रणिदधातीति शास्त्रपरिकरः । आणापायविपाकविचये आज्ञाविषयमपत्यविचयं, विपाकविचयं, संठाणविचयं च संस्थाविचयं च । तच्चाज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्मणि मूलोत्तरमकृतीनि तेषां चतुर्विधो पंचपर्याय उदयफलविकल्पः जीवद्रव्यं सुस्पष्टवर्ण्येति सारदीना मर्तोद्विधयाद् धृतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकार्यमापात्तं सुखयतिमये असति दुरयवोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि सर्वज्ञानप्राप्त्यान् आणमविपर्यतत्वं तथैव नान्येति निश्चयः । स्वयंपदार्थानलभावरयान्तोक्ष-वेष्टुदित्याहाचारनिश्चयज्ञानं आज्ञाविचयाख्यं धर्म्यध्याने । अन्धे तु बहंति त्वमसि तपदर्शयतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धांतनिरूपितार्थमतिपाठेष्टुभूतयुक्तिगवेषणापद्धितञ्चिन्ना सर्वज्ञानप्रकाशनपरं भवत्वा युक्त्या इयं सर्वविदा-माज्ञावयोचयिष्ठं शक्येति प्रवर्तमानत्वादज्ञाविचय इत्युच्यत इति ॥ अनादौ संसारे सैरे मनोवाक्यवृत्तेर्मम अशुभमनो पाप्मावरणादपारः कथं स्पष्टयिष्ये अपरये विषयो भीमांसासिञ्जलीत्यवधारिवर्धं द्वितीयं धर्म्यध्याने । जात्येव संस्थातीया निध्यादण्डः समीचीनमुक्तिमार्गपरिज्ञानात् दृग्मेवापर्यति धार्म्यं द्वितीयां सत्यामपराये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिन्स्व-पापविषय इत्युच्यत इति मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यम्यः कथमिमे प्रपिन्नोऽप्युरिति स्मृतिसम्भवाद्दोऽपायविचयः ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टमकारणां चतुर्विधं पंचपर्यायाणां मधुरकटुकविषयाकानां तीव्र-मध्यमदुर्गणमप्रचकृतानुभाषयिषयाणां द्रव्यशेषकालयावोपेक्षाणां पतसु यत्किपु योनिषु वा इत्येवमेतं फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः ॥ येनासन्नक्षुदीमुदगसंस्थानो लोक इति लोकत्रयसं-स्थाने विचयोऽस्मिन्निति संस्थानविचयता ॥

एवं कृतपरिकर्मां युमुक्षुः किं करोतीत्यावाह—

मूलरा—एवमेव एकच्येवमुपलप्य । संभित्तुणा निरुध्य । ज्ञानेति विद्याद्विपु सिचयः सम्यग्विचारणानिष्टं

ज्ञानं यस्मिन्नस्ति तदासाविषयमपयविषय, विपाकविषयं, संत्वानविषयं चेति षड्विधं धर्मध्यानं मुख्यं प्रविधये ।
तथा—

अपदेदुत्प्रायान्तं वपुःखित्वात्मनोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टतोपरये सर्वत्रप्रणीतभाग्यं प्रभाणीकृत्य इत्य-
नेवेदं मान्यता आदितो जिना इति गहनपदार्थभक्तानादवधारणमाज्ञाविषयः । अथवा स्वयं विद्विगपदार्थैरत्यस्य सतः
परं प्रतिविपक्षविषयोः स्वसिद्धांताविरोधेन तत्त्वसमर्पितत्तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्याहारः सर्वमाज्ञाप्रदर्शनार्थैरव्यादा-
काविषय इत्युच्यते ॥ जालंधपदन्तिरप्याट्टयः । अथवा सिद्धार्थज्ञानचारित्र्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽवेयुरिति स्मृतिसमन्याहार-
समर्थानां पाकवित्तनपराविषयः । अथवा सिद्धार्थज्ञानचारित्र्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽवेयुरिति स्मृतिसमन्याहार-
रोऽपारविषयः ॥ फलमो ज्ञानारण्यीना रूढ्यक्षेत्रकालव्यवहारवदर्थं फलानुभवं प्रति विज्ञाप्रबंधो विपाकविषयः ॥
त्रिकोक्तसंस्थानस्वभावविचारप्रणिधानं संस्थानविषयः ॥ एवं संक्षेपेण धर्मध्यानभेदनिर्णयो विस्तरतत्त्वार्थोक्तं धर्म्यं

यथा—

तदज्ञापापसंस्थानविपाकविषयसर्वकं ॥
षड्विधकल्पमान्नातं ध्यानमान्नापवेदिभिः ॥
तत्राक्षेत्यगमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगच्छते ॥
दृश्यानुभवेयवर्ग्ये हि भदेयसि गतिः श्रुतेः ॥
जैनीं प्रमाणयत्तां योनी योगविचारः ॥
ध्यायेद्भौतिककायादीग्भावात्सूक्ष्मान्वयागमम् ॥
आकाविषय एव स्यादपायविषयः पुनः ॥
सापन्नयादिद्वन्माट्टिपमतपणायनिवित्तनम् ॥
तदपायप्रतीकारवित्रोपायानुचितनम् ॥
अत्रैवान्तर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणम् ॥
शुभाशुभविषयकानां कर्मणां परित्यक्तः
भवावर्तस्य वैचित्र्यमयिसंदेधतो मुनेः ।
विपाकविषयं धर्म्यमायनंति कृतायमाः ॥

विपाकश्च द्विषान्नातः कर्मवामासस्त्वितु ॥
 यथाकालदुपायाय फलपक्तिर्जनस्यते ॥
 यथा तथैव कर्माणि फलं दत्ते शुभाशुभं ॥
 मूलोत्तरग्रहयुग्मादिबन्धसत्त्वादुपाययः ॥
 कर्मणामुदरध्वजः प्राप्य द्रव्यादिसन्निधिं ॥
 यतश्च तद्विपाकफलदपायाय वेष्टते ॥
 ततो ध्येययिदं ध्यातुं युक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥
 संस्थानविषयं प्रातुल्लोकाकारलुचितनम् ॥
 सवन्तभूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षणम् ॥
 द्वीपान्निषधलयागद्रीम्सरितश्च सरासि च ॥
 विमानभवनव्यवराथात्सनरकश्चिती ॥
 त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमम् ॥
 भावान्मुनिमुखायैरसंस्नानविचयोपगः ॥
 जीवैर्यदाश्च तत्रत्याग्यायेत्युक्तेतरात्मकान् ॥
 ज्ञातुर्कृत्यत्वमोक्तत्वादृष्टत्वादीश्च तद्गुणान् ॥
 तेषां संकृतं कर्मोत्तुमाद्योत्थमनिदुस्तरं ॥
 प्रधादिधव्यसनात्रतं श्रेण्यादःकुञ्जकुलं ॥
 सञ्ज्ञाननावा संवार्थमतायं प्रथिमः ॥
 अपारमतिगंभीरं ध्यायेदप्यात्मविरासि ॥
 किमत्र बहुनोपेन सर्वोप्यात्मविरासि ॥
 नवभंगशतकोषो ध्येयोऽप्यात्मविरासि ॥
 तदप्रभवत्तमालंबं स्थितिमात्रमुद्बुधैर्लक्षितम् ॥

दधानमग्रमत्तेषु षट् कोटिमधिक्रियम् ॥
 सदृष्टिषु यथान्तर्यं नेनेष्वपि कृतस्थितिः ॥
 नष्टद्विष्टिमस्येदयात्रयोपोद्बलदृष्टितम् ॥
 ज्ञावोपश्लिष्टं भावं स्वसात्कृत्य विजृम्भितं ॥
 मोहोदकं महाप्राज्ञैर्महर्षिमिरुपासितं ॥
 यस्तुयर्मनुयायित्वात्मातान्वयैर्निरुक्तिरुक्तम् ॥
 धर्म्यं ध्यानमनुव्येयं यथोक्त्येयमित्तरं ॥
 प्रसिद्धचित्ता धर्मसंवेगः शुभयोगता ॥
 शुद्धतत्वं समाधानमाप्ताधिगमजा रुचिः ॥
 भवन्त्येतेषां लिङ्गानि धर्म्यस्यांस्मृतानि वै ॥
 ज्ञानेभ्यश्चाथ पूर्वोक्ता विविधा शुभभावताः ॥
 ब्राह्मं हि लिङ्गमंगानां सन्निवेशः पुरोदितः ॥
 प्रसन्नवक्ता मौन्या दृष्टिभेदादिलक्षणं ॥
 फलं ध्यामधररयास्य विपुला निर्जरेनसां ॥
 शुभकर्मोदयोदमूलं सुतं च विबुधेशिनां ॥
 स्वर्गापवर्गभेदाति फलप्रसम प्रचक्षते ॥
 साक्षात्तर्गपरिप्राप्तिं पारंपर्यात्परं वदं ॥
 ध्यानेऽप्युपरते धीमानधीष्ट्यं भावयेन्मुनिः ॥
 भद्रुपेक्षाः शुभोदकां भयाभावाद्य भावनाः ॥ इति ॥
 व्याख्यातार्यसुलसृत्यर्थं वेद्यं गीतिरंतश्चिन्त्या—
 ध्यानस्य लक्ष्मिनिर्वचोधिपतिदेयलक्षणलभावाः ॥
 स्थानं प्रभेदगमार्थनिर्णयो गोचरो बलाधानम् ॥

मनका निरोध करनेके अनंतर ध्याताका कर्तव्य पताचे है।

अर्थ—एक विषयके तरफ मनको निश्चल कर चार प्रकारके वस्तु स्वभावोंका वह धूपक ध्यान करता है। यदांतक ध्यानका अन्त्यंतर परिकर कहा है। अब बाह्य परिकरका वर्णन आचार्य करते हैं। पर्वतकी गुहा, कंदरा, दरी, वृक्ष का कोटर, नदीका सेतौला किनारा, अमृदान, जीर्ण वनोच्चा, शून्य मकान, ऐसे स्थानोंमें तथा लुप्त पशु, गाय, बेल, हरिण वगैरे भद्र प्राणी, पक्षी और मनुष्य जिनसे ध्यानमें विघ्न आसकता है ऐसे प्राणियोंसे वर्जित स्थानमें स्थान करना चाहिये। जहाँ स्थान करना हो वह स्थान आमतुल्य कुम्भीकीटादियोंसे रहित होना चाहिये, उष्ण, शीत, जोरदार वायु और धूप इत्यादि ध्यानमें विघ्न उत्पन्न करनेवाली अवस्थासे रहित ऐसे स्थानमें ध्यान करना चाहिये। जो स्थान शून्य और मनमें विकार उत्पन्न करेगा उसका त्याग करना चाहिये। पवित्र, अनुकूल, स्पर्शयुक्त ऐसा भूमिदेख ध्यानयोग्य है। ऐसे प्रदेशमें जाकर पद्मासनसे बैठकर आसोज्ञान धीरेधीरे करना चाहिये। नभके ऊपर, हृदयमें, ललाटपट्टमें अथवा अन्य स्थानमें अपनी मनोवृत्तियोंको यथाभ्यास एकाग्र करना चाहिये। यह सब ध्यानकी बाह्य सामग्री है।

धर्मध्यानके आज्ञाविषय, अर्थात् विचय, विषयक विचय और संस्थानविचय ऐसे चार भेद हैं। प्रथम आज्ञाविचयका वर्णन करते हैं—कर्मिक मूल कर्म और उत्तर कर्म ऐसे बहुत भेद हैं। इन कर्मोंके प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग पंच और प्रदेशबंध ऐसे पर्याय हैं। इन कर्मोंका उदय होना, फल मिलना ऐसे अनेक प्रकार हैं। जीवद्रव्यके मुक्तपञ्चव्या पर्वतरूप पर्याय होते हैं। ये सब अतीन्द्रिय हैं। ज्ञानावगमकर्मका विशिष्ट लक्षणचम नहीं होनेसे मंद बुद्धिके द्वारा इन पदार्थोंका निश्चय नहीं होता है। यदापि उपर्युक्त पदार्थोंका स्वरूप हमसे नहीं जाना जाता है। सर्वज्ञका ज्ञान ग्रामणा है और उपर्युक्त पदार्थ उसने कहे हुए आत्मके विषय हैं, जैसा विनिश्चयने इन वस्तुओंका स्वरूप कहा है वह सब सत्य ही है असत्य नहीं है ऐसा निश्चय करना यह निश्चय सम्यग्दर्शनका स्वभाव होनेसे मुक्तिका कारण है। इस प्रकार प्रभूके आज्ञाका विचार करना, निश्चय करना उसको आज्ञा विचय कहते हैं। वह आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

अन्य आचार्य इसी आज्ञाविचय धर्मध्यानका स्वरूप इसप्रकार से भी कहते हैं—
स्वयं तो पदार्थोंका स्वरूप जानना है, सिद्धान्तोंमें कहे हुए जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान कर देने वाली सत्ययुक्तीका

अन्वेषण करने वाली, सर्वशक्ती आझाको मगट करनेवाली ऐसी तर्कशक्तिके द्वारा मैं भव्यजीवोंको जिनमतिपादित तत्त्वोंका स्वरूप कह सकूंगा ऐसा वस्तुस्वरूप ज्ञाननेवालेके मनमें जो बार बार विचार उत्पन्न होना यह भी आ-
ज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

मैं अतादिकाउत्पत्ति इस धोर संसारमें भ्रमण कर रहा हूँ, मेरे धनवचन और कल्पकी प्रगुप्ति स्वच्छन्दसे होती है. इस अनुभव मन वचन काय शोभते मैं किस उपायसे अलग हो सकूंगा ऐसी अपायमें बार बार सृष्टि होना यह अपायविचय नामक धर्मध्यान है.

मिथ्यादृष्टि लोक उन्माद्य मनुष्यके समान है. उनको सत्य मोक्षमार्गका ज्ञान नहीं है इसलिए सन्मार्गसे वे बहुत दूर चारहे हैं. ऐसा उनके विषयमें बार बार विचार उत्पन्न होना इसको भी अपायविचय कहते हैं. ये मिथ्या दृष्टि लोक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे अलग होगे ऐसा बार बार मनमें चिंता होना यह भी अपायविचय ध्यान है.

कर्मके मूल भेद आठ हैं. उच्चरभेद एक सौ अष्टचालसि हैं. इन कर्मोंके प्रकृति वंधादिक बार भेद होते हैं. इनका मधुर और कड़ुक ऐसा फल मिलता है. आत्म्यामें सीमा, भेद, मध्यम रूप अनुभवबंध उत्पन्न होता है. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे इन कर्मोंमें विशेषता उत्पन्न होती है. विशिष्ट गतिमें और विशिष्ट चोनिजोंमें विशिष्ट कर्मका फलानुभव जीवको प्राप्त होता है. इस प्रकार विपाकका अर्थात् कर्मफलका बार बार विचार जिसमें उत्पन्न होता है उस ध्यानको विपाकविचय ध्यान कहते हैं.

पेसका आसन, झल्लरी और मुदंगके समान तीन लोकका आकार है ऐसा विचार करना संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है ।

धर्मध्यानस्य लक्षणं निर्दिशति—

धर्मभारस लक्षणं से अज्जवल्लहुगत्तमद्वयौवसमा ॥

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥ १७०९ ॥

माईवार्जवनेःसंग्येह्योपादेयपाटयं ॥

क्षेयं प्रवर्तमानस्य धर्म्यध्यानस्य लक्षणं ॥ १७१६ ॥

आलंकरणं च वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेक्षाओ ॥
धम्मस तेण अविमुक्खाओ सन्वाणुपेक्षाओ ॥ १७१० ॥
वाचनापच्छनान्नानयायानुमेक्षाधर्मदेवानाः ॥

भन्त्यलंकरणं साधोर्ध्वम्यध्यानं चिकीर्षितः ॥ १७७७ ॥

विज्ञानोद्देशः—आलंकरणं निवासयोगरमाया । आलंकरणं च आश्रयश्च कस्तस धम्मस धर्मध्यानस्य, वायण पुच्छण परिवट्टणाणुपेक्षा, वाचना मत्त परिवर्तनमनुमेक्षेति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे यस्तुवाधा न्यतामय साम्नीनि स्थानमाय । मति स्माप्यते मति ज्ञान विचल ध्यानसंश्लिप्तमित्यालं मता स्वाध्यायस्य । तेन तेन धर्मन ध्यानेति विज्ञानाभ्यासोपायः, यानुमेक्षा एकदैक्याश्रये वृत्तेरविरोधः । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुपेक्षण मनुमेक्षायाः पक्ष एवमिति । क्लेशानुमेक्षायाः स्वातेऽन्त कालित्वभावक्षणेनानुमेक्षोपन्यासे यीआधानं कृतम् ॥

परमेश्वराध्ययमाह—

मृशरा—आलंकरणं वाचनान्दिवाचन्यायाभावे यस्तुवाधासम्बन्धानमेव नास्तीति ध्यानाभावः । सति स्वाध्याये भवति ज्ञानमविरलं ध्यानमेकित्वमित्यालं मता वाचनान्दिर्धर्मं प्रति । परिवट्टण पाठगुणनं । अनुपेक्षा अव्यवितनं । वेण-पमेण । अत्रिकळाओ अनित्यतादिवस्तुवरमानानुपेक्षणमाश्रित्य क्लेशवृत्तेस्तदालं नमनित्यायतुपेक्षाः संश्लेषाः ॥

धर्मध्यानने आधारभूत कारण—

अपेक्षानता, मच्छना, अनुपेक्षा, आम्नाय और परिवर्तन ये स्वाध्यायके भेद हैं. ये भेद धर्मध्यानके आधार भी हैं. वाचनादिक स्वाध्यायके अभावे यस्तुका यथायं ज्ञान ही नहीं होता है. ज्ञानके अभावमें धर्मज्ञान नहीं होता है अतः स्वाध्याय धर्मका अवलम्बन है. स्वाध्यायसे जो निश्चलज्ञान प्राप्त होता है उसको ध्यान कहते हैं. इस धर्मध्यानने माय अनुमेक्षाओंका अविरोध है. यस्तुके अनित्यादियोगोंका धार = विचार करना. यह अनुमेक्षाका लक्षण है ये अनुपेक्षाए ध्यानके अिय आधार हैं इसलिय ध्यानमें इनका अन्तर्भाव होता है. इसलिय ग्रंथकार प्राय अनुपेक्षाओंका नमिस्तर वर्णन करेंगे.

पूर्वोक्त धर्मन चतुरो भयन ध्याने चतवधिर्गाथानिः । तन्नासाधिवयं निरूपयति—

पंचेव अत्यिकाया लज्जीवणिकाए दन्वमण्णं थ ॥

आणामन्वे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥ १७११ ॥

पंचास्तिकायपट्टायकालद्रव्याणि यत्नतः ॥

आज्ञाग्राह्याणि दक्षेण विचार्याणि जिनाज्ञया ॥ १७७८ ॥

विजयोदया—पंचेव ग्रहिकाया पंचास्तिकाया जीवाः पुद्गलधर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया अक्ताशमिति तान् छन्द्रीयनिकायो पट्टीयनिकायाश्च कालद्रव्यं कालाख्यं । अन्ते य अन्याश्च कर्मविधमोक्षाधीन् । आणगेन्द्रो भवते स्वप्नप्रमयागम्यान्मात्रम् । अणाविवच्येण आज्ञाविवच्येत्यनेन धर्मध्यानेन विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विद्विरपास्तारगवैर्यः परमज्ञानिकैः यथामीति निरूपितास्ते तथेति चित्तप्रबन्ध साक्षाद्विचय यावत् । आणापाययिवागविचय इत्यादि, स्मरणे समानविचयो नान धर्मस्यानमिति माथापूर्वोचन न्याये ॥

आज्ञाविवच्यार्थेन्द्रियेण व्याचष्टे—

मूलार—पंचरूपिकाय जीवपुद्गलधर्मावमोक्षाशाच् ॥ जीवणिकाये पृथिव्यग्नेजोवायुवनस्पतिवसान् अणो बंध मोक्षाधीन् । अणानन्ते सर्वसाक्षागम्यान् । विचिणादि विचारयति । सर्वविद्विरपास्तारागवैर्यः परमकारुणिकैर्यथामी निरूपितास्तथेति प्रथमेन चित्तयवीक्ष्यर्थः ॥

आज्ञाविवच्य धर्मस्यानका वर्णन—

अर्थ—जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य इनको पंचास्तिकाय कहते हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावरजीव हैं तथा श्रोत्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवोंको प्राप्त कहते हैं—इनको आगममें पदकाय संज्ञा है—कालद्रव्य, कर्मवच, मोक्ष वर्गोक्त अनेक पदार्थोंका स्वरूप समेक्ष जिनेश्वर प्रणीत आगमसे जाना जाता है—इन तत्त्वोंका स्वरूप आज्ञाविवचय नामक ध्यानसे ध्याता बार २ स्मृतिमें लाता है—जिनके रागद्वेष नष्ट हुए हैं, ऐसे परमदयालु श्री जिनेश्वरमें जैसे इन तत्त्वोंका स्वरूप कहा है वैसाही उनका स्वरूप है ऐसा बार २ स्मरण करना इसको आज्ञाविवचयनामक धर्मध्यान कहते हैं—

कछाणपावमाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच ॥

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुमे य असुमे य ॥ १७१२ ॥

कल्पपाणप्रापकोपायश्चित्तनीयो जिनागमे ॥

शुभाशुभचिकल्पानामपायः कर्मणां परम् ॥ १७७९ ॥

वित्तयोपेक्षा— भद्रतिरियदुल्लोप उपदेष्टव्यमित्यर्थः। विविधादि विचारयति । कीदृग्भूतान् । सपञ्चाद
मप्येवम् संस्तमसदितात् सपर्यायं सत्रियुक्तं संस्थानविचारविचारायं धर्मध्यानं । पर्येव भवेत् । अनुगन्तव्यो
अनुगताः॥ अनुगन्तव्यो च अनुमेधा अपि । विविधादि विचारयति । अनित्यत्वादिसमाप्तविचारं करोति धर्मध्याने इति
कार्त्तिकं भवति ॥

विपाकविषयं व्यापट्टे—

मूला—उदयक्रमेण ऊर्ध्वोःनुभवान् । उदीरण अक्रमेण कर्मणां युक्तिः । उक्तं च—

कर्मणां फलदातृत्वं द्रव्यक्षेत्राणि योगतः ॥

वदयं पाकजं क्षेत्रमुदीरणमपाङ्गम् ॥

समुदीर्युदीर्णानां स्वहरीकृतं स्थितिं शब्दात् ॥

कर्मणासुदयावत्त्यां प्रक्रमणमुदीरणं ॥

संक्रमः प्रकृतेः सजातीयप्रकृतिस्वरूपेण परिणमनम् ॥

संस्थानविषयं निर्दिशति—

मूला—सपञ्चाद समेधान् । संस्तान वैश्रामनाहरीमुद्गममानाकारसहितात् । एतदेव अप्येव धर्मध्याने ।

अनुगन्तव्यो तत्सापकतमनोनिर्जयांगत्वेन संयताः । तदुक्तम्—

संचितयन्त्रुप्रेक्षाः स्थाभाये नित्यसुखतः ॥

तयत्येव मनःसाधुरिन्द्रियार्थपराद्भुक्तः ॥

अर्थ—जीवोंको पुण्य और पाप कर्मका फलानुभवन संसारमें करना पड़ता है- इन कर्मका उदय, उदीरणा
मंक्रम, बंध और मोक्षका पारंवार विचार करना उसको विपाकविषय कहते हैं, द्रव्यक्षेत्रादिके आश्रयसे कर्मका
योग कालमें आत्माको फल मिल जाना उदय कहा जाता है, और उदयमें आत्मा जो निश्चित काल था उसके
पूर्व ही कर्म अपना फल जीवको देता है उसको उदीरणा कहते हैं, एक कर्मप्रकृति सजातीय कर्म के स्वरूपसे
परिणत होना संक्रमण कहते हैं, आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म आकर दूष और पापोंके समान आत्म
प्रदेशसे मिल जाना बंध है और मंपूर्ण कर्म आत्माके अलग होकर आत्मा पूर्ण शुद्ध स्वरूपधारक होता है यह मोक्ष
है, इस प्रकार चार २ विचार करना विपाकविषय है,

अर्थ—यह जगत् अज्ञानों के, मध्य लोक के ऊर्ध्वलोक तथा तीन प्रकारका है—वेदासन, सखरी और शुद्धक
गमान् धर्मों की लोकाया आकार है इनका बार बार विचार करना मस्थानविवेक नामक धर्मज्ञान है इन की
धर्मज्ञानों अनुभवाओं में भी अन्तर्भाव है

काला भक्तुदत्त इत्यादिकायामधुनादीन्तुनेह्ना निरूपयत्युत्तरप्रथमेन—

अदुवमसरणमंगत्तमणसंसारलोयमसुइत्ते ॥

आसवसंवाणिज्जार धम्म योधिं च चित्तिज्ज ॥ १७१५ ॥

लोगो विलोयदि इमो केणेव सदेवमाणुसतिरिक्खो ॥

रिक्खीओ सत्त्वाओ सिणियसदसणसमाओ ॥ १७१६ ॥

अध्याशरणेकान्यजन्मलोकयिसूचिका ॥

आस्य संरक्षित्तयो निजरायमेवोधय ॥ १७१७ ॥

ट्टिदीरिपिडयहोक्क सकलोअपि चित्तिरयत्ते ॥

समस्ता संपदश्चात्र स्यमभूतिसमागमा ॥ १७१८ ॥

विश्वयोदया—जैमो विरिपदि इमो लोका निगमुपयाति । किमिव केणेव केचयत् । सदेव माणुसतिरिक्खतो
वेदेमो पुनेनिर्वाग्यार समान्य इत्यनेन जैकप्रयग्याणि जन्मविताभिहिता । रिक्खीओ सत्तामो ऋदय सवी । सुचिणग
समानमाओ व्यस्रमज्जनममा । 'तु जैमो विरिपदि इत्यनेन संपन्थानित्वा व्यारणत्ता, ऋदयादमोअपि लोकानभूता इति
विगो भेदोणम्यास १ । धम्यावयत्त । समुत्तावम्यावयत्ता मक्रम्यावयत्तावित्तामन्तेरेण तदेनित्थना न सुखेनायगयत्त इति
निर्दोणमयत्त ॥

अनुभवा अध्यासदिविशयत्तम द्वावत्त निवेदित्वाह—

मूला—अण वेदप्रमत्ताअंइ । अमुदत्त अगुचिन्त । ग्वा चित्तयो नेणउत्ति । अधुनानुभवा तयोदशगाथाभिरनु

इत्ये नत्र गापसेत्ता—

समुत्तामस्यानियमो निरूप्योत्तरप्रथमेन तदन्तर्भावव्यवहितता भावयति—

मूला—सिखियस्यसदसणसमाओ रत्तमज्जनममात्ता ॥

अब अनुवाद अनुप्रासाओंका सविस्तर वर्णन करते हैं—

अर्थ—अधुन, अधुना एकत्र, अन्यत्र, संसार, लोक, अधुचित, आसन्न, संघ, निर्जरा, धर्म और गोपि पंमे वरा अनुप्रासाओंका भी चिंतन करना चाहिये

अर्थ—देव, मनुष्य और विषय सहित यह जगत् फेनके समान नष्ट होता है- मय ऋद्धिया भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान नष्ट होती हैं- शंका-सर्व लोकका नाश होता है इस कथनसे ही सर्व पदार्थोंकी अनित्यता स्पष्ट हो गई अतः ऋद्धि भी लोकान्तर्भवही है उनके नाशका वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्यों भेदरूपमें उनका वर्णन किया गया है ? उत्तर—समुदाय जो कि अवश्यी है उसकी अनित्यता अवयवकी अनित्यता दिशायो बिना अवयवकी भूत पदार्थोंकी अनित्यता सुलभ है च्यानमें नहीं आसकती हैं- इस लिये भेदोपन्यास किया है-

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणक्षतां तन्मूलस्यादिद्रियसुरसाप्राणानव्ययं त्यजति उभयनिमित्तमतस्तदनिस्त्यतामथ मगुरुदर्शयति । निरसंगताप्राप्ततः मेवादयितुं ॥

विज्ज्वल चंचलाहं दिद्रुपणट्टाहं सत्त्वसोकलाहं ॥

जलबुद्बुदोच्च अधुवाणि हुंति सत्त्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥

रष्टनष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युत्ताम् ॥

युद्धयुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः ॥ १७८४ ॥

पिजयोदया—विज्ज्वल चंचलाहं विद्युविष चंचलानि, दिद्रुपणट्टाहं द्रुपणष्टानि, सत्त्वसोकलाहं लघोणि सुत्सानि धमिलतत्त्वादिविषयचक्रस्य प्रपंचस्य साध्रिधामादुपजानानि यानि मनः समुत्थानि सर्वेषां वा मयमघानां तिरश्चां विविधानां वा सुराणि सुसलंपटतया जनः क्लेशाशिक्षितविषयमपि सहते, तानि ॥ नीत्यपि नतसंसारसंघीरधोराधनीलनीरदोदरपरिस्फुरत्तद्विलेख, पतेनानिलतादोयोत्पटनेन सांसारिकसुखपरामुखलोपायो निगदितः । जलबुद्बुदोच्च जलमुद्रमुद्रयन् । अधुवाणि अधुवाणि । हुंति भवन्ति । ठाणाणि सत्त्वाणि सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि । प्राप्तमगरपरान्तनादीनि ॥ इदं नदीयं स्थानं जगत् यस्मादिति माह्वयाः संकल्पे । तानि यनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिपुद्गतानि विमर्शे मेधेदाताभ्यामन्यनयेतीति कथितं ॥ अथवा तिष्ठन्त्येतेष्वलतविविचित्रकर्मोपयानि न एतद्वत्, च मर्कटोद्यमवत्, मण्यविप्रतिपत्तये वा प्रगर्भेन श्वाभ्यामनित्यानि ॥

मूलानां—सर्वगतोऽवगाह मनः पञ्चपञ्चुदादिविषयानुभवमवधानि देवमातृपतिर्विष्णुर्ब्रह्मर्षीनि वा सुगमनि । अणानि
इन्द्रवादिषदाणि प्रामुख्यतयादीनि च ।

प्राणिओंसे मयसे वदा द्रव्यहीका लोभ है द्रव्य लोभमे इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है द्रव्यके निमित्त प्राणोंको भी
रमागते हैं इस लिए द्रव्यही अनित्यताका आचार्य प्रथमतः दिग्दर्शन करते हैं इस दिग्दर्शनसे द्रव्यमें आत्मा निःसंग
होता है—

अर्थ—मन प्रकारके सुख निर्वर्तक समान दौलत नष्ट हो जाते हैं इष्ट रूपादिक पांच प्रकारके नि-
र्णयोंके मोनिष्यते मनमे यन्तुप्य त्रिवेच और देवोंके सुखमें पाणी सुखलंघ्य होकर लुब्ध होता है इस सुखके लिये
हजारों हंश देवनाली आपत्ति भी भोगनेके लिये जीव तयार होते हैं परंतु ये सुख जलसे नम्र और गंभीर गर्जना
रुमेनाले नलि मेंयोंम चमकनेवाली निर्वर्तक समान बचल हैं जहां जीव निवास करता है ऐसे ग्राम, नगर,
पत्तन प्रगढ स्थान अथवा अर्थात् मादुरंत हैं यह मेरा स्थान है, मैं यहां रहता हूं ऐसा मनमें तू संकल्प करना
छोड़दे क्यों कि ये स्थान अनित्य है परतु इनमें नित्यपनाका संकल्प करके स्वीकार करनेपर उनका नाश होनेसे
मेरेको मंद्रेण परिणाम उत्पन्न होते हैं अथवा इत्य लगतमे अपने किय हुए निचित्र कर्मके उद्वेगसे जीनोंको इंद्रप-
ना, चक्रात्पना, गणधारन ऐसे स्थानोंकी प्राप्ति होती है परतु इन स्थानोंकी अनित्यता ही है.

णावागदाव बहुगहपधाविदा हंतित सव्वसंवंधी ॥

सव्वेसिमासया नि अणिच्चा जह अव्वसंधाया ॥ १७१८ ॥

नानादिदागताः पंधा नौगता इव पंधाया ॥

सत्परा आश्रया सर्वे शारदा इव नीरदा ॥ १७८१ ॥

विचर्येदया—आवागदाव जलयागवागदा इव बहुगहपधाविदा इति सन्मयधी विचित्रप्रभामाशुप्रपरि
णामोपासयति कर्मपदात्तदुर्गोपमोदेवमानवनाकावित्येवार्थमतिपर्यायग्रहणाय हनप्रमाणपर सव्वेदपि । एतेन
पधुताया भनित्यतोत्ता । उपसत्पराश्रयैस्त्वाम् यमुता श्रिता भवति, उपासा चेत् त्वताया च मुहूर्त्ता पितृपुत्रादीना मत्व-
नरमुपगमनामपि कष्टेन व्यसनपरजनयिकेन एव न स्यादिति मन्यते । सन्नेसिमासया वि सर्वेनामाश्रया अपि
यानाश्रित्य माणिनो जीविमुत्पद्यते मेव्याश्रया न्यामी मृत्यु पुनो आतेत्येवमादयोऽनित्या यथा वज्रसयादा अश्रसया इय ॥
मूलानां—आवागदाव नानावागदा इव । बहुगहपधाविदा विचित्रप्रभामाशुप्रपरिणामोपासयति कर्मपदात्तदुर्गोपनी-

यमानदेवनातरकमानचतिर्वैभूतारव्यगतिपरिणामग्रहणात् प्रभूतमार्गमनया न कृतप्रयाणाः । नचंभी वांघवाः । आसया या-
नाधित प्राप्तिनो नीविदुसुखदते वे आश्रयाः स्वाभी, नृत्यः पुत्रो भ्रातेलेवमादयः ।

अर्थ—अज्ञानप्रकारके सुभाश्रयपरिणामों जिनकी विषय २ गतिबंध हुआ है ऐसे अपने बंधुगण कर्मके
वश होकर देवगति, मनुष्यगति, तिर्यचगति और नरकगति एतत्स्वरूप पर्याय ग्रहण करने के लिये प्रयाण करते हैं-
इवल्लिय बंधुगण भी अनिरुद्ध हैं, उनके ऊपर मोहयुक्त होना अयोम्य ही है, जिस गतिको बंध हुआ है उसको
त्यागनेका सामर्थ्य इतने यदि होता तो ये स्थिर माने जाते थे, परंतु जो गति ग्रहण की थी उसको छोड़कर जीव
अन्य अन्य गति ग्रहण करते जाते हैं, पिता पुत्रादिक एवं पर्याय छोड़कर अन्यगतिको प्राप्त करते हैं तो भी
उनको बंधु ही माना जायगा तो ये मेरे स्वजन हैं ये परजन है इनका विवेक ही नहीं रहेगा

संवातो वि अणिच्चो पाह्याणे पिण्डणं व छाहीए ॥

पीदी वि अच्छिरामोच्च अणिव्वा सत्तजीवाणं ॥ १७१९ ॥

छायानमिष पांधानां संवातो नञ्चरोऽग्निनाम् ॥

चक्षुषामिष रागोऽन्न न स्नेहो जायते स्थिरः ॥ १७८६ ॥

विजयोद्वा—संवातो वि सहायस्थानमपि वंशुभिर्मित्रैः परित्तैर्वि, अणिच्चो अनित्यः । पधियाणं पिण्डणं इव-
छाहीए भानादिदेवागतानां पधिकाणां मित्रस्थानमपि नां मार्गोपकंठस्थितविदत्तरत्नदिरपत्ताशालंकारविनतश-
नाकरातनियारितधर्मरक्षिमप्रत्तरत्तरदीतकार्त्तिकविपुलछायायां पांधानां समाज इव । शरीरिचि भीतिरपि । अच्छि
रागोऽन्न प्रणयकद्वर्णमुपतदुपितमित्यतमास्तुद्रुपाडीनोदरधवल्लोचनोत्तराण इव धनित्वा सचेकीवभा । तपाह्यभि-
याचरत्तिपरिक्रान्तप्रणयलोचनप्रत्यं संविदपातीति ग्राणमृतमनुभवसिद्धमेव ॥

मूला - संवातो वंशुभिर्परिव्रजानामिभिः सहप्रस्थानं । पधियाणं नानादिदेवागतानां मित्रस्थानमपि नां
पांधानां । पिण्डणं मीलनं । छाहीए मार्गोपकंठस्थवृत्तनिबन्धनायां । अच्छिरामोच्च प्रणयकद्वर्णमुपतदुपितप्रियतमा-
स्तुद्रुपाडीनोदरधवल्लोचनगतो रागो लौहित्यं यथा ।

जितके आश्रयेभ प्राणी अपना जीवित धारण करनेमें समर्थ होते हैं वे मालिक, नौकर, पुत्र माई जैगरह
आश्रयस्थान भी यदिलोकें समुद्रागंक गमान चंचल है, अतः सबसे मोह त्याग करके निःश्रेय होना चाहिये,

अर्थ—पंगु, भिय और परिजनोंके माय अपना रहना भी नित्य नहीं है जैसे रास्तेमें अनेक दिशा और दंगों प्रांगे हुए पथिक भिय मिय स्थानके प्रति जाननाले होते हैं वस्तु मार्गके मभीषके सचन जो पलायन, खदिर द्योनी पर्यङ्गिणों को निमाग्य करनेवाली निस्तुव, शीतल, विपुल छायामें क्षुण्णपर्यंत बैठकर विश्रांति लेते हैं प्रतेर ये भिय भिय स्थानको प्रमाण करते हैं तदा मित्रादिक यशुअंका मद्यसभी अनित्य है. वांसवोकी प्रति भी अनित्य है. प्रजगरलदरूपी भूत पदनेसे कुपित प्राणाग्रिय स्त्रीके कुदनेवाली मछलीके समान सफेत आत्माके जेमा लानयना पोदी देखत रहसा है जेमा मित्रादिक पंगुअंका सहवास भी थोडी देखेके लिये है. अप्रिय आचरण करी निरक्षणने प्रेमदरपी नेत्रका साग होला है. यह मंजूर्ण प्राणिजोंके अनुभयमें आई हुई बात है.

राति एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डुणं व संजोगो ।

परिवेसोच अपिच्चो इरसरियाणाधणारोगं ॥ १७२० ॥

संयोगो देहिनां वृक्षे शर्ययांसिच पक्षिणाम् ॥

आङ्गिभयार्थदयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः । १७२७ ॥

विजयोदया—राति रातौ । एगम्मि दुमे एव स्मिन् दुमे । सगुणानं परिणामां । पिण्डुर्णं च पिण्डितमिव संजोगो संयोगो वस्त्रामनाद्रुमामिमुने मय एव प्रत्युत्पन्नोऽर्थोभयमिगच्छन्वरूपानां यथाकपेचित्कथोभयप्रतिस्तरिण्यकाला तथा प्राणाद्विनासि ममानवजगज्जगत्प्रतिनाम कस्मिन् कुलपिटमिति कतिपयदिवसाप्यीसंप्रयोगः । परिवेसो च परिवेष इव । अस्मिन् भक्तिः । किं ? इदमिदमप्युपकारम् । एष्यते अनुना आम्ना धनं आरम्भं च ॥

पुनरा—दुमे वृक्षे । संजोगो अकृतसंस्पर्शानां प्राणिनां पृथ्विमन्कुले अन्योन्यप्राप्तिः । परिवेसो सूर्यपरिधिः । इममिदमप्यनुपकारो वा ॥

अर्थ—जैयं रातमें एक वृक्षपर पार्थिवोंका समुदाय आकर बैठता है इस सब मिलकर एक वृक्षपर निवास करंगे ऐसा मनमें मंकर कर ये वृक्षपर आकर नहीं बैठते हैं. रातमें निवासकर प्रातःकालमें वे यहति स्वेच्छासे गमन करते हैं वेमें प्राणीभी गमन करलक्ष्य वायुमें अंतर होकर एक कुलरूप वृक्षपर कुट्टदि कालपर्यंत आकर उत्पन्न होते हैं. जैयं गुरुते पारे तरफ परिवेस उत्पन्न होता है परंतु यह थोड़ा कालतक ही टिकता है वेमें जीवोंमें आरोन्य नामधर्य, एष्यते थोड़ा दिनका है.

इंद्रियसामग्री वि अणिच्चा संज्ञाव होइ जीवाणं ॥
 मञ्जुहं व पाराणं जोज्ज्वणमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
 जीवानामधसामग्री शंपेवास्ति चला चलम् ॥
 विन-वरमशोषाणां मध्याह्न इव यौवनम् ॥ १७८८ ॥

पितृगोदया-इंद्रियसामग्रीयि शब्दियाणां सामान्यवि। अणिच्चा अनित्य। अंधता वधिरता च दृश्यत एव। मञ्जुहं
 व मर्यादयत्। पाराणं जोज्ज्वणमणवट्ठिदं लोके यौवनमवस्थितं लोकं यौवनोऽहमिति जनः स्फुटयते, यौवनइप-
 पिक्कारादेव पुण्यमानोपि धर्मं न प्रवर्तते नवनित्यं मरणदृश्यम् ॥ क्षिप्रतरं स्थितिर्निमित्तं यौवने को यौवनकृतोत्तीर्णमयः
 व्याप्य मनस्वितम् ॥

मूढाया—अणयट्ठिदं क्षिप्रतरगत्यरं ॥

अर्थ—इंद्रियोंकी सामग्री भी, इस जीवको अपूर्ण रहती है, कोई जीव अंधा रहता है तो कोई जीव बहुरा
 होता है, अर्थात् संस्थाकालके समान यह सामग्री अनित्य है, मनुष्योंका तारुण्य अस्थिर है परंतु मनुष्य में तरुण
 हूं ऐसी रूपं प्रदर्शना करता है, तारुण्यके अभिमानमें आकर धर्ममें संस्पर्श नहीं होता है, परंतु तारुण्य चिरकालतक
 नहीं रहता है वह भी मध्याह्न कालके समान जल्दी नष्ट होता है, ऐसे जल्दी नष्ट होनेवाले तारुण्यके विषयमें
 मैं काना क्या बुद्धिमानको योग्य है? कभी भी नहीं-

चंदो हीणो व पुणो विट्ठुदि एदि य उट्ठू अदीदो वि ॥

णट्ठु जोज्ज्वणं पियचइ णदीजलमदछिदं चेव ॥ १७२२ ॥

चंद्रमा वर्द्धते क्षीण ऋतुरेति पुनर्गतः ॥

नदीजलमिवातीतं भूयो नायाति यौवनम् ॥ १७८९ ॥

पितृगोदया—चंदो हीणो व पुणो विट्ठुदि नित्यरूपमुद्यच्छुभ्रप्रत्येकशब्दानिपुण्यतोऽपि निशानाचः कृष्णवक्ष
 शीयते ॥ हंतो भवति ॥ पुणो एट्ठुदि पुनः शुक्लपक्षे वर्द्धते ॥ अविदितोऽप्यनीयमावकाः। एदि य उट्ठू अदीदो वि हिमशिथिर
 यंतादयोऽतीता अपि कृतयः पुनरप्याग्निं न तु जोज्ज्वणं पियचोदि नैव यौवनं भिद्यतेति निश्चितम् ॥ तस्मिन्नेव मये नदीजल
 मदछिदं चेव मधोऽत्यन्तमिदं भवति न पुनरेति ॥ तद्वदिदं यौवनमित्यनेनानित्यतातिशयो यौवनस्य दर्शितः ॥

मूलतः—दीप्ते नित्यगुह्यगुह्यरुह्यरुह्येनाद्यानि गताः । यदि य पुनरायाति च । उह देवंतादि मनुष्येन वा ।
नियदृदि पुनरायाति । अत्रिन्दुदे अतिमानं । चेष्ट यथा ।

अर्थ—इमंशा नित्य गुह्य के सुष्ठु में मवेश करनेसे इनिकों गता होता हुआ भी अर्थात् कृष्णपक्षमें प्रति-
दिन कम कम होता हुआ भी चद्र गुप्त पक्षमें बढ़ने लगता है. अर्थात् चंद्रकी एकांत रूपसे ठानि ही नहीं है.
उपरी वृद्धि भी है. हिम, मिश्रित रसतादिक बहुत व्यतीत होनेपर भी पुनः उनका आगम होता है परंतु तारुण्य
नीतनेपर पुनः लौटता नहीं है. उसभवमें तारुण्यकी पुनरावृत्ति होती नहीं है. जैसे नदीका गया हुआ पानी फिर
वही नहीं आता है वैसे यह तारुण्य पुनः आता नहीं है. इससे तारुण्यमें अनित्यताका अतिशय है यह सिद्ध
होता है.

धावदि गिरिणविसोदं व आउगं सच्चजीवलोगमि ॥

सुकुमालदा नि हीयदि लोमे पुठवणहलाही व ॥ १७२३ ॥

धावते देहिनामापुरापगानामिचोदकम् ॥

धिमे गलायते रूपं जलरूपमिवाविनासु ॥ १७२० ॥

विनयोव्या—धावदि गिरिणविसोदं व धापति गिरिनीप्रवाह इव । किं ? आउगं आयुः । सच्चजीवलोगं हि
सर्वेक्षित् दीपलोकं । सुकुमालदा नि हीयदि सुकुमारस्तपि क्षीयते । पुठवण छाही व पूर्वोक्षिताया इव । यथा यथोद्वृत्ति
तामरलक्ष्मिस्तथा तथोपलंहरति छायां शरीरादीनाम् ॥

मूलतः—पुठवणछाहीव पूर्वाह्णया यथा । मूर्को हि यथा वयोदेति तथा तथोपलंहरति शरीरादीनां छायां ॥
अर्थ—पर्वतपरसे बढवगसे बढने वाली नदीके प्रवाहके समान प्राणियोंका आयुव्यपवाह क्षीप्त बढकर
समाप्त होता है. जैसे जैसे कमलवृक्ष सूर्य ऊपर आता है वैसे २ शरीरादिकोंकी छाया कम होती है. इस सर्व जी-
वोंके जगतमें प्राणिजालोंकी क्षोभलता भी पूर्वोक्षकी छायाके समान कम कम होती जाती है. अर्थात् प्राणिजालोंका सौ-
दर्य दृढावस्था आनेपर नष्ट होता है.

अवरणहृत्स्वछाही व अङ्गिदं बहूदे जरा लोगे ॥

रुवं वि जासइ लहुं जलेव लिहिदेछयं रुवं ॥ १७२४ ॥

पौर्वाहिकी यथा छाया दीयते सुकुमारता ॥

पराहिकी यथा छाया सर्वदा वर्धते जरा ॥ १७२५ ॥

विजयोन्म्या—अवरणहृत्स्वछाहीव अपराण्डहृत्स्वछायेव । अङ्गिदं बहूदे अस्तित्वं वर्धते ॥ क्रियाविशेषणत्वा-
प्रमुंयकता । जरा लोगे लोके । सौकर्यपद्वयवधानलक्षित्वा, सौभाग्यप्रसूनकरणावृष्टिः, युवतिद्वारेणाढीग्यामी, शानलोच-
नगगुणविलासितामरसवनस्य दियानी दीनताया जननी, परिभवस्य घात्री, युतेद्वीती, भीतेः प्रियसखी या जरा सा वर्धते ।
रूपेण जासदि लहुं रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणशरसतवृणीरायमाये, चेतोवलक्षसुखमवसनरंजने कौसुमरसाय-
नानं, प्रीतिलक्षणाया मूलं, सौभाग्यवतकफलं, फलं पूज्यताया यद्गुं तद्वस्तु विनश्यति ॥ किमपि जलेव लिहिदेछयं कयं
जले लिपितरूपमपि ॥

मूळारा—अङ्गिदं बहुदे अभातं वर्धते । लिहिदेछयं लिखितं ॥

अर्थ—दियसके उपचारायमें पक्षकी छाया जेनी वर्धने लगती है जरा वृद्धावस्था भी प्राप्त होनेपर प्रति दिन
वर्धने लगती है- यह वृद्धावस्था सौंदर्य रूप कोमल कोपलपर अंगीकी ज्वालाके समान आक्रमण कर उसको जलाती
है- सौभाग्यरूपी पुष्पपर ओले की घट्टिके समान है- तात्पर्यरूपी हरिणपर यह व्याघ्री के समान दूट पडती है
ज्ञानरूपी नेत्रपर यह पृथ्वीघट्टिके समान है- तपस्वरूपी कमलवनके लिये यह वृद्धावस्था वर्णके समान है- अर्थात् वृद्धपना
तपस्यो नष्ट करता है- यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है- अपमानकी घाय है- मृत्युकी दूती है- मय की प्रिय सहेली
है- इस वृद्धावस्थाकी प्राप्ति होनेपर स्वप्न नाश होता है- यह रूप गुणसुंदर स्त्रियोंके फटाक्ष घाणोंका आश्रयस्थान
है- मनरूपी स्वच्छ वस्त्र का रंगानेके लिये कुसुमी रंगके समान है- प्रीतिलताका यह मूल है- सौभाग्य वृक्षका यह
फल है- पूज्यताका यह किनारा है- ऐमा भी उचम रूप पानीमें लिते हुए चित्रके समान शीघ्र नष्ट होता है-

तेओ वि इंदधणुतेजसणिहो होइ सव्वजीवाणं ॥

दिट्ठण्णा बुद्धी वि होइ मुक्काव जीवाणं ॥ १७२५ ॥

मंजो मनुयति जीवानां त्रिलोकपुन्यमिव ॥

उत्तरेणानन्वरी सुदिदृष्टनष्टा प्रजापते ॥ १७९२ ॥

त्रिलोकपुन्य—जोनि १५५५ प्रजापतिहो त्रिलोक्य तेजोपि गोलोमीप्रियतमयापस्य तेज इय गजज्जलन
मनमथेन ज्योतिरापि शोचन हायमुपजाते ॥ त्रिलोक्यहो इष्टप्रणया सुदिः सकलपुन्यमुवाधातम्यापकुटमाप्तनतमःपटल
नादकनटीगर्भी, निवित्रन् गमादकनटीगर्भीगर्भविना नानिममाप्रवेदनेधारणोचता, जारियनिधिप्रकटनक्षमा-
रीनगर्भी, सकलपुन्यपुन्यपार विपणितवियतवैकली एवंमत्ता सुदिस्त्र्युक्तवाद्यु मन्त्रमुपयाति ॥

मूला—मंजो देहजन्मा । सुदि यथार्थनिवृत्तिः ।

अर्थ—मनुष्यके दुर्गन्धी कौन इंद्रपुन्यके समान क्षणपर्यंत नेत्रोंको लुमाती है परंतु धर्णके अनंतर नष्ट
होती है, मनुष्य पदार्थ का पक्षांश स्वल्प दिगोनेमाली, ज्ञानांधकारके समुद्रको नष्ट करनेवाली, अनेकदुःखरूपी
मगतों की दूरे दूगानिष्ठप विद्याल नदीमें जोरके प्रयत्नको रोक्नेवाली, धारिणरूपी निधिक्षो प्रकट करने की दीप
के समान मनुष्य मनुषिको उपभोग कानंगली, मंत्रमियाके समान, सुक्ति लक्ष्मी के दृष्टिके समान ऐसी सुदि भी
स्वमिपारिणी शीके समान मनुष्यने निदा लेनी है.

अद्विचद्वयलं खिल्यं रूपं धूलीकदंयं लाण ॥

वीचीच अष्टदुवं वीरियंवि लोगम्मि जीवाणं ॥ १७९३ ॥

बलं पन्थागते रूपमिव रथ्यागतं रत्नः ॥

लाजानामिव कल्लोलो वीर्यं मन्धरमंगिनाम् ॥ १७९३ ॥

त्रिलोकपुन्य—नति१५५५ धाम निगं विपमनिवर्तन वलं, रूपं धूलीकदंयं लाण रथ्यायां पांशुराचितरूपमिव ॥
वीचीच मन्धरमन्धरनादिगमनेमोपनिवर्तनरत्नमात्रेण, अष्टदुवं अष्टदुवं ॥ वीरियं वीर्यमिव । जीवानां शरीरस्य एवता पले-
वीर्यमात्रमात्रेणानाः ॥

मूला—अद्विचद्वि नष्टमति । धूलीरथं रथ्यायां पानुरचित रूपमिव । वीची लहरी । अष्टदुवं अष्टदुवं । लो-
गम्मि मोह मतिः ।

अर्थ—गर्भमें वागुर्ग धूली उठकर उमझी चहुंछाहति उत्पन्न होती है, परंतु वह शीघ्र ही नष्ट होती है वैसे
मनुष्यदा यत्नभी लक्ष्मी नष्ट होता है, बरे मनुष्यो धूपरागेने प्रसन्न होते हैं, मनुष्योंका पराक्रम भी मंचेद हवाके

आपातसे उठी हुई लहरियों की पंक्तिके समान नष्ट हो जाता है। शरीरकी हड्डी को बल धरते हैं, आत्माके अदम्य उत्साह से-येचें को कीच-पराक्रम रहते हैं

ह्रियणिचओ वि व गिहसयणासनसंदाणि होति अधुवाणि ॥

जसकिची वि अणिच्चा लोए संज्झम्भरगोच्च ॥ १७२७ ॥

हिमपुला इवानित्था भवन्ति स्वज्जनावय- ॥

जंतूनां गत्त्वरी कीर्तिं संप्याश्रीरिव सर्वथा ॥ १७२८ ॥

मूलार्थ—येच इय । जसकिची यज कीर्तिः । संज्झम्भ दिनात्तेजः ॥

अर्थ—वर्ष के समुदायके समान घट, झग्या, आसन, पात्र औरत पदार्थ नश्वर हैं और यशकी प्रसिद्धि भी सप्याश्रीन मेवके समान नश्वर है।

स्वर्णोत्तरगाथा—

किहं दा मच्चा कम्मवत्ता सारदियमेहसरिमिणं ॥

ण मुणंति जगमणिञ्चं मरणभवसमुत्थिया संता ॥ १७२९ ॥

इदं जगच्छादवारिदोपमं न जानते नश्वरमंगिनः कथम् ॥

यमेन हंतुं सकला पुरस्कृता सुगाधिपेनेव युगा धलीयसा ॥ १७३० ॥

इति अधुवम् ॥

विज्ञयोदया—किह कथ तावत् । अणिच्च जग ण मुणंति जगन्मित्य न जानति । के सत्तावी सीदति स्फुटपापव शापागु तमहु योगित्यति सत्ता । सारदियमेवसरिमिण शारदुसमुत्पन्न नेकवर्णविचित्रसंस्थानजीमूतमालासदृश । मरणभवसमुत्थिदा सका मरण पिप धुपतमजीवित्त्य स्मरिष्ठन मियवियोगाभारकस्य, शोकानेनेलदपटल, भयस्कानोप ७ दुःखलोदलपणे, वधुददोषपटला द्रव्यकमौपसमायतापदाभायतेन प्लव्यतमरकभयसमुत्थिता सत ॥ कथमनित्तवतामसेमस्तुविण्णा चोधादत्त प्रवर्तते धर्मं ध्यान ॥ अष्टुत्त ॥

भोग्यमर्थकर्मव्यभरणं प्राणिना जगदन्तित्यत्वात्मानं साध्वर्थमनुलोचति—

मूलरा—‘‘हा नाभवत् । यागयाजंकारे । सत्ता प्राणिनः । कम्पयसत्ता कृत्वादिष्वासर्कः । सारद्वग शरद्वगभवः । सस्त्रीद्विदा आन्ध्यादिवा अपि । उक्तं च—

कर्मात्सत्ता कथं सत्ता-सरन्मेघसमं जगत् ॥

सर्वमेवञ्ज जानंति मृत्पुमीनिपुता अपि ॥

अविच—कथमिह दुरितम्बरणो भोगासक्ताः सररघनप्रसिद्धं ।

जानंति जगदन्तित्वं न जन्मिनो मरणभीतिभूतः ॥

अनित्यतानुयेका ॥

अर्थ—ये सर्व प्राणी मृत्युमयसे युक्त होकर भी अस्तकालके मेघके समान इस विनश्वर जगत् को क्यों नहीं जानतें हैं यह बड़ा आश्चर्य है। ये सर्व प्राणी अपने किंचित् पापों के आधीन होकर अनेक योनियोंमें दुःख पाते रहते हैं इसलिये ‘सीदंतीति सत्याः’ अर्थात् सत्य ऐसे अन्वयके नापको धारण करते हैं। शरद्वर्तुमें उत्पन्न हुए अनेक रंगोंको, धारण करनेवाले, अनेक जाति युक्त परतु नवर ऐसे मेघसमूहके, समान यह जगत् नश्वर हैं, प्राणिजों को मरण विपके समान अप्रिय है। शोकरूपी मज्जपातको उत्पन्न करनेवाला मानो मेघ पटल ही है, दुःखरूप लोहको स्वीचने के लिये मरण लोहपुङ्के समान है, धुआँके हृदयरूपी पत्थरको द्रवयुक्त करनेमें औषधीके समान हैं, यह मरण दीर्घजाणतिजों का घर है। इस प्रकार मरणमयसे युक्त सत्पुरुष संपूर्ण विषय अनित्य धर्मसे युक्त है ऐसा समझकर उन वस्तुओंको धर्मध्यानका विषय करते हैं।

मदारणताकथनयोत्तरप्रबंध— । कर्मोपपत्त्यपरिणामोपमेतच्चिरकालस्थितौनि सन्निहितक्षेत्रकालमाचार्य सहकारिकारणानि यदा पादमधुमं प्रवृच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्समर्थोऽस्ति तेनासरकोऽस्म्यहमिति चिन्ता मयं च कायं इत्यवगच्छे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मेण च तस दीसदि उवाओ ॥

अमदं पि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी ॥ १७२९ ॥

कर्मोदये सतिर्याति नोपायो विद्यतेऽङ्गिनाम् ॥

सुधा विपं वृणं शस्त्रं वंशुः शत्रुश्च जायते ॥ १७९६ ॥

विजयोदया—आसदि मदी नस्यति मतिः । उक्तेषु कस्मै उदीर्णं कर्मणि । बुद्धिश्चा स्वाभाविकी आगममवा
य त्वा द्यौ यरवासौ हितयेति भेदः ॥ उक्तं च—विषह बुद्धिं प्रवर्तति संतः स्वाभाविकीमागमसंभवां च । बुद्धिद्वयी
यस्य शरीरिणः स्यात् प्रपुं हितं सोलमलं न चाभ्यः ॥१॥ स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थोद्गातं न तु शास्त्रमस्ति
प्रपुं हितं धर्मसौ न शक्तौ भागं विना स्पष्टिवाच्यबंधः ॥२॥ तीर्थोद्गातं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशु-
द्धा, श्रुतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य इत्येदं सति यथांचः ॥ ३ ॥ किं दर्पिनातुल्लोचनस्य विदातभोगस्य
भवेत् या हि । शस्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य सदैव किं मंदमतेः श्रुतेन ॥ ४ ॥ ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानविरणायदे
कर्मण्युदयमुपागते । तस्य यानावरणं यन्नाति अंतुशान्तिनां ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणत्वं च हेपादिन्युदाहु-
पयात्मा मात्स्यधिकृतकरणवत्सादमादुपजाय । ज्ञानोर्निगदकरणादुक्ताले पठनात् परं द्विगोपधातकरणार्जिते,
मध्यमदुपयात्पराणाभितर्य मतिपानं युतादिक्ं या मादायति ॥ उक्तं च ॥ अयमहीतुं च तथेदितुं च
सोचयितुं धारयितुं च संभ्यः । नाहं भवयतिपानपुण्यः कर्मोपमं ज्ञानयुतेमिमं ॥ १ ॥ अंशश्च पश्यन्
परिचय धुणुन् विद्यां विना सौरसतांस्तपास्तन् । त्यगीतये सत्यं विप्यगेव न योविशेषाविषयेषु वेत्ति ॥ २ ॥ एकैर्द्वि-
यैर्द्विपत्तां भयेषु स त्रैर्द्विपत्तं शत्रुरिद्विपत्तं । तेनाश्रुतः कर्ममहार्थुदेन गप्नोति जीवो विमनस्कतां च ॥ ३ ॥ प्रपुं हितं
प्रोत्सरेदितुं च कर्तुं च शक्तुं विधिना ॥ भोक्तुं ॥ सत्कर्मणा तेन नरो ब्रुतस्तन् न बुध्यमानः पशुमैति सारथं ॥ ४ ॥
स्वदुश्चिन्ताममपि शक्यमाप्नुं श्रेयः भवोपत्यमिहाप्यविदात् । सुदृशसं च धृताभिरस्यं स केन विद्यात्परलोकरपथं ॥५॥
महायुक्तमीनतमः प्रवेशात् सदाप्यगाधाभ्रति मज्जनात् । यनाशिरं चारुतरोधभाष्य स्यादेहितः कष्टतरोऽशमाचः ॥ ६ ॥
तमःप्रवेदाभ्रति मज्जते च स्याद्ऽपकृष्यात्करोयनं च ॥ ज्ञाताविदेकत्र भवोत्सर्पतामसानं ज्ञे दुःखमनुमयाति ॥ ७ ॥ नाहं
विद्यालं नवमं वृत्तीवं धृतं च मत्पारदितो प्रवर्तितुम् ॥ अथोपि यस्मिन् सति याति मानं श्रेमे सिधे मोक्षमहापुरस्य ॥८॥ एवं
भूतामशताम्राण्ययति मानारत्नं न किञ्चित्प्रातिवरणक्षमं शरणमस्ति ॥ य य तस्य विस्वसि उवाच, नैव तस्य कर्मणो
विचारणे उपायो दृश्यते । असौक्यस्य कर्मण उवाचात् अमदं विस्सं होदि अश्रुतमपि विपं भवति । तथमपि स्रष्टुं शृणमपि
नात्रं भवति । जीआ वि य होति अरी वंधवोपि रात्रवो भवति ॥

पञ्चमोपपत्तुविषयमनित्यतां ध्येयौक्य प्रवर्तमानं निर्वर्ण्य तांप्रतयशरणां वद्वेयमापायमानामष्टादशगाथा-
भिर्मोषशितुपुदिशति । सत्र कगयावेशवशाज्जीवेन वद्विकर्मोनि द्रव्यक्षेत्रादिसहकारिणसंनिधानादुपयुक्तं कडु-
तरमात्मकं नवच्छति न कश्चिद्विचारयितुं शक्नोति इत्यहमस्मिन्नशरणोऽस्मोति विवाहवंधो विधेय इति संमतः —

मृगास—मनो अवप्रशदिमविमानमगोपदेशभवं श्रुतं च । वद्वेयवोगादेव हि हितमहितं वा ज्ञानाति नान्य-
था । उक्तं च—

द्विषेद् बुद्धिं प्रवृत्त्यै संतःस्वभाविकीमागमसंभवां च ॥

बुद्धिद्वयी यस्यं शरीरिणः स्यात् द्रष्टुं हितं सालमलं च चान्यः ॥

हृदयं हि द्वितयी बुद्धिर्ज्ञानावरणविधेये कर्मण्युहिते सति नश्यति । तस्मात्तत्तादृग्वुद्धिर्विध्वंसनोद्यतस्य कर्मणो निवारणे । अथाहो प्रतीकारो । लोके च न दृश्यते इत्यशरणं बुद्धिर्विध्वंसि कर्मोत्सवं भावयेत् । सर्वं पुरुषार्थसिद्धिनिबंध-
नत्वाद्बुद्धेः प्रपन्नत्वत्वात्तद्विपासिकर्मानिवार्यत्वमात्रेण प्रयुज्यते । अमदंभीत्यादि सद्देशाख्यकर्मण्युदीर्णे सति इति
संबंधः ।

अशरणता भावनाका सविस्तर वर्णन आचार्य करते हैं । ज्ञानावरणादिकर्म आरम्परिणामसे उत्पन्न होते हैं । कषायसे इन कर्मोंमें अधिक स्थिति पड़ती है । जब धैर्य, काल भाव योगेद कारण आकर मिलते हैं तब अशुभ फल आत्मामो इनसे मिलता है । तब इन कर्मोंका निवारण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता है । इस वास्ते में अशरण हो ऐसा धार धार विचार करना योग्य है ऐसा आचार्य कहते हैं—

अर्थ—कर्मका उदय आनेपर विचार युक्त बुद्धि नष्ट होती है । अवग्रह ईहा इत्यादिरूप मति ज्ञान और और आत्मके उपदेशमें उत्पन्न हुआ क्षुब्धान इन दोनों से मनुष्य प्राणी हित और अहितका स्वरूप जान लेता है । अन्य उपायसे हिताहित नहीं जाना जाता है । आत्मा में इनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

१ सगुरुप स्वाभाविक बुद्धि और आगमजन्य बुद्धि ऐसे युद्धिके दो भेद मानते हैं । जो मनुष्य इन दो बुद्धिओंको धारण करता है वहीं अपना हित जाननेमें समर्थ होता है अन्य समर्थ नहीं होता है ।

२ जिसकी स्वाभाविक बुद्धि तो निर्मल है । परंतु गुरुके मुखसे जिसने शास्त्राध्ययन नहीं किया है वह पुरुष जैसे नेत्रयुक्त मनुष्य रूपको देखकर भी भाषाके बिना उसका वर्णन नहीं कर सकता है वैसे हितकर धर्मका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है ।

३ जिसको आक्षान तो है परंतु स्वाभाविक निर्मल बुद्धि नहीं है वह श्रुतज्ञानका जाल जो हित उसको नहीं प्राप्त कर सकती जैसे दीप हाथमें लेकर भी अंधा पुरुष अपनी इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त कर सकता है ।

४ जिसने अपना मुंह गहरे ढक लिया है उसको दर्पणकी क्या जरूरत है । जो दान देता नहीं और भोगता भी नहीं उसको घनकी क्या आवश्यकता है । जो दरपोक है युद्धमें वह पुरुष शस्त्र लेकर कोरा ही क्या ? वैसे जिसकी स्वाभाविक बुद्धि नहीं है वह शास्त्रसे अपना हित साध्य नहीं कर सकेगा ।

५ ज्ञानावरण कर्मका उदय आनेसे उपयुक्त बुद्धि नष्ट हो जाती है। ज्ञानी पुरुष, ज्ञान और उपकरण इनका श्रेय करता, इनको छिपाना इनका नाश करता। इनके ॥॥ यत्सरमाव रखना, इनमें विम उत्पन्न करना इनको अयोप्य वतलाना, इनमें दोष लगाना, इनको पीटा देना, अकालमें अध्ययन करना दूसरों की हंद्रिया विद्या-दना, इत्यादि कारणोंसे ज्ञानावरणीय कर्मका वंश होता है यह वंश अवग्रह ईहा, अवय और धारणा रूप मतिज्ञान अथवा श्रुत ज्ञानाविकला नाश करता है।

१ ज्ञानको आच्छादन करनेवाला कर्म जब यह अधुष्यायन जीव वंश लेता है तब अवग्रह ईहा, अवय और धारण ऐसे चारों ज्ञानोंसे भी पदार्थोंका सत्त्वा स्वरूप जानने में असमर्थ होता है।

२ जो मनुष्य पदार्थोंके विशेषधर्मोंको नहीं जानता है वह नेत्रवान होकर भी अंधा है, सुनता हुआ भी बहिरा है, और शिवा शुक्त होनेपर भी रसोंको नहीं जानता है ऐसा समझना चाहिये।

३ कर्मसे इका हुआ यह कभी एकद्रिय, कभी द्वीद्रिय, चतुर्द्रिय और कभी असंखी पंचद्रिय बनता है।

४ कर्माच्छादित यह जीव हितफत यस्तु को न देख सकता है न सुन सकता है और न उसको विचार करनेमें समर्थ होता है। कर्मके वश होकर भी न दान देता है और न धनका स्वर्ण उपभोग ले सकता है इसलिये ऐसा कर्माच्छादित जीव पशुके वरावरीका समझना चाहिये।

५ अथ बुद्धि होनेसे मनुष्य अपने समीपका भी हितकर पदार्थका स्वरूप जाननेमें असमर्थ होता है। फिर जो श्रुतज्ञानमें ही जाना जाता है, जो परलोकमें हित करनेवाला है ऐसे पदार्थका स्वरूप वह अज्ञ कैसे जानेगा? ६ महाभयानक शुभाके सचन अंधकारमें प्रवेश करनेसे, आमाध पानीमें प्रवेश करनेसे, दृढ ऐसे कैदस्त्रानेमें डाला जानेमें प्राणीको कुछ दायक लक्षणका अनुभव आता है।

७ अधकारमें प्रवेश, पानीमें डूबना, कैदस्त्रानेमें डाला जाना इन बातोंसे प्राणिजोंको एक जन्ममें ही यष्ट होगा परंतु अज्ञानजन्य दुःख अनंत भवतक प्राणिजोंका साथ नहीं छोड़ता है।

८ जो पुरुष स्वाभाविक बुद्धिस रहित है वह विद्याल श्रुतज्ञान जो कि मनुष्यको तीसरी आंख है धारण करनेमें असमर्थ होता है।

विमर्शो यह श्रुतज्ञान है यह नेत्रसि अंध होनेपर भी योश नभसकि कल्याणकारक भाग्यमें सुखसे जा सकता है.

यह ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारका अज्ञान उत्पन्न कर देता है कि उसको हटानेमें कोई समर्थ नहीं है. हमका निवारण करनेमें कोई उपाय है नहीं असातावेदनीय कर्मके उदयेसे अमृत भी विष होता है और तृण भी छुरीका काम देता है पंथु भी उतु बन जाते हैं

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशान्ते किं स्यादित्याह—

मुच्यस्वस्तस्त्रि होदि मदी कम्मोवससे च वीसदि उवाओ ॥

णीन्ना अरी नि सच्छ नि तणं अमयं च होदि विसं ॥ १७३० ॥

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरूपायमवलोकते ॥

विपक्षो जायते पंधुः सास्त्रं पुण्यं विदं सुधा ॥ १७१७ ॥

विद्योदया—सुकदास्त वि होदि मदी सूक्ष्मधापि भवति मतिः । कम्मोदये य वीसदि उवाओ कर्मोपशान्ते
ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशान्ते सति उवाओ ददयते । सुमगलपुण्यकर्मोदयान् । णीन्ना अरी नि सच्छोदपि यंधवो भवति
सच्छोदि तणं साट्टमपि तण भवति, अमद होदि जिते विपमव्यभूतं भवति सच्छोदये ॥

सद्विवर्धयद्दानापापकारकमोनिवादेता दृढयति—

सूक्ष्मा—सुकदास्त वि यथाजातस्य । कम्मोवससे तथाविधमिच्छावावरणक्षयोपशान्ते सति । उवाओ कर्मोप-
शान्त्य साधत । च विसं विपमपीत्यर्थः ॥ असह्योदयामात्रे सच्छोदये वा सति द्वियदक्षोदपि धांधवविश्रानं भवति ।
तत्रावरणक्षयजनगुणकर्मण उपशान्ते उदये वा उपायो छोके शास्त्रे च प्रतीयते इति समन्वयः ॥

ज्ञानावरणीय कर्म के धर्मापन्नमये क्या होता है इसका विवेचन—

अर्थ—ज्ञानावरणीय कर्मका धर्मापन्न होनेपर मूलं भी विद्वान् होनेमें देर नहीं लगती है. ज्ञानावरण
क्षयोपशान्ते संकटसे पार पढ़नेका उपाय ध्यानमें आ सकता है. क्योंकि उस समय पुण्यकर्मका उदय होजाता है.
उतु भी भिन्न होते हैं. इस भी तृणतुल्य निम्न होजाता है अर्थात् ब्रह्मप्रकार यी पुण्यपालके समान अनुभवमें
आ जाता है. विप भी जस्तु होजाता है.

पाओदण्ण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ॥

दूरादो वि सपुण्णस्स यदि अत्थो अयत्तेण ॥ १७११ ॥

अर्थः पापोदये पुंसो हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति ॥

दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्म्मोदये सति ॥ १७१८ ॥

पिओदय्या—पापोदयेण सामान्तरावस्य कर्मण उदयेन, अत्थो इत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति पुंसः । दूरादो वि दूरतोऽपि । सपुण्णस्स पुण्यवतः । यदि अत्थो अपांलयार्थः । अयत्तेण मयत्तेन ॥
नश्यति पुंसः—नश्यति पुंसो हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति—

मूलारा—पापोदयेण सामान्तरावस्यविशेषेन । सपुण्णस्स सद्रोषोदयवतः । अयत्तेण यत्नं विनापि ।

अर्थः—सामान्तरावस्य कर्मणा उदय आनेपर इव्य हस्तगत हांकर भी नष्ट होजाता है. और पुण्यवानको प्रपल के बिना ही दूर देखसं भी धन प्राप्ति होती है.

पाओदण्ण सुहु वि चेदुत्तो को वि पाउणदि दोसं ॥

पुण्णोदण्ण दुहु वि चेदुत्तो को वि लहदि गुणं ॥ १७३२ ॥

नरः पापोदये दोषं यत्नमानोऽपि गच्छति ॥

गुण पुण्योदये श्रेष्ठं यत्नहीनोऽपि तत्त्वतः ॥ १७३९ ॥

विओदय्या—पापोदयेण अयत्तः कीर्तिकर्मणकेन । सुहु वि चेदुत्तो को वि पाउणदि दोसं कश्चित्प्राप्तोति दोषः । पुण्णोदयेण पुण्यकर्मण उदयेन । दुहु वि चेदुत्तो यत्किंचिदकार्यं कुर्मपि । कोवि लमदि गुणं कश्चित्प्रपलं गुणम् ॥

मूलारा—पापोदयेण अयत्तः कीर्तिकर्मणकेन । सुहु वि चेदुत्तो को वि पाउणदि दोसं कश्चित्प्राप्तोति दोषः । पुण्णोदयेण पुण्यकर्मण उदयेन । दुहु वि चेदुत्तो यत्किंचिदकार्यं कुर्मपि । कोवि लमदि गुणं कश्चित्प्रपलं गुणम् ॥

अर्थः—पापक उदय आनेपर अथात् अयत्तस्थितं कर्मका उदय होनेपर सदानसी मनुष्य भी दोषी माना जाता है. पुण्यक उदयस असायं कर्त्तव्यता भी कोई मनुष्य प्रशंसा का पात्र बनता है.

पुण्योदपण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकिची ॥
 पाओदपण कस्सइ सुगुणरस वि होइ जसपाओ ॥ १७१३ ॥
 पुण्योदये परां कीर्तिं लभते सुणवज्जितः ॥
 पापोदयेऽनुजं सुवीमकीरिं शुणत्तानपि ॥ १८०० ॥

विजयोदया—पुण्योदपण पुण्योदयेन । कस्सइ होइ जसकिची कस्वचिद्रूपति यशस्वीतिञ्च । पापोदपण पापक्षोबदेन । कस्सइ सुगुणरस वि कस्वचिन् सुगुणवतोपि । जसपाओ होइ यशोघातो भवति ॥

गुहारा—जसकिची यशःकीर्तिञ्च । एवंपरो छाणपावः यमोविन्यास इत्यर्थः ।

अर्थ—पुण्योदयेने कितीं सुगुण का यह संबंध फल जाता है. पापके उदयेसे गुणी सदाकारी समुप्यका नी यह नष्ट होता है.

णिरुवक्खमग्गस कम्मस्स फले समुदण्डिदंमि दुक्खंमि ॥

आदि त्रसामणहज्जातिताभयवेदणादीए ॥ १७३५ ॥

जन्मसृत्युज्जरानंके दुःखसोकमयादिके ॥

दीयमाने विषक्षेण निरुपकमकर्मणा ॥ १८०१ ॥

विजयोदया—णिरुवक्खमग्गस नि मनीकारस्य कर्मणः । फले समुदण्डिदंमि दुक्खंमि समुपस्थिते दुःखे, जादि जरामरणकजाविताभयवेदणादीनि जाती, जरायां, मरणे, व्याधी, वितायां, मये, वेदनायां ॥ समुपस्थिते ॥

दुर्षाकर्मोदयेदुःखे जात्यन्तो दुःखे मरणे कश्चित्कचिन्मता आशको वा नास्तीति भावनां गाथाद्वयेनाइ—

मृदाया—णिरुपकमग्गस निज्जतीकारस्य । समुदण्डिन्मि संग्राप्ते ।

अर्थ—उपायराहित कर्मका जब उदय आता है तब उसका फल जो दुःख वह भोगना पड़ता ही है. जर्षाद जन्म, जरा-मृदावस्था, मरण, रोग, चिंता, मय, वेदना चमैरइ दुःख भोगने पड़ते ही हैं.

जीवाण णत्थि कोहं ताणं सरणं च जो हवेज्ज इधं ॥
पायालमाद्दिग्गदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥ १७१५ ॥

न कोऽपि विद्यते त्राणं देहिनो सुवनत्रये ॥

न प्रचिक्षोऽपि पातालं मुच्यते कर्मणा जनः ॥ १८०२ ॥

विजयोदयः—जीवाण जीवस्य । नत्थि कश्चिद्रक्षा शरणं वा । जो हवेज्ज यो भवेत् । पायालमदिग्गदो वि पातालं प्रविष्टोऽपि । न मुच्यदि न मुच्यते न यात् । सकम्मउदयं हि स्वकर्मोदये सति ॥

भूलासा—ताणं रक्ष । सरणं आश्रयः इधं अस्मिन् । मुच्यइ मुच्यते । सोके । अपि ॥ अपि च । एतेन दुर्गम-क्षेत्रलक्षणेऽप्यर्थः समर्थयते । न मुचदि न विद्यते जालाविरुद्धुःशात् ॥

अर्थ—प्राणिश्रेको जगत्तमे कोई भी शरण नहीं है, यह जीव कर्मसे पिंड छुड़ानेके लिये पातालमें चला जाय तो यहाँ भी यह कर्म उसको छोड़ता नहीं, सबतक यह जीव स्वकर्मोदयसे अलग नहीं होगा तब तब इसका दुःख से छुटकारा नहीं होगा.

गिरिकंदरं च अहविं सेलं भूमिं च उदधिं लोगतं ॥

अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उद्विणकम्मेण ॥ १७३६ ॥

नगदुर्गे क्षितौ शैले लोफति काननेऽम्भुधौ ॥

गमोऽपि कर्मणा जीवो नोदीपेन विसुच्यते ॥ १८०३ ॥

विजयोदया—गिरिकंदरं च गिरिकंदरं अदर्थी शैलभूमिसुदधि । लोकांतं प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उद-यागतेन कर्मणा ॥

भूयोऽपि क्षेत्रलक्षिणं प्रवचनं विररुहोति —

भूलासा—गिरिकंदरं चर्वतणनीयविदारितस्थलं । अदिगंतूणं वि गत्वा पि सिद्धं ।

अर्थ—पर्वतश्री दरीमें, वंगलमें, पर्वतमें, वनीयमें, समुद्रमें इतना ही नहीं लोकके अंतमें भी जीव यदि जाकर चमत्पा को भी उदयमें आपे हुए कर्मसे वह छुटकारा नहीं पाता है.

दुग्धचतुर्गुण्यया परित्यज्यादी य जंति भूमौ ॥

मृच्छा जलमि पक्खी णममि कम्मं तु सञ्जय ॥ १७३७ ॥

द्विचतुर्गुणादा ये ते गच्छंति महोत्तले ॥

जले मीनाः सगा व्योम्नि कर्म सर्वत्र सर्वदा ॥ १८०४ ॥

विज्ञयोदया—दुग्धचतुर्गुण्ययादा द्विचतुर्गुणादिभ्यः । परित्यज्यादी य जंति भूमौ परित्यज्यादी यंति भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो नमसि यांति ॥ कर्म सर्वत्र ॥

मूलादा—परित्यज्या अथादा इत्यादयः । कम्मं तु सञ्जय स्वकृतकर्मविपाकेन जीवाः कश्चिदपि न मुञ्चते इत्यर्थः ।

अर्थ—दो पाँचके जीव, चार पाँचके जल, जनेक पाँचके जीव और सर्पादिक जीव जमीन पर नियास करते हैं. मत्स्य पानीमें रहते हैं. पक्षी आकाशमें रहते हैं. पशु कर्म सर्वत्र रहता है.

रविचंद्रादवेतस्त्रियाणमगमा वि अत्थि दु पवेत्ता ॥

ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इधं ॥ १७३८ ॥

अगम्या विपयाः संति रविचंद्रानित्यामरे ॥

मदेजो विपत्ते कोपि नागम्यः कर्मेणा पुनः ॥ १८०४ ॥

विज्ञयोदया—रविचंद्रादवेतस्त्रियाणं सूक्ष्म, चंद्रेण, चातेन, देवध्यागम्यास्संति प्रदेशाः । न कर्मणा मयस्योऽत्र मदेजोऽस्ति लोक ॥

कुत इत्याह—

मूलादा—वेदस्त्रियाण वैद्विकणां । देवविद्यापरादीनां । अगमा अगम्याः ।

अर्थ—धूर्य, चंद्र, वायु और देव भी जहाँ मवेश नहों कर सकेंगे वैसे भी बहुतसे प्रदेश हैं. परंतु कर्मके लिए अगम्य प्रदेश कोई भी नहीं है.

विज्योसहमंतबलं चलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ॥
समादितुवाया वा ण होति कम्मोदणु सरणं ॥ १७३९ ॥

न गोथा रथहस्तादवा विद्यामंत्रौपधादयः ॥

सामावयोऽपि चोपयाः पान्ति कर्मोदयेऽद्विनाम् ॥ १८०५ ॥

चित्तपोदयः—विज्ञानमोक्षाधिबलवीर्यं त्रिया स्वादाकारांता लघुद्वितया मंत्रस्य । पौर्यमात्मनः शस्त्रसिन्धयः ।
कलमाहात्म्यधामलं शरीरस्य वाचं, धनैकवच । साममेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतयो न शरणं ॥

दुष्टतपकोट्रेकसिराकरणविद्यामंत्राग्निनपि माहात्म्यप्रविश्यात्तमनुसंधेते—

मूढरा—मल आहारव्यायामाविज देहदार्ढ्यं । गोथा व्यापवाः ।

अर्थ—जिसके अंतमें सहास्रार है वह विद्या है। मंत्र स्वादाकारसे रहित होता है। मंत्रकी शक्तिको वीर्य कहते हैं। शरीरमें आहार और व्यायाम करनेसे जो दृढता उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं। ये पदार्थ कर्मके उदयसे आत्माका रक्षण करनेमें असमर्थ हैं। घादं, हाथी, रथ, योद्धागण, साम दंडादिक उपाय, इनका भी सामर्थ्य कर्मोदय आनेपर नष्ट होता है। कर्म समस्त बलवान है।

जह् आइच्चमुदंतं कोई चारंतउ जगे णत्थि ॥

तह कम्ममुदरंतं कोई चारंतउ जगे णत्थि ॥ १७४० ॥

कैनेट्टादीगमानानां कर्मणां ज्योतिषामिव ॥

निषेधः शक्यते कर्तुं स्वकीये समये सति ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—जह् आइच्चमुदंतं यथा दिवमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयांत न निवारयति कश्चित्तथा
समधिगतसद्व्यतिकारणं कर्म न निषेद्युमस्ति समर्थं ॥

विषयानु—

मूढरा—आइच्चं आदित्यं । उदीरंतं उदयावदिरूपप्रवेक्षोपतं ।

अर्थ—जैसे उदयाचल पर आनेवाले सूर्यको कोई रोक नहीं सकता वैसे सहकारी कारण मिलनेपर उदयमें आने हुए कर्मको कोई भी जीव रोक नहीं सकता।

रोगाणं पडिगारो दिष्टा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ॥
 कम्मं मलेदि हु जगं हत्थीव निरंकुतो मत्तो ॥ १७४१ ॥
 प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां कर्मणां न पुनर्जने ॥
 कर्मं सुदगतिं हत्थीव लोकं मत्तो निरंकुत्तः ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—रोगाणं पडिगारो दिष्टा व्याधीनां प्रतीकारा दृष्टा औपचार्यः । कर्मणां नास्ति प्रतीकारः जगद्वदोप
 मर्त्येति कर्मं मदगज इव निरंकुतो जातिर्नीजः ॥

सपुत्रोक्तेवार्धे दृष्टान्तद्वारेण निवृत्त्यन्ताह—

मूलानां—रोगाण व्याधीनां अर्थादृष्टापचारजानां । कर्मजानां तु सञ्जानामेव प्रतीकारः ।
 अर्थ—रोगोंका प्रतिकार औपचारिक इलाज तो देखे गये हैं, कर्मका इलाज किमीने भी नहीं देखा है,
 उन्नत बायी अंकुशकी भी पर्वाह नहीं रहता हुआ कमलवनका मर्दन करता है वैसे ये कर्म भी संपूर्ण जगका
 मर्दन करते हैं.

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ॥
 रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥ १७४२ ॥
 प्रतीकारो न रोगाणां कर्मणामुदये सति ॥
 उपचारो भवं तेषामस्ति कर्मसमे सति ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—रोगाण पडिगारो व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसंदेये प्राप्तोदये सति, एतयोपचारिभिरप्य-
 समो रोगाधीनां सो पि कर्मण्युपरागं गत एव नावुपशान्तिंऽञ्च ॥

मूलानां—समुदिण्णे समुद्योदये । उपशमंते उपशमं याति तदोदये अवतीत्यर्थः ।
 अर्थ—अब असाता वेदनीय कर्मका उदय आता है तब रोगोंका नाश करनेमें औपचारिकों असमर्थ हो जाती
 है, यद्यपि पथ्य और औपचारिकोंका संयत्न करनेमें रोगोंका शमन होना अनुभवमें आता है तो भी वहाँ कर्मका

उपश्रमन होना ही मूल कारण है, अंतरंग कारण कर्म जब उपश्रान्त होता है तब औषधि और पच्य सेवन रोगनाश करनेमें समर्थ होने हैं अन्यथा वे निष्फल हो जाते हैं.

विज्जाहारा य बलदेवशामुदेवा य चक्रवट्टी वा ॥

देविदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए ह्येति ॥ १७४३ ॥

बलदेवशचक्रवट्टीदेवविद्याधरादयः ॥

सन्ति कर्मोदये क्यत्तं शरणं न शरीरिणाम् ॥ १८०९ ॥

नित्योदया—दिनादरा य विद्याधरादयो महाशरणपरमात्मा अपि न शरणं भवन्ति कर्मोदय इति माधार्थ्यः ॥

मूलारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जय कर्मोदय तीव्र होता है तब महापराक्रमी विद्याधर, बलदेव, शामुदेव और चक्रवर्ति भी प्राणीका रक्षण करने में समर्थ नहीं होते हैं. इतनाही नहीं. देवेंद्रभी उस प्राणीका रक्षण करने में असमर्थ है,

बोल्लेज्ज च कम्मतो भूमिं उदाये तरिडज पवसाणो ॥

ण पुणो तीरदि कम्मस फलमुविण्णस्स बोल्लेहुं ॥ १७४४ ॥

गच्छन्मुच्छन्ते क्षाणो नरस्सरति नीरधिम् ॥

नातिक्रान्तुं पुनः कोऽपि कर्मणामुदयं क्षमः ॥ १८१० ॥

विजयोदया—गोहृत्त उच्छेयेत् गच्छन् भूमि, समुद्रांतल्लम्बमानः । त्रीनस्य कर्मणः फलमुच्छेयवितुं न चेत्ति कोऽन्यो वा महाश्लोपि ॥

मूलारा—बोल्लेज्ज उच्छेययन् । च ह्यपि ते पदव्यां गच्छन् । पवसाणो छवमानः । तीरदि शक्नोति ।

अर्थ—भूमिपर चलता हुआ गायी भूगोके अंततक वा मकोपा. समुद्रको भी उल्लंघकर वा सकोपा. परन्तु कर्मका उदय जानेपर उसके उल्लंघनकी ताकद महाश्लवान पुरुषोंमें भी नहीं है. अत्यव्यक्तियोंकी तो क्या कथा ?

सीहृत्तिमिगिलगहिदरस णत्थि मच्छो मगो व जय सरणं ॥
कम्मोदयग्भि जीवरस णत्थि सरणं तहा कोई ॥ १७४५ ॥
युगमीनो परी जन्तवोः सिहृमीनयुहीतयोः ॥

लायते रक्षकः कोऽपि कर्मयस्तस्य नो पुनः ॥ १८११

पिजयोदया—सीहृत्तिमिगिलगहिदरस सिद्धेन तिमिपिलाख्येन यद्धामत्थेन च युहीतव्य नैव शरणं मयति
अन्धो मन्त्रो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति पञ्चिउरणम् ॥
मूलार्थ—तिमिगिलो महावत्सवः । मच्छो तिमिगिलाद्वयः ॥

अर्थ—सिंह किंवा तिमिगल (यद्धामत्स्य ने) पकड़े हुए शायीको कोई पशु अथवा मत्स्य उससे उससे नहीं छुड़ा
सकता है वैसे हीय कर्म के उदयसमयमें हम प्राणी को छोड़ भी व्यक्ति नहीं छुड़ा सकती है उसे उस कर्मका
फल योगना ही पड़ता है।

व्याप्यनितानामशरणार्थं सनसापधार्थं इदं शरणमिति चित्तनीयमिति कथयति—

देसणणाणचरित्तं तवो य ताणं च होइ सरणं च ॥

जीवरस कम्मणासणहेटुं कम्मे उदिण्णस्मि ॥ १७४६ ॥

कर्मनाशानसहानि जनानां ज्ञानदर्शनचरित्रतपस्ति ॥

नापहाय सति कर्मणि पके रक्षकानि खलु सति पराणि ॥ १८१२ ॥

इति अशरणम्

विजयोदया—देसणणाणचरित्तं तवो य ज्ञानं दर्शनं चारित्र्यं तपस्व रक्षा शरणं वा अयति । जीवस्य कर्मणो
मात्राहेतुः कर्मण्युदीतव्यसंज्ञादी । पप्रमचारणाज्येक्षा मताः ॥ अशरणम् ॥

असत्कर्मोन्ने प्रायुक्तानामशरणार्थं प्रविधाय दर्शनादिकं शरण्यतया प्रविधेयमित्युक्तास्ति—

मूलार्थ—कम्मणासणहेटुं अनुभूतव्यसपणकारणत्वात् । अशरणानुयेक्षा ॥

ऊपर चित्तका वर्णने किया गया है वे अशरणरूप हैं परंतु अभिभी भाशामें अतिपादित पदार्थ अरण
मयज्ञात उनका चित्तन करना चाहिये ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—सम्पदार्जन, ज्ञान, चरित्र और तप ये चार आत्मागुण ही आत्माके धारण-स्थक हैं. जिनके क्रमों-
मा ये ही नाश करते हैं. अस्तवैदनायादि कर्मके उदय होनेपर भी उपर्युक्त चार पदार्थ ही आत्माका रक्षण करते हैं.
अधारादुपेक्षा समाप्त-

एकतत्त्वमेक्षा उत्तरेण प्रवर्धेनोच्यते—

पावं करोदि जीवो बंधवहेतुं सरिरहेतुं च ॥
गिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥
करोति पातकं जन्तुर्देह्यांषवहेतवे ॥

अथादिषु पुनर्देहमेकाकी सहते चिरम् ॥ १८११ ॥

विजयोदया—पापं करोति जीवो बंधवनिमित्तं सरिरनिमित्तं च । बंधवशरीरयोपणार्णं कृतस्य कर्मणः
फलं नरकादिव्येक एवानुभवति । नरकादिगमिषु प्राप्ते तु लभ्यष्टंतस्तत्त्वान्तो बंधवाः किं कुर्वतीति आर्थांस्तं निरस्यति-
तत्पिहितः । पदयोऽप्याकौचित्यकारा प्रति कथनेन ॥

धर्मव्याप्तयेयस्य भावयितुमेकत्वं गायामसत्केन वर्णयति—

मूलारा—नययेत्यादि बंधूनां त्वदेहस्य च योपणार्धं । एकको वेप एकक एव । असहाय एवेत्यर्थः ।

एकत्वादुपेक्षाका सविस्तर वर्णन.

अर्थ—अपने शरीरका योषण करनेके लिये तथा बंधवों के योषणार्थ यह जीव पाप करता है. किये हुए
कर्मका फलभी इस अकेले जीवको ही योग्यता पढ़ता है. नरकादिगतिके जो दुःख इस जीवको योग्यते पदेते हैं. बंधुजी
को उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है अतएव वे उसका दुःख बुर करनेमें असमर्थ होते हैं ऐसा कहना भी योग्य
नहीं है. क्यों कि जब इस प्राणी को इस लोकमें रोगादिसे दुःख होता था तब भी वे केवल देखकर भी दूर करते
थे असमर्थ थे तो परलोकका दुःख उनसे दूर होया ऐसी आशा करना कैसा योग्य होगा?

रोगादिविद्वेष्टाजो वेदयमाणस्त गिययकम्मफलं ॥

पेच्छंता वि समक्खं किंचिवि ण करंति से गियया ॥ १७४८ ॥

वेदनां कर्मणा वृत्तां रोगशोकभयादिकान् ॥

किं संज्ञानस्य कुर्वन्तु पश्यन्त्यो ज्ञातयोऽङ्गिनः ॥ १८१४ ॥

विजयोदया—रोगविद्विषण्ड रोगविद्व-यानि । विषयकर्मफलं निजकर्मफलं स्वयोगप्रयोपचितकर्मणः फलं ।
वेदयमाणस्तस्य वेदयमानस्य । समग्रं चेच्छंतायि प्रत्यक्षं पश्यंतीति । गिनया निजका वांघवाः, ते तस्स किंचिदि न कंरति
किंचिदपि मतीकारजातं न कुर्वति । परत्रेद ना जन्मन्येक एवानुभवति । जंतुने तदीयकर्मफलसंविभागकरणे समर्थः
कश्चिदिति भवति ॥

नरकादिदुर्गदिवसस्य दुःखमपश्यंतो

मूलारा—किंचिचि ग्रीहीकारजातं । परत्रेद वा जन्मनि स्वकर्मफलमनुभवतो जीवस्य न कश्चित्संविभागे-

भगवतीति भावः ॥

अर्थ—इस जीवको रोगादिकसं जो वेदना होती है वह मन वचन और काययोगसे उपार्जन किये
पापकर्मका फल है, इस फलका अनुभव जब यह जीव लेता है तब उसका वंधुगण प्रत्यक्ष देखकर भी उस
दुःखका मतीकार नहीं कर सकता है, इस लोक हो चाहे परलोक हो अकेले प्राणीको ही दुःख भोगना पड़ता है,
उसने किये हुए कर्म का नार्गीदार कोई नहीं हो सकता है,

तद तथा यथा दुःखं स्वकर्मफलमेक एवानुभवति ॥—

तह भरइ एकओ सेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई ॥
भोगे भोत्तुं गिनया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥

एकाकी त्रियते जीवो न द्वितीयोऽस्य कश्चन ॥
सहाया भोगसेवायां न कर्मफलसेवने ॥ १८१५ ॥

विजयोदया—तथा स्वायुर्गलने । पश्रगो चेच भरदि एक एव प्राणांस्त्यजति ॥ ण विदिज्जयो ण कोई न सहायो
भवति कश्चिद् । तदीयं मरणं संविमन्य गृहीत्या सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः ॥ अन्यथा एक एव त्रियते इत्यवदमाने
यज्ञानामप्येकदा मरणात् । भोगे भुज्येतेऽनुभूयत इति भोगाः द्रव्याणि अशनवसनसुखवासवादीनि । मोक्षमनुभवितुं
नितरा वांघवाः । विदिज्जया सहायाः । ण पुण न पुनः । कम्मफल भोत्तुं नीयथा विदिज्या, तदीयकर्मफलं भोत्तुं न
येधयस्सहायाः ॥

दुःखानुभूतिविवर्धनं मरणे सहायार्थं भावयति—
मृतरा—तव दुःखगुणनगर । न निश्चिन्तो न द्वितीयः । दुःखवन्मरणं विषय्य गृहीत्वा सहायो न कश्चि-
द्रूपनीलैः । भोगे अदानवसनादीन् ॥

जोगे अपने द्विगे दुष्ट कर्मका दुःखरूपी फल यह जीव स्वयं ही भोगता है जैसे—

अपं—इस प्राणीका आयुष्य पूर्ण होनेपर उसको अकेलेकी ही मरण का स्वीकार करना पड़ता है।
अर्थात् मरणदुःखका निभाग लेकर उसको कोई साहायक नहीं होता है। अन्यथा एकही मरता है इस वचनकी
पठना ही अयुक्त दीर्घगी। क्योंकि बहुत जन एक समयमें मरेंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता है अतः 'तव मरइ एकजो
पेन' यह वचन युक्तियुक्त है। अब, यत्न, तांमूल, धन इनका उपयोग लेनेके लिए बांधव सहाय्य करते हैं परन्तु
कर्मफल का अनुभव अकेले जो ही लेना पड़ता है। अन्य बांधव उनको सहायक नहीं होते हैं।

प्रकारान्तरेणेकत्वमायनामाचष्टे—

णीया अरथा देहादिया य संगं ग कस्त इह होति ॥

परलोके अण्णोत्ता जदि वि दइजंति ते सुहु ॥ १७५० ॥

देहार्थार्थाचवाः सार्चं न केनापि भवानंतरय ॥

वल्लभा अपि गच्छन्ति कुर्वन्तो ऽपि महादरय ॥ १८१६ ॥

स्यक्कीया देहिने ऽथैव देहार्थस्वजनादयः ॥

स्यक्कुताःसंभ्रमेणापि न कदाचिद्भवान्तरे ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—जीना अरथा रंघको धन शरीरादिकाय परिमहाः कस्यचिदपि खंचिबो न यांति परलोके प्रति
प्रस्थितं । यदापि सुष्ठु काम्येते परिग्रहा । गृहीत्वा तान्यपि नामस्य मनुमुल्लंका तथापि ते नागुगच्छेयैक एव यातीत्ये-
व न भवाम्ना ॥

ना भूयन्परिमहा परलोके भद्रगंतरः शुष्कगारस्तु भविष्यन्ति इति व्याकोद्व्यपोहनायमाह—

मूलारा—अण्णेना अन्वेत्तारः । परलोकं गच्छत कस्यचित्प्राप्तामिदो न मर्चतीत्यर्थः । दृष्टिर्जाति दृष्टिर्वा क्रियते कान्येते इत्यर्थः ।

अर्थ—बांधव, धन, दूरीर, पुत्र, स्त्री, वगैरह सम्बन्धीजन परलोक यात्रा करनेवाले प्राणीके साथ आते नहीं हैं. सुन्दर परिश्रमों पर हम जीवना समस्त रहता है और परलोकमें भी इनको ले जानेकी उत्कण्ठा उसके मनमें उत्पन्न होती है परन्तु वे उसके साथ नहीं जाते हैं अर्थात् यह मोही जीव भी उनको ले जानेका सामर्थ्य अपनेमें नहीं रख सकता है ऐसी एकत्वभावना भानी चाहिए.

इहलोकगंधवा ते नियया ण परस्स हौति लोगस्स ।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥
स्वकीयं परकीयं न विद्यते सुवनत्रये ॥
भेकस्याटाब्बमानस्य परमाणोरिवांशिनः ॥ १८१८ ॥

विज्ञयोदया—इहलोकगंधवा अस्मिन्नेव जन्मनि बांधवाः । परस्स लोगस्स न कीयया हौति अन्यस्य जन्मनो न गंधवो भवन्ति । तह चेव बांधवा इव धन देहो संगा सयणासणादी य भने शरीरं सयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मानि उपकारका भवन्ति ॥ एवं हि ते बांधवाः परिग्रहाश्च सहाया इति ग्रहीतुं शक्नोते यद्यनयावितया उपकारिणः स्युः । इदं जन्मदेव ये भवन्ति ते परलोकं गच्छन्तमनुसरन्तीति का प्रत्याशा ॥

मूलारा—तत्र चेव बांधवा इदं हि कथनादयोऽपि नायुनोपकारकाभ्युत्तिर्यर्थः ॥

अर्थ—जो इव लोकमें अपने बांधव हैं वे इहलोकसम्बन्धी ही हैं. परलोकमें अर्थात् अन्यजन्म में वे अपने बांधव नहीं माने जाते हैं. इन बांधवोंके समान धन, दूरीर, परिग्रह,--अयनासनादिक परिग्रह भी इह लो-
कके ही सम्पत्ति हैं. परलोकमें इनसे सहाय होगा ऐसा संकल्प मनसे हटाना चाहिए. इसलिये बांधव और
परिग्रह सहायक नहीं हैं ऐसा समझना चाहिए. इस जन्ममें भी इस प्राणीका सम्बन्ध ये बांधवादिक छोट देते हैं
ऐसा अनुभूतिमें आता है तो परलोकमें जीव के साथ ये आँखें ऐसी आशा रखता क्या अज्ञानताका खेल नहीं है.

पठते पांशवाद्यो न सहायाः कस्तर्हि सहाय इत्याशङ्कामाचरे—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणमुदमइओ ॥

सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५१ ॥

अर्वांतरं समं गत्वा धर्म्मो रत्नत्रयात्मकः ॥

उपकारं परं नित्यं पितृव कुर्वते ऽङ्गुलः ॥ १८१९ ॥

तिस्रोदया—जो पुण यः पुनः । जीवेण कदो धम्मो जीवेन कृतो धर्मः, सम्मत्तचरणमुदमइओ रत्नत्रयरूपो धुमो ति प्रदिपते जीवं धारयति भ्रष्टे वा धुमे स्थाने इति रत्नत्रयं धर्म इत्युच्यते । सो सः व्यावर्तिनो धर्मः जीवस्स जीयस्य । परलोणे परजन्मनि । गुणकारकः सहायो भवति ॥ अभ्युदयमिष्टयसुखप्रदानात् ॥ तथा ब्रूते—

इत्था चापायुषिद्वयोरेविययरेति वीतवीटुमिवानदं, कृत्वा लोकरूपैश्च सुरनरातिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टां ॥ द्यामुप्याधिप्रवृत्तिमिविगमजारादोगशोकप्रहीणे जोशे नित्योदलोस्ये क्षिपति निकपेभ चरत्त नोऽव्याहृतुधर्म इति । ननु अलहावात्पभाधमाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपपुच्यते ॥ नैव दोषः यो येन सहायत्येनाभ्यवसितो पांधवा- निरालो सहायो न भवतीति न दानादयः कार्यः । सम्यग्जन्तवशानिचारिततमकस्तु धर्मः । धर्म्मोपे जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति । तथादर्शो ज्ञायते सूरिणा । अतिशयितधर्म्मोपेयसहायनिरूपणेन अतिघनादीनां तथभूतसहायता समर्पिता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्पदादयः धुमपरिणामाः प्रगल्भतिजातिमोऽसहातसहनानां सहेयाधिक- मात्मनि निधाय नश्यति तेन देवो वा नरः पण्डित्यः पयासकः कुलीनः शुभभीरोगशरीरखित्सीवी सुखी भविष्यति ॥ धर्म्मनुवर्धितः पुण्यस्योदयात् ॥ दीक्षाभिमुपा बुद्धिनिर्गतचारत्नवदसंपत्तिञ्च भविष्यतीति संभवयुपकारसहायता धर्म्मस्य । ननु यं ज्ञानपूर्वकत्याज्यरालस्य सम्मत्तचरणमुदमइओ इति कथमुपपत्त्यस्ते ? अथमभिप्रायः सत्यपि श्रुतघाने भर्त्सयतसम्यग्दृष्ट्यारित्राभावात् महती संतर्पिर्नरे मुरयगुणे भवतः ॥ तस्मान्मुत्थयार्थिन्धारिर्न प्रधाने, किञ्च तज्ज्ञा- नमुपायवारित्रमुपेयं ज्ञतः परार्थत्वाज्ज्ञानं प्रधानं उपेयत्वाद्यर्थे प्रधानमिति ॥ जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्यनेन धर्म्मस्य सयणा नित्यत्वं प्रतिवितं फलैरेचित्यमनुभवसिद्धं, सर्वदैकरूपत्वं धर्म्मस्य विरुच्यते । सुतरासाधनावां लीवस्यगोच आस्थादीनां कैचिन्नात् । तत्कार्यं ह्युपस्थापि यैरुक्त्यं नित्यत्वोपि धर्म्मस्य गृह्येदिति चेत् अत्रोच्यते ॥ अतिशयितान- तिनित्यतमुत्ससाधनतां ज्ञात्वा धर्म्महेतुता न चेत्सत्र विकल्पारथे धर्म्महेतुत्वाभ्युपगमे कार्यं न वैचिड्यं धर्म्मस्य । अथ न धर्म्मो हेतुः सहेतुसान्नापयचसुपसाधनानां सातिशयनिरतिशयतदायतः फलविभाग इति । धर्म्मस्थानर्थेकरमापचते ॥ ततो न धर्म्मस्य सर्वभा निरयता ॥

कस्तर्हि भ्रेयोपकारीत्यत्राह—

मूढारा—गुणभरयसहाओ अभ्युदयभिःश्रेयसप्रदानादुपकारः सहागामी । एतत्तं य—

इत्याद्यावाप्युक्त्वोर्वराक्वियरति वीरभीशुनिषपादां ॥
 कृत्वा लोकश्रीं सुतरपरिभिः प्राप्य पूजां निश्चिष्टम् ॥
 मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियायिभजरोगजोक्ताप्रदीने ॥
 मोक्षे नित्योक्तसौख्ये स्थिति निरूपणे यः सो नोऽव्यात्सुख्यमः ॥

वांछयादयोगशयुज परमार्थनोपकार कसहावा न सुविति हेतु न मनागत्यादरः कार्यः । धर्मं तु तद्विलक्षणत्वाद्भी-
 रगमादरना भवितव्यमित्युदेदेनासहायकवत्प्रकरणेऽपि धर्मस्योपकारकसहायकोक्तिरुपयोगिनी । ननु चारित्रप्रधानस्य
 धर्मस्य देतमहायशभाष्यतत्तादृशतायुगपन्नेति न संभवं । धर्मावुच्चिद्यतदुतराजन्यसुकृतसम्भारस्य निःश्रेयसावसाना-
 न्मुदयसायनप्ररोपकारकमहायशभाष्यमन्यगदिरोगात् ॥

अर्थ—तत्पददर्शन, सम्पत्ति चारित्र और सम्पत्तिरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म जो इस जीवने धारण
 किया था वही पर लोके हमका कल्याण करनेवाला सहायक होता है-यह रत्नत्रयात्मक धर्म दुर्गतिके तरफ जानेवा-
 ले जीवको धारण करता है अर्थात् शुभ इंद्रादिधर्मों स्थापन करता है-इसलिये इस रत्नत्रयको धर्म यह अन्य
 नाम प्राप्त हुआ है-यह जीव इस जीवको परलोकमें कल्याण करनेवाला मित्र है क्योंकि यह अमृतदयसुख और
 मोक्षयुक्त हो देनेवाला है।

आगममें इस धर्म के विषयमें ऐसा कहा है—

मय, शोक और त्रिस्तताको दूर कर यह धर्म जीवको इस भूतलके और स्वर्गिक सौख्यको अर्पण करता है-
 लोकायतके ऐश्वर्य देकर यह धर्म देवेंद्र और राजेंद्रों के द्वारा जीवको पूजित करता है-यह जीव धर्म के मत्तादसे
 मृत्यु, रोग, इष्ट वृद्धाश्रयता नियोग, वृद्धावस्था, शोक इत्यादिक आपत्तियोंसे रहित होता है-और नित्य, उपमा-
 रहित और महान् मोक्ष विषय है ऐसे मोक्षकी भी प्राप्ति कर लेता है-ऐसा अपूर्व हितकारक धर्म अर्थात् रत्नत्र-
 यात्मक धर्म हमारा नित्य रक्षण करे

चन्द्रो—अमहापत्य भागोंके प्रकरणमें सहायका निरूपण करना कैसा योग्य दीखता है ?

उत्तर—इस जगते जिन बांधवोंको सहायक समझकर रक्ता है वे वास्तवतया सहायक नहीं है इसलिये

उनमें आदर नहीं करना चाहिये और सम्पत्ति, ज्ञान और चारित्रात्मक धर्म में आदर करना चाहिये क्योंकि यह

जीवपरिणाम है और उपकारक अर्थात् सहायक हैं। इस धर्म आचार्य आदर उत्पन्न करते हैं। धर्म ही सबसे उच्छेद सहायक है। जाति, धन वगैरह पदार्थों से उत्कृष्ट सहायता कभी भी नहीं मिलती है और न मिलगी। इसलिये प्रकृत अयहायता-मही यह वर्णन हुआ।

सम्यक्त्वादिक शुभपरिणाम उत्तमगति, आति, गोत्र, संवाज, सहनन, आयुष्य, सातावेदनायादि शुभकर्म इत्यादिक उच्च सामग्र्यक्षो देकर नष्ट हो जाते हैं। इन परिणामों में देवपना, मनुष्यपना, पंचेन्द्रियपूर्णता, पर्याप्तक, अस्वप्ना, कृतीनपणा, शुभ और नीरोपश्रुति, दीर्घजीवित्व और सुखामस्था प्राप्त होती है क्योंकि इन परिणामों से पुण्यका उदय होता है। इन परिणामों से दीक्षा लेने के लिये आत्मा तयार होता है और निरविवार रत्नप्रयकी प्राप्ति होती है, इसलिये धर्म से उपकाररूप सहायता प्राप्त होती है।

इंसा—चारित्र्य ध्यानपूर्वक होता है परंतु मायांग 'सम्यक्चरणसुदमहयो' ऐसा उलटा क्यों कहा है अर्थात् चारित्र्यपूर्वक ज्ञान होता है ऐसा क्यों उल्लेख किया है ?

उत्तर इस उल्लेख का अभिप्राय ऐसा है—सम्यग्ज्ञान होनेपर भी असंयत सम्यग्दर्शिको चारित्र्यका अभान रहता है इसलिये चारित्र्य के बिना महान संनर और निर्जराभी मुख्यगुण नहीं माने जाते हैं। इस लिये मुख्य-तारा अभिप्राय लेकर चारित्र्यको प्रधानता दी गई है। और इस विषयमें ऐसी युक्ति है—सम्यग्ज्ञान उपाय है और चारित्र्य उपेय है परार्थ की दृष्टिमें सम्यग्ज्ञान प्रधान है अर्थात् कारण की दृष्टिमें ज्ञान प्रधान है परंतु चारित्र्य प्राप्य है इस दृष्टिमें मुख्य है।

'जो पुण धम्मो जीणिण द्दतो' इस वाक्यसे धर्म सर्वथा नित्य है इस कल्पना का परिहार हुआ। क्योंकि धर्मान्तरणमें प्राणिशोको जो निमित्त सुखादि फलों का अनुभूत आजाता है इसलिये धर्मका मर्मदा एक स्वरूप नहीं है अर्थात् रत्नत्रय रूप परिणाम विनश्वर धर्म मंडा आचार्यों ने दी है उनमें तरतमता होनेसे उनसे प्राप्त हुए सुखादि फलों में भी तरतमता आनन्द अनुभूति आती है। इसके साथक स्त्री, वस्त्र, गन्ध, पुष्पमालादिक पदार्थों में विविधता देखी जाती है इसमें उमका कार्य जो सुख वह भी अनेक रूपका अनुभवों आता है।

धर्म नित्य मानने पर भी ऐसी विविधता हो सकेगी ऐसा कहना योग्य नहीं है। अतिशय मुलके साथक अयमा अमानस ये स्त्री वंधादिक पदार्थ होते हैं उसके लिय धर्म कारण है या नहीं- ऐसे दो विकल्प यहां होते हैं।

यदि धर्म कारण है ऐसा मानते हो तो धर्म को निश्चिन्ता अर्थात् नानाविधता है ऐसा मानना होगा. यदि धर्म उसका हेतु नहीं है तो सामान्यकारणोंके आधीनता से कुलके साधनोर्म निर्यदिश्य और सातिशय ऐसा फल दियासा नहीं हो सकता है. अत एव धर्म ही कारण मानना चाहिये. नहीं तो धर्म की व्यर्थता होती है. इस बातसे धर्म को सर्वथा नित्य मानना योग्य नहीं है.

शरीर-द्रव्यविणवीर्णां वसहायताभाषणां सद्रोचयानुपगमनिवर्तनमुपेन स्तिरग्युपरमायाः—

वदस्स वंधणे न ण रागो वेहमि होइ णाविस्स ॥
 विससस्सिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥
 भोगं रोगं पनं सारुपं मेहं शुषिः क्षिप्यो यथा ॥
 यंधुं च मन्थते यंधं साधुरेकत्वयासितः ॥ १८२० ॥
 पद्धरप यंधनेनेव रागो यस्य न विग्रहे ॥
 स करोत्पावरं साधुः किमर्थे अर्थकारिणि ॥ १८२१ ॥
 यंधनतुल्यं धरणसहायं पश्यति गात्रं मथितकपायः ॥
 यो मुनिषयो जमघनसंगे तस्य ॥ रागःकुतहितभंगे ॥ १८२२ ॥

इति एकत्वम् ।

विजयोदया—वदस्स वंधणेव ण रागो रज्जुभ्रूपलाविदेदस्य यंधनीकपासापकत्ते रज्ज्वादी द्वासेहेतो यथा न रागः । तथा वेहमि होइ णाविस्स सुपदु सलाघनविधेरुक्त्वव दुःपेहेतावसारेऽस्थिरेऽभुचिनि कथि न रागो भवति ॥ मुण्यणसण्णिनो ति आश्रयः । विससस्सिसेसु विपसदशेष्यणि ण रागो जाणिस्स सानिनो नैव रागः । केसु ? आयेसु सत्थेसु ॥ कथमर्पानां विपसदशेत्येति चेत् । यथा विप दु सदापि प्राणान्वियोजयति तथाचर्योप्येवतत्क्षणादिषु दयापूत दु पेन योजयति, प्राणानां न विनाशे निमित्तं भवति ॥ तथाहि ॥ आम्बिनोऽप्यर्थे एव परस्परं प्रधाते प्रयतन्ते अतएव महात्मनोऽनुपागमहाभयतापानां मूयकारोत्पत्ता । यत्तेषु महाभयेसु इति यदि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिन्य सहायदुदिवथा विपकंदगादौ, मयकारि शरीरद्रव्यविणविकमिति पुनरु पुनरभ्यस्ततो नेतरु सहायोऽयमिति चिन्तामवधः भवत्येते ॥

बहुभन्तागदुरासामिषारणद्वारेण अथ सहायवान्धावपिबुमाह—
 मूढाया—धन्यो रज्जुद्वारादौ । न रागो न प्रीतिः दुःखदेतुत्वात् । णानिस्स सुखदुःखासाधनविचैरुत्तरं ।
 विमसरिसेसु दुःखरराधाणप्रणमित्थाय खेदजन्येषु । महत्पण्यसु निषवदपञ्जरकवमवावविभवंदरेषु । यद्धि यन्त्यानु-
 पइरि तत्र वयं न विचिन्तिनः सहायबुद्धिर्वा विपन्दत्तादि । अपकारि च शरीरद्रविणादिकमिति पुनः पुनरस्य पश्यतो
 यत्तरसहायोहमिति पित्तप्रवचनः प्रवर्तते इति तात्पर्यम् “ इत्येकत्वावुपेक्षा”

अर्थ—रज्जु अथवा धातुसलासे बद्ध हुआ पुरुष धननिक्रिया करने में साधकत्वम् ऐसी रज्जुदोरी और
 सोह की सांख्य में प्रेम नहीं करता है जैसे सुखदुःख के साधनोंका विवेकज्ञान खिनको है ऐसे पुरुष शरीर में
 स्नेह नहीं रखते हैं। यह शरीर, निःसार, अस्थिर, अपवित्र है ऐसा समझकर वे इससे विरक्त होते हैं। क्योंकि वे
 गुणोंसे पक्षपाती हैं। ज्ञानी पुरुष विषयके समान दुःखदे ऐसे धर्मोंमें राग भाव नहीं रखते हैं। विषयके सदृश धन दुःख
 दायक क्यों हैं इसका उत्तर ऐसा है—विषय दुःख देता है और प्राणोंका नाश करता है जैसे धन भी कमना, रक्षण
 करना इत्यादि कार्योंमें उत्पन्न पुरुष को दुःख उत्पन्न करता है—यह धन प्राणों का भी नाश करनेमें निमित्त है।
 इन धनके लिये प्राणी परस्पर घातपात करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इस लिये यह सहायका कारण है।

जो जिसका नाश-अपान करता है उसमें उसकी-अर्थात् विषयकी सहायता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती
 है। विषयकटाधिकोमें जैसे लोक ये भरे उपकारक है ऐसा नहीं समझते हैं जैसे शरीर, घनादिक पदार्थ भी अपकारी
 हैं ऐसे विषयकी जन मनश्चेत है। और बारवार इसी विषयका आत्म्यास कर बलि में अर्पण करते हैं ऐसी चिन्ता करते हैं।
 एकत्वावुपेक्षाका वर्णन समाप्त।

अन्यथाधननिक्रियार्थमुत्तर ग्रन्थ ॥ एकस-

किहदा जीवो अण्णो अण्णो सोयदि हु दुविसयं णियं ॥

ण य वहुदुक्खपुरक्कडयपाणं सोयदि अबुद्धी ॥ १७२४ ॥

दुःखव्याकुलितं दृष्ट्वा किमन्योऽन्येन शोच्यते ॥

किं नात्मा शोच्यते जन्ममृत्युदुःखपुरस्कृतः ॥ १८२३ ॥

पितृयोदय—किहदा अण्णो जीवो अण्ण णीमं किहदात्तोयदिति पदकटना । अन्यो जीवो नीमं स्वस्मादन्य-

कालिण्ये । पुत्रियत्तं दुःखेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति । न य शोचति नैव शोचते ॥ कं अचलं अतमलं कीदृशभूतं
यदुत्पन्नपुरकं नारीरैरानुकी, मानसी, स्वभाषिकैश्च बहुविधुर्धौः पुरस्कृतं अनुस्मिन्पतिते काले चतसृषु गतिषु वि-
चित्रासुदेवीदयाम् । प्रत्येकवकात्मभावसहकारिकास्तिष्ठन्त्यसौमित्राणिस्वयमुपलम्भायदः । अतः पुनरुत्पन्नमिष्यति मां
नलीकम् । न हि कारणाभ्यासात्स्थितसहकारिण्यस्ये सति कार्यसाधुद्रव्यो नावसिति, यो यद्विचि विनासादेदुदयं स कथ-
मिव तद्विमुक्तः । यथा स्वयमि यथवीजेऽनुपजायमानस्युतांकुरस्तथा सत्यसंज्ञेचोदये यदि न स्युर्दुःखादीन्यसिद्धेयकारणा-
नि न स्युर्न भवति च तस्मादात्मन्येवोदाहरितस्य दुःखवीजस्य केनोपयेनापयो भविष्यतीत्युक्तं बुद्धिः तथा अत्रुद्धिः ।
एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमवसृजति तद्विनाशे न च सततं भयतं च करोति तथा च
प्रयत्नमात्मस्य स्वदुःखस्य निवृत्तये न आरंभोपसति ततोयं दुःखं मोक्षं पर्यटति न च परो दुःखात्मातुं शक्यते तेन हि
तेचित्तानि कर्मणि कथं कले न प्रवर्तयति ॥ न हि परस्य शोकः कलशविना कर्मणा प्रतिबंधकः, तथा चान्यथापि ॥ मीति
पूये छन्दे कर्म मनोवाक्यकर्मभिः । न विचारयितुं शक्यं संहतविदेशोरपि । इति हेमाद्र्युःपापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः ॥
आत्मनोपयेन च स्वदुःखानुपपत्त्यं परदुःखस्योच्यते । अथवा परदुःखानुपपत्त्यनुपपत्त्यनुपपत्त्या एव परदुःखस्याप्य-
तामरं प्रेक्षमाणः परदुःखस्योपपत्त्यं कर्तुं न शक्यत इति न शोचति, सः दुःखोभूतं प्रवतत इति भाष्योऽस्य सूत्रे ॥

धर्मं धेयतां प्राप्त्यितुं अन्तर्यं प्रबोधसमायाभिर्योपक्षणाः स्वदुःखात्स्वदुःखमन्यविलयुद्धिः कथमन्यं दुःखात्

शोचनीति सदेवदमूतमिदंवाह—

मूलारा—नीत्यं निजं ज्ञापिषं । पुरकं पुरस्कृतं । भावविशिष्टदुर्गतिदुःखवीजस्यसदेवोदात्तस्मि अन्त-
रिधत्तत्वात् । अनुद्धी आत्मरूपदुःखवीजाभावोपायविचारसूयत्वात्तदनिवर्धपरदुःखसोपनानुपपत्त्यात्वात्पुद्धिः । एतदुक्तं
भवति—परस्य दुःखस्यतमन एव मन्यमानः शोकमपमसो ज्ञतो पाति । तदुच्छेदे च तिले प्रवतते । तथा चास्य न स्पष्टः लो-
च्छेदाय प्रयत्नः स्यात् । ततोऽयं दुःखं भोजं मोक्षं संशरति । न च परं दुःखाभातुं शक्यते । न हि परस्य शोचनं तदुःखकालं
तद्वर्माणं प्रतिबंधकं । तथा वाग्धवायि—

मीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्यकर्मभिः ॥

न निवारयितुं शक्यं संहतविदेशोरपि ॥

एवं परदुःखस्य स्वदुःखादन्यथाप्यनुपक्षमाणः परदुःखं निवारयितुं न शक्यते । इति न शोचति परदुःखं । दुःख
या ऐतुं यत्त इत्यभिप्रायः ॥

अर्थ—अपने संबंधी जनोंको दुःखसे पीडित देसकर यह अनुद्धि मनुष्य दुःख करता है शोक करने
लगता है. शोक करना उनके लिये उपयोग है. क्योंकि वह स्वयं अनेक दुःखांसे पीडित हुआ है. अर्थात् अपना

दुःख दूर करनेमें अग्रमर्थ जिन दुःखों का दुःख दूर करने में कैसा समर्थ होगा? शारीरिक, मानसिक और स्वामाधिक दुःखों में पीड़ित होकर वह अपने को सुखी समझ रहा है अत एव स्वयं अज्ञानी है-चारों गतिओं में नाना प्रकारके अगता वेदनीय कर्म के उदयसे और दुःख, वेद, कल, भाव रूप सहकारी कारणों की सहाय्यतासे अनेक आपत्तियाँ भरे उपर आई हुई थी और भविष्यकालमें आवेगी, भरे को दुःखित करेगी इसको वह स्वयं नहीं जानता है, उपादान कारणों को सहकारी कारणोंकी मदद होनेपर अवश्य कार्य होता है- जो मिलके होनेपरभी उत्पन्न नहीं होता है वह उसका कैसा कार्य माना जायगा? जैसे सातुका बीज होने पर भी आप्रवक्षता अङ्क उत्पन्न नहीं होता है क्यों कि वह खवकीजका कार्य नहीं है वैसा यदि असता वेदनीय कर्म का उदय होनेपर भी दुःख, लोक, तापादिक कार्य नहीं होंगे तो असता वेदनीय कर्म उदयका कारण नहीं है ऐसा मानना पड़ेगा, परंतु दुःखादिक उत्पन्न होते है, इससे असता वेदनीय कर्म उनका उपादान कारण है ऐसा निश्च होता है.

इसलिए आत्मप्रदेशोंमें ठहरा हुआ, दुःखका कारणभूत असातावेदनीय कर्म किस उपायसे नष्ट होगा इसका ज्ञान हम जीवको नहीं है. इसलिए इसको अज्ञानी कहा है. यह जीव अन्यके दुःखोंको अपने ही समझकर शोकभी प्राप्त होता है और उसका नाश करनेका प्रयत्न सतत करता है. ऐसी प्रवृत्ति करनेवाला यह अज्ञानी पर दुःख दूर करने के लिए प्रवृत्त होता है. परंतु स्वदुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता है जिससे संसारमें बार बार दुःख भोगता हुआ घूमण करता है. परंतु उससे दूसरा पुनः दुःखोंसे रहित नहीं किया जा सकता है. जिसने जो कर्म उत्पन्नित किए हैं वे उसको फल देते ही हैं शोक करनेपर क्या फल देने वाले कर्म रूक सकते हैं? अर्थात् शोक करने से स्वजनोंको दुःख देनेवाला कर्म कोई दूर नहीं कर सकते हैं- आगममें इस विषय में ऐसा कहा है.

प्रतिषर्द्धक मन वचन और कायके द्वारा जो श्रणिजोने कर्मोपादान किया है उसके फलको सर्व देव रूष्ट होकर भी दूर नहीं कर सकते हैं. इसलिये दूसरोंका दुःख देखकर शोक करना व्यर्थ है, अपने दुःखसे पर-कीय दुःख भिन्न है. ऐसा विचार करनेवाला जबि दुःखोंका दुःख दूर करना अशक्य है ऐसा समझकर शोक नहीं करता है. और अपने दुःखोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है ऐसा अभिप्राय आचार्यने व्यक्त किया है.

मयस्य जीविराशिरात्मनोऽन्यत्वेयमाधुन्यस्यत्वाधुनेकेति कथयत्युच्यताया—

संसारमि अणंते संगेण कर्मणे हीरमाणणं ॥

को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणमि जणो ॥ १७५५ ॥

संसारे अममाणानामनंते कर्मणाद्धिनः ॥

कः कस्यास्ति निजो मूढः सज्जतेऽत्र जने जने ॥ १८१४ ॥

विलयोक्त्या—संसारमि अणंते अंतातीते पंचविधे संसारे परिवर्तने । संगेण कर्मणे आरभीयमिथ्यदर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मण्ययिण पुद्गलरूपेण हीरमाणणं आरुध्यमाणानां बहुविधां गतिं प्रति । को कस्स होइ सयणो नयेतामिमत्तस्स तस्यैव सज्जनः सर्वथा भवेत् । परज्जो वा सज्जनतां नयेयात् ॥ न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परतयाणमतो न कश्चित् स्वो जनः परो वा ममास्ति । सर्वो जीविराशिमिथ्याव्याधिगुणविकल्पोपनीतानास्योऽन्य एवेति कृतव्ययसाधस्य कश्चिदेव दया प्रीतिर्या कश्चिद्वयथा देवोऽसमाभक्तरूपे न प्रादुर्भवति ॥ तत्रो विरागोऽप्यस्य चारित्र्यम-
विच्छेदं भवति । सज्जवि जणमि जणो आसक्तिं करोति जने जनोममायं भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो शरताः स्वामीति वा मोहादस्त्वुत्पत्तयस्य अथवागात्रकूपस्य निरस्ससज्जनत्वस्य परिज्ञानान् ॥

न कश्चित्कस्यापि स्वो जनः परो वासतीति सर्वेभ्यः पृथक्त्वे भावयितुमाह—

मूढागा—हीरमाणणं सां तां गतिं नीयमानानां । को इत्यादि । यदि हि यो यस्य स्वजन्तत्वेनाभिमतः । स

तस्य स्वजन एव स्यात्तदा । परत्वेनाभिमतो वा कदापि क्वचि स्वात्म्ये गच्छेत् तदा स्वजनोऽयं परजनोऽयं इति नियमो दु-
र्बलः । नैपयोऽस्ति, स्वयमकर्मपरत्वं प्रत्यक्षसर्वेषां तर्हि कुवत्कोऽयं स्वपरविभाव इत्यत्राह—सज्जवि ममायं पुत्रो भ्रातेत्यादि
तथा प्रीतिविषयतया आनुरूप्येण दौल्लादिनिर्देयत्वेन विषयतया वा आसक्तिं कथयति । मोहो मत्ताः । सर्वेऽप्यन्ये, सर्वेभ्यो
नि पाहमन्य इति नैयदानाभावात् । एवं च भावयतो यतोः स्वपरविभागवुद्धिर्व्यपगमाद्भादुर्भवत्वाद्देवपरिणतेः
मन्यन्न समतापरगमूढाभिः परिणमेते ।

संपूर्ण जीविराशि अपनेसे भिन्न है ऐसा विचार करना ही अन्यत्वाधुनेक्षा है ऐसा आगेकी मायामें
आचार्य कहते हैं—

अर्थ—पांच प्रकार के परिवर्तनोंसे युक्त इस अनंत संसार में मिथ्यादर्शन, अविरति, योगरह परिणामांसे

उत्पन्न हुए कर्मरूपी पुद्गल स्फूर्ति बद्ध होकर यह जीव अनेक गतिजोमें अग्रगण्य करता है, इस लिये इस संसारमें कोई भी जीव किसी का नियमसे स्वजन है नहीं। यदि स्वजनसंबंध होता तो यह स्वजन है और यह परजन है ऐसा मानना योग्य होता। यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका हमेशा ही स्वजन मानना पड़ेगा, जो परजन है वह कभी भी स्वजन नहीं होगा अतः यह नियमन नहीं है, सब जीव कर्मसे परतंत्र हो रहे हैं, अतः मेरा कोई स्वजन और परजन नहीं है, सब जीवसमुदाय मिथ्यात्वादिकि विविधित्व परिणामोंसे एक दूसरेसे भिन्न ही है ऐसा विचार कर है क्षणिक तू किसीमें प्रेम किसीमें निर्दयता, द्वेष ऐसी असमानता नहीं धारण करनी चाहिये, जब रागद्वेषरहित तू ही जावेगा तब निर्विकल्प चारित्रिका धारक बनेगा, मोहसे यह भेदा भाई है, यह भेदा पिता है, पुत्र है भानजा है एसी कल्पना करके अन्यजनोपर आसक्ति करता है, मैं इनसे भिन्न हूं और ये मेरेसे भिन्न हैं, ऐसा भेदज्ञान नहीं होनेसे अन्य जनोंमें आसक्ति उत्पन्न होती है,

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभावं दर्शयत्युत्तरागथा ॥

सच्चो वि जणो सयणो सज्जस्स वि आसि तीदकालमि ।

पंते य तहाकाले होहिदि सज्जणो जणस्स जणो ॥ १७४६ ॥

काले ऽ नीतं ऽ भवत्सर्वः सर्वस्यापि निजो जनः ॥

तथा कर्मानुभावेन भविष्यति भविष्यति ॥ १८२५ ॥

विजयोदया—सच्चो वि जणो सयणो सज्जणो अंतुरंगतः स्वजनः । सज्जस्स वि सर्वस्यापि प्राणभृत् । तीद-
कालमि अतीते काले आसि आसीत् । पंते य तथा काले भविष्यति तथा काले । होहिदि भविष्यति । सज्जणो जणस्स जणो
स्वजनो जनस्य जनः । पतदेनेनास्पायते ॥ अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वः स्वजन असीद्भविष्यति च ॥ तत्त-
स्सर्पसाधारणत्वे स्वजनत्वस्य इति ममागं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । तेऽप्यन्ये ममाप्यन्यस्तस्य इत्येतदेव तत्त्वमित्य-
न्यत्वस्य स्वरूपविपरीतानुप्रदानमन्यत्वानुपेक्षा ॥

सर्वः सर्वस्य स्वजन आसीत्कर्मवत्साज्जुरिष्यति भवति चेति सर्वसाधारणे स्वजनत्वे सति भवेवायं स्वजन इत्येव
संकलनो मम स्यात्, ते मदन्त्ये तेम्यथादसन्य इति स्वरूपविपरीतान्यत्वभावनायमाह—

भूलापरा—जणो जणुः । सज्जस्स प्राणिनः । तीद अतीताः । पंते भविष्यति ।

स्वजन आर परजन इस लक्षकका अभाव प्रकारान्तरे दिखते है-

अर्थ—इस जगत्में जितने प्राणी है उनसे भूतकालमें मेरा चंचुत्यका संबंध था प्रविष्यकालमें भी इनसे स्वजन संबंध रहेगा अर्थात् संबंधन संबंधनके बंधुये और आगेभी अर्थात् प्रविष्य कालमें भी रहेंगे अर्थात् स्वजनत्व संबंध गर्व जरीके साथ सर्वजीवोंका सामान्य रूपसे होनेपरभी यही मेरा स्वजन है और ये मेरेसे मित्र है ऐसा समझना भूलने वाली नहीं है. इसलिये ये प्राणी मेरेसे मित्र हैं और मैं इनसे मित्र हूं ऐसा विचार करना अन्य-त्याज्यमेका है.

रास्ति रस्ति रुक्खे जह सलणयाण संगमणं ॥

जावीए जादीए जणरस तह संगमो होई ॥ १७५७ ॥

संगमोउत्ति साकुंतानां रात्रौ रात्रौ तरो तरो ॥

तथा तथा तन्माजां जातौ जातौ भवे भवे ॥ १८१६ ॥

विश्वबोधदा—रास्ति रस्ति रात्रौ रात्रौ । रुक्खे रुक्खे पृथ्वे । जह सलणयाण संगमणं यथा वसिष्ठा संगमनं । जादीए जादीए अस्मिन् जगत् । जणरस जगत् । तहा तथा संगमो होदि संगमो भवति । यथा रात्रायाश्चयमन्तरेण स्वा-
तुमन्मयीः वसिष्ठा योग्यं सुखमन्विष्य दीकते ॥ तद्वाग्निनीमि निरप्योपगदितस्तुपुद्गलस्त्वभाः परिरपकमात्मनो-
दीराः उपरीतरप्रदणापिमाः सरीरमहजगद्वेदा योनिस्तसितमास्तरति ॥ तत्र ययोः शुक्रयोनिमतमयमाश्रितोऽनुधि-
तर्क नीः सितराशिनि संकल्पवति । तथाभूतगयोरेव दुष्मशोणितयोऽप्यस्त्येष्टा धातु इति ॥ अन्ये न एवंभूताश्च ह्यजनि-
नोमिस्तुन्मयाः ॥ कानिदे वसिष्ठां निपासपूरुषा इवेति भाषाः ॥

तदेव स्वरजताप्रतिनिवृत्तत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति ॥

मूलादा—जादीए लगमनि ॥

अर्थ—प्रत्येक रात्रीमें प्रत्येक पक्षपर जैसे पक्षी आकर बैठते हैं. वैसे प्रत्येक जन्ममें प्राणिजोंका संगम होता है. जैसे रात्रीमें आश्रमके बिना पक्षी ठहर नहीं सकते हैं इस लिये योग्य पक्षोंको शोधकर उसका आश्रय लेते हैं. वैसे प्राणी भी संपूर्ण असुख रूपी पुद्गलस्त्व नष्ट होने पर पूर्व शरीरका त्याग करते हैं. अन्य शरीरको धारण करने की इच्छा करते हुए शरीरग्रहणके योग्य प्रदेशकी जिसको योनि ऐसा नामान्तर है प्राप्त कर लेते हैं. वहां

जिनके एक और वीर्यका आश्रय इस को मिला है उनको **प्राण** जीव मातापिता समझने लगता है, तथा जिन्होंने उनके ममान जिनके रक्तवीर्य का आश्रय लेकर जन्म धारण किया है वे उसके माई है इस प्रकारसे स्वजनता सुलभ है, जैसे ब्रह्ममें पक्षियोंको रहने के लिये वृक्ष सुलभ है-

पद्विया स्वासये जह तौह तहिं अहियंति ते य पुणो ॥

छंडिज्ञा जंति णरा तह णीयसमागमा सन्धे ॥ १७५८ ॥

अध्वनीना इवैकत्र प्राप्य संगं ततोऽग्निः ॥

स्थानं निजं निजं यान्ति हित्वा कर्मवशीकृताः ॥ १८.७ ॥

पिङ्गवोदया—पट्टिया पशिकाः। उद्यासथे उपाध्रथे कस्मिंश्चित्। जइ यया। तर्हि तर्हि तस्मिंस्तस्मिन् प्रामनगरादौ।
अङ्गिपति मन्त्रोऽयं दैकते। तेद नेत्र संगतः पशिकाः। पुणो पञ्चाह्। छुटिता ह्यस्वः। अंति याति स्वमिमते देशे। तया।
नीयमभगमा मध्ये तथा कंयमभगमाः सर्वेषु च ॥ एतेन ग्रंथमभगमाः गमस्यानिशया श्यावयाताः ॥

बंधुतां विपटनद्वारेणान्यत्तयं भाषयितुमाह-

मूलाङ्ग—उवासात् यसेरकत्पाने । तद्दिं प्राभनगराणुबोदयमिति । अस्मिंयेति अन्योन्यं डौकन्ते । तद्य पयिक-
नारसंगमसना बंसुसमगमा यदाभी दतः पृथङ्क न स्युः कथं विषट्ठे इत्यन्तित्वादिप्रेक्ष्यम् ॥

अपें—जैसे किसी एक पर्यटाला में पथिक लोक आकर रुकते हैं, तथा किसी ग्राम और फर भी जाते हैं पुनः वे पथिक भ्रियुक्त होकर भी इधर उधर अपने इष्ट स्थान को जाते हैं. वैसा ही सर्व वंधुस-मागम है. इस गाथा में वंधुसमागम की अनिवार्य स्पष्ट की गई है.

भिण्णपयडिस्मि लोए को कस्स समान्वदो णिओ होअज्ज ॥

कज्जं पडि संयंघं बालुयमुढीव जगमिणमो ॥ १७५९ ॥

नानाप्रकृतिकैर्लोकैर्कस्य कस्तस्त्वतः प्रियः ॥

कार्यश्रुदिदय संघो वालुकामुष्टिवज्जनः ॥ १८२८ ॥

विनाशो नृपा—भिण्णपयट्ठिमि लोणे नानास्वभावे लोके । कस्स सभासदो पियो होल्ल कं कस्स स्वभावेन पियो भवेत् । समानशीलतायां हि सत्यं भवति । न च सर्वबंधवः समानशीलाः कथं वदंति तेषां वा स वांधवः । कज्जं ण्डि संपेत्ते कार्पसोदिद्वय संबंधः आसति कार्पेडस्ति संबंधः । वाहुकुमुदीय वाहुकुसुमिद्विष । जगमिणमो लोकोयं । यथा वाहुकानां भिद्यमण्ठानां द्वयद्वयमंतरेण न स्वाभाविकः संबंधो येन संगता मुष्णिमुपयुग । उदकादिद्रव्योपनीतैव संगति-स्तासौ, एवं कार्पौपनीतैव संगतिः सज्जनानां ॥

मा भूदुभयविरोधेना तदात्मनो धंभुभिः मंदबधः । स्वाभाविक्येमादिभावेन भविष्यति इति मोक्षादभि-निनिशमानमुद्रोपपत्तिः—

मूलारा—भिण्णपयट्ठिमि नानास्वभावे । को इत्यादि समानशीलतायां हि सत्यं । न च सर्वे बंधवः समान-शीलाः । कथं वदंति तेषां संबंध इत्याह—कज्जं षडि कार्पेमुदिद्वय, स्वाभिमयसपथमवेद्वय । संबंधः प्रियत्वेन वृत्तिः । न वार्धं स्पेथान् । यद्योक्तः—

गते ते लोकेने नाप ये लभे विफलारसे ॥

कार्पेमुद्रोपे यत्नेन तद्विद्धि गतमेव हि ॥

वक्तुः किं स्थितमित्याह—जगमिणमो लोकोयं । वाहुकुमुद्विष । यथा वाहुका द्रवद्रव्येभ्य न स्वाभाविक संबंधेन संगताः तस्यो मुष्णिमुपेयुस्तथा साधवः कार्योपेक्ष्यैव संयुक्ता एकत्वं गच्छेयुरिति भावः । एवं च साधवतः का-र्योपनीतसंगतिविलम्बप्रसूता इत्ययं विभ्रमविभ्रमपुन्यत्वेकात्मनिर्बंधेन धर्मव्यापार्य बोधयता समुन्मीलति ॥

अर्थः—यह जग नाना स्वभाववात्क है. इसलिये कौन प्राणी स्वभावतः प्रिय है? समानशील प्राणीमेंही मान्य रहता है. परंतु मर्ब वषु समानशील-समान सभाववाले नहीं होते हैं. किंतु कार्यके यश होकर ही संबंध होता है. कार्य हो जानेपर संगंध नष्ट होता है. जैसे वाहुके कण भिन्नभिन्न रहते हैं परंतु उनमें जलादि द्रव्यवर्धार्थ ॥ प्रमेय होनेपर ये कण अन्योन्य मिल जाते हैं अर्थात् स्वाभाविक संबंध उनमें नहीं हैं. उदकादि द्रव्यसे ही उनका परस्पर संबंध होता है. उसी प्रकार कार्पेसदी स्वजनोके साथ संबंध है.

ते च कार्यहेतु संबंध स्पष्टयत्युत्तरमाथा—

माया पोसेद्द सुयं आघारो मे भविस्सदि इमोति ।

पोसेदि सुदो मादं गब्भे धरिओ इमाएत्ति ॥ १७६० ॥

माता पोषयते पुत्रमाचारोऽयं भविष्यति ॥

मातरं पोषयत्येव गर्भेऽहं विषृतोऽनया ॥ १८२९ ॥

विजयोद्या—माया पोसेदि सुदं माता पोषयति सुतं। आचारो मे भविष्यति इत्येति अयं समाचारो भविष्य-
तीति। पोसेदि सुदो मां पोषयति सुतो मातरं। गन्धे धारितो इत्यादि गर्भे धारितोऽनयेति ॥

व्यापिष्वमेव सम्बन्धं निर्दिशति—

मूला—इमा ए स्ति अनया। मातरं पोषयतो मे कुवशलाविशयादुत्तकोऽन्योऽप्युपकाराय प्रवर्तिष्यत इति
महाऽपोषणे च यो मातुरपि न प्रत्युपकरोति स कथमन्यथा कुवशः प्रत्युपकारित्वोत्पत्त्यर्थं (१) सर्वोऽपि जनो मम
निष्पत्त्यर्थेन प्रवर्तिष्यते वार्यापेक्षयैव पुत्रो मातरं पुण्यातीति मन्यते।

इत संप्रथमो उदाहरणं स्पष्ट करते हैं—

अयं—माता यह मेरा लडका मेरा आधार होगा इस हेतुसे पुत्र का पोषण करती है। तथा इसने मेरेको
गर्भ मे नष्ट मदिने तरु धारण किया था ऐसा समझकर पुत्रभी माताका रक्षण करता है। अर्थात् कार्योद्देशसे स्वजन
परजन यह विभाग होता है। उपकारसे मित्रता और अपकारसे शत्रुता होती है।

उपकारपकारयोः प्रतिबंधात् शत्रुता मित्रता चेति कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकरणा होइ ॥

पुत्तो वि खेणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥ १७६१ ॥

अभिन्नं जायते मिश्रमुपकारविधानतः ॥

तनूजो जायते शत्रुरपकारविधानतः ॥ १८३० ॥

विजयोद्या—होऊण अरी वि शत्रुरपि भूत्वा। पुणो पुनः। मित्तो होदि सुदृढवति स एवतिः। कुतः। उपकारकरणा
उपकारकरणेन। पुत्तो वि खेणेण अरी जायदि पुत्रोपि खेणेन शत्रुमभवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भस्तेन ताडनाद्यपकरण
क्रियायाः ॥ यस्मादेवं ॥

मित्रत्वच्छत्रुत्वस्याव्यौषाधित्वमेव बोधयति—

नूला—अरी अपमानायपकारकरणादपकारत्वेन शत्रुरपि भूत्वा। अत्र समर्थं शत्रुस्थपकार्यपकारकभावे-

नैव मयाये पुत्र शत्रुपक्षगोपितकारकभाषेनापि संशयस्यानवयितव्यत्वात् शत्रुणैव पुत्रोत्पत्तिरिति न स्वाभाविकः संशयोऽस्तीति भावनादौरेव अन्वयव्यतिरेकमाशङ्क्यते ।

इत्यत्रा विवेचन—

अर्थ—जो शत्रु है वही उपकार करनेसे मित्र बनता है. पुत्र भी एकदृष्टि में अपकार करनेसे शत्रु बनता है. अर्थात् निर्मलना करनी, ठोकरना इत्यादि अपकारसे पुत्र पिता का शत्रु बन जाता है.

तस्मात् कौटिल्ये कस्मैदं सयणो व जणो व अत्यि संसारे ॥

कज्जं पडि हुंति जगेणीया व अरी व जीवाणं ॥ १७६२ ॥

न कोपि देहिन्ः शत्रुर्न मित्रं विद्यते ततः ॥

जायते कार्यमाश्रित्य शत्रुर्मित्रं विनिश्चितम् ॥ १८३१ ॥

निकर्षोदया—तस्मात्तरमात् । कौटिल्ये कस्मैदं सयणो व जणो व अत्यि संसारे नैव कथितस्त्ययित्यजनः परजनो निश्चये । कज्जं पडि हुंति जीना व अरी व जनः कार्यमेवोपकारणकारत्वात् तत्रां प्रति पंचयः शत्रुवत्थ भवति । न स्वभाविकी वदितुं शक्या ता जीवनात्मनि उपकारणकारकियदोस्त्ययित्ययान्मूलोऽस्ति मित्रमावोप्यनयस्ति इति न रागेद्वयी वदितुं शक्या । मनोऽन्ये त्वं वद प्रागभूत् इति कार्यमन्ययावेमेषेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसंबंधः ॥

तत्र पृथक्—

गुत्सरा—मयणो व जणो व शत्रुजो वा शत्रुः । जणो वा सामर्थ्यात्परजनः । अथवा कयजणो अपकर्ता जन इति ज्ञातम् । कज्जं उपकारणकारत्वात् कार्य । एवं च शत्रुवत्पशुवत्कयोः अन्वविरक्तस्याध्यवसायाद्रागद्वेषोपरमात्मनोऽन्ये गर्वेऽपि न मित्रं इत्यन्यथागुत्सराभिमर्शः ॥

अर्थ—इससे हमें इन मंगारसे कोई मित्रीता स्वजन और परजन नहीं है. कार्य के बल होकर स्वजन और परजन द्वारा दुनियामें चलता है. मित्रके लक्ष हम उपकार करते हैं वह हमारा मित्र बनता है. और जिसके सामाजिक नहीं रहती है. उपकार और अपकार पर शत्रुत्व और मित्रत्वका व्यवहार निर्भर है ऐसा समझकर किसीमें भी रागद्वेष नहीं करना चाहिये. मर्षी प्राणी मेरेमें मित्र हैं वह भावना हृदयमें सदैव धारण करनी चाहिये

शत्रुभिर्न्योलक्षणाभावादे-

जो जस्स वट्ठदि हिंदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ॥
जो जस्स कुणदि अहिंदं सो तस्स रिबुत्ति णायव्वो ॥ १७६३ ॥

हितं करोति यो यस्य स मतस्तस्य बांधवः ॥

स तस्य भणयते वैरी यो यस्याहितकारकः ॥ १८३२ ॥

विजयोदया—जो जस्स पट्ठदि हिंदे यो यस्य उपकारे यतंते । पुरिसो पुण्यः । सो तस्स बंधवो होदि स सस्य भणुमंथति । जो जस्स कुणदि अहिंदं यो यस्य करोत्वहितं । सो तस्स रिबुत्ति णायव्वो स तस्य रिबुत्ति वातव्यः ॥

मित्रशत्रुत्व लक्षणाविच्छिन्नत्वेन समर्थयते—

मूढारा—हिंदे उपकारे ॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

अर्थ—जो मनुष्य जिसका हितकार्य करता है वह मनुष्य उसको अपना बंधु समझता है. जो जिसका अहित करता है उसको वह अपना शत्रु समझता है. अभिप्राय यह है कि, उपकार और अपकार पर क्रमसे मित्रत्व और शत्रुत्व अवलंबित है.

शत्रुलक्षणं पंधुषु दशमिति—

णीया कर्तति विषं मोक्खल्लुदयावहस्स घम्मस्स ॥

कार्त्तिं य अइवहुंगं असंजमं तिब्बदुक्खकरं ॥ १७६४ ॥

कुर्वन्ति बांधवा विषं धर्मस्य शिवदायिनः ।

तीवदुःखकरं घोरं कारयन्लप्पसंयमम् ॥ १८३३ ॥

विजयोदया—णीया करंति विषं बंधवाः कुर्वन्ति विषं । कस्य ? घम्मस्स धर्मस्य, कीदृशः ? मोक्खल्लुदयावहस्स मित्रेणोपदु-पकारिभ्योवायं सांसारिकमतिशययत् सुखं च संपत्त्यतो रत्नत्रयस्य । कारंति य कारयंति च । किं ? असंजमं । दिसान्धमस्तेयादिक्, वदियुगं मतीव महांतं । तिब्बदुक्खकरं नु सद्वनरकादिदुःखोत्थापनोद्यतं । हितस्य विप्रकरणादहिते च परंतवान् दक्षिता शत्रुता बंधुत्वमेतेन । अन्येषां बांधवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनाशुभेक्षणं अन्यत्वात्नु-पेक्षेति कथितं भवति ॥

कर्मों दितविधादिद्वयवर्तःपरस्त्वेन शत्रुत्यावश्यपत्तदन्त्यं भावयन्नाह—
युद्धात्—असंततमं दिसानुवर्त्तेयानि ॥

बंधुमी चास्तविक शत्रु है ऐसा अभिप्राय—

अर्थ—जिसका आचरण करने से संपूर्ण कर्मका नाश होकर आत्मा को मोक्षप्राप्ति होती है और मंगलारिक उत्कृष्ट सुख की-अर्थात् अहमिन्द्र मुक्तकी जिससे प्राप्ति होती है ऐसा स्तत्रय धारण करने में बंधुगण विना उपस्थित करते हैं. इतनाही नहीं पण्डु हिंसा, असत्या, चोरी वगैरह असंयमयी इस जीवसे ये कराते हैं. अति उप पीर, दुःसाह नरकादि दुःखोंसे प्राणीका उद्धार करनेवाले धर्ममें ये बंधु विद्य करते हैं और अधिकतम प्रदत्त करते हैं. इस लिये इन बंधुओंमें शत्रुता दीख पड़ती है. इस प्रकार बंधुओंके विषयमें विचार करना अन्यत्वात् प्रेक्षा है.

इदानीमन्यथायेन साधवो भव्यंते तेषामुपकारक्यरूपेणानुमेवेति चेत्तसि कृत्वा ध्यात्वेह—

जीया सत्तु पुरिसस्स हंति जदिधम्मविग्घकरणेण ॥

करेति य अत्तिवहुगं असंजमं तिब्बदुःखयरं ॥ १७६५ ॥

विजयोदया—अन्वेषणं यतीनां बंधुत्वं कथमप्रशुतायां अन्यत्वात्तुमेसायामुपयुज्यतेऽस्य ॥

अन्य शत्रुत्वे सत्पुरुषोंका ग्रहण होता है उनकी उपकारक समझकर चिंतन करना यह भी अन्यत्वात्तु-
प्रेक्षा शब्दका अभिप्राय है. इसका सुझाव—

अर्थ—बंधुगण यथिधर्ममें विभक्त करनेमें प्रसूत होता है और नरकादि गतिजोंमें तीव्र दुःख देनेवाला अंगणम कराता है इस लिये यह ही शत्रु है. और सत्पुरुष—

पुरिसस्स पुणो साधू उज्जोवं संजणंति जदिधम्मं ॥

तथ तिब्बदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेति ॥ १७६६ ॥

वैभुरं साधवो धर्मं वर्षयन्ति शरीरिणः ।
संसारकारणं निर्धं त्याज्यन्त्यप्यसंयमम् ॥ १८३१ ॥

विजयोव्या—युरिसस्त पुरुषस्य । पुणो साधु पुनः साधवः । पुनः उद्योव संजगति उद्योगं सम्यजनयति ॥ अदिधमे सर्वारंभवादिहत्यागलक्षणे यतिधमे, तद्य असंजमे परिहरयति तथा असंयमं परिहारयति । कीदृग्भूते ? तिव्यदुस्तरयरं तीव्राणां दुःखानामुपादकं ॥

यत्वं संप्रनामपकाररूपेणान्यत्वाप्रयुक्त्य साधूनामुपकारकल्लेणान्यत्वाप्रयुक्त्यविति—
मूलार—उक्तमे उद्यमं । अदिधमे सर्वारंभपरिहृत्यागलक्षणे मुनिधमे । परिहरयति त्याजयति । अत्रोपकारकभाववर्धनेनान्यत्वं वेद्यते

अर्थ—यति धर्ममे पुरुषको अतिशय हृदयिचवाला करते हैं तथा असंयमसे प्रयत्न पूर्वक हटाते हैं- सर्व आरंभ और परिग्रहोंका जिसमे पूर्ण त्याग हो जाता है ऐसे मुनिधममे तीव्र दुःख देनेवाले असंयमोंके त्यागमे जीवको मुनिगण प्रवृत्त करते हैं अतः वे ही परमार्थसे हित करनेवाले बांधव हैं-

उपसंहरति प्रस्तुतमर्थं तथा हिते प्रवेनावहितानिधित्वेनात् ॥

तस्मा णीया पुरिसस्त होति साह्र अणेयसुहेहु ॥
संसारमदीर्णता णीयां य णरस्त होति अरी ॥ १७६७ ॥

साधवो बांधवास्तस्मादेहिनः परमार्थतः ।
ज्ञातयः शत्रवो रौद्रमयाम्भोधिनिपाततः ॥ १८३५ ॥
शरीरादात्मनोज्ञ्यत्वं निस्त्रिशस्येव कोशतः ।
परवत्तं न जानन्ति मोहान्यतमसाधूताः ॥ १८३६ ॥
अनधिनिबनो ज्ञानी कर्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥
सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो मतो वेहस्ततोऽन्यथा ॥ १८३७ ॥

पूर्वजन्मकृतकर्मनिमित्तं पुत्रमित्रअथनर्वांधवादिकम् ॥

न स्वकीयमखिलं शरीरिणो ज्ञानदर्शनमपास्य विद्यते ॥ १८१८ ॥

इति अन्यत्वं ।

विजयोदया—तथा तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् । जीवा पुरिसस्स वेधवःपुरुषस्य । के ? साधू साधवः । अमेगसुख
हेतु शंद्दियनिद्रियसकलमुपदेतवः । संसारमशीर्षता संसारमशीर्षता दुःपासकुलप्रयतारयतः । जीवा य नरस्स होति
अरी शत्रयो भवति मनुष्यस्य धंधवः । पतेन सूयेण अयेयां यतीनां वेपूनां मित्रत्वशत्रुत्वानुपेक्षणं अन्यत्वावेपेक्षेति
करयते । एषमनुपेक्षमाणस्य धर्मं तदुपदेशकारिणि च यतिजेन महानादरो भवति । अभिमतं सकलसुखमुपस्थापयतो
धर्मस्य विघ्नं भवति संयावयत्तु चतुर्विधघटीयेने दुःपामारे आरोहन्तु निरपामनादरो भवति ॥ अणत्तं ॥

यस्तुष्टस्या यतीनां य वेपुत्वेनापि वेपूनां य शत्रुतयापि त्वस्मादन्यत्वं भावयितव्यमन्यथा विप्रमायेणविप्रसिद्धि
व्यापारतो भवेदित्यन्यत्वानुपेक्षासर्वस्वमुपदेन्दुमाह—

मूलारा—अनेग वेदियिकमतीश्रियं च । अदीर्घता प्रवेशयंतः
अन्यत्वानुपेक्षा ॥

अर्थ—सत्पुरुष प्राणिओंको हितमार्ग में लगाते हैं इसलिए वे ही मुत्चे बांधव हैं, ये सत्पुरुष ही जीवों
को इंद्रिय सुल और अतीव्रिय सुखस्वी प्राप्ति होनेमें हेतु होते हैं, परंतु अपने जो वंधु हैं वे अनेक दुःखोंसे व्याप्त
अपार संसार में डूबते हैं इसलिए वे मनुष्यके शत्रु हैं, इस भाषासे अपनेसे भिन्न जो सत्पुरुष हैं वे वंधु हैं और
अपनेसे भिन्न पंधवगण वास्तविक शत्रु हैं ऐसा विचार करना अन्यत्वानुपेक्षा है ऐसा कहा गया है, इस प्रकार
जो पुरुष विचार करता है उसके मनमें धर्मके विषयमें और उसका उपदेश करनेवाले सत्पुरुषोंमें महान् आदरभाव
उत्पन्न होता है, और वंधुओंमें अनादर होता है, क्योंकि वे इष्ट सुख देनेवाले धर्माचरण में बाधा लाते हैं, संसार
वर्धक क्रियाओंमें जीवोंको लगाते हैं, चतुर्गतिरूप घटी यंत्र जो कि दुःखका मार है उसपर स्वयं उन्होंने आरोहण
किया है, इस प्रकार अन्यत्वानुपेक्षाका वर्णन समाप्त हुआ ।

संसारानुपेक्षा कथ्यते मबंधेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ॥

जिणत्रयणविप्पण्हो महाडवीविप्पण्हो वा ॥ १७६८ ॥

मिथ्यात्वमोहितस्वान्तो भवे प्रमति दुर्गमे ॥
मार्गध्रष्ट इवारण्ये भवेभारिभयकर ॥ १८३९ ॥

विजयोदय—मिच्छन्मोहितमदी यस्तुयायात्प्राथम्यं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोदयुगता मतिर्यस्यातो संसारमहादर्वी संसारो महादर्वी दुस्तत्त्वज्ञेनदुःखत्वाद्वस्त्यादिताशयितुमुद्यतत्वाच्च तां नैतात्मनादर्वी । तदो तस्मात् मिथ्यात्वमृदमतिक्रान्तोति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वसमकशययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः सृज्यन्तिमुच्यते मिथ्यात्वमृदमतिः संसारमहादर्वी प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वमृदने भस्यमादीनं । जिनययणविष्णुवद्वे द्व्यथावकमारातिजयात् चिनास्तेषां यचनं जीवाद्यर्थयायात्समकशयनं गदु प्रत्यक्षदिममाणनवतधितोऽपि सतो विग्रजनष्टतर्थापरिखान् यस्तथाश्रयानं तमिच्छतेन मार्गेणानावरणान्च महादर्वी प्रविशति । विष्णुद्वे वा मार्गद्विग्रज एव । संसारमपिगम्य जीवयोतो ममदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ क्रीडभूतं संसारमहोदयधि ॥

धर्मध्यानलब्धमत्वेन संसारकारणस्वरूपप्रकाटादिपरिकरं गाणसप्तविंशत्यानुषेक्षयिष्यन्नादौ संसारप्रवेशपर्यटने गाथापनुद्वेयानु चिद्वचि—

मूलारा—मिच्छन्मोहितमदी यस्तुयायात्प्राथम्यं दर्शनमोहोदयजं मिथ्यात्वं तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोदयुगता मतिर्यस्यातो संसारमहादर्वी संसारो महादर्वी दुस्तत्त्वज्ञेनदुःखत्वाद्वस्त्यादिताशयितुमुद्यतत्वाच्च तां नैतात्मनादर्वी । तदो तस्मात् मिथ्यात्वमृदमतिक्रान्तोति प्रविशति ॥ ननु मिथ्यात्वसमकशययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूताः सृज्यन्तिमुच्यते मिथ्यात्वमृदमतिः संसारमहादर्वी प्रविशतीति ॥ अत्रोच्यते—उपलक्षणं मिथ्यात्वमृदने भस्यमादीनं । जिनययणविष्णुवद्वे द्व्यथावकमारातिजयात् चिनास्तेषां यचनं जीवाद्यर्थयायात्समकशयनं गदु प्रत्यक्षदिममाणनवतधितोऽपि सतो विग्रजनष्टतर्थापरिखान् यस्तथाश्रयानं तमिच्छतेन मार्गेणानावरणान्च महादर्वी प्रविशति । विष्णुद्वे वा मार्गद्विग्रज एव । संसारमपिगम्य जीवयोतो ममदि संसारमहासमुद्रं प्रविश्य जीवयानपात्रं भ्रमति ॥ क्रीडभूतं संसारमहोदयधि ॥

तदर्थानुपयोधाश्रयानानुगुणानागिनपचनानुपपत्तुः ॥ विष्णुद्वे वा मार्गद्वे वा—

संसारानुपयोधाका वर्णन विस्तारसे करते हैं—
अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय से जीवादि पदार्थोंपर यथास्वरूप थदा जीव नहीं करता है. जीवके इस अश्रद्धारूप परिणामको मिथ्यात्व कहते हैं. इस मिथ्यात्व परिणामसे जिसकी बुद्धि मोहित हुई है ऐसा प्राणी दुस्तर्क नाश करनेमाला अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण और अपार ऐसे संसाररूपों जंगलमें भ्रमण करता है. अर्थात् जैसे मच्चे मार्गमें अष्ट हुआ अधिक भूल कर महावनमें प्रवेश करता है और दिव्यदृष्ट होकर उसमें ही इतस्ततः भ्रमण करता है. ऐसे जिनेश्वरके वचनोंका अभिप्राय न जाननेसे जीवादिक पदार्थोंके सत्य स्वरूप पर थदा न रत्ननेवाला और जिनेश्वरके दिखाए हुए मार्गसे जानेवाला ऐसा प्राणी संसारवनमें भ्रमण करता है ।

ज्ञानावरणादि कर्मोंकी द्रव्यकर्म कहते हैं और राग, द्वेष मोह, क्रोधादिक मनोविकारको भावकर्म कहते हैं. जिने इन दोनों कर्मोंका अत्यंत नाश किया है ऐस्य अहिंसरमात्माको जिन कहते हैं. उनके मुखसे जो

उपदेश निस्तता है यह सत्य और हिताकारक ही होता है. वह जीवादि पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप दिखाता है और मत्परादि प्रमाणोंमें अवाधित है. परंतु ऐसे उपदेशका अनावर करनेवाला जीव मिथ्यात्वही होकर अत्रय संसार भ्रमण करेगा ही. 'मिच्छन्मोहिदयदी, ऐसा गायामं पद है- यहाँ मिथ्यात्व शब्द उपलक्षणात्मक है. इस शब्दसे अमयम, कषाय और योगोंका भी ग्रहण करना चाहिये.

यदुतिव्यदुस्त्वसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ॥

चदुपरिवट्टावचं चदुगदिवहुपट्टणमणंतं ॥ १७६९ ॥

अनेकदुःखपानीये नानायोनित्रमाकुले ॥

अनंतकायपाताले विपिन्नगतिपत्तने ॥ १८४० ॥

विप्रवीर्या—यदुतिव्यदुस्त्वसलिलं यदुति सीमाणि सुराणि सतिष्ठन्ति यस्मिन्संसारमहोदये तं । अणंत-
कायप्पवेसपादालं अंतर्गतानां जीवानां कायः शरीरमनंतकायस्तत्र प्रवेशास्ते पातालखंडेषामीया यस्य तं ।
अथवा न विच्छेते भंतो निधयोऽस्तेषु जीवेष्वेवं शरीरमिति यदुनां साधारणत्वात् यस्मिन् काये सोऽनंतः कायोऽस्य
जीवव्येतायनंकायः । मत्परेणापि भावप्रत्ययं भावप्रधानो निर्देशः । तेनारमर्थः अनंतकायत्वस्य प्रवेशः अनंतकाय-
प्रवेशः स पातालं यस्य तं । चदुपरिवट्टावचं चदुगदः द्रव्यक्षेत्रकालायाख्यायां परित्यक्ताः आद्यतोऽर्थमिच्छन्तः । चदुगविपट्ट
पट्टने पतन्तो गतवो यदुनि मदाति पत्तनानि निर्दिशन्तः । शर्जते अनेतं ॥

मूलादा—अर्णवेत्यादि अंगानां जीवानां कायस्तत्र प्रवेशः पातालाणि यस्य । चदुपरिवट्टावचं द्रव्यक्षेत्रकाल-
भावपरिणामावस्यभ्रमं ॥

यह जीवरूपी नीचा संसारसमुद्रमें प्रवेश कर उसमें भ्रमण करती है आचार्य संसारसमुद्रका विस्तारसे
वर्णन करते हैं—

अर्थ—संसारसमुद्र नानाविध दुःखरूपी पानीसे भरा हुआ है- अनंतजीवोंके जो शरीर उनमें प्रवेश करना थे ही
यहाँ पाताल हैं-साधारण जीन अर्थात् विगोदी जीवोंका जो निवासस्थान है वह ही इसमें पातालप्रदेश समझना चा-
हिये. साधारण जीवोंके शरीर को अनंतकाय कहते हैं-यह नाम अन्यर्थक है-इसदी जीविका यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं
कर सकते हैं क्योंकि वह साधारण होनेसे अनंत जीवोंका आश्रयस्थान बना है-ज्योंव एकही जीविका अथवा अमुक

जीवता यह शरीर है ऐसा निश्चय नहीं होगा है। द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परि परिवर्तन और भागपरिवर्तनरूपी भोगोंरे इस संसारसमुद्रमें हमेशा अग्रण करते हैं। इस संसारसमुद्रमें चार गतिरूपी बड़े बड़े द्वीप हैं। और यह समुद्र अनंत है।

हिंसादिदोसमगरादिसावदं दुविहजीवनबहुमच्छं ॥

जाइजरामरणोदयमरणेयजादीसुदुग्भीयं ॥ १७७० ॥

रागद्वेषमदकोधलोभमोहादियावसि ॥

अनेकजातिकल्लोले असस्यावरबुद्धे ॥ १८४१ ॥

पिअबोदया— हिंसादिदोसमगरादिसावदं हिंसानुलस्तयाग्रहपरिच्छिन्ना हिंसादिदोपास्ते मकराक्षयः आपदा यस्मिन्ते । दुविहजीवयुग्मायं द्विविधा स्यावरजोगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते यद्वयो मत्स्या यस्मिन्ते । जादिरामरणोदयं जातिरमितवरादीरग्रहणं, जरा नाम शुहीलस्य शरीरस्य तेजोयल्लादिभिरुत्पत्ता, मरणं शरीराद्वपगमः एतानि जातिजरामरणानि उदये उन्नतिर्यस्मिन्ते । जन्मजादीसुदुग्भीयं अनेकानि जातिशतानि ऊर्मयोर्यस्मिन्ते । एक-द्विविधतुल्यं चन्द्रियजगतया । प्रत्येकमवतरेभ्योपेक्षया पृथिवीकायिका, अपूकायिकास्तेऽस्कारिकवनस्पतिकायिका इति ॥ एकैन्द्रियजातिरेका गन्धैश्यायिकत्वा पृथिवी । आयोऽपि वर्षेद्विमहिमानीकराकिभेदविधा । अग्निरपि प्रदीपोऽयुक्तमर्बोरित्येकभेदः ॥ वायुरपि गुंजामण्डलिकादिधिकल्पः । धनस्पतयोपि तव्युत्पन्नवृक्षीलताद्युपादिभेदास्ततो जातिशताभीत्युक्तं ॥

मूलारा—दुविधा जीवा स्यावरासमाग्र । जादि अभिनवशरीरग्रहणं । उदयं अलं । जरादीसद जालीतानेकेन्द्रिया-दिजातिभेदानां पृथिवीकायिकाद्यायिकाद्यावापरजातिप्रभेदयुक्तानां शतानि ।

अर्थ—हिंसा अतत्य, चोरी, कुशीलेसवन और परिग्रहाभिलाषा इत्यादि पानकल्प सपर वीरसद क्रूर हिंस प्रणी जितमें हैं, असस्यावर जीव रूपी मत्स्य जितमें हैं। जन्म—नवीन शरीर ग्रहण करना, जरा—ग्रहण क्रिये हुए शरीरसे तेज, बल चेपसद शक्तिया कम होते जाना, मरण—शरीरसे आत्माका गमन होना इत्यादि असस्याजिते यह संसार समुद्र उन्नत हुआ है। अनेक एकैन्द्रियादि सैकड़ों जातिरूपी वरंग जितमें है ऐसा यह संसारसमुद्र महाभयानक है। जातिकर्मके एकैन्द्रिय, द्वैन्द्रिय, त्रैन्द्रिय, चतुर्गैन्द्रिय, पंचैन्द्रिय जाति ऐसे पांच भेद हैं। इन प्रत्येक जातिओंके अर्थांतर भेद बहुत हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक

ऐसे पक्षेत्रिय जातिके भेद हैं. उनमें भी अर्थांतर भेद इस प्रकार हैं- अर्थात् पृथिव्यादिके छन्वीस भेद हैं, जलके भी पृष्टि, हिम, पर्क, ओले इत्यादि भेद हैं. अग्निके भी प्रदीप, उल्लुक, ज्वाला इत्यादि अनेक भेद हैं. वायुके भी गुंजा, वायु, मंदलिक वायु वगैरह भेद हैं. इस तरह जाति कर्मके अनेक भेद होने से जातिरूपी तरंगों से यह संसारसमुद्र युक्त है ऐसा समझना चाहिये-

दुविहपरिणामवाचं संसारमहोदधिं परमभीमं ॥
अदिगम्म जीवपोदो भग्नं चिरं कम्ममण्डभरो ॥ १७७१ ॥
जीवपोतो भवांभोथौ कर्मनाविकचोदितः ॥

जन्मसुखजरावर्ते चिरं भ्राम्यति संतनम् ॥ १८४३ ॥
विजयोदया—दुविहपरिणामवाचं दिविषयः शुभाशुभपरिणामा याता यस्मिन्त्वं । परमभीमं अतिभयंकरं ।
अदिगम्म भविष्य । जीवपोदो जीवपोतः । भग्नं चिरं विरकालं भ्रमति । कम्ममण्डभरो कर्मद्विषयभाणः । विमिः संवधाः ॥
ममसंसारं निरूपयति ॥

मूढारा—दुविधा दुष्प्राशुभाः । अदिगम्म भविष्य । पोदं यातपोतं ।

अर्थ—यह संसारसमुद्र शुभ और अशुभपरिणामरूप हवासे युक्त है और अतिशय भयानक है. इसमें जीवरूपी नौका कर्मरूपी द्रव्यसे युक्त होकर जब प्रवेष्ट करती है तब विरकालतक भ्रमण करती है.

एगविमिगवउपंचिदियाण जाओ हवति जोणीओ ॥
सव्याउ ताउ पत्तो अणंतसुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥
एकद्वित्रिचतुःपंचहृपीकाणामनंतशः ॥

जातयः सकला आन्ता देहिना भ्रमता भवे ॥ १८४३ ॥

विजयोदया—एगविमिगवउपंचिदियाण नामकर्मगतितत्त्वविशेषविशेषं तत्र जातिकर्म पंचविकल्पं एकद्वित्रिचतुःपंचैत्रियजातिकरत्वेन तासां अतीनामुदयात् ॥ एगैत्रियतत्त्वविषयोभाजो जीवाः एकैत्रियादिसंज्ञे-
नोच्यन्ते । तेषामेकैत्रियादीनां योनय माश्रया वावरसहस्रपर्याप्तकाणां जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिताः ।

सचिन्तनीतसंयुता सेतता मिथ्यास्वेक्यस्तचोन्मय इति सखे ये निर्दिष्टाश्चतुशीविंशतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यते । यतः मृषांतेर वेद्यतन्त्रकृत्यमनुव्युत्पत्त्यवतिर्यक्त्वाख्या मयपर्यायपरावृत्तिर्मवसंसार इत्युक्तः ॥ गिरयादिजहण्णादिसु जाय तु उपरिहृत्वा तु रोपजाः । तिर्यच्छसंसिद्धेण तु भवद्विवी भजिज्वा चक्षुसो इति वचनात् । योनयो न भयरात्र्युद्वाच्याः । जीवप्रायो हि भयस्तत्र भयसंसारस्तिराद्रिधः—युथियमेजोवायुनरूपतिकायाः प्रत्येकं वादरसूक्ष्मपर्यायसंज्ञापर्यायसिक्तरूपार्थिगतिविधितः । द्वित्रिचतुर्दिन्द्रियासंज्ञासंज्ञिविकल्पाः पंचैन्द्रियाश्च पर्यायापर्यायसंज्ञाविकल्पा दशविधाः । अन्ये तु भयपरिवर्तनेभ्यं पदंति । नरकगतौ सूर्यजग्रथमायुर्दशपरसहस्राणि । तेनयुषा तचोत्पन्नाः पुनः परिश्राम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एवं दशपरसहस्राणां यापताः समयासाधकृत्या तत्रैव जातो मृतः पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्संनारोपमाणां परिसमापितानि ततः प्र-युत्य तिर्यग्मातौ अंतर्मुहूर्त्वायु-समुत्पन्नः पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पत्स्योपमानि परिसमापितानि ततः प्रद्युत्य दयं मनुष्यगती । देवगती नारकवत् । अयं तु विशेषः एकत्रिंशत्संज्ञागरोपमाणि परिसमापितानि यापतापद्वयपरिवर्तनाः सञ्चाला सवन्ति । भक्तपारम्यं प्राप्तौ जीवः ॥

मृडापरः—भयसंसारमाह—जोभीलो आश्रयाः । ते केह जीवदूषणां वादरसूक्ष्मपर्यायसंज्ञापर्यायसंज्ञाख्याः स्यावराणां विरादिः त्रैलोक्यां य वादरूपनिधमादसेति त्रिअस्तर्वाया विवक्षिताः । चतुरशीतिलक्षसंख्याः सचिन्तानियोनयः । देयतनारकत्वमनुष्यावतिर्यक्त्वाख्यपर्यायपरावृत्तेर्मवसंसारत्वेन मंथान्तरे उभिवानात् । तथा चोक्तं—

गिरयादिजहण्णादिसु जाय तु उवरिहृत्वा तु गेवेत्वा ॥

तिर्यच्छसंसिद्धेण तु भवद्विवी मज्जिवा यहुसो ॥

अन्ये तु भवपरिवर्तनेभ्यमाहुः ॥ नरकगतौ सर्वतपन्यमयुर्दशपरसहस्राणि । तेनयुषा तत्रोत्पन्नाः पुनः परिश्रम्य तेनैवायुषा तत्रैव जातो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन तत्रैव जातो वापत् त्रयस्त्रिंशत्संज्ञागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रद्युत्य तिर्यग्मातौ सर्वजपन्यवर्तमुहूर्त्वायुपोत्पन्नः । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पत्स्योपमानि तेन परिसमापितानि, एवं मनुष्यगती च । देवगती नारकगतिवत् । अयं तु विशेषः । एकत्रिंशत्संज्ञागरोपमाणि परिसमापितानि । एवं समुत्पन्नं वायव्यावक्रव-परिवर्तनं ॥

अयं—नामरूपमेकं गति जाति वर्गरे अनेक भेद हैं-उसमें जातिकर्मके पांच भेद हैं इन जातिकर्मके उदयमें एकेन्द्रियादि जीमोके जो आश्रय है उनकी योनि कहते हैं-वादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे इन योनिओंके भेद हैं-येही जीवद्रव्योंको यहाँ आश्रयभूत समझने चाहिये-सचिन्तयोनिसि, जावयोनिसि वगैरह चौसती-छत्र योनिभेद जो छत्रमें बड़े हैं उनका यहाँ संबंध नहीं है-क्योंकि सूत्रांतरमें देवत्व, नारकत्व, मनुष्यत्व और

पशुत्वरूपने जो संसारमें पर्याप्त धारण करने पड़ेते हैं उनको भवसंसार कहते हैं- नरकगति, मनुष्यगति, पशुगति इन गतिओंमें जगन्म आयुष्यसे उत्कृष्ट आयुष्यवत्क मिथ्यत्वका आश्रय करनेसे इस जीवने ब्रमण किया है- देव-गतिमें भी मिथ्यात्वयुक्त बनकर जगन्म आयुष्यसे नीचे श्रेयवत्तक उत्कृष्ट आयुष्य धारण कर इस जीवने ब्रमण किया है- ऐगता भवसंसारका वर्णन किया है- इससे योनिओंका यहां भव शब्दसे संग्रह नहीं होता है- किंतु बादर दृश्यादि अवस्था कोही भवसंसार कहना चाहिये- जीवकी अवस्थाको भव कहते हैं- इस भवमें उत्पन्न हुए संसारीके १० भेद हैं-

दृष्टिर्वा, जल, अग्नि, वायु, पनस्पति इनके प्रत्येकके बादर, सूक्ष्म, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे भेद होनेसे मिलकर पाँच भेद होते हैं- द्रष्ट्रिय, श्रोत्रिय, चतुर्श्रिय, संक्षिपंचद्रिय, असंक्षी पंचद्रिय इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेदसे दस भेद होते हैं- दूसरे आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—नरकगतिमें सर्वसे जगन्म आयुष्य दस हजार वर्षका है- उस आयुष्यसे कोइ जीव पड़िले नरकमें उत्पन्न हुआ- आयुसमाप्तिके अनंतर र संसारमें ब्रमण दस हजार वर्षका है- उसी नरकमें उत्पन्न होता है- इस प्रकार दस हजार वर्षके बितने समय होते हैं उतनी बार पहले नरकमें पूर्वोक्त आयुका धारक होता है- आयुसमाप्ति के अनंतर संसारमें ब्रमण कर उसी नरकमें फिर उत्पन्न होता है परंतु अबकी बार एक समपाधिक दस हजार वर्षका आयुष्य उसको प्राप्त होता है- इस प्रकार एक एक समय घटिगत होते २ इस जीवने तेहरास सांमरोपम आयुष्यवत्क असंख्यवत् बार जन्मभरण किया है-

उदनंतर सप्तदशनरकसे निकल कर यह जीव तिर्यगतिमें उत्पन्न होता है- वहां उसका जगन्म आयुष्य अनंतपूर्वतं प्रमाण का होता है- पूर्वक्रम के अनुसार तीन पत्थोपम आयुष्य समाप्त किया- पदनंतर मनुष्यगतिमें भी उत्कृष्ट तीन पत्थोपम आयुष्यवत्क तिर्यगतिके समानही क्रम जानना चाहिए- देवगतिमें नरक-गतिके समानही क्रम जानना चाहिये- परंतु इतनी विक्षेपता है—देवगतिमें एकतीस सांमरोपम आयुष्य की समाप्ति होनेतरही भवपरिवर्तन हैं- ये सर्व परिवर्तन इस जीवके अनंतवार हो चुके हैं-

अणुं गिण्हदि देहं तं पुण सुत्तुण गिण्हदे अणुं ॥

घटिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वंससारे ॥ १७७३ ॥

गृहीते मुंचमानोऽङ्गी शरीराणि सहस्रशः ॥

अमति द्रव्यसंसारे घटीयंजमिवानिशम् ॥ १८४४ ॥

विजयोदया—अणुं गेण्हदि चेहं अन्यच्छरीरं गृह्णाति । तं पुण तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरप्यत्र गृह्णाति । घटीयं-
मित्ति जीवो घटीयंजमिवजीव । यथा घटीयंजं अन्यज्जलं गृह्णाति तत् त्वत्त्वा पुनरन्यदमृते एवमयं शरीराणि गृह्णन्
मुंचय भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशेषेभिरुच्यते तत्स्थायमनं परिचरतं द्रव्यसंसार इति सुनकारस्यास्य व्याख्या
एतदुद्दिष्टमिदं । एवं तु द्रव्यपरिचरतं प्राणं । द्रव्यपरिचरतं द्विविधं—नोकर्मपरिचरतं कर्मपरिचरतं चेति । तत्र
नोकर्मपरिचरतं नाम प्रवर्णा शरीराणां पण्णा पर्यायीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्ध
रुस्रजर्जरेषां विभित्तीनामदमयभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीतानन्तवारानतीत्य,
मिथकांश्च धामंतयादानतीत्य मये तेनैव प्रकारेण तद्वदेव जीवस्य नोकर्मभाषमाणघटे यावत्तापरत्समुचितं नोकर्मद्रव्य
परिचरतं । कर्मद्रव्यपरिचरतं नमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेन भट्टविकर्मभावेन ये च गृहीताः समयाधिकारवति
कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा पूर्वोक्तैरेव क्रमेण च एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यते याव-
त्तापत्कर्मद्रव्यपरिचरतं ॥

द्रव्यसंसारमाह—

मूढारा—पटिबंतं पटीयंमिय जलं गृहीतं गृहीतं मुक्त्वा अन्यदव्यच्छरीरं गृह्णजीवो भ्रमति इति स्थूल-
मुदोदिरिय द्रव्यसंसारः सूत्रकारेणोक्तः ॥ एवं तु द्रव्यपरिचरतं प्राणम् । द्रव्यपरिचरतं द्विविधं—नोकर्मद्रव्यपरिचरतं
कर्मद्रव्यपरिचरतं चेति । तत्र नोकर्मद्रव्यपरिचरतं उच्यते—यथाणां शरीराणां, पण्णा पर्यायीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवे-
न एकस्मिन्समये गृहीताः तिनपक्षशपर्यङ्गयादिभिस्तीक्ष्णद्रव्यमयभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः ।
अगृहीतानन्तवारानतीत्य मिथकांश्च धामंतयादानतीत्य, मये तेनैव प्रकारेण तद्वदेव जीवस्य नोकर्मभाषमाणघटे यावत्तापरत्समुचितं नोकर्मद्रव्यपरिचरतं । कर्मद्रव्यपरिचरतं उच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवेनाष्टविक-
कर्मभावेन गृहीताः समयाधिकारवति कामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः पूर्वोक्तैरेव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभा-
वमापद्यते यावत्तापत्कर्मद्रव्यपरिचरतं ॥ उक्तं च—

सर्वे वि पुगळा रळु कमसो मुत्तुक्षिया च लीवेण ॥
असं अणंतधुत्तो पुगळपरिशुद्धसंसारे ॥

अर्थ—जैन घटीयंत्र पूर्ण जलका त्याग करके दूसरा दूसरा जल ग्रहण करता है जैसे यह आत्मा भी पूर्व नदीरसा त्याग कर उत्तरोत्तर भिन्न भिन्न शरीर धारण करता है इस प्रकार यह जीव पूर्ण शरीरका त्याग कर और उत्तर शरीर को ग्रहण कर संसारमें अनादि कालसे भ्रमण कर रहा है. नाना प्रकारके शरीर को द्रव्य कहते हैं इनको धारण कर जीवका जो सत्तामें भ्रमण करना है उसी को द्रव्यसंगार कहते हैं इस प्रकार स्पूल बुद्धिके लोगों को समझानेके लिए आचार्योंने द्रव्यसंगारका वर्णन किया है द्रव्यपरिवर्तनका इस प्रकारसे भी स्वरूप कहा है—

ब्रह्मपरिस्तवके नो कर्म पविर्तन और कामपरिस्तव ऐस दो भेद हैं—
नो कर्म पविर्तन—जीन

नौ तमं परिवर्तन—तीन शरीर (ओदारिक, बैक्टीरियक और आहारक) और छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, द्रविय, द्यासोच्छ्वास, भाषा और मन इनके योग्य पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये उनमें स्निग्ध रूक्ष, स्वर्ण, वर्ण, गन्ध जैसा तीव्र, मंद, मध्यम भावसे धा द्वितीयादि समयमें वे पुद्गल निर्जोष हुए. सर्वान्वर ज-गृहीत पुद्गलोंको अनन्तर उलपक, मिश्रवर्णको भी अनन्तर प्राण कर मध्ये गृहीत नामक वर्णको भी अनन्तर ग्रहण कर पुनः ये ही वर्णना उन्नी जीवको मध्यम समयमें जैसे ग्रहण की गई थी वैसी जब ग्रहण की जाती है तब नौरूपपरिवर्तन होता है

कमद्रव्य परिवर्तनका स्वरूप कहते हैं—

एक समयमें एक जीवने आठ प्रकारके कर्म रूप से जो प्रमाण काल व्यतीता होनेपर द्वितीयादिक समयमें निर्जनि हो उमी जीवको जप कर्मरूप बन जाते हैं उस कर्मद्रव्यपरिचयन होता है

रगगदण्डो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूपाणि ॥
गिण्हदि सुच्चदि अठिदं जीवो संसारभावणो ॥ १७७४ ॥

बहुसंस्थानरूपाणि चित्रवेष्टाविधायकः ॥

रंगस्थनटवज्जीवो गृहीते मुंचते भवे ॥ १८१५ ॥

विजयोदया—रंगमण्डप रंगप्रविष्ट इव । इमो अयं बहुविधसंस्थानयन्मरूपाणि बहुविधसंस्थानवर्णं समायान् । लिङ्गदि य मुञ्चति अङ्कितं गृह्णाति मुंचति अवस्थितं । क्रियाविशेषमेतत् । जीवो संसारमावण्णो जीवो ब्रह्मसंसारमापन्नः ॥

विजयसरीरव्यपारिर्गमेव निर्देशनाद्रेण प्रणयति—

मूढारा—अङ्कितं अनारम्भम् ॥

अर्थ—रामभूमिपर आया हुआ नट नाना प्रकारको आकृति, वर्ण, और स्वभाव को ग्रहण करता है और छोड़ देता है ऐसे द्रव्यमत्तारमें अथवा कलेवाला यह जीव नानाप्रकारके आकार, वर्ण और स्वभाव को धारण करके बार बार छोड़ देता है।

क्षेत्रसंसार निरूपयति—

जस्य ण जादो ण मढो हवेज्ज जीवो अणंतसो चैव ॥

काले तीदस्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥

भूत्वा भूत्वा मृत्ते यन्न जीवो संपपन्नंतथाः ॥

अणुमात्रोऽपि नो दंशो विद्यते स जगत्पथे ॥ १८१६ ॥

विजयोदया—जस्य ण जादो ण मढो हवेज्ज यन्न क्षेत्रं जालो सुतो वा न भवेज्जीवः । अणतसो चैव अणंतं पारम् । काले तीदस्मि इमो अस्ति कालेऽयं । न सो पदेसो अगे अत्थि नासो प्रदेसो जगति िद्यते । अन्ये तु क्षेत्रपरिवर्तनमेव ध्वंसि—अगति तथन्यप्रदेशपरीरो टोकस्याष्टमप्यप्रदेशान् स्थारीमध्यप्रदेशान् ऊत्तोरप्य, शुद्धमेवप्रदृष्टं जीवित्वा मृतः, स एव पुनर्लोकैवावगच्छेत् द्विकणप्रत्यया निबलुरिति पञ्च यावतोऽगुलस्यासंख्येयप्रागग्रयिताकाशपेदेशास्तावच्छ्रुत्वा तेनैव अनित्या पुनरेकैकप्रदेशाधिकभाविन सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपपद्य जीवो भवति यावत्साधत् क्षेत्रपरिवर्तनं ॥

उक्तं च—

सर्वस्मि लोकास्त्रिंशो कमसो तं णत्थि जम्म उप्पणं ॥

ओगाहणा य बहुसो गरिमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥

क्षेत्रसंसारमाह—

मूलार—जग लोकाकाशे । प्राग्वत्संक्षेपेनेदमुक्तम् । विस्तारवत्त्वेन क्षेत्रपरिवर्तनमाहुः—

मूक्षमनिगतजोबोउपर्याप्तकःसर्वज्ञध्वप्रदेशसरीरो लोफव्याप्तमध्यप्रदेशान्तरसरीरसम्यप्रवेशान्कृत्योत्पन्नःक्षुद्रभव-
प्रहणं जीवित्वा भूतः । स एव पुनस्तत्क्षेत्राभागेन द्विरुत्पन्नत्वा त्रितया चतुरिति । एवं यावद्विभुलस्यसंख्येयभागप्रतिवा-
चाप्रदेशावाक्यकृत्यस्तत्रैव खनित्वा भूतः । पुनरैकैकप्रदेशाधिकभागेन सषल्लोक आत्मनो जन्मक्षेत्रावाचमुपनीतो भवति
राजस्यक्षेत्रपरिवर्तनम् ॥ उक्तं च—

सत्यग्निं लोमंतत्ते कमसो रं जतिव जत्य न वृत्पण्यो ॥

ओगाहणेण चहुसो परिभमिदो क्षेत्रसंसारे ॥

क्षेत्रसंसारका निरूपण करते हैं—

अर्थ—यह जीव अतीतकालमें लोकके जिस प्रदेशमें अनंतवार जन्म लेकर मृत्युप्राप्त नहीं हुआ है ऐसा प्रदेशही न मिलेगा. अर्थात् लोकाकाशमें—प्रैलोक्यमें सर्वत्र सर्व जीव अनंतवार जन्ममरण कर चुके हैं. यह क्षेत्र-परिवर्तनका स्वरूप है. अन्य आचार्य इस परिवर्तनका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं—

सर्वे अपन्य प्रदेशयुक्त सरीरका धारक, अपर्याप्तक यक्ष्मनिगोदी जीव, जगतके आठ मध्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ. क्षुद्रमय ग्रहणसे जीकर सत्त्ववश हुआ अर्थात् आसके अठरावा हिस्सा प्र-
माण आद्य समाप्त होनेके अनंतर मर गया. पुनः उसी अवगाहनसे दूसरीवार तिसरीवार, चौथीवार उत्पन्न हुआ
इस प्रकार अंगुलांशल्पात् भागसे नागे गये लोकके अंशल्पात् भागमें वित्ती प्रदेशसंख्या है उतनीवार उस
जीवनं वही जन्ममरण किया. तदनंतर एक एक प्रदेश अधिक आगे बढ़कर उसने सर्व लोक अपना जन्मक्षेत्र बना
लिखा इसको एकक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं. ऐसे क्षेत्र परिवर्तन इस जीवके अनंतो होगये हैं. आगममें इस विषयमें दे-
सा कहा गया है—इस समस्त लोकक्षेत्रमें क्रमसे यह जीव जहां उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा क्षेत्रही नहीं है. यह जी-
व इस जगत्में इस अवगाहनसे बहुवार परिवर्तन कर चुका है.

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तत्कालतदाकालसमयसु जीवो अणंतसो चैव ॥

जाद्री मदी य सन्वेसु इमो तीदंमि कालस्मि ॥ १७७७ ॥

ये कल्पानामनंतानां समयाः सन्ति भो यत्ने ! ॥

जातो मृतः समस्तेषु क्षरीरी तेज्वनेकशः ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—तथाष्टदशकालसमयेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसंज्ञितयोः कालयोर्ध्वं समयास्तेषु । जीवो अणंत-
सो चेय जीतोऽ अनंतपारत्न । जादो मदो य सन्धेसु जातो मृतश्च सन्धेसु समेषु । इमो तीर्द्धिम कालंभि अयमतीति काले ॥
इयमस्या गाथायाः प्रयत्नव्याख्या-उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः, स एव पुनर्द्विती-
याया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातः ।
एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथावसर्पिणी । एवं जन्मानन्तर्यमुक्तं । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव प्राणोर्ध्वं
तावत्कालपरिवर्तनं ।

उक्तं च—

उवसर्पिणिअवसर्पिणिसमयावल्लिगासु निरवसेसासु ॥

जादो मदो य चहुसो भमणेण दु कालसंसार ॥ १७७८ ॥

कालसंसारमाह—

मूढारा—तव कालश्रदा कालसमयेषु उत्सर्पिण्यवसर्पिण्याः समयेषु । अत्रापि प्रपेतेत्येव व्याख्या—

उत्सर्पिण्याः प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुषः परिसमाप्तौ मृतः । स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या
द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जातो मृतश्च स्वायुः क्षयात् । एवमनेन
क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता । तथा अवसर्पिणी च । एवं जन्मानन्तर्यमुक्तम् । तथैव मरणमपि प्राणम् । एतावत्कालपरि-
वर्तनम् । उक्तं च—

उवसर्पिणिअवसर्पिणिसमयावल्लिगासु निरवसेसासु ॥

जादो मदो य चहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥

कालपरिवर्तनमा स्वरूपं कहेतुं है—

अर्थ—यह जीव अतीत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके समयोंमें अनंतवार उत्पन्न हुआ है और मृत्युवश
हुआ है, ऐसा कालपरिवर्तनका संशेय है, इसका विस्तार इस प्रकार है—
पहिले उत्सर्पिणीके समयमें कोई जीव उत्पन्न हुआ आयुष्यक्षय होनेपर उसने मरण किया, वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी

के दुमरे समयमें उरपस हुआ. आपुन्य ममाप्य दोनेपर फिर मरा. वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समयमें उत्पन्न हुआ. इस प्रकार इस जीवने क्रमसे उत्सर्पिणी काल समाप्त किया. इसी प्रकार बन्मसे उसने अवसर्पिणी कालमी पूरा किया. मरणकी निरंतरता जन्मकी निरंतरताके समान समझनी चाहिये. इतना यह स्वरूप कालपरि-पर्वेनका है ऐसा समझना चाहिये. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—

यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालकी संपूर्ण समय पंक्तिओंमें कालसंसारमें भ्रमण करता हुआ अर्जुनतार भ्रमण कर चुका है.

सर्ववृत्तन्तारं निरुण्णयुत्तरमाथा—

अष्टपदेने मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ॥

तत्तैपि व अद्धरणं उब्बत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥

प्रवेद्याष्टकमत्तयस्य जेपेयु कुरुते मवी ॥

उद्धर्त्तनपरायवै संतमाप्पिव्व तंदुलाः ॥ १८१८

विजयोदया—अष्टपदेसे मुत्तूण अष्टी प्रवेदान्कयकाकारान् मुक्त्वा । इमो अयं जीवः । सेसेसु सगपदेसेसु जेपेयु स्वज्येयेषु देवेषु । संसारमाप्तवान् । शेवन्त्वायदेनोच्यते ॥

अष्टपदेसावधेयसंसारकल्पं शेवत्सेसारात्मकस्यंदनसंसारमाह—

मूलारा—अष्टपदेसे अष्टौ प्रवेदान्करूपकाकारान् । तर्चपिअसहणं वत्तमिवविभ्रवणम् । वत्तजलमध्यविभ्रतंदुल-

वदित्थम् । तवत्तणपरत्तर्णं उद्धर्त्तनपरायमेवम् । उक्तं च—

प्रवेदान्कमयस्य जेपेयु कुरुते मवी ॥

उद्धर्त्तनपरायवै त्तास्त्वप्पिव्व तंदुलाः ॥

स्यंदन संसारका वर्णन—

अर्थ—रुचकाकार आठ प्रदेश छोटकर चाक्री के सर्व आत्म प्रदेश हमेशा चंचल रहते हैं और जैसे अग्नी-मे गरम जलमें डाले हुए चावल हमेशा उपर नीचे होते हैं वैसे इस संसारी जीवके आठ मध्यप्रदेश छोटाकर चाक्री-के प्रदेश हमेशा ऊपर नचि हमेशा घूमते हैं.

लोगागासपणसा असंख्युणिदा हवन्ति जात्रदिया ॥
तात्रदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥

असंख्यलोकमानेषु परिणामेषु वर्तते ॥

शरीरी भवत्सारे कर्मभूषयधिकृतः ॥ १८७९ ॥

अथन्या मध्यमा वर्या निविष्टाः स्थितयोऽस्त्रिंशः ॥

अस्मिन्तन्तशः काले भवभ्रमणकारिणा ॥ १८५० ॥

विजयोदया—लोकगायातपेदेसा लोकसाक्षात्स्य प्रवेशाः । असंगुणविदा असंख्यशुणितः । इवन्ति आवदिया
पादभो भवन्ति । तत्रदियाणि हु अज्झवसाणाणि तावदस्यवसायस्थानानि भवन्ति । इमस्स जीवस्स अस्य जीवस्य ।
जीपस्य भवत्सारात्कर्मभूषयसंस्थितेषु योगेषु परावृत्तिर्मायसंसारः ॥

असंख्यलोकमणायवसानरथानामिधानमावपरिवर्तनलक्षणं भावसंसारसाह—

मूढारा—१७८० ॥

अर्थ—लोकसाक्षात्के प्रदशांको असंख्यातसे गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न होगी जीवके उत्तरे
अप्यवसायस्थान होते हैं, अर्थात् असंख्यात लोकपरिमाण जिसके कृपायाध्यवसायस्थान, स्थिति बंधाध्यवसायस्थान,
योग और अनुभावाध्यवसायस्थान होते हैं.

अज्झवसाणट्ठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु ॥
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥
परिणामांतरेण्वंगी सर्वदा परिवर्तते ॥

वर्णेषु चित्ररूपेषु कूकलास इव स्फुटम् ॥ १८५१ ॥

विजयोदया—अज्झवसायस्थानंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु अज्झवसायस्थानंतराणि जीवः परिणमत्ययं ।
निच्चं पि णियमपि, यथा सरडो णाणाविहे वण्णे यथा मोक्षा नानाविधान्यवर्णानुपपत्ते । एवं संसारः ॥

अपरापरपरिणामपरिणममावतलमालनो ह्यष्टान्तेन स्पष्टयति—

मूढारा—विकुब्बदि विक्रोटति परिणमसीत्यर्थः । पथलासरडो कूकलासः ॥ उक्तं च—

भावस्थानान्तरागम्येवं देहबन्ध प्रपद्यते ॥
कच्छेदुमो यथा नित्यं वर्णान्स्वीकुरुते बहूय ॥

भावपरिवर्तनप्रपञ्चस्यम्—

पदेन्द्रियः संशयि पर्योगो मोक्षिष्यादष्टिः कञ्चित्तीयः सर्वज्ञपन्थां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्त्रः कोटीकोटि-
संनिष्ठाभाषणने । तस्य कणाद्याप्यधसाधारणानान्यसंश्लेषलोकाप्रभितानि यदुस्थानप्रभितानि तस्मिन्निचोपगमि भवन्ति । तत्र
सर्वज्ञपन्थस्य गणपत्यधसाधारणानि निमित्तान्त्यनुभाष्याप्यधसाधारणानान्यसंश्लेषलोकाप्रभितानि भवन्ति । एवं सर्वज्ञपन्थां स्थितिं,
सर्वज्ञपन्थं च कणाद्याप्यधसाधारणानं, सर्वज्ञपन्थमेवास्तु भागवंधस्थानं आरम्भवत्त्वस्योभ्यं सर्वज्ञपन्थनेकं योगस्थानं भवति ।
हेतुमेव स्थितिरुपायानुभाषस्थानानां द्वितीयधर्तरेयमागवृद्धिकुलं योगस्थानं भवति । एवं तृतीयाविषु षण्णारथानपत्ति-
कानि तानि शेषसंश्लेषभारगममितानि भवति । तथा सोमेव स्थितिं, तदेव कणाद्याप्यधसाधारणानं च त्रिषुपस्थानस्य द्वितीय-
स्तुभाष्याप्यधसाधारणानं भवति । तस्य च योगप्रधानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयाविषु अनुभाष्याप्यधसाधारणान्यस्य
जसंश्लेषलोकाप्रभितानि भवति । एवं सोमेव स्थितिमापयमानस्य द्वितीयं कणाद्याप्यधसाधारणानं भवति । तस्याप्यनुभाष्याप्यधसा-
धारणानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कणाद्याप्यधसाधारणानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं त्रिषुपस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि ।
अत्रापि जपन्थायाः स्थितेः समयाधिकार्याः कणाद्याप्यधसाधारणानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं समयाधिकार्येण ॥ वत्कुरुद्विषोर्द्विषारसा-
गदोषमकोटीकोटीपदिमितायाः कणाद्याप्यधसाधारणानि पूर्ववद्वेदितव्यानि ॥ एवं सर्वेषां कर्मणां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृती-
नां च परिवर्तनक्रमो वेदितव्यः । तदेतत्सर्वं समुदितं भावपरिवर्तनं । उक्तं च—

सन्ध्या पयदिदिशि को अणुभागपदेस्सर्वभटाणाणि ॥

मिच्छत्तत्संसिद्धेयं य अभिदा पुन भावसंसारं ॥

इमं प्रकार इमं जीविका भावपरिवर्तनरूप संसारका स्वरूप है.

अर्थ—जैसे सरद नामका प्राणी हमेशा अपने रंग बदलता है वैसे इस संसारी जीविके उपयुक्त परिणामों में हमेशा तरतम भाव होता ही रहता है. इस प्रकार पाँच प्रकारके संसारोका स्वरूप आचार्यने दिखाया है.

तस्य यन्मुपवर्धयति ॥

आगातस्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ॥

हिसंति एकमेकं सज्जथ मयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥

आकाशे पक्षिणोऽन्योन्यं स्थले स्थलविवारिणः ॥

जले मीनाश्च हिसन्ति सर्वत्रापि मयं भवे ॥ १८५२ ॥

पित्रयोवृषा—आवासांस्मि वि पक्खी आकाशे संचरन्ते परस्परपक्षिणो विवाधन्ते । जलेवि मच्छा जलेपि नत्स्यात् ।
पक्षेपि थलचारी भूमायपि भूमिचरिणः । हिसंति पातन्ते । एकमेकं अन्योन्यं । सज्जथ मयं खु संसारे सर्वत्र मयं संसारे ॥
एवं पंषपरं संसारं निरूप्य तदवकाशादीन्बद्धसमाधामिहितयसि—

मूलात्—एकमेकं अन्योन्यम् ॥

अथ संसारं अप दिस्ताते हैं—

अर्थ—आकाशमें विहार करनेवाले छोटे २ पक्षियोंको बूखे भूर पक्षी पीटा देते हैं, अर्थात् उनको मारते हैं—था जाते हैं, पानीमें बड़े मत्स्य छोटे मत्स्यको निपट जाते हैं, और भूतलपरमी हिसप्राणी परस्परको मारते हैं अतः इस जगतमें सर्वत्र मयही भय है.

सप्तत वाहपरद्धो त्रिलिचि णारुण अजरस्स मुहं ॥

सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥

दायालोर्बुल्लमभ्यत्थ दयाधारन्धो यथा शशः ॥

भन्वानो चिवरं दीनः प्रयाति यममंदिरम् ॥ १८५३ ॥

वित्तयोवृषा—सप्तगो वाहपरद्धो शशो व्याधेनोपद्रुतः, त्रिलिचिणारुण अजरस्स मुहं विलमिति ज्ञात्वा
अतमत्स्य मुहं । सरणत्ति मण्णमाणो शरणमिति मन्यमानः । मच्चुस्स मुहं जह अदीदि मृत्योर्मुखं यथा प्रथियति ॥

मूलात्—वाहपरद्धो व्याधेनोपद्रुतः । त्रिलिचि त्रिलिचि । सरणत्ति शरणमिति ।

अपं—पारपीसे पीडित हुआ सरसोश अजगत्के सुखको विल सप्तशकर उसमें प्रवेश करता है—इस विलमें मैं रह संहया इस अभिप्रायमें उसमें धुमना है, परंतु वहां वह सुखके वज्र होता है जैसे—

तद्व अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्चुहृदिबाहेहिं ॥

अविगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥ १७८४ ॥

क्षुत्तृष्णादिमहाव्याघमारब्धश्चेतनस्तथा ॥

अजो दुःखकरं याति संसारमुज्जगाननम् ॥ १८०४ ॥

चिजयोव्या—तद्व अण्णाणी जीवा तथा अण्णानि जीवाः । परिद्धमाणच्चुहृदिबाहेहिं अनुभाष्यमानाः शु दन्तिभिर्यमिः व्यापैद्य । अविगच्छंति प्रविशन्ति । महादुहहेदुं महतो दुःखस्य निमित्तं । संसारसप्पमुहं संसारसर्पमुहं ॥
मूढारा—अविगच्छंति प्रविशन्ति ॥

अयं—ये अत्र संसारी जीव भुथा,रुपा रूप व्याप्येति और व्याप्येति पीडित होकर महादुःखदायक संसा-
ररूपी सर्पके मुहमें प्रवेश करते हैं ।

आवदिथाइं सुहाइं हवंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ॥

ताइंपि बहुविथाइं अणंतसुत्तो इमो पत्तो ॥ १७८५ ॥

याचन्ति सन्ति सौख्यानि ठोके सर्वोसु योनिषु ॥

प्राप्तानि तानि सर्वाणि बहुवारं शरीरिणा ॥ १८५५ ॥

चिजयोव्या—आवदिथाइं प्राप्तंति । सुहाइं हंति लोगम्मि सुखाणि भवंति ठोके । सव्वजोणीसु सर्वोसु योनिषु । ताइंपि बहुविथाइं तान्यपि बहुविधाणि । अणंतसुत्तो इमो पत्तो अंततवारमयं जीवः प्राप्तः ॥
मूढारा—स्पष्टम् ।

अयं—सर्व योनिओंमें जितने नानाप्रकारके सुख हैं वे भी हम जीवको अंततवार प्राप्त हो गये हैं ।

दुक्खं अणंतसुत्तो पावेसु सुहंपि पावदि कहिं वि ॥

तद्व वि य अणंत सुत्तो सव्वाणि सुहाणि पच्चाणि ॥ १७८६ ॥

अवाप्पानत्तको दुःखमेकसो लभते यदि ॥

सुखं तथापि सर्वाणि तानि लब्धान्यनेकशः ॥ १८५६ ॥

विजयोदया—दुष्यं यणतबुद्धो भवेत्तु सुहृदि पवति कहिंनि दुःखमपि अन्तवारं प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति
कथंचित् । तथापि य अन्तर्बुद्धो तत्प्राप्त्यन्तवारं सत्यपि सुप्राणि पश्याणि सर्वाणि सुखानि प्राप्नोति ॥ गणधृतां चक्र-
वर्तिनां पंचानुत्तरदिमानशक्तिनां लोकांतिमानमहाविद्याणां च सुप्राणि सुख्या ॥

मूढारा—सन्ध्याणि गणधृता, चक्रवर्तिनां, अनुदिशानुत्तरविमानवासिनां, लोकांतिमादीनां च सुखानि सुख्या ॥

अर्थ—इस संसारमें गणधर, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, पंचानुत्तर निमानवासि देव, और लोकां-
तिक देव इनके सुखोंकी इन जीवोंको प्राप्ति नहीं हुई है. वाक्यके मंगल सुखोंके प्रसार इन जीवोंको अनन्तवार प्राप्त
हुये हैं.

करणेहिं होदि बिगलो बहुसो वचिचिचसोदणिजेहिं ॥

घाणेण य जिम्भाए चिद्वावलविरियजोगेहिं ॥ १७८७ ॥

स चतुर्भिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकनाक्षेण वलितः ॥

संसारसागरेऽनंतं जायतेऽनन्तशोऽसुमान् ॥ १८५७ ॥

विजयोदया—करणेहिं होदि बिगलो विकलैर्द्रियः क्षिप्रद्वयति । बहुसो बहुशः । वचिचिचसोदणिजेहिं मनसा
यकत्वा श्रेष्ठेण नेत्रेण करेण हीनः । स्पृशेभिर्द्रियैरुत्पत्त्यस्तम्भवात् सदुत्पत्त्यासः ॥ योमेव य प्राप्तेन च । जिम्भाए ।
जिह्वया चेट् । पलविरियजोगेहिं केष्टया वलेन पीये ५ च ॥

मूढारा—करणेहिं विचारिभिः कश्चिकलः स्यात् । स्पृशेभिर्द्रियस्य वैकल्याणमवादनपुन्यावः ॥

अर्थ—यह जीव अनेकवार विकलैर्द्रिय हुआ है. कभी नेत्र रहित, कभी कान रहित हुआ था. कभी
असंज्ञी मन रहित और वचन रहित हुआ था. कभी इसको नाककी प्राप्ति नहीं हुई और कभी इसको शक्ति, बलः
पराक्रम इससे रहित होना पड़ा था. ऐसी अनेक दुरवस्थायें इस जीवकी अनन्त बार हुई हैं.

जन्वंधवहिंस्रमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ॥

ममइ सुचिंरिपि जीवो जम्मवणे णट्टसिद्धिपट्टो ॥ १७८८ ॥

विषयधुर्धरिणो भूक्तो वामनः पामनः कुणिः ॥
 दुर्वर्णो दुःस्वरो मूर्खश्चन्द्रश्चिष्टिनास्तिकः ॥ १८५८ ॥
 न्यायितो न्ययनी शोकी मत्सरी पिशुनः शठः ॥
 दुर्भगो गुणविद्वेषी वंचको जायते भवे ॥ १८५९ ॥
 क्षुधितस्तृपितः श्रोत्रो दुःखमारवशीकृतः ॥

पृकाफी दुर्गमि दीनो विडते भवकानने ॥ १८६० ॥

य एतागी ममदि मलहायो यथा वने भ्रमति । तथा सुचिरं विचिराद्यमपि । जादो सुदा पीडितः । विसिद्धो दयामिमूलः । यणे
 यदो नष्टिदिमार्गः ॥ उक्तं च—कलुषचरितैर्मलानरसुसंचितकर्मभिः । करणविकलः कर्मोद्धतो भवान्यवपाततः ।
 गुणिरसवशो दुःगामोऽने निर्मलितसौख्यो । भ्रमति कृणो नष्टाणः शुभेतरकर्मफल ॥ अयणविकलो वाग्धीनोऽसौ यथा-
 गतमोयनः । दृष्टितमलिनो मलौऽदृष्ट्या ज्ञेयस्वहावकः । मलहादलकृत् गुणहन्मुग्धरायारदेहता । भ्रमति सुचिरं जन्मादहर्षा
 तपायमेवताकः ॥ इति ॥

मल्लारा—जादो क्षुधितः । एतागी लसहायः ॥
 अर्थ—कभी यह जीव जन्मतेही अंधा, बहिरा, गूंगा होकर जन्मा था. अनंतवार भूल और व्याससे पी-

डित हुआ था. जैसा कोई मार्गभ्रष्ट जीव जंगलमें अकेलाही भ्रमण करता है वैसे यह संसारी जीव मोक्षमार्गसे भ्रष्ट
 होकर गंगारयनमें सहायके बिना भ्रमण करता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—यह अज्ञजीव हिंसादिक
 पापोंमें कर्ममंचय करके भ्रमण करता है. कभी कभी यह जीव मंपूर्ण इंद्रियोस पूर्ण नहीं होता है अर्थात् नेत्रादिक इंद्रि-
 यके अभावमें यह अंधा, बहिरा, गूंगा वगैरे अवस्थाको प्राप्त होता है. इस संसारमें अशरण, दुःखपीडित और
 दीन होकर अशुभ कार्य करके भ्रमण करता है. जेम्मे बहिरा, मूक, अंध, अज्ञ ऐसा प्राणी वनमें भूल और व्याससे
 पीडित होकर गदाधरद्वित अशरण दीन होकर भ्रमण करता है वैसे यह जीवसी ब्रत, स्थावर जीवोंके देह
 को श्रमण करता है, कभी छोड़ता है. इस तरह विरक्तालसे जन्मवनमें भ्रमण कर रहा है.

एइंदियेसु पंचविधेषु वि उत्थाणवीरियविहूणो ॥
 भ्रमति अणंतं कालं दुःस्वसहस्साणि पावैतो ॥ १७८९ ॥

एकैत्रिंशेष्वयं जीवः पंचस्वपि निरंतरम् ॥

उत्थानवीर्यरहितो दीनो बंप्रमते चिरम् ॥ १८६१ ॥

विजयोदया—पनिर्विघ्नेषु पंचविधेषु चि एकेत्रिंशेषु पंच प्रकारेष्वपि । पृच्छपक्षेजोवायुवनस्पतिसारीरध्या-
रिपु । उत्थापनीरियचिदीप्ते पृथिव्यादिकायां परित्याज्य त्रसकायमातिनिमित्तोत्थानवीर्यरहितः । भ्रमदि अणंत
काले भ्रमति अंतर्काले । दुष्पयसहस्रसापि पावैतो दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥

मूढारा—उत्थापनीरियचिदीप्ते पृथिव्यादिकावत्यागेन त्रसकायप्राप्तये यदुल्लानवीर्यसुखयमकिततद्रहितः ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति ये पांच स्थावरकायिक जीव हैं इनमें अपना पर्याय
रपाग कर प्रत्येक प्राण करनेकी शक्ति नहीं रहती है. इसलिये अंतर्कालतक हजारां दुःख सहन करते हुये ये जीव
इसही पर्यायमें भ्रमण करते हैं.

चतुद्विंशत्प्राण संसारणवीर्य पावकलुसाए ॥

भ्रमद् वरागो जीवो अण्णाणनिमीलितो सुचिरं ॥ १७९० ॥

विज्रदुःखमहावर्तमिमां संसृत्तिवादिनीम् ॥

अज्ञानमिलितो जीवो गाहते पापपाथसम् ॥ १८४२ ॥

विजयोदया—चतुद्विंशत्प्राण यद्दुःखायताए यद्दुःखायतामां । संसारणवीर्य संसृतिनां । पावकलुसाए पापकलंकसहि-
तायां । वरागो जीवो भ्रमति । सुचिरं अण्णाणनिमीलितो अज्ञानेन निमीलितः ॥

मूढारा—१७९० ॥

अर्थ—अनेक दुःखरूपी मोक्षे त्रिसर्ग हैं, पापरूपी मलिन पानीते जो युक्त है ऐसी इस संसारनदीमें यह
दीन जीव अज्ञानसे वेसुष होकर भ्रमण करता है-

विसयामिसारागढं कुजोणिणमिं सुहृदुक्खदढवीलं ॥

अण्णाणतुंवघरिदं कसायदढपट्टयावंधं ॥ १७९१ ॥

इन्द्रियार्थाभिलाषारं चंचलं योनिनेमिकं

मिथ्याज्ञानमहातुल्यं दुःस्वकीलकयंत्रितम् ॥ १८६३ ॥

विजयोदया—विसर्गमिसाराणां विषयाभिलाषारैर्गठं स्तब्धं । कुञ्जोपैत्येति सुहृदुपखट्वलीलं कुत्सितं । सुजदुःगटदरुणं । अण्णान्तेवधरिदे अज्ञानंतुल्यधारितं । कसायदृष्टद्विधावदं कषायदं पट्टिकाबंधं ॥

मूढारः—विसर्गमिसाराणां विषयाभिलाषारैरेव स्तब्धं निविष्टं वा ।

अर्थ—यह संसारचक्र विषयामिलाषारूपी आरोसे गा। अर्थात् मजबुत है। कुयोमिरूपी नेमिसे युक्त है अन्यां नरकादि दुर्गतिकरूप नेमिसे-पूटीसे यह संसारचक्र युक्त है। सुखदुःखरूपी कीलसे यह युक्त है तथा इसमें अज्ञानमायारूपी तुंवा है। कषायही इस संसारचक्रपर लोहकी पट्टी है।

बहुजन्मसहस्राविसालवत्तर्णि मोहवेगमहिचवलं ॥

संसारचक्रमाकृष्य भ्रमदि जीवो जणप्पवसो ॥ १७९२ ॥

कषाययपट्टिकायदं जराभरणवर्तनम् ॥

संसारचक्रमाकृष्य चिरं भ्राम्यति चेतनः ॥ १८६४ ॥

विजयोदया—बहुजन्मसहस्राविसालवत्तर्णि भ्रमेकजन्मसहस्राविसालमार्गं । मोहवेगं मोहवेतं । संसारचक्रमाकृष्य पंचभूतं संसारचक्रमादृष्ट । अण्णवसो जीवो भ्रमदि भ्रमात्मवशो जीवो भ्रमति ॥

मूढारः—विसालवत्तर्णि विपुलमार्गं ॥

अर्थ—जनेक जन्मरूपी विशाल मार्गपर यह संसारचक्र भ्रमण करता है। मोहरूपी वेगसे यह चक्र अतिशय चंचल दीखता है। ऐसे संसाररूपी चक्रपर आरोहण कर यह जीव परबल होकर भ्रमण करता है।

भारं णरो वहंतो क्वंचि विस्समदि ओरुहिय भारं ॥

देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिंदुं ॥ १७९३ ॥

यहमानो नरो भारं क्वापि विआभ्यति पुचम् ॥

न देहभारमादाय विआभ्यति कदाचन ॥ १८६५ ॥

विजयोद्या—मारं धरो यदंगो भारं बहधरः। कद्वेचि मारमोहयि कस्मिन्निदेशे काले च मारमवतार्य । विस्स-
मदि विश्राम्यति । देहधारयादिनो पुण देहधारोदाहिनो जीवाः पुनः । न लयंति खणं पि विस्समिदुं न लभंते क्षणमपि
विधानं क्त्तु । औदारिकवैकिस्मिच्चोर्विन्ध्योरपि कामार्णवजस्योरयस्मानात् ॥

मूढारा- कदि पि देसं काले च । ओरुद्धि व अवतार्य । गोदस्यादि औदारिकवैकिस्मिच्चोर्विन्ध्योरपि कामार्ण-
वजस्योरयस्मानात् ॥

अर्थ—बोझा उठानेवाता मनुष्य किसी स्थानमें कुछ कालतक बोझा अपने मस्तकपरसे उतार कर विश्रां-
ति लेता है. परंतु देहका भार बहनेवाला यह संसारी जीव एक क्षणमात्रभी देहभारको उतार कर विश्रांति नहीं
ले सकता है. यद्यपि औदारिक और वैकिस्मिक शरीर इस जीवके कुछ कालतक अर्थात् एकसे तीन सप्पतक नहीं
रहते हैं बोझी कामेण और कैजस शरीर इस जीवके साथ सतत रहते हैं इसलिये इसको सदाही विश्रान्तिका अभाव है.

कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहंधयारगाहणम्मि ॥

अंधोध दुग्गमग्गे भमदि हु संसारकंतारे ॥ १७९४ ॥

यंअमीति चिरं जीवो मोहांपतमसाधृतः ॥

संसारं दुःखितस्थान्तो विचक्षुरिव कानने ॥ १८६६ ॥

पिजयोद्या—कम्माणुभावदुहिदो असदेयादिपापकर्मभावात्स्थजित्तुःखः । एवमुक्तं क्रमेण । संसार
कंतारे भमदि संसारकंतारे भमति । कीदृशो मोहंधयारयद्वले मोहांपकारयद्वले । अंधो य दुग्गमग्गे संघ इव दुर्गमार्गे ॥

मूलाश—कम्माणुभाव असदेयादि पापकर्मभावात्स्थम् ॥

अर्थ—अज्ञानादेवदनीयादि पापकर्मके प्रभावसे दुःखित होकर यह जीव एवोंक क्रमसे संसारचक्रमें अग्रण
करता है. यह संसारचक्र मोहरूपी अंधकारसे व्याप्त होनेसे अंधा मनुष्य जैसे खराब रास्तेमें जाता हुआ दुःख पाता
है संसारी मनुष्यभी इसमें दुःखी होता है.

दुक्खस्स पटिगरेतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ॥

पाणवधादीदोसे कवेइ मोहेण संछण्णो ॥ १७९५ ॥

भूतिः करोति दुःखं दुःखसंगमलाटसः ॥

अज्ञानतमसा छन्नो हिंसारं भादिपातकम् ॥ १८६७ ॥

विजयोदया—दुःखरस्त पडिगर्तो दुःखस्य प्रतीकारं कर्तव्यम् । सुखमिच्छतो य इन्द्रियसुखमभिलषन् । इमो जीवो अयं जीवः ॥ पाण्यधात्रीतो हिंसादिदोषान् । करोति मोहेन संछन्नो करोति मोहेन संछन्नः । एतदुक्तं भवति—दुःख-
भीमर्नरो विशेषदुःखालापस्यापायं न वेत्ति ॥ दुःखनिराकरणार्थं हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुख-
लंपटोऽपि तेज्ये हिंसादिषु दुःखलंपटुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥

मूढारा—दुःखरायेत्यादि दुःखभीरुषु नैव निःशेषदुःखापायोपायं वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थं हिंसादिषु दुःखलंपटुषु वृत्ते । ततोऽस्य सकलोपि व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति भावः ॥

अर्थ—यह जीव दुःखका नाश करनेकी इच्छा रखता है और सुखको चाहता है. परंतु मोहवश होकर हिंसादिक दीपाँकी करता है. वास्तव्य यह है कि संसारी जीव दुःखसे दूरता है परंतु दुःखके नाशका उपाय यह नहीं जानता है. दुःखका निराकरण करनेकी इच्छा है परंतु दुःखोंके धारणोकाही आशय करता है. इन्द्रियसुखमें लंपट हो-
कर हिंसादि दुःखोंके कारणमें प्रवृत्त होता है. इस वास्ते इसकी सब प्रयुक्ति दुःखकाही मूल है.

दोसेहिं तोहिं बहुगं कम्मं वंधदि तदो णं व जीवो ॥

अथ तेण पच्चह पुणो पविसिच्चु व अग्निमग्गीदो ॥ १७१६ ॥

हिंसारं भादिदोपेण गृहीतनवकरुमपः ॥

प्रदहते प्रविष्टोऽग्नीं पावकादिव पावकम् ॥ १८६८ ॥

अथ कर्मबंधानंतरं । तेन पचादि तेन बंधनेन कर्मणा पच्यते । पविसिच्चु प्रविश्येव । किं वग्निं वग्निं । अग्नीदो अग्निः । अग्निरागत्य ज्वालिं प्रविश्य यथा पाच्यते । एवं पुनः कर्मवर्णोपधितः पुनः प्रत्ययकर्मामलेन (निबन्धेन) दहते इति ॥

अर्थ—यह जीव प्राणिवधादिक अनेक दोषोंसे महातपि कर्मका नयीन चंघ करता है. जब उस कर्मका

उदय आता है तब एक अनीसि निकल कर दूसरे अग्निमें पढनेवाला जीव जैसे घोर दुःखका अनुभव करता है। ऐसा इस जीवको भगोदयसे दुःख होता है- अर्थात् पूर्वकर्म उदयमें आकर वह स्थिर हो जाता है और उसीसमय नवीन कर्म भी बंध जाता है- अतएव दुःखका कारण जो पूर्व कर्म उसका नाश होते समय ही नवीन कर्म बंध जाता है- इसलिये वह भी कर्म उसके अनंतर उदयमें आता है इसलिये इस जीवको सतत दुःखही दुःख भोगना पड़ता है-

ग्रंथतो मुच्यंती एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो ॥

सुहकामो यदुदुक्खं संसारमणादियं भमइ ॥ १७९७ ॥

गृहता मुंचता दारुणं कल्मषं सौख्यकांक्षेण जीवेन मूढात्मना ॥

अभ्यन्ते संसृता सर्वदा दुःखिना पाचनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता ॥ १८९९ ॥

इति जन्मानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—ग्रंथतो मुच्यंती मुंचन्ती ग्रंथम् मुंचन् । एवं कम्मं पुणो पुणो जीवो कर्म पुनः पुनर्जीव । दत्तफलाभि मुंचति, कर्मफलानुभयकालोपजातरागद्वेषपरिणाभिरभिनयानि कर्मोणि यप्नोति । सुहकामो सुखाभिलाषयात् । यदुदुक्खं विचित्रं दुःखं । संसारमणादिभिर्भ्रमदि भ्रान्तिसंसारं धमति । संसारद्विता ॥

मूढात्—ग्रंथतो पूर्वकर्मफलानुभयकाले जातार्थां रागद्वेषाभ्यां अभिनयं यप्नन् । सुचो षण्णुक्खलं प्राकृतं मुंचन् ॥ संसारानुप्रेक्षा ॥

अर्थ—विम कर्मोति आत्माको फल मिल चुका है वे कर्म गल जाते हैं- परंतु पूर्व कर्मके फलोंका अनुभव लेते समय यह जीव रागद्वेषयुक्त होता है अतः उसको नवीन कर्म बंध जाता है- इस जीवके मनमें सुखकी तीव्र अभिलाषा है परंतु वह सुख उसके उपायोंका ज्ञान न होनेसे प्राप्त नहीं होता है- उल्टे उपायोंमें यष्ट होनेसे इसको नानादुःखोंसे परिपूर्ण ऐसा बनादि घोर संसारमें भ्रमण करना पड़ता है-

लोकांनुप्रेक्षा निरूप्यते नामरूपाणानाद्रूपादिविकृत्येन । यच्चयनेकप्रकारे लोकस्तथापीह लोकसन्नेन जीवद्वयं लोकं पश्योच्यते । कथं ? स्वयेण जीवभयप्रचुत्तिकमनिरूपणात् ॥

आहिङ्यगुप्तस्तस्व व इमस्तणीया तर्हि तर्हि ह्येति ॥

सत्त्वे वि इमो पत्तो संबंधे सत्त्वजीवेहि ॥ १७९८ ॥

सर्वे सर्वैः समं प्राप्ताः संबंधा जंतुर्नाभिभिः ॥

भवति अमृतः कस्य तत्र तत्रास्य चांचवाः ॥ १८०० ॥

विज्ञयोदया—आहिङ्यगुप्तस्तस्व व देशोत्तरं अमृतः पुंस इय । इमस्त णीया तर्हि तर्हि ह्येति अस्य संबन्धस्तत्र तत्र भवति । मन्देति इमो पत्तो स्वयमये प्राप्ताः । सर्वे सर्वैः संबंधात् । सत्त्वजीवेहि सर्वजीवैः सत्त्व ॥

धर्म्येवचतया ढोकं पंचदशमापाभिरनुभूयते । नामस्थापनाइव्यादिविरूपेण यद्यपि चलेकप्रकारो लोकस्त्वथपि इह लोचनशब्देन लोचद्रव्यलोकं प्रयोज्यते । सूत्रेण लोचपरमप्रवृत्तिकमनिरूपणात् ।

मूलापा—आहिङ्य देशात्तरभ्रमणपरः ।

लोकातुमेषाका पर्णैर्नाचार्यं करोते ई. नाम. स्थापना, इत्य्य वगैरे विकल्पोत्तं लोकके अनेक भेद हैं तस्यापि यह लोच शब्दसे इव्यलोक ही प्राप्त है. क्योंकि जीवकं धर्म प्रवृत्तिजा क्रम यहां कहा गया है.

अर्थ—एकदेशसे दूसरे देशको जानेवाले पुलवकें समान इस जीवको सर्व जगमें पंचभुलाभ होता है अर्थात् सर्व जीवोंसे अनादिकालसे हमका संबंध होता चला आया है. अमुक जीवके साथ इसका पिता पुत्र वगैरह रूपसे संबंध नहीं हुआ था ऐसा कालही नहीं था अतः सर्व जीव इसके संबंधी है.

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं पुणमुवेदि ॥

इय तंसारे सत्त्वे परिग्रहेते हु संबंधी ॥ १७९९ ॥

माता सुता स्तुपा भार्या सुता कांता स्वसा स्तुपा ॥

पिता पुत्रो नृपो दासो जायतेऽनंततो भवे ॥ १८०१ ॥

विज्ञयोदया—माता व होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं भवति । मायां मातृतां पुनर्गच्छति । एवं संसारे सर्वे संबंधाः परिप्लवते इति गायत्रीः ॥

मायत्त—सष्टम् ॥

अर्थ—इस लोकमें माताभी पत्नी होती है और पत्नी भी माता होती है- अर्थात् स्वीयसे खुद उसमें उत्पन्न होकर यह पतिरूपवीच उसका पुत्र बनता है इस प्रकार इस संसारमें सर्व संबंधोंका परिवर्तन होता रहता है-

जगणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाउ ॥

घणदेवरस य एकस्मि भवे संसारवासम्भि ॥ १८०० ॥

वसंततिलका माता भगिनी कमला च ते ॥

एकत्र धनदेवस्य भार्या जाना भवे ततः ॥ १८०२

विचयोदया—जगणी वसंततिलया धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भायें आते धन-
देवस्य । तस्मिन्नेव भये मातातरेषु संयुधान्ध्यामाये किमस्ति यावत् ?

धनदेवदेवस्यैव समेतोऽपवाद । तु स ततो व्यपन्नमुग्र भलं च पापं । नानासारीस्वहेतेषु कथं न दुःखं । मामोति
केन विपयान्तिपापकर्म ॥

उक्तं च-कुर्यात् तन्मद्वयजोद्धतदत्तेयम् । कङ्को विरुद्धकलपाणिविषयुधधारः । कुर्वन् दुःखमधिकं विपया
नारणां तस्मात्पञ्चेति विषयान् परिहृष्टत्वाः । एवमयं करो लोकाधमम् ॥

मूलात्—आसि भज्जाओ लाते है अवि मातृस्यसारी भायें । तस्मिन्नेव भवे, किं भयतरेषु संबंधान्मयत्वे कथमित्यर्थः ॥

अर्थ—एकही भयमें धनदेव नामक मनुष्यके वसंततिलका माता और कमला नामक भगिनी दोनों पत्नी हुई थीं जब एकही भयमें ऐसे विचित्र संबंध होते हैं तो भवांतर के संबंधोंमें कदाही क्या? आगममें इसवि-
षयमें ऐसा कहा है—एकही भयमें एक शरीर धारण करनेमें भी इस जीवको नाना प्रकारके अपवाद सहित करने पड़ते हैं-
उसमें उसको दुःख क्यों न होगा अर्थात् अपवादसे इस जीवको तीव्रदुःखानुभव होता है विषयोपभोग करनेसे पापकर्म-
का बंध होता है-एक शरीरके साथ जीवका संबंध होनेसे इसको इतना कष्ट होता है तो अनेक जन्मोंमें इसने आज तक
अंततः शरीर धारण कर छोड़ दिये हैं तो इन देहोंके जाग्रतसे अपवादजनित दुःख और अंततः दुःखदायक कर्मोंका
संपर्क होनेमें कितना कष्ट हुआ होगा इसका विचार विचारी पुरुष मनमें कर सकते हैं-

अर्थ—एडे पंगमे दोहनेवाला उन्मत्त हाथी, मनुष्यकी उतनी हानि नहीं करता है-बलवान पुरुषके हाथमें रहनेवाला वीर्य धारता तदर्थ मी लोगोंकी उतनी हानि नहीं करेगा. परंतु विषयसुख मनुष्योंकी उनसे भी अत्यंत अधिक हानि करता है. अतिशय दुःख देता है. इसलिये तत्त्वदर्शी लोग ऐसे विषयोंका त्यागकर सुखी होते हैं. इसप्रकार ये तीरूपमें छटदायक है.

राया वि होइ दासो दासो रायचणं पुणमुवेदि ॥

इय संसारे परिवट्ठते ठाणाणि सज्जाणि ॥ १८०१ ॥

संसारे जायते यास्मि न्ययोऽपि सल्लु किंकरः ॥

कीटयोऽपि क्रियते तत्र रत्तिर्नैवामिधानके ॥ १८७३ ॥

विज्ञयेदया—राया वि होइ दासो राजा दासो भवति, मीचैयोंनाईवान्, दासो राजाओं पुनरुपैति उच्छैयोंना कर्मण उदयान् । एवं संसारे परिवर्तते सर्वाणि स्थानानि ॥
मूलार्थ—दासो नीचेगोंत्रोदयान् ।

अर्थ—राजा भी जब उसको नीचे गीत्रका उदय होता है तब भर्चावरमें दास होता है. और दासभी उच्च-गीत्र कर्मका उदय होनेसे भर्चावरमें राजा होता है. इस प्रकार इस संसारमें सर्व स्थानोंमें परिवर्तन होता है.

कुलरुचतेयभोगाधिगो वि राया विदेहदेसवदी
वच्चघरमि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मैहि ॥ १८०२ ॥

विदेहाधिपती राजा तेजोरूपकुलाधिकः ॥
जातो वच्चोगे क्रीटः सुभोगः पूर्वकर्मभिः ॥ १८७३ ॥

विज्ञयेदया—कुलरुचतेयभोगाधिको वि कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोपि । विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोगतमः सुवर्णगृहे कीडो जाताः स्वैः कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—इष्टाः क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वविंदीसपुत्रः नभिमार्तरूपाः ॥ अधस्तात् एव पुनस्तन्यगतिं प्रपन्ना हीना भवन्ति कुलरूपगणप्रधानाः ।
मूलार्थ—वचकुडिन्मि विष्ठागृहे । सुभोगो सुभोगस्यो राजा सन् ॥

अर्थ—कुल, रूप, तेज, और योगसे इतर जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा विदेह देवका अधिपति सुयोग नामका राजाभी मरुतर पेत्रवानमें गृध्रमें फीटक हुआ. अपने पित्रो हुए कर्मके वञ्च होकर सुभग राजाकी ऐसी पुर्दआ हो गयी. हतलिये कहा यी है कि,—देव और मनुष्योंमें श्रवान, सर्व ऋद्धिकी प्राप्ति होनीसे जिनका शरीर तेजस्वी और सुंदर दीप्तता था, जिनका रूपगुण चंद्रके समान आल्हादभरक था, वे भी मनुष्य ग्रह होकर अन्यगतिको प्राप्त होकर कुल रूप, मयाप हत्यादिकोसे हीन होगये हैं.

होऊण महद्दीठ देवो सुमवण्णगंगंखरुवधरो ॥

कुणिमम्मि वसद्धि गम्भे पिगल्लु संसारवासस्स ॥ १८०३ ॥

देवो महद्धि को भूत्वा पवित्रगुणविग्रहः ॥

गम्भे वसन्ति यीमस्से धिक् संसारमसारकम् ॥ १८०३ ॥

विजयोक्ता—होऊण महद्दीठ देवो महद्धि को देवो भूया । सुमवण्णगंगंखरुवधरो प्रशस्तेजोगंधरुगावित् ॥
 इंद्रचापतंत्रिचंद्रराणा यद्धशम्भु गगने सद्धैव ॥ तम्भ संभवति तद्धमीयं अम्भ वेद्यमनुधिप्रविसुक्तं ॥ १ ॥
 पातपिक्कफ्फोः परिमुक्त व्याधिभिर्दिगतबोधमतीर्य, अश्नुते परमयौगयुक्तं सर्वतोऽविकलसुखमकति ॥ २ ॥
 संपतञ्च विमलशरवणस्पशंगधरयास्त्रितहास । सद्धितोऽसगतिचेष्टितलील से शरीरमयञ्ज लभते ॥ ३ ॥
 गीतपादतित्तुत्तिनादेस्कांस्तदुध समुपेत्य सहयोगः । देवदेवयोगिता प्रणिषत्य कुर्वतेऽत्र समुपासनमेपां ॥ ४ ॥
 कुत्तपंकनसमेरुश्च हस्तैर्नैदिलैः प्रथरत्नद्वयनोर्णः । चारुवद्भवना नतिभोगां सिमंघट्टिद्विहसिताः प्रतियुद्ध ॥ ५ ॥
 मुपासनमस्तकोपिष्टान् मृगपानमृगतानि गच्छन्तानां । अथ तानपि रूपावर्धति मुदितास्त्रेन सुराः सुवर्णकुंभैः ॥ ६ ॥
 प्रविकाशय चक्रपंकजानि सुरतायां कृणुणां शुभिः सुराणां । कुह नः सुचिरे त्वमाधिपत्यमिति तान्याग्निमरभिष्टुयति शेष ॥
 अश्वाय नैवायस्येति शिर ॥ स्वस्तैरेवेमुकुटाणि भूत्वा । विपूरिताश्चाधमरुत्तैरन्धैरेव हारांगदकुण्डलाद्यैः ॥ ८ ॥
 ज्योतिर्विपुणम् गगनप्रदेशान्, विमुद्गिनन्दाञ्च रुचिरांशुतांश्च, रत्नार्चितान् हेममद्भाषिरोऽथ विशेषयंतोऽभ्यधिकं विनोति ९
 दिग्बयीद्वलविक्रमाशुभो दिव्यदीप्तवपुषो दिवो वरा । आसयंति विमलंवरार्कवद्वल्सीभ्यवपुषः प्रशोकवत् ॥ १० ॥
 दूरप्यतिवर्ति छाद्यमात् मौर्यप्रकिरित्मया यवंति च ॥ अर्णवदतिविर्हति मेदिनीं पौरिवाञ्च महतोऽपि रंघते ॥ ११ ॥
 क्वाष्टनग्निर्नैनिर्लं जलं महीं संमपिदय च तनूः शरीरिणां । निर्विशेषगुणकाः सहासितु ते भयंति सुचिरे सुशक्तयः ॥ १२ ॥
 पानकाचरमुत्त दनावनीस्तागतांश्च सद्धसा निषत्य ते ॥ स्थानभीष्मिक्ततमं अमाहिना यांति नामातहताशरीरवत् ॥ १३ ॥
 उतिशपेत्पुष्पैर्ना मदावाचयत् पातयेयुपि मदरत्नकैरः । मंवरप्रादिशिखरं चरतिरिक्वास्ते स्मृतेषुष्टपि यद्यभीप्सितं ॥ १४ ॥

ईशितुं मरुतृणामयानतः कर्तुं गतस्य वशान्मुखात्तपि । रूपमज्ञानमज्ञा समीप्सितं स्पष्टमुद्राव्यलमस्ति सप्ततद्वया ॥ १५ ॥
 भंगवतीताः स्वयमस्मिन्पेवौ मूढेः शुभकुरुमेव ॥ संतातानां चैवैरचितमाला नित्याब्जानाः परिवहमानाः ॥ १६ ॥
 मान्यैर्गणैः सुप्रमदुष्टिता वरदाण्यतिविन्द्वीर्यं वसतामाः ॥ रत्नयुते रतिनिष्पुणामिस्वाभिः सार्द्धं वरयन्तिताभिः ॥ १७ ॥
 तुल्येनैव जीवं गतिं विवेकगृह्यते परित्यागं, तत्र महद्विभुता अपि देवाः स्त्रीपुरुषा विप्रमायुष पत्य ॥ १८ ॥
 प्राणभूतामिह मरणमलोके तीमतरादिकयावचतुङ्कं । स्वात्सुरसंततयाः समकालः, तत्र प्रवर्ति हि कर्मवशेन ॥ १९ ॥
 अज्युतमानितजीवितदेवे, श्री चिरजीवितव्यति तस्याः । पत्यमितं वत् जीवितकालं तेन वियोगमितः सुद्लोकः ॥ २० ॥
 मृत्युहृते न विवित्य सुदुःखं भागि सुराः शरिभीतमनस्काम तत्र मर्जितं मृगा इव वला व्याहृतमीमुपेत्य समीकाः ॥ २१ ॥
 गभेष्टतामपि ते कुर्यात्सर्पा संगरेचित्य पुनः ॥ मवाण्य । शोकमये विपुले परिगतिं चारुकोष इवाभ्युपयाते ॥ २२ ॥
 मृगपयाश्चमुनेरतिदुःखे किंमते येति मयं विविजानां, स्वादधिकं तदवाप्य सुखं तत् ॥ २३ ॥
 तानपि चाद्युपेत्य सुखनिद्रा पश्यत सर्वैर्युरिय कथा, चर्यवहकमितीह गतेषु कालयो न जहात्यहमिदं ॥ २४ ॥
 चण्डयत्नं धमनं वृधेतरेपि पशुदितैर्दिदसैर्दीर्यं गति । काप्यसुरेण कथा वत् लोके हा समयो जननार्णववासः ॥ २५ ॥
 रोगजराविकलत्वविदीनासग्य दुमग्य मज्जमुज्जानां तत्सहितं प्रसमीक्ष्य पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमगच्छयुतमात्रे ॥ २६ ॥
 मान्यपशाश्वपसा विह्वल्यतो देशमिवाव्ययुपद्रव्यकुलं । संप्रतिपत्स्य उग्रभयं ते शोकवशा यदुसोऽपि संवति ॥ २७ ॥
 यस्तुरतीक्ष्णमयाण्य विमाने भूतदमो अगतोरपि गति । तत्परिवितयतां कुशलानां केन सुरेण भवेद्बहुमानं ॥ २८ ॥
 तेऽप्यधिना विधिना यदुत्तरं दूरगतावपि ज्ञानत एव । तेन मयाप्यनुभूय पुरस्तादश्नुयते भयकुलवदपश्चात् ॥ २९ ॥
 यास्तद्वत्ता वंद्यमस्तुपथाति पूर्ववत् न भवं स उपैति प्राग्विदितमवधं सुनः प्राक् प्रत्य भयं वधेमिति हि पश्यतात् ॥ ३० ॥
 धर्तौ न वीर्यं तद्विहासित किंचन विमृश्यमानं मनसा भयान्वेव । सुरे प्रवृत्तौ विपुले पुमानर्थं भजेत दुःखेन विभाजुनापि वस्य ॥
 यथाशुक्लेशोपहृतेऽपि भोजने न तनयं रोचयते कुलोदितः तथाप्यदोषोऽप्यसुरे सुखे सति न तदुपयो रोचयते कदाचन ३१ ॥
 प्रगीयमानं गतिं पातितो यथा लघोपि भूयस्य नवं दृश्येत । तथा लघोऽप्यसुपत्य सत्सुखे करोति संधेस्य सुखस्य रूपणं ॥
 शुभैरनेकैरपि संकुतां स्त्रियं श्लाघयतां सरुदृश्यनिर्पुणः । नरो जहादेव यथा तथा दुधो न दृष्टिदोषादिषु सोऽनुमिच्छति (?) ॥
 कुणिमग्निं पशसि गग्ने कुधितमर्मे पससि ॥ धियात्यु संसारयावत्स विहास्तु संसारं वासस्य ॥ उक्तं च—स्वर्गाद्गोमादेव
 तस्मत्पुं मनुजेषु गर्भस्मृत्या गर्भनिपातं च समीक्ष्य । प्रस्तादेव देहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भोविष्टा दुःखमिच्छतेऽनुमयति ॥

मूढारा-स्पष्टम् ॥

अर्थ—देवगति नामक कर्मके उदयसे यह जीव महान् आदि धारक, शुभ वर्ण, गंध, रूप इत्यादि उत्कृष्ट
 पुष्पोष्ठां स्थान बनवा है. अर्थात् स्वर्गीय देव बनवा है. परंतु आपण्य समाप्त होनेपर दुर्गेय युक्त गर्भावासमें उसको
 रहना पड़ता है इसलिये ऐसे विचित्र संसारको धिक्कार हो.

१ लोभे आकाशमें इंद्रधनुष्य, बिजली, और मेघ अकस्मात् उत्पन्न होते हैं वैसे देवोंका अकस्मात् जन्म होता है- इन देवोंका जन्म अद्युचितार्थे-अपवित्रार्थे रहित होता है ऐसा समझना चाहिये-

२ वात, पित्त और कफ इन तीन दोषोंसे जो व्याधिया मनुष्य देहमें उत्पन्न होती हैं उनसे देवोंका शरीर रहित होता है खेद उनमें नाममात्र भी नहीं रहता है- मदा तत्पराही रहती है- सर्वावयवरिपूर्णता और उत्तम कर्तृत्वं यह सबही युक्त होता है-

३ उत्तम विलास, भक्ति, चेष्टा और लीलासे वह मन हरण करता है- निर्मल वस्त्र, वर्ण, स्पर्श, सुगंध, मिष्ट भाषण और हास्यसे उनकी शोभा चित्तको अपने तरफ आकर्षित करती है- ऐसा शरीर शुभ कर्मके उदयसे देवोंको प्राप्त होता है-

४ जब उपपादु श्रव्यापर देवका जन्म होता है तब देव देवांगना हंसते उसके सामने आकर नमस्कार करते हैं- और गीत वाद्यादिक ध्वनिश्रुति उसका अभिनंदन कर अपना हर्ष भाव प्रकट करते हैं उसकी उपासना करते हैं-

५ उत्तम लक्षणोंसे युक्त, प्रफुल्ल कमल समान सुंदर ऐसे हाथोंसे किया हुआ नमस्कार ये उत्पन्न हुए देव प्राण करते हैं, चंद्रके समान सुंदर मुखवाले ये देव स्निग्ध दृष्टिसे हमकर देवोंके नमस्कारका स्वीकार करते हैं- ६ पर्वतके शिखरपर बैठे सिंहके समान सिंहासनपर बैठे हुए उन उत्पन्न हुए देवोंका आनंदित हुए देव सुवर्ण कलशसे अभिषेक करते हैं-

७ 'हे देवेंद्र' हर्षके समान गुणोंमें हमारे मुखकमलोंको आप प्रफुल्लित करो- और हमारे ऊपर आपका दीर्घमाल वर आधिपत्य रहे ऐसी देव उनकी शक्तोंके द्वारा स्तुति करते हैं-

८ वे देवेंद्र मानो ग्रीष्मकालके सूर्य ही हैं ऐसे रत्नोज्ज्वल मुकुट मास्तकपर धारण करते हैं- शिर, अंगद, इंद्रजल वगैरह जमूल्य रत्नाभरणोंसे वे अलंकृत रहते हैं-

९ बिजलीसे व्याप्त हुए सुंदर मेघोंको, रत्नोंसे चंडित सुवर्ण पर्वतोंको अलंकृत करते हुए वे देव अति-मृग शोभाको धारण करते हैं-

१० तो दिव्य बल, वीर्य और पराक्रमसे युक्त हैं- चित्तका शरीर दिव्य और दीप्तियुक्त है- ऐसे देव

प्रमद आकाशस्थित सूर्यके समान दृढ़ दिशाओंको प्रकाशित करते हैं- तथा चंद्रके समान अपनी सौम्य कान्तीसे दृढ़ दिशाओंको सौम्यपुष्क बनाते हैं ।

११ अतिशय लघु होकर वे अतिशय दूर जाते हैं- और मुक्त होकर वे पर्यंतके समान विद्याल बनते हैं- जलके ममान होकर पृथ्वीमें प्रवेश करते हैं और पृथ्वीके समान अन्य पदार्थोंको रोष करते हैं ।

१२ लकड़ी, अग्नि, हवा, पानी, वृक्षों इनमें और प्राणिओंके शरीरोंमें वे प्रवेश करनेमें समर्थ होते हैं- उनके गुणके समान गुण और प्राणिओंके नहीं होते हैं- और वे समर्थ होते हैं ।

१३ वे देव अग्नि, पर्वत, जंगल, समुद्र समेतको एकदम ललंचकर बिना परिश्रमके इच्छित स्थानपर पहुँच जाते हैं- सिद्धके समान उत्तरा किन्ती पदार्थसे चाखा नहीं पोहोचती हैं,

१४ उनमें पर्वतोंको जमीनपर गिरा देनेका सामर्थ्य होता है- वे चंद्र पर्वतोंको भी गिरा सकते हैं- जमीनपर उठर कर भी चंद्र पर्यंतके शिखरको स्पर्श कर सकते हैं-

१५ देव और मनुष्योंपर बिना प्रयत्नसे वे हंशस्य रत्न सकते हैं- और सर्व पशुओंको वश करते हैं- मनमें वे जिस रूपको चाहते हैं वकाल उसको धारण कर सकते हैं- वे जिस पदार्थको चाहते हैं वकाल उसको प्राप्त कर सकते हैं ।

१६ अपने शरीरकी सुगंधसे संपूर्ण दिशाओंको सर देते हैं- उनके गलेमें सैतानकादि कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी आत्मान माला रहती है ।

१७ पुष्प, चंदोंसे सुगंधित वस्त्र वे धारण करते हैं- और समीपमें प्रवीण देवांगनओंके साथ वे हमेशा रतिक्रीडा करते हैं ।

१८ वे महान क्रोद्धिधारक देव और देवांगना विषमपुष्प होनेसे विशेष दुःखको प्राप्त होते हैं- अर्थात् देवको देवीका और देवीको देवका वियोग होता है ।

१९ इस मध्यमलोकमें प्राणिओंको तीव्रतर तीव्रतम वमैरह विकल्पोंके क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं- परंतु देवलोकमें कषायोंका तीव्रमान नहीं रहता है-

२० अत्युत्त स्तंगतक देवांगनका दीर्घकाल आयुष्य यद्यपि है तो भी वह पल्पप्रमाण ही है अर्थात्

सामर्गसि उनका आशुष्य नहीं नापा जाता है. और देवोंका आशुष्य सामराको होता है इस लिये देवोंको धारवार अनेक देवांगनाओंका नियोग होता है.

२१ मृत्युके समयमें होनेवाले दुःखोंका विचार कम उनके मनमें दुःख उत्पन्न होता है जैसे व्याघ्रके समीप बाँधे हुए हरिणको दुःख होता है वैसे इन देवोंको मृत्यु समय दुःख होता है.

२२ कैदी होनेका प्रसंग जानेपर जैसा मनुष्यको बहुत शोक और मय उत्पन्न होता है वैसे देवभी यहाँका अलुप्य समाप्त होनेपर हमको मनुष्यत्वीके गर्भमें जो कि कैदखानेके समान है रहना पड़ेगा ऐसा विचार कर बहुत शोकयुक्त और भयबान् होते हैं.

२३ गर्भके अनंतर अपवित्र ऐसै सूत्रमार्गसि हमको बाहर निकलना पड़ेगा. यह तो बहुत कष्टकी बात है. यह मनुष्य जन्म महान् अपवित्र है ऐसा विचार करनेसे उन देवोंको महान् भय होने लगता है.

२४ इस स्वर्गमें हवा से वर्ष धीतनेपर भी हमको धुँवा बाधा न होती थी. परंतु मनुष्यत्व प्राप्त होनेपर सार्वणीके समान यह धुँवानाधा हमको तकलीफ देगी ना यह बड़ा कष्ट है. २५ देव गर्वोंमें एकपक्ष चीतनेपर उच्छ्वास लेते थे परंतु यहाँ मनुष्यगर्वोंमें उच्छ्वासका भी परिश्रम होगा हाव हाव इससंसारसमुद्रमें रहना बड़ा कठिन है.

२६ इस देवावस्थामें रोम, जरा-श्रदानस्था, इंद्रियविकल्पा, इत्यादि दोष नहीं रहते हैं. परंतु मनुष्य-मनमें ये बाधाएँ अवश्य भोगनी पड़ेंगी ऐसा मनमें देव विचार करते हैं. यहाँसि हम ज्युत होनेके अनंतर दुःखद परिस्थिति प्राप्ति होगी ऐसा वे विचार करते हैं.

२७ यद्यपि देव परलंघ नहीं होते है. तथापि उपद्रवयुक्त देवको मानो हम प्राप्त हुए हैं ऐसा समझकर मनमें शोक उक्त होकर अतिशय तीव्र भीतिको प्राप्त होते हैं.

२८ विगको कभी भी रोम पीटा नहीं हुई थी ऐसे भी देव आशुष्य समाप्तिके अनंतर इस मनुष्य लोकमें उत्पन्न होते हैं. ऐसा समझकर कोन विद्वान् देवावस्थाको अच्छी समझेगा ? अर्थात् वह भी कष्टयुक्त है ऐसा समझकर विद्वान् लोक उसमें अनादर करते हैं.

२९ ये देव अपने अवधिज्ञानसे बहुत दूर थीं जाता भी जानलेंते हैं. अतः आगे जानेवाली विपत्तिको जानकर वे प्रथम ही मययुक्त होते हैं. और तदनंतर वास्तविक मयका अनुभव करते हैं.

२९ जिसको अकस्मात् मय उत्पन्न होता है वा प्रथम ही अर्थात् भय प्राप्त होनेके पूर्वमें मय युक्त नहीं होता है. परंतु देव मयकी वार्ता प्रथमही जान लेते हैं अतः वे प्रथमही दुःखी होते हैं. जैसे अपने वध होनेकी गत जिसको प्रथमही मालूम पड़ी है वह मनुष्य प्रथम ही मयको प्राप्त होकर अनंतर वधयुक्त हो जाता है.

३० इसलिए इस संसारसामयमें विचार करनेवाले पुरुषको कर्ता भी सोख्य नहीं है ऐसा अनुभव ऐसा मानना पड़ेगा. तत्पर्यं यह है कि जिसमें अनुभाव भी दुःख हो जायेगा तो भी सुखमें न्यूनता है

जैसे भोजन करते समय अचपे छोटासा भी केश निकला तो वह अब कुलीन मनुष्यको अप्रिय होता है. वैसा सुखमें यदि अल्प भी दोष होगा तो वह सुख दुर्दिमानोंको अप्रिय लगता है ।

३१ नीनेक लिए जो पानी दिया गया है उसमें यदि छत्रका एक भी बिंदु पड़ेगा तो वह पानी दूषित होता है. ऐसे उत्तम सुखमें यदि थोडासा भी दुःख उत्पन्न होगा तो वह सुख दोषयुक्त ही मानना चाहिये.

३२ यदि अनेक गुणोंमें ही संपन्न है तो भी एक दूषक भी जिसने व्यभिचार किया है उसको दयादं मनुष्य भी छोड़ ही देगा. वैसे बुद्धिमान् लोग जिसमें दोष दीखता है ऐसे सुखकी इच्छा नहीं करते हैं.

अभिप्राय यह निकला कि यह संसार दुःखमय है. इस संसारमें कुचित भाँस रक्तादि से भरे हुए गर्भमें नियम करना पड़ता है. इसलिए इस संसारवासकों धिक्कार हो. शास्त्रमें इस विषयमें ऐसा कहा है—इस मनुष्य जन्ममें आनेकेलिए गर्भमें रहना पड़ता है. इसका स्मरण होने से दुःख होता है. गर्भ में आकर भी कोई लोबिका पतन भी हो जाता है. यह शरीर भी अपवित्र है. और यहाँके भोग भी रोग के समान है. इत्यादि विचार करने से देवोंको गर्भ में प्रवेश करने के समान दुःख होता है.

इयं किं परलोके वा सत्तु पुरिसस्तु हंति जीया वि ॥

इहहं परत्त वा खाइ पुत्तमंसाणि सयमादा ॥ १८०४ ॥

यत्र त्वादाने पुत्रस्य जनन्यापि कलेवरम् ॥

तत्तन्नामुत्र चा यंभौ शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः ॥ १८०५ ॥

विजयोदया—इधं परलोके वा, इहलोके परलोके वा, पुनस्स भीषा वि सत्त्वं हति वंचयोपि शत्रवो भवन्ति पुरुरदय । इह परत्न वा ग्याइ इह वा परत्न ॥ अस्ति, पुनस्सति सयमादा पुनस्स मांसं जालमीयजननी अस्ति किमलः परं कटं ॥

मलारा-इपइ इहलोके । परं कष्टमिति भावः ॥

अर्थ—इह लोकमें अथवा परलोक में वंधु भी पुरुषका अनुजका शत्रु होता है. इस लोकमें जननी भी माता भी अपने पुत्रका मांस खाती है. अहह—इस से अधिक कष्टकारक क्या होगा ?

होऊण रिऊ गहुदुक्खकारओ वंधवो पुणो होदि ॥

इय परियट्ठइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥ १८०५ ॥

पंधू रिप्पु रिप्पुधुजायते कार्यात्तस्सतः ॥

घत्तो रिप्पुत्तवधुत्वं संसारं न निसर्गतः ॥ १८०६ ॥

विजयोदया—होऊण रिऊ रिपुधंत्वा पूर्ण । गहुदुक्खकारो विधिगदु खकारी । स एव पुणो पञ्चद्वि । वंधवो होदि मियबांधवो भवति । इय परियट्ठइ एव परियत्ते । णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च वंधुत्वं च शत्रुत्वं च । अये जीवलोके ॥

मूढारा—णीयत्तणं वंधुत्वम् ॥

अर्थ—जो अपना कष्टकर शत्रु है विसने नाना प्रकारके दुःख दिये थे वह भी वंधु-त्रिप बांधव होता है. इस प्रकार शत्रुत्व और वन्धुत्वका जगत्में परिवर्तन होता रहता है.

त्रिमलाहेदु वंकेण मारिओ णिययमारियागळेमे ॥

जाओ जाओ जादिमरो सुदिशी सकम्मोहिं ॥ १८०६ ॥

वक्केण विमलाहेतोः सुदृष्टिर्विनिपातितः ॥

निजांगनांगजो भूत्वा जातो जातिस्मरो वत्त ॥ १८०७ ॥

विजयोदया—विमलाहेदुं विमलविमिर्त्त । वंकेण मारिओ वक्कात्थेन सुल्लेकेन मारितः । काः सुदिशी सुदृष्टितमधेयः । सकम्मोहिं जातनीधेः कर्मणिः । जातो उत्पन्नः । क विमयमारियागळेमे निजभार्यागळेमे जादिमरो जाओ जातिस्मरस्व आतः ॥

मूढारा—भवेण यदाच्चेव स्पष्टिष्येण । मारिदो विमलानाम्ना स्वमार्यया सह मैयुनं कुर्वणो इतः ।
 भारिया भावो । जादिभरो जातिमरया जातः । सुदिही सुदृष्टिर्नामनगरवैशानिकः
 अर्थ—विमला नामक स्त्रीके वश होकर वक नामक गुरुने अपने स्वामीका वच किया. वह स्वामी उसही स्त्रीके उदरमें क्रमोदयेस गर्भ रूप होकर उसका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ. उसका सुदृष्टि नाम रक्वा गया. उसको बालावर्मे जातिस्मरण हो गया तब मैं अपनी स्त्रीमें ही पुत्र उत्पन्न हुआ हूं ऐसा उसको ज्ञान होगया.

होऊण वंभणो सोस्सिओ खु पावं करिचु माणेण ॥
 सुणगो व सूररो वा पाणो वा होइ परलोपु ॥ १८०७ ॥
 ओच्चियो ब्राह्मणो भूत्वा कुत्वा मानेन पातकम् ॥
 सूकरो मंडलः पाणो भूगालो आपने चकः ॥ १८०८ ॥

विजयोदया—होऊण वंभणो सोस्सिओ भारिदो विमलानाम्ना स्वमार्यया सह मैयुनं कुर्वणो इतः ।
 पापं करिचु पापं कृत्वा नीचैर्गोभमुगच्छित्व । सुणगो व सूररो वा पाणो वा होइ परलोपु इवा शूलरथाण्डालो धा भयति परजग्गन्ति ॥

मूढारा--भाणेण जातिमयेन । गुणिज्जनिर्दानवानाभ्यो नीचैर्गोभमुगच्छित्व गुणकारिर्भयनीति संबन्धः ॥
 अर्थ--यह जीव भोग्य ब्राह्मण होकर जातिमयेन गुणिज्जयोका अपमान करता है, निंदाकरता है. इस कारणसे पापमंचय करके अर्थात् नीच गोत्र कर्मका पंच करके परमवर्मे कुत्ता, अथवा सुवर किंवा चांडाल होता है.

वारिदं अधुत्तं णिदं च धुदिं च वसणमब्बुदयं ॥
 पावदि बहुसो जीवो पुरिसित्थिणं दुसयत्तं च ॥ १८०८ ॥
 निदां वारिदयमैत्थयं पूजामस्युदयं स्तुतिम् ॥
 खौणं पौत्तं चिरं जीवः पंडत्तं प्रतिपद्यते ॥ १८०९ ॥

विजयोदया--वारिदं वारिदो । बहुसो जीवो प्राज्ञोति लाभान्तरावोदयात् । अधुत्तं भाल्यतां परंवेदय संस्पः पावदि बहुसो इमो हत्येन । लाभान्तरावस्योपसामदीप्सितानि इत्यादि उभये, लब्धानि च नयेति ॥

ततः यादवतां । निंवा भवपक्षेऽन्तः कृष्णः काणो दुर्भगो मूर्खः कृष्ण इत्यादिकां ॥ शुद्धिं च कृत्वा रूपवान्, याम्भी आत्मः प्राप्त इत्यादिकां यशस्वीर्तेरुचयात् । एवं वसन् दुःख असदेष्टोदयात् । अन्धुदयं देवमनुजभवनं सुखं सदेष्टोदयात् । पुरितिरियन्तुसयत्वं च पुण्यत्वं च खलित्वं च ननुसक्तत्वं च बहुताः प्राप्नोति ॥

मूलार्थः—अद्विजं आहतत्वं लाभान्तराख्योपश्रयान्नेकत्वं प्राप्नोति । निर्दं खपाकः, पाणो, मूर्खः, कृष्ण इत्यादिषु निंदो प्राप्नोति अवनः नीतुर्दयात् ॥ वसन् दुःखः । अभ्युदयं उत्तमदेवत्वमानवस्त्वयवप्रमथं सुखं सदेष्टोदयात् ॥

अर्थः—इस जीवको अनेकवार लाभान्तराख्य कर्मका उदय होनेपर दारिद्र्य प्राप्त होता है. वैसे इसको अनेकवार धनप्राप्ति होनेसे घनाढ्यपनाभी हुआ था. लाभान्तराय कर्मके क्षयोपक्रमसे यह जीव घनाढ्यभी हुआ था. बहुतवार मिला हुआ धनभी नष्ट हुआ है. इसकी बहुतवार चंचलता है. लंगडा है. अंधा, कृष्ण, मूर्ख है. ऐसी निंदा भी हुई है. अयशस्वीति कर्मके उदयसे अगतम जीवकी निंदा होती है. इसी प्रकार असातापेदनीय कर्मके उदयसे अनेकप्रकारके संकटोंसे यह जीव ग्रस्त होता है. देवगतिके और मनुष्यके सुखोंको अभ्युदय कहते हैं. यह अभ्युदय नातापेदनीय कर्मके उदयसे प्राप्त होता है यह जीव पुण्य, स्वर्ग और नष्टसक इन पर्यायोंकोभी अनेकवार प्राप्त हुआ है.

कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ॥

कारी वि जणसमक्ख होइ अकारी सपडिभोगो ॥ १८०९ ॥

निर्दोषमपि निःपुण्यं सदोषं मन्यते जनः ॥

सदोषमपि पुण्याढ्यं निर्दोषं पुरुषः पुनः ॥ १८१० ॥

वित्तयोदया—अकारी अर्पि दोषमकुर्वन्पि कारी भवति, अप्पडिभोगो जणो पुण्यरहितो जणः। कारीपि कुर्वन्पुण्यमाचारं, जणसमप्य जनानां प्रत्यक्षं अकारी होति दुःखवारो न भवति । सपडिभोगो पुण्यवान् ॥

मूलार्थः—कारी दोषकर्ता । अकारी दोषनकुर्वन्नपि । अप्पडिभोगो अपुण्यः । कारी वि दोषं कुर्वन्नपि । सपडिभोगो सपुण्यः ॥

अर्थः—जो मनुष्य पुण्यरहित होता है वह उसने दोष नहीं भी किये हो तो भी वह दोषी माना जाता है तथा जम पुण्योदय होता है वह अमाचारी होकरभी निर्दोषी माना जाता है. लोक उसको निर्दोष समझते हैं.

सत्सिद्धिं चंद्रिमाये कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ॥

सत्सिद्धे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥ १८१० ॥

निसर्गनः कोपि समेअपि वल्लभो विवेष्टतेऽज्योऽसुमतामवल्लभः ॥

समानरूपे सति चंद्रिकोदये प्रियो हि पक्षो भवलः प्रियोऽपरः ॥ १८८१ ॥

विजयो दया—सत्सिद्धिं चंद्रिमायं चंद्रिकायां समानतामयि । कालो वेस्सो कालपक्षो देव्यः । पिओ जहा जोण्हो गुणलपक्षो यथा प्रियः । सत्सिद्धे वि तहाचारे सत्सिद्ध्याचारे दयतेः पुंसोः ॥ कोई वेस्सो पिओ कोई कश्चिच्च देव्यः नित्यः ॥

मूलात्—चंद्रियाए ज्योतनायां समानायां सत्तामपि । कालो कृष्णपक्षः । जोण्हो सितपक्षः । कोई दुर्भागनामः कर्तव्यं प्राप्तः ॥

अर्थ—चंद्रिका प्रकाश दोन पक्षमें समानही रहता है तोभी कृष्णपक्ष लोकोको अप्रिय लगता है और शुक्लपक्ष प्रियता मादूम पड़ता है। वैसे आचार समान होने परभी किसीको लोक अप्रिय समझते हैं और किसीको प्रिय समझते हैं।

इय एस लोगधम्मो चित्तिज्जंतो करेइ णिव्वेदं ॥

धण्णा ते भयवंता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥ १८११ ॥

विर्बिस्स मानं जगतो विवेष्टितं विचित्ररूपं अयवापि दुर्गमम् ॥

करोति वैराग्यमन्यगोचरं दूरीकृतं पूर्वविषोदयं गतम् ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—इय एस लोगधम्मो अयेवण भाणिधर्मोः । चित्तिज्जंतो चित्तमानो । करेइ णिव्वेदं निवेदं करोति । धण्णा ते भयवंता पुण्यवंतस्ते वरयः । जे मुक्का लोगधम्मादो ये मुक्ताः प्राणिधर्माद्यामर्णितान् ॥

प्राणिधर्मचिन्तामुपसंहरत्तदप्रलभाद्—

मूलात्—लोगधम्मादो प्राणवर्णितप्राणिस्वरूपे जनासक्तचित्ता इत्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार यह लोकोंका धर्म है- इसका विचार कर कोई महात्मा विरक्त होता है- वे पूज्य ऋषि पत्न्य हैं जिन्होंने लोकधर्मका त्याग किया है।

विज्जू व चंचलं फेणद्वयलं वाचिमहियमच्चुहदं ॥

जाणी किह पेच्छन्ती रमेज्ज दुक्खुदुदं लोभं ॥ १८१२ ॥

लोकस्वभावं चपलं दुरंतं बुद्धानि दातुं सकलानि शक्तम् ॥

निरीक्षमाणा न बुधा रमंते भयकरं व्याघ्रमिवानिवार्यम् ॥ १८१३ ॥

इति लोफानुप्रेक्षा ॥

विजयोदया—विज्जू व चंचलं विजुदिव चंचलं, फेणुदुग्गलं फेनमिव दुर्बलं । वाचिमहिद्विमच्चुहदं व्याधि-
भिर्मयितं मृत्युना शतं । लोभं पेच्छन्ती लोभं गृह्यन् । जाणी किंच रमेज्ज जाणी कथं तत्र रसि कुर्वन्त ॥

तदनासक्तिशरणं स्वनक्ति—

मूलारा—फेणद्वयलं नीरहिदीरपन्निःसारम् । जाणी रत्तरतिशरणज्ञः । दुक्खुदुदं दुःखेन कंपितं । इत्थं य-

तद्विद्वयलं फेनदुर्बलं व्याधिपीडितम् ॥

जानी यत्परमि कुवन्ति बं दुग्गार्हितं जगत् ॥

लोफानुप्रेक्षा ॥—

अर्थ—यद् लगत् विल्लीकं समान चंचल है, समुद्रकं फेसके समान शल्बीन है, व्याधि और मृत्युसे
पीडित हुआ है-जानी पुरुष दुःखोंसे भरा हुआ यह लोक देखकर उसमें किसी श्रौति करते हैं, अर्थात् जानी इस लो-
कमें प्रेम नहीं करते हैं-इसके ऊपर वै माध्यस्थ भाव धारण करते हैं-

॥ लोगधम्मचिन्ता ॥ अमुप्रत्यनुप्रेक्षा प्रकल्पते ॥

असुहा अत्या कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ॥

एळो केव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो घम्मो ॥ १८१३ ॥

अशुभाः सन्ति निःशेषाः पुंतां कामार्थविग्रहाः ॥

शुभोऽत्र केवलं घर्षो लोकद्वयसुसम्पदः ॥ १८१४ ॥

विलयोदया—अमुहा अत्या कामा य हुंति अमुमा व्यर्थाः कामाद्या भवन्ति । देहो य सव्वमणुयाणं देहस्य सर्वं

मनुजानाम् ॥ परको दोष सुभी एक एव शुभः पुनः । सख्यसुखस्य ते धम्मो सर्वेषां सौख्यानामाकरो धर्मः ॥

धर्मध्यानमुद्धरणं अशुचित्वं मायाहेतुनाशुचित्यति-

अशुचिमाशुभो ऽव्ययश्च मावो यण्यते । तत्रादौ दुःखैकमूलत्वेन धर्मकायकथानामशुभत्वं व्यक्तरथाप्य लोकद-
रमुग्रमदत्तेन धर्मस्य शुभत्वं भावयति—

मूलारा —स्वष्टम् ॥

अशुचित्यानुपेक्षाका वर्णन-

अर्थ--अर्थ पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ अशुभ है. सर्व मनुष्योंका देर अपवित्र है. एक धर्मही पवित्र है
और वही सर्व मोक्षोंका दाता है.

धर्मव्याशुभतां दयाच्छे-

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरितस्स आयहइ णिक्वं ॥

अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥ १८१४ ॥

अर्थो मूलमनर्थानां निर्याणमतिबंधकः ॥

लोकद्वये महादोषं दसे पुंतां दुदत्तरम् ॥ १८१५ ॥

विजयोदया--इहलोगियपरलोगियदोसे येदिकात् परलौकिकांश्च दोषान् । पुरितस्स भावहर णिक्वं पुरुषस्य
आपदणि नित्यं । अत्थो अणत्थमूलं भयान्तराणां मूलं, महाभयस्य मूलस्यान्महाभयं । मुत्तिपडिपंथो मुक्तेरगंलीभूतः ॥
अर्थस्याशुभत्वं समर्थयते--

मूलारा--दोसे दुःखानि । अणत्थमूलं अधर्मविषयविनिदानं । महाभयं विपुलभीतिविनिगत्त्यात् । मुत्तिप-
डिपंथो मुक्तेरगंलीभूतः ॥

अर्थकी अशुभताका वर्णन--

अर्थ-इह लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पडेते हैं. अर्थ पुरुषार्थके
रूप होकर पुरुष अन्याप करता है. चोरी करता है. और राजासे दंडित होता है और परलोकमें नरकमें नाना

दुःखोक्ता अनुभव लेता है इसलिए यह अर्थ अर्थात् घन अनर्थका कारण है, महारम्यका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गत्ताके समान परिवर्ध करता है.

कामस्यऽनुभूततायाश्चोद्रे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ॥

उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥ १८१५ ॥

निपास्थानभवाः कामा भीमा लाघवर्हेतवः ॥

दुःखमदा द्वये लोके स्वरूपकालाः सुबुर्लभाः ॥ १८१६ ॥

विजयोदया—कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया भगुविहुट्ठिभवाः भलघुत्तकारिणः । अप्पकालिया कामा अल्प कालेभवाः । कामरूपा लघुघो लोए लोभद्वये । दुःखावहा । य इति ते सुलभाः नैव ते सुलभा भवेति ॥

कामाभुभवमाश्वासि—

मूलाया—कुणिमकुडिभवा भगुचित्तवपरदरीयभवाः । अप्पकालिया लोभकालमवाः । कामा काम्यमानाः ।

इन्द्रियाणां तद्व्यभवद्वीतयो वा । उवधो लोए लोभद्वये ॥

काम पुरुषार्थं अत्यंत अशुभ है—

अर्थ—यह काम पुरुषार्थं अपवित्र दरीरसे उत्पन्न होता है, इससे आत्मा हलकी होता है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुःख पाती है, यह पुरुषार्थं अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है, और प्राप्त होनेमें कठिन है.

अट्टिदलिया छिरावक्कव्हिया मंसभट्टियालित्ता ॥

वहुकुणिममण्डभरिदा विहिंसणिज्जा सु कुणिमकुडी ॥ १८१६ ॥

मांसलिप्ता सिरावद्धा कुथितास्सियदलाचिता ॥

सतां कायकुटी कुत्स्या कुथितैर्विविधैर्मृता ॥ १८१७ ॥

विजयोदया—अट्टिदलिया अस्सियदलनिपण्या छिरावक्कव्हिया सिरावक्कवद्धा । मंसभट्टियालित्ता मांस मुचिकालित्ता । पणकुणिममण्डभरिदा धनेकानाचिट्ठियण्णां विहिंसणिज्जा सु कुणिमकुडी लघुघो लोए लोभद्वये ॥

देवमुत्पिबं धीमोमे—

मुञ्जता—अद्विद्विज्या अयोनि न यति पयानि यथां ना अरिधृष्टिका शिरात्तरवत्तः । कुण्डिषकुली कुटीया
मन्त्रस्तद्वत्तय यथायथायोगः ॥ १८६ ॥

अथिभजालद्वयः स्याद्युक्तन्यद्वयनिर्दिष्टा ॥

अनुचर्यगकुटी यामिपुष्टिकाकुल्लेपना ॥

अयं—इमं मायामं जलत्कयी सोपदीका यणनं करणे दे.

यद् दगीरत्कयी सत्पत्नी द्वाद्योगं यती दे. अस्मिन्कयी पक्षोंमं यद् सोपदी रची भई दे. नसा जालरूप
यद् यन्मे यती तई दे. सोमकयी मद्योगं ये लीयो मई दे. अपवित्र रत्नादि पदायेंसे भरी हुई दे और सुगुप्ता उत्पन्न
सामं सान्नी दे.

इंगालां धोव्वंतो ण सुद्धिमुचयादि जह् जलादीहिं ॥

तह् वेहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥ १८१७ ॥

निस्सर्गमल्लिनः कायो धाज्जमानो जलादिभिः ॥

अंगार इय नायानि स्फुटं सुद्धिं कदानन ॥ १८८८ ॥

पिलवोरपा—(यान्ते पंथांते ज्ञात्तयमाया मयी न सुद्धिमुचयति, न सुद्धिमुचयति । जह् यथा । जलादी
दि जलादिभिः, तह् वेहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं न याति सुद्धिं जलादिभिः ॥

देवसत्त्वमयोऽनन्तमाह—

मुञ्जता—१८७ ॥

अर्थ—इंगारत्कयी यानी अंगारकं इत्य धोनेपर भी यद् यपना कालावर्णे छोटकर सफेद नहीं पतता दे ।
वेमं दगीरत्कयी धोनेमें नुर नहीं होत दे.

मल्लिज्जदीणि अमेइसं कुणइ अमेइयाणि ण तु जलादीणि ॥

मेइयममेइयो कुव्वंति सयमवि मेइयाणि संताणि ॥ १८१८ ॥

अपानमोक्षयानि करेत्यमध्यं सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ॥

अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ॥ १८८९ ॥

जलद्विद्मचित्वाशेताटयं

मूलात्—अमेरुं स्यार्थेनाद्युचि नूनं शरीरं कर्तुं । उक्तं च—

अथचि नरीरं तोयाद्रिगानि विदधात्यमेयरूपाणि ।।

सलिलहारीनि न मेधं विन्दधति वेहं ह्यमेधमयम् ॥

एषा प्रादुर्बोधाकारमतेन व्यक्षया—अन्धे समयमैवदुर्णीति पठित्वा त्रसेभ्ययोग्यत्सङ्गमधुचीनि संतीत्यर्थमाहुः ॥

चिह्नसंख्या

मेध्यान्यमेध्यानि कठोरमेधं सप्तः द्वापरं साखिलानि नूनम् ॥

अनेभ्यमिभ्यानि पुनः त्वरीरं न नानि मेभ्यं विदधत्यनेभ्यम् ॥

अपरै पुनः मन्त्रिभीजिरवदि सुतं सामान्येन न्यायधयोत्त(सूत्रेण प्रकृतं रोहाद्युचितं अनुसंवधते ।

अर्थ—पानी बगैरह पवित्र पदार्थोंको देह अपने संसर्गसे अपवित्र बना देता है. पानी स्वयं अपवित्र नहीं है. देहके संसर्गसे उसको अपवित्रता आती है.

तारिसयममेज्जमयं सरीर्यं किद्ध जलादित्तोगेण ॥

मैत्रेयं हविष्य मैत्रेयं वा न होति अग्नेऽन्नाग्नयन्तये ॥ १०० ॥

गङ्गा दिव्या नक्षत्राणि ॥ १ ॥

जमव्यानामता बहुः साध्यमाना जलादामः ॥
अपेक्षानिर्दिष्टः सर्वे न ह्यप्यस्य ॥ १३ ॥

विज्ञयोदया-सारिसमरमगेन्द्रमयं शुचीनामशुचिता करणसमयांशुचिमयशरीरकं ॥ किं कथं ॥ जलादिजोगेण-
जलादित्संपदेम ॥ मेष्ठं द्रव्यं शुचिर्भावे ॥ अमन्दमय घडयो यमेष्यमयो घटः ॥ न ख मेष्ठो होदिमैव शुचिसंखति ॥
अमन्दमयवयः पूणा न कु म इव शुद्धयात ॥ १८९० ॥

मूढारा-वारिसिगमने-रामयं शुचिद्वन्वाणमधुपित्वाणान्नसमर्पणेनान्येन पुल्लप्रचयेन निर्दुषं सत् । अन्ये तारि-
सयमने-नमये इति मत्पानुलेनमाहुः । तद्यथा—

सादश्रममेध्यमयं शरीरकं किं जलादिबोगेन ॥

मेधं भवेद्विमेधेनान्येमेध्यमयो घटो भवति ॥

अर्थ—पवित्र पदार्थोंको अपवित्र बनानेवाला यह खरीर जलादिकोंके द्वारा कुछ कैसा हो सकता है ?
यिष्टासे भरा हुआ घट क्या पवित्र हो सकता है ? नहीं कभी नहीं.

यदि शरीरमनुषि किं तर्हि सुवीत्यत्राह—

नवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्यस्स वि णमंति देवा वि ॥

धर्मेण चैव जानि खु साहू जल्लोसधादीया ॥ १८१० ॥

भवन्ति जल्लोपधयो सुनीन्द्रा धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः ॥

यतस्ततो नास्ति ततः प्रशस्तः कल्याणविश्राणनकल्पपुक्षः ॥ १८११ ॥

इति अशुरुपनुमेक्षा ।

विश्रयोपया—नवरि हु धम्मो मेज्झो धर्मः पुनः शब्धिः । कस्मात् खुशब्दो वस्मादित्यर्थे यतते । धम्मत्यस्स धर्मेण चैव जानि तु साधू धर्मलौकिकप्रत्यक्षस्य देवा अपि नमस्कारं कुर्वन्ति ॥ धर्मेण शुचिना योगादात्मापि शुचिरिति, यणेनमनुषिः फलः किं तर्हि परं शुचि इत्यादि—

मूढारा—नवरि केवलं । नवरि हु इति पाठे धर्म एव केवलं मेध्य इत्यर्थः । धर्मत्यस्स रत्नत्रये विद्यतः
साधोः । जल्लोसधादीया सर्वगणमलौकिकविशेषधर्मप्रयुक्तिकाः ॥ अशुचित्वातुमेक्षा ॥

अर्थ—इस जगतमें धर्म ही पवित्रतम वस्तु है. जो रत्नत्रयात्मक धर्ममें स्थिर है उसको देव मी वंदन करते हैं. इतके संयोगसे आत्माभी पवित्र हुआ है. साधु धर्मके प्रसादसेही जल्लोपधादि कर्त्तव्यको प्राप्त कर सकते हैं. अशुचित्वातुमेक्षा समाप्त.

आशयानुयेक्षा निरूप्यते—

अमसमुदे बहुदोसवीचिण् दुक्खजलयराइण्णे ॥

जीवस्स परिब्भमणम्मि कारणं आसवो होदि ॥ १८२१ ॥

दुःखोदके भयंभोचो कपायेंद्विसवाचरेः ॥

आस्रवः कारणं झेयं भ्रमतो भयभायिनिः ॥ १८२२ ॥

विजयोदया—अमसमुदे जन्मसमुदे । बहुदोसवीचिण् भित्तिवदोपतरंगे । दुक्खजलयराक्किण्णे दुःखजलचरैरा-
कीर्णे । ओपस्स पट्ठियमणम्मि जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् आसवो आस्रवो भवति । ननु ख कर्मणि कारणानि
न-यास्तथा ॥ भयोच्यते ॥ कर्मणां परिभ्रमणकारणानां कारणवत्त्वात् । कारणमित्युक्तं ॥

धर्म्यप्याने आस्रव चतुर्दशायाभिरनुचितयति—

मूला-संसारपरिभ्रमणकारणकर्मणां कारणत्वाद् ॥ आसवो विप्यात्यादिः ॥

आस्रवानुग्रहा का कर्मान—

अयं--वद खमसागर विचित्र दोषरूपी तरंगोति व्याप्त हुआ है. दुःखरूपी तक्रमकरादि जलचर प्राणि-
ओंमें यह भरा हुआ है. जीवके परिभ्रमणमें जो कारण है उसको आस्रव कहते हैं. कर्म जीवको संसारमें घुमाता
है परन्तु यह आस्रव उनका भी कारण है अतः यही संसारमें घुमाता है ऐसा आचार्यने कहा है.

संसारसागरे से कम्मजलमसंबुद्धस्स आस्रवदि ॥

आस्रवणीणावाण् जह् सलिलं उदधिमज्झग्मि ॥ १८२२ ॥

कर्मास्रवति जीवस्य संसारे विपयादिभिः ॥

सलिलं विनिघे रन्ध्रेः पोतस्येव पयोनिघौ ॥ १८२३ ॥

विजयोद-१-संसारसागरे संसारसमुदे । से तस्य । असंबुद्धस्स संवरहितस्य सम्यक्त्वसंयमक्षमामार्गवानेव
सेतोपरिणामरहितस्य । कम्मजलमासयदि शानावरणादिकर्मजलमास्वरूपमच्छति । आस्रवणीणाण् आस्रवणशीलायो
नापि यथा सलिलं प्रयिनति । उदधिमज्जे समुद्रमध्वे ॥

मूला-कर्मास्रवत् कर्मदेवनाय कर्मपरिणामोन्मुलः पुद्गलस्त्वो गृह्यते । कर्म जलमिवेत्युपमासमासः । अस्-

पुनरन सन्धरण्यायात्मकमङ्करद्वितरय । आस यदि कर्मत्वपरिणवियोग्यतामागच्छति प्रविशति च । आसवणीयावाप्य
आमयणशीत्यावां नापि ॥

अर्थ—जो जीव इम संसारसमुद्रमें संवसरतिव प्रवृत्ति करता है. अर्थात् जो जीव सम्मकृत्य, संयम, उपासधमा, मादङ्ग, आजङ्ग, सतोष इन परिणामोंमें रहित है उसमें कर्मरूपी जल प्रवेश करता है. जैसे छिद्रसहित नौकामें पानीका प्रवेश होनेसे वह समुद्रमें डुबती है वैसे यह आत्माभी संसाररूपी समुद्रमें कर्मरूपी जल प्रवेश करनेसे डुबता है

धूली गेहुतुप्पिदग्गे लम्मा मलो जया होवि ॥
मिच्छत्तादिसिणेहोछिदरत कम्मं तथा होवि ॥ १८२३ ॥
कर्मसंयथता जाता रागद्वेषात्तचेतसः ॥
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रजोराशिरिवानिशम् ॥ १८२४ ॥

विजयोदया—धूलो गेहुतुप्पिदग्गे लम्मा धूलो स्नेहाभ्यक्तशरीरलम्भा । जहा मलो होवि यथा मलं भवति ॥
मिच्छत्तादिसिणेहोछिदरत मिच्छत्तासंयमकृपापरिव्यामेवेहाभ्यक्तस्यात्मनः प्रवेशेयवस्थितं कर्मयोग्यं द्रव्यं । तथा
कम्मं होवि तथा कम्मं भवति । एतदुक्तं भवति—आत्मपरिणामाग्निमध्यावादिताम् भिक्षिणं पुनरुद्वयं कर्मत्वेन परिणाम-
भीति कर्मत्वपर्यागहेतुरात्मनः परित्याग आत्मव इत्यर्थः ॥

मूकारा—गेहुतुप्पिदग्गेति तैलाप्यरुणरीरे । मिच्छत्तादिसिणेहोछिदरत मिच्छत्तासंयमकृपायत्नेहाभ्यक्तस्य
जीवस्य । कम्मं प्रवेशेयवस्थितं कर्मयोग्यं द्रव्यं मलो इत्युक्तेर्मलो भवतीति सम्बंधः । एतदुक्तं भवति—आत्मपरिणामा-
ग्निमध्यावादिताम् भिक्षिणं पुनरुद्वयं कर्मत्वेन परिणामते तेन भिक्षिणस्य पुनरुद्वयस्य कर्मत्वपर्यागहेतुमिच्छत्तावादिजीव-
परिणाम आत्मव इत्यर्थः ।

अर्थ—जैसा जितने अपने सर्वांगमें तेल लमाया है ऐसे मनुष्यके शरीरपर धूली आकर चिपक जाती है.
और वह मल पतती है वैसे मिच्छत्ता, असंयम, कृपायात्मक परिणामरूपी तैलसे लिस हुए आत्मप्रदेशोंमें वैसा शुद्धा
कर्मत्त्व परिणविको प्राप्त होनेवाला पुनरुद्वय कर्म वन जाता है. इस विवेचनका यह अभिप्राय है—मिच्छत्तावादि-

रूप आत्मपरिणामों का निमित्त पाकर निशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको धारण करता है- इस लिये कर्मात्मकपर्यायको आत्मना मिथ्यात्वादिरूप परिणाम कारण है- उसीको आत्मत्व भवात्मत्व कहते हैं-

ओगाढगाढनिचिद्रो पुगलद्रव्येहि सव्वदो लोगो ॥

मुहमेहि वादेरहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तेहेव ॥ १८२४ ॥

अवदयेथ्यधुपा हवैयैः स्पूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः ॥

विचियेभिंचितो लोकः कुंभो घूमेरियाभितः ॥ १८२५ ॥

विज्ञेयत्वा—भोगाढगाढनिचिद्रो भनुपवेशगाढं निचित । पुगलद्रव्येहिं पुद्गलद्रव्यैः, सव्वदो लोगो कात्स्न्येन लोकः । मुहमेहि वादेरहिं य सूक्ष्मैः स्पूलैश्च । दिस्सादिस्सेहिं यधुपा हवैरैरदृश्यैश्च । तेहेव तथैव । एतया गायद्या कर्मपर्यायपर्यायानां पुद्गलद्रव्याणां सर्वलोकाकारो यद्वनामस्तिरयमावर्तते ॥

कर्म जीवपर्यैतेष्वनधिकतत्वं कर्मोयोग्यपुद्गलानां संभवतोत्पादकांगमाह—

मुढारा—ओगाढगाढनिचिद्रो अवगाहनवगाढं परत्तरानुप्रवेशः तेनागाढं निर्भरं निचिद्रो न्यासः । दिस्सा-दिस्सेहिं पक्षुपा हवैरैरदृश्यैश्च ।

अर्थ—इस जगत्के प्रदेशोंमें पुद्गलद्रव्य अविश्वय निविद्रूपसे भरा हुआ है- अर्थात् लोकाकाशका एक भी प्रदेश इस पुद्गलद्रव्यसे रिक्त नहीं है- इस लोकाकाशमें सूक्ष्म, स्पूल, नेत्रसे देखने योग्य व नहीं देखे जानेवाले ऐसे पुद्गल भरे हैं- इस गायामे कर्मपर्यायको प्राप्त होनेकी योग्यता रसनेवाले बहुतसे पुद्गलद्रव्योंका आकाशमें अस्तित्व है ऐसा द्रवित्व होता है

के ते आत्मणा रस्यजाह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होति ॥

अरहंतवुचअत्थेसु निमोहो होइ मिच्छत्तं ॥ १८२५ ॥

मिथ्यात्वाच्चतकोपविद्योगानत्रास्रवान्विदुः ॥

मिथ्यात्त्वमर्हदुक्तानां पदार्थानामरोचनम् ॥ १८२६ ॥

विजयोदया—मिच्छते अतिरम्यं कसाद्यजोगा य आसया दिति मिथ्यात्वमसंयमः कपाययोगाश्च आसया मयि । आत्मवर्णनगच्छति । कर्मन्तर्यामिं पुद्गला यमिः कारणमिति मिथ्यात्वमय आसवशब्दयाच्या ॥ तेष्वा-
मयेषु मिथ्यात्वस्वरूपं कथयति । आदित्युत्तमयेषु अर्द्धकुपे भवन्तद्रव्यपर्यव्यापकेषु विमोहो मिच्छते होदि
अप्रज्ञां मिथ्यात्वं भवति । असंयममाचष्टे ॥

के ते आसया इत्यत्र—

मूढारा—आसया आत्मवत्त्वागच्छति कर्मत्वपर्यायं पुद्गला यैरित्याख्या मिथ्यात्वादवस्थारः प्रमादार्ज कपाया-
न्वर्थावस्थानुपादानं । अर्थेषु अन्तर्द्रव्यपर्यायत्वेषु भावेषु । विमोहो विपरीतामिति विलक्षणमशब्दानम् ।

ये आसव कोनसे है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मिथ्यात्व, अतिरति, कपाय और योग ये आसवके प्रकार हैं, जिनका निमित्त पाकर पुद्गलको कर्मत्वपर्याय प्राप्त होता है ऐसे जो कारण उनको आसव कहते हैं. अर्थात् मिथ्यात्वादिको आसव कहना यह
अनर्थक है. इन आसवोंसे मिथ्यात्वनायक आसवका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—अर्द्धद्रवगवानने अन्त
द्रव्यपर्यायस्वरूप जीवादिक पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है उसमें विमोह अर्थात् अशब्दान करना वही मिथ्यात्व है.

अविरमणं हिसादी पंच वि दोसा इवंति णायव्वा ॥

कोषादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥ १८२६ ॥

हिसादयो मत्ता दोषाः पंचाप्यवतसंज्ञकाः ॥

कोषादयः कपायाः स्युः रागद्वेषद्वयात्मकाः ॥ १८२७ ॥

विजयोदया—अविरमणं अविरमणं नाम । हिसादि पंच वि दोसा हिसाकृतस्तेयमज्ञपरिग्रहस्थाः पंचापि दोषाः
इयेति आस्रम्या अपिरमणं मयतीति ज्ञातव्याः । प्रमत्तयोगात्म्याण्यपरोपणं, असदभिधानं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म
विदोषः, मूर्खो येति पते पत्तिमा अपिरमणशब्देनोच्यते । विरमणं हि निवृत्तिस्ततोऽन्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिसादयः
अविरमणं स्रजुच्यते । कोषादीया भोघमानमाबोधाः चत्तारि चत्वारः कसाया कपाया इत्युच्यते । रागदोसमया राग
दोषात्मकाः ॥

मूढारा—रागदोसमया रागद्वेषात्मकाः ।

अर्थ—हिसा, असत्य भाषण, चोरी करना, मेथुन सेवन, परिग्रह ऐसे पांच दोषोंको अविरति कहना

पाहिय. फलामयुक्त होकर प्राणीके दस प्राणोंका नाश करता हिसा है. प्राणीओं को पीटा देनेवाला माषण असत्य फटा जाता है. तेने देनेका व्यवहार किस वस्तुमें होता है ऐसी अन्यकी नहीं दी गई वस्तु लेना उसको चोरी कहते हैं. चारित्र्यमोहके उदयसे रागादि होकर परस्परोंको स्पर्शन करनेकी जो झगड़ामें इच्छा उत्पन्न होती है उसको मेधुन कहते हैं. चेतन, अचेतन और मिथ्य वदार्थोंमें और रागादिपादिकोंमें जो भ्रमत्वबुद्धि होती है उसको परिग्रह कहते हैं. इन परिणामोंको अनिरसि कहते हैं. क्रोध, भान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं ये सब परिणाम राग द्वेषमय हैं.

रागद्वेषलवणोर्मादात्म्यं वर्शयति—

किहदा राओ रंजेदि नरं कुणिमिं वि जाणुगं देहे ॥

किहदा दोसो वेसं खणेण पीयंपि कुणइ नरं ॥ १८२७ ॥

जानंतं कुधिने काये रागो रंजयते कथम् ॥

पांचवं कुल्ले द्वेत्वं द्वेपो हीक्षणतः कथम् ॥ १८२८ ॥

मिजगोदया—किहदा रागो रंजेदि नरं कथं तावद्वत्तो रंजयति नरं । कुणिमिं वि देहे अशुचानपि देहे, अशुराल-
इरापोम्ये । जाणुगं नारीपमुचित्यं जानंतं अतं रंजयति, सोरं वस्तुति न रंजयतीति न अस्मिन् कतारमशुचिस्मत्सारे क्षरीरे
रंजयतीत्येतद्वस्तुनिति भावः, दोसो दोषः, किहदा दोषं कुणदि कथं तावदेत्वं करोति । खणेण क्षणमात्रेण । पीयंपि नरं
पांचममपि नरं । अनेगपि द्वेषमादान्त्रमादयते । रागाद्यथानपि द्वेषं द्वेष्यान् करोतीति ॥

रागद्वेषयोर्मादित्वमाह—

गूढारा किहदा कयमिति विस्मये । तावदिति यत्कयाहंकारे । कुणिमे वि अशुच्यत्सारेपि । जाणुगं देहस्याशुचित्व-
महात्तत्वं य जनानां भाषारं अनुसरोऽयोग्येऽदुराज्यतोलेतद्वस्तुनं इति भावः । वेसं द्वेषं पीयं वि रागाभयं वंधुमपि ॥

अर्थ—यह शरीर अपवित्र है इसके ऊपर प्रीति करना योग्य नहीं है. परंतु यह रागभाव अज्ञानी-
वत्तो इस शरीरपर अनुरक्त करता है. सार वस्तुमें इस जीवको अनुरक्त नहीं करता है. आश्चर्य यह है कि विद्वान
लोकों को भी अपवित्र और निःसार शरीरमें यह अनुरक्त करता है. यह रागभाव अपने निकट जनोको भी एक
क्षणमें द्वेषयोग्य करता है. अर्थात् विनैके ऊपर प्रेम करना योग्य है उनके ऊपर भी यह द्वेष उत्पन्न करता है.

सम्मादिष्टी वि णरो जेतिसं दोसेण कुण्ड पावानि ॥
 विजेतिसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाणं ॥ १८२८ ॥
 कल्मसं कार्यते घोरे सद्धट्ठिरपि वैज्जनः ॥

रागदोषविपश्चास्तान्धिकसंज्ञागौरवात्मनः ॥ १८२९ ॥

विजयोदया—सम्मादिष्टी वि णरो तत्पञ्चातथदानसमन्वितोऽपि नः । जेतिसं दोसेण कुण्डि भावानि देवपं
 दोसेण करोति पावानि, विजेतिसि गारविंदियसण्णामयरागदोसाणं चिकान्मौरवानिंदिकानि संज्ञामदान् रागदोषांश्च ॥

मूढारा—सम्मादिष्टी कल्पज्ञानश्रद्धावान् । दोसेण अपराधेन विकलप्राणोदेत्यर्थः । विजेतिसं चिकित्वात् । एय
 वतात् । द्वितीयोऽत्र पट्टी ॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान और श्रदान्तसे युक्त मी मध्य बीच जिनके दोषसे पाप करते हैं उन मौरव, इंदिय, संज्ञा
 रूप रागदोषोंको चिकित्सा हो.

जो अभिलासो विसएसु तेण ण य पावए सुहं पुरित्तो ॥
 पावदि य कम्मबंधं पुरित्तो विसयाभिलासेण ॥ १८२९ ॥
 विपयेत्वभिलापो यः पुरुषस्य प्रवर्तते ॥
 न ततो जायते लीख्ये पातकं घट्यते परम् ॥ १९०० ॥

पिक्तयोदया—जो अभिलासो विसएसु तेण यो अभिलासो विपयेषु स्थाविषु । तेन विपयाभिलासेण य पावदे सुहं
 पुरित्तो तुभं प्राप्नोति नैव सुखं पुण्यम् । पावदि य कम्मबंधं प्राप्नोति य कर्मबंधं पुरित्तो विसयाभिलासेण पुरुषो विपया-
 भिलासेण निमित्तेन । एतेन विपयाभिलासपरिणामस्य प्राणिनामसकृद् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति
 कर्मबंधकारणं तु भवतीति विपयाभिलासस्याख्यस्य स्वरूपं कथितं ॥

विपयाभिलासः सुखं न प्रयच्छति कर्मबंधे च निमित्तं भवतीत्युपदिश्यते—
 मूढारा—१९४५ ।

अर्थ—पंचेन्द्रियाँके विषयोंमें जो अभिलाषा उत्पन्न होती है वह प्राणिजीको सुख नहीं देती है-अर्थात्

उस अभिलाषासे कर्मबंध होता है जो कि दुःख देनेमें कारण है. यह विषयामिलाया प्राणियोंमें हमेशा उत्पन्न होती है परंतु वह सुखके बदले आत्माका अद्वितीय करती है. यहाँ विषयामिलावरूप आसक्तका स्वरूप कहा है.

विषयामिलास्य दुःखं प्रकारान्तरैराचरे—

कोइं ठहिज्ज जहं चंदणं णतो दारुणं च बहुमोहं ॥

णासेइ मणुस्समं वुरिसो तहं विसयलोहेण ॥ १८३० ॥

इंद्रियापेक्षे येन मानुष्यं प्राप्य योजयते ॥

‘मस्सार्थं प्लोपते काष्ठं महाभीत्यमसौ स्फुटम् ॥ १९०१ ॥

विजयोदया—कोई बहिज्ज जह चंदणं कथिपणा इच्छेदं. यदुमोहं महामूल्यं । दारुणं च भयुपविदाव च, यथा द्वावि मस्सार्थिक स्वरे समुत्तिथ, तदा प्राप्तेदि मणुस्समं तथा नाशयति मानुषमं अतोद्विद्यानंतसुखकारणं । पुरिसो तह विसयलोहेण भनितुच्छदिवपवार्येण ॥ उक्तं च ॥ विषया अनितेन्द्रियोरत्वा बहुभिख्यापि समभिदिता रसैः । विषयभेदुत्तरताद्ययत् परिशुकाः पारेणामदाख्याः विषयसुखमतिवक्तोसिचितो विषयविशेषमनिरुक्तं कृत्या विषय-सुखमभिहीनजातिजालो विषयसुखं लभते न भा विपुष्यः ॥

भेदवतरेण विषयलोपत्त्यस्य दौष्टयमाचष्टे—

मूढारा—इहेज्ज भयामार्थं इहेज्ज । दारुणं काष्ठं बहुमूल्यमिति विशेषेणानुबोदिकम् । मणुस्समं बहुमूल्य-

मितुच्छेदरीन्द्रियानंतसुखकारणसम्यगाचरणमूलं मानुष जन्म ॥

अर्थ—कोई मनुष्य भगभादिकके लिये अतिशय मूल्यवान् अगुरुबंधनकी लकड़ी जला देता है. वैसे यह मनुष्य भी अतिशय तुच्छ विषयोंमें लंपट होकर अर्वाँन्द्रिय अनंत सुखको देनेवाले इस मनुष्य जन्मको नष्ट कर देता है. आगममें इस विषयमें ऐसा कहा है—ये विषय इन्द्रियोंको आल्हाद उत्पन्न करते हैं और अनेक रसोंसे युक्त हैं परंतु जेने विषयभित्त अन्न बहुत रसोंसे युक्त होने पर भी मूढाण करनेसे प्राण लेता है वैसे ये विषय आत्माका नाश करते हैं अर्थात् दुर्गतिमें घुमाते हैं. जो मनुष्य विषयसुखमें आसक्त होता है वह उस विषयके लिये अनिष्ट कायं करता है. जिसमें विषयसुखरहित लोगोंमें जन्म लेता है. उचित ही है कि पुष्करहित मनुष्यको विषय सुखकी प्राप्ति होती नहीं.

धुष्टिय रयणाणि जहा। रयणहीवा हरेज्ज कट्ठाणि ॥
माणुसभवे वि धुष्टिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३१ ॥

शुद्धये योऽक्षसुखं मूढो धर्मं मुक्त्वा निषेवते ॥

लोष्ठं गृह्णात्यसौ मुक्त्वा रत्नदीपेऽन्नं मणिम् ॥ १९०२ ॥

विजयोदया—धुष्टिय रयणाणि जहा रयणाणि लभन्ता यथा, रयणहीवा हरेज्ज कट्ठाणि रत्नदीपात्कट्ठाभ्यादरति । तथा माणुसभवे वि धुष्टिय धम्मं धर्मं धिदाय । भोगे भिलसदि भोगान्वाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकसार तन्मादये रत्नदीपं धुष्टये माणु सुधा लब्ध्वात्यपि रत्नान्यनुपायाय असत्समीधनं सुखं साऽबुद्ध्या यथा कश्चिदाह रति जहा । तथा नेकगुणरत्नाकरं मनुष्यधरे दुरवापमयात् व्यतर्पकं पटाधीनं अस्फाटिकं विषयसुखमभिभवति ॥

अनेकगुणरत्नाकरं सुखेयं मनुष्यधरमासाय पराचक्ष्यतर्पकं स्वल्पलाभं विषयसुखमभिलष्यतं अनुलोचति—

मूलात्—रयणाणि सुधा लब्धान्यपि होरकादीनि । रयणहीवा रत्नदीपान् । हरेज्ज सारदुर्लभमुद्धवाऽनयेत् ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य रत्नदीपमें जाकर मी रत्नोंका स्थाय कर काष्ठ लावा है वैसे मनुष्य धर्ममें भी कोई धर्मको छोड़कर भोगांसी अभिलाषा करता है। अभिप्राय यह है कि, अनेक उत्कृष्ट रत्नोंका स्थान जो रत्नदीप जो कि बहुत दुर्लभ है वही जाकर सहज प्राप्त हुए रत्नोंको ग्रहण न कर जो तुच्छ निःसार और अल्पप्रामाण्य ईवनों को सापेक्ष समझकर उनका संग्रह करता है वह जैसा मूर्खशिरोमणि समझा जाता है वैसा अनेकगुणरत्नोंकी मनुष्यमात्र लाभ है। ऐसा अलभ्य मनुष्यजन्म पाकर यदि दुष्टि उत्पन्न नहीं करतेवाला, पराधीन अल्पकाल तक दिक्नेपाला ऐसा विषयसुख मनुष्य चाहता है तो यह चाहना रत्नदीप में जाकर लक्ष्मिओंका संग्रह करनेके समान है।

गंतुण गंदणवणं असयं छंडिय विसं जहा विषइ ॥

माणुसमेवे वि छुटिय धम्मं भोगे भिलसदि तथा ॥ १८३२ ॥

यो नुत्वे सेयते भोगं हित्वा धर्ममकल्पयम् ॥

जसौ विमुच्य पीयूषं विषं शुक्ताति नंदने ॥ १९०३ ॥

विजयोदया—गंतुण गंदणवणं गत्वा नंदणवणं । असयं छुटिय असुतं स्वप्नत्वा । विसं जहा विषइ विषं यथा विपति कथियम् । माणुसमेवे वि छुटिय मनुष्यमेवेति स्वप्नत्वा । धम्मं धर्मं । भोगेभिलसदि तथा, भोगान्भिलाषयति तथा ॥

मन्त्रा—अमयं देवाहारम् ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य नन्दन वनमें जाकरभी वहाँ अमृतका त्याग कर विषपान करता है, वैसे कोई मनुष्य मनुष्यभक्ष्यें भी धर्मको छोड़कर भोगोंकी अभिलाषा करता है।

योगशास्त्रार्थमाचष्टे—

पापपञ्चयोगा मणवचिकाया कम्मासर्वं पकुर्वन्ति ॥

सुञ्जन्तो दुष्मन्तं वणमि जह् आसत्तं कुणइ ॥ १८३३ ॥

योगः कर्मासत्तं दुष्टो मनोवाक्कायलक्षणः ॥

यथा सुत्तो दुराहारो विदधाति त्रणासवम् ॥ १९०४ ॥

विजयोदया—पापपञ्चयोग पापे प्रयुज्यते प्रत्येके परिभिरिति पापप्रयोगाः । मणवचिकाया मणोवाक्काया, कम्मासत्तं पकुर्वन्ति कर्मस्य पर्यायागमं पुद्गलानां भवेति । सुञ्जन्तो दुष्मन्तं भुञ्जन्तो दुराहारं । वणमि जह् आसत्तं कुणधि, इत्येवमाजह् इति पूर्तीनां करोति ॥

योगान्वयाचष्टे—

मूढार—पापपञ्चयोग पापं दुरञ्जते, कर्ममात्रं वा प्रयुज्यते प्रवर्त्यते चैरिति पापप्रयोगाः । कर्मस्यपरिणमनशक्तिमुष्ण इत्यर्थः । कर्मासत्तं पुद्गलानां कर्मत्वपर्यायोपगमनं । भुञ्जन्तं भुज्यमानं । दुष्मन्तं अपप्याक्षगन्तं । वणमि जह् आसत्तं आश्रुति पूयादीनां ॥

योगान्वदका स्पर्शकरण—

अर्थ—जिनसे पापोंकी प्रवृत्ति की जाती है ऐसे मनोयोग, वचनयोग और स्थापयोग पुद्गलोंमें कर्मत्व पर्याय उत्पन्न करते हैं, वैसे अपप्याक्षरका भक्षण करनेसे त्रणसे दुर्गम रक्त, पीव उत्पन्न होता है वैसे इन पाप-योगोंसे कर्म उत्पन्न होता है।

कर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र कस्य कर्मणः क आत्मन्व इत्यत्राह—

अणुकंपासुद्धवज्रो गो वि य पुण्णस्स आसवदुवारं ॥

तं विवरीदे आसवदारं पावस्स कम्मस्स ॥ १८३४ ॥

आसवं कुरुते योगो विशुद्धः पुण्यकर्मणाम् ॥

विपरीतः परं सद्यः सेवितः पापकर्मणाम् ॥ १९०५ ॥

विद्योदया—अनुकंपा अनुकंपा। सुदुष्कर्मो गो शुद्धा श्रयोः परिणामः, पुण्यस्त आसयदुधार् पुदलानां

पुण्यपण्यांयामानुषं सेदय सम्यक्वे रतिहास्यंवेदाम् शुभे नाममोत्रे शुभं चायुः पुण्यं पतेभ्योऽन्यानि पापानि ।
मनुकंपा निप्रकारा ॥ धर्मानुकंपा मिथानुकंपा सर्वावृत्त्या चेति ॥ तत्र धर्मानुकंपा नाम परित्यक्तासंयमेषु मानाबमान
वियेषेषु दिव्येषु मोक्षेषु योगान्विचित्र्य समानविचेषेषु दातेद्विर्यातःकरणेषु मातरमिय मुक्तिमाश्रितेषु पट्टितोयकृपाय
गण्येत्, समाविदनापिधर्मपरिणतेषु धानुकंपा सा धर्मानुकंपा, यथा मनुको जनो विवेकी तदोगयाजपानावस्यैवणा-
दिः संयमतायने यतिनः प्रवच्छति । स्वमयिनिशुद्ध शक्ति उपसर्गदीपानपलायति आकाशव्यतामिति सेवां करोति
अधर्माणां पंथायनमुददेशयति । सैः प्रतंयोगमपाय अदो सपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु सेवां गुणान्मोर्त्ययति सेवां करोति
गुणमिय परयति सेवां गुणान्त्यभीक्षणं स्मरति, महत्तमभिः, कदाचु मम समागम इति ॥ सैः संयोगं समीपसति, तदीयाञ्च
गुणान् परैरभिषयंसागन्निभ्य तुल्यति । इत्ययमुकंपापरः साधुगुणानुमनानुकारी भवति । विधा च संतो वंघ
सुपक्षितो नि स्वयं कृते, कारणार्थाः परैः कृतस्यानुमतेद्य ततो महागुणराशिगतकर्मणं महान् पुण्यालवः । मिथानुकं-
पोपगतास्तीमयोगाद् भोगोपभोगादिपुल्य दोषे च भोगे कृतमणाला पापात्परिधीतचित्ता, अनयंदण्ड-
नानुकंपा विधासि तयोसि कुप्यति, तेनु मिथामाणानुकंपा तथा सर्वोपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति देश
उत्तादिभोगाः कृपाणि तयोसि कुप्यति, तेनु मिथामाणानुकंपा तथा सर्वोपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति देश
प्रतिकुंदिपामाहारमायात् । मिथ्यात्यदोपोगहतोप्यधर्म इत्येषु मिथो भवति धर्मो मिथानुकंपांमयगच्छेजंतुः ॥
नदृश्यो यपि कुरुष्यो या स्यभापतो मादयसंमयुक्ताः ॥ वां कृतेते सर्वशरीरयोर्गं सर्वावृत्त्येवमिधीयते सा ॥
विश्राज् विद्यान् वशान् दृष्टविदुष्यमाणाश्च नत्वांनु, सद्गमसो भिरनैसो या वरिदृश्य मृषाभ्यहगाव् सरीसृपाञ्च पशूञ्च
मर्तादिनिमित्तं मदन्यमानान् परलोके परस्परं चा तान् दिसतो भक्षयतश्च दृष्ट्या स्रग्गांकाञ् कुंशुपिपीडिका प्रभृति
मणभृतो मनुजकरनशरदारभरितुरगादिभिः संश्रममानानामिवीक्ष्य असाध्यरोयोरमपदानात् परितप्यमानाव् सुतोस्मि
नष्टोस्वभियापतेति रोगानुभूयमानान्, सचपुत्रकलत्रादिभिरप्राप्तकालैः (?) सहसा मियुज्य कुरुते कजा चित्तोदात्तः,
रयमांनि रनतश्च, लोकम उपाजितद्विषीविदुष्यमानान् अनप्यधून धैर्वशित्यविद्याव्यवसायीनान् यान् मयामराफत्या
यराकाञ् निरीक्ष्य दुःतामातरमपि विदित्य स्वास्यमुपशमनानुक्रपाञ् सुदुर्लभं मानुषजन्य दृष्ट्या मा फलेशवायाणिनु-
ग्रेय भूत ॥ धर्मे शुभे भूतोदितेयतपमियेयमातैरपि योपदेशः कृतकरित्यमाणोपकारान्येक्षरलुकं कृता भवति । पुण्यालव
ना निविधानुकंपा भूतेषु पुनं जननी शुभेष्वेताननुकंपा यमयाप्रिपुण्यालके मृता वम्युपपत्तिमीयुः १ मुद्धप्रयोगो निरूप्यते

य न द्विपराः । यत्तिष्ठतिगोचरभेदेन यतेः सुखोपयोग इत्यभ्युक्तः । जीवान् हन्यां न मृषा चयेयं । चौर्यं न कुर्वान्न भजेय-
मोगान् ॥ एते न भजेय न च क्षणसु भुञ्जीय कुच्छेपि शरीरतापे ॥१॥ रोकेण मानेन च मायया च ॥ लोभेन चाहं यदु-ल्लेखेन
युञ्ज्य मारभ्यस्मिन्नर्थे, दीप्तां दुःश्रमश्रुणमय भूय ॥२॥ यथा न आयाच्यलभौल्लिखालो ॥ भिक्षां चारुणार्मुकयाणयाणि,
तथा न भाषा यदि दीक्षितः सन् । वतेय दोषानवहाय लज्जां ॥३॥ त्विहं युद्धीत्या मद्रुतमुदीर्य, अयं च यिन्नयारिरुमीहीनं ।
भगं यतानामयिन्विद्य कष्टं । संगं रुच कामगुणेषु कुर्याम ॥४॥ चयस्मनायाचिस्त्रामधैर्यं धैर्येण हीताः कृणुत्वमेव, रुधं
युष्मापुनरतिरश्चिरेण त्विगिभयपङ्कगविकारयुक्तः ॥ ५ ॥ इत्येवमाभिः शुभकर्मविता सिद्धार्थद्वाराययदुशुतेषु । चैत्येपुसंवे
स्तिनरासते च भक्तिरिदित्युज्जरागिता च ॥ विनीतता संयमो अग्रतत्त्वा, शुद्धता, क्षमा, आर्जव्यं,
सेतोप, सेवास्यस्योत्तरचित्रयः, उपमार्गस्त्रीषद्वृत्त्या, सम्बन्धयोगं, तद्विज्ञानं, सत्संगसंयमं, दशविधं धर्मभ्यानां
मिन्नद्रष्टृणां, पूजोपदेशः, निक्षिप्तिवादिगुणाष्टकं, प्रयासत्पामलेखा तपोभावता, पंचसमितयः, तिलो गुत्तय
इत्येषयाद्याः शुभयोगाः । शुद्धिणां सुखोपयोग उच्यते शुद्धीतवत्तानां धारणपाठनयोरिच्छा क्षणमपि ज्ञात
मनोऽन्विष्टः अभीक्ष्णं यत्तिसंगयोगः, अज्ञादिवाने प्रसन्नविधिपुरस्सरं श्रमनोदनाय भोगान् सुफलवापि स्थगित
वाक्किर्गिराणः सदा गृहसमोक्षमायत्नं, धर्मक्षयणोपलंभमात्मनसोवितुष्टिः । प्रकथा पंचगुह्यतदन्तर्गणमेव तत्सु-
जा, परेषां च दिव्यरीकरणमुपयुक्तं, वास्तव्यं, मिन्नद्रष्टृणां मुक्तकारकणं, मिन्नद्रष्टृणां मिगमा, मिगमास्तनप्रभावना
इत्यदिक्कः । तस्मिन्परीक्षं अनुकूलाश्रुदस्ययोगाभ्यां विपरितः परिणामः । आसयद्वारं आकाशद्वारं, पापदस कम्मस्स
मशुमस्स कम्मज आकाशं । संयरातुमेधमा कथ्यते । संमियेते निरुपभेदेऽभिनवाः कर्मपरायाः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन
मिष्यत्पराविपरिणामो वा निरुच्यते स संयतः । तत्रायं सूचिमध्यात्वाविपरिणामसंवरणं सम्बन्धस्वादीनां संवरणमाचष्टे ॥

कः पुण्यस्यस्थानः कथं पापस्यास्थानं इत्यत्राह—

मूढारा—अशुक्लं कृपा । सा च त्रिधा । धर्ममिश्रसर्वाशुक्लं कपोमदेत् । तत्र धर्माशुक्लं नाम यथा प्रयुक्तो विवेकि
लोकाः सदा सत्यनिगूहनेन संगमनिष्ठेभ्यस्तदोपास्यपानवस्युपकरणौपायदिहं संगमस्यार्थं प्रयच्छति । तेषामुपसर्गानपसा-
रयति । आश्रयत्वाभिति सेवा करोति । पथि विधानानां पंथानमुपदिशति । वत्सप्रयोगमवाप्य सुपुण्योऽयमिति हृष्यति ।
समानु वहुजान्कीर्तयति । कीर्त्यमानाननुमोदते, स्मरति चामीक्ष्णं । तेमहत्त्वमिः कथा गु ये समस्तमो यविज्यतीति तत्सम्प-
योगाय सोरठः स्मरयति । एवमादिभ्यः पुण्यसाक्षिणसहस्रकपाङ्गान्गान्गुणासक्तो भवति । यद्वत्सवतासंवेद्येपुं भिनसूत्र-
यासश्चतस्रप्राप्तिषु च यथायोग्यं क्रियमाणानुक्लं मिश्रानुक्लं चेत्येव । ॥ च मिश्रपुण्यसत्सवः स्यात् । यद्वत्सवतासंवेद्येपुं भिनसूत्र-
पां क्रियमाना क्रियमानसर्वप्राप्तिषु अनुक्लं सर्वाशुक्लं चेत्येव । यथा प्रयुक्तोऽप्यदुःखं स्वात्मस्यमिव मन्यमानस्तत्त्वा-
स्याप्यं प्रत्युपकारनिरपेक्षं प्रकथते । सद्गुपदेनं च ददाति । सापि पुण्यासवयैव स्यात् । सुखोपकोतो हृदय परिणामः ।

त न दया मनियुक्तिगोपयेत् ॥ तत्र यद्विमुक्तययोगो निमित्तजननीदृष्टाध्यात्म्यानादिलक्षणः । गृहिदुःखयोगालु दित्सा-
वित्तिरुत्तमगुणानीनादिलक्षणः । पुण्यस्य सद्देवसम्बन्धकलविहास्यपुण्येव शुभायुर्गोमगोरूपस्य कर्मणः । आसक्तयुचारं
गुणानां पुण्यस्यार्थात्मनस्य ॥ आसक्तयुक्तेश्च ॥

कर्मके शुभकर्म और अशुभ कर्म ऐसे दो भेद हैं उनमें किस कर्मका कोनसा आलस्य है इसका विवेचन
आनायें करते हैं--

अर्थ—अशुभकर्म-दया, शुद्धोपायोग-आत्म्याके निर्मलपरिणाम ये पुण्यकर्मके आशयनदार हैं इन परिणा-
मोंमें पुण्यकर्मसंसा एषांप पुण्यलमें उत्पन्न होता है. सात्वतदीनय, सम्पत्कृत्यप्रकृति, रति, हास्य, पुण्येद, शुभनाम कर्म
और उत्पन्न गोन, शुभआयु इनको पुण्य कहते हैं. इनसे जो मित्र कर्म है उसको बाप कहते हैं.

अशुभकर्म-दया-इसके तीन भेद हैं. धर्मानुकरणा, मिथानुकरणा और संपांनुकरणा, धर्मानुकरणाका स्वरूप
इस प्रकार है--

जिन्होंने अग्रपसता त्याग किया है. भान, अपमान, सुख दुःख, लाभालाभ, तृण सुवर्ण इत्यादिकोंमें
बिनही बुद्धि भागद्वेषरहित हो गयी है, इन्द्रिय और मन जिन्होंने अपने वश किये हैं, उग्ररूपाय और विषयोंको
जिन्होंने छोड़ दिया है, दिव्यभोगोंके दोष देखकर जो वेगव्ययुक्त हो गये हैं, संसारसमुद्रकी भीतिसे रातमें भी
अल्पनिद्रा लेनेवाले, जिन्होंने संपूर्ण परिश्रमों को छोड़कर, निःसंगता घारण की है, जो समाधि दण प्रकारके
पर्मोंमें स्वने तत्पर रहते हैं कि मनो स्वयं समाधि दणधर्म स्वरूपही बनेहो ऐसे संपयी मुनियोंके ऊपर जो दया
करता उनको धर्मानुकरणा कहते हैं.

यह धर्मानुकरणा अंतःकरणमें लक्ष उत्पन्न होती है तब बिनकी गृहस्थ यतियोंको योग्य अन्नपाणी,
वगनिसा, औषपादिक पदार्थ देता है. अपनी शक्तिको न छिपाकर वह मुनि के उपमर्गको दूर करता है. हे प्रभो !
आप आज्ञा दीजिये ऐसी प्रार्थनाकर सेवा करता है. यदि कोई मुनि मार्गश्रष्ट होकर दिव्यदृष्ट हो गये हो तो
उनको मार्ग दिगता है. मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेसे हम धन्य है ऐसा मनमें समझ कर आनंदित होता है.
मनमें उनके गुणोंका कीर्तन करता है. मनमें मुनियोंको धर्मपिता, गुरु, समझता है. उनके गुणोंका चिंतन मनमें
हमेशा करता है. ऐसे महात्माओंका फिर कब संयोग होगा? ऐसा विचार करता है. उनका सद्वास हमेशाही

होनेही इच्छा करता है- दूसरों के द्वारा उनके गुणोंका वर्णन सुनकर संतुष्ट होता है- इस प्रकार धर्मानुक्त्या करनेवाला जीव साधुके गुणोंको अनुमोदन देनेवाला और उनके गुणोंका अनुकरण करनेवाला होता है- आचार्य पंचमे तीन प्रकार कहते हैं- अच्छे कार्य स्वयं करना, करना, और करनेवालों को अनुमति देना इससे महान् पुण्यस्रर होता है- क्योंकि महागुणोंमें प्रेम धारण कर जो कुछ कारित और अनुमोदन श्रवृत्ति होती है वह महापुण्यको उत्पन्न करती है-

मित्रानुक्त्याका वर्णन—महान् पातकोंके मूलकारणरूप हिंसादिकोंसे विरक्त होकर अर्थात् अशुद्धी पनकर संतोष और वैराग्यमें उत्तर रहकर जो दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थ दंडत्याग इन गुणप्रतीकों धारण करते हैं, जिनके सेवनसे महादोष उत्पन्न होते हैं ऐसे भोगोपभोगोंका त्याग कर वाक्यके भोगोपभोग के वस्तुओंका जिन्होंने प्रमाण किया है, जिनका मन वापसे भवयुक्त हुआ है- अर्थात् वापसे डरकर विविष्ट देश और कालकी मर्यादा कर जिन्होंने सर्व पापोंका त्याग किया है अर्थात् जो सामायिक करते हैं, यवोंके दिनमें संपूर्ण आरंभका त्याग कर जो उपवास करते हैं ऐसे संवत्संयत अर्थात् गृहस्थोंपर जो दया की जाती है उसको, मिश्रानुत्तरा कहते हैं, जो जीवोंपर दया करते हैं, परंतु दया का पूर्ण स्वरूप जो नहीं जानते हैं- जो जिनद्वारासे दया है, जो अन्य पालंद गुरूकी उपसना करते हैं, मत्त और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं इनके ऊपर कृपा करना यह भी मिश्रानुक्त्या है- क्योंकि गृहस्थोंकी एकदेशरूपतासे धर्ममें प्रवृत्ति है वे संपूर्ण चारित्ररूप धर्मका पालन नहीं कर सकते हैं- अन्य जनोंका धर्म मिथ्यात्वसे युक्त है- इसवास्ते गृहस्थधर्म और अन्यधर्म दोनोंके ऊपर दया करनेसे मिश्रानुक्त्या कहते हैं-

मुष्टि अर्थात् सम्प्रश्रुतिजन, कुष्टि मिथ्यादृष्टि जन ये दोनों भी स्वभावतः मार्दवसे युक्त होकर संपूर्ण प्राणियोंके ऊपर दया करते हैं इस दयाका नाम सर्वानुक्त्या है-

जिनके अवयव दृढ गये हैं, जिनको जलम हुई है, जो बांधि गये हैं, जो स्पष्ट रूपसे खंड जा रहे हैं ऐसे मनुष्योंको देखकर, अपराधी अथवा निस्पराधी मनुष्योंको देखकर या जो अपनेको ही दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उनके ऊपर दया करना यह सर्वानुक्त्या है-

हरिण, पक्षी, पेटमें दीढ़नेवाले प्राणी, पशु इनको मांसादिकोंके लिये लोक भारते हैं ऐसा देखकर अथवा

आगममें उपर्युक्त माणी लटते हैं और भक्षण करते हैं ऐसा देखकर जो दया उत्पन्न होती है उसको सर्वायुंक्ता कहते हैं, मृक्षम कुंभ, चींटी, वगैरह प्राणी, मनुष्य, ऊँट, गधा, खरगा, हाथी घोडा इत्यादिकोंके द्वारा मर्दित किये जा रहे हैं ऐसा देखकर दया करना चाहिये- असाध्य रोगरूपी सर्पसे काटे जानेसे जो दुःखी हुए हैं, भै मर रहा हूँ, मेरा नाश हुआ, हे जगहो दौड़ो ऐसा जो दुःखसे खूब कहते हैं उनके ऊपर दया करनी चाहिये- पुत्र कलत्र- पत्नी वगैरहसे जिनका वियोग हुआ है- जो रोग पीडासे शोक कर रहे हैं- अपना मस्तक योगेद अवयव जो वेदनोसे पीटते हैं- कमाया हुआ धन नष्ट होनेसे जिनको शोक हुआ है- जिनके साँघव छोड़कर चले गये हैं, जो धैर्य, धित्य, विद्या, व्यवसाय इत्यादिकोंसे रहित हैं उनको देखकर अपनेको इनका दुःख हो रहा है ऐसा मानकर उन प्राणिओंको स्वस्थ करना उनकी पीडाका उपशम करना यह सर्वायुंक्ता है-

यह मनुष्य जन्म अतिशय दुर्लभ है, सज्जनो ! इसकी प्राप्ति आपको दुर्लभ है इस वास्ते अकृत्स्न करके आप दुःखके पात्र मत बनो- कल्पण काफ़ छत्र ऐसे सत्य धर्ममें दृढ़ रहनेका आप प्रयत्न करो- इस प्रकारका उप-देश देना चाहिये, जो प्राणिओंपर दया करते हैं उनको इतने मेरे ऊपर उपकार किया है- यह मेरे ऊपर उपकार करेगा ऐसी आशा करना योग्य नहीं है- इस प्रकार प्राणिओंपर तीन प्रकारकी दया की जाती है- इस दयासे जो पुण्य संचित होता है उससे स्वर्गमें जन्म होता है- जब पुण्य प्रयोगका निरूपण करते हैं— यविका छुट्टमयोग और गृहस्थोंका छुट्ट प्रयोग ऐसे इसके दोन भेद है-

यतिके छुट्टप्रयोगका वर्णन इस प्रकार है—

‘ मैं जीवोंको नहीं मारूँगा, अस्तव्य साधन नहीं चोरेगा, और चौर्य नहीं करूँगा, भोगोंका उपभोग मैं नहीं करूँगा, धनका सेवन नहीं करूँगा और शरीरको अतिशय कष्ट होनेपर भी शतमें भोजन नहीं करूँगा, क्रोध, मान, माया और लोभसे बंधु दुःख देनेवाले आरंभ परिग्रहोंका सेवन नहीं करूँगा, मुनिदंडा धारण कर ऐसा कर्म करना मेरे लिये अर्थात् अयोग्य है-

जैसे जिसने अपने किरिटपर माला धारण की है, दाधमें घनुष्य और व्रण धारण किये हैं ऐसा राजाके सदृश मनुष्य यदि भीख मांगता हो उसके लिये यह भीख मांगना विलकुल योग्य नहीं है- वैसे मैं भी दीक्षा लज्जाको छोड़कर आरंभ परिग्रहादिक फार्य करूँगा तो क्या वह मेरेलिय योग्य होगा ? कदापि नहीं- मैने घृण्य

महर्षियोंका लिंग धारण क्रिया है, मैंने यदि त्योंके नाशकी पूर्वा नहीं की तो यह योग्य नहीं होगा यदि मैं आरम्भकरादि पद कम भी नहीं किंचित तो यह मेरे लिए योग्य नहीं होगा। दीक्षा धारण कर काम विकार में मैं अपनी आपत्ति कैसी करूँ ? धर्म छोड़कर चाहे जैसी प्रवृत्ति करना यह अनार्यपना का सूचक है धर्म छोड़कर हीन होकर प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है, यदि मेरे देहमें विकार रहेगा ही तो व्यर्थ मलक श्रुंढकर यदि का आचरण करना व्यर्थ है इस प्रकार विचार कर आरंभ परिग्रहादिकोंमें चराम्भ उदाना चाहिए

सिद्ध, अर्हत्, आचार्य, उपाध्याय, विनम्रतिगा, संघ, विनयधर्म इनके ऊपर भक्ति करना, विषयेस विरक्त होना, इनके गुणोंपर प्रेम रखना, नम्रता, सयम, अग्रगण्य स्मृत्योंमें सावधान रहना, मोदव, क्षमा, आर्जव, सतोष ये गुण धारण करने चाहिये, आहारादिक चार संज्ञाओंको ज्योतना चाहिये, मुख्य और मास्योंका त्याग करना उपमग और परीपहोंको जीतना, सम्पद्भक्षण, सत्संगध्यान, सत्संगसयम, दस प्रकाशका धर्मध्यान ये गुण धारण कर जिनमूकी दृष्टाका उपदेश करना, निमोक्षितादिक आठगुण, प्रशस्तरामसे तपोभावना अर्थात् मैं तपस्वरा नमोका ध्य करूँगा ऐसी उत्कृष्ट अभिलाषा, पांच समिति, तीन शुद्धि इत्यादिक सुनिवर्त्योका शुद्ध प्रयोगका वर्णन है

गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोगका वर्णन—

जो व्रत धारण क्रिया है उसको धारण करना और पालन करनेकी इच्छा रहना, एक क्षणतक भी व्रतका नाश होना अनिष्ट है, अकल्याण कारक है ऐसा समझना, इहेशा यतियोंके सहवास की इच्छा रखना, श्रद्धादि-निर्वाके अनुसार आहारादिकदान देना, श्रमपरिहार करनेकी इच्छासे भोगोंको भोगकरभी इनका मैं त्याग करनेमें असमर्थ हूँ ऐसी अपनी निंदा करना, सदा घरका त्याग करनेकी इच्छा रखना, धर्मधरण करने पर मनमें अत्यार्तद्विष्ट होना, भक्तीसे पंथ गुरुओंकी स्तुति करना, प्रणाम करना, पूजा करना, अन्य लोगों को भी जैनधर्म में स्थिर करना, उपगृह्यन करना, साधर्म्योपर प्रेम रखना, जिनद्वेके भक्तोंपर उपकार करना जिनशास्त्रका सत्कार पूजा करना, जिनधर्म की प्रभावना करना इत्यादिक गृहस्थोंके शुद्ध प्रयोग है।

अनुक्रम और शुद्ध प्रयोगके विषयीन परिणाम होने से अशुभ कर्मके आसव जाते हैं,

अन संरातुग्रेक्षमा आचार्य वर्णन करते हैं—

प्रदलो में होनेवाले कर्मपर्याय जिस जीवपरिणामसे लभ जाते हैं उस परिणामको संवर कहते हैं,

अथवा जिस जीवके परिणामसे मिथ्यात्वादियरिणाम रुकजाते हैं उस सम्मयकत्वादि परिणामको आचार्य संवर कहते हैं। मिथ्यात्वादि परिणामोंको रोकनेसे सम्मयकत्वादि परिणामोंको संवर कहते हैं—

मिच्छत्तासवदारं रुंभद् सम्मचादिदृक्काडेण ॥

हिंसादिद्वाराणि वि दृढवदफलहेहिं रुंभंति ॥ १८३५

कुदशनावृत्तकपाययोगैर्जीवो भवे मज्जति कर्मपूर्णः ॥

दुरापपरि चिबरेरनेकैः पोतः पयोधविब वारिपूर्णः ॥ १९०६ ॥

इत्यात्मवानुमेक्षा ।

मिष्ट्यास्वभासचद्वारं पिपेक्षे तत्त्वरोचनम् ॥

सुतमासेयमं सचो शुहीत्यारमिचाररे ॥ १९०७ ॥

मिच्छाद्योद्रया—मिच्छन्नासवदारं तत्त्वाध्यानमात्मयद्धारं । रुंभंति रुंभते, सम्मचादिदृक्काडेण तत्त्वध्यान कयटेल । हिंसादिद्वाराणि वि हिंसादिद्वाराण्यपि, दृढवदफलहेहिं रुंभंति दृढवतपरिवैः समर्पति ॥

धर्म व्यापविटु नाभादशकैः संवरमनुमेक्षते—तत्र संनिपन्ने विरुध्यते प्रत्याभाः कर्मपर्यायाः पुत्रलानां येन जीवपरिणामेन मिथ्यात्वादिवर्णं येन निरुध्यते स संवर इति मिथ्यात्वादिपरिणामसंवरणाल्पायन्येन सम्मयकत्वादीनां संवरणं निरूपयन्निषेधतः भाषयति—

मूलात्—रुंभंति रुंभति के सुमुखयः । फलितेहिं अर्गलाभिः ॥

इसीका आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—तत्त्वार्थ श्रद्धानको सम्मयदर्शन कहते हैं, सम्मयदर्शनरूप मग्नयुत किताबकेद्वारा पुरुष मिथ्यास्वरूपी दराराजा जोकि पापकर्म आनेका कारण हैं बंदर देते हैं, दृढ अहिंसादि ब्रह्मरूपी अमोक्षओंसे पुरुष हिंसादि दरवाजों को बंद कर देते हैं.

उपसंभमदयादमाउहकरेण रक्खा कसायचोरेहिं ॥

सद्धा काउं आउहकरेण रक्खाव चौराणं ॥ १८३६ ॥

कृपायतस्करा रोद्रा दयादमनामायुधैः ॥

श्राव्यन्ते रक्षितुं दिव्यैसायुधैरिव तस्कराः ॥ १९०८ ॥

विजयोदया—उद्यमदयादमाउद्धरण उपनाम कृपालवेगनीयस्थ कर्मणस्तिरोधवर्जनं, दया सर्वग्राणिप्रियाया, श्राव्यन्ते रक्षितुं दिव्यैसायुधैरिव तस्कराः ॥ १९०८ ॥
 वसः कृपायदोपभावनाया चित्तनिग्रह । एते धन आयुषाः करे यस्य तेन । कस्यायचोरेहि कृपायचोरेभ्यः । रम्भा सकन कारुं रक्षा शप्या कर्तुं, आयुषकरेण रक्ताव चोरेहि आयुधस्त्वेन चोरेभ्यो रक्षेय, कृपायदोपपरिजानेनालकृत प्रचूत्तेन मोपादिनिमित्तवस्तुपरिवारेण तत्प्रतिपक्षसमाधिपरिणामेन च कृपायनिवारणं ॥ उक्तं च ॥ अयत्तदा कोधयुपाधितः क्षमां, अयेव्य मान समुपेत्य मार्षये । तथैव मायामपि याज्या-जयेत्, अयेव्य संतोषवशेन लुप्यतां । जितः कृपाया यदि किम् तैर्जितं कृपायमूलं सकलं हि धंधनमिति ॥

मूलांशः—उद्यम-कृपायवेदनीयकर्मण उदयनिमित्तकर्मणैः समाधिभावनाया वा तिरोभाववत्समनः प्रसन्तिः ॥
 दमकृपायदोपभावनाया चित्तनिग्रहः ॥

अर्थः—कृपाय वेदनीय कर्मका उदय न होना उसको उपश्रम कहते हैं, सर्व प्राणिओंके ऊपर उनका दुःख देखकर अपना अंतःकरण आर्द्र होना दयाका लक्षण है, कृपायोंके दोषोंका विचारकर चित्तको स्वाधीन रखना निग्रह कहते हैं, उपश्रम, दया और निग्रह ये तीनगुण जिसने अपने हाथमें लिये हैं वह पुरुष कृपायरूपी चोरोसे सखल मनुष्य जैसा चोरोसे अपना रखण करता है रक्षण करता है-संवरकी ह्जा रखनेवालोंमें धारंवार कृपायोंके दोषोंका परिमाण कर लेना चाहिये, जिन वस्तुओंका आश्रय करनेसे क्रोधादि कृपाय उत्पन्न होगे उनका त्याग करना चाहिये, और क्रोधादिकोंके प्रतिपक्षीरूप क्षमा, विनय, सरलपना, निर्विरोधता योंरह वरिणाम आत्मामें उत्पन्न कराने चाहिये, इसमें कृपायोंका अवश्य निवारण होगा, इस नियममें ऐसा कहा है—क्षमाका आश्रय लेकर क्रोधाको जीतना चाहिये, मार्दवके आश्रयसे मानकृपायका परामर्श करना चाहिये, आर्जव गुणसे मायाको और संतोष धारण कर लुप्यताका परिहार करना चाहिये, यदि जिसने कृपाय जीते हैं उसने सर्व जीति लिया ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि संपूर्ण कर्मवंपनकेलिचे कृपायही कारण हैं,

मिष्टान्तसंबन्धं कृपायसंबन्धं निरूप्य इन्द्रियसंबन्धं ध्यात्वे—

इन्द्रियदुर्दत्तस्या निगिष्यन्ति दममाणललिनेहिं ॥

उत्पद्गामी निगिष्यन्ति हु खल्लिनेहिं जह तुरया ॥ १८३७ ॥

इन्द्रियाश्वा नियम्यन्ते वैराग्यखलिनैर्बुधैः ॥
उत्पद्यप्रस्थिता दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ॥ १९०९ ॥

विजयोदया—इंद्रियबुद्धतरसा इंद्रियबुद्धतायाः चित्तिव्यपत्ति निगृह्यते निरुध्यते, केन दमपणखलिनैर्बुधैः दमपणानि दमयन्तानि, तावदेव चित्तिरतति शीः । शब्ददिषु वर्तमानानि इंद्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानीहैन्द्रियशब्दे-
नोच्यन्ते तेषां चास्वभावो निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । तयो रूपयोर्बुधपदेकस्मिन्भावमन्यभूतः । उत्पद्यगामी
उन्मादगयायिकः । अत्र तुरगा चित्तिव्यपत्ति चयाश्वा निगृह्यते । खलिनैर्बुधैः खलिनैः ॥

एवं मिथ्यात्वासंबन्धनायसंस्कारानिरुप्य करणसंधर्गं व्यकरोति—

मूढारा—इंद्रिय इष्टानिष्टरूपादिषु प्रवर्तमानानि चक्षुरादिज्ञानानि । मिथिव्यपत्ति निगृह्यते । दमपणखलिनैर्बुधैः दम
पणानि ज्ञानानि नानाप्रभेदाः तानि खलीनानि इव दुष्टवाक्छिन्नाग्निष रणहेपेदिन्द्रियज्ञानानां निरोधनिमित्तत्वात् । इन्द्रि-

यज्ञानं हि इष्टानिष्टे वा स्वविषये वागं द्वेषं वा अनयत्तदुपेक्षाया ज्ञानेन प्रविचर्यते । त्वोरूपयोगयोर्बुधपदेकस्मिन्भावमन्य-
प्रवृत्तेः ॥

मिथ्यासंधर्ग और कषाय संवरका निरूपण किया. अथ इंद्रिय संवरका वर्णन करते हैं—

अर्थ—इंद्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंको दमगुणकी मुख्यधामे युक्त ऐसे ज्ञानरूपी लगामोंसे जो पुरुष दश करते हैं.
शब्द, स्पर्श, रस वगैरह विषयोंमें प्रवृत्ति करनेवाले इंद्रियज्ञानोंको रागद्वेषही कारण हैं. अर्थात् रागद्वेषसे इन्द्रियज्ञानकी
प्रवृत्ति स्पर्शादि विषयोंमें होती है. इस भावमें इंद्रियज्ञानको ही 'इंद्रिय' कहा है. इंद्रियज्ञानसे उत्पन्न हुए आलस्योका
विरोध तत्त्वज्ञानकी भावनानि होता है. स्वर्णादिविषयोंमें प्रवृत्ति और तत्त्वज्ञान ये दोन उपयोग एकसमय आत्मामें
नहीं होते हैं. एक समयमें दोन उपयोग उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसा आगममें कहा है. उन्मादगपर जानेशले दुष्ट घोड़ों
का जैसे लगाम के द्वारा निग्रह करते हैं वैसे तत्त्वज्ञानकी भावनानि इंद्रियरूपी अश्वोंका निग्रह हो सकता है.

अणिदुदमणसा इंद्रियसप्पाणि जिगेहिदुं ण तीरंति ॥

विज्जामंतोसधहीणेणव आसीविसा सप्पा ॥ १८३८ ॥

नाथसर्पा निगृह्यन्ते भीषणाखलमानसैः ॥

वंदशुका इव ग्राह्या विद्यासंवावचर्जितैः ॥ १९१० ॥

१ । तद्वृत्तिनिष्प्रमोजनप्रियापत्येवमापि मनोहरान् रसान् ॥ ६ ॥ निवेद्यितुं रामयणेन कोऽस्य वदच्छया या न निवेद्य
रञ्जयति रसान्तेकानमनोहरानपि न भेष्यति त्रेकपदेन सेवितुं ॥ ७ ॥ निवेद्य न द्वेष्टि वदच्छयापि च भेष्यते जेता रसान्तेदि-
पस्य च । मनोप्रदृष्टासम्भान्तयोपिता, शुभांश्रयः स्पर्शविधीन् मनोहरान् ॥ ८ ॥ न सेवितुं रामयणेन चाञ्जलि
यच्छया ता न निवेद्य त्यति । प्रमदेनाच्छादनाजानाति या शिलेपनाख्यजन्माजानाति च ॥ ९ ॥ दारीरसौत्थाय न यच्च
सेवते विपुलैरापयुतो मदायति ॥ दिसौण्मयैकोऽन्तराष्ट्रपाणिजानानो भवान् स्वशंखिधीश्च सर्वदा ॥ १० ॥
न मेच्छति द्वेष्टि न याच्युपागतान् स्वोत्तिष्ठिर्यथैव भोजेद्विजिष्णुतां, रणे विपुणमिदं निर्भयो जयेत् पर्यङ्गिषाणां जयभादिशती
यतिरिति ॥ ११ ॥ विजयायां प्रतिपक्षभूतोऽग्रमादः, अन्तान्ममभोर्द्वयं, रसपरित्यागः, संसारद्विनिर्दिष्टादौपक्षिता रत्न-
प्रेषेऽनुसरणः स्वदुर्द्व्यतिनां समरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहमादमतिपक्षभावनोऽप्येते, धंशुताया अन्तर्विस्थित्य-
भावना, तदर्थोमेकार्थपरिग्रहमयुजिचिता, धर्मविपदात्, योपात्रेऽसंभवविरादिकः । धवंभूतेनाग्रमादफलकेन मयतीता
निरूप्यते । कीरति फलेनेन जडा क्रियते फलकेन यथा । प्रापण्य जलासप्यभिरुचो नावः जलाश्रयमिरोपः ॥

प्रसाधान्नयं सविद्वत्तरं प्रकीर्ति—

मुखारा—पापयोगा विरुद्धाद्याः पंचदशमहाविराणां। अल्पमादकक्राण अल्पमादो विरुद्धादिप्रमाणमतिपञ्च-
भायना । सकलकर्मिष प्रमादसंपादकर्मणां प्रतिभटमहाराणामिष प्रतिपञ्चकृतवत् । सत्र विरुद्धाप्रविषक्षाः सत्यासत्यद्वयाभा-
वात्पाप्यादो भवान् च । कपायप्रयत्नीकाः क्षमादयस्तदुद्यकारणविमुक्तदेशावस्थानं । तदोपापायावयभायना च । इतिप्रम-
तिर्पथिलत्ववक्षानभायना रानडेपनिर्मोद्विषविषदेनाधरथानतद्विषयमभयरागद्वेषाभरणं विषयोपलक्ष्यो लेधना-
दरुच । निद्राविरोधिनी अनलमयमोदुर्ध्व रसपरिराणाः । संसारादभीविः, सम्यक्संवायाराधने श्रीविः । स्वबुद्धरणसंरणा-
नुशोचनं, निद्रापोषानुचितनं च । स्नेहविषक्षा पंधुत्वस्यानयस्थितत्वभावनां तदर्थनिकारंभरिप्रहप्रवृत्तिनोपचित्वा धर्मप्रति-
पञ्चकत्वदोषानुपलक्ष्ये च ॥

प्रमादका संयर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विकथादिक पंथरा प्रमाद हैं इनके द्वारा जो आत्मामें अद्वय परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग कहते हैं। जैसे शत्रुको शस्त्रप्रहारको फलकेत [दलसे] वीर गुरुप रोक्ते हैं। वैसे कर्मोंका संवर चाहतेवाले पुरुष स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिक ढाले हाथमें लेकर विकथादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं। स्वाध्याय और ध्यानमें एकाग्रतारूपी अग्रमादेस-सावधानीसे विकथादि प्रमादका निरोध होतेसे प्रमादजनित कर्मका आरम्भ आत्मामें आता नहीं। सन्यभाषा, असत्यमुपा शापा, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा प्रमादके प्रतिपक्षी हैं।

महाभूतविशिष्टो जन्मिवायलेद्वारि मरोदरात् रसान् ॥ ६ ॥ निवेशितुं रागव्योम कायति यदृच्छया ॥ न निवेद्य
रजति रचानेनानमनोद्वारपि न नेच्छति द्वेषवशेन लेपितु ॥ ७ ॥ निवेद्य न द्वेषि यदृच्छयापि न भवेत्स जेता रसमैद्वि
यस्य च । मनोमशयत्वासनगतयोचितता, शुभाश्रय ॥ स्वशोविधौ न मनोवृत्तम् ॥ ८ ॥ ॥ सेविष्यु रागवशेन वाञ्छति
यदृच्छया ॥ न निवेद्य रजति । प्रसन्नैकच्छादनमार्जनादि वा विलेपनाभ्यन्तमाजयति च ॥ ९ ॥ शरीरसौन्दर्याय न यद्व
सेवते विषुद्वरैरप्यनुतो महायति । हिमोष्णभूतैलशिलातृणाविलानशोभनान् स्पर्शयिष्यीत्येव सर्वदा ॥ १० ॥
न नेच्छति द्वेषि न याचुपागतात् त्वर्गिद्विषयैव भोजेद्विजिण्णता, रजे रिपूणाभिद्वि निर्भयो जयेत् यसेद्वियाणा जयमास्थितो
कतिरिति ॥ ११ ॥ निद्राया प्रतिपक्षभूतोऽप्रमाद, अनशनमममोदर्व्य, रसपरित्याग, संसारद्वीतिनिद्रादोषविता रत्न-
त्रयऽनुसंग स्वदुश्चरिताना स्मरणेन शोक इत्येवमादिक ॥ स्नेहप्रमादप्रतिपक्षमावर्तन्यते, संयुताया अनयस्थितव-
भायता, तदर्थनकारमयस्मिद्विद्वन्मूर्तिर्यतिता, धर्मेविप्रता, दोषानुपेक्षकमित्यादिक ॥ पर्यभूतेनाप्रमादफलकेन प्रवर्तता
निवृत्तये । कीरदि कलणेन ज्ञाया निवेद्ये फलकेन यथा । जायात् जलासवन्निरोधो नाव जलासवनिरोध ॥

प्रमादशब्द स विस्तारं प्रवीति—

मुखारा—पादपयोरा विक्रधादयः पंचदशप्रमादपरिणामाः । अप्रमादकङ्कणेन अप्रमादो विक्रधादिप्रमादप्रतिपक्ष-
भावना । स्रक्लकमिष प्रमादसंवापकर्मणा प्रतिभदप्रहाराणाभिष प्रविषंयकरात् । सत्र विक्रधाप्रतिपक्षाः सत्सासत्यश्रुयाना-
पासकाज्यायो भवान् च । कषायप्रयत्नीकाः क्षमाद्वद्वत्तदुदयकारणविमुक्तैसावस्थानं । ततोपापायावकाभादवा ॥ । इद्विप्र-
तिपथिनस्तत्त्वज्ञानभायना रागद्वेषनिमित्तैर्द्विषयविविक्तदेशावस्थानतद्विषयप्रमथरागद्वेषास्तरणं विषयोपलब्धौ तेष्वना-
वद्वय । निद्राविरोपिनी जनशनमममोदर्व्य रसपरित्यागः । संसारपादभीति, सम्यक्-रसाचारान्धने प्रीतिः । श्वदुश्चरणमरणा-
दुशोचनं, निद्रादोषानुपचितनं च । स्नेहविपक्षा बहुत्वस्यानवस्थितत्वभावनानां तदर्थनिकारंभपरिग्रहप्रवृत्तिदोषविता धर्मप्रति-
पक्षकत्वदोषानुपेक्षणं च ॥

प्रमादका सत्वर किस प्रकारसे होता है इसका वर्णन करनेवाली गाथा—

अर्थ—विक्रधादिक परंपरा प्रमाद है इनके द्वारा जो आत्मामें अजुग परिणाम होते हैं उनको पापप्रयोग
कहते हैं, जैसे शुकें शस्त्रप्रहारको फलभेस [डालेस] वीर पुरुष रोक्ते हैं, वैसे कर्मोंका संवर चाहनेवाले पुरुष
स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिक डालें हाथमें लेकर विक्रयादि प्रतिपक्षिओंके आघातका निवारण करते हैं, स्वाध्याय
और ध्यानमें एकाग्रतारूपी अग्रमादसे-सावधानीसे विक्रयादि प्रमादका निरोध होनेसे प्रमादजनित कर्मका आलव
आत्मामें आता नहीं, स-यथाया, असत्यपूषा माथ, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विक्रया प्रमादके प्रतिपक्षी हैं-

धामा, मादंय, आज्ञा, और संतोष ये कयाब नामक ग्रामाद के शत्रु हैं। ज्ञानका हमेशा अभ्यास करना, रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले इंद्रियोंके विषयोत्त अलग होकर एकान्त प्रदेशमें रहना, ज्ञानसे मनको स्वस्वरूपमें एकत्र करना, इंद्रिय विषयोत्त उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषोंका स्मरण न करना, विषयशान्ति होनेपर उत्तम आदर न करना, ये सब कारण इंद्रियग्रामादके शत्रु हैं। इन विषयोंका वर्णन इस प्रकार हैं- १ रागभावसे युक्त होकर ग्रामादहितमुनि सुंदर स्त्रीके अंग नदी देखते हैं। अथवा यदृच्छासे देखकर उनपर अनुरक्त नहीं होते हैं जेपके वश होकर वे अशुभरूप देखना चाहते नहीं हैं ऐसा नहीं। अथवा अशुभरूप देखनेपर उनके मनमें द्वेषभावना और सुंदररूप देखनेपर राग भावना उत्पन्न नहीं होती है यदृच्छासे अशुभरूप देखकर भी वे द्वेष नहीं करते हैं। ऐसे मुनियोंने त्रेन्द्रियोंको जीव लिया है ऐसा समझना। उत्तम गायन और वाद्यके मनोहर स्वर और उत्तम युवतिओंके-स्त्रियोंके कंठसे निकले हुये मधुर भाषण जो आदरसे सुननेकी इच्छा नहीं रखते हैं और यदृच्छासे सुन पड़नेपर उनमें आसक्त नहीं होते हैं तथा अनेक अमनोहर-कंकड शब्द सुननेपर भी जिनको क्रोध आता नहीं है वे मुनि कर्णोंको जीवनेवाले समझने चाहिये, ३ कालाशुल, कुड; केदार, तमालपत्र, कमल, चंपक वगैरहके मतोहर सुवासको जो आदरसे चाहते नहीं हैं यदृच्छासे ऐसे पदार्थोंका सुवास गाना होनेपर जो उसमें आसक्त होते नहीं।

तथा अशुभ गंधका संकन्ध होनेपर जो उससे द्वेष नहीं रखते हैं अथवा शुभगंधका सेवन करनपर भी जो उत्तम आसक्त नहीं होते हैं, वे मुनिराज भ्रान्णेंद्रियको जीवनेवाले समझने चाहिये। जो अतिशय सुंदर और विशिष्ट मधुर भोजनोंके रसमें लोलुप नहीं होते हैं अथवा यदृच्छासे सेवन करके उसमें आसक्त नहीं होते हैं, अमनोहर रसोंकी सेवा करनेसे मनमें द्वेष भी उनकी नहीं उत्पन्न होता है। यदृच्छासे अमनोहर रस सेवन करनेका प्रसंग आपदनेपर जिनको द्वेष उत्पन्न नहीं होता है वे रमनेन्द्रियवता माने जाते हैं।

सुंदर कृपा, सुंदर स्त्रिया, और शुभ संबंध ये मन हरण करते हैं। परंतु मुनि रागवश होकर उनका सेवन करनेकी इच्छा नहीं रखते हैं। यदृच्छासे सुन्दरस्त्रियोंका सेवन करनेसे अनुरक्त नहीं होते हैं, मुनि मर्दन करना, वस्त्रोंमें अंगको दमना, अंगको स्पर्श करना, विलेपन लगाता, आँखोंमें अवन लगाना, ये कार्य नहीं करते हैं। इन कृत्योंमें दारीकी सुल होता है। परंतु वैराग्य युक्त मुनीस्वर इनसे विरक्त रहते हैं, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्शसे युक्त ऐसी धूमि, पर्वत, शीला और तृण इत्यादिकोंके अमनोहर स्पर्शके विषयमें वे द्वेष नहीं करते हैं, जो मुनि अच्छे

रसगुण्युक्त पदार्थ की इच्छा नहीं करते हैं और अल्प स्वार्थके पदार्थ प्राप्त होनेपर द्वेष भी नहीं करते हैं वे स्पष्टाने-त्रियज्वयी माने जाते हैं। जैसे विर्भाव चीर पुरुष शुद्धमें गन्धको जीवता है वैसे ये महायुनि निर्भव और वैराग्ययुक्त इंद्रियों को जीवते हैं।

निद्राके प्रतिपक्षयुक्त अग्रमाद ये हैं—अनश्नन, अवमोदय, रसोका त्याग करना, संसारसे भययुक्त रहना निद्राके दोषोंका विचार करना, रत्नत्रयमें प्रीति रखना, अपने दुष्कृत्योंका स्मरण कर शोक करना-

स्नेह के प्रतिपक्षी—बंधुव्यग्न अस्थिर है, उनके लिये अनेक आरंभ परिग्रह करनेकी धिक्ता होती है जिससे मरकादि कुगतिकी प्राप्ति होती है। धर्ममें बंधुव्यग्न विघ्न उपस्थित करते हैं। इत्यादिक दोषोंका विचार करनेसे स्नेह प्रमादका नाश होता है।

इस प्रकार अग्रमादरूपी दाल दाहमें लेकर यदि प्रमादरूपी अजुसे लड़ते हैं, जैसे नौकाका छिद्र बंद करनेसे जल नहीं आता है वैसे अग्रमाद प्रवृत्तिसे प्रमाद जलित आगमन बंद होता है।

शुचिपरिस्नाह्युत्तं संजमणयरं ॥ फम्मरुत्तिसेणा ॥

बंधेइ सत्तुसेणा पुरं व परिस्नादिहिं सुशुत्तं ॥ १८४० ॥

कर्मभिः शक्यते भेतुं न चारिन्नं कदाचन ॥

सम्पद्यशुचिपरिक्षिप्तं विपक्षैरिव पत्तनम् ॥ १९१२

विजयोदया—शुचिपरिस्नाह्युत्तं शुचिपरिस्नाह्युत्तं, संजमणयरं कर्मरिपुलेना ॥ भेतुं द्यत्तेति । परिस्नादि-भिर्युत्तं शशुत्तेनेवेति । गुप्तेः संवरताश्चयात् ॥

शुभीनां संवरतामाश्रयति—

मूढारा—बंधेदि भवति ।

अर्थ—परिस्ना—स्नान, ठट योगरहोते राक्षि व नगरका शत्रुसेना नाश नहीं कर सकती वैसे शुभिरूपी स्वार्थसे रक्षित किया गया। यह संजमणयरगर कर्मरूप शत्रु के द्वारा स्वस्त नहीं किया जाता है।

समिद्धिदिग्गवमारुहिय अण्मत्तो भवोदधिं तरति ॥
छज्जीवणिकायवचाद्रिषवमगरेहिं अञ्चिचो ॥ १८४१ ॥

गुणबंधनमारुह्य संयतः समितिप्लवं ॥

विंतादिमकराग्रस्तो जन्मांभोधिं विलंचते ॥ १८४२ ॥

विजयोद्या—समिद्धिदिग्गवमारुहिय समितिप्लवं इदमवमारुह्य । अण्मत्तो अण्मत्तो भवोदधिं तरति ।
समिद्धिदिग्गवमारुह्य संयतः ॥ एतेन समितः संयतताख्याता ॥

समिद्धिदिग्गवमारुह्य—

मूलारा—अञ्चिचो अञ्चिचः ॥

अर्थ—जो समितिरूपी हृद नावमें आरोहण करता है वह अण्मत्तशुनि पदकायजीविका बंध, असत्य
अण्मत्त इत्यादि पापरूप मगरोत्तं पीरित नहीं होता है, और वह सुखसे संसारसमुद्रसे उच्छर्ण होता है, समितिले
उत्तर होता है यह हम सूत्रमें सिद्ध हुआ-

द्वारेव दारवालो हृदये सुष्यणिहिदा सदी जस्त ॥

बोसा धंसति न तं पुरं सुगुचं जहा सत्तु ॥ १८४३ ॥

द्वारपाल इव द्वारे वस्यास्ति हृदये स्मृतिः ॥

दुपयंति न तं दोषा गुप्तं पुरमिवारयः ॥ १८४४ ॥

विजयोद्या—द्वारेव दारवालो द्वारे द्वारेपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता यस्तुतत्त्वानां स्मृतिर्यस्य तं दोषा ना
निर्भाति पुरं सुगुप्तं नाशय इव ॥

यस्तुतत्त्वानामुल्लेखः संयततां यच्छि—

मूलारा—मदी यस्तुतत्त्वानामुल्लेखः ॥ संयतिष नातिमन्वि ।

अर्थ—जैसे सुगुप्त नगरका अग्नौ विनाश नहीं कर सकते हैं वैसे जिसके हृदयमें दारवालेपर द्वारपालके
ममान यस्तुतत्त्वानां एकाग्रस्मृति स्थिर रहने दे-दोष उसका पराभव नहीं करसकते हैं-

जो खु सदिविपद्मणो सो दोसारकण गेज्झओ होइ ॥
 ओवल्लगोव चंतो अरीणमविज्झओ चेव ॥ १८४३ ॥
 न यस्यास्ति स्मृतिश्चित्ते ॥ दोयेयस्येत स्फुटम् ॥
 असहायोऽखिलेः क्षिप्रं चिचक्षुरिव चैरिभिः ॥ १९१५ ॥

विजयोदयः—जो खु सदिविपद्मणो यः स्मृतिहीनः । जो दोसारकण गेज्झओ होइ वही दोपरिपुग्गिमाहो भवति । अरीणां मध्ये असहायोऽन्धः शत्रुप्राप्तो यथा ॥
 स्मृतिहीनरापावमाह—

मुळारा—नेय्जओ प्राज्ञः । अविविज्झओ असहायः ।

अर्थ—जिसकी स्मृति वस्तुवतत्वोंमें एकाग्र स्थिर नहीं है ऐसा यदि दोषोंके आधीन होता है, अथ मनुष्य जैसे शत्रुप्राप्त होता है, वैसे तत्त्वज्ञानकी स्मृति जिसको नहीं है वह यदि दोषोंसे पराभूत होता है,

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहसमोगरे उदीरंतो ॥

जेव सदी मोचच्चा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥ १८४४ ॥
 ज्ञानवर्धनचरित्रसंपदं पूर्णतां नयति स व्रत्ती स्फुटम् ॥
 यो विमुचति परीपहारिभिर्पाथितोऽपि न कदाचन स्मृतिम् ॥ १९१६ ॥

इति संवराजुप्रेक्षा.

विजयोदयः—अमुयंतो अमुचता । सम्मत्तं रत्नत्रयं परीसहसमोगरे, परीपद्मकरे अग्निमधत्यपि नैव स्मृतिर्मां कदा अजाराधना कथिता ॥ संवरा ॥

दीवदुःखकारणपरीपद्मव्यूहाभिभवेऽपि रत्नत्रयमत्यवता तत्त्वस्मृतिरनुसृतं ज्वेत्यनुज्ञास्ति—
 मुळारा—सम्मत्तं समरत्तं रत्नत्रयं समत्तं ॥ साम्यं ॥ एत्थ विजिपातोपनिपातेऽपि रत्नत्रये वेष्टते तेन स्मृत्यव-

छंभने सति । संवराजुप्रेक्षा ॥

अर्थ—परीपहेके समूहके द्वारा पीडा होनेपर भी रत्नत्रयको धारण करनेवाले यतिजाने स्मृतिका त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् तपके साथ रत्नत्रयकी आराधना कानी चाहिये. संवराजुप्रेक्षा समाप्त.

निर्जराजुप्रेक्षोच्यते—

इय सध्यासवसंवरसंखडकभासवो भवितु मुणी ॥

कुर्वन्ति तवं विविहं सुत्तुचं गिज्जराहेदुं ॥ १८४५ ॥

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा सर्वथा कर्मसंवरम् ॥

फरोति निर्जराकांक्षी सिद्धये विविधं तपः ॥ १९१७ ॥

विजगोदया—इय एवं । सध्यासवसंवर उक्तैः संवरप्रकारैः । संखडकभासवो भवितु मुणी संखलकमालवो भूया मुनिः करोति विविधं तप. सृजोक्तं निर्जराहेतु ॥

धर्मं प्यपविशुं इन्द्रशमथभिर्निर्जरामनुचितदिव्यज्ञादौ संभूतानां सुशोक्तविविन्नतपसा निर्जरां भावयति—

नृजरा—संयुक्त निरुद्धः । अभितु भूत्वा ॥

निर्जराजुप्रेक्षा का वर्णन—

अर्थ—इम प्रश्नार्थे संवरके प्रश्नार्थे जितने कर्मोंके आसव का निरोध किया है ऐसा मुनि निर्जराका धारण योगा सूत्रोक्त तप करता है.

तवसा विणा ण भोक्खो संवरमित्थेण होइ कम्मस्स ॥

उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु स्वीयदि सुसुचं ॥ १८४६ ॥

न कर्मनिर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना ।

संचितं धीयते घान्यमुपयोगं विना कुतः ॥ १९१८ ॥

विजगोदया—तपसा विणा तपसोत्तरेण न कर्मभोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुपक्षितमपि धनं नैव धीयते । उवभोगेभ्योरेण । तथा तस्मात् तपोनुष्ठातव्यं निर्जरान् । का सा निर्जरा नाम पूर्वकृतकर्मव्यातनं न निर्जरा ॥

संवरणैव कर्मक्षय इति गत्वा तपस्यदुस्तद्वानमुत्साहयति—
मृडरा—उभयोगादीहि स्वयमुपभोगमात्रविनियोगादिभिः ॥

अर्थ—तप से ही केवल कर्मके संवरण मोक्ष नहीं होता है. जिस धनका संरक्षण किया है वह धन उप-
योग नहीं किया तो समाप्त नहीं होता इसलिए कर्मकी निर्जरा होनेके लिए उपभरण करना चाहिये.

पुण्यकर्मसमसङ्गं तु विज्जरा मा पुणो हवे दुविहा ॥

पढमा विवागजावा विदिआ अविवागजाया य ॥ १८४७ ॥

पूर्वस्य कर्मणः पुंसो निर्जेरा द्विविधा मत्ता ॥

आथा विपाकजातात्र द्वितीया त्वविपाकजा ॥ १९१९ ॥

'विजयोद्या—पुण्यकर्मसङ्गं पूर्वगतकर्मपुण्यसङ्घायवद्वात्मा जीवप्रदेशोभ्योऽप्यमनं निर्जेरा । तथा चोक्तं ।
पुरुषेश्वरं वक्ष्यलक्षणा निर्जेरिति । निर्जेरा द्विविधा इत्यभिजेरा भावनिर्जेरा चेति । इव्यनिर्जेरा नाम एहीताना-
नराभयानां द्रव्यपानो पुरुषेश्वरावयवमनं धनमादि । भावनिर्जेरा नाम कर्मत्वपर्यायविषयः पुण्यलानां । सा पुनर्द्विविधा,
जाया विपाकजाता द्वितीया विपाकजाता ॥

निर्जेरा द्विविधत्वा निर्दिशति—

मूलारा—पुण्यकर्मसङ्गं प्राक्संचितकर्मपुण्यसङ्घायवद्वात्मा जीवप्रदेशोभ्योऽप्यमनम् । विधाताज्ञा इत्यका-
लेन वचकानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जेरा । अविवागजाया उपक्रमेण एतत्कठानो कर्मणां गलनमविपाकजा । उक्तं च

उह कोटिण वनेण य भुत्तरसं कम्पदुमालं जेण ॥

भाषेण सबदि येया तससङ्गं पेदि विक्करा दुविहा ॥

अर्थ—पूर्व कर्मके संघर्षोंसे थोडा थोडा कर्मका हिस्सा जीवके प्रदेशोंसे निकल जाता यह निर्जेराका
स्वरूप है. आगममें इस निर्जेराका लक्षण ऐसा है—'एकदेशकर्मसंशुलक्षणा निर्जेरा' अर्थात् कर्मके एक
देशका क्षय होना यह निर्जेराका लक्षण है. निर्जराके द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा. ऐसे दो भेद हैं. भक्षण किए
हुए अन्नपानादि पदार्थोंका एक देशका क्षय होना यह द्रव्यनिर्जरा है. और कर्मन होना अथवा पूर्ण पचन होना यह

भावनिर्जरा है, पुद्गलका कर्मपर्याय नष्ट होना निर्जराका लक्षण है. इसके भी दो भेद हैं. विषाकृता निर्जरा और अविषाकृता निर्जरा.

अथ दृष्टान्ताद्यष्टे द्विविधां निर्जराप्रवचयामि—

कालेण उवायेण य पचति जहा वणफदिफलाइं ॥

तद् कालेण तवेण य पचति कदाणि कम्माणि ॥ १८४८ ॥

नानाविधानि कर्माणि गृहीतानि पुराम्भवे ॥

फलानीच विपच्यन्ते कालेनेपक्रमेण च ॥ १९२० ॥

विजयोदया—कालेण उवायेण य यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीनां फलानि पचन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥

कर्माणां कालोपायानां पात्रयत्वं दृष्टान्तेन सुदृश्यति—

मूला—उवायेण कम्पयूमादिप्रयोगेन ।

दृष्टान्तके द्वारा इनका स्पष्टीकरण—

अर्थ—जैसे श्वेतके फल योग्य कालकी अपेक्षाकर अर्थात् योग्य काल प्राप्त होनेपर फल होते हैं अथवा उपायसे पक्कावस्था को फल होते हैं वैसे पूर्व कर्मभी योग्यकाल प्राप्त होनेसे तथा तपसे एक होते हैं.

तद्योर्निर्जरायोः का कस्य भवतीत्याशङ्क्यामावहे—

सन्वेत्ति उदयसमागदस्स कम्मास्स पिज्जरा होइ ॥

कम्मास्स तवेण पुणो सञ्चस्स वि पिज्जरा होइ ॥ १८४९ ॥

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जीविनेज्जिह्वम् ॥ १९२१ ॥

विजयोदया—सन्वेत्तिमुदयसमागदस्स सर्वेषां समयपूर्वके तपसि कृतानां कर्मुत्तानां अर्थात् निर्जरा भवति । एतेन विषाकृतिरूप प्रशस्तीनां समयपरिष्ठादीनां वा उदयावधिकारविच्छेदस्य दृष्टस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति ।

स्मरतेत्याख्यातं भवति । कर्म न सर्पाणि कर्मोणि क्षिप्रस्त्वितिकानि सहकारिकाणाम् द्रव्यक्षेत्रादीनां शुचपदसाञ्जिघ्या-
 दुक्तं सर्वस्य नोपपजति, ततो यदुक्तमाप्तं त्वेवागच्छति तैरुदिति । तत्रेण पुनो तपसा पुनः । कर्मरस सन्वस्त वि
 कर्मणः सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥

सर्वसाधारण्या विपाकअनिर्जराया इतरानिर्जरायाः सुतरां विषेयतां वर्त्तयितुं विशिष्टतां माषयति—

मुखारा— उदयसमायादस लजुमवसमावलिक्ताप्रविष्टस इक्षस्वच्छलेत्यर्थः । निजरा अपगमः । एतेन
 विपाकनिर्जरा स्वल्पेयुक्तं भवति । सत्परस वदितस्यानुदितस्य ॥ उक्तं न—

कालेन निर्जरा धनुमुदीर्णस्यैव कर्मणः ॥

तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्वायेवेऽस्तिले ॥

एतेन—नायुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिद्वैरेति ॥

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म ह्यमाहुभम् ॥

इत्येकैतः शैवसिद्धान्तोक्तः श्रुतुक्तः ॥

इन दो निर्जराओंमें कौन कितनी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जो तपधरणमें प्रवृत्त हैं अथवा नहीं हैं ऐसे लोकोक्तो अर्थात् मिथ्याप्राप्ति वगैरह किंवा सम्यग्प्राप्ति
 वगैरहको कर्म उदयपंक्तिमें प्रवेशकर अपना फल देकर नष्ट होता है यह विपाकनिर्जराका स्वरूप है. यह विपाक
 निर्जरा अल्प होती है. क्योंकि सर्व कर्मोंकी भिन्न भिन्न स्थिति रहती है. द्रव्य क्षेत्रादिक सहकारी कारण सबके
 एकदम नहीं मिलते हैं इसलिये कर्म एकसाथ उदयमें आकर फल देकर नष्ट नहीं होता है. जो उदयमें आता है
 वही फल देकर नष्ट होता है अन्य नहीं. और तपधरणके द्वारा सर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है.

ण. तु कर्ममत्सा अवेदिफलसस कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ॥

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा उज्झसाणस्स ॥ १८५० ॥

अभिर्दिष्टफलं कर्म तपसा दक्षते परम् ॥

सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपार्जितम् ॥ १९२२ ॥

नित्योत्पत्त्या—कर्मस्तस्य न इ ह्येवञ्च परितोपस्यो यननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्य चित् मोक्षो भवति इति ततः गले प्रदायापयति । एतेन विपाकनिर्जरोक्ता, दोषज्य तस्य कम्मस्य विणासो भवेदा तस्य कर्मणो विनाशः तपसिगता दन्तमात्रस्तस्य तपोऽग्निना दहमानस्य पतेन हृतं कर्म तत्फलमश्वा न निवर्तते इत्येतन्निरस्तं ।

तत्कर्मेष्वर्थे उत्सर्गोपवादाभ्या दहयति—

मूलारः—अवेदिदफलस्य असुफलस्य । एतेन स्वफल प्रदायापयति कर्मैति विपाकनिर्जरा सामान्येनोक्ता । इत्यभागात्स निर्दोशीक्रियमाणस्य । एतेन पुन कर्म यत्फलमश्वा न निवर्तते इत्येकान्तो निरस्तः ॥ उक्तं च—

अनिर्दिष्टफलं कर्म क्षपसा वृक्षते परं ॥

तस्यं हुताशनेनेव बहुभेदयुषार्जिवम् ॥

अर्थ—जिस कर्मका फल जीवकेद्वारा नहीं भोगा गया है ऐसा कर्म नष्ट नहीं होता है. अर्थात् कर्म अपना फल जीवको देकर ही चला जाता है. इस विवेचनसे विपाक निर्बरा कही गयी. परंतु तपोमीसे जो कर्म दग्ध होता है वह कर्म आत्माको फल न देकर ही नष्ट होता है. इससे ' जो कर्म इस जीवने किया है वह फल जपतक नहीं देता है, तबतक नष्ट नहीं होता है. ऐसा एकान्त मत खंडित होता है. वात्स्यं यह है कि, विपाक-निर्बरा जिस कर्मकी होती है वह कर्म आत्माको फल देता है. अविपाक निर्बराका कर्म फल नहीं देता है.

दृष्टिञ्च जहा अग्नी विद्धंसदि सुबहुगं पि तणरासी ॥

विद्धंसेदि तवगी तह कम्मतणं सुबहुगं पि ॥ १८५१ ॥

तपसादीयमानेन नादयते कर्मसंचयः ॥

आशुशुसपिना क्षिप्रं दीप्तेनेव तृणोत्करः ॥ १९१३ ॥

यित्योत्पत्त्या—दृष्टिञ्च जहा अग्नी यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महातमपि तृणराक्षे तथा तपोऽग्निः सुमहदग्नि कर्मणं पिनामयति ॥

वपसः कर्मगतनसागर्ज्यं समर्थयते—

मूलारः—सष्टम् । उक्तं च—

वत्सलमपि तदुत्थानं ज्वलेदकप्रगतमग्नि ॥

त्यैः कर्मोन्मथं विधाद्वचं शैलमिव क्षणात् ॥

अर्थ—जैसे प्रज्वलित आगि चढ़ी मारी तृण राखिको भी जलाकर भस्म कर डालती है, वैसी तपस्वी अग्नि पट्ट पोटामी कर्मतपूह तृण के समान नष्ट कर देती है—

तपसाः कर्मविनाशकमसुपदेशयत्युत्तरमाथा—

कर्मं विपरिमिज्जइ सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ॥

तो तं सिणेहमुक्कं कर्मं परिसडवि धूलिव्व ॥ १८५२ ॥

स्वयं पलायते कर्मं तपसा चिरसीकृतम् ॥

रज्जोऽयमिष्टते कुत्र नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ॥ १९२४ ॥

विजयोदया—कर्मं वि परिमिज्जइ कर्मार्थं वि अयथा भावं नीयते, केण सुतेयेण ज्ञानदशेतच-
रणमइनायिना तपसा । सिणेहपरिसोसएण कर्ममुहलगतस्नेहपरिणामविशोयणकारिणा । सो पञ्चाव । स्नेहपरिणामयिना-
शोत्तरकालं । कर्म परिसडवि कर्मं परितोऽपयति, सिजेहमुक्कं स्वदमुक्कं धूलीय । इदमेतं हि स्नेहाद्वैधमुपागतानां तत्कृते ।
परस्परतो वियोगः यथा जलेनैव विण्मृतागतानां सिक्तानां शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥

तपसाः कर्मविनाशनकर्मं कथयति—

मूकारा—विपरिमिज्जइ अन्यथाभावं नीयते जीवपरतंजी करणशक्तिं श्यायते इत्यर्थः । अन्ये परितोसिज्जइ
इति पठति । सिणेहपरिसोसएण कर्ममुहलगतस्नेहपरिणामविशोयणकारिणा । सुतवेण रत्नप्रदसहभाविना तपसा । धूलीव यथा
जळादूर्ध्वं गतानां सिक्तानां जले शुष्के परस्परतोऽपगमनं । एवं कथावाकित्वस्नेहाज्योवेन सहैकलोभीभावं गतानां कर्ममुहला-
नां तपसा रुक्षत्वं गमितानां ततोऽपगम इत्यर्थः ॥ उक्तं च—

स्वयं पलायने कर्मं तपसा चिरसीकृतं ॥

रज्जोऽयमिष्टेव कुत्र नीरसेस्फटिकेऽश्मनि ॥

तपश्चरण कं कर्मं विनाशकमका स्वरूपं कइते हैं—

अर्थ—तपश्चरणसे अर्थात् ज्ञान, दर्शन चारित्रिके साथ रहनेवाले तपसे कर्ममें फरक किया जाता है, अर्थात्
जीवको पतंत्र करनेका स्वभाव कर्ममें रहता है तपके द्वारा उस स्वभावका नाश होता है, यह तपश्चरण कर्ममें
जो स्नेहशक्ति थी उसको नष्ट करता है, जिससे कर्म आत्मासे संपंध छोड़कर चला जाता है, जैसे स्नेहसे धूलि

एकत्र होती है. पतु स्नेहके हरनेमें घूली के कृण त्रितार जाते हैं उनका वंधन नहीं रहता है. पानीसे बालुका पिंड बनता है पतु पानी द्रव जानेपर बालुके कण अलग होते हैं. वैसी स्नेहशक्ति तपसे नष्ट होनेपर कर्म आरमासे अलग होता है. अर्थात् पुद्गलका कर्मत्वपर्याय नष्ट होता है.

धातुगदं जह कण्यं सुब्धइ धर्मंतमगिगणा महदा ॥
सुब्धइ तवमिगंतो तह जीवो कम्मधातुगदो ॥ १८५३ ॥

तपसा र्नायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुद्ध्यति कर्मभिः ॥

पापाणः पापकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥ १९२५ ॥

त्रिजयोक्त्वा—धातुगदं यथा सुवर्णपापागतं कनकं महताग्निना रक्षमानं शुष्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीवः कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना ब्रह्ममात्रः शुभवति ॥

तपसा शुद्धस्यात्मनि दीव्यमानस्यात्मनः कर्मस्यः पृथग्भावं भावयति—

मूलार्ता—धातुगदं सुवर्णपापागाधं । सु-क्षति पृथग्भवति । धर्मंरं साप्यमानं । तवमिगयवो रपोऽमिनाभातः तदस्वपिदूरे दीव्यमानः कृतः ।

तपसा ध्यायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुष्पति कर्मभिः ॥

धापाणः पापकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ॥

अर्थ—महान् अग्निमे दग्ध होनेपर जैसे सुवर्णपापागमसे सुवर्ण शुद्ध होता है अर्थात् मलसे अलग होता है. वैसे कर्मरूपी धातुगदसे मिश्र हुआ यह जीवरूपों सुवर्ण तपस्वी अग्निमे जब दग्ध होता है तब यह निर्मल होता है.

यत्पेयं तप यजगुप्रतप्य किं संवरेणेति शंकां निराकरोति—

तपसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवघेण ॥
ण तु सोत्ते यत्तिंस्ते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥ १८५४ ॥

मोक्षः संवरहनिन तपसा न जिनागमे ॥

रचिणा शोप्यते नीरं प्रवेशे सति किं सरः ॥ १९२६ ॥

विजयोदया—तवसा श्रेय न मोक्षयो उपैत्य न सर्वकर्मणायो भवति, संवत्सीनस्य विनवचने । सोवन्ति प्रविशन्ति ॥ जलादिर्जं हस्तने परिशुष्यति ॥

पयोर्बं तर्हि तवेवमुक्तं न संकर इत्यत्राह—

मूलात्—मोक्षो सर्वकर्मपणमः ॥ उक्तं च—

योधः संवत्सीनेन तपसा न जिनागमे ॥

रविणा शोध्यते नीरग्रवेशे सति किं सरः ॥

यदि तप से आत्मा शुद्ध होता है तो तप ही करमा चाहिए संवत्सी क्यो आवश्यकता है ? आचार्य इस शंका का उत्तर देते हैं—

अर्थ—जो मुनि संवत्सीत है केवल तपश्चरणसे ही उसके कर्मका नाश नहीं हो सकता है ऐसा विन-चनमें फटा है. यदि जलप्रवाह आधा ही रहेगा तो तालाव कब सूखेगा ? अर्थात् नहीं सूखता है.

एवं पिण्डसंवरवमो सम्मत्तमाहृणारुडो ॥

सुदृणममधधुगो झणादितवोमयसरोहिं ॥ १८५५ ॥

विजयोदया—एवं पिण्डसंवरवमो एवं पिण्डसंवरकण्ठः, सम्यक्त्ववद्वत्कारुः, सुतप्तानवापधरः, व्यक्ता-वितवोमयशरीरः ॥

बहुविधारायनानिष्ठः संवरसहितया निर्लेस्या कर्माश्चिन्तुं निःशेषावयामनं वक्षानाविराग्यश्रियं शान्तोति इति गायत्र्येनोपसंहरति—

मूलात्—पिण्डसंवरवमो बद्धात्मननिरोधसमाहः ।

अर्थ—जिम्मेने संवररूपी बन्धुर बहना है, जो सम्यग्दर्शनरूपी वाहनपर चढ़ा है. विसर्गे सम्यग्ज्ञानरूपी धनुष्य हाथ में लेकर ध्यान और तपरूपी अर-बाण सम्यग्ज्ञानरूप धनुष्य के ऊपर जोड़ दिये हैं.

संजमरणभूमौए कम्मरिचमू पराजिणिय सत्त्वं ॥

पावदि संजमजोहो अणोक्कं मोक्खस्सज्जसिरे ॥ १८५६ ॥

धर्मानद्विपमविधितो जुषो लब्धवोधसचिवस्तपःशरैः ॥

कर्मशुश्रूषमपहत्य संधृतः सिद्धिसंपदमुपैति शान्धतीम् ॥ १९२७ ॥

इति निर्जरा ।

विजयोदया—संजमरणधूमिण संयमयुद्धांगणे कर्मरिचम् सर्वोममिभ्य प्राप्तोति संपतयोधः अनुपमां-

मोक्षरत्नविधायं ॥ निर्जरा ॥

नूतना—सद्यम् ॥ निर्जराशुश्रूषा ।

अर्थ—ऐसा शुनिरूपी वीर पुरुष संयमरणमें संपूर्ण कर्मसेनाका पराजय कर मुक्तिरूप शान्त्यलक्ष्मीकी प्राप्ति कर लेता है ।

धर्मगुणानुश्रेयसवोच्यते—

जीवो मोक्षवपुरष्कटकङ्कणपरंपरस्स जो भागी ।

भावेणुववज्जदि सो धम्मं तं तारिस्समुदारं ॥ १८५७ ॥

मोक्षामसानकराणभाजनेन शरीरिणा ॥

आहंतो भावनाधर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥ १९२८ ॥

विजयोदया—जीवो मोक्षवपुरष्कटकङ्कणपरंपरस्स जो भागी, वो जीव, मोक्षवसानकल्याणपरंपराया

माजमभूत् । स धर्म भावेन प्रतिपद्यते, तं तादृशमुदारं सकलसुखसंपन्नक्षमं महातं धर्मं ॥

धर्म्यप्यालसिद्धये गमातवेन धर्ममहिमानमनुचितयति—

मूलाया—मोक्षपुरुषकटकङ्कणपरंपरस्स मोक्षेण पुरःसरता नीतानि यानि कल्याणानि सुखेवत्वमुमानुपत्य

पदगन्धुदयसुराणि मोक्षगुणानामसाक्षादिकसुखादीत्यर्थः ॥ उत्तमवंधाय भागी भवत्ययोः ॥ भावेणुववज्जदि परमार्थेन

प्रतिपद्यते । वदतं सकलगुणसंपन्नसमर्थत्वान्माहन्त्यं ।

उक्तं च—मोक्षवसानकल्याणभाजनेन शरीरिणा ॥

आहंतः पावनो धर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥

अर्थ—मोक्षयान्ति वक्तुं जो जी कल्याणपरंपरा प्राप्त होती है वह सब धर्मकी सहायतासे ही होती है

अर्थात् धर्मसे अभ्युदय और मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है- इस उदार, सर्व सुखोंकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ धर्म को मध्यजीव इन्द्रियसे धारण करता है-

धर्मेण होदि पुञ्जो विस्ससजिज्जो पिओ जसंसी य ॥

सुहसञ्जो य णराणं धम्मो मणणिब्बुट्ठिको य ॥ १८५८ ॥

यशस्वी सुभगः पूज्यो विन्वास्यो चर्मतःप्रियः ॥

सुसाध्यः सोऽन्यकार्येभ्यो मनोनिर्मुक्तिकारकः ॥ १९२९ ॥

विजयोदया—धर्मेण होदि पुञ्जो धर्मेण पूज्यो भवति । विस्ससजीवः प्रियो यशस्वी य भवति, सुलेनैव साध्वो-
नराणां धर्मः ॥ उक्तं च ॥ इष्टं सुतं च विदिते स्थिते च धर्मे फलसामो भयतीति ममसो निर्मुक्तिं च करोति ॥

मूढारा—जसंसी कीर्तिमान् । सुकसक्को शुभपरिणाममात्रसाध्यः अथवा सुक्तेन साधयितुं शक्यः । ' लष्टे
भुते च विदिते स्मृते च धर्मे फलानमो भवति इति वचनान् ॥

अर्पे—इस धर्मके आचरणसे मनुष्य पूज्य, विश्वसनीय, प्रिय और शशस्वी होता है- यह धर्म सुखसे मनुष्य
जीव धारण कर सकते हैं- धर्म धारण करनेसे मनुष्योंका मन संतुष्ट होता है- धर्मका फल देखनेसे, सुननेसे, जान
लेनेसे और स्मरण करनेसे मन प्रसन्न होता है- ऐसा शास्त्रोंमें कहा है-

जात्रदियाइं कल्लाणाइं सग्गे य मणुअल्लोगे य ॥

आवहद्वि ताण सज्जाणि मोक्खं सोक्खं व वरधम्मो ॥ १८५९ ॥

धर्मः सर्वाणि सौख्यानि प्रदाय भुक्तेर्जितम् ॥

निधत्ते शान्ते स्थाने निर्वाधसुखसंकुले ॥ १९३० ॥

विजयोदया—जात्रदिगाइं कल्लाणाइं वातेति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सयोन्याकर्षयन्ति
धर्मो मोक्षं सुखं च ॥

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—स्वर्गलोकमें और भुव्यलोकमें वितने सुख प्राप्त होते हैं वे सब धर्मसे ही प्राप्त होते हैं. मोक्ष सुखकी प्राप्ति भी धर्मसे ही होती है.

ते घण्णा जिणधम्मं जिणदिठ्ठं सञ्चदुक्खणासयरं ॥
पडिक्खणा दिट्ठिदिय्या विमुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥ १८६० ॥

ते घन्या ये नरा धर्मं जैनं सर्वसुखाकरम् ॥

निरस्तनिस्त्रिलय्याः प्रपन्नाः शुद्धमानसाः ॥ १९३१ ॥

त्रिजयोदया—ते प्रण पुरुषवन्तः । जिनदण्ड धर्म सर्वदुःखभाषकरं प्रतिपन्नाः शुद्धेन मनसा दृढप्रवृत्तिः, निर्वर्णकुलाः ॥

मूढारा—दृढविदिया अविचलप्रवचः ।

अर्थ—जिनदण्डोने निर्मल मनसे निरस्पृह होकर धर्म धारण ॥ सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला जिनेश्वर प्रतिपादित जिनधर्म धारण किया है वे पुरुष धन्य हैं.

विसयाडवीण उम्मगविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ॥
जिणदिट्ठणिब्बुविपहं घण्णा ओदरिय गच्छंति ॥ १८६१ ॥

ये च वीर्येन्द्रियाभ्यो नीता विपयकानने ॥

धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते ते घन्या नरपुंगवाः ॥ १९३२ ॥

विजयोदया—विसयाडवीण विपयाटव्यां उन्मार्गविहारिणः सुचिरमिदियाभ्येर्वैलानीताः संतः ते जिनदण्ड निर्बुद्धिमार्गं गच्छंति घन्या इन्द्रियाभ्येभ्योऽवकृष्ट ॥

मूढारा—उम्मगविहरिदा इन्द्रियाभ्येभ्योऽवकृष्टादिव्रयं निक्षेपेण नीताः । ओदरिय इन्द्रियाभ्योऽवकृष्ट ॥

अर्थ—इन्द्रियरूपी मोटे इस जीवको उन्मार्ग में दौटकर विषय रूपी जगलमें ले जाते हैं. ऐसी परिस्थितीमें जो इन्द्रियरूपी अस्मत्ते नीचे उतरकर जिनेश्वरने देखे हुए मोक्षमार्गपर जाते हैं वे पुरुष जगमें धन्य समझने चाहिये.

रामेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि वीदरामस्मि ॥
धम्मस्मि निरासावस्मि रदी अदिदुल्लभा होइ ॥ १८६२ ॥

अहो द्वेयेण रामेण लोके 'क्रीडति सर्वदा ॥

वीनरामे निरास्वादे बोधिर्धम्मोऽतिबुद्धिमा ॥ १९३३ ॥

विजयोदया—रामेण य दोसेण य जगे रमंतस्मि रामद्वेषान्यां सह जयति क्रीडति । वीनरामे धर्मे निरास्वादे रति-
पत्नीय बुद्धिमा भवति ॥ उक्तं च ॥ कुलं च रूपं च यद्युक्तं कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं ॥ लक्ष्मीः । आरोग्यमाशेषित-
संप्रयोगो द्वेयद्विषयोऽपि च दीर्घमायुः ॥ १ ॥ स्वर्गस्य मोक्षस्य भयोपदिष्टा माया इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ततः । धर्मेण
राक्षसा जगतीदं सङ्गु, दित्याय तं कर्तुमतीर्हसि त्वं ॥

त्रिनयनैरेतद्विबुधैर्भूतौ भावयति—

मूलारा—रामेणेत्थादि बहिरात्ममार्गिणो रामद्वेषान्या सह क्रीडति ॥ एतेन संसर्गजा दोषशुणा भवति इत्या-
श्रित्य कथमीदृशि लोके प्रबद्धमानानां रामायणप्रभुर्भोवच्छृणोर्दिसात्मनि निरास्वादे वा मावितपूर्वत्वात्कथये धर्मे रतिं कर्तुं
शक्यते इति नन्यते ॥

अर्थ—राम और द्वेयके साथ यह जगत् रममाण हो रहा है इस लिये निरास्वाद वीनराम धर्मेमें प्रेम
हीना अतीव कठिन है- श्राव्यमें इस विषयमें ऐसा कहा है—कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन विद्या, सुख, और संपत्ति,
आरोग्य, आत्मा, इच्छित पदार्थों की प्राप्ति, अनिष्ट पदार्थोंसे वियोग, दीर्घ आयुष्य, स्वर्ग मोक्ष इनका मैंने वर्णन
किया है- अतः हे भव्य जीव ! तू स्वर्ग के लिये धर्माचरण कर-

सहलं माणुसजन्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ॥

संसारदुःखकारणकम्मागमदासंरोधं ॥ १८६३ ॥

तवीयं सफलं जन्म तदीयं दृष्टुञ्ज्वलम् ॥

जन्ममृत्युजराकारिकमस्मिन्निरोधकम् ॥ १९३४ ॥

विजयोदया—सहलं माणुसजन्मं तस्स मृत्युपदः । जन्म सफलं भवति यद्यप्य चरणमणवज्जं । कीदृशं संसारदुःख-
संपादनोद्यतकर्मोपमदासनितोषकरी । अनेन चरित्रमिदं शब्दो धर्मात्तेनोप्यत इत्याख्यातं भवति ॥

१६ धर्मधारिप्रकृत्यानुसृतम्—

नृपरा—अणवन्तं निरतिचरम् ।

अर्थ—विराट् चारित्र्यनिर्देशः, संसारदुःखात् कर्मेवोक्तं कर्मका आनेका द्वाररूपं जो अविरत्यादि परिणाम विगमे नंद पटता हैं ऐश्वर्या निरर्था चारित्र्य विसने धारण किया है उसी मनुष्यका जन्म सफल माना जाता है, उपर्युक्त चारित्र्यको ही यहाँ धर्म समझना चाहिये.

जह जह जिन्वेदसं वैरगदुयादमा पबहुंति ॥

तह तह अब्मासयंर जिन्वाणं होइ पुसिस्स ॥ १८९७ ॥

यथा यथा चिबद्धंते निर्वेदप्रशमादयः ॥

प्रयादयासक्ततां पुंसः सिद्धिर्लक्ष्मीस्तथा तथा ॥ १९३५ ॥

विजयोदयः—यथा यथा निर्वेद उपसमो दया विरहातिप्रदश्च प्ररतेते तथा तथा स्त्रीपतरं भवति निर्वाणं पुनरुदयः ॥

मदुर्मैकसाप्यनिर्वाणवर्णतरणखिगमाद—

मृडा—अब्मासवरं सनीपतरम् ॥

अर्थ—लक्ष्मी २ वैराग्य, रम्यद्वेषका प्रदम्भ, वया, विवेकियता ये गुण बड़ो तेसे २ पुरुषके पास मोक्ष जाता है

धर्म स्त्रीति—

सम्मदंसणतुवं दुबालसंगारयं जिणिदानं ॥

वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्रं तवोधारं ॥ १८६५ ॥

द्वादशात्मकतपोरयंजितं तत्त्वबोधरुचिचतुस्तनेमिकम् ॥

धर्मचक्रमनवधमार्हतं विष्टपे विजयतामनवरम् ॥ १९३६ ॥

॥ इति धर्मानुमेक्षा ॥

विजयोद्या—समग्रंस्तुतुर्वं द्वापरांगारतं प्रवनेमिकं तयोधारे किंदाणां धर्मचक्रं सप्तति अर्णति ॥ धर्म ॥
धर्मं स्तोत्रमाह—

मूला—तुल्यं नमिः । दुर्वास्तुतुर्वं मुन्याचारदीन्याचाराणि यस्य । तद्वेमिकं प्रतोमेव नेमिर्धारा यस्य ।
वयोधारे तप एव धारा वितीया नेमिरेण । धर्माद्वेला ॥

धर्मकी स्तुति करते हैं,

अर्थ—धर्मके चक्रमें सम्यग्दर्शन रूप तुल्य है, इस धर्मचक्रको द्वादशांगज्ञान रूप और हैं, जोच महाप्रत
नेमिके स्थानमें हैं, और तप धारा है, इस विमोदोका यह धर्मचक्र जगतमें जववान रहे.

नोधिदुर्लभाप्रदाका कथ्यते—

दंसणसुदतवचरणमइयमि धम्ममि बुल्लहा चोही ॥

जीवरस कम्मसत्तरस संसरंतस्स संसारे ॥ १८५६ ॥

धर्मं भवति सन्यक्स्वज्ञानधुत्ततपोमये ॥

दुर्लभा अर्मतो नोधिः संसारे कर्मसोऽन्निनः ॥ १९३७ ॥

धियजयोद्या—दंसणसुदतवचरणमइयमि दर्शनधुत्ततपोमये धर्मं दुर्लभा नोधिर्धोवरस कर्मसत्तदय
संसारे संसरतः ॥

धर्म्योर्जनत्वेन नोधि गाथाएकेन भाषयति—

मूला—नोधी दीक्षाभिमुखा बुद्धिः प्रसिद्धा नोधिस्तदेवेदोच्यते । रत्नत्रयप्राप्तिः यल्लु नोधिः प्रसिद्धा ।
धम्मसत्तरस कर्मसत्तरस कर्मणि ता कायादिज्यापारे सत्तरस प्रयत्नस्य ॥

नोधिदुर्लभाप्रदाका वर्णन—

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तप और चारित्र एतत्स्वरूप धर्ममें नोधिकी प्राप्ति होना दुर्लभ है, यह
जीव कर्मसे लिप्त है और संसारमें अग्रण मात्र रहा है इसको नोधिप्राप्त होना कठिन है.

तस्या दुर्लभतां प्रकटयन्तुत्पद्यन्ते—

संसारमि अण्ते जीवाणं दुष्टहं मणुस्सत्तं ॥

जुगसमिलासं जोगो ज्ह लवणजले समुहम्मि ॥ १८६७ ॥

संसारं देहिनोऽन्ते मानुष्यमतिदुर्लभं ॥

समिलायुगसांगत्यं पयोधाविह दुग्गेमे ॥ १९३८ ॥

पितृयोदण—संसारमि अण्ते अनंतसंसारं । जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं, पूर्वापरसमुद्रनिसिंसयुगतरसंयधि काहसंपोग इव ॥

‘कथं दुर्लभता घोषेरित्ताह—

मूलाप—छयणजहे एतेन समुद्रांतरैः यः प्रसारसलिलेभ्यः सकाशात्तज्जोवसमुद्रस्य येकाकुलेन त्रैशिर्यं लक्ष-

यति । अथ एव पूर्वादिदिग्बिभागप्रक्षिप्तपूषसमिलयोरतिदुर्लभतः संयोगः स्यात् ॥

नौचिकी दुर्लभताका आचार्यं सविस्तरं वर्णनं करोते हैं—

अर्प—इम अनंत संसारमे जीवको मनुष्यपनाका लाभ होना कठिन है. जैसे पूर्वसमुद्र और अपरसमुद्रमें क्रमशः

जुग और उनकी लक्षद्वियां फेक देतेपर उनका पुनरपि संयोग होना अत्यंत कठिन है वैया नष्ट हुआ मनुष्य जन्म

पुनः प्राप्त होना अतिदुर्लभ है.

मनुजताया दुर्लभाये कारणमाह—

असुहपरिणानवहुलत्तणं च लोगस्त अदिसहस्रत्तं ॥

जोणिवहुत्तं च कुणदि सुदुल्लहं माणुसं जोणी ॥ १८६८ ॥

मानुष्यं गणभावानां महत्तं जगतोऽहिनाम् ॥

विद्यते योनिबाहुल्यं मानुष्यं जन्मदुर्लभं ॥ १९३९ ॥

पितृयोदया—यत्तुद्वारिणामवहुलत्तणं च अनुमणरिणानां मिथ्यायासंयनरुगययमादानां परिणामानां बहुलं मनुजयोनिदुर्लभतां करोति । मनुजराहितलोकाव्यतिमदत्तं च तत् दुर्लभतां करोति । अत्यंतयेया हि द्वीपसमुद्र भारतापसाः, स्वर्गपटलादि, इतरथा लोकानाशमतिमदत्तं । योनीनां बहुतां चेतपसा नियधनं तदुर्लभतायाः ॥

मानुषत्वमुल्लंघयत्ययोः फारण्यप्रथमाह—

मूढारा—अनुभवरिणामाशुलक्षणं प्रचुरा मिथ्यात्वादयः कुयोनिजन्मनिमित्तकमेतदयः परिणामा इत्यर्थः ॥
लोगस्य अदिग्दृष्टं । मनुवरहितस्य लोकाकाशस्य विपुलत्वं । अंधद्वीपापर्यवर्तनीयद्वीपेष्वेव हि मनुजाः संभवन्ति ।
जोनिबहुतं मनुष्ययोनिभ्यश्चतुर्दशलक्षसंख्याभ्योऽप्या थोनयो बहवः सप्तविलक्षसंख्यात्वात् ॥

मनुष्यपना दुर्लभं कर्णेनैवैतदसंभवं उच्यते—

अर्थ-मिथ्यात्व, असंयम, कप्राय, प्रमाद इत्येव युक्त परिणाम-अशुभ परिणामोत्पत्तेर्यही यह जगत् भरा हुआ है. इसमें मनुष्यजन्म प्राप्त होना कठिन है. मनुष्योत्पत्तेरहितव बहुत ही विस्तीर्ण है और मनुष्य युक्त लोकक्षेत्र अत्यल्प है इससे हि मनुष्यपना दुर्लभ है यह बात सिद्ध होती है. असंख्यात द्वीपसमुद्र मनुष्यविरहितही है. नरकभूमि, स्वर्गभूमि और इतर लोकाकाश ये सब मनुष्यविरहित हैं. इतर पौन्याँकी बहुलता होनेसे मनुष्यपौनीकी दुर्लभता सिद्ध होती है.

अपरानपि दुर्लभतापर्यप्यं दर्शयत्युत्तरगाथा—

देसकुलरुत्वमारोगमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ॥
लब्धे वि माणुसत्वे ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥ १८६९ ॥
देशो जातिः कुलं रूपमायुर्नरोगता मतिः ॥
अवर्णं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम् ॥ १९० ॥

विजयोदया—देसकुलरुत्वमारोगं देशकुलरुपमातेयं । आयुगमायुष्कं । बुद्धिसवणपदद्वयं हि बुद्धिश्रवणग्रहणानि ।
लब्धेपि मनुष्यत्वे मनुष्यपतिनामकमौदयात्, तिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबुद्धौ येषो दुर्लभाः । अतर्द्धाणानां शक्यपन्न
किरातपर्यपरसीकसिद्धत्वादिवेशानां धर्मकमानवपटितानामतिबहुलत्वात् ॥ सम्येपि देशे सुजवायासे ब्राह्मणश्रद्धि-
यवैदयादिकं कुलं दुरधिगमनीयं सरकुलानामस्तत्वात् । अस्तुजीवैर्गोत्रवंधनात् । मिथ्यात्वोक्त्यात् प्रायेण प्राणिनो
गुणान् गुणिजनं च निवर्त्यकोशति, निगुणोऽपि कुलाभिमानमतिमहांसमुदति, तेन नीचैर्गोत्रमुपजिनोति, गुणे गुणिजने-
चातुरताः कुलाभिमानतिरस्करणं या फदचिदेव भवसि इति सोमनं कुलं ॥ चिदेव सम्यते, चादिप्रमोहोदयात् पक्षीव-
निकायकापाकरणे सततमुपतः तदीयरूपगोभोन्मूलनसंपादनेनोपातिनाशुभरूपगामकर्मणा विरूपो बहुसो भवति । जीव-

व्यां कदाचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकमलम्बस्यैकौल्यमपि क्षेत्रेण लभ्यते । परजीवसेतापकरणे कृतोत्साहः सर्व-
देयेति रोगी भवति बहुधा, परसेतापरिहारं यैवावृत्तं च कदाचिदेव करोति इति बीरोगतापि कादाचित्का दुर्लभा । परेषां
प्रायेणानुर्दिहतीति स्पष्टापुरेयायं जनो आधते । कदाचिदेवाहिस्यातपरिपाठनाच्चिजीविता सदा न लभ्यते । समीचीन-
मग्निजननूपातुःमात्सर्यो न तद्विज्वरणासदासादनान्वस्युरादिद्विपोषयातकरणाच्च मतिभ्रुतशानावरणे वराको वञ्चा
तीति दुर्गथा भवति । यद्युज्जन्मगतसदचेतु मतिभ्रुतशानावरणक्षयोपशमात् शुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक
कारिणी वृद्धिर्भवति, सत्यामपि पुद्गे हिताहितविचारणक्षमं धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीनां विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञान-
प्रदानानोन्मूलितदुर्भेदमोदोषानानां, अशेषजीविकायदयक्रियोद्यतानां असौलभ्यात्, तीव्रमिव्यादशेनोपनीतगुणिजनके-
नेव मिथ्याज्ञानयत्नामदुर्मिदधतया स्ववृद्धीततत्त्वपरवदातया आलस्येन वा यतीनां स्वपरोक्षरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न
हीकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभ्यता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यतिजनगुदौक्येति न्यपुस्तरे संप्रज्ञेन प्रशस्तवाग-
नुवायिनि शुण्डने आभिमुदे सति अरण्यं भवतीति दुर्लभता अवनस्य, किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोपि यदृच्छया निद्रा-
ति, स्वयं परेषां यौक्ताविवक्षारं यदति, सुगन्धानां वा घटनं भुणोति न विनयेन होत इति वा दुर्लभं अवन । अवनं भुणोति
घटनं तत्तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं भुलक्षणावरणोदयात् । दुःकरणं भनःप्रणिधानस्य कदाचिद्व्यभुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवा-
वित्तपस्य भुलक्षणाधिकारेण क्षयोपशमे भनःप्रणिधानं यद्युत्पन्नसौम्यं चेति । सकलनिवमसुलभमिति घटनं नानं दुर्लभं ।
यतेपि धर्मे अस्ति घटो जीवपरिणामसम्यक्तत्वाज्ञानपरत्परोदानपूजाताकोऽभ्युदयनिश्रेयसफलदायी जिनैर्यथपणितकप-
इति भवानं न सुप्रेम लभ्यते, दशानमोदोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कदाचित्का इति ॥

मनुष्यत्वव्याभेदसि देशादीनां ययोसरं दुर्लभत्वमाह—

मूढारः—देशो जिनधर्मप्रशममानयबहुलो विपयो दुर्लभः । सकयवनाविदेशानां धर्मस्वरहितानामतिबहुल-
त्वात् । कुत प्राकणक्षत्रियवैदयवंशः । सुकुलानामस्तत्वादसकुलीर्गौत्रवंशनाथ । मिष्यात्वोदयाद्धि प्रायेण निर्गुणोऽपि
कुलाभिमानमविभक्तान्तं लक्षगुमिनश्च निन्दति । तेन नीचैर्योनिं वञ्चापि गुणे गुणिनि चतुरायगः कुलाभिमानतिरस्करणं
वा । कदाचिदेव भयतीति शोभनं कुलं कदाचिदेव लभ्यते । हवं सौख्यं जीवी हि चारित्रमोहोदयात्यङ्गीवशायाकर-
णतिसोयोगवदूषणोभानितीलनसंशयादिशुभरूपनामकमविपकेन बहुसो विरुपः स्यात् जीवदयां कदाचित्कचित्करोतीति
शुभरूपनामकमर्निर्मेयमौल्यमपि कलेयेन लभ्यते । आरोगं परजीवसंगमनसंततोत्साहवसद्वेयोदयाद्धि जीवो
यदुलो रोगी भवति । परसेतापत्यागं गुणवद्वेयावृत्तं च कदाचिदेव करोतीत्योगतापि कादाचित्की । आयुगं चिरजीवि-
जनो हि परेषां प्रायेणयुःसंहरति इति बहुसाःस्तप्यायुरेव जायते । कदाचित्कन्निदेवाहिसाम्रवं चरति इति दीर्घायुज्जतपि न
सरलनी । युद्धि अयं यत्नवदा समीचीनज्ञानज्ञानिप्रदूषणनिवहादिकरणवसुरादीद्विगोपपतसेपहनाच्च बह्वयोर्भविश्रुत

मानावरणयोः पदपादुशो मल्लुतलानदीनो भवति । शुभपरिणामसंपादं सदावरणधरोपशमवित्तेषं कदाचित्कचिदेव प्राप्नो-
तीति तत्त्वविधेः कदुश्चिरत्वेन वराक्रेण दुरवापा । सवण यतीनां ध्रुतज्ञावपदीपनिरत्वांस्तमसां विरुगतेपाणां, करुणापर-
तंत्राणां, परहितप्रतिपादनेककार्योणां अगिदुर्लभत्वाचीप्रमिच्छात्यक्छुगुणिजनहेयेण, मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विग्नतया, स्वगृ-
हीतवत्त्वपदानतया, अलसतया, यतीनां स्वपरोद्वरणप्रवीण्यापरिहानाद्धा, प्रशयेण वदुपसर्पणाभावात्, कथंचित्पापोपशमा-
त्तदुपसर्पणेऽपि विनयपुरःसरं संप्रभत्स कदाचिदेव संभवाच्च । मनुष्यत्वादिसाक्षात्तावपि जीवस्य सद्धर्मश्रवणं दुष्प्रापं ॥
यतिजननिज्जने गतोऽपि यच्छ्रद्धा निद्रायति, स्वयं वा परेषां यत्किंचिदसारां वदति, सुगमनां वा वचनं शृणोति, विनयेन
वा शौकते । इति दुर्लभा धर्मश्रुतिः । गद्व्याणि भुवेऽपि धर्मं वत्परिहानं अविदुर्लभं । शुभज्ञानावरणोऽद्याद्यात्मनः प्रणि-
धानस्य हुदकरत्वाज्जीवावितत्त्वस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्तद्वत्त्वत्वाच्च । ज्ञातेऽपि धर्मेऽस्ति धर्मः सम्यक्त्वाद्यात्मकोऽभ्युद-
यनिःशेषसफलप्रदो जितोक्त इति श्रद्धानमनितुर्लभतमं फालादिलब्धीनां सुखयेंदत्वात् ॥

और भी बातोंकी दुर्लभता आंगेकी भाषासे दिखते हैं-

अर्थ-देश, कुल, रूप आरोग्य, आशुष्य, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण, ये गते मनुष्य जन्म मिलनेपर भी दुर्लभ
हैं. मनुष्यगति नायकर्मके उदयसे मनुष्यपना प्राप्त होता है. तो भी जिनमणति धर्मसे प्रारम्भ मानव जिनमें
रहते हैं ऐसे देखमें जन्म होना बहुत दुर्लभ है. अंतर्दीर्घोंमें जन्म होकर भी मनुष्यता मिलती है. शुक, यवन, किरात,
वर्बर, पारसीक, सिंहादिक देश धर्मज्ञ मनुष्योंति रहित है ऐसे ही देश बहुत हैं. जहां सज्जन रहते हैं ऐसा देश
प्राप्त होनेपर श्राद्धाण, क्षत्रिय, वैश्यादिक कुलोंकी प्राप्ति होना दुर्लभ है. क्योंकि उत्तम कुल दुनियामें अल्प हैं.
पारथर नीचगोत्रका वंश होता है. प्रायः मिथ्यात्वका उदय होनेसे मनुष्य गुणोंकी और गुणिजनोंकी निंदा
करने लगता है. निर्गुण होनेपर भी अपने कुलका अतिशय अभिमान धारण करता है. ऐसे अभिमानसे यह जीव
नीच गोत्रका संचय करता है. गुणमें और गुणिजनमें प्रेम होना, अपने कुलाभिमानका विरस्कार होना यह गते
अत्यल्प पानी जाती है इसलिय उत्तम कुलकी प्राप्ति कष्टित होती है.

चारित्र्यभोहनीयके उदयसे यह आत्मा हमेशा पदकाय जीवोंका नाश करनेमें हमेशा उद्युक्त होता है.
उन जीवोंकी रूपशोभाको बिगाडता है इससे अशुभ नाम कर्मका वंश होता है. इस कर्मका उदय होनेपर यह जीव
अनेक बार विरूप होता है.

जीवदया कभी कभी करता है। प्रशस्त रूप नाम कर्मके उदयसे सुंदर रूपकी आप्ति बहुत क्लेशसे प्राप्त होती है। परजीवोंको हमेशा संताप देनेमें ही तत्पर रहनेसे सर्वदा देहमें रोम उत्पन्न होता है। परसंतापको बुर करना, वैयाधृत्य करना ये चाते कभी कभी करनेसे नीरोगताकी प्राप्ति होना दुर्लभ होगया है। प्रायः यह आत्मा दुसरान्नी आयुको नष्ट करता है। इस लिये यह स्वल्पायु हो जाता है। कदाचित् अहिंसा व्रतका पालन करनेसे यह पुरुष कभी २ चिरंजीवी होता है। इस लिये चिरजीविताभी दुर्लभ है।

समीचीन ज्ञानको दूषण देना, उससे भत्सर करना, ज्ञानमें विघ्न करना, उसका नाश करना, चधुरा-दिक ईद्रियोंका नाश करना, इन कार्योंसे इसको यतिज्ञानावरणका और सुवशानावरण कर्मका बंध होता है। जिसका उदय होनेसे यह जीव अतिमंदबुद्धि हो जाता है। लक्षावधि जन्मोंको प्राप्ति होनेपर मति सुवशानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेके योग्य शुभपरिणाम जब होते हैं ॥ कदाचित् भिक्वको उत्पन्न करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है।

बुद्धि उत्पन्न होने परभी हिताहितका विचार दुस्मानेवाला धर्मश्रवण प्राप्त होना अतिशय कठिन है। राम-देपरहित, समीचीन ज्ञान प्रकाशके द्वारा दुर्भेद्य मोहांधकारको हटानेवाले, संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर दया करनेमें उत्पन्न रहनेवाले मुनिराज दुर्लभ हैं इस लिये धर्मश्रवणका पाना दुर्लभ हो रहा है।

तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे गुणित्वनौमें द्वेषभाव उत्पन्न होता है। मिथ्याज्ञानकी प्राप्ति होनेसे दुराग्रह रमें प्रवृत्ति रहते हैं इसका परिश्रान न होनेसे यह जीव यतिराजोंके पास जाता नहीं है। इससे धर्मश्रवणसे इसको वंचित रहना पड़ता है।

कदाचित् पापका उपशम होनेपर यतिजनके पास यह पुरुष जाता भी है। वहां नयोंके अनुसार प्रश्र एण दुर्लभ है यह सिद्ध हुआ। यह जीव यतिके स्थानपर लाकर भी यथेच्छ सो जाता है। अथवा स्वतः दुसरोंके ताप निःसार मापण करने लगता है। मूलोंके मापण सुनता है। विनयका आश्रय नहीं करता है, इस लिये भी आचार्यजीने धर्मश्रवणकी दुर्लभता दिखाई है।

धर्म सुननेपर भी उसका ज्ञान होता दुर्लभ है. क्योंकि श्रुतज्ञानावरण कर्मके उदयेसे उषदेयका अभि-
 माग जाननेकी पात्रता नहीं रहती है. कभी गुरुका उपदेश नहीं सुना था, हसलिये मन
 एकाग्र नहीं होता है. जीवादिक तत्व ग्रहण हैं इसलिये भी मन एकाग्र नहीं होता है. श्रुतज्ञानका आधारभूत
 धर्मोपशम प्राप्त होनेपर मन एकाग्र हो सकता है. वक्तोके वर्चनमें सुंदरता होनेसे भी मनमें एकाग्रता उत्पन्न
 होती है. संपूर्ण देश, कुल, आरोग्य दीर्घायु इत्यादिक उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ऐसा ज्ञान होना कठिन है.
 धर्मका स्वरूप जानने पर भी सम्पददर्शन, सम्पदज्ञान, सम्पदचारित्र, तप, दान, पूजा एतत्स्वरूपी
 आत्मपरिणाम ही धर्म हैं यही धर्म अभ्युदय व मोक्षमुखको देता है ऐसी श्रद्धा होना कठिन है. दर्शनमोहनीय
 का उदय होनेसे श्रद्धान नहीं होता है. उपदेश, काल, कारणलब्धि ये चारों कमी जीवोंको प्राप्त होती हैं
 सर्वदा नहीं है.

लब्धेसु वि तेषु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा ॥

कुपधाकुल्लो य लोगो जं वल्लिया रागदोसा य ॥ १८७० ॥

वेद्यादिष्वपि लब्धेषु दुर्लभा बोधिरंजसा ॥

क्षुपधाकुल्लिते लोके रागद्वेषवशीकृते ॥ १९४१ ॥

विजयोदया—लब्धेसु वि तेषु पुणो लब्धेयपि तेषु भट्टजनयादियु बोधिरंक्षाभिमुक्ता बुद्धिर्न सुलभा भयलज्जयासे-
 यमयातिकर्मणः । कुपमाकुल्लवात् लोकस्य यद्गन्माचरणमेष भगणयन् यत्किञ्चनाचरति, यत्लवंतश्च रागद्वेषाः ज्ञानधर्मा-
 नोपेतमपि न सन्मार्गं धीकिंतुं वदति ॥

भूला—क्षुपधाकुलो लोको हि कदूनामेवाचरणं प्रमाणवद् यत्किञ्चनाचरति । हृष्टबुद्धीषी य प्रायेण जनः
 स्वकार्ये मुह्यति । वल्लिया तत्त्वज्ञानभद्रान्तोत्तित्वाचरणानुचरणप्रतिबंधकत्वात् ॥

अर्थ—मनुजमय वगैरहकी प्राप्ति होनेपर भी जिनधर्ममें दीक्षा धारण करनेकी बुद्धि उत्पन्न नहीं होती
 है. संयम धारण करनेकी बुद्धि प्राप्त होना बहुत कठिन है क्योंकि संयमवात करनेवाला कर्म प्रबल रहता है.
 लोक प्रायः बहुत लोगोंका आचरण देखकर वेसा स्वयं भी आचरण करते हैं. अन्य जनोंका आचरण योग्य है

या नही हमसा विचार ही नहीं करते हैं. लोग कुमार्गपर चलते हैं उस कुमार्गसे वे आकुल हो रहे हैं. उनकी चलेने देखकर यह अब भी वैसा ही कुछ भी आचरण करता है, जीवमें समक्षेण प्रबल हैं वे सम्मार्ग पर इसको चलेने नहीं देते हैं. ज्ञान और श्रद्धासे युक्त होनेपर भी यह जीव सम्मार्ग से पापशुल होता है.

इयं दुहृदा पयोदीप्य जो पमाद्भज कह वि लब्धायु ॥

सो लछट्टइ दुक्सेण रदणगिरि सिहरमारुहिय ॥ १८७१ ॥

इत्थं यो दुर्लभां योषिं लब्ध्वा तत्र प्रमायति ॥

रत्नपर्वतमारुह्य ततः पतति नटुचीः ॥ १९४२ ॥

विजयोद्या—एय दुहृदा पयोदीप्य उक्तेन क्लेण दुर्लभायां दीक्षाभिप्रायां बुद्धौ लब्धायामपि यः प्रमायतग-
सौ रत्नगिरिरिष्यमाश्रय ततः पतति प्रमायी ॥

एवं दुर्लभां योषिं लब्ध्वापि प्रमाणवन्मुहोपति—

मूढारा—वदन्ति पतिवि । रदणगिरिसिहरं मेरुर्गमम् ॥

अर्थ—ऊपर कहे मुजब दीक्षाभिप्राय बुद्धि दुर्लभ है. उसकी प्राप्ति होनेपर भी यदि कोई जीव प्रमादी बनैगा तो रत्नपर्वतके शिखरपर चढ़कर फिर उससे यह गिरता है ऐसा समझना चाहिये.

किडिदा संती वोधी ण य सुलहा होह संसरंतस्स ॥

पडिदं समुद्दमज्जे रदणं व तमंघयारम्भि ॥ १८७२ ॥

नष्टा प्रमादतो वोषिः संसारे दुर्लभा भवेत् ॥

नष्टं तमसि सद्रत्नं पयोषी लम्प्यते कणम् ॥ १९४३ ॥

विजयोद्या—किडिदा संती योषिपियत्ता सती दीक्षाभिप्राया बुद्धिः पुनर्न सुलभा मयति संसरतः । अंयकोर-
ममदमज्जे पडिदं तमंघिय ॥

अर्थ—यह दीक्षाकी बुद्धि नष्ट होनेपर फिर मिलती नहीं है अथकारमें समुद्रमें रत्न फेंक देनेपर जैसे पुनः रत्न नहीं मिलता है, वैसे दीक्षासे बुद्धि हट जानेपर पुनः दीक्षा धारण करना दुर्लभ है.

ते घण्णा जे जिणवर विट्ठे घम्ममि होति संबुद्धा ॥

जे य पवण्णा घम्मं भावेण उवट्ठिमदीया ॥ १८७३ ॥

चिपुलसुफलानां करुपने कल्पवल्लीं भवसरणतरूणां कल्पने या कुठारी ॥

भवति मनसि शुद्धा सा सिधरा शुद्धयोपिः फलममलमलंभि प्राणितव्यस्य तेन ॥ १९४४ ॥
इति बोधिः ।

विजयोदया—स्फोटिता गण ॥ बोधित्ति ॥

विनोक्तयत्ते संबुद्धाग्भावेन परिणतं विपरिणोति—

मूलारा—सप्तम् ॥ बोधव्यनुमेक्षा ॥

अर्थ—जो पुल्ल जिनेश्वरने कहे हुए धर्ममें प्रसुद्ध होते हैं वे धन्य हैं, तथा विन्हीने प्रसुद्ध होकर जैन धर्मका आचरण किया है—फरते हैं अर्थात् हृदयसे विन्हीने जैन धर्मको अपनाया है ऐसे महात्मा इस संसारमें घन्यताके पात्र हैं, अनुमेक्षाओंका धर्मेन समाप्त हुआ.

प्रसुतमर्थमुपसंहरति—

इय आलंघणमणुरेहाओ घम्मस होति ज्ञाणरस ॥

ज्ञायंतो ण वि णस्सदि ज्ञाणे आलंघणेहिं मुणी ॥ १८७४ ॥

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानानवलंबनम् ॥

नालंबनं विना चित्तं स्थिरतां प्रतिपद्यते ॥ १९४५ ॥

वित्तयोद्गता—इय आलंबनं पञ्चमालंबनं भवत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य ध्याने प्रवृत्तौ च विप्रणश्यति ध्यातनिमित्ता-
लंबनेभ्यो यतिः । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुधायात्मात्मव्यवर्ते तस्य विस्मरणात् ॥

एवं द्वादशाप्यनुप्रेक्षा निरूप्य प्रवृत्तेन योजयति ॥

मूढारा—आज्ञाणे आलंबणेहि ध्याननिमित्तालंबनान्यामित्य ध्यातव्यं विनश्यति । ध्यातव्यं प्रवृत्तवते इत्यर्थः ।

इती विषयका उपसंहारः—

अर्थ...धर्मध्यानमेव जो प्रवृत्ति करता है उसको ये द्वादशानुप्रेक्षा आधाररूप है, अनुप्रेक्षाको बलपर ध्यासा
धर्मध्यानमे स्थिर रहता है, जो निम वस्तुसंस्वरूपमे एकाग्रचित्त होता है यह विस्मरण होनेपर उससे विभक्ता है
परंतु पार पार उसको एकाग्रताके लिए आलंबन मिल जावेगा तो नही चिन्तेगा।

ध्यातुलंबनवाहुल्यं वसोवस्तुचरमाया—

आलंबनं च वायण पुच्छणपरिवट्टणानुपेक्षाओ ॥

धम्मस्स तेण अविहङ्गाओ सम्भाणपेहाओ ॥ १८७५ ॥

आलंबनोहिं भदिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयरस्स ॥

अं जं मणसा पेच्छदि तं तं आलंबनं हवइ ॥ १८७६ ॥

आलंबनैर्भूतो लोको ध्यातुकामस्य योगिनः ॥

यदेवालोकते सम्पक् तदेवालंपनं मतम् ॥ १९४६ ॥

पिञ्जयोद्गता—धम्मस्स आलंबनोहिं भदिदो ध्यातुलंबनैः यूनो लोको ध्यातुकामस्य रूपकस्य यद्यन्मनसा
पश्यति तच्च आलंबनं भवति ॥

दिप्पासोरालंबनवाहुल्यमाह—

मूढारा—संछम् ॥

ध्याताको ध्यानके लिए अनेक आलचनोंकी आवश्यकता है इस विषयका विवेचन—
 अर्थ—वाचना, इच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेषा ये सब धर्मध्यानके आलवन हैं. इनके आश्रयसे धर्मध्यान
 उन्नत दशाकी प्राप्ति नर लेता है. इस लिए पूर्वोक्त द्वादशानुश्रयों भी धर्मध्यानके अनुकूल ही हैं धर्मध्यान
 करनेकी इच्छा करनेवाले यतिराजमें यह सपूर्ण लोक भी आलवन है श्रवणक जो जो नीज देखेगा वह २ ध्यानकी
 आलंनभूत होगी.

धर्मध्यान ध्यात्वाय ध्यामातर ध्यात्वातुमुत्तरप्रवच —

इच्छेवमदिकृतो धम्मभ्रानं जदा हवइ खवओ ॥

सुक्कश्चाणं ज्ञायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ ॥ १८७७ ॥

धर्मध्यानमनिकातो यदा भवति शुद्धधी ॥

शुद्धलेदयस्तदा ध्यानं शुद्धं ध्यायति सिद्धये ॥ १९४७ ॥

विजयोदया—इच्छेवमदिकृतो धर्मध्यानेमेव ध्यायति नरुमनिकातो यदा भवेत् श्रवणक शुक्लरूपानमलौ
 ध्याति सुविशुद्धलेदयासमन्वित ॥ परिणामधेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित । क्रमेणैव प्रवर्तते न हि प्रथमे सोपाने
 रथापितचरण द्वितीयाधिक सोपानमारोहो सम्भवति ॥ एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमहतीति सूत्रेणा
 तेन कथित ॥

एवं धर्मध्यानं व्यावसाय शुक्ल प्रवर्णेन व्याधिरूपासुरप्रमत्तो धर्म्यं शुक्लमर्हतीति शाययति —

मूलारा—सुविशुद्धलेस्साओ परिणामधेण्या हुत्तरोऽनुगुणतया स्थितोऽक्रमेणैव प्रवर्तमानो न हि प्रथमे सोपाने
 रथापितपादो द्वितीयादिकं सोपानमारोहो भवते—

धर्मध्यानके अनंतर शुक्ल ध्यानका सविस्तर आचार्य वर्णन करते हैं—

अर्थ—जिसका स्वरूप पूर्वमें वर्णित हुआ है ऐसे धर्मध्यान के अनंतर श्रवणक शुक्लध्यानका चिंतन
 करता है तब विशुद्ध लेश्यायुक्त होता है अर्थात् उस ध्याताके परिणामोंमें क्रमसे अधिकाधिक निर्मलता
 आती है. जैसे जिसने प्रथम सोपान पर पैर रखा है वह दूसरे सोपानपर आरुढ़ नहीं हो सकता है अर्थात् प्रथम
 सोपानपर आरुढ़ होकर ही द्वितीय सोपानपर सिटीपर अनंतर पैर रख सकता है वैसे यहाँ भी धर्मध्यान के

अनंतर अग्रमत्त मुगस्थानवर्ती क्षणक शुक्लध्यानमे प्रवेश कंता है- विना धर्मध्यानके शुक्लध्यानका चिंतन ध्यादा नहीं कर सकता है.

चतुर्विधमुक्लध्यानं नामतो दशंयति गाथाहयम् ॥

द्व्याणं पुधत्तसवितकसवीचारं हवे पढमसुक्कं ॥

सवितककेक्कचावीचारं उक्षाणं विदियसुक्कं ॥ १८७८ ॥

वितरपोदया—उक्षाणं पुधत्तसवितकरुसवीचारं ह्याणं पुधत्तसवितकसवीचारं प्रथमशुक्लं भवति । सवि-
तककरुसवीचारं सवितककरुसवीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानं ॥

शुक्लध्यानस्य चतुरो भेदाभ्यामतो दशंयितुं गायान्धमाह—

सूता—पुधत्तसवितकसवीचारं पुधत्तस्य वितकं सविचारं यत्त सवितकसवितकसविचारं । पुधत्तस्य-
वितकवीचारमिति प्रथमशुक्लध्यानार्थं नामेत्यर्थः । उक्तं चापे—

पुधत्तयेन वितकेश चोपाहो धेत्त तद्विदुः ॥ सवितकसवीचारं पुधत्तस्यविपणहये ॥

सवितककरुसवीचारं सवितककरुसवीचारं यत्त तत्सवितककरुसवीचारं एकसवितकवीचारमिति द्वितीयशुक्ल-
रान्वयार्थः ।

उक्तं चापे—एकमेव वितरंय स्यात्त विचरिणुता ॥ सवितकमवीचारत्वेकत्वाविपवभिषम् ॥

सुद्धमकिरियं सु तदियं सुक्कज्झाणं जिणेहिं पणचं ॥

वेति चतत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥ १८७९ ॥

गद्यंपुधत्तसवितकवीचारैकत्वचित्तकावीचारसूक्ष्माकियासमुच्छिन्नक्रिया-

णि ज्येकयोगकायोगायोगधेयानि चत्वारि शुक्लानि अर्थाणि ॥ १४८॥

विजपोदया—सुद्धमकिरियं तु तदियं उनीयं शुक्लध्यानं जिणं प्रथमं सुद्धमकिरियमिति, यत्त चतत्थं सुक्कं
पुपत्त चतुर्थं जिनाः समुच्छिन्नक्रियाः ॥

एवं द्विमेदं शुक्लं निरूप्य द्विचिपं परमशुक्लं निरूपयति—

मृदागा—मुद्रमक्षिरिपं मृदेया क्रिया कावल्यापाते यत्र वत्संभ्रमक्रियमन्वयेत्याम्ना पृथ्वीयशुक्लं ब्रुते वसिष्ठः ।
ममृदिगमत्रियनिलः यथं ययुषं शुक्लमाकयवते ॥

चारं शुक्लध्यानोक्तं नाम दो गाथाश्रमे कर्तते है—

अयं—पृथग् सतिक्तं ततोचारं नामक प्रथमं शुक्लध्यानं, सवितर्ककृत्यवीचारं नामक दूसरा शुक्ल-
ध्यानं, मृदाक्रिया नामक तीसरा शुक्लध्यानं, मधुजिह्व क्रिया नामक चौथा शुक्लध्यानं ऐसे चिन्तनश्रमे शुक्ल-
ध्यानके चार भेद कहे हैं.

पृथक्पथसवितर्कसंकीर्णारं श्यावेषु गाथापठयेत्—

दृढ्याइं अणेयाइं तीहिं वि ओमेहिं जेण ज्ञायंति ॥

उद्यमं तमोहिं गिज्जा तंण पुथत्तंति तं मणिआ ॥ १६८० ॥

वित्तसो भणयते तत्र धुत्तध्यानापिचक्षणैः ॥

अव्यक्तपञ्चनययोगानां चीनारः संक्रमो युधेः ॥ १९४९ ॥

तत्र द्रव्याणि सूर्याणि ध्यायता पूर्ववादिना ॥

भवेन प्रथमं शुक्लं शान्तमोदेन लभ्यते ॥ १९५० ॥

विजयोदय—इत्याइं अणेयाइं तीहिं वि ओमेहिं जेण ज्ञायंति इत्यारभ्यतेकावि निमित्तयोगैः परावर्तमाना येन
वितर्कगुणशान्तमोदनीत्यान्तेन गृहकृत्यमिति प्रथमपञ्चमसुक्ते, पतवर्धे कथयति—अथ्यदृश्यद्रव्यस्यचलंय प्रधुत्सेताभ्येनान्येन
योगेन मृदुस्वरसागमो भवतीति पृथक्पथपठनेनो ध्यानस्येति ॥

प्रथमशुक्लनाम गाथापठेण निर्दिष्टिषुः प्रथमे सप्तपथकस्य व्यवहारथापयति—

मृदागा—अणेयाइं द्विध्यादीनि । तीहिं वि ओमेहिं विभिदरि सोमंमनोवाकावज्जापारैः परावर्तमानाः । उद्यसेन

मोदनिगजा उपशान्तमोदनीयकर्मणः । त्रियोमीरुपसंस्तपोदेः प्रथमं शुक्लं साध्यते इत्यर्थः । पुपत्तंति अन्यद्वयद्रव्यर-
पठेन प्रवृत्तेनोदितान्तेनयोगेन प्रवृत्तस्यात्मनो मयति इति प्रत्यक्त्वमित्युक्तमित्यर्थः ॥

पठिते शुक्लध्यानसा तीन गाथाश्रमे आचार्य निरूपण करते हैं—

अयं—प्रथम पृथक्पथ सवितर्क सविचारध्यानमं अनेक द्रव्य विषय होते हैं और इन विषयोंका विचार

चिन्तन करते समय मनोयोग वचन योग और कापयोग इन योगोंका परिवर्तन होता है- अर्थात् उपशांत मोहनीय मुनि कभी मनोयोगके आश्रयले, कभी वचनयोगसे और कभी काययोगसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका विचार करता है. ध्यानमें विषयभिन्नता, योगाभिन्नता और वचनभिन्नता रहती है. इस वास्ते इस ध्यानको प्रथमत्व सवितर्क सविचार ऐसा आचार्य कहते हैं.

अग्रा सुदं वितर्कं जम्हा पुण्वगदअत्यकुसलो य ॥

अत्रायदि ज्ञाणां एदं सवितर्कं तेण तं ज्ञाणं ॥ १८८१ ॥

पुिजयोग-अग्रा सुदं वितर्कं यस्मात् धृतं वितर्कं यस्मात् पूर्वज्ञाणकुसलो ध्यानेमेताग्रवर्तयति । तेन तत्त्वं एतत् सवितर्कं । शतुरंगपूर्याणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टेयः ॥ सादृश्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्केणार्थश्रुतेन ध्येयेन सह पतंत इति श्रुतज्ञानमेवापलप्य सवितर्कमित्युच्यते अथवा वितर्कशब्दः धृतं वक्तुंवात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन धृतेन पतंत इति सवितर्कः ॥

सवितर्कमिति समर्थकते—

मूवारा—पुण्यगदअत्यकुसलो सफलसुशार्थं षडुः । सवितर्कं वितर्कोऽथ श्रुतत्वाच्चतुर्दशपूर्वाणि सत्साहचर्याच्च शतुरविष्टोऽर्थो वितर्कमनेष्टः । सह वितर्केण चतुर्दशपूर्वोपदिष्टार्थभूतेन ज्येयं वर्तते इति सवितर्कम् ॥ अथवा वितर्कः । शब्दश्रुतं वक्तुम् । शब्दश्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं । सह वितर्केण कारणेन धृतेन वर्तते इति सवितर्कं ॥

अर्थ—इस ध्यानका स्वामी १४ पूर्वोक्त ज्ञाना मुनि होते हैं. श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं. अर्थात् चौदा पूर्वोक्ता जो ज्ञान उसको श्रुतज्ञान करना चाहिये. पूर्वोक्त जो विषय कहा गया है उसकोभी ज्ञान के सहचर्यसे श्रुत कहते हैं. जेसे पटिके सहचर्यसे उल्लकोभी यदि कहते हैं. इस श्रुतविषयकोभी वितर्क कह सकते हैं. यह विषय स्पष्ट है. तात्पर्य—यह है कि श्रुतशब्द पूर्वज्ञानका व तद्वत् विषयकोभी वाचक है ऐसा समझना चाहिये. यह श्रुत ज्ञान इस ध्यानका कारण है इसलिये इसकोभी ध्यान प्राप्ति सकते हैं.

अत्राण वंजणाण य जोगाण म संकमो दु वीचरो ॥

तस्स य भावेण तयं सुत्ते उचं सवीचारं ॥ १८८२ ॥

विजयोदया—अस्याण वंजणां य जोगण य संक्रमो खु वीचारे अर्थानं ये व्यंजनाः शब्दास्तेषामिति, धैयधिकरणेन संयमः, न पुनरर्थानां व्यंजनानां चेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वशब्देनोपादानात् योगानां च संक्रमो वीचारः तस्य य भावेण वीचारस्य सद्भावेन । तयं तदिदं शुफलक्ष्यानं सूत्रं सवीचारीत्युक्तं । अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्येवमादिपरिमितोक्तद्रव्यप्रत्ययपरश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति वृथभूतद्रव्यालंबनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालंबयनात् एकत्ववितर्काद्विद्यते योगत्रयसहायतायैकयोगाद्विचारपद्धतिरप्यनानाद्विद्यते । उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकणायस्यामिकादधानानाद्विद्यते । सचित्कृत्येन अचित्कर्माभ्यां एवीयचतुर्थाभ्यां विलक्षणं । अत एव नामनिर्देशेनैव स्थानांतरविलक्षणं वृथक्यसंवितर्कसवीचारमिति लक्षणमुक्तं ॥

सविचारमिति विवृणोति—

सूत्रारः—अस्याण वंजणां अर्थानां ज्येष्ठव्यवस्थाणां, सत्पर्यायानां वा यानि व्यंजनानि व्यंजकाः शब्दास्तेषां इति धैयधिकरणेन संयमेन पुनरर्थानां व्यंजनानां चेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वशब्देनोपादानात् । संक्रमो परावर्तनम् ॥

वर्कं च—योगयोगांतरं वायाद्व्यंजनाद्व्यंजनांतरम् ॥
पर्वोवादिपि पर्वोवं इत्याणोर्धितवेदजम् ॥

भावेण सद्भावेन एतेन भयानांतरवैलक्षण्यं प्रथमशुक्लस्योक्तं । इदं हि वीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्येवमादिपरिमितैकद्रव्यप्रत्ययनपरश्रुतवाक्योद्भूतं ध्यानमिति वृथभूतद्रव्यालंबनत्वेन रूपेणैकद्रव्यालंबनवेकत्ववितर्की-योगत्रयसहायतायैकयोगाद्विचारपद्धतिरप्यनानाद्विद्यते । यदोपशान्तमोहनीयत्वावैकत्वान्मोहोप-शमकक्षपक्षत्वाद्वा स्त्रीयमोहनीयस्वामिकादेषोपधातित्रयापातिवृत्त्यवस्थापकद्वितीयादिसुष्ठुत्रयाद्विद्यते । सचित्कृतवाचा-विषर्कान्त्यशुक्लकक्षणात् ।

वर्कं चार्थे—वृथकस्यं विद्वि नानास्यं वितर्कःश्रुतमुच्यते ॥

अर्थव्यंजनयोगानां वीचारःसंक्रमो मतः ॥

अर्थादर्थोतरं गच्छन्व्यंजनाद्व्यंजनांतरं ॥

योगयोगांतरं गच्छन्व्यायतीदं वक्षी मुनिः ॥

त्रियोगः पूर्ववित्पस्माद्व्यायत्वेनं मुनीश्वरः ॥

सचित्तं सवीचारमतः स्वाच्छुक्लमादिभम् ॥

ज्येष्ठमस्य श्रुतसंयमोर्धोर्गवैविस्तरः ॥

फलं स्वान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रक्षमोऽपि वा ॥
 प्रशान्तधीणमोहेषु श्रेष्ठोः शेषरूपेषु च ॥
 यथानानाभिर्दं ध्यानमागमनंति मनीषिणः ॥

भवति चान् धृतम्—

द्रव्य भावम गतिस्वल्परमधिगम्युक्तत्वा वित्तके स्फुरत् ॥
 अर्धव्यवनमंगीररपि धृक्स्तेनोपि सांक्रामता ॥
 यमांशाननवस्थितेन मनसापूर्णाभिर्कोत्साहवत् ।
 कुठेन दुभिक्षाणुजः परकुला छिदन्वर्तिमै गतिः ॥

निचार गृह्यका स्पष्टीकरण—

अर्थ—इस ध्यानमें अर्थ के वाचक जो शब्द उनका विचार होता है. अर्थात् सक्रमण होता है. जैसे योगोंके सक्रमणको योगमंक्रमण योगग्रीचार कहते हैं ऐसे पिचारोंका सङ्कल होनेसे इस ध्यान को सग्रीचार कहते हैं. जीव, धर्म, अर्थमें आकाश, पुरल इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेवाला जो शब्दश्रुत वाक्य उस से यह ध्यान उत्पन्न होता है यह ध्यान एकरूप वितर्क ध्यानसे भिन्न है क्योंकि एकरूपवितर्क ध्यान एक द्रव्यका ही आलन लेकर उत्पन्न होता है. यह प्रथम ध्यान तीन योगोंके सहायसे उत्पन्न होता है और दूसरा युक्लपान फल एक योगसे ही उत्पन्न होता है उपश्रान्त मोहनीय पुनि इस ध्यानका स्वामी है और इतर ध्यानोंके स्वामी क्षीणरूपस्य सुनि हैं यह ध्यान सवितर्क है इसलिये अवितर्क युक्त जो तीसरा और चौथा ध्यान बढ इस ध्यानमें भिन्न माना जाता है इस ध्यानका धृक्स्व सवितर्क सवीचार ऐसा नाम है नामसे ही अन्य ध्यानों से यह विलक्षण है ऐसा माहुरम पढता है

जोगेमेव दन्वं जोगेगेमेण अण्णदुरगेण ॥

क्षीणकसाओ, ज्ञायदि तेणेगचं तयं मणिं ॥ १८८३ ॥

ध्यायता पूर्ववैक्षण क्षीणमोहेन साधुना ॥

एकं द्रव्यमेवमेदेन द्वितीयं ध्यानमाच्यते ।, १९५१ ॥

विजयोदरा— जेतोसोमस दण्डं जोगोमेण अण्णदुरेण यवेमेव इत्थं अन्तरेयेकेन पुराणुत्तरं, एहीण कपायो भवति तेभिरत्वं तद्विहितं एकद्वयत्वं नकवात् । अन्तरयोगबुद्धेरेवात्मन उत्पत्तेरेकत्वं भवान् एहीणकपाय स्वाभिरुं भवेत् ॥

द्वितीयशुक्लनाम ज्जुत्थादधिकारस्यैकत्वं समर्थयते—

चूलाया—एगमेव एण्णा मध्ये यत्किंचिदिदं अथवा एकशब्दोऽत्र प्रपञ्चाभित्येव संबन्धद्वन्द्वेष्वेकं प्रपञ्चनप्रधान

मेवेत्यर्थः

७कं च—

विधिचारावताराहु वेत्ताओताःशुचित्तु ॥

आस्तन्नेयं श्चुराज्जया ससद्व्यानसवीजकम् ॥

एतेन प्रपञ्चनयोपपत्तेन । अण्णदुरेण प्रपञ्चां मये येन देनापि सद्दं हुत्तं । तेन एकद्रव्यालंबनमैकयो-
गवृत्तिर्हीणकपायद्वयमिकत्वेन च । त्वं तद्वितीयं शुक्लं एतेन परिनितात्वेकसर्वपर्यायद्रव्यालंबनाभियोगोपपत्तौ नो-
दयमशुक्लसमस्तशुभित्तुविदयाभ्यां संबोगायोगकेचछिदनाधिकार्यां शुलीयचतुर्थशुक्लद्रव्यां चास्य भेदः ।

अर्थ—एकस्य वित्तर्कं आविचारं नामकं दुसरे भ्यानका स्वरूप इमं प्रकाश है—इस भ्यानके द्वारा एकही योगका आश्रय छिपर एकही द्रव्यका भ्याता चिंतन करता है इसलिये यहाँ अर्थसंक्रमण, योगसंक्रमण और द्वादसंक्रमण नहीं हैं । इस भ्यानका स्वामी हीण कपायी मुनि है । तीनबोनोंमें एक ही योग यहाँ है । इससे ही यह भ्यान उत्पन्न होता है । एक ही द्रव्य इस भ्यानका आलंन है ।

जम्हा सुदं वित्तकं जम्हा पुब्बगदअत्थकुसलो य ॥

ज्जायदि ज्ञाणं एवं सवित्तकं तेण तं ज्ञाणं ॥, १८८४ ॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमोःहु वीचारो ॥

तस्स अभावेण त्वं ज्ञाणं अविचारमिति जुत्तं ॥ १८८५ ॥

सिद्धयोदरा—एकद्रव्यालंबनत्वेन परिमिततेक्तसर्वपर्यायद्रव्यालंनान् प्रपञ्चानात्सत्सत्त्वस्तुधिपर्याय्यां दलीयचतुर्थोभ्यां च पितृश्रुता द्वितीयस्याज्जया गणना निवेदिता । एहीणकपायद्रव्येन उपपत्तौ ततोद्भवस्वामिकत्वात् । सयोग्ययोग्यवृत्तिस्यामिकार्यां च भेदः सवित्तकंत्वा पूर्वदेव । पूर्वव्याधान्तर्गतविचारतभावाद्बीचारत्वं ॥

द्वितीयस्य सवितर्कत्वमाह—

मूलरा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—यह ध्यान एक द्रव्य का ही आश्रय करता है इसलिये परिमित अनेक पर्यायों सहित अनेक द्रव्यों का आश्रय लेनेवाले प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है, तीसरा और चौथा ध्यान सर्व वस्तुओंको विषय करते हैं अतः इनमें भी यह दूसरा शुक्ल ध्यान भिन्न है. ऐसा इस गाथासे सिद्ध होता है. ॥ ध्यानका स्वामी क्षीण कषायवाला मुनि है. पहिले ध्यानका स्वामी उपश्रान्त कषायवाला मुनि है. और तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यानका स्वामी सयोग फेवली और अपोग फेवली मुनि है अतः स्वाभित्वकी अपेक्षासे दूसरा शुक्ल ध्यान इन ध्यानोंसे भिन्न है.

वर्तन्यध्यानमावधे ॥

अवितकमवीचारं सुहृमकिरियबंधणं तद्वियसुक्कं ॥

सुहृमस्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वमावगदं ॥ १८८६ ॥

विजयोदया—वर्णितप्रक्रमवीचारं श्रुतानालंबनत्वादपि तर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं प्रवर्तयति वा अतितर्कं पूर्वमालंबी-
कृतादृश्यावधारणालम्बनं नाम वीचारो भास्वीयविचारः, सुहृमकिरियबंधणं सुहृमकिरियात्वेति सूक्ष्मक्रियः श्रान्तसंघ-
माधयोऽप्येति सूक्ष्मक्रियबंधनः, वर्तन्यध्यानं, वर्तन्यध्यानं काययोगे सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्तेः, भणितं सूक्ष्मक्रियमिति
॥ साम्यमागमं वर्तन्यं शुक्लध्यानं विमलमिन्द्रियप्राप्तमपि विमलं इति ध्यानशब्दस्यायौऽपि भुवि विद्यते ॥ एकाग्रचित्तनिर्देशो
काशनमैकमग्नं मुखमरेति ॥ एकमुखतापि विद्यत इति ध्यानशब्दस्यायौऽपि भुवि विद्यते ॥ एकाग्रचित्तनिर्देशो
ध्यानमित्यत्र सद्ये चिन्ताशरीरे ध्यानसामान्यपचनः । तेन श्रुतज्ञानं क्वचिद्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं
क्वचिन्नातिज्ञानं मत्प्रधानं वा, यतोऽपि चित्तमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविवर्तनमेव ध्यानं, सर्वज्ञानोपयोगानां ॥

तत्वेवावीचारत्वं वृत्ते—

मूलरा—स्पष्टम् ॥

तीसरे ध्यानका स्वरूप कहते हैं—

अर्थ—तीसरा सूक्ष्मक्रिया नामक शुक्ल ध्यान वितर्करहित अर्थात् श्रुतज्ञान रहित होता है. श्रुतज्ञान

का आलंपन इस ध्यान में नहीं रहता है. संयोग केवली मुनि ज्ञा ॥ ध्यान अभीचार है अर्थोत् इस ध्यान में एक पदार्थ का आशय लेकर उसको छोटकर दूसरे पदार्थका आश्रय लेना यह किया नहीं होती है. अर्थात् संपूर्ण पदार्थ उनके केवल ज्ञानमें प्रतिक्षण युगपत् जाने जाते हैं अतः यह ध्यान 'अभीचार' है. सूक्ष्म क्रिया करने वाला आत्मा इस ध्यान का स्वामी है. अर्थात् इस ध्यानमें आत्मा मनोयोग, वचनयोगको सूक्ष्म करता है. यह ध्यान सूक्ष्म काययोग से प्रवृत्त होता है. त्रिकालको विषय होनेवाले जीवादि छह पदार्थोंको युगपत्प्रगट करनेका इस ध्यानका स्वभाव है. युगपत् सर्व पदार्थोंको प्रगट करना यही एकप्रता इस ध्यान में है. पदार्थ के अभिमुख होना यह ध्यान शब्दका अर्थ है. 'एकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्रमें चित्त शब्द ज्ञानसामान्यका वाचक है. इसलिए क्वचित् धृतज्ञानको ध्यान कहते हैं, क्वचित् केवल ज्ञानको और क्वचित् मतिज्ञानको तथा मत्तज्ज्ञानको और धृतज्ञानको भी ध्यान कहते हैं एक पदार्थ पर स्थिर होना यह ध्यान का लक्षण है. यह स्थिरत्व सर्व ज्ञानोपयोगमें है.

सुहृमस्मि कायजोगे वृद्धतो केवली तदियसुक्कम् ॥

झायदि निरुंमिदुंजे सुहृमत्तणकायजोगंमि ॥ १८८७ ॥

सर्वभाषणतं सुक्कलं विलोकितजगत्त्रयं ॥

सर्वसुहृमक्रियो योगी वृत्तीयं ह्याययति प्रभुः ॥ १८९२ ॥

विजयोदया—सुहृमंमि कायजोगे सुखे काययोगे प्रवर्तमानः केवली वृत्तीयं सुक्कलं भवति निरोधंतमपि सुहृमकाययोगं ॥

प्रथमं परमसुक्कलं जगत्त्रयं लक्षयति—

मूलार्थ—सुहृमकिरियकंचणं सूहृमा क्रिया आत्मा स वंषनभाष्यो वर्येति सूक्ष्मक्रियबंधनं । भविदं सूक्ष्मे काययोगे सति प्रवृत्तस्तत्सूक्ष्मक्रियमिति मणितमिति संबंधः । सत्त्वभाषणदं त्रिकालोचरत्नंतसामान्यविशेषात्मक द्रव्यपद्वृत्तयुगपत्प्रकाशनस्वरूपं एतत्तत्त्वं सुखं यत्स्वेत्येकवाप्यस्य नियते इति ध्यानशब्दोऽपि सुखो पठ्यते ॥ एतामपिपितानिरोधो ध्यानमित्यत्र च सूत्रे विज्ञानयो ज्ञानसामान्यवचनः । तेन धृतज्ञानं क्वचित्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं, क्वचिन्मतिज्ञानं, क्वचित् धृतज्ञानं, मतिज्ञानं वा यतोऽविचलमेव ज्ञानं ध्यानम् । तदुक्तम्—

एकान्तमहर्षेण भाव्य वैयग्यनिबृत्तये ।

व्यमं हि ज्ञानमेव स्वास्वधानमेकाग्रशुच्यते ॥

स्वमर्थं केवली सूक्ष्मनिर्माणवृत्तिः सवृत्तभावतीत्यत्राह—

मृदात्—गिरिभिर्दुले विनासयितुं । तां तमपि । उक्तं च ज्ञानार्णवे वित्तरेण—

यदायुर्दधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः ॥

समुद्चातविधिं साध्यात्मनोवारमते सदा ॥

अनंतवीर्यप्रभयाजिंशो दंडं कपाटं प्रवरं विधाय ॥

न सोऽमानं समर्थैस्तुभिः निःशेषमापूरयति क्रमेण ॥

लोकरूपासाय करोति ध्यानवीर्यतः ॥

आयुःसमानि कर्माणि युक्तिमानीय तत्क्षणे ॥

वतःक्रमेण तानेव स पञ्चाद्विनियतैरे ॥

लोकरूपतः श्रीमांस्तुभिः समर्थैः पुनः ॥

काययोगविधिं कृत्वा यादरेऽ विलस्येष्टितः ॥

सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरप्

काययोगे ततःसूक्ष्मे पुनः कृत्वा स्थितिं क्षणात् ॥

योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तमर्चयति ॥

सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं समभ्यो ध्यातुमर्हति ॥

सूक्ष्मेकत्रययोगस्थवरीयं तद्विषयते ॥

अर्थ—इस सूक्ष्म काययोगमें रहनेवाले केवली तृतीय शुक्लध्यानके धारक हैं. उस समय सूक्ष्मकाय-योगका चे निरोध करते हैं.

अविवक्कमवीचारं आणियट्टिमकिरियं च सीलसिं ॥

ज्झाणं पिरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥ १८८ ॥

अधोगमकेवली शुक्लं सिद्धिसौधविधायसया ॥
अतुर्थं भ्यायति ध्यानं समुच्छिन्नक्रियो खिनः ॥ १९५३ ॥

विजयोदया—अधिद्वन्द्वमयीत्वात् पूर्वोक्तविकर्षीचारवित्तन्यात् अवितर्कमयीत्वात्, अग्नियष्टि सकलकर्म-
साधनमरुता ॥ नियतं इत्यनिवर्ती । अक्षिरिय समुच्छिन्नप्रभापातप्रचारसर्वकार्यपरमयोगरिरुपद्वन्द्वक्रियावपाणा
रत्नात् अत्रिय । सीलसि नीलानामोश झीलेत् यथादवातकारिण शीलेदस्य भाव मोलेदय, तरसद्वयादि ध्यानमपि
मोलेदय । निरुद्वयोग अपाक्षिम न विद्यते यथाद्धाविष्यधनस्मादित्यपेक्षिम । उत्तम सुक परम सुकल ॥

द्वितीय परमशुक्ल लक्षकति—

मूलात् — सकलकर्मसाधनमरुत्वा न निवर्तते इत्यनिवर्ति । अक्षिरिय अक्रिय समुच्छिन्नप्रभापातप्रचारं सर्वका-
र्यवाचमनोयोगसर्वदेशपरित्यक्तक्रियावपाणरत्नात् । सेलेसि दीक्षानामोश झीलेदय यथाकदाचित्धारिन् ।
तरताहृत्पर्योक्तध्यानमपि क्षयोक्तम् । निरुद्व-योग सित्खनि ज्ञेयकर्मसंयम् । अपेक्षिधर्म न विद्यते यथाद्धाविष्यधनस्मादिति
अपेक्षिमम् । उत्तम उत्कृष्टं ससारकारणकर्मनिर्मूलनात् ॥

अर्थ—यह ध्यान क्लृप्तकं और विचारगोहृत है ऐसा पूर्वमें कह चुके हैं जबतक संपूर्ण कर्मका नाश यह
नहीं करता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता है इस ध्यानमें सब आसोच्छ्वासका प्रचार बंद होता है. सर्व काय-
योग, वचनयोग और मनयोग यहा नष्ट होते हैं. इस लिये ॥ ध्यान निष्क्रिय माना गया है यहाँ अठारह हजार
शीलकै भेद नष्ट होते हैं इन लिये इस ध्यानको ध्याता शीलेश वनते हैं अर्थात् यथाकदाचित् चरित्रके धारक होते
हैं यह ध्यान संपूर्ण योगोक्ता विरोध करनेवाला है इससे संपूर्ण कर्मोंके आसव यहाँ यद होते हैं इसको सबसे
उत्तम शुक्ल ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान कहते हैं. यह अन्तिम ध्यान है

त पुण निरुद्वजोगो सरीरतियणासणे करेमाणो ॥

सवणहु अपडिवादी ज्ञायदि ज्ञाणं चरिमसुवर्कं ॥ १८८९ ॥

विजयोदया—य पुण तन्त्रसुखं शुक्लपुष्प । निरुद्वयोग सर्वेष्व अत्रिपतिध्यानं ध्याति शरीरत्रिकनसा सुधेन,
अयोगात्मपरिणाम केवलक्षणं कर्तुं शुक्ल, वृत्ति, त ससमकाययोगपरिणाम केवलमिति मेवस्तुतीक्यन्तुर्गते ।

तत्त्वमिफले निर्दिशति—

मूढारा—सरीगविय औदारिकीयस डार्मगानि शरीराणि तन्नाशममेव हि वत्कळं । अण्णडिगदी अग्रतिपाति । अयोगात्मपरिणाम । केवलज्ञानं चतुर्थं शुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोगात्मपरिणामस्वदिनि तयोर्भेदः । इत्थं चार्थे—

ततो निरुद्धयोगः सन्योगी ॥ विगतास्त्वय ॥

समुच्छिन्नक्रियं ध्यातमनिवर्ति तथा भजेन् ॥

अन्तर्मुहूर्तवातन्यस्तद्व्यानमतिनिर्मलम् ॥

निधूनादेयकर्मोद्धो जिनो निर्वात्यन्तरम् ॥

त्रयोदशास्य कर्मांशाः तक्षीणाश्चरमक्षणे ॥

हासप्रतिष्ठाप्ये श्वुत्तयोगपरमेश्वरि ॥

उभयं जग्यारवभानात्पातस्तमेवैतं नीरजा ॥

लोकात् प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धचरूदात्मपीयते ॥

अर्थ—यहां संपूर्ण योगोक्ता निरोध होनेसे औदारिक, वैजस और कार्यण शरीरोंका नाश होता है. ये सर्व जिनेश्वर अयोगपरिणामात्मक बनते हैं वहां केवलज्ञान योगसहित होता है. ऐसा इन दो ध्यानोमें अंतर है यह चतुर्थध्यान अग्रतिपाति है अर्थात् हमेशा अयोग स्वरूप-मेंही रहता है

इय सो खवओ उद्गाणं एयग्गमणो समसिद्धो सम्मं ॥

विबुलाए णिज्जराए वट्टदि गुणसेट्ठिमारुढो ॥ १८९० ॥

इत्थं यो ध्यायति ध्यानं गुणत्रेणिगतः शुभम् ॥

निर्जरां कर्मणामेव क्षपकः कुरुते पराम् ॥ १९०४ ॥

विजयोदया—इय सो खवओ एयमसौ क्षपक, पक्षात्रचित्त सम्यग्ध्यान समाहितस्य विबुलस्य कर्मनिर्जरायां वर्तते. गुणसेट्ठिमारुढो गुणत्रेणीमाकूट उपशान्तकथायादिकां ॥

आयुधं योगिनो ध्यानं कथायसमेरे परम् ॥

निर्ध्यानः संसारे युद्धे निरस्त्रमटसन्निभः ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—एवं कसायजुर्ज हि कथयसमदारे ध्यानमयुधं क्षणकस्य भवति । ध्यानहीनः क्षणकः युद्धे निरालुप्य हव न प्रतिपक्षे ग्रंथुमलं कथायविनाशक्यति ध्यानस्यानया कथिते ॥

ध्यानस्य कथायविनाशक्यमाह—

मूढारा—आवर्तं प्रहरणम् ॥

अर्थ—कथायके साथ युद्ध करते समय ध्यान मुनिको युद्धके समान उपयोगी होता है अर्थात् ध्यान-रूप स्वतः संयमी मुनि फर्मोका सनर और निर्बरा करते हैं-शस्त्ररहित वीर पुरुष युद्धमें शत्रुका नाश नहीं कर सकता है, वैसे ध्याते बिना फर्गंशुको मुनि नहीं जीत सकते हैं-कथायको नष्ट करनेका सामर्थ्य ध्यानमेंही है ऐसा इन गाथाका अभिप्राय है

रणभूमीए कवचं होदि उद्याणं कसायजुद्धमि ॥

जुद्धे व गिरावरणो ज्ञानेण विणा हवे खवओ ॥ १८९३ ॥

कथायसंयुगे ध्यानं सुशुद्धोः कवचो हृदः ॥

ध्यानहीनस्तदा युद्धे निःकंदमटोपमः ॥ १९५७ ॥

विजयोदया—रणभूमीए युद्धमेंही कथयकथाययुद्धे ध्यानं कवचो भवति एतेन कथायपीदारक्षो करेति ध्य(न)मिताकथाते । ध्याताभावे क्षणमावहे । युद्धे व गिरावरणो युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षणकः ॥

ध्यानस्य कथायपीदारमकत्वमाह—

मूढारा—गिरावरणे सत्ताहरहितः ।

अर्थ—रणभूमीमें कवच लेया रखण करता है वैया कथायके साथ युद्ध करते समय कवचके समान ध्यान मुनिका रक्षण करता है,

कथायके होने वाली पीडाका नाश ध्यान करता है इसलिये ध्यानमें रखकर युग है ऐसा इत गाथासे सिद्ध

होता है, मुद्रमं कबचरदित मुरुषका घाणादिकोके यदरसे रक्षण नहीं हो सकता है ऐसे ध्यानसहित मुनि कषायशुद्धिसे अपना रक्षण नहीं कर सकते हैं.

ज्ञानं करेद् स्वयस्सोवर्द्धनं विहीणचेष्टरस ॥

श्वरस जहा जंतस्स कुणदि जही उवहंमं ॥ १८९४ ॥

ध्यानं करोत्पवष्टमं क्षीणचेष्टस्य योगिनः ॥

वेदः प्रवर्तमानस्य स्वविरस्येव पावनः ॥ १९५८ ॥

विजयोदया—ज्ञान करेदि ध्यानं करोति स्वपकस्योपष्टमं हीनचेष्टस्य स्वविरस्य गच्छतो यथा करोति यद्विरस्यमं ॥

ध्यानस्य बलशक्तियं गामादयेन सहश्रान्तं सुदुष्यति--

मूढारस--उवर्द्धनं कषायनिवृत्त्ये पलावानं । विहीणचेष्टरस मनोयाक्ताधेश्वरिभं साधयितुमशक्नवस्य ।

अर्थ--जैसे निर्मल बूंदको गमन करते समय लाठी मद्ध करवी है वैसे मन बचन और शरीरसे चारित्र साधनेमें असमर्थ मुनिको ध्यान मद्ध करता है.

मल्लरस भेदपाणं व कुणइं स्वयथस्स दढवलं झार्णं ॥

ज्ञानविहीणो स्ववओ रंगे व अपोसिवो मल्लो ॥ १८९५ ॥

बलं ध्यान यतेधत्ते मल्लस्येव घृततित्तम् ॥

समाऽपुष्टेन मल्लेन ध्यानहीनो यतिर्मनः ॥ १९५९ ॥

विजयोदया--मल्लरस भेदपाणं व मल्लस्य स्नेहयानमिव स्वपकस्य ध्यानं करोति, ध्यानहीनः क्षयतो रंगे अपोसिवो मल्ल इव ॥ प्रतिपक्षं जयति ॥

मूढारस--रंगे पादुमुद्धोषकमे ॥

अर्थ--मूढ, वी वंगरह स्नेहयुक्त वदार्ण स्वानेमें मल्ल जमे पुष्ट होता है और पादुमुद्रमं अपने प्रति-

पक्षीको धराशायी करता है। जैसे ध्यानशी योगी मुनिओंमें बल उत्पन्न करता है जिससे वे कर्मशुद्धि का नाश करनेमें समर्थ होते हैं। स्नेह पदार्थके ज्वाबसे कुछ हुआ मछ शुद्धको नहीं जीत सकता है वैसे ध्यानहीन क्षपक कपाय शुद्धको—कर्म शुद्धको नहीं जीत सकते हैं—

बड़रं रत्नेषु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धसु ।

वेरुलियं व भणीणं तह उक्षाणं होइ स्वयस्स ॥ १८९६ ॥

बज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चंदने व यथा मतम् ॥

क्षेपं मणिषु वेदुर्यं यथा प्यानं ज्ञतगदिषु ॥ १९६० ॥

विजयोदया—वेरं रत्नेषु अथा रत्नेषु बलं गंधद्रव्येषु गोशीर्षं चंदनं । मणिवैदूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं । सर्वे—
दण्डं चरित्यतएव सुखं ॥

ध्यानस्य दर्शनं चारित्र्यस्य सुखं सारभूतं न ह्योद्योगं सोत्तमम् ॥

मूढाणां—बड़रं हीरकं । रत्नेषु यद्यस्मादिषु । गोलीसं गोशीर्षकं गंधसु गंधद्रव्येषु । खारभूले । वेरुलियं वैदूर्यं । मणीर्षं मणिनादीनां । यथा गन्धद्रव्यमिव मुक्तयेषु मध्ये प्रकाशम् ॥

अर्थ—जैसे रत्नेषु बज्ररत्न श्रेष्ठ है, सुमंघ्रि पदार्थोंमें गोशीर्षं चंदन उत्कृष्ट है, मणिओंमें वैदूर्य रत्न उत्तम है वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तपोंमें ध्यानही सारभूत—सर्वोत्कृष्ट है—

ज्ञाणं किलेससाधनद्वयत्वा रत्नत्वात् सावधमयमि ॥

ज्ञाणं किलेसमसणे भित्तं भित्तं वसणमि ॥ १८९७ ॥

कपायव्यसने भिन्नं कपायव्यालरक्षणम् ॥

कपायव्यसने गंहं कपायव्यवलेन हृदः ॥ १९६१ ॥

गित्योदया—ज्ञाणं किलेससाधनद्वयत्वा ध्यानं दुःखव्यापनां रक्षा ध्यापदमये रक्षेव ध्यानं स्नेहाध्यक्षेन भिन्नं व्यसने भिन्नमिव ॥

अर्थ—यद् ध्यानं संक्षेपपरिणामरूपं व्यापदति गुणिजोकी रथा करता है- जैसे व्यापदों के भयसे हम अपनी रक्षा कर लेते हैं- जैसे संकटों में मित्र सहायक होकर संकटों से बचाता है वैसे संकटेश्वर परिणामरूप संकटोंसे ध्यान आत्माका रक्षण करता है.

ज्ज्ञाणं कसायवादे गम्भधरं मारुदेव गम्भधरं ॥

ज्ञाणं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥ १८९८ ॥

ज्ञाणं कसायडाहे होदि वरवहो व्होव डाहम्मि ॥

ज्ञाणं कसायसविं अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥ १८९९ ॥

ज्ञाणं कसायपरचक्कमए बलवाहणहुओ राया ॥

परचक्कमए बलवाहणहुओ होइ जह राया ॥ १९०० ॥

ज्ञाणं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिग्गिछिं कुसलो ॥

रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्त तिग्गिछिं कुसलो ॥ १९०१ ॥

ज्ञाणं विसयहुहाए य होइ अण्णं जहा हुहाए वा ॥

ज्ञाणं विसयतिमाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥ १९०२ ॥

कपायाकर्तणे ज्ञाया कपायविशिरेऽजलः ॥

कपायपरिमये त्राणं कपायव्ययधिमेषजम् ॥ १९०३ ॥

तोयं विषयतृष्णायामाहारो विषयक्षुदि ॥

जायते योगिनो ध्यानं सर्वोपद्रवसुवनम् ॥ १९०४ ॥

स्पष्टार्थोत्तराया ॥

मूढारा—गन्धमरं गृहार्थवर्षपरकम् ॥

मूढारा—स्पष्टम् ॥

मूढारा—बलवाहणद्वयो राशो सैन्वेत इत्यादिवाहनेन च संपृढो द्रुपः ॥

मूढारा—विशिच्छिदे चिकित्साया ॥

मूढारा—स्पष्टम् ।

अर्थ—जैसे हयसे गर्भगृह बचाता है वैसे कषायरूपी हवासे ध्यान मुनिको गर्भगृहके समान बचाता है। सूर्यके संपातसे छाया प्राणिओंका रक्षण करती है वैसे ध्यान कषायरूपी संतापसे आत्माको बचाता है। जैसे अग्नि संतापसे पानीका द्रव पुरुषोंका बचाता है वैसे क्षयाग्निके संपातसे ध्यानरूपी द्रव मुनियोंका रक्षण करता है, जैसे जाँटसे होनेवाली पीड़ा आग्नि दूर करता है वैसे कषायरूपी आदसे होनेवाली संक्षेपपीड़ा ध्यानान्नि क्षण मरमें नष्ट कर देता है। जैसे सैन्यसे अर्थात् हाथी, रथ, घोड़े वगैरह सेनासे परिपूर्ण राजा परबक्रके भयसे प्रजाकी रक्षा करता है वैसे कषायरूपपरबक्रसे होनेवाली पीड़ा ध्यानरूपी राजा क्षणमें दूर करता है।

अर्थ—जैसे रोगको परीक्षा करनेमें कुशल चैद्य रोग दूर कर मनुष्यको सुली करता है, वैसे ध्यानभी वैद्यके समान कषायरूपरोगकी परीक्षाकर उसको नष्ट करता है, जैसे अम्लसे भूक नष्ट होती है वैसे विषयलुधामी ध्यानरूपी अम्लसे दूर होती है, वैसे पानीसे ध्यास बुझती है वैसे ध्यानरूपी पानीसे विषयरूपी ध्यास शान्त होती है।

इयं ज्ञायन्तो स्वयञ्चो जह्या परिहीणवायिञ्चो होइ ॥

आराधणाए तह्या इमाणि लिंमाणि दंसेइ ॥ १९०३ ॥

आराधनावचोघार्थं योगी व्यावृत्तिकारणम् ॥

तदा करोति चिन्धानि निक्षेष्टो जायते यदा ॥ १९६४ ॥

चित्तयोदयः—इयं ज्ञायन्तो स्वयञ्चो एव ध्यानेन प्रवर्तमान क्षयकः । यदा वस्तुमत्तमर्थो भवति तदा आराधणाए रत्नत्रयपरिणतारत्नमनो लिंमाणीमानि दंशयति ॥

ध्यानपरिणतस्य आसन्नभरणस्य चाभावे प्रकाशान्याराधनापिहान्याह—

मूढारा—परिहीणवाचिञ्चो वस्तुमत्तकः ।

अथ---इस प्रकार ध्यानत प्रवृत्ति करनेवाला क्षपक जब चेतनेमें असमर्थ होता है तब रत्नत्रयमें मेरी परिणति होरही है ऐसा अपना अभिप्राय वह हुंकारादिकविद्यसे नियमिकाचार्य की बतलाता है.

हुंकारंजलिममुहंगुलीहिं अन्धीहिं वीरमुट्टीहिं ॥

सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो खव्वो ॥ १९०४ ॥

हुंकारांगुलिजत्रमुहंगुलीहिं कपांजलिक्रियाः ॥

यथासंकेतमन्यथाः क्षपकाः कुरुते सुधीः ॥ १९०५ ॥

विजयोक्त्या—हुंकारंजलिममुहंगुलीहिं अन्धीहिं हुंकारेण वा अंजलिरचनया, अक्षेपेण, अंगुलिपंचकव्योनेन उपवेष्टादं मति प्रसन्नतया इत्यादि किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकंपनेन संसां यथेयति क्षपकः ॥

मूढारा—अंजलिं हस्तद्वयमुकुलीकरणं । अमुहं भूक्षेपः । अंगुलीहिं अंगुलिपंचकेन । सण्णं प्रसन्नतया दृष्टया । किं समाहितचित्तोऽसीति नियमिकेण वृष्टे सति स्पष्टेकनाम् ॥

अर्थ—हुंकारसे, हाथ जोढ़नेसे, मोहे उठाकर, हाथके पाँचों अंगुलिया दिलाकर उपदेशकको अपनी प्रसन्नता दिलाता है. तथा अपना मस्तक हिलाकर, य दृष्टिके द्वारा 'कपा' तुम्हारा मन प्रसन्न है न इस प्रश्नका उत्तर देता है.

तो पडिबरया खवयस्स दिंति आराधणाए उवओगं ॥

जाणंति सुदरहत्ता कदसण्णा कायखवण ॥ १९०५ ॥

संकेतवतः परिष्कारकास्ते वेष्टाविशेषेण विदन्ति साधोः ॥

आराधनोयोगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम् ॥ १९०६ ॥

इति ध्यानम्

विजयोक्त्या—तो पडिबरया ततःप्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्यापराधनामुपयोगं जानंति सुतरदस्याः क्षपकेण छतसंकेताः ॥ श्राणप्ति

मूलात्—हो हुंकारादिक्रणत् । सुदृष्टस्मा श्रावशास्त्रान्तस्तत्त्वाः । कदसकित्वा वस्तुमश्रुकोऽर्थं निजरत्नत्रयपरि
नति सुमान्दुःशरायन्यमेन क्षापयिष्यमीति कृतः श्रानेन विहितः संकेतः समयः येषां ते कृतसंकेताः । तत्तं च—

संकेतवतः परिचारकास्तो घेष्टविश्लेषेण विदंति साधोः ॥

आगपनोद्योगमवेवशाखा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलंतम् ॥

ध्यानं । सूत्रतः ३७ । अंकतः २०२ ॥

अर्थ—जिनको शास्त्रका अंतस्तत्त्व मान्य हुआ है ऐसे परिचारक मुनि क्षपकके संकेतोंसे धारो आराधना-
ओंमें क्षपकका उपयोग है ऐसा जानते हैं, ध्यानका वर्णन समाप्त हुआ.

लेख्ययां सवंधं करोति—

इय समभावमुवगदो तद ज्ञायतो पसत्क्षणं च ॥

लेखसाहिं विमुज्जंतो गुणसेहिं सो सभाकृद्वि ॥ १९०९ ॥

इत्थं समत्वमापन्नः शुभध्यानपरायणः ॥

आरोहति गुणश्रेणीं शुद्धलेख्यो महामनाः ॥ १९१० ॥

विजयोदया—इय समभावमुवगदो एवं समचित्तता गतः प्रशस्तध्यानं प्रवर्तयेत्, लेख्यसिद्धिं शुच्युणश्रेणी-
मापेदति ॥

अय दपोक्तविधिना साम्यमभिपद्यत इत्या प्रशस्तध्याने कथानमानसीभवता क्षपकेण समधियस्यां लेख्याविशुद्धिं
मावानो सत्प्रशक्तेन स्थापित्यसुरादौ तत्फलसंबंधमभिपद्ये—

मूलात्—हु प्रशस्तध्यानमेव ज्येष्ठं न भनागव्यात्तरोद्रे इत्यर्थः । लेखसाहिं विमुज्जंतो तेजःपद्मशुक्ललेख्यसु
प्रत्येन परिणममाणः कथायामात्रैर्विदुषश्चरिण्यसौ भवजित्यर्थः ॥

अर्थ—इस प्रकार समताभावको धारण करनेवाला वह क्षपक प्रशस्त ध्यानमें प्रवृत्त होता है. लेख्य-
ओंमें तेज, पद्म और शुक्ललेख्यओंमें परिणत होकर गुणश्रेणीपर आरोहण करता है अर्थात् उचसेचर अधिक
निर्मल परिणामका धारक होता जाता है.

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ ह्वंति पुरिसस्स ॥
अब्भंतरेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥ १९०७ ॥
किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ॥
पइसइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पचो ॥ १९०८ ॥
सत्थाभ्यंतरभेदेन द्वेषा लेख्या निवेदिता ।
शुभाशुभविभेदेन पुनर्द्वेषा जिनेश्वरः ॥ १९०९ ॥
कुरुणा नीला च कापोती तिस्रो लेख्या विमर्हिताः ॥
धीरो वैराग्यमापन्नः स्वैरिणीरिप्य मुंचते ॥ १९१० ॥

विजयोदया—आह शहरलेस्सामो रुप्यनीलकापोतामेति तिलः अग्रशस्त्राः प्रजहति ईराग्यभाषनात्पान्द
संसादनीश्वरं परमप्रागदः ॥

प्रसिद्धाष्टक्यादिलेखाग्रशेनेन तद्वितरास्थाः सापयवि—

मूलाय- किंपदासी मिथ्यायदिकृतास्तीमवमादिसंस्कारा जीवस्य कुण्डादयः पद्भाशलेष्या भवन्ति ॥

धोगाविरतिमिष्यास्य कयायलनितासु यः ॥ संस्कार. प्राणिनां भावलेह्यासौ स्तुपितयामे ॥

वामि सदयानां स क्षापयन्ती नीला वीजलरश्मिः ॥ कुण्डां वीजलरश्मिः पीवा संकरतो मंद इष्यते ॥

पुलाधिनां यत्नान्तिर्कृत्योद्योतननिग

तत्र क्षिति यथा—

निर्गुलसंयशालोपशरोच्छेदे वरोर्बिचः ॥ वरुष्ये पतिवादाने

एवं कार्येन भनसि वाऽभ्युद्यम् । तत्कर्मणि यथा —

दुर्मदो वृष्टचित्तश्च रागद्वेषादिभिर्बुधः ॥ वृन्मान्वचनलोभैस्त्वयान्वतानुबन्धिभिः ॥

१४. सप्तपञ्च नन्दयः कलहोषयः । मधुर्गांससुरासक्तः कृष्णलम्बो मत्तोऽसुमान् ॥

निर्मुक्तिर्मानवान्मागी भंदो विषयलंपटः ॥ निर्विज्ञानोऽखसो भीतनिद्राबुधः परवंचकः ॥
 नानादिपे पने पान्ने सबोधेवातिमुच्छिद्यः । सारंभो नीलया प्राली लेइयया संयुतो गवेत् ॥
 पदुनः नोकभीमस्तो ठप्यदापि च निर्दिवि । जसुवन्दूययन्नित्वं परं परिभवत्यपि ॥
 आत्मानं वदुनः स्तोति स्तुत्यमानश्च दुष्यति । मन्यमानः परं स्वग्वा न प्रत्येवि कुत्रश्चितः ॥
 क्षान्ति नाथेति वृद्धिन्वा वष्टि सत्युं रणांगणे । ग्लाध्यमानस्ततं दृष्टे जीवः कापोतलेइयवा ॥
 सर्वत्र समदवेचि कुत्ताकृत्यं दिवादिहम् । इयादानरतो विह्वंतेवोलेइयावसोऽसुमान् ॥
 लागी क्षातिपरखोको भद्रात्मा सरलक्रियः । साधुपूजोचरो जीवोऽधिष्ठितः पंचलेइयवा ॥
 सर्वेनापि शमोपेतत्वकमायाविदानकः । रागद्वेषव्यपेवात्मा स्यात्तमापी दुस्सलेइयवा ॥
 एषकृष्णादिहेश्याकाः सिद्धिं याता निरापवाः । अंतावीचसुखा बीवा निहंइयाः परिकीर्तिताः ॥

कृष्णापशुभभानलेइयात्रयत्यागयोग्यतां दर्शयति—

मूढारा--कावो कापोती विरागकरजो वैराग्यभाननावाच । चित्तेंद्रियो वा ।

अपं--जैसे पुरुषके पादोंमें अर्थात् शरीरमें कृष्ण, नीलादिक रंग दीखते हैं वैसे पुरुषके अर्म्यतरमें कृष्ण नीलादिक लेस्यायें रहती हैं.

अर्थ-- कृष्ण लेइया , नील लेइया और कापोत लेइया ये तीन लेइयायें अशुभ हैं. शुक इनका त्याग कर वैराग्यवान होकर संसारसे अत्यंत भय युक्त होता है.

तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिणि विदुपसत्ताओ ॥

पडिवज्जेइय कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥ १९०९ ॥

तेजः पद्मा तथा सुक्कला तिथो लेइयाः मियंकराः ॥

निधुत्तिभिन गृह्णाति निर्वाचसुखदायिनीं ॥ १९७० ॥

पितृगोपणा--देओ परमा सुक्का तेज पचशुषकलेइयाः मतिपचते परिपाटया ॥

मूलारा—वेद वेदोद्देश्या । कम्भा फललेदया ॥

अर्थ—वेदोद्देश्या, फललेदया और शुक्ल लेदया ये तीन लेदया प्रशस्त लेदया है. उत्कृष्ट वैराग्यसे संसारभयको धारण कर यह श्रवक इन तीन लेदयाओंको क्रमसे धारण करता है.

एतेन लेदसां विसोयणं पठि उवक्कमो इणमो ॥

सत्वेसिं संगणं विवज्जणं सत्त्वहा होई ॥ १९१० ॥

कुरुष्व सुल्लहेतुनां सल्लेदयानां विवोषनम् ॥

यत्संगानामशेषाणां सर्वथापि विवर्जनम् ॥ १९११ ॥

विजयोदया—एवेसिं लेदसां यतासां शुक्ललेदयानां शुद्धिं प्रत्ययमुपक्कमः बाह्याभ्यन्तरसर्धपरिग्रहत्यागः ।

शुभलेदयाविशुद्धयुपायमाह—

मूलारा—उवक्कमो कणायः ॥

अर्थ—संपूर्ण परिग्रहोंका अर्थीय भाग और अर्धमंतर परिग्रहोंका सर्वथा त्याग करनेसे इन लेदयाओंसे विशुद्धि होती है अर्थात् परिग्रहत्यागही लेदया विशुद्धिका उपाय है.

लेदसासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ॥

अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादब्बा ॥ १९११ ॥

लेदयानां जायते बुद्धिः परिणामविशुद्धितः ॥

विशुद्धिः परिणामानां कापायोपशमे सति ॥ १९१२ ॥

विजयोदया—लेदसासोधी लेदयानां बुद्धिः । अज्झवसाणविसोधीए होदि परिणामविशुद्धया भवति । अज्झवसाणविशुद्धी परिणामविशुद्धि । मंदकसायस्स मंदकपायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥

उत्तार्यसमर्थनार्थमाह—

मूलारा—अज्झवसाण परिणामः ॥

अर्थ—परिणाम निमित्त होनेसे लेख्याजार्थ उत्तरोत्तर निर्मलता होती जाती है. तथा मंदकपायी पुरुषके निमित्त रहते हैं.

कपायार्णो मंदता कदाभित्याद्याह—

मंदता हुंति कसाया याहिरसंगविजडस्स सच्चस्स ॥

गिण्हइ कसायवहुल्लो चेव हु सच्चंवि गंधकलिं ॥ १९१२ ॥

मंदीभवन्ति जीवस्य कपायाः संगवर्जने ॥

कपायपहुलः सर्पं गृह्णन्ति हि परिग्रहम् ॥ १९०३ ॥

विज्ञयोदया—मंदता हुंति कसाया कपाया मंदता गर्वांति, छलवात्संगपरित्यागस्य । कपायपहुल एवायं सर्वो जीवा सर्वे ग्रंथकलिं गृह्णाति ॥

कपायार्णोपायनाह—

मूलार—सच्चस्य मनोपाकरोधैः । गंधकलिं ग्रंथ एवासौ कलिश्च पाण्चधनिर्घतत्वात् ॥

कपायौफी मंदता कैसी होती है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—जितने वात्सपरिग्रहोंका त्याग किया है उसके कपाय मंद होते हैं. कपायोंसे मरत हुआ जीव ही सम्पूर्ण परिग्रहरूप घातकता स्वीकार करता है.

जह इंधणेहि अग्गी बहुइ विझाइ इंधणेहि विणा ॥

गंधेहि तह कसाओ बहुइ विझाइ तेहि विणा ॥ १९१३ ॥

वृद्धिरानी कपायाणां संगग्रहणमोक्षयोः ॥

अग्नीनामिव काष्ठादिप्रक्षेपणनिरासयोः ॥ १९१४ ॥

पित्तयोदया—जह इंधणेहि अग्नी इंधनैर्यादिवदंते तैर्विना प्रसाम्यन्ति ग्रंथैस्तथा कपायो वर्द्धन्ते, तैर्विना मंदो भवति ॥

ग्रंथार्णो मायाभावयोः कपायबहुलपण्यमनिमित्तत्वं समर्थयते—

मूलार—सष्टम् ॥

अर्ध-लक्ष्मीशोऽग्निं वृद्धिं गत होता है परंतु उनके अभावमें वह अंत होता है. तथा परिग्रहोंसे कपाय पड़ते हैं और उनके अभावमें वे नष्ट होते हैं.

अह पत्यरो पडंतो खोभेइ दहे पसणमवि पंकं ॥

खोभेइ पसंतंवि कसायं जीवस्स तह गंथो ॥ १९१४ ॥

कपायो ग्रंथसंगेन खोभ्यते तनुवारिणाम् ॥

प्रशान्तोऽपि प्लवदादीनां पापणेनेय कर्दमः ॥ १९१५ ॥

विज्ञोदया—अह पत्यरो पडंतो यथा पापाणः पश्य इदं प्रशान्तमपि पंकं खोभयति, तथा जीवस्य कपाय प्रेयाः खोभयंति ॥

प्रधानां कपायस्रोतमणसामर्थ्यं दृढयति—

मूला—लोभेदि लवीत्यति ॥

अर्प—जैसे चूदमें पापाण पडनेसे तलभागमें दवा हुआ भी कीचड़ क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशान्त कपायोंको भी प्रगट करते हैं.

अब्भंतरसोधीए गंथे नियमेण बाहिरे चयदि ॥

अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे नेण्ढदि हु गंथे ॥ १९१५ ॥

अब्भंतर सोधीए बाहिरसोधी वि होदि नियमेण ॥

अब्भंतरदेसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्ग्रंथं विमुंचति ॥

अंतरामलिनो वासं गृहीते हि परियहम् ॥ १९१६ ॥

अंतर्विशुद्धितो जन्तोः बुद्धिः संपद्यते बहिः ॥

वासं हि कुस्ते दोषं सर्वमांतरदोषतः ॥ १९१७ ॥

विजयोदया—अभ्यन्तरसोचोप अभ्यन्तरजुलुषा नियमेन याज्ञान्यरिग्रहांस्यलति, अभ्यन्तरदोषेणैव याज्ञान्य
कार्यगतान् दोषान् करोति ।
पाशमंषहानादलयेरैवःशुद्धयशुष्यधीनत्वं आह—

मूलाना—सहम् ॥

मनःशुद्धयधीनता वाक्याशुद्धयोरभिधये—

मूलाना—वाहिरे चाज्ञानगतान् ॥

अर्थ—अंतरंग शुद्धिसे अर्थात् परिणामोंकी निर्मलतासे बाह्य परिग्रहोंका नियमसे त्याग होता है. अभ्यन्तर
अशुद्ध परिणामोंसे ही पचन और क्षीरसे दोषोंकी उत्पत्ति होती है. अंतरंग शुद्धि होनेसे यहिरंग शुद्धि भी नियम
पूर्वक होती है. यदि अंतरंग परिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य क्षीरसे और क्षयनोंसे अवश्य दोष उत्पन्न करेगा.

अथ तंदुलस्य कोण्डुयसोधी सतुसस्त तीरदि ण कादुं ॥

तद् जीवस्स ण ॥आ लिस्तासोधी ससंगस्स ॥ १११७ ॥

ससंगस्याङ्गिनः कर्तुं देश्याहुदिर्न शक्यते ॥

अंतरागोच्यते केन तुषयुक्तोऽपि तंदुलः ॥ १११८ ॥

विजयोदया—जह तंदुलस्त यथा तंदुलस्य अभ्यन्तरजुलुषिः कर्तुं न शक्यते याज्ञान्यसहितस्य । तथा
जीवस्य न शक्या देश्याहुदिः कर्तुं लपरिग्रहस्य ।

समंयत्वं देश्यानामभ्यन्तराधोपनत्वमाह—

मूलाना—सहम् ।

अर्थ—जैसे याज्ञान्यसहित तंदुलकी अभ्यन्तर शुद्धि नहीं होती है. अर्थात् तुष हटनेपर ही तंदुल स्वच्छ
होता है वैसे परिग्रहसहित जीरके परिणामोंकी अर्थात् लक्षणाओंकी विशुद्धि नहीं होती है.

इत उत्तरं देश्याद्येणसाधनविकृत्यो निरूप्यते—

सुक्काए छेस्ताए उक्कस्सं असयं परिणमिन्ता ॥

जो मरदि तो हु णियमा उक्कत्साराधओ होई ॥ १११८ ॥

शुक्लेदयोत्तमांशं तः प्रसिष्यति ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य ज्ञायते पुण्यकर्मणः ॥ १९९९ ॥

विजयोक्ता—मुक्ताप लेखसाय शुक्लेदस्याया उत्कृष्टां परिणतो यो भूतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टायाचको भवति ।

उदयाविशयकद्वाराधनाविकल्पं भवति न त्रयीति—

मूळारा—चक्रसं अंसवं उत्तममात्रं । एतस्मात्पराधो । इत्योत्कृष्टाराधनेत्यर्थः । वक्तं च—

शुक्लेदयोत्तमांशं यः प्रसिष्यति ॥

उत्कृष्टाराधना तस्य ज्ञायते पुण्यकर्मणः ॥

संस्थाके आश्रयसे आराधनाके विकल्प कहते हैं—

अर्थ—शुक्लेदयाके उत्कृष्ट अंशसे परिणत होकर जो क्षपक मरणको प्राप्त होता है उस महात्माको नियमसे उत्कृष्ट आराधक समझना चाहिये.

खाद्यवृत्तसणचरणं खज्रोवृत्तमिव च पाणमिदि मग्नौ ॥

तं होइ स्त्रीणमोहो आरादिता य जो हु अरहंतो ॥ १९१९ ॥

जे सेसा सुक्काए दु अंसया जे य यमलेखाए ॥

तेहेस्तापरिणामो दु मद्धिमाराधना मरणे ॥ १९२० ॥

शेषांशान् शुक्लेदस्यायाः पद्मायाश्च तथा भित्तः ॥

त्रियते मध्यमा तस्य साधोराधना मता ॥ २००० ॥

विजयोक्ता—जे सेसा सुक्काए दु अंसया उत्कृष्टादस्ये से शुक्लेदस्याया अंश ये क्यपि पत्तलेखाया अंशः
परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥

मूळारा—सेसा मध्यमाधमौ । जे य जे य त्रयोप्यतका ॥

अर्थ—आधिक सम्यक्त्व, और चारित्र्य और धार्योपशुभित्र सम्यग्ज्ञान इन की आराधना करके आत्मा धीणमोही बनता है और तदनंतर ब्रह्म होता है. (क्षेपक)

अर्थ—छुड़ लेस्यके गन्धय और उपन्य लंछये तथा पबलेस्यके अंशोंसे जो आराधक मरणको प्राप्त करते हैं वे च मध्यम आराधक माने जाते हैं—

तेजाए लेस्साए वे अंसा तेसु जो परिणिमत्ता ॥

कालं करेइ तत्स हु जहणियाराधणा भणदि ॥ १९२१ ॥

तेजोलेइयामधिष्ठाय क्षपको यो विपयते ॥

अन्याराधना तस्य वर्णिता पूर्वसूरिभिः ॥ २००१ ॥

विजयोव्या-तजाए लेस्साए तेजोलेइयाया ये अंशात्सेयु परिणतो यदि कालं कुर्यात् तस्य अन्याराधना भवति ॥
मूढारा- स्पष्टम् ॥

अर्पे—पीत लेस्यके जो अंश हैं उनसे परिणत होकर जो मरणवश होते हैं वे अन्याराधक माने जाते हैं—

जो जाए परिणिमत्ता लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ॥

तछेसो उवक्कजइ तछेस्से चैव सो सग्गे ॥ १९२२ ॥

प्रतिपद्य तपोवाही यो यां लेइयां विपयते ॥

तछेइये जायते स्वर्गे तछेइयः ॥ सुरोत्तमः ॥ २००२ ॥

विजयोव्या—जो जाए यो गया लेइया परिणतः कालं करोति, स तछेइय एवोपवायते, तछेइयसमन्विते स्वर्गे ॥

लेइयाविशेषवशेन स्वर्गविशेषपादमाह—

मूढारा- तछेसा इत्यादि । यत्र यत्र देवलोके सा सा लेइया तत्र तत्रोपवाते इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो जीव जिस लेइयासे परिणत होकर मरणको प्राप्त होता है ॥ उचर भवमें उसही लेइयाका धारक होकर स्वर्गमें उत्पन्न होता है—

अथ तेउपउभसुक्कं अदिच्छिदो जाणदंसणसमग्गो ॥

आउवसया दु सुद्धो गळ्ळदि सुद्धिं चुयक्खिलेसो ॥ १९२३ ॥

सर्वलेदयाविनिर्मुक्तः प्राणांस्त्वजति यो यतिः ॥
 आयुषो बधनेनैव मुक्तो याति न निर्धृतिम् ॥ २००३ ॥
 शुद्धतमा गुणवृद्धिरिष्टा भव्यपाररिनिवेशितचेष्टाः ॥
 दूरनिवारितसंस्तुतिवेश्याः कस्य सुखं जनयन्ति न लेख्याः ॥ २००४ ॥

इति लेख्याः ।

विजयोदया—अथ तेलपत्रमुपकृतं अथ तेजःपत्रमुपलेदया अतिमातः अलेख्यतामुपगतः ज्ञानदर्शनसमग्र
 आयुः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलेपापयमद्विमुक्तो निरस्तापोपक्लेशः ॥ लेख्येति ॥

निर्लेख्यस्य सिद्धिप्राप्तिमाह—

मूषारा—अतिच्छिन्ना अतिक्रान्ताः । अलेख्यतां गत इत्यर्थः ॥

लेख्या सूत्रतः २८ - लङतः १७ ॥

अर्थ—तेजो लेदया, पत्रलेदया और शुक्ल लेखासे अतिक्रांत हुआ अर्थात् जो लेख्यारहित अयोगाव-
 स्याको प्राप्त हुआ है. जिसके ज्ञान और दर्शन परिपूर्ण होगये हैं ऐसा जीव सर्वकर्मका विनाश होनेसे संपूर्ण
 संसारक्लेश रहित होकर आयुष्यके धनसे सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है.

एवं सुभाषिदप्या ज्ञानोवगओ पसत्थलेस्साओ ॥

आराधणापटायं हरद् अविवेण सो खवओ ॥ १९२४ ॥

अविमेन विशुद्धात्मा लेख्याशुद्धिमधिष्ठितः ॥

प्रवर्तितशुभध्यानो गृह्णात्याराधनाखजाम् ॥ २००५ ॥

विजयोदया—एवं सुभाषिदप्या एवं सुखं प्राप्तिताया ध्यानमुपगतः प्रशस्तलेख्यापरिणत आराधनापटाको
 दत्तयचित्नेन ॥

अपाराधनाविरागनयोः फलं गद्याभिरुपलब्धार्जित्वा व्यापित्यसुखादावापनफलं गद्याचतुर्विंशत्या निरूपय
 नृणां योपसंशतपुरःसरं सामान्येन तत्फलं निर्दिशति—

मूलरा—एवं अर्हत्किमादिपटुर्निशक्रियाविशेषविधिना ॥ यतः ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जिसने अपने आत्माको सुखस्तुत किया है शुक्ल भवानको प्राप्त हुआ, शुभलेखयोसे परिणत हुआ ऐसा वह क्षणके निर्विघ्नतासे आराधना पताकाको हस्तमें ग्रहण करता है.

तेलोकसच्चसारं चठगइससारदुक्खणासयरं ॥

आराहणं पवणो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥ १९२५ ॥

दयति चित्तिं सौख्यं छिन्नं भवपादपयं ॥

इत्थमाराधना देवीं भव्येनाराध्यते सदा ॥ २००६ ॥

चेरेयाराधना देवी सिद्धिसौचप्रवेशिनी ॥

आराधिता न तैर्लभः को लब्धो ध्रुवनत्रये ॥ २००७ ॥

पिजयोदया—तेलोकसच्चसारं त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूतं बहुगतिस्सारदुःखनाशकरणीमापयनां प्रप-
द्योऽसौ भगवान् मोक्षमार्तिनीत्यर्थः ॥

मूढारं—सो अद्वैतिक्याकुलपरिजर्मा, दुःप्रव्याप्तकृतानयानसौ विमुक्तदेशवजाराधनां प्रयत्नं यत्तत्तत्तत्सर्वकारं निर्विज्जेन हरतीति पञ्चाक्षेन संबन्धः—भोक्तृपण्डितोक्तं मोक्षस्य केवलमर्थं परिपूर्णमिधुवर्तं ॥

अर्थ—इस त्रैलोक्यमें सारभूत, चतुर्गतिरूप संसारदुःखोंका नाश करनेवाली आराधनाको जिसने प्राप्त किया है उसे भगवानने विलका मूल्य नहीं है ऐसा मोक्ष प्राप्त किया है.

एवमधमखादविधिं संपत्ता सुद्धमणधरित्ता ॥

केदं खवंति खयया मोहावरणंतरायानि ॥ १९२६ ॥

यंभीमपातविधिं मतीति विहीदुःखान्नदशोभाः ॥

बहन्ति पातिदंस्त्रिण केचिद्वयान्कुसुमं ॥ २००८ ॥

पिजयोदया—एवमधमपंचादविधिं एवं यथाव्यतीतिविधिं संपात्तां, सुद्धमणधरित्तां, केचिरक्षयका पाति-
पान्तिं क्षययति ॥

मूला—अथकर्मद्विषि यथाकृतचारित्रम् । केहं चरमदेहो ॥ आचरणं ज्ञानदर्शनचरणे हे ॥

अर्थ—जिन्दगेने यथाकृत चारित्रिको प्राप्त किया है, निर्मल सम्पददर्शन चारित्रिको जो प्राप्त हुए हैं वे क्षपक धार्मिकोंका नाम करते हैं।

केवलकल्पं लोगं संपुणं दृन्वपञ्जयविधीहि ॥

इक्षार्यता पयमणा जहति आराहया देहं ॥ १३२७ ॥

तपजंस्पायीयका देहं ध्यायन्तो सुवनञ्जयम् ॥

द्रव्यपयायसंपूर्णं केवललोकलोकितम् ॥ २००९ ॥

विजयोदया—केवलकल्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेदपदेन योग्यं लोकं संपूर्णं द्रव्यपयायविकल्पैः परिच्छिन्दतः जहति ते स्वदेहं ॥

एवं श्रीयन्मुक्तिर्नततचतुष्टयारिभ्यकामुल्लाराधनाकलमुक्त्वा परममुक्तिमपि वस्तुतत्वेनाह—

मूला—केवलकल्पं केवलज्ञानस्य परिच्छेदपदेन योग्यं । विधीहि भेदे : । ज्ञापयता ज्ञानतः । एयमणा विद्युद-
रिधरकानाः । सो यस्मात् स्वाशु-भयानंतरमित्यर्थः । सर्वं निर्वनं ॥

अर्थ—केवलज्ञानके द्वारा जानने योग्य जगत्के संपूर्ण द्रव्यपयायों के विकल्पोंके साथ जानते हुए वे क्षपक आराधक अपना देह छोड़ देते हैं।

सन्वुक्तासं जोगं जुंजता दंसणे चरित्ते य ॥

कमरयत्रिप्पमुक्त्वा हवंति आराधया सिद्धा ॥ १९२८ ॥

रत्नत्रयकुठारेण जित्वा संसारकाननं ॥

भवन्ति सहसा सिद्धा नमुरासुरवंदिताः ॥ २०१० ॥

चिजयोद्या—सन्नुष्करसं सर्वोच्छष्टं दर्शनेवाचितयोयोगं प्रतिपद्यमानाः कर्मज्योव्यो विममुक्ता आराधकाः सिद्धा प्राप्ति ॥

मूलरा—सर्वोच्छष्टम् । परमैः कर्म्यपरिणामात् । जोगं संवर्षं । जुंजंवा प्रतिपद्यमानाः । कर्मरयविष्पमुक्ता

अपाविर्कर्मचतुःकारच्युतीः ॥

अर्थ—सर्वोच्छष्ट सम्यग्दर्शनं और चारित्रिको प्राप्त कर कर्मरूप रजसे रहित होकर वे क्षणक आराधक मुक्तावस्थाको प्राप्त होते हैं.

इयमुक्तास्ति यमाराधणमणुपलेनु केवली भविया ॥

लोगमगसिहरवासी हवंति सिद्धा ध्रुयकिलेसा ॥ १९२९ ॥

आराध्याराधनामेवमुच्छष्टं धृतकल्मषाः ॥

भूत्वा केवलिनः सिद्धाः सन्ति लोकप्रायसिनः ॥ २०११ ॥

चिजयोद्या—इय उक्तास्ति यमणुच्छष्टमाधनामणुपलेनु केवलिभो भूत्वा निरस्तकेलाः लोकाप्राप्ति प्राप्तिना सिद्धा प्राप्ति ॥

उच्छष्टोपसप्तदशमाह—

मूलरा—इच्छासर्वं कच्छष्टं । अणुपलेनु आराधय । भविय भूत्वा ॥

अर्थ—इस प्रकार उच्छष्ट आराधनाका पालन कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं. संपूर्ण कर्म क्लेशसे मुक्त होकर लोकप्राप्तिकारवासी सिद्ध परमेश्वर देव हैं.

अहं सावसेसकम्मा मल्लिकसाया पणट्टमिच्छत्ता ॥

हासतइअरदमयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥ १९३० ॥

अवशेषितकर्माणः पवित्रागममातृकाः ॥

कामकोपादिद्वारस्यादिभिरुपावर्धनमोचिनः ॥ २०१२ ॥

लोकगुणोद्देश्य—अहं साधसेत्कम्मा अथ सायणेपकम्माणो मयितकपायाः अथाहमिध्यात्वहास्यस्वरतिभय-

विजयोदया—अहं साधसेत्कम्मा अथ सायणेपकम्माणो मयितकपायाः अथाहमिध्यात्वहास्यस्वरतिभय-

मध्यमाराधनाकलं गथावरोकेनादिरुति—

मूढारा—अप । मध्यमाराधनाकलमधिक्रियते इत्यर्थः । मलिद् अभिभूताः ॥

अर्थ—जिनके कर्म बचे हैं, जिन्होंने अनंतानुबन्धादि कथयोंका मथन किया है, जिनका मिथ्यात्वकर्म नष्ट हुआ है. हास्य, रति, अराति, भय, शोक, लुगुप्सा, गुणवेद और स्त्रीवेद, नृपुंसकवेदोंका विन्द्नेने मथन किया है—

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंबुद्धा सब्वसंगउम्मुक्का ॥

धीरा अदीणमणसा समसुहहुक्का असंमूढा ॥ १९३१ ॥

विजयोदया—पंचसमिदा सन्निपिषेवकोपेता गुत्तिचयोपेताः सुसंबुद्धा अपाफुत्तसर्वसंगता धीरा यदीनमनसाः समसुहहुक्का असंमूढाः ॥

मूढारा—सुसंबुद्धा भ्यानाख्यप्रधानसंबरोपेताः ॥

अर्थ—जिन्होंने पांच सभितियां पाली हैं, जो तीन गुप्तिओं में तत्पर हैं, जिन्होंने कर्मोंका संवर किया है, अर्थात् संवरका प्रधान कारण जो भ्यान उससे जो युक्त है, जो परियहोंसे दूर है, धीर हैं, जिनके मनमें दीनता नाम-मात्र भी नहीं रही है. जो दुःख सुखमें समान बुद्धि रखते हैं, तथा जो मोहसहित हुए हैं.

सब्वसमाधाणेण य चरित्तजोगे अधिद्धिवा सम्मं ॥

धम्मे वा उवजुत्ता ज्ञाणे तह पटमसुक्के वा ॥ १९३२ ॥

सुल्लदुःखसहा वृत्तज्ञानदर्शनसंस्थिताः ॥

संयुक्ताः ससमाधाना शुभध्यानपरायणाः ॥ २०१३

विजयोदया—सब्वसमाधाणेण सर्वेण समाधानेन चारित्ते सम्यगवस्थिता धर्मेध्याने श्रयमशुषेते वा उपयुक्ताः ॥

मूढारा—सब्वसमाधाणेण मनोवाक्यप्रणिधानेन ।

अर्थ—मन, वचन, और शरीर इन त्रिनि योगों से जो आत्मास्वरूप से स्थिर हुए हैं, अर्थात् चारित्र्य में जो उत्तर रहते हैं, जो धर्मस्थान तथा, प्रथम अथवा दूसरे शुक्लपद में उत्तर हो गये हैं.

इयं मन्दिममाराधणमणुपालिता सरीरयं हिचा ॥

हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥ १९३३ ॥

विद्यायाराधनां वेधीं मध्यमां मुक्तविग्रहाः ॥

शुद्धलेक्ष्यान्यमा देवाः सन्त्यनुत्तरवासिनः ॥ २०१४ ॥

विजयोद्या—इयं मन्दिमं पदं मध्यमाराधनामनुशास्य शरीरं स्वकस्या विशुद्धलेक्षयाधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥

मूढारा—हिचा लक्ष्म्या । अणुत्तरवासी पंचानुत्तरवासिनः ॥

अर्थ—इस प्रकार मध्यमाराधनाका पालनकर शरीरका त्याग करनेवाले मुनिराज विशुद्धलेक्षयाको धारण कर अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ललेक्षयाके स्वामी बनकर अनुत्तरवासी देवों में उत्पन्न होते हैं.

दंसंणणाणचरित्ते उविकद्धा उत्तमोपपणा य ॥

इरियावहणडिणणा हवंति लवसत्तमा देवा ॥ १९३४ ॥

विजयोद्या—दंसंणणाचरित्ते सम्पद्दर्शनज्ञानधारिने प्रकृष्टा उत्तमाभिप्राहा ईर्यापयं प्रपणा लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥

मूढारा—उविकद्धा कटोपपादिरत्नप्रपाराधकेय उत्कृष्टाः । उत्तमोपपणा प्रधानाभिप्राहाः । इरियावहणडिणणा उद्योग्यदुष्टतकारणशुभासवाग्रिताः । लवसत्तमा अधर्मिन्नाः । प्रवेयकानुदिरिखिमानमस्ति इत्यर्थः ॥

अर्थ—सम्पद्दर्शन, सम्पद्ज्ञान और सम्पद्चरित्र पालने में पूर्ण देख अर्थात् कत्योपपन्न देवों में जिस रत्नप्रप से जन्म होता है उससे भी उत्कृष्ट रत्नप्रपको धारण करनेवाले, उत्कृष्ट तप, ध्यान वरीर नियमों के धारक द्योपपन्नो जिन-ने प्राप्त किया है अर्थात् कल्पतीत देवत्व प्राप्त होने के लिये योग्य ऐसे शुभासवको जो प्राप्त हो गये हैं ऐसे मुनिराज लवसत्तम देव होते हैं अर्थात् मरकर गयेक, अदुदिरिखिमानमें निगडाले देव हो जाते हैं ।

कण्योवगा सुराजं अच्छरसहिया सुहं अणुहवंति ॥
तत्तो अणेतगुणिदं सुहं हु लवसचमसुराणं ॥ १९३५ ॥
सुखं साप्सरसो देवाः कल्पया निविशति यत् ॥
नतोऽनंत गुणं स्वस्थं लभंते लवसचमाः ॥ २-१५ ॥

विजयोवया—कण्योवगा सुरा जं कल्पोवगाः सुराः अप्सरोभिस्वहिता यस्तुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनंतगुणितं
लवसचमवयानां ॥

तत्सुतपरिमाणाद—

मुञ्जरा—जटोवगा कल्पोवपन्नाः ।

अर्थ—अप्सराओंके साथ सौधर्मादिक कल्पवासी देव जिस सुखका अनुभव लेते हैं उससे भी अनंत
गुणित सुख अर्थात् देवोंको मिलता है.

गाणस्मि दंसणस्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ॥
वड्ढिवत्तवोवधाणा अवहियेलेस्सा सवदमेव ॥ १९३६ ॥

विशुद्धवर्धनज्ञानाः सयधाय्यातसंयमाः ॥

दान्वाग्निर्मलेश्याका वर्द्धमानतपोगुणारः ॥ २-१६ ॥

विजयोवया—गाणस्मि ईसणस्मि ॥ ज्ञानवर्धनवोर्यथावयाते न संयमे आयुक्ता वार्द्धितपोऽभिग्रहाः क्षतदं
विशुद्धेवयाः सपकाः ॥

मुञ्जरा—आउचो आसकाः । अवहियेलेस्सा संशुद्धेवयाः ॥

अर्थ—सम्पद्ज्ञान, सम्पदवर्धन और यथाकथित धारित्र इनमें हमेशा तत्पर रहनेवाले तथा तपोंके नियम
विन्दौने पढाये हैं, जिनकी शुभलेख्यायें उत्तरीवर विशुद्ध होती हैं ऐसे क्षपक—

पजहिय सम्मं देहं सवदं सज्जगुणावड्ढिवगुणद्धा ॥
दोर्मिदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥ १९३७ ॥

अदीनमनसो मुञ्चत्वा कचाराभिव विग्रहम् ॥

देवेंद्रचरमस्थानं प्रपद्यन्ते बुधार्चिताः ॥ २०१७ ॥

विजयोद्या—पञ्चदिह देहं पिताम देहं सम्यक्सदा सर्वगुणवर्धनगुणकृता देवेंद्रचरमस्थानं लभते ॥

मूढारा—सन्वयुगवद्विगुणद्वारा सर्वगुणेन सर्वस्वगुणकारेण चरितेयुगैरणिमादिभिः समृद्धाः । चरिमठाणं उपरिमत्त्वगन्धानम् ॥

अर्थ—आदार्तिक शरीरका त्याग कर संपूर्ण गुणोंके कारणोंसे अणिमादिक गुणोंकी उनको प्राप्ति होती है तथा देवेंद्ररा अन्तिम पद उनको प्राप्त होता है,

सुयभचीष्ट विसुद्धा उमातवोनियमजोगसंसुद्धा ॥

लोगंतिथा सुरवरा हवन्ति आराधया धीरा ॥ १९३८ ॥

जावदिया रिद्धीओ हवन्ति इंदियगवाणि य सुहाणि ॥

ताइं लहंति ते आगमेसि भद्रा सया खवया ॥ १९३९ ॥

यम्यन्नययोगाः कृपायारानिभर्द्दिनः ॥

सन्ति लोकांतिका येया रेहोयोतितपुष्कराः ॥ २०१८ ॥

ऋदयः संति या लोके पार्नीद्वियसुत्वानि च ॥

क्षपकास्तानि लप्स्यन्ते सयोगेप्यत्यनेहसि ॥ २०१९ ॥

विजयोद्या—आवदिया रिद्धीओ यावत्तः ऋदयो भवति यवन्तीद्वियसुत्वानि च भवंति तानि सयोगि लप्स्यन्ते भद्राशया" क्षपकाः ॥

नूलाया—नियम अवग्रहविशेषः । जोग ध्यानमात्मपनादिबो ।

मूढारा—लहंति लप्स्यन्ते । वे यध्यमावधनाराधकाः ॥ आगमेसि आगमिनि काले । भद्रासया प्रज्ञास्तचिपः ।

अर्थ—शुभभक्ति-सम्यग्दानाराधनासे विनका मन निर्मल बना है; उग्रतप, विविष्ट नियम, आतापनादिक योग और ध्यानसे विनका आत्मा निर्मल बना है ऐसे धीर आराधक लोकांतिक नामक उत्कृष्ट देव होते हैं, हम जगज्जम सितनी ऋद्विया और इंदियसुत हैं वे सब निर्मल परिणामके क्षपकाओ अवश्य प्राप्त होते हैं,

ओ वि हु जहणियं तेउलेसमारहणं उवणमंति ।
ते वि हु सोयम्माइसु हवंति देवा ॥ हेडिल्ला ॥ १९४० ॥
जयन्याराधनां देवीं तेजोलेश्यापरायणाः ॥

आराध्य क्षपकाः संति सौधर्मादिषु नाकिनः ॥ २०२० ॥
चितयोदया—ओ वि हु जहणियं येऽपि जयन्याराधनां तेजोलेश्याप्रदुत्तामुपनमंति चेऽपि सौधर्मादिषु देवा-
मवंति ॥ नाचोमयिनो देवाः ॥

जयन्याराधनाफलमाह—

मृगार—तेउलेसं तेजोलेश्यामवृणां । ण हेडिल्ले माघोभावनिनः ।
अर्थ— तेजोलेश्याके धारक ऐसे क्षपका आराधनाको जयन्याराधना कहते हैं इस आराधनाके आरा-
धक क्षपक सौधर्मादिस्वर्गों में देव होते हैं. इन देवोंसे हीन देवोंमें इनका जन्म नहीं होता है.

किं जंविणं बहुणा जो सारो केवलस्स लोगरस्स ॥

तं अचिरेण लहंते फासिच्चारहणं निस्सिलं ॥ १९४१ ॥

यहुनात्र किमुक्केन यत्सारं सुवनज्जेय ॥

आराध्याराधनां देवीं लभंते तन्मनीयिणः ॥ २०२१ ॥

पिजयेनया—किं जंविणं बहुणा किमुक्केन यत्सारं सुवनज्जेय लोकाय सारभूतं तदचिरेण लभंते आराधनां प्रपन्नाः ॥
त्रिक्रियाया अप्याराधनाया माहात्म्यमभिप्रेक्षि—

मृगार— केवलस्स सर्वस्य । फासिच्चा आराध्य । लके व-

गुह्नोक्तेन किं सारो लोकस्य सकलस्य यः ॥ तं लभंते विरात्सृष्ट्या सर्वकारावनाविधिम् ॥

अर्थ—अब हम और जादा नहीं कहते हैं जो संपूर्ण लोकत्रय सारभूत पदार्थ है वह आराधनाओंको प्राप्त
हुए नीचोंको दीप्त ही प्राप्त होता है. इसमें संदेह नहीं है.

भोगे अणुत्तरे मुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्ते ॥

इद्धिमलुलं चइचा चरंति जिणदेसियं धम्मं ॥ १५४२ ॥

मुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा सुवि नरोत्तमाः ॥

विहाय महतीं भूतिं भूत्वा सिष्यन्ति साधवः ॥ २०२२ ॥

विजयोदया-भोगे अणुत्तरे भोगाच्छुद्धात् मुक्त्वा सगच्छुता मनुष्यभेदेऽपि प्राप्य सकलसुखं तं च तपस्या
तिनामिहितं धर्मं चरंति ॥

पण्यमाराधनचपन्याराधकानां स्वर्गदुर्लभसुखरुक्ताभोग्यसुखं कृत्यं चोपदिशति-

मूढाण-अणुत्तरे अरुहणं । नतो भुत्वा स्वर्गदेवकीर्णोः । यइचा लक्खा । धम्मं पारिग्रहम् ॥

अर्थ-श्रमशक्तीर्णोऽपि स्वर्गमे भोग्योऽपि प्राप्तिं होती है । उनका भोग लेकर आयुष्य समाप्त होनेपर
वे स्वर्गमें च्युत होकर इस मनुष्यभवमें लब्ध धारण करते हैं । इस मनुष्यभवमें भी संपूर्ण सुखिकी उनको
प्राप्ति होती है । उसको छोड़कर वे जिनधर्मका पाठन करते हैं अर्थात् मुनि होकर तप, स्वाध्याय
और ध्यान करते हैं ।

सदिमंतो धिदिमंतो सद्वासवेगवीरियोवगथा ॥

जेदा परीसहाणं ऊयसग्गाणं च अभिमविय ॥ १५४३ ॥

धृतिस्मृतिमतिश्रद्धावीर्यसंवेगभागीनः ॥

परीपहोपसर्गाणां जेतारो विजितेन्द्रियाः ॥ २०२३ ॥

विजयोदया-सदिमंतो स्मृतिमंतः धृतिस्ममन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिताः परीपदाणां विजेतारः उपसर्गा-
णामभिपयितारः ॥

धर्मं परं पतन्तीदमाः सुखिहाह-

मूढाण-सदिमंता स्मृतिगुणः । जेदा जेताः । अभिमविदा अभिमयकर्ताः ।

अर्थ-वे आग्रह अत्यन्त करके उपार्जितो वे ध्यानमें रखते हैं- परीपह और उपसर्ग प्राप्त होने-

पर भी धैर्यसे द्दिगते नहीं. अद्वा, संवेग-संसारभय, और बाँधे आत्मसामर्थ्यसे वे च्युत नहीं होते हैं. वे उपसर्ग और परीणहों को सह लेते हैं.

इय चरणमधवखादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ॥

सोधिंति ज्याणजुत्ता लेस्साओ संकिल्हिद्वाओ ॥ १९४४ ॥

सयथास्यातचारिच्चाः पवित्रज्ञानदर्शनाः ॥

चित्रोप्य मलिनां लेस्वां सुद्धध्यानविचर्द्दिनः ॥ २०२४ ॥

पिज्जपोव्वा—इय चरणमधवखादं एवं यथाव्यातचारित्वं प्रतिपन्नाः शुद्धदर्शनमुपगता इयान्णाकाः संकिल्ह
लेस्सा विनाशयन्ति ॥

मुळार-इय एवं धर्तः । सोधिंति नाशयन्ति ।

अर्थ—इस प्रकारसे यथाख्यात चारित्रिका लाभ कर वे शुद्ध दर्शनको प्राप्त होकर ध्यानमें उत्तर होते हैं और अपने संकल्प लेश्याओका-मलिन परिणामोंका छुट कर लेते हैं.

सुककं लेस्समुवग्गहा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ॥

सम्भुक्ककम्मकवथा सविंति सिद्धिं शुद्धकिलेसा ॥ १९४५ ॥

शुद्धलेश्यागनान्छिष्टा द्यस्तनिःशेषकस्मयाः ॥

भवन्ति सहसा सिद्धा भुवनोत्पन्नवर्दिताः ॥ २०२५ ॥

पिज्जयोमया-सुक्कं लेस्समुवग्गहा शुक्कलेश्यामुपगताः शुक्लध्यानेन क्षणितसंसारं तन्मुक्ककम्मकवथा दूरीकृत
कलेसाः सिद्धिमुपयन्ति ॥

मुळार-सट्ठम् ।

अर्थ—शुद्ध लेश्याकी प्राप्ति का वे आराधक शुक्लध्यानसे संसारका नाश करते हैं. कर्मरूप कवचको फोड़कर संपूर्ण कलेशोंका अर्थात् चतुर्गविके दुःखोंका नाश करके मुक्त होते हैं.

एवं संशारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरित्तं ॥

परिवहन्ति पुणो कोइ झायंतो अट्टरुहाणि ॥ १९४६ ॥

इत्थं संस्तरमापन्ना रौद्रात्सिवयवर्तिनः ॥

रत्नत्रयं विशोच्यापि भूयो भद्रयन्ति केचन ॥ २०२६ ॥

विजयोद्या—एवं संशारगदो विसोधइत्ता वि दसणचरित्तं ॥
पात्तिरीद्वपरिणतः पतति ॥ तत्र योग्यालये ॥

एवं साक्षात्पारंपर्येण च आर्यभट्टारापनाफले व्याख्येयं दुर्लभबलेन दुर्ध्वनाद्विराषनां आप्तस्य फलं प्रव्यवेनाह—

मूढारा—परिवहन्ति रत्नत्रयवत्प्रयवर्तते ।

अर्थ—कोई सुनि संसारका आधय करने पर भी सम्यदर्शन और चारित्रिकी श्रद्धि करने पर भी पूर्वकर्म के भारसे आतं ध्यान, रौद्रध्यानमें परिणत होकर अपने दुष्टस्वरूप से भ्रष्ट होते हैं।

ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्धं च चरिमकालमि ॥

जो जहइ संयं देहं सो ण लहइ सुग्गादे खवओ ॥ १९४७ ॥

आर्त्तरौद्रपरः साधुर्यो मुंचति फलेवाम् ॥

कृतां दुःखप्रदामेप वेददुर्गतिमृच्छति ॥ २०२७ ॥

विजयोद्या—ज्झायंतो अणगारो अट्टं रुद्धं च चरिमकालमि ॥
सुगतिं लभते ॥

विराज्य विजयमानस्य दोषमर्ह—

मूढारा—स्पष्टम् ॥

आर्त्त रौद्रमें परिणति होनेसे क्या दानि होती है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—मरणके फलमें आतं ध्यान और रौद्रध्यानका आश्रय करने से वह एक आयुष्यकी समाप्ति होनेपर सुगति को प्राप्त नहीं कर सकता है-

जदि वा सुभाविदप्या वि चरिमकालमि संकिलेसेण ॥
परिवडदि वेदणट्ठो खवओ संथारमारुढो ॥ ११४८ ॥

चिराम्यस्ताचरिओऽपि कपायाक्षवलीकृतः ॥

मृत्युकाले ततःसद्यो यदि अश्रयति संयतः ॥ २०२८ ॥

विजयोदया—जदि वा सुभाविदप्या वि यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारुढः वेदवर्तः क्षणकः संकलेसेण हेतुना समार्गतरिपतति ॥

चिराभ्यस्तचारिओऽपि क्षणको यदि मरणक्षणे वेदनायसात्मातसंकल्लः सन्मार्गोत्पथ्ययते तथा नित्यावसमा-
दीनां तत्प्रत्यवने किमाभयं वाच्यमित्यभिधातुं प्रबंधमभिवक्षे—

मूढार—स्पष्टम् ॥

अर्थ—जिसने आत्माको आराधनाओंसे सुसंस्कृत किया था तो भी मरणसमयमें संकलेशपरिणामोंकी उत्पत्ति होने से वह संस्तरपर आरुढ हुआ भ्रमण सन्मार्गसे अष्ट होता है.

किं पुन जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ॥

जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाडंदा ॥ ११४९ ॥

अवसन्नो यथाछंदो यः पार्श्वस्थः कुशीलकः ॥

संस्तरश्च तथा किं न स अश्रयति कुमानसः ॥ २०२९ ॥

विजयोदया—किं पुन किं पुनर्न परिपतति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुसीलाः संसत्ता वा स्पन्दन्दाः ॥

अथ अपसन्नाः निरूप्यन्ते—

गच्छंति केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिरुद्धा ॥

मारणपंजरचकिदा ओसण्णागा पविहरंति ॥ ११५० ॥

विजयोदया—यथा पक्ष्मे क्षुण्णः मगार्दीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । मावाचसन्नः अशुद्धचरित्रः सीदति उपकरणे, यत्तिसंस्तरप्रतिष्ठेयान्, स्वाध्याये, विहारयुक्तियोंघने, गोचारशुद्धौ, ईर्ष्यासमित्यादिषु, एवाध्यायका-

[illegible]

भूमीय शूलीयं वा सिद्धयथ पुष्कलमुद्रकादीहं । रक्वं चसिगरणं ॥ करोति जो भूमिगकुलीलो कश्चित्प्र-
सेनिकाकुलीला, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रदीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येयमादिभिर्जनं
रंजयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुलील इति । कश्चिदप्रसेनिकाकुलीलः पिशाभिर्मनौषधमयोर्गो असंयतं
विश्रित्तां करोति सोऽप्रसेनिकाकुलीलः ॥ कश्चिन्निमित्तकुलीलः अशान्तिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति ति-
क्त निमित्तकुलीलः । आरमनो अर्ति कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुलीलः । केनचिदुपद्रुतः
परं शरणं प्रविशति, अनापशशां वा प्रविश्य आरमनश्चिकित्सां करोति ॥ या आजीवकुलीलः । पिशायोर्गोपदिभिः
पत्न्यापहरणश्चमर्दश्चानवरः उक्तकुलीलः, ईदृशलादिभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहलकुलील इति ।
पृथग्गुणादीनां गुणार्था, फलार्थां च संवयमुपदर्शयति, गर्भस्थापनादिकं च करोति यः स संपूर्णकुलीलः । असानो,
कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पाफलादीनां, गर्भस्य परिशतानं अभिसारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुलीलः
उक्तं च । काञ्चित्कभूदकमे पक्षिणा पक्षिणे गिमिषमज्जीवे, कलकुलन समुच्छ्रण वपादवादीकुलीलो तु ॥ इति ॥
आदिशद्दवारिहृदीलाः कुलीला उच्यन्ते—क्षेत्रं हिरण्यं च परिग्रहं ये युद्धेति हरितक्रंदफलभोजिनः कृतकारि-
तानुमतपिण्डोपधिपसत्तिसेवापराः, स्त्रीकयारतयः, मैथुनसेवापरायणाः, विवेकाज्वादिवाधिकरणघोषताश्च कुलीलाः
पृष्टः प्रमत्तपिण्डोपेयश्च कुलीलः । संखको निरुच्यते—मित्रचारित्र्यं प्रियचारित्र्यः अप्रियचारित्र्ये दृष्टे अप्रियचारित्र्यः,
नटयदनैकरूपप्राप्ती संसक्तः, पत्नीद्वयेषु प्रसक्तः विविचयैर्नरयशोप्रियः, स्त्रीद्वयेषु संस्फेद्यसहितः शुद्धस्यजनप्रियश्च

संस्तुता अवसन्नो भवसत्ता, पात्रंस्वयंस्वयंस्वयमपि पात्रंस्व, पुत्रीलसंस्वयंस्वयमपि पुत्रील, वा स्वच्छेदसंस्वयंस्वयमपि स्वच्छेदसंस्वयमपि । यथाछंदो निरूप्यते—अधुनमुपदिष्टं स्वेच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछंद इति । तदथा यत् गतति जलधारणमसंयमा । दूरकर्तरिकादिमि। केसापनयनमसंयमं आत्मविराधनान्यथा भवतीति । भूमिगच्छा एण्डुजे पसनाभवस्थितनामायायेति, उद्देशिकादिमि भोजनेऽदोषः ग्रामं सभलं पर्यटतो मद्दही औच-निकायपिराधनेति, गृहामभेपुमोजनमदोष इति कथनं, याविपात्रिकस्य परिदातनदोषो भवतीति निरूपणा, संप्रति यथोक्तकारी न विद्यत इति च आरत्वं एवमादिनिरूपणावयवाः स्वच्छंवा इत्युच्यते ॥

मूलान्— किं पुन किं पुननं परियनंति । सर्वदा येऽवसनादिरूपां धृत्वा पश्चिम्बकाले एव सन्मार्गमनुसृता-रते संस्तरारुढाः संहो वेदनायमभ्याससंस्तेदासक्तः प्रकथयंत एवेत्यर्थः । जोसण्णा चारित्रेऽवसीदन्तः पथिका इयं पथे । यथोक्तानुनिरुमेशकस्यादिना वदे पदे स्मलन्त इत्यर्थः । निरुपे वीक्षामहवाथप्रतिचरमकालं यावत् । निरुचवान्मरथा निरतिपारसंयममार्गं जानतो पि ये सदा सदृष्टयो नैकांतेन संगता न च निरतिचारसंयमाः किंनु संयममार्गपार्थे विदुग्निव । यथा केषित् पांथा मार्गं पश्यतोऽपि सत्पार्थे अयोग्यं सुलक्ष्णीकृतया कारणं विना ये नियेयंते ते वार्धस्था इति तत्तत्पर्यं । कुमीला लोकमकटकुलमितसीलाः । संसत्ता ये प्रियचारित्रे दृष्टे प्रियचारित्राः, अप्रियचारित्रे च अप्रियचारित्राः । नटयदनेरूपमादिजोऽवसन्नानि संसर्गात्सयमपि चन्द्रावमात्र इति भावः ॥ जथाछंवा उस्मन्नानुपदिष्टस्वेच्छाविकल्पित निरूपणावयवाः ॥

अर्थ—क्या जो अवसन्न, पात्रंस्व, कुलील, संसक्त और यथा छंद मुनि हैं वे अवश्य सन्मार्ग से जाए नहीं होते हैं ? अवश्य ही अष्ट होंगे.

अर्थ—जैसे कीचड़ में फंसे हुए और मार्गभ्रष्ट पथिकको अवसन्न कहते हैं उस को द्रव्यावसन्नभी कहते हैं, वैसे जिसका चारित्र अशुद्ध वन गया है ऐसे मुनिको भावावसन्न कहते हैं. यह मुनि पिछी कामंदक्यादिक उपकरणोंमें, आसक्त होता है. पसति और संस्तरकी शोथना करनेमें प्रमादी बनता है. स्वाध्यायमें, विद्वारभूमि-श्रीधर्ममें, आहारकी शुद्धिमें, ईर्ष्याभित्यादिक सामितिबों में, स्वाध्यायकालके अवलोकनमें स्वाध्यायको समाप्ति करने में तत्पर नहीं होता है. अर्थात् उपर्युक्त कथामें वह प्रमादी बनता है. आवश्यकतादि कथों में आलस्य करता है. इतर मुनियोंकी अपेक्षा से यह अवसन्नानि आवश्यकता अधिक भी पालन करता है परंतु वचन और काय-गुरीरसेही करता है. मनसे उनका पालन नहीं करता है. इस प्रकार वह चारित्रसे अष्ट होता है इसलिये ऐसे मुनिको अवसन्न कहते हैं.

मार्गों की जानता हुआ भी कोई अन्य पुरुष के साथ उस मार्ग के समीप जाता है उसको जैसे मार्गपार्थिव्य कहते हैं ऐसे अतिचाररहित संयममार्ग का स्वरूप जानकर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है पंडु संयममार्ग के पाम ही रह रहता है। यद्यपि वह एकान्त रूप से असंयमी नहीं है परंतु निरतिचा संयमका पालन नहीं करता है। इसलिये उसको पार्थिव्य कहना चाहिये। वसति का को बनबनेवाला, उसकी मरम्मत करनेवाला, और यहां आप ठहरो ऐसा कहकर मुनियों को वसति का देनेवाला इन तीनों को अग्र्याधर कहते हैं- इनके यहां आहार लेने के पूर्व करना मुनियों को निषिद्ध है। परंतु इनके यहां जो हमला आहार ग्रहण करते हैं- दाता की आहार लेने के पूर्व और आहार लेने के अनंतर ग्रहण करते हैं- उत्पादन दोष, एषणा दोष सहित आहार को ग्रहण करते हैं। हमला पुरुषी वसति का रहे हैं- एक ही संस्तर में हमला सोते हैं, एक ही क्षेत्र में रहते हैं, गृहस्थों के घर में अपनी बैठक लगाते हैं, गृहस्थों पर गणों से अपनी ओर चादि किया करते हैं- जिसकी शोधना अशुभ है अथवा जो सोचा नहीं गया है उसको ग्रहण करते हैं छद्म, कैची, नल छेदन का शत, सांडस (जिसको चिमटा कहते हैं) वस्त्रा वीक्षण पनाने का परस्पर, वस्त्रा, फर्मायल निमालने का साधन, इन वस्तुओं को ग्रहण करते हैं- सीना, घोंना, उसको प्रदर्शना, रंगाना इत्यादि कार्यों में जो तत्पर रहते हैं ऐसे मुनियों को पार्थिव्य मुनि कहते हैं- जो अपने पास क्षारचूर्ण सोरास चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होने पर भी रखते हैं उनको भी पार्थिव्य कहना चाहिये- जो रात में बंदे रहते हैं, अपनी इच्छा के अनुसार विद्याना भी बड़ा पनाते हैं, उपकरणों का संग्रह करते हैं, उनको उपकरण पुरुष कहते हैं।

जो दिन में सोता है उसको देहपुरुष कहते हैं ऐसे पार्थिव्य के भेद हैं- कारण के बिना पाव घोंना अथवा खेल लगाना, गण के ऊपर उपजीविका करना, तीन अथवा पांच मुनियों की सेवा करना ? ऐसे जो कार्य करता है वह भी पार्थिव्य है।

जिनका आचरण कुत्सित है दोष युक्त है उस मुनि को कुत्सित कहते हैं- यदि ऐसा कुशील मुनिका लक्षण किया जायेगा तो अनसन्नादिक मुनियों को भी कुशील ही कहना होगा ? उत्तर- जिसका बुरा आचरण लोक में प्रगट हुआ है उनको कुशील कहते हैं ऐसा अभिप्राय यदा समझना चाहिये।

इस कुशील मुनि के अनेक प्रकार हैं- कोई क्रोसुकुशील है- औषध, विलेपन और विद्यो के प्रयोग से ही राजादर में फौज दिसाना, लोक में प्रियता संपादन करना।

भूतकुशील—श्रुति शब्द यहाँ उपलक्षण है इसालेय भूतिका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—अभिर्मन्त्रित किये गये धूल, सफेद सरसों, पुष्प, फल, पानी इत्यादिकोंके द्वारा किसीका रक्षण करना, किसीको चय करना, ऐसे कार्य करने वालेको भूतिकुशील कहते हैं- उपर्युक्त अभिप्राय 'सूदीय धूलियं वा' इस गायामें भी व्यक्त किया है, प्रसेनिका कुशीलका लक्षण इसप्रकार है-अंगुष्ठ प्रसेनिका, अक्षप्रसेनिका, प्रदीपप्रसेनी, क्षिप्रसेनी, और स्वप्नप्रसेनी इत्यादि विषयोंसे जो लोगों का मन अनुरंजित करता है उसको प्रसेनिकाकुशील कहते हैं-अप्रसेनिका कुशील—विद्याओंसे और औषधोंसे असंयोंकी जो चिकित्सा करता है वह अप्रसेनिका कुशील है-अष्टांगनिमित्तको ज्ञानकर जो लोगोंको उनका उपदेश करता है वह निमित्त कुशील है-अपजी, जाति प कुल प्रकाशित करके जो शिक्षादिककी उत्पत्ति करता है उसको आज्ञायकुशील कहते हैं-किशोके द्वारा उपद्रव होनेपर दुसरोको जो शरण जाता है-जयवा अनापशालामें प्रवेश कर अपनी चिकित्साको करवाता है उसको आज्ञायकुशील कहते हैं-विद्या मंत्रादिकोंके द्वारा परद्रव्यापहरण करके दंस प्रदयेन करनेवाला उसको कक्षकुशील कहते हैं-ईंद्रजालादिकोंके द्वारा जो जमोंको आश्रयचकित करता है वह कुरनाकुशील है-वृक्ष, छोटे छोटे पेठ वगैरहोंको पुष्प और फलोंकी उत्पत्ति का उपाय बतलाता है-गर्भस्थापनादिक कार्य जो करते हैं उसको सम्मूर्लनाकुशील कहते हैं-जस जातिके कीटादिक, बृद्ध, छोटे पेठ इनके पुष्प फलादिकोंका जो नाश करते हैं, गर्भका जो नाश करते हैं-जो शाप देते हैं उनको प्रघातनकुशील कहते हैं-इन सब कुशीलोंका आचार्यन 'काप्रोतिक भूति कम्म' इस गायामें नाम निर्देश किया है-गायामें आदि शब्द आया है इससे और भी कुशीलोंके भेद होते हैं-उनका स्वरूप इस प्रकार—जो क्षेत्र-जमीन, छुवणों, चतु-पदप्राणी इन परिग्रहोंका स्वीकार करते हैं-हरित, कंद, और कच्चे फल भक्षण करते हैं, कृत, कारित, और अनुसृत ऐसी वस्तुतिका, आहार उपाधि-इनका सेवन करते हैं; स्त्रियोंकी कथाओंमें प्रेम रखते हैं-मेषुन सेवामें तत्पर होते हैं;

अविनी होते हैं आसबके अधिकरणों में हमेशा उद्युक्त रहते हैं इनको भी कुशील कहते हैं जो पृष्ठ, निर्लज्ज, प्रमत्त, और विस्मयुक्त वेग धारण करते हैं- उनकी भी कुशील कहें हैं.

मंतक मुनिका वर्णन—

ऐसे मुनि चारित्रिय मुनिके सहवासमें जब रहते हैं तब चारित्रिय ये भी बन जाते हैं- जिनको चारित्रिय नहीं है ऐसे मुनिके सहवासमें रहनेपर जो चरित्रको अधिय मानने लगते हैं- मटक समान इनका आपण रहता है- ये संसक्त मुनि पंचद्रियों के विषयों में आसक्त होते हैं- तीन प्रकारके मोरवर्मो-ऋद्धिगौरव, रमंगौरव और सातगौरव इनमें आसक्त होते हैं- स्त्री के विषयमें इनके परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं- गृहस्थोपर इनका अविद्याय प्रेम रहता है- अवसन्न मुनिसंलग्ने ये अवसन्न बनते हैं- पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ हो जाते हैं- कुशीलके मंसर्ग से कुशील और स्वच्छंदके संयोग होनेपर वेसे बनते हैं- अर्थात् नटवत् इनका आचरण है.

पचाछंद मुनिका वर्णन— जो मुनि आगमके विरुद्ध आगमन न कहा हुआ और स्वेच्छाकोविपत् पदा- योंका स्वरूप कहते हैं उनकी पचाछंद मुनि कहते हैं-

वर्पाफालमें जो पानी गिरता है उसको धारण करना यह असंयम है- वस्तरा और कँचीसे केश निका- लना ही योग्य है- फेद्यलोच करनेमें आत्मविराधना होती है- सचिवतृणपुंजपर बैठनेसे भी भूमिशय्या मूलगुण पाला जाता है- तृणपर बैठनेसे भी जीवोंको बाधा नहीं होती है- उद्देशादिक दोषसाहित भोजन करना दोषास्पद नहीं है- आहारके लिये सब ग्राममें घूमनेसे अनेक जीवोंका घात होता है- घरमें दि भोजन करना अच्छा है- अपांत् वमविकांम ही भोजन करना अच्छा है- हाथमें आहार लेकर भोजन करनेमें जीवोंको बाधा भेदोंचती है- ऐसा घे उद्व्यय पड़ते हैं- इस फालमें यवोक्त आचरण करनेवाले मुनि कोई नहीं हैं ऐसा कथन करना इत्यादि प्रकारसे विरुद्ध मापण करनेवाले मुनियोंके पचाछंद अर्थात् स्वच्छंदी मुनि कहते हैं-

अविसुहभावदोसा कसायवसगा य मंदसंवेगा ॥

अच्चासादणसीला मायावहुला पिदानकदा ॥ १९५१ ॥

असुहृदमनसो वक्ष्याः कथायेन्द्रियविद्विषाप् ॥

पूज्यात्पासावनाशिला नीचा मायानिदानिनः ॥ २०३० ॥

विज्ञयोदया—अभिपुष्टमावदोसा भवाः सम्बन्धोपधानचरित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः शंकादयः ते अभिगुञ्जा अनिराकृता येस्ते अपिपुष्टमावदोषाः । फलसाधवसिवा कथययशयवित्तः । मन्त्रसेवेयाः । अन्वत्पासावनाशिला गुणानां गुणिनां चापनानकारिणः । प्रचुरमायानिदाने यताः ॥

कुतस्ते मृत्युकाले सन्यागोत्पिच्ययंते इत्यत्र मायापट्टकमाह—

मूढारा—अभिपुष्टमावदोसा अनिराकृतस्त्वत्रयाविकाराः । अन्वत्पासावनाशिला गुणानां गुणिनां चावमानकारिणः ।

अर्थ—सम्बद्ध्यन्तः सम्बन्धान और सम्बद्ध चरित्रको आधार्य भाव कहते हैं. इनके शंकादिक दोष है. इन दोषोंको न हटानेसे सम्बद्ध्यन्तादिक निमित्त नहीं होते हैं. अर्थात् अवसन्नादिक मुनिओंका रत्मत्रय निर्दोष नहीं रहता है. वे कथायके बन्ध हो जाते हैं. उनमें धर्ममेव मंद पाया जाता है. वे गुणोंका और गुणिकनो—का अपमान करते हैं. उनमें माया और निदान ये दो शस्त्र प्रचुर पाये जाते हैं.

सुहृसादा किमञ्ज्ञा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ॥

विसयासापडिचङ्का गारवगह्या पमाइल्ला ॥ १९५२ ॥

धर्मकार्यपराधीनाः पापसूत्रपरायणाः ॥

संयकृत्ये ममानेन किं कृत्यमिति वादिनः ॥ २०३१ ॥

सर्वव्रतानिचारस्थाः सुत्वास्वावन्लालसाः ॥

अनाराधितचारिजाः परचित्तशूलोद्यमाः ॥ २०३२ ॥

विज्ञयोदया—सुहृसादा सुधस्वावन्लालसाः । किमञ्ज्ञा किं महो केनचिदिति सर्वेषु संवक्तार्येत्त्वनादताः । गुण सायी गुणेषु सगमदर्शनादिषु येरत एव निरुत्साहाः । पावसुत्तपडिसेवी आत्मनः परेषां वा अनुभवरिणामस्य मिथ्यात्वा- संयमकपापानां प्रयत्नं शाल पापसूत्रे निमित्तं, चैवकं, कौटिल्यं, स्वोपपलक्षणं, घातुवादः, काव्यनाटकानि, चौरनात्वं शाललस्यं प्रहरजिययाचित्रकलागंधर्षणपयुषस्यादिकं पट्टस्थित पापसूत्रे कलापराध्यासाः, विसयासापडिचङ्का अभिमतविषयपरिग्रान्दर्थार्थं यद् आत्मा तस्यां प्रतिवक्ष्या, तिगारवगुहका गारवत्रयैर्गुरुवः । पमाइल्ला विकथविषयदश ममादसुहितः ॥

मृगारा—मुदखाद्या सुखास्वादिपराः । किमन्या किं मम केनविदिति सर्वेषु संवकायेष्वनादृताः । गुणसाथी गुणेषु सम्पददर्शनादिषु येन इव । सम्पत्कामादिनिरुक्तसाहा इत्यर्थः । पावस्तुत्पत्तिसेवी स्वपरयोर्मिथ्यात्वादिति वेदकनिमित्तं कौटिल्यहीनुरुपलक्षणं, धातुवात्कान्यनाटकचौर्यैरन्वचित्रगीतवृत्तबाधंगंधुपुस्त्याविद्याजेषु कृतादराभ्यासाः । पमादिह्या विकथादिप्रमादयताः ॥

अर्थ—इन पुनिजाँका स्वभाव सुसिया बनता है इसलिये मेरा कितासि कुल भी संबंध नहीं है ऐसी कल्पना करके सबके कागोंसे वे उदासीन रहते हैं. सम्पददर्शनादि गुणोंमें वे निरुत्साह रहते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि करनेकी उनको इच्छा नहीं होती. अपने अथवा अन्यजनकी अधुम परिणाम बनानेवाले अर्थात् जो मिथ्यात्व, असंयम, कृपायरूप परिणामोंकी उत्पत्ति करते हैं ऐसे शास्त्रोंका पाप करते हैं, जैसे निषिद्ध, वैधक, कौटिल्य (पाणकपका अर्पनाह) स्त्रीपुरुषलक्षण, अर्थात् साधुद्विक, यातुवाद, काव्य, नाटक चोरआस्त्र, शस्त्रलक्षण, शास्त्रविद्या, चित्रकला, गोधन, गंधपुस्त्यादिक इन शास्त्रों को पापकृत्र कहते हैं. ये पार्श्वस्थादि मुनि इन शास्त्रोंका आदरसे अभ्यास करते हैं. इष्ट विषयकी प्राप्ति करनेवाली जो आज्ञा है उससे वे पथ गये हैं. तीन भारतसे ये सदा युक्त रहते हैं. विरुधादिक पंदरह प्रमादोंमें ये पूर्ण रहते हैं.

समिदीमु य गुचीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेषु ॥

परतचीसु पसचा अणाहिदा भावसुद्धीए ॥ १५३ ॥

विमयवैद्या—समिदीसु य समितिषु गुणिषु च संवमगुणेषु भावनारहिता. परवभाषारेषु प्रवृत्ता भावशुभा-पमादृताः ॥

मृगारा—परतचीसु परवभाषारचिन्तासु धणादिना जवाहता कसिचत्ता वा ।

अर्थ—समिति, गुणि, इनकी भागनाओंसे-अभ्याससे ये दूर रहते हैं. संवमके भेद जो उत्तमगुण शील वगैरह इनसे ये दूर रहते हैं. दूसरोंके कार्योंकी चिन्तामें लगे रहते हैं. और आत्मकल्याणके कागोंसे कौनों दूर रहते हैं. इमतिष इनके स्तत्रपमें निमलता नहीं रहती है.

गंधाणियत्तप्प्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ॥

सद्धरत्तरूपांघे फासेसु य मुल्लिदा घडिदा ॥ १९५४ ॥

इहलोककियोमुत्ताः परलोकक्रियालसाः ॥

मोहिनाः साबलाः क्षुद्राः संविल्लिदा दीनवृत्तयः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—गंधाणियत्तप्प्हा अतपपरिग्रहतप्णा, बहुमोहा, अज्ञानबहुलाः, सबलसेवनापराः, शब्दादिषु विषयेषु मूर्खता, आलस्यवर्तिनाः ॥

मूलारा—गंधाणियत्तप्प्हा अनिष्टचपरिग्रहस्थूहाः । बहुमोहा अज्ञानबहुलाः । सबलसेवणासेवी गृहस्थारभसेविनः । मुल्लिदा वृद्धि गताः । घडिदा संबद्धाः ॥

अर्थ—परिग्रहमें इनकी अभिलाषा वृत्त होती नहीं रहती ही रहती है, ये आज्ञानसे धिरे रहते हैं, अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान इन को नहीं होता है, गृहस्थोंके आरंभादि धर्म ये करते रहते हैं, छन्द, रस, गंध, रूप, स्पर्श इन विषयोंमें वे अस्यासक्त होते हैं।

परलोगनिष्पिपासा इहलोगे चेव जे सुपडिबद्धा ॥

सञ्जयादीसु य जे अणुद्विदा संकिल्लिद्धमदी ॥ १९५५ ॥

विजयोदया—परलोगनिष्पिपासा परलोकनिस्पृहाः, वेदिकेतेन काः पु ग्रथिषयाः, स्वाध्यायादिष्वनुष्ठताः, संकल्लिद्धमतयः ॥

मूलारा—निष्पिपासा निस्पृहाः । अणुद्विदा अदृष्टताः ॥

अर्थ—ये परलोकके विषयमें निस्पृह होते हैं, परंतु वेदिक कर्मों में ही इनका मन तत्पर रहता है, स्वाध्याय, अलोचनादिक कार्योंमें इनका मन लगता नहीं है, इनके बुद्धीमें संकेश परिणाम रहते हैं।

सत्त्वेसु य मूलचरणेषु तद्ध ते सदा अद्भरंता ॥
ण लहेति स्वोवसमं चरित्तमोहरत कमस्स ॥ १९५६ ॥

विजयोदया—मूलोत्तरगुणेषु सदा सावित्रा न लभते चारित्र्यमोदस्य क्षयोपशमं ॥
 नूना—ने नित्यायसञ्चादयः समाधिरणोपेक्षाः । अदिपरत्वा अन्तर्हस्या व हृदत्वा या संजतः । अन्ये विच-
 रन्ता इति पठित्वा सर्वसिन्धुतोत्तरगुणेषुऽवर्तमाना इत्यर्थमाहुः ॥ गेत्वादि असंपत्ता एव ते भवन्वीत्यर्थः ॥
 अर्थ—मूलगुण और उत्तरगुणोंमें हमेशा अविचार युक्त ही रहते हैं. अर्थात् इन गुणोंमें इनको हमेशा
 अविचार लगते हैं. उनको चारित्र्य मोर्हनीय कर्मका ध्योपशम नहीं रहता है. अर्थात् वे असंपत्त ही होते हैं.

एवं मूढमदीया अवंसदोसा करेति जे कालं ॥
 ते देवदुग्धमगत्त मायामोसेण पावंति ॥ १९५७ ॥
 अलोचनामनाथाय ये त्रियेते कुबुद्धयः ॥
 त्रिदिचे निविताचारा दुर्भगाः संति ते सुराः ॥ २०३३ ॥

विजयोदया—एवं मूढमदीया एवं मूढबुद्धयो ज्ञानपास्तबोया ये कालं कुर्वन्ति ते देवदुग्धमगत्तां प्राप्नुवन्ति
 मायसा ॥

सद्रूपसंदं प्राप्यं दर्शयन्ति—
 मूलरा—अवंसदोसा अनिराकृताविचाराः । देयस्य ते दुर्भगाश्च देवदुग्धमास्तदायं । उक्तं च—
 अलोचनामनाथाय ये त्रियेते कुबुद्धयः ॥ त्रिदिचे निविताचारा दुर्भगाः सन्ति ते सुराः ॥
 अर्थ—इस प्रकार मूढमति ये अवसनादिक मुनि अपने दोषों को नहीं हटाते हुए अपना सर्व आयुष्य
 पोंही ज्योति करतें हैं, बिमये मायाचारी इन मुनिआँको देव दुर्गंतिकी प्राप्ति होती है

किमस्य गिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जसु ॥
 ते देवसमिदिवत्सा कण्ठे हुंति सुरसेच्छा ॥ १९५८ ॥
 संघकृत्य निरुत्साहाः किमेन ममेति ये ॥
 ते मन्वन्ति सुरा म्लेच्छा मायवादिदिवौकसां ॥ २०३५ ॥

निजयोदया—किं मण्डपिच्छादा किं मण्डपिच्छि ॥ सख्यमिति ये सर्वसंभवस्यैष्यन्तादरास्ते देयस्यभित्तिवासाः कल्पानामन्ते
सुरस्तेन्यम भवन्ति ॥

संप्रकार्योन्माहतानां देवदुर्गतिमाह—

मूढारा—किं मूढा निदृच्छाद्वा किं मूढेलनादकाः ॥ सगिदि समायां । कण्ठते सौधैर्वादिक्त्पनां प्रत्यंते ।

सुरनेच्छा देवमन्त्रेच्छाः कर्मचोदाका इत्यर्थः ॥

अर्थ—जो संपर्क कायोंका अनादर करते हैं ऐसे मुनि सौधर्मादिक स्वर्गके अंतर्मे सुरस्तेच्छ अर्थात्
जीवालके समान देव होते हैं.

कंदर्पमभावणाए देवा कंदर्पिया मदा ह्येति ॥
स्विस्विमसयभावणाए कालगदा ह्येति स्विस्विमसया ॥ १९५९ ॥
अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया ह्येति ॥
तह आसुरीए जुत्ता हवन्ति देवा असुरकाया ॥ १९६० ॥
सम्मोहणाए कालं करिनु दो हुंदुगा सुरा ह्येति ॥
अण्णंवि देवदुग्गाइ उवर्यति विराघया मरणे ॥ १९६१ ॥
कंदर्पभावनासीलाः कंदर्पाः संति त्राकिनः ॥
निंथाः किस्विपिकाः संति मृताः किस्विपभावनाः ॥ २०११ ॥
अभियोग्यक्रियासत्ता अभियोग्याः सुरा मृताः ॥
आसुरीभावनाः कृत्वा मृत्वा सन्त्यसुराः पुनः ॥ २०१७ ॥
सम्मोहभावनोदृत्ताः सम्मोहस्त्रिदशा मृताः ॥
वितायकैः पराप्येवं प्राप्यते देवदुर्गतिः ॥ २०३८ ॥

पित्रयोदया—सगशर्ममुत्तरगाथाश्रयं ॥

कन्दर्पादिभावनामृदानां तथाविषदेवभूयमभिपचे—

मृत्पारा—मदा मृदाः ॥

मृत्पारा—अमुरकाया असुराः ॥

मृत्पारा—परितु कृत्वा । मादृषदमासकु रुरुपायागदुहरभाणाः । कामातुलया शुनीनामिव देवीनां अभिनिच

पुरोदुल्लादिचक्षाकारिण इत्यर्थः ॥ अण्णं च अपरसपि । उचयंति प्राप्नुवन्ति ॥

अर्थ—कंदर्प भावनाके वडा होकर ये मुनि कंदर्प जाति के देव होते हैं, कित्तिवपभावनाके वडा होनासे माणौघर कित्तिव देवपर्यायकी माप्ति इनको होती है, आभियोग्य भावनासे जो मुनि मरण करते हैं वे स्वर्गमें आभियोग्य देव अर्थात् माहर्नदेव होते हैं, आसुरीभावनासे प्राणत्याग करनेवाले मुनि असुर देव होते हैं, सम्मोह भावनाके वडा होकर मरण करनेवाले मुनि स्वर्गमें सम्मोह नामक देव होते हैं, कामविकारके बाहुल्यसे ये देव देवीके प्राप्ता हमेशा कामसेवन करते हैं, मरणकालमें जो आराधानाकी विराधना करते हैं ऐसे मुनि अन्यभी देवदुर्गावी न जन्ममें लेवे हैं.

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ॥

तं तेलि बालमरणं होइ फलं तस्स पुट्ठत्तं ॥ १९१२ ॥

इत्थं विराध्य ये जीवा त्रियन्ते-संयमादिकम् ॥

तेषां बालसृतिस्तस्याःफलं पूर्वञ्च वर्णितम् ॥ २०३९ ॥

विद्ययोदया—इय जे विराधयित्ता एयं ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना कृतिमुपचति तस्मैवां बालमरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥

रत्नत्रयं विराध्य मृगानां फलमन्यमरणं स्यादित्यवह—

गुलारा—मरेज्जण्ह झियेत्त ॥ तं असमाधिमरणं ॥

अर्थ—जो इम प्रकार रत्नत्रयका नाश कर मरणको प्राप्त होते हैं, अर्थात् असमाधिसे मरण करते हैं, उनका यह मरण बालमरण है ऐसा आचार्य कहते हैं, बालमरणके फलका वर्णन पूर्वमें आ चुका है.

जे सम्मचं खवया विराघयिचा पुणो मरेज्जण्ह ॥
 ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होति ॥ १९६३ ॥
 विराघ्य ये विपयंते सम्मक्त्वं नष्टबुद्धयः ।
 ज्योतिर्भावचनभौमेपु ते जायन्ते वितेजसः ॥ २०२० ॥
 विजयोदया—जे सम्मचं यमगा ये क्षपकाः सम्मक्त्वं विनाश्य क्षियंते सयन्वासिनो ज्योतिष्का व्यंतर
 पा भवति ॥
 सम्मक्त्वं विराघनायरणफलमाह—
 मूढारा—भोमेज्जा व्यंतराः ॥
 अर्थ—जो क्षपक सम्मक्त्वं नाम नाश कर कर मरण को प्राप्ता होते हैं उनकी सचनवासि, व्यंतर अथवा
 श्योतिष्क देवों में उत्पत्ति होती हैं।

दंसणणाविहुणा तदो बुदा दुक्खवेदणुस्मीए ॥
 संसारमण्डलगावा भमंति भवसागरे मूढा ॥ १९६४ ॥
 दण्डनज्ञानहीनास्ते प्रच्युता देवलोकात् ॥
 संसारसागरे घोरे पञ्चमन्ति निरन्तरम् । २०४१ ॥
 विजयोदया—दंसणणाविहुणा सम्मदर्शनशमहीनास्ततः स्वर्गाच्युता दुःखवेदनामीके भवसागरे मूढा
 भ्रमंति, मंडले गताः ॥

विराघनाधिगतदेयभायचंदोर्दुर्जन्मपरंपरां धवीति—
 मूढारा—वहो पुत्रा वषट्पदेयभावभयाः । दुक्खवेदणुस्मीए क्लेशानुगृहिणीचिके । मंडल आवर्तः ॥
 अर्थ—सम्पददर्शन, सम्पग्म्यान इन गुणों से रहित देव आद्युष्य समाप्त होने पर स्वर्गसे भ्रष्ट होकर
 दुःखानुभयरूप तर्ंगमें मे भरे हुए संसारसमुद्रमें अज्ञानसे अचेत होकर ग्रमण करते हैं।

जो मिच्छतं गंतूण किण्हलेस्सादियणिणदो मरदि ॥
तद्धेरसो सो जायइ जेहस्सो कुणदि सो कालं ॥ १९६५ ॥

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाः कृष्णलेइयादिभाविताः ॥
तथादेइया भवान्भोवो ते भ्रमन्ति दुरुचरे ॥ २०४२ ॥
निवेअपत्तो शुबनाधिपत्ये न्नीपितं कामदुघेव पेनुः ॥
आतापिता किं न दयाति पुंसामाराचना सिदिबधूअयस्या ॥ २०४३ ॥

इति फलम् ॥

विजयोदया—जो भिच्छतं गंतूण वा कृष्णलेइयादिपरिणतो भिज्यात्वं गत्या क्रियते तद्धेइयो जायते, पर-
न च योइइय, कालं कृतपाव । फलसि ॥

भिज्यात्वंपरिणतस्य मरणप्राप्त्यदुल्लेखपरिणामाना संस्मरणानुसंगमभिधये—
बुद्धारा—जायदि परं न कथयते । कर्त्तं च—

ये मृता मुक्तसम्यक्त्वाःकृष्णलेइयादिभाविताः ।
तथादेइया भवान्भोवो ते भ्रमन्ति दुरुचरे ॥

फलं । दृग्धः ३९ अंकतः ४१ ॥

अर्थ—जो मुनि कृष्ण लेइया पोरह लेइयाओके वग होकर भिज्यात्वी बन कर मरण करते हैं वे पर-
लोकमें भी उसी ठेइया के धारक होते हैं, तात्पर्य जिस ठेइया से मरण होता है परलोकमें भी वही ठेइया उस
जीवकी रहती है- इस प्रकार फल का वर्णन हुआ।

पित्राहणा निरूप्यते—

एवं कालगदसा दु सरीरमंतोवहिज्ज वाहिं वा ॥

विज्जावज्जकरा तं मयं भिक्खिं च नि जहपाए ॥ २०४६ ॥

एवं कालगतस्यास्य यहिरंतनिवासिनः ।

स्यजंति यत्नतो गात्रं वैषावृत्त्यकराः स्वयम् ॥ २०४४ ॥

पित्रयोध्या-एवं कालगतस्य एवं कालगतस्य शरीरमंतर्निहिर्वास्वितं वैषावृत्त्यकराः स्वयमेवापनयंति यत्नेन ॥
अथ शरीरगतस्य अथ शरीरगतस्य स्वजनविधिं गमायचतुस्त्रिंशत् न्याचते—

मूढारा—एवं यथोक्तसंन्यासविधिना । मूढारादस्य मूलस्य स्रग्वत्स्य । अतो मध्ये मगदादेः स्थितस्य । बाहि
महिः । तं निस्तरणोत्समस्तथाधारालान्पिगवदरमपवित्रमात्रं । विक्लिचंदि अपतर्बति । जयकाय यत्नेन परस्वमाजेन ॥

अर्थ—जो क्षयक लोकांतर को प्राप्त हुआ है अर्थात् मर गया है ॥१॥ वैषावृत्त्य करने वाले मुनि उत्तका
शरीर जो कि नगरादिमें अथवा बाहर यत्नपूर्वकमें पड़ा रहता है उसे आगे कहे हुए प्रपत्नसे ले जाते हैं. अभिप्राय
यह है कि-पूर्वोक्त संन्यास विधीसे जो क्षयक सम्यक्त्वादिक चार आराधनाओंकी निस्तरण पर्यंत शक्तिकर पवित्र
हुआ है वह नगरादिके बीचमें अथवा बाहर जब मरण करेगा है तब वैषावृत्त्य करने वाले मुनिगण उसके शयको
एडे प्रपत्नसे स्वयमेव ले जाते हैं.

सयणार्ण ठिदिकण्यो वासावासे तर्हेव च्छुबंघे ॥

पडिलिहिदव्वा गियमा गिमीहिद्या सव्वसाधूहि ॥ १९६७ ॥

सोपूनां स्थितिकरुणोऽयं धर्पोसु ऋतुबंधयोः ॥

समस्तेःसाधुभिर्यत्नायाश्रित्या निपयता ॥ १९४५ ॥

विशयोध्या—समणार्ण ठिदिकण्यो अमणानां स्थितिकरुणो धर्पोवासे ऋतुप्रारंभे ॥ नियमेन सर्वेः साधुभि-
निधीधिका नियमेन प्रतिष्ठेयनीया ॥

सर्वेदेडपि निरीहाः सुसुखचः कुलस्तच्छरीरत्वयाय स्वयं भर्तते इत्यारेकायासुत्तरचति—

मूढारा—ठिदिकण्यो एष स्थितिकरुणोऽयं एव चचनान्यासापवजास्वस्थितिकरुणद्वयान्तर्गतत्वेन भवति ।
वासावासे पर्याप्तु चतुर्मास्यां रुंध वासे प्रतिपद्यमाने धातुर्मासिकयोगप्रारंभ इत्यर्थः । छुबंघेव ऋतुप्रारंभे । पडिलिहि
दव्वा यदि विशेषः गिमीहिद्या आराधकशरीरत्थापनसंवागम् ॥ उक्तं च —

साधुनां शिवविष्णोर्जं वयोबासानुवचयोः ॥ समस्तैः साधुभिर्दत्तावाप्तिरूपा निपद्यकाः ॥
अन्त्ये तु वापे वासे इति गच्छित्वा वयं वयं इत्यर्थं व्याचक्रुः । अतरे मासे मासे इति पाठं मत्वा एवशब्दं

विदुषांशर्मणुः । तथा चोक्तम्—

अवधानी-शिवविष्णो मासे मासे तपतुर्विधे ॥ ॥

प्रतिस्वर्गेषा नियतं निपद्यका सर्वसंवसिभिः ॥

यस्मात्त्रिपद्यादर्शनं कालैकतयेन सूत्रे साधूनामवश्यकर्तव्यवचोपदिष्टं तस्मात्त्रिपद्याधिपानाय सुसुष्ठुभिः स्वयं प्रय
तितव्यमिति भावः ॥

अर्थ—वाधुभौतिक योगको आरंभकालमें तथा अतुष्टांशमे जहां आराधकके दुरीर का स्थापन किया है
॥ ॥ स्थानकी प्रति लेखना सर्व साधुओं को निषमसे करनी चाहिये. अर्थात् उस स्थानका दर्शन करना चाहिये,
दीर्घासे उसको स्पष्ट करना चाहिये. ऐसा यह मुनिओका स्थित कल्प है.

तस्या लक्षणमाद्ये—

एवंता सालोगा नादिविकिटा न चावि आसण्णा ॥

वित्थिण्णा विट्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥ १९६८ ॥

निपया नातिदूरस्था विविस्ता प्रासुका घना ॥

कर्तव्यमस्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥ २०४६ ॥

विजयोदया—एवंता सालोभा एकांता परैः प्रायेणादस्था नातिदूर नात्यासना विस्तीर्णा शविष्यस्ता दूरमव-
गाढा ॥

किं लक्षणेण निपया स्यादित्यत्राह—

मूलरा—एवंता एकांतप्रदेशत्वा । सालोगा सप्रकटा । नादिविकृष्टा नातिदूर नगराचयेक्षया । न चादिया-
सण्णा नाप्यत्यासना विस्तिण्णा विपुला । विट्ता नालोभा प्रासुका । दूरमागाढा अवलिढा । उक्ते च—

निपया नातिदूरस्था विविष्ठा प्रासुका घना ।

कर्तव्यमस्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ॥

अन्धे एवांता साळोया इति पठित्वा एकांतपरैः प्रायेणदृष्ट्या इत्यर्थं प्रतिपन्नाः । एकांतैरेकांतवादिभिः न सम्यक् सुतेनालोचयते दृश्यते इति व्युत्पत्तेः ॥ बहुकम्प—

नातिदूर न आसन्ना विपुलस्तत्र प्रायशः परैः ॥ अदृष्ट्या तु तथा दूरगमगाढा विपदाका ॥
अपरे ॥ दूरमोगाढा इत्यस्य विपदास्थानसम्भारपेक्षया बहुपरः प्रवेशेत्यर्थमाहुः । टिप्पणके ॥ दूरे दूरे प्रच्छेदेत्यर्थो व्याख्यायि ॥

निर्वीथिकाया लक्षण कहते हैं—

अर्थ—निर्वीथिका एकान्तप्रदेशमें अन्यजनों को दील न पड़ेगी ऐसे प्रदेश में हो. प्रकाशसहित होनी चाहिये. वह नगरादिकों से अतिदूर न हो. न अति समीप भी हो. वह दूरी हुई, विध्वस्त की गई ऐसी न हो. वह विस्तीर्ण प्रासक और रह होनी चाहिये.

अभिमुख आसुरा अघसा उज्जोवा बहुसमा य असिनिद्धा ॥

निज्जंतुगा अहरिदा अविळा य तद्वा अणावाधा ॥ १९६९ ॥

आ अवरदविलणाए व दविलणाए व अघ व अवाए ॥

लसधीदो वणिज्जवि निसीभिया सा पसत्थसि ॥ १९७० ॥

वसनेनैकते भागे वधिणे पञ्चिमेऽपि वा ॥

निपयका स्थिता या सा प्रशरणा परिकीर्तिता ॥ २०४७ ॥

विजयोद्या—आ अवरदक्खिणाए अवरदक्खिणाशायां, दक्खिणस्सं, अवरस्सं वा विधि वसतितः विधी-
पिका प्रदास्ता ॥

तत्तत्रअणशोपमाद—

मूलाः—अभिमुखा उद्देहकारहिता । असुपिया अघःप्रवेशेच्छिद्ररहिता । कवसा पुष्पटिष्कारहिता । तन्मोला
सोचोवा । बहुसमा बहुसभाभूमिका । असिनिद्धा अनारो । अविळा विर्यगिवररहिता । अणावाधा बाधारहिता एतां
श्रीविजयो तच्छक्ति ॥

मूलात्—अवरदक्खिणाए नैहंत्थदिशि । अवरण पश्चिमदिशि । वसधीदो क्षुण्णवसवेः सकारात् ।
यज्जिगत्तदि प्रविणत्तते पूर्वोचार्यैः ॥

अर्थ—यह निषिधिका चींटियोंसे रहित, छिद्रोंसे रहित होनी चाहिये किसी दुई न होना चाहिये प्रकान्तदित होवे समान भूमिके स्थानपर होवे. निर्जन्तुक बाघादादित होवे यह गीली तथा इधर उधर हिलने वाली नहीं होवे यह निषिधिका क्षुण्णकी वसविकासे नैहृत्य दिशामें, दक्षिण दिशामें अथवा पश्चिम दिशामें होनी चाहिये. ऐसी हन दिशाओंमें निषिधिका क्री रचना करना पूर्व आचार्यों ने प्रशस्त माना है

सद्वसमाप्ती पढमाए दक्खिणाए तु मत्तगं सुलमं ॥

अवराए सुहविहारो होदि य उवधिस्स लामो य ॥ १९७१ ॥

सर्वस्यापि समाधानं प्रथमायां तथान्यतः ॥

आहार सुलभोऽप्यस्यां श्वेतसुखविहारिता ॥ २०४८ ॥

विज्ञयोपपा—सद्यसमाधी पढमाए लब्धेया समाधिर्भवति पढमाए अपरदक्षिणदिगवस्थितायां निषिधि
कापा, दक्षिणदिगवस्थितापानाहार सुलभ पश्चिमाया सुखाविहार उपकरणलामाश्च ॥

पूर्वोक्तद्विज्ञयविषयाकरणे शुभफलविशेषोपायप्रकाशयति—

मूलात्—सद्यसमाधी सर्वेषां सप्तातर्वर्तिभमणादीनां समाधानं । भक्षण अन्नपान । सुहविहारो सुप्तप्रवर्तना ।

वयधिरस सुलकायुपकरणाय ॥

अर्थ—नैऋत्यदिशाकी निषिधिका सर्वे सर्वत्र समाधिके लिये कारण हो जाती है अर्थात् इस दिशाकी निषिधिका संघका हित करनेवाली होती है दक्षिण दिशाकी निषिधिकासे आहार सुलभतासे संघको मिलता है. पश्चिमदिशामें निषिधिका होनेसे संघका दुस्से विहार होता रहेगा और उनको पुस्तकादिक उपकरणोंका लाभ होता रहेगा

जदि तेसिं वाघादो दट्ठन्वा पुव्वदक्खिणा होइ ॥

अगरुत्तरा य पुज्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥ १९७२ ॥

तदभावेऽनलाशयां वायव्यायां दुरोर्विशि ॥

निपयकोत्तरस्यां वा मत्तेशानस्य वा दिति ॥ २०४९ ॥

विजयोदया—जदि तासि वायव्यो यदि ता निषीधिका न छन्दते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका इष्टव्या, अपरोत्तरा वा पूर्वो या उर्वीची वा पूर्वोत्तर वा क्रमेण ॥

आग्नेयादिभिः निपयाधिपाने ययोत्तरोत्तरफलानि दर्शयन् वायव्येन नियेषं व्यनक्ति—

मूढारा—तासि वायव्यो प्रायुक्तनिपयानां प्रतिबंधः । अपरदक्षिणादिभिः निषीधिकाः कर्तुं न छन्दते इत्यर्थः ॥ एतन्ना निपयाध्याने वक्ष्यमाणयोत्तरोत्तराशुभफलप्रदतया निरूपया भवन्ति । पुनर्वदक्षिणा आग्नेयी दिक् ।

अथकृत्वा वायवी दिक् । उर्वीचि उत्तर । पुनर्वतरा ऐशानी दिक् ॥

अर्थ—यदि नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशामें निषीधिका बनवानें में कुछ वाया उपस्थित होगी तो आग्नेय दिशामें, वायव्य दिशामें, ऐशान्य दिशामें व उत्तर दिशामें इन दिशाओंमें से जिस दिशामें दुर्भीता हो वहां पनबानी चाहिये.

एदासु फलं कमतो जाणेऽज तुमंतुमा य कलहो य ॥

भदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कटुदे अणं ॥ १७३ ॥

क्रमेण फलमेतासु स्पद्धो राटिश्च जस्यते ॥

अवध्यापि तथा वयाचिरन्यस्याप्यपकर्षणम् ॥ २०५० ॥

पितृयोदया—एदाह एतासु निषीधिकासु । फलं कमतो विजानीयात् तुमंतुमा य पूर्वदक्षिणस्यां स्थलां, अपरोत्तरस्यां कलहः पूर्वस्यां भेदः उर्वीच्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्येनापृच्छ्यते ॥

मूढारा—तुमंतुमा स्पद्धो अहमेवंभूतस्त्वमेवंभूतोऽन्वे वा ईदृग्यता इत्यादिसंप्रपञ्चः । कलहो राटिः । भदो संप्रपञ्च परस्पर द्विधाभावः । गिलाणं व्याधिः । चरिमा ईशानदिक् । कटुदे आकर्षति । पूर्वोत्तरदिग्निपयाकरणैः परो दुर्निर्दिश्यते इत्यर्थः । एतेनैवपुनर्दिष्टं भवति । प्रागेव तथा अपक्षय वसतिः कस्यया यथा तन्निपया नैऋत्यादिदिग्बन्धनमस्यां वस्तुं शक्यते इति ॥

अर्थ—परंतु इन दिशाओंकी निर्भीधिकाओंका फल इस प्रकार क्रमसे समझ लेना चाहिये. पूर्व दक्षिण दिशामें स्पष्टता, अर्थात् मैं ऐसा हूँ ऐसा तू है, दूसरे इस प्रकारके हैं ऐसी स्पष्टता, उत्पन्न होगी. पार्श्वोत्तरदिशामें कलह होगा, पूर्व दिशामें संघर्षे फूट पड़ेगी, उत्तर दिशामें व्याधि उत्पन्न होगी, ईशान्य दिशामें संघर्ष परस्पर स्वीचतानी होगी. पूर्वोत्तर दिशामें निर्भीधिका क्रमसे प्रथमतः मुनियरण होगा ऐसा इन दिशाओंका फल है.

जं बेलं कालगदो भिक्खू तं बेलमेव णीहरणं ॥

जगणवंचणछेदणविधी अवेलाए कदव्या ॥ १९७४ ॥

यदैव त्रियत्ते काले त्यजानीयस्सदैव सः ॥

अवेलायां विधातव्या छेदबंधनजागराः ॥ २०५१ ॥

विजयोपया—जं बेलं कालगदो भिक्खू तं बेलमेव णीद्वहणं यस्यां वेलायां मृतो भिक्षुः तस्यां वेलायभिघापन-यनं कर्तव्यं, अवेलायां मृतश्चेत् जागरणं बंधनं छेदने ता कर्तव्यं ॥

निरुकासनं तद्योग्यवेलायां मृतस्य कार्यमन्यदा जागरणाधिकविलुपयिष्यति—

मूलारा—जं बेलं यस्यां वेलायां । तं बेलमेव तस्यां वेलायामेव । णीहरणं यथासंघचित्तोदापनयनं यतिभिः कर्तव्यम् । अवेलाए अवेलायां मृतस्य ॥

अर्थ—जित समय भिक्षुका मरण हुआ होगा उसी बेलामे उसका श्रेत ले जाना चाहिये. यदि अवेलामें मर जानेपर जागरण, बंधन, अथवा छेदन करना चाहिये.

के जागरणं कुर्वतीत्याचष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवासिभीरुगिलाणए दुहिदे ॥

आयरिणु य विक्किचिय घीरा जग्गंति जिदणिट्ठा ॥ १९७५ ॥

भीरुसौक्ष्मगिगलानचात्तबुद्धतपस्विनः ॥

अपाकुत्थापारपीरा जितनिद्राःप्रजाग्रति ॥ २०५२ ॥

विजयोदया—बले बुढ़े बालबुढ़ान्, शिशुकाम्, तपस्विनः, भीरुन्, व्याधितान्, दुःखितान् चान्याय्य अवाष्टाय
धीरा लितनिद्रा जागरणे कुर्वेति ॥

मृतमिश्रुसमीपे जागरणादिशरण्यानि निर्दिशति—

मृच्छरा—मिलगण्यं—व्यापितान् । विविचित्रिय मुक्त्वा—

अर्थ—बालमुनि, वृद्धमुनि, शिशुकपुनि, तपस्वी मुनि, मयबुक्त मुनि, रोगीमुनि, दुःखपीडित मुनि और
आचार्य इनको परवर्कर धीर, निद्राको जिन्होंने जीता है ऐसे मुनिओको जागरण करना चाहिये-

के परमर्षीस्वाकष्टे—

भीदरथा कदकज्जा महाबलपरकमा महासत्ता ॥

बंधंति य छिदंति य करचरणंगुहयपदेसे ॥ १९७६ ॥

कुनकुन्त्या गृहीतार्थो महामलपराक्रमाः ॥

हस्तांगुष्ठादिदेशेषु पंचं छेदं ना कुर्वते ॥ २०५३ ॥

पिजयोदया—गीरत्या गृहीतार्थोः कुनकरणा महाबलपराक्रमा महासत्ता बंधंति छिदंति य करचरणं
अंगुष्ठपदेसो वा ॥

के कुन बंधछेदी कुर्वन्तीस्वत्राद—

मृच्छरा—कवकरणा असक्तजनक्षपकक्ष्याः । कदरथादि हस्तं, पदपंगुप्रवेसं वा ॥

अर्थ—जिन्होंने पदार्थका सत्य स्वरूप जाना है और क्षपकके कृत्य जिन्होंने

जिनमें महाबल, पराक्रम और धैर्य है ऐसे मुनि क्षपकके हाथ और पाव तथा अंगुठा इनका कुछ भाग बांधते हैं
अथवा छेदते हैं-

परमकरणे को कोच हत्यबंधकायं दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधी तो तस्य देवदा कोई ॥

आदाय तं कलेवरमुद्धिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥ १९७७ ॥

विधीयते न यथेवं तदा काचन देवता ॥

कठेवर तदादाय विधत्ते भीषणक्रियां ॥ २०५४ ॥

विजयोपेया—जदि वा एख कथेय विधिनिं कियते कदाविदेवता कोडनशीला मृतकमाशय उभेष्टय मघावे-
त्रमेत या वाघेयदा तदर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभाः पलायनं भरणं वा भवेत् ॥

उक्तविधयविधाने दोषमाह—

मूलरा—वा अहो । न कीरेज न क्रियेव । ततय तस्मिन् स्थाने । देवदा कोई कोडनशीलो भूतः पिशाचो
वा । बहुत्यानादिदर्शनात् बालादीनां चित्तसंक्षोभाः, पलायनं भरणं वा भवेत् ।

अर्थ—यदि यह विधि न की जावेगी तो उस मृतकअरोरमें क्रीडा करनेका स्वभाववाला कोई भूत अथवा
पिशाच प्रवेश करेगा. उस प्रेतको लेकर यह ऊडेगा, यागेगा. क्रीडा करेगा. इस कार्यको देवकर बालमुनि, भीरु-
मुनि इनके मनमें क्षीय उत्पन्न होकर ये भागेगे अथवा भरण होगा इस लिये श्रावणाय व अंगुठा बांधना चाहिये
अथवा उनके कुछ प्रवेशोंका छेदन करना चाहिये.

उयसयपडिदावणं उवसंगहिदं तु तत्थ उवकरणं ॥

सागारियं च दुबिहं पडिहरियमपडिहारिं वा ॥ १९७८ ॥

जदि विस्खादा भत्तपइण्णा अज्जाव होज कालगदो ॥

देउलसागारिस्सि व सिवियाकरणं पि तो होउज ॥ १९७९ ॥

यस्योपकरणं किञ्चित्कृत्वा यांचां यदाहृतम् ॥

कृत्वा संबोधनं सर्वं तत्तस्याप्यर्थं विधानतः ॥ २०५५ ॥

प्रसिद्धो यदि संन्यासे स्थानस्वार्थिका यदि ॥

विपश्चा निधिना कार्यां तदानीं शिथिकोत्तमा ॥ २०५६ ॥

विजयोपेया—जह विपत्तादा भत्तपडिण्णा यदि सर्वेज्जप्रकटा खेउवना कार्विका वा भवेत् कालगतास्थानर-
क्षका शुद्धसा या ठम सिविका कठेव्या ॥

क्षपकोपचारार्थं उपकरणप्रकारान्मर्यादितिविस्तारि—

मूलारा—उपकरणप्रतिष्ठापणं वसतिप्रतिबद्धं । तदथ क्षपकनिमित्तं । सागारिं गृहस्थसंगंधि । पट्टिहारिं अरण्यजनीयं । अप्पट्टिहारिं त्यजनीयं यत्तं श्रीविजयो नेच्छति ।

एवं यथोक्तसंन्यासविधियुतस्य संबतजनविषेयं यथाकर्मचिद्विद्वाननयनं विधाय सांप्रतं प्रसिद्धसंन्यासविधीनां आर्थिकादीनां तद्विधिमभिधत्ते—

मूलारा—अज्ञा अविशेषोक्तावपि स्थानस्थायिका ग्राह्या । सादृश्यात् ॥ तथा चोक्तम्—

प्रसिद्धा यदि संन्यासे स्थानरक्षायिका यदि ॥ निषथा विधिना फल्यं वदन्ती शिविकोत्तमा ॥

वेदक मठपतिः । सागारिस्ति । सागार इति । एवं प्रकारो गृहस्थः झुल्लको या । तदुक्तम्—

भक्तत्यागः क्यतो यद्यर्थो झुल्लकोऽथ सागारः ॥ काष्ठमनो देवकुली शिविकाकरणं ततोयुक्तम् ॥

सर्वजनप्रकटभक्तव्रतवाक्यानेन मृतानां आर्थिकादीनां निरन्तरानर्थं सिबिमायाः कुटोविशेषस्य निर्माणं यदि शब्दादिमानमपीति केचित् ॥

अर्थ—क्षपक की सुश्रूषा करने के लिये जिन उपकरणोंका संग्रह किया जाता था उनका वर्णन—
प्रसतिक्ता सम्पन्नी उपकरण, कुठ उपकरण गृहस्थोंसे लाये जाते थे जैसे ओषध, जलपात्र, थाली वगैरह. कुछ उपकरण त्यागने योग्य रहते हैं और कुछ उपकरण त्यागने योग्य नहीं होते हैं. जो त्याज्य नहीं है वे गृहस्थोंको वापिस दिये जाते हैं. कुठ फपदा वगैरह उपकरण त्याज्य रहता है. यदि सर्वजनोंको सिद्धित ऐसी किसी आर्थिकाने अथवा झुल्लकने सख्तबना धारण कर मरण किया होगा तो उच्च पालसी अथवा विमानमें उसके शवको स्थापन कर ले जाना चाहिये. संन्यास स्थानका रक्षण करनेवाली आर्थिका, गृहस्थ, मठपति, झुल्लक इनका मरण होनेपर शिविका अथवा विमानमें इनका शव आरोहण कर गृहस्थ ग्रामके बाहर ले जाते हैं.

तेण परं संठाविथ संथारगदं च तत्थ वंधिच्चा ॥

उद्धतरक्खण्डं गामं तच्चो सिरं किच्चा ॥ १९८० ॥

संस्तरेण समं बद्ध्वा मृतकं विधिना दड्ढम् ॥

विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्य विमुलं शिरः ॥ २०५७ ॥

विजयोद्या—तेन परं संस्वाप्य तेन सुतकेन संस्तरंघात्तनो सुतकबंधनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा वत्पानरक्षणार्थं ॥

मृदकनिष्कासनविधानं गाढानयेयाह—

मूत्रारा—तेन परं शिविकानिष्पादनानंतरं । संछादिव्य शिविकाया प्रवेदय । वविचा संस्तरेण समं वदू-वेत्यर्थः । वट्टवरकरणद्वं दत्तिष्ठनो मृदकस्य निवारणार्थं खन्यमा शिरसि कृते कदाविचदुत्तिष्ठेदिति भावः । गामं ततो ग्रामाभिमुखं ॥

अर्थ—शिविकाको रचना करनेके अनंतर विछानेके साथ उस श्वको बांधकर, शिविकामें उसको सुलगा चाहिये ग्रामके सन्मुख उसका सस्तक करना चाहिये. ग्रामके सन्मुख ही सस्तक करनेका कारण यह है कि कदाचिद् वह उठेगा तो उसका मुख ग्रामके तरफ नहीं होगा और ग्रामके तरफ पर करके शिविकामें स्थापन करनेसे वह उठनेपर ग्राममें प्रवेश करेगा इसलिये ग्रामके तरफ शिर करनेका विधान लिखा है

पुव्याभोगिय मग्गेण आपु गच्छति तं समादाय ॥

अट्टिमणियत्तंता य विट्ठो ते अनिबंता ॥ १९८१ ॥

क्षिममावाय गच्छंति वीक्षितेनाच्वना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थान त्यक्त्वा पूर्वविश्लोकनम् ॥ २०५८ ॥

विजयोद्या—पुव्याभोगियमग्गेण पूर्वविश्लोकनम् ॥ २०५८ ॥
पृष्ठ धालोक्तं मुक्त्या ॥

मूत्रारा—पुव्याभोगिय प्राप्तः । अट्टिदं अविश्रानं । अणियत्तंतो अव्यापुत्तं पट्टिदो वृष्टवः । अणित्तंतो अतालोकमानाः ।

उक्तं च—

सस्तरेण समं वदू-वा सुतक विधिना दृढ ॥

विषायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्याभिमुखं शिरः ॥

क्षिममावाय गच्छंति वीक्षितेनाच्वना पुरा ॥

निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वविश्लोकनम् ॥

अर्थ—पूर्वसे देखे हुए मार्गसे वह श्व मूत्र लेकर चाना चाहिये. रास्तेमें न लहे होना चाहिये न पोछे लोटकर देखना भी चाहिये

कुसमुद्धिं घेत्तूण य पुरवो एगेण होइ गंतव्वं ॥
अट्टिअणियत्तेण पिठवो लोयणं मुच्चा ॥ १९८२ ॥

पुरो गन्तव्यमेकेन गृहीतकुशमुष्टिना ॥

पूर्वावलोकनस्थाननिवर्तनविवर्जिना ॥ २०५९ ॥

विजयोदया—कुस॥द्धिं घेत्तूण कुसमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गंतव्वं, अस्थितं अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकित्वा ।
मूलारा—कुसमुद्धिं मुष्टिगृहभावात् । पुरदो अग्रे । मुच्चा त्यक्त्या ॥

अर्थ—उत्त श्रवके आगे एक भजुण्य मुष्टिमें कुशदर्म लेकर जावे, वह पीछे न देखे न मार्गमें ठहरे,

तेण कुसमुष्टिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ॥
संधारो कादव्वो सव्वत्थ समो सार्गं तत्थ ॥ १९८३ ॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन संस्तरः कुशधारया ॥

अच्छिन्नया सकृद्देशे वीक्षिते समपातया ॥ २०६० ॥

विजयोदया—तेण कुसमुष्टिधाराए तेन पुरस्तात्तेन पूर्वमभितथितमिषीधिकारद्वयेन
च्छिन्नया समनिपातया सर्वत्र सम. संस्तर. कार्यः ॥
कुसमुद्धिद्वयमाह—

मूलारा—तेण पुरोगतेन । धाराए धारया निक्षेपेण । अव्वोच्छिण्णाए निरसृत्या । समणिपादाए सदृशं

पर्वता । कादव्वो अतरितव्यः । सार्गं एकवारेण । तत्र पूर्वमभितथितमिषीधिकारस्थाने ॥
अर्थ—जिसने निषीधिका स्यात् पूर्वमें देखा है वह मनुष्य वहाँ जाकर दर्ममुष्टिकी समान धारासे
सर्वत्र सम ऐसा संस्तर करना चाहिये.

जत्थ ण होज्ज तणाइं खुण्णेहिं वि तत्थ केसरोहिं वा ॥
संधरिदव्व्या लेह्या सव्वत्थ समा अव्वोच्छिण्णा ॥ १९८४ ॥

स चूर्णः केशरैर्वापि कुशाभावे विधियते ॥

समानःसर्वतोऽच्छिन्नो घोमवा विधिना सकृत् ॥ २०६१ ॥

विजयोदया—अथ न होज्य तथादि यत्र न छयेते कुशवृणानि तत्र चूर्णैर्वा केशरैर्वा संस्तरः कार्पः सर्वं समोऽप्युच्छिन्नः ॥

कुशालाभे संस्तरितमाह—

मूढारा—वृणाई कुताः । पुण्णेहि प्रासुक्खंदुलमसूरादिनिष्ठैः । केशरेहि प्रासुकपयादिकिक्वत्कैः । छेदा रेखा ।

सर्वस्य सत्सकांक्षार्थं लि पातते यावत् । समा धान्युत्कर्षेरहितम् ॥

अर्थ—यदि दमं वृषा नहीं मिला तो प्रासुक सेंडुल, मसूरकी दाल इत्यादिकैके चूर्णसे, कमलकेअर वगैरहसे मस्तकसे लेकर पाँचतक समान, नहीं रुढ़ी हुई रेखाएँ लिखनी चाहिये.

असमत्वे दोषमाचष्टे—

अदि विसमो संधारो उर्वारं मध्ये व होज्य हेट्टा वा ॥

मरणं व गिलाणं वा गणिवसभजदीण पायन्वं ॥ १९८५ ॥

आदौ मध्येवसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमभास्तुने ॥ २०६२ ॥

वितयोदया—अदि विसमो संघातो यदि विपमः संस्तर उपरिष्ठात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिष्ठेपत्ये गणितो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विपमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्वादिपमत्वे यतीनां मरणं व्याधिर्वा ॥ संस्तररेपावैपत्ये दोषमाचष्टे—

मूढारा—गिलाणं व्याधि । गणिवसभजदीणं आचार्यैलाचार्यसामान्यमुनीनां । तत्र स्त्रियोदेशे संस्तरवैषम्ये गणिनां मरणं व्याधिर्वा स्यात् । उदरदेशे तद्धैपत्ये एलाचार्येस्य मरणं व्याधिर्वा स्यात् । पादति तद्धैपत्ये तदितरसाधूनां मरणं व्याधिर्वा स्यात् इति टीकाकारो व्याचक्षुः । उक्तं प—

आदौ मध्येवसाने च विपमो यदि जायते ॥

आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमभास्तुने ॥

तिष्ठन्नेकं धैर्यमस्मिन्नेवम् । तपरि धैर्यमे गणितो मरणं । मध्यवैषम्ये एलाचार्यस्य व्याधिः । अतो वैषम्ये यती-
नो व्याधिः स्यात् ॥

यदि अस्य रैलाए लिखी जाय तो दोष है इसका विवेचन—

अर्थ—ऊपर, मध्यमें अथवा नीचे रेखाओंमें यदि नियमता होगी तो वह अनिष्टक्षक है ऊपरकी रेखायें विषम होंगी तो गणीका-आचर्मका मरण अथवा व्याधि सूचित होता है. मध्यकी रेखा विषम होनेपर एलाचार्यमरण अथवा व्याधि सूचित होता है और नीचेकी रेखा विषम होनेपर सामान्य यतीका मरण अथवा व्याधिकी सूचना मिलती है.

अतो विसाए गामो ततो सीसं करित्तु सोवधिं ॥

उद्धुतरक्खणहुं नोसरिद्व्यं सरीरं तं ॥ १९८६ ॥

ग्रामस्याग्निमुलं कृत्वा शिरस्पाज्यं कलेवरम् ॥

उत्थानरक्षणं कर्तुं मस्तकं क्रियते तथा ॥ २०६३ ॥

विजयोदया—अतो विसाए गामो वर्यां दिशि प्रायः ततः शिरः कृत्वा सपिण्डकं शरीरं व्युत्सृज्यं, उत्था-
नरक्षणार्थं ग्रामादिसमन्निमुखस्य शिरोरज्ज्वा ॥

एकउरीरशिरःस्पावनदिज्ञं निषमयति—

मूर्छरा—अतो विसाए वर्यां दिशि । सोवधिं सपिण्डकं शिरःस्पावधिया । ग्रामवैषुल्येन शिरसि स्थापिते
कदाचिद्वृद्धकमुत्तिष्ठेवपीत्यभिमानं शिरः क्रियते । एवं च—

तद्व्यामश्च दिशं केन कृत्वा सोवधिकं शिरः ॥ तदुत्थाननियेवाय व्युत्सृज्यं कलेवरम् ॥

अन्ये तु दक्षिणदक्षे पिण्डं स्थाप्यते इत्याह । तथा चोक्तम्—

ग्रामपराद्मुखवदनं संयमसाधनसमन्वितं कृत्वा ॥ उत्तिष्ठेद्व्यायं विसर्जनीयं व्युत्सृज्य ॥

अर्थ—जिस दिशामें ग्राम होगा उस दिशायें मस्तक जा पिण्डिके साथ उस शवको उस स्थान पर रखना चाहिये. ग्रामके समुल मस्तक करनेका अभिप्राय पूर्वमें लिख चुके हैं.

उपकरणस्थापनायां तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंसणमंते कालं करितु होज्ज सुरो ॥

सो वि विबुद्धदि दठ्ठण सवेहं सोवधिं सज्जो ॥ १९८७ ॥

विजयोदया—जो वि विराधिय गोऽपि वर्धन विनाश्याते कालगतस्सुरो भवेत् सोपि जानति सोपकरणं सवेहं ददत्तवा नागह संयत इति ॥

तत्र किमयं पिंडं स्थाप्यते इत्याह—

मूळपा—विबुद्धदि प्राणहं संयवोऽमूर्धं सम्पक्खविशेषनामुगतमरणादीदृशीं गर्हि प्राप्ता इति बोधिं लभते ।

सज्जो तपिष्ठमारुनस्वैवदरैर्नानंतमेव ॥

‘विछिंकी स्थापना करेका जेईस यतावे है—

अर्थ—जिसने सम्पददर्शनकी विराचनाते मरण कर देवपर्याय पाया है. वह भी पिछीके साथ अपना देह देखकर मैं पूर्वभवंमें मुनि या येसा जान सकेंगा.

अतः भाष्टु रिक्खे जदि कालगदो सिंघं तु सच्च्वेसिं ॥

एको दु तमे खेत्ते दिक्खुखेत्ते मंति दुवे ॥ १९८८ ॥

सदभिसभरणा अहा सादा असलेस्स जिटु अवरवरा ॥

रोहिणिधिसाहपुणव्वसु चिउचरा भस्सिमा सेत्तां ॥ १९८९ ॥

शांतिर्भवति सर्वेषामृक्षेत्स्ये क्षपके मृते ॥

अध्यमे सृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥ २०६४ ॥

विजयोदया—अतः प्रागे रिक्खे अस्त्यक्षेत्रे यदि क्षपक कालं गतः सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनसत्वे यदि मृत. अन्येष्वेको मृतिमुपैति, मदस्त्यक्षेत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥

अपन्वमध्यमोऽकुटनक्षेत्रेषु क्षपकमरणे फलानि कथयति—

मूलापा—अस्ताभगे रिक्खेरे अपन्वे पंचवत्सुहृदिके सतिपिणपरण्यट्ठास्सालोपेज्जाणा यत्थानं मध्ये एक-सिमसधने तदधे वा क्षपके मृते सर्वेणा श्रेयः स्यात् ॥ तमे खेत्ते मध्यमे त्रिदन्मुहूर्तिके अग्निनीक्षेपिकामृगशिः. पुण्यमपा-

पूर्वांतास्तुनीक्षसावित्रानुराधाभूतपूर्वाषाढाश्रवणपनिष्ठापूर्वमाद्रपदारेवतीनां मध्ये एकस्मिन्मध्ये सप्तमे वा मृते एकोऽन्योऽपि मुक्तिम्रियते । शिवद्वयेने तत्काले पंगवत्वारिजस्तुष्टुर्तिके उत्तरकस्तुत्युत्तराषाढोत्तरभाद्रपुनर्वसुदोहिणीविशाखांनां मध्ये एकस्मिन्मध्ये नवमे वा शपके मृते द्वावन्त्यावपि मुनी म्रियेते ॥ उक्तं च—

शांतिर्भवति सायंप्रभुर्हृदस्ये क्षणकं भूते ॥ मन्थये सत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ॥

अर्थ—अल्प नक्षत्रम याद क्षणिका मरण होगा तो वह सबको सुखदायक होगा. मध्यनक्षत्रमें मरण होनेसे और एक युनिका मरण होता है. महानक्षत्रपर मरण होनेसे दो सुनिर्बोध्य मरण होता है

जो नक्षत्र पंधरा मुहूर्तके रहते हैं उनको ज्ञान्यमुहूर्त कहते हैं। शतभिषक, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, इन छह नक्षत्रोंमेंसे किसी एक नक्षत्रपर अथवा उसके अंशपर यदि क्षयकका मरण होगा तो सर्व संयका क्षेप होता है। तीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको मध्यम नक्षत्र कहते हैं। अश्विनी, कुनिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, पूर्वा, पूर्वाषाढा, अयण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपदा, और रेवती इन पंधरा नक्षत्रोंपर अथवा उसके अंशोंपर क्षयकका मरण होनेसे और एक मुनिका मरण होता है। उत्कृष्ट पंचिचालीस मुहूर्तके नक्षत्रोंको उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं। उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी इन छह मुहूर्तमेंसे किसी मुहूर्तपर अथवा उसके अंशपर क्षयकका मरण होनेसे और दो मुनियोंका मरण होता है।

गणरक्षस्य तस्मा तणमयपडिद्विषयं सु कावृण ॥

एषां तु नामे खेने विबुधस्ये दुवे वृज ॥ १९९० ॥

महन्मध्यमनक्षत्रे मृते क्षातिर्वधीयते ॥

यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ॥ २०६५ ॥

नसने प्रतिदिपद्वयं ॥ गिजयोदय—गणरफयं शयनक्षयं तस्मान्मुनयं प्रतिविकं कृत्वा मध्यमकने लं— ॥ २०६५ ॥

मध्यमोत्पद्यन्तश्च त्रक्षपक्षभरणोपाते संयज्ञाविविधानाभिधानां माध्यात्रयमाह —
 मूलाग्र—तच्छा एकद्विमरणत्वेनोः । ३३ ३

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

अर्घं—भाषके रक्षण हेतुसे मध्यमनक्षत्रमें तृणका एक श्रुतिर्विन्न कर रत्नना चाहिये तथा उत्तम नक्षत्रपर दोन तृणके श्रुतिर्विन्न करके अर्पण करना चाहिये.

श्रुतिर्विद्यमानमाचष्टे—

तदृष्टाणसावणं त्रिय तिमस्तुचो ठविय मडयपासम्मि ॥

त्रिदियवियपिय भिक्खू कुञ्जा तह विदियतदियाणं ॥ १९९१ ॥

विज्योद्या—तद्वृणसावणं मृतपाश्वे तन्मतिपिणं स्वाय त्रिकमुबैषोत्तरेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्वित इति एकापनेउपे ज्ञातः । इयोः श्रुतिर्विद्योत्पणे द्वितीयद्वितीयो दत्ताविति त्रिः श्राव्येत् ॥

श्रुतिर्विद्यमानविधानमाह—तद्वृणसावणं तस्मान्भाषकं कुर्यात् । मृतकपाश्वे त्वत्तिर्विन्नं संस्थाप्य तस्य स्थानेउपे द्वितीयो मयापितः । स चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रिकमुबैषोत्तरेत्तर्थाः एव एकापने कृतः । उक्तपिदो समर्पितः । मृतकपाश्वे एतं त्वत्तिर्विन्नं स्थापयित्वा तस्यैकस्य स्थाने मया द्वितीयोऽयमर्पितः स चिरं तिष्ठतु तपो वा करोत्विति त्रीन्वा-एतुदीर्योदितर्थाः । विदियतदियाणं द्वितीयद्वितीयोत्तःस्थानभाषणं दत्ता कुर्यात् ॥ मृतकपाश्वे द्वे तन्मतिर्विन्ने स्थापयित्वा तपोर्द्वयोःस्थाने द्वाविमौ मयापितौ तौ चिरं तिष्ठतां तपो वा कुरुतां इति त्रिकमुबैषोत्तरेत् इत्यर्थः । वक्तं च—

संस्थाप्य मृतकपाश्वे त्रिस्तत्स्थाने नमयमामुक्तः ॥ इत्यप्येते द्वितीयो विधिरयमग्नय च क्रयेयः ॥

श्रुतिर्विद्यमर्थं कुणालभे प्रकारोत्तरेण शौचिकमौचदिसदि—

वक्तं च—

संस्थाप्य मृतकपाश्वे त्रिस्तत्स्थाने मयावमामुक्तः ॥

इत्यप्येते द्वितीयो विधिरयमग्नय च क्रयेयः ॥

अर्घं—मृतकके पास श्रुतिर्विन्न स्थापन कर उसे मुनीके स्थानमें भेन यह यह दूसरा अर्पण किया है यह चित्रात्त यहाँ रहे अथवा तप करे ऐसा जोरसे तीन पाश उच्चाण करना चाहिये. एकका अर्पण करनेसे यह क्रम बढ़ा है. मृतकके पास दोन तृणमतिर्विन्न स्थापन करके दोनोंके स्थानमें भेन ये दो अर्पण किये हैं ये यहाँ चित्रात्त रहे अथवा तप करे ऐसा जोरसे तीनपाश चोलना चाहिये.

असदि तणे चुणोहिं च कंसरच्छरिद्वियादिचुणोहिं ॥
कादव्योथ ककारो उवारिं द्विहा यकारो से ॥ १९९२ ॥

विजयोदया—असदि तणे प्रतिविकरणार्थमसति एणे चूँकः पुणकेउरैवा भरमना इकाचूणैवां उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् यकारं सुयात् काय इति लिखेदित्यर्थः ॥

प्रतिधियावं गुणालाभे प्रकारावरेण श्रान्तिकर्मोपदिशति —

मूलारा—कसर गुणकेसरैः । छार सस्मना । इद्वियादिचुणोहिं इहकापापणाविचूँकैः । संघशान्त्यधिना । अस्य अत्र अपके स्वावशिव्यसके पूर्ववत्प्राप्त्युक्तधान्यचूर्णोदिना कं लिखित्वा तदुपरि अपकं स्वापयेत् इत्यर्थः । से तस्योपरि लिखितत्वं ककारस्याधस्तादो लिखितव्य इत्यर्थः । एतेन फ्लेति व्यंजनद्वयं लेख्यमाभ्यासम् । अर्हत्पूसादिना याव शान्तिरिति । यदुक्तम्—

महनमध्यमनक्षत्रमृते श्रान्तिर्विधीयते । यत्ततो गजरक्षार्थं जिनाचार्यकरणाविभिः ॥

अर्थ—प्रतिधियं करनेके लिए यदि वृण नहीं होमा तो तंदुलचूर्ण, पुणके केसर, मस्म, अथवा इंदोका चूर्ण इसमेंसे जो कुछ प्राप्त होगा उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार लिखना चाहिये. अर्थात् ' काय ' ऐसा शब्द लिखना चाहिये. संघ श्रान्तिके लिये ऐसा कार्य करना चाहिये. (लपकको स्वापन करनेके पूर्वमें प्राप्त धान्य चूर्णादिकसे त्र लिखकर उसके ऊपर अपकको स्वापन करना चाहिये. क कारके नीचे यकार भी लिखना चाहिये, अर्हन्तकी पूजा वगैरहसे भी श्रान्ति करते हैं ऐसा मूलाराधनामें उल्लेख है)

उवगाहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ॥
पडिचोधिच्चा सम्मं अप्पेदब्बं तयं तेसिं ॥ १९९३ ॥

विजयोदया—उवगाहिदं उपकरणं मूलकाशये यद्गृहीतमुपकरणं वलकाप्रादिकं यदस्थयांजां इत्या तत्रोपकरणं यत्प्रतिनिवर्तनीयं वलार्थिकं तत्पाडिहारिकमियुच्यते । तदुपयितव्यं तेषां यदस्थानां सम्यक्प्रतियोच्यम् ॥
मूलारा—तत्थ तस्मिन् वलकाप्रादौ पडिहरियं पाडिहारिकं व्याप्योऽत्र समर्पणायोम्यं इत्यर्थः । सम्मं यथा विधि-
किसा तस्वामिनां न भवति तथा तान्प्रविचोभ्य । तेसिं येभ्यः प्राध्वर्त्तनीतं तेषां । उक्तं च—

यदुपार्जं तु वस्त्रादि नयनवसरे व्यसोः ॥ मत्स्वादिभ्यस्तद्वर्त्ये स्मात् कृत्वा सस्यक्प्रबोधनम् ॥

अर्थ—मृतकः शो निपीडिकाके मात छे जानेके समय जो कृत् वस्त्रकाशादिक उपकरण गृहस्थति याचना करके साया गया था उसमें जो कुछ खौटकर देने योग्य होगा वह गृहस्थोको समझाकर देना चाहिये.

आराधणपत्तीयं काउसगं करोति तो संघो ॥

अधिउत्ताप् इच्छागारं खव्यस्त वसवीप् ॥ १९९४ ॥

संपयतां नोऽपि विनां त्रायमागवैपेति गणेन कार्यः ॥

यदुर्विसर्गः क्षुपकाधियासे रुच्छा च तस्मिन्नाधिदेवतानाम् ॥ २०६६ ॥

पितृयोष्या—आराधणपत्तीयं आराधनात्मकमित्येवं यथा स्यादिति संघः कायोस्त्वर्गं करोति, क्षपकस्य वसती अपिपुकोदयतां मति इच्छाकारः कार्यः युष्माकमिच्छया संघोऽत्रावितुमिच्छतीति ॥

आराधकप्रहसनं संघस्य वदन्तं रुद्रयमुदासित—

मूखारा—आराधणपत्तीयं आराधनार्थं । अस्माकमप्येवमाशयना भवत्विति । अविउत्ताप् वदन्तिष्ठितदेवतानां ।

इच्छाकारं युष्माकमिच्छया संघोऽत्रावितुमिच्छतीत्यपिच्छितदेवता अनुमतिं कारयितुं उपरोधं च संघः करोतीति सस्यवधः ।

अर्थ—चार आराधनाओंकी याप्ति हमको होवे ऐसी इच्छासे संघको एक कायोस्त्वर्ग करना चाहिये. क्षपकसे यमविराडी जो आधिदानदेवता होगी उसमें संघ बैठना चाहते हैं ऐसा इच्छाकार करना चाहिये.

सगणत्ये कालगदे समणमसश्चाइयं च तद्वित्तं ॥

सत्त्वाइ परगणत्ये भयणिज्जं स्वमणकरणं ॥ १९९५ ॥

उपवाधिमनध्यायं कुर्वन्तु स्वगणस्थिताः ॥

अनध्यायं मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ॥ २०६७ ॥

पितृयोष्या—सगणत्ये कालगदे आत्मीयगणस्येयं यती कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन् गते । परगणत्ये कालं गते पठने उपवाधिमनध्यायं मास्यं । अन्ये ॥ पठति, च ज्ञात् परगणत्ये न स्वाध्यायः कर्तव्यः परगणत्ये मृते उपवासकालीनं मास्यमिति तेषां ध्याय्या ।

आत्मीयसमुदाहरण्यतौ मते तस्मिन्दिने सर्वतोपयासोऽन्वयनं च कार्यं चत्वारण्यस्य ॥ मृतेऽन्वयनममद्यं
कार्यमुपवाससु विकल्प्य दत्तुमर्हमाह—

मूढारा—असज्जं ह्ययमन्वयनं संयेन कार्यं । एवञ्चादि न पठति संगः ।

अर्थ—अपने सगणका पुत्रि मरण को प्राप्त होनेपर उपवास करना चाहिये और उसदिन स्वाध्याय नहीं करना चाहिये परगणके पुत्रिका मृत्यु होनेपर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये उपवास करना विकल्प्य है अर्थात् उपवास करे अथवा न करे.

एवं षड्विंशत्ता पुणो वि तदियद्विबसे उवेक्खन्ति ॥

संपरस सुहविहारं तस्स गदी चेव णाहुंजे ॥ १९९६ ॥

गत्वा सुखविहाराय संचस्य विधिकोविदेः ॥

द्वितीयेऽह्नि मृतीये वा द्रष्टव्यं तप्तकलेवरम् ॥ २०६८ ॥

विजयोवया—एवं षड्विंशत्ता उक्तेन क्रमेण क्षपकण्ठीरं प्रविश्याथ पुनस्तृतीये विबसे गत्वा पदंति,
संचस्य सुखविहारं तस्य न गतिं क्वातुं ॥

मृतीयदिनकृत्यमाह—

मूढारा—षड्विंशत्ता क्षपकण्ठीरं प्रमुच्य । उवेकरंयति तत्र गत्वा वस्यति विधिना । सुहविहारं सुखाय वेक्षांतरे
गमनं । येष वशाद्यमुन्निष्ठादिकं दत्तेत्यमर्षोऽत्र च । णाहुंजे क्वातुं । केचित्पुणोवीत्यन अपिशब्दमनुक्तसुखवार्धमभिनेत्य
द्वितीयदिनेऽपीति पतिपत्ताः ॥ तदुक्तम्—

मरया सुखविहाराय संचस्य विधिकोविदेः । द्वितीयेऽह्नि मृतीये वा तप्तद्रष्टव्यं कलेवरम् ॥

अर्थ—उपर्युक्त क्रमसे क्षपकके शरीरको स्थापना कर पुनः तीसरे दिन वहां जाकर देखने हैं अर्थात् संच-
का सुखसे विहार योगा या नहीं और उसको कोमती मति हुई है इसका परिज्ञान करनेकेलिये तीसरे दिन फिर वहां
पुनि जाते हैं.

जदिदिवसे संचिद्वदि तमणालखं च अक्खदं मडयं ॥

तादिवरिसाणि सुभिक्खं खेमसिवं तमिह रज्जमि ॥ १९९७ ॥

यावन्तो घासरा गात्रयिवं तिष्ठत्यविक्षतम् ॥

शिवं तावन्ति वर्षाणि तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥ २०६९ ॥

विजयोदया—अदि दिवसे यावतो दिवसा. शृगालवृक्षादिभिरस्तृणमखतं ॥ तन्मूलकं तादिवरिसाणि तावन्ति वर्षाणि सुभिश्च देशे दिप ॥ तस्मिन् राज्ये ॥

तद्राज्यसुभिश्चारिकालेयसा निर्णयार्थं तावदाह—

मूला—नदि दिवसे तावन्ति दिनानि । अणालख अस्तृष्टम् । शृगालादिभिरजोदितमित्यर्थे । अक्खदं अक्खवर्जितम् । अद्विष्टमित्यर्थे । यदि तावन्ति । लेय क्षेत्रे लब्धपरिरक्षणं । सिद्धं सुखं । तस्मिन् अक्षरकरणविषयभूते ।

अर्थ—जितने दिनतक वृक्षादिक पशु पक्षियोंके ॥१॥ यह अक्षरकरीर स्पर्शित नहीं होता और अक्षर रेशा उतने वर्षतक उस राज्यमें सुख रहेगा ऐसा समझना चाहिये.

जं वा विसमुबणीदं सरीरयं खगचतुष्पदगणेहिं ॥

खेमं सिवं सुभिक्खं विहरिजो ते विसं संघो ॥ १९९८ ॥

आकूळ्य भीयते यस्यां तद्वगं भ्यापवादिभिः ॥

विहंतुं युरूपते तस्यां संपस्य ककुभि स्फुटम् ॥ २०७० ॥

विजयोदया—अं वा विसमुबणीदं वां वा विसमुपनीतं शरीरं पक्षिमिश्रतुष्पदैर्गो तां विसं संघो विहरेत्क्षेमादिकं तत्र भावा ॥

संपविहरणोक्तिदिग्गिण्यार्थं तावदाह—

मूला—जं वा या प । देशमित्यादि क्षेत्रादिकं ज्ञात्वेत्यर्थः । वृत्तं च—

उपभीतं विसं या वा मूलकं शकुनादिभिः ॥

वा विसं विहरेत्संघो विज्ञाय कुलजालिकम् ॥

अर्थ—पृथी अथवा पृथुष्वद प्राणी त्रिम दिशामें उभय क्षपकता उत्तर ले गये होंगे उस दिशामें संघ
विदार करे उभय दिगमें के वरक धेयादेक समझना चाहिये—

अदि तरस उत्तमंगं दिस्सन्दि दंता च उवरीरिस्सिद्धरे ॥

कम्ममलविषयमुत्तो सिद्धिं पत्तोत्ति जादब्बो ॥ १९९९ ॥

यदि तरस्य सिरो दन्ता इष्येरन्नगमूर्धनि ॥

तदा कर्मसलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसोगतः ॥ २०७१ ॥

विनिर्गोत्रता—अदि तरस उत्तमंग यदि तस्य सिरो दन्ता या निश्चिरात्तरस्योपदि कर्ममलविषयमुक्ताः
निश्चिन्तनी प्राप्ता दीप ज्ञानयः ॥

क्षपकविनिर्गोत्र समस्तवृत्तम्—

मुञ्जारा—उत्तमंगं सिरो । समस्तवृत्तं त्वत्कलुषा सद् । क्षीप्रिवत्पक्षु दिस्सन्दि दंता य उपरीति पाठे मन्यमानो

प्रायरे तथा पौनप्य—

यदि तरस्य सिरो दंता इष्येरन्नगमूर्धनि ॥ तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौ गतः ॥

यच्चेत्यादि अत्र स्वयंनक्षत्र विग्रहवादिनोद्योगाणि । सिद्धिं सर्वार्थसिद्धिमिति जयनंविदित्यप्ये व्याख्या । प्राकृत
दीक्षायां तु स्वमतविविक्तुर्दोषो कर्ममलनेत्र मेदिनी । निदिदि निद्वाने । पक्षोत्ति प्रात इति ।

अर्थ—क्षपकता मन्त्रक अथवा वृत्तपत्रित परंतके विरुद्धर दील पर्वणी तो यह क्षपक कर्ममलसे
वन्त होकर मुक्त होगया है ऐसा समझना चाहिये—

वैमाणिओ धलमदी समम्मि जो दिसि य वाणवैतरओ ॥

गुणगु भयणवासी एस गदी से ममासणे ॥ २००० ॥

वैमानिकःस्थलं यातो उपोनिष्को न्यंतरःसमम् ॥

गतां च भागनस्तस्य गतिरेषा समास्ततः ॥ २०७२ ॥

इदं विधानं जिननाथदेशितं ये कुर्वन्ते श्रद्धयते च भक्तितः ॥
आदाय कल्याणपरंपराभिमे प्रयाति निष्ठामपनीतकल्मषाय ॥ २०७३ ॥

इति आराधकांगत्यागः ॥

विजयोद्या—वेमानिओ थलगदो वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थो उत्तमोने, समभूमिदेशो यदि इदमेते ज्योतिष्को अतरो जात, गर्ते यदि दृश्यते भयनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता । विजहणाति सन्-
पुर्णं गते । विजहणा ॥

मूढारा—थलगदे वल्लप्रदेशमस्तकडे इत्यमाने विमानवासी देवो जात इति ज्ञातव्यम् । समन्मि समभूमि-
देशविषये वाग बानोद्भव इति जयनदी । अन्ये तु वाणवितरको इत्यनेन ज्वंरत्मानमाहुः । तदुक्तम्—

वेमानिक स्वलगते ज्योतिष्को ज्वंरत्था समभागे ॥

गर्ते भायनेदेवो गतिरेषा सत्य संक्षेपात् ॥

आराधकगत्यागः । सूत्रतः ४० अंकतः ३१ ॥

अर्थ—क्षपकना मस्तक उच्च स्थलमें दीसेगा तो वह वैमानिक हुआ है ऐसा समझना चाहिये. समभूमि-
में यदि दीसेगा तो ज्योतिष्क अथवा ज्वंतर हुआ है ऐसा समझना चाहिये मझेमें यदि दीसेगा तो भयनवासी
हुआ है ऐसा मानना चाहिये. इस प्रकार क्षपकके गतिना संक्षेपते वर्णन किया है. विजहणा सूत्रपदका निरूपण
समाप्त हुआ.

आराधकस्तपनमुत्तरं ते सृता भगवता—

ते सृता भयवंता आहञ्चइदृण संघमज्झमि ॥

आराधणापढायं चउपयारा हिदा जेहि ॥ २००१ ॥

भगवंतोअ ते श्राराअतुर्दारापनां मुदा ॥

संघमच्चे प्रतिज्ञाय निर्विघ्नां साधयन्ति ये ॥ २०७४ ॥

पितृपोरणा—ते सृता भयवंत. आहञ्चरूप प्रतिज्ञा कृत्या संघमच्चे अतुल्यकाराचना एताका धैरायुदीप्ता ॥
६६ सदीपारभक्ष्यत्वाख्यानं प्रवंचेन व्याख्याय साधनमाराधकादीन्प्रवंचेन बुद्धियुगारापकस्तवनं गाथात्रयेण

विपत्तौ—

मूसाय—आरुण्यदृष्ट्य प्रतिज्ञा कृता । दित्त गृहीता ॥
अये—ये दुष्टरू धूर और भगवान् अर्थात् पूज्य हे विन्हीने संप्रभे प्रविष्टा कर आराधना शवाका
प्रसन्न की थी.

ते घण्णा ते णाणी लब्धो लभो य तेहिं सज्जेहिं ॥

आराधणा भगवद्दी पडिक्कणा जेहिं संपुण्णा ॥ २००२ ॥

ते पन्था ज्ञानिनो पीरा लब्धनिःशेषचित्तिताः ॥

धैरेयपरायणा देवी संपूर्णा स्वजडीकृता ॥ २०७५ ॥

वित्तवीर्या—ते घण्णा पुण्ययोगः ते ज्ञानिनः ते साधयत्नामाः सर्वेभ्यो धैर्यापयना भगवती संपूर्णा प्रक्तिपन्ना ॥
मूसाय—सदृश्य ॥

अये—ये आराधक पुण्यरंभ और शान्ति समस्तने चाहिये विन्हीने उच्चम पुण्य देनवाली भगवती आरा-
पनाका स्वीकार किया था. इन आराधकोनेही वास्तविक जी प्राप्त करते योग्य था वह प्राप्त किया है.

किं नाम तेहिं लोणे महाणुमानेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।

आराधणा भगवद्दी सबला आराधिदा जेहिं ॥ २००३ ॥

किं न तैरुपने प्राप्तं पदनीये महोदयैः ॥

लीलपरायणा प्राप्ता धैरेया सिद्धिसंफली ॥ २०७६ ॥

वित्तवीर्या—किं नाम जेहिं लोम किंताम तेजोके महापुमानेप्राप्तं धैर्यापयिता सकला आराधना भगवती ॥
मूसाय—सदृश्य ॥

अये—इन महाभागोंने संपूर्ण भगवता आराधना की असाधना की है. अतः इन्हीने कोनसा असाधन पदार्थ
नहीं प्राप्ति किया है ? अर्थात् सर्व लोकोत्तर पदार्थ उनको प्राप्त हुए हैं ऐसा समझना चाहिये.

ते वि य महाणुभावा घण्णा जेहिं च तस्स खवयरस ॥

सन्वादरतत्तीए उवविहिदाराघणा सयला ॥ २००४ ॥

धन्या महानुभावास्ते भक्तितः क्षपकस्य येः ॥

द्वौकिताराधना पूर्णा कुर्वङ्किः परमादरम् ॥ २००७ ॥

निजयोद्या—ते वि य महाणुभावा सेवि च महाभामा धन्या येस्मया तस्य क्षपकस्य सर्वोदरेण शक्त्या च सक-
लाराधना उपविहिता ॥

आराधकसहायानभिष्टौति—

मूलाए—ते वि य क्षपकस्य महाष्टुभाक्त्वधन्यरयोः कर्मो विस्मयः कर्तव्य इत्यपि चेतनेन निरूप्यते । उच-
विहिता संपादिता ॥

अर्थ—ये निर्यापक भी धन्य है महापुण्यमान हैं किन्तु नि चदे आदरसे और पूर्ण प्रयत्नसे क्षापकको
मनं आराधनाको पूर्ण प्राप्त होनेमें अच्छी सहायता दी है.

निर्यापकानं फलमाचष्टे—

जो उवविघेदि सन्वादेरेण आराधणं खु अणयरस ।

संपब्जदि णिव्विग्गया सयला आरावणा तस्स ॥ २००५ ॥

परस्य दौकितता येन धन्यस्पापराधनाङ्गिनः ॥

निर्विन्ना तस्म सा पूर्णा सुख संपद्यते मृतौ ॥ २००८ ॥

पित्रयेन्द्रिया—उवविघेदि यो दौक्यति सर्वोदरेण अन्यस्याप्यर्था तस्य आराधना सकला विविन्ना संपद्यते ॥
आरापकदुःश्रुयफलमादौक्यनुत्कर्षं समर्थयते—

मूलाए—उवविघेदि दौक्यति ॥

निर्यापकको क्या फल मिलता है ? इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—हो पूर्ण आदरभावसे जन्मों को संपूर्ण आराधनाओंकी प्राप्ति कर देते हैं- उनको सर्व आराधनाओंकी निर्विघ्न प्राप्ति होती है.

ये क्षपकप्रेक्षणाय यांति तानपि स्तोति—

ते वि कद तथा घण्णा य हुंति ओ पावकम्भमलहरणे ।

गृह्यन्ति स्वययितये सव्यादरभक्तिसंजुता ॥ २००६ ॥

स्मरन्ति क्षपकस्तीर्थे ये कर्मकर्मसुदने ॥

पापप्रेक्षन् सुच्यन्ते घन्यास्तपि शरीरिणः ॥ २००७ ॥

विजयोदया—ते वि कद तथा तेपि कृतार्थाः घन्याश्च भवन्ति ये क्षपकस्तीर्थे पापकर्मवशापहृत्ये सर्वोदराभिपुक्ताः

स्मरन्ति ॥

क्षपकप्रेक्षणयात्रिकादिव कथ्यते—

मुक्षारा—ते वि कि पुनर्नियोगका इत्यभिप्रेक्षदेनोच्यते । यदायन्ति स्तत्वि । क्षपकप्रेक्षणप्रार्थनादिवाः स्वात्मानोपपन्वीत्यर्थः । स्वययितये क्षपकस्तीर्थे संसारसरिदुष्कारणिमिसत्त्वात् ॥

जो क्षपकके दर्शन करनेके लिये जाते हैं उनकी स्तुति—

अर्थ—जो पूर्ण संपूर्ण पापरूपी मलहरण करनेमें समर्थ ऐसे क्षपकरूपी तीर्थ में अतिशय भक्तीसे स्नान करते हैं वे क्षपक पदना करनेवाले मध्यजीव कृतार्थ और धन्य हैं.

क्षपकस्व स्तीर्थतां ध्यान्ते—

गिरिगिर्यादिपदेसा तित्याणि तवोषणेहि जदि उसिदा ।

तित्यं कथं ण हुज्जो तवगुणससी सयं खवड ॥ २००७ ॥

पर्यतादीनि तीर्थानि सेविताग्नि तपोबनेः ॥

जायन्ते यदि सत्तीर्थं कथं न क्षपकस्तदा ॥ २००८ ॥

विजयोदया—गिरिणिदयारिपदेता गिरितलाद्विपदेता यदि तपोवनैरुपितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षणस्तनोपुणरासिः ॥

क्षपकस्य तीर्थतो मुल्यवयोपपादयति—

मूढारा—उसिदा आभिताः । न होओ न भवेत् । सयं परनिरपेक्षवया ॥

क्षपत क्यों तीर्थं माना जाता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ—पर्यट, नदी चरोतह प्रदेश जहां तपोवन मुनिओने निवास किया था वे भी यदि तीर्थं है. तो तपस्वी और गुणोंका राशि स्वरूप क्षपक क्यों न तीर्थ माना जायगा. अर्थात् क्षपकको तो अवश्य तीर्थं समझना चाहिये.

पुण्यरिसीणं वडिमाओ वंदमानस होइ जदि पुणं ॥

खययस्स वंदओ किह पुणं विडलं ण पाविस्स ॥ २००८ ॥

वंदमानोऽश्रुते पुण्यं योगिनां प्रतिमा यदि ॥

भक्तितो न तपोराशिस्तदानीं क्षपकः कथम् ॥ २०८१ ॥

विजयोदया—पुण्यरिसीणं यदिमात्र पूर्वतां करीष्यं प्रतिमा वंदमानस्य यदि पुण्यं भवति रूपके वंदनोद्यतः कथं निपुलं पुणं न प्राप्नुयात् ॥

क्षपकयंदारोर्विपुलपुण्यतामशुपपादयति—

मूढारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—प्राचीनमुनिओं के प्रतिमाओंकी वंदना करने वालोंको यदि पुण्य प्राप्त होता है तो क्षपककी वंदना करने वाले क्यों न पुण्यलाभ होगा! अर्थात् क्षपकवंदनसे अवश्य पुण्यप्राप्ति होती है.

जो कोलमदि आराधयं सदा तिव्वमत्तिसंजुचो ॥

संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००९॥

सेव्यते क्षपको येन शक्तितो भक्तिः सदा ॥
तस्याप्याराधना देवी प्रत्यक्षा जायते मृतौ ॥ २०८२ ॥
विजयोद्या—जो मोलमदि आराधनं यस्सेवते आराधकं तथा तीययकिंसयुक्तः, संपद्यते निर्विग्रहा तस्या-
प्याराधना सकला ॥

क्षपकोचामिफलमनुश्रुति -
मन्त्रा—ओलगाइ सेवते ॥

अर्थ—जो भग्य जीव क्षपक की उपासना करता है. अंतःकरण में तीव्रभक्ति धारण करता है. उसको भी
संपूर्ण आराधनाए प्राप्त होती हैं.

सविचारभक्तबोसरणेभवमुववणिदं सवित्थारं ॥
अविचारभक्तपञ्चवस्त्राणं पुत्तो परं बुच्छं ॥ २०१० ॥
भक्तत्यागः सबाचीरो विस्तरणेति चर्णितः ॥
अधुना तमवीचारं वर्णयामि समासतः ॥ २०८३ ॥
भक्तत्यागः ।

विजयोद्या—सविचारभक्तबोसरणं सविचारभक्तप्रत्याख्यानेभवमुपवर्णितं सविस्तरं अविचारभक्तप्रत्याख्याने
भक्तः परं प्रवक्ष्यामि ॥

प्रकृतौपसंशारपुरःसरं अवीचारभक्तप्रत्याख्याने व्याख्यातुमुपक्षिपति—
नूतार—पुत्तो इतः । इति सविचारभक्तप्रत्याख्यातव्याख्याने समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार सविचार भक्तप्रत्याख्यान का हमने सविस्तर वर्णन किया है. ॥११॥ यहाँसे अवीचार

भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन करते हैं.

तस्य अविचारभक्तपट्टण्णा मरणमि होइ आगाढो ॥
अपरक्कम्मस मुणिणो कालमि असंपुहुत्तमि ॥ २०११ ॥

भक्तत्यागोस्त्यविचारो निश्चेष्टस्य दुस्तरः ॥

सहसोपस्थितेन मृत्योर्वा योगिनो वीर्यधारिणः ॥ २०८४ ॥

विज्ञयोद्वा—अविचारमत्तप्रतिष्ठा अविचारमत्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्तमस्य यतेः सविचारमत्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥

एष अविचारमत्तप्रत्याख्यानस्य स्वामिसमवर्णिर्णयार्थमाह—

मूढाद्य—तस्य गद्वचने प्रकृतो । आगते सहसोपस्थिते । अपराक्तमस्य निश्चेष्टस्य । कालमिव असंपुद्गुत्तमि ।

सविचारमत्तप्रत्याख्यानस्य कालेऽसति । सोऽन्वीयित्वाकाले सवीत्यर्थः । उक्तं य—

भक्त्यागो ह्यविचारो मरणे सहसागते ॥ भक्त्युत्साहहीनस्य यजेः काले बह्वीयसि ॥

अर्थ—सविचारमत्त प्रत्याख्यानकाल नही होने पर अर्थात् अकस्मात् मरण उपस्थित होनेपर असमर्थ भूनि हो अविचारमत्तप्रत्याख्यान करना योग्य है—

तस्य पटनं निरुद्धं निरुद्धतरयं तद्वा ह्ये विदियं ।

तदियं परमनिरुद्धं एवं त्रिविधं अवीचारं ॥ २०१२ ॥

निरुद्धं प्रथमं तत्र निरुद्धतरमृचिरे ॥

द्वितीयं तु तृतीयं च निरुद्धतममुत्तमाः ॥ २०८५ ॥

विज्ञयोद्वा—तस्य पटनं निरुद्धं तत्र अवीचारमत्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्धं, द्वितीयं निरुद्धतरकं, तृतीयं परम-निरुद्धं एवं त्रिविधमवीचारमत्तप्रत्याख्यानं ॥

अविचारमत्तप्रत्याख्यानस्य निरुद्धनिरुद्धतरपरमनिरुद्धमेवोपविध्यमुद्दिशति—

मूढाद्य—तस्य अविचारमत्तप्रत्याख्यानं ॥

अर्थ—अविचार मत्त प्रत्याख्यानके निरुद्ध, निरुद्धतर और परमनिरुद्ध ऐसे तीन भेद हैं—

निरुद्धमेवंमूलस्य भवतीत्याद्ये—

तस्स निरुद्धं भणिदं रोगादुक्तेहिं जो सममिभूदो ॥

जंघावल्परिहीणो परगणगमणमि ण समत्यो ॥ २०१३ ॥

निरुद्धं कथितं तस्य रोगातंकादिपीडितं ॥

जंघायलचिह्नो यः परसंयममाश्रमः ॥ २०८६ ॥

विजयोदया—तस्स निरुद्धं भणितं तस्य निरुद्धमुक्तं रोगेण वातंकेन ॥ यस्सममिमृतः जंघायलपरिचीनो
या पराणमनासमर्थो यः ॥

निरुद्धं माभापचकेन न्वाचष्टे—

मूला—॥ स मरुतो रोगेणातंकेन वा संसर्गमिमं याजंघायलपरिचीनतया वा पराणं गंतुमशक्त इत्यर्थः ॥

निरुद्धमक्त प्रत्याक्यान किमको होता है इस प्रश्नका उत्तर—

अर्थ— छोटे रोग अथवा बड़े रोगसे पीडित होनेपर तथा वैरोह चलने का सामर्थ्य जिसको नहीं है, जो पराणमें जाने में असमर्थ है वह मुनि निरुद्धअविचारभक्तप्रत्याख्यान करते हैं.

जाघय बलविरियं सं सो विहरदि ताव निष्पडीयारो ॥

पच्छा विहरदि षडिजगिज्जंतो तेण समणेण ॥ २०१४ ॥

यायदस्ति बलं वीर्यं स्वयं तावत्प्रयत्नते ॥

क्रियमाणोपकारस्तु तदभाये गणेन सः ॥ २०८७ ॥

विजयोदया—जाघय बलविरियं यायदलसीर्यं चास्ति । से तस्य । सो विहरति स तावदुशुषे प्रयत्नते निष्पटीकारः
यत्ता शक्तिस्तीमन्पूना तथा पच्छादिहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकारः ॥

निरुद्धध्यामिनः प्रवृत्तौ परामर्शेष्टावयवेष्टावसरो निर्विसति—

मूला—॥ पच्छा अतीव अशिन्युक्तानां । षडिजगिज्जंतो उपक्रियमाणः ।

अर्थ—जबतक देहमें बल, वीर्यं या उक्तक यह गुणोंमें प्रवृत्ति करता है जब शक्ति तीव्रतासे कम होती जाती है तब स्वगणसे उपरुह होता हुआ अपने रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है. अर्थात् अत्यंत अशक्त होनेपर स्वगणस्य मुनि उनकी सेवा करते हैं.

इय सणिरुद्धमरणं सणियं अणिहारिमं अवीचारं ॥
 सो चेव जघाजोगं पुब्बुत्तविधी हवदि तस्स ॥ २०१५ ॥
 सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितारित्तम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥ २०८८ ॥

नित्योदया—इय सणिरुद्धमरणं यण्णिदं एवं सन्निरुद्धमरणं मणितं, अंशबलपरिहीनतया उदाभ्यभिमेन
 पा स्थित्मन्ने निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं अणिहारिमं सविचारमकप्रत्यारुणनोक्तपरित्यागाभावात्, परि-
 त्यागादीनं अनित्यविहारविधियिषिचारस्याभावात्तद्विचारं । आत्मीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रत्ययातीचारं उक्तवा
 निभागद्वारेण प्रत्यतिक्रमः कृतमयाधित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निरुद्धाकारो विहरति, यदा हीनसर्बबलत्वात् परै-
 रनुपशमानो विहरति ॥

मूढारा—सन्निरुद्धमरणं जघाजोगपरिहीनतया । योगबलकाभिमेन वा स्वगणे सन्निरुद्धस्य प्रतिबद्धमरण-
 गमनासमर्थस्य मरणं । अणिहारिमं सविचारमकप्रत्यारुणनोक्तत्वगणपरित्यागाभावात् । अवीचारं अनियतविहारादिविचा-
 रणातिरहात् । सो इत्यादि । स्वगण एव गणितमरणमूले प्रक्रमयावविचारमालोक्य निंदागद्गारः कृतप्रतिक्रममायश्चित्तो
 पावद्वीर्यमस्ति तावन्निरुद्धाकारो विहरति । सर्वबलपरिक्षये पुनः परैरनुपशमान इत्यत्रोक्त्यो यथोक्तो विधिः पूर्वोक्त
 एतत्पर्यः ।

अर्थ—इह प्रकार सन्निरुद्ध मरण का स्वरूप कहा है. पैरोंका सामर्थ्य कम होनेसे अथवा रोगपीडित
 होनेसे अपने गणमें ही जिसको रहना पड़ता है अन्य गणमें जो नहीं जा सकता है ऐसे मुनिको सन्निरुद्ध मुनि
 करते हैं. ऐसे मुनिके मरणको सन्निरुद्ध मरण कहते हैं. सविचारमकके प्रत्यारुणनमें स्वगणका परित्याग कर
 परागणमें जानेका विधि यतलया है. वह इसमें नहीं हैं इधलिये इसको 'अणिहारिम' अनियत विहा-
 रादि विधि इसमें नहीं है इस लिये इसको अवीचार कहते हैं. यह मुनि स्वगणमें ही रहकर आचार्यके चरणमूलमें
 दीर्घासे आसत रुए अपराधों का आलोचना करता है. निंदा और गद्गार करता है. प्रतिक्रमण करके प्रायश्चित्त
 लेकर जबतक सामर्थ्य है तबतक दूसरोंके सहायक बिना रत्नत्रयाचरणमें तत्पर रहता है- जब प्रवृत्ति करने में विल-
 कुल असमर्थ होता है तब अन्यमुनियोंसे श्रृङ्गा साहाय्य लेकर रत्नत्रयमें तत्पर होता है.

दुविधं तं वि अणीहृदिमं पगासं च अप्पगासं च ॥
जणणादं च पगासं इदं च जणेण अणणादं ॥ २०१३ ॥
प्रकाशमप्रकाशं च स्वगणस्थमिति द्विधा ॥
जनज्ञाते मतं पूर्वं जनाज्ञातं परं पुनः ॥ २०८९ ॥

विजयोदया—दुविधं तं वि अणीहृदिमं द्विविधं तदपि जणीहृदिरसंहितं प्रकाशस्याख्यातं प्रकाशरूपमप्रकाश-
रूपमिति जनेन ज्ञातं प्रकाशरूपमितरूपकादात्मकं ॥

निरुद्धावीचारमकप्रत्यख्यानस्य प्रकाशप्रकाशमेवमैद्विषयमभिपद्यते—
मुढारा—अणीहृदिमं अनिहारसंज्ञं । स्वगणनिर्गमरहितत्वात् । अत एवान्वे स्वगणस्थमित्यसौदमध्यधुः । तदुक्तम्—

सन्नित्वद्वयबीचारं स्वगणस्थमितीरिषम् ॥

अपरः प्रक्रमः सर्वैः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥

निरुद्धावीचारमकप्रत्यख्यानके प्रकाश और अप्रकाश ऐसे दो भेद हैं. इनका आचार्य स्वरूप कहते हैं.
अर्थ—अनिहार नामक इस भक्त प्रत्याख्यानके प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप ऐसे दो भेद हैं. जो जनोंके
जाना गया है उसको प्रकाशरूप कहते हैं और जो नहीं जाना गया है उसको अप्रकाशरूप कहते हैं.

स्वययस विससारं सिंचं कालं पडुच्च सज्जणं वा ॥

अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥ २०१७ ॥

द्रष्टव्यं क्षेत्रं यत्तं कालं ज्ञात्वा क्षपकमानसं ॥

अप्रकाशं मतं हेतावन्यत्रापि सतीदृशे ॥ २०९० ॥

इति निरुद्धं

विजयोदया—स्वययस विससारं क्षपकस्य वृद्धिः, यत्तं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे
कारणे जाते अप्रकाशमकप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः शुद्धविषयीकृतसदः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अविकृतो, यद्यप्यो
वा यदि परित्यागविभ्रं भवति न प्रकाशः कार्यः । निरुद्धं गदं ॥

अप्रकाशाय कारणान्वाह—

मूलात्—चित्तसारं मनोबलं । पदञ्च प्रतीत्य । सत्यं चण्डुलोकं । अल्पयासं यदि क्षपकः क्षुदादिस्त्रीपदासहो, पसाविद्यो अविषिज्य, कालो वातिरुक्तः, वांरवा ॥ संन्यासं विप्रयति तदा न प्रकाशः कर्णोऽस्मिन्नित्यप्रकाशकं । निरुद्धम् ।

अर्थ—क्षपकत्वा मनोबल, अर्थात् धैर्य, श्रेत्र, काल, उसके शोधव अथवा अन्य भी कारण का विचार कर क्षपक के निरुद्धाविचारभक्त प्रव्यनको प्रगट करते हैं अथवा अप्रगट करते हैं, यदि क्षपक क्षुधादि स्त्रीपहोसे पीडित होगा, अथवा चसतिका एकान्त स्थानमें न होगी, यदि काल समय अति रूख होगा, यदि वधुगण इस परित्याग विधोमें बापा करनेवाले होंगे तो यह प्रत्याख्यान-मरण प्रकाशित नहीं करना चाहिये.

निरुद्धतरंगे व्यावृत्ते—

गालगिबगधमहिसग्यरिछ पडिणीय सेण मेच्छेहिं ॥
मुच्छाविसूचियादीहिं होशज सज्जो हु वावत्ती ॥ २०१८ ॥

जालात्रलविपव्यालसन्निपातविसूचिकाः ॥

हरति जीवितं साधोर्मानूखा इव तामसम् ॥ २०१९ ॥

वित्तयेवया—गालगिबगधमहिम ध्यलानात्रिना, व्याघ्रेण, मदिरेण, गवेन, कक्षेण, गमुषा, स्तेभेन, न्लेच्छेन, मृगुप्या, विसूचिकादिभिर्वा सद्यो व्यापत्तिर्मेयेत् ।

अथ निरुद्धतया वीपारभक्तप्रत्याख्यानं गाथाबहुध्वेन व्यापितयामुदाशवाधुरपरवर्तिन्याः सद्यो व्यापत्तेः संभयनमिषत्ते—

मूलात्—नाल सर्पाः । वडिणीय शत्रुः । विसूचियादीहिं विसूचिक्या दंढकालाकृतीद्विभूखादिभिश्च । यावत्ती सद्यो मरणकारणवेदना, मरणं वा ।

निरुद्धतर विधीका स्वरूप कर्तते हैं—

अर्थ—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैसा, दायी, रौछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूच्छा, वात्र कुलरोम इत्यादिते उत्क्रांत मरण का प्रसंग प्राप्त होता है.

जाव ण वाया खिप्पदि बलं च विरिय च जाव कायस्मि ॥
 तिज्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खत्तं ॥ २०१९ ॥
 यावन्न खीयते वाणी यावदिद्वियपाटवम् ॥
 यावदैयं बलं चेद्वा देयादेयविबेचनम् ॥ २०२० ॥

विलयोदया—अल ण थाया पिप्पदि यदि यावद्वासा विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदन-
 या पावयित्त न व्याप्तिम भवति तावत् ॥

वस्त्रेण सुदुक्षुणा यत्करणीय तदुपदिशति—

मूलारा—चित्तपदि विनश्यति । विविलच व्याप्तिमम् ।

अर्थ—अतक पचन सुदले निकलता है अतक शरीरमें बल और वीर्य है और अतक शरीरमें होनेवाली
 तीव्र वेदनासे चित्त आकुलित तहों हुआ है अतक—

णच्चा संवट्ठिजं तमाउगं सिग्यमेव तो भिक्खू ॥
 गणियादीणं सणिहिदाणं आलोचाए सम्मं ॥ २०२० ॥
 ताथदेदमया ज्ञात्वा न्हियमाणं स्वज्जिवित्तम् ॥
 आलोचनां दुरो कृत्वा धीरा मुचन्ति विमहम् ॥ २०२१ ॥

विजयोदया—णच्चा सवट्ठिजं शालोपसन्निध्यमाणमाहु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीनां सखिद्विदानामा-
 लोचना सन्त्यष्टं कुर्यात् स्तनयाराधनत्वा परित्त व्युत्पन्नं वसति, संस्तन्याहारमुपाधि शरीरं परिचारकान्, बलवीर्यं
 हाने परगणममनासमर्थं । निरुद्धं प्रवेदा प्रत्येक निरुद्ध इति निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥

मूलारा—संवट्ठिजं तं उपसन्निध्यमाण । धीमेदमया अन्वमुहूर्तमानभोग्यदत्ताया प्रवेसयान् ॥ तो ततः ।

अर्थ—अतक अपना आयुष्य प्रतिसमयमें खीण हो रहा है ऐसा जानकर आचार्यादिकोंके पास शीघ्र
 अपने संपूर्ण पूर्व दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये. स्तनयाराधनामें तत्पर होकर वसति, संस्तर आहार, उपधि,

द्वारीत परिचारक इन सयोगों का त्याग करना चाहिये. अर्थात् इनके ऊपरसे समत्व हटाना चाहिये. तत्पर्य-जब बल और वीर्यकी हानि होती है तब परगणमें गमन करनेमें असमर्थ मानिको निरुद्ध कहते हैं. इससे भी जो अधिक असमर्थ होता है उनको निरुद्धतर कहते हैं.

एवं निरुद्धतरं विदियं अणिहारिमं अवीचारं ॥

सो चेव जघाजोगो पुब्बुत्तविबी हवदि तस्स ॥ २०२१ ॥

स्वगणस्थमिति माज्ञेनिरुद्धतरमीरितम् ॥

अवशयो चिधिस्सस्य ज्ञेयः पूर्वम् दर्शितः ॥ २०२२ ॥

इति निरुद्धतरम् ।

विजयोदया—स्पर्धार्थगाथा ॥ निरुद्धतर ॥

मूढारा—निरुद्धतरं तस्यो मरणकारणोबनिपातेन सुखतं बलवीर्यद्वानेः परगणगमनेऽसमर्थान्निरुद्धात्मक्येणात्मनर्थो निरुद्धतरस्तयोगान्मरणमपि निरुद्धतरं ततः संज्ञायाम् क ॥ निरुद्धतरम् ॥

अर्थ—उत्काल आयुका नाश करनेके कारण प्राण होनेपर बल और वीर्यकी अतिशय हानि जब होती है तब परगणमें जानेके लिये जो युनि अर्थात् असमर्थ होता है. अब ऐसे साधुके मरणकोभी आचार्य निरुद्धतरक मरण कहते हैं. निरुद्धतर मरणका वर्णन हुआ.

वालादिपुंरिहं जइया अविसत्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ॥

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥ २०२२ ॥

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिब्यालीविपादिभिः ॥

तदा शुद्धयिः साधोर्निरुद्धतममिष्यते ॥ २०२५ ॥

विजयोदया—वालादिपुंरिहं व्याकादिभिः पूर्वोक्तैः यदोषहतस्य चाग्निनष्टा यदा परमनिरुद्धमरणं चाग्निरोधोऽत्र परमगतेनेष्यते ॥

अथ परमानिरुद्धावीचारभक्तमहात्म्यार्त्तं गाथासप्तकेन व्याख्यास्यन् पूर्वं गायानचेन तद्वक्ष्यमि—
मुञ्जारा—यत्नादिपदि ब्याख्यादिभिः । पूर्वोक्तेरुपद्रुतस्य असिखत्वा विनष्टा । परमभिरुद्धं परमेण वागिनरोधेन

भिरुच्यस्य साप्यत्यतपरमनिरुद्धमित्याख्यायते । उक्तं च—

यदा संश्लिष्यते वशी ज्यापिव्यालविषादिभिः ॥ तदा शुद्धविषयसाधोविरुद्धतरमिष्यते ॥

अर्थ—सर्वे व्याघ्रादिसे बीडित हुए साधुके अंगमें विषका संचार होकर उसका मापण भी खन्न बंद होता है. तब परमनिरुद्ध नामका मरण प्राप्त होता है. वचननिरोध होनेपर परमनिरोध माना जाता है.

णत्वा संवद्विज्जं तमाउयं सिग्धमेव तो भिक्खु ॥

अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगे सिग्धमालोचे ॥ २०२३ ॥

हरंती जीविनं हृद्वा घेदनामनिचारणाय ॥

जिन्मादीनां पुरो धरिः करोम्यालोचनां लज्जु ॥ २०२४ ॥

पिजयोदया—णत्वा संवद्विज्जं तं आउयं साधोवसंविद्यमाणमायुः अहंतां सिद्धतां साधूनां चांसिके दीप्य
मालोचनाः कुपय ॥

मूञ्जारा—अंतिगे सन्निधौ । मयस्पर्द्धादीन्सन्निहितान्कुलेत्यर्थः । आलोचे आलोचनां कुपय ।

अर्थ—उत्त समय वह मुनि अपना आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है ऐसा जानकर मनमें अहंता और
सिद्धादि परमदुर्जोको धारण कर शीघ्र आलोचना करता है.

आराधणाविधी जो पुण्यं उक्त्वणिदो सवित्यारो ॥

सो चैव जुज्जमाणो एत्थ विही होवि णादब्बो ॥ २०२४ ॥

आराधनाविधिः पूर्वं कथितो विस्तरेण यः ॥

अत्रापि पुण्यमानोऽसौ द्रष्टव्यः श्रुतपारंगैः ॥ २०२५ ॥

पिजयोदया—आराधणाविधी आराधनाविधेयः पूर्वं विस्तरे व्यापणितः स एवात्रापि पुण्यमानो ज्ञातव्यः ॥

मूत्रा—जुजमानो प्रयुजमानः । सहसा मरणराधनाया चैकस्यादां कामयाकरोवि—
अर्थ—आराधना विधीया वो पूर्वमे सविस्तर वर्णन किया है उसीकीही इस मरणमे योजना करनी चाहिये

एवं आशुक्लमरणे वि सिद्ध्यन्ति केहं घुदकम्मा ॥

आराधयित्तु केहं देवा वेमाणिया होति ॥ २०२९ ॥

आराध्याराधनोदधीं आशुक्लं मृतावपि ॥

केचित्सिच्यन्ति जायन्ते केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥ २०९८ ॥

यित्तयोदया—एवं आशुक्लमरणे वि एवं सहसा मरणेऽपि सिध्यन्ति विधुतकर्मसहस्रयः केचिद्वाराधय धैमा-
निका देवा भवन्ति ॥

मूत्रा—एवं अनेन विधिना । चतुर्विधाराधनादुपक्रम्य । आशुक्ले मरणे श्रद्धिति प्राणत्यागे । घुदकमे परी-
कृतं सारवसा निरामकर्मसहस्रयः संतः पंडितपंडितमरणेन सिद्धिं गच्छन्तीत्यर्थः । आराधयन् भक्तप्रत्याख्यानं मरणेनैव
चतुर्विधाराधनानाराध्य मृताः संतः ॥

अर्थ—इस प्रकार चार प्रकारकी आराधनाका आरंभ करनेपर उपर्युक्त कारणोंसे यदि क्षीय प्राणत्यागाका
ममय प्राप्त हुआ वो कोई साधु संपूर्ण कर्मोंका नाश करके पंडितमरणसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेवे है और कोई
मुनि इन आराधनाओंकी आराधना कर वैमानिक देव होते हैं।

आराधणाए तस्य इ कालस्स बहुत्तणं ण तु पमाणं ॥

बहवो सुहुत्तमत्ता संसारमदृणवं तिण्णा ॥ २०२९ ॥

प्रमाणं कालवाहुत्थमस्य नाराधनाविधेः ॥

तीर्णां मुहूर्तमात्रेण बहवो भवनीरधिम ॥ २०९९ ॥

यित्तयोदया—कथमनेन फालेन विधुतिर्मान्यत्यादेका न कार्यति धदति । आराधणाए तस्य तु तस्यामा-
राधनायां कालस्य बहुत्वं न प्रमाणं । बहवो मुहूर्तमात्रेण संसारमदृणवं तीर्णाः ॥

कथमस्त्वयं भवतु न निवृत्तिः साधयेत्यत्राह—
मृगता—मरम वत्या । परार्णं मायकलमं । मुहुष्युञ्जत मुहूर्तमापनायां रिक्ताः ।

अर्थ—इतने अल्पकालमें छेना मोछ प्राप्त होता है ऐसी दुःखा नहीं करना चाहिये. अर्थात् आराधनाका माल बराबरी देना चाहिये ऐसा कुछ नियम नहीं है. मुहूर्तमात्रं गद्दी छोई रत्नत्रय की आराधना करके संसार स-
मुद्रको लीप गये हैं.

खणमेत्तेण अणादियमिच्छदिट्ठी वि वट्ठणो राया ॥

उसहस्स पादमूले संशुद्धिचा गवो सिद्धि ॥ २०२७ ॥

सिद्धो विवर्द्धनो राजा चिरं मिथ्यात्वमायित्त ॥

पृथग्भस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकलमपः ॥ २१०० ॥

इति निरुद्धतमम् ।

पितृगौरुपा—पणमेत्तेण क्षणमायिणानादिमिथ्यादित्तिपि वट्ठेनमायेयो राजा अयमस्य पादमूले संशुद्धो
गता रिक्ति ॥

क्षणमायमापनायाः सिद्धिवाधनपमयोऽयानेन समर्थकते—

मूळारा—दिवद्वली विपर्धनो आमा । समुत्तिष्ठा सम्भवागमनं आत्मवारासति संयेय ॥

अर्थ—अनादि मिथ्यादिति ऐमा वर्धन नामका राजा अल्प भगवानके चरणमूलमें आत्मस्वरूपका क्रातर
दोकर घणमात्रमें निराण की मात हुआ.

सोत्तसत्तित्यराणे तिरयुपण्णस्स पटमविवसम्भि ॥

सोमण्णजाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥ २०१८ ॥

पितृगौरुपा—परमणिः ॥

मूळारा—सोत्तसत्तित्यपराणं अयमादित्ताविवर्धनानाम् । तिरयुपण्णस्स वचनोत्पत्तेः । सोमण्णजाणसिद्धि

हेयदत्तानं निर्वाणायमं च ॥ विष्णुदुहेण स्तोत्रं श्रुत्वेन संपत्ता संप्रसादा यद्वदः । अन्यस्तु सामण्येति चरित्रममस्त । उक्तं च—
 बोधमतीर्थकराणां तोयोत्तमस्य वासरे प्रथमे ॥ श्रामण्यवोपि विधिभिर्ब्रह्मसुदुर्लेन सपृच्छा ॥

एता श्रीवित्तरो नेच्छति ॥

अर्थ—ऋषभनाथसे लेकर श्रावितोर्वंकरपर्यंत सोलह तर्धिकरोंको जिस दिन दिव्य ध्वनिकी प्राप्ति हो गयी थी उस दिन गृह्य सुनिश्चयोंके केवलज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति भिन्नयुद्धोंमें हुई थी इस प्रकार परमनिरुद्ध त मरणशर वर्णन समाप्त हुआ.

एसा भक्तपट्टणा वाससमासेण वणिग्वा विधिणा ॥

इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णोसिं ॥ २०१९ ॥

प्रोक्ता भक्तप्रतिज्ञेति समासव्यासयोगतः ॥

इदानीर्भगिनी यक्ष्ये जन्मकथं कुठारिकाम् ॥ २१०१ ॥

विजयोदया—यथा भक्तपट्टेणा एतद्वक्तव्यत्वात्पान व्यासेन संक्षेपेण च वर्णितं यत् ऊर्ध्वं साध्यासि
 कर्मिणिनीमरणं वाससमासांश्च वर्णयिष्यामि ॥

प्रस्तुतोपसंहारपुरःसरं व्यासदेवोत्तरसुपार्षिति—

मूढारा—विधिना पूर्ववत्प्रकरणे । वञ्जेसि व्याख्यास्यामहम् ॥ वृत्तम्—

एवं वीक्षादिकाढोषितविधियुचितज्ञानभक्तप्रतिज्ञा—

श्रीविष्णुदोषानामार्थं करणलकटिकापाधनाकेतकीः ॥

कोऽप्यत्रोपाधपत्रावरविद्वदभोगानरज्यन्मुमुक्षु-

मस्मिन् स्वर्गलक्ष्मीप्रणयद्वतद्विवश्रीकटाक्षोत्सवः स्यात् ॥

इत्याशापरानुष्ठानमर्थमर्थं मूनापाधनादर्पणे पद्ममेयार्थप्रकाशोक्तिप्रवणे सप्तम आश्वासः ॥ ७ ॥ इति
 भक्तप्रत्यापानमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इमं भक्तप्रत्यारपानं मरणका विस्तारसे और संक्षेपसे वर्णित किया है, अब सन्यास मरणरूप इंगिणी मरणका विस्तार और मध्येमं वर्णन करता है

जो भक्तप्रदिष्णाए उवक्तमो वणिदो सवित्यारो ॥
सो चैव जायजोगो उवक्तमो इंगिणीए वि ॥ २०३० ॥
उक्तो भक्तप्रतिज्ञाया विस्तारो यंच कथन ॥

इंगिनीमरणेऽप्येव यथायोगे विबुध्यताम् ॥ २१०२ ॥

विजयोपया—जो भक्तप्रदिष्णाए यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्तमो न्यर्थनिताः सप्रिस्तारः स एव यथासंगम
मुपक्तमो इंगिनीमरणेऽपि ॥

अष्टमं आश्वासः ॥

अश्रयैरपुनातवैरपि यतोः साध्यादितेरवाहितो । भक्त्यागधुवस्तथा निगदितो न्यासासमासादपि ॥

सकृत्प्राप्तमदोयकपयनुगुणे शुभत्यर्थिनामित्यथ । न्यासकथार्यं इवः सुमुल्लिखितस्यैवगिणिणीपूर्वकाः ॥

अथातः एकमुत्तरेणाष्टमाश्रयैः संक्षिप्ततरणस्य द्वितीयकल्पमिनिनीमरणं साधाश्रयस्थिता प्रवर्धेन न्यास-
ध्यानः प्रथमे बहुपक्तमविदेशार्थे इदमाह—

मुञ्जारा—उपक्तमो प्रयोगविधिः ॥

अर्थ—भक्तप्रतिज्ञा मरणमे जो प्रयोगविधि कथा है वही यथासंभन इत इंगिनीमरणमे भी समझना
पादिये.

पवत्रज्जाए सुद्धो उवसंपज्जितु लिमकपं च ॥

पवयणमोगादिचा विणयसमाधीए विहरिता ॥ २०३१ ॥

प्रवज्याग्रदणे योग्यो योग्यं लिममधिप्रितः ॥

भूतप्रवचनाभ्यासो विनयस्थःसमाहितः ॥ २१०३ ॥

विजयोपया—पवत्रज्जाए सुद्धो यज्यायां सुद्धो दीक्षाग्रदणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हेत्ता निरुपिता । उप-
संपज्जितु प्रतिपद्य । लिमकपं च योग्यं लिमं लिमं इत्यनेन सूचितम् । पवयणमोगादिचा भूतप्रवचनाए एतेन निश्चा-
उपन्यस्ता, विनयसमाधीए विहरिता विनयसमाप्यो विदुल ॥

तदुपक्रमवर्थावित्वाविवेचनार्थमाह—

मृदाय—ध्वजश्चाए सुद्धो वीक्षामहणयोग्यः । जहर्त्स्वल्यापनार्थमिदं ॥ एवमुत्तरपदानामपि लिङादिविकल्प-
वित्पित्वादेत साधत्यमवच्छेद्यम् । उवसंपवित्तु प्रतियत् । लिङकृत्यं निर्मन्मानुष्ठानम् । विन्ययसमाधोए पितये समाधौ
५ । विहरित्वा परित्तो भूत्वा । अजहर्त्सादिपंचतयो विधिरुक्ताः ।

अर्थ—जो दीक्षाग्रहण करने योग्य है. ऐसा सुनि योग्य लिङ धारण ॥ उत—आगममें जवराहिन
करता है. तथा पित्तयों और समाधिमें विहार करता है. तात्पर्य यह है कि, सविचारमत्तप्रत्याख्यान मरणमें
ऐसा प्रयोग विधि स्नानके लिये अर्ह, लिङ, श्रित्वा यमोद चालित सञ्ज्ञाका पूर्वमें वर्णन किया है. वैसा यहां भी
परी वर्णन समझना चाहिये.

णिष्पादिच्चा सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ॥

सिदिमावहिलु भाविय अप्पणं सल्लिहित्ताणं ॥ २०३२ ॥

निष्पाय सकलं संपं इंगिनीगतमानसः ॥

अतिस्थो भारितस्वान्तः कृतसल्लेखनाविधिः ॥ २१०४ ॥

विजयोद्या—णिष्पादिच्चा सकलं योग्यं कृत्वा स्वमयं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, सिविमावहिलु
परिणामधेनिमावह । भाविय भावनां प्रतिपद्य । अप्पणं सल्लिहित्ताणं आत्मानं संलेख्य ॥

मृदाय—णिष्पादिच्चा योग्यं कृत्वा । इंगिणीविधिसाधनायामित्यत्रापि योग्यं । परिणमिय परित्तन्य । साधधि-
त्पानहनिगिनीविधिमिति निश्चलं केनासं निवेष्टयेत्यर्थः । सिदि क्षुमपरिणामधेनी । भाविय कंदर्पादिदुर्भेदनात्प्रागेन
नयःपुद्गारिमात्राभिः संरुह्य । सल्लिहित्ताणं संवक्तव्ययो कुरीकृत्य ।

अर्थ—अपने यणको मुनित्र्योके आचरणमें योग्य बनाकर तदनंतर इंगिणी मरण साधनके लिये वह सुनि
परित्तित करता है. तदनंतर परिणामके श्रेणीपर आरोहण कर कंदर्पादि भावनात्र्योका त्याग कर तपोभावना, क्षुत
भाषना, इत्यादि माननात्र्योका अभ्यास करता है और शरीरके साम कषाय कुछ करता है.

परियाद्गमालोचिय अणुजाणित्ता दित्तं महज्जणस्स ॥
 तिविषेण खमावित्ता सवालवुद्धाउलं गच्छं ॥ २०३३ ॥
 संस्थाप्य गणिनं संच क्षमयित्वा त्रिधाखिलं ॥

यायज्जिवं वियोगार्थी दत्त्वा शिक्षां प्रियंकराम् ॥ २१०५ ॥

वियोगोदया—परियाद्गमालोचिय क्रमेण स्तनत्रयज्वात्तमालोच्य । अणुजाणित्ता अणुज्ञाय । दित्तं गणधरं । महज्जणस्स महाजनस्य बहुविधैर्धर्मैर्देवैर्त्यर्थः । तिविषेण समाधित्ता त्रिविधेन धर्मां प्राद्वयित्वा । सवालवुद्धाकुलं गच्छं ॥
 मूलारा—परियादयं स्तनत्रयसिंघारपरिष्ठादी । दित्तं आचार्यं परित्याप्य । महज्जणस्स महाजनस्य बहुविध संपत्त्यैर्धर्मैः । दयमार्येणा धर्मां प्राद्वयित्वा ।

अर्थ—स्तनत्रयैः पालनं करोते समयं जो अतिचार लगे थे उनको आलोचना कर संयक्ता त्याग करनेके पूर्वमें अपने स्थानमें दूसरे आचार्य की स्थापना करनी चाहिये. अर्थात् बहुविध संयक्ता नवीन आचार्यके स्थायीन कर देना चाहिये. उस समय पालयनि, वृद्धशुनि वगैरह संपुर्ण यज्ञको धर्माके लिये प्रार्थना करनी चाहिये.

अणुसाहू दाटूण य जात्रजीचाय विप्पजोगच्छी ॥

अम्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥ २०३४ ॥

कृतार्थतां समापन्नो हर्षाकुलितमानसः ॥

निर्यतो गणतः सूरिगुणकीलविभ्रूपितः ॥ २१०६ ॥

विज्जणोदया—अणुसाहू दाटूण य शिक्षां दत्त्वा गणपदेर्गलद्वयं च । जात्रजीचाय विप्पजोगच्छी यापस्त्रीवं विप्र-
 योमार्थी । अम्भदिगजादहासो रुताद्योऽश्नीति जातद्वयः । णीदि गणादो निर्वर्ति यतिगणात् । गुणसमग्गो संपूर्णगुणः ॥
 मूलारा—दाटूण गणपदे गणाय च दत्त्वा । जात्रजीचाय यापस्त्रीवं । विप्पजोगच्छी गतेन वियोगनिच्छम् ।
 अम्भदिगजादहासो कृताद्योऽश्नीति निर्भरोत्पन्नप्रीतिः । णीदि निमग्नचित्तिः ।

अर्थ—आचार्य स्थापनाके अनंतर आचार्य और गणको भी उपदेश देना चाहिये और तदनंतर अथ यापस्त्री में आपसे अलग होना चाहता हूं येगा कहकर गणसे मगान करना चाहिये. आज मैं कृतार्थ हुआ ऐसा मान कर संपूर्ण गणयुक्त एकाचार्यका वह आचार्य त्याग करे.

एवं च शिवकर्मिणा अतो चाहं च थंडिले जोगे ॥

पुढवीसिलासए वा अप्पाणं जिज्जवे एक्को ॥ २०३५ ॥

निःकम्प स्यंडिलादौ स विविक्ते वाहिरंतरे ॥

भूथिलासंस्तरस्थायी स्वं निर्यापयति स्वयम् ॥ २१०७ ॥

विजयोदया—एवं च शिवकर्मिणा एवं धिनिष्कम्प । थंडिले जोगे सगे समुज्ज्वले कठिने जीवरहिततया योगे । अतो पाहं च अंतरेद्विर्ग । पुढवीसिलासए वा पुढवीसंस्तरे सिलामये वा । अप्पाणं जिज्जवे एक्को आत्मानं निर्जयेद्वसहायः । तस्य संस्तरारोहणविधिं गाथाद्वयेनाह—

मूळारा—अतो पाहं च गुरादेरुज्ज्वले वाहिरेंया । थंडिले समसमुज्ज्वलकठिनभूमिरेयो । जोगे जीवरहितत्वेन योगे । पुढवीसिलासए पृथिवीसंस्तरे दिलासंस्तरे वा । जिज्जवे संज्ञाणं शक्तिर्गमयति । एक्को देहमात्रसहायः ॥

अर्थ—स्वर्गमे निकलकर अंदर और बाहर जो समान ऊंचा और कठिन है ऐसे भूमिप्रदेशमें अर्थात् स्यंडिलमें जो कि जीवरहित होना चाहिये. उसका आश्रय करे. तथा निर्वन्तुक जमीन अथवा शिलाका भी संस्तर के लिये आश्रय करे. उम समय यह गुरीरमात्र शिवका सहायक है ऐसा होता है.

पुण्डुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलमि पुण्डुत्ते ॥

जदणाए संघरित्ता उत्तरसिरमधव पुण्डुसिरं ॥ २०३६ ॥

योग्यं पूर्वोदितं कृत्वा संस्तवं स्यंडिले तृणैः ॥

पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा गिरो दिशि करोति सः ॥ २१०८ ॥

विजयोदया—पुण्डुत्ताणि तणाणि य पूर्वोक्तानि तृणानि निस्संधिचिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमात्रानि शृद्दन्ति गतिरहिततापोभयानि प्रापे नगरं वा ग्रविश्य यांचया शृद्धेतानि पूर्वोक्ते स्यण्डिले कोऽसौ सालोकः धिस्त्वोगो विप्रस्ताः शतुविरोऽपिदः निजंतुकुलसिंस्थंडिले जदणाए संघरित्ता यत्नेन संस्तरं कृत्वा, को यत्नः तृणानां पुथक्करणं संस्तरभूमिधित्तयेरानं, उत्तरसिरमधव पुण्डुसिरं संघारं संघरित्ता य पूर्वोक्त्यांगमुत्तरोचभांगं वा संस्तीर्थं शिरामश्रुतिं प्रापे पादौ च यत्नेन ग्रमान्यं ॥

पृथिवीविद्यासंस्तरासंगतो मृणसंस्तरविधानमुपदिशति—

भूलाय—पुण्ड्रालि संस्तरयुजोभानि । निःसंधिनिसिद्धद्वन्विज्ज्वलि, सुदृनि, प्रतिलेखनयोग्यानि । सरीरद्विषति साधनमात्राणि च । आवित्ता प्राप्ते नगरं वा प्रविश्य प्रायश्चर्यं कुर्यात्तानि । पुन्ये सत्त्वोक्तविस्तीर्णनिष्कामाद्युपिनिर्विलम्बितेष्टके । अथवा मृणमृणप्रकारजसंस्तरपृथिव्यविलेखनलक्षणेन यत्नेन । संघारित्वा यथाधीये मृणसंस्तरं उत्तराग्निरक्तं पृथ्विरक्तं वा कुर्यात् यथागमनं निर्योग्यतीति पूर्वैव संशयः ।

अर्थ—पूर्वोक्त स्थितिलपर मृणको पसारना चाहिये. यह मृण प्राप्तमें अथवा नगरमें जाकर याचना करके लाना चाहिये. छिद्ररहित, जंतुरहित, दृढ़, सरीसिपराको लिये कारण, प्रतिलेखनाके योग्य ऐसा वह मृण उस स्थितिलपर प्रयत्नसे पसारना चाहिये. यह स्पष्टिक भी प्रकटपुक्त, विस्तारित, छिद्ररहित, विलरहित, निर्जंतुक होना चाहिये. उस स्थितिलपर यत्नसे मृण बिछाना चाहिये. अथवा मृणको पृथक्करण करना, संस्तराकी भूमिका प्रतिलेखन करना, सादर स्पर्श करना चर्चा इन ठसोंको यत्न कइये ई. एवं दिशा अथवा उत्तर दिशाको मस्तक करने योग्य मृणकी रचना करनी चाहिये. कदनंतर मस्तक वगेरे सरीरके अवयव और पांश पिच्छसे प्रयोजित करने चाहिये.

पाथीणाभिमुहो वा उवीचिदुहो वा तस्य सो ठिच्चा ॥

संसि कदंजलिपुडो भावेण विसुद्धलेसेण ॥ २०३७ ॥

मावशुद्धिमाधिष्टाय लेखयाशुद्धिविधर्द्धितः ॥

कर्मविषयसनाकांक्षी मूर्धन्यस्तकरद्वयः ॥ २०९ ॥

वितपोदया—पाथीणाभिमुहो वा उवीचिदुहो वा तस्य सो ठिच्चा मावशुद्धिमाधिष्टाय लेखयाशुद्धिविधर्द्धितो वा भूत्वा कृत्वा संस्तरं संदिष्टाय । संसि कदंजलिपुडो मस्तकं कृतं जलिः । भवेण विसुद्धलेसेण विमुद्धलेयमासमन्वितेन भवेयम् ।

मूर्धन्य रत्रिर्गणविधि मावर्त्तनपद्मेनोपविशति—

मूढारा—पाथीणाभिमुहो पूर्वभिमुहः । उवीचिदुहो उत्तराभिमुहः । तस्य प्रतिलेखनयत्नसंस्तरे । सो ढंगिनीमणो गलः साधुः । ठिच्चा उर्वरिधरा, पर्वत्तवासनेनेत्यादिश्रुतेन वा यथाशक्त्यवसाय । विसुद्धलेसेण पीठादिरेखासमन्वितेन ।

अर्थ—उस संस्तरण वह हंमिणीभरणकी शक्तिज्ञा करनेवाला मुनि पूर्ण दिशा उत्तर दिशाके तरफ मुख करने सदा हो जाता है. अपने मस्तकपर हाथ बोटकर रहता है. अंतःकरणमें परिणामोंकी निमोलता उत्पन्न करता है.

अरहादिअंतिगं तो किञ्चा आलोचनं सुपरिसुद्धं ॥

दंमणणाचरित्तं परिसारेदूण निस्सेसं ॥ २०३८ ॥

विधायालोचनमग्रे जिनादीनामदूयणाद् ॥

दशौनज्ञानचारिअत्तपसां कृतशोधनः ॥ २११० ॥

विज्ञानोत्तरा—अरहाविअंतिगं अहंदापत्तिकं । तो पञ्चाद् आलोचनां कृत्वा सुपरिसुद्धं, दंमणणाचरित्तं पण्डितोऽद्वयज्ञानचारिअत्तपसां कृतशोधनः ॥ २११० ॥

मूढाण—अरहाविअंतिगं अहंदादिपाथे । पक्षिसारेदूण निमलीकृत्य ॥

अर्थ—तदनंतर अहंदादिकों के समीप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यमें लगे हुए दोषोंकी चे मुनि आलोचना करते हैं. और संपूर्णतासे शनप्रयत्नो संस्कृत करते हैं अर्थात् निर्मल करते हैं.

सत्त्वं आहारविधिं आवग्जीवाय वोसरित्ताणं ॥

वोसरिट्ठण असेसं अभेतवाहिरे गंये ॥ २०३९ ॥

यावज्जीवं त्रिधाहारं प्रत्याख्याय चतुर्विधं ॥

यासमाभ्यंतरं ग्रंथमणकृत्य विशेषतः ॥ २१११ ॥

विशेषोदया—सर्वे आहारविधिं सर्व आहारविधिरूपं । यावज्जीवं परित्यज्य वास्त्राभ्यंतरागशेषान् परिग्रहाद्यत्यपत्या ॥

मूढारा—विधिं अस्त्राभ्यंतरं ।

अर्थ—संपूर्ण आहारोंके विफल्लोका चे यावज्जीवं त्याग करते हैं. तथा संपूर्ण वास्त्र न अभ्यंतर परिग्रहोका त्याग करते हैं.

सन्धे विणिज्जिज्जंतो परीयहे धिदिंवलेण संजुत्तो ॥
 लेरसाए विमुज्जंतो धम्मं ज्ञाणं उवणमित्ता ॥ २०४० ॥
 परीयहोपसर्गोणां कुर्वाणो निज्जयं परम् ॥

गाहमानः परां शुद्धिं धर्मेध्यानपरायणः ॥ २११२ ॥

विजयोक्ता—सन्धे विणिज्जिज्जंतो सर्वाद्य जयन् परिपहान् धूतिवत्समन्यितः लेख्याभिर्विमुक्तः सन् धर्मध्यानं

मतिपथ ॥

मूढात्ता -- जपणमिता प्रविपय ॥

अर्थ—वे मुनि सर्व परिपहोक्तो अपने धर्म चले सहन करते हैं. विमुक्त लेखायुक्त परिणामोसे धर्म-
 चानका आश्रय करते हैं.

ठिच्चा णिसिदिच्चा वा तुवट्टिट्ठणव सकायपडिचरणं ॥
 सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सौ भयवं ॥ २०४१ ॥
 निपयोत्थाय निःशेषामात्मनः कुरुते क्रियाम् ॥
 विहरन्पुपसर्गेऽसौ प्रसाराकुंचनादिकम् ॥ २११३ ॥

विजयोक्ता—ठिच्चा क्षिपया आसित्वा शयनं वा कृत्या स्वकायपरिकरं स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति ।
 स्वयमेवात्मनः करोत्पराकुंचनादिकाः क्रियाः, उद्यारकादिकं वा निरुपकरोति प्रविष्टापनासमितिसमन्वितः । यदि पुन उवस-
 णा परा पुनरुपसर्गं देयमुपयतिर्यकृता भवति तथा निष्पत्तीकारस्ताव सद्गते विगतयथः । आक्षितिगसुसंघटनो
 मापेषु विषु संवत्तनेषु सम्यक्तमसंज्ञनः शुभसंस्कारानोऽभेद्यष्टविकचो जितकरणो जितान्द्रो महाबलो नितरं शूरः ॥

मूढात्ता—ठिच्चा उद्भवाद्येवसर्गेण विपत्ता । पर्यकादिना आसित्वा । तुवट्टिट्ठण एकपाशोदिना पतित्वा । सकाय-
 परिपत्तं सप्तदोषविकर्मे शौचत्रिलेखेनार्द्रादिकं । विहारमि निरुपसर्गे संन्यासे सति । सो ठिच्चा इत्यत्र निर्दिष्टं स इत्येत-
 तत्वं करोतीत्यनेन संन्यस्य वाक्यसमाप्तिः कर्त्तव्या ॥ कुत्र एवं करोतीत्याह सो भयवं स तथा कुतो गणी परिकरो भगवा
 न्माशात्प्रातिसरोयेतो यत् इति वाक्यभेदेन संन्यस्योऽत्र विधेयः ।

अर्प— सहे कायोत्सर्गसे सहे होकर, अथवा पयंकादि कायोत्सर्गसे घेठकर, किंवा अयन कर एक यज्ञ पर पड़े हुए वह मुनिसाज स्वयं ही अपनी श्रीर किया करते हैं. अर्थात् उपसर्ग रहित अवस्थामें वे शौच, प्रति-
स्तेतनादि क्रिया स्वयं ही करते हैं. ये क्रिया करते समय प्रतिष्ठापनासमितियें उत्तर रहते हैं. यदि देव मनुष्य और त्रिवेचोंके द्वारा उपसर्ग होने लगा तो वे उसका प्रतिकार नहीं करते हैं. उनका धैर्यरूपी कवच अमेव रहता है. अंतःकरणमें त्रासा भी भ्रम नहीं रहता है. इयिनीमणके धारक मुनि पहिले तीन संहननोंमेंसे कोई एक संहननके धारक रहते हैं. उनका शुभ संस्थान रहता है. वे निद्राको जीतते हैं, महाबली व शूर रहते हैं.

सयमेव अप्णो सो करेदि आउंटाणावि किरियाओ ॥

उच्चारदीणि तथा सयमेव विक्किचिदे विधिणा ॥ २०४२ ॥

जाये पुण उवसग्गे देवा माणुस्सिया व तेरिन्हा ॥

ताथे णिण्हियस्मो ते अधियासेदि विगदस्सओ ॥ २०४३ ॥

आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिविकवचो ॥

जिदकरणो जिदणिदो ओषवलो ओषसूरो ण ॥ २०४४ ॥

श्रीमत्यभीमदरित्तणविगुब्बिदा भूदरक्खसप्पिसाया ॥

खोभिज्जो जदि वि तयं तथवि ण सो संभं कुणइ ॥ २०४५ ॥

स्वयमेवात्मनः सर्वं प्रतिकर्म करोति सः ॥

आकांक्षति महासत्त्वः परतोऽनुग्रहं न हि ॥ २१२४ ॥

देवमानवतियग्म्यः संपद्यमतिवारुणम् ॥

उपसर्गं महासत्त्वः सहेतुऽसौ निराकुलः ॥ २११५ ॥

दुःशीलपूतयेतालशाकिनीग्रहराक्षसेः ॥

न संमीपपितुं शक्यो भीमेरणि कथंचन ॥ २११६ ॥

विजयोद्या—शीतपयीमंखणविमुक्तिरा धीमत्समीपदर्शनाधिक्या भूतराखणीपक्षाया यच्चरि शोभं
 पुर्येति ताया व्यसौ न संभ्रमं करोति ॥

अन्यथादुपसंगस्य तत्कृत्यमाह—

मूढारा—आवटणादि आकुंचनप्रसारणादि । विरिचिदे स्फटयति । विधिणा प्रतिष्ठापयनिष्कसमिति विधानेन ।
 उपसंगसंभवे स किं करोतीत्याह—

मूढारा—जाये यदा । य अचेतनकुवाअवि समुचिनोत्पयं षं । जाये सदा । निष्पदियम्मो प्रतिकाररहितः ।
 अपियासेदि सहते ।

तदुपसंगसहनसामर्थ्यसमर्थनार्थमाह—

मूढारा—आदिदियसुसंपदणो यअपुपभनाराचं, यअनाराचं नाराचं वेत्तापेदु त्रिपु शोभनसंहनेतेपु मध्येउपपन्न
 संदहन इत्यर्थः । सुभसंठाणो समचतुरअसंथान । अभेयं अमेयं । ओवबलो महाबलः । ओवसूरो निररा शूरः । अत एव
 देवादिछादुपसंगप्रिभयसन्सहते इति पूर्वेष समन्वयः ।

पुनस्तस्य महासात्विकत्वं प्रविष्कूलोपसंगसंशोभादुक्तमुत्तेन व्यनक्ति—

मूढारा—बीमच्छभीमदंसनविट्ठियदा विछलमयंकददर्शनविधियकिपाः । खोभियजो खोभियेयुः । छंमस संकोमं ॥
 अर्थ—बीमत्स और भय दिखानेवाला भिनका दर्शन और विक्रिया हे ऐसे भूत, राखस और सिधाचोके
 द्वारा यदि शीम उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जानेपर मी उनके मनमें भय उत्पन्न नहीं होता है.

इष्टिमदुलं वि उक्खिय किण्णरकिंपुरिसदेवकण्णाओ ॥

लोलंति जदियसगं तघवि ण सो विम्मयं जाई ॥ २०४६ ॥

अिदरोचिकियावज्जिथेतथोरणकारिणी ॥

प्रदश्यं मएतीसुद्धिं लोभ्यमानो न लुभ्यति ॥ २११७ ॥

विजयोद्या—इष्टिमदुलं पिगुक्खिय ऋद्धिमदुलं विरुत्स किण्णरकिंपुरिपदिदेवकन्या यथापुपलालनं कुर्वति-
 तराप्यसौ न विरमयं याति ॥

किंनरादिकन्याप्रत्येकं लक्षणानुसृत्योपसर्गेऽपि तस्य विस्मयगतत्वं द्रष्टे ॥
 मूढारा—इति श्रद्धा । लालति लोभयति । विषयं विस्मयं ॥ किंनरुणा ॥
 अर्थ—अनुपम श्रद्धा प्रपट करके किन्नर किंपुलमादिकभी देवकन्याएँ उनको लुब्ध करनेका प्रयत्न भी
 करतीं तो भी उनका मन आश्चर्यचकित नहीं होता है-

सत्त्वो योगलकाञ्चो दुःखसत्त्वाए जडि तमुक्वणमेज्ज ॥
 तथवि य तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोचिया को वि ॥ २०४७ ॥
 संपयतेऽस्सिलास्सस्य दुःखाय यदि पुद्गलाः ॥
 तथापि जायते जातु ध्यानविमो न धीमतः ॥ २११८ ॥
 विजयोद्वा—सत्त्वो योगलकाञ्चो सर्वे पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि समभिदंति तथापि तस्य न जायते ध्यान-
 स्यान्व्यापृतिः ॥
 मूढारा—सत्त्वो त्रेलोक्योदरपती । योगलकाञ्चो पुद्गलद्रव्यं । दुःखसत्त्वाएँ दुःखतया । दुःखोत्पत्तिरूपतयेत्यर्थः ।
 इवणमेज्ज उपलब्धेयः । विसोचिया अन्यधामानः । आर्तरीत्रपरिणतिरित्यर्थः ।
 अर्थ—जगतके संपूर्ण पुद्गल दुःखरूप परिणतिको प्राप्त होकर उनको पीडा करनेके लिये उद्यत होनेपर
 भी उनका मन ध्यानसे व्युत्त नहीं होता है-

सत्त्वो योगलकाञ्चो सोक्खसाए जडि वि तमुक्वणमेज्ज ॥
 तथ वि त्थु तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोचिया को वि ॥ २०४८ ॥
 सुखाय यदि लभ्यते सर्वे पुद्गलसंघायाः ॥
 तथापि धीरधीर्नासौ ध्यानतश्चलति स्फुटय् ॥ २११९ ॥

विजयोद्वा—स्फोटोत्तराणां ॥
 मूढारा—सोक्खसाएँ सुखावद्वा ।

अर्थ—सर्व जगत्के शुद्धत यदि सुखरूप बनकर उनको सुली करनेके लिए उद्यमी होनेपर भी इन मुनिराजस मन उनमें सुख होता नहीं अर्थात् अपने आत्मप्याप्तमें ही स्थिर रहता है-

सच्चिचे साहरिदो तत्थोवेक्खदि वियत्तसन्वंगो॥

तवसगगे ॥ पसंते जदणाए थण्डिलमुवेदि ॥ २०४९ ॥

उपेक्षते विनिश्चितः सच्चित्तहरितादियु ॥

उपसमर्ग्यमे सूर्यो योग्यं स्थानमियत्ति सः ॥ २१२० ॥

पिनयोद्या—सच्चिचे साहरिदो व्यापारिभिः सच्चिचे निश्चितः स उपेक्षोपेक्षते त्यक्तसर्वांगः । उपसर्गमे मर्याते

पारतेम स्पण्डिलमुवेति ॥

भवाप्रादिभिः प्राणिसंछुल्लभुण्ठे प्रस्तिरेऽसौ कि करोवीत्याह—

मुळारा—सच्चिचे हरितवृणारिप्राणिबुल्लो देखे सा हरिदो व्याप्रादिभिर्नीत्या प्रक्षिप्तः । तत्थ तत्रैव स्वेच्छदि विच्छलुपसर्गात् रापत् । विपत्तसन्वंगो त्यक्तसर्वकायः । पसंते स्वयमेव प्रशंस गते ॥

अर्थ—इरा वृण वरीरह प्राणिओंसे व्याप्त ऐसे भूप्रदेशमें यदि व्याप्रादिकोंने लेजाकर फेंक दिया तो भी उपसर्ग दूर होने तक वे मुनि ब्रह्मभाव धारण कर करीरमोहसे रहित होकर वहां ही रहते हैं. उपसर्ग दूर होनेपर पलने स्पंडिलके तरफ आते हैं.

इवं उव सगविधिं परिसहविधिं च सोधिआ संतो ॥

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदक्कसाओ ॥ २०५० ॥

परीपहोपसर्गणामेवं विपद्दुनोद्यतः ॥

मनोवाक्कायगुतोऽसौ निःकपायो जितेंद्रियः ॥ २१२१ ॥

पिनयोद्या—एवं तवसगविधिं पवगुपसर्गात् परिपदांश्च सदमानास्त्रियुतः सुनिश्चितो निजितकपायः ॥

मुळारा—स्पष्टम् ॥

अर्थ—इस प्रस्तर के मुनिराज उपसर्ग और परीपहों को बीतते हैं- मन वचन और शरीरकी क्रियायें घंद करते हैं अथान् तीन शुभियोंको पालनरू क्रीयादिक कर्मायोंको बीतते हैं- आत्मस्वरूपमें स्थिर रहते हैं.

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ॥

णिण्णडिबद्धो विहरदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥ २०५१ ॥

इहामुज्ज सुखे दु-खे जिविते मरणे सुधीः ॥

सर्वथा निःप्रतीकारथतुरंगं प्रवर्तते ॥ २१२२ ॥

विश्वोदया—इहलोमे परलोमे इह परन् च बीयिते मरणे सुखे दु-खे च अप्रतिबन्धो विहरति अित्तदु-या परिधमः पृतिमान् ॥

मूलात्—निपट्टिबद्धो इण्डोपरदितः । धिदिमं धृतिमान् ।

अर्थ—इहलोकमें और परलोकमें, जीवित और मरणमें, सुख और दुःखमें वे इच्छा और द्वेष नहीं रखते हैं. ईश्वर धारण करते हैं और दुःखोंके परिधमसे वे पीडित नहीं होते हैं.

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तधय धम्मयुदि ॥

सुत्तच्छपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तत्यमेयमणो ॥ २०५२ ॥

वायनापुच्छनाम्मायधर्मदशनवजित्ताः ॥

धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥ २१२३ ॥

पित्रयोदया—वायणपरियट्टणपुच्छणाओ वाचनं, परिवर्तनं, यज्ञं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थं स्य वा स्मरत्येकचित्तः ॥

वायनादिरयाचयामेदेषु मध्ये सूत्रार्थानुष्ठापेवाप्तौ-करोतीत्यनुशास्ति—

मूलात्—परियट्टण आगन्तव्यः । धम्मयुदी धर्मोपदेशं देववदनं च । सुत्तत्यपोरिसीसु एवंसु स्वाध्यायभेदेषु मध्ये यथाप्राप्तौदृष्टान्तमयेषु चतुर्षु परत्पट्टिद्विवाकीर्षेकत्वननिर्गच्छन्ति चेव्यपि अस्वाध्यायकोष्ठेवपि इत्यर्थः ।

मतेरि पिण्यवि । उक्तं च—

बापतादृच्छन्नायमयमेवैवमननजितः ॥

धीरः सुतर्क्योः तन्पक्ष्यायत्वेनायमननसः ॥

अर्थ—ये युनि पाचना, ग्रन्थना, परिवर्तन और धर्मोपदेश इस रूपसे चार प्रकारके स्वाध्यायकराय कर दूत और अर्पण एकाग्रतासे स्मरण करते हैं- अथवा दिनका पूर्वभाग, मध्यभाग, अन्तर्भाग तथा अर्धरात्र एते चार समयोंमें तीर्थङ्गरोपी दिव्यध्वनि निकलती है- ये काल स्वाध्यायके नही हैं- ऐसे कालमें भी वे अनुप्रेयात्मक स्वाध्याय करते हैं.

एवं बहुवि जागे अनुग्रहो तच्च ज्ञादि एवमणो ।

जदि आपच्चा णिद्धा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥ २०५३ ॥

पथमएतु यामेयु निनिद्रो ध्यानलालसः ॥

अयन्तो हन्तो निद्रां न निपेयत्पतो पराम् ॥ २१२४ ॥

विजयोष्या—एवं बहुवि जागे एवमेव एतु यामेयु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येकचित्तः, यथाहृत्य निद्रा प्रपेतु तत्र धनतिमोऽन्तो ॥

करर त्नामक्रियो निदिष्य दृढायतुज्जगति—

मूलारा—अनुरहो क्षत्रिद्रः सन् । एष तत्र । आपच्चा आहृत्य दृढात । अपदिण्णो प्रतिहारद्विः । दृढाद्वर्तनी भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ—एष प्रकार आदो ग्रहोंमें निद्राका परित्याग करके एकप्रचित्त होकर वे युनि तत्त्वोंका विचार करते हैं. यदि पलातु निद्रा आगई तो निद्रा छेने हैं.

तत्सायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ॥

जम्हा दुसाणमज्जे तरस य ज्ञाणं अपहिसिद्धं ॥ २०५४ ॥

स्वाध्यायकाले विक्षेपाद्यन्तास्तस्य न च क्रियाः ॥

ध्यानं दमभानमप्येवमपि कुर्वानस्य निरंतरम् ॥ २१२५ ॥

चित्तयोदयः—सद्व्यायकालपटिलेहणादिषाञ्चो स्वाध्यायकालप्रतिलेखनाविधाः क्रिया न संति यस्मात् इमंशः नयस्येति तस्य ध्यानं न प्रतिपिदं ॥

रमाध्यायकालवेपणादिना विचारविषयमभवे क्षेत्राशुद्धौ वा ध्यानाप्रवृत्तौ कथं तस्याहोरात्रिकमहामध्यानं

रमादिलयाह—

मूढराह—पटिलेहणा गवेषणा शुद्धिर्वा । सुखाण इयज्ञानं । व्यपदिसिध्धं न प्रतिपिदं ॥

अर्थ—स्वाध्याय काल और शुद्धि वगैरह क्रियायें उनकां नहीं हैं- इमंज्ञानमें भी उनको ध्यानके लिये निषेध नहीं है.

आवासरं च कुण्डरे उवधोकात्मि जं जाहं कमदि ॥

उवकरणं पि पटिलिहद् उवधोकात्मि जदणाए ॥ २०५५ ॥

यथोक्तं कुरुते सर्वमाद्यद्यकमन्तद्वितः ।

विपत्ते स द्वयं कालं उपधिप्रतिलेखनय ॥ २१२६ ॥

पिजयोदया—आवासरं च कुण्डरे आषट्पक्षं करोति कावद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखन-मपि यत्नेन कालद्वये करोति ॥

एवं वरि नावद्वयकादिकमप्यसौ विधास्वतीत्यानंरामपादरोति—

मूढराह—य पुनः । उवधोकात्मि रात्रिद्विनयोः । कमदि प्रवर्तते ॥

अर्थ—जो आवश्यकक्रमं जिस कालमें जिस कालमें करेनका विधान कहा गया है उस कालमें ये पुनि वह क्रम करते हैं- उपकरणोंका प्रतिलेखन-शुद्धि भी प्रयत्नसे स्यादिय और स्यास्ता समयमें अवश्य करते हैं.

सहसा तुकारकलिंदे जितीधियादीसु मिच्छकारे सो ॥

आसिअजितीधियाओ जिगमणपवेसणे कुणइ ॥ २०५६ ॥

सहसा स्खलने जाते भित्तयाकारं करोति सः ॥

जासीनिपयकाशओ विनिःक्रांतिप्रवेशयोः ॥ २१२७ ॥

विजयोदयाः—सहसा शुद्धरक्तलब्धे सहसा स्कलने जाते म्रियन्ता मया कृतमिति प्रतीयति, निष्कृमणप्रवेसयोऽन्तस्ति
कानिपीधिकाशब्दप्रयोगं करोति ॥

मूलायाः—शुद्धरक्तलब्धे अङ्गणे किञ्चित्करणं वा संयमे सति । मिच्छाकारो मिच्छा इत्याहुतमिति भाषणं । आसि-
न निर्गमने 'आसिका' शब्दोच्चारणं निमित्तिधाव्यो । प्रवेशे 'निपीधिका' शब्दोच्चारणं ॥

अर्थ—कुल स्वतन्त्र होनेपर अर्थात् आवश्यककर्म शोदासा किया गया हो मैंने
मिच्छा किया 'मिच्छा मया कृतं' ऐसा मोलते हैं. वंदनादि कार्यके लिये जाते समब और प्रवेश करते समय
असहि और निगूही ऐसा शब्दोच्चार क्रमसे करते हैं.

पादे कंटयमार्दि अच्छिस्म रजादियं जदवेज्ज ॥

गच्छदि अधाविधिं सो परणीहरणे ग तुसिणीओ ॥ २०५७ ॥

पादयोः कंटके भग्ने रजसिक्षणयोगेति ॥

तूष्णीमास्ते स्वयं पीरो परेणोद्धरणेऽपि सः ॥ २१२८ ॥

विजयोदयाः—पादे कंटयमार्दि पादयोः कंटकजघने भेद्योः रजःप्रभृतिभेदोपि तूष्णीमास्ते, परनिष्करणेपि
स तूष्णीमास्ते ॥

पापादौ शंढकादिप्रवेशनस्योपेक्षाशुचिदिति—

मूलायाः—कंटयमादौ कंटकशीलकादिकं । आनेज्ज प्रविशेत् । अयाविधि यथाविधि । शोक्तविधिना याति
निराकर्तुं न प्रयति इत्यर्थः । परणीहरणे परेण निष्ठास्यमाने पादभग्नकंटके इत्यर्थः । तुष्णीय मोनेन विव्रति । तुसिणीओ
इति पाठे तूष्णीको मोनशीलो भयनीत्यर्थः ॥

अर्थ—पैरोमें कांटा चुभ गया और नेत्रमें रज-धूलिका कम चला गया तो भी ये अपने हाथसे नहीं नि-
काशते हैं. दूसरोंके द्वारा निकाला जानेपर मोन मोन घारण करते हैं.

केतुज्जणमाहारयचारणक्षीरासवादिलब्धीसु ॥

तवसा उर्णणासु वि विरागमावेण सेवदि सो ॥ २०५८ ॥

मानविषासु आतासु लब्धिष्वेव महामनाः ॥

न किंचित्सेवते जातु विरागीभूतमानसः ॥ २१२९ ॥

वित्तयोदया—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो आहारकदो चारणकदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-
वि विरामतया न किंचित्सेवते सः ॥

विधियाक्रदो—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो

मृत्प्रा—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो आहारकदो चारणकदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-
वित्तयोदया—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो आहारकदो चारणकदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-

अर्थ—उपसोरपवाध विधियाक्रदो आहारकदो चारणकदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-
वित्तयोदया—ये उद्यमग्राह्य विधियाक्रदो आहारकदो चारणकदो क्षीरास्रवद्विच्छिद्यु ॥ उपसोरपवाध-

मोणाभिगहणिरदो रोगार्दकादिवेदनाहेतुं ।

ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्डासुहादीणं ॥ २०५९ ॥

वेदनानां प्रतीकारं क्षुदादीनां च धीरधीः ॥

न जातु कुल्लो किंचिन्मौनव्रतमवस्थितः ॥ २१३० ॥

पित्तयोदया—मोणाभिगहणिरदो रोगार्दकादिवेदनाहेतुं प्रतीकारं न करोति तथैव लुडा-
धीनामपि ॥

रागदुःखीकारमपि तस्याह—

मूढारा—मोणाभिगहणिरदो रोगार्दकादिवेदनाहेतुं

अर्थ—मौन व्रतमौ चारण करते हैं. रोगादिकोसे पीडा होने पर उनका प्रतीकार इत्यादि नहीं करते हैं.
भूरा, प्यास, शीत, उष्ण, इत्यादिकोका भी वे प्रतीकार नहीं करते हैं.

उद्यमसो पुन आहरियाणं इंगिणिमदो वि छिण्णकधो ॥

देवेहिं माणुसेहिं व पुटो घमं कचेदिति ॥ २०६० ॥

उपदेवोऽन्यस्तुरीणार्मिगिनीमरणेऽपि सः ॥
 त्रिदशैर्मनुजैः दृष्टो विद्यते धर्मवेदानाम् ॥ २१३१ ॥
 गिलायोदया—अथसो पुन आइरियाणं उपदेवः पुनः आचार्योणां इंगिनीमतोपि धर्मं कथयति देवैर्मनुजै-
 र्यां दृष्टः । कथं कथयति उल्लेखं प्रवर्तते न मद्भता ॥

केचिद्धर्मदेसनमिगिण्यामप्युपनिर्बोधि दर्शयन्ति—

मूढारा—आवरियाणं आचार्यवराणाम् । विट्ठिउण्यकयो विंछिन्ना स्तोका कथा यस्यासौ विच्छिन्नकथः स्यात् ।
 उण्यकयो इति वा श्लेषः । देवैर्मनुजैर्वा धर्मं कथयेति पृष्ठः सन्निगिणीगतोऽपि स्तोकां धर्मकथां करोति । इलान्येपां
 मतमित्यर्थः ॥

अर्थ—इंगिनीमरणे तत्पर रहकर भी वे मुनि देव अथवा मनुष्यके द्वारा श्रुत जानेपर योडासा धर्मो-
 पदेश भी करते हैं ऐसा अन्य आचार्यों का मत है.

एवमधक्खादविधिं साधित्ता इंगिणीं धुदकिलेसा ॥

सिज्झंति केह केह केहं हवंति देवा विमाणेसु ॥ २०६१ ॥

इंगिनीमरणेऽप्येवमाराध्याराधनां युधाः ॥

केचित्सप्यन्ति केचिच्च सन्ति येमानिकाः सुराः ॥ २१३२ ॥

इंगिनीमूर्तिं सुखानुवंगिणीं निर्मलां कपायनाक्षकौशलाम् ॥

प्रविता भजंति विम्वर्जिता ये नरा भवंति तेऽजरामराः ॥ २१३३ ॥

इति इंगिणीमरणम् ॥

विजयोदया—एवमधक्खादविधिं एवं यथाख्यातक्रमेण इंगिणीं प्रसाध्य विरस्तकलेसाः केचित्सिधयति,
 कचिद्धैरामिगुदेया भवंति ॥

इंगिणीमाश्रित्यमभिष्टौति—

मूढारा—अधक्खादविधिं ययोकत्तम् । धुदकिलेसा ययोकत्तमेगिणीं प्रसाध्य जीवन्मुखाः संव इत्यर्थः ।
 सिज्झंति मञ्जीणकृत्स्नकर्माणः पंडितपंडितमरणेन निर्वाणवीत्यर्थः ।

अर्थ—यहाँ तक जो इंगिनीमरणका विधि है उसको सिद्ध करके कोई भुनि संपूर्ण कर्मक्लेशोंको दूर करके मुक्त होते हैं, और कोई वैयानिक देव होते हैं.

१५९०

८

एवं इंगिनिमरणं वाससमासेण वणिज्जं विधिणा ॥

पाओगमणणिगिचो समासदो चेव वण्णोसिं ॥ २०६२ ॥

इंगिनीमरणं प्रोक्तं समासव्यासयोगतः ॥

प्रायोपगमनं वक्ष्ये व्यासेन विधिनायुना ॥ २१३४ ॥

विसयोवपा—स्पष्टायों गाय ॥ इंगिनी ॥

मच्छुमुसंहरन्नुपदेशांतरमुपक्षिपति—

मुढारा—वाससमासेण समासवर्णनाय 'को भक्षयदिब्बाए' इत्यादिसूत्राविशेषासामर्थ्याद्विज्ञावद्वर्गतव्या ॥

एदनिगिनीमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ—इस प्रकार इंगिनी मरणका विधि विस्तारसे और समाससे—संक्षेपसे हमने वर्णन किया है. अब आगे प्रायोपगमन मरणका संक्षेप से वर्णन करते हैं. इंगिनी मरणका वर्णन समाप्त हुआ.

पाओवगमणमरणस्त होदि तो वेव बुवक्कमो सव्वो ॥

युचो इंगिमणमणस्सुक्कमो जो सवित्थातो ॥ २०६३ ॥

इंगिनीमरणेऽवाचि प्रकमो यो विसेपत्तः ॥

प्रायोपगमनेऽप्येव द्रष्टव्यः श्रुतपारमैः ॥ २१३५ ॥

पित्तयोदण—स्पर्शयः ॥

अर्थावः पमरतैयवृत्त्यनपेक्षाऽश्रणं शंखिमरणं स्वतृतीयविकल्पं प्रायोपगमनमरणं गायानवकेन व्याचि-
क्यामुण्णो बहुप्रक्रममतिदिरुति—

मुढारा—स्पष्टम् ॥

मूलाराधना

आध्यात्मः

१७९०

अर्थ—इंगिणीमरणका जो सविस्तर विधि बता है वही प्रायोपगमन मरणका भी विधि समझना चाहिये-

ण्वारिं तणसंथारो पाओवगदस्स होदि पडिसिच्चो ॥

आदपरपओगेण य पडिसिच्चं सव्वपरियम्मं ॥ २०६४ ॥

संस्तरः क्रियते नात्र तृणकाष्ठारदिनिर्मितः ॥

स्वकीयमन्यवपियं च वैषाद्युत्पं न विद्यते ॥ २१२६ ॥

विशेषवैया—ण्वारिं तणसंथारो ण्वरं तुणसंस्तरः प्रायोपगमनगतस्य प्रतिपिद्यः, मास्पपरप्रयोगेण यस्मात्प्रतिपिद्यः तस्य प्रतीकारः । स्पपरसंयाद्यप्रतीकारोपेक्षः भक्तप्रत्याख्यानाविधिः, परनिरोक्षमात्मसंयाद्यप्रतीकारविधिगीमरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यर्थो बोधः ॥

लसर्मेणीपदिषवापवादमाह—

यूछारा—ण्वरं किं । पाओवगदस्स संवात्पादाभ्यां योग्यदेसमुपगतस्य शुद्धिगुणन्यासे सतीत्यर्थः । पडिसिच्चो निविद्यः । णोदेत्यादि सर्वप्रतीकाररहितमिति स्वर्थः । एतेन भक्तप्रतिगिणीभ्यामस्य भेदो दृश्यते ॥

अर्थ—इस प्रायोपगमनमरणमें लूणकें संस्तरका निषेध है. क्योंकि यह प्रायोपगमन करनेवाले मुनि स्वतः और परतः शुद्धया नहीं करते हैं. स्वयं भी अपनी शुद्धया नहीं करते हैं और दूसरोंको भी शुद्धया नहीं करने देते हैं. भक्तप्रत्याख्यानाविधीमें स्वयंशुद्धया विधिकी अपेक्षा है. इंगिनी मरणमें परशुद्धयाका निषेध है, परंतु स्वयं अपनी शुद्धया करते हैं. ऐसा इन तर्ग मरणोंमें आपसमें भेद है.

सो सल्लेहिदेदो जम्हा पाओवगमणमुवजाञ्चि ॥

उच्चारानिर्विकचणमवि णत्थि पवोपादो तम्हा ॥ २०६५ ॥

करोत्येनं ततो योगी कृतसल्लेखनाविधिः ॥

उच्यतरप्रसवावीनां ततो नास्ति निराक्रिया ॥ २१३७ ॥

निनपोदया—सो खुदेदिदेहो स सम्यस्तनूतसरीये यस्मात्प्रायेणममभुपयति तस्मादुन्यात्तादितिरा
करणमपि नास्ति नरोयव ॥

अग्निचर्मवसोपितसरीरलाहृष्यादापनयनमप्यस्य स्वयं परेण वा न स्वादित्याह—

मूला—ब्रह्मो गो स्वपरव्यापारणया ॥

अर्थ—उपम प्रसारीते विसर्गे अपना देह कुछ किया है ऐसे ये पुनि प्रायोपमन गण विधीको करते
समय विद्या मूद बौद्धका निराकरण स्वयं नहीं करते हैं और अन्यके द्वारा भी कराते नहीं हैं,

पुढी आऊतेऊणण्फदितसेसु जदि नि साहसिदो ॥ ११३८ ॥

बोमट्टचत्तदेहो अघाउगं पालए तस्य ॥ १०६६ ॥

पृथग्वाप्यप्रिकायावौ निक्षिप्तस्त्यर्कविग्रह ॥

आयुः पालयमानोऽसावुदासीनोऽवतिष्ठते ॥ २१३८ ॥

विजयोदया—पुढी आऊतेऊणण्फदितसेसु जदि नि साहसिदो पृथिव्यादिषु जीवितकालेषु यद्यपि केनचित्-
वारदस्तथापि क्षुल्लव्यसरीरत्तत्कारस्यनदेह इत्ययं पालयव ॥

प्रथिव्यादिष्वपि जीवितकालेषु केनचित्प्रतिकूलोपसर्गं चिकीर्षणा प्रतिक्रिस्तोऽवसौ तत्रैव निवृत्ते इत्युपविशति—

मूला—बोमट्टचत्तदेहो सरकारमकाराविपयीकृतसरीर । अघाउगं पालय यथायु प्रवीक्षते । स्वायु क्षये
नायदपविशते इत्यर्थः ॥

अर्थ—सचिच पृथ्वी, अग्नि, जल, ननस्पति इत्यादि जीवितकालेषु यदि किसीने उनको फेंक दिया तो
वे गरीबे ममत्व छोड़कर अपनी आयुममति होनेतक बहादी निबल रहते हैं

मउज्जणयणंभपुफोवयारपडिचारणे वि कीरते ॥

बोमट्टचत्तदेहो अघाउगं पालए तधमि ॥ २०६७ ॥

गधमसूनयानं क्रियमाणेऽन्युपग्रहे ॥

त्यक्तदेहतयोदास्ते स राजीवितपालक ॥ २१३९ ॥

संस्तुतस्तथापि शुभसुखलक्षणरीरो न रूपयति न तुष्यति न निवारयति ॥
केनचिदभिव्यक्तदिनोपनयमाप्नोष्यसौ न दुष्यति न रुष्यति नापि निवारयतीत्यनुस्मृत्योपसंगोपसंगमुपदेष्टुमाह—
मूलारा—तथैव तथैव प्रतिशूलोपसंगेनदेवैतर्थाः ।

अर्थ—यदि कोई उनका अभिषेक करेगा अथवा उनको गंध पुष्पादिच्छेसे पूजा करेगा तो वे उनके ऊपर न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते हैं, तथा उनका निवारण भी नहीं करते हैं.

वोसदृचचदेहो दु गिक्खिबंजो जहिं जथा अंगं ॥

जावज्जीवं तु सये तहिं तमंगं ण चालेज्ज ॥ २०६८ ॥

यत्र निक्षिपते देहं निःस्पृहः शान्तमानसः ॥

ततश्चलयते नासौ यावज्जीवं मनागपि ॥ २१४० ॥

विजयोप्या—वोसदृचचदेहो व्यास्पृश्यकणारीरो निक्षिपेत् कश्चिदासिम्यर्थांगं यावज्जीवं स्वयं तस्मिन् स्तभंगं न चालयति ॥

यन यथा यत्तर्वांगं प्राप्तिक्षिप्तं ततस्तथाभावात्तत्र तत्स्वयं यावज्जीवं न चालयतीत्याचष्टे—
मूलारा—निक्खिबंजो निक्षिपेत् । अहिं यत्र स्यात्वे । तदि तस्मात् । स्वानादवस्थानात् ।

अर्थ—जिस के ऊपर इन मुनिने अपना अंग रख दिया है उसपरसे वे मुनि स्वयं यावज्जीव अपना अंग हिलाते नहीं हैं.

एवं गिप्पडियमं भणंति पाओवगमणमरहंता ॥

णियमा अणिहारं तं तिया य णीहारमुवसगो । २०६९ ॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं प्रायोपगमनं खिनैः ॥

नियमेनावलं श्रेयंसुपसर्गे पुनश्चलम् ॥ २१२१ ॥

विजयोद्या—एवं विजयद्विद्वारं एवं स्वप्रकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं जिना चंदेति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-
मतीहारमपत्तं स्यात्तत्त्वमपि उपसर्गं परकृतचलनमपश्य ॥

उच्छासोपसंग्रहमाह—

मूलरा—जियमा अणीहार निश्चयेनाचल स्वकृतदरीरचलनाभावात् । सियाय स्वादयि । अहीहारमुवसर्गो
अपसर्गं परकृतचलनमपश्य चतुस्रपि मयेदित्यर्थः ।

अर्थ—इस प्रकार स्वयं प्रतिभार किया जाना और अन्यके द्वारा प्रसिद्धि किया जाना इन दोनों प्रतीका-
रोंसे रहित इस मरणको प्रायोपगमन नामक मरण कहते हैं. निश्चयसे यह मरण अनीहार अचल है. परन्तु उपसर्ग
अपेक्षसे इसको चल भी माना जाता है.

उवसर्गमेण य साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि जं कालं ॥

तम्हा वुत्ते णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥ २०७० ॥

उपसर्गमहतः कालमन्यत्र कुरुते यतः ॥

ततो अतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गमुते स्थिरम् ॥ २१४२ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूलरा—अण्णत्थ स्वापान्नस्यानापरत्त । अदो अतः ॥

अर्थ—उपसर्ग के बन्ध होने पर स्वस्थानको छोड़कर यदि अन्यस्थानमें मरण हो जाता है तो उसको नीहार
प्रायोपगमनमरण कहते हैं. और जो उपसर्ग के अभाव में स्वस्थान में ही हो जाता है उसको अनीहार कहते हैं.

यत्तदेयोत्तरमात्रया स्पष्टयति—

यडिमायडिवण्णा वि दु करंति पाओवगमणमप्येगे ॥

दीहदं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्येगे ॥ २०७१ ॥

प्रायोपगमनं केचित्कुर्वन्ते प्रतिमास्थिताः ॥

प्रपयाराधनां देवीमिगिनीमरणं परे ॥ २१४३ ॥

इति प्रायोपगमनम् ॥

विजयोदया—शुद्धिप्रतिष्ठापना इति तु प्रतिभाप्रतिपक्षा अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वन्ति, एके इतिमिभरणं ॥

पाठनं ॥

प्रायोपगमनं केचित्संश्लेषात्कलैव कायोत्सर्वं प्रतिपक्षा अपि कुर्वन्त्येव पुनश्चिरमुपवासं कृत्वाप्येवमितिगिणी

मयीति दर्शयति—

मूढारा—पट्टिमा फागेत्सर्गः । दीहदं चिरकाळं । विहरिमा उपवासं कृत्वा । इत्थं ॥—

प्रायोपगमनं केचिद्विश्रवप्रविद्या अपि ।

कुर्वन्त्येव विद्वद्योर्धेदिगिणीमरणं वया ॥

इति प्रायोपगमनसरलज्वाल्यानं समाप्तम् ॥

इसी प्रायोपगमनसरलका स्पष्टिकरण करते हैं—

अर्थ—फापीत्सर्ग को धारण कर कोइ सुनि प्रायोपगमन मरण करते हैं, और कोइ दीर्घकाळतक उपवास कर इस मरणसे छरीरका त्याग करते हैं, इसी प्रकार इगिनीमरणके भी वेद समझने चाहिये.

आगाडे उपसग्नो दुब्बिक्खे सव्वदो विदुत्तरे ॥

कदल्लोमिसमधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥ २०७२ ॥

उपसंगं सनि प्राप्ते दुब्बिक्खे च दुरुत्तरे ॥

कुर्वन्ति मरणे सुद्धिं परीपहसहिण्णवः ॥ २१४४ ॥

विजयोदया—आगाडे उपसग्नो उपसग्नो महति दुग्धिं दुरुत्तरे आते कृतयेमिमाः परीपहसदः कारणजातमाश्रित्य मरणे क्लेशादा भवन्ति । तस्यैव यस्तुन उदाहरणानि उत्तराध्यायिस्मृत्यन्ते ॥

पर्व पठितमरणविकल्पप्रथमकदल्याख्यानादीनिनपि निरुप्य महेमिसर्गादौ सति कारणजातमाश्रित्य सुभावितात्मानः क्लेशादिवमरणोत्साहा भवन्ति इत्युपदेशार्थं चूडिकागाथापट्कमाह—

मूळस—दुत्तरे दुरुत्तरे । कदलोमी रत्नत्रयमुक्ताः । समाधिव्रासिय उपसर्गोदिसदनसमर्थोः । कारणजादेहिंवि अपराधपथि मरणकारणानि वतमशान्याश्रित्य । जन्मस्तु कारणे जाते इति मन्यते । उदुत्तं—

महेमिसर्गं दुग्धिंके सर्वबोधिं दुरुत्तरे । विन्ते कारणे जाते कृतबोम्यपियासिनः ।

प्रायेणामन मरण वर्णन समाप्त हुआ.

अर्थ--महान् उपसर्ग प्राप्त होनेपर तथा बिसकी गल्ल होनेकी आशा नहीं है ऐसा भयंकर दुष्काल आ-
पदेनपर रत्नत्रयगुक्त, उपसर्ग सहन करनेमें समर्थ-ऐसे मुनिसाज मरणमें उत्साहयुक्त हो जाते हैं-

कोसल्य धम्मसीहो अट्ठं साधेदि गिच्छपुट्ठेण ॥
णयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिरं विप्पज्जहिट्ठण ॥ २०७३ ॥
पाडलिपुत्ते धूदाहेट्ठं मामयकदम्मि उवसमो ॥
साधेदि उसमसेणो अट्ठं विक्खाणसं किञ्चा ॥ २०७४ ॥
अहिमारणुण णिवादिम्मि मारिदे गहिदसमणल्लिगेण ॥
उदाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि मणी २०७५ ॥
सगडालएण वि तथा सत्तग्गहणेण साधिवो अरयो ॥
वरुहपओगहेट्ठं रुहे णंदे महापडमे ॥ २०७६ ॥
एवं पण्डियमरणं सन्निययं वणिणं सवित्थारं ॥
सुल्लामि बालपण्डियमरणं एत्तो समोसेण ॥ २०७७ ॥
कोशल्लो धर्मसिहोऽयं सखाय भ्वासरोचतः ॥
कोष्णतीरे पुरे भीरो हित्वा चंद्रअियं नृपः ॥ २१४५ ॥
सुतार्थ पाटलीपुत्रे मातुलेन कदर्थितः ॥
जन्नाहर्षमसेनोऽयं वैखानसमृत्ति अितः ॥ २१४६ ॥
नृपे हते हि चोरेण यतिल्लिगमुपेयुषा ॥
आचार्यःसघञान्त्यथं शालग्रहणतो मृतः ॥ २१४७ ॥

शुक्लप्रहणतः स्वार्थःशुक्लदालेन साधितः ॥
 कुतोऽपि हेतुतः कुब्जे नंदे सति महीपत्नी ॥ २१४८ ॥
 अकारि पंडितस्येति सप्रपंचा निरूपणा ॥
 इदानीं वर्णयिष्यामि मरणं बालपंडितम् ॥ २१४९ ॥

इति पंडितमरणम्

चित्तयोद्धा—वधितमरणं ॥ एवं पण्डितमरणं सविकल्पं सविस्तरं व्याचर्षितं, यद्यपि बालपण्डित-
 मरणमित्थं संक्षेपेण ॥

उपाधेसमर्थनार्थेयद्योऽव्यानपुष्टयभावाद्ये—

मूढारा—दोसकथ्य अयोध्यायां । यन्मसीदो धर्मसिंहो नाम राजा । अट्टं आराधनां । साधये साधयति ।
 बत्कालापेक्षया वर्तमाना, साधयति रमेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । गडकुट्टेन दृष्टिकसेवरप्रवेष्टेन । कोष्ठगिरे कोष्ठगिरि-
 नाम्नि । बंसिदि चंद्रश्रीसंज्ञितां स्वभार्यां । विप्लवद्विदूज त्यक्त्वा ॥

मूढारा—भूदावेष्टुं पुत्रीनिमित्तं । मायकदम्भि अशुरेण कृते । विक्साणसं वैरदानसं श्वाखतिरोपभित्यर्थः ।

मूढारा—अदिमारेण अहिमारकतान्ता दुष्टोपासकेन । निबदिमि साबस्तिक्कतारीनारे जयसेनात्यये ।
 उद्गाहपसमर्थनं श्वाखदाइनिषारणार्थः । अकसि कृतवान् । गणी यतिवृषयनाभाचार्यः ।

मूढारा—सगडाकण्य सक्कटाळमाग्ना मुनिना । सत्यमगहणेण छुरिकया लठारविशरणेन । वरवचिपळोणेष्टुं
 वरवचिप्रयोगेण हेतुना । महापद्मे महापद्मे महापद्मपर्माचार्यस्य समीपे प्रतिपन्नश्रीक्षेपेत्यर्थः ।

महोपसंहारपुरःसरं व्याख्येयौत्तरमुपक्षिपति—

मूढारा—सविमर्ष भक्तप्रदाकृत्यानेगिनीभायोपगममेवेदमयसहितं । वूळिका ॥ ६ ॥ इति पंडित मरणव्याख्यानं
 समाप्तम् ॥

इतरे कुछ उदाहरण बतावे हैं—

अर्थ—अयोध्या नगरीमें कोलुगिरिपर्वतपर धर्मसिंह नामक राजाने अपनी पत्नी चंद्रश्रीका त्यागकर हा-
 धीके शरीरमें प्रवेशकर व्याधनाची सिद्धि की है. पाटलिपुत्र नगरमें अपनी पुत्रीके लिये मामाके द्वारा उपसर्ग

क्रिया जानेपर इपमसेन नायक पुलने खासरोध करके आराधना की सिद्धि की है- अहिमास्त्वनामक बुद्धधर्मका उपासक पुरुष था उसने मुनिका वेप धारण किया था, उसने सावस्वी नगरीके जयसेन राजा को मार दिया- उस समय अपने ऊपर राजाको मारनेका अपवाद आयेगा ॥ हेतुते इपमसेन नामक आचार्यने इसके द्वारा अपना घातकर आराधनाकी सिद्धि की है- शुकटाल नामक मुनिने महपद्म नामक धर्मोचार्यके समीप दीक्षा धारण की थी इस शुकटाल मुनिने वरुणिके कारण शस्त्रसे अपना ॥ ता कर आराधनाओंकी सिद्धि की है-

इस प्रकार संदित मरणका विकल्पके साथ आचार्यने सबिल्लर वर्णन किया है, अब यहाँसे बालपंडित मरणका संक्षेपमें वर्णन करते हैं-

देसेकदेसविरदो सम्मादिद्वी मरिज्ज जो जीवो ॥

तं होदि बालपण्डितमरणं जिणसासणे दिहं ॥ २०७८ ॥

संपत्तासंयतो जीवः सम्यग्दर्शनभूषितः ॥

यस्य मरणं प्रोक्तं धृतशैर्बालपंडितम् ॥ २१५० ॥

विजयोदया—देसिषकेदसविरदो सव्यासंयमप्रत्याक्यावसासमर्णः दिसयिजेदेशविरसः स्थूलभूत माणाविपातादिपंचकादेशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेपि एकदेशाद्यावृत्तः सम्यग्दर्शितो विपश्ये तस्य तद्बालपण्डितमरणं ॥

अथातो बालपंडितमरणं गाथादशकेन न्यायिण्यासुतादी स्वाभिमित्तैरेतुस्वेतं श्लक्षयति—

मूलारा—देसेकदेसविरदो भूळदिसाविपंचकमग्नोवाक्कायकृतादिना व्यावृत्तो देशविरत इत्युच्यते । एकदेश-विरतस्तु देशविरमणेऽपि एकदेशाद्व्यावृत्तः । स्वज्ञपञ्चसुसारेण कृतदिसादिनिष्ठिरित्यर्थः । एतेन सकलेन विकलेन च सा-गारपरमेष्ठे युक्तः आत्मको निर्दिष्टः । तं तस्य ॥

अर्थ—स्थूलदिसादि पापोंसे मन, वचन, शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन इनके द्वारा जो विरक्त हुआ है उसको देशविरत कहते हैं- और एक देशविरत उसको कहते हैं कि जो एक देशविरातिके भी एक देशसे विरक्त

भोगाणं परिसंखा सामाद्यमतीहिसंविभागो य ॥
 पोसहाविधी य सन्वो चदुरो सिक्त्वाठ वुत्ताओ ॥ २०८२ ॥
 आसुकोरे मरणे अत्रोच्छिण्णाए जीविदासाए ॥
 णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ॥ २०८३ ॥
 हिंसामसुनृतं स्तेयं परनारीनियेषणम् ॥
 चिसुचतो महालोभं पंचधाणुवतं मतम् ॥ २१५२ ॥
 दिग्देवानर्थदंढानां त्यागस्त्रेषा गुणव्रतम् ॥
 शिक्षाव्रतमिति प्राज्ञेद्यतु भेदमुदाहृतम् ॥ २१५३ ॥
 भोगोपभोगसंख्यानां सामायिकप्रसंखितम् ॥
 संविमामोऽतिधीनां च प्रोपयोपोपितव्रतम् ॥ २१५४ ॥
 सहसोपस्थिते मृत्यौ महारणे वुरुत्तरे ॥
 स्वर्वाधैरनुज्ञातो याति सल्लेखनामसी ॥ २१५५ ॥

विजयोक्त्या—आसुकोरे मरणे सहसा मरणे अछिण्णायां जीविताशायां वंशुभिर्वा न मुक्ताः पश्चिमसल्लेख-
 भानकृत्या उतालोचनो निरुपयः स्वगृह एव संस्तरमाकल्य देशांतरतस्य मृतिवालवणिद्वतमिरुच्यते ॥

पंचाणुव्रतमिदं तार्यमाह—

मूलाए—दिसाधिरव्रणं सर्वद्विंसादिनिवृत्यर्थं विमिद्विमानं परिमाणवधारणं । अणुर्यदंहेहि मापोपेदेदाहिस्तो
 पकरणदानापध्यानकृताश्चवणप्रमादाचरणेभ्यः पंचभ्यः । देसावगासिंयं गृहक्षेत्रादिषु द्विंसादिनिवृत्यर्थं स्थितिगमनादि
 परिमाणकारणम् ॥

शिश्नामसचतुष्टयं दूरीयति—

मूलार—भोगाणं परिसंखा भोगोपभोगपरिमाणं । सामायिकं । त्रिकाक्रेषचंदनादिर्दं । अद्विषि पात्रं । पोस-
 भविषी पर्वचतुष्टये उपवासैकमकादिवपधारणं । सिक्त्वातो शिश्नामसचतुष्टयं ।

यथोक्तमात्रं करणकृण्वसङ्केतनस्तत्र मरणं बालपंक्तिवमरणसंज्ञया व्यपवेष्टुं भाष्यद्वयमाह—
मूढारा—आसुकारे सहसोपस्थिते । अन्वोच्छिद्यन्नाष्ट खटिलमार्गो ॥

गृहस्थके चारुा व्रतोंका वर्जन.

अर्थ—आणोंका घात करना, अतस्त्य चोखना, चोरी करना, परस्त्री सेवन करना, परिग्रहमें अमर्याद द्रव्या रखना, इन पापोंसे विरक्त होना अनुव्रत है. तब हिंसादि पातकोंका त्याग करनेके लिये दिशा तथा विदिशामें यमन का परिमाण करना विव्रत है. पापोंदेख, हिंसादान, अपचयन, कुशासत्यवण और प्रमादयुक्त आचरण इन पांच अकार्योंसे विरक्त होना अनर्थद्वन्द्वत कदा जाता है. धर, त्वेत वर्गेत की मर्यादा कर हिंसादिनिवृत्ति करना अर्थात् क्षेत्रादि मर्यादाके घातूर जानेका त्याग करना, मर्यादामें ही रहना दंडावकाशित व्रत है. भोग और उपभोगोंका परिमाण करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है. त्रिकालमें देवचंदनादिक करना सामयिक है. चारों पंक्तिविश्रामोंमें उपवास करना, एकदके भोजन करना इत्यादि तप करना प्रोपचोपवात व्रत है. पातको दान देना आर्त्तापसीविस्माराव्रत है, ये चार शिक्षाव्रत हैं. इन व्रतोंको बालनेवाले गृहस्थ सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर, अथवा बंधुओंने जिसको दीक्षा लेनेको सम्मति नहीं दी है ऐसे प्रमंगमें मरीरसंछेखता और कण्ठपसंदुखना न करके भी आलोचना कर, निःशय होकर परमें ही संस्तरपर आरोहण करता है. ऐसे गृहस्थकी वृत्तुको बालपंडित मरण कहते हैं.

आलोचिद्विणिससङ्घो सधरे चेवाकृद्वितु संथारं ॥

जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपण्डित्थं ॥ २०८४ ॥

जो अचपदेण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिदिट्ठो ॥

सो चेव बालपण्डित्थमरणे केओ जहाजोगो ॥ २०८५ ॥

वेमाणिएसु कण्ठोवगेसु गियमेण तस्स उवकादो ॥

णियमा तिग्घादि उक्कस्सएण वा सत्तममि भवे ॥ २०८६ ॥

इय बालपंडितं होदि मरणमर्हंतसासणे विट्ठु ॥

पुत्तौ पण्डितदण्डमरणं वोच्छं समासेण ॥ २०८७ ॥

विवायालोचनां सम्पक् प्रतिपद्य च संस्तरम् ॥

श्रियते यो गृहस्थोऽपि तस्योक्तं बालपण्डितं ॥ २१५६ ॥

प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाः प्रक्रमो यः सविस्तरम् ॥

अत्रापि स यथायोग्यं द्रष्टव्यः श्रुतपारंगो ॥ २१५७ ॥

येन देवयतिना निषेव्यते बालपंडितमृतिनिर्निराकुला ॥

भोगसौख्यकमनीयताद्यधिः कल्पवासिविद्युयः स जायते ॥ २१५८ ॥

एकदा शुभमना विपद्यते बालपंडितमृतिं समेत्य यः ॥

स प्रपद्य नरदेवसंपद सप्तमं भवति निर्धृतो भवे ॥ २१५९ ॥

इति बालपंडितम् ॥

एवं समासतोऽवाचि मरणं बालपंडितम् ॥

अधुना कथयिष्यामि मृत्यु पंडितपंडितम् ॥ २१६० ॥

विजयोदया—स्पर्धार्थं नया माथा ॥ बालपण्डितं ॥

मूलारा—आलोचिद विधिवत्कृतालोचनः । गिस्सहो मायानिदानमिध्यात्वमुक्तः । सयरे वेव सगुहरे गय,

न चैवात्यदादौ ।

दत्तयोगविधिमितिदिदति—

मूलारा—अभावोक्तो यो यो योगः आत्मकारणप्रयोषितः । श्रीललितनयसमाध्यादिः ॥ स इत्यर्थः ।

तत्फलमभ्युदयपुरःसरं निःशेषसमवयवतया निरूपयति—

मूलारा—कविवेगेषु सोधमार्गिकस्तोपपन्नेषु देवेषु मध्ये । वरस बालपंडितवृत्तस्य ।

प्रस्तुतोपसंहारापुरस्सरं व्याख्येयान्वत्सुपक्षिपति—

मूलारा—सष्टम् ॥ इति बालपंडितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ-भक्तप्रत्याख्यान मरणमें जो प्रयोज्यविधि निस्सारते हुये कहा है-वही इस बालपंडितमरणमें गृहरथ के योग्य समझना चाहिये. भावकके रत्नत्रय को योग्य ऐसा जो जो निवध, सप्ताधि वगैरह विधि है वह यहाँ भी समझना चाहिये. बालपंडित मरणमें भरण करनेवाला श्रावक नियमसे सौधमोदिकृत्योंमें उत्पन्न होता है. तदनंतर उत्कृष्टदासे सात प्रयोगों यह नियमसे भिन्न होता है. इस प्रकार अरहंतके आगममें बालपंडित मरणका स्वरूप कहा है. अब यहाँसे आगे पंडितपंडितमरणका स्वरूप हम (आचार्य) कहते हैं.

साह जघुत्तचारी वट्टतो अप्पमत्तकालमि ॥

ज्झाणं उवोदि धम्मं पबिहुकामो स्वग्गसेट्ठि ॥ २०८८ ॥

अग्रमत्तगुणस्थाने वर्तमानस्तपोपनः ॥

आरोधुं क्षयकथेणो धर्मस्थानं प्रपद्यते ॥ २१६१ ॥

विकसोदया --साह जघुत्तचारी बालोक्तन मार्गेण प्रवर्तमानस्साधुरप्रमत्तगुणस्थानफाळे धार्ये स्थानं
मुपैति क्षयकथेणि प्रवेष्टुकामः ॥

अर्थ- बालकादमरणादि चतुष्टयं प्रणिमय पंडितपंडितमरणं भाषाद्वयसदया तिरुस्सयन्ची वन्मुक्तिप्राप्तुर्मां वप्रक्त-
सौपक्रमं पंचदशगाथाभिरभिवर्धते--

मूढारः--यचि सिट्टुकाओ प्रवेष्टुमिच्छन् ।

अर्थ-शास्त्रोक्त मार्गका अनुसरण करनेवाले शुभिराथ अग्रमत्तगुण स्थानमें क्षयकथेणीकी प्राप्ति कर लेनेके
सिधे धर्मस्थानको धारण करते हैं.

ध्यात्वरिकरं बालं प्रतिपादयति--

सुचिप्पं समे विचिच्चे देसे णिज्जंतुए अणुणाए ॥

उज्जुअआयदेहो अचलं बंधेत्तु पल्लिकं ॥ २०८९ ॥

अनुज्ञाते समे देसो विविक्के जंतुवर्जिते ॥

अलयायतवपुर्गच्छिः कृत्वा पर्यंकबंधनम् ॥ २१६२ ॥

विजयोदया—सुविण समे शुभौ समे एकाते देशे निज्जुके अनुज्ञाते तत्त्वामिभिः ऋचायतवेद पत्यंकमचलं
वर्ष्या ॥

धर्म्यत्वानस्य बाह्यपरिकर्मानुस्मरयितुं गायत्र्यवगाह—

मूलादा—यिर्विभक्ते एकान्ते । अणुण्णादे तद्विष्णुदेवत्वाभिरनुग्रहे ।

धर्म्यध्यानके बाह्यपरिकरका वर्णन—

अर्थ—पवित्रः सप्त, निर्बन्तुक, देवतादिकसे अनुमति जहाँ ली गई है ऐसे स्थानपर मुनि निश्चल
खटे होकर अथवा पर्यंकान्तसे ध्यान करते हैं

वीरासणमादीर्यं आसणसमपादमादियं ठाणं ॥

सम्मं अधिष्ठितो अथ वसेज्जमुत्ताणसयणादि ॥ २०९० ॥

वीरासनादिकं यदुवा समपादादिकां स्थितिम् ॥

आश्रित्य वा सुधीः शय्यामुत्तानशयनादिकम् ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—वीरासनादिषु बीरासनादिकमासन यदप्या समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानशयननिदिना
वा हुत् ॥

मूलादा—सध्यादी आदिशय्येनैकगार्भादिशयन ।

अर्थ—वीरासनादिक आसनसे बैठकर अथवा समपादादिकसे खटे होकर किंवा उत्तान शयनादिकसे सोते
हुए धर्मध्यान करते हैं

पुव्वमणिदेण विधिणा ज्यायदि ज्याणं विसुद्धलेस्साओ ॥

पवयणसंमिणमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥ २०९१ ॥

पूर्वोक्तविधिना ध्याने शुद्धलेशयः प्रवर्तते ॥

योगी प्रवचनाभिज्ञो मोहनीयक्षयोद्यतः ॥ २१६४ ॥

विजयोदया—पुव्वमणिदेण विधिणा पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याते प्रवर्तते विसुद्धलेशयः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमिति।
मोहनीयं क्षयं गतमुद्यतः ॥

मुद्रारा—पययसंमिषणवदी चयुरैरूपूर्वां नैस्तुवाद्यमपिष्टबुद्धिः ॥

अर्थ—मोहनपिकर्मका श्रय करनेमें उद्युक्त होकर चौदहपूर्वमें कहे गये जीवादिक पदार्थोंके वरफ अपनी बुद्धिका उपयोग लगाते हैं. और परिणामोंको निर्मलकर पूर्वोक्त विधीसे धर्मध्यान करते हैं.

संज्ञोयणाकसाए खवेदि ज्ञाणेण तेण सो पढमं ॥

विन्दुत्ते सम्मिस्तं कमेण सम्मचमवि य तदो ॥ २०९२ ॥

पूर्वं संयोजनान्हन्ति तेन ध्यानेन शुद्धधीः ॥

मिथ्यात्वमिश्रसम्पक्स्वचित्तयं क्रमतस्ततः ॥ २१६५ ॥

पिण्डोदया—संज्ञोयणाकसाए अनंतानुबंधितः क्षोपमानमाश्लोमान् क्षपयति ध्यानेन, तेनासौ प्रधानं मिथ्यात्वं, सम्पञ्चिध्यात्वं, सन्त्यक्तं ॥ क्रमेण एवं प्रकृतिसत्तकं विनाशय सायिकसम्पद्दित्तेत्यत्र सप्तकथेऽप्यधिरोद्धा-
मिमुणोऽवद्यमप्युपकरणे अयमवस्थाते प्रतिपद्य ॥

धर्मध्यानशुष्णीषसम्पक्स्वचित्तमिति योद्धप्रकृतिसत्तकक्षपयत्युपविशति—

मुद्रारा—संज्ञोयण श्रवणसंसारकारणवाहनं मिथ्यात्वं अनुबन्तीत्यंतानुबंधितः । क्षोपादीनामवस्थाविशेषा-
ज्ज्वाराः संयोजनान्हनोच्यते । वेण धर्मेण । मिष्टुत्ते मिथ्याधर्ममिनिवेशनिमित्तं दृष्टोद्दनीयं । सम्मिस्तं सम्पद्-
मिथ्यात्वं सामिष्टुत्तरतः मिथ्यात्वमित्यर्थः । सम्मत्तं सम्पक्त्वं क्षुभपरिणामनिबद्धस्वरतं मिथ्यात्वमित्यर्थः । तदु-
दयेपि तत्पर्यध्यानं स्यात् ॥

अर्थ—मिथ्यात्वको संसारका कारण होनेसे अनंत कहते हैं. इस अनंतका अर्थात् मिथ्यात्वका संबन्ध
करा देने वाले कर्मापेक्षो-क्षोभ, मान, माया और लोभको अनंतानुबन्धी कृपाय कहते हैं. धर्मध्यानसे हत कर्मापेक्षा
मुक्तिराव नाश करते हैं. तत्त्वोंपर मिथ्याग्रहान् कराने वाली कर्म प्रकृतिको मिथ्यात्व कहते हैं. जिसमें आधी शु-
द्धता उत्पन्न हुई है ऐसे कर्मको सम्मिश्र अर्थात् सम्पद् मिथ्यात्व कहते हैं. इस कर्मके उदयेसे एक समयमें मिथ्या-
ता और सम्पक्त्व परिणाम युगपत् उत्पन्न होते हैं. क्षुभपरिणामसे अवश्यश्रद्धान् परिणाम उत्पन्न करनेवाली शक्ति
जिसकी नष्ट हो गई है ऐसे मिथ्यात्व प्रकृतिको सम्पक्त्व कहते हैं. इन सात्विक श्रय करके अप्रपन्न गुणस्थानवर्ती
पुनि शायिक सम्पक्त्वी होने हैं. तदनंतर धर्मध्यानसे क्षयकथेणीपर आरोहण करनेकोलिये उन्मुक्त होते हैं.

सायिक सम्पददृष्टि होकर क्षपक श्रेणिपर चढ़नेके लिए उद्युक्त होते हैं तब प्रथमतः अप्रमत्त गुणस्थानमें अवः करणको प्राप्त होते हैं.

अथ स्वययंसेद्वियधिगमम कुण्ड साधू अपुव्वकरणं सो ॥

होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वंति ॥ २०९३ ॥

आरुत्ता क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः ॥

सूत्रा प्रपद्यते स्थानमनिष्टुत्तिगुणामिधम् ॥ २१६६ ॥

विज्ञादोषा—अथ स्वययंसेद्वियधिगमम अथ क्षपकश्रेणीमधियग्य करोति साधुराष्टरुणमस्तौ । किं तदपूर्व करणमित्याहा तापमुच्यते । होदि तमपुव्वकरणं भवति तदपूर्वकरणं, कदाह अप्पत्तपुव्वंति कदाचिद्विद्यमातपूर्वमिति ॥

धर्मध्यानतःस्वयवसम्पददृष्ट्यादिषु बहुलैर्यत्नवमरिष्यतः सम्पत्स्वचातिप्रकृतिवस्तुसं निरात्य क्षापिकसम्यक्स्थयध्या-
स्य क्षपकश्रेण्यरोहणामिमुलाःसप्तप्रमत्तपराधाने तथा प्रपद्यतेरूपमधियग्य साधुराष्टरुणं क्षपकश्रेणिप्रथमसोपानमारोहतीत्यु-
पदेन्दुमाह—

सूत्रारो— अथ क्षपकश्रेण्यरोहणमधियग्ये इत्यर्थः । सो धर्मध्यानसाधिनप्रथमशुद्धध्यानोपक्रमः । कयाइ क्त्वाकिम् । धर्मादिकालं । अप्पत्तपुव्वंति पूर्वं कप्राप्त परिणाम वर्त्ममस्तदिदं अप्राप्तपूर्वं यतः ।

अर्थ—क्षपक श्रेणिकी प्राप्ति होनेके अनन्तर ये मुनिराज अपूर्व करणको करते हैं. यह अपूर्वकरण पूर्वमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था अतः इसको अपूर्वकरण यह अन्यर्थक नाम है. अन्नादिकालमें ये परिणाम इस जीवको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि धर्मध्यानके अनन्तर प्रथम शुक्लध्यानकी प्राप्ति पूर्वकालमें कभी नहीं हुई थी.

* अणिविचिकरणणमं णवमं गुणठाणयं च अविगमम ॥

णिद्धानिहा पयलापयला तव धीणगिद्धं च ॥ २०९४ ॥

क्षे दिप्पणी—अथ सो एतेन विभक्तु अणिवचिद्विषयव्यवधिस्तात् ॥ इति मूलापधनार्थं पठः ॥

अध्वमसाधारणोद्योतस्त्यानगृद्धिअयातपान् ॥

एकाक्षविकलारूपानां जातिं तिर्यग्द्वयं मुनिः ॥ २१६७ ॥

विद्योदया—अविद्यद्विकरणानां भयं गुणधनमपि तस्मै अनिष्टसिद्धयुक्तस्यानुपगम्य विद्वज्जिह्वा कथलाप-
 निगन्तिनं प्रवृत्ताप्रवृत्तौ स्वीनशब्दे च ।

अनिष्टमिदं तस्य पराशक्त्यपकथनं प्राप्य शमोष क्षणीयानि कर्माणि गाथापनुद्येयं व्याचरेत्—

मूढारा—अथ अप्रवृत्तैर्करणानंतरं । स्यो पृथक्त्वविवर्तिर्नैवाचारक्यक्षुक्लध्यानप्रविष्टः । रणवेदि वदयमाणाश्वित्रा निशान्तिमनस्तत्सर्वंविशेषाय । योऽन्तयेकैकसंख्याक्रमेण विस्तेष्यतीति ससुदायार्यः । अणियद्विद्वान्मुखागपित्ताणं अनि-
दृष्टिकट्याग्रात्या अविद्वत्सिद्धादरसोदरायक्षकगुणस्थानसुषगम्य । निराणिष्टा मुखावहरिणामभरत्तद्वकलभादेर्विनोदार्यो
निद्राययद्वर्तनादरणकर्मविशेषविषयकानिजितो जीवद्वंद्वद्वियात्ममनो—महत्सूक्ष्मावरयाक्षयः स्वापो निद्रा । निद्राया क्षयि-
त्वरि क्षयिर्निद्रानिद्रा । निद्रानिद्राद्वर्तनात्वरणकर्मविशेषोदयान्येवैतदय इन्द्रप्रबोधधरापरिणाम इति यावत् ॥ उक्तं च—

निदा मुदपचियोहा निदाणिदा य दुपलपाडियोहा ।।

पयला होइ ठिग्रस बि पयलापयला य यं दमंतरस ॥

पदवाचपदवा वा क्रियाभाषां प्रचलयति पूर्णयति सा प्रचल्य प्रचलात्पदार्थानावरणकर्मविशेषविप्राकृष्टादस्य जीवरणतीजस्यानि शोकभ्रममदरादिप्रभवो नैवभाष्यविश्रियास्तुचितः स्वापररिणाम् इत्यर्थः । प्रचल्य पुनस्तुतरावर्तमाना प्रचलामचला । चैकनानाण्यापि सात्मनः प्रचलाप्रचलाद्वदार्थानावरणकर्मिकलरविप्राकृष्टसाज्जावरो । धीरणगर्द्धि स्वजे दया यौर्वैविशेषादिर्भाषः सा संज्ञानपृच्छिर्दलैरानरणकर्मविशेषः । स्व्याने स्वप्ने गूढयति यदुपवादात्मा रौद्रं बहु कर्म करोति । अनं निद्रारितमर्द्धैर्बुद्धमपानमभ्यासवर्धनामदार्शनवरणकर्मविकल्पाः गूढजीवविषयस्तं गूढमन्ते ॥

अर्थ—अनिष्टसिद्धिर्णं नामक नवमें गुणस्थानको प्राप्त होनेपर मुनिराज निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगदि इनका नाश करते हैं।

विशेषार्थ—पृथक्त्व वितर्क विचार नामक ध्यानमें प्रवेश करनेपर निद्रा निद्रादिप्रसन्न सत्वीस वर्ग प्रकृत-
विशेषका श्रवण करते हैं, उस समय वे अनिश्चितकाल गुणस्थानमें रहते हैं.

निद्रा—मोजन किए हुए अन्नका मद उत्पन्न होनेसे, तथा खेद, क्रुम इनको नष्ट करनेके लिए सो जाना उसको निद्रा कहते हैं- जब निद्रा नामक दर्शनावस्था क्रमविशेषका उदय होता है तब जबिके इन्द्रिय

और मन तथा आसोन्वासकी सृष्टि प्रवृत्ति होती है. पुनः पुनः निद्रा जब आती है. तब उसको निद्रानिद्रा कहते हैं. अर्थात् निद्रानिद्रा नामक दर्शनावरण कर्मके उदय से बड़े कष्टसे जागृतावस्था उत्पन्न होती है. परन्तु निद्रा खन्दी रहती है. बंट हुए मनुष्य के अंगमें, नेत्रोंमें जो विक्रिया उत्पन्न होती है उसको प्रचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचलादर्शनावरण कर्मके उदयसे होती है. ऐसी अवस्था पुनः पुनः उत्पन्न होना उसको प्रचला मचला कहते हैं. यह अवस्था प्रचलाप्रचला दर्शनावरण कर्मोदयसे होती है.

निद्रामें जिसके उदयसे वीर्यविशेष प्रगट होता है तब कर्मको स्यान्माद्दे दर्शनावरण कर्म कहते हैं. इसके उदयमें रौद्ररूप आत्मा करता है निद्रादिरूप परिणति जो होती है. उसको भाव निद्रा, भाव प्रचला वगैरे कहते हैं. और निद्रादि कर्मोंको जो उदय है वह पुद्रल द्रव्यकी विशेष अवस्था है.

गिरयगादियाणुपुंश्च गिरयगादिं यावरं च सुहुमं च ॥

साधारणादबुज्जोधतिस्यगादिं आणुपुञ्जीए ॥ २०१५ ॥

स्यावरं नारकद्वंद्वं पोडश प्रकृतीरिमाः ॥

प्लोपते प्रथमं तत्र शुक्लव्यानकुसानुना ॥ २१९८ ॥

विजयोदया—गिरयगादियाणुपुंश्च नरकवत्यानुपूर्व, नरकगति, स्वावरं, सूक्ष्मं, साधारणं, आतर्क्य, उद्योत तिर्यग्गत्यानुपूर्व ॥

मूला—गिरयगादिं आणुपुंश्च यदुदवादात्मा भर्वावरं गच्छति सा गतिः । नरकस्य गतिर्नरकगतिरात्मनो नारकभावनिमित्तं नामकर्मविशेषः । पूर्वसारीराकाराविनाशो यस्योदवादावति तद्वत्पुण्यार्थं नाम । यदात्पूर्वसारीराकारादिनाश्य तीर्षणं सद्य नरकादियावदेव बोधापरकवृद्धति तन्नरकादियावयोग्यानुपूर्व्यादिभेदाच्चतुर्विधं, तन्मध्यावध नरकगतिनायोग्यानुपूर्वं क्षण्यतीति संशयः । यावरं स्यावराख्यं जीवस्येकैद्विषेयु ग्राहुर्मावकारणं नामकर्म । सुहुमं सूक्ष्ममयं पदानुपपातकम्भूतसारीरनिर्वर्तकं नामकर्म । साधारणं बहुनामात्मनो उपभोगेभुल्लेख साधारणं सरीरं यवो मवति तत्साधारणसरीरत्वात् । आदय यदुदवादावपनं निष्पद्यते तदात्म्य नाम तच्छ प्रसोदयगादिले वर्तते ॥

प्रज्ञेनो—उद्योतननिमित्तमुद्योतनात् तद्वत्प्रत्ययोत्पत्तिः स्वफलाभिगच्छकं वर्तते ॥ विरियगादिं आणुपुञ्जीओ विरियगादिनायोग्यानुपूर्वं ॥

अर्थ—इस अनिवृत्तिरूप गुणस्थानमें जैसे निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, और स्थानगुद्वि इनका नाश होता है. वैसे नरकगदगदपूर्वी, नरकगति, स्वात्तर, सुस्थ, साधारण, आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन कर्मोंका भी नाश होता है

जिसके उदयसे आत्मा भर्वात्तको प्राप्त होता है उम कर्म को यतिकर्म कहते हैं. आत्माको नरकग-
स्यात्ती प्राप्ति जिस कर्म के उदयमें होती है उस कर्म को नरकगति नामकर्म कहते हैं. पूर्वं शरीराकार ॥ नाश
जिन कर्म के उदय से नहीं होता है उम कर्म को आनुपूर्वी कर्म कहते हैं. पूर्वशरीरका नाश न कर जो कर्म जीवके
साथ नरक तक जाता है. उसको नरकगत्यानुपूर्वी कर्म कहते हैं. जो जीवको एकद्विच प्राणिमें उत्पन्न करता है
ऐसे कर्म को प्रकेन्द्रिय कहते हैं. दूसरों जो जिससे शथा नहीं होती है ऐसे मरुष शरीरको निर्माण करनेवाले
कर्म को सुस्थ नामकर्म कहते हैं जो शरीर बहु आत्माओं को उपभोग्य बनता है अर्थात् जिसमें अनंत जीव रहते
हैं वेसा जो निगोदशरीर उसको साधारण शरीर करते हैं. ऐसा शरीर जिससे ननता है उस को साधारण नाम
कर्म कहते हैं जिसके उदय से संताप उत्पन्न होता है ऐसे कर्म को आवपनाम कर्म कहते हैं. इस कर्मका उदय
रूप के बिंदुमें रहता है. उद्योत को निमित्त जो कर्म है उसको उद्योतनाम कर्म कहते हैं. इस कर्मका उदय चंद्र
चिह्न, तपोत-खगनु इत्यादिकों में शथा जाता है. तिर्यग्गति प्रयोग्यानुपूर्व्य—जिसके उदयसे जीव के पूर्व शरीरा-
कारका नाश नहीं होता है तथा जो जीवको निर्वच गतिरक ले जाता है उसको तिर्यग्गति आनुपूर्वी कहते हैं.

इगविगतिगचदुरिदिवणामां तथ तिरिखगदिणामं ॥

स्वययित्ता मज्झिंहे खवेदि सो अदुवि कसाण् ॥ २०१६ ॥

कपायान्मध्यमानष्टो वंदवेदं निकुन्तति ॥

खीयेदं कमतः पट्ठं हास्यादीनां ततःपरम् ॥ २१६९ ॥

वितयोदया—इष्टविष एकद्विचिचतुर्दिशजाती, तिर्यग्गति, अजस्रस्थानचतुर्कं, प्रत्याख्यानचतुर्कं च
सुपमति ॥

मूलारा—धर्मवितिसचतुर्दिदिवणामां जो एकेन्द्रियविजयीअवस इत्यर्थः । नरकादिगविच्यव्यभिचारिणा साह-

दर्शनेदीकृतोऽर्थात्मा जातिः । तत्कानं जातिनामकर्म तत्वेकेन्द्रियाविजातिविकल्पात्पंचा । यदुच्चात्मा एकैन्द्रिय इति शब्देन तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं द्वेष्टेष्वपि योव्याम् । क्षययिजा विद्वानिन्द्रादिवा यथोक्ता योदृष्ट कर्मप्रकृतीर्युगा- यद्विज्ञेय । अदृष्टि ईष्यत्वाख्यानमप्रत्याख्यानं देशसंयमाद्युपयन्ति निरुद्धन्धीत्यप्रत्याख्यानवरणाः कोधमानभाया कोमाः । अन्यस्यापि देशसंयमाय शक्ति शोदेवेन हतारः । प्रत्याख्यानं सकलसंयमं आणुबन्वीति प्रत्याख्यानवरणाः को- पादयः इत्यनमेयमशक्तिविपातिविपाकाः । वान्छापि यन्मयकयायान्दुष्यतीति संकेध ।

अयं—इम ही गुणस्थानों में एकैन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुर्द्रिय जाति, तिर्यग्गति नाम कर्म, अप्रत्यारूपान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इतने कर्मोंका क्षय होता है.

एकैन्द्रियादि चार जातिकर्मोंका इस गुणस्थानमें क्षय होता है. नस्कादि गतिओंमें अधिकद्व ऐसे सादृश्यसे एक रूप दिखानेवाला जो यदर्थका धर्म उसको जाति कहते हैं. इसीको सामान्य भी कहते हैं. यह सामान्यारस्या जिनसे उत्पन्न होती है ऐसे कर्मोंको जाति नामकर्म कहते हैं. उसके एकैन्द्रिय जाति चारैरद्व पांच भेद हैं. जिसके उदयसे आत्मा एकैन्द्रिय माना जाता है ऐसे कर्मोंको एकैन्द्रिय जातिकर्म कहते हैं. इसी प्रकार द्वीन्द्रियादि जातिनाम कर्मोंका स्वरूप जानना चाहिए.

निद्रा निद्रादिक सोलहश्रुतियोंका इस गुणस्थानमें युगपत् नाश होता है. जो देशसंयमको होने नहीं देते हैं ऐसे कषायोंसे अप्रत्याख्यानान्नरण कहते हैं. इसके प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार भेद हैं. इनका जर उदय होता है तब जीवकी देशसंयम धारण करनेकी शक्ति नष्ट होती है. जो प्रत्याख्यानको अर्थात् सकल संयमको नष्ट करते हैं उनके प्रत्याख्यान क्रोध, मान माया लोभ ऐसे नाम हैं. इनमें सकल संयमका- महाप्रवर्तका घात करनेका सामर्थ्य है. इन आठ मध्यम कषायोंका इस गुण स्थानमें नाश होता है.

ततो णपुंसगित्यीवेदं हासादिछक्कपुंवेदं ॥

कोधं माणं मायं लोभं च खवेदि सो कमसो ॥ २०९७ ॥

पुंवेदं क्षमतच्छिद्धत्वा शुक्लध्यानमहासिना ।

कोधं संज्वलनं मानं मायां संज्वलनाभिषाम् ॥ २१०० ॥

विद्ययोदया—ततो नपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्याविपदकं, पुंवेदं, संज्वलनकोषमाननायाः क्षपयति ।
पद्यासोमसंज्वलनम् ॥

तदनंतरक्षपणीयान्कोषाह—

मूलारा—नपुंसगतिविदेदं नपुंसकवेदं नपुंसकभावप्राप्तिनिमित्तोदयकपायवेदनीयविशेषम् । एवं स्त्रीवेदं स्त्रीमा-
खपरिणतिकारणदिगादम् । हासादिभक्त हास्याविषयफलं हास्यं । देशान्तरोचानौस्तुभयविविधोदयः रतिः । तद्विबुधपाऽ
रतिः । अनुभादकसर्वविचिछेदे वैषम्यविशेषः शोकः यद्विषयान्जायते स शोकः । लगेदेवदुःखं भयं । यदुदनादात्मदोष
संभरणं अन्धदोषमाधारण सा जुगुप्सा चित्तिमाहंशः ॥ एतौ कपायवेदनीयपदं पुंवेदे प्राक्षिप्य क्षपयति, पुंवेदं पुंभाषा-
पत्तिनिमित्तं पुंवेदार्क्यं लोकपायवेदनीयं । क्रोषसंज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति । शोचमिहादि । संभयेन सहाययानावैभीभूता
गपलक्षित, सधर्मो वा गपलक्षणेयु सत्यवधीति संभलताः क्रोधादयोऽत्र पारिस्वेपादृहीता तत्र क्रोधसंज्वलनं, मानसंज्वलने ।
तं मानसंज्वलने तं च लोभसंज्वलने प्रक्षिप्य क्षपयति । ततो वापरच्छिविभागेन वं लोभसंज्वलनं च क्षपयति ।

इनके अनंतर नाव होनेवाली मकृतिओंका उल्लेख—

अर्थ—तदनंतर नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, संज्वलन क्रोध,
मान, माया और लोभ इन ग्यारह कर्मोंका नाश करता है-

जिसके उदयसे नपुंसक भावकी प्राप्ति होती है ऐसा अकपाय वेदनीयका एक विशेष भेद है। उसको नपुंसक वेद
कहते हैं। स्त्रीके समान परिणाम उत्पन्न करना यह जिसका फल है उस कर्मको स्त्रीवेदनीय कहते हैं। जिससे हास्य उत्पन्न
होता है वह हास्यवेदनीय है। देखांतर, उद्यान यमैरह पदार्थोंके सरफ जानेके लिये जो मनमें उत्कंठा जगि कर्मके
उदयसे उत्पन्न होती है उसको रति कहते हैं, अरतिका स्वरूप इससे विलक्षण है अनुग्रह करनेवाले पदार्थोंका संवेध
विच्छेद होनेपर मनमें जो रोद उत्पन्न होता है उसको शोक कहते हैं। जिससे भयमें उद्वेग-दर उत्पन्न होती है
उसको भय कहते हैं। जिसके उदयसे अपने दोष छिपाकर दूसरोंके दोष प्रगट करना वह जुगुप्सा कर्म है। इन
अकपाय वेदनीय की छहों मकृतिओंका पुंवेदमें मध्येन करते हैं-पुरुषके परिणामोंकी उत्पत्ति जिसके उदयसे
होती है ऐसे कर्मको-पुंवेदको भी क्रोषसंज्वलनमें क्षेपण करते हैं-ये संज्वलनकोषादिक कपाय संपन्नके साथ रद-
कर ज्वलित होते हैं अथवा संयम इनके रहनेपर भी प्रज्वलित होता है-क्रोषसंज्वलनको मान संज्वलनमें, मानको

माया संज्वलनमें और मायाओं लोभ संज्वलनमें धेषण करते हैं, इसके अनंतर चादरकृष्टि विभागसे लोभकी भी हृद्य करते हैं—

अथ लोभसुहुमकिट्टिं वेदंतो सुहुमसंपरायचं ॥
पावदि पावदि य तथा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥ २०९८ ॥

सूक्ष्मलोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निवृत्तमिति ॥

प्राप्नोति सयमं सुद्धं तदा तदभिधानकम् ॥ २१७१ ॥

विज्ञानोद्भा—अथ लोभसुहुमकिट्टि अथ पञ्चाङ्गादरकृष्टपरकाले लोभसूक्ष्मकट्टि केवलयमान सुहुमसंपरायचं पावदि सूक्ष्मसंपरायता प्राप्नोति ॥ पावदि य तथा भाव्योति च तथा तद्वामकं संवर्धं सुद्धं सूक्ष्मसंपरायतां अधिगच्छति ॥

तदनन्तरप्राप्यसूक्ष्मसंपरायसंयमप्राप्त्युपपत्तिं कथयति—

मूढारापना । अप संज्वलनलोभपादरकृष्टिपरेलोभरक्षालं । किट्टिं कृष्टिं । तैलपावदिवत्किट्टिकाफल्यं । सुहुमसंपरायचं सूक्ष्मसंपरायकृष्णकभर्जं । दत्तमगुणस्थानम् । तण्णानं । सूक्ष्मसंपरायसंज्ञं । सुद्धं प्रथमसूक्ष्मकृष्णध्यानप्रकर्षप्रतिबद्धसूक्ष्मलोभकृष्टिगतिरूपपावसात्पुद्गलसंयमोक्तमभित्तलाद्वा निष्कलंकम् ॥

अर्थ—तदनन्तर अर्थात् लोभकी चादरकृष्टि के अनंतर लोभकी सूक्ष्म कृष्टिका अनुभव करनेवाले मुनिरान सूक्ष्म संपराय नामक दमये गुणस्थानका आश्रय करते हैं, तब उनको सूक्ष्म संपराय नामक चारित्रिकी प्राप्ति होती है, प्रथमसूक्ष्मकृष्णध्यानके सामर्थ्यसे चादर संज्वलन लोभ कषाय सूक्ष्म होता है, इससे उनको सूक्ष्मसंपराय चारित्र प्राप्त होता है,

तो सो स्त्रीकसाओ जायदि स्त्रीणासु लोभकिट्टीसु ॥

एवंच वितक्कावीचारं तो ज्ञादि सो ज्ञाणं ॥ २०९९ ॥

स्त्रीणासु लोभकृष्टिषु नष्टरूपगो यदा यतिर्येवति ॥

पकटवभवीचारं सवितकं ध्यानमध्नुते स तदा ॥ २१७२ ॥

विजयोदया—तो खो धीणकसाओ जायदि ततः सुखमसंपरायत्ववद्वैतर्तं धीणकसाओ जायदि धीणकसाओ जायते । सोणसु सोमकिट्टिसु संवत्तललोमसुखमकट्टियु धीणमसु । तो तत्तः एकत्त्वविषयकाधीचार झाणं तो इमादि एकत्त्ववितर्काधीचारं ध्यानं ध्याति ॥

तदनंतरप्राप्यधीणकसायत्वयुगस्थानसाध्यशुक्लध्यानविसंयोगपदचार्यमाह—

मूळारा—ढोभकिट्टिसु संज्वलनलोमसुसूक्तधियु ।

अर्थ—सुखसंपराययुगस्थानके अनंतर धीणकसाययुगस्थान प्राप्त होता है, अर्थात् अब संज्वलन लोम की वस्तुपट्टि हो जाती है तब ये युगिराज एकत्त्ववितर्क विचार नामक ज्ञान करते हैं.

झाणेण य तेण अद्यवसादेण य संजमेण घादेवि ॥

सेसाणि घादिकम्माणि समयमवर्जजाणि मवो ॥ २१०० ॥

तेन ह्यानेन तदा सयथाह्यातेन रोपघातानि ॥

अवकारणानि युगपत्प्रणिदन्ति सुनीश्वरस्तूर्णम् ॥ २१०३ ॥

विजयोदया—झाणेण य तेण अद्यवसादेण य संजमेण घादेवि ॥
कमानि समकालमेव क्षपवति । अवरजजाणि जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥

तद्व्याप्तविरागसंयमसाधये जीवस्यभावप्रतिबंधकापायमावेदयति—

मूळारा—अद्यवसादेण यमावयातेन वीतरागेणेत्यर्थः । अत्रोभयकर्तारि वृत्तीया । परमार्थवीतरागसंयमसद्वृत्तीची नैकत्ववितर्काधीचारशुक्लध्यानेन तथाविधध्यानसहायेन संयमेन वा कर्त्रा पातयतीत्यर्थः ॥ सेसाणि वक्ष्यमाणानि निष्प्रादीनि रोचस । समयं युगपत् । एककालात् । यात्र निर्दोषोच्छेदविषयाबाधुपान्त्वचरमसमययोरतिसुखमतेनाभेदो विद्व-
क्षितः । शक्तिपादनविषयायां तु संकानवकाळ एव । अथवा समवसवर्जजाणि युगपज्जीवत्वभावचासकानीति व्याख्येयं ।
वर्तमानावरणवीर्यान्वताया हानवर्तमानतानवीर्यात्साकं पारमार्थिकमत्वस्वभावोक्तलभेव प्रविबध्यते । अतुच्छं—
ध्यानेन वे वीतरागसंयमेन च हंति सः ॥ एकदा पादिकर्मानि ज्ञेपाणि च एतः परम् ॥

अर्थ—॥१॥ एकत्त्ववितर्क वीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानसे यथाख्यात चारित्र प्राप्त होता है. इस चारित्रसे युगपत् बाकी के पांच कर्मोंका अर्थात् ज्ञानावरण, और अन्तराय इन कर्मोंका नाश होता है. जीवका स्वरूप इन

कर्मोने विपरीत कर दिया था. क्षीणकथाय गुणस्थानमें सोलह प्रकृतिओंका अर्थात् ज्ञानावरणकी पाँच मति ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ, अंतराय कर्म की दानांतराय, लागांतरायादि पात्रा प्रकृतियाँ, निद्रा, प्रचला, चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिर्दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण ऐसी छह दर्शनावरणकी प्रकृतियाँ इन सोलह प्रकृतिओंका नाश संपूर्ण मोहनीय कर्मका नाश होने के बाद होता है.

मत्थयत्सूचीए जथा हृदाए कसिणो हवो भवदि तालो ॥

कम्माणि तथा गच्छंति स्वयं मोहे हवे कसिणे ॥ २१०१ ॥

मोहनीये हते शेषचानिकर्मकथंयकम् ॥

तुगराज्ज इवायेपसूचीयेय प्रणहयति ॥ २१०४ ॥

वित्तयोदया—अथयत्सूचीए जथा हृदाए मत्थकसूत्र्यां यथा हतायां कसिणो तालो हवो भवति कृजस्तालद्रुमो हतो भवति । कम्माणि तथा कर्मण्यणि तथैव स्वयं गच्छति स्वयमुपयाति । मोहे हरे कसिणे मोहे हते कृत्तेने ।

ननु च बाह्यवात्सल्यभाजोर्लभे सत्येव तत्प्रतिवर्तकप्रक्षयत्वप्रक्षये च तदुपलंभ इत्यन्योन्याश्रयावतारादनातोपनिवेदभासात्ते इत्याशंकायाभिर्माह—

मूलाए—तालो तालयुधः । स्वयं जीवस्वभावयावत्त्वशक्तिविनाश । मोहनीयसहस्रान्येव हि ज्ञानावरणादीनि जीवस्वभावोपपत्ताय प्रभवन्ति । प्रक्षीणे च तत्सहकारिणि मोहकर्मणि सानि प्रक्षीणकस्यान्येव स्वकार्यासिंयादकृत्वात् । मत्थयत्सूचीविनाशे प्रथममप्युपलब्धालिस्वकार्योत्तमार्थतावत् । ततः सत्त्वसि तेषु बाह्यवात्मस्वरूपोपलंभो निर्गंधराजस्यास्य न विकल्पते इत्यातोपक्रमेवेयमिति स्मिताम् । उक्तं च—

तालसूच्या विनष्टत्वां वथा तालो विनश्यति ॥ तथा कर्म क्षवं याति मोहनीये क्षवं गते ॥

अर्थ—मत्सक सूचीका नाश होनेसे संपूर्ण तालयुधका नाश होता हैसे मोहनीय कर्मका नाश होने पर कर्मों का भी नाश होता है.

जिदापचलाग दुवे इचरियसमयमि तस्स खीयंति ॥

सेसाणि यादिकम्माणि चरियसमयमि खीयंति ॥ २१०२ ॥

सूक्ष्मलोमशुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ॥
॥ निद्राप्रचले क्षीणसोदस्योपान्तिमे ततः ॥ २१७५ ॥

पंचज्ञानाधुनीस्तत्र वतस्रो दर्शनाधुनीः ॥

पंच विज्ञानसौ हन्ति परमांशो चतुर्दश ॥ २१७६ ॥

शिशयोदया—निद्रा प्रचला य दुष्य निद्राप्रचला च दे तस्य क्षीणकपायस्य उपांशसमये नश्यतः । सेसाणि घादि-
कर्मण्यपि अयदिशुष्टानि घातिकर्मणि प्रीणि तस्य परमसमये गच्छन्ति, पंच ज्ञानावरणानि, अर्थादि दर्शनावरणानि, पंचो-
त्तरावाह ॥

सोपपत्तिरुमीतिर्युल्लेखोदकमं कथयति —

मूला-दुषे हे अयि । बुचरिमसमवगतिं परमसमयावपश्चिमे समये । स्त्रीदंति निर्मूलं नश्यतः । सर्वारमना-
जीवातिक्रियत इत्यर्थः ॥ सेसाणि मत्तिधुतावधिमकः पर्ययकेवलज्ञानावरणविकल्पात्यंशविधं ज्ञानावरणं । चक्षुरचक्षुर-
वधिकेवलदर्शनावरणभेदावधुर्जिपं दर्शनावरणं । दानलाभभोगोपयोगीयांतावमेदात्यंशविधज्ज्ञानराय इति प्रीणि घाति-
कर्मणि । इत्थं धर्मव्ययेन नाशकर्मप्रकृतीः प्रयोदशावरणप्रकृतीस्तिस्रश्चारित्रतोदस्य च प्रकृतीरेकविक्रान्तिनेकविक्रान्ते
भीषाराख्यद्वितीयवृक्षध्यानेन च यद् दर्शनावरणप्रकृतीः पंच, ज्ञानावरणप्रकृतीः पंच, पंचान्दरायप्रकृतीः अप-
यतीलुणाप्येकप्रदः । नारकतिर्थदेवभुषो च रंधाकारणमेव क्षुण्णं, ततश्चिपिद्विमेकाः कर्मप्रकृतीः क्षुण्णित्वा पंडितपंडितसर-
गोचरो दुस्तुलनदर्शनज्ञानदीपसुखस्य भावं जीवन्मुक्तिं विरमपि अनुभवतीति प्रतिपसज्यम् ॥ भवतश्चात्र दूषे-

सम्यग्दृष्टिगुणान्नतश्चुमोत्साहेषु विष्टगकचित् । धर्मव्ययानवद्यात्यन्तगठिताभायुःक्षयः सप्त यः ॥

दष्टिगप्रकृतीः समलक्षचतुर्नातिनिनिद्राद्विधा । आत्र स्वावरसुसमिधियुभयोद्योतक कपायाकम् ।

न्यैवमं क्षेणमथादिभेन नभमे दास्यादिपट्टकं वृता । क्षिप्तोदीवि प्रयक्नुदादिदसमो लोभं कपायान्वकः ॥

निद्रां सप्रचलासुधान्यसमये टगिद्विज्वांश्चतु । द्विःपंचाक्षपयत्यरेण चरमे सुखेन सोर्क्षपयुः ॥

अर्थ—क्षीणकपाय शुषारथानके उपांशस्य समयमें निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतिजोका नाश होता है-
और अन्तिम समयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराष इन तीनों कर्मोंका नाश होता है.

ततो णंतरसमष्टु उपपञ्जदि सव्यपञ्जयणिविधं ॥
 केवलणणं सुद्धं तद्य केवलदंसणं चैव ॥ २१०३ ॥
 हुत्वेकवचित्फासौ घातिकर्मेन्धनं सुधीः ॥
 दय्यं सर्वसाधनां केवलज्ञानमश्नुते ॥ २१०७ ॥

विजयोऽथा—ततो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् यन्तरसमये उपपत्ते केवलज्ञानं सर्वपायाया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिपन्नं परिच्छेदरूपेण ज्ञानस्याविशयो वस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वा विद्यागतां भवति । केवलं रंद्रियसहायानपेक्षयात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभायात् । शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥
 लीयन्मुक्तिमदुपपन्नमोषक्रमणं—इह वसुधैव कुटुम्बकम् इति वीच्युक्तिं साधुबुद्धित्वबुधवर्णयित्वा दो

केवलज्ञानदर्शनेऽपिगुणाविरस्यसंपत्तौ यथेष्टमिति—

मूलरा—ततो ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् । सद्यप्यव्यभिचरं सर्वेषां द्रव्याणां पर्यायास्त्रिकालविषयाणि विशेषरूपाणि तत्र निबद्धं परिच्छेदरूपेण संयुक्तं । एतेन वस्तुगतरूपपरिच्छेदो ज्ञानस्याविशयो निरूप्यते । सामान्यरूपपरिच्छेदस्य सुगमताऽदुक्तिः । केवलं रंद्रियाद्यन्पेक्षयादसहायं । शुद्धं रागादिमलरहितम् ।

अर्थ—तदनंतर समयमें संपूर्ण द्रव्योंके सम्पूर्ण त्रिकालवर्ती पदार्थोंको विषय करनेवाला, रागादिदोषोंका अभाव होनेसे निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है- वस्तुका सामान्य स्वरूप सुगम है, उसको जाननेमें ज्ञानका अतिशय प्रगट नहीं होता है, वस्तुके विदोष रूप पदार्थोंको जाननेमें ज्ञानका अतिशय प्रगट होता है, अतः ' सद्यप्यव्यभिचरं ' ऐसा साधनामें धर्म है, इन्द्रियों की सहायताके बिना यह ज्ञान होता है इसलिये इस को केवलज्ञान कहते हैं, केवलज्ञान के समान केवलदर्शन भी रागादिमलोंसे रहित और इन्द्रियापेक्षारहित है.

अन्वाधेयदमसंदिग्धमुत्तमं सव्यदो असंकुडिदं ॥

एवं सपलमणंतं अपियत्तं केवलं पाणं ॥ २१०४ ॥

अनंतप्रगतीबधं निःसंकोचमनिद्रियम् ॥

निरूप्य केवलज्ञाने निरुपायमकल्पम् ॥ २१०८ ॥

अर्थ—इस केवलज्ञानमें विचित्र द्रव्य और पदार्थों प्रतिमासित होते हैं इस लिये अनेक रंगोंसे रंगे हुए वस्तुके समान यह केवलज्ञान है. तीनों कालके साथ इस त्रैलोक्यको और लोकोक्तो केवलज्ञान युगपत् देखता है.

वीरियमणंतरायं होह् अणंतं तधेव तस्स तदा ॥

कण्पातीदस्स महासुणस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥ २१०६ ॥

विजयोक्त्या—वीरियमणंतरायं होदि निर्विघ्न वीर्यं भवति । क्षयोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्योत्तरादो-
वये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवशेषशून्यः अन्तः । कण्पातीदस्स उग्रस्वकल्पना अपीतस्य महाभुजेर्विघ्ने विनष्टे ।
तदन्तरयोर्विघ्नविनष्टमपिपत्ते—

मुहारा—अणन्तराय निर्विघ्नं । कण्पातीदस्स उग्रस्वकल्पनारहितस्य । विग्घम्मि अवतरायकर्मणि । एवविघ्नाना-
विनयसाहचर्योक्तानंतरमुत्ताधिगमो भवति । इति तदनिर्देशः ।

अर्थ—केवलज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे आत्मामें जो सामर्थ्य उत्पन्न होता है वह अंतराय-विघ्न-रहित होता है क्षयोपशमिक शक्ति वीर्योत्तराय कर्म के उदय से विघ्नयुक्त होती है सम्पूर्ण वीर्योत्तरायकर्मकाही केवल ज्ञानके समय नाश होनेसे प्राप्य हुए अनन्त शक्तिको बाधित करनेवाला पदार्थ ही नहीं रहा है अतः वह शक्ति-
गुण अनन्त हुआ है

तो तो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्मणि ॥

जावसमची वेदिज्जमाणयस्साउगस्स भवे ॥ २१०७ ॥

ततो वेदयमानोऽ सौ श्रेयापातिचतुष्टयम् ॥

क्षुर्वाणो जनतानंद भ्रमत्येष सुरार्चितः ॥ २१८० ॥

विजयोक्त्या—तो सो वेदयमाणो केवलज्ञानादिपरिग्रह्यन्तरकाल वेदयमानो विहरति, सेसाणि ताव कम्मणि
अवशिष्टानि तामकर्मणि । जावसमची यावत्परितस्मादि । वेदिज्जमाणयस्स आउगस्स भवे अलुभ्यमानस्य
मनुष्याणामुपो भवेत् ॥

मृडादा—बो के बलमाना विपरिशास्त्रनंतरम् । विहरणि यमाल्पाउषारित्रमभिवर्षकति । सेषाणि अयातीनि ।
वेदनीयनामोगोत्रायुंयि । आङ्गसत मनुज्यायुःकर्मणः ।

अर्थ—जबतक पुज्यमान आयुर्कर्मकी समाप्ति नहीं होती है तबतक चाक्रीके अयाति कर्मको भोगते हुए कैतली भगवान् मयात्मज्ञ चारित्रको वृद्धिगत करते हैं-

वृत्तगणसमगो विहरदि उच्चवायं तु परिज्ञायं ॥

जोगनिरोधं पारमदि कम्मणिष्ठेवण्डाए ॥ २१०८ ॥

चिदर्थस्मात्चारित्रो ज्ञानदर्शनभूयितः ॥

क्षोपकर्मविघाताय योगरोधं करोति सः ॥ २१०९ ॥

पिजयोदया—वृत्तगणसमगो शायिकेन शोभन दर्शनेन । समग्रो, विद्वत् उच्चायवं पर्यायं, चारित्रमभि-
पर्यवन् योगनिरोधे प्राप्तो, कर्मणामप्राप्तिनामवहरणाद्यैः ॥

सयोगक्षेपछिन्नादिप्राभिवर्धनकालादौसकृत्तत्त्वार्थकृत्पातिपावोपक्रमं च निर्दिष्टुमाह—

मृडादा—इषापर्यं उत्कर्षेण ऐशोपपूर्वकोटिमानं । जपन्त्येन च अन्तर्मुखैर्मित्यर्थः । परियायं केवलसंयमकालं ।

लोगनिरोधं सत्त्वानुभवप्राप्त्यनसप्तद्वयपरकोटारिकवन्धित्यर्थकामधकायप्रवल्यापारलक्षणात् सत्तायां योगान्तं निगदं ।
कम्मणिष्ठेवण्डाए अयातिकर्मनिष्ठोच्छेदनाय ।

अर्थ—शायिक दर्शन और शायिक ज्ञानसे पूर्ण वह केवली भगवान् उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटिकाल तक और जपन्त्यसे अन्तर्मुखतक यथाख्यात संयमावस्थाको धारण कर विहार करते हैं. वदन्तर अयातिकर्मका नाश करनेके लिये योगनिरोध करते हैं. अर्थात् सत्त्ववचन योग, अनुभय वचनयोग, सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, औदारिक फाययोग, औदारिकमित्र और कार्यणयोग ऐसे सात योगोंके व्यापारको वे रोकते हैं.

उक्तरसपुण छम्मासाउगसेसस्मि केवली जादा ॥

वर्चति समुग्धादं सेसा भज्जा समुग्धादे ॥ २१०९

यः पणमासावशेषाद्युः केवलज्ञानमश्नुते ॥

अवश्यं स समुद्धानं याति श्रेयो विकल्प्यते ॥ २१८२ ॥

विजयोदया—उक्तस्तरणे उत्कर्षेण पणमासावशेषे आयुषि जाते केवलज्ञानो ज्ञातास्ते समुदातमुपयांति । श्रेयाः समुदाते भान्याः ॥

योगनिरोगोन्मुक्तानां केवलज्ञानं समुद्धानाविवेचनियमविकल्पौ निर्दिशति—

मूलारा—यद्यपि गच्छन्ति । समुद्धानां जीवजन्तानां स्मर्याद्विद्वद्वाचाकारेण निःसरणं । भज्या विकल्प्याः । दृष्टान्तिसमुद्धानां जर्जस्ति न वेत्यर्थः ॥ इत्थं च—

यदायुरधिकाणि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः । समुद्धानाविविधि साक्षात्प्रायोगात्प्रभते तदा ॥

पणमासायुषि श्रेयो रथायुष्यन्नं यत्र केवलम् । समुद्धानावमसौ याति केवली या परः पुनः ॥

अर्थ—उत्कर्षसे जिनका आयु छद्म मदिनेका अवशिष्ट रहा है ऐसे समयमें जिनको केवलज्ञान हुआ है वे केवली नियमसे समुद्धानको प्राप्त होते हैं. आत्माके प्रदत्त शरीरके बाहर दंडादिके आकारसे निकलते हैं ऐसी ज्ञात स्थाप्ता नाम समुद्धान हैं. वाक्यके केवलीओंको आयुष्य अधिक होनेपर समुद्धान होना अवश्य नहीं मी होगा. नियम नहीं है.

जोसिं अउसमाइं णामगोदाइं वेदणीयं च ॥

ते अकदसमुग्धादा जिणा उवणमंति सेलेसिं ॥ २११० ॥

आयुषा सह्यं यस्य जायते कर्मणां त्रयम् ॥

स निरस्तसमुद्धानः श्लेश्यं प्रतिपद्यते ॥ २१८३ ॥

अनंतं दर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यमनन्तरम् ॥

जायते तरसा तस्य चतुष्टयमख्यतम् ॥ २१८४ ॥

विजयोदया—जोसिं अउसमाइं येनामपि आयु समाप्तिं श्रेयाव्ययतिकर्मणि तेऽल्लसमुद्धाना एव प्रतिपद्यते ॥

समुद्रपातमेवरेण दीहेदयोगमसे कारणमनाविषतुष्टयसमस्थितिरवसानये—
मूढारा—उपपन्नमिति—आशयान्ति । सेहेसि श्रीलघुणसंपूर्णता ॥

अर्थ—अपुने ममानही अन्य कर्मकी स्थिति भारण करनेवाले केवली समुद्रात किये बिना संपूर्ण शालीनि धारक बनते हैं.

जोमि हवंति विसम्पानि णामगोदाउवेदणीयाणि ॥

ते दु कदसमुग्धावा जिणा उवणमंति सेलेसि ॥ २१११ ॥

ठिदिसंतकम्मसमकरणदयं सवेसि तेसि कम्माणं ॥

अंतोमुहुत्त सेसं जंति समुग्धावमाउमि ॥ २११२ ॥

यवायुयोऽधिकं कर्म जायते त्रितयं परम् ॥

समुद्रातं तदाभ्येति तत्समीकरणाय सः ॥ २१८५ ॥

अंतर्मुहूर्तयोगायुष्यवा भवति संयमी ॥

समुद्रातं तदा धीरो विधत्ते कर्मधूतये ॥ २१८६ ॥

विजयोदया—ठिदिसत्तकम्म सारकर्मणां स्थिति समीकृतुं यतुर्णा अंतर्मुहूर्तवक्ष्ये मायुषि समुद्रातं यांति ॥
व्यतिरेकेणाह—

मूढारा—एतदम् ॥ एतां धीविजयो नेच्छति ॥

रंदादिसमुद्रपातविधाभप्रयोजनमादिसति—

मूढारा—ठिदिसत्तकम्मसमकरणदु । स्थित्या कृत्वा सर्वां विद्यमानानां यतुर्णा कर्मणां समपरिणायतां कर्तुं ॥

अर्थ—जिनके वेदनीय नाम, और गोत्रकर्मकी स्थिति अधिक रहती है वे कयलि यगवान समुद्रवातके द्वारा उनकी आयुक्रमके बापरीकी स्थिति करते हैं इस प्रकार वे संपूर्ण शीलके धारक बनते हैं.

अर्थ—आयुक्रम अंतर्मुहूर्तमात्र जब रहता है तब नाम गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति आयुके समान करने के लिए समुद्रात करते हैं.

ओष्ठं संतं वयं विरुद्धिदं जघ लहु विणिब्बादि ॥
संवेडियं तु ण तथा तथेव कम्मं पि णदब्बं ॥ २११३ ॥
अविकीर्णं यथा वत्तं विञ्जयति न संवृतम् ॥

तथा कर्मापि बोद्धव्यं कर्मविचस्कारिभिः ॥ २१८ ॥
विजयोद्या—ओष्ठं संतं आर्द्रं सलया वत्तं विप्रकीर्णं लघु दुष्पति न तथा संवेष्टितं एवमेव कर्मापि घातस्यम् ॥
आत्मप्रदेशात् देहाद्दिग्दायाकारेण प्रसारणाय कर्मसित्यवर्णनदृष्टान्तेनोपादयति—
मूढारा—ओष्ठं आर्द्रं । विरुद्धिदं प्रसारितं । विणिब्बादि विज्ञेयेण द्रव्यति । संवेष्टिदं संवृतं ॥
अर्थ—गौला वत् प्रसारनेसे जल्दी शुष्क होता है. परंतु वेष्टित वत् जल्दी सूखता नहीं उसी प्रकार समुद्रपातसे कर्म विरल होकर घनकी स्थिति कम होती है.

ठिदिग्धस्स सिणेहो हेट्ट खीयदि य सो समुद्धस्स ॥
सडदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्ठिदी होदि ॥ २११४ ॥
समुद्धाने कृते स्नेहस्थितिहेतुर्विनश्यति ॥
धीणस्मेहं ततः शेषमल्पीयः स्थिति जायते ॥ २१८८ ॥

विजयोद्या—ठिदिग्धस्स स्थितिबंधस्य स्नेहो हेतुर्विनश्यति । समुदाहं गते सति च खीणस्नेहं शेषं कर्मांतरस्थितिकं भवति ॥

एतदेव स्पष्टयति—

मूढारा—सिणेहो स्नेहः । हेट्ट खीयेन सह कर्मणः कालवधारणमंसंश्लेषणे निमित्तं भवति । समुद्धस्स देहा-
याकारेण सरीराद्दिग्निष्ठवप्रदेशस्य पुंसः । सडदि शटति, प्रच्यवते । सेसं अखीणस्नेहं कर्म ।

अर्थ—स्थिति बंधका कारण जो स्नेहगुण ॥ १८१८८ समुद्धानसे नष्ट होता है इस समुद्रपातसे कर्मका स्नेहगुण कम होनेसे उसकी कल्प स्थिति होती है.

चतुर्हि समष्टिर्हं दंडं कवाड पदरजगपूरणाणि तदा ॥
कमसो करोदि तह चैव णियत्ती चतुर्हि समष्टिर्हं ॥ २११५ ॥

दंडं कपाटकं कृत्वा प्रतरं लोकपूर्णं ॥

चतुर्भिः समयैर्योगी तावद्विष्य निवर्तने ॥ २१८९ ॥

विज्ञयोव्या—चतुर्हि चतुर्द्विरसमयैर्दण्डादिकं कृत्वा कमसो निवर्तये चतुर्भिरेव समयैः ॥
दंडादिप्रवर्तननिपतवकालपरिमणावधारणार्थयाह—

मूढारा—चतुर्हि इत्यादि एकैकेन समयेन दंडादीन् कृत्वा, क्रमेणैकेनैव लोकपूर्णतो निवर्तयतीत्यर्थः ।

अर्थ—चार समयोंमें क्रमशः दंडादिक समुदयात् केवली करते हैं. अर्थात् प्रथम समयमें दंड समुदयात्, दूसरे समयमें कवाड, तीसरे में प्रतर और चौथेमें लोकपूर्ण समुदयात् करते हैं, तदनंतर उठकर अर्थात् पांचवें समयमें प्रतराकार, छठे समयमें कपाटाकार, सातवें समयमें दंडाकार और आठवें समयमें मूलवेह प्रमाण आत्माके प्रवेश होते हैं.

काकणाडसमाई णामागोदाणि वेदणीयं च ॥

सेलेसिमब्बुवेतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥ २११६ ॥

वेद्यायुर्नामगोत्राणि समानानि विधाय सः ॥

प्राप्तुं सिद्धिचपूं धीरो विधसे योगरोधनम् ॥ २१९० ॥

विज्ञयोव्या—काऊण नामगोत्रेयदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमप्युपभयन् योगनिरोधं करोति ॥
समुद्र्याजानुःसंगीकृतकर्मत्पातंतरकरणीययाह—

मूढारा—अनुवेतो आश्रयम् ॥

अर्थ—नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मांकी स्थिति आयुके समान कर योगनिरोधसे मुक्तिको प्राप्त करते हैं.

बादरवचिजोगं बादरेण कायेण बादरमणं च ॥

बादरकार्यं च तथा रुंभदि सुहमेण काएण ॥ २११७ ॥

स्थूलौ मनोवचोयोगौ रुणद्धि स्थूलकायतः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन स्थूलयोगं च कायिकम् ॥ २११८ ॥

विजयोद्या—बादरो चाब्जतोयोसौ बादरकायेण रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥

दोषानिरोधकम् अभियन्ते—

मूलात्—बादरेण कायेण स्थूलकाययोगे स्थित्येत्यर्थः । रुंभदि निगृह्णाति ॥

अर्थ—बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको बादरकाययोगमें स्थिर होकर [निरोध करते हैं] तथा बादरकाय योगको सूक्ष्म काययोगमें रोकते हैं,

तथ चैव सुहुममणवाचिजोगं सुहमेण कायजोगेण ॥

रुंभितु जिणो चिद्धि सो सुहमे काइए जोगे ॥ २११८ ॥

सूक्ष्मौ मनोवचोयोगौ रुंद्धे कर्मस्वचैजिनः ॥

सूक्ष्मेण काययोगेन सेतुमेव जलसूक्ष्मम् ॥ २११९ ॥

विजयोद्या—तथ चैव तथैव सूक्ष्ममणवाचोयोगं सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ।

मूलात्—स्पष्टम् ॥

अर्थ—उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसकाययोगमें वे जिनमगगान् स्थिर रहते हैं

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियवंधगो तगो तावे ॥

काइयजोगे सुहुममि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥ २११९ ॥

लेदयानारीरोगाभ्यां सूक्ष्माभ्यां कर्मबंधकः ॥

मुनलं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं कर्तुमारभते जिनः ॥ २१९३ ॥

सूक्ष्मकाययोगस्य सूक्ष्मक्रियाया बंधकत्वदायी सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥

पिण्डयोदया—सूक्ष्मलेदयया सूक्ष्मक्रियाया करणीयद्वयवधारयति —

मूढारा—देहसारा उत्कृष्टद्रुश्लेष्द्वयया । सुदुर्गतिरिवबंधयोः सूक्ष्मकाययोगेन सातवेदनीयस्य बंधकः ॥ तांश्च तदा ।

सुदुर्गतिरिव सूक्ष्मक्रियं नाम परममुन्मूलं ॥

अर्थ—उत्कृष्ट दुरलंघ्यताके द्वारा सूक्ष्मकाययोगेन सातावेदनीयकर्मका बंध करनेवाले वे जिनभगवान् 'सूक्ष्मक्रिय' नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते हैं, सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है.

सुदुर्गतिरिण्ण ज्ञाणेण निरुद्धे सुदुर्गकाययोगे वि ॥

सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्छलपदेसो ॥ २१२० ॥

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ ध्यानेन सूक्ष्मविग्रहः ॥

स्थिरीमृतमदेसोऽस्ति कर्मबंधविपरिणतः ॥ २११४ ॥

पिण्डयोदया—सुदुर्गतिरिण्ण तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे विच्छलपदेसोऽपबंधको भवति । बंधनिर्मितानामभावात् ॥

तद्व्यानकलाप्यमेतर्भाकिनी संधिद्विकीमयस्थां पुरुषस्वोपदिशति—

मूढारा—तदो अलेशयात् । अवयवो समस्तबंधनिमित्तानामभावात् ॥

अर्थ—सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानके द्वारा ये सूक्ष्मकाय योगका निरोध करते हैं, तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं और उनको अब साता वेदनीय कर्मका भी बंध होता नहीं है, क्योंकि बंधके कारणही उस समय नष्ट हो गये हैं, अर्थात् बंधका कारण योग भी उस समय नष्ट होता है.

माणुसगदितज्जादिं पञ्जचादिज्जसुभगजसकिंतिं ॥
अण्णदरवेदणीयं तसवादरमुच्चगोदं च ॥ २१२१ ॥

अयोगोऽन्यतरद्वेय नरायुद्धय ब्रह्म ॥

सुभगादेयपर्याप्तं पंचाक्षोच्चयस्यासि सः ॥ २१२१ ॥

विजयोदया—माणुसगदि मनुष्यजाति, पंचोदियजाति, पर्याप्तमादेयसुभगं, यक्षस्त्रीतिमन्यतरवेदनीयं, ब्रह्मचारं, ब्रह्मवैगोदं वेदयते ॥

तत्कालयोग्या मुंढेयलिङ्गः एकादशमर्ममकुलीस्त्रीवेकनय द्वादश विशलि—

मूला—राजादि पंचेन्द्रियजाति । पञ्च अष्टादशदिपर्याप्तिनिर्धर्तकं पञ्चाक्षरं नामकम् । आदेय आदेयं प्रभो-
पेवद्वरीरताकारणं नाम कर्म । सुभग पराश्रीविप्रमयकलं सुभगास्यं नाम । अक्षकिंती पुण्यगुणव्यपनकारणं यशःकीर्तिनाम ।
अण्णदरवेदनीयं बहुदयादेवार्थिगतिषु शारीरमानसबुलप्रान्तिस्तस्त्वहं । बटफल दुःखमनेकविधं तदसह्यं । तयोर्मध्ये ए-
तत् । तम द्वीन्द्रियाधिगुण्णमनिमित्तं यत्नायं नाम । वापरं अन्यथायाकरसरीरकारणं नाम । उच्चगोदं लोकपूजिष्यु कुलेषु
जन्मकारणमुच्चगोदं नाम ॥

अर्थ—मनुष्यजाति, पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्ति, आदेय, सुभग, यक्षःकीर्ति, साता चेदनीय और अमाता
वेदनीय इन दोनोमेंसे कोई एक, ब्रह्म, चादर और उच्च गोत्र इन कर्मोका अनुभव करते हैं.

मणुसाजगं च वेदेदि अजोगी होहिदूण तं कालं ॥
तित्ययरणामसहिदाओ ताओ वेदेदि तित्ययो ॥ २१२२ ॥

यादरं तीर्थकृतवैतास्तीर्थकारी त्रयोदश ॥

न परो चंचयते सायुस्तदानीं द्वादश स्फुटय ॥ २१२३ ॥

यिजयोदया—मनुष्यायुक्त वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥

मूला—मणुसाजगं मनुष्येषु भवधारणकारणं कर्म । होहिदूण भूत्वा । तित्ययरणाम आर्हन्त्यधारणं तीर्थकराय
नाम । वाओ मनुष्यगताधिक एकादश ॥

अपं-मनुष्यावुके माय ऊपरके दत्त प्रकारके फलोंका अयोगि मुनि अनुभवन करते हैं. जो तीर्थंकर हैं उनको तीर्थंकरके माय ऊपरके ग्यारह प्रकाशोंका उदय होता है और मुंडकेवलीको ग्यारह प्रकाशोंका उदय होता है.

देहति यंच परमो वदत्यं केवली अजोगी सो ॥

उचपादि समुच्छिष्टाकिरियं तु ज्ञानं अपडिवादी ॥ २१२३ ॥

देहेऽन्नितयंचस्य एवंसायायोगकेवली ॥

समुच्छिष्टाक्रियं ध्यातं निश्चलं प्रतिपद्यते ॥ २१२७ ॥

विजयोदया—देहति य देहविकल्पपरिसोक्षार्थं समुच्छिष्टाक्रियानिवृत्तिध्यातं ध्याति ॥

तत्कालकरणीयमदरीत्तकारणं परमतरशुक्लध्यानसंविधये—

मूढारा—देहविय परमोदरिर्कं, वैजलं, कासं येति श्रीणि दरीराणि । अपडिवादी य समुच्छिष्टाक्रियानतिपाति व्युत्पत्तिरिति निषर्तोल्लपराधयम् ॥

अपं—औदारिकशरीर, वैजल य कामंणशरीर इन यौन दरीरोंका वस्त्रनाश करनेके लिये वे अयोगी-केवली नगवान् समुच्छिष्टाक्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं.

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरियज्झाणेण ॥

अणुदिण्णाओ दुच्चरिमसमये सत्त्वाओ पयडीओ ॥ २१२४ ॥

मात्रापंचककालेन तेन ध्यानेन वर्तते ॥

प्रकृतीनामपदानां द्वारसंस्तुतिमसौ समम् ॥ २१२८ ॥

विजयोदया—सो तेण स तेन पंचमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षण्यति द्विचरमसमये अनुदीर्घाः सर्वाः प्रकृतीः ॥

पंचावशरोच्चरणकाळमायिना उदयानेन करणीयामनुदीर्घेति सप्ततिकर्माप्रकृतिक्षयणाच्छयति—

मूढारा—पंचममाकालेन ॥ इ च अहं इति पंचमात्रोच्चरणकालप्रमाणेन । अणुदिण्णाओ अनुदयं प्राप्ताः ।

सन्ध्याभ्यो त्रिसप्ततिसंख्याः । तान्त्रिकाः—देवमतिः, देवमतिप्रयोगश्चातुर्ध्वी, मनुष्यमतिप्रयोगश्चातुर्ध्वी, यदुन्दयादात्मनः
शरीरनिर्वृत्तिरन्तरीरनाम पंचपा । औदारिकशरीरं, वैक्रियिकशरीरं, आहारकशरीरं, कर्मणस्शरीरं चेति ॥ यदुन्दयाद्गो-
पांगविवेकस्तद्गोपांगनाम त्रिविधं औदारिकशरीरांगोपांगं, वैक्रियिकशरीरांगोपांगं, आहारकशरीरांगोपांगं चेति ।
यन्निमित्ता परित्यज्यद्विहन्निर्माणं द्वेपा । स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं
प्रमाणं च निर्धेतव्यं कथं च परिगण्यते । औदारिकादिशरीरनाम कर्मोदयश्चातुर्धाचातुर्ध्वी ॥ यदुल्लानं अन्योन्यप्रदेशसंस्पर्शेण यतो
भवति तद्वत्पन्नं ताम पंचविधमौदारिकशरीरं, वैक्रियिकशरीरं, आहारकशरीरं, कर्मणस्शरीरं चेति । यदुदया-
दौदारिकादिशरीराणां पिबरविरदिताम्योन्यप्रदेशात्प्रवेत्येतैकत्वापादानं भवति तस्मात्तनाम पंचप्रकारमौदारिकसंघातनामा-
विशेषात् ॥ यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनित्यवृत्तिसत्त्वस्थाननाम पञ्चविधं । समचतुस्त्वसंस्थानं, न्यप्रोथपरिसंज्ञकसंस्थानं,
स्थानसंस्थानं, कुञ्जसंस्थानं, यामनसंस्थानं, हुंजसंस्थानं चेति ॥ यदुदयादुदयवधनान्वनविद्योयस्त्वसंहनननाम पोढा ।
वर्षभभनारचसंहननं, वज्रनारचसंहननं, नाराचसंहननं, अर्थनाराचसंहननं, क्रीडासंहननं, असंभारामृपाटिकासंहननं
चेति ॥ यदुदयात्तपशीर्णाभिरक्तस्यर्धनामाष्टविधं । फर्क्य, मृदु, शुभ, लघु, क्षिप्रं, रुध्रं, शीतमुष्णं चेति ॥ यन्निमित्तो रसवि-
फलस्तद्रसनाम । प्रसस्ताप्रसक्तविककटुककृशयाम्लभक्षुरभेदप्रसक्तवि तिकवादिसामान्योपेक्षेय पंचपा परिगण्यते । यदुदया-
द्वत्तत्तद्वदनाम द्वेपा सूर्यांगमसुरभिर्गंधं चेति । यद्वेत्तुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम । प्रसस्ताप्रसक्तमुक्कलुष्यतीक्ष्णरक्त-
दिभेदप्रसक्त्यापि शुष्कवादिसामान्योपेक्षया इह पंचपैव संस्थायेते । यस्योदयादयःपिङ्गवह्नुस्त्वभायः पतति न चार्कतुल्य
वस्तुत्वात्तद्वर्णं गच्छति तदुत्कलुषनाम । यश्चोदयात्स्वयं कृतोद्भवतद्रागागननिरोषादिनिमित्त उपपातो भवति तदुत्पपातो
नाम । यत्फलरक्तः सरसश्चास्यापातस्तत्तरपातनाम । यद्वेत्तुक्कृशवासस्तुच्छवासनाम । आकाशे गतिनिर्वर्तकं विहायोगतिनाम
द्वेपा प्रसस्ताप्रसक्तभेदान् । शरीरनाम कर्मोदयाभिप्ययमानं शरीरमेकस्मिन्पयोगकारणं यतो भवति तस्यैकशरीरनाम ।
यदुदयाद्रूपाविगुणोदेतोऽपि अभीतिकरस्तद्रूपनाम । यनोक्तानगनोक्तस्वरनिर्वर्तके सुस्वरदुःस्वरान्ती । रमणीयत्वारमणीय-
त्वकारणे शुभाशुभनाम्नी । पटुविपपर्याप्त्यभावेतुपर्याप्तनाम । चलाचलभावनिर्वर्तके अस्थिरस्थिरताम्नी । निष्प्रभशरीरता
कारणमनावेषनाम । अणुण्डगुणकषापनकारणमयशःक्रीर्तिनाम । एवमेकस्मिन्विनाम कर्मोप्यन्यतरवेदनोयं नीचैर्गोत्रं
चेति त्रिसप्ततिः । अन्ये मनुष्यमतिप्रयोगश्चातुर्ध्वीक्षपणं चरममयं वाञ्छेतीति तन्मतेन त्रसप्तविकृष्टान्वयसमये तु तीर्थं
कैरूप्योदशान्यैश्च द्वादश लिखन्ते । तथा चोक्तं पंचपंचमे—

देवदुय पण छरीरं पंच सरीस्स षण्णं वेव ॥
 पंचेव य संणायं संतणं ण्ण य छकं च ॥
 तिणिण य अंगोवंगं संषणं वट्ठ ॥ होइ छकं च ॥
 पंचेव य वण्णसं हो गंपं अट्ठफासं च ॥
 अणुठल्लुयणउत्तं विहायगदिदुग यिराविरं वेव ॥
 सुहसुरसरजुयला वि य पचेयं हुल्लभां अजसं ॥
 अणदेवजं निमिणं च अपज्जत्तं ॥ य पीवगोयं च ॥
 अण्णदरवेणपीयं अलोमणुचरिममिं योत्थिण्णया ॥
 अण्णयरवेणपीयं मणुयाड मणुयदुगं च बोहवथा ॥
 पदेदियजादे वि य उल्लसुअगादेवज पज्जत्तं म
 यादरज्जसकित्तोवि य तित्थपरं उवगोयये वेव ॥
 एव ठेरसपयडी अमोइद्विव सभयोत्थिण्णया ॥

अर्थ—ये अपोंगि जिन पंचन्दस्स्वर उच्चारण मात्र कालमें उदयमें नहीं आते हुई सब प्रकृतिओंका
 इस गुणस्थानके उपानयसमकर्म क्षय करते हैं, अर्थात् तिष्ठत्तर प्रकृतिओंका क्षय करते हैं.

चरिससमयमिं तो सो खवेदि वेदिअमाणपयडीओ ॥
 धारस तित्थयरजिणो एक्कारस्त सेससव्वण्हू ॥ २१३५ ॥
 दारीरं पंचधा तन्न पञ्चधा देहबन्धनम् ॥
 संघातः पञ्चधा पोढा संस्थानमभरद्भयम् ॥ २१३६ ॥
 अंगोपांग त्रिसंख्यानं पोढा संतृननक्षणे ॥
 पंच यणी रसाः पंच गंधरूपशो द्विधाष्टधा ॥ २२०० ॥
 क्षीयते शुक्लच्छादिचतुष्कं द्वे नभोगती ॥
 शुभद्रपं स्थिरद्वन्द्वं प्रत्येकं सुस्वरद्वयम् ॥ २२०१ ॥

अनादेयापशो निर्माणे चापूर्णाणि दुर्मगम् ॥

वेद्यमन्यतरस्तस्य द्वासासप्ततिरुपान्तिमे ॥ २२०२ ॥

अंतिमे समये हत्वा प्रकृतीः स त्रयोदश ॥

वैद्यमानः सदाऽयोगः प्रयाति षट्समयम् ॥ २२०३ ॥

विज्ञयोदया—चरित्समयमिमं कृत्ये समये क्षणपति वेद्यमानाः प्रकृतीर्द्वैतं तीर्थकरजिनः । शेषसर्वज्ञः एकावश । मानकवपुष नानो चिनायोगेन तेजसदारीरवंधो नश्यति । अक्षुप क्षयेण औदारिकवंधताशः ॥

तीर्थकरेतरचरमक्षयक्षणीवाः प्रकृत्योः संख्याविशेषणवधारयति—

मूलात्—चारसमपुरसगदिभित्तिदिना प्रागुक्ताः ॥

अर्थ—अन्यसमयं तृप्तिकरेकवली अनुभवमे आनेवाली चारा प्रकृतिजोका क्षय करते हैं और सानान्य केवली ग्यारह प्रकृतिजोका क्षय करते हैं.

णामक्खण तेजोसरीरबंधो वि स्त्रीयेदे तस्त ॥

आउक्खण ओराहियस्त वंधो वि स्त्रीयदि ते ॥ २१२६ ॥

तं सो बंधणमुक्को उहुं जीवो पओगदो जादि ॥

जह् एण्हयवीयं बंधणमुक्कं समुप्पदि ॥ २१२७ ॥

नामकर्मक्षयात्तस्य तेजोबन्धः प्रलीयते ॥

औदारिकवपुर्वंधो न सत्यायुःक्षये सति ॥ २२०४ ॥

एण्डयीजवलीनो बन्धन्यपगमे सति ॥

उद्ध्वं याति निसर्गेण शिखेव विपमार्चिपः ॥ १२०५ ॥

विज्ञयोदया—स्वशेखरगायाह्वयं ॥

वेजसौदारिकदरीरवंधविन्देदन्तिवपनविशेषनिर्द्वयानमाह—

मूलात्—वेद्य वैजसं । ओपलिदस्त औदारिकदरीरव्य । वंधो अन्योन्यप्रदेशमुपदेक्षेनकृतापस्यावस्थानम् । ददि जीवमुक्तिर्गणनम् ॥

६१: प्रवर्धेन गार्ध्वजिन्ना परममुष्टिं वर्षेविष्वज्जगद्दीर्घं चण्डेचनं तदभाविनीं लोकान्वापणीमेकसमयिणीं नैस-
निकीं जीवरोर्द्धुगतिं दृष्टान्तेन समर्थयते—

मूत्रारा—पयोगो प्रकृष्टवेगेन । मधुलपदि यथा पीजकोशनायारेरंढवीजमात्रबेवोर्द्धुं गच्छति तथा मधुव्यादि-
मयमासकवत्तादिभूतसमवाच्येदरदत्तापीत्यर्थः ॥

अर्थ—नाम कर्मके धूपते तैजस बन्धका नाश होता है और आयुर्कर्मके क्षयसे औदारिकबन्धका भी
नाश होता है. इस प्रकार बंधमुक्त हुआ यह जीव परंदर का पीज जैसे बंधनमुक्त होकर ऊपर जाता है वैसे उत्कृष्ट
वेगेमे जाकर युक्तिस्थानमें स्थिर होता है.

अथोनिर्गन्तुली उद्यान्य समयमें वेहत्तर प्रकृतिजोंका धूप करते हैं उन प्रकृतिजोंके नाम इस प्रकार हैं—
१ देवगति २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ३ मधुप्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी. ५ औदारिकादिक पांचशरीर, औ-
दारिकादि तानि अगोपांग, निर्माण नामकर्म, धंधननामकर्मके पांचप्रकार, सघातके पांचभेद, छंद सस्थान, एका
गहनन, स्वर्ग नामकर्मके आठभेद, रमनामके ५ भेद, गंधनामकर्म के दो भेद, वर्षके पांचभेद, अगुरुलघु, उपघात,
पराघात, उच्छ्राम, प्रगुप्त निहायोगति, अग्रगुप्त विहायोगति, प्रत्येकशरीर, दुर्भग, दुस्वर, दुग्ध, अष्टुम,
अपपाप्त, भ्रष्ट, अस्तिरा, अनोदय, अग्रगुप्तीति, अन्यतरंगदनीय और नीचगोत्र ऐसी तिहत्तर प्रकृति हैं उनमें
मधुप्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी कर्मरा नाश अत्य समयमें होता है ऐसी कोई आचार्य कहते हैं उनके मतसे उपान्त्य
समयमें ७२ वहत्तर प्रकृतिजोंका धूप होता है तीर्थंकरके तेरा प्रकृतिजोंका अन्त्य समयमें धूप होता है
और अन्य मुनिजोंके पारा प्रकृतिजोंका धूप होता है.

संगजहणेण बलहुदयाए उठूं पयावि सो जीवो ॥

जघ लाजो अलेओ उपपदि जले णिवुडो वि ॥ २१२८ ॥

आयेणेनाशुगमिय सण्णेन नियोजितः ॥

अलायुरिव निलेपो मत्था मोक्षेज्वत्तिष्ठते ॥ २२०६ ॥

पित्रयोदया—संगग्रहणेन संगत्यामाह्वयुतयोर्दे प्रयाति जलनिमग्नानिलेपाख्युपप ।

मुगलमा संगत्यामाह्वयुतयोर्दे गच्छतीत्येवदृष्टान्तेन द्रष्टव्यि —

मूला—संगग्रहणेन शरीरत्रयसंगत्यागेन । लागो लुपकं । जलबो मृदादिलेपमुक्तं । गिबुदो निमग्नं । यथा मृदादिलेपजनितागौरवमहापुद्रव्यं जलेऽप्यः पक्षिं खलवंदेविदिल्लमृदादियंभनं उधुसद्वृक्षेभ्य गच्छति । तथा फलमरात्राविधरीकृत आत्मा सदावेदावशात्संसारनिवर्त्तेन गच्छति । तत्समतिविप्रमुक्त उपयेव यातीत्यर्थः ।

अर्थ—कीचदक्षा सेप हटेने पर लैसा सुवीका फल जलमें ऊपर कुदकर आता है वैसे औदारिक, तेजस और कामंज इन तीन शरीरोंका संग हटेनेपर यह आत्मा हलका होकर मुक्तिस्थानपर चला जाता है-

ज्ञाणेण य तह अप्पा पउइदो जेण जादि सो उहुं ॥

वेगेण पूरितो जह ठाइदुक्कामो वि य ण ठादि ॥ २१२९ ॥

ध्यानमयुक्तो यात्पूर्वमात्मार्त्तवेगेन पूरितः ॥

नया प्रयत्नमुक्तोऽपि स्वातुक्कामो न तिष्ठति ॥ २१०७ ॥

पित्रयोदया—ज्ञाणेन य ध्यानमात्मा प्रयुक्तो यात्पूर्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्वातुक्कामोऽपि ।

पुनरुत्पत्त्यवस्था—ज्ञाणेन य ध्यानमात्मा प्रयुक्तो यात्पूर्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्वातुक्कामोऽपि ।

मूला—यउइदो प्रेरितः । तेण अपवर्गप्राप्तये बहुशः पूर्वं छेनेन प्राणिचानेन पूरितो निर्मेराविष्टः । ठाइदुक्कामो वि स्वातुक्कामो न तिष्ठति ।

ध्यानमयुक्तो यात्पूर्वमात्मा वेगेन पूरितः ॥

तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्वातुक्कामो न तिष्ठति ॥

अर्थ—कत्वार्थोपपि दृष्टान्तयुक्तिश्चिरया । यथा कुलाढ्ययोगापादितवहस्तद्वचनसंयोगपूर्वकं चक्रभ्रमणमुपर-
तेऽपि तस्मिन्पुनर्योगादांसंसारश्रयान्द्रव्येभ्यः भगवन्तत्त्वनापयगप्राप्तये बहुशो यत्प्रणियतं कुतं सद्धमयेऽपि सदापेक्षा
पूर्वकं सुगस्वोद्भगनं अवसीयते इति ॥

अर्थ—जैसे कोई पुरुष बड़े वेगसे दौड़ रहा है. वह ठहरना चाहता है तथापि ठहर नहीं सकता है क्योंकि वह वेगके आधीन हो चुका है. वैसे यह आत्मा यह अत्यन्त ध्रुवलभ्यान्ते ऊर्ध्वगमन करता है. लोकके अंततक उसकी गति होकर मिट्टीलाकें उपर वह ठहरता है.

उह वा अगिगस्त सिद्धा सट्टावदो चेव ह्योहि उट्टुगदी ॥

लीवस्त तह सभावो उट्टुगमणमपवसियस्स ॥ २१३० ॥

यथावत्तसिद्धा नित्यमूर्ध्वं पति स्वभावतः ॥

तथोर्ध्वं पति जीयोऽपि कर्मसुचो नित्यगतः ॥ २२०८ ॥

पिज्जयोदया—सोचोत्तरगाया ॥

गुममुत्तरागमनः स्वाभाविकोद्गमननियमं निदर्शनेन व्यवस्थापयति—

मूढारा—जयेल्यादि तथागतिपरिणामाद् यथा त्रिपेक्षकृतस्य भावसमीरणसंबन्धनिकत्सुका प्रदीपशिला स्वभावाद्दुरवति तथा उपरतमापि नामगतिविकारकारणकर्मनिवारणे सत्यूर्ध्वगतिश्चभावत्वाद्भूमेवरोहतीत्यर्थः ।

अर्थ—जैसी आग्नि की ज्वाला स्वभावसे ऊर्ध्व गमन करती है वैसे यह आत्मा स्वभावतः उर्ध्वगमन करता है.

तो सो अविगगहाए गदीए समए अणंतरे चेव ॥

पावदि जयस्त सिद्धं खित्तं कालेण ण फुसंतो ॥ २१३१ ॥

यात्यविग्रहया गत्या निन्याधातः त्रिचास्पदम् ॥

एकेन समयेनासौ न मुक्तोऽप्यत्र तिष्ठति ॥ २२०९ ॥

पिज्जयोदया—तो सो अविगगहाए ततोऽस्तावयिग्रहया यस्या अणंतरसमय एव अप्रतक्षिपारं प्राप्नोति ॥ तरेकसमयिकाविग्रहगतिशून्यं स्थानमाह—

मूढारा—अविगगहाए अयकया । वाणिमुक्तालंगलीभोयुविकाभ्यो गतिभ्योऽन्वया । अणंतरे कर्मश्रयानंतर

माविनि समये । जयस्य सिद्धं लोभन्तं । तथा च सूर्य—‘तदनंतरमुक्तं मन्त्रुल्यालोभंतादिदि’ सेत्तमित्यादि कालकल-

यार्थनरात्रे सप्तः पुत्रप्राप्त्याकाशप्रदेशमस्तुशब्द । उक्तं च—

सोऽदिमस्य गत्या समयेनेकेन भाति लोकम् ॥ कालकलयापि लोकं न मोलयन्वेगयोगेन ॥

भीर्यंरतु समयेणभरेणवेति पाठं यत्वा भोलोणेत्यन्येन संबंधमदर्शयत् । अनंतरसमयमात्रेण कालेन लोकांतं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

अर्थ—यह क्षमंरहित आर्या अविग्रह गतिके द्वारा अनंतर समयमें सप्तस्तु ग्रमाण आकाशको स्पष्ट करता हुआ लोक शिखरको प्राप्त होता है-

पुंवं इहहं पयहिय देहतिगं सिद्धलेत्तमुवगम्म ॥

सत्त्वपरियायमुक्को सिद्धदि जीवो समावत्यो ॥ २१३३ ॥

चिन्तिष्य ध्यानक्षेत्रेण देहन्नितययंचनम् ॥

सर्वद्वंद्वविनिमुक्तो लोकाग्रमधिरोहति ॥ २२१० ॥

पिप्रयोधया—यद्यं एहं एतमिह देहविकं विहाय सिद्धेश्वरमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीयाः स्वमापस्य ॥

मनुवोपमंहारमाह—

मूढात्—इपरं इह अरिमन्पंचकृत्यारिजलस्थयोशनश्रमिन्तमानुषोपरदेलाते मनुष्यक्षेत्रे । सिद्धिलेचं तनुवातय-
लपपर्यन्तावयवावकाशेन । उपगम्य प्राप्य । सत्त्वपरियायमुक्को सकलवैभावविकभावपरित्यक्तः ॥ अन्ये परियायदश्वेन
प्रपाररमाद्गुः । सिक्कादि टोकोत्कीर्णकषायकमावतभावं स्वात्मानमुपलभमानः, कृतार्थतया निर्वृद्धमास्ते । समावद्वो अनंत-
प्राप्तादिपुत्रप्राप्त्यकाशप्रदेशमस्तुशब्द ।

अर्थ—इम प्रकार इस पैतालिस लक्ष प्रमित मातुषोचरपर्वतपर्वतके क्षेत्रमें औदारिक, तैजस और कामाणि
ऐसे तीन देशोंका त्याग करते तनुमानवलपयपर्वतके आकाश देशमें प्राप्ता होता सर्व वैभावविक अवस्थाओंका त्याग
कर स्वभावतः जीव सिद्ध होता है-

ईतिष्पन्भाराष्ट्र उर्ध्वं अत्यदि सो ज्योणम्मि सीदाए ॥
धुवधचलमज्जटाणं लोमसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥ २१३३ ॥

ईपत्प्रागभारसंज्ञार्या घटिण्यामुपरि स्थिताः ॥

घट्टोप्याग्रेऽवतिष्ठन्ति ते किंचिन्मन्योजने ॥ २१११ ॥

पिजयोदया—ईतिष्पन्भाराष्ट्र उर्ध्वं अत्यदि सो ज्योणम्मि सीदाए ॥
सिद्धिसेप्राधोवशिष्टासद्वशी धृषिणी निर्दिष्टव तद्विशेषोत्तम्यमाचष्टे—

मूढारा—ईतिष्पन्भाराष्ट्र ईपत्प्रागभाराभिधरायाः सिद्धिदिक्षायाः । ज्योणम्मि किंचिदुनैक्योजने । सीदाए पृथि-
व्याः । वत्तगुरुत्वरूपक आगमो यथा—

ईपत्प्रागभारसंज्ञा सावष्टमी पृथिवी लुता । अष्टयोजनवाहस्या मध्ये हीनक्रमावतः ।

पर्वन्तेशुलसंवेपभागाप्रतनुश्रियतिः । सोत्तानितमहावृक्षा श्वेतच्छत्रोपमाकृतिः ॥

परवादिषु पित्तारो लक्षाः वर्षाभिरान्विताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिराभिधीयते ॥ ४५०००००० ॥

कोटी तु वरिधिर्लक्षा द्वापरवार्दितादिपते । द्विजस्येकाग्रपञ्चाशद्विंसद्वली वृक्षाद्वला ॥ १४२३०२४९ ॥

अबलं निरुद्धं । अजरं जराहितं क्षीरसंयमाभावात् ॥

उक्तं च—ईपत्प्रागभारसंज्ञाया उर्ध्वं न्यूनयोजने । लोकाग्रमचलं स्थानं सिद्धस्तवधिविपुलि ॥

अर्थ—विद्वद्भूमौका ईपत्प्रागभारा पृथ्वी एसा नाम है, एक योजनमें वह कुछ कम है, ऐसे निष्कंप, स्थिर
स्थानमें, सिद्ध प्राप्ति होकर विपुले हैं.

धम्मभावेण तु लोगगे पडिहम्मदे अलोगेण ॥

गस्सिमुवकुणदि तु धम्मो जीवाणं पोम्मल्लणं च ॥ २१३४ ॥

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः ॥

धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीवपुद्गलयो-र्गतेः २११२ ॥

पिजयोदया—धम्मभावेण तु धर्मास्तिकापस्यामागे लोकगमे प्रतिहन्यते अलोकगे, यतो जीवपुद्गलानां गते-
रपरकारको धर्मः स योगेति नास्ति ॥

मुक्तता यग्यविस्मयभयानिको निश्चितार्थं लोकान्वाद्यर्थमपि कस्मान्नोत्पत्ति इत्येको निराकारोति—
मूला—एवमाभावेण गत्युपमाहकर्मद्रव्यतुल्यतया । पविद्रुम्भे लोकं अतिक्रम्य गच्छन्मुक्तात्मा प्रतिबभूवो ।
अतो गेग पर्मद्रव्यरहितवत्त्वेनैवाकाशेन । तथकुणदि उपकरोति । युगपद्भाषयतिपरिणामोन्मुक्तानां जीवपुद्गलानां गतये
पद्यापाने करोतीत्यर्थः ॥

गदपरिणवाण प्रभ्यो युगलजीवाण गमणसहचारी ॥

तौ य जद मण्डणं अण्डंता षेव सो गेई ॥

स चेपरि नास्ति इति साधारणचद्विरंगमनकारणमावाचलोककाले मुक्तत्वतो गमनाभावात् सिद्धः ॥

अर्थ—द्रैलोक्यके अन्तरक भर्मासिकाय हे इसलिय सिद्ध जीवों की गति लोकान्त तक ही होती है.
अलोत में जीव और पुद्गलकी गतिको उपकारक धर्म द्रव्य नहीं है इसलिय सिद्ध जीवोंकी ऊपर गति नहीं होती है.

जं जरस दु संठाणं चरिमसररिस्स जोगजहुणम्मि ॥

तं संठाणं तस्स दु जीवधणे होइ सिद्धस्स ॥ २१३५ ॥

इसविषयाणाभावो कम्माभावेण होइ अण्वन्ते ॥

अण्वन्तिगो य सुहदुक्खभावो विगदेहस्स ॥ २१३६ ॥

निष्ठितान्येषकृत्यानां गमनागमनावयः ॥

व्यापारा जातु जायन्ते सिद्धानां न सुखात्मनाम् ॥ २१३७ ॥

कर्मभिः क्रियन्ते पातो जीवानां भवसागरे ॥

तेषामभावात्तेषां पातो जातु न विद्यते ॥ २१३८ ॥

धुयानुष्णादयस्तेषां न कर्माभावतो यतः ॥

आहारायस्नतो नार्थस्तत्पतीकारकारिभिः ॥ २१३९ ॥

यत्सर्वेषां समीक्ष्यानां सुवनत्रयवर्तिनाम् ॥

ततोऽन्तगुणं तेषां सुममस्त्यविनश्वरम् ॥ २१४० ॥

अंत्यविग्रहसंस्थानसहस्राकृतयः स्थिराः ॥

मुग्धदुःखविनिर्मुक्ता भाविनं कालमासते ॥ २२१७ ॥

तेषां कर्मच्यपयेन भाणाः संति यथापि नो ॥

न योगाभायतो जातु विद्यते स्पंदनादिकम् ॥ २२१८ ॥

विद्यतोदया—दशविधानां भाणानामत्यंतामयेन भवति आत्यंतिकम् सुखदुःखमाधा ॥

मुक्ता—जीवजहणम मनोबाह्यद्वयापापरिहरसमये । जीवपणं जीवस्वरूपनिर्भररुद्धं । एतान् धीविजयो

नेच्छति ॥

मुग्धस्य निमिषाध्यादायंतिकं भाणानां सुखदुःखयोद्यामाधं भावयति—

मुक्ता—दशविपल्नाभावो पंचेन्द्रियाणि मनोवाष्पावपलानि आयुरुच्छ्वासश्च । अर्धं सर्वथा । विगर्भदेहस्त

इन्द्रियाविद्यानैशानाभारैत्रिपिके सुखदुःखे च मुक्तस्य न स्त इत्यर्थः ॥

अयं—मन पचन और शरीर इनके योगोंका त्याग करते समय चरमशरीर धारकोंके शरीरका जो आधार रहता है यही आफार पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हुए सिद्धों का रहता है. दस प्रकारके प्राण सिद्धों को नहीं रहते हैं अर्थात् पाँच इन्द्रिय प्राण, मनोपल, वचनबल, कायबल, आपुष्य, उच्छ्वास इन दस प्राणोंका सिद्धपरमेष्ठी में अत्यन्त अभाव रहता है. इन्द्रियोंको आश्रय देने वाला देह नहीं होनेसे इन्द्रिय जनित सुख दुःखोंका भी अभाव रहता है. इन्द्रियोंके अभाव में भी उनको अर्थाद्विष अतन्त्र सुख प्राप्त हुआ है.

• ओं णरिथ वंधेहेतुं देहमहणं ण तस्स तेण पुणो ॥

कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥ २१३७ ॥

न कर्माभावतो मूयो विषते विग्रहग्रहः ॥

शरीरं श्रयते जीवः कर्मणा कलुषकृतः ॥ २७१९ ॥

विजयोदया—ओं अरिथ वंधेहेतुं यथास्ति वंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्म कलुषेहमाश्रये ॥

सुखस्य पुनः शरीरग्रहणाभावे शुक्तिमाह—

मूलारा—चंपेदेह वंचस्व हेतुमिष्यात्वादिः । स च सुखस्य नास्तीति पुनः कर्मवंधामावात् । बद्धेतुकेदेहग्रहणाभावाः । अथवा चंपेदासौ हेतुश्च पुनः शरीरग्रहणे निमित्तमिति भावः ॥

अर्थ—उन सिद्ध परमेशिके कर्मबंधनके कारण रूप मिष्यात्वादिकोका अयाव हो चुका है इस लिए पुनः उनको नवीन कर्मपन्थ नहीं होता है-कर्म के बन्धनेसे देहका ग्रहण होता था. अब कर्मबन्ध ही नहीं तो नवीन देहकी माति कहाँसे हो सकेगी. जो जीव कर्मसे मलिन हुआ है. उसके ही नवीन देहकी उत्पत्ति होती है. अन्य को नहीं होती है.

कञ्जामात्रेण पुणो अरुचंचं णत्थि पंदणं तस्स ॥

ण पओगदो वि पंवणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥ २१३८ ॥

वितथोदया—कञ्जामात्रेण पुणो कार्पाभावेन कत्तंचं नास्ति तस्य पट्प्रयोक्तव्यमपि स्पंदनमस्थोद्देहस्य सिद्धस्य ॥

सिद्धस्य सुखकलया । प्रयोजकमात्रादेहेदका च कार्पादिप्रयोगाग्रमन्वत्कारकवचिदुवि सतखलने नास्तीत्यव-

गमयति—

मूलारा—कञ्जामात्रेण प्रयोजकभावेन । अरुचं सर्वकाष्ठं । पंदणं बलनं । पञ्चोगदो वि वातावेरपि । अदेहिणो देहसंयोगसुखस्य अमूर्तत्वार्थः ।

अर्थ—कुछ भी प्रयोजन नहीं होनेसे सिद्ध परमेशिके प्रदेष्टोसे परिसंदन-चंचलपना नहीं होता है तथा वातादिके संयोग से भी उन में चंचलपना नहीं है, क्योंकि उन के देहका ही अभाव हुआ है.

कालमणंतमधमोपगहिदो ठादि गयणमोगाढो ॥

सो उवकारो द्हो अठिदि समानेण जीवाणं ॥ २१३९ ॥

अर्षर्षधशतः सिद्धास्ताग्र तिष्ठन्ति निश्चलाः ॥

सर्वदान्युपकर्तासो जीवपुद्गलयोः स्थितेः ॥ २२२० ॥

पिङ्गलोद्या—आत्ममयं तं अर्जुनकाले अधर्मास्तिकाद्योपगृहीतः गगनमनुमसिष्टः तिष्ठति । उपकाये रहते अधर्मा-
स्त्रिकालेन संपादमानोपकारः मरणपर्यन्तमुप रहते यस्माच्च जीवस्य स्थितिस्त्वभाष्येतन्पादिवत् ॥

सिद्धराय लोकायामात्रदेशापरमान्नित्यतामुपपत्तिमाह—

मूलारा—अपरमोपगृहीतो अधर्मास्तिकाद्येन स्थितो नादिवत् ॥ आगाढो अनुपविष्टः । सो अवर्तमानपापपरधान
लक्षणः । अतिदिसन्मयेण स्थितिरयमावाभायेन । न हि जीवस्य स्थितिरवभाष्येतन्तदादिवत् । ततः स्थितिः सिद्धरायधर्म-
कृतैव । कचिन् हिदिसमायेण जीवतेति पठः ॥

अर्थ—सिद्धजीव अनेककाल तक अधर्म द्रव्यमे अनुग्रहसे आकाशमे रहते हैं. अनेकनके समान जीवका
स्थितित्वमान नहीं है अर्थात् जीवमे चेतन्य जैसा समाव है वैसा स्थितिसमाव नहीं है. अतः अधर्म द्रव्यके
अनुग्रहमे ही सिद्धजीव स्थिर रहते हैं.

तेलोकमत्यथयो तो सो सिद्धो जगं गिरवसेसं ॥

सत्वेहिं पञ्जएहिं य संपुणं सत्त्वद्वयेहिं ॥ २१४० ॥

लोकमूर्धनि तिष्ठन्ति कालत्रितययतिनं ॥

जानानां धीश्रमाणास्ते द्रव्यपर्यायविस्तरम् ॥ २१४१ ॥

पिङ्गलोद्या—तेलोकमत्यथयो धैलोक्यमस्तकस्य. ततोऽसं जगत्स्वतोयं सर्वे. पर्यायेस्सर्वेद्रव्यैस्संपूणे ॥

परसन्नि जाणदि य तद्वा तिणिण वि काले, सपज्जए सत्त्वे ॥

तद् वा लोभमेसं परसन्नि भयवं विगदमोहो ॥ २१४२ ॥

पिङ्गलोद्या—परसन्नि जाणदि परसन्नि जानाति च कालत्रये पर्यायसहितानशेषांस्तथा बालोक्तमशेषं परसन्नि
भगवान् विगतमोहः ॥

सिद्धराय दर्शनज्ञानमदिमानवमिष्टोति—

मूलारा—जगं लोकं ॥

मूलारा—जिणो जीवमुज्ज्वलम् । मयत्तर पर्यायसहितांसीनपि कण्ठान् । एतेन वैद्वेषिकादिकल्पिता ज्ञानाद्दिगुणा-
स्तन्मोहविच्छिन्नधुना परममुक्तिः प्रवृत्ता ॥

अर्थ—सिद्ध परमेशी ब्रंलोकके मस्तकपर आरुढ़ हुए हैं। वे यहाँसिही संपूर्ण ब्रह्म और उनके पर्यायोंसे भरे हुए संपूर्ण जगत् को दोनों कालोंमें जानते हैं और देखते हैं। तो भी वे मोहरहित ही रहते हैं।

भावे सगविसयत्ये सुरो जुगवं जहा पयोसेह ॥

सत्त्वं वि तथा जुगवं कंचलणाणं पयोसेदि ॥ २१४२ ॥

युगपत्कंचलाद्योको लोकं भासयतेऽखिलम् ॥

यनाचरणनिर्मुक्ताः स्वगोचरमिवांशुमान् ॥ २१४३ ॥

विजयोदया—भावे सगविसयत्ये आत्मगोचरस्यान् भावान् सूर्यो युगपद्यथा प्रकाशयति तथा सर्वमपि वेपं युगपदेवैवमानं प्रकाशयति ॥

कंचलानां रूपं युगपदपेक्षाप्रकाशं दृष्टत्वेन स्पष्टयति—

मूलारा—भावे पदार्थादि । सगविसयत्ये आत्मगोचरस्यान् ॥

अर्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाशमें जितने पदार्थ समाविष्ट होते हैं उन सबको युगपत्प्रकाशित करता है वैसे सिद्ध परमेशीका केवलज्ञान संपूर्ण ब्रह्मको—पदार्थोंको युगपत् जानता है।

गदरागदोसमोहो विभवो विमओ विरुस्सओ विरओ ॥

युधजणवग्गिदगुणो णमंसणिज्जो तिलोगस्स ॥ २१४३ ॥

रागद्वेपसदक्रोधलोभमोहविवर्जिताः ॥

ते नमस्याखिलोकस्य ध्रुवन्ते कल्मषं स्मृताः ॥ २१४३ ॥

विजयोदया—गदरागदोसमोहो दृष्टीदृष्टरागद्वेपमोहः, विभवो विवतभयः विमओ विमत्तमहः, कचिद्विषय-उत्पत्तिको, निरुत्ताकर्मज्ञ पटलाः, युधजनभित्तोजगुणः विष्णुपदेय नमस्करणीयः ॥

सुषामनः सफलविभारजिराधिराधिरगन्धमात्तं कमन्यच्छत्रं परमस्वरलज्जयावेदयति—

मूलारा—निरुत्सुगो कचिद्विषयानुसुक्तः ।

अर्थ—विन्दोने रागद्वेप और मोह आत्मासे दूर किये हैं जो निर्भय, भद्ररहित और उत्कण्ठारहित हैं।

त्रिन्होने अपनी आत्माने कमरूपी भूल अलग की है, त्रिनके गुणोंका वर्णन गणधरादिक विद्वन्मंडली करती है ऐसे सिद्ध परमेश्वरी अलोक्य के द्वारा बंदनीय है-

णिन्वाचइत्यु संसारमहर्षिग परमणिबुद्धिजलेण ॥

णिन्वादि सभावत्यो गदजाइजामरणरोगो ॥ २१४४ ॥

जन्ममृत्युलरारोगशोकांतंकाविद्याचयः ॥

विषयाताः सकलास्तेषां निर्वाणक्षरचारिभिः ॥ २१४५ ॥

विजयोदया—निष्पाधारणु क्षययुपमोय संसारमहर्षि परमनिर्मुक्तिजलेन तृप्यति स्वरूपस्थो विनष्टजाति-
जरापरणरोगः ॥

मूलारा—निदमयणु किञ्चाय । परमणिबुद्धि परमानंदमयी बुद्धिः । निष्ठवावि चविबोदिवसुखो भवति ॥

अर्थ—इन सिद्ध परमेश्वरी संसाररूपी महाप्रिको अनंतसुखरूप जलसे दुझाया हैं और वे अपने स्वरूपमें ही हमेशा तृप्त रहते हैं। जन्म, जरा, मरणरूपी रोगोंका उन्होंने नाश कर दिया है।

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहृदुक्खं ॥

तं सब्बं णिब्बिज्जणं अमेसदो तस्स सिद्धस्स ॥ २१४५ ॥

शारीरं मानसं सौख्यं विचयते घट्ठजगत्त्रये ॥

तथोंगाभावतस्तेषां न मनागपि जायते ॥ २२२५ ॥

विजयोदया—जावं तु किंचि लोए यावत् किंचिल्लोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जालं निरत्य-
देशं प्रकारकारत्वं निरासार्थमशेषग्रहणं ॥

वयौपायिकमुद्युःप्रत्यक्ष यमालम्बयति—

मूलारा—सुहृदुक्खं स्थितिमिति शेषः । णिब्बिज्जं नष्टम् । असेवदो संबंदास्तेः । प्रकारकारत्वं निरासार्थं-
महोपग्रहणम् ॥

अर्थ—इस जगत्में जो कुछ शारीरिक और मानसिक सुख अथवा दुःख होता है वह अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ नष्ट हुआ है. अर्थात् सिद्धोंको शारीरिक और मानसिक दुःखोंका सर्वथा अभाव है. क्योंकि उनको देह और मन नहीं है. वे अक्षरीर और अमनस्क हैं.

अं गतिं सत्त्ववाघात तस्स सर्वं च जाणइ जदो से ॥

अं च गदब्धवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥ २१४६ ॥

जानतां पश्यतां तेषां विद्याधरहितमनाम् ॥

सुखं वर्णयितुं केन शक्यते हतकर्मानाम् ॥ २१४६ ॥

विजयोदया—अं गतिं सत्त्ववाघातो यद्य समित् सर्ववाघा, सर्व च यतो जानाति, यद्यप्यगताभ्यवसानां, तेनासौ सिद्धः परमसुखी भवति ॥

वत्परमसुखित्वं समर्थयते—

मूलारा—वाघाजो करीरादिदुःखानि ता । यदग्भवसाणो निश्चितः ॥

अर्थ—इन सिद्धोंको सम्पूर्ण वाघा नहीं रहती हैं. जाननेकी इच्छाके बिना ही सर्व जगत् जानते हैं. इसलिये ये सिद्धजीव परमसुखी हैं.

परमिद्धं पत्ताणं मणुसाणं गतिं ते सुहं लोए ॥

अब्बावाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥ २१४७ ॥

भोगिनो भानवा देवा यत्सुखं सुज्जेतम्मिलम् ॥

तद्भाषामात्मनीनस्य सुखस्यांशोऽपि विद्यते ॥ २१४७ ॥

विजयोदया—परमिद्धं पत्ताणं परमागुह्यं चक्रालोचनतादृक्त्वं प्राप्तानामपि मनुजानां नास्ति यत्सुखं लोके यत्सुखं पमं तस्य सिद्धस्य मणुसगवाधं ॥

वत्सुखस्यानुपमत्वभाद—

मूलाारा—परमिद्धं चक्यवर्तिवियुक्तं ॥

अयम्—इमं जगत्तमं उत्कृष्टं श्रद्धाका अयात् चक्रचातपद् वगरहका सम्पाच्च ग्राह्यं होने पर भी मनुष्यों को वह सिद्धोक्त अनुपम सुख प्राप्त नहीं होगा है. अतःश्च सिद्धोक्ता सुख अव्यापार्य है.

देविदचक्रवृष्टी इन्दियसोक्त्वं च जं अणुहवन्ति ॥

सहस्रस्रुवर्गधण्डसिप्ययमुत्तमं लोपु ॥ २१४८ ॥

रूपगंधरसस्पर्शान्बुद्धैर्दत्तेवितैः सुखम् ॥

तदेतदीयसौख्यस्य नानन्तांशोऽपि जायते ॥ २२२८ ॥

विजयोद्या—देविदचक्रवृष्टी देवैर्द्राव्यवर्तिनश्च यदिदियसुपममुभवति सान्द्रसरूपगंधस्पर्शोत्पन्नं लोके प्रयाने ॥

अव्यापार्यं च सुहं सिद्धा जं अणुहवन्ति लोगम्गे ॥

तस्मिन् अणंतभागो इन्दियसोक्त्वं तयं होज्ज ॥ २१४९ ॥

विजयोद्या—अव्यापार्यं सुहं अव्यापार्यात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकोप्रेऽनुभवन्ति तस्यान्तभागो भवति यदिद्विय एतं पूर्ययापयितं ॥

मूढाः—हरिसत्पत्यं श्वशरिणं शक्यासुपयोगमभवत्वात् ।

इन्द्रादिमुत्तमं सिद्धसुखानंदभागवभाह—

मूढाः—मूढम् ।

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द इत्यादिको से जो सुख देवेद्र चक्रवर्ति चौरहों का प्राप्त होता है. जो कि इस लोकमें श्रेष्ठ माना जाता है. वह सुख सिद्धोक्ते सुलका अनन्तवा हिस्सा है. सिद्धोक्ता सुख वाधारहित है वह उनकी लोकप्रप्ते प्राप्त होगा है.

अं सत्त्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवन्ति ॥

तच्चो वि अणंतगुणं अव्यापार्यं सुहं तस्म ॥ २१५० ॥

विवर्णोदया—अं सत्ये ऐशमना यत्सुरायदुर्मयंति साप्तरोग्यः। सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्या-
व्याप्यपसुरे ॥

सर्वदेवसुरस्यपि तदनंतभागत्वमाह—

मूढारा—सञ्चरद्वयगा अप्सरसा गणेः सद्विवाः ॥

अर्प—अप्सराओंके साथ देव भ्रित सुलका अदुर्भव लेते हैं सिद्धोक्ता सुख उससे भी अनंत गुणित हैं
और आधारित हैं

तीसु त्रि कालेषु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ॥

सव्याणि ताणि ण समणि तस्स खणमिच्चसोक्खेण ॥ २१५१ ॥

फालत्रितयपावीनि यानि सौख्यानि विष्टये ॥

सिद्धैकक्षणसौख्यस्य तानि यांति न तुल्यताम् ॥ २१२९ ॥

पिण्योदया—तीसु त्रि कालेषु त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानो, तिरब्धो, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न
समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुरेण ॥

त्रैधाहिकसासारिणमुत्पन्ना क्षणमात्रमविनापि सिद्धसुखेनाहुल्यमाह—

मूढारा—ण समणि । उक्तं च—

यद्गत्र पात्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवीकृतां ॥ कलयापि न वज्रुत्थं सुखस्य परमात्मनाम् ॥

अर्थ—वीन कलमें मनुष्य, तिर्यंच और देवोंको जो सुख मिलते हैं वे सब मिलकर भी सिद्धके एक
क्षणके सुखकी भी बराबरी नहीं करते हैं।

ताणि तु रागविवागाणि दुक्खपुव्वाणि चेव सोक्खाणि ॥

ण हु अत्थि रागमवदत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥ २१५२ ॥

रागहेतु परार्थीनं सर्वं वैषयिकं सुखम् ॥

स्वाधीनिन विरागेण सिद्धसौख्येन भो समम् ॥ २२३० ॥

विजयोद्या—ताणि रागविपाकानि तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखदेतोर्जनकादि, एतेन दुःखानुपशित्वे नामैन्द्रियदुःखानां दोषोऽभिहितः । दुःखपूर्वाणि न हि शुभ्याविदुःखमंतरेण अजनादिकं प्रीतिं जनयति ॥ न चारित्ति रागम-
नया एतत्पुनरुक्तं नाम किञ्चित् ॥

मूढारा—रागविपाकानि रागस्य सुखदेतोर्जनकाणि । एतेन दुःखानुपशित्वे मित्रिणां दोषोऽभिहितः । दुःखकारण-
दुःखानुपशित्वेन रागकारणत्वोपेक्षां । दुःखरागपुत्राणि न हि क्षुत्ताविदुःखमंतरेण मोक्षनादिकं प्रीतिं जनयति । अथह-
न्विदुःख त्वत्वा । अथयसुखस्य सन्तापनाकात्वाविवक्षायां रूपादिविषयगतप्रीतिरूपरागात्यक्षाभिद्वियमनःप्रसादा-
त्मकत्वविषयानां नु तथाविधरागपूर्वकत्वं प्रतीयते ॥

अयं—उपपुक्तं सर्वं सुख रागविपाकत्वं है. यह रागभाव दुःखको उत्पन्न करता है. अर्थात् इन्द्रियसुख-
दुःखानुपेक्षि है येमा मिद्व होता है. भूत्वा, प्यास, थंडी, उष्णताको बिना अजादिक पदायं प्रीति उत्पन्न करनेमें अस-
मर्थ है. इन पदायोंमें जो रागभाव उत्पन्न होता है उसको ही इन्द्रियसुख कहेंते हैं.

इन्द्रियसुखरूपमभिप्राय अभिद्विपुसुखं व्यापयंयति—

अणुवममेयमवस्वयममलमजरभरुजमभयमभवं च ॥

एयंतियमचंचितियमव्वाचाधं सुहमजेवं ॥ २१५३ ॥

अक्षयं निर्मलं स्वस्यं जन्ममृतपुजरातिगं ॥

सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम् ॥ २२११ ॥

विजयोद्या—अणुवममेयं सततमानस्य तदधिकरक्षाभावात् सुपुत्रस्य सद्गुणं, उग्रस्य ह्यनैमित्तिकमशयत्वाद्-
मेयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखरक्षाभावाद्भयं, रागादिमलमावादात्, जरादिमृतपुजरे, रोगाभावाद्भयं, भयाभावाद्भयं,
प्रेक्षादिकं दुःखस्य सदायस्याभावादेकानिहमसहायं अद्याप्यधरुवं तत्सुखं ॥

इन्द्रियसुखं इत्युक्तं व्यापयंतीन्द्रियसुखरूपं व्यापयंयति—

मूढारा—अणुवमं सततमानस्य तदधिकरक्षाभावात् । अमेयं उग्रस्य ह्यनैमित्तिकं परिभातुं चा-
शयत्वात् । अक्षयं प्रतिपक्षभूतस्य दुःखरक्षाभावात् । अमलं रागादिमलाननुपेक्षत्वात् । सिद्धं विपदाभयव्यत्वात् ।
अजरमित्यादि जरादिभयभावात्तत्पुजरातिविधेयं । एयंतियं असहायं । अद्याप्यधरुवं अतंतकाडभा-
वि । पदं गिद्धं ।

अर्थ—सिद्धमुक्तके समान अथवा दसते अधिक सुख जगतमें दुसरा नहीं है। अतः सिद्धोंका सुख अनुपम है। उपस्थ जीव अपने ज्ञानसे जाननेमें अथवा उसका परिमाण कहनेमें असमर्थ है। अतः वह सिद्धसुख अभेद्य है। प्रतिपक्षरूप दुःखका स्वयं अभाव है अतः वह अशुभ है। रागादिदोषोंसे रहित है अतः वह अमल है। जरावस्थासे रहित होनेमें इसको अजर कहते हैं। रोगरहित होनेसे यह अरुच है। मय रहित होनेसे अभय है। संसारभ्रमणसे मुक्त होनेसे इसको अप्रम कहते हैं। यह मिद्धसुख फल आत्मसात्प्राप्ति उत्पन्न होता है इस लिये यह ऐकान्तिक असहाय है। इस प्रकार यह मिद्ध सुख अव्याबाध कहा जाता है।

विसर्गहिं से ण कज्जं जं णट्ठि छुदादियाउ वाधाओ ॥

रागादिया य उवमोगहेदुगा णट्ठि जं तस ॥ २१५४ ॥

विजयोवपा-विसर्गहिं से ण कज्जं अन्नादिभिर्निषेधैः न कल्पं यतः सिद्धस्य न संति छुदादिया वाधाः, रागादयश्च विजयोवमोगहेतवो न संति परमात्मन्य ॥

प्रतिकायोपमोगहेतुभावात्सिद्धात्मनो विषयानर्थित्वमाह—

मूत्रारा—विसर्गहिं कप्रपन्नादिभिः । उवमोगहेदुगा अनुभवकारणानि । रागादिमहाविद्यो हि विषयाननुभुङ्के । वेदनाप्रतीकारार्थं वा न च सिद्धस्य ग्रहद्वयमप्यस्ति ॥

अर्थ—शुद्ध, ज्ञानप्राप्तार्थक विषयोंसे सिद्धसुख नहीं उत्पन्न होता है। क्यों कि, भूल, व्यास, रागादिक विचार जो कि विषयोपमोगके हेतु हैं वे सिद्धोंके नहीं हैं।

एतेण चेत्त भणिदो भासणचंक्रमणचित्तणादीणं ॥

चेदुणं सिद्धमि अभावो हृदसच्चकरणम्मि ॥ २१५५ ॥

विजयोदया—एतेण चेत्त भणिदो एतेन चोक्तः भासणं चंक्रमणं चित्तणादीनामभावः सिद्धे हृतसर्वेन्द्रिये ॥ सिद्धाय सर्वेन्द्रियोच्छेदमतिदिशति—

मूत्रारा—हृदयव्यकरणमपि निश्चितमर्थेन्द्रिय । सर्वेन्द्रियासायनतीते या ॥

अर्थ—आपण, गमन, विगत योगसह क्रियायें सिद्धांत नहों हें क्योंकि उन्होंने सर्व इंद्रियोके व्यापारोंसा नाश किया है. यह सब उपलुक्त अभिप्रायसे मित्र होता है.

इय सो खाद्वयसम्मचसिद्धदिविरियादिष्टिणाणेहि ॥

अन्वचेतिगोहि जुचो अज्वावोहेण य सुहेण ॥ २१५६ ॥

कर्मोष्टकविनाशेन ते गुणाष्टकचेष्टिताः ॥

संतिष्ठन्ते स्थिरावृताः सुवनञ्चयचंदिताः ॥ २२३२ ॥

विज्ञतोद्वा—इय सो पादय एवमसौ क्षापिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया पीयेव अनंतप्राज्ञार्थनंतदृष्टेन स्यात्वेनित्तेन गुणोऽव्याप्येन नृनेन ॥

तथावद्विहाडौकिकपर्मकलापं समुल्लसति—

मूलादा—सिद्धता मिदत्वं । स्यात्सलाभमाश्रयम् ।

अर्थ—इस प्रकार धार्मिक सम्यक्त्व, स्वरूपकी प्राप्ति, अनंतवीर्य, अनंतज्ञान, अनंत दर्शन और अन्यासाय तुल्य इन गुणोंसे मित्र विराजमान हुए हैं.

अकसायचमवेदचमकारकदाविदेहदाचेव ॥

अचलचमलेवचं च हुंति अन्वंचितियाइं से ॥ २१५७ ॥

विज्ञतोद्वा—अकसायचं चकारायचं, अवेदयचमकारकदा विदेहता अवलम्बमलेयचं च आत्यंतिकं च तत्त्वमयि । कोपादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तनानां विनाशादभिनयानां चाऽभावाद्यदकसायचनानांतिकं एवेमेयवेदत्वं । साध्य-रक्षणरक्षणभावात्कारकत्वं । प्राक्तनस्य तारीरस्य पिडोन्त्यदेदं तरकारिणः कर्मणोऽभावाच्चिदेहता. अयस्यांतरस्यासिद्धिनिमित्तानामावाप्यल्लयं । कर्मनिमित्तपरिणामाभावात् । प्राक्तनानां च कर्मणां विनाशादलेख्यमन्यत्वंति ॥

मूलादा—अकसायचमवेदचं श्रूयकादिनृत्यो प्राक्तनानां विनाशादभिनयानां चानुत्पत्त्यात् अकसायचमवेदत्वेनाधीते । अकारणदा साध्यस्वावस्थाभावाच्चित्यन्कारकत्वं । विदेहता प्राक्तनस्य देहस्य पिडोन्त्यदेहान्तरहेतेत्याभावा-द्वानाशमनरीरवम् । अणकत्वं अपर्यांतरस्यासिद्धिनिमित्ताभावात् अलम्बमचलत्वं । अलेखत्वं कर्मनिमित्तपरिणामाभावात्पूर्य विनाशाच्च शाश्वतमवेदचवम् ॥

एवं पण्डितपण्डितमरणेन कर्तुं सत्त्वदुस्साणं ॥

अंतो निर्गतराया निव्याणंमणुचरं पचा ॥ २१५९ ॥

भरति पण्डितपण्डितमृत्युना सपदि सिद्धिवर्धनवर्तिनी ॥

विमलसौरुषविधानपटीयसी सुभगतेव गुणेन निरेनसा ॥ २२३४ ॥

इति पण्डितपण्डितम् ॥

विष्णुरोक्ष्य - एष पण्डितपण्डितमरणेन एषमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेन सर्वेदुःखानामंतं कुर्येति ।
निरतराया निर्विघ्ना निर्विघ्नमुत्तरायास्ताव । एतेन पण्डितपण्डित मरणं व्याख्यात ॥ पण्डितपण्डितमरणं गदं ॥

मष्टतनुपसंदरवि -

मूलरा - अंतं विनाश । निरतराया निर्विघ्नाः । संतो भव्याः । पचा भक्त्युमारब्धः । जीवन्मुक्ता इत्यर्थः ।

इति पण्डितपण्डितमरणव्याख्यानं समाप्तम् ॥

अर्थ - इस प्रकार इस पण्डितपण्डित मरणके द्वारा महापुरुष केवल ज्ञानी अपने सर्व दुःखोंका अन्त करते हैं जिसने उनको निर्माण और संग्रह उत्कृष्ट ऐसा मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकार पण्डितपण्डितमरण का वर्णन समाप्त हुआ ।

एवं आराधिका उक्तरसाराहणं चतुस्त्वंधे ॥

कामरथविष्णुमुक्ता तेनेव भवेण सिद्धंति ॥ २१६० ॥

विष्णुरोक्ष्य - एष आराधिका एषमाराधय । उक्तरसाराधण उत्कृष्टाराधना । चतुस्त्वंधे समीचीनदर्शनज्ञान
निरतराया निर्विघ्ना । कामरथविष्णुमुक्ता कर्मरजोविष्णुमुक्तास्तेनैव भवेन सिद्धंति ॥

अथ चतुर्गिरिभारपतावा वट्टपुत्रमन्त्रवचनवन्धनभावनाश्रव्यायाः सिद्धार्थवाच्यारणाथ गाथात्रयेण चूलिकायाह -

मूलरा - चतुस्त्वंधं चतुर्गिर्याम् ॥

अर्थ - जिसके चार भेद हैं ऐसी उत्कृष्टाराधनाकी अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इनको आराधना
करके जो महापुरुष कर्मरजसे मुक्त हुये हैं अर्थात् विन्हीं याविकर्माका नाश किया है वे उसी भवमें मुक्त होते हैं ।

आराधयितुं धीरा मङ्गिममाराहणं चतुर्वर्धं ॥
कर्मरयविष्णुमुक्ता तच्चेण भवेण सिद्ध्यति ॥ २१६१ ॥
आराधयितुं धीरा जहणमाराहणं चतुर्वर्धं ॥
कर्मरयविष्णुमुक्ता सत्तमजस्मेण सिद्ध्यति ॥ २१६२ ॥

आराधना जन्मवत्तत्तुर्धा निषेव्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा ॥

अथे तृतीये विदधाति मध्या सिद्धिं जयन्या खलु सप्तमे मा ॥ २१३५ ॥

मिजयोदया—आराधयितुं धीरा माराधय धीरा जयन्यामाराधनां चतुर्वर्धा कर्मरजोविप्रमुक्ताः सत्तमेन जन्मना सिध्यति ॥

मृडारा—भोगेन हृतीयेन ॥

मृडारा—एष्टम् ॥ पूष्टिका ॥

अर्थ—धीर पुरुष इमं चार भेदवाली मध्यम आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे रहित होकर तृतीय भवेत्ते पुक्त होते हैं. तथा कोई धीर पुरुष चार भेदवाली जयन्या आराधनाका आराधन कर कर्मरजसे मुक्त होकर सातेव भर्मे मिद्व होते हैं.

एवं एसा आराधणा सभेदा समासदो वृत्ता ॥

आराधणाणिबद्धं सर्व्वं हि दु होदि सुदणानं ॥ २१६३ ॥

विजयोदया—एवं एसा एमेया आराधना सभेदा समासतो निरूपिता आराधनायावस्यां निबद्धं सर्व्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥

मष्टवेषभंशरपुरःसरमाराधनाविस्तरार्त्तमिचोने निषेधनमालनः समर्पयते—

मृडारा—आराधणाणिबद्धं आराधनायां प्रतिपाद्यमानायां प्रतिपादकत्वेन संबद्धं यतो द्वादशांगमपि श्रुतं ॥
धनः को मान्दरातां न्यसेन न्याकर्त्तयितुं प्रमक्तीत्युत्तरागादौन संपन्नः ॥

अर्थ—इस प्रकार इस आराधनाके मेद संक्षेपसे येने कहें हैं क्योंकि इसमें आराधना प्रतिपाद्य विषय है और प्रतिपादक धुनवान है. यह धुनवान मेरे में अल्प है अतः येने आराधनाका संक्षेपसे वर्णन किया है.

आराधनं असेसं वर्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ॥

सुदेकेवली वि आराधनं असेसं ण वण्णिज्ज ॥ २१६४ ॥

आराधनेया कथिता समासतो ददातु सिद्धिं मम मंदमेघसः ॥

अयुध्यमानैरस्थितं जिनागमं न शक्यते चिस्तरतो हि भाषितुं ॥ २२३६ ॥

पित्रयोदया—आराधनं असेसं निरुपयोग्यमाधनो वर्णयितुं कसमर्थो भवेत्, श्रुतकेवल्यपि निरुपयोग्यं न वर्णयेत् मूलाग—हो न इतिरूपधुतो निःशेषमाधनो वर्णयितुं शक्यते इत्यर्थः ॥ तर्हि श्रुतकेवली वा समस्तो वर्णयितुं प्रभवित्वतीत्यत्र—सुरेत्यादि एतेन भगवान्सर्वस्य दवापधनासर्वरक्षायार्णने समर्थ इति गमयति—

अर्थ—इस आराधनाका सारिस्तर वर्णन करनेमें कोन समर्थ है ? क्योंकि श्रुतकेवल्यमी संपूर्ण आराधनाका वर्णन नहीं कर सकेगे, अपौरु केवल्यानी अद्वन्द्वगवात् ही इसका वर्णन करनेमें समर्थ हैं. अन्य नहीं हैं.

अजजिण्णविगणि, सब्बगुत्तगणि, अज्जमित्थणदीणं ॥

अवगमिय पादमूले तम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ ११६५ ॥

विजयोदया—अजजिण्णं वि काचार्यजिनानं विषयिकः, सर्वगुत्तगणिः, आचार्यमिश्रनेदिनका पादमूले सत्यगर्थ धृते वाचकम् ॥

एवमीमात्मनः सौप्रदायिकत्वमवधानपरत्वं च प्रकाशवभारमकटुकेवेनास्य साकस्य विनेजयनविश्वासानाय प्रमाणतो व्यवसायपितुं भाषाद्वयमाह—

नूढरा—अजजिण्णं विगणि गुणगुणनाभिगम्य आर्यजिनानं धार्यः । सब्बगुत्तगणि सर्वगुत्ताधार्यः । अज्ज-मिश्रणरीणं आचार्यमिश्रनंदी । अजगमिय पठित्वा एतेनात्मनः सुदार्थो विसंबादकत्वमुक्तम् ॥

अर्थ—आर्य जिनानं दिगणि, आर्य सर्व गुत्तगणी, तथा आर्य मित्रानं दिगणी इनके चरणमूलमें येने उचम रीतीसे धृत और उसके अर्थका अप्ययन किया है. तदनंतर—

पुत्रायययिरिणिन्हा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए ॥
आराधणा सिवउजेण पाणिदलभोइणा रइदा ॥ २१६६ ॥

१८५२

मूलाराधना

विजयोदया—पुत्राययित्य पूर्वोच्चार्यकृतमित्य उवजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवात्मार्थेण रचिता पाणि-
हस्तयोजिता ॥

मूढारा—कृपाणि आराधनाशक्त्यामीति शेषः ॥ इवजीवित्ता स्त्रोत्रं स्तोत्रं तदर्थमुपसंगृह्य । ससत्तीए
एवेनात्मनोऽवपातपरत्वाप्रतिपादनद्वारेणैकदावावागमिणे यस्य च परममाभीर्यं दर्शितम् ॥ सिवउजेण शिव-
कोटनापार्येण मयेति छलमिति । पाणिदलभोइणा हस्ततलभोजनप्रलेन यस्मिन्नेत्यर्थः । एवेन प्रवारकत्वाभावा-
न्निरासः ॥

अर्थ—पूर्वाचार्यैके वनाये हुए शान्नासें बोदा बोदा अर्थ संगृहीत करके हस्तरूपी पात्रसे भोजनकरनेवाले
अर्थात् मुनि ऐसे विद्यार्थी-शिवकोटी आचार्यने यह आराधना नामक महाशास्त्र रचा है

छदुमत्तयदाए एत्थ दु जं वड्ड होउज पवयणविरुद्धं ॥

सोघेंतु सुगीदत्त्या तं पवयणवच्छलत्ताए ॥ २१६७ ॥

विशेष्य सिद्धांतविरोधिषदं ग्राह्या मुनज्ञैः शिवकारिणीयम् ॥

पलालमदस्य ॥ किं पवित्रं गृह्णाति सस्य जमतोपकारि ॥ २२१७ ॥

विजयोदया—छदुमत्तयदाए छदस्त्यतया यद्वच प्रवचननिर्देशनवद भवेत् तत्सुगृहीतायो शोधयंतु प्रवचन-
प्रसस्तरतया ॥

अधुना स्वस्य वात्सभावप्रकाशनेनैरुगीनश्रुतधरधुरीणानामनुपदेन स्वशास्त्रप्रामाण्यप्रतिष्ठार्थं सधर्मवत्सलता-
मुन्मत्तयति—

मूढारा—छदुमत्तयदाए सावरणज्ञानतया । एवम एतास्मिन् आराधनासोत्रे । पवयणवच्छलत्ताए मयि सधर्मणि
निगम्ये मा नैसर्गिकानुरागपरवचया ॥

अर्थ—मैं (शिरमौटि आचार्य) छद्मस्थ होनेसे मेरे द्वारा जो प्रवचनका वर्णन किया गया है यह यदि रिख्द होगा तो जिन्दगेने आगमके अर्थका सम्यक् निर्णय किया है वे साधार्मिक प्रेमसे उस अर्थका संशोधन करें.

आराधना भगवद्गी एवं मन्त्रीष्ट वणिदा संती ॥

संपरस सिवजस्तस य समाधिवरमुचमं देठ ॥ २१६८ ॥

आराधना भगवती कायिता स्वयंख्या चितामणिर्वितरितुं बुधचिन्तितानि ॥

अहाय जगज्जलधि तरितुं तरणं भव्यात्मनां धुणवती दवतां समाधिं ॥ २१६८ ॥

करोति यशवर्तिनीस्त्रिदशपूजिताः संपदो ॥

नियेषायति श्रावते यतिमेते पदे पावने ॥

अनेकभयसंचितं हरति कल्मषं जन्मनाम् ॥

विदग्धमुखमंदनी सपदि सेधिताराधना ॥ २१६९ ॥

विदग्धोदया—आराधना भगवद्गी आराधना भगवती एवं भक्त्या क्रीलिता सर्वगुणगणिता संपरस शिवा-
चार्यस्य च विदुर्लोकलज्जतमार्गनीनां भव्यायामसुतां सिद्धिं मयच्छतु ॥

शास्त्रार्थं भक्त्या परमाराधनां व्यावर्त्ये स्वव्यापणं फलं प्राप्तेयते—

मूला—समाधिचरं दुष्टदधनं । उक्तं व्युपगतक्रियानिवर्तिनामपेयमिति भद्रम् ॥

अर्थ—इस प्रकारसे भक्तिवत होकर वर्णन की गई यह भगवती पूज्य आराधना सर्व संपको और शिरमौटि आचार्यको सनं जीव जिसकी अभिलाषा करते हैं, जो अव्याबाध सुख देती है ऐसी अनन्त मुक्तिको प्रदान करे.

असुरसुरमणुयकिण्णररविसिक्किप्पुस्सिमहिंयवरचरणो ॥

दिसउ मम वोहिल्लाहं जिणवरवीरो तिहुवर्णिदो ॥ २१७९ ॥

समवर्णियमधरणं धुदस्यसुहृद्वस्वविष्णुत्तानं ॥

पाणुञ्जोदियसहोदृणमि सुणमो जिणवराणं ॥ २१७० ॥

अर्थ—अक्षर, सुर स्वर्गवासी देव, मनुष्य, किन्नर, खर्य, चंद्र किंरुल्य इनके द्वारा जिनके चरण पूजे गये हैं, जो त्रैलोक्यके नाथ हैं ऐसे श्रीवीर जिनेश्वर मेरेको रत्नप्रथका लाभ करदे-

अर्थ—दुस्मा, विरोधिद्रवता, और नियमोंको धारण करनेवाले, कर्मफलको नष्ट करनेवाले, शारीरिक और मानसिक सुखदुःखसे रहित, केवल ज्ञानसे बिन्द्वेने सहेलनाको प्रगट किया है ऐसे संपूर्ण जिनेश्वरोंको मैं नमस्कार करता हूँ-

श्रीमदपराजितसूरीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशानमर्हो जसे ॥

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥ १ ॥

श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्दर्माशिवे तथा ॥

केवलज्ञानसाम्राज्यभोज भव्यैकवंधवे ॥ २ ॥

चंद्रतंत्रविमलार्कभंगछायाचार्यमहियेय आरातीयसूरिचूलाभयिता नागनंदिराजिपदप्रोरेसपातातमतिलेयम दलदेवसूरिद्विषेय निनशासनोदरतधीरेण उन्धयद्याप्रसरेण अपराजितद्वरिणा धीनरागनंदित्विजावचोदिनेन रचिता आराधनाटीमा धीविजयोदयानाम्ना समस्ता ॥

॥ एवं भगवती आराधना समाप्ता ॥

टीकाकार श्रीअपराजितसूरीकी प्रशस्ति-

अर्थ—संपूर्ण जीवादि तत्त्वार्थोंको प्रगट करनेमें जो अविश्वय समयें है जो भव्यसमृद्धायको महावृद्धाम-
निके तुल्य है और जो सुखदायक है ऐसे श्रुतज्ञानको मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् श्रुतकवलीको मैं वंदन करता हूँ-

अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करनेमें जो उल्लेख हुए सूर्यके समान हैं- विन्दोने केवलज्ञानरूपी सात्रा-
ज्यपद धारण किया है जो मन्व्यके अद्वितीय भिन्न हैं ऐसे जिन समबानको मैं नमस्कार करता हूँ.

श्री अपसहित शूरि, चंद्रनंदि और महाप्रकृत्याचार्य नामक सुनिरालोंके प्रशिक्षण थे, आरातीय विद्वानोंमें चूदाभक्ति समान श्रेष्ठ थे इन्होंने नामनंदि आचार्यके चरणकमलोंकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त किया था. ये चलेदेव सूर्यके शिष्य थे. जिनश्यामनका उद्धार करनेमें ये धीर समर्थ थे. इनको खूब वश प्राप्त हुआ था. इन्होंने नामनंदि आचार्यकी प्रेरणासे विजयोदया नामकी यह आराधना टीका रचकर समाप्त की है.

ये वितर्कित वक्त्ररूप विदित्यशायनागुप्तमनुष्यबिकल्पकल्पं ॥

वेदं दुर्गोन्मुखयोऽहं दुष्टतेनेन संतपदुतामुदयमुक्तिमुदीक्षितरते ॥ १ ॥

इमान्ष्टान्गामीमसकुरतुर्लं त्रिक्लिबतुरे । निषन्धैष्टोकार्यैः स्वविरवचनैरप्यवितर्कैः ॥

कृता संपद्योर्ध्वे शिष्यपन्नभीक्ष्ण इह ये । प्रजंयक्षाधार्पासाचरपुरुषदूरं पन्नमिमे ॥

इत्याशाघटादुत्सृज्यमंपसंदर्भे मूलराधनादर्पणे वधमेवार्थप्रकाशोऽकरणप्रवणेऽष्टम आशवासः ॥६॥

म्वरिण स्यात्कारकेतनाय भीमदनेकान्तश्यासनाय ॥

अथ आरत्यनिर्विघ्नपरितप्तमाप्तिप्रभोदमरातुविद्यमक्षिप्रवश्यामनसो मंथकृत्स्नसाराणां भगवतीभाराधनान-
भिष्टोगुनिर्गं दूतदशकपाटीन् ॥

एवम्या लक्ष्यपरीक्षिरेण रुचिताः शालाविलम्बीः सतां । भित्तिराशक्तो विद्युद्धिमहती भवया भवाद्भिन्नवत्तः ॥

याम्भाराय निपाद्यशृङ्गिमसिधसिधयन्ति सेस्त्यंति वा । तां रंदि व्यवहारनिश्चयमयीभाराधनादेवताम् ॥ १ ॥

सर्वज्ञांभधदिस्यभूतपदोद्भूतेन याकृन्मोक्षसा । तद्वस्तुवितर्कधिसंगसुभगेनासंगकुंडलिता ॥

मज्जान्धः पुनतात्रिमांशविलसद्ब्रह्मरूढौजसा ॥ चिरसिधुं श्रुपती धुमेसु सद्यचान्यापनास्वधुनी ॥ २ ॥

या नम्यकमनुनेन शोधकपुणोगोतादिशोर्विमति-भीसारण वप्यधरित्रचरणेनोत्तिसक्तचिच्छकिना ॥

रूपेणाभिरावति भास्वरुजने संयोजयंत्यंजसा ॥ तामानंदसुधाधिदैतस्तुष्टिग्यापार्थनां प्रथयान् ॥ ३ ॥

दीनास्तिस्यकिरीटियामुपशमकारोरां सुदुर्निर्विस्तंमृतिभीतिकुंडलं चि स्फूर्तेच्छपामुद्रिकाम् ॥

सख्यारिदानसुखादखतनां संतोषपादागदाम् ॥ योग्यीकृतभावनां प्रणिपताम्याराधनामस्विकाम् ॥ ४ ॥
 नदीनादी तिनकोत्तरीवकीर्णतं योयौल्लसत्पुष्पाम् ॥ श्रवणप्रदोत्तोल्लोखं सुविमलरथाध्यायलीलास्तुलाम् ॥
 महेश्वरद्विचन्द्रं नन्दं नन्दं नन्दं साम्यावतंसोत्सवाम् ॥ वर्षेती हृदि मे सुधा भगवतीमाराधनां धारये ॥ ५ ॥
 चेतःपञ्चमसिद्धिः सुतिमुयेनाविदुः यदुत्तमसे भक्त्याना सरणक्षणे निमुनश्रीणां तदप्युल्लङ्घ्यम् ॥
 किंचित्पार्श्वमभ्यव्यपुनरागमन्येन धाम्ना वृद्धा । तात्कालव्यवहारे चिनोपि वरदे मा तात्विकी पुंस्तिथिः ॥ ६ ॥
 यदस्त्वमसमीपममदपपोषाक्षाराभासात्मनः ॥ त्वं ह्येन सत्त्वेन स्वदृग्गतमना बिभ्रद्विन्मन्त्रात्मकायात्मने ॥
 पश्यन्नात्मनि निस्तरंगमदनि स्वा निज्याराधने । मातस्तेवदुस्तिराम्यपुनरापृष्टया कृतायौडहिम तत् ॥ ७ ॥
 किं चिन्ने तिनसुरिसाधुरगुणा रम्यकिसेवापुषाम् ॥ संस्कारेन पवित्रिताः सुरवैरिण्यादायो बहयः ॥
 पूज्यते द्विलसत्तमैर्विधियदापलादिकृत्येषु यत् । तस्मिन् स्वति यदुन्मलपि गिरि प्रायो जगत्पुङ्गवः ॥ ८ ॥
 एकानेकभवेयमस्परमनैः सत्त्व्यास्मिन्थासिते । आप्ता पञ्चिचन्द्रिहैः सकलबिम्बकर्मबोक्त्रेविनी
 हून् विद्वद्भवती यथात्र भवतीमाजानमयी पाकुरन्यायेनपुनः क्षिरेभिरसुभिर्मुष्येजुष्यार्थया ॥ ९ ॥
 हस्तुदामलसपरापरकलालीलाविद्यासावित्रिकेन्द्रा । तत्परसपवर्णपराभाराधनां संस्तौति यः ॥
 स प्राणोपरमोदजातवदुस्कारः क्षिप्राश्रयैरात्मकमरुतजोऽप्यटपिरानन्दे तदास्ते पदे ॥ १० ॥

हरग्याराधनास्तवः ॥

५ अष्टाधरलीने मूलाराधना नामकी टीका भगवती आराधनाके उपर लिखी है, उस की निविष्ट समाप्ति होनेसे उनको रवा आनंद हुआ तब भक्तिमय होकर उन्होंने ॥१॥ आराधनीय पदे भगवती आराधनाकी स्तुति करनेके दश श्लोक रचे हैं उसका अनुवाद हम यहाँ पाठकोंके लिये देते हैं—

१ सत्पुरुषोंको मान्य ऐसी कालादि लब्धि पाकर भव्य जगत्संसारमे भययुक्त होते हैं, और सम्यक्-गुनाराधनादिचार प्रकारकी आराधनाओंका आराधन करके आपने परिणाम अतिशय निर्मल बनाते हैं, ये आराधनायें मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होने वाले भव्य लोगोंको कलेवाके समान हैं, इनकी आराधनासे ही पूर्व कालमें बहुत भव्य लोगोंने मुक्तिकी प्राप्ति करली है, मुक्तिकी प्राप्ति करते हैं व करणें अबः व्यवहाराधनाधनेदेवता-यैव स्तनत्रयस्वी आराधना और अमेद रत्नत्रयस्वी विद्याराधना मानो देवता ही है, इस देवताको मैं मस्तक नमस्कार करता हूँ-

० यह आराधनारूपी महागंगा नदी संयुक्त विनयरूपी पद्म सरोवरसे उत्पन्न हुई है। दिव्यधन्यरूपी जल प्रवाहनें सुंदर दीनगी है इसका यह दिव्यधन्यरूपी ललप्रवाह तत्त्वज्ञानस्वरूपी आकाशसे उत्पन्न विग्रहभारूपी कुंडनें पड़ता है रत्नप्रभरूपी वेदालय पर्वतके पास आगे हुए इसकी तेजस्विता बहुत बढ गई है। यह गंगानदी ज्ञानगमुद्रको पूरण भरती है। मन्व्योंको पवित्र करनेवाली यह आराधनारूप गंगा मेरे पापोंका नाश करे

१ इस आराधना देवीका सम्यक्प्रतीति मुख है। सम्यग्ज्ञान ही शरीर है। उद्योग, निर्वोह, सिद्धि और निष्कारणरूपी योग बाहुओंकी योगसे यह आराधना देवता वही सुंदर दीखती है। प्रत्येक आराधनामें ये उद्योगादिक षण्च व्यास हैं चार आराधनाने मिलकर उद्योगादिक बीस भेद होते हैं। तब और चारित्ररूपी सुंदर चरणोंमें वही गुहाननी दीखती है। पड़ी हुई चेतन्य शक्तिरूपी सौंदर्यसे यह युक्त है। ऐसी यह आराधना आनंद गुणानी व्याप देवता है। मैं इस देवताको दिनरसे धारण जाता हूँ।

४ इस आराधनारूपी अभिष्ठाको मैं वदना करता हूँ। इसने उज्ज्वल आस्तिक्यरूपी किरीट अपने मस्तक पर धारण किया है। रुद्रायोपद्रमरूपी परितिमंजन यदा हार गलेमें धारण किया है। वैराग्य और संसारभय रूपी रुद्रल श्मनें अपने दोनों कानोंमें धारण किये हैं। ठुपारूपी अंगुली अपने करंगुलीमें धारण की है। तत्त्व-पर्यायकी रचना-करपनी श्मनें धारण की है। संतोषरूपी नूपुर अपने पांवोंमें धारण किये हैं। अहिंसादिक श्रुतोंकी माननात्म्य सुत्रालंकार श्मनें धारण किये हैं ऐसी इस आराधनारूप अम्बिकाको मैं नमस्कार करता हूँ।

५ मैं इस भगवती आराधनाको अपने हृदयमें धारण करता हूँ। इसने लज्जारूपी साठौं पेहेनी है, तथा निम्नरूपी ऊपरका रग धारण किया है शक्तिरूपी कंबुलसे यह सुंदर दीखती है। पुण्यरूपी पत्रलतासे यह उज्ज्वल दीखती है। निर्मल स्वाध्यायरूपी क्रीडाकमल इसने अपने कसमे धारण किया है। शीत पद्मादि शुभ लेख्यारूपी पंदतनचर्चंगे इसका शरीर सुंदर दीखता है। साम्यरूपी कर्णभूषणोंसे इसका मुख उज्ज्वल है। ऐसी यह आराधना देवता मेरे हृदयपर शानामृतकी वर्षा करे।

६ हे जननी, तू पंचनदसारके मिय से मरणके समय मन्व्योंके अन्तःकरण में कर्षणद्वारा प्रवेश करती है। जब तू उनके अन्तःकरणमें प्रवेश करती है तब वे मरणोत्तर ग्लोबलरूपीके उत्कृष्ट पात्र बन जाते हैं। हे भगवति!

तेरा ऐसा प्रभार है कि उमरा में कत्तों के द्वारा वर्णन करनेमें असमर्थ हूं हे जननि ! जो तेरा आराधन करते हैं-
उनसे अचल अनन्त—विनाशरहित ऐसा पुरुषपद प्राप्त होता है- अर्थात् उनको मोक्ष मिलता है।

७ हे आत्मन् ! तू इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंको छोटकर निर्मल चैतन्यरूप क्षीर धारण करने-
वाला आत्माही प्राप्ति होने के लिये उसको स्वाध्याय के द्वारा देख ले जिससे तुझको असीम-अमर्याद आनन्द
प्राप्त होगा। यह आत्मा आनन्दरूप है ऐसी वृ श्रद्धा कर, हे जननी आराधने ! तुझको निश्चल वेदः स्वरूप अपनी आ-
त्मामें देख लेता हूं, मैं तेरेको स्वस्वरूपमें समं तरफ फेलावा हूं जिससे मेरा संसारमें पुनरागमन न होगा और मैं
ठठार्य होऊंगा।

८ हे माता ! तेरी शक्ति करनेसे साधुगण का चैतन्य स्वरूप शुद्ध हो जाता है, इंद्रादिक अष्ट देवीने दक्षि-
र्णाय, आनन्दनीय व साईपत्त ऐसे तीन अधि साधुओंके क्षीरस्पर्शसे पवित्र किये हैं, यर्माधनादिक कार्योंके समय
ये तीनों अधि गृहस्थाचार्योंके द्वारा पूजे जाते हैं, इसमें आश्चर्य क्या है ?

९ हे आराधना माता, पंडितपरित अर्थात् केवल ज्ञानी मुनि तेरी प्राप्ति कर लेते हैं, तूं भवका-संसारका
नाश करने वाली है जो तेरी शक्ति करता है उसको निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है, हे माता ! मैं भी तेरी सेवा करूंगा
जिसमें संसारमें जग तक मैं रहूंगा तब तक पीवांछुरन्यासे भरे साधमें रहनेवाले इन प्राणोंमें मैं स्वस्वरूपकी
प्राप्ति होने के अनन्तर रहित होऊंगा।

१० जिसमें सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हुआ है ऐसा मुक्तिपद अर्पण करने वाली इस आराधना जननीकी
जो स्तुति करता है उसके प्राणोंका त्याग होने से वह मुक्त हो जाता है, उसके चरण कमलोंको मोक्षच्छु मन्त्र पूजते
हैं और ये भी अबल ज्ञानरूपी आनन्द जियमें भरा हुआ है ऐसे मोक्षपदमें सदा ही निवास करते हैं, इस प्रकार आ-
राधनाही स्तुति समाप्त हुई-(इस स्तुतिके श्लोकोंका अर्थ ठीक हम नहीं लगा सके जैसा हमको जवा वैसा लिला है.)

अथ परममुखावसानमंगलं सिद्धस्तवः ॥

यस्यानुपदतो दुराग्रहपरित्यागकृत्यात्मनः । सद्गुणं चिदचिकित्सकविषयं स्वैस्त्वेरगीकृत्यं शुभैः ॥
भार्यज्वलनपर्यवेः सन्नियैर्बोनाति बोधः समं । परमसम्बन्धभेदोपकर्मभिदुरं सिद्धाः परं नोमि चः ॥ १ ॥

धरतामान्यविद्योपयोः सहस्रमयस्वान्यस्यथोद्विष्यन्त । पितृ योतकमुद्रिरन्युदमरं नो रज्यति देहि न ॥
 धारावाहति तत्रतिक्ष्णजननीमाबोदुराचोपित-आमाप्यं प्रणमामि वागफलितवह्मन्त्युक्तिमुक्तित्रये ॥ २ ॥
 सत्ताडोवनमग्रमित्यपि निवाधरं मर्तं दक्षन्म् । साधरं च विदेवगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ॥
 ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां भद्रेशिके सर्वदा । स्फूर्जन्ती गुणस्युर्विद्वत्सां शुभाकर्मगात्रियाः ॥ ३ ॥
 अस्तिव्यक्तिमत्तविश्रमविद्याकारौपयिकेर्भौरियान्तान्तंनमवरयमुत्पुरुषोत्पादव्यचभ्रौव्यवन्त ॥
 एवं रं तत्त्वमसंहरव्यतिकरं कर्तव्यगुणं पत्यवो भोक्तृन्मन्यवः शराभि परमाश्रयस्य वीर्यस्य वः ॥ ४ ॥
 पद्मवाहनि न जातु किंचिदपि न व्याहृत्यते केनचित् । यत्किञ्चीवसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि ॥ स्पृश्यते ॥
 यातवैकुण्ठसमक्षमव्यविषयस्तस्यापि चाधोद्विरं । तद्वः सूदमकं स्वतस्त्वमभि वा भावा भवोच्छित्तये ॥ ५ ॥
 गत्वा, लोफशिरस्सर्वभक्तद्वोपमे सन्मुखप्राग्भावावयदितलावलोपरि मनागुनैकमन्युतिके ॥
 भोगोलाङ्गद्वोरनमित्यपि मियो संवाधमेकत्र बल्लभानंनमितोऽपि तिष्ठति स वः स्तुत्योऽवगाहो गुणः ॥ ६ ॥
 सिद्धाब्धेदुरवो निराभयतवा भद्रसंनयः पिकथन् । तेऽप्यबल्लभचोऽर्कतूलवदितज्ज्ञेयश्च च्चेन तत् ॥
 क्षिरयन्ते तदुपातवातपलेयेत्युक्तिमुक्तुद्वैतैर्नमोपक्षमवीच्यतेऽगुरुषुः हृद्रेः कथं यो गुणः ॥ ७ ॥
 यत्तापत्रयमेति भैरवभवोदधिःशमाय भवो । पुष्टमाभिविदेये कथयन्त सद्यथापचमेवभुदुम ॥
 येनोद्वेलुखानुतार्णवनिरावकमिपेकोलस- चिक्कायात्कथयति यः कलचित्ते आग्यन्ति योगीश्वराः ॥ ८ ॥
 एतेऽनंतगुणोद्गताःस्फुटमयोदुःखाष्ट विद्या भवन्त । तस्याद्भावयितुं सतां व्यवहृतिभाषान्यतस्तात्त्विकैः ॥
 एतद्भावयन्ता निरंतरगलद्वीकल्पजालस्य मे । स्तावस्यंतलयः सनातनविदानंदस्मिन् स्वात्मनि ॥ ९ ॥
 जलकीर्णमिव यतितामिव हृदि न्यतरतामिवालोचयन् । एतां चिद्वृणसेस्तुति पठति यः प्रपच्छिवादाश्वरः ॥
 रूपातीतसमाधिसाधितवपुःपातःपतदुत्कृत-आतः सोऽभ्युदयोपमुक्तमुक्तोदेकेन किं सिध्यति ॥ १० ॥

इति सिद्धतवः ॥

१ जब पं. आशाघर जी परममुख और अन्तिम मंगल ऐसी सिद्धपरमेश्वरोंकी स्तुति करते हैं—सम्य-
 दर्शन संपूर्ण कर्मसमुदायका नाश करनेवाला है. यह दुराग्रहरहित आत्माका स्वरूप दर्शनिवाला है. इसका
 अनुग्रह तब आत्मापर हो जाता है अर्थात् यह सम्यक्त्व जब आत्मामें प्रगट होता है तब ज्ञानगुणका पूर्ण विकास

होता है. वह केवलज्ञानकी अवस्थाको धारण करता है ता इस आत्मामें संपूर्ण गुणोंसे हमेशा परिपूर्ण, और सूक्ष्म व्यंजन पर्याय और स्पष्ट नर नारकादि पर्याय जिसमें उत्पन्न होते हैं ऐसे जीवपुद्गलादि पदद्रव्योंको जाननेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है. संपूर्ण भूत भविष्यद्वर्तमानकाल संबंधी पर्यायों सहित जाननेका सामर्थ्य प्राप्त होता है. सिद्धोंमें ऐसा सामर्थ्य प्राप्त हुआ है अतः मैं उनको नमस्कार करता हूँ ।

२ दीपक जैसा सामान्य और विशेष पदार्थोंको एकदम और अलगभी प्रगट करता है वैसा केवलज्ञान भी वस्तुके सामान्य और विशेष पर्याय सुषण्ण और कथंचिद् भिन्नरूप अपने और तमाम पदार्थोंको प्रगट करता है. यह केवलज्ञान अनंत सुख देनेवाला है. इसकी प्राप्ति होनेपर संपूर्ण पदार्थ आत्मा जान लेनी है तो भी वह उन पदार्थोंमें आसक्त नहीं होतो है और देखी मी नहीं होती है.

यह केवलज्ञान धारावाही ज्ञानके समान होकर भी प्रत्येक क्षणमें नवीन पर्यायोंको धारण करने वाले पदार्थ इसका विषय बनते हैं अतः इसमें प्रामाण्य प्राप्त होता है अनंत दर्शनके साथ यह केवलज्ञान मुक्तिलक्ष्मी की प्राप्ति कर देता है. हे सिद्ध परमेष्ठिन् ! ये दो गुण आपमें सदाके रहते हैं अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ.

३ दर्शन सत्ताको विषय करता है और ज्ञान पदार्थ की विशेषताको दिखाता है. ये दर्शन और ज्ञान संपूर्ण जीवोंको नेत्रसमान समझने चाहिये. परंतु दोनोंमें इस प्रकार अंतर है—जो जीव कर्मसहित है अर्थात् जो ज्ञानारण और दर्शनापण कर्मसे सहित है उनको ये नेत्र दर्शन पूर्वक वस्तुका स्वरूप दिखाते हैं. अर्थात् छद्मस्व जीवोंको प्रथम दर्शनापयोग होता है अनंतर ज्ञानोपयोग होता है. वह भी संपूर्ण पदार्थोंमें नहीं होता है. परंतु जिनका ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म नष्ट होगया है उनके ज्ञान दर्शनमें ऐसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है कि जिसके सामर्थ्य से वे गुणसत्संपूर्ण पदार्थोंको देखते हैं और जानते हैं हे सिद्ध भगवन् ! आप शरीररहित हुए हैं और आपको ऐसे अद्वितीय नेत्र प्राप्त हुए हैं. इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ.

४ सिद्धपरमेष्ठिजोंको अनंत शक्ति नामक आत्मगुण प्रकट होता है. इसके सामर्थ्यसे उनका ज्ञान आत्मतत्त्व को जानता है. सिद्ध पुरुषोंमें आत्माकी नानाप्रकारकी शक्ति अर्थात् गुण प्रगट हुए हैं. ये सर्व गुण आपमें मिले रहनेपर भी सिद्धों को इनके स्वरूपका स्पष्ट अनुभव आता है. अपने उत्पाद, व्यय, और प्रौढ्यके साथ ससारी जी-नोंके मपस्त शक्तिरूपमें रहनेवाले गुणोंको भी सिद्धपरमात्मा जानते हैं. उनके जाननेमें संकर व्यतिकर दोष उत्पन्न नहीं होता है. ये इन गुणोंके स्वी और शोका है. अतः ऐसे सिद्ध परमात्माका मैं मनमें स्मरण करता हूँ.

५ सिद्धोंमें दक्षता नामक गुण है उस गुणसे श्वर जीवोंको प्रतिबंध नहीं होता है और न ये इसको प्रतिबंध कर सकते हैं। समस्त वस्तुओंको वह स्पर्श करती है परंतु कोई भी उसको स्पर्श करनेमें असमर्थ है। भगवान् इस गुणको जान तो लेते हैं परंतु उनके भी वचन संपूर्णतया इसके वर्णनमें असमर्थ है। अर्थात् यह दक्षतागुण इतना दुरुह है कि दुरुहमा जिनपाणी भी इसको ग्रहण नहीं करती है। हे सिद्धपरमात्मन् मैं संसारनाशके लिए तब तुझारे मूर्ख गुणका चिंतन करता हूँ।

६ सिद्ध परमेश्वर लोकके अग्रभागमें ऊर्ध्व गति स्वभावसे जाकर वहाँ चन्द्रसमान शुभ्र ऐसी मोक्ष शिला पर विछूटे हैं। तब शिलाको प्राग्भास ऐसा नाम है। वह एक योजनमें कुछ कम ऐसे लोकाग्रमें है। और वातचलयमें विराजमान है जब सिद्ध परमेश्वर सर्व योगोंसे रहित हो जाते हैं तब उनका आकार अन्तिमशरीरसे कुछ कम ऐसा होता है। उस समय उनमें पवित्र अग्नाह नामक गुण उत्पन्न होता है। इस गुणके बलसे एक स्थानमें भी बाधारहित अनंतसिद्धोंके साथ वे रहते हैं यद्यपि अनन्त गुणोंका आश्रय स्थान है तो भी ये निराकुल अनन्त सिद्धोंके साथ रहते हैं यह सप हे सिद्धात्मन् ! आपके अग्नाहगुणका ही प्रभाव है।

७ कोई धुत्र वादी लोक ऐसा कहते हैं—यदि सिद्धात्मायें भारी वजनदार हैं तो निराधार लोहेके पिंड समान नीचे गिरने चाहिये और यदि वे हलकी हैं तो आँकके कार्यास समान प्रचण्ड तनुवातचलयके द्वारा ध्वर उधर फेंके जाने चाहिये, परंतु जिनैत्र भगवान् सिद्धोंको लघु अबका गुरुभी नहीं मानते हैं, वे अगुरुलघु नामक गुणके धारक हैं ऐसा कहते हैं। इस गुणका स्वरूप वे धुत्रलोक क्या जान सकते हैं ?

८ शारीरिक, मानसिक तथा वाचनिक दुःस्वरूपी शस्त्रोंका आघात होनेसे जो भयंकर मंसारूपी अग्नि प्रकट हुआ था उसके नाशके लिये हे सिद्धपरमात्मन् ! आपने जो तपरूपी परिधम किया था उससे आपको अब्या बाध नामक गुण प्राप्त हुआ है। तटकी उर्ध्वधर बहनेवाले सुरवसधुद्रके द्वारा आपका चैतन्यमय शरीर अभिविक्त हो रहा है। आपके तब अव्याबाध गुणको अंशमात्र भी आप्ति हमको होवे इस हेतुसे योगीधर धम करते हैं अर्थात् तप करते हैं।

९ सिद्धपरमेश्वरीओंमें यद्यपि अनंत गुण हैं तोभी उनमेंसे ये आठगुण अलग आचार्योंने वर्णन किये हैं। अर्थात् व्यवहारको प्रधानता देनेवाले विद्वानोंने सिद्धोंका स्वरूप सत्पुरुषोंके द्वारा भाया जावे इस हेतुसे इन गुणों-

■ अलग स्वरूप कहा है. इन गुणोंकी भावना में करता हूं जिससे मेरे सर्व विकल्पोंका नाश होकर चित्स्वरूपी अनाद्यनंत ऐसे आत्मामें मेरा अलंत लय होवे.

१० चेतन्यानुभवमय ऐसे सिद्धों के गुणोंकी स्तुति जो महात्मा अपने हृदयमें मानो उकीरी गई, अथवा लिखी गई, हृदयमें मानो स्थापित की गई है इस प्रकार हमेशा मोक्षकी इच्छाकरके करता है वह निर्विकल्प शुक्तध्यानसे शरीरके त्यागके साथ संपूर्ण पापराशिका नाश करता है. जबतक ऐसा महात्मा संसारमें रहता है तबतक पुण्योदयसे संसारके वैभवोंको भोगता है. योग्य ही हैं कि पुण्योदयसे क्या हस्तगत नहीं होता है ?

इस प्रकार सिद्धस्तव समाप्त हुआ.

अथ प्रशस्तिः ।

भीमात्मरित सपादलक्षविषयः शाकं परीभूषणः । आभीरसिधाममंडलकरं नामास्ति दुर्गे महत् ।।

भीरान्यानुदुषपादि तत्र विमलव्याघ्रोरवालाब्धया । च्छ्रीसलक्षणतो जिनंद्रसमवबद्धाच्छुरासावरः ।। १ ।।

सरारवस्यामिषहमानं सरस्वत्यामजीजनत् । यः पुत्रं छाहं गुणं रंजितार्जुनभूपतिम् ।। २ ।।

व्याघ्रोरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यायूतोपरसपानकुलसगात्रः ।।

सहस्रक्षयस्य वनयो नयमिश्रबध्नुराशायतो विजयतां कलिशालिदासः ।। ३ ।।

इत्युदयकीर्तिमुनिना कविमुहदा योऽमिं विताः प्रीत्या ।। प्रशार्पुलोऽसीति च दोऽसिहितो सवनफीर्तियविपतिना ।।

स्वेच्छेदेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुदृक्कृति- ।। आसाहिन्ध्यनरेन्द्रयोः परिमलस्कूर्चविभवौकति ।।

प्राप्तो माछधर्मदठे यदुपरीभारः पुरीमाधवसन् ।। यो घारामपठडिजनप्रमितिषवङ्गुणले महावीरतः ।।

प्रशस्ति अपूर्ण है.

पं. आशाधरजीने अपनी प्रशस्तीका जो परिचय दिया है उसका वर्णन इसप्रकार—

१ नांवर सरोवर निमका भूषण स्वरूप है ऐसा सपादलक्ष नामका देख है वह निवर्गे संपत्तिसे युक्त है, मंदलर नामका लक्ष्मीका प्रीतिशुद्धि के समान एकवटा कीला है. इस कीले में बंधेवाल नामक वंशमें जिनंद्रमतमें अद्यानु ऐसे पं. आशाधरजी उत्पन्न हुए. इनके पिताका नाम सहस्रक्षय या और माताका नाम श्रीरत्नी था.

२ पं० आशाधरजीके पत्नीका नाम सरस्वती था- सादेवतामें अर्पित सरस्वती में जैसा पंडितजीने अपने को उत्पन्न किया था वैसे सरस्वती नामक अपने पत्नी में उन्होंने छद्म नामका पुत्र उत्पन्न किया- यह पुत्र गुणवान था और इसने अर्जुन नामक मालवदेशके राजाको संतुष्ट किया था-

१-४ वर्षेवाल वंश रूपी कमलमें जो हंसके समान है, कन्यामृत रसका पान करने से जिसका शरीर पुष्ट हुआ है, जो नयरूपी आत्मोत्ति युक्त है, सद्युक्तके सत्पुत्र ऐसे इस आशाधर कविको हम 'कलिकालिदास' इस उपाधिसे भूषित करते हैं- ऐसा कहकर कविके मित्र उदयकीर्ति मुनीने वहे प्रेमसे जिसका आदर किया है ऐसे आशाधर कवि जगतमें हमेशा विजयी होये- इसी तरह मदनकीर्ति यतीधरने मन्नापुंज ऐसा विरुद्ध देकर इनको भूषित किया था-

५ साहिबुद्दीन नामक यवनराजाने सपादलक्ष नामक देख अब अपने कुम्भे में भर लिया तब अपने सदा चारका विनाश होगा इस दस्तै विष्णुराजाके पाहुनवाप से जिसका रखण हो रहा था ऐसे मालव देशमें अपने वहे परिवारके साथ प्रवेश करके धारा नगरी में उन्होंने निवास किया- यहाँ वादिराज पंडितके शिष्य श्रीधरसेन ये और उनके शिष्य नहानीर ये उनसे इन्होंने कैन्द्र व्याकरण व जैनन्यायका अध्ययन किया- (यहाँ ॥॥ यह प्रशस्ति है- अत एव अर्पण है- विशेष विद्यासुखोंको सागर धर्मायुत अनगार धर्मोत्त की प्रशस्ति देखलेना चाहिए-

श्रीमदभितगतियतिपतिप्रशस्तिः ।

श्रीदेवसेनोऽजनि माधुरार्णा गणी यतीनां चिहितप्रमोदः ॥
 तस्यावभासी निहतप्रदोषः सरोक्हाणामिव तिग्मरादिमः ॥ २२४० ॥
 वृत्तजिनसमयोऽजनि महनीयो गुणमणिजलधस्तबलु यतिभिः ॥
 श्रामयमनिलयोऽभितगतिस्त्रिःप्रदलितभदनः पवननसूरिः ॥ २२४१ ॥
 सर्वशास्त्रजलराशिपारगो नेमिपेणसुनिनायकस्ततः ॥
 सोऽजनिष्ट सुवने तपोपट्टः शीतरादिमस्त्रि यो जनप्रियः ॥ २२४२ ॥
 मायवसेनोऽजनि मुनिनाथो ध्वंसितमायामदनकदर्धः ॥
 तस्य गरिष्ठो गुरुवि शिष्यस्तस्यविचारप्रवणमनरिपः ॥ २२४३ ॥

श्रित्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिर्मग्नयत्रयालंबिनीम् ॥

पूनां कल्मषमोषिणो भगवतीभाराधनां स्वयसीम् ॥

लोकानामुपकारकोऽकृत सतीं विध्वस्ततापां हृदः ॥

पद्मः सत्वनिषेवितस्य विमलां गंगां हिमाद्रेरिव ॥ २२४४ ॥

आराधनैषा यदकारि पूर्णा भावैश्चतुर्भिर्न तवस्ति चित्रम् ॥

मद्येयमानां जिनभाक्तानां सिध्यन्ति कृत्यानि न कानि सद्यः ॥ २२४५ ॥

रक्षुदीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवं परम् ॥

प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्यतां गच्छति दुग्धतो घृतम् ॥ २२४६ ॥

याचसिष्ठति पांडुकंचलशिला देवाद्रिमूर्ध्नि स्थिरा ॥

याचास्तिब्धिरा पिलोकशिलरे सिद्धेः समास्यासिता ॥

ताचात्तिष्ठतु धृतले भगवती विध्वंसयंती तमः ॥

सा चैषा श्रमदुःखनोदनपरा चंद्रप्रभेयोऽस्वला ॥ २२४७ ॥

श्रीमदमितगतिस्त्रिप्रशस्तिः ॥

! माधुरमहके यतिओंके आचार्य, सप मुनिओं को आनन्द प्रद ऐसे देवसेन आचार्य होगये, जैसे सूर्य कमलोंको निकसित करता है, रात्रीका नाश करता है और पदार्थोंको दिसाता है वैसे ये देवसेन आचार्य निहृत प्रदोष थे अपात् दोषरहित थे और अन्यमुनिओंको दोषोंसे रहित करते थे, जीवादि तत्त्वोंका स्वरूप इन्होंने भण्य लोगोंको दिखाया था।

१ देवसेनाचार्य के शिष्य अमितगति नामक मुनि थे, वे गुणमयूद्र, श्रम और व्रतोंका आधारभूत थे, मदनका नाशकरनेवाले थे उनको वृद्ध विद्वानभी वंदन करते थे, आचार्य जैनमतकी प्रभावना करनेवाले हुये हैं-

१ इनके अनन्तर हम माधुर संघमें नेमिपेज नामक आचार्य हुए हैं, सर्व शास्त्रसमूहके दूसरे किनारेके ये प्राच्य हुए थे, चंद्र जैमा लोकप्रिय रहता है, वैसे ये आचार्य लोकप्रिय व अज्ञानांचक्राका नाश करनेवाले थे।

४ नेमिपेण आचार्यके शिष्य माधवसेन नामक आचार्य थे. इन्होंने माया और मदनका नाश किया था. ये बृहस्पतिके समान चतुर थे और इनकी बुद्धि उत्त्वविचारमें प्रवीण थी.

५ माधवसेन आचार्यके शिष्य अशितगति हुए हैं. उन्होंने यह भगवती आराधना बनायी है. यह पाप नाशिनी, संसारताप हर्ण करनेवाली गंगानदीके समान है. गंगानदी हिमाद्रिसे उत्पन्न हुई है. यह भगवती आराधना अशितगत्याचार्यरूपी हिमाचलसे उत्पन्न हो गई है.

६ आचार्यशैले ने यह ग्रंथ केवल चार महिनेमें बनाया है. इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है. क्यों कि महाप्रयत्नशाली जिनमक्त सोनसे कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ?

७ पूर्व दिनारमका [शिवकोट्याचार्य का भगवती आराधना ग्रंथ] आधार लेकर मैंने यह ग्रंथ रचा है. मेरा यह ग्रंथ विद्वज्जनोंमें आदरणीय होगा. जैसे दूधसे निकाला हुआ घृत मोक्षवान् और आदरणीय होता है.

८ जब तक मेरु पर्वतके शिखरपर पांडुखिला रहेगी, जब तक सिद्धों से अधिष्ठित सिद्धदिला शैलोक्य के शिखरपर विराजमान रहेगी, तब तक चन्द्रकांतिके समान उज्ज्वल, श्रमदुःख का हरिहार करने वाली, अज्ञानांधकार का नाश करने वाली यह भगवती आराधना इस संसार में स्थिर रहे.

आराधनास्तवनम् ।

बंधुःस्वर्गाप्यर्गप्रभवसुखफलप्रापणे कर्मबल्ली ॥

नानावाधाविधाविप्रचितकालिमलक्षालने जहनुकन्या

रागद्वेषादिभाविव्यसनधनबन्धेदने छेदनी ॥ १ ॥

सारामाराधनासौ वितस्तु तरसा शान्धर्ती वो विश्रुतिम् ॥ २४८ ॥

१ यह आराधना स्वर्ग और मोक्ष का सुखफल देने में बंधुके समान है. नाना प्रकारकी वाधाओं को उत्पन्न करने वाले पापरूपी कीचड़को घोलने के लिए यह आराधना गंगानदी के समान है. समुद्रप्रादि विक्षरों से उत्पन्न होनेवाले संकटरूपी वनको तोड़ने वाली कुल्हाड़ी के समान यह आराधना ग्रंथ है, ऐसी यह आराधना तुम लोगों की इच्छित फल देनेमें समर्थ हो.

यासास्यावाचनमन्त्रिदशपतिशिरोधृश्रुपावाराविन्दाः ॥
 सद्यः कुंदाचदानस्थिरपरमयशःशोधिताक्षेपादिकाः ॥
 जायते जनबोध्री जनजनितमुदः केवलज्ञानभाजो ॥
 मृपादाराधना सा भवभयमचनी भूयसे श्रेयसे वः ॥ २२४९ ॥

१० इस गी आराधना से मन्त्रबन इंद्रों के द्वारा पूजे जाते हैं- इस आराधनाके माहात्म्य से तत्काल भयभजन कुंदपुष्प के समान अपने गन्धके द्वारा त्रैलोक्य भर देते हैं- इस आराधनाका साहाय्य मिलनेसे भव्योंको आर्जित करनेवाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ऐसी यह आराधना तुम लोगों को विपुल श्रेयः संपत्ति प्रदान करे-

यासाराध्याशु गंता शुक्लितविषदः पंचकल्याणलक्ष्मीम् ॥

प्राप्या पुण्यैरपां त्रिभुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमद्भिः ॥

सम्पश्यन्त्यज्ञानदृष्टिप्रसूतगुणमणिप्राजितां यान्ति मुक्तिं ॥

सा चंदा ह्यवियैविलसतु हृदये सर्वदाराधना वः ॥ २२५० ॥

११ इस आराधनाकी आराधना से विपत्तिओंका नाश होता है और देवेंद्र, धर्मेन्द्र और यक्षचर्चिद्वारा भयप जीवोंको पंचकल्याणकी विभूति प्राप्त होती है, सम्पन्नान, दर्शन, चारित्र्य इत्यादि सहस्रगुणमणिओंसे अलंकृत होकर वे मुक्तिके नाथ बन जाते हैं- इस अज्ञानी हैं हम इस आराधनादेवीको बंदन करते हैं- वह हमारे हृदय में सर्वदा निवास करे-

या सौभाग्यं विधत्ते भवति भवभिवे भक्तिः सेव्यमाना ॥

या छिन्ते मोहदैत्यं भुवनमधभृतां साध्यसें ख्वंसेयसी ॥

यां यानासाद्य देही भ्रमति भवबने भूरिभावाद्रिरौद्रे ॥

सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्गावनाय ॥ २२५१ ॥

१२ जो आराधना सौभाग्यको उत्पन्न करती है, भक्तीसे इसकी सेवा करनेसे यह संसारका नाश करती है- मोहरूपी दैत्यका विध्वंस करके संसारमें प्राणिजोंके भयको दूर भगाती है- इसकी प्राप्ति नहीं होनेपर प्राणी-जोंको नाना प्रकारके कुमालरूप पर्वतोंसे घिरे हुए संसारजंगलमें भ्रमण करना पड़ता है- अतः यह कल्याण कर-नेवाली आराधना हमको पंथमें प्राप्तिमें सहायक बने-

या कामकीयलोभप्रभृतियहुविधग्राहनकावकीर्णों ॥

संसारपापार्सिधोर्भवमरणजरार्बतगतादुपेत्य ॥

गच्छत्युत्तरीयं सिद्धिं सपदि भवभृतः शब्दानंतसौरुषम् ॥

मर्त्यदाराधनानौघुणगणकलिता नित्यमारुहतां सा ॥ २२५२ ॥

१३ यह संसारसमुद्र काम, क्रोध, लोभ, वीरह नाना प्रकारके ग्राह और नफोसे भरा हुआ है. इसमें जन्म, मरण और जरारूपी भोचरे हैं ऐसे संसार समुद्रमें पड़ा हुआ प्राणी सहजोसे बनी हुई आराधनाका आश्रय लेकर उससे उचीर्ण होता है तथा नित्य अन्त सुख देनेवाले मोक्षको प्राप्त कर लेता है.

या मैत्रीरूपानिकांतिपुलिमन्मिषुगतिश्रीविनीत्यादिकांताम् ॥

संयोज्योपार्जनीयामवहितमतिभिर्मुक्तिकांतां पुनरिक्ति ॥

दुक्ताहारभिरामा यम यवजमनी सम्यगाराधनाली ॥

भूयान्नेदीयसी सा विमलितमनसां साधयन्तीप्सितानि ॥ २२५३ ॥

नम्रता इत्यादि स्त्रियोंके साथ संयुक्त करती है. और अन्तमें अवश्य प्राप्त करनेके योग्य ऐसी श्रुक्ति भी देती है. यह आराधना मोतिजोंकी मालाके समान सुंदर है. भरे मदको नष्ट करके विमल विषवाले सुल्योंको इस पदार्थ तथा र्पण करती हुई भरे तक्षिण हमेशा रहनेकी कृपा करें.

स्यांतस्था या दुरापा नियमितकरणा सृष्टसर्वोपकारा ॥

माता सर्वोश्रमाणां भवमथनपराजंगसंगापहारा ॥

सत्या चित्तापहारी बुबहितजननी ध्वस्तदोषाकरश्रीः ॥

दयावाराधना सा सफलगुणवती नीरजा वः सुखानि ॥ २२५४ ॥

१५ यह आराधना दुर्लभ है. जब प्राणियोंके मनमें यह मुक्ताम करती है तब उसको जितेन्द्रिय बनाती है. सर्व प्रकारके उपकार करती है. ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंकी यह माता है. संसारका नाश करके, काम-विकारको दूर भगाती है. सत्यही इसका स्वरूप होनेसे चिन्मय आत्माके संसारतापको दूर करती है. विद्वानोंका

वैत करती है संपूर्ण दीपोंको हटाती है और चंद्रकी शोभाको नष्ट करती है. अर्थात् चंद्रकी शोभा भी इसके सामने फीकी मात्राम पड़ती है. सकलगुणसंपन्ना आपरहित यह आराधना हम लोगोंको सदा सुखी करे.

उद्यद्गुलागदुर्गं गुरुदुरितदवं दग्धुमग्नीयमाना ॥

हतुं मोहान्धकार कवलितनिखिला तिग्मरश्मीयमाना ॥

निःशेषं वस्तु दातुं भवभृदभिमतं कामधेनूयमाना ॥

निर्वाया या विधत्ताममितगतिस्तुलं शीघ्रमारारधना वः ॥ २२५५ ॥

१६ जो अत्युच्च दुःस्वरूपी पर्वतोंसे घिरा हुआ है ऐसे पापरूपी बड़े बजसो भस्म करनेमें यह आराधना अधिकें समान है. मोहरूपी अंधकारको नष्ट करनेके लिये यह हर्ष के तुल्य है. संपूर्ण इच्छित वस्तु देनेमें यह काम धेनुकी चराचरी करती है. ऐसी यह आराधना निर्वाण अनंत ज्ञान जिसमें भरा हुआ है ऐसा सुल तुम लोगोंको प्रदान करे

श्वभ्रभूमिज्वलद्बहेर्योऽविच्छिन्नजलोद्भूतिः ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५६ ॥

१७ नरकभूमिमें प्रज्वलित अग्निको शान्त करनेके लिये यह आराधना अविच्छिन्न मेधाक समान है. ऐसी रत्नत्रयसे निर्मलरूप आराधना हमको प्राप्त हो.

यैषा कुक्षालिका नाता निर्यग्बुःस्वाङ्कुरोद्भूतौ ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५७ ॥

१८ तिर्यग्गार्धिके दुर्गस्वरूपी रुपाङ्कुरों उत्पादनेके लिये जो कुदात्मकतुल्य है. ऐसी यह आराधना हमारा प्राण करे.

मर्त्यचित्तितलामाय यैषा कल्पवृषमायते ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५८ ॥

१९ मनुष्योंको चिंतित पदार्थ देनेके लिये जो कल्पवृक्षके तुल्य मानी गई है ऐसी रत्नत्रयसे विशुद्ध हुई यह आराधना हमारा रक्षण करे.

दृष्टिका हृत्तेये येयं महर्द्धिकसुरश्रियः ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२५९ ॥

२० महान्तदिशास्त्री देवोंकी लक्ष्मीको तुलानेके लिये जो दूतीके समान है ऐसी यह रत्नत्रयसे निर्मल बनती हुई आराधना हमारा रक्षण करे-

मुक्तिवाने क्षमा यास्ति विरतिर्भवसन्ततः ॥

अथ नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ॥ २२६० ॥

२१ जो मुक्तिप्रदान करनेमें समर्थ है, जो भवपरंपराका नाश करती है ऐसी यह रत्नत्रयनिर्मल आराधना हमारा संरक्षण करे-

एवैव परमो धर्म एवैव परमं तपः ॥

एवैवार्हव्यो वाक्यमेवैव ध्यानसंगतिः ॥ २२६१ ॥

एवैव परमो लाभ एवैव परमं मतम् ॥

एवैव परमं तत्त्वमेवैव परमा गतिः ॥ २२६२ ॥

एतस्या दुर्लभं गृहि स्थितिके कलमतसुखम् ॥

अतः शरणमेवैका भवतान्मे मधे मधे ॥ २२६३ ॥

२०-२१ यह आराधनाही उत्कृष्ट धर्म है, उत्कृष्ट तप है, जिनेश्वरने अपनी दिव्यध्वनीसे इसकाही वर्णन किया है, इसकोही ध्यान की प्राप्ति होनेमें कारण मानना चाहिये, जगतमें आराधनाकी प्राप्ति होना ही परम लाभ है यही उत्तम मत है, यही उत्तम तत्व है और यही हमारी परम संरक्षिका है, इसकी जिसकी प्राप्ति हुई है उसको जगतमें कोनसा सुख परम दुर्लभ है ? इसलिये प्रत्येक भवमें मैं इसका ही आश्रय ग्रहण करूंगा,

या सर्वज्ञहिमाचलादपथुता शिलाप्रवाहात्मिका ॥

या सर्वद्विंसमर्थितेगणधैराराधिता निर्मला ॥

या दुर्धरमवासुखाहतनुणां निर्वापणी स्वयुनी ॥

सा वः पापविशोधनाय शुभदा भूयात्सदाराधना ॥ २२६४ ॥

२४ सर्वज्ञ जिनस्वरूपी हिमाचलसे इस आराधनारूपी गंगा नदीक्षी उत्पत्ति हुई है, यह क्षीलरूपी प्रवाहसे युक्त है, सर्व शक्ति के धारक गणधरों से यह सानी गई है, यह निर्मल है, दुर्गार संसार के असुख से पीडित पुरुषोंको आर्तदित करनेवाली, ऐसी यह आराधना गंगा पापनाश करनेके लिए कारण होवे, और हमारा हमेशा कल्याण करे

या सञ्ज्ञानसमृद्धिनालकालिता सम्यक्त्वसत्कारिका ॥

॥ चारित्र्यपलाशसंचयचिता द्वेषा तपोभासुरा ॥

या मन्योत्तमपदपदैः पारिता नैःसंगपक्वाकुला ॥

सा बोद्धव्याङ्गवतापमुल्लसलधुनेराधना पविनी ॥ २२६५ ॥

२५ सम्यग्ज्ञानकी उन्नति होना ही जिसका नालद्व है, सम्यक्त्वरूपी कर्णिका से जो युक्त है, तेरह प्रकारका चारित्र्य ही जिसके पत्र हैं, दो प्रकार के तप से जो प्रफुल्लित है, जो भव्य पुलरूपी उत्तम प्रमर्शसे वेष्टित हुई है, और निष्पन्निहता रूप फलसे जो सुन्दर दीखती है ऐसी यह आराधनारूप पविनी-कमलिनी अपने उज्ज्वल गुणों से आराधक ऐसे तुम लोगों का भवसंताप दूर करे,

या सर्वालवरोधिनी कलिमलं दूर निरस्यगजम् ॥

सैद्धं चारुपद नयैर्गुणवतो मन्थात्मनो वाञ्छितम् ॥

बभ्रुवादिमुखं सुरभिमुतं संयोज्य संन्यस्यतां ॥

सा वः स्यान्मुनिर्हृत्सेवितरसा देवापगाराधना ॥ २२६६ ॥

२६ यह आराधनारूप गंगा नदी संपूर्ण आत्मोंको रोकती है, शरीर में उत्पन्न हुए रागद्वेषादिक मल नष्ट कर गुणवान् भव्य जीवको इष्ट सुन्दर ऐसा सिद्धपद अर्पण करती है, सोष्टवस्तु भरणका जिन्होंने आश्रय लिया है ऐसे सत्पुरुषोंको देवोंके द्वारा वन्दनीय ऐसा चक्रवर्त्यदिकोंका सुख देती है, मुनिहंस जिसके रसका पान करते हैं ऐसी आराधना रूप गंगा आपको प्राप्त होवे,

या शीतोज्ज्वलपुष्पगंधगुमगा सद्ग्यानसत्पल्लवा ॥

मास्वहर्षनसंभवा वरतपःपञ्चोचयेनाचिता ॥

सम्यग्दृष्टतत्त्वमहाफलवती गन्धालिङ्गकारिता ॥

॥ यो ध्यानसंभूतल प्रसतादाशयनावहृति ॥ २२६७ ॥

२७ यह आराधना लता शीलरूपी उज्ज्वल पुष्पगंध से सुसज्ज दीखती है, धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूपी पाद्योंगे युक्त है, निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी धीजसे इसकी उत्पत्ति हुई है, उत्कृष्ट उपरूपी पत्तों से भर गयी है; गन्धरूपाग्नि रूपी महाफल इसको उत्पन्न हुए हैं अन्य शुक्लरूपी अथवा इस के ऊपर सुंवारव कर रहे हैं, ऐसी यह आराधनारूप यज्ञी तुष्टारे मनोमूषी में खूब प्रसारको प्राप्त होवे-

या धीमच्छुतशीलनीरकलिता निर्वाणदानक्षमा ॥

या दुष्पद्मोपुधितारिणी द्युचितया रंगस्तरंगाकुला ॥

या निर्पुण्य कलेयराणि महतः संस्थापयेत्सत्पुत्रे ॥

सा यो मंगलमातनोतु नितरामाराधनास्वधुनी ॥ २२६८ ॥

२८ यह आराधना रूप गंगा नदी शुद्धमान और शीलरूप पानी से भरी रहती है- निर्वाणमोक्ष देनेमें समर्थ है, पुष्पमयद्रुको प्राप्त होती है, दोषरहित है, शुक्ल ध्यानरूपी वरगोंसे युक्त है- सत्पुरुषोंके शरीरका नाश करने के जो उनको उत्कृष्ट मोक्ष तुल्य देती है ऐसी यह आराधनागंगा तुम लोकोंका पूर्ण कल्याण करे-

या मोक्षसुरसंगलब्धविजया सर्वार्थसंपादनी ॥

शराणामसंश्रधिनानाशनाधिया कार्तित्रयाणां स्तुताम् ॥ (?)

या दुर्वांरमहोपसर्गमथनी सिद्धिप्रियाणां सती ॥

सा यः पातु भवाटवीं प्रतिगता नाराधनाञ्चयिक्ता ॥ २२६९ ॥

२९ यह आराधनारूप अंगिका देवी मोक्षसुरका पराजय करके विजयी हुई है, इसकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको गर्व इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, यह देवी परीयहसहिष्णु शूर मुनिओंका दुःख नष्ट कर समाधिकी प्राप्ति कर देती है, मुनियोंके उपसर्ग कष्ट नष्ट करके सिद्धिकी प्राप्ति कर देती है, ऐसी यह आराधना देवता संसार यन्में भटकनेवाले हम लोगोंका रक्षण करे-

या दुद्रुपष्टकचाकमौक्तिकफलैर्गन्धस्यदिल्पनायकैः ॥

भास्वद्वोधोधिचित्रसूचरचितेष्वाग्नित्रसहस्रक्षणैः ॥

श्रीमद्भूमिसमुज्ज्वलैर्विरचिता दोषोत्तरोपापहा ॥

सा वास्तिष्ठतु चक्षुसीह सुतरामाराधनाकण्टिका ॥ २२७० ॥

३० यह आराधना रूप नायकत्वोंकी रचना की गयी है। उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी स्रुतके द्वारा यह आराधनारूप वीचमें दृगलक्षण रूप नायकत्वोंकी रचना की गयी है। उज्ज्वल सम्यग्ज्ञानरूपी स्रुतके द्वारा यह आराधनारूप मुक्ताहार रचा गया है। चारित्र्य और श्रुति एतत्स्वरूपी मौक्तिक भी इसमें हैं। ऐसी यह आराधना कंठी आप लोगोंके यक्षस्थलपर हमेशा रहे।

या निःशेषपरिग्रहेयदलने दुर्बारसिंहायते ॥

या कुञ्जानतमोषदायिचटने चञ्चलशुरोचीयते ॥

या चिंतामणिरेश चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा या श्रीबभ्रुनन्दियोगिमहिता पायात्सदाराधना ॥ २२७१ ॥

११ यह आराधना सर्व परिग्रहरूपी हाथियोंका घात करनेके कार्य में सिंह समान है। अश्वानांघकारका तद्दृ नष्ट करनेके लिये सूर्यकांतिके समान है। चिन्तितफलोंके देनेके लिये वह सब जनोंको चिन्तामणि रत्नतुल्य है। श्रीबभ्रुनन्दि आचार्यसे पूजित ऐसी यह आराधना आप लोगोंका नित्य रक्षण करे।

या संसारमद्भेदधेः प्रतरणी नौरेश भव्यात्मनाम् ॥

या दुःखज्वलनाबलीढवपुर्षा निर्वापणी स्वपुंजी ॥

या चिन्तामणिरेश चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ॥

सा निःशेषसहेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ॥ २२७२ ॥

१२ मन्व्य जीयोंको मंगारसमुद्र तनके लिये यह आराधना नौकाके समान है। दुःखरूपी अग्नीसे जलनेवाले लोगोंको शान्तिमुख देनेवाली समुद्रगङ्गाके समान है। जो चिन्तित इष्टफलोंसे लोकोंको संयुक्त कर देती है वह आराधना हम लोगोंको मोक्ष देनेमें हेतु बने।

या पुण्यासवभूर्तिरेकपदवी स्वर्गालपारोहिणाम् ॥

या मांगत्रयचर्तिनीति विदिता निर्वृतनानारत्नाः ॥

यस्याः सद्गुरुपर्वतः प्रभव इत्याहुः पुरावेदिनः ॥

सा चः पापमलानि गालयतु स्वत्वाराराधनास्वधुनी ॥ २२७३ ॥

३३ पुण्यासवरी मानो मूर्ति ऐसी यह आराधना यगा स्वर्गोदय करनबालीको मार्गस्वरूप होत्रे. स्न-
त्रयरूप होनेमें लोग इसको त्रिमार्गगा कहते हैं. इसकी सेवासे नानाप्रकारके पापक नाष्ट होते हैं. सद्गुरुरूपी पर्वतसे इस
आराधनागंगाका जन्म हुआ है ऐसे प्राचीन आचार्य कहते हैं. अतः पापमलसे रहित यह गंगानदी तुझारे अन्तः
करणमें बाल करे.

या सर्वश्रद्धिद्याबलात्प्रगळिता पुण्यांशुपूर्णा श्रुतिः ॥

या सवज्ञानचरिघटोचनचरैर्गुणैर्गणीन्द्रैर्धृता ॥

या कर्मानलपर्यपीडितशुनीत्रिभावगाहकृमा ॥

सा वो मंगलभातनोतु भगवत्पाराधनास्वधुनी ॥ २२७४ ॥

३४ यह आराधनागंगा सर्वज्ञ विनैथरूपी हिमालयसे उत्पन्न हुई है. पुण्यरूपी बलसे भरी है और पवित्र
है. तन्मग्यान और चारित्र्यरूप लोचन-आँखें धारण करनेवाले गणधरोने जिसको अपने मस्तकपर धारण किया है.
कर्मरूपी अग्निसिं पीडित शुनीत्रयको अवगाहन करते हैं ऐसी यह आराधना स्वर्गनदी तुझारा मंगल करे.

या पुण्यांशुधिपूरणी कलिमलप्रक्षालनैकोद्यमा ॥

या निर्धूय कलेवराणि विमलीकतं क्षमाराधकान् ॥

यामासाय शुनीमयूथपतयो निर्वान्त्वापकास्त्रिकायू ॥

सा वोऽन्तर्मलदाहमाशु निहतादाराधनास्वधुनी ॥ २२७५ ॥

३५ यह नदी पुण्यसमुद्रको पूर्ण करती है. पापमल योगके कार्यमें यही समर्थ है. यही शुनिओंके शरीरका
नाश करनेको निर्मल बनाती है. पापरूपी कविहसे रहित ऐसी इस नदीको प्राप्त करके शुनिरूपी हाथीके नायक
प्रभोदयुक्त होते हैं. ऐसी यह आराधनानदी हमारी आत्माके अन्तःस्थित कर्ममलके दाहका नाश करे.

या संसारमहाविषापहरणे सन्त्यजविचारते ॥

या कर्मादृतताटवीप्रदहने वावानलोर्वापते ॥

या द्युर्गोहतमोघटाविघटने चंदायुरोचीयते ॥

सा वः पापमलानि हंतुं रुचिरा रत्नत्रयाराधना ॥ २२७६ ॥

१६ जो संसाररूपी तीव्र विषका हरण करनेमें उत्तम विद्याके समान है, जो कर्मरूपी बलीका वन जलानेमें दासानीके समान है, जो मिथ्यामोहांधकार को नष्ट करनेमें सर्वज्ञान्तीके समान आचरण करती है ऐसी यह मनोहर रत्नत्रयाराधना हमारे पापमलोका नाश करे.

धर्मोत्तममहातमोः फलवती या पुण्यसम्पन्नम् ॥

मुक्तिश्चीललनाभिसारणपटुर्दृष्टाक्षरा शंफली ॥

स्वर्गाग्रप्रविभासिसौषणित्तरारोहैकनिःश्रेणिका ॥

सा वः पातु पवित्रमूर्तिरमला रत्नत्रयाराधना ॥ २२७७ ॥

१७ यह आराधना धर्मरूपी बगीचे के बड़े वृक्षको फलयुक्त उत्तम मंत्रों है यह आराधना मुक्तिरूपी सुंदरी को अभिसरण करने लिये प्रवृत्त करनेवाली स्पष्ट और मधुर चोलनेवाली दासी है. स्वर्गके अग्रभागपर गोमेनवाले मौक्षरूप प्रासादके उपरके भागपर आरोहण करनेके लिये यह आराधना नसैनीके समान है. ऐसी यह पवित्र और निर्दोष आराधना तुल्यता संरक्षण करे.

या सदृष्टिचिप्रभास्वरमनुः संज्ञानेनम्रोऽऽवला ॥

सञ्चारित्रविभूषणा शुचितपःशीलोद्यमात्यांबरा ॥

मुक्तिश्रीवरकाभिनीप्रियसखी पुरुषपुत्रिद्वेषिणी ॥

सा धीरैरभिचक्षिता मम हृदि स्तान्त्रित्यमाराधना ॥ २२७८ ॥

१८ यह आराधना समग्रदर्शनरूपी स्रंविधे सुंदर दीसती है. पवित्र तप और शीलसमुदायरूपी पुष्पमाला और वस्त्र धारण करनेवाली है. मुक्तिरक्ष्मीरूपी सुंदर स्त्रीकी यह प्रियसखी है. यह मदनका देव करती है. विद्वान् पुरुषोंने जिसको बर्द्धन किया है ऐसी यह आराधना मेरे हृदयमें नित्य वसती करे.

या शुद्धयष्टकयुक्तदर्शनदलं ज्ञानोल्लसत्कार्णिकम् ॥

चारित्र्योल्लवलीर्धनालममलं शीलोल्लसत्केसरम् ॥

मुक्तिशीलतनानिवासकमलं घत्ते गुणोर्निर्वित्तम् ॥

॥॥ मे ह्रत्सरसि स्फुटं विकसतादारगयनापदिनी ॥ २२७९ ॥

३९ शुद्धयत्के साध रहनेवाला सम्यग्दर्शन ही जिसके दल हैं, अर्थात् निःशुक्तिवादिक आठ अंग ही इस कमलदे दल हैं ज्ञानही जिसकी उज्ज्वल कर्मिका है, चारित्र्यही जिसका उज्ज्वल और दीर्घनाल-दंड है, निर्मल शील समुदायही जिसका फेसर है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका निवास स्थान है ऐसे कमलको धारण करने वाली, गुणोंसे उत्पन्न हुई ऐसी यहा आराधनारूप कमलिनी मेरे हृदयरूप सरोवरमें हमेशा विकास युक्त रहे.

इसप्रकार श्री अमितगत्पाचार्यविरचित आराधनास्तव समाप्त हुआ.

नक्षत्रगुणान्वर्णयिष्यामि ।

- १ तं जथा । अस्तिगणिकत्वत्ते जह संथारं गेणहदि तो साविणकत्वत्ते रत्ते कालं करेवि ॥
- २ भरणिणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो रेवदिणकत्वत्ते पळवूत्ते मरदि ॥
- ३ किंतिगणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि उत्तरफागुणिणकत्वत्ते मज्झणहे मरह ॥
- ४ रेहिणीणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो सबणणकत्वत्ते अद्धरत्ते मरदि ॥
- ५ मियसिरणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो पुब्बफगुणणकत्वत्ते मरदि ॥
- ६ अराणकत्वत्ते जदि संथार गेणहदि तो उत्तरदियत्ते मरदि । जदि ण मरेदि तदा तस्मि पुरोगदे णकत्वत्ते मरिस्सदि ॥

॥ पुनर्वसुणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तदा अस्सणिणकत्वत्ते अवरणहे मरदि ॥

८ पुस्सणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो मियसिरणकत्वत्ते मरदि ॥

९ असत्तिस्सणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो वित्तणकत्वत्ते मरदि ॥

१० मघणकत्वत्ते जदि संथारं गेणहदि तो तद्विक्खत्ते मरदि यदि ण मरदि तदा तस्मि पुरोगदे णकत्वत्ते मरदि ॥

११ पुब्बफगुणिणकत्वत्ते यदि तो घणिहाणकत्वत्ते दिक्खत्ते मरदि ॥

- १२ उत्तरफरगुणिकस्ते यदि तो मूलणक्खत्ते पदोसे मरदि ॥
 १३ हृत्पणक्खत्ते यदि तो मरणिणक्खत्ते विवसे मरदि ॥
 १४ चित्ताणक्खत्ते यदि तो मियसिरणक्खत्ते अदूरत्ते मरवि ॥
 १५ सादिणक्खत्ते यदि तो रेचदिणक्खत्ते पभादे मरदि ॥
 १६ विसाहणक्खत्ते जदि तो असिलेसाणक्खत्ते मरदि ॥
 १७ असिलेसाणक्खत्ते जदि तो पुब्बभट्ठणक्खत्ते विवसे मरदि ॥
 १८ मूलणक्खत्ते जदि तो जेठुणक्खत्ते पभादेवेलाए मरदि ॥
 १९ पुब्बासाहणक्खत्ते जदि तो मियसिरणक्खत्ते पदोसेवेलाए मरदि ॥
 २० उत्तरासाहणक्खत्ते जदि तो तदिवसे चैव अहवा भट्ठपणक्खत्ते अवरण्हे मरदि ॥
 २१ सबगणक्खत्ते जदि तो उत्तरभट्ठणक्खत्ते तदिवसे कालं करेदि ॥
 २२ वणिट्ठाणक्खत्ते यदि तो तदिवसे कालं करेदि, यदि तदिवसे कालं न करेदि तो पुण तदिवसे चैव आगंदे मरदि ॥
 २३ सदभिसणक्खत्ते यदि गिण्हदि जेठुणक्खत्तेण अत्थवणवेलाए मरदि ॥
 २४ पुब्बभट्ठपणक्खत्तेण जदि तो पुणवसुणक्खत्ते रत्ति मरदि ॥
 २५ उत्तरभट्ठपदे जदि तो दिवसे वहमाणे वा पुण रादो वा मरदि ॥
 २६ रेवतिणक्खत्ते जदि तो मघणक्खत्ते मरदि ॥

इति मरणकंडिका णक्खरागणनया सम्मत्तर ॥

नक्षत्रगुणोंका वर्णन—

१ यदि अधिनी नक्षत्रके ममय क्षयने संस्तर ग्रहण क्रिया होगी तो स्वाति नक्षत्रके समय रातमें उसको ममाधिमरण प्राप्त होता है.

२ यदि मरणि नक्षत्रके समय धूपकने समाधि मरणके लिये संस्तरका-विधानका आशय क्रिया होगी तो रेवती नक्षत्रके ममय दिनके श्रावण समयमें टङ्को समाधिमरण प्राप्त होगा.

३ कृतिका नक्षत्रके समयपर यदि बुनि बिछानेपर शयन करेंगे तो उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रपर मध्यान्ह कालमें उनका मरण होगा।

४ रोहिणी नक्षत्रपर संस्तर ग्रहण करनेवाले मुनिबौको श्रवण नक्षत्रमें आधी रातके समय मरण प्राप्त होगा।

५ मृगशिर नक्षत्रपर सहेस्तनाका आश्रय करनेसे पूर्व फाल्गुनि नक्षत्रपर मुनिका देहान्त होगा।

६ आर्द्रा नक्षत्रमें यदि संस्तर ग्रहण किया जायगा तो उत्तरा नक्षत्रके दिन मरण होगा यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें उसकी मृत्यु होगी।

७ पुनर्वसुनक्षत्र पर बिछाना ग्रहण करने से अश्विनी नक्षत्रपर अपराह्नकालमें मरण होगा।

८ पुष्यनक्षत्रपर श्रृंग्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर मरण होता है।

९ आश्लेषानक्षत्रके समय श्रुत्याका स्वीकार करनेसे चित्रानक्षत्रपर मरण होता है।

१० मघानक्षत्रके समय श्रुत्याका स्वीकार करनेसे उसी नक्षत्रके दिनमें मरण होता है यदि न होगा तो आगेके नक्षत्रमें होता है।

११ पूर्वफाल्गुनिनक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण करनेके छिथे श्रुत्याका स्वीकार किया होगा तो धनिष्ठानक्षत्रके समय दिनमें मरण होगा।

१२ उत्तर फाल्गुनि नक्षत्रमें यदि श्रुत्या ग्रहण की होगी तो मूलनक्षत्रपर सायंकाल में मरण होगा।

१३ हस्तनक्षत्रपर यदि संन्यास ग्रहण किया जायगा तो भरणी नक्षत्रपर दिनमें मरण होगा।

१४ चित्रानक्षत्रमें यदि संन्यास ग्रहण किया हो तो मृगशिर नक्षत्रपर आधीरातमें मरण होगा।

१५ स्वातीनक्षत्र पर श्रुत्याग्रहण करनेसे रेवतीनक्षत्रके समय प्रभात कालमें मरण होगा।

१६ विशाखा नक्षत्रपर श्रुत्या धारण करनेसे आश्लेषा नक्षत्रपर मरण होता है।

१७ आश्लेषा नक्षत्रपर श्रुत्या ग्रहण करनेसे पूर्वभाद्रनक्षत्रमें दिनमें मरण होगा।

१८ मूलनक्षत्रपर श्रृंग्या ग्रहण करनेसे ज्येष्ठानक्षत्रपर प्रभात कालमें मरण होता है।

१९ पूर्वाषाढानक्षत्रमें श्रुत्या ग्रहण करनेसे मृगशिर नक्षत्रपर रातके प्रारंभके समय मरण होता है।

२० उत्तरायणा नक्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेसे उत्ती दिनमें अथवा भाद्रपदा नक्षत्रमें अपराण्ड कालमें मरण होता है-

२१ श्रमणनक्षत्रमें यदि शुक्र्या ग्रहण की जाय तो उत्तरभाद्रपदनक्षत्रमें दिनमें काल होगा-

२२ घनिष्ठा नक्षत्रपर शुक्र्याग्रहण करनेसे उत्ती नक्षत्रके दिनमें मरण होगा यदि न होमा तो आनेके

उत्ती नक्षत्रके दिनमें मरण होगा-

२३ श्रुतमिषवन्क्षत्रपर संन्यास ग्रहण करनेवाले मुनीका ज्येष्ठानक्षत्रपर द्योस्ति समयमें मरण होता है-

२४ पूर्वभाद्रपदनक्षत्रमें यदि शुक्र्या ग्रहण की जाय तो पुनर्वसुनक्षत्रपर रातमें मरणकाल होगा-

२५ उत्तर भाद्रपदनक्षत्रमें संस्तर ग्रहण करनेपर उस दिनमें अथवा रातमें मरण होगा-

२६ रेवती नक्षत्रपर संस्तरग्रहण करनेवाले धूपकका मृगनक्षत्रपर मरण होता है-

नक्षत्रगणनाके अनुसार यह मरणकीटिका समाप्त हुई है-

श्रुतं यवतु पाठकानुवादकप्रकाशकमुद्रकाणामित्याशासे ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥



श्रीविजयोदयामूलाराधनासहिता हिंदीभाषोपेता
भगवती आराधना समाप्ता ।